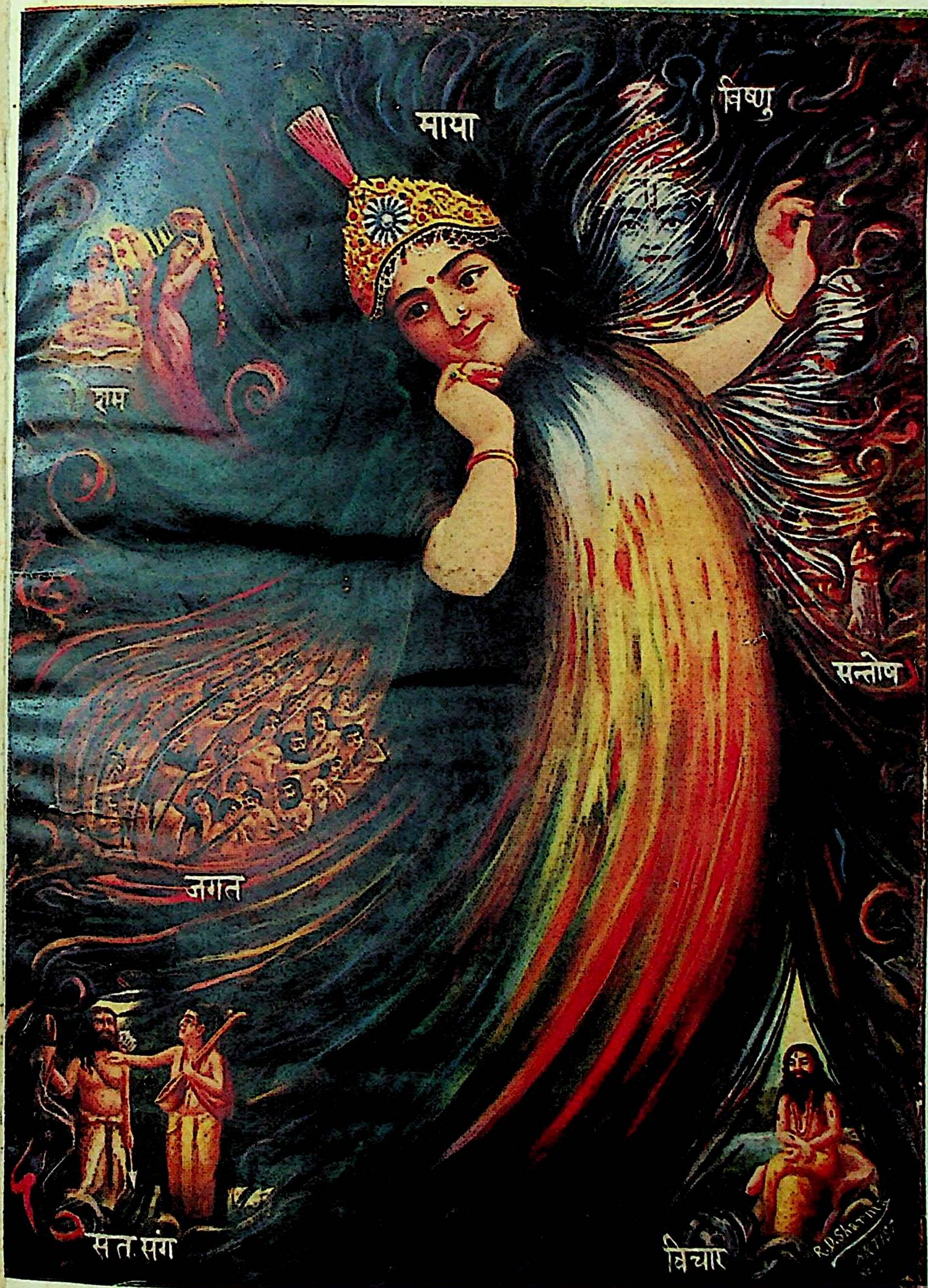

माधुरी — आश्विन, ३०७ तुलसी-संवत् — Madhuri October, 1930.



संपादक—
पं० कृष्णविहारी मिश्र—श्रीप्रेमचंद—पं० रामसेवक त्रिपाठी
बी० ए०, एल्-एल्० बी०

र्षिक मू० ६॥) } Newul Kishore Press, Lucknow. { विदेश में मूल्य ८)
ाही मू० ३॥) } { एक प्रति का ॥=)

कृष्णा सर्प बसाञ्जन

इसे काले सर्प की चर्बी से तैयार किया है। इसे अंजन करने से नेत्र के समस्त रोग नष्ट होकर अंधा भी देखने में समर्थ होता है। दृष्टिदोष, पटलरोग, फूली, जाला, माड़ा, कम दिखना दूर होता है। मू० फ़ी तोला ५) मू० आधा तोला २॥) रु०।

पता—श्रीकौमक्षत्रिय औषधालय,
बरौंदा, पो० पनगार, ज़ि० जबलपुर

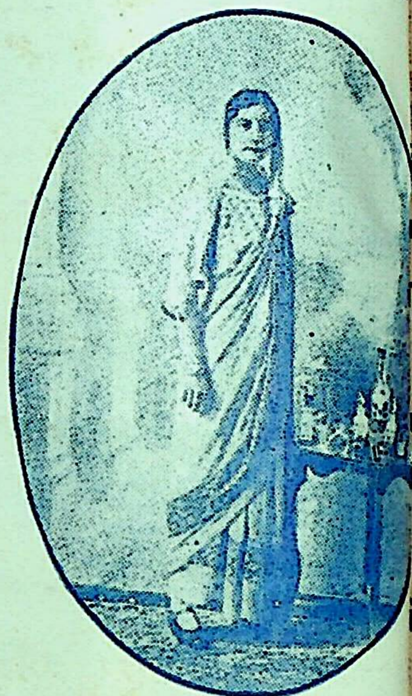
दवाइयों में

खर्च मत करो

स्वयं वैद्य बन रोग से मुक्त होने के लिये "अनुभूत-योगमाला" पाक्षिक पत्रिका का नमूना मुफ़्त मँगाकर देखिए।

पता—मैनेजर अनुभूतयोगमाला आफ़िस,
बरालोकपुर, इटावा यू० पी०।

बढ़िया इत्रों के आविष्कर्ता



पता:—असग़रअली मुहम्म
ताजिर इत्र, ल
विशेष के लिए पत्र-व्यवहार

नेशनल इंशोरेंस कंपनी लिमिटेड

हेड आफ़िस—
नं० ६, ओल्ड कोर्ट हाउस स्ट्रीट, कलकत्ता—

सारी आमदनी खर्च कर देना

एक ऐसी आदत है जो बहुत आसानी से पड़ जाती है और जिसे अपनी ज़िंदगी
बातों का ख़्याल कर मनुष्यों को रोकना चाहिए।

इसलिये

स्कीम में शरीक होइए और अपनी बचत की जमा के लिये

अपनी गृहस्थी की ज़रूरियातों को याद रखिए

कम प्रिमियम की दर से ज़िंदगी का बीमा करती है। उसका लगाया
१ करोड़ ४० लाख रुपयों से भी ज़्यादा है।

विवरण के लिये पत्र-व्यवहार करिए—

पता—एस्० एन्० दास गुप्ता, एम्० ए०, चीफ़ एजेंट,
नं० ३, क्लाइव रोड, इलाहाबाद।

लेख-सूची

पृष्ठ

गा-गौरव (कविता)—[लेखक, श्रीयुत गन्नाथदास "रत्नाकर" बी० ए० ... २७३

ाल्मीकीय रामायण (१)—[लेखक, ० रामगोपाल मिश्र बी० एस्-सी०, एम्० ार० ए० एस्० ... ... २७४

ामजन्म (कविता)—[लेखक, श्रीयुत लदेवप्रसाद टंडन "विसारद" ... २७८

ोस्वामी तुलसीदास (कविता)— लेखक, पं० सूर्यप्रसाद पांडेय "द्विजसाधु" २७८

खभाल (कविता)—[लेखक, पं० अयो- ध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध" ... २७६

पृष्ठ

६. हत्यारा (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत शंभूदयाल सक्सेना साहित्यरत्न ... २८०

७. पावस का दुखिया गगन (कविता)—[लेखक, श्रीयुत "हितैषी" २८६

८. स्वराज्य-संग्राम और सांप्रदायिक समझौते—[लेखक, श्रीयुत विश्वबंधु शास्त्री २८६

९. सरयू-स्तवन (कविता)—[लेखक, पं० रामनाथ "ज्योतिषी" २९१

१०. उपालंभ (कविता)—[लेखक, पं० रमा- शंकर मिश्र "श्रीपति" २९२

११. रामेश्वर-मदुरा-यात्रा—[लेखक, श्रीयुत दीनानाथ सिद्धांतालंकार २९३

१२. अतीत (कविता)—[लेखक, पं० हरिदत्त दुबे बी० ए० ... ... २६७

१३. रहस्यवाद और महात्मा कबीर—[लेखक, पं० पन्नालाल त्रिपाठी ... २६७

१४. यौवन का उन्माद (कविता)—[लेखक, विद्यार्थी भगवतीप्रसाद मिश्र ३०४

१५. बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार—[लेखक, पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री ३०५

१६. तपश्चर्या (कविता)—[लेखक, पं० उमाशंकर वाजपेयी "उमेश" बी० ए० (ऑनर्स) ३०७

१७. छुट्टी (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत एस्० आर० डी० सक्सेना ३१५

१८. आँसू (कविता)—[लेखक, पं० हृदयनारायण पांडेय "हृदयेश" ... ...

१९. पारसी रंगमंच और हिंदी-नाटक—[लेखक, पं० जनार्दन भट्ट एम्० ए० ...

२०. नारदमोह (कविता)—[लेखक, श्रीयुत गुरुभक्तसिंह "भक्त" बी०ए०, एल्-एल्०बी०

२१. दार्जिलिंग (सचित्र)—[लेखक, श्रीयुत गोपीकृष्ण मोहता बी० कॉम० ...

२२. समर्प्य वस्तु (कविता)—[लेखक, पं० बलदेवप्रसाद मिश्र एम्०ए०, एल्-एल्० बी०

२३. कौटिल्य-चर्चा—[लेखक, श्रीयुत गोपाल-दामोदर तामस्कर एम्० ए०, एल्०टी० ... ...

२४. ओ बटोही ! (कविता)—[लेखक, पं० सत्यव्रत शर्मा 'सुजन' ... ...

	पृष्ठ		पृष्ठ
आल्हखंड की नर्मदा—[लेखक, पं० शंकरप्रसाद दीक्षित	३३८	३१. नृसिंह-नाद (कविता)—[लेखक, कुमार प्रतापनारायण	३५०
अथर्ववेद—[लेखक, पं० रामसेवक पांडेय साहित्योपाध्याय	३४०	३२. आलोचना और पुस्तक-परिचय—[लेखकगण, श्रीयुत ब्योहार राजेंद्रसिंह एम्० आर० ए० एस्०, पं० रामसेवक त्रिपाठी और पं० मातादीन शुक्ल साहित्य-शास्त्री, काव्यभूषण	३५१
मादक (कविता)—[लेखक, पं० दुर्गादत्त त्रिपाठी	३४२	३३. कृषि, शिल्प और वाणिज्य—[लेखक, श्रीयुत विश्वनाथप्रसाद वर्मा एल्० ए० जी० और श्रीयुत मोहनलाल बड़जात्या ...	३५६
मध्य-भारत के हिंदी-कवि—[लेखक, श्रीयुत भास्कर रामचंद्र भालेराव ...	३४४	३४. बाल-महिला-मनोरंजन—[लेखकगण, श्रीयुत लक्ष्मीनारायणसिंह, श्रीयुत हरिश्चंद्र-	
महाशक्ति ! (कविता)—[लेखक, पं० रामसेवक त्रिपाठी	३४६		
कृतघ्नता (कविता)—[लेखक, पं० मातादीन शुक्ल साहित्यशास्त्री, काव्यभूषण	३४६		

سمن بغرض انفصال مقدمہ

مقدمہ نمبر ۱۰۱۲ سنہ ۱۹۳۰ع ابتدائی خفیفہ

بعدالت جناب منصف صاحب بہادر طربگنج مقام گونڈہ

رام هرکھہ ولد پاتندین قوم بقال ساکن موضع بالپور جات پرگنہ و تحصیل و ضلع گونڈہ مدعی

بنام بلکرن

بنام + بلکرن ولد هتھیدین قوم گھروک ساکن موضع لچھمن پور جات پرگنہ و تحصیل ضلع گونڈہ مدعا علیہ

هرگاه مدعي نے تمہارے نام ایک نالش بابت مبلغ ۱۲۹ روپیہ ۴ آنہ کے دایر کي هے لهذا تم کو حکم هے کہ تم بتاریخ ۱۵ ماه اکتوبر سنہ ۱۹۳۰ع بوقت ۱۰ دس بجے دن اصالتاً یا معرفت وکیل جو مقدمہ کے حال سے قرار واقعي واقف کیا گیا هو اور جو کل امور اهم متعلقہ مقدمہ کا جواب دے سکے یا جس کے ساتھہ کوئي اور شخص هو جو جواب ایسے سوالات کا دے سکے حاضر هو اور جوابدهي دعوی مدعی مذکور کي کرو اور هرگاه وهي تاریخ جو تمہارے احضار کے لئے مقرر هي واسطے انفصال مقدمہ کے تجویز هوئي هے پس تم کو لازم هے کہ اپنے جراب دعویٰ کي تائید میں جن گواهوں کي شہادت پر یا جن دستاویزات پر تم استدلال کرنا چاهتے هو اسي روز ان کو پیش کرو*

مطلع رهو کہ اگر بروز مذکور تم حاضر نہ هوگے تو مقدمہ بغیر حاضري تمہارے مسموع اور فیصل هوگا*

آج بتاریخ ۱۶ ماه ستمبر سنہ ۱۹۳۰ع میرے دستخط اور مہر عدالت سے جاري کیا گیا*

جج

وقت حاضري بدفتر منصفي طربگنج مقام گونڈہ ۱۰ بجے سے ۴ بجے تک *

पृष्ठ

प्रसाद "इंदु", पं० हरिप्रसाद द्विवेदी "श्रीहरि", पं० शंभूदयाल त्रिपाठी "नेह", श्रीयुत जगन्नाथप्रसादसिंह, कुमारी गंगादेवी भार्गव "छलना", श्रीमती शोभनानारायण, कुँवर मोहरसिंह चँदेल "केसरी" और श्रीमती मोहिनीसहाय ३७१

३५. साहित्य और विज्ञान—[लेखक, पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री और पं० हृषीकेश त्रिवेदी ३८४

३६. जीवन-ज्योति—[लेखकगण, श्रीयुत सुरेंद्र शास्त्री, श्रीयुत त्रिलोकीनाथ मेहरोत्रा और श्रीयुत ब्रजभूषणदास ३९५

३७. संगीत और विनोद—[लेखक, पं० सोहनलाल द्विवेदी और पं० ब्रह्मेश्वर शर्मा शास्त्री ४०७

३८. सुमन-संचय—[लेखकगण, प्रभुलाल, काषरा, श्रीयुत दामोदरसहायसिंह, पं० व्रजकिशोर शर्मा "व्रजेश", श्रीयुत पुरुषोत्तमलाल "मधुप", श्रीयुत हरिशंकर गौतम "हरि" विशारद और रामचंद्र गौड़ ... ३१०

चित्र-सूची

१—रंगीन

१. शेर शिवराज

२. यौवन

२—व्यंग्य-चित्र

१. देशी सास की विलायती वधू ...

२. राष्ट्रीय स्तंभ पर दमन-हथौड़े की चोट...

शेर-शिवराज

दावा द्रुम दुंड पर चीता मृग झुंड पर
भूषण बितुंड पर जैसे मृगराज है ;
तेज तिमिरंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है।

—भूषण





अध्यक्ष—श्रीविष्णुनारायण भार्गव

वर्ष ६ खंड १ | आश्विन, ३०७ तुलसी-संवत् (१९८७ वि०) | संख्या ३ पूर्ण संख्या ६६

गंगा-गौरव

(१)

बासुकी बरेत गिरि मंदर मथानी करि,
ठानी इमि जाती रतनाकर मथाई क्यौं ;
होत्यौ राहु बंचक क्यौं रंचकहिं लाहु काज,
होती आज लौं यौं चंद-सूर की गहाई क्यौं।
सुरधुनि धार पहिलैं ही जो पधारती तौ,
पारती सुरासुर मैं लालच लराई क्यौं ;
पीते चितचीते सबै सानँद अघाय घाय,
रहती सुधा की बसुधा मैं कृपिनाई क्यौं।

(२)

धारे लेति लीन करि पातक पहार पीन,
जारे देति कुमति-कुबास-छत-छानी है ;
कहै रतनाकर ज्यौं धूरि उधराए देति,
चूरि करि भूरि दोष-दारिद-गलानी है।
ढाए देति अटल समाधि आधि-ब्याधिनि कौं,
सपदि बहाए देति बिपति निसानी है ;
गंग यह रावरी तरंग परमालय है,
पावक है पौन है पृथी है किधौं पानी है।

"रत्नाकर"

वाल्मीकीय रामायण

(१)

वाल्मीकीय रामायण कब का और किसका लिखा हुआ ग्रंथ है

यह बताना अनावश्यक है कि श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी ने रामचरित-मानस को भक्ति-भाव से लिखा है। उसमें इतिहास की खोज करना व्यर्थ है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचंद्रजी महाराज की ऐतिहासिक कथा जानने को श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण पर दृष्टि जाती है। कहा जाता है कि वाल्मीकीय रामायण आदि-काव्य है। पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण के देखने से मालूम होता है कि वह हाल का ग्रंथ है। वर्तमान वाल्मीकीय रामायण को मैं हाल का ग्रंथ क्यों कहता हूँ, इसके लिये बहुत छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है। उसके दो-चार सर्गों ही से इसका पता चल जाता है। अयोध्याकांड के १०९वें सर्ग में जाबालि-ब्राह्मण से रामचंद्रजी कहते हैं 'बुद्धमतावलंबी पुरुष को और उसके मत के माननेवाले मनुष्य को भी नास्तिक समझना चाहिए। राजा को ऐसे मनुष्य को वह दंड देना चाहिए, जो चोर को दिया जाता है और पंडित ब्राह्मण को चाहिए कि ऐसे मनुष्य से भाषण भी न करें'। सुंदरकांड के २२वें सर्ग में रावण को कहा गया है कि 'श्मशान और बौद्ध-मंदिर के तुल्य भयंकर देख पड़ता था'। उत्तरकांड के ७१वें सर्ग में एक 'सर्वार्थ-सिद्ध-नामक भिक्षुक' की शिकायत एक कुत्ते ने रामचंद्र से की है। इन बातों से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ भगवान् बुद्ध के पीछे का लिखा हुआ है।

इस ग्रंथ के लेखक महर्षि वाल्मीकि नहीं हो सके। वे रामचंद्रजी के समकालीन थे। राम के घर से निकाले जाने पर सीता देवी ने उनके आश्रम में आश्रय पाया था। मगर उत्तरकांड के ८७वें सर्ग में वर्णन है कि 'सत्ययुग में तो सत्धर्म में लोगों की तत्परता स्वभाव ही से थी। अब त्रेतायुग में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही तपस्या करने लगे। द्वापर में अधर्म और असत्य दोनों बढ़ने लगे। तीसरा वर्ण भी तपस्या करने लगा। क्रम से तीनों वर्ण तपस्वी हुए। शूद्र इन तीनों से अलग रहा। परंतु कलयुग में शूद्र भी तपस्या करता है।' इससे स्पष्ट है कि यह पुस्तक कलयुग की लिखी हुई है।

महर्षि वाल्मीकि ने रामचरित्र पर एक काव्य लिखा था, जिसको लव और कुश ने कंठस्थ करके महाराज रामचंद्र को सुनाया था। वह एक छोटा-सा काव्य रहा होगा और उसके आधार पर वर्तमान वाल्मीकीय रामायण लिखी गई है, जैसा कि तुलसीकृत रामायण का आधार इसको कहा जा सकता है। यह ग्रंथ 'वाल्मीकीय रामायण' वह काव्य नहीं हो सकता जो लव-कुश ने रामचंद्रजी को सुनाया था। यदि यह वही काव्य होता, तो इसमें यह बखान कहाँ से आ जाता कि लव-कुश ने उसे रामचंद्रजी को सुनाया ? उत्तरकांड के १०७वें सर्ग में लव-कुश के कथा सुनाने का पूरा वृत्तांत है और वे रामचंद्रजी के पूछने पर कहते हैं 'महाराज! इस काव्य को भगवान् वाल्मीकि मुनि ने बनाया है।' इसी प्रकार लव-कुश के मुँह से कथा सुनने के अनंतर रामचंद्रजी ने सीताजी को बुलवाया था, इसका भी वर्णन वर्तमान वाल्मीकीय रामायण में उपस्थित है। उत्तरकांड के १०८, १०९ और ११० सर्ग में सीताजी का आकर पृथ्वी में समा जाने तक का वृत्तांत दिया हुआ है। १२२ और १२३ सर्ग में महाराज रामचंद्र के स्वर्गवास तक का समाचार आ गया है। फिर कैसे कहा जावे कि यह वह काव्य है, जिसे उन्होंने अपने राज्याभिषेक के समय अपने पुत्रों के मुख से सुना था! उत्तरकांड के ८४वें सर्ग में आता है कि 'भोजन कर चुकने पर वाल्मीकिजी के आश्रम में शत्रुघ्न ने दूर से रामचंद्र के चरित का मधुर संगीत सुना। रामचंद्र पहले जो-जो कार्य कर चुके थे, उन्हीं का गीतों में वर्णन था'। भला उन्हीं गीतों में—यदि यह वही हैं तो—यह कहाँ से आ जाता कि शत्रुघ्न ने भोजन करने के उपरांत उन्हें

सुना था! तात्पर्य यह कि यह वह काव्य नहीं, जिसे वाल्मीकिजी ने बनाया था।

लंकाकांड का १३०वाँ सर्ग कहता है—'भगवान् वाल्मीकि ने इस आदि-काव्य का वर्णन अपने मुँह से किया है'। उत्तरकांड का १०७वाँ सर्ग कहता है—'इस काव्य को भगवान् वाल्मीकि मुनि ने बनाया है'। इसी कांड का १११वाँ सर्ग कहता है—'यह काव्यों में उत्तम काव्य भगवान् वाल्मीकि का बनाया हुआ है'। यदि यह काव्य वाल्मीकिजी का बनाया हुआ होता, तो न तो वह बार-बार इस प्रकार लिखते और न अपने को 'भगवान्' कहके पुकारते। वर्तमान पुस्तक में जहाँ-तहाँ लिखा मिलता है कि यह ग्रंथ 'वाल्मीकिजी का ही' बनाया हुआ है। लेखक के जी की शंका कि अब की बनाई हुई रचना को कोई आदि-कवि की रचना कैसे मानने लगेगा, इन शब्दों को कहलवाती गई है, जैसे कि लोगों को उसे पढ़ने के लिये उत्तेजित करने को पुराण-कथाओं के समान आशाएँ दिलाई गई हैं—लंकाकांड का अंतिम सर्ग कहता है कि 'इस काव्य के सुनने से स्त्रियाँ जीवनपुत्री होती हैं, उनके पुत्र जीते रहते हैं, उन्हें बड़ी आयु मिलती है। राम के विजयकाव्य को जो सुनते हैं, वे बड़ी-बड़ी कठिनाइयों को पार कर लेते हैं। यदि कोई परदेश में हो, तो वह फिर आकर अपने बंधु-बांधवों से मिलता है। उत्तरकांड के ४२वें सर्ग में अगस्त्य मुनि रामचंद्र से कहते हैं—'यह कथा बड़े-बड़े पापों का नाश करती है'। (जब लवकुश से प्रथम बार राम ने कथा सुनी और उसके उपरांत यदि कभी अगस्त्य ने भी रामचंद्र से उसे कहा, तो अगस्त्य के कहने का वर्णन उस आदि-काव्य में कहाँ से आ जाता, जो लव-कुश ने रामचंद्र को पहले ही सुनाया था?)

कलयुग में भगवान् बुद्ध के अवतार के पश्चात् लिखे जाने के अतिरिक्त इस बात का भी प्रमाण इसी ग्रंथ में उपस्थित है कि वह उस समय का लिखा हुआ है, जब नई कुरीतियाँ हिंदू-समाज में घुसने लगी थीं, ब्राह्मण लोभी हो गए थे, व्यभिचार, वेश्या-गमन, मदिरापान फैल गया था, विवाहों में दहेज चल निकला था और स्त्रियों में पर्दे की प्रथा तक आने लगी थी। रामचंद्रजी का समय आर्य-सभ्यता के विकास का काल था। उस समय आर्य-जाति ऐसी दूषित प्रथाओं से कलंकित नहीं हुई थी। जब इन कुप्रथाओं का उल्लेख वाल्मीकीय रामायण में आता है, तो यह साफ़ है कि लेखक की कल्पना ने कथा को विस्तार देने में अपने काल की रीतियों को लिख डाला है।

अयोध्याकांड के १११वें सर्ग में रामचंद्रजी, भरतजी के उन्हें लौटाल ले चलने को धरना देने पर, कहते हैं कि 'यह काम तो उस ब्राह्मण का है, जो किसी प्रकार की धनादि की हानि से, एक कर्वट से, अपने दुखदाता का रोध करता है'। अर्थात् ब्राह्मण लोग धन के लिये धरना दिया करते थे।

आदि-कांड के ७४वें सर्ग में लिखा है कि 'राजा जनक ने अनेक गाएँ, बहुत-से उत्तम-उत्तम प्रकार के दुशाले, बेशुमार रेशमी वस्त्र और करोड़ों सूती वस्त्र दहेज में दिए। उन्होंने अच्छे गहनों से सजे हाथी, घोड़े, रथ, पैदल, दासी और दासों के सहित सौ कन्याएँ तथा सुंदर सुवर्ण, मोती और मूँगे महाराज दशरथ को दहेज में दिए। दहेज की कुप्रथा के अतिरिक्त कन्याओं के दिए जाने का वर्णन विशेष ध्यान देने योग्य है। लंकाकांड के १२७वें सर्ग में भरतजी ने रामचंद्रजी के आने का समाचार सुनकर हनुमान्‌जी से कहा है—'इस आनंद-समाचार के सुनाने से मैं तुमको एक लाख गाय, सौ गाँव और सोलह कन्याएँ देता हूँ। वे कन्याएँ कुंडलों से भूषित, अच्छे आचरण-वाली और सोने के रंगवाली हैं। उनकी नाक अच्छी है, वे मनोहर जंघाओं से सुशोभित, चंद्रमुखी, संपूर्ण भूषणों से भूषित तथा सम्पन्न और अच्छे कुल की हैं।' अच्छी जंघाओंवाली कन्याएँ क्यों दी जाती हैं, यह साफ़ ही है। इसी प्रकार उत्तरकांड के ४६वें सर्ग में अनेक राजाओं के रघुनंदन की भेंट को अनेक 'रूपवाली दासियाँ' भेजी हैं। उत्तरकांड के १०४वें सर्ग में लिखा है कि जब महाराज रामचंद्र ने नैमिषारण्य में अश्व-मेध यज्ञ करने की तैयारी की, तब भरतजी को वहाँ आगे से भेजा और कहा—'बहुत-सी युवती स्त्रियाँ भी भरत के साथ जावें।' लंकाकांड के १३०वें सर्ग में मंत्रियों, योद्धाओं, नगरवासियों और व्यापारियों से पहले ही रामचंद्रजी का राज्याभिषेक तक 'षोडश कन्याओं ने किया है'। इसका यह कारण नहीं था कि रामचंद्रजी की दृष्टि में स्त्री-समाज विशेष आदरणीय रहा हो, क्योंकि अयोध्याकांड के १००वें सर्ग में वे भरतजी से

कहते हैं—'तुम स्त्रियों पर विश्वास तो नहीं करते ? कभी उनसे गुप्त बातचीत तो नहीं करते ?' स्त्रियों के प्रति उनका व्यवहार ऐसा था कि न केवल शूर्पणखा ही के लिये उन्होंने लक्ष्मण से (अरण्यकांड के १८वें अध्याय में) कहा था कि 'हे पुरुषव्याघ्र, इस कुरूपा, असती, अति मतवाली महोदरी राक्षसी को कुरूप कर दो,' और 'तब लक्ष्मण ने उस राक्षसी के नाक-कान काट लिए।' वरन् अरण्यकांड के ६९वें सर्ग में दिया है कि लक्ष्मण ने खड्ग निकालकर अधोमुखी राक्षसी के कान, नाक और स्तनों को काट लिया। उसने उनसे प्रेम-भिक्षा माँगी थी। और तो और अपनी ही धर्मपत्नी के साथ, जिसने उनके साथ वनयात्रा की थी, इतने कष्ट भोगे थे, राम का बड़ा क्रूर व्यवहार था। लंका-विजय के पश्चात् जिस समय सीताजी उनके सामने लौटकर आती हैं, तो लंकाकांड के ११७वें सर्ग में दिया है कि बजाय सांत्वना देने के आप कहते हैं—'जिस यश के लिये मैंने तुम्हें जीता, उसका लाभ मुझे हो गया। अब तुमसे मुझे कुछ प्रयोजन नहीं। अब तुम चाहे जहाँ चली जाओ।' इसी व्यवहार का प्रतिबिंब अयोध्या में पड़ा है, जब निष्कारण रामचंद्र ने सीता को घर से निकाल दिया है और लक्ष्मण को आज्ञा दी है कि 'कल सबेरे सुमंत्र से रथ जुतवाकर और उस पर सीता को चढ़ाकर हमारे देश से बाहर छोड़ आओ। निर्जन देश में इस को छोड़कर मेरे पास चले आना।' (उत्तरकांड ४५वाँ सर्ग)। स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार होते हुए, उनके संबंध में ऐसे विचार होते हुए फिर क्यों रामचंद्रजी का तिलक षोडश कन्याओं से कराया गया है ? हनुमान्‌जी को भरतजी को, स्वयं रामचंद्रजी को युवती कन्याएँ क्यों दी गई हैं ? इसका कारण यह है कि जिस काल में यह ग्रंथ लिखा गया है, व्यभिचार फैला हुआ था और ग्रंथ के लेखक ने वही चरित्र अपनी कल्पना द्वारा इन पाँचों का भी बता दिया है। उस समय वेश्याओं का पेशा भी शुरू हो गया था। स्वयं वशिष्ठ अयोध्याकांड के तीसरे सर्ग में राम के युवराज नियत किए जाने के प्रबंध में आज्ञा देते हैं कि 'वेश्याएँ अच्छे वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत होकर उपस्थित रहें' और महाराज दशरथ तो ३६वें सर्ग में यहाँ तक कहते हैं कि राम के साथ सेना-सहित वनवास में 'बातचीत करने में चतुर वेश्याएँ जावें।'

जिनको ऋषि और मुनि कहा गया है, उनके आचरण पर भी वर्तमान वाल्मीकीय रामायण अच्छी झलक डालती। अयोध्याकांड के ६४वें सर्ग में राजा दशरथ धोके से अपने द्वारा श्रवणकुमार को बाण मारने की कथा कौशल्या को सुनाते हैं। श्रवणकुमार के पिता को 'भगवान् ऋषि' कहते हैं, पर यह ऋषि वैश्य थे और इनकी स्त्री शूद्रा थीं, जिनसे श्रवणकुमार उत्पन्न हुए थे। बाल-कांड के ६१वें सर्ग में वर्णन है कि राजा अंबरीष ने ऋचीक ऋषि के पास जाकर कहा कि 'यज्ञ में पशु बनाने के लिये आप अपना पुत्र मुझे दे दीजिए' और ऋषि ने "बहुत-सा सोना, रत्न और लाख गाएँ' लेकर अपना मँझला पुत्र बलि चढ़ाए जाने को बेंच दिया !! अयोध्या-कांड के ९१वें सर्ग में भरत और उनकी सेना का स्वागत करके महर्षि भरद्वाज आज्ञा देते हैं कि 'सुरा इत्यादि पीने के पदार्थों और विविध मांसों को चंद्रदेव तुरत ही प्रस्तुत और उपस्थित कर दें।' महाराज रामचंद्रजी के यहाँ मदिरा कितने ज़ोरों से चलती थी, इसका वर्णन उत्तर-कांड के ४२वें सर्ग में है, जहाँ दिखाया गया है कि अयोध्या की अशोकवाटिका में 'सीता को पास बैठाकर उन्होंने (रामचंद्रजी ने) अपने हाथ से मैरेय-नामक पवित्र मद्य उन्हें पिलाई, मानो इंद्र इंद्राणी को पिलाते हों। उस समय नाचने और गाने में बड़ी चतुर रूपवती अप्सराएँ किन्नरियों के साथ—मद्यपान से कुछ मस्त होकर—महाराज के सामने नाचने लगीं।' यह सब बातें हिंदुओं का कुसमय आने से ठीक पहले की हैं।

बहुत बुरी तरह के व्यभिचार की कथाएँ वाल्मीकीय रामायण में भरी पड़ी हैं। वरुण एक स्थान पर 'इतने में उर्वशी-नामक अप्सरा सखियों के साथ आ गई। वहाँ उस रूपवती को क्रीड़ा करते देखकर वरुण ने चाहा कि उसके साथ संभोग करें। उसने कहा कि हे सुरेश्वर ! मित्र देवता ने अपने साथ सह-वास करने को मुझसे पहले से कह रक्खा है। यह सुन-कर काम से पीड़ित वरुण ने कहा—अच्छा, जो तू मेरे साथ संभोग नहीं चाहती, तो मैं अपना तेज इस देव-निर्मित घड़े में छोड़ दूँगा। उर्वशी ने प्रसन्न होकर कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही कीजिए।' इसका अर्थ यही मालूम होता है कि वरुण ने उर्वशी को गर्भवती कर दिया; क्योंकि मित्र देवता क्रुद्ध होकर कहते हैं—'

दुष्टाचारिणी ! तू पहले मुझे स्वीकार कर कहाँ खिसक गई थी ? तूने दूसरा पति क्यों किया ?'

इसी कांड के ८३वें सर्ग में है कि 'दंड राजा अपने पुरोहित के आश्रम में गए। वहाँ राजा दंड ने भार्गव की लड़की को देखा। राजा दंड उसे देखते ही काम-पीड़ित हो गया और गिड़गिड़ाने लगा—हे सुश्रोणि ! मेरे ऊपर कृपा कर, समय न बिता। तेरे लिये मेरे प्राण निकले जाते हैं। तुझे पाकर चाहे मेरा वध हो, चाहे मुझे घोर पाप हो, पर तू तो मुझे स्वीकार कर ले। मैं बहुत विह्वल हो रहा हूँ। यह कहकर उसने बलात्-कार से उसके दोनों हाथ पकड़ लिए और यथेष्ट विहार किया।'

उत्तरकांड के १०१वें सर्ग में लिखा है कि 'स्त्री इला वन में घूम रही थी। बुध वहाँ मिला और उसकी ओर देखकर कामबाणों से अचेत-सा हो गया और प्रार्थना की कि हे वरोरुहे ! स्नेह की दृष्टि से तू मुझे भक्ति-पूर्वक संतुष्ट कर। एकांत स्थान में बुध के मुँह से यह बात सुन इला ने कहा—मैं तो कामचारिणी और तुम्हारे वश में हूँ। यह सुनते ही वह कामी बुध उसके साथ विहार करने लगा।'

इस प्रकार की कथाओं को लिखकर ही इस ग्रंथ (वाल्मीकीय रामायण) के लेखक को संतोष न हुआ। उत्तरकांड के ३६वें सर्ग में तो उसने अश्लील भाषा का भी प्रयोग कर डाला है। रावण को रंभा अप्सरा देख पड़ी, तो वह उससे कहता है, 'हे प्रिये ! आज कौन व्यक्ति कमल की-सी सुबासवाले तुम्हारे मुख का अमृत पीकर परितृप्त होगा ? ये तुम्हारे दोनों स्तन—जो सोने के घड़े के तुल्य मोटे, सुंदर और मिले हुए हैं—किस पुरुष की छाती का स्पर्श करेंगे, हे भामिनि ! सुवर्ण-चक्र के समान, सुवर्ण की तागड़ी से भूषित, मोटी और स्वर्ग के तुल्य सुख देनेवाली तुम्हारी इन जंघों पर कौन पुरुष चढ़ेगा ? यह कहकर रावण ने रंभा को पर्वत के शिखर पर लिटा दिया। वह उसके साथ भोग करने लगा !'

यह व्यभिचार, यह मदिरा-पान, यह यज्ञ में बलि-दान, यह ब्राह्मणों का लोभ, यह सामाजिक कुरीतियाँ उस समय की हैं, जब भगवान् बुद्ध को इनके विध्वंस के लिये अवतार लेना पड़ा था और इस ग्रंथ में इनका वर्णन स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह ग्रंथ जिसमें बौद्ध-मत का वर्णन है, बौद्ध-मत के प्रचार के बाद ही लिखा गया है। संभवतः जब बौद्ध-मत की अवनति और ब्राह्मण-वंश की बढ़ती होने लगी है, तब का लिखा हुआ हो, परंतु इस ग्रंथ में दो स्थानों पर परदे का भी वर्णन आया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस कुप्रथा के भी प्रचलित होने के बाद यह ग्रंथ लिखा गया है और यह कुप्रथा बहुत पुरानी नहीं है।

लंका-कांड के ११३वें सर्ग में मंदोदरी विलाप करती हुई रावण से कहती है—'हे प्रभो ! मैं बिना घूँघट के, नगर के फाटक से निकलकर यहाँ पैदल चली आई हूँ। क्या ऐसी दशा में आने से तुम मुझसे क्रुद्ध हो गए ?' इसी कांड में ११६वें सर्ग में है कि विभीषण जब सीताजी को रामचंद्रजी के समीप लाने लगे, तब उन्होंने (विभीषण ने) वानरों और भालुओं को वहाँ से हटा दिया। इस पर रामचंद्रजी ने कहा कि 'विपत्ति-काल, पीड़ा, युद्ध, स्वयंवर, यज्ञ और विवाह में स्त्रियों का दर्शन दूषित नहीं है। ऐसे समयों में उन्हें परदे में रखना ज़रूरी नहीं।' इसका अर्थ केवल यह है कि अन्य समय में उन्हें परदे में रखना चाहिए और इससे ज्ञात होता है कि परदे की कुप्रथा चल निकली थी।

मेरे यह सब लिखने का तात्पर्य यह कि वाल्मीकीय रामायण रामचंद्रजी के समय का लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है। यह वह काव्य नहीं है, जिसे वाल्मीकिजी ने बनाकर लव-कुश को याद कराकर रामचंद्रजी के दरबार में सुन-वाया था। वह आदि-काव्य लुप्त है। रामायण के प्रेमियों को उसका पता लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। वर्तमान ग्रंथ इधर हज़ार-डेढ़ हज़ार बरस का लिखा हुआ है। संभव है कि वह एक लेखक की रचना न हो, वरन् समय-समय पर बहुत-से लोगों ने अपनी-अपनी रचनाएँ उसमें जमा कर दी हों और लोगों में प्रचलित करने के लिये ग्रंथ का वाल्मीकिजी ही के नाम से नामकरण कर दिया है।

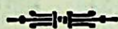
जिस समय इसलाम का आक्रमण सनातन-धर्म पर हुआ है, उस समय गोस्वामीजी ने रामचरित-मानस की रचना की थी और उसके प्रभाव से सनातन-धर्म की बहुत रक्षा हुई, क्योंकि साधारण जनता योग और शास्त्र के गूढ़ तत्त्वों को नहीं समझ सकी। उसको साधारण बातें

और अपना चरित्र बनाने को आदर्श चरित्र और अपने धर्म का गुण-गान करने को अपने धर्म में पैदा हुए बड़े-बड़े आदमियों और अवतारों की बड़ी-बड़ी बातें चाहिए, वह सब रामचरित-मानस ने दे दीं। इसी प्रकार बौद्ध-धर्म के आक्रमण के समय वाल्मीकीय रामायण की रचना करके सनातन-धर्म के विद्वानों ने उस समय की जनता के लिये वही त्रुटि पूरी करने का उद्योग किया; कि जिसे रामचरित-मानस से गोस्वामीजी ने इस का पूरा किया, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। रामचंद्रजी ही के चरित्र को हर बार क्यों लिया गया, इस पर रामचंद्रजी के चरित्र पर विचार करते समय अपना मत प्रकट करूँगा।

(अपूर्ण)

रामगोपाल मिश्र

रामजन्म



आनँद असीम की 'बिसारद' लहर नाची,
अवध-निवासी नर-नारिन के गन मैं;
नाची हिए देवन के सुखमयी शांति सीरी,
भावना विशेष नाची भालु-बानरन मैं।
मुक्ति नाची मुदित समीप गीधराज के त्यों,
मीच नाची हँसि दश-मौलि के सदन मैं;
राम के जनम खन अमित उछाह भरी,
भक्ति नाची ऋषिन के शुभ आश्रमन मैं।

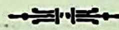
बलदेवप्रसाद टंडन "बिसारद"

गोस्वामी तुलसीदास

सागर अपार को बिलोरि भरि गागर मैं,
राखी साखि बेदरु पुरान शुभ गत्ता की;
बसुधा सुलभ कीन्हीं सुधा मानसर साँची,
आखर की कामधेनु तू ही अलबत्ता की।
द्विज साधु गुरु श्रीगोसाइँ रचि रचना तैं
धरम सिंचाई की नहरि सरबत्ता की;
धुनि गरिमा की, रस परिमा, मधुरिमा की,
मानी जग सत्ता तेरी कविता महत्ता की।

सूर्यप्रसाद पांडेय "द्विजसाधु"

देखभाल



[चौपदे]

जब लगातार तार ही टूटा।
और झनकार फूटकर रोई।
जब कि बोली न 'बोल' की तूती।
किसलिये बीन तन्त्र बजी कोई। १।

सुन उसे सिर धुना अगर 'धुन' ने।
और खटराग राग को भाया।
सुर अगर बेसुरे बने सारे।
किस लिये गीत तो गया गाया।२।

जो निछावर हुई नहीं तितली।
जो न भर भाँवरें भँवर भूला।
रंग बू है अगर नहीं रखता।
तो कहीं फूल किस लिये फूला।३।

क्यों गँवाएँ न हाथ के हीरे।
भूल पर भूल है अगर होती।
किस लिये लोग मूँदकर आँखें।
पोत को हैं बता रहे मोती। ४।

चढ़ किसी फूल पर न आबस का।
पर गए सब खिले गुलाब झुलस।
देखिए ये उठे हुए बादल।
किस तरह का बरस रहे हैं रस।५।

हैं न वैसे हरे-भरे पौधे।
फूल में हैं न रंगतें वैसी!
है कहाँ वह बहार बागों में।
आज है बह रही हवा कैसी। ६।

देख करके जमाव कौओं का।
पत्तियाँ बीच हैं छिपी जातीं।
है मचा काँव-काँव कुछ ऐसा।
कोयलें कूकने नहीं पातीं। ७।

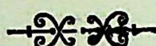
देख उनकी लुभावनी चालें।
हैं हुए खीज-खीजकर पगले।
चोंच अपनी चला चला करके।
हंस को नोच हैं रहे बगले। ८।

इस तरह क्यों उठा रहे हो सिर।
किस लिये हो बहुत बढ़े जाते।
जो तुम्हें पालती नहीं मिट्टी।
पेड़ तो तुम पनप नहीं पाते। ९।

भूल है मत हँसी करो उसकी।
रूप औ रंग मिल सके जिससे।
धूल की धूल क्यों उड़ाते हो।
पास के फूल तुम महक किससे।१०।

अयोध्यासिंह उपाध्याय

हत्यारा



(१)

भक्त की सबसे सुंदर सृष्टि है । उसके भगवान् उन्हें बनाकर फिर वह उन्हीं से कर्तव्य की प्रेरणा पाता है । दीनानाथ की सबसे सुंदर सृष्टि थी मुक्ति-भावना । क्योंकि उसी से उसे हत्या की प्रेरणा हुई । जिस दिन उसने सोचा—संसार एक बंधन है, एक कारागार है, यहाँ सभी सज़ा भुगत रहे हैं, उस दिन उसकी बेफ़िक्र आत्मा बंदी की तरह छटपटा उठी ।

जिस ख़याल से दो हज़ार साल पहले महात्मा ईसा सलीब पर चढ़ गए थे, जिस विचार से राजकुमार सिद्धार्थ ने कपिलवस्तु के राजमहल छोड़कर रास्ते की ख़ाक छानना जीवन का लक्ष्य स्थिर किया था, ठीक उसी ख़याल से दीनानाथ ने इस शताब्दी में अपना नया प्रयोग आरम्भ किया । एक ही जगह के लिये अलग-अलग रास्तों से चलना बुद्धिमानों का स्वभाव है । ईसा अपने लिये नहीं, संसार के लिये मरे थे, बुद्ध ने बोधिसत्व का दुष्कर प्रयास पीड़ित विश्व के लिये ही किया था । दीनानाथ ने भी दीन-दुखियों को मुक्त करना अपना परम कर्तव्य मान लिया ।

पहलेपहल उसे दया आई एक मक्खी पर, जो गंदगी पर बैठने के लिये भिनभिना रही थी । दीनानाथ ने अपनी लंबी शिखा में तीन बार ग्रंथि देकर सोचा—शायद यह दहाड़ मारकर रो रही है या अपने तुच्छ जीवन से बेज़ार है । ओफ़ ! शोक !—परोपकार, तेरी शक्ति क्षीण हो गई ? तू मुझे ज़रा बल नहीं दे सकता कि मैं इस दुखग्रस्त आत्मा को सांत्वना दे सकूँ ? ऐ मायामय अंधकार ! तूने एक प्रकाश की किरण तक मेरे पास नहीं रहने दी ? नाश ! सर्वनाश !

दीनानाथ चौंक पड़ा । एक मकड़ी ने मक्खी को दबोच लिया । थोड़ी-सी भिनभिनाहट, थोड़ी-सी फरफराहट ! फिर सब शांत, मौन, नीरव ।

अंधकार का हृदय चीरकर प्रकाश आँखों में भर गया । अब ज़माना ही कुछ और है । बीसवीं सदी है । महीनों का रास्ता घड़ियों में तय होता है । बुद्ध को शायद बरस से ज़्यादा लगा था और दीनानाथ को छः मि से भी कम । उन्हें एकांत वन में प्रकाश का सा हुआ था, इन्हें अपने ज़नानख़ाने की ड्योढ़ी के अं

दीनानाथ ने मस्त शरीर ज़रा चुस्त करके म को शाबाशी दी—वाह, ख़ूब !

(२)

उस दिन से क्यों, उसी क्षण से दीनानाथ मुक्ति सीधा रास्ता पा गया । क्षण-भर की साधना में प्रकाश की जो ज्योति मिली, वह उसकी समझ से थी । वह संयमपूर्वक पीड़ित विश्व को उस ओर कर धर्म-संस्थापकों का कठिन कार्य करने लगा ।

उसे प्रत्यक्ष रूप से यह प्रतिभासित हो गया कि प्रा मात्र में सुख और शांति की चिरंतन अनुभूति अभाव है । सभी योनियों में, सभी वर्गों में उस अभ की विशेष मात्रा से बेकली बढ़ रही है । कहीं भी संतु नज़र नहीं आती । कष्ट, दुश्चिंता और शोक से मात्र व्याकुल हो रहे हैं ।

सांसारिक संघर्ष के कारण जीवन में जो क्षोभ उत्प होता है, उससे किसी का भी निस्तार नहीं । वह जितना असह्य और अनिच्छित है, उतना ही वह वार्य-सा हर एक के पीछे लगा है । जो जितने भागकर उससे प्राण छुड़ाना चाहता है, वह उतनी तत्परता से उसके गले का हार बनकर उसके साथ रहता है ।

दीनानाथ को ताज्जुब तो इस बात पर होता था कि अनेक व्यर्थ के आविष्कारों में मनुष्य ने क्यों अपने जीवन का दुरुपयोग किया ? जो चिंता सबसे ज़रूरी थी, वही क्यों नहीं स्वाभाविक रीति से किसी के मस्तिष्क में उदित हुई ? जिन लोगों ने जीवन-मरण के रहस्य को परदे से बाहर लाने का यत्न किया, वे क्यों नहीं कार्य हुए ? इतना सीधा-सा रास्ता उन्हें क्यों सूझा ? क्या मृत्यु ही जीवन का परमार्थ नहीं है ?

ओह ! उसकी गोद कैसी विश्रांतपूर्ण है। अनंत सुख और चिरंतन शांति में, वही तो जीवन की समस्त क्लांति को विलीन कर लेती है। उसके द्वार के अंदर पैर रखते ही अभावों का अभाव हो जाता है।

उसी की उज्ज्वल आलोकपूर्ण मुखच्छवि को लोगों ने अंधकार की कालिमा समझने की भूल की है। मनुष्य की भ्रमपूर्ण बुद्धि के नए-पुराने संस्करणों को देखकर कहना पड़ता है कि अगर ऐसी निरर्थक चीज़ कहीं बाज़ार में बिकती होती, तो कोई उसे ताँबे के सिक्कों के मोल भी नहीं ख़रीदता। लेकिन विधाता की परम कृपा का फल मानकर आज भी उसका आसन वैसा ही गौरवास्पद बना है। और अब जब कि दीनानाथ को सत्यता की तह का ठिकाना मालूम हो गया है, तो उसकी महत्ता और भी अक्षुण्ण हो गई है।

बस, मृत्यु को जीवनरूपी दिन की विश्रांतिपूर्ण रात्रि मानकर दीनानाथ मन-ही-मन अपनी सफलता का अनुभव करने लगा। लेकिन यह उसकी विशाल-हृदयता है कि उसने ख़ुद ही उस परम तत्त्व का आस्वादन करने का लोभ नहीं किया बल्कि निर्मुक्त नीलाकाश की तरह, समस्त संसार के लिये उसका द्वार खोल दिया। यही क्यों अपने ही साधनाभिभूत हाथों से उसने इस परम पावन अनुष्ठान का आरंभ किया।

(३)

जीव रक्षा के लिये जैन-साधुओं की सतर्कता प्रशंसनीय है। उनकी दिनचर्या का विशेष अंश अनंत असंख्य कीटाणुओं के बचाव में ही व्यय होता है। दीनानाथ की लगन उनसे भी कहीं बढ़-चढ़कर थी। उसे तो दिन-रात सोते-जागते यही चिंता रहती थी कि किस तरह सृष्टि को सांसारिक क्लेश से छुटकारा दिला दिया जाय। शायद वह एक दिन में उतने जीवों को परलोक अवश्य ही भेज देता था, जितने कई साधु मिलकर बचा न सकते होंगे।

दीनानाथ के एक मित्र के शब्दों में अगर उसकी फ़ुर्ती का वर्णन करने लगें, तो कहेंगे कि उसने विधाता तक को हरा दिया था। बूढ़े शक्तिहीन चतुरानन बाबा जब तक एक की सृष्टि करते थे, तब तक वह चार को समाप्त कर देता था। चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते दीनानाथ कभी अपना काम भूलता नहीं था। जो जीव जहाँ नज़र पड़ जाता, तुरंत उसे वह पंच-तत्त्व में मिला देता। अगर राजकीय क़ानून बाधक न होता और संसार की मूर्खता इतनी सुधर गई होती कि वह उसके कार्य को उद्धारक का काम समझती, तो अवश्य ही अब तक मानव-जाति का भी बहुत कुछ उपकार हो गया होता। लेकिन दुर्भाग्य, क्योंकि मनुष्य के बराबर कोई मूर्ख नहीं। अनंत कष्ट भोगकर भी रात-दिन नारकीय यंत्रणाओं में छटपटाना उसे पसंद है, लेकिन जीवन से छुटकारा पाने की चिंता नहीं। मृत्यु से उसे डर लगता है, परम शांतिदायिनी, मोक्ष की सहचरी से भयभीत रहता है। अनेक तरह के अस्वाभाविक साधनों से वह अपने जीवनकाल को दीर्घतर करने में ही लगा रहता है। बस, एक मानव-जाति पर ही अपना प्रयोग करने में इच्छा रखते हुए भी दीनानाथ समर्थ न हो सका।

मक्खी-मच्छर, कुत्ते-बिल्ली तथा और सभी जानदारों को दीनानाथ बहुत फ़ुर्ती से परमलोक की तरफ़ भेजने लगा। वह एक भी काम ऐसा नहीं करता, जिसके साथ उसके जीवन का लक्ष्य भी दूर न होता जाता हो। एक पैर जमाकर वह दूसरा पैर तब तक नहीं उठाता, जब तक उसे दो-चार जीव दबकर मसल जाने का पूरा विश्वास नहीं होता। इसी तरह बड़ी ख़ुशी, बड़े उत्साह और बड़ी तत्परता से वह हिंसा-व्रत-साधन द्वारा परमार्थ का आदर्श उपस्थित करने लगा।

(४)

कर्मों के अनुसार ही स्वभाव में कोमलता और कठोरता का समावेश होता है। ब्राह्मण परशुराम में क्षत्रित्व और क्षत्रिय बुद्धदेव में ब्राह्मणत्व की विशेषता सभी जानते हैं। दीनानाथ के स्वभाव में भी परिवर्तन शुरू से ही आरंभ हो गया था। धीरे-धीरे दूसरों के दुखों की अनुभूति से उसका मन विरक्त हो गया। छोटे-छोटे जीवों से चलकर वह बड़े-बड़े जीवों को मारने लगा। उनके छटपटाने, उनके चिल्लाने का उसकी अंतरात्मा पर कुछ भी असर नहीं पड़ता था।

एक दिन जब वह लाठी का प्रहार एक सोते हुए कुत्ते पर करना चाहता था, उसके मित्र कालिकासहाय ने आकर कुत्ते को भगा दिया और एक ओर खड़ा होकर हँसने लगा। मित्र की ढिठाई और नादानी पर

दीनानाथ को कितना कष्ट पहुँचा, वह शायद कालिका-सहाय को ज्ञात न हुआ। दीनानाथ को इस तरह अपनी ओर घूरते देखकर कालिकासहाय ने हँसकर कहा—क्यों, भला उसने क्या बिगाड़ा था ?

दीनानाथ ने अधिकारपूर्ण स्वर में कहा—तुम जो बात नहीं समझ सकते, उसके लिये फ़िज़ूल माथापच्ची करने से फ़ायदा।

वह इतना कहकर शीघ्रता से अपने काम के लिये चला गया। कालिकासहाय खड़ा-खड़ा उसके विचित्र स्वभाव की आलोचना करता रहा।

दीनानाथ की उससे मित्रता थी, यह बात समझ सकना कठिन है। कारण कि दीनानाथ सदा से ही निर्मोह, निर्द्वंद्व और निस्पृह था। वह किसी से लगाव नहीं रखता था। जहाँ किसी तरह के संबंध की गंध आती, वहाँ से वह दूर जा खड़ा होता। उसके असहाय जीवन ने प्रेम और स्नेह के अत्याचार को कभी सहा न था। मा-बाप थे नहीं। भाई-बहनों की भी उसे याद न थी। उसका जीवन कठोरता और हृदयहीनता के साँचे में ढला था।

कालिकासहाय भी अजब स्वभाव का था। स्नेह-संबंध के कट्टर शत्रु दीनानाथ से बारबार भिड़ना उसे पसंद आता था। जब देखो तब वह उसी के पीछे पड़ा रहता था। उधर दीनानाथ उसकी रंच भी परवा न करता था। इस तरह विचित्र गति से उन दोनों की मित्रता लँगड़े पैरों चल रही थी। एक हाथ की ताली बजाकर ही कालिकासहाय संतोष कर रहा था। लेकिन ऐसा वह क्यों कर रहा था ? इसका जवाब शायद उसके पास भी न था।

आज जब कालिकासहाय ने एकाएक आकर कुत्ते को भगा दिया, तो दीनानाथ सह न सका। वह मन-ही-मन तलमलाकर एकांत में चला गया और किसी विचार में मग्न हो गया। बड़ी देर तक ध्यानावस्थित होने के बाद वह यह सोच सका कि कालिकासहाय अज्ञानी है। उसे इतना ज्ञान नहीं है कि वह एक मक्खी की तरह अपने जीवन की असामर्थकता समझ सके। 'मक्खी' का ध्यान आते ही उसे मकड़ी का भी ध्यान आ गया। उसे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे किसी दिव्य ज्योति ने उसे कुछ संकेत किया है। उसने कहा—हाँ, ज़रूर उसे अज्ञानता से मुक्त करना होगा। वह मुझसे हित माँ... है। शायद उसकी अंतरात्मा इसीलिये उसे बार-बार इधर ले आती है। ख़ैर, अब उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मैं ख़ुद ही चलकर उसकी आत्मा को अमरपद पहुँचाकर तृप्त करूँगा।

वह चटपट एक चमचमाती हुई छुरी लेकर अपने अज्ञानी मित्र की तलाश में निकल पड़ा। थोड़ी ही दूर गया होगा कि कराहने की एक क्षीण आवाज़ ने उसे चौंका दिया। उसने देखा—एक कंकाल-प्राय मानव-मूर्ति रास्ते में एक तरफ़ पड़ी थी। उसमें मांस और रक्त का शायद एकदम अभाव हो चुका था।

दीनानाथ का हृदय न-जाने क्यों यह दृश्य देखकर काँप गया, पर तुरंत सँभलकर खड़ा हो गया। मन सुस्थिर करके पूछना चाहा—कहो, विश्रांति की गोद में जाना चाहते हो ? इस नारकीय संसार से त्राण की कामना कर रहे हो ? क्या तुम्हें तुम्हारे उद्देश में सहायता दूँ ?

मृत्यु की गोद में छटपटाते हुए पुरुष ने कष्ट से व्यथित स्वर में कहा—थोड़ा पानी।

दीनानाथ के तन-बदन में आग-सी लग गई। वह बोला—अभी तक पानी पीने की इच्छा रखते हो ?

उस पुरुष ने आँखें खोल दीं। चारों ओर देखकर कहा—हाँ, राजदुलारी ! कहाँ गई ? मेरी प्यारी बच्ची...

दीनानाथ—क्यों क्या चाहते हो ?

पुरुष—जीवन, मैं केवल जीवन चाहता हूँ। क्या तुम कोई देवता हो भैया ! हा ! मेरी प्यारी राजदुलारी !

दीनानाथ—जीवन नरक है, तुम नरक की क्यों कामना करते हो ?

पुरुष—जीवन नरक ! ओफ़ ग़ज़ब, जिसमें अनेक सुखों की उपलब्धि हुई, वह......वह......

दीनानाथ—हाँ, वही ! तुम अज्ञानता में पड़े हो। कहो तो तुम्हें अज्ञान से छुटकारा दिला दूँ ? बोलो शीघ्र, मेरा अमूल्य समय जा रहा है। उसने अपनी तेज़ छुरी हाथ में ले ली।

पुरुष की आँखें खुल गईं। उसने कहा—ओह ! तुम हत्या करोगे, हत्या ! अभी नहीं, मेरी बच्ची राजदुलारी...

दीनानाथ ने पेट के पास छुरी ले जाकर कहा—तुम मूर्ख हो। जाओ, यह सीधा रास्ता है—बस।

(५)

अपराह्ण-काल की अंतिम किरणें पड़ रही थीं। दीनानाथ ने जाकर कालकासहाय को पुकारा। कुंडी खुली, दीनानाथ दरवाज़े को ठेलकर अंदर दाख़िल हुआ। वह आश्चर्य से अवाक् खड़ा रह गया। एक अद्भुत लावण्यमयी कृशांगी सुकुमारी लड़की सामने खड़ी थी। उसके अपूर्व चेहरे पर विषाद की छाया ने आश्रम बना लिया था। दीनानाथ मुग्ध भाव से कई क्षण तक उसकी ओर टकटकी लगाए खड़ा रह गया। वह लड़की भी मूर्तिवत् उसके एक तरफ़ निकल जाने की प्रतीक्षा में उसी तरह अचल बनी रही।

कालकासहाय ने अंदर से पुकारा—क्या करने लगा है, दीनानाथ ? क्या कोई शिकार हाथ लग गया है ?

मोह भंग हुआ। दीनानाथ का शरीर एक दफ़ा ऊपर से नीचे तक सिहर उठा। उसने जी पर शासन करके कहा—अजी किधर हो, मैं तो शिकार की ही तलाश में आया हूँ।

इधर छत पर चले आओ—कहकर कालकासहाय उसकी प्रतीक्षा में टहलने लगा। दीनानाथ पहुँचा तो कालकासहाय ने व्यंग के भाव से पूछा—आज क्या ज़रूरत पड़ गई ?

दीनानाथ ने अपनी कमर की छुरी पर हाथ फेरकर कहा—मुझे तुम्हारे ऊपर बड़ी दया आती है। कई दिन से मैं यह निश्चय कर रहा हूँ कि कम-से-कम अपने एक परिचित मित्र को तो कुछ उपदेश दे सकूँ।

कालकासहाय ने हँसकर कहा—मैं तो तुम्हारा उपदेश ग्रहण करने के लायक़ नहीं हूँ। अभी मेरी बुद्धि परिपक्व नहीं है, अभी संसार की किसी चीज़ से मुझे विरक्ति नहीं हुई है, इसलिये मैं उसका अधिकारी नहीं। हाँ, तुम्हारे उपदेश का एक श्रोता मुझे मिल गया है। वह मैं तुम्हें सिपुर्द कर सकता हूँ।

दीनानाथ उसके मुँह की ओर देखने लगा। उसने फिर कहा—कहो तैयार हो ?

इसी समय कालकासहाय की बहन कमलावती उस लड़की को साथ लेकर छत पर आ पहुँची। कालकासहाय ने दीनानाथ से कहा—देखो, यही वह लड़की है। इसका पहले ही तुम्हारे मत की तरफ़ झुकाव है, अगर तुम इसे अपने धर्म में नहीं लेते, तो कमलावती सारे पुण्य की भागी होगी। एक तो उसके शरीर में जान ही कितनी है, दूसरे कमलावती उसे ठेलठेलकर यमपुरी भेज देना चाहती है। बेचारी बड़ी ग़रीब असहाय और निराश्रय है। तुम चाहो तो आकर थोड़ा बहुत उपदेश रोज़ कर जा सकते हो। जब वह पूरी तरह से तुम्हारी अनुयायिनी हो जायगी, तो कोई उसे रोकनेवाला नहीं। सच पूछो तो तुम्हारे मत की सार्थकता इसी तरह के प्राणियों में सिद्ध हो सकती है।

बड़े तर्क-वितर्क के बाद कालकासहाय ने दीनानाथ को तैयार कर लिया। उसने मन-ही-मन ख़ुश होकर पुकारा—कमलावती, अपना उपदेश ख़त्म करके उसे इधर ले आ। उसके लिये नए मास्टर साहब रख दिए गए हैं।

कमलावती ने वहीं से पुकारकर जवाब दिया—नहीं, मास्टर की ज़रूरत नहीं है। वह मास्टर से नहीं पढ़ेगी। हम दोनों खेल रही हैं।

कालकासहाय ने ज़रा तीव्र स्वर में कहा—चल-चल, बहुत बात न बना। मालूम पड़ता है, एक मास्टर तेरे लिये भी लाना होगा। दिन-भर खेलती रहती है।

मास्टर के नाम से सहमत हुई कमलावती अपनी सहेली का अंचल पकड़कर उसे कालकासहाय के पास ले आई।

दीनानाथ धर्मोपदेश की तमाम बातें भूलकर एक साधारण मास्टर की तरह उस अज्ञात अपरिचित बालिका को पढ़ाने लगा। ज़रा देर में कालिकासहाय धीरे से उठकर नीचे चला गया।

(६)

रात को बड़े गर्व के साथ कालकासहाय ने अपने पिता के सामने कहा—बाबूजी, मैंने ठीक कर दिया है।

पिता ने पूछा—क्या दीनानाथ ने आना स्वीकार कर लिया है ? वह बड़ा सैलानी लड़का है, तुम ज़रा उसकी फ़िक्र रखना। वह किसी काम में जी लगा सकेगा, इसका मुझे विश्वास नहीं।

कालकासहाय—जी नहीं, अब वह रोज़ आएगा।

पिता—हाँ, तब तो बहुत ठीक। बेचारी ग़रीब लड़की का जीवन सुधर जायगा और दीनानाथ बंधनग्रस्त होने से मनमानी न कर सकेगा।

पिता ने ही नहीं माता ने भी कालकासहाय को उसकी सफलता पर बहुत साधुवाद दिए। तमाम घर

के लोग उसकी तारीफ़ करने लगे। अकेली कमलावती को भाई की योजना बिलकुल पसंद नहीं आई। वह अपने गाल फुलाए हुए एक तरफ़ बैठी रही। लेकिन उसका किसी पर कुछ असर नहीं हुआ। कमलावती यद्यपि दिन में कई बार लड़ाई-झगड़ा करती थी, पर यह उसकी पक्की धारणा थी कि लड़-झगड़कर भी उसका अपनी सखी पर जो अधिकार है, वह किसी दूसरे का हर दम प्यार करके भी नहीं हो सकता।

दीनानाथ दो-तीन दिन तक बड़े उत्साह से उस अनाथ बालिका को पढ़ाने जाता रहा। उसी थोड़े-से समय के प्रयास ने उसके जीवन की धारा में अपूर्व आकांक्षाओं की सृष्टि कर दी। यद्यपि प्रकाश-रूप से वह उन्हें समझ नहीं सका, पर उसकी सूक्ष्म दृष्टि के लिये उनका आभास ही काफ़ी था। यही वजह थी कि अंतरुल्लास के साथ-साथ ग्लानि का एक भाव भी उसके हृदय में अपनी जड़ गहरी जमा रहा था।

एक दिन शाम को जब वह लौटकर आया, तो उसके हृदय में बड़ी अशांति पैदा हो गई। उसे ऐसा प्रतिभास हुआ कि वह सचमुच कई दिन से अपना कर्तव्य पूर्ण नहीं कर रहा है। यद्यपि समय के बहुत बड़े भाग में वह अपने आचार में कोई त्रुटि नहीं करता, फिर भी एक शिथिलता आ गई है। वह एकाएक नींद के झोंके से चौंक पड़ा। उसे प्रतीत हुआ जैसे कालकासहाय ने उसे ठग लिया है। उसके लिये मोह का एक जाल बिछाकर उसने सांसारिक दृष्टि से अपने जीवन की रक्षा कर ली है, पर वास्तव में उसने अपनी आध्यात्मिक मृत्यु कर ली है।

दीनानाथ ने तुरंत तय किया कि वह ऐसा न होने देगा। वह अपने अज्ञान मित्र को अवश्य ही जीवन्मुक्त करेगा।

बस, दूसरे दिन से वह पूर्ववत् बड़ी तत्परता से अपने कार्य में व्यस्त होगा। मास्टर के रूप में कालकासहाय के मकान की तरफ़ जाना बंद कर दिया और कोई न सही, कमलावती तो उसके इस कार्य से प्रसन्न ही हुई।

(७)

कई दिन प्रतीक्षा करने के बाद भी जब कालकासहाय न आया, तो दीनानाथ से रहा न गया। वह ख़ुद ही उसकी तलाश में निकल पड़ा। आज उसने तय लिया था कि कालकासहाय की ख़बर लेनी ही हो

वह बड़ी तेज़ी से अपने मित्र के मकान की त दौड़ गया।

कालकासहाय का मकान सड़क पर था। दू उसका द्वार नज़र आता था। दीनानाथ देखा, द्वार खुला पड़ा है। उसने मन-ही-मन होकर कहा—आज अच्छा मौक़ा है। क़ानून को बार छका चुका हूँ, आज उसको मसल डालूँ पाप के मूलोच्छेद से बढ़िया दूसरा पुण्य इस जी है कहाँ? यह बेढंगा क़ानून सबसे बड़ा पाप है। इ नियंत्रण से आज यह संसाररूप भट्टी प्रज्वलित हो र और उसमें जल रही हैं असंख्य आत्माएँ।

वह बड़ी तेज़ी से, तीर की तरह, कालकासहा मकान में चला गया। उसका हाथ बराबर कमर छुरी पर था। पहले वह सीधा कालकासहाय के क की तरफ़ गया। वहाँ कोई न था। वह दूसरे कमरे पहुँचा, वहाँ भी कोई न था। ऊपर के तमाम कमरे दे कर नीचे उतर आया, भीतर मकान में प्रवेश किया।

अंदर पैर रखते ही उसने देखा कि घर में सब लो बरामदे में इकट्ठे हैं। बड़ी दौड़-धूप और परेशानी दृश्य उपस्थित हो रहा है। वह झटपट वहाँ जा पहुँचा।

वह मृत्यु को देखकर ख़ुश होता था, लेकिन आ वह रो पड़ा। उसने सजल नेत्रों से अपने मित्र के पि से पूछा—क्या हुआ है? कालकासहाय कहाँ है?

वे कुछ भी जवाब न दे सके। उसी समय काल सहाय डाक्टर को लेकर आया। दीनानाथ बड़ी उ के साथ उसकी तरफ़ बढ़ा, लेकिन कालकासहाय उस तरफ़ ध्यान न दे सका। वह डाक्टर को कुर्सी देकर घुटनों के बल चारपाई की पट्टी पकड़कर ज़मीन पर बै गया और रोगिणी को पुकारा—राजदुलारी!

राजदुलारी बेहोशी की वजह से आँखें न खो सकी! डाक्टर ने बड़ी देर तक नब्ज़ हाथ में ले देखी और कालकासहाय को साथ लेकर बाहर निक गया।

दीनानाथ पागल की तरह वहीं खड़ा रह गया। उसके कानों में बराबर राजदुलारी का नाम गूँज रहा था। पहले भी यही नाम एक बार उसके कान में

चुका है, लेकिन वहाँ इसका उसे ध्यान न था। राजदुलारी को पढ़ाते समय तो वह कुछ भी उससे पूछने का साहस न कर सका था। अपने मित्र से भी विशेष कोई बात पूछने की कभी उसने उत्कंठा न दिखाई थी, फिर भी वह नाम से किस तरह परिचित था ?

कालकासहाय दवाई लेकर लौट आया। दीनानाथ शोक से बेहद उत्तेजित हो रहा था। उसने कालकासहाय को रोककर पूछा—डाक्टर ने क्या कहा ?

कालकासहाय ने सूखे मुँह से उत्तर दिया—कहा है कि ईश्वर ही भला करें। आशा तो कुछ है नहीं, एकाएक आघात लगा है। उसकी कमज़ोर देह सँभाल नहीं सकी है !—लाओ मा ! प्याली, दवाई पिला दें। आज रात-भर जागना पड़ेगा। आप और पिताजी दो दिन से जाग रहे हैं। आज मैं जाग लूँगा। आप लोग जाकर पड़ रहिए, ज़रूरत होने पर बुला लूँगा।

कोई उठकर नहीं गया। कालकासहाय ने दवाई पिलाकर फिर सबसे लेटने को कहा। बड़ी मुश्किल से सब लोग वहाँ से गए।

दीनानाथ अब तक भौचक्का-सा बैठा था। उसने एकांत पाकर उलाहने के दो-तीन शब्दों में ही हृदय की समस्त वेदना उँडेलकर पूछा—मुझे ख़बर ही न दी ?

कालकासहाय ने धीरे से कहा—तुम मृत्यु को ही जीवन समझते हो, इसीलिये—यद्यपि राजदुलारी ने स्वयं बुख़ार की तीव्रता के समय तुम्हें कई बार याद किया था।

दीनानाथ का सारा शरीर काँपने लगा। राजदुलारी ! राजदुलारी ! उसके कानों में गूँजने लगा। उसकी आँखों के सामने उस वृद्ध पुरुष की समस्त बातें प्रत्यक्ष हो उठीं। उसे ऐसा मालूम पड़ा, जैसे समस्त संसार चक्कर लगा रहा है। वह आरामकुर्सी पर बेहोश होकर गिर पड़ा।

कालकासहाय रोगिणी की श्वास की गति पर ध्यान दे रहा था। वह दीनानाथ की हालत का अनुमान नहीं कर सका।

थोड़ी देर में दीनानाथ को होश हुआ। सिर उठाया, देखा—कड़ुए तेल के दिए की बत्ती धीमी जल रही थी। कालकासहाय भी अपनी कुर्सी पर ऊँघ रहे थे।

दीनानाथ ने मित्र का कंधा हिलाकर कहा—तुम जाकर लेटो। मैं बैठा हूँ। दिन में सो चुका हूँ, मुझे बिलकुल नींद नहीं है।

कालकासहाय—नहीं।

दीनानाथ—क्यों नहीं, जाओ, तुम जाकर लेट रहो।

कालकासहाय—डाक्टर की ताकीद है। आज की रात्रि अंतिम है। मैं आज उठकर न जाऊँगा।

दीनानाथ सुन न सका, उसकी आँखों में आँसू की बूँदें झलमलाने लगीं। कालकासहाय ने कहा—यह क्या, तुम......तुम......इस तरह...?

हाँ, भाई—कहकर दीनानाथ चुप हो गया। आगे उससे बोला न गया। कालकासहाय उसके मनोभाव को देखकर वहाँ से उठ गया।

दीनानाथ रोगिणी के श्वास पर एकटक ध्यान लगाए बैठा रहा। ज़रा भी स्पंदन होने से वह सजग हो जाता था। उसके टूटे हुए हृदय में एक ही अभिलाष थी। वह भी पूरी न हो सकी। राजदुलारी ने आँखें न खोलीं—न खोलीं। रात्रि के अवसान के साथ उसके जीवन का भी अवसान हो गया।

उसके मृत शरीर में भी जीवन का स्पंदन खोजता हुआ दीनानाथ विकल भाव से चारपाई पर बैठा रहा। जिसका तमाम समय बराबर मृत्यु में ही सुख का अस्तित्व निर्णय करने में व्यस्त था, वह आज जीवन की एक-एक श्वास के लिये तरस गया।

निर्मम में ममता का स्रोत फूट पड़ा। हत्यारे में करुणा की रागिनी बज उठी। असाधारण निश्चय की दृढ़ दीवार एक ही आघात में छिन्न-भिन्न हो गई। हाय रे ! परिवर्तन ! दीनानाथ चुपचाप भावों को उन्मत्त लहर में राजदुलारी की मृत्यु को अपनी हत्याओं की सूची से अलग रखना चाहता है, पर न-जाने कौन आकर उसका नाम फिर जोड़ देता है। अदृश्य के उस हाथ को रोकने की क्षमता कहाँ ? वह बेहद उद्विग्न और उत्तेजित होकर इधर-उधर देखना चाहता है, पर कुछ दिखाई नहीं पड़ता—कुछ समझ में नहीं आता। संसार के पथ-प्रदर्शन को आज अपने पथ-प्रदर्शन के लिये किसी की बड़ी आवश्यता है।

शंभूदयाल सक्सेना

पावस का दुखिया गगन*

नाम ही नाम हितैषी रहा, हुए अंग-प्रत्यंग हैं खोखले सारे;
शेष सभी पर शून्य रहा, निराधार किसी के नहीं हैं सहारे।
यों गर्मी सर्दी सहके, कहो रो पड़ें कैसे न दुःख के मारे;
पाई बड़ाई भी क्या? जब हो गए सैकड़ों छाती में छेद हमारे।

× × ×

ये वियोग विभावरी दुःख छटा मुझ ही पर ?
व्याकुल हो रहा हूँ;
करती उर को ही विदीर्ण है, विद्युत्-वेदना ?
धीरज खो रहा हूँ;
बना सिंधु ही अश्रु के विंदुओं को अपने को !
"हितैषी" डुबो रहा हूँ;
जग सो रहा सुक्ख की नींद में है यक मैं—
दुखिया हूँ जो रो रहा हूँ।

"हितैषी"

स्वराज्य-संग्राम और सांप्रदायिक समझौते

(१)

'स्वराज्य' का शब्दार्थ, अपनी शक्ति द्वारा स्वतंत्र-रूप से सप्रकाश होकर विराजना है। भौतिक जगत् में सूर्य भगवान् स्वराज्य का स्वामी है। किंतु चंद्रमा तथा अन्य ग्रह, उपग्रह न केवल प्रकाश के विषय में, वरन् अपनी सत्ता तथा विद्यमानता के लिये भी सूर्य के द्वार के भिखारी हैं। इससे वे स्वराज्य-संपत्ति से शून्य हैं। मानवजगत् में जो महामना इस अमृत का पान कर पाते हैं, उनका सुंदर, सराहनीय स्वरूप सर्वोपमातीत, हो जाता है। उनके अंदर आत्म-संयम और जितेंद्रियता के आधार पर विशेष प्रकार की पवित्र आंतरिक शक्ति का स्रोत बहा करता है। वे अपने सुख और आनंद के लाभ के लिये अपने-आपको और अपने इष्टदेव, सर्वलोकेश प्रभु को छोड़कर कभी भूलकर भी किसी तीसरे व्यक्ति का मुँह नहीं ताकते। वे जिस बात को करना अपना कर्तव्य समझ लेते हैं, उससे फिर कभी पीछे नहीं हटते। कल्याण के मार्ग में विघ्न अनंत आते ही हैं। पर कोई प्रतिकूल बात उनका बाल बाँका नहीं कर सकती। वे सब बाधाओं का शिरोमर्दन करते हुए अपने निश्चित पथ पर स्थिर रूप से चलते जाते हैं। और, अंत में, वे किसी पर अन्याय अथवा अत्याचार करके उसके धन-संपत्ति को दबाकर बड़ा बनने का विचार कभी भी मन में नहीं लाते, और न अपने ऊपर किसी अन्य को अन्यायकारी हो सकने का कभी अवसर देते हैं।

(२)

जातियों के जीवन में स्वराज्य का पारिभाषिक अर्थ राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवहार में पूर्ण स्वाधीनता लिया जाता है। व्यक्तियों की भाँति जातियाँ भी सा...ष्टिक रूप से अपने-अपने वातावरण, स्वभाव तथा अन्य बातों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से विकसित होती हैं। कहीं कृषि की प्रधानता है, तो दूसरी जगह वाणिज्य-व्यापार का खुला मार्ग है। कहीं विशेष शिल्प की सामग्री मौजूद है, तो कहीं दूसरे कला-कौशल को साधन प्राप्त हो रहे हैं। हरएक बात हरएक स्थान पर संभव नहीं। भिन्न-भिन्न देशों में, मानव-जीवन के सुख और विलास के लिये, भोजनाच्छादन के लिये, पठन-पाठ...

---

* प्रेषक—स्वामी स्वराज्यप्रकाश।

और शिक्षा के लिये, सांसारिक उन्नति और आध्यात्मिक मंगल के लिये, अर्थात् प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति को सावसर बनाने के लिये, प्रभु ने विचित्र प्रकार से साधन-सामग्री और प्रकृति के भेद कर दिए हैं। सामष्टिक रूप से वही जाति स्वराज्य के महार्घ मणि से सुभूषित समझनी चाहिए, जो अपने स्वभाव के अनुसार अपनी परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने में पूर्णतया स्वतंत्र है। ऐसी जाति सब प्रकार से उन्नति-पथ पर चलती हुई, सब रुकावटों का सफलतापूर्वक सामना करेगी। यदि अन्य जातियाँ उसे उसकी बहुमूल्य भौतिक तथा सामाजिक संपत्तिशालिता से वंचित करने का पापात्मक संकल्प और प्रयत्न करेंगी, तो उन्हें उसको पराजित करने में लोहे के चने चबाने पड़ेंगे। वह दूसरे देशों पर चढ़ाई करने के दुर्विचार से मुक्त रहती हुई अपने घर को सँभालकर रक्खेगी और अपने सब प्रबंध, अपनी बुद्धि तथा स्थिति के अनुसार, स्वेच्छा-पूर्वक करेगी।

(३)

कोई समय था, जब भारतवर्ष में बसनेवाले लोग भी इस बहुमूल्य भूषण को धारण करते थे। उस समय वे सब अपने-आपको एक 'आर्य' जाति के अंग समझते थे और उसकी मान-मर्यादा की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहते थे। प्रत्येक सामाजिक अवयव शारीरिक अवयव की तरह दूसरे अवयवों के साथ क्षीर-नीर होकर रहता था। सब अवयव समानभाव से विकसित होते हुए, अपने-अपने कर्तव्य को पालन करने में अग्रसर बने रहते थे। फिर समय आया। चित्र का दूसरा पहलू सामने आया। स्वार्थ के भूत ने न-जाने, कहाँ से छिद्र पाकर प्रवेश किया। उसने असावधान, सोयी हुई प्रजा पर आक्रमण किया और उसके सिर पर सवार हो गया। नाना प्रकार की फूट फैलने लगी। शनैः-शनैः लाखों वर्षों की कमाई का सार हाथ से निकलने लगा। न केवल राजनीतिक और सामाजिक, वरन् आध्यात्मिक स्वराज्य भी इस मंदभाग्य जाति को अनधिकारी जानकर साथ छोड़ गया। हाँ, इतना संतोष तो है कि यद्यपि लगभग एक हज़ार वर्ष से यहाँ दूसरे लोगों का न्यूनाधिक दबाव चला आया है, तो भी स्वराज्य-संप्राप्ति की प्रवृत्ति और इच्छा अभी तक निःशेष नहीं हो पाई। यहाँ के रहनेवालों ने समय-समय पर खोई हुई संपत्ति को वापस लाने का यत्न भी किया है। भारत की लंबी और दुःखद दासता की कहानी में, ऐसे काले काल का कदापि संकेत नहीं मिलता, जब स्वराज्य-संग्राम सर्वथा ठंडा पड़ गया हो।

(४)

पर क्या कारण है कि इन सब बातों और प्रयत्नों के होते हुए भी देश न केवल परतन्त्र ही चला आता है, वरन् इसकी पराधीनता अधिकाधिक बढ़ती चली आई है? निःसंदेह इस प्रश्न के उत्तर कई होंगे। परंतु विशेष रूप से शोचनीय कारण यहाँ के रहनेवालों का समझौतों की विद्या से अपरिचित होना ही प्रतीत होता है। कदाचित् कुछ लोगों को इस कथन में अत्युक्ति और आश्चर्य प्रतीत हो। पर जब वे यहाँ के मध्यकालीन तथा वर्तमान इतिहास पर समालोचनापूर्वक दृष्टिपात कर लेंगे, तो उन्हें इसकी यथार्थता का निश्चय हो जावेगा। पूर्व कहे प्रकार के अनुसार, स्वराज्य वैयक्तिक और सामाजिक भेद से दो स्थलों पर स्थापित होता है। जो व्यक्ति स्वराज्य-सम्पन्न होना चाहे, उसे चाहिए कि कुछ बातों में अपनी परिस्थिति को अपने अनुकूल बनाने और शेष में अपने-आपको उसके अनुसार ढालने के लिये शक्तिसम्पन्न और तैयार हो। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक व्यक्ति का प्रतिक्षण अपने समाज तथा अपने भौतिक वातावरण से किसी-न-किसी बात में अवश्य समझौता होता रहता है। जिन व्यक्तियों को इस समझौते को पूर्ण रूप देना आ जाता है, वे जीवन-यात्रा को सफलता से पूरा कर जाते हैं। इस समझौते के दो स्वरूप देख पड़ते हैं। प्रथम, कर्तव्य और दूसरे, अधिकार। यह अनुभव-सिद्ध बात है कि जो व्यक्ति सदा दूसरों से अधिकार तो चाहे, पर उनके प्रति कर्तव्य-पालन करने को कभी तैयार न हो, वह शीघ्र ही अपमानित होकर नष्ट हो जाता है। ऐसे लोगों का स्वराज्य कामना-मात्र ही रहता है।

(५)

सामाजिक जीवन में भी भिन्न-भिन्न अंगों का आपस में ठीक-ठीक समझौता करने के योग्य होना, सामाजिक विकास के लिये अनिवार्य है। यदि ऐसा न होगा, तो भिन्न-भिन्न दल एक दूसरे के मुक़ाबले में खड़े होकर शक्तिहीन हो जावेंगे। प्रतीत होता है, भारतीय जाति

इस विद्या को रामायण के युग में अच्छी तरह जानती थी। उस समय धर्म, बल, धन और नीति का जिस प्रकार संगठन हो रहा था, वैसा महाभारत तक पहुँचते-पहुँचते ढीला हो चुका था। घर की फूट ने महाभारत को नष्ट किया और इसी चुड़ैल ने हमें अभी तक तंग कर रक्खा है। अरब, ईरान और काबुल के निर्भीक घुड़चढ़े, सैनिक और डाकू यहाँ पर कभी भी पाँव न जमा सकते, यदि यहाँ पर वह पुराना भिन्न-भिन्न शक्तियों का संगठन कुछ शेष रहा होता और यदि जयचंद-ऐसे स्वार्थी और नीतिमंद व्यक्तियों का प्रादुर्भाव न हो गया होता। विद्या, बल और धन तो यहाँ कभी कम नहीं हुआ। हाँ, उन्हें ठीक-ठीक मात्रा में परस्पर जोड़नेवाले ऋषियों की कमी होती गई है।

(६)

यह बात सदा ध्यान में रखने योग्य है कि राजनीतिक विकास के लिये शुद्ध राजनीतिक समझौता ही अपेक्षित होता है। यदि कोई राजपूत किसी राजपूत या मराठे के विरुद्ध होकर किसी अन्य से मिलने को तैयार न होता, तो मुग़लों का साम्राज्य वायु के एक झकोरे से तिनकों के समान पल-भर में छिन्न-भिन्न हो जाता। और, यदि उस साम्राज्य के अंतिम दिनों में, उत्तर, मध्य तथा दक्षिण-भारत की आर्य (हिंदू) शक्तियाँ ठीक संगठित हो जातीं, तो अँगरेज़ी राज्य की स्थापना की भी कोई संभावना न हो सकती थी। सार यह है कि जिस राज-नीति के सूक्ष्म दर्शन ने विदेशियों को यहाँ पर अधिपति बनाया है, उसी के अभाव ने यहाँ के निवासियों को अपने ही घर में परपादाक्रांत और निगड़ित कर रक्खा है।

(७)

इस समय चारों ओर राजनीतिक स्वराज्य के जयकारे गुँजाए जा रहे हैं। भारतवर्ष फिर से जग रहा है। क्या इस सारे आंदोलन का कोई स्थिर फल होगा? अवश्य होगा, पर एक शर्त है। यदि भिन्न-भिन्न दलों के परस्पर के समझौते ठीक, शुद्ध राजनीतिक स्वरूप को धारण करके सिद्ध होंगे, तो निःसंदेह सफलता होगी। इस मौलिक नियम की अवहेलना से मंदगति, दुर्गति और नाश को अनिवार्य जानना चाहिए। सबसे पहली बात जो यहाँ प्रत्येक राजनीतिक विचारक को खटके बिना नहीं रहती, वह यह है कि यहाँ प्रत्येक साम्प्रदायिक दल अपने-आपको अलग जाति समझ रहा है और उसी आधार पर पूरी जाति की स्वतंत्रता चाहता है। इस दशा में, एक ही देश में एक से अधिक जातीय स्वराज्य स्थापित नहीं हो सकते। परिणाम यह होगा कि इस आपस के संघर्ष से स्वराज्य किसी को भी न मिल सकेगा। जब तक विदेशियों की एक संगठित शक्ति के मुक़ाबले में यहाँ के सब दल भी एक रूप होकर न संगठित होंगे, तब तक स्वराज्य स्वप्न-समान ही समझना चाहिए। प्रत्येक दल को दूसरे दलों के विकास में सहा-यक होना होगा। परंतु वर्तमान की गति तो उलटी ही देख पड़ती है। मुसलमान हिंदुओं को नीचा दिखाने के लिये अँगरेज़ों के साथ तो किसी समय भी मिलने को तैयार हो जाते हैं। परंतु यह संभव नहीं कि देश को स्वतंत्र बनाने के लिये हिंदुओं का सदा साथ देने को तैयार दिखाई दें। कुछ समय से पंजाब में सिक्ख भी अपने-आपको सर्वथा अलग समझ रहे हैं। राजनीतिक दृष्टि से ऐसी भावना विषरूप कहनी चाहिए। राजनीति का संबंध हमारे सबके लिये उचित भोजन, वस्त्र दिलाने और हमारे परस्पर के व्यवहार में समता स्थापित करने से है। ये सब दल एक देश के अंदर रहते हैं। एक ही मातृभूमि उनकी इन आवश्यकताओं को पूरा करती रही है और आगे भी करेगी। परदेशीय राज्य इस देश-वालों को भूखा रखकर, अपना पेट भरना मुख्य बात समझता है। अतः उसके स्थान पर स्वदेशीय राज्य की स्थापना की आवश्यकता है। वही हमारे आपस के झगड़ों में भी न्याय को चरितार्थ करेगा। उसकी दृष्टि में सब समान अधिकार से युक्त होंगे। इस बात पर विचार करने से, सब दल एक जाति के अंग हो जाते हैं। वे अपने-अपने विचारों में भले पृथक् हों, परंतु राजनीतिक व्यव-हार में वे परस्पर अभिन्न होकर काम कर सकते हैं।

(८)

जैसे शरीर के भिन्न-भिन्न भाग होते हैं, वैसे ही एक जाति के भी भाग होंगे। उनके होने से कोई हानि नहीं हो सकती। वे शरीर के अंगों के समान परस्पर जुड़कर रहनेवाले होने चाहिए। किसी का किसी पर अन्याय या अनुचित दबाव न हो। यदि बत्तीस करोड़ भारतीय लोगों में एक भी व्यक्ति को अछूत समझा जावेगा, तो यहाँ

एक जाति का भाव पैदा न हो सकेगा। और, एकता के बिना स्वराज्यसंप्राप्ति गगनपुष्प को सूँघने के समान ही रहेगा। इसी प्रकार जातपाँत के ढकोसले भी एकता के मार्ग में बड़े विघातक हैं। यद्यपि कहने को तो हिंदू-जाति एक है, पर इस जाति-विभाग ने वस्तुतः एक-एक व्यक्ति को अलग-अलग कर रक्खा है। जातीय भाव का इसके कारण सर्वनाश हो चुका है। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ की परिभाषा के अनुसार ही सदा सोचता है। देशहित के कार्यों में भी वह इस परिभाषा से पृथक् नहीं हो सकता। हमारे विचार में इस समय ब्राह्मणादि के प्रधान भेद भी सर्वथा निःसार, बनावटी, निरर्थक और हानिकारक हैं। इनके मौलिक स्वरूप को हम सत्य मानते हैं और हमारा विश्वास है कि वह सदा सुखप्रद और विकास-कारक होगा। परंतु उनका वर्तमान स्वरूप अत्यंत अनुचित घोर अन्याययुक्त है। इस भेद को स्थिर रखकर समाज को रत्ती-भर भी लाभ नहीं हो रहा है। हाँ, इससे हानि होने में, रत्ती-भर भी शंका नहीं। इसी प्रकार, महिला-जाति बड़ी जाति का आधा भाग है। जब तक यह भाग भी दूसरे भाग के साथ स्वराज्यरसपान के लिये पूरा योग्य न हो या न बना दिया जावे, तब तक स्वराज्य पूरा लाभकारी न हो सकेगा। राजनीतिक अंश में चाहे स्वराज्य प्राप्त हो तो हो जावे, परंतु उसका सामाजिक विकास तभी होगा, जब जाति के अवांतर विभाग सम-बल और समभाव होकर परस्पर सहायक हो सकें।

(९)

जो लोग अपने-आपको एक जाति के रूप में समझते हैं, उनके अंदर इन दुर्बलताओं के होते हुए भी, उन्हें राजनीतिक स्वराज्य मिल सकता है। हमारा विश्वास है कि यदि यहाँ केवल हिंदू लोगों का ही निवास होता, तो स्वराज्य भी कब का मिल गया होता और इन बातों का भी इलाज हो गया होता। अतः असली रुकावट, जिसके कारण स्वराज्य नहीं मिल रहा है और जिसके रहने से मिलेगा भी नहीं, वह राजनीतिक निर्णयों को मज़हबी और सांप्रदायिक दृष्टिकोण से सोचना है। यह अत्यंत हानिकारक और कमसमझी की बात है। राजनीतिक विकास उन शक्तियों के समझौते से होगा, जिनको उससे पुष्टि मिलनी है। वे चार हैं—(१) विद्या (२) शारीरिक बल और वीरता (३) धन और (४) श्रम। भारतवर्ष में नागरिक और ग्रामिक विभागों का समझौता भी आवश्यक है। धन के विभाग में व्यापार और शिल्प सम्मिलित हैं। कौन-सा देश है, जहाँ ये विभाग नहीं हैं? इनका होना और परस्पर मिलकर उन्नति करना ही तो किसी देश की सच्ची उन्नति का चिह्न है। दूसरे देशों में ये सब विभाग एक ही जाति के अंग बनकर रहते हैं। पर इस भाग्यहीन देश की विचित्र दशा है। यहाँ पर हिंदू-धन और हिंदू-विद्या, मुसलमान-धन और मुसलमान-विद्या इत्यादि इस प्रकार से विभाग समझा जाता है। भला यह भी कोई बुद्धि-मत्ता की बात है? परिणाम क्या है? यहाँ पर ये सब विभाग तीन-चार भिन्न-भिन्न स्थलों पर या तो बिखरे पड़े हैं और या अस्वाभाविक समझौते का विष पीकर निश्चेष्ट पड़े हैं। धन धन के साथ और विद्या विद्या के साथ खुली तरह मेल नहीं कर पाते। मज़हब का भेद मार्ग को रोककर खड़ा है। इसी कुनीति का यह फल है कि मुसलमान लोग भारतवर्ष से कहीं बढ़कर ईरान और अरब की उन्नति सुनकर प्रसन्न होते हैं।

(१०)

दोनों बातें राजनीतिक दृष्टि से ठीक नहीं हैं। यदि हिंदू-बनिया मंदिर में और दूसरा मसजिद में जाकर पूजा कर लेता है, तो क्या हुआ। देशोन्नति में उनका बनियापन मुख्य है, न कि उनकी पूजा का प्रकार। यदि वे बुद्धिमान् हैं, तो उन्हें आपस के व्यवहार में पूजा की बात को कभी करना ही न चाहिए। उन्हें तो यह सोचना चाहिए कि वे किस तरह मिलकर अपने बनियापन के बल पर अपने देश को उन्नत कर सकते हैं। इसी प्रकार, अन्य भी जितने काम और व्यवसाय हैं, उन सबका स्वाभाविक संगठन ही राजनीतिक लाभ का हेतु हो सकता है। ये सब अवांतर संगठन जातीय महासंगठन के अंदर समाविष्ट हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि मुसलमान भारतवर्ष को सब देशों से, जिनमें अरब भी है, राजनीतिक दृष्टि से अधिक प्यारा नहीं प्रतीत करते, तो उन पर इस देश की राजनीतिक उन्नति के विषय में विश्वास नहीं किया जा सकता। वे किसी भी समय, किसी मुसलमानी देश के लिये, अपने इस देश को भी और हिंदुओं को भी कुर्बान कर सकते हैं।

(११)

कितने आश्चर्य की बात है कि जो धर्म मनुष्य-मात्र को भाई-भाई बनाकर प्रभु के साथ जोड़नेवाला हो, वही सांसारिक व्यवहार में सबसे बड़ी अलग करने-वाली शक्ति बनकर हानिकारक हो। पर नहीं, वस्तुतः आध्यात्मिक धर्म के आधार पर संसार में कभी भी फूट नहीं पड़ी। उसका सर्वत्र और सर्वदा एक ही स्वरूप रहता है। वह प्रेम, सत्य और भक्ति का रंग है। वह कभी फीका नहीं पड़ता और न कभी भेदभाव को सह सकता है। वह सदा संयोजक शक्ति ही बनकर आता है। वियोजक तो उसके बाहर के दिखावटी रूप ही हैं। उस निर्मल चित्त-प्रसाद के आधार पर कहाँ समझौते होते हैं? झगड़ा तो मंदिर और मसजिद पर, अज़ां और शंख-घड़ियाल पर होता है। दूसरे देशों में इन बातों को अब राजनीतिक क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिया गया है। कोई समय था, जब वहाँ भी इनके कारण नित्य तलवार चमकती थी। पर अब वहाँ पर इस विषय में जनता का स्वरूप बहुत परिवर्तित हो चुका है। पर यहाँ तो सारा जीवन ही इन बातों की परिधि पर ही घूम रहा है। जब से कौंसिलें आदि बनी हैं, तब से इनका मूल्य और भी बढ़ गया है। जिनका वस्तुतः अंदर से इनमें से किसी बात पर भी विश्वास नहीं होता, वे पढ़े-लिखे, बुद्धिमान् नेता भी जब इनकी दुहाई देते हैं, तो यही समझना चाहिए कि अभी स्वराज्य दूर है। विदेशीय सरकार तो भला हमें इन बातों के आधार पर नचा और परस्पर लड़ा-भिड़ा भी सकती थी, पर कांग्रेस आदि स्वदेशीय राजनीतिक सभा-समाजों का इन्हीं बातों के आधार पर राजनीतिक समझौते करने का प्रयत्न देखकर तो बड़ी निराशा होती है; कुछ हो, हम तो यही समझते हैं कि इस बालू के ढेर पर स्वराज्य-भवन कभी भी खड़ा नहीं हो सकता। इस देश में मनुष्य तभी आराम से जीवन बिताने के योग्य होगा, जब इस निर्मूल, निरर्थक भेद-भावना को राजनीतिक और सामाजिक व्यवहार में कभी भी किसी समझौते का आधार न बनाया जावेगा। तभी सच्ची एकजातीयता पैदा होगी और तभी स्वराज्य-संग्राम का यह प्रथम प्रकरण समाप्त होगा।

विश्वबंधु

सरयू-स्तवन

१

जननि सरजु तव तीर नीर विधिवत अवगाहत ;
षटविकार तजि शुद्ध भाव पद प्रेम उमाहत ।
ते तन तजि-तजि रामरूप साकेत सिधावैं ;
यह अजगुति गति देखि 'जोतिसी' बोध न आवैं ।
मनि-मंडित मुकुट अनंग सर,
धनुष पीतपट कटि लसैं ;
तव तरल तरंगनि मैं रुचिर,
रामरूप केतिक बसैं ।
बसि विहंग तव तीर विटप कोटर प्रमोद-जुत ;
सुरतैं अधिक स्वतंत्र पुलिन बिहरत नित इत-उत,
मीन लोल कल्लोल करत कच्छप सुनीर मैं ;
शेष विभव गत शेष भरत सुखजल गँभीर मैं ।
तट अनत मदांध गजेंद्र घन,
सघन-घंट रव सुनि त्रसित ;
रिपुरवनि नमित बिन इत नृपति,
तुच्छ सकल संपति लसति ।
जगवंदिनि गति गूढ़ सुछंदिनि मानस-नंदिनि ;
भवभंजिनि रंजिनि त्रिलोक अघओक-निकंदिनि ।
मुक्त हंस भुवभगिनि बसिष्ठ कुमारि पुण्यपथ ;
धार धराधर हार 'जोतिसी' प्रकृति स्वर्गरथ ।
रविबंस कीर्ति सुर द्रुमलता,
अवध पताका दृढ़ पटल ;
तव तरल तरंगनि मैं अटकि,
भटकि मुक्ति बिहरति अटल ।
जे मज्जत ते तरत तरत ते तरत न मदजुत ;
इत पीवत सुचि सलिल निचोरत पाप-ताप उत ।
तट घट काक बलाक इंद्र लौं निदरत मन महँ ;
रंक नृपति पति बिभव तुच्छ, निरखत छन-छन महँ ।



पं० रामनाथ "ज्योतिषी" अयोध्या राज्य

तव जीवन जीवनि 'जोतिसी'
पाय अवध उर मद भर्‌यो ;
दोउ कूल तरंग-निसेनि-पथ,
रामरूप इत अवतर्‌यो ।
तुमहिं बिलोकत जे न बिलोकत पुनि जमराजहिं ;
पय पीवत उर धारि मातु पयपान न साजहिं,
जे तव प्रेम निमग्न मग्न भवसिंधु होत नहिं ;
तट सेवत नहिं फेरि 'जोतिसी' सेवत अनतहिं ।
जे मज्जत निरय न मज्जहीं,
तरत पूर्वपथ संतरत ;
जगजननि सरजु तव तीर जे,
मरत न ते कबहूँ मरत ।

रामनाथ "ज्योतिषी"

उपालंभ



१

कैसे हो खिलाड़ी कैसा खेलते अनोखा खेल,
चाहे जब जैसे तुम पाँसे पलटाते हो।
देते हो किसी को उच्च पद तो किसी को नीच,
एक को सुखी तो एक दुखिया बनाते हो।
रङ्ग-महलों में रँगरेलियाँ मची हैं कहीं,
ठोकरें किसी को पर-द्वार की खिलाते हो।
कौन कहता है समदरशी तुम्हें हे नाथ!
कैसा समता का यह भाव दिखलाते हो।

२

कैसी थी अहिल्या, शवरी को जानता है कौन,
गणिका तरी थी लोग कैसे अनुमानेंगे।
अङ्क में बिठाया, नहलाया आँसुओं से गीध,
देखा ही नहीं जिन्होंने कैसे सच मानेंगे।
रहता कहाँ था रयदास, सधना, मलूक,
कैसा था अजामिल, न कोई पहिचानेंगे।
हम तब जानें जब आओ अब काम नाथ!
झूठी न तो 'श्रीपति' कहानी सब जानेंगे।

३

ममताविहीन होती आपकी कुनीति जो न,
निपट निशंक नट-नागर कहाते क्यों।
भूप हरिचन्द को अनाथ के समान हाय!
डोम-हाथ दीनानाथ! आप बिकवाते क्यों।
बनते भिखारी द्वार-द्वार के न पाण्डु-पुत्र,
आरे पुत्र-शीश पै पिता से चलवाते क्यों।
सरस सनेही हो कि नीरस निठुर नाथ!
अधिक कहें क्या और पोल खुलवाते क्यों।

४

दुखता नहीं क्यों उर आपका दुखी को देख,
नाहक अनाथ-नाथ आप कहलाते हैं।
कैसे हैं कठोर कैसी सीख ली अनोखी बाम,
लाज अपने ही हाथ नाथ! क्यों गँवाते हैं।
दीन ही भले हैं तुमसे तो अरे दीनबन्धु!
दुःख में दुखी के वे तो आशु दुख जाते हैं।
'श्रीपति' बताते क्यों न आप कलपाते कौन,
उन्हें कलपाते जो कहीं न कल पाते हैं।

रमाशंकर मिश्र "श्रीपति"

रामेश्वर-मदुरा-यात्रा

पिछले दिनों की बात है कि योरप के इटली-प्रदेश से लगभग ३०० यात्री भारत में भ्रमणार्थ आए थे, जिनमें वहाँ के प्रधान मंत्री मुसोलिनी की पुत्री तथा उस देश के अन्य कई प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान् राजसभा के सभासद्, पत्रों के संपादक इत्यादि भी थे। भ्रमण के पश्चात् जब यह यात्रि-मंडल अपने देश को वापस जाने लगा, तो इससे पूछा गया कि "आपको भारत में किस चीज़ ने विशेष आकृष्ट किया?" इसने उत्तर में कहा कि "दक्षिण में मीनाक्षी का मंदिर और उत्तर-भारत में ताजमहल इस देश की प्राचीन शिल्पकला और भवन-निर्माण-कला के अद्भुत नमूने हैं।" क्या आपको मालूम है कि मीनाक्षी का यह सुप्रसिद्ध मंदिर किस नगर में है? यह मदुरा में है, जिसका वर्णन आज हम पाठकों के सम्मुख रक्खेंगे।

मदुरा

कहते हैं कि उत्तर-भारत के मदुरा-नगर के नाम पर ही दक्षिण में मदुरा (मथुरा) नगर स्थापित किया गया था। यह कथन सर्वथा निराधार नहीं प्रतीत होता। पहली बात यह कि तामिल-भाषा में—"थ" अक्षर के स्थान में प्रायः "द" का ही प्रयोग होता है। जैसे—"रंगनाथ" को तामिल में "रंगनादन" इस प्रकार कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि न केवल मथुरा अपितु काशी इत्यादि तीर्थ के नाम पर भी यहाँ "शिव-काशी", "कांतीवरम्" (काशीवरम्) इत्यादि स्थान हैं, जो इस प्रांत में बड़े तीर्थ-स्थान समझे जाते हैं। अस्तु।

मद्रास-नगर से मदुरा दक्षिण की ओर ३४८ मील की दूरी पर है। तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा ४॥=) लगता है। मद्रास से यहाँ तक का लगभग २० घंटे का सफ़र है। ठहरने के लिये स्टेशन के पास ही म्युनिसिपैलिटी की ओर से एक धर्मशाला है। (धर्मशाला को इस प्रांत में "छत्रम्" या "चोल्टरी" कहा जाता है।) जिसमें भिन्न-भिन्न कमरों के अनुसार कुछ दैनिक भाड़ा भी देना पड़ता है। इस धर्मशाला के पास ही एक नई धर्मशाला एक मारवाड़ी सज्जन ने बनवाई है, जिसमें उत्तर-भारतीयों को विशेषता दी जाती है। शहर में और भी २-३ "छत्र" हैं।

आबादी की दृष्टि से मदुरा इस प्रांत में मद्रास से दूसरे नंबर पर है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नगर बहुत प्राचीन है। यह कई हज़ार वर्ष तक हिंदू-राजाओं की राजधानी रहा है। अँगरेज़ इसे दक्षिण-भारत का "एथेंस" कहते हैं। इसकी आबादी २ लाख के लगभग है। मदुरा-ज़िले का केंद्र-स्थान होने के अतिरिक्त रामनद-ज़िले का केंद्र-स्थान भी यही है। कचहरी, स्कूल, अस्पताल, कमेटी, ज़िलाबोर्ड के अतिरिक्त यहाँ दो कालेज भी हैं। शिक्षा-संबंधी संस्थाएँ अधिकतर ईसाइयों द्वारा ही परिचालित हैं।

यहाँ की साड़ियाँ और लकड़ी का सामान प्रसिद्ध है।

मीनाक्षी-मंदिर

यहाँ की सबसे अधिक आकर्षक वस्तु यही मंदिर है, जिसे देखने के लिये न केवल भारत के सब प्रांतों से, अपितु संसार-भर के यात्रीगण यहाँ आते हैं। इसी मंदिर के कारण मदुरा का भारत के तीर्थों में ऊँचा स्थान है और रामेश्वरम् आते-जाते यात्री यहाँ अवश्य उतरते हैं।

मंदिर शहर के बीच में है और उसी के चारों ओर आबादी है। मंदिर क्या है? सच पूछो तो एक क़िले के समान है। इसकी रचना, बनावट (Plan) ६०, ७० और ८० फ़ीट तक ऊँची दीवारें, स्तंभ और उन पर खोदे गए चित्र और नक़्क़ाशी के काम वस्तुतः प्राचीन हिंदुओं की स्थापत्य-विद्या (Engineering) और शिल्पकला (Architecture) का जीवित-जागृत नमूना है। मंदिर के चारों ओर एक बड़ा परकोट है। उसके चारों ओर फिर दूसरा विस्तृत परकोट है। इस प्रकार चार बड़े खुले, ऊँचे और विस्तृत परकोट हैं। इस मंदिर-भवन—परकोटों—के भीतर जाने के लिये चारों दिशाओं में गगन-चुंबी प्रवेश-द्वार हैं। जिन्हें यहाँ 'गो-

पुरम्' कहा जाता है। ये गोपुरम् ८ से १२ मंज़िल तक ऊँचे हैं और उनके ऊपर मंदिर की चोटी है।

मंदिर में चारों ओर भिन्न-भिन्न पौराणिक देवी-देवताओं के चित्रों और मूर्तियों का होना तो स्वाभाविक ही है, पर हमें तो उनकी शिल्पकला से ही संबंध है। ये मूर्तियाँ आकार में बड़ी ऊँची और विशाल होती हुई भी एक ही पत्थर की बनी हैं। बीच में कहीं जोड़ लगाने की आवश्यकता ही नहीं हुई। फिर हमने ऐसी-ऐसी मूर्तियाँ भी देखीं, जो पत्थर के चार ऊँचे स्तंभों के बीच में रक्खी हुई हैं। ये स्तंभ यद्यपि एक ही पत्थर के हैं, पर कुछ ऐसे विशेष मसाले से तैयार किए गए हैं कि यदि उन पर किसी पत्थर वा ईंट के टुकड़े से ठोकर लगाई जावे, तो सारंगी-सा मधुर शब्द निकलता है।

मंदिर के भीतर बड़े-बड़े प्रांगण, लंबे-लंबे परिक्रमा-चक्र और छते हुए विस्तृत बरामदे-से बने हुए हैं। एक प्रांगण ऐसा है, जिसमें १ हज़ार स्तंभ हैं और जहाँ पर १ हज़ार और इससे अधिक ब्राह्मणों का भोज होता है। मंदिर के छते हुए बरामदों और प्रांगणों में बाज़ार भी लगे हुए हैं।

मीनाक्षी कौन थी ?

पाठक पूछ सकते हैं कि यह मीनाक्षी कौन थी ? पौराणिकों के देवी-देवताओं में तो इसका नाम सुना नहीं जाता। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका उत्तर यही दिया जाता है कि मध्य-काल में "सौंदर्यम्-पांड्यम्"-नामक एक हिंदू-राजा की यह लड़की थी। वह अपने पिता की बड़ी प्यारी थी, उसकी मृत्यु हो गई। राजा ने अपनी पुत्री की अंतिम स्मृति में एक समाधि बनवाई, जिसमें उसकी मूर्ति भी रक्खी। बस, यही मीनाक्षी का वृत्तांत है। पीछे से हिंदुओं ने अपने स्वभाव के अनुसार इसके जन्म और जीवन के संबंध में कई विचित्र कल्पनाएँ गढ़ लीं, जिसके फल-स्वरूप इसकी पूजा होने लगी।

मंदिर के संबंध में कुछ अन्य उल्लेखनीय बातें

(१) मंदिर के अंदर जूता, स्लीपर, बूट इत्यादि के ले जाने की आज्ञा नहीं है, पर यदि कोई सूट, बूट, हैट इत्यादि पहने अँगरेज़ी वेश में जावे, तो उसके लिये कोई रुकावट नहीं है। मंदिर के बाहर जो निर्देश-पट्टिका (Noticeboard) लगी है, उसमें ऐसे वेश को Uniform कहा गया है।

(२) मंदिर के अंदर अछूत भाई नहीं जा सकते। पर अछूत कौन हैं, इसका फ़ैसला ब्राह्मण देवता के हाथ में ही है। मदुरा के इस मीनाक्षी-मंदिर में तेली और लुहार जा सकते हैं, पर बाडार, जो इधर बड़ी प्रभावशाली जाति है, नहीं जा सकते। परंतु ट्रिचनापल्ली के "श्रीरंगम्"-मंदिर में, जो यहाँ एक प्रसिद्ध वैष्णव मंदिर है, बाडार जा सकते हैं और "थीवलीपुत्तूर" और "रामेश्वरम्" के मंदिर में तेली, बाडार कोई भी नहीं जा सकता। इधर ईसाई-मुसलमान बिना रोक-टोक जा सकते हैं। जब हम अपने एक मित्र के साथ यह मंदिर देख रहे थे, तब हमारे साथ एक बूढ़ा मुसलमान भी था। इस प्रांत की छूत-अछूत समस्या बड़ी पेचीदा और बेसिर-पैर की है। उसमें अक़ल का कोई दख़ल नहीं है। इस विषय को एक पृथक् लेख द्वारा हम पाठकों की सेवा में रखने का प्रयत्न करेंगे।

(३) इस मंदिर में ३०० के लगभग वेतन-भोगी पुजारी हैं, जिन्हें यहाँ "भट्टार" कहा जाता है और जो अपने-आपको 'ब्राह्मण' ही कहते हैं। साथ ही, इस मंदिर के साथ संबद्ध २०० या २५० देव-दासियाँ भी हैं। इन भट्टारों और देवदासियों को मंदिर की ओर से ज़मीनें मिली हुई हैं और यात्रियों से जो कुछ ये झटकते हैं, वह अलग है। इस अवस्था में मंदिर की आड़ में जो व्यभिचार-कांड होता है, उसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है।

(४) "देवोत्तर संपत्ति क़ानून" (Hindu Endowment Act) के अनुसार मंदिर की सारी आय सरकारी कोष में जमा होती है। इसका कार्यालय मंदिर के भीतर ही है। मंदिर का सब प्रबंध और हिसाब-किताब सरकार द्वारा नियुक्त एक ट्रस्ट के अधीन है। मद्रास-प्रांत में प्रायः सभी मंदिरों का प्रबंध हाल ही के बने इसी क़ानून के अनुसार होता है।

(५) इस मीनाक्षी-देवी के बहुमूल्य रेशमी और ज़री के वस्त्र और आभूषण भी हैं, जिनकी क़ीमत १ करोड़ रुपए तक कूती जाती है। ये वस्त्र भी प्राचीन कारीगरी के अद्भुत नमूने हैं। यह सब सामान सरकारी खज़ानों में ही बंद रहता है। और किसी विशेष यात्री को ही दिखाया जाता है। वैशाख-मास में रथ-यात्रा का बड़ा उत्सव होता है, जिसमें मीनाक्षी को रथ में बिठाकर

नगर में घुमाते हुए शहर के पास एक तालाब में ले जाया जाता है। उस अवसर पर ये सब बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उसे पहनाए जाते हैं। प्रसंग-वश हम पाठकों को यह भी बता देना चाहते हैं कि इस बड़े रथ को, जो मूर्ति के अतिरिक्त कई पुजारियों से लदा होता है, खींचनेवाले वही लोग होते हैं, जिन्हें "अछूत" कहा जाता है, और जिन्हें मंदिर-प्रवेश का अधिकार नहीं है। और यदि ख़ुदा-न-ख़ास्ता ये अछूत भाई समय पर न आवें और चकमा दे दें, वा बीच में ही छोड़कर चले जावें, तो देवी-समेत रथ तब तक वहीं पड़ा रहेगा, जब तक वे फिर अगले दिन न आएँगे। ऐसे ठोस परिश्रम के समय छूत-छात न-जाने कहाँ भाग जाती है।

(६) इस मंदिर में—और दक्षिण-भारत के प्रायः सभी मंदिरों में—ऐसे चित्रों और मूर्तियों की संख्या पर्याप्त होती है, जो एकदम नग्न होती हैं। कई जगह तो नग्न चित्रों और मूर्तियों को इतना अश्लील बना दिया गया है कि इसका यहाँ उल्लेख करते भी लज्जा का अनुभव होता है।

तिरमुल नायक का महल

मदुरा के यात्री को यह महल अवश्य देखना चाहिए। यह भी हमारी प्राचीन स्थापत्य (Engineering) और शिल्प-विद्या का एक अद्‌भुत नमूना है। कहते हैं, अँगरेज़ों के आने से पूर्व यह महल सारे शहर को घेरे हुए था। अब अँगरेज़ी सरकार ने इसका अधिकांश तोड़-फोड़कर कुछ ही रहने दिया है। यह अवशिष्ट अंश भी विस्मय-जनक है। इस महल की विशेषता यह बताई जाती है कि इसके विशाल और ऊँचे स्तम्भ, मोटी और मज़बूत दीवारें तथा छतें और उन पर सुंदर नक़ाशी और चित्र इत्यादि सभी कुछ केवल मिट्टी से ही बनाई गई हैं। इस महल में ईंट-पत्थर का कहीं भी प्रयोग नहीं किया गया। यद्यपि यह महल कई सौ वर्ष का पुराना कहा जाता है, पर देखने से हाल ही का बना प्रतीत होता है।

यह विशाल राजकीय प्रासाद आजकल सरकारी अदालतों के काम आ रहा है, जिसके लिये भद्दी तोड़-फोड़ भी की गई है।

मदुरा में आर्य-समाज

सार्वदेशिक सभा दिल्ली और प्रादेशिक सभा लाहौर की ओर से मदुरा में आर्य-समाज का केंद्र भी स्थापित है, जिसमें गत ८-९ वर्ष से श्रीरामजी शर्मा बड़े उद्योग से कार्य कर रहे हैं। कर्मयोगी स्वामी श्रद्धानंद-जी ने ही आपको इस शुभ-कार्य के लिये उत्साहित किया था। पौराणिकों के गुरु इस नगर में सब प्रकार की विरोधिनी और प्रतिकूल शक्तियों के होते हुए भी, आपने जिस लगन, साहस और धीरता से आर्य-समाज को यहाँ जमाया है, वह अवश्य ही स्तुत्य है। आपका जन्म-स्थान ज़िला बिजनौर (यू० पी०) है।

इस नगर में दक्षिण-भारतीय हिंदी-प्रचार-संघ मद्रास की ओर से हिंदी का केंद्र भी है, जिसमें संघ की ओर से दो समाज हिंदी-प्रचार का कार्य करते हैं। इनका प्रयत्न भी सराहनीय है।

रामेश्वरम् की ओर

मदुरा से रामेश्वरम् १०० मील दूर दक्षिण की ओर है। तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा १॥≈) है। मदुरा से रामेश्वरम् जानेवाली कई गाड़ियाँ हैं। मद्रास (इगमोर) से भी एक सीधी गाड़ी रामेश्वरम्-एक्सप्रेस प्रातःकाल ६ बजे छूटता है, जिससे अगले दिन प्रातः ८ बजे रामेश्वरम् पहुँच जाते हैं। मद्रास से रामेश्वरम् का तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा ४॥≡)॥ है। यह एक्सप्रेस तथा अन्य भी रामेश्वरम् की ओर जानेवाली गाड़ियाँ मदुरा से होकर ही जाती हैं।

हिंदुओं की दृष्टि में रामेश्वरम् तीर्थ का क्या महत्त्व है और इस तीर्थ का क्या इतिहास बताया जाता है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं है। यह सर्वविदित ही है। हम यहाँ मंदिर के विषय में कुछ बातें पाठकों के सम्मुख रखना चाहते हैं—

(१) रामेश्वरम् का मंदिर समुद्र के किनारे पर है। मंदिर के बीच में "नंदी" बैल की विशाल मूर्ति है। मंदिर यद्यपि पर्याप्त फैला हुआ है और अभी फैलाया जा रहा है, पर शिल्पकला की दृष्टि से मदुरा के मीनाक्षी-मंदिर से बहुत घटिया है।

(२) मंदिर के भीतर मूर्ति के दर्शन-अर्चन और पूजन के लिये।-) का टिकट लगता है। विना टिकट लिये द्वारपाल आपको दर्शन नहीं करने देगा। यदि कोई भक्तजन (?) गंगाजल-द्वारा पूजा करना चाहता हो, तो इसके लिये २) का अलग टैक्स है, परंतु यह जल वस्तुतः गंगा का ही है, इसके लिये कोई निश्चित प्रमाण नहीं है।

(३) मंदिर के भीतर यहाँ भी अछूतों का प्रवेश निषिद्ध है, यद्यपि श्रीरामचंद्र ने स्वयं भिल्लनी के बेर बड़ी प्रसन्नता के साथ खाए थे। मुसलमान बे-रोक-टोक जाते ही नहीं, पर मंदिर में प्रवेश करते ही उनकी कई दूकानें भी मिलती हैं। यह देखिए हिंदुओं की अक़्ल!

(४) सिर मुँड़ाए बंगाली-विधवाओं की यहाँ भी दुर्दशा देख पड़ी। उत्तर-भारत के तीर्थों पर तो इनकी शोचनीय दशा कई बार देखी थी, पर यहाँ भी वही अवस्था देख बड़ा दुख हुआ। इन तीर्थों पर केवल बंगाल-प्रांत की विधवाएँ ही क्यों पाई जाती हैं और अन्य प्रांतों की नहीं? क्या अब भी, हमारे बंगाली-हिंदू इस प्रश्न पर तनिक गहराई से सोच, अपनी विधवा-बहनों को इस दुर्दशा से बचाने का यत्न करेंगे?

(५) रामेश्वरम्-नगर एक द्वीप है। उसके दो ओर समुद्र है और दो ओर समुद्र के जलीय अंश हैं, जिन्हें उपसमुद्र कहा जा सकता है। इस उपसमुद्र में जहाज़ इत्यादि भी चलते हैं। इस उपसमुद्र पर पुल बँधा हुआ है। जहाँ से रेल जाती है। परंतु इस पुल के साथ-साथ ही बड़ी-बड़ी चट्टानों और पत्थरों के क्रमबद्ध ढेर पड़े हुए हैं, जो लगभग जल ही में हैं, परंतु रेलगाड़ी से स्पष्ट दीखते हैं। कहते हैं, यही श्रीरामचंद्र के सेतु के अंश हैं। सम्भवतः चट्टानों के बने इस भग्न पुल को देखकर ही सरकार ने उसके पास ही रेल का पुल बनाया है।

धनुष्कोटी और सेतुबंध

रामेश्वरम् से ।)। तीसरे दर्जे का रेल-भाड़ा धनुष्कोटी जाने के लिये लगता है। इसे भारत का दक्षिण अंत ही समझना चाहिए। यहीं से लंका को जहाज़ जाते हैं। रेलगाड़ी को लंका जानेवाले जहाज़ के एकदम साथ लकड़ी के प्लेटफ़ार्म द्वारा मिला दिया गया है। यह बंदरगाह देखने योग्य है। धनुष्कोटी-स्टेशन से लगभग १॥ मील पैदल चलकर पूर्व-दक्षिण की ओर समुद्र-तट पर "सेतुबंध" है, जहाँ पर पौराणिक भाइयों के अनुसार श्रीराम ने समुद्र के पुल का दूसरा भाग बाँधने का निश्चय किया था और पूजा इत्यादि की थी। यहाँ कोई पक्का मंदिर वा घाट नहीं है। समुद्र-तट के पास ही झोंपड़े में शिव की मूर्ति रक्खी हुई है, जहाँ लोग पूजा इत्यादि करते हैं। सेतुबंध पर छप्पर की ३-४ बातें भी पड़ी हुई हैं, जहाँ यात्री विश्राम, स्नान-पूजा इत्यादि करते हैं।

सरकार की ओर से एक निर्देश-पट्टिका (Sign-board) भी लगा हुआ है, जिसमें यात्रियों को निर्देश किया गया है कि वे समुद्र में ३ फ़ीट से अधिक गहराई के जल में स्नान न करें।

उत्तर-भारत के यात्रियों के लिये कुछ काम की बातें

उत्तर-भारत से यात्रियों की बड़ी संख्या इधर तीर्थ-यात्रा के लिये आती रहती है। उनके सुभीते के लिये हम यहाँ एक-दो बातें निवेदन करना आवश्यक समझते हैं—

(१) इधर का भोजन प्रायः उत्तर-भारतीयों के अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिये उसमें विशेष सावधान रहने की आवश्यकता है। उत्तर-भारत की तरह यहाँ ढाबे इत्यादि नहीं हैं, होटल ही हैं। जिनमें काफ़ी, लाल-मिरची, इमली, तेल इत्यादि गर्म और स्वास्थ्य-नाशक चीज़ों का बहुत मिश्रण रहता है। शुद्ध घी भी दुष्प्राप्य है, और दूध की तो इधर न्यूनता है ही। इसलिये यात्रीगण यदि स्वयंपाकी हों, तब तो बहुत अच्छा है; नहीं तो मदुरा और रामेश्वरम् में उत्तर-भारत से आए लोगों की एक-दो पूरी की दूकानें हैं, उन्हीं से काम चलाना चाहिए।

(२) यात्रीगण यदि जल को एक बार उबाल दें और फिर ठंडा हो जाने पर उसे पिएँ, तो कई व्याधियों से बचे रहेंगे।

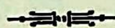
(३) इन तीर्थों पर हिंदी से काम चल सकता है।

(४) इधर गँठकतरों का भी दौर-दौरा है। वैसे तो मनुष्य को सदा ही सावधान रहना चाहिए, पर यहाँ यात्रियों को विशेषरूप से सावधान रहने की आवश्यकता है; क्योंकि वे एक अनजान परदेस में होते हैं।

(५) पंडों और उनके एजंटों के हाथों भोले-भाले यात्रियों का बहुत-सा धन नष्ट होता है। इधर के पंडे उत्तर-भारतियों को अनजान समझ विशेषरूप से ठगने की कोशिश करते हैं। इसलिये यात्रियों को उनसे भी यथाशक्ति सावधान रहना चाहिए।

दीनानाथ

अतीत



अहा ! तू कितना मधुर, अतीत !
शैशव की लवली लीलाएँ
बाल्यकाल की कल क्रीड़ाएँ
मृत्युलोक को स्वर्ग बनाकर
गईं सदा को बीत।
उन सबको मैं आज स्मरण कर
बन जाता विदेह-वर क्षण-भर
किंतु जानकर अब उनको गत
हो जाता मुख पीत।
भ्रात-भगिनि-मंडल में मिलकर
अट्टहास्य वह करता खिलकर
अब न मिलेगा; मानो जीवन
हुआ सदा को शीत।
आज हाय ! वे ही बनिकाएँ
वैसी ही कोमल कलिकाएँ
वे ही विकसित पुष्प सरस फल
लेते हृदय न जीत।
भ्रमर-गुञ्ज की कहाँ मधुरिमा
कहाँ पक्षि-कुल-कलरव-गरिमा
पवन-स्पर्श-सुधा-सागर तो
गया मान लो रीत।
दृष्टि जहाँ भी पड़ जाती है
पूर्व-स्मृति में अड़ जाती है
सुख तो मानो हुआ हाय ! अब
भूतकाल का गीत।
तेरा प्रकृत स्वरूप प्रतिक्षण
बनता जाता परम विलक्षण
होती अंतर-संग मधुरता
बढ़ती हुई प्रतीत।

हरिदत्त दुबे

रहस्यवाद और महात्मा कबीर



मनुष्य-जीवन में एक समय आता है, जब उसमें ब्रह्म के प्रति भक्ति-भाव संश्लिष्ट हो जाते हैं। वह ब्रह्म से नेह कर उसी में लीन होने का प्रयास करता है। ब्रह्म से अपना संबंध जानने तथा स्थापित करने के लिये वह अतीव उत्सुक हो उठता है। उसे संसार के सभी व्यापार ब्रह्ममय भासित होने लगते हैं। वह अपने हृदय के अंतःतल में ब्रह्म की प्रतिभापूर्ण एक प्रकार की ज्योति की उपस्थिति का अनुभव करता है। 'सर्वव्यापी ब्रह्म एक है, संपूर्ण जगत् उसकी छाया-मात्र है' के सत्यता की अनुभूति उसे होने लग जाती है। अपने को वह ब्रह्म का एक अल्पतम भाग ही मानता है। वह इस भाव में अकस्मात् इतना लीन हो जाता है कि वह अपने पृथक् के अस्तित्व को बिलकुल भूल जाता है। इस प्रकार ब्रह्म में एकता का अनुभव करना

तथा उसी में लीन हो जाना रहस्यवादियों का मुख्य उद्देश्य है। ब्रह्म के अस्तित्व में विश्वास, उसमें अपना व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर, ऐक्य के भाव की अनुभूति ही रहस्यवाद है। रहस्यवाद और तत्वविज्ञान में बहुत विभिन्नता है।

तत्वविज्ञान क्रम से तर्क-वितर्क करते हुए ईश्वर के अस्तित्व तथा जीव से उसके संबंध को समझना है। किंतु रहस्यवादी ब्रह्म के अस्तित्व में तर्क-वितर्क नहीं करता। वह पहले आस्तिक—ब्रह्मविश्वासी है और पीछे रहस्यवादी है। नास्तिक रहस्यवादी ह हो सकता। रहस्यवादी अद्वैतवादी अर्थात् सूक्ष्म ब्रह्मवादी है। दृश्य जगत् में वह 'सत्' का अनुभव करता है। इससे पृथक् किसी भी शक्ति का अनुभव नहीं करता। महात्मा कबीरदास इसी संप्रदाय के अद्वैतवादी रहस्यवादी थे। वह ब्रह्म को संसार से पृथक् कोई वस्तु न मानकर एक अनुभव ही मानते थे। वह ब्रह्मरूप ज्योति अनुभवसे ही जानी जा सकती है। म० कबीर ने कहा है—'सुन्न सहज मन सुमिर ते प्रकट भई इक जोत'। यही 'जोत' ब्रह्म है, और सबमें समान रूप से वर्तमान है। उपनिषदों में मैं, ब्रह्म और जीवन का विस्तृत वर्णन है। उसमें रहस्यवाद भी है। वेद, महाभारत और गीता में भी रहस्यवाद की झलक है। अवतार के मूल में रहस्यवाद है। आदर्श-पुरुष में ब्रह्म के दर्शन करना परम रहस्यपूर्ण है। साधारण प्रस्तर-मूर्ति में 'सत्' का स्वरूप देखना रहस्यमय ही है।

महात्मा कबीर रहस्यवादी हैं अथच वह ब्रह्म से अपना व्यक्तिगत संबंध मानते हैं। ईश्वर उनका पिता, माता, पति, सखा और सभी कुछ है। वह ब्रह्म कबीर का व्यक्तिगत ब्रह्म है, किसी जनसमुदाय तथा लोक का ब्रह्म नहीं हो सकता। वह गूँगे का गुड़ है सभी उसे नहीं समझ सकते।

महात्मा कबीर ऐसे ही ब्रह्म के उपासक थे। वह इसी ब्रह्म में एकता की अनुभूति के लिये उत्सुक थे। इनका ब्रह्म में विश्वास तथा उसके अद्वैतत्व का विश्वास म० रामानंद के संसर्ग का फल था। महात्मा कबीर पढ़े-लिखे तो थे ही नहीं, अथच ज्ञानार्जन के लिये उन्हें सत्संग और गुरु के अतिरिक्त और कोई साधन उपलब्ध न था। वह भक्तिभाव से अपने गुरु की उपासना तथा उनकी आज्ञानुसार आचरण करते थे। महात्मा रामानंद हिंदू-धर्म के परम अनुयायी और वेद उपनिषद् आदि में विश्वास करनेवालों में से थे। फलस्वरूप महात्मा कबीर भी उनके अनुयायी हुए। किंतु कबीर साहब का ज्ञान केवल रामानंद पर ही आधारित न था। वह स्वाधीन चिंतना के व्यक्ति थे। महात्माओं का सत्संग उन्हें बहुत प्रिय था। १५वीं शताब्दी में इस महात्मा का जन्म हुआ था। उस काल में सूफ़ी समुदाय बहुत उन्नति कर चुका था। मलिक मुहम्मद जायसी आदि सूफ़ी-रहस्यवादी कवियों ने आख्यायिका-ग्रंथों के कथानक तक को रहस्यमय बना दिया था। जायसी के पद्मावत का सपूर्ण कथानक रहस्यमय है, जैसा कि उन्होंने ग्रंथ के अंत में स्वयं लिखा है—

चौदह भुवन जो तर उपराहीं। ते सब मानुष के घटमाहीं॥
तन चित उर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिन चीन्हा॥
गुरू सुआ जेहिं पंथ दिखावा। बिन गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनिया धंधा। बांचा सोई न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोइ सैतानू। माया अलाउदीन सुलतानू॥
प्रेम-कथा यहि भाँति विचारहु। बूझि लेहु जौं बूझै पारहु॥

इस प्रकार जायसी ने कथा की ओट में माया, ब्रह्म आदि का विस्तृत वर्णन कर डाला है। ऐसे ही अनेक कथानक लिपिबद्ध किए गए। ये सूफ़ी-रहस्यवादी एकेश्वरवादी थे। उस अनंत ब्रह्म को सांसारिक प्रेम का सहारा लेकर प्राप्त करने का प्रयास करते थे। महात्मा कबीर का संसर्ग इन सूफ़ी मतावलंबी संतों से था। वह कई बार मानिकपुर, झूँसी, जौनपुर आदि स्थानों में सत्संग के लिये गए और शेख़ तकी आदि के साथ रहे। अतः फलस्वरूप आपका ज्ञान-मार्ग हिंदू-शास्त्रों के अनुसार तथा उसमें कहीं-कहीं प्रेम-सम्मिश्रण सूफ़ी-मत के अनुसार है।

सुआ, नागमती, अलाउद्दीन आदि सांसारिक वस्तुओं को पारलौकिक दृष्टि से देखना रहस्यवादी दार्शनिकों का ही कार्य है। सखी-संप्रदाय के अनुयायी ब्रह्म को पति तथा जगत् को पत्नी-रूप मानते हैं। इस भाव के मूल में रहस्य है, किंतु कालांतर में उन्होंने इस भाव को स्थूल-रूप दे दिया। पूर्ण धार्मिकता के अभाव से इस भाव का सौंदर्य जाता रहा। ईसाइयों के प्राणियों में भ्रातृत्व (ब्रदरहुड) के भाव का अनुभव और इस प्रकार ब्रह्म को पितारूप मानना रहस्य ही है। महात्मा सूरदासजी स्त्रियों को कृष्ण में पति का रूप दिखा उनकी उपासना करते हैं। स्त्रियाँ भक्ति में ओतप्रोत हो 'पिव-दर्शन-प्यासी अति आतुर निसिवासर गुन-गान रटी' हो जाती हैं। यह रहस्य नहीं तो क्या है ? रवींद्रनाथ ठाकुर प्रकृति में ब्रह्म और जीव का दर्शन करते हैं।* महात्मा कबीरदास को भी संसार ब्रह्ममय भासित होता है। हम ऊपर ही कह आए हैं कि 'हरि' से उनका व्यक्तिगत संबंध था। 'हरि' उनके 'पीव' और वे राम की 'बहुरिया' हैं। यही नहीं वरन् 'हरि जननी मैं बालक तेरा' का कथन भी कबीर के ब्रह्म में पितारूप दर्शन का परिचायक है। 'हरि' उनके सब कुछ हैं। वे हरि से किसी प्रकार का भी नाता लगावें, कोई उन पर आक्षेप नहीं कर सकता। लोकमत का उनके विचारों के आगे कोई वश नहीं चल सकता।

पिता, माता, पति आदि लौकिक अर्थ में 'ब्रह्म' नहीं हो सकते, परंतु कबीर ने अपने बृहत् ज्ञान-चक्षु से उनमें ब्रह्म का रूप देखा है। कभी-कभी तो वह इस भाव में इतने लीन हो जाते हैं कि वह अपने को भूल ही जाते हैं। सखी-संप्रदाय की भाँति उन्हें सारा विश्व स्त्रीरूप ही भासित होता है। और परब्रह्म में पति के दर्शन होने लग जाते हैं—

दुलहिन गावहु मगलचार , हम घर आए राजा राम भरतार।

× × ×

बहुत दिनन में प्रीतम आए।

× × ×

झूमत आवें बन्ना मोरे अँगना। . . . .

आदि। वे ब्रह्म-मिलन की रात्रि को 'सोहाग-की राति' समझने लगते हैं। अथच वे स्त्रीरूप जगत् को उपदेश देने लगते हैं कि वह मिलन के समय न सोवे ; क्योंकि 'आप ढोल बजावत साजन' अतः 'खोल घुँघुट मुख देखेगा साजन' वही कबीर का 'साजन' 'बन्ना' का रूप धरकर झूमता आता है।

'साजन' तो तब आता है, जब स्त्रीरूप भक्त भक्ति की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। किंतु उसके पूर्व तो भक्त को ही निरंतर साजन का ध्यान करना पड़ता है।

* प्रसिद्ध कवि शेली जल, थल, जड़, जन, चैतन्य सभी में उस सत्ता की उपस्थिति का अनुभव करते हैं।

जहाँ गैल सिलसिली चढ़ौं गिरि-गिरि परौं ।
उठहुँ सँभारि सँभारि, चरन आगे धरौं ॥
समझ सोच पग धरौं, जतन से बारबार डिग जाय ।
ऊँची गैल, राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय ॥
अधर भूमि जहँ महल पिया को हम पै चढ़ो न जाय ।

वह 'पिया' के लिये ऐसे स्थानों में जाने का प्रयास करता है, किंतु उसका 'पिया' उसकी ओर से उदासीन ही रहता है। स्त्री पति से मिलने के लिये निरंतर व्याकुल रहती है। उसे 'दिन नहिं चैन रैन नहिं निंदिया' आती है। वह 'सूनी सेज' पर जन्म गँवा देती है, फिर भी 'साईं बेदरदी सुधि न लिया'। वह प्रेमाकुल है, पति के मिले बिना वह जी नहीं सकती; परंतु जायसी के कथनानुसार वह 'बेलि' (स्त्री) सिर से 'पुहमै जो पिय परसै आय'। 'पिय-परस' की ही वह इच्छुक है। अतः वह अपने लौकिक पिता से कहती है—

बाबा मेरा व्याहु कराओ अच्छा बरहित काय ;
जौलौं अच्छा (बर) ना मिलै तौलौं तुमहीं बियाह ।*

वह वर की खोज में है। यह विचित्र रहस्य है कि श्रेष्ठ वर न मिलने तक वह (कन्या) पिता से ही विवाह करना चाहती है। यहाँ 'पिता' से गुरु तथा 'वर' से ब्रह्म का आशय है।

उपर्युक्त विकलता की अवस्था तो ब्रह्मानुराग के पूर्व की है। ब्रह्म जब तक जीव से राग नहीं करता, तभी तक जीव की विकलता भासित होती है; किंतु क्रम से जीव जब ब्रह्म से विशेष रूप से अनुराग करने लग जाता है, तब वह अपने को ब्रह्म के अत्यंत निकट पाता है, और 'हम तो तुम्हरी दासी सजना, तुम हमरे भरतार' का भाव त्यागकर उसके मिलन पर उसे बाँध रखने तक को उद्यत हो उठता है। वह बलपूर्वक अपने 'प्यारे' को अपने समीप ही रखना चाहता है। वह कह उठता है—

अब तोंहि जान न द्यौं पिय प्यारे ।
ज्यौं भावै त्यौं रहो हमारे ॥

वैसे तो ब्रह्म कोई बाह्य पदार्थ नहीं है, किंतु जब तक जीव अंधकार में रहता है, तब तक वह उसके सामीप्य का अनुभव नहीं कर सकता, किंतु प्रकाश में आते ही वह ब्रह्म के सामीप्य का अनुभव करने लगता है। तब उसे इस कथन को—

मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे मैं तो तेरे पास में ।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना काबे कैलास में ॥

सत्य का अनुभव होता है।

यह अनुभव लगभग सभी रहस्यवादियों को होता है। महात्मा कबीर ने तो 'बैठि गुफा में सब ज़ग देखे' और संपूर्ण जगत् को उस अनहद नाद का जो—

चहुँदल कमल तिरपुटी साजे, ओंकार दरसाया है।
ररंकार पदसेत सुभ्र मद खटदल कमल बताया है॥
भँवर गुफा में साऽहं राजे, मुरली अधिक बनाया है।
सत्तलोक सत्पुरुष बिराजै अलख अगम दोउ माया है॥

का भेद बताता है, स्वतः अनुभव किया है। इस अनुभूति के गाहकों की एक भिन्न धारा ही चल पड़ी। निर्गुण संतमत का आविर्भाव हुआ। दादू, धर्मदास, नानक आदि सभी इस मत के अनुयायी हुए। कालांतर में इसकी एक और शाखा हुई। वह शाखा राम-कृष्ण के परम भक्तों की थी। महात्मा कबीर के लगभग सभी विचारों से सहमत होते हुए भी वह लोक-पक्ष में ही रही।

* कबीर-ग्रंथावली में यह पाठ है—
बाबल मेरा व्याह करि, बर उत्तम ले चाहि ।
जब लगि बर पावै नहीं, तब लग तूँही व्याहि ॥

वह कबीर की भाँति लोक-विरागी न थे, इसीलिये तो वह समुदाय कबीर के 'उस साहब परम सयाना' को, जिसका 'ढूँढ़त ठौर ठिकाना दिखै न पंथ' ठीक-ठीक नहीं पहचान सका। उस परम सयाने को 'कोऊ ठहरावैं सून्यक कीन्हा, ज्योति एक परमाना। कोउ कह रूप-रेख नहिं वाके' आदि किंतु उस 'अछर अगोचर रेख' को कबीर-ऐसे संत ही पहचानने में समर्थ हुए। अथच महात्मा कबीर ही इस निर्गुण संतमत के नायक कहे जा सकते हैं।

इस निर्गुण संतमत के नायक पर सूफ़ियों का कुछ प्रभाव तो अवश्य पड़ा था, किंतु महात्मा कबीर के संतमत ने एकदम भिन्न पंथ का ही आश्रय लिया था। वह जायसी आदि की भाँति प्रेम-कथाओं में रहस्य सन्निहित करने के पक्ष में न थे। सांसारिक प्रेम से उनका विशेष लगाव न था। वह तो पारलौकिक प्रेम के उपासक थे। उसकी प्राप्ति के लिये सांसारिक प्रेम का आश्रय लेना विरागी कबीर को अभीष्ट न था। उनमें भारतीय आध्यात्मिकता कूट-कूटकर भरी हुई थी। वे भारतीय थे। भारत में आध्यात्मिकता पुरातन से प्रचुर मात्रा में चली आई है। वैदिक काल से ही भारतीयों में ब्रह्म और आत्मा के संबंध का रहस्य जानने की विकट लालसा उपस्थित थी। उपनिषदों में उस रहस्यमयी सत्ता का भेद जानने के लिये नचिकेता विकल हो उठता है। वह मृत्यु भगवान् से यह रहस्य बताने को बार-बार आग्रह करता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महतिब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥

'तत्त्वमसि' का गूढ़ सिद्धांत आदि यहाँ की सामान्य बातें हैं। ऐसे आध्यात्मिक वायुमंडल में पलने के कारण तथा स्वामी रामानंद का सत्संग होने से महात्मा कबीर के ज्ञान में भारतीय आध्यात्मिकता संश्लिष्ट हुई और वे इस झूठे मायारूपी संसार से उदासीन रहे। उन्होंने सत्संग किया और इस प्रकार अपनी ज्ञानेंद्रियों का सुंदर उपयोग कर—'यहि घट चंदा, यहि घट सूर। यहि घट बाजे अनहद तूर।' के रहस्यमय भावों की अनुभूति की।

रहस्यवादियों का ब्रह्म एक अनुभव ही है। वह केवल कल्पना की ही वस्तु है। उसका काल्पनिक दर्शन ही संभव है। स्थूल रूप का निरुपण उसके दर्शन कराने में समर्थ नहीं हो सकता। ब्रह्म को कल्पना-जगत् में ही पति, पत्नी, सखा, पुत्र, पिता, माता आदि मानना उचित है, जैसा महात्मा कबीर ने किया है। इसके आगे बढ़ना तो कीचड़ में फँसना है। सखी-संप्रदाय की भाँति पति अथवा पत्नी-भाव को स्थूल रूप से देखने में इंद्रियलोलुपता बढ़ती है। इसमें पड़कर रहस्यवादी अपने पवित्र आदर्श से गिरकर नरक तक पहुँच जाता है। अथच रहस्यवादी कल्पना-जगत् के आगे कभी नहीं बढ़ता। उसमें कल्पना की प्रचुरता होती है। महात्मा कबीरदास पक्के रहस्यवादी हैं। उनमें कल्पना का प्राचुर्य है। कल्पना-जगत् की बातें स्पष्टतः दिखाई नहीं पड़तीं। अतः उस ब्रह्म के अस्तित्व की अनुभूति के उद्गारों को लिपिबद्ध करने पर भी उसमें हलका-सा परदा पड़ा रहता है। उस परदे की ओट में ही उस ब्रह्म का स्वरूप दिखाई देता है। इसमें संदेह नहीं कि वह ब्रह्म जीव से पृथक् अस्तित्व नहीं रखता, फिर भी उसे स्पष्ट देखना असंभव हो जाता है। केवल कबीर-ऐसे संत ही उसका दर्शन कर पाते हैं।

महात्मा कबीर अनेक रूप से ब्रह्म को देखते हैं। वह अपने ब्रह्म की पारलौकिकता में लौकिक संबंध स्थापित करके ही नहीं रह जाते, वरन् वह इसके आगे बढ़ते हैं। महात्मा कबीर का ब्रह्म जड़-चैतन्य सभी में सदैव अपनी पूर्ण सत्ता-सहित विराजमान रहता है। स्थूल प्रकृति में भी उन्हें ब्रह्म का भास होता है। वह प्रकृति के कण-कण में उस ज्योति का शासन देखते हैं।

अवधू क़ुदरत की गति न्यारी,
रंक निवाज करै वह राजा, भूपति करै भिखारी,
एते लवँगे फल नहिं लागै, चंदन फूल न फूलै;
मच्छ सिकारी रमै जँगल मैं सिंघ समुद्रहिं झूलै।
रेंडा रूख भया मलयागिरि चहुँदिशि फूटी बासा;
तीन लोक ब्रह्मण्ड खण्ड मैं देखै अंध तमासा।

ऐसे ही अनेक रहस्यपूर्ण पद महात्मा कबीर ने कहे हैं। एक स्थल पर महात्मा कबीर मनुष्य को नलिनी और जल को ब्रह्म का रूप देकर एक अत्यंत मधुर किंतु रहस्यमय चित्र खींचते हैं—

क़ाहे रीं नलिनी तू कुम्हिलानी। तेरे नालि सरोवर पानी॥
जल में उत्पति जल में बासा। जल में नलिनी तोर निवासा॥
नातलि तपति न ऊपर आगि। तोर हेत कहु कासनि लागि॥
कहै कबीर जे उदिक समान। तेनहिं मुए हमारे जान॥

भला जीव ब्रह्म से उत्पन्न होकर तथा उसी में रहकर क्यों दुखी होवे। उसे तो परम सुखी होना चाहिए; किंतु उसे ब्रह्म में वह लीन है, इस भाव की अनुभूति नहीं होती। इस अनुभूति के उपरान्त फिर उसे कोई भी ताप तप्त नहीं कर सकता। वह तो फिर परम पद तक पहुँच जाता है, इस मृत्यु के बंधन से मुक्ति पा जाता है। मृत्यु उसके लिये अमरत्व का कार्य करती है। तब उसे इस नश्वर संसार में किसी प्रकार के कष्ट झेलने की आवश्यकता नहीं रहती।

इसी प्रकार एक और स्थल पर महात्मा कबीर ने एक रहस्यमय मधुर चित्र अंकित किया है। कलियाँ मालिन को अपनी ओर आते देखती हैं और इस भय से कि मालिन उन्हें तोड़ ले जावेगी, विह्वल हो उठती हैं। वह देखती हैं कि खिले पु[ष्प] तो तोड़ लिए गए हैं; उद्यान में अधखि[ली] कलियाँ ही रह गई हैं। कल तक वे पूर्ण रूप[से] खिल जायँगी, और तब उनके भी टूटने [का] समय आ जावेगा। इन कलियों के मिस कबी[र] साहब इस शरीर की नश्वरता का बड़ा सुं[दर] वर्णन करते हैं। इन कलियों की नश्वरता [से] महात्मा कबीर अपना संबंध उस रहस्यम[य] ज्योति से जोड़ते हैं, जिससे उन्हें जीवन-मर[ण] का कोई भय नहीं रहता। वह तो संतजन हैं[।] उन्होंने उस ब्रह्म के द्वारा निर्मित शरीर[रूपी] 'झीनी झीनी बीनी चदरिया' को जो पाँच त[त्त्व] गुन तीनों से युक्त है और जिसे सीने में सा[ईं] को दश मास लगे, सुर-मुनियों ने ओढ़कर मैली कर दी, परंतु महात्मा कबीरदास ने यत्न से उसे ओढ़ा और ज्यों-की-त्यों धर दीनी। इसी से मृत्यु का उन्हें कोई भय नहीं रहा। मृत्यु का भय तो उन्हीं को है, जिन्होंने उस चादर को मैली कर अपनी इन्द्रियों का सदुपयोग नहीं किया। ऐसे लोगों को महात्मा कबीर इस रहस्यमय उदाहरण से चेतावनी देते हैं—

खेलि ले नहरवा दिन चारि।
पहिली पठौनी तिन जन आए, नौवा, बाभन, बारि।
बाबुल जी, मैं पैयाँ तोरी लागौं अबकी गवन दे टारि।
दुसरी पठौनी आपै आये लैकै डुलिया कहार॥
धरि बहियाँ डुलिया बैठारिन कोउ न लागै गुहार।
लै डुलिया जाय बन मा उतारिन, कोउ न संगी हमार।

यहाँ 'सुहागिल' स्त्री से मनुष्य का, नैहर से

इस संसार का और 'आपै' (पति) से यमराज का तात्पर्य है।

महात्मा कबीर ने इसी प्रकार की अनेक रहस्योक्तियाँ कही हैं। यथा—

अब मोहि ले चलि ननद के बीर, अपनै देसा।
इन पंचनि मिलि लूटी हूँ, कुसँग आहि बिदेसा॥
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना।
सातौं बिरही मेरे नीपजै पंचू मोर किसाना॥
कहै कबीर यहु अकथ कथा है कहताँ कहीं न जाई।
सहज भाइ जिहिं उपजै, ते रमि रहे समाई॥

× × ×

संतो धागा टूटा गगन बिनसि गया, सबद जु कहाँ समाई।
ए संसा मोहिं निसिदिन व्यापै, कोई न कहै समझाई॥

× × ×

षट दल कवल निवासिया चहुँ को फेरि मिलाइरे।
अष्ट कँवल-दल भीतराँ तहाँ श्रीरंग केलि कराइरे॥

आदि। इनकी उलटवाँसी बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका अर्थ साधारणतः उलटा भासित होता है, पर वास्तव में यह गूढ़ आध्यात्मिक भावों से भरी रहती हैं, और आध्यात्मिक अर्थ लगाने से स्पष्ट हो जाती हैं। यथा—

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, राई ना ठहराय,
आवागम की गम नहीं, तहँ सकलो जग जाय।

यहाँ 'चिउँटी' से वाणी और 'राई' से बुद्धि का अभिप्राय है।

भाष्य में प्रायः सभी संत-कवियों की कविता में थोड़ी-न-थोड़ी मात्रा में रहस्यवाद पाया जाता है। किंतु वह उतना उत्कृष्ट नहीं है। रहस्यवादियों के सब गुण महात्मा कबीर में विद्यमान हैं। साधारण बोलचाल की भाषा में इन्होंने ब्रह्म और जीव का संबंध भली प्रकार समझाया है। महात्मा कबीर के पश्चात् का रहस्यवाद-पूर्ण संपूर्ण काव्य इनका ऋणी है। सभी रहस्यवादी संत कवियों ने इन महात्मा का किसी-न-किसी प्रकार आश्रय ग्रहण किया है। बीसवीं सदी के प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के काव्य पर इन महात्मा की छाप पड़ी है। वे महात्मा कबीर के अनन्य भक्त भी हैं।

आजकल हिंदी-भाषा में कविता की प्रगति एक विशेष ओर बढ़ रही है। कुछ सज्जन उसे रहस्यवाद नाम देते हैं। परंतु मुझे कुछ सुकवियों की कृति के अतिरिक्त अन्यत्र रहस्यवाद की झलक तक नहीं दिखाई देती। केवल शब्दाडम्बरपूर्ण कविता जो स्वयं कविताकार की समझ में भी न आवे, रहस्यवाद की परिभाषा के अंदर नहीं आ सकती। भले ही वह कोई अन्यवाद होवे। रहस्यवादी होने के लिये प्रतिभा की आवश्यकता होती है। व्यर्थ के आलाप से कोई रहस्यवादी नहीं हो सकता। महात्मा कबीर प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनकी विकसित प्रतिभा का लगाव ब्रह्म-मिलन की ओर था। वह इस कार्य में सफल भी हुए। महात्मा कबीरदास अपने क्षेत्र में आदर्श हैं। इस संसार में न होते हुए भी वह यशःकायेन सदा अमर रहेंगे।

पन्नालाल त्रिपाठी

यौवन का उन्माद

(१)

हमारे यौवन का उन्माद,
साथ लेकर कुछ प्यारी साध,
डूबता-उतराता-सा चला—
विश्व-सागर में, सफल अबाध
एक था हृदय, एक थी याद,
एक ही थी अपनी वह साध,

(२)

यदपि था तूफ़ानों का ज़ोर,
और था लहरों का प्रतिवाद,
अनिच्छा इच्छा का संघर्ष,
आपदाओं का तुमुल निनाद,
किंतु फिर भी बढ़ता ही गया
हमारे यौवन का उन्माद

(३)

सफलता की मंज़िल पर खड़ा,
बजाता हूँ वीणा के तार।
गूँजता है यह सारा विश्व,
प्रध्वनित होता जय-जयकार।
हमारे यौवन का उन्माद—
सामने है, देखो! साकार!

विद्यार्थी भगवतीप्रसाद मिश्र

बिहारी की सतसई और उसके टीकाकार

(१)

हिंदी-साहित्य में, कला की दृष्टि से, बिहारी-सतसई का आसन बहुत ऊँचा समझा जाता है। सतसई में विविध रसों तथा अन्य मनोभावों का ख़ूबी के साथ अभिव्यंजन है; इसीलिये, कला की दृष्टि से, वह एक उत्तम काव्य है। हाँ, यदि इसे हम उपयोग की कसौटी पर परखें, तो फिर यह कुछ नहीं है; और किसी अंश में तो एक हानि-प्रद वस्तु ठहरेगी! परंतु इस काव्य को उपयोग की कसौटी पर कसना, इस काव्य और इसके कवि पर अन्याय करना होगा। कविवर बिहारीलाल ने किसी लौकिक उपयोग के लिये सतसई की रचना नहीं की है, जो उसकी उस तरह से परीक्षा की जाय। उसमें तो उन्होंने काव्य-चमत्कार दिखाया है—उसमें रसास्वाद ही प्रधान है; अतएव इसी दृष्टि से उस पर विचार होना चाहिए। जब कोई कारीगर भाँति-भाँति की मिठाइयाँ बनाकर प्रस्तुत करता है, तो वह उनकी सफ़ाई, सौंदर्य और आस्वाद पर जितना ध्यान रखता है, स्वास्थ्य पर उतना नहीं। उसके मन में यही भावना रहती है कि मेरी मिठाइयाँ देखने में सुंदर और स्वाद में सुधोपम हों। उस समय वह इस बात का ख़याल नहीं करता कि इन मिठाइयों का जनता के स्वास्थ्य पर क्या असर पड़ेगा। ऐसी मिठाइयों की उत्तमता की परख भी इसी दृष्टि से होनी चाहिए। हाँ, यदि कोई चतुर कारीगर स्वास्थ्य का भी ध्यान रखकर अपनी मिठाइयाँ बनावे और उनके विषय में वह वैसा दावा भी करे, तो वह आदर्श कारीगर है। ऐसे कलाविद् की कला की जाँच करने में सौंदर्य और उपयोग, दोनों कसौटियाँ काम में लाई जायँगी। कविवर बिहारीलाल पहले प्रकार के कवि हैं। उनकी कविता में आस्वाद ही प्रधान है। अतएव इस लेखमाला में हम उनकी कविता पर आस्वाद की ही दृष्टि से विचार करेंगे, सौंदर्य की ही परख करेंगे। उपयोगिता पर उसे न ले जायँगे। परंतु जहाँ वह पाठक के मानसिक स्वास्थ्य के लिये अधिक हानिप्रद प्रतीत होगी, उस पर विशेष दृष्टि रक्खी जायगी; बाज़ार की, खोए और मैदे की बनी, मिठाइयाँ शारीरिक स्वास्थ्य के लिये अच्छी नहीं होतीं। लगातार उनका सेवन करते रहने से स्वास्थ्य बिलकुल नष्ट हो सकता है। परंतु यदि कभी-कभी स्वास्थ और योग्य पुरुष, उचित मात्रा में इन मिठाइयों का स्वाद ले, तो कोई वैसे ख़तरे की बात नहीं है। यही कारण है कि हेल्थ-आफ़िसर लोग इन मिठाइयों की बिक्री पर ध्यान नहीं देते। किंतु यदि कोई अपनी मिठाइयों में कोई विषैली वस्तु मिला दे, उनमें भाँग और अफ़ीम आदि का सम्मिश्रण कर दे कि लोग इन्हें खाकर मस्त हो जायँगे, या मिठाई बनाने में सफ़ाई का ध्यान न रक्खे; अथवा मिठाइयों के रखने का उचित प्रबंध न रक्खे, जिससे मक्खियों आदि के कारण वह विकृत हो जाय, तो फिर उस पर शीघ्र ही हेल्थ-आफ़िसर की नज़र जायगी और उसे अपनी करनी का फल मिलेगा। काव्य की भी यही बात है। तुलसी प्रभृति वे कारीगर हैं, जिन्होंने अपनी मिठाई बनाते समय जनता के मानसिक स्वास्थ्य का भी ध्यान रक्खा है। यही कारण है कि इन की मिठाई की ख़ूब खपत है। हमारे कवि बिहारीलाल आदि कारीगरों की उस कोटि में हैं, जिसमें स्वास्थ्य पर कोई दृष्टि नहीं। कोई हर्ज नहीं, न सही; आस्वाद तो है! पर ऐसे कारीगरों की कृति में ख़तरा बराबर बना रहता है—स्वास्थ्य के लिये; क्योंकि स्वास्थ्य पर उनका ध्यान ही नहीं रहता! एक आदर्श समालोचक का कर्तव्य है कि वह ऐसे कवियों के काव्यों से ऐसी निकृष्ट सामग्री छाँटकर अलग कर दे, जिससे जनता सतर्क हो जाय। सत्समालोचक और हेल्थ-आफ़िसर का एक ही काम है।

'बिहारी की सतसई' पर आज तक बहुत विचार हो चुका है। उसकी कोड़ियों टीकाएँ बन चुकी हैं और अभी तक बनती चली जा रही हैं। अभी-अभी दो नई

टीकाएँ निकली हैं—रत्नाकरी टीका और संजीवन-भाष्य। पुरानी सब टीकाएँ 'गड्डुलिका-प्रवाह' से लिखी गई हैं, सब टीकाकार 'अंधेनेव नीयमाना यथान्धाः' चले गए हैं। प्रायः सभी पिष्ट-पेषण करते चले गए हैं। नई दोनों टीकाओं में कुछ विशेषता है। रत्नाकरी टीका बिलकुल सीधी-सादी है। यही इसकी विशेषता है। इसमें साहित्यिक विचारों का विश्लेषण नहीं किया गया है; अतएव इस लेख-माला में इस पर हम विचार न करेंगे। विचार करने का कोई आधार ही नहीं है। 'संजीवन-भाष्य' में साहित्यिक विचार प्रदर्शित किए गए हैं। इसमें दूसरे कवियों के साथ बिहारी की तुलना भी ख़ूब की गई है। जैसा कि प्रसिद्ध है, यह तुलना अधिकांश में वकालत ही है। संजीवन-भाष्य के प्रणेता के मन में कविवर बिहारीलाल के प्रति इतना गहरा पक्षपात है कि उन्होंने सतसई के दोषों का भी 'परिहार' करने की चेष्टा की है, जो हो नहीं सका है। एक हेल्थ-आफ़िसर अनुचित पक्षपात करके यदि किसी हलवाई की रद्दी मिठाई को भी अच्छी कहने लग जाय, तो फिर 'रक्षक सो भक्षक भए' वाली कहावत पूर्ण चरितार्थ हो जाती है। ख़ैर, इन बातों पर तो यथास्थान विचार होगा ही; अतएव यहाँ विशेष लिखना ठीक नहीं। संजीवन-भाष्य में, कई बातों में, नवीनता ज़रूर है; पर काव्य के अलंकारों का प्रदर्शन जहाँ-जहाँ भी किया गया है, बिना विशेष विचार के उन्हीं पुरानी टीकाओं के आधार पर किया गया है, जो अधिकांश स्थलों में बिलकुल ग़लत हुआ है!

हम कह चुके हैं, कला की दृष्टि से सतसई एक उत्तम काव्य है; क्योंकि उसमें रस आदि मानसिक भावों का अभिव्यंजन है। जहाँ रसादि की अभिव्यक्ति होती है, वहाँ अधिक अलंकारों की ज़रूरत नहीं होती। यही नहीं, प्रत्युत ऐसे मनोहर स्थलों में अधिक अलंकारों का होना एक प्रकार से दोष ही माना गया है। बिहारी की सतसई भी ऐसा ही काव्य है। यही कारण है कि इसमें अलंकारों की भरमार नहीं है। परंतु इसके टीकाकारों की गति-विधि कुछ न्यारी ही है। उन्होंने सतसई में अलंकार-ही-अलंकार देखे हैं! ढूँढ़-ढूँढ़कर अलंकार निकाले गए हैं और सारा ज़ोर ही इन पर लगा दिया गया है! मानो अलंकार ही कविता के सर्वस्व हैं, जिनके बिना सतसई दो कौड़ी की हो जायगी! अलंकारों का प्रदर्शन भी ऐसा कि वाह! 'ठोंक-पीटकर वैद्यराज।' आश्चर्य की तो यह है कि इस विषय में संजीवन-भाष्य ने भी टीकाकारों का अनुसरण किया है! विशेष दुःख आश्चर्य की बात तो यह है कि इन अलंकारों के प्रद भोंड़ी ग़लतियों का प्रदर्शन हो गया है। इस लेख-मा में इन सब बातों पर विस्तृत विचार किया जायगा।

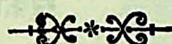
कई साल पहले 'सरस्वती' में मैंने एक लेख प्रक कराया था, जिसमें 'संजीवन-भाष्य' के उस अंश संक्षिप्त समालोचना की थी, जिसमें बिहारी की के दोषों का 'परिहार' किया गया है! उस समय इच्छा हुई कि संपूर्ण संजीवन भाष्य और उसके तथा विश्रुत भूमिका-भाग पर एक लंबी लेख-मा निकालूँ। पर अभी तक यह बात हो न पाई। पिछले दिनों फिर वह इच्छा जागृत हुई। अब मैंने कार्य-रूप में परिणत कर डालना ही उचित सम श्रीगणेश कर दिया है। इस लेख-माला की प्रस्त ही इस लेख को आप समझें। इसमें स्वयं बिहारी कविता पर मैं अपने विचार प्रकट करूँगा और प्रायः सभी टीकाकारों के मतों की आलोचना भी। सं वन-भाष्य को मैं सतसई की सब टीकाओं से समझता हूँ। खेद है, अभी यह भाष्य पूरी सतसई नहीं हुआ है; पर जितना है, बहुत ही बढ़िया। क्या इस भाष्य के प्रणेता इसे पूर्ण करके साहित्य- की तृप्ति शीघ्र न करेंगे? साहित्य के उत्तम ग्रंथों में भाष्य की गिनती है। परंतु कहीं-कहीं हम इस के उल्लेखों से सहमत नहीं हैं। इस लेख-माला में स्थलों पर विचार होगा।

संजीवन-भाष्य के प्रणेता श्रीयुत पद्मसिंहजी को हम प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। उनकी कृपा इस जन पर सविशेष रहती है। हमारी धारणा है, लेख-माला के निकलने से उनकी कृपा और बढ़ जा घटेगी नहीं; क्योंकि यह पूर्ण सद्भाव से लिखी रही है। दूसरे, उनका हृदय विशाल है, क्षुद्र नहीं। साहित्यिक विचारों के प्रकट करने के पक्षपाती स्वयं दूसरे टीकाकारों और कवियों पर पूर्ण सद्भाव हुए उनकी कृतियों की तीव्र समालोचना करते हैं; मज़ेदार भाषा में। मज़ाक उड़ाने में भी वह अभ्यस्त हैं "समरथ को नहिं दोष गुसाईं!" पर हम इस

माला में किसी का मज़ाक न उड़ावेंगे । हम इसके अधिकारी नहीं हैं। हमें मज़ाक करना आता भी नहीं । हम तो सीधी-सादी भाषा में साहित्यिक गुण-दोषों का विवेचन करेंगे। इसीलिये हमारी लेखमाला की भाषा वैसी चटपटी न होगी। पाठक क्षमा करें ।

किशोरीदास वाजपेयी

तपश्चर्या



कुटिल कुचक्रियों की क्रूर कूटनीति और
देख षड्यंत्रियों की यंत्र रचना लटी,
मैं तो हार मान दैव बल याचने को गया
जोग साधने को जिस ओर जमुना-तटी।
कुंज की कुटी में ज्यों ही प्रणव उपासना को
नेक मेरी तालु में 'उमेश' रसना सटी,
त्यों ही उस शांति में अशांति की-सी भ्रांति हुई,
और इतने ही में अभूत घटना घटी।
अनावृत होते ही विलोचन विलोका जो तो
सामने अखंड अत्याचार हाहाकार था,
दाईं ओर द्वेष-दंभ दासता का दुष्टता का
दारुण दरिद्रता का प्रचुर प्रचार था।
ऊपर अपार वायुयानों का उपद्रव था
बाईं ओर विपुल विपत्तियों का भार था,
नीचे नीच लोगों के कुचक्र का बिछा था जाल
पीछे पापियों के पापपुंज का प्रसार था।
मैं तो असहाय था निशस्त्र था 'उमेश' मेरे
आगे मेरे बंधु छलियों से छले जाते थे,
यम-यातनाओं के असंख्य दुख भोग-भोग
नाहक ही दुष्ट दानवों से दले जाते थे।
जिनके न घर था न धन था न विक्रम था
वही आज मशक समान मले जाते थे,
दीन-दुखियों की देख दारुण दशा को आज
भूधर भी धसक धरा के तले जाते थे।
जैसी त्राहि-त्राहि-सी मची थी तटिनी के तीर
तैसी अब तापनाशिनी न तपशाला थी,
पीड़ित जनों की सुन करुण कहानी आज
मुझी को जलाने चली मेरी मनोज्वाला थी।
छिन्नभिन्न सारी ज्ञानमुद्रा की क्रिया थी हुई
खिसक धरा में गई मेरी मृगछाला थी,
इधर कमंडल उछल के गिरा था और
उधर कुमंडल पै मेरी पड़ी माला थी।
एक आततायियों का तांडव-सा हो रहा था
दुष्टवृंद पाठ क्रूरता ही का रहा था गुन,
निबल जनों को कोई देखता न भालता था
धन धनियों का धूर्त धुनिया रहा था धुन।
चारों ओर घोर अघओघ का घिरा था घन
दलित समाज दुख भाड़ में रहा था भुन,
ऐसे में 'उमेश' एक दीनों की पुकार ही में
मैं तो प्रभु-आगम की आहट रहा था सुन।
किंतु शोकावेग में प्रकंपित शरीर हुआ
हृदय नदी में धैर्यबुंद-सा बिला गया,
मेरे अंग-अंग में 'उमेश' रोम-रोम में, न
जानिए कहाँ से घोर संशय समा गया।
एकाएक ऐसा अभ्रभेदी अट्टहास हुआ
छूट के धरातल में मानो वज्र आ गया,
देखते-ही-देखते प्रलय-काल का-सा एक
मेरे सामने तो महा अंधकार छा गया।

एक क्षण में ही मुझे मेरा जब ज्ञान हुआ
देखा जो तो धुंध अंधकार का घटा-सा था,
किंतु वह भूमि थी न कुंज की कुटी थी वह
मेरे सामने तो यंत्र शूली का सटा-सा था।
काल-सी कठिन श्रृंखला में जकड़ा था आज
मेरे तन पै तो एक अंशुक फटा-सा था,
मैं तो चक्रपाणि के चरण पै पड़ा था और
मेरे मारने को एक दानव डटा-सा था।
देखते ही उसे लोचनों में अश्रुबुंद उठा
उछल धरा पै हो गया जो जल-धार-सा,
चक्र-सा विवर्धित हो बीचि-सा तरंगित हो
प्रबल महान् हुआ मानस की धार-सा।
सुकवि 'उमेश' फिर फैल निम्नगा-सा वह
बढ़के अपार हुआ नद के प्रसार-सा,
एक ही दृगंचल में कूद रिपुमंडल पै
हो गया प्रचंड वही घोर पारावार-सा।

ऐसे अश्रुअंबुधि के तट पै खड़ा था जब
दूर पै दिखाई पड़ा मुझे एक कौंधा-सा,
जिसके प्रकाश में हतप्रभ विपक्षियों का
वृंद हो विमूर्छित गिरा था आज औंधा-सा।
एकाएक उससे सहस्र ज्योतिज्वाला उठी
जिससे हुआ था चारों ओर चकचौंधा-सा,
सुकवि 'उमेश' मुझे मारने खड़ा था जो कि
भूतल पै टूटके पड़ा था वही पौधा-सा।
क्षण-भर में ही अश्रुसिंधु क्षीरसिंधु हुआ
ज्योतिरश्मियों में प्रभा प्रकटी फणीश की,
होते ही निकट नेक जिसमें 'उमेश' मुझे
देख पड़ी कांति कमनीय रजनीश की।
मेरी श्रृंखला तो टूक-टूक हो गिरी थी ज्यों ही
मेरे लोचनों में लसी मूर्ति मेरे ईश की,
एक बाँह उसकी उदित शत्रुदाह-सी थी
एक छत्रछाँह-सी बनी थी मेरे शीश की।

"उमेश"

छुट्टी

हम लोग होस्टल में बैठे इस बात पर विचार कर रहे थे कि बड़े दिन की छुट्टी में घर कब चलना चाहिए। इसी समय 'लाल' 'लाल' कहते हुए उमा, बचनू, महावीर, चौधरी और चंदसरूप ने कमरे में प्रवेश किया। चौधरी ने कहा—

"बड़ी साइत से चले थे आज। यह मरदूद कमरे में मिल तो गए।"

उमा०—"अजी तुम लोग कहाँ रहते हो। तीन दफ़े यहाँ से लौट गए। तुम दोनों के कमरे बंद मिले। कब चलने का इरादा है?"

लाल—"परसों से यूनीवर्सिटी बंद है। कल शाम की गाड़ी से चलेंगे। परसों कुछ पढ़ाई-वढ़ाई तो होगी ही नहीं। एक दिन का गैप ही सही।"

मैं—"अजी मारो गोली। कल क्या ख़ाक पढ़ाई होगी। एक दिन की उड़ंत कोई उड़ंत है। मेरी राय में तो आज शाम को ही उड़ंछू होना चाहिए।"

चौ०—"आज हम लोग तैयार नहीं हैं। कल चलेंगे"।

मैं—"अजीब अहमक़ हो तुम। तैयारी के लिये क्या कहीं बारात में जा रहे हो? अम्याँ, घर जा रहे हो।"

बहुमत से दूसरे दिन शाम की गाड़ी से ही चलना

निश्चित हुआ। अस्तु, उस दिन सुबह से ही होस्टल में चहलपहल मच गई। कोई साइकिल पर चौक दौड़ रहा है, तो कोई सामान बाँध रहा है। चार बजते-बजते ताँगे आ गए। थोड़ी देर बाद हम लोग स्टेशन आ पहुँचे।

तदुपरांत हम लोग टिकिट लेने पहुँचे। कनसेशन-फ़ार्म पर एक-से दस्तख़त देखकर बाबू ने कहा—

"सब नामों के आगे एक-से दस्तख़त हैं, एक ही आदमी के किए मालूम होते हैं।"

चौ०—"टिकिट भी तो एक-से मिलेंगे।"

मैं—"मालूम होता है, एक-से टिकिट देखते-देखते आपकी अक़्ल चकरा गई है।"

चौ०—क्लार्क रेल और अक़्ल से क्या मेल?"

बा०—"आप लोग हर एक फिर से दस्तख़त कीजिए।"

मैं—"अरे यह उलटा चरख़ा चलवाने से क्या मतलब? सीधे से टिकिट दे दीजिए।"

चौ०—"आठ दस्तख़त और आठ टिकिट। सीधी-सी बात है। न-जाने इनकी नानी क्यों मर रही है।"

बा०—"मैं इस तरह टिकिट नहीं दे सकता।"

मैं—"टिकिट तो तुम्हारे फ़रिश्ते देंगे।"

बा०—"क्या?"

मैं—"यही कि आपको टिकिट देने पड़ेंगे।"

बा०—"मैं नहीं दूँगा।"

मैं—"लाहौलविलाक़ूवत। कैसी औंधी खोपड़ी से पाला पड़ा है। समझना हराम है।"

चौ०—"निहायत ख़र दिमाग़ है।"

उमा०—"दिमाग़ इनसे कोसों दूर। यह तो निरा ख़र है।"

महा०—चिड़ियाख़ाने में रखने लायक़ है।"

ब०—"तभी तो जँगले के अंदर बंद है।"

चौ०—चले हैं बड़ी ख़ैरख़्वाही करने, मानों कम्पनी के नाती हों।"

लाल०—(बाबू से) "कैन यू कारंट अप टु वन?"

बेचारा बाबू सिट्टी-पिट्टी भूल गया, अब तो उसकी समझ में आ गया कि उसने बरों का छत्ता छू दिया। बेचारा खिड़की छोड़कर ऐसा भागा कि फिर सूरत न दिखाई। बड़े बाबू ने आकर टिकिट दिए। टिकिट लेकर हम लोग प्लेटफ़ार्म पर आए। गाड़ी खड़ी थी। एक ख़ाली कम्पार्टमेंट में अपना सामान जमा दिया।

अब हम लोगों ने प्लेटफ़ार्म के एक सिरे से दूसरे सिरे तक टहलना शुरू किया। घूम-घूमकर सुंदरता का निरीक्षण करने लगे। हम लोगों का यह निरीक्षण वैज्ञानिक तथा ईश्वरीय कला को सराहने के उद्देश्य से था। उसमें कोई भावना न थी, अभिलाषा न थी, और न थी वासना की गंदी बू। कमनीयता के उस नंदन-कानन में विचरते देर नहीं हुई थी कि भद्देपन की साक्षात् मूर्ति आँखों के सामने आ गई। यह और कोई नहीं, गार्ड साहब थे।

उन्हें देखते ही मेरे मुँह से अपने-आप यह शब्द निकल पड़े—

"अरे, यह मनहूस शकल कहाँ से सामने आ गई। आज कुशल नहीं है। ज़रूर कुछ गुल खिलेगा।"

चौ०—बड़ी मज़ेदार चीज़ है, ख़ुदा की क़सम। हम लोगों की चुहल के लिये बड़ा अच्छा मैटीरियल (सामग्री) है। ख़ूब लुत्फ़ रहेगा।"

गार्ड साहब की हुलिया का फ़ारमूला था—भद-भद, थल-थल, पिलपिल। टिंगनें—जितने लंबे उतने ही चौड़े। पतलून आपकी बेहद छोटी और ऊँची। पतलून क्या थी, बटनदार पाजामा था। तोंद, जो ऊपर से नाक और नीचे से पैरों को चूमने की कोशिश कर रही थी, किसी तरह ठूँसठाँस कर पतलून के अंदर दाख़िल की गई थी। अगर ऊपर से कोट के बटनों से दबी न होती, तो ज़रूर पतलून के बटन तोड़कर बाहर निकल भागती। नीचे से ऊपर तक काली यूनीफ़ार्म में डटे। चेहरे का रंग यूनीफ़ार्म के रंग से बाज़ी ले रहा था। सिर पर सफ़ेद कबाड़िए हैट ने और भी शोभा बढ़ा रक्खी थी। एक हाथ में लालटेन तथा दूसरे में झंडी। इन सब पँचमेल मसालों के मेल से वह लामिसाल ढाँचा तैयार हुआ था कि जिसके लिये बहुत सोचने पर भी कोई उपमा नहीं मिली। उन्हें देखते ही हम लोगों के दिलों में अद्भुत तथा हास्यरस का संचार हुआ। दिल में एक गुदगुदी पैदा हुई। एक अजीब सुरसुराहट उत्पन्न हुई कि इनसे छेड़ख़ानी करें। जैसे ही नज़दीक पहुँचे, मैंने कहा—

"कंपनी ने इनकी यूनीफ़ार्म में फ़जूल ख़र्च किया। इनके चेहरे का रंग क्या यूनीफ़ार्म के रंग से कम था?"

चौ०—"मालूम होता है, ब्लैकसी (कालासागर) में ग़ोता लगाकर आया है।"

महा०—"अजी कोबरा-पालिश का चलता-फिरता विज्ञापन है।"

उमा०—"आबनूस का कुंदा है।"

चंद्र०—तुम लोग कोई नहीं समझे। कोलतार पुता हुआ है, जिससे दीमक न लग जाय, देखते नहीं हो, मूँछें दीमक चाट गई हैं।"

बचनू—"हाँ-हाँ, कंपनी को अपने नौकरों का बड़ा ख़याल है।"

मैं—"काली रात में इन्हें कोई कैसे देख पाता होगा ? एक सर्चलाइट की ब्रेक में भी ज़रूरत है।"

चौ०—"हाथ में लालटेन और किस लिये है ?"

गार्ड साहब ने अपने रूप का जो बखान सुना, तो भिन्ना गए। हम लोगों की तरफ़ इस तरह घूरकर देखा, मानों काट ही खाएँगे। मगर कुछ बोले नहीं। चुपचाप ब्रेक में घुस गए। हम लोग भी गाड़ी में आकर बैठ गए।

इसी समय एक सरदार साहब (सिक्ख) कुली के पीछे दौड़ते हुए हाँफते-हाँफते आए और हमारे कंपार्टमेंट में घुसने लगे। इनकी तोंद देखकर यह धोखा होता था कि सलवार के अंदर ज़रूर कोई छोटा-मोटा ढोल बँधा है। इस वक़्त यह भारी तोंद आपको बहुत खली। गाड़ी का वक़्त हो चुका था; आपका दौड़ना देखकर हँसी आती थी। बेचारे पसीने-पसीने हो रहे थे। एक हाथ से सुत्थन सँभालते थे। बेचारी सलवार इतनी ऊँची तोंद पर चढ़ने से इनकार कर रही थी। न-मालूम चिकनी थी या सरपट। सलवार उसी प्रकार नहीं रुकती थी, जैसे काई लगी जगह पर पैर। लंबी अधकचरी डाढ़ी, मुँह में बीड़े भरे, आँखों में सुरमा लगाए, तथा सिर पर बड़ा-सा पग्गड़ बाँधे। हम लोगों ने कहा—"यह डिब्बा रिज़र्व है, आगे जाइए।" लेकिन सरदार साहब भला कब माननेवाले थे, घुस ही तो पड़े और लगे कहने—

"हम पल्टन का आदमी है। हम यहीं बैठेगा।"

चौ०—"यहाँ बैठते तो हो, लेकिन नानी याद आएगी।"

सर०—"क्या गुस्ताख़ी करते हो, हम पल्टन में जमादार है, हम इस मुलक के आदमियों को कुछ नहीं समझते।"

मैं—"अख़्वाह ! आप जमादार हैं, क्या टट्टियों के

सर०—"हम रेजीमंट में जमादार हैं। हम पिंजा हैं, पिंजाबी बहुत बहादुर होता है।"

मैं—"पिंजाबी ताक़तवर तो होते हैं, मगर औंधी खोपड़ी के होते हैं।"

सर०—"क्या मतलब ?"

मैं—"यही कि अक़्ल से ज़रा कम सरोकार रखते हैं।"

चौ०—"आप कहाँ तशरीफ़ ले जा रहे हैं ?"

सर०—"हम छुट्टी लेकर पिंजाब जा रहे हैं।"

हम लोग आपस में विचार करने लगे कि किस इन दोनों चंडूलों (गार्ड और सरदार) को बनाएँ। इसी समय गाड़ी रुकी और सरदार जमादार लपककर गाड़ी के बाहर हो रहे। हम लोगों को संदेह हुआ कि पंछी उड़ा जा रहा है, परंतु संदेह कुछ जल्द दूर हो गया। मालूम हुआ कि हमारे सरदार साहब ज़नानी गाड़ी के पास जाकर रुक गए। इसी समय हम लोगों का ध्यान ऊपर की बर्थ पड़ा, जिस पर सरदार साहब का एक झाबा रक्खा हुआ था। उधर उन्होंने पीठ फेरी, इधर हम लोगों ने झाबे की छानबीन शुरू की। मालूम हुआ कि झाबे में सेब, संतरे, अमरूद भरे हुए हैं। फिर क्या था, हम लोगों ने पहली दफ़े में ही चौथाई माल निकाल लिया और बिस्तरों के पीछे एक तौलिए में लपेटकर रख दिया। जब गाड़ी चली, तो हम लोगों ने फलों को निकाला, सब अपने-अपने चाकू निकालकर बैठ गए।

मैंने सरदार साहब से कहा—

"जनाब, आप भी नोश फ़रमाइए। हम लोग इलाहाबाद से बहुत तलाश करके अमरूद लाए हैं। हम लोगों को तो पहचान नहीं है। आप देखिए, कैसे हैं ?"

सरदार ने अपने टोकरे की तरफ़ देखते हुए कहा—"मुझे माफ़ कीजिए। मेरे पास भी मौजूद हैं।"

मैं—"यह भी आपके ही हैं। लीजिए, तकल्लुफ़ की क्या ज़रूरत है।"

सरदार—"नहीं, नहीं, मैं नहीं खाऊँगा।"

दम-भर में हम लोगों ने सामने के फल साफ़ कर दिए। गाड़ी दूसरे स्टेशन पर रुकी। सरदार ज़नाने डिब्बे की तरफ़ लपके। और इधर हम लोगों ने फि

झाबे पर धावा बोल दिया। इस बार आधा झाबा ख़ाली कर दिया। पिछले दफ़े के फलों के छिलके और अधकटे फल उनके झोले में भर दिए। जब सरदार वापस आए, तो हम लोगों के सामने फिर उतने ही फल देखकर उन्होंने अपने झाबे की तरफ़ एक संदिग्ध दृष्टि डाली, परंतु उसे खोलकर देखा नहीं। मैंने कहा—

"लीजिए जनाब, अब थोड़े-से रह गए हैं।"

सरदार—"पाँच रुपए के मैं भी लाया हूँ। आप इतमीनान से खाइए।"

मैं—"यहाँ आपकी दुआ से कौन बेईमान पैसे ख़र्च करता है। मोल लेकर खानेवाले पर लानत।"

गर्ज़ें कि हम लोगों की ख़ुशक़िस्मती और सरदार साहब की बदक़िस्मती से वह हर स्टेशन पर ज़नाने-डिब्बे की यात्रा करते रहे और यहाँ यार लोगों ने चार स्टेशनों के पहले ही झाबा ख़ाली कर दिया। छिलके और अधकटे टुकड़े उनके झोले के हवाले कर दिए। अब पेट में इतना मुफ़्त का माल पहुँचा, तो अक़्ल भी तेज़ हो गई। अब ख़्याल यह आया कि इन बुढ़ऊ खूसट को ज़नाने-डिब्बे से क्या इश्क़ पैदा हो गया है। ख़याल आने-भर की देर थी, हम लोगों ने इस बात के अनुसंधान करने का इरादा कर लिया। यहाँ यार लोग भला कब चूकनेवाले थे। दूसरे स्टेशन पर गाड़ी रुकी नहीं कि यार लोग भी मियाँ साहब के पीछे-पीछे जा पहुँचे। देखते क्या हैं कि हमारे सरदार साहब खिड़की पर बैठी हुई सत्रह-अट्ठारह बरस की एक नई नवेली से हँस-हँसकर बातें कर रहे हैं। इस समय सरदार साहब की हुलिया में शृंगाररस के प्रभाव से अजीब परिवर्तन हो गया था। उनके बुड्ढे, झुर्रियों से सुशोभित चेहरे पर हास्य रेखाएँ पड़ गई थीं। छोटी-छोटी गोल आँखों से प्रसन्नता झलक रही थी। बातें करने में कभी-कभी आँखें मटकाते जाते और दाढ़ी हाथ में लेकर हिलाते जाते थे, मानो वह सुंदरी आपकी अधकचरी दाढ़ी पर रीझ जायगी।

हम लोगों ने जो यह हाल देखा, तो लगे क़हक़हा लगाने; यहाँ तक कि सारा स्टेशन गूँज गया और मुसाफ़िर खिड़कियों से सिर निकाल-निकालकर देखने लगे कि माजरा क्या है। सरदार साहब भी चौंके। अपने प्रेमालाप के आनंद में हम लोगों को कंटक जान जलकर कोयला ही हो गए।

हर स्टेशन पर हम लोगों की यही हरकत जारी रही। जब गाड़ी चलती, तो हम लोग अपने डिब्बे की तरफ़ भागते और एक-एक करके लटक-लटककर चढ़ती हुई गाड़ी पर चढ़ते। ज़नाने डिब्बे का ऐसा आकर्षण था कि इस बात की परवा न थी कि चढ़ती हुई गाड़ी पर चढ़ने का क्या हश्र होगा।

गार्ड साहब हम लोगों से पहले ही ख़ार खाए थे। इस चढ़ा-उतरी ने उनके मिज़ाज़ के पारे को और भी गर्मी पहुँचाई। हम लोगों के पास आकर बोले—"चलती गाड़ी में चढ़ने का हुक्म नहीं है, अगर कोशिश करोगे तो उतार देंगे"। लेकिन यहाँ कौन उन्हें दमड़ी को पूछता था और कौन उनके हुक्म की परवा करता था। यार लोगों ने बिलकुल अनसुनी कर दी। हमारे इस व्यवहार से गार्ड साहब एकदम उबल पड़े। अब तक आग अंदर-ही-अंदर सुलग रही थी, अब उसकी लपटें बाहर आने लगीं। एक स्टेशन पर गाड़ी चली, हम लोग एक-एक करके चढ़ने लगे। चंदू सबके पीछे था। इतने में गार्ड साहब ने आकर चंदू को अलग कर दिया। हरी लालटेन दिखा दी। गाड़ी तेज़ हो गई। चंदू प्लेटफ़ार्म पर से चिल्लाया—"अरे! मैं रह गया"।

लेकिन हम लोग गार्ड साहब के भी चचा थे। यदि वह ज़रा बदमाश थे, तो यहाँ नस-नस में बदमाशी भरी थी। यदि वह चलते-पुर्ज़े थे, तो यहाँ उन-जैसे सैकड़ों को चरा चुके थे। अस्तु, मैंने दन से ज़ंज़ीर खींच दी। गाड़ी खड़ी हो गई। हम लोग सोचने लगे कि देखें आगे क्या होता है। इतने में गार्ड साहब भी इस डिब्बे में झाँक, उस डिब्बे को देख, हमारे डिब्बे में फ़ट पड़े। तड़पकर बोले—"किसने जंज़ीर खींची है"?

मैं—"मैंने ?"

गार्ड—"क्यों ?"

मैं—"आपने हमारे साथी को क्यों उतार दिया।"

गार्ड—"तुमको पचास रुपया जुरमाना देना पड़ेगा।"

चौ०—रुपयों के नाम पर तुम्हारे सिर पर यह नन्हें-नन्हें मुलायम पचास सिलीपर ठोकेंगे और एक गिनेंगे।"

गार्ड 'क्या-क्या' कहते हुए चौधरी की तरफ़ लपके। मैंने बीच में आकर कहा—

"जाने दीजिए। आप भी क्या लड़कों की बातों में पड़ते हैं। माफ़ कीजिए, ग़लती हो गई।"

गार्ड—"अब मैं माफ़ नहीं कर सकता। ए० टी० एस्० इसी गाड़ी से चल रहा है। मैं मानिकपुर-पुलिस को तार दिए देता हूँ।"

चौ०—"अच्छा, कृष्ण मुख करो। हम समझ लेंगे।"

हम लोग सोचने लगे कि यह बुरा हुआ। अगर जुरमाना देना पड़ा, तो बड़ी किरकिरी हो जायगी। यहाँ पचास रुपए किसके पास रक्खे हैं। घरवालों को मालूम होगा, तो वह खा जायँगे।

मुसीबत जब आती है, तो एक साथ आती है। हमारे सरदार साहब को पाख़ाना भी इसी समय लगना था। अस्तु, उन्होंने लोटा निकालने के लिये अपना झोला उठाया। हम लोगों ने कहा कि अब पूरी मौत है। उस वक़्त ऐसा ग़ुस्सा आया कि अगर बस चलता, तो झोले में आग लगा देते या गाड़ी से बाहर तो ज़रूर ही फेंक देते। लेकिन मजबूर थे।

चुनाँचे उन्होंने ज्यों ही झोले में हाथ डाला, त्यों ही मुट्ठी में फलों के छिलके आ गए। पहले तो उनकी समझ ही में नहीं आया कि झोले ने अंडे दिए हैं या क्या। लेकिन इसी समय लाख रोकने पर कमबख़्त हँसी आ ही गई। हज़रत ने तुरंत उठकर झाबे का मुआइना किया। फिर तो सब क़लई खुल गई। पलट-कर हम लोगों से कहने लगे—

"तुम लोगों ने मेरे फल क्यों निकाल लिए? मैं पुलिस में रिपोर्ट करता हूँ।"

मैं—"क्या बकते हैं आप, क्या भाँग तो नहीं खा गए?"

सरदार—"मेरा झाबा ख़ाली पड़ा है।"

मैं—"तो हम लोगों से क्या मतलब, आपका झोला भरा हो या ख़ाली।"

चौ०—"हज़रत! ज़रा होश के नाख़ून लीजिए। शरीफ़ आदमियों को चोरी लगाते हो! हम लोग तुम-जैसे दस को ख़रीद सकते हैं।"

सरदार—"और मेरे झोले में यह छिलके कहाँ से आए?"

मैं—"वाह जनाब! क्या ख़ूब सवाल है। अपने झोले का हाल आप जानें या हम।"

वैसे तो बुड्ढा हम लोगों से दब गया, लेकिन फ़िक्र हो गई कि कहीं यह रिपोर्ट न कर दे। सोचने लगे कि यह दुतरफ़ा मुसीबत बुरी गले पड़ी। अब पछताते थे कि कहाँ से कमबख़्त फल छुए। इस वक़्त जान अज़ाब में है। अंत में मैंने सोचकर कहा—

"ख़ैर, कुछ चिंता नहीं। लाल, तुम एक काम करो। तुम्हें गार्ड ने अच्छी तरह नहीं देखा है। मानिकपुर पर गाड़ी रुकते ही तुम गार्ड से जाकर कहना कि एक आदमी जो हमारे डिब्बे में बैठा है, एक औरत भगाए लिए जा रहा है। बाक़ी जो काम करना है, मैं कर लूँगा।" मैंने सबको अपनी तरकीब समझाई।

मानिकपुर पर गाड़ी खड़ी होते ही सब लोग अलग-अलग डिब्बों में आ पहुँचे। इधर लाल को जैसा सिखाया था, वैसा उसने गार्ड से जाकर कहा। मैं उतरकर ज़नाने डिब्बे तक गया और वहाँ से वापस आकर सरदार से कह दिया कि तुम्हारी औरत को टिकिट-कलेक्टर ने टिकिट न होने के कारण उतार लिया है।

इतना सुनना था कि सरदार साहब बौखलाकर दरवाज़े की तरफ़ लपके। उधर से मुसीबत के मारे गार्ड साहब भी आ मरे। अंधेरा था ही। सरदार साहब पहले ही होश फ़ाख़्ता हो गए थे। न-मालूम आँख बंद करके दौड़े थे या क्या। तरकीब काम कर गई। दरवाज़े पर दोनों तोंदें तड़ाक से भिड़ गईं। मालूम नहीं, एक आध पिचकी या सहीसलामत रही। गार्ड साहब तोंद पर हाथ फेरते हुए प्लेटफ़ार्म पर बैठ गए। पतलून के दो-तीन बटन टूट गए। फिर क्या था, तोंद को अपनी क़ैद से रिहा होने का मौक़ा मिल गया। इधर सरदार साहब गाड़ी में धम से गिर पड़े। कहने लगे—

"ग़ज़ब हुआ। गाड़ी लड़ गई, अब क्या करूँ। कोई मेरी जनानी को उतार ले।"

मैंने इस मौक़े को ग़नीमत समझा, चटपट गार्ड साहब की लालटेन और झंडी उठाई। लालटेन को सरदार साहब की पीठ के पीछे साफ़े के पुछल्ले से बाँध दिया और झंडी को साफ़े में खोंस दिया। सरदार गाड़ी लड़ने के ख़याल में कुछ ऐसे बौखला गए थे कि उन्होंने चूँ तक न की। अब मैं भी तमाशा देखने के लिये प्लेटफ़ार्म पर जा पहुँचा। जहाँ मित्रगण भी फुटफैल होकर भलेमानसों की तरह टहल रहे थे।

गार्ड साहब इस वक़्त बड़ी आफ़त में थे। पतलून बेकाम हो चुकी थी। यदि एक तरफ़ सँभालते, तो दूसरी

बलखलाकर दूसरी तरफ़ निकल पड़ती थी। अब उन्हें इस समय कहाँ से बटन मिलें और कहाँ से सुईतागा, और कैसे इस बला से नजात मिले। इसी पशोपेश में पतलून से उलझ रहे थे। उधर गाड़ी लेट हो गई। गार्ड साहब अभी तक दफ़्तर में दस्तख़त करने भी नहीं गए। बदक़िस्मती से सीधे यहाँ चले आए थे। अब जायँ तो कैसे, पतलून तो जवाब दे रही थी। असिस्टेंट गार्ड ने आकर कहा—"साहब नाराज़ हो रहे हैं, लो वह ख़ुद आ रहे हैं।"

ए० टी० एस्० ने आकर कहा—"वेल गार्ड! गाड़ी क्यों लेट (देर) हो गया?"

गार्ड साहब उठकर खड़े हुए। लेकिन वैसे ही तोंद एक तरफ़ से निकल पड़ी।

"हुज़ूर! पेट में एक दम बड़ा दर्द उठा, खड़ा नहीं हो सकता हूँ।"—यह कहकर गार्ड साहब तोंद सँभालने की नियत से फिर ज़मीन पर बैठ गए।

सा०—"हम असिस्टेंट गार्ड को गाड़ी लेकर भेजेगा। तुम्हारा लैंप और झंडी कहाँ है?"

अब गार्ड साहब चारों तरफ़ देखने लगे।

सा०—"तुम बड़ा ग़ाफ़िल है। लैंप और झंडी गिरा दिया। हम तुमको Reduce करेगा।"

साहब अपने डिब्बे में चला गया। असिस्टेंट गार्ड को गाड़ी का चार्ज दिया गया। गार्ड साहब अपने भाग्य को कोसते हुए एक तरफ़ चल दिए। कहाँ हम लोगों को उतरवा रहे थे, कहाँ ख़ुद उन्हीं का बोरिया-बँधना बँध गया।

मैंने पीछे से जाकर गार्ड साहब को सलाम किया। मेरी सूरत देखते ही वह आगबबूला हो गए। लेकिन मैं चुपचाप अँधेरे में नौ-दो-ग्यारह हो गया।

गाड़ी चलनेवाली थी, इसी समय पुलिस आ पहुँची। हमारे डिब्बे के पास आकर एक कांसटेबिल बोला—

"उस नंबर का यही डिब्बा है।"

दूसरा—(सरदार की तरफ़ इशारा करके) "यही वह पसींजर मालूम पड़ता है। (सरदार से) उतरिए जनाब! नीचे आइए।"

सरदार—"क्यों-क्यों, क्या यह डिब्बा कटेगा।"

पु० का०—"डिब्बा तो नहीं कटेगा। आपका आबदाना इस डिब्बा से कटेगा। आपको ज़रा थाने की हवा खिलाना है।"

सरदार—"ऐं! थाना! यह क्यों। मुझे इसी गाड़ी से जाना है।"

दू० का०—"पचास रुपए जुरमाने के अदा कर दो, तो जा सकते हो।"

सरदार—"अरे भाई! जुरमाना कैसा।"

पु० का०—"जंज़ीर और खींचो। अब हमसे पूछते हो, जुरमाना कैसा, उतरो जल्दी करो, गाड़ी जानेवाली है।"

सरदार—"अरे जंज़ीर मैंने नहीं खींची। जिसने खींची, वह तो उतर गया।"

दू० का०—"यह चरके किसी और को देना। उतरते हो या हम ज़बरदस्ती उतारें।"

सरदार—"भाई, मैं तुमको यक़ीन दिलाता हूँ कि—

पु० का०—(दूसरे से) "यह इस तरह नहीं मानेगा। ज़रा गार्ड साहब को तो बुलाना, लो वह आ ही रहे हैं। (अ० गार्ड से) क्यों गार्ड साहब, इसी डब्बे में जंज़ीर खींची गई थी ना।"

अ० गार्ड—"हाँ, इसी में।"

पु० का०—"उतरो जी" (हाथ पकड़कर उतारता है)।

अ० गार्ड—(लालटेन और झंडी देखकर) "अरे लालटेन और झंडी भी इसी ने चुराई थी। ले जाओ इसको थाने पर।"

गार्ड ने सीटी दी, गाड़ी चल दी।

सरदार—"अरे मेरी औरत गाड़ी में है। मुझे अपनी औरत को तो उतार लेने दो।"

मैंने आगे बढ़कर कहा—"इनके और औरत, इनके बाप के भी कभी औरत थी।" इतना कहकर मैं गाड़ी पर चढ़ गया।

का०—"हाँ-हाँ झूठ बकता है। चलो इधर।"

इसी समय अपने मियाँ की चिल्ल-पों सुनकर वह स्त्री खिड़की से झाँकी। अब तो सरदार आपे से बाहर हो गए। चलती गाड़ी की तरफ़ झपटे, मगर कांसटेबिल उन्हें कहाँ जाने देते थे। हम लोगों ने खिड़कियों से झाँककर चिल्लाकर कहा—'पागल है'। अब तो सरदार सचमुच पागल बन गए। लगे हम लोगों को गालियाँ सुनाने और ढेले उठा-उठाकर फेंकने। स्टेशन पर जो लोग खड़े थे, हँसने लगे और कहने लगे कि पागल है।

दूसरे दिन सुबह हम लोग अपने घर पहुँच गए। दो-दो मुसीबतों से साफ़ बचकर निकल आने से और यात्रा का लुत्फ़ सोच-सोचकर बड़े प्रसन्न थे। परंतु इस बात का बड़ा अफ़सोस रहा कि सरदार साहब पर थाने में न-जाने कैसी बीती होगी और उनके बिना उस सुंद... की न-जाने क्या हालत हुई होगी।

एस्० आर० डी० सक्सेना

आँसू

१

तोड़कर शैल-हृदय के खण्ड,
प्रवाहित प्रखर-श्रोत-सा हाय;
आँसुओं का यह प्रबल प्रवाह।
बनाता है मुझको निरुपाय।

२

बिंदु में व्याकुलता का सिंधु,
छलकने में लहरों का ज़ोर;
जलन में वाड़व का-सा दाह।
प्रवाहों में है निहित हिलोर।

३

छिपाए उर में नीरव-व्यथा,
सरल शिशु-सा, भोला नादान;
आँसुओं का व्याकुल संसार।
मचल पड़ता मुख पर अनजान।

४

वेदना के कीचड़ में लोट,
आँसुओं का बचपन नादान;
कालिमा धोने को कर रहा,
करुण-सुरसरि में अब यह स्नान।

५

प्रणय के आर्द्र-देश का मचल,
पड़ा है व्याकुल अंतर्नाद।
झलकते हैं, दृग में बन चित्र।
जलन, स्मृतियों की कचट, विषाद।

६

उतर आँखों में किसका आज,
सरलता का शैशव सुकुमार;
चलाता है सम्मोहन-मंत्र।
हृदय से पिघलाने को प्यार।

७

आह! नयनों की शोभा! और
हृदय के मूर्तिमान् अनुराग!
ज्वलित उर-दाहों के हिम-लेप!
जलानेवाली शीतल आग!

८

बनाता है शीतल, प्रेमाग्नि,
भिगोकर हिम-जल में यह कौन?
रहा यह बिन बोले क्या बोल—
वेदना का परिचायक मौन?

९

हृदय की रुँधी वेदना ! कहाँ—
बरुनियों में तू उलझी आह !
क्षार कर भगो न, रखो प्रदीप्त ।
अरे ! ओ ! मेरे अंतर्दाह !

१०

आह ! नेत्रों की भीगी कसक !
हृदय की मूर्तिमान् उफ़ ! टीस !
ओ ! अरे ! बच, मिश्री की डली !
पलक दें कहीं न तुझको पीस ?

११

हृदय-घावों के मरहम ! पिघल—
नयन में क्यों तुम आए हाय ।
किया उर-पीड़ा का न विचार,
छोड़ आए उसको निरुपाय ?

१२

प्रकट प्रियतम पर करना प्रेम,
अरे ! यह मुझे अभीष्ट न लेश ।
उन्हें लख, छलक पड़े फिर हाय !
नेत्र से क्यों नीरव-संदेश ?

१३

आज अभिलाषाओं ने किया,
आँसुओं का धारण आकार ;
भिगोकर प्रियतम के पद-कञ्ज,
सुनाने अपनी लगीं पुकार ।

१४

शून्य बन आँखों का कर रहा,
दसगुना क्या लावण्य ललाम ?
कि उनमें लिख यह दिखला रहा,
प्रेम का दुखद शून्य परिणाम ।

१५

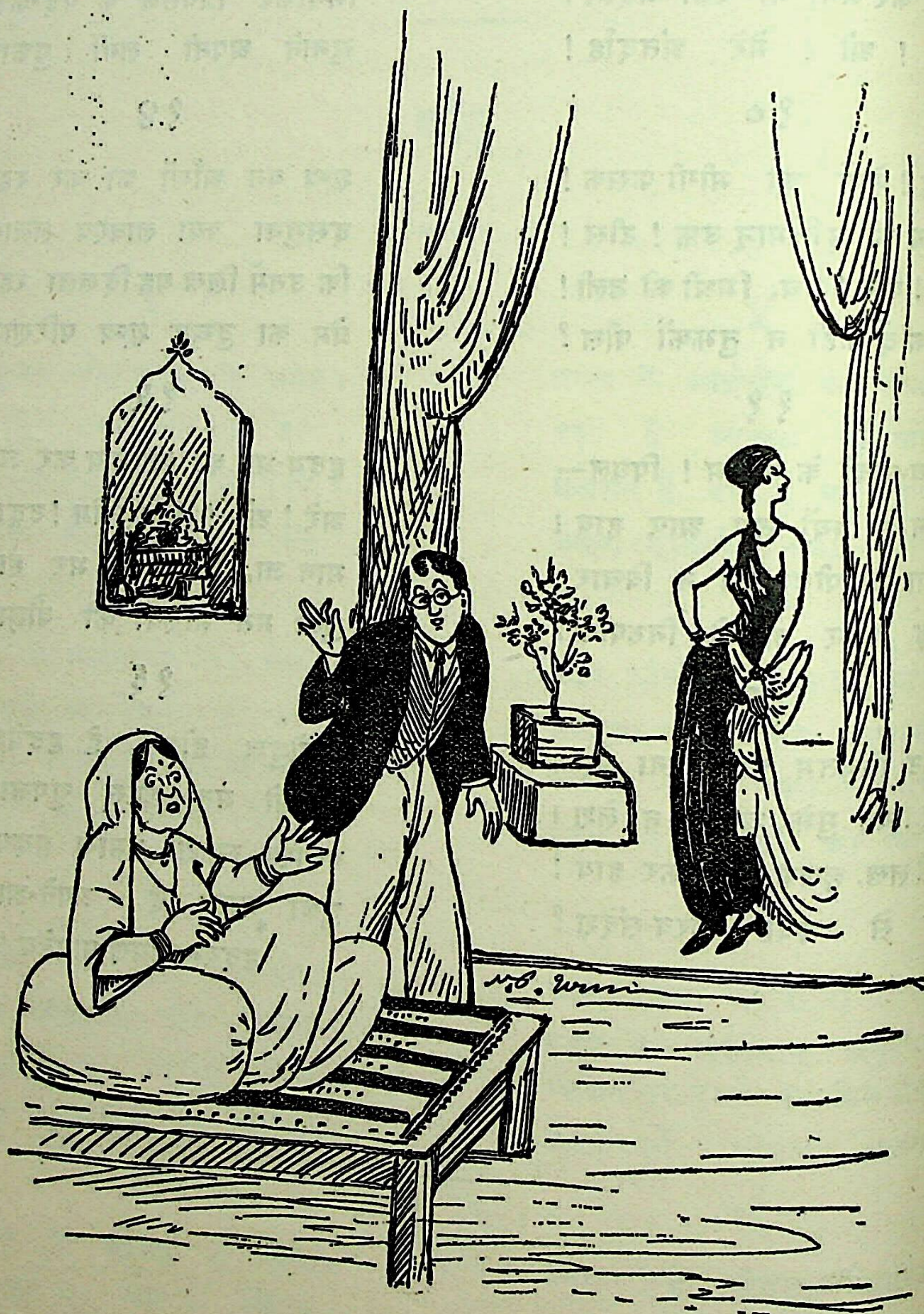
हृदय-धन का अपव्यय कर ज्यों,
अरे ! ओ ! पागल-प्रेम ! उदार !
मान जा, आँखों में भर हाय !
लुटा मत मणियों की बौछार !

१६

अधोमुख होकर हे हृदयेश !
बहाओ मत आँसू चुपचाप ?
बताशा सदृश हमारा हृदय—
घुला जाता है अपने-आप ।

हृदयनारायण पाण्डेय "हृदयेश"

देशी सास की विलायती वधू



पारसी रंगमंच और हिंदी-नाटक

आज से कई साल पहले पारसी कंपनियों के रंगमंच पर केवल उर्दू-नाटकों का बोलबाला था। वहाँ हिंदी की कोई पूछ न थी। किसी को सपने में भी यह ख़याल न था कि उन्हीं रंगमंचों पर कभी शुद्ध और ठेठ हिंदी में भी नाटक खेले जायँगे और जनता उन्हें चाव से देखेगी। अस्तु। किस हिंदी-प्रेमी का हृदय यह देखकर हर्ष से फूला न समाता होगा कि आज पारसी रंगमंचों पर अधिकतर हिंदी के ही नाटक खेले जाते हैं और उनमें से कई नाटक तो ऐसे हैं, जो अन्य भाषाओं के अच्छे नाटकों से टक्कर ले सकते हैं। आज ऐसे ही एक नाटक की समालोचना इस लेख का उद्देश्य है।

यह नाटक आजकल कलकत्ते की एक पारसी नाटक-कंपनी के रंगमंच पर खेला जा रहा है। नाम है इसका "धर्मी बालक" या "ग़रीब की दुनिया"। पर नाम से इसका विषय प्रकट नहीं होता। असल में नाटक का मुख्य विषय हिंदू-समाज की दहेज़-प्रथा है। नाटक क्या है, अंधे हिंदू-समाज की आँखों में फिर से ज्योति पैदा करनेवाला ममीरे का सुरमा या दहेज़-प्रथा की भट्टी में जलती हुई हिंदू-जाति की आहों की जीती-जागती तसवीर या विवाह की बलि-वेदी पर बलिदान की जाती हुई हिंदू-अबलाओं के हृदयों से निकला हुआ दर्दभरा तराना है। अस्तु, इस दहेज़-प्रथा की बदौलत हमारी समाज में कितनी ख़राबियाँ पैदा हो गई हैं, यह किसी समझदार हिंदू से छिपा नहीं है। इसकी बदौलत लड़का उस लड़की से नहीं ब्याहा जाता, जो गुण में, रूप में, तन्दुरुस्ती में और उम्र में उसके सब तरह से योग्य हो, बल्कि उस लड़की से ब्याहा जाता है, जिसका पिता सबसे अधिक दहेज़ देने में समर्थ होता है। हर एक आदमी की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि वह अपनी प्यारी लड़की को ऐसे वर के हवाले करे, जो सुशील और सच्चरित्र, सुशिक्षित और समझदार, तंदुरुस्त और रूपवान् हो और जो उस लड़की को हर तरह से आराम पहुँचा सके। पर जब वह अपनी लड़की के लिये वर के पिता के पास जाता है, तो उससे इतना दहेज़ माँगा जाता है कि वह अपना-सा मुँह लेकर लौट आता है। नतीजा यह होता है कि वह लड़की किसी अयोग्य वर के गले मढ़ दी जाती है और ज़िंदगी-भर हिंदू-जाति के अत्याचारों की चक्की में पिसा करती है। किसी लड़की का पिता जब किसी वर के पिता के पास अपनी कन्या के विवाह के लिये पहुँचता है, तो पहला सवाल यही होता है कि कितना दहेज़ दोगे। इस तरह दहेज़ जुटाने की चिंता उसको चिता की तरह भस्म कर डालती है। हर एक हिंदू-गृहस्थ के लड़की पैदा होने के साथ-ही-साथ दहेज़ की चिंता भी पैदा हो जाती है। तब से वह पेट काटकर रुपया जमा करता है और अंत में वर के पिता के चरणों में चढ़ा देता है। न-जाने कितने घर इस राक्षसी प्रथा की बदौलत तबाह हो गए। न-जाने कितनी बीभत्स घटनाएँ और आत्महत्याएँ इस दहेज़-प्रथा की बदौलत हो चुकीं। बंगाल की स्नेहलता का बलिदान अभी बहुत पुराना नहीं हुआ। एक नहीं अनेक स्नेहलताएँ भारत के कोने-कोने में प्रतिदिन इस प्रथा की बलिवेदी पर हलाल की जा रही हैं, पर समाज के सिर पर जूँ तक नहीं रेंगती। इसी प्रथा की बीभत्सता और पाशविकता का जीता-जागता चित्र इस नाटक में जीवित शब्दों में खिंचा हुआ मिलता है।

भाषा इसकी अत्यंत सरल और सीधी है, पर साथ ही निहायत ज़ोरदार और दिल में चुभनेवाली है। इसमें न तो अरबी-फ़ारसी के अनगढ़ शब्दों की भरमार है और न संस्कृत के अनावश्यक क्लिष्ट शब्दों की। असल में जैसी इस नाटक की भाषा है, वैसी ही भाषा आदर्श हिंदी और राष्ट्रभाषा कहलाने का दावा कर सकती है। पर आश्चर्य ! महा आश्चर्य ! सच्चे हिंदू-भावों से भरे हुए इस नाटक को अत्यंत सरस और सजीव भाषा में लिखनेवाले एक मुसलमान सज्जन हैं। नाम उनका आग़ाहश्र काश्मीरी है। आग़ा साहब अनेक उर्दू

और हिंदी-नाटकों के प्रसिद्ध लेखक हैं। हिंदी-नाटकों में उनका 'आँख का नशा' जिसने देखा, उसकी आँखों में नशा-सा छा गया। इसी तरह "भीष्म-प्रतिज्ञा" उनकी लेखनी से निकला हुआ एक दूसरा हिंदी-नाटक है, जिसके देखने से भीष्म का सच्चा चित्र आँखों के सामने आ जाता है। पर खेद है, हिंदी-भाषा-भाषियों में केवल उन लोगों को छोड़कर, जो पारसी कंपनियों में अक्सर नाटक देखा करते हैं, बहुत कम लोगों को मालूम है कि आग़ा साहब हिंदी के कितने अच्छे लेखक हैं। यही नहीं, जैसी सरस, सुललित और ओजस्विनी भाषा आग़ा साहब लिखते हैं, आजकल के बहुत कम हिंदी-लेखक लिख सकते हैं। पर खेद है, उनका कोई भी नाटक अभी तक छपा नहीं और न कंबख़्त पारसी-नाटकवाले, जिन्होंने ये नाटक आग़ा साहब से लिखवाए हैं, उन नाटकों को कभी छपाने का मंशा ही रखते हैं। इस कारण हिंदी-साहित्य के कई अनमोल रत्न, जो हिंदी-साहित्य के भण्डार की एक बड़ी भारी कमी को पूरा करते, हिंदीवालों से छिपे हुए पड़े हैं और हिंदी-साहित्य उनसे वंचित हो रहा है। मैं तो यह कहूँगा कि हिंदी-साहित्य-सम्मेलन तथा नागरी-प्रचारिणी सभा को इस बात के लिये उन-उन नाटक-कंपनियों पर ज़ोर डालना चाहिए कि आग़ा साहब के सब हिंदी-नाटक—जैसे "आँख का नशा" "भीष्म-प्रतिज्ञा", "मधुर मुरली", "भारत-रमणी", "धर्मी बालक" "भक्त सूरदास" इत्यादि—पुस्तकाकार प्रकाशित किए जायँ और उनका काफ़ी प्रचार हिंदी-संसार में किया जाय।

आग़ा साहब के और नाटकों की समालोचना मैं फिर किसी लेख में करूँगा। इस लेख में केवल "धर्मी बालक" का संक्षिप्त प्लाट और उसकी थोड़ी-सी बानगी देकर लेख को समाप्त कर दूँगा। अस्तु। नाटक का प्लाट बहुत ही सरल और सीधा-सादा है। बाबू कैलाशनाथ एक बहुत ही भले और उदार-हृदय गृहस्थ हैं। कोई उनके दरवाज़े से कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटा। एक समय वह ख़ासे धनी थे। बहुत अच्छा रोज़गार चलता था। पर व्यापार में बार-बार घाटा लगने तथा हाथ के खुले होने से उनका सब धन धीरे-धीरे निकल गया, यहाँ तक कि वह केशव बाबू नामी एक महाजन के क़र्ज़दार हो गए। धीरे-धीरे उनकी सब जायदाद निकल गई और अब इनके पास रहने के लिये केवल एक छोटा मकान और स्वर्गीया पत्नी के सिर्फ़ दो-चार ज़ेवर रह गए, जिन्हें वे इसलिये सुरक्षित रक्खे हैं कि आगे चलकर जब उनकी दोनों लड़कियों की शादी होगी, दहेज़ देने के लिये काम में आवेंगे।

लड़कियों का नाम गौतमी और सावित्री है। गौतमी बड़ी और सावित्री छोटी है। बड़ी की उम्र १६ और छोटी की १४ वर्ष की है। हिंदू-समाज के प्रचलित नियमों के अनुसार दोनों की शादी इससे पहले हो जानी चाहिए। पर पिता की ग़रीबी के कारण उनका ब्याह कहीं भी नहीं लगता। पिता जहाँ जाता है, वहाँ उससे यही सवाल होता है कि कितना दहेज़ दोगे? लड़कियाँ इतनी बड़ी हो गईं और अभी तक उनकी शादी नहीं हुई, इसके लिये पिता को बिरादरी के सामने हेठी सहनी पड़ती है। दोनों लड़कियाँ अत्यंत रूपवती, शीलवती, गुणवती और गृहकार्य में कुशल हैं। अगर कोई दोष उनमें है, तो केवल यह कि वे अब एक ग़रीब बाप की बेटी हैं। पिता उनके विवाह की चिंता में दिन-पर-दिन घुल रहा है। पर उसे कोई उपाय नहीं सूझता कि क्या करे। लड़कियाँ सयानी और समझदार हैं। वे भी पिता की चिंता से अनभिज्ञ नहीं हैं। पर वे करें तो क्या करें। लज्जा के मारे पिता से वे खुलकर कह भी नहीं सकतीं कि पिताजी आप हमारे ब्याह की चिंता न करें, हम जीवन-भर अविवाहिता रहकर ज़िंदगी काट सकती हैं, पर आपको चिंतित और दुःखित नहीं देख सकतीं।

अस्तु। केशव बाबू जिसके क़र्ज़दार बाबू कैलाशनाथ हैं, एक निहायत ही लोभी और अर्थ-पिशाच आदमी हैं। साठ बरस का बुड्ढा है, दिल के धड़कने की बीमारी है। एक पैर क़ब्र में लटकाए हुए है। उसकी पहली स्त्री मर चुकी है, पर संतान कोई भी नहीं है। इससे शादी की हविस उसके हृदय से नहीं जाती। उसका दाँत कैलाशनाथ की लड़कियों पर लगा हुआ है। वह कैलाश बाबू की दो लड़कियों में से एक का पाणिग्रहण करना चाहता है। चूँकि कैलाशनाथ केशव बाबू के क़र्ज़दार हैं, इसलिये वह उनके ऊपर अनुचित दबाव भी डालना चाहता है। इसी उद्देश्य से वह एक पुरोहित को कैलाशनाथ के पास भेजता

पुरोहित कैलाश बाबू के साथ सहानुभूति दिखाते हुए पूछता है—"महाशय, लड़कियाँ सयानी हो गईं, उनके लिये कोई वर तलाश किया या नहीं ?" कैलाशनाथ अपनी ग़रीबी का वर्णन करते हैं और कहते हैं कि भाई जहाँ जाता हूँ यही सवाल होता है कि कितना दहेज़ दोगे, इसलिये सर्वगुण-संपन्ना होते हुए भी मेरी लड़कियाँ विवाह के योग्य हो जाने पर अब तक अविवाहिता बैठी हैं । इस पर इशारतन वह पुरोहित केशव बाबू का ज़िक्र करता है और प्रस्ताव करता है कि दो लड़कियों में से एक का विवाह केशव बाबू के साथ यदि कर दिया जाय, तो बड़ा ही अच्छा हो । इस प्रस्ताव को कैलाशनाथ ठुकरा देते हैं और पुरोहित से कहते हैं कि मेरी लड़कियाँ ज़िंदगी-भर अविवाहिता रह जायँगी; पर मैं जीते-जी एक बूढ़े के साथ ब्याह कर उन्हें विधवा के भेष में नहीं देख सकता । केशव बाबू का सेक्रेटरी एक श्यामलाल नामी वकील है, जो निहायत ही बद-माश, मुतफ़न्नी और सज़ायाफ़्ता है । वह भी विवाह के लिये केशव बाबू का पैग़ाम लेकर आता है और जब कैलाशनाथ उसके भी प्रस्ताव को घृणा के साथ ठुकरा देते हैं, तो वह उनको धमकाता है कि याद रखना, तुम केशव बाबू के क़र्ज़दार हो, जिस दिन चाहें उस दिन तुम पर डिग्री कराकर तुम्हें जेल की हवा खिला सकते हैं । पर कैलाशनाथ उसकी धमकियों की परवा न करके अपने इरादे पर दृढ़ रहते हैं ।

इधर दोनों लड़कियों में से बड़ी लड़की, जो ज़्यादा सयानी और समझदार है, पिता को अपने विवाह की चिंता में व्याकुल देखकर आत्मघात करने का निश्चय करती है कि मेरे आत्मघात कर लेने से पिताजी की आधी चिंता तो कम-से-कम दूर हो जायगी और उनके सिर पर केवल एक ही लड़की के ब्याह का बोझा रह जायगा । यह समझकर वह एक दिन विष घोलकर पी लेती है और इस निर्दयी संसार से बिदा हो जाती है ! उसकी बातों से उसकी छोटी बहन को पहले ही से कुछ शक हो जाता है कि शायद वह आत्मघात करने-वाली है । वह अपना शक मिटाने और उसे समझाने के लिये बड़ी बहन के कमरे में आती है और वहाँ उसे मरी हुई पाती है । वह बहन के मृत शरीर पर पछाड़ खाकर गिर जाती है और विलाप करती है, जिसे सुनकर पिता भी वहाँ आ जाता है और शोक में पागल-सा हो जाता है । उसी समय केशव बाबू भी, जिनकी डिग्री कैलाशनाथ पर हो चुकी है, पुलिस के साथ वहाँ आते हैं और कैलाशनाथ को हवालात में ले जाने के लिये गिरफ़्तार करते हैं । एक तरफ़ लड़की मरी हुई पड़ी है और दूसरी तरफ़ पिता गिरफ़्तार होकर हवालात को ले जाया जाता है ! कितना करुणाजनक और दर्द पैदा करनेवाला दृश्य है !

पिता के जेल जाने के बाद दूसरी लड़की किसी तरह स्थानीय सेवासमिति की सहायता से अपने दिन काट रही है । इस हालत में केशव बाबू का सेक्रेटरी धूर्त श्यामलाल उस लड़की के पास आकर उसे चकमा देता है कि अगर तू केशव बाबू के साथ शादी करने को राज़ी न होगी, तो तेरे बाप के ऊपर जाली दस्तावेज़ बनाने का एक दूसरा मुक़दमा चलाया जायगा, जिसका नतीजा यह होगा कि जेल से उसका छुटकारा न होगा और शायद वहीं उसकी मौत भी हो जायगी । लेकिन हाँ, अगर तू केशव बाबू से शादी करना मंज़ूर कर ले, तो फिर तेरे बाप पर कोई मुक़दमा न चलाया जायगा, साथ ही वह जेल से रेहा करा दिया जायगा, और अपने बुढ़ापे के दिन आराम के साथ काट सकेगा । एक तरफ़ पिता का प्रेम और दूसरी तरफ़ बूढ़े के साथ ब्याह करके अपनी जवानी के सारे सुखों का बलिदान दोनों में से वह क्या चुने, यह एक कठिन समस्या उसके सामने उपस्थित हुई । अंत में वह अपने पिता को जेल की यातनाओं से मुक्त कराने के लिये बूढ़े केशव बाबू के साथ ब्याह करने को तैयार हो जाती है । इस पर श्याम-लाल, जो यह जानता है कि कैलाशनाथ जेल में सड़-कर मर जाना पसंद करेगा, पर अपनी बेटी का ब्याह बूढ़े के साथ करने को राज़ी न होगा, फिर उस लड़की को समझाता है कि तेरा पिता जेल में मर जाना पसंद करेगा, पर वह कभी यह गवारा न करेगा कि तेरा ब्याह केशव बाबू के साथ हो । इसलिये अगर तू अपने बाप को जेल से सदा के लिये मुक्त कराना चाहती है, तो बाप के लाख समझाने पर भी अपने इस इरादे से कभी न डिगना ।

इसके बाद कैलाशनाथ जेल से छूटकर आते हैं और देखते हैं कि उनकी छोटी लड़की नर-पिशाच केशव के साथ ब्याह करने की तैयारी में है । वह लाख उसे

समझाते हैं कि विवाह न करे, पर वह श्यामलाल की धमकी को याद कर अपने निश्चय पर दृढ़ रहती है। अंत में विवाहमंडप सजाया जाता है। केशव बाबू दूल्हा बनकर आता है और सावित्री का पाणिग्रहण करता है। ब्याह-संस्कार समाप्त होता है। पर अब कैलाशनाथ अपने को नहीं रोक सकते और केशव बाबू को धिक्कारते हुए अपने दिल का बोझ हलका करते हैं। केशव बाबू इस अपमान को न सहकर गुस्से से आग-बबूला हो जाता है और ज्यों ही कैलाशनाथ की ओर झपटता है कि उसका कमज़ोर हार्ट फ़ेल हो जाता है और वह अपनी नवविवाहित पत्नी को विधवा बनाकर सदा के लिये इस संसार से कूच कर देता है।

अब कैलाशनाथ के दुःखों का कोई छोर न रहा। वह सब कुछ सह सकते थे, परंतु अपनी प्यारी बेटी को विधवा के भेष में न देख सकते थे। यही आज उन्हें देखना पड़ा। इसी को बरकाने के लिये उन्होंने जेल जाना मंज़ूर किया, पर केशव बाबू के साथ अपनी लड़की का ब्याह करना अपनी इच्छा से स्वीकार न किया। उनका हृदय इस दुःख को बरदाश्त न कर सका। अतएव उसी क्षण उन्होंने छुरी भोंककर अपने दुःखों और क्लेशों का अंत सदा के लिये कर दिया। इस नाटक का यह दृश्य बहुत ही करुणाजनक और हृदय पर असर करनेवाला है।

संक्षेप में नाटक का यही मुख्य प्लाट है। पर इस संक्षिप्त प्लाट से नाटक की ख़ूबियों का पता लगना असंभव है। कैलाशनाथ के चरित्र में एक आदर्श पिता और उदार हिंदू-गृहस्थ का चित्र खींचकर नाटककार ने कमाल की सफलता हासिल की है। मि० अब्दुल रहमान काबुली [illegible] के ऐक्टर भी, जो पिता का पार्ट करते हैं, इस पार्ट को निहायत ख़ूबी के साथ अदा करते हैं।

नाटक का प्लाट कह चुकने के बाद कुछ थोड़े-से चुने हुए अंश जिन्हें मैं नाटक देखते हुए जल्दी में नोट कर सका हूँ, यहाँ पर दे देना चाहता हूँ, जिनसे इस नाटक की कुछ बानगी मिल जायगी।

× × ×

(स्थान कैलाशनाथ का घर। केशव बाबू का पुरोहित कैलाशनाथ के पास केशव बाबू की शादी का पैग़ाम लेकर आता है)

पुरोहित—कैलाश बाबू, यह बहुत बुरा [illegible] आपकी लड़कियाँ जवान हो चुकी हैं। याद रखिए, घर की तिजोरी में सोना-चाँदी हो, उसी घर में [illegible] नहीं हुआ करती। जिस घर में रूप और जवानी [illegible] उस घर पर भी डाका पड़ा करता है।

कैलाशनाथ—मैं तुम्हारा इशारा समझता हूँ। [illegible] क्या करूँ? जहाँ रुपया नहीं, वहाँ उपाय भी नहीं। [illegible] क्या यही देश है, जिसने सबसे पहले संसार को [illegible] और सभ्यता सिखाई थी? क्या यही देश है, [illegible] गोद में दया ने जन्म लिया था। पहले इस देश में [illegible] कार राज्य करता था और अब स्वार्थ राज्य करता [illegible] पहले धर्म पूजा जाता था और अब धन पूजा जाता [illegible] पहले लोग लड़की के ब्याह को एक धार्मिक [illegible] समझते थे और अब एक व्यापार समझते हैं। [illegible] पूछते थे कि लड़की कैसी है, और अब पूछते [illegible] लड़की के बाप के पास कितना है। पहले लड़[illegible] रूप, गुण और शील ढूँढ़ते थे और अब गुण की [illegible] गहने, रूप के बदले रुपए और शील की जगह [illegible] के पिता की संपत्ति ढूँढ़ते हैं। आजकल लोग [illegible] लड़कों का ब्याह सुंदर, सुशील, धर्मपरायण कन्या [illegible] साथ नहीं, बल्कि रुपयों के साथ करना चाहते हैं। [illegible] गृहलक्ष्मी नहीं केवल लक्ष्मी चाहिए; रूपवती [illegible] रुपयावती चाहिए।

पुरोहित—तो तुम क्या हमें यह समझाना [illegible] हो कि तुम्हारे पास कुछ नहीं है।

कैलाशनाथ—क्यों नहीं है। क़र्ज़ का बोझ है, [illegible] कियों के ब्याह की चिंता है, दुःख है, हाय[illegible] आँसू हैं, रुपए के सिवा सब कुछ है। किंतु इस [illegible] में दुःख का कौन ख़रीदार है, आँसुओं की कहाँ [illegible] मिलती है, ग़रीब की फूटी हुई क़िस्मत कौन मोल [illegible] है। मेरे-जैसे ग़रीब की लड़की का विवाह कौन [illegible] क्योंकि मेरे पास लड़के के पिता को देने के लिये [illegible] प्रार्थना और आँसुओं के कुछ भी नहीं है [illegible] आँसू ज़मीन पर गिरकर मोती के बिखरे हुए [illegible] बन जाते।

× × ×

एक दूसरे दृश्य में कैलाशनाथ लड़कियों के [illegible] चिंता में चिंतित दिखाई पड़ते हैं। पिता को [illegible]

और चिंता में देखकर लड़कियाँ रोने लगती हैं। इस पर कैलाशनाथ कहते हैं—"रोती हो! क्यों रोती हो? क्या तुम्हारे रोने से मनुष्यरूपी राक्षस देवता हो जायँगे? क्या तुम्हारा रोना देखकर धन की पूजा करनेवाले समाज को दया आ जायगी? अभी तुम्हारे भाग्य में बड़े-बड़े दुःख बदे हैं और तुम्हें हर दुःख पर रोना होगा। इसलिये इन आँसुओं को बचाकर रख छोड़ो; तुम ग़रीब की लड़कियाँ हो, तुम्हें आँसू भी उधार न मिल सकेंगे।"

× × ×

कैलाश बाबू जेल से छूट आने के बाद देखते हैं कि उनकी छोटी लड़की विवाह का वस्त्र पहनकर विवाह-मंडप में जाने को तैयार है। इस पर दोनों में बातचीत होती है—

पिता—बेटी, तू विवाह का वस्त्र पहनकर कहाँ जा रही है। यह वस्त्र नहीं, तेरा कफ़न है। यह लगन-मंडप नहीं, श्मशानभूमि है। यह ब्याह के बाजों की मधुर तान नहीं, तेरी मृत्यु पर तेरे जीवन और जवानी का विलाप है।

सावित्री—पिताजी, दुःख और सुख जीवन के सपने हैं। क्षमा कीजिए, इतनी दूर आने के बाद अब मैं अपने कर्तव्य-मार्ग से वापस नहीं लौट सकती।

पिता—नहीं बेटी, नहीं। जिस रास्ते पर तू आँखें बंद करके जा रही है, वह रास्ता सुख की गोद में नहीं, आँसुओं के राज्य और सदा के अँधेरे में समाप्त होता है। यह ब्याह नहीं, जीवित मृत्यु है। यह ब्याह के गहने नहीं, आग के अंगारे हैं। सती एक बार जलकर राख हो जाती है और तुझे इस ब्याह की चिता में तिल-तिल करके सारा जीवन जलना होगा।

× × ×

अस्तु, ऐसे सर्वांगपूर्ण नाटक में दो-एक त्रुटियाँ गुलाब में काँटे के समान खटकती हैं। एक बात जो इस नाटक में बहुत ज़्यादा खटकनेवाली है, वह इसका 'कामिक' है। जो कामिक इसमें रक्खा गया है, वह ऐसे गंभीर और करुणारसपूर्ण नाटक को शोभा नहीं देता, बल्कि उलटा रसाभार पैदा करता है और नाटक के प्रभाव को कम करनेवाला है। दूसरे यह कि कामिक का नाटक के प्लाट से कोई लगाव भी नहीं है, मानो ज़बर्दस्ती नाटक में ठूँसठाँस के रक्खा गया हो। मुझे तो ऐसा मालूम पड़ता है कि महज़ मास्टर मोहन को अपना भड़ौआपन और मिस कूपर को अपना नाज़-नख़रा दिखाने ही के लिये यह कामिक ज़बर्दस्ती इस नाटक में ठूँसा गया है। नहीं तो आग़ाहश्र-जैसे उत्कृष्ट नाटककार अपने नाटक में कभी ऐसा रसाभार न पैदा होने देते। नाटक-कंपनियों को याद रखना चाहिए कि उनका उद्देश्य ख़ाली रुपया पैदा करना ही न होना चाहिए। वे जनता की रुचि को बनाने और बिगाड़ने के ज़िम्मेदार हैं। वे चाहें तो जनता को अच्छे-अच्छे नाटक दिखाकर उनकी रुचि को सुधार सकती हैं, उनके चरित्र को उन्नत बना सकती हैं और उनमें जातिप्रेम तथा देशभक्ति के भाव भर सकती हैं। एक बार इसी संबंध में पारसी नाटक-कंपनियों के एक प्रसिद्ध नाटककार से मुझसे बातचीत हुई। जब मैंने उनसे कहा कि आप अच्छे-अच्छे शिक्षापूर्ण सामाजिक नाटक क्यों नहीं लिखते, जिनसे जनता को लाभ पहुँचे और उनकी कुरुचि बदले, तो उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट की और स्पष्ट शब्दों में कहा कि ये कंपनीवाले कहते हैं—"हम यहाँ रुपया कमाने आए हैं, कुछ साहित्य-भंडार भरने नहीं। देशोद्धार और समाज-सुधार का हमने ठेका नहीं ले रक्खा है। हमें तो जिसमें रुपया मिलेगा, वही करेंगे।" यह है उनकी स्वार्थप्रियता! कैसा उद्दंड जवाब है। ये वही नाटक-कंपनियाँ हैं, जो बड़ा बाज़ार के और ख़ास करके मारवाड़ियों के रुपयों से चलती हैं। आज वे इनका आदर न करें, तो इनका एक दिन भी ठहरना असंभव हो जाय। मैं सुधार-प्रेमी तथा स्वाभिमानी मारवाड़ी नवयुवकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करता हूँ। हिंदू-सभाएँ भी इस संबंध में आंदोलन करके बहुत सुधार करवा सकती हैं। पंजाब की जनता में जान थी। उन्होंने आख़िर 'गणेश-जन्म'-जैसे अश्लील और रद्दी नाटक को बंद करा ही के छोड़ा।

बड़ा बाज़ार का हिंदू-सभा का ध्यान मैं इस ओर आकर्षित करता हूँ, जिसमें कि वह जिन नाटकों से जनता में सुरुचि के बदले कुरुचि पैदा हो, उनके संबंध में आंदोलन करके उनके अश्लील अंशों को निकलवाने की कोशिश करे। कौंसिलों में हिंदू-सभा के प्रतिनिधि

भेजने के बजाय यह काम कहीं अधिक महत्त्व का है। इन नाटकों का जो प्रभाव जनता के चरित्र पर पड़ता है, वह सैकड़ों व्याख्यानों से नहीं पड़ सकता। पर इन नाटकों में सुधार करवाने की ओर ध्यान किसी का नहीं जाता। यहाँ तक कि कलकत्ते में कई दैनिक और साप्ताहिक पत्र हिंदी में निकलते हैं, पर मैंने आज तक उन पत्रों में इन नाटकों के संबंध में कुछ लिखा हुआ नहीं देखा, क्योंकि ऐसा अनुमान किया जाता है कि यदि कोई संपादक इन नाटकों की खरी समालोचना अपने पत्र में करेगा, तो फिर इन कंपनियों के नाटक के विज्ञापन उसे मिलना असंभव हो जायगा। इस लोभ से या डर से कोई भी कलकत्ते का पत्र इन नाटकों की खरी समालोचना प्रकाशित करने का साहस नहीं कर सकता। ख़याल कीजिए "धर्मी बालक" कैसा उत्तम और प्रभावपूर्ण नाटक है। उसमें समाज की एक कितनी भारी कुरीति का चित्र कैसी अच्छी और पुरअसर भाषा में खींचा गया है, पर उसी नाटक में कुछ मेमें नचवाई जाती हैं, जो "बोसे दो के बदले चार लो" गाना गाती हैं। ख़ैर, गाना ही तक ग़नीमत थी, पर नहीं चटाख-चटाख चार बोसे भी एक दूसरे का ले लेती हैं और देखनेवाले ख़ाली मर्द ही नहीं औरतें और बच्चे भी रहते हैं। क्या कोई भी पिता अपने लड़कों के साथ या माता अपनी लड़कियों के साथ बैठकर ऐसे दृश्यों को देख सकती है। मैं नाटक-कंपनीवालों से फिर कहता हूँ कि उनकी बड़ी भारी ज़िम्मेदारी है। उन्हें कोई दृश्य ऐसा न दिखाना चाहिए, जिसे पिता-पुत्र साथ बैठकर न देख सकें, वरना पाप का रोज़गार … दिनों तक नहीं चल सकता। जिस दिन हिंदू-सभा … आर्यसमाज-जैसी ज़िम्मेदार संस्था का ध्यान इस … आकर्षित हो जायगा, भोली-भाली जनता को इस … गुमराह करके रुपया पैदा करना हवा हो जायगा।

एक दूसरी बात इस नाटक की जो खटकनेवाली है, भारतमाता, कलियुग और स्वर्ग के दृश्य हैं। पौरा… नाटकों में इस तरह के दृश्य खप भी सकते हैं, 'धर्मी बालक'-जैसे निरे सामाजिक नाटक में स्वर्ग, नरक, भारतमाता और कलियुग कहाँ से घुस … यह मेरी समझ में न आया। इसमें भी वही … कंपनीवालों की स्वार्थपरता और व्यवसाय-नीति दि… पड़ती है। वे भी हिंदू-जाति की मजहबी … फ़ायदा उठाकर उसे उल्लू बनाना चाहती हैं। नहीं … कहाँ सामाजिक नाटक और कहाँ स्वर्ग की सीन … भारतमाता तथा कलियुग का संवाद!

अंत में मैं श्रीयुत आग़ाहश्र साहब को ऐसा … और सुललित सामाजिक नाटक लिखने के लिये धन्य… देता हूँ, और आशा करता हूँ कि वे इसी तरह अन्य सामाजिक समस्याओं पर नाटक लिखकर समाज-सुधार के प्रशंसनीय उद्योग में सुधारकों का हाथ बटा…

जनार्दन …

नारदमोह



(२)

जाते-जाते मग में सोचा उमाकान्त का माँगें रूप,
तुरत डाल देगी जयमाला देख मनोहर रूप अनूप।
कमलापति के रूप छटा के पाने की करके इच्छा,
किया ध्यान प्रगटे श्रीनायक, देने को शिक्षा, भिक्षा।
हरि-दर्शन कर फूल गए ऋषि आनँद से गदगद होकर,
बोले! हे भगवन्, जगस्वामी!, आरत हो, जोड़े दो कर।

अंतर्यामी, त्रिभुवन-स्वामी! दे दो अपना रूप…
ये ही एक अभिलाषा केवल पूरा कर दो हे भगवन्…
हित जिसमें ऋषि होय तुम्हारा उसमें मुझको क्या सं…
पिता-तुल्य मैं उचित करूँगा वत्स न लाओ मन में …
देखा काया-कल्प हुआ था, हुए विष्णु तो अंतर्धा…
चमक गई बिजली-सी आभा, लगी खेलने मृदु मुस्…

नस-नस में नवजीवन आया बढ़े जीतने को वह गढ़,
तप में सूख हुए थे काँटा, तन पर आया पानी चढ़।
मरते थे जिस पर जी देकर उसी जान की इच्छा कर,
घर था किया हृदय में जिसने, सीधे पहुँचे उसके घर।
जो बस रही हमारे मन में, कहा, करें चल बस में हम,
पाँचों अँगुली घी में हैं अब करे चाँद ले बाल गरम।
देखा समारोह भारी था, जनसमूह की थी भरमार,
तोरन बंदनवार पताका, कदली-कलश सजा था द्वार।
सुंदर मंडप बना हुआ था, थे विराजते अगणित भूप,
रत्नजड़ित सिंहासन ऊपर दिखा रहे थे छटा अनूप।
रचा स्वयंवर था सजधज से देश-देश के जुटे नरेश,
देख रहे थे राह किसी की मना रहे थे गौरि-गनेश।
मुनिवर भी पा रूप मनोहर मनवांछित अभिलाषा से,
गर्व-सहित ऊँचे आसन पर जा बैठे भर आशा से।
आँख लगी थी जिस रमणी पर, लगा राह पर उसकी आँख,
घूम रही थी जो आँखों में उस पुतली-हित खोले आँख।
बैठे रहे नहीं थिर चित था लगा ध्यान था और कहीं।
आँखें जिसको ढूँढ़ रही थीं भर आतीं या नहीं कहीं।
इतने में नूपुरध्वनि आई, मंडप में इक उठी तरंग,
विश्वमोहिनी ले जयमाला आ पहुँची अलियों के संग।
बैठे सँभल-सँभल सब राजा अपना-अपना रूप सँवार,
फाड़-फाड़कर आँख देखने लगे कुमारी बारंबार।
मंद-मंद गति राजकुमारी झुकती जिधर लिए जयमाल,
भूप उधर के शीश झुकाकर समझे कि हम हुए निहाल।
बिन देखे आगे बढ़ जाती तो इन पर पड़ जाती ओस,
उसकी धुन में सिर धुन अपना रह जाते थे हृदय मसोस।
रमानाथ की पा सुंदरता विश्वविजय करनेवाली,
गर्व-सहित मुनि लालायित थे प्रिय हृदय हरनेवाली।
कब आकर माला पिन्हायगी तनमन देकर मोहित हो,
पल-पल युग-सम बीत रहा था मंद-मंद बढ़ती थी जो।
मुनि की ओर बढ़ी तो समझे, सौंप भाग मेरे जागे,
उनकी ओर न आँख उठाई मुँह को फेर बढ़ी आगे।
नारद समझे भूल गई है नहीं जो ताका मेरी ओर,
आँखें चार अगर हो जातीं तो पंजे में आता चोर।
आँख चुराकर निकल गई है ज़रा मिला ले आँखें तो,
दिल तो मिल जाएगा खुद ही आँखों को तो लड़ने दो।
आगे बढ़कर सम्मुख आए लिया मोहनी ने मुँह फेर,
बड़े फेर में पड़े बिचारे समझे नहीं समय का फेर।

बार-बार मुँह लगे दिखाने घेर-घेर मुँह आगे आ,
राजकुमारी आँख बचाकर तुरत बदल देती रस्ता।
सोचा मुझसे भी क्या सुंदर ढूँढ़ रही है कोई वर,
झक मारेगी, कहीं न पाकर मुझे बनाएगी निज वर।
यह विचार बैठे जा ज्यों ही त्यों ही आए रमानिकेत,
फीका पड़ा रङ्ग औरों का रूप देख सब हुए अचेत।
रूपसुधा पी, विश्वमोहनी ने मोहित होकर तत्काल,
हृदय निछावर करके डाला बाहुपाशयुत जलज-सनाल।
मंगल गान किया सखियों ने दे असीस बरसाए फूल,
हुआ उछाह अथाह ब्याह का गले मिले वर-दुलही फूल।
बाजा बजने लगा ब्याह का, लगे बजाने राजे गाल,
चौपट खेल हुआ सब इनका निकल गया पंजे से माल।
तीन-पाँच बढ़-बढ़ करते थे, समझे थे जो पौ-बारह,
छक्का-पंजा भूल गया सब, छके, हुए नौ-दो-ग्यारह।
हुए तीन-तेरह मनसूबे, कटकर बस रह गए सरोष,
कुछ भी हाथ न आया इनके देने लगे भाग्य का दोष।
बिगड़ गई सब बनी-बनाई, बनी न पाई कर मलते,
बिगड़े बनें फुला गालों को, मुँह को बना, बने चलते।
लगे संग थे शिव के गण जो देख-देख लीला सारी,
हँस-हँस लोट-लोट कहते थे चुटकी ले बारी-बारी।
छूने चले अकाश-तरैयाँ धो आओ गड़ही में मुँह,
चले ब्याहने राजकुमारी इस सूरत पर देखो मुँह।
बैठो धीरज धर मत उचको तुम मरकट-सा इधर-उधर,
स्वयं डाल देगी जयमाला देख सुंदरी रूप सुघर।
जल में अपना रूप जो देखा चित हो गए लाज में डूब,
ऐसी जाल में चिड़िया फँसती? उल्लू मुझे बनाया खूब।
मन चल गया स्वयं विष्णू का अब समझे हम उनकी चाल,
मुँह कर दिया हमारा काला, करके अपनी गोटी लाल।
चुल्लू-भर पानी में डूबूँ, प्यारी से तो धोया हाथ,
लाल हुए गुस्सा चढ़ आया बार-बार पीटा निज माथ।
आग बगूला होकर बोले शिवगण से यों देकर शाप—
हँसे बहुत तुम मेरे ऊपर बकते रहे अनाप-शनाप।
हँसे बहुत तो रोवो भी अब, जाओ दोनों हो निश्चर,
बहुत चिढ़ाते थे मुँह मुझको अब मुँहमाँगा पाओ वर।
लोहे का है चना चबाना मुनियों से करना अठखेल,
आ जाती है कभी जान पर, जान आग से करना खेल।
बहुत बनाया था नारद को अब आ बनी जान पर हाय,
सोच-सोच यों पछताते थे शिवगण देख न और उपाय।

खीस निकाल बड़े संकट में अँगुली दाँतों नीचे दाब,
जैसी करनी वैसी भरनी, सूखे पा मुँहतोड़ जवाब।
ग़ुस्सा चढ़ा उतर आया नारद के आँखों में जो ख़ून;
ख़ून इधर सूखा दोनों का, भूला सभी हाँकना दून।
शिवगण सुनकर कठिन शाप यह, पत्थर-सा गड़ गए वहीं।
निकल गई भू पाँव-तले से, पैरों पर पड़ गए वहीं।
पहुँच गए करनी को अपने कब होगा उद्धार प्रभो,
क्षमा कीजिए दया कीजिए कहा गणों ने कातर हो।
भवें चढ़ाए चले वेग से कि विष्णु से समझे चल,
फल पावेंगे मज़ा चखेंगे किया है जो मेरे सँग छल।
दाँत पीसते थे ग़ुस्से से मनो निगल ही जावेंगे,
खा जावेंगे कच्चा ही बस अगर कहीं पा जावेंगे।
इतने ही में श्रीपति सम्मुख हुए उपस्थित जोड़े हाथ,
गले अभी जयमाल पड़ा था विश्वमोहिनी भी थी साथ।
आग लग गई तन में मुनि के जलकर बोले आँख निकाल,
ऐसे भोले बने यहाँ हो वहाँ चल गए हमसे चाल।
पता लगा भारी छलिया हो मुझको हलका किया बड़ा,
सस्ते सदा छूट जाते थे आज बुरे से काम पड़ा।
विषवारुणी और को दे दी, स्वयं किया कमला को हाथ,
आज चब गई मेरे से भी खेले सदा और के साथ।
छल से जो नारीवियोग-दुख मुझको तुमने दिया विशेष,
जाओ देह धारकर तुम भी प्रियवियोग में भोगो क्लेश।
लोर गिराया इन आँखों से, गिरे मेरे आँखों से
भोगोगे कुछ और, नहीं सुख, जो मेरा लूटा है
बन्दर बना नचाया मुझको तुम्हें पड़े निशचर से
तब वानर-भालू ही केवल गाढ़े में आवेंगे
सुनकर शाप प्रभू मुस्काए खींच लिया अपनी
दूर किया परदा आँखों से दृश्य दूसरा दिख
नारद चौंके भ्रम सब छूटा भङ्ग हुआ माया का
आया ज्ञान, पतन निज देखा लज्जित हुए सोच निज
शीश नवा पछताकर बोले आरत हो, हे नटना
डूब रहा था ख़ूब बचाया सागर से करुणाम
भूल हुई भ्रम में मैं भूला दिया शाप जो कमला
चरने गई अक़ल थी मेरी पड़ा समझ पर था प
अब तुम ही हे नाथ उबारो शाप मेरे होवे नि
मति फिर गई, बुद्धि गई मारी, क्षमिए नाथ भयंकर
करुणासिंधु शांति दे बोले, नारद मत तुम घबड़ा
मन विकार जो उदय हुआ था उसे मिटाना था
तुमने कुछ भी नहीं किया है मेरी इच्छा है बल
जिधर-जिधर पतवार घुमाता उधर घूमता है जग
शिवगण के विनती करने पर बोले जब होगा अवत
तारेंगे यह तुम दोनों को और हरेंगे भू का भा
अहंकार का प्रायश्चित करके उदय हुआ नारद को ज्ञा
करने ध्यान सिधारे नारद अंतर्द्धान हुए भगवा

गुरुभक्तसिंह 'भ

दार्जिलिंग

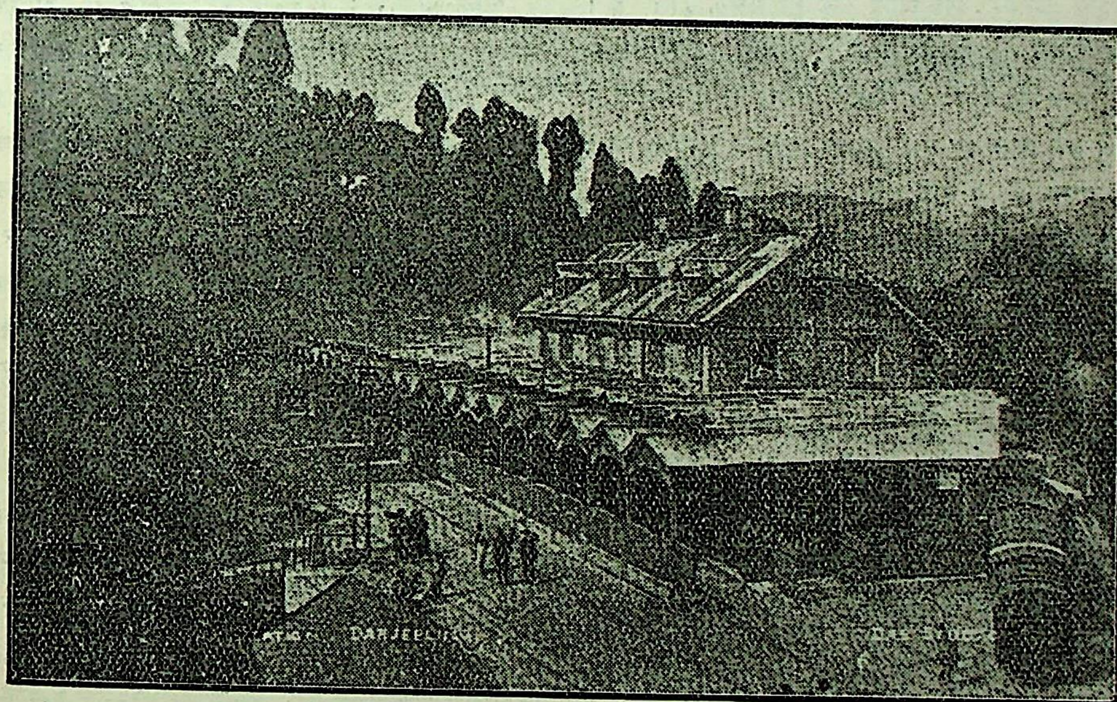
बहुत दिनों से जी चाहता था कि पहाड़ों की सैर करूँ, परंतु जीवन की अनेक बाधाओं ने कभी भी मनोरथ पूरा होने नहीं दिया। कलकत्ते में नौ मास रहने से जब तबियत बिगड़ गई, तो आबहवा बदलने के लिये दार्जिलिंग जाना ही उचित समझा। २३ मार्च सन् १९२९ को कलकत्ते की स्यालदह-स्टेशन से गाड़ी में सवार होकर एक ही रात में सिलीगुड़ी जा पहुँचा। सिलीगुड़ी कलकत्ते से ३०० मील उत्तर है और यहाँ तक ई० बी० आर० की ट्रेन जाती है। थर्ड क्लास के सिंगल जरनी टिकट के कलकत्ते से क़रीब पाँच ह लगते हैं। यह क़स्बा पहाड़ की तराई में बसा हुआ है। यहाँ ट्रेन बदलनी पड़ती है। यहाँ से दार्जिलिंग त "दार्जिलिंग-हिमालयन-रेलवे" की लाइन जाती है। लाइन बहुत छोटी है। लाइन का 'गेज़' सिर्फ़ दो फ़ीट है बहुत ही छोटे-छोटे इंजिन तथा डब्बे होते हैं। इसी कार इसको 'ट्वाय रेलवे' अर्थात् खिलौने की रेल कहते हैं।

सिलीगुड़ी से थोड़ी दूर चलने पर पहाड़ की च शुरू हो जाती है। सुकना-स्टेशन पर गाड़ी दो हि

में विभाजित हो जाती है और एक इंजिन के साथ गार्ड के डब्बों को छोड़कर तीन-चार डब्बे और होते हैं। यहाँ से रेल सीधी चलना छोड़कर चक्कर में चढ़ना शुरू कर देती है, मानों कलकत्ते शहर की ऊँची अट्टालिकाओं की सीढ़ियों पर चढ़ाई हो रही हो। नाज़ुक प्रकृति-वालों को क़ै शुरू हो जाती है और उनका जी मचलाने लग जाता है। रेल में यह शिकायत बहुत थोड़ों को होती है, पर मोटरलारी में बहुतों को कष्ट होता है। मोटरलारी भी बहुत-सी सिलीगुड़ी की स्टेशन पर खड़ी रहती हैं। दार्जिलिंग तक का भाड़ा प्रत्येक आदमी का दो रुपए दस आना लेती है और दार्जिलिंग रेलगाड़ी से जल्दी पहुँच जाती है। सिलीगुड़ी से दार्जिलिंग रेल या मोटर के रास्ते से क़रीब ४२ मील दूर है।

वक्षःस्थल को काटकर बनाई गई है। चारों तरफ़ हरे पेड़ों से वन ढका हुआ था। यहाँ पर ऐसे पेड़ बहुत होते हैं, जिनकी डालियाँ तने से निकलती हैं और ज्यों-ज्यों ऊँचा होता जाता है, त्यों-त्यों वह पतला होता जाता है। एवं ऊपर सिर्फ़ एक चोटी-सी रह जाती है। इन पेड़ों के नीचे बैठकर लोग आराम नहीं कर सकते हैं। मैदान के पेड़ों की तरह इनके नीचे छाया नहीं रहती। यहाँ पर ये ही पेड़ लाभदायक होते हैं। ठंडा देश होने से छाया की आवश्यकता ही नहीं।

स्थान-स्थान पर पानी के झरने झर रहे हैं और जल-प्रपात का मधुर कलरव हो रहा है। पहाड़ी लोगों के घर घास-फूस या टीन-लकड़ी के बने हुए होते हैं। पहाड़ों में पृथ्वी समतल न होने से मैदानों के घरों की



दार्जिलिंग का रेलवे-स्टेशन

मैं सिलीगुड़ी से मोटर में सवार होकर चला। १० बजे का समय था। मार्च का महीना था। सर्दी का नामोनिशान भी नहीं था। ज्यों-ज्यों पहाड़ पर मोटर चक्कर खाती हुई चढ़ती जाती थी, आँखें प्राकृतिक सुंदरता को देखकर तृप्त होती जाती थीं। मोटर के एक तरफ़ देखने से अथाह खड्डा मालूम होता था और दूसरी तरफ़ बहुत ऊँचा-सा एक पहाड़ सड़क तक ढला चला आता था। यह प्रतीत होता था कि सड़क पहाड़ के

तरह सटे हुए नहीं होते, किंतु दूर-दूर होते हैं। गाँव में एक घर से दूसरे घर जाने में मैदानवालों को कुछ परिश्रम करना पड़ता है। इनके खेत बड़े ही विचित्र होते हैं। एक पहाड़ के ढाल को साफ़ करके ये लोग उसको चौड़ी-चौड़ी पेड़ियों की शकल में काट लेते हैं। प्रत्येक पेड़ी की चौड़ाई पहाड़ के ढाल की लंबाई से निर्धारित होती है। उन पर बीज बो दिए जाते हैं और फ़सल हो जाती है। इनको न हल की आवश्यकता

होती है, न बैलों की। सिर्फ़ कुदाले और फावड़े से मिट्टी पोली कर बीज बो देते हैं। यहाँ का प्राकृतिक दृश्य बहुत ही सुंदर मालूम होता है। प्रकृति तरह-तरह के रंग खेलती है और हर मिनट के बाद आँखों के सामने एक नया दृश्य देखने में आता है। ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ते जाते हैं, ठंढ अधिक मालूम होने लगती है।

मैं सिलीगुड़ी से मोटर में सवार होकर गया था। रास्ते में जोड़बँगलों में उतर गया था, जहाँ से क़रीब दार्जिलिंग चार मील दूर है। इस स्थान की उँचाई ७४०७ फ़ीट है। यह एक बाज़ार है। यहाँ पर ठंढ दार्जिलिंग से भी अधिक पड़ती है और चौबीस घंटे में वायुमंडल के बीसों रूप परिवर्तित होते हैं—कभी कोहिरा, कभी आँधी, कभी बादल। जब कभी सूर्यनारायण के दर्शन होते हैं, तो लोग बड़े ही प्रसन्न होते हैं। एक पतली-सी सड़क निकलती है, जिसके दोनों तरफ़ दूकानें हैं। दूकानों के पीछे गहरे ढलते हुए खड्ड हैं। इन्हीं खड्डों की ढाल पर दूकानदारों के बासे बने हुए हैं। इसी तंग सड़क के बीच में से रेलगाड़ी, मोटरगाड़ी, बैलगाड़ी इत्यादि होकर निकलती हैं। सिर्फ़ एक सड़क के सिवा सारी जगह उबड़-खाबड़ है।

यहाँ से दार्जिलिंग के दो-तीन रास्ते जाते हैं। एक जलापहाड़ होकर, दूसरा कलकत्ता-रोड होकर और तीसरा रेल की पटरी के पास से चलते हुए। रेल की पटरीवाला रास्ता ही ऐसा है, जिस पर से मोटर इत्यादि जा सकती है। अन्य दोनों रास्तों से सिर्फ़ पैदल या घुड़सवार जा सकते हैं। दार्जिलिंग जोड़बँगले-जितनी उँचाई पर नहीं बसा हुआ है। दार्जिलिंग की उँचाई क़रीब सात हज़ार फ़ीट के है। इसलिये यहाँ पर जोड़बँगले-जितनी सरदी नहीं पड़ती। वायुमंडल भी साफ़ रहता है और धूप भी निकलती है।

दार्जिलिंग के बीच में एक थोड़ा-सा हिस्सा समतल-भूमि का है। अनाज का प्रसिद्ध बाज़ार यही है। इसको चौकबाज़ार कहते हैं। बाज़ार की बहुत-सी अच्छी-अच्छी इमारतें स्थानीय म्युनिसिपैलिटी की बनाई हुई हैं। बाज़ार के बीच में खड़े होकर देखने से चारों तरफ़ का दृश्य बहुत सुंदर मालूम होता है। बाज़ार एक ढलते हुए पहाड़ की तराई में है, इसलिये पहाड़ की ढाल पर बने हुए मकान और इमारतें साफ़ नज़र आती हैं। यहाँ पर एक ऐम्पिथिएटर (Amp theatre) का-सा दृश्य मालूम होता है। चारों त छाई हुई सुंदर हरियाली बहुत ही मनोहर मा देती है।

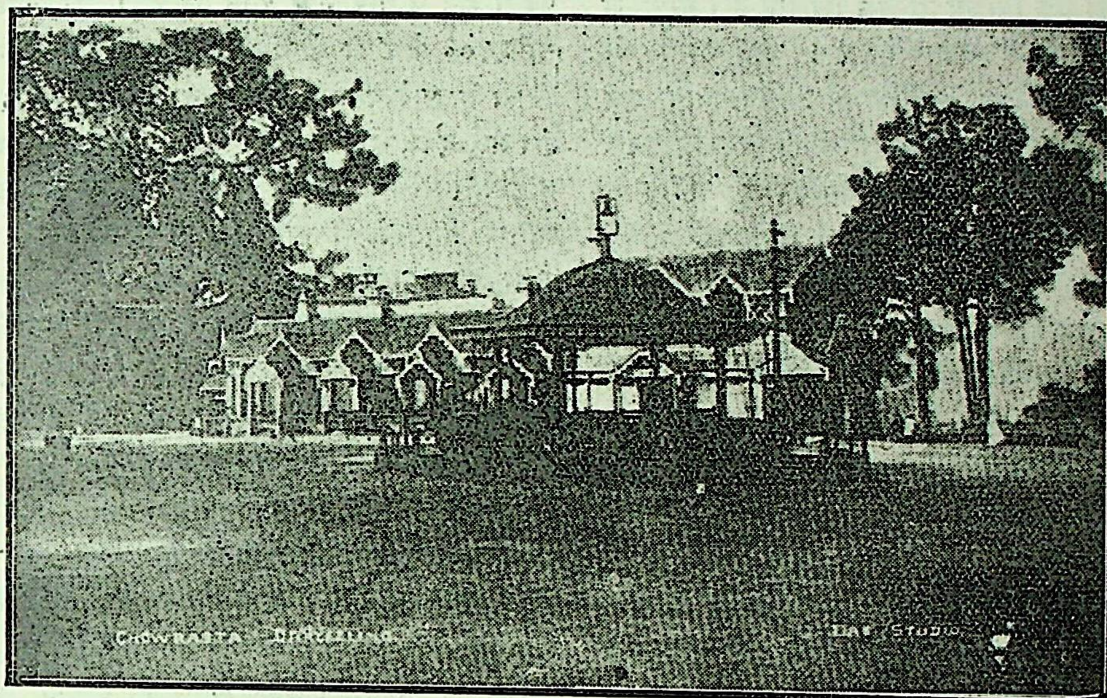
दार्जिलिंग का प्राकृतिक सौंदर्य ही प्रधान है। कुछ है, वह प्रकृति और उसकी अनुपम छटा है। प्रकृ के अनुपम सौंदर्य में मनुष्य अपनी थोड़ी-सी कला जो दे, तो उस स्थान का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है, जैसे रम के प्राकृतिक सुंदर मुखमंडल पर एक बिंदो लगा दी तो उसका सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है।

दार्जिलिंग-भ्रमण करनेवालों के दर्शनार्थ कुछ स्था के नाम दिए जाते हैं, जहाँ पर प्रकृति का सौंदर्य मनु की सजावट के साथ देखने में आवेगा।

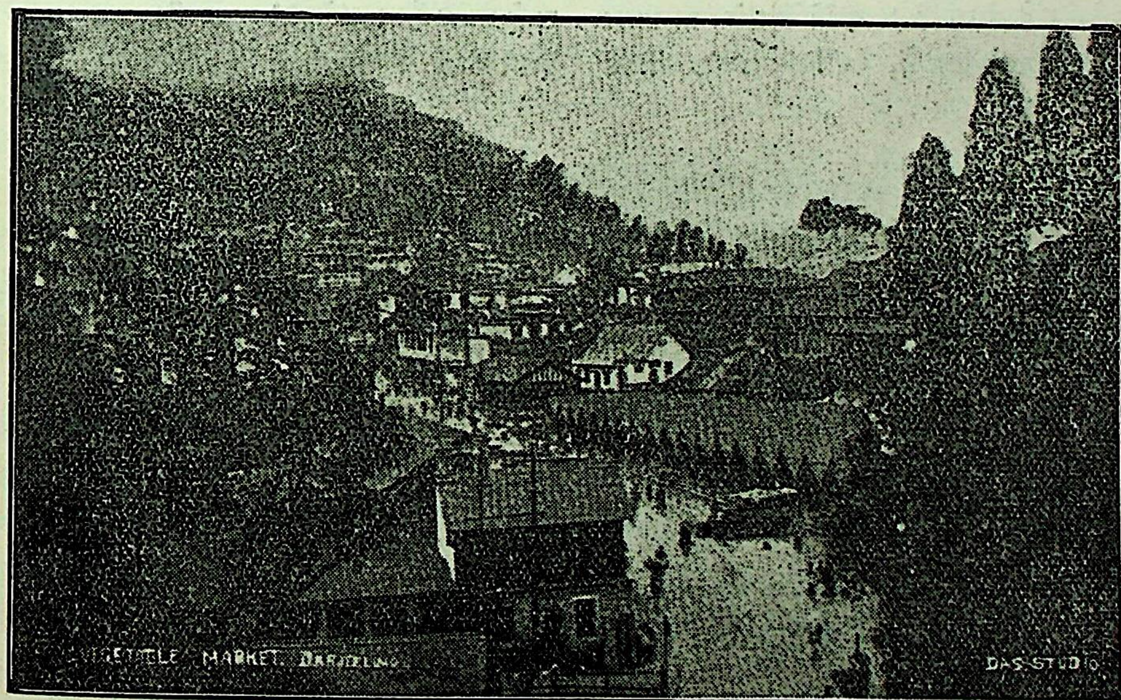
चौक-बाज़ार में खड़े होकर देखने से आपको कु झंडियाँ नज़र आवेंगी। यह महाकालेश्वर बाबा मंदिर की झंडियाँ हैं। मंदिर एक ऊँचे पहाड़ चोटी पर बसा हुआ है। वहाँ जाकर चारों तरफ़ दृश्य देखने ही योग्य है। इसको आब्ज़रवेटरी-हि (Observatory Hill) भी कहते हैं। मंदिर के प में दो सुरंगों के मुख हैं। कहा जाता है कि एक सुर यहाँ से पृथ्वी के भीतर-भीतर काशी-विश्वनाथ-महादे को और दूसरी नेपाल में पशुपतिनाथ-महादेव को ज है। यह कहाँ तक सत्य है, परमात्मा जाने। क्या स मुच प्राचीन भारतवर्ष में ऐसी कोई कला थी, जिस सैकड़ों मील पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर सुरंग बना थे। यह सुरंगें इस समय तो बंद पड़ी हुई हैं। इन भीतर घुसने का तो किसी को साहस ही नहीं होता।

दूसरा देखने योग्य स्थान वनस्पति-बाग़ (Bota cal Garden) है। यहाँ पर देश-विदेश के पेड़ों नमूने हैं। बीचोंबीच एक काँचगृह बना हुआ है, जिस वे पेड़, पौदे और बेलें हैं, जो खुली ठंढी हवा में हरी रह सकतीं। अपने यहाँ की तरह यह बाग़ भी एक स तलभूमि पर नहीं लगा हुआ है, बल्कि एक पहाड़ ढाल पर जिस पर ऊपर से नीचे तक रास्ते काटकर ब हुए हैं।

तीसरा देखने योग्य स्थान टाइगर-हिल (Tig Hill) है। यह जोड़बँगलों से दो-तीन मील की दू पर है। इसकी उँचाई क़रीब ८९०० फ़ीट के है। यहाँ



दार्जिलिंग का एक चौराहा



दार्जिलिंग का तरकारी-बाज़ार

लोग सूर्योदय के पहले चले जाते हैं। जिस दिन वायु-मंडल साफ़ होता है, तो गौरीशंकर पहाड़ (Mount Everest), जो यहाँ से क़रीब १०७ मील दूर है और किंचिंजंगा (Kinchenjunga) की चोटियाँ, जो यहाँ से क़रीब-क़रीब पचास मील दूर हैं, साफ़-साफ़ दिखलाई देती हैं। उन पर जब प्रात:सूर्य की किरणें

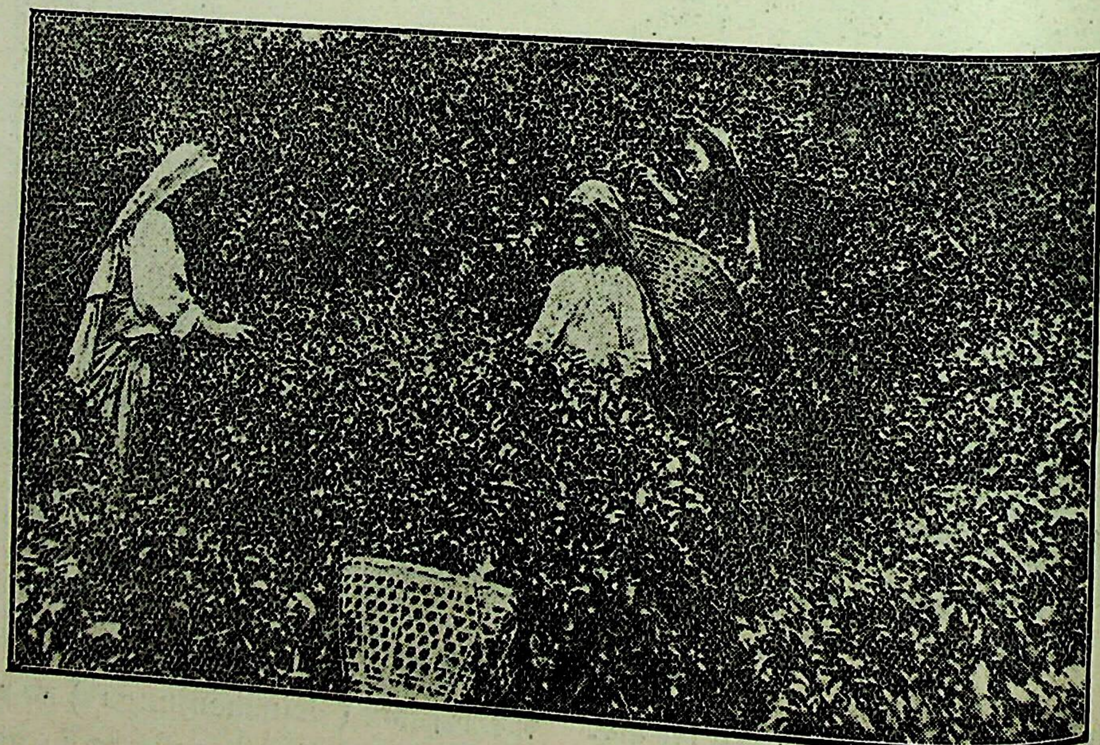
पड़ती हैं, तो एक विचित्र ही गुल खिलता है। बरफ़ में नाना प्रकार के रंग दिखलाई देते हैं। उस समय की शोभा अवर्णनीय है। बहुत-से योरपियन लोग इस दृश्य को देखने आते हैं। कुछ ही मिनटों के बाद बरफ़ में दोनों चोटियों के बीच में अँगरेज़ी यू (U) के आकार का एक खड्डा दिखलाई देता है। यह एक दर्रा है, जो तिब्बत की राह है।

इन तीन स्थानों के सिवा और भी कई एक स्थान देखने योग्य हैं, जैसे विक्टोरिया-पार्क (Victoria Park) और उसका अजायबघर (Museum), बर्चहिल (Birch Hill), लेबांग कैंटोमेंट (Lebong Cantonment)—यहाँ पर घुड़दौड़ का मैदान है, जला-पहाड़ कैंटोमेंट (Jalapahar Cantonment)—यहाँ पर फ़ौजी अफसरों के बँगले हैं, सिदरापोंग का पानी से बिजली पैदा करने का कारख़ाना (Hydro-electric Power House), संचलवाटर वर्क्स (Sanchal Water Works) इत्यादि।

इनके अलावा यहाँ के चा-बाग़ान (Tea Estates) देखने योग्य हैं। दार्जिलिंग के आसपास चा के बाग़ान बहुत ही कम हैं, क्योंकि यहाँ ठंढ अधिक पड़ती है। वे थोड़े नीचे आने पर हैं। उत्तर-भारत में चा ३५०० फ़ीट की ऊँचाई तक अच्छी तरह पनपती है।

चा के सारे बाग़ान योरपियन कंपनियों के हाथों में हैं। सारे दार्जिलिंग में सिर्फ़ तीन ही बाग़ान मारवाड़ियों के हैं और पाँच तथा सात अन्य हिंदुस्तानियों के हैं। चा के बाग़ानों में ख़ूब ही नफ़ा होता है, पर पूँजी की आवश्यकता आरंभ में अधिक होती है तथा कृषि के ज्ञान की भी। मारवाड़ी लोग अशिक्षित होने से तथा उनका व्यापार लिमिटेड कंपनियों द्वारा किए जाने से वे इस काम को नहीं कर सके हैं। वे लि मोदी का काम पाकर ही संतुष्ट हो गए हैं।

एक-एक चायबाग़ान में क़रीब एक हज़ार से पाँच हज़ार एकड़ भूमि होती है। बड़ी चाय-स्टेटों में चा तैयार करने की फ़ैक्टरी भी होती है। बहुत-सी जगह आसपास के झरने तथा नाले से बिजली पैदा करके फ़ैक्टरी की मशीन चलाई जाती है, क्योंकि कोयला मँगाना यहाँ पर बहुत महँगा पड़ता है। यह विद्युत् शक्ति 'रोपवे' (Ropeway) में भी काम में लाई जाती है। 'रोपवे' एक बिलकुल नवीन चीज़ देखने को है। पहाड़ों में एक जगह से दूसरी जगह



दार्जिलिंग में चा का बग़ीचा

सामान ले जाना कठिन है। हर बाग़ान में प्रायः चा-गोदाम और कारख़ाना पहाड़ की तराई में होता है। चा पहाड़ की चोटी तथा ढाल पर होती है। कुली लोग चा की पत्तियों को तोड़कर पहाड़ की चोटी पर स्थित रोपवे-स्टेशन पर ले जाते हैं, वहाँ पर बोरों में भर दी जाती है। प्रत्येक बोरा एक अंकुड़िए में अटका दिया जाता है। प्रत्येक अंकुड़िए में एक छोटा-सा पहिया लगा रहता है। स्टेशन से लोहे को ताँत से बटा हुआ एक मोटा-सा रस्सा आकाश-मार्ग से नीचे की दूसरी स्टेशन या गोदाम तक लगा हुआ रहता है। पहिया जिसके साथ बोरा लगा हुआ रहता है, इसी रस्से पर लुढ़का दिया जाता है। पहिया इस रस्से पर बड़े वेग से दौड़ता हुआ बोरे को अपने साथ लेकर दूसरी स्टेशन तक चला जाता है। बोरा नीचे नहीं गिरता, क्योंकि इसका भार पहिए को रस्से पर चिपकाए हुए रहता है और पहिया बड़ी तेज़ी से नीचे की ओर दौड़ता है। जिस सामान को लाने में पहाड़ की चोटी से नीचे तक घंटों लग जाय, वह कुछ ही मिनटों में 'रोपवे' की सहायता से चला आता है। नवागंतुक को यह दृश्य बहुत ही अद्भुत मालूम देता है। वह तो घाटी में नीचे खड़ा रहता है और उसके दो-चार सौ फ़ीट ऊपर बोरे झनकार की आवाज़ करते हुए दौड़ लगाते हैं। यदि रस्सा बहुत ऊँचा होता है, तो रस्सा और पहिया तो नहीं दिखलाई देते हैं, सिर्फ़ दौड़ते हुए बोरे ही दृष्टि में आते हैं। जब इसी रस्से की सहायता से माल नीचे से ऊपर लाया जाता है, तो विद्युत्-शक्ति काम में लाई जाती है। पहाड़ में सड़कें, रेलें इत्यादि बनाना बहुत कठिन है और यही उपाय माल ढोने में सबसे सस्ता है। लेखक ने यह भी सुना था कि कालिम-पोंग के आसपास में एक रोपवे-सरविस होनेवाली है, जिससे आदमी भी रस्से की सहायता से एक स्थान से दूसरे स्थान को आकाश-मार्ग से जा सकेंगे। न-मालूम यह कहाँ तक सत्य है, परंतु विज्ञान के आगे कोई बात असंभव नहीं है।

प्रत्येक चा-बाग़ान में सिर्फ़ एक या दो अँगरेज़ रहते हैं, जो मैनेजर तथा इंजीनियर का काम करते हैं। कुली नेपाली हैं और दूकान किसी मारवाड़ी की है। एक चा-बाग़ान में सिर्फ़ एक ही मारवाड़ी की दूकान होती है, जो सुई से लेकर मूसल तक प्रायः रात-दिन व्यवहार में आनेवाली सब चीज़ें बेचता है। बड़े साहब को हर हफ़्ते में कुलियों की तनख़्वाह के लिये रुपए जुटाकर देता है और बदले में हुंडी या चेक ले लेता है। एक या दो परसेंट का कमीशन लेकर वह संतुष्ट हो जाता है। वे ही रुपए माल बिकने पर कुलियों के द्वारा कुछ तो उसके पास फिर आ जाते हैं और कुछ हुंडी भेजकर बाहर से मँगा लेता है। अब देखिए साहब को घर बैठे बिना किसी जोखिम के रुपए मिल जाते हैं, और छोटा-मोटा सामान भी मारवाड़ी की दूकान से मँगा लेता है। हमारे मारवाड़ी भाई इतने ही व्यापार से संतुष्ट हैं। कभी भी चा-बाग़ानों पर अधिकार करने का तथा वह कार्य सीखने का प्रयत्न तक नहीं करते, और करें भी तो कैसे। न उनमें शिक्षा है, न संगठन है। उनके पास पूँजी अवश्य है, परंतु वह भी सैकड़ों के पास बिखरी होने से विशेष लाभदायक नहीं है।

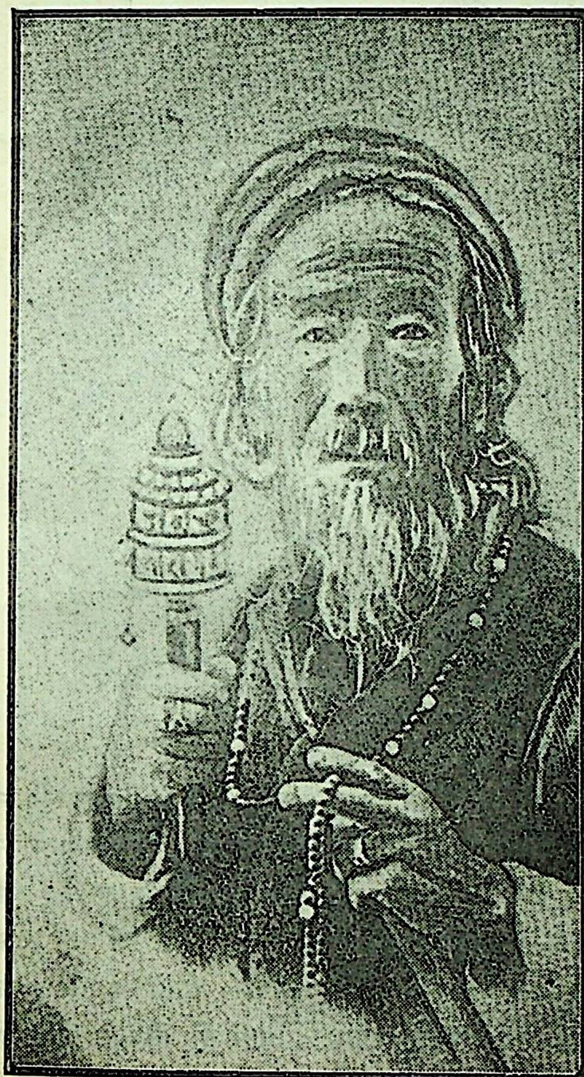
अब चा-बाग़ान के कुलियों की तरफ़ दृष्टि डालिए। इनकी दशा तो हृदयविदारक है। प्रत्येक बाग़ान के मैनेजर के हाथ में इतनी शक्ति है, मानो वह वहाँ का राजा है। हत्या के केस के सिवा और सारे केस वहीं पर तय हो जाते हैं। वह कुलियों को मनुष्य बनाने का कभी भी प्रयत्न नहीं करता। उनको कुली ही रखना चाहता है। कुलियों की तनख़्वाह बहुत कम है। उदाहरण के लिये मैं आपको धोधलिया (Dooteriah)-नामक चा-बाग़ान का वर्णन सुनाता हूँ। यहाँ मनुष्य को प्रतिदिन पाँच आने, स्त्री को चार आने और बच्चे को ढाई आने मिलते हैं। यदि कोई पुरुष दस सेर, स्त्री आठ सेर, और बच्चा पाँच सेर पत्तियों से ज़्यादा तोड़ करके इकट्ठा कर लेता है, तो उसे दो पैसे प्रति पौंड ज़्यादा मिलते हैं। रहने के लिये घास-फूस के मकान तथा बीमार पड़ने पर दवा मुफ़्त मिलती है। स्त्री के बच्चा हो जाने पर उसको क़रीब ३०) मिलते हैं और क़रीब चार महीने तक काम पर नहीं बुलाई जाती है। यहाँ पर ईसाई-मिशन की तरफ़ से एक पाठशाला भी है, जिसके गुरु को आठ रुपए कंपनी से मिलते हैं। स्कूल में सिर्फ़ १५ या २० लड़के पढ़ते हैं। यद्यपि चा-बाग़ान में क़रीब २००० लड़के हैं, ये लोग बहुत ग़रीब हैं। बच्चों को पढ़ाने में सर्वथा असमर्थ हैं। यदि उनको पढ़ावें

और उनसे काम न करावें, तो उनको खिलावें क्या ? यदि कोई दो-चार किताब अँगरेज़ी पढ़ लेता है, तो बड़ा बाबू हो जाता है और उसी चा-बाग़ान में दस बीस रुपए महीने का क्लर्क हो जाता है। बस यहीं पर शिक्षा का ख़ात्मा हो जाता है। अब देखिए इतनी थोड़ी तनख़्वाह से कैसे जीवन-निर्वाह हो सकता है ? प्रथम तो यह बहुत ठंडा स्थान है, इसलिये पहनने तथा ओढ़ने के वस्त्रों की बहुत आवश्यकता होती है। दूसरा सिवा चा के खाने-पीने की बहुत थोड़ी चीज़ें पहाड़ में पैदा होती हैं। सारी चीज़ें नीचे मैदान से आती हैं। इसलिये वे बहुत महँगी बिकती हैं। बेचारा किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह कर पाता है। कुलियों का जीवन ढोर-पशुओं से भी ख़राब है।

ज़रा अब इनकी सामाजिक तथा नैतिक दशा पर ध्यान दीजिए। सबके लिये काला अक्षर भैंस बराबर है। अशिक्षित होने से सब प्रकार की बुरी आदतों के पात्र हैं। वेतन थोड़ा होने पर भी शराबी हैं। सिगरेट पाँच वर्ष के बच्चे से लेकर वृद्ध तक पुरुष-स्त्री दोनों पीते हैं और प्रतिदिन एक पैसे की सुपारी तो खाते ही हैं। पुरुष जुआ खेलने के बहुत व्यसनी होते हैं। क़र्ज़-रहित तो कुली हज़ार में एक ही मिलना असंभव है। रहने के मकान बहुत छोटे-छोटे होते हैं। रात को जाड़ा अधिक पड़ने से कोई खुली हवा में बाहर तो सो नहीं सकता है। झोपड़े के कमरे में एक से अधिक जोड़े (पति और पत्नी) सो जाते हैं। एक दूसरे को देख न सकें, इसलिये दीपक बुझा देते हैं। सिर्फ़ अँधेरा ही उनके शील और लज्जा की रक्षा करता है। इसका प्रभाव पास सोनेवाले बच्चों पर कितना बुरा पड़ता है, उसका पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

नैपाली लोग प्रायः बौद्ध-मिश्रित हिंदू-धर्म को माननेवाले हैं, परंतु आजकल ईसाई-धर्म का प्रचार बड़े ज़ोरों से हो रहा है। उपदेश देने की, चा-बाग़ान में, पूर्ण स्वतंत्रता सिर्फ़ पादरियों को है। परंतु ये अपना धर्म-प्रचार करने के सिवा कुलियों का किसी प्रकार का सुधार करते हुए नहीं देख पड़ते हैं। इनके सिवा कोई भी पुरुष कुलियों को किसी प्रकार का उपदेश नहीं दे सकता है। यहाँ तक कि कोई भी उपदेशक बग़ैर साहब की आज्ञा के बाग़ान में प्रवेश नहीं कर सकता है, इसलिये कुली वर्तमान समय के मज़दूर-संगठन व हड़तालों से अनभिज्ञ हैं। यदि कोई साहब की हरकत से तंग आकर दूसरे चा-बाग़ान में चला जाता है, उसको वहाँ पर नौकरी नहीं मिलती है और [illegible] लौटना पड़ता है। यही दशा प्रत्येक चा-बाग़ान [illegible] कुलियों की है।

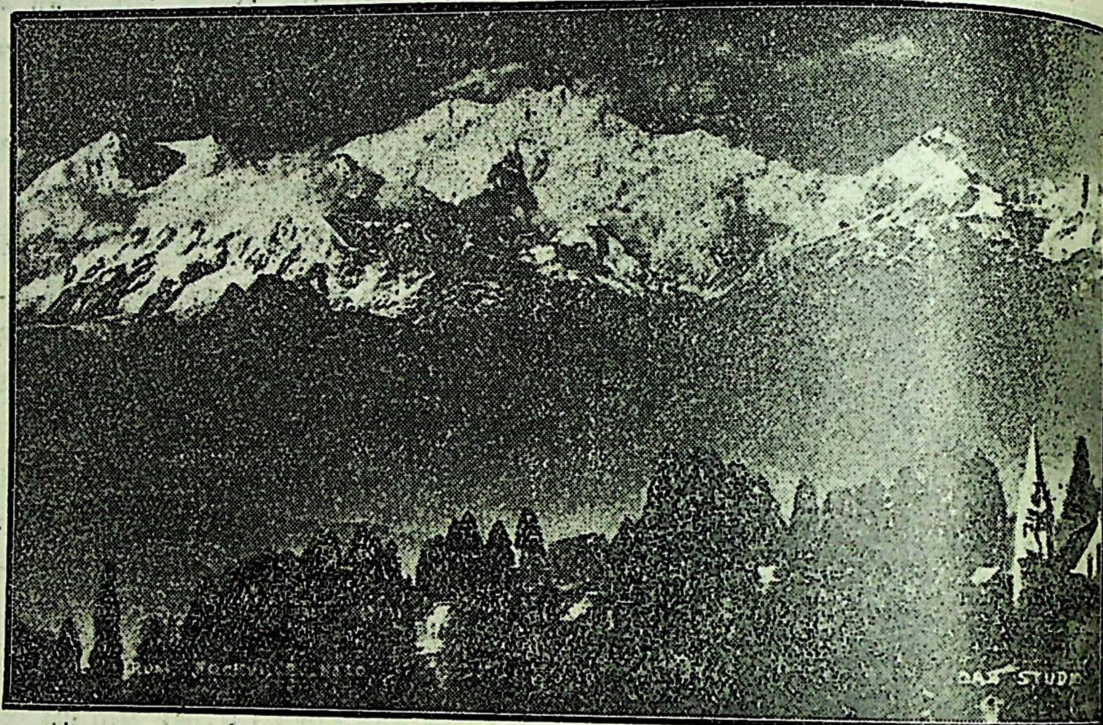
दार्जिलिंग से प्रायः चार मील पर घूम-स्टेशन के [illegible] बौद्धों का एक मंदिर है, जिसको 'गुमा' कहते हैं। [illegible] एक बहुत भव्य स्थान है। मंदिर छोटा-सा परंतु [illegible] से बहुत ही परिष्कृत एवं सुसज्जित है। उसके बीचों [illegible] दीर्घकाय भगवान् बुद्ध की एक प्रतिमा है और [illegible] चतुर्दिक् सैकड़ों छोटी-छोटी मूर्तियाँ हैं। सुना [illegible] प्रधान मूर्ति के बनाने में क़रीब सात हज़ार रुपए [illegible] पड़े हैं। मंदिर में सैकड़ों ही छोटे-मोटे दीपक [illegible] रहे हैं। और प्रधान प्रतिमा के सामने एक बड़ा [illegible] जल रहा है। पहले इन सबमें घी जलता था, [illegible] उसका भाव महँगा हो जाने के कारण नारियल का [illegible] भी काम में आने लगा है। बौद्ध-धर्म के पंडित जिन्हें लामा कहते हैं, मंदिर में बुद्ध-भगवान् की मूर्ति [illegible] सामने ग्रंथ-पाठ एवं मंत्र-जाप कर रहे हैं। प्रायः [illegible] दिन ही दीपक जलते रहते तथा लामा लोग पढ़ते [illegible] हैं। जब कोई बौद्ध-धर्मावलंबी किसी प्रकार की [illegible] से घिर जाता है, तो वह भगवान् के मंदिर में [illegible] श्रद्धानुसार दीपक जलाने का तथा लामाओं से पाठ [illegible] का प्रण करता है। वे इसको एक पवित्र कार्य समझते [illegible] लामा लोग लाल रंग के कपड़े पहनते हैं। बौद्ध [illegible] पृथ्वी पर लंबे-लंबे लकड़ी के लट्ठे खड़े कर देते हैं। [illegible] नीचे से ऊपर तक उसके एक कपड़ा बाँध देते हैं। [illegible] पर भोटिया-भाषा में मंत्र इत्यादि लिखे हुए होते [illegible] जब हवा चलती है, तो कपड़ा फड़फड़ाता है। [illegible] ये पुण्य समझते हैं। इनका विश्वास है कि जितना [illegible] बुद्ध-भगवान् के नाम का मुँह से उच्चारण करने से होता [illegible] उतना ही यह लकड़ी का खंभा पृथ्वी में गाड़नेवाले [illegible] होता है। इस पर लगा हुआ कपड़ा जिह्वा का [illegible] करता है और वायु में लहराने से मंत्रों का उ[illegible] होता है। इसी विश्वास के कारण मंदि[illegible] आसपास में सैकड़ों लट्ठे खड़े किए हुए [illegible] पड़ते हैं।



लामा-जाति का एक मनुष्य
(६८ वर्ष की आयु में भी यह कितना बलवान् है)

दार्जिलिंग में यों तो सब प्रांतों के मनुष्य पाए जाते हैं, पर नैपाली अधिक हैं। ये लोग बलवान्, दीर्घजीवी, परिश्रमी और फुर्तीले होते हैं। निर्धन होने पर भी सच्चे और निष्कपट होते हैं, बुद्धिमान् होते हैं और यदि इनको पूरी शिक्षा दी जाय, तो अँगरेज़ों से किसी तरह कम न निकलें, परंतु प्रायः सब अशिक्षित होते हैं। निर्धनता के कारण इनका जीवन और रहन-सहन संतोषजनक नहीं हैं। बहुत गंदे रहते हैं और स्नान तो किसी ख़ास वार या त्यौहार पर ही करते हैं। टट्टी में भी पानी का प्रयोग नहीं करते, पेड़ों के पत्तों से अपना काम निकालते हैं। टट्टी से आकर पानी से अपने हाथ तक नहीं धोते। इनके कपड़े बहुत गंदे रहते हैं और पहनने के बाद शायद ही कभी धोते हैं। मनुष्यों की कोई ख़ास वेश-भूषा नहीं है, जो कुछ मिलता है, पहन लेते हैं। सिर पर तो टोप रक्खा हुआ है और पैरों में जूते भी नहीं हैं। अक्सरों में प्रत्येक अपने पास एक कटारी रखता है, जिसको खुखरी कहते हैं। पहाड़ी लोगों के लड़के भी बड़े मज़बूत होते हैं। भार ढोने में बड़े तगड़े होते हैं, परंतु दुर्व्यसनी होते हैं। खुले बाज़ार में भी किसी न किसी प्रकार का जूआ खेलते हुए पाए जाते हैं। नैपाली सब मांसाहारी होते हैं, परंतु हिंदू-धर्म को माननेवाले गाय नहीं मारते। बौद्ध लोग कुत्ते के मांस के सिवा और सब कुछ खाते-पीते हैं। सैकड़ों ही गाएँ ये बौद्ध-भोटिया अँगरेज़ी सिपाहियों के लिये एवं अपने लिये ही मारते हैं। मारवाड़ी इनको अछूत मानते हैं। नैपाली सब परिश्रम करके पैसा पैदा करनेवाले होते हैं, परंतु बौद्धों में भिक्षुक बहुत होते हैं। नैपाली लोग गधे को इतना बुरा समझते हैं कि इसको छूते तक नहीं। अन्य सब जानवरों को पालते हैं।

नैपाली स्त्रियाँ बहुत सुंदर होती हैं। यह सौंदर्य प्रकृति ने इनको प्रदान किया है। इनकी वेश-भूषा साधारण होती है। गहने पहनने की बहुत शौक़ीन होती हैं। धनवान् सोने-चाँदी के गहने पहनती हैं, परंतु ग़रीब जरमन-सिलवर एवं दूसरे सस्ते धातुओं के बना लेती हैं। पैरों में कुछ तो बूट, मोज़ा तथा उन पर चाँदी की कड़ियाँ पहने हुई हैं, पर अधिकांश नंगे पैर फिरती हैं। सिर को ढकने के लिये छोटा-सा परंतु सुंदर-सा ओढ़ना पृथक् ही होता है। मख़मल का कपड़ा ये अधिक पसंद करती हैं। मिले तो ईद, नहीं तो रोज़ा ही सही। ठीक यही हाल इनका है। आज पैसे हुए तो गहने बनवा लिए और कल तंगी आ गई तो उनको गिरह रखकर किसी मारवाड़ी महाजन से रुपए उधार ले लिए। स्त्रियाँ बाज़ार में आती हैं, तो बच्चों को पीठ पीछे टोकरी में डालकर लाती हैं। टोकरी से बँधी हुई रस्सी सिर के अग्र भाग से अटकी हुई रहती है। प्रायः स्त्री-पुरुष माल ऐसे ही टोकरी में ढोते हैं। स्त्रियाँ आचार-विचार की बहुत स्वतंत्र होती हैं। माता-पिता को अपने लड़के-लड़कियों के विवाह की कुछ चिंता नहीं रहती। लड़की अपना पति स्वयं ढूँढ़ लेती है। प्रायः देखा



राक विले से बर्फ़ का दृश्य

जाता है कि किसी पुरुष से उसका प्रेम हो जाने पर वे दोनों उस गाँव से भाग जाते हैं। कुछ दिन बाहर रहकर फिर वापस आ जाते हैं। यही इनका विवाह है। लड़की के घरवालों को कुछ लेना होता है, तो अपने जामाता से साठ रुपए ले लेते हैं और साधारण रीति-रस्म कर देते हैं। यदि कुछ देना होता है, तो साधारण दहेज़ दे देते हैं। इस तरह से भागने की प्रथा को वे बुरा नहीं समझते। कृष्ण और रुक्मिणी के आदर्श को मानते हैं। पहाड़ियों में विवाह-संबंध में जाति-पाँति का भेद नहीं मानते। स्त्रियाँ चाहे जिसको अपना पति बना सकती हैं। और तो क्या मारवाड़ के भंगी भी यहाँ आकर पहाड़िन स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं। नैपाली-भोटिया स्त्रियों से विवाह कर लेते हैं, परंतु इनके हाथ का बनाया हुआ भात नहीं खाते। यही इनका धर्म है। विधवा-विवाह एवं तलाक़ की प्रथा प्रचलित है। बहुत-से अँगरेज़ विवाह किए बिना ही पहाड़ी स्त्रियों को रखेली की तरह रखते हैं और प्रायः उसके गुज़ारे के लिये प्रत्येक को चालीस रुपए देते हैं। इस प्रसंग से जो वर्णशंकर संतान पैदा होती है, वे ईसाई मिशनरियों को सौंप दी जाती है। इससे हिंदू-धर्म की बहुत क्षति हो रही है। देश के सुधारकों का ध्यान इस ओर आकर्षित होना आवश्यक है। कहीं मारवा[ड़ी] पहाड़ी स्त्रियों को रखेली की तरह रक्खे हुए हैं। इनके हाथ की चा तथा टिकड़ा बनाया हुआ तो लेते हैं, परंतु बनाया हुआ भात खाने में धर्म [...] जाता है। पहाड़ में आनेवालों को अपने आचर[ण] [का] पूरा ध्यान रखना चाहिए; नहीं तो जेब के कु[छ] आने पैसे आचरण एवं पथभ्रष्ट बना देते हैं।

मारवाड़ी भाई जो पहाड़ में रहते हैं, उनका रहन-सहन संतोषजनक नहीं देख पड़ता। इतने [...] स्थान में आकर भी वे उसका यथार्थ लाभ नहीं उ[ठा][...] रहने के मकान गंदे होते हैं। गाँवों में कहीं-कहीं टट्टिएँ सात-सात दिन तक साफ़ नहीं होतीं, पर [...] ठंड के कारण महामारी का भय नहीं है, क्योंकि [...] मकोड़े तथा मक्खियाँ देखने में भी नहीं आतीं। [...] तथा गाँवों में चील-कौवे भी नहीं पाए जाते। [...] इतना धुआँ होता है कि उसको यदि काजल की [...] कहें, तो अत्युक्ति नहीं होगी। पर्याप्त धूप नहीं [...] के कारण धोतियाँ वहाँ पर सुखा दी जाती हैं, जो [...] काली हो जाती हैं। शायद कुछ धनियों के घरों में [...] बात नहीं पाई जाती, परंतु अधिकांश मध्यम [...] साधारण स्थितिवालों के यहाँ तो यही होता है। [...]



बाँस के बर्तन में दूध लिए हुए ग्वाला

वाड़ी बड़े ही रूढ़िवादी हैं। बाप-दादों की लकीर पर तो चलेंगे ही, चाहे उनका नुक़सान कितना ही हो। जोड़बँगले में तथा दार्जिलिंग में मारे ठंढ के मेरे तो हाथ-पैर काँप रहे थे और ये प्रातःकाल के समय ठंढे पानी से खेलकर होली मना रहे थे। धन्य ऐसी बुद्धि को और धन्य है रूढ़िवादिता को।

डेढ़ महीना ख़तम हो गया। दो महीने दार्जिलिंग में और ठहरना चाहता था। इतने समय में गले का इलाज तीन-चार डाक्टरों से करवाया, परंतु ठीक नहीं हुआ, तो 'लिपतीयाँ' के पास गया। उसने तो कहा—

"Who was the fool who advised you to come here. Better go to sea-side, if you want a change of climate. Leave this place at once, otherwise you will be caught by fever."

डाक्टर का रूखा उत्तर पाकर निराश हो गया और इस सुंदर, भव्य एवं रमणीक स्थान को छोड़ने के लिये बाध्य होना पड़ा और मरुभूमि की लू-सेवनार्थ बीकानेर का टिकट कटाना पड़ा।

गोपीकृष्ण मोहता

समर्प्य वस्तु

छायो सुचि सौरभ समीर माहिं औरै भाँति
औरै भाँति भावना हिए में करै झकझोर;
औरै भाँति आजु कछु मन की दसा लखति
जानि परै दरस दिखैहैं नंद के किसोर।

कविराज हंस कैसो भवन सजाऊँ
काह स्वागत को लाऊँ जासों पाऊँ करुणा की कोर;
और कछु नाहीं कारे कान्ह के समर्पिबे को
मोहिं तो अकेले एक कारे हियरे को जोर।

बलदेवप्रसाद मिश्र

कौटिल्य-चर्चा

संतोष की बात है कि कुछ समय से "कौटिलीय अर्थशास्त्र" की चर्चा मासिक पत्रों में होने लगी है। इस संबंध में मैंने कुछ लेख सरस्वती में प्रकाशित कराए थे। उनकी ओर श्री० उदयवीर शास्त्रीजी का ध्यान आकर्षित हुआ है। मैंने आपकी व्याख्या में जो थोड़े-से दोष प्रसंगवश दिखाए थे, उनका आपने उत्तर देने का भी प्रयत्न किया है। आपने अपनी व्याख्या के समर्थन में जो कुछ कहा है, उस पर मैं अपना वक्तव्य यहाँ संक्षेप में देता हूँ।

पहली बात जो मुझे कहनी है, वह यह है कि मैंने आपकी टीका के समस्त दोषों को दिखाने का प्रयत्न नहीं किया है। अपने विषय के विवेचन में जहाँ कहीं आपकी व्याख्या मुझे अपूर्ण अथवा दोषपूर्ण जान पड़ी, वहीं मैंने आपके दोष दिखाए हैं। 'पिंडे पिंडे मतिर्भिन्ना' के न्याय से अर्थ के संबंध में थोड़ा बहुत मतभेद होना नितांत स्वाभाविक है। यह बात मैं "कौटिलीय अर्थशास्त्र-मीमांसा, प्रथमखंड—कौटिल्य की राज्यशासन-व्यवस्था"-नामक अपनी आलोचनात्मक पुस्तक की प्रस्तावना में स्वीकार कर चुका हूँ। इसलिये तर्क के आधार पर यदि कोई अपना भिन्न अर्थ करे, तो दूसरे किसी को चिढ़ने या कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

अब मैं आपके "निवेदन" का उत्तर लिखता हूँ।

आपने जो प्रथम बात कही है, उसमें आपने स्वयं यह दिखला दिया है कि उक्त सूत्रों की विस्तृत व्याख्या हो सकती थी. इसलिये अब उस विषय में अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। मुझे केवल यही दिखलाना था कि उक्त काल में ब्राह्मण लोगों का दर्जा समाज में सर्वश्रेष्ठ था। इसीलिये मैंने उक्त सूत्रों की विस्तृत व्याख्या नहीं दी। मेरा कथन संक्षिप्त व्याख्या से भी प्रतिपादित हो सकता था। आपने उक्त अर्थ को मेरे कथन के अनुसार अधिक स्पष्ट कर दिया, इसलिये आपको अनेक धन्यवाद।

तथापि 'पूर्वेणापरस्य द्विपणाधराः' का स्पष्टीकरण करते समय आपने कुछ चिढ़कर जो आक्षेप किया है कि "यहाँ तामस्कर महोदय कौटिल्य के भाव को समझने में भूल कर गए हैं", उसमें मेरी अल्पमति में आपने ही भूल की है। मैंने जो कहा है कि "जैसी जिसकी पदवी होती है, वैसे ही गुरुतर उसके कर्तव्य भी होते हैं और ऐसे लोगों के नियमभंग के अपराध के लिये गुरुतर दंड भी होता है" वह इस संबंध में नहीं है। वह ऐसी बातों के संबंध में कहा गया है कि जिनमें सामाजिक उच्चता-नीचता का प्रश्न है नहीं। वहाँ प्रश्न रहता है अधिक समझ का। ब्राह्मणों से अधिक समझ की आशा कौटिल्य ने की है इसीलिये हितकारी बात बतलानेवाले को मारने पर ब्राह्मण को सबसे अधिक दंड दिया जाय। परंतु एक उच्च जाति का मनुष्य किसी नीच जाति के प्रति जब व्यक्तिगत अपराध करे, तब उसे जो दंड कौटिल्य ने बताया है, वह (जहाँ तक मैंने देखा है) नीच जाति के द्वारा उसी उच्च जाति के प्रति किए गए व्यक्तिगत अपराध से सदैव कम रहा है। बस, यही बात मैंने "अर्थात् ब्राह्मण सर्वोपरि थे। उनकी निंदा करने पर सबसे अधिक दंड होता, और वे यदि दूसरों की निंदा करें, तो उन्हें सबसे कम दंड दिया जाता था", इस कथन में कहा है। यदि श्री० उदयवीरजी अपनी ही व्याख्या के अनुसार उक्त दो सूत्रों में बताए दंड-विधान पर दृष्टिपात करते, तो यह बात स्पष्ट हो जाती। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण यदि चांडाल की निंदा करता, तो उसे केवल दो पण दंड देना होता, पर यदि चांडाल ब्राह्मण की निंदा करता उसका १२ पण जुर्माना होता था। क्या इससे मेरा कथन स्पष्ट नहीं होता। कहीं का कथन कहीं अन्य स्थान में लागू करने से अनर्थ हुआ ही करते हैं। इसलिये इस विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। 'प्रकृत्यपवादे' मेरी भूल नहीं है। छोटी-सी बात पर विशेष ज़ोर देना अनुचित है। प्रेस से कुछ कम भूलें नहीं हुआ करतीं। श्री० उदयवीरजी को भी इस बात का अनुभव होगा।

"निष्पतितप्रेमव्यसनिनायोधाता मूल्यं भजेत" के अर्थ के विषय में अब मुझे यही कहना है कि आपका अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं जान पड़ा। आपने जब बड़ा लंबा-चौड़ा उदाहरण देकर अपना अर्थ स्पष्ट कर दिया, तब मुझे भी कहना होगा कि आपके और मेरे अर्थ में कोई भेद नहीं रहा।

"औपशायिक" शब्द के अर्थ के विषय में मुझे यह कहना है कि अब भी मुझे अपना ही अर्थ ठीक मालूम होता है। आपने अपनी पुस्तक में इसका अर्थ दिया है "प्रथम शयन काल में"। पर अपने उत्तर में आपने प्रत्यक्ष नहीं पर अप्रत्यक्ष यह अवश्य मान लिया है कि उसका अर्थ "उपशयन-संबंधी" है। मेरे अर्थ में जो 'पुरुष' शब्द आया है, वह केवल पुरुष-जाति के अर्थ में नहीं, पर 'मनुष्य' के अर्थ में है। यदि आप 'पुरुष' के स्थान में मनुष्य (पुरुष या स्त्री) लिख लें, तो मेरे अर्थ में कोई दोष नहीं रह जाता। जल्दी के कारण मनुष्य के स्थान में 'पुरुष' लिखा गया है। पर उससे मेरा भाव नहीं बदलता। क्योंकि थोड़ी ही दूर पर 'कन्या' और 'वर' के दोषों का विचार किया गया है। 'प्रथम शयन-काल' का आपका क्या अर्थ है, यह मैं नहीं जान सकता। इसका अर्थ यदि है 'प्रथम रात्रि के सहवास के बाद ही', तो मेरा कहना यह है कि इतने शीघ्र पुरुष या स्त्री को परस्पर के शारीरिक दोष मालूम होना संभव नहीं है। और यह बात आपने भी आगे चलकर मान ली है। फिर 'प्रथम शयन-काल' का क्या विशेष अर्थ है यह, आप ही बतावें। मैं तो अब भी "औपशायिक" का अर्थ करूँगा "दूसरे किसी (पुरुष या स्त्री) के साथ सहवास करने के संबंध का"। यह स्पष्ट ही है कि जिस किसी (स्त्री या पुरुष) को उपदंशादि व्याधियाँ होंगी, वे मनुष्य पवित्राचरण के नहीं हो सकते। इसलिये यह स्पष्ट है कि मेरे अर्थ में उपदंशादि व्याधियाँ होने के दोष भी शामिल हैं।

'सुप्तमत्तप्रव्रजने भर्तुरदाने च द्वारस्य द्वादशपणः। रात्रौ निष्कासने द्विगुणः' के आपके अर्थ पर मैंने जो आक्षेप किया था, वह आपका विवेचन पढ़ने पर भी मुझे ठीक जँचता है। 'सुप्तमत्तप्रव्रजने' का स्पष्टीकरण आपने किया है 'स्त्रियाः सुप्ते मत्ते च भर्तरि प्रव्रजने सति गृहाद् बहिः'। आपने अपने इस स्पष्टीकरण का भाषा में अर्थ दिया है 'भर्त्ता के सोए हुए और मत्त होते हुए, स्त्री के बाहर चले जाने पर।' संस्कृत में आपने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह तो बहुत कुछ ठीक है। मैं केवल यही बात और चाहता हूँ कि 'सुप्ते मत्ते च प्रव्रजने' के पहले 'भर्तुः' शब्द लिख दिया जाता। 'भर्तुः' का आपने 'भर्तरि' क्यों किया यह तो आप ही जानें। मुझे इसका कारण कहीं नहीं देख पड़ता। पर आपसे मैं यह पूछता हूँ कि आपके संस्कृत-विग्रह का उपर्युक्त भाषार्थ कैसे होता है? भाषा में दिए आपके अर्थ में तो 'प्रव्रजने' का कहीं पता ही नहीं है, क्योंकि 'स्त्रियाः......गृहाद्बहिः' आपने जोड़ ही दिया है और इन शब्दों के जोड़ने के संबंध में मेरा कोई झगड़ा है नहीं। उलटा मैं ही आपसे पूछना चाहता हूँ कि यहाँ तो आपने ये शब्द जोड़ दिए हैं और आगे चलकर मुझसे जो आपने पूछा है कि—"'बाहर जाय' यह अर्थ किस पद का किया", वह कहाँ तक संगत है। आप भी स्त्री के जाने के संबंध का ही अर्थ करते हैं और मैं भी। आपने 'गृहाद्बहिः' जोड़ा है और मैंने 'बाहर जाय' जोड़ा है। फिर आपका प्रश्न कैसे उत्पन्न होता है, यह मैं नहीं समझ सकता। हाँ, मैं आपसे पूछ सकता हूँ कि भाषा में अर्थ देते समय 'प्रव्रजने' को आपने कहाँ भगा दिया? यदि आपके विग्रह में 'प्रव्रजने' और 'गृहाद्बहिः' दोनों हैं, तो 'प्रव्रजने' का संबंध किससे है? यदि 'भर्तुः' से है, तो फिर मैंने जो "पति के......घर पर न रहने पर" वाला अर्थ किया, वह कैसे भ्रांत हो सकता है? यदि 'प्रव्रजने' का संबंध 'स्त्रियाः' से जोड़ा जाय, तो दो आक्षेप उत्पन्न होते हैं। पहला आक्षेप व्याकरण-संबंधी है। एक ही समास के तीन शब्दों में से दो शब्द 'भर्तरि' के साथ संबद्ध किए जायँ और तीसरा शब्द 'स्त्रियाः' के साथ जोड़ा जाय, यह किस 'व्याकरण-प्रक्रिया' के अनुसार संभव है? शास्त्रीजी यदि यह बतलाने की कृपा करते कि ऐसा विचित्र समास भी संस्कृत में संभव है, तो बड़ी कृपा होती। दूसरी बात यह है कि फिर जो 'गृहाद्बहिः' शब्द आपने पूर्वापर संबंध से अध्याहृत किए हैं, वे कहाँ भगा दिए जायँ। अध्याहृत करने पर उनका भी अर्थ करना ही होगा। पर आपने अपनी भाषा-टीका में उनका पता नहीं रक्खा है। सारांश, स्त्री के साथ 'प्रव्रजने' और 'गृहाद्बहिः' दोनों नहीं जुड़ सकते। एक तो भी निरर्थक हो जाता है।

'च' के अर्थ पर आपने आक्षेप करने का जो प्रयत्न किया है, वह तो मेरी समझ में आया ही नहीं। आपका आक्षेप क्या है, यही जब स्पष्ट नहीं, तो उत्तर क्या दिया जाय? हाँ, मैं अब भी यही कहता हूँ कि 'च' का अर्थ 'और' ही है और वही उक्त स्थान पर लागू होता है। पति के सोए रहने पर या उसके उन्मत्त रहने पर या घर पर उसके न रहने पर द्वार को खुला छोड़ जाना हानिकारक है और इसलिये अनुचित है। इसीलिये स्त्री दंडनीय है। मेरे अर्थ के अनुसार उक्त सूत्र का अन्वय स्पष्ट और सरल है—'भर्तुः सुप्ते मत्ते प्रव्रजने सति द्वारस्य अदाने च द्वादशपणः'। मैंने तो 'ग़ौर' से देखा, पर 'च' का अर्थ 'और' मुझे अब तक नहीं खटकता? आपको वह कैसे खटकता है, इसे स्पष्ट करते, तो ठीक होता।

अब रहा 'द्वारस्य अदाने' के अर्थ का प्रश्न। आप फ़रमाते हैं कि "द्वार" पद के साथ 'दा' धातु का प्रयोग खोलने के अर्थ में आता है।" मैं स्पष्ट स्वीकार करता हूँ कि मुझे यह प्रयोग ज्ञात नहीं। हाँ, मैं यह जानता हूँ कि 'दान' का अर्थ 'देना' होता है और साधारण प्रयोग में दरवाज़ा लगाने को 'दरवाज़ा देना' भी कहते हैं। 'दरवाज़ा दे दो' यानी 'दरवाज़ा लगा दो'। यहाँ पर 'दान' का निषेध है। इसीलिये मैंने 'द्वारस्य अदाने' का अर्थ किया है 'दरवाज़ा खुला छोड़कर'। इसमें मैं कुछ भी अनुचित नहीं समझता। यदि आपका अर्थ स्वीकृत कर लिया जाय, तो यही कहना होगा कि पतिमहाराज कौटिल्य-काल में ऐसे अत्याचारी स्वामी बन बैठे थे कि यदि उनकी 'इच्छा के विरुद्ध दरवाज़ा बंद कर दिया जाय, तो पत्नी का १२ पण दंड होना चाहिए'। उस समय स्त्री की इच्छा अथवा आवश्यकता की कोई क़ीमत न थी! शास्त्रीजी, मेरी अल्प मति में आपका अर्थ पूर्णतया अग्राह्य है। आप यदि न्याय से काम लेते, तो आपको मेरा अर्थ स्वीकार करना पड़ता; क्योंकि पति के सोए रहने पर या मत्त होने पर या घर में न रहने पर घर का दरवाज़ा खुला छोड़कर बाहर जाना वास्तव में अनुचित है। मेरे कथन का यही अर्थ है। आप ही ज़रा 'ग़ौर' से देखिए कि इस अर्थ में अधिक औचित्य है अथवा आपके अर्थ में। अब रहा 'निष्कासन' का अर्थ। आप स्वयं स्वीकार करते हैं कि उपर्युक्त दो सूत्रों में स्त्री के बाहर जाने के विषय में ही विवेचन है। इधर तो आप कहते हैं कि पति की इच्छा के विरुद्ध दरवाज़ा बंद कर लेने पर स्त्री का बारह पण दंड हो और उधर आप कहते हैं कि 'यदि कोई स्त्री अपने पति को रात्रि में घर नहीं आने देती, अर्थात् उसको घर से बाहर निकाले रखती है, तो उस स्त्री को २४ पण दंड दिया जावे'। आपके कथनों में कितनी भारी असंगति है! जिस पति महाराज की इच्छा के विरुद्ध घर का दरवाज़ा भी बंद कर लेना घोर अपराध है, उस स्वामी को कौन स्त्री 'बाहर निकाले रख' सकती है? फिर मैं पूछता हूँ कि ऐसी कितनी स्त्रियाँ समाज में ऐसी भारी धृष्टता करेंगी? इससे क्या यह बेहतर नहीं कि 'निष्कासने' का अर्थ पूर्वापर संबंध से 'बाहर जाने पर' किया जाय? मेरे पास इस समय और कोई कोष तो है नहीं, केवल आपटे-कृत बड़ा संस्कृत-अँगरेज़ी-कोष है। उसमें 'निष्कासन' का अर्थ 'बाहर निकालना' और 'बाहर निकलना' (यानी बाहर जाना) दोनों दिया है। प्रसंग देखकर यदि अर्थ किया जाय, तो उक्त स्थान में बाहर निकलने (यानी बाहर जाने) का ही अर्थ उचित जान पड़ता है। इसलिये मैं भी अब पाठकों से कह सकता हूँ कि किसके अर्थ में भूलें हैं, यह आप स्वयं देख लें।

मैं समझता हूँ कि मैंने आपके सब आक्षेपों का उत्तर संक्षेप में दे दिया। खेद इसी बात का है कि आपका और मेरा समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ। आप कदाचित् यह समझे बैठे हैं कि हमारी (यानी स्वयं निज की) टीका में कोई दोष नहीं है, और कोई उसमें दोष निकालता है, तो वह अत्यंत धृष्टता करता है। इस पर मेरा नम्र निवेदन है कि (और यह बात मैं अपनी उल्लिखित आलोचनात्मक पुस्तक की प्रस्तावना में स्वीकार कर चुका हूँ कि) कोई कैसा भी उद्भट विद्वान् क्यों न हो, वह 'कौटिलीय अर्थशास्त्र'-जैसे कठिन ग्रंथ का प्रत्येक स्थान में ठीक-ठीक अर्थ नहीं कर सकता। 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के न्याय से ही इस ग्रंथ का अर्थ ज्ञात होगा। इस पर कदाचित् शास्त्रीजी कहें कि जब आप 'वाद' करने को तैयार ही हैं, तब 'कालव्यय' की शिकायत क्यों करते हैं। इस पर मेरा यह कहना है कि जब वाद करनेवाला बिना उचित युक्ति के अपने अर्थ का समर्थन करता है, तब वाद से कोई लाभ नहीं होता। समया-

भाव के कारण मैंने आपके आक्षेपों का संक्षिप्त उत्तर ही दिया है। अन्यथा, मैं भी आपकी जैसी लंबी-चौड़ी बातें लिखता, तो अनेक पृष्ठ रँग जाते। पर इससे काम ही क्या? मुझ-जैसे अल्पज्ञ जब आपके अथवा शाम शास्त्री के अर्थ में भूलें निकालते हैं, तब धृष्टता तो अवश्य देख पड़ती है। पर जहाँ कहीं मैंने ऐसा किया है, वहाँ पर खूब सोच-विचार के बाद ही। मैं अपनी जवाबदेही खूब समझता हूँ, क्योंकि मैं टीकाकार के नाते नहीं किंतु इतिहास-विवेचक के नाते संसार के सामने अपना कथन रखना चाहता हूँ। इसी दृष्टि से मैंने 'कौटिलीय अर्थ-शास्त्र-मीमांसा-प्रथमखंड—कौटिल्य की शासन'व्यवस्था—नामक आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाशित की, और अब भी कौटिल्य-काल की भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति का विवेचन समयानुसार करता हूँ। मैं यह अपने लेखों में स्वीकार कर चुका हूँ कि यथास्थान शाम शास्त्रीजी की टीका का तथा आपकी टीका का मैं उपयोग करता आ रहा हूँ। पर जहाँ कहीं मेरा किसी से मतभेद होता है, वहाँ मैं अपना भिन्न मत देकर संक्षेप में अपने भिन्न मत के कारण भी दे देता हूँ। हाँ, यह काम मैं विस्तारपूर्वक नहीं कर सकता, क्योंकि मैं कह ही चुका हूँ कि टीका लिखने का मेरा उद्देश्य नहीं है; मेरा उद्देश्य है ऐतिहासिक विवेचन करने का। संभव है कि इसके बाद भी आपके अर्थों से मतभेद प्रकट करने का अवसर मुझे प्राप्त हो। जब-जब आप यह मतभेद देखें, तब अपमान से उत्तेजित न होकर शांतता से विचार करें और मेरे मतभेदों पर फिर आक्षेप करें। भूलें होना स्वाभाविक है और मैं दावे से कभी नहीं कह सकता कि मेरे सभी अर्थ ठीक ही रहेंगे। जो ऐसा समझता होगा, उसे मैं 'प्रतिनिविष्ट......' के वर्ग में रख सकता हूँ। यह न भूलना चाहिए कि 'पिण्डे पिण्डे मतिर्भिन्ना' होती है। यह लेखक यह दिखला चुका है कि डाक्टर फ़्लीट-जैसे विद्वान् भी भूलें कर सकते हैं। क्या अब तक पुराने विद्वानों की अर्थ की भूलें नए विद्वान् दिखला नहीं रहे हैं? अर्थ की भूलें स्वीकार करने में कोई मानहानि नहीं होती। श्री० उदयवीरशास्त्रीजी ही क्यों बिगड़ बैठे, यह उन्हें क्या सूझा? मैं नम्रतापूर्वक यही कह सकता हूँ कि यदि आपके आक्षेपों में कुछ सार रहा, तब तो मैं उत्तर लिखूँगा, अन्यथा मैं अपने समय का व्यय नहीं करूँगा। चिढ़कर व्यर्थ ही सामयिक पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ रँगना मुझे ठीक नहीं मालूम होता। हाँ, युक्ति-युक्त वाद हो, तो उसमें मैं दिल खोलकर शामिल हो सकता हूँ। हठवाद का कोई उत्तर नहीं होता।

गोपाल-दामोदर तामस्कर

ओ बटोही !

आँधी है उस पार उठ रही, लौट चली गोधूली;
श्रांत पथिक! आगे मत जाओ, राह तुम्हारी भूली।
भरा सकोरे में जल है, लो, पी लो, प्यास मिटा लो;
दम ले लो, बैठो आसन पर, खा लो कुछ फलमूली।

जाओगे! मेरे प्राणों में क्रन्दन उमड़ पड़ेगा;
मैं तो अब खोई-सी हूँ, काँटे-सा नयन गड़ेगा।
आया झोंका एक, खड़े हो निर्मोही! क्यों बाहर;
इस टूटी कुटिया में आओ देव! तुम्हारा ही घर।

हुआ एक युग, मैं भी भटकी ही हूँ, रात अँधेरी;
बिजली चमक रही है, छाती धड़क रही है मेरी।
यहाँ घोर इस विजन विपिन में हम-तुम, हाँ, बस दो ही;
आज हृदय की तृषा बुझाओ, मेरे श्याम बटोही।

सत्यव्रत शर्मा 'सुजन'

आल्हखण्ड की नर्मदा

श्रीयुत वासुदेवप्रसादजी मिश्र का 'आल्हखण्ड का माड़ौ' शीर्षक लेख वैशाख की माधुरी में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मिश्रजी ने अपने इस लेख में माँडव (धार-स्टेट) को आल्हखण्ड का माड़ौ सिद्ध किया है। मिश्रजी के इस कथन में तो कोई संदेह नहीं कर सकता कि आल्हखण्ड का माड़ौ यही माँडव है; परंतु यही माँडव है, इस कथन की पुष्टि में जो दलीलें मिश्रजी ने दी हैं, उनमें से माँडव की स्थिति और आल्हखण्ड की नर्मदा के विषय में अवश्य कुछ विवाद है। अतः मैं अपनी शंका, उनकी पुष्टि और अपने विचार पाठकों के सम्मुख उपस्थित करके आशा करता हूँ कि मिश्रजी भी मेरे इस कथन पर उचित विचार करेंगे।

(१) मिश्रजी ने माँडव को मालवा, गुजरात और मारवाड़ की सीमा पर बतलाया है, परंतु माँडव से रतलाम और नीमच तक उत्तर की ओर तथा झाबुआ और मोहद तक उत्तर-पश्चिम की ओर कहीं मारवाड़ की सीमा का पता नहीं है। यदि मारवाड़ की सीमा माँडव तक बताई जायगी, तो तमाम नक़्शों की कायापलट हो जायगी। मैंने जो स्थान बताए हैं, वे माँडव से ५०-६० मील से ज्यादा ही दूर हैं, कम नहीं। मारवाड़ का सीमा अजमेर से उत्तर की ओर है। अजमेर मेरवाड़ा कहलाता है और मेरवाड़े के दक्षिण-ओर मेवाड़ है। मेवाड़ और मालवे का सीमा अवश्य मिलती है, परंतु मेवाड़ और माँडव की नहीं। नीमच (मालवा) मेवाड़ की सीमा से लगा हुआ है और नीमच माँडव से १५० मील दूर है। ऐसी स्थिति में माँडव को मारवाड़ की सीमा पर बतलाना असङ्गत है।

मेवाड़-प्रदेश नया है, यह बात भी नहीं है; क्योंकि आल्हखण्ड के समय में ही पृथ्वीराज चौहान की सहायता के लिये रावल समरसी इसी प्रदेश से मुहम्मद ग़ोरी से युद्ध करने के लिये गए थे।

माँडव नीमाड़ और मालवे की सीमा पर अवश्य है। गुजरात की सीमा भी माँडव से उतनी ही दूर है, जितनी दूर मेवाड़ की सीमा। माँडव विन्ध्याचल-पर्वत की घाटियों पर है और यही घाटियाँ मालवा और नीमाड़ को पृथक् करती हैं। पश्चिम की ओर नीमाड़ और मालवा गुजरात की सीमा तक साथ-साथ चले गए हैं।

(२) आल्हखण्ड में माड़ा जाने के लिये नर्मदा उतरना बताया है। मिश्रजी ने भी इस कथन से यह अनुमान किया है कि नर्मदा खलघाट के पास उतरे होंगे। परन्तु आल्हखण्ड का कथन और मिश्रजी का अनुमान दोनों ही असंगत है; क्योंकि नर्मदा माँडव से दक्षिण है, तथा सिरउँज और महोबा, दोनों ही नर्मदा नदी के उत्तर हैं। ऐसी दशा में महोबा और सिरउँज से माँडव जाने के लिये नर्मदा क्यों उतरनी पड़ी, इसका कारण ज्ञात नहीं होता। मिश्रजी के अनुमानानुसार यदि यह माना जाय कि माँडव आने के लिये ऊदल आदि नर्मदा खलघाट में उतरे होंगे, तो नर्मदा के दक्षिण

किनारे जाने के लिये भी कहीं नर्मदा एक वक्त और अवश्य उतरनी पड़ी होगी। परंतु नर्मदा के दक्षिण-किनारे अब भी बेहद जंगल है। ऐसी दशा में उस समय कितना जंगल रहा होगा, यह अनुमान से जाना जा सकता है। अकारण ही ऐसे जंगल में होकर फ़ौज को लाना और दो वक़्त नर्मदा उतरना असंभव ज्ञात होता है। यदि यह कहा जाय कि वे नर्मदा के पूर्वी सिरे से निकलकर दक्षिण-किनारे आए, तो यह भी उचित नहीं जँचता; क्योंकि सिरउँज से या महोबे से नर्मदा का सिरा पार करने के लिये और पूर्व की ओर जाना होगा, और फिर उस जंगल में होकर आना होगा, जिसमें होकर आना-जाना आज भी असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है।

माँडव के समय में उज्जैन, धारा आदि नगर उन्नत दशा में थे। मिश्रजी ने भी अपने लेख में इन नगरों को राजधानी बताया है। ऐसी दशा में महोबे या सिरउँज से उज्जैन और धारा होकर माँड़ौ जाने के बदले नर्मदा के पूर्वी सिरे को लाँघकर तथा विकट जंगल में होकर नर्मदा को फिर पार करने का कोई कारण न था। इन बातों पर विचार करने से यह सिद्ध है कि नर्मदा-नदी पार ही नहीं की गई। अब प्रश्न होता है कि आल्हखण्ड में इसका ऐसा वर्णन किया गया है। इसके लिये केवल इतना ही उत्तर पर्याप्त है कि यह वर्णन करनेवालों की वैसी ही अत्युक्ति है, जैसी तलवार आदि से बबुरीबन को काटने की बात। आल्हखण्ड में लिखी हुई प्रत्येक बात सही है, यह कोई नहीं मान सकता। केवल इस अत्युक्तिपूर्ण वर्णन से यह अनुमान कर लेना कि खलघाट में नर्मदा पार की गई होगी, संगत नहीं है।

मिश्रजी ने यह भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ऊदल ने जिस कोल्हू में जंबे को पेरा था और जिस बरगद में उसकी खोपड़ी टाँगी थी, वे अब तक मौजूद हैं। परंतु यह चेष्टा व्यर्थ है। जिस तरह उस जगह बरगद का पुराना पेड़ है, उसी तरह माँडव के पुराने हाथीख़ाने में भी बरगद का बहुत पुराना पेड़ है। बल्कि इस बरगद के विषय में तो यह किंवदंती भी प्रसिद्ध है कि जस्सराज की खोपड़ी इसी पर टँगी थी।

मिश्रजी ने धरमपुरी के विषय में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है, अतः धरमपुरी के विषय में भी यहाँ कुछ लिखना असङ्गत न होगा।

धरमपुरी माँडव से १६ मील दक्षिण की ओर नर्मदा-नदी के उत्तरीय किनारे पर है। नर्मदा-नदी यहाँ पर दो धाराओं में फट गई है और बीच में कुछ ज़मीन छोड़ गई है जो अनुमानतः ७-८ वर्गमील होगी। इस छूटी हुई ज़मीन को वहाँवाले बेट कहते हैं। इस बेट में बिल्वामृतेश्वर महादेव का मंदिर है, जिसकी पाण्डवों द्वारा स्थापना बतलाई जाती है।

धरमपुरी से पूर्व की ओर एक मील पर नागेश्वर महादेव का मंदिर है। मंदिर तो कुछ उल्लेखनीय नहीं है; परंतु वहाँ के लिये यह किंवदन्ती है कि इस मंदिर के ऊपर नित्य चिराग़ जलाया जाता था, जिसे भानमती रानी रूपमती के महल के ऊपर से देखकर नित्य नर्मदा-दर्शन के प्रण को निभाती थी। अनुमान यह होता है कि यहाँ पर चिराग़ जलाकर माँडव के दुर्गरक्षकों को यह सूचित किया जाता रहा होगा कि इस समय तक कुशल है, अर्थात् कोई आशंका नहीं है।

धरमपुरी-गाँव में एक व्यंकटविहारी महादेव

का मंदिर है, जो चारों ओर पुख़्ता चहारदीवारी से घिरा हुआ है। चहारदीवारी के भीतर एक पुख़्ता सुरंग का दरवाज़ा है। लोगों का कहना है कि यह सुरंग माँडव से आई है। संभव है, यह ठीक भी हो और माँडव के दुर्ग से निकलने के लिये यह गुप्त मार्ग इस प्रकार मंदिर के अंदर सुरक्षित रक्खा गया हो।

धरमपुरी में बौद्धों की मूर्तियाँ और विहार भी हैं, जो टूटे-फूटे होकर भी अपनी प्राचीनता का परिचय देते हैं।

इन सब बातों से यह अनुमान होता है कि माँडव के उन्नत समय में धरमपुरी भी एक अच्छा क़स्बा रहा होगा।

शंकरप्रसाद दीक्षित

अथर्ववेद

कुछ पाश्चात्य वैदिक साहित्य-समालोचकों का तथा उनके मत से प्रभावित अनेक भारतीय विद्वानों का मत है कि—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ये प्राचीन वेद हैं। अथर्ववेद उनकी अपेक्षा नवीन है; क्योंकि प्राचीन ग्रंथों में उक्त तीन वेदों का ही वर्णन है तथा उनके लिये 'त्रयी' शब्द का व्यवहार है, अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उक्त वेद-त्रय का ही वर्णन आया है।

"ऋग्भिः प्रातर्दिविदेवरुदयते यजुर्वेदेन तिष्ठति मध्येऽह्नः सामवेदेनास्तमेति वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्य्य इति"

छांदोग्य-ब्राह्मण में भी 'वेद-त्रयी' का ही उल्लेख है। "अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्। स एतां त्रयीं विद्यामभ्यगमत्"। नारायण-उपनिषद् में भी 'त्रयी' का ही वर्णन है—"सैषा विद्या त्रयी तपतीति"। अतः स्पष्ट है कि उदाहृत ग्रंथों के समय में अथर्ववेद नहीं बना था।

मनु ने भी निम्न-लिखित श्लोक में अग्नि, वायु और रवि से यथाक्रम ऋग्, यजु और साम के ही आविर्भाव का वर्णन किया है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्;
दुदोह यज्ञ-सिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।

तथा 'दशावरा' और 'अवरा' परिषद् में वेद-त्रय के ज्ञाताओं को ही रक्खा है, एवं गुरुकुल में ३६ वर्ष के ही ब्रह्मचर्य-व्रत (ऋग्यजुःसामात्मक वेद-त्रय के प्रत्येक वेद के अनुसार बारह-बारह वर्ष) का नियम किया है—"षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्"।

इन श्लोकों से ज्ञात होता है कि मनुकाल में भी अथर्ववेद की सत्ता न थी।

पर भारतीय वेदज्ञ विद्वानों में 'अथर्ववेद नवीन है' ऐसा विचार नहीं उठा है। हाँ, पश्चिमी विद्वानों ने 'त्रयी' शब्द का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद जैसे समझा है, उसी तरह कुछ भारतीय विद्वानों ने भी समझकर अथर्ववेद के प्रामाण्य होने में संदेह किया है, जिसका निराकरण जयंत-भट्ट* आदि विद्वानों ने किया है। वस्तुतः 'त्रयी' या 'त्रय' का अर्थ ऋग्संहिता, यजुःसंहिता और सामसंहिता नहीं है, अपितु गद्य-पद्य-गानात्मक त्रिविध रचनामयी आप्त-वाणी है। उसे ही वेद, श्रुति और आम्नाय कहते हैं। पद्य का नाम ऋक्, गद्य का नाम यजु और गान का नाम साम है। महर्षि जैमिनि

* जयंत भट्ट का समय ठीक-ठीक नहीं मालूम है। पर यह वाचस्पति मिश्र और बाण भट्ट से नवीन हैं। इन्हीं ने 'न्याय-मञ्जरी'-नामक ग्रन्थ लिखा है। अथर्ववेद पर उसमें तीन निबंध हैं—

१. अथर्ववेद का प्रामाण्य।
२. अथर्ववेद त्रयी के अंतर्गत है।
३. अथर्ववेद अन्य वेदों की अपेक्षा प्राचीन है।

मीमांसा-दर्शन में लिखते हैं कि छन्दःशास्त्र के अनुसार जिनमें पाद-व्यवस्था है, उनकी ऋक् संज्ञा है; जो मंत्र गाए जाते हैं, उनको साम और जो मंत्र न पादबद्ध हैं और न गाए जाते हैं, उनको यजुष् कहते हैं ।

तेषामृग्यत्र्थर्ववशेन पाद-व्यवस्था—मीमांसादर्श० द्वितीयाध्याय प्रथम पाद ३५ सू०

गीतिषु समाख्या ,, ३६ सू०

शेषे यजुःशब्दः ,, ,,

'त्रयी' पद से चारों वेदों का ग्रहण होता है । जहाँ-जहाँ 'त्रयी' पद आया है, वहाँ 'अथर्ववेद' को भी ग्रहण करना चाहिए ।

सर्वानुक्रमणी वृत्तिकार ने भी चारों वेदों में ऋग्-यजुःसाम रूप से त्रिविध मंत्र दिखलाए हैं—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये
अहिर्बुध्नीयमन्त्रं मे गोपायेत्यभिधीयते
ऋक् पादबद्धा गीतं तु साम गद्यं यजुर्मन्त्रः
चतुर्ष्वपि हि वेदेषु त्रिधैव विनियुज्यते

एशियाटिक सोसायटी के प्रसिद्ध वेद-व्याख्याता स्वर्गीय सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन में ('कोऽयं वेदः' नामक लेख में) इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है कि—वास्तव में वेद एक ही है। वह त्रिविध रचना के कारण 'त्रयी' नाम से प्रसिद्ध होने पर भी चार संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद) में विभक्त है । ऋक् लक्षणवाले मंत्र चारों संहिताओं में यद्यपि वर्तमान हैं, तथापि जिस ग्रंथ में ऋक् लक्षणवाले (पद्यात्मक) मंत्रों का बाहुल्य है और यजुर्लक्षणवाले मंत्रों की न्यूनता है, उसे ऋक्-संहिता कहते हैं। इसी प्रकार तीनों संहिताओं में यजुर्लक्षणवाले (गद्यात्मक) मंत्रों के होने पर भी जिस ग्रंथ में गद्य का (यजुर्लक्षणवाले मंत्रों) का आधिक्य है तथा मात्राओं का गद्यत्वेन पाठ और विनियोग है, उसे यजुःसंहिता कहते हैं । अतएव अध्वर्यु ब्राह्मण की भूमिका में सायणाचार्य ने कहा है कि—अध्वर्यु वेद में (यजुर्वेद में) ऋचाओं के होने पर भी उसकी 'यजुर्वेद' ही संज्ञा है; क्योंकि उसमें यजु का (गद्य) आधिक्य है। इसी प्रकार साम-संहिता में यजु (गद्य) और ऋचाओं के होने पर भी गान के अधिक होने से सामवेद नाम पड़ा।

रचनाओं (गद्य-पद्य-गीत) के आधार पर तीन संहिताओं का नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद पड़ा। चतुर्थ संहिता (अथर्व संहिता) का नाम विभागकर्ता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अथर्व-नामक ऋषि यज्ञ-प्रक्रिया के प्रकाशक हुए हैं। उन्होंने अध्वर्यु, उद्गाता, होता, और ब्रह्मा, इनके कार्यों की सुगमता के लिये यजुर्वेद, सामवेद, ऋग्वेद और अथर्ववेद का विभाग किया है। यजुर्वेद में अध्वर्यु-व्यवहार्य मन्त्र, सामवेद में उद्गातृ-व्यवहार्य मन्त्र, ऋग्वेद में होतृव्यवहार्य मन्त्र और अथर्ववेद में ब्रह्म-व्यवहार्य मन्त्र हैं। अथर्ववेद 'त्रयी' के अंतर्गत है। यह सामश्रमी का मत कपोल-कल्पित नहीं है। सामश्रमी से कई शताब्दी पूर्व न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट ने लिखा है कि अथर्ववेद त्रय्यात्मक ही है, क्योंकि उसमें ऋचा, यजु और साम ये तीनों हैं (अथर्ववेदस्तु त्रय्यात्मक एव तत्र हि ऋचो यजूंषि सामानि च त्रीण्यपि सन्ति तेन ब्रह्मत्वं क्रियमाणं त्रय्या कृतं भवति) ।

'अग्निवायुरविभ्यस्तु' इस मनु के श्लोक में भी त्रय-पद से अथर्ववेद को ले लेना चाहिए। मनु-काल में 'अथर्ववेद की सत्ता न थी'—यह मत समग्र मनुस्मृति के अनध्याय का ही परिचायक है। मनु स्वयं अथर्ववेद का उल्लेख करते हैं—

श्रुतीरथर्वाङ्गिरसीः कुर्यादित्यविचारयन् ।
वाक्शास्त्रं वै ब्राह्मणस्य तेन हन्यादरीन् द्विजः ॥
—अ० ११ श्लोक ३३

मंत्र-भागात्मक वेदों के पश्चात् उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रंथ बने हैं। यह खोज पश्चिमी विद्वानों ने ही की है। जब उनमें समानरूप से चारों वेदों का वर्णन है, तब अथर्ववेद अर्वाचीन है, यह किस आधार पर स्वीकार कर लिया जाय ?

सामश्रमीजी ने निम्नलिखित श्रुतियाँ इसके प्रमाण में दी हैं—

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते—ऋ० सं० १६. ४. ५.
अग्निर्जातो अथर्वणा—ऋ० ७. ७. ४. ५
त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत—इत्यादि

उपनिषद् और ब्राह्मण-ग्रंथों में अथर्ववेद का वर्णन है। उदाहरण के लिये कुछ प्रमाण दिए जाते हैं—

"ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणश्चतुर्थम्"

—छान्दोग्य

"सोऽयमाथर्वणो वेदः"—शतपथ ब्राह्मण, प्रकरण १३ प्रपाठक ३, कण्डिका ७

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते दक्षिणामाहुर्यजुषां साम्नामुत्तराम्। अथर्वणामङ्गिरसां प्रतीची महती दिगुच्यते इति।

—तैत्तिरीय ब्रा० भा० प्रपाठक, अ० १०

अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा—ब्रह्मोपनिषद्

यह निर्विवाद सिद्ध है कि वेदों का आविर्भाव यज्ञार्थ ही हुआ है। यज्ञ विना ब्रह्मा के नहीं हो सकता है और ब्रह्मा * अथर्ववेदी ही होता है। अथर्ववेद यदि नवीन है, तो अथर्ववेद से प्रथम यज्ञ-कार्य कैसे होता था?

जयंत भट्ट ने चारों वेदों में अथर्ववेद को ही प्राचीन माना है। उन्होंने लिखा है कि—अथर्ववेद से ही 'प्रणव' की उत्पत्ति हुई है। प्रमाण में निम्नलिखित श्रुति पेश की है—

ब्रह्म हवा इदमग्र आसीदित्युपक्रम्याथर्वणं वेदमभ्याश्राम्यदभ्यतपत्सन्मपत्रस्माच्छ्रान्तसन्तप्तादोमिति मनः एवोर्ध्वमक्षरमुदक्रामद।

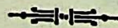
श्रुति का आशय है कि प्रथम ब्रह्म था। उसने तप किया और अथर्ववेद का अभ्यास किया। शांत संतप्त ब्रह्म से ही 'प्रणव' की उत्पत्ति हुई। जयंत भट्ट ने अथर्ववेद से ही महाव्याहृतियों के उत्थान को भी माना है। मनु, याज्ञवल्क्य, शंख, व्यास आदि सभी महर्षियों ने तीनों संहिताओं की ही भाँति 'अथर्ववेद' को भी प्रामाणिक माना है।

वैदिक सभ्यता संसार की सभी सभ्यताओं से प्राचीन है। वह किसी समय संसार-व्यापिनी थी। यदि किसी विदेशी भाषा में वैदिक शब्द मिलते हैं, तो उससे यह कल्पना न करनी चाहिए कि वेद किसी दूसरे देश से आए हैं। उससे यही समझना चाहिए कि ये शब्द वैदिक-भाषा के ही बचे-खुचे शब्द हैं।

रामसेवक पांडेय

* प्रजापतिर्यज्ञमकरोत् स ऋचैव होममकरोत् यजुषाध्वर्यवम्, साम्नोद्गात्रम् अथर्वाङ्गिरोभिः ब्रह्मत्वम्।—गो० ब्राह्मण

मादक

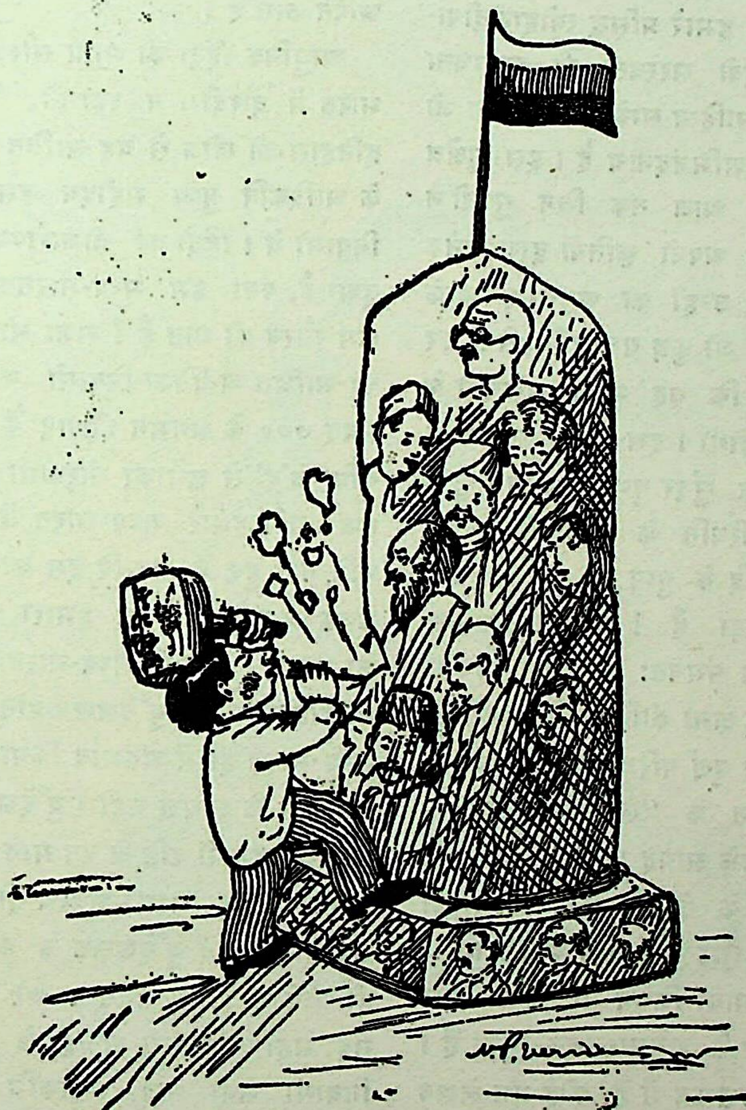


पिलाकर आसव किधर गया?
खो देने को, खो जाने को आँखों उतर गया!
मद से मद उसको लेना था,
पटुता का परिचय देना था,
उस अशान्त को देख शान्त मद हँस-हँस बिखर गया!
जीवन में कौतुक भरने को,
मादकता सार्थक करने को,
माना—पी ली, किन्तु मुदित कर मादक किधर गया?

नीरस मद, हत मादकता है,
दर्शक विन रस वञ्चकता है,
हाय! मुकुर-मन हो मुकरी-सो पल में मुकर गया!
अब न पिलाने वह आएगा,
मूक हृदय लख इठलाएगा,
वाणी को वाचाल और आकुल कर अधर गया!

दुर्गादत्त त्रिपाठी

राष्ट्रीय स्तंभ पर दमन-हथौड़े की चोट



मध्य-भारत के हिंदी-कवि

"काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्"

इस सुप्रसिद्ध सुभाषित के अनुसार मध्य-भारत-हिंदी-साहित्य-समिति ने हमारे प्रसिद्ध त्योहार-दीपावली के शुभ अवसर पर देवी सरस्वती की आराधना करने के प्रीत्यर्थ प्रांतीय साहित्य-सम्मेलन करने का जो प्रयत्न किया है, वह सर्वथा अभिनंदनीय है। इस सुक्षेत्र में प्राचीन काल से लगाकर आज तक जिन सुपूतों ने माता सरस्वती के चरणों में अपनी कृतियों द्वारा अनेक सुंदर पुष्प चढ़ाए हैं और उन्हीं का अनुकरण करके वर्तमान मध्य-भारतीय भी जो कुछ यथाशक्ति सेवा कर रहे हैं, कहना नहीं होगा कि वह माता सरस्वती के दरबार में अवश्य ही रुजू होगी। इस प्राचीन उद्यान में जहाँ पहले उत्तान सुगंधयुक्त सुंदर पुष्प विकसित हुए, वहीं पर यदि अब परिस्थिति के प्रभाव के कारण कन्हेर, झेंडू, करसैला आदि के पुष्प ही क्यों न हों, वह उद्यान सूना तो नहीं पड़ा है! यहाँ पर सम्मिलित सरस्वती देवी के सपूत संभवतः मेरी इस उपमा को पसंद नहीं करेंगे। किंतु क्षमा कीजिए, जो कुछ कहा जाता है, वह परिस्थिति का पूर्ण परिचय करने के अनंतर ही। समिति ने मध्य-भारत के "लेखक और कवि"-नामक निबंध लिखने का मुझे साग्रह अनुरोध किया है, किंतु वर्तमान मध्य-भारत के लेखकों की कृतियों की आलोचना करना मेरे लिये छोटे मुँह बड़ी बात होगी। इस समय मध्य-भारत के प्रायः जितने भी लेखक और कवि हैं, वे प्रसिद्ध लोकोक्ति के अनुसार 'बन चुके' हैं। कोई राजनीतिक चर्चा के उलझन में हैं, कोई ग्रंथ-लेखन की फ़ैक्टरियों के मालिक बन बैठे हैं, और कोई नाम कमाने को काम करना जानते हैं। माता की सेवा करने की जिनमें सच्ची लगन है, वे किसी एक ही विषय को अपनाकर यथासाध्य उसे पूर्ण करने की चेष्टा करते रहते हैं। हमारे मध्य-भारत में ऐसे भी सज्जन हैं, जो सर्वथा सम्माननीय हैं। कभी-कभी आलोचना करना पारस्परिक व्यवहार के लिये घातक होता है। कहीं उसमें किसी को द्वेष टपकता दिखाई देता है, कहीं आत्मश्लाघा। अतः हम उस उलझन में न पड़कर प्राचीन खँडहरों के सौरभयुक्त पुराने पुष्पों का पराग ही साहित्य-मधुकरों को अर्पित करते हैं।

आधुनिक हिंदी की माता सौरसेनी का चाहे मध्य-भारत में दौरदौरा न रहा हो, किंतु हिंदी-साहित्य के इतिहास की खोज से यह साबित हो चुका है कि हिंदी के आदिकवि पुष्य महोदय हमारे मध्य-भारत ही के निवासी थे। हिंदी का बीजारोपण मध्य-भारत ही में हुआ है, क्या हम मध्य-भारतवासियों के लिये यह कम गौरव की बात है? राजा भोज के पूर्वज राजा मान का आश्रित अवंतिका-निवासी कविवर पुंड्र उर्फ़ पुष्प संवत् ७७० के लगभग हो गए हैं। उनके अनंतर महाकवि "चंद" से लगाकर गोस्वामी तुलसीदासजी के समय तक यद्यपि हमारे मध्य-भारत में कोई विशेष प्रसिद्ध कवि नहीं हुए हैं, तथापि इस काल की जो कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है, उससे हमारा प्रांत ख़ाली नहीं कहा जा सकता। वर्तमान मध्य-भारत की राजकीय व्याख्या की दृष्टि से यद्यपि बुँदेलखंड-प्रांत का भी हमारे प्रांत मध्य-भारत ही में अंतर्भाव किया गया है, तथापि हम इस बात के क़ायल नहीं। बुँदेलखंड एक स्वतंत्र प्रांत है। हाँ, हमारी दृष्टि से वर्तमान मध्य-प्रदेश तथा राजपूताने का कुछ भाग अवश्य ही मध्य-भारत कहा जा सकता है। यदि बुँदेलखंड के कवि भी मध्य-भारतीय ही माने जायँ, तो संवत् १०७९ के कालिंजर-नरेश राजानंद, महोबा-निवासी आल्हा के प्रणेता जगनिक, रीवाँ-निवासी सेना नाई, महाकवि केशवदास आदि की कृतियों के कारण हमारा मध्य-भारत हिंदी-साहित्य के इतिहास में विशेष स्थान प्राप्त करेगा। किंतु पराङ्मुख होने की अपेक्षा स्वकष्टार्जित पर ही संतोष करना नीति-युक्त है। अतः हम केवल मध्य-भारत के ही कवियों का गुणगान करेंगे।

मध्य-भारत में खोज करने से हमें स्थान-स्थान पर जो अपूर्व ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई, उसमें अप्रसिद्ध हिंदी-कवियों की रचना विशेष महत्त्वपूर्ण

यौवन



हैं। विगत दस-बारह वर्षों में हम यथासंभव विभिन्न सामयिक पत्रों द्वारा उन्हें प्रकाशित भी करते रहे हैं। मध्य-भारत की ऐतिहासिक खोज में हमें कुछ ऐसी भी कविता प्राप्त हुई, जो परप्रांतीय होने पर भी हमारे प्रांत में सुरक्षित रही और उसको हिंदी-साहित्य के इतिहास में स्थान प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार हमारे मध्य-भारतीय कवियों की कृतियाँ परप्रांतों में भी उपलब्ध हुई हैं। मराठा-राज्य का मध्य-भारत में विस्तार होने के कारण स्वभावतः ही हिंदी-सभ्यता का प्रभाव महाराष्ट्रियों पर भी पड़ा। इसी से महाराष्ट्रियों ने भी पुराने ज़माने से लगाकर आज तक हिंदी की सेवा करने की परम्परा क़ायम रक्खी है। अतः कहना नहीं होगा कि उक्त सभी प्रकार के साहित्य-सेवियों की कृतियों का परिचय इस निबंध के द्वारा कराना हमारा परम कर्तव्य है। हमारे सम्मान्य मित्र ख्यातनामा हिंदी-सेवी श्रीयुत गणेशविहारी मिश्र महोदय के विशेष आग्रह से यह सब सामग्री हिंदी-साहित्य के इतिहास के परिशोधित संस्करण में युक्त कर दी गई है, जिसके शीघ्र ही प्रकाशित होने से प्राचीन साहित्य-क्षेत्र में मध्य-भारत को भी स्थान प्राप्त होने का अवसर मिलेगा। अस्तु।

हिंदी के आदिकवि पुष्य के मध्य-भारत-निवासी होने का हम पीछे उल्लेख कर चुके हैं। शोक की बात है कि उनके अनंतर चौदहवीं शताब्दी तक की कोई ऐतिहासिक हिंदी-सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। हाँ, भाषा के विकास की दृष्टि से कुछ शिलालेख और सनदें अवश्य ही महत्त्वपूर्ण हैं, पर पुष्य के अनंतर का कवि कोई प्राप्त नहीं हुआ। मध्य-भारत के दूसरे कवि, जो इस समय की खोज से सबसे पुराने हैं, विष्णुदास थे जो ग्वालियर के महाराज डूँगरसिंहजी के आश्रित थे। ग्वालियर-क़िले पर जो विशाल मूर्तियाँ और चट्टानों पर खुदा हुआ शिल्प मौजूद है, वह महाराज डूँगर-सिंहजी के राजत्वकाल ही का है। विष्णुदासजी का समय संवत् १४९२ निश्चित है। इनके दो ग्रंथ—स्वर्गारोहणपर्व और महाभारत-कथा—प्राप्त हुए हैं।

(३) आसकरणदास—यह नरवर-नरेश राजा भीमसिंह के पुत्र थे। इनका समय संवत् १६०६ है। इनके बहुत-से स्फुट पद पाए जाते हैं। इन्हीं महाराज के वंशज छत्रसिंह, रामसिंह आदि राजाओं के ग्रंथ हमें प्राप्त हुए हैं, जिनका उल्लेख यथासमय किया जायगा।

(४) रामदास—इनका समय संवत् १६०७ है। यह अच्छे गवैए और कवि थे, और बादशाह अकबर के दरबार में रहते थे।

(५) तानसेन—भारतवर्ष में विरला ही मनुष्य होगा, जिसने तानसेन का नाम न सुना हो। गायन-विद्या के द्वारा हिंदी-भाषा का गुण-गान तथा प्रचार जितना तानसेनजी ने तथा उनके पदों ने किया, उतना सौभाग्य अन्य किसी को नहीं प्राप्त हुआ। इनके ग्रंथ संगीत-सार और राग-माला प्रसिद्ध हैं। इनका समय संवत् १६१७ निश्चित है। महाकवि सूरदासजी ने तानसेन के विषय में कहा है—

विधना यह जिय जानि कै, सेसहिं दिए न कान।
धरा मेरु सब डोलते, तानसेन की तान॥

यह कहावत अक्षरशः सत्य है। कवियों के गुण-गायक के नाते—

तानसेन की तान अभी तक, आत सुनाती।
जित-तित हिंदी-भाषा का गुण-गान गँवाती॥

हमारे इस कथन पर भी आशा है कि किसी का मत-भेद न होगा।

(६) श्रीगोविंद स्वामी—यह ग्वालियर के निकटस्थ आंतरी-नामक स्थान के निवासी थे और वल्लभ-सम्प्रदाय के स्वामी विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। इनका समय संवत् १६२३ निश्चित है। इनकी कविता बड़ी मनोहारिणी है, इसी से अष्टछाप में भी उसे स्थान मिला है। यथा—

प्रात समय उठि जसुमति जननी, गिरधर सुत को उबटि नहावति।
करि शृंगार बसन भूषण सजि, फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥

× × ×

लै दर्पन देखै श्रीमुख को गोविंद प्रभुचरणन सिर नावति॥

(७) खड्गसेन—यह जाति के कायस्थ ग्वालियर के निवासी थे। इनके ग्रंथ दानलीला और दीपमालिका प्राप्त हुए हैं। रचना-काल संवत् १६८९ है। सुप्रसिद्ध ग्रंथ नाभा-दासजी के भक्तमाल की टीका में संभवतः इन्हीं भक्त कवि खड्गसेनजी का वर्णन दिया है।

(८) कनकप्रभ सूरि—यह नरवर के निवासी थे।

इनका लिखा हुआ हिंदी-गद्य-पद्य-युक्त वैद्यक ग्रंथ हमें मिला है। ग्रंथ-रचनाकाल संवत् १५३० है।

(६) हरिनामजी—इस कवि का संवत् १५५८ का गीता-ज्ञान-प्रकाश-नामक एक ग्रंथ हमें मिला है, जिसमें गीता की विविध छंदों में टीका लिखी हुई है। यह उज्जैन के निवासी थे।

यह हुई सोलहवीं शताब्दी की बात।

(१०) सत्रहवीं शताब्दी में नासिकेत-कथा के लेखक जयचंद्र, वैद्यमनोत्सव के लेखक नैनसुख, भक्तप्रिया के लेखक अनंत, भारत-इतिहास-सार के लेखक लालदास, संकटचौथ के लेखक शुक्रजी, वृंदावनशतक तथा बाल-बिहारी के रचयिता रसिकजी, ढोला-मारू की कथा के लेखक चैतराम (१६७३) तथा ग्वालियर के महाकवि सुंदर, जो बादशाह शाहजहाँ के आश्रित थे, मध्य-भारत के मुख्य कवि हैं। इनके ग्रंथ तथा स्फुट कविता हमारे संग्रह में मौजूद है। इन कवियों में रसिकजी तथा सुंदरजी विशेष प्रतिभा के कवि और हिंदी-साहित्य के इतिहास में आदरणीय कहे जा सकते हैं। रसिकजी की कविता का नमूना लीजिए—

रूपसुधा आसो पिये, कछु सम्हार नहिं अंग।
जाकी छकि सी फिरति सब, बाल बिहारी संग॥
झुकत चलत लत नवल तल, चकित कोमल अंग।
ताते कर सों कर गहे, बाल बिहारी संग॥

तथा महाकवि सुंदर ने—

नगरु आगरो बसत जहँ, जमुना तट सुभ थान।
तहँ बादसाही करे, सुंदर साहिजहाँन॥
× × ×
प्रथम दियो कबिराज पद, बहुरि महा कबिराय॥
बिप्र ग्वालियर नगर को, बासी है कबिराज।
जासों साहि मया करे, सदा गरीबनेवाज॥

महाकवि सुंदर के ग्वालियर के वंशजों से हमें सुंदर शृंगार, बारहमासा के अतिरिक्त कुछ स्फुट कविता भी मिली है।

अठारहवीं शताब्दी में मध्य-भारत के कवियों में छंदमाल - रचयिता केशवराय, छंदशास्त्र - रचयिता गोविंददास, मदनमोहन, ब्रह्मविलास के रचयिता भगवतीदास, अध्यात्मप्रकाश के रचयिता सुखदेव, नासिकेत के रचयिता जगन्नाथ, कोकशास्त्र के रचयिता इंद्रजीत, लालदास, प्रेमरत्नाकर के रचयिता देवीकवि, कविवर बिहारीदासजी, विष्णु, भगवानदास निरंजनी, सुखदेव, विक्रमविलास के रचयिता गंगेश मिश्र (१७३१), करुणा-नाटक के रचयिता लक्ष्मीराम (१७६१), वीरेश्वर, भागीरथ, विक्रमचरित्र के लेखक जिनचंद्र (१७२४), उपाहरण के लेखक महाराज हरिसिंह (१७०५), माधवदास, माधव, रामचंद्र, परिमल, केशवानंद, देवीसिंह, गोपालसिंह, हेमराज, स्वरूपानंद, जगत्सिंह, ढोला-मारू के रचयिता पूरण (१७७२), मधु-मालती और मैनासतकोप्रसंग के लेखक गोवर्धन, वेश्या प्रवीणराय ये मुख्य हैं। इन कवियों में ग्वालियर के निवासी बिहारीलालजी के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हिंदी-साहित्य में उनका नाम अमर है। महाराज हरिसिंह और देवीसिंह की कृतियाँ राजकवि के नाते प्रशंसनीय हैं। कविवर देवी ने महाराज गोपालसिंह करौली-नरेश के लिये "प्रेमरत्नाकर"-नामक एक अनूठे ग्रंथ की रचना की है, जिसमें वर्णित प्रेम की मीमांसा देखने ही योग्य है। अन्य-अन्य रचनाएँ और उनके रचयिता भी हिंदी-साहित्य के इतिहास में अंकित करने योग्य हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी में तो मध्य-भारत के हिंदी-कवियों की संख्या विपुल रूप में दिखाई देती है और उनकी बड़ी लंबी-चौड़ी सूची यहाँ दी जा सकती है। उन कवियों के ग्रंथ हमारे संग्रह में हैं और उनके विस्तृत नोट्स भी लिखे जा चुके हैं। कोलारस-निवासी फतहसिंह ने आधुनिक अकाउंट्स और कारस्पौंडेंस अर्थात् सरकारी दफ़्तरों में हिसाब-किताब और पत्र-व्यवहार करने की जो प्रणाली थी, उसका वर्णन अपने दफ़्तर-नामे में किया है। रतनेश का कान्ताभूषण शृंगार-शास्त्र का अच्छा ग्रंथ है। नरवर के कछवाहा-नरेश महाराज रामसिंह स्वयं कवि थे और कवियों के बड़े आश्रयदाता थे। महाराज का लिखा हुआ "जुगुलविलास" ग्रंथ हमें मिला है और इनके आश्रित राम कवि का रस-भेद, हरि कवि की रसमंजरी, नैनसुख की रावनवलसिंह की बारहखड़ी आदि कृतियाँ भी प्राप्त हुई हैं। ग्वालियर के कवि खड्गसेन हमारे हिंदी के कल्हण कहे जा सकते हैं। इनका लिखा "गोपाचल-आख्यान"-नामक ग्रंथ अनूठा है। उसमें ग्वालियर-क़िले की नींव पड़ने

के समय से, संवत् १८४० में महाराज महादजी के ग्वालियर-दुर्ग जीतने तक का वर्णन अर्थात् लगभग २००० वर्ष तक की घटनाएँ, अनेक राजवंशों और पुरुषों का वर्णन, अल्तमश की चढ़ाई के समय के जौहर का वर्णन किया है। जगन्नाथ का हरदौल-चरित्र, बख्तावर का "रामविनोद", महेश कवि का हमीरहठ-काव्य, हरि की राजनीति, बारहट नरहरिदास का "रामायण महाभुक्ति मार्ग", जगत्सिंह का रसविलास, लालमणि का रस-प्रकाश, दीनदयाल का बुधजनसतसैया, शिव कवि का दौलत-बागविलास, ऐन कवि की कुंडलियाँ और हाजी कवि का हाजीवलीनामा, नवाब ईस्वीख़ाँ की बिहारी-सतसई की टीका (जो नरवर-नरेश छत्रसिंह के आज्ञानुसार बनी), केवलकिशन की फिरंगी की लड़ाई, मदनगोपाल की रासपंचाध्यायी, जिनदास का नामकोष, पद्माकर का "आलीजाहप्रकाश" विशेष उल्लेखनीय हैं। मन्नू कवि का यशवंतराव होलकर का वीररसात्मक वर्णन—

इतना जाकर कहो फिरंगी, क्यों तेरी शामत आई।
यशवंतराव हुलकर के मरते, अंग्रेजों की बन आई॥

अनूठा है, तथा—

महाराज को खबरा पहुँची जा बकरी में नाहार पड़ा।
गपागप जब भाले मारे, फिरंगी का सिर फोड़ा॥
वाह वाजी यशवंतराव, बहादर सवाई डंका बजा दिया।
मंदसौर से मारा, फिरंगी जा जमुना के पार किया॥

नामक हरिवाला कवि का रचा हुआ गीत ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इस शताब्दी में मराठों का मध्य-भारत में प्रभाव स्थापित हो चुका था। हर्ष की बात है कि कई मराठे महाराजा तथा साधुओं की भी हिंदी-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। यहाँ पर यह बात बतलाना भी आवश्यक है कि कई हिंदी-कवि मराठा राजा-महाराजाओं के भी आश्रित थे।

अरी बँसुरिया बाँस की, छलि तप कीन्यों कौन।
उन अधरन लागी रहै, हम चाहति हैं नौन॥

जैसी महाराज महादजी शिंदे की मधुर हिंदी-कविता इन पंक्तियों के लेखक द्वारा प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके पुत्र महाराज दौलतराव, दत्तनाथ उज्जैनवाले, महाराज यशवंतराव के गुरु महिपतिनाथ (टोबी बुवा), समर्थ रामदासजी के शिष्य कल्याण स्वामी के वंशज, ग्वालियर-निवासी लक्ष्मण महाराज, महाभारती, बाल-कृष्ण बुवा केशव आदि महाराष्ट्रीय साधुओं की बहुत-सी रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं। गुलाब कवि आंतरी-निवासी के कन्हैयारायसो और खंडेरावरायसो प्रकाशित हो जाने पर हिंदी में वीर-रस की अच्छी वृद्धि होगी। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भारत के हिंदी-कवियों ने शिक्षा, समाज, धर्म, राजनीति और साहित्य के प्रायः सभी अंगों और उपांगों पर रचना की है, जो निस्संदेह प्रशंसनीय है। स्थानाभाव के कारण प्रत्येक कवि की कृति और उनके नाम का परिचय इस छोटे-से निबंध के द्वारा कराना असंभव है।

बीसवीं शताब्दी में यद्यपि साहित्य की दिशा पलटी और अँगरेज़ी सभ्यता के प्रभाव के कारण पद्य और गद्य-रचना में ख़ासा परिवर्तन हो गया, तथापि इस शताब्दी के आरंभिक दिनों में तो पुराने ढर्रे की रचना भी हुई है। नरसिंह मेहता के रचयिता मीरादास, कमलावती की कहानी के लेखक रामाजी दादा, वशिष्ठसार के रचयिता वासुदेव, वैद्यराज के रचयिता जनार्दन भट्ट, स्फुट काव्य के रचयिता रामचंद्र, सुखलाल, हीरालाल आदि कवि उल्लेखनीय हैं। पुराने और नए लेखकों की प्रणाली की सीमा पर मालवे के कवि, ग्रामीण-नाट्य उर्फ़ माच के जन्मदाता, बालमुकुंदजी हुए। यद्यपि उनकी रचना नगण्य है, तो भी भाषा का प्रचार करने और प्राचीन उपाख्यानों को आधुनिक स्वरूप में लोगों के सामने रखने में उन्होंने ख़ासा काम किया है। आधुनिक लेखकों में ग्वालियर के मेरे सम्माननीय मित्र स्वर्गीय गणपति जानकीराम दुबे हिंदी के बड़े हितैषी थे। आपके लिखे "जीवन के आनंद", "सरल गीता", "मनोविज्ञान" आदि ग्रंथ और निबंध विशेष उल्लेखनीय हैं। ठा० सूर्यकुमार वर्मा की भी कई अनुवादित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। स्व० निहालचंद्रजी गौड़ ने इंजीनियरिंग पर दो पुस्तकें लिखकर हिंदी के उस विषय को भी अछूता नहीं छोड़ा। मुंशी चतुरबिहारीलालजी की हिंदी-पाठ्य-पुस्तकें, श्रीयुत रघुनाथ बलवंत भागवतजी के छोटे-मोटे ग्रंथ, श्रीगंगाधरजी जोशी की पुस्तिकाएँ तथा उनके पिता के भूगोल आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। 'जयाजी प्रताप' के संपादक के नाते लाला रामचंद्र गुप्त तथा मुंशी रामस्वरूप माथुर भी हिंदी-प्रेमी हैं। प्रताप जैसे उत्कृष्ट पत्र को जन्म देने का श्रेय

ग्वालियरी गणेशशंकरजी विद्यार्थी को है। केशवरामजी जोशी की 'अहिल्याबाई की जीवनी' मनोरंजन ग्रंथ-माला काशी में प्रकाशित हो चुकी है। पंडित प्राणनाथ साहब रायबहादुर भी अच्छे लेखक हैं और लाला रामजीदास वैश्य के "काँटों में फूल", "धोखे की टट्टी" उत्कृष्ट उपन्यास कहे जा सकते हैं। उज्जैन के परशुराम कृष्णजी वैद्य और इतिहासज्ञ ठा० कन्हैयालालजी के लेख भी प्रकाशित हो चुके हैं। आगर के गणेशदत्त शर्मा जी ने लगभग एक दर्जन छोटी-बड़ी क़िताबें लिखी हैं।

पं० सिद्धनाथजी आगर के ही निवासी हैं। आपने दैनिक देशबन्धु तथा साप्ताहिक कर्मवीर के द्वारा मध्य-भारत की अच्छी सेवा की है। यदि सिद्धनाथजी स्थायी साहित्य-रचना की ओर भी ध्यान दें, तो उनकी योग्यता को देखते हुए आशातीत रूप में वह सफल होंगे। पंडित हरिभाउजी उपाध्याय हिन्दी नवजीवन तथा मालवमयूर के द्वारा ख्याति पा चुके हैं। आपको भी साहित्य-सेवा की पूरी धुन है और निस्संदेह योग्य और कर्म-तत्पर हैं।

बाबू शंकरलालजी वर्मा प्रणवीर, तरुण राजस्थान आदि के द्वारा हिंदी-साहित्य-सेवियों की पंक्ति में प्रविष्ट हो चुके हैं। ग्वालियर-राज्य की वर्तमान पाठ्य-पुस्तकों की रचना के कारण पं० ज्वालादत्तजी जोशी येन केन प्रकारेण मध्य-भारत के दो लेखकों में सम्मिलित हो गए हैं। प्रताप और प्रभा के संपादक और हिंदी के उच्च कोटि के कवि के नाते श्रीयुत नवीन उर्फ़ बालकृष्ण शर्मा जी भी हमारे ग्वालियर की ही उपज हैं। अमर और सुदर्शन के भूतपूर्व तथा विद्या के वर्तमान संपादक गोपीवल्लभजी मालवीय ही हैं। महन्त लक्ष्मणाचार्यजी की हिन्दी सरस कविताएँ तथा गौरीशंकरजी शुक्ल के ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। इंदौर के स्व० शिवचंदजी भरतिया प्रतिष्ठित लेखकों में से थे। आपके विचार-दर्शन आदि ग्रंथ अनूठे हैं। श्रीयुत द्वारकाप्रसादजी सेवक ने इंदौर में रहकर नवजीवन पत्र तथा ग्रंथ के द्वारा हिंदी की अच्छी सेवा की है। सुखसम्पतिरायजी तथा उनके अनुज चंद्रराज भंडारी भी ग्रंथ-लेखन का कार्य कर रहे हैं। सूरजमलजी जैन भी हिन्दी के अच्छे लेखक हैं। प्रयागनारायणजी संगम, विष्णुप्रसाद शर्मा भी, बिल्लौरेजी आदि स्फुट लेखक और कवियों ने भी हिन्दी के द्वारा यथा[शक्ति] सेवा की है। इंदौर के महाराष्ट्रीय विद्वान् सरवटे महाशय भी हिंदी के लेखक हैं। हमारे डाक्टर सरजूप्रसा[द] साहब की हिंदी-हितैषिता तो मध्य-भारत के हिंदी [के] इतिहास में कभी भूली नहीं जा सकती। धार [के] नंदकिशोरजी दुबे भी साहित्य-सेवी हैं, तथा महाराष्ट्री[य] होने पर भी अपने 'मार्तंड' साप्ताहिक पत्र के द्वारा हमारे मित्र शंकररावजी ओक हिंदी-प्रचार का ख़ास प्रयत्न कर रहे हैं।

सारंगपुर से भी गौड़-हितैषी पत्र निकला था, जो अब मालवमयूर में सम्मिलित हो गया है। अस्तु।

उक्त उल्लिखित मध्य-भारत के आधुनिक हिंदी-सेवियों के अतिरिक्त और भी कुछ स्फुट लेखक और कवि मध्य-भारत में मौजूद हैं; किंतु अभी उन्होंने कोई विशे[ष] स्थान हिंदी-साहित्य-संसार में नहीं प्राप्त किया है। अस्तु।

उक्त विवरण से पाठकों को ज्ञात हो जायगा कि कहाँ हमारे मध्य-भारत का प्राचीन उज्ज्वल हिंदी-साहित्य और कहाँ वर्तमान साहित्य की दशा! पाठक एक बार चित्र भी देखें और एक यह चित्र भी। अवश्य ही आप तरस खाएँगे और हमारे आरंभिक उद्‌गारों की यथार्थ पुष्टि भी करेंगे। आधुनिक काल में मध्य-भारत में केवल ग्वालियर ही ने आंशिक रूप में हिंदी की प्राचीन परंपरा क़ायम रक्खी है। समाचारपत्र और मासिक पत्रों के संपादक, स्वतंत्र ग्रंथ-लेखक और अनुवादक, कवि, आत्मश्लाघा का ख़याल न करते हुए मैं दावे के साथ कह सकता हूँ, हमारे ग्वालियर ही ने मध्य-भारत को प्रदान किए हैं; पर साथ ही अन्य स्थान के साहित्य-सेवियों की सेवा भी कदापि उपेक्षणीय नहीं है। आशा है, हमारे मध्य-भारतीय साहित्य-सेवी बन्धु भविष्य में विशेषरूपेण माता सरस्वती की सेवा करके हिंदी-साहित्य के इतिहास में मध्य-भारत के लिये विशेष स्थान रिज़र्व कराने की चेष्टा करेंगे।

अन्त में मध्य-भारत-हिंदी-साहित्य-समिति के द्वारा स्थायी साहित्य के रूप में हमारे प्राचीन साहित्य को प्रकाशित करने के प्रीत्यर्थ एकआध ग्रंथमाला तथा साहित्य-चर्चा के प्रचार के लिये एकआध त्रैमासिक प्रकाशित करने की सूचना करता हुआ मैं इस निबंध को समाप्त करता हूँ।

भास्कर रामचन्द्र भालेराव

महाशक्ति !

(१)

काट दे कृपाण से कराली वैरियों का शीश,
कपटी, कुचालियों को खाक में मिला दे तू ।
दंभी, दगाबाजों का मिटा दे नाम अम्बे ! शीघ्र,
सज्जनों को "सेवक" सुमन-सा खिला दे तू ।
रेजे-रेजे कर दे कलेजे कुविचारियों के,
भाग्य से कृपा का वर भक्त को दिला दे तू ।
क्रूर औ कृतघ्नियों को काल के हवाले कर,
सच्चे प्रेमपात्रों को पियूष माँ ! पिला दे तू ।

(२)

काले-हृदयों में धर दे तू कालकूट आज,
और कालिमा को माँ ! समूल छार कर दे ।
साहस-अजेय, शक्ति-विजय-अखंड देके—
"सेवक"—सुयश को दिगंत में तू भर दे ।
न्यायदंड लेके, न्याय कर दे हमारा शीघ्र,
गृद्ध को मसान, हंस को तू मानसर दे ।
मेरे शत्रुओं को काट-काट के कलेवा कर,
सुजन-सनेहियों को कर तू अमर दे ।

रामसेवक त्रिपाठी

कृतघ्नता

फूली थी वन-वाटिका, नित उसे तेरा रहा आसरा ;
तो भी रे मदमत्त कुंजर ! अरे, तूने न सोचा ज़रा ।
मायावी ! भरशक्ति भक्षक बना उन्माद में लीन हो ;
पौधे मूल—समूल नाश करके—खाके हुआ पीन यों ।
छोटे-से अँकुए अशक्त तक को तूने, कृतघ्नी, दला ;
तो भी है जगदीश की कुछ कृपा तेरा किया क्या चला।

वे ही अंकुर आज वृक्ष बनके हैं व्योम को चूमते ;
तू क्या है—कितने अनेक तुझ-से तृष्णा लिए घूमते।
आशा का यह पिंड किंतु नत हो ज्योंही गिरेगा सखे !
ये शाखामृग वन्य जंतु, फिर भी, प्रेमार्द्र होके सखे .
डालेंगे झट शीश और शव पै—तेरे न पाए हुए—
पुष्पों की प्रिय अंजली समुद हो छाती लगाए हुए ।

मातादीन शुक्ल

नृसिंह-नाद

(१)

पीछे हटने का नाम लेना समझूँगा पाप,
मन में सभी के शुद्धि भक्ति को जगाऊँगा।
गाऊँगा सदैव गुण-गान भव्य-भारती के,
संगर में साहस अजेय दिखलाऊँगा।
लाऊँगा तड़ाक तोड़ तारे आसमाँ से और—
शंकर-सुरेश के भी आसन हिलाऊँगा।
लाऊँगा नवीन-युग विश्व में "प्रताप कवि"
होके विजयी, मैं बाजे जय के बजाऊँगा।

(२)

तप्त होके त्याग-अग्नि में ही ये सुवर्ण-प्रेम-
खरा निकलेगा; शोभा अपनी बढ़ाऊँगा।
ढाऊँगा महान अभिमान अपकारियों का,
प्रण को "प्रताप" प्राण रहते निभाऊँगा।
भाऊँगा सभी को, यश अपना अमर होगा,
सर होगा समर, वो लगन लगाऊँगा।
गाऊँगा अनंत-आदि-शक्ति के गुणानुवाद,
मंजु-मुक्ति पाके, मुक्ति-मूर्ति बन जाऊँगा।

कुमार प्रतापनारायण





महाकवि सूरदास और गोस्वामी तुलसीदास

(तुलनात्मक समालोचना)

(१)

दृढबद्धौ भवाब्धौ यद् गाथासेतू सुविस्तरौ ।
तुलसी सूरदासौ च वन्दे तौ पुरुषोत्तमौ ॥

सूर्यास्त के बाद चंद्रदेव अपनी किरणों से जगत् को शीतल करते हैं, सूर और तुलसी भी साहित्याकाश के सूर्य-चंद्र हैं; पर उनके उदय का क्रम सूर्य-चंद्र से भिन्न है—इन दोनों सूर्य-चंद्रों का उदय एक साथ ही हुआ था। साहित्याकाश में इन चंद्र-सूर्य का प्रताप लौकिक चंद्र-सूर्य से कुछ कम नहीं है।

"सूर सूर तुलसी शशी" वाला दोहा बहुत काल से प्रसिद्ध है और आज तक लोग इस तुलना को यथार्थ मानते हैं। हम भी यह मानते हैं कि हिंदी-जगत् के लिये ये दोनों महाकवि चंद्र-सूर के समान हैं। पर हमारी समझ में नहीं आता कि किसको सूर्य कहें और किसको चंद्र। उक्त दोहाकार ने, मालूम नहीं, किस कारण से सूरदास को सूर्य और तुलसीदास को चंद्र की उपमा दी थी। शायद "सूर" और "सूर" शब्दों में समता होना भी इसका एक कारण है। प्रखरता सूर्य का और सरसता चंद्र का प्रधान गुण है। इन गुणों के अनुसार यदि हम जाँच करें, तो क्या सूरदास में सरसता का अभाव है?

हमारी क्षुद्र बुद्धि से तो यह उपमा पूर्णरूप से उपयुक्त नहीं है। हम समझते हैं कि प्रताप और प्रभाव की दृष्टि से दोनों ही कवि सूर्य के समान और सरसता और सुशीलता की दृष्टि से दोनों ही चंद्र के समान हैं। अतः हम केवल यही कह सकते हैं कि सूर और तुलसी हमारे सूर्य-चंद्र हैं।

सूर्य-चंद्र कहने में गुरुता-लघुता या छुटाई-बड़ाई का भी ख़याल होता है। इसी दृष्टि से बहुत-से लोग तुलसीदास को सूरदास से नीचा स्थान देते हैं। इस विषय पर कुछ सम्मति देने के लिये हम अपने को सर्वथा अनुपयुक्त समझते हैं। दो महाकवियों में से एक को छोटा और दूसरे को बड़ा कहना हम अपने अधिकार से बाहर की बात समझते हैं। हमारी बुद्धि दोनों महात्माओं की प्रतिभा पर इतनी मुग्ध है कि वह बड़ाई-छुटाई का अनुमान ही नहीं कर सकती। हम यहाँ दोनों कवियों की विशेषताएँ बताकर उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से देखने का प्रयत्न करेंगे। हम पहले दोनों महात्माओं के जीवन के विषय में कुछ विचार करेंगे।

इन दोनों ही भक्तों का स्थिति-काल लगभग एक-सा ही है (सूर० १५४५-१६४२ तथा तुलसी० १५८६-१६८० वि०)। ये सम-सामयिक थे। जिस समय की आवश्यकता ने सूरदास को जन्म दिया, उसी ने तुलसीदास को उत्पन्न किया। दोनों का जन्म एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिया हुआ था। उत्तर-भारत में भक्ति का स्रोत बहाना ही दोनों का जीवनोद्देश्य था। इस व्रत को इन्होंने अपनी कविता-सरिता से पूर्ण किया। एक ने राम-रस की सरिता बहाई, दूसरे ने कृष्ण-भक्ति का नद।

दोनों भक्तराजों के स्थान भी समीप ही थे और उनका समय-समय मिलन भी होता रहता था। इनके मिलन के विषय में कई तरह की कथाएँ प्रचलित हैं, जिनके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं।

तुलसीदास की कई जीवन-घटनाएँ ऐसी हैं, जो सूरदास की जीवन-घटनाओं से मिलती-जुलती हैं। जो कथाएँ तुलसीदास के विषय में सुनी जाती हैं, उन्हीं के साथ सूरदास का भी संबंध जोड़ा जाता है। स्त्री की आसक्ति में मुर्दे को नाव बनाना, साँप को डोरी समझना आदि ऐसी ही कथाएँ हैं, जो दोनों के विषय में कही जाती हैं।

यदि कथाएँ छोड़ भी दी जायँ, तो भी यह निश्चय ही है कि दोनों का जीवन भक्त जीवन था। भक्ति-तल्लीनता ही दोनों भक्तों की विशेषता है। इसका परिचय दोनों की कविता से मिलेगा।

दूसरी बड़ी भारी समता यह है कि ये लोग जितने बड़े भक्त थे, उतने ही ऊँचे कवि भी थे। यहाँ तक कि हिंदी में इन दोनों की समता का कोई दूसरा कवि नहीं।

अपने-अपने इष्टदेव की भक्ति में दोनों ही मन-प्राण से तल्लीन थे। अपने हृदय-सम्राट् की लीला आदि के वर्णन ही में सूरदास ने सूरसागर-सरीखे बृहत् ग्रंथ की रचना कर डाली और तुलसीदासजी ने भी अपने सभी ग्रंथों को राममय बना डाला।

भक्ति

अपने इष्टदेव के प्रति अनन्यता होते हुए भी ये भक्तगण दूसरे देवों के द्वेषी न थे, विशेषकर राम और कृष्ण को ये महात्मागण एक ही समझते थे। तुलसीदास ने अपने इष्टदेव के अतिरिक्त श्रीकृष्ण की लीलाओं का भी गान किया है और सूरदास ने अपने बालगोपाल की विस्तृत गाथा गाते हुए राम-चरित्र का भी वर्णन किया है। उन्होंने राम शब्द को अनेक बार ईश्वर के अर्थ में व्यवहृत किया है।

चरित-नायक

दोनों ही के चरित-नायक परब्रह्म के अवतार थे। उनके मनुष्य-चरित्र-वर्णन करते हुए भी उनके ईश्वरत्व का बराबर स्मरण रक्खा गया है और पाठकों को इसकी याद बनाए रखने के लिये इसी बात पर बार-बार ज़ोर दिया गया है।

इस पर मिश्रबंधु कहते हैं—

"गोस्वामीजी को ईश्वरत्व प्रदर्शित करने का बड़ा शौक़ था, पर दुर्भाग्यवश उनके नायक राम ने ऐसा बहुत ही कम किया है। इधर सूरदासजी को इसका वर्णन बिलकुल नहीं रुचता था, पर श्रीकृष्णचंद्र का यह शौक़ बहुत चढ़ा-बढ़ा था और जब देखिए तभी वे अपना ईश्वरत्व दिखलाया ही करते थे।" (हि० न०, पृ० ४५)

हमारी समझ में श्रीराम और कृष्ण दोनों ने अपना ईश्वरत्व छिपाकर रक्खा था, क्योंकि उन्हें मनुष्य-चरित्र करना था (हाँ, कभी-कभी अवसर पड़ने पर वे उसे अवश्य प्रकट करते थे); पर उनके भक्त कवि तुलसी और सूर ने इस ख़याल से कि कहीं मनुष्य-चरित्र में लोग उनके ईश्वरत्व को भूल न जायँ, बार-बार इस बात का स्मरण कराया है। यहाँ तक कि कभी-कभी यह बात बहुत-से लोगों को खटकने लगती है। मिश्रबंधु भी इस बात से उकता उठते हैं—

"यह बात ऐसे भोंड़े प्रकार से वे सैकड़ों बार स्मरण

दिलाते हैं कि जी उकता उठता है और यह जान पड़ता है कि गोस्वामीजी पाठक को इतना बड़ा मूर्ख समझते थे कि कितने ही बार याद दिलाने पर भी वह राम का ईश्वरत्व भुला देगा, अतः उसको पुनः-पुनः स्मरण दिलाने की आवश्यकता है।" (हि० न०, पृ० १२६)

अभक्तों का जी उकताने ही वाला है, भला उन्हें कहीं राम-महिमा का बार-बार कथन अच्छा लग सकता है ? भक्त हृदय अपने प्रभु की महिमा अनंत बार कहकर भी नहीं अघाता ।

आप लोग कहते हैं—"सूरदास में यह बात नहीं है। वे एक-दो वार स्मरण दिलाने को ही समझते हैं, पर श्रीकृष्णचंद्र को स्वयं अपना ईश्वरत्व दिखाने का शौक़ था। उन स्थानों को छोड़कर सूरदास ने इनका ईश्वरत्व मौक़े-बेमौक़े नहीं दिखाया है।"(पृ० १२६)

इसी पर से आप तुलसीदास को "संकीर्ण हृदय" तक कह डालते हैं।

"......सूरदास ऐसे संकीर्ण हृदय न थे कि यदि उनका कोई नायक या उपनायक स्वयं उनकी राय के प्रतिकूल कुछ कहता, तो उनसे गोस्वामी तुलसीदास की भाँति विना अपनी राय प्रकाश किए न रहा जाता।" (हि० न०, पृ० १७१)

अपने इष्ट के गुण गाना और बार-बार उसकी तारीफ़ करना जिनको "संकीर्ण हृदयता" मालूम पड़ती है, उनका हृदय अवश्य ही बहुत संकीर्ण होना चाहिए—उस संकीर्ण हृदय में भक्ति-तल्लीनता को समझने की शक्ति कहाँ ?

तुलसीदास ने सूरदास की अपेक्षा अपने नायक के ईश्वरत्व पर अधिक ज़ोर दिया है, उसका कारण यही है कि राम के ईश्वरत्व पर उनका सदा ध्यान रहता था और प्रेमाधिक्य के कारण वे भाव उनके मुख से बार-बार निकल पड़ते थे। सूरदास के भक्ति-भाव में ज़रा अंतर है, वे कृष्ण को ईश्वर तो मानते थे; परंतु उनकी उपासना सखा-भाव की थी। अतः इस भाव-तल्लीनता में वे उनके ईश्वरत्व का ध्यान कभी-कभी भूल जाते थे। दोनों भक्तों की तल्लीनता पूरी थी, पर वह अलग-अलग भावों से थी। इस उपासना-भेद का उल्लेख मिश्र-बंधुओं ने भी किया है—"गोस्वामीजी की भक्ति दास-भाव की थी और इनकी साख्य भाव की। ये महाशय श्रीकृष्णचंद्र को अपना मित्र समझते थे और इसी कारण इन्होंने राधाजी को भी भला-बुरा कहा है और जब श्रीकृष्ण कोई बेजा बात करते थे, तब उन्हें भी सूरदास डाँट देते थे।" (हि० न०, पृ० १२६)

इस उपासना-भेद को जानकर भी वही बात—

"यद्यपि सूरदास स्वयं श्याम के भक्त थे, तथापि उन्होंने गोपियों के मुख से काले की ख़ूब निंदा कराई है और अंत पर्यंत किसी स्थान पर भी तुलसीदास की भाँति कोई सिफ़ारिशी छंद नहीं लिखा।" (हि० न०,पृ० १७१)

शोक है, मिश्रबंधुओं ने इस प्रेम-उपालंभ को "निंदा" समझ लिया।

यह निंदा नहीं, प्रेम-तल्लीनता है जो कि विना सूरदास के समान सख्य-भाव-पूरित भक्त हृदय रक्खे समझ में नहीं आ सकती। आप न सूरदास का सख्य-भाव समझे और न तुलसीदास का दास-भाव और इसी कारण आप सूर की प्रेममय चुटकियों को "निंदा" और तुलसी के भक्त-उद्गारों को "सिफ़ारिश" कहते हैं। अस्तु।

भक्ति-उद्गार

कहा जा चुका है कि सूर और तुलसी के भावों में अंतर था। सखा-भाव से मानने ही के कारण सूरदास ने भगवान् के प्रति अनेक जगह ख़ूब खरी-खरी चुटकियाँ ली हैं। वे येन केन प्रकारेण कृष्ण को अपने सम्मुख करना चाहते थे। अगर बड़ी विनय करने पर न पसीजते, तो फिर अच्छी फटकार बताते थे। यथा—

मोहिं प्रभु तुमसों होड़ परी।

× × ×

आज हौं एक-एक करि टरिहौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं॥
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं, तुम्हैं बिरद बिन करिहौं।

× × ×

पतित जानि तुम सब जन तारे रह्यो न कोई खोट।
तब जानौं जब मोहिं तारिहौ सूर कूर कवि ढोट।"

× × ×

पतितपावन हरि विरद तुम्हारो कौन नाम धर्यो।
गणिका तरी आपनी करनी नाम भयो प्रभु तेरो।

सूर ने तो भगवान् को प्रेम-वश लंपट, चोर आदि सभी कुछ कह डाला है—

धूर्त धौल लंपट जैसे हरि तैसे औरन जानैं।
मधुकर श्याम हमारे चोर।

यद्यपि ये सब प्रेम के उद्‌गार हैं, पर तुलसीदास के काव्य में ऐसे वचनों का भी मिलना असंभव है। केवल एकआध पद में गुसाईंजी ने राम को कुछ कहा है, पर वह भी विनय तथा नम्रता से पूर्ण है—

यद्यपि नाथ उचित न होत अस प्रभु सों करों ढिठाई।
तुलसीदास सीदत निशि-दिन देखत तुम्हारि निठुराई॥

गुसाईंजी का दास-भाव कभी उनके मुँह से ऐसे वाक्य नहीं निकलवा सकता। उन्होंने तो हमेशा नम्रता और दीनता के वचन कहे हैं। इस प्रकार के दीनता-सूचक वचनों से सूरसागर और विनयपत्रिका तथा रामचरितमानस भरे पड़े हैं। अपने को अत्यंत दीन समझकर अपने प्रभु को दीनोद्धारक समझना ही इन दोनों भक्तों की भक्ति का मूलतत्त्व है।

एक और बड़ी भारी समता यह है कि तुलसीदास और सूरदास दोनों ही अपने को भक्ति-उद्रेक में अत्यंत पतित और नीच कहकर अपने उद्धार के लिये प्रभु से प्रार्थना करते थे। इतने भारी महात्मा होकर भी अपने को इतना अधिक नीच और पापी समझना बहुत लोगों को आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है, पर भक्त-हृदय ही इसके तत्त्व को समझ सकता है। यहाँ हम दोनों कवियों के इस प्रकार के दीनतासूचक मिलते-जुलते हुए पदों के उदाहरण दे देना चाहते हैं—

मैं प्रभु सब पतितन को राजा।
हरि हों सब पतितन पतितेश।
माधव जू और न मोते पापी।
बिनती करत मरत—हौं लाज।
नख-शिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज॥
और पतित आवत न आँखितर देखत अपनो साज।
पाछे भयो न आगे ह्वैहै सब पतितन सिरताज॥
(सूरदास)

कौन जतन बिनती करिए।
माधव जू मो सम मंद न कोऊ।

× × ×

तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं।
जो यमराज काज सब परिहरि यही ख्याल उर अनिहै।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन के असमंजस जिय जनिहै॥

× × ×

माधव मो समान जग माहीं।
सब बिधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोऊ नाहीं।
(तुलसी)

प्रभु के पतितपावन होने का इन भक्तों को अटल विश्वास था—

मैं हरि पतितपावन सुनैं।
मैं पतित तुम पतितपावन दोऊ बानिक बनैं॥

× × ×

ऐसी प्रभु करत दास पर प्रीति।
विरद हेतु पुनीत परिहरि पामरन पर प्रीति॥
(तुलसी)

सूर पतितपावन पद अंबुज
कहाँ सो परिहरि जाऊँ।
(सूरदास)

प्रभु की दीन-पोषकता, भक्त-वत्सलता, दास-अनुग्रह, दयालुता, समता आदि पर तो दोनों भक्तों ने अनेक पद कहे हैं, जिनमें से कुछ के उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

काहू के कुल तन न बिचारत।
रामभक्त बत्सल निज बानो।
जाति गोतं कुल नाप गनत नहिं, रंक होय कै रानौ॥
युग युग विरद यहै चलि आई भक्तन हाथ बिकानौ।
(सूर)

× × ×

श्री रघुबीर की यह बानि।
नीच हूँ सों करत प्रीति सुनेह मन अनुमानि।
राम सहज कृपालु कोमल दीनहित दिनदानि॥
(तुलसी)

× × ×

प्रभु को देखो एक सुभाई।
अति गंभीर उदार उदधि सरि जानि शिरोमणि राई॥
बदन प्रसन्न कमल पद सन्मुख दीखत ही है जैसे।
बिमुखहु भये कृपा वा मुख की जब देखौ तब तैसे॥
भक्तबिरह कातर करुणामय दौरत पाछे लागे।
सूरदास ऐसे प्रभु कहँ कत दीजत पीठ अभागे॥
(सूर)

× × ×

ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।
निज प्रभुता बिसारि जन के वश होत सदा यह रीति ॥
विरद गरीबनिवाज राम को।
सुनु सीतापति शील स्वभाऊ।
मोद न मन तन पुलकि नयन जल सो वर ते हरषाऊ॥
(तुलसी)

भक्त-हेतु अवतार धर्‌यो। (सू० २२)
हम भक्तन के भक्त हमारे। (सू० २३) इत्यादि।

इन भक्तों ने मन की प्रबलता बताकर रोकने के लिये ईश्वर से अनेक प्रार्थनाएँ की हैं—

अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना कण्ठ विषय की माल। (सू०सा०)

तुलसीदास का पद भी बिलकुल इसी से मिलता-जुलता है—

नाचत ही निशि-दिवस मर्‌यो।
तब ही ते थिर न भयो जब ते जीव नाम धर्‌यो॥
बहु वासना विविधि कंचुकि भूषण लोमादि भर्‌यो॥
(वि० ९१)

माधव जू मन हठि कठिन पर्‌यो।
माधव जू मन सबही विधि पोच।
मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
माधव जू नेक हर को गाइ।
निशिवासर यह भ्रमति इत उत अगह गही न जाय।
(सू०) इत्यादि

मेरो मन हरि जू हठ न तजै।
निशिदिन नाथ देउँ सिख याही करत स्वभाव निजै॥ इत्यादि।
(तुलसी)

दोनों ने भगवान् से अपने उद्धार पाने, माया से छुटाने, निर्मल निष्काम भक्ति पाने आदि की भी विनती की है। ये लोग मुक्ति को भक्ति के सामने तुच्छ समझते थे। दोनों का निष्काम भक्ति पर ही लक्ष्य था—किसी विशेष कामना से भक्ति करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। दोनों की भक्ति निष्काम निर्विकार थी। जन्म-मरण से छूटने की दोनों की इच्छा थी, पर भक्ति प्राप्त होने पर वे जन्म-मरण से छूटने की भी इच्छा न करते थे—

जहँ जाय जन्मउँ कर्म-वश तहँ रामपद अनुरागऊँ।
जन्म जन्म प्रभुपद सुखकंजा।
बढ़ै प्रीति चकोर जिमि चंदा॥

तथा—

जन्म जन्म रतिरामपद यह वरदान न आन।
इत्यादि।

चहिय न सुगति सुमति संपति सुख रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग रामपद बढ़ै अनुदिन अधिकाई॥
(तुलसी)

× × ×

माँगत है सूर त्यागि जिहि तन मन राता।
अपनी प्रभु भक्ति देहु जासों तुम नाता॥ इत्यादि।
(सूर)

(क्रमशः)

ब्योहार राजेंद्रसिंह

१—नारी-जीवन—लेखक, श्रीसुरेंद्र शर्मा; प्रकाशक, शारदासदन, कटरा प्रयाग; मू० १)

इस पुस्तक में, नारी-जीवन की जटिल समस्याओं को सुलझाने का जो कुछ प्रयत्न किया गया, वह सर्वतो-भावेन माननीय नहीं, तो प्रशंसनीय अवश्य है। वर्तमान परिस्थिति पर ध्यान देकर भारत की सभ्यता के अनुकूल और पाश्चात्य रंग-ढंग के दोषों को दिखाते हुए जो विवेचना की गई है, उस पर शिक्षित नारी-समाज को ठंढे दिमाग़ से विचार करना चाहिए। संयम, सादगी, पातिव्रतधर्म और भारतीय आदर्श के संबंध में जो शिक्षाएँ इस पुस्तक में दी गई हैं, वह स्त्रियों के लिये सर्वथा लाभकारी सिद्ध होंगी। इस पुस्तक में अन्य बहुत-सी ऐसी बातें हैं, जिनके द्वारा महिला-मंडल काफ़ी लाभ उठा सकता है। पुस्तक की भाषा और लिखने का ढंग बड़ा अच्छा है। स्त्रियों को यह पुस्तक प्रकाशक से मँगाकर अवश्य पढ़नी चाहिए।

× × ×

२—बाल-कथा-कहानी—लेखक पं० रामनरेश त्रिपाठी; प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, प्रयाग; मूल्य ६ आने।

इस छोटी पुस्तिका के ६० पृष्ठों में, छोटे बालक-बालिकाओं के पढ़ने योग्य दस कहानियाँ दी गई हैं। कहानियाँ सभी मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं। पुस्तक की छपाई रंगीन और चिकना काग़ज़ है। बाल-कथा-कहानी का यह छठा भाग है। अभिभावकों को चाहिए कि अपने बच्चों को इस प्रकार की पुस्तकें मँगाकर पढ़ने को दें।

× × ×

३—कल्याण (रामायणांक)—संपादक, श्री० ज्वालाप्रसाद कानोड़िया तथा श्री० हनुमानप्रसाद पोद्दार; पृष्ठ-संख्या ५१२; मूल्य २॥=) ; "कल्याण" के ग्राहकों को मुफ़्त ।

इस अंक में २०६ लेख कविताएँ तथा १६७ एकरंगे, तिरंगे, चौरंगे चित्र, मानचित्र, लिपिचित्र एवं हेडिंग-चित्र हैं। रामायण पर इतने विद्वानों के विचार एकत्र करके हिंदी-संसार के सम्मुख उपस्थित करने का यह प्रथम ही प्रयास है। कुछ कविताएँ भी बहुत सुंदर हैं। रंगीन चित्रों में भी धार्मिक दृष्टि से बड़ा चमत्कार दिखाई पड़ता है।

देशी-विदेशी पंडितों के विचार-संग्रह के लिए जो परिश्रम किया गया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। 'रामायणांक' हिंदी-जगत् की एक स्थायी संपत्ति के रूप में सदा आदर पाता रहेगा—ऐसा मेरा विश्वास है। अपने ढंग का यह अद्वितीय अंक है। साथ ही "कल्याण" नाम को सार्थक करता है। विशेष प्रशंसा करना उसके महत्त्व को घटाना होगा। हमारी प्रत्येक हिंदी-प्रेमी से अपील है कि वह इस विशेषांक को मँगाकर अवश्य पढ़े। इससे "लोक लाहु परलोक निबाहू" दोनों साधनाएँ सफल होंगी। हम युगल संपादकों को—विशेषकर श्री० हनुमानप्रसादजी पोद्दार को—'माधुरी' की ओर से बधाई और धन्यवाद देते हैं, जिन्होंने अपनी सुरुचि और परिश्रम का इतना अच्छा उपयोग किया है कि धार्मिक संसार उनका चिर ऋणी रहेगा। ईश्वर करे, 'कल्याण' चिरंजीवी हो और उसके द्वारा संसार का सदा कल्याण होता रहे। तथास्तु ।

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

पं० जवाहरलाल नेहरू (जीवनी और व्याख्यान)—लेखक और संकलनकर्ता, पं० गोपीनाथ दीक्षित बी० ए०; प्रकाशक, दी नेशनल पब्लिशिंग हाउस, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ढाई सौ; मूल्य २)

पं० जवाहरलाल नेहरू वह भारतीय लाल हैं, जिन पर प्रायः प्रत्येक भारतीय को नाज़ है। उनका त्याग, उनकी लगन, उनकी दर्या-दिली और उनका दर्देदिल सब हमें उस रूसी राजकुमार प्रिंस क्रोपाटकिन का स्मरण दिलाते हैं, जिसने शासन-सत्ता और संपत्तिवाद से मोर्चा लिया था। सच यह है कि पं० जवाहरलाल के हृदय में अमानुषीय अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह का अग्नि-कांड धधकता है, जिसमें उनके भोग-विलास की भूत-कालीन सारी सुषमा जलकर राख हो चुकी है और वह भावी भारत के स्वतंत्र ललाट पर विभूति की भाँति देदीप्यमान हो रही है। ऐसे ही त्यागवीर की यह जीवनी है और जीवनी भी ग़ज़ब की लिखी है। दीक्षितजी की शैली और ज़ोरदार भाषा पाठक के हृदय को एक बार विचलित कर देती है। पंडितजी की जीवनियाँ आए-दिन निकलती ही रहती हैं; पर यह जीवनी अधिक प्रामाणिक है। पाठकों को चाहिए कि एक बार इसे पढ़ने की कृपा करें।

× × ×

सुषमा—लेखक, पं० श्रीजगदीश झा 'विमल'; प्रशाशक, पं० जगदेव पांडेय; पुस्तक-प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता, चौक, मुंगेर; मूल्य ॥=) ; पृष्ठ-संख्या १०६

यह हिंदी-साहित्य-सरोज-ग्रंथमाला का आठवाँ पुष्प है। इसमें विमलजी की कविताओं का संग्रह है। विमलजी की कविताएँ कैसी होती हैं, यह हिंदी-पाठकों से छिपा नहीं। कविता के संबंध में विमलजी के विचार भी स्पष्ट हैं। पुस्तक के प्राक्कथन में आप लिखते हैं—"कवित्व-गुण, शब्दों की झंकार और छंदों के प्रस्तार में नहीं रहते; अनुप्रास की लड़ी और यमक की कड़ी उसको बाँधकर नहीं रख सकती। उसका जन्मस्थान आत्मा है, अतएव जिस कविता में आत्मविकास की शक्ति नहीं, वह कविता नहीं कहीं जा सकती है...कविता हृदय-तंत्री की झंकार है, जिसके हृदय में जितना ही अधिक नाद गूँजेगा, वह उतनी हीं सरस सुंदर एवं मधुर कविता कर सकेगा।" इत्यादि। पुस्तक बनैली-राज्य के साहित्यानुरागी राजकुमार श्रीमान् कृष्णानंदसिंहजी को समर्पित है और यह उचित ही है। महाराजकुमार स्वयं विद्याव्यसनी एवं काव्य-पारखी हैं। आप ही के संरक्षण में 'गंगा' नाम की पत्रिका शीघ्र निकलने जा रही है। हमें आशा है, आपके सहयोग से हिंदी-साहित्य का बहुत कुछ उपकार होगा। 'सुषमा' की अधिकांश कविताएँ पठनीय एवं सुबोध हैं। कुछ हमें नहीं रुची और इसका कारण रुचि-वैचित्र्य ही है।

× × ×

रत्नहार—लेखक, पं० जगदीश झा 'विमल'; प्रकाशक, पं० जगदेव पांडेय, चौक; मुंगेर; मूल्य सजिल्द १।), सादी १) ; पृष्ठ-संख्या २००

भूमिका में लेखक लिखते हैं—"कथानक कोरी कल्पना नहीं है और न किसी को लक्ष्य कर अचूक निशाना लगाने की निशानी है; बल्कि यह है समाज के कलेजे पर नित्य खुल-खुलकर नंगा नृत्य करनेवाली घटनाओं का जीता-जागता चित्र।" इत्यादि।

इसमें सामाजिक कुरीतियों के रूप का प्रत्यक्षीकरण किया गया है। पत्रों के रूप में, अनेक समाज-पीड़ित विक्षत हृदयों के चित्र देखने को मिलते हैं। लेकिन पत्रों में कहीं-कहीं विशृंखलता आ गई है। फिर भी पत्र-साहित्य में इसे अपना स्थान प्राप्त होगा। पुस्तक बरारी-स्टेट (भागलपुर) के साहित्यानुरागी ज़मींदार तथा बैंकर श्रीमान् बाबू केशवमोहनजी ठाकुर को समर्पित है।

× × ×

अंतर्ध्वनि (प्रथम भाग)—लेखक, ज्वालाप्रसाद गुप्त; साहित्य-निकेतन, चिड़ावा (राजपूताना); मूल्य सजिल्द १); पृष्ठ-संख्या १०+१२२+४

भूमिका में लेखक लिखते हैं—"मैं इस पुस्तक को कोई अपना कविता-कौशल दिखाने के लिये नहीं प्रकाशित कर रहा हूँ और न कोई प्रतिष्ठा प्राप्त करने का ही मेरा ध्येय है। किंतु मैं तो उस अखिल अनंत अज्ञेय महामहिम सर्वव्यापक मायामय के रहस्यपूर्ण लीला-चमत्कार से चमत्कृत और विश्व-वेदना की विकल व्यथा से व्याकुल एवं उद्भ्रांत हूँ। मेरा तो हृदय उसी की अंतर्ध्वनि से प्रतिध्वनित और उसी की वेदना से एकांत-विह्वल रहा करता है। और, यह पुस्तक भी उसी उद्विग्न हृदय के करुणोद्गारों का परिणाम है।" अस्तु, उसी

अखिल अनंत अज्ञेय महामहिम मायामय की रहस्य-पूर्ण लीलाओं की ओर ही पुस्तकांतर्गत पद्यों का प्रवाह जान पड़ता है। लेखक भावुक जान पड़ते हैं। उनका हृदय विक्षुब्ध एवं प्रताड़ित है और कोई वेदना तथा जगज्जन्य निराशा से वह आविर्भूत हैं। कवित्व भी उनमें है और यदि उसका ठीक दिशा में उपयोग हुआ, तो उनकी कृति में कुछ विशेषता आवेगी। हमको "बैठा ... मैं एक ओर" कविता अधिक पसंद आई। शेष ... हृदयोद्गार हैं, जिसका कला से सर्वत्र उतना ... नहीं है।

मातादीन शुक्ल

कृषि, शिल्प और वाणिज्य

१. गन्ने की बीमारियाँ

यदि आप गन्ने के खेत के चारों तरफ़ चलें और प्रत्येक गन्ने को ध्यान देकर देखें, तो आपको कहीं-कहीं ऐसे गन्ने दिखाई देंगे, जो अनोखे तौर से सिकुड़े और सिमटे हुए होंगे। ऐसी सिमटन या तो गन्ने के नीचे हिस्से में ही दिखाई पड़ती है या तमाम गन्ने में फैल जाती है, ऐसा गन्ना या ऊख रस निकालने के योग्य नहीं। ऐसा बहुधा दिखाई पड़ता होगा कि एक गन्ने के पत्ते हरे और तन्दुरुस्त हैं और गन्ने का तना कमज़ोर और बीमारी लिए हुए है। अक्सर बीमारी ज़मीन की तरफ़ से चलकर ऊपर पौदे की चोटी तक की ख़बर लेती है और इसीलिये अक्सर देखने में आता है कि बहुत-से पौदों के तने कमज़ोर हैं, परंतु पत्ते हरे-भरे हैं। इस बीमारी को Fungus कहते हैं। हिंदी में इसको धरती का फूल कह सकते हैं। फ़ंगस एक प्रकार का पौदा होता है, जो दूसरे पौदों पर अपनी ज़िंदगी बसर करता है। इसका डीलडौल व बनावट बहुत लंबे-लंबे सफ़ेद धागों की होती है। वह धागे तमाम गन्ने में फैल जाते हैं और गन्ने से अपनी ग़िज़ा हासिल करते हैं। ऐसा करने से तमाम गन्ना सुकड़ जाता है। यह फ़ंगस एक और बीमारी फैलाता है यानी यदि एक बीमारी लगे हुए गन्ने को बीच से चीरा जाय, तो लाल-लाल लकीरें गन्ने में दिखाई देंगी। बाज़ दफ़े बावजूद गन्ने के सिकुड़ने पर भी यह लाल-लाल लकीरें गन्ने में दिखाई पड़ती हैं। इसलिये इसका नाम Red rot of sugurcane है। यह बीमारी इसलिये फैलती है कि किसान लोग ऐसे गन्ने के टुकड़े बोते हैं, जिनके अंदर यह बीमारी मौजूद होती है। यह बीमारी इस तरीक़े से उन तमाम गन्नों में प्रवेश कर जाती है, जो कि इस गन्ने के टुकड़े से पैदा होते हैं। यदि खेत के पानी का निकास अच्छा हो और खेत में नालियाँ नवीन तरीक़े के अनुकूल हों, तो यह बीमारी कम फैलती है। यदि बीमारी लगे हुए गन्ने खेत में छोड़ दिए जावें, तो ये गन्ने दूसरे तन्दुरुस्त गन्नों में भी यही बीमारी फैला देते हैं, और इसी तरह से बीमारी आसपास के खेतों में भी फैल

जाती है, और फ़सल को बहुत बड़ा नुक़सान पहुँचाती है।

इस बीमारी से बचने के लिये किसानों को नीचे लिखे हुए तरीक़े अमल में लाने चाहिए—

(१) जहाँ तक हो सके सिर्फ़ तन्दुरुस्त और बीमारी से बचे हुए ही गन्नों के टुकड़े बोने चाहिए।

(२) खेत को तैयार करते समय इस बात का ध्यान ज़रूर रखना चाहिए कि खेत में पानी का निकास बहुत अच्छा हो। इसके लिये बोने का नवीन तरीक़ा अमल में लाना चाहिए यानी नालियाँ बनाकर बोना चाहिए। ऐसा करने से पैदावार भी बहुत होती है, दूसरे ज़रूरत से ज़्यादा आबपाशी नहीं करनी चाहिए। गन्ने का खेत कुछ ढालू लिए भी होना चाहिए, मगर ऐसा न हो कि एक तरफ़ ही पानी भरा रहे।

(३) बीमारी लगे हुए गन्ने जितने खेत में दिखाई दें, सबको जला देना चाहिए। यदि बीमारी गन्ने के कुछ हिस्से तक पहुँची हो, तो केवल उसी हिस्से को काटकर जला देना चाहिए।

(४) जिस खेत में बीमारी लगी हुई हो, उसको अच्छी तरह से जोतना चाहिए और खेत में बीमारी को मारने के लिये उसे मई-जून के महीनों में जोतकर ख़ाली छोड़ देना चाहिए।

(५) अक्सर किसान लोग गन्ने की फ़सल को काटकर खेत को बिना जोते पड़ा रहने देते हैं और इसी से दूसरे साल की फ़सल ले लेते हैं। इसको अँगरेज़ी में Ratooning कहते हैं।

जिस खेत में बीमारी लगी हुई हो, उसमें ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा किया जावेगा, तो तमाम फ़सल तबाह हो जायगी। जिस बीमारी का अब तक ज़िक्र किया गया है, उसको बुटेनी (Botany) में Colletotatri cham Falcatum कहते हैं। कुछ ध्यान देने पर ही यह बीमारी क़ब्ज़े में आ सकती है। अब हम गन्ने की दूसरी बीमारी का थोड़ा-सा ज़िक्र और करते हैं, जो कि Virus or mosaic disease 30 to 80% कहलाती है। इस बीमारी से फ़सल को ३० से ८० फ़ी सदी नुक़सान पहुँचता है। यदि आप किसी गन्ने की पत्ती को रोशनी के सामने देखें, तो आपको बहुत-सी पत्तियों के रंग निराले दिखाई देंगे यानी कुछ काले-पीले धब्बे या रक़बे ... आएँगे। ये वे धब्बे होते हैं, जो कि बीमारी कहलाते हैं। ये बीमारी लगे हुए गन्ने अक्सर मुरझा जाते हैं। ऐसा गन्ना छोटा, पीला और कमज़ोर रह जाता और आख़िर में सूख जाता है। यह बीमारी गन्ने ... मुक़ाबले में पौंड़े में ज़्यादा लगती है। जो इलाज पहली बीमारी में लिखे हैं, उनके अलावा नीचे लिखे हुए ... अमल में लाने चाहिए—

(१) जब यह बीमारी पत्तों पर दिखाई दे, ... Spraying करना चाहिए, यह एक पिचकारी ... हुई मशीन होती है। इस मशीन में बीमारी को मारने वाली दवा का सल्यूशन हल करके डालते हैं, ... हवा के ज़ोर से फ़ेन की तरह निकलता है और ... बारीक तह में पत्तों पर गिरकर बीमारी को ... देता है।

(२) ऐसी गन्ने की क़िस्में इस्तेमाल करनी चाहिए जिसमें बीमारी न लगती हो।

(३) फ़सल का दौर व बारी ऐसी रखनी चाहिए कि इस दौर में मक्का की फ़सल न आ सके।

जो किसान इस फ़सल से फ़ायदा उठाना चाहते हैं उनको इन बीमारियों का इलाज ज़रूर करना चाहिए और इससे बचना चाहिए। पाठक को गन्ने की ... और बीमारियाँ बतलाई जायँगी।

विश्वनाथ वर्मा

× × ×

२. व्यापारिक प्रबंध

प्रबंध-कला

आज व्यापारिक संगठन, प्रबंध और संचालन के लिये व्यापारिक शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता हो गई है। पहले ... सी बात अब नहीं रही है कि बनिए का बेटा तो व्यापार ही करेगा, उसके लिये क्या कठिनता है। थोड़े-से पहाड़े और हिसाब-लेखा सीख लिया कि चलो ... दुकान पर और बन गए व्यापारी। कहना होगा कि आज स्वजात बुद्धि होने पर भी व्यापारिक विद्या की बड़ी आवश्यकता है और इसकी शिक्षा बिना काम न चलने का। अब व्यापार की रीति, नीति, गति ... प्रणाली आदि सब बातें एक बड़ी भारी कला, ... और चातुरी का काम हो गई हैं और व्यापार के लिये

इन सबके संयोजित और विशाल ज्ञान का होना बड़ा ज़रूरी है। स्वजात बुद्धि भी काम की चीज़ है, पर उसके प्रस्फुटन, उपयोग और व्यवहार के लिये आज-कल के नवीन ज्ञान और शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता है।

वह पुराना ज़माना अब गया, जिस समय हमारे पुरखा घर पर बैठे-बैठे चाहे जैसे व्यापार चलाते रहे। बाहर से माल मँगाया और बेच दिया या अपने यहाँ से बाहर भेज दिया और घर बैठे मुनाफ़ा हो गया। क्या भाव आया और क्या भाव बेचा, कोई पूछनेवाला नहीं था। पर अब ज़माने ने पलटा खाया है और कोई भी पदार्थ हो, कहाँ से आता है, कैसे आता है, क्या दाम पड़ता है आदि बातें छिपी नहीं हैं, सब कोई जान सकते हैं। यह भी नहीं कि एक पदार्थ एक ही जगह से आता हो या एक आप ही मँगानेवाले हों। इस भाँति यह बात प्रत्यक्ष है कि आज व्यापारिक संसार में जो बातें पैदा हो गई हैं एवं जो प्रतिद्वंद्विताएँ मच गई हैं, वे पहले न थीं। व्यापारिक क्षेत्र में आज जो चिंताएँ और झंझटें सामने आती हैं, वे कुछ समय पहले तक न थीं और इसलिये उस समय व्यापारिक शिक्षा की भले ही आवश्यकता न रही हो, पर आज व्यापार की शिक्षा एक ही रूप में नहीं, पर उसके भिन्न-भिन्न अंग-प्रत्यंग और शाखाओं में शिक्षा और ज्ञान का प्राप्त करना आवश्यक हो गया है। प्राचीन समय में इस व्यापार का आज-जैसा भीम रूप न था और वह छोटे रूप में होने पर भी मुनाफ़ा काफ़ी था एवं आज की भाँति पग-पग पर हानि का भय नहीं रहता था। स्थानीय किंवा दूरदेशीय किसी भी तरह की आज के सदृश प्रतिद्वंद्विता का भय न था और न उस समय दुनिया की सारी शक्तियाँ दुनिया के बाज़ारों पर आज की तरह दाँत चबाए बैठी थीं। एक और मुसीबत यंत्रकला के प्रचुर प्रचार और उपयोग से पदार्थों के बेहद निर्माण से पैदा हो गई है और बनानेवाले पर किसी तरह से अपने पदार्थ को खपाने की चिंता सवार है। एक तरफ़ एक पदार्थ का बनानेवाला दुनिया के किसी प्रदेश को अपना बाज़ार बनाकर अपने पदार्थ को खपाना चाहता है, तो वह प्रदेश स्वयं भी उस पदार्थ को बनाकर उसे खपाने की चिंता में प्रस्त है, यथा लंकाशायर की मिलें अपने कपड़े की भारत में बिक्री के लिये व्यग्र और चिंतित हैं, तो भारतीय मिलें स्वयं अपने कपड़े का यहाँ किसी तरह खपाने की चिंता में हैं। माल को लाने और ले जाने के साधन रेल और जहाज़ों में दूर देशों से शीघ्र और सस्ते भाड़े में माल के आने-जाने ने भी व्यापार के क्षेत्र को विस्तृत बना दिया है और सारी दुनिया ही एक बाज़ार बन गया है। इन सब बातों से व्यापार का भेद और परदा निकल गया है और देश-विदेशों में प्रायः सर्वत्र एक से फ़र्क या समान भाव पर चाहे जहाँ माल मिल सकता है। समान ही नहीं पर बहुधा उल्टी गंगावाली बात भी देखी जाती है अर्थात् उपज की जगह से बिक्री की जगह माल सस्ता मिल जाता है। बात यह होती है कि माल ला-लाकर ढेर कर दिया जाता है और माल जम जाने से भाव गिर जाता है। इसी भाँति पहले माल ख़रीद-कर फिर बेचा जाता था, पर आजकल आमदनी बेचने की प्रणाली जारी है, किंवा माथे धरकर भी बेचा जाता है, जिससे तेज़ी-मंदी, सस्ते या महँगे भाव के पदार्थ के आने के पहले ही दूरदेशीय बाज़ारों में आ धमकती है। डाक और तारों द्वारा ख़बरों के आने-जाने से भी बाज़ारों में तेज़ी-मंदी और चढ़ाव-उतार बात-की-बात में आ जाते हैं। उदाहरणार्थ विलायत से हड़ताल की ख़बर आते ही भाव चढ़ जाते हैं। चाहे हड़ताल कुछ दिन रहे या शीघ्र ही शेष हो जाय, पर एक बार तो ख़बर के आने से हलचल मच ही जाती है।

इस प्रकार पदार्थ के भाव-ताव एक नहीं, पर कई बातों पर आश्रित हैं। स्थान, श्रम और पूँजी इन तीन बातों के साथ ही आज एक चौथी बात "प्रबंधविद्या" भी खड़ी हो गई है और आधुनिक व्यापार-संसार में यह बात बड़े महत्त्व की हो रही है। प्राचीन समय का सीधा-सादा प्रबंध उस समय के लिये भले ही काफ़ी था, पर उससे आज काम चलना कठिन ही नहीं, बल्कि असंभव हो गया है। हम तो हमारे चले आए हुए मार्ग पर ही चलेंगे; क्योंकि वह हमारा प्राचीन मार्ग है। ऐसा कहने या करने से इस नए ज़माने की तेज़ घुड़दौड़ में पीछे रहने के सिवा और कुछ नहीं हो सकता और कहना होगा कि यह अपने नाश और मर मिटने के उपाय का आह्वान करना है। समय के साथ जो जाति,

देश या राष्ट्र नहीं चलता है उसकी अधोगति और नाश के सिवा और क्या भवितव्य हो सकता है। समय की गति और लहर को रोक लेना असंभव है, इसलिये इस लहर में जो अपने को ठीक से सजाकर ठीक दिशा में उतरता है, उसे वह लहर सफलता और समृद्धि तक पहुँचाती है और यदि उसी का विरोध किया गया, तो इससे उलटी राह में पड़कर नीचे दब रहने के सिवा और क्या हो सकता है। व्यापारी संयोजन और प्रबंध-कला की उन्नत और परिष्कृत शिक्षा की ओर अभी तक भारत में उचित ध्यान नहीं दिया जाता है और चाहे जिस तरह बिना किसी निश्चित प्रणाली के काम आरंभ कर दिया जाता है। एक नहीं सैकड़ों व्यापारिक उद्योग—जो बिना पूर्ण इतिहास, वर्तमान दशा और भविष्य की तद्विषयक संभावनाओं के ज्ञान के बिना आरंभ किए गए—उनको बीच में ही खंड-भंड होना पड़ा है। कभी-कभी व्यापार में हुल्लड़ मच जाया करता है, जिसे अँगरेज़ी में बूम (Boom) कहते हैं। ऐसे समय में सबका ध्यान उसी व्यापार की तरफ़ दौड़ जाता है और उससे वह व्यापार वास्तविक व्यापार न रहकर उसमें सट्टा ज़ोर पकड़ लेता है। तब पदार्थ के दाम बेहिसाब बढ़ जाते हैं और उस समय लोगों को मुनाफ़ा ही मुनाफ़ा दीखने लगता है। यह सब कोई भूल जाते हैं कि ऐसा समय एक असाधारण समय हुआ करता है। वह सदा नहीं टिक सकता। इसलिये जब उस बूम का अंत होता है, सट्टा भी अपने उतार पर आता है और भाव नीचे डूब जाते हैं। इस तरह की बातों पर बिना ध्यान दिए जो भी व्यापार, व्यवसाय आरंभ कर दिए जाते हैं, उनकी दशा शीघ्र ही चिंताजनक हो जाती है। बूम के समय बड़ी-बड़ी आशाएँ और भविष्य नज़र आते हैं और उस समय उसमें पड़ने में ज़ोर नहीं आता, पर जब उस बूमरूपी ज्वार-भाटे का उतार आता है, उस समय कुछ समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय। महायुद्ध के समय में हैसियत की बाहरी माँग के कारण जूट-मिलों ने भारी मुनाफ़ा कमाया। उस समय शेअर-बाज़ार में कितना ज़ोर का सट्टा फाट का चला और युद्ध समाप्त होने पर उस बूम का भी अंत हुआ और शेअर-बाज़ार की सारी चहल-पहल और श्री भी न-जाने कहाँ गई। इसी भाँति उस समय कपड़े के बाज़ार में भी बाहर से माल आने में प्रतिरोध के कारण बहुत तेज़ी आई और एक-एक के दो-दो हुए। कपड़े के बाज़ार में भी नंबरी माल का सट्टा फाट चल पड़ा था एवं नए-नए इंपोर्टर खड़े हो गए। अँगरेज़ जो बड़े कुशल व्यापारी हैं, समझे हुए बैठे थे कि चढ़ाव के बाद उतार आना अवश्यंभावी है, इसलिये युद्ध समाप्त होने पर कपड़े के बाज़ार में जो सुस्ती आई, उससे अँगरेज़ इंपोर्टरों को कोई क्षति नहीं पहुँची, क्योंकि उन्होंने बिना आफ़र के बाहर से माल मँगाना बंद कर दिया था। बाज़ार की आफ़र न होने पर वे अ... मुसद्दियों और दलालों से आफ़र लेने लगे, पर कि... आफ़र के काम करने की उन्होंने मानों शपथ ले ली। इससे यह हुआ कि बहुतेरे मुसद्दी और दलालों ने पहले जो रुपया बनाया था, वह उन्हें निकाल चुकाना पड़ा और बिना समझ इंपोर्ट का कार-बार करनेवालों की भी वही दशा हुई। ये सब उदाहरणस्वरूप ... हैं कि आजकल व्यापारिक शिक्षा एवं भूत-भविष्य के विचार बिना व्यापार करने से क्या दशा होती है। इस... लिये कहना पड़ेगा कि आजकल व्यापार में आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं क़ानूनी सब तरह की बातों पर विचार करना ज़रूरी हो गया है।

व्यापार की संयोजना के लिये पहले यह सोचना चाहिए कि किस व्यापार को करेंगे, वह एक चलता हुआ काम है या नया काम उठाना है। यह निश्चय हो जाने पर उसके बाबत पूर्ण अन्वेषण करना चाहिए। पूर्व की स्थिति का अध्ययन, उसकी वर्तमान के साथ तुलना ... भविष्य में उसके फैलाव और उन्नति की गुंजाइश ... पूर्ण विचार करना चाहिए। कितनी चालू पूँजी चाहिए, कितनी लगा रहे हैं और आगे में आवश्यकता होने ... जुगाड़ का क्या साधन हो सकेगा, ख़र्च क्या है और साधारण स्थिति में क्या लाभ होगा एवं आक... स्मिक हानि और लाभ की क्या और कितनी संभावनाएँ हैं, इन सब बातों का पूर्व में ही भली भाँति विचार कर लेना योग्य है। यह सब विचार कर लेने पर व्यापा... रिक उद्योग में पड़ना चाहिए। व्यापारिक यो... के लिये व्यापारिक बुद्धि एवं शिक्षा दोनों वांछनीय ... और दोनों के मेल से 'सोना और सुगंधवाली बात' ... जाती है। पहले अपने-आप कारबार करने और वर्ष ...

थोड़े-से उथले कर लेने पर भी काम चल जाता था; क्योंकि मुनाफ़ा अधिक था, चाहे कारबार का परिमाण थोड़ा रहता था। पर आजकल अधिक-से-अधिक काम और थोड़े-से-थोड़े मुनाफ़े में ही व्यापारिक कौशल रह गया है। कहावत है कि "थोड़ा मुनाफ़ा अधिक उथले" "Small profit and quick returns."।" आज लाखों-करोड़ों की पूँजी और एक कारबार में बहुत-से भागीदारों का जुटाव, दुनिया के दूरदेशों के साथ संबंध, संपर्क, सैकड़ों-हज़ारों मजूरों और काम करनेवालों का संगठन और प्रबंध आदि सब बातों की शिक्षा और ज्ञान का होना आवश्यक है। एक व्यक्ति से आजकल के विशाल कारबारों को चलाना अधिक संभव नहीं, इसलिये कंपनी अर्थात् मिलकर काम करने के लिये नियम और क़ानून बने हुए हैं। उनका ज्ञान होने से और उनके अनुरूप चलने से किसी बात की कठिनाई नहीं आती और कारबार में विशेष सुविधा रहती है। इसी भाँति कारबार बड़ा और विशाल होने से काम के करनेवाले भी बहुत होते हैं। उनकी देख-रेख और संचालन का ज्ञान भी होना आवश्यक है। केवल यही नहीं कि कारख़ानों में ही मजूरों और काम करनेवालों का प्रबंध करना पड़े, पर आफ़िसों (दफ़्तरों) का भी विशाल आयोजन और उनमें क्लर्कों और भिन्न-भिन्न विभागों के कार्यकर्ताओं का संगठन और संचालन करना होता है। कारबार के परिमाण के हिसाब से ही आफ़िस का संगठन करना पड़ता है। आज भारतीय व्यापारियों के अपने दिलों में ही बड़े व्यापारी और कारबारी बने रहने से कुछ नहीं होता; क्योंकि बहुतों के हिसाब-किताब और लेखे का कुछ भी पता नहीं रहता, वर्षों तक आँकड़े जुड़ नहीं पाते और क्या हानि-लाभ रहा, इसका कुछ पता नहीं चलता। विदेशों की बात छोड़ दीजिए, यहाँ भारतवर्ष में भी जो बड़ी कंपनियाँ हैं, उनकी आफ़िसों में काम करनेवालों की लंबी क़तार और संख्या देख-सुनकर आश्चर्य हो जाता है। ईस्ट-इंडिया-रेलवे कंपनी के दफ़्तर में सौ, दो-सौ, पाँच-सौ नहीं, पर हज़ारों की संख्या में क्लर्क लोग काम करते हैं और वे सब कई विभाग (Divisions) और उनके कई उपविभाग (Departments) में विभक्त हैं—यथा लोको, आडिट, ट्राफ़िक, अकाउंट, स्टोर, इंजीनियरिंग, प्रिंटिंग आदि इतना विशाल कारबार उचित संयोजना के बल पर ही चल सकता है। बिना संयोजना के एक छोटे-से कारबार, दुकान या गद्दी के काम में भी कितना अंधेर और गोलमाल रह सकता है। कारख़ानों और फ़ैक्टरियों की संयोजना और प्रबंध की बात छोड़ दीजिए, आफ़िसों के प्रबंध में भी उचित ज्ञान और शिक्षा की बड़ी भारी आवश्यकता है। भारतीय कारबारियों की आफ़िसों के संगठन और संचालन में बिड़ला-ब्रादर्स की आफ़िस का ढंग बड़ा अप-टू-डेट और प्रशंसनीय है। भारतीय व्यापारियों की ऐसी आफ़िसें कम ही देखने में आई। वह दिन कब आवेगा, जब भारतवर्ष में भारतीय व्यापारियों द्वारा संचालित एक नहीं, पर कई तरह के काम करनेवाली बिड़ला-ब्रादर्स-जैसी सैकड़ों व्यापारिक आफ़िसें नज़र आवेंगी। व्यापारिक शिक्षा में एक नहीं, कई शाखाएँ बन चुकी हैं, यथा प्रबंध-विद्या (Managership), हिसाब-विद्या (Accountancy), विक्रय-कला (Salesmanship), मंत्रित्व (Secretaryship), बीमा (Insurance), बैंक (Banking), विज्ञापन (Advertisment) आदि कितनी ही शाखाएँ व्यापारिक विद्या की मौजूद हैं। यद्यपि भारतवर्ष में इनकी पृथक्-पृथक् उच्च शिक्षा का समुचित आयोजन नहीं है। विदेशों में इन विषयों की उच्च शिक्षा दी जाती है और भिन्न-भिन्न शाखाओं के प्रवीण कारबारी (Experts) ऊँचे पदों को प्राप्त कर बड़ी-बड़ी तनख़्वाहों पर यहाँ भारत में भी सैकड़ों की संख्या में मौजूद हैं। वहाँ के साहित्य में भिन्न-भिन्न विषयों पर सैकड़ों पुस्तकें मौजूद हैं और इन विषयों का वर्णन इस छोटे-से लेख में करना असंभव है। यहाँ तो केवल व्यापारिक प्रबंध का महत्त्व दिखाने से ग़रज़ है इसलिए अब व्यापारिक संगठन का हाल सुनिए।

व्यापारिक संगठन

किसी भी व्यापारिक प्रयास को एक व्यक्ति अकेला भी उठा सकता है। इसमें सब कार्य का कर्ता-धर्ता और हानि-लाभ का स्वामी वही रहता है। किंतु बहुधा यह होता है कि किसी व्यक्ति में किसी मुख्य व्यापार के लिये विद्या, बुद्धि और कौशल तो है, पर आवश्यकीय पूँजी का जुगाड़ नहीं है। इस दशा में किसी पूँजीपति को खोजकर उसे अपने काम में जुटा लेने की ज़रूरत पड़ती है। दोनों के जुड़ जाने पर वे

भागीदार हो जाते हैं और निश्चित किए हुए परिमाण में वे उठाए हुए कारबार में हानि-लाभ के ज़ुम्मेवार हो जाते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के व्यापार में एक साथ जुटने के और भी कारण हो सकते हैं, पर यह एक प्रधान कारण होता है। यह भी हो सकता है कि व्यापारिक योग्यता रखनेवाला पूँजी न होने पर उधार लेकर कारबार चलावे, पर यह सर्वदा संभव नहीं और उचित भी नहीं। इज़्ज़त और नाम होने पर उधार मिलना भी कठिन नहीं एवं आधुनिक समय में बैंकों द्वारा भी बहुत काम चल जाता है, पर पहले अपनी कुछ पूँजी होना आवश्यक है और इस विषय के अनुभव रखनेवालों का तो कहना है कि पूँजी, अच्छी काफ़ी होना चाहिए। एक कहावत भी है कि "ओछी पूँजी धनी को खाय" अर्थात् उपयुक्त पूँजी न होने से, कारबार का नाश हो जाता है। इसलिये यह सब कुछ उधार लेकर काम चलाने की बात सर्वोचित नहीं। इसी भाँति पूँजीवाला योग्य पुरुषों को नौकर रखकर भी काम चला सकता है और बहुधा ऐसा होता भी है। पर यह बात सहज ही समझ में आ सकती है कि जिस व्यक्ति की कारबार के हानि-लाभ में हिस्सा-पाँति है, वह उस कारबार की उन्नति और वृद्धि के लिये जितनी जी-जान लड़ावेगा वैसा और किसी प्रणाली से संभव नहीं। इस प्रकार भागीदारों के जुटान पर कारबार की सफलता बहुत कुछ आश्रित है। भागीदार का अर्थ यही है कि किसी कारबार में जो अपनी पूँजी, श्रम या बुद्धि को जुटाकर उस कारबार के हानि-लाभ में अपने को भागीदार बनाते हैं, वे भागीदार हैं। इसमें पारस्परिक विश्वास पर काम चलता है और इसलिये भागीदार बनाते समय भागीदारों की नेकनियती और आचार-व्यवहार का भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। बात यह है कि भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार कारबार की देन-लेन का अन्तिम पाई तक का ज़ुम्मेवार रहता है। कारबार में किसी भी भागीदार की पाँति चाहे जितनी कम या अधिक हो अथवा उसने चाहे जितनी पूँजी लगाई हो, देनदारी में उसकी ज़ुम्मेवारी अपरिमित रहती है। इसलिये एक भागीदार की ग़लती या बेईमानी का फल सब भागीदारों को सहना पड़ता है। प्रत्येक भागीदार कितनी पूँजी लगावेगा, और कितनी पाँति रहेगी इन सब बातों का पहले ही भली भाँति निर्णय और लिखा-पढ़ी हो जाना चाहिए। कारबार आरंभ करते समय यह बात ध्यान में नहीं आती कि आज भागीदारों के दिल जैसे हैं, वैसे सदा रहना संभव नहीं। एवं आकस्मिक हानि या लाभ के समय बखेड़ा खड़ा होना बड़ी बात नहीं। इसलिये पहले ही सब ठीक-ठाक कर लेना अच्छा है। पाँति-पूँजी के परिमाण में नहीं रहती है। अधिक पूँजी लगानेवाले की पाँति थोड़ी लगानेवाले से कम या बराबर भी हो सकती है। काम करनेवाले भागीदार की पाँति के लिये उसके काम का विचार किया जाता है और कभी-कभी उसे वेतन या हाथ-ख़र्च अलग दिया जाता है। इस तरह काम करनेवाला (Working) और पूँजी लगानेवाला (Sleeping or financing) भागीदार, ये दो भेद हुए।

भारत में बिना समुचित लिखा-पढ़ी या निर्णय के ही भागीदार मिलकर भागीदारी में कारबार करने अथवा अपने संयुक्त कुटुम्ब (Joint family) के रूप में चले आए हुए कारबार को करने की प्रणाली बहुत प्रचलित है। इस प्रकार बिना सरकार में रजिस्ट्री कराए कारबार करने से बहुत हानियाँ हैं, पर इस पर कौन ध्यान देता है। कह देते हैं "कौन खटपट करे, हमें क्या आवश्यकता है, जैसे चलता है वैसे चलने दो।" प्रारंभ की थोड़ी-सी खटपट बचाने से आगे बड़ी-बड़ी दुविधा और संकटों में पड़ना पड़ता है। रजिस्ट्री कराने से क्या-क्या लाभ हैं, इस बात को न जानने एवं रजिस्ट्री कराने से कारबार-संबंधी सब बात प्रकट हो जायगी, इस भय के कारण बहुधा लोग कंपनी ला (Company Law) के उपयोग से वंचित रहते हैं। कारबार को 'लिमिटेड' (Limited) अर्थात् नुक़सान की दशा में लगाई हुई पूँजी तक परिमित न करने के कारण भागीदारों को अथवा कुटुंब के छोटे-बड़े प्रत्येक व्यक्ति को अन्तिम पाई तक निकाल देने की संकटावस्था में गिरना पड़ता है। एवं एक कारबार के बिगड़ जाने पर अन्यान्य कारबारों को धक्का लगता है और बहुधा एक कारबार का नाश या संकट अन्य सब कारबारों को ले बैठता है। इसके अतिरिक्त सरकार के यहाँ रजिस्ट्री न होने से इनकमटैक्स के चुकाने में कितनी बड़ी हानि और असुविधा होती है, यह बात ध्यान देने योग्य है। उदाहरण

से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिए एक रजिस्ट्री की हुई फ़र्म को एक वर्ष में ५ लाख रुपया मुनाफ़ा बैठा है। उसमें बराबर की पाँति के ५ भागीदारों में प्रति भागीदार एक लाख रुपया आया। इस दशा में प्रत्येक भागीदार की पाँति में आई हुई एक लाख की रक़म पर अलग-अलग इनकमटैक्स लगेगा। प्रथम ५० हज़ार पर सुपरटैक्स मुआफ़ होने से बाक़ी ५० हज़ार पर एक आना प्रति रुपया के हिसाब से प्रति भागीदार ३१२५) रुपया लगा। यही अविभाजित ज्वाइंट फ़ेमली कारबार में बराबर की पाँति के पाँच भागीदार होने पर भी कुल ८२८१२॥) रुपया लग जायगा। क्योंकि इस दशा में ५ लाख की रक़म एक ही समझी जायगी और उसमें से प्रथम ७५ हज़ार पर छोड़कर बाक़ी ४१/४ लाख पर टैक्स लगने से पहले २५ हज़ार पर एक आना प्रति रुपया लगेगा और फिर प्रति ५० हज़ार पीछे आध आना प्रति रुपया बढ़ता जायगा और इस हिसाब से कुल ८२८१२॥) रुपया लगेगा। रजिस्ट्री की हुई फ़र्म को केवल १५६२५) रुपया लगेगा।

भागीदारी के काम में जोखिम बड़ी भारी रहती है। नुक़सान के समय प्रत्येक भागीदार की लगाई हुई रक़म के अतिरिक्त जो कुछ माल-मिल्कियत भागीदारों के पास होगी, वह देनदारी चुकाने में समूची दे देनी पड़ेगी और इस तरह से वर्षों के श्रम और बचत से एकत्रित की हुई निजी संपत्ति भी पानेवालों के लिये खुली रहेगी। इसलिये यदि किसी कारबार को प्रारंभ में लिमिटेड रूप देना संभव न हो, तो आगे चलकर जब प्राइवेट भागीदार ही का कारबार अच्छी उन्नत दशा को प्राप्त हो जाय, तब उसे 'लिमिटेड कंपनी' के रूप में परिवर्तित कर देना बहुत ही अच्छा है। कितने दुःख की बात है कि भारत में इस कंपनी-क़ानून और व्यापारिक संगठन से बड़े-बड़े कारबारी भी अनभिज्ञ रहते हैं एवं यह सब करने में ख़र्च और झंझट समझकर इस प्रणाली से उचित लाभ नहीं उठाते। इँगलैंड में १०० पौंड से लेकर ऊपर में १० लाख पौंड तक की पूँजीवाली कई प्राइवेट कंपनियाँ हैं। वहाँ यह बाधा या विचार उपस्थित नहीं होता कि कम पूँजी से किस प्रकार रजिस्ट्री कराई जाय। भागीदारी के कारबार की अपेक्षा 'ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी' के रूप से काम करने में कई लाभ हैं। ज्वाइंट-स्टाक-कंपनियाँ दो तरह की होती हैं—एक प्राइवेट और दूसरी पब्लिक। दो व्यक्ति मिलकर प्राइवेट और कम-से-कम ७ से पब्लिक कंपनी खोली जा सकती है। पहली में अधिक-से-अधिक ५० भागीदार हो सकते हैं; पर दूसरी में इसकी कोई सीमा नहीं।

भागीदारी के काम में और कंपनी में बहुत भेद है। यथाः—

(क) कंपनी उसके मेंबरों (भागीदारों) की क़ानून द्वारा स्थितिप्राप्त एक संस्था है। जिसकी स्थिति मेंबरों से सर्वथा भिन्न होती है।

(ख) भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार की कारबार में अपरिमित जुम्मेदारी रहती है। कंपनी में ऐसा नहीं है। कंपनी के शेअरहोल्डर आपस में एक दूसरे के प्रतिनिधि नहीं होते और न कंपनी को ही उसके शेअरहोल्डरों का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। इसलिये शेअरहोल्डर लोग कंपनी की देनदारी के अर्थ अपने शेअरों की रक़म के अतिरिक्त और कुछ जुम्मेवार नहीं होते।

(ग) कंपनी का प्रबंध डाइरेक्टरों के बोर्ड द्वारा परिचालित होता है और डाइरेक्टरों का चुनाव शेअरहोल्डर लोग करते हैं। इसलिये कोई भी व्यक्तिगत किसी भी तरह की जुम्मेवारी में कंपनी की तरफ़ से नहीं उतर सकता और न कंपनी की मिल्कियत को व्यवहार में ला सकता है। भागीदारी के काम में प्रत्येक भागीदार को कारबार में लेन-देन आदि का बराबर अधिकार रहता है।

(घ) कंपनी का शेअरहोल्डर कंपनी के साथ कंट्राक्ट अर्थात् लेन-देन कर सकता है, पर भागीदारी के काम में भागीदार अपनी फ़र्म के साथ कंट्राक्ट नहीं कर सकता है।

इँगलैंड में सन् १९२६ में ९७५८८ कंपनियाँ थीं, जिनमें ८१३४८ प्राइवेट और १६२४० पब्लिक थीं। इस हिसाब से वहाँ की रजिस्ट्री की हुई कंपनियों की समूची संख्या में प्राइवेट कंपनियों की संख्या ८३ प्रतिशत थी। भारतवर्ष में मिलों और कारख़ानों का संगठन अवश्य-ज्वाइंट-स्टाक कंपनी के रूप में है, पर अन्य कारबारों में इस प्रणाली का व्यवहार बहुत कम पाया जाता है। यहाँ इसके लाभ से अनभिज्ञता और रजिस्ट्री कराने के झंझट के भय से इस प्रणाली का उचित प्रचार नहीं है। इँगलैंड में रजिस्ट्री कराने और ज्वाइंट-स्टाक-

कंपनी का रूप देने में विशेष झंझट नहीं होती और तभी वहाँ कम-से-कम १०० पौंड की पूँजी से भी प्राइवेट ज्वाइंट-स्टाक-कंपनियाँ रजिस्ट्री की हुई हैं। बहुधा ज्वाइंट-स्टाक के रूप में रजिस्ट्री कराने से यह भय रहता है कि कंपनी की पूँजी, पैदा आदि बातों को प्रकाश में लाना पड़ेगा। इस विषय में यह ध्यान रखना उचित है कि पब्लिक-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी को अवश्य अपने हानि-लाभ के आँकड़े और रिपोर्ट रजिस्ट्रार के यहाँ पेश करनी पड़ती है, पर प्राइवेट-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी के लिये यह आवश्यक नहीं। प्राइवेट-ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी की ये विशेषताएँ हैं कि उसे अपनी नियमावली (Prospectus), आँकड़े या रिपोर्ट (Balance sheet and profit and loss account) पब्लिक कंपनियों की तरह रजिस्ट्रार के पास पेश करना नहीं होता और न उसके हिसाब पासशुदा आडीटर से जँचाने की आवश्यकता होती। इस प्रकार प्राइवेट ज्वाइंट-स्टाक-कंपनी की आर्थिक परिस्थित दूसरों के सामने प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल रुपया भरी हुई पूँजी (Paid up capital) रजिस्ट्रार को बतलानी पड़ती है। इस प्रकार प्राइवेट कंपनी के रूप में कारबार करने से बहुत सुविधाएँ हैं। जुम्मेवारी परिमित रहती है और साथ ही ५० की संख्या तक अच्छे-अच्छे व्यक्तियों का चुनाव कर उन्हें शेअरहोल्डर बनाकर पूँजी का जुटाव किया जा सकता है। प्राइवेट कौटुंबिक कारबार का मालिक बहुत आसानी से अपने कारबार को प्राइवेट लिमिटेड कंपनी के रूप में परिवर्तित कर अपने पुत्र और पुराने विश्वासी नौकरों के हाथ में कारबार को सौंप सकता है।

इस प्रकार वाणिज्य-व्यवसाय में संगठन का काम सबसे प्रधान है। व्यापारिक प्रबंध के विचार में यह बात सबसे मुख्य है। विना भली प्रकार सोचे-विचारे फ़ुर्ती के जुटान से न-जाने क्या-क्या संकट उपस्थित हो सकते हैं। इसलिये पहले संगठन का काम भली भाँति सोच-विचार कर समुचित रूप से सम्पन्न करना चाहिए।

कारबार का स्थान और अन्य साधन

कारबार का भला-बुरा उसकी जगह पर बहुत कुछ आश्रित है। दुकान, गद्दी या आफ़िस चाहे जो कहो सबके लिये स्थान का चुनाव बहुत सोच-विचारकर करना उचित है। दुकान ऐसे मौक़े की जगह पर होनी चाहिए जहाँ ग्राहक आसानी से अधिक-से-अधिक संख्या में पहुँच सकें। चाहे भाड़ा कुछ अधिक लग जाय, पर जगह मौक़े की हो। थोड़े-से भाड़े की बचत के लिये दुकान को गली-कूचे में पीछे-ही-पीछे लेना कभी हितकर नहीं हो सकता, जहाँ ग्राहक कभी भूले-भटके ही पहुँचने पावें। इसी भाँति आफ़िस की स्थापना में कई बातों के विचार की आवश्यकता है एवं उसका विधि-विधान समुचित और अच्छे ढंग का होना चाहिए, जिससे किसी प्रकार की बदला-बदली, कमज़ोरी या उन्नति-अवनति की बात फ़ौरन् ध्यान में आ जाय। भिन्न-भिन्न विभागों का संचालन और निरीक्षण सुगमतापूर्वक हो सके और किसी भी तरह की कठिनाई न पड़े, साथ ही वायु और प्रकाश का आवागमन अच्छा हो एवं स्वास्थ्यकर स्थान हो; क्योंकि आफ़िस के कार्य-संचालन में ये बातें बहुत सहायक होंगी। मैले और अँधेरे स्थान में, जहाँ दिन के बहु भाग में भी बिजली जलानी पड़ती है, काम-काज में फ़ुर्ती और सफ़ाई नहीं आ सकती है।

इसी भाँति आफ़िस ऐसे स्थान में होनी चाहिए जहाँ उस काम की अन्य आफ़िसें हों एवं उस व्यापार का होनेवाला बाज़ार भी समीप हो, जिससे बाज़ार की घट-बढ़, तेज़ी-मंदी आदि बातें तत्काल मालूम होती रहें। जो आफ़िसें बाज़ार से दूर होती हैं, वे बाज़ार की स्थिति का अनुसरण उतनी अच्छी तरह नहीं कर सकतीं, जितनी उस कारबार के बीचो-बीच बसी हुई अन्य आफ़िसें कर सकती हैं। जगह काफ़ी होनी चाहिए और भविष्य में यदि अधिक स्थान की आवश्यकता पड़े तो स्थान बदलने की अपेक्षा वहीं अधिक जगह लिया जाना वांछनीय होगा; क्योंकि एक बार जिस स्थान पर काम जम गया एवं जो ठिकाना प्रख्यात हो गया, उस जमे हुए स्थान को बदलना अच्छा नहीं होगा। स्थान को बदलने में परिश्रम और व्यय के अतिरिक्त कई बार पुराने ग्राहकों के टूट जाने का भय रहता है। एक बात यह ज़रूर है कि जब आरंभ में थोड़े स्थान की आवश्यकता हो और निकट-भविष्य में अधिक फैलाव की कोई आवश्यकता या संभावना न हो, ऐसी दशा में पहले से ही बहुत भारी स्थान घेर लेना व्यर्थ की फ़िज़ूलख़र्ची ही होगी।

स्थान ऐसा हो, जहाँ ग्राहकों के आने-जाने में सुविधा हो। यद्यपि लिफ़्ट हो, तौ भी जैसी एक आँगन या पहले तल्ले की आफ़िस में ग्राहकों का खुला आवागमन और पूछ-ताँछ रहेगी, वैसी एक पाँचवें तल्ले पर स्थित आफ़िस के लिये आशा नहीं हो सकती। आफ़िस का भीतरी निर्माण भी बहुत सोच-विचारपूर्वक होना चाहिए। चाहे जहाँ कुर्सी-मेज़ या अन्य सामान के पड़े रहने अथवा भिन्न-भिन्न विभागों का उचित निर्माण न होने से देखने में अच्छा न लगने के अतिरिक्त कार्य में भी सुविधा नहीं रहती। सब विभागों की स्थापना इस तरह से होना चाहिए, जिससे संचालन देखने में अच्छा लगे और काम-काज, आपस की पूछ-ताँछ, आवागमन आसानी से हो सके। जिन विभागों का निकट-संबंध हो, वे एक दूसरे से सटे हुए होने चाहिए। मुख्य-मुख्य विभागों के उच्च अफ़सरों के कमरे मालिक (Proprietor) या सबसे उच्च अफ़सर (Head manager) के कमरे के समीप होने चाहिए। समूचे स्थान को छोटे-छोटे कमरों में विभाजित कर देने से प्रकाश और वायु में बाधा पहुँचेगी। इससे अलग कमरा केवल मालिक या प्रधान कार्यकर्ता का हो, जिसके काम-काज में एकांतता और गुप्तता की आवश्यकता होती है। अन्य सब आफ़िसों का निर्माण खुले स्थान में हो। हाँ, आवश्यकतानुसार छोटी छड़ें या कठघरे से भले ही विभाजित कर दिया जाय।

जहाँ बाहर से मिलने आनेवालों की संख्या बहुत रहती हो, वहाँ उनके लिये जबतक दूसरा भीतर कमरे में हो, बाहर इंतज़ारी करने के लिये एक वेटिंग रूम हो, जहाँ एक मेज़ और कुर्सियाँ हों तथा मेज़ पर व्यापार-संबंधी पत्र-पत्रिकाएँ रक्खी हों। यह बात आजकल की उत्तम आफ़िसों में बहुधा पाई जाती है।

कारबार के स्थान अथवा आफ़िस-निर्माण की इस नवीन प्रणाली के लिये बहुत यह कह दें कि इससे हमें क्या मतलब है, हमारे लिये तो हमारा पुराना ढंग ही अच्छा है, हम क्यों किसी की नक़ल करें। इस जगह थोड़ा-सा वर्णन हमारे स्थानों का, जिन्हें गद्दी या पेढ़ी कहते हैं, कहना अनुचित न होगा; क्योंकि इससे यह बात समझ में आ जायगी कि जिस प्रकार हमारे कारबार के अन्य कई ढंग अच्छे और समयानुसार नहीं हैं, उसी प्रकार यह गद्दियों का ढंग भी काम-काज की उत्तमता में सहायक नहीं। गद्दियों में मनों रुईवाले लंबे-लंबे गद्दे और मसनद-तकिए होते हैं, जो हज़ारों खटमल और कीड़ों-मकोड़ों के घर होते हैं। दोपहर में काम-काज करनेवालों का इनके सहारे इधर-उधर लुढ़क जाना अथवा ऊँघना ही कह देता है कि हमारी इस प्राचीन प्रणाली से काम-काज में फ़ुर्ती और अच्छापन कहाँ तक आ सकता है। इसी गद्दी पर एक ओर बीमार पड़ा है एवं रात को तो सब मुनीम-गुमास्ते इन्हीं गद्दियों पर सोते ही हैं। वर्ष में केवल एक या दो बार दिवाली या रामनवमी के समय गद्दे उठाकर नीचे से झाड़ना-बुहारना किया जाता है एवं कई बार सोनेवाले गद्दियाँ ख़राब तक कर देते हैं। चाँदनियाँ मैली और गंदी हो जाती हैं, पर धोबी धोकर लावेगा तब बदली जायँगी। एक बार इन चाँदनियों के बनाने में १००-१२० रुपया भले ही लग जाय, पर इनकी जगह मेज़-कुर्सी लगाकर अँगरेज़ी ढंग कौन करे। इसी भाँति यदि कोई १० से ५ बजे तक काम करने को कहे, तो मालिक चट से कह देंगे, यहाँ पर अँगरेज़ी टाइम करने से काम नहीं चलेगा। यहाँ तो रात को भी काम करना होगा। शौचादिक और ऊपर बासे में रोटी खाने का एक-डेढ़ घंटा बाद देकर सुबह से शाम तक और रात्रि के बारह (कहीं-कहीं एक दो बजे तक) मुनीम-गुमास्ते यहीं गद्दियों पर आबाद चाहिए, चाहे वे बैठे इधर-उधर गप्प लड़ाते हों, ऊँघ रहे हों, किंवा अपने दादों को खुजलाते और मसों को पपोलने में ही अधिकांश समय क्यों न बिता दें। यह बात भलीभाँति सिद्ध हो चुकी है कि उचित और नियमित काल तक काम करने से फ़ुर्ती और तेज़ी का परिमाण अधिक रहता है या न-जाने ढीलम-ढाले काम के ढंग को छोड़कर तेज़ी और फ़ुर्ती के साथ १० से ५ या ६ तक काम करने का ढंग नौकर और गुमास्तों में एवं उसी प्रकार काम लेने की तमीज़ मालिकों में कब आवेगी। भारत में मजूरों और श्रम-जीवियों के रहन-सहन और परस्थिति पर बहुत कुछ आलोचना हुआ करती है, पर इन ऊँची-ऊँची कोठियों में गद्दी या पेढ़ियों में काम करनेवाले गद्दी के कीड़ों या कीड़ों द्वारा सताये जानेवालों की दशा में भी बहुत कुछ सुधार और परिवर्तन की आवश्यकता है। इस जगह विलायत

से आये हुए एक अँगरेज़ की बातचीत का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। उसने यहाँ के ढंग को देखकर पूछा—

बड़े बाज़ार के ये कारबारी लोग कलकत्ते में अकेले रहते हैं या घर-बार-सहित ? (Mr. Barjatya! Do these people of Burrabazar live in Calcutta with their families or alone ?)

मैंने कहा—"अधिकांश अकेले रहते हैं।"(Bigger portion lives without their family.)

उसने पूछा—"घर-बार कलकत्ते से कितनी दूर है ?" (How far are their familes ?)

मैंने कहा—जितनी दूर आपके इँगलैंड का एक कोने से दूसरा कोना होगा उससे कम नहीं।" (Their native places are not much below the distance between one corner of your country to the other.)

उसने कहा—"तब वे अपने घर कैसे जाते हैं ?" (Then how do they go to their homes ?)

मैंने कहा—"वे एक-दो वर्ष बाद या तो स्वयं बीमार और काम करने में असमर्थ हो जाते हैं तब या घर पर किसी के बीमार होने की ख़बर आने पर जाते हैं।" (They visit their homes after one or two years when either they fell ill or unable to work or they hear any news of some member's illness at home.")

उसने पूछा—"तब ये लोग कहाँ रहते हैं और कहाँ सोते हैं ?" (Then where do these people live and where they sleep ?)

मैंने कहा—"रहने को तो जहाँ काम करते हैं, वहीं समझिए और सोने की उन्हें बहुत कम आवश्यकता होती। है एवं वहीं सो जाते हैं, जहाँ काम करते हैं।" (They live where they work, and as for sleeping they require a very small sleep and roll over very late in the night where they work.)

उसने कहा "ओह बड़जात्या यह कितना बुरा है।" (Oh Barjaty! a how dirty and undesi[rable] it is ?)

यह सब होने पर भी इंपोर्ट एक्सपोर्ट के काम[वाले] गद्दीवालों को भी मेज़-कुर्सी लगानी पड़ती है, क्यों[कि] बाबू (अँगरेज़ी जाननेवाला क्लर्क) एवं मिलने आ[ने]वाले साहब लोगों (विदेशियों) के लिए मेज़-कु[र्सी] चाहिए। पर यह सब उचित रीति से आफ़िस न हो[कर] गद्दी के दूसरी ओर एक कोने में मेज़-कुर्सी लगाकर काम निकाल लिया जाता है। बहुधा इन इंपो[र्ट] एक्सपोर्टवालों के काम की प्रणाली संतोषजनक नहीं[ं]। फ़ाइल का सिस्टम इतना भद्दा कि एक काग़ज़ के ढूँ[ढ़ने] में दो-चार घंटे लग जाना बड़ी बात नहीं। इसी प्र[कार] जमादार या पियून के रखने में इतनी किफ़ायत [की] जायगी कि काम पड़ने पर गुमास्ते को दौड़ाओ। स्वयं दौड़ते हुए बैंक आदि में जाओ। मिलने आ[ने]वालों के लिए एक-एक कर आने का कोई प्रबंध नहीं[ं]। एक ही साथ सबके मिलने आने से बातचीत [की] सुविधा नहीं होती और न काम ही उचित रीति [से] निपट पाता। एक बात यह होती है कि कोई किस [लिये] आया है, तो कोई क्या शिकायत लाया है—आ[दि] सबका भेद सबको एक साथ भीतर आने से प्रकट [हो] जाता है। उदाहरणार्थ समझिए कि एक दुकानदा[र] किसी इंपोर्टर के यहाँ माल के चालान लेट होने [की] शिकायत लेकर आया, और बैठा बातें कर रहा है। इ[सी] अर्से में एक और ख़रीददार आया जो माल की क्वालि[टी] के विषय में अर्थात् माल के घटिया होने की शि[का]यत करना चाहता है। इसे माल के चालान लेट होने [के] विषय में कोई विचार न था, पर वहाँ आने पर एक [और] नई और मिल गई और यह सब बातचीत करने के लि[ए] भीतर सबके एक साथ आने के कुप्रबंध के कारण सबके एक साथ मिलने आने से असुविधा और हा[नि] दोनों हैं। इसलिए अच्छे ढंग की आफ़िसों के लिये ए[क-] एक कर आने की प्रणाली बहुत ज़रूरी है। जहाँ दि[न] भर में बीसियों मिलने आते हों, वहाँ इस प्रकार [एक] साथ मिला जाय, तो एक की भी बात का सुनना [और] उसका उत्तर देना कठिन हो जायगा। हाँ, एक बात [तो] अवश्य ध्यान में रखने योग्य है कि इस तरह की प्रणा[ली] में यह न हो कि मिलने आनेवाले को बाहर घंटों [...]

ज़ारी करनी पड़े और उसकी कोई बारी ही न आवे। यद्यपि यह भी वांछनीय नहीं कि भीतर आए हुए की बात कुछ सुनी नहीं कि उसे निकाल बाहर किया जाय। यह भी नहीं चाहिए कि उससे बैठे हुए मज़े में ग़प्प लड़ा रहे हैं और बाहर खड़े हुए लोग झिलमी में से झाँक-झाँककर भीतर आने के लिये उकता रहे हैं। यदि विषय लंबा हो तो दोपहर के बाद, जिसे टिफ़िन के पीछे कहते हैं, समय नियत कर दिया जाय; जब कि अन्य आनेवालों की संख्या कम पड़ जाती हो। इस प्रकार कारबारी स्थान और अन्य साधनों के विषय की यह थोड़ी-सी चर्चा हुई। उसका समुचित वर्णन करना यहाँ संभव नहीं; क्योंकि यह भी एक ऐसा विषय है, जिस पर पाश्चात्य साहित्य में एक नहीं बीसियों ग्रंथ मौजूद हैं।

व्यापारिक आचार-व्यवहार

व्यापारिक सफलता के लिये सचाई, सच्चा व्यवहार और ईमानदारी बहुत महत्त्वपूर्ण गुण हैं। जिस प्रकार सचाई का फल जीवन के प्रत्येक कार्य में मीठा लगता है, उसी भाँति व्यापार में भी सचाई का व्यवहार अत्यंत लाभदायक है। बुरा नाम और बेईमानी की शोहरत फैलने में देर नहीं लगती और एक बार नाम ख़राब हो जाने पर सुधारना बड़ा कठिन है। इसीलिये कहा भी है—"जा जो लाख रह जो साख" अर्थात् चाहे जो हानि उठानी पड़े, पर इज़्ज़त-आबरू में बट्टा न लगे। आज व्यापार में दुनिया के साथ संबंध-संपर्क होता है और इसलिये ईमानदारी या बेईमानी की बात भी दूर देशों तक पहुँचती है। इसलिये व्यापार में सचाई के लिये नाम और ख्याति प्राप्त करना चाहिए। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सफल और समृद्ध व्यापारी सचाई के आदर्श नहीं होते तथापि यह निश्चय है कि इसका फल मीठा ही नहीं, पर स्थायी होता है। आजकल हमारे यहाँ सामनेवाले की आँख में धूल झोंकना ही व्यापारिक कला और चातुरी समझी जाती है और इसीलिये दुकानदार की भावना के लिये एक कहावत है—"आता कोई आँख का अंधा गाँठ का पूरा"। अर्थात् ऐसा बेसमझ ग्राहक आवे, जो अपने मुँह-माँगे दाम देकर चला जावे। यदि एक बार ग्राहक धोखे में आकर अनुचित दाम दे भी गया, तो इससे क्या हुआ; क्योंकि उसे मालूम हो जाने पर कि उसे ठगाई हो गई है, वह उस दुकान पर क्या फिर से चढ़ेगा। 'काठ की हंडी एक ही बार चढ़ती है' वाली कहावत व्यापार में प्रत्यक्ष चरितार्थ होती है। सचाईरूपी उत्तम गुण की अवहेलना से ऐसा मालूम होने लगा है, मानों झूठ बिना व्यापार चल ही नहीं सकता। कोई-कोई दुकानदार किसी पदार्थ के चौगुने-पचगुने दाम तक माँग बैठता है और उस समय ग्राहक बड़ी दुविधा में पड़ जाता है कि वह कहाँ तक कम मूल्य कहे, पर जैसे के साथ तैसा ही होना पड़ता है। जिस परिमाण में बढ़ाकर दाम कहे गए हैं, उसी अनुसार घटाकर जब ग्राहक दाम कहता है, तो दुकानदार क्रोधित हो जाता है। यह कितने विचार की बात है। इस जगह बचपन में देखी हुई एक सच्ची घटना का उल्लेख करना अनुचित नहीं होगा। गर्मी की छुट्टियों के दिनों में जब अपना एक आदमी दौरे पर जाने लगा, तो पिताजी ने कहा कि तुम भी साथ चले जाओ, जयपुर, आगरा आदि देख आना। मुझे इस पर बहुत ख़ुशी हुई और साथ जाने की तैयारी कर ली। जब जयपुर पहुँचे, तो वहाँ के बाज़ार में निकले। साथ जो सज्जन थे, वे बड़ी-बड़ी दाढ़ी रखते थे। इसलिये उन्होंने एक कपड़े की दुकान पर जाड़िया (दाढ़ी जमाने के लिये दाढ़ी पर बाँधने की ४-५ अंगुल चौड़ी मलमल या नैनसुख की पट्टी), जो सांगानेरी छपा हुआ था, देखा और उसके दाम पूछे। दुकानदार ने उस जाड़िया का मूल्य चार आना बताया। मेरे साथी सज्जन ने तीन पैसे कहे। चार आने की वस्तु के तीन पैसे कहने पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, पर थोड़ी देर में पता चल गया कि तीन पैसे कहना उन्होंने बुरा काम नहीं किया। दुकानदार ने पहले तो कहा—"जा-जा कांई लेवेलो कोड़ासूं डाढ़ी चेप ल्यायो है"। मुझे दुकानदार के इस अशिष्ट व्यवहार पर बड़ा क्रोध आया, पर आगे क्या होता है यह देखने के लिये चुपचाप रहा। इतने में चार पैसे कहे गए और ज्यों ही पाँच पैसे उच्चारण किए गए कि दुकानदार बोला—"आछो तो लेल्यों बोवणी ही करी"। यह हमारे यहाँ की ख़रीद बिक्री का एक साधारण दृश्य है। इस भाँति एक साधारण वस्तु की लेना-बेची में बेचने और लेनेवाले का न-जाने कितना समय व्यर्थ नष्ट किया जाता है। चाहे जितनी जाँच-पड़ताल से एक पदार्थ ख़रीदा

जाय, पर अंत में यह धोखा तो बना ही रहता है कि कहीं ठगा तो नहीं गए। पदार्थ का एक सच्चा मूल्य, जिससे कम में बेच नहीं सकते, वही यदि सर्वप्रथम कह दिया जाय तो इससे लेनेवाले का विश्वास जमा रहेगा और दोनों का समय भी व्यर्थ नहीं जायगा। जयपुर से चलकर जब हम लोग आगरा पहुँचे, तो मेरे साथी सज्जन नामी हलवाई की दुकान पर गए और एक सेर सोहनहलुआ देने को कहा। विचारने की बात है कि यहाँ पर उन्होंने भाव-ताव नहीं किया, सीधे जाते ही 'एक सेर सोहनहलुआ दो' ऐसा आदेश किया। हलवाई ने तोलकर सोहनहलुआ दिया और उन्होंने उसे एक रुपया दे दिया और चलते बने। मैंने उनसे पूछा—"यहाँ तो आपने सिरमारी नहीं की"। वे बोले—"यहाँ पर इसकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि कोई भाव करे या न करे चाहे बच्चा ही क्यों न आ जाय किंवा कोई बड़ा भारी हुशियार भाव-ताव करनेवाला आवे एक रेट रुपए सेर का बँधा हुआ है"। देखिए, दोनों तरह की दुकानदारी में कितना अंतर है। पर हमारे यहाँ सचाई एवं एक भाव की बात तो दूर रही, बोलने में मिठास और शिष्ट व्यवहार की भी बड़ी भारी कमी रहती है। कभी-कभी तो इसी भाव की ऊँचाई में लेने और देनेवाले के बीच झगड़ा-फ़साद और गाली-गलौज तक की नौबत आ जाती है।

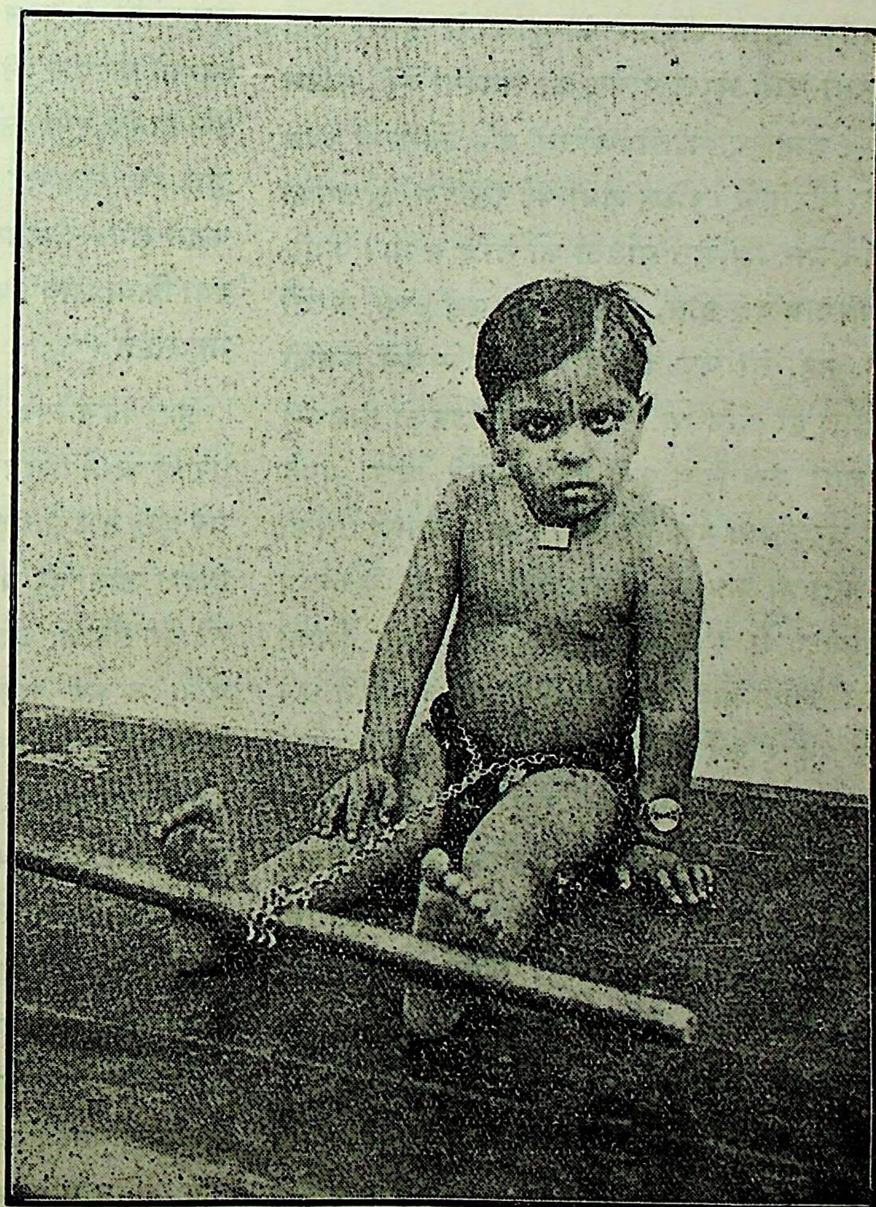
यह बात ध्यान में रखना योग्य है कि सद्व्यवहार और मिष्ट भाषण व्यापार में बड़ा काम देते हैं। कारबार को बिगाड़ना सहज और बनाना कठिन है। अशिष्ट व्यवहार कारबार को नष्ट करने में प्रधान कारण समझना चाहिए। जिस संबंध को बनाने में कई वर्ष लगे हों, उसे एक कड़ी चिट्ठी, ढीठ उत्तर या टेलीफ़ोन पर ही रूखा वार्तालाप क्षण-भर में तोड़ डालने के कारण हो जाते हैं। रक़म के तकाज़े की चिट्ठियाँ भी ठीक ढंग और चतुराईपूर्वक लिखी होने पर जैसा असर करती हैं, वैसा अन्य से नहीं। कारबार के स्थान में जहाँ इतना शोर-ग़ुल और बाहरवालों का आवागमन और उनसे मिलने का काम बहुत रहता है, वहाँ अपने स्वभाव को स्थिर और नम्र बनाए रखना वास्तव में योग्य पुरुषों का काम है। जो अपने-आप पर शासन कर सके, वही दूसरों पर शासन करने योग्य कहला सकता है। अपने घर, सभा-सोसाइटी या मित्र-मंडली में जो बड़े हँसमुख और ख़ुशमिज़ाज होते हैं, उन्हें भी बहुधा कारबार के स्थान में संगीन और मुँह चढ़ाए हुए देखा है। बहुत लोग भूल जाते हैं कि कारबार में भी शिष्ट और मि[illegible] व्यवहार की बड़ी आवश्यकता है। उग्र, रूखा [illegible] अशिष्ट व्यवहार कारबार में कदापि उचित नहीं। [illegible] ग्राहकों से ऐसा व्यवहार उनसे हाथ धोने का काम दे[illegible] पर अपने नीचे काम करनेवालों से भी भला व्यवहार करना योग्य है। जब हमारे यहाँ नीचा दाम कहने [illegible] या कोई पदार्थ नहीं ख़रीदने पर ग्राहक पर क्रोध [illegible] कर बैठते हैं। विदेशी दूकानों में देखा है कि उनके य[illegible] ग्राहक के साथ कैसा अच्छा व्यवहार और वार्तालाप कि[illegible] जाता है। वहाँ कुछ नहीं लेने पर भी यही कहा जा[illegible] "अच्छा, तो आप फिर आने की कृपा कीजिएगा" अशिष्ट व्यवहार का छोटे कारबार में ही नहीं, पर ब[illegible] कारबार में भी क्या फल होता है, इसका एक उदाहरण सच्ची घटना का दिया जाता है। थोड़े दिनों की बा[illegible] है कि एक बड़े एक्सचेंज-बैंक का मैनेजर एक बहुत [illegible] मिज़ाजवाला आया। वह एक्सचेंज के लिये उसके पा[illegible] आनेवाले दलालों और ग्राहकों के साथ बहुत अशि[illegible]ष्टता से पेश आता और बहुधा यह कह देता 'बाह[illegible] जाओ' (Go out)। बड़े-बड़े फ़र्मोंवाले, जिन[illegible] उस बैंक में भारी काम होता था, उसके व्यवहार पर बहुत असंतुष्ट हुए और फलस्वरूप उस बैंक [illegible] अपना काम कम करने लगे एवं बाहर अपने आढ़तियों को उस बैंक में हुंडी काटने की मनाही लिख दी। [illegible] आफ़िस को कारबार की इस प्रकार घटी पर बड़ा विचा[illegible] हुआ और फ़ौरन् एक डाइरेक्टर को इस बात के अन्वेषण के लिये भेजा। ग्राहकों को बुलाकर जब पूछा गया, [illegible] मालूम हुआ कि बैंक के नए मैनेजर ने अपने उग्र व्यव[illegible]हार के कारण अच्छे-अच्छे ग्राहकों को रुष्ट कर दि[illegible] है। उसने यह आश्वासन देकर कि अब फिर ऐसा न[illegible] होगा और यह कहकर कि हम आपका पुराना साह[illegible] यहाँ है, आपको किसी बात की तकलीफ़ नहीं हो[illegible] अपने काम को फिर से बढ़ाने और ग्राहकों को जुटा[illegible] की कोशिश की। इस भाँति प्रत्यक्ष है कि व्यापार [illegible] व्यवहार का अच्छा या बुरापन कितना महत्त्व रखता है।

मोहनलाल बड़जात[illegible]

बाल-महिला-मनोरंजन

१. एक होनहार बालक

यह चित्र प्रोफ़ेसर के० के० शा० जैन सेंडो पाटनवालों के चिरंजीवि पुत्र चंपकलाल का है। जिसकी अवस्था इस समय सिर्फ़ ३½ वर्ष की है। ता० ७-३-२८ के दिवस पाटन-शहर (उत्तर गुजरात) के जैन-बोर्डिंग हाउस के विशाल मैदान में ३,५०० जनता के समक्ष १३५ रतल को झेल सकनेवाली शृंखला इस बाल सेंडा ने तोड़ी थी। पश्चात् इसके कोमल नन्हे शरीर के ऊपर से एक गाड़ी (विना आदमियों की) भी निकाली गई थी। इस समय जनता के चेहरों पर तो भय की रेखा का चित्र मालूम पड़ता था, परंतु बालक का मुख-कमल अधिक तेजस्वी और रम्य बना हुआ देखते ही बनता था। इसके उपलक्ष में



बालक चंपकलाल

जवेरी हेमचंद मोहनलाल पाटनवालों की तरफ़ से इसको एक सुवर्णपदक समर्पण करने में आया था।

(प्राप्त)

× × ×

२. अनोखी सूझ

भगवानपुर ग्राम में रमेश शर्मा नाम का निर्धन ब्राह्मण रहता था। पत्नी और एक पुत्र के सिवा उसके दूसरा कोई न था। उसकी स्त्री सुभद्रा जीविकाहीन परिवार के दुःख से दुःखी रहा करती थी। भरण-पोषण की समस्या बड़ी कठिन थी। दोनों शाम को भोजन की चिंता में व्यग्र रहा करते थे। रमेश शर्मा पढ़े-लिखे न थे, उनका मान और शिक्षित पंडितों की तरह न था। कभी-कभी जब यज्ञ होते, तब उनकी पूछ हुआ करती थी, नहीं तो बड़े-बड़े पंडितों के सामने उनको पूछता ही कौन था। जिस दिन उनको निमंत्रण मिलता, उस दिन फूले नहीं समाते, और अपने को धन्य-धन्य मानते थे; पर ऐसा सुअवसर उनको मिलता ही कब था। भिक्षावृत्ति उनकी एकमात्र जीविका थी। प्रतिदिन ग्राम में जाकर भिक्षा माँग लाते और अपना भरण-पोषण करते थे। इस प्रकार कई वर्ष बीत गए।

रमेश की आर्थिकावस्था बुरी तो थी; परंतु रमेश सरल स्वभाव से रहकर जीवन-निर्वाह करता था। चालबाज़ी और ठगी वह जानता ही नहीं था। माता की ममता अपने बालकों पर जैसी हुआ करती है, उसी के अनुसार सुभद्रा का प्रेम अपने एकमात्र लाल पर बहुत अधिक था। उसे बड़ा होते देख माँ के मन में जो सद्भाव उत्पन्न होते थे, उसे लिखना कठिन है। बालक कुमारावस्था को प्राप्त कर चुका था। माताओं की लालसा जिस प्रकार पुत्र-वधू का मुख देखने को होती है, उसी तरह सुभद्रा नवविवाहि[ता] पुत्र-वधू का मुख-मंडल देखने के लिये अधीर थी। एक दिन रमेश शर्मा से कहने लगी—"मेरा ला[ल] आँखों का तारा, प्राणों का प्यारा, बुढ़ापे का सहारा—अब प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुका। अब आपको विलंब न करना चाहिए। उपनय[न] तथा विवाह का शीघ्र प्रबंध न होगा, तो समा[ज] में बड़ी बदनामी होगी और लोग उपहास करें[गे]। हम लोगों के पास धन नहीं, न सम्पत्ति है जि[से] गिरवी रखकर भी काम चलाया जाय। आ[प] इस समय क्या सोच रहे हैं......" रमेश श[र्मा] कुछ देर निरुत्तर हो बैठे रहे। कुछ देर बा[द] कहने लगे—"भगवान् की ऐसी ही दया हो, तो क्या किया जाय! वह सबका मालिक है, उसी का भरोसा है।"

कुछ दिन बाद सुभद्रा से सम्मति लेकर रमे[श] घर से अर्थोपार्जन करने के लिये निकला। प्या[रा] घर छोड़ते उसे बड़ा मोह आया; पर बाध्य हो[कर] विदेश जाना ही पड़ा। कुछ दूर जाकर, प्रेमार्द्र हो घर लौटना चाहा; परंतु लोक-लज्जा के भय से ऐसा न कर सका। संध्या-समय घर लौटकर आने पर पुत्र-पिता का सहभोज, बच्चे का स्म[रण] स्मरण करते-करते उसकी आँखें आँसुओं से भर गईं। परंतु क्या करता, जाना ही था। इस तरह भाँति-भाँति का संकल्प-विकल्प करता करता, वह कई दिनों के बाद एक नगर में पहुँचा। नगर में प्रतिदिन घूम-घूम वह भिक्षाटन करता और संध्या-समय जो कुछ मिलता, बेचकर पैसे इकट्ठा करता। ज्यों-ज्यों उसे कुछ मिलने लगा, वह कठिन परिश्रम करने लगा। इस प्रकार उसने कुछ रुपया इकट्ठा कर लिया। निर्धन होने

कारण और कठिन परिश्रम से उपार्जित धन की रक्षा बड़ी सावधानी से करता था। रात को सजग होकर सोता और आधा पेट खा-खाकर धन-संग्रह करता था। उसको इस बात की बड़ी फ़िक्र थी कि किसी पर यह विदित न होने पावे कि उसके पास रुपए हैं। वह एकांत में स्नान करता था और कमर में एक झोली बाँधकर रुपए रखा करता था। एक दिन वह बहुत दूर निकल गया और कहीं दूसरी जगह रह जाना पड़ा। प्रातःकाल एक निर्जन स्थान में वह स्नान करने गया। कोई देख न ले, इसलिये बहुत जल्दी-जल्दी स्नान कर रहा था। अकस्मात् उसकी थैली कुएँ में गिर पड़ी। अब क्या था—'मणि बिनु फणि की' हालत हो गई, वह अधीर हो गया। वह नीचे-ऊपर देखता, कुएँ के चारो ओर घूमता, छाती पीटता और हाय! हाय! करता था; पर वहाँ उसका कोई सहायक न था। वह स्थान ग्राम से दूर था। कुछ देर बाद एक केवट गउओं को चराता, कुछ दूर पर दीख पड़ा। उसकी नज़र उस ब्राह्मण पर पड़ी। उसकी व्यग्रता देखकर वह दौड़ा-दौड़ा आया। ब्राह्मण की बेचैनी का कारण बार-बार उत्सुकतापूर्वक पूछा। ब्राह्मण डर गया और सोचने लगा, इसने सब कुछ देख लिया और सब दिन की कमाई चली गई। बार-बार पूछने पर जब वह ब्राह्मण डर के मारे नहीं बताता था, तब वह चरवाहा उसे पागल समझकर लौट जाना चाहा। अब अपना कोई सहायक न देखकर ब्राह्मण डरता-डरता सारी कहानी कह सुनाई। ५००) की थैली का हाल भी अंत में कह दिया। रमेश बार-बार उससे आग्रह करता कि वह थैली निकाल दे, परंतु कुएँ की भयानकता उसे डरा देती थी। अंत में ब्राह्मण ने सोचा कि आख़िर तो थैली जा ही रही है, इसे कुछ दे देने की लालच दूँ। केवट लालच देने पर राज़ी हुआ; परंतु वह क्या लेगा, इस पर बहुत देर विवाद चला। अंत में यह निश्चय हुआ कि जो वह उचित समझेगा, वह ब्राह्मण को देगा। ब्राह्मण ने लाचार होकर इस शर्त को मान लिया, पर केवट ने इसकी लिखा-पढ़ी करा लेना चाही; क्योंकि उसको इस बात की आशंका रही कि पीछे बखेड़ा उपस्थित होगा। एक शर्तनामा तैयार हुआ, जो इस प्रकार था—

"जो केवट मन भावे, सोई ब्राह्मण पावे।"

केवट उस थैली को निकालने के लिये पानी में डूबा, थैली निकाल लाया। ब्राह्मण थैली देखते ही हर्षित हुआ और थैली अपने हाथ में ले लेनी चाही। केवट भी कम चतुर नहीं था। केवट ने थैली का रुपया गिना और उसमें से २५) पंडित को देना चाहा। रमेश हाय-हाय कर धरती पर गिर पड़ा और छाती पीटने लगा। अंत में यह मामला गाँव के मुखिया के पास उपस्थित किया गया और शर्तनामे के अनुसार केवट की डिगरी हुई। ब्राह्मण उस न्याय से संतुष्ट न हुआ और दूसरे न्यायकर्ता के यहाँ जाने का आग्रह किया। दोनों ने एक न्यायकर्ता के सामने अपने-अपने बयान दिए और फिर भी डिगरी केवट की हुई। सबों ने डिगरी उसी शर्तनामे के आधार पर दी। केवट ने अब रुपए ले लेने चाहे। रमेश फिर छटपटाने लगा और फिर से आग्रह किया कि किसी दक्ष न्यायी के पास चलना चाहिए। केवट राज़ी न होता था, परंतु बहुत कहने-सुनने पर राज़ी हुआ।

घूमते-घूमते वे एक पंडित के दरवाज़े पर पहुँचे, जिसकी ख्याति न्याय के लिये प्रसिद्ध थी। उनके सामने सब बातें पेश की गईं। पंडितजी

किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गए, क्या करें, क्या न करें। इसी विचार-सागर में पड़े-पड़े चिंतित थे। दूसरे दिन फ़ैसला सुनाना था। क्या निर्णय करें कुछ सूझ नहीं पड़ता था। शर्तनामा, परिस्थिति जिसमें वह लिखा गया था तथा दो न्यायकर्ताओं की डिगरी आदि पर विचार कर निर्णय सुनाना टेढ़ी खीर थी। इसी विचार में लीन हो पड़े थे। उनका लड़का गणेशशंकर प्रखर बुद्धिवाला था। पिता की चिंता उसके लिये असह्य थी। पिता की चिंता का कारण जानकर उसको एक बात सूझ पड़ी। उसने पिता से कहा—"शर्तनामा सत्य है। ब्राह्मण ने बाध्य होकर उसे लिखा है और शर्तनामा स्पष्ट बतलाता है—"जो केवट मन भावे" अर्थात् जितना केवट को ले लेने की इच्छा हो, वही ब्राह्मण को मिले। अर्थात् केवट २५) ब्राह्मण को देकर सब अपने लिये ले लेना चाहता है, यही रक़म अर्थात् ४७५) ब्राह्मण को मिलेंगे और २५) केवट को।" गणेशशंकर के इस तर्क को सुनकर पिता आह्लादित हो उठे और उसे हृदय से लगा लिया। दूसरे दिन जब मामला पेश हुआ, तो पंडितजी ने उस शर्तनामे की सत्यता के विषय में बार-बार पूछा और केवट ने प्रत्येक बार उसे सच बतलाया और कहा कि मेरा न्याय वही करेगा। पंडितजी ने जब अपना निर्णय पढ़ सुनाया, तो केवट के होश उड़ गए और अपने दुर्भाग्य पर पश्चात्ताप करने लगा। रमेश शर्मा ने न्याय की दुहाई और भगवान् को धन्यवाद देकर अपने घर के लिये प्रस्थान किया।

लड़को, देखा गणेशशंकर की प्रखर बुद्धि! किस चतुराई से उसने काम किया। अगर तुम भी उसी तरह अग्रसोची बनोगे, तो लोग तुम्हारी भी प्रशंसा करेंगे।

लक्ष्मीनारायणसिंह

× × ×

३. चोरी

१

चोरी करना महापाप है,
इसे बालको छोड़ो तुम;
हुआ पूर्व जो उसे भूलकर,
अब इससे मुख मोड़ो तुम।

२

झूठ कपट छल आदिक अवगुण,
अति दुखदायी पाओगे;
निजकुल कुलांगार होओगे,
और कुपुत्र कहाओगे।

३

छोड़ोगे यदि नहीं कभी तो,
बन्दी-गृह तुम जाओगे;
कुल-मर्यादा मातु-पिता की,
भावी आश मिटाओगे।

४

पतित नीच से नीच तुम्हें,
सब दुर्गुण का घर समझेंगे;
आदर नहीं करेंगे अपने
पास न वे आने देंगे।

५

छोड़ो चोरी से दुर्गुण को,
बनो सद्गुणी प्यारे लाल।
चोरी से तुम डरो सदा ही,
समझो इसे भयंकर काल।

६

महापतित यह कार्य-हानि अति,
होती इसके करने से;
त्याज्य कार्य है यह हे बालक,
पाओगे सुख तजने से।

७

प्यार करेंगे तुमको सज्जन,
कुल-गौरव कहलाओगे;
उदाहरण होओगे सबका,
आदर सबसे पाओगे।

८

धन आदिक सब हर्ष सहित
तुम पर भेंट चढ़ावेंगे;
प्रमुदित होंगे देख तुम्हारे
गुण सर्वत्र सुनावेंगे।

हरिश्चंद्रप्रसाद "इंदु"

× × ×

४. स्वच्छता

कालूराम बड़ा मैला लड़का था। वह न तो कभी नहाता ही था और न अपने शरीर का मैल ही छुटाता था। उसकी माँ जब कभी नहलाने को बुलाती, तो रोकर बाहर भाग जाया करता था। यद्यपि कालूराम शरीर का गोरा था, तो भी उसके हाथों-पाँवों पर इतना मैल जमा रहता था कि कोई उसके गोरे शरीर को देख ही न पाता था। ठंड के दिनों में तो वह ठंडे पानी की कौन कहे, गरम पानी से भी पक्का वैर कर लेता था। जब शरीर को पानी के पास ही नहीं जाने देता था, तब मैल दूर होगा ही कैसे? परिणाम यह होता था कि उसके हाथ मैल के कारण फट जाते थे। जगह-जगह से लहू निकलने लगता था, असह्य पीड़ा होती थी। रोता था, चिल्लाता था; किंतु मैल को दूर नहीं करने देता था। शायद उसका यह अनुमान था कि देह का मैल निकल जाने से मैं दुबला-पतला पड़ जाऊँगा।

जब कालूराम के शरीर का यह हाल था, तब उसके कपड़े कैसे रहते होंगे, यह बात थोड़ा ही सोचने से समझ में आजाती है। कपड़े क्या थे, मैल का पूरा घर। जैसे तुम लोगों ने तेलियों या हलवाइयों के कपड़े देखे होंगे, जो अपना रोज़गार करते समय पहन लेते हैं। उसके कपड़ों से ऐसी बदबू आने लगती थी कि कोई उसे अपने पास बैठने तक को नहीं कहता था। आज कालूराम को नया कपड़ा पहनाया। बस, दो घंटे बाद देख लो, वह भी पहले के कपड़ों के समान काला। कारण यह था कि वह हमेशा धूल मे खेला करता था और उसी से अपना शरीर तथा कपड़े मैले कर डालता था।

एक दिन नगर में सरकस गया। गाँव भर में विज्ञापन बाँटे गए। कई मनुष्य उसे देखने के लिये चल पड़े। कालूराम का मामा शोभालाल भी अपनी बग्गी सहीस से जुतवाकर सरकस देखने चल दिया। रास्ते में कालूराम खेलता मिल गया। शोभालाल ने विचार किया, चलो इसे भी साथ लेते चलें। किंतु उसका मैलापन देखकर वह पास ही वाले मकान के सामने बग्घी खड़ी कर भीतर चला गया और अपनी बहन से बोला—शांता, यदि तुम कालूराम को जल्द। साफ़ कपड़े पहनाकर तथा उसका मैल अलग कर मेरे साथ सरकस देखने भेज सको, तो भेज दो।

शांता ने कहा—भैया, मुझे कालूराम के भेजने में कोई दिक़्क़त नहीं है; पर क्या वह जल्दी साफ़ हो सकता है। उसे साफ़ करने को पूरे पाँच घंटे से कम न लगेंगे। अब तो शोभालाल को अपना विचार बदलना पड़ा और चुपचाप लौटकर अपनी बग्घी पर आ बैठा। सहीस ने घोड़ों को सरकस की ओर बढ़ाया।

मामा को घर में जाते देख कालूराम भी उसके

साथ-साथ पीछे चला गया था। वहाँ माँ और मामा की बातचीत सुन बोला—माँ, मैं तो सरकस देखने जाऊँगा। उसकी माँ ने कहा—तुम्हारे मामा कह गए हैं कि जब कल्लू सफ़ाई से रहना सीख जावेगा, तब उसे सरकस दिखाने ले जाऊँगा। बेचारा क्या करता, रोते-रोते कहने लगा—माँ, मैं आज से कभी मैला न रहूँगा। लो, अपने दोनों कान पकड़ता हूँ माँ। कल ही सारी देह बिलकुल साफ़ कर लूँगा, फिर मामा के साथ सरकस देखने भेज देना माँ! शांता उसकी बात पर राज़ी हो गई।

सवेरा होते ही कालूराम साबुन लेकर मैल छुड़ाने बैठ गया। सारे शरीर का मैल अलग कर उसने अपने बाल बनवाए, नाख़ून कटवाए, सिर में तेल डाला, साफ़ कपड़े पहने, फिर मामा के पास जाकर बोला—लो मामाजी, मैंने कल ही से प्रण कर लिया है कि कभी मैलेपन से न रहूँगा। देखो, आज मैंने ही अपने हाथों से सब सफ़ाई की है। कहो, अब तो सरकस दिखाने को चलोगे न?

मामा ने ज़रूर कहते हुए कालूराम को अपनी गोद में उठाकर बैठा लिया और कहा—भैया, स्वच्छता संसार में सबसे अच्छी चीज़ है। यदि तुम स्वच्छ रहोगे, तो तुम्हें कोई बीमारी न हो सकेगी। मनुष्य के मैलेपन के ही कारण उसे तरह-तरह की बीमारियाँ होती हैं। यदि तुम भी कल इसी प्रकार साफ़ होते तो मेरे साथ सरकस देखने न चलते। अच्छा, अब आज तुमको ज़रूर वहाँ लिवा ले चलूँगा?

बोलो बच्चो, तुम्हें क्या पसंद है?

हरिप्रसाद द्विवेदी "श्रीहरि"

× × ×

५. फूल

हरी लताओं की क्यारी में;
शुचि शाखाओं की डारी में।
अहा! फूल तुम खिलते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
शीतल-मन्द पवन से मिलकर;
महँकाते उपवन खिल-खिल कर।
,खूब किलोलें करते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
भ्रमरों को पीयूष पिलाते;
थके हुओं की थकन मिटाते।
दुखियों के दुख हरते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
शोभित करते हाथ किसी के;
बन जाते हिय-हार किसी के।
देवों के सर चढ़ते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।
फूल! बड़े तुम भाग्यवान हो;
"सुकवि नेह" सुषमा-निधान हो।
विश्व-विमोहित करते हो;
बड़े मनोहर लगते हो।

शंभूदयाल त्रिपाठी "नेह"

× × ×

६. झोपड़ी से महल

एक राजा था। उसे कहानियाँ सुनने का बड़ा शौक़ था। जो कोई भी चाहता, उसे एक कहानी सुना आता और इनाम लेकर घर लौटता। उसी राज्य में एक बहुत ग़रीब ब्राह्मण रहता था। एक दिन ब्राह्मणी ने कहा—"व्यर्थ पड़े रहते हो, यदि कुछ काम-धंधा करना नहीं है तो राजा को एक कहानी सुनाकर ही कुछ क्यों नहीं ले आते!"

ब्राह्मण ने कहा—"मुझे कहानी भी तो नहीं आती।"

ब्राह्मणी बोली—"कोई हर्ज नहीं; जाओ, जो कुछ रास्ते में देखना वही राजा को सुना देना।"

ब्राह्मण कहानी सुनाने के लिये दरबार की ओर चला। राह में देखा कि एक चूहा बिल खोद रहा है। बस, तुरत उसने बनाया—

खोदत है भई खोदत है।

आगे जाने पर एक साँप को कुंडली मारकर बैठे हुए देख, उसने कहा—

उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।

फिर आगे बढ़ा। कुछ ही दूर जाने पर उसे एक सारस दिखलाई पड़ा। ब्राह्मण तुरत चिल्ला उठा—

मूँड़ उठाए देखत है।

आगे जाने पर राजमहल से धन्नूशाह को निकलते देखकर ब्राह्मण ने कहा—

धन्नूशाह भई धन्नूशाह।

राजा के पास पहुँचकर ब्राह्मण ने यों कहानी सुनाई—

खोदत है भई खोदत है।
उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।
मूँड़ उठाए देखत है।
धन्नूशाह भाई धन्नूशाह।

कहानी सुनकर राजा हँसने लगा। ख़ज़ांची को बुलवाया और ब्राह्मण को पाँच सौ रुपए देकर बिदा किया। वह उस ब्राह्मण की सरलता पर बहुत प्रसन्न हुआ।

धन्नूशाह ने जब यह बात सुनी, तो बहुत क्रोधित हुआ। सोचा—"हम लोग बराबर राजा की ग़ुलामी करते-करते थक गए, मगर आज तक फूटी कौड़ी नसीब नहीं हुई; और आज इस नाचीज़ ब्राह्मण को केवल दो-चार बातें कह देने के लिये पाँच सौ रुपए मिले। चलो राजा के घर में चोरी करें।"

ऐसा विचारकर उसी दिन रात में धन्नूशाह राजा के घर में चोरी करने गया। सेंध देने लगा, तब तक उसने राजा की बोली सुनी। बात यह थी कि राजा अपनी रानी को वही कहानी सुना रहा था, जो ब्राह्मण ने उसे सुनाई थी। राजा ने रानी से कहा—

खोदत है भई खोदत है।

धन्नूशाह ने सुना—तो होश उड़ गए। समझा, 'राजा ने मुझे देख लिया।' तब तक राजा ने फिर कहा—

उकरूँ-मुकरूँ बैठा है।

धन्नूशाह सिर उठाकर देखने लगा। तब राजा ने कहा—

मूँड़ उठाए देखत है।

धन्नूशाह बहुत डर गया और थरथर काँपने लगा। तब तक राजा ने फिर कहा—

धन्नूशाह भाई धन्नूशाह।

अब तो धन्नूशाह के शरीर में काटो, तो ख़ून नहीं। कोड़ने के हथियार आदि तो वहीं छोड़ दिए और घर भाग गया।

दूसरे दिन धन्नूशाह ने राजा के आगे अपना क़सूर स्वयं जाकर क़बूल कर लिया; क्योंकि उसे विश्वास था कि राजा ने मुझे देख लिया है और ज़रूर पकड़वा मँगावेगा। उसने राजा के आगे हाथ जोड़कर कहा—"हुज़ूर! मैं कल रात में आपके महल में सेंध देने गया था—सो आपने मुझे देख लिया। अब कृपाकर इस बार मुझे माफ़ कर दें, फिर ऐसी ग़लती कभी न होगी। मैं हाथ जोड़ता हूँ, पैर पड़ता हूँ—इस बार मुझे क्षमा की भीख मिलनी चाहिए।"

ग़रीब ब्राह्मण की कहानी के कारण आज राजा का ख़ज़ाना लूटने से बचा। राजा तो रानी

को कहानी सुना रहे थे और उससे चोर पकड़ा गया। राजा ने धन्नूशाह को माफ़ कर दिया और उस ब्राह्मण को बुलवाकर उसे पाँच हज़ार रुपए इनाम दिए। ग़रीब ब्राह्मण को इतने रुपए मिले, तो फूला अंग नहीं समाया। तुरत घर गया और ब्राह्मणी के आगे रुपए उँडेल दिए। उस दिन से दोनों सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ दिनों में उनकी झोपड़ी के स्थान पर एक सुंदर महल बन गया।

श्रीजगन्नाथप्रसादसिंह

× × ×

७. मुक्ताओं का मोल

नयन के मुक्ताओं का मोल—
कहाँ है? बता गाँठ को खोल?
'नहीं', तब क्या लेकर, अनजान!
चला है करने को व्यापार?
वेदनाओं का क्रोड़ागार—
बनाने मेरा मधुमय प्यार
कहा क्या—'हैं बूँदें दो-चार,
भला इनका भी मोल?' अपार,
अरे! इनमें अतीत की याद—
उमड़ती है बन पारावार—
शरद का वह अतृप्त अभिसार,
मिलन की वे घड़ियाँ सुकुमार,
प्राणधन की वह निर्मम खोट,
कुसुमशर के फूलों का चोट॥
समाए हैं इनमें ही आन—
अमिट, पर हो अदृश्य तस्वीर—
कामनाओं के घूँट अधीर,
विरह के मीठे तीखे तीर॥
अरे! कुछ समझा इनका दाम?
'यही होगा दो-चार छदाम,
करूँगा क्या पर इन्हें ख़रीद?'
बजाता है क्या मुँह का ढोल?
मूढ़! यदि रखे हृदय को खोल,
न होगा तब भी इनका मोल॥

कुमारी गंगादेवी भार्गव "छलना"

× × ×

८. एक स्वप्नमय आवेश में

धीरे-धीरे क्षितिज को फाड़कर पूर्णिमा चंद्रदेव चारों ओर अपनी स्निग्ध शुभ्र किरणों की पुष्प-वर्षा करते हुए ऊपर उठ रहे थे। सारा आकाश ज्योत्स्ना से प्लावित हो रहा था। सुंदर नभ में इधर-उधर नक्षत्रों की क्षीण ज्योति ऐसी मालूम पड़ती थी कि उनमें जीवनी शक्ति है ही नहीं—निशापति ने मानों उनका आलोक हरण कर लिया हो! कोएल नदी का निर्मल और स्फटिक के-ऐसा स्वच्छ जल उस चंद्रालोक में गलित रजतधारा की भाँति देख पड़ता था। क्षुद्रा तटिनी मृदु मंजुल कलकल ध्वनि करती हुई बही चली जा रही थी। छोटी-छोटी लहरें आपस में टकराकर खिल-खिलाकर हँसती हुई नदी के वक्ष में लोट रही थीं। नदी के अल्प आलोड़ित जल में पूर्णेन्दु, नक्षत्रों और तुषार-धवल बादलों के छोटे-छोटे टुकड़ों की मनोहर प्रतिच्छाया पड़ रही थी। मेरी आँखें उस मृदु कंपित नदीवक्ष की ओर इस तरह निबद्ध थीं, मानों वहाँ पर रहस्यमय और स्वप्नमय कोई अपूर्व सुंदर चित्र देख रही हूँ! ऊपर अनंत, असीम अंबर और नीचे विशाल पृथ्वी। उस उज्ज्वल चंद्रालोक में एक स्वर्गीय आभा से मंडित-सी देख पड़ती थी। चारों ओर अपूर्व शांति तथा पूर्ण निस्तब्धता विराज रही थी। वह दृश्य अलौकिक, वह समय अपार्थिव था।

उस ज्योत्स्नामयी रात्रि के-ऐसा सुंदर, शांति-मय और गंभीरतापूर्ण और कोई भी चीज़ मैंने नहीं देखी है। सत्य है—जगत् इससे बढ़कर और दिखा ही क्या सकता है? ओह, यह गंभीर और सुंदर दृश्य! परमेश्वर! तुमने मेरी आँखों के सामने शांति, सौंदर्य और गभीरता का यह भंडार क्यों खोल दिया है? मेरी पार्थिव आँखें इस अपूर्व महान् भाव को, प्रकृति के इस नैसर्गिक सौंदर्य को सह नहीं सकतीं। तो भी, तो मैं प्रकृति के इस मोहिनी दृश्य में निबद्ध अपनी दृष्टि दूसरी ओर फेर नहीं सकता हूँ। किसी सुंदर स्वप्न के-ऐसा ही मधुर, मंजुल, कोमल, विचित्र और आवेशमय था वह दृश्य!

नदी के किनारे एक चिकने चट्टान पर निर्वाक् मंत्रमुग्ध-सी मैं बैठी थी। निर्वाक्? हाँ, संपूर्ण रूप से निर्वाक् थी मैं—एक बात भी मेरे ओठों से बाहर नहीं आई। फिर भी, बातों का प्रयोजन ही क्या? इस परिपूर्ण निस्तब्धता में ही मुझे एक मधुर आलाप सुन पड़ा। नदी, वृक्ष, फूल, पत्तियाँ, आकाश और स्वयं प्रकृति-देवी भी नीरव भाषा में मनोहर आलापन कर रही है। सारा विश्व नीरव संकेतों से परिपूर्ण हो रहा है। यदि सुन सको, तो सुनो; परंतु इस विचित्र सुंदर आलाप को अपनी पार्थिव भाषा से बाधा मत प्रदान करो। इस गंभीर निस्तब्धता को क्यों अपनी साधारण बातों से तुम नष्ट करोगे? क्या प्रयोजन है इसका? और उस परिपूर्ण नीरवता में तुम्हारी अपनी बातें ही अजीब-सी मालूम पड़ेंगी। सारी प्रकृति का नीरव हास्य तुमको इस रुढ़ता के लिये ठट्ठा करेगा! आह, अपने को भूल जाओ इस समय—अरे क्षण-भर के लिये भी तो पार्थिव वस्तुओं की चिंता छोड़ो। प्रकृति की आत्मा में अपनी सत्ता को डुबा दो। अपने अंतरतम प्रदेश में सुप्त चेतना को अब जगाओ—जागने का उपयुक्त समय तो यही है। आँखें खोलकर देखो कि प्रकृति तुम्हें क्या दिखा रही है! सारी जगह में छाए हुए इस सौंदर्य से अपने चित्त को भर लो। अहा! ज़रा प्रकृति की नीरव संगीत को तो सुन लो! सारे वायुमंडल में इस अपूर्व गीति की मंजु गुंजनध्वनि काँपती हुई बह जा रही है। परंतु हाय, कोई उसे सुनते ही नहीं! क्या यह मृदु मधुर संगीत वृथा ही मेरे पास से होकर चली जायगी? हाय मानव! क्षण-मात्र के लिये भी तो अनुभव करो कि एक ही स्वर्ण सूत्र में तुम्हारी और प्रकृति की आत्मा ग्रथित है! तब किसलिये तुम प्रकृति की अवमानना कर रहे हो, मानव?

चारों ओर आनंद और सौंदर्य की लहरें उमड़ रही थीं; परंतु यह क्या! इस आनंद में दुःख की कणें क्यों मिश्रित हैं? मेरे चारों तरफ़ आनंद का प्रस्तवन बह रहा था, परंतु मेरे मन में शोक की यह छाया किधर से आ पड़ी? प्रत्यक्ष अनुभूत हुआ कि इस आनंद के बीच में भी प्रकृति-देवी अपनी मानव-संतानों की अव-हेला के कारण मर्मपीड़िता हो रही है। हाय मानव! क्यों अपनी प्रकृतिमाता को दुःख देते हो? क्षणस्थायी है तुम्हारा जीवन, तो क्यों इस अल्प समय के लिये भी अपनी चिरस्नेहमयी माता को कष्ट देते हो? क्या है तुम्हारा जीवन? किसका गर्व तुम करते हो मानव? उस असीम राज्य से क्षण-भर के लिये अतिथि के-ऐसा यहाँ आए हो। यह तुम्हारा अपना घर है थोड़े? फिर भी तो अपनी प्रकृतिमाता के गोद में सोना पड़ेगा, जब जीवन के युद्ध से क्षतविक्षत और

श्रांत होकर मृत्यु की गोद में ढल पड़ना चाहोगे, तब एकमात्र वे ही स्नेहमयी माता के-ऐसा अपनी छाती से लपेटकर तुम्हारे तप्त ललाट पर अपना स्निग्धशीतल हाथ फेर देगी, तुम्हें सांत्वना, शक्ति, उत्साह केवल वही देगी और देंगे वे परम पिता जो नित्य तुम्हारा कल्याण चाहते हैं और जिनके सामने इस जीवन का अवसान होने पर तुम्हें जाना ही होगा। तब क्यों क्षणिक घमण्ड में आकर उनकी अवहेलना करते हो तुम ? तुम्हारा जीवन तो पानी का बुद्बुद है । शरद् की मेघ-मालाओं की भाँति, ग्रीष्मकाल के वाष्प के-ऐसा यह जीवन तो तुरंत ही अदृश्य हो जायगा, तब पार्थिव बंधनों पर व्यर्थ ही घमंड कर रहे हो। जब अनंत के सुस्पष्ट आह्वान को सुन-कर यह आत्मा अपने चिरप्रिय घर को लौटने के लिये उन्मुख हो उठती है, उस समय क्या कोई भी पार्थिव आकर्षण इसे रोक सकता है ? जब उषादेवी की कोमल अरुणाङ्गुलियों के स्निग्ध स्पर्श से स्फुटोन्मुख गुलाब अपने दलों को खोल देता है, उस समय क्या कुछ भी उसे खिलने से रोक सकता है ? सुंदर वसंत के आगमन से पक्षियों की मधुर स्वागत-गीति से वायुमण्डल जब परिपूर्ण हो जाता है, तब क्या किसी बाधा के कारण भी पक्षियों की वह आनंद-काकली रुक सकती है ? ठीक इसी तरह इस शुष्क संसार के दुःखशोक के उपरांत मानव-आत्मा जब असीम आनंदलोक में प्रवेश करने के लिये उत्सुक हो उठती है, तब वह किसी भी पार्थिव बाधाविघ्न के कारण नहीं रुकती। तब हे मानव! किसलिये संसार की माया में जकड़े पड़े हो और पार्थिव बंधनों का गर्व करते हो ?

यह संसार मृगतृष्णा के समान अलीक है। यथार्थ सुख इस संसार में कहाँ ? हाय ! च और ही इस जीवन की अनित्यता और सं की असारता दीख पड़ती है। नवीन जीवन परिपूर्णता में मानव-मृत्यु की छाया का अनु कर काँप उठता है। स्फुटोन्मुख सौंदर्य यौवनकाल में मनुष्य के मन में न-जाने क्यों वृ वस्था की बातें जाग उठती हैं ! सूर्योदय के सा ही-साथ मनुष्य सूर्यास्त के विषय सोचता जन्म के साथ ही मृत्यु की चिंता हृदय में जा है। जीवन और मरण इस प्रकार उलझे हुए कि उनको पृथक् करना मानवशक्ति के बाहर है।

सूर्योदय और सूर्यास्त—हाँ, वहीं पर तो ह मानव-जीवन के आरंभ और अन्त, पा आनंदों के उदय और अस्त को देख पाते उगता हुआ बालारुण मानव के जन्म की सू देता है और अस्ताचलगामी तपन मनुष्य पार्थिव जीवन के अवसान को अत्यंत स्पष्ट से दिखला देता है।

प्रकृति के उस अर्द्ध-विकसित अपूर्व सौंदर्य बीच बैठकर मैंने इस सत्य को तीव्र भाव अनुभव किया—क्यों हम लोगों का जन्म हो है ? किसलिये हम लोग इस पृथ्वी में आ हैं ? और जब आते ही हैं, तब क्यों निष्ठुर का के कराल कवल में हम जा गिरते हैं—ठीक उ समय जब कि हम पार्थिव वस्तुओं को पकड़ और अपने जीवन के उद्देश्य को सोच निकाल चाहते हैं ! कौन इस पहेली का उत्तर देगा ! अपूर्व संसार में जीवन-मरण के इस अद्भुत रह का पार कौन लगावेगा ? मनुष्य कितना सोचे, परंतु वह इस रहस्य का पता कभी लगा सकेगा। जितना ही अधिक सोचेगा, उत ही उसकी चिंताजालें उलझती जायँगी, और

स्वयं ही उसमें इस प्रकार फँस जायगा कि छुटकारा पाना मुश्किल होगा ! इस प्रकार सोचने और तर्क-वितर्क करने से वह कदापि भी अपने चिंतासूत्र के शेष किनारे तक नहीं पहुँच सकेगा। इस चिंताजाल से छुटकारा पाने का केवल एक ही उपाय है कि ईश्वर में अपने मन को लीन कर दो, उस आद्याशक्ति में अपनी क्षुद्र शक्ति को मिला दो, एवं संपूर्ण रूप से परमात्मा के चरणों में अपने को समर्पण कर दो। तब— केवल मात्र तब ही, उसके पहले नहीं, तुम देखोगे मानव, कि तुम्हारी आँखों के सामने आश्चर्य की बातों से भरी हुई प्रकृति की किताब खुली पड़ी है। उसी समय जीवन-मरण का अनंत रहस्य तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा।

इस सुंदर मधुर आत्मसमर्पण में ही ज्ञान—दिव्य ज्ञान का अनंत भंडार छिपा पड़ा है। उस ज्ञान को लाभ करने के लिये, मनुष्य इस सहज उपाय को छोड़कर गर्व और अहंज्ञान से अंध होकर व्यर्थ ही भटकता फिरता है। हाय ! मानव, जानते तो कुछ भी नहीं, कणमात्र भी अपना ज्ञान तुम्हें नहीं है—तब क्यों यह गर्व, क्यों इतना अहङ्कार ? इन चिंताओं से मेरा चित्त व्यथित हो रहा था। सच ही है, चिंताओं का शेष नहीं होता ! हटाओ इन्हें—इनका क्या प्रयोजन ? मैं भी इस सुंदर ज्योत्स्नामयी रात्रि में इस गंभीर पवित्र मुहूर्त में ईश्वर के चरणों में अपने को समर्पण कर दूँ। 'परमेश्वर ! तुम्हारी ही इच्छा पूर्ण हो'—यह विश्वव्यापी प्रार्थना मेरे मर्मस्थल के गोपन और निभृत प्रदेशों में गूँज उठे !

श्रीमती शोभनानारायण

× × ×

९. पथिक से

अरे पथिक ! क्यों पूछ रहा है, मेरी करुणकहानी ;
क्यों मैंने निर्जन कानन में, है रहने की ठानी ।
ग्रीष्म, शीत, वर्षा के दिन औ, यह अँधियारी रातें ;
आँधी, लपटें क्यों सहती हूँ, सारे जग की घातें ।
'निर्जन वन' घर क्यों है मेरा, ग़म खा भूख भगाती ;
क्यों नयनों के खारी जल को, पीकर प्यास बुझाती ।
पूछोगे ही पथिक हमारी, सारी करुण-कथाएँ ;
सही आज तक क्यों है मैंने, भारी विरह-व्यथाएँ ।
अरे इसी निर्जन कानन में, वह 'मन-मोहन' मेरा ;
छिपा हुआ है खोज थकी मैं, हाय ! जिसे बहुतेरा ।

* * *

खोज रही हूँ उसे आज भी, करती हुई तपस्या ;
देख रही हूँ कब सुलझेगी, मेरी 'भाग्य-समस्या' ।

कुँवर मोहरसिंह चँदेल "केसरी"

× × ×

१०. प्रेम की विजय

उस समय रजनी का द्वितीय प्रहर समाप्त हो चुका था । सारा संसार सब कामों को त्याग-कर आनन्द के खर्राटे ले रहा था; परंतु दज़ला अपने अटल नियमानुसार कलकल करती बह रही थी । लहरें उठती, चट्टानों से टकराती और फिर अथाह जल में निमग्न हो जाती थीं । उस समय पूर्णचन्द्र की प्रेममयी किरण-राशि दज़ला की तरङ्गों पर नृत्य कर रही थी । चंद्रमा की उस विमल ज्योति में नदी-तट पर शीतल रेत के कणों पर मीना बैठी थी । शीतल, मन्द और सौरभमय वायु के झोंकों से उसके केश वायु में विहार कर रहे थे; परंतु उसके मुखारविंद से निराशा का भाव दृष्टिगोचर होता था ।

प्रसन्नवदन चन्द्रमा था, वसन्त का मधुर विलास था, सुमनों का सौरभ और शीतल मलय समीर का मृदुल हिल्लोल था । कलकल-मयी दज़ला का मधुर प्रवाह भी था; और कोकिल की मदमयी कूक भी थी । सब कुछ ही था, केवल मीना का जीवनाधार यूसुफ़ नहीं था । मीना चुपचाप बैठी जलक्रीड़ा देख रही थी । सहसा बोल उठी—क्या शाह यूसुफ़ को न छोड़ेगा ?

उषा-समय शक्ति भङ्ग करते हुए शाह ने प्रवेश किया, जिसने मीना का हृदयरत्न छीन लिया था उसके बसे घर को उजाड़ दिया था । मीना चौंक उठी; और वियोगदुःख के भाव से बोली—क्या अभी कुछ बाक़ी है ज़ालिम ? शाह बोला—प्यारी आख़िर कुछ सबब तो बता, जिससे तू मुझसे इस क़दर नाराज़ है । क्या करूँ ? बेबस हूँ । जब तेरी इन मदभरी आँखों और फूटती जवानी को देखता हूँ, तो दिल चाहता है तुझे सीने से लगाकर दिल की आग ठंढी करूँ । यह दौलत और यह बादशाही क़ुर्बान कर दूँगा तेरी मुहब्बतभरी निगाहों पर । प्यारी फ़क़त तेरी खातिर उस यूसुफ़ को क़ैद कर रक्खा है । हुक्म कर कि इस काँटे को निकालकर बाहर रख दूँ ।

यह कहकर शाह ने मीना का आलिङ्गन करने के लिये हाथ बढ़ाया । मीना सुंदरी थी, नाज़ुक थी; परंतु अपनी मानरक्षा के लिये न-जाने उसमें कहाँ से सिंहनी का बल आ गया था । वह दो तीन पग हट गई ; और कड़ककर बोली—बेहया तुझे शर्म नहीं आती ?

शाह प्रेमोन्मत्त था; परंतु था स्वतंत्र प्रकृति का मनुष्य । कितनी ही बार वह मीना की लांछनाएँ, उसका तिरस्कार सह चुका था । इस बार तिरस्कार पराकाष्ठा तक पहुँच गया । क्रोध से उसका मुख तमतमा उठा—एक नाचीज़ ज़मींदार की लड़की की यह ताक़त । ओठों को चबाकर बोला—कल यूसुफ़ को चर्ख़ी से बाँधा जायगा

और फिर देखूँगा तेरी मुहब्बत उसे कैसे बचा सकती है—यह कह शाह शीघ्रता से चला गया। सहसा पपीहा बोल उठी—पी कहाँ, मानो उसे भी मीना से सहानुभूति थी।

मीना पकड़कर बग़दाद लाई गई। जल्लादों ने यूसुफ़ को चर्ख़ी से बाँधा। चर्ख़ी चलनेवाली ही थी कि शाह ने रोक दिया; और मीना से बोला—अगर अब भी मेरी बात मंज़ूर है, तो यूसुफ़ छूट सकता है। मीना असमंजस में पड़ गई—अस्वीकार करने से प्रेमी की हत्या थी, तो स्वीकार करने से मानहानि! एक ओर अतुल संपत्ति और ऐश्वर्य था, तो दूसरी ओर प्रेम का अमूल्य रत्न। एक ओर शाह की हृदयेश्वरी का पद था, तो दूसरी ओर अनंत प्रेम की अनंत परीक्षा। अंत में प्रेम ने विजय प्राप्त की। मीना ने गर्व से सिर ऊँचा करके कहा—मुहब्बत ज़बर्दस्ती नहीं की जाती। शाह को क्रोध नहीं आया। उसके मुख से ऐसा प्रतीत होता था, मानों उसने कोई नई बात मालूम की। शाह ने यूसुफ़ को चर्ख़ी से उतार दिया, और उसका हाथ मीना के हाथ में देकर कहा—जाओ मीना, तुम्हारा प्रेम तुम्हें मुबारक हो। तुम आज से आज़ाद हो। तुमने आज मुहब्बत का असली सबक़ सिखाया।

श्रीमती मोहिनीसहाय

साहित्य और विज्ञान

१. संस्कृत में महाकवि विहारी

चैत्र की 'माधुरी' में भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री का एक नोट उपर्युक्त शीर्षक में निकला है, जिसमें आपने विहारी-सतसई के दस दोहों का संस्कृत-अनुवाद दोहा-छंद में ही दिया है, और कुछ विचार भी प्रकट किए हैं कवि परमानंदजी के संस्कृत-अनुवाद 'शृंगार-सप्तशती' के विषय में। आपकी दृष्टि में कवि परमानंदजी का संस्कृत-अनुवाद ठीक नहीं हुआ है; क्योंकि उसमें बहुत-सी भाषा और भाव-संबंधी ग़लतियाँ हैं। यह बात ठीक है, अवश्य 'शृंगार-सप्तशती' में ग़लतियाँ हैं, यह हमें भी स्वीकार है; परंतु हमें भट्टजी के अनुवाद में भी निर्दोषता नज़र नहीं आती है—इसमें भी ग़लतियाँ हैं। आपने जो दस दोहे 'माधुरी' में प्रकाशित कराए हैं, प्रायः सब दोष-पूर्ण हैं!

इससे पहले यही नोट संस्कृत के 'सुप्रभातम्' या 'सूर्योदय' में शायद प्रकाशित हुआ था, ऐसा ख़याल में आता है। उसी का हिंदी-रूपांतर आपने शायद हिंदी वालों की जानकारी के लिये 'माधुरी' में प्रकाशित कराया है। अब हम आपके दोहों के विषय में कुछ कहेंगे।

साखि सोहत **गोपाल के,** उर गुंजन की माल;
बाहर लसत मनौं पिये, दावानल की ज्वाल!

इस दोहे का आपने यह अनुवाद किया है—

राजति गुञ्जामालिका वक्षसि **मुरमथनस्य**;
लसति निःसरन्ती बहिः शिखेव दवदहनस्य।

मूल के 'पिये' का अनुवाद कुछ भी नहीं हुआ। शायद इसी लिये आपने 'पिये' की जगह 'बहैं' पाठ दिया है! न-जाने, कौन किसका अनुवाद है! दूसरी बात यह कि गोपाल (ग्वाले) ही गुंजाओं की माला पहना करते हैं, अतएव विहारी ने दोहे में 'गोपाल' शब्द दिया है। आपने उसके लिये 'मुरमथन' दिया है। मुरमथन विष्णु गुंजमाल नहीं धारण करते, सहृदय इस पर विचार करें।

मूल

सोहत ओढ़े पीत पट, स्याम सलोने गात ;
मनो नीलमनि-सैल पर, आतप पस्यो प्रभात ।

अनुवाद

श्याममधुरमूर्त्तिर्हरिः पीतपटेन विभाति ;
उषसि नीलमणिशैल इव बालातपेऽभियाति ।

यहाँ आपने 'प्रभात' को 'उषसि' रूप में अनूदित किया है, जो ठीक नहीं। रात्रि के अंतिम भाग को उषः-काल कहते हैं। सूर्योदय के पहले-पहले का समय उषःकाल है और अनंतर का प्रभात। ऋग्वेद में उषः-काल का ख़ूब वर्णन है। वहाँ सर्वत्र उपर्युक्त समय ही लिया गया है—सूर्योदय अथवा उसके पश्चात् का नहीं। विहारी ने जो बात कही है, उसके लिये 'प्रभात' की ज़रूरत है, 'उषः' की नहीं। सूर्योदय-काल का नाम 'प्रभात' है—'प्रकर्षेण भातुं प्रवृत्तम्।' किसी-किसी कोषकार ने 'उषः' के पर्यायों में प्रभात भी लिख दिया है। मालूम होता है—इसी आधार पर भट्टजी ने 'प्रभात' के लिये 'उषः' लिख दिया है, परंतु यह ठीक नहीं। कोष में वैसा आने पर भी कवि-जन वैसा प्रयोग नहीं करते। और, इन दोनों शब्दों का भेद तो प्रत्यक्ष है, कोई छिपी हुई बात नहीं है।

मूल

छिप्यो छबीलो मुँह लसै, नीले आँचर चीर ;
मनौं कलानिधि झलमलै, कालिंदी के तीर ।

अनुवाद

राजति नीलपटान्तरमेतन्मुखमवधेहि ;
कलितकलानिधिरुल्लसति कालिन्दीसलिले हि ।

मूल में 'छबीलो' शब्द अत्यंत सुंदर और चमत्कारी है, उसे अनुवाद में छोड़ दिया गया है, और व्यर्थ का 'अवधेहि' दे दिया गया है। अंत में 'हि' भी अजागल-स्तन की तरह लटक रहा है। केवल तुक भिड़ाने के लिये ही यह दिया गया है।

भट्टजी ने कवि परमानंदजी के अनुवाद में कई व्यर्थ पद ढूँढ़े हैं, परंतु आपके दोहों में तो "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः।"

मूल

खेलन सिखये अलि ! भलैं चतुर अहेरी मार ;
काननचारी नैन दग मृग, नागर नरन सिकार ।

अनुवाद

मृगनयने ! मृगयाविधिं मदनो मञ्जुमुवाच ;
वनचरनयनमृगाविमौ नागरनरमृगया च ।

जब कि नयनों में मृगों का आरोप किया गया है, तो नायिका के लिये 'मृगनयने' संबोधन ठीक नहीं है। 'मञ्जु' शब्द भी मञ्जु नहीं रहा ! वस्तुतः 'मञ्जु' शब्द शब्दगत माधुर्य और सौंदर्य का वाचक है। ऐसी दशा में 'मृगया-विधि' का उसे विशेषण बना देना अनुचित है। यदि इसे सामान्यतः माधुर्य-वाचक मान भी लिया जाय, तो भी यहाँ ठीक नहीं जमता। मृगयाविधि तो बड़ी नृशंस और कठोर है। वह 'मंजु' कब हुई ? यदि इसे क्रियाविशेषण के रूप में रक्खा जाता, तो कुछ ठीक भी हो जाता। मूल में 'भलैं' क्रियाविशेषण ही है, जिसका यह गड़बड़ अनुवाद है। 'भलैं' का अर्थ है—'ख़ूब अच्छी तरह।' 'सिखये' का अनुवाद आपने कर दिया है—'उवाच' ! कितना अंतर है ? किसी विषय की अच्छी तरह शिक्षा देने में और एक बार उसे कह भर देने में कितना फ़र्क़ है ! जब तक किसी को किसी कला की अच्छी तरह शिक्षा न दी जाय, तब तक वह उसमें कैसे दक्ष हो सकता है ? केवल कह भर देने से कोई किसी कला में निष्णात नहीं हो सकता ! और, फिर काननचारी ! जंगली जीवों को कोई बात सिखाने में विशेष कौशल और धैर्य चाहिए। केवल 'कह' देने से वे कोई हुनर न सीख लेंगे, विशेषतः मृगया ! फिर, मृगया भी कैसी ? विहारी के दोहे में देखिए। एक बात और। यहाँ 'उवाच' में काल-संबंधी भी दोष है। यहाँ परोक्ष देकर सामान्य भूतकाल में क्रिया देना उचित था, जैसा कि विहारी के दोहे में है। 'उवाच' ? किस जन्म में ?

आपने 'नागर-नरों' में 'मृगया' का आरोप कर दिया है, सो भी बहुत बुरा ! 'मृगया' क्रियाविशेषण है। उसका आरोप नागर-नरों में उचित नहीं है। नागर-नर तो लक्ष्य हैं। हिंदी में 'शिकार' उस क्रिया-विशेष का नाम भी है, और लक्ष्य-भूत वन्य पशुओं को भी 'शिकार' कहते हैं। अतएव मूल में 'शिकार' शब्द बहुत अच्छा है। आपने आँखें मूँदकर उसका अनुवाद 'मृगया' कर दिया है ! फिर इस 'नागर-नर-मृगया' का संबंध भी वाक्य में ठीक बैठता है ? और यह 'च' किसलिये है ?

शिकार सिखानेवाले उस्ताद का नाम विहारी ने 'मार'

दिया है। जो मारना-काटना सिखाता है, उसका नाम 'मार' होना ही चाहिए। अनुवाद में 'मार' के लिये 'मदन' आया है। इन दोनों शब्दों पर तुलनात्मक विचार कीजिए।

मूल

कहा लड़ैते दग किये, परे लाल बेहाल ;
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहूँ मुकुट बनमाल।

अनुवाद

विषमशीलदग्भ्यामहो का गतिरियगारोपि ;
क्वचिद्वेणुरलि ! क्वचित्पटः स्रजः क्वचिन्मुकुटोऽपि।

विषम शील और दगों ने उनकी वह दशा नहीं कर दी है। वह तो और ही किसी कारण से है! विषम शील और दग तो स्वयं उसके कार्य-स्वरूप हैं। ऐसी दशा में अनुवाद का पूर्वार्द्ध चिन्त्य है। अनुवाद भी दोहाछंद में है ; परंतु इसके तीसरे चरण की मात्राएँ तो गिनिए! देखिए, क्या ठीक है?

मूल

सटपटाति-सी ससिमुखी, मुख घूँघट पट ढाँकि ;
पावक भर सी झमकि कैं, गई झरोखा झाँकि।

अनुवाद

सलज्जेव सा शशिमुखी मुखमवगुण्ठ्य पटेन ;
दहनलतेव गता द्रुतं मामवेक्ष्य चकितेन।

मूल के 'सटपटाति-सी' का अर्थ है—'सिटपिटाती-सी।' अर्थात् कोई देख न ले, इससे कुछ डरती-घबराती-सी वह झमककर झाँक गई। सिटपिटाना का अर्थ लजाना नहीं होता, अतएव 'सलज्जेव' अच्छा नहीं है।

'चकितेन' न मालूम क्या है और इसका कहाँ क्या संबंध है? 'चकितेन'? केन? किम्?

इस दोहे पर भट्टजी ने कुछ विचार भी किया है। आप कहते हैं—"उज्ज्वलता होने पर भी नायिका को 'पावक झर' के साथ साम्य देना संस्कृतवालों को खटकेगा। इसलिये 'ज्वलती वह्निर्लताकारा इव दृश्यमाना दहनज्वाला दहन-लता।' (जलती हुई अग्नि की लता-जैसी आकारवाली शिखा 'दहन-लता') यों कुछ औचित्य लाया गया है।" संस्कृत के विद्वानों से प्रार्थना है कि आप लोग भट्टजी के इस गोरखधंधे में औचित्य ढूँढ़िए, शायद हाथ लग जाय! हमें तो कहीं नहीं देख पड़ता।

भट्टजी ने 'पावक झर' और नायिका में 'उज्ज्वल साधारण धर्म समझ रक्खा है! नहीं जी, उसकी लता के लिये तो 'शशिमुखी' पद ही पर्याप्त है। तो नायिका और 'पावक-झर' में 'झमककर जाना, साधारण धर्म है, जो बिलकुल साफ़ है। की गुंजाइश तो भी नहीं। इस प्रकार पावक-झर नायिका का नहीं, उसकी गति-विशेष का साम्य है, कहाँ और क्या अनौचित्य है, जिसके दूर करने के लि आपने घोर भगीरथ-श्रम किया है?

'झरोखा' की जगह 'औचकाँ' पाठ भट्टजी ने दिया है ; क्योंकि आपने अनुवाद में 'द्रुतम्' कर दि है! ठीक है, जैसे आजकल के वैदिक स्वयं वेदों के अनु सार न चलकर वेदों को ही अपने अनुसार चलाते हैं।

मूल

टटकी धोई धोवतीं, चटकीली मुखजोति ;
लसति रसोई के बगर, जगर मगर दुति होति।

अनुवाद

रुचिरा मुखरुचिरा लसति विशदा शाटी भाति।
महाकान्तिराभावहा महानसे प्रतिभाति।

अनुवाद के प्रथम चरण में पुनरुक्ति की छटा देखि और साथ ही तृतीय चरण में भी! बिहारी ने 'टटक धोई धोवती' से जो आर्य-सभ्यता झलकाई है, उस 'विशदा शाटी' में लोप हो गया है!

मूल

आड़े दै आले बसन, जाड़े हू की राति।
साहस कै कै नेह बस, सखी सबै ढिंग जाति।

अनुवाद

घनतरशीतनिशास्वपि च वसनमार्द्रमपिधाय।
साहसेन सन्निधिमयति सखीजनः स्नेहाय।

पूर्वार्द्ध में 'च' न-जाने किस मर्ज़ की दवा है? वैयाकरण पता लगावें कि 'स्नेहाय' यहाँ कैसे ठीक है! बस, इत्येष संक्षेपः। अलं परकीयदोषोद्भावनेन।

किशोरीदास वाजपेयी

× × ×

२. प्राचीन भारत में विज्ञान

(पूर्ण संख्या ८९ से संबद्ध)

हिंदुओं का एक प्रयत्न अत्यंत आदरणीय है। उन विचार में समस्त पदार्थ कणों द्वारा ही बने हुए हैं,

उनके यथार्थ परिमाण के विषय में उनके विचार क्या थे? केवल विचार करने से कहीं भी कोई काम नहीं चलता है। उन्होंने उसे कार्यरूप में परिणत कर दिया और 'कण के परिमाण' की गणना कर ही तो दी। सील लिखते हैं—"दृष्टिगोचर होनेवाले पदार्थों में सबसे क्षुद्र [सबसे क्षुद्र कणिका जो कि टेढ़ी सूर्य की किरणों में देख पड़े] त्रसरेणु का परिमाण, वराहमिहिर के मतानुसार, ३×२^{-२०} अथवा एक इंच के $\frac{१}{३४९५२५}$ वें भाग के बराबर होता है। तदनुसार एक गोल त्रसरेणु का आयतन, भास्कर के अनुसार, $\frac{४}{३}$ ग $३^{३}$ $२^{-६३}$ घन इंच के बराबर है। यह ध्यान में आ जाना चाहिए। एक प्राचीन आचार्य के मतानुसार एक त्रसरेणु में ३० और दूसरे के मत से ६० रासायनिक कण (Chemical atoms) होते हैं। इसके अनुसार एक कण का परिमाण ग $\times ३ \times ५^{-१} \times २^{-६२}$ घनइंच से कम ही लिया गया होगा। [सबसे आश्चर्यजनक वार्ता यह है कि परिमाण में, जलजान (Hydrogen) के कण के सबसे बाद के जाने तीन परिमाणों से, यह अंक बहुत अंश में मिलते हैं।]"

परंतु उनकी धातुशोधन-प्रणाली तथा उन धातुओं का प्रयोग व वास्तु-विद्या (Engineering) यह सबकी-सब एक अति उन्नत अवस्था में थी। उनकी व्यापारिक रसायन-विद्या (Industrial chemistry) बहुत ही उन्नत थी। काग़ज़ तथा कपड़ों इत्यादि के स्वाभाविक रंग को उतारने का कार्य, रँगना, वस्त्रों पर रंग छापना, चमड़े को पक्का करना और उसको सब व्याधियों से बचाने का प्रयत्न करना, साबुन बनाना, कठिन लोहे का बनाना, बारूद व आतशबाज़ी तथा सीमेंट (Cement) बनाना इत्यादि ऐसी विद्या के ज्ञान से परिवर्धित सैकड़ों कलाएँ हिंदुओं को ज्ञात थीं। सील लिखते हैं—'भारत के तीन बड़े आविष्कारों के कारण, जिसके द्वारा भारत पूर्व व पश्चिम की बाज़ारों का अधिपति हो गया था और समस्त जगत् के सब देशों की रासायनिक कला तथा बाहर वस्तुओं के भेजने के व्यापार में जिन्होंने भारत को अग्रगण्य बना दिया था, व्यावहारिक विद्वान् लोग ही थे। वे तीनों आविष्कार हैं—(१) जल्दी चढ़नेवाले रंग जिनके द्वारा कपड़े रँगे जाते थे और जो कि फिटकरी की कुछ प्राकृतिक रंगों-जैसे मंजिष्ठा के सम्मिश्रण अथवा ऐसे पदार्थ जैसे कसीस इत्यादि के गोबर के सम्मिश्रण से बनते हैं, (२) नील के पेड़ से उसका सत निकालना, जो कि थोड़ा भद्दा तो अवश्य था, परंतु प्रथा में बिलकुल ही आधुनिक है और (३) फौलाद पर पानी चढ़ाना, जो कि आजकल की प्रथा की समानता करता है और जिसके ही द्वारा अर्द्धप्राचीन समय में संसार को डेमस्कस की तलवारें प्राप्त होती थीं।"

इंजीनियरिंग

"पदार्थविद्या प्राचीन काल में कितनी उन्नत हुई थी, रामेश्वर का सेतुबंध तथा उड़ीसा के कनारक और भुवनेश्वरपुरी आदि के मंदिर इत्यादि इसके ज्वलंत दृष्टांत हैं। कनारक के मंदिर के पत्थरों का काम देखकर पश्चिमी इंजीनियर लोग अभी तक चकित होते हैं। उनको अभी तक यही समझ में नहीं आता है कि ये पत्थर कहाँ से लाए गए, कैसे लाए गए, और कैसे ऊपर चढ़ाए गए।" फिर दिल्ली का खंभ भी आधुनिक वैज्ञानिकों को एक आश्चर्य की वस्तु हो गया है। इस पर बहुत-से विद्वानों ने अन्वेषण किया, पर वे इस पहेली को अब भी नहीं सुलझा पाए हैं। उनमें से एक सर राबर्ट हैडफील्ड बैरिस्टर एफ़० आर० एस० भी थे। उन्होंने इस खंभे के विषय में लिखा है—"यह ध्यान में रखते हुए कि उन दिनों न तो वाष्प-हथौड़े ही थे, न भाप के दबाने के यंत्र ही थे, यह लौहखंभ एक आश्चर्यजनक वस्तु है। इसकी पूरी लंबाई ७·२२ मीटर है और भूमि के ऊपर इसकी उँचाई ६·७१ मीटर। इसके ऊपर के भाग का व्यास ३१·८ सेंटीमीटर, नीचे के सिरे का व्यास ४१·६ सेंटीमीटर और इसका पूरा वज़न ६००० किलोग्राम (६ टन के लगभग) है। यह बात कि इसकी सबसे बड़ी मोटाई ४१·६ सेंटीमीटर है, यह और भी अधिक चक्कर में डालती है कि यह खंभा बनाया कैसे गया होगा। यदि खंडों में बनाया गया है, तो इतने व्यास तथा इतने क्षेत्रफलवाले खंडों का परस्पर जोड़ना सुगम कार्य नहीं है। तिस पर ऊपर के भाग में १·२५ मीटर की दूरी तक वह खंभा अत्यंत सुंदरता से भिन्न-भिन्न चित्रों द्वारा निरूपण किया गया है। परंतु, इससे किसी भी दशा में घटकर नहीं, यह खंभ एक और भाव में चक्कर डालता है। आज १६०० वर्ष हो गए (कदाचित् इससे भी अधिक),

परंतु इस खंभे में, जो कि संपूर्णतया शुद्ध लौह (६६·७%) का बना है, तनिक भी मुर्चा नहीं लगा। यह बात यदि हम दिल्ली की शुष्क जलवायु का विचार भी कर लें, तो भी नहीं समझाई जा सकती है।" और उसके मुर्चे से बचने के दो कारण बताए गए हैं, परंतु वे दोनों ही तनिक भी उपयुक्त नहीं हैं। प्रथम तो यह कि उसमें कोई और धातु बहुत कम अंशों में मिली हो, पर यह बातें यथार्थ में मिलती ही नहीं और द्वितीय साल में एक बार किसी पूजा में उस खंभे पर घी लगाया जाता है और कदाचित् इसका ही प्रभाव उस पर पड़ा हो, परंतु यह भी ठीक नहीं है, घी सब स्थानों पर नहीं लगाया जा सकता है और वह साल भर रह भी नहीं सकता और एक-घी में डुबोकर और फिर अलग रख देने से किसी और उसी प्रकार के शुद्ध लोहे में मुर्चा लग जाता है। इन सब बातों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि हिंदुओं को जो बात मालूम थी, वह अब तक भी लोगों को नहीं ज्ञात है।

आयुर्वेद का स्थान चिकित्सा आजकल की चिकित्साशास्त्रों में ऊँचा ही है। इतने दिनों से विज्ञान ने जो-जो किया, वह थोड़ा नहीं है। उससे चिकित्साजगत को जो सहायता मिली, वह भी थोड़ी नहीं है। फिर भी आयुर्वेद का इतना मान है। प्राणि-शास्त्र में जो-जो नूतन आविष्कार होते हैं, नई-नई व्याधियाँ जो मनुष्य के दृष्टिगोचर होती हैं, वे सबके-सब किसी दूसरे छिपे हुए नाम में आयुर्वेद के अंदर वर्तमान हैं। इसकी ओषधियाँ आज भी पाश्चात्य देश की ओषधियों में एक बहुत बृहत् योग दे सकती हैं, और ओषधियों का उपचार तथा व्याधियों के निर्मूल करने का यत्न, यह सब बड़ी प्राचीन बातें हैं। जब कि सारी दुनिया अज्ञान के अंधकार से आच्छादित थी और जब वे लोग व्याधियों को देवी, देवता, दैत्य, दानव इत्यादि का क्रोध बताकर उसकी अर्चना करते थे, तब भारतवासी किसी घास व किसी जड़ को खिला-पिलाकर बीमारों को अच्छा करते थे। यह दशा वेदों और उसके पहले की है। परंतु उस समय यह सब बातें सिद्धांतबद्ध न थीं। अमुक वस्तु अमुक व्याधि में लाभ करती है, परंतु क्यों और कैसे, यह सब उस समय की बातें न थीं, यद्यपि एक पेशा वैद्यों का अवश्य ही था। उनका काम बीमारों को ओषधि देना तो था ही, परंतु इससे भी अधिक कठिन का[म] नूतन ओषधियों का आविष्कार करना भी था। देश[...] काल के प्रभाव से हिंदू लोग सर्वथा बेलाग न थे। ओषधियों के साथ देवताओं की कृपादृष्टि को मि[...] थे। योरप में उस समय सबसे विद्वान् ग्रीसवाले [...] और सर प्रफुल्लचंद राय के मतानुसार उन्होंने [...] चिकित्साशास्त्र की शिक्षा भारतवर्ष से ही पाई, [...] उस समय 'रसायन' (धातु के बने हुए पदार्थ) [...] दिए जाते थे। पर चक्रपाणिदत्त तथा उनके बाद के [...] 'रसायन' का भी प्रयोग करने लगे, और फिर उन[...] की ओषधियाँ इतनी उत्तम थीं कि उनसे वे बूढ़ों [...] युवा कर देते थे। आजकल भी यह प्रथा है, परंतु [...] अस्त्रचिकित्सा ही का श्रेय है। अल्बरूनी लिखता है- "उनके यहाँ (भारत में) भी रसविद्या के समान [...] विज्ञान है, जो कि उनको विशेष रीति से ज्ञात [...] वे उसे 'रसायन' कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति 'रस' [...] (सुवर्ण) से ही है। इसका तात्पर्य उस कला से [...] जिसमें कुछ ओषधियाँ तथा जड़ों का ही प्रयोग कि[या] जाता है। इसका गुण उन मनुष्यों को भी [...] देना, जिनकी दशा आशा को भी पार कर गई है, [...] जो बूढ़ों को भी युवावस्था प्रदान करता है, और [...] प्रकार कि लोग पूर्णतया यौवनावस्था को प्राप्त होते [...] उजले केश फिर काले हो जाते हैं, बुद्धि कुशाग्र हो [...] है, कौमारिक तेज व चपलता फिर से आ जाती है, [...] तक कि स्त्री-संयोग की भी शक्ति प्राप्त हो जाती है [...] इस पृथ्वी के मनुष्यों की आयु भी बढ़ जाती है।" [...] वे जीवन को बढ़ाने में सिद्धहस्त थे। मनुष्य की [...] आयु १०० वर्ष की मानी गई, पर कुछ ओषधियों [...] सेवन से मनुष्य की आयु १५० अथवा २०० वर्ष की [...] हो जाती है। ऐसा श्री यूलेस (Yules) ने अप[नी] पुस्तक मैक्रोपोलो (Macropolo) द्वितीय खंड [...] ३०० पृष्ठ में लिखा है। उन्होंने अपने ओषधिशास्त्र [...] इतनी उन्नत अवस्था में पहुँचाया था कि जब पह[ले] पहले पोर्चुगाल के लोगों के साथ यहाँ आतशक [...] पदार्पण हुआ, तो उन्होंने अपने को उससे लड़ने के लि[ए] समर्थ पाया। उसे वे मारे हुए पारे तथा चोबचीनी [...] बिलकुल अच्छा करते थे और यही लोग थे, जिन्हों[ने] पारे तथा उसके द्वारा बनाई हुई ओषधियों का [...]

पहले-पहले बताया था। यह नहीं, सब प्रकार की धातुओं के बनाए पदार्थों को खिलाने की मौलिकता हिंदुओं ही को प्राप्त है और हिंदुओं को एक और विचित्र बात ज्ञात थी कि पृथ्वी के समस्त पदार्थ जीवनदायी तथा जीवन-हारी इन्हीं दो श्रेणियों में बाँटे जा सकते हैं और ऐसा एक सिद्धांत बिलकुल नया भी है। कुछ लोगों का कहना है कि Injections का भारत में आगमन अभी थोड़े दिनों से हुआ है और इनका श्रेय योरपीय विद्वानों को ही है, परंतु मद्रास के गवर्नर लार्ड एम्थिल साहब ने १९०५ साल के फ़रवरी महीने के लेक्चर में यह बात कही थी कि "भारत से ही चिकित्साविद्या अरब में और अरब से योरप में गई थी। इतना तक कि चेचक-रोग के दूर करने के लिये तथा प्लेग का विष नाश करने के लिये जो टीका आदि दिया जाता है, उसकी भी शिक्षा आर्य-जाति से ही योरप के लोगों ने प्राप्त की है।" 'आयुर्वेदोक्त चिकित्साशास्त्र कितनी उन्नति पर पहुँचा था, सो इसके नाड़ीज्ञान-शास्त्र के पाठ करने ही से ज्ञात हो सकता है, जिसकी सहायता से नाड़ी-परीक्षा द्वारा सकल प्रकार के रोगों का भली भाँति निदान हो सकता है और जिसमें विलक्षणता यह है कि एकमात्र नाड़ी-ज्ञान से ही तीन मास, छः मास अथवा उससे अधिक काल पूर्व में भी भविष्यत् के रोग का ज्ञान हो सकता है। यह नाड़ीज्ञान-शास्त्र इतना गंभीर तथा सूक्ष्म है कि आज तक पश्चिमी विद्वान् उसको समझ नहीं सके हैं।"

"चिकित्साविद्या में जो-जो विषय रहने से उसकी पूर्ण उन्नति समझी जा सकती है, वे सभी हिंदू-आयुर्वेद में थे। शस्त्रविद्या, रसायनविद्या, धातुप्रयोगविद्या और काष्ठादिभेषज-प्रयोगविद्या सभी आयुर्वेद में पाई जाती है। दूसरी ओर जलचिकित्सा (Hydropathy) शस्त्रचिकित्सा, अर्कचिकित्सा आदि सभी बातें इस सिद्धांत में मिलती हैं। यहाँ तक कि डाक्टर हेनिमन द्वारा आविष्कृत होमियोपैथिक-चिकित्सा का जो 'विषस्य विषमौषधम्'-नामक मौलिक सिद्धांत है, वह भी आयुर्वेद में पाया जाता है।" केवल मनुष्य की चिकित्सा ही नहीं, पशु आदि की चिकित्साप्रणाली भी आयुर्वेद में वर्णित है। शस्त्रचिकित्सा में भी प्राचीन आर्यों ने बहुत उन्नति की थी। डाक्टर रेली साहब ने बड़ी प्रशंसा के साथ मुक्तकंठ होकर कहा है "प्राचीन भारतवासियों के ग्रंथ देखने से प्रकट होता है कि वे शस्त्रचिकित्सा में विशेष निपुण थे। प्रायः १२७ प्रकार के शस्त्रों का वे शरीर पर प्रयोग किया करते थे और शस्त्रव्यवहार के साथ नाना प्रकार की औषधियों का भी प्रयोग किया करते थे।" वेबर साहब ने कहा है—"शस्त्रचिकित्सा में प्राचीन आर्यगण पूर्णता प्राप्त कर चुके थे और इस विद्या में पश्चिमी लोग अभी उनसे बहुत कुछ सीख सकते हैं। जैसा कि विकृत कान या नाक को सुधारकर नया बना देने की चिकित्सा पश्चिमी चिकित्सकों ने प्राचीन हिंदुओं से ही प्राप्त की है।" डाक्टर हंटर साहब ने भी ऐसी ही आर्यचिकित्सा की बड़ी प्रशंसा की है। मिस म्यानिंग ने कहा है कि "प्राचीन हिंदुओं के शस्त्रचिकित्सा के यंत्र ऐसे उत्तम और सूक्ष्म हुआ करते थे कि उनसे केश तक सीधे लंबे फाड़े जा सकते थे।" आजकल की Surgery के समान इसकी भी सब विद्यार्थियों को शिक्षा दी जाती थी और इसका ज्ञान प्रत्येक वैद्य के लिये अनिवार्य है। "सुश्रुत के मतानुसार शस्त्रचिकित्सा के विद्यार्थी के लिये शव की चीड़-फाड़ अनिवार्य है और इस विषय का सबसे बड़ा प्रमाण (सुश्रुत) इस प्रकार के व्यावहारिक ज्ञान को बड़ा महत्त्व देता है।" इस प्रकार से पश्चिमी विद्वान् तथा एतद्देशीय सभी पुरुषों ने प्राचीन आर्यजाति के चिकित्सा-शास्त्र की महिमा प्रकट की है। इस विद्या को (शस्त्र-चिकित्सा) आर्यलोग और सबसे उत्तम गिनते थे तथा सब प्रकार की व्याधियाँ, जो आजकल अच्छी की जाती हैं, अच्छी करते थे।

शरीरशास्त्र तथा प्राणिशास्त्र ये दोनों शस्त्रचिकित्सा के एक अंग हैं। हिंदुओं के ये दोनों शास्त्र अपनी पूर्णता तथा उत्तमता में यदि अद्वितीय न थे, तो आधुनिक शास्त्र के समान तो अवश्य पहुँच चुके थे, यहाँ तक कि Hoemle साहब पर आश्चर्य टपक ही पड़ा। चरक और सुश्रुत दोनों ने ही अस्थियों की गणना की और उनकी संख्या आजकल की गणना के अनुसार बिलकुल ठीक है। उन्होंने पेट तथा मेदे का वर्णन पूर्णतया कर दिया था और उन्होंने भोजन से रक्त बनने के कारण का स्पष्टीकरण कर दिया था। जब कि योरप में कोई रुधिर के विषय में, उसके लाल होने के अतिरिक्त, कुछ न जानते थे, तब भी भारत-वासी रक्त का धमनियों तथा स्नायुओं द्वारा इधर-उधर जाना

बताते थे। केवल वे यही न जानते थे कि फेफड़ों (Lungs) की रुधिर के शुद्ध होने में क्या आवश्यकता पड़ती है। नसों के जाल का ठीक-ठीक वर्णन उस समय के विद्वानों का देना पश्चिमी डाक्टरों को आश्चर्य में डाल देता है। उस समय की एक बात आजकल की बातों से बढ़ भी गई है। जब वे किसी शव को चीड़ते-फाड़ते थे, तो उसे वे ओषधियों में डालकर तनिक-सा सड़ा लेते थे, जिससे ऊपर की त्वचा के निकालने में बहुत सुविधा होती थी और भीतर की नसें वैसी ही रहती थीं। आजकल के लोग किसी ऐसी वस्तु की खोज में हैं, पर वह मिलती ही नहीं।

गर्भविषयक ज्ञान भी उनका पर्याप्त था। यह तो कहना ठीक न होगा कि हिंदुओं को इस विषय में आजकल के समान ज्ञान था। डारविन (Darwin) को भी इतना अधिक न मालूम था। पर आर्यों का व्यावहारिक ज्ञान इतना सुदृढ़ था और उनके परोक्ष मत इतने परिपक्व थे कि उनको इस विषय में पंडित कहना अनुचित न होगा। उनके कुल ज्ञान को एक साथ लेकर देखने से ज्ञात होगा कि उनका (हिंदुओं का) पलड़ा भारी था। इन सबके देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदुओं का शरीर के विषय में अच्छा ज्ञान था। जब कि हिंदू लोग अपने पुराणों में ऐसा लिखते हैं कि अमुक मनुष्य व स्त्री अपनी मनुष्ययोनि को त्याग कर पाषाण हो गई, तो हम यह सोचने लगते हैं कि कदाचित् लिखनेवाले मूर्ख थे अथवा पागल हो थे। परंतु बहुधा पागलों की बातें सत्य ही हुआ करती हैं, केवल वे समयानुकूल नहीं होतीं। हम लोगों को ये बातें कहीं देख न पड़ने के कारण व्यर्थ प्रलाप जान पड़ती हैं। परंतु अब हम क्या देखते हैं कि लाहौर में एक लड़की पत्थर हो गई। सब लोग आश्चर्य तो भले ही करें, परंतु अब यह कहने का तो मुँह नहीं होगा कि हमारे पूर्वज मूर्ख (Our fathers are fools) हैं। इन सब बातों के होते हुए भी हमारे पूर्वजों का प्राणिशास्त्र अद्वितीय रहा है।

वनस्पतिशास्त्र

उस समय के जो उपाय थे, उनका अवलंबन कर जो एक मानव कर सकता है, वह सभी आर्यों ने किया है। उनके पास सूक्ष्मदर्शकयंत्र नहीं था, इससे इस शास्त्र में बहुत कुछ उन्नति वे न कर सकें, पर तो भी व्यावहारिक ज्ञान तथा सिद्धांतों में उन्होंने थोड़ा काम नहीं किया। जो सिद्धांत उस दशा में कोई प्रतिपादित कर सकता है, वे सब उन्होंने किए। प्रथम तो उन्होंने वनस्पतियों में प्राण व चेतनशक्ति का होना बताया और फिर उन्होंने वृक्षों के लिंगों को निर्धारित किया, इन लिंगों का मूल भी पुष्पों ही में बताया गया है। उनमें स्वयं प्रकाश (Phosphorescence) तथा जल का बाहर निकलना, इन सब बातों की परीक्षा की गई है। उन्होंने यह भी बताया कि वृक्षों तथा उनसे काटी हुई लकड़ी की समस्त शक्ति सूर्य से ही आती है। लाल, पीले तथा नारंगी रंग का प्रकाश, जो बहुतायत से डूबते हुए सूर्य के प्रकाश में होता है, वृक्षों के लिये मुख्यतः लाभदायक होता है। उनमें प्राणिमात्र के समान रुधिर (उनका रस) की गति होती है, परिचालना करने की शक्ति, चेतनता, बढ़ाव तथा सन्तान उत्पन्न करने की शक्ति सभी होती हैं। उदयान ने अपने 'पृथ्वीनिरूपण' में ऐसा लिखा है—

वृक्षादयः प्रतिनियतभोक्त्रयधिष्ठिताः, जीवन-मरण-स्वप्न-जागरण-रोग-भेषज-प्रयोग-बीजसजातीयानुबन्ध-अनुकूलोपगमप्रतिकूलापगमादिभ्यः प्रसिद्धशरीरवत्।

और आधुनिक सिद्धांतों में सर जगदीश वसु का सिद्धांत है क्या? केवल जो बात इस अकेले श्लोक में घुसेड़ी गई है, वही उन्होंने अपने कई एक ग्रंथों में लिखा है। गुरुरत्न ने अपने सद्दर्शन-समुच्चय में लिखा है कि वनस्पति में भी कतिपय अवस्थाएँ होती हैं— लड़कपन, जवानी तथा बुढ़ापा। उनकी वृद्धि नियत होती है, उनकी किसी टेक तक पहुँचकर उसे पकड़ने की इच्छा होती है, उनके भी घावों से पीड़ा होती, अपना खाद्यपदार्थ पृथ्वी से खींच लेते हैं, वृक्षायुर्वेद का पालन अक्षरशः करते हुए बहुधा वृक्ष पाए जाते हैं, उनके भी व्याधियाँ होतीं और वे सभी ओषधियों द्वारा निवारण भी होती हैं। उनके गर्भ रह जाय, इसलिये उनको कुछ मुख्य खाद्यपदार्थ दिए जाने चाहिए, और रात्रि में किए हुए पेड़ों के घाव शीघ्र अच्छे नहीं होते; क्योंकि प्रकाश की शक्ति तो उस समय होती ही नहीं (और इसी लिये तो रात्रि को फूल व पत्ती तोड़ना मना है)। यह तो था ही, परंतु सरकार यह कहने से नहीं चूके कि हिंदुओं का वनस्पतीय वर्गीकरण योरपीय से कहीं अच्छा है।

इसकी उस समय इतनी अधिक उन्नति न थी और न इतने साधन ही थे, पर फिर भी इन्होंने बहुत कुछ किया । वर्गक्रम का विन्यास, यद्यपि योरप-जैसा पूर्ण नहीं था, तथापि उसे पूर्ण करने का प्रयत्न अवश्य किया गया था । पशुओं के औषधालय थे और ईसा से ३ शताब्दी पूर्व जब कि योरपवाले पशुओं के साथ कोई व्यवहार न करते थे, तो उनकी ओषधि करना कैसा । अश्व, अज, भेड़, खर, हरिण, सर्प, पक्षीगण इन सबके विषय में वे पूर्ण पंडित थे । जोंक, मेंढक तथा केंचुआ—इन सबके विषय में भी उन्हें यथेष्ट ज्ञान था । एक आश्चर्य की बात यह है कि हिंदुओं को इस विषय में इतना कम ज्ञान था, पर मानवशरीर के विषय में उनका इतना ज्ञान अधिक था । आजकल के डाक्टर पहले अपना हाथ पशुओं ही पर साफ़ करते हैं, पर हिंदुओं को इसकी आवश्यकता न प्रतीत हुई होगी और यदि हुई भी, तो उन्होंने दो-एक पालुओं से काम चला लिया । दयानंद के मतानुसार हिंदू वैक्टीरियालोजी पूर्ण थी ।

जीवादि-शास्त्र

जब लोग यह कहते हैं, अब योरपियनों ने वायुयानों का आविष्कार किया, तब क्या वे यह जानते हैं कि वे प्राचीन भारत के समस्त कार्यों पर पानी फेर रहे हैं । परंतु यह उनका दोष नहीं, केवल यह उनके मन की परिस्थिति का कारण है । वह यह जानकर भी मानने में आनाकानी करेंगे कि वास्तव में, भारतवर्ष में वायुयान पहले के हैं । "प्राचीन काल में पृथ्वी पर सर्वत्र आने-जाने के लिये आर्यगण के पास यान आदि का भी अभाव नहीं था । प्राचीन इतिहास-पुराणादि में जो द्रुत-गामी रथ, पोत आदि का प्रमाण मिलता है, जिनके द्वारा थोड़े ही समय में स्थल, जल और आकाश-मार्ग में बहुत दूर तक जाने की बात बताई गई है, उनके द्वारा आधुनिक जहाज़, बेलन, योरोप्लेन आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में ३७ सूक्त की प्रथम ऋक् यह है—

जल तथा वायुयान

क्रीलं वः शर्द्धो मारुतमनर्वाणं
रथे शुभम् कण्वा अभिप्रागयत ।

इसमें 'अनर्वाणम्' शब्द का अर्थ 'अश्वरहित' है और 'मारुत' शब्द का तात्पर्य 'मरुद्दत्त या वाष्पदत्त' बल से है—अतः पूरे ऋक् का यह अर्थ निकलता है कि 'हे कण्वगोत्रोत्पन्न महर्षिगण ! जिस प्रकार से वाष्प के प्रभाव से अश्वरहित रथ चल सकता है, उसकी शिक्षा हमें दीजिए ।' अतः इस ऋक् के द्वारा अश्वरहित वाष्पीय रथ प्राचीन काल में था—ऐसा सिद्ध हुआ है" फिर वाल्मीकीय रामायण के सुंदर-काण्ड, सप्तम सर्ग के ११ व १३ श्लोक इस प्रकार हैं—

पुष्पाह्वयं नाम विराजमानं
रत्नप्रभाभिश्च विवर्धमानम् ।
वेश्मोत्तमानामपि चोच्चमानं
महाकपिस्तत्र महाविमानम् ॥
प्रवालजाम्बूनदपुष्पपक्षाः
सलीलमावर्जितजिह्मपक्षाः ।
कामस्य साक्षादिव भान्ति पक्षाः
कृता विहंगाः सुमुखाः सुपक्षाः ॥

उपर्युक्त पुष्पक विमान बहुत मूल्यवान् था और बहुत ही दीर्घकाय था और बड़े भवनों से भी ऊँचा था—इस लिये इसके चलाने के लिये बड़ी शक्ति की आवश्यकता होगी, और वह चलेगा ही कैसे, आजकल के वायुयानों के समान वह भी वायु की तरंगों ही से चलता था, और यह तरंगें पंखों द्वारा की जाती हैं, और उसमें भी की जाती थीं; पर वे पंखे मामूली बिजली के पंखे-ऐसे नहीं थे, वरन् बहुत सुंदर पक्षियों के पंखों के समान थे, और वे पंख आप-से-आप चलते भी थे, और बड़ी शक्ति भी साधारण न थी । आजकल के इंजीनियर लोग अपना नाम अश्वशक्ति (Horse power) रखते हैं, परंतु पौराणिक इंजीनियर इसको बहुत छोटा जानकर, और गजशक्ति को भी पर्याप्त न जानकर, एकदम कूदकर निशाचर (व राक्षस) शक्ति पर पहुँच गए, और इस विमान की शक्ति एक सहस्र राक्षस की थी, जैसा कि सुंदर-काण्ड के आठवें सर्ग के ७ वें श्लोक में देखा जा सकता है—

वहन्ति यं कुण्डलशोभितानना
महाशना व्योमचरा निशाचराः ।
विवृत्तविध्वस्तविशाललोचना
महाजवा भूतगणाः सहस्रशः ॥

जब कि वायुयान ऐश्वर्यवालों का यान था, तब जल-यान एक आवश्यकता की वस्तु हो गया था—और आर्य-

गण इसके निर्माण करने की कला में अत्यंत कुशल थे। वे काष्ठ-विज्ञान में दक्ष थे, और उत्तम-उत्तम जहाज़ बनाते थे। पूर्व काल में जहाज़ तो सभी स्थानों में थे, परंतु वे आजकल की तरणियों से भी बढ़कर थे। परंतु यही बात आर्यों में लागू नहीं हो सकती है, वह जहाज़ ऐसे थे जिनमें सभी प्रकार के यंत्र थे। ध्वजा थी और पवन-वेग के सहने की शक्ति थी, और वे वेगवान् थे। आधुनिक जहाज़ों में यही बातें होती हैं—इसके लिये महाभारत आदिपर्व का निम्न-लिखित श्लोक देखना चाहिए—

ततः प्रवासितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम्॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम्।
शिवे भागीरथीतीरे नरैर्विश्रम्भिभिः कृताम्॥

किसी-किसी अर्वाचीन पुरुष का यह संदेह है कि

बंदूकें व तोपें

जब आर्य-जाति बंदूक़ और तोप का व्यवहार नहीं जानती थी, तो उनमें युद्ध-विद्या की उन्नति कैसे हो सकती है? परंतु प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करने से उनका यह संदेह मिथ्या प्रमाणित हो जायगा। जब प्राचीन भारत के अनंत अस्त्र-शस्त्रों में नालास्त्र और शतघ्नी आदि का वर्णन देखते हैं, और बड़े-बड़े युद्धों में उन सबका प्रयोग भी देखते हैं, तो प्राचीन आर्य-जाति की युद्ध-विद्या के विषय में इस प्रकार का संदेह करना सर्वथा निर्मूल है। प्राचीन ग्रंथों के देखने से प्रमाणित होता है कि वे तोप को शतघ्नी, बंदूक़ को नालास्त्र, बारूद को ऊर्ध्वघ्नी और गोला को गुड़क कहा करते थे। इस प्रकार के युद्ध-यन्त्र आर्य-जाति के युद्ध में व्यवहृत होते थे, इसमें संदेह नहीं।

'ऊर्ध्वघ्नीं' प्रोथितां कृत्वा शतघ्नीं गुडकैर्युताम्।

अर्थात् बारूद और गोले से भरकर युद्ध में तोप चलाई गई। इन सब प्रमाणों से प्राचीन काल में बंदूक़, तोप आदि अस्त्र व्यवहृत होते थे। सम्राट् पृथ्वीराज के समय में भी तोपों का व्यवहार था। इसका प्रमाण उनके जीवन-चरित्र के इतिहास में पाया जाता है। यथा—

जंबूर तोप छुटहिं भनंकि।
दस कोस जाय गोला मनंकि॥

प्रसिद्ध गंगा की नहर खोदते समय सर आर्थर कटलि साहब ने उत्तर-पश्चिम प्रदेश में पृथ्वी-गर्भ स्थित एक बृहत् नगर का ध्वंसावशेष पाया था, उसमें कई एक तोपें भी मिली थीं, जिससे उक्त साहब ने यह सिद्धांत निश्चय किया कि प्राचीन भारतवासी गण तोप का व्यवहार जानते थे। प्रोफ़ेसर विल्सन साहब ने कहा है कि 'हिंदुओं के चिकित्सा-शास्त्र पाठ करने से पता लगता है कि वे बारूद प्रस्तुत करना जानते थे, और उनके ग्रंथों में भी इसके प्रयोग का वृत्तांत बहुधा मिलता है; और यही नहीं, उनको उस का भी नुसख़ा और उपयोग, दोनों ही ज्ञात थे, और इसे बहुधा काम में लाते थे। इतना होने पर भी [illegible] का इस विषय में यह मत था कि अस्त्र धर्म के नहीं, वरन् अधर्म के थे। क्योंकि इसमें योधाओं की शक्ति की यथेष्ट परीक्षा न होती थी, वरन् उनकी ख़ून-ख़राबे सहिष्णुता की ही परीक्षा होती थी।

अब एक और आइटम बाक़ी रहा, और वह है बेतार का

बेतार का तार

तार। इस विषय में बड़ी सफ़ाई से [illegible] है। एक तो प्राचीन भारत में न Transmitter ही थे, और न Receiver ही थे, [illegible] इस बात में संदेह है कि ऐसी तारबर्क़ी भी न थी। [illegible] अभी मिलन युनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर ने यह दिखाया [illegible] आँखों से भी एक प्रकार की किरणें निकलती हैं, [illegible] परिमाण तथा तरंग की लम्बाई (wave length) अत्यंत शुद्धता से नापी जा सकती है। मस्ताना [illegible] का मत है, और उसने इसे अपने अपरैल सन् [illegible] के अंक में छापा भी है कि यह बात बड़े मतलब की [illegible] इससे भारतवासियों के 'बेतार के तार' की कला पर [illegible] प्रकाश पड़ता है। मिलन के प्रोफ़ेसर साहब इन [illegible] द्वारा ही दो मनुष्यों में बिना किसी तार के संबंध [illegible] का प्रयोग कर रहे हैं, और किसी अंश में उनका [illegible] प्रयोग सफल भी हुआ है। अब प्रश्न होता है कि [illegible] मस्तिष्क से भी ऐसी किरणें निकल सकती हैं [illegible] क्यों न निकलेंगी, यह भी समझ में नहीं आता [illegible] यदि निकलेंगी, तो क्या उनके द्वारा बेतार बर्क़ी [illegible] सकेगी। और जब हम यह देखते हैं कि वास्तव में ऐसी बातें होती हैं कि शिमला का साधू लंदन की [illegible] से जाकर आध घंटे के अंदर बातें करके लौट आता [illegible] इस बात में हमें विश्वास अवश्य हो आता है कि [illegible]

मस्तिष्क से किरणें ज़रूर चलती हैं । उनके द्वारा तार-बर्क़ी भी होती थी । केवल अब उस तारबर्क़ी के कार्यकर्ता चित्त की एकाग्रता न होने के कारण नहीं मिलते हैं। ऐसी एक और बात है, वह यह कि हमारे पिताजी बिच्छू के डंक मारने की दवा एक विचित्र रीति से करते हैं। वह एक घास को, जिसका नाम "दुद्धी" है, लेकर व्यथित मनुष्य को दिखाते हैं और उसे तुरंत ही आराम होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस घास से भी एक प्रकार की ओषधिरश्मियाँ निकलकर, आँख द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर उस विष के प्रभाव को नष्ट करती हैं। भविष्य में इस प्रकार की ओषधि का बड़ा प्रचार होना संभव है, और यह बड़ा प्रभावशाली तरीक़ा भी है। इन सब बातों से उपर्युक्त सिद्धांत परिपुष्ट होता है कि आर्यों को इस प्रकार की तारबर्क़ी की कला ख़ूब आती थी।

इस प्रकार हमारे पूर्वजों के कार्यों की कथा पूरी होती है। भारतवर्ष के इतिहासरूपी सिरपेंच में वह काल एक अत्यंत प्रज्वलित कोहेनूर था, विद्वत्ता में और कार्य-कुशलता में तथा सदैव निर्लिप्तता में उनकी समानता करनेवाली जाति उस समय कोई न थी, और अब भी उसके होने में संदेह है। जिस जाति का एक मुख्य अंश—वह अंश बिलकुल छटा हुआ था—ब्राह्मण वर्ण बनकर स्वयं अपने लिये चिंता न करके सदैव पर-हित में रत रहे, वह जाति छोटी नहीं हो सकती है। और जो अर्वाचीन जातियाँ आजकल बढ़ी हुई हैं, वे सब उन्हीं निःस्वार्थ वैज्ञानिकों के कारण से हैं, जिन्होंने जन्म भर पूरे पेट भोजन न करके, अपना सारा जीवन संसार की वेदी पर बलिदान करके, सब लोगों के ऐश व आराम में लुटा दिया—फिर भी उनके यहाँ कोई ऐसी जाति न थी, जिसका धर्म ही निःस्वार्थ सेवा रहा हो और न अब भी है—इसलिये इतने अधिक साधन होने पर भी उतनी उन्नति नहीं होती है। प्राचीन भारत में, जब शव चीरने के लिये बाँसों की खपचियों के सिवा कुछ भी न था, हमारे विद्वान् वैद्यों ने शवों को चीर मानव-शरीर की रचना पर जो प्रकाश उस समय डाला था, वह अब तक इतने उत्तम तथा शुद्ध साधन होने पर भी और बढ़ नहीं सका है। इस पूर्व कथन से यह तो ज्ञात ही हो जायगा कि समस्त जातियों के गुरु हमीं लोग थे।

परंतु आजकल क्या हमारी स्थिति वही है ? क्या हम अब भी अपने को भारतवासी कहने की क्षमता रखते हैं ? 'भूत वही जो सिर चढ़ बोले', भारतवासी अपने को वही कह सकता है, जो भारतवासी के गुणों का स्वामी हो—क्या हम लोग अब भी ब्राह्मण होकर वैश्यों का लालच, क्षत्रियों का क्रोध और शूद्रों की ख़ुशामद छोड़ सके हैं ? क्या अब भी हम अपने को अच्छे गुरु तथा अच्छे शिष्य कहने की हिम्मत रखते हैं ? क्या विलायत की यह कहावत "Imitative as Imitns अथवा "Imitative as a monkey" हम लोगों का उत्तम शिष्य होना सिद्ध करती है या हमें कपि के सदृश एक बर्बर जाति होना सिद्ध करती ? और हम बर्बर तथा असभ्य कहे जाने पर चिढ़ते क्यों हैं, जब हम राक्षसों की भाँति प्रत्येक दोष को ग्रहण कर लेते हैं, जब हम हैट लगाकर मुँह में चुरुट दबाकर अपने किसी निर्धन भ्राता को गाली देने में अपनी बड़ी बड़ाई समझते हैं ?

परंतु क्या हमको अपना 'बर्बर' विशेषण परिवर्तन करने की इच्छा है ? केवल इच्छा तो सभी मनुष्य करते हैं, परंतु इच्छा करके चुप न हो जाना चाहिए। जैसे मोटर में बिजली जलकर मोटर को और तीव्र करती है, उसी प्रकार यह इच्छा हमारे हृदयों में जलकर हमको अपने मार्ग में अधिक वेग से चलावे। इस बिगड़े हुए लड़के भारतवर्ष को किंगस्ले की शिक्षा ही सबसे उपयुक्त होगी—

Do noble things, not dream them, all day long,
And so makes life, death, and that vast forever, one grand, sweet sony,

परंतु हम लोगों में एक मर्ज़ और है। इच्छा से एक क़दम हम और बढ़कर उस बात पर ख़ूब चिल्लाते हैं, ख़ूब द्वंद्व मचाते हैं, पर करते कुछ भी नहीं, यही एक भयानक व्याधि है। हमको धोखे में डालकर यह हमें अधोगति प्रदान करती है। हम समझते हैं कि हम बड़े पर-सेवी हो गए हैं, परंतु वास्तव में हम बड़े गर्वीले हो जाते हैं। नेपोलियन ने एक समय अपने सिपाहियों से कहा था—विजय ने कभी "उनका परित्याग नहीं किया, क्योंकि वे सदैव शूर, संतोषी तथा एक रहे हैं।" हम लोग

भो यदि विजय की आकांक्षा करते हैं, तो हमें शूर, संतोषी तथा एक होना चाहिए। परंतु हमारी वीरता ही क्या है और हमको अपनी शूरता दर्शाने के लिये लड़ाइयाँ ही कहाँ मिलती हैं, न युद्ध हों और न हम अपनी वीरता ही दिखावें। एक अँगरेज़ी कवि बहुत ही सत्य कहता है—

"The drying up a single tear has more.
Of honest fame than shedding seas of gore."

और आजकल भारतवर्ष में आँसुओं की कमी नहीं, कोई पोंछनेवाला तो हो। करोड़ों नर-नारी भूखों मर रहे हैं, और अपने महाजनों की यातनाओं से दबे हुए हैं। ज़मींदार लोग उनको मारे डालते हैं; परंतु फिर भी उनके आँसू नहीं पुँछते। चारों ओर दारिद्र्य और असंतोष का साम्राज्य फैला है और इसका कारण क्या है? भारतवर्ष में द्रव्य की कमी। जो कुछ रुपया अन्न बेचने से मिलता है वह सब-का-सब और उससे भी अधिक कमख़ाब, मख़मल, मलमल, ब्रांडी, मोटर, पिटरोल, सिगरेट इत्यादि तरह-तरह की वस्तुओं के मोल लेने में चला जाता है, और फिर हम लोग रोते और भूखों मरते हैं।

निकल आओ देश के शूरो! रुपए को बाहर जाने से रोको और अपने देश के भाइयों के आँसू पोंछो। रुपया बाहर जाने से रोकने के लिये दो काम हो सकते हैं, दोनों ही को करो—अपने शौक़ों को घटाओ। स्वयं बहुत सादे बनो, सादगी का महत्त्व दूसरों की दृष्टि में बढ़ाओ और स्वयं अपने देश में इन वस्तुओं को प्रस्तुत करो। जब और देश विज्ञान में इतने बढ़ गए हैं, तब यह कार्य बड़ा कठिन होगा। परंतु क्या कठिनता के कारण कोई कार्य त्याग दिया जाता है? यह तो कायरों का काम है। हमें चाहिए, सब ब्राह्मण होकर विद्याध्ययन करने तथा यथार्थ विद्या ग्रहण करने में दत्तचित्त हों और उससे देश का कार्य सुधारें। विद्वान् होकर विद्या को देशहित में न लगाना लोहे में मुर्चा लगाने के समान है। प्रोफ़ेसर रामन को विद्वान् कहने में हम लोग कभी नहीं चूकते, परंतु शूर कहने में अवश्य ही हिचकते हैं। उन्होंने अच्छी-से-अच्छी उन्नति तो अवश्य की, पर अपने आविष्कारों को बचाकर भारत के काम में नहीं लगाया, उनके आविष्कारों को पश्चिम ही उपयोग में ला रहा है। जगदीश वसु तथा सर प्रफुल्ल राय विद्वान् तथा शूर दोनों ही हैं, उन्हीं का अनुकरण हम सबको करना चाहिए। शूर और विद्वान् होना बहुत बड़ी बात है। इस देश में मानव-जन्म होता ही है, पर मोक्ष भी मिलना निश्चय हो जाता है। भारत का भाग्य अब भी उज्ज्वलता से पूर्ण है, केवल एक परदा हटाना है। क्या हम लोग एक परदे को भी नहीं हटा सकते हैं? क्या हम इतना भी न करके अपने को भारतवासी कहलावेंगे? भारतवर्ष को अभी बहुत बड़ा होना है, और हम लोग उसे बड़ा कर सकते हैं।

हृषीकेश त्रिवेदी

जीवन-ज्योति

१. स्तुति और अनुष्ठान

"भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम"

संसार का समीक्षण करने से पता लगता है कि सर्वत्र स्तुति का साम्राज्य है।

स्तुति द्वारा अनुपादेय उपादेय अग्राह्य ग्राह्य एवं दुःखद वस्तु सुखद बना दी जाती है। कहाँ तक बताया जाय, स्तुति द्वारा वस्तु का वास्तविक स्वरूप सर्वथा बदल दिया जाता है। कपड़ा कितना ही जीर्ण, क्षिप्र ही क्षीण होने-वाला क्यों न हो, विना वीक्षण किए ही स्तुति श्रवण-मात्र से ग्राहक उसे ग्रहण करने के लिये सद्यः सन्नद्ध हो जाता है। स्तुति-सहित साररहित औषध के लिये विना ईक्षण किए ही कठिनता से कमाए हुए कार्षापण को किसान कर से फेंक देता है एवं आचरणहीन, विद्याविहीन, प्रलोभनपूर्ण और स्वार्थप्रवीण प्राणियों की अनेक विधि स्तुति की जा रही है, उन्हीं के आशीर्वाद में परमपद प्राप्ति की प्रतीक्षा है!

अहो! असत्य स्तुति-श्रवण से ही सार-रहित वस्तु के ग्रहण करने के लिये लाखों लोग लालायित हो रहे हैं। सदोष पुरुष की स्तुति करने के लिये मनुष्य-मंडल पूर्ण प्रयत्न कर रहा है।

परमानंदप्रद प्रभु की यदि स्तुति की जाती, तो आज इस मर्त्यलोक में मनुष्य-मंडल के लिये संकीर्ण कंटका-कीर्ण मार्ग न रहता।

परमेश्वर की स्तुति करने से क्या अनिष्ट कर्म नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—नहीं। विना भोगे अनिष्ट कर्मों का फल तो नष्ट नहीं होता है, किंतु भविष्य में अनिष्ट कर्म बनते नहीं हैं, अर्थात् मनुष्य दुःखजनक अनिष्ट कर्मों को नहीं करता है। मनुष्य-मात्र का स्वभाव है कि किसी व्यक्ति में किसी विशेषता को देखता है, तो उस विशेषता को अपने अंदर लाने का यत्न करता है। जब किसी के बल की तारीफ़ की जाती है, तो प्रत्येक श्रोता अपने अंदर बल लाने का यत्न करता है। नींबू के स्मरण से जीभ पर पानी आ जाता है। और शायद पाठक जब इस लेख में नींबू का नाम पढ़ेंगे, तब उनको दंतोदक-संप्लव अवश्य-मेव होने लगेगा। परमपद से पतित, मायाभिमुख,

प्रलोभनपूर्ण पृथ्वी पर पर्यटन करनेवाला प्राणी यदि परमात्मदेव की स्तुति करेगा, तो उसकी पाप-प्रवृत्ति अवश्यमेव नष्ट होगी और पुण्य-प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होगा।

"ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्"—परमात्मदेव की स्तुति और तदनुकूल अनुष्ठान से विवेक-ज्ञान का आवरण नष्ट हो जाता है। शुद्धांतःकरण से की हुई परमात्म-स्तुति संसार-सागर से पार जाने के लिये नौका है, विविध बाधनाओं की बढ़ती हुई बाढ़ को रोकने के लिये दृढ़ दीवार है, स्वर्गारोहण का सोपान है।

परमात्मदेव की स्तुति शुभ कर्म है और शुभ-कर्म का फल उसकी अपेक्षा अधिक होता है। इस विषय में एक दिन एक बैरिस्टर साहब ने मुझसे पूछा कि "यावत् कर्म तावत् फलम्"—यावत् कर्म होता है, तावत् ही फल होता है। यह नहीं कि कर्म न्यून हो और फल अधिक हो।

मैंने उत्तर दिया कि कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) अन्वयी, (२) व्यतिरेकी। व्यवस्था-विधि के अनुकूल कर्म को अन्वयी और व्यवस्था-विधि के प्रतिकूल कर्म को व्यतिरेकी कहते हैं। अन्वयी कर्म का फल अधिक और व्यतिरेकी कर्म का फल यावत् कर्म—उतना ही—होता है। जैसे—उपजाऊ भूमि में जौ, गेहूँ, चावल, चना, मूँग, मटर के एक दाने को बो देते हैं, तो उस एक दाने के (एक से अधिक) अनेक जौ, गेहूँ, चावल, चना, मूँग और मटर के दाने हो जाते हैं। यहाँ पर यथा व्यवस्था-विधि के अनुकूल कर्म का अधिक फल हुआ है। तथैव व्यवस्था-विधि के अनुकूल की गई परमात्म-स्तुति भी अधिक फलप्रदा होगी।

प्रतिकूल कर्म का उतना ही फल होगा, जितना कर्म हो। जैसे—एक मनुष्य ने एक चने का दाना अग्नि में डाल दिया, वह दाना अग्नि में जल गया। खत्ती, खास और खेती में पड़े हुए चनों की कोई हानि नहीं हुई। सिर्फ़ एक जला है। एक की ही हानि हुई है, क्योंकि यह प्रतिकूल कर्म है। जितना प्रतिकूल कर्म होगा, उसका उतना ही फल होगा।

बैरिस्टर—"यावत् कर्म तावत् फलम्" का यह अभिप्राय है कि जब तक कर्म, तब तक फल रहता है। क्योंकि—"कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिः हेतुविनाशात्"—महर्षि गौतम ने बताया है कि समयांतर फल नहीं होता है, क्योंकि हेतु नष्ट हो जाता है। अर्थात् विनष्ट कारण से कुछ भी कार्य नहीं होता।

मैं—ठीक है कि विनष्ट कारण से कोई कार्य न होता किंतु यहाँ पर तो यह विवेचना है कि कर्म-समाप्ति के साथ ही फल-समाप्ति होती है, या नहीं मेरा विचार है कि कर्म के नष्ट होने पर भी उसका फल रहता है। जैसे—किसी मनुष्य की उँगली कट गई। यहाँ उँगली कटना कर्म है। यद्यपि कटना बंद है, किंतु उसका फल रक्त देर तक निकलता रहता है, यंत्रणा देर तक रहती है। भोजन करने के बाद भी कुछ घंटों के लिये क्षुधानिवृत्ति हो जाती है, विद्याध्ययन छोड़ने के बाद भी तज्जन्य फल, ज्ञान, देर तक रहता है। यदि यह सत्य सिद्धांत होता, तो जब तक उँगली पर छुरी चले, तभी तक रक्त निकले, छुरी के पृथक् होते ही रक्त बंद भी हो जाय, पीड़ा भी न होने पाए। जब तक दाल-भात, पूड़ी-पकौड़ी का पेट में पाचन होता रहे, तब तक भूखभवानी भागी रहे, जब चौके से चलना आरंभ हो, तब भूखभवानी का प्रचंड तांडव होने लगे और अध्ययन छोड़ने के साथ ही उसका ज्ञान भी नष्ट हो जाय, तो ऐसा होने से संसार की स्थिति ही बिगड़ जायगी; क्योंकि कोई भी मनुष्य डाक्टर, वकील नहीं बन सकता है और आप बैरिस्टर भी नहीं बन सकते हैं। अध्ययन की समाप्ति के साथ ही तदध्ययनफल ज्ञान भी नष्ट हो जाना चाहिए किंतु ऐसा नहीं होता है। अतः यह सिद्धांत सर्वथा असत्य है कि जब तक कर्म, तभी तक फल रहे।

मेरे लिखने का यह अभिप्राय है कि पूर्णानंदप्रद प्रभु की स्तुति छोड़, जड़ अथवा चेतन की स्तुति से परमानंद प्राप्ति की जो आशा रखता हो, उसकी आशा निराशा में इस प्रकार परिणत हो जायगी, जैसे नीम से खीर, खजूर से अंगूर, कचनार से अनार और चावल से ... चाहनेवालों की आशा निराशा में परिणत हो जाती है।

भगवद्भक्त जब भगवान् की स्तुति शुद्धांतःकरण से करता है, तब वह अनुभव करता है कि मैं प्रभु के आनंद की अभंगतरंगा-गंगा में ग़ोता लगा रहा हूँ। ... पतंजलिजी ने भी बताया है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"—यह कि परमात्मा के स्वरूप में अपने-आपको बैठा देखता है। किसी को शंका हो सकती है कि ...

को स्तुति से अनिष्ट-प्रवृत्ति नष्ट कैसे होगी ? मनुष्य में अनुकरण करने की शक्ति आरंभ से ही पाई जाती है। बचपन में जिसका कुर्ता देखा, बस अपने लिये भी वैसा ही चाहता है। स्कूल और कालेज में जिसको अच्छा पाता है, ख़ुद भी वैसा ही बनना चाहता है। राममूर्ति को देखकर प्रायः पुरुष पहलवान बनना चाहता है। किसी ने ठीक कहा है—"As a man thinketh so he becometh"" अर्थात् मनुष्य जैसा सोचता है, वैसा वह बन जाता है। माता के हृदय में जैसे भाव रहते हैं, वैसे ही प्रभाव का गर्भस्थ बालक हो जाता है। यदि यह मननशक्ति इतना प्रभाव रखती है, तो प्रभु की स्तुति का मनन किया जायगा। प्रभु के गुण भी श्रोता में अवश्य आवेंगे। प्रभु के गुणों के आने से पाप-प्रवृत्ति विनष्ट होगी। इसलिये वेद ने आदेश किया है—

"भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।"

अर्थात् आपकी बहुत प्रकार की स्तुतियाँ नम्रतापूर्वक सदा प्रशंसा किया करें और सर्वदा आनंद में रहें।

धुरेंद्र शास्त्री

× × ×

२. पाश्चात्य संस्कृति का भारत पर प्रभाव

भारत ! तुम दीनता की बेड़ियों में जकड़े हुए हो। अंधकार में पड़े-पड़े तुम्हारी ज्ञान-दृष्टि विलीन हो गई है और दैहिक यातनाएँ भोगते-भोगते तुम्हारा शरीर जर्जर हो गया है । तुम इतने अपढ़ और मूर्ख हो कि तुममें मित्र-शत्रु, भले-बुरे, हित-अहित का विवेक किंचिन्मात्र नहीं रहा। तुमको ख़बर नहीं। तुम्हारी मानसिक संपत्ति का भी अपहरण कर लिया गया है । संसार को चकित करनेवाले जिन आविष्कारों के निर्माणकर्ता तुम थे, उन पर उनकी मुहर लगी हुई है।

भारत की अधोगति का मुख्य कारण प्राचीन संस्कृति का त्याग और विदेशी का ग्रहण है। कहाँ वह समय था, जब सभ्य देशों में भारतीय संस्कृति का मान था और कहाँ अब वह समय आ गया है कि सर्वत्र उसका निरादर होता है । कुछ विचार-शून्य भारतीय उसे त्यागने में ही उन्नति-सोपान समझते हैं। ज़रा इतिहास की ओर ध्यान दीजिए। सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म के साथ-साथ रहन-सहन और साहित्य का प्रचार करने के लिये बौद्ध-भिक्षु और धर्म-उपदेशक बर्मा, श्याम, चीन, तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान, मंगोलिया, मिसर, यूनान आदि सुदूरवर्ती देशों में भेजे थे। अब भी एशिया-महाद्वीप के अनेक देशों में हमारी प्राचीन संस्कृति का वैभव छिपा पड़ा है।

भारत के अक्षय ज्ञान-भंडार ने देश-देशांतरों में इतनी ख्याति प्राप्त कर ली थी कि वहाँ के निवासी अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने के लिये नगण्य संख्या में यहाँ आते थे। वे पूर्ण विद्वान् होकर और यहाँ की संस्कृति के साँचे में ढलकर प्रसन्नवदन स्वदेश लौट जाते थे। वर्तमान युग में भी यहाँ की संस्कृति के चिह्न बौद्ध-देशों में थोड़े-बहुत पाए जाते हैं। वहाँ धर्म-भिक्षु और महंतों के वस्त्र अशोककालीन आचार्यों के समान होते हैं।

हमारी प्राचीन संस्कृति इतनी उच्चतम थी कि स्वयं विजयी सिकंदर अपने साथ यहाँ के कवियों, पंडितों और शिल्पकारों को इसका प्रचार करने के लिये ले गया था। महमूद ग़ज़नी ने भी यहाँ के कारीगरों के हाथ से बनी हुई इमारतों से अपनी राजधानी को अलंकृत किया था और यहाँ की पुस्तकों का अनुवाद फ़ारसी-भाषा में कराया था। भारतीय कवि और पंडित उसकी सभा के सदस्य थे।

मुसलमान बादशाहों ने अपनी संस्कृति को ... का रूप दिया था । मध्यकालीन भारत में ... संस्कृति का देशी नीति, रहन-सहन, भाषा आदि ... प्रभाव अवश्य था, पर सूक्ष्म रूप से । वह देशी ... मिलकर विलीन हो गई थी।

पलासी-युद्ध के पश्चात् भारत में पाश्चात्य संस्कृति उत्तरोत्तर उन्नति करती रही ! बहुत समय तक ... वितर्क होता रहा कि शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी हो ... भारतीय भाषाएँ । अंत में बड़े वादानुवाद के ... यह निश्चय हुआ कि शिक्षामाध्यम अँगरेज़ी हो। ... ब्रिटिश-सरकार की चाहे जो कुछ नीति रही हो, इससे भारत को लाभ की अपेक्षा अधिक हानि पहुँची है। यह शिक्षा इतनी महँगी है कि साधारण स्थिति वालों के लिये इसे प्राप्त करना कोई सरल कार्य ... है। इसी कारण एक शताब्दी तक लगातार प्रयत्न ... पर भी भारत शिक्षित न हो सका। एक तो मौलिक ... के अंकुर अँगरेज़ी-भाषा के प्रचंड आतप से झुलस ... हैं; दूसरे थोड़े-बहुत जो लोग शिक्षित होते हैं ... भी मूर्ख या स्वार्थी रहते हैं। तीसरे, रहन-सहन विदेशी होने से करोड़ों रुपया बाहर चला जाता है। चौथे, सामाजिक नियम टूटते जाते हैं । पाँचवें, भारतीय धर्म ... विदेशी की विजय होती जाती है। छठे, राजनैतिक ... में भारत बहुत पिछड़ गया है और उसकी पराधीनता ... होती जाती है और सातवें, उसकी शारीरिक ... मानसिक, दोनों शक्तियाँ जाती रही हैं। मेकाले के समय से अब तक लगभग सौ वर्ष हुए। अब यह सोचने की बात है कि इस अवधि में भारत में कितने प्रति... स्त्री-पुरुष शिक्षित हुए और इससे आधे समय में ... में कितने । कुछ लोगों का कहना है कि विदेशी-भाषा के विना विचार-विनिमय नहीं हो सकता। यह किसी ... अंश में ठीक है। मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा के पक्ष ... विदेशी भाषा के पठन-पाठन से उच्चतर विनिमय ... सकता है. यद्यपि योरप के प्रत्येक देश में पहले अपनी ... भाषा द्वारा शिक्षा प्रदान की जाती है, तथापि ... किसी भाषा में कोई उच्चकोटि का ग्रंथ प्रकाशित होता है, तो उसका अनुवाद अन्य भाषाओं में हो जाता है।

बात यह है कि वहाँ मातृ-भाषा का प्राबल्य है, परंतु अन्य योरपीय भाषाओं का पठन-पाठन शिक्षा-प्रणाली के अंतर्गत है। विद्यार्थी उसी विदेशी भाषा का अध्ययन करता है, जिसमें उसकी विशेष रुचि होती है। फलतः लोग अन्य भाषाएँ जानते हुए भी प्रेम अपनी ही भाषा तथा संस्कृति से रखते हैं।

योरप में एक देश की संस्कृति का दूसरे देश की संस्कृति से महान् अंतर नहीं है, फिर भी प्रतिदेश के निवासी प्रधानता अपनी ही को देते हैं और यथाशक्ति उसकी रक्षा और प्रसार के लिये कटिबद्ध रहते हैं। फिर भारत के लिये, जो योरप से हज़ारों मील की दूरी पर है और जहाँ के सामाजिक नियमों और जलवायु में वर्णनातीत अंतर है, वहाँ की संस्कृति कैसे कल्याण-कारिणी हो सकती है। जिस देश की जैसी संस्कृति होती है, वैसे ही विचार उस देश की भाषा और साहित्य में अभिव्यक्त किए जाते हैं। यही कारण है कि आधी अवस्था विदेशी भाषा के पढ़ने में लगा देने पर भी कोई विरला ही होगा, जो भली भाँति अपने विचार अभिव्यक्त कर सकता हो। कहीं वाक्-पटुता और वाक्-निर्भीकता की आवश्यकता होती है, तो बहुत-से युवक शारीरिक और मानसिक बल होने पर भी मूक रह जाते हैं और दबकर काम करते हैं। हाय! यह विदेशी भाषा हम वीर-संतान को कितना कायर बना रही है। इसने हमारी ज़बान पर इतना ज़बरदस्त ताला लगा दिया है कि हम अपने स्वत्वों के लिये कुछ देर तक निर्भीक होकर बोल या जिस रुख़ चाहें अपनी लेखनी भी नहीं उठा सकते।

साहित्य किसी देश की संस्कृति का साँचा है, जिसमें कुछ काल के पश्चात् पाठक ढल जाते हैं। जब हमें विदेशी साहित्य की बालकपन से शिक्षा दी जाती है, तो युवक होते-होते हमारा रूप उसी के अनुसार हो जाता है और जो विचार हमारे मस्तिष्क में आ जाते हैं, उन्हें कार्यान्वित किए बिना हमें कल नहीं पड़ती। फिर उन्हें त्यागने के लिये बड़े-से-बड़े उपदेशक और नेताओं के उपदेश एवं परामर्श अरण्य-रोदन होते हैं। यदि हम अपने साहित्य के मर्मस्पर्शी पद बालक के मस्तिष्क में भर दें, तो यह निश्चय है कि युवावस्था में वे उसमें अमोघ शक्ति उत्पन्न कर देंगे। यदि बालक शिवा को संस्कृत और मराठी के सैकड़ों पद कंठाग्र न होते, तो क्या वह दक्षिण में स्वराज्य स्थापित कर सकता?

वह आदर्श संस्कृति कितनी बढ़ी-चढ़ी थी, जिसमें गुरु और शिष्य का नाता पिता-पुत्र के समान था। केवल आज्ञा-पालन ही उस शिक्षा-प्रणाली को उच्चतम बनाए हुए था। गुरु निःस्वार्थ शिक्षा प्रदान करते थे और विद्यार्थी दत्तचित्त हो श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण करते थे। गुरु-निंदक महापातकी समझा जाता था। शिक्षा में तनिक भी बनावट न थी। अब तो इस बनावटी भाषा और बनावटी साहित्य से हमारे शिष्य और गुरु के हर काम में बनावट ही बनावट रहती है। आजकल तो वही विद्यार्थी कुशाग्रबुद्धि और होनहार समझा जाता है, जिसमें चपलता कूट-कूटकर भरी हो और जो ज़ुल्फ़ें निकालकर, दुम-कटा बंदर बना स्कूल आवे; और वही गुरु दक्ष है, जो अपनी वाणी से लड़कों को मुग्ध कर ले। हैट, बूट, सूट पहनकर स्कूल आवे और सदा ट्यूशनों की घात में रहे। कहाँ तो पुरा काल में निःशुल्क शिक्षा प्रदान की जाती थी और कहाँ अब पाठशाला में काफ़ी शुल्क लिया जाता है। यदि साधारण बुद्धि का धनी विद्यार्थी घर पर पढ़ाने के लिये अध्यापक न रक्खे, तो उत्तीर्ण नहीं हो सकता। अब बताइए, ऐसी शिक्षा में कहाँ तक गुरु-शिष्यों में सहानुभूति तथा निष्पक्षता हो सकती है।

आप प्राच्य और पाश्चात्य संबंधिनी दो संस्थाओं का निरीक्षण कीजिए और दोनों के छात्रों और अध्यापकों को ध्यानपूर्वक देखिए, तो आपको विदित होगा कि एक में शरीर-रक्षा, पठन-पाठन तथा मानसिक विकास और दूसरी में बाह्य आडंबर पर विशेष ध्यान दिया जाता है। गुरुकुल काँगड़ी और शांति-निकेतन आदि संस्थाएँ प्राचीन शिक्षा-प्रणाली के आधार पर स्थापित की गई हैं।

कभी वह समय था, जब हम लोग इतर देशों में शिक्षक भेजते थे। आज इतना अज्ञान छा गया है कि अन्य देश के शिक्षक आकर हमें शिक्षा प्रदान करते हैं। वे वास्तव में हमें शिक्षित तो क्या बनाते हैं, पर अपनी संस्कृति की छाप हम पर लगा कर हमारी को लुप्त कर देते हैं। फलतः हममें प्राचीन विद्वानों तथा राजनीति-विशारदों के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

शिक्षा द्वारा इस विदेशी संस्कृति ने हमारे आंतरिक जीवन में बड़ी भारी क्रांति उत्पन्न कर दी है। प्राचीन पिता धर्मादेश से पुत्र में लोकहित की भावना उत्पन्न करके उसे अपने से श्रेष्ठ बनाने का प्रयत्न करता था। पुत्र पिता के जीवनकाल तक सेवा-सुश्रूषा करके भी पैतृक ऋण से मुक्त नहीं होता था। वह पिता की मृत्यु पर भी उसकी स्मृति में कुएँ, तालाब और पाठशालाएँ बनवाता और दीन-दुखियों और विद्यार्थियों को भोजन करवाता था। गार्हस्थ्य-जीवन में आज्ञापालन की मर्यादा का कहाँ तक वर्णन किया जाय। पुत्र पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करके वन में मारा-मारा फिरता, भाई राज्य मिलने पर भी उसका प्रतिनिधि होकर राज करता और लौटने पर राज-पाट सब उसे सौंप देता था। बहू सास-ससुर की सेवा दत्तचित होकर करती थी। अब तो शिक्षित पुत्र पिता की, जिसने नाना प्रकार की कठिनाइयों का सामना करके पढ़ाया-लिखाया, तनिक भी चिंता नहीं करता और बात-बात पर तीव्र आलोचना करता है। आप तो बूट-सूट डाँटता है और पिता फटे पुराने कपड़े पहनता है। आप तो फ़ैशन, सिगरेट और मदिरा में रुपए का अपव्यय करता है, परंतु पिता को पेट-भर भोजन भी नहीं नसीब होता। स्त्री लँडूरी-सी बनी धृष्ट होकर घूमती फिरती है और वृद्धा माता फटी चादर पहने लाज के मारे गड़ी-सी जाती है। बहू तो सेज पर पड़े-पड़े नाविलें पढ़ती, ताश खेलती और सखी-सहेलियों में हँसी-मज़ाक़ करती है और सास घर के काम में पिसी जाती है। सहोदर और निकटसंबंधी भूखों मरते हैं और आप होटलों के पुजारियों की भेंट में ख़ूब रुपया चढ़ाते हैं। अपने लड़के तो ज़रूरत से ज़्यादा खाते-ख़र्चते हैं, पर ग़रीब भाई के लड़कों के भाग्य में सूखी रोटी भी नहीं है।

आज हम सोवियट रूस की मुक्त-कंठ से प्रशंसा करते हैं। वहाँ तो केवल राष्ट्र ही में सर्वसाधारण को समान अधिकार हैं। किंतु प्राचीन काल में यहाँ घर-घर सोवियट रूस था। घर का प्रति सदस्य सामर्थ्यानुसार काम करता था। किसी को अपनी अर्जित संपत्ति के इच्छानुसार अपव्यय करने का अधिकार न था। प्रति सदस्य को आवश्यकतानुसार भोजन तथा वस्त्र मिलते थे। संक्षेप में यहाँ तो 'मुखिया मुख सों चाहिए, खान-पान कहँ एक' वाली कहावत पूर्णरूप से चरितार्थ की जा[illegible] थी। कोई यह कहेगा कि कुछ सदस्य अकर्मण्य हो[illegible] होंगे। नहीं, हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना धार्मिक [illegible] था। शक्ति-अनुसार काम करना प्रतिजन का कर्तव्य [illegible]

एक समय वह था, जब इँगलैंड और अमेरिका[illegible] विवाह-विच्छेद के मुक़द्दमे सुनकर हमारे शरीर में बि[illegible] दौड़ जाती थी और हम राम-राम कहकर कानों[illegible] उँगली रखते थे। आज वह समय आ गया है[illegible] यहाँ भी ऐसे मुक़द्दमों की कमी नहीं है। उस भारत में[illegible] जहाँ यह विश्वास था कि मृत्यु पर भी पति-स्त्री[illegible] साथ नहीं छूटता और जहाँ पति स्त्री को देवी और[illegible] पति को देवता समझती थी—आज कतिपय अवस्[illegible] में ज़रा-सी अनबन पर पति-पत्नी का साथ जीवन[illegible] ही में छूट जाता है और कभी-कभी यहाँ तक [illegible] आती है कि एक दूसरे का प्राणघातक हो जाता है।[illegible] भी भारतीय विचारों के स्त्री-पुरुष चाहे शिक्षित हों[illegible] अशिक्षित, न केवल इस लोक में, किंतु परलोक [illegible] समवाय संबंध समझते हैं। आर्य-संस्कृति की महि[illegible] गृह का काम-काज स्वयं करती हैं और यथाशक्ति[illegible] की गाढ़ी कमाई का एक पैसा भी नष्ट नहीं होने [illegible] अतिथियों और संबंधियों का वे यथायोग्य स[illegible] करती हैं। किंतु पाश्चात्य बाह्य आडंबर से मोहित [illegible] आप तो कुछ काम करती नहीं, दूसरों से [illegible] करती हैं। फलतः असंतोष और अकर्मण्यता के [illegible] में फँसकर स्वास्थ्य से भी हाथ धो बैठती हैं और [illegible] रुपया अपनी और निर्बल संतान की चिकित्सा में [illegible] वैद्य, डाक्टर को भेंट करती हैं। गृहस्थी के जंजा[illegible] पड़कर पति को इतनी चिंता हो जाती है कि उ[illegible] असामयिक मृत्यु तक हो जाती है। यह सब झूठ है[illegible] अँगरेज़ स्त्रियाँ कुछ नहीं करतीं, सब काम नौ[illegible] से कराती हैं। विलायत में अधिकांश लोग नौकर[illegible] रख सकते। वे सब काम, जिन्हें शायद हम ग़रीब[illegible] ग़रीब भारतीय न करेंगे, स्वयं करते हैं। यहाँ भी[illegible] से अँगरेज़, जिनकी आमदनी भारतीयों से अधिक है[illegible] का लगभग सब काम-काज आप करते हैं।

पाश्चात्य रहन-सहन इतना महँगा है कि स्त्रि[illegible] भी काम की तलाश में पुरुषों की नाईं मारी-मारी फि[illegible] पड़ता है। कहा जाता है कि भारत में स्त्रियों को[illegible]

गुलाम बनाए हुए हैं। हाँ, कुछ अंश में यह बात सत्य है। यह सब बाहर से आए हुए परदे की प्रथा की बदौलत है। भारत में पति, भाई पिता, पुत्र स्त्रियों को भोजन देते हैं, पर वहाँ तो वे उनको कार्यालयों में काम करने भेजते हैं, जहाँ उन्हें अनेक कठिनाइयों और कभी-कभी मान-हानि का सामना करना पड़ता है। शोक! बेचारी अबलाएँ गर्भावस्था में भी काम करती हैं। कभी-कभी कठिन परिश्रम से गर्भपात तक हो जाते हैं और कुछ स्त्रियाँ सदैव के लिये बंध्या रहती हैं। भारत में सरकार की उदासीनता तथा सामाजिक कुरीतियों के अस्तित्व से विधवाओं की संख्या बढ़ गई, पर योरप और अमरीका की अविवाहित स्त्रियों की संख्या से यह न्यून है।

पश्चिम के सामाजिक नियम भिन्न हैं। वहाँ पिता पुत्र को अपनी अर्जित संपत्ति दे या न दे, उसे पूर्ण अधिकार है। यहाँ मरने पर भी प्रतिनिधि छोड़ने के लिये पुत्र उत्पन्न करना प्रति पुरुष का धर्म है। पुत्र को पिता की अर्ध समाप्त कृतियों को पूरा करना पड़ता है। चाहे पिता मरते समय एक पैसा भी न छोड़ जाय, पिता का ऋण चुकाना पुत्र का धर्म है। अस्तु, पिता धर्म-बद्ध होकर अर्जित संपत्ति पुत्र को सौंप जाता है, जिसका सदुपयोग करना उसका धर्म है। न्याय के आदेश से पुत्र का अर्थहीन एवं विकलांग पिता की सहायता करना परम कर्तव्य है।

पश्चिम में किसी का विशेष आदर-सत्कार करने की प्रथा नहीं है। कोई आदमी किसी के यहाँ अधिक समय तक अतिथि-सत्कार नहीं प्राप्त कर सकता। माता-पिता को विवाहित पुत्र से किसी प्रकार का सत्कार एवं आर्थिक सहायता प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं। यहाँ तो मसला ही दूसरा था। चाहे आप भोजन न करें, पर अतिथि का मान ईश्वर के समान करते थे। प्राचीनकाल में संपन्न पुरुष बिना किसी को भोजन कराए स्वयं भोजन नहीं करते थे। अब मान-सत्कार तो दूर रहा, अतिथि घृणास्पद हो जाता है और "सर्वस्याभ्यागतो गुरुः" वाली कहावत केवल पुस्तकों में रह गई है।

प्राचीन भारत में अनुशासन की श्रृंखला पिता-पुत्र से लेकर राजा तक चली गई थी। फलतः प्रजा राजवत्सल थी, यही कारण है कि प्राचीनकाल में राज-विद्रोह का बहुत कम उल्लेख है। अब पाश्चात्य इतिहास की ओर दृष्टिपात कीजिए। वहाँ आपको प्रतिशताब्दी में राज-विद्रोह के हत्याकांड दृष्टिगोचर होंगे।

यह वही संस्कृति है, जिसने चार्ल्स प्रथम का शिरच्छेद कर डाला था और लीयर की कन्याओं को पिता का बहिष्कार करने के लिये बाध्य किया था। इससे क्या हम सामाजिक सुधार की आशा कर सकते हैं? यह तो स्वार्थ और पाखंड से भरी है, और हमें अराजकता का पाठ सिखाती है। आजकल देश में चहुँदिशि जो राज विद्रोह की घटा छाई हुई है, वह पाश्चात्य संस्कृति के फलस्वरूप है। यहाँ राजा प्रजा को सुखी रखने के लिये होता था। जैसा कि निम्न-लिखित श्लोक से विदित होता है—

असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्वो मगधप्रतिष्ठः ;
राजा प्रजापालनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा।

रघुवंश

'राजा' शब्द की व्युत्पत्ति भी 'रञ्ज' धातु से है, जिसका अर्थ प्रसन्न करना है। रञ्जयतीति राजा। फिर भारतीय संस्कृति के अनुसार उसमें स्वार्थ कहाँ से हो सकता है। प्राचीन राजाओं में स्वार्थ और पक्षपात नाममात्र को न था। राजा का अनियंत्रित शासन कभी न था। उसके कर्मचारी केवल निरीक्षक का काम करते थे। प्रजा सब झगड़े पंचायत से निर्णय कर लेती थी। दैवी आपद् का होना राजा ही का पाप समझा जाता था। वह उसे शांत करने के लिये शक्ति-भर प्रयत्न करता था। यदि वह इसमें सफल नहीं होता था, तो राज-संचालन का कार्य पुत्र या मंत्री को सौंपकर स्वयं वन में तप करने के लिये चला जाता था। भारतीय राजनीति को दृष्टि में रखकर महात्मा तुलसीदास ने कहा है—'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवस नरक अधिकारी', आजकल भारत में जनता महामारी और अकाल का ग्रास हो रही है, तिस पर तुर्रा यह कि स्वास्थ्य रक्षा के लिये हर प्रांत में एक विभाग है, और बिस्वा-बिस्वा ज़मीन जोती-बोई जाती है। इसका कारण यह है कि राजा की ओर से यहाँ की संस्कृति के अनुसार प्रबंध नहीं होता। राजा भेष बदलकर यह देखता था कि कहीं कोई दुःखी तो नहीं है या किसी पर अन्याय तो नहीं हो रहा है। आजकल तो ज़मींदार और राजकर्मचारी मनमाना काम करते हैं। वे

ग़रीब प्रजा से हर प्रकार की बेगार लेते हैं। पुलिस अपना राग अलग अलापती है। सरकार की ओर से ज़रा-सी भी जाँच-पड़ताल नहीं होती। क्या ख़ूब राजनीति है? ज़रा पुरानी राजनीति से तो इसका मिलान कीजिए।

इस संस्कृति ने हमारे सामने विकट आर्थिक समस्या उपस्थित कर दी है। इसकी पूर्ति करना हमारे लिये सरल कार्य नहीं है। इसने हमारे साधारण रहन-सहन को कृत्रिम बना दिया है। हम अपने सामाजिक वस्त्रों से घृणा करते हैं, पर कोट, पतलून, वास्कट आदि धारण करके अत्यंत गौरवान्वित होते हैं। साधारणतः उत्तम और मध्यम स्थिति के लोग पाश्चात्य वस्त्रों के धारणकर्ता होते हैं। ग़रीब भी उनका अनुकरण करने लगते हैं। वे भोजन की अपेक्षा वस्त्रों पर अधिक व्यय करते हैं। अस्तु, पर्याप्त और स्वस्थकर भोजन न मिलने से उनका मुख म्लान और शरीर निर्बल हो जाता है। उन्हें थोड़ी दूर चलने के लिये सवारी की आवश्यकता होती है। उत्सव में सम्मिलित होने के समय भड़कीले वस्त्रों का होना उनके लिये अनिवार्य है, और यदि अप-टु-डेट वस्त्र न मिलें, तो कायरता के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। उस समय ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने घोर पाप कर डाला है। वास्तव में इस बाह्य आडंबर ने हमें अत्यंत दब्बू और झेंपू बना दिया है। यदि हमारे पास बहुमूल्य और तड़क-भड़क के वस्त्र नहीं हैं, तो हमें अत्यंत आवश्यक कार्य के लिये किसी बड़े से मिलने का साहस नहीं होता। जब हम किसी स्थान को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, तब हमें पहले वस्त्रों की, फिर कार्य मिलने की चिंता होती है। इस विलासिता ने हमारी आवश्यकताओं को बढ़ा दिया है। अपव्ययता के साथ हमारी चिंता बढ़ती जाती है। आधुनिक समय में भी बड़े बूढ़े, नवयुवकों और बालकों की अपेक्षा स्वस्थकर भोजन की ओर अधिक ध्यान देते हैं। वे उनकी तरह मनमोहक वस्तुओं की ओर फटकते तक नहीं। यह मानी हुई बात है कि जितना मनुष्य अपव्ययी या कृपण होगा उतना ही स्वार्थी एवं दोषपूर्ण होगा। वही दानवीर हो सकता है, जो अपनी आवश्यकताओं को घटाकर दूसरों की सहायता करता है।

भारतीय धर्मों की जननी उसकी संस्कृति है। यद्यपि भारत अनेकानेक धर्मों की भूमि है तथापि उसके हिंदू-धर्म ही उपयुक्त है, जो उसकी जलवायु के ... पर बनाया गया है। प्रातःस्नान और त्रिकाल-संध्या ... मन और शरीर दोनों शुद्ध रहते हैं। उष्णता के ... स्नान प्रति भारतीय के लिये अनिवार्य रक्खा गया ... फिर वस्त्र उतारकर मुँह-हाथ धो, ताज़ा भोजन ... बताया गया है। कारण, बाहर अनेक प्राणघातक कीटाणु शरीर में लग जाते हैं। वे ... करते समय शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। बाहर ... आते ही वस्त्रों को उतार देने से न तो कीटाणु ... में प्रवेश करते हैं और न घर में फैलते हैं। अब ... बाहर भीतर के कपड़ों में कोई अंतर नहीं है। ... बाहर के कपड़े घर के एक भाग में अलग खूँटी पर ... दिए जाते थे और जूते डेवढ़ी पर रख दिए जाते थे, ... अब मिस्टर बूट और सूट का प्रवेश घर के ... भाग में है।

हिंदू-धर्म के पर्व भी वैज्ञानिक दृष्टि से रक्खे गए ... दृष्टांत के तौर पर होली और दिवाली के पर्व ... वर्षा-ऋतु में अनेक कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं। ... अंत में जूड़ी-बुखार बड़ी तीव्रता से फैलने लगता ... प्राचीन ऋषि-मुनियों ने प्राणघातक कीटाणुओं ... जनता का संहार देखकर एक दिन नियुक्त किया, ... मनुष्य अनिवार्य रूप से घरों की सफ़ाई करें। ... अबोध जनता को यह कहकर समझाया कि ... घरों की सफ़ाई न होगी, तो लक्ष्मी देवी तुम पर ... न करेंगी। वास्तव में यह ठीक ही है। जिनका ... ख़राब है, वे काम-काज करने में अशक्त रहकर ... उपार्जन नहीं कर सकते, वे अस्वस्थ रहकर ... के पाश में फँसे रहते हैं। इसी प्रकार होली के अवसर ... हर मुहल्ले के चौराहे और घर पर अग्नि जलाने ... हवन आदि करने से दो ऋतुओं के समागम से ... होनेवाले कीटाणुओं का नाश हो जाता है, और ... के पानी से स्नान करने से ग्रीष्म-ऋतु में त्वचा-... रोग नहीं पैदा होते। इसी दृष्टि-कोण से ... भी रक्खे गए हैं। इनका यथाविधि अनुष्ठान न ... भी हमारे सामाजिक, आर्थिक और नैतिक ... का कारण हो सकता है।

अब कार्य-क्रम की ओर ध्यान दीजिए। यहाँ ...

भी झूठी नक़ल है । योरप शीत-प्रधान देश है । वहाँ सूर्योदय देर में होता है। प्रकृति लोगों को नौ बजे के पूर्व काम करने की अनुमति नहीं देती । वहाँ तो दूसरी ही बात है। यहाँ प्रातःकाल ही काम करने का अच्छा समय है । मध्याह्न में गर्मी के कारण काम में बड़ी रुकावट होती है। अँगरेज़ों के आगमन के पूर्व सब कार्यालयों में प्रातःकाल छः या सात बजे से लेकर ग्यारह या बारह बजे तक काम होता था । यदि आवश्यकता हुई, तो सायंकाल को भी। यह नहीं था कि लोग भोजन डाटकर पसीने से शराबोर आफ़िस व स्कूल को दौड़े जायँ, और बिना खाए-पिए चार-पाँच बजे तक काम में जुटे रहें। भोजन के पश्चात् ही शारीरिक या मानसिक श्रम करने से शिक्षित-समाज का स्वास्थ्य लगातार बिगड़ता जाता है। चश्मे की सौ में पचास को आवश्यकता होती है, और कब्ज़ तो लगभग सभी को बना रहता है।

यदि प्राचीन नियमों का अनुकरण करके प्रातःकाल सब काम हुआ करें, तो कितना अधिक और सुंदर हो सकता है। कुछ लोग गृहस्थी के झंझटों या धनोपार्जन के अन्य साधनों में लिप्त रहने से अपने को इतना थका देते हैं कि फिर उनसे स्कूल या दफ़्तर का काम अच्छी तरह नहीं होता। लेखक को स्वयं इस बात का अनुभव है। इस व्यतिक्रम से मालिक और नौकर, पाठक और विद्यार्थी को कितनी हानि पहुँचती है । साधारणतः हमारे अपढ़ किसान भाई निर्धनता और अज्ञान में डूबे होने पर भी बाबुओं और अध्यापकों से बलिष्ठ हैं। कारण, वे कार्य-क्रम में प्रकृति की इतनी अवहेलना नहीं करते, जितनी शिक्षितगण। वे सूर्योदय के पूर्व ही अपना काम आरम्भ कर देते हैं, और मध्याह्न तक करते रहते हैं। वे कार्य-क्रम ऋतु के अनुसार रखते हैं और भोजन के पश्चात् थोड़ा-बहुत विश्राम अवश्य कर लेते हैं।

विदेशी माल की खपत के लिये योरप और अमरीका ने भारत में अपनी संस्कृति का प्रचार बड़े ज़ोर-शोर के साथ किया। ख्रीष्टीय मत के प्रसार ने इस काम में बड़ी सहायता दी। नगरों में नवीन ख्रीष्टियों के रहन-सहन ने जनता पर बड़ा प्रभाव डाला । अबोध जनता को उनकी वेष-भूषा आदर्श जँची । पश्चिमी आमोद-प्रमोद की सामग्री ने भारत में पदार्पण करना आरम्भ कर दिया । मदिरा और सिगरेट आवश्यक वस्तुओं में सम्मिलित हो गईं । वस्त्र तथा आमोद की सामग्री के आयात ने कच्चे माल का निर्यात बढ़ा दिया, जिससे भारत अपना भोजन देकर और कृत्रिमता का सहारा लेकर वास्तविकता से हाथ धो बैठा, और साथ-ही-साथ अपने शिल्पकारों के हाथ कटवा डाले । वे बेचारे लुंज होकर कहीं के भी न रहे । विवश होकर उन सबको कृषि का अवलंबन लेना पड़ा । अब बताइए, किस देश की उदर-पूर्ति केवल एक व्यवसाय से हो सकती है? फलतः अखिल भारत में क्षेत्रों के लिये जंगल और चरागाह, जिनका अस्तित्व वैज्ञानिक तथा आर्थिक दृष्टि से नितान्त आवश्यक है, नष्ट कर डाले गए। जो चीज़ जहाँ उत्पन्न होती है, यदि उसकी खपत वहीं हो, तो उसकी खाद से पृथ्वी की उर्वरा-शक्ति कम नहीं होती । इस बात को हम प्रकृति से सिद्ध कर सकते हैं। यदि समुद्र का पानी वर्षा और नदियों द्वारा उसमें न लौटे, तो कुछ दिन में वह सूख जाय। फलतः पृथ्वी पर वृष्टि न हो, और जल के न होने से सब प्राणी मर जायँ । बाग़ों, जंगलों और चरागाहों के नष्ट होने तथा हड्डी, चमड़े एवं अनाज के निर्यात से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति कम होती जाती है। इसके अतिरिक्त चारा और खली के अभाव से दूध देनेवाले और खेती करनेवाले जानवरों की अधिक संख्या में हत्या की जाने लगी है । जिस देश में इतनी उपज हो कि दूसरों का भी पेट भरे, वहाँ के जानवर और मनुष्य भूखों मरें ! जिस देश में दूध की नदियाँ बहती थीं, वहाँ के बच्चे ज़रा से दूध को तरसें। यदि कोई मुसलमान भाई गाय की क़ुर्बानी करता है, तो हिंदू आपे से बाहर हो जाते हैं; परंतु चमड़े और मांस के निर्यात और सेना-विभाग में मांस की खपत से लाखों गायों की हत्या होती है, तो किसी के कान में जूँ तक नहीं रेंगती ।

पश्चिम में लोग इतने काम-काजी हैं कि उन्हें पैदल चलने को समय कहाँ । जितनी देर वे दस-पाँच मील चलने में लगावें, उतनी देर में दो-तीन रुपए की मज़दूरी कर सकते हैं । भारत के उद्यमहीन लोग पैदल चलकर रुपए की बचत कर सकते हैं । यहाँ मोटरलारियों और बाइसिकलों के अधिकाधिक प्रयोग से लोग दिन-पर-दिन निर्बल, ग़रीब और निठल्ले होते जाते हैं । इस बेकारी की दशा में यहाँ तक नौबत

आ गई है कि यदि किसी ग्रामीण को दस-बीस मील जाना होता है, तो सड़क पर बैठा-बैठा मोटर की राह देखता है। कभी-कभी तो उसकी प्रतीक्षा में इतना समय लग जाता है कि यदि वह पैदल चले, तो अपने स्थान को उतने ही समय में पहुँच जाय चाहे उसे पेट-भर अन्न और तन ढकने को वस्त्र न मिले, लेकिन मोटर पर वह बड़े गर्व के साथ यात्रा करता है। विदेशियों और भारतीय पूँजीपतियों को लाभ पहुँचानेवाली मोटरलारियों ने कितने बैलगाड़ी, इक्के और ताँगेवालों की जीविका का अपहरण कर लिया है। अब बताइए, वे बेचारे कौन-सा धंधा करें? उनके पास न तो इतना धन है, जो मोटर मोल लेकर किराए पर चलावें; न खेत ही मिल सकते हैं, जो खेती करें और न देश-भर में मिल, कारख़ाने हैं, जो मज़दूरी कर सकें।

अब हमें संसार पर मानसिक विजय प्राप्त करने के लिये आधुनिक योरप एवं अमेरिका और प्राचीन भारत की तरह संसार के कोने-कोने में संस्थाएँ स्थापित करनी चाहिए। इस संस्कृति प्रसार के लिये अमेरिका और योरप के सब देश एक दूसरे से होड़ ले रहे हैं। उनकी धारणा है कि जिसकी संस्कृति प्रबल होगी, उसी का राजनैतिक तथा व्यापारिक महत्त्व संसार में अधिक फैलेगा। इसी धारणा को दृष्टि में रखकर ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी संस्थाएँ लगभग हर देश में स्थापित की हैं। हांगकांग-विश्वविद्यालय और संघाई के जानसन-विश्वविद्यालय ने चीन में अँगरेज़ी-संस्कृति का महत्त्व बढ़ाने के लिये इंद्रजाल का-सा काम किया है। आधुनिक टर्की का पाश्चात्यीकरण का श्रेय अमेरिका ही को है। वह अपनी संस्कृति फैलाने के लिये "भगीरथ-प्रयत्न" कर रहा है। इसी हेतु वह देश-देशांतरों में करोड़ों रुपए ख़र्च करके पादरी भेजता और संस्थाएँ स्थापित करता है।

अन्य देशों में भारतीय संस्कृति को आर्य-समाज फैला रहा है। यदि हम देश का भला चाहते हैं तो हम लोगों को, चाहे जिस संप्रदाय के हों, इस काम में उसका हाथ बँटाना चाहिए। जब तक हम संसार को यह न बता देंगे कि हमीं सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के जन्मदाता हैं, तब तक हम असभ्य और बर्बर समझे जायँगे। हमें कुछ प्रवासी सज्जनों को धन्यवाद देना चाहिए, जो दूसरे देशों में भारतीय संस्कृति का महत्त्व बढ़ाने में दत्तचित्त हैं। गोआ-प्रांत-निवासी प्रोफ़ेसर धर्मानंद कौशांबी आज-कल सोवियट-रूस में भारत के प्राचीन बौद्ध... और संस्कृति का प्रचार कर रहे हैं। जर्मनी के बर्लिन नगर में श्रीमुनिविजयजी हिंदुस्थान हाउस के संचालक हैं और श्रीताराचंद रायजी बर्लिन-विश्वविद्यालय में हिंदी के अध्यापक हैं। नैटाल में श्रीनिवास शास्त्री ने प्रवासी भारतीयों की शिक्षा के लिये उत्कट प्रयत्न किया है। उन्होंने भारतीय शिक्षकों के लिये एक ... भी खुलवाया है।

अँगरेज़ और अमेरिकन जिस देश में जाते हैं, ... भाषा भूलकर वहाँ की भाषा नहीं अपनाते और ... वायु की कठिनाइयाँ सहते हुए भी रहन-सहन ... देश ही का रखते हैं। फलतः उनकी संस्कृति ... उन्नति करती जाती है और दूसरे देश उसके रंग में ... जाते हैं।

संक्षेप में यदि हम भारत का पुनरुत्थान चाहते हैं ... हमें पाश्चात्य संस्कृति का बहिष्कार करके ... उठाना और न केवल इस देश में वरन् अन्य देशों में भी इसका प्रसार करना चाहिए।

त्रिलोकीनाथ मेहरो...

× × ×

३. श्रीतुकारामजी के समय की शंका का समाधान

माधुरी के वर्ष ७, खंड १, सं० ५ के कवि-चर्चा ... में 'महाराष्ट्र साधु श्रीतुकारामजी'-नामक एक ... निकला था। इसमें श्रीगौरांग महाप्रभु तथा ... महाराज शिवाजी दोनों ही के तुकारामजी के ... लीन होने का दो स्थानों में उल्लेख देखकर ... लेखक महोदय को भ्रम हुआ है, और उसका वे ... भी नहीं कर सके हैं। अंत में उन्होंने इस भ्रम के ... तथा निर्णय के लिये भी श्रीगौरांग महाप्रभु ... भक्तों से प्रार्थना की है। अस्तु, अब तक किसी ... ने इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डाला है, ... जो कुछ मेरे विचार हैं, वे पाठकों के सम्मुख ... जाते हैं। आरंभ में उनकी संक्षिप्त जीवनी दी जाती ...

तुकारामजी का जन्म सन् १६०८ ई० में पूना के ... इंद्रायणी-नदी के किनारे देहू-नामक एक ग्राम ... हुआ था। आप जाति के शूद्र थे और व्यापार ... थे। आपका वंश साधु-सेवा और विठोबा की ...

लिये प्रसिद्ध था। सन् १६२९ ई० में दक्षिण में घोर अकाल पड़ा, जिसमें आपके माता-पिता, स्त्री और कुटुम्ब के सभी प्राणी मर गए। इन सांसारिक क्लेशों से आपका चित्त ऊब गया और आप साधुओं के साथ भजन-कीर्तन करने में लग गए। आपने अपने एक अभंग में निज जीवन के विषय में भी कुछ कहा है। जिसका तात्पर्य यह है—"मैं जाति का शूद्र एक व्यापारी हूँ। हमारे वंश में बिठोबा की पूजा चली आ रही है। हे संतो! यद्यपि कहना उचित नहीं है, तथापि आप लोगों के पूछने पर मैं कहता हूँ। अकाल में मेरा और देश का सर्वनाश हो गया और भगवान् का मंदिर गिर गया, तब हमको बड़ा कष्ट हुआ। हमने शांति पाने के लिये भक्तों के भजन याद किए। भक्तों के चरणोदक को हमने बहुत पवित्र समझा, हमने उन लोगों की सेवा की। भले-बुरे का विवेक हमने अपने-आप किया। दूसरों के कहने पर कुछ नहीं विचारा और अपना काम करने में हमने कभी कुछ लज्जा नहीं की। स्वप्न में मेरे गुरु ने जो कहा हमने उसको माना। भगवन्नाम में मेरा दृढ़ विश्वास हुआ। तब हम कविता बनाने लगे। हमने बिठोबा की शरण ली। 'तुका' कहते हैं कि यही मेरा कथन है। पांडुरंग जो कहलाते हैं, हम वही कहते हैं।" जब देश में शांति हुई, तब तुकारामजी ने फिर विवाह किया। इस विवाह से आपके पुत्र भी हुआ, पर आप घर का काम-काज अधिक नहीं देखते थे। आपकी रुचि बदल गई थी, इसलिये आप बराबर एकांत में बैठकर भजन-कीर्तन करते तथा साधुओं की सेवा करते थे। अब आप अपने अभंगों को गाकर जनता में भगवन्नाम का प्रचार करने लगे। आपके अभंगों का बड़ा प्रभाव पड़ा और बड़े-बड़े लोग आपको आदर की दृष्टि से देखने लगे। इससे ब्राह्मण-समाज बिगड़ खड़ा हुआ। मंबाजी-नामक एक दुष्ट ब्राह्मण ने आपको एक दिन अकेले में पाकर नाग-फनी के काँटों पर फेंक दिया और ऊपर से डंडे से पीटने लगा। आपने उसका यह अपराध क्षमा कर दिया, जिससे वह ब्राह्मण आपका शिष्य हो गया। इसके बाद ब्राह्मणों ने एक सभा कर आपको बुलाया और आपके लिखे अभंगों की पुस्तक को नदी में फेंक देने की आज्ञा दी। पुस्तक पत्थर में बाँधकर नदी में फेंक दी गई। आपने अन्न-जल छोड़ दिया और मंदिर के द्वार पर बैठकर नाम-कीर्तन करने लगे। दो-तीन दिन बाद पुस्तक ज्यों की त्यों नदी पर तैरती हुई दिखलाई पड़ी, जिसे देखकर सब लोग बड़े चमत्कृत हुए। पुस्तक लाकर आपको दे दी गई और बहुतेरे पंडित आपके शिष्य हो गए।

अब आपकी ख्याति समग्र देश में फैल गई। महाराज शिवाजी ने, जो साधु-महात्माओं के बड़े प्रेमी थे, आपकी ख्याति सुनकर आपको अपने दरबार में बुलाया। शिवाजी ने उन्हें बुलाने के लिये अपने आठ प्रधान सामंतों को भेजा, पर तुकारामजी नहीं गए। उत्तर में आपने कई अभंग लिख भेजे थे, जिनका सारांश यह है—"साधुओं को राजदर्शन से क्या लाभ? हम अपने हरि का भजन करते हैं, पृथ्वी पर शयन करते हैं और कुछ भिक्षा माँगकर पेट भर लेते हैं। आनंद से भगवद्भजन में दिन बिताते हैं। तुम्हारे पास आने का कष्ट व्यर्थ क्यों उठावें? हे राजन्! परोपकार में सदा निरत रहो, बुरे मनुष्यों को दूर रक्खो। सच्चे स्वदेशाभिमानी पुरुषों को राज-काज में नियुक्त करो। असहायों की अत्याचारियों से रक्षा करो। तुम सब जानते हो, हमसे भेंट करने से कोई लाभ नहीं। हमारे अब बहुत थोड़े दिन बचे हैं। सब प्राणीमात्र में भगवान् को एक रूप में देखो। भगवान् में विश्वास करो और अपने को समर्थ रामदास में देखो, तुम्हारा जन्म धन्य। 'तुका' कहते हैं कि हमारा बचन मानो। तुम्हारा कल्याण होगा।"

यह उत्तर पाकर शिवाजी की श्रद्धा और भी बढ़ी तथा वह स्वयं दर्शन को गए। तुकारामजी ने उनको उपदेश देते हुए कई अभंग कहे थे। उसका सारांश यह है—"शिवाजी सुनो! रामदास में एक निष्ठा रक्खो, वही तुम्हारे गुरु हैं, जाओ, उनको साष्टांग प्रणाम करो। पांडुरंग तुम्हारी रक्षा करेंगे। तुम एकमात्र रामदास का भरोसा करो। 'तुका' कहते हैं—अपने गुरु को नमस्कार करो।" तुकारामजी सिद्ध पुरुष थे। आजकल के गुरु नहीं थे, जो सोने की चिड़िया फँसती देखकर उसे चट फँसा लेते। आप सिद्ध महात्मा थे। आपने देखा कि मेरा समय अब निकट है और शिवाजी का जीवन अभी आरंभ हो रहा है। सन् १६४९ ई० के लगभग आपने स्वर्ग यात्रा की और शिवाजी सन् १६८० ई० तक जीवित रहे। शिवाजी को जिस महान् क्षेत्र में काम करना था उसमें

एक महात्मा की सहायता उनके लिये परम आवश्यक थी और विना उनमें निष्ठा हुए काम न चलता। इसीलिये आपने उन्हें बार-बार 'श्रीसमर्थ' की शरण में आने का उपदेश दिया था। समर्थदासजी भी तुकाराम-जी को पूज्य दृष्टि से देखते थे, जैसा कि महाराष्ट्र कवि महीपथी-कृत भक्तमाल से ज्ञात होता है। एक बार पंढरपुर में साधुओं का सम्मेलन हुआ। देश-भर के साधु लोग आए थे और साधु-प्रेमी शिवाजी स्वयं महात्माओं की सेवा करने वहाँ पहुँचे थे। तुकारामजी ने अपने भजन-कीर्तन से सबको प्रसन्न कर दिया। उत्सव के अंत में शिवाजी एक थाली में रत्नादिक रखकर तुकारामजी को भेंट करने के लिये ले चले। तुकारामजी आपका यह विचार देखकर एकाएक आसन से अंतर्द्धान हो गए। शिवाजी यह देख बड़े चिंतित हुए और समर्थ-रामदास-जी से इसका कारण पूछा। आपने उत्तर दिया—"वत्स! तुकोवा सच्चे साधु हैं, त्रैलोक्य की संपत्ति उनके लिये तुच्छ है।" तुकारामजी ने सन् १६४६ ई० में स्वर्ग-यात्रा की और इसी वर्ष आपकी आज्ञानुसार शिवाजी ने समर्थ गुरु रामदास से दीक्षा ग्रहण की। इससे ज्ञात होता है कि शिवाजी की तुकारामजी पर कितनी श्रद्धा थी। तुकारामजी के मंत्र-गुरु श्रीगौरांग महाप्रभु थे। श्रीगौरांग द्वारा भगवन्नाम का उपदेश आपको स्वप्न में दिया हुआ मालूम पड़ता है। तत्कालीन पंडित लोगों ने एक शूद्र को मंत्र देना उचित नहीं समझा और इधर तुकारामजी गुरु की खोज में बड़े विह्वल हुए। जब उनके अनुकूल कोई गुरु नहीं मिला, तब वह बड़े दुःखित हुए और श्रीपांडुरंगजी से प्रार्थना करने लगे कि अब हम गुरु खोजते-खोजते हार गए। हमने आप ही को गुरु माना है। इसलिये आप ही हमको मंत्र दीजिए। भगवान् सदा से भक्त की इच्छा पूरी करते आए हैं और करते हैं। श्रीभगवान् ने तुकाराम की सच्ची निष्ठा देखकर उनको प्रत्यक्ष हो मंत्र दिया। इस विषय पर तुकारामजी ने कई अभंग कहे हैं। एक अभंग का भावार्थ इस लेख के प्रारंभ में दिया गया है। इसी विषय पर कहे गए दूसरे अभंग का भावार्थ इस प्रकार है—"गंगा-स्नान को जाते समय श्रीगुरुदेव ने कृपाकर हमको दर्शन दिया। हमसे भिक्षा माँगी और मस्तक पर हाथ रक्खा। हाथ रखते ही मेरा बाह्य ज्ञान लुप्त हो गया। हमको श्रीराघव के[illegible] और श्रीचैतन्य की कथा सुनाई। अपना नाम बावाजी [illegible] लाया और राम-कृष्ण-हरि का मंत्र दिया। माघ-शु[illegible] दशमी गुरुवार के दिन 'तुका' को अंगीकार किया।"

तीसरा अभंग, जिसमें श्रीगौरांग का नाम स्पष्ट लिखा[illegible] उसी भाषा में पाठकों के संदेह-निवारणार्थ दिया जाता है—

अभंग

कसे गुरु चे पाय वापा कसे गुरु चे पाय ॥ टेक ॥
स्वप्नानांत मला दर्शन दिधले ॥
मंत्र दीले यादोराय ॥
राम कृष्ण हरी मंत्र दीधले ॥
मस्त केले गुरुराय ॥ वापा—॥ १ ॥
माघ सुदी दशमी चे दिवसो ॥
कृपा केली हरीराय ॥
मंत्र धेता सिद्ध झालो ॥
मस्त झालो गुरुराय ॥ वापा— ॥ २ ॥
ह्मणे तुकोबा ऐका जना हो ।
भजा गुरू चे पाय ॥
लालदास कर जोडूनी साँगे ॥
भजा गौर हरी राय ॥ वापा कसे गुरु चे पाय ॥ ३ ॥

इन अभंगों द्वारा श्रीगौराङ्ग का तुकारामजी को मं[illegible] देना सिद्ध हो जाता है। श्रीगौराङ्ग, महाराज शिवा[illegible] तुकारामजी और समर्थ रामदास सुप्रसिद्ध ऐतिहासि[illegible] व्यक्ति हैं। इन लोगों का समय इतिहास द्वारा नि[illegible] है। उसमें कुछ भूल नहीं हो सकती। श्रीगौराङ्ग [illegible] शिवाजी के अनेक जीवन-चरित्र तत्कालीन लेखकों [illegible] लिखित प्राप्त हैं, जिनमें संवत् आदि स्पष्ट लिखे [illegible] अब हम इन व्यक्तियों में से न किसी को पीछे ले [illegible] सकते हैं और न किसी को आगे ले आ सकते [illegible] तुकारामजी के अभंगों को भी अवश्य मानना पड़ेगा [illegible] कलियुग-पावनावतार श्री-श्रीगौराङ्ग स्वयं भगवान् [illegible] जब कि सच्चे भक्त-महात्माओं के विषय में यह [illegible] जाता है कि वे लोग सिद्ध देह से सदा उपस्थित [illegible] हैं और लोगों को दर्शन भी देते हैं, तब स्वयं भगव[illegible] के विषय में कुछ शंका करना उचित नहीं। श्रीकबी[illegible] दासजी और श्रीहितहरिवंशजी से रस के विषय [illegible] वार्तालाप होना भी प्रसिद्ध है, इन लोगों के समय [illegible] कितना अंतर है। फिर भी घड़ी दो घड़ी [illegible] लिये आप लोगों में सत्संग होना कहा जाता है। [illegible] श्रीगौराङ्ग ने तुकारामजी को एक क्षण के लिये [illegible] में या प्रत्यक्ष दर्शन दे मंत्र दिया, तो इसमें [illegible] आश्चर्य? इससे तुकारामजी गौराङ्ग के समकाली[illegible] नहीं कहे जा सकते। वह शिवाजी के ही समय में [illegible] थे। आश्चर्य तो यह है कि यह संशय स्वयं श्रीगौ[illegible] महाप्रभु के जीवन-चरित्र के लेखक को हुआ है।

व्रजभूषणदा[illegible]

संगीत और विनोद

स्वरकार—पं० शिवप्रसाद त्रिपाठी संगीताचार्य] [शब्दकार—पं० सोहनलाल द्विवेदी

राग-सोरठ (तेवड़ा ताल)

पद

आई सरद ऋतु मनहरन ।
चाँदनी छिटकन लगी निसि, करि भुवन सित बरन ॥
लगे चमकन व्योम बिच, सत सत नखत के पुंज ।
सुखद सर बिच लगे बिहँसन, मृदुल कैरव कुंज ॥
लगी उपवन बीच सुरभित मधुर मालति खिलन ।
करत गुन गुंजार अलिकुल, लगे हिय सों मिलन ॥
नील नभ बिच लग्यो प्रगटन, बिमल ससि चितचोर ।
प्रान पाय लग्यो बिलोकन, सुधि बिसारि चकोर ॥
कहि सकत किमि जिमि सजायो, सरद निरमल साजु ।
गगन निरमल, अवनि निरमल जलधि निरमल आजु ॥

ताल			ताल		ताल		सम			ताल		ताल	
१	२	३	४	५	६	७	१	२	३	४	५	६	७
			आ	ऽ	ई	ऽ	स	र	द	ऋ	तु	म	न
			स	रे	म	प	निसं	रें	नि	धप	ध	म	ग
ह	र	न											
रे	रे	ग											

			आ	ऽ	ई	ऽ	चाँ	ऽ	द	नी	ऽ	छि
			स	रे	म	प	म	—	प	नि	—	सं
क	न	ख	गी	ऽ	नि	सि	क	रि	भु	व	न	सि
प	प	प	नि	सं	रें	—	नि	नि	सं	नि	सं	रें
व	र	न										
ध	प	प										

अन्तरा

			आ	ऽ	ई	ऽ	ख	गे	ऽ	च	म	क
			स	रे	म	प	रे	रे	रे	ग	रे	प
ज्यो	ऽ	म	वि	च	स	त	स	त	न	ख	त	ऽ
ग	—	रे	सं	रे	स	स	रे	म	म	प	ध	
पुं	ऽ	ज										
ध	प	प										

संकेत-सूची

१. जिस स्वर के नीचे बिंदु हो, उसे मंद्रसप्तक का, जिस स्वर में कोई बिंदु न हो, उसे मध्यसप्तक का; जिस स्वर के ऊपर बिंदु हो उसे तारसप्तक का स्वर समझना चाहिए। जैसे क्रमशः ग, ग, गं। शेष स्वर एक-एक मात्रा के हैं।

२. जिस स्वर के नीचे पड़ी पाई हो, उसे कोमल स्वर समझना चाहिए—जैसे नि, अवशेष को शुद्ध स्वर।

३. जिन स्वरों के नीचे (‿) चिह्न हो, उन्हें एक मात्रा में बजाना चाहिए।

---

२. वैद्यजी की रसिकता

वैद्यक-ग्रंथों में भी कहीं-कहीं अनूठा काव्य मिल जाता है। इनमें लोलिंबराजजी के काव्य की बड़ी उत्कृष्टता है। इसलिये उन्हीं के यत्र-तत्र प्राप्त श्लोक पाठकों के मनोरंजनार्थ उद्धृत कर, उस पर विचार करूँगा।

साहित्य न जाननेवालों पर आक्रमण करते हुए क्या ही अच्छा फ़र्माते हैं—

"येषां न चेतो ललनासु लग्नं,
मग्नं न साहित्यसुधासमुद्रे।
ज्ञास्यन्ति ते किं मम हा प्रयासान्,
अन्धा यथा वारवधूविलासान्॥"

ठीक ही तो कहा है—भला, जिसका मन ललना में मग्न नहीं हुआ, लुप्तप्राय या विलीन नहीं हुआ और साहित्य-सुधा के समुद्र में डूब नहीं गया, केवल किनारा छूकर या स्नान करके ही भाग गया या आया ही नहीं, वह मेरे परिश्रम को क्या जाने (किं ज्ञास्यन्ति) नैव ज्ञास्यन्ति। अंधा मनुष्य कुल वधू, नहीं वारवधू, वेश्या के हाव-भाव—अकस्मात् क्रोध, स्मित, चमत्कारमुख (विष्कूननं) को समझ सकता है, जब कि आँखवालों में भी विरला कोई समझ पाता है।

एक कवि ने कहा है—

"तंत्रीनाद कबित्तरस, सरस राग रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग।"

रोग होने पर पथ्य सेवन करने के विषय में क्या अच्छा पद्य है—

"पथ्ये सति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्त्तस्य किमौषधनिषेवणैः॥

अर्थात् रोगी को पथ्य करने पर औषधिसेवन से क्या फ़ायदा? (वास्तव में फ़ायदा तो ज़रूर होता है, यहाँ काव्य-सौष्ठव के लिये कहा है।)

रोगी के अपथ्य करने पर औषधिसेवन से क्या फ़ायदा? हाँ, वैद्यजी! रोगी पथ्य करे, तब तो! कहीं पथ्य की उम्मीद पर औषधि करना रोगी छोड़े तो वैद्य लोगों की वृत्ति भी मारी जाय।

एक जगह अपने ग्रंथ 'वैद्यजीवन' के आरम्भ में दुःख-सुख का एक साथ कैसा मनोहर वर्णन करते हैं—

"इह गमिष्यति वैद्यमतिः श्रमं,
प्रथममेव पुनस्तु महासुखम्।
प्रियतमस्य मृगाक्षिसमागमे,
नवकरग्रहणा गृहिणी यथा॥"

पाठकों को पहले तो महान् श्रम अर्थात् कष्ट प्रतीत होगा, पर पीछे महासुख मिलेगा। जैसे कि नव-विवाहिता स्त्री को प्रथम रात्रि में घोर कष्ट और पश्चात् महान् सुख होता है। पाठकों की यहाँ स्त्री से उपमा देकर वैद्यजी ने लोगों को 'ललनासु लग्नं' ही नहीं किया, बल्कि एकदम मामला ही उलट दिया। पुरुष को स्त्री बना डाला।

भयंकर पित्तज्वर में दाह-शांति का अमोघ नुसख़ा भी सुनने लायक़ है—

"श्रीखण्डमण्डितकलेवरवल्लरीणां,
मुक्ताफलाकुलविशालकुचस्थलीनाम्।
वैदग्धमुग्ध वचसासुविलासिनीना-
मालिङ्गनं सकलदाहमपाकरोति।"

इस पद्य का विशेष वर्णन ज़रा भद्दा होगा, इसलिये इतना ही पर्याप्त है कि विभूषित तरुणी का आलिंगन ही वैद्यजी को सबसे अच्छा रामबाण नुसख़ा दाह-शांति का मिला। उसी से सकल दाहें अपा करने को तैयार हो गए।

पित्तज्वर की दूसरी दवा भी, जो अनुभूत है, लीजिए—

"पित्तज्वरे किं रसफाण्टलेपैः,
किं वा कषायैरमृतेन किं वा।
पेयं प्रियाया मुखमेकमेव,
लोलिम्बराजेन सदानुभूतम्।

पित्तज्वर में रसफांट के लेप से भला क्या हो सकता है। कषाय, चूर्ण, गोली व्यर्थ ही है। अमृत से भी कुछ नहीं हो सकता। इसमें अपनी प्रिया के अधरामृत का पान ही, रसास्वादन हो रामबाण या अमोघ ओषधि है। लोलिंबराज-जैसे वैद्यराज का यह शतशोऽनुभूत प्रयोग है!

और भी सुनिए—

"सद्यः तापहरः सुधाधिकतरः कान्ताधरः केवलम्।"

केवल स्त्री का अधर (अत्र तो अधरामृत भी नहीं कह सकते, क्योंकि वह अब तो 'सुधाधिकतरः' होकर अमृत से भी बढ़ गया है) तुरंत ही भयंकर पित्त-ज्वर के ताप को दूर करनेवाला और अमृत से अधिक सुस्वादु तथा जीवन देनेवाला है। फिर तो केवल कांता-धर से अच्छी कोई दवा ही नहीं है। पहले पद्य में मुख भर में यह गुण था, पर अब तो उसमें भी अधर ने अपना नंबर मार लिया।

वैद्यराज ने नारायणचूर्ण और तैल की भी तारीफ़ में क़लम तोड़ दी है, अब इससे अधिक कोई कह ही क्या सकता है—

"नारायणं भजत रे जठरेण युक्ता
नारायणं भजत रे पवनेन युक्ताः।
नारायणं भजत रे भवभीतियुक्ता
नारायणात् परतरं नहि किञ्चिदस्ति॥

ऐ उदररोगियो! नारायण को भजो, अर्थात् नारायणचूर्ण का सेवन करो। ऐ वातरोगवालो! नारायण को भजो, अर्थात् नारायणतैल की मालिश करो। अगर सांसारिक दुःख हो, तो नारायण का भजन करो।

ब्रह्मेश्वर शर्मा शास्त्री

सुमन-संचय

१. बच्ची की बात

भाइजी, मंदिल में तलो ना। घंटी बद रही है—कहते हुए मेरी नन्ही बच्ची ने कंधा हिलाया।

मैं आरामकुरसी पर पड़ा हुआ विचारों में मग्न था। बोला—त्या तरेगी बाई ?

बच्ची—तलो ना।

मैं—कहाँ ?

बच्ची—मंदिल की घंटी बद रही है।

मैं—वहाँ त्या तरेगी ?

बच्ची—तलो ना।

मैं—मंदिल तो तेले यहाँ है (हृदय पर हाथ रखकर) वहाँ त्या तरेगी ? भगवानूजी यहाँ रहते हैं, उतको देखो।

बच्ची—कैथे देखें ?

मैं—अतल से (अक़्ल से)।

बच्ची—कैसे अतल से ?

मैं गड़बड़ाकर बोला—छच बोलना, अत्था ताम तरना। और, हँस दिया।

यह सच था कि बच्ची संतुष्ट न हुई और न मैं ही। इस उत्तर से किसी तरह वह भूली, पर उसकी बातें अभी तक मेरे सामने हैं।

इसी 'अक़्ल' को सुलझाने में दुनिया लोट-पोट हो खोटी-खरी कर रही है।

ज़रा-ज़रा-सी बच्ची भी समय पा कैसे-कैसे प्रश्न कर बैठती हैं।

प्रत्येक क्षण में न-मालूम कितने बहुमूल्य प्रश्न हमारे सामने रोज़ आते और चले जाते हैं, परंतु हमारा मस्तिष्क ख़ाली ही बना रहता है।

वह तो अपने जड़वाद की क्रिया को उलट-पुलटकर नित्य नए तमाशे करता और बूँद की महिमा को छोड़ सागर का निरीक्षण करता है।

हमें चाहिए कि छोटे-से-छोटे वातावरण से भी शुभ भाव ग्रहण करें, उसका स्पष्टीकरण करें और गौरव तथा गर्व के साथ जीवन सफल बनाने में संलग्न रहें।

प्रभुलाल काबरा

× × ×

२. शिक्षणकला में मनोविज्ञान का स्थान

निपुण वैद्य होने के लिये अन्यान्य बातों के अतिरिक्त शरीर की विभिन्न क्रियाओं और यंत्रों का ठीक और सुव्यवस्थित ज्ञान आवश्यक है। अच्छा माली होने के लिये वनस्पतिशास्त्र का अध्ययन अपरिहार्य है। चतुर खानिया होने के लिये भूगर्भशास्त्र का मार्मिक ज्ञान ज़रूरी है। इसी प्रकार अच्छा शिक्षक होने के लिये मन की विभिन्न क्रियाओं, कार्यों और नियमों का वैज्ञानिक ज्ञान अथवा दूसरे शब्दों में मनोविज्ञान की कुछ जानकारी आवश्यक है; क्योंकि शिक्षणकला के सामान्य सिद्धांत मनोविज्ञान से ही निकले हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि वैद्य का जो संबंध शरीरशास्त्र से है, शिक्षक का वही संबंध मनोविज्ञान से है। मनोविज्ञान शास्त्र है, तो शिक्षा कला है। मनोविज्ञान मन के नियमों का सिद्धांतरूप से निर्णय करता है, तो शिक्षा स्थूल और व्यावहारिक रीति से छात्र के मन को शिक्षित करती है।

कलाएँ शास्त्रों या विज्ञान में से सीधी तरह निकल नहीं पड़तीं, इन दोनों के बीच में किसी आविष्कारक मन व मानस की आवश्यकता होती है, जो विज्ञान के बताए हुए सिद्धांतों का प्रयोग व्यावहारिक जीवन में अपनी चतुराई और बुद्धि द्वारा करे। बहुत-से स्थूल निरीक्षणों के अनंतर कला की उत्पत्ति होती है। इस भाँति विद्यालय का कमरा वह स्थान है, जहाँ पर शिक्षक की चतुराई, आविष्कारक-शक्ति तथा छात्रों के प्रति सहानुभूति के द्वारा शिक्षणकला का जन्म हुआ है। यह ठीक है कि मनोविज्ञान से वे सामान्य और मौलिक सिद्धांत निकले हैं, जिनके द्वारा शिक्षणकला की प्रणालियाँ नियमित होती हैं। किंतु शिक्षा देने के लिये केवल इन सिद्धांतों का ज्ञान ही अलम् नहीं है। इसलिये जिस भाँति यह ज़रूरी नहीं है कि कोई निपुण नैयायिक अच्छा सोचनेवाला ठहरे, उसी भाँति यह भी आवश्यक नहीं है कि कोई दक्ष मनोविज्ञानी सर्वदा चतुर शिक्षक साबित हो। यदि मनोविज्ञानी निपुण शिक्षक होना चाहे, तो यह अपरिहार्य है कि उसे छात्रों के वर्ग में निश्चित और व्यावहारिक रीति से बोलने और कामों के करने में चतुराई और बुद्धिमत्ता के प्रयोग करने की क्षमता प्राप्त करनी होगी।

यदि शिक्षक यह आशा करे कि मनोविज्ञान से उसे शिक्षा के उद्देश्य की प्राप्ति होगी, तो यह उसकी बड़ी भारी भूल है। इस बात में उसे पूरी तरह से निराश होना पड़ेगा। मानस के नियमों का शास्त्र होने के कारण मनोविज्ञान से यह आशा करना भी व्यर्थ है कि छात्र-वर्गों में व्यवहार किए जाने के लिये शिक्षा की रीतियों और प्रबंधों को वह शिक्षक के लिये प्रस्तुत करे। शिक्षा का उद्देश्य कुछ भी क्यों न हो, हम उसे मनोविज्ञान से नहीं पा सकते, ठीक उसी भाँति जैसा पवित्र जीवन का उद्देश्य शरीरशास्त्र से नहीं मिल सकता। शिक्षा का उद्देश्य तो धुरंधर शिक्षाचार्यों को निर्णय करना चाहिए अथवा यों कहिए कि शिक्षाविज्ञान से उसकी प्राप्ति होगी।

अब तक तो मैंने यह बताया कि मनोविज्ञान से हमें क्या नहीं मिल सकता। अब यह देखना है कि मनोविज्ञान से हमें क्या मिल सकता है। निषेध के बाद अब विधि की बारी आई है। मनोविज्ञान से शिक्षक को नीचे लिखी सहायताएँ मिल सकती हैं और मुझे आशा है कि शिक्षक-समुदाय इनसे लाभ उठावेगा।

मनोविज्ञान के द्वारा शिक्षक शुद्ध अनुभवमूलक प्रणाली के बहुत-से दोषों से बच सकता है, क्योंकि यह निश्चित है कि मनोविज्ञान की परीक्षाओं और जाँचों को काम में लाने से शिक्षक का रास्ता तंग हो जायगा और उसका बहुत-सा समय और परिश्रम व्यर्थ जायगा। मनोविज्ञान व्यावहारिक कार्यों में हमें अपनी परिस्थितियों और अवस्थाओं का ज्ञान कराकर शिक्षा की रीतियों को स्पष्ट और पूर्वापरविरोधिरहित कर देता है। यह विज्ञान शिक्षक के काम को युक्तिसंगत और वैज्ञानिक आधार पर रखता है तथा उसे यह विश्वास दिलाता है कि उसका अभ्यास या व्यवहार सिद्धांत से अनुमोदित है। इस भाँति मनोविज्ञान से शिक्षक को अपनी छात्र-कक्षासंबंधी कार्यवाही में आत्मविश्वास प्राप्त होता है। इस शास्त्र का न जाननेवाला शिक्षक अपनी कार्यवाहियों का कारण यथार्थ रूप से नहीं बतला सकता। अतएव ऐसे शिक्षक की अपेक्षा मनोविज्ञान से शिक्षक को अपने काम में अधिक सफलता होती है और उसके द्वारा पढ़ाए गए पाठ से छात्रों को भी विशेष लाभ होता है, क्योंकि वह लकीर का फ़क़ीर नहीं होता। सबसे बढ़कर बात तो यह है कि मनोविज्ञान से शिक्षक की स्वाधीनता बढ़ जाती है। पढ़ाने में उसकी रुचि उत्ते-

जित होती है तथा अपने काम को वह उत्साह और साहस से करता है।

इस भाँति मनोविज्ञान का अध्ययन शिक्षक के लिये बहुत लाभदायक है। इसके द्वारा बच्चों के मानसिक विकास के नियमों का ज्ञान शिक्षक को प्राप्त होता है, जिससे वह बाल-विकास की विविध अवस्थाओं के अनुकूल अपनी शिक्षा-प्रणाली को बना लेता है। इन नियमों से अनभिज्ञ शिक्षक संभवतः बच्चों को ऐसे विषय पढ़ा सकता है, जो उनकी योग्यता के ध्यान से बहुत नीचे या बहुत ऊँचे हैं। उदाहरणार्थ, जो शिक्षक मनोविकास के नियमों का जाननेवाला है, वह छोटे बच्चों के सामने ऐसा विषय कभी नहीं रक्खेगा, जिसमें मनोयोग और तर्क की अधिक आवश्यकता हो। वह उच्च प्रारंभिक विभाग के छात्रों को ज्यामिति-विज्ञान कभी नहीं पढ़ावेगा। वह बिना समझी हुई बातों को तोतों की तरह रटाकर छात्रों के काम को नीरस और भद्दा नहीं बनावेगा, जैसा कि मनोविज्ञान का न जाननेवाला शिक्षक प्रायः करता है। बल्कि वह बच्चों की प्राकृतिक कुतूहलशक्ति और अभिरुचि को अपने कौशल से उत्तेजित करके उनका ध्यान पाठ्य-विषय की ओर आकर्षित करेगा। ध्यान कैसे बँधता है और किन-किन उपायों से पाठ में अभिरुचि उत्पन्न होती है, इन बातों को जाने बिना कुछ पुराने शिक्षक छड़ी का भय दिखाकर अपने विद्यार्थियों के ध्यान को आकर्षित करने की चेष्टा करते थे और अब भी करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि मनोविज्ञानी शिक्षक ऐसे-ऐसे दोषों से मुक्त रहेगा। उसकी समझ में यह रहस्य झटपट आ जायगा कि छात्रों का न ध्यान देना, एकदम न ध्यान देना नहीं है। वे ध्यान नहीं देते सो बात नहीं है, किंतु वे अधूरा ध्यान देते हैं; क्योंकि उनका ध्यान पूरी तरह से पाठ्यविषय में न लगकर इधर-उधर बँट जाता है। बालकों के ध्यान को इधर-उधर बाँट देनेवाले कारणों को हटा देने से और पाठ को रोचक बना देने से ध्यान आप-से-आप आकर्षित होने लगेगा।

मन के नियमों से परिचित होने पर कोई शिक्षक नीचे लिखी जैसी अशुद्ध भावनाओं को अपने मन में स्थान नहीं दे सकता, जैसा कि उन नियमों से अपरिचित शिक्षक की धारणा हो सकती है—

(१) मन एक सादी पट्टी है।

(२) मानसिक शक्तियाँ संपूर्णतः मानों भिन्न बंद कोठरियाँ हैं।

(३) शिक्षा देने में छड़ी अपरिहार्य है।

(४) छात्रों के सामने पहले नियम रखकर उदाहरणों को रखना।

(५) वर्णन करने के पूर्व परिभाषा कह देना।

(६) सूक्ष्म का ज्ञान देकर तब स्थूल का ज्ञान दे

इसलिये अच्छा शिक्षक होने के लिये मनोविज्ञान जानकारी आवश्यक है। अब विचारना यह है कि शि शिक्षक के लिये मनोविज्ञान का आनना आवश्यक तो पर कितना ? इस विषय में प्रो० विलियम जेम्स सा का कथन है कि शिक्षकों के लिये मनोविज्ञान विशेष से जानने की ज़रूरत नहीं। उनके लिये सामान्य ज्ञ बस होगा। किंतु जो कुछ ज्ञान वे प्राप्त करें, वह स ज्ञान होना चाहिए। वह फिर कहते हैं—"मैं अ सहयोगी प्रो० मंसटरवर्ग के साथ काफ़ी ज़ोरों के स बहस नहीं कर सकता, जब कि वह कहते हैं कि स और नैतिक होने के कारण बच्चों के प्रति शिक्षक आस्था मनोविज्ञानी निरीक्षक की आस्था के बिल विरुद्ध है, जो सूक्ष्म और विश्लेषणात्मक है।" दोनों अध्यापकों के मतों पर विचार करते हुए प्रो० जे सली साहब के कथन का सारांश यह है कि मनोवि ही सब कुछ नहीं है, जिसको शिक्षक को आवश्यक है। दूसरे मनोविज्ञान के सब भाग उसके लिये सम रूप से लाभदायक नहीं।

प्रो० सली की सम्मति है कि शिक्षक को विज्ञा का स्वयं अध्ययन करके उसके नियमों की जानका प्राप्त करनी चाहिए। आश्चर्य है कि अमेरिका-निवा मनोविज्ञान के प्रसिद्ध प्रतिनिधि उपर्युक्त दोनों अध्या पकों ने इस सम्मति में आपत्ति की है। सली साह ने उनको जो प्रत्युत्तर दिया है, उसका संक्षिप्त विवर नीचे लिखा जाता है।

यदि कोई वैद्य यह कहकर कि केवल वैज्ञानि शिक्षा से निपुण वैद्य नहीं बनाया जा सकता, शरी रचना-शास्त्र का अध्ययन बंद कर देने का प्रस्ताव क तो उसकी सम्मति कैसी होगी ? बस, ठीक वही द उस शिक्षक की होगी, जो मनोविज्ञान की अवहेल

करता है। यह ठीक है कि शिक्षक को मनोविज्ञान के विशेष सूक्ष्म और सैद्धांतिक भागों को अधिकांश में छोड़ देना चाहिए, परंतु दूसरे पक्ष में संपूर्ण विषय का पूरा ज्ञान वांछनीय है; क्योंकि यद्यपि शिक्षक का संबंध विशेषकर ज्ञान की प्राप्ति और पुनरुत्पादन की क्रियाओं से है, तथापि उसे उचित है कि वह अपने छात्र के बुद्धि-विषयक (Intellectual) पहलू से अधिक की जानकारी रक्खे, कारण, भाव (Feeling) अभि-रुचि के रूप में और संकल्प ध्यान के रूप में, दोनों ही, शिक्षा की प्रणाली में सम्मिलित हो जाते हैं।

बच्चों के मन का स्वतंत्र रूप से अध्ययन मनो-विज्ञान से संबंध रखता है। इसे बालाध्ययन (Child study) कहते हैं। प्रो० सली की सम्मति है कि अच्छे शिक्षक के लिये बालाध्ययन आवश्यक है। बच्चों के शिक्षक या गुरु को उत्साहित करना चाहिए। वह बालकरूप घटना (Child phenomena) का निरीक्षण और उद्घाटन स्वयं करे। परंतु प्रो० जेम्स का कथन है कि शिक्षक का कर्तव्य छात्र के मानस को बनाना या निर्माण करना है, न कि उसका विश्लेषण करना। दोनों कार्य एक दूसरे से विभिन्न हैं। इसलिये संभव है कि बालाध्ययन का सर्वोत्तम मसाला जुटाने-वाला मनुष्य निकृष्टतम शिक्षक निकले और सर्वोत्तम शिक्षक निकृष्टतम मसाला जुटानेवाला ठहरे। शिक्षक व्यावहारिक कार्यकर्ता है और मसाला जुटानेवाला सैद्धांतिक निरीक्षक।

यह कहा जा सकता है कि संसार में ऐसे लोग भी हो गए हैं जो मनोविज्ञान नहीं जानते थे, पर तो भी निपुण शिक्षक थे। इसका कारण क्या? यदि कोई माली वनस्पति-विज्ञान को त्याग दे तो त्याग सकता है, परंतु प्रकृति के अध्ययन को कभी त्याग नहीं सकता, अर्थात् वनस्पति-विशेष के उगने योग्य भूमि में बीज बोकर समुचित जल, प्रकाश और खाद्य उसे अवश्य देना होगा। इसी प्रकार कोई शिक्षक मनोविज्ञान के नियमों को ज्ञात रूप से भले ही न जानता हो; परंतु उन प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन वह कभी नहीं कर सकता, जिनके अनुसार मनोविकास होता है। यदि वह सचमुच निपुण शिक्षक था, तो इन नियमों का ज्ञान उसे अपने अनुभव द्वारा अवश्य हो गया था। कवियों के सदृश शिक्षक भी जन्म से होते हैं, बनाने से नहीं, यह कहावत ठीक जान पड़ती है। ऐसे आदर्श अध्यापक मनुष्य-जाति के बड़े भाग्य से संसार में अवतार लेते हैं। उनका मनोविज्ञान जानना और न जानना दोनों ही बराबर है। यथार्थ में ऐसे ही लोगों को, विज्ञान के मौलिक नियमों को अपने अनुभव से निकालने के कारण विज्ञान का जन्मदाता कहना उचित है, परंतु ऐसे शिक्षक बहुत ही कम पाए जाते हैं। सभी अच्छे शिक्षकों के लिये मनोविज्ञान का जानना अपरिहार्य है, यही नियम है। बिना मनोविज्ञान का अध्ययन किए अच्छा शिक्षक होना अपवाद है। अपवाद नियम को प्रमाणित करता है, यह कहावत सचमुच सच है।

मुझे मालूम है कि मनोविज्ञान के संबंध में बहुत-से शिक्षकों को भ्रम है। उन्हीं भ्रमों को दूर करने की चेष्टा इस लेख में की गई है। मेरा अनुरोध है कि प्रत्येक शिक्षक, चाहे वह ट्रेनिंग स्कूल या कालेज में पढ़ा हो या न पढ़ा हो, ज्ञान की प्राप्ति और पुनरुत्पादन की क्रिया-अभिरुचि उत्पन्न करने की विधि तथा ध्यान आकर्षित करने के उपाय, कम-से-कम इन तीन विषयों को मनो-विज्ञान की किसी सरल पुस्तक से पढ़कर समझ ले, तब पढ़ाई का काम करे। हमारी प्राचीन शिक्षणकला की भित्ति आत्मविज्ञान पर थी, जो मनोविज्ञान का जनक है। अब जो कुछ भी हो गया हो, पर याद रहे, आज भी हमारी शिक्षा के अधःपात की जड़ में आत्मविस्मृति है।

दामोदरसहायसिंह

× × ×

३. स्मृति

१

जीवन की रंगथली में, तेरा मोहक मुसकाना,
मेरे-मानस-उपवन में, सुरभित सुख-सुमन खिलाना।
सूनी मेरी कुटिया में, तेरा वह आना-जाना;
सूनेपन में करुणा का, शुभ पारावार बहाना।
कैसे मैं भूल सकूँगा घटनाएँ सरस पुरानी;
अंतर्पट पर चित्रित है, तेरी वह करुण-कहानी।

२

अब उस निकुंज के उर में, अलिगण का मोहक गुंजन;
तेरे गुणगण गाता है, करता पल-पल हृत्कंपन।

अब प्रतिदिन बैठ विजन में, निज अश्रुकणों को चुन-चुन ;
उर चित्रित तेरी छवि का, करता है नित आराधन।
वृत है मेरा अब तेरी—स्मृति में गाने गाना ;
तेरी कल्पित प्रतिमा पर, अंतर के सुमन चढ़ाना।

ब्रजकिशोर शर्मा "ब्रजेश"

× × ×

४. अविदित चाह

क्या बतलाऊँ, किसे सुनाऊँ अपने चित की अविदित चाह ?
आशा के मधुमय नयनों का मतवाला, भूला हूँ राह।
पीकर कटु माधुरी खो दिया आँखों ने अपनेपन को ;
जीवन-धन को छोड़ चला मैं जीवन-धन के दर्शन को !
आँखमिचौनी खेल रही थी, निर्जन वन में लुप्त हुई ;
जग हँसता है, वे तो छूटे ही थे, वह भी छूट गई।
किससे क्या मुँह लेकर पूछूँ ? क्या पूछूँ कुछ ज्ञान नहीं ;
मा वसुंधरे ! ठौर बता, हो जाऊँ अंतर्द्धान कहीं।

पुरुषोत्तमलाल "मधुप"

× × ×

५. संध्या-लालिमा

सांध्य गगन की ललित लालिमा,
अयि ! मृदु मधुर हास्ययुत लोल ;
किसको कहो मोहने आई
रूप-राशि लेकर अनमोल ?
रक्तोत्पल की रंजित आभा
का तुम लिए विशद भंडार ;
पश्चिम-दिशि समुद्र के तट पर,
किसे केलि-हित रहीं पुकार ?
मंथर-गति-आगता शर्वरी
का हो ललित भ्रांतियुत हास ;
अथवा श्रमित भानु-पूषन का
हो अनंत अन्तिम उल्लास।
किस अबोध शिशु के अधरों की
हो तुम अमल मंद मुसकान ?
बतलाओ तो किस वीणा से
क्वणित भावमय अनुपम गान ?
किस पलाश-वन की लाली हो,
किस उभरे यौवन की कांति !
उपजाती किन मृदु अधरों की,
अहो ! लालिमा अनुपम भ्रांति।
किस स्नेही के कहो हृदय का
हो निरीह निश्चल अनुराग !
अथवा किसी दुखी के उर की
हो प्रचण्डतम भीषण आग।
बतलाओ तो किस रसिया ने
खेली यह अबीर की फाग !
अयि सुंदरि ! कुछ परिचय तो दो
अभी न जाओ यों ही भाग।

हरिशंकर गौतम "ह[illegible]

× × ×

६. सदाचार और शिक्षा-विभाग

१. भारतवर्ष ही आचार-प्रधान देश प्राची[illegible] काल से है। यहीं की आचारचंद्रिका की सुध[illegible]मयी वर्षा से सारे संसार को लाभ पहुँचा है[illegible] राजा हरिश्चंद्र, इंद्रियविजयी अर्जुन, धर्मावता[illegible] भीष्म पितामह ने इस भूमि को पवित्र कर[illegible] सदाचार को अद्वितीय श्रेणी तक निभाकर स[illegible] संसार को चकित कर दिया है। आचार-क्षेत्र[illegible] स्त्रियाँ भी मनुष्यों के पीछे नहीं रहीं। उन्हों[illegible] स्त्री-समाज में सीता, दमयंती, शकुंतल[illegible] इत्यादि नाना रत्नों को उत्पन्न कर, आदर्श त[illegible] अकाट्य श्रेणी के सदाचार के ज्वलंत उदाहर[illegible] दिखाकर, पुरुषों की भाँति अखिल भूमंडल [illegible] सदाचार का पाठ सिखाकर अपना नाम स[illegible] के लिये अमर कर दिया है।

२. वह शक्ति, जो देशोन्नति करता है, [illegible] शक्ति जो उसे शक्तिशाली बनाती है, वह शक्ति ज[illegible] उसे चमका देती है, वह शक्ति जिसके प्रभाव[illegible]

सारे संसार में बल का संचार होता है, जनता के हृदय में सद्विचारांकुर दृढ़ होता है, जिसके कारण मनुष्य को सम्मान प्राप्त होता है और लाखों मनुष्य उसे सिर नवाते हैं, जिसके प्रभाव से जातियों का घमंड चूर-चूर हो जाता है, जिससे मनुष्य आज्ञाकारी हो जाते हैं, जो बड़प्पन की खान है, जो जाति और देश की सच्ची गद्दी, मुकुट और तलवार है—वह शक्ति खूनखच्चर का संदेश नहीं है, वह कैसर का संदेश नहीं है, वह केवल बुद्धिमत्ता का संदेश नहीं है, वह है मनुष्य की सच्ची वीरता सदाचार का संदेश।

३. भारतवर्ष में सदाचार-संबंधी विचार इतने बढ़े-चढ़े थे कि प्रत्येक आचार्य अपने पठन-पाठन के विषय के साथ अपने शिष्यों की सदाचारिता पर निरंतर सूक्ष्म रूप से ध्यान देते थे। उनके विचारानुसार शिष्य का पहाड़ से गिरकर मर जाना श्रेष्ठ था, उनकी दृष्टि में उसका भूखा तथा प्यासा मर जाना अच्छा था, परंतु उन्हें उसका दुराचारी होकर संसार में जीवन व्यतीत करना कदापि सह्य नहीं था। इसके कई कारण हैं, जिनको विचारते हुए स्वयं श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है —

"ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ;
सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ;
स्मृति भ्रंशात्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।

अर्थात् विषयों का ध्यान करते-करते कुविचारों का संग हो जाता है। इस कुसंगति के कारण मनुष्यों के हृदय में काम की उत्पत्ति होती है। काम के कारण क्रोध जन्म लेता है। क्रोध से मन की एकाग्रता नष्ट होती है। मन एकाग्र न होने से बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि के नाश होते ही स्वयं मनुष्य भी नाश को प्राप्त हो जाता है। कहने का सारांश यह है कि विषय से मनुष्य का नाश हो जाता है।

४. दुराचार के कारण ही त्रिभुवन-विजयी, सकल शास्त्रवेत्ता, समस्त वेदों का प्रकांड पंडित, अपने शौर्य से देवताओं को भी कँपानेवाला रावण भी अधोगति को प्राप्त हुआ। काम के प्रभाव के कारण सुरेश के शरीर में हज़ार छिद्र हुए, और उसे अपने पद से च्युत होना पड़ा। दुराचार के कारण नारद की मति भ्रष्ट हो गई और वह अपने इष्ट तथा आराध्यदेव भगवान् को भूल गए—उनको शाप तक दे डाला। दुराचार के कारण ही सशस्त्र व्याध को निःसहाय अबला दमयंती के कोपानल में भस्म होना पड़ा था। स्वयं कामदेव को महादेवजी पर कुत्सित प्रभाव डालने के अपराध में भस्म हो जाने का कठिन दंड सहना पड़ा था। एक-सौ एक कौरव दुराचार के कारण ही पाँच सदाचारी पांडवों के सामने नहीं ठहर पाए। इससे यह प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि कवि का निम्न-लिखित कथन—

राजा रईस कवि पंडित साधु शूर ;
जो दें सुरेश तक का कर गर्व चूर ।
जो हों कभी पतित हो सुचरित्रहीन ;
वे भी बिकें फिर टके पर तीन-तीन ।

अक्षरशः सत्य है। उन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए हमारे पूर्वजों ने कहा है—

वरं विन्ध्याटव्यामनशनतृषार्तस्य मरणं
न शीलाद्विभ्रंशो भवतु कुलजस्य श्रुतवतः ॥

एक कवि कहते हैं—

गिरि तें गिरि परिबो भलो, भलो पकरिबो नाग ;
अग्नि माहिं जरिबो भलो, बुरो शील को त्याग ।

स्वयं तुलसीदासजी कहते हैं—

जहाँ सुमति तहँ संपति नाना; जहाँ कुमति तहँ बिपतिनिदाना।

५. समय किसी का एक-सा नहीं रहता। आज समय जिसके अनुकूल है, कल उसी के विपरीत हो जायगा। जो चढ़ता है, वह गिरता भी है। ठीक यही बात हमारे भारतवर्ष के साथ हुई है। जहाँ पर आचार्यगण दुराचारियों को पृथ्वी का भार समझते थे, जहाँ पर दुराचारियों का दर्शन पाप था, आज उसी सरस्वतीदेवी के मंदिर में दुराचार का अड्डा जमा है, उसी देवी के ज्ञान-मंदिर में बालक बलपूर्वक भ्रष्ट किए जा रहे हैं। खेद तो यह है, स्वयं अध्यापकों तथा मुख्याध्यापकों के कानों पर, दुराचार के भीषण दृश्य देखने पर भी, जूँ तक नहीं रेंगती, बरन् संभव है, वे स्वयं भी उस घृणित कार्य में किसी प्रकार से संबंध रखते हों, और यही कारण है कि ऐसे नीच कार्यों के दृष्टिगोचर होते हुए भी उनका ख़ून नहीं उबलता। उनके हाथ दुराचार-जैसे भयंकर रोग को जड़-मूल से उखाड़ने में नहीं उत्तेजित होते। ऐसा करते समय वे चरित्र-संगठन के द्वारा देशोद्धार करने के अपने मुख्य उद्देश्य का उल्लंघन करते हैं।

६. उनकी इस भयंकर भूल के कारण बालक निस्तेज, निर्बल, निरुत्साह, अस्वस्थ हो जाते हैं। उनकी भयंकर भूल का दुष्परिणाम बालक के माता-पिता तथा उसके अन्य बांधवगणों को सहना पड़ता है। इससे बालक किसी के भी काम का नहीं रहता, बल्कि वह स्वार्थान्ध हो जाता है। बालक देश की उन्नति के भावी ... हैं। वे ही इस जीर्ण-शीर्ण भारत की सभ्यता ... भावी स्तंभ हैं। जब इस प्रकार शैशव काल में ... बालकों का आचार भ्रष्ट हो गया, तो इससे ... भारतवासी अशक्त हो जायँगे। सबल निर्बल ... दबाकर इस संसार में अपनी स्थिति स्था... करते हैं। निर्बलों का नाश होना प्रकट ही ... इससे दुराचार के कारण भारत की जाति ... अवनति को प्राप्त हो रही है, और ... में भारत को ग़ारत कर देंगी। यह ... इतनी भयंकर है कि उन्हें यदि देशद्रो... भी कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति न हो... उनकी खाल खिंचा ली जाय, तो भी कम ... प्रायः प्रत्येक स्कूल में यह भयंकर ... फैला हुआ है। कहीं प्रकट रूप से है, और ... गुप्त रूप से।

७. अंत में, शिक्षा-संचालकों, शिक्षा-विशे... तथा पालकों से प्रार्थना है कि वे दुराचारी अध्या... पक तथा विद्यार्थी का शीघ्र ही इस प्रकार बहिष्... कर दें, जैसे खरगोश के सिर से सींग। भविष्य... शिक्षा-विभाग को नियुक्ति करते समय सदा ... सदाचार पर ध्यान रखना चाहिए। बा... स्कूल के बाहर दुष्ट मंडली से पीटे जाते हैं ... इसके लिये आचारभ्रष्ट बालकों के दंड... भी कोई धारा (क़ानून) बन जानी चाहि... जिसके अनुसार उनका चालान हो सके।

रामचन्द्र गौ...



वर्ष ६ खंड १ | पौष, ३०४ तुलसी-संवत् (१९८४ वि०) जनवरी, सन् १९२८ ई० | संख्या ६ पूर्ण संख्या ६६

उद्धव की बिदाई

धाईं जित-तित तैं बिदाई हेत ऊधव की ,
गोपी भरीं आरति सँभारति न साँसुरी ;
कहै 'रतनाकर' मयूरपच्छ कोऊ लिए ,
कोऊ गुंज अंजली उमाहे प्रेम आँसुरी ।
भाव-भरी कोऊ लिए सुरुचि सजाव दही ,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी ;
पीतपट नंद जसुमति नवनीत नयो ,
कीरति कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी ।

"रत्नाकर"

जैन-दर्शन में ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान की उपयोगिता



न का मूल्य यही है कि वह हमारे उद्देश्य की पूर्ति करने में सहायता दे । कोरा ज्ञान जिससे हमारा कुछ काम न निकले, निरर्थक है । बौद्ध और जैन दोनों इस बात में सहमत हैं । दोनों ही ज्ञान को इसी तरह मानते हैं । किसी वस्तु का महत्त्व इसी में है कि वह हमें अपना कार्य सिद्ध करने में अकुण्ठित सहायता दे । यह शक्ति ज्ञान में ही है क्योंकि उसके द्वारा हम अपनी उपस्थिति के अनुसार अपने को बना सकते हैं और अपनी भलाई करने और बुराई को रोकने की चेष्टा कर सकते हैं । वे बातें जिनसे ज्ञान उत्पन्न होता है, असंगत हैं; क्योंकि इन बातों से हमारा अर्थ सिद्ध नहीं होता । वह सिद्ध होता है ज्ञान से । इसलिये हम ज्ञान का ही उल्लेख करते हैं । हमें इतना जानना ही पर्याप्त है कि बाहरी पदार्थ विशेष अवस्थाओं में ऐसी विशेष योग्यता प्राप्त कर लेते हैं कि हमें उनका ज्ञान हो जाता है । हमें इस बात का विश्वास नहीं है कि वे हम में ज्ञान उत्पन्न करते हैं । हम तो इतना ही जानते हैं कि किसी विशेष अवस्था में तो हम एक वस्तु को जान लेते हैं और दूसरी अवस्था में हम उसे नहीं जान सकते । वस्तुओं की विशेष योग्यता जिससे हमें उनका ज्ञान उत्पन्न होता है, क्या है, इस विषय की खोज करने से हमारा कुछ संबंध नहीं । हमारा उद्देश्य तो केवल भलाई प्राप्त करना और बुराई छोड़ना है और यह उद्देश्य ज्ञान द्वारा पूरा हो जाता है, न कि बाहरी वस्तुओं की अवस्थाओं की खोज से । इसलिये हम इस खोज के झंझट में नहीं पड़ना चाहते । ज्ञान हमारी आत्मा को ज्ञाता के रूप में, और बाहरी विषयों को ज्ञेय रूप में बताता है । हम बौद्धों की तरह यह नहीं कहते कि पहले पहल जब हम बाहरी पदार्थों को देखते हैं तो उनका ज्ञान निर्विकल्प होता है और वस्तु के आकार, वर्ण, विस्तार तथा अन्य लक्षणों का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है; बल्कि उत्प्रेक्षा से उत्पन्न होता है । इस बौद्ध सिद्धांत के अनुसार हमारा प्रत्यक्षज्ञान केवल निर्विकल्प है । हमारा अनुभव यह कहता है कि ज्ञान एक ओर तो ज्ञाता को बताता है और दूसरी ज्ञेय पदार्थों के विविध लक्षणों का यथार्थ रूप दिखा इसलिये ज्ञान हमारे अर्थों की सिद्धि के लिये अविवक्षित और अत्यावश्यक साधन है । यह हम कहते कि ज्ञान स्वयं और तत्काल ही हमारी भला देता है । बात यह है कि वह हमें उन पदार्थों का बता देता है जो हमारे चारों तरफ हैं और हमारे कार्यों का होना संभव कर देता है जिससे हम भलाई करें और बुराई से दूर रहें । यदि ज्ञान बातें होतीं, तो ये कार्य असम्भव होते । ज्ञान प्रमाण है कि वह हमारे सर्वोपरि अर्थों की प्राप्ति का सरल, अविवक्षित और अनिवार्य साधन है। यथार्थ वही है जिसका खण्डन न हो। मिथ्याज्ञान वह है जो को उन संबंधों में बतावें, जिनमें वे हैं ही नहीं। ज्ञा रस्सी धुँधली रोशनी में सर्प का भ्रम उत्पन्न करे, तो इस बात का है कि रस्सी का सर्प बन गया है, जहाँ सर्प नहीं है वहाँ सर्प देखना । सर्प और रज्जु होते हैं, इसमें कोई मिथ्यापन नहीं है, लेकिन भूल कि जहाँ केवल रज्जु ही है वहाँ सर्प दिखाई दे। जो सर्प दिखाई देता था वह पीछे रज्जु निकली। अर्थात् ज्ञान पीछे के ज्ञान से कट गया और झूठा साबित इसलिये यह मिथ्याज्ञान है। अयथार्थज्ञान अनुभव का का मिथ्यारूप दिखाता है। यथार्थज्ञान पदार्थ का ऐसा और ठीक रूप बताता है कि पीछे उसका कभी किसी खंडन हो ही न सके। ज्ञान जो उपलब्धि के समय ज्ञाता द्वारा अविवक्षित होता है अति स्पष्ट Clear निर्मल विशेष Distinct होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान कह है, और जो ज्ञान अन्य प्रकार प्राप्त होता है वह ऐसा स्पष्ट नहीं होता और परोक्षज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्षज्ञान

बाहरी पदार्थ और उनके अनेक प्रकार के लक्षण रूप, वर्ण, आकार इत्यादि अर्थात् जैसे वे पदार्थ हैं वैसे ही हमें प्रत्यक्ष ज्ञान से मालूम हो जाते हैं और का उदय आत्मा में भीतर से होता है, जैसे कि उसके कोई आवरण पड़ा था, उसे हटाकर ज्ञानोदय हुआ। बाहरी पदार्थ जैसे हैं वैसे के वैसे प्रत्यक्षज्ञान से दि देना और आत्मा के भीतर से ज्ञान का उदय होने

जैसे कि उसके (आत्मा) के ऊपर से कोई पर्दा हट गया है—इन दोनों बातों में बौद्धों का मत भिन्न है। विज्ञानवादी बौद्ध कहते हैं कि बाहरी पदार्थ केवल ज्ञान रूप है, वास्तव में नहीं है ; लेकिन जैन इन्हें (बाहरी पदार्थों को) वास्तव में विद्यमान मानते हैं, ज्ञान-मात्र ही नहीं। ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है। बाह्य भौतिक इंद्रिय जैसे नेत्र, एक वस्तु है; और अदृश्य-शक्ति अर्थात् आत्मा की अवलोकन-शक्ति जिसे ही वास्तव में इंद्रिय कहना चाहिए, दूसरी चीज़ है—दोनों में भेद समझना चाहिए। ऐसी पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं। जैनों का कथन है कि चूँकि हमें अनुभव द्वारा पाँच प्रकार का ऐन्द्रिय ज्ञान मालूम होता है जो पाँचों इंद्रियों से संबंध रखता है, तो यह कहना बेहतर होगा कि यह आत्मा है जो अपने आप उन भिन्न-भिन्न प्रकार के ऐंद्रिय ज्ञान को उन बाह्य इंद्रियों के मेल से ऐसे प्राप्त करती हैं जैसे कोई पर्दा हट जाने से होता है। इस आवरण के कारण ही ज्ञान का उदय पहले नहीं हो सका था। इस प्रकार बाह्य पदार्थों के ज्ञान की विधि में किसी पृथक् और भिन्न इंद्रिय के कार्य की आवश्यकता नहीं है, हालाँकि आत्मा में ऐंद्रियज्ञान का उदय नेत्र आदि इंद्रियों के संसर्ग से होता है। आत्मा शरीर के सब अंगों के साथ है और दृष्टि-ज्ञान वह ज्ञान है जो आत्मा में उसके उस भाग के द्वारा उत्पन्न होता है जो नेत्र के साथ संसर्ग रखता है। उदाहरण—देखिए मैं अपने सामने की ओर निगाह डालता हूँ और एक गुलाब के फूल को देखता हूँ। उसे देखने के पहले गुलाब का ज्ञान मेरे भीतर था, लेकिन ऐसे था जैसे किसी आवरण से ढका हुआ हो, और इसलिये वह अभिव्यक्त नहीं हो सकता था। पुष्प की ओर देखने के कार्य का अर्थ यह है कि ऐसी योग्यता पुष्प में और मुझमें आ गई है कि पुष्प दिखाई देने लगा है और पुष्प के ज्ञान के ऊपर जो पर्दा पड़ा था हट गया है। जब वस्तुओं के देखने के ज्ञान का उदय होता है, तो यह नेत्र के साथ संसर्ग से होता है। हम कहते हैं कि हम नेत्र इंद्रिय द्वारा देखते हैं लेकिन वास्तव में हमारा अनुभव यह बताता है कि हमें केवल नेत्र से संसर्ग रखनेवाला देखने का ज्ञान हुआ है। अनुभव पृथक् पृथक् इंद्रियों को नहीं बताता इसलिये यह कहना अनुचित होगा कि उनका अस्तित्व आत्मा से पृथक् है। इस प्रकार जैन मनः इंद्रिय का पृथक् होना भी नहीं मानते क्योंकि मन भी अनुभव में नहीं आता। इसलिये उसका अस्तित्व भी व्यर्थ है ; क्योंकि उसका काम भी आत्मा ही से चल जाता है। किसी वस्तु के देखने के ज्ञान का अर्थ यह है कि उस वस्तु के संबंध में आत्मा के ऊपर अज्ञान का जो पर्दा पड़ा था वह हट गया है। भीतर तो इस पर्दे का हटना मनुष्य के कर्म से होता है और बाहर ज्ञेय पदार्थ का होना प्रकाश ज्ञानेंद्रियों की शक्ति और ऐसी ही अन्य बातों से होता है। बौद्ध तथा अन्य अनेक भारतीय दर्शनों के विरुद्ध जैन सविकल्प-ज्ञान के पहले निर्विकल्प-ज्ञान का होना नहीं मानते। पदार्थों का ज्ञान सीधा भीतर से होता है और सविकल्प-ज्ञान होने के लिये पहले निर्विकल्प-ज्ञान होने की कोई आवश्यकता नहीं। बौद्ध कहते हैं कि पदार्थों का पहले निर्विकल्प-ज्ञान होता है और यही प्रत्यक्ष-ज्ञान का प्रामाणिक अंश है। उनके मत से सविकल्प-ज्ञान कल्पना, स्मृति इत्यादि मानसिक चीज़ों के लगने से होता है और इसलिये वह प्रत्यक्ष-ज्ञान का सच्चा बतानेवाला नहीं है।

सारांश—बाह्य पदार्थों का ज्ञान

१. प्रत्यक्ष ज्ञान में बाह्य-पदार्थ जैसे के तैसे दिखाई देना।

२. ज्ञान आत्मा के भीतर से उदय होता है जैसे पर्दा हटाकर निकला हो।

३. बाह्य पदार्थ वास्तव में अस्तित्व रखते हैं, केवल ज्ञान रूप नहीं हैं, जैसा कि विज्ञानवादी कहते हैं।

४. आत्मा अपना पर्दा हटाकर ज्ञानेंद्रियों के संसर्ग से ज्ञान प्राप्त करती है।

५. भिन्न-भिन्न ज्ञानेंद्रियों तथा मन का अस्तित्व मानना भी व्यर्थ है क्योंकि एक आत्मा ही सबका काम दे देती है।

६. सविकल्प-ज्ञान के पहले निर्विकल्प-ज्ञान का होना जैसे कि बौद्ध मानते हैं, जैन नहीं मानते, क्योंकि इनके मतानुसार ज्ञान सीधा आत्मा से होता है। बौद्ध निर्विकल्प-ज्ञान को ही प्रत्यक्ष-ज्ञान का सच्चा अंश समझते हैं और सविकल्प-ज्ञान को कल्पना, स्मृति इत्यादि मानसिक वस्तुओं से होना कहते हैं।

परोक्ष-ज्ञान

जैसे प्रत्यक्ष-ज्ञान से पदार्थों का स्पष्ट रूप दिखाई देता है वैसा परोक्ष ज्ञान से नहीं प्रतीत होता, और यही

प्रत्यक्ष और परोक्ष-ज्ञान में भेद है। जैन कहते हैं कि आत्मा को ज्ञान प्राप्त होने में ज्ञानेंद्रियों का कोई काम नहीं पड़ता, इसलिये उनका कथन है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष-ज्ञान में केवल इतना ही भेद है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान से पदार्थों के जैसे स्पष्ट रूप और लक्षण दिखाई देते हैं वैसे परोक्ष-ज्ञान से नहीं। परोक्ष-ज्ञान के अंतर्गत अनुमान, स्मृति, पहचान, व्यंग इत्यादि हैं और यह ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान से कम स्पष्ट है।

अनुमान के विषय में जैनों का मत है कि पाँच वाक्यों का प्रयोग करना निरर्थक है जैसे—

१ प्रतिज्ञा पर्वत पर अग्नि है।
२ हेतु क्योंकि धुँआ है।
३ दृष्टांत जहाँ कहीं धुँआ होता है वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोईघर में।
४ उपनय इस पर्वत पर धुँआ है।
५ निगमन इसलिये उस पर अग्नि है।

केवल पहले दो वाक्यों से अनुमान बन जाता है। जब हम अनुमान करते हैं, तो पाँचों वाक्यों का प्रयोग नहीं करते। जो यह जानते हैं कि हेतु का प्रतिज्ञा (probandum) के साथ अभिन्न संबंध है। चाहे यह संबंध सहभाव-रूप से हो, या क्रमभाव-रूप से हो, पर्वत में हेतु यानी धूम होने के वाक्य से तत्काल निगमन पर आ जायँगे कि पर्वत पर अग्नि है। पंच वाक्यों का प्रयोग बच्चों को समझने के लिये है, न कि अनुमान करते समय मन की असली अवस्था को बताने के लिये। शब्द-प्रमाण के विषय में यह कहना है कि जैन वेद-प्रमाण नहीं मानते, लेकिन यह मानते हैं कि जैन-शास्त्रों से सम्यक् ज्ञान होता है; क्योंकि यह उन महान् पुरुषों के वाक्य हैं जिन्होंने संसार में गृहस्थ जीवन में रहने के पश्चात् सम्यक् चरित्र और सम्यक् ज्ञान के द्वारा रागद्वेष को जीत लिया था और सब अज्ञान को दूर कर दिया था।

ज्ञान

बौद्धों का कथन है कि किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उस कार्य पर निर्भर है जो वह हमारे ऊपर कर सकता है। जो हमारे ऊपर प्रभाव डाल सके वह सत्य है, और जो न डाल सके वह असत्य है। उनके मतानुसार कार्य उत्पन्न करना ही अस्तित्व की परिभाषा है। प्रत्येक कार्य दूसरे कार्य से भिन्न होता है इसलिये उनका मत है कि भिन्न कार्यों की श्रृंखला होती है, अथवा जिसे वस्तु कहते हैं वह प्रतिक्षण नये द्रव्यों की कार्य[...] सब वस्तुएँ इसीलिये क्षणिक हैं।

जैन कहते हैं कि कार्य की उत्पत्ति को सत्ता का प्र[...] इसलिये मानते हैं कि हम केवल उसी चीज़ को कार्य[...] हैं जिसके अस्तित्व की सूचना वैसे अनुभव से मि[...] जब हमें कोई अनुभव होता है, तो हम उसके मू[...] पदार्थ का होना ख़याल करते हैं। बौद्धों का यह सिद्[...] कि प्रत्येक कार्य जो इसमें होता है प्रत्येक नये क्ष[...] ठीक वही नहीं है। और इसलिये सब वस्तुएँ क्षणि[...] यथार्थ नहीं हैं। क्योंकि अनुभव से सिद्ध होता है कि [...] पदार्थ प्रतिक्षण में नहीं परिवर्तित हो जाता है, किंतु [...] कुछ भाग स्थायी बना रहता है और दूसरे भाग [...] परिवर्तन हो जाता है। जैसे सुवर्ण के अलंकार में [...] तो स्थायी रहता है लेकिन उसका रूप जैसे कड़ा [...] अथवा चूड़ी बदल जाता है। जब हमारा अनुभव [...] है, तो हम कैसे कह सकते हैं कि सब वस्तुएँ प्रति[...] बदल जाती हैं और नई चीज़ें प्रतिक्षण आ जाती [...] हम कह सकते हैं कि सत्ता के विषय में विचार [...] पर अनुभव से मालूम होता है कि उसमें स्थिति [...] परिवर्तन दोनों हैं—यानी पुराने धर्मों का जाना, [...] नये धर्मों का आना जिसे पर्याय कहते हैं। जैन [...] हैं कि अन्य मतों की भूल इसमें है कि वे अनुभव [...] अर्थ एक नय से निकालते हैं, लेकिन जैन अनुभव [...] जाँच सब नयों द्वारा करते हैं और उनसे जो सत्य [...] होता है उसे मानते हैं, लेकिन इस सत्य को भी सर्वथा [...] बल्कि उपयुक्त सीमाओं और अनुबंधों के साथ। जैन [...] कथन है कि अर्थक्रियाकारित्व सिद्धांत के अति[...] में बौद्ध पहले तो अनुभव के प्रमाण पर अनुसंधान [...] की चेष्टा दिखाते हैं, लेकिन शीघ्र ही एक पक्ष का [...] करते हैं और ऐसे अप्रामाणिक मानसिक विचारों में [...] जाते हैं जो अनुभव के विरुद्ध हैं। यदि हम [...] को मानकर चलें, तो हम न तो आत्मा का स्था[...] सकते हैं और न बाह्य संसार का, जैसा कि कुछ बौद्ध [...] हैं। ज्ञान जो हमें बाह्य जगत् के स्पष्ट लक्षण दि[...] है, इस बात का प्रमाण देता है कि ऐसा ज्ञान मुख्य [...] का आवश्यक अंश है। इस प्रकार ज्ञान मेरी ही [...] का उद्गार है। यह बात हम अनुभव में नहीं [...]

कि ज्ञान हममें बाह्य जगत् से उत्पन्न होता है, लेकिन हम में ज्ञान का उदय होता है और उन पदार्थों के ज्ञान का जो हमें उसके द्वारा प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ज्ञान का उदय वस्तुओं के कुछ बाह्य समुदायों के साथ-साथ होता है, जिनमें किसी प्रकार से यह योग्यता है कि किसी विशेष क्षण में वे ही दिखाई दें, दूसरे समुदाय नहीं। इस दृष्टि से देखने पर हमारे सब अनुभव हम में ही केंद्रीभूत होते हैं। क्योंकि कैसे भी क्यों न हो, हमारे अनुभव हमारे पास हमारी ही आत्मा के विकार-रूपों में आते हैं। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, वह ज्ञानेंद्रियों से स्वतंत्र आत्मिक प्रादुर्भाव के रूप में प्रकट होता है। सांख्य-वालों के सदृश ज्ञान में चेतन और अचेतन विभाग नहीं मानने चाहिए। यह समझना चाहिए कि ज्ञान उन पदार्थों का प्रत्यय है जिन्हें वह प्रकट करता है जैसा कि सौत्रांतिकों का मत है ; क्योंकि पदार्थ के पदार्थत्व के प्रत्यय होने में ज्ञान भी पार्थिव यानी भौतिक हो जायगा। ज्ञान को आत्मा का निराकार गुण समझना चाहिए, जो सब वस्तुओं को स्वयं प्रकट करता है। लेकिन मीमांसावालों का मत है कि सर्वज्ञान का प्रामाण्य स्वयं ज्ञान से ही सिद्ध है (स्वतः प्रामाण्य)। यह मत अयथार्थ है। न्याय और मनोविज्ञान दोनों के द्वारा ज्ञान का प्रामाण्य वस्तुओं के साथ बाह्य समता (संवाद) पर निर्भर है। परंतु उन उदाहरणों में जहाँ पहले संवाद के ज्ञान से सम्यक् विश्वास उत्पन्न हो गया हो वहाँ बाह्य वस्तुओं के निर्देश के बिना भी प्रामाण्य का निश्चय मनोविज्ञान रीति से हो जाता है। बाह्य जगत् है और इसका प्रमाण अनुभव है। वह अनुभव-सिद्ध है। लेकिन यह मानना कि वह हम में ज्ञान उत्पन्न करता है, अप्रमाणिक कल्पना है, क्योंकि ज्ञान तो हमारी ही आत्मा का प्रादुर्भाव है।

कन्नोमल

अज्ञात कवि

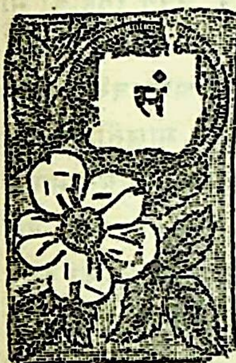
कहूँ कबहुँ कोउ सुकवि एक लघुवयरा दिव्य रह ;
जो अकाल ही गयेहु दुरानन काल-गाल महँ।
ताको कोऊ मीत सप्रेम चिता के ठौरा ;
रचेहु धाय लघुकाय एक माटी को चौरा।
तापै उड़ि-उड़ि आइ गिरे बहु पात पुराने ;
यद्यपि सूखे तदपि परे सनेह सों साने।
ऐसो सुभग सुभाव सुकवि सुठि प्रतिभा-धारी ;
सुनि कै जाकी मीचु सकल रोये नर-नारी।
कबहुँक कोऊ मीत कबहुँ प्रेमिका कोऊ तहँ ;
आइ जगावत महा नींद-बस परेहु सुकवि जहँ।
कबहुँक दीपक धरत कबहुँ माला पहिरावत ;
कबहुँक रोवत ताहि कबहुँ ताके गुन गावत।
जियत, रचत निज काव्य, मरत देखेहु सब कोई ;
ऐसी को सुंदरी ताहि सुनिकै नहिं रोई।
सुजन अपरिचित काव्य सुनें आनंद-लीन भे ;
नव जीवन के सौख्य भरे अति मृदुल मीन भे।
मरन जानि अज्ञात, सुने सोभा अँखियन की ;
हाथ मींजि रहि गईं सकल टोली सखियन की।
ते अँखियाँ अति सुभग सकल थल देखन हारी ;
जोति-हीन छवि-छीन भईं दुख-दायक भारी।
दृश्य महागंभीर तथा आलोकित सपने ;
बाल्य-काल में रहे सखा सुख-दायक अपने।
सकल दृश्य अभिराम गीत सुख-धाम प्रकृति के ;
जिते सकल सुंदर सुभाव मधि में नभ-छिति के।
निज-निज डारि प्रभाव हिये पै ताहि सुकवि के ;
रहे जगावत भाव स-चाव अनूपम छवि के।
गूढ़ जगत के भेद बहे बनि सुरसरि-धारा ;
किंतु बुझी नहिं नेकु सुकवि की प्यास अपारा।
भूत काल को रहेहु सत्य शिव सुंदर जेतो ;
जानेहु थोरेहि काल माँहिं हिय में सब तेतो।
छूटी जब लरिकईं अंग में जोबन आयो ;
सत्य खोजिबे हेत भवन तजि बाहर धायो।
केते बीहड़ गहन तथा केते तरु सरि सर ;
पावन-पावन पाय पुनीत भये गुरु गिरिवर।
चलब पयादेहिं सकल लाँघि कुस कंटक नाना ;
जैसो निरमम रहत सदा सुकविन को बाना।
कहुँ तरु तर कर वास कहूँ कोऊ कुटीर महँ ;
होत जात आनंद सुकवि वह जात जहाँ तहँ।
जहाँ ठाढ़ गिरि तुंग अनल मुख ते उगिलत हैं ;
जहाँ जाय धौरहर धुआँ के व्योम मिलत हैं।
जहाँ ठाढ़ हिम-सृंग दीह गजदंत समाना ;
जहाँ व्योम ही व्योम, व्योम के इतर न आना।

जहँ पर तोयधि तुंग तरंग तटन सों लागै ;
जहाँ मत्त मातंग गहन मधि 'संभ्रम' भागै।
गहवर गुंफित गुफा जहाँ गिरि बीच बिराजत ;
जहाँ तलैयन बीच तरैयन की छवि छाजत।
जहाँ निसा में सोम सुधा बरखत अवनीतल ;
उदित इंद्र को चाप जहाँ प्रतिबिंबित कर जल।
देखि व्योम को ठाट अचंभो करिबो सीख्यो ;
देखि भूमि को साज प्रेम हित मरिबो सीख्यो।
कहूँ विजन बन देखि रुकेहु बहु खन तेहि थल पर ;
मिलेहु महा छवि-धाम मनहु कोऊ सुंदर घर।
कीर सारिका सकल धाय निज गीत सुनावहिं ;
इतर विहग लखि सांत रूप करतें जब पावहिं।
अरु, कुरंग जो भजत सूख पातन के खरके ;
लखि कवि को मृदु रूप तेऊ ठाढ़े नहिं सरके।
वाके चंचल चरन चले वा ठौर जहाँ पर ;
कछु अतीत के खंड परे अवसेस तहाँ पर।
जहाँ हस्तिनापूर पुरातन रहेहु मनोहर ;
इंद्रप्रस्थ जहँ रहेहु कबौं अवनीपर सुंदर।
जहाँ रहेहु गढ़ कबहुँ हिंदु-पति पृथीराज को ;
जहाँ लोह की कील जु है आचरजु आज को।
जहाँ कुतुब मीनार हिंदु-नृप निरमित सोहै ;
जहँ जोतिस को भौन राशि-माला को जोहै।
जहाँ मुये नर मुये ख्याल धरि मुयी भीत पर ;
भूत-काल में लीन भये चढ़ि हार-जीत पर।
जहाँ रहे यह दृश्य अदृश्य पुरातन छवि के ;
ठाढ़ रहे निसि-द्यौस तहाँ देखत दृग कवि के।
ज्यों-ज्यों चलि-चलि निकट निहारत नीके नयननि;
त्यों-त्यों कहत रहस्य काल अपनो मृदु वयननि।
इत उत घूमत फिरत चलेहु कवि अन्य देस कहँ ;
पंच धार ह्वै बहेहु सलिल अति बेगवंत जहँ।
पार कियहु कुरुखेत खेत जो पानीपत को ;
जहाँ युद्ध को ठानि भयहु नहिं भूप निहत को।
पार कियहु पंजाब जाय कसमीर पहूँच्यो ;
प्रकृति दृश्य जहँ विसद गहन सुंदर गिरि ऊँच्यो।
जहाँ प्रफुल्ल प्रसून-समूह शिला के नीचैं ;
स-रव भृंग उड़ि रहे स-मुद जिनके बिच-बीचैं।
जहाँ नीर के तीर समीर केलि कर जल पै ;
चकित सुकवि रहि गयेहु थकित सोयहु ता थल पै।

सोवत ही कवि लखेहु महा अद्भुत यक सपनो।
जैसो कबहुँ न लखेहु भाग मान्यो धनि अपनो।
लखेहु वाम दिसि वैठि एक सुंदर वर ...
घाले घूँघट परी वदन पर कारी ...
ताके मंजुल बचन भये भासित कवि कहँ तस ;
महा शांति के समय अनाहत नाद सुनेहु जस।
अरु वाको संगीत सुनें कल-कल धुनि के ...
मोहित ह्वै रहि गयेहु सकल भूलेहु बनि ...
ज्ञान, सत्य अरु धर्म कर्म वाके सँगीत में ;
पूरि रहे सब ठौर तनु धरे दिव्य गीत में।
लै प्रसाद माधुरी ओज रचना छंदन ...
सुनिकै पूरी आस सुकवि सारद-नंदन ...
पुनि आयो आलोक अलौकिक तिय के तन में ;
गूँजि रागिनी उठी और ही ढँग सों छन में।
अरु वाको वेदना भरो स्वर कंठ मनो ...
जानि परेहु अति उग्र भयानक कोमल सुं...
तिय के तन की बीन बजी अति सुंदरता से ;
ताहि बिलोकेहु सुकवि निपट विसमय करुना से।
ताके कोमल अंग लपेटे वायु-वसन ...
केस खुले फहरात अजब आभास दसन ...
चमकत चंचल नयन तथा कंपन अधरन में ;
देखि मनोहर रूप प्रेम बाढ़्यो कवि-मन में।
साँस रोकि कै बढ़्यो विकंपित अंग सम्हा...
आलिंगन के हेतु युगल कर धाय पसा...
करके पसरत छूटि गयो सब जगत पसारो।
अहह! प्रेम यह अगम, अहह! आलिंगन प्यारो।
हाय! हाय!! अब कहाँ सुकवि वह छीयमान ...
सीत-प्रात-रवि-करनि-स्वाँस-सम-छीयमान ...
ठाढ़े मंदर भवन विटप वैसे के वैसे ;
चलत नदी को सलिल बहत प्रथमहिं रह जैसे।
उदित भानु हूँ होत चंद्र हूँ करत प्रका...
वहै राग वह रंग वहै यह जगत तमा...
रचहिं चित्र जनि भूलि चतुर चित्रक यहि कवि को ;
शिल्पी करहिं न उपल सुरूपक वाकी छवि को।
नहिं वाको गुन-गान करहिं छंदहिं रचि कवि...
भूलेहू इतिहास-कार नहिं समुझहिं निज ...
ललित कला विज्ञान ज्ञान सब होत अकारथ ;
चित्रन हेत चरित्र सुकवि को कोऊ न समरथ।

केतो बड़ो विषाद कहहु कैसो अपार दुख;
जब कोउ समरथ सुकवि जगत ते फेरत निज मुख।
सकल प्रकृति के खेल तथा मनुजन की करनी;
जीवन-मरन-रहस्य खोलि याही में बरनी।
"अनूप"

मालती-माधव



स्कृत साहित्य में महाकवि भवभूति प्रसिद्ध नाट्यकार हैं। उनकी रचनाओं का माहात्म्य समय की अग्रगति के साथ बढ़ता ही जाता है। इतिहासवेत्ता जनरल कनिंघम के मतानुसार भवभूति का समय ईसा की सप्तम शताब्दी का शेष भाग है। विश्व-विश्रुत मालती-माधव इनकी ही कृति है। मालती-माधव उज्जयिनी में महाकालेश्वर महादेव के यात्रोत्सव पर खेला गया है। आज के लेख में उसी पर विचार किया जायगा।

१—संक्षिप्त कथा-वस्तु

अंक १

विदर्भराज के मंत्री देवराज का अपने पुत्र माधव को पद्मावती में आन्विक्षिकी (तर्क-शास्त्र) पढ़ने के लिये भेजना। वहाँ माधव का राजमंत्री की कन्या मालती पर मोहित होना। मालती और माधव का काम-मंदिर में अन्योन्य दर्शन तथा मालती के लिये माधव का बकुल-माला देना। मालती की सखी लवंगिका का बौद्ध संन्यासिनी कामंदकी से मालती और माधव के प्रेम का वर्णन करना।

अंक २

प्रवेशक में मंत्री भूरिवसु की दो दासियों का आपस में वार्तालाप। नर्म्मसचिव नंदन का महाराज द्वारा मंत्री पर अपने विचार के लिये दबाव डलवाना।

अंक ३

मालती और माधव की प्रेम-वृद्धि के लिये कामंदकी का दूती-कार्य करना। मकरंद का स्वयं घायल होकर (नंदन की भगिनी) मदयंतिका का व्याघ्र से रक्षा करना।

अंक ४

घायल मकरंद का बेहोश होना। उनकी दशा को देखकर माधव का भी मूर्छित होना। कामंदकी का उन पर कमंडलु का जल छिड़कना तथा मालती और उसकी सखियों का दोनों के ऊपर कपड़े की हवा करना। दोनों का होश में आना। मदयंतिका से नंदन के नौकर का यह कहना कि महाराज ने स्वयं आकर तुम्हारे भाई से कहा है कि राजमंत्री मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। मालती को मैं तुम्हें देता हूँ। यह सुनकर मालती और माधव का दुखी होना।

अंक ५

अघोरघण्ट कापालिक का कराला देवी को बलि चढ़ाने के लिये मालती को ले जाना। माधव का वहाँ पहुँच जाना और मालती की रक्षा करना।

अंक ६

मालती के साथ नंदन के विवाहोत्सव का प्रबंध होना। रात्रि को मालती का पूजा करने के लिये देव-मंदिर जाना। वहाँ माधव के साथ मालती का विवाह कामंदकी के प्रयत्न से होना। नंदन का मालती-वेषधारी मकरंद से विवाह होना।

अंक ७

मालती-वेषधारी मकरंद से नंदन की सुरत-याच्ञा। नंदन को मकरंद का पीटना। मकरंद और मदयंतिका का विवाह।

अंक ८

मकरंद का राजकीय सेना से युद्ध। माधव का मकरंद की सहायता करना। कपालकुंडला द्वारा मालती का अपहरण।

अंक ९

विरही माधव का विलाप। मकरंद का आश्वासन। योगेश्वरी सौदामिनी का माधव को मालती का अभिज्ञान देना।

अंक १०

मालती को नष्ट जानकर माता-पिता का चिता में बैठने का इरादा करना। मालती-माधव का पुनर्मिलन।

२—चरित्र-चित्रण

मालती—'मालती-माधव' की नायिका है। वह लोक में अनुपम सुंदरी तथा परम गुणवती है। प्रकरण

में उसका कन्या-चरित ख़ूब ही प्रस्फुटित हुआ है। यद्यपि उसके हृदय पर माधव जैसे सुरूप युवा ने पूर्ण अधिकार कर लिया है। वह मानसिक-व्यथाओं से व्यथित है। स्वयं अपनी सखी लवंगिका से कहती है—"कि तीव्र मन-रोग विष की भाँति संपूर्ण शरीर में व्याप्त हो रहा है तथा निर्धन अग्नि की भाँति जला रहा है एवं बाह्य अवयवों को ज्वर की तरह व्यथित कर रहा है। इस दुरवस्था में न तात और न अंबा ही रक्षा कर सकती है। इस प्रकार मालती के संशयापन्न जीवन को देखकर लवंगिका मालती से माधव के सम्मिलन का प्रस्ताव करती है। तथापि मालती कहती है—"सहि! दइद-मालदीजीविदे! साहसोवएणासिणि! अवेहि" सखी, दूर हो। ऐसे साहस का उपदेश करती हो! तुमको केवल मालती का हो जीवन प्रिय है। संपूर्ण कलाओं से चंद्र गगन में भले हो जले और कामदेव भले ही भस्म कर डाले। ये दोनों मृत्यु से अधिक कर ही क्या सकते हैं। श्लाघ्य पिता, निर्मल कुलवाली मेरी माता और निष्कलंक कुल ही मुझे प्रिय है। मुझको न अपना जीवन और न माधव ही प्रिय है।

ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किं वा मृत्योः परेण विधास्यतः ;
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया,
कुलमलिनं, न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ।

मालती के इन वचनों में एक प्रकार का तेज है। विशुद्ध कुल का गर्व है। माता, पिता के यश का विचार है। जो सर्वथा कुल-कन्यका के स्वभाव के अनुरूप है।

भारतीय समाज में कन्याओं को स्वयं विवाह करने का अधिकार नहीं है ; किंतु पिता को है। ऐसी परिस्थिति में पिता जब कन्या का विवाह अनुरूप वर के साथ नहीं करता है ; किंतु किसी बूढ़े बाबा के गले मढ़ देता है, कन्याएँ लज्जा-वश चाहे मुख से कुछ न कहें ; किंतु उनके हृदय में घोर मर्मांतक व्यथा होती है। जिसका अनुभव वही करती हैं और मन-ही-मन अपने माँ-बाप को कोसती हैं। भवभूति ने मालती के चरित्र में इस विषय को ख़ूब दिखलाया है। राजा के अनुरोध से मालती के पिता भूरिवसु वृद्ध नंदन के साथ मालती का विवाह अंगीकार करते हैं। मालती मन-ही-मन कुढ़कर कहती है—'राआराहणं क्खु तादस्स गुरुअं न उण मालदी। हा ताद! तुमं वि मम गाम एव्वं चि[...] जिदं भोअतिह्नाए।' तात मालती की अपेक्षा रा[...] प्रसन्न करना बढ़कर समझते हैं। फिर कहती है कि आपने भी मेरे साथ......हा भोग-तृष्णा ने [...] जीत लिया। सचमुच मालती का यह वाक्य कि[...] गंभीर और मर्मस्पर्शी है कि भोग-तृष्णा ने [...] जीत लिया। अर्थात् दास मनोवृत्तिवालों की [...] लिप्सा इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने स्नेह [...] महत्त्व नहीं देते हैं।

पंचम अंक में कपालकुंडला और अघोरघण्ट [...] लिक कराला देवी की बलि के लिये मालती को [...] करना चाहते हैं। उस समय में भी—मृत्यु-स[...] भी—नंदन-विवाह का शल्य मालती के हृदय से [...] निकला है। पिता की निष्ठुरता का उपालंभ देकर [...] क्रंदन करती है (हा ताद! णिक्करुण! एसो दा[...] णरेंद चित्ताराहणोवअरणं जणो विवज्जइ!) निष्करुण नरेंद्र के चित्र की आराधन-स्वरूप [...] मालती नष्ट हो रही है।'

मालती के उपर्युक्त वाक्य कितने करुणापूर्ण हैं। [...] पढ़ते मालती के प्रति समवेदना हो आती है। आँ[...] आँसू आ जाते हैं। अयोग्य विवाह करनेवाले पि[...] प्रति घोर घृणा उत्पन्न होती है (भवभूति कवि ने [...] से १२०० वर्ष पूर्व जिस सामाजिक कुरीति का [...] खींचा है, दुर्भाग्यवश वह कुरीति आज भी मौजूद [...] वृद्धों की विवाहेच्छा पहिले से भी अधिक है) [...] के कन्या-चरित का यहाँ चरम विकास है। उपन्यास [...] भाँति नाटक में नाट्यकार को स्वयं कहने का [...] नहीं होता है। पर किसी पात्र के उद्गार ऐसे होते [...] कवि के हृदय के होते हैं। यहाँ पर भवभूति ने [...] के द्वारा अपने भावों को अभिव्यक्त किया है।

पंचम और षष्ठ अंक में हम मालती के हृदय [...] कितना स्नेहयुक्त और कोमल पाते हैं। पंचम [...] कपालकुंडला मालती से कहती है कि तेरा अंतिम [...] है। यदि संसार में तेरा कोई प्रेमी है, तो उसका [...] कर ले। मालती माधव को स्मरण कर कहती है [...] नाथ! हा दयित!! हा माधव!!! मेरे परलोक जाने पर [...] याद करते रहना, क्योंकि प्रियजन मरने पर भी जिसे [...] याद किया करते हैं वह मृत होने पर भी जीवित है।

अंक में मालती का नंदन के साथ विवाह होने जा रहा है। लवंगिका मालती के पास कुसुम-माला लेकर आती है। मालती कहती है कि इनका क्या होगा। वह आत्म-हत्या निश्चित कर लवंगिका से अंतिम उपदेश करती है कि—मेरे जीवन-प्रद जन का (माधव का) अनिर्वचनीय सुंदर शरीर मुझे मृत सुनकर किसी प्रकार नष्ट न होने पावे तथा मेरी कथा-मात्र शेष होने पर उनकी लोक-यात्रा शिथिल न होने पावे ; ऐसा यत्न करना। ऐसा करने पर ही मैं प्रिय सखी के प्रसाद से कृतार्थ हूँगी।

कामन्दकी

कामन्दकी पंडिता नीति-कुशला बौद्धसंन्यासिनी है। यद्यपि संसार से विरक्त होकर उसने संन्यास ग्रहण कर लिया है तथापि उसमें उच्चकोटि का परोपकार गुण है जिसके कारण वह सांसारिक कार्यों में भी भाग लेती है। मंत्री भूरिवसु गुप्त रीति से उसे मालती और माधव के विवाह कराने के लिये नियुक्त करते हैं। प्रकाश्य-रूप में वह राजा की आज्ञा का विरोध नहीं कर सकते हैं (देवरात, भूरिवसु और कामन्दकी, इन तीनों ने साथ-साथ विद्याध्ययन किया था। छात्रावस्था में ही देवरात और भूरिवसु ने प्रतिज्ञा की थी कि हम लोग आपस में अपत्य-संबंध करेंगे) यह बात मालती तक नहीं जानती है। कामन्दकी का अपने मित्र भूरिवसु पर अनिर्वचनीय प्रेम है वह स्वयं अपनी शिष्या बुद्धरक्षिता से कहती है—कि मंत्रीजी ! मुझे कर्तव्य विषय में लगाते हैं। यह प्रेम का फल है, विश्वास का सार है, मेरे प्राण अथवा तप से यदि मित्र का कार्य हो जायगा, तो मैं अपने को कृतकृत्य समझूँगी। कामन्दकी में हम इतना साहस और नीति-चातुर्य देखते हैं कि वह राजा के विरुद्ध षड्यंत्र रचती है। मालती का माधव जैसे गुणी युवा के साथ विवाह सर्वथा समुचित है। वृद्ध नन्दन का राजा के द्वारा दबाव डालकर विवाह करना सर्वथा न्याय-विरुद्ध है। इस प्रकार गुप्त रीति से आन्दोलन करती है। चतुर्थ अंक में राजा के अनुचित दबाव का विरोध करती है। मकरन्द से कहती है कि महाराज को अपनी कन्या पर अधिकार है। मालती राजा की कन्या नहीं है। कन्या-दान में राजा लोग प्रमाण हैं। इस प्रकार धर्म-शास्त्र आज्ञा नहीं देता है। तृतीय अंक में कामन्दकी दूती का काम करती है। मालती के समक्ष माधव की शोचनीय दशा का वर्णन करती है कि मदनोद्यान-यात्रा के दिवस से माधव अत्यंत विकल हैं। शरीर-संताप प्रति-दिन बढ़ता जाता है। उनको न अब चंद्र-दर्शन में और न किसी प्रियजन के मिलने में आनन्द आता है। अत्यन्त अधीर होकर आन्तरिक ताप को प्रकट करते हैं। उनका प्रियंगु के समान श्यामवर्ण पीला और दुबला हो गया है। पर इससे उनका लावण्य और भी खरा हो गया है। मैंने सुना है और निश्चय है कि मालती ही इस कामोन्माद का हेतु है। फिर कहती है—कि माधव मृत्यु के लिये, जिस पर कोयल कूक रही है और बौर आया हुआ है ऐसे बाल आम्र-वृक्ष पर दृष्टि डालता है, वकुल-कुसुम (मौलसिरी) की गंध से सुगंधित वायु के मार्ग में लोटता है, दावाग्नि के प्रेम से भीगी हुई कमलिनी के पत्रों का उत्तरीय ओढ़ता है और बार बार चन्द्रमा की किरणों की शरण जाता है।

धत्ते चक्षुर्मुकुलिनि रणत्कोकिले बालचूते
मार्गे गात्रं क्षिपति वकुलामोदगर्भस्य वायोः ;
दावप्रेम्णा सरसबिसिनीपत्रमात्रोत्तरीय-
स्ताम्यन्मूर्तिः श्रयति बहुशो मृत्यवे चन्द्रपादान् ।

मालती कामन्दकी का पहले माँ को तरह अदब करती थी। पर कामन्दकी उसे सखी के समान विश्वास-पात्र बना लेती है। पुष्पावचय से मालती जब थक जाती है, तब कामन्दकी कहती है कि श्रम से तेरी वाणी स्खलित हो रही है, अंग ढीले पड़ रहे हैं, मुख-चंद्र पर पसीने के बूँद आ गए हैं और नेत्र मुकुलित हो रहे हैं। अरी सुन्दर भौंहवाली ! तेरी तो थकावट से ऐसी दशा हो गई है जैसे प्रिय-दर्शन से होती है।

स्खलयति वचनं ते संसयत्यङ्गमङ्गम्,
ज्वलयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून् ;
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु खेद-
स्त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन ।

भवभूति ने कामन्दकी के चरित्र-चित्रण में बड़ा कौशल दिखलाया है। जब हम देखते हैं कि चीर-चीवर-धारिणी परिणतवयवाली कामन्दकी निसृष्टार्थ दूती का काम करती है, तो बड़ा विस्मय होता है और साथ ही यह भी मालूम होता है कि मानव-जीवन कितना गूढ़ और रहस्य-मय है। वेष और आकृति से मनोवृत्ति का जो अनुमान करते हैं वह धोखा उठाते हैं। भवभूति मानव-जीवन

की अच्छी व्याख्या करते हैं जो एक सच्चे नाट्यकार का प्रधान गुण है।

कामन्दकी ने 'अन्तःशाक्ताः बहिःशैवाः' का जो जामा पहिना है वह केवल परोपकार और सदिच्छा के कारण ही। अतः कामन्दकी के प्रति दर्शकों का पूज्य-भाव ही है। कामन्दकी ने इस तरह समाज के सामने यह उच्च आदर्श उपस्थित कर दिया है कि वैयक्तिक मुक्ति की अपेक्षा प्राणियों पर दया करना भी कुछ कम महत्त्व नहीं रखता है। भवभूति ने भी मकरन्द द्वारा संकेत किया है। मकरन्द कामन्दकी से कहते हैं कि—"भगवति! शिशुजनों पर आपका स्नेह और दया संसार से विरक्त भी आपके चित्त को द्रवीभूत करती है। इसीलिये मालती और माधव के विवाह के लिये आपका यत्न है। जो सर्वथा संन्यास-सुलभ आचार के प्रतिकूल है—

दया वा स्नेहो वा भगवति निजेऽस्मिन् शिशुजने,
भवत्याः संसाराद्विरतमपि चित्त द्रवयति।
अतश्च प्रव्रज्यासमयसुलभाचारविमुखः
प्रसक्तस्ते यत्नः प्रभवति ....

अंत में मालती पर कामन्दकी का जादू चल जाता है। वह वासवदत्ता, उर्वशी आदि के इतिहासों का वर्णन कर प्रभाव डालती है और गान्धर्व-विवाह करवा देती है। कामन्दकी संन्यासिनी होने पर भी संसारिणी है और साध्वी होने पर भी कूट-नीतिज्ञ है। मालती-माधव की कामन्दकी सर्वस्व है। मालती-माधव से कामन्दकी यदि निकाल दी जावे, तो प्रकरण का मज़ा किरकिरा हो जायगा।

माधव

माधव प्रस्तुत प्रकरण के नायक हैं। वह शूर-वीर सुरूप युवक छात्र हैं। कुण्डिनपुर से पद्मावती को आन्वीक्षिकी के अध्ययन के लिये आए हैं। वहाँ पद्मावती के राजमंत्री की कन्या के नयन-बाणों के लक्ष्य हो जाते हैं। विद्यार्थी का युवती के नयन-बाणों का लक्ष्य होना नैतिक पतन अवश्य है। किंतु भवभूति ने माधव-चरित में नैतिक गुणों का जानकर अधिक विकास नहीं किया है। कारण कि उन्होंने नाटक को छोड़कर प्रकरण विषय चुना है। प्रकरण उदात्त-चरित अङ्कित करना आवश्यक नहीं है। अतएव भवभूति नें माधव का देव-चरित न लिखकर मानव-चरित लिखा है। माधव के चरित में शौर्य गुण खूब प्रस्फुटित हुआ है। उन्होंने अघोरघण्ट का सदृश नर-पिशाच का वध किया है जो एक अबला की हत्या करना चाहता था। इसके मकरंद के ऊपर क्रुद्ध होकर जब राजा ने नगर को आक्रमण के लिये भेजा है उस समय अपने मित्र की सहायता की है और अपने बाहु नगर-रक्षकों को परास्त किया है। माधव उत्कट प्रेमी हैं। वह नवम अङ्क में मालती के विरह में होजाते हैं। कभी मेघ और पौरस्त्य पवन से माल पूछते हैं और कभी मूर्च्छित हो जाते हैं।

मकरन्द

मकरन्द माधव का बाल्य-सखा है। माधव की वह भी शूर-वीर अथ च प्रेमी है। नंदन की मदयन्तिका को चाहता है। पिंजड़े से छूटे हुए शेर से प्रेयसी मदयन्तिका की रक्षा करता है। वीरता उसमें हैं कि वह एकाकी बहुसंख्यक नगर-रक्षकों से युद्ध करता है। मकरंद के चरित में सबसे अधिक गु विकसित हुआ है, वह है माधव में अनिर्वचनीय प्रेम। मकरंद माधव के विना क्षण भर भी नहीं चाहता है। माधव मालती के विरह में मू होते हैं। उस समय मकरंद के मनोगत भावों से के प्रति स्नेह प्रकट होता है। मकरंद कहता है "तत् किन्नु खलु माधवास्तमपसाक्षिणा मया भ मिति जीवामि" मुझे माधव के मरण का साक्षी चाहिए? मैं जीवित हूँ! पुनः पर्वत-शिखर से पाटल में कूदना चाहता है, पुनः मूर्च्छित माधव को आ कर पुकारता है कि—हा वयस्य! हा विमल निधे! गुण-गुरो! माधव! यह मकरंद के बाहु का आलिङ्गन है। मकरंद तुम्हारे विना क्षण भर भी रहेगा! ऐसा ख़याल न करना, हे पुण्डरीकमुख! से तुम्हारे साथ रहा हूँ, यहाँ तक कि माता का दूध साथ ही साथ पिया है, तो कोई कारण नहीं तर्पणाञ्जलि भी साथ-साथ न पिऊँ।

आजन्मनः सह निवासितया मयैव
मातुः पयोधरपयोऽपि समं निपीय।
त्वं पुण्डरीकमुख! बन्धुतया निरस्त-
मेको निवापसलिलं पिबसीत्ययुक्तम्।

भगवति! पाटलावति (पाटलावती नदी का माता

प्रिय सुहृद् का जहाँ जन्म हो, वहीं मेरा भी हो और मैं पुनः माधव का अनुचर होऊँ।

प्रियस्य सुहृदो यत्र मम तत्रैव सम्भवः।
भूयादमुत्र भूयोऽपि भूयासमनुसञ्चरः।

अवान्तर चरितों की समीक्षा विस्तार-भय से नहीं की जाती है।

३. नाटकीय उत्कर्ष

नाटक का आख्यान-भाग ऐतिहासिक या पौराणिक वृत्त के आधार पर होता है। नाटक में पाँच अंक से लेकर दस अंक तक होते हैं। प्रख्यातवंश धीरोदात्त नायक होता है। एक रस प्रधान रहता है, अन्य रस गौण होते हैं। नाटक में बीज, विंदु, पताका, प्रकरी और कार्य यह पाँच अर्थ प्रकृतियाँ होती हैं। अर्थ प्रकृतियाँ नाटक के उद्देश्य की सिद्धि के लिये कारण स्वरूप हैं। कार्य अर्थात् व्यापार शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं—आरंभ, यत्न, प्राप्याशा, नियताप्ति और फलागम। इन्हीं पाँच अवस्थाओं के योग से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार संधियाँ होती हैं। जिनसे नाटक-रचना का विभाग होता है। नाटक में ३६ लक्षण और ३३ अलंकार होते हैं। प्रकरण नाटक के समान होता है। अन्तर इतना ही है कि नाटक का कथा-भाग पौराणिक या ऐतिहासिक घटना के आधार पर होता है। किंतु प्रकरण में लौकिक वृत्त के आधार पर होता है। शेष नाटक की भाँति होता है। 'मालती-माधव' प्रकरण है। इसमें शृंगार-रस मुख्य है। अन्य रस गौण हैं। माधव धीर प्रशान्त नायक हैं।

'मालती-माधव' में अर्थ प्रकृतियाँ

मालती और माधव के विवाहस्वरूप उद्देश्य का साधक अन्यान्य अनुराग बीज[1] हैं। द्वितीय अंक में नंदन के लिये मालती के देने का वर्णन है। जिससे कथा के अर्थ का विच्छेद होता है। पर माधव की (मालती की) दर्शनाभिलाषा विच्छेद होने से बचाती है। इसलिये विंदु[2] है। मकरंद और मदयन्तिका का विवाह आदि प्रासंगिक वृत्त पताका[3] है। मकरन्द पर राजकीय सैनिकों का आक्रमण रूप एक देशीय वृत्त प्रकरी[1] है। मालती-रूप लाभ कार्य[2] है।

पाँच अवस्थाएँ

'मालती-माधव' में मालती और माधव के विवाह-रूप फल-सिद्धि के लिये कामन्दकी का औत्सुक्य आरंभ नामक अवस्था है। दोनों के समागम के लिये कामन्दकी का उद्योग यत्न नामक द्वितीय अवस्था है। नंदन के विवाह के आयोजन से अपाय (विघ्न) की आशंका है। पर कामन्दकी के व्यापार से उपाय की भी संभावना है। अतः प्राप्याशा नामक तृतीय अवस्था है। पुनः कामन्दकी की असाधारण चेष्टा से सफलता का निश्चय है। अतः नियताप्ति नामक चतुर्थ अवस्था है। माधव को मालती मिल गई है इसलिये फलागम नामक पंचम अवस्था है।

पाँच संधियाँ

'मालती-माधव' में प्रथम अंक से लेकर द्वितीय अंक तक मुख-संधि[3] है। इन अंकों में प्रारंभ नामक अवस्था (कामंदकी के औत्सुक्य) के साथ मालती और माधव के परस्पर अनुराग रूप बीज की उत्पत्ति हुई है। तृतीय अंक से लेकर चतुर्थ अंक तक प्रतिमुख संधि[4] है। इनमें कामंदकी माधव के काम-जनित विकारों का वर्णन करती है और लवंगिका कामंदकी से मालती की दयनीय दशा का वर्णन करती है। जिससे परस्पर समागम-रूप फल का प्रधान उपाय (अनुराग) दिखलाई पड़ता है; किंतु नंदन के विवाह से वह तिरोहित हो जाता है। पंचम अंक से लेकर सप्तम अंक तक गर्भसंधि[5] है। इनमें विवाह-रूप

---

१ बीज—फल का मुख्य हेतु, जिससे अनेक कार्य उत्पन्न होकर फैलते हैं, बीज कहलाता है।

२ विंदु—कथा के अर्थ के विच्छेद होने पर, जो विच्छेद से बचाता है उसे विंदु कहते हैं।

३ पताका—प्रासंगिक वृत्त को पताका कहते हैं।

१ प्रकरी—एकदेशीय चरित को प्रकरी कहते हैं।

२ कार्य—जिसके लिये उपायों का आरंभ किया जाता है और जिसकी सिद्धि के लिये सामग्री एकत्र की जाती है उसे कार्य कहते हैं।

३ मुख—आरंभ अवस्था के साथ जिसमें अनेक अर्थ और रसों की अभिव्यंजक बीज-समुत्पत्ति हो उसे मुखसंधि कहते हैं।

४ प्रतिमुख—मुख-संधि में रहनेवाले मुख्य उपाय का निदर्शन कहीं लक्ष्य रीति पर हो और कहीं अलक्ष्य रीति पर उसे प्रतिमुखसंधि कहते हैं।

५ गर्भसंधि—प्रथम उत्पन्न फल के उपाय का जहाँ उद्भेद हो तथा बारंबार ह्रास और अन्वेषण हो वहाँ गर्भसंधि होती है।

फल के प्रधान उपाय (अनुराग) का (हा तात ! निष्करुण नरेंद्र के चित्र की आराधन-स्वरूप सामग्री मालती नष्ट हो रही है) इससे ह्रास है, तथा "नेपथ्य में ओ मालती के ढूँढ़नेवाले सैनिकों" इससे अन्वेषण है।

मालतयाः प्रथमावलोकनादिनादारम्य विस्तारिणी
भूयः स्नेहविचेष्टितैर्मृगदृशो नीतस्य कोटिं पराम् ।
अद्यन्तः खलु सर्वथास्य मदनायासप्रबंधस्य मे
कल्याणं विदधातु वा भगवतीनीतिर्विपर्येतु वा ।

इससे उद्भेद है। अमात्य भगवती से कहते हैं कि "नंदन के भेजे हुए आभूषण मालती को देवता के सामने पहनाना चाहिए" इससे पुनः ह्रास है। "मेरी सच्ची बहिन, प्रिय सखी, लवंगिका ! तुम्हारी प्रियसखी आज मरने के लिये तैयार है। बचपन से मेरा तुम्हारे ऊपर परम विश्वास रहा है। उसी विश्वास के अनुसार मैं तुम्हारे गले में बाँह डाल कर प्रार्थना करती हूँ कि मुझे माधव का मुखारविंद दिखला दो। जो समग्र मांगलिकों से बढ़कर सौभाग्य-लक्ष्मी को देनेवाला है" इससे पुनः अन्वेषण है। अष्टम अंक से लेकर नवम तक विमर्श[1] संधि है। क्योंकि इनमें मालती-माधव के विवाह-रूप मुख्य फल का परस्पर अनुराग-स्वरूप उपाय एकत्र स्थिति द्वारा गर्भसंधि से अधिक विकसित हुआ है। दशम अंक में उपहारसंधि[2] है। यहाँ पर अनुराग-रूप बीज के सहित मुख आदि संधियों का आयोजन मालती के लाभ के लिये किया गया है। लेख-विस्तार-भय से लक्षण और नाट्यालंकार और संध्यंग नहीं दिखलाए जाते हैं।

उपर्युक्त संस्कृत के अलंकार-शास्त्रों का नियम सामंजस्य दिखलाया गया है। किंतु आधुनिक नाट्य-साहित्य के लेखकों ने नाटक के जिन विशिष्ट गुणों का उल्लेख किया है 'मालती-माधव' में प्रायः उनका भी समावेश है। 'मालती-माधव' को बने हुए हज़ार वर्ष से भी अधिक हुए। रुचि और विचार में महान् परिवर्तन हो गया। पर 'मालती-माधव' नवीन समालोचना की कसौटी भी खरा उतरता है। वंग-वसुंधरा-भूषण स्वर्गीय द्विजेंद्रलाल नाटक में निम्न लिखित गुणों का आवश्यक बतलाते हैं। घटना का ऐक्य, घटना की कता, घटनाओं का घात-प्रतिघात, गति, कवित्व, चित्रण और स्वाभाविकता। 'मालती-माधव' का प्रेम-विषय को लेकर हुआ है और अंत तक यही नायक और नायिका का अन्योन्य अनुराग पल्लवित एवं परिणत हुआ है। अतः इसमें घटना ऐक्य है। 'मालती-माधव' में संपूर्ण चरित्र नायक नायिका के प्रणय-विकास के लिये अवतरित हुए जिनमें कुछ साधक और कुछ बाधक हैं। कामंदकी उद्योग, लवंगिका की सहायता, सौदामिनी की आदि समागम के साधक हैं। नंदन का राज्य के मालती की याञ्चा कराना, नंदन के विवाह का आ जन, अघोरघंट का मालती की बलि का इरादा कपालकुंडला का अपहरण बाधक हैं।

इनमें यदि कोई अंश पृथक् कर दिया जाए परिणाम ठीक रूप में वर्णित नहीं होगा। अतः की सार्थकता भी है। मालती और माधव का प्रेम ज्यों परिणत होता है त्योंहीं नंदन-विवाह-रूप विघ्न उपस्थित हो जाता है। उसके बाद मालती और का जब ब्याह होता है, तब मालती को कपालकुं उड़ा ले जाती है। इस तरह 'मालती-माधव' में घटना की घात-प्रतिघात गति भी है। चरित्र-चित्रण दिखा जा चुका है। कवित्व का वर्णन आगे किया जाए 'मालती-माधव' में वर्णित घटनाएँ प्रायः स्वाभावि हैं। अतः कहा जा सकता है कि इसमें स्वाभाविकता है। पंचम अंक में पिशाचों का वर्णन और नवम अंक सौदामिनी की 'आकर्षिणी सिद्धि' का वर्णन आज कल के विचारों के अनुसार चाहे अस्वाभाविक किंतु जिस समय 'मालती-माधव' लिखा गया है समय जनता का इन बातों पर विश्वास था। अतः समय के विश्वास और विचारों का दिखलाना दूषण वरन् भूषण ही है। नाटक में अंतर्द्वंद्व प्रधान गुण है। नाटक के किसी पात्र के हृदय में परस्पर विरोधी वृत्तियों के संघर्ष को अंतर्द्वंद्व कहते हैं। 'मालती-माधव' यह गुण प्रस्फुटित नहीं हुआ है। हाँ, एक जगह

---

१ विमर्श—मुख्य फल का उपाय जहाँ गर्भसंधि से अधिक विकसित हो, किंतु वह शाप आदि से विघ्न-युक्त हो, उसे विमर्शसंधि कहते हैं।

२ उपसंहार—मुख आदि अर्थ इधर उधर जो बिखरे हुए हैं, उनका एक प्रयोजन के हेतु आयोजन हो, वहाँ उपसंहार-संधि होती है।

अवश्य अंकुरित हुआ है। कामंदकी मालती से विवाह के लिये अनुरोध करती है। तब वह "हा तात! हा अंब!" कहती है। जिससे अनुमान होता है कि उसके हृदय में अंतर्द्वंद्व उपस्थित हुआ है कि मैं विवाह करूँ, या न करूँ। विवाह करूँगी, तो माता-पिता क्या कहेंगे। अगर नहीं करती हूँ, तो नंदन के साथ ब्याह हुआ जाता है। किंतु शीघ्र ही वह विवाह करना स्वीकार कर लेती है। अतः अंतर्द्वंद्व स्पष्ट नहीं हुआ है।

४. कवित्व-कौशल

कविता का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि ठीक-ठीक आज तक उसकी परिभाषा नहीं हो सकी है। पर संस्कृत के सभी आचार्य प्रायः इस मत से सहमत हैं कि 'रसमयी कविता' उत्कृष्ट कविता कहलाती है। कविता के रस प्राण-स्वरूप होते हैं। 'मालती-माधव' में रस-चमत्कार अच्छा है। स्वयं भवभूति अपने मुख से कहते हैं कि 'मालती-माधव' में रसों का अभिनय बाहुल्य से किया गया है—"भूम्ना रसानां गहना प्रयोगाः"।

पाठकों को कुछ शृंगार-रस के पद्यों का दिग्दर्शन कराया जाता है। भवभूति आलंबन-विभाव स्वरूप मालती का वर्णन करते हैं कि वह कुमारी सौंदर्य-निधि की अधिष्ठात्री देवता है, या सौंदर्यतत्त्व की निधि है। मालूम होता है कि उस सुंदरी को स्वयं रतिपति भगवान् ने चंद्र, सुधा, मृणाल, ज्योत्स्ना आदि उपादानों से बनाया है (चंद्र से मुख, सुधा से अधर, मृणाल से बाहु और ज्योत्स्ना से कान्ति बनाई है)। वेदाभ्यास-जड़ ब्रह्मा भला ऐसी सुंदरी कैसे बना सकता था।

सा रामणीयकनिधेरधिदेवता वा
सौन्दर्यसारसमुदायनिकेतनं वा ;
तस्याः सखे नियतमिन्दुसुधामृणाल-
ज्योत्स्नादि कारणमभून्मदनश्च वेधाः ।

आगे चलकर मदन-कथा से व्यथित मालती का चित्र खींचते हैं कि कृशांगी मालती के अंग मसले हुए मृणाल की तरह मलिन हो गए हैं। कपोल हाथी दाँत के नए टुकड़े की तरह श्वेत हो गए हैं, तथा निष्कलंक कलाधर की लक्ष्मी को धारण कर रहे हैं। वह सखियों के बड़े अनुरोध से शृंगार आदि करने में प्रवृत्त होती है।

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ;
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदपाण्डुः कपोलः ।

दुबले अंगों की मृणाल से, एवं श्वेत कपोल की हाथी-दाँत से उपमा हृदय-ग्राहिणी है। उस पर निदर्शनालंकार द्वारा चंद्रलक्ष्मी का बिंब-प्रतिबिंब-भाव अपूर्व चमत्कार को पैदा कर रहा है।

पहले-पहल मालती और माधव की जब चार आँखें होती हैं उस समय नेत्र-व्यापारों का भवभूति इतना सजीव वर्णन करते हैं जिससे अनुमान होता है कि भवभूति बड़े रसिक रहे होंगे। उनको स्वयं ऐसी घटनाओं का अनुभव होगा। माधव मकरंद से कहते हैं कि मैं मालती के विविध दर्शनों का पात्र हुआ। मालती की विशाल दृष्टि पहले मुझे देखकर निश्चल हो गई। बाद को (मेरे अंगों को ग़ौर से देखने के लिये) विकसित हुई। जिससे भ्रूलताएँ उन्नत हो गईं। फिर (दृष्टि) अनुराग से चिक्कण और मुकुलित (अत्यंत आनंद के कारण) हो गई। मेरे ताकने पर (लज्जावश) कुछ आकुंचित (सिकुड़) हो गई।

स्तिमितविकसितानामुल्लसद्भ्रूलतानां
मसृणमुकुलितानां प्रान्तविस्तारसानाम् ;
प्रतिनयननिपाते किञ्चिदाकुञ्चितानां
विविधमहमभूवम्पात्रमालोकितानाम् ।

फिर कहते हैं कि पक्ष्मलाक्षी (जिसके नेत्रोंमें बड़ी-बड़ी और घनी बरुनी हैं) के कटाक्षों ने मेरे अशरण हृदय को लूट लिया है, घायल किया है, निगल लिया है और उखाड़ लिया है। वे कटाक्ष अलस (लज्जा से लौटे हुए) वलित (पुनः देखने की इच्छा से तिरछे चलाए हुए) मुग्ध (देखने में सीधे पर भावों से भरे हुए) निष्पंद (टकटकी लगाए हुए) और मंद थे।

अलसवलितमुग्धस्निग्धनिष्पन्दमन्दै-
रधिकविकसदन्तैर्विस्मयस्मेरतारैः ;
हृदयमशरणं मे पक्ष्मलाक्ष्याः कटाक्षै-
रपहृतमपविद्धं पीतमुन्मीलितञ्च ।

माधव की विरहानुभूति

कपालकुंडला मालती को हर ले गई है। विरह-विधुर माधव पागल हुए जाते हैं। कहते हैं कि चण्डि! मैं तुम्हारे विषय में अमंगल-कल्पनाएँ करता हूँ। और तुम्हें हँसी सूझती है। बस, बहुत हँसी हो गई। तुम

प्रेम-परीक्षा कर रही हो। मैं तो बहुत बार परीक्षित हो चुका। प्रिये। उत्तर दो। अंदर-ही-अंदर मेरा हृदय विह्वल हो घूम रहा है। बड़ी निर्दया हो।

किमपि किमपि शङ्के मंगलेभ्यो यदन्य-
द्विरमतु परिहासश्चण्डि ! पर्युत्सुकोऽस्मि ;
कलयसि कलितोऽहं वल्लभे देहि वाचं
भ्रमति हृदयमन्तर्विह्वलं निर्दयासि।

फिर सोचते हैं कि इस जंगल में मालती के पास किसे दूत बनाकर भेजूँ? मेघ की तरफ़ देखकर विचार करते हैं कि इसे ही दूत बनाकर भेज दूँ। वेग से उठकर मेघ को हाथ जोड़ते हैं और कहते हैं कि सौम्य। क्या प्रिय-सहचरी विद्युत् तुम्हारा आलिंगन करती है? (मेरी तरह क्या तुम भी तो सहचरी-शून्य नहीं हो) क्या प्रेमी चातक प्रसन्नमुख होकर तुम्हारी सेवा करते हैं? (मेरी तरह मित्र-शून्य तो नहीं हो, यद्यपि उनके मित्र मकरंद साथ ही हैं तथापि वह उन्मादवश ऐसा कहते हैं) क्या प्राच्य पवन (पुरवाई) अंगमर्दन से तुम्हें सुखी करती है? (मेरी तरह तुम भी तो दास-शून्य नहीं हो) क्या इंद्र धनुष तुम्हारे सौंदर्य को बढ़ाता है? (मेरी तरह आभूषण-शून्य तो नहीं हो)।

कच्चित् सौम्य प्रियसहचरी विद्युदालिङ्गति त्वाम् ?
आविर्भूतप्रणयसुमुखाश्चातका वा भजन्ते ?
पौरस्त्यो वा सुखयति मरुत् साधुसंवाहनाभिः ?
बिभ्रग् बिभ्रत् सुरपतिधनुर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ?

भवभूति में भावुकता अधिक है। वह अपने पात्रों को विरहावस्था में मूर्च्छित और उन्मत्त बना देते हैं। विरह-वर्णन तो उन्हीं का हिस्सा है। यहाँ पर आठवीं दशा (उन्माद) काम की दिखलाई है।

माधव मेघ से संदेश कहते हैं कि भगवन् जीमूत। सौभाग्य-वश घूमते हुए आपको मेरी प्यारी मालती दिखलाई दे, तो पहले आश्वासन देना; पुनः मेरी अवस्था का वर्णन करना। लेकिन, ख़बरदार संदेश कहते हुए आशा-तंतु न तोड़ देना, क्योंकि केवल आशा-तंतु ही किसी तरह उसकी प्राण-रक्षा करता है।

दैवात् पश्येर्जगति विचरन्निच्छया मत्प्रियां चेत्
आश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम् ;
आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः।

फिर कहते हैं, मेरी प्रिया कहीं न होगी। क्योंकि लुट गई है। उसके अंग भी जंगल में बट गए हैं। मेरी प्यारी की कांति नवीन लोध्र-कुसुमों में है, दृष्टि हरिणियों में है, गति गजों में है और नम्रता लतिकाओं में।

नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गीषु गतं गजेन्द्रे
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रिया मे

कभी कहते हैं कि मैं प्रिया को किससे पूछूँ! कोई सुनता ही नहीं है! पता जानने के लिये किससे प्रार्थना करूँ? देखो—अपनी पूँछ को छितराए हुए नीलकंठ (मयूर) अपनी वाणी से मेरी बात रोक लेता है, चकोर जिसकी आँखें मद से घूम रही हैं अपनी कांता चकोरी के पीछे दौड़ रहा है और फूलों की धूल से वानरी के गालों को रँग रहा है।

केकाभिर्नीलकंठस्तिरयति वचनं ताण्डवादुच्छिखण्डः
कान्तामन्तःप्रमोदामभिसरति मदभ्रान्ततारश्चकोरः।
गोलाङ्गूलः कपोलं छुरयति रजसा कौसुमेन प्रियायाः
किं याचे यत्र तत्र ध्रुवमनवसरग्रस्त एवाभिभावः।

उपर्युक्त भवभूति की कल्पनाओं को पढ़कर कवि शेक्सपियर की यह उक्ति 'The Luntic, the lover and the poet are of imagination all compact' (पागल कवि और प्रेमी इनकी कल्पनाएँ एक-सी हैं) सत्य मालूम होती है। भवभूति ने 'मालती-माधव' में वीभत्स, भयानक, करुण आदि रसों का भी वर्णन कर अपनी सर्वतोन्मुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। भवभूति हास्य-रस का वर्णन अवश्य नहीं करते हैं, उनका स्वभाव दार्शनिकों की भाँति गंभीर है। इसी से उन्होंने अपने नाटकों में विदूषक का स्थान ही नहीं दिया है। सब रसों के उदाहरणों में लेख का कलेवर बढ़ जायगा। वीभत्स रस का एक उदाहरण दिया जाता है।

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति॥

भूख से व्याकुल, इधर-उधर दृष्टि डालता हुआ, ... को निकाले, दीन पिशाच पहले मुर्दे की खाल को नोंचकर शोथ रोग से फूले कंधे, नितंब, पीठ आदि के दुर्गंधित मांस को खाता है। पुनः हड्डियों और ... नीचे स्थानों में लगे हुए मांस को जल्दी-जल्दी खाता

प्राकृतिक दृश्य

संस्कृत-साहित्य में प्रकृति का समादृत स्थान है। काव्य और नाटकों में प्राकृतिक वर्णन अंग-सा है। चाहे वह उद्दीपन विभाव में हो, या स्वतंत्र रूप में हो। भवभूति प्रकृतिपर्युपासक कवियों में अग्रगण्य हैं। पाठकगण, भवभूति के प्राकृतिक वर्णन के भी नमूने देखिए—अधो लिखित श्लोक-द्वय में पद्मावती और सिंधु नदी के प्रपात का कितना सुंदर वर्णन है।

पद्मावतीविमलवारिविशालसिन्धु-
पारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति ;
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट-
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरीक्षम् ।

विशाल सिंधु और पारा नदियाँ जिनमें निर्मल जल बह रहा है उनसे पद्मावती नगरी घिरी हुई है। पद्मावती में राज-गृह, देव-मंदिर, पुरद्वार और अट्टालिकाएँ इतनी बनी हुई हैं; मानों उनके संघर्ष से आकाश, टूट कर गिर पड़ा है और वह नदियों के रूप में परिणत हो गया है।

यत्रत्य एष तुमुलो ध्वनिरम्बुगर्भ-
गम्भीरनूतनघनस्तनितप्रचण्डः ;
पर्यन्तभूधरनिकुञ्जविजृम्भणेन
हेरम्बकण्ठरसितप्रतिमानमेति ।

यह सिंधु-नदी का प्रपात है जिसमें जल से भरे हुए मेघों की गर्जन के समान ध्वनि हो रही है। जो ध्वनि आस-पास के पर्वत और कुंजों में गूँज रही है। जो प्रतिध्वनि से बढ़कर गणपति के कंठ-ध्वनि के समान हो रही है।

निम्न-लिखित श्लोकों में पर्वत और दो नदियों के संगम के किनारे नहाई हुई स्त्रियों का वर्णन कितना सजीव है। हज़ारों वर्ष की घटना मूर्तिमती होकर सामने नाचने लगती है।

अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुङ्गसानु-
र्मदमुखरमयूरीमुक्तसंसक्तकेकः ;
शकुनिशबलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः ।

उच्च शिखरवाला, नवीन मेघों से श्यामल, यह पर्वत क्या ही नेत्रों को आनंद देनेवाला है जिस पर मद-माती मयूरी कुहुक रही हैं। कहीं पत्थरों के ढेर लगे हुए हैं। कहीं रंग-बिरंगे पक्षियों के घोंसलेवाले वृक्ष चितकबरे हो रहे हैं जिनसे पर्वतीय भागों की अनुपम छटा दिखलाई देती है।

जलनिविडितवस्त्रव्यक्तनिम्नोन्नताभिः
परिगततटभूमिः स्नानमात्रोत्थिताभिः ;
रुचिरकनककुम्भश्रीमदाभोगतुङ्ग-
स्तनविनिहतहस्तस्वस्तिकाभिर्वधूभिः ।

सिंधु और पारा के संगम-तट पर नहाकर आई हुई महिलाओं की भीड़ है जिनके भीगे कपड़े ऐसे चपक गए हैं कि उनमें अंगों की निचाई और ऊँचाई साफ़ झलक रही है। कमनीय कांचन-कलश की भाँति विशाल और उन्नत स्तनों पर रक्खे हुए हाथ ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों स्वस्तिक (स्वस्तिक—मंगल के लिये स्त्रियाँ पोठे (चावलों का चूर्ण) से हाथ की छापें कलश आदि पर देती हैं। उसको स्वस्तिक कहते हैं) हों स्तनों पर रक्खे हुए गोरे-गोरे हाथों की स्वस्तिक से उपमा कितनी चमत्कार-पूर्ण है। कवि की अनोखी सूझ है!

कालिदासीय रचना की अनुकृति

भवभूति कालिदास के परवर्ती हैं। इन दोनों कवियों के स्वभाव और रचना में आकाश-पाताल का अंतर है। कालिदास सुकुमार-प्रकृति सर्वप्रिय और हँसमुख रहे होंगे। पर भवभूति गंभीर-प्रकृति विशिष्ट जनप्रिय शोक-मय-मूर्ति रहे होंगे। कालिदास की प्रकृति में विनय है और भवभूति के स्वभाव में गर्व है। भवभूति की रचना क्लिष्ट है, कालिदास की सरल है। यद्यपि भवभूति कालिदास की सरणी से भिन्न मार्ग पर चलनेवाले हैं। तथापि भवभूति ने 'मालती-माधव' में उनकी रचना का अनुकरण किया है। 'मालती-माधव' और अभिज्ञान शाकुन्तल में घटना-सादृश्य है और कहीं-कहीं कालिदास के भावों का अपहरण किया गया है।

घटना-सादृश्य

शकुंतला अपने अभिभावक महर्षि कण्व की बिना आज्ञा के गांधर्व विवाह कर लेती है। इसी तरह मालती भी बिना अपने माँ-बाप के पूछे विवाह कर लेती है। अंतर इतना ही है कि शकुंतला केवल दुष्यंत के प्रस्ताव से ही विवाह कर लेती है। पर मालती, अपनी माँ जैसी बड़ी बूढ़ी कामंदकी के कहने पर करती है। शकुंतला की अपेक्षा मालती का चरित्र अवश्य कुछ उन्नत हो गया है।

पर भवभूति को इसमें कोई तारीफ़ नहीं है। क्योंकि शकुंतला का उपाख्यान-भाग पौराणिक है और मालती-माधव का काल्पनिक है।

अभिज्ञान-शाकुंतल में कण्व शकुंतला को उपदेश देते हैं कि "शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने, भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।" इसी तरह कामंदकी मालती को उपदेश करती है कि—प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं च। स्त्रीणां भर्ता—अर्थात् पति स्त्रियों का प्रियतम होता है। वही बंधु-समूह, वही मनोरथ, वही निधि और अधिक क्या कहें, वही जीवन भी होता है।

भावापहरण

भवभूति ने प्रथम अंक में 'सा रामणीयकनिधे' इस पद्य द्वारा मालती के सौंदर्य का वर्णन किया है। उसमें यह कल्पना की है कि मालती ब्रह्मा की कृति नहीं है। किंतु स्वयं काम ने चंद्र आदि उपकरण से बनाई है। वस्तुतः यह भवभूति के मस्तिष्क की उपज नहीं है। भवभूति ने इसे विक्रमोर्वशी के निम्न-लिखित छंद से अपहरण किया है।

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः;
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।

भवभूति ने माधव द्वारा मेघ के प्रति जो संदेश दिलवाया है कि—"आशातन्तुर्न च कथयतात्यंतमुच्छेदनीयः, प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायतास्याः स एकः॥" यह भी मेघदूत के पद्य का भाव है। यक्ष मेघ से कहता है कि आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यः पाति प्रणयहृदयं विप्रयोगे रुणद्धि। महिलाओं की आशा कुसुम के वृक्ष के समान होती है; जैसे कुसुम-वृक्ष कुसुम की पँखुरियों को रोके रहता है उसी तरह वियोग में आशा ही उनके प्रेम-युक्त हृदय की रक्षा करती है, अन्यथा वह विदीर्ण हो जावे। भवभूति ने वृक्ष के स्थान पर तंतु बदल दिया है। पर कालिदास की उक्ति में जो भाव-सौंदर्य और सौकुमार्य है वह भवभूति नहीं ला सके हैं।

नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गीषु गतं गजेषु।
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य, व्यक्तं विभक्ता विपिने प्रिया मे।

भवभूति का यह पद्य भी कालिदास के—कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्। पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमः (अर्थात् ... करते हैं कि स्वर्ग जाने के लिये इंदुमती मेरे वि... लिये अपना भाषण कोकिलाओं में, गमन हंसि... चंचल कटाक्ष हरिणियों में और विभ्रम पवन... लताओं में रख गई है) पद्य का रूपांतर है। भव... भाषण को बदल कर कांति, और कलहंसी को ... गज कर दिया है। लता और कुरंगी ज्यों की ... हाँ विभ्रम के स्थान पर नम्रता कर दी है। जो ... की अपेक्षा मनोहर नहीं है। दर-असल भवभूति ... में पूर्व भावों की अपेक्षा अधिक चमत्कार नहीं ... सके हैं। भवभूति सर्वथा अपहरण में विफल ...

भाषा

कविता-कामिनी के प्राण यदि भाव हैं, तो भाषा ... होती है। अतः काव्य-विवेचन में भाषा-विचार ... आवश्यकता होती है। उच्चकोटि की कविता वही ... जिसमें भाव और भाषा दोनों रमणीय हों। सुन्दर ... वही है जो अलंकृत हो (मुहाविरेदार और मँजी ...) और भावों का अनुसरण करती हो। भवभूति का ... और प्राकृत दोनों पर समान अधिकार है। भाव ... प्रकट करने की क्षमता उनकी भाषा में पर्या... भवभूति की भाषा भावानुगामिनी होती है। निम्नलि... व्याघ्र-वर्णन में प्राकृत-भाषा का मुलाहिज़ा की... देखिए, भाषा कितनी ओजस्विनी और आडम्बर... "रे रे शंकरपुरबासिजाणवदा! एसो क्खु जोव्वण... गब्वसम्भरिददुब्बिसहामरिसरोसब्बदिग्र - वल... बिहडिदुग्गाडिद - लोहपंजर-पडिलग्ग-संगलिग्र-... दुत्तसहूलो × × × कुबिग्र कि अंत-ज्ञीलाइदंद करी... और इसी रंग में श्मशानवाले 'उत्कृत्योत्कृत्य' ... पद्य को भी देखिए। इसमें वाच्यार्थ विकट है। त... भाषा भी कैसी उद्धत है। पर नीचे लिखे छंद में क... के वर्णन में भाषा कैसी प्राञ्जल और कोमल हो ...

न्यस्तालक्तरक्तमाल्यवसना पाषण्डचाण्डालयोः
पापारम्भवतोर्मृगीव वृकयोर्भीरुर्गता गोचरम्।
सेयं भूरिवसोर्वसोरिव सुता मृत्योर्मुखे वर्तते
हा धिक् कष्टमनिष्टमस्तकरुणः कोऽयं विधेः प्र...

(वसु-सुता के समान भूरिवसु की कन्या मालती ... लाल कपड़े पहिने है और जिसके हाथ-पैरों में ... लगी हुई है) पापी चाण्डाल अघोरघण्ट और ...

कुंडला के बीच में ऐसी डरी हुई पड़ी है, जैसे दो भेड़ियों के बीच में हरिणी । हा ! वह अब साक्षात् मृत्यु के मुख में वर्तमान है । हा ! धिक्कार है, निर्दयी दैव का आरंभ कितना दारुण है)।

अरे शंकरपुर के रहनेवालो,' यह देखो दुष्ट शार्दूल यमराज की लीला कर रहा है । यौवन-सुलभ आमर्ष और रोब के कारण उसने ज़बरदस्ती लोहे के पिंजड़े को तोड़ डाला है। उसके पैरों से ज़ंजीरें भी निकल गई हैं, इत्यादि ।

अनुप्रास भी भाषा की संपत्ति है । भवभूति की भाषा अनुप्रासों से बड़ी मधुर हो जाती है । इस गद्यांश में देखिए कितना माधुर्य है, "अथ ताः सलोलमुक्तालकरकमलललिततालिकातरलवलयावलीकम् उत्त्रस्तमत्तकलहंसविभ्रमाभिरामचरणसञ्चरणझणझणायमानमञ्जीरमञ्जुशिञ्जितानुविद्धमेखलाकलापकिङ्किणीरणत्कारमुखरंप्रतिनिवृत्य............आख्यातवत्यः । भवभूति" की भाषा में श्लेपचमत्कार कहीं-कहीं है । उदाहरण के लिये निम्न-लिखित गद्य-भाग को देखिए। भवभूति ने श्लेष द्वारा कितनी उत्कृष्ट भाषा लिखी है । "महाभाग ! सुश्लिष्टगुणतया रमणीय एष वः सुमनसां सन्निवेशः । कुतूहलिनी च नो भर्तृदारिकाऽस्मिन वर्त्तते। तस्यामभिनवो विचित्रः कुसुमेषुव्यापारः । तद्भवतु कृतार्थता वैदग्ध्यस्य। फलतु निर्माणरमणीयता विधातुः । आसादयतु सरस एष भर्तृदारिकायाः कण्ठावलम्बनमहार्घतामिति" (लवङ्गिका माधव से बकुल-माला माँगती हैं) कहती है कि महाभाग, आपका कुसुम-ग्रंथन (बकुल-हार का गुहना) बड़ा ही सुंदर है । कैसा सूत पिरोया है । मेरी स्वामि-कन्या इस हार को लेना चाहती है । वह फूलों को तरह-तरह से गूँथना जानती है । (हार देने से) तुम्हारा शिल्प-नैपुण्य भी चरितार्थ होगा (गुणी में गुण-प्रकाशन से गुण की चरितार्थता होती है) और माल्य सौंदर्य भी (रत्न और कांचन के योग की भाँति) फलीभूत होगा । ताज़ा फूलों का हार स्वामि-कन्या के गले में पड़कर महार्घ (क़ीमती) हो जावेगा । दूसरा अर्थ यह है कि—महाभाग, सुंदर हृदयवाले आप लोगों का परस्पर प्रेम रमणीय है, क्योंकि दोनों में रूप, लावण्य आदि गुण विद्यमान हैं। ऐसी लगावट के लिये मेरी स्वामि-कन्या लालायित है । उसमें विचित्र नवीन कुसुम-सायक का व्यापार प्रादुर्भूत हो रहा है । इसलिये आप लोगों का कला-चातुर्य सार्थक हो और ब्रह्मा का रचना-सौंदर्य भी (योग्य समागम से) सफल हो । रसिक आप भी हों, उसके कंठालिंगन से महार्घ बनिए (अन्य स्त्रियों को दुर्लभ होने से अमूल्य बनिए)।

मालतीमाधव और तत्कालीन समाज

पाठकगण ! मालतीमाधव को हम साहित्यिक दृष्टि से देख चुके । किंतु उसका ऐतिहासिक निरीक्षण किया जाय, तो उसमें तत्कालीन सामाजिक जीवन और परिस्थिति का भी चित्र मौजूद है । कवि अपने समकालीन समाज का प्रतिनिधि होता है । उसकी रचनाएँ उसके समय का प्रतिबिंब दिखाने में दर्पण का काम देती हैं । मालतीमाधव जिस समय लिखा गया है, उस समय हिंदू-धर्म का पुनरुत्थान हुआ था ; पर बौद्ध-धर्म और हिंदू-धर्म में समन्वय हो चुका था । उदार हिंदू-धर्म ने बुद्ध भगवान् की गणना दशावतारों में कर ली थी। भवभूति ने बौद्ध-धर्मावलंबिनी कामंदकी और बुद्धरक्षिता को नायक-पक्षीय पात्र बनाया है, और उनका उज्ज्वल चरित अंकित किया है, जिससे स्वयं कवि का बौद्ध-धर्म में आदर प्रकट होता है । कवि ने कामंदकी के चरित में यह भी दिखलाया है कि यद्यपि वह बौद्ध-धर्मावलंबिनी है, तथापि उसका आर्य-शास्त्रों में पर्याप्त आदर है । वैवाहिक व्यवस्था में वह महर्षि अंगिरा का प्रमाण देती है—"गीतश्चायमर्थोऽङ्गिरसा यस्यां मनश्चक्षुषोर्निबंधस्तस्यामृद्धिरिति ।" अतः स्पष्ट है कि उभय धर्मावलंबी एक दूसरे धर्म का आदर करते थे । बौद्ध-धर्म निवृत्ति-प्रधान है । अतः उस समय अनेक युवा पुरुष और युवती स्त्रियाँ विना वैराग्य के परिपक्व हुए ही विरक्त हो जाती थीं ; पर प्रवृत्तियों का सहसा विघात नहीं हो सकता । इसीलिये बौद्ध संघारामों में गुप्त व्यभिचार हुआ करते थे । कवि ने यह बात मालतीमाधव में माधव के सेवक कलहंस का बौद्ध-मठपरिचारिका मंदारिका के साथ अवैध-प्रणय का वर्णन कर सूचित किया है । भवभूति के समय में कामदेव की पूजा होती थी । कामदेव के मंदिर बने थे । वसंत में मदनोत्सव बड़े धूमधाम से मनाया जाता था, जिसमें स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित होते थे । स्त्रियों के परदा का रिवाज न रहा होगा । श्रीमानों की कन्याएँ सवारियों पर निकलती थीं । मालती हथिनी पर चढ़कर 'कामायतन' को गई थी । प्राचीन

भारत के गुरुकुलों की भाँति शिक्षा-प्रणाली नहीं थी। आजकल की तरह नगर के दूषित और चंचल वातावरण में ही छात्र शिक्षण पाते थे। नगर के वायु-मंडल में युवकों का नारियों के प्रेम में फँस जाना स्वाभाविक ही था। भवभूति ने मालती और माधव के प्रेम का वर्णन कर यह भी अभिव्यक्त किया है। पद्मावती उस समय समृद्धिशालिनी नगरी थी।

मालतीमाधव के निम्न-लिखित पद्य से नागरिकों की विलासिता का परिचय मिलता है—

"प्रासादानामुपरि वलभीतुङ्गवातायनेषु
भ्रान्त्वावृत्तः परिणतसुरागन्धसंस्कारमार्गः ;
माल्या मोदा मुहुरुपचितस्फीतकर्पूरवासः
वायुर्यूनामभिमतवधूसन्निधानं व्यनक्ति।

अटारी और झरोखों में घूम-घूमकर आया हुआ पवन, जिसमें सुरा, माल्य और कर्पूर की गंध आ रही है, इस बात की सूचना दे रहा है कि—विलासी तरुण पुरुष अपनी अभिलषित रमणियों के पास पहुँच गए। उस समय की जनता का मंत्र-तंत्र पर विश्वास था। भूत-प्रेत भी माने जाते थे। देवताओं की बलि चढ़ाई जाती थी। यहाँ तक कि नर-मांस की भी बलि देने का वर्णन है ; पर नारी-बलिदान कुत्सित माना जाता था। उस समय चित्र-कला, कविता आदि ललित कलाओं की विशेष उन्नति थी।

दोष

मालतीमाधव में जहाँ अनेक गुण हैं, वहाँ दोष भी हैं, जो आँखों में खटकते हैं। सबसे स्थूल दोष उनकी रचना में यह है कि वह लंबे-लंबे समासों और दुरूह शब्दों की भरमार करते हैं, जो सर्वथा नाटकीय रचना के प्रतिकूल तथा कुरुचि-पूर्ण हैं, और जिनसे सहृदय-सामाजिकों का हृदय-शोष ही होता है। यह दोष मालती-माधव में सर्वत्र न्यूनाधिक भाव से विद्यमान है। भवभूति की समास-प्रियता पर विस्मय होता है कि वह विरहा-वस्था के वर्णन में भी समास-राशि का उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रचना में पदगत, वाक्यगत (अवि-मृष्ट विधेयांश आदि) आदि भी दोष हैं, जिनको हम कभी अन्यत्र दिखलावेंगे। आज का लेख यहीं समाप्त किया जाता है।

रामसेवक पांडेय

कौटिल्य-काल के धार्मि आचार-विचार



धार्मिक आचार-विचार इतिहास एक अंग है। इसलिये किसी का इतिहास जानने के उस समय के धार्मिक विचारों का जानना आवश्य कौटिल्य-काल के धार्मिक विचारों से उस समय के हास के एक अंग का पता जावेगा। अतः हम यहाँ पर इस विषय का वि करेंगे। इस विवेचन का एकमात्र आधार "कौटि अर्थ-शास्त्र" है।

इतिहास कुछ अंश तक नदी के प्रवाह-जैसा है। गति एकदम कम बदलती है, और उसमें ही भारी परिवर्तन क्यों न हों, प्राथमिक धारा के कम अधिक परिमाण में नीचे भी अवश्य देख पड़ भारतीय धार्मिक विचारों के प्रारंभ का नितांत बिंदु ढूँढ़ निकालना भले ही कठिन हो। पर य तो आज सर्वमान्य हो चुकी है कि उसका स्पष्ट मूल में देख पड़ता है। वेद-काल में जो धार्मिक आचार थे, उनकी छाया यदि अब भी थोड़ी बहुत देख है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कौटिल्य के का उन धार्मिक आचारों-विचारों की छाया यथेष्ट देख थी। इंद्र, वरुण-जैसे देवताओं का अब भी यथेष्ट होता था और भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ होते परंतु कौटिल्य के काल तक कई नए देवता में अवतीर्ण हो चुके थे और धार्मिक आचार में परिवर्तन हो चुका था। "कौटिलीय अर्थ-शास्त्र संकर्षण, महाकच्छ, मनु, अलिति, पलिति, पुष्पी, ब्रह्माणी, ब्रह्म, कुशध्वज, अमिलि, (वैरोचन) बलि, शम्बर, भण्डीरपाक, नरक, कुम्भ, देवल, नारद, सावर्णिगालव, वायुजारि, फकि, कवयुश्वि, विहालि, दंतकटकि, शतमाय, अमालंब, प्रमील, मण्डोलूक, घटोत्कच, कृष्ण, पौलोमी, शलकभूत, चाण्डाली,

साराध आदि अनेक नए देव-देवता व राक्षसगण पूजार्हों की श्रेणी में आ गए थे। इनमें से कई अब पूज्य देव-देवताओं और भूत या राक्षसों की श्रेणी में नहीं रह गये हैं; परंतु कुछ नाम अब भी पूज्य हैं। उनमें कंस का वध करनेवाले कृष्ण का नाम विशेष ध्यान देने योग्य है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक कृष्ण का नाम देवताओं की श्रेणी में आ चुका था और वे कंस-वध करनेवाले ही कृष्ण हैं। इससे यह बात सिद्ध हो सकती है कि कंस का वध करनेवाले कोई कृष्ण कौटिल्य-काल के बहुत पहले हुए थे और इस समय तक वे देवताओं का मान प्राप्त कर चुके थे। दश दिशाओं के देवता भी माने जाने लगे थे।

उस समय तक कई स्थानों अथवा नदियों को पवित्रता प्राप्त हो चुकी थी। इस संबंध में पूज्य स्थानों में कैलाश का और नदियों में गंगा का नाम उल्लेख-योग्य हैं। एक स्थान पर राजा को सूचना दी गई है कि वह पूज्य स्थानों के कार्यों का निरीक्षण करे। इससे ऐसा जान पड़ता है कि उस समय तक अनेक स्थान पवित्र माने जा चुके थे और उनमें 'अतिचार' या अनाचार भी होने लग गया था।

इतना ही नहीं, किंतु भौतिक और आधिभौतिक पदार्थों की पूजा भी होने लग गई थी। अग्निपूजा, नदीपूजा, प्राणिपूजा (चूहों की, हाथियों की, घोड़ों की और सर्पों की पूजा), जानवरों पर अथवा मनुष्य पर आपत्ति आने पर भिन्न प्रकार के शांति-कार्य आदि भी उस समय होने लगे थे। बलि देने की प्रथा भी उस समय देख पड़ती है। भूत, पिशाचों आदि की पूजा-अर्चा भी होने लगी थी। चौथे अधिकरण के तीसरे अध्याय में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है—"रक्षोभये रक्षोघ्नान्यथर्ववेद विदोमायायोगविदो वा कर्माणि कुर्युः। पर्वसु च वितर्दि छत्रोल्लोपिकाहस्तपताकाच्छागोपहारैश्चैत्यपूजाः कारयेत्—राक्षसों का भय होने पर अथर्ववेदज्ञ द्वारा अथवा मायायोग (मारण, उच्चाटन आदि क्रियाओं) को जाननेवाले पुरुष राक्षसों के नाशक कर्मों का अनुष्ठान करें।" इस प्रकार इंद्रजाल-विद्या के कार्यों का कुछ स्वरूप धार्मिक हो चुका था। धर्म के नाम पर जादू-टोना भी होता था। आज तो इनमें बड़ा घनिष्ठ संबंध स्थापित हो चुका है।

इस ग्रंथ में चातुर्मास्य में दीपदान करने की प्रथा का उल्लेख है। उस समय गोमल पवित्र समझा जाता था और उसे उठाकर लोग शपथ लेते थे। गोबर उठाकर झूठी शपथ लेनेवाले को दंड देने के लिये कहा गया है। यही नहीं, किंतु उस समय देवों के चमत्कारों में लोगों का विश्वास हो गया था। इसका उल्लेख निम्न-लिखित उद्धरण में देख पड़ेगा—

"अथवा नगर के समीप रात में किसी निर्दिष्ट (श्मशान आदि के) विशेष वृक्ष पर चढ़कर सभी पुरुष अव्यक्त (अस्पष्ट) रूप में इस प्रकार बोलें—'हम स्वामी के (राजा के) या आमात्य आदि मुख्य प्रकृतियों के मांस को अवश्य खाएँगे, हमारी पूजा होनी चाहिए।' इन गूढ़ पुरुषों की कही हुई इस बात को नैमित्तिक (शकुन आदि बतानेवाले) तथा मौहूर्तिक (ज्योतिषी) के वेश में रहनेवाले गुप्त पुरुष सर्वत्र प्रसिद्ध कर देवें। अथवा किसी मांगलिक गहरे जलाशय में रात के समय, दीप्तयुक्त तैल को मालिश किए हुए, नागदेवता के रूप में दीखनेवाले सिद्ध वेषधारी गूढ़ पुरुष लोह-निर्मित-शक्ति और मूसलों को परस्पर रगड़ें और उसी प्रकार बोलें। अथवा गुप्त पुरुष रीछ के चमड़े को ऊपर से ओढ़कर मुँह से आग और धुआँ निकालते हुए राक्षसों का रूप धारण करके नगर के चारों ओर बाईं ओर से घूमें और उसी प्रकार बोलें। अथवा गुप्त पुरुष देवताओं में से प्रधान देवताओं की प्रतिमाओं का अत्यंत रुधिर स्राव करें*। तदनंतर उस दैवी रुधिर के बहने पर अन्य सभी पुरुष सर्वत्र यह प्रसिद्ध करें कि इन लक्षणों से मालूम होता है कि संग्राम में अवश्य ही राजा की पराजय हो जायगी।"

उपर्युक्त उद्धरण से कई बातें मालूम होती हैं। देवों के चमत्कारों में तो लोगों का विश्वास था ही, पर कुछ लोग उन चमत्कारों के मिथ्यात्व को भी जानते थे और लोगों को ठगने के लिये उनका वे उपयोग करते थे। मूर्तिपूजा स्पष्ट देख पड़ती है। लोग शकुन और फलित ज्योतिष में विश्वास करते थे। शुभ कार्यों को, अथवा सफलता पाने की इच्छा से किए गए कार्यों को किसी विशिष्ट समय

* तात्पर्य यह है कि बकरे आदि का खून लेकर गूढ़ पुरुष उसके प्रतिमाओं के अंदर से निकालें, जिससे देखनेवाले को यह प्रतीत हो कि वह प्रतिमा ही स्वयं खून बहा रही है।—लेखक

पर करने की प्रथा प्रचलित हो चुकी थी। कई कार्यों के संबंध में पुष्य-नक्षत्र का उल्लेख कई बार हुआ है।

ब्राह्मण के प्रेत-कार्य यानी श्राद्ध में कदाचित् गाय या बैल मारने की प्रथा तब तक थी। १४ वें अधिकरण के तीसरे अध्याय में एक स्थान पर स्पष्ट है कि 'ब्राह्मणस्य प्रेतकार्ये या गौः मार्यते।' पितृपूजा (श्राद्धादि) और देवों के नाम से जानवर आदि छोड़ने के रीति का भी इसमें उल्लेख है। कह चुके हैं कि मूर्तिपूजा स्पष्ट रीति से प्रस्थापित हो चुकी थी। दूसरे अधिकरण के चौथे अध्याय में कहा है—'ततः परं नगरराजदेवतालोहमणिकवरो ब्राह्मणाश्चोत्तरां दिशमधिवसेयुः।......अपराजिताप्रतिहतजयन्तवैजयन्तकोष्ठकाम् शिववैश्रवणाश्विश्रीमदिरा गृहं च पुरमध्ये स्थापयेत्।—उसके आगे उत्तर दिशा की ओर नगर के देवता-स्थान तथा राजकुल के देवता-स्थान, मनिहार और ब्राह्मणों के निवास-स्थानों का निर्माण कराया जाय।.......अपराजिता (दुर्गा ?), विष्णु, जयंत, इंद्रादि इन देवताओं के स्थान तथा शिव, वैश्रवण (वरुण), अश्विनीकुमार, लक्ष्मी और मदिरा इन पाँच देवताओं के स्थान नगर के बीच में ही बनाए जावें।' आगे कहा है—'कोष्ठकालयेषु यथोद्देशं वास्तुदेवताः स्थापयेत्—पूर्व कहे हुए कोष्ठागार आदि स्थानों में भी अपने-अपने विचार या उस-उस देश के अनुसार वास्तु देवताओं की स्थापना की जावे।' इसी प्रकार के उल्लेख कई अन्य स्थानों में भी हैं। उस समय देव-देवताओं के उत्सव भी होते थे। इसका उल्लेख तेरहवें अधिकरण के तीसरे अध्याय में है।

उस समय के धार्मिक आचार-विचारों का कुछ दिग्दर्शन निम्न-श्लोक में आया है। कुछ अन्य धार्मिक आचार-विचारों का दिग्दर्शन पहले करा चुके हैं।

"यान्यज्ञसङ्घैस्तपसा च विप्राः स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूराः प्राणान् सुयुद्धेषु परित्यजन्तः॥

अनेक यज्ञों को करके तप करके और दान-पात्रों को दान देकर ब्राह्मण जिन-जिन उच्च लोकों को प्राप्त करते हैं, उनसे भी अधिक उच्च लोकों को क्षण-भर में शूर मनुष्य धर्म-युद्धों में प्राण देकर प्राप्त कर लेते हैं।"

धार्मिक विश्वासों का उपयोग राजकीय कार्यों के लिये करने को कौटिल्य ने कहा है। संधि के संबंध में शपथ वग़ैरह कराने की बात कही है, ताकि संधि करनेवाले संधियों को स्वेच्छानुसार तोड़ न सकें। तोड़नेवा[ले को] इहलोक और परलोक का डर बना रहेगा, पर[न्तु] यह भी कहा है—

"नक्षत्रमतिपृच्छन्तं बालमर्थोऽतिवर्तते।
अर्थो ह्यर्थस्य नक्षत्रं किं करिष्यन्ति तारकाः॥

(कार्य के प्रारंभ के लिये) नक्षत्रों की बहुत ताछ करनेवाले पुरुष से अर्थ (धन) अप्रसन्न हो[ता] है। अर्थ-ही-अर्थ का नक्षत्र है, तारे बेचारे क्या [कर] सकते हैं।" इसका यह मतलब नहीं कि कौटिल्य [फलित] के शुभाशुभ फलों को नहीं मानता था। हम पह[ले] लिख चुके हैं कि उसने कई कार्यों के लिये शु[भ] नक्षत्र कई बार बताए हैं और उनमें से कई के लिये [...] नक्षत्र का उसने उल्लेख किया है। उपर्युक्त [...] उसका यही मतलब है कि यदि कोई राजा अपने [...] कार्यों के लिये नक्षत्रों पर अवलंबित रहे, तो वह [...] नष्ट हो जायगा; क्योंकि बिना उचित प्रयत्न के [...] बेचारे क्या फल दे सकेंगे? प्रयत्न ही सार है। [...] हाथी बाँधा जाता है, रुपए से रुपया कमाया जा[ता है] और उचित रीति से आवश्यक और उचित सम[य] (फिर वह भले ही नक्षत्र की दृष्टि से अशुभ क्यों न [हो]) प्रयत्न करने से कार्य सिद्धि हो सकती है। [...] राजा को इनमें अत्यधिक विश्वास न करना [...] राजकीय कार्यों के प्रारंभ को सदैव शुभाशुभ मुहू[र्त पर] अवलंबित करना राजनीति के विरुद्ध है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा देख पड़ेगा कि [...] जो धार्मिक आचार-विचार प्रचलित हैं, उनमें [...] कौटिल्य-काल से भी पहले के हैं। वे कितने [...] हैं, यह अन्य ग्रंथों के आधार से ही जाना जा [सकता] है।

गोपालदामोदर ता[...]

जीवन *

पता न पाया कभी किसी ने,
कहाँ तुम्हारा जन्मस्थान;
क्या जाने तुम हो अनंत,
या कहीं तुम्हारा है अवसान।

* लेखक के अप्रकाशित 'जीवन'-नामक महा[काव्य की] प्रस्तावना।—लेखक

बहते हो अदृश्य धारा में,
करते हो गर्जन गंभीर;
विश्वहृदय के शोणित हो,
या आदिशक्ति के स्तन के क्षीर।
मिले कालिमा से माया की,
परम ज्योति के ही आभास;
अणुओं की अविराम प्रगति,
या पुरुष-प्रकृति के केलि-विलास।
धरातत्त्व ही स्थूल रूप है,
गगन तुम्हारा है विस्तार;
सलिल तुम्हारी सरल मृदुलता,
पावक है बल का भंडार।
पवन तुम्हारी स्पर्शेन्द्रिय है,
सप्त स्वर हैं मीठे बोल;
सब प्रकाश है हास तुम्हारा,
ऊषा है मुस्कान अमोल।
संध्या है निद्रा का आलस,
घन की घटा तरल अनुराग;
व्याप्ति प्रिया पर बरस स्नेह-रस,
लाती हरियाली का राग।
तड़ित तुम्हारा हाव-भाव है—
सारवान का वदन विलास;
सभी नाद संवाद तुम्हारा,
समय तुम्हारा शनैर्विकास।
शीत-कार्य में तत्परता है,
ताप महाबल का उन्माद;
मधु-वैभव उल्लास तुम्हारा,
पतझड़ है गंभीर विषाद।
ग्रह-नक्षत्रों के चक्कर में,
खेल तुम्हारा होता है;
निद्रा-रूपी अंधकार ही,
श्रांति तुम्हारी खोता है।
शरत्पूर्णिमा में मिलता है,
मन-भर अमित सौख्य का हास;
विकट बवंडर भय भूकंपों,
का अंधड़ वैकल्य-विकास।
शिशुओं की क्रीड़ा में देखा,
मधुर तुम्हारा बालापन;
परम हंस के मृदु प्रलाप में,
सुने कभी तोतले वचन।
पारे के समान जड़ता पर,
जीवों में छितराते हो;
प्रलय-काल में एकत्रित हो,
फिर धारा बन जाते हो।
महाप्रलय में व्यक्त तुम्हारे,
दुःखों और सुखों का मेल;
परब्रह्म की महाव्याप्ति में,
अवसित होता सारा खेल।

आनंदिप्रसाद श्रीवास्तव्य

ताड़ का पत्ता

(१)



क्टर रीन जब भारतवर्ष की यात्रा समाप्त करके अपने देश जर्मनी में पहुँचे, तब उनकी प्रसन्नता का पारावार न था। विदेश से वापस आकर अपने बंधुओं से मिलने में जो प्रसन्नता होती है, वह तो उन्हें थी ही; परंतु उनकी इस बेहद ख़ुशी का एक और कारण भी था। इससे पूर्व भी डॉक्टर रीन कई बार एशियाई देशों का भ्रमण करके स्वदेश लौटे थे, परंतु उनके घरवालों ने उन्हें इतना अधिक प्रसन्न कभी न देखा था। घर पहुँचकर भारतवर्ष से लाया हुआ विविध सामान अपनी पत्नी तथा बच्चों को देते हुए उनके प्रशस्त मुख पर जो सरल मुस्किराहट निरंतर बनी हुई थी, वह उनकी हार्दिक प्रसन्नता का सबसे बड़ा प्रमाण थी।

डॉक्टर रीन को पुरातत्त्व से बहुत प्रेम था। वह बर्लिन की विश्वविख्यात युनिवर्सिटी में, इसी विषय के मुख्य उपाध्याय थे। युनिवर्सिटी के संपूर्ण उपाध्याय और विद्यार्थी उनकी योग्यता के क़ायल थे। वह रात-दिन किसी-न-किसी खोज में व्यस्त रहते थे, यहाँ तक कि उन्हें अपनी पत्नी तथा बच्चों से बातचीत करने के लिये भी कम अवसर मिलता था। भारत की इस यात्रा से वह भारतीय पुरातत्त्व का बहुत-सा सामान अपने साथ ले

गए थे ; कुछ प्राचीन पुस्तकें तथा सिक्के, महारानी नूरजहाँ के घिसाए हुए जूते, मुग़ल बादशाहों के बर्तन आदि विभिन्न प्राचीन वस्तुओं का एक अच्छा संग्रह वह अपने साथ ले गए थे। इसके अतिरिक्त विशुद्ध भारतीय ढंग की गुड़ियाँ, खिलौने, मिठाई आदि भी वह पर्याप्त मात्रा में अपने साथ लाए थे। बच्चे इन अद्भुत खिलौनों और मिठाइयों को देखकर ख़ुश हो रहे थे।

अपने पति और बच्चों को इतना प्रसन्न देखकर श्रीमती रीन का हृदय आह्लाद से भर उठा। उसकी ओर देखकर डॉक्टर साहब ने कहा—"हिंदोस्तान की इस यात्रा में मुझे एक बड़ा भारी ख़ज़ाना हाथ लगा है।"

श्रीमती रीन इस बात का अभिप्राय न समझ सकीं। वह कौतूहल से अपने पति का मुँह देखने लगीं। डॉक्टर साहब ने अपनी धर्मपत्नी को अधिक देर तक आश्चर्य में न रखकर मुस्किराते हुए अपने संदूक़ में से बड़े सुरक्षित ढंग से रखा हुआ एक ताड़ का पत्ता निकाला। इस पत्ते पर मटियाले अक्षरों में कुछ लिखा हुआ था।

डॉक्टर साहब की इस अतुल संपत्ति को देखकर श्रीमती रीन खिलखिलाकर हँस उठीं। उन्होंने कहा—"तुम्हारे इस ख़ज़ाने के लिये, तो शायद कुबेर भी तरसता होगा।"

डॉक्टर साहब ने मुस्किराते हुए कहा—"यह ताड़ का पत्ता एक ऐसे ख़ज़ाने की कुंजी है, जिसमें कि अनंत वैभव भरा पड़ा है। शोक यही है कि कुंजी तो मेरे पास है; परंतु वह ख़ज़ाना हिंदोस्तान में ही किसी जगह छिपा पड़ा है। उसे ढूँढ़ने के लिये मुझे फिर कभी उस विचित्र देश की यात्रा करनी होगी।"

पति-पत्नी में बहुत देर तक इसी बात को लेकर हँसी-मज़ाक़ होता रहा।

डॉक्टर रीन के इस ताड़पत्र की कथा इस प्रकार है—डॉक्टर साहब को भारतवर्ष की भौतिक सभ्यता पर अत्यधिक श्रद्धा थी, उन्हें विश्वास था कि उसके द्वारा वर्तमान वैज्ञानिक जगत् भी बहुत-सी नई-नई बातें सीख सकता है। डॉक्टर साहब जब सैर के लिये भारतवर्ष आए थे, तब उनके सामने एक यह उद्देश्य भी था कि इस भ्रमण में वह भारतीय पुरातत्त्व की कोई नई बात खोज निकालने का प्रयत्न करेंगे।

उन दिनों भारतवर्ष में राज्य-परिवर्तन के दिन थे। मुग़लों की हुकूमत का अंत हो रहा था और [...] लोग नदी की बाढ़ की तरह बड़ी शीघ्रता से [...] अधिकार बढ़ाते चले जा रहे थे। डॉक्टर रीन [...] अँगरेज़ मित्र, उन दिनों मदरास-प्रांत में रेविन्यू [...] थे। उन्होंने एक दिन हँसी में अपने मित्र के [...] प्रेम के चिह्न-स्वरूप यह फटा हुआ ताड़ का पत्ता समर्पित किया था। कलक्टर साहब को यह ता[...] पत्ता, कुछ दिन पूर्व, किसी गाँव के बाहर यों ही [...] हुआ मिला था। मित्र द्वारा मज़ाक़ के रूप में प्रा[...] चीज़ को भी डॉक्टर साहब ने बड़े यत्न से अपने [...] रख लिया। वापस लौटते हुए जहाज़ में वह [...] अधिकांश समय इस ताड़पत्र की खोज में ही [...] करते थे।

एक दिन अचानक उस ताड़पत्र में उन्हें एक [...] दीख पड़ी। उन दिनों योरप में फ़ौलाद ढाल[...] बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था। [...] में दिल्ली के लोहस्तंभ को देखकर उन्हें अत्यधिक [...] हुआ था। वे यह बात जानने के लिये लालायित [...] भारतीयों ने, इस बड़ी कीली का निर्माण किस [...] किया होगा। आज अचानक उनकी समझ में आया [...] ताड़ के पत्ते पर फ़ौलाद बनाने का ढंग लिखा हु[...] डॉक्टर साहब प्रसन्नता से उछल पड़े। अगर उस [...] कोई दूसरा व्यक्ति उनके कमरे में मौजूद होता, [...] इन्हें अचानक इस अवस्था में देखकर अवश्य [...] समझता कि उनके दिमाग़ की कोई कल अचानक [...] पड़ गई है। प्रसन्नता का प्रथम आवेग शांत [...] डॉक्टर साहब ने कुछ शोक के साथ देखा कि [...] का अकेला पत्ता किसी भी उद्देश्य को सिद्ध [...] सकेगा। यह तो किसी पुस्तक का एक पृष्ठ-मात्र [...] वह संपूर्ण पुस्तक प्राप्त किए विना उनका [...] चल सकता। परंतु यह सब होते हुए भी अब [...] बात का पूर्ण भरोसा हो गया था कि ज़रा-सा [...] पर वह सम्पूर्ण पुस्तक को अवश्य खोज [...] यही भरोसा उन्हें बहुत अधिक प्रसन्न बनाए हुए [...]

(२)

सन् १७९३ के दिसंबर मास में, पेरिस मह[...] अंतर्जातीय पुरातत्त्व महासभा का विशेषाधिवेशन [...] पुरातत्त्व महासभा के इतिहास में, इस अधिवे[...]

महत्ता अत्यधिक है। उन दिनों पुरातत्त्व-अन्वेषण का कार्य बहुत ज़ोरों पर था। इस विषय के विद्वानों के तीन दल बने हुए थे। तीनों दलों में कुछ-कुछ प्रतिस्पर्धा का भाव आ चला था। प्रत्येक दल अपने-अपने विभाग को सबसे अधिक महत्ता देने लगा था। बात यह थी कि उन दिनों संसार के तीन भिन्न-भिन्न स्थानों—मिस्र, भारत और कैस्पियन सागर के तटस्थ प्रांत पर अन्वेषण का कार्य जारी था। प्रत्येक स्थान के विद्वान् अपने स्थान को ही अधिकतम सभ्य और उन्नत सिद्ध करने में लगे हुए थे। इस पारस्परिक विवाद को दूर करने के लिये इस वर्ष पेरिस में पुरातत्त्व महासभा का यह असाधारण अधिवेशन बुलाया गया था। संसार-भर के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य पुरातत्त्व-विशारद इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे।

उपर्युक्त तीनों दलों के पक्ष-पोषकों ने, अपने-अपने अन्वेषण के विभाग के संबंध में ख़ूब विद्वत्ता-पूर्ण निबंध पढ़े। डॉक्टर रीन भी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए थे। जब उपस्थित प्रतिनिधि ताली बजा-बजाकर भिन्न विद्वानों के निबंधों का अभिनंदन करते थे, तब वह चुपचाप बैठे हुए किसी समस्या पर गंभीर विचार कर रहे थे। जब उच्च कोटि के प्रायः सभी विद्वान् अपना भाषण कर चुके, तब लोगों पर यही प्रभाव प्रतीत होता था कि मिस्र देश का पक्ष-पोषक दल अधिक प्रबल रहा है। पाँचों निर्णायक सभापतियों में से भी अधिकांश इसी सम्मति के थे। भारत और कैस्पियन सागर के तटवर्ती प्रांतों के पक्ष-पोषक लोग कुछ-कुछ निराश हो चले थे। इसी समय डॉक्टर रीन वक्ता की वेदी पर बड़ी गंभीरता से आकर खड़े हो गए। उनके हाथ में कोई पुस्तकाकार निबंध नहीं था। डॉक्टर रीन की प्रतिभा का संपूर्ण सम्मेलन क़ायल था, अतः लोग चुप होकर कौतूहल से उनकी ओर देखने लगे। डॉक्टर साहब ने बड़ी संजीदगी के साथ अपनी अंदर की जेब से, एक चाँदी की डिबिया में लपेटकर रखा हुआ, वही ताड़ का पत्ता निकाला। डॉक्टर साहब ने, उसे हाथ में लेकर सात मिनट की एक संक्षिप्त वक्तृता दी। इसमें उन्होंने ताड़पत्र का मज़मून लोगों को सुनाकर सभा से अनुमति चाही कि यह अधिवेशन छः मास के लिये स्थगित कर दिया जाय, ताकि वह इस महत्त्व-पूर्ण विषय में पूरी खोज कर सकें।

डॉक्टर रीन के वेदी से उतरते ही लोगों ने ख़ूब तालियाँ बजाकर उनका स्वागत किया। उन दिनों योरप-भर के वैज्ञानिक जी जान से इसी बात का यत्न कर रहे थे कि किसी प्रकार फ़ौलाद की बड़ी-बड़ी शिलाएँ बनाने का ढंग उन्हें ज्ञात हो जाय। अतः सभापति महोदय ने, डॉक्टर रीन के इस प्रस्ताव को लोगों के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत कर दिया। बहुत बड़े बहुमत से डॉक्टर साहब का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। विद्वानों का यह भारी दंगल छः मास के लिये बर्ख़ास्त हो गया।

(३)

गोबर से भली प्रकार पुते हुए एक कच्चे चबूतरे पर पं० गोपाल पंतलू मरणासन्न अवस्था में पड़े थे। उनके इष्ट बांधव उन्हें घेरे हुए थे। कोई ज़ोर-ज़ोर से रो रहा था, कोई सिसक रहा था और कोई शोक की गंभीर



पं० गोपाल पंतलू मरणासन्न अवस्था में पड़े थे।

मुद्रा धारण किए चुपचाप खड़ा था। सिर की ओर ४-७ ब्राह्मण तुमुल स्वर में विष्णुसहस्रनाम का पाठ कर रहे थे। पंडितजी पर थोड़ी-थोड़ी देर ठहरकर गंगाजल के छींटे दिए जाते थे। एक छोटे-से बंद कमरे में ये सब उपद्रव एक साथ किए जा रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था कि पंडितजी के हितैषी उनको इस कष्ट की दशा में अधिक देर तक रखना पसंद नहीं करते। अतः बीमारी को असाध्य जानकर उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र भव-सागर से पार उतार देना चाहते हैं। अभी तक पंडितजी मूर्च्छित पड़े थे, परंतु बार-बार गंगाजल के छींटों का मज़ा लेकर उनकी चेतना थोड़ी देर के लिये पुनः जागृत हो गई। उन्होंने आँखें पलटकर धीरे से पुकारा—"गिरिधर!"

गिरिधर उनका बड़ा पुत्र था। वह अपने मुँह को पिता की आँखों के एकदम निकट ले जाकर बोला—"क्या है, पिताजी?"

कुछ देर तक शून्य-भाव से उसी की ओर देखते रह-कर पंडितजी ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—"बेटा, कलियुग का घोर राज्य है। दुनिया से धर्म-कर्म उठ गया है। म्लेच्छ लोग राज कर रहे हैं। अब सुनता हूँ कि जो नई म्लेच्छ जाति हम लोगों पर राज्य करने आई है, यह हमारे धर्म-शास्त्रों पर भी अनाचार करने का निश्चय कर चुकी है। कुछ कुलांगार ब्राह्मण धन के लोभ से इनको संस्कृत पढ़ाने भी लगे हैं। मालूम होता है कि अब शीघ्र ही कलंकी अवतार होनेवाला है। यह तो अनाचार की पराकाष्ठा हो चली!" इतना कहकर वह थोड़ी देर के लिये थककर चुप हो गए। पंडितजी को होश में आया देखकर उनकी बात सुनने की इच्छा से ब्राह्मणों ने थोड़ी देर के लिये विष्णुसहस्र-नाम का पाठ बंद कर दिया था। अब उनको चुप देख-कर पाठ का दौरा फिर से जारी हो गया।

थोड़ी देर बाद पं० गोपाल फिर बोले—"गिरिधर! मेरे घर में बड़े पुराने समय से एक थाती चली आई है। अनादि काल से हमारे पुरखा मृत्यु के समय इसे अपने वंशधरों को अर्पित करते चले आ रहे हैं। यह थाती "धातुसार"—नामक एक पुस्तक के रूप में है। इसे भली प्रकार गुप्त रखना। आजकल म्लेच्छ लोग धन का लोभ देकर बड़े-बड़े प्रतिष्ठित ब्राह्मणों से भी इस प्रकार के ग्रंथ ख़रीद ले गए हैं। तुम कभी इस प्र[illegible] अनाचार न करना। बेटा, तुम्हें मेरी सौगंध है, [illegible] किसी दाम पर भी किसी दूसरे व्यक्ति को न [illegible]

इसके बाद पंडितजी की शक्ति बहुत क्षीण [illegible] गिरिधर से घर के संबंध में कुछ और बातें कहते-क[illegible] फिर से मूर्च्छा आ गई। यह मुर्च्छा फिर कभी न [illegible]

(४)

पेरिस से वापस आते ही डॉक्टर रीन फिर [illegible] के लिये चल दिए। इस समय उनकी प्रसन्नता [illegible] चिंता के रूप में परिवर्तित हो चुकी थी। उन्हें [illegible] उत्तरदायित्व-अनुभव हो रहा था। डॉक्टर सा[illegible] इस महत्त्व-पूर्ण कार्य के लिये केवल छः मास [illegible] ही मिला था। उन्होंने सोचा कि तीन मास [illegible] देश से भारतवर्ष आने-जाने में ही व्यय हो [illegible] फिर महासभा से कम-से-कम ढाई मास [illegible] पुस्तक अवश्य ही प्राप्त हो जानी चाहिए। इ[illegible] केवल दो मास में ही उन्हें इस ज़रा-सी पुस्तक [illegible] देश में से ढूँढ़ निकालना था। फिर यह भी [illegible] नहीं कि यह पुस्तक आजकल कहीं प्राप्य [illegible] नहीं। पुस्तक का एक पृष्ठ इस प्रकार से यों ही [illegible] हुआ मिलना, तो इसी बात का प्रमाण है कि [illegible] अब नष्ट हो चुके हैं। ये सब बाधाएँ सोचकर [illegible] निराश नहीं हुए। मदरास-प्रांत में पहुँचकर [illegible] की सहायता से वह अपनी खोज में व्यस्त हो [illegible]

इस कार्य में डॉक्टर साहब को बड़ी दि[illegible] सामना करना पड़ा। गाँवों के लोग उनकी गोरी [illegible] को देखकर उनसे भय खाते थे, उनके प्रश्नों [illegible] वे उन पर और भी अधिक संदेह करने लगते [illegible] यह देखकर अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि ये [illegible] पीड़ित, पराधीन और निर्धन लोग स्वयं नितांत [illegible] अवस्था में होते हुए भी एक सभ्य विदेशी से [illegible] की तरह घृणा करते हैं। डॉक्टर साहब [illegible] बिलकुल अकेले साधारण भारतीय जनता का [illegible] करके गाँवों में निकल जाते थे; परंतु इस [illegible] उन्हें कोई सफलता न हुई। मदरास-प्रांत में [illegible] की सफ़ेदी द्वारा लोगों को झट से उनके [illegible] का ज्ञान हो जाता था। फिर सौभाग्य से [illegible] कोई म्लेच्छ न भी समझे, तो भी ब्राह्मण लोग [illegible]

संबंध में कोई बात बताने को तैयार ही न थे और अन्य वर्णोंवाले शास्त्र के संबंध में कुछ जानते ही न थे।

इस प्रकार निरर्थक श्रम करते हुए उन्हें डेढ़ मास बीत गया। उनकी शारीरिक दशा भी ख़राब हो चली। एप्रिल का महीना था, अतः गर्मी पर्याप्त पड़ने लगी थी। डॉक्टर साहब कुछ-कुछ निराश हो चले। तब इन उपायों से काम चलता न देख, अपने कलक्टर मित्र का कहना मानकर वह मदरास नगर में वापस चले आए। यहीं रहकर वह बहुत-से भारतीय ब्राह्मणों द्वारा ही इस ग्रंथ की खोज करवाने लगे। कलक्टर साहब भी कुछ दिनों का अवकाश लेकर बड़ी सरगर्मी से इसी काम में लग गए।

एक सप्ताह बाद उन्हें एक आदमी से ज्ञात हुआ कि मदरास से अस्सी मील दूर एक गाँव में पं० गिरिधर पंतलू नामक व्यक्ति के पास एक प्राचीन शास्त्र है। उसी दिन दोनों मित्र उस गाँव की ओर प्रस्थान कर गए।

दो दिन बाद सायंकाल के समय दोनों मित्र उस गाँव में पहुँचकर डाकबँगले में ठहरे। वे भारतीय ब्राह्मणों के स्वभाव को भली प्रकार जानते थे। उन्हें ज्ञात था कि भारत के ईमानदार ब्राह्मणों को डरा-धमकाकर उनसे कुछ प्राप्त कर सकना असंभव है। अतः उन्होंने एक और उपाय काम में लाने का निश्चय किया। पं० गिरिधर पंतलू को उसी समय बुलवा भेजा गया।

सूर्य डूबने में अभी कुछ देर थी कि पं० गिरिधर पंतलू डरते-डरते डाकबँगले पर पहुँचे। दोनों साहबों ने खड़े होकर उनका स्वागत किया। पंडितजी के लिये गोबर का चौका लगवाकर गद्दी लगाई गई थी, उन्हें उसी पर बिठाकर साहब लोग स्वयं एक चटाई पर बैठ गए।

डॉक्टर रीन संस्कृत जानते थे, उन्होंने संस्कृत में ही प्रश्न करने प्रारंभ किए। ब्राह्मण देवता पहले तो एक म्लेच्छ के सम्मुख संस्कृत बोलते हुए कुछ घबराए; परंतु फिर उन्होंने और कोई मार्ग न देखकर संस्कृत में ही उत्तर देना शुरू किया। डॉक्टर रीन ने एक लंबी भूमिका के साथ पूछा—"आपके पास, जो प्राचीन धर्म-ग्रंथ हैं, उनके नाम को कौन-कौन से अक्षर सुशोभित करते हैं ?"

पंडितजी घबरा गए। यह प्रश्न किस उद्देश्य से किया जा रहा है—इसे वह न समझ सके। परंतु थोड़ी देर तक हिचकिचाते रहकर उन्होंने उत्तर दिया—"धातुसार।"

डॉक्टर साहब का चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा। उनके पास जो पत्ता था, उस पर भी "धातुसार" यही शब्द लिखा हुआ था। ज़बरदस्ती अपने प्रसन्नता के आवेश को रोके रहकर उन्होंने अगला प्रश्न किया—"वह पुस्तक किस चीज़ पर लिखी हुई है ?"

उत्तर मिला—"ताड़पत्रों पर।"

डॉक्टर साहब ने, फिर पूछा—"उसका आकार क्या है ?"

पंडितजी को आज तक कभी इस प्रकार किसी चीज़ के आकार, रंग, रूप आदि का वर्णन नहीं करना पड़ा था, अतः वह यत्न करने पर भी अपना अभिप्राय स्पष्ट न कर सके। डॉक्टर साहब ने, उन्हें असमंजस में पड़ा देखकर अपनी जेब से वही ताड़ का पत्ता निकालकर उसे दिखाते हुए पूछा—"क्या आपकी पुस्तक का यही आकार है ?"

उसे देखते ही पंडितजी चौंककर बोल उठे—"हैं! यह आपके पास कहाँ से आया ? यह तो मेरी पुस्तक का ही पृष्ठ है।"

डॉक्टर रीन ने, इस प्रश्न का उत्तर न देकर कलक्टर साहब की ओर देखा। अपने प्रश्न के उत्तर की अधिक देर तक प्रतीक्षा न करके पंडितजी ने कहना शुरू किया—"पिताजी की तेरहवीं के बाद जब घर की सफ़ाई की गई, तभी हमारे धर्म-ग्रंथ का यह पृष्ठ न-जाने अचानक कहीं खो गया था। क्या आप यह पृष्ठ मुझे वापस करने आए हैं ? साहब, आप लोग सचमुच बड़े दयालु हैं। यह मुझे लौटा दीजिए। आपका यह उपकार मैं जन्म-भर न भूलूँगा।"

यह कहते-कहते पंडितजी का चेहरा भय से पीला पड़ गया। उन्हें याद आया कि पिताजी मरते समय अपनी क़सम खिलाकर जिस बात से मुझे रोक गए थे, विधि-वश वह बात स्वयं ही हो गई। यह अभागा पत्ता न-जाने किस प्रकार इन म्लेच्छों के हाथ जा लगा।

पंडितजी को चिंताकुल देखकर डॉक्टर साहब ने दिल खोलकर हिंदू-धर्म की उदारता का बयान करते हुए संसारोपकार की लंबी भूमिका बाँधकर अंत में कहा—"आप यह पुस्तक हमें दे दीजिए। सारा संसार इसके लिये आपका



साहब, आप लोग सचमुच बड़े दयालु हैं, यह मुझे लौटा दीजिए।

यश गाएगा। आपके इस महादान के प्रतिफल में हम तुच्छ लोग आपकी कोई बड़ी सेवा तो कर ही नहीं सकते। हाँ, हमारी दस हज़ार रुपयों की दक्षिणा स्वीकार कीजिए।"

पंडित गिरिधर पंतलू दस हज़ार का नाम सुनकर अचंभे में आ गए। उनकी पुस्तक का इतना अधिक मूल्य है! उन्होंने कभी कल्पना द्वारा भी १० हज़ार रुपयों के दर्शन न किए थे। इसी समय उन्हें अपने पिता के अंतिम वचन याद आए। दस हज़ार का बड़ा प्रलोभन उनके दिमाग़ में प्रवेश न पा सका। उन्होंने पुस्तक देने से इनकार कर दिया, इनकार करते हुए उनकी जिह्वा लड़खड़ा रही थी।

डॉक्टर साहब से पंडितजी की कमज़ोरी छिपी न रह सकी। उन्होंने धीरे-धीरे बड़ी नम्र-भाषा में अपनी दक्षिणा बढ़ानी प्रारंभ की। "दस हज़ार, बीस हज़ार, पचीस हज़ार! तीस हज़ार!"

परंतु पंडितजी के मुँह से हाँ न निकल सकी। मसनद पर टेक लगाकर चुपचाप बैठे थे, बीमार की तरह उनका सारा शरीर काँप रहा था। से पसीने की धाराएँ बह रही थीं; परंतु मुँह बंद था मानों किसी ने उसे ज़बरदस्ती मींच रखा है। पंडितजी को इस हालत में देखकर कलक्टर साहब लिये हँसी रोकना असंभव हो रहा था, परंतु रीन उसी प्रकार गंभीर-भाव से बैठे थे। स्वयं अपने हृदय की गति भी बहुत बढ़ गई थी; "यह ब्राह्मण क़ाबू में न आ सका तो?"

जादूगर ने जादू की लकड़ी फिर हाथ में ली। भन अब बड़ी-बड़ी छलाँगें मारने लगा। तीस हज़ार से एकदम चालीस हज़ार हुआ। पंडितजी अब भी थे। चालीस हज़ार से बोली सीधी पचास हज़ार पहुँची; पर पंडितजी अब भी न बोले।

डॉक्टर साहब एक ठंडी श्वास लेकर आगे बढ़ने रुक गए। उन्होंने अपनी संपूर्ण जायदाद नीलाम पर चढ़ा दी थी। अब पंडितजी के लिये चुप रहना असंभव हो गया। वह काँपते हुए लड़खड़ाती आवाज़ में बोले—"कल प्रातः आकर ले जाना।" होता है कि ये शब्द कहते हुए उन्हें अपनी सारी ताक़त लगा देनी पड़ी। वह बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। उठाकर घर पहुँचाया गया।

डॉक्टर साहब की प्रसन्नता का पारावार नहीं था। उन दिनों तक तारबर्की का आविष्कार नहीं हुआ था। अतः डॉक्टर साहब अपने पेरिस तथा बर्लिन के मित्रों को इस बात की सूचना न दे सके। सारी रात डॉक्टर साहब को नींद न आई, वह इस प्रतीक्षा में थे कि लंबी रात समाप्त हो और वह उस उद्देश्य में सफलता प्राप्त करें, जिसके लिये वह महीनों ख़ाक छानते रहे हैं।

(५)

प्रातःकाल होते ही १५-२० सिपाहियों के सिर पर पचास हज़ार रुपया लदवाकर डॉक्टर साहब अपने कलक्टर मित्र के साथ पंडित गिरिधर पंतलू के घर पहुँचे। पंडितजी का घर एक लंबे-चौड़े मैदान के किनारे पर था। उस मैदान में पहुँचते ही डॉक्टर साहब ने विचित्र दृश्य देखा। उन्होंने

दूर से दिखाई दिया कि केवल एक लँगोट बाँधकर ब्राह्मण देवता समाधि लगाए बैठे हैं, उनके सामने ज़मीन में खुदे हुए एक बड़े से यज्ञ-कुंड में प्रचंड अग्नि धधक रही है। गिरिधर अपनी जाँघों पर एक बस्ता खोलकर बैठा हुआ बड़े ग़ौर से किसी चीज़ को देख रहा है। किसी अज्ञात अनिष्ट की आशंका से डॉक्टर साहब का हृदय काँप गया। वह अपने साथियों को छोड़कर बेतहाशा पंडितजी की ओर भागे।

अचानक पंडितजी की नज़र इन लोगों पर पड़ी। इन्हें देखकर वह इस प्रकार चौंके, जैसे पागल कुत्ता पानी को देखकर चौंकता है। इसके अगले ही क्षण बिजली की तेज़ी से पंडितजी ने, वह संपूर्ण बस्ता एकदम आग में डाल दिया। डॉक्टर साहब के वहाँ पहुँचने तक इस अभागे देश की उस अमूल्य संपत्ति को आग की लोभी ज्वालाएँ भली प्रकार चाट चुकी थीं। डॉक्टर साहब



पंडितजी ने, वह संपूर्ण बस्ता एकदम आग में डाल दिया।

दोनों हाथों से अपना सिर पकड़कर यज्ञ-कुंड के किनारे ही बैठ गए! हिंदोस्तान सचमुच जादूगरों का मुल्क है, इस बात का आज उन्हें प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया।

एक हिंदू, बाक़ी दुनिया के लोगों को इतना घृणित और हेय क्यों समझता है—यह बात डॉक्टर रीन मरते दम तक नहीं समझ सके।

चंद्रगुप्त विद्यालंकार

हिंदू-संसार

(१)

चेत जा रे हिंदू-संसार!
मिटने दे अस्तित्व न, खोलें आँखें वेग उघार?
चेत जा रे हिंदू-संसार!

(२)

क्यों अमूल्य अवसर खोता है?
अरे! क्यों न जाग्रत होता है??
पछतावेगा लुटा जा रहा, तेरा सब घर-बार।
चेत जा रे हिंदू-संसार!

(३)

घोर वज्र! यवनों ने ढाया;
ईसाइयों ने मुँह फैलाया।
युक्ति फ़ौज फ़्रीमेसनवालों का तू हुआ शिकार।
चेत जा रे हिंदू-संसार!

(४)

चोटी और जनेऊ खोकर;
हाथ दीन दुनिया से धोकर।
खोल न अपने लिये नरक का, हा! दुखदायी द्वार।
चेत जा रे हिंदू-संसार!

(५)

गो-वध बंद नहीं हो पाता;
निर्बल होकर कष्ट उठाता।
देख रहा क्या? उठकर जगमग जीवन-ज्योति पसार।
चेत जा रे हिंदू-संसार!

(६)

निज कन्याओं का विक्रय कर;
विधवाओं से भारत को भर।

हो नितांत स्वार्थांध कर रहा, हा! क्यों पाप-प्रचार ?
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(७)

जीवों की हिंसा करता है ;
रक्षण भाव न उर भरता है।
तुझे अधोगति दिला रहे हैं, तेरे दुष्ट विचार ।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(८)

तजकर मेल फूट फल खाता ;
नेक न अपनों को अपनाता।
अपने अंगों को ही निष्ठुर बनकर रहा बिदार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(९)

न्यारे-न्यारे गीत गा रहा ;
दिन-दिन भीषण ह्रास पा रहा।
सूत्रबद्ध हा ! रहा न, बेड़ा डुबा रहा मँझधार ।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१०)

नारी-कुल का मान मिटाता ;
गुण-गौरव की धूलि उड़ाता।
क्या सुख पा सकता ? जब तेरा अर्द्ध भाग बेकार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(११)

जड़ता का पर्दा न हटाता ;
निरा कूप - मंडूक कहाता।
घटा रहा आप दिन धन-जन, विद्या, बल, अधिकार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१२)

अरे अभागे ! अब तो जग जा ;
सम्यक शुभ साधन में लग जा।
तेरा भी तो कहीं वस्तुतः, हो जावे उद्धार ?
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१३)

हो निःशंक कार्य-रत हो जा ;
एकाकार—एक मत हो जा !
पहले मरना सीख, तुझे जो जीना है स्वीकार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१४)

क्यों कायर हो नाम लजाता ?
क्यों न अहो ! उत्साह बढ़ाता ?
आगे का रख ध्यान, न पीछे फिर-फिर अरे निहार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१५)

छोटे-बड़े सभी से मिल जा !
फिर सुंदर सरोज-सा खिल जा !!
भूतकाल की भाँति लूट फिर भी तू मौज बहार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१६)

वैदिक युग में फिर प्रवेश कर ;
धारण फिर प्राचीन वेश कर।
मत-पंथों के जटिल जाल का, कर झटपट परिहार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१७)

ब्राह्म शक्ति फिर अपनी दिखला ;
भक्ति-भजन फिर सबको सिखला !
गहा विश्व को दे फिर संचित सरस्वती-भंडार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१८)

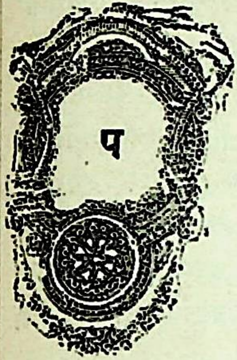
हो न कदापि निरादर तेरा ;
तत्त्व-ज्ञान हो तुझे सवेरा।
कर सत्यार्थ-प्रकाश, आधुनिक रीति-रिवाज-सुधार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

(१९)

क्षात्र-तेज से भरा रहे तू ;
फिर कर में तलवार गहे तू।
ठहरा ले फिर 'कर्ण' सबल हो, करना रिपु-संहार।
चेत जा रे हिंदू-संसार !

"कर्ण"

सोवियट-शासन में रूस का विकास *



पराधीन भारत के युवकों ने बार-बार वह विदेशी गीत सुना है, जिसका अर्थ यह होता है कि बोलशेवी शासन बड़ा क्रूर, भयानक, विद्रोह-पूर्ण और अनिष्टकारक है। हमारे पास संसार के विभिन्न देशों के जो समाचार आते हैं, वे दुर्भाग्य-वश एक ही चलनी में छनकर आते हैं। वे ठीक हैं या ग़लत, उनमें सत्य का अंश कितना है और झूठ का कितना, इसका जानना अत्यंत कठिन है। हमारे ज्ञान की सीमा उससे आगे नहीं बढ़ सकती, जहाँ तक हमारे प्रभुओं का स्वार्थ है। सरकारी बेतार के तारों ने कभी यह समाचार नहीं दिया कि सोवियट रूस का अमुक काम प्रजा की उन्नति के अनुकूल है। अभागा रूस सदैव ग़लतियाँ ही करता है और विश्व के पंचमांश को ज़बरदस्ती अपने नखों से क्षत-विक्षत करनेवाली ब्रिटिश सिंहिनी कभी मानवीय भूलों की सीमा में नहीं आती। जब तक ब्रिटेन ने चाहा जिनोविफ़ का पत्र करोड़ों हृदयों में उत्पन्न होनेवाले अविश्वास और रूस के बार-बार विरोध करने पर भी, सत्य बना रहा, और आज अपने उद्देश्य को हल कर लेने के बाद यह प्रकट करके कि वह एक जाली पत्र था—इँगलैंड के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ गर्व-अनुभव करते हैं। अधिक दिन नहीं हुए, जब एक अर्द्ध सरकारी दैनिक रूसी पत्र का एक पेज रूस-सरकार की निंदा और अत्याचार-संबंधी झूठे विवरण से भरकर ब्रिटेन के गुप्त सरकारी छापेख़ाने में छापा, और वहाँ से विश्वस्त राजनैतिक एजेंटों के पास रूस भेजा गया। किसी तरह धोके से यह पेज उक्त पत्र के पैकटों में भरकर सर्वत्र डाक से रवाना किया गया। इँगलैंड के पत्रों ने, इसके आधार पर रूसी सरकार के अत्याचारों की करुण कहानी से कालम-के-कालम रँग दिए। उस रूसी पत्र के व्यवस्थापक और सच्ची बातों को जाननेवाली जनता अवाक् रह गई।

रूसी या ग़ैर ब्रिटिश साधनों से (जापान, चीन और जर्मनी में प्रकाशित मूल पुस्तकें अथवा उनके अनुवाद), जब हममें इन समाचारों की सत्यता की परख करने की इच्छा होती है, तब भी हम अपनी तृष्णा बुझाने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इस प्रकार की पुस्तकें विद्रोह के नाम पर ज़ब्त कर ली जाती हैं और उनके पाठकों पर सरकार की विशेष कृपा हो जाती है। यह है उस साम्राज्य का हाल, जो अपने को स्वतंत्रता का जन्म-सिद्ध उपासक कहता है; पर सर्वत्र परतंत्रता की संतान-वृद्धि में व्यस्त है।

ऐसे ही साम्राज्य के संचालकों के मुख से हम बार-बार सोवियट-शासन की असफलता और क्रूरता का वर्णन सुनते रहे हैं। इसका फल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इतना बुरा हुआ है कि हमारी संस्कृति के मूल उपकरण और मानसिक प्रवृत्तियाँ तक जड़ एवं साम्राज्यवादिनी होती जाती हैं। वह आदर्श-मूलक संस्कृति जिसने निर्भय होकर जगत् को आश्वासन दिया था—'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः' सब सुखी हों, सब निरामय हों—आज कुंठित हो गई है। वेदांत ने, जिस साम्य-अनुभूति-मूलक आत्मवाद की सृष्टि की थी, वह आज ज़हरीली सभ्यता के चाकचिक्य से टकराकर चूर-चूर हो गई है। यदि ऐसे समय हमारे-जैसा एक लेखक यह कहे कि जिसे भारत ने आत्मशुद्धि के क्षेत्र में आत्मवाद कहकर रखा था, उसे ही बोलशेवी या साम्यवादी राजनैतिक क्षेत्र में आज़मा रहे हैं, तो लोगों को आश्चर्य होगा। वे अपने आदर्श में सफल होंगे कि नहीं, यह समय बताएगा। यहाँ हम उन साधनों के उधार पर, जो ब्रिटेन, फ़्रांस तथा जर्मनी के ही शांत, विद्वान् और निष्पक्ष पुरुषों की आँखों देखी बातों से पूर्ण हैं। यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि सोवियट स्वयं अपने आदर्शों को कार्यान्वित करने में संलग्न है या नहीं। और है, तो उसकी अधिकार-सीमा में रूस का कहाँ तक विकास हुआ है।

* इन पंक्तियों का लेखक राष्ट्रीय साम्यवाद का स्वभावतः ही विरोधी है। वह भारत के लिये इसे अनुपयुक्त और संसार के लिये अस्वाभाविक समझता है। शायद इसका कारण यह हो कि वह व्यक्तिवाद (Individualism) का कट्टर उपासक है, किंतु ज्ञान की सीमा को विस्तृत करने के लिये वह उन उपयोगिताओं को स्वीकार कर लेना ठीक समझता है, जो सोवियट-शासन ने संसार के सामने उसी की भलाई के लिये रक्खी हैं।—लेखक

१. सदाचार-संबंधी विजय (Moral Victory)

१९१९ में, जब सोवियट प्रजातंत्र को स्थापित हुए थोड़े ही दिन हुए थे, मैनचेस्टर की विक्टोरिया युनिवर्सिटी के शिक्षा-विज्ञान-विभाग के प्रधान और 'मैनचेस्टर गार्जियन' के विशेष संवाददाता श्रीगूड ने बोलशेविक शासन-पद्धति की व्यावहारिकता के संबंध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से स्वयं मास्को तथा रूस के विभिन्न भागों की यात्रा की थी। उस समय उन्होंने देखा कि हमारे देश में इस नवीन शासन-पद्धति के विरुद्ध जो बातें फैलाई जा रही हैं, उनमें अधिकांश मिथ्या हैं। उन्होंने लेनिन (जो उस समय सोवियट प्रजातंत्र के अध्यक्ष थे) से भी भेंट की थी। उस समय ब्रिटेन में कहा जाता था कि लेनिन तथा अन्य अधिकारियों पर चीनी सिपाहियों का पहरा रहता है। पर श्रीगूड जब 'क्रेमलीन' (सोवियट मंत्रिमंडल का कौंसिल-भवन) में लेनिन से मिलने गए, तो उन्हें कहीं कोई चीनी न देख पड़ा। ऑफ़िसों में सब मंत्री तथा अधिकारी अपने-अपने कामों में लगे थे। लेनिन १२-१२ घंटे काम करता था।

ब्रिटिश साम्राज्य में सोवियट सरकारी रूप से प्रचार का कार्य करे, इसके लिये दोनों राज्यों की सरकारों में कितनी ही बार लिखा-पढ़ी हो चुकी है। यह कहा जाता है कि जब तक रूस ऐसा करता है, उससे संबंध क़ायम रखना ब्रिटेन के लिये कठिन है। गत वर्ष, यही कहकर और इसके संबंध में जाली प्रमाण-पत्र पेश कर रूस से व्यापारिक संबंध भी तोड़ दिया गया। 'आर्कस-कंपनी' के साथ किए गए अनुचित और ग़ैरक़ानूनी व्यवहार की बात तो सभी पाठक पत्रों में पढ़ चुके होंगे। पर श्रीगूड के प्रश्न करने पर लेनिन ने, जो बात कही थी, वह आज भी ब्रिटेन के ऊपर सोवियट की सदाचार-संबंधी विजय—(Moral Victory) को प्रत्यक्ष करती है। लेनिन ने कहा था कि "हम लोग सदैव सरकारी प्रचार को रोक देने का प्रतिज्ञा-पत्र लिखने को तैयार हैं। व्यक्तिगत हैसियत से यदि कोई विदेशों में जाकर प्रचार करेगा, तो अपनी ज़िम्मेदारी पर करेगा। उसको वहाँ के क़ानून के अनुसार दंड दिया जा सकता है।" आगे इस सदाचार-संबंधी विजय को और प्रत्यक्ष करते हुए लेनिन ने आत्म-गौरव-पूर्ण स्वर में कहा—"रूस में अँगरेज़ों के प्रचार के विरुद्ध कोई क़ानून नहीं है। इँगलैंड में ऐसे क़ानून हैं, इसलिये रूस इस संबंध में अधिक उदार है। लोग तो ब्रिटिश, फ़्रेंच, अमेरिकन, जो सरकार उसे सरकारी तौर से प्रचार करने की आज्ञा देने को तैयार हैं। यह ब्रिटेन है, जो 'साम्राज्य-रक्षा-नि (The Defence of the Realm Act) द्वारा पर विचार-प्रकाशन की स्वतंत्रता में बाधा डाल फ़्रांस में प्रेस की स्वाधीनता की बड़ी डींग हाँकी जाती पर अभी कल मैं हेनरी बारबोसा का 'क्लार्टे' पढ़ रहा था, जिसमें दो परिच्छेद सरकार की निकाल और बदल दिए गए थे।" इसके बाद ने, व्यंग्य किया—"वे स्वतंत्र, प्रजातंत्रवादी फ़्रांसीसी उपन्यासों पर 'सेन्सर' करते हैं।"

कितने सुंदर भाव हैं। सोवियट, विचारों को स्व चाहता है। वह चाहता है कि दूसरी सरकारें बातें हमारी जनता के सामने पेश करें और हम बात उनकी प्रजा के सामने। जिसके सिद्धांत उत्तम होंगे, लोगों को पसंद आवेंगे, हितकर समझे लोग स्वयं स्वीकार कर लेंगे। पर ब्रिटेन तथा साम्राज्यवादिनी सरकारें अपनी कमज़ोरी हैं। वे यह समझती हैं कि साम्यवाद चाहे को स्वीकार भले ही न हो, पर साम्यवाद-आंदोलन में विचारों की जो स्वतंत्रता है, साधारण प्रजा के के जो भाव हैं, उनके सामने साम्राज्यवाद के विचारों की खुली लड़ाई में ठहर न सकेंगे। लिये वे साम्राज्य-रक्षा के नाम पर उस स्वतंत्रता हरण करती हैं, जिसके संबंध में वे अपने को सबसे हुआ समझती हैं। यह सोवियट की ब्रिटेन तथा इत्यादि के ऊपर सदाचार-संबंधी विजय है और रूस का विकास करने में, रूसी जनता के अंदर शक्ति जागृत करने में बड़ी सहायता मिली है।

२. मौलिक सिद्धांतों का पालन

सोवियट की स्थापना के बाद से आज तक का हास देखने से ज्ञात होता है कि १०-१२ वर्ष के इतने समय में भी उस (सोवियट) ने अपने प्रधान सि का व्यावहारिक प्रयोग करने में काफ़ी सफलता की है। सोवियट के इस समय, दो प्रधान कार्य हैं— (१) अपने देश के शासन का आधार साम्यवाद कर, उसकी सब प्रकार से उन्नति करना। (२)

देशों के संबंध में उन सिद्धांतों का पालन और प्रचार करना, जिनके लिये उसके संस्थापकों ने विद्रोह किया था। इन्हें आंतरिक शासन-शुद्धि और बाह्य (परराष्ट्र-संबंधी) सैद्धांतिक प्रचार की संक्षिप्त शब्दावली ('टर्म' से अभिप्राय है) से भी पुकार सकते हैं। इनमें हम पहले दूसरे की परीक्षा करके तब पहले के संबंध में लिखेंगे। क्योंकि जिस सैद्धांतिक आधार पर सोवियट ने अपने शासन-विधान की रचना की है, वह तब तक अपूर्ण और अविकसित समझा जायगा, जब तक दूसरे देशों के संबंध में भी अपने आदर्श का व्यावहारिक प्रयोग करने में सचेष्ट न हो।

साम्यवाद का आंतरिक उद्देश्य यह था कि संसार से साम्राज्यवाद का युग नष्ट हो जाय और प्रत्येक देश अपने आसपास या दूर के देशों की स्वतंत्रता में बाधा डाले बिना अपनी संपूर्ण प्रजा की नैतिक, मानसिक और शारीरिक उन्नति का प्रबंध करे—सब सुखी हों, एक देश को अपने पास के देश से इसलिये भय न हो कि वह बड़ा है और चाहते ही हमें कुचल डालेगा (अतएव सेना बढ़ाकर युद्ध का आह्वान सुनने के लिये तैयार रहना चाहिए)। १९१७* से—जब सोवियट प्रजातंत्र की स्थापना हुई—आज तक इस दस वर्ष के थोड़े समय में उसने संसार की विचार-धारा में क्रांति उपस्थित कर दी है। कला में, साहित्य में, राजनैतिक सिद्धांतों में, शासनयोजनाओं में तथा समाज-संघटन के रूप में अनेक परिवर्तन इधर हुए हैं; और इनका बहुत बड़ा कारण बीसवीं शताब्दी की वह महाक्रांति है, जो सोवियट ने संसार के आँगन में कर दिखाई है।

सोवियट-सरकार ने अपने जन्मकाल से ही उन देशों को अपने पैर पर खड़ा करना आरंभ किया, जो अलग होते हुए भी रूस के सम्राटों द्वारा रूसी साम्राज्य में मिला लिए गए थे अथवा जिन पर रूस का पर्याप्त प्रभाव था। सोवियट के जन्म के साथ ही लेनिन ने, उसके अध्यक्ष की हैसियत से फ़िनलैंड की सरकार के तात्कालिक प्रधान स्विनहूफ़ (Swinhufered) को फ़िनलैंड की स्वतंत्रता का स्वीकृतिपत्र दे दिया। इस स्वीकृतिपत्र में सोवियट ने, फ़िनलैंड के प्रजातंत्र को सरकारी तौर पर स्वीकार कर, उसे एक स्वतंत्र देश बना दिया। यह स्वीकृतिपत्र नवंबर १९१७ में दिया गया था और इसी महीने में सोवियट की स्थापना हुई थी। यह आश्चर्य का विषय है कि एक ध्वंसकारी विद्रोह के बाद जब आंतरिक सुधार का प्रश्न ही इतना जटिल था कि वर्षों उसे ठीक करने में लग जाते। सोवियट ने, तुरंत फ़िनलैंड के प्रश्न पर ध्यान दिया। शासन अपने हाथ में लेने के साथ ही—यद्यपि युद्ध चल रहा था—सोवियट ने घोषणा की कि हमारा कोई सैनिक शस्त्र लेकर फ़िनलैंड की सीमा में प्रवेश नहीं करेगा। इतिहास में शासन-शुद्धि और उदारता का यह अद्भुत नमूना है। एक हमारी ब्रिटिश सरकार है, जो पार्लियामेंट में भी भारतीय बहस को तब स्थान देती है, जब घर के सारे मसले तय होने के बाद समय बच जाय। फिर भी वह सोवियट से अधिक उदार और कम अत्याचारी होने की डींग मारने में कभी नहीं शर्माती—

सिर्फ़ फ़िनलैंड को ही स्वतंत्रता प्रदान कर सोवियट चुप नहीं रही। उसने इस्थोनिया* को भी एक स्वतंत्र प्रदेश बना दिया। पोलैंड तो पहले ही स्वतंत्र हो गया था। बशकीर-प्रदेश को भी उसने स्वतंत्र प्रजातंत्र राज्य मानकर स्वाधीनता प्रदान की। यद्यपि बशकीर लोग संसार के बहुत ही कमज़ोर और पिछड़ी हुई जातियों में हैं। इस संबंध में लेनिन ने, सोवियट की नीति यह बताई थी—"सब छोटे राष्ट्रों की स्वाधीनता स्वीकार करना हमारे सिद्धांतों में एक है।" सोवियट की इस नीति का एक उदाहरण लीथूनिया† और दूसरा लटविया भी है। इन दोनों प्रदेशों को स्वशासन के प्रायः सब अधिकार प्राप्त हो गए हैं। जो प्रदेश रूस साम्राज्य के बहुत महत्त्व-पूर्ण अंग समझे जाते थे और शताब्दियों से उसके अंतर्गत चले आ रहे थे, उनके निवासियों में स्वाधीनता की भावना देखते ही सोवियट ने पराधीनता की बेड़ी काट दी। इस प्रकार की उदारता और नैतिक राजनीतिमत्ता के उदाहरण संसार के इतिहास में शायद ही मिलें।

* सच पूछिए, तो सोवियट का जन्म सन् १९१८ में हुआ।—लेखक

* इस्थोनिया—फ़िनलैंड की खाड़ी के दक्षिण-तट पर फैला हुआ रूस का एक प्रदेश।

† लीथूनिया—पहले योरप की एक 'ग्रैंडडची' (स्वतंत्र राज्य, जिसके शासक ग्रैंडड्यूक कहलाते थे। पर पीछे पोलैंड और फिर बाद में रूस साम्राज्य में मिला ली गई थी)।—लेखक

इतना ही करके सोवियट-सरकार शांत नहीं हो गई। पददलित और दुर्बल देशों को स्वावलंबी एवं स्वाधीन बनाने के लिये वह यथाशक्ति चेष्टा भी करती रही है। यह कहना फ़िज़ूल है कि वह किसी जाति या राष्ट्र को स्वार्थ-वश किसी जाति या राष्ट्र विशेष के विरुद्ध उभाड़ती है। हाँ, स्वाधीनता के लिये चेष्टा करनेवाले राष्ट्रों से उसकी सहानुभूति अवश्य है, वह उनका दुःख समझती और अनुभव करती है। अतएव उन्हें सबल बनाने योग्य परिस्थिति तैयार करने में यथाशक्ति सहायता भी देती है। उसका युद्ध सिद्धांतों का युद्ध है। राष्ट्र के नाम पर अत्याचार करनेवाले कतिपय साम्राज्यवादियों का विरोध-मात्र है। वह सब राष्ट्रों के दुःखी और पीड़ित संप्रदाय को सहायता करने को उत्सुक रहती है। इँगलैंड की पिछली हड़ताल में पीड़ित मज़दूरों की सहायता रूस के लाखों मज़दूरों ने पेट काटकर सहानुभूति-वश ही की थी। रुपए उन्हें खाने नहीं दौड़ते थे। वह किसी को विद्रोह के लिये नहीं उभाड़ती। अपने प्रथम परराष्ट्र सचिव शिशेरिन की यह नीति आज तक आवश्यक परिवर्तन के साथ सोवियट-सरकार बरत रही है—"यह सोवियट, प्रजातंत्र का एक मूल सिद्धांत है कि किसी राष्ट्र का उत्थान उसी के हाथों होना चाहिए।"

इन बातों से ख़ूब अच्छी तरह मालूम होता है कि अपने जन्म-काल से आज तक सोवियट प्रजातंत्र ने अपने और दूसरे राष्ट्रों के संबंध में उन मूल सिद्धांतों का अच्छी तरह पालन करने की चेष्टा की है, जिनके लिये उसकी स्थापना हुई थी। यह सोवियट-काल में रूस का नैतिक और पवित्र राजनीतिक विकास है।

३. सरकार का संघटन

सोवियट-सरकार की कार्यकारिणी (Executive) का संघटन ऐसे सुदर रूप से हुआ है कि कोई ऐसी बात उससे अलग नहीं छूटती, जिससे प्रजा-हित का ज़रा भी संबंध हो। कार्यकारिणी सरकार अथवा मंत्रिमंडल के लगभग डेढ़ दर्जन विभाग हैं, जो 'कमसरियट' के नाम से पुकारे जाते हैं। इनके अध्यक्ष 'कमीज़री' (Commissary) कहलाते हैं। 'कमीज़री' का मूल लैटिन है और इसका अर्थ प्रतिनिधि होता है। इस प्रकार 'मिनिस्टर' (जो राजा का ही हो सकता है) के स्थान पर 'कमीज़री' नाम रखना भी यह सूचित करता है कि वे कार्यकारिणी सरकार में प्रजा के प्रतिनिधि हैं, राजा के नहीं। सोवियट-सरकार के सब विभागों (Execu Legislative) और (Judicial) का निर्माण से हुआ है कि एक दूसरे में विरोध उपस्थित हो होता। जैसे 'पार्लियामेंटों की माता' में कार्य (Executive) और व्यवस्थापक (Legislative विभागों का संघर्ष नित्य देखने में आता है। कार्य मनमानी करती है, जिस प्रश्न का उत्तर चाहा जिसका चाहा नहीं दिया। ये बातें सोवियट में सुनने को नहीं मिलतीं। कार्यकारिणी सरकार उपयोगी विभागों में बँटी है, जिनमें कुछ ये (१) वैदेशिक विभाग, (२) राष्ट्रीय अर्थ (Commissariate of National Econom (३) कृषि-विभाग, (४) श्रम-विभाग (missariate of Labour), (५) खाद्य-नियं भाग (Commissariate of Food Cont (६) निर्यात-विभाग, (७) शिक्षा-विभाग, (८) विभाग, (९) राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विभाग (Com sariate of Hygiene or National Heal (१०) स्वराष्ट्र-विभाग, (११) व्यवसाय इत्यादि। इनके 'कमीशरी' (अथवा मंत्री) अपने विषय के पूर्ण विशेषज्ञ ही हो सकते हैं। कि लार्ड, ताल्लुक़ेदार और सरकार के वे पुत्र जायँ, जिनको उस विभाग-विशेष का ज़रा भी नहीं है। राष्ट्रीय अर्थ-विभाग के प्रथम 'क 'मिलिटिन' (Miliutin) थे, जो राष्ट्रीय के उन विशेषज्ञों में से हैं, जिनका प्रमाण उन देशों माना जाता है, जो साम्यवाद के विरोध में का पसीना एक किए हुए हैं। यह रूस के गाँव घूमकर राष्ट्रीय उपज का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते और हित के प्रत्येक संभव उपाय को व्यावहारिक रूप चेष्टा करते थे। कृषि, न्याय, खाद्य-नियमन, राष्ट्रीय स्वास्थ्य और श्रम-विभाग के कमिशरी चुनाव ख़ास तौर से—बड़ी छानबीन और होशि साथ—किया जाता है। यह दिन-रात अपने वि उन्नति में चिंताशील रहते हैं। यह जानकर आश्चर्य होगा कि इनका वेतन अन्य सरकारों के के वेतन के चौथाई से अधिक शायद ही कभी हो

दूसरी जगहों से भी यह कुछ कमा नहीं सकते, पर इन्हीं त्यागी महानुभावों के लिये साम्राज्यवादी सरकारों के प्रभाव से चलनेवाले 'गटर' प्रेस यह प्रसिद्ध किया करते हैं कि वे स्वार्थी और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से पूर्ण हैं*।

कार्यकारिणी के इन अनेक विशिष्ट विभागों का संघटन इतना पूर्ण और सुंदर है कि शायद ही कोई ज़रूरी बात उनके कार्य-क्रम से छूट जाती हो ('Political organization of Soviet) (सोवियट का शासन-संघटन)-शीर्षक में अपनी यात्रा के अनुभव बयान करते हुए श्रीगूड ने 'मांचेस्टर गार्जियन' में लिखा था— "सोवियट शासन-प्रणाली का देश के साथ दिन-दिन मज़बूत होनेवाला जो बंधन है, उसकी शक्ति से पश्चिमीय योरप अनभिज्ञ है। इसकी सूक्ष्मता अद्भुत है और इसके प्रभाव अथवा ध्यान से बहुत थोड़ी बातें छूट सकती हैं!" "यह सोवियट-सरकार के संघटन का एक साधारण लक्षण है!"

केंद्रीय कार्यकारिणी का प्रांतीय से, प्रांतीय का नगर और ज़िले की कार्यकारिणी शासन-समितियों से ऐसा संबंध है कि प्रत्येक स्थान की एक-एक बात, वहाँ की जनता की आवश्यकता, उनकी आकांक्षा और उनकी कठिनाइयों से केंद्रीय सरकार का पूर्ण परिचय रहता है। इतना ही नहीं, मास्को में समय-समय पर प्रत्येक ज़िले की कार्यकारणी शासन-समितियों के सदस्य और अध्यक्ष बुलाये जाते हैं और केंद्रीय सरकार के अधिकारी उन सबके साथ मिलकर जनता को अधिक शक्तिमान्, उन्नत, विद्वान्, सुखी और संतोषी बनाने के उपायों पर विचार करते हैं। सरकार का संपूर्ण प्रयत्न, उसके कार्य-क्रम की सारी शाखाएँ उन सिद्धांतों में केंद्रित हैं, जिनके आधार पर इस शासन का सूत्रपात हुआ था। इस प्रकार अपने संघटन से सोवियट ने रूस की आर्थिक और राजनैतिक दोनों अवस्थाओं में पर्याप्त उन्नति की है।

४. विधान

सोवियट-विधान पर भी विचार करना आवश्यक है। किसी सरकार की नीव तब तक स्थिर नहीं रह सकती, जब तक कि वह जनता को एक सुदृढ़, सुंदर और लाभदायक विधान प्रदान न कर सके। एक अच्छी सरकार के लिये अच्छा विधान (Constitution) चाहिए। इस मामले में भी रूस की राजनीतिज्ञता ने अपनी दूरदर्शिता व्यक्त की है, यह उसके विधान पर सूक्ष्म विचार करने से ही जान पड़ता है।

स्थानीय सोवियट रूसी सरकार का सबसे छोटा, पर प्रधान अंग है। इन्हें कभी-कभी प्रतिनिधि-सभा भी कहते हैं। इनके दो प्रकार हैं। (१) नगर सोवियट, (२) ग्राम्य सोवियट। ये प्रतिनिधि-सभाएँ सोवियट-सरकार की सभी शासन-संस्थाओं की भाँति निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा बनती हैं। प्रत्येक निवासी वोटर है। चोरी अथवा इसी प्रकार के अन्य अपराधों में सज़ा पाए हुए लोग इस अधिकार से वंचित हैं। नगरों में १,००० अधिवासियों पर एक प्रतिनिधि चुना जाता है। इन प्रतिनिधियों की संख्या कम-से-कम ५० और अधिक-से-अधिक १,००० होनी चाहिए। सब स्थान निर्वाचनात्मक हैं और नामज़दगी का कहीं कोई सवाल नहीं। ग्राम्य सोवियट के लिये (जिनमें १०,००० से कम जन-संख्या-वाले नगर भी सम्मिलित हैं।) १०० अधिवासियों पर एक प्रतिनिधि का चुनाव होता है। इनकी संख्या कम-से-कम ३ और अधिक-से-अधिक ५० होनी चाहिए*।

साधारण कार्य चलाने के लिये ये दोनों प्रकार के सोवियट अपने लिये एक-एक कार्यकारिणी समिति चुनते हैं। कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की संख्या ग्राम्य सोवियट में अधिक-से-अधिक ५ और नगर-सोवियट में

* एक अँगरेज़ यात्री ने रूस की यात्रा करने के बाद इन त्यागी महानुभावों के संबंध में ठीक ही लिखा था—"If any hopes in the failure of these men have been founded on the slanderous descriptions of them circulated in the west of Europe as self-seekers, gluttons for personal pleasures and for money and bloody monsters—after my contact with them and their work, I feel convinced those hopes are doomed to disappointment."

* ३०० से कम जन-संख्यावाले गांव अपना अलग सोवियट नहीं बनाते। यह या तो अपने पंच और प्रतिनिधि चुनकर एक शासन-सभा (स्वीज़रलैंड के 'लैंडजेमिंडन' Landesgemeinden की तरह) बना लेते हैं, या पास के गाँव से मिलकर अपना एक संयुक्त ग्राम्य सोवियट बनाते हैं।

३ से कम और १५ से अधिक न होनी चाहिए *। यह कार्यकारिणी समितियाँ उस सोवियट के सम्मुख पूर्णरूपेण उत्तरदायी हैं, जिनके द्वारा वे चुनी जाती हैं।

यह दो प्रकार के सोवियट ही रूसी शासन की आधार-शिला हैं और उन्हीं पर शासन की सुदृढ़ दीवार उठाई गई है। जैसा कि सोवियट-विधान कहता है 'यह सोवियट अपनी सीमा के अंदर पूर्ण शक्ति रखते हैं और उस सीमा के निवासियों को उनकी प्रत्येक आज्ञा का पालन करना आवश्यक एवं अनिवार्य है।' अत्याचार की मात्रा बढ़ जाय (जैसा कि हमारे म्युनिसिपल और ज़िला-बोर्डों में अकसर देखा जाता है), इसके लिये भी पहले से ही यह समझ-बूझकर नियम बना दिया गया है। यद्यपि ये चुनाव वार्षिक हैं, पर वोटर जब चाहें, अपने किसी प्रतिनिधि को अलग करके उसके स्थान पर दूसरा प्रतिनिधि चुन सकते हैं। इस नियम के कारण प्रतिनिधि जनता की राय के अनुसार काम करने को बाध्य हैं। चुनाव से पूर्व ख़ुशामद और चुनाव के बाद मनमानी करने से महरूम रहते हैं।

ग्राम्य सोवियट की बैठक कम-से-कम सप्ताह में दो बार और नगर-सोवियट की भी प्रायः इतने ही अंतर से होती है। जनता की भलाई और आदर्श प्रतिनिधित्व के ख़याल से विधान में यह धारा जोड़ दी गई है कि 'सोवियट का प्रत्येक सदस्य कम-से-कम पंद्रहवें दिन अपने कार्य की रिपोर्ट निर्वाचकों के सम्मुख उपस्थित करने को बाध्य है। उचित कारण दिखाए विना दो-बार इस नियम का उल्लंघन करने से वह अपने उत्तरदायित्व और पद से अलग कर दिया जायगा और उसकी जगह दूसरे प्रतिनिधि का चुनाव होगा।' इस प्रकार शासन का संपूर्ण मूलाधिकार जनता के हाथ में रहने के कारण सोवियट-शासन-प्रणाली संसार की सरकारों में एक अद्भुत उदाहरण उपस्थित करती है।

ग्राम्य सोवियट मिलकर 'ज़िला सोवियट-कांग्रेस' (जिन्हें वोलोस्ट—Volost—कहते हैं) का निर्वाचन करते हैं। इनमें प्रत्येक १०० अधिवासी पर एक प्रतिनिधि चुना जाता है। वोलोस्ट कांग्रेस अपनी कार्यकारिणी समिति चुनती है, जिसमें ३ से ७ सदस्य तक हो सकते हैं। यह समिति ज़िले के सब सोवियटों से मिलकर काम और ज़िले की उन्नति के उपायों को कार्यान्वित कर

वोलोस्ट कांग्रेसों के ऊपर 'यूज़्द' (Uyezd) होती हैं। इसे भी प्रायः पूर्ववत् अधिकार प्राप्त है। ग्राम्य सोवियटों के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होती हैं। प्रत्येक १,००० जन-बल पर एक प्र का चुनाव होता है। किसी 'यूज़्द-कांग्रेस' के निधियों की संख्या ३०० से अधिक नहीं हो स साल में एक बार इनकी बैठक होती है। यह भी कार्यकारिणी समितियाँ चुनती हैं, जो साल-भ प्रायः एक दर्जन विभागों में बँट कर काम किया हैं। इन विभागों में प्रबंध, युद्ध (शांति के समय श्रम, शिक्षा, अर्थ, कृषि, स्वास्थ्य तथा भोजन मु

इनके बाद प्रांतीय कांग्रेसों की बारी आती है, 'गोबर्निया' कहते हैं। इनका संगठन वोलोस्ट और नगर-सोवियटों के प्रतिनिधियों द्वारा होता वोलोस्ट कांग्रेसें १०,००० अधिवासियों पर एक नगर-सोवियट २,००० निर्वाचकों पर एक प्रतिनिधि हैं। प्रत्येक प्रांतीय शासन-मंडल गोबर्निया (Gu bernia) के सदस्यों की संख्या ३०० से अधिक होनी चाहिए।

इसकी बैठक भी साल में एक बार होती है, कार्य-क्रम के संचालनार्थ प्रत्येक 'गोबर्निया' अपनी कार्यकारिणी चुनता है। कार्यकारिणी—निम्न-लि पंद्रह विभागों में अपने कार्य का संचालन करती (१) प्रबंध, (२) युद्ध (शांति के समय (३) न्याय, (४) श्रम और सामाजिक (५) शिक्षा, (६) डाक और तार, (७) अर्थ, (८) (९) खाद्य द्रव्य, (१०) राष्ट्रीय प्रतिबंध, (११) समिति, (१२) स्वास्थ्य, (१३) संख्या एवं (१४) असाधारण कमीशन और (१५) म्युनि

'गोबर्निया' (प्रांतीय) कांग्रेसों से बड़ी (Regional) कांग्रेसें होती हैं, जिन्हें 'ओब्लास्ट' (Oblost) कांग्रेस कहते हैं। इनके लिये नगर २५,००० अधिवासियों पर एक और 'यूज़्द' ५,००० निर्वाचकों पर एक प्रतिनिधि चुन कर भेजे एक प्रादेशिक कांग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या ५ अधिक नहीं हो सकती।

* पेट्रोग्राड (अब लेनिनग्राड) और मास्को में अधिक-से-अधिक संख्या ४० तक है। लेखक

सोवियट-सरकार की सबसे बड़ी शासन-सभा का नाम 'सोवियटों की अखिल-रूसीय कांग्रेस' (All-Russian Congress of Soviets) है । संपूर्ण शासन इसके ही निश्चय पर अवलंबित हैं। इसका संगठन नगर-सोवियटों (२५,००० निर्वाचकों पर एक प्रतिनिधि के हिसाब से) और गोबर्निया कांग्रेसों (१,२५,००० अधिवासियों पर एक प्रतिनिधि के हिसाब से) के प्रतिनिधियों द्वारा होता है । यह लगभग २,००० सदस्यों की एक बड़ी संस्था है, जो साल में एक बार मिलती है ।

यह 'आल-रशन कांग्रेस ऑव सोवियट्स' (जिसे हम आगे 'ए० आर० सी० एस्' के संक्षिप्त रूप में लिखेंगे) एक कार्यकारिणी चुनती है, जिसे 'आल-रशन सेंट्रल एक्ज़िक्यूटिव कमेटी' (अखिल-रूसी केंद्रीय कार्य-समिति) कहते हैं। इस संस्था को आगे हम 'ए० आर० सी० ई० सी०' के संक्षिप्त नाम से लिखेंगे । यह कार्यकारिणी —'ए० आर० सी० एस्' द्वारा निश्चित कार्य-प्रणाली से साल-भर तक काम करती रहती है । इसमें लगभग ३०० सदस्य होते हैं । इसकी त्रैमासिक बैठकें होती हैं । इसे पश्चिमीय पार्लमेंटों की तरह समझिए—यद्यपि इसकी 'स्पिरिट' उनसे भिन्न है । एक प्रकार से 'ए० आर० सी० एस्' के आदेशानुसार यही राष्ट्रीय शासन का संपूर्ण कार्य करती है।

इस सर्वप्रधान कार्य-समिति के सदस्यों में 'अफ़सरी' (Officialdom) की बू न आ जाय इसलिये विधान में स्पष्ट कर दिया गया है कि—"केंद्रीय कार्य-समिति के प्रत्येक सदस्य को किसी स्थानीय शासन-सभा अथवा प्रधान सभा में जी लगाकर काम करना अनिवार्य होगा ।" इस प्रकार इसके सदस्यों को जनता में मिल-जुलकर काम करना पड़ता है और वे अपने को जनता का सेवक-मात्र समझते हैं तथा उसकी आवश्यकताओं का ज्ञान रखते हैं ।

केंद्रीय कार्य-समिति दो अन्य संस्थाएँ चुनती हैं, जो उसके सम्मुख ज़िम्मेदार हैं, (१) जनता के मंत्रियों की कौंसिल (Council of people's Commissaries) (२) प्रेसीडियम ।

इनमें पहली, अन्य सरकारों की 'एक्ज़िक्यूटिव कौंसिल' की भाँति है। इसका संगठन राष्ट्र के १६ विभागों के अध्यक्षों के मिलने से होता है । यह शासन की सुविधाओं पर विचार और तदनुकूल कार्य करती है । दूसरी—प्रेसीडियम, 'स्टैंडिंग कौंसिल' की भाँति है । यह मंत्रि-मंडल का निरीक्षण करती है । इसकी सम्मति के विरुद्ध मंत्रिमंडल कुछ नहीं कर सकता । इसका कार्य बहुत कुछ वही है, जो अन्य राष्ट्रों में सम्राट् या प्रेसीडेंट का होता है । इसके सदस्य केंद्रीय कार्यकारिणी द्वारा चुने जाते हैं । इस प्रकार कार्य-संचालन करनेवाली मुख्य शासन-संस्था जनता के हाथ में है। वृक्ष रूप में सोवियट-शासन का यह रूप हुआ—

स्थानीय सोवियट
|
(१) नगर सोवियट (२) ग्राम्यसोवियट
|
सोवियटों की 'वोलोस्ट' कांग्रेसें
|
सोवियटों की 'यूज़्द' कांग्रेसें
|
सोवियटों की गोबर्निया कांग्रेसें
|
सोवियटों की 'ओवलास्ट' कांग्रेसें
|
सोवियटों की अखिल-रूसीय कांग्रेस
(सर्वप्रधान शासन-चक्र)
|
अखिल-रूसी केंद्रीय कार्यकारिणी
|
जनता के मंत्रियों की कौंसिल — प्रेसिडियम

संसार के किसी भी वर्तमान शासन-विधान से इस विधान की तुलना कर देखिए, आपको तुरंत मालूम हो जायगा कि क्यों सोवियट-शासन इतना सफल हुआ है और क्यों साम्राज्यवादी राष्ट्र इसे बदनाम करने में चोटी-एँड़ी का पसीना एक कर रहे हैं ।

५. फल

रूस ने नवीन शासन-काल में उन्नति के पथ पर इतनी तीव्र-गति प्राप्त की है कि देखकर आश्चर्य होता है। शिक्षा, साहित्य, कला, विज्ञान, उद्योग, व्यवसाय और कृषि में उसने अभूतपूर्व विकास के उदाहरण उपस्थित करके सभ्यातिसभ्य राष्ट्रों को चकित कर दिया है । हमें तब और आश्चर्य होता है, जब हम देखते हैं कि यह सब सफलता उसने संसार के संपूर्ण शक्तिशाली राष्ट्रों के विरोध और अविश्वास से पूर्ण वातावरण में रहकर

प्राप्त की है। उसकी उन्नति का पथ जन्म-काल से ही काँटों से पूर्ण रहा है और न-जानें भविष्य में कब तक रहेगा। इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी एक अभूत-पूर्व राष्ट्रीय विद्रोह के बाद देश में सुशासन की स्थापना करनेवाले राष्ट्र का नाम जिस सभ्यता के कोश में 'बर्बर' है, वह चाहे जो करिश्मे दिखा सकती है; पर मैं यहाँ थोड़े में यह दिखाने की चेष्टा करूँगा कि सोवियट-शासन में रूस ने क्या उन्नति की है।

अ—कला

१९२० के पहले सोवियट रूस पर लिखनेवाले अधिकांश लेखकों ने लिखा था कि 'बोल्शेविज़्म ने कला का क्रियात्मक भाव नष्ट कर दिया है और ग़रीब रूसियों को उसके पुनर्जीवन की आशा सदैव के लिये छोड़ देनी चाहिए, किंतु इन सात-आठ सालों में ही उन्हें अपने विचारों की निःसारता मालूम हो गई और पिछले सभी लेखकों ने कला और शिक्षा के संबंध में सोवियट-शासन की प्रशंसा से सैकड़ों पेज रँग डाले हैं। १९२० में भी (जब सोवियट-शासन को आरंभ हुए डेढ़ वर्ष से अधिक नहीं हुए थे) बर्टेंएडरसेल की सेक्रेटरी प्रसिद्ध लेखिका कुमारी ब्लैक ने रूस की यात्रा करने के बाद लिखा था—"अन्य क्षेत्रों में बोलशेवी शासन के संगठन के संबंध में जो कहा जाय, पर शिक्षा और कला में तो निश्चय ही उसने अत्यधिक उन्नति की है। जैसा कि कदाचित् कोई क्रांतिकारिणी सरकार न करेगी। इन लोगों ने आरंभ में ही कला की स्वप्रसूत प्रवृत्ति और महत्त्व को समझा था। इसीलिये जहाँ उन्होंने अन्य क्षेत्रों में क्रांति-विरुद्ध उपकरणों को नष्ट किया व दबाया, वहाँ कलाकार को—चाहे वह किसी राजनैतिक विचार व दल का हो—अपना कार्य जारी रखने के लिये पूर्ण स्वतंत्रता प्रदान की। यही नहीं, उनको भोजन और वस्त्रादि के संबंध में विशेष सुविधाएँ दी गईं*।" थिएटर तथा स्थापत्यकला ने पर्याप्त उन्नति की है। उच्च कोटि की चित्रकला की शिक्षा के लिये एक दर्जन से अधिक बड़े कॉलेज खोले गए हैं तथा थिएटर-संबंधी शिक्षा के लिये अनेक स्कूलों का प्रबंध किया गया है। सोवियट-शासन ने नाटक, चित्रकला इत्यादि को एक नवीन दार्शनिक तथ्य से अभिभूत कर दिया है। ग़रीब किसानों में कला-संबंधी सुरुचि जाग्रत करने का प्रयत्न हो रहा है और 'पीज़ेंट म्यूज़ियम' (कृषक-संग्र... में इस समय किमख़ाबी और 'कार्विंग'-संबंधी ... संसार के संग्रहालयों में सर्वोत्तम है।

बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि विदे... सिनेमा की दुनिया में अनेक ऐसे प्रथम कोटि के ... हैं, जो सोवियट-काल की कला-प्रबंधी नई भाव... निर्माणकर्ता हैं। 'बैलेट' में रूसी सदैव से अग्रगा... और आज भी उनका वह स्थान सुरक्षित है। ... लन-कला को ख़ूब समझते हैं। नाट्य-कला-संबंधी ... तथा थिएटर का निरीक्षण करने के बाद एक अंग्रे... ने लिखा था—

"मुझे साम्यवादी कला का एक ऐसा महा... दिखाई पड़ा, जिसमें प्राचीन ग्रीस के नाटकों ... कालिक रहस्य नाटकों तथा शेक्सपीरियन ... महत्ता, विस्तृति और अनंतता होगी।"

कला-संबंधी चारों बड़े कॉलेज राष्ट्रीय कर ... हैं और लड़के स्वयं अपने प्रोफ़ेसर चुन लेते हैं ... कॉलेजों में वर्तमान चित्रकला की भी शिक्षा दी ... है। स्थान-स्थान पर बच्चों के लिये संगीत-भवन ... गए हैं, जिनमें छुट्टी के दिनों में तथा रविवार को ... मुफ़्त में गाना सुनाया जाता है। रूस में सदैव ... कला का अच्छा संग्रह रहा है, पर आज वह ... अधिक—मूल्य और परिमाण दोनों में—है। ... की ट्रेटिकॉवोस्की गैलरी पहले से कहीं अधिक ... है। अलेक्ज़ेंडर के संग्रहों तथा हरमिटेज संग्र... का तो पूछना ही क्या? हेनरी नोवेल ब्रेल्सफ़... गंभीर समालोचक ने रूस का भली भाँति ... करने के बाद लिखा है—

"सोवियट-शासन के लिये सचाई के साथ ... का दावा किया जा सकता है कि कला और ... संबंध में सभ्य जगत् की किसी दूसरी सरकार ... अधिक कार्य किया है।"

ब—शिक्षा

कला की भाँति शिक्षा के क्षेत्र में भी रूस ने ... उन्नति की है। गत दस वर्षों में शिक्षितों की ... दूनी हो गई है। स्थान-स्थान पर 'औद्योगिक ... खोले गए हैं। सरकार जानती है कि एक ... आदमी राष्ट्रीय ख़तरा है। श्रीब्रेल्सफ़र्ड ने लिखा ...

* The theory and practice of Bolshevism.

"बोलशेवियों ने ग़रीब-से-ग़रीब रूसी श्रमिक के बच्चे को वह सब सुविधाएँ, वह सब आराम, वह सब साधन देने का निश्चय किया है, जो योरप में एक मध्यम श्रेणी के सुसंस्कृत और सभ्य कुटुंब के बच्चों को मिलते हैं *।" बच्चों को प्रत्येक क्षेत्र में विशेष सुविधाएँ दी गई हैं, क्योंकि अभी रूस में जो लोग काम कर रहे हैं, वे चाहे जितने उदार हों। पर उनकी संस्कृति का स्रोत तो 'ज़ार-कालिक' ही है। वे इस शासन के 'प्राडक्ट'—उपज नहीं है। अगली संतति वर्तमान रूस की आदर्श अभिव्यक्ति—'एक्सप्रेशन'—होगी। स्थान-स्थान पर बच्चों के गाँव और उपनिवेश बसाए गए हैं, जिनसे शिक्षा की समस्या सुलझाने में बड़ी सहायता मिली है। 'प्रोलेट-कल्ट' नाम की संस्था श्रमिकों और किसानों में कला के प्रति अनुराग उत्पन्न करने की चेष्टा कर रही है।

प्रत्येक प्रांत में स्कूलों की संख्या बढ़ गई है। व्लाडीमीर में प्रारंभिक शिक्षा-संबंधी स्कूलों की संख्या १,७६३ से २,३०० हो गई है। मिडिल स्कूल ४० से ७५ हो गए हैं। जहाँ १६१७ के पूर्व एक लाख विद्यार्थी थे, वहाँ आज इन स्कूलों में दो लाख शिक्षा पा रहे हैं। इस प्रांत में जहाँ केवल एक किंडरगार्डन स्कूल था, वहाँ आज दो-सौ हैं। पहले समस्त प्रांत में २० चाय पीने की दुकानें (वाचनालय के साथ), ४० पुस्तकालय, २ थिएटर, १० सिनेमा थे। पर आज वहीं ६० क्लब, ७५० पुस्तकालय, १७२ ग्राम्यवाचनालय, ४०० संगठित भाषणालय, १,००० अध्ययन करने के भवन, १४० थिएटर, ५० सिनेमा, १५ संगीत-विद्यालय, १२ चित्रकला-संबंधी कालेज तथा १० संग्रहालय हैं!

स—उद्योग और व्यवसाय

शिक्षा तक ही रूस की उन्नति की गति सीमाबद्ध न हुई। इतने थोड़े दिनों में उसने अपने उद्योग और व्यवसाय को भी सुदृढ़ आधार पर स्थापित कर दिया। आज ५,००० से अधिक फ़ैक्टरियाँ सरकार के आधीन काम कर रही हैं और देश की लगभग संपूर्ण आवश्यकताएँ उनसे पूरी हो जाती हैं। खानों, वस्त्र तथा अन्य सब व्यवसायों की उन्नति का पूर्ण उपाय किया गया है। 'अर्थ-शास्त्र-संबंधी एक राष्ट्रीय कौंसिल' खोल दी गई है और उसका विभाग ही अलग कर दिया गया है। यह कौंसिल लगभग ६० विभागों में बँटकर राष्ट्र की संपूर्ण उद्योग और व्यवसाय-शक्ति को सुसंगठित किए हुए है।

श्रमिकों को हवादार कमरे तथा विनोदकर सुविधाएँ की गई हैं। उनके स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान रक्खा जाता है।

द—कृषि, स्वास्थ्य इत्यादि

कृषि की अवस्था भी ख़ूब सुधरी है। संपूर्ण ज़मीन जनता को दे दी गई है, वह आवश्यकतानुकूल अन्न बिना किराया के नौकर रक्खे पैदा कर सकती है; सर्वत्र कृषि के विशेषज्ञ रक्खे गए हैं। स्थान-स्थान पर प्रयोगशालाएँ खोली गई हैं। सब प्रकार की वैज्ञानिक सुविधाओं का प्रबंध किया गया है। यह विशेषज्ञ कृषकों के साथ मिलकर काम करते हैं। हमारे अफ़सरों की भाँति विदेशी भाषा में नोटिसें नहीं निकालते, न उनमें अफ़सरी की बू होती है। कृषक उन्हें अपने मित्र से अधिक नहीं समझता। भूमि की उपज-शक्ति बढ़ाने की पूरी चेष्टा की गई है, और अभी तक बराबर जारी है।

युद्ध के पूर्व रूसी जनता की स्वास्थ्य-संबंधी बातों से जो लोग वाक़िफ़ हैं, वे जानते हैं कि जनता के स्वास्थ्य की कैसी उपेक्षा उस समय की जाती थी। सोवियट-सरकार ने आरंभ में ही इस समस्या की गंभीरता का अनुभव किया। 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विभाग' की स्थापना की गई। सब डॉक्टर राष्ट्रीय कर लिए गए और यह नियम बनाया गया कि जब जो मरीज़ बुलावे, डॉक्टर को उसकी चिकित्सा के लिये जाना होगा। जगह-जगह अस्पताल, प्रयोगशालाएँ, और अस्त्र-चिकित्सालय स्थापित किए गए। अब यह नियम है कि सोवियट रूस का प्रत्येक अधिवासी अस्वस्थ होने पर चिकित्सा का सारा व्यय सरकार से ले सकता है। बच्चों की चिकित्सा का तो सर्वत्र विशेष प्रबंध है।

स्थानाभाव-वश सब बातों की चर्चा करना यहाँ असंभव है, पर यह कहना पड़ेगा कि रूस ने प्रत्येक क्षेत्र में इधर अत्यधिक उन्नति की है। फिर भी वह साम्राज्यवादिनी जातियों के क्रोध का पात्र हो रहा है। उसे असभ्य, जंगली और क्रूर कहनेवालों की कहीं कमी नहीं है। इसका एकमात्र कारण राजनैतिक स्वार्थ है। रूस का आधा से अधिक भाग योरप में फैला होने पर भी उसकी संस्कृति और विचार-धारा बिलकुल एशियाई है। वह जड़वाद का वैसा समर्थक नहीं, जैसे योरपीय राष्ट्र हो रहे हैं।

* The Workers' Soviet Repulic.

ब्रिटेन, इटली, फ़्रांस और अमेरिका यह जानते हैं कि यदि बोल्शेविज़्म सफल हो गया, तो संपूर्ण योरपीय सभ्यता का विनाश निश्चित है; क्योंकि यह वर्तमान योरपीय सभ्यता की जड़ में कुठाराघात कर रहा है। टाल्सटाय ने, जो बीज बोया था, वह आज पौधे के रूप में परिवर्तित हो चुका है और कल—यदि काल के क्रूर आक्रमण से बच गया, तो फल लावेगा, इसमें संदेह नहीं।

श्रीरामनाथलाल 'सुमन'

मान

मीठी बातें कह बरसाती हो सुधा की धार,
नित्य ही नवीन प्रेम-भाव दरसाती हो;
बाँकी चितवन से निहार मुसकाती जब,
हृदय चुराती और सौख्य सरसाती हो
मन है मृदुल नवनीत-सा तुम्हारा, प्रिये!
अश्रु-धारा छोटी बातों पर भी बहाती हो;
छेद डालती हो मेरा मर्म मानकर कैसे,
कैसे तुम इतना निठुर बन जाती हो?

प्रबोधचंद्र

महात्मा कबीरदास और हिंदी-संसार

१—विषय-प्रवेश



वेलिन अंडरहिल पाश्चात्य देश का अत्यधिक प्रसिद्ध विद्वान् है। वह दार्शनिक है और रहस्यवाद का विशेषज्ञ भी। अंडरहिल ने रहस्यवाद के ऊपर कई पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों में उसने महात्मा कबीरदासजी का नाम बड़े आदर के साथ लिया है। और उन्हें एक अच्छा रहस्यवादी स्वीकार किया है। जब पाश्चात्य देश के विद्वानों ने भी महात्मा कबीरदासजी का नाम रहस्यवादियों में आदर के साथ लिया है, तब हिंदी-भाषा-भाषियों का ऐसा न करना अवश्य ही महात्मा कबीरदासजी के साथ घोर अन्याय करना है।

जगत्प्रसिद्ध श्रीरवींद्रनाथजी ठाकुर ने भी कबीरदासजी के सौ पद्यों का अँगरेज़ी में अनुवा है और अपनी भूमिका में उनकी बड़ी प्रशंसा यदि हम लोग महात्मा कबीरदासजी का उ सम्मान न करें, जितना रवींद्र बाबू ने किया है, महात्मा कबीरदासजी के साथ घोर अन्याय कर है, तो और क्या है!

मैंने अपने एक विश्वसनीय मित्र से सुना दक्षिण देश में (तैमिल, तेलगू आदि) में बनाए गये हैं, जिनमें महात्मा कबीरदासजी भी के विशेष पात्रों में हैं। यह सब देखकर यही कहना है कि वास्तव में हिंदी-भाषा-भाषियों ने महात्मा दासजी के साथ घोर अन्याय किया है।

जहाँ तक मैं समझता हूँ कवि—कबीरदास हिंदी में जितना विचार होना चाहिए था, उतना न है; और इसी कारण से महात्मा तथा कवि—कबीर को कवियों की श्रेणी में अभी तक ऊँचा तथा आसन नहीं मिला है। जहाँ तक मैं समझता हूँ दासजी की कविता पर श्रद्धेय श्रीमिश्रबंधुओं के अ रिक्त और किसी ने विचार ही नहीं किया है। काव्य पर इतना कम साहित्य है कि स्वयं कबीरदास अनुयायियों तक ने भी उनके काव्य के यथार्थ नहीं समझा है। यही कारण है कि कबीर-पंथी भी महात्मा कबीरदासजी को उच्च कोटि का कवि स्वीकार करते। अभी हाल ही में कबीरदासजी का नामक ग्रंथ प्रकाशित किया गया है। इसके टी विचारदासजी हैं। विचारदासजी ने इस ग्रंथ में ४६ पृष्ठ की एक भूमिका भी लिखी है।

विचारदासजी ने अपनी भूमिका के ४३वें लिखा है—

"अपने भावों को सर्वसाधारण तक पहुँचाने मात्र उपाय साधारण बोलचाल की (ठेठ) प्रयोग ही है। इसी अभिप्राय से अभ्यास- शिक्षक—प्रायः सभी महात्माओं ने अत्यंत सरल मान) भाषा में अपने विचार प्रकट किए हैं। साहित्य के नियम और बंधनों में नहीं पड़े हैं। कवि और काव्य की दृष्टि से महात्मा वाणियों को जो समालोचक देखते हैं, तथा उनकी

कवि-श्रेणी में उनको हीन अथवा उत्तम स्थान देते हैं, वे भूल करते हैं; क्योंकि आत्मभाव दृष्टिवाले महात्माओं की काव्य-शब्दार्थ-रूप शरीर-दृष्टि नहीं रहती है। आदि।

मैं विचारदासजी के इस लेख का घोर विरोध करता हूँ और उनसे मैं पूछना चाहता हूँ कि आप महात्मा कबीरदासजी के काव्य को कला की कसौटी पर क्यों नहीं कसने देते? क्या आप महात्मा कबीरदासजी को एक उच्च कोटि का कवि नहीं स्वीकार करते? यदि नहीं, तो क्यों? आपको स्पष्ट रूप से इन सब बातों को लिख देना चाहिए। इस लेख-माला द्वारा मैं विचारदासजी को यह बतलाना चाहता हूँ कि महात्मा कबीरदासजी एक उच्च कोटि के कवि भी थे।

मुझे दुःख है कि इन लेखों में मैं श्रद्धेय श्रीमिश्रबंधु, श्रद्धेय श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय तथा श्रद्धेय श्रीरामचंद्रजी शुक्ल से मतभेद प्रकट करूँगा। मैं इन लोगों को बड़ी श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखता हूँ और इन महानुभावों से प्रार्थना करता हूँ कि कृपया आप लोग मेरे इन लेखों पर विचार करें और मेरी ग़लतियों को सुधार दें। यदि इन लोगों के तथा अन्य किसी सज्जन के लेखों से मेरे मत में कुछ भी परिवर्तन होगा, तो मैं प्रसन्नता-पूर्वक अपनी ग़लतियों को पबलिक में स्वीकार करूँगा। अब मैं रहस्यवाद के अंतिम ध्येय के विषय में अत्यंत संक्षेप में वर्णन कर देना अपना प्रथम कर्तव्य समझता हूँ।

२. रहस्यवाद का अंतिम ध्येय

अँगरेज़ी कवि पोप लिखता है—हम सब लोग उस बड़े संपूर्ण के टुकड़े हैं, जिसका शरीर, प्रकृति और जिसकी आत्मा, परमेश्वर है।

जब हम कई भिन्न-भिन्न घटनाओं को देखते हैं, तो उनमें किसी एक ही नियम के खोजने का प्रयत्न अवश्य ही करने लग जाते हैं। इस ब्रह्मांड में अनेक तारे हैं, अनेक ग्रह तथा उपग्रह हैं; परंतु ये सब-के-सब आकर्षण नियम के अनुसार ही व्यवहार करते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान में, तो इस एकीकरण का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। वास्तव में यह एकीकरण सब विद्या और ज्ञान की जड़ है और यही सच्चे ज्ञान का अंत है। इस मार्ग की प्रत्येक सीढ़ी इस ज्ञान के अंत की ओर अवश्य ले जाती है। इसी बात को देखकर दार्शनिक स्टेस कहता है—"संसार की सब वस्तुओं का एक वस्तु से समझाने का प्रयत्न करना मनुष्य का प्रधान और विशेष स्वभाव है। मनुष्य का एक यह भी स्वभाव है कि वह संसार की सब वस्तुओं का अंतिम समझौता ही खोजा करता है और जब तक उसे अंतिम समझौते के विषय में भली भाँति पता नहीं चलता, तब तक वह ठहरता ही नहीं। अतएव दर्शन में हम लोगों को सब पदार्थों को केवल एक ही साधारण, पर्याप्त और प्रथम सिद्धांत से समझाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह भी भली भाँति स्मरण रखना चाहिए कि उस एक ही सिद्धांत से संसार की सब वस्तुएँ स्पष्ट हो जानी चाहिए और वह एक सिद्धांत स्वतः सिद्ध होना चाहिए। वह एक सिद्धांत ऐसा होना चाहिए, जो स्वयं समझाया जा सके और जिसके समझाने में किसी दूसरी बात की आवश्यकता न पड़े। वह ऐसा और अंतिम सिद्धांत होना चाहिए, जिससे अनुभव के प्रत्येक द्वंद्व समझाए जा सकें। एक और अनेक, स्थायी और परिवर्तनशील, द्रव्य और गुण, सुख और दुःख, पाप और पुण्य, सत्य और मिथ्या के प्रश्न बहुत ही प्राचीन हैं और सब देश के तथा सब समय के दार्शनिकों ने इन प्रश्नों के बारे में सोचा है। यह एक ऐसा सिद्धांत होना चाहिए, जो इन सब प्रश्नों को हल कर दे और स्वयं हल हो जाय अर्थात् स्वयं उसके विषय में कोई प्रश्न न उठ सके, वह स्वतः सिद्ध हो। अनुभव की सब बातों के समझाने की इस में शक्ति होनी चाहिए।

प्रायः दार्शनिक लोग अनुभव की बातों को तीन तरह से समझाते चले आए हैं!

प्रथम प्रकार—अनुभव की सब बातों के समझाने के इस प्रथम प्रकार को अज्ञेयतावाद कह सकते हैं। इस मत के माननेवाले कहते हैं, ये सब बातें समझाई नहीं जा सकतीं। परंतु हम लोगों की बुद्धि इस बात को कभी नहीं स्वीकार करती और इस सिद्धांत को उपेक्षा की दृष्टि से देखती है। यदि दर्शन वास्तव में दर्शन-शास्त्र है, तो उसे प्रत्येक बात को अवश्य समझाना चाहिए।

द्वितीय प्रकार—अनुभव की इन सब बातों को समझाने के इस प्रकार को हम लोग द्वैतवाद कह सकते हैं। इसमें हमलोग इन द्वंद्वों की सत्ता को भी एक सत्य पदार्थ मान लेते हैं। द्वैतवादी कहते हैं कि भलाई और

बुराई, पाप और पुण्य, जड़ और चेतन दो भिन्न-भिन्न और स्वतंत्र पदार्थ हैं। दोनों सत्य और आवश्यक हैं और इस संसार के द्वंद्व इसी कारण से हैं। यह कोई दार्शनिक मीमांसा नहीं कही जा सकती, क्योंकि यह एक प्रकार की कल्पना है। यह प्रश्न को समझाना नहीं, उसके कारण को स्वीकार कर लेना है। द्वैतवादी लोग कभी भी इस बात को नहीं समझ पाते कि ये दोनों भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र और सत्य पदार्थ परस्पर कैसे मिल जाते हैं और इन दोनों का संबंध क्या है? द्वैतवादी ज्ञान-शास्त्र के सब विषयों की उलझनों को भी नहीं सुलझा पाते हैं। द्वैतवाद के सिद्धांत के अनुसार पुरुष और प्रकृति का प्रश्न कभी भी हल नहीं हो सकता।

तृतीय प्रकार—इसलिये मस्तिष्क इस ब्रह्मांड की सब बातों को तीसरे प्रकार से समझाता है—और इस प्रकार के तीन भिन्न-भिन्न प्रधान भाग हैं—(१) जड़वाद या प्रकृतिवाद, (२) चिदात्मकत्ववाद और (३) निरपेक्षवाद या ब्रह्मवाद।

प्रकृतिवाद या जड़वाद—जब हम इस संसार में सब स्थानों पर नियम का ही अखंड राज्य पाते हैं और जहाँ देखते हैं, वहाँ नियम-ही-नियम पाया जाता है और पृथ्वी से लेकर छोटे-से-छोटे परमाणु भी नियम के अनुकूल ही काम करते हैं, तब हम ऐसा विश्वास करने लग जाते हैं कि इस संसार में भौतिक और यांत्रिक नियमों का ही अखंड राज्य है। ऐसी दशा में हम लोग ऐसा विश्वास करने लग जाते हैं कि केवल ये ही नियम सत्य हैं। शरीर-धर्म विद्या (physiology) के पंडितों ने अब यह भी सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क (brain) के कामों का प्रभाव मनुष्य के मन (mind) या चित्त पर भी पड़ता है। मस्तिष्क (brain) एक जड़ पदार्थ है और चित्त (mind) चेतन। इसलिये इस संसार का अंतिम सत्य एक जड़ पदार्थ ही हो जाता है। इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं कि इस मत के माननेवाले प्रत्येक देश में हुए हैं। आयोनिया के थेलस से लेकर अनाक्जीमेंस तक सब दार्शनिक जड़वादी थे। भारतवर्ष में भी ऐसे दार्शनिक हो गए हैं, जो पाँच भूतों को ही इस संसार का अंतिम सत्य मानते थे। यूनान देश के ये ही जड़वादी अंत में परमाणुवादी भी हो गए हैं। प्रसिद्ध दार्शनिक हाब्स भी इसी मत का समर्थक है। भौतिक विज्ञान के माननेवालों में ... अधिक लोग इसी मत का समर्थन करते हैं।

परंतु इस सिद्धांत की सहायता से ज्ञान तथा ... का प्रश्न नहीं हल होता। इस सिद्धांत से चैतन्य... प्रश्न भी नहीं हल हो सकता। इन सब प्रश्नों के ... रिक्त और भी कई प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, जो ... सिद्धांत की सहायता से नहीं हल हो सकते।

इसीलिये प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रीन कहता है—"यदि ब्रह्मांड का यांत्रिक और जड़-सिद्धांत ही सत्य हो, तो ... प्रकृति के पुत्र के लिये जड़-प्रकृति का जानना असंभव ...

चिदात्मकवाद—हम सब लोग भली भाँति ... हैं कि हम लोगों का शरीर एक जड़ पदार्थ है और ... लोग यह भी जानते हैं कि हम लोगों में चैतन्य... अवश्य ही है। ऊपर जिस जड़वाद का वर्णन ... गया है, उसमें एक (जड़) को प्रकृति का मूल ... आदि कारण माना गया है। परंतु चिदात्मकत्व... चैतन्यता को ही प्रकृति का मूल मानते हैं। ... पलसन इसी मत का माननेवाला है। पलसन लिखता है— "भीतरी जीवन का अनुभव और घटनाएँ ही जैसा कि ... नता को पता चलता है, प्रथम और केवल सत्य पदार्थ ...

प्रसिद्ध दार्शनिक बर्कले भी इसी मत का माननेवाला था। बर्कले कहता है—"पुरुषों अर्थात् चेतन प... के अतिरिक्त और कोई पदार्थ सत्य है ही नहीं। ... पदार्थों की ही वास्तविक सत्ता है। चेतन पदार्थों ... अतिरिक्त और किसी पदार्थ की सत्ता ही नहीं है। ... अतिरिक्त और जितने पदार्थों की सत्ता मालूम होती है ... वास्तविक सत्ता नहीं; किंतु वास्तविक सत्ता की दशाएँ ...

परंतु यदि बर्कले के सिद्धांत पर अच्छी तरह विचार किया जाय, तो पता चल जायगा कि उ... सिद्धांत अवश्य ही भ्रमात्मक है। वह चेतना को इस विश्व का केंद्र मानता है और समस्त ज्ञान की ... सत्ता स्वीकार करता है। परंतु उसके सिद्धांत से ... सिद्ध होता है कि केवल उन्हीं वस्तुओं की सत्ता ... जिन्हें हम जानते हैं। परंतु इसमें यह प्रश्न उठ... होता है कि संसार के ये पदार्थ हम लोगों के ज्ञान ... बाद या पहले रहते हैं या नहीं? बर्कले के सिद्धांत ... ये प्रश्न हल नहीं हो सकते। इस प्रकार यह सिद्धांत ... द्वंद्वों की उलझन को सुलझाता नहीं, किंतु उसे ...

देता है। इसीलिये प्रोफ़ेसर पेटीसन लिखता है—"इस समस्त प्रकृति को केवल चैतन्यता ही चैतन्यता मानना, केवल विचार-ही-विचार स्वीकार करना अस्वाभाविक है और इससे बुद्धि को संतोष नहीं होता"। दार्शनिक ह्यूम ने भी इसकी न्याय-संगत विवेचना की है। इसके अनुसार ज्ञान के सब विषय, चैतन्यता की दशाएँ हो जाती हैं। इस प्रकार सत्य और मिथ्या, भलाई और बुराई आदि द्वंद्व की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रह जाती और ये सब-के-सब केवल चेतना-संबंधी विषय रह जाते हैं। इसलिये इस सिद्धांत की सहायता से भलाई और बुराई का प्रश्न हल नहीं हो सकता।

निरपेक्ष्यवाद अथवा ब्रह्मवाद

ये दोनों सीमांत सिद्धांत हैं। इनसे हम लोगों को संतोष नहीं हो सकता, इसलिये इस ब्रह्मवाद के सिद्धांत के मानने की आवश्यकता है। निरपेक्ष्यवाद का सिद्धांत वास्तव में ऐसा होना चाहिए, जो अनुभव के लिये भी सत्य हो और जिससे इस विश्व की सब बातें भली भाँति समझाई जा सकें। इसमें जड़ और चेतन दोनों का यथोचित सामंजस्य होना चाहिए। इस सिद्धांत के अनुसार प्रकृति और पुरुष, जड़ और चेतन, दोनों में उचित संबंध होना चाहिए। इस सिद्धांत को संपूर्ण अनुभव के लिये सत्य होना चाहिए और उसके केवल किसी अंश ही के लिये नहीं। प्लेटो इसी सिद्धांत को मानता था, स्पिनोज़ा और हीगल ने भी इसी सिद्धांत को स्वीकार किया था। ग्रीन ने भी इसे माना है और ब्रेडले ने भी इसी का समर्थन किया है। भारतवर्ष में भी श्रीशंकराचार्य के अनुयायी इसी सिद्धांत के समर्थन करनेवाले हैं। इन सब प्रसिद्ध दार्शनिकों ने इस संबंध में केवल एक ही प्रकार से सोचा है। लगभग इन सब प्रसिद्ध दार्शनिकों ने इस बात को स्वीकार किया है कि इस ब्रह्म अथवा निरपेक्ष्य सत्य का सर्वप्रधान स्वभाव विचार है। हम लोगों को इस कथन का अभिप्राय भली भाँति समझ लेना चाहिए। इस विचार से हम लोगों का अभिप्राय उन विचारों से नहीं है, जो अनुभव के आधार पर बनाए गए हैं। इसी कारण से हलदार ने लिखा है—"यह विचार भी है और अनुभव भी है। इसको दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं—अंतिम सत्य अर्थात् निरपेक्ष्य सत्य ऐसा पदार्थ है, जो स्वयं अपना कभी खंडन नहीं कर सकता।"

इसलिये ये सब द्वंद्व वास्तविक नहीं, केवल देखने में ऐसे मालूम पड़ते हैं। क्योंकि इस विश्व में जितने पदार्थ हैं, वे सब-के-सब ठीक-ठीक रूप में होना चाहिए; क्योंकि इस विश्व की सब बातें सत्य हैं। इसलिये इन सब बातों के होने के लिये उस निरपेक्ष्य-सत्य (ब्रह्म) को एक ही होना चाहिए। इसीलिये प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रेडले लिखता है—"वह निरपेक्ष्य-सत्य केवल एक है, जिसके परे और कोई पदार्थ नहीं है।"

परंतु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह निरपेक्ष्य-सत्य भौतिक पदार्थों की तरह एक नहीं है। परंतु यह जीवित एक है, जीते हुए शरीर की तरह एक है। निरपेक्ष्यवादी इस बात का विश्वास करता है कि इन विश्वों की अनेक रूपता के परे एक ऐसा सिद्धांत है, एक ऐसा अप्राकृतिक अनुभवी है, जो इन सब बातों का अनुभव करता है। इस विश्व की, इस ब्रह्मांड की, वही एक-मात्र सत्ता है, वही एक सत्य पदार्थ है, वही एक ब्रह्म है, वही निरपेक्ष्य-सत्य है। वही निरपेक्ष्य-सत्य सबका मूल कारण है और उसी निरपेक्ष्य-सत्य से ब्रह्मांड के सब अनुभव समझाए जा सकते हैं; और वह निरपेक्ष्य-सत्य, स्वतः सिद्ध है। इसी निरपेक्ष्य-सत्य को प्लेटो 'भलाई का विचार' कहकर पुकारता है। इसी को फ़्रांसीसी प्रसिद्ध दार्शनिक 'निरपेक्ष्य-आत्मा', 'निरपेक्ष्य-विषयी' कहता है। इसी को 'स्पिनोज़ा', 'निरपेक्ष्य-तत्त्व' और हीगल 'निरपेक्ष्य आत्मा' कहता है। इसी को ग्रीन 'सार्वभौमिक चैतन्यता' और वेदांती लोग 'ब्रह्म' कहकर पुकारते हैं।

इस निरपेक्ष्य-सत्य का क्या अभिप्राय है? संसार के भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के इस संबंध में क्या मत रहे हैं, उनमें क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं और आज के वर्तमान दार्शनिकों के इस संबंध में क्या विचार हैं? इन प्रश्नों पर फिर कभी विचार किया जायगा। परंतु यहाँ पर इतना लिख देना बहुत ही आवश्यक मालूम होता है कि यही निरपेक्ष्य-सत्य दार्शनिकों की खोज का प्रधान विषय है, यही धार्मिकों की भक्ति का लक्ष्य है; और है यही निरपेक्ष्य-सत्य रहस्यवादियों के अनुभव की वस्तु।

जिस दार्शनिक ने इसे भली भाँति नहीं समझा, वह सच्चा दार्शनिक नहीं। जिस धार्मिक ने इसे प्राप्त नहीं किया, वह सच्चा धार्मिक नहीं और जिस रहस्यवादी ने इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं किया, वह वास्तव में रहस्यवादी नहीं।

रहस्यवादी लोग इसी निरपेक्ष्य-सत्य के अनुभव करने के लिये तपस्या करते हैं, ध्यान लगाते हैं और नाना प्रकार की साधनाएँ करते हैं।

अंत में रहस्यवादियों को उस अंतिम तथा निरपेक्ष्य-सत्य का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है जिसे कुछ लोग ईश्वर, कुछ परमेश्वर, कुछ ब्रह्म और कुछ लोग दूसरे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इसी दशा के संबंध में सेंट विक्टर का रिचर्ड कहता है—"रहस्यवादी की आत्मा विना किसी व्यवधान के, विना किसी परदा के सत्य को देखती है। मनुष्य की चैतन्यता का यही अंतिम ध्येय है, सब कर्मों का यही अंतिम फल है और रहस्यवादियों की यही अंतिम दशा है।"

साधारण लोग इसके संबंध में बहुत ही कम कह सकते हैं, क्योंकि वे इसके संबंध में बहुत कम जानते हैं। परंतु इतना तो सब मानते हैं कि उस एक के अनुभव से संसार के सारे द्वंद्व मिट जाते हैं और सत्य का प्रत्यक्ष, अपरोक्ष और नैसर्गिक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसी संबंध में उपनिषद् भी कहता है—"ब्रह्म में बिलकुल लीन हो जाओ।"

रहस्यवादियों की इस दशा में ब्रह्म कोई पदार्थ नहीं रह जाता, कोई विषय नहीं रह जाता; किंतु एक अनुभव-गम्य बात।

यह कहना अनधिकार चर्चा होगी कि रहस्यवादी महात्मा कबीरदासजी ने, इस निरपेक्ष्य-सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन किया था, या नहीं। परंतु इसमें तो लेश-मात्र भी संदेह नहीं कि स्वयं महात्मा कबीरदासजी इसके संबंध में सिंह की तरह गर्जते हैं और बार-बार डंके की चोट पर हम लोगों को इसका विश्वास दिलाते हैं। उनके कथन तथा उनके अनुयायियों की श्रद्धा तथा विश्वास से पता चलता है कि वे उच्च कोटि के रहस्यवादी थे और सत्य का उन्होंने अवश्य ही प्रत्यक्ष दर्शन किया था।

यदि रहस्यवादियों के इतिहास का विस्तृत अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि संसार के रहस्यवादी मुख्य दो भागों में विभक्त किए जा सकते हैं—प्रथम वे, जो किसी धर्म को मानते हैं और उसी धर्म के नियमों का पालन करते हैं और उसी धर्म के भीतर ही रहकर रहस्यवाद के सिद्धांतों से अवगत होते और उनका अनुभव करते हैं। दूसरे वे हैं, जो किसी विशेष धर्म को नहीं मानते और केवल रहस्यवाद के सिद्धांतों को ही स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, यदि किसी धर्म की कोई बात, इनके अनुभवों के विपरीत होती है, किसी धर्म का कोई सिद्धांत इन्हें भ्रामक मालूम होता है, तो ये खुले शब्दों में उसकी निंदा भी करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में प्रथम वर्ग में वे लोग हैं, जो पहले किसी विशेष मत के अनुयायी और तब रहस्यवादी होते हैं; दूसरे वर्ग में वे हैं, जो पहले रहस्यवादी और तब धार्मिक या अधार्मिक भी होते हैं।

यहाँ पर धार्मिक शब्द का प्रयोग किसी विशेष धर्म के माननेवाले लोगों के अर्थ में ही किया गया है।

इसमें भी लेश-मात्र संदेह नहीं है कि इस संसार में कुछ ऐसे भी रहस्यवादी पाए जाते हैं, जो उक्त दोनों विभागों में से किसी एक में नहीं आ सकते; क्योंकि न तो ये किसी विशेष धर्म के ही माननेवाले होते हैं और न ये अपने को रहस्यवादी ही समझते हैं। परंतु ऐसे लोग भी प्रायः प्रथम या द्वितीय वर्ग में ही समाज द्वारा प्रायः गिन लिए जाते हैं।

इसके अतिरिक्त दर्शन और धर्म के विचार से रहस्यवाद दो भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त किया जाता है। दर्शन में रहस्यवाद के सच्चे स्वभाव तथा लक्षण का वर्णन होता है। धर्म के रहस्यवाद का विषय है वास्तविक अनुभव है। दार्शनिक रहस्यवाद और धार्मिक रहस्यवाद के अंतरों का वर्णन फिर किसी दूसरे लेख में किया जायगा।

रहस्यवाद की चाहे जो परिभाषा गढ़ी जाय, दार्शनिक और धार्मिक रहस्यवाद में चाहे जो अंतर हो, परंतु लेश-मात्र भी संदेह नहीं है कि इन रहस्यवादियों का प्रभाव संसार के मनुष्यों पर अवश्य पड़ा है, और रहस्यवादियों ने संसार के मनुष्यों को अपनी ओर उसी प्रकार आकर्षित किया है, जैसे चुंबक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है।

सेंटजोन का नाम किसने नहीं सुना है! क्या सेंटजोन के नाम से आज इस सभ्य संसार में कोई अभागा अपरिचित है?

कौन नहीं जानता कि इस देवी ने योरप के इतिहास की धारा को बिलकुल दूसरी ओर पलट दिया! कौन नहीं जानता कि इस कुमारी कन्या ने अपनी पवित्र

से एक बार सारे फ्रांस को पवित्र कर दिया और आज भी अनेक आत्माओं को पवित्र कर रही है। बहुत लोग कहते हैं कि यह देवी जीती जला दी गई, अँगरेज़ों ने सेंटजोन के साथ अन्याय किया और उसके ऊपर झूँठा अभियोग लगाकर उसे जला दिया। परंतु देवीजोन की यह मृत्यु अमर होने के लिये थी। इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं है कि देवीजोन का नाम उसके शत्रुओं के ख़ूनी इतिहास के पन्नों में अवश्य लिखा जायगा। परंतु यह बात भी निश्चय ही है कि सारे संसार में सेंटजोन का नाम सर्वदा ही आदर और सत्कार के साथ लिया जायगा। कई शताब्दियों के बाद आज भी देवीजोन के नाम से केवल उन्हीं लोगों को शांति नहीं मिलती, सुख नहीं मिलता और प्रकाश नहीं मिलता, जो उसके धर्म के माननेवाले और उसके देश के रहनेवाले हैं; किंतु उन लोगों को भी जो दूसरे देश के रहनेवाले और दूसरे धर्म के माननेवाले हैं। देवीजोन बहुत दिनों तक संसार के मनुष्यों को नवजीवन प्रदान करती रहेंगी और उनको आध्यात्मिक उन्नति में सहायता देती रहेंगी।

सेंटबरनार्ड और सेंट विक्टर के रिचर्ड के लेखों का प्रभाव कई शताब्दियों तक योरपीय धार्मिक साहित्य पर अवश्य ही पड़ता रहा है। ऐसी कोई भी प्रसिद्ध धार्मिक पुस्तक नहीं, जिन पर इनके लेखों का प्रभाव प्रकट या गुप्त रीति से बहुत दिनों तक न पड़ता रहा हो।

सेंट हिल्डगार्ड का भी लोगों पर कम प्रभाव नहीं पड़ा है। यह असत्य और प्रचलित प्रथाओं का घोर विरोधी था और खुले शब्दों में इन सब बातों की ख़ूब निंदा करता था।

एसिसी का सेंटफ्रेंसिस भी एक प्रधान रहस्यवादी था और इसका भी बहुत लोगों पर बहुत प्रभाव पड़ा है। इसने धर्म-संबंधी अनेक विषयों को विचार-क्षेत्र से निकालकर वास्तविक घटना-क्षेत्र में भेज दिया।

सीना के सेंटकैथरिन ने इटली की राजनीति को ही बदल दिया और सेंटजोन ने सारे योरप के इतिहास को बदल दिया।

पाश्चात्य देश के और भी कई ऐसे ज्वलंत उदाहरण दिए जा सकते हैं, जिनसे यह सिद्ध होगा कि वहाँ भी रहस्यवादी अवश्य हुए हैं और उनका प्रभाव सब लोगों पर पड़ा है।

कहना नहीं होगा कि रहस्यवादी महात्मा कबीरदासजी का प्रभाव भारतवर्ष पर कम नहीं पड़ा है।

रहस्यवाद और भारत के तीन प्राचीन मार्ग

अति प्राचीन काल से हिंदू-धर्म में तीन मार्गों का प्रतिपादन किया गया है—

(१) कर्म-मार्ग, (२) ज्ञान-मार्ग और (३) भक्ति-मार्ग।

(१) कर्म-मार्ग के अनुसार मनुष्यों को अपने कर्तव्य का पालन करने के लिये काम करना चाहिए और उसके फलों की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए।

(२) ज्ञान-मार्ग वह है, जो दार्शनिक पथ भी कहा जा सकता है। माया के ऊपर उठना भी इसी मार्ग के भीतर आ सकता है।

(३) भक्ति-मार्ग वह है, जिसमें परमेश्वर की प्रेम-मय पूजा का विधान है। रहस्यवादियों का मार्ग भी इसी के भीतर आ सकता है।

भारतवर्ष में भक्ति का प्रारंभ ईसा से ४०० वर्ष पहले भी हो चुका था, परंतु सं० पू० ४०० से तो इसका अस्तित्व निश्चित रूप से पाया जाता है। प्रारंभ में भक्ति रहस्यवादमय और सदाचारमय था। इसमें एक ईश्वर की आराधना की प्रधानता थी। भक्त लोग यह भी विश्वास करते थे कि उस ईश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन संभव है। भक्ति-मार्ग में हृदय, अपने घर और उत्पत्ति के विषय में जानना चाहता है और उस ईश्वर का दर्शन करना चाहता है जिसकी वह पूजा करता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ऐसी भक्ति का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। परन्तु धीरे-धीरे बुद्धि के तत्त्वों ने इस हृदय की खोज को कुचल दिया और फिर भक्ति-मार्ग ने ज़ोर नहीं पकड़ा। बारहवीं और चौदहवीं शताब्दी में भक्ति-मार्ग ने फिर ज़ोर पकड़ा। यह एक प्रकार से दार्शनिक मार्ग के विरुद्ध आक्रमण था। इसका ध्येय एक प्राप्त करने-योग्य ईश्वर था। इन लोगों का विश्वास था कि परमेश्वर का प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है। भारत के अनेक पंडितों ने इसकी घोर निंदा की और इसे अवैदिक धर्म तक कह डाला। इस प्रकार इन लोगों ने १२वीं और १४वीं शताब्दी में उस भक्ति-मार्ग को फिर से जीवित कर दिया, जो अति प्राचीन काल में भारतवर्ष में पाया जाता था और जिसे भारतवर्ष के लोगों ने खो दिया था।

तेरहवीं शताब्दी के अंत में श्रीरामानुजजी का प्रभाव

घटने लगा। उसके बाद महात्मा श्रीरामानंदजी उत्पन्न हुए। महात्मा कबीरदासजी इन्हीं के शिष्य थे। श्रीरामानुजाचार्य का भी यह विश्वास था कि परमात्मा से संयोग हो जाने के अनंतर जीवात्मा का अस्तित्व अलग रहता है। श्रीरामानंदजी का भी यही सिद्धांत था। भारतवर्ष में भक्त लोग अब भी पाए जाते हैं और ये विष्णु को अवतार मान कर उनकी पूजा करते हैं। परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये लोग रहस्यवादी हैं, क्योंकि अवतारवाद और रहस्यवाद में बड़ा अंतर है। बहुत लोग इस अंतर को नहीं समझते और इस कारण ये लोग अवतारवादी और रहस्यवादी को एक ही समझने लगते हैं।

महात्मा कबीरदासजी श्रीरामानंदजी के शिष्य थे। यह कवि थे, रहस्यवादी थे और एक बहुत बड़े प्रतिभाशाली व्यक्ति थे।

बहुत लोगों का विचार है कि भारतवर्ष में रहस्यवादी हुए ही नहीं हैं और केवल श्रीरामानंदजी के लेखों में ही रहस्यवाद मिलता है। इसके पहले किसी भी भारतीय लेखक के लेखों में सच्चे रहस्यवाद का अस्तित्व नहीं पाया जाता। इन लोगों का यह भी कथन है कि श्रीरामानंदजी को इस रहस्यवाद का पता सूफ़ियों और ईसाई पादरियों से चला और उन्हीं से महात्मा कबीरदासजी को रहस्यवाद का ज्ञान हुआ। इसके अतिरिक्त बहुत लोगों का यह भी विचार है कि उपनिषद्-काल में भी भारतवर्ष में रहस्यवाद के संबंध में बहुत से लेख मिलते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में इसका अस्तित्व है और श्रीमद्भागवत में रहस्यवाद का अच्छा वर्णन है। वास्तव में बात क्या है ? मैं किसी दूसरे लेख में इन सब बातों पर विचार करूँगा। परंतु यहाँ पर इतना लिख देना अत्यंत आवश्यक जान पड़ता है कि जिस रहस्यवाद का अस्तित्व महात्मा कबीरदासजी के लेखों में पाया जाता है, वह भारतीय रहस्यवाद का एक अत्यंत अधिक प्रधान अंश है, हिंदी-साहित्य का गौरव है और गर्व करने की सामग्री है।

महात्मा कबीरदासजी सर्वदा साधारण जीवन की प्रशंसा किया करते थे और सब प्रकार के साधुओं के विपक्ष में ही अपनी सम्मति दिया करते थे। उनकी यह अटल धारणा थी कि अंतिम सत्य नैसर्गिक प्रेम के विना मालूम ही नहीं हो सकता। प्रेम का महत्त्व रहस्यवाद में बहुत ऊँचा है और महात्मा कबीरदासजी के रहस्यवाद में प्रेम का अस्तित्व पाया जाता है, जो रहस्यवाद के अत्यंत आवश्यक है।

अवध उपा

यमुने!

(१)

यमुने, कलकल क्या करती हो! रोती हो या गाती
बही जा रही कहाँ मौन वन क्यों कुछ नहीं बताती
कहाँ तुम्हारी सखी राधिका, कहाँ तुम्हारे प्यारे
कहाँ गोप-वधुएँ जाती हैं भरने को अब नीर

(२)

पनघट पर अब भीड़भाड़ क्यों वैसी नहीं दिखाती
वह उल्लास-हिलोर कहाँ अब किस तट पर टकराती
कहाँ आजकल मुरलीधर की सुमधुर मुरली बजती
कहाँ ग्वाल-बालों की अनुपम प्यारी टोली सजती

(३)

कहाँ तुम्हारे लता-भवन हैं कहाँ तुम्हारे सघन निकुं
कहाँ भृंग गुंजार कर रहे कहाँ कंज के मंजुल
पहले के आनंद विभव की रही न एक निशानी
मूक व्यथा उर उपजाने को बाक़ी रही कहानी

(४)

अठिलाता था सदन तुम्हारा जो पहले शुचि स्वर्ग-स
वहीं विकलता नृत्य कर रही आज बना वह नरक
जो थे पहले नंदन वन-से हरित पल्लवित कुसुमित
हैं झाड़ी-झंखाड़ वहाँ पर उड़ता रेत भयानक

(५)

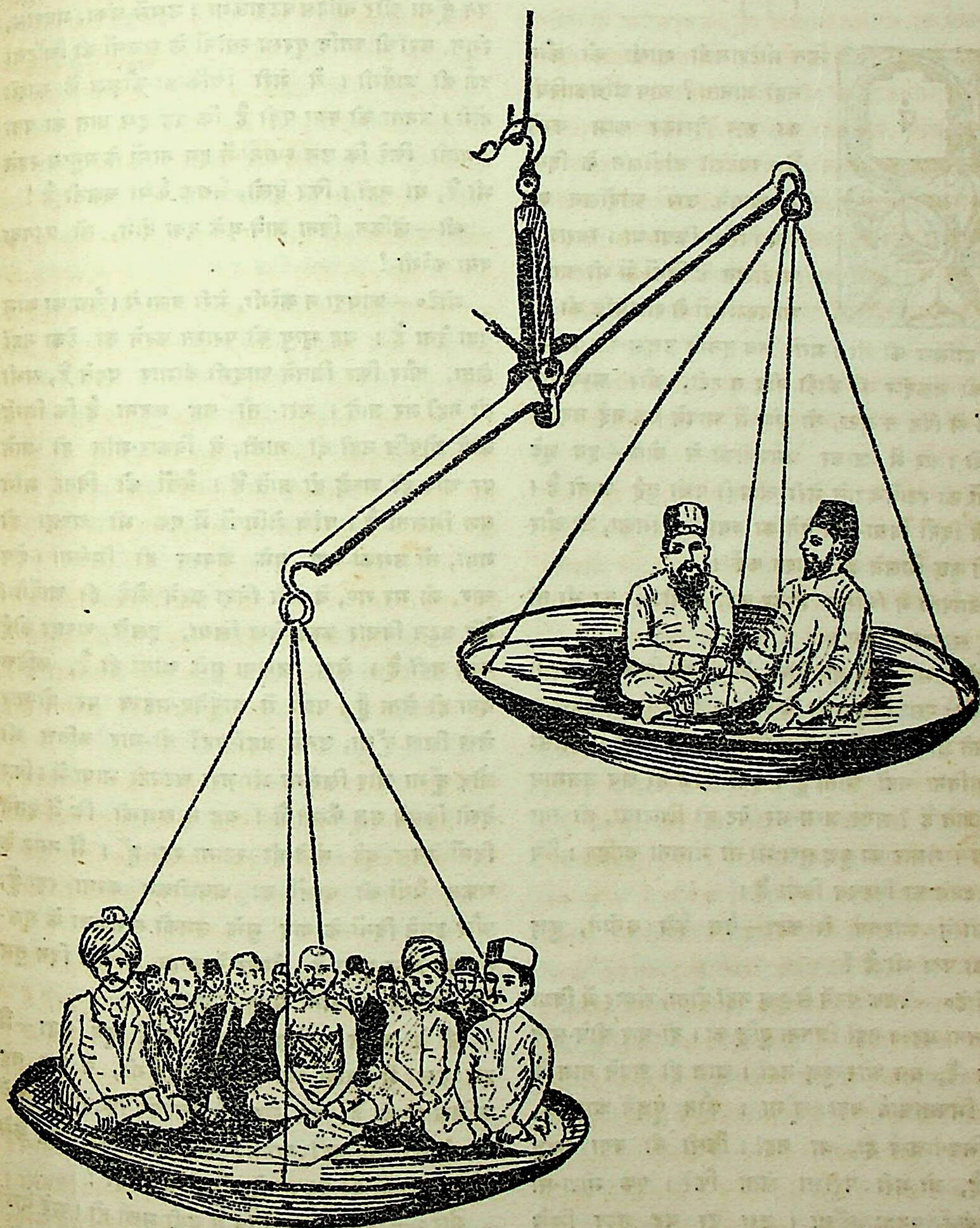
टूट गए हैं पुल कूलों के भग्न भवन दिखलाते
हाय! रमणियों के महलों में, उल्लू शोर मचाते
दिन में 'काँव-काँव' कौए कर चौंथ रहे मुर्दों की
निशि में 'हुवा-हुवा' करके नित चीख़ा करते भयद

(६)

कहाँ वह गया यौवन का रस कहाँ तुम्हारा हास-वि
देखा गया न किस डाही से हाय! तुम्हारा विभव
अब न सुनाओ फिर कलकल स्वर मत यह निर्दय
या तो लाओ नटवर को या भल-भल बहना बंद

सोहनलाल

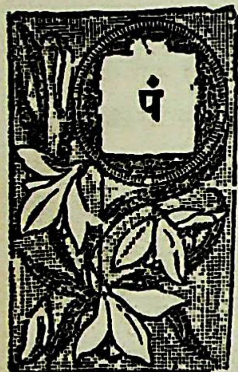
तुलना



शफ़ी—हम हैं तो दो ही, पर उन सबों से भारी हैं।
एक़बाल—जी हाँ, देखिए कितने ऊँचे उठ गए।

मोटेरामजी शास्त्री

(१)



पंडित मोटेरामजी शास्त्री को कौन नहीं जानता ? आप अधिकारियों का रुख़ देखकर काम करते हैं। स्वदेशी आंदोलन के दिनों में आपने उस आंदोलन का ख़ूब विरोध किया था। स्वराज्य-आंदोलन के दिनों में भी आपने अधिकारियों से राजभक्ति की सनद हासिल की थी। मगर जब इतनी उछल-कूद पर भी उनकी तक़दीर की मीठी नींद न टूटी, और अध्यापन-कार्य से पिंड न छूटा, तो अंत में आपने एक नई तदबीर सोची। घर में जाकर धर्मपत्नीजी से बोले—इन बूढ़े तोतों को रटाते-रटाते मेरी खोपड़ी पची हुई जाती है। इतने दिनों विद्या-दान देने का क्या फल मिला, जो और आगे कुछ मिलने की आशा करूँ।

धर्मपत्नी ने चिंतित होकर कहा—भोजनों का भी तो कोई सहारा चाहिए।

मोटेराम—तुम्हें जब देखो, पेट ही की फ़िक्र पड़ी रहती है। कोई ऐसा विरला ही दिन आता होगा कि निमंत्रण न मिलते हों; और चाहे कोई निंदा ही करे; पर मैं परोसा लिए विना नहीं आता हूँ। क्या आज ही सब जजमान मरे जाते हैं ? मगर जन्म-भर पेट ही जिलाया, तो क्या किया। संसार का कुछ सुख भी तो भोगना चाहिए। मैंने वैद्य बनने का निश्चय किया है।

स्त्री ने आश्चर्य से कहा—वैद्य कैसे बनोगे, कुछ वैद्यकी पढ़ी भी है ?

मोटे०—वैद्यक पढ़ने से कुछ नहीं होता, संसार में विद्या का इतना महत्त्व नहीं जितना बुद्धि का। दो-चार सीधे-सादे लटके हैं, बस और कुछ नहीं। आज ही अपने नाम के आगे भिषगाचार्य बढ़ा लूँगा। कौन पूछने आता है, तुम भिषगाचार्य हो, या नहीं। किसी को क्या ग़रज़ पड़ी है, जो मेरी परीक्षा लेता फिरे। एक मोटा-सा साइनबोर्ड बनवा लूँगा। उस पर यह शब्द लिखे होंगे—"यहाँ स्त्री-पुरुषों के गुप्त रोगों की चिकित्सा विशेष रूप से की जाती है।" दो-चार पैसे का हड़, बहेड़ा, आँवला कुछ छानकर रख लूँगा। बस, इस के लिये इतना सामान पर्याप्त है। हाँ, समाचार-पत्रों में विज्ञापन दूँगा और नोटिस बटवाऊँगा। उसमें लंका, रंगून, कराँची आदि दूरस्थ स्थानों के सज्जनों की चिट्ठियाँ दर्ज की जायँगी। ये मेरी चिकित्सा-कौशल के साक्षी होंगे। जनता को क्या पड़ी है कि वह इस बात का पता लगाती फिरे कि उन स्थानों में इन नामों के मनुष्य भी हैं, या नहीं। फिर देखो, वैद्यक कैसी चलती है।

स्त्री—लेकिन विना जाने-बूझे दवा दोगे, तो फ़ायदा क्या करेगी !

मोटे०—फ़ायदा न करेगी, मेरी बला से। वैद्य का काम दवा देना है। वह मृत्यु को परास्त करने का ठेका नहीं लेता, और फिर जितने आदमी बीमार पड़ते हैं, सब तो नहीं मर जाते। मेरा तो यह कहना है कि कोई औषधि नहीं दी जाती, वे विकार-शांत होने पर आप ही अच्छे हो जाते हैं। वैद्यों को विना यश मिलता है। पाँच रोगियों में एक भी अच्छा हो गया, तो उसका यश मुझे अवश्य ही मिलेगा। चार, जो मर गए, वे मेरी निंदा करने थोड़े ही आवेंगे। मैंने बहुत विचार करके देख लिया, इससे अच्छा काम नहीं है। लेख लिखना मुझे आता ही है, बना ही लेता हूँ। पत्रों में आयुर्वेद-महत्त्व पर लेख लिख दूँगा, उनमें जहाँ-तहाँ दो-चार कवित्त जोड़ दूँगा और लिखूँगा भी ज़रा चटपटी भाषा में। देखो कितने उल्लू फँसते हैं। यह न समझो कि मैं इतने दिनों केवल बूढ़े तोते ही रटाता रहा हूँ। मैं सफल वैद्यों की चालों का अवलोकन करता रहा हूँ और इतने दिनों के बाद मुझे उनकी सफलता के मंत्र का ज्ञान हुआ है। ईश्वर ने चाहा, तो एक दिन सिर से पाँव तक सोने से लदी होगी।

स्त्री ने अपने मनोल्लास को दबाते हुए कहा—इस उम्र में भला क्या गहने पहनूँगी, न अभिलाषा ही है, पर यह तो बताओ कि दवाएँ बनाओगे, बनानी भी तो नहीं आतीं, कैसे बनेंगी, दवाओं को पहचानते भी तो नहीं हो ?

मोटे०—प्रिये ! तुम वास्तव में बड़ी मूर्खा हो। आवश्यकता के लिये इन बातों में से एक की भी आवश्यकता नहीं। वैद्य की चुटकी की राख ही रस है, भस्म है, रसायन है।

बस, आवश्यकता है कुछ ठाठ-बाट की। एक बड़ा-सा कमरा चाहिए, उसमें एक दरी हो ताखों पर दस-पाँच शीशियाँ, बोतलें हों। इसके सिवा और कोई चीज़ दरकार नहीं, और सब कुछ बुद्धि आप ही आप कर लेती है। मेरे साहित्य-मिश्रित लेखों का बड़ा प्रभाव पड़ेगा, तुम देख लेना। अलंकारों का मुझे कितना ज्ञान है, यह तो तुम जानती ही हो। आज इस भूमंडल पर मुझे ऐसा कोई नहीं दीखता, जो अलंकारों के विषय में मुझसे पेश पा सके। आख़िर इतने दिनों घास तो नहीं खोदी है! दस-पाँच आदमी तो कवि-चर्चा के नाते ही मेरे यहाँ आया-जाया करेंगे। बस, वही मेरे दल्लाल होंगे। उन्हीं की मारफ़त मेरे पास रोगी आवेंगे। मैं आयुर्वेद-ज्ञान के बल पर नहीं, नायिका-ज्ञान के बल पर धड़ल्ले से वैद्यक करूँगा। तुम देखती तो जाओ।

स्त्री ने अविश्वास के भाव से कहा—मुझे तो डर लगता है, कहीं यह विद्यार्थी भी तुम्हारे हाथ से न जायँ। न इधर के रहो, न उधर के। तुम्हारे भाग्य में तो लड़के पढ़ाना लिखा है, और चारों ओर की ठोकर खाकर फिर तुम्हें वही तोते रटाने पड़ेंगे।

मोटे०—तुम्हें मेरी योग्यता पर विश्वास क्यों नहीं आता?

स्त्री—इसलिये कि तुम वहाँ भी धूर्तता करोगे। मैं तुम्हारी धूर्तता से चिढ़ती हूँ। तुम जो कुछ नहीं हो और नहीं हो सकते, वह क्यों बनना चाहते हो? तुम लीडर न बन सके, न बन सके, सिर पटक कर रह गए। तुम्हारी धूर्तता ही फलीभूत होती है और इसी से मुझे चिढ़ है। मैं चाहती हूँ कि तुम भले आदमी बनकर रहो, निष्कपट-जीवन व्यतीत करो। मगर तुम मेरी बात कब सुनते हो।

मोटे०—आख़िर मेरा नायिका-ज्ञान कब काम आवेगा?

स्त्री—किसी रईस की मुसाहिबी क्यों नहीं कर लेते? जहाँ दो-चार सुंदर कवित्त सुना दोगे, वह ख़ुश हो जायगा और कुछ-न-कुछ दे ही मरेगा। वैद्यक का ढोंग क्यों रचते हो!

मोटे०—मुझे ऐसे-ऐसे गुर मालूम हैं, जो वैद्यों के बाप-दादों को भी न मालूम होंगे। और सभी वैद्य एक-एक दो-दो रुपए पर मारे-मारे फिरते हैं। मैं अपनी फ़ीस ५) रखूँगा, उस पर सवारी का किराया अलग। लोग यही समझेंगे कि यह कोई बहुत बड़े वैद्य हैं, नहीं तो इतनी फ़ीस क्यों होती।

स्त्री को अबकी कुछ विश्वास आया, बोली—इतनी देर में तुमने एक बात मतलब की कही है। मगर यह समझ लो, यहाँ तुम्हारा रंग न जमेगा, किसी दूसरे शहर को चलना पड़ेगा।

मोटे०—(हँसकर), क्या मैं इतना भी नहीं जानता। लखनऊ में अड्डा जमेगा अपना। साल-भर में वह धाक बाँध दूँ कि सारे वैद्य गर्द हो जायँ। मुझे और भी कितने ही मंत्र आते हैं। मैं रोगी को दो-तीन बार देखे बिना उसकी चिकित्सा ही न करूँगा। कहूँगा, मैं जब तक रोगी की प्रकृति को भली भाँति पहचान न लूँ, उसकी दवा नहीं कर सकता। बोलो कैसी रहेगी?

स्त्री की बाछें खिल गईं, बोली—अब मैं तुम्हें मान गई। अवश्य चलेगी तुम्हारी वैद्की, अब मुझे कोई संदेह नहीं रहा। मगर ग़रीबों के साथ यह मंत्र न चलाना, नहीं तो धोखा खाओगे।

(२)

साल-भर गुज़र गया।

भिषगाचार्य पं० मोटेरामजी शास्त्री की लखनऊ में धूम मच गई। अलंकारों का ज्ञान तो उन्हें था ही, कुछ गा-बजा भी लेते थे, उस पर गुप्त रोगों के विशेषज्ञ, रसिकों के भाग्य जागे। पं० जी उन्हें कवित्त सुनाते, हँसाते और बलकारक ओषधियाँ खिलाते, और वे रईसों में, जिन्हें पुष्टिकारक ओषधियों की विशेष चाह रहती है, उनकी तारीफ़ों के पुल बाँधते। साल ही भर में वैद्यजी का वह रंग जमा कि बायद व शायद। गुप्त रोगों के चिकित्सक लखनऊ में एकमात्र वही थे। गुप्त रूप से चिकित्सा भी करते। विलासिनी, विधवा रानियों और शौक़ीन, अदूरदर्शी रईसों में आपकी ख़ूब पूजा होने लगी। किसी को अपने सामने समझते ही न थे।

मगर स्त्री उन्हें बराबर समझाया करती कि रानियों के झमेले में न फँसो, नहीं एक दिन पछताओगे।

मगर भावी तो होकर ही रहती है, कोई लाख सम-झाए-बुझाए। पंडितजी के उपासकों में बिड़हल की रानी भी थीं। राजा साहब का स्वर्गवास हो चुका था। रानी साहिबा न-जाने किस जीर्ण रोग में ग्रस्त थीं। पंडितजी उनके यहाँ दिन में पाँच-पाँच बार जाते। रानी साहिबा उन्हें एक क्षण के लिये भी अपने पास से हटने न देना चाहती थीं। पंडितजी के पहुँचने में ज़रा

भी देर हो जाती, तो बेचैन हो जातीं। एक मोटर नित्य उनके द्वार पर खड़ी रहती थी। अब पंडितजी ने ख़ूब केंचुल बदली थी। तंज़ेब की अचकन पहनते, बनारसी साफ़ा बाँधते और पंप जूता डाटते थे। मित्रगण भी उनके साथ मोटर पर बैठकर दनदनाया करते। कई मित्रों को रानी साहिबा के दरबार में नौकर रखा दिया। रानी साहिबा भला अपने मसीहा की बात कैसे टालतीं।

मगर चर्ख़े अक़ाकार और ही षड्यंत्र रच रहा था।

एक दिन पंडितजी रानी साहिबा की गोरी-गोरी कलाई पर एक हाथ रक्खे नब्ज़ देख रहे थे, और दूसरे हाथ से उनके हृदय की गति की परीक्षा कर रहे थे कि इतने में कई आदमी सोंटे लिए हुए कमरे में घुस आए और पंडितजी पर टूट पड़े। रानी ने भागकर दूसरे कमरे में शरण ली और किवाड़ बंद कर लिए। पं० जी पर बेभाव पड़ने लगी। यों तो पंडितजी भी दम-ख़म के आदमी थे, एक गुप्ती सदैव साथ रखते थे, पर अब धोखे में कई आदमियों ने घर दबाया, तो क्या करते। कभी इसका पैर पकड़ते, कभी उसका। 'हाय-हाय' का शब्द निरंतर मुँह से निकल रहा था, पर उन बेरहमों को उन पर ज़रा भी दया न आती थी। एक आदमी ने एक लात जमाकर कहा—इस दुष्ट की नाक काट लो। दूसरा बोला—इसके मुँह में कालिख और चूना लगाकर छोड़ दो। तीसरा—क्यों वैद्यजी महाराज, बोलो, क्या मंज़ूर है ? नाक कटवाओगे ? या मुँह में कालिख लगवाओगे ?

पंडित—हाय ! हाय ! मर गया, और जो चाहो करो, मगर नाक न काटो।

एक—अब तो फिर इधर न आवेगा ?

पंडित—भूलकर भी नहीं सरकार, हाय मर गया।

दूसरा—आज ही लखनऊ से रफ़ूचक्कर हो जाओ नहीं तो बुरा होगा।

पंडित—सरकार मैं आज ही चला जाऊँगा। जनेऊ की शपथ खाकर कहता हूँ, आप यहाँ मेरी सूरत न देखेंगे।

तीसरा—अच्छा भाई, सब कोई इसे पाँच-पाँच लातें लगाकर छोड़ दो।

पंडित—अरे सरकार मर जाऊँगा। दया करो।

चौथा—तुम-जैसे पाखंडियों का मर जाना ही अच्छा। हाँ, तो शुरू हो।

पँच-लत्ती पड़ने लगी। धमाधम की आवाज़ें आने लगीं। मालूम होता था नगाड़े पर चोट पड़ रही है। हर धमाके के बाद एक बार हाय ! की आवाज़ आती थी। मानो उसकी प्रतिध्वनि हो।

पंच-लत्ती-पूजा समाप्त हो जाने पर, लोगों ने रामजी को घसीटकर बाहर निकाला और ... बैठाकर घर भेज दिया। चलते-चलते चेतावनी दे ... प्रातःकाल से पहले भाग खड़े होना, नहीं तो ... इलाज किया जायगा।

(३)

मोटेरामजी लँगड़ाते, कराहते, लकड़ी टेकते ... गए और धम-से चारपाई पर गिर पड़े। स्त्री ने ... कर पूछा—कैसा जी है ? अरे तुम्हारा क्या हाल ... हाय-हाय, यह तुम्हारा चेहरा कैसा हो गया है !

मोटे०—हाय ! भगवन् !! मर गया !!!

स्त्री—कहाँ दर्द है ? इसी मारे कहती थी, ... न खाओ। लवणभास्कर ले आऊँ ?

मोटे०—हाय ! दुष्टों ने मार डाला। उसी ... के कारण मेरी दुर्गति हुई। मारते-मारते सभों ने ... निकाल लिया।

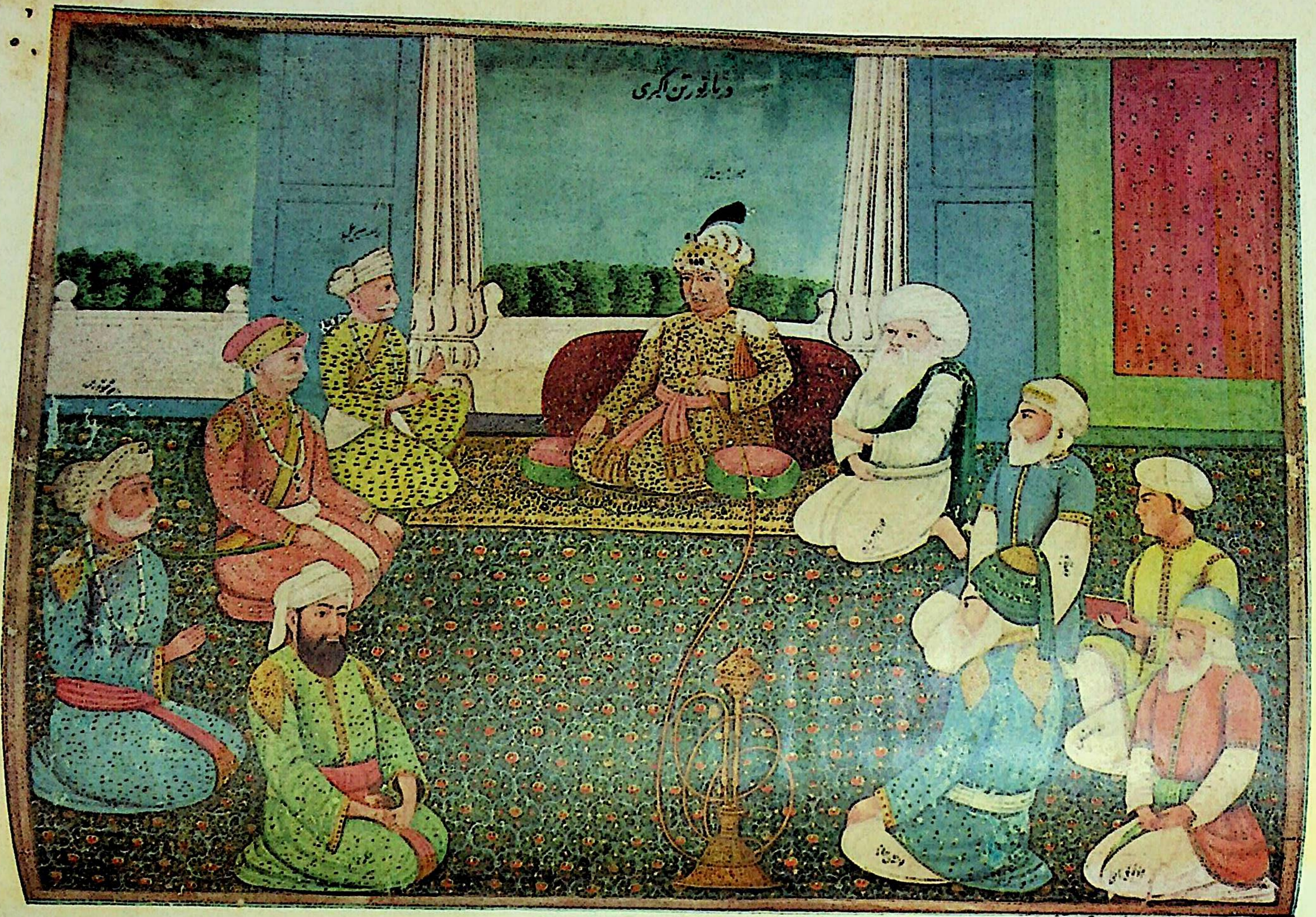
स्त्री—तो यह कहो कि पिटकर आए हो। हाँ, ... हो। अच्छा हुआ। हो तुम लातों ही के देवता। ... थी कि रानी के यहाँ मत आया-जाया करो, ... कब सुनते थे।

मोटे०—हाय-हाय ! राँड़ तुझे भी इसी दम ... की सूझी। मेरा तो बुरा हाल है और तू कोस रही ... किसी से कह दे ठेला-वेला लावे, रातों-रात ... भाग जाना है, नहीं तो सवेरे प्राण न बचेंगे।

स्त्री—नहीं अभी तुम्हारा पेट नहीं भरा, ... दिन और यहाँ की हवा खाओ। कैसे मज़े से ... पढ़ाते थे, हाँ, नहीं तो, वैद्य बनने की सूझी। ... अच्छा हुआ। अब उम्र-भर न भूलोगे। रानी ... कि तुम पिटते रहे और उसने तुम्हारी रक्षा न की।

पंडित—हाय-हाय ! वह चुड़ैल तो भाग ... उसी के कारण ! क्या जानता था कि यह हाल ... नहीं तो उसकी चिकित्सा ही क्यों करता।

स्त्री—हो तुम तक़दीर के खोटे। कैसी वैद्यी ... गई थी, मगर तुम्हारी करतूतों ने सत्यानाश मार ...



अकबरी दरबार के नवरत्न

[illegible]

आख़िर फिर वही पढ़ौनी करना पड़ी। हो तक़दीर के खोटे।

* * *

प्रातःकाल मोटेरामजी के द्वार पर टेला खड़ा था और उस पर असबाब लद रहा था। मित्रों में एक भी नज़र न आता था। पंडितजी पड़े कराह रहे थे और स्त्री सामान लदवा रही थी।　　प्रेमचंद

सूक्ति-सुधा

(१)

तमक चली, तमकर चली, वा तमसा के तीर;
उमड़े वन घन-श्याम लखि, उमड़ी तन-मन पीर।

(२)

ज्योति-भरे, जीवन-भरे, चल-चखअचल दिखाहिं;
पय-तड़ाग में मानिए, श्याम—मीन उतराहिं।

(३)

दिन-दूनी, निशि चौगुनी, आभा अधिक दिखाय;
गात निहारत ही दिवस, वार सँवारत गाय।

(४)

हरषि दान विधि उर दियो, सिर मान्यों उपकार!
भर घमंड ऊँचे उठे वे, ये लचे सभार!!

(५)

बूतें ऊपर भार भी, कत छूते बेकाज;
अवगुन धन ते मैं धनी, तुम बस दीन-निवाज।

श्रीधर वात्सल्य

खुदा और शैतान *

पहला एक्ट

मज़दूर की स्त्री—हाय-हाय! मर जाऊँगी। अब नहीं बचती, मेरी बच्ची को कौन सँभालेगा?

मज़दूर—(स्वगत) आज तीन दिन से मरना-मरना कर रही है, कमबख़्त मरती भी तो नहीं। (स्त्री से) क्योंसीता की अम्मा, राम-राम कहो, मरने का नाम क्यों लेती हो; अभी ठीक हो जाओगी। जाऊँ, फिर दवा ले ही आऊँ?

स्त्री—हाय, दवा तो लानी ही होगी, आज तो न बचूँगी। देखो, सीता जाग रही है, ज़रा उसे थपक दो।

मज़दूर—(मन में) अर्थात् गला घोंट दो (थपकता है) सीता की अम्मा, एक ही तो रुपया है, फिर उसको भुना लूँ? तू जीती है, तो रुपए बहुत आवेंगे।

स्त्री—हाय, बहुत ज़ोर का दर्द है, मरी जाती हूँ, जाओ, दवाई ज़रूर लाओ।

मज़दूर—(मन में) क्यों नहीं ज़रूर लाऊँगा, केवल एक ही रुपया तो रह गया है, उसको भी खो दूँ, तो पहाड़ में जाऊँ। जाता हूँ, लौट के कह दूँगा, डॉक्टर साहब दुकान पर नहीं हैं। कम्पाउंडर ने कहा है कि गरम-गरम रेत से सेंक दो। (स्त्री से) अच्छा, जाता हूँ।

(मज़दूर जाता है)

स्त्री—कैसा प्यारा और सज्जन आदमी है! आज चार रोज़ से मैं पड़ी हूँ, बराबर सेवा कर रहा है। फिर पड़ोसिन को मिन्नत स्माजत करके ले आता है, और दोनों मेरी देखभाल करते हैं। राम करे मुझे भी कोई और काम मिल जाय, तो मैं भी कुछ कमाऊँ, सीता को अच्छे-अच्छे कपड़े पहिनाऊँ और इनको भी दिवाली पर अपने जोड़े हुए रुपयों में से कोट बनवा दूँ; पर क्या करूँ, रामजी की हमारे ऊपर कृपा ही नहीं होती। उफ़, उफ़! फिर दर्द उठा, मर गई हाय! हाय!

(पड़ोसिन आती है) क्यों सीता की अम्माँ, क्यों-क्यों, अरी काहे को मरी जाती है, ज़रा धीरज धर।

स्त्री—आओ, बहन आओ, ख़बर तो लेती हो, अब तुम आईं, तो सहारा होगया, अब नहीं मरूँगी। पर क्या करूँ, दर्द ज़रा भी तो चैन नहीं लेने देता।

पड़ो०—(मन-ही-मन) निगोड़ी बकती है, मरती भी नहीं। आज चार रोज़ से, प्यारे जोधा के गले में बाँहें नहीं डालीं, मुई खाट पर पड़ी रहती है। न मरे, न माँचा छोड़े। दीदे फाड़-फाड़कर मेरी ओर देखती क्या है।

स्त्री—हाय, बहन ज़रा पेट मल तो दो।

पड़ो०—अच्छा बहिन, और यह हाथ हैं ही किसलिये। (मन में) पेट में छुरी न भोंक दूँ। मुई डाइन, मुझसे पेट मलवाती है, और वह जो तेरा यार है, वह किस दिन काम आवेगा। मैं क्या तेरी बीमार पुरसी को आती हूँ? अरी पगली, मैं तो प्यारे जोधा से आँखें मिलाने, उससे दो-दो मीठी-मीठी बातें करने आती हूँ। बस, इतना ही हो जाय तो बहुत है।

(सेठ का लड़का आता है) महराजिन! मह-

* इस एकांकी नाटक में लेखक ने 'पाप' का बहुत ही तात्त्विक विवेचन किया है। बर्नार्डशा की चुटकियों का कुछ मज़ा मिल जाता है।　　संपादक।

राजिन ! अरी महराजिन, तू यहाँ बैठी है ? (हँसकर) हम लोगों ने क्या पाप किया है, जो हम भूखों भी मरें और रुपए भी दें, और तुम यहाँ गप्पें लड़ाओ ।

महराजिन—(कटाक्ष से देखकर) और क्यों बाबूजी हमने क्या पाप किया है कि दिन निकलते ही बिना स्नान, पूजा-पाठ किए आपके पीछे मारी-मारी फिरें ।

युवक—(मुस्कराते हुए) क्या तलब नहीं पाती हो ?

पड़ो०—क्या तलब प्रातःकाल छः बजे से काम करने के लिये मिलती है ?

सेठ का ल०—तो मैंने यह कब कहा कि हर रोज़ सुबह आ जाया करो । आज गाड़ी पर जाना था, इसलिये खाना जल्दी चाहिए । सेठजी कहते हैं, खाना बनवा के साथ ले चलेंगे । इसीलिये तुम्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ आ पहुँचा ।

पड़ो०—बहुत अच्छा बाबूजी, चलिए मैं आती हूँ ।

युवक—नहीं, साथ चलो । ताँगा लाया हूँ, बाहर खड़ा है ।

मह०—हूँ (मन में) बचाजी मैं सब कुछ जानती हूँ, पर झाँसे हमको न दो । तुम्हारे क़ाबू में कदापि न आऊँगी । कल का लौंडा और मैं इसकी अम्मा के बराबर । अस्तु, देखो तो ! अभी क्या-क्या रंग दिखाता है ।

युवक—चलो, फिर चुप हो गईं (टकटकी लगाकर मन में) बड़ी बदमास है, बहुत ख़राब करती है, ख़ूब चकराती है, न पैसे ही से क़ाबू में आती है, न ख़ुशामद से, न साफ़ जवाब ही देती है । हे ईश्वर ! कोई उपाय कर (पड़ोसिन से) उठो कब तक राह दिखाओगी ।

पड़ो०—चलिए । (दोनों जाते हैं)

दूसरा एक्ट

राजा साहब—सवाल यह है कि उसकी क़लम को लिखने से बंद करना है, तरीक़े की legality से कुछ मतलब नहीं । मैं समझ लूँगा ।

प्राइवेट सेक्रेटरी—जनाबआली ! यह तो दुरुस्त है, और जैसा आप चाहते हैं, हो सकता है । मैंने केवल बहस के ख़याल से और पेशबंदी के लिहाज़ से इसकी क़ानूनी सूरतों को हुज़ूर के सामने रक्खा है ।

रा० सा०—अच्छा किया । अब यह कहो, तुम इसकी क्या तदबीर सोचते हो ?

प्रा० से०—जनाबआली ! मेरे ख़याल में तो निहायत ही सहल तरीक़ा यह है कि मेरे एक दोस्त हैं, जो आज-कल अवध होटल में ठहरे हुए हैं । उनकी पुरानी मुलाक़ात है । वह उसको होटल में बुला शराब वग़ैरह पिलाएँ ।

रा० सा०—तो क्या बदमाश शराब भी पीता

प्रा० से०—न सिर्फ़ शराब ही पीता है, बल्कि भी खेलता है और अच्छा चालाक खिलाड़ी है ।

रा० सा०—हाँ, तभी तो इतने बदमाश उसमें हैं ।

प्रा० से०—जी हुज़ूर, उन्हीं के बल-बूते पर आपके ख़िलाफ़ लिखने की ज़ुर्रत करता है और दारी की सब ख़बरें भी तो इन्हीं शैतानों के ज़ उसे मिलती रहती हैं ।

रा० सा०—हाँ, तो फिर ?

प्रा० से०—शराब पीने के बाद मेरा दोस्त उसके जेब में कोकीन की दस-पाँच पुड़ियाँ डा उसके थोड़ी ही देर बाद पुलिस वहाँ आए और तलाशी ले, और कोकीन-फ़रोशी में एडीटर चालान हो जाय । जेल की हवा खाएँगे, तो होश लग जाएँगे । जिस जेल में जावेंगे, वहाँ के जेलर दे दिलाकर उसकी ख़ातिरदारी का ख़ूब इंतज़ाम दिया जावेगा ।

रा० सा०—मगर मुमकिन है, होटलवाले ख़िलाफ़ गवाही दें ।

प्रा० से०—नहीं जनाब, होटलवालों को सख़्त ज़रुरत है । एक-सौ रुपए का नोट दिखला तो वह यहाँ तक कह देगा कि हाँ, सरकार ! दफ़ा मेरे नौकरों के हाथ कोकीन बेची है ।

रा० सा०—सचमुच ?

प्रा० से०—हुज़ूर कहें, तो खड़े-खड़े दो-चार से उसका गला दबवा दूँ, उसके होटल में खाने दूँ, नौकरों के ज़रिए से उसे ज़हर खिलवा दूँ । आपने क्या कहा ! होटलवालों को आपकी ख़ातिर है, या एक भिखमंगे अख़बारनवीस की ।

रा० सा०—भाई, जैसी तुम्हारी मर्ज़ी हो करो । इस बदज़ात ने हमें बहुत बदनाम कर दिया है । कौंसिल में जाता हूँ, तब सब यार-दोस्त पूछते हैं क्या मामला है । दो-एक ने सलाह दी थी कि सौ से उसका मुँह बंद कर दो । उनको तो मैंने

कर चुप कर दिया कि बकने दो, हाथी को देखकर कुत्ते भूँकते ही हैं। मगर ख़ुदा की क़सम, बहुत शर्मिंदगी होती है।

प्रा० से०—जनाब ! मैंने तो पहले ही अर्ज़ कर दिया था कि ख़तरनाक आदमी है !

रा० सा०—मगर मियाँ यह रक़म भी तो बहुत ज़्यादा माँगता था, दस हज़ार मैं कहाँ से लाऊँ ?

प्रा० से०—हुज़ूर ! यही ठीक रहेगा, इस तरह होटल, पुलिस और दूसरे लोगों को दे-दिलाकर १०००) से ज़्यादा ख़र्च न होगा।

रा० सा०—ठीक है, मगर कील-काँटे से ख़ूब लेस कर लेना, ऐसा न हो लेने के देने पड़ जायँ।

प्रा० से०—हुज़ूर ! भला यह भी कोई बात है। दशहरा आ ही रहा है, फ़साद तो होगा ही, तरफ़ैन तुले बैठे हैं। बस उसी में छुरी भुकवा दूँगा, वह हज़रत तो ऐंठते निकला ही करते हैं।

रा० सा०—क्या सचमुच फ़साद होगा ?

प्रा० से०—अजी, ज़रूर होगा, न कैसे हो, दोनों पार्टियों को दिल का ग़ुबार निकालना है।

(दरवाज़े पर खटखट होती है)

प्रा० से०—कौन है ?

(आवाज़)—हुज़ूर ! मैं हूँ, अहमदहुसैनख़ाँ।

प्रा० से०—आओ।

अहमदहुसैन—(आता है) तस्लीमात अर्ज़ है, हुज़ूर आली, आदाब अर्ज़ जनाब।

रा० सा०—कहो कैसे आए ?

अ० हु०—हुज़ूर, दो आदमी आज फिर कुछ काग़ज़ एडीटर इंसाफ़ के दफ़्तर में दे गए हैं।

रा० सा०—आज ?

अ० हु०—जी हाँ, आज सवेरे ही।

रा० सा०—और कुछ ख़बर है किसी मामले में ?

अ० हु०—हुज़ूर, ऐसा मालूम होता है कि नई बेगम-साहिबा के बारे में कुछ ख़बर देने आए थे।

रा० सा०—हूँ, और ?

अ० हु०—हुज़ूर, और तो कुछ नहीं।

रा० सा०—तो जाओ।

(अहमदहुसैन जाता है)

रा० सा०—(मन में) यह लोग शरारत से बाज़ नहीं आते। मगर मैं भी जब तक दम में दम है, जमीला को अपने पास से जुदा न होने दूँगा, चाहे मेरी सारी ज़मींदारी ही क्यों न बरबाद हो जाय (सेक्रेटरी से) अहसान, क्या कहते हो।

प्रा० से०—हुज़ूर ! कहना क्या है, मेरे ख़याल में जब तक महमूद ज़िंदा है, वह कोई-न-कोई फ़ितना खड़ा करता ही रहेगा।

रा० सा०—मगर उसको हम कैसे दबा सकते हैं, वह हमारे देहात से कब का आ चुका है। वहाँ अब न उसका कोई रिश्तेदार है, न जायदाद।

प्रा० से०—देखिए जनाब, कोई तरकीब निकालते हैं। सरेदस्त तो उस ताज़ा इत्तिला को छपने से रुकवाना चाहिए। इजाज़त हो, तो मैं होटल अभी हो आऊँ ?

रा० सा०—जल्द कुछ इंतज़ाम करो, ठहरो मैं भी कपड़े बदल कर आता हूँ, तुम्हें होटल के पास उतार दूँगा।

(जाते हैं)

प्रा० से०—(सिगरेट सुलगाकर) वाह रे औरत, सच है ! दुनिया में सबसे बदनसीब इंसान एक ख़ूबसूरत औरत है, यह ग़लत है कि आशिक़ सबसे ज़्यादा दुखी होता है। आदमी को जान, माल और दौलत से प्यारी है, और अपनी इज़्ज़त और नामूस जानसे भी अज़ीज़। हसीन औरतों की नामूस कहाँ रह जाती है ? जमीला चमार के यहाँ पली, वहाँ उस पर किस-किस की ललचाई नज़रें न पड़ी होंगी, किस-किस के दिल उछल-उछलकर, तड़प-तड़पकर उस पर न गिरे होंगे ? फिर बैरिस्टर महमूद ने उसको घर में डाल लिया। क्या वह महमूद के घरवालों की नफ़रत और दुश्मनी का निशाना न हुई होगी ? वहाँ से फिर चमार के यहाँ पहुँची। उसने किसी और चमार पट्ठे को दी, वहाँ उसके साथ क्या न बीती होगी। अब हमारे राजा साहब हैं कि उसकी एक-एक अदा पर हज़ारों-लाखों निछावर करने को तैयार हैं, और ख़ून में हाथ रँगने तक से दरेग़ न करेंगे, अगर मामला यों ही कुछ और तूल पकड़ गया। मनचले तो हाँ हैं हीं, ख़ुद ही गोली मार देंगे, एडीटर और महमूद दोनों को। इस वक़्त तो मेरी क़ानूनी गिरिफ़्त की बातों से ज़रा सहमे हुए से हैं, मगर ख़ैर जमीला के बारे में तो सोचो। भाई, अगर औरत बदनसीब है, तो सबसे

ज़्यादा ख़ुशनसीब भी तो है। ख़ुदा ने उसको वह बेहिसाब चंचलता दी है कि तमाम बदनामी और दुख एकदम में भूल जाती है। हाँ, भूल जाती है। शर्त यह कि मुहब्बत की निगाह की शराब उसे पीने को मिले। राजा साहब तो उसे जी-जान से ज़्यादा प्यार करते हैं, मगर वह कब यक़ीन करती होगी, और फिर मुमकिन है, उसे राजा साहब से मुहब्बत न हो। मेरे ख़याल में तो महमूद-जैसा हसीन ख़ाविंद उसे भी न नसीब होगा। और महमूद बेचारे को देखो, क्या हालत हो रही है। भाई, इश्क़ बुरा है। दिल को शायद इससे कुछ मज़बूती और गहराई मिलती हो, मगर देह के लिये, मन के लिये बुद्धि के लिये, तो यह विष के समान है। कदाचित् उन्हें उद्दीपन प्रदान कर देता हो।

रा० सा० (आते हैं) चलो भाई, मैं तैयार हूँ। ज़रा मोटरवाले को तो आवाज़ देना। सभी नौकर कहीं बाहर गए हुए हैं (प्राइवेट सेक्रेटरी जाता है)। (दिल में) या ख़ुदा, क्या तेरी नज़रों में मुहब्बत भी कोई गुनाह है कि मुझ पर आफ़त-पर-आफ़त नाज़िल हो रही है। एक एडीटर के दिल में यह शैतान कहाँ से पैदा हो गया, जो दम नहीं लेने देता। इस हज़ार मुँहवाले दुश्मन को गोली मार देने को जी चाहता है, मगर प्यारी जमीला का ख़याल करके रुक जाता है। एक तो जी में आता है कि क़ानून-वानून सब ढकोसला है। बहुतेरे गवाह मिल जायँगे, छूट जाऊँगा। मगर उस कमबख़्त को तो, जिसने मुझे बदनाम किया है, अपने किए का मज़ा चखा दूँगा। मगर (प्राइवेट सेक्रेटरी आता है)।

प्रा० से०—मोटर आ रहा है। तशरीफ़ ले चलिए।

रा० सा०—चलिए।

(दोनों जाते हैं)

तीसरा एक्ट

ख़ुदा—और।

एक दूत—जोधा मज़दूर की स्त्री के मरने की तिथि आज है, शाम को उसके प्राणों का हरण करना है।

दूसरा दूत—किंतु मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि पत्नी के मरते ही वह पड़ोसिन से, जो विधवा है, खुल्लमखुल्ला दुःसंबंध कर लेगा।

तीसरा दूत—यही नहीं, सेठ का लड़का भी उस विधवा पर बेतरह मिटा हुआ है और कई बार वह उससे बलात्कार करने की ठान चुका है, और कल सायंकाल वह अपने मित्रों से भी परामर्श ले चुका है कि उसको उनके साथ मोटर में बिठाकर बाहर ले जाय। संभव है, यदि विधवा कुछ क्रोध तथा त्रिया-हठ दिखावे, तो वह उसे मारकर वहीं गंगाजी में डाल दें।

ख़ुदा—और।

दू० दू०—राजा जंगनिवाज़ख़ाँ रहमतउल्ला एडीटर को कल गोली मार देने का विचार कर रहे हैं। किंतु एडीटर की मृत्यु में अभी एक सप्ताह शेष है, वह हिंदू-मुसलमान-दंगे में गुरुवार को छुरी से मारा जायगा।

तो० दू०—शोक तो यह है कि राजा साहब की रमणी भी, जो गर्भवती है और जिसके एक पखवारे के पश्चात् बालक उत्पन्न होना है, उसके आठवें दिन शरीर को त्याग देगी और इससे मृत्युलोक में दुःख-वेदना और यातना में अभिवृद्धि होगी।

चौ० दू०—महमूद की दशा निकृष्ट से निकृष्टतर होती चली जायगी।

ख़ुदा—तुमने क्या उपाय सोचा है?

प० दू०—यही कि हम सबको शांति और धैर्य की प्रेरणा करते जायँ।

दू० दू०—अथवा यह कि हम उनको अपने कुविचारों और कुप्रथाओं से पृथक् रखने का उपदेश करते रहें।

ती० दू०—अथवा यह कि हम उनके सामने दिल-बहलाव और चिंता-दमन तथा शोक-विस्मरणार्थ अन्य सामग्री रखते जायँ।

ख़ुदा—अच्छा, जैसा तुम्हारी समझ में आता है करते जाव। (दूत जाते हैं) मैंने जो कुछ कर दिया, सो कर दिया, जो कुछ किसी के जी में आवे, वह कहता और करता जाय। धर्म के देव और दया की देवी, दया तथा धर्म की वृष्टि करते जायँ। न्याय के देवता, न्याय के चमत्कार प्रदर्शित करते जायँ, मेरी प्रकृति का विकाश क्रमशः होता जाय, मेरे सौंदर्य का विकाश पूर्णता प्राप्त करता जाय। मैं अलग-अलग हूँ, अकेला हूँ, तनहा हूँ, दुख-सुख से परे हूँ, केवल द्रष्टा और श्रोता हूँ। नहीं, देखने-सुनने से मुझे क्या प्रयोजन, अभिप्राय से क्या अभिप्राय—मुझे अपने अस्तित्व में आनंद है, मेरे आनंद में प्रकाश है, और मेरा प्रकाश, मेरा विकाश है। मेरा ज्ञान, मेरा अस्तित्व है, और मेरा अस्तित्व, मेरा उन्माद है। देवता

मेरे गुण हैं और मेरे गुण स्वयं मेरा अस्तित्व—ब्रह्मांड मेरा ध्यान है, और ध्यान मेरा ब्रह्मांड है। मैं प्रेम हूँ, प्रेम मेरा है। प्रेम मेरा ध्यान है, मैं प्रेम का ध्यान हूँ। मैं हूँ और मैं नहीं हूँ। मैं दुःख में हूँ, मैं सुख में हूँ। जो ऐसा नहीं समझते, वे भी मुझमें हैं। जो ऐसा समझते हैं, वे भी मुझमें हैं। मैं दोनों में नहीं, मैं दोनों में हूँ। संसार की गति मुझी से है। मुझी से इसकी स्थिरता है, मुझी से हानि-लाभ है और मुझी से दंड और पुरस्कार है। जो कुछ वे कर रहे हैं, मैं कर रहा हूँ। इसलिये मैं क्यों हस्तक्षेप करूँ। मेरा हस्तक्षेप क्या, जब प्रत्येक हस्तक्षेप में मेरा समावेश है। इस मेरे प्रश्न का मैं स्वयं उत्तर हूँ।

चौथा एक्ट

शैतान—कोई और नवीन शुभ-समाचार है?

पहला फ़रिश्ता—हुज़ूर आली! शुभ समाचारों की सूची तो समाप्त होने नहीं पाती। देखिए, मज़दूर की स्त्री मरेगी, तो मज़दूर ब्राह्मणी से संबंध जोड़ेगा। यह देखिए, ब्राह्मण और कहार का मेल।

दू० फ़०—वाह-वाह! हृष्ट-पुष्ट शरीर भी क्या वस्तु है।

ती० फ़०—और गोरा रंग भी क्या जादू है।

शैतान—और कहो भाई?

प० फ़०—इसी ब्राह्मणी के एक लड़की होगी और हुज़ूर की बरकत से वह या तो मुसलमान होकर चकले में बैठेगी, या किसी महाजन के घर पड़ जायगी।

दू० फ़०—वाह-वाह! स्वतंत्रता भी क्या चीज़ है, हिंदू हो जाय, मुसलमान हो जाय, कहीं जा बैठे।

ती० फ़०—वाह-वाह! हमारी सरकार का इक़बाल भी क्या चीज़ है, विशेषकर जब ज्ञान और विवेक से अलग हो।

शैतान—और कुछ?

प० फ़०—मज़दूर लड़की का गला घोटेगा, ब्राह्मणी से रुपए लेकर डॉक्टर को देगा और उससे सार्टीफ़िकेट लेकर लड़की को गंगा में बहा देगा।

दू० फ़०—वाह-वाह! हमारी सरकार ने डॉक्टर भी इस दुनिया में क्या अजूबा चीज़ बनाई है।

ती० फ़०—और यह क़ानून और यह गंगा? सुभीते-ही-सुभीते हैं।

शैतान—और भी कुछ कहो?

प० फ़०—राजा जंगनिवाज़ख़ाँ अपने सेक्रेटरी की सहायता से रहमतउल्लाख़ाँ एडीटर को आज कोकीन बेचने के अपराध में पकड़वाएँगे।

दू० फ़०—वाह-वाह! ईमानफ़रोशी भी क्या उपयोगी वस्तु निकली है।

दू० फ़०—और मित्रता भी क्या अमूल्य वस्तु है। भला मित्रता के बिना प्राइवेट सेक्रेटरी क्या कर सकता था। दोस्त ही के द्वारा उसने एडीटर को वहाँ बुलवाया और एडीटर भी दोस्त की ही कृपा से वहाँ फँस गया।

शैतान—और कुछ ऐसी शुभ-सूचना?

प० फ़०—बैरिस्टर महमूदख़ाँ विरह के तीर का शिकार होंगे, क्योंकि जमीला बच्चा जनने के बाद मर जायगी।

दू० फ़०—वाह-वाह! प्रेम भी हुज़ूर का कितना आज्ञाकारी फ़रिश्ता है।

शैतान—अब तुमने क्या सोच रक्खा है?

प० फ़०—सेठ का लड़का अपने षड्यंत्रों में सफल न हो।

दू० फ़०—विधवा ब्राह्मणी का यार मज़दूर अपनी नौकरी से निकलवा दिया जाय, क्योंकि इस महीने में उसने मिल के जमादार को वेतन में से ।) नहीं दिए। ख़ुद जमादार को मेम साहब का कोई काम न करने के कारण ठुकराकर बेइज़्ज़त करके बरख़ास्त कराऊँ।

ती० फ़०—सेठ साहब का मैनेजर, सेठ साहब की पुत्री को १०,०००) के आभूषण-सहित उठा ले जाय।

शैतान—और?

प० फ़०—राजा साहब जमीला के विरह में घुलते जायँ। इस भूमि पर दुःख की वृद्धि करना, आपकी प्रियतर आज्ञा का पालन करना है।

दू० फ़०—प्राइवेट सेक्रेटरी को उसका जानी दोस्त धोखा देकर शराब के नशे में उससे १,०००) रुपया लेकर चलता बनेगा। इस दुनिया में पाप की वृद्धि करना आपके सबसे प्यारे हुक्म की तामील करना है।

ती० फ़०—कोकीन में पकड़नेवाले पुलीस अफ़सर का एकलौता लड़का बुख़ार में चल बसेगा। संसार में मौत की वृद्धि करना आपके अत्यंत प्रिय आज्ञा का पालन करना है।

शैतान—अच्छा, जाओ। जैसा उचित समझो, करते जाओ। मैं तुम्हारे साथ-साथ हूँ, किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता हो, तो मुझे स्मरण करो, मैं तत्काल

पहुँचूँगा (फ़रिश्ते जाते हैं)। (आप-ही-आप) मैं ख़ुदा की सर्व प्रथम और सर्वोत्तम सृष्टि हूँ। मैं पाप हूँ, मैं मौत हूँ, मैं दुःख हूँ, मैं वियोग हूँ, नहीं मैं कुछ भी नहीं, इन सबके ऊपर और इन सबसे परे हूँ, मैं इनसे अलग-थलग हूँ। मैं ख़ुदा से कब भिन्न हूँ, ख़ुदा ने मुझे अपने आप से बनाया—अतएव मैं उसी से हूँ, और वही हूँ, न वह मुझसे बड़ा है, न मैं उससे बड़ा हूँ। जो कुछ मैं करता हूँ, वह उसी का फ़रमान है, उसी की इच्छा है, उसी की लीला का प्रदर्शन है। वह मुझमें अपने को देख रहा है और मैं अपने में उसी को देख रहा हूँ। मेरा बल-पराक्रम उसी से है; क्योंकि मैं वही हूँ। जो कुछ होता है, सत्य है। क्योंकि मैं सत्य का स्वरूप हूँ, मौत मेरी है, अतएव मैं जीवन हूँ—पाप मेरा है, इसलिये मैं विद्या हूँ, दुःख मेरा है, इसलिये मैं आनंद हूँ—मौत है, तो जीवन है, पाप है, तो विद्या है, दुःख है, तो आनंद है। मैं हूँ तो ख़ुदा है !

पाँचवा एक्ट

मज़दूर—अफ़सोस ! प्यारी, दिन बहुत बुरे आए हैं, रोज़ कोई-न-कोई नई मुसीबत आ पड़ती है। कोई सूरत भलाई की दिखाई ही नहीं देती। यदि और सप्ताह-भर में नौकरी न मिली, तो मैं तो विष खालूँगा।

ब्राह्मणी—नहीं प्यारे, घबड़ाने की क्या बात है। भाग्य-वाग्य कोई चीज़ नहीं, अपना पुरुषार्थ और उद्यम सब कुछ है। चिंता किसलिये करते हो ? यदि रुपए ख़र्च हो गए हैं, तो यह लो मेरी कान की बालियाँ। इनको मैं आज इसीलिये लाई थी। इनको बेच लो, या गिरों रख दो, अभी बहुत कुछ पड़ा है। चैन से गुज़र-बसर करो, फिर देखा जायगा। इतने में क़िस्मत भी पलटा खाएगी, ईश्वर को हम-तुमसे कोई वैर तो है नहीं। लाखों अपराध करते हैं; किंतु ईश्वर उनको जीविका बराबर दिए जाता है। हमने आख़िर ऐसा कौन-सा पाप किया है ?

मज़दूर—यही क्या कम पाप है कि मैंने सीता की अम्मा को दवाई लाकर न दी और वह मर गई। फिर मैंने सीता का गला घोंट दिया, इसकी याद मुझे दिन-रात सूली पर चढ़ाए रखती है। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ—

ब्राह्मणी—करना-धरना क्या है, भूल जाओ, मनुष्य क्या-क्या नहीं करता। ईश्वर जाने पिछले जन्म में मैंने और तुमने क्या-क्या पाप किए हैं। सहस्रों होंगे। यदि उनका करोड़वाँ अंश भी हमें जाए, तो फिर जीना दुर्लभ हो जाय, और प्रलय मच जाय, सृष्टि काहे को रहे। जो हो हो गया, जो हमारी समझ में आया किया, होगा, देखा जावेगा।

मज़०—मगर ईश्वर ने तो मुझे मुआफ़ नहीं देखो नौकरी छूट गई।

ब्रा०—छूट गई, छूट गई ! वहाँ तुमको मि क्या था। फिर तुम्हारा स्वास्थ्य कितना बिगड़ जबसे इस कारख़ाने में नौकर हुए हो, तुम्हारा आधा रह गया है। अच्छा हुआ, नहीं तो तुम्हें भी सूखा हो जाता। भीख माँग लेंगे, कारख़ानों में काम न करेंगे। फिर वहाँ से बुरे आदमियों की कुसंगत से बचे, अन्यथा पीना भली प्रकार सीख जाते। अब भगवान् दो, कोई और नौकरी खोजो। कहीं चपरासी लो, देवीजी को मान्ता मान आओ। नौकरी मिल मिल गई। नहीं तो यह सोने के कड़े हैं, इनको छोटी-मोटी दूकान कर लेना। भूखों थोड़े ही मरें

मज़०—प्यारी ! क्या तुम्हारे यह सब आभूषण निखट्टू निकृष्ट निकम्मे प्राणी के लिये हैं ! पहनोगी क्या ?

ब्रा०—तुम पगले हो, तुम्हारे सुख के लिये आभूषणों को कोई चीज़ नहीं समझती।

मज़०—अच्छा, तो यह बालियाँ अपने पास मैं फिर नौकरी की तलाश में अभी इन्हीं पैरों

(उठकर चल दे

छठा एक्ट

राजा साहब—आह ! जमीला, आख़िर तू निकली। मैंने तो हर तरह तुझसे निबाहना मगर तूने मुँह मोड़ ही लिया। प्यारी अगर छिपना ही था, तो अब फिर क्यों आकर अदा दिखा-दिखाकर मुझे सताती है, दिल में तेरी सूरत देखकर क्या करूँ। जिस्मों की दुनिया में हूँ। मुझे तेरे जिस्म की जिसको मैं हर वक़्त आँखों के सामने रक्खूँ मुझे क्या मालूम था कि तेरी मुहब्बत मुझसे

घर कर गई है, मुझ पर इस क़दर छा गई है। आह, मौत ! मौत ! जो शैतान की ख़ास सूरत है, उसने तुझे मुझसे जुदा कर ही दिया, वर्ना मैं तेरे लिये क्या-क्या न कर रहा था, और क्या-क्या न करता। अब तू कहाँ है ! क़ुरान कहता है, तू बहिश्त में है। क्या मैं भी बहिश्त में जा सकूँगा ? क्या मेरे फ़ेल मुझे बहिश्त में ले जाने के क़ाबिल हैं। नहीं, मैं गुनहगार हूँ, मैंने झूठ, फ़रेब दग़ा बहुत कुछ किए हैं; मगर क्या ये सब गुनाह तुझसे मुहब्बत करने के सिले में माफ़ न कर दिये जायँगे ? शायद नहीं, क्योंकि क्या मालूम है, ख़ुदा हमारी इंसानी दुनियावी मुहब्बत को किस नज़र से देखता है ? क्या मैं और किसी के वसीले से बख़्शा जाऊँगा, इसलिये कि मैं तुझसे मिल सकूँ ? नहीं, अगर तुझसे मिलना मेरा मक़सद उन्हें मालूम हो जावेगा, तो कौन मेरी सिफ़ारिश करेगा। या ख़ुदा जमीला को फिर यहाँ भेज दे और मुझे भी यहाँ रहने दे, ताकि वह ख़िदमत, जो मैं उसकी करना चाहता था, वह मुहब्बत, जो मैं उस पर निसार करना चाहता था। (खट-खट-खट) कौन है ?

आवाज़—मैं हूँ जनाबआली।

रा० सा०—आइए एहसानख़ाँ, बैठिए।

प्रा० से०—जनाब की तबियत कैसी है ?

रा० सा०—तबीयत क्या, यह ऐसा सदमा नहीं कि मैं इससे बच जाऊँ।

प्रा० से०—नहीं जनाब ऐसा न कहिए, दिल ही तो है, सँभलते-सँभलते सँभलता है। मगर सँभलता ज़रूर है। आख़िर इंसान को जीना भी तो है।

रा० सा०—बाज़ आया ऐसे जीने से।

प्रा० से०—मैं क्या अर्ज़ कर सकता हूँ ?

रा० सा०—मैं बताता हूँ। ज़िंदगी वही अच्छी है, जो हम किसी की नज़र कर सकें, या किसी के लिये मर सकें।

प्रा० से०—तो जीने की क़द्र मौत से है, यह ख़ूब Paradox रहा।

रा० सा०— Paradox तो है, और सच पूछो, तो सब तरफ़ हमें Paradox ही Paradox नज़र आते हैं। मुहब्बत की क़द्र नफ़रत से है।

प्रा० से०—क्यों जनाब, क्या दोस्ती की क़द्र भी आप दग़ाबाज़ी और बेवफ़ाई से बताएँगे ?

रा० सा०—क्यों नहीं ! क्या तुम अपने दोस्त की तरफ़ इशारा कर रहे हो ?

प्रा० से०—जी हाँ, यह बात मेरी समझ में नहीं आई।

रा० सा०—क्या उसकी बेवफ़ाई और दग़ाबाज़ी से अब तुम्हारे दिल में दोस्ती की ख़्वाहिश नहीं रही ?

प्रा० से०—नहीं।

रा० सा०—यह जवाब ग़लत है, झूठा है, तुम अपने दिल से पूछो, क्या सच्ची दोस्ती की भी ख़्वाहिश नहीं रही, बाकि कमज़ोर, झूठी दोस्ती की ? क्या आज आप पहले से भी ज़्यादा किसी सच्चे, वफ़ादार दोस्त की तलब और तड़प दिल में नहीं छिपाए हैं ?

प्रा० से०—है तो कुछ ऐसी ही, पिछली बात-सी !

रा० सा०—दुरुस्त, मौत हमें और ज़्यादा सच्ची ज़िंदगी की राह पर ले जाती है, और नफ़रत सच्ची मुहब्बत की तरफ़।

प्रा० से०—तो क्या मैं यह समझूँ कि आपको इस सदमे से भी किसी क़िस्म का कुछ फ़ायदा हुआ है ?

रा० सा०—यही तो मैं तुम्हारे आने से पहले सोच रहा था। मैं समझता हूँ कि जमीला की मौत ने मुझ पर मुहब्बत के छिपे हुए भेद खोल दिए हैं, ज़िंदगी की क़द्र मेरे दिल में बख़्श दी है और इस ज़मीन पर दुबारा आने की न मिटनेवाली ख़्वाहिश पैदा कर दी है।

प्रा० से०—मगर जन्नत भी तो है !

राजा सा०—जन्नत में तो वह ख़िदमत, जो मैं जमीला की यहाँ कर सकता था, वह दुःख, जो मैं उसके लिये सह सकता था, उनकी ज़रूरत न होगी। और वह लज़्ज़त जो कशमकश में है, जो दुःख में है, जो महबूब के लिये मरने में है, वह कहाँ से पाऊँगा। नहीं जन्नत मेरे लिये अभी नहीं, बल्कि कभी नहीं। मेरे लिये यही हस्ती, यही दुःख, मौत और गुनाह की हस्ती है। वह गुनाह, जो हस्ती के लिये है, मगर किस हस्ती के लिये ? अपनी हस्ती के लिये नहीं, मुझसे कहीं ज़्यादा पाक, हसीन और दोनों दुनियाओं को प्यारी हस्ती के लिये, जैसी कि जमीला थी और है।

प्रा० से०—गुस्ताख़ी मुआफ़, हुज़ूर तो शायरी करने लगे, और फ़लसफ़े के नुक़्ते सुझाने लगे।

रा० सा०—क्यों नहीं, ग़म शायरी का सरचश्मा है। मुहब्बत फ़लसफ़े की कुंजी है, और किसी एक हसीन की

सची परस्तिश तमाम दूसरे हसीनों के लिये इख़लाक़ और इज़्ज़त का अज़्बा दिल में पैदा कर देती है। समझे ?

प्रा० से०—समझा तो मगर (खट्खट्)। कौन है ?

आवाज़—हुज़ूर, हुज़ूर, हुज़ूर।

प्रा० से०—क्यों, क्यों, क्या है ? (दरवाज़ा खोलता है)।

नौकर—(अंदर आकर) हुज़ूर, शहर में फिर हिंदू-मुसलिम फ़िसाद शुरू हो गया है। और सुना है कि इधर सिविल लाइन में भी फ़सादी आएँगे।

रा० सा०—चलो दूर हो जाओ, फाटक बंद कर दो, बस।

प्रा० से०—जनाबआली, क्या मज़हब से भी ज़्यादा कोई हसीन चीज़ है ? फिर यह दोनों क़ौमों को एक दूसरे के लिये प्यार और मुहब्बत क्यों नहीं सिखाता ?

रा० सा०—इसका जवाब फिर कभी देंगे। आप जाइए और ज़रा शहर की ख़बर लाइए। मेरी भी ज़्यादा बकने से तबियत कुछ परेशान-सी है। कई सवाल पैदा हो रहे हैं। ज़रा अकेले में दिल बहलाने की कोशिश करूँगा। अगर कोई ख़तरा हो, तो टेलीफ़ोन कर देना। यहाँ तक शायद नौबत ही न आवे। तंग गलियों तक मुआमला रह जायगा।

प्रा० से०—जी हाँ, यह तो है ही। जहाँ के लोगों में ज़रा ख़ून ज़्यादा है, वहाँ बहकर निकल जायगा, तो अम्न हो आयगा। अस्सलामअलेकुम (जाता है)।

सातवाँ एक्ट

शैतान—ऐ मेरे सिरजनहार ! तेरी आज्ञाओं का पालन करना मेरा एकमात्र कर्तव्य है। मुझमें भक्ति का अभाव है, भक्ति में पाप है, मृत्यु है, दुःख है और मैं चित् हूँ, सत् हूँ और आनंद हूँ। आज दुनिया में ख़ूब रक्त की नदियाँ बह रही हैं, इससे मुझको हर्ष है और मैं आपको धन्यवाद देता हूँ कि मैं इतनी सफलता से आपकी आज्ञा-पालन कर रहा हूँ। जो नियम आपके आदेशानुसार मैंने बनाए हैं, वे इस ख़ूबी से जीवन में बरते जा रहे हैं कि दशों दिशाओं में उन्नति ही उन्नति के चिह्न देख पड़ते हैं। दुःख बढ़ रहा है, राज-व्यवस्था और धर्म-प्रचार इसके उत्तरदायी हैं। मौत बढ़ रही है, विज्ञान और सौंदर्य इसके उत्तरदायी हैं। पाप बढ़ रहा है, सुंदरता, कला-कौशल और प्रेम का विस्तार इसके ज़िम्मेदार हैं। इस समय सभी अपनी ज़िम्मेदारियों का अनुभव करके तेरे लक्ष्य की ओर बढ़े आ रहे हैं, और दूसरों को बढ़ाए आ रहे हैं।

ख़ुदा—ऐ मेरे सिरजनहार, तेरी आज्ञाओं का करना मेरा एकमात्र कर्तव्य है। इसीलिये आ तेरी मौत, तेरे पाप और तेरे दुःख का प्रचंड रहे हैं। और इस तरह पर वह मेरे और ते प्रियतर लक्ष्य की ओर सृष्टि को बढ़ा रहे हैं। जो वह मेरा है। जो मेरा है, वह तेरा है। मुझमें दुःख है, मौत है, पाप है, क्योंकि जो मेरे हैं, हैं। इसी से मैं अपने आपको अर्थात् सत्य को, आनंद को, देख रहा हूँ। मुझे शांति है, तू मेरा करतार काम करने में प्रतिक्षण निमग्न मुझे अपने से भिन्न किया है, केवल इसीलिये में मुझको अपने साथ पूर्णता से मिला ले। धन्यवाद देता हूँ कि इस समय मेरे सत्, आनंद संसार को भर रहे हैं; क्योंकि इस प्रथा से वह तेरा राज्य-स्थापन करने में सहायता उन आज्ञाओं का, जो मेरी और तेरी एक-सी पालन करेंगे।

शैतान—हे काल ! जो कि मृत्यु हो, हे दुःख हो, और हे निमित्त ! जो कि गुनाह हो, एक हो; क्योंकि तीनों मुझमें हो। तुम तीनों जनहार, ख़ुदा की सेवा में इसी प्रकार संलग्न

ख़ुदा—हे सत् जो कि मृत्यु हो, हे चित् ! हो, और हे आनंद ! जो कि पाप हो, तुम तीनों क्योंकि तीनों मुझमें हो। तुम तीनों मेरे शैतान की सेवा में निमग्न रहो।

शैतान—मेरी यही प्रार्थना है कि राजा काम-प्रवीण रहें, प्राइवेट सेक्रेटरी सदा धोखे की चालें सोचते और सुझाते और उन पर रहें, बैरिस्टर सदा नीच ज़ातों में से सौंदर्य निकालते रहें, ब्राह्मणी सदा कहार को कुप बेकारी के पथ पर चलाती रहें, और मज़दूर अपने तन को पाल-पोषकर उससे स्त्रियों को और जाल में लाता रहे। ऐ ख़ुदा ! मेरी प्रार्थ हो, तेरी मदद से मैं यह कर दिखाऊँगा।

ख़ुदा—तेरी प्रार्थना में मेरा भला है, मुझी से है। तेरी मदद से मैं यह कर दिखाऊँ

वैरियों के बीच

कानन में क्रूर कोल केसरी कपीश कंक ,
कंटक कृशानु और कुंजर कराल काल ;
अद्रि पर अहि और बिजली है बादलों में ,
सागर अथाह जल झष नक्र घड़ियाल ।
इन वैरियों के बीच बचना सरल काम ,
दीनानाथ किंतु अब हुआ है अजब हाल ;
आप ही बचावें "विभु" तब ही बचेगी जान ,
तन में ही छै-छै रिपुओं का बिछा हाय जाल ।

'विभु'

राजगढ़

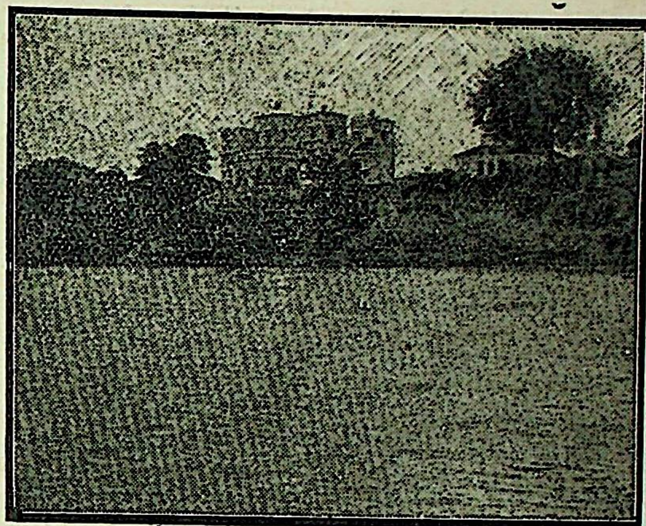
भौगोलिक स्थिति



राजगढ़ मध्य भारत की एक छोटी-सी पहाड़ी रियासत है, जो रेल के मार्ग से बहुत दूर, भूपाल से लगभग सौ मील उत्तर-पश्चिम की ओर मालवा की इतिहास-प्रसिद्ध भूमि पर स्थित है। राजगढ़ और नरसिंहगढ़ राज्यों की भूमि परस्पर इस प्रकार मिली हुई हैं कि भौगोलिक स्थिति से वह अलग-अलग नहीं की जा सकती। पहले यह दोनों रियासतें एक ही थीं, पर पीछे अलग-अलग बँट गईं।

राजगढ़ रियासत उत्तर में ग्वालियर और कोटा राज्यों से, दक्षिण में ग्वालियर और देवास से, पूर्व में रियासत भूपाल से और पश्चिम में खिलचीपुर से घिरी हुई है।

राज्य के दक्षिणी और पूर्वी प्रांतों में तो दक्षिणी पहाड़ हैं, किंतु उत्तरी भाग में जगद्विख्यात विंध्याचल का अंचल इसे अपनी गोद में छिपाए हुए है। पार्वती और नेवज यहाँ की मुख्य नदियाँ हैं जो अपने एवं अपनी शाखाओं के जल से सारी रियासत को सींचती हुई आगे जाकर चंबल में मिल जाती हैं। इन नदियों की उत्पत्ति प्रसिद्ध विंध्य-गिरि से ही होती है। और भी दो छोटी-छोटी नदियाँ—घोड़ापछाड़ और अजनर—इसी रियासत के पहाड़ों में से निकलकर, अपने क्षुद्र जल को लेकर इठलाती हुई, अन्य बड़ी नदियों में मिल जाती हैं।



क़िला

नाना प्रकार के बाघ, चीते और हरिण आदि जंगली जानवर यहाँ के भयानक जंगलों में अनंत संख्या में पाए जाते हैं।

गर्मी के दिनों में दिन को पर्याप्त गर्मी पड़ने पर भी यहाँ की शीतल रात्रि बड़ी सुखद होती है।

यहाँ जल-वर्षा लगभग २६ इंच प्रतिवर्ष के हिसाब से होती है। किंतु कभी-कभी ऊपर की ओर अधिक वर्षा होने के कारण यहाँ की नदियाँ भीषण रूप धारण करके भयंकर बाढ़ का रूप धारण करती हुई अनेकों गाँवों, खेतों और पशुओं का सत्यानाश करती चली जाती हैं।

इतिहास

अब पहले यहाँ का कुछ इतिहास भी कह देना आवश्यक होगा।

राजगढ़ और नरसिंहगढ़ के राजा उमत राजपूत हैं, जो कि प्रसिद्ध परमार-वंश की एक शाखा है। परमार-वंश ने छः सौ वर्ष तक मालवा में राज्य किया था। किंवदंती के अनुसार राजा माँगराव के, उनकी बारह रानियों से, पैंतीस पुत्र हुए, जिनसे इस वंश की पैंतीस भिन्न-भिन्न शाखाओं की उत्पत्ति हुई। इन्हीं मांगराव के दो पुत्र अमरसिंह और समरसिंह राजपूताना और सिंध की मरुभूमि में जाकर रहने लगे। अमरसिंह के ही नाम पर अमरकोट का प्रसिद्ध क़िला (जो सबसे बड़े मुग़ल बादशाह का जन्मस्थान है) प्रख्यात हो गया। अमरसिंह के वंशज यही उमत राजपूत हैं जिनके नाम पर मालवा का उमत-वाड़ा-प्रदेश प्रसिद्ध है। उमत राजपूत अमरसिंह के

वंशज सारंगसेन की आधीनता में ईसा की चौदहवीं शताब्दी में मालवा में घुस आए और सन् १३४७ ई० में धार में बस गए। इस समय मुहम्मद तुग़लक़ शासन कर रहा था। पीछे सारंगसेन ने सिंध तथा पार्वती नदियों के मध्य का प्रदेश भी अपने अधिकार में कर लिया। कहा जाता है कि चित्तौर के राणा से उन्हें 'रावत' की उपाधि मिली थी। इनके कुछ वंशजों ने शाही दरबार में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त किए थे। कहा जाता है कि सारंगसेन की चौथी पीढ़ी में उत्पन्न रावत करमसिंह या कमाजी सिकंदर लोधी के समय में उज्जैन के शासक (गवर्नर) बनाए गए थे। इन्होंने मालवा-प्रदेश में बाइस ज़िलों की सनद पाई थी, जो उमतवाड़ा के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे दुपैरिया में रहते थे, जो अब ग्वालियर-राज्य के शाजापुर ज़िले में है।

रावत कृष्णाजी या किशनसिंह भी उज्जैन के शासक रहे थे। कहा जाता है कि उन्हीं के नाम पर उज्जैन का किशनपुरा मुहल्ला प्रसिद्ध है। उनकी मृत्यु लगभग सन् १५८३ ई० में हुई और उनके पुत्र डूँगरसिंह उनके स्थान के अधिकारी हुए। राजगढ़ से बारह मील दूर डूँगरपुर गाँव उन्हीं के नाम पर है। सन् १६०३ ई० में यह तलैन (राजगढ़ रियासत का एक परगना) में मारे गए। इनके छः पुत्रों में ऊदाजी और दूदाजी सबसे बड़े थे तथा ऊदाजी ही उनके स्थानापन्न हुए। यह रतनपुर में रहने लगे, जो नरसिंहगढ़ से १२ मील पश्चिम में है। इनका राज्य-काल १६०३ से १६२१ ई० तक है। ऊदाजी के पीछे छतरसिंह राजा हुए, जो शाही फ़ौज से लड़कर सन् १६३८ ई० में रतनपुर में मार डाले गए। इनके नाबालिग़ पुत्र मोहनसिंह ने सन् १६३८ से १६९७ ई० तक दूदावत (दूदाजी के वंशज) वंशीय दीवान अजबसिंह (जो छतरसिंह के दीवान थे) की देख-रेख में राज्य किया। इनका निवास-स्थान रतनपुर से बदलकर डूँगरपुर हो गया। सन् १६६८ ई० में अजबसिंह मुसलमानों से लड़कर मारे गए और उनके पुत्र परसराम उनके स्थान पर मैनेजर और दीवान हुए। अब ऊदावत वंश का वासस्थान राजगढ़ और दूदावत का पाटन (राजगढ़ से दो मील दक्षिण की ओर—जहाँ परसराम ने क़िला बनवाया) हो गया। किंतु मोहनसिंह और परसराम में न पटी और झगड़े होने लगे। अंत में सन् १६८१ ई० में दोनों वंशों (ऊदावत और दूदावत) में बटवारा हो गया। राजगढ़ के राजा को बड़े होने के कारण पाँच ... मिले। इस प्रकार राजगढ़ और नरसिंहगढ़ के अलग राज्य स्थापित हो गए।

मोहनसिंह के पीछे अमरसिंह राजगढ़ के राजा ... इन्होंने सन् १६९७ ई० से १७४० तक राज्य ... इनके शासन-काल में जयपुर के सवाई जयसिंह ने ... पर आक्रमण किया और नौ लाख वसूल होने ... उठाने को सम्मत हुए। राजगढ़-नरेश एकदम इतना ... और उन्होंने उस समय छः लाख दे कर शेष ... के लिये अपने पुत्र अभयसिंह को उन्हें ... (हॉस्टेज) की भाँति दे दिया। अंत में एक ... के ज़ामिन होने पर अभयसिंह छोड़ दिए ... कुछ दिन बाद अभयसिंह को उनके एक नौकर ... डाला, जिस दुःख से उनके पिता ने भी अपने प्राण ... दिए। इनके पश्चात् सन् १७४० ई० में नरपतसिंह ... हुए और सन् १७४७ ई० में माता निकलने से ... मृत्यु हो गई। इनके पीछे इनके भाई जगत... २८ वर्ष राज्य किया। इनके मरने पर सन् १... १७९० ई० तक उनके पुत्र रावत हमीरसिंह ने ... राज्य किया। इनके अंतिम दिनों में मराठों ने ... दुर्ग को घेर लिया और तीन लाख वसूल होने ... उठाने को तैयार हुए। किंतु इतना न दे सकने के ... हमीरसिंह ने अपने पुत्र प्रतापसिंह को उन्हें शर्त ... की भाँति दिया। किंतु कोटा के राजा ने उस ... ज़मानत देकर प्रतापसिंह को छुड़वा दिया। इस ... राजगढ़ के राजा सिंधिया के करदाता हो गए।

हमीरसिंह के बाद उनके पुत्र प्रतापसिंह ने सन् ... से १८०३ ई० तक राज्य किया। इनके मरने पर ... पुत्र पृथ्वीसिंह को गद्दी मिली। इनके समय में ... के जेनरल जीन बैप्टिस्टी फ़िलोस ने राजगढ़ पर ... (ट्रिब्यूट) बाक़ी रह जाने के कारण अधिकार कर ... सिंधिया के दरबार में पुनर्विचार होने की प्रार्थना ... अंत में रियासत को छः लाख बतौर हरजाने के ... छुटकारा मिला।

पृथ्वीसिंह के कोई पुत्र न होने के कारण, ... अपने तीसरे भाई नवलसिंह को अपना उत्तराधिकारी बनाया, क्योंकि उनका दूसरा भाई प्यारेसिंह ...

पिम्रकड़ था। इस पर प्यारेसिंह और उनके सबसे छोटे भाई कोकासिंह ने षड्यंत्र रचकर पृथ्वीसिंह को मार डाला; किंतु सरदारों ने नवलसिंह का साथ दिया और उन्होंने सन् १८१५ ई० में गद्दी पाई। सन् १८१८ ई० में, जब सर जॉन मेलकम मालवा का बंदोबस्त कर रहे थे, सिंधिया और नवलसिंह में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार नवलसिंह को सिंधिया का राज्य-कर चुकाने में बहुत-से गाँव देने पड़े। इसी समय नवलसिंह ने ब्रिटिश सरकार के साथ भी एक समझौता किया, जिसके अनुसार राजगढ़ के राज्य-कार्य में हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल ब्रिटिश-सरकार को ही रहा। पंद्रह वर्ष राज्य करने के पश्चात् सन् १८३१ ई० में नवलसिंह ने आत्म-हत्या कर ली तथा इनके ज्येष्ठ पुत्र मोतीसिंह गद्दी पर बैठे। सन् १८३२ ई० में लार्ड विलियम बेंटिंक ने, सागौर में, जो दरबार किया था, उसमें ये उपस्थित थे। इनकी प्रार्थना पर सिंधिया ने इनके कुछ परगने इन्हें लौटा दिये; किंतु कर बढ़ा कर ४१,०००) रुपए कर दिया।

सन् १८५७ ई० में ग़दरवालों ने राजगढ़ को लूटा और पाँच लाख रुपए का माल उनके हाथ लगा। मोतीसिंह की ओर से ग़दरवालों का कुछ विरोध नहीं किया गया था। सन् १८६७ ई० में मोतीसिंह को ग्यारह तोपों की सलामी पाने का अधिकार मिला। मोतीसिंह के तीन पुत्र थे—बख़्तावरसिंह, बलवंतसिंह और विनयसिंह। सन् १८८० ई० में ४८ वर्ष राज्य करने के बाद मोतीसिंह की मृत्यु हो गई और उनके ज्येष्ठ पुत्र बख़्तावरसिंह राजा हुए; किंतु बहुत जल्दी सन् १८८२ ई० में ही मर गए। इनके बाद इनके बड़े पुत्र बलभद्रसिंह ने गद्दी पाई। सन् १८८५ ई० में, जब लार्ड डफ़रिन इंदौर आए, इन्हें रावत के साथ-ही-साथ राजा की भी उपाधि मिली। तब से राजगढ़-नरेश 'राजा रावत' की उपाधि से भूषित होने लगे। इन्होंने राजगढ़ से खिलचीपुर और ब्यावरा तक सड़कें बनवाईं तथा ब्यावरा से सीहोर कैंट तक, जो सड़क बन रही थी, उसके लिये दो लाख रुपए दिए।

बलभद्रसिंह सन् १६०२ में निःसंतान मर गए तथा इनके चाचा विनयसिंह इनके राज्याधिकारी हुए। इनके समय में राज्य के सभी विभागों में बहुत उन्नति हुई। इन्होंने शासन-पद्धति का प्राचीन रूप बदलकर उसे नवीनता से संपन्न किया। सन् १६०३ ई० में यह दिल्ली दरबार में गए तथा सन् १६०५ ई० में इंदौर में प्रिंस और प्रिंसेस ऑव् वेल्स से मिले। सन् १६१६ ई० में इनकी मृत्यु हुई।

इनके अनंतर इनके पुत्र हिज़ हाइनेस राजा रावत श्रीवीरेंद्रसिंहजी बहादुर सिंहासनारूढ़ हुए। ये ही वर्तमान राजगढ़-नरेश हैं। इस समय इनकी अवस्था ३५ वर्ष की है। राजगढ़ रियासत से 'तलैन' परगने के लिये सिंधिया को लगभग ४१,०००) रु० तथा "कालीपीठ" परगने के लिये झालावाड़ के राणा को लगभग ६००) रु० मिलते हैं।

राजगढ़ के राजाओं की 'हिज़ हाइनेस' और 'राजा' उपाधि है और ये ११ तोपों की सलामी पाने के अधिकारी हैं।

विशेषताएँ

सन् १६२१ की मनुष्य-गणना के अनुसार राजगढ़ राज्य की जन-संख्या १,१४,६७२ है। इस राज्य में दो नगर हैं—राजगढ़ और ब्यावरा; तथा लगभग ७०० गाँव हैं। धर्मों के अनुसार प्रतिशत ८६ हिंदू, ६ मुसलमान और ५ दई-देवताओं के उपासक (अधिकतर भील) हैं। बोलचाल की मुख्य भाषा मालवी (या राँगड़ी) है। दूसरा नंबर हिंदी का है। सन् १६०१ में यहाँ



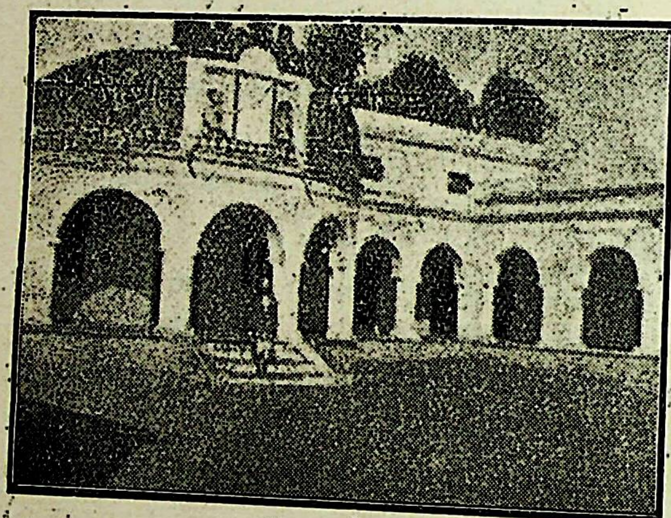
बाज़ार

दो प्रतिशत पढ़े-लिखे लोग थे; पर अब इसमें कुछ उन्नति हुई है और बराबर होती जा रही है।

यहाँ की मुख्य जातियों में प्रतिशत चमार १२ और राजपूत या सौंधिया ८ हैं। ६० प्रतिशत मनुष्य खेती-बारी से अपनी जीविका चलाते हैं।

राज्य की कुल आय लगभग चारलाख पचासहज़ार रुपए वार्षिक तथा व्यय चार लाख दस हज़ार के लगभग है।

सन् १९०४ई० में राजा विनयसिंह के नाम पर राजगढ़ नगर में विनय-हाईस्कूल खुला। यह प्रयाग-विश्वविद्यालय से संबद्ध संस्था है तथा दिन-पर-दिन उन्नति करती जा रही है। इधर दो वर्षों से यहाँ के शिक्षा-विभाग में बड़ी



अतिथि-शाला

उन्नति हो रही है। पहले यहाँ के गाँवों में कुल मिलाकर १५ छोटे स्कूल थे; पर अब उनकी संख्या ३५ है। गाँवों में १० स्कूल प्रतिवर्ष बढ़ाने की स्कीम है जब तक कि कुल संख्या ६० तक न पहुँच जाय। शिक्षा-विभाग में अब प्रतिवर्ष १८,०००) रु० से २८,०००) रु० तक व्यय होता है। इस वर्ष हाईस्कूल की परीक्षा का फल यहाँ ५० प्रति शत रहा।

नगर में एक बालिका-विद्यालय भी है। इसमें भी बराबर उन्नति होती जा रही है।

राजगढ़ का वास्तविक स्वरूप बरसात में दिखाई देता है। पहाड़ियों पर हरे-हरे वृक्षों के वन बड़े ही सुंदर जान पड़ते हैं। थोड़ी-थोड़ी दूर पर छोटे-छोटे नाले जल से ऊपर तक भरकर दौड़ लगाते फिरते हैं। नदी में तो जल-ही-जल दिखाई पड़ता है। राजगढ़ नगर के मुख्य पुल (नेवज नदी का) पर कभी-कभी हाथी-डुबा चढ़ जाता है।

राजगढ़ में नित्य सीहोर कैंट स्टेशन से डाक आ पर इस समय कभी-कभी सप्ताहों तक डाक का न चलता। सारी सड़कों पर पानी बुरी तरह से भ देता है।

यह प्रदेश पहाड़ी होने के कारण, यहाँ छोटी पहाड़ी नदियाँ अनंत संख्या में हैं। प्रत्येक सड़क को ही थोड़ी दूर पर ऐसी नदियों को पार करना पड़ अतः इन पर पुल बनवाना बहुत व्यय-साध्य कारण, उन स्थानों पर रपट बनवा दिए गए हैं का एक चित्र भी दिया जाता है। एक ओर से नदी आ रही है। गरमी का चित्र है बिलकुल सूखी है। एक बूँद भी पानी नहीं है अनंत पत्थरों के गोल-गोल टुकड़ों से नदी हटी भरी हुई है। यह टुकड़े पानी के संग ढुलकते हुए आए हैं। दूसरी ओर से सड़क आ है। सड़क नदी को पार करने के लिये कर दी गई है। वह आकर इस नदी की में होती हुई दूसरी ओर चढ़ जाती है। यहाँ नदी और सड़क बिलकुल बराबरी पर आ हैं। जब पानी आता है, इस सड़क पर हो बह जाता है। जब तक पानी अधिक आता



रपट

है, मार्ग बंद रहता है। पानी कम हो जाने पर फिर चलने लगते हैं।

इस प्रकार जहाँ राजगढ़-श्री वर्षाऋतु में

सौंदर्य में नंदन वन है, वहाँ बाहर आने-जाने की असुविधा भी कम नहीं है। मानो वह अपने इस सौंदर्य को दूसरों को दिखाने में सकुचती है।

गत वर्ष मैं वर्षा-ऋतु में वहाँ से लौटने को था, पर नित्य ही सड़क साफ़ न होने के कारण रुक जाना पड़ता। इस प्रकार मुझे बीस दिन के लगभग वहाँ इसी दशा में पड़ा रहना पड़ा।

राजगढ़ का पुराना क़िला नेवज नदी के तट पर ही एक ऊँचे टीले पर स्थित है। राजगढ़ की अधिकांश बस्ती क़िले में ही है। एक बड़े मज़बूत प्राकार से क़िला घिरा हुआ है। इसी में पुराना राजमहल और बस्ती है। नया महल 'कुँअरपत' के नाम से प्रख्यात है। यह भी इस क़िले में ही है। महल का वर्णन करने की कोई आवश्यकता नहीं। पाठकों ने बड़े-से-बड़े नरेशों के गगनचुंबी प्रासाद देखे होंगे—उनके वर्णन पढ़े होंगे। यद्यपि राजगढ़ का प्रासाद भी बहुत सुंदर है, तथापि राजगढ़ की विशेषता यहाँ की इमारतों में नहीं है। यहाँ की इमारतें यहाँ के राजा के योग्य ही हैं—इतना कह देना पर्याप्त होगा।

क़िले से बाहर, कुछ दूर पर, नेवज नदी के बिलकुल तट पर 'इंद्र-भवन' नाम की अतिथि-शाला है। इसकी इमारत भी बहुत सुंदर है। एक ओर सुंदर उपवन, और दूसरी ओर छहों ऋतुओं में भरी हुई नेवज नदी—इसकी शोभा को और भी बढ़ा रही है।



राजा साहब शिकार खेल रहे हैं

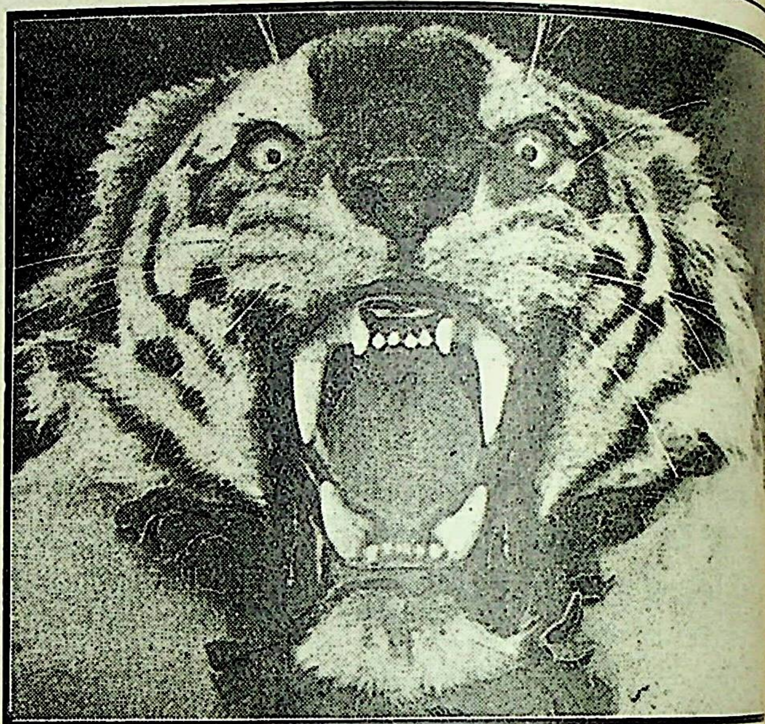
प्रति बुधवार को राजगढ़ नगर में हाट लगता है, जिसमें आसपास के गाँवों से तरकारी, भाजी और अन्य नाना पदार्थ विक्रयार्थ आते हैं। जो वस्तुएँ यहाँ नहीं होतीं, वे तो अवश्य मँहगी पड़ती हैं; पर (दूध आठ सेर का, घी १३-१४ छटाँक का) दूध-घी, काफ़ी सस्ता रहता है।

राज-प्रासाद में रोशनी करने के लिये बिजली का एक छोटा-सा पावर-हाउस है, जिससे रात को प्रासाद में तारे-से छिटक जाते हैं।

मध्य-प्रदेश की भाँति यहाँ भी मोट का दूसरा ही रूप है। केवल एक आदमी और दो बैलों से मोट चलती है। एक आदमी की बचत होती है। संयुक्त-प्रदेश में एक आदमी बैल हाँकता है और एक मोट 'छीनता' है। किंतु यहाँ मोट के नीचे एक सूँड़ के आकार का चमड़ा भी जुड़ा रहता है। जिसके छोर पर एक और रस्सी बँधी रहती है। इस रस्सी के लिये, जहाँ मोट छीनी जाती है—उसी स्थान पर कुएँ के मुख से संलग्न एक छोटा-सा लकड़ी का बेलन (या चरख़ी) होता है। यह रस्सी उसी बेलन पर होकर आती है और बड़ी रस्सी के साथ-साथ बैल हाँकनेवाले के अधिकार में रहती है। वह जब कुएँ के पास आकर मोट डुबाता है, उस समय उस दूसरी रस्सी को ख़ूब ढीली कर देता है; पर जब मोट डूब जाती है, तब उस पतली रस्सी को इतना खींच लेता है कि नीचे मोट से संलग्न वह सुंडाकार चमड़ा, इतना ऊपर उठ जाए कि उसका मुँह मोट के मुँह की बराबरी में आ जाए; जिससे मोट के ऊपर आने तक—उस सूँड़ के मुँह में होकर पानी गिर न जाए। इसके बाद जब मोट ऊपर आ जाती है, तब हाँकनेवाला उस पतली रस्सी को ढीली कर देता है। इससे वह सूँड़ फिर नीचे को गिरकर कुएँ के पत्थर पर—जहाँ पानी गिराना है—आ जाती है और मोट का सारा पानी उसकी तलहटी में से, उस सूँड़ में होकर निकल जाता है। इस ढंग से एक आदमी को

बचत बड़ी सरलता से हो जाती है। न जाने संयुक्त-प्रांत के किसान इसका व्यवहार क्यों नहीं करते।

इस छोटे-से लेख को समाप्त करने के पहले दो-एक बातें और कह देना भी अनुपयुक्त न होगा। दो वर्ष हुए राजगढ़ का प्रबंध नए दीवान श्री० शौकतअली ने अपने हाथ में लिया है। मुसलमान होते हुए भी आपका व्यवहार हिंदुओं के साथ सर्वथा निष्पक्ष-पात है। आप न्याय के बड़े प्रेमी हैं। जो कुछ उचित और न्याय समझेंगे, वही करेंगे।

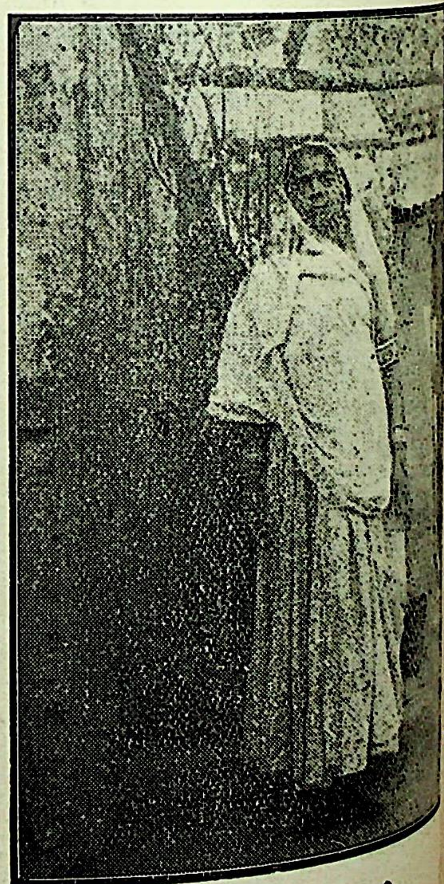


शेर का मुँह

वर्तमान दरबार राजा रावत वीरेंद्रसिंहजी बहादुर की अवस्था इस समय ३१ वर्ष के लगभग है। आपको फ़ोटोग्राफ़ी और शिकार का बेहद शौक़ है। अब तक आपने राजगढ़ के जंगलों में खोज-खोज कर सौ से अधिक शेरों का शिकार किया होगा। आप भी इस बात का सदा विचार रखते हैं कि उनकी प्रजा पर अन्याय न हो। प्रत्येक पुरुष आपको अपनी प्रार्थना सुना सकता है। आप भी बड़े मनोनिवेश के साथ प्रत्येक व्यक्ति की बात पर ध्यान देते हैं।

दरबार साहब हिंदी के भी बड़े प्रेमी हैं। किंतु ऐसा होने पर भी राज्य-कार्यों में उर्दू का भी व्यवहार होना हमें माननीय राजा साहब से कुछ—निवेदन करने को विवश करता है। आजकल सारे भारतवर्ष ने एक प्रकार से एकमत होकर हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाना स्वीकार कर लिया है। हिंदी की उपयोगिता इस समय किसी से छिपी नहीं! ऐसी अवस्था में राजगढ़-ऐसे हिंदू-राज्य में हिंदी की कमी बहुत खटकती है। किंतु हमें पूर्ण आशा है कि अन्य बड़े-बड़े हिंदू राजाओं के अनुसार महाराजा साहब भी अपने यहाँ हिंदी पर विशेष ध्यान देने की कृपा करेंगे।

सुमंगलप्रकाश गुप्त



राजगढ़ की एक स्त्री

रसधार बही

भेंटे रघुनंदन भरत कौं हृदै लगाय,
प्रेम करुणा सों मिल्यो मानौ देह धारि सही ;
पुलके कलेवर विभोर ममता में भए,
भूले भगवान सुधि-बुधि अपनी न रही।
'कौशलेंद्र' तपनि बुझानी विरहानल की,
अतिहिं अघानी वारि पूरित ह्वै उर-मही— ;
नैननि तैं बरसे प्रचुर सुख-अँसुआ त्यों,
बैनन तैं मधुर सनेह रसधार बही ॥

'कौशलेंद्र' राठौर

'दुखिया के आँसू'

मत समझो मेरा क्या धो सकते हैं दुखिया के आँसू—
दो बूँदों में विश्व डुबो सकते हैं दुखिया के आँसू !
कहीं निकलकर बहते हैं ये कहीं प्रभाव दिखाते हैं—
नर क्या ? परमेश्वर का भी दृढ़ आसन शीघ्र हिलाते हैं।
कहीं सींचते और कहीं पर आग प्रचंड लगाते हैं—
कहीं सूखते कहीं अनेकों धारा बनकर आते हैं।
बड़ों-बड़ों को जड़ से खो सकते हैं दुखिया के आँसू—
दो बूँदों में विश्व डुबो सकते हैं दुखिया के आँसू।१।
सीताजी के आँसू ने रावण का बंटाढार किया—
पांचाली के आँसू ने कौरव-कुल का संहार किया।
दुखिया जनता के आँसू से सुखियों का सुख ऊब रहा—
विधवाओं के आँसू में यह हिंदू-जीवन डूब रहा !
कभी 'रमेश' न निष्फल हो सकते हैं दुखिया के आँसू—
दो बूँदों में विश्व डुबो सकते हैं दुखिया के आँसू।२।

शिवराम शर्मा विशारद "रमेश"

अद्वैतवाद

(गतांक से आगे)

चौथा अध्याय

माया



ब हम माया की मीमांसा करते हैं। श्रीगौड़पादाचार्यजी की कारिका यह है—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः।
(२ । ३१)

अर्थात् जिस प्रकार स्वप्न, माया या गंधर्व-नगर में देखी हुई चीज़ें मिथ्या होती हैं, इसी प्रकार बुद्धिमान् वेदांती लोग इस संसार को भी मिथ्या समझते हैं।

यहाँ माया का अर्थ है, वह पदार्थ जो हो न; परंतु प्रतीत हो। गंधर्व-नगर का भी यही अर्थ है, स्वामी शंकराचार्यजी भी माया को इसी अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। यहाँ हम कुछ उदाहरण देते हैं:—

(१) एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते।
(शारीरिक-भाष्य १ । ३ । १९)

एक कूटस्थ नित्य और विज्ञान धातु ईश्वर अविद्या द्वारा अनेक प्रतीत होता है। उसी प्रकार जैसे मायावी (जादूगर) माया द्वारा।

(२) यथा स्वयं प्रसारितया मायया मायावी त्रिष्वपि कालेषु न संस्पृश्यते, अवस्तुत्वात्, एवं परमात्माऽपि संसारमायया न संस्पृश्यत इति (शा० भा० २ । १ । ९)

जिस प्रकार अपनी माया फैलाकर भी जादूगर उससे प्रभावित नहीं होता, क्योंकि जादू कोई चीज़ नहीं है। इसी प्रकार परमात्मा में भी संसारी माया कुछ विकार नहीं करती।

(३) लोकेऽपि देवादिषु मायाव्यादिषु च स्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिसृष्टयो दृश्यन्ते तथैकस्मिन्नपि ब्रह्मणि स्वरूपानुपमर्देनैवानेकाकारा सृष्टिर्भविष्यति।
(शा० भा० २ । १ । २८)

जैसे लोक में देव आदि या जादूगर आदि बिना अपने स्वरूप को बिगाड़े, विचित्र हाथी, घोड़ा आदि सृष्टि उत्पन्न कर देते हैं। उसी प्रकार ईश्वर भी अपने में विकार

उत्पन्न किए विना ही अनेक आकार की सृष्टि उत्पन्न कर देता है।

जादूगरों की जादूगरी प्रसिद्ध ही है। एक, दो, तीन, किया और कभी उनके हाथ में सेब आ गया, कभी आम, कभी अमरूद और कभी रुपया या घड़ी। फिर एक, दो, तीन किया और जो दृष्टि पड़ रहे थे, वह सब लुप्त हो गए। ऐसे जादूगर नगरों में तमाशा करते हुए बहुत पाए जाते हैं, और लोगों का विश्वास यह है कि विना आम, या अमरूद, या रुपया, या घड़ी हुए भी वह इन चीज़ों को दिखा देते हैं; कोई तो समझते हैं कि उनको कोई मंत्र आता है। उस मंत्र में ऐसी शक्ति होती है कि उसका जप करते ही अनेक वस्तुएँ दिखाई पड़ने लगती हैं। जादूगर लोग इस प्रकार के कुछ शब्द अपने होठों में दुहराते हुए भी पाए जाते हैं, जिससे सर्वसाधारण का विश्वास और भी अधिक हो जाता है। मंतर-जंतर का विश्वास लोगों में इतना बढ़ा हुआ है कि कम-से-कम इस देश के ग्रामों में लोग रोग अच्छा करने के लिये डॉक्टर और वैद्य की उतनी पर-वाह नहीं करते, जितनी ओझाओं या स्यानों की की जाती है। पेट का दर्द हुआ और स्याना आया, ज्वर हुआ और स्याना आया, हैज़ा हुआ और वही स्याना आया, आँख दुःखने लगी और वही स्याना बुलाया गया। इस प्रकार लोग समझते हैं कि स्याने के शब्दों में कोई ऐसी औषध है, जिससे रोग भाग जाते हैं। परंतु यदि आप उन शब्दों को जानना चाहें, जिनके द्वारा रोगों को अच्छा करने का दावा किया जाता है, तो पता चलेगा कि वह साधारण और ऊटपटांग शब्द होते हैं, जिनसे और रोग से कोई संबंध नहीं; और बहुत-से ढोंग केवल रुपया ठगने के लिये किए जाते हैं। पहले लोगों का यह विश्वास था कि प्राचीन काल के अग्नि-अस्त्र, वरुण-अस्त्र आदि मंत्र के बल से ही चलते थे अर्थात् केवल किसी शब्द-समूह को जप देने से ही अग्नि-वर्षा, या जल-वर्षा हो सकती थी। परंतु यह एक कल्पित बात थी, स्वामी दयानंद सरस्वती ने सत्यार्थ-प्रकाश के ग्यारहवें समुल्लास में इस विषय में लिखा है—

"जो मंत्र अर्थात् शब्द-मय होता है, उससे कोई द्रव्य उत्पन्न नहीं होता, और जो कोई कहे कि मंत्र से अग्नि उत्पन्न होता है, तो वह मंत्र के जप करनेवाले के हृदय और जिह्वा को भस्म कर देवे। मारने जाय ... और मर रहे आप। इसलिये मंत्र नाम है ... जैसे "राज-मंत्री" अर्थात् राज-कार्यों का विचार... वाला कहाता है। वैसा मंत्र अर्थात् विचार से ... के पदार्थों का प्रथम ज्ञान और पश्चात् क्रि... से अनेक प्रकार के पदार्थ और क्रिया-कौशल ... होते हैं। जैसे कोई एक लोहे का बाण व गोला ... उसमें ऐसे पदार्थ रक्खे कि जो अग्नि के लगाने ... में धुआँ फैलने और सूर्य की किरण व वायु ... होने से अग्नि जल उठे, उसी का नाम आग्नेय... जब दूसरा इसका निवारण करना चाहे, तो ... वारुणास्त्र छोड़ दे अर्थात् जैसे शत्रु ने शत्रु की ... आग्नेयास्त्र छोड़कर नष्ट करना चाहा, वैसे ही ... सेना की रक्षार्थ सेनापति वारुणास्त्र से आग्नेय... निवारण करे। वह ऐसे द्रव्यों के योग से ... जिसका धुआँ वायु के स्पर्श होते ही बद्दल होके ... लग जावे, अग्नि को बुझा दे" (उन्नीसवां ... पृ० १७७)।

इससे स्पष्ट है कि मंत्र-यंत्र के विषय में ... निरंतर धोखा हो रहा है। परंतु अधिक आश्च... बात यह है कि शंकर स्वामी ने, इसकी मीमांसा ... नहीं की। वह देवादिवदपि लोके (वेदान्त २।१।... पर भाष्य करते हुए लिखते हैं—

"यथा लोके देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयो म... श्चेतना अपि सन्तोऽनपेक्ष्यैव किञ्चिद्बाह्यं साधनमैश्व... योगादभिध्यानमात्रेण स्वत एव बहूनि नाना... शरीराणि प्रासादादीनि रथादीनि च निर्मिमाणा ... मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्।"

अर्थात् "जैसे लोक में देव, पितर, ऋषि ... प्रभावशाली होते हुए भी विना किसी बाहरी ... विशेष ऐश्वर्य या ध्यान-मात्र से बहुत-सी ... शरीरों, महलों, रथ आदि का निर्माण ... पाए जाते हैं—मंत्र, अर्थवाद, इतिहास, पुराण ... प्रामाण्य से।"

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहली ... श्रीशंकराचार्यजी तथा उनके समकालीन लोगों ... विश्वास था कि केवल मंत्र या ध्यान से ... आदि बन सकते हैं। दूसरी यह कि उनके ...

किसी पुरुष ने ऐसा करके नहीं दिखलाया, केवल किंवदन्तियों, या कुछ पुस्तकों के आधार पर ही ऐसा माना जाता था। यदि उस समय भी देव, पितर या ऋषि ऐसे होते, तो शंकर स्वामी "इतिहासपुराणप्रामाण्यात्" कभी न लिखते।

इसी प्रकार आजकल के समान शंकराचार्य के समय में भी जादूगर बहुत थे और लोग समझते थे कि वह विशेष शक्ति द्वारा ही चीज़ों को उत्पन्न कर देते हैं। वह जादू को केवल हाथ की चालाकी नहीं समझते थे। आजकल साइंस के युग में हमको हरएक बात की पूरी मीमांसा करने की आदत हो गई है। आजकल कोई विद्वान् ऐसा नहीं मानता कि छूमंतर या जादू से कोई चीज़ उत्पन्न हो सकती है। जिन्होंने जादूगरी सीखी है, या इस विषय में जाँच की है, वह भली प्रकार जानते हैं कि जादूगर छूमंतर से न तो किसी चीज़ को उत्पन्न करता है, न लुप्त कर सकता है। यह उसको हाथ की चालाकी होती है कि सेब या नारंगी या रुपया या घड़ी आदि को ऐसा छिपाता है कि लोग जान न सकें। कभी-कभी यह चालाकी पकड़ी भी जाती है। अनेक प्रकार को ऐसी डिबियाएँ बनाई जाती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न वस्तुओं को छिपाया जा सके। यदि छूमंतर से कोई चीज़ उत्पन्न हो सकती, तो जादूगर चार-चार पैसे के लिये तमाशा दिखाता न फिरता; किंतु अपने लिये रुपए, फल तथा वस्त्र आदि उत्पन्न कर लेता।

कुछ लोग यह समझते हैं कि जादूगर तमाशा देखनेवालों की दृष्टि बाँध देता है, मैस्मेराइज़ (Mesmerise) और हिप्नोटाइज़ (Hypnotize) करनेवाले भी इसी प्रकार का दावा करते हैं। दृष्टि बाँधने का वास्तविक अर्थ क्या है? यह एक और बात है और हम यहाँ उससे अधिक संबंध नहीं रखते। हमारा आशय तो केवल इतना है कि माया या जादूगरी की उपमा देकर बाह्य पदार्थों का मिथ्यात्व जो सिद्ध किया जाता है, वह कहाँ तक ठीक है। यदि जादूगर हाथ की चालाकी से चीज़ों को दर्शकों की दृष्टि से कभी छिपा सकता और कभी उनके सामने ला सकता है, तो उससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि वह दिखाई देनेवाली वस्तुएँ मिथ्या हैं। दृष्टि-भ्रम तो लोगों को साधारणतया बिना जादूगर के भी हुआ करते हैं। ऐसे भ्रमों का बहुत कुछ वर्णन हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं; परंतु जिस प्रकार उन भ्रमों से बाह्य पदार्थों का मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार जादू को समझना चाहिए। जिस चीज़ का तीनों कालों में और सर्वत्र अभाव है, उसकी भ्रांति भी नहीं हो सकती और न उसको हिप्नोटाइज़ करके दिखाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मेरा विचार है कि गौड़पादाचार्य से पूर्व 'माया' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता था। और न इस को 'माया-वाद' की उत्पत्ति से पूर्व वह गौरव ही प्राप्त था।

ऋग्वेद में यह शब्द लगभग ७५ मंत्रों में आता है।
मायाः (प्रथमांत, द्वितीयांत बहुवचन) २४ बार*,

* यह सारिणी प्रो० प्रभुदत्त शास्त्री की पुस्तक (The Doctrine of maya) से ली गई है।

मायाः— ऋग्वेद

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	३२	४
,,	११७	३
२	११	१०
,,	२७	१६
३	२०	३
,,	५३	८
५	२	९
,,	३१	७
,,	४०	६
,,	,,	८
६	१८	९
,,	२०	४
,,	२२	९
,,	४४	२२
,,	४५	९
,,	५८	१
७	१	१०
,,	९८	५
,,	९९	४
८	४१	८
१०	५३	९
,,	७३	५
,,	९९	२
,,	१११	६

मायया (तृतीयांत एकवचन) १६ बार, मायाभिः (तृ० बहु०) १३ बार, माया और मायाम् तीन-तीन बार।

मायया—१६ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	८०	७
,,	१४४	१
,,	१६०	३
२	१७	५
३	२७	७
४	३०	१२
,,	,,	२१
५	६३	३
,,	,,	७
६	२२	६
७	१०४	२४
८	२३	१५
,,	४१	३
९	७३	५
,,	,,	९
,,	८३	३
१०	७१	५
,,	८५	१८
,,	१७७	१

मायाभिः—१३ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	११	७
	३३	१०
	५१	५
	१५१	९
३	३४	६
,,	६०	१
५	३०	६
,,	४४	२
,,	७८	६
६	४७	१८
,,	६३	५
८	१४	१४
१०	१४७	२

अब थोड़ा-सा 'माया' शब्द के अर्थों पर वि[चार] कीजिए। निघंटु में तो वैदिक शब्दों के पर्याय का [सबसे] प्राचीन कोष है, 'माया' को 'प्रज्ञा' के ११ पर्यायों में एक माना है। यास्काचार्य ने निघंटु का भाष्य करते [हुए] निरुक्त में भी 'माया' के इसी अर्थ के उदाहरण दिये [हैं]। जैसे ऋग्वेद में एक मंत्र है—

शुक्रं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्विषुरूपे अहनी द्यौरिवासि।
विश्वा हि माया अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्निह रातिरस्तु।
(ऋ० ६।५८।१)

माया—३ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
३	६१	७
५	६३	४
१०	५४	२

मायाम्—३ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
५	८५	५
,,	,,	६
१०	८८	६

"मायावी" शब्द के रूपों का प्रयोग ऋग्वेद में [इस] प्रकार है—

मायिनः—१५ बार

मंडल	सूक्त	मंत्र
१	३९	२
,,	५१	५
,,	५४	४
,,	६४	७
,,	१५९	४
२	११	१०
३	३८	७
,,	,,	९
,,	५६	१
५	४४	११
६	६१	३
७	८२	३
८	३	१९
,,	२३	१४
१०	१३८	३

यहाँ 'मायाः' द्वितीया का बहुवचन है और 'अवसि' क्रिया का कर्म है । अर्थात् "विश्वा हि माया अवसि" तु सब मायाओं को रक्षा करता है ।

इस पर यास्क लिखते हैं—

शुक्रं ते अन्यल्लोहितं ते अन्यद्यजतं ते अन्यद्यज्ञियं ते अन्य-द्विषमरूपे ते अहनी कर्म द्यौरिव चासि । सर्वाणि प्रज्ञानान्यव स्यन्नवन्भाजनवती ते पूषन्निह दातिरस्तु । तस्यैषा परा भवति । (निरुक्त १२।१७)

मंडल	सूक्त	मंत्र
	मायिनम्—१० बार	
१	११	७
”	५३	७
”	५६	३
”	८०	७
२	११	५
५	३०	६
”	५८	२
६	४८	१४
८	७६	१
१०	१४७	२
	मायो—३ बार	
७	२८	४
१०	९९	१०
”	१४७	५
	मायिनाम् – ३ बार	
१	३२	४
३	२०	३
”	३४	३
	मायिनि—२ बार	
५	४८	१
१०	५	३
	मायिना—१ बार	
६	६३	५
	मायाविना—१ बार	
१०	२४	४
	मायावान्—१ बार	
४	१६	९
	मायाविनम्—१ बार	
२	११	९
	मायाविनः—१ बार	
१०	८३	३

अर्थात् "सब प्रज्ञाओं या ज्ञानों की रक्षा करता है ।" यदि 'माया' का अर्थ यहाँ "अविद्या" होता, जैसा कि गौड़पादाचार्य का मत है, तो 'पूषा' को कभी 'अविद्या' का रक्षक न बताया जाता ।

एक और मंत्र है—

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् ;
मायाम् तु यज्ञियानामेतामयो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ।
(ऋ० १० । ८८ । ६)

इस पर निरुक्तकार लिखते हैं—

मूर्धा मूर्तमस्मिन्धीयते मूर्धा यः सर्वेषां भूतानां भवति नक्त-मग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुद्यन् स एव। प्रज्ञां त्वेतां मन्यन्ते यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम् । अपो यत्कर्म चरति प्रजानन् सर्वाणि स्थानान्यनुसञ्चरति त्वरमाणः । तस्या-परा भूयसे निर्वचनाय । (निरुक्त ७ । २७)

यहाँ बतलाया गया है कि अग्नि अपने (अपः) कर्त्तव्यों को (प्रजानन्) जानता हुआ (तूर्णिश्चरति) शीघ्र ही घूम जाता है । रात में पृथ्वी का मूर्धा (सिर) होता है और प्रातःकाल सूर्य होकर चमकता है । यह सब (यज्ञियानां देवानां यज्ञसम्पादिनाम्) यज्ञ को संपादन करनेवाले देवों की माया अर्थात् 'प्रज्ञा' है । यहाँ 'माया' शब्द अविद्या से सर्वथा ही विरुद्ध अर्थ में लिया गया है ।

तीसरा मंत्र लीजिए—

इमाम् नु कवितमस्य मायां महीं देवस्य नकिरादधर्ष ;
एकं यदुद्ना न पृणन्त्येनीरासिञ्चन्ती रवनयः समुद्रम् ।
(ऋ० ५ । ८५ । ६)

इस पर निरुक्त में लिखा है कि—

"तं प्रज्ञया स्तौति" (निरुक्त ६ । १३)

इस मंत्र का देवता 'वरुण' है । वरुण के विषय में कहा गया है कि वरुण की इस बड़ी 'माया' (अर्थात् प्रज्ञा) को कोई नहीं दबा सकता है ।

एक और मंत्र देते हैं—

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु ;
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् ।
(ऋ० १० । ७१ । ५)

इस मंत्र का देवता "ज्ञान" है, इस पर निरुक्त की टिप्पणी है—

अप्येकं वाक् सख्ये स्थिरपीतमाहू रममाणं विपीतार्थं देवसख्ये रमर्णाये स्थान इति वा विज्ञातार्थं 'यन्नाप्नुवन्ति वाग् ज्ञेयेषु बलवत्स्वपि । अधेन्वा ह्येष चरति मायया वाक् प्रतिरूपया नाऽस्मै कामान् दुग्धे वाग् दोह्यान्देवमनुष्यस्थानेषु यो वाचं श्रुतवान् भवत्यफलामपुष्पामित्यफलाऽस्मा अपुष्पा वाग् भवतीति वा किञ्चित्पुष्पफलेति वा । अर्थं वाचः पुष्पफलमाह । याज्ञदेवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा । (नि० १ । २०)

अर्थात् जो पुरुष विना अर्थ समझे वाणी को पढ़ता या सुनता है, उसको वाणी से कुछ फल प्राप्त नहीं होता।

सायणाचार्य ने भी 'माया' का अर्थ अधिकतर 'प्रज्ञा', 'ज्ञान-विशेष', ' कर्म-विशेष' आदि ही किया है।

गंगाप्रसाद उपाध्याय

पिंजर-बद्ध कीर

(१)

करके बंद मुझे पिंजरे में बातें व्यर्थ बनाते हो;
आई है वसंत बाग़ों में कहकर मुझे जलाते हो।
चारे के लालच में जिस दिन मैंने गला फँसाया था;
तुमको सजन समझा था मैं, धोखा मैंने खाया था।

(२)

तुमने जाना विजय हुई मैंने समझा तुमसे हारा;
किंतु मानवी हृदय तुम्हारा मैंने उस दिन धिक्कारा।
कोई भी था प्राणी था मैं तुम भी हो प्राणी जैसे;
किंतु तुम्हारे कर्म तभी से देख रहा हूँ हैं कैसे!

(३)

अपने मतलब के ऊपर तुम नीच-ऊँच सब भूले हो;
जो कुछ वैभव तुम्हें मिला है उस पर फिरते फूले हो।
समझे हो तुम कभी जगत् में ऐसा समय न आवेगा;
करके जो तुमको नत मस्तक सारा रंग बिगाड़ेगा।

(४)

मेरा बाग़ सदा ही जैसा बना रहेगा सच मानो;
तुम अपने को एक जंतु-सा जिसमें फिरता-सा जानो।
फिर लो थोड़ी देर देख लो अंगों की शोभा सारी;
जीवन क्षणिक पाओगे अपना प्रभुता सारी मक्कारी।

(५)

बाग़ उजाड़ोगे तुम ऐसा मन में अपने ठाना है;
किंतु न तुमने अपने बल को अब तक कुछ पहचाना है।
केवल एक हवा का लहरा तुम्हें उड़ा ले जा
काँटा एक किसी पौधे का गड़कर प्राण निका

(६)

अथवा कोई दग्ध आह सारे तन को झुलसा
या आँसू की धारा कोई कहीं बहा ले जा
मुझे न छेड़ो दुखी हृदय हूँ हँसो न अपना मुँह
अपने को पहचानो मुझको तानों का देना

देवीप्रसाद गु
'कुसु

कायाकल्प

(अनुशीलन और समालोचना)

१. कहानी का ख़ाका



से सेवा-सदन में पतित रहते हुए भी चरित्र आदर्श दिखाया गया प्रेमाश्रम में धनवान् स्वार्थ-परता का रूपवै साया गया है, जैसे में समाज की भिन्न-भिन्न के खेल दिखाकर भाँ के अभिनेताओं का चित्र खींचा गया है, वैसे अपूर्व उपन्यास में प्रेमचंद की लेखनी के जादू भिन्न परिस्थितियों में पात्रों के चरित्र में विचि पलट दिखाई गई है। केवल लक्षणामूलक काय उदाहरणों से तो पुस्तक भरी पड़ी है, पर वास्तविक कायाकल्प का भी मनोरंजक चित्रण जिससे इस उपन्यास के नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

बनारस के ज़िले में जगदीशपुर की रिया उसके मालिक राजा महेंद्रसिंह की अकाल मृत्यु उनकी विधवा रानी देवप्रिया उनकी उत्तरा की हैसियत से प्रबंध करती हैं। यह बूढ़ी हो चु मन जवान ही बना हुआ है। भोग-विलास से भरा है। एक बार हर्षपुर के राजकुमार काशी देवप्रिया उन्हें निमंत्रित करती है। उनसे उसे है कि कुँअर उसके मृतपति हैं, जो पुनर्जन्म लेक

उद्धार करने आए हैं। देवप्रिया राज को त्यागकर कुँअर साहब के साथ चली जाती है। राजा विशालसिंह राजा हो जाते हैं। इनके देवर विशालसिंह ने पहले दो शादियाँ की थीं। उनमें से एक से एक बेटी थी। वे दोनों स्त्रियाँ मर गईं, तब उन्होंने तीन विवाह और किए। एक बार प्रयाग के मेले में इनकी वह एकमात्र बेटी भी खो गई, पता न लगा। कोई और सन्तान न हुई। तीनों सौतें आपस में सदा लड़ा करती थीं। विशालसिंह का जीवन दूभर हो रहा था।

रानी देवप्रिया के एक दीवान हैं हरिशंकरसिंह। उनकी लड़की का नाम मनोरमा है, जो पुस्तक की नायिका है। मनोरमा को पढ़ाने के लिये एक सुशिक्षित सच्चरित्र युवक रखा गया है, जिसका नाम चक्रधर है। चक्रधर बड़े ऊँचे आदर्शों का युवक है। मनोरमा को अपनी ओर आकर्षित होते देखकर वह आगरे के एक यशोदानंदन की पालिता कन्या से विवाह कर लेता है। मनोरमा बाद को राजा विशालसिंह से विवाह करती है; पर रानी बनकर चक्रधर के परोपकार-कार्य में धन की सहायता देना ही उसका ध्येय है।

राजा विशालसिंह राज-पद पाते ही प्रजा पर अत्याचार करने लगते हैं। चक्रधर प्रजा-पक्ष लेने के कारण जेल भेज दिया जाता है। मनोरमा उसकी राजा साहब से सिफ़ारिश करती है, पर चक्रधर को दो साल की सज़ा हो जाती है।

जेल से छूटने के बाद चक्रधर अहल्या को लाते हैं, पर जब उनके माता-पिता बधू से छूत मानने लगते हैं, तो वह उसे लेकर प्रयाग चले जाते हैं। वहाँ उनके एक पुत्र होता है, जिसका नाम शंखधर है। मगर आख़िर, मनोरमा रानी की बीमारी का तार पाकर चक्रधर सपरिवार मनोरमा को देखने आते हैं। राजा विशाल अहल्या को पहचान जाते हैं। वह उनकी खोई हुई लड़की है। यह परिवार यहीं रहने लगता है।

मगर कुछ दिनों के बाद चक्रधर के मन पर राज्य-समृद्धि का बुरा प्रभाव पड़ने लगा और वह उसका अनुभव करके एक दिन घर से निकलकर लापता हो गए और कुटुंब को शोक-सागर में छोड़ गए।

राजकुमार शंखधर धीरे-धीरे बड़ा हुआ। जब तेरह बरस का हुआ, अपने पिता की खोज में यह भी घर से निकल गया और लापता हो गया।

बूढ़े राजा विशालसिंह उसके चले जाने से निराधार हो गए। पागल की तरह आचरण करने लगे।

पाँच बरस की खोज में शंखधर ने अपने पिता को दक्षिण में कहीं पाया। उनके पास कुछ दिन रहा। माँ के पास पत्र लिखा। माँ ने आने के बदले कड़ी बीमारी का बहाना करके उसे ही बुलाया।

राह में शंखधर ने एकाएकी हर्षपुर स्टेशन का नाम सुना। पूर्व स्मृति जग गई। उतर पड़ा। वहाँ रानी कमलावती थी, जिसका पहले देवप्रिया नाम था और जिसे वह महेंद्र के रूप में हिमालय ले गया था और योग-विज्ञान-बल से जिसका कायाकल्प कर डाला था। उससे मिला। शंखधर ही पहले महेंद्र था। कमलावती पहचानकर उसके साथ हो ली। उसको साथ लेकर वह आगरे गया, जहाँ उसकी माता अहल्या चली गई थी। वहाँ से अपनी माता और कमला रानी-समेत बनारस को आया।

इधर राजा विशालसिंह मनोरमा से बिलकुल उदासीन हो गए थे और सत्तर बरस की उम्र में सातवाँ ब्याह करने पर उतारू थे। उनकी बरात रवाना हो गई। राह में एकाएकी सब लोग रुक गए। राजकुमार शंखधर बहू, रानी और अहल्या के साथ मोटर पर आ रहे थे। राजा विशालसिंह के भाग्य बरात के साथ लौटे।

महेंद्र और देवप्रिया शंखधर और कमला के रूप में भी पहचान लिए गए। विशालसिंह को बड़ा भय हुआ कि शंखधर फिर उसी तरह मर जायगा। यह दोनों प्राणी अनेक जन्मों से साथ होते आए; परंतु पति-पत्नी का संबंध ज्यों ही होने का अवसर आता था; पति मर जाता था। कायाकल्प करने और पूर्व-जन्म की याद रखने तक की सिद्धि योगी शंखधर को हो गई थी, पर मृत्यु पर अधिकार न कर सके।

एक दिन शंखधर का इसी तरह एकाएकी अंत हो गया। चक्रधर पहुँचे सही; पर उसकी मृत्यु के बाद। यदि पाठक इस ख़ाके से प्रेमचंद की जादूबयानी का अंदाज़ा करना चाहेंगे, तो उलटी बात होगी। हमने तो कहानी का नंगा ख़ाका इसलिये यहाँ दिया है कि पाठकों को इस रत्न की क़ीमत लगाने में और आगे इस लेख में, जो कुछ लिखा गया है, उसके समझने में कुछ सुभीता हो।

२. चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण के इस उस्ताद ने आदि से अंत तक अपनी कहानी के हर पात्र में कायापलट दिखाया है। अपने और उपन्यासों में भी प्रेमचंदजी ने चरित्र में कायापलट दिखाया है सही, परंतु वहाँ स्वाभाविक जीवन के और पहलुओं पर विशेष रूप से ध्यान था। कायाकल्प में इसी एक पहलू पर सबसे ज़्यादा ज़ोर है। जीवन की परिस्थितियाँ सतत परिवर्त्तनशील हैं। किसी के स्वभाव को स्थायी नहीं रहने देतीं। मन की वृत्तियों पर परिस्थिति का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ता है कि कैसा ही दृढ़ हो, कैसा ही हठी हो, स्वाभाविक चंचलता उस पर विजय पा ही जाती है।

ख़्वाजा महमूद और यशोदानंदन

हिंदू-मुसलिम एकता की यह दोनों मित्र मानों मूर्त्ति हैं। परंतु जब परिस्थिति बदल जाती है, जब जाति-विद्वेष की आग धधकने लगती है, तब वही ख़्वाजा महमूद एक तरफ़ होते हैं और यशोदानंदन दूसरी तरफ़। हरएक अपने सहधर्मियों का पूरा पक्ष करता है और अपनी जान देने को तैयार होता है। हाँ, एक बात अवश्य है कि यह भाव-परिवर्त्तन तभी तक रहता है, जब तक एक दूसरे की निगाहें नहीं मिलतीं। सामने आते ही दोनों पुरानी मुरव्वत से दब जाते हैं। यहाँ तक कि यशोदानंदन जब इसी द्वेषाग्नि के शिकार हो जाते हैं; तो ख़्वाजा महमूद को उनके वियोग का सबसे अधिक दुःख होता है।

अहल्या

अहल्या वही लड़की है, जो प्रयाग के मेले में अपने माता-पिता से बिछुड़कर आगरे के अनाथालय में और फिर यशोदानंदन के घर पली। यह अनाथा और दरिद्रा थी; परंतु उदाराशय, सच्चरित्रा, सेवा-भाव में ओत-प्रोत भीगी हुई। आगरे में विद्रोह के समय चक्रधर की दिलेरी और आत्मोत्सर्ग पर जी-जान से निछावर हो जाती है। वह जब आगरा जेल में आते हैं, तो उनके दर्शनों को जाती है। जब चक्रधर से विवाह हो जाता है, तो उनकी ख़ातिर भाँति-भाँति के अपमान सहती है, और जब उसके अपमान को न सहकर चक्रधर प्रयाग जा बसते हैं, तो वह सहधर्मिणी के पूरे कर्त्तव्य-पालन करती है। परंतु उसी अहल्या का अपने पिता के घर राजकुमारी की हैसियत से रहने में कितना कायापलट हो जाता है! उसे विलासिता घेर लेती है। शंखधर राजा होकर मोहपाश में फँसकर पति-वियोग-रूपी कठिन दुःख स्वीकार कर लेती है। यश के मोह में पड़कर पुत्र का पता पाकर भी उसके पास नहीं चली आती, बीमारी का झूठ बहाना करके पुत्र को बुलाना चाहती है। अनाथा दरिद्रा अहल्या और राजकुमारी सुखदा में कितना बड़ा अंतर पड़ जाता है!

वज्रधरसिंह

मुंशी वज्रधर लड़के की शादी अच्छे घर करना चाहते हैं, पर उनकी अपनी हैसियत कुछ भी नहीं है। इसलिये जब मुंशी यशोदानंदन चक्रधर को देखने आते हैं, तब उनकी हद से ज़्यादा ख़ातिर-तवाज़ो होती है। यदि वह राज़ी नहीं होते। मुंशीजो उन्हें राज़ी करने में जी-जान से तुले हुए हैं। परंतु उनका समय जब पलटा खाता है, जब अच्छे दिन आते हैं, तब उन्हीं यशोदानंदन से उन्हें बिना अच्छा दहेज़ पाए शादी करना मंज़ूर नहीं है। अब उन्हें यशोदानंदन की परवाह नहीं। वह कहते हैं—

"लेकिन अगर उन्हें कुछ पसोपेश हो, तो मैं उन्हें मजबूर नहीं करना चाहता। उन्हें इख़्तियार है, जो चाहें करें। यहाँ सैकड़ों आदमी मुँह खोले हुए हैं। उस वक़्त जो बात थी, अब वह नहीं है।... मैं उन्हें समझता क्या हूँ। तुम देखोगे कि उन जैसे आदमी इसी द्वार पर नाक रगड़ेंगे। आदमी को बिगड़ते देर नहीं लगती, बनते देर लगती है।"

इस तरह का कायापलट मुंशी वज्रधर की ओर से कई बार हुआ है। पर मुंशी वज्रधर आदि से अंत तक नौकरशाही और उसकी ख़ुशामद करनेवालों के रूपक हैं। वर्तमान समृद्धि के घमंड में अपनी पुरानी हैसियत को भूल जाते हैं और जोश में उलटी बहकी बातें करने लग जाते हैं।

हरिसेवकसिंह

हरिसेवकसिंह बड़े समझदार, परंतु कृपण हैं। इनकी रखेली ही इनकी बुद्धि है। बुढ़ापे में जब वह तीर्थ के बहाने लौंगी चली जाती है, तो हरिसेवकसिंह के दिल, दिमाग़ और स्वभाव में गहरा फेर-फार पड़ जाता है, वह अंत में उसके वियोग में प्राण दे देते हैं।

चक्रधरसिंह

चक्रधरसिंह सेवा-भाव की मूर्त्ति हैं। छात्रावस्था से ही समाज-सेवा इनका धर्म है। मन इनका पवित्र और निर्मल है। आरंभ में जब मनोरमा को पढ़ाते हैं, तब इनके मन के गंभीर गह्वर में उसके प्रति प्रेम का उदय होता है। परंतु मनोरमा को वह दरिद्र बनाना अनुचित जानते हैं और उसे दबाकर ऐसा गुप्त रखते हैं कि वह उनके बाहरी चित्त पर तभी प्रकट होता है, जब वह जेल में सुनते हैं कि मनोरमा ने राजा विशालसिंह से विवाह कर लिया। अहल्या से अपने विवाह का निश्चय तभी करते हैं। इनके इस दुर्भेद्य रहस्य को न जानने के कारण ही मनोरमा प्रेम-वश इनकी ही ख़ातिर बूढ़े राजा से ब्याह कर लेती है। तिलकोत्सव के अवसर पर, जेल में, आगरे के उपद्रव में, इनकी वीरता और धैर्य का बार-बार परिचय मिलता है। चक्रधर विलासिता और बड़प्पन से इसीलिये बचपन से ही भागते आए हैं कि उनके सेवा-भाव से इनका विरोध है। चक्रधर-जैसे दृढ़ चरित्र के मनुष्य भी जब राजा विशालसिंह के जामाता और मेहमान होकर विलासिता में फँस जाते हैं, तब उनका भी कुछ काल के लिये कायापलट हो जाता है। अंत में अपने विलासिता के जीवन से उन्हें ऐसी घृणा हो जाती है कि वह सदा के लिये घर छोड़ देते हैं और फिर समाज सेवावाली अपनी पुरानी वृत्ति में लग जाते हैं। चक्रधर के चरित्र में इस अल्पकालिक कायापलट से पाठकों की दृष्टि में कोई विशेष दूषण नहीं आता; बल्कि उनका बिगड़ते-बिगड़ते भी सँभल जाना यह सिद्ध करता है कि दृढ़ चरित्रवाला परिस्थिति के चक्र में पड़कर कभी फिसल जाता है। तो भी उसकी दृढ़ता उसे सँभाल लेती है। चक्रधर का चरित्र उसे इस उपन्यास के नायक का पद सहज में ही दे देता है।

मनोरमा

मनोरमा का चरित्र भी बहुत ऊँचा है। इसके मन में शिष्या की ही दशा में गुरु चक्रधर के प्रति प्रेम अंकुरित होता है और यद्यपि चरित्र की दृढ़ता और गंभीरता में यह और सभी पात्रों से बढ़ी-चढ़ी है। तथापि चक्रधर की शिष्या ही ठहरी, उनकी थाह नहीं पा सकती, परंतु अपना प्रेम किसी-न-किसी तरह प्रकट किए बिना नहीं रह सकती। पाठक अवश्य जान जाते हैं कि इसे चक्रधर से प्रेम है। चक्रधर को भी मालूम हो जाता है, पर चक्रधर के गुप्त प्रेम का रहस्य मनोरमा पर बहुत पीछे बड़ी कठिनाई से खुलता है। अपने सच्चे प्रियतम के लिये इस लड़की का जीवनोत्सर्ग भी अनुपम है। वह जानती है कि चक्रधर अहल्या से विवाह करेंगे। परंतु उन पर वह इतना निछावर हो जाती है कि उनके प्रिय कार्य समाज-सेवा में धन की प्रचुर सहायता अपने शरीर को बेंचकर भी करने में उसे तनिक संकोच नहीं होता। वह चक्रधर से कह चुकी है कि मैं रानी होती, तो सेवा-कार्य में खुले हाथों धन से आपकी सहायता करती। वह अपने इस स्वप्न को अपने जीवन में अपने आत्मोत्सर्ग के बल से सच्चा कर पाती है। बूढ़े राजा विशालसिंह से उसे प्रेम नहीं है; परंतु वह इस बात को छिपाती नहीं, उनसे साफ़ कह देती है। पीछे जब-जब चक्रधरसिंह उसकी सहायता स्वीकार नहीं करते, तब-तब उसे बड़ा दुःख होता है। उसे चक्रधर से पवित्र प्रेम बना रहता है। अहल्या से उसे द्वेष नहीं होता। वह शंखधर को पाती है, तो उसे अपना लेती है। उसका कारण केवल यही है कि वह चक्रधर का पुत्र है, मगर जब शंखधर के चले जाने से विशालसिंह के चरित्र में एकदम कायापलट हो जाता है। वह उनसे भाँति-भाँति के अपमान पाती है तथापि जब राजा विशालसिंह की जान जोखिम में पड़ती है और वह भी भाई गुरुसेवकसिंह के करतब से, तो उसके हृदय के अंतर-तट में बहुत काल से निहित दांपत्य-प्रेम उमड़ आता है और यद्यपि वह एक मुद्दत से तिरस्कृत और पतित्यक्ता है, तो भी राजा की रक्षा के लिये जान हथेली पर लेकर तैयार हो जाती है। वह अपना सच्चा प्रेम चक्रधर को दे चुकी है सही, पर पतिव्रता हिंदू-नारी का पति के चरणों में जो अनुराग स्वाभाविक होना चाहिए, वह उसके अंतस्तल में अवश्य बराबर रहा है और अवसर पाकर प्रकट हो गया है। मनोरमा पति के मरने पर भी अपने दृढ़ चरित्र को स्थिर रखे हुए है। उसके जीवन के क्या-क्या कायापलट नहीं हुए; परंतु उसके चरित्र में कायापलट नहीं हो पाया। लौंगी का चरित्र भी इसी तरह जीवन-भर एकरस बना रहा। उसके जीवन में कई बार कई तरह के फेरफार हुए; परंतु चरित्र में परिवर्तन नहीं हुआ। मरतीबेर पिता हरिसेवकसिंह इसी अभिप्राय से अंतिम उप-

देश मनोरमा को देते हैं कि "लौंगी को देखो", मनोरमा भी इसी वाक्य को अपना आदर्श बना लेती है। मनोरमा का उसे ऐसा सम्मान देना उचित ही है, क्योंकि लौंगी ने उसे अपना दूध पिलाकर पाला है, उसके चरित्र को बचपन से ही एक अच्छे साँचे में ढाला है। पाठकों को मनोरमा की जन्मदात्री माता का हाल नहीं मालूम, परंतु उसके चरित्र की छाया उस पर संस्कार-रूप से अवश्य पड़ी होगी। लौंगी से फिर भी मनोरमा के चरित्र में एक विचित्र सादृश्य है। विधवा लौंगी हरिसेवकसिंह को पति से अधिक चाहती है और मनोरमा चक्रधर को पूज्य भी मानती है और अपना प्रेम भी समर्पण कर देती है। राजा विशालसिंह को वह प्रेम बहुत काल तक नसीब नहीं हुआ। परंतु पति के प्रति कर्तव्य में मनोरमा रत्ती-भर त्रुटि नहीं करती और यद्यपि अपने पूर्व संकल्प के अनुसार वह चक्रधर को ही चाहती थी तथापि चक्रधर के निरंतर पवित्र व्यवहार से उसका प्रेम गुरु के प्रति श्रद्धा और भक्ति में ही धीरे-धीरे समा जाता है और उसके प्रकृत अधिकारी पति के चरणों में वह दांपत्य अनुराग के रूप में फिर से प्रकट होता है। जब चक्रधर जेल से लौटते हैं, तब अवसर पाकर मनोरमा सदा की नाईं अपने सच्चे भाव, अपने मन की सच्ची दशा और अपने विवाह का सच्चा उद्देश्य खोलकर कह देती है। उस समय भी उसके प्रति प्रेम रखनेवाले और इसका एक तरह से इक़रार करते हुए भी चक्रधर शिष्या मनोरमा से कहते हैं कि राजा साहब के प्रति एक पल के लिये भी तुम्हारे मन में अश्रद्धा का भाव न आने पाए। अगर ऐसा हुआ, तो तुम्हारा यह त्याग निष्फल हो जायगा। सचमुच चक्रधर और मनोरमा दोनों में अपूर्व चरित्र-बल था। दोनों संयत थे। दोनों के संबंध का कुछ अंदाज़ा नीचे लिखे अवतरण से होगा।

"मनोरमा—आप मुझे "आप" क्यों कह रहे हैं। क्या अब मैं कुछ और हो गई हूँ? मैं अब भी अपने को आपकी दासी समझती हूँ। मेरा जीवन आपके किसी काम आए, मेरे लिये इससे बड़ी सौभाग्य की कोई बात नहीं है। मुझसे उसी तरह बोलिए, जैसे तब बोलते थे। मैं आपके कष्टों को याद कर-करके बराबर रोया करती थी। सोचती थी, न-जाने वह कौन-सा दिन होगा कि आपके दर्शन पाऊँगी। अब आप फिर मुझे पढ़ाने आया कीजिए। राजा साहब भी अब आपसे पढ़ना चाहते हैं। बोलिए, स्वीकार करते हैं?"

मनोरमा के इन सरल भावों ने चक्रधर की आँखें खोल दीं। उन्होंने उसे मायाविनी, विलासिनी, और न-जाने क्या समझ रखा था। अब ज्ञात हुआ कि यह वही बालिका है जो निःसंकोच भाव से उनके सामने अपना हृदय खोलकर रख दिया करती थी।

जब मनोरमा समाज-सेवा में साथ देने का आग्रह करती है, तब चक्रधर कहते हैं—

"नहीं मनोरमा तुम्हारा कोमल शरीर उन कठिनाइयों को न सह सकेगा। तुम्हारे हाथ में ईश्वर ने एक रियासत की बागडोर दे दी है। तुम्हारे लिये इतना ही काफ़ी है कि अपनी प्रजा को सुखी और संतुष्ट रखने की चेष्टा करो। यह छोटा काम नहीं है।"

"मनोरमा—मैं अकेली कुछ न कर सकूँगी। आपके इशारे पर सब कुछ कर सकती हूँ। कम-से-कम इतना तो कर सकते हैं कि अपने कामों में मुझसे धन की सहायता लेते रहें। ज़्यादा तो नहीं, पाँच हज़ार रुपये मासिक मैं भेंटकर सकती हूँ। आप जैसे चाहें, खर्च करें, लावें। मेरे संतोष के लिये इतना काफ़ी है कि वे आपके हाथों ख़र्च हों, मैं कीर्त्ति की भूखी नहीं। मैं केवल आपकी सेवा करना चाहती हूँ। इससे मुझे वंचित न कीजिए। आप में न-जाने कौन-सी शक्ति है, जिसने मुझे वशीभूत कर लिया है। मैं न कुछ सोच सकती, न कर सकती, केवल आपकी अनुगामिनी बन सकती हूँ।"

"यह कहते-कहते मनोरमा की आँखें सजल हो गईं। उसने मुँह फेरकर आँसू पोंछ डाले और बोली—आप मुझे दिल में जो चाहें समझें, मैं आपसे इस समय सब कुछ कह दूँगी। मैं हृदय में आप ही की उपासना करती हूँ। मेरा मन क्या चाहता है, नहीं जानती। अगर कुछ-कुछ जानती भी हूँ, तो कह नहीं सकती। इतना कह सकती हूँ कि जब मैंने देखा कि आपकी परोपकार-कामनाएँ धन के बिना निष्फल हुई जाती हैं, तो मैंने यही आपके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है तो मैंने उसे हटाने को ही यह बेड़ी अपने पैरों में डाली। मैं जो कुछ कह रही हूँ, इसका एक-एक अक्षर सत्य है। मैं यह नहीं कहती कि मुझे धन से घृणा है। नहीं, मैं उसे को संसार की विपत्तियों में सबसे दुःखदायी समझती।

लेकिन मेरी सुख-लालसा किसी भले घर में शांत हो सकती थी। उसके लिये मुझे जगदीशपुर की रानी बनने की ज़रूरत न थी। मैंने केवल आपकी इच्छा के सामने सिर झुकाया है, मेरे जीवन को सफल करना अब आपके हाथ है।

"चक्रधर यह बातें सुनकर मर्माहत से हो गए। उफ़! यहाँ तक नौबत पहुँच गई! मैंने इसका सर्वनाश कर दिया! हा विधि! तेरी लीला कितनी विषम है।" वह सोचकर अवाक् से हो जाते हैं और उसकी आत्म-बलिदान की प्रशंसा करते हुए उसे समझाते हैं कि मेरे जैसे अपात्र के लिये तुमने इतना महान् त्याग कर डाला है, यह उचित न था।

चक्रधर और मनोरमा यह बातें एकांत में कर रहे हैं। दोनों के हृदय में परस्पर गहरा और सच्चा प्रेम है। परंतु दोनों आत्म-संयम के, सदाचार के, उदाराशयता के और पवित्रता के नमूने हैं। चक्रधर रुपए इसीलिये नहीं लेते कि इसमें लोगों को आक्षेप करने का अवसर मिलेगा।

तीनों सौतें

एक-ही-समय में एक से अधिक पत्नियों के होने से गृहस्थी किस तरह चौपट हो जाती है और आए दिन किस प्रकार सवतियाडाह के कारण, गृह-कलह होता रहता है, इसका बहुत ही सुंदर चित्रण ठाकुर विशाल-सिंह की तीनों स्त्रियों के चरित्र में किया गया है। बड़ी स्त्री वसुमती "अत्यंत गर्वशीला थी, नाक पर मक्खी भी न बैठने देती, उनकी तलवार सदैव म्यान से बाहर रहती थी। वह अपनी सपत्नियों पर सास की भाँति शासन करना चाहती थी। जो उसकी हाँ-में-हाँ मिलाता, उस पर प्राण देती थी। इच्छा के विरुद्ध बात हुई, तो सिंहिनी का-सा विकराल रूप धारण कर लेती।" दूसरी स्त्री रामप्रिया रानी जगदीशपुर की सगी बहन थी। "यह दया और विनय की मूर्त्ति थी, बड़ी विचारशील और वाक्य-मधुर। जितना कोमल अंग था, उतना ही कोमल हृदय भी था। वह घर में इस तरह रहती थी, मानों है ही नहीं। पुस्तकों से विशेष रुचि थी, हरदम कुछ-न-कुछ पढ़ा-लिखा करती थी। सबसे अलग-बिलग रहती थी, न किसी के लेने में, न देने में, न किसी से विशेष वैर न विशेष प्रेम।" तीसरी पत्नी रोहिणी थी। ठाकुर साहब का इससे विशेष प्रेम था। वह भी प्राणपण से उनकी सेवा करती थी। इसमें प्रेम की मात्रा अधिक थी, या माया की, इसका निर्णय करना कठिन था। उसे असह्य था कि ठाकुर साहब उसकी किसी सौत से बातचीत भी करें। वसुमती कर्कशा थी पर दिल की साफ़। रोहिणी जितना द्वेष मन में पालती थी, उतना मुँह से प्रकट न करती थी। वसुमती के प्रेम में ईर्ष्या थी। रोहिणी के प्रेम में शासन था। रामप्रिया का प्रेम सहानुभूति की सीमा के अंदर ही रह जाता था। कोई पति के जीवन को सुखमय न बना सकती थी, उनकी प्रेम-तृष्णा को तृप्त न कर सकती थी। जब तक ठाकुर विशालसिंह कष्ट से दिन काटते थे, तब तक घर में नित्य झगड़े होते रहते थे। तीनों ने ठाकुर विशालसिंह के नाकों-दम कर रखा था। परंतु जब वह राजा हो गए, तब तीनों का उन्होंने एक प्रकार से त्याग कर दिया। रानियाँ जगदीशपुर में रहतीं। राजा साहब शहर में रहने लगे। हाँ, अब सबके लिये लौंडी-बाँदी, नौकर-चाकर, महल आदि अलग-अलग थे। किसी को अर्थ-कष्ट न था। आपस का संघर्ष मिट गया। वसुमती भक्ति-पूजन में दिन काटने लगी। रामप्रिया लिखने-पढ़ने, वीणा-सितार में व्यस्त रहने लगी। रोहिणी का हृदय भीतर-ही-भीतर जलता था; पर ऊपर से उपेक्षा थी। बनाव, सिंगार और विलासिता में ही जी बहलाती थी। अब कलह के बदले सुलह है, क्योंकि तीनों परि-त्यक्ता हैं। तीनों एक ही मुसीबत में हैं। जब सब पर मुसीबत समान रूप से पड़ती है, वैरी भी आपस में मिल-जुलकर रहने लगते हैं। तीनों के सपत्नी जीवन में अर्थ-प्राचुर्य और पति-परित्याग इन दो घटनाओं ने काया-पलट कर दिया।

गुरुसेवकसिंह

यह तो हुई असल साहब बहादुरों की कथा। बने हुओं की तो दशा उनसे भी गई बीती होती है। गुरु-सेवकसिंह पहले तो समाज-सेवा का दम भरते थे। चक्रधर के पद चिह्न पर चलने में अपना गौरव सम-झते थे। परंतु जब डिप्टी कलक्टर हुए, तो उनका पूरा कायापलट हो गया। कौए ने मोर के पर खोंस लिए। प्रेमचंदजी ने उनका चित्र यों खींचा है—

"अब वह बड़े ठाट से रहते थे। रहन-सहन भी बदल डाला। खान-पान भी बदल डाला। उस समाज में घुल-

मिल गए, जिसकी वाणी में, वेष में, व्यवहार में परा-धीनता का चोखा रंग चढ़ा होता है, उन्हें लोग अब 'साहब' कहते हैं। 'साहब' हैं भी पूरे 'साहब', बल्कि साहबों से भी दो अंगुल ऊँचे। किसी को छोड़ना, तो जानते ही नहीं। क़ानून का मंशा चाहे कुछ हो, कड़ी-से-कड़ी सज़ा देना उनका काम है। उनका नाम सुनकर बदमाशों की नानी मर जाती है। विधाताओं को जितना उन पर विश्वास है, उतना और किसी हाकिम पर नहीं है।" भारत में शायद दस में नौ डिप्टी कलक्टर इन्हीं के नमूने के मिलेंगे।

गुरुसेवकसिंह पीछे से राजा साहब के मैनेजर हो जाते हैं। तब इनका रूप-रंग और ही कुछ हो जाता है, और जब राजा साहब भी इन्हें अलग कर देते हैं, तो यह समाज-सेवा का ढोंग फिर से रचने लगते हैं। इन्होंने इतने रंग बदले कि इनके चरित्र की विशेषता अस्थिरता ही कही जा सकती है।

धन्नासिंह

धन्नासिंह परले सिरे का बदमाश क़ैदी है, परंतु चक्रधर के सहवास से इसकी क्षत्रियोचित वीरता, उदारता और कृतज्ञता जागृत हो उठती है और यह गँवार राजपूत बहुत उदार-चरित हो जाता है। इसी तरह जीवन-भर पापियों के सहवासो जेलर सरीखे हृदय-शून्य व्यक्तियों के भी सद्गुण चक्रधर के संसर्ग से जाग उठते हैं।

शंखधर और देवप्रिया

अब तक जिन पात्रों के चरित्र में हमने कायापलट देखा है, वह साधारणतया एक ही जीवन का प्राकृतिक परिवर्तन है। शंखधर और कमला व महेंद्र और देव-प्रिया इन दोनों का तो वास्तविक कायाकल्प दिखाया गया है। जगदीशपुर के राजा, विशालसिंह के बड़े भाई थोड़ी ही अवस्था में मर गये। उनका जन्म हर्षपुर के राजा के यहाँ हुआ। वहाँ उनका विवाह हुआ। फिर वह पढ़ने के लिये विलायत गए। वहाँ से तिब्बत आए। तिब्बत में पहाड़ पर उन्होंने एक महाविज्ञानी योगी के दर्शन किए और उनसे कायाकल्प की विधि सीखी। इस विधि से वह बिना पुनर्जन्म के ही पुराने शरीर को फिर से नया, बूढ़ी देह को फिर से जवान कर सकते हैं। साथ ही उन्हें, उन्हीं योगिराज की कृपा से, अनेक जन्मों की बात याद आ जाती है। वह दूसरों में भी इस तरह की स्मृति-जागृति उत्पन्न करना सीख गए। नि[illegible] वह हर्षपुर आए और देवप्रिया से भेंट की। [illegible] सारी कथा सुनाई और उसे लेकर फिर [illegible] गए और उसका कायाकल्प करके फिर से उसे [illegible] बना दिया। परंतु महेंद्र को कोई ऐसा शाप है [illegible] सब होते हुए भी अपनी रानी से अभिलाषा-पू[illegible] की इच्छा करते ही उनका शरीरांत हो जाता है। [illegible] शायद इस दुर्घटना से बचने के लिये ही [illegible] कि पृथ्वी से अलग होकर विमान द्वारा अंतरिक्ष में [illegible] अभिलाषा पूर्ण करें। परंतु वहाँ भी कर्म के [illegible] से छुटकारा नहीं होता और महेंद्र का शरीरांत [illegible] जाता है। कायाकल्प की सीखी हुई सारी विधि [illegible] जाती है। कर्म के निष्ठुर और कठोर नियमों [illegible] नहीं चलता। रानी देवप्रिया का कायाकल्प हो [illegible] और बड़ी रहस्यमय रीति से वह हर्षपुर की रानी [illegible] होकर वहाँ पहुँच जाती है और वियोग के दिन [illegible]

इधर महेंद्र कुछ दिनों की प्रेतावस्था भोगकर [illegible] के पुत्र शंखधर होकर जन्म लेते हैं। पिता-[illegible] बालक शंखधर खोज में निकल जाता है। [illegible] बाद उनके दर्शन हो जाते हैं, कुछ दिनों साथ [illegible] फिर अपनी माता के पास लौटते हुए हर्षपुर [illegible] नाम सुनते ही उसकी पूर्व-स्मृति जग जाती है [illegible] पड़ता है। रानी कमला से मिलता है। दोनों [illegible] जान जाते हैं। वह कमला को लेकर जगदीशपुर [illegible] है। परंतु फिर वही बात हो जाती है। अभि[illegible] होने के पहले ही शरीरांत हो जाता है।

३. कायाकल्प से शिक्षाएँ

उपन्यास गद्य-काव्य है और कांता-सम्मित [illegible] काव्य का गुण है। अतः प्रत्येक उपन्यास में [illegible] अप्रत्यक्ष रीति से शिक्षा मिलनी ही चाहिए। [illegible] विशेष निबंधना द्वारा सामान्य नीति की [illegible] मिलना एक तरह की अप्रस्तुत प्रशंसा है। सारे [illegible] में कायापलट ही मुख्य दृश्य है। परिस्थिति [illegible] पर कैसा प्रभाव पड़ता है, किस प्रकार [illegible] चरित्र की रक्षा का प्रयत्न करता है, परंतु [illegible] एवं अत्यंत प्रबल शक्ति की गति-विधि से [illegible] है। परंतु इस मुख्य सर्वांग-व्यापिनी शिक्षा [illegible] प्रसंग-भेद से अनेक अवांतर शिक्षाएँ भी [illegible]

सवतियाडाह, बहुपत्नीत्व, गृह-कलह, परदा, पुरुष द्वारा स्त्री की शिक्षा, बेगार, समाज, साम्प्रदायिक झगड़े, सेवा इत्यादि अनेक विषयों पर पाठक बड़े अच्छे निष्कर्ष निकाल सकता है। यह तो व्यंजित शिक्षा हुई। परंतु प्रसंगानुसार लेखक ने जो यत्र-तत्र अपने पात्रों के मुख से अनुपम उपदेशमय वाक्यावली कहलाई है, उनमें से कुछ यहाँ उदाहरण-रूप से उद्धरणीय हैं—

"जिस तरह रण से भागते हुए सिपाही को देखकर लोगों को उससे घृणा हो जाती है, यहाँ तक कि उसका वध कर डालना भी पाप नहीं समझा जाता। उसी तरह कुल में कलंक लगानेवाली स्त्रियों से भी सबको घृणा हो जाती है और कोई उनकी सूरत नहीं देखना चाहता। हम चाहते हैं कि सिपाही गोली और आग के सामने अटल खड़ा रहे। उसी तरह हम यह भी चाहते हैं कि स्त्री सब कुछ झेलकर अपनी मर्यादा का पालन करती रहे। हमारा मुँह हमारी देवियों ही से उज्ज्वल है और जिस दिन हमारी देवियाँ इस भाँति मर्यादा की हत्या करने लगेंगी, उस दिन हमारा सर्वनाश हो जायगा।"

"मातहतों से उनके अफ़सर के विषय में कुछ पूछ-ताछ करना अफ़सर को ज़लील कर देता है।"

"काल पर हम विजय पाते हैं अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से, परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि हम कृत्रिम साधनों से भोग-विलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोखा दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता का आदर और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं, बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है।"

"नशे की जोश ताक़त नहीं है, ताक़त वह है, जो अपने बदन में हो। जब तक प्रजा ख़ुद न सँभलेगी, कोई उसकी रक्षा नहीं कर सकता।"

कायाकल्प की विशेषताएँ

चक्रधर को लेखक ने जेल भेजा। इस संबंध में जेल का, जेल के क़ैदियों का, उनके आचरण का, जेल के अधिकारियों का, कालकोठरी का जैसा सजीव वर्णन किया है, पढ़नेवाला उससे कभी यह नहीं समझ सकता कि प्रेमचंदजी का यह अपना निजी अनुभव नहीं है। "तिगड्म" जैसे जेल के विशेष शब्दों का प्रयोग भी ठीक ही स्थल पर किया गया है। जेल के दारोग़ा का तो ऐसा वर्णन है कि अनेक जेलमुक्त असहयोगियों को किसी विशेष दारोग़ा की याद आए बिना नहीं रह सकती। जेल के वर्णन के अतिरिक्त एक और जगह गुरुसेवकसिंह के लिये लिखा है "यह महाशय रियासत जगदीशपुर के तसले थे", यह जेल का ही मुहावरा है। इसे लेखक ने अपनी छाप देकर चलनसार सिक्का बना दिया। अरविंद बाबू ने तसले का नाम सिविलियन इसी मतलब से रखा था। तसला शब्द विदेशी सिविलियन से अच्छा है। इसी तरह "सचाई आप ही अपना इनाम है", यह नई कहावत अँगरेज़ी की एक सूक्ति का उल्था है। प्रेमचंदजी नए मुहावरे और नई कहावतें गढ़ने में उस्ताद हैं। इनके और भी उपन्यासों, कहानियों में यह विशेषता पाई जाती है।

मुंशी वज्रधर यद्यपि फ़िसाना आज़ाद के खोजी की तरह अफ़ीमची मसख़रे नहीं हैं, तथापि इनके रंग-ढंग भी मीठे मज़ाक़ से ख़ाली नहीं हैं। खोजी की ही थोड़ी बहुत अकड़ है, सांसारिक अनुभव उससे अधिक है। पर साथ ही, उनके मुँह से लेखक अकसर हास्यास्पद उलटी-पुलटी बातें कहलवाता है। "आदमी को बिगड़ते देर लगती है, बनते देर नहीं लगती।" यह उलटी कहावत मुंशीजी के मुँह से अच्छी ही लगती है। परंतु खोजी की अपेक्षा मुंशी वज्रधर अधिक भाग्यवान् हैं। उनके बनते सचमुच देर नहीं लगती। वह कैसी जल्दी राजा के नाना बन जाते हैं। हाँ, ठाकुर हरिसेवकसिंह जब मुंशी वज्रधर की चालों से राजा विशालसिंह से मनोरमा का ब्याह कर देने पर वाग्बद्ध हो जाते हैं, तो लौंगी को समझाने के लिये कहते हैं कि ज्योतिषी ने कहा है कि राजा साहब सवा-सौ बरस जिएँगे; परंतु लौंगी मानती नहीं। कहती है, बुलाओ ज्योतिषी को मैं बिना स्वयं सुने विश्वास न करूँगी। मुंशी वज्रधर झिनकू को ज्योतिषी बनाकर लाए, पर लौंगी के सामने एक न चली। उसने नक़ली ज्योतिषीजी के मुँह में कालिख पोतकर उनकी तो गत बनाई, पर उन्हें जब मुंशी वज्रधर छुड़ाने चले, तो उनकी भी गरदन पकड़कर उसने दबोच लिया। अब मुंशीजी लाख जतन करते हैं, गरदन छूटती

नहीं। उस समय ठाकुर हरिसेवकसिंह से जब वह कहते हैं कि "मेरी यह साँसत हो रही है और आप खड़े हँस रहे हैं" और जब वह छोड़ देती है, तब कहते हैं, "साँसत तो मेरी यह क्या करती, मैंने औरत समझकर छोड़ दिया", तो फ़िसाना आज़ाद के पढ़नेवाले को खोजी की याद आ जाती है। परंतु इससे कोई यह न समझे कि मुंशी वज्रधर खोजी के प्रतिरूप हैं। कदापि नहीं। खोजी की क़दोक़ामत और रहन-सहन अधिकांश अस्वाभाविक-सा हो जाता है। खोजी एक अनोखा व्यक्ति है। मुंशी वज्रधर एँड़ी से चोटी तक स्वाभाविक मनुष्य हैं। इनके सदृश हिंदू-समाज में सैकड़ों मनुष्य होंगे। सच पूछिए, तो खोजी की आत्यन्तिक विदूषकता अस्वाभाविक-सी लगती है। मुंशी वज्रधर में उस विदूषकता की छाया भी नहीं है।

जगह-जगह प्रेमचंदजी का हास्य-रस का पुट उपन्यास को ख़ास तौर पर मज़ेदार बना देता है। झिनकू के लिये तोंद की तजवीज़ में मुंशी वज्रधर का तोंद-माहात्म्य पढ़ने लायक़ है। जब वह पुरानी अचकन और बेकमरबंद का पतलून पहनकर जेल में आते हैं, उस समय उनके रूप का वर्णन और कपड़े की बेवफ़ाई का विस्तार अत्यंत रोचक है।

राजकुमार के मुख से मरणांतर की दशा और पूर्व-जन्म का वर्णन लेखक ने विलक्षण रीति से कराया है। प्रेमचंदजी मरणांतर जीवन के साहित्य का भी अनुशीलन करते रहे हैं, इस बात का पूरा प्रमाण नीचे लिखे अवतरण से मिलता है—

"जिसे हम मृत्यु कहते हैं और जिसके भय से संसार काँपता है, वह केवल एक यात्रा है। उस यात्रा में भी मुझे तुम्हारी याद आती रहती थी, विकल होकर आकाश में इधर-उधर दौड़ा करता था। प्रायः सभी प्राणियों की यही दशा थी। कोई अपने संचित धन का अपव्यय देख-देखकर कुढ़ता था, कोई अपने बाल-बच्चों को ठोकरें खाते देखकर रोता था। वे दृश्य इस मृत्युलोक के दृश्यों से कहीं करुणा-जनक, कहीं दुःखमय थे। कितने ही ऐसे जीव दिखाई दिए जिनके सामने यहाँ सम्मान से मस्तक झुकाता था। वहाँ उनका नग्न स्वरूप देखकर उनसे घृणा होती थी। यह कर्म-लोक है, वह भोग-लोक; और कर्म का दंड कर्म से कहीं भयंकर होता है। मैं भी उन्हीं अभागों में था। देखता था कि मेरे प्रेम-सिंचित को भाँति-भाँति के पशु कुचल रहे हैं, मेरे प्रयत्न से सागर में हिंसक जल-जंतु दौड़ रहे हैं और देखके क्रोध से विह्वल हो जाता था। अगर मुझ में वज्र की सामर्थ्य होती, तो गिराकर उन पशुओं का देता। मुझे यही ताप, यही जलन थी। कितने मेरी यह अवस्था रही, इसका कुछ निश्चय नहीं सकता, क्योंकि वहाँ समय का बोध करानेवाली न थीं; पर मुझे तो ऐसा जान पड़ता था कि उस पड़े हुए मुझे कई युग बीत गए। रोज़ नई-नई सूरतें और पुरानी सूरतें लुप्त होती रहती थीं। सहसा मैं भी लुप्त हो गया। कैसे लुप्त हुआ, यह याद नहीं। होश आया, तो मैंने अपने को बालक के रूप में मैंने राजा हर्षपुर के घर में जन्म लिया था।"

सूक्तियाँ

प्रकृत उपन्यास लेखक मनोविज्ञान का लिखता है, मानव-स्वभाव का चित्रण करता है। काम में प्रेमचंदजी निपुण हैं। जैसा कि हम दिखा हैं, आपका हरएक पात्र सजीव है, हरएक अपनी रखता है। प्रत्येक के आचरण पर उसके मनोविज्ञान शब्द-चित्र, जो लेखक ने खींचा है, अत्यंत सादा गंभीर-से-गंभीर भावों से भरा है। वाक्य शब्दावली इतनी कसी हुई है कि एक बिंदु हटाया या घटाया नहीं जा सकता। शब्दों का चुनाव फिट है कि रद्दो-बदल की गुंजाइश ही नहीं। हम कुछ थोड़े से उदाहरण देते हैं।

"विनय क्रोध को निगल जाता है।"

"राज्य पशु-बल का प्रत्यक्ष रूप है। राज्य साधु है, जिसका बल धर्म है, वह विद्वान् नहीं है, जिसका तर्क है। वह तो सिपाही है, जो डंडे के ज़ोर से स्वार्थ सिद्ध करता है। इसके सिवा उसके पास दूसरा साधन ही नहीं।"

"कृतज्ञता शब्दों में आकर शिष्टाचार का रूप कर लेती है? उसका मौखिक रूप वही है, जो से बाहर निकलते हुए काँपता और लजाता है।"

"हमारी कर्मेन्द्रियाँ भले ही जर्जर हो जायँ, तो वृद्ध नहीं होतीं? कहते हैं, बुढ़ापा मरी हुई लापाओं की समाधि है, या पुराने पापों का पश्चात्ताप

"उनकी रसमयी कल्पना प्रेम के आघात-प्रत्याघात से एक विशेष स्फूर्ति का अनुभव करती थी।"

"किसी कठिन कार्य में सफल हो जाना आत्म-विश्वास के लिये संजीवनी के समान है।"

"विद्वान् मूर्खों को कब ध्यान में लाते हैं। इसी भाँति गुणीजन अनाड़ियों को परवा नहीं करते। उनकी निगाह में मर्मज्ञ का स्थान, धन और विभव के स्वामियों से कहीं ऊँचा होता है।"

"नृत्य ही अनुराग की चरम-सीमा है। सितार बज रहा है। इस पर लेखक की कल्पना बड़ी ही सुंदर है।"

"मानों सुधा का अनंत प्रवाह स्वर्ग की सुनहरी शिलाओं से गले मिल-मिलकर नन्हीं-नन्हीं फुहारों में किलोल कर रहा हो। सितार के तारों से स्वर्गीय तितलियों की क़तारें-सी निकल-निकलकर समस्त वायु-मंडल में अपने झीने परों से नाच रही थीं, उसका आनंद उठाने के लिये लोगों के हृदय कानों के पास आ बैठे थे।"

"पहली बार उसे प्रार्थना-शक्ति का विश्वास हुआ। कमज़ोरी ही में हम लकड़ी का सहारा लेते हैं।"

कालकोठरी का कैसा जीता-जागता वर्णन है!

"आह! कालकोठरी! तू मानवी पशुता की सबसे क्रूर लीला, सबसे उज्ज्वल कीर्ति है। तू वह जादू है, जो मनुष्य को आँखें रहते अंधा, कान रहते बहरा, जीभ रहते गूँगा बना देती है। कहाँ हैं सूर्य की किरणें, जिन्हें देखकर आँसू को अपने होने का विश्वास हो, कहाँ है वाणी, जो कानों को जगाए? गंध है, किंतु ज्ञान तो भिन्नता में है, जहाँ दुर्गंध के सिवा और कुछ नहीं, वहाँ गंध का ज्ञान कैसे हो? बस शून्य है? अंधकार है? वहाँ पंच-भूतों का अस्तित्व ही नहीं। कदाचित् ब्रह्मा ने इस अवस्था की कल्पना न की होगी, कदाचित् उनमें यह सामर्थ्य ही न थी। मनुष्य की आविष्कार-शक्ति कितनी विलक्षण है। धन्य हो देवता, धन्य हो!"

"एक रत्न-जटित नदी किसी चंचल पनिहारिन की भाँति मीठे राग गाती, अठिलाती चली जाती थी।"

"सच है, पद पाकर सबको मद हो जाता है।"

दुखती हुई आँखों की अपेक्षा फूटी आँखें ही अच्छी।

प्रेम सहृदयता ही का रसमय रूप है।

"प्रेम-पत्र की रचना कवित्त की रचना से कहीं कठिन होती है। कवि चौड़ी सड़क पर चलता है, प्रेमी तलवार की धार पर।"

"हुज़ूर क़र्ज़ और फ़र्ज़ के रूप में, तो केवल ज़रा-सा अंतर है, पर अर्थ में ज़मीन और आसमान का फ़र्क़ है।"

"अलंकार भावों के अभाव का आवरण हैं। सुंदरता को अलंकारों की ज़रूरत नहीं। कोमलता अलंकारों का भार नहीं सह सकती।"

"निर्बल क्रोध ही, तो वैराग्य है।"

दोष

सवा छः सौ पृष्ठ घनी छपी हुई गद्य पोथी का नितांत निर्दोष होना भारतवर्षीय छपाई का एक अश्रुतपूर्व चमत्कार होता। तो भी इस पोथी में छापे की भूलें अत्यंत कम हैं; इतनी कम हैं, कि हम छापनेवालों को उनकी सफलता पर बधाई दिए बिना नहीं रह सकते। परंतु जहाँ भूलें हैं, वहाँ अर्थ का अनर्थ करने में कसर नहीं रखतीं। जैसे पृ० १८० पर ग्राहक से मोल-जोल की जगह मेल-जोल करने से अनर्थ हो गया है। "ती" की जगह "ता", "गी" की जगह "गा" सरीखी भूलें छपते-छपते मात्राओं के टूटने से हो जाती हैं, परंतु ऐसी भूलें भी अत्यंत कम हैं। जहाँ-जहाँ "हतबुद्धि" शब्द आया है, "हत्बुद्धि" ही छपा है। "अक्षुण्ण" की जगह "अक्षण्ण" (पृ० २३२) "निर्मल" हृदय की जगह "निर्दय" हृदय (पृ० २५८) सरीखी भूलें प्रूफ़ देखनेवाले की हैं। परंतु पूर्वापर प्रसंग की असंगति लेखक की ही भूल हो सकती है। जान पड़ता है कि आरंभ में लेखक ने, जिस पात्र का नाम अहल्या रखना चाहा था, पीछे बदलकर मनोरमा बना दिया। परंतु कहीं-कहीं यह संशोधन कापी में रह गया। इसी से पृ० ३१ की चौथी पंक्ति में और ४३५ की २३वीं पंक्ति में मनोरमा की जगह अहल्या और पृ० ३०४ की पंक्ति ११ में मंगला की जगह मनोरमा के नाम आए हैं। परंतु एक भारी भ्रम पाठक को चक्कर में डाल देता है। पृ० ६ पर मुं० वज्रधरसिंह राजपूत बताए गए हैं। परंतु पृ० २१८ पर एक आवेदक युवक मुंशीजी से कहता है, "मैं भी कायस्थ हूँ और बिरादरी के नाते आपके ऊपर मेरा बहुत बड़ा हक़ है।" इस कथन पर मुंशीजी बिरादरी होने से न तो इनकार करते हैं, न इक़रार। और प्रसंगों में भी "मुंशी" यशोदानंदन बिरादरी हैं।

फिर विशालसिंह की नातेदारी भी बिरादरी की रीति के प्रतिकूल नहीं समझी जाती। यह सभी राजपूत ही जान पड़ते हैं। "मुंशीजी" कहलाने और काशी में कायस्थों की गढ़ी कबीरचौरा में रहने से नवयुवक को इनके कायस्थ होने का भ्रम हो गया हो, तो आश्चर्य नहीं। ऐसी भूल स्वार्थी आवेदकों से इस जाति-गत पक्षपात के युग में पूर्ण स्वाभाविक है। पहली बार पढ़ जाने पर यह समझा गया कि प्रेमचंदजी ने मुंशी वज्रधर को कायस्थ ही कल्पित किया था, परंतु दूसरी आवृत्ति पर जान पड़ा कि लेखक ने, इस प्रकार का भ्रम जान-बूझकर बड़ी चतुराई से उत्पन्न किया है। इस तरह की भूलें हमारे समाज के जीवन का अंग हो रही हैं। यह देखने में दोष जँचता है सही, पर वस्तुतः इस भ्रम-प्रदर्शन में ही लेखक ने अपना कमाल दिखाया है।

मौलिकता का प्रश्न

इधर प्रेमचंदजी की रंगभूमि पर कई समालोचक समालोचना का अभिनय कर गए हैं। प्रेमचंदजी पर थैकरे की नक़ल करने का व्यर्थ दोष लगाया गया है। मौलिकता के विचित्र आदर्श हिंदी-संसार को दिखाए गए हैं। उनके असहयोग को ख़ामख़ाह घर घसीटा है। वैयक्तिक आक्षेप किए गए हैं। इससे पहले भी एक नव-युवक लेखक ने प्रेमाश्रम पर अपनी नवोत्साहिनी लेखनी का अभ्यास किया था। नई अंकुरित होनेवाली प्रतिभा को सींचकर पल्लवित और पुष्पित कराना प्रत्येक रसिक देश-भक्त का कर्तव्य है। होनहार नेताओं, लेखकों और कवियों को पूर्ण प्रोत्साहन मिलना चाहिए। वृद्ध नेताओं और साहित्यिकों को उनका मार्गावरोध करना भारी देश-द्रोह है। हिंदी के वृद्ध समालोचकों और संपादकों के विरुद्ध यह शिकायत किसी अंश में ठीक है कि वह नए लेखकों को जल्दी उभड़ने नहीं देते। बंगाल में यह दशा नहीं है। वहाँ के लेखक और संपादक अपने नवयुवकों का हौसला बढ़ाते रहते हैं। हिंदी के पुराने लेखक नयों के जोश पर ठंडा पानी डालते रहते हैं। उसी का यह फल है कि कोई-कोई प्रतिभाशाली युवक, होनहार नेता और लेखक जो आगे के लिये अपना मार्ग प्रशस्त करना चाहते हैं, युवकोचित नासमझी से, दहने-बाएँ हर तरफ़ पुराने नेताओं और लेखकों पर आक्रमण करने लगते हैं। "येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्।" अपनी प्रसिद्धि के लिये अपने शुभ-चिंतकों और मित्रों को भी अपना वैरी बना लेने में आगा-पीछा नहीं करते। यह अच्छी तरह जानते हुए कि व्यक्तिगत आलोचना अशिष्ट, अयुक्त और ... है, अपनी और पराई व्यक्ति को व्यर्थ घर घसीटते हैं। इस क्रिया में संयत और शिष्ट भाषा के नियमों ... जब उन्हें विस्मरण हो जाता है, तो समालोचना की साधारण और शिष्टानुमोदित पद्धति का तो ... क्या है। मैं ऐसे लेखकों से यह विनम्र निवेदन ... कि आपकी योग्यता और प्रतिभा स्वयं आपको ... बढ़ाने में पूर्ण समर्थ है। उनकी शक्ति को ठीक ... न होने से ही आप अनुचित साहित्यिक हिंसा के ... नीय मार्ग का व्यर्थ अनुसरण कर रहे हैं। ... अंततः आपका सिक्का कभी-न-कभी मानना ही ... दूसरे लोग यदि आपके विचारानुसार यथेष्ट साहित्य का निर्माण नहीं कर रहे हैं, तो आप स्वयं ... पीछे पड़कर अपनी अनमोल शक्ति का अपव्यय ... कीजिए। आप उनकी लकीर के समानांतर बड़ी ... खींचकर उन्हें छोटा सिद्ध कीजिए और उनकी ... को मिटाने का असफल प्रयास न कीजिए। ... क्षेत्रों में हम लोग परस्पर झगड़कर अपना काम ... नहीं कर रहे हैं।

मौलिक रचना का तत्त्व क्या है? क्या उसका ... परिमाण है? यदि परिमाण है, तो क्या है? इन ... के उत्तर पर मौलिकता की परीक्षा अवलंबित है। ... यहाँ इनका विस्तार करने का मौक़ा नहीं है। ... स्वयं बहुत लंबा हो चुका, हम इतना ही ... संसार का साहित्य-सागर इतना विस्तृत, इतना ... कि किसी देश के भारी-से-भारी विद्वान् साहित्यिक ... अधिक-से-अधिक उसके अत्यंत क्षुद्र अंश का ... सकता है। उत्तम कविता सत्य का विलक्षण ... चित्रण है और सत्य नित्य है, अनाद्यनंत है। "... विप्रा बहुधा वदंति।" कहनेवाले भिन्न-भिन्न ... कहते हैं, परंतु सत्ता व सत्य एक ही है। कोई ... ऐसी नहीं रह गई, जो जितने ढंग संभव हैं, उनमें ... से वर्णन न की जा चुकी हो। इस तरह अक्षरशः ... रचना असंभव है। फिर हम मौलिक ... रचना को?

"कविरनुहरतिच्छायां कुकविः शब्दं पदानि चाण्डालः"

शब्दों या पदों की चोरी करनेवाला कवि व मौलिक लेखक नहीं है। छाया का अनुहरण करनेवाला कवि है। ज़बर्दस्त कवि मज़मून छीन लेता है, उसे ज़्यादा अच्छे पैराए में बयान करता है। महाभारत और रामायण की ज़मीन पर नाटक, उपन्यास, आख्यान, काव्य जितने लिखे गए, उनकी गिनती नहीं; परंतु उन लेखकों में से एक को भी नक़ल करने या चुराने का दोष नहीं लगाया जाता। रंगभूमि के दो-एक पात्रों की थोड़ी-सी समानता लेकर वैनिटीफ़ेयर से मुक़ाबला करना, तो अत्यंत दूर की बात है। मैंने जब रंगभूमि पढ़ा, तो मुझे तो एक-एक पात्र यहीं हमारे देश के जाने हुए लोग दीखे। मैं अनुचित न समझता, तो अपनी समालोचना में उनके नाम लिख देता। परंतु मैं ख़ूब जानता हूँ कि यह लेखक का कला-नैपुण्य है, उनकी कल्पना का कमाल है कि जो कोई पढ़ता है, अपने जाने हुए मानव-स्वभाव की जीती-जागती तसवीर देखता है। जिस मनुष्य-समाज का चित्र एक लेखक खींचता है, उसी मानव-समाज की तसवीर जब दूसरा खींचेगा, तो उन चित्रों में परस्पर समानता का होना कोई अचरज की बात नहीं है। कायाकल्प में पारलौकिक बातें भी आई हैं। पुनर्जन्म को छोड़, कई बातें विदेशी उपन्यासों से मिलती हैं; परंतु इससे मैं उनकी नक़ल समझूँ, तो मेरी भारी अरसिकता और भूल है। भारतीय ग्रंथों की रचना भारतीय आदर्श पर होती है। उन्हें भारतीय दृष्टि से ही देखना होगा। भारतीय शील से ही उन्हें परखना होगा। किसी विदेशी उपन्यास का उत्तम उल्था अमरपुरी की ही तरह हो सकता है, परंतु अमरपुरी का यथार्थ सौष्ठव समझने के लिये उसी तरह विलायती ऐनक और विलायती परिमाणदंड की ज़रूरत है, जैसे रंगभूमि और कायाकल्प के लिये हमारी राष्ट्रीय ऐनक और भारतीय परिमाणदंड की आवश्यकता है।

रामदास गौड़

समृद्धि की दुर्दशा



हिंसक कुप्रथाओं ने देश की समृद्धि को चारों तरफ़ से घेर रक्खा है ।



१. हिंदी के कुछ कवियों के विषय में टिप्पणियाँ



धुरी में कुछ दिन हुए यह सूचना निकली थी कि मिश्रबंधु-विनोद का द्वितीय संस्करण निकलनेवाला है, अतः जिन लोगों को उसमें योग देना हो, वे 'माधुरी' द्वारा अपने साहित्य-विषयक अनुसंधान का फल हिंदी-संसार के सामने प्रस्तुत करें। इसी निहोरे से ये कुछ शब्द 'माधुरी' के पाठकों के सामने प्रेषित हैं। पूज्यपाद मिश्रबंधु हमारे संबंधी हैं। अतः इस विषय में, जो कुछ हमको कहना था, पत्र द्वारा उनको हम सूचित कर चुके हैं। परंतु कुछ मित्रों का आग्रह हुआ कि केवल मिश्रबंधुओं को पत्र द्वारा सूचित करना पर्याप्त नहीं है, वरन् हिंदी-संसार के सामने भी ये टिप्पणियाँ रक्खी जानी चाहिए। अतएव उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर ही हमने ये कुछ शब्द हिंदी-संसार के सामने रखने की धृष्टता की है। आशा है, प्रिय पाठकगण क्षमा करेंगे।

(१) बलभद्र मिश्र—पृ० ३६६ मिश्रबंधु-विनोद—

'विनोद' में लिखा है कि "नखशिख में ६५ घनाक्षरी छंद और एक छप्पय है।" इधर कुछ दिन हुए, इस ग्रंथ की एक हस्त-लिखित प्रति देखने का सुअवसर हमको प्राप्त हुआ। उसको देखने से यह जान पड़ा कि ग्रंथ का नाम 'शिखनख' है 'नखशिख' नहीं। इस बात की पुष्टि में यह कहना पर्याप्त है कि केश-वर्णन से प्रारंभ करके कवि पद-नख-वर्णन की ओर चला है। दूसरी बात, जो इस ग्रंथ के विषय में हमको कहनी है, वह यह है कि जो हस्त-लिखित प्रति देखने का सुअवसर हमको प्राप्त हुआ, उसमें ६६ घनाक्षरी छंद और एक छप्पय है। अर्थात् मिश्रबंधु-विनोद लिखते समय जो प्रति देखी गई थी, उससे इस प्रति में एक घनाक्षरी छंद अधिक है। हमारी प्रति का पहला छंद इस प्रकार प्रारंभ होता है—"मरकत सुत किधौं......" और अंतिम घनाक्षरी का आदि यह है—"पलिका तें पायँ जो धरति धाम धरनी में......।" इस अंतिम घनाक्षरी के बाद एक छप्पय है और उसीके बाद ग्रंथ समाप्त होता है।

(२) मुकुंद प्राचीन—पृ० ४४३ मि० ब० वि०—

'विनोद' में इस कवि का जन्म सं० १७०५ में और कविता-काल १७३० दिया है। इस कथन का आधार शिवसिंह-सरोज है। सरोजकार ने, यह संवत् किस आधार पर निश्चित किया है, यह कुछ कहते नहीं बनता।

कुछ दिन हुए, किसी एक मुकुंद कवि के तीन-चार छप्पय हमको देखने को मिले थे। ये छप्पय अबदुर्रहीम ख़ानख़ाना की प्रशंसा में कहे गए हैं। सद्यः यह नहीं कहा जा सकता कि इन छप्पयों के रचयिता मुकुंद और 'विनोद' के मुकुंद प्राचीन एक ही व्यक्ति हैं। (इस विषय में देखो—'शिवसिंह-सरोज' पृ० २७३ नवलकिशोर-प्रेस की प्रति) 'सरोज' में मुकुंद प्राचीन का जो छंद दिया है, वह इस प्रकार है—

चौकी की चमक औ झमक झीने बसन की,
देह की दमक बार काको घर खोइबो ;
कहत 'मुकुंद' गयो तात को निरास भयो,
बात को बिसन ठयो गात को बिलाइबो ।
भौंहैं मटकाय लटकारी लट अब हीं ते,
रुचन कुटन केर बार-बार गोइबो ;
तब ही धौं कैसी ह्वै है सजनी री रजनी में,
एक दिन साँवरे के कंठ लागि सोइबो । १ ।

जिन छप्पयों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनमें से एक इस प्रकार है—

कमठ-पीठ पर कोल कोल पर फन फनिंद फन ;
फनपति फन पर पुहुमि पुहुमि पर दिग (त ?) दीप-गन ।
सप्तदीप पर दीप एक जंबू जग लिखिखय ;
कवि 'मुकुंद' तहँ भरतखंड उप्परहि बिसिखिय ।
खानानखान बैरम-तनय तिहि पर तुअ भुज कल्पतरु ;
जगमगहि खग-भुज अग पर खग अग स्वामित्त वरु ।

ये दोनों मुकुंद दो हैं, अथवा एक, यह हम अभी विद्वानोंके लिये छोड़ते हैं। परंतु इतना कहना हमारे लिये अवश्य पर्याप्त है कि छप्पयों के रचयिता मुकुंद का समय सहज ही स्थिर हो सकता है। रहीम का जन्म सं० १६१० और शरीरपात सं० १६८४ में होना कहा जाता है और जहाँगीर सं० १६६२ में गद्दी पर बैठा। उसी समय से रहीम की क्षति प्रारंभ हुई, यह भी प्रसिद्ध है। अतः यह छंद सं० १६६२ के पूर्व का अवश्य होगा। अतएव यदि इसको सं० १६६० का और कवि की अवस्था उस समय २५ वर्ष की मानें, तो मुकुंद का जन्म-काल सं० १६३५ निकलता है।

(३) महाराज रामसिंह—पृ० ८६३ मि० ब० वि०—

'अलंकार-दर्पण', 'रस-विनोद' और 'रस-निवास' नामक इनके तीन ग्रंथों का उल्लेख 'विनोद' में है और संभवतः इन्हीं में से किसी के आधार पर इन महाराज का कविता-काल सं० १८४५ स्थिर किया गया है। इनके एक चौथे ग्रंथ का हमको पता लगा है, जिसका नाम 'युगल-विलास' है। इस ग्रंथ में १०१ घनाक्षरी और सवैया छंद हैं और जैसा नाम ही से प्रकट है श्रीराधाकृष्ण के विलास इत्यादि का वर्णन है। यह ग्रंथ सं० १८३६ में बना— यथा—"संवत् से अष्टादस वरस छतीस पुनि...... ।" अतः यथार्थतः इनका कविता-काल सं० १८३६ होना चाहिए, १८४५ नहीं।

उदाहरणार्थ इस ग्रंथ में से दो छंद नीचे लिखे जाते

देखत दोऊ हिए हुलसे अति दोऊ बियोग बिथा बिसे
दोऊ रहे रस रीति निहारि कै दोऊ रहे पगि प्रेम
मोहनी औ मनमोहन जू मन के सब ही अभिलाष
चोप भरे चतुराई भरे अरु चाह भरे हैं उमाह भरे हैं।

धनि है समीर जिहि सरस परस कियो,
तेरो चीर परम सुगंध रस भीनो री ;
धनि वह मधुकर है री मनमोहन है,
जिन तेरे कमल कपोल छत कीनो री।
धनि वह कीर है री एरी बीर जिन तेरे,
नाक अधरन को मधुर रस लीनो री।
धनि गनि हैं री हम जीवन को फल इन,
नैनन सों तेरो रूप निरख्यो नवीनो री

(४) हठी कवि—पृ० ८६६ मि० ब० वि०—

'राधा-शतक' नामक इनके ग्रंथ का उल्लेख 'वि है। खोज में भी इस ग्रंथ का यही नाम और सं० लिखा हुआ मिलता है। परंतु १५ अक्टूबर सन् को प्रकाशित 'Harishchandra's Maga Vol. I No. 1 में इस ग्रंथ का नाम 'राधा-सुधा छपा है और संवत् १८३७ 'विनोद' में और रिपोर्ट में, जिस दोहे के आधार पर इसका संवत् किया जाता है, उसका पाठ यह है "ऋषि सु शशि सहित......", परंतु हरिश्चंद्र की प्रति में पाठ यह है "ऋषि सुदेव बसु शशि सहित......" 'फ़ुटनोट' में "१८३७ संवत्" ऐसा लिखा है। बाद Harishchandra's Magazine से स्वतंत्र ग्रंथ-रूप में भी यह इसी नाम और संवत् है। इस विषय में सद्यः इतना ही कहना पर्याप्त है। जब तक कोई और प्रमाण इस बात का न मिले निश्चय नहीं कहा जा सकता। हठी कवि के इतना और वक्तव्य है कि श्रीस्वामी हितहरिवंश शिष्य परंपरांतर्गत १२ मुख्य लोगों में से एक यह

(५) चरणदास पृ० २५७ तथा ६५५ मि० ब०

'विनोद' के २५७ पृ० पर जिन चरणदास का है, वे चरणदास और ६५५ पृष्ठवाले चरणदास व्यक्ति हैं। समझ में नहीं आता कि 'सरोज' इनका समय १५३७ सं० कैसे दिया है। केवल नहीं, 'सरोज' में यह भी लिखा है कि ये महात्मा

ज़िला के पंडितपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे। इसका भी मर्म कुछ समझ में नहीं आता। अस्तु, ज्ञान-स्वरोदय नामक अपने ग्रंथ में (जिसको 'सरोजकार' ने भी इन्हीं का लिखा हुआ माना है और जिसमें से उदाहरण भी दिया है) इन्होंने अपने विषय में एक छंद दिया है। जिससे यह जान पड़ता है कि ये 'देहरे' के रहनेवाले थे (कुछ लोगों का मत है कि यह स्थान अलवर राज्यांतर्गत है और अद्यापि 'दहरा' के नाम से प्रसिद्ध है) और इनका पहला नाम रणजीत था। इनके पिता का नाम मुरली था और ये दूसर जातीय थे। इन्होंने लिखा है कि "बाल अवस्था माँहि बहुरि दिल्ली में आयो" और वहीं इनकी सुखदेव स्वामी की भेंट हुई, जिनके ये शिष्य हो गए और उन्हीं के आग्रह से इनका नाम चरणदास हुआ। खोज में इनका सं० १७६० में जन्म १८३८ में शरीर-पात लिखा है। यह किस आधार पर लिखा है, यह हमको ज्ञात नहीं है। अवश्य ही खोज में मिले किसी ग्रंथ के आश्रय पर यह लिखा गया है। परंतु इन्हीं चरणदास-कृत 'भक्ति-सागर' नामक एक ग्रंथ देखने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। चरणदासजी ने चैत्र शु० १५ सोमवार सं० १७८१ को इस ग्रंथ के रचने का विचार किया। और उसी समय से रचना प्रारंभ भी कर दिया, जैसा कि स्वयं उन्होंने कहा भी है। यथा—

"संवत सत्रह से इक्यासी, चैत सुदी तिथि पूरनमासी।
सुकुल पच्छ दिन सोमहिवारा, रचूँ ग्रंथ यों कियो बिचारा।
तब ही सों अस्थापन धरिया, कछु इक बानी वा दिन करिया।
ऐसे ही पाँच हजार बनाई, नांव गुरू के गंग बहाई।
फिरि भई बानी पाँच हजारा, हरि के नांव अगिन में जारा।
तीजे गुरु आज्ञा सो कीनी, सो अपने संतन कूँ दीनी।
अद्भुत ग्रंथ महा सुखदाई, जाकी सीमा कही न जाई।"

"नांव गुरू के गंग बहाई" "हरि के नांव अगिन में जारा" के आशय चाहे जो कुछ समझे जायँ, पर 'भक्ति-सागर' स्वयं ४०५ पत्र अर्थात् ८१० पृष्ठ का ग्रंथ है। इन पृष्ठों का आकार ८½×७ इंच है और प्रत्येक पृष्ठ में १६ पंक्तियाँ हैं। यह सब कहने का आशय यह है कि यह ग्रंथ बहुत बड़ा है। सच तो यह है कि यह एक ग्रंथ नहीं है, वरन् १३ ग्रंथों का संग्रह-मात्र है। इस ग्रंथ में सीमा अथवा तारतम्यबद्ध कोई अध्याय-क्रम नहीं है, वरन् छोटे-छोटे १३ ग्रंथों का संकलन-मात्र एक बृहत् ग्रंथाकार में कर दिया गया है। निम्न-लिखित १३ ग्रंथों का समावेश भक्तिसागर* में है—

(१) ब्रजचरित्र	(७) धर्मजिहाज
(२) अमरलोक अखंड धाम	(८) ब्रह्मज्ञानसागर
	(९) जोगसंदेहसागर
(३) षट्रूपसुक्त	(१०) भक्तिपदारथ
(४) ज्ञानस्वरोदय	(११) मनविरक्तकरन गुटकासार
(५) पंचोपनिषद् अथर्वन वेद की भाषा	(१२) शब्द
(६) अष्टांगयोग	(१३) छप्पय कवित्त

इन ग्रंथों में बहुधा भक्ति और वैराग्य किंवा वेदांत का विषय है। अतः यह अनुमान-सिद्ध है कि कम-से-कम ४० वर्ष की अवस्था के उपरांत यह ग्रंथ कवि ने बनाया। इस दृष्टि से चरणदास का जन्म सं० १७४१ के आसपास हुआ होगा। सं० १७६० में नहीं; क्योंकि चाहे जो हो, २१ वर्ष की अवस्था में भक्ति और वैराग्य किंवा वेदांत का विषय इस सूक्ष्म रीति से चरणदासजी ने कदापि नहीं लिखा होगा। इन ग्रंथों में से सबके नाम खोज किंवा 'विनोद' में नहीं हैं, परंतु इनके अतिरिक्त निम्न-लिखित ग्रंथों के नाम खोज में मिले हैं।

(१) चरणदाससागर, (२) राममाला, (३) दान-लीला, (४) कुरुक्षेत्रलीला, (५) नासिकेत और (६) संदेहसागर।

इनमें से संदेहसागर संभव है भक्तिसागरांतर्गत 'जोग-संदेहसागर' ही का दूसरा नाम हो, परंतु जब तक दोनों

* यह ग्रंथ सन् १८९८ में नवलकिशोर-प्रेस में छप चुका है। उस संस्करण की भूमिका में चरणदास का जन्म सं० १६६१ में और शरीरपात सं० १७८१ में लिखा है। और शाहजहाँ बादशाह के यहाँ उनके बुलाए जाने तथा उनकी वहाँ परीक्षा-विषयक एक आख्यायिका का भी उसमें उल्लेख है। जन्म-काल के विषय में, तो अभी हम कुछ नहीं कह सकते, परंतु मृत्यु का संवत्, तो अशुद्ध ही समझ पड़ता है, क्योंकि सं० १७८१ में, तो उन्होंने भक्ति-सागर ग्रंथ की रचना प्रारंभ की। शाहजहाँ बादशाह सं० १७१५ में गद्दी पर से उतारा गया, अतः यदि चरणदास यथार्थतः उसके दरबार में गए, तो इसके पहले और यदि उनका जन्म सं० १६६१ में ही मानें, तो भी उस समय उनकी अवस्था २४ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती और इस छोटी-सी अवस्था में जिस सिद्धि का उल्लेख है, वह अनुमान-सिद्ध नहीं है।—लेखक

ग्रंथों का मिलान न किया जाय, निश्चय-रूप से कुछ नहीं कहा जासकता। इनके अतिरिक्त 'विनोद' में तीन ग्रंथों के नाम और दिए हैं—यथा—(१) नरसकेत (२) भक्तिसार (३) हरिप्रकाश टीका (१८३४)। नरसकेत तो प्रायः छापे की अशुद्धि है और शुद्ध शब्द 'नासिकेत' उसके स्थान पर होना चाहिए। 'भक्तिसार' नामक ग्रंथ के रचयिता चरणदासजी किस आधार पर लिखे गए हैं, यह हम नहीं जानते। पर हाँ, यह हम जानते हैं कि इस नाम का एक ग्रंथ 'नागरीदासजी' ने बनाया था (देखो हिंदी-पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट १६०६—१६०८, नं० १६८ वीं) यदि 'विनोद' में उल्लिखित चरणदास-कृत भक्तिसार और नागरीदास-कृत भक्तिसार का मिलान कर लिया जाय, तो यह संदेह दूर हो जाय। आशा है कि कोई महानुभाव यह करेंगे। इसी प्रकार हरिप्रकाश टीका-कार हरिचरणदास हैं, चरणदास नहीं। हरिचरणदासजी के विषय में लिखते हुए 'विनोद' में स्वयं लिखा है (देखो मि० ब० वि० पृ० ७८१) कि "इन्होंने रसिकप्रिया तथा सतसई की भी अनमोल टीकाएँ की हैं। सतसई की टीका १८३४ में बनी।" इसी सतसई की टीका का नाम ... टीका है और हमें ऐसा समझ पड़ता है कि हरि... और चरणदास के नाम में सामंजस्य होने के ... ग्रंथ भूल से चरणदासजी के नाम में लिख ...

(६) गंगादास कायस्थ, बलरामपुर पृ० ... ब० वि०—इन महात्मा का किया हुआ गुलिस्ताँ ... नुवाद 'विनोद' में उल्लिखित है। परंतु 'सुमन...' कोष्ठ में "गुलिस्ताँ का भाषानुवाद" इतना ... दिया जाय, तो अच्छा होगा। क्योंकि एकाएक '...' नाम सुनकर यह नहीं जान पड़ता कि यह गुलि... मख्यात ग्रंथ का अनुवाद है।

इस कवि के बनाए दो ग्रंथ और हमारे दृष्टिगोचर ... पहला तो 'लघुपिंगल' और दूसरा 'पिंगल सेसमत' ... से पहली पुस्तक में ८ पत्र अर्थात् १५ पृष्ठ हैं और ... पृष्ठ में १८ पंक्तियाँ हैं। यह ग्रंथ सं० १८७६ में बना। ... में १५ पत्र अर्थात् ३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ में ... इसका रचना-काल सं० १८८१ है। (क्र...

कुबेरनाथ ...



१. नीति और विज्ञान

कृषि-विज्ञान (प्रथम भाग)—लेखक, पं० शीतलाप्रसाद तिवारी; प्रकाशक, रामदयाल अग्रवाल, कटरा, इलाहाबाद; पृष्ठ-संख्या ३५३; मूल्य २), सजिल्द।

कृषि-विज्ञान पर हिंदी-साहित्य में थोड़ी ही-सी पुस्तकें हैं, किंतु धीरे-धीरे यह कमी पूरी हो रही है। इस पुस्तक में लेखक ने केवल भूमि की जुताई का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसके अध्ययन से पाठकों को जुताई के अंतर्गत भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक सिद्धांतों का ज्ञान हो जायगा। वर्तमान समय में जुताई की क्रिया धरातल के उलट-फेर तक ही परिमित रहती है, कृषक गर्भ-तल की ओर ध्यान नहीं देते। पर इसका कारण क्या है? उनकी निर्धनता। जिसे पेट-भर भोजन ही न मिलेगा, वह उन्नति के साधनों और उपायों पर क्या ध्यान देगा। लेखक कृषि का अनुभूत ज्ञान रखता है, यह बड़ी ख़ुशी की बात है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं और फ़सलों के लिये किस प्रकार की जुताई की ज़रूरत है, इस विषय पर बड़े विस्तार से विवेचना की गई है। कई प्रकार के हलों के नमूने भी दिए गए हैं। अंत में मोटर से चलनेवाले विशाल हलों का वर्णन है, जो एक-एक दिन २०-२० एकड़ ज़मीन जोत सकते हैं। पुस्तक के आदि में श्रीहरिनारायण वाथम एम्० ए० का अनुवचन है। पुस्तक कृषि-विभाग के डाइरेक्टर को समर्पण की गई है। शायद इससे पुस्तक का प्रचार अधिक हो। पुस्तक की भाषा के विषय में, हमें यही कहना है कि यदि कॉलेजों के विद्यार्थियों के लिये लिखी गई है, तो ठीक है, पर कृषकों के लिये है, तो इससे सरल होनी चाहिए थी।

× × ×

क्षार-निर्माण-विज्ञान—लेखक, स्वामी हरिशरणानंद वैद्य; प्रकाशक, दी पंजाब आयुर्वेदिक फ़ार्मेसी, अमृतसर; पृष्ठ-संख्या ७०; मूल्य ॥)

हमारे यहाँ क्षारों का ज्ञान बहुत पुराना है, किंतु जितना ज्ञान पुराना है उतनी ही उसके बनाने की विधि भी पुरानी है। इस पुस्तक में लेखक ने कई प्रकार के क्षारों के बनाने की नई विधियाँ लिखी हैं। पुस्तक उपयोगी है।

× × ×

मानवीय शक्तियों का परिचय और उनका विकास—लेखक और प्रकाशक, महाशय प्रियरत्न (आर्य); एस्पलेनेड रोड देहली; पृष्ठ-संख्या ५२; मूल्य ।)॥

इस छोटी-सी पुस्तक में हिप्नाटिज़्म, प्रेतवाद आदि विषयों पर गुरु-शिष्य संवादों द्वारा प्रकाश डाला गया है।

× × ×

आगे बढ़ो—लेखक, श्रीबुद्धिनाथ झा "कैरव"; प्रकाशक, श्रीआगर शर्मा; व्यवस्थापक, प्रमोद-पुस्तक-माला, कोढ़ा, जिला पुर्णिया; पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य ।)

लेखक के विद्यार्थी-अवस्था का किया हुआ किसी अँगरेज़ी पुस्तक का यह भावानुवाद है। लेखक को अब मूल-लेखक का नाम भी याद नहीं, पर इतना जानते हैं कि वह अमेरिका-निवासी है और इस प्रकार की कई पुस्तकें लिख चुका है। शायद मारडेन हो। स्कूली लड़के का किया हुआ अनुवाद जितना सुंदर हो सकता है, वैसा ही यह अनुवाद भी हुआ है। एक सुंदर पुस्तक की मिट्टी ख़राब की गई है।

× × ×

२. सामाजिक

शुद्धि-चंद्रोदय—लेखक, श्रीकुँवर चाँदकरण शारदा, बी० ए०, एल-एल० बी; प्रकाशक, वैदिक यंत्रालय, अजमेर; पृष्ठ-संख्या २८६; मूल्य १॥)।

बड़ी सामयिक पुस्तक है और बड़ी खोज से लिखी गई है। लेखक ने प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है कि शुद्धि की प्रथा सनातन है। हिंदू-काल में ही नहीं, पठानों और मुग़लों के ज़माने में भी शुद्धियाँ बराबर होती रहीं। इसके बाद भिन्न-भिन्न प्रांतों में शुद्धि के प्रचार-कार्य का सिंहावलोकन किया गया है और प्रमुख हिंदू-नेताओं के व्याख्यानों तथा शास्त्रों से इस विषय की पुष्टि की गई है। पुस्तक में सादे और तिरंगे कई चित्र दिए गए हैं।

× × ×

पाश्चात्य संसार और भारतवर्ष (पूर्वार्ध) लेखक, देवकीनन्दन विभव; प्रकाशक, भारतीय महिला-समिति, बेलनगंज, आगरा; पृष्ठ-संख्या १८२; मूल्य १), सजिल्द।

मिस कैथराइन मेयो की "मदर इंडिया" नामक पुस्तक बहुत प्रसिद्ध हो चुकी है। उसमें भारत के सामाजिक अनाचार, स्वास्थ्य, आचार-विचार आदि की ख़ूब दिल खोलकर निंदा की गई है। यह पुस्तक उसी ग्रंथ के पूर्वार्ध का हिंदी अनुवाद है। आरंभ में एक भूमिका देकर लेखक महोदय ने मिस मेयो के आक्षेपों की विवेचना की है और उनका उत्तर भी दिया है। अनुवाद सुबोध है। हाँ, छपाई जल्दी के कारण अच्छी नहीं हो सकी। १) में पुस्तक महँगी नहीं।

× × ×

गो-सर्वस्व—मुद्रक और प्रकाशक, श्रीराम-प्रेस, ... पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य ।=)।

पुस्तक है तो छोटी-सी, पर बहुत उपयोगी। ... विषय में जिन-जिन बातों के जानने की ... प्रायः सभी बातें यहाँ लिख दी गई हैं—उत्तम ... उत्तम साँड़ के क्या लक्षण हैं, भारतवर्ष में ... कौन-कौन-सी जातियाँ हैं और उनके गुण-दो... हैं, गो-जाति की उन्नति कैसे हो सकती है, ... काल में गउओं की सेवा कैसे करनी चाहिए, उनकी ... रक्षा, भोज, रोग आदि सभी विषयों पर प्रकाश ... गया है। ऐसा जान पड़ता है कि गुमनाम ... को गउओं के विषय में अच्छा अनुभव है। ... अच्छा हो, यदि हमारे प्रांत के ज़िला-बो... पुस्तक की कापियाँ देहातों में बँटवावें। इससे ... उपकार होगा।

× × ×

गौरक्षा—लेखक, व्रजमोहनलाल वर्मा, बी० ए०, ... वाड़ा, भूतपूर्व सम्पादक 'तिलक'; पृष्ठ-संख्या ७२।

गो-रक्षा पर ऐसी सुंदर, सजीव, तर्क-पूर्ण पुस्तक ... कर लेखक ने गउओं पर और भारतीय जनता के ... बड़ा उपकार किया है। आप इसे विना मूल्य बाँ... जो व्यक्ति चाहे, इसे गो-रक्षा के निमित्त छाप ... हैं। आप भारत में गो-हत्या का पूर्ण निषेध कराना ... हैं, इसके लिये आपने एक विस्तृत प्रोग्राम भी ... किया है। जिसमें देश-व्यापी आंदोलन, क़ानूनी सह... चरोखर का प्रबंध आदि मुख्य हैं। अगर हम ... निष्कपट हृदय से इस प्रोग्राम पर अमल करें, ... द्वेष, विजय-गर्व और धार्मिक विवाद के भावों ... मिलने दें, तो उद्देश्य की बड़ी हद तक पू... सकती है।

× × ×

३. कविता

संगीत-सुधा—लेखक, अध्यापक मुरारिलाल ... आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या १६२; छपाई और कागज़ ... मूल्य ।=); अध्यापक मुरारिलाल शर्मा, हरसदन, ... पते से प्राप्य।

इसमें भिन्न-भिन्न कविताओं की बहुत-सी ... का संग्रह है। इस संग्रह का यह दूसरा संस्करण है। ...

ज्ञान पड़ता है कि संग्रह लोक-प्रिय हुआ है। बालकों के लिये संग्रह उपयोगी है।

× × ×

हिंदू—रचयिता, श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त; आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या ३३३; कागज़ और छपाई उत्तम; विशिष्ट संस्करण की सजिल्द एक प्रति का मूल्य १।); साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) द्वारा प्रकाशित, और वहीं से प्राप्य।

इस पुस्तिका में कविवर श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त की प्रायः १०० छोटी-छोटी कविताएँ संगृहीत हैं। गुप्तजी की रचना ख़ूब सुंदर होती है। वह लोक-प्रिय भी ख़ूब है। प्रस्तुत संग्रह में भी गुप्तजी की लेखनी का चमत्कार मौजूद है। विश्वास है, इस पुस्तक के पाठ से हिंदू-भावुकों का कल्याण होगा।

× × ×

रहिमन-शतक—संपादक तथा अनुवादक, पं० शिवशंकर मिश्र 'विशारद', अध्यापक गंगापुर काशी; प्रकाशक, रामदयाल अगरवाला, कटरा, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ६४; छपाई और कागज़ साधारण; मूल्य ।-); प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक में सुकवि रहीम के १०० दोहों का अनुवाद है, एवं कुछ टिप्पणियाँ भी। अनुवाद सर्वत्र निर्दोष नहीं है यद्यपि अधिकांश में अच्छा हुआ है। टिप्पणियों का भी यही हाल है। रहीम की कविता के रसिक सज्जनों को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए।

× × ×

आँखमिचौनी—संपादक, ब्रह्मचारी इन्द्र शास्त्री; प्रकाशक, रामदयाल अगरवाला, बुकसेलर ऐंड पब्लिशर, कटरा, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ६६; छपाई साधारण; कागज़ अच्छा; मूल्य ।≈); प्रकाशक से प्राप्य।

यह ५४ कविताओं का संग्रह है। आजकल जिन लोगों की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः छपा करती हैं, प्रायः इस संग्रह में भी उन्हीं की कविताएँ संगृहीत हैं। कविताएँ खड़ी बोली की हैं। नए ढंग की कविता पढ़नेवालों के यह काम की चीज़ है।

× × ×

हिंदी-करीमा—अनुवादक, इक़बाल वर्मा 'सेहर'; प्रकाशक, वैद्य शिवनारायण मिश्र, मित्रप्रभ, प्रकाश-पुस्तकालय, कानपुर; पृष्ठ-संख्या ३६; मूल्य ।-); छपाई और कागज़ उत्कृष्ट; प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक में फ़ारसी की प्रसिद्ध पुस्तक करीमा का अनुवाद है। इसकी भूमिका श्रीयुत प्रेमचंदजी ने लिखी है। अनुवाद कैसा हुआ है, इसके देखने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

> सावधान ऐ पुत्र! कभी मत गर्वान्वित हो मन तेरा;
> उसी गर्व के हाथ एक दिन होगा घोर पतन तेरा।
> नहीं अभीष्ट कभी गर्वान्वित ज्ञानी आत्मा का होना;
> ज्ञानवान यदि गर्वान्वित हो है विचित्र ऐसा होना।

करीमा के एक अच्छे हिंदी-अनुवाद की आवश्यकता थी, वह अब पूरी हो गई। हम इस पुस्तक का सादर स्वागत करते हैं।

× × ×

४. प्राप्ति-स्वीकार

निम्न-लिखित पुस्तकें भी प्राप्त हुई हैं—

१. श्रीराष्ट्रीय विद्या-भवन की नियमावली।
२. स्वर्ग से (स्वामी रामतीर्थ के उपदेश)।
३. वैदिक धर्म-रहस्य।
४. हिंदू-गायन (प्रथम भाग)।
५. श्राद्ध-गुण-विवरण।
६. आपत्त-कथा।
७. ज्योतिष-शास्त्र-प्रवेशिका।
८. अभिलाप-बत्तीसी।
९. श्रीयुगल-विनोद।
१०. दुःख-गाथा।
११. मुकुंद-पद्धति।
१२. श्रीमोहनजीवनादर्श।



१. 'मेरी भारतीय बहिनों के लिये'



मती ऐन मार्गरेट होमग्रेन (Ann Margaret Holmgren) एक स्वीडन की विदुषी महिला हैं, जिन्होंने उस देश की स्त्रियों को वोट का स्वत्व दिलाने के लिये घोर परिश्रम किया है और इसीलिये स्वीडन में वह स्त्रियों के वोटाधिकार की जन्मदात्री कहलाती हैं। मि० कालीदास नाग ने अपने एक मित्र द्वारा, श्रीमती होमग्रेन से अपने कार्य के सफलीभूत होने के बारे में कुछ लिखने को कहा था। श्रीमतीजी ने मि० नाग के प्रत्युत्तर में एक पत्र भेजा, जो 'माडर्न रिव्यू' में छपा था। उसी का अनुवाद नीचे दिया जाता है। आशा है कि भारतीय समाज-सेवी श्रीमती होमग्रेन के अनुभव से कुछ लाभ उठायेंगे।

प्यारी भारतीय बहिनो! तुमको कुछ लिखने के लिये मुझको कुछ अवसर प्राप्त हुआ है, इससे मुझे जो प्रसन्नता हुई है, उसकी तुम कल्पना भी नहीं कर सकतीं। मिसेज़ बूटेन्शोन (Mrs. Butenschon) ने जो कि मि० नाग की मित्र हैं, मुझसे अनुरोध किया है कि मैं तुमसे कुछ वृत्तांत अपने और स्त्रियों को वोट देने के अधिकार के बारे में कहूँ, क्यों स्वीडन में स्त्रियों को वोट का अधिकार दिलाने जन्मदात्री कहलाती हूँ। मैं आशा करती हूँ कि यह कार्य-विवरण तुम्हारा कुछ सहायक होगा। मैं मानती हूँ कि मेरे लिये यह बात और सुखकर होती, यदि मैं अन्य स्त्रियों के कार्य में लिखती।

मैं सन् १८५० ई० में एक गाँव के एक कुलीन में उत्पन्न हुई थी। मेरे माता-पिता एक प्राचीन कुल के थे और मेरे पिता अपनी पैतृक संपत्ति का हाथ में लेने से पहले राजनीतिज्ञ रह चुके थे, इसीलिये दूसरे देशवासियों से उनको सहानुभूति यद्यपि राजनीति में वे अनुदार-दल के थे, पर अधिकार से संबंध रखनेवाली बातों में वे अपने से बहुत आगे थे। उन्हीं से मैंने राजनीति सीखी मनुष्य-मात्र से प्रेम करने लगी। १७ वर्ष की आयु देवलोक को चले गए। वह मेरे प्यारे पिता ही नहीं वरन्च मेरे सबसे श्रेष्ठ संगी भी थे, और हम लोगों आयु में ५० वर्ष का अंतर होते हुए भी इस प्रकार आपस में संबंध संभव था।

१६ वर्ष की आयु में मैंने उपशाला (Upsala विद्यालय के प्राणि-शास्त्र के प्रोफ़ेसर से विवाह कि

वे बहुत ही चतुर और सत्यप्रिय मनुष्य थे। उन्होंने ही मेरे मस्तिष्क पर यह प्रभाव डाला कि मैं जीवन को एक उदार-दृष्टि से देखने लगी। इसी विचार को मैंने सदा से अपनाया है और आयु की वृद्धि के साथ-साथ यह विचार और दृढ़ होता जाता है।

मैं नौ बालकों की माता रह चुकी हूँ। इतना बड़ा दल और उसके ऊपर एक बड़ी गृहस्थी के सारे प्रबंध का बोझ, एक स्त्री के लिये इतना ही बहुत हो जाता है और मुझे कभी-कभी यह अखर भी जाता था। गृहस्थी के अन्य कार्यों के साथ-साथ हमारे यहाँ विद्यालय के विद्यार्थियों का अर्द्ध मासिक भोज भी होता था। परंतु भौतिक चिंताओं के भार से मैं अपने को दबने नहीं देती थी, बल्कि संगीत-साहित्य तथा आध्यात्मिक पुस्तकों द्वारा मैं अपनी आत्मा के लिये शांति प्राप्त कर लेती थी। मेरे आत्मिक जीवन की उन्नति के लिये नॉरवे के परलोकवासी कवि और संपादक (Bjorust jerne Bjornson) और उनकी पत्नी की मित्रता बहुत अधिक लाभदायक सिद्ध हुई है।

मुझको यह बात अवश्य मान लेना चाहिए कि अधिकतर पुरुष ही ऐसे रहे हैं, जिनका प्रभाव मेरी आत्मिक उन्नति पर अधिक रहा है। इनमें केवल दो स्त्रियाँ हैं। एक मेरी बहन है, जो कि मेरे जीवन-भर मेरी सहायक रही है और दूसरी प्रसिद्ध लेखिका ऐलनकी (Ellenkey) है।

मेरे विचारों की उन्नति का अधिकतर श्रेय नोर्सन को है। उनका 'स्त्री तथा समाज में उसका स्थान' के बारे में जो विश्वास था, उससे मुझको अपनी शक्ति पर वह भरोसा हो गया, जिसकी मुझमें कमी थी ; और यही गुण ऐसे मनुष्य के लिये, जो जनता में वक्तृता देना चाहता है, बहुत अधिक आवश्यकीय है। बहुत समय तक मेरी यह आंतरिक धारणा थी कि मैं किसी कार्य के योग्य नहीं हूँ।

अपने स्वामी के मृत्यु के चार वर्ष पश्चात् मैं स्वीडन की राजधानी स्टोकहोम में बस गई। सन् १९०१ में मुझको स्त्रियों की शांति-सभा (Women's Rease Association) का, सभापति चुना गया। इसके दूसरे ही वर्ष मेरे ऊपर स्त्रियों को वोटाधिकार दिलाने की संस्था (Woman suffrage League) का बहुत-सा भार आ पड़ा। इस प्रश्न ने उस समय एक उग्र-रूप धारण कर लिया था, क्योंकि पार्लियामेंट में एक सदस्य ने स्त्रियों को वोट का अधिकार देने के आशय का एक बिल पेश किया था। स्त्रियों को वोटाधिकार दिलाने की एक सभा बनाई गई, जिसकी मैं उपसभापति हुई। अपने कार्य को पूर्ण करने के हेतु यह अत्यंत आवश्यक था कि सारे देश की स्त्रियों की शक्ति और सहानुभूति एकत्र की जावे और इसके लिये घोर परिश्रम की ज़रूरत थी। परंतु बिना धन के और एक ऐसे व्यक्ति के, जो सारे देश में भ्रमण कर सके, उनकी कठिनाइयों को मैंने समझा और इसलिये मुझको अपने कार्य में और भी दृढ़ता से लग जाना पड़ा। मेरे व्याख्यानों को श्रोता और समालोचक सभी बड़े ध्यान से सुनते तथा उन पर विचार करते थे। यहाँ तक कि अनुदार दल के समाचारपत्र तक कभी कोई ऐसी बात नहीं लिखते थे, जिससे यह प्रतीत होता कि वे मेरे विरुद्ध हैं। मैं बड़ी सावधानी से ऐसी बात नहीं कहती जिससे अनधिकार चेष्टा प्रतीत होती अथवा जो किसी को बुरी मालूम होती। मैं अपने आंतरिक दृढ़ विश्वास के साथ केवल एक बात का संदेश सबको सुनाती और वह था स्त्रियों के लिये वोट का द्वार खोल देना। अपने प्रयत्न से मैं बहुत-से सहयोगी बनाने में समर्थ हुई और सचमुच ६० भिन्न-भिन्न स्थानों में सभाएँ बन गईं।

सन् १९०३ में, जब कि मैं स्वीडन के सबसे उत्तरी भाग में व्याख्यान देने का आयोजन कर रही थी, उस समय मैंने रेलवे के एक कर्मचारी से अपनी यात्रा के विषय में सलाह ली। जब उसने यह सुना कि मैं जाड़े के आरंभ में, ध्रुव के वृत्त से ऊपर यात्रा करने का विचार कर रही हूँ, तो वह बहुत आश्चर्य में पड़ गया। उसने मुझे चेतना दी कि इस ऋतु में ऐसे देश में बहुत संभव है कि आप एक निर्जन स्थान में कई दिनों तक वर्फ़ से ढकी पड़ी रहें। उसने एक बात का और भी भय दिखलाया कि थोड़े ही दिन हुए जब जहाज़ के सैनिकों को ट्रेन में ले जाते समय कभी-कभी बड़े-बड़े दंगे भी हो चुके हैं। और उसने यह कहकर अपने कथन को समाप्त किया कि वर्ष के इस भाग में स्वयं शैतान भी यात्रा करने का साहस नहीं करेगा।

परंतु उसी समय देश की राजनैतिक परिस्थिति ऐसी थी कि जो कुछ करना हो, वह जल्दी करना चाहिए था। उस समय यह बात किसी के ध्यान में भी नहीं आ सकती थी कि हमको अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त करने के लिये १२ वर्ष तक ठहरना पड़ेगा।

मैंने अपने को सिर से पैर तक फिर से ढकने का प्रबंध किया और भोजन के पदार्थों से एक टोकरी भी भर ली। गाड़ी चली और मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट नहीं हुई। केवल एक स्थान पर गाड़ी को लगभग १ घंटे रुकना पड़ा, क्योंकि रेल की राह में बारहसिंघों का एक झुंड पड़ा हुआ था। घोर अंधकार और कटकटाती ठंड में बारह घंटे की यह यात्रा और सब कुछ थी, परंतु चित्त प्रसन्न करनेवाली न थी। मगर इस बात की क्या चिंता जब कि मेरी आत्मा में स्त्रियों के पक्ष की सत्यता की अग्नि जल रही थी। इस कष्टप्रद यात्रा का फल भी मुझे शीघ्र ही भुगतना पड़ा, क्योंकि इसके पश्चात् मैं किसी प्रकार की श्रमशील यात्रा करने के सर्वथा अयोग्य हो गई।

इन वर्षों में बहुत-से व्याख्यानदाता निकल पड़े, और भिन्न-भिन्न स्थानों में लगभग २४० सभाएँ स्थापित हो गईं। मुझको फिर बहुत-से ऐसे प्रमाण मिले कि लोग मुझको देखना और मुझसे कुछ सुनना चाहते हैं।

समय और मनुष्य में कितने वेग से परिवर्तन होता है ? जब मैं अपने परिश्रम के अतीत वर्षों की ओर दृष्टि-पात करती हूँ, तो मेरा हृदय अपने देश के उन स्त्री और पुरुषों के प्रोत्साहन के लिये, जो उन्होंने उस समय दिया, धन्यवाद से भर जाता है। मेरे साथी कार्यकर्ताओं को बड़े संतोष से काम लेना पड़ा। मैं इस बात को जानती हूँ कि जब मुझको ऐसे साथियों के साथ कार्य करना पड़ता है, जो मुझसे भिन्न विचार रखते हैं, तब मैं कुछ नहीं कर सकती। मैं अपनी शक्तियों को पूर्णतया तभी किसी कार्य में लगा सकती हूँ, जब कि मेरे सन्मुख किसी प्रकार की रुकावट उपस्थित न की जावे। मेरे लिये स्वतंत्रता और सत्य अत्यंत आवश्यक है और इसी-लिये व्यक्तियों तथा राष्ट्रों में, मैं जानती हूँ कि प्र... नाएँ होती हैं और उनका आदर करती हूँ। मैं ... स्त्रियों के अधिकार के लिये और उनको पुरुषों के ... बनाने के लिये उत्साह से कार्य करती हूँ, परंतु ... आदर्श को प्राप्त करने के लिये हमको अभी बहुत ... जाना है और इसमें स्त्रियों की उन्नति सबसे ... आवश्यक है।

मैं यह चाहती थी कि वोट का यह बड़ा ... स्त्रियों की एक विराट् सभा के रूप में जीवित ... परंतु और लोग इस प्रस्ताव से सहमत नहीं ... इसलिये संगठन के सब केंद्र मृत्यु को प्राप्त हो ... इससे बड़ा दुःख है और जब तक जीवित रहूँगी ... बात का दुःख रहेगा। स्त्रियाँ जब तक संगठन ... एकत्र होना नहीं सीखेंगी, तब तक वे कोई ... नहीं कर सकतीं। वे मनुष्य-समाज के विशाल ... कोई परिवर्तन नहीं कर सकेंगी अर्थात् युद्ध और ... को नहीं रोक सकेंगी।

यदि संसार की सब स्त्रियाँ शांति और शुभ ... लिये प्रीति और उपकार के सहयोग में बँध ... हम लोग मातृत्व से भी महान् कार्य करने में ... हो सकेंगी।

अपने आंतरिक हृदय से मैं तुम्हारे स्वतंत्रता ... में सफलता चाहती हूँ।

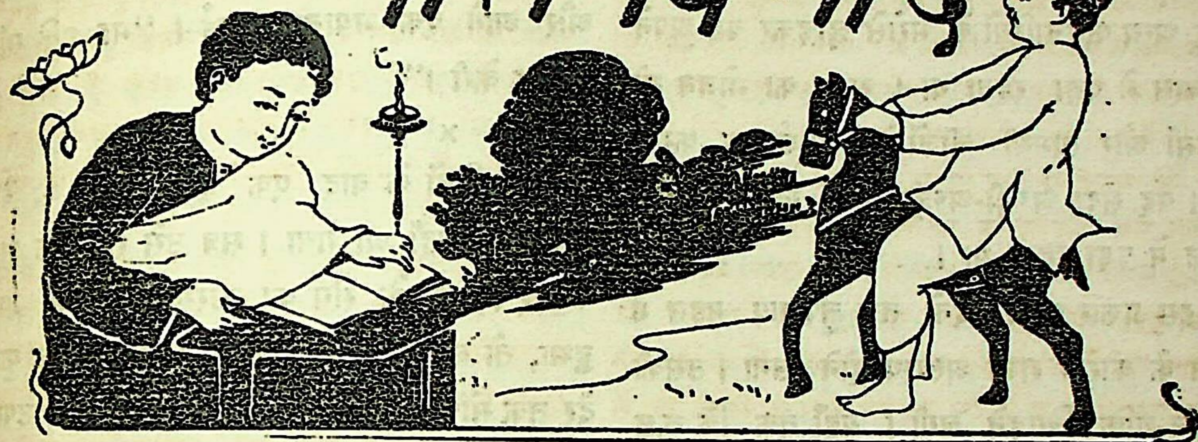
चक्खनलाल ...

× × ×

२. निर्मोही संसार

निर्मोही संसार ज़रा भी नहीं हृदय में पीड़ा ...
बेहोशी में विकल वेदना से करते यों क्रीड़ा ...
दुखिया के घायल घावों पर निर्दय ठेस लगाते ...
हृदय हीन आती न ज़रा उफ़ तेरे मन में ...
सो लेने दे ज़रा हृदय की गहरी मूक व्यथाएँ ...
क्या पाएगा अरे जानकर मेरी करुण कथाएँ ...

रामप्यारी देवी ...



१. ढेला और पत्ता

एक ढेला था पड़ा मैदान में ;
एक पत्ता भी वहीं पै आ गिरा ।
साथ वे दोनों बहुत दिन तक रहे ;
मित्रता उनमें इसी से हो गई ।
एक दिन पत्ते ने ढेले से कहा,—
"साथ ही हम तुम रहें यों सर्वदा ।
आ पड़ेगी हम पै जब कोई विपद् ;
एक को देगा मदद तब दूसरा ।"
सुनके ढेले ने कहा,—"हाँ ठीक है ;
जायगी तुमको न ले आँधी उड़ा ।
वह जभी चलने लगेगी ज़ोर से ;
बस, मैं तुम पै बैठ जाऊँगा तभी ।"
"और मैं जल से तुम्हें लूँगा बचा";
पात ने उत्तर दिया आनंद से ।
"जब बरसने वह लगेगा तब मैं जा ;
बैठ जाऊँगा तुम्हारी पीठ पै ।"
उसको गलने से बचाता पात था ;
इसको उड़ने से तथा ढेला सदा ।
एक की करके मदद यों दूसरा ;
मित्रता उनने निभाई खूब ही ।
पर अचानक एक दिन हलचल मची ;
आँधी-पानी क्योंकि आया साथ ही ।
बैठता था कूद ढेला पात पै ;
ले उड़े जिससे न आँधी झट उसे ।
और उड़ ढेले पै पत्ता बैठता ;
जल की चोटों से न वह जिससे गले ।
यों उछलते-कूदते बस शीघ्र ही ;
उड़ गया पात और ढेला गल गया ।

श्रीरामलोचन शर्मा 'कंटक'

× × ×

२. कसरत करो

एक राजा था । वह धन के मद से इतना फूला था कि चार पग भी पैदल चलना, वह अपना अपमान समझता था । जब वह अपने महल से दरबार में जाने के लिये निकलता था, तो पालकी पर ही निकलता था । खाने-पीने, नित्य-क्रिया करने या किसी साधारण-से-साधारण काम के लिये भी वह विना किसी सवारी के नहीं निकलता था । अपने जीवन में वह कभी भी कुछ दूर तक पैदल नहीं चला था । इसी में वह अपनी शान समझता था । इस प्रकार वह बड़ा आलसी हो

गया। कुछ दिनों के बाद तो उसका महल से निकलना भी मुश्किल हो गया। सब काम मंत्री और अन्य कर्मचारियों के भरोसे छोड़कर वह अपने रनिवास में पड़ा रहता था। राजा का भोजन भी राजसी और तामसी चीज़ों से परिपूर्ण रहा करता था। वह सदा अच्छी-अच्छी चीज़ें खाता था और महल में पड़ा रहता था।

इस प्रकार बहुत दिनों तक चुपचाप महल में रहने के कारण राजा अस्वस्थ होने लगा। उसकी पाचन-शक्ति बिगड़ने लगी। यहाँ तक कि कुछ दिनों में उसकी भूख भी जाती रही; आँतें कमज़ोर पड़ गईं। राजा कुछ भी खाता था, तो पचता नहीं था। उसका शरीर जर्जर हो गया।

राजा के यहाँ वैद्यों का जमघट लगा रहता था। सभी वैद्य जानते थे कि राजा पौष्टिक पदार्थ भोजन करता है, और चुपचाप पड़ा रहता है—इसीलिये उसकी यह दशा हुई है। परंतु कोई भी वैद्य डर के मारे राजा को यह सलाह न देता था कि आप कुछ टहला कीजिए, या कुछ कसरत कीजिए, जिसमें आपकी आँतों की कमज़ोरी दूर हो जाय। किसी-किसी ने हिम्मत करके राजा को इस बात की सलाह भी दी, तो वे राज्य से निकाल दिए गए। एक वैद्य तो क़ैद भी कर लिया गया। मंत्री बेचारे क्या करें—राजाज्ञा का उल्लंघन कैसे करें। इस प्रकार वैद्य लोग भी चुपचाप दवा देते जाते थे—राजा के डर के मारे कोई भी न तो उन्हें पथ्य बतलाता था और न टहलने की आवश्यकता बताता था। उन्हें जो कुछ भाता था, वे खाते थे और पड़े रहते थे। अंत में उनका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि वे बैठ भी नहीं सकते थे। अब वैद्यों पर और भी फटकार पड़ने लगी। परंतु वे बेचारे करें क्या? उनका तो हाल उस के समान हो रहा था, जिसके पीछे तो बा और आगे एक भयानक खाई। "भइ गति छछूँदर केरी।"

× × ×

कुछ दिनों के बाद एक दूसरे राज्य का संयोग-वश वहाँ आ गया। सब उसे राजा के ले गए। राजा के रोग का कारण जब उसे हुआ, तो वह चिंता में निमग्न हो गया। देर तक सोचता रहा। तब तक उसे एक सूझा; उसकी बाछें खिल गईं। उसने नगर के बाहर मैदान में एक बड़ा कमरा करने को कहा। कमरा बनकर तैयार हो वैद्य ने उस कमरे की नीचे की सतह पर आग जलवा दी—कहीं एक इंच भी स्थान न रखा। जब आग खूब देर तक जल चुकी कमरे की सतह खूब गर्म हो गई, तब उसने शीघ्र आग बाहर निकलवाने की प्रार्थना बहुत-से मनुष्यों ने जूता पहनकर कमरे में किया और सब आग को बाहर निकाल कमरे में झाड़ू लगा दिया गया।

अब राजा को पालकी पर चढ़ाकर लोग वहाँ ले गए। वैद्यजी ने राजा से कहा—आपको जूता पहने उस कमरे में चलना होगा—वहीं रोग की जाँच की जायगी। राजा तैयार हो उसे क्या मालूम था कि कमरे की ज़मीन गरम जब रोग से मनुष्य एकदम ग्रसित हो जाता है उससे छुटकारा पाने के लिये वह कठिन-से-कठिन उपाय का भी अवलंबन करने के लिये तैयार जाता है। उसे आरोग्य लाभ करने की अभिलाषा हो जाती है। यही दशा राजा की

थी। वह अपने रोग से मुक्त होने के लिये बहुत उतावला हो गया था। वैद्यजी ने मंत्री से कहा कि इस कमरे के निकट कोई भी न रहने पावे। सब लोग दूर हटा दिए गए; मंत्री स्वयं भी हट गए। अब वहाँ केवल राजा और वैद्य रह गए। वैद्य के कहे अनुसार राजा उस कमरे के दरवाज़े तक पैदल ही किसी प्रकार गए। पैरों में जूता नहीं था। वैद्यजी ने राजा से कहा—श्रीमान् अंदर चलें। राजा के भीतर जाते ही वैद्य ने बाहर से दरवाज़ा बन्द कर दिया। गरम सतह पर राजा का पैर जलने लगा। वे बाहर आने लगे, परंतु दरवाज़ा तो पहले ही बंद हो गया था। अब राजा उसी गरम कमरे में कूदने और दौड़ने लगे। उस समय न जाने उनमें कहाँ से बल आ गया था। उस वैद्य को उन्होंने कई गालियाँ सुनाईं। बहुत दौड़ने और चिल्लाने पर भी कोई नहीं आया, क्योंकि वैद्य ने तो पहले ही सबको वहाँ से दूर हटा दिया था। जब राजा का शरीर दौड़ते-दौड़ते शिथिल हो चला, तो वैद्य ने दरवाज़ा खोल दिया। राजा दौड़कर बाहर आए और धड़ाम से पृथ्वी पर गिर गए। कुछ देर के लिये उन्हें बेहोशी हो आई। अब वैद्यजी वहाँ से चंपत हो गए।

जब बहुत देर हो गई, तो मंत्री को वैद्य पर कुछ शक हुआ। वे स्वयं वहाँ गये और राजा को बेहोश पाया। कहार बुलाए गए और राजा पालकी पर लिटाकर महल में लाए गए। बहुत देर के बाद राजा को होश हुआ, तो उन्होंने मंत्री से उस वैद्य की सब करतूत कह सुनाई और उसकी खोज करने को कहा। राजा का क्रोध उस वैद्य पर बहुत था। यदि वे उसे उस समय पा जाते, तो अवश्य फाँसी पर चढ़वा देते। मंत्री ने उस वैद्य की बहुत खोज की, परंतु कहीं भी उसका पता न चला। इस काम के लिये और भी दूत भेजे गए।

दूसरे दिन राजा को अपना शरीर कुछ हल्का मालूम हुआ। उन्हें खुलासा दस्त हुआ, भूख भी खूब लगी; शरीर में कुछ ताक़त मालूम होने लगी। इसका कारण क्या था? राजा सोचने लगे। उन्हें यह समझते देर न लगी कि कल गरम कमरे में दौड़ना ही इसका कारण है। अब उन्होंने कसरत और टहलने के महत्त्व को समझा। उन्हें अपने पर ग्लानि हुई। उन्हें अब उस वैद्य पर श्रद्धा हो गई, जिसे एक दिन पहले वे फाँसी दे देने का निश्चय कर चुके थे। राजा आज बहुत कोशिश करके दरबार में पैदल ही आए। मंत्री के आश्चर्य का ठिकाना न था। जो राजा स्वस्थ रहने पर भी कभी एक पग पैदल नहीं चले थे, वे आज बीमारी की हालत में महल से दरबार तक पैदल कैसे आए। सबों को आश्चर्य हुआ। राजा ने सूचना निकाली कि—"जो कोई उस वैद्य को ढूँढ़ निकालेगा, उसे मैं अपना आधा राज्य दे दूँगा। उसने मुझे बड़ी अच्छी शिक्षा दी है। मैं अब तक राज्य के मद में फूला हुआ था—परंतु उसने मुझे बतला दिया कि राज्य और धन से भी बढ़कर कोई चीज़ इस संसार में है और वह स्वास्थ्य है।......"

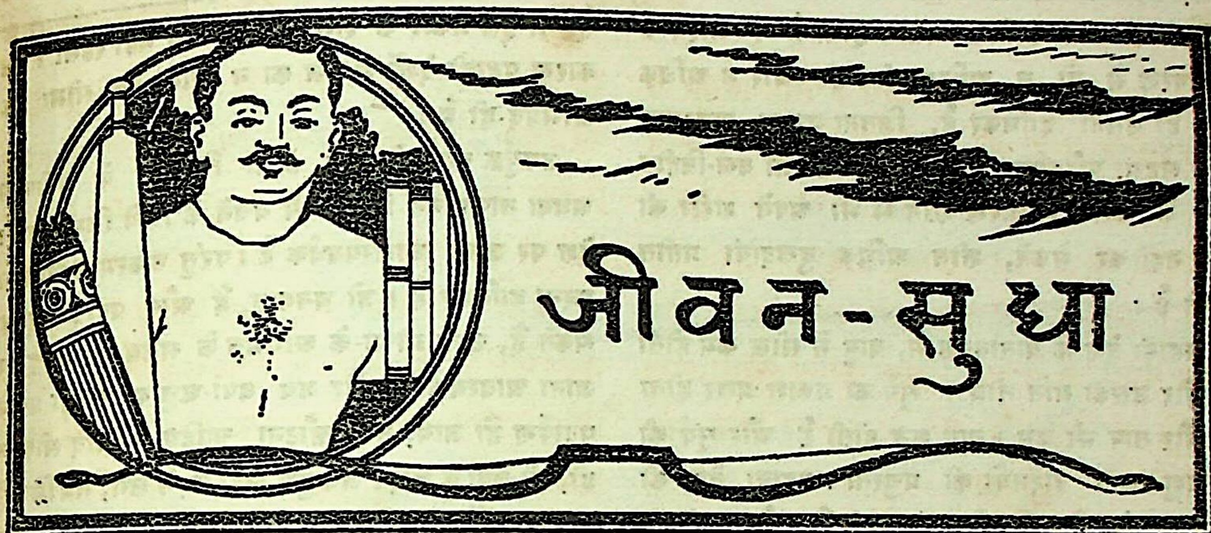
राजा का बोलना अभी समाप्त भी नहीं हुआ था कि एक ओर से एक मनुष्य आता हुआ दिखलाई दिया। ये और कोई नहीं, वही वैद्यजी थे जिनको ढूँढ़ निकालने के लिये कल बहुत-से दूत छोड़े गए थे। वैद्यजी समझते थे कि राजा पहले तो आपे-से बाहर अवश्य हो जायँगे, परंतु जब उन्हें दौड़ने और टहलने का फ़ायदा मालूम होगा,

तो वे अवश्य मेरी खोज करेंगे। ऐसा विचार वे वेश बदलकर उन्हीं के राज्य में छिपे हुए थे। आज राजा का रंग-ढंग बदला हुआ देखकर प्रकट हुए।

वैद्यजी को देखकर राजा के हर्ष का पारावार न था। उन्होंने उन्हें हृदय से लगा लिया और अपनी बगल में बैठाया। राजा अपना आधा राज्य देने लगे, तो वैद्यजी ने लेने से इनकार किया और कहा कि—"मेरा काम राज्य करने का नहीं है; मुझे तो भरपेट भोजन और कपड़ा मिला करे, यही बहुत है। मैं आप लोगों की सेवा के लिये बराबर तैयार रहूँगा।" उसी दिन से उन्होंने राजा की दवा करना प्रारंभ कर दिया। वे राजा को दोनों समय एक-एक घंटा टहलाते और मोटा खाना खिलाते थे। राजा सानंद उनके कहने के अनुसार कार्य किया करते थे। कुछ दिनों में राजा एकदम स्वस्थ हो गए। अच्छा हो जाने पर भी राजा ने टहलना नहीं छोड़ा और राजसी भोजन तो एकदम त्याग दिया।

बालको! देखो राज्य का सब सुख होते हुए भी राजा स्वास्थ्य के लिये कितना दुखी था। स्वस्थ न रहने के कारण उस राज्य से उसे कोई सुख न मिलता था। इस संसार में स्वास्थ्य ही सब कुछ है। तीनों त्रिभुवन का राज्य भी किसी अस्वस्थ मनुष्य को सुखी नहीं बना सकता, वरन् जो स्वस्थ है, उसे सत्तू भी यदि खाने को मिले, तो वह सुखी है। तुम लोगों को सब बातों से ... कर स्वास्थ्य पर ही ध्यान देना उचित है। ... कितना भी पढ़ो—बी० ए० और एम्० ए० ... डिग्रियाँ प्राप्त करो; परंतु यदि तुम स्वस्थ नहीं ... तो कभी सुखी नहीं हो सकते। ... लड़कपन से ही पढ़ने के साथ-साथ तुम्हें स्वास्थ्य ... का भी ध्यान रखना आवश्यक है। यदि तुम स्वस्थ ... रहोगे, तो तुम्हारा पढ़ना-लिखना भी ठीक ... सकेगा। अस्वस्थ बालकों का मन पढ़ने-लिखने ... भी नहीं लगता। स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये ... के साथ-साथ खेलना और कसरत करना भी ... आवश्यक है। यदि तुम लड़कपन से ही स्वास्थ्य ... ध्यान दोगे, तो बड़े होने पर इस संसार में ... कुछ कर सकोगे। शरीर ही सब कुछ है। ... नीरोग रहने पर मनुष्य सब कुछ कर सकता है। ... निरोगी मनुष्य के समान सुखी इस संसार में ... भी नहीं हो सकता। सुबह और शाम दोनों ... कुछ-न-कुछ खेलना, कसरत करना, दौड़ना, ... टहलना प्रत्येक विद्यार्थी का कर्तव्य है। ... इसका मतलब यह कदापि नहीं कि तुम पढ़ना- ... लिखना छोड़कर खेलने-कूदने में लग जाओ। ... कहने का मतलब यह है कि पढ़ने के समय ... और खेलने के समय खेलो; और तभी तुम ... संसार में कुछ कर सकोगे, अन्यथा नहीं।

श्रीजगन्नाथप्रसादसिंह



१. गर्मी में पहाड़ पर जाने से क्या लाभ है ?



यदि समस्त संसार की जातियों की हृष्ट-पुष्टता की तुलना की जाय, तो यह तथ्य पाया जायगा कि जिन देशों के वातावरण में गर्मी तथा शीत दोनों का आधिक्य होता है, वहाँ के निवासियों का शरीर अधिक बलिष्ठ होता है। उनका शरीर वातावरण के परिवर्तन को सुगमता से झेल सकता है। सर्दी, गर्मी, शुष्कता, तरी आदि का प्रभाव शरीर पर भी पड़ता है। परंतु शरीर की क्रिया इस प्रकार संचालित है कि वातावरण में अचानक परिवर्तन के कुप्रभाव से अपने को सुरक्षित रखने के हेतु शरीर की क्रिया-प्रक्रिया में आवश्यक परिवर्तन हो जाता है। जिन मनुष्यों में वातावरण के अनुसार शरीर में उचित परिवर्तन नहीं होता, वे गर्मी अथवा सर्दी के आधिक्य का सहन करने में असमर्थ होते हैं। शरीर को स्वस्थ रखने के लिये "अति सर्वत्र वर्जयेत्" का सिद्धांत ही श्रेयस्कर है। अधिक गर्मी से भी शरीर को हानि की संभावना है और अधिक सर्दी से भी ऋतु के अकस्मात् परिवर्तन से भी हानि होती है, कारण कि शरीर को इस प्रकार के परिवर्तन के कुप्रभाव से बचने के लिये सतर्क अथवा सावधान होने का समय नहीं मिलता।

ग्रीष्म-प्रधान देशों में वैशाख-ज्येष्ठ में वायु का ताप शरीर के ताप के बराबर अथवा कभी-कभी उससे भी अधिक हो जाता है। इस कारण शरीर में ताप उत्पन्न करने की क्रिया कुछ स्थगित हो जाती है। इस बाह्य ताप का वेग रोकने के लिये त्वचा में रुधिर का संचालन अधिक होता है, जिससे स्वेद की बहुतायत होता है और इसके सूखने से शरीर की गर्मी अधिक नहीं बढ़ती, शरीर का ताप कुछ बढ़ जाता है और अधिक पसीना आने के कारण मूत्र की मात्रा में कमी हो जाती है। गर्मी के कारण वायु फैलती है और उसका घनत्व कम हो जाता है, इसलिये उचित मात्रा में ओपजन न मिलने के कारण रुधिर का ओपजनीकरण ठीक-ठीक नहीं होता। कारवन-द्विओषित गैस का बहिष्कार भी कम हो जाता है और मूत्र में भी विकृत पदार्थों की कमी हो जाती है। फुनाड़ी की गति मंद होती है और हृदय की कार्यक्षमता में अंतर हो जाता है, भूख कम लगती है और पाचन-शक्ति की प्रबलता भी घट जाती है। संक्षेप में कहा जाय, तो त्वचा के अतिरिक्त शरीर के समस्त अवयवों की क्रियाएँ मंद हो जाती हैं, जिसके परिणाम-रूप में शरीर की तोल हल्की हो जाती है, और मनुष्य के जल्दी ही थक जाने के कारण काम भी कम होता है। अधिक गर्मी हो और किसी व्यक्ति के शरीर में ताप उत्पन्न करने अथवा शांत करने की क्रिया पर उचित अधिकार न हो, तो लू भी लग सकती है।

शीत का प्रभाव इसके ठीक विपरीत होता है, परंतु शीत के आधिक्य से भी हानि होती है। प्रत्येक मनुष्य का अनुभव है कि गर्मी की अपेक्षा शीत-काल में शरीर अधिक स्वस्थ होता है। परंतु गठिया आदि के

रोगियों को शीत हानिकर प्रतीत होता है । भारत के वातावरण में तो न अधिक शीत ही और न अधिक ताप ही उतना हानिकर है, जितना उनका अकस्मात् और सहसा परिवर्तन । निर्धन पुरुषों को जो वस्त्र-विहीन होने के कारण साधारण शीत से भी अपने शरीर की रक्षा नहीं कर सकते, शीत अधिक दुखदायी प्रतीत होती है ।

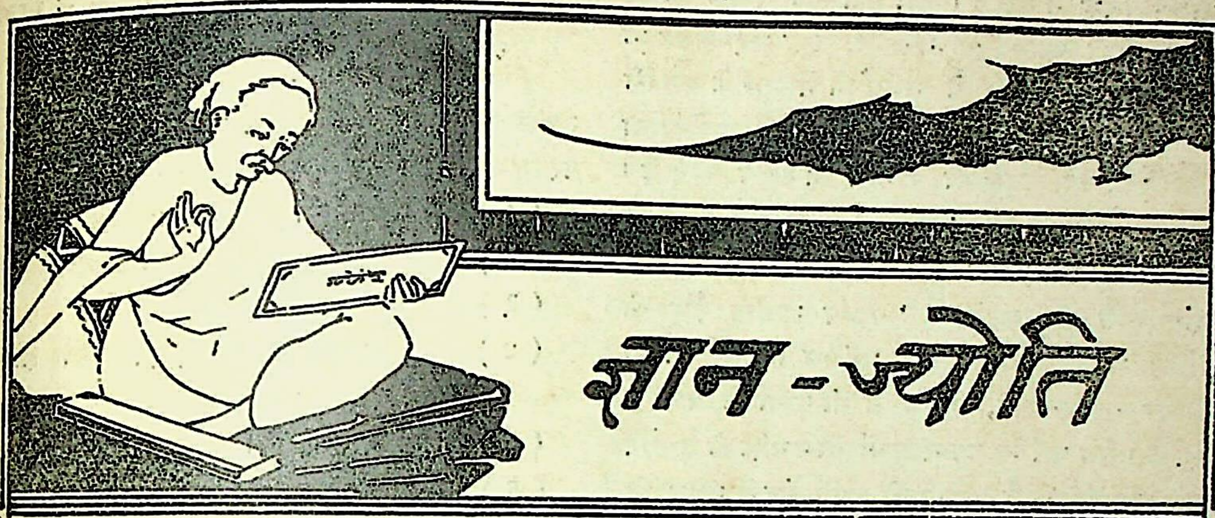
पहाड़ी देश के वातावरण में, वायु में सील कम होती है और उसकी गति तीव्र । सूर्य का प्रकाश प्रखर होता है और ताप भी कम । वायु शुद्ध होती है और सूर्य की कीटाणु-नाशक रश्मियों की प्रचुरता । पहाड़ी देश की भूमि सूर्य से दिन में तपित हो जाती है और रात्रि में ठंडी । इस कारण गर्मी में भी रात्रि को प्रायः बहुत सर्दी पड़ने लगती है । वायु हल्की होती है, परंतु रुधिर का ओषजनीकरण ठीक हो जाता है, कारण कि श्वास की गति और उसकी गहनता बढ़ जाती है । फुफ्फुस खूब फैलते हैं और कुछ महीने में छाती चौड़ी हो जाती है । भूख बढ़ जाती है और विकृत पदार्थों का बहिष्कार भी अच्छी तरह होता है । पहाड़ी प्रांतों में गर्मी भी अधिक पड़ती है और सर्दी भी । इस कारण पहाड़ियों में शीत तथा ऊष्णता सहन करने की शक्ति बलवती होती है । जो पहाड़ी प्रदेश समुद्र के पास होता है, वहाँ वर्षा के आधिक्य के कारण सील अधिक होती है जो स्वास्थ्य के लिये उपयुक्त नहीं है ।

समतल भूमि पर रहनेवाले यदि यात्रा के अर्थ किसी पहाड़ी प्रदेश में जाते हैं, तो कुछ व्यक्तियों को हृदय की धड़कन, दमा, थकान, जी घबराना, उद्विग्नता, परिश्रम करने में असमर्थता आदि लक्षण सताने लगते हैं । कुछ और भी अधिक पीड़ित होते हैं । उन्हें शिर-शूल, आलस्य, चक्कर आना, क्षुधा-हानि, वमन आदि के अतिरिक्त नाक, मुँह, आँख आदि से रुधिर-प्रवाह भी हो जाता है । यह पर्वतीय रोग भयंकर भी हो सकता है । परंतु यदि पहाड़ की चढ़ाई धीरे-धीरे तथा क्रम-पूर्वक होती है, तो इस प्रकार के रोग की संभावना नहीं रहती कारण पहाड़ी देशों में रेल का न होना कुछ लाभप्रद ही है ।

उपर्युक्त बातों से ज्ञात होगा कि गर्मी के अथवा तापजनित विकारों से बचने के लिये किसी देश पर जाना आरोग्यवर्धक है । परंतु अकस्मात् करना हानिकर है । जो धनवान् हैं और पहाड़ों सकते हैं, उन्हें ग्रीष्म के आगमन के समय ही आना आवश्यक है और जब वर्षा-ऋतु का पदार्पण हो जाय, तब लौटना चाहिए । यदि हो, तो वर्षा के बाद । जब कुछ सर्दी पड़ने लगे, तब पर से उतरें, तो और भी अच्छा । क्षय-रोग से मनुष्यों के लिये, तो पहाड़ पर जाना अत्यंत लाभ है, परंतु समुद्र-तल के निकट स्थित पहाड़ सील के कारण उपयुक्त नहीं । खाँसी, दमा, सन्निपात अन्य संक्रामक रोगों के लिये पहाड़ की उँचाई कारक है ।

केवल दस-पंद्रह दिवस के लिये पहाड़ पर स्वास्थ्य के लिये लाभकारक नहीं है, किंतु हानिकर सकता है । गर्मी के दिनों में शिमला, नैनीताल स्थानों में कौंसिल की बैठक होने से मेम्बरों को व्यय से पहाड़ों की सैर करने का तो अवसर मिलता है; परंतु यदि पूरी गर्मी भर वे वहाँ तो उनके लिये रोगकारी है । अँगरेज़ों को तो शीत देशों में रहने का स्वभाव है, परंतु विचारे क्लर्कों की किसी को क्या चिंता ? यदि सरकारी पहाड़ पर न जाया करें, तो केवल धन की बचत होगी किंतु धन से भी अधिक मूल्यवाली आरोग्यता रक्षण हो सकेगा । रही अँगरेज़ों की बात, लक्ष्मी देवी के लाड़िले पुत्र हैं । उनके लिये तो टट्टी, बिजली के पंखे आदि की सहायता से भी स्वर्ग-सुख प्राप्त हो सकता है ।

भवानीशंकर



१. तुलसीदास पर कारपेंटर के आक्षेप

(श्रावण की संख्या से आगे)



आगे आपने रामायण के अनुसार त्रिमूर्त्ति का वर्णन किया है और उनके कार्यों का विवरण दिया है। रामायण में इन देवों के किस प्रकार और किन-किन रूपों में वर्णन हुआ है, यह भी लेखक ने अच्छी तरह दिखाया है। तब भी आपने निराधार बातें लिखने की लत नहीं छोड़ी—

"As a poet Tulsi Dass was naturally likely to use anything in popular religion which would supply vivid imagination."

अर्थात्—"तुलसीदास एक कवि थे और इस कारण प्रचलित धर्म की कोई भी ऐसी बात कहना कि जिससे कोरी कल्पना को सहायना मिल सके, उनके लिये स्वाभाविक था।" एक आध ऐसी निराधार बात रामायण में से अगर पादरी साहब बताने की कृपा करते, तो हम बड़े आभारी होते।

हम यह मानते हैं कि तुलसीदास कट्टर हिंदू थे और उन्हें हिंदू-धर्म की सब बातों पर दृढ़ विश्वास था, पर हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उन्होंने कल्पना को सहायता देने के लिये धार्मिक बातों का उपयोग किया है।

फिर भी रेवरेंड साहब गुसाईंजी की उदारता और निष्पक्षता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि उनमें इतनी धार्मिक उदारता थी, जिसके कारण उन्होंने हिंदू-धर्म में भेद डालनेवालों की ख़ूब निंदा की है। भिन्न-भिन्न प्रकार के धार्मिक विचार उपस्थित करके सबकी एकता स्थापित की है तथा लोगों को भेद-भावों से दूर किया है।

इसके बाद फिर कारपेंटर साहब की राय सुनिए—

"To the Triad Tulsi Dass assigns an altogether inferior place. Its mention is by no means frequent or honourable. This fits in with the thought of a very subordinate sphere for them in God Knowledge although it does not go so far as to deny reality to their existence."

अर्थात्—त्रिमूर्त्ति को तुलसीदास बहुत ही नीचा दर्जा देते हैं। न तो उसका (त्रिमूर्त्ति का) उल्लेख ही अधिक किया गया है, और न बहु उल्लेख आदर-पूर्ण ही है। इससे त्रिमूर्त्ति का अस्तित्व न होना, तो नहीं साबित होता; पर यह विचार दृढ़ होता है कि ईश्वरीय ज्ञान में त्रिमूर्त्ति का स्थान बहुन निम्न श्रेणी का है।

त्रिमूर्त्ति तथा राम

गुसाईंजी ने अनेकों बार त्रिमूर्त्ति को माया के वशवर्ती कहा है, इसी लिये शायद पादरी साहब को यह भ्रम हो गया है। किंतु यह बात परब्रह्म राम की सर्वोच्चता सिद्ध करने ही के लिये कही गई है। त्रिमूर्त्ति को राम से नीचा स्थान दिया गया है, वह उन्हें नीचा करने के उद्देश्य से नहीं दिया गया, बल्कि राम की सर्वोच्चता के प्रतिपादन के लिये ही ऐसा किया गया है। अन्य स्थानों में शिव और विष्णु को

बराबरी सिद्ध की गई है। हाँ, ब्रह्म को अवश्य ही हर जगह नीचा स्थान दिया गया है, उन्हें सदा सेवक ही बना रक्खा है। शंकर को गुसाईंजी ने राम के बराबरी का स्थान दिया है, पर जहाँ राम की परमेश्वरता बतलाई है, वहाँ उनसे भी रामजी की स्तुति कराई है।

शंकर को विष्णु की बराबरी का स्थान देने के कारण कारपेंटर तुलसीदासजी की धार्मिक उदारता की प्रशंसा करते हुए कहते हैं "यद्यपि उन्होंने राम को सर्वश्रेष्ठ माना है तथापि अन्य धार्मिक विचारों को भी स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वे भी उन्हीं को पाने के मार्ग हैं। सब धार्मिक आकांक्षाओं और भक्ति को उन्होंने उदार दृष्टि से देखा है—शिव को अपने ग्रंथ में स्थान देने का कारण गुसाईंजी की उदारता है (न कि भक्ति)। उनके समस्त ईश्वरीय विचार तो विष्णु और राम में ही केंद्रित थे।" हम यह बात मानने के लिये तैयार नहीं हैं कि शंकर को उन्होंने केवल अपनी उदारता के कारण रामायण में स्थान दिया। गुसाईंजी की शिव-चरणों में पूरी भक्ति थी, यद्यपि वह—श्रद्धा राम-भक्ति-प्राप्ति की एक साधन-मात्र थी। असल में गुसाईंजी राम या शिव में कुछ भेद न मानते थे—वे एक शिव-राम-रूप के उपासक थे।

इसके बाद शिव की सर्वोच्चता बतलाते हुए आप कहते हैं कि—'It is ultimately Shiva who directs things aright and that all the Gods, even the incarnate Vishnu are liable to trouble if he withdraws his support care." अर्थात् "अंत में सब वस्तुओं के संचालक शिव ही हैं और सब देवता—यहाँ तक कि विष्णु के अवतार राम भी उनकी ख़बरदारी छोड़ देने से आपत्ति में पड़ सकते हैं।" इसके उदाहरण में आप शिव के समाधिस्थ हो जाने पर सीता-हरण की घटना उपस्थित करते हैं। पादरी साहब ने त्रिमूर्त्ति का असली अर्थ नहीं समझ पाया है, इसीलिये ऐसे विचारों की गड़बड़ी पड़ती है—असल बात यह है कि जब राम को नर-रूप मानकर उनसे नर-लीला कराई गई है, गुसाईंजी ने उनसे शिव की आराधना कराई है। रामजी का वन-यात्रा को चलते समय शिव का स्मरण करना और अन्य समय कई बार उनका पूजन करना इसी भावना का फल है; किंतु जब राम को परब्रह्म-रूप से वर्णन किया है, तब शिव को उनका सेवक कहा गया है।

अन्य देवताओं के विषय में तुलसीदास के

राम

का दिग्दर्शन कराके पादरी साहब के विषय में उनकी सम्मति विस्तार उत्तमता-पूर्वक बतलाते हैं। आप ऐसा समझते हैं कि परमात्मा राम का सात प्रकार से गुसाईंजी ने वर्णन कि

(१) राम सर्वोच्च और विष्णु हैं।

(२) वे त्रिमूर्त्ति और अन्य देवों से श्रेष्ठ हैं।

(३) राम की इच्छा ही प्रबल भाग्य है।

(४) राम का चरित्र क्षमाशील, दयालु और भ गतवत्सल है।

(५) राम मायाधीश हैं।

(६) राम-नाम की महिमा अनंत है।

(७) राम पुरुष हैं और प्रकृति को नचानेवा

(सांख्य-शास्त्र के अनु

एक जगह आप यह विचित्र तर्क लगाते हैं कि Rama is supreme he is necessarily Vi अर्थात्—राम सर्वश्रेष्ठ हैं, इसलिये वे अवश्य ही हैं। किंतु तुलसी ने राम को विष्णु से भी उच्च मा

राम-नाम की गुसाईंजी ने अमित महिमा और वह है भी ऐसी ही। पर पादरी साहब को ("gross exaggeration") बहुत भारी अति दिखती है। नाम पर गुसाईंजी की बड़ी श्रद्धा थी, राम-नाम में श्रद्धा है, उनके लिये इस पवित्र ना ही गुण हैं, जो तुलसीदास ने बतलाए हैं।

अवतारों के विषय में आपकी राय है कि वे केवल

अवतार

कालीन हैं और उनका परब्रह्म की पर कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ता इसके विरुद्ध गुसाईंजी ने रामावतार को नित्य उपासना की है।

रामावतार के कारणों की चर्चा करते हुए आप कहते सब कारणों में से केवल एक कारण ने लोगों के दिल पर डाला है और वह है "देवों को रावण की क़ैद से छुड़ाना पृथिवी, गोब्राह्मण, ऋषि और संतों की रक्षा करना भी म हत्त्व-पूर्ण कारण नहीं है। फिर आप रामायण से चौपा उद्धृत करके सिद्ध करते हैं कि अवतार के तीन मुख्य का

(१) रावण को शाप से छुड़ाना।

(२) रावण से देवों की रक्षा करना।

(३) मनु-शतरूपा के वरदान को पूर्ण करना।

गुसाईंजी ने अधर्म-नाश को जो इतनी प्रधानता दी है, उसके कारणों में से गुसाईंजी के समय में भारत में ईसाई-धर्म का वर्तमान रहना भी आप एक कारण समझते हैं।

उस समय भारत में क्रिश्चियन-धर्म वर्तमान था। इसलिये उनका अवतारवाद ख़ीष्ट-धर्म में प्रचलित अवतारवाद का रूपांतर हो सकता है।

अगर कल्पना ही करना है, तो फिर चाहे जो कुछ "हो सकता है।" परंतु कोरी कल्पना को छोड़कर तथ्य बातों से काम लेना चाहिए। शायद पादरी साहब को यह ख़याल ही नहीं है कि जब ईसाई-धर्म का जन्म भी न था, तब भारत में हिंदू-धर्म के अवतारवाद का प्रचार हो चुका था।

आगे आप फ़रमाते हैं कि "असल में विष्णु समय समय पर थोड़े-थोड़े अंशों में अवतार लेते हैं, ऐसा (Goldstucker) साहब ने कहा है, परंतु तुलसीदास की समझ में राम में विष्णु का पूर्ण अंश है।" कारपेंटर साहब को हिंदू-धर्म का पूर्ण ज्ञान नहीं है इसीलिये वे ऐसी बेसिर-पैर की बातें कहा करते हैं।

आप रामावतार के विषय में अपनी राय देते हैं "While dwelling at great length on those human qualities, which make Rama an attractive man, the poet does not hesitate to call his humanity a deception when its expression seems derogatory to the character of the supreme" अर्थात् "राम के उन मनुष्योचित गुणों को—जो कि उन्हें एक चित्ताकर्षक मनुष्य बना देते हैं—विस्तार-पूर्वक वर्णन करने पर भी जिस समय कि उनका मनुष्य-चरित्र उनके ईश्वरत्व के विरुद्ध जान पड़ता है, तुलसीदास उनके मनुष्य-रूप को माया-निर्मित कहने तक में नहीं हिचकते।"

तुलसी ने श्रीराम को साक्षात् ईश्वर मानकर भी उनसे मनुष्योचित काम कराये हैं और उसे उनकी "लीला" कहा है—उनके ईश्वरत्व के कारण उनके आदर्श मनुष्य-चरित्र में कहीं भी फ़र्क़ नहीं आने दिया है। राम के चरित्र में ईश्वरत्व और मनुष्य-चरित्र का जो अद्भुत मिश्रण किया गया है, उसी के कारण साहब को यह भ्रम उत्पन्न हुआ। पर इसको पादरी साहब (a means of covering up inconsistencies) "पूर्वापर-विरोध को ढाँकने का साधन।" मात्र समझते हैं।

साहब बहादुर समझते हैं कि "रामानुजाचार्य के मत से

रामानुज और तुलसी

तुलसीदासजी दूर चले गए हैं। रामानुज के मत से परब्रह्म के दो स्वरूप हैं—एक निर्गुण और एक सगुण विश्वरूप। किंतु तुलसीदास अनवतरित ब्रह्म को निर्गुण और अवतार को सगुण मानते हैं। साहब का यह निर्णय बहुत कुछ ठीक है।

राजेंद्रसिंह



टोड़ी

जिस ठाट से टोड़ी रागिनी की उत्पत्ति है, ग्रंथों में उस ठाट का नाम नटवरालीमेल लिखा है और आजकल यह ठाट टोड़ी रागिनी के नाम से प्रसिद्ध है। इस ठाट का पहला राग टोड़ी है, जिसका हम नीचे वर्णन करेंगे। आजतक टोड़ी की बहुत-सी क़िस्में प्रचलित हैं, परंतु ग्रंथों में इनका कहीं उल्लेख नहीं है। यह सब मुसलमानों ने निकाली है।

टोड़ी नटवरालीमेल का संपूर्ण राग है। इसमें रिषभ, गंधार और धैवत, ये तीन स्वर कोमल, मध्यम, तीव्र व निषाद शुद्ध लगता है। धैवत इसमें वादी है। अवरोही में रिषभ दुर्बल है व पंचम भी कमी के साथ लगाया जाता है। इस राग में किसी किसी संगीत-पंडितों ने गंधार को वादी माना है, परंतु इसके गाने का समय द्वितीय पहर दिन होने से धैवत ही वादी करना उचित होगा, व गंधार को संवादी। द्वितीय पहर के रागों में तीव्र मध्यम का उद्योग शास्त्रोक्त उचित नहीं, परंतु इस राग में तीव्र मध्यम का प्रयोग न-जाने कब से चला आता है। आजकल टोड़ी के अतिरिक्त गौड़ सारंग व हिंडोल में भी तीव्र मध्यम का रिवाज है। परंतु ग्रंथकारों ने टोड़ी में शुद्ध मध्यम का प्रयोग किया है, तीव्र का नहीं। प्रचलित टोड़ियों में जो आजकल गाई जाती हैं, गायक किसी-किसी में शुद्ध मध्यम भी लगाते हैं। इस राग की चाल गंभीर है, इसलिये इसे विलंबित लय में गाते हैं व सुननेवाले को आनंद प्राप्त होता है। कहते हैं, इस रागिनी के आलाप से व मृगया भी विवश हो अखेड़ी के जाल में फँस जाते


टोड़ी रागिनी का चित्र

मुलतानी में भी यही सब स्वर लगते हैं, पर उसमें रिषभ कम और पंचम अधिक लगता है। टोड़ी के प्रधान स्वर र, ग, ध हैं और मुलतानी के ग, म, प, न टोड़ी की ख़ास तान है—धनस, र ग, रे, स। म, ग, र, ग, र, स। और मुलतानी की,—। न स, ग म, पमग, र स—

मुलतानी में, आरोह में रिषभ और धैवत नहीं लगते और अवरोह में भी रिषभ पर ठहराव कम है; किंतु टोड़ी के आरोह-अवरोह में किसी स्वर का कोई नियम नहीं है। इन्हीं भेदों से टोड़ी और मुलतानी में भिन्नता है।

आरोह-अवरोह का रूप—

स, र ग, मंप, ध, नसं।

सं न ध प, मं ग, र स।

टोड़ी एकताल (विलंबित)

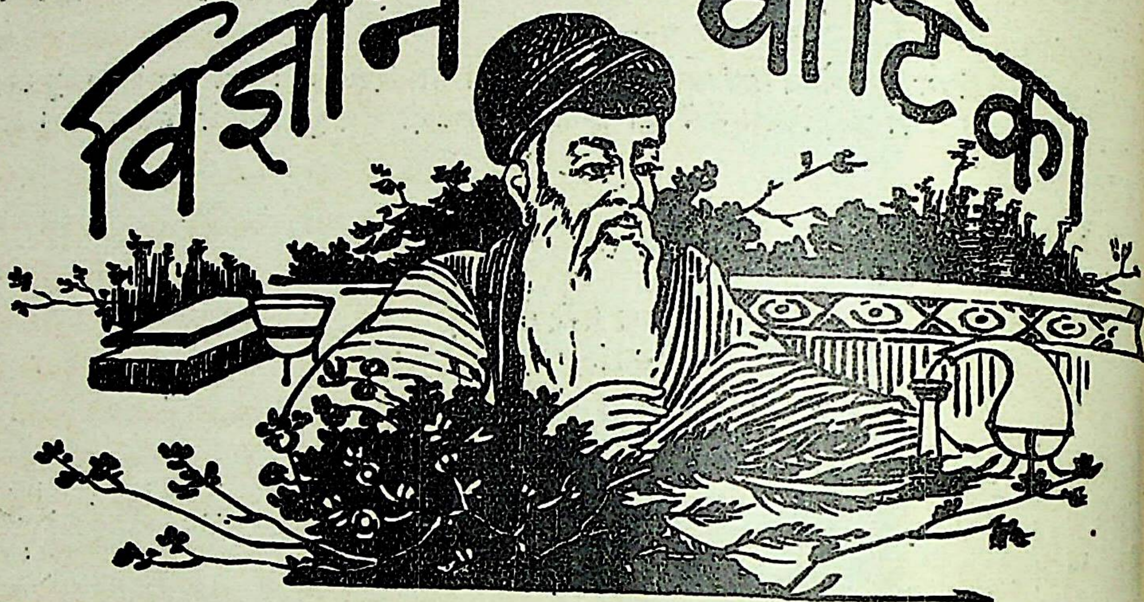
स्थायी

३	४		×		०		२		०	
—	म प	मंप	पध	ध म	ग	—	ग र	ग	र	स	नस
s	ला	ss	लम	ना	s	s	s	s	व	न	ss
स नस	नसर	न	ध	न स	सर	ग	ग	ध मग	पम	ध	ध
मैंs	ssच	ली	s	स	मुs	झ	त	नाs	हाँs	s	मा
सं न	—	सं	रं	सं न	—	ध	—	ध धनसंरं	गं	रं	न
का	s	हू	की	बा	s	s	s	sssss	s	त	s
ध	प										
s	ला										

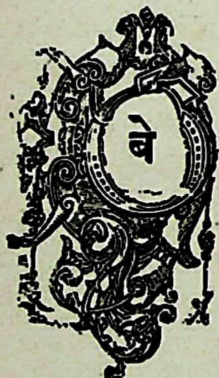
अंतरा

३	४		×		०		२		०	
प म	ग	—	ध मंध	स	नसं	सं	सं	रं	—	सं	संरं
हूँ	s	s	तोरे	का	ss	र	न	व्या	s	कु	लs
गं	रं	सं	नसं	सं नसं	नसंरं	रं न	ध	मंप	मंपध	मं	ग
s	भ	ई	ss	प्याs	sss	रे	s	तूs	sss	उ	ठ
मं पम	धन	—	ध	सं नसं	नसंरं	सं न	ध	ध धनसं रं	गं	रं	न
चल	मारे	—	s	ss	sss	सा	s	sssss	s	थ	—
ध	म प										
s,	ला										

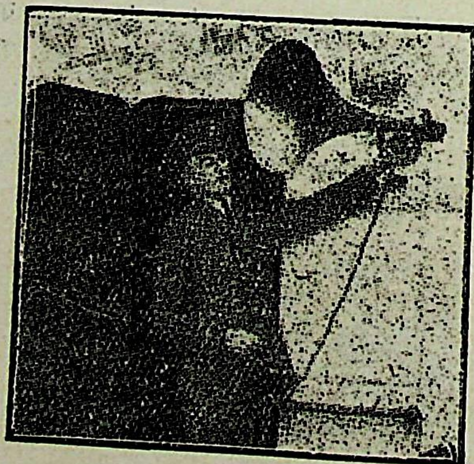
राजाराम भार्गव



१. हाइड का दान



तार बिजली का प्रापक एक दिन शाम को घंटी देकर आवाज़ देने लगा। घंटी सुनकर घर के मालिक सर चार्ल्स हाइड अपने तार के कमरे में आ गए। तार ने ज़ोर से आवाज़ देकर कहा, सुनिए। डॉक्टर सरबर्कले मोइनहैन साहब लीड-नगर में स्वास्थ्य-रक्षा के विषय पर उपदेश देंगे। सर हाइड ने, यह शब्द अपने बरमिंघम-नगर के घर में सुने और उसी समय लेक्चर सुनने बैठ गए। उन्होंने मन-ही-मन बेतारवाले टेलीफ़ोन की



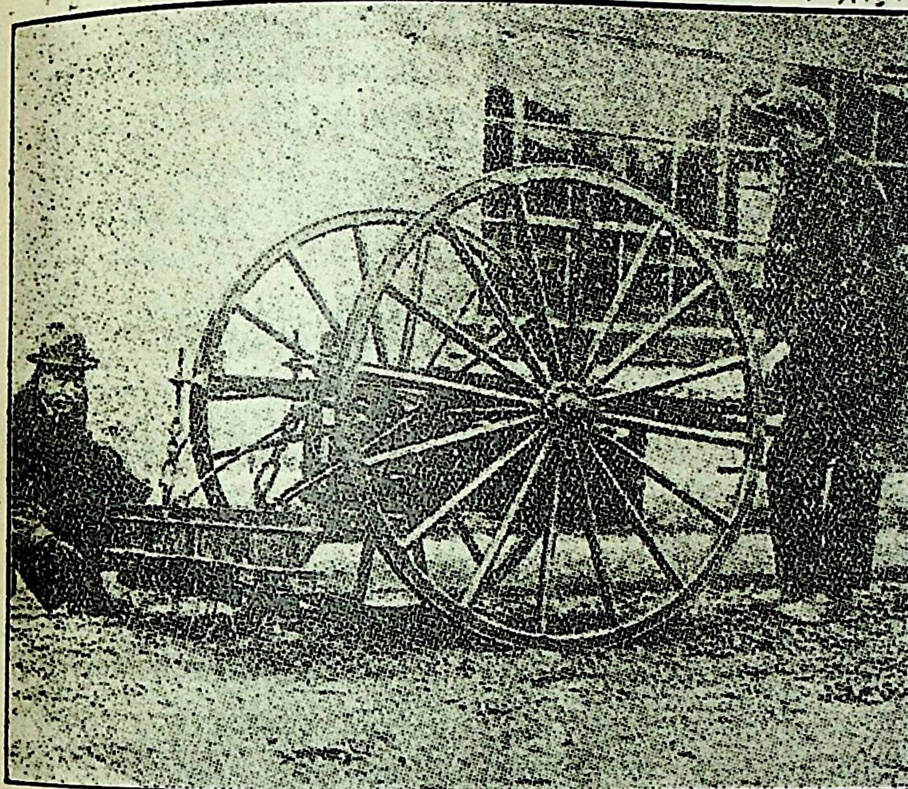
रेडियो प्रापक द्वारा लेक्चर सुना जाता है

प्रशंसा की और बोले, धन्य है यह रेडियो वाल... जिसकी बदौलत बरमिंघम में बैठकर मैं लीड्स में ... हुआ उपदेश सुन सकता हूँ। इतने में डॉक्टर ... उपदेश सुनाई देने लगा। डॉक्टर साहब ने ... वैज्ञानिक दवाइयों का हाल सुनाया और बताया कि ... ऐंटीसेपटिक दवाइयों द्वारा हज़ारों मरीज़ों के घाव ... होते हैं और नई डॉक्टरी की चीर-फाड़ द्वारा ... निराश लोग अच्छे हो रहे हैं। इन वृत्तांतों के सुनने ... प्रभाव सर हाइड पर इतना अधिक हुआ कि ... तुरंत तार देकर लोड-निवासी डॉक्टर मोइनहैन ... सूचना दी कि उन्होंने इस पुण्य-कार्य की सहायता ... के निमित्त पाँच मरीज़ों के भोजन, वस्त्र, खाने और ... इयों का पूरा व्यय अपने ज़िम्मे लिया है, और इस ... के लिये रुपया अपनी रियासत से देना मंज़ूर किया ... इस दान से ग़रीबों का बड़ा उपकार होगा।

× × ×

२. सड़कों से कील उठाने की गाड़ी

जब से तारकोल की सड़कें बनी हैं, राह चलने ... कों, विशेषतः मोटर और बाइसिकिलवालों का ... उपकार हुआ है। परंतु इस प्रसन्नता को प्रकट करते ... हमें उस कष्ट का भी वर्णन करना है, जो इन्हीं सड़कों ... कारण उत्पन्न हुआ है। कौन नहीं जानता कि इन ... पर कील-काँटे अधिक होते हैं और बाइसिकिलों ...



सड़कों से कील उठाने की गाड़ी

हवा निकल गई। बेचारे उतर पड़े। देखा तो टायर में एक कील घुसी है। अब क्या करें? आलमनगर स्टेशन आख़िरकार न पहुँच सके। रेल न मिली, दफ़्तर का हर्ज हुआ, पाँच रुपए ख़र्च करके ज़ुर्माने से बचे। ऐसी घटनाएँ रोज़ होती हैं। परंतु साइकिलवालों की तकलीफ़ को कौन समझता है। मोटरवाले बेपरवाह हैं, क्या शहर के विधाता (City fathers) इस ओर ध्यान देंगे और सड़क पर से कीलें हटवा देंगे। अमेरिका में भी यही कील-बेधी टायर-क्रिया की शिकायत थी, परंतु उन्होंने तो अपना प्रबंध कर लिया है।

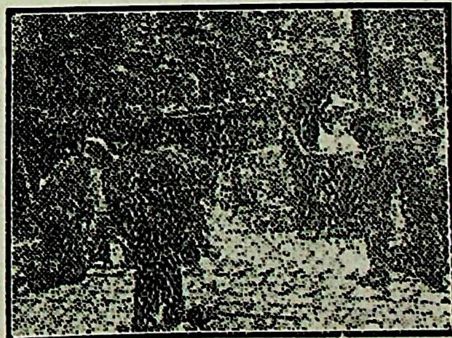
नित्य ही पंक्चर होते हैं। एक महाशय की साइकिल में एक दिन में दस बार पंक्चर हुए और हर बार जूतेवाली कील लखनऊ स्टेशन की सड़क पर ही प्रायः घुँकी। उस सड़क के बनानेवाले स्वयं कहते हैं कि इन सड़कों पर कील द्वारा पंक्चर बहुत होता है। हमने तारकोल की सड़कें, तो बना लीं; उनके चिकने, साफ़, गुदगुदे मज़े को तो देख लिया; परंतु उसकी गरमी और कीलों की कसरत का कुछ भी प्रबंध नहीं किया है। गुलाब के फूल के साथ काँटा भी है। गुलाब लेकर काँटा तोड़ फेंकना आवश्यक है। इसलिये ज़रूरत है कि सड़क पर की कीलें चुनवाकर फेंकवाई जायँ। हम उन म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों से प्रार्थना करते हैं, जिन्होंने तारकोल की सड़कें बनाई हैं कि वह तार की कीलों को नित्य हटवा दिया करें, क्योंकि ऐसा न करने से नंगे पाँव चलनेवाले मज़दूर और स्त्रियों के पैर घायल होते हैं और मोटर और बाइसिकिलवालों का हाल बुरा होता है। मेरे एक मित्र रात को दावत में गए। भोजन करके एक बजे रात को घर चले, गणेशगंज के चौराहे पर आते ही साइकिल की

वहाँ एक गाड़ी ऐसी बनी है, जो स्वयं चुम्बक-शक्ति द्वारा सारी कीलें और लोहे के टुकड़े इत्यादि उठा लेती है।

× × ×

३. रबड़ की सड़क

लंदन में रबड़ की सड़कों के बनने का रिवाज बढ़ने लगा है। अब कंकड़ के स्थान पर रबड़ की ईंटें तारकोल



रबड़ की सड़क

से जोड़ी जाती हैं। यह सड़क चिकनी और साफ़ होती है और पानी पड़ने से बिछलती नहीं, क्योंकि उसमें

ऊँची-नीची लहरें बनी होती हैं। ऊपर के चित्र में यह सड़क बनती दिखाई देती है।

× × ×

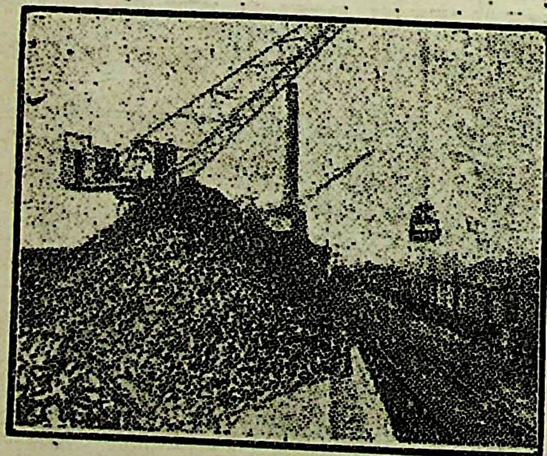
४. पृथ्वी नक्षत्र है

साधारण मनुष्यों को यह दिखाने के लिये कि पृथ्वी नक्षत्र है और गोले की तरह आकाश के शून्य में खड़ी है। फ्रांस की जहाज़ी कंपनी ने एक बड़ा भारी पृथ्वी का गोलाकार पिंड बनाया है, जिस पर भूमि का रंग पीला और पानी का रंग नीला रँगा है। इस गोले का मध्य अक्ष २० फ़ीट का है, जो एक ज़ंजीर में बाँधकर एक क्रेन पर लटका दिया गया है और शीशों के द्वारा देखने से यह बहुत बड़ा गोला दिखता है, जिसके देखने से पृथ्वी आसमान में लटकी और घूमती नज़र आती है। सूर्य-प्रकाश का कार्य, बिजली के प्रकाश से लिया जाता है। इस गोले को प्रकाशित करने में २५,००० बत्तियों की शक्ति व्यय होती है।

× × ×

५. चुकंदर की शकर

दुनिया में शकर सबसे पहले भारतवर्ष में बनी थी। सिकंदर जब हिंदोस्तान आया था, तो उसने पौंडे को देखकर उसका नाम शकर का दरख़्त रखा था। गन्ने की शकर इस देश से दूसरे देशों में हज़ारों वर्ष तक जाती थी; परंतु जर्मनी के बादशाह का हुक्म हुआ कि शकर जर्मनी में बनना चाहिए। ईख बोई गई, परंतु ईख



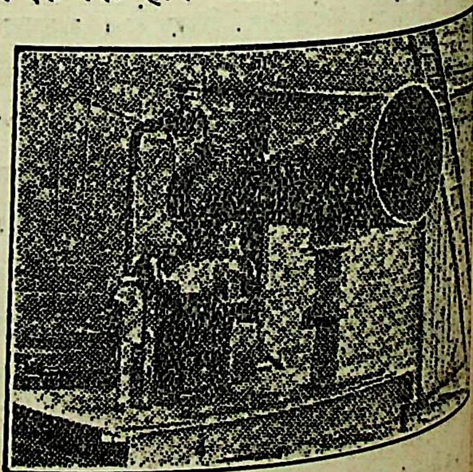
स्टेशन पर चुकंदर

उस देश में काम लायक़ न पैदा हुई। तब आज्ञा हुई कि किसी दूसरी वस्तु से शकर बनाई जाय। जर्मन रसायनज्ञों ने चुकंदर से शकर बनाई। अब इँगलैंड इत्यादि सब स्थानों में चुकंदर से शकर बनती है। ...रिका देश के आरेगन रियासत ने एक करोड़ ... करके अपनी रियासत में चुकंदर लगवाए और ... के निरंतर परिश्रम के बाद रियासत के कृषि-विभाग ने प्रकाशित किया कि अब चुकंदर में २५ प्रति... शकर निकल सकती है, और साथ ही चुकंदर से ... बनाने का काम जारी किया। आज लाखों मन ... शकर बनाने के काम आती है। ऊपर के चित्र में कारख़ाने में चुकंदर का ढेर लगा है, जो रेल से ... चुकंदर की शकर ईख की शकर से सस्ती होती है। हम पूछ सकते हैं कि हमारे कृषि-विभाग ने ... शकर बनाने का क्या प्रबंध किया है?

× × ×

६. नई सीटी जिसकी आवाज़ ४० मील तक जाती

कलकत्ता बंबई का तो कहना ही क्या है, यहाँ ... के लोग भी गाड़ी की घंटी या हार्न की आवाज़ ... सुनते। कोई तो सुनकर भी रास्ता से नहीं हटते ... कोई बहरे होते हैं, कोई शरारत से नहीं हटते ... कई सचमुच सीटी या घंटी की आवाज़ नहीं ... यह लोग अपने ख़याल में ऐसे मस्त और ... निमग्न होते हैं कि उन्हें मोटर की सीटी भी सुनाई ... देती, जिसका परिणाम यह होता है कि लोग ... चोट खाते हैं और गाड़ी पर चलनेवालों को ... होती है। बाइसिकिल की घंटी का तो कोई ... नहीं करता, ताँगावालों की हटो-बचो भी ... जाती है। मोटर का हार्न भी काफ़ी नहीं है। ... अब एक नया हार्न बनाया गया है। यह हार्न ...



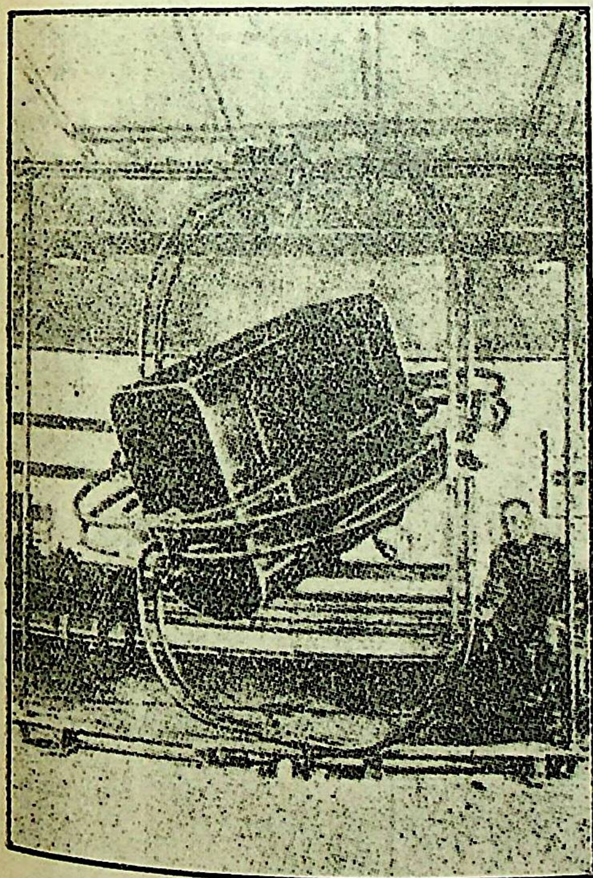
नई सीटी

ज़ोर से बजता है कि समुद्र में तो ४० मील दूरी पर सुनाई देता है। इस सीटी का शब्द इतना ज़ोरदार होता है कि बिना सुने आदमी का गुज़र नहीं है।

× × ×

७. हवाई परीक्षा संदूक़

हवाई जहाज़ के मिस्त्री और चलानेवालों की कई कठोर परीक्षाएँ होती हैं। उनमें से एक यह है कि चित्र में जो संदूक़ दीखता है, उसी में हवाई विद्यार्थी को बिठाकर ख़ूब घुमाते हैं, ताकि पता लगे कि उलटा पलटा हर कोण पर घूमने, या कलाबाज़ी खाने से हवाईबाज़ को चक्कर या सरदर्द तो पैदा नहीं हो जाता।



हवाई परीक्षा संदूक़

× × ×

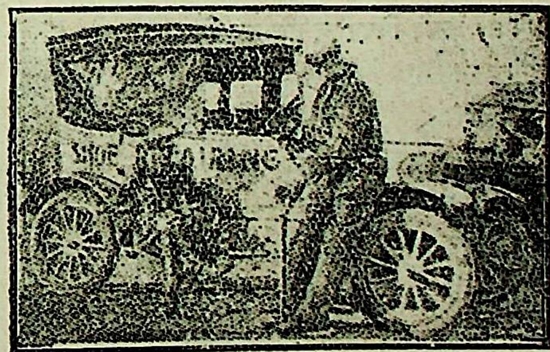
८. बालों के भार से जाति का पता

शिकागो यूनिवर्सिटी ने परीक्षण द्वारा पता लगाया है कि किसी आदमी के बाल की तौल से ही उसकी जाति का पता लग सकता है। जैसे चीनी, जापानी, योरपियन और अफ़रीकन इत्यादि जाति का भेद बालों के वज़न से ज्ञात हो सकता है। यदि १० बाल चीनी व मंगोलिया-निवासी के लेकर और १० बाल कोहेकाफ़ काकेशश के लिये जायँ और १० बाल हबशी के लिये जायँ, तो मंगोलियन जाति के बाल सबसे भारी होंगे, गौर जाति के बाल उससे हलके और हबशी जाति के सबसे हलके होंगे। जाँच से यह भी पता लगा कि गोरी स्त्रियों के बाल ४ साल में २५ से ३० इंच तक बढ़ते हैं और गोरे मर्दों के बाल इतने ही दिनों में केवल १२ से १६ इंच तक। यह भी मालूम हुआ है कि स्त्रियों के बाल पुरुषों के बालों से हलके होते हैं।

× × ×

९. अमेरिका के चमार, जूता टाँकने की दूकान

वीपा कालोरैडो के मैदानों में निवादा के दो बालकों ने सोने की खान का पता लगाया है, वहाँ पहाड़ी ज़बरदस्त मैदान है, सोने का नाम सुनते ही रात भर में मैदान आबाद हो गए। यहाँ सोना कमानेवाले अमीर एकत्र हैं। यहाँ सात रुपए का एक डोल पानी बिकता है और ढाई रुपये के दो अंडे, और एक टुकड़ा सुअर का गोश्त बिकता है। यहाँ रुपए की इतनी बहुतायत है कि जूता



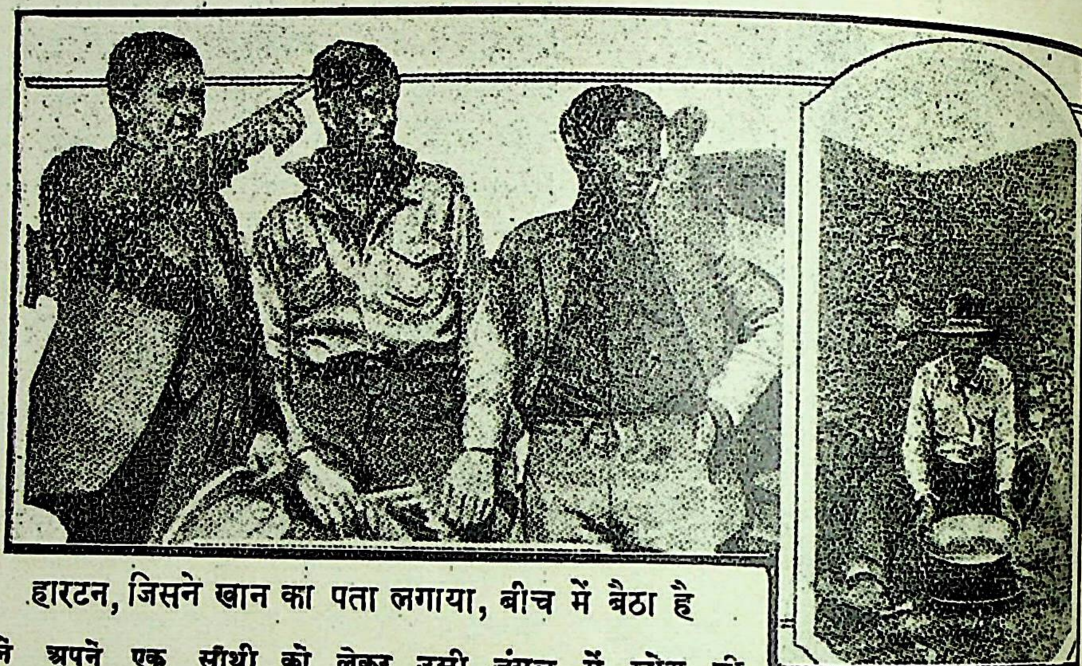
अमेरिका में जूता गाँठने की दूकान मोटर पर

गाँठने अथवा जूता साफ़ करनेवाले भी मोटर पर बैठकर जूता ठीक करने का कार्य करते हैं। ऊपर के चित्र में एक जूता गाँठनेवाले की दूकान जो मोटर पर है दिखाई गई है। धन्य है वह देश, जहाँ के चमार मोटर पर चलते हैं! इसके विरुद्ध इस देश के चमारों का हाल सोचिए जिनको छूना ही पाप है!

× × ×

१०. नई सोने की खान

हारटन का बाप सोना खोजते-खोजते थक गया था और निराश होकर घर लौट गया था। तब उसके



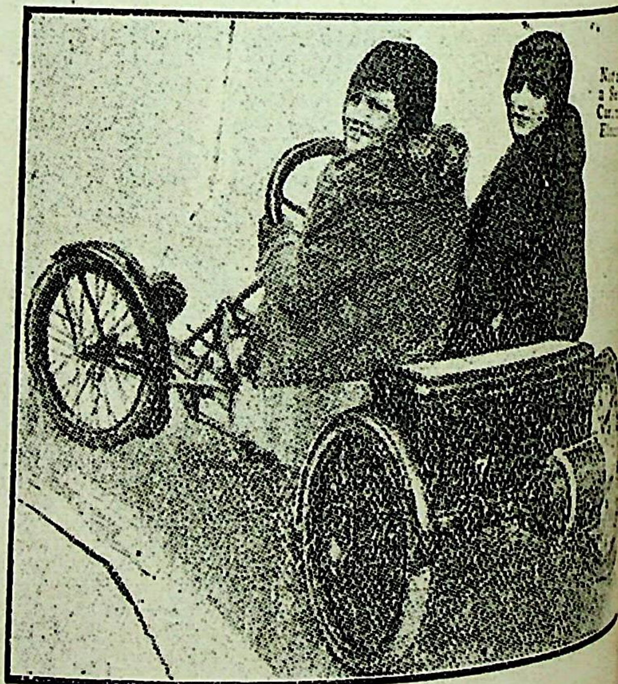
हारटन, जिसने खान का पता लगाया, बीच में बैठा है

लड़के ने अपने एक सींथी को लेकर उसी जंगल में खोज की और जहाँ बाप ने खनती लगाई थी, उससे कुछ दूर खनती लगाकर ४०,००० रुपए का सोना पहली बार में पा लिया। फ़ारसी का मसला है; अगर पिदर न तवानद पिसर तमाम कुनद।

× × ×

११. घर बराऊ मोटर

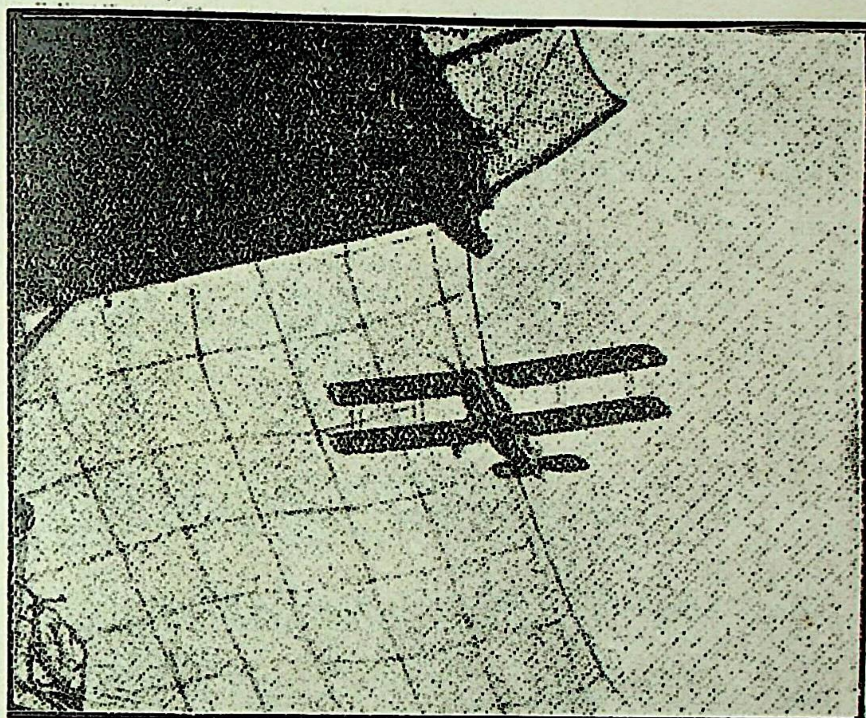
"माधुरी" के पाठकों को हम पहले ही बता चुके हैं कि अमेरिका में बच्चे और बीमारों के लिये एक सवारीवाली छोटी मोटरें बन चुकी हैं, अब दूसरी और भी छोटी-सी मोटरगाड़ी दो सवारी लायक़ बनी है। इस गाड़ी में इंजिन और पेट्रोल की आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह गाड़ी बिजली की संचित स्टोरेज बैटरी से चलती है। यह गाड़ी १० से १२ मील फ़ी घंटा चल सकती है। इसका कुल वज़न १७२ सेर है और ६ वोल्ट की ताक़त की दो स्टोरेज बैटरी के लगाने से एक बार चार्ज करने से ३० मील तक जा सकती है, और १६ वोल्ट की बैटरी लगाने से अधिक तेज़ी से जा सकती है। हलकी होने के कारण वह मामूली सड़कों पर भी चल सकती है और थोड़ी दूर जाने के लिये जहाँ बड़ी मोटरकार की ज़रूरत नहीं होती, यह गाड़ी अच्छी है। सेल, तमाशे,



विना पेट्रोल के चलनेवाली मोटर

मामूली काम इससे अच्छा निकलता है। इसमें रोशनी का भी प्रबंध है, और सुगमता से चालू होती है। बैटरी के संदूक़ पर तीसरा आदमी भी बैठ सकता है।

× ×



नया जंगी जहाज़

१२. लांगले नामी अमेरिकन जहाज़

अमेरिका के जंगी जहाज़ों की नक़ली लड़ाई में एक नया जहाज़ पैसफ़िक समुद्र में दिखाया गया है। इसका नाम लांगले है। इस जहाज़ पर कई एक वायुयान लादे गए हैं, जो समुद्र में जहाज़ पर से इच्छानुसार छोड़े जाते हैं और कबूतर की भाँति लौटकर उसी जहाज़ पर फिर आ जाते हैं। यह जहाज़ समुद्र में वायुयानों का घर है और समुद्र की लड़ाई में इससे पहरा देने, या बम मारने का काम लिया जाता है।

इस जहाज़ की निचली छत पर तार का जाल लगा रहता है, जिसमें कोई वायुयान ऊपर की छत छोड़कर नीचे न आ सके। यदि नीचे की ओर भूल से वायुयान चला जाय तो जाल में फँसेगा, जैसा कि नीचे के चित्र में दिखाया गया है।

× × ×

१३. रेडियो टेलीफ़ोन

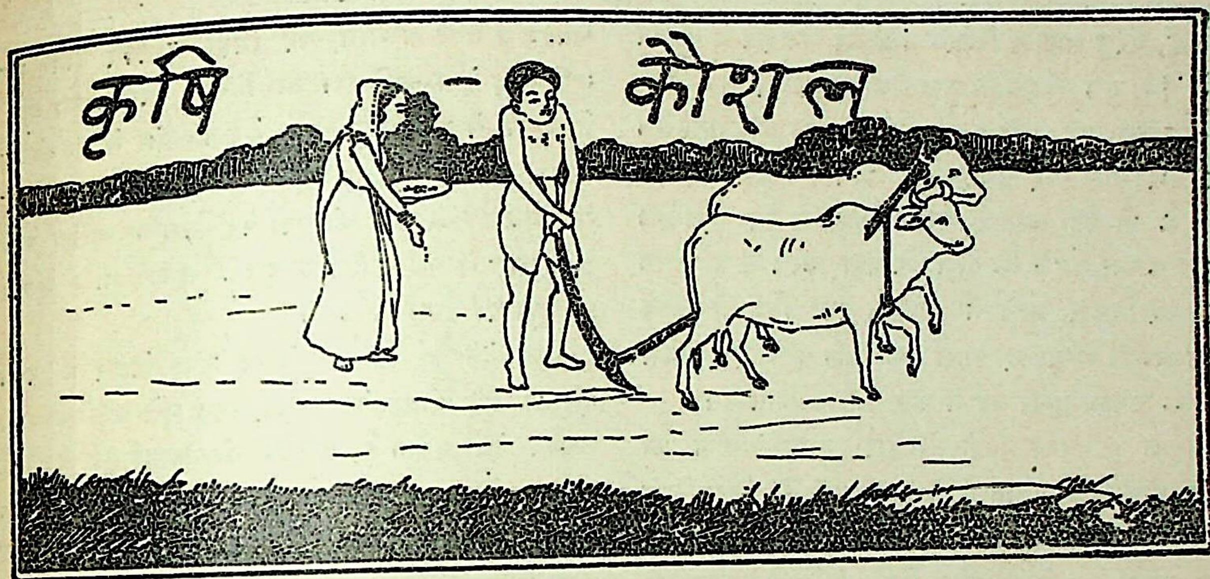
तार-रहित बिजली के द्वारा अब यहाँ तक मुमकिन है कि समुद्र के एक किनारे लंदन से आदमी बोलकर समुद्र के दूसरे किनारे न्यूयार्क तक अपनी आवाज़ पहुँचा सकता है। कैसा आश्चर्य है कि दुनिया के एक ओर से दूसरी ओर तक मनुष्य की आवाज़ पहुँच सकती है और साइंस द्वारा कैसे अद्भुत आविष्कार हो रहे हैं। जनवरी महीने में एक मास तक हर शख़्स को अपने घर बैठे टेलीफ़ोन द्वारा अमेरिका से न्यूयार्क तक बोलने की इजाज़त मिल गई थी।

७ जनवरी १९२७ ई० संसार-विज्ञान के विजय का विशेष दिन है। उस रोज़ पहले पहल लंदन और न्यूयार्क के बीच में बेतार का हवाई टेलीफ़ोन क़ायम किया गया और योरप में बैठकर 'पाताल-लोक' अमेरिका से बैठे-बैठे लोगों ने इसी तरह बात की, जैसे लोग लखनऊ से बैठे-बैठे इलाहाबाद से बातें कर लेते हैं। उस दिन ६,००,००,००० डालर का सौदा बात की बात में विना लिखा-पढ़ी के, विना नाहक़ देरी के, भूल-चूक-रहित हो गया और दुनिया में रेडियो की विजय-पताका ऊँची हो गई।

उस तारीख़ में पहले पहल ८½ बजे दिन को अमेरिकन टेलीफ़ोन कंपनी के प्रेसीडेंट मिस्टर क्लिफ़र्ड ब्रिटिश डाकख़ाने के सेक्रेटरी मिस्टर मरे से पहले पहल ७,३०० मील आसमान की दूरी और ८५० मील ज़मीन पर लगे तारों पर चलकर दो मिनट के अंदर टेलीफ़ोन से बातचीत कर ली और दुनिया को अचंभे में डाल दिया। बोलने का आसमानी अदृश्य पुल, शब्दों के चलने के लिये स्थापित हो गया। और २२५ रुपए फ़ीस देकर जिसका जी चाहे ३ मिनट तक दुनिया के एक सिरे पर बैठकर दूसरे सिरे से बात कर ले। इसके अतिरिक्त ७५ रुपया फ़ी मिनट अधिक देने से जिससे चाहे बात कर ले। उस दिन से हर रोज़ यह बोलनेवाला पुल ८½ बजे से १½ बजे तक खुला रहता है, और जिसका जी चाहे अपने घर बैठे पाताल-लोक से बातचीत कर ले। यह बातचीत केवल आधे दिन हो सकती है, क्योंकि

शब्द आकाश-मार्ग में उस समय ठीक गति नहीं करता जब एक ओर घोर अंधकार हो। मसलन पाताल-लोक में २ बजे रात को अंधकार अधिक होता है और लंदन में प्रकाश २ बजे दिन को अधिक होता है, इस कारण अधिक अंधकार का पर्दा मनुष्य की बोली को आकाश-मार्ग में नहीं ले जाता। इसी से १ बजे का पुल बंद कर दिया जाता है।

महेशचरण



१. परवल की काश्त



नुष्यों के भोजन के लिये शाक-भाजी की कितनी आवश्यकता है इसका लिखना यहाँ पर वृथा है, क्योंकि वर्तमान समय में सब कोई जानते हैं कि हरी तरकारी या शाक के उपयोग से मनुष्यों का स्वास्थ्य उत्तम रहता है, भोजन स्वादिष्ट होता है और पच भी जाता है। उस दयालु परमेश्वर ने शाक-भोजियों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के पृथक्-पृथक् गुणवाले शाक बनाये हैं। प्राचीनकाल में जब कि देशांतर करने का सुभीता नहीं था, मनुष्यों को अपने-अपने देश के शाकों से ही संतुष्ट रहना पड़ता था, परंतु वर्तमान समय में तो कई प्रकार के शाक एक देश तथा प्रांत से दूसरे देश तथा प्रांत में शीघ्रता से पहुँचा दिए जाते हैं और वहाँ पैदा भी किए जा सकते हैं।

आलू, कोभी (Cauli-flower), करमकल्ला (Cabbage), गाँठगोभी (Knol-khol), सलग़म (Turnips), टमाटा (Tomatoes), वलायती मटर (Vegetable Peas) इत्यादि नए-नए शाकों का प्रचार तो क़रीब-क़रीब सभी प्रांतों में है और पैदा भी किए जाते हैं, परंतु परवल की काश्त पश्चिमीय बंगाल, विहार तथा यू० पी० के कुछ हिस्सों में होती है। वैसे थोड़ी बहुत काश्त अन्य किसी प्रांत में भी होती होगी, परंतु बहुत ही कम। परवल के शाक के गुणों की ओर ध्यान दिया जाय तो इसका प्रत्येक प्रांत में होना अत्यंत ही आवश्यक है।

परवल के फल के शाक में कई उत्तम गुण हैं। यह पाचक, हृदय को लाभदायक, वीर्यवर्धक, हलका, अग्नि-दीपन करनेवाला, चिकना और गर्म है। खाँसी, ख़ून-विकार और बुख़ार का नाश करता है। पत्ते और कोमल डंडियों की तरकारी भी बनती है; पत्ते पित्त-नाशक, डंडी कफ-नाशक, और फल त्रिदोष-नाशक हैं। पत्तों का शाक बुख़ार में विशेष लाभदायक है। पत्ते और धनिया के मिश्रण का काढ़ा बुख़ार में बहुत फ़ायदा करता है। जड़ बहुत तेज़ जुल्लाब का काम देती है और विशेषतः जलंधर के रोगियों के लिये बहुत लाभदायक है।

परवल की तरकारी कई प्रकार से बनाई जाती है, परंतु जो परवल खड़े चीरकर घी में भूने जाते हैं, तथा नमक और मसाले के साथ खाए जाते हैं, वे बहुत स्वादिष्ट होते हैं।

परवल के फल व बेल का आकार—परवल दो प्रकार के होते हैं। एक के फल ३ से ४ इंच लंबे, पतले और भूरे रंग के होते हैं। दूसरे के फल लंबाई में कुछ छोटे परंतु कुछ मोटे और हरे होते हैं। इनके ऊपर सफ़ेद लकीरें भी होती हैं। पकने पर परवल का रंग पीला या नारंगिया हो जाता है। परवल की बेल कुँदरू की बेल के समान होती है। लंबाई में १५-२० हाथ के क़रीब होती है। पत्ते इसके छोटे-छोटे पान के आकार के

होते हैं, परंतु साफ़ व चिकने न होकर रेशेदार व खुरदरे होते हैं। फूल कुँदरू के फूल जैसा ही सफ़ेद होता है।

यह बेल, जड़, डंडी अथवा बीज से पैदा की जाती है। नर और नारी पेड़ पृथक्-पृथक् होते हैं। बहुधा इसको डंडी से ही पैदा करते हैं, क्योंकि फल उत्तम होते हैं। दूसरा कारण यह है कि बीज से पैदा करने में यदि सब बेलें नर निकल जायँ तो परिश्रम वृथा होता है। एक साल लगाने से यह दो साल तक फल देता है। प्रथम वर्ष की अपेक्षा दूसरे वर्ष में फल अधिक आते हैं।

परवल के योग्य मिट्टी—विहार तथा बंगाल की Alluvial कछार मिट्टी में ये अच्छे होते हैं। जिस मिट्टी में ककड़ी, खरबूज़े आदि होते हैं, वहाँ भी परवल की बेल लग सकती है। बालू और मिट्टी के सम भागवाली (Loomy soil) ज़मीन इसके लिये उत्तम होगी।

ज़मीन की तैयारी—जिस प्रकार दूसरे शाकों के लिये खेत तैयार होते हैं, उसी प्रकार इसके लिये भी होना चाहिए अर्थात् यदि खेत साफ़ हो, तो दो वक़्त हल से जोतने के पश्चात् पठार (Planker) से ढेले तोड़ दिए जायँ, और इसके बाद दो एक जुताई और हो जाना काफ़ी है।

खाद—खेत की प्रथम जुताई के समय १०-१२ गाड़ी सड़े हुए गोबर की खाद प्रति एकड़ के हिसाब से डालना चाहिए, ताकि मिट्टी के साथ उसका संमिश्रण हो जाय। जब पौधे कुछ बड़े हो जायँ तो उस समय प्रति बेल के निकट एक सेर बकरी अथवा भेड़ी के गोबर की सड़ी हुई खाद देना चाहिए। घोड़े की लीद की सड़ी हुई खाद विशेष लाभदायक है।

खेतों में लगाने की रीति—परवल साल भर में दो वक़्त लगाए जाते हैं, पहला तो एक दो बारिश के बाद आषाढ़ में, और दूसरा कार्त्तिक में। यद्यपि आषाढ़ में लगाई हुई बेल ज़्यादा तंदुरुस्त होती है, तथापि मेरी सम्मति में कार्त्तिक में लगाना ही अच्छा है, क्योंकि ऐसी सूरत में वर्षा-ऋतु की एक फ़सल भी उसी खेत से ली जा सकती है। इसके लगाने की यह रीति है कि तीन-चार हाथ ऊपर की बेल लेकर उसको दो-तीन बार ऐसी मोड़ लेना चाहिए कि क़रीब एक फ़ुट रह जाय व दोनों तरफ़ बेल का एक-एक मुँह रह जाय। मोड़ी हुई बेल के गुच्छे को ज़मीन में क़रीब ४ इंच गहरा गाड़ देना चाहिए व बीच के भाग पर मिट्टी डालकर दोनों मुँ[ह] खुले छोड़ देना चाहिए। जो हिस्सा गाड़ दिया जा[ता] है, उसमें से जड़ और दोनों मुँह की ओर से नए कोंप[ल] निकल आते हैं। एक लकीर में एक गुच्छा, दूसरे गुच्छे से लगभग ५-६ फ़ीट की दूरी पर लगाना चाहिए और इसी तरह से एक लकीर से दूसरी लकीर भी ५-६ फ़ीट की दूरी पर होना चाहिए।

पानी देने की रीति—बंगाल तथा विहार में पानी देने की कोई आवश्यकता नहीं, परंतु सूखे प्रांतों में पानी अवश्य देना पड़ता है, कार्त्तिक की लगाई हुई बेलों में जब तक वे जड़ न पकड़ लें, तीसरे-चौथे दिन पानी देते रहना चाहिए। जम जाने के पश्चात् आवश्यकतानुसार पानी दे सकते हैं। बेलों के लग जाने पर हल से लकीरों के बीच में डेढ़ या दो फ़ीट चौड़ी नालियाँ पानी देने के लिये बनवा लेना चाहिए, आवश्यकतानुसार निराई भी हो जाना चाहिए।

फल इनमें चैत्र से लग़ायत आश्विन कार्त्तिक तक आते हैं, इसकी काश्त में सबसे अधिक लाभ यह है कि बाज़ार में जब हरी तरकारियों का अभाव रहता है, उस मौसम में यह फल देता है। पहली फ़सल के बाद आस-पास की मिट्टी को खुदवा देना चाहिए और यदि मिल सके, तो थोड़ा खाद भी जड़ों के निकट डाल देना चाहिए। इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि इसकी बेल में अधिक जड़ें न फूटने पाएँ इसके लिये निराई के वक़्त बेलों को उठा-उठाकर देख लेना चाहिए। अधिक जड़ों के निकल जाने से फल कम लगते हैं।

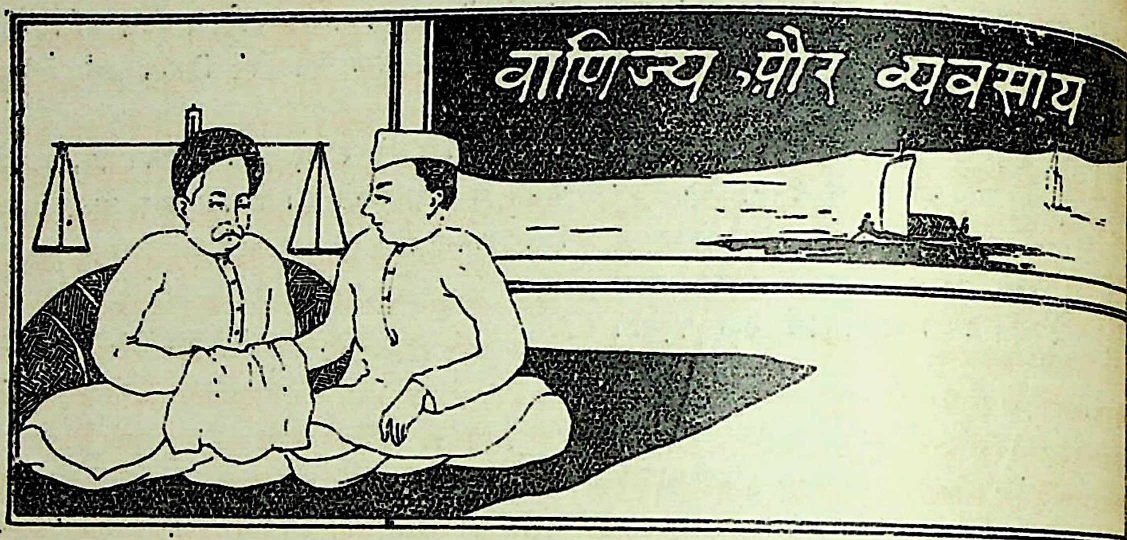
बीमारी व कीड़ों से होनेवाली हानियाँ—इस फ़सल को कोई बीमारी भी नहीं लगती और न किसी प्रकार के ख़ास कीड़े का ही आक्रमण इस पर होता है।

पैदावार—२५-३० मन लग़ायत ५०-६० मन प्रति एकड़ के हिसाब से फल आते हैं। एन० जी० मुकर्जी इसकी पैदावार १०० मन तक बतलाते हैं। फल प्रथम वर्ष की अपेक्षा दूसरे वर्ष में अधिक आते हैं। इसकी काश्त से कितना नफ़ा होता है, यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता, क्योंकि प्रत्येक प्रांत में इसकी दर अलग-अलग है। कई स्थानों में यह १) रु० सेर के हिसाब से बिकता है तो कहीं ।) सेर भी बिकता है। विहार में चैत्र से लग़ाकर जब तक बरसाती तरकारियाँ

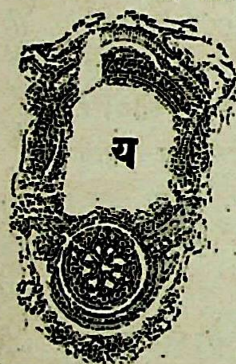
बहुतायत से नहीं आतीं; इसका दर ।=) सेर से ।) तक हो जाता है, आषाढ़ के बाद =) सेर के हिसाब से बिकता है, परंतु बड़े शहरों में महँगा ही रहता है। यदि पैदावार ५० मन ही रखी जाय तो =) सेर के हिसाब से २५०) रु० होते हैं और चार आने की दर से ५००) रु० प्रति एकड़ होते हैं। जहाँ पर यह और भी महँगा बिकता है वहाँ पर तो इसकी काश्त का प्रचार अवश्य होना चाहिए। इसके बीज में भी विशेष ख़र्च नहीं पड़ता; क्योंकि जो महाशय लगाना चाहें, वे प्रथम वर्ष में थोड़ी बेलें मँगवाकर लगा देवें फिर द्वितीय वर्ष में और फैला देवें।

जिन्हें इस विषय पर विशेष जानना हो, वे सहर्ष लेखक से पूछ सकते हैं। योग्यतानुसार उत्तर अवश्य दिया जायगा।

नारायण दुलीचंद व्यास



१. भारतवर्ष में सरेश का बनाना



द्यपि सरेश देखने में बहुत ही साधारण पदार्थ ज्ञात होता है, किंतु इसका मूल्य इसके प्रयोग करनेवालों को ही मालूम है। इसका प्रयोग काग़ज़ बनाने में, दियासलाई बनाने में, किताबों की जिल्द बाँधने में, जहाज़ बनाने में, लकड़ी के कामों में, छापेखाने का बेलन (Roller) बनाने में, नक़ली चमड़ा बनाने और बुनने के कामों के अलावा और भी बहुत सी चीज़ों में होता है। सरेश को साफ़ करने के बाद उसको जिलेटीन (Gelatine) कहते हैं। इसका प्रयोग बिस्कुट इत्यादि खाने की वस्तुओं में, फ़ोटोग्राफ़ी में, दवा की गोलियों के ऊपर एक लेप चढ़ाने में होता है। इसको ऐसे कामों में लाया जाता है, जहाँ पर ऐसी सरेश की आवश्यकता पड़े जिसमें न गंध हो, न रंग हो और न कोई स्वाद हो।

भारतवर्ष में ऐसी वस्तुओं की बहुतायत है, जिनसे सरेश और जिलेटीन बनाया जाता है, किंतु तो भी हमारी आवश्यकताओं का अधिक भाग बाहर से ही आता है। इसमें संदेह नहीं, जैसा कि पाठकगण आगे चलकर समझ सकेंगे, इसके बनाने में भारतवर्ष की जलवायु के कारण कुछ आपत्तियाँ पड़ती हैं, किंतु वे ऐसी नहीं, जिनको सुलभ करना असंभव हो। थोड़े ही समय आगे इस प्रश्न के ऊपर वैज्ञानिकों ने प्रयत्न किया है, और उसमें बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है। ... मनुष्य आरंभ से ही इस बात का प्रयत्न करने लग... कि उसको विना परिश्रम-विशेष के ही धन प्राप्त ... लगे। यह अभिलाषा कभी पूरी नहीं हो पाती। ... को तैयार करना इतना आसान मालूम होता है ... बहुत से धनाढ्य पुरुष तो उसमें रुपया लगाना ही ... समझते हैं और उसको बनानेवाले इतना सहल सम... हैं कि उसकी कठिनाइयों का विचार ही नहीं ... देखने में चाहे सरेश एक सी दिखाई दे। किंतु उ... रासायनिक रीति से देखने पर उसके गुण-दोष ... होते हैं।

सरेश हड्डियों, नसों, जानवरों की खालों इत्यादि ... बनाया जाता है। उसको गरम पानी से उबाला ... है, उस गरम पानी को जलाकर गाढ़ा किया जाता ... और यही सूखने पर कड़ा हो जाता है; जो देखने ... हलके रंग का और साफ़ होता है। सरेश वनस्पति ... जानवरों इत्यादि से दो प्रकार से बनाया जाता है, ... इस समय वनस्पति के विषय में विचार नहीं ... जायगा, क्योंकि भारतवर्ष के लिये वह लागू नहीं। ... अच्छा सरेश हड्डियों से बनता है। जो सरेश ... इत्यादि से बनता है, उसका गुण विशेषतः खाल के ... या गीली होने पर निर्भर है।

गीले माल से बनाई हुई सरेश अच्छी होती है ... उससे सरेश भी अधिक निकलती है। सूखे हुए माल ... सरेश निकालने में अधिक समय लगता है, बहुत ... तक उबालना पड़ता है, जिससे ख़र्च भी अधिक होता ...

और सरेश भी उतनी अच्छी नहीं होती। यह सब लाभ होते हुए भी कारख़ाने में सरेश बनाने के लिये ताज़ा माल मिलना कठिन ही नहीं, असंभव है। बड़े-बड़े कारख़ानों में ख़ाल को हलके चूने के पानी में डाल दिया जाता है, जहाँ वह कुछ दिन तक पड़ी रहती है, फिर हवा में सुखाकर गोदाम में रख देते हैं और आवश्यकतानुसार उसको काम में लाते हैं।

यह ऊपर भी बतलाया जा चुका है कि हड्डियों से बनी हुई सरेश, खालों से बनी हुई सरेश से बिलकुल भिन्न होती है, क्योंकि हड्डी में Chondrin होता है जिसके कारण उसमें चिपकाने की शक्ति कम होती है। बनाने की रीति यह है— कि हड्डियों से भलीभाँति सरेश निकालने के लिये छोटे-छोटे टुकड़े कर दिये जाते हैं। इसके उपरांत उनमें जो चिकनाई चर्बी इत्यादि होती है, उसको निकालना अत्यंत आवश्यक है। इसके निकालने से सरेश अच्छी और अधिक हो नहीं बनती; बल्कि चर्बी का दाम अलग खड़ा हो जाता है। विलायत में चर्बी १२—१४% तक निकलती है, किंतु भारतवर्ष के पशुओं में चर्बी नहीं होती। जो हड्डियाँ ज़िबहख़ानों से आती हैं, उनमें चर्बी प्रायः बिलकुल नहीं होती। इसका कारण यही है कि उनको पूरा खाना नहीं मिलता। इसका तात्पर्य यह नहीं कि उन पशुओं की हड्डियों में भी चर्बी नहीं होती, जो धनी पुरुषों के यहाँ रहते हैं और खाने को ख़ूब मिलता है। तात्पर्य केवल यही है कि भारतवर्ष के पशुओं में चर्बी का न होना, जल-वायु के कारण नहीं; बल्कि उनको पेट भर और अच्छी ख़ुराक न मिलने के कारण है। हड्डियों को चर्बी से अलग करने की तीन रीतियाँ हैं (१) कड़ाव में उबालना (२) हलकी भाप से गरम करना (३) किसी ऐसे द्रव पदार्थ का प्रयोग करना जिसमें चर्बी घुल जाय। कड़ावों में उबालने से सारी चर्बी नहीं निकलती। कुल आधी के लगभग निकल पाती है। भाप द्वारा चर्बी निकालने से चर्बी तो अधिक निकलती है, किंतु सरेश ख़राब हो जाती है। पेट्रोलियन ईथर (Petroleum Ether) से लगभग १०% चर्बी निकल आती है, किंतु सरेश पर एक रंग चढ़ आता है जिसके कारण उसका दाम अधिक नहीं उठता। अतएव हड्डियों को चर्बी से अलग करने के लिये कड़ाव में पानी के साथ उबालना ही लाभकारी है।

किंतु भारतवर्ष में चर्बी निकालने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। यहाँ पर हड्डियों को पीसने के बाद सीधा हलके गंधक के तेज़ाब (Dil. Sulphuric acid) में डाल दिया जाता है, जिससे हड्डियाँ बहुत कुछ साफ़ हो जाती हैं और साफ़ सरेश आसानी से मिल जाती है।

मगर हड्डियों से सरेश निकालने के लिये कड़ाव में पानी के साथ उबालने से काम नहीं चलता। आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि भाप के साथ-साथ दबाव (Pressure) भी पड़े। इसलिये हड्डियों को, जो पहले ही उपर्युक्त रीति से साफ़ की जा चुकी हैं, तार की टोकरियों में रखकर आटोक्लेव (Autoclave) में २-३ घंटे गरम किया जाता है और २० पौंड प्रति वर्ग इंच (per sq. inch) का दबाव डाला जाता है।

नोट—आटोक्लेव फ़ौलाद का एक बड़ा बर्तन होता है, जिसमें भाप द्वारा गर्मी पहुँचाई जाती है। ऊपर का एक ढक्कन जब जकड़कर बंदकर दिया जाता है, तो उसमें भाप का एक दबाव पड़ता है, जो उस पानी के गर्म किये जाने से बनती है, जो इसी बर्तन में उबलनेवाली वस्तु के साथ-साथ डाला जाता है। हम आटोक्लेव को भाप से गर्म न करके पेंदे को आग से भी गर्म कर सकते हैं।

टोकरी उठाने के बाद सरेश पानी के साथ घुली रहती है (इसको निकालकर दूसरा ताज़ा पानी डाला जाता है, और उन्हीं हड्डियों को उपर्युक्त रीति से एक बार और गर्म किया जाता है। कभी-कभी हड्डियों को तीन बार जल से गर्म करने की भी आवश्यकता पड़ती है। यह सब हड्डी के ऊपर निर्भर करता है कि उसको कितने बार जल में उबालने की आवश्यकता है। इन सब पानियों को एक साथ मिला लिया जाता है। हड्डियों में से जो कुछ बाक़ी बचता है, उसको सुखाकर बारीक पीस लिया जाता है। उसमें अधिकतर (Calcium phosphate) होता है, यह स्वयं खेती के लिये बड़ी अच्छी खाद बन सकता है। यदि इसको गंधक के तेज़ाब (Sulphuric acid) से मिला दिया जाय तो उससे भी अच्छी खाद अर्थात् (Superphosphate) सुपरफ़ॉस्फ़ेट बनती है। यू० पी० की मिट्टी का रासायनिक रीति से अध्ययन करने से ज्ञात हुआ है कि यदि इसमें सुपरफ़ॉस्फ़ेट आवश्यकतानुसार मिलाया जाय, तो पैदावार को बहुत लाभ होगा। साधारणतया हड्डी के वज़न की १३-१४%

सरेश निकलती है जब कि उसको २-३ घंटे तक ऑटो-क्लेव में २०-२५ पौंड के दवाव में उवाला जाता है।

यदि सरेश निकालने के पूर्व हड्डियों को भलीभाँति तेज़ाव और जल से साफ़ नहीं किया गया है, तो सरेश को साफ़ करने की आवश्यकता पड़ती है। किंतु मामूली सरेश को साफ़ करना इतना आवश्यक नहीं। केवल ऑटोक्लेव से निकाले हुए जल को थोड़ी देर तक रख दिया जाता है, उसकी बहुत कुछ मैल मिट्टी नीचे जम जाती है और ऊपर-ऊपर से साफ़ सोल्यूशन ले लिया जाता है। किंतु जब बढ़िया सरेश या जिलेटीन बनाना होता है, तो उसको अधिक साफ़ करना पड़ता है।

साफ़ करने की कई विधियाँ हैं, किंतु उनमें से कुछ ऐसी हैं, जिनका प्रभाव सरेश की चिपकनेवाली शक्ति पर पड़ता है। कभी-कभी सरेश को साफ़ करने के लिये उसको धुले हुए बालू या साफ़ कोयले से छानते हैं, किंतु उन अवस्थाओं में ऐसा किया जाता है जब Colloidal matter बहुत कम हो। सबसे अच्छी साफ़ करनेवाली वस्तु अंडे के भीतर का सफ़ेद हिस्सा होती है, किंतु मूल्य अधिक हो जाने के कारण उसका प्रयोग नहीं होता। ऐलम (alum, वोरैक्स Borax) इत्यादि भी उपयोगी होते हैं। यदि ठंडे सरेश मिले हुए जल में थोड़ा-सा ऐलम ($Al_2 (So_4)_3, 18H20$) या [$K_2 So_4, Al_2 (So_4)_3, 24H20$] मिलाने से, और थोड़ा-सा ऐमोनिया (ammonia) डाल देने से संतोष-जनक परिष्कार हो जाता है।

साफ़ करने में केवल इस बात के ध्यान रखने की आवश्यकता है कि सरेश के चिपकाने की शक्ति कम न हो जाय। थोड़े से तजुर्बे से इस बात का ज्ञान भलीभाँति हो सकता है कि किस वस्तु की कितनी आवश्यकता है।

साफ़ किया हुआ जल जिसमें सरेश घुली हुई रहती है स्वयं नहीं जम जाता, क्योंकि यह बहुत पतला रहता है, अतएव गाढ़ा करने की आवश्यकता पड़ती है। पहले भी बताया जा चुका है कि बहुत देर तक उवालने से सरेश ख़राव हो जाती है अतएव इसको हवा निकालकर गाढ़ा किया जाता है। बड़े-बड़े कारख़ानों में इस बात का भलीभाँति प्रबंध होना संभव है, किंतु छोटे-छोटे कारख़ानों में इसका दूसरा ही प्रबंध करना पड़ता है; क्योंकि उपर्युक्त रीति में बड़ा ख़र्च पड़ता है। उस जल को जिसमें सरेश घुली हो दोहरी चादर लगे हुए बर्तन में पानी की भाप द्वारा गाढ़ा किया जाता है। इस प्र[कार] गाढ़ा करने में बराबर हिलाने की आवश्यकता रह[ती है] जिससे कि ऊपर पपड़ी न बन सके। इस जल का रं[ग] इस विधि से कुछ गहरा पड़ जाता है और सब कु[छ] करने पर भी सरेश उतनी अच्छी नहीं निकलती।

यदि गाढ़ा कियाहुआ जल बहुत गहरे रंग का है, तो इस रंग को हटाने की चेष्टा करनी पड़ती है जिसके लि[ये] गंधक की भाप (SO_2) का उपयोग होता है। य[दि] इसको शीशे के टुकड़ों पर डालें, तो साफ़ हो और को[ई] रंग विशेष न हो, यह गुण जमने पर आ जाना चाहि[ए]। साधारण कम मूल्य की सरेश बनाने में यह सब न[हीं] किया जाता। SO_2 के अलावा भी रंग को दूर करनेवा[ली] दूसरी वस्तुएँ हैं, किंतु प्रयोग करने से पहले हमें मूल्य [का] ध्यान रखना पड़ता है। उनका दाम वेशी होने के का[रण] उनको काम में नहीं लाते।

थोड़े से तजुर्बे से ज्ञात हो जाता है कि जमाने के लि[ये] गाढ़े-गाढ़े जल को कब डालना चाहिए। इसको टीन [के] साँचों में डाला जाता है, जिस पर नारियल का तेल ल[गा] रहता है। बड़े-बड़े कारख़ानों में, साँचों में डालने [के] अनंतर जब सरेश कुछ सूख जाती है, तो उसको लंबे-चौ[ड़े] टुकड़ों में काट दिया जाता है जिससे भेजने में आसा[नी] रहे। 'उनको कब काटा जाय' यह सब तजुर्बे की बा[त] है। देखते-देखते स्वयं ज्ञान हो जाता है। इसके लि[ये] कोई नियम-विशेष नहीं है।

सरेश का सुखाना उसकी अंतिम क्रिया है, किंतु य[ह] सबसे कठिन है। साँचे पहले तीन या चार दिन तक ए[क] ठंडे स्थान में सुखाए जाते हैं। तदुपरांत उनको वहाँ से उठाकर तारों पर फैला दिया जाता है, जिनके चारों त[रफ़] आग की गर्मी रहती है। यहाँ पर पूर्ण-रूप से सुखाने में १-२ दिन लगते हैं। कभी-कभी सुखाने में अधिक देर हो जाती है। इस दशा में यह विशेष ध्यान रखना चाहि[ए] कि उसमें कीड़ा न लगने पावे। सुखाने के साथ हवा में कितनी नमी है, कितनी गरमी है इन बातों का पूरा ज्ञा[न] रहना उचित है; क्योंकि कभी-कभी ऐसा होता है कि सरे[श] देर में सूखे या बिलकुल ही न सूखे, तो कीड़े इत्यादि के लगने या न लगने में वायु का बहुत बड़ा भाग रहता है।

कभी-कभी यह भी संभव हो जाता है कि सरेश अ[धिक] से बहुत शीघ्र ही सूख जाती है, अर्थात् ऊपर एक [...]

हुई पपड़ी बन जाती है जिसके कारण अंदर के सूखने में कठिनता पड़ती है। प्रायः यह भी देखने में आया है कि ज़रा-सी देर में ही सरेश इतनी सख़्त हो जाती है कि मुश्किल से टूटती है और टूटने पर काँच की तरह चमकदार हो जाती है।

सरेश का सुखाना ही एक जटिल समस्या है और विशेषकर भारतवर्ष में, जहाँ पर मौसम की बदली के कारण हवा की गर्मी और नमी में बड़ा अंतर पड़ जाता है, उपर्युक्त कठिनाइयाँ विशेषकर भारतवर्ष की वायु के कारण ही पैदा होती हैं। इसीलिये सरेश को क्रमशः बराबर सुखाने के लिये गरम हवा के कमरे और ठंडे कमरों में सुखाने की आवश्यकता है। सरेश की दशा मौसम के अनुसार बदलती रहती है, अतएव किसी भी स्थान में कारख़ाना खोलने से पूर्व वहाँ की जल-वायु का पूर्ण ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है और उसके साथ-ही-साथ उस वायु के उपयुक्त सुखाने की रीति का प्रबंध होना चाहिए। यदि इन बातों का भलीभाँति ध्यान न रखा गया, तो सरेश के सुखाने का काम बड़ा कठिन हो जायगा, और चारों ओर से हानि ही हानि की सूरत नज़र आएगी। हैदराबाद (दक्खिन) में जहाँ सरेश के विषय में अनेक परीक्षाएँ हुई थीं, वहाँ की वायु का मनन करने के उपरांत यही निश्चय किया गया कि बिना किसी विशेष कठिनाई के अक्तूबर से मार्च तक सरेश का काम चल सकता है। बाक़ी दिनों में सुखाने में कुछ कठिनाई पड़ेगी, किंतु यदि सुखाने का उपयुक्त प्रबंध कर लिया जाय तो साल-भर काम हो सकता है।

सरेश बनाने की सफलता विशेषकर उसके सुखाने में है, जिससे कि वह भलीभाँति सूख भी जाय और उसमें कीड़े भी न लगने पावें, क्योंकि सरेश में हवा के कीड़े शीघ्रता से अपना असर पैदा कर लेते हैं। किसी वस्तु में भी ज़रा सी गुंजाइश होते ही कीड़े लग जाते हैं और जब हवा में नमी रहती है, तो और भी जल्दी फैलते हैं। कुछ ऐसे कीड़े होते हैं जो सरेश को सड़ाते नहीं, किंतु सरेश को जमने भी नहीं देते, अतएव वह किसी काम की भी नहीं रहती। जब हवा में बहुत नमी होती है, तो सरेश पर बहुधा हरी-हरी फुई लग जाती है। इसको एक गीले कपड़े से पोंछा जा सकता है और सरेश को कोई हानि भी नहीं पहुँचती। किंतु विशेष भय उन कीड़ों का रहता है जिनसे सरेश बिलकुल ख़राब हो जाय। साधारणतया हवा में अधिक नमी होने या सरेश में कीड़ों के लिये खाद्य पदार्थ (Phosphates) पाने में सरलता होने के कारण कीड़े लग जाते हैं। जब कभी कीड़े लगने का भय हो, तो उनकी मारनेवाली औषधियाँ जैसे mercury perchlor, Formaldehyde, acid carbolic, salicylic और Boric डाल देना उपयोगी होगा, और सरेश के गुणों में भी किसी प्रकार का अंतर न होने पावेगा।

यदि कारख़ाने में सफ़ाई का विशेष ध्यान रखा जाय, तो कीड़े लगने का भय बहुत कम रह जाता है। और ज्योंही कीड़े लगने का ज़रा भी संदेह हो, तुरंत ही उसका प्रबंध कर देना चाहिए नहीं, तो ज़रा से आलस्य में काम बहुत बिगड़ जाता है। सारांश यह कि सरेश को सुखाते समय विशेष बुद्धिमत्ता और तजुर्बे की आवश्यकता है।

सरेश बनाना छोटा-सा काम भले ही समझा जाय, किंतु इसमें लाभ बहुत अधिक है, क्योंकि सरेश के साथ और कई चीज़ें भी बनाई जा सकती हैं। अच्छी हड्डियाँ सरेश बनाने से पहले छाँटकर बटन, छड़ियाँ, छातों व चाक़ुओं की बेंटे और बहुत सी, सुंदर-सुंदर वस्तुओं के बनाने में, प्रयोग में लाई जा सकती हैं। ख़राब और सड़ी हुई हड्डियों को हवा में न जलाकर उसका तेल, पिरीडीन (pyridine) तारकोल इत्यादि बनाये जा सकते हैं। और हड्डियों के जलाने से जो कोयला निकलता है, उससे अलग लाभ होता है, क्योंकि उसका प्रयोग शकर इत्यादि साफ़ करने में बाहर के पश्चिमीय देशों में बहुत होता है इसके अलावा हड्डियों से बड़ी उपयोगी खाद बनती है।

सरेश का परखना—'सरेश कैसी है' यह जानना बड़ा आवश्यक है। यह प्रश्न जितना बनानेवाले के लिये आवश्यक है उतना ही ख़रीदनेवाले के लिये भी, क्योंकि सरेश का मूल्य उसके गुणों पर ही निर्भर करता है। सरेश देखने में हलके रंग की हो और साफ़ हो, किंतु तो भी यदि उसमें चिपकाने की शक्ति कम है, तो उसका मूल्य कम ही उठेगा। बनानेवाले को सरेश की जाँच करना इतना ही आवश्यक है जितना कि उसका बनाना।

सरेश की जाँच करने में निम्न-लिखित विचार उपयोगी होंगे—

(१) सरेश में किसी भी प्रकार की गंध न होनी चाहिए, चाहे रंग भले हों।

(२) पानी में २४ घंटे पड़े रहने पर भी न घुल सके और अपने वज़न का १० गुना पानी चूस ले।

(३) भलीभाँति सूखी हुई हो जिसमें कीड़े लगने की कोई संभावना न हो।

जब कोई कारख़ाना खोलने की चेष्टा होती है, तो पहला प्रश्न यही होता है—कोई लाभ होने की आशा है। छोटी-छोटी ऐसी बहुत सी तिजारतें हैं जिनसे आशा की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक होता है। किंतु कोई भी कारख़ाना खोलने से पहले, यह भी सोचना उचित है कि बनाये हुए माल के ख़रीदार भी हो सकेंगे या नहीं। अतएव बनानेवाले को केवल बनाने की ही चिंता नहीं रहती, बल्कि उसके बेचने का भी प्रयत्न करना पड़ता है। इन सब बातों का विवेचन करते हुए यह ज्ञात होता है कि सरेश का कारख़ाना खोलने में अधिक धन की आवश्यकता नहीं, और धन के अनुसार लाभ भी थोड़ा नहीं है। यदि ५,०००) कुल लगाकर एक कारख़ाना खोला जाय, तो लगभग २ मन हड्डियों की प्रत्येक दिन आवश्यकता पड़ेगी, जिसमें से १८-२० सेर तक सरेश मिल सकती है। लाभ का एक अंदाज़ा लगा देना अनुचित न होगा—

मासिक ख़र्चा—

६० मन हड्डियों का मूल्य	६०
रासायनिक पदार्थ (chemicals)	६०)
कुली (तीन)	२०)
लकड़ी	४०)
इमारत का किराया	८०)
५,०००) का सूद	२०)
मशीन पर ख़र्चा (Depreciation)	४०)
	कुल ३३०)

यदि मासिक ५०० सेर भी सरेश तैयार हो, तो ... सेर के हिसाब से ५००) की हुई। अतएव लाभ १७०) लगभग हुआ, और यदि प्रत्येक कार्य उचित रीति से कराया जाय, तो अधिक लाभ की भी संभावना रहती है।

सरेश का कारख़ाना खोलने में हानि की आशा बहुत कम है, क्योंकि उसकी प्रत्येक बचत से दूसरी चीज़ बनती है। कोई ख़ास बड़ी मशीन की आवश्यकता भी नहीं। बहुत सी चीज़ें यहीं बनाई जा सकती हैं और न सरेश के बनाने में कोई गुप्त भेद है, केवल परिश्रम की आवश्यकता है।

विनोदविहारी भाटिया



१. प्रेमी की प्रतीक्षा

(१)

भला, किसको निज प्रेमी मान ;
बिठाएँ हृदयासन पर आज ?
सजललोचन स्वागत के हेतु ;
बिछाएँ जिसके मग में साज !
जगत-जीवन, सौजन्य, सुप्रेम ;
पुण्य-प्रतिमा का पावन-हार—
वार दें, किस ममता पर आज ,
प्रफुल्लित होकर बारंबार ?

(२)

वेदना किसको, कैसे हाय—
सुनाएँ, करके करुण-विलाप ?
हृदय यह अपना, अपने हाथ—
दिखाएँ किसे चीरकर आप ?
हो रही है वर्षों से खोज ;
शोक में भरते हैं बस, आह !
किसी प्रेमी की करुणा-कोर—
मिटादे जीवन की यह दाह !

रामसेवक त्रिपाठी

× × ×

२. आशा

(१)

औत्सुक्य की सागरिका से निपट मचल ;
समुत्तुंग कल्लोल मालिनी-सी चंचल ।
सौंदर्य की सुखद सारिणी-सी उज्ज्वल ;
मन-मानस में थिरक-थिरक करती कलकल ।
उदासीनता के आँगन में फैला सुखद सुहास ;
धुँधली-सी ज्योति-प्रसरित कर करने लगी विलास ।

(२)

विधुवदनी के ललित लास्य-सी वह छल-छल ;
स्मृति पट पर उल्लिखित अंक से निकल चपल ।
वहाँ एक कोने में लेकर शक्ति सकल ;
पहनाई संशय की माला कर निर्बल ।
भावुक सुमन माल में डाले फूल सभी ही गूँथ ;
रामणीयता के पर्दे पर लिखे चित्र-पट मूँद ।

(३)

संभ्रम-साहस की खिड़की से टुक ताक ;
सादर प्रतिबिंबों में केलि-क्रिया के झाँक ।
आच्छन्न मेघों में पाया नभ उज्ज्वल ;
कुहु-क्रोड-भरे पूर्ण शशी की प्रभा विमल ।
हृत्सरिता को देदे थपकी तरल तरंगित करतीं ;
मनोलालसा की नौका पर सस्मय बैठ विचरतीं ।

उदयशंकर भट्ट

× × ×

३. रहस्यवाद और कवि

उपनिषद्‌कार लिखते हैं—

"विना दिव्य दृष्टि प्राप्त हुए, सृष्टि-रहस्य का ज्ञान होना असंभव है। जीव अज्ञान के अंधकार में भटक रहा है। विद्या-हीन मनुष्य संसार के सम्पूर्ण दृश्यों का दर्शन करने में असमर्थ है। कवि के लिये, जो वस्तु आनंदप्रद है, दूसरे के लिये वही दुःखमय है। इसका कारण यह है—कवि सर्वत्र ब्रह्मसत्ता का दर्शन करता है।"

संसार के प्रत्येक अणु-परिमाणु में ईश्वर विराजमान है। दृश्य और अदृश्य जगत् की प्रत्येक वस्तु उसी को लेकर पूर्ण है। जब आप साधना-शक्ति द्वारा उस परब्रह्म के दर्शन प्राप्त कर सकेंगे, तब आप जड़ जगत् से चेतना की ओर जायँगे। तभी आपको वास्तविक ज्ञान होगा। यह जो रंग-बिरंगी विचित्र प्रकृति हमारे सन्मुख नित्य-नवीन रूप धारण कर सर्वत्र अपनी दिव्य ज्योति फैला रही है, यह कोई कल्पित ईश्वर की सृष्टि नहीं। इसके भीतर मंगल-भाव ओत-प्रोत है। यह सत्य और सुंदर है। वसंत की सुहावनी सुकुमार वायु का नवजीवन-प्रदान, रंग-बिरंगी कुसुमावलि का सौंदर्य-विकाश, बादलों का सुंदर जल-किल्लोल, सूर्य-चंद्र का प्रकाश-प्रपात,—सर्वत्र ईश्वरवाद का मंगल-गीत गा रहा है। प्रभात-काल की सुनहरी अरुण किरणें विचित्र छवि धारण कर मुसकुराती हैं—निद्रित आत्माओं को जगाती हैं। अंधकार की अंधी रात्रि में छोटी-छोटी तारिकारूपी हूरें केवल मुसकुराती ही हुई मनुष्यों को पागल नहीं बनातीं; वर्ना वह ध्रुव-तारिका का रूप धारण कर भूले-भटके पथिकों को रास्ता भी बताती हैं। कितने ही कोमल पुष्पों का विकाश करती हैं—संसार की सेवा के लिये प्रकृति का आत्मार्पण अपूर्व है!!!

किंतु साधारण मनुष्य,—! उसकी कुछ न पूछिए! वह बेचारा अपने स्वत्वों के ही लिये लड़ रहा है! अपने स्वार्थों को ही लेकर पागल है! उसे संसार के इस रहस्य का कहाँ ज्ञान? संसार के प्रत्येक रहस्य का दर्शन कराना केवल कवि का ही काम है। कवि द्रष्टा है, कवि महात्मा है। सत्य और सुंदर का परिचय जिस समय अज्ञान-धूलि-जाल से ढका रहता है, तब संसार में केवल एक कवि की ही आँखें—उस धूलि-तल को भेदकर—उसके मंगलमय स्वरूप को ढूँढ़ निकालती हैं। वाणी-रूप में उसे विश्व-मानवों के सन्मुख रखती हैं। कवि और साधारण मनुष्य की दृष्टि में बड़ा अंतर है। संसार दो ही प्रकाशित होते हैं—एक कवि और दूसरा र... रवि के प्रकाश से अधिक कवि का प्रकाश उज्ज्व... संसार के रहस्य को समझने के लिये जितनी शक्ति ... में है, उतनी अन्य में नहीं। साधारण मनुष्य ... कलंकमय समझकर घृणा करता है, कवि वहाँ ... अरण्य का दर्शन करता है। साधारण मनुष्य ... अकर्मण्यता समझता है, उसे ही कवि ज्ञान और ... राग और वासना, सुख और संतोष का भांडार ... कवि के ज्ञान का आश्चर्यजनक प्रभाव है। शरद् ... की सुधामयी पूर्णिमा और भादों की अंधी अमावस ... जो भेद है, वही भेद कवि और साधारण मनुष्य ... कवि की व्याख्या ही नहीं की जा सकती। "कवि... परिभूः स्वयंभूः।"

कवि स्वेच्छानुसार संपूर्ण वस्तु को नए रूप में ... है। उसकी दिव्य दृष्टि कविता-रूप में जीवित ... सांसारिक मनुष्यों के पास पहुँचती है। कवि की ... स्वतंत्र है। छंद-शास्त्र, व्याकरण और भाषा का ... बंधन उसे अपने बंधनों में बाँध ही नहीं सकता। ... शास्त्र जिसे निर्दिष्ट सीमा बताकर कवि को बंधन में ... रखना चाहते हैं, कवि की स्वाधीन कल्पना ... में ही उन भयंकर बंधनों को तोड़कर आनंदमय—... लोक में—विचरण करती है। यही है कवि की ... यह अद्भुत मुक्ति ही सत्कविता की जननी है। संसार ... प्रत्येक रहस्य को किस तरह सुंदर-रूप में परि... मूर्तिमय बनाऊँ, यही कवि की एकांत भावना है। ... उसका आनंद है। यदि इस साधना में कवि सफल हो ... तो समझना चाहिए—संसार में कवि का जन्म सार्थक ...

ईश्वर की समस्त सृष्टि, प्रकृति का सुंदर साम्राज्य ... अद्भुत कवित्व-पूर्ण है। कोई भी कवि विना वास्त... अनुभव प्राप्त किए—अथवा विना मानव-जीवन का ... चेतन जगत् का सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तत्त्व हृद्‌गत कि... किसी विषय पर लिखकर सफलता हो नहीं प्राप्त ... सकता। सफल कवि अपनी प्रत्येक कृति में अदृश्य ... से व्याप्त रहता है। उसका प्राण, उसका जीवन, ... सर्वस्व, जिसके कारण उसकी महत्ता है, उसमें ... पाया जाता है। जिसकी हृदय-वृत्ति पूर्णविकसित ... उसके लिये कविता आकाश-कुसुम है। स्वप्न में भी ...

कवि कहलाने का अधिकारी नहीं। कविता का आदर्श प्राणों में ही है।

कविता-सौंदर्य पर सहृदय व्यक्ति ही मुग्ध होते हैं। संसार का प्रत्येक रहस्य सौंदर्यमय है। इस सौंदर्य-समुद्र-मंथन से जो अमृत उत्पन्न होता है, पृथ्वी के श्रेष्ठ कवियों की कविताओं में हम उसी का पान करते हैं। कवि-मात्र सौंदर्य-पथ के पथिक हैं। ईश्वर ही सौंदर्य है और सौंदर्य ही ईश्वर! सत्य, मंगल और सौंदर्य का मूलाधार एक-मात्र ईश्वर ही है। सौंदर्य कहाँ नहीं है? मेघ-मुक्त आकाश की नीलिमा-सुंदरी का कोमल कपोल चुंबन करनेवाले विशालकाय पर्वत, वसुंधरा शृंगार कुसुम-कुंज, वन-उपवन में दिव्य मोती बिखेरनेवाले निर्मल और पवित्र झरने, वसंत-सखा के साथ मुसकुरानेवाले मनोहर तरु, रंग-बिरंगे फूल,—सभी सुंदर हैं। मतवाले मधुकर, प्रेमी पतंग, मदांध पशु, स्त्री और पुरुष—सभी सौंदर्य-सुख में उन्मत्त हैं, मतवाले हैं। सौंदर्य-मदिरा पानकर प्रत्येक जीव नशे में मत्त होकर झूमते हैं। बड़े-बड़े योगी, ऋषि, मुनि, तपस्वी तक सौंदर्य की रूप-राशि पर अज्ञान हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ हैं।

संसार सौंदर्यमय है। सौंदर्य का मुख्य उद्देश्य है आनंद प्रदान करना। हृदय के भीतर किसी कामना का उद्रेक करना ही सौंदर्य-धर्म है। कविता का प्रधान लक्ष्य है—सौंदर्य की सृष्टि करना। प्रकृति के भीतर सर्वत्र सौंदर्य अपना आत्म-प्रकाश करता है। सौंदर्यमय कविता का प्राण है सत्य। सौंदर्य और सत्य में घनिष्ठ संबंध है। या यों कहिए—यह दोनों बिना एक के जीवित ही नहीं रह सकते। कवि कीट्स (Keats) कहते हैं—

Beauty is truth; truth beauty,—that all
Ye know on earth, and all ye need to know.

जो सुंदर है, वही सत्य है। सत्य ही सुंदर है। मनुष्य-ज्ञान इससे अधिक नहीं हो सकता। आवश्यकता भी नहीं है।

सत्य और स्वाभाविकता ही कविता की जान है। कवि को कविता में उत्तेजित करनेवाला और कोई नहीं,—स्वयं ईश्वर है। ईश्वर की समस्त सृष्टि कवित्वमय है। उसी को धरकर,—कविता संसार में सूर्य की किरणों की तरह सर्वत्र फैलती है। सत्य चाहे सुखमय हो या दुखमय, सुंदर हो या कुत्सित, वेदनामय हो या आनंदमय सत्य को प्रकाशित करना ही कवि का प्रधान कर्म है। सत्य-हीन कल्पना-प्रलाप या शब्दालंकार कभी भी कविता को प्रकाशित नहीं कर सकते। सत्य का प्रकाश ऐसा होना चाहिए, जिसके भीतर कवि की आत्मा मुसकुरा रही हो। जिसे अन्य हृदय प्राप्त करते ही सत्य का स्वरूप समझने में समर्थ हो सके। जिस कवि का सत्यवाद जितना ही स्पष्ट और सुंदर होगा, उसकी कविता भी उतनी ही सुंदर और सार्थक होगी। असत्य और अस्वाभाविकता कविता की मृत्यु का प्रधान कारण है।

कविता का विषय साधारण सत्य नहीं, सार्थक सत्य है। पृथ्वी की आयु के साथ कविता की भी आयु बढ़ती जा रही है। जो सचमुच सत्कविता के सृष्टिकर्ता हैं, अस्वाभाविकता उनसे कोसों दूर रहती है। कवि की जो इच्छा होगी, वही लिखेगा और वह सत्कविता कह-लाएगी। इस सिद्धांत को मैं कभी नहीं मान सकता, यह किसी पागल की उक्ति है। अधिकांश कवि कभी-कभी असत्य और अस्वाभाविकता का भी जन्म अपनी कविता में दे डालते हैं। किंतु मैं इसे कवि की स्वाधीनता नहीं मानता, यह घोर उच्छृंखलता है। सत्य और स्वभाव का अनुकरण करना ही कविता का प्राकृत-धर्म है। प्रकृति को छोड़कर कविता चमत्कारमय हो ही नहीं सकती। प्रकृति ही कविता की प्रतिष्ठा-भूमि है। प्रकृति स्वयं ही कविता है—और इस कविता के कवि हैं स्वयं परमात्मा। जिनकी रहस्य-लीला के सन्मुख हम सदैव नतमस्तक हैं।

कवि यदि सच्चा कवि है, प्रतिभाशाली है, सत्य-साधक है, जिसमें अंतर दृष्टि है; जिसका हृदय पवित्र और जिसके उद्देश्य साधु हैं; यदि उस महाकवि को समस्त बाधा-बंधनों से मुक्त कर दिया जाय, तो उसकी कविता सिवा सत्य के असत्य और अस्वाभाविक कैसे हो सकती है? यदि असत्य और अस्वाभाविक होगी भी, तो कवि की जादूमयी क़लम के स्पर्श से वह सार्थक, सत्य और स्वाभाविक बन जायगी। सच्ची कविता वही है, सर्वसाधारण जिसका आनंद ले सकें, पंडितों के लिये जिसमें पांडित्य हो और अज्ञानी-अशिक्षितों के लिये आनंद और ज्ञान! यदि सर्वसाधारण कवि की कविता समझने में असमर्थ हैं, तो कविता की सार्थकता ही कहाँ रह जाती है? सरल कविताएँ जितनी मनुष्यों में प्रसिद्ध हैं—उतनी कठोर और गूढ़तत्त्व की कविताएँ नहीं।

क्या संसार में हम जो कुछ देखते हैं, वह सब सत्य है ? सत्य की व्याख्या महात्मा टालस्टाय यों करते हैं—

"Truth will be known not by him who knows only what has been, is and really happens, but by him who recognises what should be according to the will of God."

अर्थात्, जो हो चुका है, हो रहा है और होगा—जो इसी को सत्य समझता है, वह वास्तविक सत्य को नहीं पहचान सका। ईश्वर-निर्देश के अनुसार क्या उचित हो रहा है, जो इसकी उपलब्धि कर सकता है, वह सत्य को पहचान सका है।

अच्छा, तो इस सौंदर्य, स्वभाव और सत्य की सृष्टि में कवि को कला की बड़ी आवश्यकता है। कला मनुष्य-जीवन की एक क्रिया या अवस्था है। मनुष्य के भावों का आदान-प्रदान करना ही कला का अन्यतम स्वरूप है। यदि कोई औपन्यासिक, कवि या चित्रकार,—किसी प्राकृतिक सौंदर्य में मुग्ध होकर—उपन्यास, कविता या चित्र में मनोहर भाव-कुसुम विकसित कर सका है, यदि उसकी कृति पर पाठक और दर्शक दोनों ही तल्लीन हो गए हैं तो समझना चाहिए—यहीं कलाविद् की कला सफल है। केवल कला ही एक ऐसी वस्तु है, जो कविता को सार्थक बनाने में समर्थ है। युग-धर्म ही कविता और कला को नियंत्रित करता है। जिस युग में मनुष्य-जीवन की जैसी शिक्षा, साधना या नैतिक अवस्था होगी, उस युग की कविता-कला भी वैसी ही होगी। यदि आज कोई कवि नायिका-भेद और नखशिख-वर्णन में ही अपने जीवन को पूर्ण समझे, तो इस बीसवीं सदी में—संसार में उस कवि का कोई मूल्य ही नहीं हो सकता। आज भारतवर्ष की सोई हुई वासनाएँ करवटें बदल रही हैं। आज भारतवर्ष में नवयुग का आरंभ है। आज हम जागृत हो उठे हैं। एक दिन था, जब भारत का प्रत्येक मनुष्य आनंद में मत्त था—किंतु आज हमारा वह आनंदवाद, दुःखवाद में परिणत हो गया है। आज हम दुःख को ही लेकर पागल हैं। हम नहीं जानते, हमारा यह दुःख हमारे पास आशीर्वाद लेकर आयगा या अभिशाप ? हमारी आशाओं पर फूल बरसेंगे या वज्रपात होगा ? किंतु दुःख,—यदि विचारपूर्वक देखा जाय, तो वह मनुष्य प्रकृति का परीक्षक है। वह हमारे सुवर्णमय जीवन को परखनेवाली कसौटी है। दुःख पाप का परिणाम है और न पुण्य का पुरस्कार। केवल एक स्वच्छ दर्पण है, जो हमारे प्रकृत रूप हमें दिखा देने में समर्थ होता है। यदि आज हम का आलिंगन करते हैं, दुःख को ही अपना सुख सम तो हमारी कविताओं में—हमारे विरोधी—नायिका नख-शिख-वर्णन, या अलंकार क्या पा सकते हैं! यदि विरोधी हमारी कविताओं में आनंद चाहते हैं— अदृष्ट पर जय चाहते हैं, तो सबसे पहले चाहिए, वे को शुद्ध कर डालें, प्रेम और कल्याण की साधना न्याय और सद्ज्ञान को प्रेम द्वारा उज्ज्वल करें करें। कविता सदैव अच्छी और बुरी दोनों ही तरह है। प्रकाश के पास जैसे अंधकार है, सत्य के पास मिथ्या है, वैसे ही सत्कला के पास असत्कला भी रहेगी। कवि की क्षुधा अनंत है—वह अपने में मत्त रहेगा। बड़े-बड़े पंडितों की, द्वेषी मूर्ख चक्रों की उसे किंचित्-मात्र परवाह नहीं। बड़ी- और विपत्तियाँ सच्चे कवि को सत्य-पथ से विचलित कर सकतीं।

मनुष्य-जीवन में एक ऐसा समय आ जाता है, दुःख को स्वीकार कर लेना कर्तव्य-पथ का साधन है। सत्य कहने में दुःख अवश्य भोगना पड़ता है। कवि संसार को आत्मीय कहता है, 'वसुधैव कुटुम्ब' जिसका सिद्धांत है। तब उसकी वेदनाएँ तीव्र हो हैं। कारण, संसार भर का दुःख कवि का दुःख हो है। दृश्य कवि सुख और दुःख को एक मानकर कल्याण को ही अपनी साधन वस्तु समझता है।

आज हिंदी में हम सैकड़ों-हज़ारों नवीन कवि कविताएँ नित्य पढ़ते हैं। किंतु कुछ कृतविद्य भावुक को कृतियों को छोड़कर—मैं देखता हूँ—वे क्या—भ्रष्ट तुकबंदी भी कहलाने की अधिकारिणी हैं—ऐसी कविताओं से कुछ लाभ नहीं होता— में इन्हीं कविताओं को पढ़कर हिंदी के विद्वान साहित्य की ओर से निराश हो जाते हैं। किंतु मैं समझता हूँ—कविता और कला की यह अवस्था अधिक दिन तक न रह सकेगी। हमें लोचना की बहुत आवश्यकता है। 'मरा', 'मरा' वाल्मीकि आदिकवि हो गए। किसी भी नवीन



तरुणी

सफरी-नैन, सेवार-कच, लहर-लहरिया देति :
तरुनी तरल तरंगिनी, रसिकन मन हरि लेति ।

[चित्रकार—श्री० राजाराम श्रीवास्तव

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ]

को निराश होने की आवश्यकता नहीं। यदि वे अपनी कविता को सबसे बड़ी कला मानकर सत्य, शिव और सुंदर—बनाने की चेष्टा करें, तो उससे अभागिनी हिंदी का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है।

स्मरण रहे—अमर साहित्य एक अपूर्व ज्ञान-योग है। वह मनुष्य के समस्त जीवन का सत्य-प्रतिबिंब है। याद रहे—भारत का गौरव आध्यात्मिक चिंता है—इसका साहित्य है—वेदांत, उपनिषद् और दर्शन,—जिनके सम्मुख संसार के सभी काव्य मलिन हैं। अब हमें नायिका-भेद, नख-शिख-वर्णन, समस्या-पूर्ति इत्यादि की कोई आवश्यकता नहीं। हम स्वतंत्र होकर साहित्य-पथ पर निर्भय विचरेंगे। कंटकाकीर्ण जंगल से सुंदर सुगंधित और सुकुमार सुमन संचित कर लाना सच्चे माली का ही काम है। सर्वसाधारण का नहीं।

"गुलाब"

× × ×

३. स्नेही के प्रति

(१)

आँखें कुछ झिलमिला गईं, तू भगा झिटककर कर मेरा ;
तब से भटक रहा हूँ मोहन! पता न किंतु लगे तेरा।
दिवस नहीं, मास भी नहीं, हा! वर्ष नहीं सदियाँ बीतीं ;
जाने कब से तरस रहीं तव दर्शन से अँखियाँ रीतीं।

(२)

बस! बस!! हँसी हो चुकी, अब मत मुझे बहुत तू भटकाए ;
मिल जा मोर-मुकुटवाले! मेरे गल में लिपटा जाए।
मेरे अति सूखे मानस को प्रेम-नीर से भर दे रे ;
इसे अमल सद्भाव कमल-युत अनुकंपाकर कर दे रे।

(३)

नहीं मिलेगा? अच्छा! न मिले, भाग! कहाँ को जाएगा ;
देखूँ, अपने को किस वन में, या किस जगह छिपाएगा।
नगर, डगर, उपवन, वन-बन में, कोने-कोने खोजूँगा ;
कोई ऐसी जगह न होगी जहाँ कि मैं न पहुँचूँगा।

(४)

आखिर कहीं बजाएगा ही वंशी, कहीं हँसेगा ही ;
कहीं किसी के प्रेम-पाश में तेरा हृदय फँसेगा ही।
तब तो तुझे पकड़ ही लूँगा, लूँगा जकड़ सुबाहों में ;
लूँगा कसर निकाल सभी, जो झीख रहा हूँ राहों में।

(५)

फिर भी अगर काँइयाँपन से मुझे 'व्रजेश!' खिझाएगा ;
तो अपने अति मृदुल बदन पर चोट सुमन की पाएगा।
होगा बंद एक दृढ़ निष्प्रभ शून्य कोठरी छोटी में ;
बाहर झाँक न पाएगा भी जानेगा तब तो जी में?

(६)

अभी कुशल है, आ जा प्यारे! मुसुकाता आ जा राजा ;
नाच-नाच मृदु-मधुर अधर धर बजा सुना अपना बाजा।
जिससे हो जाएँ प्रशांत जाज्वल्यमान भव की आँचें ;
परमानंद मग्न हो केवल मैं ही नहीं सभी नाचें।

व्रजेश त्रिपाठी

× × ×

४. वर्तमान हिंदी-कविता

सभ्य मानव-समाज ने कविता शब्द की व्याख्या करने में—उसकी परिभाषाएँ रचने में—जितने अधिक रुचि-वैचित्र्य का परिचय दिया है, उतनी मति-विभिन्नता उसने सत्कविता के निर्णय करने में नहीं दिखलाई है—उतना क्या उसका अल्पांश भी दिखलाने में वह असमर्थ रहा है। जहाँ कविता के परिभाषा-विषयक बड़े-बड़े काव्याचार्यों के सैकड़ों मत प्रत्येक साहित्य में वर्तमान हैं और उन सभी मतों में कुछ-न-कुछ विभिन्नता भी है ही, वहाँ ही प्रायः सर्वसम्मति से होमर और डान्टे, वाल्मीकि और व्यास, शेक्सपियर और मिल्टन, कालिदास और तुलसी-दास अखंड कविता-सागर के देदीप्यमान-रत्न स्थायी रीति से मान लिए गए हैं और अब इस विषय में अधिक वाद-विवाद भी प्रायः स्थगित-सा हो चुका है। इस रहस्य के उद्घाटन के लिये हमें बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं होगी। बात यह है कि कविता का संपर्क सीधे मानव-हृदय से है—मस्तिष्क से उसको विशेष प्रयोजन नहीं रहता। इसके विपरीत, व्याख्या आदि करने में बुद्धि-तत्त्व ही अपेक्षित है, जिसका आधार मस्तिष्क है, हृदय नहीं। यही कारण है कि कविता की व्याख्या—सर्वमान्य निश्चित व्याख्या कर सकने में अब तक के सभी प्रयास असफल रहे हैं और यह विना किसी प्रकार के प्रतिवाद की आशंका के, सहज ही में कहा जा सकता है कि भविष्य में भी इस विषय के सभी प्रयास असफल ही रहेंगे। हृदय ही कविता का विधाता है, अतः हृदय ही उसका सच्चा निर्णायक हो सकता है—स्वाभाविकता ऐसा कहती है।

कविता में मनुष्य की संगीतप्रियता को भी प्रतिबिंबित होने का अवसर मिलता है। यह संगीत-कविता का बाह्य आवरण है, जिसको धारण कर कविता-कामिनि सहृदयों को प्रहर्षित करने के लिये रंग-मंच में प्रवेश करती है। परंपरागत प्रथा के अनुसार हिंदी में 'वृत्त' ही संगीत कहलाता रहा है—छंदोबद्ध तुकांत-रचना ही संगीत-पूरित कहाती रही है; परंतु वर्तमान काल के महाकवि श्रद्धेय पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय ने 'प्रिय-प्रवास' महाकाव्य में अतुकांत छंदों का प्रयोग कर एक नई समस्या हिंदी-भाषियों के सम्मुख रख दी है। इन महाकवि के बाद ही नवयुवक कवि श्रीसूर्यकांतजी त्रिपाठी 'निराला' ने वृत्त को एकदम ही तिलांजलि देकर मुक्त-वृत्त कविता की रचना की है जिससे हिंदी में उन्हें युग-परिवर्तनकारिता का श्रेय मिला है। अब प्रश्न यह होता है कि इन दोनों कवियों की रचनाएँ परंपरागत प्रथा के अनुसार संगीत की सीमा के बाहर होते हुए भी वास्तव में संगीत-युक्त हैं या नहीं। महाकवि के 'प्रिय-प्रवास' का पारायण करनेवाले रसिक-समुदाय सर्वसम्मति से उस ग्रंथ-रत्न को संगीत-मय मानेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है—रही बात 'निराला' जी की, जिनके विषय में यह कहा जा सकता है कि उनकी अधिकांश छंद-रहित रचनाओं में भी संगीत है और कहीं-कहीं तो पूरी मात्रा में है। मेरा वैयक्तिक विचार तो यह है कि कविता के 'संगीत' शब्द से वही अभिप्राय गृहीत होना चाहिए, जो अँगरेज़ी में Consonance शब्द से गृहीत होता है। शब्दों का सुसंगठित प्रयोग ही संगीत के लिये पर्याप्त है, तुकांत या छंद-संगीत के लिये अनिवार्य वस्तुएँ नहीं कही जा सकतीं। यद्यपि यह नूतन सिद्धांत हिंदी की परंपरा के प्रतिकूल है, पर यह वास्तविकता के दृढ़ आधार पर स्थित है। इससे वर्तमानकालीन वृत्त-संबंधी वाद-विवाद दूर होगा और सत्काव्य की प्रतिष्ठा होने में सुगमता होगी।

ऊपर की पंक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मेरे विचार में कविता का आभ्यंतर-स्वरूप हृदय से संबंध रखता है और उसका बाह्य आवरण संगीत है, जो शब्दों के सुसंगठित संयोग पर अवलंबित है। यद्यपि इन दोनों काव्यांगों में प्रथम आभ्यंतर अंश ही मुख्य है और संगीत-गौण, पर ये दोनों अंग कविता के लिये आवश्यक हैं और इनमें से किसी एक के अभाव से कविता अपने उच्चासन से गिर जाती है, जिससे वह मानव-हृ[दय में] यथेप्सित प्रभाव का उत्पादन नहीं कर सकती। [जिस] देश में, जिस विशेषकाल में, कविता अधःपतित हो[कर इस] अवस्था को प्राप्त हो जाती है; उस देश में, उस वि[शेष काल] में सामाजिक, राजनैतिक तथा मानसिक अवनति [का] साम्राज्य छा जाता है, जो कि देश के दुर्भाग्य का [सूचक] है। ऐसी दशा देश की सुषुप्ति-अवस्था में हुआ [करती] है। भगवान् की असीम कृपा से ही ऐसी विषम [दशा] में परिवर्तन उपस्थित करनेवाले महाकवियों का प्रा[दुर्भाव] होता है, जिनके द्वारा कविता की नई ज्योति जगाई [जाती] है, जिससे देश का कल्याण होता है।

सुषुप्त भारत में शृंगारी कवियों की एकांगता [दूर] करनेवाले हिंदी के युगपरिवर्तनकारी कवि हरिश्चं[द्र भी ऐसी] ही महान् आत्माओं में थे, जिनका अवतार अखिले[श्वर की] अनुकंपा के फल-स्वरूप ही हुआ करता है और [जिनसे] देश का जीवन-स्रोत पवित्रीकृत होकर जाति को स[ुख-] प्रद सिद्ध होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र उन थोड़े से पु[रुष-] पुंगवों में से हैं, जो जनता की कुप्रवृत्तियों के निवार[ण में] भगीरथप्रयत्न कर उसमें सफलता पा सके हैं। [इस] कवि-श्रेष्ठ के वैयक्तिक जीवन को तो हम आदर्श-[जीवन] जीवन नहीं मान सकते; पर उसकी कृति से भार[तीय] जनता ने आशातीत लाभ उठाया है, यह मानने में कि[सी] को कुछ भी संकोच न होना चाहिए। भारतेंदु की [कीर्ति] उनकी कविता की अपेक्षा उनके गद्य तथा उनके [नाटकों] पर अधिक स्थायी रीति से अवलंबित रहेगी; पर इस [लेख में] हमको उनकी कविता की ही आलोचना से प्रयो[जन है] और हम निःसंकोच-भाव से अपने इस युग-प्रवर्तक [कवि] की तुलना भारतीय राष्ट्रीयता के उन्नायक अन्य [देशीय] भाषाओं के अच्छे-से-अच्छे कवि से कर सकते हैं। [इस] तुलना में हमारा कवि अन्य देशीय भाषाओं के कवि[यों से] श्रेष्ठ ठहरेगा, इसका भी हमें विश्वास है। समय [भी] इस विश्वास की पुष्टि करेगा, यह भी निश्चित है। [क्योंकि] इस कवि में हृदय है, उसमें संगीत है और है परि[स्थिति] के पहचाननेवाली वह दूरदर्शिता, जिससे भारतीय [काव्या-] काश में वह एक जगमगाते तारे के सदृश प्रकाश [फैलाता] करता हुआ असंख्य भारतीयों के द्वारा पूजित हो रहा [है]।

हरिश्चंद्र के बाद हिंदी के क्षेत्र में जिन दो पु[रुषों ने] पदार्पण किया, उनके शुभ नाम हैं पं० अयोध्यासिं[ह]

उपाध्याय और बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त। इन दोनों कवियों का कविता-काल प्रायः समकालीन है, दोनों ने हिंदी की खड़ी बोली की कविता को अपनाया और सफलता-पूर्वक काव्य-ग्रंथों की रचना की। दोनों ही देश-भक्त तथा जाति-भक्त आत्माएँ हैं। पर इतनी समानता होते हुए भी कविता की दृष्टि से उपाध्यायजी का स्थान गुप्तजी से ऊँचा है, ऐसा मेरा विचार है। इतना ही नहीं, मैं तो उपाध्यायजी को वर्तमान युग का सर्वश्रेष्ठ कवि मानता हूँ और उनका स्थान कवित्व की दृष्टि से भारतेंदु हरिश्चंद्र से भी उच्च समझता हूँ। मैं उनकी तुलना बँगला के महाकवि मधुसूदनदत्त से करता हूँ और सब मिलाकर 'मेघनाद-वध' काव्य से 'प्रिय-प्रवास' को कम नहीं मानता। बँगलावाले अपने मन में जो चाहें समझें, पर तुलनात्मक समालोचना की कसौटी में कसकर परखने से पता चलता है कि हमारी हिंदी—वर्तमान शैली की हिंदी में भी ऐसे काव्य-ग्रंथ हैं, जिनके मुक़ाबले बँगला-भाषा बड़ी मुश्किल से ठहर सकती है और कहीं-कहीं तो उसको मुँह की खाने तक की नौबत आ जाती है। ऐसे काव्य-ग्रंथों में 'प्रिय-प्रवास' का उच्च स्थान है, यह प्रत्येक हिंदी-प्रेमी जानता है।

पं० गयाप्रसादजी शुक्ल और पं० माखनलालजी चतुर्वेदी हमारी वर्तमान हिंदी के राष्ट्रीय कवि कहे जा सकते हैं। जनता में राष्ट्रीय भावों को भरने का श्रेय अधिकतर इन्हीं दोनों कवियों को है। कहें, तो कह सकते हैं कि महात्मा गांधी के द्वारा प्रवर्तित अहिंसात्मक असहयोग के सिद्धांतों के प्रचार में हिंदी-संसार के इन्हीं दो पुरुषों ने सबसे अधिक काम किया है। जोशीली कविताओं द्वारा चित्त में एक नवीन शक्ति का संचार करा देने में ये दोनों कवि बड़े ही सिद्धहस्त हैं। शुक्लजी ने सामाजिक कुरीतियों के दूर करने में भी अपनी कविताओं द्वारा अच्छी सफलता पाई है। यह भी हिंदी-रसिकों से छिपा नहीं है। हमें इस बात का हर्ष है कि राष्ट्रीयता के क्षेत्र में हिंदी के कवियों ने जितनी अधिक सफलता पाई है, उतना अन्यप्रांतीय भाषाओं के कवियों ने नहीं पाई है। यह संभव है कि बंकिम बाबू का "वंदेमातरम्" सर इक़बाल का 'हिंदोस्ताँ हमारा' तथा इसी प्रकार की एक आध अन्य रचनाएँ राष्ट्रीय काव्य की स्थायी संपत्ति मान ली गई हों; पर समष्टि-रूप से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में जो ओज है, जो स्फूर्ति पैदा कर देनेवाली बिजली है, वह बँगला आदि में ढूँढ़े भी मिलने की नहीं। कोमल-कांत-पदावलि ही बँगला की विशेषता है, जिसको वीर-रस के उत्पादन में कोई भी स्थान नहीं।

वर्तमान हिंदी-संसार में कवियों की एक श्रेणी ऐसी भी है, जो व्रजभाषा में कविता करती है। ऐसे कवियों में पं० श्रीधर पाठक, श्रीजगन्नाथदास 'रत्नाकर', पं० कृष्ण-विहारी मिश्र, स्वर्गीय पं० सत्यनारायण 'कविरत्न', पं० नाथूरामशंकर शर्मा, पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि अग्रगण्य हैं। यद्यपि 'साँकरी गली में माय काँकरी गरतु है' वाली कहावत संभवतः सत्य न हो; पर व्रजभाषा की नैसर्गिक माधुरी को स्वीकार करने में किसी भी सत्समालोचक को कुछ भी अड़चन न होनी चाहिए। यह वह भाषा है, जिसमें फ़ारसी के कतिपय विद्वान् कवियों ने भी कविता करना उचित समझा था। पाठकजी, रत्नाकरजी तथा मिश्रजी आदि की रचनाएँ ऐसी हैं, जिससे हिंदी का साहित्य गौरवान्वित हुआ है। इन कवियों की एकत्र की हुई सामग्री को लेकर हम भाषा-माधुर्य और भाव-प्राचुर्य की दृष्टि से अन्यप्रांतीय भाषाओं से अच्छी तरह टक्कर ले सकते हैं, और बँगलावाले इस क्षेत्र में भी विजय पा ही जावेंगे, यह निश्चित रीति से नहीं कहा जा सकता।

इधर कुछ दिनों से हिंदी-साहित्य में छायावाद की कविता का बाहुल्य देखा जाने लगा है। इस भूमि में अब तक अधिकतर नवयुवक कवि ही देखे जा रहे हैं। मेरे विचार में नवयुवकों ने इस कठोर-भूमि में पैर रख-कर अनधिकृत कार्य किया है। जिस असाधारण आध्यात्मिक प्रवृत्ति, प्रौढ़-कल्पना, भव्य-भावुकता तथा विशद विचार-शृंखला की इस क्षेत्र में आवश्यकता है, वह न तो नवयुवकों में पाई ही जाती है और न उसके पाए जाने की आशा ही की जाती है। इस गहन-वन में तो ऐसे तपस्वियों की आवश्यकता है, जो मातृभाषा के पवित्र-मंदिर में दीर्घकाल की उपासना के उपरांत उसका आशीर्वाद प्राप्त कर चुके हैं—यहाँ न तो नवांसखियों की कोई खोज पूछ है और न उनकी कोई उपयोगिता ही।

यह बात दूसरी है कि कला के अनुकरण से कोई तत्कालीन क्षणिक कीर्ति प्राप्त कर ले। कला का अनुकरण सहज है और नवयुवकों की प्रवृत्ति भी अनुकरण की ओर

अधिक हुआ करती है ; पर हृदय का अनुकरण कोई कैसे कर सकता है ? जब तक कवि के मानस में नैसर्गिक रीति से ही भावनाओं की प्रबल तरंगें नहीं उठतीं, तब तक केवल कला का अनुकरण कर कवि बनने की आशा दुराशा-मात्र है—फिर छायावाद-जैसे दुरतिगम्य क्षेत्र में सफल कवि होने का प्रयत्न तो कोरी मृग-तृष्णा ही समझी जायगी। मैं तरुण आशावादियों की 'रवींद्र' बन जानेवाली मन-कामना का स्वागत करता हूँ, उनकी यह अभिलाषा मातृभाषा की उन्नति का मंगल-चिह्न है ; पर साथ-ही-साथ साध्य के काठिन्य और साधन के अभाव पर लक्ष्य रखते हुए मेरी सम्मति यह है कि नवयुवकों को इस विषम-पथ का परित्याग कर किसी सुगम्य मार्ग का अवलंबन करना चाहिए। हाँ, साहित्य के वयोवृद्ध आचार्य यदि अगुआ होने का बीड़ा उठावें, तो उनके पद-चिह्नों से अंकित धूलि की ओर श्रद्धा-पूर्वक निहार-निहार के वे उनका अनुगमन करें, तो अधिक अनुचित नहीं।

हिंदी में छायावाद के जितने वर्तमान कवियों की ओर मेरी दृष्टि पड़ी है, उन सबों की रचनाओं में 'हृत्तंत्री', 'वीणा', 'अंतस्तल', 'नीरवता' आदि कतिपय शब्द मिलते हैं। ऐसा मालूम होता है कि यह कवि-वृंद एक ही राग आलापने के लिये अपनी-अपनी वीणा लाकर जुटा है, और अपने सम्मिलित संगीत (Chorus) द्वारा हिंदी का कोई महान् उपकार कर देने पर तुला हुआ है ; पर न तो ऐसे कोसों से कभी किसी भाषा का उपकार हुआ है और न भविष्य में ऐसा होने की आशा ही है। मैं मानता हूँ कि विश्व-कवि रवींद्रनाथ-जैसे महान् व्यक्ति का प्रभाव पड़ना—विशेषकर नववयस्कों पर—स्वाभाविक ही है, बल्कि प्रभाव का न पड़ना बड़े आश्चर्य की बात होती, परंतु ऐसा प्रभाव मौलिकता का बाधक है और हिंदी को इस समय मौलिकता की कितनी अधिक आवश्यकता है, यह सहृदय हिंदी-सेवक समझ सकते हैं।

छायावादी नामधारी कवियों में एक ख़ास विशेषता, जो मेरे देखने में आई है, वह है पारस्परिक प्रशंसा में ख़ूब बढ़ी-चढ़ी सम्मति देना। मैं मानता हूँ कि कवियों के प्रारंभिक काल में उनमें ऐसी प्रवृत्ति आ जाती है और वह किसी अंश तक क्षम्य भी है, पर ऐसे लोगों को उच्छृंखलता से काम न लेकर मातृ-मंदिर के प्रति अपनी संबंध-गुरुता समझ लेना चाहिए। पवित्र कर्त्तव्य-पालन भूल जाना नवयुवकों के लिये निंदा का विषय है। उन्हें अपने मित्रों की असामान्य योग्यता की भूरि प्रशंसा करते समय यह भी जान लेना चाहिए कि उनके सर्टिफ़िकेटों का मूल्य कितना है। जो झूठी प्रशंसा हमारे वयोवृद्ध साहित्य-महारथियों की चिरसंचित कीर्ति पर कालिमा लगानेवाली है, जो मातृभाषा के प्रति विभाषियों के हृदयों में शंका या अवज्ञा उत्पन्न करनेवाली है, वह झूठी प्रशंसा कितनी हानिकारक और कितनी हेय है ; यह छायावादियों के मनन करने की वस्तु है।

बा० जयशंकरप्रसादजी, पं० सूर्यकांतजी त्रिपाठी 'निराला' और पं० सुमित्रानंदनजी पंत नवीन दल में सर्वाधिक होनहार मालूम पड़ते हैं। मैं इनके विषय में कुछ विस्तृत-रूप से लिखना चाहता था, पर स्थानाभाव से वह विचार स्थगित रखना पड़ा। हाँ, इतना कहे बिना नहीं रह सकता कि प्रसादजी में वे सभी गुण हैं, जिनके एकीकरण से किसी भी भाषा का मुख उज्ज्वल करनेवाले महाकवि की प्राण-प्रतिष्ठा होती है। वे विद्वान् हैं, सफल नाटककार हैं, चित्ताकर्षक कथाकार हैं और उच्चकोटि के सहृदय कवि हैं। निरालाजी ने अपनी नई शैली से हिंदी-काव्य के सामने एक नया आदर्श रखा है, जिसका अनुकरण करनेवाले दिन-दिन में बढ़ते ही जायँगे, ऐसी आशा है। पंतजी खड़ी बोली में अभूतपूर्व माधुरिमा भर देने के लिये हमारे धन्यवाद के पात्र हैं। यद्यपि कवि की अल्पवयस्कता के कारण अभी उसमें भावों की प्रचुरता और गंभीरता पूरी तरह नहीं हो पाई है, पर इस दिशा में भी उसका प्रयत्न सर्वथा सराहनीय है। हिंदी-संसार को इस त्रिमूर्ति से बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं और मातृभाषा के उपासक इनकी ओर आँखें किए क्षुब्ध भाव से देख रहे हैं।

इस लेख में मैंने कविता को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर, प्रत्येक श्रेणी के प्रतिनिधि कवियों का ही नामोल्लेख किया है, अतः देवीप्रसादजी पूर्ण, 'प्रेमघन' बदरीनारायणजी, [illegible] रामनरेशजी त्रिपाठी, रामचरितजी उपाध्याय, [illegible] शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, दीनजी, नवीनजी आदि [illegible] लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों के नाम नहीं आ पाए हैं। [illegible] कारण यह है कि मेरे विचार में ये प्रतिनिधि कवि [illegible]

सुप्रतिष्ठित नहीं होती। इसके दो प्रधान कारण हैं—एक तो यह कि उस समय भूमि इतनी अधिक होती है कि किसी को अपने भाग की भूमि अलग करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। दूसरा यह कि कृषि-कर्म उस समय प्रारंभिक अवस्था में होता है, और कृषक अपने खेत को काट लेने के बाद ही छोड़ देते हैं, और दूसरी भूमि खेत के लिये साफ़ करते हैं। [जंगली जातियों में यह देखा जाता है कि वे जंगल काटकर साफ़ करती हैं, और वहाँ खेती करती हैं, दस-पाँच वर्ष के बाद वे उसे छोड़ देती हैं, और जंगल के अन्य भाग को काटकर साफ़ कर खेत बनाती और वहाँ खेती करती हैं। इस प्रकार वे जंगल साफ़ करती, वहाँ खेती करती, और फिर उसे छोड़कर दूसरे भाग को साफ़ करती रहती हैं। नेपाल की तराई में थारुओं के संबंध में इसी प्रकार की बातें सुनी जाती हैं।] उस समय भूमि को यदि इकट्ठा नहीं बोते, तो भी उसका विभाग नहीं किया जाता। वह सब समाज की या जथे-भर की होती है। बोनेवाला केवल उसकी उपज पाता है।

(२) धीरे-धीरे जब लोग ग्राम्य-दशा से शालीन-दशा को प्राप्त होते और एक स्थान पर जमकर रहते हैं। तब आबादी घनी हो जाती है, और लोगों को खेत की उपज बढ़ाने के लिये नए-नए उपायों को काम में लाना पड़ता है। यह मानव-जाति की सभ्यता का दूसरा सोपान है। पहले सोपान को अतिक्रमण कर उसे दूसरे पर पैर रखना पड़ता है। इस अवस्था में भूमि पर नैमित्तिक अधिकार होता है, और यथासमय उसका विभाग होता रहता है। यद्यपि भूमि सदा समाज की संपत्ति होती है, पर उसे गाँव-भर के सब घरों के मुखिए मिलकर परस्पर बराबर-बराबर बाँट लेते हैं। यह बँटवारा सदा के लिये नहीं होता, बल्कि कुछ—परिमित—काल के लिये हुआ करता है। पहले-पहल प्रतिवर्ष इस प्रकार का बँटवारा (बंदोबस्त) हुआ करता है। कारण, कृषि का काम वर्ष-भर में आरंभ होकर समाप्त हो जाता है। ज्यों-ज्यों कृषि की प्रणाली विशेष उन्नत होती जाती है, किसानों को अपनी क्रिया का पूर्णतया संपादन करने के लिये विशेष काल की आवश्यकता पड़ती जाती है, त्यों-त्यों क्रमशः अधिक समय तक के लिये उनको एक ही खेत जोतने दिया जाया करता है।

(३) धीरे-धीरे ऐसा समय आ जाता है, जब खेतों के नैमित्तिक संविभाग की प्रथा लुप्तप्राय हो जाती है। ऐसे लोग, जिन्होंने श्रम करके अपने खेतों को अच्छा बना लिया है, उसको फिर मिलाकर विभाग कराने पर राज़ी नहीं होते; क्योंकि यद्यपि फिर बँटवारे की प्रथा गाँववालों के कल्याण के लिये होती है, पर इससे उनकी हानि यह है कि उनको समय-समय पर अपने अतिरिक्त श्रम के फल से वंचित रह जाना पड़ता है। इस प्रकार कुटुंब या कौटुंबिक संपत्ति की प्रथा सुप्रतिष्ठित होती है। उस समय गाँव के प्रत्येक कुटुंब को अपने-अपने अंश

---

land is not an institution. This is due to two causes: first, land is over-abundant, and no one needs to mark off his share; secondly, agricultural methods being as yet primitive, the cultivator leaves his field as soon as it is exhausted for another. Land is cultivated, if not in common, at least without division; it belongs to society as a whole, or rather, to the tribe. The fruits of it only belong to the producer.

(2) Gradually, however, population becomes more sedentary and more closely attached to the soil. It also becomes denser and has to adopt more productive methods of cultivation. The first phase then is succeeded by a second, that of temporary possession together with *periodical redistribution*. The land, though always considered as belonging to society, is divided equally among the heads of families. This division is not final, but only for a certain length of time. At first the period is one year, as this is the ordinary cycle for agricultural operations. As agricultural methods improve and cultivators require more time for maturing of their labours, the periods become gradually longer.........

(3) A time comes when these periodic divisions fall into disuse. Those who have improved their lands do not willingly submit to an operation which, for the good of the community, deprives them at intervals of the surplus value due to their labour. Thus there arises the institution of family ownership, each family

की भूमि के ऊपर पूर्ण स्वत्वाधिकार प्राप्त हो जाता है। वह संपत्ति वैयक्तिक संपत्ति नहीं होती। उसको बेचने आदि का अधिकार स्वामी को नहीं होता, कुटुंब का मुखिया न तो भूमि को बेच सकता है, न उसे किसी को दे सकता है, और न अपने मरने के समय अलग कर सकता है। कारण, वह सम्मिलित या समष्टि-गत संपत्ति मानी जाती है।

(४) यद्यपि यह नियम सर्वत्र के लिये लागू नहीं है, बल्कि आकस्मिक है, पर मानव-समाज के इतिहास के बाहर नहीं है। यह चौथी दशा है—जय और पराजय। संसार में ऐसा कोई देश नहीं मिलेगा, जहाँ दूसरी जातियों ने आकर बल-पूर्वक अपना अधिकार न कर लिया हो। विजेता लोग वहाँ के स्वामी हो जाते हैं, और विजित उनके दास या प्रजा। विजेतागण कृषि करने का श्रम नहीं उठाते। वे केवल भूमि के स्वामी बन जाते और भूमि वहाँ के अधिवासियों को शर्तबंदी पर जोतने को दे देते हैं। यह शर्तबंदी लगभग स्वत्वाधिकार ही के होती है; पर उसमें कुछ शर्तें लगी रहती हैं। जैसे जोतनेवाले को कुछ काम करना पड़ेगा, उसके लिये अधिपति को कुछ कर देना पड़ेगा, और वह अधिपति की आज्ञा लिए उसे अलग न करेगा।

(५) इस दशा में पहुँचकर व्यक्तित्व और साम्य का उदय होता और मांडलिक प्रथा का लोप हो जाता है। इस प्रकार की दशा फ्रांस में उस समय संघटित हुई थी, जब वहाँ राज्यक्रांति हुई थी। इस स्थिति में पहुँचकर भूमि पर 'सामान्य स्वत्व' स्थापित हो जाता है, और उसके स्वामी को स्वामी के सब अधिकार मिल जाते हैं। पर यह सामान्य स्वत्व वह स्वत्व नहीं, जो स्वामी को अपनी स्थायी संपत्ति पर प्राप्त होता है।

(६) इस अवस्था में पहुँचकर भू-स्वामी को स्थायी संपत्ति के स्वामी के सब स्वत्व या अधिकार प्राप्त हो जाते हैं, और भू-संपत्ति स्थायी संपत्ति बन जाती है। इस स्थिति में किसी को अपनी भूमि पर केवल अधिकार ही नहीं होता, बल्कि वह उसे स्थायी संपत्ति की भाँति इच्छानुसार बेच या अलग भी कर सकता है।

henceforth being the obsolute owner of its share of land. This is not individual property, for the right of disposal does not exist. The head of the family can neither sell the land, nor give it away, nor dispose of it at death, since it is considered collective estate.

(4) The evolution of landed property passes also through a phase which, though accidental in its nature, has never been omitted in the history of human societies. I refer to *Conquest.* There is not a single territory on the earth's surface which has not at some time or other been taken by force from the people who inhabited it and appropriated by the conquering race. The conquerors, it is true, just because they were conquerors and masters, did not trouble to cultivate the land. Appropriating simply legal ownership, the "Eminent domain" as it used to be called, they left the actual possession of the soil to the subject population, by way of *tenure.* This tenure was more or less akin to veritable ownership, but was always limited by conditions under which it was granted to the cultivator, by the servitudes with which he was burdened, by the dues which he had to pay his over-lord, and by the fact that he was unable to obviate the land without latter's consent.

(5) The growth of individualism and Civil equality, and the disappearance of the Feudal system, particularly which came under the influence of the French Revolution, brought about a fifth phase, that marks our own epoch. It is characterised by the final establishment of free ownership of land, with all the attributes which the right of ownership implies. Still, even this free ownership of land is not identical in all points with the ownership of movable property.

(6) To assimilate the ownership of landed property to that of movable property, and to mark the final stage of this evolution, one step remained. It consisted in making the ownership of land mobile, so that the individual could not only possess land, but dispose of it as easily as movable property.

(७) इसके अनंतर सातवीं अवस्था के आने की आशा है। इसमें भू-संपत्ति विभाज्य हो जाती है, और उसके हिस्सेदार होते हैं। यह हिस्सेदारी या तो किसी बही में लिखी जाती है, या इसके लिये उनको सनद अथवा परचे मिलते हैं।"

पूर्वोक्त सात अवस्थाओं में पहली, दूसरी और तीसरी अवस्था स्वाभाविक है। चौथी अवस्था से भूमि-कर आरंभ हो जाता है। हमारे यहाँ के ग्रंथों में इस अवस्था के पूर्व ही भूमि-कर के आरंभ का कारण यह मिलता है कि जब प्रजाओं में परस्पर राग-द्वेष उत्पन्न हुआ, तो उन्हें किसी ऐसे व्यक्ति को अपना राजा बनाने की आवश्यकता पड़ी, जिसे उन लोगों ने भूमि की उपज का एक अंश बलि या पुरस्कार के रूप में देना स्वीकार किया। पाँचवीं और छठी अवस्था एकदेशीय है, सार्वदेशिक नहीं। ये अवस्थाएँ भारतवर्ष में कभी संघटित नहीं हुईं। सातवीं अवस्था, जिसकी संभावना या आशंका 'ज़ीड' महोदय ने की है, अँगरेज़ों की कृपा से भारत-वासियों को विना किसी प्रकार की चेष्टा किए ही प्राप्त हो गई है। बड़ी-बड़ी रियासतें पट्टीदारी या हिस्सेदारी के कारण खंड-खंड हो गईं; बड़े-बड़े ज़मींदार, जो किसी समय में अत्यंत प्रभावशाली या राज-सम्मानित समझे जाते थे, उनकी संतानें इसी अनुग्रह के कारण आज इधर-उधर ठोकरें खाती अथवा दासत्व का पट्टा गले में बाँधे फिरती हैं।

हम आगे चलकर यह दिखलाने का उद्योग करेंगे कि सामंत और ज़मींदारी आदि की प्रथाएँ इस देश में कैसे आरंभ हुईं।

आरंभ में छोटे-छोटे राजा थे, और वे परस्पर युद्ध किया करते थे। उनमें जो बलवान् होता था, वह दूसरे को परास्त कर अपने वश में कर लेता था। ऐसे पराजित राजा उसके सामंत हो जाते थे। इस प्रकार एक-एक राजा के अधीन अनेकानेक सामंत हो गए। फिर कालांतर में इन राजों में भी परस्पर विजयाकांक्षा उत्पन्न होने लगी। तब उनमें जो अत्यंत पराक्रमी हुआ, वह सर्वोपरि गिना जाने लगा। उसे लोग चक्रवर्ती कहते थे, और उसके अधीन राज्य उसके मांडलिक कहलाते थे। इस प्रकार मंडल के अंतर्गत मंडल बनते गए, और प्रत्येक अधीनस्थ राजा अपने से ऊँचे अधिपति को अपने कोश की आय का एक अंश देता गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ अधिपतियों के कोश दो प्रकार से बढ़ते गए — एक तो उस कर से, जो उन्हें अपनी प्रजा से मिलता था, दूसरे उस कर से, जो उन्हें अपने अधीनस्थ मांडलिकों और सामंतों से मिलता था। युधिष्ठिर के काल में जो व्यवस्था थी, उसका उल्लेख महाभारत में इस प्रकार है—

"ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यस्तथापरः ;
द्विगुणाया शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ।
तत्र ह्यनेकपायत्तं राष्ट्रं भवति भारत ;
शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ।"

अर्थात् गाँव का एक अधिपति हो। ऐसे दस ग्रामाधिपों का एक 'दशप'-नामक अधिपति हो। दो दशपों का एक 'विंशतिप' हो। पाँच विंशतिप का एक 'शतप' और दस 'शतप' का एक 'सहस्रप' या 'सहस्राधिप' हो। इस प्रकार राष्ट्र में अनेक अधिपति एक के अधीन दूसरे रहें, और सहस्रपति का प्रधान स्थान किसी शाखा-नगर या क़सबे में रहे।

यहाँ सबसे छोटा जो एक-ग्रामाधिप था, उससे लेकर सहस्रप तक की वृत्ति का प्रबंध इस प्रकार लिखा गया है—

"यानि ग्राम्यानि भोज्यानि ग्रामिकस्तानुपाश्नियात् ;
दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ।
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः ।"

अर्थात् गाँव के कर का जो लाभ है, उसे ग्रामिक ले। उसी से—अर्थात् अपने ग्राम के कर से—दशप, और उसी से विंशतिप की जीविका हो। शताध्यक्ष को एक गाँव पूरा मिले।

इससे यह जाना जाता है कि गाँव कभी विभाज्य नहीं माना गया, और किसी 'स्मृति' में 'भू-संपत्ति' ऐसी संपत्ति नहीं मानी गई, जिसको उसका स्वामी बेच सकता, या जिसे उसके मरने पर उसके उत्तराधिकारी बाँट सकते। हाँ, राजा ऐसे शत्रु की निजी संपत्ति को, जो उसकी अधीनता स्वीकार न करता हो,

(7) We might perhaps expect a further stage in this evolution, a stage in which landed property would be represented by a share *i. e.* registered little or even a tittle to bearer.

हराकर अपनी निज की संपत्ति में मिला लेता था, और उसमें से वह दूसरों को दान कर सकता या पुरस्कार में दे सकता था। सारांश यह कि ग्राम के आधिपत्य की प्राप्ति के दो प्रकार थे—

१—राजा से [(क) परंपरा-गत, (ख) प्रदत्त]
२—जीतने से

पर यह संपत्ति किसी दशा में 'विभाज्य' या 'देय' नहीं समझी जाती थी। यह प्रथा मुसलमानों के काल तक लगातार चली आई। उस समय भी एक ग्राम का एक ही अधिपति होता था; यह भले ही था कि कई गाँवों का एक ही ज़मींदार होता था; पर एक गाँव के दो ज़मींदार नहीं होते थे। गाँव उस समय विभाज्य या देय नहीं समझा जाता था। न इसकी गणना स्थिर संपत्ति में थी। स्थिर संपत्ति में केवल घर, वाटिका, वृक्ष आदि माने जाते थे। मुसलमान-काल तक गाँव स्थिर संपत्ति नहीं माने गए थे। अँगरेज़ी-राज्य में ही उनकी गणना स्थिर संपत्ति में हुई है।

अब भूमि-कर के संबंध में मीमांसा की जाती है। हमारे धर्म-ग्रंथों में, आरंभ में, भूमि-कर 'धान्य का दशांश' माना गया था। इसके निर्धारण का हेतु केवल रक्षा बतलाई गई थी। पर आगे चलकर इसकी मात्रा में भेद पड़ता गया, और अंत में जाकर वह दशांश से 'तृतीयांश' हो गई। इसी कारण लोक-व्यवहार में शस्य या फ़सल का नाम 'तिहाई' पड़ गया। महाभारत में 'कर' लगाते समय दो बातों पर ध्यान रखने की शिक्षा दी गई है—

"फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत्;
फलं कर्म च संत्यज्य न कश्चित्संप्रवर्तते।"

अर्थात् फल और कर्म के ऊपर ध्यान रखकर सब प्रकार के कर लगाने चाहिए। फल और कर्म को त्याग-कर कोई काम नहीं करता। सारांश यह कि भूमि-कर या 'लगान' लगाने में कर्म अर्थात् श्रम और उसके लाभ या फल के ऊपर ध्यान रखना चाहिए। जिससे कृषक को अपने कर्म (काम) और लागत का फल मिले।

पाश्चात्य अर्थ-नीतिज्ञों में 'रिकार्डो'-नामक इँगलिस्तान का अर्थ-नीतिज्ञ सबसे प्रधान माना जाता है। इसी ने सबसे पहले 'भूमि-कर' की समस्या के रहस्य का उद्घाटन किया है। योरप के अन्य सब अर्थ-नीतिज्ञ न्यूनाधिक इसी के सिद्धांत के आधार को लेकर चले हैं। उसका कथन * है—

"भूमि-कर भूमि की उपज का वह अंश है, जो भू-स्वामी को भूमि की मौलिक और अक्षय शक्ति से काम लेने के बदले में दिया जाता है।

जब किसी देश में लोग पहले-पहल बसते हैं, तब वहाँ उर्वरा भूमि बहुत अधिक रहती है। उस समय वहाँ के अधिवासियों को अपने भरण-पोषण के लिये उसका अत्यंत अल्प भाग कृषि के लिये पर्याप्त होता है; और सचमुच अधिवासियों के पास जो पूँजी होती है, तदनुसार वे उतने ही को जोत-बो सकते हैं। उस समय भूमि-कर नहीं होता, भूमि के लिये कोई कुछ नहीं देता। कारण, भूमि इतनी रहती है कि जो जहाँ चाहे, वहाँ जोत-बो सकता है। उस समय वह किसी की संपत्ति नहीं होती। धीरे-धीरे जन-संख्या बढ़ती जाती है, और लोग मध्यम श्रेणी की भूमि जोतना आरंभ करते हैं। उस समय भूमि-कर की प्रथा का आरंभ होता है, और उत्तम श्रेणी की भूमि पर कर लगता है; अर्थात् उत्तम और मध्यम श्रेणी की भूमियों के गुणों के भेद और बलाबल के आधार पर कर-लगान

* Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of the original and indestructible powers of the soil.

On the first settling of a country in which there is abundance of rich and fertile land, a very small portion of which is required to be cultivated for the support of the actual population or indeed can be cultivated with the capital which the population can command, there will be no rent, for no one would pay for the use of land when there was an abundant quantity not yet appropriated, and therefore at the disposal of whosoever might chose to cultivate it ....when with the progress of society land of the second degree of fertility is taken into cultivation, rent immediately commences on that of the first quality and the amount of that rent will depend on the difference in the quality of these two portions of

जाता है। फिर जब निकृष्ट श्रेणी की भूमि में भी कृषि होने लगती है, तब मध्यम श्रेणी की भूमि पर कर लग जाता है, और इसके कर का भी आधार मध्यम और निकृष्ट श्रेणी की भूमियों के गुणों का बलाबल ही होता है। उस समय उत्तम श्रेणी की भूमि का कर बढ़ जाता है। ऐसी अवस्था में प्राचीन भूमि पर यथेष्ट धन ख़र्च किया जाता है, और उस पर कर भी लगता है। कारण, कर सदैव उस उपज का अंतर होता है, जो समान श्रम और व्यय से (भूमियों में) हुआ करता है। ऐसी भूमि को, जो सबसे अधिक उपजाऊ होती और जिसमें सब प्रकार की सुविधा पड़ती है, लोग पहले जोतते हैं।"

हिंदू-ग्रंथ देखने से जान पड़ता है कि भूमि-कर पहले उपज का दशांश था। उस समय ९ भाग उपज भूमि को जोतनेवालों के लिये छोड़ दी गई थी। इस कर के स्थापन का कारण 'भूमि की उर्वरा-शक्ति' न थी, जिसके आधार पर 'कर' का लगाया जाना पाश्चात्य विद्वानों ने माना है। उस समय भूमि का कोई स्वामी भी न था, जिसे, भूमि की उर्वरा-शक्ति को काम में लाने के लिये, किसान भूमि की उपज का कोई भाग देते। दशांश तो उन लोगों ने राजा को अपनी रक्षा के बदले में देना स्वीकार किया था। भारतवर्ष के राजा इतने अन्यायी न थे कि भूमि की उर्वरा-शक्ति से लाभ उठाने के बदले में अपनी प्रजा से 'भूमि-कर' लेते, और रक्षा तथा न्याय के मूल्य-स्वरूप कर के बोझे के नीचे दबाकर उनको चकनाचूर कर देते। उस समय के राजा यह बात अच्छी तरह समझते थे कि भूमि यद्यपि परिमित है, फिर भी यह प्रकृति का एक अंग है; इससे लाभ उठाने के सभी वैसे ही अधिकारी हैं, जैसे कि धूप, वायु, अग्नि आदि प्रकृति के अंशों से सब लाभ उठाते हैं। इसी कारण उस समय भूमि का कुछ भी मूल्य न था, और न हिंदू-शास्त्रों में उसे स्थिर संपत्ति और विभाज्य माना गया है। स्थिर संपत्ति तो वह मानी गई, जो भूमि से संलग्न हो, जिसे विना छिन्न-भिन्न किए कोई स्थानांतर में न ले जा सके; जैसे घर, वाटिका, वृक्ष इत्यादि। वह भी संपत्ति उसी की मानी जाती थी, जिसने उसे लगाया, बनाया या बोया हो। किंतु यदि वे प्राकृतिक हैं, तो उनसे लोग उपयोग-मात्र उठाने के अधिकारी थे। उदाहरण-स्वरूप पर्वत, वन, नदी आदि पर की ऐसी वस्तुएँ राष्ट्र की संपत्ति मानी जाती थीं। इससे यह स्पष्ट है कि हिंदुओं के भू-कर-विधान का आधार पाश्चात्यों के भू-कर-विधान के आधार से नितांत विभिन्न है। यही कारण है कि पाश्चात्य देशों में, या जहाँ पाश्चात्यों का संसर्ग हुआ, प्रजा पर नक़दी का कर लगाया गया है, और उस कर को यथासमय, ज्यों-ज्यों महँगी बढ़ती गई, बढ़ाने का प्रयत्न किया गया है। वहाँ यह मानकर 'कर' की कल्पना हुई है कि भूमि पर भू-स्वामी का वैयक्तिक अधिकार है; भूमि राज्य का अंश नहीं है।

भारतवर्ष में, जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, भूमि-कर पहले उपज का दशांश था। पीछे ज्यों-ज्यों रक्षा का भार बढ़ता गया, और राजों को अपनी प्रजा के लिये विशेष सुख-सामग्री आदि जुटाने के लिये अधिक व्यय की आवश्यकता पड़ती गई, त्यों-त्यों प्रजा कर को बढ़ाती गई। महाभारत के देखने से पता चलता है कि उस समय छठा भाग भूमि-कर था; जिसे बलि कहते थे। व्यासजी युधिष्ठिर से कहते हैं—

"आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति,
प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः।"

अर्थात् षष्ठांश बलि को लेकर जो राजा राष्ट्र की रक्षा नहीं करता, उस राजा को प्रजा के पाप का चतुर्थांश मिलता है।

यह षडंश बलि भी रक्षा के बदले में ली जाती थी—भूमि को जोतने का कर नहीं थी।

मौर्य-काल में यह षड्भाग बलि तृतीयांश और चतुर्थांश हो गई थी। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में, कोशाभिसंहरण-अध्याय में, लिखा है—

land. When land of the third quality is taken into cultivation, rent immediately commences on the second and it is regulated as before by the difference in productive powers. At the same time the rent of the first quality will rise...... ...In such case capital will be preferably employed on the old land and will equally create rent, for rent is always the difference between the produce obtained by the employment of two equal quantities of capital and labour.........The most fertile and most favourably situated land will be first cultivated.

"कोशमकोशः प्रत्युत्पन्नार्थकृच्छ्रं संगृह्णीयात् । जनपदं महांतमल्पप्रमाणं वा देवमातृकं प्रभूतधान्यं धान्यस्यांशं तृतीयं चतुर्थं वा याचेत यथासारम्। मध्यमवरं वा दुर्ग-सेतुकर्म-वणिक्-पथ-शून्यनिवेश-खनि-द्रव्य-हस्ति-वनकर्मोपकारिणं प्रत्यंतमल्प-प्राणं वा न याचेत। धान्यपशुहिरण्यादि निविशमानाय दद्यात्। चतुर्थमंशं धान्यानां बीजभक्तशुद्धं हिरण्येन क्रीणीयात्। अरण्यजातं श्रोत्रियस्वं च परिहरेत् । × × × × × × चतुर्थमंशं धान्यानां षष्ठं वन्यानां तूल-लाक्षा-क्षौम-वल्कल-कार्पास-रौम-कौशेय-कौषधगंधं पुष्पफलशाकपण्यानां काष्ठ-वेणु-मांस-वल्लूराणां च गृह्णीयुः । दंताजिनस्यार्द्धम् ।"

अर्थात् जब राजा का कोश क्षीण हो, धन का कष्ट हो, उस दशा में वह इस रीति से (धन का) संग्रह करे। जनपद चाहे बड़ा हो या छोटा, यदि वहाँ केवल वर्षा के कारण अन्न की उपज अच्छी होती हो, तो वहाँ उपज का तृतीयांश या चतुर्थांश माँगकर प्रजा से ले। मध्यम * और अवर को तथा दुर्ग † सेतुकर्म, वणिक्पथ, शून्य-निवेश (नई आबादी) खान, द्रव्य-वन और हस्ति-वन के काम में उपकारी (सहायता करनेवालों) और जो सीमा पर रहते हों, या अल्प-प्राण हों, उनसे कुछ न माँगे । नए बसनेवालों को धान्य, पशु और धन (हिरण्य) दे। उपज का जो अंश बीज और भक्त (खाने के लिये जो वर्ष-भर के लिये पर्याप्त हो) अलग कर देने से बचे, उसका चौथा भाग दाम देकर मोल ले। अरण्य में उत्पन्न होनेवाली वस्तु और जो श्रोत्रियों के लिये है, जैसे नीवार आदि, उसको त्याग दे। × × × × धान्य का चतुर्थांश, वन की उपज का षष्ठांश ले। रुई, लाख, क्षौम, वल्कल (वृक्ष की छाल का वस्त्र), कार्पास, रौम, कौशेय, [illegible] (ओषधि), गंध, पुष्प, फल, शाक आदि (जो [illegible] बिकने के लिये हों) तथा काठ, बाँस, मांस [illegible] का षष्ठ भाग ले।

इससे यह प्रकट है कि राजा के लिये उपज का [illegible] या चतुर्थांश जो कर-स्वरूप लेने का विधान [illegible] आपद्धर्म है ; अर्थात् राजा ऐसी अवस्था में [illegible] प्रजा से तृतीयांश या चतुर्थांश ले सकता है, [illegible] अर्थ-संकट हो। किंतु उस दशा में भी उसे प्रजा [illegible] से याचना करनी चाहिए। इससे यह कभी [illegible] निकलता कि तृतीयांश या चतुर्थांश उस [illegible] था, बल्कि राज-कर षष्ठांश ही था। राजा [illegible] ले सकता था। हाँ, आपद्दशा में, जैसे जब [illegible] से युद्ध करना होता, या ऐसे ही अन्य कारणों [illegible] अर्थ-संकट का सामना करना पड़ता, तब वह [illegible] प्रजा से ऐसी भूमि की उपज की चौथाई [illegible] माँगता था, जिसमें विना सिंचाई किए, केवल [illegible] जल से, अच्छी फ़सल उपजती थी।

यहाँ पर यह भी दिखला देने की आवश्यकता [illegible] कि उस समय गाँवों का प्रबंध क्या था। गाँव [illegible] समय दो प्रकार के थे। एक वे, जो बसे हुए थे, [illegible] का प्रबंध उन सामंतों के अधीन था, जो रा[illegible] अपनी आय का भाग देते थे। दूसरे वे, जो नए [illegible] जाते थे। पुराने बसे हुए गाँवों के भी दो भेद थे। [illegible] करद, दूसरे अकरद । करद गाँव वे थे, जिनका [illegible] राजा के अधीन था। और, अकरद वे थे, जिनका [illegible] उनका स्वामी करता था। अकरद गाँवों में [illegible] अधिपति को 'भोग' का स्वत्व था, और करद गाँ[illegible] राजा भोग के स्वत्व का भागी था।

गाँव के बसाने के संबंध में कौटिल्य लिखते हैं—

"भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्व[illegible] भिष्यंदवमनेन वा निवेशयेत् । शूद्रकर्षकप्रायं कुल[illegible] पंचशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं [illegible] शयेत्। नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबंधशाल्मलीशमीक्षीरवृ[illegible] सीम्नां स्थापयेत्। अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं चतु[illegible] ग्राम्या द्रोणमुखं द्विशतग्राम्या खार्वटिकं दशग्रामी[illegible] संग्रहणं स्थापयेत् । अंतेष्वंतपालदुर्गाणि जनपदद्वा[illegible] पालाधिष्ठितानि स्थापयेत्। तेषामंतराणि वागुरिकशबर[illegible]

* "षंडो मध्यमः। इक्षवः प्रत्यवरं।" बाग़ की चीज़ें जो लोग अपने काम के लिये बोवें, वे मध्यम हैं। ईख प्रत्यवर या अवर है।

† "शुल्कं दंडः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूनासूत्रं तैलं घृतं क्षारं सौवर्णिकः पण्यसंस्था वेश्या द्यूतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारबहिरिकादेयं च दुर्गम् । पुष्पफलवाटषंडकेदारमूलवापास्सेतुः । स्थलपथो वारिपथश्च वणिक्पथः । सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालशंखलोहलवणभूमिप्रस्तररसधातवः खनिः । पशुमृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम् ।"

चांडालारण्यचरा रक्षेयुः । ऋत्विगाचार्यपुरोहितश्रोत्रियेभ्यो ब्रह्मदेयान्यदंडकराण्यभिरूपदायकानि प्रयच्छेत्। अध्यक्षसंख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थचिकित्सकाश्वदमकजंघारिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम्। करदेभ्यः कृतक्षेत्राण्यैकपुरुषकाणि प्रयच्छेत्। अकृतानि कर्तृभ्यो नादद्यात्। अकृषतामाच्छिद्यान्येभ्यः प्रयच्छेत्। ग्रामभृतकवैदेहका वा कृषेयुः। अकृषंतोऽपहीनं दद्युः। धान्यपशुहिरण्यैश्चैनाननुगृह्णीयात्तान्यनुसुखेन दद्युः। अनुग्रहपरिहारौ चैभ्यः कोशवृद्धिकरौ दद्यात्। कोशोपघातकौ वर्जयेत्। अल्पकोशो हि राजा पौरजानपदानेव ग्रसते।"

अर्थात् जहाँ पहले गाँव रहा हो, पर उजड़ गया हो, और जहाँ कभी बस्ती न रही हो, वहाँ दूसरे देश अथवा स्वदेश से, जहाँ बस्ती घनी हो, लोगों को बुलाकर बसाया जाय। ग्राम में दो सौ घर से कम और पाँच सौ घर से अधिक घर न हों, और ये प्रायः शूद्रों और कृषकों के घर रहें, जो एक दूसरे की रक्षा करें। गाँव की सीमा कोस-दो कोस की हो। गाँव की सीमा नदी, पर्वत और वन तक रहे; नहीं तो सीमा पर गृष्टि, दरी, सेतु-बंध, सेमल, शमी या क्षीर-वृक्ष रहें। आठ सौ गाँवों के मध्य एक स्थानीय, चार सौ के मध्य एक द्रोणमुख, दो सौ के मध्य एक खार्वटिक और दस-दस गाँवों में एक संग्रहण बनाए जायँ। जनपद की सीमा पर अंतपालों के दुर्ग रहें। वे अंतपाल जनपद के नाके पर रहें। अंतपालों के बीच में वागुरिक, शबर, पुलिंद, चांडाल और अरण्यचर रक्षार्थ रहें। ऋत्विक्, आचार्य, पुरोहित और श्रोत्रियों को यथायोग्य ब्रह्म-देय दंड और कर-रहित 'दाय' दे। अध्यक्ष, संख्यापक आदि को तथा गोप, स्थानिक, अनीकस्थ, चिकित्सक, अश्वदमक, जंघारिकों को भी दाय दे। यह दाय 'विक्रय और आधान-वर्ज' हों; अर्थात् न बेचे जा सकें और न रिहन हो सकें। जो खेत बन गए हों, उन्हें कर देनेवालों को एक-पुरुषक * दिया जाय। जो खेत न बने हों, उन्हें बनानेवालों से न लिया जाय। जो कृषि न करे, उससे खेत लेकर दूसरों को दे दिए जायँ। अथवा वे ग्राम-भृतकों (जैसे नाई, धोबी आदि) और वैदेहकों को जोतने को दे दिए जायँ। जो खेत में कृषि न करे, उससे अपहीन (हर्जाना) लिया जाय। (यदि जोतें तो)

* 'एक-पुरुषक' के यह भी अर्थ होते हैं कि एक पुरुष के साथ बंदोबस्त हो, कुटुंब-भर के साथ नहीं।

उनको धान्य, पशु, हिरण्य अनुग्रह-स्वरूप दिए जायँ, और उनको वे सुख से लौटा दें। यह अनुग्रह (तक़ावी) और परिहार (छूट) ऐसा हो कि कोश बढ़ता रहे। यदि कोश को हानि की आशंका हो, तो न दिया जाय। जिस राजा का कोश अल्प होता है, वह पौरों और जानपदों को निगल जाता है।

यह तो हुई नई बस्ती की बात, अब यह बतलाने की आवश्यकता है कि उस समय आय के कितने द्वार थे। "समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनिं सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत।"

इसका मतलब यह है कि समाहर्ता दुर्ग, राष्ट्र, खनि, सेतु, वन, व्रज, वणिक्पथ-नामक विभागों का निरीक्षक या बड़ा अफ़सर होता था। इनमें से प्रत्येक विभाग के अनेक भेद थे। दुर्ग-विभाग के शुल्क, दंडादि २० भेद थे। राष्ट्र के सीता, भाग, बलि, कर, वणिक् आदि १२ भेद थे। खनि के सोना आदि भेद और सेतु के पुष्प, फल, वाट, केदार, मूलवाप आदि कई भेद थे। पशुवन, मृगवन, द्रव्यवन, हस्तिवन, ये वन के भेद थे। व्रज के गो, महिष, अज, अविक, खर, उष्ट्र, अश्व, अश्वतर आदि भेद थे। स्थल-पथ और वारि-पथ, ये वणिक्-पथ के भेद थे।

इनमें राष्ट्र के अंतर्गत भाग, बलि और कर-नामक आय थीं, जिनमें भाग नाम की वह आय थी, जो छोटे-छोटे सामंतों से मिलती थी। बलि नाम की आय वह थी, जिसे बड़े-बड़े लोग उपहार-स्वरूप भेजते थे। और, कर नाम की आय वह थी, जो राजा के निज अधिकृत देश से मिलती थी। जहाँ से राजा को कर मिलता था, उसी भूमि को वह अन्यों को दाय में दे सकता था। इसीलिये श्रोत्रिय आदि राज-कर्मचारियों को दंड और कर-रहित भूमि देने का विधान ऊपर किया गया है। ये अकरद कहलाते थे, और अपना काम करते हुए अपने 'भोग' को वहाँ से, जो उस स्थान की परिस्थिति के अनुसार होता था, लेते थे।

अब इस समय उस काग़ज़ के ऊपर भी ध्यान देने की आवश्यकता है, जिसे समाहर्ता तैयार कराता था।

समाहर्ता * जनपद की चार बहियाँ रखता था—ग्रामाग्र, क्षेत्राग्र, गृहाग्र और कुलाग्र।

* "समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यमकनिष्ठविभागेन ग्रामाग्रं परिहारकमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुप्यविष्टिकरप्रतिकरामिदमेतावदिति निबंधयेत् × × × सीमावरोधेन ग्रामाग्रम्। कृष्टाकृष्टस्थलकेदारारामषंडवाटवनवास्तुचैत्य-

ग्रामाग्र—इसमें गाँवों के भेद (ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ), उनमें कितनी छूट दी गई है, कितने सैनिक हैं, कितना धान्य, पशु, हिरण्य, कुप्य (वन्य उपज), विष्टि (मज़दूर)-कर, प्रतिकर मिल सकता है, यह लिखा रहता था। इसमें गाँवों की सीमा भी लिखी जाती थी।

क्षेत्राग्र—इसमें कितना कृष्ट और कितना अकृष्ट है, कितना स्थल और कितना केदार है, आराम, षंड-वन, वाट-वन, वास्तु, चैत्य, देव-गृह, सेतु, बंध, श्मशान, सत्र, प्रपा, पुण्य-स्थान, विवीति (चरी), पथ आदि की गणना, गाँव की सीमा के क्षेत्रों की मर्यादा, अरण्य और पथ का प्रमाण तथा कितना संप्रदान, विक्रय, अनुग्रह, परिहार दिया गया है, यह सब लिखा जाता था।

गृहाग्र—इसमें कितने घर करद हैं, कितने अकरद, उनमें कितने ब्राह्मण, कितने क्षत्रिय, कितने वैश्य, कितने शूद्र हैं, कितने कृषक, गो-रक्षक, वैदेहक, कारु-कर्म करनेवाले और दास हैं, कितने मनुष्य और कितने चतुष्पद हैं, कितना हिरण्य, कितना विष्टि, कितना शुल्क और कितना दंड से आता है, इत्यादि विवरण रहता था।

कुलाग्र—इसमें कितने कुल हैं, उनमें कितनी स्त्री और कितने पुरुष हैं, कितने बालक और कितने वृद्ध हैं, वे अमुक-अमुक काम करते हैं, उनके चरित्र, आजीव, आय और व्यय का क्या लेखा है, यह सब रहता था।

अर्थ-शास्त्र के देखने से जान पड़ता है कि चंद्रगुप्त के काल ही में ब्रह्म-देय दंड-कर-रहित थे। और, करद को, जो एक पुरुष होता था, विक्रेय और आधान्य माना जा चुका था। पर करद अपने स्वत्व को करद ही के हाथ आधान और विक्रय कर सकते थे, और ब्रह्मदेयिक ब्रह्मदेयिक के हाथ *। अन्यथा उनको पूर्व-साहस-दंड देना पड़ता था। पर ये करद समस्त ग्राम के [...] नहीं, एक प्रकार के ठेकेदार होते थे। [...] भूमि के कुछ खेत या टुकड़े, उनके जीवन [...] या एक पीढ़ी तक के लिये, दिए जाते थे। गाँव [...] स्वत्व रखनेवाले भागद और अकरद होते थे। [...] अपने स्वत्व का विक्रय और आधान करने का [...] नहीं था। यदि होता, तो इसका उल्लेख ग्रंथ [...] में अवश्य होता। इससे यह भी निश्चय होता [...] उस समय कृषक से खेत की उपज का ही अंश [...] जाता था। हाँ, नई बस्तों में, जहाँ एक पुरुष के [...] प्रथा करदों के लिये थी, 'हिरण्य' (नक़दी) [...] लिया जाता था।

ऐसा अनुमान होता है कि मुसलमान-काल के पूर्व [...] यही प्रथा प्रचलित थी और, राजा लोग करदों ([...] दारों) से हिरण्य और शेष से उपज का षष्ठांश लेते [...]

पृथ्वीराज-दिग्विजय एक ऐतिहासिक काव्य है। [...] कवि जोनराज ने लिखा है—

"गणनातिगन्युपवनानि वापिका-
स्सरसीः प्रपाश्च दधती वसुंधरा;
दिननायकस्य जगदेकचक्षुषे-
प्यधुनाश्नुते दशमभागदश्यताम्।"

अर्थात् वसुंधरा पर असंख्य उपवन, वापी, सर [...] आदि हैं; पर देखो संसार का एक-मात्र चक्षु दिवा [...] सूर्य अब उसका दशांश रस ग्रहण करता है। इसी प्र [...] राजा समृद्ध प्रजा के शस्य का दशांश लेता है।

आईन-अकबरी के देखने से प्रकट होता है कि अक [...] के राज्य-काल के आरंभ में और उसके पूर्व यह प्रथा [...] कि * समाहर्ता जो इस काम पर नियत होता था, [...] देशानुसार अन्नों के भाव को विचार-पूर्वक देखकर उ [...] के अंश का मूल्य लिया करता था। उस समय भूमि [...] उपज का तृतीयांश या चतुर्थांश भूमि-कर था। अक [...] ने पाँच वर्ष तक तो इस प्रबंध को चलने दिया, पर [...] वर्ष से उसने जिंसवार लिखवाना आरंभ किया, [...] उन्नीस वर्ष तक उसी रीति से उपज का तृतीयांश [...]

देवगृहसेतुबंधश्मशानसत्रप्रपापुण्यस्थानविवीतिपथिसंख्यानेन क्षेत्राग्रम्। तेन सीम्नां क्षेत्राणां च मर्यादारण्यपथिप्रमाणसंप्रदानविक्रयानुग्रहपरिहारनिबंधान् कारयेत्। गृहाणां च करदादसंख्यानेन। तेषु चैतावच्चातुर्वर्ण्यमेतावंतः कर्षकगोरक्षकवैदेहकारुकर्मकरदासाश्चैतावच्च द्विपदचतुष्पदमिदं चैषु हिरण्यविष्टिशुल्कदंडस्समुत्तिष्ठतीति। कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालवृद्धकर्मचरित्राजीवायव्ययपरिमाणं च विद्यात्।"

* "करदाः करदेष्वाधानं विक्रयं वा कुर्युः। ब्रह्मदेयिका ब्रह्मदेयिकेषु। अन्यथा पूर्वसाहसदंडः।"

* عمل گزار کار دانان آگاه بر نشستی و نرخ غلّہ بہاے ملک [...] وزرف نکھپ کردہ از آن ارز غلّہ گرفتے [...]
[...] جلد اول صفحہ ۳۷۳ ۔ مطبوعہ نولکشور پریس

चतुर्थांश मूल्य लेता रहा। इस प्रकार पचीसवें वर्ष से उसने अपने समस्त साम्राज्य के लिये देश के अनुसार दरबंदी बनवाई, और तब से यह कर नक़दी हो गया। अकबर ने भूमि के चार भेद किए थे—पोलच, परोटी, चच्चर और बंजर। इन सबमें पोलच पर तो छठे वर्ष से ही नक़दी कर लग गया था; पर पचीसवें वर्ष के बाद अकबर ने आईन बनाकर दस्तूर के लिये यथाशक्य (जिंस के अनुसार) कर की दर नियत की, और उसी समय से दरबंदी के अनुसार भारतवर्ष में उपज के स्थान में नक़दी राज-कर लेने की प्रथा चली। अकबर के समय में जो देशानुसार निर्ख़नामा बना था, वह अकबरनामा जिल्द २ के आरंभ में दिया हुआ है। पाठक उसे वहीं देख लें।

जगन्मोहन वर्मा

लाहौर

[उत्तरार्द्ध]

मोराँ की मसजिद

यह मसजिद शाह-आलमी दरवाज़े के अंदर पापड़मंडी बाज़ार में है। मोराँ महाराजा रणजीतसिंह की रखैल एक यवन-सुंदरी थी। उसने महाराज के हृदय पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था कि उससे बड़े-बड़े सरदार भी डरते रहते थे। महाराज स्वयं उसके घर पर आते थे। उसके नाम की मोहर तक थी। उसके नाम की मोहर मोराँ-शाही कहलाती थी। यह मसजिद सन् १८०६ ई० में बनी थी।

बादामी बाग़

यह बाग़ क़िले के उत्तर में है। ब्रिटिश-राज्य के आरंभ में यह सार्वजनिक बाग़ था। अँगरेज़ स्त्री-पुरुष इधर वायु-सेवनार्थ जाया करते थे। इस बाग़ का निरीक्षण पुराने 'लाहौर-क्रॉनिकल'-नामक अँगरेज़ी समाचार-पत्र के संपादक श्रीयुत हेनरी कोप के अधीन था। बाद को लारेंस-बाग़ के बनने से यह बाग़ उजड़ गया। बादामी बाग़ की नींव महाराज रणजीतसिंह ने रक्खी थी। मस्ती और शेराँवाला दरवाज़ों के बीच 'गुल-बादाम' नाम की एक मुसलमान राजकुमारी की क़ब्र थी। उसी के नाम पर इसका नाम बादामी बाग़ पड़ा। अब बाग़ का कोई भी चिह्न नहीं है।

लाहौर के कॉलेज

लाहौर पंजाब में विद्या का केंद्र है। यहाँ पंजाब-



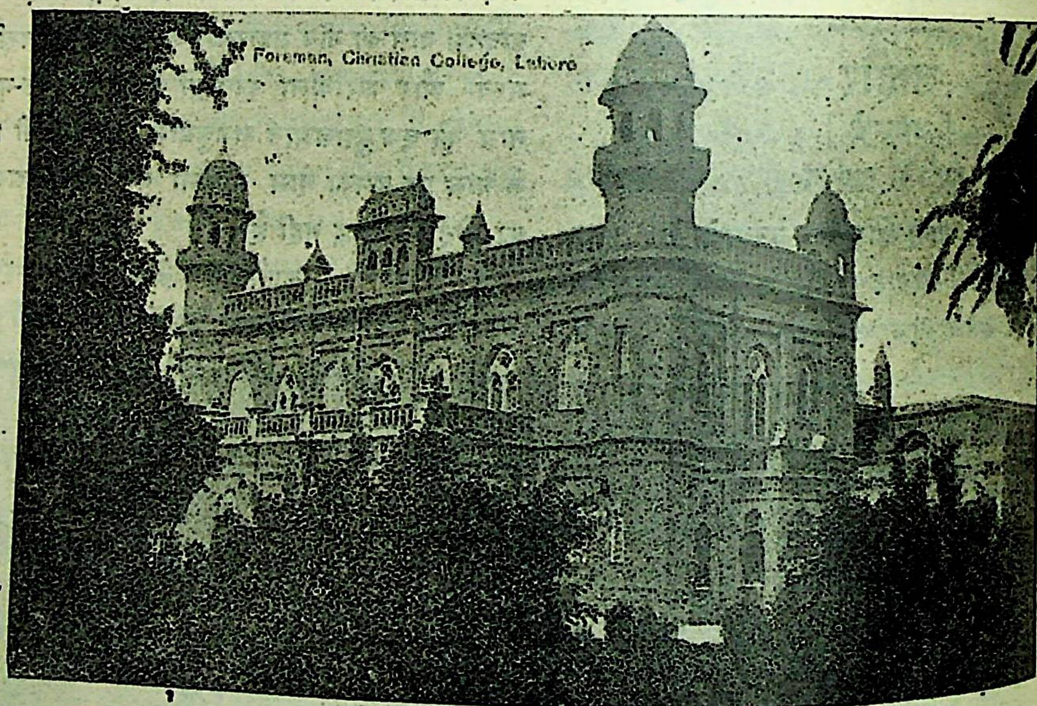
पंजाब-विश्वविद्यालय-भवन

विश्वविद्यालय, ग्यारह कॉलेज और अनेक हाई स्कूल हैं। कॉलेजों के नाम ये हैं—

फ़ोर्मेन-क्रिश्चियन-कॉलेज, दयानंद-ऐंग्लो-वैदिक-कॉलेज, गवर्नमेंट-कॉलेज, सनातनधर्म-कॉलेज, दयालसिंह-कॉलेज, इसलामिया-कॉलेज, ओरियंटल-कॉलेज, मेडिकल-कॉलेज, सेंट्रल-ट्रेनिंग-कॉलेज, चीफ़्स कॉलेज, किनर्ड-कॉलेज, और लॉ-कॉलेज।

फ़ोर्मेन-क्रिश्चियन-कॉलेज

सन् १७४९ ई० में अमेरिका के परदेशीय मिशन-समिति के दो सदस्य—पादरी न्यूटन और फ़ोर्मेन—लाहौर आए थे। उन्होंने 'रंग-महल'-नामक भवन में पहला अँगरेज़ी-स्कूल खोला। यही स्कूल उन्नति करते-करते, सन् १८८६ ई० में, कॉलेज बन गया। कुछ समय के बाद यह मकान छोटा समझा गया। इसलिये बड़े डाकघर के पास, ठंडी सड़क पर, कॉलेज के लिये नई इमारत बनाई गई। अब यह कॉलेज बहुत रौनक़ पर है।



फ़ोर्मेन-क्रिश्चियन-कॉलेज

दयानंद-ऐंग्लो-वैदिक कॉलेज

दयानंद-ऐंग्लो-वैदिक-कॉलेज की नींव सन् १८८५ ई० में रक्खी गई थी। पंजाब में आर्यसमाजियों की यह एक महत्त्व-पूर्ण संस्था है। जितने विद्यार्थी इस में शिक्षा पाते हैं, उतने अन्य किसी भी कॉलेज में नहीं। इसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि पाश्चात्य शिक्षा के साथ-साथ प्राचीन वैदिक भी शिक्षा दी जाती है। युनिवर्सिटी की संस्कृत के पठन-पाठन का अच्छा प्रबंध है। अपने संचालकों के सुप्रबंध और त्याग के कारण ही समय में अच्छी उन्नति कर ली है। नवीन सुंदर भवन को देखते ही मालूम हो जाता है यह कोई हिंदू-संस्था है। यहाँ का प्राचीन संस्कृत विभाग पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० की अध्यक्षता में उपयोगी कार्य कर रहा है।

ओरियंटल-कॉलेज

ओरियंटल-कॉलेज का मूल लाहौर की पाठशाला थी। इसको सन् १८६३ में शिक्षा-स्थापित किया था। यह एक प्राइवेट संस्था थी। से गवर्नमेंट ने भी इसे सहायता देना स्वीकार लिया। तब से बढ़ते-बढ़ते यह वर्तमान ओरियंटल-कॉलेज के रूप में परिणत हो गई। पीछे से इसमें अरबी-फ़ारसी की शिक्षा का भी प्रबंध हो गया। सन् १८७० ई०

श्रीमद्दयानंद-ऐंग्लो-वैदिक-कॉलेज

युनिवर्सिटी ने इसे कॉलेज बनाकर अपने हाथ में ले लिया। यहाँ संस्कृत, अरबी, फ़ारसी और पंजाबी की उच्च शिक्षा का अच्छा प्रबंध है।

गवर्नमेंट-कॉलेज

गवर्नमेंट-कॉलेज सन् १८६४ ई० में खोला गया था। तब तक पंजाब-विश्वविद्यालय की स्थापना नहीं हुई थी,



इसलिये इसका संबंध कलकत्ता-विश्वविद्यालय से किया गया। इसमें पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा का सर्वोत्तम प्रबंध है।

कॉलेज की पढ़ाई एक गाथिक ढंग के सुंदर भवन में है। उसमें एक बड़ा ऊँचा घंटाघर है। कॉलेज-भवन की वास्तु-भूमि बहुत ऊँची है। क्लासों के कमरों के अलावा इसमें एक बड़ा विशाल परीक्षा-भवन, पुस्तकालय और भौतिक विज्ञान, रसायन-शास्त्र एवं जीव-विद्या की प्रयोग-शालाएँ तथा एक बड़ा जीव-शास्त्र-संबंधी अजायबघर भी है। इसकी इमारत ३½ लाख की लागत से, पाँच वर्ष में, बनी थी। इसके छात्रावास भी बड़े अच्छे हैं।

दयालसिंह-कॉलेज

दयालसिंह-कॉलेज सरदार दयालसिंह मजीठिया की वदान्यता का फल है। इसकी इर्द-गिर्द की नींव सन् १९१० ई० में रक्खी गई थी। यहाँ ब्राह्म-समाज के सिद्धांतों की भी शिक्षा दी जाती है। कॉलेज का भवन निसबत-रोड पर है।

इसलामिया-कॉलेज

इसलामिया-कॉलेज की स्थापना सन् १८९२ ई० में हुई थी। यहाँ प्रायः ९९ फ़ी-सदी विद्यार्थी मुसलमान हैं। विश्वविद्यालय की शिक्षा के साथ-साथ मुसलमानी-धर्म की भी शिक्षा दी जाती है। यहाँ अरबी और फ़ारसी की शिक्षा पर विशेष ज़ोर दिया जाता है। यह ब्रंडथ और रेलवे-रोड के बीच आठ एकड़ भूमि पर बना हुआ है। इसके साथ जे० ए० वी० क्लास भी है।

सनातनधर्म-कॉलेज

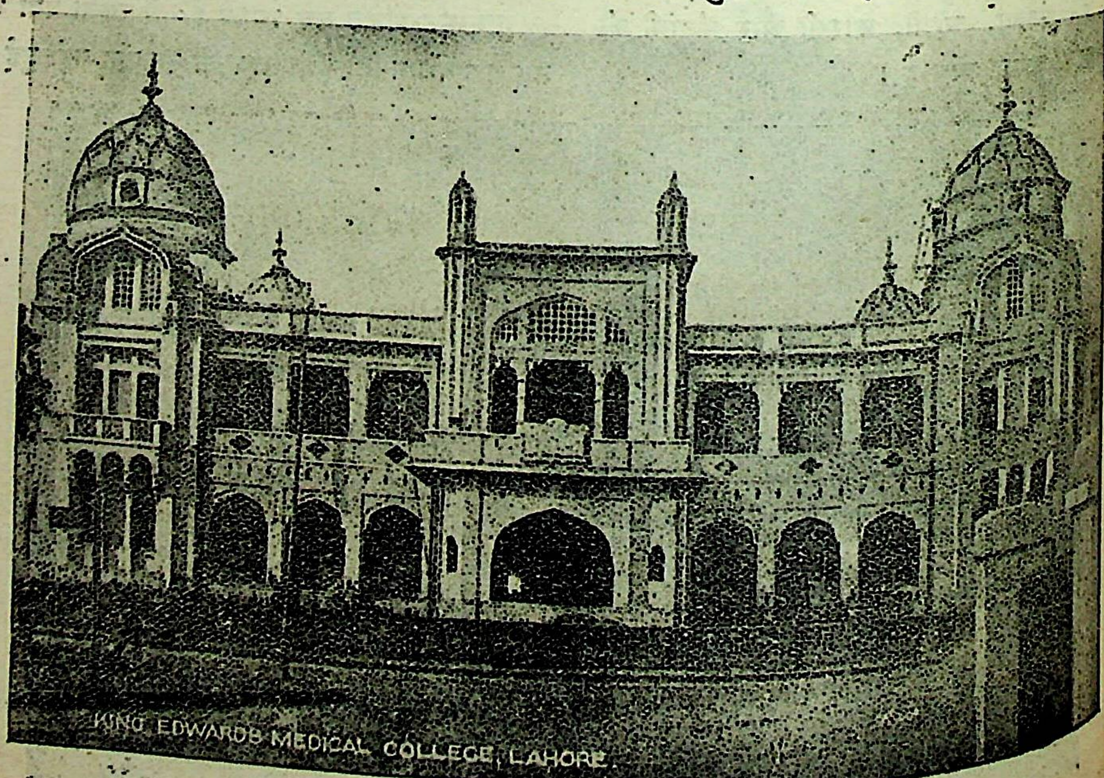
सनातनधर्म-कॉलेज सनातनधर्मावलंबियों के ... से १५ मई, सन् १९१६ ई०, में स्थापित हुआ था। ... लोवर माल पर स्थित है। यहाँ संस्कृत की शिक्षा ... विशेष ध्यान दिया जाता है।

किनर्ड-कॉलेज

किनर्ड-कॉलेज पहले लड़कियों का एक हाई स्कूल ... इस स्कूल की स्थापना सन् १८७९ ई० में हुई थी। ... १९१३ ई० में इसने कॉलेज का रूप धारण किया। ... लड़कियों के लिये बी० ए० तक की शिक्षा का प्रबंध ... कॉलेज का उद्देश्य स्त्रियों को ईसाई-धर्म पर आश्रित ... शिक्षा देना और उन्हें अच्छी नागरिका बनाना है। ... प्रत्येक धर्म की छात्रियाँ भरती हो सकती हैं।

सेंट्रल-ट्रेनिंग-कॉलेज

सेंट्रल-ट्रेनिंग-कॉलेज में शिक्षार्थियों को शिक्षा-दान ... विधि सिखलाई जाती है। इसमें सबसे बड़ी श्रेणी ... टी० है। उससे उतरकर क्रमशः एस्० ए० वी०, जे० ... बी०, एस्० बी० और जे० वी० हैं। यह सन् १८८१ ई० ... स्थापित हुआ था। इसमें भरती होने के लिये ...



किंग एडवर्ड-मेडिकल-कॉलेज

को बड़ा उद्योग करना पड़ता है। यह कॉलेज लड़कों के प्रवेश पर अनावश्यक कड़े बंधन लगाकर अपने महत्त्व को बढ़ाने और देश के नवयुवकों को विद्या से वंचित रखने की निंदनीय चेष्टा कर रहा है।

किंग एडवर्ड-मेडिकल-कॉलेज

किंग एडवर्ड-मेडिकल-कॉलेज की स्थापना सन् १८६० ई० में हुई थी। इसके साथ एक बहुत बड़ा अस्पताल भी है। कुछ वर्ष पहले इसमें भरती होने के लिये विद्यार्थी बड़े लालायित रहते थे। परंतु जब से पंजाब-सरकार ने योग्यता के स्थान में भिन्न-भिन्न धार्मिक संप्रदायों के लिहाज़ से डॉक्टरी नौकरियाँ मिलने का नियम प्रचारित किया, तब से हिंदू-विद्यार्थियों के लिये इसका आकर्षण बहुत कम हो गया है। इस कॉलेज की इमारतें बड़ी ही विशाल और महत्त्व-पूर्ण हैं। यहाँ शस्त्र-चिकित्सा के अत्युत्कृष्ट साधन मौजूद हैं।

लॉ-कॉलेज

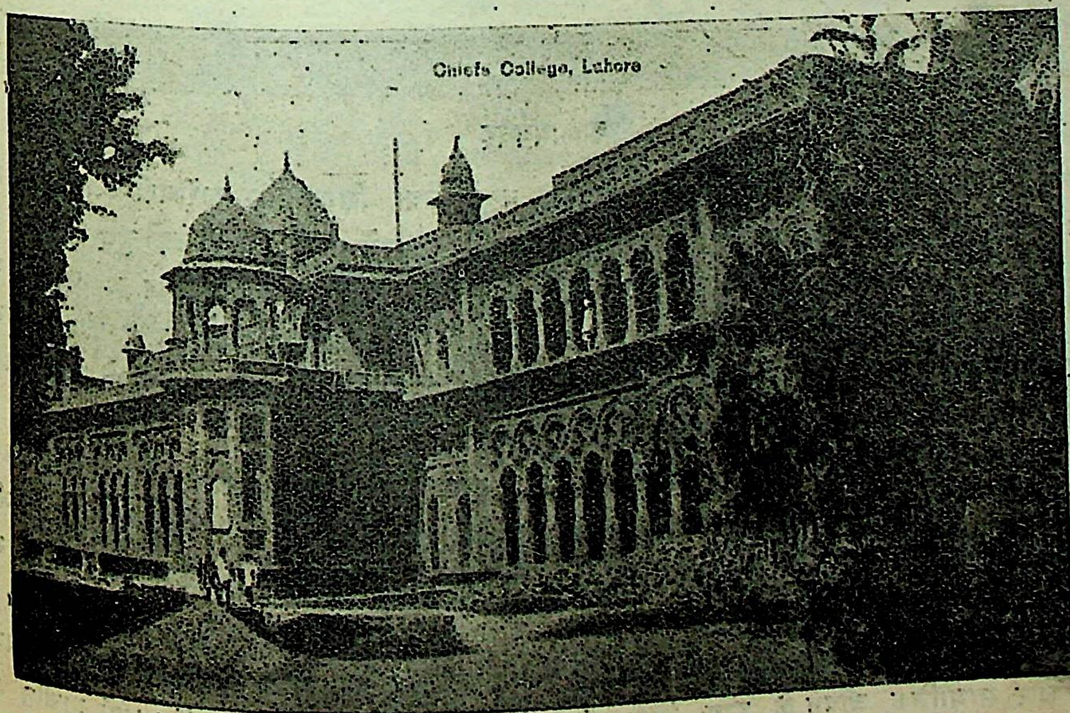
लॉ-कॉलेज लॉ-स्कूल के नाम से सन् १८७० ई० में खोला गया था। इसमें मुख़्तारी और प्लीडरी की शिक्षा दी जाती थी। सन् १६०६ ई० में यह स्कूल कॉलेज बना दिया गया। अब इसका प्रिंसिपल भी सारे समय के लिये रक्खा गया, और यह दूसरे कॉलेजों की तरह नियम-पूर्वक लगने लगा। हाल में गोल-बाग़ के निकट पुराने सेनेट-हॉल के सामने इसका नवीन भवन बनाया गया है।

पंजाब-चीफ़्स कॉलेज

पंजाब-चीफ़्स कॉलेज का उद्देश्य पंजाब के राजों और नवाबों के संबंधियों, अच्छे कुलों के युवकों और कोर्ट-ऑफ़ वार्ड्स की अभिभावकता में अप्राप्त-वयस्कों की शिक्षा है। इसकी इमारतें गवर्नमेंट-हाउस के पास ३,८४,४२० रुपए की लागत से बनी थीं। लार्ड डफ़रिन ने ३ नवंबर, सन् १८८६, को इसकी नींव रक्खी थी। यहाँ पंजाब-विश्व-विद्यालय की मैट्रिक-परीक्षा तक पढ़ाई होती है, पर नाम इसका कॉलेज ही है।

पंजाब-क़ौमी-विद्यापीठ

उपर्युक्त कॉलेजों के अतिरिक्त सन् १६२१ ई० में यहाँ एक पंजाब-क़ौमी-विद्यापीठ स्थापित हुआ है। यह राज-नीतिक असहयोग-आंदोलन का फल-स्वरूप है। इसके अधीन एक कॉलेज और एक स्कूल है। स्कूल में औद्योगिक शिक्षा पर ज़ोर दिया जाता है। कॉलेज का उद्देश्य उच्च कोटि के देश-भक्त और त्यागी विद्वान् उत्पन्न करना है। इसका सरकारी विश्वविद्यालय से कुछ भी संबंध नहीं है। महाविद्यालय और विद्यालय प्रसिद्ध जातीय भवन, 'ब्रेडला हॉल' के निकट हैं।



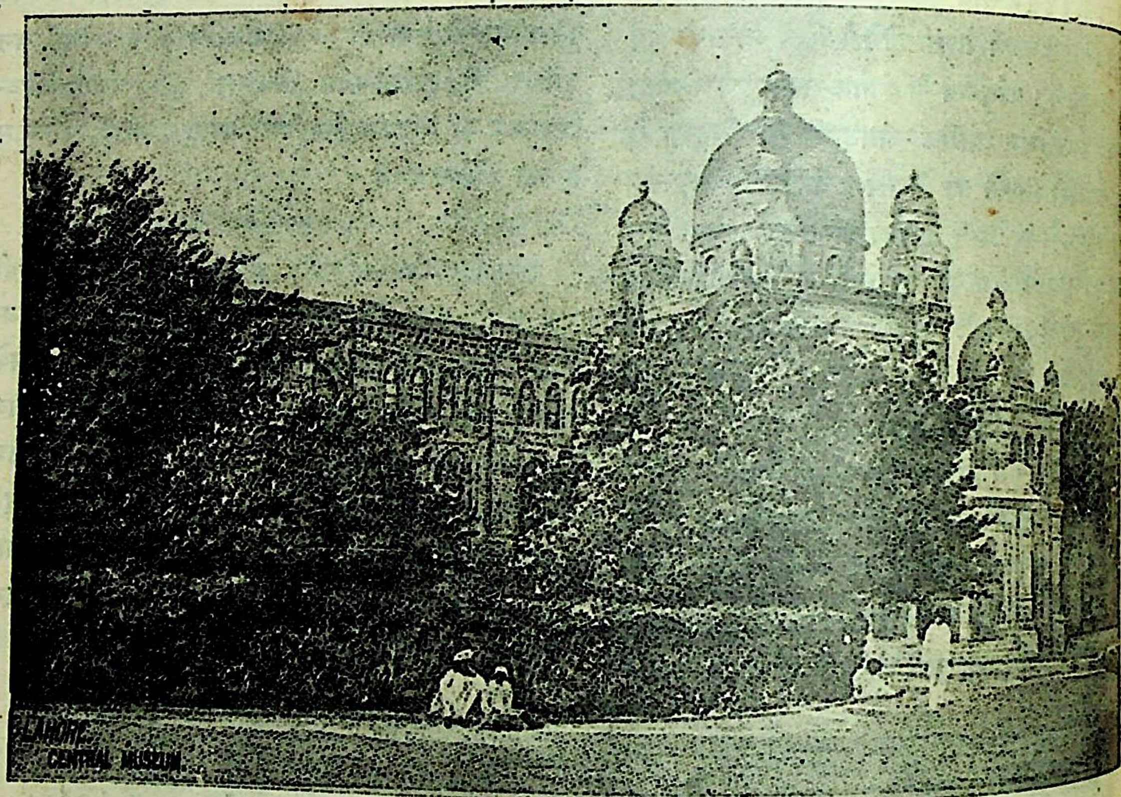
पंजाब-चीफ़्स कॉलेज

केंद्रस्थ अजायबघर

यह अजायबघर पंजाब-सार्वजनिक पुस्तकालय के निकट और नवीन सेनेट-हॉल के सामने है। बड़ी सुंदर और चित्ताकर्षक इमारत है। सन् १८६४ में, लाहौर में, पंजाब की स्वाभाविक और कृत्रिम वस्तुओं की एक प्रदर्शिनी हुई थी। यह इमारत उसी के लिये बनाई गई थी।

कहीं रहट चला रहे हैं। कहीं विवाह हो रहा। द्वार के साथ ही लकड़ी के बहुत बढ़िया दरवाज़े यह कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने हैं। सामने दीवारों सिख-गुरुओं और वीरों के सुंदर चित्र, प्राचीन हस्त और कुछ बौद्ध-मूर्तियाँ हैं।

बाईं ओर के लंबे कमरे में प्रांत की प्राचीन



अजायबघर

अजायबघर देखने के लिये समय नियत है। भीतर जाने के लिये एक घूमनेवाली चरख़ी से गुज़रना होता है। यह चरख़ी दर्शकों की संख्या लिखती जाती है।

भीतर प्रवेश करने पर दाईं ओर के कमरे में खानों, ज़ीवों और वनस्पतियों की कच्ची उपजों के नमूने हैं। इसमें अनेक प्रकार के अंडे, हाथी का सिर, मगर-मच्छ, लोमड़ी, भेड़िए, साँपों के शव और संसार की नाना जातियों के लोगों के चित्र हैं। यहाँ एक तीन इंच के कुत्ते का शव भी सुरक्षित है।

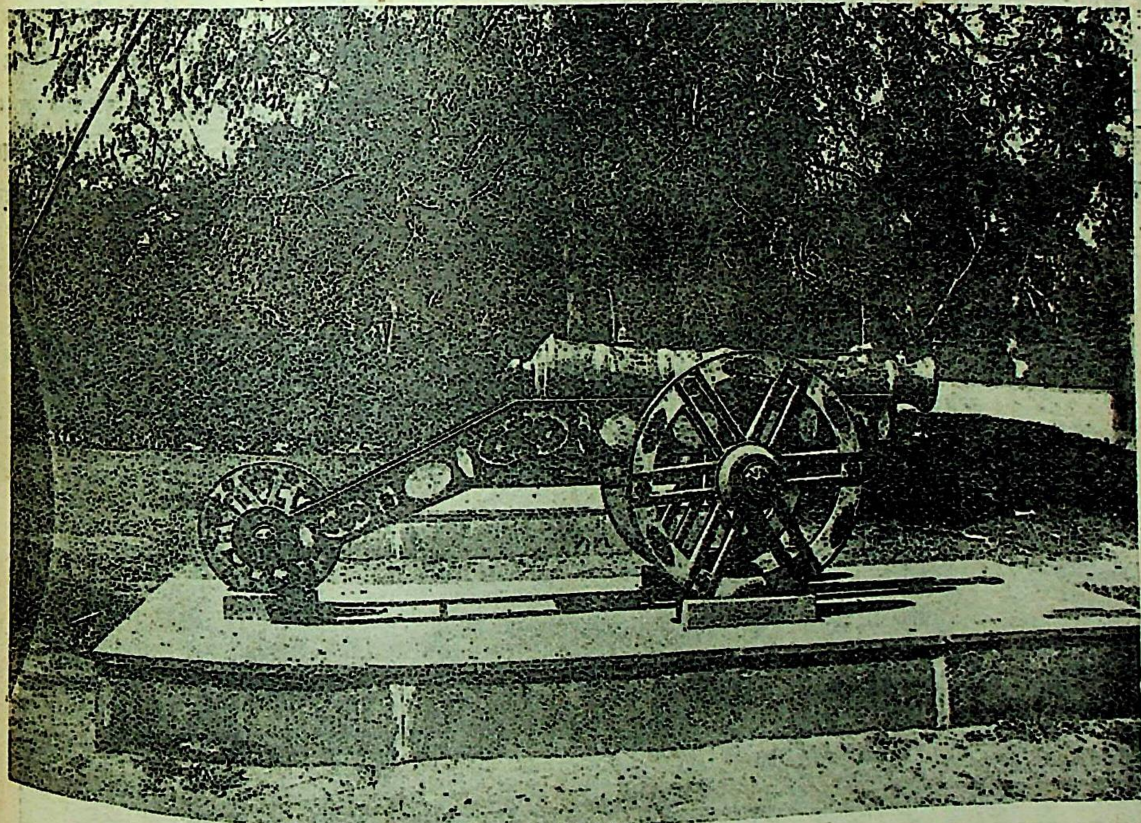
सिंह-द्वार में प्रवेश करते ही सामने के कमरे में पंजाब के ग्राम्य और सामाजिक जीवन के दृश्य, मिट्टी की मूर्तियों द्वारा, दिखलाए गए हैं। किसान कहीं हल और

वस्तुएँ तथा शिल्प और कारीगरी के उत्कृष्ट नमूने गए हैं। इसमें पुराने ढंग की कढ़ी हुई फुलकारियाँ, छींटें आदि कपड़े, सुलतान और बहावलपुर आदि मिट्टी के बर्तन, काँच की चीज़ें और कोहनूर-नामक की नक़ल मौजूद है। यहाँ कुछ पुराने शस्त्र, सितार बाजे भी हैं।

इसके आगे एक और कमरा है। इसमें केवल मूर्तियाँ ही रक्खी हुई हैं। उनमें बुद्ध-देव के जीवन अनेक घटनाएँ दिखलाई गई हैं। कुछ मूर्तियाँ मनुष्य डील से भी बड़ी हैं। इनमें से अनेक खंडित हैं। बौद्ध-मूर्तियों का जैसा उत्तम संग्रह इस अजायबघर में है, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ प्राचीन लिपि अधिक संख्या में हैं।

भंगियोंवाली तोप

अजायबघर के बाहर, युनिवर्सिटी-हॉल के सामने, एक उठे हुए चौतरे पर, एक बहुत बड़ी और पुरानी तोप है। इसे भंगियों की तोप कहते हैं। इसका असली नाम ज़मज़मा है। अहमद शाह दुर्रानी के प्रधान मंत्री शाह वली ख़ाँ के आदेशानुसार शाह नज़ीर ने इसे सन् १७५७ ई० में, लाहौर में, ढाला था। यह ताँबे और पीतल के मिश्रण की बनी है। इसके बनाने के लिये—'जज़िये' के रूप में—धातु का एक-एक बर्तन लाहौर के प्रत्येक हिंदू-घर से लिया गया था। अहमद शाह ने सन् १७६१ ई० में, पानीपत की लड़ाई में, इसका उपयोग किया था। काबुल को लौटते समय वह इसे लाहौर में, अपने प्रतिनिधि ख़्वाजा उबेद के पास, छोड़ गया। इसके साथ की दूसरी तोप चनाब-नदी में



ज़मज़मा या भंगियों की तोप

डूब गई। सन् १७६२ ई० में हरीसिंह भंगी ने ख़्वाजा उबेद पर आक्रमण करके, लाहौर के पास ख़्वाजा-सैद नाम के गाँव में, उसके शस्त्रागार पर अधिकार कर लिया। उस समय ज़मज़मा तोप भी उसके हाथ आई, और तब से उसका नाम भंगियोंवाली तोप हो गया।

यह तोप गूजरसिंह तथा लहनासिंह भंगी, चड़तसिंह, सुकेर चकिया, अहमद ख़ाँ, पीर मुहम्मद ख़ाँ और सरदार झंडासिंह भंगी आदि कई शक्ति-शाली मनुष्यों के हाथ में पड़कर गुजराँवाला, रामनगर, गुजरात और अमृतसर आदि स्थानों में घूमती रही। फिर अमृतसर में, सन् १८०२ ई० में, यह महाराज रणजीतसिंह के हाथ लगी। उन्होंने कसूर, सुजानपुर, वज़ीराबाद और मुलतान में इसका उपयोग किया। सन् १८१८ ई० में, मुलतान की लड़ाई में, यह ख़राब हो गई। तब इसे निकम्मी समझकर लाहौर लाया गया। यह सन् १८७० ई० तक दिल्ली-दरवाज़े के पास पड़ी रही, और फिर वहाँ से अपने वर्तमान स्थान में लाई गई।

तोप के मुँह के गिर्द यह लेख है—

بامر در دوران شه ولی خان وزیر
ساخت توپ زمزمه نام قلعه گیر
عمل شاه نظیر

अर्थ—दुर्रां दौराँ शाह वली ख़ाँ की आज्ञा से वज़ीर ने दुर्गों को लेनेवाली यह ज़मज़मा-तोप बनवाई। शाह नज़ीर का काम।

तोप की पीठ पर, मध्य भाग में, एक लंबा फ़ारसी-लेख है। उसमें बताया गया है कि अहमद शाह दुर्रानी की आज्ञा से यह भुजंग के समान भीषण और पर्वत के समान बृहत्काय तोप वज़ीर ने बनवाई। यह आकाश के दुर्ग को भी नष्ट कर देनेवाली है।

यह तोप १४ फ़ीट और ४½ इंच लंबी है। इसके मुख का छिद्र ६½ इंच है।

चिड़ियाघर

चिड़ियाघर मियाँ मीर की सड़क पर, ठंडी सड़क की समाप्ति पर, है। इसमें नाना प्रकार के तोते, मोर, मुर्ग़े, बंदर, जल-पक्षी, लाल रंग की मछलियाँ, ख़रगोश, लोमड़ी, रीछ, बाघ और चीते हैं। इनके अतिरिक्त आफ़्रिका के दो भयंकर सिंह भी हैं। इनके पिंजड़े बहुत ऊँची लोहे की सलाख़ों के हैं। चिड़ियाघर में सुबह-शाम दर्शकों की भीड़ रहती है।

लारेंस-बाग़

चिड़ियाघर के पास ही लारेंस-बाग़ है। यह वायु-सेवन के लिये एक उत्तम स्थान है। यहाँ के मांटगोमरी-हॉल में अँगरेज़ स्त्री-पुरुष नृत्य किया करते हैं।

ठंडी सड़क पर लॉर्ड लारेंस और महारानी वि[...] की मूर्तियाँ हैं। लारेंस के पुतले पर लिखा [...] है—"तुम लेखनी द्वारा शासित होना चाहते हो, [...] खड्ग द्वारा।"

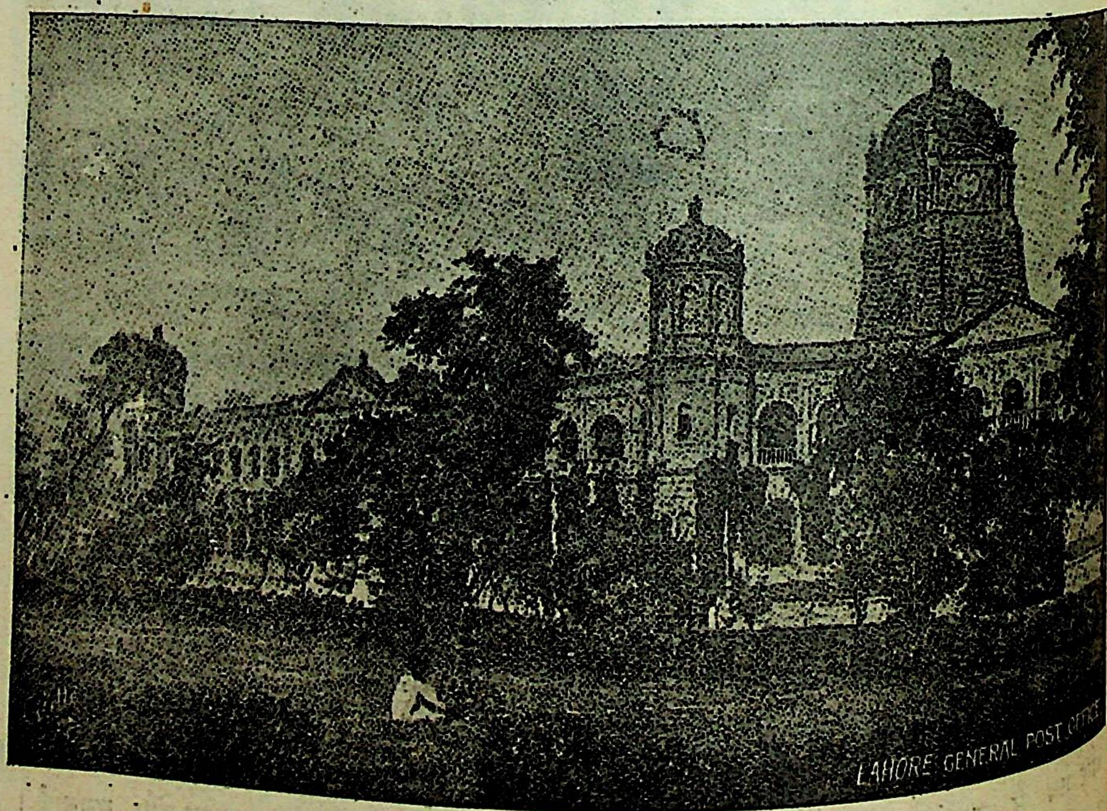
इनके अतिरिक्त लाहौर में वर्तमान काल [...] भी अनेक दर्शनीय इमारतें हैं। उनमें से [...] प्रसिद्ध ये हैं—

बड़ा डाकघर। यह ठंडी सड़क पर है।

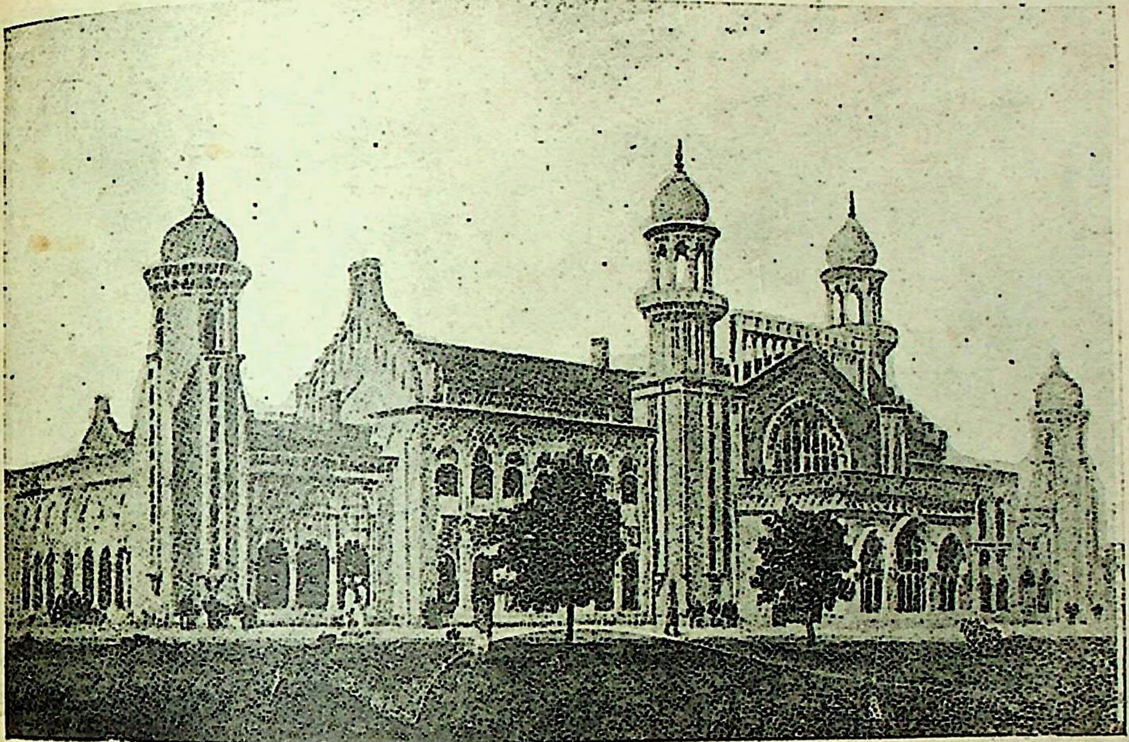
पंजाब-हाईकोर्ट। यह डाकघर के बिलकुल नि[...]

पंजाब-क्लब। यह चिड़ियाघर के सामने विक्टोरि[...] मूर्ति के पीछे है।

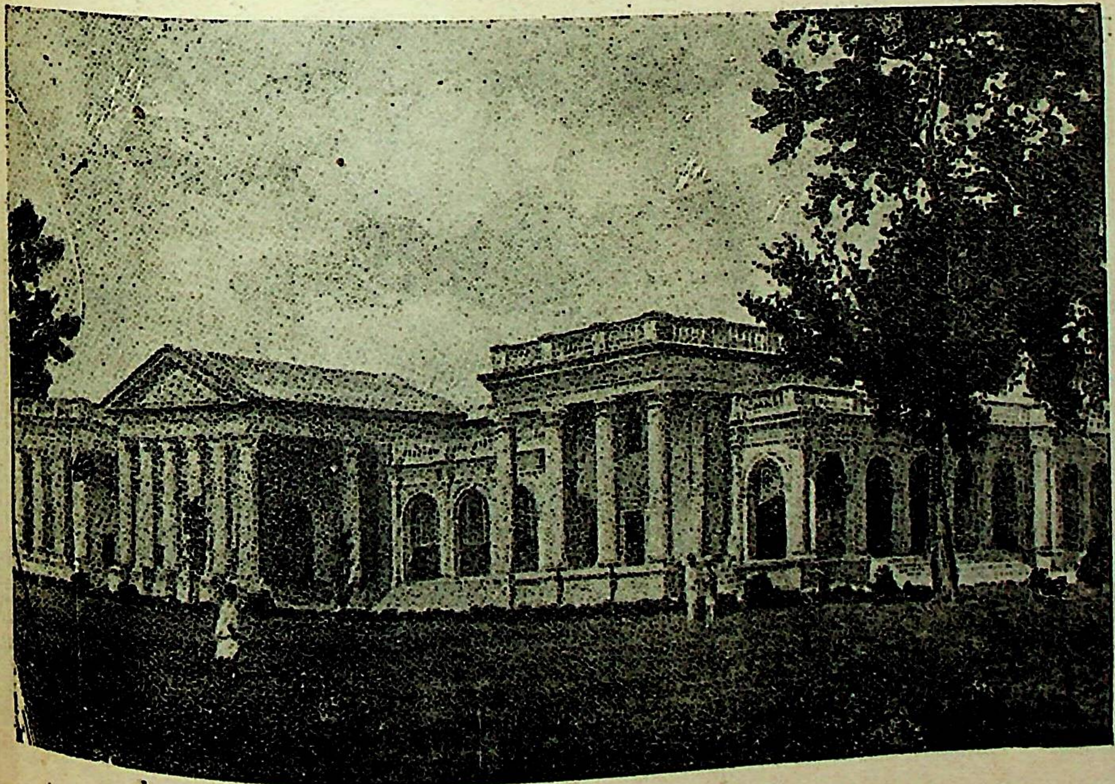
इनके सिवा रोमन केथोलिक ईसाइयों का [...] लाहौर-रेलवे चर्च, नार्थ-वेस्टर्न-रेलवे के दफ़्तर, [...] मॉडल स्कूल, रावी का नया पुल, रावी की सड़[...] आर्य-प्रतिनिधि-सभा का गुरुदत्त-भवन, ठंडी सड़[...] बड़ा तारघर, नवाँकोट की सड़क पर जनार्दन [...] शालामार-बाग़, पागलख़ाना, सेंट्रल जेल, [...] (आबज़र्वेटरी) और टाउन-हॉल आदि इमारतें भी [...] के योग्य हैं।



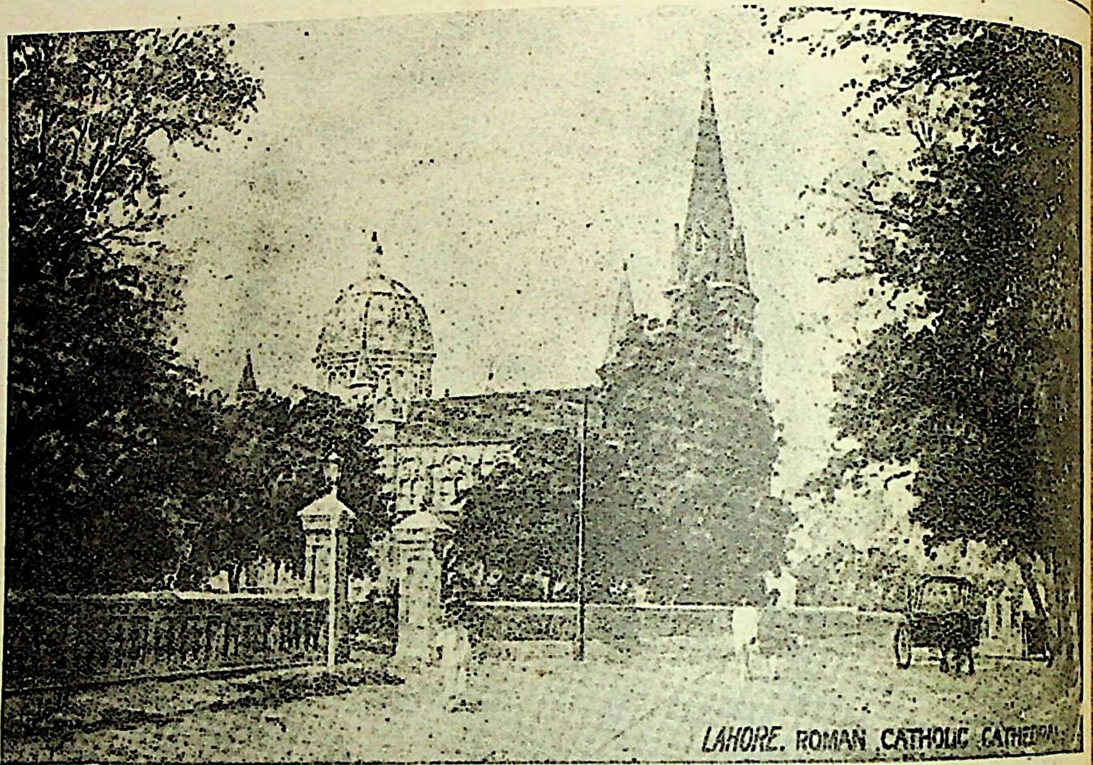
बड़ा डाकघर



हाईकोर्ट

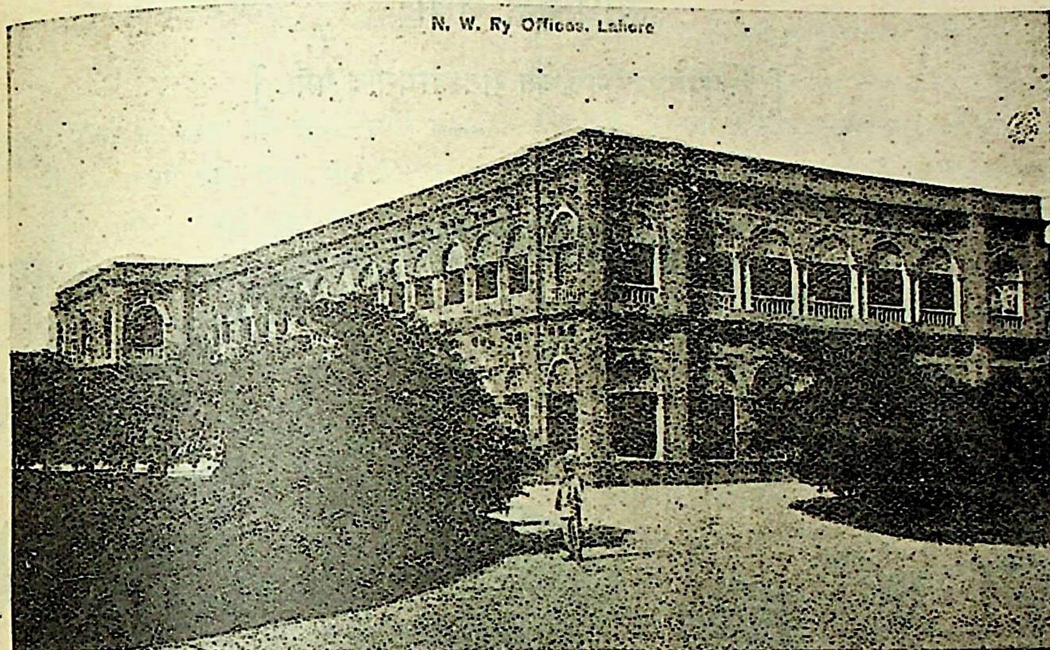


पंजाब-क्लब

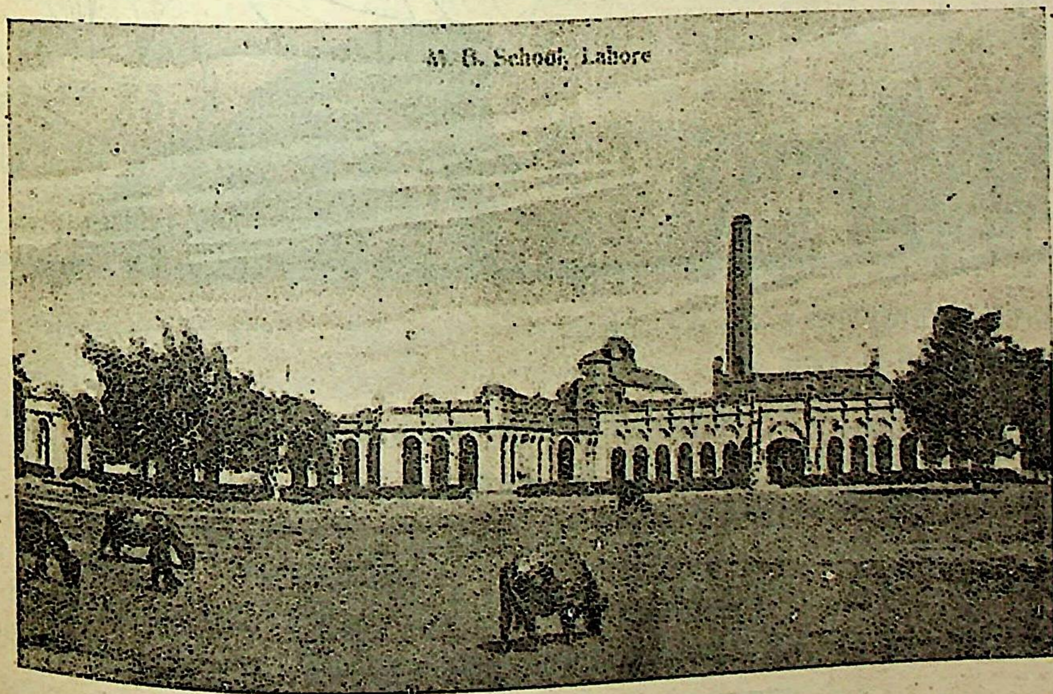


रोमन-केथोलिक-केथड्रल

रेलवे-चर्च



नॉर्थ-वेस्टर्न रेलवे के दफ़्तर



सेंट्रल मॉडल स्कूल

लाहौर में आनेवाले यात्रियों को इस लेख में वर्णित चीज़ों को अवश्य देखना चाहिए ; क्योंकि इनसे मनोरंजन के साथ-साथ ऐतिहासिक जानकारी भी प्राप्त होती है।

संतराम

आधुनिक नेता

[चित्रकार—श्रीयुत रामेश्वरप्रसाद वर्मा]



गद्दी-तकिए से लगे नेता करते राज्य ;
कष्ट कठिन झेले विना कैसे मिले स्वराज्य ?
कैसे मिले स्वराज्य, कठिन कंटकमय पथ है ;
टूटा पहिया पड़ा, खड़ा ख़तरे में रथ है !
स्वतंत्रता की उछल-कूद है तब तक भद्दी,
जब तक छुटती नहीं गुलगुली सुख की गद्दी ।

अंतिम शब्द

(१)



ला बद्रीदास एक लंबी साँस लेकर अपने छोटे पुत्र जानकीदास से बोले—बेटा कुछ भी हो, परंतु बुलाकीदास तुम्हारा बड़ा भाई है, इसका ध्यान सदैव रखना।

जानकीदास सिर झुकाकर बोले—यदि आप यह बात न भी कहें, तो भी मुझे इसका ध्यान सदा रहेगा; पर भाई साहब का जैसा स्वभाव है, उससे यह आशा नहीं कि वह शांति-पूर्वक कार्य करेंगे।

बद्रीदास तकिए के सहारे बैठकर बोले - बेटा, मेरी अवस्था इस समय सत्तर बरस के लगभग है। मैंने बीस बरस की अवस्था से पैसा कमाना शुरू कर दिया था। मैंने जिन कष्टों तथा दुःखों से धन एकत्र किया है, उन्हें मैं ही जानता हूँ। मैं तुम्हें अपने समस्त जीवन के अनुभव का निचोड़ बताए देता हूँ कि चाहे सारा संसार तुम्हारा शत्रु क्यों न हो जाय, तुम कभी सच्चा और सीधा मार्ग न छोड़ना, और सदैव नम्र रहना। ऐसा करने से पहले चाहे तुम्हें कष्ट मिले, पर अंत को अवश्य सुख मिलेगा।

जानकीदास—मैं प्राण-पण से आपका उपदेश पालन करने की चेष्टा करूँगा।

बद्रीदास—बड़ी प्रसन्नता की बात है। यदि तुम ऐसा करोगे, तो तुम्हारा विकट-से-विकट शत्रु भी अंत को तुम्हारे आगे सिर झुकावेगा। मेरा तो अब चल-चलाव लग रहा है। मैं अब केवल चार-छः दिन का मेहमान हूँ। इस रोग से मुक्त होने की कोई आशा नहीं। यह रोग मृत्यु का दूत है। मैंने अपने जीवन में सब प्रकार के दुख-सुख देख लिए। मेरे हृदय में किसी बात की इच्छा-अभिलाषा नहीं है। यदि कोई है, तो केवल यह कि मेरे पीछे तुम दोनों भाई सुख-शांति से रहो।

जानकी०—यदि ईश्वर की इच्छा और आपका आशीर्वाद है, तो ऐसा ही होगा।

बद्रीदास—होगा, निश्चय होगा, और वह केवल तुम्हारी ओर से। मुझे विश्वास है कि तुम इस बात की चेष्टा करोगे। इसीलिये मैं तुमसे इतनी बातें कह रहा हूँ। बुलाकीदास से मुझे कोई आशा नहीं। इसी कारण मैंने उससे कुछ नहीं कहा; पर एक बार कहने की इच्छा अवश्य है, मानना न मानना उसका काम है।

जानकी०—मेरी भी इच्छा है कि एक बार आप उनसे भी ये सब बातें कह दें।

बद्रीदास—कहूँगा, अवश्य कहूँगा, विना कहे मैं सुख से न मर सकूँगा। यह मैं जानता हूँ कि वह मानेगा नहीं। उसने कभी किसी की नहीं मानी; पर कदाचित्—कदाचित् मरते हुए बूढ़े पिता का अंतिम उपदेश उसे याद रहे, इसी आशा से कहूँगा।

जानकीदास नेत्रों में आँसू भरकर बोले—पिताजी, आप बार-बार मृत्यु का नाम न लें। जो कुछ ईश्वर की इच्छा है, वह तो होगी ही, फिर उसे रटने से क्या लाभ? आपका भी चित्त घबराता है, दूसरों को भी दुःख होता है।

बद्रीदास के होठों पर विषाद-युक्त मंद मुसकान की रेखा दौड़ गई। उन्होंने कहा—मेरा चित्त मृत्यु से नहीं घबराता, मैं तो उसका स्वागत करने के लिये तैयार बैठा हूँ। इस प्रकार मरने में भी सुख है, आनंद है—परंतु यदि कोई इस बात का विश्वास दिला दे कि मेरे पीछे मेरे घर में सुख-शांति का वास रहेगा।

जानकी०—जो होगा, होता रहेगा। आप उसके लिये इतने चिंतित क्यों होते हैं?

बद्रीदास—नहीं, चिंता कोई नहीं, केवल यह अभिलाषा है कि मेरा लगाया हुआ वृक्ष हरा-भरा रहे, सूखने न पावे। बस, केवल इतनी ही अभिलाषा है, अंतिम इच्छा है।

जानकी०—अब इच्छाओं-अभिलाषाओं को छोड़िए, और अपना चित्त ईश्वर की ओर लगाइए।

बद्रीदास—ईश्वर का ध्यान तो रहता ही है, वह तो रोम-रोम में बसा हुआ है—वह तो सबका मालिक ही है। इस बुलाकीदास ने * * * हाँ, ईश्वर तो मालिक ही है। हे राम! हे कृष्ण!—

जानकी०—आप भाई साहब की ओर से चिंता मत कीजिए। आपके सामने वह चाहे जो करें, पर मुझे विश्वास है कि आपके बाद वह मुझे अपने पुत्र के समान समझेंगे।

बद्रीदास—समझे तो अच्छा ही है। इससे बढ़कर और कौन बात हो सकती है ? परंतु बेटा, बुलाकी से मुझे इस बात की बहुत कम आशा है। मैं उसका स्वभाव अच्छी तरह जानता हूँ।

जानकी०—जब मैं उनका आज्ञा-पालक रहूँगा, तो वह फिर कुछ न करेंगे।

बद्रीदास—ईश्वर ऐसा ही करें ; परंतु मुझे संतोष नहीं होता। देखो, किसी समय उससे कहूँगा। वैसे तो सैकड़ों बार कहा है, समझाया है ; पर अंतिम बार कहके देखना है।

(२)

लाला बद्रीदास बड़े रईस आदमी हैं। आपकी संपत्ति छः-सात लाख की है। आपकी दो बड़ी-बड़ी मिलें हैं। एक आटा पीसने की, और दूसरी कपास ओटने की। लाला बद्रीदास अपनी जवानी में एक साधारण स्थिति के आदमी थे। अपने बाहु-बल और पराक्रम ही से उन्होंने इतना धन कमाया है।

आजकल बद्रीदास बीमार हैं। केवल बीमार ही नहीं, लोग कहते हैं, सख़्त बीमार हैं। चिकित्सकों तथा उनके इष्ट-मित्रों की धारणा है कि लाला बद्रीदास का अंत-समय उपस्थित है। इस रोग से मुक्त होना यदि असंभव नहीं, तो अत्यंत कठिन अवश्य है। लाला बद्रीदास का भी यही विश्वास है कि अब उनका अंत-समय आ गया। जब से उनको यह विश्वास हुआ, तब से वह बड़े उद्विग्न रहते हैं। उनकी उद्विग्नता मृत्यु-भय के कारण नहीं है। वह इस कारण से उद्विग्न नहीं हैं कि उनके हृदय में संसार-सुख लूटने की अभिलाषा शेष है। वह इसलिये भी दुखी नहीं हैं कि उनके पीछे उनके परिवार की क्या दशा होगी ; क्योंकि अपने परिवार के लिये वह इतना धन छोड़े जा रहे हैं, जो उसे उनके पीछे सुख-पूर्वक रख सकता है। उनके हृदय में यदि कोई चिंता है, तो केवल इस बात की कि उनके पीछे कोई बंधन न रहने से उनका परिवार तितर-बितर न हो जाय। केवल यही एक चिंता उनकी मृत्यु-शय्या को उनके लिये कष्टदायक बनाए हुए है। इस आशंका को हृदय में रखकर वह मरना नहीं चाहते। यदि उनके हृदय से यह काँटा निकाल दिया जाय, तो वह सुख-पूर्वक मर सकते हैं।

जानकीदास से उपर्युक्त बात-चीत होने के बाद बुलाकीदास को एकांत में बुलवाकर कहा— बेटा बुलाकी, मेरा तो अंत-समय उपस्थित है। मैं तो अब कुछ दिनों का मेहमान हूँ, तो दिन की आशा नहीं ; दिन में है, तो रात की आशा नहीं। पता नहीं, किस समय प्राण निकल जाय।

बुलाकी०—पिताजी, आप व्यर्थ ही ऐसी बातें करते हैं। डॉक्टरों का कहना है कि आपकी दशा कुछ ऐसी ख़राब नहीं है, आपका उठ खड़ा होना कुछ असंभव नहीं है।

यह बात बुलाकीदास ने केवल पिता को धैर्य देने के लिये कही, अन्यथा वह अच्छी तरह जानते थे कि अब उनके पिता का अंत-समय अत्यंत निकट है।

बद्रीदास—ये सब कहने की बातें और लोकाचार हैं। मैं अपनी दशा भली भाँति जानता हूँ—ख़ैर। मैंने तुम्हें इसलिये बुलवाया है कि तुमसे कुछ बातें कहूँ।

बुलाकीदास ने कुछ उत्सुक होकर कहा—कहिए।

बद्रीदास—यदि आज तुम्हारी माता जीवित होतीं, तो मैं निश्चिंत होकर सुख-पूर्वक मर सकता ; पर उनके न रहने से तो इस अंत-समय में शांति मिलना बदा नहीं था।

लाला बद्रीदास की आँखें अश्रु-पूर्ण हो आईं। उन्होंने एक दीर्घ निःश्वास ली। तत्पश्चात् बोले—तुम्हारी माता जीवित रहती, तो मेरे बाद वह तुम दोनों भाइयों को एक सूत्र में बाँधे रखती ; परंतु अब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है। अतएव अब मुझे केवल तुम दोनों भाइयों की सज्जनता पर ही निर्भर होना पड़ रहा है।

बुलाकीदास अपने पिता का तात्पर्य समझ गए ; पर बात का शीघ्र अंत करने के लिये बोले—आप चाहते क्या हैं ?

बद्रीदास—केवल इतना कि मेरे पीछे तुम दोनों भाई मिल-जुलकर रहो। सब काम वैसे ही चलें, जैसे अब है। घर में फूट न हो, सदैव सुख-शांति का साम्राज्य बना रहे। जानकी यद्यपि तुमसे केवल तीन वर्ष छोटा है, पर वह तुमको मेरे बाद मेरे ही स्थान पर समझेगा, उसने मुझे विश्वास दिला दिया है। पर तुम्हारी ओर से अभी मैं निश्चिंत नहीं हुआ। यदि तुम भी मेरे हृदय में यह बात जमा दो, तो मुझे पूर्ण शांति मिल जाय।

बुलाकीदास के मुख पर एक व्यंग्य-पूर्ण मुसकिराहट दौड़ गई। उन्होंने कहा—आप इस चिंता में क्यों पड़े हैं? जो होना होगा, होगा। आप अपना चित्त शांत रखिए।

बद्रीदास—चेष्टा करता हूँ, पर नहीं होता, रात-दिन यही ध्यान रहता है। तुम बच्चे नहीं हो, तुम्हारी अवस्था ३२ वर्ष की है। तुम्हारे पुत्र-पुत्रियाँ भी हैं। तुम एक पिता के हृदय को समझ सकते हो। इसीलिये तुमसे कहता हूँ। मेरे ये अंतिम वाक्य, अंतिम उपदेश, अंतिम प्रार्थना—जो कुछ समझो—यही है। मैं इसके सिवा और कुछ भी नहीं कहना चाहता।

बुलाकीदास सोचने लगे, यह बुड्ढा कितना मोह-जाल में फँसा हुआ है। आप तो मर रहा है, पर भविष्य पर भी अपना सिक्का जमाए रखना चाहता है। मरते हुए आदमी को भविष्य की क्या चिंता?

ज़ाहिरा अपने पिता से कहा—पिताजी, साफ़ बात तो यह है कि मेरी और जानकी की निभना कठिन है; पर मैं आपको इतना विश्वास दिलाता हूँ कि मैं निभाने की पूर्ण चेष्टा करूँगा, और अपनी ओर से कोई ऐसी बात न करूँगा, जिससे आपस में फूट हो।

बद्रीदास ने पुत्र के इस कथन का तात्पर्य समझ लिया। वह जान गए कि बुलाकीदास अपनेको किसी प्रकार बाध्य नहीं करना चाहते। वह नैराश्य की एक लंबी साँस लेकर बोले—ईश्वर को जो मंजूर है, वही होगा। मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका, अब तुम जानो, तुम्हारा काम। इस अंत-समय में शांति से मरना मेरे भाग्य में बदा नहीं है। ख़ैर, कभी-कभी इस मरते हुए पिता के अंतिम शब्द स्मरण कर लिया करना।

डूबते हुए को तिनके का सहारा भी मिलने से वह अपने बचने की आशा को हृदय से लगाए रहता है। मनुष्य की आशाएँ, चाहे वे मिथ्या हों चाहे सत्य, उसे दुःख झेलने के लिये प्रस्तुत करती हैं। आशा ही को हृदय से लगाकर मनुष्य बड़े-बड़े दुःखों को झेल जाता है।

बद्रीदास को जब चारों ओर निराशा दिखाई पड़ने लगी, तब उन्होंने केवल इस बात पर अपनी आशा को जीवित रक्खा कि मेरे पीछे मेरे अंतिम शब्द याद करने ही से, संभव है, इसके हृदय पर कुछ प्रभाव पड़े। मनुष्य के न रहने पर उसकी और उसकी बातों की स्मृति का अधिक प्रभाव पड़ता है। आशा के इसी छाया-चित्र को बद्रीदास ने अपने सामने रखकर उससे अपने हृदय को, अपनी चंचल और अधीर आत्मा को, शांति देने की चेष्टा की। बद्रीदास ने पुत्र की बात के उत्तर में एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—बेटा, मुझे जो कुछ कहना था, सो कह चुका। अब जो तुम्हारी इच्छा हो, और जो तुम उचित समझो, वह करना।

(३)

लाला बद्रीदास का स्वर्गवास हो गया। इधर उनका दम निकल रहा था, और उधर बुलाकीदास कोठरी में ताला डलवा रहे थे। उनके इस कार्य पर लोगों को आश्चर्य हुआ, दुःख हुआ; पर किसी ने भी उनसे कुछ कहने का साहस नहीं किया। उनके अन्न से पलनेवालों का तो इतना साहस हो ही नहीं सकता था, पर उनके इष्ट-मित्रों ने भी इस पर कोई आपत्ति नहीं की। जानकीदास भी उनके इस कार्य को मौन-व्रत धारण किए देखते और मन-ही-मन हँसते रहे।

पिता का स्वर्गवास होने के पंद्रह दिन बाद बुलाकीदास ने जानकीदास को बुलाकर कहा—क्रिया-कर्म से छुट्टी मिल गई, अब हमारा-तुम्हारा बटवारा हो जाना चाहिए। जानकीदास तो यह समझे ही बैठे थे कि बटवारा शीघ्र ही होगा। रुपए-पैसे की कोठरी में ताला डलवाने का मतलब इसके सिवा और क्या हो सकता था? अतएव उन्होंने बड़े विनम्र-भाव से आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—बटवारा! मेरी समझ में तो बटवारे की कोई आवश्यकता है नहीं।

बुलाकीदास रुखाई से बोले—तुम्हारी समझ में न हो, मेरी समझ में तो है।

जानकीदास—क्यों, ऐसी आवश्यकता क्या है?

बुलाकीदास—इसलिये कि मेरी ऐसी ही इच्छा है।

जानकीदास—पिताजी की तो मरते समय तक यही इच्छा रही कि उनके बाद हम लोग मिल-जुलकर रहें।

बुलाकीदास—हाँ, उनकी ऐसी ही इच्छा थी; पर मैं इसके विरुद्ध हूँ। तुम भी होशियार हो, अपना काम देख-भाल सकते हो, इस कारण यही ठीक है कि हम और तुम अलग-अलग अपना-अपना रास्ता देखें।

जानकीदास—पर मैं तो बटवारा नहीं चाहता।

बुलाकीदास—मगर मैं तो चाहता हूँ।

जानकीदास—पिताजी के अंतिम शब्द याद कीजिए।

बुलाकीदास—यह सब मूर्खता और भावुकता है। उनके जीवन में मैंने कोई कार्य उनकी इच्छा के विरुद्ध नहीं किया, सदैव उनको संतुष्ट रक्खा; परंतु अब उनके पीछे मैं अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिये स्वतंत्र हूँ।

जानकी०—मगर इससे पिताजी की आत्मा को कष्ट होगा।

बुलाकी०—मैं फिर कहता हूँ कि यह सब ढकोसला है; बटवारा अवश्य होगा।

जानकीदास—मैं पिताजी के बाद अब आप ही को पिता की जगह समझता हूँ।

बुलाकीदास—बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं भी तुमको अपने छोटे भाई की ही तरह समझूँगा।

जानकीदास—तो बटवारे की क्या आवश्यकता है?

बुलाकीदास—बटवारा तो अवश्य होगा।

जानकीदास ने देखा, बुलाकीदास उनकी प्रार्थनाओं से रस्सी की तरह और भी अधिक ऐंठे जा रहे हैं। उन्होंने विवश होकर कहा—जैसी आपकी इच्छा। पर इस कार्य से मुझे अत्यंत दुःख होगा।

बुलाकीदास ने जानकीदास की इस बात को जैसे सुना ही नहीं।

(४)

जब से बुलाकीदास ने होश सँभाला, तब से उन्होंने जानकीदास को कभी भ्रातृ-स्नेह-पूर्ण दृष्टि से नहीं देखा। बुलाकीदास की महत्त्वाकांक्षाएँ इतनी बढ़ी-चढ़ी थीं कि उन्होंने अन्य सब भावनाओं को दबा दिया था। जब उनको यह ध्यान आता था कि यदि जानकीदास न होता, तो केवल वही इस सब संपत्ति के स्वामी होते, तब जानकीदास के प्रति उनके हृदय में एक भयानक हिंसा का भाव उत्पन्न हो आता था। इस हिंसा-भाव का उनके ऊपर इतना प्रभाव था कि जिस बात से जानकीदास को कष्ट और दुःख पहुँचता, उसी से उन्हें सुख मिलता था। पिता के मरने के समय कोष में ताला डलवाने के कारणों में से जानकीदास को मानसिक कष्ट पहुँचाना भी एक कारण था। बुलाकीदास ने सोचा था कि यदि क्रिया-कर्म से छुट्टी पाते ही बटवारा न कराया, तो मेरा बुलाकीदास नाम नहीं [...] हुए को भी तो मालूम हो कि कोई भाई मिला था। कैसा [...] है, कितना सज्जन बनता है! कैसा भोलापन दि[...] है, जैसे कुछ जानता ही नहीं, और पेट में [...] चलती हैं। मैं तो साफ़ आदमी हूँ; जो भीतर है, [...] बाहर। मुझे कपट नहीं आता। जिसे हृदय से [...] समझूँगा, उसके साथ प्रकट में भी शत्रु ही [...] व्यवहार करूँगा।

बुलाकीदास जानकीदास से कटु व्यवहार करने [...] बड़ा गर्व करते थे। वह समझते थे कि शुद्ध-हृदयता [...] कपट-शून्यता के अर्थ यही हैं कि जिससे घृणा [...] उसे पग-पग पर कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करता [...] अपने इस स्वभाव को वह बड़ा भारी गुण समझते [...]

बटवारे की बात पक्की हो गई। सरकार की ओर [...] एक अफ़सर बटवारा करने के लिये नियुक्त हुआ। [...] वारा होने में एक सप्ताह लगा। इस अवसर पर [...] कटुता उत्पन्न की जा सकती थी, उसमें बुलाकी[...] ने कुछ क़सर नहीं रक्खी। मगर जानकीदास [...] व्यवहार बड़ा विनम्र और शिष्ट था। बुलाकी[...] के स्वभाव के लिये जानकीदास की नम्रता [...] पर घी का काम करती थी। वह समझते थे, जा[...] दास अपनी साधुता दिखाकर उन्हें दूसरों की दृष्टि में [...] बनाना चाहते हैं, और आप अच्छे बनना चाहते हैं।

बटवारे में यह दशा हुई कि जो चीज़ें संख्या में [...] एक थीं, उनके दो-दो टुकड़े किए गए। इस अवसर [...] अगर जानकीदास कहते कि भाई साहब, यह चीज़ [...] टुकड़े करने से न आपके काम की रहेगी और न [...] काम की। अतएव इसे आप ही रखिए।, तो बुलाकी[...] जल-भुनकर राख हो जाते थे। एक बार तो [...] यहाँ तक कह डाला कि मुझे तुम्हारा भाग गो-मांस [...] समान है। मैं केवल अपना भाग लूँगा। यह कहकर [...] बड़े गर्व से उपस्थित लोगों की ओर देखने लगे। उन्[...] समझा कि उनके इस व्यवहार पर लोग उन्हें न्याय[...] लोभ-हीन और स्पष्ट-वादी समझकर मन-ही-मन [...] प्रशंसा करते होंगे। इस प्रकार बटवारा होने पर [...] अपनी विजय और जानकीदास की पराजय सम[...] मन-ही-मन प्रसन्न थे।

इधर जानकीदास के हृदय में, बड़े भाई के इस [...] हार से, वैराग्य उत्पन्न हो चला था। वह सोचते [...]

जब सगे भाई का यह व्यवहार है, तब संसार में और किससे अच्छे व्यवहार की आशा की जा सकती है? बुलाकीदास के इस कार्य पर उनके इष्ट-मित्र मुँह पर तो उनकी प्रशंसा करते थे। कहते थे—यह आपने अच्छा किया, जो बटवारा कर लिया। कुछ ऊँच-नीच हो जाता, तो उसे कोई कुछ न कहता, सब आप ही को दोष देते, वह तो छोटा भाई बनकर छूट जाता। आजकल का समय देखते हुए यही ठीक था। अब उसका भाग अलग हो गया, चाहे रक्खे चाहे खोवे, आपको क्या!

इष्ट-मित्रों की इन बातों से बुलाकीदास ने अपने इस कार्य को बहुत ही उचित समझा। परंतु जब किसी तटस्थ न्याय-प्रिय मनुष्य से बात-चीत होती, तब वे ही इष्ट-मित्र कहते थे—अजी बुलाकीदास न-जाने कैसे आदमी हैं, बेकार ही छोटे भाई से अलग हो गए! वह बेचारा तो अलग होने को राज़ी न था। बुलाकीदास ने ज़बरदस्ती अलग होकर व्यर्थ ही उससे शत्रुता मोल ली। जानकीदास बड़ा सज्जन आदमी है। इतना सब कुछ हो गया, पर वह अब भी जब बात पड़ती है, तब यही कहता है कि मैं उन्हें अपने पिता के तुल्य समझता हूँ।

(४)

ऊपर लिखी घटना के बाद छः वर्ष व्यतीत हो गए। इस बीच में बुलाकीदास तथा जानकीदास में उतना ही संबंध रहा, जितना दो साधारण रिश्तेदारों में होता है। यद्यपि जानकीदास चाहते थे कि घनिष्ठता उत्पन्न हो, पर बुलाकीदास ऐसा व्यवहार रखते थे कि घनिष्ठता उत्पन्न ही नहीं हो सकती थी। अतएव, ऐसी दशा में, जानकीदास को भी विवश होकर अपने व्यवहार को परिमित सीमा के भीतर रखना पड़ता था।

जानकीदास ने कपास ओटने की एक नई मिल खोली थी। कुछ दिन तो वह मिल चली, पर पीछे से ऐसी स्थिति आ पड़ी कि पूँजी की कमी के कारण उसका चलना कठिन हो गया। उस मिल को चलाना बहुत ही ज़रूरी था; क्योंकि जानकीदास ने अपनी पूँजी का बहुत बड़ा हिस्सा उसमें लगा दिया था। यदि वह बंद कर दी जाती, तो सब पूँजी बट्टे-खाते पड़ी जाती थी। उसको चलाने के लिये रुपयों की आवश्यकता पड़ी। जानकीदास के पास रुपए नहीं थे। वह बड़े असमंजस में पड़ गए। कई दिन तक बड़े चिंतित रहे। अंत को एक दिन अपनी पत्नी से बोले—न हो, एक बार भैया से ही कहूँ। पत्नी मुँह बनाकर बोली—हाँ, भैया तुम्हें रुपए गिन देंगे!

जानकीदास—गिन क्यों न देंगे? बहुत करेंगे, ब्याज ले लेंगे। इससे अधिक और क्या हो सकता है।

पत्नी—वह कभी न देंगे। तुम अपने इष्ट-मित्रों से क्यों नहीं ले लेते?

जानकीदास—मेरे इष्ट-मित्रों में इस समय दो-एक के सिवा किसी की स्थिति ऐसी नहीं है कि इतने रुपए दे सकें। जो दो-एक ऐसे हैं भी कि शायद दे सकें, उनसे माँगने का मेरा साहस नहीं होता। आज तक किसी से माँगा नहीं। सोचता हूँ, अगर माँगा, और किसी ने इनकार कर दिया, तो बड़ी लज्जा मालूम होगी। मेरी तो यही इच्छा है कि एक बार भैया ही से कहूँ। वह इनकार भी कर देंगे, तो कोई चिंता नहीं। वह मेरे बड़े हैं, उनसे क्या लज्जा?

पत्नी—जब वह तुम्हें अपना छोटा नहीं मानते, तो तुम्हें क्या ग़रज़ पड़ी है कि तुम उन्हें बड़ा मानो? यह तो वही कहावत हुई कि "मान न मान, मैं तेरा मेहमान।" कुछ आत्म-गौरव भी होना चाहिए। जब वह तुम्हें कुछ ध्यान में नहीं लाते, तो तुम क्यों चिमटते हो? जानकीदास कुछ झेंपकर बोले—इसमें आत्म-गौरव को घसीटना व्यर्थ है। आत्म-गौरव ग़ैरों के सामने काम में लाया जाता है, अपनों के—ख़ासकर बड़ों के—सामने आत्म-गौरव नहीं चलता।

पत्नी—जो चलाना चाहते हैं, वह सभी जगह चलाते हैं। मेरे चाचा ने एक बार अपने पिताजी से दस रुपए माँगे थे। पिताजी ने उत्तर दिया—'क्या मेरे घर में टकसाल है? जवान हो गए, पढ़-लिख गए, अब कमाओ-धमाओ। मुझ बुड्ढे का मुँह क्यों ताकते हो?' यह बात मेरे बाबाजी ने वैसे ही हँसकर कह दी थी। इसके बाद वह रुपए देने लगे, पर चाचा ने नहीं लिए। उन्होंने बहुतेरा कहा-सुना, चाचा रुपए लेने को किसी तरह राज़ी नहीं हुए। उसके बाद चाचा ने फिर कभी भूलकर बाबा से एक पैसा नहीं माँगा। मरते-मरते मर गए, दुख भोगे, तंगी सही, पर बाबा से कभी नहीं माँगा। जिनमें आत्म-गौरव होता है, वे उसे सब जगह बरतते हैं, चाहे अपना हो चाहे पराया।

परंतु जानकीदास को यह आदर्श पसंद न आया। उन्होंने उस समय पत्नी से केवल इतना कहकर पिंड छुड़ाया कि अच्छा देखा जायगा।

दूसरे दिन जानकीदास बुलाकीदास के पास गए। बुलाकीदास ने उनको देखकर रुखाई से कहा—कहो, सब कुशल तो है?

जानकीदास—जी हाँ, सब आपकी कृपा है।

बुलाकीदास अपना काम करने लगे। जानकीदास कुछ देर तक चुपचाप बैठे रहे। फिर बोले—आपके पास एक काम से आया था।

बुलाकीदास—किस काम से?

जानकीदास—मैंने एक मिल खोली है—कपास ओटने की—आपने चाहे सुना भी हो।

बुलाकीदास—हाँ, सुना तो है।

जानकीदास—उसको चलाने के लिये इस समय कुछ रुपयों की आवश्यकता थी। मेरे पास इस समय इतने रुपए नहीं हैं।

बुलाकी०—तो फिर मैं क्या करूँ?

एक प्रकार से बुलाकीदास ने जानकीदास का तात्पर्य समझ लिया, और उसका उत्तर 'तो फिर मैं क्या करूँ' इन शब्दों में दे दिया। परंतु जानकीदास नें इन शब्दों पर ध्यान न देकर कहा—आप रुपयों का प्रबंध कर देते, तो अच्छा था।

बुलाकीदास सूखी हँसी हँसकर बोले—मेरे पास इतने रुपए कहाँ से आए?

जानकीदास—आप प्रबंध कर सकते हैं।

बुलाकीदास—मैं तुम्हारे लिये भीख माँगूँ, या उधार लूँ? मुझे इन झगड़ों से क्या मतलब?

जानकीदास—मैं सूद दे दूँगा।

बुलाकीदास—मगर मुझे सूद लेना हो, तब न? जब सूद ही देना है, तो दुनिया पड़ी है, चाहे जहाँ से ले आओ।

जानकीदास—दुनिया-भर की दूसरी बात है, आपकी दूसरी। दुनिया-भर से माँगने का मेरा साहस नहीं पड़ता।

बुलाकी०—जब इतने निःस्पृह हो, तो ऐसा काम क्यों करते हो, जो तुम्हारे बूते न हो सके?

जानकीदास—आपसे तो मुझे बड़ी आशा थी।

बुलाकीदास—यह सब तुम्हारी नासमझी है। मुझ-से तुम्हें कोई आशा न रखनी चाहिए।

जानकीदास को यह बात बड़ी बुरी लगी। उन्होंने आवेश में आकर कहा—अच्छी बात है, देखा जा

यद्यपि 'देखा जायगा', इन वाक्यों से जानकी यह तात्पर्य था कि रुपयों का और प्रबंध कर जायगा, पर बुलाकीदास ने इसका कुछ और ही समझा। उन्होंने मुँह बनाकर कहा—देखा क्या मैं तुम्हारे दरवाज़े पर कभी माँगने न आऊँगा, जो आऊँ, तो तुम मुझे दुतकार देना।

जानकीदास अपना-सा मुँह लेकर लौट आए। की बात याद आई। सोचा, उसने ठीक ही कहा था। बात न मानकर आया, और व्यर्थ ही अपनी बात

(६)

जानकीदास बड़ी विकट स्थिति में पड़ गए। ऐसा प्रतीत हुआ कि उनका सर्वस्व स्वाहा हुआ है। मिल चलाने के लिये रुपए नहीं हैं। अगर नहीं चलाई जाती, तो जो कुछ है, वह भी हुआ जाता है। अतएव उन्होंने लज्जा को तिलां देकर एक मित्र से अपनी कष्ट-कथा कही। ने उन्हें कुछ सहायता दी। कुछ रुपए उन्होंने क़ीमती गहने गिरों रखकर प्राप्त किए। यद्यपि इन कार्यों से उन्हें महान् मानसिक क्लेश हुआ, पर क्या? आवश्यकता और स्थिति सब कुछ करा थोड़े ही समय में जानकीदास का काम निकला। धीरे-धीरे उन्होंने मित्र का ऋण भी चुका और स्त्री के गहने भी छुड़ा लिए। इसी प्रकार प्रतिदिन उन्नति होती गई।

इधर काल-चक्र ने बुलाकीदास पर अपना किया। उन्होंने अपना काम तो खूब बढ़ा लिया, उस काम में उतनी आमदनी नहीं हुई, जितनी आशा थी। उधर ख़र्च यथेष्ट था। इसका कारण यह भी था कि बुलाकीदास किसी का विश्वास थे। सारा संसार उन्हें बेईमान और धूर्त दिखलाई था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब लोगों ने देखा कि उनकी ईमानदारी का मूल्य समझने ही कोई नहीं, उलटे वे संदेह की दृष्टि से देखे जाते तो कुछ ने, जो अपने सिद्धांत पर अधिक बेईमानी तो नहीं की, पर काम की ओर अधिक देना और परिश्रम करना कम कर दिया। और

थे, जो सिद्धांत के पक्के न थे, चिढ़कर बेईमानी शुरू कर दी। उन्होंने सोचा, यह बड़ा सयाना बनता है, और दुनिया-भर को बेईमान समझता है, तो हम भी इस पर क्यों न हाथ साफ़ करें। देखें, यह कितना चालाक है। इन्हीं सब कारणों से ऐसी परिस्थिति हो गई कि बुलाकीदास का दिवाला होने की नौबत आ गई। अब बुलाकीदास बहुत घबराए। उनके हाथ-पैर फूल गए। जो जितना ही अधिक घमंडी और अहंकारी होता है, वह उतना ही असफलता से डरता है, और असफल होने पर उतना ही भीरु तथा कायर हो जाता है। यही दशा बुलाकीदास की भी हुई। उन्होंने स्थिति सँभालने की बड़ी चेष्टा की, बहुत दौड़े-धूपे। जिनसे कभी सीधे मुँह बात नहीं करते थे, उनसे भी उन्होंने सहायता माँगी, पर कोई आशा-जनक बात नहीं हुई।

बुलाकीदास की पत्नी ने उनसे कहा—न हो, जानकी से सहायता लो। वह तो बेचारा सदा तुमसे हेल-मेल रखने की कोशिश में रहता है, तुम्हीं उससे फटे रहते हो। मुझे पूरा भरोसा है कि वह तुम्हारी सहायता करेगा। आजकल उसकी चढ़ती कला भी है।

बुलाकीदास पत्नी की बात सुनकर कुछ क्रोध में आकर बोले—उस नीच से मैं सहायता माँगूँगा? चाहे मेरा सर्वस्व चला जाय, पर मैं उससे एक पैसा न लूँगा! जिसको मैंने दुतकार दिया था, उसी से सहायता माँगूँ? गली-चलतों से मैं सहायता माँगने के लिये तैयार हूँ, पर उससे कुछ न कहूँगा।

मगर बुलाकीदास स्थिति सँभालने का कुछ प्रबंध न कर सके। सब ओर से निराश होकर एक बार उनका ध्यान फिर जानकीदास की ओर गया। सोचा, यदि उस समय उसकी सहायता कर दी होती, तो आज मुझे इतना कष्ट न भोगना पड़ता। यदि मैं जाऊँ, तो मुझे विश्वास है कि वह इनकार नहीं करेगा। वह तो बहुत कुछ लिपटना चाहता है, पर मैं ही उसे मुँह नहीं लगाता।

बहुत कुछ सोच-विचार करने पर बुलाकीदास ने यही स्थिर किया कि चाहे वह दिवालिए ही क्यों न हो जायँ, पर जानकीदास से सहायता के लिये प्रार्थना न करेंगे। इस समय जानकीदास के ऊपर उनका क्रोध और घृणा और भी अधिक हो गई; क्योंकि जानकीदास की दशा अच्छी थी, और वह इस समय कष्ट में थे।

इधर जानकीदास बुलाकीदास की दशा सुनकर बड़े चिंतित हुए। उन्होंने सारा हाल अपनी पत्नी से कहा। पत्नी ने कुछ हँसकर कहा—तुमसे उन्होंने जो व्यवहार किया था, उसका ईश्वर ने यह बदला दिया है।

जानकीदास—तो इस समय मुझे क्या करना चाहिए?

पत्नी—करोगे क्या, अपने घर में आराम से बैठे रहो। जब वह तुम्हारे पास आवें, कुछ कहें-सुनें, तब देखा जायगा।

जानकीदास ने कहा—यही ठीक है। मैं भी चाहता हूँ कि उनका अभिमान नष्ट करूँ। यदि उन्होंने मुझसे सहायता माँगी, तो सहायता मैं अवश्य करूँगा; पर उनका अभिमान भी नष्ट हो जायगा।

दूसरे दिन उन्हें पता लगा कि बुलाकीदास चाहे आत्म-हत्या भले ही कर लें, पर उनसे सहायता न माँगेंगे। यह सुनकर उन्हें बड़ी चिंता हुई। रात-भर इसी उधेड़-बुन में रहे कि क्या करें। वह चाहते थे कि भाई की सहायता की जाय; पर प्रश्न यह था कि वह उस सहायता को स्वीकार कैसे करेंगे। उन्होंने सोचा, अगर मैं ख़ुद जाकर उनसे कहूँ कि मेरे योग्य जो कार्य हो, बतलाइए, तो ठीक होगा। पर पीछे से उन्हें ध्यान आया कि ऐसा करने से वह और भी अधिक चिढ़ जायँगे। समझेंगे कि यह मुझे लज्जित करने और इस प्रकार अपना बदला लेने के लिये आया है। फिर सोचा, किसी और आदमी के द्वारा सँदेसा भिजवाऊँ; पर यह भी ठीक नहीं। भैया बड़े हठी हैं, वह इसे भी पसंद न करेंगे। इसी प्रकार बहुत कुछ सोचा, पर कोई बात न सूझी। अंत को ऊबकर उन्होंने कहा—हटाओ भी झगड़ा। यदि उन्हें सौ दफ़े ग़रज़ होगी, तो मुझसे सहायता माँगेंगे। नहीं तो मुझे क्या? जैसा किया, वैसा भोगें। मेरे ही साथ उन्होंने कौन बड़ी नेकी की है? पग-पग पर उन्होंने मुझे अपमानित और लज्जित करने की चेष्टा की। अंत को ऐसे समय पर भी, जब मेरा सर्वनाश होने को था, उन्होंने सहानुभूति का एक शब्द कहना तो अलग, उलटे मुझे नासमझ बनाया।

परंतु इस विचार के बाद ही उन्हें पिता के अंतिम शब्द याद आए कि 'बेटा, कुछ भी हो, बुलाकीदास तुम्हारा बड़ा भाई है, इसका ध्यान सदैव रखना।' इन शब्दों के याद आते ही एकदम उनका जी भर आया, और आँखों से अश्रु-पात होने लगा। उन्होंने सोचा,

चाहे जैसे हो, भैया को इस कष्ट से बचाना ही होगा ; परंतु इस युक्ति से कि उनकी सहायता भी हो जाय, और उन्हें यह भी पता न लगे कि किसने सहायता दी है।

(७)

बुलाकीदास अपनी कोठी के कमरे में बैठे चिंता-सागर में मग्न थे। वह सोच रहे थे कि यदि कल तक रुपयों का प्रबंध न हुआ, तो दिवाला निकल जायगा ! सारा मान, सारी मर्यादा मिट्टी में मिल जायगी ! पिता का नाम डूब जायगा ! क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? इस समय ईश्वर भी मुझे भूल गया ! हाय, मैं कैसे लोगों को मुँह दिखाऊँगा !

यह सोचते-सोचते उनकी आँखों से आँसू बहने लगे, हिचकी बँध गई। सोचा, अब आत्महत्या करने के सिवा और कोई उपाय नहीं है। वह बैठे ऐसी ही बातें सोच रहे थे कि कमरे के द्वार पर से नौकर ने कहा—सरकार !

बुलाकीदास ने झटपट रूमाल से आँसू पोंछकर, अपनेको सँभालकर, कहा—क्या है ?

नौकर—सरकार, एक चिट्ठी है।

बुलाकीदास—ले आओ।

नौकर ने आकर एक लंबा और मोटा लिफ़ाफ़ा दिया। बुलाकीदास ने लिफ़ाफ़ा खोला। लिफ़ाफ़े के अंदर से ८० हज़ार रुपए के नोट और एक छोटा-सा पत्र निकला। पत्र में लिखा था—

"श्रीमन्, मुझे पूर्ण आशा है कि आप इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करेंगे।

आपका एक परम हितैषी"

बुलाकीदास के शरीर में बिजली दौड़ गई। वह तुरंत खड़े हो गए, और नोटों को काँप रहे हाथों से लिफ़ाफ़े में रखते हुए बोले—यह पत्र कौन लाया है ?

नौकर—एक आदमी।

बुलाकीदास—उसे तुरंत मेरे सामने लाओ।

नौकर बाहर चला गया, और लौट आकर बोला—सरकार, वह तो चला गया।

बुलाकी०—ऐं, चला गया ?

नौकर—हाँ सरकार।

बुलाकी०—तुम उसे पहचानते हो ?

नौकर—नहीं सरकार, मैं नहीं पहचानता। आज ही उसे देखा, बिलकुल नया आदमी था।

बुलाकीदास अवाक् रह गए। बड़ी देर तक ... रहे। अनुमान लगाते रहे कि यह काम किस... सकता है ? पर कुछ समझ में न आया। अंत को ... कर बोले—यह ईश्वर की दी हुई सहायता है ... क्या, अब तो पौ-बारह हैं !

(८)

दूसरे दिन जानकीदास बुलाकीदास के पास ... बुलाकीदास ने उन्हें देखते ही भौंहें चढ़ा लीं। ... दास ने कहा—भैया, मैंने सुना—

जानकीदास इतना ही कह पाए थे कि बुलाकीदास ... कर बोले—जो कुछ सुना, ठीक सुना। यह सब ... की चाल थी। पर मैं ऐसा-वैसा आदमी नहीं हूँ। ... चिड़िया पहचानता हूँ। मैंने पहले ही से प्रबंध कर ... था। अब आज सबके मुँह धुआँ हो जायँगे। तुम ... इसलिये आए होगे कि कदाचित् मैं तुमसे कुछ सहा... माँगूँ। पर याद रक्खो, बुलाकीदास अपनी बात ... पक्का है। मैं फिर तुमसे कहता हूँ कि ऐसा अवसर ... न आवेगा कि तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़े।

जानकी०—भैया, मैं इस योग्य ही नहीं कि ... कुछ सहायता कर सकूँ।

बुलाकी०—दुनियादारी की बातें न बघारो। मैं ... खूब समझता हूँ। तुम ऊपर से 'म्याऊँ-म्याऊँ' ... हो, पर तुम्हारे पेट में छुरी चलती है। मेरे सर्वनाश ... दृश्य देखकर अपनी आँखें ठंडी करने आए होगे। ...

जानकीदास—भैया ऐसा मत कहिए। ईश्वर ऐसा ... करे। आप तो व्यर्थ ही मेरे संबंध में ऐसे-ऐसे वि... बना लिया करते हैं। मैं तो आपको सदा पिता के तु... समझता हूँ, और समझता रहूँगा।

बुलाकी०—बड़े साधु हो ! क्या कहने हैं ! अच्छा ... अब देख-सुन लिया। यह विश्वास रक्खो कि बुलाकी... का कभी बाल भी बाँका नहीं हो सकता।

जानकीदास—ईश्वर न करे।

थोड़ी देर में जानकीदास उठकर चल दिए। ... बड़े भाई का व्यवहार पहले की अपेक्षा और भी अधि... कटु था, परंतु फिर भी उनके मुख पर प्रसन्नता ... मुसकिराहट थी, और हृदय में संतोष।

विश्वंभरनाथ कौशि...

प्रभात

[१]

प्रकृति-नटी का पट-परिवर्तन
हुआ प्रभात पुनीत ;
वसुंधरा के तप-निकुंज में
छिड़ा विकल संगीत ।

[२]

हुआ सुनहरी रवि-किरणों से
पूरित विश्व-कुटीर ;
चलने लगी शांति को देती
शीतल मंद समीर ।

[३]

पूर्व-दिशा के शुष्क अधर पर
दौड़ गई मुसकान ;
फिर तो लगीं दिशाएँ हँसने
सभी बनीं अम्लान ।

[४]

जगत निरखने लगा उषा का
वंकिम भ्रुकुटि-विलास ;
करने लगी देखकर रवि को
नलिनी किंचित् हास ।

[५]

मधु मकरंद लगे बरसाने
मुख खोले अरविंद ;
छुटे कमलिनी के कारा से
बंदी रसिक मलिंद ।

[६]

किया नियति ने अंध जगत् को
शुचि प्रकाश का दान ;
विश्व-विपिन में छिड़ा पक्षियों
का कलकल कल-गान ।

[७]

जुड़ने लगी पास कलिका के
भक्त भ्रमर की भीर ;
लतिकाएँ लहलहा उठीं फिर
पाकर जीवन नीर ।

[८]

मिला विरह-विधुरा चकई का
चकवा—जीवन-प्राण ;
दुख की घोर काल-रजनी का
हुआ सुखद अवसान ।

"कुसुम"

फूल



फूल किसको प्यारे नहीं लगते ? उन्हें देखते ही किसकी हृदय-कली नहीं खिल उठती ? उनकी रंग-बिरंगी—श्वेत, नीली, पीली, लाल—पँखड़ियों को देखकर किसका हृदय गद्गद नहीं हो उठता ? उनकी सुवास किसके मन में नहीं बस जाती ? उनकी शोभा निहारकर जब अकवि की भी चित्त-वृत्तियाँ कवित्व-संपन्न-सी भासित होने लगती हैं, तब सूक्ष्म भावों के प्रकट करनेवाले शक्ति-संपन्न सुकवियों का क्या कहना है ? सच पूछिए, तो कवियों को जितना मसाला फूलों से मिला है, और मिलता है, उतना शायद ही और कहीं से मिला हो, या मिलता हो । संस्कृत की कविता और तदनुरूप भाषा की कविता कमल की उपमाओं से भरी है । पद-पद्म-पराग, कर-कमल, पुंडरीकाक्ष, नीलोत्पल-दल-श्याम, मुखाब्ज, हृत्पंकज आदि की भरमार तो है ही, कुमुदिनी, चंपक, केतकी, कुंद, जपा, प्रियंगु, किंशुक आदि की उपमाएँ भी स्थल-स्थल पर अत्यंत हृदय-ग्राहिणी हैं । फ़ारसी-उर्दूवालों ने भी 'गुलो बुलबुल' से अपनी भाषा को और भी सरस बना दिया है । अँगरेज़ी में भी इस बात की कमी नहीं है ।

आदमियों की बात जाने दीजिए, देवता भी फूलों से अत्यंत संतुष्ट होते हैं। यथा—

"मल्लिकादिसुगंधीनि मालत्यादीनि वैं प्रभो !
मयाऽऽहृतानि पूजार्थं पुष्पाणि प्रतिगृह्यताम् ।"
"हरिस्ते साहस्रं कमलवलिमाधाय पदयोः—"

मूर्ति-पूजा का नाम सुनकर नाक-भौं सिकोड़नेवाले लोग भी मज़ारों और मक़बरों पर फूलों की मालाएँ चढ़ा आते हैं।

फूलों की ऐसी क़दर क्यों होती है? इसके लिये अदृष्ट कारण जो कुछ हो, हम नहीं जानते; परंतु दृष्ट कारण तो यही है कि उनकी सुषमा से नयनेंद्रिय की तृप्ति होती है, उनकी सुवास से घ्राणेंद्रिय की परम तृप्ति होती है, उनके कोमल, स्निग्ध स्पर्श से त्वचा को सुख मिलता है, और उनके सुस्वादु मकरंद से रसनेंद्रिय को हर्ष होता है। चार-चार इंद्रियों को एकसाथ मुग्ध करनेवाला गुण पुष्प से अधिक और कहाँ मिलता है?

साधारण रीति से तो हम कह सकते हैं कि परमात्मा ने फूल हमारे लिये या अपने लिये बनाए हैं; क्योंकि फूलों को हम सूँघते हैं, उनसे गुलक़ंद आदि दवाएँ बनाते हैं, उनका अर्क़ और इतर निकालते हैं, अगस्त, गोबी आदि को खाने के काम में लाते हैं, और देवतों पर चढ़ाते हैं। परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय, तो फूल प्रधानतः उन पौदों की भलाई के लिये हैं, जिनमें वे लगते हैं। फूल फल का पूर्व रूप है; फल का गर्भ फूल में रहता है। जैसे कोई अमूल्य, कोमल पदार्थ रुई या रेशम में लपेटकर पेटी के भीतर रक्खा जाता है, वैसे ही पौदे का अत्यंत आवश्यक भाग, अर्थात् भावी फल का गर्भ, कोमल पँखड़ियों में लपेटकर 'ढोढ़ी' के भीतर सुरक्षित रक्खा रहता है।

आइए, प्रथमावस्था से लेकर फूल की परी[…] करें। पहले नन्ही-सी ढोढ़ी, हरे रंग की, [..] गोलाकार, हर तरफ़ से ढकी निकलती है। [..] हरी चादर से उसकी रक्षा होती है। पानी, ओ[..] पाला आदि उसके भीतरी अवयवों को नहीं [..] सकते, ढुलककर नीचे गिर जाते हैं। [..] का प्रभाव एकाएक उन भीतरी अवयवों पर [..] पड़ता। कीड़े-मकोड़े भी उन्हें शीघ्र नहीं [..] सकते। ज्यों-ज्यों भीतर वृद्धि होती जाती है, [..] ऊपरी हरी चादर मुख के पास से हटती [..] है, और कली की मुसकिराहट शुरू हो जाती [..] शनैः-शनैः ओढ़ने की हरी चादर बिछाने [..] चादर बन जाती है, पँखड़ियाँ खिलने लगती [..] और भीतर के आवश्यकीय अवयव दिखलाई [..] लगते हैं।

अब इन आंतरिक अवयवों में जगत्कर्ता [..] कारीगरी देखिए। कोई फूल उठाकर निरी[..] कीजिए, तो उसमें आपको केसर के पतले ल[..] मिलेंगे। ये लच्छे भी दो तरह के होंगे। कि[..] किनारेवाले एक तरह के, और बीचवाला दू[..] तरह का। यह बीचवाला लच्छा किनारेवाले ल[..] से या तो कुछ बड़ा होगा, या कुछ छोटा। इन ल[..] को केसर कहते हैं। किनारेवाले लच्छे प[..] केसर कहलाते हैं; क्योंकि इन्हीं से पराग [..] पुष्प-धूलि निकलती है। वह पीले रंग के चूर्ण [..] समान पुष्प पर झड़ती है। यह पराग ही [..] का वीर्य है। इसी के द्वारा पुष्प में गर्भ-स्थि[..] होती है। इसके पैदा करनेवाले पराग-केसर [..] लच्छे पुरुष या नर हैं। बीच का लच्छा स्त्री [..] और वह गर्भ-केसर कहलाती है। इसी के नि[..] भाग में गर्भ रहता है। वहीं बीज, अर्थात् [..] की उत्पत्ति होती है। जैसे चल जीवों में गर्भा[..]

के लिये पुरुष और स्त्री का समागम आवश्यक है, वैसे ही पुष्प में भी। यह समागम किस प्रकार होता है?

गर्भ-केसर के लच्छे का ऊपरी भाग कुछ मोटा-सा होता है, अर्थात् उस पर एक चपटा लट्टू-सा लगा रहता है। ध्यान-पूर्वक उँगली से छूकर देखा जाय, तो मालूम होगा कि इस लट्टू पर गोंद या लासे की तरह कोई चिपचिपी चीज़ लगी है। पराग का जो कण इस लट्टू पर पड़ता है, वह चिपक जाता है, और चिपचिपे पदार्थ के रासायनिक गुण के प्रभाव से फूटकर अपना आवश्यक रस, उसी गर्भ-केसर की पतली नली के द्वारा, गर्भ-स्थान तक भेज देता है। वहाँ फल या बीज पुष्ट होकर यथा-समय पकता है।

भीतर ज्यों-ज्यों गर्भ की पुष्टि होती है, त्यों-त्यों बाहर की पँखड़ियाँ म्लान हो-होकर झड़ती जाती हैं, और ठीक समय पर फल, छीमी या दाना बाहर निकल आता है। डंठल के पुष्ट हो जाने पर उसे बाह्य आवरण की आवश्यकता नहीं रहती।

गर्भ-स्थिति के लिये पराग के एक या अनेक कणों की ही आवश्यकता होने पर भी, उसके लाखों कण होते हैं, जो व्यर्थ जाते हैं। परंतु यह सब इसलिये होता है कि पराग की कमी के कारण पुष्प में वंध्यात्व न हो।

गर्भ-केसर के सिरे तक पराग के पहुँचाने का काम मुख्यतः दो प्रकार होता है। एक तो वायु के द्वारा, और दूसरा भ्रमरों, मधुमक्खियों, चींटियों तथा अन्य कीड़ों के द्वारा। वायु से डाली हिलती है, या पराग ही उड़कर गर्भ-केसर पर पड़ जाता है। मक्खियाँ आदि, पुष्पों के रंग-विरंगेपन से सुगमता के साथ उनका पता पाकर, उनकी सुगंध से आकृष्ट होकर, मधु के लोभ से उनके भीतर घुसती हैं। घुसने में उनके परों, पैरों और मस्तक आदि में पराग के कण लग जाते हैं, और ये ही कण गर्भ-केसर के सिरे पर झड़ या चिपक जाते हैं। किसी-किसी फूल में गर्भ-केसर का सिरा ऐसे स्थान में होता है कि वहाँ तक वायु के द्वारा पराग का पहुँचना कठिन है। वहाँ ये छोटे जंतु ही पराग पहुँचाते हैं।

जब एक पुष्प का पराग उसी पौदे के दूसरे पुष्प की गर्भ-केसर पर, या दूसरे पौदे के फूल की गर्भ-केसर पर पड़ता है, तब फल या दाने में अधिक वृद्धि होती है। वनस्पतियों में भी सगोत्रीय कन्या का विवाह न होने से बहुत उन्नति होती है। चूँकि मक्खियाँ एक फूल से उड़कर दूसरे फूल पर जाती हैं, इसलिये इनके द्वारा असमानगोत्रा-समागम बहुत सरलता से होता है।

यही नहीं, इस विषय में इतनी बारीकियाँ विद्वानों ने मालूम की हैं कि उनके वर्णन में पोथे-के-पोथे तैयार हो गए हैं। यद्यपि ऊपर का वर्णन साधारणतः बहुत प्रकार के फूलों के लिये सही है, तथापि विशेषताएँ भी हैं। जैसे किसी-किसी फूल (कमल) में पराग-केसर की बहुतायत होती है; परंतु गर्भ-केसर नहीं होती। बीच की कर्णिका (बौंड़री) पर ही गर्भ-यंत्र के मुँह रहते हैं। किसी जाति (कुम्हड़े आदि) में एक ही पौदे में दो तरह के फूल होते हैं—नर और मादा। नर-फूलों में फल नहीं होता। मादा-फूलों में होता है। किसी जाति (पपीते आदि) में नर-पौदे अलग और मादा-पौदे अलग होते हैं, और किसी जाति (मकई) में फल या भुट्टी, अर्थात् कुकड़ी। जो मादा है, वह

नीचे लगती है, और पराग पैदा करनेवाले ज़ीरे की बाली पौदे की चोटी पर लगती है। कुकड़ी के चारों ओर जो रेशम के-से केश होते हैं, वे ही इस पौदे की गर्भ-केसर हैं। इस प्रकार विचित्रताओं का अंत नहीं मिलता।

यद्यपि मक्खियाँ सेवा-भाव से प्रेरित होकर फूलों में नहीं जातीं, किंतु स्वार्थ-वश—रस पीने के लिये, शहद इकट्ठा करने के लिये—जाती हैं, तथापि उनसे पौदों का बड़ा काम निकलता है। और, स्वार्थ म भी परार्थ करनेवाले इन जीवों के प्रलोभन के लिये ही पुष्प में मकरंद होता है, विविध रंग की पँखड़ियाँ होती हैं तथा सुवास होती है। एक बात यह भी देखने के योग्य है कि श्वेत पुष्प प्रायः रात्रि को खिलते हैं। कवियों ने चंद्रमा का नाम कुमुद-बांधव रक्खा है; क्योंकि रात्रि को चंद्रमा का उत्कर्ष होता है, और रात्रि ही में कुमुदिनी फूलती है। बेला, चमेली आदि अन्य श्वेत पुष्प भी प्रायः रात्रि ही में खिलते हैं। रात्रि में रंगदार फूलों का रंग नहीं दिखलाई देता; परंतु श्वेत पुष्प दिखलाई देते हैं। अतः मक्खियाँ आदि उनसे आकृष्ट होकर रात्रि में उनका रस लेने जाती हैं।

हम फूलों के विषय में जहाँ तक निरीक्षण और विचार करते हैं, उस बड़े कारीगर की कारीगरी ही देखते हैं, और उस कारीगरी का अंत न पाकर सहसा यही सोचने के लिये विवश हो जाते हैं कि "परमात्मन्, तेरे विना इस कला-कौशल की अनंतता और किसमें हो सकती है!"

चंद्रमौलि सुकुल

महाकवि भास



पक अर्थात् दृश्य-काव्य के ... में महाकवि भास का ... बहुत ऊँचा है। यह तो ... कहा जा सकता कि इनसे ... भारतीय संस्कृत-कवियों ... किसी ने नाटक आदि लिखे ... नहीं, किंतु इसमें कोई ... नहीं कि आज इनसे प्राचीन किसी कवि का लिखा कोई रूपक उपलब्ध नहीं। भास की अतिप्राचीनता के कारण और उनके ग्रन्थों का विलोप या तिरोभाव हो जाने के कारण संस्कृत-विद्वानों में भी आज बहुत कम लोग उनसे परिचित हैं। श्रीयुक्त गणपति शास्त्री के परिश्रम से यद्यपि ... के कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, परन्तु संस्कृत के पंडितों में अब भी बहुत कम लोगों ने उनके ग्रन्थों का ... शीलन किया है। आज हम इन्हीं महाकवि के सम्बन्ध की कुछ बातें पाठकों की भेंट करना चाहते हैं।

भास के अनन्तरवर्ती प्राचीन कवियों ने उन्हें ... कहा है; जो उनकी प्राचीनता और पूज्यता का प्रमाण है। ईसा की बारहवीं शताब्दी में जयानक ... लिखे 'पृथ्वीराज-चरित' के प्रथम सर्ग का ... श्लोक है—

"सत्काव्यसंहारविधौ खलानां दीप्तानि वह्नेरपि मानसानि ... भासस्य काव्यं खलु विष्णुधर्मान् सोप्याननात्पारतवन्मुमोच ...

इसकी टीका करते हुए पन्द्रहवीं सदी में जोनराज ... लिखा है—"सोऽग्निरपि भासमुनेः काव्यं विष्णुधर्म ... मुखात् त्यक्तवान् नादहदित्यर्थः।" इस १५वीं सदी ... पुस्तक-दाह से मुसलमानों के उस पैशाचिक अत्याचार ... की भी सूचना मिलती है, जिसमें भारतीय साहित्य ... सर्वनाश हुआ था। संभव है, अग्नि-दाह से किसी प्रकार ... बचे हुए भास मुनि के काव्यों को, किसी सहृदय साधु ... मुसलमानी प्रभाव से बाहर—दक्षिण भारत में— ... चाने का प्रयत्न किया हो। मदरास-प्रान्त के मंजिवाड़ि ... मठ में प्राचीन ताल-पत्रों पर लिखे हुए ये काव्य श्री ... गणपति शास्त्री को मिले हैं। (हमारे पास इसी ... की एक 'भेलसंहिता' की पुस्तक आई है, जिस ...

हिन्दुस्थान-भर में केवल एक खण्डित प्रति ताल-पत्रों पर तेलगू-अक्षरों में लिखी हुई तंजोर के राजकीय पुस्तकालय में रक्खी थी। इसके कहीं दो-दो चार-चार पत्रे खण्डित हैं, कहीं-कहीं अध्याय-के-अध्याय ग़ायब हैं। ये सब साहित्य के भग्नावशेष, बेज़बान के ही, पुराने दिनों की याद दिलाते हैं)।

जिस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और व्यास की कृतियों में बहुत-से आर्ष प्रयोग पाए जाते हैं, वैसे ही महाकवि भास के काव्यों में भी पाए जाते हैं। इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि भास का समय महर्षि पाणिनि से पूर्व है। कालिदास, बाण और भवभूति आदि जो कवि पाणिनि के पीछे हुए हैं, उन्होंने पाणिनीय व्याकरण का अनुसरण किया है। भास के काव्यों को ध्यान-पूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि उस समय पाणिनीय व्याकरण का प्रचार नहीं था।

चन्द्रगुप्त आदि कुछ राजों का उल्लेख देखकर ऐतिहासिक लोग पातञ्जल महाभाष्य को ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी में बना बताते हैं। इसके पूर्व पाणिनीय सूत्रों पर 'संग्रह' नाम का विस्तृत ग्रन्थ विद्यमान था। व्याकरण महाभाष्य के देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'संग्रह' इस महाभाष्य से भी बहुत बड़ा था। इतने बड़े ग्रन्थ की उत्पत्ति, प्रचार और विलीयमान दशाओं में कम-से-कम दो-तीन सौ वर्ष लगे होंगे। इस 'संग्रह' से पूर्व पाणिनि-सूत्रों पर कात्यायन के वार्तिक पढ़ाए जाते थे। विशेषतः उन्हीं की व्याख्या 'संग्रह' में थी। यदि इन वार्तिकों की उत्पत्ति और प्रचार का काल केवल सौ वर्ष मान लिया जाय, तो भी ईसा से, कम-से-कम, छः सौ वर्ष पूर्व पाणिनि-सूत्रों का निर्माण-काल सिद्ध होता है। भास मुनि का समय उनसे भी पूर्व है। अतः आज से लगभग तीन हज़ार वर्ष पहले भास मुनि का होना निश्चित होता है।

एक बात और भी है। दक्षिण-भारत के शाङ्कर मठों में जो आचार्य-परम्परा के ताम्र-पत्र विद्यमान हैं, उनसे शारीरक मीमांसा-भाष्य के निर्माता आदि भगवान् श्रीशङ्कराचार्य का समय लगभग तेईस सौ वर्ष पूर्व सिद्ध होता है। यद्यपि कुछ ऐतिहासिक लोगों की धारणा है कि शङ्कराचार्य आठवीं सदी में हुए थे; परन्तु यदि इस मत को ठीक मान लें, तो उनकी उत्पत्ति और अलौकिक प्रसिद्धि का कोई विशेष कारण नहीं रह जाता। भगवान् शङ्कर के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है चक्रवर्ती बौद्ध-धर्म का निराकरण करके वैदिक-धर्म को प्रतिष्ठित करना। यदि यह बात उनके जीवन से अलग करके देखा जाय, तो फिर कुछ रह ही नहीं जाता। आठवीं सदी में बौद्ध-धर्म की उतनी प्रबलता और व्यापकता का कोई प्रमाण नहीं मिलता। न तो उस समय बौद्ध-राजों का प्राधान्य था, न प्रजा में बौद्ध-धर्म का एकच्छत्र साम्राज्य था, न उस समय बौद्धों के विहारों का प्राचुर्य था, और न पग-पग पर टक्कर देनेवाले धुरन्धर बौद्ध-विद्वान् मौजूद थे। फिर उस समय शङ्कराचार्य ने शास्त्रार्थों में परास्त किसे किया, उन्होंने दिग्विजय किसका किया, और बौद्ध-धर्म का निराकरण करके वैदिक-धर्म की स्थापना कहाँ की? २१ करोड़ बौद्धों को शुद्ध करके वैदिक-धर्मावलम्बी बनाने की बात उस समय कैसे चरितार्थ हुई? विक्रमादित्य और हर्षवर्धन-जैसे प्रबल प्रतापी हिन्दू-सम्राटों के बाद बौद्ध-धर्म का साम्राज्य किसने स्थापित किया? कालिदास से लेकर श्रीहर्ष के समय (१२वीं शताब्दी) तक के बने काव्यादिकों में हिन्दू-धर्म का ही प्राधान्य पाया जाता है। फिर यह कैसे मान लें कि उस समय बौद्ध-धर्म का प्राबल्य था? यदि यह कुछ नहीं था, तो उस समय भगवान् शङ्कर के अवतार का क्या प्रयोजन? उस समय होकर भी उन्होंने क्या किया? यह अलौकिक प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त की? वस्तुतः आदि-शङ्कराचार्य तभी अवतीर्ण हुए, जब बौद्ध-धर्म का प्रताप-मार्तण्ड प्रचण्ड दशा में था। इससे दक्षिण के मठों में स्थित ताम्र-पत्रों में निर्दिष्ट समय ही ठीक जँचता है। हाँ, उन्हीं ताम्र-पत्रों से आठवीं शताब्दी में नृसिंह स्वामी या नृसिंहावतार स्वामी नाम के किन्हीं महात्मा का शङ्कराचार्य की गद्दी पर बैठना सिद्ध होता है। इन्होंने दिग्विजय की यात्रा भी की थी। संभव है, इन्हीं की कई बातों के प्रमाण पाकर कुछ ऐतिहासिक जीव इन्हें आदि-शङ्कराचार्य समझ बैठे हों। परन्तु न तो यह आदि-शङ्कराचार्य हैं, न शारीरक-भाष्य के निर्माता ही। भगवान् आदि-शङ्कराचार्य का समय २२ सौ वर्ष से भी अधिक प्राचीन है।

इनके बनाए ब्रह्मसूत्र-भाष्य में महर्षि गौतम-कृत

न्याय-सूत्रों का कई जगह उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि गोतम-सूत्र शङ्कराचार्य से भी प्राचीन हैं, एवं उनके समय में उक्त सूत्रों का प्रचार और प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। तब से अब तक इन पर टीका-टिप्पणी होती रही, और पठन-पाठन भी इनका बराबर बना रहा। यदि उक्त सूत्रों के प्रचार का समय दो सौ वर्ष भी मान लें, तो गोतम मुनि का समय कम-से-कम २१ सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। परन्तु महाकवि भास के समय इन सूत्रों की सत्ता नहीं थी। यदि होती, तो जिनका उल्लेख भगवान् शङ्कराचार्य ने भी आदर-पूर्वक किया है, अवसर पड़ने पर, भास मुनि भी उन्हीं का नाम लेते। उन्हें छोड़कर किसी दूसरे न्याय का नाम लेना एकदम अस्वाभाविक है।

भास के 'प्रतिमा-नाटक' में एक परिवर्तित कथा है कि जब रावण तपस्वी का वेष बनाकर सीता-हरण के लिये आश्रम में आया, तब श्रीरामचन्द्रजी वहीं थे। वह दूसरे दिन दशरथ का श्राद्ध करने के लिये सीता से कुछ बात-चीत कर रहे थे। उन्हें अपना परिचय देते हुए उसने कहा कि—

"भोः काश्यपगोत्रोऽस्मि साङ्गोपाङ्गं वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रम्, माहेश्वरं योगशास्त्रम्, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्, प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।"

इससे स्पष्ट है कि भास के समय मेधातिथि का न्याय-शास्त्र प्रचलित था, जो गोतम के न्याय के बाद विलुप्त हो गया। आज पतञ्जलि का बनाया योग-शास्त्र प्रचलित है, उस समय महेश्वर का बनाया विद्यमान था। आज चाणक्य (कौटिल्य) का बनाया अर्थ-शास्त्र मिलता है, तब बृहस्पति का बनाया मौजूद था। प्रचेता का बनाया श्राद्धकल्प भी आज नहीं मिलता। यदि भास की कृपा न होती, तो इन शास्त्रों के नाम भी न सुनाई देते। मानवीय धर्म-शास्त्र के सिवा आज इनमें से कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है (मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि गोतम के बाद हुए हैं। उन्होंने कोई न्याय-शास्त्र नहीं बनाया)। इन सब बातों से स्पष्ट है कि महाकवि भास गोतम से भी पहले थे और चन्द्रगुप्त के समय में होनेवाले कौटिल्य (चाणक्य) के भी पूर्वज थे। इससे सिद्ध है कि उनका समय लगभग तीन हज़ार वर्ष प्राचीन है।

यह कहना ठीक नहीं है कि महर्षि पाणिनि से पहले यहाँ नाटक आदि दृश्य-काव्य थे ही नहीं। "पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४।३।११०" यह पाणिनि-सूत्र ही बता रहा है कि उस समय [illegible] अवश्य थे। फिर इन सूत्रों के उदाहरण-रूप नाटक न हों, यह कैसे हो सकता है? लक्ष्यों का लक्षणों से पहले होना स्वभाव सिद्ध है। यह और बात है कि [illegible] समय वर्तमान नाट्य-शास्त्र ही प्रचलित था, या और [illegible] परन्तु कुछ था अवश्य; क्योंकि भास ने 'नाटक', '[illegible]' 'हल्लीश', 'प्रकरण', 'स्थापना', 'विष्कम्भक', '[illegible]' आदि नाट्य-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया [illegible]

बहुत लोगों की धारणा है कि जैसे वाल्मीकि [illegible] व्यास श्रव्य-काव्यों के मार्गदर्शी माने जाते हैं, [illegible] भास दृश्य-काव्यों के मार्गदर्शी हैं। अतएव [illegible] परवर्ती आचार्यों ने 'मुनि' कहकर इनका उल्लेख [illegible] है। कालिदास-जैसे कविचक्र-चूडामणि ने भी [illegible] शब्दों और भावों का बहुधा निःसङ्कोच भाव से [illegible] सरण किया है। श्रीयुक्त गणपति शास्त्री ने [illegible] नाटक के 'उपोद्घात' में ऐसे बहुत-से पद्य उद्धृत किए [illegible]

'मालविकाग्निमित्र' के आरम्भ में कालिदास ने [illegible] के द्वारा एक प्रश्न कराया है कि 'भास-जैसे महा[illegible] के बनाए नाटकों के होते हुए आज वर्तमान [illegible] कालिदास की कृति का आदर क्यों किया जाता [illegible] यह प्रश्न ही घोषित कर रहा है कि कालिदास के सम[illegible] भास के नाटकों का कितना प्रचार था, लोग [illegible] कितने आदर और महत्त्व की दृष्टि से देखते थे। [illegible]

अतिप्राचीन भारतीय विद्वान्, आज की भाँति, [illegible] में अपना नाम नहीं लिखा करते थे। उन दिनों '[illegible] नामाऽऽददते न साधवः' का पूरा साम्राज्य था। [illegible] आर्ष-ग्रन्थों में कहीं भी ग्रन्थकर्ता के नाम का उल्लेख [illegible] मिलता। कालिदास ने भी अपने काव्यों में कहीं नाम [illegible] नहीं किया। लेकिन नाटकों में सूत्रधार के द्वारा [illegible] का नाम सूचित कर देनें की चाल कालिदास से [illegible] ही चल चुकी थी। शूद्रक और कालिदास आदि [illegible] उसी का अनुसरण किया है। परन्तु भास के समय में [illegible] प्रथा का प्रचार नहीं हुआ था। उन दिनों के [illegible] किसी नाटक-पात्र के द्वारा अपने नाम-धाम के [illegible] को भी 'टट्टी की ओट में शिकार' समझते थे। वे [illegible] लज्जा-जनक समझते रहे। भास के नाटकों में [illegible] कवि के नाम तक का उल्लेख नहीं है। परन्तु महाकवि [illegible] [illegible] नाटकों की एक विशेषता बताई है।

"सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ;
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ।"

राजशेखर ने सूक्तिमुक्तावली में लिखा है—

"भासनाटकचक्रेपिच्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ;
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ।"

इससे पता चलता है कि 'स्वप्नवासवदत्त' भास का बनाया हुआ है। आज 'स्वप्नवासवदत्त' के साथ जो अन्य रूपक उपलब्ध हुए हैं, उन सबकी लेख-शैली बिलकुल एक है, और बाण की बताई विशेषता इन सबमें मौजूद है, अतः निःसन्देह ये सब महाकवि भास की ही कृति हैं।

नवीन अलङ्कार-शास्त्र में सूत्रधार और स्थापक के कर्तव्यों का जो निर्देश किया है उसमें—

"रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ।
ऋतुं च कञ्चित्"

यह अंश पीछे जोड़ा गया प्रतीत होता है। प्राचीनतम नट-सूत्रों में संभवतः इतना ही रहा होगा कि—

"पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते ;
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत् काव्यमास्थापयेत्ततः ।"

भास के रूपकों में केवल इसी अंश का पालन किया गया है। इनकी अधिकांश स्थापनाओं में एक ही छाया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने भास कवि के रूपक देखे थे या नहीं, इसमें सन्देह है; क्योंकि उनके लक्षणों से भास की कृतियों का ठीक-ठीक सामञ्जस्य नहीं मिलता।

महाकवि भास के समय में मन्दिर भी थे, और उनमें मूर्तियों की पूजा भी हुआ करती थी। राजा-महाराजों की मूर्तियाँ भी बनाई जाती थीं, और इतनी उत्तमता से बनाई जाती थीं कि जिनसे असली सूरत का तुरन्त ज्ञान हो जाता था। संभव है, बौद्ध-काल में इसी प्राचीन शिल्प-कला ने बौद्ध-रूप धारण किया हो। उन दिनों ज्योतिष के फलित-भाग के भी लोग क़ायल थे। 'प्रतिमा-नाटक' में लिखा है कि श्रीरामचन्द्रजी के वनवास और राजा दशरथ की मृत्यु के बाद जब भरत को उनके मामा के यहाँ से बुलवाया गया, तो उस समय राजधानी (अयोध्या) में घुसने से पहले एक 'भट' उनके पास पहुँचा और उसने कहा कि—

"उपाध्यायास्तु भवन्तमाहुः । ××× एकनाडिकावशेषः कृत्तिकाविषयः । तस्मात् प्रतिपन्नायामेव रोहिण्यामयोध्यां प्रवेक्ष्यति कुमारः ।"

अर्थात् अभी एक घड़ी कृत्तिका-नक्षत्र बाक़ी है। इसके बाद जब रोहिणी-नक्षत्र आ जाय, तब आप अयोध्या में प्रवेश करें। यह सुनकर भरत ने, समय बिताने के लिये, एक मन्दिर में प्रवेश किया। वहाँ जाकर वह किसी प्रतिमा को प्रणाम करने लगे, तो पुजारी ने उन्हें रोककर कहा कि ये सब क्षत्रिय महाराज हैं। इन्हें देवता न समझिए। यदि आप ब्राह्मण हों, तो इन्हें प्रणाम मत कीजिए। उन्हीं पत्थर की मूर्तियों में एक ओर दशरथ की मूर्ति देखकर भरत ने चौंककर पुजारी से पूछा कि क्या यहाँ जीवित राजों की प्रतिमाएँ भी रक्खी जाती हैं? पुजारी बोला कि 'नहीं।' इसके बाद भरत जब कुछ और पूछने लगे, तो उसने कहा कि—

"येन प्राणाश्च राज्यं च स्त्री-शुल्कार्थे विसर्जिताः ;
इमां दशरथस्य त्वं प्रतिमां किं न पृच्छसे ।"

(प्रतिमा-नाटक, ३ अंक, ९ श्लोक)

भास के समय में किसी हद तक पर्दे का रवाज भी था।

वनवास के समय श्रीरामचन्द्रजी ने सीता से कहा है कि—

"मैथिलि, अपनीयतामवगुण्ठनम्—
'स्वैरं हि पश्यन्तु कलत्रमेतत्
बाष्पाकुलाक्षैर्वदनैर्भवन्तः ;
अदोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो,
यज्ञे विवाहे व्यसने वने च ।'"

(प्रतिमा०, १ अंक, २९ श्लोक)

श्राद्ध, मूर्ति-पूजा और ज्योतिष आदि की ये सब बातें व्यास और वाल्मीकि ने भी कही हैं। जो लोग उन्हें प्रक्षिप्त बताते हैं, उनको भास से कुछ शिक्षा लेनी चाहिए।

किन्हीं लोगों का ध्यान है कि भास कवि दाक्षिणात्य थे; क्योंकि उनके 'अविमारक'-नामक नाटक में मामा की लड़की के साथ विवाह का उल्लेख है, जो आज भी महाराष्ट्र आदि में प्रसिद्ध है। परन्तु यह युक्ति ठीक नहीं है। 'अविमारक' की कथा का आधारभूत मातुलकन्या-विवाह उन क्षत्रियों में दिखाया गया है, जिनमें महाभारत के समय भी उत्तर-भारत में वह प्रथा विद्यमान थी। सुभद्रा और अर्जुन का विवाह इसी प्रकार का था।

'विष्णुसेन' अथवा 'अविमारक' राजा कुन्तिभोज के भानजे थे। कुरङ्गी (कुन्तिभोज की कन्या) के साथ उनका विवाह भी 'सुभद्राहरण' की कोटि का ही था। अतः इस युक्ति के सहारे भास मुनि का दाक्षिणात्य होना सिद्ध नहीं होता। यह ठीक है कि भास के ग्रन्थ दक्षिण-भारत में ही प्राप्त हुए हैं; परन्तु मुसलमानी आक्रमण के कारण उत्तर-भारत में अब प्राचीन ग्रन्थ मिलते ही कहाँ हैं ? कालिदास के समय में जब इनका अभिनय यहाँ होता था, तो उत्तर-भारत में इनका होना भी निर्विवाद सिद्ध है।

संस्कृत में एक प्रसिद्धि है—

"नाटकान्तं कवित्वम् ।"

कविता की चरम सीमा नाटक है। कवित्व-शक्ति की परा काष्ठा की परीक्षा नाटक में होती है। इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत में नाटक लिखना कितना कठिन काम समझा जाता है। यहाँ नाटक लिखनेवाले को सबसे पहले अपने कार्य को पाँच अवस्थाओं में बाँटना पड़ता है। १—आरम्भ, २—यत्न, ३—प्राप्त्याशा, ४—नियताप्ति, और ५—फलागम। नाटक में इन अवस्थाओं को इसी क्रम से रखना पड़ता है। इसके बाद कवि जिस इतिहास को नाटक का रूप देना चाहता है, उसे इन पाँच अवस्थाओं में विभक्त करता है। उक्त अवस्थाओं के साथ इतिहास के ठीक-ठीक मिल जाने से यथाक्रम पाँच सन्धियाँ तयार होती हैं। उनके नाम हैं, १—मुख, २—प्रतिमुख, ३—गर्भ, ४—विमर्श, और ५—निर्वहण। इनमें से मुख-सन्धि के १२ अङ्ग होते हैं—१—उपक्षेप, २—परिकर, ३—परिन्यास, ४—विलोभन, ५—युक्ति, ६—प्राप्ति, ७—समाधान, ८—विधान, ९—परिभावना, १०—उद्भेद, ११—करण, और १२—भेद। इसी प्रकार अवशिष्ट चारों सन्धियों के भी अङ्ग होते हैं। इन पूर्वोक्त अवस्थाओं, सन्धियों और उनके अङ्गों के पृथक्-पृथक् लक्षण साहित्य-शास्त्र में वर्णित हैं। इन सब रूपों में से अभीष्ट इतिहास को निकालना पड़ता है। यह सब होने पर भी यदि रस अछूता रह सका, कथा अक्षुण्ण बनी रही और विन्यास में कौतूहल तथा चमत्कार कम न होने पाया, तब तो नाटक ठीक बना समझिए, वरना "सब गुड़ गोबर"। इन सबके सिवा एक बात और है, और वह बड़ी मुशकिल है। नाटक की प्रत्येक बात में स्वाभाविकता का होना निहायत ज़रूरी है। कोई बात अस्वाभाविक हुई कि खटकने लगी। नाटक का कोई पात्र यदि भील है, उसकी भाषा से, वेष से, शरीर से, भाव-भङ्गी के ढंग से, सबसे वही भीलपन झलकना चाहिए। ब्रह्मर्षि, राजा, रानी, दास, दासी, डाकू, चोर, कोतवाल, मल्लाह और चाण्डाल तक की बोल... तथा मानसिक भाव वैसे ही होने चाहिए, जो ... स्वाभाविक मालूम हों। यह काम बड़ा कठिन है। ... की भावना का वेग इतना तीव्र है कि ज़रा ध्यान ... ही इन्द्र-लोक की समृद्धियों और नारकीय यातनाओं ... साङ्गोपाङ्ग चित्र उसकी आँखों के सामने नाचने ... जिसका प्रकृति-परिशीलन इतना प्रबल है कि वह ... की-बात में सम्पूर्ण जड़ और चेतन-जगत् के ... घुसकर उसके छिपे-से-छिपे भाव का स्फुट अनुभव ... लगता है, जिसकी मनीषा उन सबमें से समुचित ... निकाल सकती है, और जिसकी वाणी उसका ... मय चित्र खींचकर सहृदय पुरुषों को रसमग्न ... सकती है, वही महापुरुष 'कवि' कहलाने योग्य ... जिसकी प्रतिभा स्वतन्त्र और कल्पना स्वयम्भू है, ... 'कवि' हो सकता है। इसी से लोग कालिदास ... कवियों को योगी कहा करते हैं, और यही कारण ... वेद में ईश्वर की स्तुति करते हुए 'कवि'-शब्द के ... कई साभिप्राय विशेषण लगाए हैं। यथा—"कविर्म... परिभूः स्वयम्भूः।"

भास मुनि में ये सब बातें पूर्ण रूप में पाई जाती ... आपके रूपक स्वाभाविकता की मूर्ति हैं। 'बाल-... में नन्द गोप और वसुदेव की बात-चीत लिखने में ... कमाल किया है। नन्द गोप की प्राकृत भाषा और ... भोले-भाले सात्त्विक भावों को देखने से मालूम ... है कि उन्हें लिखते समय कवि के हृदय में ... नन्द गोप की आत्मा का आवेश हो गया था। ... वसुदेव के क्षत्रियोचित ओजस्वी भाव और ... नन्द गोप का भोलापन, दोनों की गङ्गा-यमुना ... बही है। वसुदेव ने कृष्ण को नन्द गोप के हवाले ... जब यह पूछा कि—

"वयस्य नन्द गोप, अस्य सुतस्य किं करिष्यति भवान् ...

अर्थात् मित्र नन्द, तुम इस बच्चे का क्या करोगे! ... जगह आप कहते हैं—

"सुप्पाकुम्मका मक्कसिं गेहे गच्छिअ खीरं पिबइ, ...

गेहे गच्छिअ दधिं भक्खइ, अवरस्सिं गेहे गच्छिअ णवणीदं गिलइ, अवरस्सिं गेहे गच्छिअ पाअसं भुञ्जइ, इदरस्सिं गेहे गच्छिअ तक्कघटं पलोअदि, किं बहुणा अम्हाणं घोसस्स पदी होइ।"

अर्थात् सुनिए मालिक, यह एक घर में जाके दूध पिएगा। दूसरे में जाके दही खायगा। तीसरे में मक्खन सड़प्प करेगा। चौथे घर में खीर खायगा। औरों में मट्ठे के घड़े देख-देखकर लुढ़कावेगा। अधिक क्या कहूँ, हमारे घोष (गोव्रज) का पति होगा। यदि आजकल का कोई नाटककार इस घटना का उल्लेख करता, तो किसी कॉलेज में कृष्ण को भर्ती कराने की बात ज़रूर कहता। परन्तु उसमें यह स्वाभाविकता कहाँ? इसी 'बालचरित' के दूसरे अङ्क में कंस का व्यामोह, अन्तःपुर में चण्डाल-युवतियों का दिखाई देना एवं शाप की प्रत्यक्ष मूर्ति, इन सबमें भी भास की कल्पना शक्ति का समुज्ज्वल कौशल जगमगा रहा है। यदि आप भास के 'स्वप्नवासवदत्त' के साथ कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का मिलान करके देखें, तो पता चले कि महाकवि श्रीकालिदास ने भास मुनि का कितना अनुसरण किया है। शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में तो भास के 'दरिद्र चारुदत्त' की हू-ब-हू नक़ल पाई जाती है। भास की सरस, मधुर और सरल भाषा को देखकर बहुत-से लोग समझते हैं कि उस समय संस्कृत सर्व-साधारण की भाषा थी। पर इतना तो हम भी मानते हैं कि उन दिनों संस्कृत सर्व-साधारण में समझी अवश्य जाती थी।

जो लोग यह समझते हैं कि संस्कृत में दुःखान्त-नाटक (Tragedy) लिखे ही नहीं जाते थे, उन्हें भास-कृत 'ऊरुभङ्ग' देखना चाहिए। इस रूपक की रचना दुःखान्त हुई है।

पाश्चात्य नाट्य-कला-विशारदों में किसी रूपक के भीतर दूसरे रूपक के सन्निवेश को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। अर्वाचीन संस्कृत नाटकों में भवभूति और जयदेव की कृतियों में यह बात विद्यमान है, और भास के अतिप्राचीन 'बालचरित' में भी कृष्ण ने गोपियों के साथ 'हल्लीश' का आयोजन किया है। आज भी नाट्य-शास्त्र में 'हल्लीश' की वही परिभाषा मौजूद है, जो भास के समय में थी—

"हल्लीशे एक एवाङ्कः सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ;
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकी वृत्तिरुज्ज्वला ।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयान्वितः ।"

अभी भास के १३ (बल्कि साढ़े बारह) ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं। इनमें से एक का नाम है पञ्चरात्र। इसमें भास मुनि ने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और करुणा-पूर्ण हृदय का अपूर्व परिचय दिया है। इससे पता चलता है कि महाभारत के अत्यन्त अनुचित और अन्याय-पूर्ण युद्ध से आपके कोमल हृदय में गहरी चोट लगी थी। आपकी राय में जब पाण्डव लोग १२ वर्ष का वनवास और १ वर्ष का अज्ञातवास पूरा करके लौट आए थे, तब दुर्योधन को उनका आधा राज्य लौटा देना ही उचित था। इसके बाद जो उसने अपनी कुबुद्धि के कारण बात बढ़ाकर महाभारत का युद्ध रचा, वह होना ही नहीं चाहिए था। इसी आधार पर आपने महाभारत की कथा को कुछ बदलकर 'पञ्चरात्र' की रचना की है।

इसकी कथा का संक्षेप यों है—दुर्योधन ने यज्ञ किया, और अन्त में गुरु द्रोणाचार्य से इच्छानुरूप यज्ञ-दक्षिणा लेने का अनुरोध किया। बहुत कहने पर, बात पक्की करके द्रोणाचार्यजी ने कहा कि—

"येषां गतिः क्वापि निराश्रयाणां संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टा ;
त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च ।"

अर्थात् जिन बेचारे आश्रय-हीन पाण्डवों का बारह बरस से कहीं ठिकाना नहीं है, तुम उनका हिस्सा दे दो, बस यही मेरी भिक्षा है और यही दक्षिणा है। इस पर और सब तो राज़ी हो गए, परन्तु शकुनि ने घोर विरोध किया। अन्त में शकुनि की सलाह से यह तय हुआ कि यदि 'पञ्चरात्र' अर्थात् पाँच रात्रि (यानी पाँच दिन) के अन्दर पाण्डवों का पता लग जाय, तो उन्हें आधा राज्य दिया जा सकता है। इस पर द्रोण ने निराश होकर कहा—

"ये कर्तुकामैश्छलनं भवद्भिः संवत्सरैर्द्वादशभिर्न दृष्टाः ;
ते पञ्चरात्रेण मयोपनेया वरं ह्यदत्तं विशदाक्षरेण ।"

परन्तु उसी समय विराट् के यहाँ से दूत ने आकर कहा कि "सौ कीचकों को किसी ने, विना किसी शस्त्र के मार डाला है। उनके शोक के कारण राजा विराट् इस यज्ञ में शामिल नहीं हो सके।" यह सुनते ही धीरे से भीष्म ने द्रोण से कहा कि आप 'पञ्चरात्र' की शर्त मंजूर कर लीजिए। पाण्डवों का पता चल गया। विना शस्त्र लिए सौ कीचकों को मार डालना सिवा भीमसेन के और किसी का काम नहीं है। इधर द्रोणाचार्यजी ने दुर्योधन

की 'पाँच रात्रि'वाली शर्त मंजूर की, और उधर भीष्म के कहने से विराट् के ऊपर दुर्योधन ने चढ़ाई बोल दी। वहाँ घोर युद्ध हुआ, और अर्जुन ने सबके छक्के छुड़ा दिए। पाण्डव लोग पहचान लिए गए, और द्रोणाचार्य बोले कि—

"इत्यर्थं वयमानीताः पञ्चरात्रोपि वर्तते ;
धर्मेणावर्जिता भिक्षा धर्मेणैव प्रदीयताम् ।"

इस पर दुर्योधन ने कहा कि—

"बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम् ;
मृतेपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति ।"

अंत में द्रोणाचार्यजी ने—

"हन्त सर्वे प्रसन्नाः स्मः प्रवृद्धकुलसंग्रहाः"

कहकर ग्रन्थ समाप्त किया, और महाभारत का युद्ध गुरु द्रोणाचार्य की कृपा से, होते-होते बच गया। इस घटना से कुछ लोग यह भी कल्पना करते हैं कि द्रोणाचार्य ही जन्मान्तर में भास मुनि हुए थे, और उन्होंने अपने हृद्गत भावों को इस रूप में प्रकाशित किया। जो कुछ भी हो, हम इस पर विवाद बढ़ाना नहीं चाहते।

परन्तु एक बात कहे विना हम नहीं रह सकते। इसे सुनकर पाठकों को आश्चर्य होगा, और दुःख भी। कोई-कोई भावुक सहृदय मर्मान्तिक वेदना का अनुभव करेंगे। परन्तु समालोचक का कठिन कर्तव्य पालन करने के लिये हमें उसकी चर्चा करनी ही पड़ेगी। पाठकगण धैर्य रखके और जिगर थामके सुनें।

इस पापी कलियुग में एक महाशय ऐसे पैदा हुए हैं, जिन्होंने इन्हीं भास मुनि की पगड़ी उछालने और इज़्ज़त बरबाद करने की क़सम खाई है। आप सत्तू बाँधकर भास के पीछे पड़े हैं और "अपर पञ्चरात्र" नाम का एक "लघु काव्य" लिखकर अपना मनोरथ सफल करना चाहते हैं। आपका परिचय है—"पं० रामदत्त पन्थ (?) साहित्योपाध्याय, प्रोफ़ेसर ऑफ़ संस्कृत, बरेली-कॉलेज।" टाइटिल-पेज से लेकर अनेक जगह दुहराई, तिहराई हुई, आप ही के शब्दों में, आपकी प्रतिज्ञा है कि—

"अत्र किल कौर्माचलः कवी रामदत्तपन्थः पुरो मुविवाणीविलासचतुराणामन्तरवाणिवराणां भासमुनेः पञ्चरात्रमात्रमुदिश्य सोत्साहं प्रतिजानीते—

कृतं भासोपहासाय धृतमग्रे विपश्चिताम् ;
हसेयुस्तेऽत्र संलक्ष्य तं वा मां वा वचक्रम (?) मिति।"

अर्थात् भास मुनि के केवल पञ्चरात्र को लक्ष्य ... रामदत्त पन्थ पृथ्वी-भर के समस्त विद्वानों के सा... उत्साह-सहित प्रतिज्ञा करता है कि (मैंने) भा... उपहास के लिये (यह ग्रन्थ) बनाकर विद्वानों ... सामने रक्खा है। इसके वचक्रम (?) को देख... लोग (विद्वज्जन) भास का उपहास करेंगे, या मेरा ... हास करेंगे। पुस्तक के आरम्भ में आपने "वक्तव्य-... सूचना" लिखी है, जिसमें दो-एक बातों के बा... यही प्रतिज्ञा दुहराई गई है। इसके आगे सूत्रधा... उक्ति का अँगरेज़ी-अनुवाद (Translation of ... Sutradhara's speech) जोड़ा है। यह ... की 'स्पीच' का अशुद्ध अनुवाद किसी विशेष अभि... जोड़ा गया प्रतीत होता है।

इसके आगे आपने 'सतामभ्यर्थनाऽग्रतः' (!) ... है, जिसमें अपने गुरु के लड़के का बनाया, इसी ... का, एक लम्बा अशुद्धि-पत्र लगाया है। उसके ... आपका "दृश्यं लघु काव्यम्" शुरू होता है। इसे ... सम्राट् पञ्चम जॉर्ज, उनकी एसेंबली (assembl... और उनके अफ़सरों के सामने अवतीर्ण करा... इसमें सूत्रधार ने मतलब की (दृश्य-काव्योपयो... कोई बात न कहकर पहले तो अँगरेज़ों की तारी... पुल बाँधे हैं, फिर पन्थजी की राजभक्ति की दुहाई ... है। आगे आपकी लिखी ४-४ आनेवाली किता... नोटिस दिया है, और साथ ही आपके शब्दों में 'राज... (हमारे शब्दों में देशभक्त) लोगों को कोसा भी ...

लेखक का हृदय इस एक घटना से ही स्पष्ट हो ... है, और ग्रन्थ लिखने का तात्पर्य भी साफ़ समझ ... जाता है। संभव है, आपकी इस कृति से कुछ देशी ... लोग प्रसन्न हों, और विवेक-हीन नौकरशाही के ... इस पुस्तक को 'Original' (मौलिक) समझकर ... गले में किसी उपाधि का तौक़ लटका दें, अथवा ... किसी तरह आपकी पीठ ठोंक दें; परन्तु संस्कृतज्ञ ... आपके इस कुकृत्य को सदा गर्हित और नीच-भाव ... समझती रहेगी।

हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि हम ... रामदत्त पन्थजी को भास या कालिदास से ... करें। हम तो कहते हैं कि ईश्वर करे, आप ... वाल्मीकि से भी बढ़कर हो जायँ; परन्तु हमारा नम्र ...

तो यही है कि न तो पूज्य पुरुषों का उपहास करने से किसी की योग्यता बढ़ सकती है और न शान्त रहने से वह घट सकती है। आज भास और कालिदास का नाम संसार में सूर्य के समान चमक रहा है, यद्यपि उन्होंने अपने किसी पूर्वज का उपहास करने के लिये कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। आपमें यदि योग्यता है, तो अच्छे-से-अच्छा ग्रन्थ लिखकर संसार के सामने रखिए। आपका नाम अमर हो जायगा। लेकिन विजातियों, विदेशियों और विधर्मियों को खुश करने के लिये अपने पूज्य पूर्वजों की पगड़ी उछालना कहाँ की बुद्धिमानी है? और वह भी किस क्षुद्र प्रयोजन के लिये? हा, धिक्!!

आपने अपनी 'सतामभ्यर्थनाऽग्रतः' (?) के अन्त में एक पद्य लिखा है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'दोष दिखाना खलों का काम है। सज्जन लोग गुण ही देखा करते हैं।' हम आपसे पूछना चाहते हैं कि कविचक्र-चूडामणि श्री-कालिदास तक के पूज्य वृद्ध भास मुनि का उपहास लिखते समय क्या यह पद्य आपको याद था? या अपने दोष छिपाने के लिये ही इसले ढाल का काम लेना चाहते हैं?

आपने अपने काव्य को विद्वन्मण्डली के सामने रखकर और चैलेंज देकर पूर्वोक्त प्रतिज्ञा—'कृतं भासोपहासाय धृतमग्रे विपश्चिताम्'—की है और आशा की है कि—

"साधुत्वे साधुवादो वाऽसाधुत्वे साधुशासनम्;
श्रमापनुत्तये कर्तुः कृत्येऽलंकीर्तिशालिनाम्।"

अर्थात् यदि काम अच्छा हो, तो साधुवाद (शाबाशी) से कर्ता का श्रम दूर होता है, और यदि कुछ बुराई हो तो 'शासन' (हिदायत या तंबीह) से भी वही काम होता है। हम आपकी इसी आज्ञा और आशा के अनुसार आपकी सेवा में कुछ निवेदन करने का साहस करते हैं। बहुत संभव है, आपको हमारी बात सुनने में कड़वी मालूम हो; परन्तु यदि जी कड़ा करके, चिरायते के काढ़े की तरह, आप इसे गले के नीचे उतार गए, तो बुख़ार आपका ज़रूर दूर हो जायगा, और अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाने से आपका हित भी होगा।

कुछ पर्वतीय ब्राह्मणों को हमने अपने नाम के आगे 'पन्त' लिखते देखा है; परन्तु श्रीरामदत्तजी ने इस ग्रन्थ में आद्यन्त अपने को 'पन्थ' लिखा है। क्या हम पूछ सकते हैं कि आप अपने को 'परिपन्थं च तिष्ठति' का उदाहरण क्यों बनाते हैं?

भास ने अपने ग्रन्थ का नाम 'पञ्चरात्र' रक्खा है, और एक विशेष घटना (पूर्वोक्त) का उल्लेख करके उसकी सार्थकता सिद्ध की है, एवं ग्रन्थ के अन्त तक 'पञ्चरात्रोपि वर्तते' कहकर उसका निर्वाह किया है। सभी दृश्य-काव्यों के लेखक अपने ग्रन्थ के नाम को विशिष्ट घटनाओं द्वारा समर्थित करते हैं। हम श्रीयुत 'पन्थ' जी से पूछते हैं कि आपके 'अपर पञ्चरात्र' के 'अपर'-शब्द की उपादेयता का कौन-सी घटना समर्थन करती है? क्या आपकी पुस्तक में एक भी बात ऐसी है, जिससे इस शब्द की उपयोगिता सिद्ध होती हो? यदि नहीं, तब तो फिर यह 'अजागलस्तन' की तरह व्यर्थ ही रहा! कथा तो आपने सब भास ही के यहाँ से उड़ाई है। नई कोई बात है ही नहीं। फिर इस अनाथ 'अपर'-शब्द का समर्थन कौन करेगा? हमारी सम्मति में तो भास का उपहास लिखने से पहले आपको नाटकों के नाम-निर्देश का रहस्य किसी से सीख लेना चाहिए था।

हम आपको चुनौती देते हैं कि आप अपने 'मौलिक'-काव्य में से एक भी ऐसी घटना बताइए, जिसे आपने भास के 'पञ्चरात्र' से चुराया या नक़ल न किया हो। कथा सब आद्यन्त भास के घर की। कल्पना सब भास की। अच्छे पद्य और भाव सब भास से चुराए हुए। यहाँ तक कि नाम भी वही 'पञ्चरात्र'। उस पर नाज़ यह कि 'कृतं भासोपहासाय'!! 'किमाश्चर्यमतः परम्'!!!

पाठकगण, यदि कोई अपने लड़के का नाम 'लघु मनुष्य' रक्खे, तो आप उसे क्या कहेंगे? यद्यपि नवजात शिशु लघु मनुष्य अवश्य है, परन्तु क्या इस नाम से नामकरण करनेवाले को आप बातमीज़ कह सकेंगे? दृश्य-काव्यों के संस्कृत में अनेक भेद होते हैं। साहित्य-शास्त्र की परिभाषाओं के अनुसार कवि लोग 'नाटक', 'प्रकरण', 'नाटिका', 'व्यायोग', 'हल्लीश', 'ईहामृग', 'त्रोटक', 'सट्टक', 'प्रहसन' आदि नाम रखते हैं। परन्तु श्रीयुक्त पन्थजी ने लिखा है—'दृश्यं लघु काव्यम्'। 'लघु मनुष्य' की तरह इस 'लघु काव्यम्' के नाम-निर्देश से ही आपके साहित्य-ज्ञान की योग्यता फटी पड़ती है।

यह संभव था कि यदि भास के 'पञ्चरात्र' में कोई विशेषण लिखा होता, तो आप झटसे उसकी नक़ल कर देते। परन्तु जीर्ण-शीर्ण ताल-पत्रों पर लिखी तीन हज़ार वर्ष की पुरानी इस पुस्तक में वैसा कोई शब्द मिला

नहीं । यद्यपि भास के अन्य ग्रन्थों में 'प्रतिमा-नाटक', 'मध्यम-व्यायोग' आदि शब्द मिलते हैं । अब पन्थजी इसके लिये शब्द लावें, तो कहाँ से ? अधिक-से-अधिक आपने साहित्यदर्पण के कुछ लक्षण मिलाए होंगे । उनमें से कोई फ़िट नहीं हुआ । आख़िर बेचारे चुप हो बैठे, और 'लघु काव्यम्' लिखकर सन्तोष किया । क्यों पन्थजी महाराज, क्या इसी बुद्धि-वैभव के भरोसे आप भास का उपहास करने चले हैं ?

किसी विषय में दृढ़ संकल्प का नाम 'प्रतिज्ञा' है । महाकवि भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में वत्सराज के मन्त्री यौगन्धरायण ने प्रतिज्ञा की है—

"सुभद्रामिव गाण्डीवी नागः पद्मलतामिव ;
यदि तां न हरेद्राज। नास्मि यौगन्धरायणः ।
यदि तां चैव तं चैव तां चैवायतलोचनाम् ।
नाहरामि नृपं चैव नास्मि यौगन्धरायणः ।"

अर्थात् यदि मैं वासवदत्ता आदि को हरण न कर लाऊँ, तो यौगन्धरायण नहीं । इस बात में वक्ता की दृढ़ता और एक कार्य में सर्वतोभावेन उसकी तत्परता पाई जाती है । संसार में कोई प्रतिज्ञा ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें प्रतिज्ञा-कर्ता की दृढ़ता किसी एक ओर न पाई जाती हो । अब ज़रा पन्थजी की प्रतिज्ञा का मुलाहिज़ा कीजिए—

"......रामदत्तपन्थः सोत्साहं **प्रतिजानीते**—
कृतं भासोपहासाय धृतमत्र विपश्चिताम् ;
हसेयुस्तेऽत्र संलक्ष्य **तं वा मां वा** वचक्रमम् इति ।"

क्या इस 'तं वा मां वा' को प्रतिज्ञा कहा जा सकता है ? जहाँ विकल्प (वा) है, वहाँ दृढ़ता कैसी ? और दृढ़ता के विना प्रतिज्ञा कहाँ ? यदि कोई कहे कि 'या तो मैं तुम्हें मार लूँगा, या तुम मुझे मार लोगे', तो इसे प्रतिज्ञा कौन कहेगा ? 'देवदत्त या तो मर जायगा, या जीता रहेगा' क्या इस वाक्य को कोई प्रतिज्ञा कह सकता है ? यदि नहीं, तो फिर श्रीपन्थजी का यह कहना कि—'इस पुस्तक को देखकर लोग या तो भास की हँसी करेंगे, या मेरी'—प्रतिज्ञा कैसे कहा जा सकता है ? इस संशयात्मक वाक्य का नाम प्रतिज्ञा क्योंकर हुआ ? संशय और निश्चय विरोधी धर्म हैं । प्रतिज्ञा में निश्चय की प्रतीति होती है, और विकल्प में संशय की । ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? श्रीपन्थजी बरेली-कॉलेज के संस्कृत-प्रोफ़ेसर हैं । आप छात्रों को 'प्रतिज्ञा'-श क्या अर्थ बताते होंगे ?

"गर हमी मक्तव अस्त हमी मुल्ला ;
कारे तिफ़लाँ तमाम ख्वाहद शुद ।"

आपने उक्त प्रतिज्ञा-पद्य को आरम्भ में ही तीन लिखा है, और आपके "अशुद्धि-पत्र' में कहीं इसका निशान तक नहीं है, अतः आप ज़रूर इसे शुद्ध म हैं ; परन्तु व्याकरण के अनुसार 'वचक्रमम्' अशुद्ध यहाँ 'वच' के आगे विसर्ग ('वचःक्रमम्') आ आवश्यक है । यह तो 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' व्याकरण-सम्बन्धी अन्य अशुद्धियाँ हम आगे दि यहाँ तक आपके टाइटिल-पेज की बात हुई । आगे आपकी 'वञ्चना-शून्य सूचना' है । इस 'व शून्य' को देखकर हमें उस नोटिस की याद आ गई, में "असली काश्मीरी कोक-शास्त्र" लिखा रह इस सूचना के अन्त में आप फ़रमाते हैं—

'तदित्थं महाकवेरस्य पञ्चरात्रमात्रमुद्दिश्य अपरप मिदं कृतं **भासोपहासाय**......प्रहासोन्मुखा विद्वांस रात्रे अपरपञ्चरात्रे च निविश्य न पुनस्तस्य महाकवि निविश्य प्रसादं विषादं वा समुपलभ्य हसेयुरस्मद रिति मुहुरभ्यर्थयते रामदत्तपन्थः—"

लोगों को 'प्रसाद' (प्रसन्नता) में हँसते सबने होगा ; परन्तु श्रीपन्थजी 'विषाद' होने पर भी लो हँसने की प्रार्थना करते हैं ! यह है आपके प्रकृति की लियाक़त !! इसी के भरोसे आप भास का उप करने को उतारू हुए हैं !!!

अब ज़रा आपके 'लघु काव्यम्' की भी बानगी दे भास के काव्यों में 'पञ्चरात्र' को आपने सबसे समझा है । इसीलिये अपनी 'प्रतिज्ञा' और 'सूचना' कई जगह 'पञ्चरात्र-मात्र' की दुहाई दी है । हम भी इन्हीं दोनों (पञ्चरात्र और अपर-पञ्चरात्र) का मु करके ऊँट को पहाड़-तले से निकालना चाहते हैं ।

'नाटकान्तं कवित्वम्' की चर्चा हम पहले कर चु नाटक आदि दृश्य-काव्यों का मङ्गलाचरण लिख एक मार्के की बात समझी जाती है । इसमें स्तु प्रार्थना इस प्रकार लिखी जाती है, जो प्रस्तुत ग्र अधिक-से-अधिक सम्बन्ध रखती हो । इतना ही उस मङ्गलाचरण को सुनकर नाटक की

घटनाओं, ख़ासकर पात्रों और आरम्भ तथा अन्त की दशाओं की ओर भी साफ़ इशारा समझ में आना चाहिए। इन सब बातों के होते हुए भी शब्द-रचना जहाँ तक हो सके, सरल, स्पष्ट और थोड़ी होनी चाहिए। साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् इस पहले श्लोक से ही समझ लेते हैं कि कवि ने अपने काम में कहाँ तक सफलता प्राप्त की है। समझदार लोग "पूत के पैर पालने में" ही परख लेते हैं।

भास के 'पञ्चरात्र' की कथा का संक्षेप हम पहले बता चुके हैं। इसमें प्रधान पात्र श्रीद्रोणाचार्यजी हैं। उन्हीं ने अपने उद्योग से पाण्डवों को राज्य दिलाया है। द्रोणाचार्यजी की यह प्रवृत्ति क्यों हुई? इस पर भास मुनि ने उनके मुँह से यह कहलाया है कि—

"धर्ममालम्बमानेन दुर्योधनेनाहमेवानुगृहीतो नाम—

अतीत्य बन्धूनवलङ्घ्य मित्रा-
ण्याचार्यमागच्छति शिष्यदोषः;
बालं ह्यपत्यं गुरवे प्रदातु-
र्नैवापराधोऽस्ति पितुर्न मातुः।"

अर्थात् यदि दुर्योधन धर्म-पूर्वक आधा राज्य पाण्डवों को दे दे, तो उसका सबसे बड़ा अनुग्रह मुझ पर होगा; क्योंकि शिष्य के दोषों का उत्तरदाता गुरु ही होता है। छोटी उम्र के बच्चे को योग्य गुरु के सिपुर्द करके माता-पिता तो छूट गए। अब यदि उसमें कोई दोष उत्पन्न होता है, तो उसका ज़िम्मेदार गुरु ही होगा। तात्पर्य यह कि दुर्योधन मेरा शिष्य है। यदि उसने कोई अन्याय किया, तो लोग मुझे और मेरी शिक्षा को ही दोष देंगे। यद्यपि धर्मात्मा युधिष्ठिर और वीर अर्जुन के शिक्षक श्रीद्रोणाचार्यजी पर कोई दोष नहीं लग सकता, तथापि उनके इस अत्यन्त उदार विचार और निःस्वार्थ परोपकार के भाव को अङ्कित करके महाकवि भास ने उनके चरित्र को परम पवित्र और उज्ज्वल बना दिया है। यही यहाँ इनके प्रधान-पात्रत्व का कारण है। पात्रों में दूसरा नंबर अर्जुन और भीम का है; जिन्होंने विराट्-नगर में सब कौरवों को परास्त किया। इनके प्रतिद्वन्द्वी कर्ण, शकुनि और दुर्योधन हैं। धर्म-प्रधान पात्रों में भीष्म और युधिष्ठिर हैं। विराट्-नगर में उत्तर ने युद्ध किया है, और अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह भी हुआ है। यह सब कथा इस 'पञ्चरात्र' में वर्णित है। अब इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए, आप भास मुनि के मङ्गलाचरण को देखिए। इस एक श्लोक में आपने विराट्-स्वरूप भगवान् कृष्ण का स्मरण करके, सूत्रधार के द्वारा, सब लोगों को आशीर्वाद दिलाया है; परन्तु अपनी कथा और पात्रों की सूचना किस सुन्दरता से व्यञ्जित की है, इसे पाठक स्वयं देख लें। सुनिए—

"द्रोणः पृथिव्यर्जुनभीमदूतो
यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य;
दुर्योधनो भीष्मयुधिष्ठिरः स—
पायाद् विराडुत्तरगोऽभिमन्युः।"

जो "द्रोण" अर्थात् कृष्ण-वर्ण (श्रीकृष्ण) हैं, जो पृथिवी में अर्जुन और भीम के दूत बने, जो 'शकुनीश्वर' (पक्षि-राज=गरुड़) के 'कर्णधार' (नेता) हैं, जिनसे युद्ध करना दुर्घट ('दुर्योधन') है, जो 'भीष्म' (भयानक) और युद्ध में 'स्थिर' (युधिष्ठिर) रहते हैं, जो 'विराट्'-रूप हैं, जो 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठाः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सब संसार में उत्तरगामी ('उत्तरग') हैं, और 'यज्ञो वै विष्णुः' इत्यादि वेद-वाक्यों के अनुसार यज्ञ-रूप ('अभिमन्यु') हैं, वह (भगवान् कृष्ण) आपकी रक्षा करें।

यह तो हुआ इस श्लोक का मङ्गलाचरण-सम्बन्धी अर्थ। अब प्रकृत कथा से सम्बन्ध रखनेवाला अर्थ सुनिए—"द्रोणः पायात्"=द्रोण रक्षा करें, अर्थात् महाभारत-जैसे संहारक संग्राम को रोककर गुरु द्रोण संसार की रक्षा करें। जो द्रोण 'पृथिव्यर्जुनभीमदूतः' पृथिवी के लिये—आधे राज्य के लिये—अर्जुन और भीम के (निःस्पृह धर्मात्मा युधिष्ठिर के नहीं) दूत बने। जो 'शकुनि' और 'ईश्वर' (राजा दुर्योधन) के 'कर्णधार' (नेता) हैं, अथवा जो शकुनि और दुर्योधन का कान पकड़नेवाले ('कर्णधार') हैं। जिन्होंने शकुनि और दुर्योधन के कान पकड़कर सन्धि करा दी।—अथवा जो 'कर्णधार'=कर्ण की रोक-थाम करनेवाले और शकुनि दुर्योधन के कान पकड़नेवाले हैं। जो 'दुर्योधन' (दुर्दम) हैं। जो भीषण युद्ध में स्थिर रहते हैं, अथवा भीष्म और युधिष्ठिर जिनके प्रिय पात्र हैं। 'विराट्' और 'उत्तर' पर जिन्होंने चढ़ाई की एवं पाण्डवों के वनवास से जिनका 'मन्यु' (अनुताप) 'अभि'=वृद्ध हुआ, वह गुरु द्रोण रक्षा करें।

अब इस श्लोक में प्रकृत रूपक के पात्रों का सन्निवेशौचित्य देखिए । प्रधान पात्र द्रोण का नाम सबसे पहले लिया गया। उद्योग का विषय-पृथिवी—उसके बाद आई । दूसरे नंबर के पात्र और गुरु द्रोण के प्रिय पात्र अर्जुन, भीम उसके बाद आए । यद्यपि अर्जुन से भीम आयु में बड़े थे, परन्तु विराट्-नगर के युद्ध में और द्रोण के प्रेम में अर्जुन ने प्राधान्य प्राप्त किया था, अतः भीम से पहले उनका नाम लिया गया । इसके बाद इनके प्रतिद्वन्द्वी सब झगड़ों की जड़—उपद्रवियों के गुट्ट—कर्ण, शकुनि और दुर्योधन का नाम लिया गया । इसके अनन्तर धार्मिक रूप से इस झगड़े का निपटारा सूचित करने के लिये भीष्म और युधिष्ठिर का नाम-कीर्तन किया गया, और आगे एक ही पद —'विराडुत्तरगोऽभिमन्युः' में विराट् के नगर की गड़बड़, उत्तर का युद्ध, अभिमन्यु की वीरता और उत्तरा के साथ उसके विवाह की सूचना दे दी गई ।

अब पाठक स्वयं विचार लें कि भास मुनि ने इस छोटे-से पद्य में कितना कमाल दिखाया है । ज़रा-सा श्लोक, जिसमें केवल इने-गिने बारह पद हैं, उसमें इन सब पूर्वोक्त भावों का समावेश, और वह भी कितनी सरल भाषा में, फिर आद्यन्त औचित्य का पालन, क्या यह कोई साधारण बात है ? हम इसका फ़ैसला ज्ञान-सम्पन्न सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं ।

अब भास का उपहास करनेवाले श्रीयुक्त पन्थजी का मङ्गलाचरण सुनिए—

"हरिरेव बली न सावलेपो
 न बलिर्येन कदर्थितोऽर्थितश्च ;
असमीक्ष्य यदापदं पतन्तीं
 कुरुराजोऽपि कृतेऽत्र पाण्डवानाम् । १ ।
सदयोऽपि न चापरः परोऽस्मात्
 यदयं वारिणि वारणं जुगोप ;
न समोऽस्य च भक्तवत्सलो यत्—
 कुरुराजापनयाद् ररक्ष कृष्णाम् । २ ।
क नु वास्य समो भवेद् वदान्यः
 यददात् सद्मनि सम्पदः सुदाम्नः ;
गतिरस्तु स चात्र मादृशानाम्
 निखिले कर्मणि सर्वतोऽबलानाम् । ३ ।"

यह किसी नाटक का नान्दी है, या 'गोपालसहस्रनाम' का पाठ ? इसे मङ्गलाचरण कहें, या विधवाओं ('सर्वतोऽबलाओं') का विलाप ? अच्छे कवि यथाशक्ति [...] को छोटा बनाते हैं; परन्तु आपका यह स्तोत्र-पाठ '[...] की आंत' की तरह बढ़ता ही चला जा रहा है !!! वह भी बेमतलब, बेउसूल !!! भास मुनि ने [...] केवल बारह पद लिखे हैं, वहाँ आपने पूरे 'साढ़े इकसठ' पद ठूसे हैं । 'च', 'एव', 'अपि', 'अत्र' [...] शब्दों की निरर्थक भरमार की है ; परन्तु जो खूबी [...] से पद्य में भास ने पैदा की है, उसका गन्ध भी [...] नहीं छू गया । शायद आप उसे समझे तक नहीं हैं ।

आपकी इन बारह पङ्क्तियों में छः वाक्य हैं । [...] दो पङ्क्तियों का एक वाक्य है । इसका अर्थ है, [...] (विष्णु) ही बली हैं । गर्व-युक्त नहीं हैं; क्योंकि [...] राजा बलि को कदर्थित नहीं किया, बल्कि उससे [...] माँगी । सुना आपने ? 'हरि' को बली सिद्ध करने [...] लिये पन्थजी कैसी पाताल से कौड़ी लाए हैं ! [...] हीन भिख-मंगा होना बली होने की दलील है ! [...] आपने पन्थजी के सिवा कोई और भी कवि देखा [...] जो ऐसी घटना से किसी को 'बली' साबित कर [...] बलिहारी ! बलिहारी ! !

आगे चलिए—

"असमीक्ष्य यदापदं पतन्तीं
 कुरुराजोऽपि कृतेऽत्र पाण्डवानाम् ।"

इस टुकड़े का अगले-पिछले वाक्यों से कुछ [...] नहीं है, अतः इसे एक वाक्य मानना पड़ेगा । परन्तु [...] क्रिया का कहीं पता नहीं है । शब्द सब [...] जोड़ ? अब चाहे पाठक भटका करें, चाहे श्रोता [...] पटका करें, पन्थजी ने तो एक पहेली का [...] पिण्ड बनाकर लोगों के सामने रख दिया । भला [...] बूझे तो सही ! जब तक पहले वाक्य से दो-[...] तोड़कर इसमें जोड़े न जायँ, तब तक इसका कोई [...] नहीं हो सकता । परन्तु कविता के वाक्य कोई [...] के सूत्र तो हैं ही नहीं, जिनमें आप इच्छानुसार [...] कर लें । आप चाहते तो यह हैं कि "पतन्तीं [...] असमीक्ष्य, पाण्डवानां कृते कुरुराजोऽपि येन न [...] अर्थितश्च" ऐसा वाक्य बने, और पिछले पाँच [...] वाक्य से तोड़कर इसमें जोड़ दिए जायँ; परन्तु [...] समन्वित होकर निराकाङ्क्ष हो चुका, उससे [...]

का शब्द छुटाना संभव नहीं । निदान, यह दो लाइनों का टुकड़ा असम्बद्ध और निरर्थक ही रहा ।

और सुनिए—

"सदयोऽपि न चापरः परोऽस्मात्
यदयं वारिणि वारणं जुगोप ।"

अर्थात् हरि के सिवा कोई दयावान् भी नहीं है ; क्योंकि इन्होंने पानी में हाथी की रक्षा की । यहाँ 'चापरः परः' लिखकर आपने इस पद्य को बिलकुल 'चापर' ही कर दिया ! "अस्मात्परः सदयोऽपि न" केवल इतना ही अर्थ अभीष्ट है; परन्तु आपने 'अपरः, परः' ये दोनों समानार्थक शब्द लिखकर अपनी अज्ञता का परिचय दिया है । संस्कृत का साधारण विद्यार्थी भी यह बात समझ सकता है ।

अगले वाक्यों का अर्थ है—"हरि के समान कोई भक्त-वत्सल नहीं ; क्योंकि इन्हों ने दुःशासन के 'अपनय' (?) से द्रौपदी की रक्षा की ।" (अपनय का अर्थ हटाना या अलग करना होता है । पन्थजी ने 'अनय' (अन्याय) के अर्थ में उसका प्रयोग किया है, अतः यहाँ 'अवाचकत्व'-दोष है ।) 'हरि के समान कोई दानी कहाँ होगा ? जो इन्होंने सुदामा के घर में सम्पत्ति दी ।'

पन्थजी महाराज, यह आप 'अपर पञ्चरात्र' की नान्दी बना रहे हैं, या हरि का जीवन-चरित लिख रहे हैं ? आपकी इन अंड-बंड बातों से प्रकृत रूपक की कथा का क्या सम्बन्ध ? बलि के छलन, गज और ग्राह के युद्ध, द्रौपदी के चीर-हरण और सुदामा की सम्पत्ति से 'पञ्चरात्र' की कथा का क्या तअल्लुक़ ? क्या ये सब 'पञ्चरात्र' के पात्र हैं ? यदि नहीं, तो आप यह अनाप-शनाप क्या बक रहे हैं ? यदि आप बुरा न मानें, तो हम आपको नेक सलाह देते हैं कि दृश्य-काव्य लिखने के पहले आप किसी साहित्य-तत्त्वज्ञ विद्वान् से कोई नाटक पढ़ लीजिए, और यह समझने की कोशिश कीजिए कि नाटक के मङ्गलाचरण में क्या-क्या खूबियाँ होनी चाहिए, एवं प्रकृत घटना से उसका सम्बन्ध किस तरह दिखाना चाहिए ? भास-जैसे आदर्श पुरुषों का उपहास करने का तो कभी नाम भी न लीजिए । उस रास्ते की ओर हरगिज़ क़दम न बढ़ाइए । यहाँ 'अंगूर खट्टे' हैं ।

और सुनिए—

"गतिरस्तु स चात्र मादृशानाम्"

और टुकड़ों की तरह इसमें भी 'चात्र' व्यर्थ है । उसके बिना वाक्य अच्छा बन सकता है ; परन्तु बेचारे पन्थजी 'चात्र' की चकती जोड़े बिना छन्द कैसे पूरा करें ? इस वाक्य में आपने हरि से अपनी 'गति' के लिये प्रार्थना की है ; किन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि आप 'दुर्गति' चाहते हैं या 'सद्गति' ? तो भी हम यही प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर आपको 'सद्गति' दे । परन्तु पन्थजी महाराज, एक बात तो बताते जाइए । 'स मादृशानां गतिरस्तु', यह आपके अन्तिम समय की प्रार्थना हो सकती है । 'अपर पञ्चरात्र' के मङ्गलाचरण में इस मर्सिए का क्या काम ? यहाँ मङ्गल के समय आपने यह अमङ्गल की बात क्यों छेड़ी ? इस बेवक़्त की रागिनी से लोग आपको क्या समझेंगे ? आप ही बताइए कि आपकी यह बेसुरी तान सुनकर लोग आपको हँसेंगे, या भास को ? जो छन्द यहाँ आपने पसन्द किया है, वह गाने की अपेक्षा रोने और विलाप करने में ज़ियादह मौज़ूँ होता है । हमारी राय में तो 'उपहास' की अपेक्षा यदि आप मर्सिया लिखा करें, तो ज़ियादह मुनासिब हो ।

पाठकगण, आप इतने से ही समझ गए होंगे कि श्रीपन्थजी की कविता किस दर्जे की होती है । उसमें कल्पना और भावों की नवीनता का गन्ध तक नहीं होता । संस्कृत की शब्द-रचना नौसिखुए विद्यार्थियों की-सी होती है । आपके इस काव्य से चाहे सम्राट् पञ्चम जार्ज प्रसन्न हों, चाहे उनके ऑफ़िसर लोग गद्गद हो उठें, परन्तु संस्कृतज्ञ विद्वान् आपके और भास के इन मङ्गलाचरणों का मिलान करके ही आगे कुछ न सुनना चाहेंगे । उनकी दृष्टि में तो आपके इन रद्दी पद्यों के साथ भास के पूर्वोक्त मङ्गलाचरण की तुलना करना भी अन्याय होगा । कहाँ राजा भोज, कहाँ भोजा तेली !!

'पञ्चरात्र' जिस कोटि का रूपक है, उसमें न तो नटी होती है, न नान्दी । केवल मङ्गलाचरण होता है । भास मुनि ने सूत्रधार ही का प्रवेश कराया है, नटी का नाम तक नहीं लिया । न नान्दी लिखा । किन्तु ग्रन्थ के आदि में "नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधारः" लिखा है । इसमें "नान्द्यन्ते" क्रिया है, जो पात्रों के एक विशेष कार्य की सूचना देती है। परन्तु साहित्य-ज्ञान-शून्य पन्थजी ने इस 'नान्द्यन्ते' को सप्तमी विभक्ति, समझा, और उसकी नक़ल करते हुए 'अपर पञ्चरात्र' में नान्दी लिखने के बाद 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' लिख मारा । आपने इसमें नटी को भी बुलाया

है, और बुरी तरह बुलाया है। ये दोनों बातें आपकी साहित्य-ज्ञान-शून्यता का परिचय देती हैं। मालूम नहीं, आप कैसे 'साहित्योपाध्याय' हैं !

हम पहले कह चुके हैं कि दृश्य-काव्यों में स्वाभाविकता की अत्यन्त आवश्यकता है। पाठकगण, यदि कोई कवि भगवान् रामचन्द्र और योगिराज जनक की सभा में वशिष्ठ, वाल्मीकि आदि महर्षियों के सामने लैटिन, ग्रीक और अँगरेज़ी-भाषा के नाटक खिलवाए, तो लोग उसे पागल कहेंगे, या और कुछ ? अब आप ही निर्णय कीजिए कि श्रीयुक्त पन्थजी महाराज ने सम्राट् पञ्चम जार्ज, उनकी एसेम्बली (assembly) और उनके ऑफ़िसर लोगों के सामने जो यह संस्कृत-भाषा का नाटक खिलवाया है, इससे हम क्या समझें ? क्या यह मान लें कि ये सब अँगरेज़ लोग संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् हैं ? या यह समझें कि चापलूसी की पिनक में आपको स्वाभाविकता का यह औचित्य सूझा ही नहीं ?

यद्यपि आजकल दर्शकों में बहुत-से ऐसे होते हैं, जो नाटक की भाषा से पूर्ण परिचित नहीं होते, परन्तु जिन प्रधान पुरुषों को कवि अपना दर्शक बनाता है, उन्हें तो उस भाषा का विशेषज्ञ होना ही चाहिए।

आपके सूत्रधार की 'स्पीच' तो बिलकुल तूफ़ाने-बदतमीज़ी की टोकरी है। इसमें सबसे पहले तो अँगरेज़ों की तारीफ़ के पुल बाँधे हैं। फिर पन्थजी की राजभक्ति का बखान और आपकी बनाई ४-४ आनेवाली किताबों की नोटिसबाज़ी है। आगे सूत्रधार कहने लगा कि 'मैं इन अँगरेज़ों की सभा से कुछ कहना चाहता हूँ।' मगर कहने की बात भूल गया। बोला कि 'विज्ञाप्यं तावद् विमृशामि' (कहने की बात सोच लूँ)। परन्तु यह विज्ञाप्य उसे अन्त तक न सूझा। बेसिर-पैर की बहुत-सी अंड-बंड बातें बककर वह 'विज्ञाप्य' को विना बताए ही चलता बना। इसी 'विज्ञाप्य' को सोचते२ वह बोल पड़ा कि "मैं शराबी की तरह मरा जाता हूँ।' सुनिए—

"विज्ञाप्य-ज्ञापने व्यग्रः श्रव्य-श्रवणविस्मितः ;
सस्मितो जोषमास्थाय सुरासेवीव संस्थितः।"

'सम्' पूर्वक 'स्था' धातु का अर्थ है 'मरण'। 'दशकुमारचरित' में 'संस्थिते (मृते) पितरि' लिखा है और, कवियों ने भी इसी तरह लिखा है। श्रीपन्थजी को यह बात नहीं सूझी। सूझे तो तब, आपने साहित्य का कोई ग्रन्थ पढ़ा हो। आपने 'साहित्योपाध्याय' की पदवी सन् ४७ के ग़दर में लूटी थी।

इसी के आगे आपका शराबी सूत्रधार कहता है 'यह कुछ और मुझे खींचे लेता है। इस 'अदृष्ट-पूर्व' से मैं 'विमोहित' (यानी बेहोश) हुआ जाता हूँ।'

"इदमन्यत् किमपि बलादाकर्षतीव मान्;
अदृष्टपूर्वेणानेन दृश्येनास्मि विमोहितः।"

शायद पाठक समझते होंगे कि इसके आगे पन्थजी ने कोई अद्भुत सीन दिखाया होगा। कोई ऐसी चमत्कारी सीनरी होगी, जिसे देखकर सब लोग मोहित हो जाते और उसे 'अदृष्टपूर्व' (कभी न देखा हुआ) समझते। परन्तु श्रीपन्थजी से ऐसी आशा करना उनकी बुद्धि पर ज़ुल्म करना है।

आपका सूत्रधार जिसे 'अदृष्टपूर्व दृश्य' कहकर वैला मचा रहा है, जिससे बेहोश हुआ जा रहा है, वह क्या दृश्य है, इसे पन्थजी के श्रीमुख से ही सुनिए—

"यदायान्ति द्विजाश्चेमे लक्षण्या लक्ष्यलक्षणाः।"

ज़रा इस 'श्चे—मे'—का तो मुलाहिज़ा कीजिए, मानों मुर्ग़ी के चूज़े चिचिहा रहे हों। समझे आप ! वह अद्भुत दृश्य कौन-सा है ? सिर्फ़ 'तीन ब्राह्मण तिलक लगाए हुए आ रहे हैं।'

"बहुत शोर सुनते थे पहलू में दिल का;
जो चीरा तो यक क़तरए ख़ूँ न निकला।"

इस बात को यहीं छोड़कर यह सूत्रधार कुछ स्त्रैण पुरुषों की-सी बातें ('सविधे दयिता यस्य दूर्वादवायते' इत्यादि) कहकर नटी को पुकारने लगा, बोला कि 'ख़बरदार, गाने-बजाने का कुछ काम नहीं' ('कृतं कृतं गीतरागाभियोगेन')। नटी ने जब पूछा कि 'आख़िर मैं क्या करूँ', तो आप फ़र्माते हैं कि 'इन ब्राह्मणों की सूरत देखती रहो।' '...इदमेव दृष्टव्यं। तावद् दृश्यताम् यदायान्ति इमे ब्राह्मणाः।'

देखा आपने ? यह सूत्रधार की 'स्पीच' है, या 'बे-सिर-पैर का मुरब्बा ?' व्याकरण के अनुसार 'दृष्टव्यम्' ग़लत है। यहाँ 'द्रष्टव्यम्' होना चाहिए। सबसे मज़ा तो यह है कि जिन ब्राह्मणों की बाबत

इतना शोर-गुल मचा रहे हैं, वे अभी रङ्गभूमि (स्टेज) पर आए ही नहीं हैं। उनका प्रवेश बहुत आगे जाकर होगा। मालूम नहीं कि श्रीपन्थजी ने कभी कोई नाटक देखा भी है, या नहीं ! अच्छा तो यह होता कि आप वहाँ जाकर पात्रों के प्रवेश की कुछ बातें सीख लेते।

पन्थजी ने इन ब्राह्मणों के तिलक का जो वर्णन किया है, ज़रा उसे भी सुन ही लीजिए। कोई सज्जन माथे पर ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाए और सिर पर पगड़ी बाँधे हैं। उन्हें देखकर आप फ़र्माते हैं—

"विशालभाले धृत ऊर्ध्वपुण्ड्रः
प्रविश्य चाधः सितवेष्टनस्थ ;
विपश्चितः कस्यचिदत्र वृन्दे
सत्कर्मणां साधुफलोदयाय।
हिमालयादापततो धरित्र्यां
गङ्गाप्रवाहस्य बिभर्ति लीलाम् ।९।"

अर्थात् सफ़ेद पगड़ी के 'नीचे घुसकर' ('प्रविश्य चाधः') ऊर्ध्वपुण्ड्र हिमालय से गिरती हुई गङ्गा के सदृश मालूम होता है। समझे आप ? पन्थजी का हिमालय तो आकाश में अधर लटक रहा है और उसकी दुम में से गङ्गा निकली पड़ती हैं ! मुट्ठी-भर की पगड़ी तो हुई हिमालय पहाड़ !!, और दो-ढाई इञ्च का तिलक हुआ १७ सौ मील लंबी गङ्गा की धारा !!! परन्तु तिलक की तो तीन लाइनें होती हैं। एक तो हुई गङ्गा, और बाक़ी दो ? वे क्या हुईं ? संस्कृत-साहित्य में 'हीनोपमा' और 'अधिकोपमा' दोष माने जाते हैं। यदि कोई किसी की कुत्ती को देखकर कहे कि यह तो आपकी प्रत्यक्ष कुल-देवी है—'शुनीयं गृहदेवीव प्रत्यक्षा प्रतिभासते'—तो यह जाति-गत हीनोपमा-दोष होगा। पगड़ी का पहाड़ और तिलक की गङ्गा भी उसी दर्जे की है। यहाँ परिमाण-गत अधिकोपमा है। परन्तु पन्थजी तो साहित्य के तमाम दोषों से मुसतसना हैं। इसीलिये आपने अपने यहाँ सब दोषों को गिन-गिनकर स्थान दिया है।

ज़रा इस श्लोक की बढ़ी हुई टाँगों (चरणों) को तो देखिए। आपने यह छः चरणों का एक श्लोक बनाया है !! इसके आगे '९' की संख्या दी है। आप इसे एक ही समझते हैं। इसके अगले-पिछले श्लोकों में दूसरे छन्द हैं। उनसे इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। इस पुस्तक में और भी अनेक अशुद्ध छन्द हैं। दूसरे अङ्क के १४वें श्लोक में आपने दो छन्दों की क़लम चढ़ाई है। पहले दो चरण ११-११ अक्षरों के हैं, और पिछले दो १२-१२ अक्षरों के !! क्यों पन्थजी महाराज, क्या 'श्रुतबोध' भी भूल गए ? क्या इसी ज्ञान-गरिमा के भरोसे आप भास का उपहास करने चले हैं ?

संस्कृत के नाटकों में विशेषतः स्त्रियाँ तथा अन्य कई पात्र ऐसे होते हैं, जिनकी प्राकृत भाषा होना आवश्यक है। इसका यह मतलब नहीं कि पुराने समय की स्त्रियाँ निरी मूर्ख होती थीं। यदि यह होता, तो वे नाटकों में पुरुषों की संस्कृत-भाषा समझकर उसका उत्तर-प्रत्युत्तर कैसे करतीं ? आवश्यकता पड़ने पर कहीं२ वे प्राकृत बोलते२ संस्कृत भी बोलने लगती हैं। भास के 'पञ्चरात्र' में ही बृहन्नला ने प्राकृत बोलते२ युद्ध की ऊर्जित कथा संस्कृत में कही है। इसी प्रकार नाटकों में चाण्डालों की भाषा चाण्डाली (प्राकृत-भेद), भील आदि की आभीरी, शकार की शकारी, विदूषकों की प्रायः अवन्तिका एवं उच्च कोटि के पात्रों (रानी आदि) की भाषा शौरसेनी प्राकृत होती है। ये नियम केवल स्वाभाविकता के आधार पर बनाए गए थे। आज भी यहाँ शिक्षित पुरुषों की भाषा ख़ड़ी बोली होती है, और घर में स्त्रियाँ उनसे प्रान्तीय भाषा में बात-चीत करती हैं। दोनों दोनों की भाषा समझते हैं ; परन्तु बोलते अपनी२ हैं। प्राचीन समय में संस्कृत और प्राकृत में इतना ही भेद था, जितना आज परिष्कृत हिन्दी और प्रान्तीय बोलियों में है। प्राकृत को सरल, कोमल और सुगम समझा जाता था। अतएव नियम था कि—"स्त्रीषु नाऽप्राकृतं वदेत्"—स्त्रियों में प्राकृत-भाषा का ही प्रयोग करे।

पन्थजी प्राकृत के ज्ञान से बिलकुल कोरे मालूम होते हैं। आपने 'पञ्चरात्र' की सब जगह तो नक़ल की, परन्तु प्राकृत-भाषा के अंशों को एकदम उड़ाते गए। रानी, कञ्चुकी, बृहन्नला, दासी और चौकीदारों से भी आपने सर्वत्र संस्कृत बुलवाई है। क्यों पन्थजी महाराज, क्या ये सब-के-सब साहित्योपाध्याय थे ? प्राकृत से प्राण छुड़ाने के लिये आपने दूसरे अङ्क में ब्राह्मणों को दूत बनाकर चपरासियों से उनकी दुर्गति कराई है। आपके 'अपर पञ्चरात्र' में गिने हुए केवल चार अक्षर('अज्जउत्त') प्राकृत के हैं। ये अक्षर नटी ने सूत्रधार से कहे ही थे

कि झट उसने उसका मुँह पकड़ लिया और बोला—
"...अभ्यस्ताखिलदर्शनानाम् आदर्शभूतायास्ते नैतदनुरूपम्...यतः—

रसिकानां रसास्वादे सत्पात्र प्राकृतं वचः ;
प्रपानकरसे हन्त तृणपातायते किल ।"

पन्थजी बिना निरर्थक अव्ययों को ठूसे छोटे-से-छोटा श्लोक भी नहीं बना सकते । इस पद्य में भी 'हन्त' और 'किल' का पेबंद लगा हुआ है । आठ अक्षर का चरण, और चार अक्षर व्यर्थ !! सेर-भर की लोमड़ी, और ढाई सेर की पूँछ !!! आपका सूत्रधार नटी से कहता है कि 'तुम तो समस्त दर्शनशास्त्रियों—फ़िलासफ़रों—की आदर्श हो । (अर्थात् साक्षात् सरस्वती हो) । तुम प्राकृत क्यों बोलती हो ? रसास्वाद में प्राकृत भाषा बहुत खटकती है । 'प्रपानकरस' में कूड़े-करकट की तरह मालूम होती है ।

हम भी मानते हैं कि रसास्वाद में प्राकृत-भाषा खटकती है ; परन्तु उसी को खटकती है, जिसे प्राकृत समझने की तमीज़ नहीं है, और जो नीचे लिखी संस्कृत-टिप्पणी के सहारे प्राकृत का अर्थ किया करता है । इसी तरह हिन्दी में संस्कृत के शब्द भी लोगों को खटकते हैं; परन्तु यह खटकना उन्हीं की मूर्खता का परिचायक है, न कि भाषा-दोष का । संस्कृत के हज़ारों नाटकों में से ऐसा एक भी न मिलेगा, जिसमें नटी तथा अन्य स्त्रियों ने प्राकृत न बोली हो । क्या हम मान लें कि आज तक के सब नाटककार मूर्ख थे, और उन सबकी नटियाँ कुपात्र थीं ? आज पन्थजी ही सच्चे नाटककार पैदा हुए हैं, और यह एक आप ही की नटी 'सत्पात्र' है ? नटी तो हुई 'अभ्यस्ताखिलदर्शनों की आदर्शभूत'=सरस्वती, अब द्रौपदी को पन्थजी कौन-सा पद देंगे ? हमारी सम्मति में तो इन बातों से पन्थजी का प्राकृत भाषा का अज्ञान फूट-फूटकर निकल रहा है । इससे भास का उपहास होता है या पन्थजी का ? हम चाहते हैं कि श्रीपन्थजी हाथ में गङ्गा-जल और कुश लेकर, पूर्व को मुँह करके, जनेऊ पकड़कर, अपनी आँख को अन्दर की ओर करके, अपने हृदय को टटोलकर, अपने प्राकृत-ज्ञान पर ईश्वर को साक्षी मानकर स्वयं इसका निर्णय करें । ईमानदारी से कही हुई आपकी बात को हम शिरोधार्य करेंगे ।

भास के 'पञ्चरात्र' में सूत्रधार का छोटी, किन्तु पूर्ण प्रस्तावना के बाद तीन ब्राह्मणों का प्रवेश है; जी ने भी अपने सूत्रधार की लंबी और बेमतलब के बाद उसी तरह तीन ब्राह्मणों का प्रवेश कराया जिस तरह भास ने इन ब्राह्मणों के द्वारा दुर्योधन के का वर्णन कराया है, पन्थजी ने भी अपनी उसी की नक़ल की है । भास ने दुर्योधन के अग्नि लगने की बात इन्हीं ब्राह्मणों के द्वारा श्रीपन्थजी ने भी ख़ूब आग लगाई है । परन्तु नक़ल करने में एक भूल हो गई । भास ने अग्नि का कारण बताने और उसका औचित्य निबाहने कुशलता दिखाई थी, पन्थजी को वह नहीं सूझी । बिना कुछ कारण बताए ही आग लगाना शुरू दिया, और यहाँ तक आग लगाई कि रानियों के जलाए, नौकर-चाकरों के शरीर जलाए, राजों को करके रास्तों में दौड़ाया, उनसे पानी भरवाया, तक जलाया; पर यह न बताया कि आग लगी भास की दो पङ्क्तियों की प्रधान बात को आपने लगाने के बाद, इशारे से, बताने की चेष्टा की है; आपकी आग में पड़कर वह इस तरह ख़ाक हुई कि काम की न रही । इस पुस्तक के अन्त में, नान्दी की फिर पन्थजी ने स्तोत्र-पाठ किया है, और "पिता" जार्ज को दुआ देकर उसे समाप्त किया है ।

यदि हमसे कोई पूछे कि इस पुस्तक से भास का उप हुआ या नहीं, तो हम तो निःसंकोच होकर यही कि यदि कोई दुधमुहा छोकरा अपना झुनझुना भीमसेन की गदा का उपहास कर सकता है, यदि गँवार नक़ली पिस्तौल लेकर अर्जुन के अग्नि-बाणों उपहास कर सकता है, यदि गंदी मोरी गङ्गा की का उपहास कर सकती है, और यदि कोई कौआ पक्षिराज गरुड़ का उपहास कर सकता है, तो यह पुस्तक भी भास मुनि का उपहास कर सकती है । बढ़ जाने के कारण इसकी व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियों की सूची हम यहाँ नहीं देते । यदि पुस्तक शुद्ध करने अभिप्राय से पन्थजी पूछेंगे, तो हम अवश्य बता जिन लोगों ने पन्थजी की यह पुस्तिका देखी हो, हम अनुरोध करते हैं कि वे भास मुनि का 'पञ्चरात्र' बार अवश्य देखें, और फिर अपनी राय क़ायम करें ।

भास की नक़ल आपने किस तरह की है, इस बात को हम कथा के आरम्भ—इसी अग्नि-काण्ड—के एक ही पत्रे (७-८ पृष्ठ) में से दिखावेंगे। पाठकगण यदि चाहें तो इतने से ही सन्तुष्ट हो जायँ, और चाहे इन दोनों पुस्तकों का आद्यन्त मिलान करके स्वयं देख लें। भास ने लिखा है—

"शकटी च घृतापूर्णा सिच्यमानाऽपि वारिणा;
नारीवोपरता पत्या बालस्नेहेन दह्यते।"

श्रीपन्थजी लिखते हैं—

"सत्रसम्भारशकटी सिच्यमानाऽपि वारिणा;
सतीव योषिद् विधवा भर्तृस्नेहेन दह्यते।" (पृ० ७, श्लोक २३)

यहाँ आपने पूर्वार्ध में 'शकटी, सिच्यमानापि वारिणा' ये शब्द ज्यों-के-त्यों उठाए हैं। केवल 'घृतापूर्णा' को बदलकर 'सत्रसम्भार' किया है। उत्तरार्ध में 'स्नेहेन दह्यते' फिर ज्यों-का-त्यों उड़ाया है। केवल 'नारी' के स्थान में उसका पर्याय 'योषित्' रख दिया है। परन्तु यहाँ 'योषित्' व्यर्थ हो गया। न तो पुरुष 'सती' होते हैं, न 'विधवा' ही। ये दोनों धर्म स्त्री-मात्र-गामी हैं। फिर इनके साथ 'योषित्' का क्या काम?

साहित्यज्ञ लोग इन दोनों पद्यों का मिलान करके तारतम्य की परीक्षा करें। भास के पद्य में एक ओर 'शकटी' है, और दूसरी ओर मृतवत्सा नारी। एक घी से भरी है, और दूसरी (नारी) स्नेह से पूर्ण। एक (शकटी) में भौतिक आग लगी है, और दूसरी पुत्र-वियोग के दावानल से धधक रही है। एक ठंडे पानी से सींची जा रही है, और दूसरी को, पति अथवा सम्बन्धियों के द्वारा, फिर पुत्र-प्राप्ति की आशा दिलाकर सान्त्वना दी जा रही है; परन्तु न इसी की आग बुझती है, न उसी की। शकटी की आग न बुझने का कारण घी है, और नारी की दुःखाग्नि शान्त न होने का कारण स्नेह है। यज्ञ में यह शकटी इस तरह जल रही है, जैसे मृतवत्सा नारी हो।

अब पन्थजी का पद्य देखिए। आपने सन्तान की मृत्यु के स्थान में 'योषित्' को 'विधवा' करके जड़ ही साफ़ कर दी है। परन्तु इतना ज्ञान आपको कहाँ, जो यह समझ लें कि आपकी इस 'विधवा' के साथ 'सिच्यमानाऽपि वारिणा' व्यर्थ हुआ जाता है। मृतवत्सा को जैसे दूसरे पुत्र की आशा दिलाकर सान्त्वना दी जाती है, इसी प्रकार विधवा होने पर यदि कोई दूसरे पति की बात, भले आदमियों में, ज़बान पर लावे, तो निःसन्देह पीटा जाय। फिर 'सती' विधवा के साथ इस प्रकार का व्यवहार पन्थजी के सिवा और कौन करेगा? सती के विधवा होने पर तो किसी सान्त्वना के वचन का अवकाश ही नहीं रह जाता। वहाँ 'सिच्यमानाऽपि वारिणा' का विषय ही नहीं है। सती को तो भौतिक अग्नि की भी आवश्यकता नहीं होती। उसे भस्म करने के लिये तो पति का अनिष्ट-श्रवण ही पर्याप्त है। अतः पन्थजी के परिवर्तन में एक अंश उपमान में न्यून रह जाता है। भास के यहाँ वह सर्वाङ्ग-पूर्ण है। आख़िर चोरी चोरी ही है !! 'स्वाभाविका-कृत्रिममन्यदेव'—परन्तु यहाँ आपकी 'पन्थ'-उपाधि सार्थक हो गई।

पानी से सींचे जाने पर भी जलते रहने का कारण 'घृतापूर्णत्व' है। भास के पद्य में वही सारे भाव की जान है। परन्तु पन्थजी ने चोरी करते समय यही तत्त्व का शब्द ('घृतापूर्णा') छोड़ दिया। रत्न छोड़कर कौड़ियों का ढेर उठा ले गए। कोई आपसे पूछे कि पानी से सींचे जाने पर भी यह 'शकटी' क्यों जली जा रही है? क्या इसी प्रकार की भद्दी नक़ल और चोरी में आप भास मुनि-जैसे आदर्श, पूज्य पुरुषों का उपहास करेंगे?

भास ने लिखा है—

"दह्यमानस्य वृक्षस्य सानिलेन मखाग्निना;
कोटरान्तरदेहस्थाः खगाः प्राणा इवोद्गताः।"

यज्ञ की अग्नि से जलते हुए वृक्ष के कोटर में से घबराकर पक्षी उड़े। इस पर भास मुनि उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों शरीर के भीतर से वृक्ष के प्राण निकल भागे हों। 'प्राणपखेरू' का उड़ना प्रसिद्ध है। यहाँ पक्षियों (पखेरुओं) में प्राणों की उत्प्रेक्षा कितनी मार्मिक है, इस पर किसी टीका-टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है।

अब पन्थजी की नक़ल देखिए—

"दह्यमानात्तरोः केचिद् बान्धवा इव पक्षिणः;
शोचन्तः खेषु निर्यान्ति प्राणिनां गतिरीदृशी।"

अर्थात् जलते हुए वृक्ष से कोई (?) पक्षी बान्धवों के सदृश आकाशों ('खेषु') में निकलते हैं। प्राणियों की गति ऐसी ही होती है।

सहृदय सज्जन स्वयं विचार लें कि यहाँ भास की उत्प्रेक्षा और पन्थजी की उपमा में क्या भेद है। आपका मतलब यह है कि जलते हुए बान्धव को छोड़कर सब बान्धव इसी प्रकार चलते बनते हैं। हम तो समझते हैं कि ऐसे बान्धवों को धिक्कार है, जो अपने बान्धव को विपत्ति में पड़ा छोड़कर चलते बनते हैं। यहाँ मरने की या मुर्दा जलाने की तो कोई बात पन्थजी के किसी शब्द से प्रकट नहीं होती। फिर 'तरु' अभी दग्ध भी नहीं हुआ, 'दह्यमान' है। ऐसी दशा में 'बान्धवों' का छोड़कर चल देना नीचता नहीं, तो और क्या है? पन्थजी के सिवा ऐसे बान्धवों की उपमा और कौन देगा? वस्तुतः यहाँ पक्षियों को 'बान्धव' बताना ही ग्राम्यत्व का सूचक है। पन्थजी की आँखों में उँगली डालकर यह कौन बतावे कि पेड़ में आग लगने पर कोई ('केचित्') पक्षी नहीं उड़ा करते, बल्कि सब उड़ जाते हैं। आपके 'खेपु' को तो देखिए। पन्थजी महाराज, अब फिर से तर्कसंग्रह पढ़िए। तब आपको मालूम होगा कि आकाश एक और व्यापक पदार्थ है। 'अशुद्धि-पत्र' में आपने कहीं२ अशुद्ध को और अशुद्ध कर दिया है। उसमें इस 'खेपु' की जगह 'इव' बनाया है; परन्तु 'शोचन्तः' के विसर्ग को नहीं हटाया। पहले तो व्याकरण के अनुसार 'शोचन्तः इव' रह नहीं सकता, दूसरे इस वाक्य में 'इव' पहले से ही 'बान्धवा इव' में मौजूद है। अब यह दूसरा 'इव' किस मर्ज़ की दवा है?

भास ने लिखा है—

"वल्मीकमूलाद् दहनेन भीता-
स्तटोत्करैः पञ्च समं भुजङ्गाः;
समं विपन्नस्य नरस्य देहाद्
विनिःसृताः पञ्च यथेन्द्रियाणि।"

अर्थात् वल्मीक (बाँबी) के किनारों से एकसाथ पाँच साँप अग्नि से डरकर निकले। मानों मरे हुए आदमी के शरीर से एकसाथ निकली हुई पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हों।' यहाँ बाँबी का ढेर मुर्दे की तरह है, और उसके किनारों पर बने हुए बिल आँख, नाक, कान आदि के छेदों के समान हैं। इनमें रहनेवाली तेजोमय ज्ञानेन्द्रियों से चमकते हुए साँपों की तुलना की गई है।

अब इसी बात को श्रीपन्थजी के मुखारविन्द से सुनिए—

"विलेभ्यो वहिरायान्ति दग्धशाखस्य शाखिनः;
शाखाः पुनरिवाहर्तुं पञ्चशीर्षा इवोरगाः। ३२।"

पाठकगण, इसका अर्थ ज़रा ध्यान से सुनिए। 'दग्धशाखस्य'=जिसकी शाखाएँ जल चुकी हैं (उस) 'शाखिनः' वृक्ष के 'बिलेभ्यः'=बिलों से 'वहिरायान्ति'=बाहर आते हैं "'शाखाः पुनरिवाहर्तुम्'"=मानों फिर शाखाएँ लाने के लिये 'पञ्चशीर्षा इवोरगाः'"=पाँच सिर के साँपों की तरह।

सहृदयगण, यदि आप न समझे हों, तो फिर एक बार पढ़ जाइए, और खूब ध्यान से देखिए कि इसका अर्थ करने में पन्थजी का कोई शब्द छोड़ तो नहीं दिया। आप श्लोक को खूब समझने के बाद बताइए कि 'पाँच सिरवाले साँपों की तरह, शाखा लाने के लिये, जले हुए वृक्ष के विलों में से', वे बाहर आ रहे हैं? क्या इस श्लोक में कर्ता का पता है? क्या इस पद्य का कुछ अर्थ हो सकता है! यह कविता है या बावले की बड़? भास ने 'पञ्च भुजङ्गाः" लिखा था। उसकी नक़ल करते हुए आपने 'पञ्चशीर्षा इवोरगाः' यह वाल्मीकीय रामायण का टुकड़ा ज्यों-का-त्यों चुराकर चिपका दिया। परन्तु यह आपको नहीं सूझा कि यहाँ 'इव' ने 'सब गुड़ गोबर' कर दिया। यह बात गाँव के गँवार भी जानते हैं कि बिल पृथ्वी में हुआ करते हैं; परन्तु पन्थजी वृक्षों में बिल बनाते हैं। शायद अमरकोष के भरोसे आप कविता करने बैठे हैं।

'पुनः शाखाः आहर्तुमिव' इस उत्प्रेक्षा का आधार क्या है? वह कौन-सी बात है, जिसे देखकर आपने यह समझा है कि शाखाओं को फिर से वापस लाने ... हाँ, यह तो बताइए कि पाँच सिर के साँपों की उपमा आपने किसे दी है? ये शेष-नाग के नाती-पोते कहाँ इकट्ठे किए हैं? भास ने तो पाँच इन्द्रियों से पाँच साँपों की समता दिखाई है, परन्तु आपके ये पाँच सिर किससे जोड़े जायँगे?

नदी के किनारे एक ढाक का पेड़ है। उसकी एक शाखा पानी की ओर झुकी हुई है। उस शाखा का एक पत्ता पानी के ऊपर वायु से चञ्चल हो रहा है। इस पर भास मुनि उत्प्रेक्षा करते हैं—

"अवनतविटपो नदीपलाशः
पवनवशाच्चलितकपर्णहस्तः ;
दवदहननिपन्नजीविताना—
मुदकमिवैष करोति बान्धवानाम् ।"

पाठकगण, इसके शब्दों और अर्थ की ओर ध्यान-पूर्वक दृष्टि दीजिए। देखिए, कैसा सुन्दर चित्र खींचा है। भास मुनि कहते हैं कि यह शाखा नहीं, बल्कि अपनी इच्छा से पानी की ओर झुके हुए इस पेड़ की बाहु है, और यह पत्ता नहीं बल्कि इसका हाथ है। पानी के ऊपर, वायु लगने से जो पत्ता हिल रहा है, सो मानो यह वृक्ष अपने जले हुए कुटुम्बियों का जल-दान कर रहा है। इस उत्कृष्ट कल्पना पर टिप्पणी व्यर्थ है। अब ज़रा पन्थजी का भी जल-दान देख लीजिए—

"तरुर्विगतबान्धवो निपततां दलानामयं
बहिर्निपततस्तनोर्मदविकारनामाम्भसः ;
छलेन च रुदन् यथा विदधदम्बुदानक्रियां
विभाति न सचेतनाः कथमिमे तरूणां गणाः ।"

भास मुनि की कविता में इतना प्रसाद-गुण होता है कि वह सुनते ही हृदयङ्गम हो जाती है; परन्तु पन्थजी के श्लोकों को देखने से मालूम होता है, मानों कबड़िए की दूकान में बेमेल चीज़ें एक जगह ठूस दी हों। जब तक शब्दों को इधर-उधर करके ज़बर्दस्ती जोड़ा न जाय, तब तक वे किसी मतलब के नहीं। फिर आप छोटे-से-छोटा पद्य भी बिना व्यर्थ शब्द ठूसे पूरा नहीं कर सकते। इस पद्य की भी वही दुर्दशा है। पेड़ों में से टपकनेवाले पानी को 'मद' कहते हैं। आपने उसके लिये एक ढाई मील लम्बा व्यर्थ शब्द बनाया "मदविकारनामाम्भसः"। इसमें 'विकार' और 'नाम' तो एकदम ग्राम्यत्व के सूचक हैं। 'यथा'-शब्द का किसी से सम्बन्ध ही नहीं बनता। फिर यह दूसरा चरण 'व्रीडाव्यञ्जक अश्लील' है। 'शरीर में से टपकता हुआ मद के विकार का पानी' क्या हुआ करता है, इस बात को पन्थजी ज़रा अपनी आँखें बन्द करके सोचें तो सही। वृक्षों के लिये 'तनु'-शब्द का प्रयोग करना भी अज्ञान का सूचक है। पहले चरण में जो 'निपतताम् दलानाम्' है, उसका सम्बन्ध तीसरे चरण में जाकर 'छलेन' के साथ है। मतलब यह कि 'विगत-बान्धव तरु' गिरते हुए पत्तों और मद के बहाने रोता हुआ ('निपततां दलानां तनोर्बहिर्निपततः मदविकारनामाम्भसश्चच्छलेन रुदन्') जल-दान करता हुआ मालूम होता है ('अम्बुदानक्रियां विदधद् विभाति')। इसके आगे आप फ़रमाते हैं कि—'इमे तरूणां गणाः सचेतनाः कथं न?' अर्थात् ये वृक्षगण चेतन कैसे नहीं हैं? आपका मतलब यह है कि जब मरे हुए बान्धवों को रोते और उनका जल-दान करते हैं, तो चेतन क्यों नहीं? परन्तु पन्थजी महाराज, वह बेचारा श्लोक तो आप ही की जान को रो रहा है। इसे तो आपने जल-दान के योग्य ही न छोड़ा। गिरते हुए पत्तों और टपकते हुए मद को तो आपने 'छलेन रुदन्' से आँसू बताया है, और कुछ सामग्री है नहीं, तब यह जल-दान (अम्बुदान-क्रिया) काहे से करेगा? भास के सदृश न तो आपके यहाँ कहीं नदी का नाम-निशान है, न बाहु और हाथ का कोई ज़िक्र। न भास की तरह आपके यहाँ कोई ऐसी विशेष-क्रिया है, जिससे जल-दान सूचित हो। है तो सिर्फ़ रोना-ही-रोना—जो एक प्रकार से धर्मशास्त्र में निषिद्ध है। फिर यह जल-दान का रूपक आप किसके बल पर खड़ा करने चले हैं? लम्बाई में तो आपने भास से दूना श्लोक कर दिया; पर व्यर्थ शब्दों से उसे लाद दिया। मतलब की एक बात भी न कह सके। उस पर निर्लज्जता यह कि "समस्त संसार के विद्वानों को चैलेंज देकर भास मुनि का उपहास करने पर तुले हुए हैं।" यदि यों ही पूज्य, आदर्श पुरुषों का उपहास हो जाया करे, तब तो—

"लीलालुण्ठितशारदापुरमहासम्पद्गणानां पुरो
विद्यासद्मविनिर्गलत्कणमुषो वल्गन्ति चेत्पामराः ;
अद्यश्वः फणिनां शकुन्तशिशवो दन्तावलानां वृकाः
सिंहानां च सुखेन मूर्धसु पदं धास्यन्ति शालावृकाः ।"

अन्त में हम श्रीयुक्त पन्थजी से सादर सविनय सबहुमान प्रार्थना करते हैं कि वह अपने टाइटिल-पेज के इस पद्य को फिर से पढ़ लें—

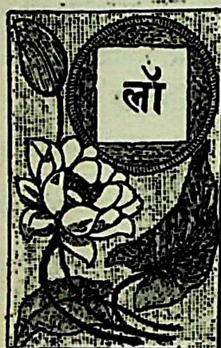
"साधुत्वे साधुवादो वाङ्माधुर्ये साधुशासनम् ;
श्रमापनुत्तये कर्तुः कृत्येऽलंकीर्तिशालनम् ।"

शालग्राम शास्त्री (साहित्याचार्य)

समुद्री बीमा

(भाग २, संख्या ४ से आगे)

(२.)



यड्स का इक़रारनामा बीमा-संसार में बड़ा व्यापक है। उससे बीमा-इक़रारनामा-संबंधी सभी शर्तों का ज्ञान अच्छी तरह हो जाता है। आजकल लॉयड्स का इक़रारनामा प्रामाणिक माना जाता है, और सब समितियाँ थोड़ा-बहुत उसका अनुकरण करती हैं। लॉयड्स-संघ तथा उसके सदस्यों के अलावा अन्यान्य समितियाँ भी, जिनके संचालक लॉयड्स-संघ के सदस्य नहीं हैं, अपने संगठन की परिस्थिति के अनुसार लॉयड्स के इक़रारनामे को घटा-बढ़ाकर अपने निज का इक़रारनामा तैयार करती हैं। भारत के एक परतंत्र देश होने के कारण उसका जहाज़ी बेड़ा और बीमा-समितियाँ होना दुर्लभ है। जिन लोगों ने थोड़ी-बहुत इस ओर चेष्टा की है, वे विपत्ति में फँसे हुए हैं। अभी ये बातें भारतवर्ष के लिये कठिन हैं। इस श्रेणी के व्यापार का अधिकार तो भारत को उस समय प्राप्त होगा, जब वह स्व-शासित देश होगा। जब तक भारतवासियों को आर्थिक स्वाधीनता, सेनाधिकार और विदेशों में समानता का पद नहीं प्राप्त होता, तब तक इन व्यवसायों पर विदेशियों का अधिकार होना स्वाभाविक है। परंतु समय परिवर्तनशील है। भारतीय अपने जन्म-सिद्ध अधिकार किसी-न-किसी प्रकार प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं, और व्यापारिक क्षेत्र में स्वातंत्र्य प्राप्त करने के लिये दिन-पर-दिन उनका क़दम आगे बढ़ रहा है। व्या स्वत्व प्राप्त होने पर ही देश स्वतंत्र हो सक बिना आर्थिक स्वाधीनता के देश की सच्ची स्व नता कोसों दूर है। भारत का अंतरराष्ट्रीय व्य उसके स्व-शासित होने पर ही, लाभ के स सब देशों के साथ होगा, और उस समय उ जहाज़ी बेड़ा और समुद्री बीमा-समितियाँ प्रकार विभिन्न देशों के साथ व्यवसाय क लिये संगठित होंगी, जिस प्रकार आज अंग्रे समितियाँ इस व्यवसाय को चला रही हैं।

अब हम पुनः अपने मुख्य विषय पर आ लिये लॉयड्स-इक़रारनामे की शर्तों पर विस्त से विचार करेंगे। उसके प्रत्येक जुमले पर वि करना उपयुक्त होगा। लॉयड्स के इक़रारना मुख्य वाक्य निम्न-लिखित हैं—

१—बीमा करानेवाले एक व्यक्ति का तथा से अधिक व्यक्तियों का नाम।

२—'खोया या न खोया' शब्द।

३—प्रवास का विवरण और जोखिम अवधि।

४—जहाज़ और उसके स्वामी का नाम।

५—रोकने तथा ठहरने की स्वाधीनता 'गुमराह' का शब्द।

६—मूल्य का फ़िक़रा।

७—ख़तरा या जोखिम—जिसका बीमा क गया है—की तफ़सील।

८—नालिश और मेहनताने का फ़िक़रा।

९—संबंध-विच्छेद का फ़िक़रा।

१०—बीमे का चंदा और दर का फ़िक़रा।

११—याददाश्त (बयान)।

१२—बीमा करनेवालों के हस्ताक्षर, और उ प्रत्येक की जोखिम के प्रति ज़िम्मेदारी

ये हैं मुख्य बातें, जिनका जानना प्रत्येक व्यापारी के लिये अत्यंत आवश्यक है। अब हम इन्हीं जुमलों पर अलग-अलग विचार करेंगे।

१—एक व्यक्ति तथा एक से अधिक व्यक्तियों का फ़िक़रा। इस फ़िक़रे में यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे सब व्यक्ति, जो इक़रारनामा करने के योग्य हैं, बीमे के इक़रारनामे के फ़िक़रे में शुमार किए जा सकते हैं। इस फ़िक़रे में "सबके वास्ते, और सबों के नाम, और दूसरे प्रत्येक व्यक्ति, एक या एक से अधिक" का भी उल्लेख है; जो ऐसे प्रत्येक व्यक्ति की रक्षा करता है, जिसका बीमे से, उसके ख़तम होने पर या उसके जारी रहने के समय में, संबंध है।

२—खोया या न खोया शब्द। यह शब्द बीमा करानेवाले को उस माल के नुक़सान से बचाता है, यदि वह सच्चे विश्वास से उसका बीमा कराता है, जो जहाज़ पर है, और वह विदेशी बंदरगाह से चल दिया है, और बीमा कराते समय उसे अपने माल के नष्ट हो जाने का कुछ भी ज्ञान नहीं है। बीमा करानेवाला इस स्थिति में निर्दोष है, और समिति से हानि-पूर्ति कराने का अधिकार रखता है। यह शब्द सब इक़रारनामों में होता है, यद्यपि वह हर समय लागू नहीं होता; क्योंकि कई एक विद्वान् लेखकों की राय है कि इस प्रकार के नुक़सान की पूर्ति करना अनुचित है, और वह नए इक़रारनामे में शामिल न होना चाहिए। परंतु साख क़ायम रखने के लिये अँगरेज़ी बीमा-समितियाँ ही नहीं, अन्यान्य विदेशी समितियाँ भी अपने इक़रारनामों में इस शब्द को रखती और इसका उपयोग संगठन के अनुसार थोड़ा-बहुत करती हैं। यदि बीमा करानेवाले को माल नष्ट हो जाने की ख़बर है, और वह यदि उसे छिपाकर अनुचित लाभ उठाने की ग़रज़ से बीमा कराता है, तो इस प्रकार का इक़रारनामा तुरंत रद हो जाता है। उसी तरह यदि बीमा करनेवाले महाजन तथा बीमा-समिति को यह मालूम है कि अब जहाज़ बिना किसी विघ्न के प्रवास समाप्त कर चुका है, अब किसी जोखिम की आशंका नहीं है, और तब भी वह महाजन या समिति बीमा करे, तो उसे बीमे का चंदा वापस करना होगा।

३—प्रवास का विवरण और जोखिम की अवधि। यह फ़िक़रा "........से........तक" होता है। दोनों के बीच का स्थान बंदरगाहों का नाम लिखने के लिये ख़ाली रहता है। इस फ़िक़रे में प्रवास का संपूर्ण विवरण लिखा जाता है, और जोखिम उस स्थान से शुरू होती है, जहाँ से बीमा कराया जाता है, और वहाँ ख़तम होती है, जहाँ जहाज़ का प्रवास समाप्त होता है, या जहाँ तक के लिये बीमा कराया गया है। इस फ़िक़रे में एक बात और विचारने की है, और उसका यहाँ पर उल्लेख कर देना ज़रूरी होगा। वह यह है कि यदि बीमा हो गया है और जहाज़ ने यात्रा शुरू नहीं की, या बीमा पहले से हो गया और माल लदा नहीं, और उसका बीमा प्रवास प्रारंभ होने पर है, किंतु इसी बीच में माल नष्ट हो जाय, तो बीमा करानेवाले को क्या करना चाहिए? ऐसे मौक़ों में बड़ी कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। किंतु निर्दोष व्यवसाय-संचालन के उद्देश्य से यदि बीमा हो गया है, और जहाज़ रवाना नहीं हुआ, तो ऐसे मौक़े के लिये दोनों ओर के लोगों में पहले से किसी प्रकार का अहदनामा हो जाता है; जिसके अनुसार प्रवास के पूर्व माल नष्ट हो जाने पर दोनों में से एक फ़रीक़ अहदनामे के अनुसार ज़िम्मेदार होता है। सुव्यवस्थित व्यव-

साय-संचालन के लिये इसमें और भी नया सुधार हो गया है. और अब "......से......तक" के स्थान पर इन दोनों अक्षरों के साथ-साथ "जहाज़ के प्रवास प्रारंभ होने के स्थान से समाप्त होनेवाले स्थान तक की जोखिम" भी लिखा जाता है। इससे, माल चाहे जहाज़ पर चढ़ाया जाय या न चढ़ाया जाय, बीमा करानेवाला संरक्षित रहता है, या उस बीच में अगर नुक़्सान हो जाय, तो भी बीमा करानेवाला इस शर्त के द्वारा संरक्षित रहता है। कोई-कोई बीमा-समितियाँ तो इस शर्त में और भी आगे बढ़ गई हैं। वे इस फ़िक़रे में यहाँ तक स्पष्ट लिखती हैं कि "यह जोखिम प्रवास प्रारंभ होने के बंदरगाह के गोदाम से प्रवास समाप्त होने के बंदरगाह के गोदाम तक" है, जब तक कि उसका मालिक या उसका प्रतिनिधि उस माल को न छुड़ा ले।

४—जहाज़ और उसके स्वामी का नाम। इस फ़िक़रे में प्रवास के जहाज़ और उसके स्वामी का (जिसने प्रवास का बीमा किया है) नाम लिखा जाता है।

५—जहाज़ के रोकने तथा ठहरने की स्वाधीनता और गुमराह का फ़िक़रा। इस फ़िक़रे में प्रायः इस प्रकार लिखा जाता है—"यह नियम लागू होगा कि उक्त प्रवास का जहाज़ इस प्रवास में विना किसी पाबंदी के आगे बढ़ सकता है, प्रवास कर सकता है, और किसी स्थान पर या बंदरगाह पर रुक या ठहर सकता है।" बीच का स्थान जो ख़ाली होता है, उसमें बंदरगाहों का नाम लिखा जाता है; जहाँ पर उसे रुकने और ठहरने की स्वाधीनता है। इन बंदरगाहों का उल्लेख फिर भी इस कारण किया जाता है कि जहाज़ कहीं गुमराह (स्थानांतरित) न हो जाय, अर्थात् दूसरा रास्ता न पकड़ ले। यदि ज किसी विशेष कारण से गुमराह हो जाय, तो क्षंतव्य है। यदि प्रवास को चले हुए जहाज़ लिये गुमराह होने के पक्ष में शर्त है तो फिर हर्ज नहीं। और, यदि यह शर्त न हो, तो उस यह मानी हुई बात है कि जहाज़ का दूसरा ग्रहण करना उसका गुमराह होना सम जायगा। पर इस शर्त के न होने पर जहाज़ गुमराह न होगा। जब जहाज़ अपने प्रवास निश्चित मार्ग को त्यागकर दूसरा मार्ग ग्र करता है. जो गुमराह की शर्त न होने पर नि विरुद्ध है, तब जोखिम में तुरंत परिवर्तन जाता है और उस समय जहाज़ का गुम होना समझा जाता है। यदि जहाज़ प्रवास प्रारंभ न करे, या ठीक समय पर अपने स्थ पर न पहुँचे, तो भी वह गुमराह समझा जाता किसी भी प्रकार की अनुचित और अनिवार्य देर (चाहे प्रवास के प्रारंभ की हो या ... की) के द्वारा नुक़्सान होने पर बीमा-समि हानि-पूर्ति की ज़िम्मेदार होती है। निम्न लिखि कारण उपस्थित होने पर जहाज़ का गुम होना क्षंतव्य है—

क—यदि बीमे के इक़रारनामे में ख़ास ... पर गुमराह की शर्त का उल्लेख है।

ख—यदि नैतिक या भौतिक, दोनों में से कि... शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता है।

ग—ऐसी आकस्मिक आवश्यकता, जिस... पूरा करना लाज़िमी है।

घ—किसी प्राणी की रक्षा के लिये देर होने पर।

ङ—जहाज़ के किसी व्यक्ति के लिये आ... संबंधी सहायता प्राप्त करने के लिये ... होने पर।

च—राज्य के शत्रुओं से बचने के अवसर पर, या राज्य के शत्रुओं और समुद्री चोर-डाकुओं से आत्म-रक्षा करने के अवसर पर।

छ—मौसिम ख़राब होने पर।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जहाज़ के कप्तान को बलवाई लोग या हवा की ख़राबी दूसरा मार्ग ग्रहण करने के लिये बाध्य करती है। ऐसी दशा में जहाज़ का गुमराह होना क्षमा के योग्य है।

६—मूल्य का फ़िक़रा। इस फ़िक़रे में, जब इक़रारनामा मूल्य का होता है, माल के उस मूल्य का उल्लेख होता है, जो मूल्य दोनों फ़रीक़ों की रज़ामंदी पर स्वीकृत होता है। यदि बीमे का इक़रारनामा मूल्य का नहीं है, और खुला या कोरा इक़रारनामा है, तो यही लिखा जाता है कि "इसका मूल्य..............निर्धारित होगा।" कोरा या खुला बीमा होने पर उस समय मूल्य निर्धारित किया जाता है, जब कि माल नष्ट हो जाय, और बीमा करानेवाला अपने माल का मूल्य निर्धारित कर नष्ट हुए माल का मूल्य माँगता हो। यदि मूल्य दोनों में से किसी प्रकार के इक़रारनामे में उचित से अधिक लगाया जाय, और बीमा करनेवाले को धोका देकर ठगने की इच्छा से बीमा किया जाय, तो इस प्रकार का इक़रारनामा रद समझा जायगा। मूल्य निर्धारित करने के प्रति इस नियम का उपयोग होता है कि नुक़्सान पूरा हुआ है या अधूरा। उसके निर्धारित करने के समय माल की पहली क़ीमत, ख़र्च, बीमे का चंदा और कमीशन ही केवल न जोड़ा जायगा, वल्कि उचित मुनाफ़ा भी। और, खुले या कोरे इक़रारनामे में बीजक की क़ीमत और ख़र्च जोड़कर मूल्य निर्धारित होगा। किराए के विषय में वह वास्तविक किराया ही लौटाया जायगा, जिसे चंदे के साथ बीमा-समिति प्राप्त करती है।

७—समुद्र का ख़तरा या जोखिम (जिसका बीमा हुआ है) की तफ़सील का फ़िक़रा। इस फ़िक़रे में ख़तरा तथा जोखिम का विस्तार-पूर्वक स्पष्ट वर्णन होता है; जिसके द्वारा बीमा करानेवाले की रक्षा की जाती है। लॉयड्स के इक़रारनामे का फ़िक़रा समुद्र के सब ख़तरों की जोखिम लेता है। उसके इक़रारनामे के फ़िक़रे में स्पष्ट रूप से समुद्र के ख़तरे, युद्ध के आदमियों का ख़तरा, अग्नि से नुक़्सान, चोर तथा डाकुओं से नुक़्सान, राज्य के शत्रुओं द्वारा जहाज़ के पकड़े जाने पर नुक़्सान तथा अन्य सब प्रकार के नुक़्सानों का पूर्ण उल्लेख होता है। लॉयड्स-संघ उन सबकी पूर्ण ज़िम्मेदारी लेता है। यहाँ पर समुद्र के ख़तरों से तात्पर्य आकस्मिक ख़तरों से है, न कि साधारण वायु के वेग तथा साधारण लहरों से। ख़तरे के लिये तो कोई आकस्मिक घटना होनी चाहिए। जहाज़ का समुद्र में डूब जाना और समुद्र के तत्त्वों द्वारा प्रहार होना आकस्मिक घटनाएँ हैं। अग्नि लगने पर उसके नुक़्सान की पूर्ति उस दशा में की जायगी, जब उसका बीमा विशेष रूप से अग्नि लगने की जोखिम का उल्लेख कर कराया गया है। इसलिये बीमा करानेवाले को सभी ख़तरों का अलग-अलग बीमा कराना चाहिए; क्योंकि "समुद्र के ख़तरे" से ही सब तरह के नुक़्सानों की पूर्ति नहीं होती। "समुद्र का ख़तरा"- वाक्य के द्वारा क़ानूनी दृष्टि से बहुत कम संरक्षण है। जहाज़ में सूराख़ वग़ैरह होने की अवस्था में उसके अंदर पानी आ जाने तथा उसके द्वारा माल नष्ट

हो जाने से तब बीमा-समिति ऐसे नुक़्सान की पूर्ति नहीं करेगी, जब सूराख़ वग़ैरह किसी ज़ोरदार टक्कर से हुआ हो ; क्योंकि इस प्रकार सूराख़ वग़ैरह होना जहाज़ के लिये एक मामूली-सी बात है। इस कारण जोखिम के लिये प्रत्येक विषय का उल्लेख होना आवश्यक है। समुद्र के ख़तरे में एक जहाज़ का दूसरे जहाज़ से टकराना, चट्टान से टक्कर खाना (उस समय चाहे तूफ़ान हो या अच्छा मौसिम हो) और किसी प्रकार के प्रहार से सूराख़ों के द्वारा पानी का आना शुमार किया जाता है; पर फिर भी बीमा कराते समय जोखिमों का अलग-अलग विवरण होना लाभ-दायक है।

८—नालिश और मेहनताने का फ़िक़रा। बीमा करानेवाले व्यक्ति को, उसके प्रतिनिधि या कर्मचारी को, या जिसके सिपुर्द माल किया जाय, उस व्यक्ति को यह क़ानूनी अधिकार है कि प्रवास में किसी प्रकार का नुक़्सान होने या आफ़त आने पर अपने माल की रक्षा करे, और उस कार्य में जो कुछ व्यय हो, उसे समिति से वसूल करे। उसे समिति से इस धन को वसूल करने का पूर्ण अधिकार है। बीमा करनेवाले महाजन तथा बीमा-समितियाँ अपने बीमे के अंश के अनुसार इस नुक़्सान को आपस में बाँटकर अदा करती हैं। इस आकस्मिक विघ्न से रक्षा बीमे के इक़रारनामे से प्रायः जुदा है, पर व्यवहार में अब यह फ़िक़रा भी इक़रारनामे में आ गया है। वर्तमान समय में तार तथा बेतार के तार द्वारा माल के मालिक को अपने माल की ख़बर हर समय मिलती रहती है, और कोई ऐसी बुरी घटना उपस्थित होने पर समिति की कार्यवाही के पूर्व ही वह अपने माल को बचाने की चेष्टा करता है।

९—संबंध-विच्छेद का फ़िक़रा। यह फ़िक़रा ऊपर के फ़िक़रे से ही संबंध रखता है; यह स्पष्ट प्रकट करता है कि बीमा-करा और बीमा करनेवाला, दोनों में से किसी कोई भी कार्यवाही बीमा किए हुए माल के करने या उसकी हिफ़ाज़त करने के प्रति सं विच्छेद करनेवाली नहीं समझी जायगी। फ़िक़रा लॉयड्स के सब इक़रारनामों में अन्यान्य बीमा-समितियों के इक़रारनामों में रूप से होता है।

१०—बीमे का चंदा और दर का फ़िक़रा। फ़िक़रे में चंदे की प्राप्ति-स्वीकार और उसके देने का उल्लेख किया जाता है। बीमे का चंदा है? वह तो एक बदला है; जिसे बीमा करानेवा बीमा करनेवाले को इक़रारनामे की शर्त के सार माल की हानि-पूर्ति की जोखिम पर देता लॉयड्स के इक़रारनामे में, इस फ़िक़रे में स्पष्ट लिखा होता है कि चंदा जमा कर दि गया है; जिससे विदित होता है कि बीमा समय चंदा पहले से जमा कर दिया गया है। व्यवहार में, इँगलैंड-जैसे देशों में, बीमा होते स वहाँ के दलाल चंदा समिति को नहीं देते। पीछे से चंदा जमा किया करते हैं। भारत में यदि दलाल द्वारा बीमा-समिति से बीमा करा जाय, तो दलाल बीमा होते समय समिति चंदा नहीं देते। समिति, बीमा होने पर चंदे की रसीद बीमा करानेवाले को देती और यदि उसे दलाल से चंदे का न प्राप्त हो, तो वह बीमा करानेवाले से नहीं कह सकती। बीमा-समिति उस हालत चंदा रखती है, जब जोखिम शुरू होनेवाली है अन्यथा चंदा लौटा दिया जाता है। यदि ज़ोखिम पूरी न हो, प्रारंभ होकर कहीं बीच

रुक गई हो, तो किसी अंश में भी बीमा-समिति से चंदा लौटाने को नहीं कहा जा सकता। उस हालत में भी चंदा नहीं लौटाया जा सकता, जब जहाज़ बंदर पर नाव लेते समय नष्ट हो गया हो। यदि गुमराही का अनुचित दोष लगाकर इक़रारनामा रद कर दिया गया हो, तो भी चंदा नहीं लौटाया जा सकता। यदि बीमा-समिति अनुचित व्यवहार द्वारा इक़रारनामे को रद कर दे, तो बीमा करानेवाले को चंदे का रुपया वापस मिलेगा। यदि बीमा करानेवाले से कोई बात बिना जाने प्रकट करने से रह गई हो, और उससे बीमा रद हो गया हो, तो बीमा करानेवाला अपना चंदा वापस ले सकता है। कोरे इक़रारनामे में जब ख़तरों के लिये माल के मूल्य से, उचित चंदे से, अधिक चंदा लिया जाता है, तब अधिक चंदा लौटा दिया जाता है; पर वह उस समय नहीं लौटाया जाता, जब मूल्य के इक़रारनामे में वस्तु का मूल्य अधिक निर्धारित किया जाता है। जब इक़रारनामे की जोखिम एक बार शुरू हो जाती है, तब भी चंदा नहीं लौटाया जा सकता।

११—याददाश्त (बयान)। यह फ़िक़रा विशेष सूचना के रूप में होता है। माल के विषय में बीमा-समिति की कई हिदायतें होती हैं। वे सब इस स्थान पर सूचित की जाती हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि यह फ़िक़रा सभी इक़रारनामों में होता है, और दोनों पक्षों में तय हुई बीमा-संबंधी शर्तों का बयान करता है। नाज, मछली, फल, आँटे और बीज इत्यादि पर हानि-पूर्ति की औसत से मुक्त होने की ज़िम्मेदारी दी जाती है; सिवा इसके कि इसका ख़ास तौर पर उल्लेख हो, या जहाज़ नष्ट हो गया हो।

शक्कर, तमाखू, शहद, चमड़े इत्यादि पर ५) पौंड औसत से मुक्त होने की ज़िम्मेदारी होती है, सिवा इसके कि ले जानेवाला जहाज़ नष्ट हो गया हो।

क—नाज, फल, आटा, बीज, मछली इत्यादि वस्तुएँ, जो बिगड़ या नष्ट हो जानेवाली प्रकृति की हैं, उनके लिये बीमा करनेवाला ख़ास औसत या जहाज़ के नष्ट हो जाने पर ही हानि-पूर्ति करने का ज़िम्मेदार होगा।

ख—जो वस्तुएँ कम बिगड़ने या नष्ट होनेवाली प्रकृति की हैं, जैसे शक्कर, तमाखू, शहद, कपड़ा इत्यादि, उनके लिये तब बीमा करनेवाला नुक़सान की पूर्ति करने का ज़िम्मेदार होगा, जब नुक़सान ५) प्रति सैकड़ा उनके मूल्य पर हो।

ग—दूसरी सब प्रकार की वस्तुओं के लिये जहाज़ और किराए के सहित बीमा करनेवाला उस हालत में हानि-पूर्ति करेगा, जब नुक़सान ३) सैकड़े से अधिक हुआ हो, या कोई ख़ास औसत निर्धारित हो। तब बीमा करनेवाला पूरे नुक़सान की पूर्ति करेगा, फिर चाहे वह नुक़सान कितना ही थोड़ा क्यों न हो।

१२—बीमा करनेवालों के हस्ताक्षर और उनमें से प्रत्येक की ज़िम्मेदारी। ऊपर जिन शर्तों का वर्णन किया गया है, वे सब इस फ़िक़रे में आ जाती हैं। इस फ़िक़रे में विशेष औसत और दोनों पक्षों की ज़िम्मेदारियों का विस्तृत वर्णन होता है, सब प्रकार की सूचनाएँ दी जाती हैं, और प्रत्येक पक्ष अपनी जोखिम का स्पष्ट शब्दों में वर्णन कर इक़रारनामे को पूरा करता है।

इस प्रकार सब फ़िक़रे भर जाने पर दोनों पक्ष अपनी-अपनी ज़िम्मेदारियों के नीचे हस्ताक्षर करते हैं।

जी० एस० पथिक

दीप-मालिका

आतुर न होहु ऊधौ, आवति दिवारी अबै ,
वैसियै पुरंदर-कृपा जो लहि जाइगी ;
होत नर. ब्रह्म ब्रह्म-ज्ञान सौं बतावत जो ,
कछु इहिं नीति की प्रतीति गहि जाइगी ।
गिरिबर धारि जौ उबारि ब्रज लीन्हौ बलि,
तौ तौ भाँति काहू यह बात रहि जाइगी ;
नातरु हमारी भारी बिरह-बलाय-संग
सारी ब्रह्म-ज्ञानता तिहारी बहि जाइगी ।
आवत दिवारी, बिलखाइ ब्रजवारी कहैं,
अब कैं हमारैं गाम गो-धन पुजैहै को ?
कहै 'रतनाकर' बिबिध पकवान चाहि,
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहै को ?
बिबिध निहोरि, जोरि हाथ, निज साथ लाइ,
दमकति दिव्य दीप-मालिका दिखैहै को ?
कूबरी के कूबर तैं उबरि न पावैं कान्ह,
इंद्र-कोप-लोपक गुबर्द्धन उठैहै को ?

जगन्नाथदास (रत्नाकर)

जन-सत्ता-वादी राज्यों में समाचार-पत्र

The histories of United States of America and Newzealand present good examples of the progress of Democracies.



ड़े देशों में जन-सत्ता का होना समाचार-पत्रों पर निर्भर है। प्राचीन राजनीतिक विचारक कहा करते थे कि आत्म-शासन करनेवाले नागरिकों का समाज उतना ही बड़ा हो सकता है, जहाँ तक एक मनुष्य की वाणी पहुँच सकती है। कारण, वाणी ही के द्वारा वाद-विवाद हो सकता है। परंतु इस कथन में यदि वे इतना और बढ़ा देते, तो अनुचित न होता कि जहाँ अधिकतर लोग एक-दूसरे के पास रहते हैं, केवल वहीं वे मौखिक शब्दों द्वारा उन वृत्तांतों का राजनीतिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जो वाद-विवाद को लाभ-दायक और बुद्धिमत्ता-पूर्ण बनाने के लिये आवश्यक हैं। पिछली शताब्दी में छापेख़ाने की उन्नति ने समाचार-पत्रों के क्षेत्र को बहु-विस्तृत करके सार्वजनिक वाद-विवाद का महत्त्व बढ़ा दिया है। आजकल तो विदेशों के तार समाचारों और उन पर जन-समुदाय की सम्मतियों को इतनी जल्दी एक बड़े और बहु-जन-संख्यक देश में फैला देते हैं कि लोग समाचारों और उन पर की हुई टीका-टिप्पणियों को एक ही साथ प्राप्त कर लेते हैं। इसलिये लोगों से जो प्रार्थनाएँ की जाती हैं, अथवा जो तर्क उनके सामने उपस्थित किया जाता है, वह उन पर लगभग उतना ही प्रभाव पैदा करता है, जितना जन-साधारण की सभा में किसी अच्छे वक्ता की वक्तृता उत्पन्न करती है।

पूर्व युग में यह बात समस्त स्वतंत्र देशों में मान ली गई थी कि साधारण समय में सब लोगों को समाचारों का प्रचार और उन पर वाद-विवाद करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए ; किंतु यदि वे इस शक्ति का दुरुपयोग करें, तो न्यायकारियों को उन्हें दंड देने की भी आज्ञा होनी चाहिए। पहले-पहल मिल्टन के समय में बिना लाइसेंस (आज्ञा) के प्रकाशन-कार्य होता था। जन-सत्ता-वादी सरकार के उपासक सदा इसके लिये प्रयत्नशील रहे कि समाचार-प्रकाशन की स्वतंत्रता सुरक्षित बनी रहे, क्योंकि जन-सत्ता का ठीक-ठीक व्यवहार होने के लिये इसका होना परमावश्यक है। निदान इस पर इतना ध्यान दिया गया कि लगभग समस्त आधुनिक स्वतंत्र राष्ट्रों के राज्य-संगठन में यह बात मान्य हो गई। जन-सत्ता-वादी सरकार पर विश्वास इस प्राचीन कहावत पर निर्धारित रहा कि "लोग सत्य बातों को जानते रहें और उन पर वाद-विवाद करने की उन्हें स्वतंत्रता हो, तो सब काम ठीक होता रहेगा।" यह मानी हुई बात है कि यदि प्रेस स्वतंत्र होगा, तो उस पर सच्ची बातें प्रकाशित करने का विश्वास किया जा सकता है, क्योंकि झूठी बातें शीघ्र ही मालूम हो जाती हैं, और उनके प्रकाशित करनेवाले समाचार-पत्र पर अविश्वास होने लगता है। जो लोग यह जानते हैं कि जनता सदा सत्य बात जानने की इच्छुक रहती है, उनकी पारस्परिक स्पर्धा सत्य और झूठ का अंतर बताती रहती है। स्वतंत्र वाद-विवाद से सब बातों की छान-बीन होती रहती है



प्रेमिका

चित्रकार—श्रीयुत देवीप्रसाद राय चौधरी]

मृत्यु-समय का-सा सन्नाटा, कहीं नहीं है गति 'प्रति' की ;
शांत और एकांत प्रांत है, बनी समाधि यहाँ पति की ।



माधुरी

[विविध विषय-विभूषित, साहित्य-संबंधी, सचित्र मासिक पत्रिका]

सिता, मधुर मधु, तिय-अधर, सुधा-माधुरी धन्य ;
पै यह साहित-माधुरी नव-रस-मयी अनन्य !

वर्ष २ खंड २	चैत्र-शुक्ल ७, ३०० तुलसी-संवत् (१९८१ वि०)— ११ एप्रिल, १९२४ ई०	संख्या ३ पूर्ण संख्या २१

वसंत

तू आता है, फिर जाता है।
जीवन में पुलकित प्रणय सदृश,
यौवन की पहली कांति अकृश,
जैसी हो, वह तू पाता है, हे वसंत क्यों तू आता है ?
पिक अपनी कूक सुनाता है,
तू आता है, फिर जाता है।
बस, खुले हृदय से करुण कथा,
बीती बातें कुछ मर्म-व्यथा,
वह डाल-डाल पर जाता है, फिर ताल-ताल पर गाता है।
मलयज मंथर गति आता है;
तू आता है, फिर जाता है।
जीवन की सुख-दुख-आशा सब,
पतझड़ हो पूर्ण हुई है अब,
फूला रसाल मुसकाता है, कर-किसलय हिला बुलाता है।
हे वसंत क्यों तू आता है ?
तू आता है, फिर जाता है।

जयशंकर "प्रसाद"

व्यथित कोकिला

विरह-सनी व्रजरानी बैठी,
व्याकुल-सी व्रज बाले;
बने विदेह व्रजेश, गोप-दल
बैठे आँसू डाले।
धौरी-धूमरियाँ योगिनियाँ
भूल रहीं तृण छूना;
तुतलेश्वर सो रहे, हृदय है
वृंदावन का सूना।
हूकूँगी, ही टुकड़े होंगे,
मैं कैसे कूकूँगी ?
रे, ललचूँगी नहीं बौर ! अब-
का वसंत चूकूँगी।

एक भारतीय आत्मा

एक आदर्श पुस्तकालय



दन में छोटे-मोटे हज़ारों पुस्तकालय हैं। प्रत्येक स्कूल और कॉलेज में, प्रत्येक सभा-समिति में, पुस्तकालय हैं। बहुत-से लोगों के घर ही पुस्तकालय हैं।

इँगलिस्तान के प्रत्येक गाँव में कम-से-कम एक पुस्तकालय है। फिर लंदन-शहर में ढेर-के-ढेर पुस्तकालय होना स्वाभाविक ही है। इनके अलावा एक बड़ा भारी सरस्वती-भवन है, जो संसार में अद्वितीय है, और जिसे ब्रिटिश म्यूज़ियम कहते हैं। ब्रिटिश म्यूज़ियम का अर्थ है—अँगरेज़ी अजायबघर। यह अजायबघर भी है, और पुस्तकालय भी। शहर के बीच में, इस विशाल भवन के सैकड़ों कमरों में संसार के, प्रत्येक देश के, प्रत्येक समय के, प्रत्येक विषय की चीज़ें तरतीबवार रक्खी हैं। मिसर-देश की ४००० वर्ष की पुरानी वे हड्डियाँ और समूची लाशें (ममियाँ) देख लीजिए, जिनके मसाले का पता अर्वाचीन रसायन-शास्त्र को अब तक नहीं लगा। आदमियों की ही नहीं, बिल्ली, चिड़िया, घड़ियाल वग़ैरह जानवरों की भी हज़ारों वर्ष की पुरानी लाशें आलमारियों में रक्खी हैं। उन्हीं मिसरी कमरों की दीवारों और छतों पर मिसरी नरक और स्वर्ग के, दंड-विधान और मोक्ष के, पुराने चित्र लगे हैं। यमराज का दरबार है। कई बार देखा गया है कि स्त्री और बच्चे यहाँ आकर काँपने लगे। ज़रा आगे बढ़िए, तो पुराने काबुल बग़दाद और फ़ारस की प्राचीन सभ्यता का सारा इतिहास—पत्थरों, मूर्तियों और चित्रों में—पढ़ लीजिए। ग्रीस और रोम के, गत २५०० वर्ष के, जीवन का चित्र अद्वितीय है। भारतीय बौद्ध-काल की मूर्तियों का ... यहाँ है, वैसा किसी भारतीय नगर में भी ... मुसलमानों की चित्रकारी जानने के लिये ... अजायबख़ाने से बढ़कर कोई जगह नहीं ... इँगलिस्तान के इतिहास और सभ्यता के ... में तो कहना ही क्या है ? निपट बर्बरता ... से लेकर आज तक के पत्थर काँसे और ... हथियार, बरतन, हड्डियाँ, लाशें, कपड़े, ... इत्यादि ऐसी कोई चीज़ नहीं, जिसके नमूने ... हों। रसायन, शीशा, सोना, चाँदी, ... जवाहर इत्यादि के कमरों में भी संसार ... अच्छे-से-अच्छे और बुरे-से-बुरे नमूने मौजूद ...

पर इन सबसे बढ़कर जो चीज़ है, वह पुस्तकालय है। इसमें सत्तर लाख से ज़्यादा किताबें ... पुस्तकों की सूचियों से ही भारतवर्ष के ... पुस्तकालय भर जायँ। उदाहरणार्थ, जिनके ... एम् (M)-अक्षर से आरंभ होते हैं, उन ग्रंथ-कर्ता ... के ग्रंथों के नाम अस्सी बड़ी-बड़ी, मोटी, ... चौड़ी जिल्दों में है। बाइबिल एक छोटी-सी पुस्तक ... है। पर उस पर जो ग्रंथ यहाँ हैं, उनके ... से बीस पोथे भर गए हैं। इँगलिस्तान पर ... पुस्तकें हैं, उनके नाम ऐसे ही बीस पोथों में ... संसार की सभी भाषाओं के ग्रंथ यहाँ, ... विभागों में, मौजूद हैं। हिंदी के ग्रंथों की सूची ... मोटी जिल्दों में है। हिंदी की कई किताबें, ... मुझे बनारस, इलाहाबाद, कलकत्ता, ... जोधपुर, छतरपुर आदि स्थानों में ढूँढ़ने पर ... नहीं मिली थीं, यहाँ अनायास पढ़ने को ... गईं। संस्कृत और पाली की छपी और ह... लिखित पुस्तकें तो और भी ज़्यादा हैं। ... प्रकार चीनी, जापानी, फ़ारसी, अरबी, ...

जर्मन, इटलियन, रशियन इत्यादि सभी भाषाओं के हज़ारों ग्रंथ यहाँ रक्खे हैं।

इस पुस्तकालय का उद्देश्य साधारण पठन-पाठक नहीं है। इसका एक-मात्र उद्देश्य अनुसंधान (Research) में सहायता करना है। क़ानून के माफ़िक़ ब्रिटिश साम्राज्य की छपी हुई सब पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की एक-एक कॉपी यहाँ आती है। प्रतिदिन नए-नए उपन्यास, सैकड़ों की तादाद में, आते हैं। इस देश में लोगों को नए उपन्यास पढ़ने का शौक़ नहीं, नशा है। पर ब्रिटिश म्यूज़ियम में कोई उपन्यास, जब तक वह पाँच बरस का पुराना न हो जाय, पढ़ने को नहीं दिया जाता। यदि यह नियम न हो, तो पुस्तकालय कोरे उपन्यास-पाठकों की बाढ़ में डूब जाय। अनुसंधान के आदर्श के अनुसार ही यह नियम है कि २१ वर्ष से कम अवस्था के मनुष्य पुस्तकालय में नहीं दाख़िल हो सकते। कारण, इससे कम अवस्था के आदमी अनुसंधान नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह नियम है कि उन्हीं लोगों को दाख़िल होने का टिकट दिया जाय, जो विशेष अध्ययन के उपयुक्त हैं। पुस्तकालय से कोई पुस्तक, किसी अवस्था में भी, बाहर ले जाने की इजाज़त नहीं है। प्रातःकाल के ६ बजे से शाम के ६ बजे तक आप यहाँ पढ़ सकते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इँगलिस्तान की सब संस्थाओं की तरह यहाँ भी पाख़ाने और पेशाब-ख़ाने हैं; कोट, टोप, घड़ी और छाता रखने के कमरे हैं; तीसरे पहर के खाने का इंतिज़ाम है। इस देश में सब लोगों का सिद्धांत है कि "भूखे भक्ति न होय गुसाँई"। कैसा भी ज़रूरी काम क्यों न हो, भोजन के समय अँगरेज़ सब छोड़कर भोजन अवश्य करेगा। भूखे रहने से बुद्धि बढ़ती है, या भूखा आदमी ठीक-ठीक पढ़ सकता है—ऐसा यहाँ किसी का विश्वास नहीं है। जो लोग पढ़ने आते हैं, वे तीसरे पहर चाय अवश्य पीते और रोटी ज़रूर खाते हैं। बहुत-से लोग ऐसे हैं, जो तीस-तीस, चालीस-चालीस, यहाँ तक कि सत्तर-अस्सी मील तक से, सबेरे की गाड़ी से, पुस्तकालय में आते और रात की गाड़ी से रोज़ घर लौट जाते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ की तेज़ रेलगाड़ी एक घंटे में ६० मील चलती है। ६६ मील दूर ऑक्स-फ़र्ड से ७० मिनट में आप लंदन पहुँच सकते, और स्टेशन से उतरकर धरती के भीतर की रेल से पाँच मिनट में पुस्तकालय के दरवाज़े पर आ सकते हैं। सबेरे नव-दस बजे के बीच सैकड़ों आदमी पुस्तकालय के दरवाज़े पर दाख़िल होते हुए दिखाई देते हैं। पढ़ने के लिये कई कमरे हैं। सबसे बड़े गोल कमरे में, बीच के चक्रव्यूह में, सूचियाँ रक्खी हैं, और इधर-उधर सैकड़ों मेज़ें लगी हैं। प्रत्येक मेज़ का नंबर अलग-अलग है। प्रत्येक मेज़ एक हाथ से ज़्यादा चौड़ी और डेढ़ गज़ से ज़्यादा लंबी है। हरएक मेज़ पर क़लम, दावात, सोख़्ता, वरक़-तराश और पेपरवेट रक्खे हैं; प्रत्येक मेज़ पर बिजली की रोशनी का प्रबंध है। यह स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ रोशनी के प्रबंध के बिना कोई काम नहीं हो सकता। जाड़ों में कभी-कभी ऐसा कुहरा पड़ता है कि पुस्तकों के अक्षर क्या, सामने की चीज़ क्या, खुले मैदान में अपना हाथ पसारिए, तो वह भी नहीं दिखाई देता। तीन-चार महीने तक ६ बजे सूर्योदय होता है, और ३½-४ बजे सूर्यास्त। देश-भर में बिजली और गैस से रात के छः-सात घंटों को दिन बनाना पड़ता

है। पुस्तकालय के कोने-कोने में बिजली की रोशनी का प्रबंध है। पढ़नेवाले एक-एक मेज़ घेर लेते हैं। वे सूचीपत्र से देखकर टिकटों पर वांछित पुस्तकों के नाम, ग्रंथकर्ताओं के नाम, नंबर इत्यादि तथा अपना नाम, अपनी मेज़ का नंबर तथा तिथि आदि लिखकर इधर-उधर रक्खी हुई टोकरियों में डाल देते हैं। हर दस-पाँच मिनट में कर्मचारी आकर टोकरियों में पड़े हुए टिकटों के ढेर उठाकर ले जाते हैं। वे दस-ही-पंद्रह मिनट में पहिएदार गाड़ियों में किताबें भरकर कमरे में लाते और चुपचाप मेज़ों पर डालते हुए चले जाते हैं। पुस्तकालय में बोलने की सख़्त मनाही है। जहाँ विना बोले किसी तरह काम ही नहीं चल सकता, वहीं मुँह खोलने की इजाज़त है। यदि आपकी माँगी हुई पुस्तक और कोई पढ़ रहा है, तो कर्मचारी आपके टिकट पर एक और टिकट लगा देगा, जिस पर छपा हुआ है कि "यह पुस्तक प्रयोग में है। यदि बहुत आवश्यकता हो, तो अध्यक्ष से निवेदन किया जाय।" और दोनों टिकट आपकी मेज़ पर डालकर चला जायगा। यदि पुस्तक नियमानुसार किसी दूसरे कमरे में मिल सकती है, तो आपके टिकट के साथ चिपका हुआ दूसरा टिकट आपके पास आ जायगा कि अमुक कमरे में इसका अवलोकन कीजिए। यदि आप पुस्तक का नंबर लिखना भूल गए हैं, तो टिकट इस छपे हुए नोट के साथ लौट आवेगा कि इसमें नंबर लगाइए। अगर तारीख़ ग़लत हो, तो दो मिनट में टिकट के साथ छपा हुआ नोट आवेगा कि तारीख़ ठीक कीजिए। जितनी भूलें हो सकती हैं, सबके लिये छपाकर टिकट रख लिए गए हैं, जिसमें मुँह से कुछ कहने की ज़रूरत ही न पड़े। अँगरेज़ी शिष्टाचार में बात-बात पर धन्यवाद दिया ... और बात-बात पर शोक प्रकट किया जाता ... पर पुस्तकालय में यह शिष्टाचार इशारे से ... बरता जाता है।

इस प्रकार शांति पूर्वक सैकड़ों विद्वान् ... यहाँ पढ़ा करते और लेख या ग्रंथ लिखा करते ... गत सौ वर्षों के अनेक ग्रंथ, जिन्होंने संसार ... हिला दिया है, इसी गोल कमरे में लिखे गए ... यथा कार्ल मार्क्स ने कैपिटल-नामक युगांतरकारी ... समष्टि-वाद का धर्मशास्त्र यहीं लिखा था ... प्रातःकाल ही पुस्तकालय में प्रवेश करता ... शाम को छः बजे कर्मचारियों को उसे ज़बरदस्ती ... निकालना पड़ता था। आज भी आप देख सकते ... हैं कि उस मेज़ पर एक हबशी दाँत पीस-पीसकर ... उन अत्याचारों का अनुसंधान कर रहा है ... योरप ने उसकी जाति पर किए हैं। थोड़ी ... आगे एक आयरिश ५० पुस्तकों का ढेर ... अपने देश का एक नया इतिहास तैयार कर ... है। उधर अँगरेज़ी-साहित्य पर नया प्रकाश ... का उद्योग हो रहा है।

पुस्तकों के समुचित विषय-विभाग और ... के लिये प्रत्येक विभाग में धुरंधर विद्वान् ... हैं। इस पुस्तकालय का बड़ा पुस्तकाध्यक्ष होना ... अत्यधिक सम्मान की बात है, पर यदि ... एक विभाग के भी पुस्तकाध्यक्ष हो गए, तो ... का अर्थ यह है कि इँगलिस्तान के प्रधान ... में आपकी गणना हो गई। अपने-अपने ... ये लोग पूरे पंडित होते हैं। लेखकों के नाम ... करने में ये एक बड़ी मनोरंजक रीति का ... सरण करते हैं। बहुत-से बंगाली लेखक ... नाम मुकर्जी, बनर्जी, ला इत्यादि लिखते हैं ... शुद्ध शब्द हैं मुखोपाध्याय, बंद्योपाध्याय, ...

इत्यादि। म्यूज़ियम के विद्वानों ने सर्वत्र इनके शुद्ध नाम लिखे हैं। पूर्वोक्त अशुद्ध नामों के सामने केवल शुद्ध शब्द देखने का संकेत कर दिया गया है। एक बार मुझे अपनी पुस्तक देखने की आवश्यकता हुई। मैं अपना नाम 'व' से लिखता हूँ। पर संस्कृत-व्याकरण के अनुसार यह अशुद्ध है। 'व' के स्थान पर 'ब' होना चाहिए। म्यूज़ियम के सूचीपत्र में मेरे साधारण अर्थात् अशुद्ध नाम के सामने केवल यह संकेत है कि "वेणीप्रसाद दखिए", और इस शुद्ध शब्द के सामने पुस्तक का नाम इत्यादि है। यहाँ के विद्वान् कहते हैं कि आप लोगों को अपने नाम अशुद्ध लिखने का अधिकार है; पर हम अपने पुस्तकालय में कोई अशुद्धि नहीं चाहते।

विद्वानों के अलावा सैकड़ों कर्मचारी—मुंशी, चौकीदार, सिपाही इत्यादि—इस पुस्तकालय में नौकर हैं। गत युद्ध में बहुत-से कर्मचारी समर-क्षेत्र में चले गए थे। उनके नाम दीवारों पर खुदे हैं। मर जानेवालों के नाम बाहर खुदे हैं। ११ नवंबर को प्रतिवर्ष उन पर फूल चढ़ाए जाते हैं।

यह पुस्तकालय क्या है, एक पूरा महकमा है। भारत से जो लोग यहाँ आते हैं, उनको तो यह आदर्श पुस्तकालय मालूम होता है। पर जर्मनी और अमरिका देखे हुए लोग इसके प्रबंध में बहुत-से दूषण बताते हैं। युद्ध के पहले जर्मनी में कई पुस्तकालय थे, जो दिन-रात खुले रहते थे। बहुत-से पुस्तकालय ऐसे भी थे, जो १४-१५ घंटे खुले रहते थे। म्यूज़ियम केवल ६ घंटे खुला रहता है। अमेरिका में पढ़नेवालों को बक्स, ताला और उसकी कुंजी भी दी जाती है। पर इस म्यूज़ियम में केवल मज़े ही से संतोष करना पड़ता है।

ब्रिटिश म्यूज़ियम, लंदन से } बेनीप्रसाद

विद्युत् की चालक शक्ति



बिजली से आज दिन सैकड़ों काम लिए जाते हैं। छोटे-छोटे काम करने के लिये भी बिजली काम में लाई जाती है, और बड़े-बड़े काम करने के लिये भी वह नियुक्त की गई है। साधारण लोगों को—ख़ासकर उन्हें, जो कलकत्ते, बंबई, अथवा उतनी दूर न जाकर, कानपूर में ही विद्युत्-चालित ट्राम-गाड़ियाँ देख चुके हैं—बिजली का सबसे बड़ा और आश्चर्यजनक चमत्कार उसकी चालक शक्ति ही मालूम होती होगी। वे यह तो सुनते हैं कि ट्राम-गाड़ी बिजली से चलाई जाती है, और वे यह भी देखते हैं कि ऊँचे-ऊँचे खंभों पर स्थित तारों का, एक तिरछी शलाका द्वारा, गाड़ी की छत से संबंध है, जिसे ट्राली पोल (Trolley Pole) कहते हैं; पर इन सब बातों का मतलब क्या है, यह नहीं जानते।

रेलगाड़ी के एंजन की चालक शक्ति को तो प्रायः सभी लोग आजकल समझते होंगे। ये एंजिन भाप द्वारा चलाए जाते हैं, और भाप में फैलने की ताक़त होती है। इसी ताक़त के कारण एंजिन चलता है। डेकची के उबलते हुए पानी की भाप में यह ताक़त काफ़ी होती है कि वह डेकची को ढकनेवाले कटोरे को उछाल दे। कदाचित् यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वास्तव में इसी छोटी-सी बात का अध्ययन (study) ही आधुनिक बड़े-बड़े ताक़तवाले रेल के एंजिनों का उत्पादक हुआ है। कह सकते हैं कि उक्त डेकची, भाप, कटोरा इत्यादि मिलाकर एक छोटा-मोटा एंजिन ही-सा हुआ, और रेलगाड़ी का एंजिन इस छोटे-से भद्दे एंजन का परिष्कृत रूप-मात्र ही है। परंतु बिजली की तो बात ही दूसरी है।

डायनमो का सिद्धांत

बिजली की इस करामात को समझने के लिये हमें मन-ही-मन लंदन के रॉयल इंस्टिट्यूशन (Royal Institution, London) की वैज्ञानिक प्रयोग-शाला की यात्रा करनी पड़ेगी, और आज से कोई ६० साल पहले किए गए एक प्रयोग का अवलोकन करना होगा। उक्त स्थान में, सन् १८३१ में, आधुनिक विज्ञान

की, विशेषकर आधुनिक बिजली की, इंजिनियरी (Electrical Engineering) के जनक, परलोकगत माइकेल फ़ैरेडे (Michael Faraday) ने उन सिद्धांतों की खोज की थी, जिन पर आजकल के डायनमो (Dynamos) और मोटरें (motors) बनी हैं। उक्त प्रयोगशाला में फ़ैरेडे ने देखा, जब रोधित (insulated) तार की एक कुंडली (coil) को वह किसी चुंबक के पास चलाता-फिराता है, तब उस कुंडली में एक हलकी विद्युद्धारा प्रवाहित होती है। विद्युद्धारा प्रवाहित होती है या नहीं, इस बात के ज्ञान के लिये उसने अपनी कुंडली के सिरों को एक ऐसे यंत्र के साथ जोड़ दिया था कि यदि बिजली की धारा कुंडली में बहती, तो उस यंत्र में भी वह अवश्य बहती थी, और इस यंत्र में लगी हुई एक प्रदर्शक सुई घूमने लगती थी। इस यंत्र को गैलवनामीटर (Galvanometer=बिजली-मापक) कहते हैं, और यदि उसका प्रदर्शक घूमने लगे, तो इस बात का ज्ञान होता है कि यंत्र में बिजली बह रही है। फ़ैरेडे ने यह भी देखा कि उस तार-कुंडली में विद्युद्धारा उसी समय संचारित होती थी, जिस समय कुंडली उस प्रदेश में, जिसमें चुंबक का प्रभाव था, अर्थात् चुंबकीय बल-क्षेत्र (magnetic field) में, प्रवेश करने लगती थी, अथवा इस क्षेत्र से बाहर निकलने लगती थी; परंतु जितनी देर तक कुंडली बल-क्षेत्र में स्थिर रूप से रहती थी, उतने समय तक कोई असर नहीं दिखलाई पड़ता था। फ़ैरेडे के कल्पनाशील मन में इस विचार का प्रादुर्भाव हुआ कि चुंबक के ध्रुवों के बीच का प्रदेश बल-रेखाओं (Lines of Force) से भरा है, और विद्युद्धाराओं का संचार तार के फंदे या कुंडली में तभी हो सकता है, जब वे इन रेखाओं के बीच से होकर गमन करें; अथवा यों कहिए कि जब वे इन रेखाओं को काटें। इसलिये इस बात का स्पष्टीकरण भी शीघ्र हो गया कि जितने ही अधिक बार कुंडली इन रेखाओं को काटेगी, उतना ही अधिक प्रभाव होगा। अतएव यह प्रस्तावित हुआ कि तार की कुंडली एक फिरकी (bobbin or spindle) पर चढ़ाकर, एक प्रभावशाली चुंबकीय बल-क्षेत्र में, शीघ्रता से घुमाई जाय।

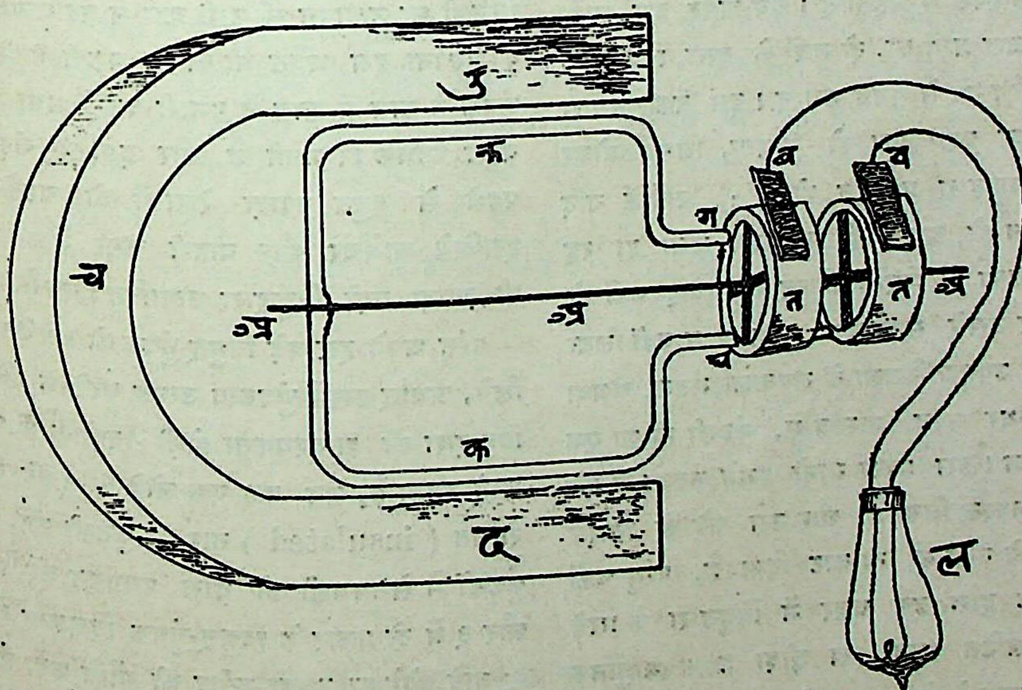
जब ये बातें मालूम हो गईं, तब लोग ऐसे छोटे-छोटे खिलौने बनाने लगे, जिनमें तार की फिरकी को हाथ से घुमाते थे। इस प्रकार वह एक स्थायी चुंबक के बल-क्षेत्र में एक बार प्रवेश करती थी, और दूसरी दफ़ा उसके बाहर निकलती थी; और इस प्रकार घूमती हुई कुंडली में विद्युद्धारा उत्पन्न होती थी। फ़ैरेडे ने यह भी लक्ष्य किया था कि उसका प्रदर्शक यंत्र यह बतलाता था कि जिस समय कुंडली चुंबकीय बल-क्षेत्र में प्रवेश करती थी, उस समय जिस दिशा में विद्युद्धारा प्रवाहित होती थी, कुंडली के क्षेत्र से निकलते समय उसके विपरीत दिशा में वह प्रवाहित होती थी। इसलिये, जब कुंडली लगातार चुंबक के ध्रुवों के बीच में घुमाई जाती है, तब उसमें जो विद्युद्धारा बहती है, वह सदैव एक ही दिशा में नहीं बहती। किंतु वह एक कंपनशील (pulsating) धारा होती है; अर्थात् यदि फिरकी को एक पूरा चक्कर दिया जाय, तो पहले आधे चक्कर में तो बिजली की धारा एक दिशा में बहती है; पर दूसरे आधे चक्कर में वह दूसरी ही (पहली के विपरीत) दिशा में बहती है। दूसरे चक्कर में फिर पहले आधे समय तक वह पहलीवाली दिशा में बहती है, और दूसरे आधे चक्कर में विपरीत दिशा में। इस प्रकार के, एक दफ़े इधर से और दूसरी दफ़े उधर से जानेवाले, प्रवाह को अन्योन्यानुगामी—आल्टरनेटिंग (alternating)—प्रवाह कहते हैं।

अन्योन्यानुगामी डायनमो

जिस समय फ़ैरेडे ने उक्त खोज की, उसी समय बेशक उसने डायनमो का निर्माण नहीं कर डाला। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि वह चाहता, तो अपनी इस उस समय की विशुद्ध वैज्ञानिक खोज को व्यावहारिक रूप में परिवर्तित करके एक वास्तविक कामकाजी डायनमो का निर्माण कर डालता, और काफ़ी रुपए कमाता। परंतु ऐसी-ऐसी बड़ी, महान् आत्माओं को रुपयों का लोभ नहीं होता। ऐसे लोग ये सब खोजें और आविष्कार रुपए पाने के लिये नहीं, किंतु मनुष्य का ज्ञान बढ़ाने के लिये करते हैं। कम-से-कम फ़ैरेडे का यही उद्देश था। इसी लिये वह इस खोज को व्यावहारिक रूप में परिवर्तित करने में समय न लगाकर अन्यान्य खोजों में—प्रकृति के अन्यान्य रहस्यों के उद्घाटन में—लग गया। क्रम-क्रम से आधुनिक डायनमो का किस प्रकार,

फ़रेडे के प्रयोग से आरंभ होकर, विकास हुआ, इसका पूरा इतिहास लिखने का यहाँ कोई अवसर या अवकाश नहीं है। यहाँ पर केवल मुख्य-मुख्य बातों का ही उल्लेख करना उचित होगा।

पहली कठिनाई, जिसका सामना करना पड़ता है, यह है कि उस चक्कर लगाती हुई कुंडली से किस प्रकार विद्युत्-प्रवाह बाहर ला सकें। यह बिलकुल ही स्पष्ट है कि घूमती हुई कुंडली से सीधे ही तार नहीं जोड़े जा सकते, जिनके द्वारा उत्पादित विद्युद्धारा कुंडली के बाहर, दूरी पर, ले जाई जा सके; क्योंकि यदि कुंडली के सिरे इन बाहर ले जानेवाले तारों से एकदम जोड़ दिए जायँ, तो ज्यों ही कुंडली घुमाई जायगी, त्यों ही तारों के जोड़ उनके साथ ही घूमेंगे, और वे तुरत ही ऐंठ-ऐंठ तथा मुड़-मुड़कर टूट जायँगे। परंतु यह सौभाग्य की बात है कि विद्युत्-संसर्ग को पूर्ण करने के लिये एक तार को दूसरे से स्थायी रूप से जोड़ देने की आवश्यकता नहीं होती। उसके लिये केवल परस्पर स्पर्श-मात्र पर्याप्त है। इसलिये घूमती हुई तार-कुंडली का एक सिरा लेकर फिरकी पर वैसे ही बँधी हुई होती है, जैसे कनकव्वे की डोर को फिरकी पर बँधी रखते हैं। इस फिरकी को आर्मेचर शैफ़्ट (Armature Shaft=चुंबकत्व-रक्षक दंड) कहते हैं। उपयुक्त धातव चक्र इस आर्मेचर शैफ़्ट के एक सिरे से स्थायी रूप से जोड़ दिया जाता है, और इस प्रकार कुंडली के साथ-साथ यह चक्र भी घूमता है। तदुपरांत कुंडली के दूसरे सिरे को भी इसी प्रकार के एक दूसरे चक्र से जोड़कर पहले चक्र के पास ही रख देते हैं। हाँ, इस बात का पूरा प्रयत्न रखते हैं कि चक्र एक दूसरे से और फिरकी या शैफ़्ट से अलग अर्थात् अवरोधित (Insulated) रहें (उपर्युक्त सब बातें आगे वर्णित चित्र के द्वारा सुगमता से समझ में आ जायँगी)। इस प्रकार कुंडली के दो छुट्टा सिरों की जगह अब हमें दो पूरे-पूरे चक्रों से काम रह जाता है, और इस बात का संविधान करना बिलकुल सहल है कि दो स्थायी तारों के छुट्टा सिरे इन चक्रों को छूते रहें, और इस कारण घूमती हुई कुंडली में उत्पादित विद्युद्धारा को बाहर निकाल सकें, तथा उससे काम करवा सकें।



चित्र १—डायनमो का सिद्धांत

(आकृति और उसमें दिए हुए अक्षरादि मूल-लेख में भली भाँति वर्णित हैं)

से हम एक धातव चक्र से जोड़ देते हैं। कह आए हैं कि ठीक तरह से घुमाने के लिये तार की कुंडली एक

चित्र १ में डायनमो का सिद्धांत दिखलाया गया है। उ च द स्थायी चुंबक है, जिसके उ और द उत्तरी और

दक्षिणी ध्रुव हैं। क क तार की कुंडली अथवा फंदा है। अ अ अ आर्मेचर शैफ़्ट यानी फिरकी है, जिस पर कि कुंडली बँधी है, और जिसके घुमाने से कुंडली नाचती है। क और अ दोनों को, एकसाथ, आर्मेचर (Armature =चुंबकत्व-रक्षक) कहते हैं। त त दो चक्र हैं। कुंडली क क का एक सिरा ग स्थान पर एक चक्र से जुड़ा हुआ है, और दूसरा सिरा घ स्थान पर दूसरे चक्र से जुड़ा है। ब ब धातु के दो टुकड़े हैं, जो चक्रों के साथ सटे रहते हैं। कुंडली में उत्पन्न विद्युत्-प्रवाह के मुख्य मंडल अथवा चक्कर में स्थित ल एक बिजली का लंप है, जो फिरकी घुमाने पर जलने लगता है।

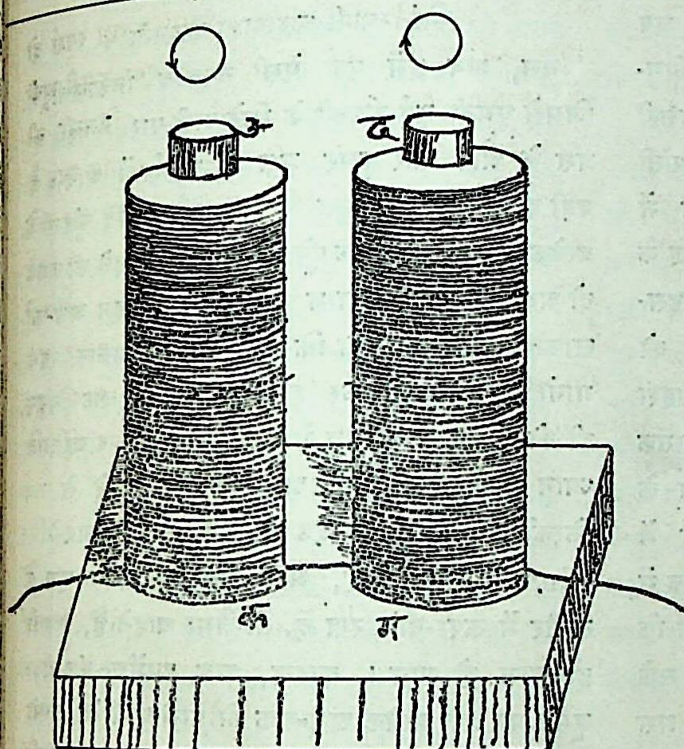
घूमती हुई कुंडली में उत्पन्न हुई विद्युद्धारा को बाहर ले जाने के लिये एक ऐसा टेक या टेकन (Bracket) खड़ा किया जा सकता है, जो एक धातु के टुकड़े को घूमते हुए चक्र के साथ सटाए रक्खे—यह धातु का टुकड़ा अथवा ब्रश (चित्र १ का ब) इस प्रकार हमेशा चक्र के साथ रगड़ खाता रहता है, और ब्रश सदैव उस चक्र के स्पर्श में रहता है। इसी प्रकार का एक दूसरा ब्रश दूसरे चक्र के स्पर्श में रहता है। अब अगर हम चाहें, तो इन निश्चल ब्रशों का, दो तारों के द्वारा, बिजली के लंप के दोनों सिरों से संबंध करा दें। इस प्रकार हमारा मंडल अथवा चक्कर पूरा हो जायगा, जिसमें होकर उत्पादित विद्युद्धारा प्रवाहित होगी; क्योंकि यदि चक्कर पूरा न हो, और कहीं पर चक्कर खुला ही रह जाय, तो कुंडली में निरंतर विद्युत् का प्रवाह नहीं हो सकता, और उससे साधारणतः कोई काम नहीं लिया जा सकता। उपर्युक्त बिजली के लंपवाला मंडल, अथवा चक्कर का स्थिर भाग, वास्तव में, कुंडली ही का एक भाग हो गया। इस प्रकार मानो हमने कुंडली से एक लंबा फंदा निकाल लिया है, और उस फंदे को निश्चल रखने के लिये तारों को तो काट दिया है, परंतु चक्रों और ब्रशों के द्वारा इस चक्कर में विद्युद्धारा के लिये अब भी अखंडित रास्ता रख छोड़ा है। आधुनिक डायनमो में ब्रशों के लिये धातु के टुकड़े काम में नहीं लाए जाते। कार्बन (carbon) की सिल्लियाँ (blocks) धातव ग्राहकों (Holders) द्वारा पकड़ी हुई होती हैं, और ये सिल्लियाँ धातव चक्रों के साथ सटी हुई रक्खी जाती हैं। इस व्यवस्था से, घिसते रहते हुए भी, जितना अच्छा स्पर्श बना रहता है, उतना अच्छा स्पर्श धातव टुकड़ों के बीच नहीं हो सकता। एक दूसरा ... इस व्यवस्था की यह भी है कि इसमें बिजली ... चिनगारियाँ बहुत कम निकलती हैं। अब यह स्पष्ट ... कि आर्मेचर को तेज़ी के साथ घुमाने के लिये हम ... जो उपाय कर सकते हैं; चाहे उसे घुमाने ... स्टीम (भाप)-एंजिन काम में लावें, चाहे पन... के पहिए से काम लें, और चाहे जितनी जल्दी ... आर्मेचर को घुमावें, बाहर के चक्कर और नाचते ... आर्मेचर की कुंडली के बीच, बिना किसी प्रकार ... के, संबंध सर्वदा बना रहेगा।

विद्युत्-चुंबक

अब तक हम इस बात की कल्पना करते आए ... कि कुंडली एक स्थायी चुंबक के ध्रुवों के बीच नाचती है; परंतु यदि इस स्थायी चुंबक के स्थान पर एक विद्युत्-चुंबक (Electromagnet) काम में लाया जाय, तो यह स्पष्ट है कि चुंबकीय बल-क्षेत्र पहले से ... अधिक बलवान् हो जायगा, और घूमती हुई कुंडली ... बिजली का उत्पादन भी उसी क्रम से बढ़ जायगा। इस ... की कल्पना इस भाँति भी की जा सकती है कि विद्युत्-चुंबक के काम में लाने से हमारी बल-रेखाओं की ... बहुत अधिक हो जाती है, और इसलिये कुंडली ... पहले से बहुत ज़्यादा रेखाओं को काटती है, ... इसलिये आर्मेचर और बाहरी चक्कर में उसी ... की ज़्यादा बड़ी विद्युद्धारा उत्पादित होती है।

परंतु अपने इस बड़े विद्युत्-चुंबक को उत्तेजित करने के लिये, अर्थात् इसमें चुंबकत्व उत्पन्न करने के लिये, ... विद्युद्धारा की आवश्यकता होगी; क्योंकि विद्युत्-चुंबक तभी बनता है, जब हम एक लोहे के टुकड़े पर ... रोधित (insulated) तार की कुंडली मढ़ें, और ... कुंडली में से बिजली की धारा प्रवाहित करें। चित्र ... और ३ में दो प्रकार के विद्युत्-चुंबक दिखलाए गए हैं।

यदि लोहे का टुकड़ा स्टील की भाँति कड़ा लोहा ... की जगह कोमल लोहा हुआ, तो जब तक धारा बहती ... रहेगी, तब तक उसमें चुंबकत्व के गुण विद्यमान रहेंगे ... जहाँ धारा रुकी वहाँ चुंबकत्व भी क़रीब-क़रीब ... स्टील के टुकड़े में धारा रुकने के बाद भी थोड़ा ... चुंबकत्व रह जाता है; परंतु स्टील के टुकड़ों में धारा ...

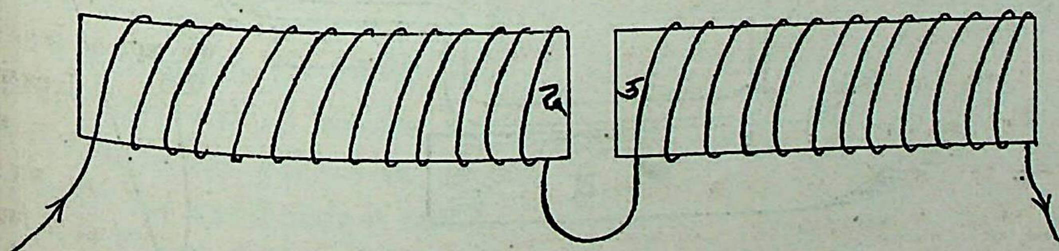


चित्र २—विद्युत्-चुंबक

(उ क और द ग लोहे के खंभेनुमा छोटे-छोटे टुकड़े हैं, जिनके चारों ओर अवरोधित तार लपेटा हुआ है। जिस समय इसमें धारा का संचार कराया जाता है, उस समय इन लोह-खंडों में चुंबकत्व उत्पन्न होता है। धारा का संचार जिस समय उन दिशाओं में होता है, जो ऊपर दिए हुए छोटे वृत्तों में तीर-प्रदर्शक द्वारा दिखलाई गई हैं, उस समय उ उत्तरी और द दक्षिणी ध्रुव हो जाता है)

में। जितनी अधिक कुंडली की लड़ें लोहे पर लिपटी हुई होंगी, उतना ही अधिक चुंबकत्व उत्पन्न होगा, और जितनी कड़ी अर्थात् बड़ी धारा कुंडली में से होकर बहेगी, उतने ही प्रभाव-शाली चुंबकत्व का प्रादुर्भाव होगा।

तो अब प्रश्न यह है कि यदि डायनमो में स्थायी चुंबक की जगह विद्युत्-चुंबक का व्यवहार करें, तो उसे उत्तेजित करने के लिये धारा हमें कहाँ से मिलेगी? पाठकों को मालूम है कि बिजली की धारा बिजली की बैटरियों से भी मिल सकती है, और हम अपने विद्युत्-चुंबक का संबंध ऐसी बड़ी-बड़ी बैटरियों के साथ करके उसमें बड़ी-से-बड़ी धारा चला सकते हैं। परंतु एक बात क्यों न की जाय? उक्त चक्कर में उत्पादित विद्युद्धारा ही का थोड़ा-सा अंश लेकर हम उसे चुंबक के चारों ओर क्यों न चला दें? दुर्भाग्य से यह धारा सदैव अपनी दिशा बदलती रहती है, इस कारण विद्युत्-चुंबक के ध्रुव भी सदा बदलते रहेंगे, और किसी काम में न लाए जा सकेंगे। यदि हम किसी भाँति धारा को सदा एक ही दिशा में प्रवाहित करा सकें, तभी उसे चुंबक को उत्ते-जित कराने के काम में ला सकते हैं। तो अब सोचना यह है कि किस प्रकार इस अन्यो-न्यानुगामी धारा के स्थान पर एक ही दिशा को जानेवाली धारा उत्पन्न की जाय।



चित्र ३—दूसरे प्रकार का विद्युत्-चुंबक

(इसमें दोनों लोह-खंभ एक ही लकीर में हैं, और जिस समय इन पर लपेटे हुए तार में प्रदर्शित दिशा में धारा का संचार होता है, उस समय द दक्षिणी और उ उत्तरी ध्रुव हो जाता है। चुंबकीय बल-क्षेत्र उ द के बीच प्रबलतम होता है)

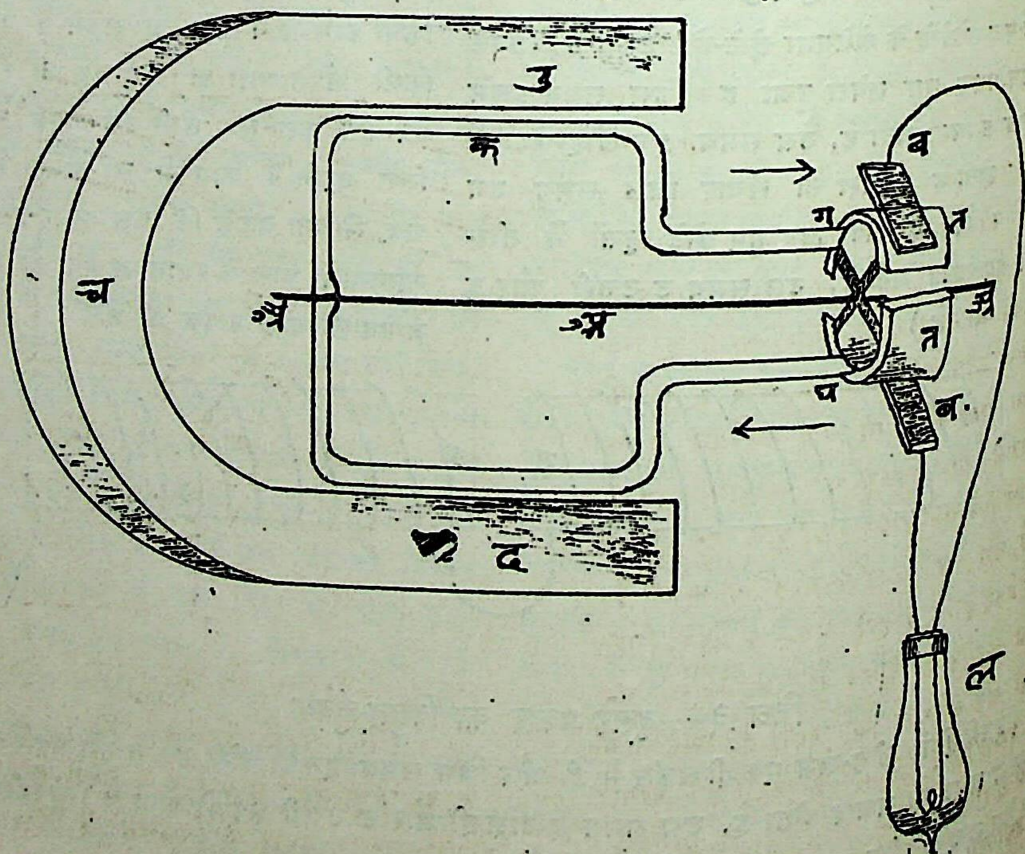
के समय उतना अधिक चुंबकत्व नहीं उत्पादित किया जा सकता, जितना कि कोमल लोहे (soft iron) के टुकड़े

यह स्पष्ट है कि नाचती हुई कुंडली में धारा का एक बार एक दिशा में जाना और दूसरी बार दूसरी दिशा

में जाना हम कदापि नहीं रोक सकते; क्योंकि जब कुंडली उत्तरी ध्रुव के समीप आती है, तब उसमें विद्यु-द्धारा एक दिशा में प्रवाहित होती है; किंतु जब उत्तरी ध्रुव से वह परे जाती और दक्षिणी ध्रुव के पास आती है, तब उसमें से धारा अवश्यमेव दूसरी दिशा में प्रवाहित होगी। इस प्रकार प्रत्येक अर्ध-परिक्रमण के बाद कुंडली में धारा की दिशा अवश्य बदलेगी। इस-लिये आर्मेचर-कुंडली की इतस्ततोगामी धारा को जैसी-की-तैसी छोड़कर हमें देखना चाहिए कि बाहरी निश्चल मंडल के साथ हम क्या कर सकते हैं। जब तक एक ब्रश सदैव एक ही चक्र (अर्थात् कुंडली के एक ही सिरे) के, और दूसरा दूसरे ही के स्पर्श में रक्खा जायगा, तब तक तो अवश्य ही बाहरी मंडल में भी वैसी ही अन्योन्यानुगामी धारा रहेगी, जैसी कि घूमती हुई कुंडली में। परंतु यदि ऐसा किया जा सके कि जब-जब धारा अपनी दिशा बदले, तब-तब ब्रश भी चक्र बदल दें, तो बाहरी मंडल में धारा सदा एक ही दिशा में प्रवाहित होने लगेगी।

निरंतरगामी धारावाला डायनमो

बस, अब हमें एक ऐसी तरकीब निकालनी जिससे घूमती हुई कुंडली के सिरे पारी-पारी से पहले ब्रश के और फिर दूसरे ब्रश के स्पर्श में आवें। बड़ी ही सुगमता से किया जा सकता है। यदि कुंडली प्रत्येक सिरे को, एक-एक पूरे चक्र के साथ जोड़ने के दो अधूरे ही चक्रों के साथ जोड़ें, और तब इन अर्ध-लाकार, अर्ध-चक्रों को फिरकी पर इस प्रकार मानो उनको जोड़कर हम एक पूरा चक्र ही की हैं, परंतु वास्तव में इस बात का ध्यान रक्खें कि दोनों अर्ध-चक्र एक दूसरे से फिरकी अथवा आर्मेचर-दंड से भली प्रकार (insulated) रहें, और अब ब्रशों को लकीर में ऊपर-नीचे रख दें, तो जैसा चाहते हैं, इंतिज़ाम हो जाय। कारण, अब आर्मेचर-कुंडली घूमने पर ब्रश प्रत्येक अर्ध-चक्र को पारी-पारी से इस व्यवस्था का स्पष्टीकरण चित्र नं० १ से हो जायगा। इसमें के सब अक्षरों का मतलब



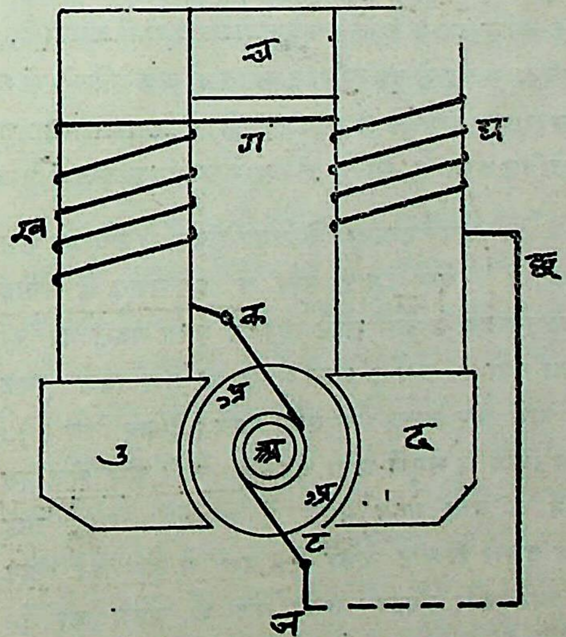
चित्र ४—निरंतर अथवा एकदिशागामी डायनमो का सिद्धांत
(इस आकृति का पूरा-पूरा वर्णन मूल-लेख में किया गया है)

जो पहली आकृति में था। इसमें पूरे-पूरे चक्रों की जगह ही अर्ध-चक्र ही दिखलाई पड़ते हैं। समझ लीजिए, आकृति में कुंडली उस समय दिखलाई गई है, जब ऊपर का हिस्सा पीछे से आगे को आ रहा और नीचे का हिस्सा स्वभावतः आगे से पीछे को जा रहा है। बल-रेखाएँ ऊपर से नीचे को, अर्थात् उत्तरी से दक्षिणी ध्रुव को, जा रही हैं (ये आकृति में नहीं दिखलाई गईं)। जिस समय कुंडली का ऊपर का भाग पीछे से, उत्तरी ध्रुव के पास होकर, आगे को आता है, उस समय कुंडली में धारा बाईं से दाहनी तरफ़ जाती है, अर्थात् धारा कुंडली से बाहर जा रही है, और इस समय कुंडली का सिरा ऊपरवाले ब्रश को छू रहा है। जिस समय कुंडली का ऊपर का हिस्सा उपर्युक्त काम कर रहा है, उस समय उसका नीचेवाला अर्ध-भाग आगे से पीछे को, दक्षिणी ध्रुव के पास होकर, जा रहा है। इस समय इस नीचेवाले अर्ध-भाग में धारा विपरीत दिशा में (दाहनी से बाईं ओर) बहेगी, जैसा कि तीर-प्रदर्शक द्वारा चित्र में दिखलाया गया है; अर्थात् नीचेवाले कुंडली के अर्ध-भाग में धारा बाहर से भीतर को आ रही है, और इस समय कुंडली का यह दूसरा हिस्सा नीचेवाले ब्रश को छू रहा है। नीचेवाला हिस्सा जब अपनी पारी में ऊपर आवेगा, तब उसमें वे ही सब घटनाएँ होंगी, जो पहले ऊपरवाले भाग के लिये कह आए हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया होगा कि जब-जब कुंडली का अर्ध-भाग ऊपर आता है, तब-तब उसके सिरे पर लगा हुआ अर्ध-चक्र ऊपर के ब्रश को छूता और धारा बाहर को जाती है। जब-जब उसका अर्ध-भाग नीचेवाले आधे चक्कर का परिभ्रमण करता है, तब-तब उसके सिरे पर लगा हुआ अर्ध-चक्र नीचे के ब्रश को छूता है, और धारा बाहर से भीतर को आती है। इस प्रकार यह प्रकट है कि बाहरी मंडल के लिये, जिसमें बिजली का लंप लगा हुआ है, ऊपरवाला ब्रश हमेशा धारा को लंप की ओर ले जाता है, और नीचेवाला हमेशा उसको लंप से परे ले जाता है; अर्थात् बाहरी मंडल में धारा सदैव एक ही दिशा में जाती है। आकृति के बिजली-लंप में वह सदा दाहनी से बाईं ओर को जाती है। कुंडली की इतस्ततः जानेवाली धारा को हमने, उक्त व्यवस्था द्वारा, बाहरी मंडल के लिये, एक ही दिशा में जानेवाली, यानी निरंतरगामी (Continuous), धारा में परिवर्तित कर डाला है।

निरंतरगामी धारावाले डायनमो (Continuous Current Dynamo) का कार्य-क्रम समझने में और भी अधिक सुविधा हो जायगी, यदि हम ऐसा विचार कर लें कि कुंडली का चाहे जैसा भाग ऊपर हो, वह सदा ऊपर के ब्रश को धारा देता है, और उक्त धारा बाहरी, मुख्य मंडल में होकर निचले ब्रश के पास आती है, और यहाँ पर कुंडली का जो कोई भी भाग नीचे हो, उसी में चली जाती है। ब्रशों और स्पर्शकारी खंडों (अर्थात् धातव अर्ध-चक्र, जिनके स्पर्श से ब्रशों को विद्युद्धारा मिलती है) की यह व्यवस्था "अविच्छिन्नक" (Commutator—कम्यूटेटर) कहलाती है; क्योंकि घूमते हुए आर्मेचर की इतस्ततोगामी धारा को अविच्छिन्न अर्थात् अखंडित कर वह उसे मुख्य मंडल में निरंतरगामी धारा के रूप में संचारित कराता है।

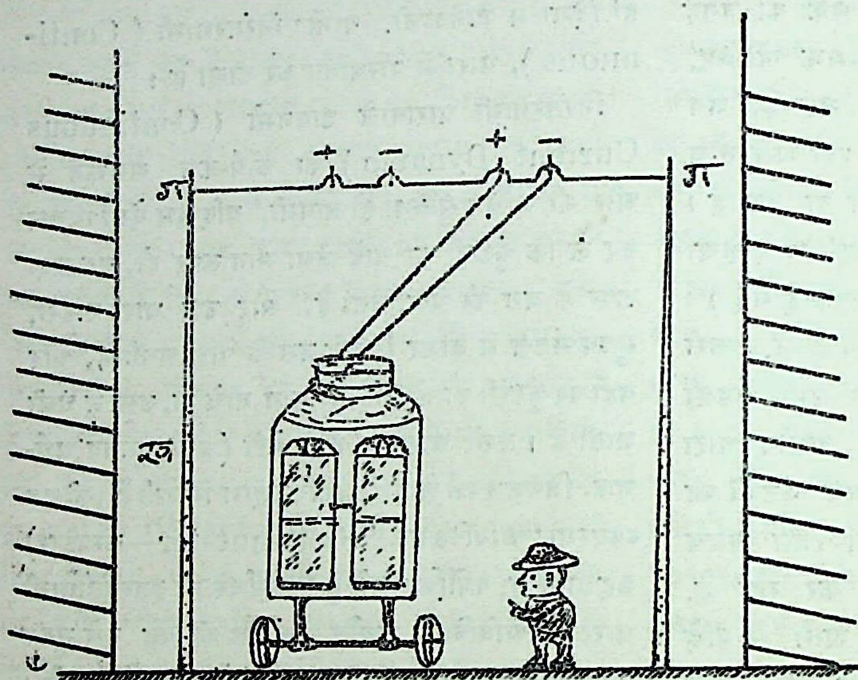
डायनमो के क्षेत्र-चुंबक

अब हम मुख्य मंडल में संचारित धारा का थोड़ा-सा



चित्र ५—डायनमो के क्षेत्र-चुंबक में चुंबकत्व पैदा करने की पहली विधि

(अ अ अ आर्मेचर है। उ च द चुंबक है। आर्मेचर से बिजली-धारा क स्थान से निकलती है, और ख ग घ तार द्वारा चुंबक के खंभों के चारों ओर होकर फिर बाहरी मुख्य मंडल छ ज में जाती है। अंत को ट स्थान पर आर्मेचर में लौट जाती है)



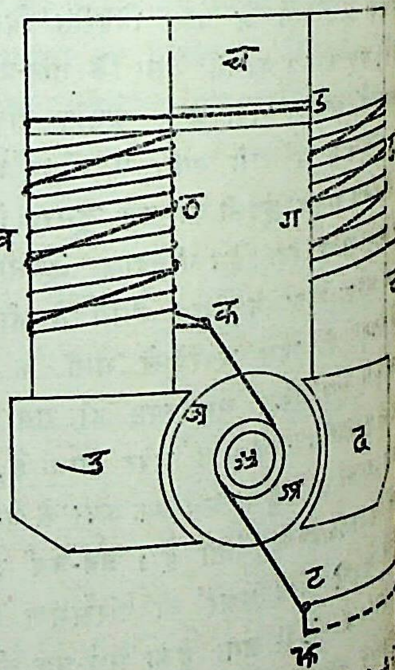
चित्र ६—क्षेत्र-चुंबक को उत्तेजित करने की दूसरी विधि

(इस आकृति के सब अक्षरों का मतलब वही है, जो चित्र ५ में था। फ़र्क़ केवल इतना है कि क स्थान से जो धारा निकलती है, उसके लिये आर्मेचर के दूसरे सिरे ट स्थान को जाने के लिये दो मार्ग हैं। इसका कुछ अंश तो ख ग घ तार में होकर बहता और चुंबक को उत्तेजित करता है, और बाक़ी अंश मुख्य मंडल छ ज झ में जाता है)

हमारा डायनमो अब स्वत... जक हो गया है, अर्थात् जिस... बल-क्षेत्र की आवश्यकता है, ... स्वयं उत्पन्न कर लेता है। ... भी प्रकट होगा कि यदि पहले ... थोड़ा-सा भी बल-क्षेत्र मौजूद ... तो धारा कदापि नहीं उत्प... सकती। अब प्रश्न यह है कि ... शुरू में बल-क्षेत्र कहाँ से ... धारा का जन्म कराया जाय! ... पहल तो यही आवश्यक सम... कि बल-क्षेत्र देनेवाले चुंबक ... सिक उत्तेजन देने के लिये, ... उसमें चुंबकीय शक्ति उत्पन्न ... लिये, एक छोटी-सी बैटरी ...

अंश लेकर उससे डायनमो के विद्युत्-चुंबक को उत्तेजित करा सकते हैं। ऐसा हम दो तरह से कर सकते हैं। चाहे विद्युत्-चुंबक के ऊपर लपेटे तार को मुख्य मंडल का ही भाग बना दें, अर्थात् मुख्य मंडल का तार पहले चुंबक के चारों ओर जाकर फिर बाहर जाय (देखिए चित्र ५)। इस विधि में संपूर्ण धारा चुंबक के चारों ओर संचारित होने के बाद मुख्य मंडल में जायगी। और, चाहे एक दूसरा ही तार लेकर एक ब्रश से शुरू कर चुंबक के चारों ओर लपेटकर दूसरे ब्रश पर ख़तम कर दें। यह विधि चित्र ६ में दिखलाई गई है।

इस विधि में एक छोटी लूप लाइन-सी बनाकर संपूर्ण धारा का थोड़ा-सा ही अंश चुंबक को उत्तेजित करने के लिये लेते हैं। साधारण रीति यह है कि विद्युद्धारा को दोनों तरह से, एकसाथ ही, चुंबक के चारों ओर संचारित कराते हैं, जैसा कि चित्र ७ में दिखलाया गया है।



चित्र ७—क्षेत्र-चुंबक के उत्तेजनार्थ तीसरी ... सम्मेलन...

(यह पहली और दूसरी विधि का सम्मेलन ... इसमें क से निकलकर बिजली का कुछ अंश तो ... तार ख ग घ में बहकर ट द्वारा विद्युत्-मंडल ... करता है, और बाक़ी अंश बाहरी मुख्य मंडल ... में जाने के पहले चुंबक के चारों ओर एक दूसरे ... ठ ड ढ में होकर भी बहता है। यह तार ... ख ग घ तार से भिन्न है)

लाई जाय, और इस प्रकार से आर्मेचर-कुंडली में विद्युत् अंकुरित की जाय। इसके उपरांत डायनमो के विकास में एक वह अवस्था आ पहुँची, जब प्रधान डायनमो को उत्तेजित करने के लिये स्थायी चुंबकोंवाला एक छोटा-सा डायनमो काम में लाया जाता था। परंतु ये सब युक्तियाँ ऐसी-वैसी ही थीं; और इस बात का शीघ्र ही पता चल गया कि यह सब ऊपरी काम करने की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि डायनमो के विद्युत्-चुंबक के लोहे में विद्युत्-प्रवाह बंद होने के बाद भी कुछ थोड़ी-सी चुंबक-शक्ति बाक़ी रह जाती है। बस, जब आर्मेचर को यह हल्के-पड़ते घुमाते हैं, तब उस क्षीण चुंबकत्व के कारण उसके एक क्षीण प्रवाह का प्रादुर्भाव होता है। यह क्षीण प्रवाह चुंबक के चारों ओर घूमकर प्राथमिक क्षीण चुंबक को तीव्रतर बनाता है। चुंबकत्व के तीव्रतर होते ही आर्मेचर का प्रवाह भी तीव्रतर हो जाता है। इसकी वजह से चुंबकत्व और भी तीव्र हो जाता है। इस प्रकार थोड़ी ही देर में चुंबकत्व परितृप्ति को प्राप्त हो जाता है; अर्थात् जितना चुंबकत्व उस विद्युत्-चुंबक में हो सकता है, उतना हो जाता है।

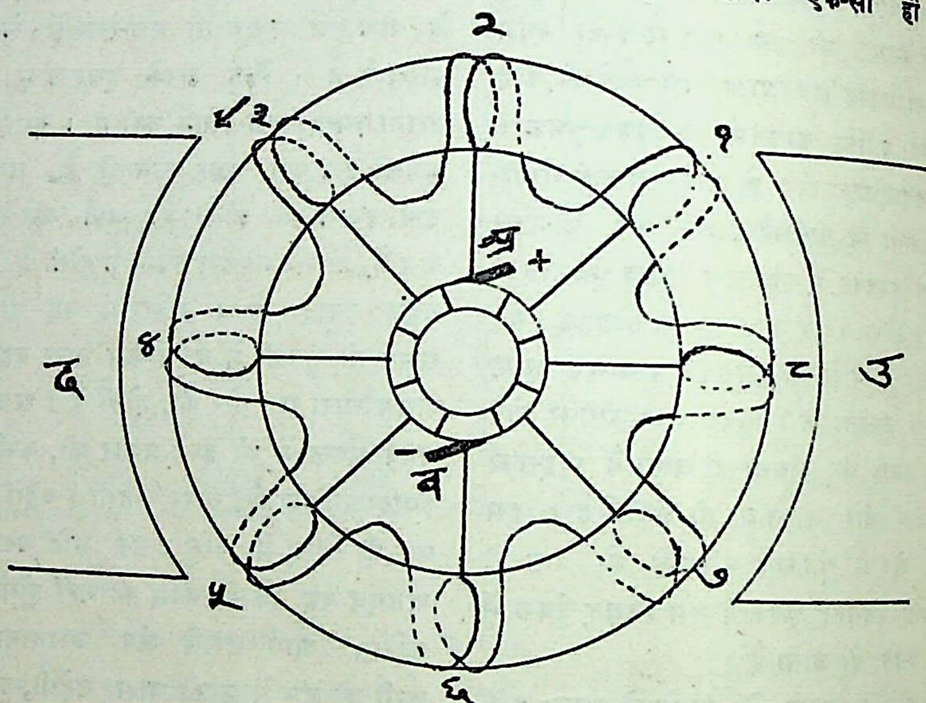
यह मालूम होने के पहले कि डायनमो स्वतः उत्तेजक हो सकते हैं, स्थायी चुंबक काम में लाए जाते थे। परंतु स्थायी चुंबकों का बल-क्षेत्र विद्युत्-चुंबकों के बल-क्षेत्र की अपेक्षा अत्यंत क्षीण होने के कारण कोई कार्य-कारी डायनमो तब तक नहीं बन सकते थे। जैसा ऊपर के वर्णन से मालूम हो गया होगा, स्वतः उत्तेजक डायनमो भी एकाएक एकदम नहीं आ पहुँचे थे। क्रम-क्रम से उनका विकास हुआ था। परंतु एक बार ठीक रास्ते पर जहाँ चल निकले कि मंज़िले-मक़सूद तक पहुँचने में बहुत ज़्यादा देर नहीं लगी। यह यात्रा सन् १८७० ई० में पूरी हुई थी। इस प्रकार कार्यकारी, व्यावहारिक डायनमो की आयु अभी केवल ५० साल से कुछ ही ज़्यादा हुई है।

व्यावहारिक डायनमो

अब तक जिस डायनमो की रचना हमने मन-ही-मन की है, वह वास्तव में कुछ बहुत ज़्यादा कार्य-साधक न होगा। कारण, ऊपर बतला चुके हैं कि धारा इस कारण उत्पन्न होती है कि कुंडली बल-रेखाओं को काटती है। जितनी ही अधिक रेखाओं को वह काटेगी, उतनी ही अधिक धारा बहेगी। अब, यह तो स्पष्ट ही होगा कि चुंबक का सबसे तीव्र बल-क्षेत्र ध्रुवों के बीचोबीच में ही होगा। यदि हम इस मध्य स्थान से इधर-उधर हटें, तो चुंबक का उतना अधिक असर न मालूम करेंगे; अर्थात् उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवों के बीच का स्थान तो बल-रेखाओं से अच्छी तरह परिपूर्ण है; किंतु उसके इधर-उधर के स्थानों में उतनी ज़्यादा बल-रेखाएँ नहीं हैं। इसलिये जिस समय कुंडली एक पूरा चक्कर लगाती है, तब कभी तो वह उस स्थान में होती है, जहाँ बल-रेखाएँ बिलकुल कम हैं, और कभी उस स्थान में होती है, जहाँ बल-रेखाएँ बहुत ज़्यादा हैं। परिणाम यह होता है कि एक समय तो कुंडली में बहुत कम धारा बहती है, पर दूसरे समय धारा खूब ज़ोर की, होती है। अतएव बाहरी यानी मुख्य मंडल में भी इसी प्रकार की, कभी कम और कभी ज़्यादा शक्तिवाली, धारा बहेगी। बहेगी तो वह हमेशा एक ही दिशा में, परंतु उसकी शक्ति घटती-बढ़ती रहेगी। अतएव वह किसी काम की नहीं होगी। कारण, फ़र्ज़ करिए, आप उससे लंप जलवाना चाहते हैं, तो कभी तो लंप में काफ़ी धारा बहेगी, और वह खूब तेज़ी से जलेगा, और कभी धारा बड़ी ही क्षीण होगी, और लंप की रोशनी भी प्रायः नहीं के बराबर होगी। भला ऐसे लंप से क्या फ़ायदा?

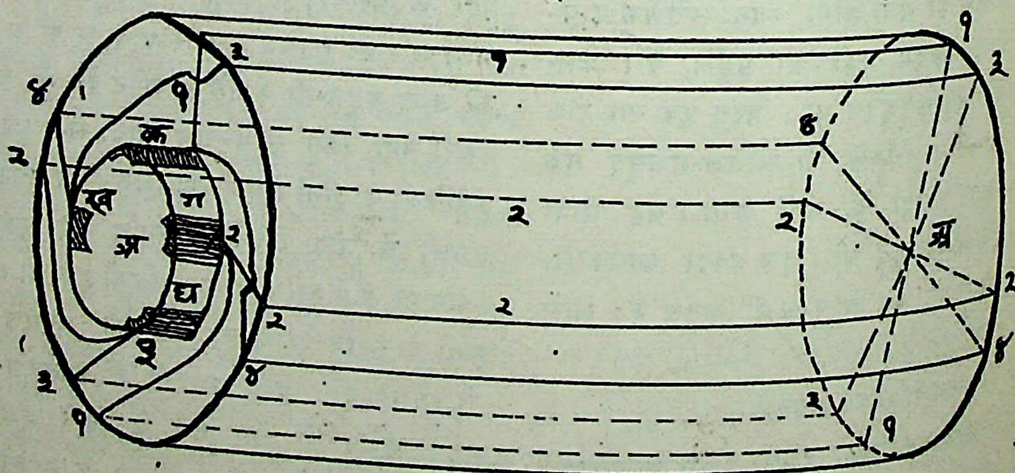
यह एक बड़ा भारी दोष है; पर इसको बहुत ही कम, नहीं के बराबर, कर सकते हैं। ऐसा करने के लिये आर्मेचर शैफ़्ट (चित्र १ और ४ के अ अ अ) पर एक की जगह बहुत-सी कुंडलियाँ लपेट देते हैं, एक के ऊपर दूसरी नहीं, किंतु साथ-साथ प्रायः सटी हुई। इन सब कुंडलियों के दोनों हिस्सों को भिन्न-भिन्न स्पर्शकारी खंड-युगलों से जोड़ देते हैं। अर्थात् यदि एक कुंडली के स्थान पर, फ़र्ज़ करिए, आठ कुंडलियाँ हुईं, तो दो स्पर्शकारी खंडों के स्थान पर सोलह खंडों की ज़रूरत होगी। खंड तो सोलह होंगे, परंतु धाराओं को इकट्ठा करके बाहर के मुख्य मंडल में ले जाने के लिये ब्रश पहले की तरह दो ही ऊपर-नीचे रहेंगे। और, स्पर्शकारी खंड (पहलेवाले वर्णन के अर्ध-चक्र—पर अब अर्ध-चक्र नहीं, किंतु "षोड़शांश" one-sixteenth चक्र) इस प्रकार कुंडलियों के सिरों पर लगाए जाते हैं कि जब

किसी कुंडली के एक सिरे से जुड़े हुए खंड से ऊपर-वाला ब्रश रगड़ खाता है, तो उसी समय उसी कुंडली के दूसरे सिरेवाले खंड से नीचे का ब्रश भी रगड़ खाता है। इस प्रकार स्पर्शकारी खंडों की एक लगातार श्रेणी हो जायगी, और जैसे ही एक जोड़ा ब्रशों की रगड़ से छूटेगा, वैसे ही दूसरा जोड़ा लगेगा। कई एक कुंडलियों के होने और द्वारा क्रम-क्रम से ब्रश को धारा मिलने से बाहरी मुख्य मंडल में जो धारा बहती है, शक्ति सदैव प्रायः एक-सी ही रहती



चित्र ८—छल्लेनुमा आर्मेचर का सिद्धांत

(इसमें एक ही तार को छल्ले पर आठ जगह लपेटा है। उ द क्षेत्र-चुंबक के ध्रुव हैं। जिस समय छल्ला तीर-की दिशा में घूमता है, उस समय अ ब्रश से धारा बाहर जाती और ब से आर्मेचर में लौट आती है। बीचवाले में स्पर्श-खंड दिखलाए गए हैं। ध्यान रखिए, ये सब एक दूसरे से भली भाँति अवरुद्ध रक्खे जाते हैं)

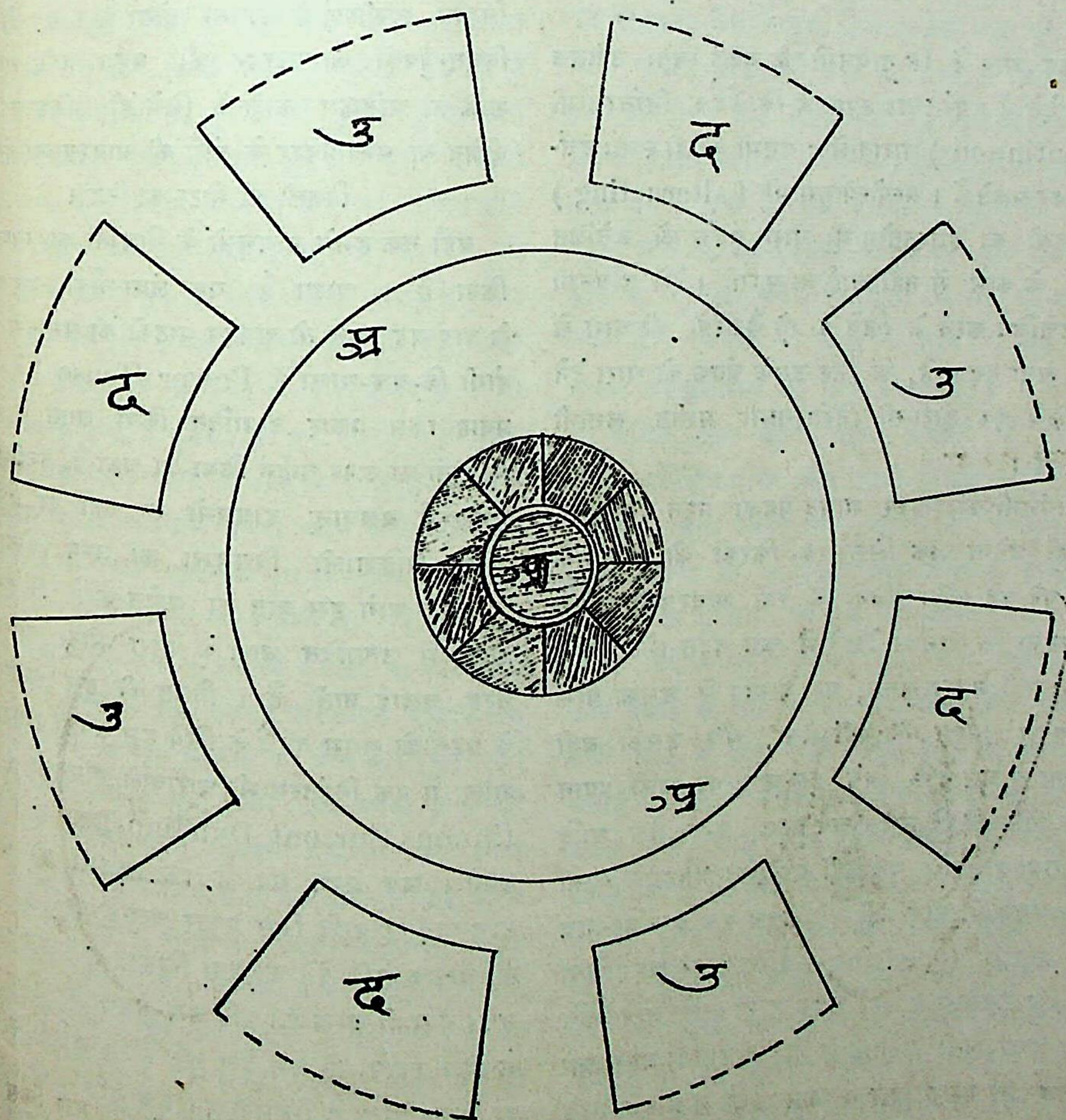


चित्र ९—ढोलनुमा आर्मेचर का सिद्धांत

(इसमें भी एक ही तार को चार लड़ों में ढोल के ऊपर लपेटा है। क ख ग घ चार स्पर्श-खंड हैं। तार किस एक खंड से दूसरे तक ढोल पर होकर जाता है, यह अंकों द्वारा दिखलाया गया है। क और घ स्थान पर, लीजिए, ब्रश सटाए रखते हैं। चुंबकीय ध्रुव ऊपर और नीचे होंगे, और ढोल अपनी धुरी अ अ पर नचाया जा

अभी कह चुके हैं कि यदि आठ कुंडलियाँ हुईं, तो सोलह स्पर्श-खंडों की आवश्यकता होगी। परंतु यह कोई ज़रूरी बात नहीं है कि आठ लड़ों के लिये सोलह ही या सोलह लड़ों के लिये बत्तीस ही खंडों की दरकार होगी। वास्तव में, व्यावहारिक रीति यह है कि आठ अलग-अलग कुंडलियों के आठ जुदा-जुदा तारों की जगह केवल एक लगातार तार लेते हैं, जिसको आर्मेचर शैफ़्ट पर इस प्रकार बाँधते हैं कि एक ही स्थान पर तार बार-बार जाने की जगह वह आठ (या अधिक) स्थानों पर रहता है। इन तारों में उत्पन्न हुई बिजली को अब कितने स्थानों पर निकालना पड़ेगा, अर्थात् कितने स्पर्श-खंडों की ज़रूरत होगी, यह बँधाई और तार की लड़ों पर निर्भर होगा। असल में तार की बँधाई भी भिन्न-भिन्न प्रकार से करते हैं, जिसके सबब से डायनमो भी भिन्न-भिन्न प्रकार के कहे जाते हैं। किसी में तार एक बड़े छल्ले के ऊपर बँधा रहता है। उसको छल्लेनुमा डायनमो कह सकते हैं। चित्र ८ में इस प्रकार का बाँधना दिखलाया गया है। किसी में तार ढोल के आकार के साँचे पर ढोल की रस्सी की भाँति बाँधते और उसको ढोलवाला डायनमो कहकर पुकारते हैं। इस प्रकार का ढोलनुमा आर्मेचर चित्र ६ में दिखलाया गया है।

चुंबकीय बल-क्षेत्र जितना ही अधिक एकाग्र और तीव्र



चित्र १०—अनेक चुंबकोंवाले डायनमो का सिद्धांत

(प्र प्र आर्मेचर है। यह चारों ओर के ध्रुवों के बीच नाचता है। देखिए, दो एक प्रकार के ध्रुव साथ-साथ नहीं रक्खे जाते)

हो, उतना अधिक लाभजनक होता है। इसीलिये आर्मेचर की परिधि और विद्युत्-चुंबक के परिवर्ती ध्रुवों के बीच बहुत ही कम स्थान रखते हैं—क्योंकि चुंबक के ध्रुव जितने ज़्यादा पास होंगे, उतना ही एकाग्र उसका बल-क्षेत्र होगा—और केवल एक चुंबक के स्थान पर कई चुंबकों का इस्तेमाल करते हैं, जो साथ-साथ एक वृत्त में रक्खे हुए होते हैं। चित्र १० देखने से इसका पता लग जायगा। इस प्रकार यदि चार चुंबक काम में लाए गए, तो उसके आठ ध्रुव हुए। इन चुंबकों को इस प्रकार रखते हैं कि उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव पारी-पारी से आवें, यह नहीं कि दो एक ही प्रकार के ध्रुव साथ-साथ आ जायँ।

कह आए हैं कि डायनमो के चुंबक स्वतः उत्तेजक बना देते हैं। परंतु यह स्पष्ट है कि केवल निरंतरगामी (Continuous) धारावाले डायनमो को ही स्वतः उत्तेजक कर सकते हैं। अन्योन्यानुगामी (alternating) डायनमो की इतस्ततोगामी धारा चुंबक को उत्तेजित करने के काम में नहीं लाई जा सकती। ऐसे डायनमो को उत्तेजित करने के लिये या तो बैटरियों की धारा से काम लेना पड़ता है, या फिर उसके चुंबक को धारा देने के लिये एक छोटी-सी निरंतरगामी मशीन लगानी पड़ती है।

डायनमो को देखकर शायद पहला प्रश्न हमारे मन में यही उठेगा कि सिर्फ़ एक फिरकी को नचाने के लिये बड़े-बड़े स्टीम-एंजिनों की क्यों आवश्यकता होती है? माना कि आर्मेचर देखने में कुछ बहुत छोटा और हलका नहीं मालूम होता; पर वास्तव में उसका बोझ कुछ बहुत ज़्यादा भी नहीं होता, और उसको बड़ी सुगमता से घुमाने के लिये इस बात पर काफ़ी ध्यान रक्खा जाता है कि उसमें खूब अच्छी तरह तेल आदि दिया गया हो, और वह कहीं पर रगड़ वग़ैरह न खाता हो। वास्तव में, यदि कहीं पर केवल एक आर्मेचर-मात्र अपने आधारों (Bearing—बेरिंग) पर खड़ा किया हो—और उसके पास कोई चुंबक न हो—तो आप देखेंगे कि वह विना किसी कठिनाई के ज़ोर से घुमाया जा सकता है। तब फिर किसी असली आर्मेचर को घुमाने के लिये इतने अधिक बल की क्यों आवश्यकता होती है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सुगम हो जायगा, अगर आप लोगों को यह बतला दिया जाय कि यदि किसी तार की कुं[डली] में विद्युद्धारा प्रवाहित की जाय, तो जब तक धारा बहती रहती है, तब तक कुंडली स्वयं ही चुं[बक हो] जाती है—और बड़ी भारी कुंडली, जिसमें [बड़ी] भारी धारा प्रवाहित हो, बड़ी ही प्रबल शक्तिशाली [चुंबक] हो जाती है। अतएव जैसे ही डायन[मो का] आर्मेचर घुमाया जाता और उसमें इस घु[माव से] उत्पादित धारा का संचार होता है, वैसे ही वह [एक] बड़ा सामर्थ्यवान् चुंबक हो जाता है, और इस तीव्र चुंबकमयी कुंडली को एक दूसरे शक्तिशाली [चुंबक] (बल-क्षेत्र-उत्पादक चुंबक—Field magnet) के नितांत सामीप्य में घुमाना होता है। इन दो विद्युत्-चुंबकों की परस्पर की बहुत बड़ी आ[कर्षण] शक्ति का अतिक्रम करने के लिये ही शक्तिशाली एंजिन या अन्य प्रकार के यंत्रों की आवश्यकता होती है।

बिजली की मोटर का सिद्धांत

यहाँ तक हमने डायनमो के सिद्धांतों का संक्षे[प में वर्णन] किया है। आशा है, यह लंबा-चौड़ा वर्णन [पढ़ने] के बाद यह बात तो अवश्य पाठकों की समझ में आ [गई] होगी कि बल-शाला (Power House) में वि[द्युत्-]प्रवाह किस प्रकार उत्पादित किया जाता है। [जिन] सिद्धांतों का ऊपर वर्णन किया जा चुका है, उन्हीं पर [चलते] हुए कई बलवान् डायनमो का वहाँ पर प्रति[ष्ठापन होता है] और शक्तिशाली विद्युद्धारा का जन्म होता है। अब हम आगे इस बात का वर्णन करेंगे कि इस [बल-]शाला में उत्पादित धारा के द्वारा मोटर वग़ैरह [किस] तरह चलाई जाती हैं। विद्युत् की इस चालक[-शक्ति] के प्रश्न को सुगम करने के लिये हम अपनी कल्पित [बल-]शाला में एक निरंतरगामी धारावाले डायनमो (Continuous Current Dynamo) का ही प्रति[ष्ठापन] करेंगे। अब प्रश्न यह है, कि बिजली की [मोटर,] ट्राम-गाड़ी इत्यादि किस प्रकार चलाई जाती हैं! [इन] को चालक शक्ति देने का क्या सिद्धांत है? इस प्रश्न [का] उत्तर बड़ा ही सरल है। यदि तार-कुंडली को चुंबक के [ध्रुवों] के बीच नचावें, तो हम देख चुके हैं कि कुंडली में [विद्युद्धारा] का संचार होता है। इसके प्रतिकूल यदि कुंडली को [चुंबक] के बीच रक्खें, और कुंडली में विद्युद्धारा का प्रवाह [करें,] तो कुंडली नाचने लगती है। बस, मोटरों का [सिद्धांत]

छोटा-सा सिद्धांत है। सिर्फ़ इस बात की आवश्यकता है कि प्रबल चुंबकीय बल-क्षेत्र हो, उसमें कई लड़वाली, जैसी ऊपर डायनमो के संबंध में बता आए हैं, कुंडली हो, और उस कुंडली में प्रवाह कराने के लिये प्रबल विद्युद्धारा हो।

बिजली को चालन-शक्ति-प्रदान

अब स्टीम-एंजिन आदि द्वारा वेग-पूर्वक चालित निरंतर-गामी धारावाले डायनमो के पास या दूर एक दूसरा वैसा ही यंत्र रख दीजिए, और फिर विद्युत्-उत्पादक डायनमो के ब्रशों से दूसरी मशीन के ब्रशों तक तार द्वारा संबंध करके इस दूसरे यंत्र में धारा पहुँचाइए। विद्युद्धारा इस दूसरे यंत्र के विद्युत्-चुंबक और उसकी आर्मेचर-कुंडली में होकर प्रवाहित होती है। यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि यदि धारा किसी तार की कुंडली या फंदे में संचारित की जाय, तो यह कुंडली भी चुंबकमयी हो जाती है; अर्थात् उसका एक पृष्ठ उत्तरी ध्रुव और दूसरा दक्षिणी ध्रुव हो जाता है। अतएव आर्मेचर में धारा चालित होने के कारण उसका एक पृष्ठ दक्षिणी ध्रुव हो जाता है, जो क्षेत्र-चुंबक के उत्तरी ध्रुव की ओर खिंच आता है, और दूसरा पृष्ठ उत्तरी ध्रुव होकर दक्षिणी ध्रुव की ओर खिंच जाता है। इस प्रकार आर्मेचर में धारा-प्रवाह के कारण जो ध्रुव उत्पन्न होंगे, वे कुंडली को एक ही दिशा में घुमावेंगे। परंतु यहाँ पर सिद्धांत को ठीक तरह से, सरलता के साथ, समझाने के लिये हम अपना ध्यान केवल उसी पृष्ठ पर रक्खेंगे, जो पहले दक्षिणी ध्रुव हो जाता है। जब कुंडली एक अर्ध-परिक्रमण कर चुकती है, तब उसे दूसरे ब्रश से धारा मिलती है (क्योंकि कुंडली के सिरे अर्ध-चक्रों से जुड़े होते हैं, और एक पूरे परिक्रमण में पहले एक सिरे को एक ब्रश से धारा मिलती है, और फिर दूसरे से)। वह पृष्ठ अब उत्तरी ध्रुव होकर क्षेत्र-चुंबक के उत्तरी ध्रुव से परे जाता और दक्षिणी ध्रुव की ओर खिंच जाता है। दूसरे अर्ध-परिक्रमण के बाद यह पृष्ठ फिर अपने पुराने स्थान में लौट आता है। अब फिर इसको पहले ब्रश से धारा मिलती है, जिसके कारण वह एक बार फिर दक्षिणी ध्रुव होकर क्षेत्र-चुंबक के उत्तरी ध्रुव की ओर खिंच आता है। इस प्रकार कुंडली सदा एक ही ओर घूमती है; अर्थात् हमारे दूसरे यंत्र का आर्मेचर भी डायनमो से धारा पाकर चक्कर देने लगता है। यह दूसरा यंत्र अब मोटर (motor) हो गया।

मोटरों के वेग का संविधान

उत्पादक डायनमो जितनी जल्दी घुमाया जायगा, दूसरा यंत्र, यानी मोटर, भी उतनी ही शीघ्रता से घूमेगा। परंतु मोटर की गति में परिवर्तन करने के लिये उत्पादक डायनमो की गति में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं होती। कारण, हम जब चाहें, डायनमो की धारा मोटर तक पहुँचावें, या जब चाहें, संबंध तोड़कर धारा मोटर तक न पहुँचने दें; और यदि मोटर की गति कम करना चाहें, तो मोटर तक कम धारा ही पहुँचने दें। धारा के मार्ग में कुछ अधिक प्रतिरोध रख देने से ही ऐसा हो जायगा। पानी के नल से पानी लेते समय जैसे-ही-जैसे नल को खोलते जाते अर्थात् पानी की धारा के मार्ग में जैसे-ही-जैसे हम प्रतिरोध कम करते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे पानी अधिक आता जाता है, और जैसे-ही-जैसे नल को दूसरी तरफ़ घुमाते जाते हैं अर्थात् पानी के मार्ग में प्रतिरोध बढ़ाते जाते हैं, वैसे-ही-वैसे पानी का वेग कम होता जाता है। इसी प्रकार विद्युद्धारा में भी घट-बढ़ कर सकते हैं। बिजली की धारा के मार्ग में एक पतला धातव तार प्रतिरोध का काम करता है। तार जितना ही अधिक लंबा होगा, धारा के मार्ग में उतना ही अधिक प्रतिरोध होगा, और उतनी ही कम धारा हमें मिल सकेगी। इसी प्रकार तार जितना ही अधिक पतला होगा, उतना ही अधिक उसका प्रतिरोध होगा, और इस तार के पारगामी धारा का वेग उतना ही कम होगा। किसी विशेष धातु के बने हुए, एक विशेष मोटाई और लंबाई के, तार से जितना प्रतिरोध मिल सकता है, उसी धातु के और उसी मोटाई के, परंतु उससे दूनी लंबाई के, तार से उससे दूना प्रतिरोध हो सकेगा। इसी प्रकार उसी धातु और उसी लंबाई के, परंतु उससे आधी मोटाई के, तार की कुंडली का प्रतिरोध पहले से चौगुना होगा। यदि तार की मोटाई पहले की एक-तिहाई हुई, तो प्रतिरोध पहले से नौगुना होगा। यदि तार दूना मोटा हुआ, तो प्रतिरोध पहले का एक-चौथाई ही रह जायगा। जैसे-ही-जैसे तार की मोटाई बढ़ाते हैं, वैसे ही-वैसे प्रतिरोध कम होता जाता है। और, यदि तार बहुत ही मोटा हुआ, तो प्रतिरोध नहीं के बराबर हो जाता है। अब यदि डायनमो से मोटर के पास तक

हम काफ़ी मोटे तार के द्वारा धारा पहुँचावें, तो वहाँ तक धारा अपने पूरे ज़ोर के साथ पहुँचेगी। इस स्थान से मोटर तक धारा के मार्ग में यदि अब हम कई एक, छोटी-बड़ी तार-कुंडलियों के रूप में, छोटे-बड़े प्रतिरोध रख दें, और इस प्रकार का इंतिज़ाम कर लें कि जब चाहें, उसके मार्ग में एक, दो या अधिक प्रतिरोध रख दें, तो मोटर तक हम जिस वेग में चाहें, उसी वेग में धारा को पहुँचा सकते हैं।

मोटरों से मशीन चलाना

अब मोटर का चाहे जिस मशीन से संबंध कर उस मशीन को घुमा सकते हैं। जब मोटर की फिरकी घूमती है, उस समय फिरकी के बीच में लगा हुआ दंड (shaft)—अर्थात् मोटर के पहिए की धुरी—घूमता है। यदि इस धुरी का संबंध किसी दूसरे पहिए की धुरी के साथ कर दें, तो दूसरा पहिया भी घूमने लगेगा। इस प्रकार हम मोटर के द्वारा जिस किसी चीज़ को घुमाना चाहें, उसी को घुमा सकते हैं। यदि हम चाहें, तो मोटर का संबंध एक बड़े लोह-दंड से कर दें, और उससे अनेक मशीनों का संबंध करके उन सब मशीनों को एकसाथ, या जितनी चाहें उतनी मशीनें, चला सकते हैं।

यदि आप बिजली द्वारा चालित मशीनों के किसी घर में जायँ, तो आप देखेंगे कि उस गृह की छतों के पास दीवालों पर गड़ी हुई मेख़ों द्वारा एक लोह-दंड सधा हुआ है। यह लोह-दंड अपनी धुरी के चारों ओर लट्टू की तरह चक्कर लगा सकता है। दंड में थोड़ी-थोड़ी दूर पर पहिए लगे हैं, और इन पहियों के पास चमड़े के बड़े-बड़े फंदे अर्थात् पेटियाँ रक्खी हुई हैं। इसी यंत्र-गृह में कहीं पर आप एक मोटर भी चलती हुई पाइएगा। मोटर किस प्रकार चलती है, यह ऊपर कह आए हैं। मोटर की धुरी का अंत एक बड़े पहिए से होता है। उक्त चमड़े की पेटियों में से एक पेटी के द्वारा इस पहिए और लोह-दंड पर लगे हुए एक अनुरूप (Corresponding) छोटे पहिए के बीच संबंध स्थापित कर देते हैं, जिसकी वजह से जब, मोटर चलने पर, उसका पहिया घूमता है, तो वह लोह-दंडवाले अनुरूप छोटे पहिए को घुमाता है। इस पहिए के घूमने से लोह-दंड घूमने लगता है, और साथ-ही-साथ उस पर लगे हुए अन्य सब पहिए भी घूमने लगते हैं। जब कभी इन घूमते हुए पहियों का संबंध चमड़े की पेटी के द्वारा किसी मशीन के अनुरूप पहिए से किया जाता है, तब वह मशीन भी चलने लगती है।

विद्युत्-चालन की उपयोगिता

इस प्रकार आप देखते हैं कि मशीनों को मोटर चलाती है, और मोटर को डायनमो। और, डायनमो को चलाने के लिये हमें अंततः उसी पुरानी स्टीम या अन्य किसी प्रकार के एंजिन का सहारा लेना पड़ता है। फिर इतनी मेहनत से किए हुए इस इंतिज़ाम से क्या फ़ायदा हुआ ? सीधे एंजिन ही से हम मशीन क्यों न चलावें ? क्योंकि इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि डायनमो से मोटर तक पहुँचते-पहुँचते एंजिन के प्रारंभिक बल में कुछ-न-कुछ कमी तो अवश्य ही हो गई होगी। सौभाग्यवश यह कमी बहुत ही थोड़ी है, और मोटर से एंजिन के पूरे बल का क़रीब-क़रीब $\frac{६०}{१००}$ भाग मिल सकता है। परंतु बड़ा भारी लाभ यह है कि मोटर डायनमो और एंजिन से बहुत दूर भी स्थापित की जा सकती है ; और इस प्रकार बिजली के द्वारा हम शक्ति (Power) को बहुत दूर तक ले जा सकते हैं। बिजली की एक बलशाला (Power House) किसी बड़े नगर अथवा एक उपयुक्त स्थान में बनाकर स्थायी तार चारों तरफ़ फैला सकते हैं, जिनके द्वारा विद्युत्-शक्ति दूरस्थ फ़ैक्टरियों, कारख़ानों अथवा जन-साधारण के घरों तक पहुँचा सकते हैं।

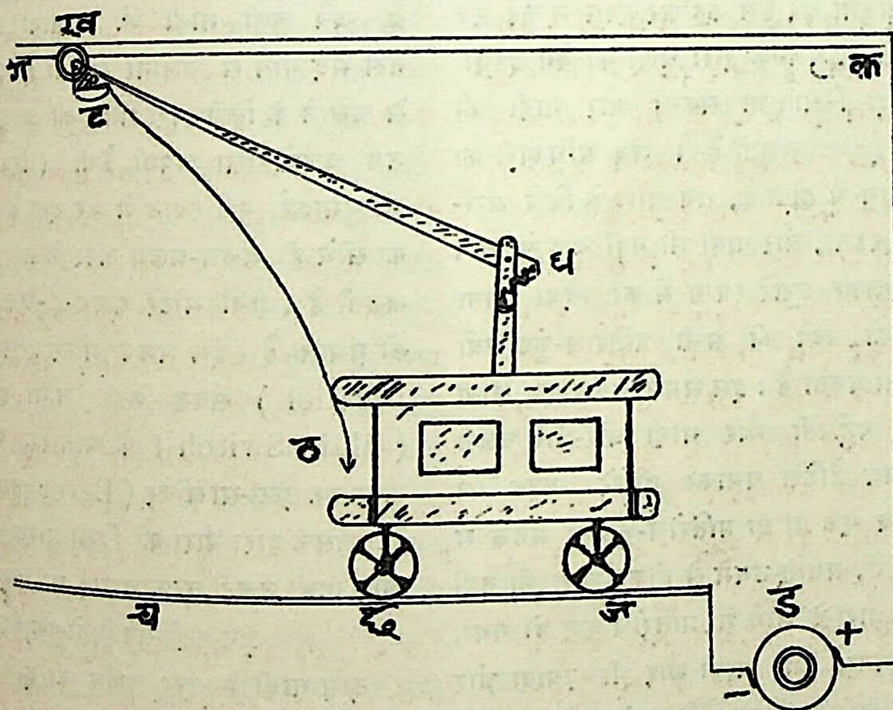
जिस प्रकार पानी की धारा पनचक्की के पहिए को चलाती है, उसी प्रकार वह हमारे डायनमो के आर्मेचर को भी चला सकती है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि पानी की धारा में आर्मेचर चलाने की पर्याप्त शक्ति हो। यह एक साधारण बात है, जिसको सब लोग जानते होंगे कि जितने ऊँचे से पानी गिरेगा, उतना ही अधिक उसमें बल होगा। इसलिये बड़े-बड़े जल-प्रपातों में बहुत ही ज़्यादा ज़ोर होता है। और यही ज़ोर, यही बल, डायनमो के पहिए को चलाने में लगाया जा सकता है। जहाँ कहीं वैसा हो सकता है, वहाँ कृत्रिम जल-प्रपात बनाए जा सकते हैं, और उनका बल काम में लाया जा सकता है। ताता का, बंबई-प्रांत में स्थित बिजली का हाइड्रो इलक्ट्रिक (Hydro Electric, अर्थात् जल-वैद्युत) कारख़ाना ऐसा ही है, जिसमें बरसाती

...पहाड़ों के ऊपर बड़े-बड़े कुंडों में इकट्ठा किया ...है, और उसका संबंध बड़े-बड़े नलों के द्वारा नीचे ...में स्थित डायनमो से कर दिया जाता है। काश्मीर ...में भी इसी प्रकार का इंतिज़ाम है, और पंजाब में भी ...की नदियों के जलप्रवाहों का वेग इसी प्रकार ...बित कर उपयोग में लाने का प्रयत्न हो रहा है।

...दूरस्थ बड़े-बड़े प्राकृतिक या कृत्रिम जल-प्रपातों का, ...बलशाला में पैदा किया हुआ, बल इस प्रकार ...द्वारा बड़ी-बड़ी दूर तक पहुँचाया जा सकता है। ...केवल इतनी ही है कि डायनमो से मोटर तक विद्यु-...के जाने के लिये अखंडित मार्ग हो। यह बतलाया ...चुका है कि अखंडित मार्ग होने के लिये इस बात की ...आवश्यकता नहीं कि कोई निरंतर स्थायी संबंध हो। संबंध करने के लिये केवल स्पर्श-मात्र पर्याप्त है। बिजली के इस बड़े भारी गुण के कारण उसकी उपयोगिता और भी बढ़ाई जा सकती है। इसके कारण इस बात की आव-श्यकता नहीं रहती कि मोटर किसी एक ख़ास स्थान में स्थित रहे। उसे इधर-उधर भी ले जा सकते हैं, केवल उसका विद्युत्-मंडल से स्पर्श-मात्र रहना चाहिए।

ट्राम-गाड़ी चलाना

इस प्रकार मोटर किसी ट्राम-गाड़ी के नीचे लगाई जा सकती है, और उसके आर्मेचर शैफ़्ट को सीधे गाड़ी के पहियों की धुरी से जोड़ दे सकते हैं। दूरस्थ बलशाला के डायनमो से विद्युद्धारा खंभों पर स्थित तारों द्वारा बाहर ले जाई जाती है। ट्राम-गाड़ी पर स्थित एक तिरछे दंड के सिरे पर लगा हुआ एक छोटा-सा पहिया सदा



चित्र ११—ट्राम-गाड़ी का सिद्धांत

(ड डायनमो है। + स्थान से बिजली बाहर जाती है। क ख ग ऊँचे खंभों पर स्थित तार है। ख घ ट्राली पोल है, जिसके द्वारा बिजली पहियों की धुरी पर लगी हुई मोटरों की कुंडलियों में जाती है, और ट्राम की पटरी च ... द्वारा डायनमो के—सिरे को लौट जाती है। ट्राली पोल के ख स्थान पर एक छोटा-सा पहिया लगा है, जो ...तक ऊपर के तार पर चलता रहता है, तब तक सदैव बिजली का मंडल पूरा बनाए रखता है। घ स्थान ...एक स्प्रिंग लगा है, जिसकी वजह से पुली ख तार से सटी रहती है। ट ठ डोरी है, जिसके द्वारा पुली को ऊपर-...के तार से सटा या हटा सकते हैं। ट स्थान पर एक अवरोधक होता है, जिसके कारण बिजली डोरी में नहीं ...पाती)

उन तारों के स्पर्श में रहता है, और इस प्रकार गाड़ी के नीचे लगी हुई मोटर तक धारा पहुँचती रहती है। मोटर के क्षेत्र-चुंबक और आर्मेचर-कुंडलियों में होती हुई धारा धुरी, पहिए और ट्राम की पटरी के मार्ग से उत्पादक डायनमो के दूसरे ब्रश को लौट जाती है। साथ के चित्र, नं० ११, में इस बात का स्पष्टीकरण किया गया है।

विद्युद्द्वारा ट्राम चलानेवाले के संपूर्ण अधिकार में होती है; क्योंकि मोटर तक पहुँचने के पहले उसे चलानेवाले के कंट्रोलर-बक्स (Controller Box=अधिकारी डब्बे) के बीच से होकर जाना पड़ता है। इस डब्बे में और कुछ नहीं, केवल इस प्रकार का इंतिज़ाम रहता है कि एक हैंडिल के घुमाने से धारा इच्छानुसार मोटर तक पहुँचाई जा सकती है, अथवा उस तक पहुँचने से रोक दी जा सकती है। इस कंट्रोलर-बक्स में कई एक प्रतिरोध भी रहते हैं, जिनके द्वारा धारा का वेग इच्छानुसार कम-ज़्यादा किया जा सकता और गाड़ी की गति घटाई-बढ़ाई जा सकती है। जब अधिकारी का हैंडिल एक स्थान में होता है, तब धारा के लिये अखंडित रास्ता नहीं रहता, और गाड़ी भी नहीं चल सकती। जब हैंडिल हटाकर दूसरे स्थान में कर दिया जाता है, तब धारा को डब्बे की सभी प्रतिरोध-कुंडलियों में से होकर जाना पड़ता है। इस समय केवल एक क्षीण धारा मोटर तक पहुँचती और गाड़ी धीरे-धीरे चलने लगती है। जब हैंडिल घुमाकर तीसरे खड्ड पर कर देते हैं, तब एक या दो प्रतिरोध-कुंडली मंडल से बाहर हो जाती हैं, अर्थात् उनमें से होकर धारा को नहीं जाना पड़ता। धारा के मार्ग में प्रतिरोध कम हो गया, उसका वेग बढ़ गया, और गाड़ी और भी ज़्यादा ज़ोर से चलने लगी। चौथे खड्डे पर हैंडिल को लाने से प्रतिरोध और कम हो गया, गाड़ी और भी ज़ोर से चलने लगी इत्यादि।

ट्राम-गाड़ी की प्रतिरोध-कुंडलियाँ (Resistance coils) प्रायः जर्मन सिलवर की लंबी-लंबी पट्टियों की बनी होती हैं। या स्टील के रिबन को फिरकी के आकार में बाँधकर वे बनाई जाती हैं। रिबन अथवा पट्टी की तहों को एक दूसरे से रोधित (insulated) करने के लिये उनके बीच अबरक (mica) की तह दी जाती है। इस प्रकार प्रतिरोध-डब्बों में एक तो रिबन होता है, जो प्रवाहक का काम देता है, और अबरक का रिबन होता है, जो धातव रिबन पार होता है, जिसमें बहुत अच्छी तरह अवरोध सके। वह धारा को धातव रिबन की पूरी लंबाई पार करने के लिये बाध्य करता है। धारा इन अ डब्बों से निकलकर सीधी मोटर तक पहुँचती आधुनिक ट्राम-गाड़ियों के नीचे असल में दो मोटरें हैं, जो दोनों धुरियों से जुड़ी रहती हैं। स्विच (Controller Switch=अधिकारी के ज़रिए गाड़ी चलानेवाला धारा को दोनों तक "श्रेणी में" (in series) भेज सकता है; पहले धारा एक मोटर में जाती है, और फिर, निकलकर, दूसरी मोटर में। ऐसा वह तब है, जब खड़ी गाड़ी को चलाना होता है, उसे मंद गति से चलाना चाहता है। जब से चलाने के लिये पूरी शक्ति की आवश्यकता तब चलानेवाला अपनी कुँची (स्विच—Swi को घुमाकर ऐसे स्थान में कर देता है कि दोनों का सीधे ही अलग-अलग ऊपर के तार से धारा लगती है। दोनों मोटरें अलग-ही-अलग अपनी को घुमाती हैं। इस समय मोटरें "समांतर में" parallel) संबद्ध कही जाती हैं। मुख्य (Main Switch) के अतिरिक्त अधिकारी ऊपर एक छोटा-सा लीवर (Lever=तुला-यंत्र) है, जिसके द्वारा धारा की दिशा परिवर्तित की जा और गाड़ी उलटी तरफ़ चलाई जा सकती है।

ट्राम-गाड़ी-संबंधी दो-एक और बातें

ट्राम-गाड़ी के इस वर्णन को छोड़ने के पहले और बातें बतला देना भी आवश्यक होगा। जिस समय बिजली की धारा किसी तार में जाती है, तो वह तार गरम हो जाता है। बिजली की धारा काफ़ी हुई, और उसके मार्ग में तार के द्वारा काफ़ी प्रतिरोध हुआ, तो तार ज़्यादा गरमी उत्पन्न हो सकती है कि तार पिघल बिजली के लंप इसी सिद्धांत पर बने हैं। लंपों इतना पतला होता है कि उनका प्रतिरोध काफ़ी है, और उनमें इतनी ज़्यादा गरमी पैदा होती

वे लाल हो जाते हैं; अर्थात् लंप जलने लगता है । ये तार ऐसे पदार्थ के बने होते हैं कि जलने पर भी पिघल नहीं जाते । यदि पिघल जायँ, तो लंप का सत्यानास हो जाय । मोटरों की कुंडलियाँ पतले तार की बनी होती हैं, और विद्युद्धारा का संचार होने पर वे भी गरम हो जाती हैं । परंतु मोटर बनाते समय इस बात का ध्यान रक्खा जाता है कि जिस वेगवाली विद्युद्धारा के संचार से मोटर चलने लगे, वह इतनी ज़्यादा न हो, और तार इस प्रकार के न हों कि उनमें इतनी ज़्यादा गरमी पैदा होने लगे कि वे पिघल या जल जायँ, और मोटर निकम्मी हो जाय । हाँ, यदि उनमें से उक्त वेग से अधिक वेगवाली धारा का संचार हो, तो वे अवश्य पिघल जायँगे । डायनमो से जो धारा निकलकर बाहर जाती है, उसके वेग में बहुधा कमती-बढ़ती होती रहती है । यदि कहीं किसी कारण से इस वेग में अचानक अत्याधिक्य हो गया, तो यह धारा यदि ट्राम की मोटरों में जाय, तो उसके तारों के गल जाने का डर हो जायगा, और मोटर निकम्मी हो जा सकती है । इसलिये इस बात की आवश्यकता है कि ट्राम-गाड़ी की मोटरों की तार-कुंडलियों को इस बात से बचाने का प्रबंध रहे कि जो किसी कारण से प्रधान मंडल (main circuit), ऊपर के खंभों पर स्थित तार, में धारा का अचानक आधिक्य हो जाय, तो मोटर की तार-कुंडलियों तक मात्रा से अधिक धारा पहुँचकर तारों को गला या पिघला न दे । अतएव ट्राम-गाड़ियों में एक ऐसा यंत्र रहता है, जो किसी इस प्रकार की आकस्मिक घटना के समय ख़ुद-ब-ख़ुद काम करने लगे, और धारा के आधिक्य को मोटरों के बीच से न जाने दे, किंतु उसके लिये पटरियों तक पहुँचने को एक दूसरा ही मार्ग बना दे ।

इसके अतिरिक्त बरसात या ख़राब मौसम में इस बात का भी डर रहता है कि कहीं आसमानी बिजली गाड़ी पर न गिरे । यदि कहीं ऐसा हुआ, तो यह बिजली तो तुरंत मोटरों का सत्यानास कर देगी । इस आसमानी बिजली का वेग बहुत ही ज़्यादा होता है । पहले कहे हुए डायनमो की धारा के आधिक्य से बचानेवाला यंत्र इस आसमानी बिजली से नहीं बचा सकता । अतएव इस दुर्घटना से बचाने के लिये भी एक दूसरा ही यंत्र रहता है ।

गाड़ी की रोशनी के लिये विद्युद्धारा सीधे मुख्य मंडल ही से आती है । उसके लिये अपनी निज की क़ैंचियाँ होती हैं, और उसका मंडल गाड़ी को चलानेवाले मंडल से बिलकुल भिन्न होता है । अधिकारी-डब्बे और प्रतिरोध डब्बों से उसका कुछ संबंध नहीं रहता । इसलिये गाड़ी की रोशनी सदा एक-सी रहती है, चाहे गाड़ी खड़ी हो, या ज़ोर अथवा धीरे से चलती हो ।

ट्राम-गाड़ी के ब्रेक (Brakes) बड़ी ही चतुराई से बने होते हैं । ब्रेक उस व्यवस्था अर्थात् बंदोबस्त को कहते हैं, जिसके द्वारा तेज़ चलती हुई गाड़ी की गति कम की जा सके, अथवा गाड़ी को ठहरा सकें । बहुधा मामूली गाड़ियों में ब्रेक इस प्रकार का होता है कि एक लीवर को दबाने से कोई चीज़, एक प्रकार की जूती-सी, जाकर गाड़ी के पहियों से घिसने लगती और गाड़ी के वेग को कम कर देती है । इस प्रकार का मामूली ब्रेक तो ट्राम चलानेवाले के पास होता ही है, लेकिन जब हम इस बात का ध्यान करेंगे कि गाड़ी का बोझ बहुत ही ज़्यादा होता है, और कभी-कभी उसको एकदम खड़ी कर देने की ज़रूरत होती है, और कहीं-कहीं पर बड़ी ही ढालू सड़क पर गाड़ी को ले जाना होता है, तब, इन सब बातों पर ध्यान देने से, यह तुरंत समझ में आ जायगा कि उस मामूली ब्रेक से काम नहीं चलने का । इसलिये गाड़ी में एक दूसरा ब्रेक भी लगा होता है, जो बिजली का होता है, अर्थात् उसको काम में लाने के लिये विद्युत् की आवश्यकता होती है । एक धातव स्लिपर (Slipper) गाड़ी में इस प्रकार लगा रहता है कि वह रेल की पटरी से थोड़ा ऊँचा रहे । यह स्लिपर विद्युत्-चुंबक का एक ध्रुव होता है, और जब वह उत्तेजित होता है, तब पटरी के पास खिंच आता है । पटरी से रगड़ खाने की वजह से उसमें गाड़ी से पीछे पड़ जाने की प्रवृत्ति होती है, और ऐसा इंतिज़ाम रहता है कि वह कुछ थोड़ा पीछे हट भी जा सके । ऐसा करने में वह कुछ लीवरों को चलाता है, जिनकी वजह से वे जूते गाड़ी के पहिए के साथ जाकर सट जाते हैं ।

सारे इंतिज़ाम की विशेषता यह है कि यह विद्युत्-चुंबकीय ब्रेक ऊपर के तार की धारा द्वारा उत्तेजित नहीं होता । यदि इस धारा पर उसका उत्तेजित होना निर्भर करता, तो वह किसी काम का न होता ; क्योंकि,

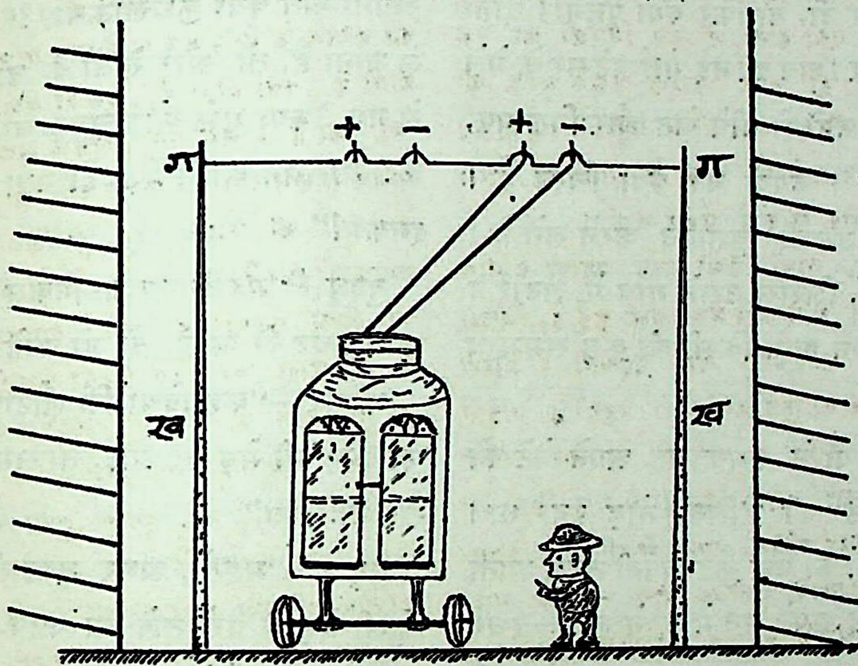
उदाहरणार्थ, यदि किसी समय गाड़ी बहुत ही ढालू पहाड़ी सड़क पर जाती होती, और उसी समय ट्रालो-दंड ऊपर स्थित तार से हट गया होता, तो उक्त बिजली का ब्रेक बिलकुल बेफ़ायदा हो जाता। कारण, उसके चुंबक को उत्तेजित करने के लिये धारा ही न पहुँचती। इसलिये ऐसा इंतिज़ाम रहता है कि ट्राली से आनेवाली धारा और बिजली की रोक से कोई संबंध न हो।

कल्पना करिए, गाड़ी किसी ढालू पहाड़ी के नीचे उतर रही है, और अधिकारी-क़ैंची खुली हुई है, जिससे मोटरों तक कुछ भी धारा नहीं पहुँचती। मोटरों की आर्मेचर, जिस पर कुंडलियाँ बँधी रहती हैं, पहियों की धुरी से जुड़ी हुई है। अतएव जैसे-जैसे पहिया घूमने के कारण धुरी घूमेगी, वैसे-ही-वैसे कुंडलियाँ भी घूमती जायँगी। याद रखिए, मोटर में भी एक विद्युत्-चुंबक होता है, जिसके ध्रुवों के बीच आर्मेचर धारा पाते ही घूमने लगता है। उक्त उदाहरण में, आर्मेचर में बाहर से तो कोई धारा नहीं आ रही है, लेकिन ढालू सड़क पर जाने के कारण पहिए स्वयं घूम रहे हैं। उसके साथ-ही-साथ आर्मेचर भी विद्युत्-चुंबक के ध्रुवों के बीच घूम रहा है। यह क्रम तो वास्तव में स्वयं डायनमो हो गया, जिसके चुंबक घूमते हुए आर्मेचर में उत्पन्न धारा द्वारा उत्तेजित किए जा रहे हैं। इस प्रकार हमें अपने ब्रेक में धारा पहुँचाने के लिये एक बना-बनाया स्वयं डायनमो ही मिल गया; क्योंकि मोटर उस समय के लिये डायनमो बन रही है। मानो गाड़ी में ब्रेक के लिये ख़ास तौर से एक डायनमो लगाया हो। और, चूँकि डायनमो चलानेवाली शक्ति का मूल चलती हुई गाड़ी ही है, अतः जैसी व्यवस्था की हमें ज़रूरत थी, ठीक वैसी ही हमें मिल गई। यदि गाड़ी का वेग बहुत हो गया है, तो डायनमो भी बड़ी तेज़ी से चल रहा है, और ब्रेक को लगाने के लिये हमें वेगवाली धारा मिल रही है। और, यदि गाड़ी धीरे ही से चल रही है, तो धारा भी हमें धीमी ही मिलती है, जो इस समय गाड़ी को खड़ा करने में पर्याप्त होती है।

इस व्यवस्था की एक विशेषता और भी है। गाड़ी को खड़ा करने के लिये ब्रेक द्वारा उत्पादित रगड़ तो [illegible] हो होती है, पर साथ ही एक दूसरी शक्ति भी हमारी सहायता के लिये आ पहुँचती है। स्वयं मोटर, जो कि इस समय डायनमो बन [illegible] एक निरोधक शक्ति हो जाती है। डायनमो के [illegible] को नचाने के लिये एक शक्तिमान् एंजिन की आवश्य[कता] होती है। क्यों होती है, इसका वर्णन पहले [illegible] जा चुका है। हम ऐसा समझ सकते हैं कि [illegible] एंजिन से लड़ रहा है। एंजिन डायनमो चला रहा है, [illegible] डायनमो की घूमती हुई कुंडलियों में जो विद्यु[त्] उत्पन्न हो रही है, वह उन कुंडलियों में ऐसे चुंबकों [illegible] का जन्म कराती है, जो डायनमो के [illegible] के ध्रुवों द्वारा आकर्षित होकर कुंडली को [illegible] का यत्न करते हैं। इसी आकर्षण का प्रतिक[ार] [illegible] के लिये एंजिन को बल ख़र्च करना पड़ता है; [illegible] यह आकर्षण, यह घूमता हुआ आर्मेचर, एंजि[न] [illegible] विरुद्ध काम करता है; कह सकते हैं कि उस [illegible] को रोक देने की कोशिश कर रहा है। उक्त उदाह[रण] को अब आप इस नज़र से देखिए। प्रस्तुत [illegible] में चलती हुई गाड़ी ही शक्ति-प्रदायिनी है, [illegible] डायनमो इस शक्ति के विरुद्ध लड़ेगा; अर्थात् [illegible] की घूमती हुई कुंडली ही गाड़ी को खड़ा करने [की] कोशिश करेगी। इस प्रकार हमें एक बड़ा [illegible] आदर्श ब्रेक मिल गया।

अन्यान्य प्रकार की बिजली की गाड़ियाँ

आशा है, अब हमारे पाठक इस बात से परि[चित] हो गए होंगे कि बिजली का जन्म किस प्रकार [होता] है, और बिजली की शक्ति से ट्राम-गाड़ी किस प्र[कार] चलाई जाती है। कई जगह ट्राम-गाड़ी को धारा, [illegible] खंभों पर स्थित तारों से मिलने की जगह, सड़क [illegible] आठ-दस फ़ीट नीचे स्थित तार के द्वारा मिलती है। इस व्यवस्था में ट्राम की पटरियों के बीच एक [illegible] जगह रहती है, और ट्राम [illegible]ली-दंड इसके [illegible] जाकर नीचे के तार से बिजली लाता है। [illegible] में तो अब १०-१२ डब्बोंवाली समूची रेलवे [illegible] की-रेलगाड़ी बिजली द्वारा चलाई जाती है। [illegible] आदि बड़े शहरों में ज़मीन के ७०-८० फ़ीट [illegible] खोखले टनल बनाए गए हैं, जिनमें होकर बिजली [illegible] चालित रेलगाड़ियाँ चलती हैं, जिनको ट्यूब (Tube) कहकर पुकारते हैं। इन सबके चलाने का सिद्धांत [illegible] है, जो ट्राम-गाड़ी का। केवल ट्यूबों में बिजली [illegible]



चित्र १२—विना पटरियोंवाली बिजली की गाड़ी

(सड़क के दोनों ओर ख ख खंभे खड़े होते हैं, जिन पर ग ग एक अवरोधित तार सधा रहता है। बिजली को ले आने और ले जानेवाले तार ऐसे ही तारों पर बिछे रहते हैं। चित्र में दिखाए गए तिरछे तारों द्वारा बिजली गाड़ी की धुरी पर लगी हुई मोटरों में जाकर गाड़ी को चलाती है। एक तरफ़ के दो तार गाड़ियों के एक दिशा में जाने के लिये होते हैं। दूसरी तरफ़ के दो तार (+और−) दूसरी दिशा में जानेवाली गाड़ियों के लिये हैं। ऐसी व्यवस्था की खूबी यह है कि गाड़ी कतराकर सड़क के इधर-उधर भी जा सकती है। चित्र में प्रदर्शित समय में गाड़ी सड़क की बाईं ओर से आने की जगह, आदमी को बचाने के लिये, कतराकर दाहनी तरफ़ से आ रही है)

लिये उच्चस्थ तार की जगह ज़मीन ही पर पटरियाँ बिछी होती हैं, जिनसे और गाड़ी के एंजिन से संबंध रहता है। पाश्चात्य देशों में कहीं-कहीं ट्राम-गाड़ियाँ बिछी हुई पटरियों पर नहीं चलतीं। मोटर-गाड़ियों की तरह उनमें रबड़ के पहिए होते हैं। वे सड़क पर मामूली गाड़ियों की तरह इधर-उधर कतराकर भी जा सकती हैं।

ऐसी गाड़ियों को चलाने के लिये उच्चस्थ दो तार होते हैं। एक के द्वारा बिजली गाड़ी तक पहुँचती है, और दूसरा तार बिजली के लौट जाने के लिये होता है। ऐसी ट्राम-गाड़ी का एक चित्र, चित्र नं० १२, यहाँ दिया जाता है।

जगद्विहारी सेठ

मुक्ति-मार्ग

(१)



पाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुंदरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है। झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता! तीन बीघे ऊख थी। इसके ६००) तो अनायास ही मिल जायँगे। और, जो कहीं भगवान्

ने डाँड़ी तेज़ कर दी, तो फिर क्या पूछना। दोनों बैल बुड्ढे हो गए। अब की नई गोईं बटेसर के मेले से ले आवेगा। कहीं दो बीघे खेत और मिल गए, तो लिखा लेगा। रुपयों की क्या चिंता है। बनिए अभी से उसकी खुशामद करने लगे थे। ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो। वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिए मटर की फलियाँ तोड़ रहा था। इतने में उसे भेड़ों का एक झुंड अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया। वह अपने मन में कहने लगा—इधर से भेड़ों के निकालने का रास्ता न था। क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुंड नहीं जा सकता था? भेड़ों को इधर से लाने की क्या ज़रूरत? ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा? मालूम होता है, बुद्धू गड़रिया है। बचा को घमंड हो गया है; तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिए चला आता है। ज़रा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रिआयत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ। अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपए सुनावेगा। सारी दुनिया में चार-चार रुपए के कंबल बिकते हैं; पर यह पाँच रुपए से नीचे बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आ गईं। झींगुर ने ललकारकर कहा—"अरे, ये भेड़ें कहाँ लिए आते हो? कुछ सूझता है कि नहीं?"

बुद्धू नम्र भाव से बोला—"महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोस-भर का चक्कर पड़ेगा।"

झींगुर—"तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिये मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँगा? डाँड़ ही पर से ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गए? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है? या धन का घमंड हो गया है? लौटाओ इनको!"

बुद्धू—"महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो चाहे सज़ा देना।"

झींगुर—"कह दिया कि लौटाओ इन्हें। अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई, तो समझ लो, तुम्हारी ख़ैर नहीं है।"

बुद्धू—"महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों तले आ जाय, तो मुझे बिठाकर सौ गालियाँ देना।"

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किंतु लौटने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा—इसी तरह ज़रा-ज़रा-सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका। आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। १२ कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिये फ़ी रात आठ आने कोड़ी मज़दूरी मिलती थी। इसके उपरांत दूध बेचता था; ऊन के कंबल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं, मेरा कर ही क्या लेंगे? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गईं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मारकर खेत के किनारे से हटाता था, और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा—"तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा।"

बुद्धू—"तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।"

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी, किसी की कमर टूटी। सबने बें-बें का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हाँकता था, न झींगुर से कुछ कहता था। बस, खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला—"अब सीधे चले जाओ। फिर इधर से आने का नाम न लेना।"

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—"झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे!"

(२)

केले को काटना भी इतना आसान नहीं है, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है। और, जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी संधि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तांत कहा, तो लोग समझाने लगे—"झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो! बुद्धू को जानते नहीं, कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मना लो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफ़त आ जायगी।" झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ से कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्यान दबे रहने में है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किंतु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारों ओर अंधकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शांत होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिये घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानो बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अंत में जब वह खेत पर पहुँचा, तो आग प्रचंड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने "हाय-हाय" मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े, और खेतों से अरहर के पौदे उखाड़-उखाड़कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्नि-पक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे, और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर, शस्त्र-प्रहार करने

लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाए, प्राण हथेली पर लिए, अग्नि-राशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बचकर, निकल आता था। अंत में मानव-दल की विजय हुई; किंतु ऐसी विजय, जिस पर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जलकर भस्म हो गई, और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गईं।

(३)

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाण-हीन तर्क का मूल्य ही क्या। झींगुर को घर से निकलना मुशकिल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे—"यह आग तुमने लगवाई। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमंड के धरती पर पैर न रखते थे। आप-के-आप गए, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता?" झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का। दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगंध उड़ती रहती थी, भट्ठियाँ जलती रहती थीं, और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंड के मारे लोग साँझ ही से किवाड़े बंद करके पड़ रहते, और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों की जीवन-दाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते, जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे, ठंड से मर गए। कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ, और सारा गाँव खाँसी-बुखार में ग्रस्त हो गया। और, यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की!

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही-सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया, और वह चैन की वंसी बजा रहा है! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा!

जिस दिन इस घातक कलह का बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-ज़ब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिलकुल संदेह नहीं है। एक दिन कंबल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने। बुद्धू उसका खूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुशमन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शर्बत पिलाए न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मज़दूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मज़दूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू की तत्परता से झींगुर का रोज़ाना खर्च चलता था। अतएव झींगुर ने खूब रब्त-ज़ब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—"क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो? सच कहना।"

झींगुर ने गंभीर भाव से कहा—"मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा

किया। मेरा घमंड तोड़ दिया; मुझे आदमी बना दिया।"

बुद्धू—"मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो विना उसका घर जलाए न मानता।"

झींगुर—"चार दिन की ज़िंदगानी में वैर-विरोध बढ़ाने से क्या फ़ायदा? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा?"

बुद्धू—"बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई, क्रोध के वस में होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।"

(४)

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिये खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाज़ार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फ़ीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज़ करता, तो बेलाग कहता—"तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रक्खो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती।" ग़रज़ थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे ही रहते थे, मानो पंडे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट् आकार समेट-कर उसे काग़ज़ के चंद अक्षरों में छिपा लेती है। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती है; आकार का लोप हो जाता है। किंतु उनके रहने को बहुत स्थान की ज़रूरत होती है। वह आईं, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाई गईं। यों कहिए कि मकान नए सिर से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आँवा लगाने के लिये उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नक़द नहीं, भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ़्त में अच्छा-ख़ासा घर तैयार हो गया। गृह-प्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मज़दूरी करता, तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ़ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर राम-राम की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते-पीते कहा—"आजकल फाग-वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता।"

हरिहर—"फाग क्या हो, पेट के धंधे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो तुम्हारी आजकल कैसी निभती है?"

झींगुर—"क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल! दिन-भर कल में मज़दूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है। चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं। अब गृहीपरवेस की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायगी।"

हरिहर—"लच्छिमी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है। पर उसको देखो,

धरती पर पैर ही नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठ-कर ही बोलता है।"

झींगुर—"क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का! पर यार यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिए। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाए खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।"

हरिहर—"कहो, तो कुछ उताजोग करूँ?"

झींगुर—"क्या करोगे? इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।"

हरिहर—"भेड़ें तो हैं?"

झींगुर—"क्या, बगला मारे पखना हाथ।"

हरिहर—"फिर तुम्हीं सोचो।"

झींगुर—"ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।"

इसके बाद फुस-फुस करके बातें होने लगीं। यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर और कवि कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पंडितजी अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सकें। पर एक चोर पर आफ़त आई देख दूसरा चोर उसकी आड़ कर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिये बुरों में परस्पर प्रेम है। भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसलिये भलों में विरोध होता है। चोर को मारकर चोर क्या पावेगा? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। पड्... रचने की विधि सोची गई। उसका स्वरूप, स... और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला, ... अकड़ा जाता था। मार लिया दुशमन को, ... कहाँ जाता है!

(५)

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, ... पहले बुद्धू के घर पहुँचा। बुद्धू ने पूछा—"... आज नहीं गए क्या?"

झींगुर—"जा तो रहा हूँ। तुमसे यही ... आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों ... साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी ... से बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास, न चारा ... क्या खिलावें?"

बुद्धू—"भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरि... ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न-जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसको कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।"

यह कहकर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रक्खा था। केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी, और न किसी को करते देखी थी। मज़दूरी करके ... लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने कि...

वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुचाना था।

उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुज़री। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातः-काल भोजन करके उठा ही था (क्योंकि रात का भोजन सवेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर ख़बर दी—"बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है। भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी!"

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—"हाय मेरी बछिया—चलो, ज़रा देखूँ तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी?"

बुद्धू—"भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर—"जाते न, तो पगहिया कौन लगा देता? गए होग, याद न आती होगी।"

एक ब्राह्मण—"मरी तो भेड़ों में ही न? तो दुनिया यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।"

हरिहर—"मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाधते देखा था।"

बुद्धू—"मुझे!"

हरिहर—"तुम नहीं लाठी कंधे पर रक्खे बछिया को बाँध रहे थे?"

बुद्धू—"बड़ा सच्चा है तू। तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था?"

हरिहर—"तो मुझ पर काहे को बिगड़ते हो भाई? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।"

ब्राह्मण—"इसका निश्चय करना होगा। गो-हत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्ठा है!"

झींगुर—"महराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।"

ब्राह्मण—"इससे क्या होता है? हत्या इसी तरह लगती है; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।"

झींगुर—"हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।"

ब्राह्मण—"शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।"

झींगुर—"हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इसका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महराज, चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिए कि थोड़े में बेचारा निपट जाय।"

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ, मैंने बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित्त से बचने के लिये ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित्त कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा-दंड दिया, फिर सात तीर्थ-स्थानों की यात्रा, उस पर ५०० विप्रों का भोजन और ५ गउओं का दान। बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गई। रोने लगा, तो दंड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रिआयत न हो सकी। न कहीं अपील, न कहीं फ़रियाद! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

(६)

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपीं। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करेगी। जाकर द्वारों पर खड़ा होता, और मुँह छिपाए हुए कहता—"गाय की बाछी दियो बनवास।" भिक्षा तो मिल जाती, किंतु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमान-जनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता, और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था; पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी। पर करे क्या?

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना, मानो ६० वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थ-यात्रा के लिये रुपयों का प्रबंध करना था। गड़रियों को कौन महाजन क़र्ज़ दे? भेड़ों का भरोसा क्या? कभी-कभी रोग फैलता है, तो रात-भर में दल-का-दल साफ़ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राज़ी भी हुआ, तो ≈) रुपया ब्याज पर आठ महीने में ब्याज मूल के बराबर हो आयगा। यहाँ क़र्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीनों में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँववाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते, और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते, और जो देख भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या [illegible] विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुला[illegible] और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। ५००) [illegible] लगे। उनमें से २००) लेकर वह तीर्थ-यात्रा क[illegible] गया। शेष रुपए ब्रह्मभोज आदि के लि[illegible] छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार [illegible] लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने [illegible] कारण रुपए बच गए।

(७)

सावन का महीना था। चारों ओर हरिया[illegible] छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत [illegible] पर दे दिए थे। बुद्धू प्रायश्चित्त से निवृत्त [illegible] गया था, और उसके साथ ही माया के [illegible] से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बु[illegible] के पास। कौन किससे जलता, और किस लि[illegible] जलता?

सन की कल बंद हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारी का काम करता था। शहर [illegible] एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हज़ा[illegible] मज़दूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मज़दूरी के पैसे लेकर घर आता था, और रात-भर रहकर सबेरे फिर च[illegible] जाता था।

बुद्धू भी मज़दूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है. कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिये रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रक्खे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। राम-राम हुई। झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

संध्या समय झींगुर ने पूछा—"कुछ बनाओगे न ?"

बुद्धू—"नहीं तो खाऊँगा क्या ?"

झींगुर—"मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। एक जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।"

बुद्धू—"इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिये तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।"

झींगुर—"तवा भी तो नहीं है ?"

बुद्धू—"तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँजे लेता हूँ।"

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पकी रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल-मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—"तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।"

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—"जानता हूँ।" थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—"बछिया मैंने ही बाँधी थी, और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।"

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—"जानता हूँ।" फिर दोनों सो गए।

"प्रेमचंद"

अग्निपुराण में अलंकार-शास्त्र



हमारे यहाँ अठारह पुराण और उतने ही उपपुराण हैं। परंतु इन पुराणों और उपपुराणों का अध्ययन और अनुशीलन करनेवाले आजकल बहुत कम हैं। उनके हरएक मर्म और तत्त्व को न जानने के कारण, उन्हें पढ़े या सुने बिना ही, बहुत-से लोगों की यह धारणा हो गई है कि पुराण आदि में केवल असंभव गपें ही भरी पड़ी हैं। यह धारणा कहीं-कहीं तो इतनी प्रबल देख पड़ती है कि लोग किसी भी निर्मूल बात को सुनकर 'यह तो पुराणों की कथा है' कह बैठते और पुराणों को बदनाम करते हैं। साधारण लोगों की कौन कहे, बड़े-बड़े प्राच्य-विद्या-विशारद भी शिला-लेखों से टकराते हुए इस विषय के ज्ञान से बिलकुल कोरे नज़र आते हैं। मेरा मतलब यह नहीं है कि इस विषय में कुछ लिखा ही नहीं गया। दो-एक विद्वानों ने इस संबंध में अच्छी खोज और परिश्रम किया है। विद्वद्वर चिंतामणि-विनायकजी वैद्य और पर्जिटर साहब ने पुराण-संबंधी खोज में बड़ा काम किया है। वैद्यजी से तो हिंदी-संसार भी परिचित हो चुका है। उनकी 'महाभारत-उपसंहार'-नामक पुस्तक का 'महाभारत-मीमांसा'-नामक हिंदी-अनुवाद अभी प्रकाशित हुआ है। पर्जिटर साहब की 'Dynasties of Kali age, नाम की पुस्तक प्रसिद्ध ही है। आपकी दूसरी पुस्तक—'Ancient Indian tradition'—भी, थोड़े दिन हुए, निकली है। पुराणों के आधार पर उन्होंने बहुत-सी ऐतिहासिक बातें खोज निकाली हैं। दोनों महाशयों का ध्यान अधिक करके ऐतिहासिक खोज में ही लगा था। उनके विषयों पर पूर्ण रूप से ध्यान देने का न उनको अवकाश था, न प्रयोजन। किंतु विषय समझना भी तो आवश्यक है। इसी उद्देश्य को आगे रखकर एक पुराण के एक विषय पर कुछ लिखने के लिये आज मैंने लेखनी उठाई है।

मुख्य विषय पर आने के पहले पुराणों से संबंध रखनेवाली कुछ साधारण बातें समझ लेना अच्छा होगा।

वेदों को समझना जब कठिन होने लगा, उनके बहुत-से विषय जब गूढ़ रहस्यों का रूप धारण करने लगे, तब ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता हुई, जो उन विषयों को विस्तृत रूप से समझा दें। वेदों की भाषा बोलचाल की भाषा से भिन्न हुई। उसके समझनेवालों की संख्या कम होने लगी। उन समझनेवालों में भी मत-भेद होने लगा। तब ज्ञान का द्वार बंद-सा होने लगा। ऐसे समय में ऐसे ग्रंथों की आवश्यकता हुई, जो वैदिक ग्रंथों को लुप्त होने से बचावें। भाषा बदल गई थी, समाज के विचार और आचार भी परिवर्तित हो रहे थे। इसलिये तदनुरूप ग्रंथ बनाना ही समुचित समझा गया। ऐसे अवसर पर, उक्त आवश्यकता की पूर्ति के लिये, जो ग्रंथ लिखे गए, उन्हीं का नाम पुराण है। वे वैदिक धर्म का उच्छेद करने के लिये नहीं, उसको पुष्ट करने के लिये रचे गए थे। महाभारत में स्पष्ट लिखा है—

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ;
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।"

पुराण शब्द बहुत प्राचीन है। वेद के ब्राह्मण-ग्रंथों में भी इसका प्रयोग मिलता है। पुराणों की प्रामाणिकता तो प्राचीन समय में निर्विवाद थी। बाल की खाल निकालनेवाले बड़े-बड़े दार्शनिक भी अपने मत को पुष्ट करने के लिये 'इति पौराणिकाः' कहकर इन्हीं की शरण आते थे। इतना ही नहीं, पुराणों को चौदह विद्याओं में स्थान दिया गया, वे वेद और धर्म के स्थान कहे गए—

"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ;
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।"

पुराण कब निर्मित हुए, यह कहना मुझ अल्प-बुद्धि के लिये बहुत ही कठिन है। संस्कृत-साहित्य के समय-निरूपण में मत-भेद बना ही रहेगा—उसका सर्ववादि-सम्मत होना कदापि संभव नहीं प्रतीत होता। पर्जिटर साहब का कहना है कि वर्तमान पुराण पाली-भाषा में रचित बौद्ध ग्रंथों के संस्कृत-रूप हैं, और शायद उन पाली-ग्रंथों के मूलाधार कोई लुप्त संस्कृत-ग्रंथ रहे हों। पर्जिटर साहब का उक्त अनुमान बहुत अंशों में ठीक भी हो सकता है। यदि वह ठीक ठहरा, तो यह मानना ही पड़ेगा कि ये पुराण और उपपुराण बौद्ध काल के पीछे लिखे गए हैं। किंतु इसी आधार पर यह कहना कि इनकी रचना गुप्त-काल के पीछे हुई है, युक्ति-संगत नहीं जान पड़ता। जिस समाज का चित्र पुराणों में मिलता है, वह अवश्य ही हज़रत ईसा से कई शताब्दी पहले का जान पड़ता है। अस्तु। यहाँ इस विषय पर अधिक कहना अनावश्यक और अप्रासंगिक होगा। समय का झगड़ा छोड़कर अब यह देखना चाहिए कि उनमें क्या-क्या लिखा है। 'उनमें क्या-क्या लिखा है' यह न कहकर 'उनमें क्या नहीं लिखा है' यही कहना उचित होगा। महाभारत की तो प्रतिज्ञा ही है—

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।"

मुझे तो पुराण पुराने समय की Reference Books मालूम पड़त हैं। आजकल कितनी ही इनसाइक्लोपीडिया या विश्वकोष देखने में आते हैं, जिनमें हरएक विषय पर लेख लिखे मिलते हैं। उसी तरह पुराणों में भी उस समय के उपयोगी विषयों का पूरा वर्णन मिलता है। पुराणों में भी दो पुराण विशेष करके उल्लेख के योग्य हैं, एक भागवत और दूसरा अग्निपुराण। भागवत को तो अच्छी तरह Encyclopaedia of Philosophies and Religions कह सकते हैं। उसी तरह अग्निपुराण को Encyclopaedia of secular learnings कह सकते हैं।

अग्निपुराण पढ़ते समय मुझे कुछ Addison के Spectator का ख़याल आने लगा। उसमें उन्होंने लिखा है कि "Plato ने विद्याओं को मृत्यु-लोक में पहुँचाया, और उन्होंने उन विद्याओं को घर-घर पहुँचाया।" यही बात यहाँ भी, उससे भी अधिक प्रामाणिकता के साथ कही जा सकती है। जो बातें वेदों, वेदांगों और शास्त्रों में दबी पड़ी थीं, उनको पुराणकर्ता ने सर्व-साधारण तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।

अग्निपुराण में बहुत-से विषय हैं। उनमें से मुझे केवल एक विषय—अलंकार-शास्त्र—देखना है। उक्त पुराण में, ग्यारह अध्यायों में, ३३६वें अध्याय से ३४६वें अध्याय तक, यह विषय कहा गया है। यहाँ पर अलंकार-शास्त्र की भी दो-एक बातें कह देना आवश्यक मालूम पड़ता है।

अलंकार-शास्त्र भी एक प्राचीन और प्रधान विषय है। राजशेखर कवि ने अपने 'काव्यमीमांसा'-ग्रंथ में इसको पंद्रहवीं विद्या और वेद का सातवाँ अंग कहा है, अर्थात् इसे विद्या और वेदांगवत् माना है। संस्कृत के अलंकार

ग्रंथों का महत्त्व हिंदी के अलंकार-ग्रंथों से नहीं समझा जा सकता। थोड़े दिन हुए, एक हिंदी के दिग्गज पंडित से मेरी भेंट हुई। वह तो अलंकार के नाम ही से चिढ़ते हैं। बात चलने पर उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि "मेरी चले, तो इन ग्रंथों को मैं गंगाजी में बहा दूँ।" उनका चिढ़ना कुछ-कुछ ठीक भी है; क्योंकि हिंदी के आलंकारिक अपनी सब शक्ति बहुत करके नायक-नायिका-भेद में ही लगा देते थे। किंतु संस्कृत का अलंकार-शास्त्र, सच पूछा जाय, तो, एक 'दर्शन' है। इसको रस-दर्शन या Philosophy of Beauty कह सकते हैं। काव्यमीमांसा और नाट्य-शास्त्र में इसकी उत्पत्ति के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। इसके आदि-आचार्य भरत मुनि हैं। इस समय जितने ग्रंथ मिलते हैं, उनमें नाट्य-शास्त्र और अग्निपुराण को छोड़कर भामह का काव्यालंकार ही सबसे प्राचीन है। अग्निपुराण का समय निश्चित करना कठिन काम है। किंतु इसमें जिस रीति से अलंकार-शास्त्र का प्रतिपादन हुआ है, उससे इसकी प्राचीनता साफ़ झलकती है। अब आगे मैं अग्निपुराण के आलंकारिक विषय को उठाकर उस पर विचार करता हूँ।

प्रथम वाक्य, जिससे इस विषय का श्रीगणेश हुआ है, वह है—"काव्यस्य नाटकादेश्च अलंकारान् वदाम्यथ।" जहाँ तक समझ पड़ता है, यहाँ 'अलंकार'-शब्द का प्रयोग वामनाभिमत सौंदर्य के अर्थ में ही किया गया है। अन्यथा अलंकार-शब्द अनुपयुक्त होगा। 'अलंकार'-शब्द के दो अर्थ हैं, एक 'अलङ्क्रियते अनेन' इस व्युत्पत्ति से अलंकारों के लिये figures of speech शब्द, और दूसरा 'अलङ्क्रियते इति' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध होकर सौंदर्य के लिये Beauty-शब्द प्रयुक्त होता है। इसी प्रसंग में एक बात यह याद रखने के लायक़ है कि बड़े-बड़े आलंकारिकों ने यही अर्थ समझकर इस शास्त्र का नाम अलंकार-शास्त्र रक्खा है। इससे अलंकार-शास्त्र क़रीब-क़रीब Aesthetic के अर्थ में आ जाता है।

आगे काव्य की परिभाषा भी बड़े महत्त्व की है। वह है—"इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली काव्यम्।" काव्य की जितनी परिभाषाएँ आज तक हुई हैं, वे तीन श्रेणियों में रक्खी जा सकती हैं। पहली वे हैं, जिनमें शब्द और अर्थ, दोनों पर ज़ोर दिया गया है। दूसरी वे हैं, जो काव्य को वाक्य-रूप बतलाती हैं। तीसरी वे हैं, जिनमें पद ही पर अधिक ज़ोर दिया गया है। दूसरी और तीसरी श्रेणी की परिभाषाओं में अंतर केवल इतना ही है कि एक योग्यता आदि से युक्त पद-समूह को काव्य कहती है, और दूसरी केवल पद-समूह को। अग्निपुराण की ऊपर दी हुई परिभाषा तीसरी श्रेणी के अंतर्गत होती है। इसी श्रेणी में महाकवि दंडी और पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषाएँ भी आ जाती हैं। दंडी तो अपने काव्यादर्श में बिलकुल यही परिभाषा देते हैं। पंडितराज जगन्नाथ अपने रसगंगाधर-ग्रंथ में जो परिभाषा देते हैं, वह ठीक इसी की छाया मालूम पड़ती है। वह काव्य को "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" कहते हैं।

परिभाषा-विचार के अनंतर काव्य-विभाग भी ध्यान देने योग्य है। अद्यावधि जहाँ तक देखने में आया है, काव्यों के विभाग के तीन क्रम हैं—

(१) पहले क्रम में नाटक ही पूर्ण समझा जाता है। नाटक में चार अंग माने जाते हैं। वे चार अंग हैं—पाठ, गीत, अभिनय और रस। इस क्रम के अनुसार जो पाठ कहा जाता है, वही गद्य-पद्यमय काव्य है। इस मत के आचार्य भरत मुनि हैं।

(२) दूसरे क्रम के अनुसार काव्य के तीन भेद किए जाते हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। मिश्र में ही नाटक आदि रख दिए जाते हैं। इस मत को दंडी आदि आचार्यों ने माना है।

(३) तीसरे क्रम में काव्य पहले दो भागों में विभक्त किया जाता है। ये भाग हैं दृश्य और श्रव्य। दृश्य-विभाग में नाटक के सब भेद रख दिए जाते हैं।

इस विभाग-विचार के बाद अग्निपुराणांतर्गत काव्य-विभाग देखने से साफ़ मालूम होता है कि अग्निपुराण का काव्य-विभाग हमारे द्वितीय क्रम के अंतर्गत होता है। यहाँ कहा है—

"गद्यं पद्यं च मिश्रं च काव्यादि त्रिविधं मतम्।"

(अ० ३३६, श्लोक ८)

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, यही क्रम दंडी ने भी अपने काव्यादर्श में माना है। समझ पड़ता है, इस ... का आरंभ अग्निपुराण ही से हुआ, और पी... के आचार्यों ने उसे माना। अग्निपुराण में ... विषय अवश्य दंडी, भामह आदि के पहले का है। ...ग्निपुराण

में भरत मुनि को छोड़कर और किसी आचार्य का नाम नहीं मिलता। इसके विपरीत भामह और दंडी के ग्रंथों से कितने ही आलंकारिकों की पूर्वस्थिति मालूम होती है। यहाँ गद्य-काव्य का अपूर्व विभाग मिलता है—

"आख्यायिकाकथाखण्डकथापरिकथा तथा ;
कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यञ्च पञ्चधा।"

ये पाँच विभाग दंडी और भामह के ग्रंथों में नहीं मिलते। वे लोग गद्य-काव्य के दो ही भेद मानते हैं—कथा और आख्यायिका। बल्कि दंडी तो उन दोनों को भी एक करना चाहते हैं। दंडी और भामह ने कितने ही श्लोक अग्निपुराण से अविकल, जैसे-के-तैसे, उठा लिए हैं। यहाँ जो रस का निरूपण मिलता है, वह बिलकुल पीछे के ध्वनिवादियों का नहीं है। दंडी ने तो रस का नाम ही नहीं लिया। इन सब बातों से स्पष्ट विदित होता है कि अग्निपुराण का काल दंडी से बहुत पहले है।

दशरूपक में नाटक के दश ही विभाग माने गए हैं ; किंतु यहाँ सत्ताईस भेद किए गए हैं। ये ही सत्ताईस भेद रूपक और उपरूपक नाम के दो वर्गों में रखकर, विश्वनाथ कविराज ने अपने साहित्यदर्पण में एक और भेद बढ़ाकर दिखलाया है। उनके नाम ये हैं—

"नाटकं सप्रकरणं डिम ईहामृगोऽपि वा ;
ज्ञेयः समवकारश्च भवेत् प्रहसनं तथा।
व्यायोगभाणवीथ्यङ्कत्रोटकान्यथ नाटिका ;
सट्टकं शिल्पकः कर्णा एको दुर्मल्लिका तथा।
प्रस्थानं भाणिका भाणी गोष्ठीहल्लीशकानि च ;
काव्यं श्रीगदितं नाट्यरासकं रासकं तथा।
उल्लाप्यकं प्रेक्षणं च सप्तविंशतिरेव तत्।"

अग्निपुराण का रस-निरूपण भी विलक्षण ही है। यहाँ का यह एक वाक्य "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" कई प्रधान ग्रंथों में मिलता है। यह उद्धरण ही इसका प्रमाण है कि वे लोग भी अग्निपुराण को रस-विषय का प्रामाणिक ग्रंथ मानते थे। किंतु यहाँ जिस रीति से रस की उत्पत्ति कही गई है, वह निराली ही मालूम पड़ती है। काव्यप्रकाश में जिस तरह रसवाद ·र मत-भेद दिखाया गया है, उससे साफ़ मालूम पड़ता ·· रस सभी मानते थे, केवल उसकी उत्पत्ति और आ··न के प्रकार में मत-भेद था। विभाव, अनुभाव और ··भिचारियों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है, यह भारत का कहना सभी आचार्यों को मान्य था ; किंतु यह संयोग कैसा है, और कैसे होता है, ये ही झगड़े की बातें थीं। इन्हीं सब बातों का विचार काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण और रसगंगाधर में किया गया है। किंतु इस बात का दार्शनिक समर्थन, एक आधुनिक 'साहित्यसार' को कुछ अंशों में छोड़कर, अग्निपुराण के समान, किसी भी प्रकाशित ग्रंथ में पूर्ण रूप से नहीं मिलता। अग्निपुराण में इस विषय का निरूपण इस प्रकार है—

"अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम् ;
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन ;
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहङ्कार इति स्मृतः ;
ततोभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्।
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी ;
व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृङ्गार इति गीयते।
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः ;
स्वस्वस्थादिविशेषोत्थपरिघोषस्वलक्षणाः।
सत्त्वादिगुणसन्तानाज्जायन्ते परमात्मनः ;
रागाद्भवति शृङ्गारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते।
वीरोऽवष्टम्भजः सङ्कोचभूर्बीभत्स इष्यते ;
शृङ्गाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः।
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः ;
शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताख्याः स्वभावाच्चतुरो रसाः।"

इन श्लोकों ने ही बहुत-सा स्थान ले लिया, अब इनकी व्याख्या करके मैं और स्थान लेना नहीं चाहता। किंतु दो-एक बातें फिर भी कह देना आवश्यक है। अंतिम भाग के बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं ; क्योंकि भरत मुनि ने भी चार ही रसों से शेष चार रसों की उत्पत्ति बतलाई है। यहाँ ध्यान देने लायक बात यह है कि आनंद-स्वरूप परब्रह्म की अभिव्यक्ति ही का नाम चमत्कार या रस है। यही बात 'रसो वै सः' इत्यादि उपनिषद्वाक्यों से भी ध्वनित होती है। उसका पहला विकार अहंकार है। अहंकार से अभिमान और उससे रति उत्पन्न होती है। वह पुष्ट होकर शृंगार-रस का रूप धारण करती है। यही बात आधुनिक मानव

शास्त्र से भी थोड़े-से अंश में दिखाई जा सकती है। जहाँ Consciousness (चेतना) का emotion (भाव) से और emotion का sentiment (रस) से संबंध और भेद दिखाया जाता है, वहीं इस बात का भी अच्छी तरह विचार हो सकता या होता है।

आदि-रस किस रस को मानें, यह बड़ी विकट समस्या है। काश्मीर के शैव-मतावलंबी आलंकारिकगण शांत-रस ही को आदि-रस मानते हैं। बाबू भगवानूदासजी की 'Science of Emotions' नाम की पुस्तक से भी क़रीब-क़रीब यही मत व्यक्त होता है। किंतु अन्य आचार्यों का यह मत स्वीकृत नहीं है। वे शृंगार ही को आदि-रस मानते हैं। शृंगार को आदि-रस माननेवाले ग्रंथों में अग्निपुराण ही का मुख्य स्थान है। इसके अनंतर भोजराज ने भी यही मत माना है। इस मत को अच्छी तरह दिखाने के लिये भोजराज ने 'शृंगार-प्रकाश' नाम का एक विराट् ग्रंथ लिखा है। यह ग्रंथ लगभग तीस हज़ार श्लोकों का है। अभी तक यह छप नहीं सका। मदरास-सरकार के पुस्तकालय में इसकी हस्त-लिखित प्रति मौजूद है। उसका हाल और विषय पंडितवर कुप्पस्वामी की रिपोर्ट तथा अन्य ग्रंथों में उद्धृत उसके वाक्यों से मालूम होता है। जान पड़ता है, करुण-रस को भी आदि-रस माननेवाले कुछ आचार्य थे। भवभूति का 'एको रसः करुण एव' भी इस अनुमान को पुष्ट करता है।

अग्निपुराण में, इसके आगे के अध्यायों में, अंग-प्रत्यंगों के साथ रीति, वृत्ति, नृत्य, अभिनय आदि का वर्णन किया गया है। इनमें से बहुत-सी बातें इस समय अच्छी तरह समझ में नहीं आतीं। कम-से-कम इस लेखक को पूर्ण रूप से समझ नहीं पड़ीं।

अलंकार (Figures of speech) तीन श्रेणियों में विभक्त किए गए हैं—शब्दालंकार, अर्थालंकार और शब्दार्थालंकार। शब्दालंकार के अध्याय में अनुप्रास, यमक, चित्र और बंध बड़े विस्तार के साथ दिखलाए गए हैं। प्राचीन आलंकारिकों की यही विशेषता थी कि वे शब्दालंकार को स्थान देने में ज़रा भी कमी नहीं करते थे। दंडी के 'काव्यादर्श' में भी शब्दालंकारों का अच्छा विस्तार है। भोजराज का 'सरस्वतीकंठाभरण' तो इनका ख़ज़ाना है। नवीन आलंकारिक लोग इन पर इतना ध्यान नहीं देते, बल्कि 'काव्यस्य गडुभूतम्' कहते हैं। अग्निपुराण में यद्यपि शब्दालंकारों का अच्छा वर्णन किया गया है, तथापि अर्थालंकार का महत्त्व नहीं भुलाया गया। यहाँ पर साफ़ लिखा है—

> "तं विना शब्दसौन्दर्यमपि नास्ति मनोहरम्;
> अर्थालङ्काररहिता विधवेव सरस्वती।"

अर्थालंकार के आठ भेद कहे गए हैं—

> "स्वरूपमथ सादृश्यमुत्प्रेक्षातिशयावपि;
> विभावना विरोधश्च हेतुश्च सममष्टधा।"

इन भेदों के बहुत-से प्रभेद किए गए हैं। सादृश्य में उपमा कहने के समय जो भेद कहे गए हैं, वे दंडी की उपमाओं का मूल मालूम पड़ते हैं। कारक और ज्ञापक हेतु कहकर जो यहाँ हेतु अलंकार दो तरह का माना गया है, उसका खंडन भामह ने अपने काव्यालंकार में किया है। भामह कहते हैं—

> "हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः।"

इससे साफ़ मालूम देता है कि भामह के पहले किसी ने इन तीनों को अलंकार माना था। भामह के पहले और कोई इस तरह का ग्रंथ नहीं मिलता। इसलिये कह सकते हैं कि वह अग्निपुराण ही के मत का खंडन करते हैं। एक और बात यहाँ ध्यान देने योग्य है। भरत का नाट्य-शास्त्र ही इस विषय का प्रथम उपलब्ध ग्रंथ है। उसमें केवल चार ही अलंकार माने गए हैं। वे चार उपमा, रूपक, दीपक और यमक हैं। भामह और दंडी के ग्रंथों में इनकी संख्या कहीं अधिक हो गई है। किंतु अग्निपुराण में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, आठ अलंकारों के नाम दिए गए हैं। इससे यह अनुमान हो सकता है कि यह वर्णन भरत और भामह के बीच का होगा।

शब्दार्थालंकार और भी अधिक महत्त्व का है। इस अध्याय से त्रिविध शब्द-शक्ति का पुराना इतिहास मिलता है। शब्दार्थालंकार छः तरह के माने गए हैं—

> "प्रशस्तिः कान्तिरौचित्यं संक्षेपो यावदर्थता;
> अभिव्यक्तिरिति व्यक्तं षड् भेदास्तस्य जाग्रति।"

इन छः भेदों में जो अभिव्यक्ति नाम का भेद है, उसके भी दो भेद माने गए हैं—श्रुति और आक्षेप। श्रुति भी दो तरह की है। मुख्या और औपचारिकी। मुख्या का

दूसरा नाम अभिधा और औपचारिकी का लक्षणा है। आक्षेप ही पीछे ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध हुआ। नवीन आलंकारिकों के मत से ध्वनि ही काव्य की आत्मा है; किंतु यहाँ यह अलंकारों में रक्खी गई है। इससे यह स्पष्ट है कि इस मत के अनुसार ध्वनि से रस का कुछ विशेष संबंध नहीं है।

यह इस बात का एक बड़ा भारी उदाहरण है कि किसी विषय पर मनुष्यों का मत कितना बदल सकता है। काव्य में चमत्कार (Charm of poetry) सभी मानते आए हैं; किंतु वह चमत्कार कैसे होता है, इस पर मतों में बहुत कुछ हेरफेर होता आया है। पाश्चात्य देशों में भी criticism पर कुछ कम साहित्य नहीं लिखा गया है। किंतु अभी तक 'काव्य-चमत्कार' की समस्या हल नहीं हुई। साधारण बुद्धि से कहा जा सकता है कि आनंदवर्द्धनाचार्य ने ध्वनिवाद का आविष्कार करके जैसा इस समस्या का उत्तर दिया है, वैसा और किसी ने, किसी देश में, आज तक नहीं दिया।

अग्निपुराण का गुण-विवेचन भी निराले ही ढंग का है। पहले गुणों के दो विभाग किए गए हैं—सामान्य और विशेष। विशेष पर अधिक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह अनंत है। सामान्य के तीन भेद हैं—शब्दगत, अर्थगत और उभयगत। शब्दगत गुण सात हैं—

"श्लेषो लालित्यगाम्भीर्यसौकुमार्यमुदारता;
सत्यैव यौगिकी चेति गुणाः शब्दस्य सप्तधा।"

अर्थगत गुण छः हैं—

"माधुर्यं सम्विधानञ्च कोमलत्वमुदारता;
प्रौढिः सामयिकत्वं च तद्भेदाः षट् चकासति।"

उभयगत गुण छः हैं—

"तस्य प्रसादः सौभाग्यं यथासंख्यं प्रशस्तता;
पाको राग इति प्राज्ञैः षट्प्रपञ्चविपञ्चिताः।"

आलंकारिक ग्रंथों में बहुत करके गुण-विभाग करने के दो ढंग हैं। पहले ढंग के अनुसार वे दस माने जाते हैं। इस ढंग के सबसे पहले आचार्य भरत मुनि हैं। दूसरे ढंग के अनुसार वे तीन माने जाते हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन्हीं तीनों के अंतर्गत वे सब दसों गुण आ जाते हैं। पहले ढंग को दंडी ने, कुछ हेर-फेर करके वामन ने तथा अन्य कितने ही आलंकारिकों ने माना है। दूसरे ढंग का सबसे पहले … भामह के काव्यालंकार

में पता लगता है। आधुनिक आलंकारिक म… विश्वनाथ आदि यही मत मानते हैं।

अग्निपुराण का ढंग, जैसा ऊपर दिखाया जा चु… है, इन दोनों से निराला है। भोजराज ने अपने 'सरस्वती-कंठाभरण' में इस ढंग का कुछ अनुकरण किया… जहाँ तक पता चला है, और किसी अलंकार-ग्रं… इस तरह का विभाग नहीं मिलता। किंतु यदि … तरह से विचार किया जाय, तो यह विभाग जिस … से, जैसे, कहा गया है, वह बहुत ही न्यायसंगत … किसी भी मत में, लेखक को अपने क्रम में संबद्ध… का प्रयत्न करना चाहिए। वाद-विवाद की बातें… निकलती ही रहती हैं। मेरी समझ में पाश्चात्य … मर्मज्ञ लोग यदि इस विभाग को जानें, तो इसे logical and psychological कहने में न चूकें।

काव्य-दोष-विवेचन में भी यही न्यायानुकूलता झलकती है। आधारानुसार दोषों के तीन भेद कि… हैं—वक्तृगत, वाचकगत और वाच्यगत। वक्ता कवि … तरह के होते हैं—संदिहान, अविनीत, अज्ञ और ज्ञा… ये ही भेद यहाँ विलक्षण हैं। वाचकगत और वाच्य… क़रीब-क़रीब आधुनिक भेदों से मिलते हैं। दोषविवे… के दो ढंग बहुत करके देखने में आते हैं—प्राचीन … आधुनिक। प्राचीन लोग स्थूल रूप से दस दोष मा… थे। भरत और दंडी इसी श्रेणी के हैं। आधुनिक … पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, अर्थगत और र… अनेक दोष मानते हैं। इस ढंग में मम्मट सबसे … प्रसिद्ध हैं। भोजराज का मत इन सभी से विलक्ष… जान पड़ता है, अग्निपुराण का विभाग ही आधु… लोगों के विभाग का पथ-प्रदर्शक हुआ।

अंत के श्लोक तो बड़े ही महत्त्व के हैं। कवि का … लक्ष्य होना चाहिए, उसको कौन 'दर्शन' मानना चा… इत्यादि बातें बहुत अच्छी तरह, थोड़े-से शब्दों में कही गई हैं।

कवि का समुदाचार, धर्म की तरह, दो तरह का … है—सामान्य और विशेष। सामान्य उसको कहते … जिसके अनुसार सिद्धांती लोग चलते हैं—

"सर्वे सिद्धान्तिका येन सञ्चरन्ति निरत्ययम्;
कियन्त एव वा येन सामान्यस्तेन स [illegible]।"

और विशेष समुदाचार—

"अस्मिन् सरस्वतीलोके सञ्चरन्तः परस्परम् ;
बध्नन्ति व्यतिपश्यन्तो यदि शिष्टः स उच्यते ।"

यह विशेष भी दो तरह का है—

"परिग्रहादप्यसतां सतामेवापरिग्रहात् ;
विद्यमानस्य तस्यायं द्वैविध्यमुपगीयते ।"

यहाँ असत् का अर्थ है 'प्रत्यक्षादिप्रमाण से बाधित'। सामान्य समुदाचार कहने के प्रसंग में उस समय कितने ही सिद्धांत प्रचलित थे। वे भी कहे गए हैं—

"तर्कज्ञानं मुनेः कस्य कस्यचित् क्षणभंगिका ;
भूतचैतन्यता कस्य ज्ञानस्य सुप्रकाशता ।
प्रज्ञातस्थूलता शब्दानेकान्तत्वं तथार्हतः ;
शैववैष्णवशाक्तेयसौरसिद्धान्तिनां मतिः ।
जगतः कारणं ब्रह्म साङ्ख्यानां सप्रधानकम् ।"

यहाँ सांख्य-मत में 'प्रधान' के साथ 'ब्रह्म' भी जगत् का कारण माना गया है। यह मत बहुत प्राचीन है। नव्य सांख्य में ब्रह्म का कहीं स्थान नहीं है। इससे भी अग्निपुराण की प्राचीनता सिद्ध होती है।

कवि का वास्तविक मत यह होना चाहिए—

"कविभिस्तत् प्रतिग्राह्यं ज्ञानस्य द्योतमानता ;
यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।
अज्ञानाज् ज्ञानतस्त्वेकं ब्रह्मैव परमार्थसत् ;
विष्णुः स्वर्गादिहेतुः स शब्दालंकाररूपवान् ।
अपरा च परा विद्या तां ज्ञात्वा मुच्यते भवात् ।"

अग्निपुराण का प्रारंभ भी परा-अपरा विद्याओं के नाम ही से हुआ है। विष्णु भगवान् के दो रूप हैं—परा और अपरा विद्या। इन दोनों को जानना विष्णु भगवान् को जानना है। इस ढंग से सब शास्त्रों की गति परमार्थ ही की ओर है, यह दिखाया गया है।

संक्षेप में अग्निपुराण का कुछ ही परिचय इस लेख में दिया गया है। वास्तविक परिचय और उससे उत्पन्न होनेवाले अनुमानों का ज्ञान तभी हो सकता है, जब संपूर्ण ग्रंथ की पूरी आलोचना की जाय। क्या मैं आशा करूँ कि इस साधारण लेखक की प्रार्थना से बड़े लोग भी पुराणों के अध्ययन की ओर झुकेंगे, और वास्तविक ज्ञान-वृद्धि में सहायता करेंगे ?

वटुकनाथ शर्मा

प्रकृति-प्रबोध

शक्ति-सिंधु के बीच भुवन को खेनेवाले,
गोचर, गरय स्वरूप काल को देनेवाले,
विश्व-विभाजक के आगम-आभास-मात्र पर—
रहा कृष्ण अर्द्धांग काल का हट तिल-तिल-भर,
दृश्य भेद हैं लीन जगत् के जिसमें सारे,
चेतन-वृत्ति समेट सृष्टि है जड़ता धारे,
'हम हैं' यह भी भूल जीव हैं जिसमें जीते,
नहीं जानते, किंतु पवन नाकों से पीते—
जीना कैसा ? इसे जिलाया जाना कहिए ;
पीना कैसा ? इसे पिलाया जाना कहिए।
नहीं जानते जिसे, कर्म वह कहाँ हमारा ?
जहाँ न 'हम' है अलग, मूल है वहाँ हमारा।
कर्म जिसे करते न जानते, है वह सोना,
होकर भी हम नहीं जानते जिसमें होना।

कोई देख विराट रूप अपना घबराता,
गिरि, वन, सरि, पशु आदि सभी अपने में पाता।
सपना है क्या अपना रहना अपने भीतर,
चलना पैर पसार, देखना आँख मूँदकर ?

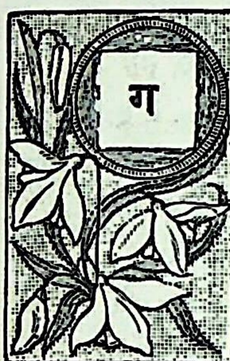
समतल से सब सरक कालिमा सिमटी जाकर
ऊँचों के पड़ पैर-तले, नीचों के भीतर।
वर्ण-भेद की लीक लोक-लोचन ने डाली ;
नीले नभ के अंचल की वह लटकी लाली,
जिससे लगी लहरती है वह जो हरियाली,
चित पर चढ़ती देख उसे चहकी चटकाली।
ज्ञान-द्वार खुल पड़े, गए जब वे खटकाए,
लक्षण थे जो लुप्त, गए अब वे सब पाए।
सारी पशुता, नरता, खगता आदि अधूरी
जो अब तक थीं पड़ी, कला से निकलीं पूरी।
चलना, उड़ना और रेंगना दिया दिखाई ;
हँसना, रोना और रँभाना पड़ा सुनाई।
इतना-उतना, ऐसा-वैसा व्यक्त हुए अब ;
खुले भेद, तम भेद भुवन में ज्योति जगी जब।
कौओं ने चट छेड़ दिया यह पाठ पढ़ाना—
'भला बने या बुरा बने, बकते ही जाना'।
कुकवि, कुतर्की नित्य कान इनसे फुँकवाते,
तब अपना मुँह खोल दूसरों का सिर खाते।
मानव-मानस-मुकुर महा खुल पड़ा मही पर,

सदा अमलता में जिसकी है पड़ती आकर
परम भावमय के भावों की अंशच्छाया
उतनी, जितनी में जीवन का जाल बिछाया।
देखा यह जो जगे भूत का जगना सोना,
ऐसा ही है घोर भूत-निद्रा का खोना।
यदि जागृति है सत्य, स्वप्न है उसकी छाया।
इन दोनों का साथ सदा से रहता आया।
यह दो-रंगी छटा नित्य शाश्वत अभंग है,
सोना, जगना, दोनों जिसमें संग-संग है।
उस छाया के बीच-बीच जो ज्योति फूटती,
अलग-अलग-सी लगती है वह नींद टूटती।
तृण, कृमि, पशु, नर आदि इसी जागृति के क्रम हैं।
जगने में कुछ बढ़े हुए, कुछ उनसे कम हैं।
जगने के इस जटिल यत्न में बीज फूटता—
उठने के कुछ पहले उसका अंग टूटता।
खोल खेत में आँख बीज अँखुवा कहलाता,
मिट्टी मुँह में डाल, फूल तन में न समाता।
चलते-फिरते अंगों में फिर लगता जाकर;
गड़ा जहाँ-का-तहाँ नहीं तब रहता भू पर।
गति-प्रसार हित चार पैर है कहीं हिलाता।
भू से कर्म-समर्थ करों को कहीं उठाता।
देखो ! अब खेत और बस्ती, बन, बारी;
बहती है धवल धार मंद मंद प्यारी।
भटक रहे घूम-घूम नाले जो आए,
तीर की तरंगवती भूमि के भुलाए।
रस कर रस कलकल मृदु तान वह लड़ी है,
रेत चूर उसी राग-रंग में पड़ी है।
पुलकित हो उठे उधर टीले कँकरीले,
ढाल पर बबूल और झाड़ ले कटीले।
शस्यावलि रस-रव पर नृत्य कर रही है;
जीवन-घट जिन जिनके हेतु भर रही है,
देते हैं सिर पर, कुछ मेंड़ पर दिखाई।
फड़क उठे पंख, जहाँ चरण-चाप पाई।
चलने को और चले हाथ-पैर नाना;
उड़ने को और ठना उड़ना, मँडराना।
झगड़ा सब इसी 'और' के लिये खड़ा है।
चोंच चली इधर, उधर से 'हड़ा-हड़ा' है।

रामचंद्र शुक्ल

"संस्कृत की कोशविद्या"

(आलोचना)



गत भाद्रपद की माधुरी में सा
त्याचार्य पं० रामावतार
शर्मा पांडेय एम्० ए० का लि
"संस्कृत की कोशविद्या
शीर्षक एक विद्वत्ता-पूर्ण नि
प्रकाशित हुआ था। पांडे
संस्कृत, हिंदी और अँग्रे
के असाधारण विद्वान् हैं। यह निबंध, वास्त
में, उनके वर्षों के कोश-विषयक अनुशीलन
दिग्दर्शन कराता है। मैंने इसे अधिक मनोयो
पूर्वक पढ़ा है।

यह देखकर मुझे दुःख हुआ कि कई स्थ
पर, शायद शीघ्रता के कारण, कुछ त्रुटियाँ र
गई हैं। मैंने सोचा, कोई सुयोग्य विद्वान् इस
अवश्य प्रतिवाद करेगा, और मुझे धुरंधर विद्वा
के विरुद्ध लिखने का गुरुतर अपराध न कर
पड़ेगा। पर, महीनों बीत जाने पर भी कहीं इ
विषय का लेख पढ़ने को न मिला। तब मुझे
अपनी अयोग्यता को जानते हुए भी, यह दुस्
हस करना पड़ा है। सुना है, पांडेयजी एक न
कोश तैयार कर रहे हैं। अतः इस विषय में वि
ध्यान देने के लिये उन्हें सचेत कर देना मे
कर्तव्य भी है।

सर्वप्रथम तो अमर-कोश की समीक्षा कर
हुए आप लिखते हैं कि—

"यह आद्यंत अनुष्टुप् छंद में लिखा है।"

परंतु जो इससे अच्छी तरह परिचित हैं, उन्
यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यह बात पांडेयजी
ने विचार-पूर्वक नहीं लिखी। उक्त कोश में, बी
बीच कई जगह, अन्यान्य छंद भी हैं। जैसे—

"अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये ;
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येन्तरात्मनि च ।"
(अमर०, तृ० कांड, नानार्थ-वर्ग, श्लोक १८७)
"गणनीयं तु गणेयं संख्यातं गणितमथ समं सर्वम् ;
विश्वमशेषं कृत्स्नं समस्तनिखिलाखिलानि निश्शेषम् ।"
(तृ० कांड, विशेष्यनिघ्न-वर्ग, श्लोक ६५)

इनके सिवा तृतीय कांड के विशेष्यनिघ्न-वर्ग में १०२ के श्लोक से लेकर अंत तक सब श्लोक गीति, उपगीति, आर्या छंद ही हैं। इसलिये संपूर्ण कोश को आद्यंत अनुष्टुप्-छंद में बताना अनुचित है। संभव है, पांडेयजी ने आदि और अंत में अनुष्टुप्-छंद देखकर ही ऐसा अनुमान कर लिया हो, और आद्यंत का अर्थ केवल आदि और अंत ही समझ लिया हो। परंतु, हाँ, इतनी बात अवश्य है कि हैम, हलायुध और त्रिकांडशेष की भाँति अमर-कोश में जगह-जगह छंदों में परिवर्तन नहीं हुआ।

इसके बाद, आपने यादव-कृत वैजयंतीकोश का परिचय कराया है। मैं अपने पाठकों से अनुरोध करता हूँ कि एक बार वे उस पैरॉग्रॉफ़ को फिर से पढ़ने का कष्ट उठावें। पांडेयजी ने उसमें लिखा है कि—

"इस कोश के विषय में दो बातें बड़ी शोचनीय हैं। अमर-कोश की, हेमचंद्र के कई ग्रंथों के समान, ग्रंथकर्ता की बनाई कोई टीका नहीं है। और कई विद्वानों की टीकाएँ अवश्य हैं।"

मैं समझता हूँ, ये वाक्य अवश्य भूल से लिखे गए हैं। परिचय तो करा रहे हैं वैजयंती का, और शोक है अमर-कोश की टीका न मिलने का! अच्छा ख़ैर, एक शोचनीय बात तो यह हुई; लेकिन दूसरी? आपने नहीं बताया कि दूसरी शोक की बात क्या है। उसका कहीं उल्लेख नहीं।

विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में बने हुए मेदिनी और विश्वप्रकाश के संबंध में पांडेयजी लिखते हैं—

"मेदिनीकर का मेदिनीकोश विश्वप्रकाश का केवल नूतन संस्करण है, यद्यपि मेदिनीकर निंदा करते हैं कि विश्व में बहुत-से दोष हैं।"

शिव-शिव! साहित्य के धुरंधर विद्वान् पांडेयजी की लेखनी ने न-मालूम किस आधार पर एक निर्दोष ग्रंथ पर ऐसा ज़ुल्म किया है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, मेदिनीकर ने अपने कोश में कोई भी ऐसा शब्द नहीं दिया, जिसमें उसने अपने एक-मात्र आश्रय विश्वकोश को ऐसे बुरे शब्दों में याद किया हो। संभव है, पांडेयजी निम्न-लिखित श्लोक के समझने में धोखा खा गए हों—

"अपि बहुदोषं विश्वप्रकाशकोषं च सुविचार्य।"

परंतु, साहित्याचार्यजी, क्षमा कीजिए, आपने इस श्लोक का अर्थ समझने में भूल की है। भला, क्या मेदिनीकर ऐसे पागल थे कि बहुत दोषवाले विश्व-प्रकाश-कोश का विचार करते? फिर केवल विचार ही नहीं, "सुविचार्य।" बहुत अच्छी तरह से हृदयंगम करते? कभी नहीं।

मालूम होता है, लेख लिखते समय पांडेयजी किसी विशेष कार्य में व्यासक्त थे। अन्यथा मुझे पूर्ण विश्वास है कि वह यदि कुछ भी सावधानी से काम लेते, तो उनसे ऐसी भूल कभी न होती। श्लोक का वास्तविक अर्थ है—

बह्व्यः दोषाः रात्रयः यस्यां क्रियायां तद् बहुदोषम्*।

जिस कार्य को करने में बहुत-सी रात्रियाँ बीत जायँ। अर्थात् मेदिनीकर कहते हैं कि, "मैंने बहुत-सी रात्रियों में जागकर विश्वप्रकाश-कोश का मनन किया है।" सभी जानते हैं कि दिन में

* क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वं च। यथा, सुखं शेते। "दोषा रात्रिमुखे रात्रावत्रानव्ययमप्यसौ।" इति विश्वः।

हो-हल्ले के कारण जो गंभीर विषय समझ में नहीं आता, वही निस्तब्ध रात्रि में एकाग्रचित्त होकर विचारने से झट समझ में आ जाता है।

शीघ्रता करने से विद्वानों से भी कैसी कैसी भूलें हो जाती हैं, इसका यह ज्वलंत प्रमाण है।

इसके आगे आप लिखते हैं—

'मेदिनी में ३० भूतपूर्व कोशकारों के नाम हैं।"

पांडेयजी ने यहाँ पर निशान देकर टिप्पणी में उन श्लोकों को—जिनमें कोशकारों के नाम हैं—उद्धृत किया है। परंतु, पाठकों को उन श्लोकों में कोशकारों के नाम गिनने पर मालूम होगा कि वे तीस ही नहीं, ३५ हैं! या तो पांडेयजी गणना करने में भूले हैं, और या—

"अपि विश्वरूपविक्रमादित्यनामलिंगानि सुविचार्य ;
कात्यायनवामनचंद्रगोमिरचितानि लिंगशास्त्राणि।"

इस श्लोक में गिनाए हुए (विश्वरूप, विक्रमादित्य, कात्यायन, वामन, चंद्रगोमिन्) कोशकारों के ग्रंथों को कोश ही नहीं मानते। लेकिन, ऐसा मानने के पहले पांडेयजी को सोच लेना चाहिए कि अमर-कोश भी तो नामलिंगानुशासन है। वह कैसे कोश हो गया? त्रिकांडशेष की सिंहलीय संस्कृत-टीका में उपर्युक्त कोशकारों के ग्रंथों को कोश ही लिखा है।

लेख के अंत में पांडेयजी ने केशव-कृत 'कल्पद्रु' के कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं। उन श्लोकों को अपनी सौ वर्ष की प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तक से मिलाने पर मालूम हुआ कि पांडेयजी की आदर्श प्रति प्रायः अशुद्ध है। पांडेयजी ने सामर्थ्य रहने पर भी विना शुद्ध किए ही उसके श्लोक ज्यों-के-त्यों छपा दिए हैं। उचित था कि अन्यान्य कोशों की सहायता से पाठ शुद्ध कर लेते। कुछ अशुद्धियों के नमूने लीजिए—

(१) "नीवृज्जनपदो जानपदश्च विषमः पुमान् ;
देशः प्रदेशोऽस्त्री राष्ट्रं × × ×।"

इस श्लोक में, "विषमः" की जगह "विषयः" शुद्ध पाठ है। प्रदेश का नाम "विषय" सब कोशों में प्रसिद्ध है *।

(२) "प्रत्यंचोनार्यदेशः स्यात्।"

सब कोशों में म्लेच्छ-देश का नाम 'प्रत्यंत' प्रसिद्ध है †। 'प्रत्यंच' कहीं भी आज तक देखने में नहीं आया। इसलिये यहाँ 'प्रत्यन्तोनार्यदेशः स्यात्' यही पाठ शुद्ध प्रतीत होता है।

(३) "तथा चाप्रहतं क्लीवे, मरुर्धन्वानुभौवरिः (!)।"

यहाँ मरु और धन्वन्, ये दो नाम तो मारवाड़ के हैं ‡। लेकिन 'नुभौवरिः' क्या है?

पाठ है "मरुर्धन्वाप्युभौ नरि"। अर्थात् मरु और धन्वन् (उभौ) दोनों (नरि) पुंलिंग हैं।

इस प्रकार इन श्लोकों में आदि से लेकर अंत तक अशुद्धियाँ भरी हुई हैं, जो कि प्राचीन लिखित पुस्तकों में रहती ही हैं। उनका उल्लेख करने से मेरा अभिप्राय इतना ही है कि पांडेयजी अपने नवीन कोश में शुद्ध शब्दों ही को स्थान दें। साहित्य की और किसी पुस्तक के अशुद्ध होने से उतनी हानि नहीं होती, जितनी कि अशुद्ध कोश से। कोश ही पर संपूर्ण साहित्य निर्भर रहता है।

रघुनंदनप्रसाद गौड़

---

* विषयस्तूपवर्तनम्, देशो जनपदो नीवृत्। (अभिधानचिंता०, भूमिकां०, श्लो० १३); नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्तनम् (अमर०, भूमिव०, श्लोक ८)

† प्रत्यन्तो म्लेच्छदेशः स्यात्। (अमर०, भूमिव०, ७) प्रत्यन्तो म्लेच्छमण्डलः। (हैमकोश, भू० कां०, श्लो० १८)

‡ समानौ मरुधन्वानौ (अमर०, भूमिवर्ग)

गर्दभराव

[चित्रकार—श्रीयुत मोहनलाल महत्तो "वियोगी"]



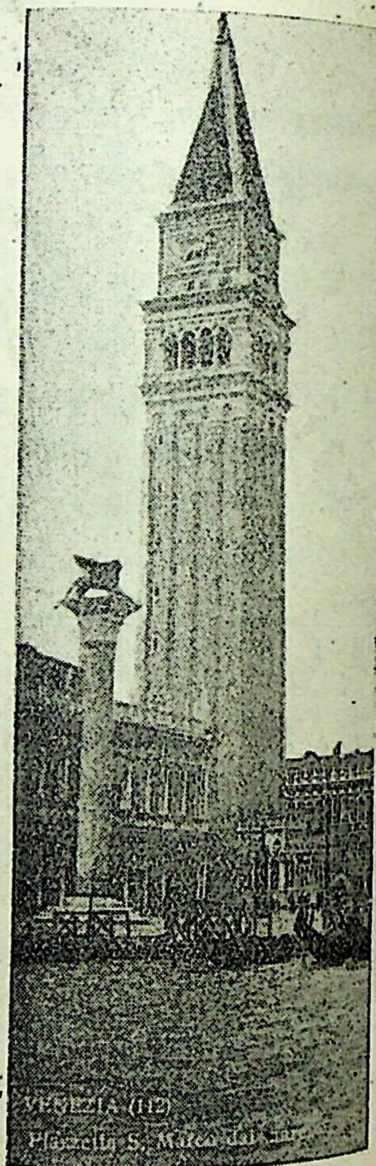
कर प्रत्यंक मास जी भर "संगीत-सुधा" का पांन, गायन-विषयक इच्छा का हो गया विकट उत्थान।
ले सितार कर, बैठ सँभल, फिर दे मूछों पर ताव, लगे सभी को कला दिखाने गायक 'गर्दभराव'।
"अष्टम स्वर" में लगे रेंकने ले रागों के नाम; त्राहि-त्राहि कर उठे पड़ोसी, सोना हुआ हराम।

"वियोगी"

नहरों का नगर वेनिस

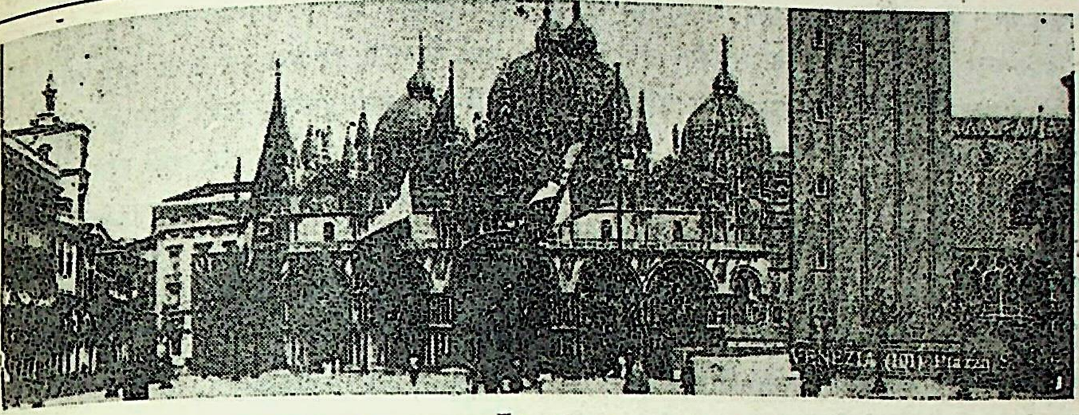


कमरे में अकेले बैठा सोच में पड़ा था कि कहाँ आ गए। न गली, न सड़क, केवल नहरों और नावों का सहारा है। भला लोग यहाँ रहते कैसे होंगे इत्यादि। इतने में दरवाज़े पर खट-खट की आवाज़ हुई। मैंने कहा—"yes, please get in." फ़ौरन् सेन बाबू अंदर आए, और बोले—"क्या बैठे रहोगे? बाहर नहीं चलोगे?" मैंने कहा—"कहाँ जायँ? इस अजीब शहर में, जहाँ घूमने को सड़कें नहीं, आदमी चार दिन में बीमार पड़ जाय।" वह बोले—"क्यों नहीं, यहाँ चारों तरफ़ गलियाँ हैं, जहाँ आदमी घूम सकता है। मैं सब पूछकर आया हूँ। होटल के दो दरवाज़े नहरों की ओर और दो ज़मीन की ओर हैं। चलो, घूम आवें।" सेन बाबू मेरे सहयात्री हैं। सरल प्रकृति के सज्जन हैं। उम्र चालीस साल के लगभग है। इसलिये जहाज़ से ही मेरे निरीक्षक मित्र बने हुए हैं। अब क्या था। बाहर निकले। एन्क़ायरी ऑफ़िस में पूछा कि "आज कहाँ जाना चाहिए और किस रास्ते से।" उत्तर मिला—"पाँच मिनट का रास्ता साँ० मार्को है। अत्यंत मनोहर स्थान है। वहाँ जाइए। आपको देखने को बहुत सामान मिलेगा।" धन्यवाद देकर साँ० मार्को (सेंट मार्क्स स्क्वायर) की ओर प्रस्थान किया। बाहर निकलते ही सामने वैसी ही तंग गली, ऊँची अटारियाँ और तंग गलियाँ, जैसी ब्रिंडिसी में देखी थीं। काशी की याद आ गई। ख़याल आया कि वेनिस-नगर प्राचीन है, इसलिये खुली चौड़ी सड़कें यहाँ कहाँ मिलेंगी। शेक्सपियर के समय में वेनिस इतना प्रसिद्ध था कि उसे नाटक के लिये 'वेनिस-नगर का व्यापारी' उपयुक्त विषय मिल गया। किंतु इसकी स्थापना सन् ४५२ में हुई। जब योरप के चंगेज़ख़ाँ—ऐटिला—ने रोम-साम्राज्य का ध्वंस कर दिया, तब कई लोग जान बचाकर समुद्र के किनारे वेनिस में आ बसे थे। इतने पुराने नगर में चौड़ी सड़कें कौन बनाता? क्या एशिया, क्या योरप, विचारों की प्रगति सर्वत्र एक ही धारा में हुई है। भेद इतना ही है कि योरपियन अधिक परिवर्तनशील हैं। दाहनी तरफ़ मुड़े। पाँच मिनट में साँ० मार्को पहुँच गए। वास्तव में इसकी भव्यता और विशालता देखकर चित्त मुग्ध हो गया। कैसा खुला प्रांगण है। सामने ऊँची मीनार खड़ी है। उसके पीछे विशाल गिरजाघर है। हमारी बाईं

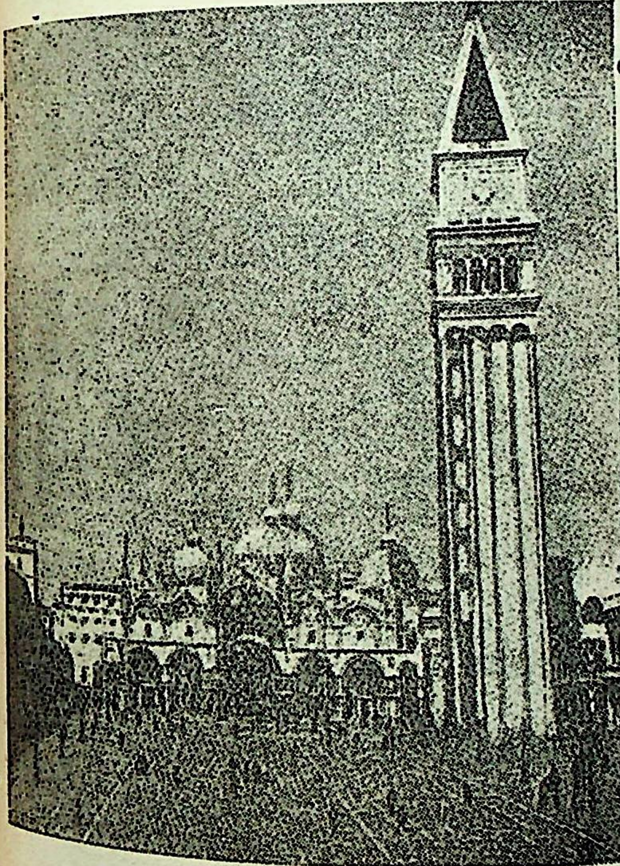


साँ० मार्को के समुद्री तट पर मीनार

ओर घंटाघर है। प्रांगण के चारों ओर विशाल भवन हैं, जिनके नीचे के तल्ले में काफ़े और दूकानें हैं। चौड़ा बरामदा है, और बरामदे से बाहर पेरिस के बूलेवार्ड (Boulevard) की तरह कुर्सी-मेज़ पड़े हैं। अगर आप थके-माँदे हों, या घंटे-दो-घंटे इटालियन संगीत का आनंद लेना चाहते हों, अथवा साँ० मार्को के जनाकीर्ण



सॉं० मार्को गिरजा



सॉं० मार्को स्क्वायर

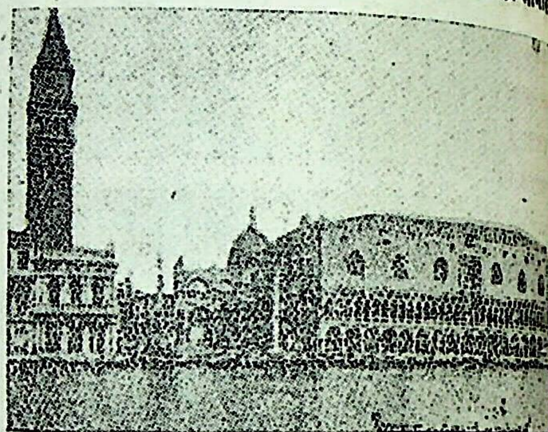
स्क्वायर का दृश्य देखना चाहते हों, तो बैठ जाइए। एक प्याला चा मँगाइए। तीन या चार आने में आपकी सीट रिज़र्व हो गई। यह ज़िक्र उस बारादरी का है, जिसके विषय में नेपोलियन ने कहा था कि संसार में इसकी जोड़ का दूसरा दीवाने-आम नहीं है। इस पत्थर से पटे हुए सुंदर स्क्वायर की लंबाई है १९३ गज़, और चौड़ाई एक ओर ६७ और दूसरी ओर ९२ गज़। यह स्थान वेनिस की नीव पड़ने के समय से अब तक उसकी नाक है। वह भी समय था, जब वेनिस के लोग एसेंसन-नामक उत्सव के दिन ढाके की मलमल और हाथी-दाँत का सामान वग़ैरह भारतीय तोहफ़े यहाँ जनता को दिखाते और उन्हें धनियों के हाथ बेचते थे। यहाँ से वह माल योरप के नाना देशों में पहुँचता था। यह बात उस ज़माने की है, जब योरप में 'अंधकार का युग' था। मुसलमान लोग स्पेन के ग्रनाडा और सेविलये (Seville)-नामक नगरों में विद्यालय खोल ज्योति की किरणें फैला रहे थे। किंतु उस समय भी पूर्वी देशों के संसर्ग से वेनिस सभ्य



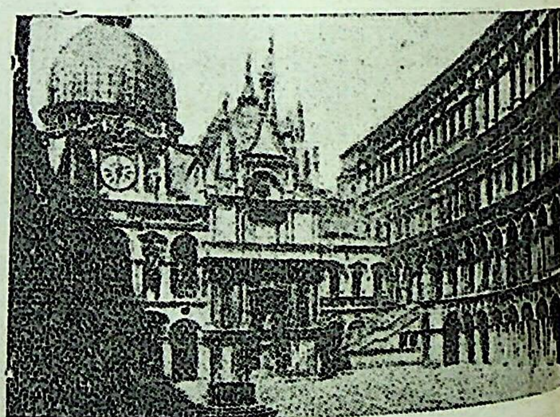
सॉं० मार्को का छोटा स्क्वायर (यह सॉं० मार्को के बग़ल में है)

था, उन्नत था, और समुद्री व्यापार में योरप-भर में सबसे बढ़ा-चढ़ा था । इस तिजारत की वजह यह एड्रियाटिक सागर की 'रानी' अतुल संपत्ति की अधिकारिणी थी । पर 'सब दिन होत न एक समान' । आज भारत बिना योरप की सहायता के घर में आग नहीं सुलगा सकता । सेँ० मार्को का भारत से पुराना संबंध है । अब भी सेँ० मार्को व्यापार का केंद्र है । यह स्थान यहाँ के फ़ैशनेबिल लोगों का भी अड्डा है । जिस प्रकार बंबई के धनी और शौक़ीन लोग हवा खाने को मलाबार-हिल, चौपाटी, कोलाबा तथा अपोलो-बंदर की तरफ़ निकलते हैं, कलकत्ते के बाबू लोग ईडन-गार्डन और क़िले के मैदान की सैर करते हैं, उसी तरह वेनिस के लोग सेँ० मार्को के चक्कर काटा करते हैं, काफ़े तथा रेस्टोरेंटों में बैठकर मिठाई खाते हैं, चा, काफ़े, शराब वग़ैरह पीते हैं, और उसके साथ ही संगीत-सुधा का रस-पान भी करते हैं । जिस रोज़ यहाँ बैंड बजता है—और यह सप्ताह में, दो-तीन बार बजता है—उस रोज़ तो चक्कर काटने को भी मुश्किल से जगह मिलती है । भला इस भीड़ का क्या ठिकाना । पर धक्कमधक्का नहीं होता । सब अपनी-अपनी जगह पर रहते हैं । कोई यह चेष्टा नहीं करता कि मैं पीछे क्यों रहूँ, बैंड के सामने पहुँच जाऊँ । लोग तरतीब के पाबंद हैं । जो हो, यह विषय अप्रासंगिक है । हम अब सेँ० मार्को का कुछ इतिहास देंगे—

जहाँ आज सेँ० मार्को है, वहाँ पहले दातारियो-नामक नाला बहता था । ५५४ ई० में वहाँ नारजेटो ने दो गिरजे बनवाए । किंतु ८२८ ई० में वेनिस का रखवाला संत सेंट मार्क माना गया, और उसके नाम पर गिरजा बनना शुरू हुआ, जो १०७१ में पूरा बन पाया । इसी संत मार्क के नाम पर इस स्थान का नाम सेँ० मार्को पड़ा । धीरे-धीरे नदी दबा दी गई, और इस विशाल गिरजे के इर्द-गिर्द बड़ी-बड़ी इमारतें खड़ी होने लगीं । नगर-पति डोज़ का महल, पुस्तकालय, घंटाघर, संत मार्क की सीमा



डोज़ का महल



डोज़ के महल का फाटक



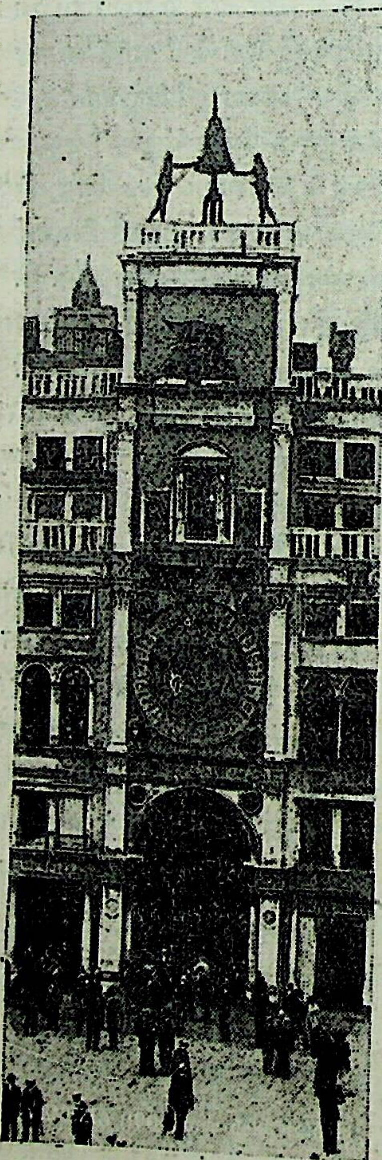
सेँ०मार्को के कबूतर

वग़ैरह इनमें मुख्य हैं। चारों तरफ़ ये इमारतें हैं, और बीच में बारादरी। दिन को यहाँ कबूतरों का अड्डा रहता है। इनका दृश्य देखने के लायक़ होता है। जिस प्रकार कलकत्ते के बड़ाबाज़ार में मकानों की छत पर हज़ारों की तादाद में कबूतर रहते हैं, ठीक वही हाल है। अंतर इतना है कि वहाँ कबूतर आदमियों से डरते हैं, यहाँ आपके हाथ पर बैठ जायँगे। इन्हें मनुष्य का भय नाम-मात्र को भी नहीं है। कारण स्पष्ट है। यहाँ कोई इन्हें तंग नहीं कर सकता। कहा जाता है, प्राचीन समय में वेनिस के डोज़ हर साल पाम-संडे (Palm Sunday)-नामक त्योहार के दिन संत मार्क के गिरजे से कुछ कबूतर छोड़ा करते थे। वे गिरजे की छत पर ही बस गए। अब यह बस्ती कबूतरों से आबाद हो गई है। म्युनिसिपलिटी की ओर से इनके खाने का प्रबंध है। काम तो कुछ नहीं करते; पर मैला करके दूसरों का काम बढ़ाते हैं। दिन में सारा स्क्वायर इनसे भर जाता है। बहुत लोग एकत्र होते हैं। अपने हाथ में चुगने की चीज़ें रखकर इन्हें बुलाते और फिर फ़ोटो खिंचवाते हैं।

गिरजा स्थापत्य-कला का एक अपूर्व नमूना है। यह एक स्मृति है उस समय की, जब एशिया की सभ्यता योरप को आ रही थी। हमारे पास—केवल भारतवासियों के नहीं, समग्र एशियावासियों के पास—गर्व करने का बड़ा सामान है। यह गिरजा उसमें शामिल है। नख से शिख तक पूर्वी कला है। बड़ा ही नयनाभिराम भव्य भवन है। अंदर पाँव रखिए, चमत्कार दृश्य है। सर्वत्र पच्चीकारी का काम है। कितने ही तरह के पत्थर जड़े गए हैं। इनमें सोना भी है। बाहर-भीतर सर्वत्र बेशक़ीमत पत्थरों का काम है। चित्रकला और स्थापत्य की दृष्टि से इटली के बाहर संसार-भर में इसकी जोड़ मिलना प्रायः असंभव है। फाटक पर ही ईसा का सूली से उतारना दिखाया गया है। कौन ऐसा पाषाण-हृदय होगा, जो भक्तिभाव से गद्गद होकर इसे प्रणाम न करे? चेहरे पर कैसा माहात्म्य टपकता है। धैर्य से देखिए, मानो धैर्य की खान इस पृथ्वी ने सारा धैर्य इस महात्मा को अर्पण कर दिया है। शांति और आत्मसंयम चित्र से बरस रहे हैं। वास्तव में स्वर्गीय दृश्य है। भारत के सिवा इसकी उपमा कहाँ मिलेगी। ईसा ने मनुष्य-जाति को अनंत मृत्यु के मुख से बचाने के लिये पाप-रूपी तीव्र विष सहर्ष पान किया था। हमारे पागल ईश्वर ने विश्व की रक्षा के लिये हलाहल कंठ में धारण कर लिया। देखिए इस बावलेपन को, ब्रह्मा घबराते हैं, विष्णु घबराते हैं, विश्व की सब महान् शक्तियाँ थर्राती हैं। किंतु पागल रुद्र क्षण-भर के लिये भी नहीं सोचते कि मेरे इस काम का व्यक्तिगत फल क्या होगा। झट से पी लेते हैं। विश्व के संकट-काल में इस महात्याग का आदर्श किस जाति ने दिखाया है? पागल का यह सत्य-स्वरूप किसने खोज निकाला है? हिंदू-जाति ने, केवल हिंदू-जाति ने। किंतु इस मर्त्यलोक में इसकी उपलब्धि ईसा ने की है। गिरजे के बाहर उक्त चित्र जिस निपुणता से यह दृश्य दिखलाता है, उसे देखकर चित्रकार का हाथ चूमने को जी चाहता है। इसी प्रकार ईसा का पुनरुत्थान, रूप-परिवर्तन और स्वर्गारोहण दिखलाया गया है। इस गिरजे में बाहर-भीतर खंभों और मेहराबों में जाली के काम वग़ैरह की भी भरमार है। चित्र और मूर्तियाँ तो फ़र्श से छत तक सर्वत्र हैं। एक-एक चित्र अनूठा है। जहाँ यूसुफ़ के भाई उसे सौदागरों के हाथ बेच रहे हैं, वहाँ मालूम पड़ता है कि चित्रकार ने भावों का चिर-स्रोत बहा दिया है। सृष्टि का दृश्य देखकर मालूम होता है कि यह 'षट्-रस विधि की सृष्टि में, नव रस कविता माहिं' का उदाहरण है। सैकड़ों चित्र हैं। कहाँ तक वर्णन किया जाय। आठवीं सदी से अठारहवीं सदी तक प्रसिद्ध चित्रकारों ने अपनी-अपनी करामात दिखाई है।

मैं जिस समय गिरजे के भीतर गया, प्रार्थना हो रही थी। संगीत का रस बरस रहा था। हज़ारों आदमी बैठे थे। सैकड़ों भिन्न-भिन्न मूर्तियों के सामने घुटने टेक-टेककर अपना हृदय खोल रहे थे, और सैकड़ों खड़े थे। बड़ी वेदी के सामने प्रधान पुरोहित खड़े थे। उनके पीछे, संगमरमर-खचित चाँदनी के नीचे, अनेक पादड़ी खड़े थे। ये कभी गाते थे, कभी यूनानी और रोमन भाषा में पाठ करते थे। यजमान लोगों को समझने की पर्वा नहीं थी। पर थे सब भक्ति में डूबे हुए। भारत में जब वेदपाठी ब्राह्मण सुंदर स्वर में पाठ करते हैं, तब किस भक्ति से श्रोतृमंडली उस रस का पान करती है। ठीक वही दृश्य यहाँ भी है। गिरजे के ख़ज़ाने में ईसा मसीह के ख़ून की बूँदें हैं। सूली का एक टुकड़ा भी है। मूर्ति-पूजा के शत्रुओं का यह अंध-विश्वास उपभोग की सामग्री है।

गिरजे के सम्मुख संत मार्क की लाट है। पुरानी लाट, जो ८८८-९१२ ई० में बनी थी, चौदहवीं जुलाई १९०२ को गिर पड़ी। सौभाग्य से एक आदमी भी इसके नीचे न दबा। इसलिये वेनिस-निवासी कहते हैं कि हज़ार वर्ष की थकावट के बाद यह सो गई। ख़बर फैलते ही शहर में विषाद छा गया। जो जिस काम में लगा था, वह उसे छोड़कर मिट्टी और पत्थर की इस ढेरी को अंतिम प्रणाम करने दौड़ा। उसी रोज़ शाम को म्युनिसिपलिटी की बैठक हुई, और एकमत से निश्चय हुआ कि तुरत यह लाट फिर से खड़ी की जाय। किंतु एक शर्त के साथ Dov'era Com'era, अर्थात् ठीक वहीं और वैसी ही बने, जहाँ और जैसी पहले थी। सारी इटली में चंदा हुआ। यथेष्ट धन एकत्र हो गया। यह नई लाट 'Companile diSan Marco' खड़ी हो गई। यह गिरजे का घंटाघर है। इसकी ऊँचाई ११० गज़ है। इसके बनने में १० साल लगे। २५ एप्रिल १९१२ को इसका उद्घाटन-उत्सव मनाया गया। वेनिस में अभूतपूर्व धूम मच गई। लाट से बड़े-बड़े नए घंटे अपनी ध्वनि से सारे नगर और इर्द-गिर्द के स्थानों को इसकी सूचना दे रहे थे। इटली-भर में यह हर्ष-समाचार फैलाने के लिये २००० कबूतर छोड़े गए। उस रोज़ मानो वेनिसवालों ने अपनी खोई हुई संपत्ति वापस पाई।



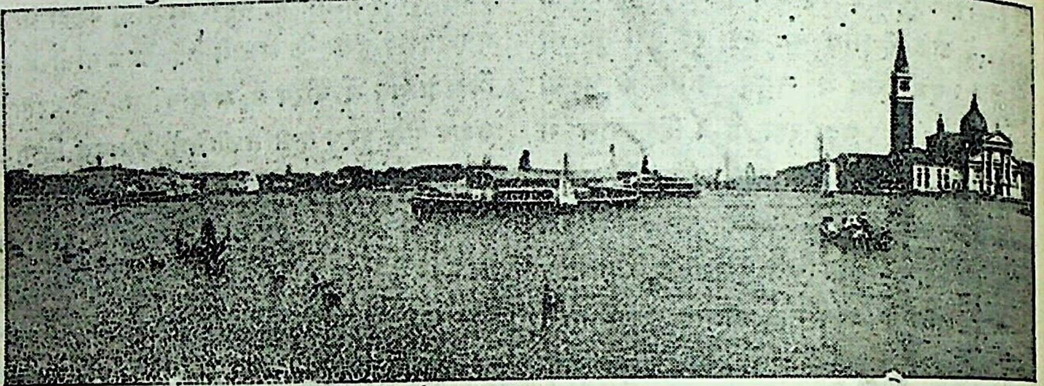
घंटाघर

गिरजे की उत्तरी बग़ल में घंटाघर है। मरसेरिया (Merceria)-नामक प्रसिद्ध व्यापारिक गली के फाटक के ऊपर घड़ी है, जो प्रायः छः सौ साल की पुरानी है। अभी तक ठीक चलती है। केवल एक बार, १७५१ में, इसकी मरम्मत की गई थी। इसमें घंटों और मिनटों के अतिरिक्त राशि, नक्षत्र, चांद्र मास की तिथियाँ भी हैं। घड़ी के ऊपर के तल्ले में मरियम की मातृमूर्ति है। ईसा मसीह के स्वर्गारोहण के उत्सव पर यहाँ जब घंटा या आधा घंटा बजता है, तो पूर्व के तीन ज्ञानी अंदर से बाहर निकलते हैं। इनका अगुवा एक देवदूत है, जो तुरी बजाता है। ये एक फाटक से निकलते और मातृमूर्ति को प्रणाम कर दूसरे फाटक से भीतर घुस जाते हैं। और दिनों इस स्थान पर एक ओर घंटे और दूसरी ओर मिनट बदलते रहते हैं। रात को इनके भीतर बिजली की रोशनी की जाती है, जिससे ये साफ़ नज़र आते हैं। इसके ऊपर संत मार्क का सिंह है, जो अपने चंगुल के नीचे बाइबिल की रक्षा कर रहा है। इसके पीछे की दीवार नीली है, जिसमें सुनहरे तारे चमकते हैं। सबसे ऊपर विशालकाय घंटा है, और उसके अग़ल-बग़ल दो काँसे के काले मनुष्य, जो हर आध घंटे के अंतर में कल के द्वारा घंटा ठोककर समय की सूचना देते हैं। ये घड़ियाल पाँच सौ बरस से निरंतर अपना काम करते जा रहे हैं।

इस गिरजे के दक्षिण में राजमहल (Palazzo Ducale) है। वेनिस के डोज़-नामक नरपति यहीं रहते थे। बाहर से देखने पर मालूम पड़ता है कि वेनिस की और इमारतों की तरह यह भी है; किंतु अंदर पाँव रखते ही इसकी शान दिल पर धाक जमा लेती है। ऐसी बढ़िया और नामी चित्रकारों की तसवीरें संसार के किसी दूसरे राजमहल में शायद ही मिलें। प्रत्येक कमरे की दीवारें और छत इन चित्रों से भरी हैं। बड़े फाटक से ऊपर पहुँचते ही प्रसिद्ध चित्रकार तिशियान (Titian) का खींचा हुआ 'दैवी बालक के साथ कुमारी मेरी'-नामक चित्र है। क्या रेखा है, क्या रंग है, और क्या भाव हैं। क्या मजाल कि देखनेवाला इसके सामने सिर न झुकावे। अगर इस

महल के चित्र कौन गिना सकता है । आठ-दस बड़े-बड़े कमरे, और सर्वत्र चित्रों की भरमार ! ऐतिहासिक, धार्मिक तथा भावुक, सब प्रकार के चित्र हैं । एक चित्र में पारसियों की पूजापद्धति दिखाई गई है । दूसरे में फ़ारस के एलची वेनिस के डोज़ के साथ भेंट कर रहे हैं । तुर्क तो कई चित्रों में हैं । एक चित्र में समुद्र वेनिस के चरणों में धन-धान्य का उपहार चढ़ा रहा है । हिंदुस्तान में एक चित्र (बहुत रद्दी) देखा था, जिसमें समुद्र भगवान् रामचंद्रजी से घबराकर उनके चरणों में रत्न उपहार देता है । वेनिस में उक्त चित्र देखकर मुझे ख़याल आया कि वैदिक काल से अब तक सागर ही के द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों ने बहुमूल्य रत्नों का संचय किया है । समुद्र मथकर ही देवतों ने ऋद्धि प्राप्त की । फ़ोनीशियन-जाति समुद्र के मथने ही से समृद्ध हुई थी । वेनिस को इस रत्नाकर ने ही समृद्ध बनाया था, और वर्तमान काल में जल पर प्रभुता जातियों की शक्ति का फ़ैसला कर रही है । क्या यह सच नहीं है कि एक बार देवतों ने समुद्र मथकर लक्ष्मी प्राप्त की थी, हमें समृद्ध होने का मार्ग दिखाया था ? हमने कुछ दिन उनका अनुकरण भी किया । ऋद्धि भी हाथ जोड़े द्वार पर खड़ी रही । किंतु आज हम समुद्र मथने का अर्थ भूल गए हैं । हम आज विदेश-यात्रा का महत्त्व नहीं समझते । १९२४ के जनवरी के महीने में भी भारत में ऐसे पंडित विद्यमान हैं, जो विदेश-यात्रा को नरक-यात्रा का पर्याय-वाची समझते हैं । तब यदि इस समय हमारी अवस्था व्यापारिक दृष्टि से हीन हो, तो आश्चर्य किस बात का । इस चित्र को देखकर मेरे हृदय में ऐसे ही भावों का तूफ़ान बह गया । यहाँ के चित्रों में हम लोगों को सबसे अधिक खटकनेवाली बात नग्नता है । योरप में नंगे चित्र आदर की वस्तु समझे जाते हैं । बिलकुल नंगा आदमी होगा, पर कोई उसे अश्लील नहीं कहेगा । पहले-पहल इन नग्न मूर्तियों को देख मुझे बहुत बुरा लगा । लेकिन जब सर्वत्र इसी प्रकार के चित्र देखने में आए, तो आदत पड़ गई । भारत में महादेव दिगंबर हैं । हम उनके लिंग की पूजा भी करते हैं । किंतु कभी कुछ बुराई ध्यान में भी नहीं आती । इसी प्रकार योरपवासी नंगे चित्रों को बुरे भाव से नहीं लेते । हाँ, जो चित्र बीभत्स-रस के होते हैं, उनकी बात अलग है । क्या भारत, क्या योरप, सज्जन सर्वत्र ही बीभत्स चित्रों की निंदा करते हैं । महल के तहख़ाने में वेनिस का पुराना शाही क़ैदख़ाना है । कुछ तंग, अँधी कोठरियाँ हैं । यहीं नामी क़ैदी बंद किए जाते थे । कई लोग कहते हैं कि इनमें, पुराने ज़माने में, नहरों का पानी बहता था । इसका मतलब यह हुआ कि अभागे क़ैदी आधे पानी में रहते थे । जिस ज़माने में, योरप में, सावानरोला-जैसे परोपकार-रत, उदार-बुद्धि पुरुष तथा गैलीलियों के सदृश विज्ञानवीर को जीवित जलाना साधारण बात समझी जाती थी, उस समय वेनिस में क़ैदियों का पानी के इन अँधेरे हौज़ों में जीवन बिताना असंभव नहीं है । किंतु कई प्रामाणिक ऐतिहासिक इस बात का खंडन करते हैं । कई क़ैदियों ने पत्थर की दीवारों पर हृदय के उद्गार खोदे हैं । एक ने लिखा है—"ख़ुदा इन दोस्तों से बचावे ।" वाह, क्या लिख गया है । एक वाक्य में अपना इतिहास अमर कर गया है । जेल की बग़ल में फाँसी और Torture (असह्य यंत्रणा) के कमरे हैं । इन्हें देखकर हृदय काँपता है । मेरे मुँह से एकाएक निकल पड़ा—"यदि ईसा पैदा न होता, तो कितना अच्छा था ।" यह इसलिये नहीं कि मैं कट्टर हिंदू हूँ, और ईसा का भक्त नहीं हूँ । नहीं ! मैं ईसा का उतना ही बड़ा भक्त हूँ, जितना भगवान् बुद्ध का । भगवान् कृष्ण से शायद ही कुछ कम । किंतु एक बार लेकी की पुस्तक History of European Morals और Rationalism in Europe पढ़ जाइए । देखिएगा, ईसा के नाम ने योरप में निरपराधों, निष्पापों तथा उन महात्माओं का रक्त पानी की तरह बहा दिया, जिनमें से एक-एक कोहेनूर हीरा था । उनकी प्रशंसा के शब्द हमारी अपूर्ण भाषा में मिलना कठिन है, जिन्होंने 'सिर दिया सर न दिया ।' गुरु गोविंदसिंह के लड़के भारत के गौरव की वस्तु हैं । योरप में असंख्य नर-नारियों ने सहर्ष प्राण दे दिए, पर मत न बदला । यदि ईसा न जनमता, तो शायद यह अमिट पाप योरप के माथे न चढ़ता, और साथ ही जगत् का त्राता ईसा स्वयं स्वर्ग में अपने अनुयायियों के इस नृशंस कृत्य से न कलपता । यहूदियों ने उसे केवल एक बार सूली दी; किंतु उसके चेले अनंत काल तक उसे सूली दे रहे हैं । संसार में वह सुख देने को आया था; किंतु चेलों के कारण स्वयं दुःख के अथाह सागर में डूब गया । इन कमरों में देखिए, कितने ही प्राणियों को कितने ही प्रकार की असह्य यंत्रणाएँ

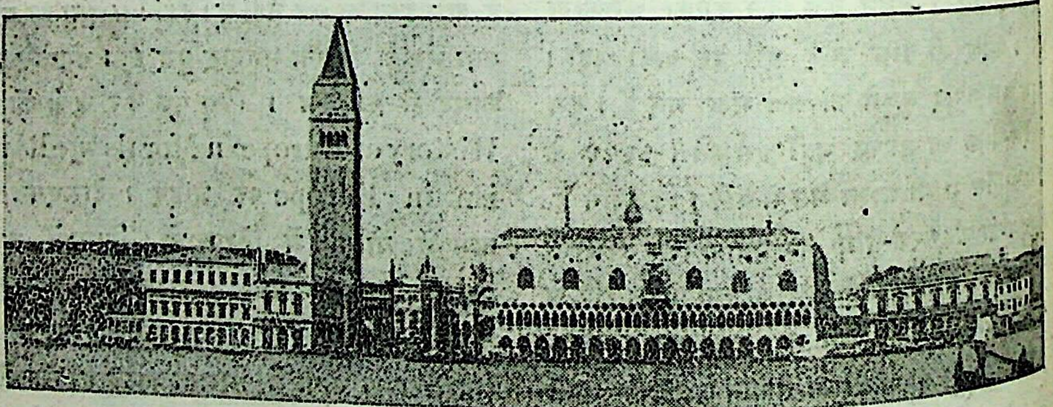
यहाँ दी गई हैं। महल की दूसरी ओर नहर-पार भी जेल है। महल से एक छोटे पत्थर के पुल द्वारा वहाँ आने-जाने का रास्ता है। इस पुल का नाम Ponte dei



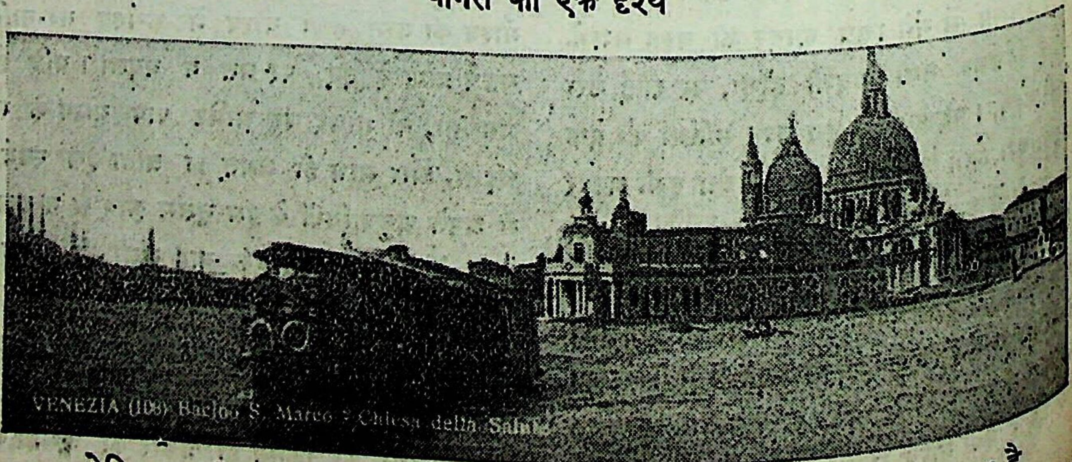
साँ० मार्को के किनारे समुद्र या ग्रांड कनाल (बड़ी नहर)

Sospiri (निःश्वास-पूर्ण पुल) है। पाठक समझ सकते हैं, इसका यह नाम क्यों पड़ा ?

वेनिस का दूसरा प्रसिद्ध स्थान रिआल्टो (Rialto) है। यहाँ शेक्सपियर का यहूदी-चरित्र शाइलाक या शैलाक्ष (बक़ौल बा० हरिश्चंद्र) व्यापार करता था। वास्तव में यह व्यापार का बहुत पुराना अड्डा है। रिआल्टो स्वयं एक छोटा-सा स्वतंत्र नगर है। प्राचीन काल में यह अपना स्वतंत्र प्रबंध करना और अपनी आवश्यकताएँ स्वयं पूर्ण करता था। यहाँ एक बात लिखना आवश्यक है। इससे पाठक मेरा मतलब ठीक-ठीक समझ जाएँगे। वेनिस में जो नहरें हैं, वे खोदी नहीं गईं, बल्कि प्राकृतिक हैं। छोटे-छोटे १०९ टापुओं के समूह का नाम वेनिस है। ये टापू ऐसे छोटे हैं, जैसे हमारे शहरों के मुहल्ले



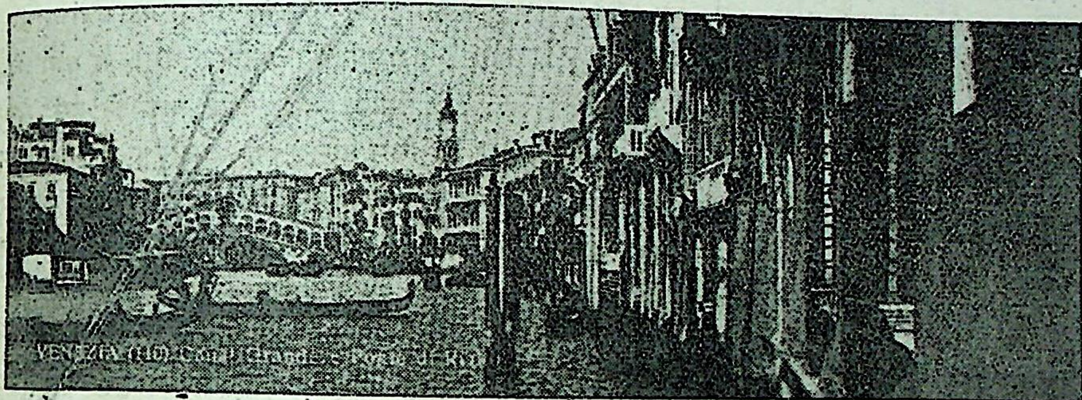
वेनिस का एक दृश्य



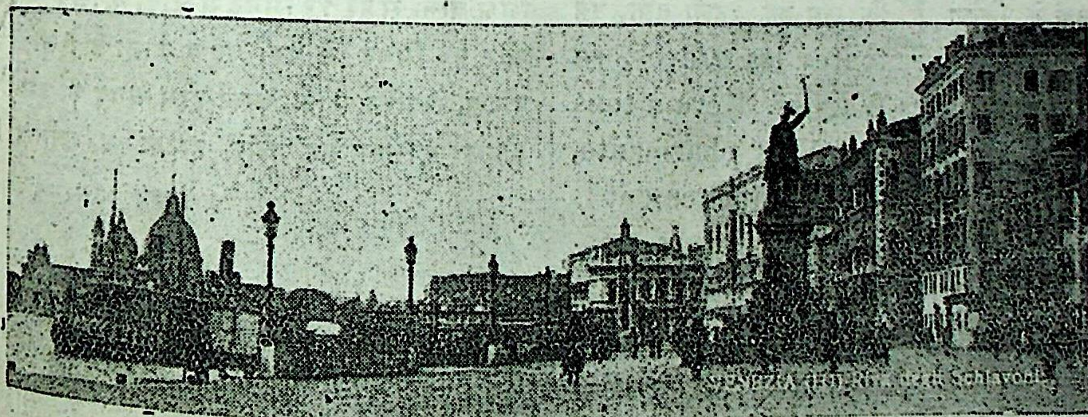
वेनिस का किएजा-देला-सालूटा नामक प्रसिद्ध गिरजा, जो समुद्र-तट पर खड़ा है

बीच में समुद्र का पानी है, जो नहरों का काम देता है। पहले प्रत्येक टापू स्वतंत्र था। बाद को मिलकर, बाहरी शत्रुओं से आत्मरक्षा करने के लिये, सब एक हो गए। इससे पहले प्रत्येक छोटा द्वीप एक-एक छोटा नगर था। उनमें रिआल्टो व्यापारिक दृष्टि से बढ़ा-चढ़ा था। इस समय रिआल्टो-पुल का नाम रह गया है। इस पुल के

वेनिस में सबसे पुराना है। सन् ४२१ में बना था। इस गिरजे के सामने रिआल्टो का कुबड़ा (Il Gobbo di Rialto) है। एक कुबड़े की पीठ में कुछ सीढ़ियाँ हैं। यहाँ से पुराने ज़माने में नए क़ानूनों और हुकूमतों की डुग्गी पीटी जाती थी। रिआल्टो के आसपास कई पुरानी इमारतें हैं। कला का एक विद्यालय भी है।



रिआल्टो-पुल और उसके आसपास की पुरानी इमारतें



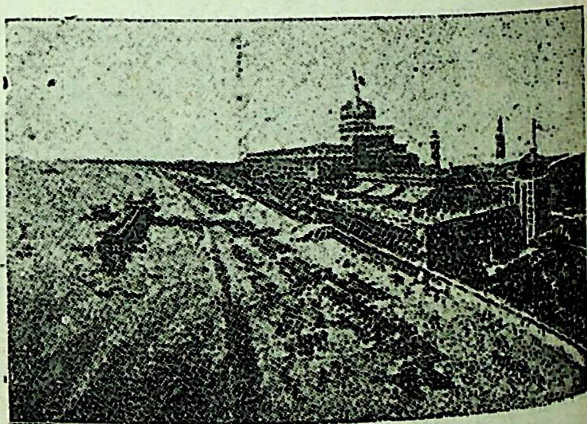
रिवा देली शिओवानी

दोनों ओर दूकानें हैं। जौनपुर में भी ऐसा ही है; किंतु जौनपुर का पुल बड़ा है। रिआल्टो छोटा, लेकिन ख़ूबसूरत है। एक टापू को दूसरे से मिलाने के लिये वेनिस में हज़ारों पुल हैं। रिआल्टो का पुल सबसे सुंदर है। रिआल्टो अब भी समृद्ध है, और व्यापार की दृष्टि से सॉं० मार्को से कम नहीं है। इसके पास कई बाज़ार हैं। इनमें एक नारांत्सिया है। यहाँ नारंगी का बाज़ार लगता है। Naranzia और नारंगी का मेल देखकर सहज में अनुमान लगता है कि नारंगी पूर्वी फल है। जर्मन भाषा में नारंगी को ओरांग (Orange) कहते हैं। सो नारंगी और ओरांग में भी समता है। जो हो, रिआल्टो का गिरजा

रिवा देली शिओवानी (Riva degli Sehiavoni) भी देखने लायक़ स्थान है। यह चौड़ा रास्ता बड़े पार्क तक फैला हुआ है। झील के किनारे यह बड़ा ही रमणीय लगता है। इसके आसपास के टापुओं का दृश्य भी मनोरम है। जब धूप आती है—और वेनिस में धूप अक्सर आती है—इसका नज़्ज़ारा तबीयत ख़ुश कर देता है। इसमें स्वतंत्र इटली के पहले देशभक्त राजा वित्तोरिओ एमानुएल द्वितीय की मूर्ति है। मूर्ति के आसन के अग़ल-बग़ल दो चित्र हैं—(१) पद-दलित वेनिस; (२) स्वाधीन वेनिस आस्ट्रिया के अधीन इटली पद-दलित था। योरप का यह श्रृंगार उस सुंदरी

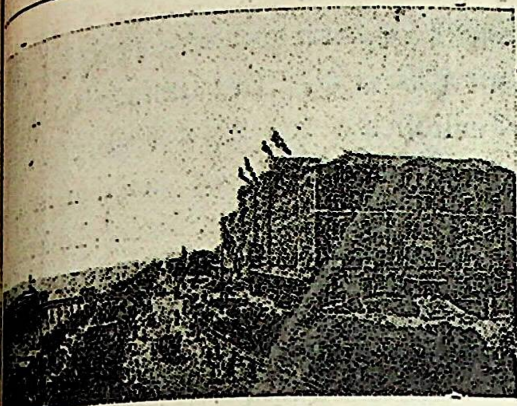
ललना के सदृश था, जिस पर नराधम पिशाच पशु-बल के आधार पर बलात्कार कर रहा हो। पद-दलित वेनिस उसी समय का स्मारक चित्र है। स्वाधीन वेनिस १८६६ की यादगार है, जब इटली ने गुलामी का कलंक अपने माथे से धोया। यहाँ से दक्षिण-पूर्व, पौन घंटे का पैदल रास्ता, वेनिस का बड़ा पार्क है। यदि आप स्टीमर से जायँ, तो दस-ग्यारह मिनट लगेंगे। पार्क साधारण है। अंदर घुसते ही गैरीबाल्डी की मूर्ति मिलती है। भला इटली में कौन नगर ऐसा है, जहाँ गैरीबाल्डी की मूर्ति और उसके नाम की गली न हो? आगे बढ़ने पर कृत्रिम झरने, कुंज, झाड़ियाँ और सुंदर फूलों की क्यारियाँ मिलती हैं। सैलानी लोग गरमियों में इन कुंजों, झाड़ियों और पेड़ों के नीचे बेंचों पर आराम करते हैं। समुद्र से धीमी-धीमी नशीली हवा बहती है। उठने को तबीयत नहीं करती। चंडूख़ाने की तरह बड़ी दूर की सूझ ी है। फ़्रेंच लेखक lamartine (लामार्टिन) के विषय में एक आलोचक ने लिखा है कि जब वह इटली गया, तब "Il someilla sur tontes les greves, se berca a tontes les Vagues, Reva a tons clairs de lune, fit des Vers charmanto, mais qui marquent un assonpissement inquistant de la pensee.", अर्थात् वह सब तटों पर सोया, उसने सब लहरों पर हिलोरे लिए, प्रत्येक चाँदनी रात की कविता का रस लिया, मनोहर कविता लिखी; किंतु यह जगह विचारों को अशांत निद्रा की गोद में लिटा देती है। इस पार्क में समुद्र के तट पर आप बैठ जाइए, विना भंग के रंग की तरंगों पर बहने लगिएगा। पार्क में होटल भी है। कंसर्ट भी होता है। इस पार्क में सबसे महत्त्व-पूर्ण चीज़ "कला की सार्वभौम प्रदर्शिनी" है। इसकी स्थापना सन् १८६५ की ३० एप्रिल को हुई थी। तब से हर दो साल में यह प्रदर्शिनी होती है। सारे संसार के कलावत अपना जौहर दिखाते और उचित पुरस्कार प्राप्त करते हैं। यह प्रदर्शिनी एप्रिल से ऑक्टोबर तक रहती है। इससे जन-साधारण को कला का ज्ञान प्राप्त होता है, रस के प्यासे तृप्त होते हैं, और स्वयं इटली के रूप-कलाभिज्ञ लोग विश्व-कला का रूप देखकर शिक्षा प्राप्त करते हैं। जनता को लुभाने के लिये यहाँ सब प्रकार का सुख का सामान इकट्ठा किया गया है। रेस्टोरेंट है, बाजा है, खेल-तमाशे और प्राकृतिक सुंदरता है। पार्क में बैठना है, तो यहाँ क्यों न बैठा जाय? साथ ही प्रदर्शिनी भी देख लीजिए।

वर्तमान वेनिस में 'लीडो' स्नान का प्रसिद्ध स्थान है। योरप में इधर स्नान को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। कई कठिन रोगों को मिटाने का यह बड़ा साधन समझा जाता है। समुद्र के किनारे, समुद्र में तथा नदी और झीलों के तट पर कई नगर जल की इस रोगनाशिनी शक्ति के लिये प्रसिद्ध हैं। असंख्य नर-नारी इन स्थानों में अपना इलाज कराने जाते हैं। वेनिस की Sociata commerciale Bagni del hido, अर्थात् लीडो की व्यापारिक स्नान-प्रबंधक समिति, ने लीडो के बढ़िया स्नानागार खोलकर इसे उपभोग्य स्थान बना दिया है। अब हज़ारों स्वदेशी, विदेशी लोग यहाँ समुद्र-स्नान तथा अन्य आयुर्वैदिक स्नानों का आनंद लेते हैं। रिवा देली शिओवानी से हर १२ मिनट में लीडो के लिये स्टीमर छूटता और २० मिनट में वहाँ पहुँच जाता है। लीडो में सुंदर होटल, रेस्टोरेंट, काफ़े, कंसर्ट-हौस आदि की धूम है। इनमें होटल एक्सेलसायर और होटल ड ब्याँ (Hotel



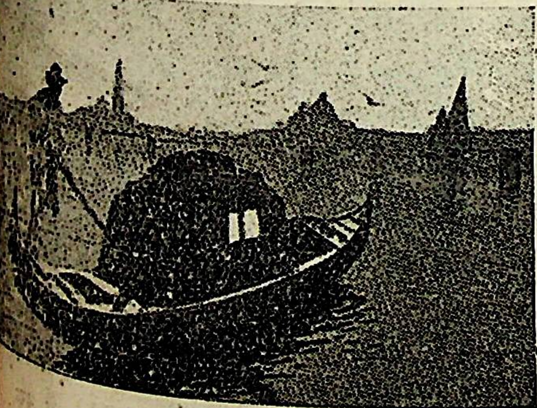
होटल एक्सेल्सायर

des Bains) प्रसिद्ध हैं। समुद्र के किनारे लकड़ी की कुटियाँ बनी हैं। इनमें वे लोग रहते हैं, जो समुद्री जल से स्नान करते तथा समुद्र के जल-वायु द्वारा इलाज कराते हैं। जन साधारण के लिये एक सस्ता स्नानागार है। इसमें दो-ढाई आने में एक आदमी अच्छी तरह गरम और ठंडे जल से नहा सकता है। ख़ास होटल में जो सस्ता स्नानागार है, उसमें डेढ़ पैसे में एक



होटल डव्याँ

आदमी नहा लेता है। योरप का बखेड़े का स्नान और पैसा! इस सस्तेपन का क्या ठिकाना। किंतु बात यह कि म्युनिसिपलिटी बाक़ी ख़र्च बरदाश्त करती है। वह समझती है कि जैसे नगर का स्वास्थ्य ठीक रखने के लिये औषधालय और सफ़ाई वग़ैरह का भार उसके ऊपर है, वैसे ही स्नानागारों का भी। निर्धन लोगों को नहाने-धोने का सस्ता मौक़ा देने से बाहर की सफ़ाई और चुस्ती बढ़ेगी। लीडो में सबके और सब प्रकार के नहाने का प्रबंध है। यहाँ का दृश्य भी बड़ा सुहावना है। वेनिस की और इमारतों पर कई ग्रंथ लिखे गए हैं। यहाँ एक-एक इमारत का अपना ख़ास इतिहास है। इसलिये हम नगर का वर्णन यहीं समाप्त कर कुछ वहाँ के जीवन पर लिखेंगे। वेनिस की आबादी डेढ़ लाख है। शहर बड़ा है; किंतु जो शांति इस नगर में विराजती है, वह हिंदुस्तान के छोटे क़स्बों में भी नहीं पाई जाती। इसका कारण यह है कि यहाँ मोटर, गाड़ी, ट्राम, बस, कुछ नहीं चल सकता। केवल ख़ूबसूरत 'गॉंडोला' नहर पार



गॉंडोला

पहुँचाते हैं। यहाँ की शांति प्रसन्न कर देती है। उत्सव भी बहुधा पानी पर ही मनाए जाते हैं। बनारस में जैसा उत्सव बुढ़वामंगल का मेला होता है, यहाँ गरमियों में रात को वैसा उत्सव कई बार मनाया जाता है। उत्सव में इटालियन पागल हो जाते हैं। उस समय उन्हें सिवा भोग-विलास के कुछ नहीं सूझता। यह योरपियन स्वभाव है; किंतु इटली और स्पेनवाले गरम देशों के निवासी होने के कारण इधर विशेष झुकते हैं। जो देश गरम हैं, वहाँ के निवासी शिथिल-स्वभाव होते हैं। शिथिलता इंद्रियों को विलास-प्रिय बना देती है। विलास-प्रिय लोग नए-नए उत्सवों की रचना करते और उन्हें मनाने में मग्न हो जाते हैं। इटली इसका उदाहरण है। इटालियन लोगों का स्वभाव बहुत मिलनसार होता है। जिससे आप मिलें, वह सदा मित्र की तरह आपसे बात करेगा। एक बार एक इटालियन मुझे रास्ता दिखाने प्रायः मील-भर मेरे साथ चला आया। इटली में भलमनसाहत और शऊर का सर्वत्र राज्य है। लोग सफ़ाई का बड़ा ध्यान रखते हैं। साधारण मजूर भी अपने काम के बाद पूरा जेंटिलमैन बन जाता है। इटली के प्रत्येक भाग में सुलभ स्नानागार हैं। मजूर और किसान भी सस्ते में नहा लेते हैं। घर में भी ये लोग सफ़ाई का बड़ा ख़याल रखते हैं। पोशाक फ़िटफ़ाट, और व्यवहार सुंदर। कोई नहीं पहचान सकता कि जो सज्जन बात कर रहा या बग़ल की कुर्सी में बैठा है, वह कुलीन है या साधारण मजूर। वेनिस के एक काफ़े में इस प्रकार के भद्र मजूर को देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। कहा जाता है, टस्कनी-प्रदेश का किसान इतना शिक्षित, सभ्य, विनयी और अप-टू-डेट होता है कि अच्छे-भले लोगों को उसके सामने लज्जित होना पड़ेगा। दिन-भर खेतों में परिश्रम कर शाम को जब सारा परिवार आग के पास बैठता है, तो मुशायरा आरंभ हो जाता है, और उसमें अधरात हो जाती है। टस्कनी में कविता साधारण बात है। भाषा सुंदर, प्राकृतिक दृश्य मनोरम, फल-फूलों की बहार, सुंदरी युवतियाँ और अंगूर तथा शराब की भरमार! भला किस प्राणी में कवित्व-रस का अभाव होगा? यहाँ के निवासी गाली भी कविता में देते हैं। एक अँगरेज़ साक्षी ने अपनी आँखों-देखी ऐसी घटना का वर्णन

किया है । बागोट-नामक लेखक लिखता है कि एक स्थानीय डॉक्टर कुछ मील की दूरी पर स्टेशन को जा रहा था । रास्ते में दूसरे डॉक्टर ने, जो उसका मित्र था, अपने बग़ीचे की दीवार से उसे देख लिया । बस, इसने एक प्रसिद्ध कवि की नक़ल पर उसे चुभती सुना दी । फिर क्या था । उत्तर भी वैसा ही कोरा मिल गया । अब शास्त्रार्थ—तानेज़नी—का आरंभ हुआ । तीन घंटे तक निरंतर द्वंद्व चला । शाम हो गई । बहुत लोग चारों तरफ़ जमा हो गए । अब स्टेशन जानेवाले डॉक्टर को अपने काम का होश आया । कविता क्या है, चूरन बेचनेवालों के लटके हैं । किंतु टस्कनी में वास्तविक कवित्व-रस भी बहता है । लोग सौंदर्य का ध्यान रखते हैं । जिस देश में मजूर और किसानों में सौंदर्य का आदर है, वहाँ शिक्षितों और कुलीनों का क्या कहना । यहाँ सबके लिये यह वचन लागू है कि A passion for being well dressed, अर्थात् उन्हें सज-धजकर बाहर निकलने का रोग है । इससे यह न समझना चाहिए कि मकान में इटालियन गंदे रहते हैं । नहीं, इनके कमरे सुंदर चित्रों (रविवर्मा के सड़े-गले चित्र नहीं, किंतु रेंब्रांत, तिसियान आदि कला के आचार्यों की कारीगरी), फूलों तथा अन्य सुंदर सामान से सज्जित रहते हैं । भारत में करोड़पतियों और राजों के कमरों में भी सौंदर्य के वे सुखद दृश्य नहीं पाए जाते । यही कारण है कि आज शकुंतला और कादंबरी लिखनेवालों की औलाद साहित्य का साथ खो बैठी है । उसके 'नए साहित्य' में सुंदरता का अर्थ प्रायः अश्लीलता है । जिसके मर्यादापुरुषोत्तम के विषय में तुलसी लिखते हैं—

"काकपच्छ सिर सोहत नीके ; बिच-बिच गुच्छा कुसुम-कली के ।
भाल तिलक स्रमबिंदु सुहाए ; स्रवन सुभग भूषन छबि छाए ।
बिकट भृकुटि, कच घूँघरवारे ; नव सरोज-लोचन रतनारे ।
चारु चिबुक, नासिका, कपोला ; हास-बिलास लेत जनु मोला ।"

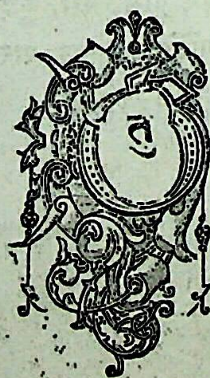
वह जाति टेढ़ी माँग को आजकल के फ़ैशन में शुमार करती है । भला हो प्रकृति-सुंदरी का कि उसके शृंगार के कारण बंगाली-साहित्य में कुछ सौंदर्य पाया जाता है । छिः ! मैं कहाँ से कहाँ चला गया । हाँ, इटली में सुंदरता की प्रतिष्ठा है । वहाँ के साहित्य में भी सुंदरता है । हाल में इटली के विद्वान् एलची ने बर्लिन में कार्टूसी पर व्याख्यान दिया था । उसमें कहा—"Selionbeit ist sein wesen" अर्थात् सुंदरता इस लेखक का प्राण है । एक आस्ट्रियन चित्र-पंडित ने इटालियनों के बारे में लिखा है—"Der Italiner ist ein wu... Jerliches wesen ××× Spassig ist's, ... leicht er liigt ×××× Bei ilun ist all... Oberflache, Schein, Maske, Posierung" अर्थात् इटालियन एक विचित्र जीव है ××× ... दिल्लगी है कि वह बिना बात के झूठ बोल देता है ××× उसके लिये जीवन बाहरी है, दिखाऊ है, नक़ल है, ... है । इसके बाद यह प्रसिद्ध चित्रकार शूल (Schwe...) लिखता है—"Und doch nicht abve R... ist ××× Vielleicht hubsehes Bild" ... यह सब सही होने पर भी वह हृदय हर लेता है, ××× संभवतः यह चित्र सुंदर है । दावे के साथ तो नहीं, ... बड़ी नम्रता के साथ, अपनी आँखों तथा अपने ... पर पूरा भरोसा न रखते हुए यह कहने की हिम्मत ... पंक्तियों का लेखक भी करता है कि इटली मनोहर ... इटली सुंदर है । इसीलिये पराधीन इटली का ... लिख गया है—

"इटली, इटली, इतनी छवि क्यों धारण की तूने हा हा ..."
हेमचंद्र ...

बर्लिन से }

गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति

"रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजं ;
सुग्रीवं वायुसूनुं च प्रणमामि पुनः पुनः ।"



[तु]लसी-कृत रामायण के प्रेमी ... भारतवर्ष में सब कहीं ... हैं । पंडित और मूर्ख, ... और छोटे, सभी ... अध्ययन और श्रवण से ... पाते, लाभ उठाते हैं । ... भी प्रसिद्ध है कि ... तुलसीदासजी राम के पूर्ण और सच्चे भक्त ... उनके हार्दिक प्रेम और गूढ़ भक्ति के विषय ... किसी को संदेह नहीं है । उनके प्रेम ...

ऐसा गंभीर समुद्र है, जिसकी तह तक पहुँचना एक प्राकृत मनुष्य का काम नहीं। यदि कोई ऐसा उच्च श्रेणी का प्रेमी हो, जैसे महात्मा तुलसीदास थे, तो कदाचित् वह उनकी भक्ति की विस्तार-सहित व्याख्या कर सके। मैं केवल उसके थोड़े-से मुख्य लक्षणों का वर्णन करूँगा। वे लक्षण गोस्वामीजी ने अपने ग्रंथों में स्पष्ट रीति से स्वयं स्थान-स्थान पर बतलाए हैं। मेरा कृत्य इतना ही होगा कि मैं उनको एक सुगम क्रम से एकत्र कर दूँ। उनके प्रतिपादन के लिये महात्मा-जी के ही ग्रंथों में से कुछ उदाहरण दूँगा —

(१) सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि राम कौन प्रभु हैं, जिनके चरित्र रामायण में वर्णन किए गए हैं, और जिनकी भक्ति के प्रचार के लिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने इतना श्रम किया है? इसका उत्तर स्वयं गोस्वामीजी ने रामायण के संस्कृत-मंगलाचरण में दिया है—

"यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवाः सुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः;
यत्पादप्लवमेव भाति हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।"

इसका अर्थ यह है कि जिसकी माया के वश में सारा संसार, ब्रह्मा आदि देवता तथा असुर हैं, जिसकी सत्ता से रस्सी में साँप के भ्रम की भाँति सब जगत् सत्य-सा ही प्रतीत होता है, जिसका चरण भव-सागर को तरने की इच्छा करनेवाले के लिये एक-मात्र नौका है, उस अशेष-कारण-पर, राम-नाम-धारी, ईश, हरि की मैं वंदना करता हूँ।

महात्माजी ने यही रामायण और अन्य ग्रंथों में भी स्पष्ट रीति से बतलाया है। केवल एक उदाहरण और देता हूँ—जहाँ सती को संदेह उत्पन्न हुआ, और उन्होंने महादेवजी से यह प्रश्न किया कि—

"ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद;
सो कि देहधरि होइ नर, जाहि न जानत बेद।"

और महादेवजी ने उसका इस प्रकार उत्तर दिया कि—

"जासु कथा कुंभज ऋषि गाई, भक्ति जासु मैं मुनिहि सुनाई।
सो मम इष्टदेव रघुबीरा, सेवत जाहि सकल मुनि धीरा।
मुनि, धीर, जोगी, सिद्ध, संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं;
कहि नेति निगम-पुरान-आगम जासु कीरति गावहीं।
सोइ राम व्यापक ब्रह्म, भुवन-निकाय-पति, मायाधनी,
अवतरेउ अपने भक्त हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि तुलसीदासजी राम को सच्चिदानंद, परब्रह्म, परमात्मा, सर्वेश्वर, सर्व-व्यापक और माया के ईश का अवतार मानते थे, तथापि कहीं-कहीं काव्य के लिये और कथा-प्रसंग के कारण उन्होंने उनको विष्णु और जानकीजी को लक्ष्मी भी कहा है।

(२) दूसरा प्रश्न यह है कि भक्ति क्या वस्तु है? भक्ति-मार्ग के दो बड़े आचार्य हुए हैं। एक नारद, दूसरे शांडिल्य। शांडिल्य ऋषि ने अपने भक्ति-सूत्र में भक्ति की व्याख्या इन शब्दों में की है—"सा परानुरक्तिरीश्वरे।" अर्थात् ईश्वर के साथ अतिशय प्रीति का नाम भक्ति है। इस सूत्र में ईश्वर-शब्द आया है; ब्रह्म अथवा परमात्मा-शब्द नहीं आया। इससे यह पता चलता है कि भक्ति का संबंध ईश्वर अथवा सगुण ब्रह्म ही से है, निर्गुण ब्रह्म अथवा शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म, जो माया से परे है, जिसका कोई नाम और रूप नहीं, जो ज्ञान-गिरा-गोतीत है, उससे नहीं। महात्मा तुलसीदासजी कहते हैं—

"अकल, अनीह, अनाम, अरूपा; अनुभव-गम्य, अखंड, अनूपा।
मन-गोतीत, अमल, अबिनासी; निर्बिकार, निरवधि, सुखरासी।"

जिसके विषय में वेद केवल 'नेति-नेति' कहकर चुप रह जाते हैं, और जिसके विषय में श्रुति इतना ही कहती है कि—"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (अर्थात् जहाँ से वाणी और बुद्धि निराश होकर लौट आती है), उस निर्गुण ब्रह्म से भक्ति का संबंध नहीं है। काकभुशुंड के इतिहास में तुलसीदासजी कहते हैं, उनका चित्त तभी संतुष्ट हुआ, जब लोमश ऋषि ने सगुण ब्रह्म का निरूपण किया।

"बालक-रूप राम कर ध्याना; कहेहु मोहिं मुनि कृपानिधाना।
सुंदर सुखद मोहिं अति भावा; सो मैं प्रथमहि तुमहिं सुनावा।"

ईश्वर के साथ प्रीति के मार्ग में किसी एक भाव का सहारा अवश्य लेना पड़ता है। भक्त की जैसी प्रकृति होती है, उसी के अनुसार वह अवलंब ढूँढ़ लेता है। ईश्वर और जीव में अनेक प्रकार के नाते हो सकते हैं। जिस भक्त की जैसी रुचि होती है, वह उसी के अनुकूल एक नाता लगा लेता है। विनयपत्रिका के एक प्रसिद्ध पद में तुलसीदासजी कहते हैं—

"ब्रह्म तू, हौं जीव हौं, तू ठाकुर, हौं चेरो;
तात, मात, गुरु, सखा तू सब बिधि हित मेरो।
मोहिं तोहिं नाते अनेक मानिए सो भावै;
ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल चरन-सरन पावै।"

किसी भक्त ने ईश्वर को पिता, किसी ने पुत्र, किसी ने माता, किसी ने मित्र और किसी ने स्वामी करके माना है। लगभग इन सब भावों के उदाहरण रामायण ही में मिलते हैं; बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं। अब देखना यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने किस भाव को पकड़ा, और अपने जीवन में उसका निर्वाह किया। वह स्वामी और सेवक का संबंध मानते थे, और इसी को आदि से अंत तक उन्होंने निबाहा। अपने सेवक-भाव और दीनता को विनयपत्रिका के इस पद में भली भाँति दिखलाया है—

"राम को गुलाम, नाम रामबोला राख्यौ राम
काम यही नाम द्वै हौं कबहूँ कहत हौं;
रोटी, लुगा नीके राखै आगे हैके वेद भाखै
भलौ है है तेरो, ताते आनँद लहत हौं।"

× × ×

"बूझो ज्योंही कह्यो मैं हूँ चेरो ह्वैहौं रावरोजू
मेरो काज कहूँ नाहीं चरन गहत हौं;
मीजौं गुरु-पीठ अपनाय गहि बाँह बोल
सेवक सुखद सदा बिरद बहत हौं।
लोग कहैं पोच, सो न सोच, न सँकोच मेरे,
ब्याह न बरेखी जाति-पाँति न चहत हौं।
'तुलसी' अकाज-काज राम ही के खीझे-रीझे
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहत हौं।"

और यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

"हौंउ कहावत सब कहत, सहत राम उपहास;
साहब सीतानाथ-से, सेवक तुलसीदास।"

इसमें संदेह नहीं कि यही भाव सबसे सीधा, सुगम और सरल है।

(३) इसके आगे हम गोस्वामी तुलसीदासजी की भक्ति के दो बड़े लक्षण बताना चाहते हैं। उन्हीं पर उसका महत्त्व और गौरव पूरा-पूरा निर्भर है। स्वामीजी की अनन्य भक्ति और निष्काम भक्ति थी।

अनन्य भक्ति—

जब पंपासर पर श्रीरामचंद्र और हनुमानजी से पहले-पहल भेंट हुई, तो महाराज ने निज दास को और हनुमान्‌जी ने अपने स्वामी को तुरंत ही पहचान लिया। महाराज ने कहा—

"सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना; तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना।
समदरसी मोहिं कह सब कोऊ; सेवक प्रिय अनन्य-गति सोऊ।
सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमंत;
मैं सेवक, सचराचर-रूप स्वामि भगवंत।"

तुलसीदास श्रीरामजी को एक-मात्र अपना इष्ट-देव और स्वामी मानते थे; उनके अतिरिक्त किसी दूसरे का भरोसा, या किसी दूसरे से कोई अभिलाषा नहीं रखते थे। और, इसी के साथ, अपने स्वामी को सब चर और अचर में व्याप्त देखते थे। वह कहते हैं—

"सिया-राम-मय सब जग जानी, करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।"

ज्ञानी जीवात्मा और परमात्मा की एकता को देखता है। वह "तत्त्वमसि", "सोऽहमस्मि" आदि महावाक्यों के मार्ग पर चलता है। परंतु भक्त भेद-भाव को नहीं भूलता। उसका सिद्धांत यह है—

"सेवक सेव्य प्रभाव बिन, भव न तरिय उरगारि;
भजहु राम-पद-पंकज अस सिद्धांत बिचारि।"

गोस्वामीजी स्मार्त-मत के वैष्णव थे। वह सब देवतों को मानते और यथायोग्य उनका आदर करते थे। परंतु उन्हें इष्ट किसी का नहीं था, और न वह किसी का भरोसा रखते थे। विनयपत्रिका में उन्होंने लगभग सभी देवतों की स्तुति की है; परंतु याचना सबसे केवल इतनी ही की है कि मुझे श्रीरामचंद्र के चरणों में सच्ची भक्ति और प्रीति हो। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं माँगा। क्यों नहीं माँगा, इसका कारण भी विनय के इस पद से खुलता है—

"दीन को दयाल दानी, दूसरो न कोऊ;
जाहि दीनता कहौं, हौं दीन देखौं सोऊ।
मुनि, सुर, नर, नाग, असुर साहब तो घनेरे;
पै तौलौं जौलौं रावरे न नेकु नैन फेरे।
त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित वदत वेद चारी;
आदि, अंत, मध्य राम साहिबी तिहारी।
तोहिं माँगि माँगनो न माँगनो कहायो;
सुनि सुभाव सील, सुजस जाचन जन आयो।
पाहन, पसु, बिटप, बिहँग अपने कर लीने;
महाराज दसरथ के रंक राव कीने।
तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो;
बारक कहिए कृपाल तुलसिदास मेरो।"

इस पद का अंतिम चरण, मेरी समझ में, अद्वितीय है। इसके थोड़े-से साधारण अक्षरों में सच्चे प्रेम और दीनता का भाव कूट-कूटकर भर दिया गया है, मानो कवि ने अपना शुद्ध हृदय ही स्वामी के आगे खोलकर रख दिया है। भक्त के लिये इससे बढ़कर और क्या इष्ट हो सकता है कि स्वामी अपने मुखारविंद से कहे—"तू मेरा है।" धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, सब पदार्थ इस एक शब्द "मेरा" से कहीं नीचे रह जाते हैं। सेवक को जब यह प्रतीत हो जाय कि स्वामी ने मुझको अपना लिया, तो उसको जो आनंद प्राप्त होगा, वह किसी और दशा में प्राप्त हो ही नहीं सकता। उसे सब कुछ मिल गया, और किसी वस्तु की इच्छा उसको नहीं रह जाती—

"तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो;
बारक कहिए कृपाल तुलसिदास मेरो।"

धन्य है इस कविता को, और धन्य है इस सच्चे प्रेम को। ऐसा भाव ऐसे ही महात्मा की लेखनी से प्रकट हो सकता है। अनन्य भक्ति के संबंध में विनयपत्रिका का एक और पद है, जिसको इस स्थान पर लिखे बिना मुझसे रहा नहीं जाता। वह यह है—

जानकी-जीवन की बलि जैहौं।
"चित कह राम-सिय-पद परिहरि, अब न कहूँ चलि जैहौं;

उपजी उर प्रतीति सपनेहुँ सुख हरि-पद-बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन यही सिखावन देहौं;
स्रवनन और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं।
नातो नेह नाथ सों करि सब, नातो नेह निबैहौं;
यह छरमार ताहि 'तुलसी' जग, जाको दास कहैहौं।"

धन्य हो गोस्वामी महाराज! जो कुछ इस पद में कहा है, वही ज्यों-का-त्यों आपने अपनी जीवन-यात्रा में भी करके दिखा दिया। आपका जीवन, आपका रहन-सहन, आपकी भक्ति और प्रेम और आपकी काव्य-रचना हिंदू-मात्र के लिये शिक्षाप्रद है और सदैव रहेगी। उसकी उत्तमता और उपयोगिता की कुछ सीमा नहीं है।

निष्काम भक्ति—

आप मुझे क्षमा करेंगे। मैं कुछ शब्द अँगरेज़ी भाषा में यहाँ कहूँगा—

"In connection with "Nishkam-Bhakti" the only point which I want to emphasize is that from the point of view of a true Bhakta Bhakti is not a *means* to an *end*, but is an *end* in itself."

निष्काम-भक्ति के विषय में कुछ विशेष विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। केवल इतना ही कहना है कि भक्ति किसी अन्य पदार्थ की प्राप्ति का हेतु नहीं है। वह स्वयं ही सबसे बड़ा लाभ और पदार्थ है। सच्चे भक्त ऋद्धि-सिद्धियों की ओर दृष्टि नहीं करते। तब अन्य संसारी पदार्थों का तो कहना ही क्या है। सुंदर-कांड के मंगला-चरण में गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं—

"नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलांतरात्मा;
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च।"

अर्थात् हे रघुपति, मेरे हृदय में और कोई दूसरी अभिलाषा नहीं है, यह सत्य कहता हूँ। आप सबके अंतर्यामी हैं, इसलिये हे रघुपुंगव, मुझे पूर्ण भक्ति दीजिए, और चित्त को कामादि-दोषों से रहित कीजिए।

रामचरित-मानस में आदि से अंत तक बार-बार इसी बात पर ज़ोर दिया गया है कि भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है, उससे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है; तथा इस कलियुग में जीव के उद्धार और परमात्मा के अनुग्रह के लिये और कोई मार्ग ऐसा सुगम नहीं है, जैसी कि भक्ति—

"जाते बेगि द्रवौं मैं भाई, सो मम भक्ति भक्त-सुखदाई।"

"वचन, कर्म, मन मोर गति, भजन करैं निष्काम;
तिनके हिरदय-कमल मैं, करौं सदा बिसराम।"

रामचरित-मानस में जिन देवता ऋषि, मुनि आदि ने श्रीरामचंद्र की स्तुति की और उनके सम्मुख आए, उन सबने भक्ति का ही वरदान माँगा है। दो-चार उदाहरण नीचे लिखे जाते हैं—

"अर्थ न धर्म न काम-रुचि, गति न चहौं निर्बान;
जन्म-जन्म रति राम-पद, यह बरदान न आन।"

(भक्त-शिरोमणि भरतजी)

अत्रि, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य, इन तीनों ऋषियों ने भी एक ही प्रकार का वर माँगा। एक उदाहरण और दिया जाता है—

"अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धरि राम;
मम हिय-गगन इंदु इव बसौ सदा निष्काम।"

"नृपनायक दे बरदान इदं;
चरनामृत-प्रेम सदा सुभदं।
बैदेहि अनुज समेत; मम हृदय करहु निकेत।
मोहिं जानिए निज दास; दे भक्ति रमानिवास।"

(ब्रह्मा और इंद्र)

"जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी,
ते पाय सुर-दुर्लभ-पदादपि परत हम देखत हरी।"
बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे ह्वै रहे,
जपि नाम तुव बिनु स्रम तरहिं भव नाथ सोइ स्मरामहे।
गुनायतन प्रभु सद्गुनाकर देव यह बर माँगिहैं;
मन-बचन-कर्म बिकार तजि तुव चरन हम अनुरागिहैं।"
(चारों वेद)

"बार बार बर माँगहूँ हरषि देहु श्रीरंग;
पद-सरोज-अनपायिनी भक्ति सदा सतसंग।"
(महादेवजी)

इन सबका निचोड़ यह है कि बड़े-बड़े ज्ञानी और योगी महात्माओं ने भी श्रीरामचंद्र महाराज के सगुण-लीला-चरित्र और शील-स्वभाव को देखकर यही याचना की कि जो सगुण ब्रह्म की उपासना में आनंद है, वह उनको प्राप्त हो, और महाराज के सगुण रूप का ध्यान निरंतर उनके हृदय में बना रहे। अन्य किसी दूसरे पदार्थ की अभिलाषा उन्होंने नहीं की।

इस सांप्रदायिक-वाद में कि ज्ञान से भक्ति प्राप्त होती है, अथवा भक्ति से ज्ञान प्राप्त होता है, और तत्पश्चात् जीव का मोक्ष होता है, गोस्वामीजी नहीं हैं। उनके विचारानुसार अंत में जाकर ज्ञान और भक्ति एक ही हो जाते हैं। वह कहते हैं—

"ज्ञानहि भक्तिहि नहिं कछु भेदा।"

और यह भी कहा है कि—

"सगुन-उपासक मोच्छ न लेहीं;
तिनको राम भगति निज देहीं।"

भक्ति के साथ किसी-किसी ने सत्संग की भी याचना की है। रामचरित-मानस के पाठकों को विदित है कि गोस्वामीजी ने संत और असंत के लक्षण और सत्संग की महिमा कई जगह कही है। सत्संग की महिमा के विषय में कहा है—

"तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला इक अंग;
लहत न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव-सतसंग।"

इसके अतिरिक्त सत्संग तो भक्ति का एक मुख्य अंग और मुख्य साधन है। श्रीराम जब शबरी के आश्रम में पहुँचे, तब श्रीमुख से नवधा भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की—

"नवधा भक्ति कहौं तुहिं पाहीं; सावधान सुनि धरि मन माहीं।
प्रथम भगति संतन कर संगा; दूसरि रति मम कथा-प्रसंगा।
गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भगति अमान;
चौथि भक्ति मम गुन गन, करहि कपट तजि गान।
मंत्र जाप मम दृढ़ बिस्वासा; पंचम भजन सो बेद प्रकासा।
छठ दम, सील बिरति बहु कर्मा; निरत निरंतर सज्जन-धर्मा।
सातवँ सम मोहिं मय जग देखा; मो ते संत अधिक करि लेखा।
अठवें जथालाभ संतोषा; सपनेहुँ नहिं देखै पर-दोषा।
नवम सरल सब सन छलहीना; मम भरोस हिय हरष न दीना।
नव महँ एकहु जिनके होई; नारि पुरुष सचराचर कोई।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे; सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।"

यदि आप विचार करके देखें, तो आपको इसमें कुछ भी संदेह न रहेगा कि महात्मा तुलसीदास में भक्ति के ये नवो लक्षण पूर्ण रीति से विद्यमान थे—(१) सत्संग, (२) भगवान् के कथा-प्रसंग में रुचि, (३) गुरु-पद-सेवा, (४) भगवान् के गुणानुवाद का प्रीतिसहित गान करना, (५) भगवान् श्रीरामचंद्र के नाम-महामंत्र का जप और नाम ही का अवलंबन, (६) यम, नियम, आचार और शास्त्रोक्त धर्म, (७) सब जगत् को ईश्वरमय देखना, (८) यथालाभ-संतोष, (९) सबसे उदासीन भाव और केवल एक ईश्वर का भरोसा।

राम-नाम की महिमा रामचरित-मानस तथा अपने और ग्रंथों में गोस्वामीजी ने बड़े विस्तार के साथ गाई है, और नाम ही के जप का अवलंबन

जैसा उन्होंने दृढ़ पकड़ा, वैसा कदाचित् ही किसी दूसरे महात्मा ने पकड़ा हो।

(४) इन सब गुणों के अलावा तुलसीदासजी में एक और अधिक गुण था, जो मेरे विचार में पूर्ण भक्ति का लक्षण है। वह यह है कि उनकी दृष्टि में सकल चर और अचर ईश्वर के भक्त थे, और कोई जीव ईश्वर की प्रीति से, चाहे वह किसी रूप में हो, रहित न था। स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, चाहे वे नगर के निवासी हों, चाहे ग्राम, अथवा जंगल के पशु और पक्षी, लता और वृक्ष, सभी गोस्वामीजी की दृष्टि में रामचंद्र की प्रीति से परिपूर्ण थे, और इसको उन्होंने प्रत्येक स्थान पर भली भाँति दिखला दिया है। यहाँ तक कि निशाचरों के संबंध में भी स्वयं श्रीराम ने कहा है— "बैर भाव पूजहिं मोहिं निसिचर", और रावणादि राक्षसों को महाराज ने रण में मारकर वह गति दी, जो योगी, संत और महात्माओं को भी दुर्लभ है।

भक्त-शिरोमणि भरतजी की दृष्टि में भी सकल जीवों को राम प्राणों से प्यारे थे। इसी कारण उनको तब बड़ा आश्चर्य और महादुःख हुआ, जब उन्होंने यह देखा कि उनका माता कैकेयी ने रामजी से द्वेष प्रकट किया, और उनके वनवास का वर माँगा। भरतजी ने कहा—

"अस को जीव-जंतु जग माहीं; जेहि रघुनाथ प्रान-प्रिय नाहीं।
भे अति अहित राम तेउ तोहीं; को तू अहै, सत्य कहि मोहीं।"

जिससे कैकेयी को द्वेष हुआ, वह राम कैसे हैं—

"प्रान प्रान के जीय के जिय, सुख के सुख राम;
तुम तजि तात सुहात गृह, जिनहिं तिनहिं बिधि बाम।"

रामचरित-मानस में इन्हीं राम के रूप, शील, गुण और प्रभुता का चित्र अनेक प्रकार से खींचा गया है। गोस्वामीजी का अपनी काव्य-रचना का एक-मात्र अभिप्राय यही था कि पाठक और श्रोता के चित्त में राम की सच्ची भक्ति का अंकुर जमे। फ़ारसी के एक महानुभाव ने कहा है—

"न तनहा इश्क़ अज़ दीदार ख़ेज़द;
बसा कीं दौलत अज़ गुफ़्तार ख़ेज़द।"

आशय यह कि केवल दर्शन से ही प्रीति उत्पन्न नहीं होती, संभाषण आदि से भी उत्पन्न होती है।

रामचंद्र के शील-स्वभाव का चित्र विनय-पत्रिका के एक पद में खींचा गया है। पाठकों के चित्त-विनोदार्थ मैं उसको यहाँ उद्धृत करता हूँ—

"सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलकि, नैन जल, सो नर खेहर खा
सिसुपन ते पितु, मातु, बंधु, गुरु, सेवक, सचिव सखा
कहत राम बिधुबदन रिसौहैं, सपनेउ लखो न का
खेलत संग अनुज बालक नित, जुगवति अनट अपा
जीति-हारि चुचकारि दुलारत, देत, दिवावत दाँ
सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाँ
मई सुगति सु न हेरि हरष हिय चरन छुए पछिता
भव-धनु-भंज निडर भूपति भृगुनाथ खाय गए ता
छम अपराध छमाय पाँय परि इतौ न अनत समा
कह्यो राज, बन दियो नारिबस गरि गलानि गयो रा
ता कुमातु को मन जुगवति, ज्यों निज तन मरम कुघा
कपि-सेवा-बस भए कनौड़े, कह्यो पवनसुत आ
देबे को न कछू रिनिया हौं धनिक तु पत्र लिखा
अपनाए सुग्रीव, बिभीषन तिन न तज्यो छल-छा
भरत सभा सनमान सराहत होत न हृदय अघा
निज करुना-करतूति भगत पर चपत चलत चरचा
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत कहत फिर गा
तुलसिदास अनयास राम पद पैहै प्रेम-पसाउ।

रामचरित-मानस के अंतिम दोहों की ओर ध्यान दीजिए। उनमें तुलसीदासजी के भक्ति-भाव का रूप स्पष्ट प्रकट हुआ है। उन्हें यहाँ लिखकर मैं इस लेख को समाप्त करता हूँ—

"मो सम दीन न दीन-हित तुम समान रघुबीर ;
अस बिचारि रघुबंस-मनि हरौ बिषम भव-भीर।
कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ;
तिमि रघुनाथ निरंतर, प्रिय लागहु मोहिं राम।"

"In the last couplet Tulsidas means that what might be characterized as merely *sentimental bhakti* or which is a mere matter of faith is not what is wanted. He wants bhakti which is a *living force* or a *real passion* in one's mind. He has accordingly selected two of the strongest and most over powering passions that stir and dominate human nature, namely lust and greed, in order to illustrate his meaning, and he prays that his passion for Rama should be of similar intensity and force".

साधारण रीति से देखने से यहाँ शंका होती है कि भक्ति-जैसे पवित्र और उत्तम भाव के विषय में गोस्वामीजी ने काम और लोभ-जैसे मलिन और निकृष्ट व्यसनों की उपमा क्यों दी ? किंतु नहीं, उनका अभिप्राय यह है कि केवल कथन-मात्र अथवा मन-समझौते की भक्ति भक्ति नहीं है ; भक्ति एक ऐसी जीवित शक्ति और बलिष्ठ व्यसन है, जो मनुष्य के चित्त पर काम और लोभ की तरह अपना पूरा अधिकार जमा लेता है। इसी कारण गोस्वामीजी ने इन्हीं दो व्यसनों को विशेष रूप से चुनकर उनकी तीव्रता और बलिष्ठता की उपमा दी और ऐसी ही भक्ति की याचना की है।

राधारमण भार्गव

उस पार—तरी खोल दे

(१)

नाविक !
हाँ—यह तरी खोल दे अब—अनंत में,
जाता हूँ मैं आज वहाँ—उस पार !
बहुत दिनों के बाद अहा ! प्रियतम ने—
सुध ली है अब—सफल किया जीवन को।
लाई है संदेश आज उस पार से—
प्रिय की दूती संध्या वह मृदुहासिनी।
देख-देख वह—अरुण प्रतीची-कोण में—
संकेतों से आहा ! हमें बुला रही।
जिसकी कंपित छाया धूमल—
काँप रही है शांत सलिल पर।
और निरख वह,
अपनी शेष तपस्या को समाप्त कर—
तथा यहाँ भी मिथ्या माया पर—विरक्ति से हँसकर,—
अभी-अभी जा रहे उधर ही—इसी विराट् मार्ग से—
अपने प्रिय के पास,
दिवाकर भी उस पार—
त्यागकर यह संसार।
पल-पल बढ़ती जाती है अब दर्शन की आकुलता,
बरबस खींचे लेता जैसे कोई इन प्राणों को।
अतः व्यर्थ तू मत विलंब कर, हा-हा ! असहनीय है—
अब जीवन का भार।
नाविक !
हाँ—यह तरी खोल दे अब—अनंत में,
जाता हूँ मैं आज वहाँ—उस पार !

(२)

इधर-उधर का भय न दिखा तू मुझको,
हुआ करे, यदि अंधकार है—पथ में।
बाह्य तिमिर का उसको डर अब क्या भला,
जिसने पार्थिव जग से आँखें फेर लीं।
तारापथ की ओर उधर वह, देख वह—
शीर्ण ज्योति की रेखा तम को भेद कर—
आती है भू-मंडल के उस ओर से,
राह दिखाते हों प्रिय ज्यों उस पार का ;—
बाह्य दृष्टि से ओझल जिसका द्वार—
जहाँ प्रभा का है अक्षय भंडार।

जीवन, जीवन अरे मूढ़ ! कहता जिसे,
और समीप समझता जिसका अंत तू,
वह तो थी—उस महासाधना की अवधि,
हुई आज जो शेष अहो ! सौभाग्य से।
जीवन तो अब इस मुहूर्त से हुआ कहीं आरंभ !
अतः यहीं—इस आदि-अंत के संधि-काल में,
संचित हाँ ! अतीत के इस शुभ वर्तमान को—
उस भविष्य के हाथों में अब सौंप दे,
जो कि पुरातन होता नहीं अनंत तक।
और शांत कर अंतस्तल के—ये चंचल उद्गार।
जीवन में यह शुभ संयोग—अहो ! आता क्या वारंवार ?
नाविक !
हाँ—यह तरी खोल दे अब—अनंत में,
जाता हूँ मैं आज वहाँ—उस पार !

(३)

आया प्रियतम, आया।
रहने दे, हाँ—रहने दे ! अब यह सब अभिनय-जाल।
तेरी आँखों के थोड़े से ये आँसू श्रम-पूर्ण—
द्रवित नहीं कर सकते अब उस निश्चल मन को,
जिसने आज सहर्ष उपेक्षा कर दी सबकी—
और रहा न यहाँ से जिसका अब कुछ भी संबंध।
किंतु;—किंतु अब उस स्वामी से जुड़ गया,
आया था जग में—जिसको वह खोजने।
देखा जो कुछ यहाँ—अरे, वह था सुषुप्ति का स्वप्न !
थी क्षण-भंगुर माया ;
आया प्रियतम, आया।

* * *

अहो ! खुल गया अब प्राची का द्वार ;
निकल पड़ी रेखा प्रकाश की एक।
और—
हिल उठा सलिल, खुल गई तरी, बह गई किधर, क्या जानें।
सुन पड़ा दूर से तट पर—केवल—'आया प्रियतम, आया।'
और ?—
और फिर हुई तुरत ही वह ध्वनि—महाशून्य में।

मदनमोहन मिहिर

हिंदू-संगठन

(१)



व्यक्तिगत जीवन में प्रत्येक मनुष्य स्वतंत्र होता है। उन साधनों को काम में लाने के लिये, जिनको हमने चुना है, हमें किसी से कुछ भी पूछना नहीं पड़ता। हम उनको जब चाहें, और जैसे चाहें, काम में ला सकते हैं। परंतु जातीय जीवन में यह बात नहीं है। उसके विषय में हम पग-पग पर परतंत्र हैं। कोई कैसा ही अच्छा मार्ग या उपयोगी साधन क्यों न हो, यदि हमारा समाज या जाति उसको स्वीकार नहीं करती, तो हम विवश हैं। अतः किसी जाति को ऊपर ले आने के लिये संगठन की आवश्यकता है। संगठन में वह शक्ति है, जिससे भिन्न-भिन्न धर्मों और जातियों के मनुष्य भी अपने सामाजिक जीवन को उन्नत और स्पृहणीय बना सकते हैं। जिन जातियों में संगठन की योग्यता है, उनके मुट्ठी-भर आदमी करोड़ों मनुष्यों पर शासन करते हैं; जो जातियाँ इस तरह की योग्यता नहीं रखतीं, उनके करोड़ों मनुष्य भी अपने भाग्य को दूसरों के अधीन करने के सिवा कुछ नहीं कर सकते। वस्तुतः जाति यदि शरीर है, तो संगठन-शक्ति उसका प्राण। जब तक जाति-शरीर में इस प्राण का संचार नहीं होता, तब तक जातीय जीवन बन नहीं सकता।

आज हिंदू-जाति में इसी संगठन-शक्ति का सर्वथा अभाव है। वेदांत के प्रचुर सिद्धांत और उनकी वैज्ञानिक और तार्किक सत्यता, अनेक चमत्कार-पूर्ण आविष्कार (जो आज अंधकार के भूगर्भ में समा गए हैं), उच्च ज्योतिष और गणित (जिन्हें देखकर आज पाश्चात्य विद्वान् भी चकित हो जाते हैं) जिस हिंदू-जाति की परंपरागत संपत्ति हैं, वही आज उन्नति की दौड़ में घुटने टेके बैठी है। जिस जाति के ग्रंथों में आज भी अनेक ऐसे रत्न भरे पड़े हैं, जिन्हें अभी संसार शताब्दियों के विकास के पश्चात् कठिनता से प्राप्त कर सकेगा, उसी के माथे पर आज 'अर्ध-सभ्य' होने का कलंक का टीका लगा हुआ है। यह क्यों ? संगठन-शक्ति के अभाव से।

वर्तमान जीवन-संग्राम में वही जाति जीवित रह सकती है, जो सब प्रकार से योग्य हो, जिसका प्रत्येक अंग तंदुरुस्त हो, जिसके पैरों में आगे बढ़ने की शक्ति हो, और जिसमें समयानुसार परिवर्तन करने की प्रवृत्ति हो। प्राचीन और अर्वाचीन काल की स्थिति में बड़ा अंतर है। प्राचीन काल में एक वीर, हृष्ट-पुष्ट नवयुवक दस मनुष्यों को युद्ध में धराशायी कर सकता था; परंतु वर्तमान समय में केवल मोटे-ताज़े मनुष्य ही की आवश्यकता नहीं है। दस मोटे-ताज़े मनुष्य मिलकर भी तलवार लेकर एक ऐसे दुबले-पतले मनुष्य का, जिसके पास मशीनगन है, और जो उसके चलाने में दक्ष है, मुक़ाबिला नहीं कर सकते। संसार में ज्यों-ज्यों परिवर्तन होता जाता है, त्यों-त्यों उसी के अनुकूल देश, राष्ट्र और जातियों को अपनी व्यवस्था बदलनी पड़ती है। जिन जातियों ने अपने प्रत्येक अंग को समयानुकूल नहीं बनाया, उनका नामोनिशान आज संसार में नहीं है। रोमन, यूनानी, मिसरी आदि अनेक बड़ी-बड़ी प्राचीन जातियों में से कुछ का तो पृथ्वी पर से चिह्न ही मिट गया, और कुछ अर्ध-जीवित होकर सिसक रही हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हिंदू-जाति सबसे प्राचीन जाति है, और जहाँ अन्य जातियों का नाश हो गया, वहाँ हिंदू-जाति अब भी जीवित है, इसलिये उसका नाश होना संभव नहीं। परंतु यह उनका भ्रम-मात्र है।

कौरव-पांडवीय महायुद्ध से हिंदुओं के ह्रास का काल प्रारंभ होता है। समय-समय पर कई महान् आत्माओं ने इस ह्रास के प्रवाह को रोकने और नवीन जीवन की स्फूर्ति पैदा कर उन्नति की ओर ले जाने की चेष्टा की। इनमें महात्मा बुद्ध और भगवान् शंकराचार्य अधिक उल्लेखनीय हैं। उनके अविरत प्रयत्न से कुछ समय के लिये हिंदू-जाति का अधःपतन रुक गया, और भारतवर्ष के इतिहास में एक बार फिर महाराज अशोक, महाराज विक्रमादित्य, महाराज हर्ष आदि के शासन-काल की सृष्टि हुई। ईसा के ९०० वर्ष पश्चात्, अर्थात् कोई १००० वर्ष से, हिंदू-जाति का अधःपतन शीघ्रता से आरंभ हो गया। वह प्राचीन आर्यों के सीधे-सादे सिद्धांत भूल गई; उसमें बाह्याडंबर, अहम्मन्यता, आत्मविश्वास और स्वार्थ ने घर कर लिया। उसके एक सर्वोत्तम अंग ने—जिसने एक समय अपने त्याग, कर्म-निष्ठता और विश्व-प्रेम की प्रतिभा से चतुर्दिक् आलोकित कर दिए थे—अपने दूसरे निर्बल अंगों पर सामाजिक अत्याचार करना शुरू कर दिया। सामाजिक विषमता ने उग्र रूप धारण किया। भगवान् की समान सृष्टि में कुछ लोगों को तो आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया, और कुछ की पूर्ण अवहेलना की गई, उन्हें पग-पग पर रौंदा गया। जिस प्राचीन हिंदू-जाति में दूसरी जातियों को अपने विशाल अंक में छिपा लेने की अद्भुत शक्ति थी, जिसका प्रत्येक सिद्धांत सार्व-भौमिकता से पूर्ण था, जिसमें उदारता, समता और प्रेम कूट-कूटकर भरा था, उसी में धीरे-धीरे संकुचित विचारों ने प्रवेश किया। एक समय था, जब सीमांत-प्रदेशों से जिन-जिन जातियों ने हिंदुओं पर आक्रमण किया, उन्होंने उनकी आकर्षण-शक्ति से खिंचकर अपने को समर्पित कर दिया, और उनमें मिलकर अपने को आर्य कहलाने में गौरव समझने लगे। दूसरा समय वह आया, जब उस जाति ने संसार के लिये अपना विशाल द्वार बंद कर दिया, और अपने ही अंगों को काट-काटकर उन्हें अपने से दूर करना शुरू किया।

हिंदुओं की नैतिक अवनति के साथ-साथ उनकी संख्या भी दिन-दिन घटती जा रही है। कुछ गत जन-गणना की रिपोर्टों का अध्ययन करने से विदित होता है कि हिंदू-जाति तो निरंतर घट रही है, और अन्य-धर्मीय बढ़ रहे हैं। गत सन् १९२१ की जन-गणना से विदित होता है कि गत १० वर्षों में ईसाई २० लाख बढ़े हैं, और मुसलमान पचीस लाख; परंतु हिंदू, इसके विपरीत, सात लाख घट गए हैं। एक बंगाल-प्रांत के ही अंक देखने से हिंदू-जाति के कम होने का पता लग जाता है। इस प्रांत में, सन् १८७२ में, हिंदू मुसलमानों से ४½ लाख अधिक थे; पर अब, पचास वर्ष के पश्चात्, हिंदुओं से मुसलमान ५० लाख अधिक हो गए हैं। सन् १८७२ में ईसाई और बौद्ध क्रमशः ६३,४८२ और ८४,८९२ थे; परंतु सन् १९२१ में क्रमशः १,४०,०७५ और २,७५,६४९ हो गए। अन्य लोग भी बढ़े हैं; पर हिंदू इसके विपरीत १,३६,२२१ घट गए हैं।

अधिकांश हिंदू समझते हैं कि हमारी संख्या बाईस करोड़ है; और दस-पाँच लाख घटने से हमारी कोई बड़ी क्षति नहीं हो सकती। परंतु यदि वे एक लाख भी प्रति वर्ष

घटते रहे, तो दो हज़ार वर्षों में उनका समूल नाश हो जायगा। इसके अतिरिक्त अभी यदि बाईस करोड़ हिंदुओं की संख्या से अछूत, विधवा, भिखमंगे आदि, जिन्हें कठिनता से जीवित कहा जा सकता है, निकाल दिए जायँ, तो हिंदुओं की संख्या कठिनता से दस करोड़ ही रह जाती है।

मलाबार, मुल्तान, अजमेर, सहारनपुर, आगरे आदि के झगड़ों को जहाँ हम नाशकारी कहते हैं, वहाँ उनसे एक लाभ भी हुआ है। जहाँ उन्होंने जातिगत द्वेष उत्पन्न करके देश में एक नाशकारी वायु चला दी है, वहाँ हिंदुओं के सिर पर आघात करके उन्हें उनकी सामाजिक निर्बलता का भी ज्ञान करा दिया है। यदि हिंदू-जाति ने जातिगत द्वेष में न पड़कर अपनी आंतरिक निर्बलता दूर करने की चेष्टा की, तो वे हिंदुओं के लिये ही नहीं, बल्कि सारे राष्ट्र के लिये शुभकर ही होंगी।

हर्ष है कि देश में इस जर्जरित जाति के संगठन की आवाज़ सुनाई देने लगी है। संगठन? जिस जाति में सैकड़ों उपजातियाँ, बीसियों धर्म, और सैकड़ों संप्रदाय हों, उसका किस प्रकार संगठन किया जा सकता है? जिस जाति में इतनी सामाजिक विषमता हो (जहाँ ब्राह्मण पिटता हो, तो क्षत्रिय हँसता है; जहाँ क्षत्रिय भूख के दावानल से जल रहा हो, तो वैश्य उसकी कुछ चिंता न कर विवाह में व्यर्थ ही धन उड़ा देता है), उस जाति के मनुष्यों को (जो अपने धार्मिक और जातीय संस्कारों में पृथक्-पृथक् जकड़े हुए हैं) एक-जातीयता के सूत्र में बाँधना मस्त हाथी को कमल की नाल से बाँधने के सदृश प्रतीत होता है। परंतु, तो भी, निराशा का कोई कारण नहीं है। आज जिन जातियों में संगठन-शक्ति पूर्ण रूप से दिखाई देती है, उनकी भी, आज से तीन सौ वर्ष पहले, वही दशा थी, जो आज हमारी है। यदि आज, बीसवीं शताब्दी में, अमेरिका की हबशी जातियाँ और आफ़्रिका की वहशी जातियाँ वहाँ की सभ्य और सबल गोरी जातियों के मुक़ाबिले में अपने जातीय स्वत्वों की रक्षा कर सकती हैं, यदि अपने राष्ट्र की उन्नति के लिये कनाडा और दक्षिण आफ़्रिका की मिश्रित जातियाँ देश की उन्नति के लिये अपना संगठन कर सकती हैं, तो हिंदू-जाति के भी सैकड़ों टुकड़े हिंदूपन का अस्तित्व बनाए रखने के लिये मिलकर एक शक्ति बन सकते हैं।

हिंदू-जाति सैकड़ों टुकड़ों में बँट गई है। यही नहीं, उन बँटे हुए टुकड़ों में कुछ लोगों की स्वार्थपरायणता और अहम्मन्यता से बीच में इतनी मोटी-मोटी दीवारें खड़ी हो गई हैं कि कठिनता से यह कहा जा सकता है कि ये सब एक ही वस्तु के टुकड़े हैं। हिंदू-जाति को संगठित करने के लिये धार्मिक और जातीय भेदों की विषमता मिटाने की आवश्यकता है। संगठन के इच्छुक इस स्थान पर अपना एक पड़ाव डाल सकते हैं। इसका यह तात्पर्य न समझना चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था को समूल नष्ट करना ही आवश्यक है। यह अभी असंभव ही है। यह वांछनीय भी नहीं हो सकता। परंतु हम जातिगत विषमता का अवश्य नाश कर सकते हैं। हमारा तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का भेद रहते भी हिंदूपन के नाते को प्रधानता दी जाय; विशेष समय में जाति-भेद को मानकर भी सब समय समता का व्यवहार किया जाय।

संसार की सभी सभ्य जातियों में कुछ-न-कुछ धार्मिक, जातीय या नैतिक भेद पाया जाता है। परंतु वे इन भेदों को अधिक महत्त्व नहीं देतीं। हिंदुओं में इसके विपरीत देखा जाता है कि वे मूल सिद्धांतों और भावों को महत्त्व न देकर पारस्परिक भेद-भाव को ही सब कुछ मान बैठे हैं। एक ब्राह्मण को जन्म से लेकर मृत्यु तक यही बात सबसे महत्त्व-पूर्ण मालूम देती है कि वह ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ है, और इसीलिये सबसे श्रेष्ठ है। यह बात उसे अन्य किसी भी धार्मिक सिद्धांत से अधिक मूल्यवान् प्रतीत होती है। उससे आप पूछिए कि "आप कौन हैं?" वह पहले कहेगा—"मैं गौड़ हूँ", और फिर कहेगा—"मैं ब्राह्मण हूँ"। वह यह कभी न कहेगा कि "मैं हिंदू हूँ"। इसके अतिरिक्त, वह ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुआ है, इसलिये उसका नैतिक जीवन चाहे जैसा हो, वह यह अपना जन्म-सिद्ध अधिकार समझता है कि दूसरे सब हिंदू उसके पाँव धोकर चरणामृत लें। वह स्वयं तो उन्नति नहीं करेगा, परंतु यदि कोई पंचम वर्ण का मनुष्य अपनी उन्नति करेगा, तो वह उसे भी वैसा नहीं करने देगा। कारण, इससे उसकी हेठी है। हिंदू-जाति के हज़ारों पुत्र, जो इसकी कोख से पैदा हुए और इसकी गोद में पले हैं, इसीलिये दूसरी जातियों के अंग बन रहे हैं।

कि हिंदू-समाज में रहकर वे आगे बढ़ने की उस इच्छा को पूर्ण नहीं कर सकते, जिसके लिये विले की दौड़ हो रही है।

हिंदू-समाज में डेमोक्रेसी के भावों की बहुत कमी है। इस्लाम-मज़हब के जीवित रहने का यदि कोई कारण है, तो डेमोक्रेसी के भाव। उसमें छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े तक धार्मिक प्रश्न पर समता से विचार करने का अधिकार है। मुसलमानों में एक सम्राट् और भिश्ती एक फ़र्श पर खड़े होकर नमाज़ पढ़ लेते हैं; एक रंगसाज़ से लेकर एक नवाब तक एक आबख़ोरे से पानी पी लेते हैं। छोटे-से-छोटे मुसलमान को भी कुरान पढ़ने का उतना ही अधिकार है, जितना कि एक सय्यद को। परंतु हिंदू-समाज में ब्राह्मण के उपासना-मंदिर में शूद्र का प्रवेश होना असंभव है, और राजा के मंदिर में एक ग़रीब कृषक नहीं जा सकता। इसी का यह परिणाम है कि जहाँ 'अल्लाहो-अकबर' की एक ध्वनि टर्की से लेकर हिंदुस्तान तक के मुसलमानों के हृदय में धार्मिक भाव जाग्रत् कर देती है, और धर्म-संकट आ पड़ने पर एक ही प्रकार में अर्ध-चंद्र और तारों से सुशोभित झंडे के नीचे एकत्र हो जाते हैं, वहाँ हिंदू-धर्म के लिये प्राण-संकट उपस्थित होने पर भी हिंदुओं के कानों में जूँ नहीं रेंगती। एक दल ध्रुपद गाता है, तो दूसरा श्याम-कल्यान अलापता है। राम और कृष्ण का धर्म रसातल को भले ही चला जाय, पर एक ब्राह्मण-संतान शूद्र के साथ धर्म-रक्षा करने का विचार नहीं कर सकता! इन गड्ढों और खाइँयों को पाटने के लिये हमारे अनवरत परिश्रम करने की आवश्यकता है।

प्रत्येक नगर और ग्राम में हिंदू-सभाएँ स्थापित करने की आवश्यकता है। परंतु सभाएँ स्थापित करके कुछ हिंदू महानुभावों से सदस्य-प्रमाणपत्र पर हस्ताक्षर करा लेने से ही हिंदू-संगठन पूरा नहीं हो जाता। इतना कर लेने से केवल उसके यथार्थ मंतव्य की स्थापना-मात्र होती है। यदि वास्तविक कार्य का आरंभ न किया जाय, तो उनका होना या न होना बराबर है। सभाओं का संगठन और बात है, और एक जाति का संगठन और बात। सभाओं का संगठन जातीय संगठन का सहायक हो सकता है; परंतु सभाओं का संगठन ही जातीय संगठन नहीं है। सभाओं के संगठन को जातीय संगठन का एक साधन बनाने के लिये सभाओं का एक स्पष्ट कार्य-क्रम बनाने की अत्यंत आवश्यकता है। चार पाँच विषयों की ओर हिंदू नेताओं को शीघ्र ध्यान देना चाहिए। वे हैं—(१) मंदिरों का संगठन, (२) साधु-नामधारी भिखमंगों का सुधार, (३) अछूतोद्धार, (४) राष्ट्रीय रक्षक-दल की स्थापना आदि। यदि संभव हुआ, तो माधुरी में, आगे की संख्याओं में, मैं इनमें से प्रत्येक विषय पर अपने विचार प्रकट करूँगा।

देवकीनंदन "विभव"

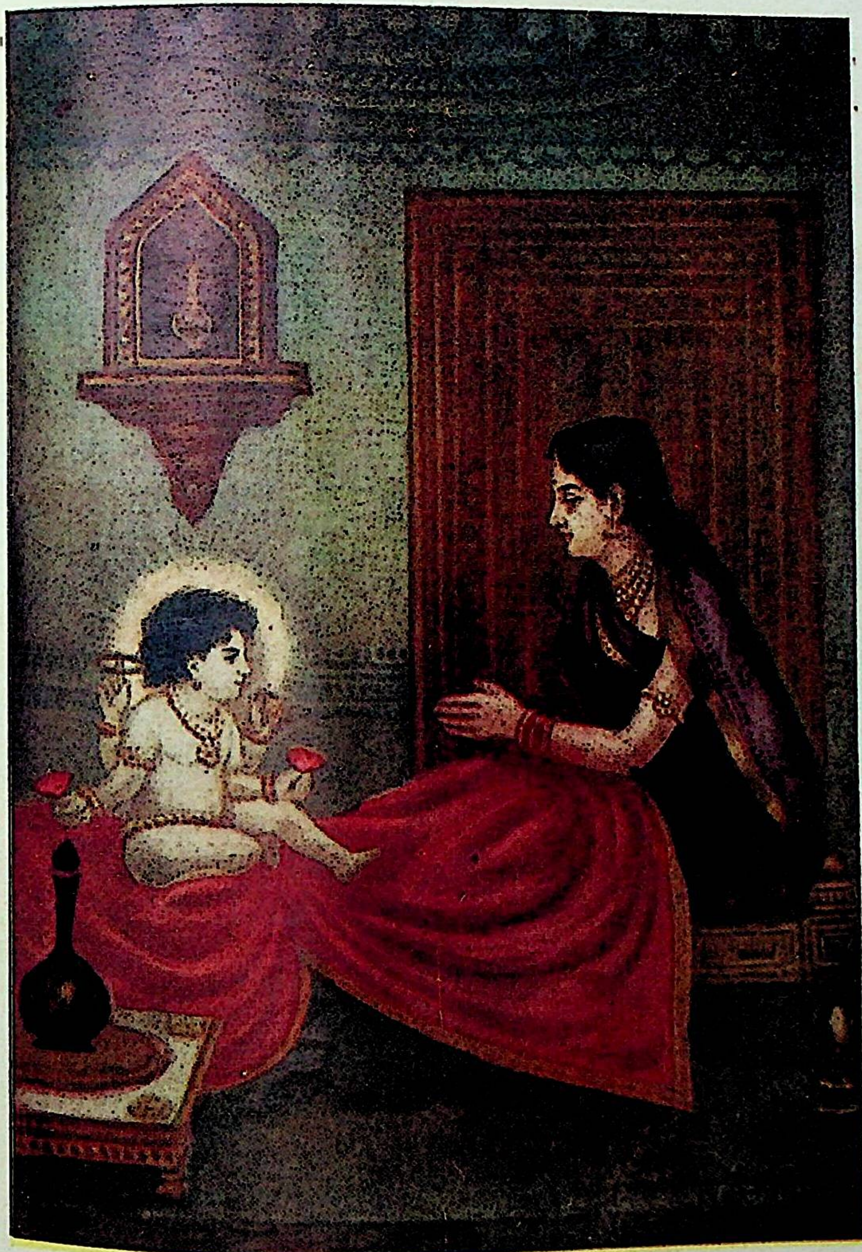
मानव-जाति की उन्नति



विचारशील लोगों के चित्त में यह प्रश्न प्रायः उठा करता है कि समय के प्रभाव से मानव-जाति की उत्तरोत्तर वास्तविक उन्नति हो रही है, या उसका अधःपतन हो रहा है? मनुष्य की गति उन्नत्युन्मुखी है, अथवा अधोमुखी होकर ऊर्द्ध्व-गामिनी हो रही है? इस प्रश्न का सहसा कोई उत्तर देना भ्रममूलक होगा; क्योंकि विद्वानों में इस विषय पर मत-भेद है। और, कोई एक व्यापक सर्व-मान्य सिद्धांत भी स्थिर नहीं हो सका है, जिससे उन्नति या अवगति की निर्विवाद परीक्षा हो जाय। इससे भी बड़ी कठिनाई की बात यह है कि वास्तविक और सच्ची उन्नति क्या है, मानव-जाति का उत्कर्ष और सर्वोच्च ध्येय क्या होना चाहिए, इन बातों पर भी एक-मत होना कुछ सहज बात नहीं है। जटिल होने पर भी प्रश्न बड़ा रोचक और महत्त्वशाली है। उद्देश्य और ध्येय के मूल-तत्त्वों से इसका संबंध है। समस्त सिद्धांतों का यही सार है, और क्रियाशील मनुष्य के सब कर्मों का यही एक अंतिम फल है।

बहुत लोगों का विश्वास है कि सत्ययुग गया। त्रेता और द्वापर भी हो चुके। अब तो कलि का राज्य है, और जैसे-जैसे कलियुग आता जायगा, पाप और दुःख का उदय होगा; सात्त्विक-भाव का नाश होकर तामसी वृत्ति की प्रधानता होती जायगी। धर्म और उसके साथ सुख-शांति का लोप होता जायगा। राम-राज्य के सुख के दिन गए, और घोर अंधकारमय अधर्म-रूपी अशांति का साम्राज्य आया। आस्तिकता पर नास्तिकता की पूरी विजय हो रही है। सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्ति का संसार से ऐसे लोप हो रहा है, जैसे मानस सरोवर से मुक्ताफल चुगनेवाले हंसों का। और यह सब—जैसी कि लोगों की धारणा है—केवल कलि के प्रभाव से हो रहा है। मनुष्य का स्वभाव ही मानो युग के प्रभाव से परिवर्तित हो रहा है। दोष है, तो कलि का, न कि मनुष्य का। उसके किए क्या कलि की शक्ति क्षीण हो सकती है, या उसकी सेना के बलवान् विजयी वीर—स्वार्थ, नास्तिकता, अधर्म आदि—भयभीत कर पीछे हटाए जा सकते हैं? नहीं, मनुष्य तो निस्तेज और निःसत्त्व है; कलि के प्रभाव से मुक्त होने में अशक्त है। ऐसे ही विश्वासों ने हिंदू-जाति को बल, वीर्य और उत्साह से हीन बना दिया है। यहाँ तक कि शक्ति-शैथिल्य की परा काष्ठा को पहुँचकर उसने अपने को संसार की पतित जातियों में अग्रगण्य बना लिया है। पाश्चात्य देशों में भी बहुत लोगों का ऐसा विश्वास था कि संसार के स्वर्ण-युग और रजत-युग के दिन बीत चुके, और मानव-जाति के सुदिन सदा के लिये विलीन हो गए। परंतु पाश्चात्य-देशवासियों के सौभाग्य से वहाँ ईसाई-धर्म का प्रचार हुआ, और उस धर्म ने जो सभ्यता और सिद्धांत सिखाए, उनके प्रभाव से भविष्य में अवनति होने के भ्रम-मूलक निराशाजनक विश्वास का विनाश हो ... ईसाई-धर्म ने उनको आशावादी बना दिया ... भविष्य को भूतकाल से सब प्रकार उ... का दृढ़ विश्वास दिलाया। भारत—वि... हिंदू-जाति—को अभाग्यवश कोई ऐसा प्रेर... मिला, जिससे वह या उसके निवासी हिंदू ... दर्शी बन जाते; आत्म-विश्वास से दृढ़ता प्र... कलियुग को भी एक बार ललकारते और ... परास्त करते। संसार-संग्राम में हिंदू-जा... पलायनशीलता और पाश्चात्यों की विजय ... का मुख्य कारण यही है। एक समाज में ... की मलिन छाया का प्रसार है, तो दूसरे में ... किरणों की लालिमा दमक रही है।

मानव-जाति की कुछ सिद्धियाँ निर्विवाद ... उनके साफल्य में संदेह को स्थान नहीं। ... के विकास से उनकी प्राप्ति हुई है, और ... की उन्नति की वे साक्षी हैं। उन्हीं का यहाँ ... उल्लेख करना ठीक है; क्योंकि जहाँ तक ... हो, विवाद-ग्रस्त और संदिग्ध बातों की ... इस क्षुद्र लेख में नहीं की जायगी। ... संसार ने जितना ज्ञान-संचय कर रक्खा ... उतना पहले कभी नहीं किया था। जैसे-... समय व्यतीत होता जाता है, मनुष्य की ... सीमा का विस्तार होता जाता है, और अनु... की वृद्धि होती जा रही है। यहाँ ज्ञान से प्र... किसी विशेष कला या विद्या से नहीं है। ... है, कुछ विद्याएँ ऐसी हों, जिनका काल-गति ... लोप हो गया हो। परंतु ज्ञान और अनुभव ... मात्रा बराबर बढ़ती ही जा रही है। सारे प्रा... ज्ञान में एक युग अपना अनुभव जोड़कर भवि... के लिये छोड़ जाता है, और इस ज्ञान-राशि ...



श्रीराम-जन्म

[चित्रकार—श्रीयुत काशिनाथ-गणेश खातू]

भए प्रगट कृपाला, परम दयाला, कौसल्या-हित-कारी ;
हरषित महतारी मुनि-मन-हारी अद्भुत रूप बिचारी ।
लोचन अभिरामं, तनु घनस्यामं, निज आयुध भुज चारी ;
भूषन बनमाला, नयन बिसाला, सोभा-सिंधु खरारी ।
कह दुइ कर जोरी, अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता ;
मायागुनज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता ।

इसी प्रकार श्रीवृद्धि होती जाती है। भगवान् वेदव्यास, वाल्मीकि और शंकराचार्य आज संसार में नहीं हैं; परंतु उनकी अलौकिक प्रतिभा का फल ज्ञान आज भी हमारे पास है। उनके आविर्भाव से पहले जितना ज्ञान संसार में था, उससे कहीं अधिक का उत्तराधिकारी वे मानव-जाति को बना गए हैं। वर्तमान में भी नए आविष्कारों और खोजों ने हमको अनेक नई बातों का अनुभव कराकर ज्ञान-वृद्धि की है। यह निधि तो बढ़ती ही जायगी। कलि की भी सामर्थ्य नहीं कि इस श्रीवृद्धि को रोक सकें, या हमको इससे वंचित कर सके। यह दूसरी बात है कि वह ज्ञान के सदुपयोग में बाधा डालने के लिये हमारी बुद्धि को भ्रम में डाल दे।

दूसरी बात, जिसे मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, प्रकृति पर मनुष्य का उत्तरोत्तर अधिकार है। प्रकृति के गूढ़ रहस्य जितने आज मनुष्य को ज्ञात हैं, और उनका जितना उपयोग अपने जीवन में वह कर रहा है, उतना इतिहास में पहले कभी नहीं पाया जाता। नाना प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों से हम प्रतिक्षण अनेक लाभ उठा रहे हैं। वैज्ञानिकों ने प्रकृति-देवी की एक निष्ठा से अद्भुत सेवा की, और उसे बड़ी तपस्या से प्रसन्न कर यह वर माँगा कि तू मनुष्य की चेरी हो जा। वचन-बद्ध देवी को 'तथास्तु' कहना ही पड़ा। परंतु कब? जब अनेक वैज्ञानिकों ने प्रकृति-देवी को प्रसन्न करने और उसके गुप्त रहस्यों को जानने के लिये खुशी से रावण की तरह अपने सिरों की बलि देने में कुछ भी संकोच नहीं किया। अभी इस देवी के पास अनंत अद्भुत रत्न छिपे पड़े हैं। काल अनंत है, और मनुष्य की आशा-पूर्ण क्रियाशीलता भी अनंत है। तो फिर कब तक वे प्राप्त न होंगे? मानव-जाति की वैज्ञानिक धन-राशि की सीमा कल्पना से भी परिमित नहीं होती। यह वह दूसरी सिद्धि है, जिसके लिये मानवीय बुद्धि-बल का यथेष्ट गर्व करना भी क्षम्य है।

तीसरी बात है समाज-व्यवस्था। मनुष्य-संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती जाती है, संसार के भिन्न-भिन्न देशों में परस्पर संबंध घनिष्ठ होता जा रहा है। यहाँ तक कि परस्पर की अधीनता या अन्योन्याश्रय इतना बढ़ गया है कि एक दूसरे की सहायता विना व्यापार आदि का चलना असंभव है। एक देश में जो पदार्थ अप्राप्य हैं, वे बाहर से सहज ही मँगाए जाते हैं। और, जिस वस्तु का बाहुल्य है, वह अन्य देशों को भेजी जाती है। इससे भी विशेष महत्त्व की बात यह है कि विचार-संघर्षण होता है, और उसके कारण विचार-संसार से एकदेशीयता का दोष जाता रहता है। पदार्थों के क्रय-विक्रय के साथ विचारों का भी लेन-देन चलता है, और इसके प्रभाव से सभ्यता का रूप-रंग बदल जाता है। मन और बुद्धि विशाल होती है, और किसी अंश में स्वार्थ और संकुचित भावों का पराभव होता है। अमुक देश ने अन्य देशों से कितना लाभ उठाया है, इस बात का यदि विचार किया जाय, तो वह देश संसार का अत्यंत ऋणी निकलेगा। साथ में यह बात भी उन्नति की द्योतक है कि धीरे-धीरे मानव-समाज की व्यवस्था ऐसी हो गई है, जिससे परस्पर संबंध स्थिर रह सका है, और भविष्य में बराबर घनिष्ठ होने की पूरी संभावना है। अनेक संस्थाएँ ऐसी स्थापित हैं, जिनके द्वारा समाज की व्यवस्था बनी हुई है, और जिनका पहले कभी अस्तित्व भी नहीं था।

मनुष्य के व्यवस्था-कौशल का यह अच्छा नमूना है। नियम-पालन में श्रद्धा और एक विशेष प्रकार की शांति-प्रियता के विना ऐसी कोई व्यवस्था एक दिन भी नहीं ठहर सकती।

इनके अतिरिक्त कुछ और बातें भी ऐसी हैं, जिनसे मानव-जाति की उत्तरोत्तर उन्नति प्रत्यक्ष दिखाई देती है। उनका भी संक्षेप से उल्लेख करने के पहले यह बता देना उचित है कि यहाँ मानव-जाति की उन्नति पर विचार किया जा रहा है। किसी जाति-विशेष की अवस्था पूर्व-काल में कैसी थी और अब उसकी कैसी दशा है, यह विचारणीय नहीं है। चीन का प्राचीन गौरव विलीन हो गया। मिसर और यूनान की कहानी-भर रह गई है, जो इतिहास-प्रेमियों को आश्चर्य में डाल देती है। भारतवर्ष की तो बात ही निराली है। इस बात को तो अवश्य मानना पड़ेगा कि कुछ देश उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके, और अब उनकी गति नीचे की ओर ही है। अनुकूल साधनों द्वारा, संभव है, ऐसे अवनत देश और जातियाँ अपनी चाल बदल दें; क्योंकि जो कुछ मनुष्य ने अब तक कहीं भी किया है, उसे वह फिर भी—अनुकूल अवस्था प्राप्त करने पर—कर सकता है। परंतु प्राकृतिक नियम के अनुसार प्रत्येक वस्तु की वृद्धि सीमा-बद्ध है, और इसी नियम के अनुसार मनुष्य, जाति या देश की उन्नति के एक सीमा तक पहुँचने पर फिर अवनति की ओर उसका झुकाव हो जाता है। भौतिक संसार की गति लहर की तरह है। उन्नति में ही अवनति बीज-रूप से छिपी रहती है। फिर मानव-समाज इस व्यापक नियम से कैसे बच सकता है? किसी जाति या देश-विशेष की दशा पर यहाँ अलग विचार तो नहीं करना, परंतु यह भी तो निश्चित है कि जाति-समूह का ही नाम मानव-जाति है। और, सभी देशों की दशा पर विचार करने से ही इस बात का पता चलेगा कि मानव-जाति की उन्नति हो रही है या अवनति? सभी देशों को देखकर यह परिणाम निकल सकता है, अन्यथा नहीं। परंतु यह बात कष्टसाध्य है। जब एक गिरता है, और दूसरा आगे बढ़ता है, तो फिर यह कैसे कहा जाय कि दोनों की उन्नति हुई या अवनति? इस कठिनाई से बचने का एक ही उपाय है। और, वह यह है कि—इस लेख के संबंध में—उन्हीं जातियों या देशों पर ध्यान दिया जाय, जो जीवित हैं, और संसार में जिन्होंने अपनी क्रियाशीलता का आजकल परिचय दे रक्खा है। इसीलिये समष्टि रूप से मानव-जाति का विचार यहाँ प्रासंगिक है, न कि किसी देश या जाति-समूह का। एक बात यह भी है कि हम यहाँ व्यक्तियों का भी विचार नहीं कर रहे हैं। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, अरस्तू, सुक़रात आदि-जैसे अलौकिक प्रतिभा-संपन्न महापुरुष सदा के लिये हो चुके, और उनके समान व्यक्ति अब होंगे या नहीं, यह भी प्रश्न उठाना ठीक नहीं। इतना ही ध्यान में रखना काफ़ी है कि प्रतिभा-संपन्न महापुरुष सभी युगों में होते हैं; परंतु उनका कार्य-क्षेत्र जुदा-जुदा होता है। यह युग कालिदास और शेक्सपियर का नहीं, एडिसन और सर जगदीश-चंद्र वसु का है। जैसे-जैसे जीवन के आदर्शों में परिवर्तन होता है, वैसे ही-वैसे महापुरुषों के कार्य-क्षेत्र भी बदलते जाते हैं। यह कैसे कहा जा सकता है कि आधुनिक काल का वैज्ञानिक प्रतिभा में किसी पूर्व-काल के कवि या आचार्य से कम है।

ऊपर कुछ ऐसी बातों का वर्णन हो चुका है, जिनके संबंध में निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि मानव-जाति पहले से बहुत अच्छी दशा में है। वे बातें हैं भी प्रत्यक्ष। वे बातें हैं तो बड़े महत्त्व की. पर इतने से ही बहुत लोग यह मानने को तैयार न होंगे कि मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति हो रही है। उनकी धारणा इसके विपरीत है। केवल ज्ञान-वृद्धि और वैज्ञानिक उन्नति को वे मनुष्य के सच्चे उत्कर्ष का कारण नहीं मानते। उनका कथन है कि पाप की वृद्धि हो रही है; सीधे-सादे सच्चे आदमी इने-गिने देखने में आते हैं; एक ओर दान-कुबेर दिखाई देते हैं, तो दूसरी ओर असंख्य प्राणी जीवन-निर्वाह की अल्पतम सामग्री से भी वंचित हैं; समाज में विषमता बढ़ती जाती है; सहनशीलता और उदारता का लोप हो रहा है; अनीति और अन्याय में सहज प्रवृत्ति हो गई है; शारीरिक बल घटता जाता है, और साथ ही लघुजीवी मनुष्यों में नाना प्रकार के नए-नए रोग उत्पन्न हो रहे हैं। अशांति का पूर्ण साम्राज्य है। मानव-जाति का घोर आर्तनाद दिन-दिन सवत्र बढ़ता ही जाता है। प्रलय-काल तक यही दशा होती चली जायगी। दावे के साथ यह कौन कह सकता है कि मनुष्य पहले से आज सुखी है? और, यदि वह सुखी नहीं, तो, विलासिता की सामग्री बढ़ जाने पर भी, क्या हमारी उन्नति हो रही है?

एक बार इस तर्क और प्रत्यक्ष प्रमाण को सुनकर यही सहज विश्वास होता है कि हमारी अवनति ही हो रही है; और इस बात को न मानना मूढ़ता का लक्षण है। परंतु सूक्ष्म विचार करने पर कम-से-कम इतना तो अवश्य ही समझ में आवेगा कि सहसा एक बात का निश्चय कर लेना सहज नहीं है। संभव है, कुछ लोगों का मत बदल भी जाय, और वे यह मानने लग जायँ कि वास्तव में उन्नति ही हो रही है।

असंतोष तो सर्वथा फैल रहा है। परंतु यह असंतोष अवनति का कारण नहीं, बल्कि उन्नति का मूल-कारण है। जब तक असंतोष का भाव उत्पन्न नहीं होता, तब तक हमारे मन में अपनी दशा सुधारने का विचार भी नहीं आता। इसका यह मतलब नहीं कि जितना असंतोष हो, उतना ही अच्छा। संतोषी का सुख प्रायः उन्नति का घातक होता है। जिस वस्तु की चाह नहीं उत्पन्न होती, उसकी प्राप्ति का उद्योग ही कौन करेगा? अतः असंतोष, हलचल या आंदोलन को अवनति का कारण न मानना चाहिए। धर्मांधता और निर्मूल विश्वास का, तर्कणा द्वारा, क्रमशः नाश हो रहा है। आचार-विचार और सिद्धांतों की परीक्षा होने लगी है। वचन-प्रमाण की पुष्टि के लिये तर्क का सहारा चाहिए। धर्म-कर्म वही नहीं, जो केवल धर्म-ग्रंथों में लिखा है। उसकी मान्यता के लिये लोक-संग्रह की कसौटी काम में लाई जाती है। मतलब यह कि साधारण मनुष्य भी धीरे-धीरे अपनी समझ और बुद्धि को काम में लाने का अधिकार प्राप्त कर रहे हैं। और, यह बात ऐसी विलक्षण है कि इसके पूरे प्रभाव का पता लगाना कठिन है। मनुष्य-जीवन का यथार्थ मूल्य क्या है, इस बात की ओर भी लोगों का ध्यान अवश्य जाता है। प्राचीन काल में 'व्यक्ति' को बहुत नीचा स्थान प्राप्त था। उसकी कुछ गणना ही नहीं थी। परंतु अब धीरे-धीरे व्यक्ति को स्वाधीनता प्राप्त हुई है, और आगे भी होती जायगी। समाज का इससे जो उपकार हुआ है, उसका अनुमान करना भी कठिन है। व्यक्ति की हैसियत यदि

वही रहती, जो प्राचीन काल में थी, तो उन्नति की गति सदा के लिये रुकी रहती। व्यक्तिगत स्वाधीनता उन्नति का एक मुख्य कारण है। मनुष्य को व्यक्तिगत स्वाधीनता प्राप्त किए बिना अपनी समस्त शक्ति और बुद्धि की अबाधित उन्नति का अवसर ही नहीं मिल सकता। इसी कारण समाज में भी निर्जीव भाव आ जाया करता है। आधुनिक युग व्यक्ति का हिमायती है; परंतु उसी हद तक, जहाँ तक समाज की व्यवस्था दृढ़ बनी रही है। इतना अनुभव अवश्य हो चुका है कि बहुत-सी बातों में स्वाधीन हो जाने पर भी व्यक्ति ने समाज की वैसी हानि नहीं की, जैसी की विरोधियों को आशंका थी। और, अभी ऐसा जान पड़ता है कि अधिक स्वाधीनता प्राप्त करके व्यक्तियाँ समाज को विशेष लाभ पहुँचा सकती हैं।

स्त्रियों और बालकों की ओर समाज जो उदासीनता दिखाया करता था, वह अब नहीं रही। समाज से इनकी उन्नति का जो घनिष्ठ संबंध है, उसको लोग समझने लगे हैं। एक समय वह था, जब स्त्रियों और बालकों की गणना गृहस्थी के पशुओं में हुआ करती थी। परंतु आज बालकों को देश की अतुल, अमूल्य संपत्ति समझा जाता है। और सभ्य देशों में उनकी रक्षा, शिक्षा और आरोग्य का प्रबंध सरकार की ओर से होता है। मनुष्य को मनुष्य समझने का सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि दासता की प्रथा का अंत हो गया। मानव-जाति के अंतःकरण पर इस पापकर्म की ऐसी कड़ी चोट पहुँची कि किसी-न-किसी तरह इसका अंत हुआ। यद्यपि अब भी स्वार्थपरायण लोगों ने किसी रूप में इस प्रथा को प्रचलित रख छोड़ा है, तथापि वे उसे दासता का नाम देने में लज्जित होते हैं।

शिक्षा-प्रचार के साथ एक और बात भी पैदा हो गई है। वह यह है कि जहाँ तक हो सके, राजनीतिक मामलों में, न्यायोचित रीति से, समान अधिकार सबको प्राप्त हों। प्रजातंत्र-शासन की महिमा इसी में है कि उसमें मनुष्य के जन्म-सिद्ध अधिकारों की अवहेलना न्याय-विरुद्ध मानी जाती है।

इन बातों के मान लेने पर भी कुछ लोग कहेंगे कि स्वार्थ की मात्रा तो अवश्य ही संसार में बढ़ गई है। सबको अपना मतलब ही सूझता है, और साधारणतः लोग सर्वत्र स्वार्थ-साधन में न्याय, नीति और सत्य को सहज ही भूल जाते हैं। नैतिक बल का तो अवश्य ही ह्रास हो रहा है। और, इसी से हमारी उन्नति या अवनति की जाँच होनी चाहिए। विचार करने पर यह मत भी भ्रांतिमूलक जान पड़ेगा।

संसार में मनुष्य-संख्या बढ़ती जा रही है। परस्पर स्पर्धा भी इसी के साथ बढ़ रही है। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। प्राचीन काल में रहन-सहन का ढंग बड़ा सरल था। बहुत-सी वस्तुएँ जो आज आवश्यक हो गई हैं, उनका नाम-निशान तक तब न था। धीरे-धीरे जो वस्तुएँ विलास की होती हैं, वे आवश्यक हो जाती हैं, और, इस प्रकार, रहन-सहन के ढंग में विलासिता आ जाती है। अब एक ओर तो हमारी आवश्यकताएँ बढ़ रही हैं, और दूसरी ओर उनकी पूर्ति के साधन भी प्रयत्न-साध्य दिखाई देते हैं। ऐसी दशा में, और जब समाज में बेईमानी आदि के अवसर विशेष रीति से मिलते हैं, तब लोगों को न्याय-पथ से भ्रष्ट हो जाने की लालसा बहुत तीव्र होती है। कितने ही पथ-भ्रष्ट हो भी जाते हैं। वे स्वार्थ-साधन में न्याय को भूल भी जाते हैं। पर यह कैसे

कहा जा सकता है कि अब पहले की अपेक्षा प्रायः लोग अन्यायी होते हैं ? पहले बेईमानी का इतना अवसर, आवश्यकता या लालच नहीं था। किंतु अब मौक़े बहुत हैं। पर विचार करने से यही मालूम होता है कि अब मनुष्य को गिरने का जितना मौक़ा है, उतना उसका अधःपतन नहीं होता। दूसरे के पत्र को पढ़ लेना भी बुरा समझा जाता है। बहुत-सी अन्याय की बातें पहले ख़राब नहीं समझी जाती थीं। नैतिक भाव अवश्य ऊँचे हो गए हैं, और साथ-साथ आदर्श भी हमारे सामने पहले से उन्नत हैं। मनुष्य को समाज-सेवा करने और अपने को समाज के लिये विशेष लाभदायक बनाने का ध्यान बना रहता है। इन बातों पर विचार कर बहुत लोगों की धारणा है कि मानव-जाति की उन्नति हो रही है। जो लोग ऐसी धारणा नहीं रखते, उनके विचारने के लिये इस लेख में कुछ बातें अवश्य मिलेंगी—ऐसी आशा है।

जीवनशंकर याज्ञिक

ईश्वर का डर

(१)



ठाकुर चंदनसिंह दस मौज़ों के ज़मींदार हैं। उनकी ज़मींदारी उनके निवास-ग्राम के चारों ओर के ग्रामों में है। अतएव छः-सात कोस के इर्द-गिर्द उनका पूरा राज्य है। ठाकुर चंदनसिंह वैसे ही ज़मींदार हैं, जिन्होंने सहृदयता तथा मनुष्यत्व का मूल्य समझनेवालों के हृदयों में ज़मींदारों के प्रति घृणा-पूर्ण विरोध का भाव उत्पन्न कर दिया है। वह ग़रीब प्रजा का रक्त चूसना ज़मींदारी का भूषण समझते हैं। अनुचित बेगार लेना उनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। साधारण सड़ी-सी बात पर दीन-दुखियों को पिटवा देना उनके लिये एक ज़मींदारी [illegible] है। जो ग्राम उनकी ज़मींदारी में नहीं हैं, उनकी प्रजा भी उनसे थर-थर काँपती है। क्या मजाल कि ठाकुर चंदनसिंह के प्रतिकूल कोई चूँ तक कर सके !

दोपहर का समय था। ठाकुर चंदनसिंह अपने पक्के मकान की चौपाल में बैठे हुए हुक़ा पी रहे थे। उनके पास उनके दो-चार मुसाहब भी बैठे थे। उसी समय एक कृषक एक उजली मिरज़ई पहने, एक मोटी सफ़ेद धोती (जो घुटनों के कुछ ही नीचे तक थी) तथा सिर पर एक धुला कपड़ा लपेटे ठाकुर के सामने आया, और बोला—"जुहार मालिकौ !" ठाकुर साहब ने केवल ज़रा यों ही सिर हिला दिया। कृषक एक ओर भूमि पर बैठ गया। ठाकुर साहब कुछ देर तक उसकी ओर देखते रहे। तत्पश्चात् बोले—"कौन है रे ?"

कृषक बोला—"सरकार मैं तो आपका अहीर हूँ—कालका।"

ठाकुर साहब बोले—"कालका है—हूँ—अब तो पहचान ही नहीं पड़ता। बहुत दिनों में दिखाई पड़ा। कहाँ था ?"

कालका—"मालिक, सहर चला गया था। साल-भर वहीं रहा।"

ठाकुर—"शहर में क्या करता रहा ?"

कालका—"नौकरी करता हूँ।"

ठाकुर—"काहे में नौकर है ?"

कालका—"डेरी फ़ारम में।"

ठाकुर—"क्या सरकारी डेरी फ़ारम में ?"

कालका—"नहीं मालिक, एक महाजनी डेरी फ़ारम है।"

ठाकुर चंदनसिंह 'हूँ' करके चुप हो गए। उनके माथे पर बल पड़ गए। थोड़ी देर तक चुपचाप हुक़ा पीते रहे। फिर बोले—"सुनो हो कालका, आज तो हम तुम्हें छोड़े देते हैं, पर अब जो कभी हमारे सामने यह ठाट बनाकर आए, तो ठीक न होगा। जैसे हो, वैसे ही रहना ठीक है।"

कालका काँप उठा। उसे स्वप्न में भी यह आशा न थी कि ठाकुर साहब को उसके इन साधारण कपड़ों में भी ठाट की झलक दिखाई पड़ेगी। उसने सोचा, यहाँ से टल जाना ही अच्छा है। यह सोच वह 'जुहार' करके वहाँ से चलता बना।

उसके चले जाने पर ठाकुर चंदनसिंह बोले—"मालूम होता है, इसने शहर में रहकर माल पैदा किया है। बाप की तो गोबर ढोते-ढोते उमर बीत गई, और साबित लँगोटी तक न जुड़ी!"

एक मुसाहब, जिसका नाम सुघरसिंह था, बोला—"मालिक, इसने रुपया कमाया है। अभी उस रोज़ एक सत्तर रुपए की भैंस मोल ली है। तकिए के मेले से एक जोड़ी बैलों की भी लाया है।"

ठाकुर चंदनसिंह बोले—"हाँ?"

सुघरसिंह—"मैं आपसे झूठ थोड़े ही कहता हूँ।"

ठाकुर चंदनसिंह बोले—"इतना माल पैदा किया, और हमें दो रुपए नज़र तक के न दिए!"

एक दूसरा मुसाहब बोला—"सरकार, यह मोटा हो गया है। नीच जाति के पास जहाँ चार पैसे हुए, वहाँ फिर वह अँगूठों के बल चलने लगता है। कहावत ही है 'गगरी दाना, सूद उताना'।"

ठाकुर चंदनसिंह 'हूँ' करके कुछ सोचते रहे।

दूसरे दिन ठाकुर साहब ने उसी गाँव के, जिसमें कालका अहीर रहता था, एक ब्राह्मण को बुलाया, और उसको अलग ले जाकर कुछ देर तक बातें करते रहे। बातें कर चुकने पर उससे बोले—"अच्छा, जाओ। पर देखो महराज, जैसा कहा है, उसमें फ़रक़ न पड़े। नहीं तो चूतड़ कटवा दूँगा। यह याद रखना!"

ब्राह्मण देवता हाथ जोड़कर बोले—"नहीं मालिक, फरक कैसे पड़ सकता है।"

इसके दूसरे दिन प्रातःकाल एक आदमी ठाकुर साहब के पास आया। ठाकुर साहब शौच से निवृत्त होकर बैठे दतून कर रहे थे। वह व्यक्ति ठाकुर साहब से बोला—"सुना, नरायनपुर में, कल रात को, बिंदा महराज के यहाँ चोरी हो गई है।"

ठाकुर साहब लापरवाही से बोले—"हो ससुर गई होगी, अपने से क्या। देहात में चोरी-चकारी हुआ ही करती है।"

वह व्यक्ति बोला—"कुछ हल्ला-सा सुना है; ठीक पता नहीं, क्या बात है।"

ठाकुर साहब ने कुछ उत्तर न दिया। एक घंटे के बाद बिंदा महराज 'हाय-हूय' करते हुए आए। दूर ही से बोले—"दोहाई है सरकार की! गरीब ब्राह्मण लुट गया! आपके राज में ऐसा कभी नहीं हुआ।"

यह वही ब्राह्मण देवता थे, जिनसे ठाकुर साहब ने एकांत में बातें की थीं।

ठाकुर साहब बोले—"अरे हुआ क्या?"

ब्राह्मण देवता आँसू पोंछते हुए बोले—"सरकार, लुटिया-थाली सब चली गई। मैं तो, सरकार, मर गया। पेट काट-काटकर बाल-बच्चों के लिये जो कुछ जोड़ा था, सब चला गया!"

ठाकुर साहब—"क्या हुआ? चोरी हो गई क्या?"

बिंदा—"हाँ सरकार, सब चला गया। महराजिन के पास जो कुछ सौ-पचास रुपए का गहना था, वह भी चला गया!"

ठाकुर साहब—"यह तो बड़ी बेजा बात हुई। तुमको किसी पर संदेह है?"

बिंदा—"अब बिना देखे किसको कहूँ सरकार। हाँ, ढकना चमार कहता है कि रात के दस बजे जब वह पेशाब करने उठा था, तो उसने कालका अहीर को एक आदमी के साथ कुछ खुसुर-पुसुर करते देखा था।"

ठाकुर साहब—"कौन कालका?"

बिंदा—वही सधुवा का लड़का, जो अभी थोड़े दिन हुए आया है—शहर में नौकरी करता है।"

ठाकुर साहब—"अरे, वह तो बेचारा बड़ा भला आदमी है। वह ऐसा काम नहीं कर सकता।"

बिंदा—"सरकार, यही तो मैं भी कहता हूँ।"

ठाकुर साहब बोले—"मगर यह भी हम नहीं कह सकते कि यह उसका काम नहीं है। किसी के पेट की क्या पता? अच्छा, ढकना चमार को बुलाओ तो।"

उसी समय एक गुड़ैत दौड़ाया गया। वह ढकना चमार को बुला लाया।

ठाकुर साहब ने पूछा—"क्यों रे ढकना, क्या बात है? ठीक-ठीक कह।"

ढकना बोला—"सरकार, बात यह है कि कल रात के कोई दस बजे हों चाहे ग्यारह—बस, ऐसा ही वखत होगा, तब मैं पेसाब करने को उठा। पेसाब करके जब लौटने लगा, तो मैंने बिंदा महराज के घर के पास दो आदमियों को खड़े कुछ बातें करते देखा! सरकार, मैं खखारा। मेरा खखारना सुनकर वे दोनों

[दू]र हो गए, और वहाँ से चल दिए। मैंने पूछा—कौन है? इस पर वे न बोले! तब फिर मैंने डाँटकर पूछा—कौन जाता है, बोलता नहीं। तब सरकार एक बोला—हम तो कालका हैं। बस, सरकार, फिर मैं घर में जाकर सो रहा। सबेरे उठकर सुना कि बिंदा महराज के यहाँ चोरी हो गई। इतनी बात, जो मैंने आँखों से देखी, वही इससे भी कह दी। और कुछ मैं जानता-वानता नहीं।"

ठाकुर साहब कुछ देर तक सोचकर बोले—"सबूत तो पूरा है। अच्छा, कालका को बुलवाओ।"

तुरंत आदमी गया, और कालका को बुला लाया। साथ में कालका का वृद्ध पिता सधुवा भी लाठी टेकता हुआ आया।

ठाकुर चंदनसिंह ने उससे कहा—"कल रात को बिंदा महराज के यहाँ चोरी हो गई है।"

कालका बोला—"हाँ मालिक, सबेरे मैंने भी हल्ला सुना था। बड़ा गजब हुआ।"

ठाकुर—"कल रात को तुम कहाँ थे?"

कालका कुछ भयभीत होकर बोला—"कल तो, मालिक, मैं घर ही पर था।"

कालका का पिता सधुवा बोल उठा—"सरकार, यह तो कल साँझ ही से खा-पीकर सो गया था।"

ठाकुर साहब ने कहा—"कल रात को ग्यारह बजे लोगों ने तुम्हें बिंदा महराज के घर के पास एक आदमी से बातें करते देखा था।"

कालका अधिकतर भयभीत होकर बोला—"किसे? मुझे? अरे नहीं सरकार, मैं तो कल रात को पेसाब करने तक नहीं उठा।"

सधुवा बोला—"कौन ससुर कहता है?"

ठाकुर साहब ने कहा—"यह ढकना चमार कहता है।"

सधुवा ने ढकना की ओर देखकर पूछा—"क्यों रे, क्या कहता है?"

ढकना चुप खड़ा रहा। कुछ उत्तर नहीं दिया।

ठाकुर साहब ने ढकना से कहा—"अबे, जो देखा है, सो कहता क्यों नहीं?"

ठाकुर साहब ने गुस्सूर से ढकना पर एक तीव्र दृष्टि डाली।

ढकना ने कहा—"सरकार, कालका को एक आदमी से बातें करते देखा था।"

ठाकुर साहब—"कहाँ देखा था?"

ढकना—"बिंदा महराज के घर के पास।"

सधुवा ढकना को गाली देकर बोला—"अपना सिर देखा था। साले को दिन में तो सूझता नहीं, रात को देखा था। क्यों भैया, हमने तुम्हारे साथ कौन दगा की है? एक तो मेरा बच्चा गाँव छोड़े परदेस में पड़ा है। चार दिन की खातिर घर आया है, तो अब यह पाप लगाओगे। अरे जरा भगवान् को डरो। ऐसा अंधेर न करो!"

ढकना फिर चुप हो गया। उसके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

ठाकुर साहब ने उसे फिर घूरा। वह बोला—"भैया, जो देखा, सो कह दिया। पाप तो हम किसी को लगाते नहीं।"

सधुवा बोला—"पाप नहीं लगाते, तो करते क्या हो? मुँह पर खड़े सरासर झूठ बोल रहे हो, और ऊपर से कहते हो, पाप नहीं लगाता।"

ठाकुर साहब ने कहा—"अच्छा, ख़ैर, इस झगड़े से क्या मतलब। थाने में रपट हो जानी चाहिए। थानेदार आप पता लगा लेंगे।"

सधुवा बोला—"मालिक का बेटा जिए। बस, यह ठीक है। जो चोर हो, सो डरे। जब कर नहीं, तो डर काहे का।"

(२)

थाने में सूचना दे दी गई। दूसरे दिन थानेदार घोड़े पर सवार होकर दो सिपाहियों को साथ लिए हुए आ धमके। पहले ठाकुर साहब से मिले। ठाकुर साहब ने उन्हें एकांत में ले जाकर बातचीत की। थानेदार ने पूछा—"कहिए सरकार, मामला क्या है?"

ठाकुर साहब बोले—"मामला क्या, आपकी पाँचों घी में हैं।"

थानेदार साहब की बाछें खिल गईं। बोले—"सच?"

ठाकुर साहब बोले—"झूठ तो मैं कभी बोलता ही नहीं।"

थानेदार—"कौन है?"

ठाकुर साहब—"सधुवा अहीर का लड़का, कालका अहीर।"

थानेदार—"चोरी बिंदा महराज के यहाँ हुई है?"

ठाकुर साहब—"चोरी किस सुसरे के हुई है। यह सब आपकी ख़ातिर है।"

थानेदार—"आपके भरोसे तो हम यहाँ जंगल में पड़े ही हैं। नहीं तो यहाँ धरा क्या है। हाँ, यह तो बताइए, कुछ सबूत भी है ?"

ठाकुर साहब—"एक चमार कहता है कि उसने रात को कालका को बिंदा महराज के घर के पास एक आदमी से बातें करते देखा था। तलाशी लेने के लिये इतना ही काफ़ी है।"

यह कहकर ठाकुर साहब हँसने लगे।

थानेदार साहब बोले—"फिर क्या है—कहाँ जाता है। हाँ, यह तो बताइए, कालका के पल्ले भी कुछ है ?"

ठाकुर साहब—"आप तो बच्चों की-सी बातें करते हैं। पल्ले न होता, तो यह सब बाँधनू बाँधने की आवश्यकता ही क्या थी। आपने मुझे कोई लौंडा समझ रक्खा है।"

थानेदार साहब दाँतों-तले जीभ दबाकर बोले—"आप हमारे मालिक हैं। हम भला ऐसा समझ सकते हैं।"

कुछ देर तक दोनों इसी प्रकार की बातें करते रहे। इसके बाद ठाकुर साहब बोले—"अब आप जाइए। ढकना चमार के बयान पर कालका के यहाँ तलाशी लीजिए।"

यह कहकर ठाकुर साहब ने कुर्ते की जेब से दो चाँदी के गहने निकाले, और थानेदार साहब के हाथ में देकर कहा—"लीजिए यह तलाशी के लिये मसाला।"

थानेदार साहब ने मुसकिराकर दोनों गहने जेब में रख लिए। फिर उठकर बोले—"अच्छा, तो जाता हूँ।"

ठाकुर साहब—"हाँ, जाइए।"

थानेदार साहब नरायनपुर चले गए।

दो घंटे के बाद थानेदार साहब लौटे। आगे-आगे थानेदार साहब थे, और पीछे दोनों सिपाही कालका की कमर में रस्सी बाँधे उसे ला रहे थे। हाथों में हथकड़ियाँ पड़ी हुई थीं। पीछे कालका का पिता सधुवा रोता हुआ आ रहा था। साथ में चार-छः आदमी और भी थे।

थानेदार साहब ने सब हाल कहा, और दोनों गहने ठाकुर साहब के सामने रख दिए।

ठाकुर साहब सब देख-सुनकर बोले—"थानेदार साहब, कालका बेचारा बड़ा भला आदमी है। उसने ऐसा काम कैसे किया, कुछ समझ में नहीं आता।"

थानेदार बोला—"समझ में आवे या न आवे, हुज़ूर को क्या करें ? जब सुबूत सामने रक्खा है, तब क़ानूनी काररवाई करनी ही पड़ेगी।"

ठाकुर साहब—"हाँ, यह तो ठीक ही है; पर इतना मैं कह सकता हूँ कि यह कालका का काम नहीं है।"

सधुवा रोता हुआ बोला—"मालिक, दूधों नहाएँ, पूतों फलें। मालिक ने सच्ची बात कही। मेरा बच्चा यह काम नहीं कर सकता। इन गाँववाले सालों ने दगा की है। भगवान् करे, उन पर गाज गिरे! सालों के घर कोई रोने-धोनेवाला न रहे। जैसा मेरे बच्चे को फँसवाया है—भगवान् देखनेवाला है।"

यह कहकर सधुवा फूट-फूटकर रोने लगा।

ठाकुर ने सधुवा को बुलाया—"यहाँ तो आ रे।"

सधुवा पास आया। ठाकुर साहब उसे अलग ले जाकर बोले—"सधुवा, यह हमें विश्वास है कि यह काम कालका का नहीं है। पर जब तलाशी में गहने निकले हैं, तो अब बिना सज़ा खाए नहीं बचेगा। लंबी सज़ा होगी।"

सधुवा बोला—"अरे मालिक, ऐसा न कहो। मेरा बुढ़ापा बिगड़ जायगा। बे मौत मर जाऊँगा। कोई उपाव करो। जो कुछ खर्च पड़ेगा, मैं दूँगा। वकील-बालिस्टर की फीस जो पड़ेगी, दूँगा। अपनी लुटिया-थाली बेच डालूँगा। बच्चा बना रहेगा, तो तुम्हारी गुलामी करके बहुत कमा लेगा।"

ठाकुर साहब बोले—"तो हमारी सलाह मानो। कचहरी-अदालत का झगड़ा न रक्खो। वहाँ न-जाने चित पड़ै या पट। थानेदार को यहीं कुछ दे-लेकर मामला रफ़ा-दफ़ा कर डालो।"

सधुवा—"थानेदार मान जायँगे ?"

ठाकुर साहब—"मानेंगे क्यों नहीं। हम कहेंगे, तो मान जायँगे।"

सधुवा—"ऐसा करा देव, तो, मालिक, मैं जनम-भर गुन मानूँगा।"

ठाकुर साहब—"अच्छी बात है।"

यह कहकर ठाकुर साहब थानेदार को अलग ले गए। कहा—"सब ठीक है। कितना दिलवाऊँ ?"

थानेदार—"जो आपकी परवरिश हो। मुझे क्या, जो कुछ भी मिल जायगा, वही बहुत है।"

ठाकुर साहब—"अच्छी बात है।"

ठाकुर साहब ने सधुवा को बुलाकर कहा—"तीन सौ रुपए माँगते हैं।"

सधुवा—मालिक, इतना तो मेरे किए न होगा—मर जाऊँगा। बहुत गरीब आदमी हूँ।"

ठाकुर साहब—"इससे कम में राज़ी न होंगे।"

सधुवा—"नहीं मालिक, ऐसा न कहो। आप सब कुछ कर सकते हैं।"

ठाकुर—"तो तुम क्या दे सकते हो, वह भी तो बताओ? यह समझ लेना कि अदालत में भी तुम्हारे तीन-चार सौ रुपए ख़र्च हो जायँगे, और फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि छूट ही जायगा। छूटे-न छूटे। कौन जाने। हाकिम की क्या जानें क्या समझ में आवे।"

सधुवा—तो, सरकार, आधे पर मामला तय करा दो।"

ठाकुर—"डेढ़ सौ पर?"

सधुवा—"हाँ मालिक, यह भी पेट मसोसकर जब बैल-बधिया बेचूँगा, तब होगा। क्या करें, भाग फूट गया, बैठे-बिठाए डाँड़ देना पड़ रहा है। कलेजा नुचा आता है। इन गाँववालों की......न-जाने सालों ने कब का वैर चुकाया।"

ठाकुर साहब ने कहा—"अच्छा, देखो कहता हूँ, जो मान जायँ।" इसी प्रकार ठाकुर साहब ने दो-तीन बार इधर-उधर करके दो सौ में फ़ैसला किया। सधुवा से बोले—"थानेदार साहब दो सौ से कम पर किसी तरह राज़ी नहीं होते।"

सधुवा—"तो जैसा सरकार कहें।"

ठाकुर—"कहना क्या है, देखो। पचास रुपए की तो बात ही है। सब मामला यहीं रफ़ा-दफ़ा हुआ जाता है।

सधुवा उसी समय घर दौड़ा हुआ गया। लौटकर उसने डेढ़ सौ रुपए ठाकुर साहब के हाथ में धरे। रुपए देते समय उसकी बुरी दशा थी। मानो अपने पुत्र को बचाने के लिये अपना कलेजा निकालकर दे रहा हो।

ठाकुर—"ये तो डेढ़ ही सौ हैं।"

सधुवा—"हाँ मालिक, इतने ही थे। पचास तुम अपने पास से दे दो। चाहे फ़सल पर सूद-ब्याज लगाकर ले लेना, और चाहे मेरी भैंस सत्तर रुपए की है, वह ले लो। रुपए तो और हैं नहीं।"

ठाकुर—"अच्छी बात है।"

ठाकुर साहब ने थानेदार को अलग ले जाकर पचास रुपए थमाए, और बोले—"ग़रीब आदमी है। इससे अधिक नहीं दे सकता।"

थानेदार साहब ने कौन गेहूँ बेचे थे। इतने भी उन्हें ठाकुर साहब की कृपा से पड़े मिले। अतएव उन्होंने धन्यवाद-पूर्वक रुपए ले लिए।

कालका उसी समय छोड़ दिया गया।

अधिकांश लोगों ने यही समझा कि कालका दोषी था, पर ठाकुर साहब की कृपा से छूट गया। जो समझदार थे, और जिन्होंने कुछ समझा, वे भी चुप रहने के सिवा और क्या कर सकते थे। किसकी मजाल थी कि ठाकुर साहब और थानेदार के विरुद्ध कुछ कह सके।

(३)

रात को सधुवा, कालका तथा गाँव के दो-चार अन्य आदमी सधुवा की चौपाल में बैठे बातें कर रहे थे। एक आदमी कह रहा था "भैया, नाक-नाक बदता हूँ, यह सब चाल ठाकुर साहब की ही है। न कहीं चोरी हुई, न चवारी।

कालका—"अब उनका दीन-ईमान जाने। हमारी तो लोटा-थाली बिक गई। काहे ननकू काका, बेजा कहता हूँ?"

ननकू—"नहीं बबुआ, बेजा क्या है। अरे, सब गाँव जानता है, जैसे ठाकुर साहब हैं। पर क्या किया जाय; जबरदस्त का ठेंगा सिर पर! यही ठाकुर साहब हैं, परसाल हमें बुलाया, और बोले—'कहो ननकू, अब कुछ रुपए-उपए नहीं लेते। मालूम होता है, बड़े मालदार हो गए हो।' मैंने कहा—'मालिक, करज लेने का बूता नहीं है। लेना सहज है, पर देना कठिन पड़ जाता है।' बोले—'इतना कमाते हो, कुछ हमें भी तो दिया करो।' मैं कुछ नहीं बोला। दूसरे दिन गाँववालों ने कहा—'ठाकुर साहब से कुछ करज ले लेओ, नहीं तो किसी इल्लत में फँसा देंगे।' तब भैया पचास रुपए उनसे लिए। इकन्नी रुपए का ब्याज देता हूँ।"

कालका—"तो बिना जरूरत ले लिए?"

ननकू—"क्या करें बबुआ, डेढ़ रुपया महीना उन्हें बैठे-बिठाए देते हैं। न दें, तो भला कब से बैठने पावें?"

दूसरा व्यक्ति बोला—"ननकू भैया, तुम्हारा हाल जाना हो या न हो—अभी स्यौरुस ऐसे ही कलुआ काछी से कहा था। उसने उनकी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया। बस, तीसरे ही दिन रात को सारा खेत उजाड़ दिया; रात-भर में सब बाली काट ली गईं, ख़ाली पौदे ठूँठ-ऐसे खड़े रह गए! कलुआ बहुत दौड़ा-धूपा, रपोट की, पर कुछ न हुआ। पता ही न लगा। गरीब पेट मसोसकर रह गया। ढाई-तीन सौ रुपये के मत्थे गई।"

सधुवा एक लंबी साँस खींचकर बोला—"एक-न-एक दिन भगवान् गरीबों की सुनेंगे ही।"

ननकू—"अरे, जब सुनेंगे तब; अभी तो सबको पेरे डाल रहे हैं। न किसी को खाते देख सकें, न पहनते। हमारे काका जब इनके पास जाते हैं, तो फटी लँगोटी लगाकर। उनका कहना है कि जहाँ ठाकुर साहब ने किसान के पास साबुत कपड़े देखे कि बस, उन्होंने समझा, इसके पास माल हो गया है—नोचो साले को।"

कालका—"भला इनसे कोई खुस भी है?"

ननकू—"खुस कोई नहीं। इन गुनों कौन खुस होगा। किसी को छोड़ा हो तब न।"

कालका—"कोई खुस नहीं, तब भी यह हाल है? बुरा न मानना ननकू काका, अभी ये बातें करते हो, मगर अभी जो ठाकुर कहें, तो तुम्हीं हमारा गला काटने को तैयार हो जाओ।"

दूसरा व्यक्ति बोला—"भैया, क्या करें, कुछ खुसी से थोड़े ही ऐसा करते हैं। डर के मारे करना पड़ता है। न करें, तो घर न फूँक दिया जाय!"

ननकू—"यही बात है भैया, अपनी जान और माल सबको प्यारा होता है। इसी खातिर सब करते हैं।"

सधुवा—"कबहुँ तौ दीनदयाल के भनक परैगी कान। कभी तो भगवान् गरीबों की सुनेंगे!"

ननकू—"परसाल ठाकुर ने भट्ठा लगवाया था। आस-पास के गाँवों के दस-बीस आदमी पकड़ बुलाए जाते थे। दिन-भर काम करवाते थे, और साँझ को आठ पैसे देते थे। तुम्हीं बताओ, आठ पैसे में कौन दिन-भर खुसी से मरने जाता था? पर क्या करें, सब करना पड़ता था।"

दूसरा व्यक्ति—"हाँ भैया, ऐसी ही बात है। दिन-भर जी तोड़कर काम करते थे, फिर भी ठाकुर की निगाह टेढ़ी ही रहती थी। एक दिन मैंने कहा—'मालिक, चार दिन की छुट्टी दे दो, तो खेत सींच लें—सूखे जा रहे हैं।' बोले—'खेतों में आग लगा दो। हमारा काम हो जायगा, तब अपना काम करने पाओगे।' मैं चुप हो गया। और कुछ कहता, तो मार पड़ती। फिर यही हुआ कि अपने काम के लिये पाँच आने रोज़ का मजूर रखना पड़ा। दो आने हमें मिलते थे, और पाँच आने हम देते थे।

कालका—"भट्ठा काहे को लगवाया था?"

वही व्यक्ति—"जो सिवाला बनवाया है, उसी के लिये भट्ठा लगवाया था।"

कालका—"गरीबों का गला काटकर सिवाला बनवाने में कौन पुन्न है?"

ननकू—"अब यह उनसे कौन पूछे?"

वही व्यक्ति—"भैया की बातें! इतना पूछना तो बड़ा काम है। ज़रा-ज़रा-सी बातों में तो पीठ की खाल उड़ा दी जाती है। इतना जो कोई कह दे—उनसे न सही, किसी दूसरे ही से कहे, और वह सुन पावें—तो खोदके गड़वा दें। दिल्लगी थोड़े है। छोटे-मोटे ज़मींदारों की तो मजाल ही नहीं कि उनकी बात को दुलखें, फिर किसान बेचारे किस गिनती में हैं।"

सधुवा—"भैया, हमारे तो सब करम हो गए। आबरू की आबरू गई, और माल गया घाते में।"

ननकू—"माल तो, हाँ, गया ही, पर आबरू जाने की कोई बात नहीं। गाँव-भर समझ गया है कि यह ठाकुर साहब की गढ़ंत थी।"

कालका—"हाँ, सब जान भले गए हों, पर कहने सुनने को तो हो गया। वह जो कहते हैं कि 'थाली फूटी या न फूटी, झनकार तो हुई'।"

सधुवा—"जो कुछ पहले था, वह चला गया, ऊपर से ठाकुर साहब के पचास रुपए के कर्जदार हो गए। भैंस पर ठाकुर का दाँत है। सो भैंस तो हम दिवाल हैं नहीं, रुपया और ब्याज दे देंगे।"

ननकू—"यही तुम्हारी भूल है। भैंस दे दोगे, तो मजे में रहोगे। ठाकुर का कर्ज रखना ठीक नहीं। क्यों भाई रामचरन, झूठ कहता हूँ?"

रामचरन, जिसे हम अभी तक 'वही व्यक्ति' लिखते आए हैं, बोला—"यह बात तो ननकू भाई की सोलहो

जाते ठीक है। जनम-भर देते रहोगे, तब भी ठाकुर से उरिन नहीं हो पाओगे। समझे साधू भाई ? भैंस दे डालो। तुम्हारी जिंदगी है, तो भैंसें ससुरी पचास हो जाएँगी। कंचना अहिर के बाप ने ठाकुर से पंद्रह रुपए लिए थे। पाँच बरस तक बाप देते-देते मर गया, और चार बरस से कंचना दे रहा है, फिर भी पाँच रुपए बकाया में घुसेड़े बैठे हैं। हर फसल में ब्याज दिया जाता रहा, और दो-तीन रुपए असल में, फिर भी अभी तक रुपए नहीं पटे।"

कालका—"तो किसी हिसाब ही से लेते होंगे।"

रामचरन—"हिसाब-किताब कुछ नहीं। जो वह ठीक समझें, वही हिसाब है। इसके सिवा न कोई हिसाब है न किताब! त्यौरुस साल कंचना ने कहा—'मालिक, मेरे हिसाब से तो रुपए आपके सब अदा हो गए।' ठाकुर बोले—'अभी आठ रुपए बाक़ी हैं।' कंचना बोला—'नहीं मालिक, अब तो एक पैसा नहीं रहा।' बस, ठाकुर आग हो गया। बोला—'मार तो साले के पचास जूते। साला हमें बेईमान बनाता है।' उसी वक्त दस-पंद्रह जूते बेचारे के पड़ गए। फिर ठाकुर बोले—'अब साले, तुझे दस देने पड़ेंगे। दो रुपया जुरीमाना किया।' बेचारा झाड़-पोंछ के चला आया। अब वही दस अदा कर रहा है।"

कालका—"फिर ननकू काका, तुमने ठाकुर से पचीस रुपए काहे को लिए ?"

ननकू—"तो बबुआ, कुछ अदा करने के लिये थोड़े लिए हैं। खाली डेढ़ रुपया महीना ब्याज दे देता हूँ। 'असल' में एक पैसा नहीं देता, और न कभी दूँगा। जब ठाकुर आप असल में माँगेंगे, तो एकदम पचीस रुपए फेंक दूँगा। दो-दो, चार-चार करके तो इन्हें कभी दे ही नहीं; नहीं तो जनम-भर नहीं पटेंगे। कुछ-न-कुछ बाकी लगी ही रहेगी। हमने तो समझ लिया है कि जहाँ अपने बाल-बच्चों के लिये कमाते हैं, वहाँ डेढ़ रुपया महीना देकर ठाकुर का भी मुँह झुलसते रहेंगे।"

(४)

यदि लोगों से पूछा जाय कि संसार में पाप कौन अधिक करता है, तो अधिकांश लोग यही उत्तर देंगे कि निर्धन आदमी। परंतु यदि हमसे पूछा जाय, तो हम यही कहेंगे कि धनी आदमी जितना पाप करता है, उसका दशांश भी निर्धन आदमी नहीं करता। यदि औसत निकाला जाय, तो बेईमानों, व्यभिचारियों, चोरों, झूठों और बदमाशों की अधिक संख्या धनाढ्यों में ही मिलेगी। धनी आदमी को पाप करने का अवसर जैसे आसानी से मिल जाता है, वैसे निर्धन को नहीं। पाप करने के लिये जितना साहस धनी के हृदय में होता है, उतना निर्धन के हृदय में नहीं। और, जितनी जल्दी निर्धन का पाप प्रकट हो जाता है, उतनी जल्दी बड़े आदमी का नहीं। छोटे आदमी पर लोगों को जल्दी संदेह होता है, और इसलिये उसका पाप प्रकट हो जाता है। पाप प्रकट हो जाने पर निर्धन के पास अपने को निर्दोष प्रमाणित करने का कोई साधन नहीं रहता, इस कारण वह शीघ्र दंड पा जाता है। इसके प्रतिकूल, धनी बड़े आदमी पर संदेह करने का साहस लोगों में बहुत कम होता है, इसलिये उसका पाप प्रकट नहीं होता। यदि प्रकट भी हो गया, तो धन के बल से वह प्रायः उसके लिये दंड पाने से बच जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बड़े आदमियों के पाप के लिये छोटे आदमी दंड पाते हैं, और बड़े आदमी साफ़ बच जाते हैं।

पूर्वोक्त घटना हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया।

शाम का समय था। सधुवा एक नीम के वृक्ष के तले बैठा तंबाकू पी रहा था। गाँव के दो-चार आदमी उसके पास बैठे हुए थे। उसी समय एक आदमी घबराया हुआ आया, और सधुवा से बोला—"काका, बड़ा गजब हो गया।"

सधुवा बोला—"क्या हुआ ?"

वह बोला—"सिवदीन मर गया।"

सधुवा ने चकित होकर पूछा—"मर गया ?"

वह बोला—"हाँ।"

सधुवा—"कैसे ? सबेरे तो अच्छा-भला काम पर गया था !"

वह—"ठाकुर ने मरवा डाला।"

सधुवा—"एँ ! तू बकता क्या है ?"

वह—"बकता नहीं, ठीक कहता हूँ।"

सधुवा—"कैसे मरवा डाला ?"

वही व्यक्ति—"वह काम कर रहा था। इतने में उसे प्यास लगी। वह पानी पीने गया। पानी पीने के बाद थोड़ी देर बैठा रहा। इतने में ठाकुर उधर आ निकले।

उन्होंने डाँटकर कहा—'क्यों रे, बैठा क्या करता है, काम नहीं करता ।' सिवदिनवा बोला—'मालिक, अभी-अभी पानी पीने को आया था । अब आता हूँ ।' ठाकुर बोले—'उठ जल्दी ।' उसने कहा—'मालिक अभी जाता हूँ, जरा सुस्ता लूँ ।' इतना सुनते ही ठाकुर ने एक लात मारी, और कहा—'साले, सुस्ताने आया है या काम करने ?' बस, इतना सुनना था कि सिवदिनवा बोला—वह क्या बोला, उसके सिर पर मौत खेलती थी, उसी ने बुलवाया—बोला—'मालिक दिन-भर तो काम किया । हम भी आदमी हैं, कोई जानवर नहीं हैं । ऐसी मजूरी हमें नहीं करनी । कल से हम नहीं आवेंगे । और कोई आदमी ढूँढ़ लेना ।' यह कहकर वह उठ खड़ा हुआ । इतना सुनते ही ठाकुर का मुँह लाल हो गया । उन्होंने न आव देखा न ताव, तड़ से एक डंडा मार ही तो दिया । डंडा खाकर सिवदिनवा बोला—'बस मालिक, अब न मारना, नहीं अच्छा न होगा ।' बस काका, ठाकुर का मुँह अंगारा हो गया । उन्होंने उसी बखत एक गुड़ैत को बुलाया, और कहा—"मारो साले को—खूब मारो ।' गुड़ैत डंडा लेकर जुट गया । उसे किस बात का डर था । जब ठाकुर सामने खड़े कह रहे थे, तब डर काहे का । उसने तीन-चार लाठियाँ जो मारीं, तो बस काका, सिवदिनवा पसर गया । उसने आँखें फाड़ दीं ; फिर भी ठाकुर बोले—'साला ढोंग करता है । मारे जाओ ।' गुड़ैत ने तीन-चार लाठियाँ और मारीं । बस, गरीब सिवदिनवा के परान निकल गए ।"

सधुवा—"फिर क्या हुआ ?"

वही—"हुआ क्या । उसी बखत उधर से लछमीपुर के जमीदार अपने गाँव जा रहे थे । शहर से दो बजेवाली गाड़ी में आए थे । हल्ला जो हुआ, तो वह भी उतर पड़े । उन्होंने जब देखा कि सिवदिनवा मर गया, तो उसी बखत थाने पर रपोट करवाई । उनको और ठाकुर चंदनसिंह को तो लागडाँट चली ही आती है । थानेदार आए । जमीदार ने अपने सामने गुड़ैत के बयान लिवाए । गुड़ैत ने कह दिया कि 'पहले ठाकुर ने आप मारा फिर मुझसे मारने को कहा । मैंने भी दो-तीन लाठियाँ मारीं । बस, मर गया ।' अब लहास थाने पर गई है । ठाकुर चंदनसिंह और गुड़ैत भी पकड़े गए हैं ।"

सधुवा—"यह तो बड़ा गजब हुआ । अब अप बिना सजा खाए नहीं बचेंगे ।"

एक दूसरा आदमी बोला—"भगवान् ने गरीबों की सुन ली । बड़ा उत्पात मचा रक्खा था । ठाकुर गरीबों को मारे डालता था । अब पाप का घड़ा फूटा है ।"

इस घटना से आस-पास बड़ी सनसनी फैली । पर सब प्रसन्न थे । इधर कुछ दिनों से ठाकुर साहब और थानेदार में भी लागडाँट हो गई थी । उसने जी खोलकर ठाकुर साहब को फाँसने की चेष्टा शुरू कर दी । लछमीपुर के ज़मींदार गजराजसिंह और चंदनसिंह में कड़ी शत्रुता थी । कई बार मुक़द्दमेबाज़ी भी हो चुकी थी । इस कारण उनकी गवाही अधिक ज़ोरदार न थी । पुलीस ने आस-पास के गाँवों के किसानों को गवाही में लेना शुरू किया, और बहुत-से सच्चे-झूठे गवाह तैयार कर लिए । ठाकुर साहब से सब जलते ही थे । अतएव जिनके सामने यह घटना हुई थी, वे तो तैयार ही हो गए, परंतु जो वहाँ उपस्थित न थे, वे भी झूठी गवाही देने को तैयार हो गए । सधुवा पर भी पुलीस का ज़ोर पड़ा । इधर गाँववालों ने भी कहा—"तुम्हारे साथ भी तो ठाकुर ने कुछ नहीं उठा रक्खा था । अब बदला लेने का समय आ गया है । कम-से-कम कालेपानी तो भिजवाओ ।"

सधुवा ने बहुत कुछ बचना चाहा—बोला, "झूठी गवाही तो हम न देंगे ।", पर उसकी एक न चली । थानेदार ने आँखें नीली-पीली करके कहा—"सुनता है बे, तुझे गवाही देनी ही पड़ेगी । चीं-चपड़ करेगा, तो तुझे भी चार साल को भिजवाऊँगा ।"

सधुवा ने विवश होकर स्वीकार कर लिया ।

ठीक समय पर मुक़द्दमा पेश हुआ । पुलीस ने गवाहों को सिखाया था कि कहना, ठाकुर और गुड़ैत, दोनों ने मिलकर मारा है । ठाकुर डंडे से पीट रहे थे, और गुड़ैत लाठी से ।

इधर सधुवा ने कालका से कहा था—"बबुआ, झूठी गवाही देना बड़ा पाप है, फिर खून के मामले में । पर पुलीस नहीं मानती ।"

कालका ने कहा—"चाचा, झूठी-सच्ची न देखो । उसने हमारे साथ कौन नेकी की है ? गवाही जरूर दो । बात तो ठीक हई है, फिर पाप-पुन्न काहे का ।"

सधुवा—ठीक तो है, पर वहाँ तो कहना पड़ेगा कि

हमने अपनी आँखों से देखा है। मैं तो उस बखत वहाँ था नहीं।"

कालका—"इस सोच-विचार में न पड़ो। सब ठीक है। ऐसे के साथ ऐसा ही करना चाहिए।"

सब गवाहों ने वैसा ही कहा, जैसा कि पुलीस ने सिखाया था। जब सधुवा की बारी आई, तब उसका सारा शरीर काँप रहा था। जब उससे प्रश्न किया गया, तो वह बोला—"हजूर, मैं उस बखत वहाँ नहीं, अपने गाँव में था। मुझे नहीं मालूम, किसने मारा। हाँ, मैंने यह जरूर सुना कि ठाकुर ने सिवदीन को गुड़ैत से पिटवाया था।"

मैजिस्ट्रेट—"गुड़ैत से पिटवाया, और ख़ुद भी मारा?"

सधुवा—"नहीं हजूर, खुद तो खाली दो-एक डंडे मारे थे। उनकी मार से यह नहीं मरा, मरा गुड़ैत की मार से।"

मैजिस्ट्रेट—"तुम वहाँ मौजूद था?"

सधुवा—"नहीं सरकार, मैंने सुना था।"

मैजिस्ट्रेट—"किससे सुना?"

सधुवा—"गाँव के सब आदमी यही कहते थे।"

मैजिस्ट्रेट को यह बात जच गई कि सधुवा सच्ची गवाही दे रहा है। उन्होंने ठाकुर साहब को तीन बरस की सख़्त क़ैद की सज़ा दी, और गुड़ैत को सेशन-सिपुर्द कर दिया।

* * *

जेल जाते समय ठाकुर साहब ने सधुवा को अपने पास बुलाया, और रोते हुए कहा—"मैंने तुम्हारे साथ जो कुछ किया था, उसे भूलकर तुमने मेरे साथ यह नेकी की है। इसे मैं जन्म-भर नहीं भूलूँगा। सधुवा, तूने ग़रीब होते हुए भी यह दिखा दिया कि संसार में सच्चे और ईश्वर से डरनेवाले मनुष्यों का अभाव नहीं। भाई, मेरा अपराध क्षमा करना।"

सधुवा की आँखों से भी अश्रुपात होने लगा। उसने गद्गद कंठ से कहा—"मालिक, भगवान् आपका भला करें।"

सधुवा लौटकर गाँव नहीं गया। वह शहर में अपने पुत्र ही के पास रहने लगा।

दूसरे दिन चंदनसिंह के पुत्र सधुवा के पास पहुँचे, और उन्होंने उसके सामने एक हज़ार रुपए की थैली रख दी। सधुवा चकित होकर बोला—"यह क्या?" चंदनसिंह के पुत्र ने कहा—"पिताजी ने ये रुपए तुम्हें दिलवाए हैं।"

सधुवा बोला—'बबुआ, क्या ठाकुर यह समझे कि मैंने रुपए के लोभ से सच्ची बात कही? राम-राम! बबुआ, जो कुछ मैंने किया, वह भगवान् के डर से। मुझे रुपए-पैसे की जरूरत नहीं। इन्हें ले जाओ।"

चंदनसिंह के पुत्र ने बहुत कुछ कहा, पर सधुवा ने एक पैसा न लिया। उसकी उस सचाई का कारण केवल ईश्वर का डर था।

विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक

काला हृदय

फिर जाते हैं रंग सभी, काला, काला ही रहता है;
काला हृदय क्रूर जन का, फ़ौलाद बना सब सहता है।
पड़ जाता यह जिसके पीछे पिशुन, पिशाच, पाप का धाम;
फिर उसके सर्वस्व-नाश में क़सर न करता आठो याम।
धोने से बहु बार पंक क्या, हो सकता है उज्ज्वल-रूप?
सुधा-सरित-मज्जन से भी क्या, कौए होंगे हंस अनूप?
काले उपल घिसे जाने से, श्वेत हुए हैं भला कहीं?
काले हृदय! तुम्हारा भी, सित होना संभव कभी नहीं।
ईर्षा, द्वेष, क्रोध की ज्वाला, जिससे सदा उबलती हैं;
मृदुल, सदय उर-गेह-पंक्तियाँ, जिससे नितप्रति जलती हैं।
काले हृदय, कोयला बनकर, ताप प्रचंड स्वयं सहता;
उसी पाप-हिंसानल को तू उद्दीपित करता रहता।
कृष्ण-कंठ हैं शंभु, द्विजिह्वों को प्रत्यंग बसाते हैं;
काला कंठ मोर का, वे अहि खाकर शीघ्र पचाते हैं।
काला हृदय चंद्र का तम में, वह प्रकाश फैलाते हैं;
कभी-कभी काले भी अपना कहीं महत्त्व दिखाते हैं।
कृष्ण वर्ण कालिया नाग, तू कहीं नहीं जाकर फसता;
दीन, शांत, निर्दोष हृदय को औचक ही आकर डसता।
रे अविचार-फणों से गर्वित! कठिन दंड तू पावेगा;
कभी कृष्ण के क्रुद्ध हुए पर निर्दय, नाथा जावेगा।

प्रेमदास वैष्णव

गो-रक्षा

"गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ;
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ।"



भारत की भलाई के लिये आज दिन गो-रक्षा का प्रश्न जितना महत्त्व-पूर्ण और अत्यंत आवश्यक है, उतनी ही उसकी उपेक्षा और उसके संबंध में असावधानी की जा रही है। भारत में रहने, बसने और बसकर चले जानेवाले आदि सभी लोगों के लिये गो-रक्षा की उपेक्षा नितांत हानिकर और लज्जाप्रद है।

भारत के वर्तमान हिंदू गऊ को धार्मिक दृष्टि से पूज्य मानते हैं। अतः उसको मारकर खा जानेवालों से उसकी प्राण-रक्षा करने के लिये वे सदा यत्नशील रहा करते हैं। भारत में गो-रक्षा के प्रश्न को लेकर उसके रक्षक और भक्षक लोगों में कई बार भीषण लड़ाई-झगड़े हो चुके हैं, और अब तक होते जाते हैं, जिनके कारण उभय पक्ष के साक्षर और निरक्षर लोगों को नाना प्रकार के अप-मान-जनक शारीरिक कष्ट भोगने पड़े और भोगने पड़ रहे हैं। वे लोग विवेक-पूर्वक इस विवाद का निपटारा जब तक नहीं कर लेंगे, तब तक उनको गो-रक्षा के आशा-तीत लाभों से वंचित रहकर आत्महा बने रहना पड़ेगा। इतना ही नहीं, किंतु परम दयालु ईश्वर की असीम कृपा के सर्वोत्तम फल से भी वंचित रहना पड़ेगा।

उभय पक्ष के सत्यानुरागी विद्वानों को इस बात पर विचार करना चाहिए कि भारत के हिंदू लोग गऊ को इतना पवित्र और पूज्य क्यों मानते हैं? इस प्रश्न का निर्णय जब उसके भक्षकों को समझा देगा कि ईश्वर ने उस प्राणी को मनुष्य का महान् उपकार करने के लिये पैदा किया है, और ऐसी दशा में जो लोग, अपनी विवेक-शून्यता के कारण, उसे मारकर खा जाते हैं, वे अकेले हिंदुओं की ही हानि नहीं करते, किंतु स्वयं अपनी और अपने बाल-बच्चों की भी हानि करते हैं, साथ ही ईश्वर की परम चतुराई पर पानी फेर देते हैं, तब बहुत संभव है कि वे लोग, गऊओं और हिंदुओं पर दया करने के अभिप्राय से नहीं, किंतु निज की भलाई तथा अपने ईश्वर की आज्ञा का पालन करने के पुण्य-लाभ की लालसा से, गो-रक्षा करने में सहायक हो जायगे।

हिंदू लोग गऊ को पूज्य क्यों मानते हैं? यहाँ इस विषय की संक्षिप्त चर्चा की जाती है। भारत के वैदिक तथा पौराणिक साहित्य के पाठकों को यह बात भली भाँति ज्ञात है कि अन्यान्य देशों के भिन्न-भिन्न जाति के लोगों के सदृश भारत के वर्तमान हिंदुओं के आर्य पूर्वज भी मांस-भक्षक थे, और वे सब प्रकार के पशु-पक्षियों का मांस खाया करते थे। पर ज्यों-ज्यों उनकी बुद्धि का विकास होता गया, त्यों-त्यों उन्हें ज्ञात होता गया कि ईश्वर ने मनुष्य प्राणी को मांसाहारी नहीं बनाया है। ईश्वर की इच्छा मनुष्य को मांसाहारी बनाने की होती, तो वह उसके दाँतों की रचना व्याघ्र आदि हिंस्र प्राणियों के दाँतों के प्रकार की न करता। इसके सिवा मांस की खोज में नित्यप्रति जितना कष्ट उठाना पड़ता है, साथ ही उसकी रक्षा में जितनी चिंता करनी पड़ती है, उतनी अन्य पदार्थों की रक्षा में नहीं। मांस बहुत शीघ्र सड़ जाता है, और खाने योग्य नहीं रहता। इस बात का पता लगते ही भारत के प्राचीन आर्यों ने कृषि की रक्षा और उन्नति की ओर ध्यान दिया। जो काम उचित सावधानी और पूर्वापर-विचार के साथ किया जाता है, वह अवश्य ही सफल होता है। कहना नहीं होगा कि भारत के वर्तमान हिंदुओं के पूर्वज आर्य लोग ज्यों-ज्यों कृषि की उन्नति में दत्तचित्त हुए, त्यों-त्यों उन्हें गो-वंश की उपयोगिता का अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त होता गया। उसकी उपयोगिता के ज्ञान से ज्यों-ज्यों उनकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती गई, त्यों-त्यों वे उसकी रक्षा की मात्रा को बढ़ाते गए। बुद्धिमान् लोग उपयोगी वस्तुओं की रक्षा और उनके प्रचार की मात्रा को अनेक उपायों द्वारा बढ़ाते रहते हैं। जिस प्रकार गार्हस्थ्य सुख की रक्षा और वृद्धि के लिये स्त्री के पातिव्रत्य धर्म की आवश्यकता समझकर उसके बढ़ाने का आर्यों ने उद्योग किया, और उसकी मात्रा को यहाँ तक बढ़ा दिया कि पतिव्रता स्त्रियाँ मृतभर्तृका होने पर अपने पति के साथ जीते-जी जल जाना उत्तम समझने और उन लोगों के उपदेशानुसार जल जाने लगीं, ठीक उसी प्रकार उन लोगों ने गऊओं की रक्षा के महत्त्व को समझकर उनकी रक्षा का उपदेश दिया। वर्तमान हिंदुओं ने गो-रक्षा का उपदेश

अपने पूर्वज आर्यों से पाया है, उसके वह हितकर होने के कारण वे उसका पालन अभी तक करते जाते हैं।

जो मनुष्य, जो जाति या जो राष्ट्र अपने कर्तव्य कर्मों के सिद्धांतों को भूल जाता है, उसका पतन होना अनिवार्य है। पतित का न कहीं आदर होता है, और न कोई उसकी बात ही सुनता है। यही दशा आज दिन हम हिंदुओं की हो रही है। हम आज दिन जिस गो-रक्षा को केवल मौखिक सहानुभूति के साथ करने का ढिंढोरा पीटते हैं, उसके सिद्धांत यद्यपि उच्च कोटि के हैं, तथापि हम, अपनी वर्तमान अज्ञता और उपेक्षा के कारण, उनको अपने विरोधियों पर भली भाँति प्रकट नहीं कर सकते। अतः अपने विरोधियों को गो-रक्षा का महत्त्व समझने के लिये हम भारत के आर्य-साहित्य का अनुशीलन करने का परामर्श नहीं देंगे। अमेरिका के दूरदर्शी, विवेकी, मननशील लोगों ने अपनी बुद्धि के विकास से गउओं के महत्त्व को जिस प्रकार जाना है, और वे जिस प्रकार उसकी रक्षा करते-कराते हैं, उसी की यहाँ चर्चा करके हम अपने गो-मांसाहारी भाइयों से उस पर विचार करने की प्रार्थना करते हैं। आशा है, वे लोग हमारी इस चर्चा पर उचित ध्यान देने की कृपा अवश्य करेंगे।

अमेरिका के संयुक्त-राज्यों में मिसोरी-नामक एक राज्य है। उसमें 'टीचर्स कॉलेज' नाम का एक कृषि-विद्यालय है। उसके प्रधान अधिकारी मि० जॉन० एच्० रेहसे हैं। आपने कृषि-विषयक अनेक ग्रंथ लिखे हैं। आपके एक ग्रंथ का नाम 'लाइव स्टॉक और फ़ार्म-मेकानिक्स' है। इस ग्रंथ के छठे अध्याय में आपने गो-वंश की उपयोगिता और महत्ता का बहुत बढ़िया वर्णन किया है। इस ग्रंथ से आगे दो-एक अवतरण देकर हम अपने पाठकों को गो-वंश की श्रेष्ठता का परिचय कराते हैं। उक्त ग्रंथकार ने उक्त ग्रंथ के पृष्ठ ६० में लिखा है—

"Daiying is adraulageous because it aids in maintaining soil fertility."

अर्थात् गउएँ केवल दूध, दही और मक्खन आदि ही नहीं देती हैं, वे धरती की उत्पादिका शक्ति को भी बनाए रखती हैं।

उक्त ग्रंथकार आगे चलकर पृष्ठ ६१ में लिखते हैं—

"The dairy cow, of all farm animals, is the most economical producer of human food, that is, a dairy cow produces more human food in proportion to the feed fed than any other animal."

अर्थात् कृषि के द्वारा मनुष्यों के खाने-पीने योग्य पदार्थ उत्पन्न करने में जिन पशुओं की आवश्यकता हुआ करती है, उन सबकी अपेक्षा दूध देनेवाली गऊ की सहायता बढ़िया और सस्ती होती है। सारांश यह कि दूध देने-वाली गऊ, अन्य पशुओं की अपेक्षा, कम खाती है, किंतु मानव के खाद्य पदार्थों को उनकी अपेक्षा कहीं अधिक उत्पन्न करती है।

वही ग्रंथकार पृष्ठ ११८ में लिखते हैं—

"Milk contains every thing the body needs:"

अर्थात् गऊ के दूध में वे सब पोषक तत्त्व रहते हैं, जिन-की मनुष्यों को अपने भरण-पोषण के लिये आवश्यकता हुआ करती है।

सी० डब्ल्यू० बर्कट अपने 'सायल' (Soil)-नामक ग्रंथ के पृष्ठ २९८ में लिखते हैं—

"In twenty years a wheat farm may be worn out by continual croping ××× wheat raising makes swift work in ruining lands, but daiying preserves them."

अर्थात् जिस खेत में लगातार बीस वर्ष तक गेहूँ बोए जाते हैं, वह खेत निःसत्त्व—ऊसर—हो जाता है। गेहूँ की उपज धरती को बहुत शीघ्र ऊसर बना डालती है, उसकी (गेहूँ के खेत की) उत्पादिका शक्ति की यदि रक्षा की जा सकती है, तो वह केवल गउओं द्वारा ही की जा सकती है।

आगे चलकर फिर आप लिखते हैं—

"While soil building can be accomplished by using other classes of animals, it is, however, a fact tnat the dairy cow produces more real fertility than any other farm animal."

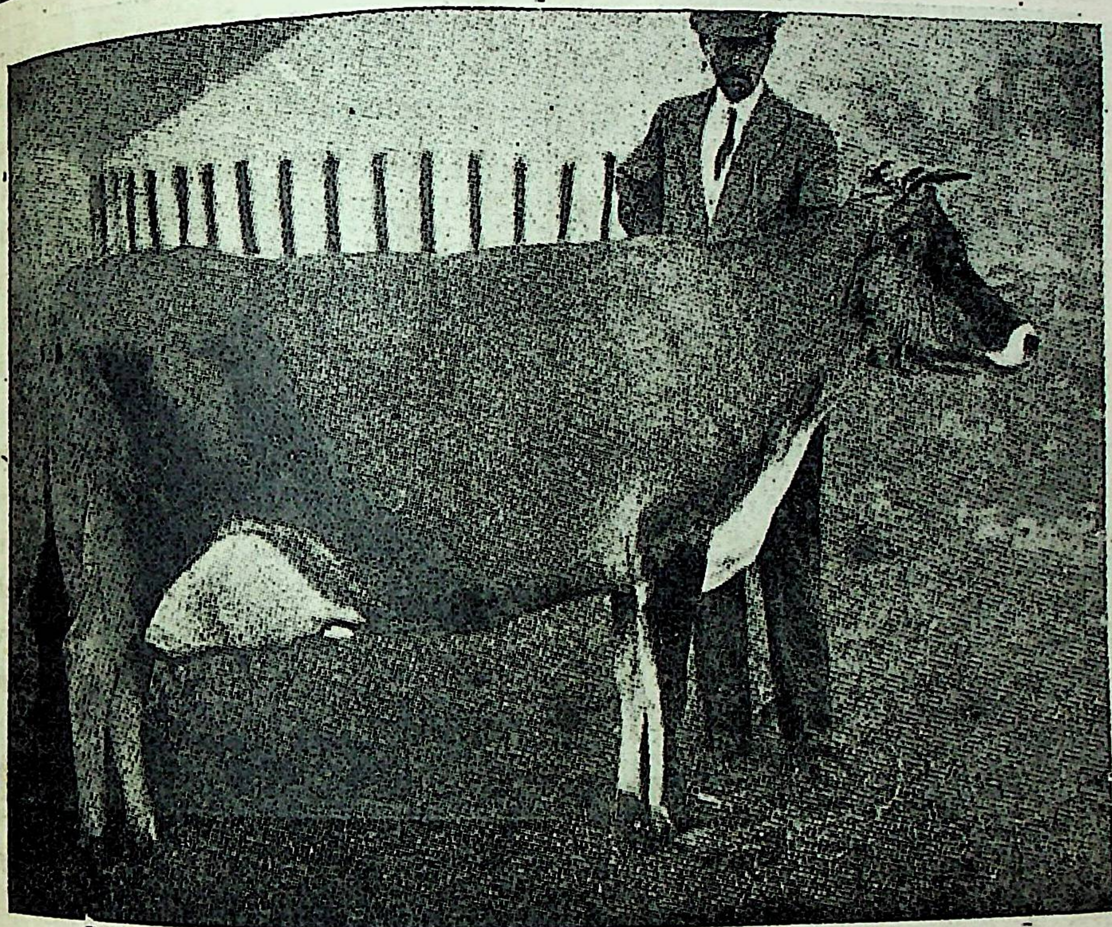
अर्थात् यह बात सच है कि धरती की उत्पादिका शक्ति बनाए रखने में अन्यान्य पशु भी सहायक हो सकते हैं; किंतु इसमें रत्ती-भर भी संदेह नहीं कि उन सबकी अपेक्षा धरती की उत्पादिका शक्ति की रक्षा करने में गऊ बहुत अधिक उपयोगी है।

अमेरिका के विद्वान् ग्रंथकारों के ग्रंथों से ऊपर जो थोड़े-से अवतरण दिए गए हैं, उनसे दुराग्रह-शून्य और सत्य के प्रेमी पाठक जान सकते हैं कि गऊ मनुष्य का कितना हित करनेवाली है। गऊ की उपयोगिता के विषय में अमेरिका और योरप के विद्वानों ने जिन बातों को अभी २०-२५ वर्ष के पूर्व जाना है, उन्हें भारत के ऋषि-महर्षि हज़ारों वर्ष पहले जान चुके थे। इसी कारण उन्होंने अपने वंशजों को प्राणपण से गऊ की रक्षा करने का आदेश दिया है। उसी आदेश के अनुसार वर्तमान हिंदू लोग गऊ की रक्षा करने का आग्रह करते हैं, तो इसमें वे कौन-सी बुराई करते हैं। भारत में बसने या थोड़े दिन बसकर अन्यत्र चले जानेवाले सब जातियों और धर्म के लोगों को मनुष्योचित भोजन-सामग्री यथेष्ट मात्रा में मिला करे, इसी अभिप्राय से ईश्वर ने गऊओं को पैदा किया है, जैसा कि उक्त अवतरणों से स्पष्ट प्रमाणित है। ऐसी अवस्था में, किसी एक पुरुष द्वारा कल्पित धर्म की आड़ में, जो लोग गऊ की हत्या करके ईश्वर को प्रसन्न करना चाहते हैं, वे अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि का आदर कर विचार करें, तो उन्हें तुरंत ज्ञात हो जायगा कि गऊ की बलि देने से ईश्वर संतुष्ट कभी न होगा, किंतु वह एक उपयोगी प्राणी को नष्ट कर देने के कारण कुपित ही होगा। इस वस्तु-स्थिति को समझकर भारत के सब धनी ज्ञानी लोग यथाशक्ति गऊ की रक्षा करने लगें, तो भारत की दीन जनता का अन्न-कष्ट दूर हो जाय। साथ ही ईश्वर उनके इस कृत्य से प्रसन्न होकर उनकी अधिकाधिक भलाई की सामग्री एकत्र कर देंगे।

जब से अमेरिका और योरप के विद्वानों को गऊ की उपयोगिता का यह ज्ञान प्राप्त हुआ है कि वह कृषि-कार्य की धरती की उत्पादिका शक्ति को बढ़ाने तथा उसकी रक्षा करने में अद्वितीय है, साथ ही उसके दूध और मक्खन में मनुष्य का भरण-पोषण करनेवाले सब तत्त्व विद्यमान हैं, तब से वे लोग उसका भरण-पोषण करने में बहुत सावधानी करने लगे हैं। आजकल वहाँ गऊओं के रहने के लिये ऐसे घर बनवाए जाते हैं, जिनमें रहने से उन्हें दिन-रात प्रकाश, और शुद्ध वायु, पर्याप्त मात्रा में, मिलती रहती है। बैठने-उठने को साफ़-सुथरा यथेष्ट स्थान मिलता है; सोने के लिये नरम तृण का बिछौना दिया जाता है; खाने-पीने का ऐसा प्रबंध है कि उनको ठीक समय पर वही चारा और दाना दिया जाता है, जो वैज्ञानिक परीक्षा से उनकी प्रकृति के अनुकूल प्रमाणित हो चुका है; पीने को शुद्ध जल यथापरिमाण मिलता है; प्रत्येक ऋतु के अनुसार उनको स्नान कराया जाता है; जाड़े, गरमी और वर्षा से उनकी यथेष्ट रक्षा की जाती है; कृमियों और रोगों से उनकी रक्षा की जाती है। इस सब सावधानी और चतुराई की प्रशंसा उनके वंश की श्रेष्ठता बनाए रखने की ओर और भी विशेष ध्यान दिया जाता है। अधिक दूध और मक्खन देनेवाली गऊ को निम्न श्रेणी के साँड़ के द्वारा कभी गर्भवती नहीं होने दिया जाता। उन लोगों ने अनुभव दर्शन की सहायता से यह बात जान ली है कि जिस साँड़ की मा अधिक दूध-मक्खन देनेवाली होती है, उससे गर्भवती होनेवाली गऊ स्वयं अधिक दूध देती है, और उसकी बेटी, वैसे ही (सजातीय) असमान वाले साँड़ से गर्भवती होने पर अपनी मा से भी अधिक दूध-मक्खन देती है। इस पूर्ण चतुराई और सावधानी का फल यह हुआ है कि आज दिन अमेरिका और योरप में नीचे लिखे हुए चार वंशों की गऊएँ, उनके सामने लिखे हुए परिमाण में, हर बेत में, दूध और मक्खन दिया करती हैं—

वंश का नाम	वज़न मन, सेर	दूध मन, सेर	मक्खन मन, सेर
(१) जरसी	११-०	२३४-३१	[illegible]
(२) गेरनसी	१३-२०	३००-४	[illegible]
(३) होल स्टाइन	१८-२०	३३५-३०	[illegible]
(४) आयर शायर	१२-१०	३१६-२४	[illegible]

अमेरिका के चतुर विद्वानों ने यह भी लेखा कर लिया है कि उक्त गऊएँ प्रतिवर्ष अपने गोबर और मूत्र से धरती की उत्पादिका शक्ति की किस मर्यादा तक रक्षा करती हैं। एक विद्वान् ने लिखा है कि उक्त प्रकार की १५ गऊएँ एक सौ एकड़ धरती की उत्पादिका शक्ति की, पर्याप्त मात्रा में, रक्षा कर सकती हैं। उनके लालन-पालन और भरण-पोषण का व्यय उनसे होनेवाली आय से कहीं कम रहा करता है। जितनी अधिक सावधानी, चतुराई और प्रेम के साथ उनका लालन-पालन किया जाता है, उतना ही अधिक दूध और

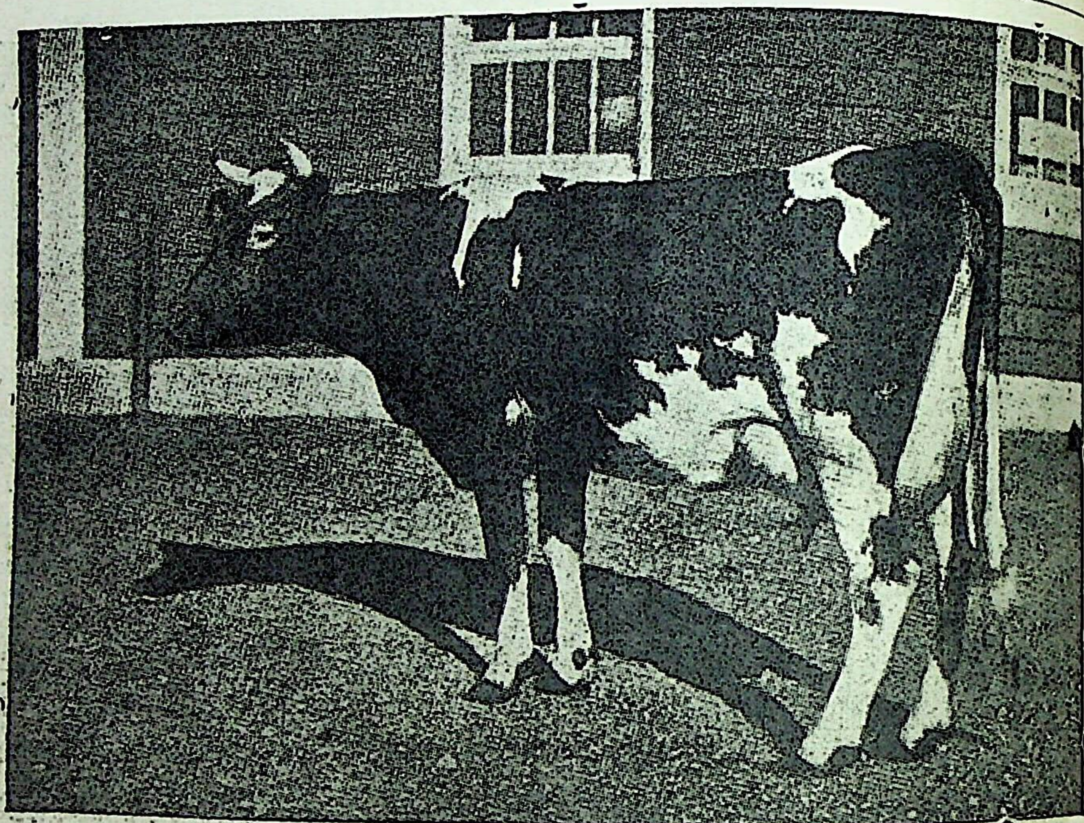


असल जरसी नसल की गाय

अवस्था में वे बहुत दिनों तक देती रहती हैं। धन्य है अमेरिका और योरप के उन विद्वानों और चतुर किसानों को, जो मनुष्य-मात्र का हित करनेवाली गउओं का उक्त प्रकार से लालन-पालन करके अपने देश को धन-धान्य से संपन्न बना रहे और, साथ ही, भारत के हिंदुओं के गो-रक्षा-विषयक उचित आग्रह को अक्षरशः सत्य प्रमाणित कर रहे हैं। उक्त गो-वंशों की चार गउओं के चित्र यहाँ प्रकाशित किए जाते हैं। उनके सुंदर, सुडौल और सम-प्रमाण विभक्त अंगों को देखकर संभव है, माधुरी के पाठकों के चित्त में वैसी ही गउएँ पालने की उत्कट इच्छा का प्रादुर्भाव हो उठे। भारत के वर्तमान गो-वंश का उचित रूप से पालन करने से उनकी इच्छा पूरी हो सकती है।

ऊपर अमेरिका के जिन गो-वंशों की चर्चा की गई है, वे योरप से वहाँ लाए गए हैं। कहना न होगा कि उनकी वर्तमान उन्नति का एक-मात्र कारण उनकी पालन-पोषण की सावधानी और चतुराई ही है। परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि योरप के उक्त गो-वंश भारत में वैसे उपयोगी नहीं हो सकते। भारत में भारत के पंजाब, सिंध, काठियावाड़ और मदरास आदि प्रांतों के मांटगोमरी, सिंधी, हंसी और ओंगोली-नामक गो-वंश, उचित सावधानी और चतुराई से लालित-पालित होने पर, ख़ासी उन्नति कर सकते हैं। भारत के साक्षर धनिकों को इस ओर अब अधिक ध्यान देना चाहिए।

अब भारत के वर्तमान हिंदुओं की गो-भक्ति का भी थोड़ा-सा वृत्तांत पढ़ लीजिए। करोड़पतियों से लेकर साधारण वित्त के सज्जन तक गऊ पालते हैं। नगरों में रहनेवालों की अपेक्षा ग्रामों में रहनेवाले, ज़मींदार, माफ़ीदार, मालगुज़ार, किसान आदि सभी गऊ पालते हैं। कोई दो-एक, कोई दस-पाँच, और कोई सैकड़ों



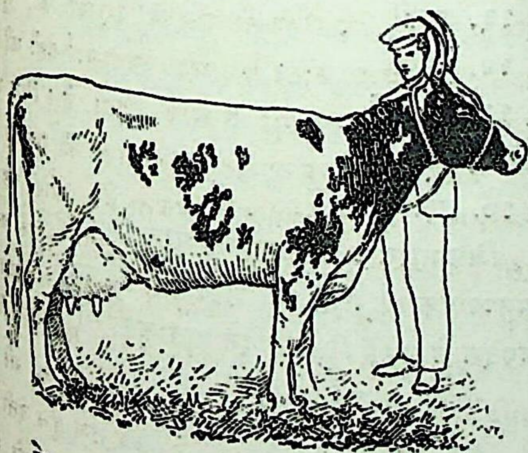
असल गर्नसी नसल की गाय

(जब यह चार साल की थी तो इसने साल-भर में १८४९८ पौंड दूध और ९०७ पौंड मक्खन दिया)

गउएँ पालते हैं। जो दो-एक गउएँ पालते हैं, वे तो भले ही अपनी गउओं को भर-पेट चारा देने की आवश्यकता समझते हों, किंतु जो लोग अधिक गउएँ पालते हैं, वे न तो उन्हें भर-पेट चारा ही देते हैं, और न जाड़े, गरमी तथा वर्षा से उनकी यथेष्ट रक्षा का प्रबंध ही करते हैं। उनके गो-पालन का यह नियम पाया जाता है कि एक मैली-कुचैली, यथेष्ट प्रकाश और वायु से रहित, तंग जगह में उन्हें रात को, बिना चारा-दाना दिए ही, दुह लेने के बाद, बाँध देते हैं। रात-भर वे बेचारी वहीं, उसी मल-मूत्र-पूरित दुर्गंधित स्थान में, अपना समय काटती हैं। जो सबल होती हैं, वे अपने बल-प्रयोग से बैठने-उठने का प्रबंध कर लेती हैं। निर्बलों को बैठने-उठने का स्थान तक नहीं मिलता। वे खड़े-खड़े ही, या धक्का खाकर, गिर पड़ीं, तो पड़े-पड़े ही अपना समय काटती हैं। प्रातः-काल होने पर, जो दूध देनेवाली होती हैं, उन्हें दुहकर, सबको चरने के लिये भेज देते हैं। बस, जंगल में जो कुछ खाने को मिल जाता है, उसी पर उन्हें अपना निर्वाह करना पड़ता है। उन्हें चरने के लिये प्रतिदिन आठ-दस मील पहाड़ी या जंगली मार्ग से जाना-आना पड़ता है। पीने के लिये, किसी-किसी गाँव के पशुओं को, सुबह-शाम जल मिल जाता है। यह व्यवस्था वहाँ की है, जहाँ निकट में नदी या तालाब रहता है। किंतु जहाँ ऐसे जलाशय का अभाव होता है, वहाँ की गउओं को दिन-रात में एक ही बार जल मिलता है। और, वह भी ऐसा मैला-कुचैला रहता है कि कोई नागरिक उसे अपने मुँह के पास तक नहीं ला सकता। कहना न होगा कि इस प्रकार पाली हुई गउएँ सदा गोबर, मूत्र और पिस्सू आदि कृमि-कीटकों से भरी रहा करती हैं। सो भी इस प्रकार वे तभी तक पाली जाती हैं, जब तक दूध देती हैं। दूध देना बंद करने के पश्चात् उनके स्वामी को यदि रुपयों की आवश्यकता होती है, तो वह उन्हें बाज़ार में ले जाकर प्रायः क़साइयों के हाथ बेच डालता है। क़सा-इयों के पास पहुँचकर उनके उक्त प्रकार के जीवन की यंत्रणाओं की इति हो जाती है। पाठक इस वर्णन से

असल हाल्स्टीन नसल की गाय

(इसने साल-भर में ७४१ पौंड मक्खन और २६८६१ पौंड दूध दिया)



ऐर-शायर की लाल-सफ़ेद रंग की गाय

(इसका ऐन भारी और सींग पीछे को झुके होते हैं)

अतिरंजित न समझें । यह सब लेखक का स्वयं आँखों-देखा वृत्तांत है ।

नगर में बसनेवाले हिंदू लोग जिस प्रकार गो-पालन करते हैं, उसका भी थोड़ा-सा वर्णन नीचे दिया जाता है । पाठक उसे भी देख लेने की दया करें ।

नगर में बसनेवाले जो साधारण वित्त के लोग दो-एक गउएँ रखते हैं, वे रात को उन्हें चारा दिया करते हैं । जब तक वे दूध देती हैं, तब तक उन्हें दाना भी दिया जाता है । प्रातःकाल दूध दुहकर वे चरानेवाले के सिपुर्द कर दी जाती हैं । वह चरानेवाला उन्हें नगर के बाहर ले जाकर किसी छायावाले स्थान में एकत्र कर रखता है । वहाँ उनके गोबर को एकत्र कर वह कंडे बना-बनाकर बेचता रहता है । उस स्थान के आसपास यदि चरने योग्य धरती होती है, तो उसमें वे कुछ चर लिया करती हैं । अन्यथा जाते-आते समय मार्ग में जो कुछ मिल जाता है, उसी पर उनको दिन-भर निर्भर रहना पड़ता है । सायंकाल को जैसा मैला-कुचैला जल मिल जाता है, वैसा ही उन्हें पिलाकर चरानेवाला लौटा

जाता है। घर पर जो चारा-दाना मिल जाता है, उसी पर उन्हें अपनी रात काटनी पड़ती है। नगरवालों में किसी-किसी के पास अच्छे वंश की भी गउएँ रहती हैं; पर वह इसका कभी विचार ही नहीं करता कि उसकी गऊ किस प्रकार के साँड़ से गर्भवती हुई है। परिणाम यह होता है कि दो-चार बार इसी प्रकार अयोग्य साँड़ से गर्भवती होने के कारण वह गऊ स्वयं कम दूध देने लगती है, और उसकी बेटियाँ भी अपनी माता के गुणों से वंचित हो जाती हैं।

नगर में बसनेवाले लक्ष्मी के कृपापात्र लोगों में से जो मालगुज़ारी का व्यवसाय करते हैं, वे नगरों में उन गउओं को लाकर रक्खा करते हैं, जो दूध देती हैं। इन लोगों के यहाँ इतनी विशेषता रहती है कि गउओं के रहने का स्थान विस्तृत रहता है, और उन्हें खाने-पीने को चारा और दाना भी मिल जाता है। स्थान की विशुद्धता या सफ़ाई पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। धनाढ्य लोग अपना निज का साँड़ भी रक्खा करते हैं। वह साँड़ बढ़िया होता है। जिनके यहाँ कई वंशों की बढ़िया गउएँ रहती हैं, किंतु साँड़ एक ही वंश का रहता है, उनकी वे भिन्न-भिन्न वंश की गउएँ उसी से संयुक्त होने के कारण काल पाकर अपने वंश के गुणों से रहित हो जाती हैं। कहना न होगा कि उनकी संतति भी नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है।

धनाढ्यों के यहाँ की गउओं को जो चारा-पानी दिया जाता है, उसकी शुद्धता पर अणु-मात्र भी ध्यान नहीं दिया जाता। नागरिक धनाढ्य लोगों में कोई-कोई प्रति-दिन गो पूजन भी किया करते हैं। ऐसे ही एक धनाढ्य के गो-पूजन के समय उनके पास उपस्थित होने का एक बार लेखक को अवसर मिल गया था। उनकी उस पूजा को देखकर लेखक को जो कौतूहल हुआ था, संभव है, वही माधुरी के पाठकों को भी हो। बात यह थी कि नित्य के नियमानुसार जब गऊ लाई गई, तब किसी नौकर ने उनके उच्च अट्टालिका-स्थित पूजा-भवन के पास आकर सूचना दी कि गऊ माता आ गई हैं। सूचना पाकर वह पूजन-सामग्री लेकर खिड़की के पास आ खड़े हुए। गऊ माता नीचे, बहुत दूर, आँगन में, खड़ी थीं। ऊपर से उन्होंने, उन गोमय और गोमूत्र से लिप्त गऊ माता की ओर एक आचमनी जल फेंक दिया। पश्चात् उसी प्रकार चंदन, अक्षत, फूल फेंककर आरती उतारी, और कह दिया कि गऊ को शीघ्र बाग़ में ले जाओ; विलंब हो जायगा, तो दुहने-वाला चला जायगा। भारत के हिंदू धन-कुबेरों की इस प्रकार की निकृष्ट गो-भक्ति का ही यह कड़वा फल है कि आज दिन संसार-भर के गो-मांस के बाज़ारों में भारत का स्थान सर्वोपरि है। निम्न-लिखित सूची देखिए—

संसार-भर के प्रधान-प्रधान गो-मांस-उत्पादक देशों के नाम और उनके तदर्थ दिए जानेवाले पशुओं की संख्या*

देश का नाम	पशुओं की संख्या
१. ब्रिटिश भारत	१२,९८,७६,०००
२. यूनाइटेड स्टेट्स (अमेरिका)	६,८९,२२,०००
३. योरपियन रशिया	३,८३,७३,०००
४. ब्रेज़िल	३,७५,००,०००
५. अरजेंटाइना	२,७३,९२,०००
६. जर्मनी	१,६९,०४,०००
७. एशियाई रशिया	१,४७,७२,०००
८. फ्रांस	१,२३,७४,०००
९. ग्रेट ब्रिटन	१,१७,७०,०००
१०. आस्ट्रेलिया	१,१०,४०,०००
११. कनाडा	९४,७७,०००
१२. वेडागासकर	६६,७६,०००
१३. इटली	६२,४०,०००
१४. स्पेन	३७,१२,०००
१५. डेनमार्क	२२,८९,०००
१६. स्वीडन	२२,५०,०००
१७. जापान	१३,०७,०००

जिस भारत के प्राचीन आर्य पुरुष गउओं के प्रकृति-सुलभ मनुष्योपकारक गुणों का ज्ञान प्राप्त कर अपने बच्चे-बच्चे को उपदेश दे गए हैं कि प्रतिदिन प्रातःकाल सोकर उठते ही—

"गावो मे अग्रतः सन्तु, गावो मे सन्तु पृष्ठतः;
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्।"

इस मंत्र का पाठ करके अपनी गउओं की रक्षा में दत्त-चित्त रहा करो, उसी की वर्तमान हिंदू-प्रजा अपने घोर अज्ञान, प्रचंड मूर्खता, और नीच उपेक्षा की परा काष्ठा के वशीभूत होकर गो-वंश-नाश की श्रेणी में अग्रगण्य बन रही

* Live-stock and Farm Mechanic, page 69.

है। कहीं ठिकाना है इस अधःपात का ! कहीं सीमा है इस उपेक्षा की ! भगवद्गीता में "कृषिगोरक्षवाणिज्यं" पद के द्वारा भारत के वैश्यों को कृषि, गो-रक्षा और वाणिज्य का अन्योन्याश्रय संबंध समझानेवाले श्रीकृष्ण महाराज भारत के गो-वंश को उक्त प्रकार नाश होते देख भारत के वर्तमान धन-कुवेर वैश्यों की जिस प्रकार प्रशंसा करते होंगे, उसका अनुमान वे ही लोग कर लें।

पौष-मास की माधुरी के पृष्ठ ८१६ पर एक समाचार छपा गया है। उसमें लिखा है कि उस दिन एक धनाढ्य मारवाड़ी ने मौलाना शौक़तअली के चरणों में लपटकर उनसे कहा कि "मैं आपको एक करोड़ रुपए देता हूँ। आप भारत में गो-वध बंद करा दीजिए।" मौलाना ने उसके भोलेपन पर ध्यान देकर जो कुछ कहा, सो ठीक ही है। उक्त धनाढ्य मारवाड़ी सज्जन हमको पाँच लाख रुपए ही देने की कृपा करें, तो हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि दस साल के भीतर हम भारत के मध्य-प्रदेश में गो-वध बंद करा देंगे। मध्य-प्रदेश की सफलता देखकर अन्यान्य प्रांतों के धनी लोग जब उसका वैसा ही अनुकरण करेंगे, तब बहुत संभव है कि समूचे भारत से गो-वध उठ जाय। भारतवासी गो-रक्षा-जैसे महत्त्व-पूर्ण विषय की आज तक बहुत निंद्य रूप से उपेक्षा करके भारत को ग़ारत कर चुके हैं। अब उन्हें उसकी ओर भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

भारत के कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, नागपुर, जबलपुर आदि बड़े-बड़े नगरों में बसनेवाले लोगों में यद्यपि धनी विद्वानों की कमी नहीं है, तथापि उनमें ऐसे लोग बहुत कम हैं, जो स्वयं घी-दूध के लिये, अपने घर पर गऊ पालते हों। उनका बड़ा भारी समूह घी-दूध के लिये अपने नगर के ग्वालों के ही आश्रित रहता है। कहने-सुनने को तो आजकल के ग्वाले बड़े अभिमान के साथ यह कहते हैं कि वे उसी वंश के वंशधर हैं, जिसे परमात्मा श्रीकृष्ण ने अपने जन्म से पवित्र किया था, परंतु अत्यंत खेद, दुःख, संताप और लज्जा की बात है कि जिन गउओं का श्रीकृष्ण ने प्राणपण से लालन-पालन और भरण-पोषण किया था, उन्हीं के वंश को ये लोग अपने थोड़े-से स्वार्थ के लिये बड़ी नीचता के साथ नष्ट करते चले जाते हैं। कलकत्ते के ग्वाले फूका लगाकर उत्तमोत्तम गउओं के वंश को जिस प्रकार नष्ट कर रहे हैं, वह कल-कत्ते के हिंदुओं को भली भाँति और अन्यत्र के हिंदुओं को यों ही थोड़ा-बहुत ज्ञात है। उन नर-पिशाचों से गउओं की रक्षा करने के लिये बाबू हासानंद वर्मा ने बहुत कुछ परिश्रम किया; परंतु कलकत्ते के धन-कुबेरों तथा प्रकांड पंडितों की उपेक्षा के कारण वह इस कार्य में वैसे सफलकाम न हो सके। आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रत्येक श्रेणी का नागरिक शुद्ध दूध न पा सकने की दुःख-पूर्ण चर्चा अवश्य करता है, पर उसके लिये सच्चा प्रयत्न करनेवाले को सहायता देने के लिये कोई अग्रसर नहीं होता। कलकत्ते के धनी-मानी लोग, पूर्ण चतुराई, सावधानी, और दक्षता के साथ, गो-वंश की रक्षा करने का प्रबंध करें, तो यह बात असंभव नहीं है कि उन्हें शुद्ध दूध यथेष्ट मात्रा में न मिल सके। कलकत्ते की श्रीमती अइसा ट्वीडा ने अपनी 'काऊ-कीपिंग इन् इंडिया'-नामक पुस्तक के पृष्ठ २०२ पर बंगाल के हिंदुओं के विषय में जो कुछ लिखकर उनके नाम को कलंकित किया है, उस कलंक से बंगाल के हिंदुओं को बचाना कलकत्ते के प्रत्येक धनी और विद्वान् हिंदू का, भारतीय हिंदू के नाते, परम पुनीत कर्तव्य है।

भारत के जिन नगरों में रिसाले रहते हैं, उन नगरों के ग्वाले, रिसाले के घोड़ों की लीद अपनी गउओं को खिलाकर, प्रकृति-सुलभ स्वास्थ्यकर गउओं के दूध को जिस प्रकार दूषित करके नागरिक लोगों के हाथ बेचा करते हैं, उस ओर नागरिक विद्वानों का अणु-मात्र भी ध्यान नहीं जाता। निस्संदेह यह बड़े दुःख की बात है। उक्त प्रकार दूषित किए हुए दूध तथा उसके खोए की मिठाई को खाने-पीने में लोगों को तनिक भी घृणा नहीं होती। जिन लोगों को आत्मगौरव का ध्यान नहीं होता, वे ही ऐसे दुष्कर्म सह सकते हैं। भारत के प्रत्येक धनी एवं साक्षर हिंदू को अब बहुत शीघ्र ही इस ओर उचित ध्यान देना चाहिए। केवल धन कमाने के पीछे उल्लू बनकर अपने तथा अपने बाल-बच्चों के स्वास्थ्य को दूषित दूध से नष्ट करते रहना नागरिक के लिये घोर पाप और कलंक की बात है।

भारत का उपकार करनेवाले गो-वंश की उक्त प्रकार से उपेक्षा और अवहेलना देखकर भारत में सर्व-प्रथम स्वर्गवासी श्रीमद्दयानंदजी सरस्वती ने गो-रक्षा की ओर भारत के हिंदुओं का ध्यान आकृष्ट किया था। तब से



ईमन—भूपाली, तीन ताल

स्वरकार— "निषाद"]

[शब्दकार—गोविंदवल्लभ पंत

गीत

(१)

दुखदल-दलनी, संकट-हरनी,

मंगलमइ मा.

मंगल-करनी ।

(२)

तारिनि तारा, परम उदारा,

शिवा भवानी

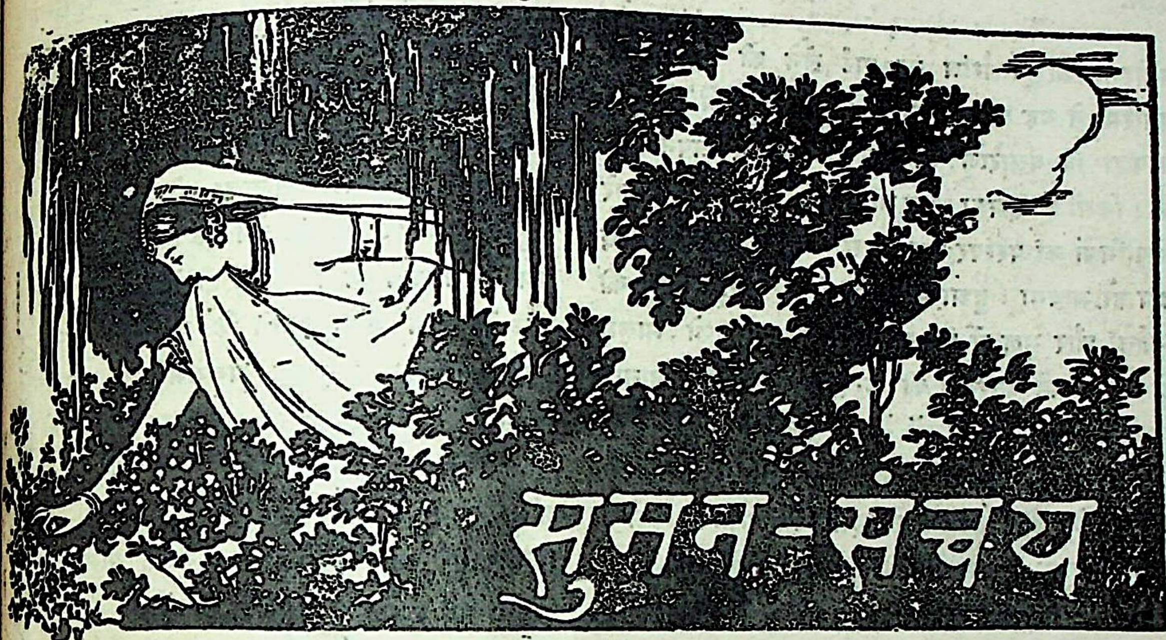
जय जग-जननी !

स्थाया

०				३				×				२			
सा	ध	सा	रे	ग	ग	ग	—	ग	रे	गम	प	ग	रे	सा	—
दु	ख	द	ल	द	ल	नी	—	सं	—	क-	ट	ह	र	नी	—
नी	नी	ध	ध	नीरे	गरे	सा	—	सा	धप	ध	सा	ग	रे	सा	—
मं	—	ग	ल	म-	इ-	मा	—	मं	--	ग	ल	क	र	नी	—

अंतरा

सा	ध	सा	रे	ग	ग	ग	—	प	ग	प	ध	सां	—	सां	सां
दु	खं	द	ल	द	ल	नी	—	ता	—	रि	नि	ता	—	रा	—
नीं	रें	गं	रें	नीं	रें	सां	—	नीं	नीं	धनी	सां	नीं	ध	प	म
प	र	म	उ	दा	—	रा	—	शि	वा	--	भ	वा	—	नी	—
प	ध	प	रे	ग	रे	सा	—	सा	ध	सा	रे	ग	ग	ग	—
ज	य	ज	ग	ज	न	नी	—	दु	खं	द	ल	द	ल	नी,	—



१. प्रियदर्शिका-नाटिका
(उत्तरार्द्ध)



उधर आरण्यका कमल के फूल तोड़ने को साहस करके जल में धसी । इतने में उसके मुख-कमल की दिव्य सुगंध पाकर झुंड-के-झुंड भौंरे कमलों पर से उड़-उड़कर उसके मुख की ओर झुक पड़े । वह डरकर चादर के छोर से अपना मुख ढाँककर अपनी सहायतः करने के लिये इंदीवरिका को ऊँचे स्वर से पुकारने लगी । यह अच्छा अवसर देख विदूषक के परामर्श से महाराज, जो निकट से उसके मुख की सुषमा देखने के लिये व्यग्र हो रहे थे, उसके पास सहायता करने पहुँचे । वह पानी में पैरों की आहट पाकर सखी को आई जानकर उनके कंठ से लिपट गई । पर राजा के आश्वास-वचन सुनकर, चौंककर, झट मुख पर से चादर हटा, फिर राजा को देख, फिर लज्जा और भय से तुरत अलग खड़ी होकर, फिर इंदीवरिका को पुकारने लगी । बढ़कर विदूषक कहने लगा—"अरे ! तू बड़ी भोली है । जब कि सारी पृथिवी के रक्षण में समर्थ महाराज वत्सराज तेरी रक्षा करने को तेरे पास ही खड़े हैं, तो फिर चेरी को क्यों पुकार रही है ?" यह सुनकर प्रियदर्शिका महाराज वत्सराज को जानकर मारे लज्जा और भय के और सिकुड़ गई, और मन-ही-मन यह सोचने लगी कि "अहा ! यह वही वत्सराज हैं, जिनके संग मुझे ब्याहने के लिये पिताजी ने निश्चय किया था । पिताजी का संकल्प तो बहुत ही योग्य था । किंतु हाय !" यों कहकर वह व्याकुल हो गई । इतने में "सखी ! डरे मत ! डरे मत ! मैं आ पहुँची ।" ये इंदीवरिका के वचन सुनकर और 'यह देख लेगी तो महारानी से कह देगी' ऐसा सोचकर वत्सराज विदूषक के साथ पासवाले कदली-गृह में चट जा छिपे । इंदीवरिका आई, और आरण्यका को साथ लेकर रानी के पास चली गई । राजा भी आरण्यका को फिर देखने और मिलने का उपाय विदूषक के साथ सोचते हुए राजप्रासाद को लौट आए ।

अब धीरे-धीरे दोनों का परस्पर अनुराग इतना बढ़ गया कि विरह असह्य हो गया । प्रियदर्शिका तो यहाँ तक अधीर हुई कि एक दिन आत्मघात करने को उद्यत हो गई थी । विदूषक इन दोनों के गुप्त समागम के लिये उद्योग करने लगा । उसी के कहने और आग्रह करने से प्रियदर्शिका की अंतरंग सखी मनोरमा भी इसी उद्योग में थी ।

इसी बीच में महारानी वासवदत्ता ने अपनी श्रद्धा-भाजन सदस्या भगवती परिव्राजिका सांकृत्यायनी का तत्काल बनाया हुआ "उदयनचरित"-नामक नाटक देखने के लिये आरण्यका को वासवदत्ता का और

इसका निर्माण-संवत् ग्रंथ में इस प्रकार दिया हुआ है—

"संवत ससि निधि सिधि ससी, आस्विन उत्तम मास ;
बिजैदसमि रबि प्रगट हुअ, कबि-दरपन परकास।"

'ससि, निधि, सिधि, ससी'=१९८१ है । इसे, काव्य-पद्धति के अनुसार, पलट देने से १८९१ संवत् निकलता है । अर्थात् इसका रचना-काल आश्विन, विजया-दशमी, संवत् १८९१ वि० है ।

हस्त लिखित ग्रंथ भी ५० वर्ष के लगभग का है । ग्रंथ के अंत में लिखा है—

"मिति ज्येष्ठ वदि १ गुरुवासरे संवत् १९२९ लेखक मिश्र मूलचंद जाजौ, मध्य परगना फतेपूर सेकरी जिला आगरा ॥"

पुस्तक बहुत ही शुद्ध लिखी गई है । सुरक्षित रहने के कारण पुस्तक बिलकुल परिष्कृत और नवीन मालूम होती है । पुस्तक का श्रीगणेश इस प्रकार हुआ है—

"श्रीजगदंबायै नमः ॥ अथ कविदरपन लिख्यते ॥
मंगलाचरन कवित्त ।

जाके लघु गुरु सुर घुर लगि देखिबे को
थकि गे सहस नैन इंद्र सुखदानी के;
सेस द्वै हजार रसना हू सों न पायो पार,
रहै कौन हाल बिधि संकर सैनानी के।
'ग्वाल' कबि ध्वनि बरनातमक रूप दोऊ,
ताही ते लसत लोक तीनौ राजधानी के ;
जेते हैं बिमुख, ते न मुख हैं मुखन माहिं ,
वेई मुख मुख हैं, जे सनमुख बानी के।"

वाग्देवी की कैसी सूक्ष्म, दार्शनिक और सच्ची स्तुति है ! ग्रंथ की प्रतिज्ञा भी इसी में ध्वनित होती है । "वेई मुख मुख हैं, जे सनमुख बानी के", इस चरणार्द्ध में कैसी सीधी, सच्ची और सिद्धांत की बात है !

इस ग्रंथ में ग्वाल कवि ने अपने वंश का निर्देश भी किया है । बहुतों का ख़याल है कि यह माथुर ब्राह्मण थे । पर यह ग्रंथ देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यह 'वंदीजन' थे । यथा—

"वंदी-बिप्र सु ग्वाल कबि, श्रीमथुरा सुखधाम ;
प्रगट कियो या ग्रंथ को, कबि-दरपन यह नाम।"

अब ग्रंथ में प्रतिपादित आलोचनात्मक दो-एक उदाहरण देखिए । महाकवि विहारी के एक दोहे पर, एक स्थल पर, लिखा है—

"अन्यच्च विहारी।'रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधु नीर।' इहाँ दान नाम हाथी के मद को है सो हाथी के तो मद झरै है ॥ औ पौन करि बन मैं तें मधु कहैं मकरंद झरै है ॥ इहाँ नीर पद अधिक है । मंद को मकरंद के नीर कहिबो नहीं बनै ॥ क्योंकै मद को मकरंद के व्यभिचार पृथ्वी तेज वायु आकास काहूं में नहीं ॥ याते दोष ॥"

दोष तो प्रायः सभी दिखाते हैं, पर उसका मार्जन बिरले ही करते हैं । कवि-दर्पणकार ने उपर्युक्त दोष का निराकरण यों किया है—

"तातें मधुमीर पढ़ै तो दोष नहीं ॥"

ग्वाल कवि ने किसी को भी नहीं छोड़ा । क्या विहारी, क्या केशव, क्या मतिराम, सभी को आड़े हाथ लिया है । एक स्थल पर आपने केशव पर निम्न-लिखित टिप्पणी जड़ी है—

"अन्यच्च रसिकप्रियायां चित्तविभ्रमा प्रौढ़ा—'है नी मंद मनोहर केसव आनँदकंद हियै उलहे हैं ॥' वार्ता॥ यामें 'हियै उलहे हैं' कह्यो सो मुग्धा में कह्यो चाहिए अरु है यह प्रौढ़ा तातें दोष ॥ सूरत ने टीका में लिख्यो है 'हियै उलहत हैं' यैसैं पाठ होतो तौ मुग्धा होती इहाँ तौ 'हियै उलहे हैं' कह्यो है ॥ उलहे में यह ध्वनि निकसी कै बहुत दिन के उलहे हैं यातैं प्रौढ़ा कहिए यैसैं लिख्यो सो यह अर्थ प्रौढ़ता को पोषक नहीं ॥ पीन पयोधर कह्यो चाहिए । उलहे हैं कहा उठे हैं अंकुरित भए हैं यह अर्थ साफ है ॥ उलहे पद को प्रमान । नरवरपति रामसिंह-कृत रसिकसिरोमनि ग्रंथ को सवैया मुग्धा को—

बतियान बस्यो रस आन कछू झलकी मुख जोबन-जोति नई।
सुखदान तिया मुसकान समै अधरान कछू मुसकान ठई ॥
अँखियान चितौनि कछू तिरछी चपलान लजान की बान लई।
उलहे कुच अंकुर नैक लखै मन मोहन के ललचान भई ॥

क्या ही बाल की खाल खींची गई है ! साहित्य की अध्ययनशीलता इसे कहते हैं । ग्वाल कवि जिस प्रकार एक प्रतिभाशाली उत्कृष्ट कवि थे, उसी प्रकार सूक्ष्म समालोचक भी । हिंदी में यह ग्रंथ 'साहित्य-दर्पण' कहा जा सकता है ।

इसके अंत में निम्न-लिखित दोहे हैं—

"नंद महर के लाड़िले, श्रीजसुधा के प्रान।
नाथ भए गोपीन के, भगतन के भगवान ॥

श्रीराधा-राधारवन-बारिज-चरनन माँहि ।
भगति सहित मति चित्त मम लाग्यो रहौ उमाहि ॥"

ग्रंथ ख़ासा बड़ा है । इसमें रॉयल अठपेजी से मिलते-जुलते ११६ पन्ने (२३८ पृष्ठ) हैं ।

बाबू श्यामलालजी इस ग्रंथ को प्रकाशित करवाने के लिये तैयार हैं । पुस्तक आप उसी संस्था या प्रकाशक को देंगे, जो उन्हें इस बात का, प्रतिज्ञा-पत्र लिखकर, विश्चय करा दे कि वह अमुक समय के भीतर ग्रंथ को प्रकाशित कर बाबू साहब को उनका ग्रंथ ज्यों-का-त्यों वापस कर देगा । यदि वह ऐसा न करेगा, तो उसे १,०००) रुपए दंड-स्वरूप बाबू साहब को देने होंगे ! मेरी राय में इस ग्रंथ-रत्न का शीघ्र ही प्रकाशन होना चाहिए । बाबू श्यामलालजी का यह पता है—

"श्रीयुत बाबू श्यामलालजी, लुहार-गली, आगरा ।"

क्या इस ग्रंथ-रत्न के प्रकाशन की ओर किसी प्रकाशक महोदय का ध्यान आकृष्ट होगा ?

वियोगी हरि

× × ×

४. माया

मैंने देखा जिधर 'वियोगी' तुझे उधर ही लख पाया;
"इधर कहाँ ?" कह, खड़ा रहा, तू फिर न दृष्टि-पथ में आया ।
तब अचेत-सा तुरत हाय, मैं हो गया;
मेरा वह चैतन्य ज्ञान भी खो गया ।
फिर देखा, तू आया;
हँसा और कुछ गाया ।
जान पड़ा, फिर मैं धुँधला बादल बन उड़ता जाता हूँ;
तेरी मधुर तान में अपनी तान मिलाकर गाता हूँ ।
इतने में तू क्या जानें क्या बोल उठा;
विस्मित-सा हो मैं भी आँखें खोल उठा ।
नहीं तुझे फिर पाया;
कैसी अद्भुत माया ।

मोहनलाल महत्तो (गयावाल) "वियोगी"

× × ×

५. रावण का पश्चात्ताप

प्राणप्रिय बंधु लक्ष्मण के मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित होने पर यद्यपि भगवान् रामचंद्र प्राकृत मनुष्यों की तरह घबराकर रो उठे थे, किंतु वही जब रावण के बाणों से बेहोश हो गए, तब भगवान् मर्यादा-पुरुषोत्तम ने एक सर्द आह तक न भरी । इसका एक कारण था । उस समय रोने, घबराने का या पछताने का अवकाश था, इससे रोए, किंतु इस समय की स्थिति बिलकुल निराली थी । इस समय परम पराक्रमी शत्रु राक्षस-राज बीसों हाथों से वीर वानरों का संहार करता हुआ इन्हीं के सामने बढ़ा चला आ रहा था । उस समय यदि वह एक मिनट के लिये भी ठहर जाते, भाई की सेवा-सुश्रूषा अथवा चिकित्सा का प्रबंध करने के लिये रुक जाते, तो उनके विमल चरित्र में कर्तव्य-शून्यता का काला टीका लगाने में कविजन कदापि आनाकानी न करते । इधर रावण की शक्ति से लक्ष्मण मूर्च्छित हुए थे, और उधर दशानन वीरकेसरी हनुमान् की लात से । रावण को सचेत और युद्ध के लिये सन्नद्ध देखकर, हनुमान् की राय से, उन्हीं के कंधे पर सवार होकर, रामचंद्र आगे बढ़े, लक्ष्मण को "विष्णोर्भागममीमांस्यमात्मानं प्रत्यनुस्मरन् ।" के आधार पर छोड़ दिया, और इस तरह लड़ने को तैयार हो गए ।

वह अवश्य इस तरह युद्ध करने के लिये प्रस्तुत हुए, और उन्होंने रावण से ललकार कहा भी कि "तूने मेरा अप्रिय करने में कसर नहीं रक्खी है । यदि आज तू इंद्र, भास्कर, ब्रह्मा, वैश्वानर या शंकर की भी शरण में चला जाय, यदि आज तू दसो दिशाओं में भी भागकर चला जाय, तो भी मेरे हाथ से बचकर निकल नहीं सकता । आज बेशक तूने अपनी शक्ति से लक्ष्मण को ताड़ित किया है, किंतु मैं इस दुःख की शांति के लिये तुझे, पुत्र-पौत्रों सहित, मारे बिना न छोड़ूँगा । मैं आज उन्हीं बाणों से तेरा संहार करूँगा, जिनसे मैंने जन-स्थान में चौदह हज़ार राक्षसों का विनाश किया था ।" इसके बाद राम और रावण का घोर संग्राम हुआ । वही संग्राम, जिसके लिये कहा जाता है—"रामरावण-योर्युद्धं रामरावणयोरिव ।" मतलब यह कि वह युद्ध अपने ढंग का एक ही था । इस भीषण संग्राम में रावण अवश्य घबरा उठा । वही रावण, जो संसार को, त्रिलोकी या चौदह भुवनों को, जीतकर विश्व-विजयी—सचमुच विश्व-विजयी—कहलाने की क्षमता रखता था, व्याकुल हो उठा । जो इंद्र के वज्र को अर्क-फल (मदार

के फल)-सा समझकर कभी क्षोभ को नहीं प्राप्त होता था, जो एक क़दम भी पीछे हटना नहीं जानता था, वह निस्संदेह विचलित हो गया । राम के बाणों की मार से व्याकुल रावण के हाथ से धनुष गिर पड़ा ; उसका सूर्य-सम किरीट खंड-खंड हो धरती पर गिर गया । प्रबल पराक्रमी शत्रु को इस तरह व्याकुल देख भगवान् रामचंद्र को चाहिए था कि उसी समय उसे दबोच लेते । आजकल युद्ध की कूट-नीति अवश्य ही ऐसे मनुष्य को कायर कहने से नहीं चूक सकती, जो घबराए हुए दुश्मन के साथ उदारता का—दया का—परिचय दे । किंतु उनके उदार हृदय में यदि ऐसी नीति के लिये स्थान होता, तो वह कदापि मर्यादा-पुरुषोत्तम कहलाने के योग्य न होते । वह वास्तव में भगवान् का अवतार थे, और उन्हें जन्म लेकर एक ऐसे नर-रत्न का आदर्श खड़ा करना अभीष्ट था, जिसकी संसार के इतिहास में तुलना नहीं है । उन्होंने उस समय वही कार्य किया, जो उनके सदृश महापुरुष के योग्य था । उन्होंने रावण को संबोधन करके कहा—"यद्यपि तूने आज बड़ा भीम कर्म किया है, आज तूने मुझे भ्रातृहीन कर डाला है, तथापि तुझे बहुत थका जानकर मैं छोड़े देता हूँ । इस समय मैं तुझ पर बाण नहीं मारूँगा । जा, लंका में चला जा । फिर तू जब तैयार होकर आवेगा, तब मैं देखूँगा कि तुझमें कितना पराक्रम है ।"

प्रबल शत्रु से इस तरह की उदारता या दया का व्यवहार पाकर रावण अवश्य लंका के भीतर भाग गया, और तब भगवान् रामचंद्र को लक्ष्मण की चिकित्सा करने का, उन्हें आरोग्य-प्रदान करने का, अवसर मिला ।

राम-बाणों के भय से व्याकुल रावण ने भागकर यद्यपि लंका में शरण ली, तथापि उस समय उसकी वैसी ही दशा थी, जैसी शार्दूल का तमाचा खाकर, घबराकर मत्त मातंग की अथवा गरुड़ के पंजों से छूटे हुए सर्प की हुआ करती है । वह वारंवार ब्रह्मास्त्र के समान, विद्युत् की तरह प्रभावान्वित, अमोघ राम-शरों का स्मरण करके व्याकुल हो उठता था । वह राक्षसों की सभा में सोने के सिंहासन पर बैठकर सोचने लगा । सभा-स्थल वही था । सिंहासन भी वही था । किंतु अब रावण वह नहीं रहा था । उसे यदि इसके बदले फूस की झोपड़ी और मिट्टी का टीला मिलता, तो शायद वह उसे ग़नीमत समझता । जो रावण एक समय राम को मनुष्य समझ निरादर करता था, जो एक समय उन्हें तुच्छ मानकर उनकी प्यारी पत्नी को हर लाया था, जिसके आगे इंद्रादि देवता भी हाथ जोड़े खड़े रहते थे, उसी को आज राम ने दया कर छोड़ दिया । अभिमानी रावण के लिये यह मृत्यु मर जाने से भी बढ़कर थी । यदि वह उस समय भगवान् की दया को धन्यवाद-पूर्वक वापस कर देता, तो उसे संतोष होता । उसने अपने वीर सभासदों से कहा—"मैंने उग्र तप करके वरदान पाए, सुरेंद्र तक को पराजित किया । वही आज मैं एक तुच्छ मनुष्य से हारकर भागा । ब्रह्मा ने मुझसे कहा था कि 'तू मनुष्य के हाथ से मारा जायगा ।' हाय, मैंने वर माँगते समय औरों सबके साथ मनुष्य से भी अवध्य होना क्यों न माँग लिया । अनरण्य राजा ने जो कहा था, वही सच निकला । उसने कहा था, 'इक्ष्वाकु-कुल में, मेरे वंश में, एक वीर पुरुष उत्पन्न होगा, वह तेरा विनाश करेगा ।' छेड़छाड़ करने पर जिस तपस्विनी वेदवती ने मुझे शाप दिया था, वही महाभागा सीता है । पार्वती, नंदीश्वर, रंभा और वरुण की कन्या, सबके शाप आज सत्य हो गए । ऋषियों का कथन कभी मिथ्या नहीं हुआ करता ।"

इस प्रकार विलाप करने के बाद उसने कुंभकर्ण को जगाया । फिर जो कुछ हुआ, सो गोस्वामी तुलसीदास-रचित रामचरित-मानस में लिखा है । ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह वाल्मीकीय रामायण का अवतरण नहीं है । कथा-भाग प्रायः उसका है, और भाषा मेरी । गोस्वामीजी की रचना का आधार केवल वाल्मीकीय रामायण ही नहीं है । उन्होंने रामचरित-मानस में कथा-भाग वाल्मीकीय रामायण, हनुमन्नाटक तथा नाना पुराणों से लिया है । उन्होंने सागर को गागर में भरने के विचार से, विस्तार-भय से, अनेक स्थल छोड़ दिए हैं । उन्होंने कितनी ही कथाएँ अपने इष्टदेव रामचंद्र के चरित्र के प्रतिकूल पड़ती समझकर भी छोड़ दी हैं । किंतु उन-जैसे महामति ने इस कथा की क्यों उपेक्षा की, सो मुझ अल्पमति की समझ में न आया ।

गोस्वामीजी ने किस अंश का, किस प्रयोजन से, अपनी पुस्तक में उल्लेख नहीं किया, इस सवाल का हल करना इस लेख का उद्देश्य नहीं। और, न यहाँ इस बात के दिखलाने की आवश्यकता है कि उन्होंने अपनी रचना में श्रीमद्भागवत के भाव किस तरह भर दिए हैं। किंतु मेरी समझ में यह अब तक न आया कि रामचरित-मानस में क्षेपक ठूँसने की बहादुरी करनेवाले महाशयों ने ऐसे आवश्यक स्थल पर क्यों दृष्टि नहीं डाली। गोस्वामीजी को "मानस" में लव-कुश की वीरता दिखाते हुए राम-पक्ष की कमज़ोरी दिखलाना मंज़ूर न था, और इसीलिये वह "नाना अश्वमेध प्रभु कीन्हा।"—बस, इतना ही लिखकर उसे छोड़ गए थे। किंतु क्षेपक के रचयिताओं से न रहा गया, और "लव-कुश-कांड" के नाम से आठवें कांड की रचना कर उन्होंने मख़मल में टाट का टुकड़ा जोड़ ही तो दिया। ख़ैर! जो कुछ हुआ, सो हुआ, किंतु "मानस" में क्षेपक मिलानेवाले मेरी समझ में केवल गोस्वामीजी के साथ अन्याय करने के ही दोषी नहीं हैं, वे साहित्य की हत्या करके अपनी रचना को गोस्वामीजी की रचना का बुर्क़ा उढ़ाकर संसार को धोका देने के भी अपराधी हैं। अब भी "मानस" के जहाँ कहीं, जो कुछ संस्करण छपें, उनसे क्षेपक एकदम निकाल दिए जायँ, तो बहुत ही अच्छा हो। इस जगह पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि जहाँ क्षेपक का उल्लेख किया जाता है, वहाँ "क्षेपक"-शब्द भी तो लिख दिया जाता है। किंतु "रामचरित-मानस" के लाखों पाठकों में कितने ऐसे हैं, जो इस बात को जानते हैं कि क्षेपक गोस्वामीजी की रचना नहीं हैं, पीछे से ठूँसे गए हैं? *

लज्जाराम मेहता

× × ×

* हिं० सा० स० के गत दिल्ली के अधिवेशन में बाबू भगवानदासजी हालना ने क्षेपकों को निकाल डालने के लिये एक प्रस्ताव उपस्थित किया था, जो पास भी हो गया है। सम्मेलन को रामचरित-मानस के प्रकाशकों को क्षेपकहीन रामायण प्रकाशित करने के लिये, जिस तरह से हो, बाध्य करना चाहिए।—संपादक

६. छवि

जोरिकै जुन्हाई कै समेटि सोन-घट माँहि
　　अमिय निकाई पाई बिधि हू नई-नई ?
सरग-सरोज सों झरयो है मकरंद कैधौं,
　　छीरनिधि मथि कौन सुखमा दई-दई ?
सोने मैं सुगंध कैधौं मोती मैं मिठास डारि
　　डारि देवतरु तारि छबि बनई गई ?
कबि की कसौटी, कैधौं कल्पना-अकास ऊषा,
　　नैननि कुमोदिनी को जोन्ह उनई नई ?

श्रीरमाज्ञा द्विवेदी "समीर"

× × ×

७. तुलसीदासजी की उक्तियों में प्रकृति-पर्यवेक्षण की प्रतिकूलता

हिंदी के सौभाग्य तथा हिंदी-साहित्यानुरागी विद्वानों की कृपा से अब हिंदी में भी अच्छे-अच्छे ग्रंथ-रत्न निकल रहे हैं। हाल में हिंदी के प्रसिद्ध लेखक बाबू श्यामसुंदर-दासजी बी० ए० का लिखा हुआ "साहित्यालोचन"-नामक एक ग्रंथ-रत्न और निकला है। अपने एक सहृदय मित्र की कृपा से मुझे भी यह अपूर्व ग्रंथ देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। पुस्तक बड़ी खोज से लिखी गई है, और हिंदी-साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। विद्वान् ग्रंथकार का परिश्रम प्रशंसनीय है। पुस्तक की उपादेयता को देखते हुए आपको धन्यवाद दिए बिना नहीं रहा जा सकता।

"साहित्यालोचन" के, चौथे अध्याय के, "कविता के विवेचन"-नामक प्रकरण में हिंदी-भाषा के कवियों की आलोचना करके यह दिखलाया गया है कि हिंदी-साहित्य के सुकवियों ने अपनी उक्तियों में स्वाभाविकता का गला घोटा है, और अपने वर्णन में अंधपरंपरा से अधिक, और अनुभव से कम, काम लिया है। विद्वान् ग्रंथकार कवियों का कर्तव्य अपने ग्रंथ में यों निश्चित करते हैं—"यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय, हमारे और उनके परस्पर-संबंध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके, कराता है। परंतु हम इस बात को नहीं सह सकते कि वह हमें अँधेरे में ढकेल दे, और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे। उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए; और जिन घटनाओं

या बातों को वह उपस्थित करे, उनके संबंध में उसके भाव निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कुछ कम हो गई।"

इसके अनंतर कविवर श्रीपति और भिखारीदास आदि हिंदी के प्राचीन कवियों की उक्तियों में वर्णन की अप्राकृतिकता दिखाने के लिये इनकी कविताओं में से दो-एक पद्यांश उद्धृत करने की कृपा की गई है। यहाँ तक कि भक्त-चूड़ामणि, कवि-सम्राट् गो० तुलसीदासजी की कविता भी इस दोष से दूषित ठहराई गई है। गोस्वामीजी की उक्तियों में प्रकृति-पर्यवेक्षण की प्रतिकूलता दिखाने के लिये केवल निम्न-लिखित सोरठा उद्धृत करने की उदारता प्रकट की गई है—

"फूलै फलै न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद ;
मूरुख-हृदय न चेत, जो गुरु, मिलहिं बिरंचि-सम।"

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सचमुच विद्वद्वरेण्य गोस्वामीजी "बेत"-जैसे तुच्छ काष्ठ की प्रकृति से भी इतने अपरिचित थे कि वह "फूलै फलै न बेत"-जैसी प्रकृति-विरुद्ध बात कहेंगे? और, विद्वान् ग्रंथकार भी इस अर्थ को कि "बेत फूलता-फलता नहीं" बिला उज्र मान लेंगे, ख़ासकर उस हालत में, जब कि ग्रंथकार महोदय गो० तुलसीदास के अद्वितीय ग्रंथ "रामचरित-मानस" के टीकाकार भी हैं। क्या गोस्वामीजी-सरीखे श्रेष्ठ भक्त-कवि से ऐसी भद्दी भूल होने की संभावना है? मैंने तो आज तक यह बात नहीं सुनी कि "बेत" फूलता-फलता है। "साहित्यालोचन" के कर्ता ने अपने उक्त ग्रंथ में इस बात पर ज़रूर ज़ोर दिया है कि "बेत ज़रूर फूलता-फलता है"। परंतु मैंने कई विद्वानों से इसकी सत्यता की जिज्ञासा की, मगर बेत का फूलना-फलना किसी ने स्वीकार नहीं किया! थोड़ी देर के लिये यदि मैं विद्वान् ग्रंथ-कर्ता की बेत के फूलने-फलने की बात मान भी लूँ, तो बेत से केवल बेत-काष्ठ ही से गोस्वामीजी का तात्पर्य हो सकता है, यह क्योंकर मान लिया जाय? बिला उज्र यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि गोस्वामीजी इतनी अस्वाभाविक बात कह सकते हैं, जिनकी गंभीर गवेषणा तथा व्यापक विद्वत्ता के सभी क़ायल हैं।

उक्त सोरठे का यह बेत-शब्द ही भ्रमोत्पादन का बीज ज्ञात होता है। ध्यान देकर विचारने से विदित होता है "वियत्" शब्द (जिसका अर्थ आकाश है) का बिगड़ा और परिवर्तित रूप यह बेत-शब्द है। यह शब्द कुछ ऐसा तोड़ा-मरोड़ा भी तो नहीं गया कि इसकी सूरत ही न पहचानी जाय। हाँ, कुछ ग़ौर करने की ज़रूरत ज़रूर है। वियत् का विकृत रूप बेत मानने से, जो कि ठीक भी है, अर्थ की संगति भी बनी रहती है।

सोरठे का अर्थ यही है कि आकाश फूलता-फलता नहीं, चाहे मेघ अमृत की वर्षा ही क्यों न करे। इसी तरह यदि ब्रह्मा-जैसे गुरु भी मिल जायँ, तो मूर्ख मनुष्य या नासमझ को चेत नहीं होता।

आशा है, बाबू साहब साहित्यालोचन के द्वितीय संस्करण में गोस्वामीजी पर अनभिज्ञता का कलंक लगानेवाली पंक्तियाँ निकाल डालने की उदारता दिखावेंगे।

कालीप्रसादसिंह चौधरी

× × ×

८. सुख

संसार में न होगा, मुझ-सा कोई अभागा,
जब बट चुका था सुख, तब मेरा नसीब जागा;
सुख के भँवर को ज्यों ही, दिल के कमल ने देखा;
स्वागत को मैं उठा, वह आँखें फिराके भागा;
इक दिन जो सुख को मैंने, सपने क लेके तागे;
बाँधा, तो हँसके बोला, कच्चा है तेरा धागा।
दुर्भाग्य से गिला क्या, कर्मों का फल मिला है;
"शैदा" यही है कारण, जो सुख ने तुझको त्यागा।

तुलसीदत्त "शैदा"

× × ×

९. गोस्वामीजी को हनुमान्‌जी का दर्शन

भक्तमाल की टीका में प्रियादास ने लिखा है—

"सौच-जल सेस पाय भूत हू बिसेस कोऊ,
बोल्यो सुख मानि हनुमानजी बताए हैं;
रामायन-कथा सो रसायन है कानन कों,
आवत प्रथम पाछे जात घृना छाए हैं।
जाय पहिचानि संग चले उर आनि आप,
बन मधि जानि धाय पायँ लपटाए हैं;
करैं तिरस्कार कही सकौगे न टारि, मैं तो
जान्यों रस-सार रूप धरयो जैसे गाए हैं।

गोस्वामीजी के जितने जीवन-चरित्र लिखे गए, सब में यह घटना लिखी है। पर यह घटना किस स्थान पर हुई, यह किसी ने नहीं लिखा। हमें इसका पता जैसा लगा, उसे हम माधुरी के पाठकों की भेंट करते हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी पर्यटन करते हुए लखीमपुर-खीरी के ज़िले में, खीरी से बारह कोस पूर्व, धौरहरा पहुँचे, और राजा के द्वार पर पहुँचकर साधुओं की भाँति "नमोनारायण" उच्चारण किया। द्वारपाल ने कहा—राजा साहब पूजा कर रहे हैं। गोस्वामीजी बैठ गए, कुछ देर पीछे फिर "नमोनारायण" कहा। द्वारपाल ने फिर निवेदन किया कि राजा साहब पूजा कर रहे हैं। गोस्वामीजी बोले—"राजा साहब पूजा नहीं करते, अपने घोड़ों की ज़ीन और हाथी की झूल ब्योंतवा रहे हैं।" इतना कहकर आप उठ खड़े हुए। द्वारपाल ने राजा साहब के पास जाकर कहा—एक साधु ऐसा कहता है। राजा उनसे मिलने चला, और उसने खोज करते-करते गोस्वामीजी को एक मील पर, एक वन में, बैठा पाया। बहुतेरी विनती की, पर गोस्वामीजी वहाँ से न उठे। राजा नित्य उनके दर्शन को आता था। एक दिन राजा आया। उस समय गोस्वामीजी 'डोलगल' को गए थे। राजा उनके मृगचर्म पर बैठ गया। गोस्वामीजी ने लौटकर देखा, तो बोले—"मृगछाला पर कब से बैठने लगे? जाओ, अब इसी योग्य रह गए।" उसके दो ही चार दिन पीछे उसी स्थान के एक ठाकुर ने राजा को मार डाला, और आप राजा बन बैठा। गोस्वामीजी ने उसी स्थान पर, जो अब रामबट्टी के नाम से प्रसिद्ध है, बरगद की एक दतून गाड़ दी, और कहा—"इससे एक पेड़ जमेगा। जब तक वह पेड़ रहेगा, तुम्हारा राज्य न होगा। परंतु उसकी एक डाल जब गिरेगी, उसी समय उस समय का राजा मर जायगा, और जब सारा पेड़ नष्ट हो जायगा, तब तुम्हारे कुल में फिर राज्य आ जायगा।" गोस्वामीजी का यह वचन अब तक सिद्ध होता आया है। इस समय धौरहरा कपूरथला-राज्य के अधीन है। पर उसी के पास झंडी में ठाकुर के वंशज राज्य करते हैं।

इसी स्थान पर हनुमद्दर्शन की भी कथा प्रसिद्ध है। गोस्वामीजी नित्य शौच का बचा हुआ जल एक पीपल के पेड़ में डाल दिया करते थे। उस पीपल पर एक दैत्य रहता था। वह निरंतर एक मास तक जल पाकर बहुत प्रसन्न हुआ, और प्रकट होकर गोस्वामीजी से बोला—"हम आपका क्या उपकार कर सकते हैं?" गोस्वामीजी ने कहा—"हम जुगुल-सरकार के दर्शन करना चाहते हैं।" दैत्य बोला—"यह बात तो मेरी शक्ति के बाहर है। मैं उनके दर्शन करा सकता, तो इस योनि में क्यों पड़ा रहता? परंतु मैं तुमको एक उपाय बताता हूँ। तुम संध्या-समय जो नित्य रामायण का पाठ करते हो, उसे सुनने के लिये, कुत्ते के रूप में नित्य हनुमानूजी सबसे पहले आते और सबसे पीछे जाते हैं। तुम उनके चरण पकड़ो। वह तुम्हारी कामना पूरी करेंगे।" गोस्वामीजी उसी दिन संध्या-समय रामायण का पाठ करने बैठे, तो नियमानुसार एक बड़ा-सा कुत्ता आकर बैठ गया। जब कथा-समाप्ति पर वह चलने लगा, तो गोस्वामीजी ने उसका पाँव पकड़ लिया। कुत्ता बली था, उनको दूर तक घसीट ले गया, पर गोस्वामीजी ने उसे न छोड़ा। लाचार भक्त का हठ देख श्रीहनुमानूजी ने उनको दर्शन दिया। इस स्थान पर हनुमानूजी की एक विशाल मूर्ति अभी तक स्थापित है।

रामबट्टी में श्रीराम-जानकी का एक मंदिर और एक पक्की कोठरी का भग्नावशेष भी है।

ये बातें हमने मुंशी माधवप्रसादजी, भूतपूर्व सर्बराहकार ओयल, से सुनी हैं।

श्रीअवधवासी सीताराम

× × ×

१०. सुखी और दुखी

ऋद्धि, सिद्धि, सुख सभी आपको स्वयं मिला है;
बने सच्चिदानंद, इसी से हृदय खिला है।
चित्त हुआ संतुष्ट, इसी से आप विरागी;
नहीं तनिक आश्चर्य, अगर हो राजा त्यागी।
पर हम निर्धन हैं निरे, मिटी न धन की आस है;
आप स्वयं हैं नीर, पर, हमको जल की प्यास है।

"नयन"

× × ×

११. सूरदास

कवि-कुल-कैरव-चंद, सूरदास, तुम धन्य हो;
कीर्ति-कला तव मंद, कभी न होगी स्वल्प भी।

काव्य तुम्हारा सूर, शरद-विमल-विधु-सम सुखद;
रस भी है भरपूर, भरा हुआ उसमें मधुर।
बड़ा किया यह काम, रचा सूरसागर ललित;
अमर रहेगा नाम, जब तक यह संसार है।
जीवन है अति धन्य, सूर, तुम्हारा विश्व में;
तुम-सा भक्त अनन्य, देख नहीं पड़ता हमें।
काव्य-सुधा तव पान, एक बार जिसने किया;
होता वह हैरान, लख उसके माधुर्य को।
हमको है अभिमान, सूरदास, तुम पर बड़ा;
भारत को भगवान, तुम-सा कवि दें और भी।

मखिराम गुप्त

× × ×

१२. रहिमन के दोहे

हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने 'सुलभ-साहित्यमाला'-नामक एक ग्रंथमाला प्रकाशित की है। उक्त सुप्रसिद्ध ग्रंथ-माला से श्रीवियोगी-हरि द्वारा संपादित 'रहिमन के दोहे' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। वियोगी-हरिजी (भूतपूर्व हरप्रसाद द्विवेदी) ही साहित्य की उत्तमा-परीक्षा के परीक्षक, प्रथम वर्ष के मंगलाप्रसाद-पारितोषिक के एक निर्णायक, और सम्मेलन तथा साहित्य-भवन से प्रकाशित कई पुस्तकों के रचयिता हैं। पाठकगण आपके रचे हुए व्रज-माधुरी-सार की समालोचना पौष-मास की माधुरी में पढ़ ही चुके हैं *, अब इस 'रहिमन के दोहे' की चाशनी भी चखें।

प्रथम पृष्ठ में चौथा दोहा इस प्रकार दिया गया है—

रहिमन राज सराहिए जो बिधु की बिधि होय;
कहा 'निगोड़े' तरनि में तप्यौ तरैयन खोय।

इस दोहे में एक 'निगोड़े'-शब्द है, जिस पर ४ का अंक देकर फुटनोट में उसका अर्थ 'अहसानमंद' लिखा गया है। व्रज-भाषा में 'निगोड़े' एक गाली है, जिसका अर्थ 'पैर-रहित' होता है, 'अहसानमंद' नहीं। दोहे में भी 'अहसानमंद' अर्थ लगाने से उसका भाव बिगड़ जाता है, और पाठक अशुद्ध धारणा बना लेते हैं। मेरे विचार से वियोगी-हरिजी ने भूल से 'निगोड़े' को कनौड़े समझ-कर निगोड़े-शब्द का अर्थ 'अहसानमंद' लिख दिया है। यदि पूरे दोहे के भावार्थ पर ध्यान देते, तो कदा[चित्]
आपसे ऐसी भूल न होती।

इसी पृष्ठ के ७वें दोहे में 'उमेठे' का अर्थ 'पीड़ा सह[कर]' लिखा है; परंतु उसका अर्थ मरोड़ना या बल देना है। पीड़ा सहना अशुद्ध है।

पृष्ठ २ के १९वें दोहे में 'केर बेर को संग' के स्था[न] में 'कैर बैर को संग' करके दोहे की दुर्दशा कर दी गई है, जिससे दोहा निरर्थक हो जाता है।

पृष्ठ ३ का २०वाँ दोहा इस प्रकार है—

रहिमन वहाँ न जाइए, जहाँ कपट को हेत;
हम तन ढारत 'ढेंकुली' सींचत अपनो खेत।

इस दोहे में एक 'ढेंकुली' शब्द आया है। इसका अ[र्थ] फुटनोट में इस प्रकार दिया गया है—

"एक पर्वत, जिसे श्रीकृष्ण ने वृज (व्रज ?) में ज[ल] बरसते समय हाथ पर उठा लिया था"।

यह है 'ढेंकुली' का अर्थ। हरिजी गोवर्द्धन पहाड़ से खेत सिंचवाते हैं, परंतु यह नहीं सोचते कि गोवर्द्धन पहाड़ ढालने से खेत की क्या दशा होगी ? और व[ह] खेत में ढाला ही किस प्रकार जायगा। पहाड़ और ख[ेत] से क्या संबंध ? वास्तव में ढेंकली कुएँ से जल निकाल[ने] का एक साधारण यंत्र है, जिसका प्रयोग अधिक[तर] स्थानों में खेत सींचने के लिये किया जाता है। 'ढेंकुली' शब्द का अर्थ गोवर्द्धन पहाड़ बताना अर्थ का अनर्थ कर[ना] नहीं, तो क्या है ?

किसी-किसी दोहे की भाषा को बदलकर खड़ी बोली का रूप दे दिया गया है। पृष्ठ ३ का २२वाँ दो[हा] देखिए—

'व्रज कौ यही हवाल' के स्थान में 'व्रज का य[ही] हवाल' कर दिया गया है। २८वें दोहे में 'सबै' को 'सब' कर दिया है, जिससे छंदोभंग भी हो गया है। संभव है, प्रेस की भूल हो। और 'लठी'-शब्द कठिन होने से छोड़ दिया गया है। उक्त दोहा इस प्रकार छपा है—

ससि की सुखद सु चाँदनी सुंदर सब सुहात;
लगीं चोर चित ज्यों लठी घटि रहीम मन काँति।

इसी दोहे का पाठ रहिमनविलास में इस प्रकार दिया गया है, जो कि शुद्ध प्रतीत होता है—

ससि की सीतल चाँदनी सुंदर सबहिं सुहाय;
लगे चोर चित ज्यों लठी घटि रहीम मन आय।

* व्रज-माधुरी-सार की एक आलोचना और आई है। अगली किसी संख्या में छपेगी।—संपादक

६१वें दोहे के

'कहु रहीम क्यों मानिहैं जम के किंकर 'कानि' ।'

पद में 'कानि'-शब्द का अर्थ, फुटनोट में, 'हुक्म' किया गया है। 'कानि' का अर्थ 'हुक्म' करना वियोगी-हरिजी के पूर्व पांडित्य का परिचायक है। यथार्थ में इसका अर्थ 'लिहाज़' होना चाहिए था। बाबू ब्रजरत्नदास ने अपने रहिमनविलास में 'कानि' का अर्थ पाल=रीति किया है, जो 'हुक्म' की अपेक्षा अधिक ठीक है। ४४वें दोहे में विभक्ति और बहुवचन के चिह्न को अलग करके 'बालकनहिं'-शब्द के बालक और नहिं अलग-अलग दो शब्द कर दिए गए हैं। इससे दोहे की सारी सुंदरता नष्ट हो गई है। फिर इस नवीन आविष्कृत पद का क्या अर्थ होगा, सो हरिजी ही जानें। दोहा इस प्रकार है—

मानसरोवर ही मिलै हंसनि मुक्ता-भोग ;
सफरनि भरे रहीम सर बक बालकनहिं जोग ।

अब ४१वाँ दोहा देखिए—

गुन ते लेत रहीम कहि सलिल कूप ते काढ़ि ;
काहू को मन होयगो कहा कूप ते 'बाढ़ि' ?

इस दोहे के 'बाढ़ि'-शब्द का अर्थ फुटनोट में 'जल' दिया है। इस स्थान पर श्रीवियोगी-हरिजी ने रहीमजी की भूल सुधारने का प्रयत्न किया है। रहीम बेचारे ने 'काढ़ि' की तुक मिलाने को 'बारि' को 'बाढ़ि' बना दिया। अब तक किसी विद्वान् की समझ में यह गूढ़ अर्थ नहीं आया था।

'बाढ़ि'-शब्द का 'अधिक' या 'गंभीर' अर्थ लेना तो साधारण बुद्धि का कार्य है। रहीम ने 'बाढ़ि'-शब्द का अपने दोहों में बहुत स्थानों पर प्रयोग किया है। बाबू ब्रजरत्नदासजी ने अपने रहिमनविलास के ६३वें दोहे में 'बाढ़ि'-शब्द का अर्थ 'बढ़कर' ही किया है, जो बिलकुल शुद्ध है।

आगे ६१वाँ दोहा लीजिए—

कहु रहीम केती रही केती गई बिताय ;
माया-ममता-मोह में अंत चले पछताय ।

इस दोहे में 'बिताय'-शब्द का अर्थ 'त्यागकर' किया गया है, जो अशुद्ध है। इसका शुद्ध रूप 'व्यतीत' है, जिसका अर्थ 'समाप्त' होता है। दोहे में कवि का आशय यही है कि अवस्था कितनी 'व्यतीत' हो गई, और कितनी शेष रही। इसका त्यागकर अर्थ करना भ्रम-मूलक है। ये सब अर्थ हैं या अनर्थ, इस पर पाठक स्वयं ध्यान देने का कष्ट उठावें।

अब ६५वें दोहे को देखिए—

ज्यों पुरुषारथ के किए संपति मिलै रहीम ;
पेट लागि बैराट घर तपत रसोई भीम ।

ज्यों-शब्द उपमा के लिये आता है। इस दोहे में तो दृष्टांतालंकार खुलासा है। यदि वियोगी-हरिजी इसे उपमालंकार ही समझे थे, तो 'ज्यों'-शब्द उपमान के साथ होना चाहिए था, उपमेय के साथ नहीं। यहाँ आपने उपमेय ही के साथ उसे जोड़ दिया है। वास्तव में यहाँ 'जो'-शब्द को 'ज्यों' बनाकर दोहे की मट्टी पलीद की गई है।

७२वें दोहे की भी यही दुर्दशा की गई है।

६८वें दोहे में 'संतत' को 'संतति' करके उसका अर्थ 'सदैव' किया गया है; परंतु 'संतति' का अर्थ संतान होता है, 'सदैव' नहीं।

'संतत' का आशय 'सदैव' अवश्य होता है, जिसे आप-की कृपा से दोहे में स्थान ही नहीं मिल सका। अतः आपने 'संतति' का अर्थ ही 'सदैव' ले लिया।

आगे चलकर ७०वें दोहे के 'अररानी'-शब्द का अर्थ आपने 'ढेर हो गई' लिखा है। यह शब्द शुद्ध ब्रज-भाषा का है, और किसी दीवार आदि के आवाज़ करके गिरने की दशा का द्योतक है। 'गिरी'-शब्द दोहे में विद्यमान ही है, अतः 'अररानी'-शब्द का अर्थ 'ढेर हो-गई' अशुद्ध है। दोहे को देखिए—

'भीत गिरी पाषान की अररानी वहि ठाम ।'

अब इस ७५वें दोहे का भी अवलोकन कीजिए—

अनुचित उचित रहीम कहि 'फबत' बड़ेन के जोर ;
ज्यों ससि के रस-जोग ते पचवति अगिनि चकोर ।

इस दोहे के 'फबत'-शब्द का अर्थ 'छिप जाता है' लिखा है। ज्ञात नहीं, किस कोश के आधार पर 'फबत'-शब्द का अर्थ 'छिप जाता है' लिया है। इसका अर्थ 'शोभा देता है' होना चाहिए। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि शोभा देने और छिपने में कितना अंतर है, इससे दोहे का कितना भाव बिगड़ जाता है।

ज्ञात नहीं, हरिजी ने इस प्रकार के नोट देने से

विद्यार्थियों का क्या हित समझा है ? विद्यार्थियों को ये अशुद्ध अर्थ लाभ पहुँचावेंगे या हानि, यह हरिजी को स्वयं विचारना चाहिए।

आगे ८२वें दोहे को भी लीजिए—

माँगे 'मुकुरि' न को गयो, केहि न त्यागियो साथ ;
माँगत आगे सुख लह्यो ते रहीम रघुनाथ।

इस दोहे के 'मुकुरि'-शब्द का अर्थ आपने 'उदास' लिखा है। हिंदी-साहित्य में खुसरो की मुकुरनी प्रसिद्ध हैं। फिर भी मुकुरि का अशुद्ध अर्थ 'उदास' लिखा है। इस पर कुछ अधिक लिखना व्यर्थ है।

८७वें दोहे की क्या दुर्दशा की है, देखिए—

ज्यों रहीम जल-पाक में लघु जिय पियैं अघाय ;
अवधि बड़ाई जग करी पील पियासो जाय।

शुद्ध रूप भी देखिए, और मिलान कीजिए—

धनि रहीम जल पंक को लघु जिय पियैं अघाय ;
उदधि बड़ाई कौन है जगत पियासो जाय।

कितने अच्छे दोहे का कैसा विकृत रूप किया गया है ! पाठक-वृंद मनन करने की कृपा करें। हरिजी के आविष्कृत दोहे का क्या अर्थ है, सो हरिजी ही जानें। चाहे पील प्यासा जाय और चाहे जगत् प्यासा रहे, हरिजी की बला से ! उन्हें टीका-संयुक्त रहिमन के दोहे प्रकाशित करने की इच्छा पूर्ण करनी थी, वह पूरी हुई।

आपने विद्यार्थियों की सुगमता के लिये कठिन प्रतीत होनेवाले बहुत-से शब्द छोड़ दिए हैं। यथा—बैरे, बरेह, लठी, हिरान, सहजन, पोहिए और जोसिता आदि-आदि। और, बहुत-से साधारण शब्दों के अर्थ भर दिए हैं। यथा—खाय, बाज, गाँठि, उपज, भेद, दुर्दिन, अनहित, गोपाल आदि-आदि।

इस प्रकार इस छोटी-सी, २१९ दोहे की, २४ पृष्ठवाली, पुस्तक में सैकड़ों अशुद्धियाँ भरी हुई हैं। केवल तिहाई दोहों में ही इतनी अशुद्धियाँ हैं।*

इस प्रकार की पुस्तकें प्रकाशित करने से सम्मेलन का महत्त्व नष्ट हो जायगा। उसे उत्तम और शुद्ध प्राचीन तथा नवीन ग्रंथ प्रकाशित करवाने चाहिए। वियोगी-हरिजी से भी हमारा यह सादर नम्र निवेदन है कि आप व्रज-भाषा का संपादन स्वयं न करके किन्हीं योग्य विद्वानों द्वारा कराया करें। इसमें संदेह नहीं कि आप सम्मेलन की निःस्वार्थ भाव से जो सेवा कर रहे हैं, वह प्रशंसनीय है। परंतु अनधिकार-चेष्टा आपको बढ़ाने की अपेक्षा गिरा ही देगी। वियोगी-हरिजी व्रज-भाषा के कदापि विद्वान् नहीं हैं, यह व्रज-माधुरी-सार और रहिमन के दोहे देखकर और उनकी समालोचना पढ़कर प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है। संक्षिप्त सूरसागर आदि की भी यही दशा है। वियोगी-हरिजी उत्तमा-परीक्षा के परीक्षक और मंगलाप्रसाद पारितोषिक के निर्णायक बनाए जाते हैं। ये काम करना भी आप अंगीकार न करें, तो अच्छा होगा। यह कथन कटु होते हुए भी सम्मेलन और वियोगी-हरिजी, दोनों के लिये, हमारी समझ में, हितकर है। आशा है, कर्तव्यवश की गई इस कटु आलोचना के लिये वियोगी-हरिजी हमें क्षमा करेंगे।

भागीरथप्रसाद दीक्षित

× × ×

१३. दीप-दर्प

आत्मज्योति से जग का, दीपक, अंधकार था हरने आया ;
लगी हवा कुछ ऐसी, जिससे मचल उठा, तू अति इतराया।
तूने समझा सुंदर हूँ मैं, जग में मेरा रूप निराला ;
भभक उठा, बुझ गया अंत में, और हुआ मुँह तेरा काला।

पांडेय चंद्रशेखर शर्मा

---

* हमें स्मरण है, कानपुरवाले सम्मेलन के अधिवेशन में श्रद्धेय सभापति श्रीयुत टंडनजी ने एक बात पर कुछ उत्तेजित होकर कुछ ऐसे ही शब्द कहे थे कि मैं इस समय वियोगी-हरिजी के समान साहित्य-मर्मज्ञ बहुत कम (या 'कोई नहीं'— स्मरण नहीं है) देखता हूँ। यद्यपि लोगों को यह बुरा मालूम पड़ा था, पर टंडनजी-जैसे सज्जन और सुयोग्य पुरुष के विरोध में किसी ने कुछ कहना उचित नहीं समझा। रहिमन के दोहे की टीका आदि हरिजी की कृतियाँ देखकर संदेह होता है, शायद अधिक स्नेह के कारण ही सरल-हृदय टंडनजी के मुख से ऐसे उद्गार निकल पड़े होंगे।—लेखक



१. असली और नक़ली हीरे की परख



सायन-विज्ञान से सिद्ध होता है कि हीरा, कोयला, काजल, सब एक ही मौलिक पदार्थ के रूपांतर हैं। भेद केवल उनके संगठन में है। यदि समान तौल के शुद्ध काजल और हीरे को जलाया जाय, तो उनसे समान तौल की कार्बोनिक एसिड गैस बनेगी। इस ज्ञान से कुछ वैज्ञानिकों ने कोयले से हीरा बनाने का प्रयत्न किया, और वे कुछ सीमा तक सफल भी हुए। हीरे और कोयले में भेद यह होता है कि पहला रवे के रूप में होता है, और दूसरा नहीं। यह तो मालूम ही है कि यदि शक्कर का रवा बनाना चाहें, तो उसको उबलते हुए पानी में खूब गाढ़ा घोलकर ठंडा करना होता है, जिससे मिसरी के चमकते हुए टुकड़े बन जाते हैं। इसी प्रकार, यदि काजल से हीरा बनाना हो, तो पहले उसको किसी गरम चीज़ में घोलना और फिर उस घोल को धीरे-धीरे ठंडा करना चाहिए।

यह देखा गया है कि पिघले हुए लोहे में कोयला उसी प्रकार घुल जाता है, जिस प्रकार उबलते हुए पानी में शक्कर, शोरा या नमक। मोइसन ने ऐसा ही किया। पिघले हुए लोहे में कोयला घुलाकर उसने सब-को ठंडे पानी में डाल दिया। ऐसा करने से ऊपरी तल एकाएक ठंडा पड़कर जम गया। ठंडा पड़ने से वह सिकुड़ भी गया, जिससे भीतर के द्रव-पदार्थ में बहुत दबाव पड़ा, और उसी दबाव के नीचे पड़ा हुआ कोयला धीरे-धीरे जमा। इसके बाद कुल को नमक के तेज़ाब में छोड़ दिया गया, जिससे लोहा तो गल गया, और कोयला अलग हो गया। इसी में नन्हे-नन्हे रवे भी पाए गए, जो रंग में तो कुछ काले थे, परंतु कठोर हीरे ही की तरह थे। आकार भी इतना छोटा था कि यदि ये रवे एक रेखा में, एक दूसरे की बग़ल में, रक्खे जायँ, तो एक इंच में पचास तक रक्खे जा सकें।

इसके बाद सर विलियम क्रुक्स ने हिसाब लगाया कि पृथ्वी में जो असली हीरे पाए जाते हैं, वे, भूगर्भ में उस समय बने होंगे, जब कि भूगर्भ का तापक्रम बहुत ऊँचा रहा होगा। इस प्रकार इनको मालूम पड़ा कि यदि कोयले और लोहे का मिश्रण ४२०० डिगरी शतांश तापक्रम * तक गरम किया जाय, और २५५ पौंड प्रति वर्ग-इंच के दबाव पर ठंडा किया जाय, तो बड़े-बड़े रवे बन सकते हैं। परंतु उनको यह नहीं मालूम हो सका कि इतनी गरमी कैसे उत्पन्न की जाय।

अंत में सर एंड्रू नोबेल † ने एक ऐसा प्रयोग किया, जिससे यह बात मालूम हो गई कि ऊँचे तापक्रम की गरमी कैसे उत्पन्न हो सकती है। इन्होंने लोहे के एक खोखले बेलन में Cordite (एक प्रकार की बारूद) भरकर उसे उड़ाया, तो उसके वेग से हिसाब लगाया गया कि ऐसी घटना तभी हो सकती है, जब भीतरी

---

* पानी साधारणतः १००° शतांश पर उबलता और सोना १०९२ शतांश पर पिघलता है।

† प्रसिद्ध नोबेल-पुरस्कार इन्हीं के नाम पर दिया जाता है।

तापक्रम २४०० डिगरी शतांश और दबाव ५० टन * प्रति वर्ग-इंच हो। इससे यह अनुमान किया गया कि बारूद में जो कोयले का भाग था, उससे, संभव है, हीरे के रवे बन गए हों। जो कुछ रह गया था, उसको अच्छी तरह देखने से यह अनुमान सत्य निकला। परंतु व्यापारिक ढंग से हीरा बनाना इस रीति से असंभव देख पड़ा।

अभी हाल में यह ख़बर मिली है कि जर्मनी की डिनामाइट ज्वाइंट स्टॉक कंपनी (Dynamite Joint Stock Company) को व्यापारिक ढंग से हीरा बनाने में सफलता हुई है; परंतु रीति गुप्त रक्खी गई है।

अब शायद बाज़ारों में ऐसे हीरों की भी भरमार होगी। इसलिये यह जानना आवश्यक है कि असली और नक़ली हीरों की परख क्या है।

'वेलफ़ेयर' (Welfare) की किसी पिछली संख्या में एक लेख था, जिसमें यह बतलाया गया था कि—

(१) नक़ली हीरे पर रेती से खरोंचा जाय, तो चिह्न बन जाता है; परंतु असली हीरे पर उसका कुछ प्रभाव नहीं होता।

(२) हीरे को सुहागे से ढककर कुछ गरम करके पानी में छोड़ दिया जाय, तो नक़ली हीरा चूर-चूर हो जायगा; पर असली ज्यों-का-त्यों बना रहेगा।

(३) हाइड्रोफ़्लोरिक एसिड लेकर हीरे का टुकड़ा उसमें छोड़ दो। यदि नक़ली होगा, तो घुल जायगा।

(४) गिलास में पानी भरकर हीरे को छोड़ दो। असली हीरा वैसा ही चमकेगा, जैसा बाहर चमकता है; परंतु नक़ली हीरे की चमक कम हो जायगी।

(५) हीरे के टुकड़े पर एक बूँद पानी रक्खो। यदि असली होगा, तो पानी की बूँद पारे की तरह गोल बनी रहेगी; परंतु नक़ली पर पानी की बूँद फैल जायगी।

(६) असली हीरा लेंस (आतशी शीशे) का काम दे सकता है।

महावीरप्रसाद श्रीवास्तव

× × ×

२. रहस्यमय प्रकाश

'माधुरी' की किसी गत संख्या में लिखा जा चुका है कि जर्मनी एक ऐसे अदृश्य जाल की खोज में है, जो वायुयानों को फँसाकर बेकाम कर दे। उस समय विषय अच्छी प्रकार से प्रतिपादित नहीं हुआ था, इसलिये उस पर पूरा प्रकाश नहीं डाला जा सका था। फ़्रांस और इँगलैंडवालों का दृढ़ विश्वास हो गया है कि जर्मनी वायुयानों को नष्ट करने के लिये कोई गुप्त काम में ला रहा है।

जनवरी, १९२३ ई० से अब तक जर्मनों ने तीस वायुयानों को, जो उसकी सरहद में चक्कर लगाते, बेकाम कर दिया, और उन्हें विवश होकर जर्मनी की सीमा के भीतर ही उतरना पड़ा। जर्मनों ने सभी वायुयानों को अपने अधिकार में कर लिया है। वायुयान-चालकों ने मशीन के हिस्से की परीक्षा कर बिगड़े हुए हिस्सों का पता लगाना चाहा, किंतु जर्मनों ने ऐसा करने नहीं दिया। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि वायुयान का कौन हिस्सा बेकाम कर दिया जाता है। अब फ़्रेंचों को इस रहस्य का कुछ-कुछ पता चला है।

जर्मनी के न्यून् (Nauen)-नामक स्थान में एक बड़ा बेतार का स्टेशन है। वहाँ पर बेतार की एक प्रयोगशाला होती थी, जिसका फल यह होता था कि उस स्टेशन के पास के रास्ते से जो मोटर-कारें जाती थीं, वे एकाएक वहाँ ठहर जाती थीं। इसका कारण बेतार की एक प्रकार की किरण बतलाई जाती है।

न्यून्-प्रयोगशाला के प्रधान ने इस बात को अस्वीकार किया; किंतु फ़्रेंचों की गुप्त समिति के सदस्य ने कहा है कि जर्मनों ने बेतार द्वारा एक का शक्तिशाली कंपन (A Vibration of tremendously high frequency) उत्पन्न किया है। किसी तरीक़े से इस कंपन या किरण को किसी या रास्ते पर डाल सकते हैं। जब ये किरणें किसी एंजिन के "मैग्नेटो" (Magneto) पर पड़ती हैं, तब एक प्रकार का वैद्युतिक आंदोलन होता है, जिससे "मैग्नेटो" बेकार हो जाता और एंजिन रुक जाता है।

फ़्रेंच वायुयान जर्मनी के बादल में प्रवेश कर हो जाते और मरी हुई चिड़ियों की भाँति पंख फटाकर ज़मीन पर गिर पड़ते थे। फ़्रांसवासियों ने सोचा कि उनके वायुयानों ही में कुछ दोष है। वे उस दोष को ढूँढ़ निकालने में लगे थे। इतने में आई कि जितने वायुयान ख़राब होते हैं, सब एक ही जगह पर, और जिस जगह पर, वे बेकाम होते हैं,

* १ टन २७ मन के लगभग होता है।

एक शक्तिशाली बेतार का स्टेशन है। कुछ दिन बाद फ्रेंच सिक्रेट सर्विस के मनुष्यों ने पता लगाया कि उस स्थान के पास ही कई मीलों में धातु के जाल बिछे हुए हैं। विश्वास किया जाता है कि इन तारों का संबंध बेतार के स्टेशन से था, और इन्हीं से रहस्यमय किरण निकलकर वायुयानों को बेकाम कर देती थी।

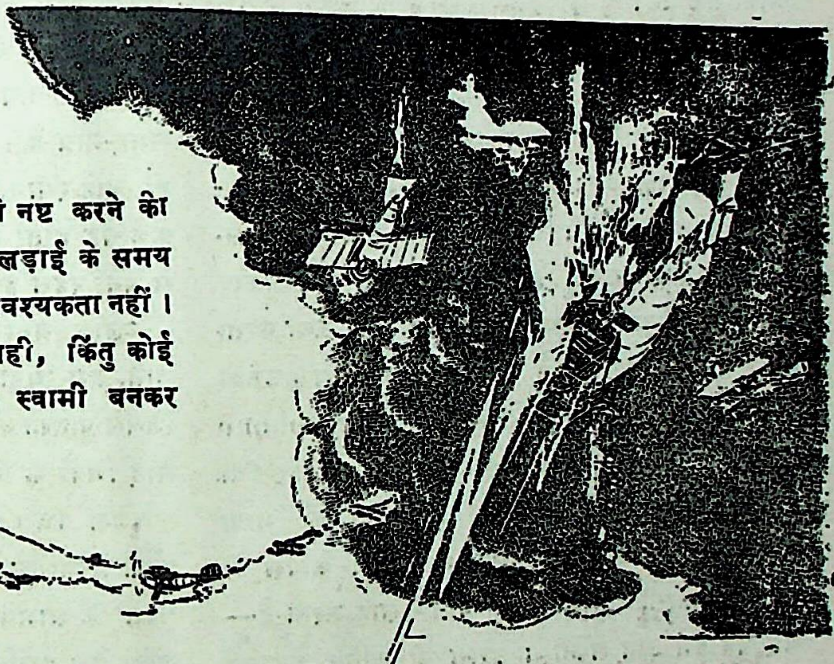
ऊपर जो सिद्धांत दिया गया है, उससे भिन्न मत रखनेवाले भी वैज्ञानिक हैं। कारण चाहे जो कुछ हो किंतु इसमें अविश्वास करने की जगह नहीं कि जर्मनों ने उड़ते हुए वायुयानों को नष्ट करने की प्रथा का आविष्कार किया है। यह प्रथा लड़ाई के समय कितनी उपयोगी होगी, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

जर्मन इस किरण के आविष्कारक हैं सही, किंतु कोई नहीं कह सकता कि केवल वे, ही इसके स्वामी बनकर रहेंगे। लड़ाई के समय जिस ज़हरीली गैस का प्रयोग हुआ था, उसका भी तो आविष्कारक जर्मनी ही था। किंतु लड़ाई के अंतिम समय में प्रायः सभी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ उसका प्रयोग करने लगी थीं। उसी प्रकार इस रहस्यमय किरण का प्रयोग कुछ दिन बाद योरप की सभी बड़ी-बड़ी शक्तियाँ करने लगें, तो आश्चर्य ही क्या है?

अब एक दूसरे प्रकार की किरण के विषय में कुछ बातें सुनिए। इसका आविष्कारक इटली का एक वैज्ञानिक Giulio Ulivi है। इस किरण का नाम "F-Rays" है। इसकी भी करामातें विचित्र हैं।

यह किरण प्रति सेकिंड तीन खरब बार के हिसाब से आंदोलित होती है। जब यह किसी दिशा में डाली जाती है, तो इसके मार्ग में जितने टारपीडो, सबमेरीन की खानें, युद्ध-शस्त्र के भांडार और विस्फोटक "पाउडर" के स्थान आते हैं, उनका सत्यानास हो जाता है। प्रकाश फैलाने के लिये एक यंत्र व्यवहृत होता है, जो चौदह-पंद्रह मील स्थान को एक ही समय में घेर लेता है। यदि वायुयान, लड़ाई के जहाज़ या गैसदार अन्य कोई एंजिन इसके घेरे में आ जाय, तो उसका काम तमाम ही समझिए।

इस आविष्कार की सत्यता में संदेह होता है। अभी यूलिवी (Ulivi) का आविष्कार अँधेरे में छिपा हुआ है। उसका हाल बहुत कम अन्य लोगों को मालूम है। किंतु वह स्वयं इसके विषय में क्या कहते हैं, यह भी जानने योग्य है। वह कहते हैं—"सभी जानते हैं कि उजला प्रकाश तिकोने शीशे को पार करते समय सात रंगों में बट जाता है। एक किनारे लाल और दूसरे किनारे बैंगनी रंग होता है। इन लाल और बैंगनी रंगों के परे भी कुछ किरणें होती हैं, जिन्हें ख़ाली आँख देखना संभव नहीं। उन्हें Infra Red और Ultra-Violet Rays कहते हैं। Infra Red किरण के बाद भी वैद्युतिक चुंबकीय तरंगें (Electro-Magnetic Waves) होती हैं, जिन्हें Hertz की तरंगें कहते हैं। पुनः इनके परे भी एक अदृश्य और अज्ञात किरणें हैं। ये ही मेरी F-Ryas हैं। वे हर्टज़ियन तरंगों के पास हैं, इसलिये वैद्युतिक (Electrical) हैं, और उनके गुण भी उन तरंगों से मिलते हैं।"



रहस्यमय किरण, जो वायुयानों को बेकाम कर देती है

इतना कहने के बाद यूलिवी चुप हो जाते हैं। वह यह बतलाना नहीं चाहते कि इस किरण का विस्फोटक पदार्थों पर क्या असर पड़ता है। ऊपर लिखी बातें यदि कुछ अंशों में भी सत्य हों, तो कुछ ही वर्षों में लड़ाई करने का एक दूसरा ही मार्ग निकाला जायगा।

दुनिया शांति की पुकार मचाती है, किंतु वैज्ञानिक मानें, तब तो!

× × ×

३. माइक्रोफ़ोन

'माइक्रोस्कोप' का नाम बहुतों ने सुना होगा। बहुतों ने उसका व्यवहार भी किया होगा। अब माइक्रोफ़ोन एक नया यंत्र निकला है। आँख के लिये माइक्रोस्कोप जो काम करता है, कान के लिये माइक्रोफ़ोन वही काम करता है, अर्थात् धीमे शब्द को ऊँचा करता है। इसके आविष्कारक हैं डॉ॰ फ़िलिप्स टामस। उनका यह Electrical Ultra-audible Microphone छोटे-छोटे कीड़ों की बोलियों को इतना ऊँचा कर देगा कि हम लोग उन्हें सुन सकेंगे। हाँ, उनकी भाषा समझने में कुछ कठिनाई होगी। चींटियाँ आपस में क्या बातें करती हैं, मक्खियाँ क्या सलाह करती हैं— यह सब हम सुन सकेंगे। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इसके द्वारा हम लोग अपने मस्तिष्क में होनेवाले शब्दों को भी सुन सकेंगे।

× × ×

४. रेडियो द्वारा रंगीन चित्र भेजना

रेडियो द्वारा चित्र का भेजना ठीक उसी सिद्धांत पर अवलंबित है, जिस पर टेलीफ़ोटोग्राफ़ी। पहले-पहल Leishman (लिशमैन) ने टेलीफ़ोन, टेलीग्राफ़ आदि के द्वारा एक स्थान से अन्य स्थान को चित्र भेजने की प्रथा का आविष्कार किया था। उसी सिद्धांत पर चलकर अब Mr. LeRoy ने एक ऐसा यंत्र बनाया है, जिसकी सहायता से रेडियो द्वारा मामूली, रंगीन तैल-चित्र या जल-चित्र स्थानांतरित किए जा सकते हैं। योरप ही में नहीं, समुद्र-पार के देशों में भी इस यंत्र के द्वारा, बेतार के तार की सहायता से, तसवीरें अपने असली रंग में भेजी जा सकती हैं।

सिद्धांत लिखने के पहले कुछ और बातें कह लेना ठीक होगा। सचित्र पत्रों के नए पाठक मन-ही-मन यह सोचते हैं कि चित्रकार तो एक ही चित्र पत्रिका के लिये भेजते हैं, फिर उसकी इतनी कॉपियाँ कैसे बन जाती हैं कि पत्रिकाओं की प्रत्येक संख्या के साथ एक-एक चित्र उन्हें मिल जाता है? उत्तर है—इसका कारण प्रत्येक चित्र का ब्लॉक तैयार करना है। इन्हीं ब्लॉकों द्वारा एक ही चित्र की हज़ारों-लाखों प्रतियाँ छप सकती हैं। पाठक पूछ सकते हैं कि ये ब्लॉक हैं क्या! यदि आप किसी चित्र को ध्यान-पूर्वक देखने का कष्ट उठावें, तो आपको जान पड़ेगा कि वह कुछ बिंदुओं का समूह-मात्र है। ब्लॉक द्वारा छापा गया चित्र चाहे सादा हो, चाहे रंगीन, वह बिंदुओं द्वारा ही बना रहता है। हाँ, फ़र्क़ यह होता है कि कुछ चित्र बहुत छोटे-छोटे बिंदुओं से बने रहते हैं, और अन्य बड़े-बड़े बिंदुओं से।

ब्लॉक बनाने का तरीक़ा तो ब्लॉक बनानेवाले ही जानें, हम यहाँ पर उसका थोड़ा-सा विवरण देते हैं, जिससे पाठकों को विषय समझने में आसानी हो। पहले सादे चित्रों के विषय में लिखा जाता है—

जिस चित्र का ब्लॉक बनाना होता है, उसका एक फ़ोटो लिया जाता है। किंतु फ़ोटो लेने के पहले कैमेरे के 'लेंस' के सामने सूक्ष्म छिद्रवाला एक परदा डाल दिया जाता है। इसलिये जो चित्र उतरता है, वह कई बिंदुओं का समूह होता है। जहाँ जैसा प्रकाश या छाया रहती है, वहाँ वे बिंदु कम या अधिक होते हैं। ब्लॉक बनाने के लिये फ़ोटो किसी धातु (विशेषतः जस्ते) के पत्तर पर 'एनामेल' लगाकर लिया जाता है। पीछे पत्तर को किसी तेज़ाब में डाल देने से एनामेल से रहित स्थानों पर उसकी क्रिया होती है। जहाँ एनामेल लगा रहता है, वहाँ कोई क्रिया नहीं होती। इसलिये पत्तर पर दाग़ या बिंदु बन जाते हैं। ये चित्र असली चित्र के विपरीत होते हैं, जो छापने पर पुनः असली फ़ोटो के अनुरूप हो जाते हैं।

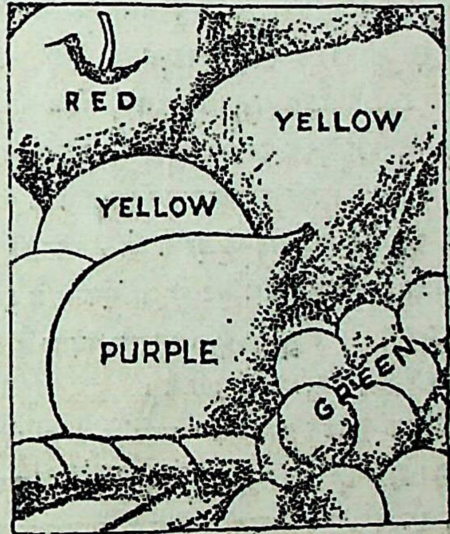
अब रंगीन चित्रों को लीजिए। सभी रंग (Colour, hues, tints, etc.) तीन प्राथमिक—लाल, पीले और नीले—रंगों से, एक, दो या तीनों के संयोग से, बने हुए हैं। इसलिये रंगीन चित्रों के तीन फ़ोटो उतारे प्रकार से लिए जाते हैं। इस तरह से फ़ोटो लेने के कैमेरे के लेंस ऐसे होते हैं, जो रंगों का विश्लेषण कर देते हैं; अर्थात् फ़ोटो लेने के समय लेंस रंगों को अलग-अलग कर देता है, उनमें से केवल एक ही रंग को छानकर प्लेट पर

पड़ने देता है। प्लेट भी तीन तरह के होते हैं, जिनमें ख़ास एक ही रंग ग्रहण करने की शक्ति होती है। लाल रंग ग्रहण करनेवाला प्लेट केवल लाल रंग के पड़ने से विकृत होता है। इसी प्रकार पीले और नीले रंग को ग्रहण करनेवाले प्लेटों के विषय में भी समझना चाहिए । तीनों प्लेटों के तीन, अलग-अलग, ब्लॉक बनते हैं ।

जो रंगीन चित्र आप देखते हैं, वे तीन बार के छपे हुए होते हैं। पहले लाल रंगवाला ब्लॉक लगाकर काग़ज़ पर छापा जाता है। इससे तसवीर में वे ही भाग छपते हैं, जो लाल होते हैं। पुनः पीले और नीले रंगवाले ब्लॉक लगाकर उसी काग़ज़ पर पीले और नीले रंग छापे जाते हैं । इन्हीं तीनों रंगों के मिश्रण से भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग निकल आते हैं। ब्लॉक और काग़ज़ इस प्रकार हटाए या लगाए जाते हैं, जिसमें वे एक ही स्थान पर बराबर रहें । किसी के भी स्थानच्युत होने से तसवीर ठीक नहीं आती ।

पाठक समझ गए होंगे कि रंगीन चित्र कैसे बनता है। अब यह बतलाना है कि चित्र स्थानांतरित कैसे होते हैं। ऊपर लिख आए हैं कि ब्लॉक बनाते समय धातु के पत्तर पर एनामेल लगा देते हैं । तेज़ाब की क्रिया हो चुकने पर एनामेल ज्यों-का-त्यों लगा रहने दिया जाता है । एनामेल विद्युत्-चालक नहीं है । इसी सिद्धांत से लाभ उठाकर लिशमैन ने एक मशीन बनाई, जो पुराने फ़ोनोग्राफ़ से बहुत कुछ मिलती है। इस मशीन में विद्युत्-युक्त एक सिलंडर (चोंगा) रहता है । उसी पर ब्लॉक का पत्तर लपेट दिया जाता है । ज्यों-ज्यों वह घूमता है, त्यों-त्यों उसके बिंदुओं (उठे हुए स्थानों) को एक सुई छूती रहती है। जिन स्थानों पर एनामेल लगा रहता है, वहाँ सुई के पड़ने से विद्युत्-संचालन नहीं होता; किंतु अन्य स्थानों पर सुई के जाने से विद्युत्-संचालन होता है। पत्तर के सभी बिंदु सुई के नीचे से प्रति सेकिंड १२० बार के हिसाब से गुज़रते हैं। बिंदु जितने बड़े होते हैं, उतनी ही अधिक देर तक संबंध होता है, और छोटे बिंदुओं का काम देर तक। प्रत्येक बिंदु के गुज़र जाने के बाद यह संबंध कुछ देर के लिये टूट जाता है।

जिस स्थान को तसवीर भेजी जाती है, वहाँ भी प्रायः इसी प्रकार एक चोंगा (Cylinder) घूमता रहता है। चित्र भेजने के स्टेशन पर ज्यों-ज्यों संबंध बनता और टूटता रहता है, त्यों-त्यों दूसरे स्टेशनवाले चोंगे पर निशान बनते रहते हैं। जहाँ संबंध देर तक होता है, वहाँ गहरे निशान, और जहाँ थोड़े समय के लिये होता है, वहाँ हलके निशान बनते हैं। जिस स्थान पर एनामेल लगा रहता है, वहाँ कोई संबंध नहीं होता। इसलिये उस पर निशान भी नहीं पड़ता। कहना न होगा, जैसे रंगीन तसवीर के तीन ब्लॉक बनते हैं, वैसे ही उन्हें तीन बार भेजना पड़ता है। इसलिये Receiving Station पर असली रंग का चित्र बनना मुशकिल नहीं होता।



चार रंगों की यह तसवीर रेडियो द्वारा भेजी गई थी

इसी सिद्धांत पर Le Roy ने भी रेडियो द्वारा रंगीन चित्रों को अन्य स्थान में भेजने की एक मशीन बनाई है। इसके द्वारा चाहे जहाँ रंगीन चित्र भेजे जा सकेंगे।

× × ×

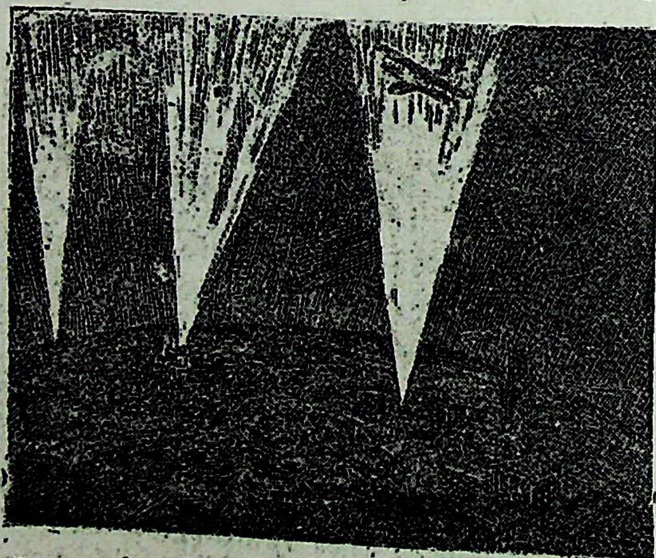
५. वायुयानों की रात्रि-यात्रा

यह बात किसी से छिपी नहीं है कि वायुयान जितनी स्वतंत्रता से दिन को उड़ते हैं, उतनी स्वतंत्रता से रात को नहीं । वायुयानों की उपयोगिता दिन-दिन बढ़ती जाती है । इसलिये यदि उनकी रात्रि-यात्रा सुगम न हो सकी, तो उनको उपयोगिता में एक बड़ा त्रुटि रह जायगी । पाश्चात्य देशों में वायुयान डाक ले जाने का काम करते हैं; क्योंकि इसमें समय कम लगता है । किंतु जब तक वायुयानों की रात्रि-यात्रा निरापद न होगी, तब तक उनके द्वारा डाक भेजने में विशेष लाभ नहीं दिखता । कारण, संध्या हो जाने के बाद, काफ़ी रोशनी न रहने के कारण, वायुयान-चालकों को कभी-कभी अपनी स्थिति का ज्ञान नहीं होता। यदि रात अँधेरी

हुई, तब तो और भी कठिनाई उपस्थित होती है। इसलिये अब तक वायुयानों को शाम होने के पहले ही ज़मीन पर उतरकर रात-भर विश्राम करना पड़ता था। उजियाला होने पर फिर वे यात्रा आरंभ करते थे। किंतु इससे न डाक ले जाने ही में सुविधा थी, और न वायुयान द्वारा दूर की यात्रा करने ही में। इस उन्नतिशील युग में वायुयानों का रात को अचल रहना वैज्ञानिकों के लिये शर्म की बात थी।

अमेरिका के वैज्ञानिकों ने अन्य देशों के वैज्ञानिकों की लाज रख ली। उन्होंने जगह-जगह ऐसी रोशनी लगाई, जो रात के समय आकाश-मंडल को दिन की तरह प्रकाशित करती है। एक-एक रोशनी ६० करोड़ मोमबत्ती की शक्ति रखती है। रात को पथ प्रकाशित होने के कारण वायुयान न्यूयार्क से सान-फ़्रैंसिस्को को—जिनकी दूरी ३००० मील है—केवल २८ घंटे में जा सकता है। जिन स्थानों पर रात में वायुयान को उतरना पड़ता है, वहाँ विशेष प्रकार की रोशनी की जाती है।

वायुयान के उतरने का स्थान शहर के बीच में हो सकता है। इसलिये उस स्थान के चारों ओर के मकानों पर लाल रंग की बत्ती जलेगी, जिसमें वायुयान उनसे टक्कर न खा जायँ।



वायुयान की रात्रि-यात्रा के लिये प्रकाशित आकाश-मंडल

इन रोशनियों को रात-भर जलाए रखने की आवश्यकता नहीं है। इसमें व्यर्थ का ख़र्च है। इसलिये वायुयान के आने के निश्चित समय से कुछ घंटे पहले उन्हें जला रखने का इंतज़ाम किया गया है। यदि किसी कारण से वायुयान को स्टेशन पर पहुँचने के पहले ही उतरना पड़े, तो उसका भी बंदोबस्त, २५-२५ मील के फ़ासले पर, किया गया है। वैज्ञानिकों ने आशा प्रकट की है कि इस प्रथा के द्वारा वायुयानों की रात्रि-यात्रा निरापद होगी।

इतना भारी आयोजन धनी देश अमेरिका के लिये ही संभव है। ग़रीब भारतवासियों के लिये तो वही कहावत चरितार्थ होती है कि "न नव मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी।"

× × ×

६. मोटर-कार में दो नई बातें

जैसे वायुयान, जलयान, वाष्पयान, विद्युत्यान आदि में उन्नति हो रही है, वैसे ही पेट्रोल-चालित मोटर-कार में भी उन्नति की जगह है। मोटर में चालक के बैठने के सामने जो निकला, उठा और ढका हुआ हिस्सा होता है; उसी में उसका एंजिन रहता है। जिन्हें कभी मोटर-कार दूर तक चलाने का मौक़ा मिला है, वे आपको बतला सकते हैं कि चलते-चलते एंजिन गरम हो जाता है। उसे ठंडा रखने के लिये पानी दिया जाता है। किंतु कुछ समय बाद वह पानी भी खौलने लगता है। इतनी गरमी का बेकार जाना ठीक नहीं है। उसे किसी प्रकार उपयोग में लाना चाहिए। युक्त-राष्ट्र अमेरिका के प्रयस (Preuss)-नामक स्थान के जेम्स ई० ज़ेड० फ़ाउलर ने एक चूल्हा बनाया है। इस चूल्हे को एक चौकोने बॉक्स में रखकर मोटर के एंजिन में बैठा दिया जाता है।

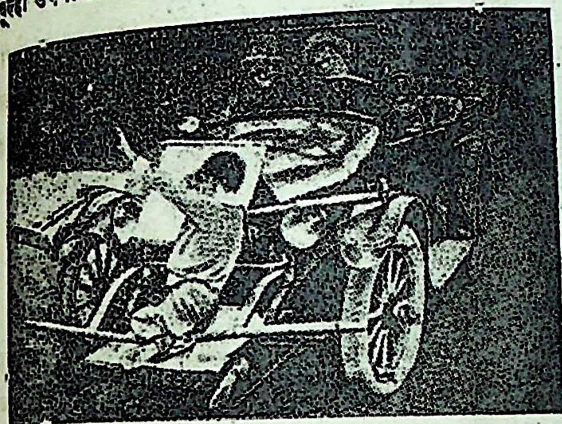


मोटर-कार में लगा हुआ चूल्हा

इस पर, काफ़ी, चाह, स्टू आदि बन सकते हैं। अंडे, आलू आदि भी उबाले जा सकते हैं। यह काम उसी समय होता रहता है, जब गाड़ी चल रही हो। चूल्हा जलने के लिये गरमी एंजिन से मिलती है।

टैक्सी-ड्राइवर, जिन्हें आठ-आठ, दस-दस घंटे मोटर

निरंतर चलानी पड़ती है, या जो लोग मोटर-गाड़ी में चढ़कर देश-विदेश की यात्रा करते हैं, उनके लिये यह खूब उपयोगी सिद्ध होगा ।



मोटर के सामने आए हुए मनुष्य की किस प्रकार रक्षा होती है

जिन शहरों में रास्ते पर बड़ी भीड़ रहती है, मोटर के बाद मोटर और गाड़ी के बाद गाड़ी आती रहती है, वहाँ पैदल चलनेवालों की दुर्गति का अनुमान कर लिया जा सकता है । बेचारे पैदल चलनेवालों की अधिक संख्या में प्रतिदिन मृत्यु हो, तो आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसी दुर्घटनाएँ बंद करने की चेष्टा अमेरिकावालों ने की है। वे अपनी मोटर-कारों के सामने एक प्रकार की मशीन लगाते हैं । इस मशीन के साथ किसी पदार्थ या मनुष्य का धक्का लगते ही दो हैंडिल निकल आते हैं, और सामने के मनुष्य को मोटर के साथ लगी हुई टाट (कैंविस) की एक खाट पर खींच लेते हैं । इससे यह होता है कि मोटर के सामने आए हुए मनुष्य के शरीर के किसी सख़्त हिस्से में संघर्षण न हो पाने के कारण वह घायल नहीं होता । मशीन के हैंडिल और खाट इस प्रकार बनी हुई हैं कि मोटर के सामने मनुष्य चाहे जिस किसी प्रकार आ जाय, उसकी रक्षा अवश्य होगी ।

× × ×

७. बेपहिए की गाड़ी

पाठक, घबराइए नहीं, बेपहिए की गाड़ी पर कुछ दिन बाद आपको भी चढ़ना होगा । यह गाड़ी ठीक मोटर-जैसी है । इसमें चक्के के बदले "रनर्स" लगे रहते हैं । इसके आविष्कारक बर्लिन के R. Venzlaff (आर० वेंज़लाफ़) साहब हैं । इस गाड़ी में दो जोड़े "रनर्स" तीन मीटर की दूरी पर लगे रहते हैं, और वे घोड़े के पैरों की तरह एक बार दो उठते और दो गिरते हैं । छोटे-छोटे ख़ंदकों को यह आसानी से पार कर सकती है । इसके चलाने के लिये मैला तेल (Crude oil) व्यवहृत होता है ।

बेपहिए की गाड़ी

रमेशप्रसाद



१. प्राचीन सभ्यता और स्त्रियाँ



ध्यापक विल्किसन अपनी प्राचीन मिसरियों की 'रीति-खोज'-नामक पुस्तक में लिखते हैं कि प्राचीन काल में मिसरियों में स्त्रियों का इतना आदर और प्रभाव था कि सब बातों में वे ही अगुआ होती थीं। यहाँ तक कि राजकन्या अथवा रानी ही राजा के बाद उत्तराधिकारिणी होती थी। कई बार इस पर झगड़े भी उठे; पर जीत स्त्रियों ही की हुई। यह केवल उनके प्रभाव का ही फल नहीं था। उनको क़ानून से भी व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक जीवन में ये अधिकार प्राप्त थे। उनको इस बात पर दृढ़ विश्वास था कि यदि स्त्रियों का आदर नहीं किया जायगा, यदि समाज में उनका प्रभाव नहीं रहेगा, तो पुरुष की चाल-चलन ठीक नहीं रहेगी। इसी से उन्होंने स्त्रियों को उत्तर-दायित्व-पूर्ण कार्य में अग्रसर किया।

स्पार्टा की स्त्रियाँ भी केवल शारीरिक शक्ति में ही नहीं बढ़ी-चढ़ी थीं, वे राजनीतिक क्षेत्र में भी अग्रसर होकर भाग लेती थीं। वे अपनी जाति के गौरव के लिये सब कुछ न्योछावर करने को तैयार थीं। यहाँ तक कि वे देश-सेवा की वेदी पर अपने वात्सल्य-प्रेम की भी बलि चढ़ाने में ज़रा नहीं हिचकती थीं। उनका साहस आत्मबल का सच्चा नमूना था। व्यभिचार उनको छू तक नहीं गया था। उनकी निजी मिल्कियत होती थी। अरस्तू ने भी कहा है कि स्पार्टावालों की राज्य-प्रणाली के कारण उनकी ज़मीन का विशेष भाग उनकी स्त्रियों के हाथ में चला गया। इसका फल यह हुआ कि अधिकांश स्त्रियाँ अपने पति से भी ज़्यादा शिक्षिता हो गईं, और उन पर अपना प्रभाव जमाने लगीं। उस समय वस्तुतः स्त्रियों का ही राज्य था। अध्यापक डब्ल्यू० सैंट चद वःस्केन ने ठीक ही कहा है कि उस समय स्त्रियों को वह स्वतंत्रता प्राप्त थी, जो अब ईसाई राज्य में नहीं है। उस समय स्त्रियाँ स्थावर और जंगम संपत्ति पर अपना पूर्ण अधिकार रखती, व्यापार करती और आवश्यकता पड़ने पर न्यायाधीश के यहाँ भी स्वयं जाती थीं। उनके स्त्री-धन पर उनके पति का कुछ भी अधिकार न था। वे उसे जिसे चाहतीं, दे सकती थीं। इनके अतिरिक्त उनको और भी बहुत-से अधिकार प्राप्त थे।

प्लेटो भी स्त्रियों की पुरुष के समान शिक्षा और समान अधिकार का पूरा पक्षपाती था। अपनी 'रिपब्लिक'-नामक पुस्तक में उसने लिखा है—"किसी राज्य की व्यवस्था में स्त्री को स्त्री होने के कारण अथवा पुरुष को पुरुषत्व के कारण कार्य-विशेष का अधिकार नहीं है। दोनों के समान अधिकार हैं। एक दूसरे का काम कर सकता है।" अंत में वह कहता है—"स्त्री को चाहिए कि वह सब कामों में तथा राज्य-व्यवस्था में भी पुरुष की सहायता करे, और पुरुष को उचित है कि वह स्त्री से कठिन काम न ले; क्योंकि वह स्वभावतः कोमलांगी है।"

आजकल का असभ्य कही जानेवाली जातियों में भी, जो अभी तक प्राचीन सदियों का ही अनुसरण कर

रही हैं, स्त्रियों को कितने अधिकार प्राप्त हैं, इसको भी देखिए—

होटेंटो और उत्तरी अमेरिका की रेड-इंडियन जातियों में स्त्रियों का आसन बहुत ऊँचा है। उनमें पत्नी की आज्ञा बिना पति घर की एक चीज़ भी किसी को नहीं दे सकता। पत्नी की आज्ञा न मिलने के कारण, वहाँ के एक निवासी ने एक साहब के साथ यात्रा करना अस्वीकृत कर दिया था। इस पर साहब बहादुर बड़े चकित हुए। दुक्का-जाति में भी महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर स्त्रियों की अनुमति ली जाती है। निकारागुआ में स्त्रियों के बाज़ार में पुरुष जाने नहीं पाता। मार्क्विसिस में भी यही चाल है। संघ-जाति में भी स्त्रियों की अनुमति बिना कोई कार्य नहीं किया जाता। यही हाल पीलो-द्वीप में भी है। बचुआना का सरदार अपनी माता की आज्ञा बिना कुछ भी निश्चित नहीं कर सकता। राजमाता कौंसिल में सदा उसके साथ रहती है। हर बात में उसकी अनुमति ली जाती है।

प्राचीन भारत में स्त्रियों का जो स्थान था, वह तो किसी से छिपा नहीं है। यहाँ पर उस संबंध में कुछ लिखना केवल पिष्टपेषण ही करना है।

देश-देशांतर में, प्राचीन काल में, स्त्रियों का कैसा आदर-सत्कार होता था, किस प्रकार स्त्रियाँ गार्हस्थ्य जीवन सुखमय बनाती थीं, और अपने पति के कार्य में किस प्रकार सहायता पहुँचाकर अपने अर्द्धांगिनी नाम को सार्थक करती थीं इत्यादि बातों को जानते हुए भी क्या हमारे राजनीतिक नेता कहे जानेवाले सज्जन सामाजिक सुधार की ओर कुछ ध्यान देंगे? क्या उनसे यह आशा की जा सकती है कि वे अब बाल-विवाह तथा अशिक्षा से उत्पन्न होनेवाले अनिष्टों को दूर करने में अग्रसर होंगे, और भारत की सामाजिक अवस्था का सुधार करेंगे, जो स्वराज की जड़ है?

× × ×

२. स्त्री-स्वभाव

नैतिक और धार्मिक स्वभाव का मुख्य लक्षण आत्मत्याग है। यह स्त्री ही में अधिक पाया जाता है; क्योंकि स्त्री का अधिकतर जीवन परार्थ में ही व्यतीत होता है, अर्थात् दूसरों की आज्ञा के अनुसार चलने तथा उनके सुख का ध्यान रखने ही में उसका जीवन बीतता है। उसके आचार-विचार शुद्ध होते हैं, उसकी इच्छा तीव्र होती है; पर सदाचार का उसको सदा ध्यान रहता है। नीति पालने में तो वह कमाल कर देती है। भूल-चूक के प्रति सद्व्यवहार, दुःखी के प्रति दया और सगे-संबंधी के प्रति सौहार्द दिखाने में पुरुष उसके तलवे की भी बराबरी नहीं कर सकता। यद्यपि चंचलता और हिम्मत में पुरुष बाज़ी मार ले जाता है; पर सहनशीलता में स्त्री के सामने उसके पैर उखड़ ही जाते हैं। उसमें भूके रहने की क्षमता अधिक है; क्योंकि उसकी आमदनी मर्यादित है। ग़रीब और सामान्य वर्ग की स्त्री विशेषकर दूसरों ही के आराम की तरफ़ ध्यान रखती और सतत स्वार्थ-त्याग का जीवन बिताती है। कार्य करने में वह बहुत उदार होती है; पर अपने अभिप्राय के विरुद्ध नहीं। सत्य से वह क्वचित् ही प्रेम करती है; पर दूसरे की बात पर विश्वास करने में वह आगा-पीछा नहीं करती। शंका करने की शक्ति उसमें बहुत थोड़ी है, और पक्षपात की मात्रा अधिक। अपने से विभिन्न मतवालों को वह ख़ूब धिक्कारती है, यद्यपि अपनी बात दूसरों को समझाने में वह बहुत तेज़ है। ईर्षा, द्वेष, लोभ, नम्रता, कोमलता, लज्जा और सहनशीलता, ये उसकी सात सहचरियाँ हैं, जो उसका साथ कभी नहीं छोड़तीं। उसकी कल्पना-शक्ति भी विचित्र होती है। वह पुरुष को जिस ओर चाहे, झुका सकती है। उसकी श्रद्धा गुण पर कम और व्यक्ति पर अधिक रहती है। राजकीय विषयों में स्वदेशाभिमान उसे उतना नहीं होता, जितनी कि भक्ति। वह सार्वजनिक उदारता की अपेक्षा व्यक्तिगत उदारता को अधिक पसंद करती है। सार्वजनिक संकट को दूर करने की अपेक्षा तज्जनित दुःखों को कम करने की वह अधिक चेष्टा करती है।

× × ×

३. सुंदरता के मुख्य कारण

अमेरिका में सुंदर स्त्रियों की एक प्रदर्शिनी हुई थी। उसमें ६०-६० वर्ष की दो स्त्रियाँ सबसे अधिक सुंदर समझी गई हैं। उनसे इस अवस्था में इतनी सुंदरता का कारण पूछा गया, तो उन्होंने कहा कि इसका मुख्य कारण सादा जीवन और ब्रह्मचर्य है।

× × ×

४. कृत्रिम सुंदरता को उत्तेजन

न्यूयार्क के एक योरपियन और स्थानीय व्यापारी-संयुक्त-मंडल ने सौंदर्य बढ़ानेवाली दवाओं के प्रयोग से सुंदर बनी हुई सुंदरियों की एक प्रदर्शिनी करने का निश्चय किया है। इस प्रदर्शिनी में जो सुंदरी सर्वश्रेष्ठ समझी जायगी, उसको 'सुंदरियों की रानी' का पद दिया जायगा। वह इस पद पर एक वर्ष पर्यंत, अर्थात् दूसरी प्रदर्शिनी तक, रहेगी।

× × ×

५. बालों की बहार

इँगलैंड के एक समाचारपत्र ने सबसे अधिक लंबे केशोंवाली स्त्री को ५० पौंड का इनाम देने की घोषणा की थी। अनेक लंबे-लंबे केशोंवाली स्त्रियाँ एकत्र हुईं; पर यह इनाम मिसेज़ रोज़ नाम की एक महिला को मिला। उसके केश ६ फ़ीट लंबे थे। अन्य २ स्त्रियों के केश साढ़े पाँच-पाँच फ़ीट, ५० के चार-चार फ़ीट दो-दो इंच और १७० के साढ़े तीन-तीन फ़ीट लंबे थे।

× × ×

६. गुण-ग्राहकता

फ़्रांस की मैडमकरी ने विज्ञान-जगत् में एक नया आविष्कार किया है। बड़े-बड़े विज्ञान-विशारद इससे चकित हो गए हैं। उसने यह सिद्ध कर दिया है कि आंतरिक रोगों का पता लगाने के लिये रेडियम बहुत उपयोगी है। फ़्रांस के एक विज्ञान-मंडल ने इस महिला को एक अच्छी रक़म की पेंशन बाँध दी है।

× × ×

७. वोट देने का अधिकार मिला

बीस वर्ष की लड़ाई के बाद अब चीन की स्त्रियों को मत देने का अधिकार मिला है। वहाँ की पार्लियामेंट में श्रीमती ङय-च्युं-कुं नाम की महिला सदस्या चुनी गई हैं। दक्षिण-चीन की स्त्रियाँ भी इसके लिये लड़ रही हैं।

× × ×

८. गंदा जीवन

तिब्बत में स्त्री और पुरुष की पोशाक एक-सी ही होती है। अंतर केवल इतना ही रहता है कि स्त्रियों के कपड़े रंगीन और देखने में सुंदर होते हैं। यहाँ की स्त्रियाँ बड़े लंबे-लंबे बाल रखती और आभूषण भी पहनती हैं। स्नान करना तो वे जानती ही नहीं। एक-दो वर्ष में एकआध बार स्नान कर लिया, तो बड़ा भाग्य! इनका शरीर असह्य दुर्गंध से भरा और गंदा रहता है। नाक में रूमाल लगाए बिना एक-दो मिनिट भी इनके पास खड़े रहना कठिन हो जाता है।

(गुणसुंदरी से)

छन्नूलाल द्विवेदी

× × ×

९. स्त्री-शक्ति

स्त्री घर के प्रत्येक छोटे से बड़े काम को, जिसे लोग तुच्छ समझकर छोड़ देते हैं, बड़े चाव से करती है। वह सबके कार्यों पर दृष्टि रखती, प्रत्येक कार्य में मितव्ययिता से काम लेती, और सब वस्तुओं को आवश्यकतानुसार उपस्थित करती है। पुरुष जब तक विवाह नहीं करता, अपूर्ण रहता है। स्त्री ही पुरुष का पूरक अर्द्धांग है। धर्मात्मा मनुष्यों को इस संसार से स्वर्ग में पहुँचाने के लिये यह (स्त्री) एक ईश्वर-दत्त पवित्र तीर्थ है, और पापियों के लिये भी स्वर्ग का प्रथम सोपान। संसार में स्त्री से बढ़कर उपकारी जीव दूसरा नहीं है; क्योंकि सभी सांसारिक जीवों को दिन-रात एक अपना ही पेट पालने की चिंता रहती है; पर इसे सदा एक-दो (पति-पुत्र) या अधिक जीवों की चिंता बनी रहती है। जब तक यह उन्हें भोजन नहीं कराती, तब तक स्वयं जल पीना भी पाप समझती है, जीते-जी उनका कुछ अनिष्ट नहीं होने देती। धन्य है स्त्री-जाति! भला ऐसे उपयोगी जीव का महत्त्व क्या कुछ कम है?

स्त्री-शक्ति के विषय में जॉर्ज वाशिंगटन कहते हैं—"संसार में स्त्री क्या है, मानो दया और उदारता की एक साक्षात् मूर्ति है। दूसरे के दुःख को अपने दुःख से भी अधिक समझना और अपनी प्रसन्नता, प्रतिष्ठा, गुणों से अधिक प्रेम और आनंद का होना आदि दैवी गुण पूर्ण रीति से एक-मात्र स्त्री में ही पाए जाते हैं। स्त्रियों की यह उदारता अद्वितीय है कि वह दूसरों के दोषों को अपने ऊपर लेकर उसे छिपाती है, और आप मरकर भी दूसरे को बचाने की चेष्टा करती है। एक स्त्री-जाति ही ऐसी है, जो अपने को भी स्नेह, सहानुभूति और सेवा की भेंट चढ़ा देती है।" महाभारत में लिखा है—

"भार्या (स्त्री) पुरुष की अर्द्धांगिनी और सबसे अच्छी संगिनी है। भार्या अर्थ-धर्म-कामादि त्रिवर्गों के

प्राप्त करने की तदबीर और मुक्ति की जड़ है। जिसके आश्रय में रहकर मनुष्य, वही क्रियाशील, भाग्यवान् और लक्ष्मीवान् है।" अब विचारिए, स्त्री-शक्ति स्वर्ग-गमन में बाधा पहुँचानेवाली और सारे दुःखों की जड़ है, या स्वर्ग ले जानेवाली और सारे सुखों का मूल ?

स्त्रियों में नम्रता, शांति, सुशीलता, सरलता, सुमति, सदाचारिता, प्रीति और सकल गुण-गरिमा भरी हुई है। यदि स्वार्थांध पुरुष इनके सच्चे गुणों का स्वतंत्रता-पूर्वक विकास होने दें, उदारता-पूर्वक इनके प्राकृतिक स्वत्वों की रक्षा किया करें, तो ये इस संसार को स्वर्ग बना सकती हैं। स्त्रियाँ ही वीर-माता, वीर-पत्नी वीर-गर्भा और वीर-वधू कहलाती हैं। यदि इनकी शक्ति अपनी महत्ता का परिचय न दे, तो संसार वीर-विहीन हो जाय। देखिए, एक अँगरेज़ (Ruskin) कहता है—"No man ever lived a right life who had not been chastened by a woman's love, strengthened by her courage and guided by her discretion." अर्थात् उस मनुष्य ने कदापि पवित्र जीवन नहीं व्यतीत किया, जिसकी आत्मा को स्त्री के प्रेम ने शुद्ध सरल-साहस ने बलयुक्त (दृढ़) और ज्ञान ने प्रज्ञा-संपन्न न बनाया हो।

आप विचार कर सकते हैं कि जो स्त्री-शक्ति हम सबको ६ मास अपनी उदर-दरी में रखकर संसार में लाई और लालन-पालन करके साढ़े तीन हाथ का हमारा कलेवर बनने का साधन हुई, उसी का अनादर करना कितनी कृतघ्नता है। संसार में यदि स्त्री-शक्ति न होती, तो क्या स्त्रियों की निंदा करनेवाले लोग स्त्रियों के कार्य का भार अपने ऊपर लेकर संतानोत्पत्ति आदि सब कार्य आप ही चला लेते ? अतः यह अवश्य मानना पड़ेगा कि संसार में पवित्र स्त्री-शक्ति की अत्यंत आवश्यकता है। बिना इसके जगत् का एक भी काम नहीं चल सकता। इसके न होने से संसार में प्रलय मच जायगा। यदि संसार में कोई पराक्रमी शक्ति या सम्मान की वस्तु है, तो बस एक-मात्र स्त्री-शक्ति ही। स्त्री शक्ति का अनादर करना सरासर अन्याय है। आर्य लोग भारतवर्ष में स्त्री-शक्ति का सत्कार आदि-काल से ही सब प्रकार करते आए हैं। यहाँ तक कि अपने इष्ट-देवों के नाम के पहले भी इस आद्या-शक्ति का नाम जोड़ते हैं, जैसे राधा-कृष्ण, गिरिजा-शंकर (गौरी-शंकर) सीता-राम, लक्ष्मी-नारायण इत्यादि। स्त्री-शक्ति का अनादर करने से बहुत कुछ अनिष्ट होने की संभावना रहती है। मनुजी ने लिखा है—

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ;
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ;
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा।"

अर्थात् जहाँ स्त्री-शक्ति की पूजा (आदर) होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं ; और जहाँ इसकी पूजा नहीं होती, वहाँ समस्त कार्य निष्फल होते हैं। इसलिये जो मनुष्य समृद्धि चाहते हैं, उन्हें आभूषण, वस्त्र, भोजन आदि से इनका सत्कार करना उचित है। जिस कुल में स्त्री पुरुष से प्रसन्न है और पुरुष स्त्री से, उस कुल में निरंतर सुख-शांति रहती है।

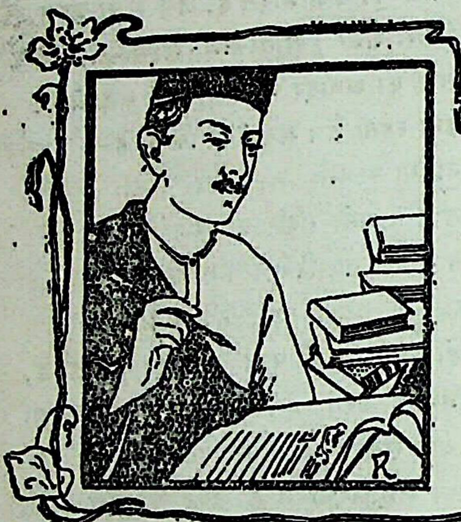
जिन घरों को असम्मानित, दुखिया स्त्रियाँ शाप देती हैं, वे घर (परिवार) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

जहाँ स्त्रियाँ प्रसन्न रहती हैं, वह कुल सर्वदा बढ़ता रहता है। अतएव सबको उचित है कि स्त्री-शक्ति की निंदा और अनादर कर भारतवर्ष को और भी गहरे गढ़े में न ढकेलें।

कहाँ तक लिखा जाय, इस विषय पर बड़े-बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। इस छोटे-से लेख में तो दिग्दर्शन-मात्र कराना भी असंभव है। अतः मैं पं० लोचनप्रसादजी पांडेय के शब्दों में अंतिम प्रार्थना कर इस अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूँ। [आशा है, मेरी प्रार्थना अरण्यरोदन में परिणत न होकर पाठकों के हृदय में स्त्री-जाति के प्रति आदर का भाव उत्पन्न करेगी, और स्त्री-जाति अपने रूप को पहचानकर अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न करेगी।]—

"नारी से तू विमुख न हो रे, नित कर उसका आदर ;
नारी-यश फैला है जग में, देखो आँख उठाकर।
क्या बालक, क्या वृद्ध, युवा, सब उसके ही गुण गाते हैं ;
गाते-गाते थक भी जाते, तो भी नहीं अघाते हैं।
नारी जग की माता है, तू उससे रूठ न रे मन ;
नेति-नेति कह स्त्री-शक्ति का वेदादिक करते गायन।"

प्रभुनारायण त्रिपाठी "सुशील"



पुस्तक-परिचय

१. काव्य

चोखे चौपदे—प्रणेता, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय साहित्य-रत्न। प्रकाशक, खड्गविलास-प्रेस, बाकरगंज, पटना। पृष्ठ-संख्या २६७ ; मूल्य १॥) ; प्रकाशक से प्राप्य।

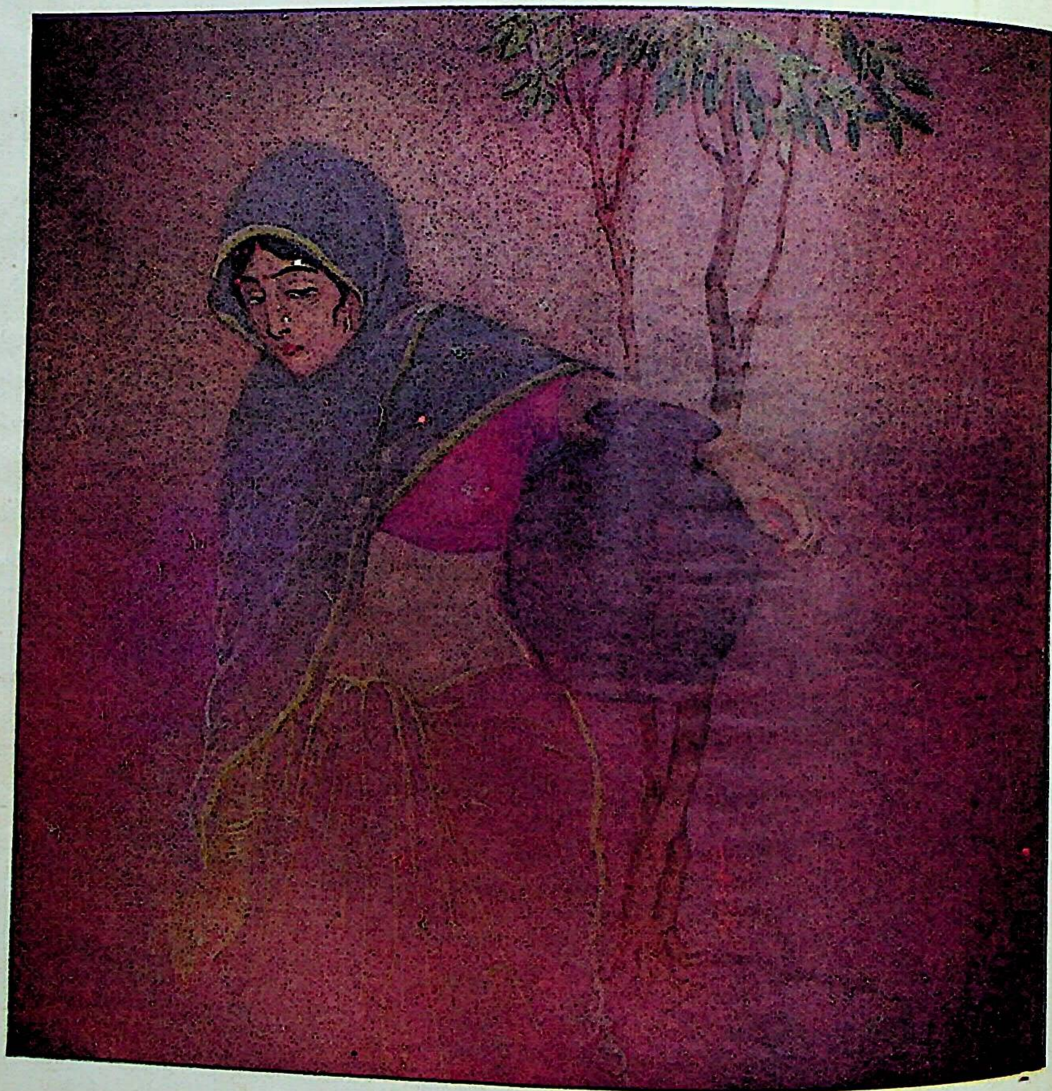
चुभते चौपदे—प्रणेता और प्रकाशक, वे ही, जो 'चोखे चौपदे' के हैं। पृष्ठ-संख्या २४५। मूल्य १॥)

पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय हिंदी के एक पुराने साहित्य-सेवी हैं। आपने कई अच्छे ग्रंथों की रचना की है। अब की बार, दिल्ली में, हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति भी आप ही थे। आपकी रचनाओं को हिंदी-साहित्य-संसार में अच्छी ख्याति है। आजकल आप 'बोलचाल'-नामक एक विशाल-काय ग्रंथ की रचना कर रहे हैं। उसमें प्रायः ३५०० चौपदे होंगे। उक्त ग्रंथ में महावरों का आश्रय लेकर कविता की गई है। उपर्युक्त 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' नाम के ग्रंथों में जो चौपदे निकले हैं, वे या तो 'बोलचाल' से संगृहीत हैं, या वही ग्रंथ लिखते समय बनाए गए हैं। उपाध्याय-जी की कविता की सारी विशेषताएँ इन दोनों ग्रंथों में भी मौजूद हैं। आपकी कोई-कोई उक्ति सरल, सरस और मर्मस्पर्शी है। हमारा विश्वास है कि उपाध्याय-जी की अन्य पुस्तकों के समान ही इन दोनों पुस्तकों का भी हिंदी-संसार में आदर होगा।

'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' के विषय में दो-एक बातें ऐसी भी हैं, जो हमारी राय में उपाध्यायजी की कविता के गौरव के अनुरूप नहीं हैं। निस्संकोच होकर उनका भी उल्लेख कर देना हम आवश्यक समझते हैं। इसमें संदेह नहीं कि महावरों के प्रयोग द्वारा कविता-गत भाव बड़ी ही सुंदरता के साथ विकसित हो पाता है। पर यह तभी तक होता है, जब तक महा-वरा भाव का सहायक-मात्र रहता है, स्वयं उसके स्थान पर अधिकार करने का उद्योग नहीं करता। काव्य में ज्यों ही महावरे को भाव से अधिक महत्त्व दिया गया, त्यों ही भाव बेचारा छिप जाता है, या यों कहिए कि वह महावरे के भार से कुचल जाता है। ऐसी दशा उपस्थित होने पर कविता कविता नहीं रह जाती, वह केवल 'पद्य-बद्ध महावरा' हो जाती है। उपर्युक्त 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में ऐसे अनेक स्थल आए हैं, जहाँ महावरों ने बेचारे भावों को पीछे ढकेल दिया है, और स्वयं वे उनकी जगह पर जा विराजे हैं।

वसंत-वर्णन अथवा ऐसे ही बहुत-से विषय हैं, जिन पर पुराने कवियों ने बहुत कुछ कह डाला है। इन विषयों पर, हमारी राय में, आधुनिक कवियों को तभी लेखनी उठानी चाहिए, जब उन्हें कोई नई बात कहने को सूझे। यों ही पुराने भावों की बार-बार पुनरावृत्ति करने से कुछ भी लाभ नहीं। हम अपनी उल्लिखित सम्मति के सबूत में यहाँ पर 'चोखे चौपदे' ग्रंथ से 'वसंत-बहार'-शीर्षक के नीचे के तीन चौपदे उद्धृत करते हैं—

"आ बसंत बना रहा है और मन,
बौर आमों को अनूठा मिल गया।



पनिहारिन

[चित्रकार—श्रीयुत ललितमोहन सेन]

गति गँभीर, चित चीकनो, जोबन-ओप अनूप ;
सजल कलस-जुत देखिए पनिहारिनि को रूप ।

N. K. Press, Lucknow.

फूल उठते हैं सुने कोयल-कुहू,
फूल खिलते देखकर दिल खिल गया।
आम बौरे, कूकने कोयल लगी,
ले महँक सुंदर पवन प्यारी चली।
फूल कितनी बेलियों में खिल उठे,
खिल उठा मन, खिल उठी दिल की कली।
भर उमंगों में भँवर हैं गूँजते,
कोयलों का चाव दोगूना हुआ।
चाँदनी की, चंद की चोखी चमक,
देख किसका चित न चौगुना हुआ।"

इन तीनों ही चौपदों में वसंत-संबंधी कोई भी नया भाव नहीं है। कवि महोदय ने महावरों के दबाव में पड़कर, या किसी अन्य कारण से, तीनों ही चौपदों में एक-सी ही बातों को बार-बार दुहराया है। कोई पाठक एक-मात्र भाव-सौंदर्य देखने के लिये यदि इन चौपदों को पढ़े, तो उसे हताश होना पड़ेगा।

ऊपर उपाध्यायजी ने 'पवन'-शब्द को स्त्रीलिंग माना है। पर हिंदी के अन्य प्राचीन तथा नवीन लेखकों ने तो पुल्लिंग रूप में ही उसका व्यवहार किया है। मतिरामजी कहते हैं—

"मलय-पवन मंद-मंद कै गवन लाग्यो,
फूलनि के बृंदनि ते मकरंद ढारने।"

व्याकरण और महावरे का बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है। महावरा-प्रधान ग्रंथ में तो उपाध्यायजी को व्याकरण के प्रचलित नियमों का भी भली भाँति सत्कार करना चाहिए। हमें 'चौगूना', 'दोगूना' तथा 'कचट'-जैसे शब्द न तो 'चोखे' ही समझ पड़ते हैं, और न 'फुमते' हुए ही।

पर जिन दो-एक बातों के लिये हमने ऊपर उपाध्यायजी को उपालंभ दिया है, उनसे इन दोनों ही पठनीय पुस्तकों की उपादेयता नहीं कम होती। हाँ, यदि कवि महोदय उन पर भी ध्यान देते, तो और भी अच्छा होता। दोनों ही पुस्तकों के आदि में उपाध्यायजी का सुंदर और अप-टू-डेट चित्र भी है।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

पद्य-पयोनिधि—लेखक, श्रीविद्याभूषण "विभु"। प्रकाशक, कला-कार्यालय, प्रयाग। आकार २०×३० सोलह-पेजी, पृष्ठ-संख्या ९०, और मूल्य ।।/) है। काग़ज़ एंटिक। छपाई-सफ़ाई साधारण।

पुस्तक हमें "सम्मत्यार्थ" प्राप्त हुई है। विषय काव्य है। ५ तरंगें हैं, भक्ति, नैसर्गिक, राष्ट्रीय, ऐतिहासिक और स्फुट। इनमें क्रमशः १, १५, १, ४ और १७ कविताएँ हैं। भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया गया है। कोई-कोई कविता निस्संदेह बढ़िया बनी है। शब्द-विन्यास का सौंदर्य प्रायः सर्वत्र अक्षुण्ण है।

कुछ प्रयोग चिंत्य हैं। यथा—"प्रकाश पावे इव अंशुमाली", "दातार", "जाज्ज्वल्य", "गाते तरंगान्विता कूल हैं", "निर्धनी", "भी—कंटकाकीर्ण कांतार है", "केकी", "मलीन" इत्यादि।

कठिन शब्द यथा—"पयोधार", "कासार" "कस्तूरिका-एण", "तोय", शर्वरी", "अरुणशिखा" इत्यादि। इनका अर्थ भी फुटनोट में लिख देना चाहिए था।

मतलब यह कि पुस्तक उपयोगिता और साहित्य की भी दृष्टि से अच्छी है। आशा है, विभुजी की रचनाएँ उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती रहेंगी।

पुस्तक के साथ ही एक समालोचनासार छपा हुआ आया है। उसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध लोगों के प्रशंसात्मक कुछ शब्द छपे हैं। आजकल यह चलन-सा हो गया है। पर मेरी राय में यह चलन ठीक नहीं। इससे समालोचक बड़े असमंजस में पड़ जाता है। उसे पहले ही एक राय बना लेने को बाध्य होना पड़ता है। वह उन बातों को भी लिखते सकुचता है, जो उसकी दृष्टि में दोष हैं। अतः सच्ची समालोचना नहीं कर सकता।

"निरपेक्ष"

× × ×

२. आलोचनात्मक

साहित्यालोचन—लेखक, बाबू श्यामसुंदरदासजी बी० ए०। प्रकाशक, बाबू रामचंद्र वर्मा, साहित्य-रत्न-माला-कार्यालय, काशी। पृष्ठ-संख्या ४००। साधारण संस्करण का मूल्य २/); बढ़िया संस्करण का ३/); छपाई, सफ़ाई तथा काग़ज़ उत्तम। प्रकाशक से प्राप्य।

'साहित्यालोचन' पुस्तक के लेखक बाबू श्यामसुंदरदास आधुनिक हिंदी के मूर्तिमान् इतिहास कहे जा सकते हैं। कोई विरला ही हिंदी-प्रेमी होगा, जो काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा को न जानता हो, और इस

संबंध से उसने श्यामसुंदरदासजी का शुभ नाम न सुन रक्खा हो। हम तो समझते हैं कि बाबू श्यामसुंदरदास ही काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा हैं, और उक्त सभा ही बाबू श्यामसुंदरदास। 'साहित्यालोचन' उन्हीं बाबू साहब की रचना है। इसमें 'साहित्य के अंगों और उपांगों का विवेचन और निरूपण' है। पुस्तक दस अध्यायों में विभक्त है, जिनमें क्रम से कला, काव्य, साहित्य, कविता, गद्य-काव्य, दृश्य काव्य, रस, शैली तथा साहित्यालोचना का विवेचन अथवा वर्णन है। पुस्तक के प्रथम चार अध्याय छपने के पूर्व हिंदी के धुरंधर विद्वान् पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने भी देख लिए थे, और लेखक का कहना है कि उनके उचित परामर्शों से लाभान्वित होकर चारों ही अध्यायों में संशोधन भी किया गया है। 'साहित्यालोचन' में प्राच्य और पाश्चात्य, दोनों ही प्रकार की 'साहित्यालोचना' का समावेश है। जहाँ रसगंगाधर, दशरूपक, काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण की सहायता ली गई है, वहाँ अँगरेज़ी के Rhetoric, Judgment in literature Dramas and Dramatic Dances आदि पुस्तकों का आश्रय भी नहीं छोड़ा गया है। इतना ही नहीं, अँगरेज़ी की समालोचनाओं को इस पुस्तक में कुछ अधिक स्थान दिया गया है, और वह वाजिब भी है। संस्कृत में जो साहित्य-विवेचनाएँ हैं, वे हिंदी-टीकाओं के कारण एक परिश्रमशील हिंदी-पाठक को सरलता-पूर्वक पढ़ने को मिल सकती हैं। पर अँगरेज़ी में ऐसे विषयों पर जो गंभीर आलोचनाएँ हैं, वे अँगरेज़ी-भाषा के पूर्ण विद्वानों को ही सुलभ हैं। इसलिये 'साहित्यालोचन' में उनका अपेक्षाकृत अधिक स्थान पाना उचित ही हुआ है। हिंदी में यह पुस्तक अपने ढंग की बिलकुल निराली है। इसकी लेखन-शैली प्रौढ़, सुंदर तथा गंभीर है। प्रतिपाद्य विषय विशेष अध्ययन और मनन की अपेक्षा करता है, तथा स्थायित्व-गुण-संपन्न है। भूमिका में, इस पुस्तक के विषय में, बाबू साहब ने स्वयं लिखा है— "मुझे तो केवल इसी बात से संतोष हो जायगा, यदि यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम देकर अन्य विद्वानों को इस विषय के उत्तमोत्तम ग्रंथों के लिखने के लिये उत्साहित कर सके"—इत्यादि। कई विद्वान् समालोचकों ने इस पुस्तक में अनेकानेक दोष दिखलाए हैं। एक सज्जन ने तो इस पुस्तक को बिलकुल रद्दी बतलाया है। इन समालोचकों, विशेष करके रद्दी बतलानेवाले सज्जन, से हमारी प्रार्थना है कि वह या तो स्वयं इस विषय की कोई अच्छी पुस्तक लिख दें, अथवा अन्य किसी विद्वान् से लिखवा दें। जब तक वह ऐसा नहीं करते, तब तक, ऐसी और कोई पुस्तक न होने के कारण, इस विषय के प्रेमी पाठक यदि इसी 'रद्दी' पुस्तक को काम में लावें, तो अपराध किसका है? हमारी राय में 'साहित्यालोचन' उच्च कोटि का साहित्यिक ग्रंथ है, और बाबू श्यामसुंदरदास-जैसे विद्वान् की लेखनी के सर्वथा उपयुक्त है। यह ग्रंथ एक गंभीर विषय पर लिखा गया है, इसलिये इसका अधिक प्रचार तो कदाचित् न होगा, परंतु इससे इसकी उत्तमता और उपयोगिता में हमें कुछ भी संदेह नहीं हो सकता। इस ग्रंथ में कई स्थल ऐसे भी हैं, जहाँ पर हमारा और लेखक महोदय का मत नहीं मिलता। पर उनकी संख्या बहुत थोड़ी है। विवादास्पद होने से यहाँ पर उनका उल्लेख नहीं किया जाता। अंत में यही कहना है कि 'साहित्यालोचन'-जैसे ग्रंथों के प्रकाशन से हमें हिंदी-साहित्य की भावी उन्नति का पूरा पता चलता है। हमारा विश्वास है कि उसका निकट भविष्य बहुत उज्ज्वल है।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

३. साहित्य

प्राचीन साहित्य—लेखक, श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर। अनुवादकर्ता, पं० रामदहिन मिश्र काव्यतीर्थ। प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग़, गिरगाँव, बंबई। आकार डबलक्राउन सोलहपेजी। पृष्ठ-संख्या १०८ और मूल्य ॥-) है। काग़ज़ ऐंटिक। छपाई-सफ़ाई अच्छी।

इसमें रवि बाबू के रामायण, धम्मपद, कुमारसंभव और शकुंतला, मेघदूत, कादंबरी-चित्र और काव्य की उपेक्षिता नाम के ७ प्राचीन साहित्य-संबंधी सुंदर आलोचनात्मक निबंधों का हिंदी-अनुवाद है। ग्रंथकर्ता ने अपनी तीक्ष्ण प्रतिभा के बल उक्त ग्रंथों के अंतरतम में प्रवेश कर जो अनोखी खूबियाँ खोज निकाली हैं, वे देखने और पढ़ने ही योग्य हैं। थोड़े में बहुत कह डालना तो रवि बाबू का ख़ास गुण है। हमें आशा है, हिंदी

में रवि बाबू के इस अमूल्य ग्रंथ का यथेष्ट आदर होगा। अनुवाद भी अच्छा ही हुआ है।

"निरपेक्ष"

× × ×

संस्कृत-साहित्य का इतिहास—लेखक और प्रकाशक, श्रीयुत महेशचंद्रप्रसाद बी० ए०। मूल्य २) है। मिलने का पता—एम्० एन्० बर्मन ऐंड कंपनी, मुरादपुर, पटना।

संस्कृत-साहित्य का शृंखला-बद्ध इतिहास प्रायः पाश्चात्य पंडितों का लिखा ही मिलता है। भारतीय विद्वानों ने अब तक इस ओर अपना लक्ष्य नहीं दिया है। जिन भारतीय पंडितों ने इस संबंध में क़लम उठाई भी है, उनके ग्रंथों में, अत्यंत महत्त्व-पूर्ण विवेचन होने पर भी, प्रायः एकदेशीयता पाई जाती है। हिंदी-भाषा में तो अब तक इस प्रकार के ग्रंथ का सर्वथा अभाव ही था। श्रीयुत महेशचंद्रप्रसादजी ने इस कमी को पूरा करने के लिये जो परिश्रम किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ में अनेक पाश्चात्य तथा भारतीय इतिहास-लेखकों के आधार पर वैदिक काल से लेकर वर्तमान काल तक का शृंखला-बद्ध इतिहास लिखा गया है। इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ अधिकतर संकलन-मात्र है; पर इस प्रकार के महत्कार्य में संकलन-कर्ता का श्रम भी सराहनीय है। मौलिकता की मात्रा भी इसमें कम नहीं है। प्रारंभ ही में 'भारतवर्ष की महिमा'-शीर्षक अध्याय अत्यंत महत्त्व-पूर्ण है। इसमें, वैदेशिक विद्वानों के द्वारा भी मुक्तकंठ से स्वीकृत, भारतवर्ष की महत्ता का हृदयग्राही वर्णन है। 'हिंदुओं की प्राचीन सभ्यता'-शीर्षक अध्याय भी मनोरम है। पुस्तक के अंत में भारतीय ज्योतिष तथा वैद्यक-शास्त्रों के गौरव का भी युक्ति-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। पुस्तक सर्वथा उपादेय है। प्रत्येक पुस्तकालय में इसका रहना आवश्यक है। पर छपाई और काग़ज़, दोनों रद्दी हैं। आशा है, द्वितीय संस्करण में यह त्रुटि दूर हो सकेगी। पुस्तक में छापे की अशुद्धियाँ भी बहुत हैं। अगले संस्करण में इनके दूर करने का भी ध्यान रखना चाहिए।

आद्यादत्त

× × ×

४. वैद्यक

महामारी—लेखक, वैद्यराज श्रीयुत घनानंदजी पंत विद्यार्णव, चौक, मुरादाबाद। वहीं से प्राप्य। मूल्य ।)

इसमें प्लेग का नवीन (पाश्चात्य) और प्राचीन (आयुर्वैदिक) ढंगों से सविस्तर वर्णन है। रोग की उत्पत्ति, प्रसार, निदान, परीक्षा और उससे बचने के उपायों का अच्छा विवेचन है। अंत में पंगु ज्वर (डेंगू ज्वर) का भी वर्णन है। पुस्तक संस्कृत के गद्य-पद्य में है। संस्कृतज्ञों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

× × ×

रस-परिज्ञान—लेखक, आयुर्वेदपंचानन पं० जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल वैद्य, भिषङ्मणि। प्रकाशक, मैनेजर, सुधानिधि, दारागंज, प्रयाग। छपाई-सफ़ाई, काग़ज़ साधारण। टाइटिल सुंदर। आकार २०×२६। पृ०-सं० १०५, और मूल्य ॥॰)

श्रीयुत जगन्नाथप्रसादजी शुक्ल आजकल के वैद्य-समाज में सुप्रसिद्ध और लब्धप्रतिष्ठ सज्जन हैं। हमें याद पड़ता है कि आप ही हरदोई के वैद्य-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। 'सुधानिधि' (वैद्यक-पत्र) का संपादन भी शायद आप ही करते हैं। आयुर्वेद-संबंधी अनेक छोटे-बड़े कामों में आपका हाथ रहा करता है। प्रकृत पुस्तक को आपने प्रयाग के महिला-विद्यापीठ की विदुषी-परीक्षा के लिये विशेषतः तैयार किया है। इसमें "पदार्थों की उत्पत्ति से लेकर रसों की उत्पत्ति, भेद-कल्पना, पहचान, गुण-अवगुण, कार्यशक्ति आदि ३९ विषय सन्निवेशित हैं"। इसकी रचना चरक के 'आत्रेय भद्रकाप्यीय'-नामक सूत्र-स्थानीय प्रकरण के आधार पर हुई है। शुक्लजी ने वाग्भट आदि अन्य ग्रंथों की भी उपयुक्त सहायता, यथेष्ट और उचित ढंग से, स्वीकार की है। पुस्तक का उद्देश्य बहुत अच्छा है। विस्तार भी कम नहीं है। आयुर्वेद के विरोधी डॉक्टरों को ख़ासी फटकार भी है। लेखक का कथन है कि यह पुस्तक उन्होंने एक ही महीने में—सो भी अवकाशाभाव में—लिखी है। पुस्तक के स्थान-स्थान से इस बात की सत्यता प्रकट होती है।

हमारी सम्मति में, शुक्लजी को फिर से एक बार, अच्छी तरह विचारकर, इसका संशोधन करना चाहिए। जो पुस्तक किसी पाठ्य-क्रम में निश्चित हो, उसका ख़ूब विचार-पूर्वक लिखा जाना उचित है। इस पुस्तक का

प्रथम ही वाक्य है "रस्यते आस्वाद्यते इति रसः—किसी पदार्थ का स्वाद इसके द्वारा जाना जाता है इसलिये इसे रस कहते हैं।" यह अनुवाद अशुद्ध है। संस्कृत का वाक्य कर्म-प्रत्ययांत है, परंतु हिंदी में उसका करण-प्रधान अर्थ किया गया है। पदार्थ के स्वाद को ही रस कहते हैं। स्वाद जिसके द्वारा जाना जाय, उसे रस नहीं कहते। वह रसना (इंद्रिय) हो सकती है। किसी पाठ्य-पुस्तक की 'बिस्मिल्ला ही ग़लत' होना ठीक नहीं है।

पृष्ठ ३ पर लिखा है "पदार्थ...पंचमहाभूतों के समवायिकारण—संयोग—से उत्पन्न होते हैं।" यह भी अशुद्ध है। संयोग किसी का समवायिकारण नहीं हुआ करता। न्याय का नियम है—'समवायिकारणत्वं द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्'।

इसी पृष्ठ की सातवीं पंक्ति में लिखा है—"प्रकृति, महत्, अहंकार (सत्त्व, रज, तम), शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ये अष्ट प्रकृति हैं"। किंतु यदि इन सबको गिना जाय, तो आठ के बजाय ग्यारह होते हैं। यदि 'सत्त्व, रज, तम' को एक ही माना जाय, तो वे 'अहंकार' के आगे—कोष्ठ में—असंबद्ध हुए जाते हैं। 'सत्त्व, रज, तम', ये तीनों प्रकृति के भेद हैं, अहंकार के नहीं। फिर इन आठों को 'प्रकृति' कहना भी असंगत है। इनमें 'सत्त्व, रज, तम' ही प्रकृति हैं। महत् आदि सात 'प्रकृति-विकृति' हैं। सांख्य-शास्त्र का सिद्धांत है—"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।" (सांख्यका०)। आपने आठों को प्रकृति बताया, और इन आठ में प्रथम भेद को भी प्रकृति कहा, तो इन दोनों प्रकृतियों का भेद भी बताना चाहिए था।

इसी के आगे लिखा है—"आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी, ये पंचतन्मात्र तत्त्व हैं।" यह भी दार्शनिक दृष्टि से अशुद्ध है। आठ 'प्रकृति' बताने के बाद फिर अलग तन्मात्राएँ गिनाना भ्रांति-मूलक है। आकाश आदि पाँच तन्मात्रा नहीं, बल्कि स्थूल भूत हैं। सांख्य-शास्त्र में इन्हीं पाँच भूतों और ग्यारह इंद्रियों को 'विकार' कहा गया है—"षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः।"

इसी जगह मन को ज्ञानेंद्रिय बताया है। वस्तुतः मन का संबंध ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय, दोनों से है। हमारी समझ में, इस पुस्तक की भाषा भी परिमार्जनीय है। हम लेखक महाशय का ध्यान भूमिका के तीसरे पृष्ठ की बारहवीं पंक्ति के अंतिम भाग पर दिलाना चाहते हैं। यह पंक्ति ऐसे ढंग से भी लिखी जा सकती थी, जिससे लज्जा-जनक अश्लील अर्थ व्यंजित न होता। स्त्रियों की पाठ्य-पुस्तक में इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए। आशा है, शुक्लजी इसका संशोधन करने का यत्न करेंगे।

× × ×

५. धर्म और नीति

जीवन का सद्व्यय (Economy of Human Life नाम की अँगरेज़ी-पुस्तक का अनुवाद)—अनुवादक, श्रीयुत हरिभाऊ उपाध्याय। प्रकाशक, नवजीवन-प्रकाशन-मंदिर, अहमदाबाद। मूल्य ॥।)

प्रसिद्ध देशभक्त श्रीयुत जमनालालजी बजाज को यह अनुवाद समर्पित हुआ है। 'अनुवादक के दो शब्द' में मूल-पुस्तक के लेखक का पता लगाने का प्रयास किया गया है। जिस पुस्तक का यह अनुवाद है, उसके मुख-पृष्ठ पर लिखा है—"Written by an ancient Brahman." यह अँगरेज़ी-पुस्तक सन् १७५१ ई० में पहले-पहल प्रकाशित हुई थी। अँगरेज़ी-लेखक का कथन है कि यह अनुवाद चीनी-भाषा से किया गया था। अँगरेज़ी-पुस्तक में यह भी लिखा है कि चीनी-भाषा में इस पुस्तक की प्रति एक प्रसिद्ध मंदिर में प्राप्त हुई थी। बरसों तक लामा लोग इसका अर्थ न समझ पाए थे। अँगरेज़ी-पुस्तक से यह भी मालूम होता है कि अँगरेज़ी अनुवादक ने उस अनुवाद को अपने स्वामी अर्ल ऑफ़ चेस्टरफ़ील्ड को तोहफ़े के रूप में भेंट किया था। भूमिका में ग्रंथ-स्थित विषय-विवेचन के आधार पर ही यह प्रतिपादित किया गया है कि पुस्तक के मूल-लेखक लॉर्ड चेस्टरफ़ील्ड ही हो सकते हैं। तब, विशेष प्रामाणिक बनाने के लिये, उसे चीनी-भाषा से अनूदित सिद्ध करने की कष्ट-कल्पना क्यों की गई, इसका कोई समाधान नहीं है। अस्तु। हमें आम खाने से काम है, गुठलियाँ गिनने से नहीं।

पुस्तक के प्रारंभ ही में पहला शीर्षक है 'विचार', और उसमें भी पहला वाक्य है '—हे मनुष्य, आत्म-चिंतन कर। और यह तो सोच कि मेरे जीवन धारण करने का उद्देश क्या है ?"

आत्मचिंतन के बाद है विनय। ततःपर दूरदर्शिता

धैर्य, संतोष और संयम का सम्यक् विवेचन किया गया है। पति और पत्नी, पिता और पुत्र, बंधु और बांधव आदि के कर्तव्याकर्तव्य का भी विचार-पूर्ण विवेचन है। पुस्तक सर्वथा शुभ विचार और सत्परामर्शों से ओतप्रोत है। प्रत्येक नवयुवक को इससे लाभ उठाना चाहिए। केवल किसी-किसी स्थल में, पाश्चात्य विचारों के आवेश में, पूर्वीय विचारों का गला अवश्य घोटा गया है। 'रमणी' और 'पति', इन दो अध्यायों में प्रदर्शित विचार आर्य-सिद्धांतों से नहीं मिलते। 'वासना और प्रेम'-शीर्षक अध्याय में भी प्रेम को आधिभौतिक स्थान दिया गया है, जो सर्वथा उच्चाशय का द्योतक नहीं है।

"आत्मा-संबंधी अध्याय तो पश्चिमी अपरिपक्व विचारों से भरा है", यह बात स्वयं अनुवादकर्ता ने भूमिका में स्वीकार की है। आत्मा के संबंध में लिखा है—"यद्यपि वह मेरे पश्चात् भी क़ायम रहेगी, तथापि यह न समझ कि वह तेरे पहले उत्पन्न हुई है; तेरे शरीर की रचना के साथ ही उसकी सृष्टि हुई है, और तेरे शरीर के साथ ही उसका ढाँचा तैयार हुआ है।" इसी प्रकार आगे चलकर मुर्ग़े, कुत्ते और बकरे की आत्मा के संबंध में लिखा है कि "जब ये मरते हैं, इनकी आत्मा पंचत्व को प्राप्त हो जाती है; अकेली तेरी आत्मा ही पीछे बच जाती है।"

ये विचार कहाँ तक निस्सार हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। भारत का चार्वाक-सिद्धांत तो मनुष्य की आत्मा का भी पृथक् अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार तो "यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।" अर्थात् "Eat drink and be merry". यही सर्वथा पुरुषार्थ है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने मनुष्यों की आत्मा को कुत्ते और बकरे की आत्मा से विभिन्न रक्खा है, यह विशेषता है। इस प्रकार, अनेक सद्गुणों के होते हुए भी, कुविचारों की भी इस पुस्तक में कमी नहीं है। ऐसी स्थिति में अनुवादकर्ता महोदय यदि इसका अनुवाद न करके इसके आधार पर ही—अपना विचार-स्वातंत्र्य रखते हुए—एक स्वतंत्र निबंध इसी विषय पर लिखते, तो भारतीय जनता का विशेष उपकार होता।

× × ×

धर्म और जातीयता—मूल-लेखक, श्रीअरविंद घोष। अनुवादकर्ता, पं० देवनारायण द्विवेदी। प्रकाशक, जीतमल लूणिया, संचालक—हिंदी-साहित्य-मंदिर, बनारस। मूल्य ॥।)

स्वनामधन्य, महामना श्रीयुत अरविंद घोष महोदय किस अनूठे ढंग से कठिन-से-कठिन विषय को सरल रीति से समझाने का प्रयत्न करते हैं, यह उन लोगों को अविदित नहीं है, जिन्होंने उनकी पुस्तकों का अवलोकन किया है। पुस्तक में दो खंड हैं। एक 'धर्म', दूसरा 'जातीयता'। अनुवादक महोदय का यह कथन सर्वथा सत्य है कि इस पुस्तक का मनन-पूर्वक अध्ययन करने से धर्म का निर्मल और सच्चा चित्र हृदय में अंकित हो जाता है; साथ ही शांति संचरित होती और बुद्धि में कर्तव्या-कर्तव्य या धर्माधर्म-कर्मों की निर्णायिका शक्ति का आविर्भाव भी होता है।

धर्म का विषय कितना गंभीर है, यह वे ही लोग समझ सकते हैं, जिन्हें इस संबंध में विशेष परिशीलन करने का सुअवसर मिला है। साधारण लोग केवल खान-पान के नियम तथा स्नान-पूजन आदि को ही धर्म का सर्वस्व समझते हैं, यद्यपि ये सब कार्य धर्म के एक अंग के पोषक-मात्र हैं। कर्तव्य कर्म और धर्म, इन दोनों में क्या संबंध है, कौन कर्म कर्तव्य है, कौन हेय, ये विषय बहुत क्लिष्ट हैं, और इनका सरल शब्दों में प्रतिपादन करना साधारण मनुष्य का काम नहीं है। अरविंद बाबू ने इन्हीं अत्यंत दुरूह विषयों को सर्व-साधारण के लिये सुलभ कर दिया है। प्रथम खंड में 'हमारा धर्म'-नामक प्रथम अध्याय है। प्रथम वाक्य जो योगिराज के मुख से निस्सृत हुआ है, वह यह है—"हमारा धर्म सनातनधर्म है।" आगे चलकर आप कहते हैं—"व्यक्तिगत धर्म, जाति-धर्म, वर्णाश्रित धर्म, युग-धर्म इत्यादि अनेक धर्म हैं। अनित्य कहकर वे सब उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं; क्योंकि इन अनित्य परिवर्तनशील धर्मों द्वारा ही सनातनधर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। द्वितीय अध्याय में, गीता में बार-बार व्यवहृत, योग-शब्द की व्याख्या है। वहीं पर योगिराज अपना यह विश्वास प्रकट करते हैं कि भविष्य में, किसी-न-किसी दिन, गीता ही संसार के भावी धर्म का सर्वजन-सम्मत शास्त्र होगी। इसके अनंतर संन्यास और त्याग की आलोचना करते हुए आप कहते हैं—"इस जीर्ण-शीर्ण

तमःपीड़ित, स्वार्थ-सीमा-बद्ध जाति की संतानों में ज्ञानी, शक्तिमान् और उदार आर्य-जाति की पुनः सृष्टि करती होगी।"

प्रायः आजकल के अनेक शिक्षित भारतीय युवक, कुछ पाश्चात्य लोगों का अनुकरण करते हुए, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से डरते हैं, और विवाह-सदृश महत्त्व-पूर्ण संस्कार को बंधन समझकर उससे विरत रहने की चेष्टा करते हैं। उन्हें योगिराज के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए—"युवक-संप्रदाय यह जानता है कि ब्रह्मचर्याश्रम की शिक्षा भी चरित्र-गठन के समय के लिये निर्दिष्ट है, इस आश्रम की परवर्ती अवस्था गृहस्थाश्रम विहित है। जब हम कुल-रक्षा और भावी आर्य-जाति के गठन द्वारा पूर्व पुरुषों के समीप ऋणमुक्त हो जायँगे, जब सत्कर्म और धन-संचय द्वारा समाज का एवं ज्ञान, दया, प्रेम और शक्ति के वितरण से संसार का ऋण चुका देंगे, जब भारत-माता के हितार्थ उदार और महत्-कर्म-संपादन से जग-जननी संतुष्ट हो जायगी, तब वानप्रस्थ और संन्यास का आचरण करना दोष-पूर्ण न होगा। अन्यथा वानप्रस्थ और संन्यास का आचरण करने से धर्मसंकर और अधर्म की ही वृद्धि होगी, और इसका दोषी हमें ही होना पड़ेगा।"

आगे चलकर उपनिषद्, पुराण इत्यादि में प्रतिपाद्य वेद की व्याख्या का उल्लेख है। द्वितीय खंड में जातीयता का विवेचन है, जिसमें सर्व-प्रथम 'नव जन्म'-शीर्षक देकर, भगवद्गीता के आधार पर, पुनर्जन्म का प्रतिपादन बड़ी योग्यता के साथ किया गया है। फिर जातीय उत्थान का विवेचन करते हुए विद्वेष की निंदा की गई है, और परस्पर भ्रातृभाव की स्तुति है। अंत में आप लिखते हैं—"वह दिन कब आवेगा, जब भगवान् फिर अवतार लेकर मनुष्यों के हृदयों में फिर प्रेमानंद का संचार और स्थापन करके इस पृथ्वी को स्वर्ग-भूमि बनावेंगे ?"

पुस्तक की समाप्ति 'भारतीय चित्र-कला' की प्रशंसा में होती है। पुस्तक अत्यंत उपदेश-पूर्ण है। आशा है, हमारे भारतीय छात्रगण इसे पढ़कर, इसके आदेशानुसार आचरण करके, अपनी आत्मा की उन्नति में सहायक होंगे। अनुवाद भी अच्छा हुआ है। किसी-किसी स्थान पर भाव व्यक्त करने में कुछ कठिनता अवश्य हुई है, पर उसका कारण विषय की गंभीरता है। इस प्रकार की महत्त्व-पूर्ण पुस्तक प्रकाशित करने का हिंदी-साहित्य-मंदिर का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

आनंदप्र

× × ×

६. सामाजिक

विधवा-विवाह-मीमांसा—लेखक, श्रीयुत गं... प्रसादजी उपाध्याय एम्० ए०। प्रकाशक, 'चाँद'-कार्यालय, इलाहाबाद। पृष्ठ-संख्या २७२। मूल्य २)

सामाजिक कमियों को दूर करने के लिये ऐसी पुस्तकें की बड़ी आवश्यकता है, जिनके द्वारा उन कमियों का सजीव वर्णन जनता के सामने उपस्थित किया जाय। क़ानूनों से भी वह प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो सीधी-सादी भाषा में किए गए उनके वर्णन से पड़ सकता है। यह पुस्तक इसी उद्देश्य से लिखी गई है। हिंदू-समाज विधवाओं पर जो अत्याचार कर रहा है, उन्हें दिखलाकर लेखक ने वेदों और स्मृतियों से भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि विधवा-विवाह का प्रचार आवश्यक है, और वह कोई नई चीज़ नहीं है। विधवा-विवाह के विपक्ष के तर्कों का उत्तर भी दिया गया है। कितनी ही प्रामाणिक सत्य घटनाओं तथा प्रतिष्ठित पुरुषों की सम्मतियाँ देने से पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है। 'चाँद' से उद्धृत कविताओं में से कई अच्छी हैं। पुस्तक में कई चित्र हैं। छपाई-सफ़ाई अच्छी है।

× × ×

विधवोद्वाह-मीमांसा—लेखक और प्रकाशक, पं० बदरीदत्त जोशी, वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद। पृष्ठ-संख्या २५६। मूल्य १।)

विषय वही है, जो विधवा-विवाह-मीमांसा का। पर इस पुस्तक के लेखक महाशय ने विधवा-विवाह को शास्त्र-सम्मत सिद्ध करने के उद्देश्य से एक बड़ा, विस्तृत और विद्वत्ता-पूर्ण अध्याय लिखा है। विधवा-विवाह के पक्ष में विक्रम की १४वीं शताब्दी से लेकर आधुनिक विद्वानों तक की सम्मतियों का अच्छा संग्रह है। पुस्तक के पढ़ने से पाठकों को बहुत-सी नई बातों का ज्ञान हो सकता है। ऐसी उपयोगी पुस्तक की भाषा अगर कुछ अधिक सरल और सुबोध रक्खी जाती, तो लोग अधिक संख्या में उस से लाभ उठा सकते।

नवलविहारी मिश्र

× ×

समाज—लेखक, श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर । अनुवादकर्ता, श्रीचंद्रनाथ वर्मा एम्० ए०, काव्यतीर्थ । प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग़, पोस्ट गिरगाँव, बंबई । आकार डबलक्राउन सोलहपेजी । पृष्ठ-संख्या १५०; मूल्य सादी प्रति का ।।।=) तथा जिल्दवाली का १।=) है । काग़ज़ बढ़िया । छपाई-सफ़ाई सुंदर ।

रवि बाबू ने बँगला-पत्रों में समय-समय पर जो ६ सामाजिक निबंध लिखे थे, वे ही समाज के नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए । उन्हीं का यह हिंदी-अनुवाद है । रवि बाबू की रचना की प्रशंसा करना अनावश्यक है । उनकी सभी रचनाएँ एक ख़ास चीज़ समझी जाती हैं । वही विशेषता इस संग्रह में भी है । आपके सामाजिक विचारों से सहमत शायद बहुत लोग न हों, तथापि ये निबंध ऐसी योग्यता से लिखे गए हैं कि प्रत्येक समाज-सेवक को इनका अध्ययन और मनन करना चाहिए । इनके अध्ययन से कुछ-न-कुछ लाभ ही होगा, ज्ञान ही बढ़ेगा । "प्राच्य और प्रतीच्य"-निबंध ऐसा है कि पढ़नेवाले की आँखें खुल जाती हैं । यह अनुवाद प्रकाशित कर ग्रंथ-रत्नाकर के संचालकों ने हिंदी-पाठकों का बड़ा उपकार किया है, इसमें संदेह नहीं ।

"निरपेक्ष"

× × ×

७. चित्रावली

सती-चित्रावली—प्रकाशक, श्रीआशुतोष धर, आशुतोष-लाइब्रेरी, नं० ३०।१ कॉलेज-स्ट्रीट, कलकत्ता । चित्र-संख्या ३१ है । मूल्य २।।।) ; सुंदर, सचित्र, जिल्द बँधी हुई । प्रकाशक से प्राप्य ।

हिंदी-साहित्य में अभी चित्र-पुस्तकें बहुत कम निकली हैं । हर्ष की बात है कि इस कमी को पूरा करने का भी उद्योग शुरू हो गया है । प्रस्तुत पुस्तक में इतिहास और पुराणों में प्रसिद्ध पाँच रमणी-रत्नों के चरित्र, ३१ चित्रों में, चित्रित किए गए हैं । इन ३१ चित्रों में २८ तो कई रंगों में बने हैं, तथा ३ इकरंगे हैं । चित्रावली में जिन रमणियों के चरित्र दिए गए हैं, उन्होंने हिंदू-समाज द्वारा समादृत सतीत्व के आदर्श का भली भाँति पालन किया है । आवश्यक कथा-भाग छपे हुए ६० पृष्ठों में, सुंदर और सुस्पष्ट भाषा में, दे दिया गया है । चित्रों के विषय में हमें यही कहना है कि कला की दृष्टि से उनके विशेष मूल्यवान् न होने पर भी साधारण दर्शक के लिये उनमें नेत्ररंजकता की पर्याप्त सामग्री है । हिंदुओं के घर की बहू-बेटियों के हाथों में यह चित्रावली निस्संकोच दी जा सकती है, और उससे लाभ की भी संभावना है । पाठशालाओं में—विशेषकर कन्या-पाठशालाओं में—बालक और बालिकाएँ इस चित्र-पुस्तक को उपहार-स्वरूप पाकर परम प्रसन्न होंगी । हम आशा करते हैं, जब चित्रावली का दूसरा संस्करण होगा, तब उसमें चित्रों के कला-संबंधी औचित्यों पर भी ध्यान दिया जायगा ।

× × ×

चित्रावली—प्रकाशक, इंडियन-प्रेस, प्रयाग । चित्र-संख्या १४, तथा चित्रावली के अंत में, ७ पृष्ठों में, चित्र-परिचय । पुस्तक पर मूल्य नहीं लिखा है । प्रकाशक से प्राप्य ।

इंडियन-प्रेस ने इस चित्रावली को निकालकर हिंदी-प्रेमियों का अनुराग अच्छी चित्र-पुस्तकों की ओर आकर्षित किया है । यह बड़े ही आनंद की बात है । समालोच्य पुस्तक चित्रावली की दूसरी संख्या है । इसमें (१) उमर ख़ैयाम, (२) सुप्रभात, (३) शेष अवलंबन, (४) विरही यक्ष, (५) विरहिणी, (६) मंदिर में, (७) मृत्यु के मुख से, (८) प्राणघातक माला, (९) कमल-कुमारी, (१०) अनंत प्रेम, (११) कैकेयी और मंथरा, (१२) शिव-परिवार, (१३) वाल्मीकि और क्रौंच, तथा (१४) जल-विहार, ये १४ चित्र हैं । सभी चित्र इंडियन-प्रेस द्वारा पहले भी प्रकाशित हो चुके हैं । अब चित्रावली के रूप में इनका प्रकाशित होना और भी अभिनंदनीय है । पुस्तक के अंत में चित्र-परिचय होने से चित्रावली की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है । इसके सभी चित्र बहुत स्वच्छ, स्पष्ट और सुंदर रूप में प्रकाशित हुए हैं । इस संबंध में इंडियन-प्रेस की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है । सभी चित्र कई रंगों में हैं; इकरंगा एक भी नहीं है । कला की दृष्टि से भी चित्र महत्त्व-पूर्ण हैं; यों तो अच्छे-से-अच्छे चित्र में भी कोई-न-कोई कला-संबंधी अनौचित्य स्थापित किया जा सकता है । अच्छा होता, यदि चित्र-परिचय में सभी चित्रों के चित्रकारों के नाम दे दिए गए होते ? यह चित्रावली इष्ट-मित्रों तथा छात्रों को उपहार देने के योग्य है । प्रत्येक पुस्तकालय में

इसकी एक प्रति रहनी चाहिए। आशा है, हिंदी-संसार में इस चित्रावली का अच्छा आदर होगा, जिसमें इसकी आगे की संख्याएँ भी शीघ्र-शीघ्र प्रकाशित हो सकें।

कृष्णविहारी मिश्र

× × ×

८. उपन्यास

वनदेवी—लेखक, पं० बालादत्त पांडेय। प्रकाशक, हिंदी-पुस्तकालय, मिर्ज़ापुर। पृष्ठ-संख्या ९१। छपाई-सफ़ाई अच्छी। मूल्य ।॥); प्रकाशक ही से प्राप्य।

यह एक सचित्र उपन्यास है। इसमें एक रंगीन और तीन सादे चित्र भी हैं। यह पुस्तक लेखक के स्वर्गीय अनुज पं० वेदव्रत पांडेय के विचारों के आधार पर लिखी गई और उन्हीं को समर्पित भी हुई है। स्त्री-शिक्षा की आवश्यकता, ज़मींदारों के अत्याचार, किसानों की करुणा-जनक स्थिति, देश-सुधार के उपयुक्त मार्ग इत्यादि का वर्णन इसमें बड़ी ख़ूबी से किया गया है। अच्छा होता, यदि देवीशंकर और विद्यावती (वनदेवी) गृहस्थाश्रम के झंझटों से इतना शीघ्र अलग न कर दिए जाते, कुछ संतान-सुख भी वे देख लेते। यों तो जवानी की उमंग में मनुष्य जो न कर डाले, वही थोड़ा; पर संतान की माया और गृहस्थी के जंजाल में पड़कर भी जो देश-सेवा का व्रत पालन कर सके, वही अधिक स्तुत्य है। लेखक का प्रयास प्रशंसनीय है। नवयुवकों और स्त्रियों को भी इसे पढ़ना चाहिए।

छबूलाल द्विवेदी

× × ×

९. विविध

जंगी जेल का ठोस फाटक—लेखक, हिंदी-हितैषी हनुमान शर्मा, जयपुर। प्रकाशक, खेमराज-श्रीकृष्णदास का वेंकटेश्वर-प्रेस। डाकव्यय भेजने पर लेखक से बिना मूल्य प्राप्य।

पुस्तक अनूठे ढंग की है। इसमें गृहस्थाश्रम को कारागार माना है, और गृहस्थाश्रम के प्रत्येक कार्य को कारागार के कार्यों से मिलाते हुए अंत तक रूपक का निर्वाह किया गया है। पुस्तक यद्यपि नीरस है, तथापि यदि इसे धैर्य-पूर्वक अंत तक पढ़ा जाय, तो उपदेश अवश्य मिलता है। टिप्पणी-रूप में दुरूह विषयों को समझाने की चेष्टा भी की गई है।

× × ×

क्षमा ऋषि—लेखक, पंडित श्रीमान् ललितविजय[...] महाराज। प्रकाशक, श्रीआत्मतिलक-ग्रंथ-सोसाइटी, [...] सदु भाई तलकचंद, रतनपोल, अहमदाबाद। मूल्य एक [...]

यह पुस्तक क्षमा ऋषि-नामक एक जैन-साधु [...] जीवन-चरित है। साधु लोगों के जीवन से मनुष्यों [...] अनेक प्रकार की शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। प्रस्तुत पु[...] भी उपदेश-पूर्ण है, इसमें संदेह नहीं।

× × ×

सर्वतंत्रसिद्धांतपदार्थलक्षणसंग्रह—संग्राहक, [...] गौरीशंकरजी। प्रकाशिका, देवी मनभरी, ग्राम पुट्ठी, [...] जमातपुर, ज़िला हिसार। मूल्य ।॥=) है। परंतु [...] लोग कामिनी-कांचन-रहित हैं, उन्हें बिना मूल्य—[...] पत्र भेजने से—प्राप्त हो सकती है।

यह ग्रंथ संस्कृत के अनेक प्रकार के 'लक्षणों' का [...] छोटा-सा कोश है। इसमें अकारादि क्रम से लक्षण [...] गए हैं; और संस्कृत के भिन्न-भिन्न ग्रंथों में उनका जो [...] दिया गया है, वह संगृहीत है। पुस्तक संस्कृ[...] लोगों के बड़े काम की है। इस श्रम के लिये [...] गौरीशंकरजी को अनेक साधुवाद।

आशा[...]

× × ×

बिहार और उड़ीसा का अग्रवाल-व्याप[ार-]दर्पण—संपादक और प्रकाशक, बी० पी० अग्रवाल, [...] हारी। पृष्ठ-संख्या २०६। छपाई-सफ़ाई साधारण। [...] १) है। प्रकाशक ही से प्राप्य।

अँगरेज़ी-भाषा में जिस प्रकार थैकर्स और मैक्[...] नेल्ड इत्यादि की डाइरेक्टरियाँ हैं, उसी प्रकार हिं[...] यह अग्रवाल-व्यापार-दर्पण है। हमारे सामने [...] बिहार और उड़ीसा-प्रांत का ही दर्पण है। इसमें [...] प्रांत के सभी ज्ञातव्य विषयों का समावेश है। [...] रियों की सुगमता के लिये वस्तु, स्थान, तथा कार्या[...] और कारख़ानों के नाम अँगरेज़ी में भी दे दिए गए [...] व्यापारियों के लिये तो सचमुच यह एक दर्पण ही [...] प्रकाशक को छपाई की सफ़ाई और शुद्धता पर वि[...] ध्यान देना उचित था। आशा है, अन्य प्रांतों की [...] क्टरियों में ये त्रुटियाँ नहीं रहने पावेंगी। प्रत्येक [...] को इसकी एक प्रति अपने पास रखनी चाहिए।

× × ×

अरविंद-मंदिर में—अँगरेज़ी-भाषा में प्रकाशित योगि-राज अरविंद के विचारों का हिंदी-अनुवाद। प्रकाशक, हिंदी-पुस्तकालय, मिर्ज़ापुर। पृष्ठ-संख्या १०२। छपाई-सफ़ाई अच्छी। मूल्य ।।।)

यौगिक बल की आवश्यकता और राजनीतिक कार्य-कर्ताओं की त्रुटियाँ इत्यादि का इस पुस्तक में अच्छा उल्लेख है। पुस्तक संग्रहणीय है।

छन्नूलाल द्विवेदी

× × ×

१०. पत्र-पत्रिकाएँ

सुप्रभातम्—श्रीसंस्कृत-साहित्य-समाज का मासिक मुख-पत्र। प्रकाशक, श्रीविंध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री। संपादक, श्रीदेवीप्रसाद शुक्ल कवि-चक्रवर्ती। समाज के सदस्यों को बिना मूल्य। मिलने का पता—प्रकाशक, 'सुप्रभातम्'-कार्यालय, सारस्वत-भवन, काशी। समालोच्य आदर्श-अंक की पृष्ठ-संख्या १२। आकार बड़ा। कागज़ और छपाई उत्तम।

इस मासिक पत्र का जन्म हाल ही में हुआ है। यह बड़े ही संतोष और हर्ष की बात है कि पवित्र देववाणी संस्कृत के साहित्य की रक्षा करने तथा उसे वर्तमान-समयानुकूल बनाने की ओर संस्कृत के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। इसी उद्देश्य से संस्कृत-साहित्य-समाज की स्थापना हुई है, और उक्त समाज के सदुद्योग का फल 'सुप्रभातम्' है। इस पत्र के संपादक विश्व-विख्यात महाकवि दुःखभंजनजी के सुयोग्य पुत्र श्रीदेवीप्रसादजी शुक्ल कवि-चक्रवर्ती हैं। आप-सरीखे उद्भट विद्वान् का वरद हस्त जिस पत्र के ऊपर है, उसके सफल होने में हमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इसके लेखकगण प्रायः सभी संस्कृत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वान् हैं। कई तो ऐसे हैं, जो हिंदी-साहित्य-सेवा में भी योग देते हैं। ऐसे सज्जनों में स्वयं संपादकजी, श्रीशालग्राम शास्त्री, श्रीकिशोरीलाल गोस्वामी, श्रीधरजी पाठक तथा साहित्याचार्य श्रीरामावतारजी पांडेय एम्० ए० के नाम विशेष रूप से उल्लेख योग्य हैं। इस अंक में प्रकाशित सभी लेख और कविताएँ उच्च कोटि की हैं। विषय-निर्वाचन बड़ी ही निपुणता के साथ किया गया है। हमारा विश्वास है कि इस पत्र के प्रकाशन से संस्कृत-साहित्य-संसार में जागृति होगी। हम 'सुप्रभातम्' का साहित्य-संसार में स्वागत करते और उसकी हृदय से उन्नति चाहते हैं।

'सुप्रभातम्' के १४वें पृष्ठ पर एक और भी 'शुभ-संवाद' पढ़ने को मिला। अब से हिंदी की 'शारदा'-पत्रिका संस्कृत-साहित्य समाज की हिंदी मुख-पत्रिका होगी। इसका संपादन श्रीमाधवराव शास्त्री करेंगे। यह हर तीसरे महीने निकलेगी, तथा इसमें पुरातत्त्व, इतिहास एवं समालोचना-संबंधी लेखों को ही स्थान मिलेगा। इसका वार्षिक मूल्य २) होगा। पत्रिका का प्रथम अंक ज्येष्ठ-मास में निकलेगा।

× × ×

संस्कृतरत्नाकरः—संस्कृत का मासिक पत्र। मुद्रक और प्रकाशक, श्रीरामप्रसादसिंह, खड्ग-विलास-प्रेस, पटना। संपादक, श्रीचंद्रशेखर शास्त्री। पृष्ठ-संख्या ३१। वार्षिक मूल्य ३); छपाई और कागज़ अच्छा।

यह संस्कृत का पुराना मासिक पत्र है। कोई ११ वर्ष से चल रहा है। इस बीच में इसे कई बार विपत्तियों का सामना करना पड़ा, और स्थानांतरित भी होना पड़ा; पर इसका प्रकाशित होना बंद न हुआ। समालोच्य अंक ११वें वर्ष की द्वितीय संख्या है। इस समय इसका संपादन योग्यता-पूर्वक होता है। प्रस्तुत अंक में ६ निबंध हैं। सभी सुपाठ्य और अच्छे ढंग से लिखे गए हैं। 'रत्नाकर' इस समय 'संस्कृत-सम्मेलन' का मुख-पत्र है। हम पत्र की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

मौज़ी—हिंदी का साप्ताहिक पत्र। संपादक, पं० महा-देवसिंह शर्मा एम्० ए०। प्रकाशक, श्रीएच्० एस्० शर्मा। पृष्ठ-संख्या १६। वार्षिक मूल्य २); मिलने का पता—मौज़ी-कार्यालय, १०५ हरिसन-रोड, कलकत्ता।

इधर हिंदी-साहित्य-संसार में कई परिहास-प्रिय पत्रों का जन्म हुआ है। मौज़ी भी उसी कोटि का है। इसके लेखों और टिप्पणियों में परिहास-चातुरी का अच्छा प्रदर्शन है। प्रथम अंक में एक व्यंग्य-चित्र भी बड़े मज़े का है। परिहास-प्रिय पत्रों द्वारा हिंदी-साहित्य में यथार्थ विनोद की सृष्टि होनी चाहिए; पर खेद है कि अब तक प्रकाशित इस ढंग के कई पत्रों ने विनोद के स्थान में कलह, गाली-गलौज, फूहड़पन, भाँड़पन और अश्लीलता को अपनाकर अपने उद्देश्य को नष्ट कर

दिया है। हमारा विश्वास है कि मौज़ी के स्तंभों में कुरुचिमूलक परिहास को प्रश्रय नहीं मिलेगा। यदि वह ऐसा कर सका, तो हिंदी-साहित्य-संसार में एक बड़े अभाव की पूर्ति करेगा। हम मौज़ी का स्वागत करते और हृदय से उसकी उन्नति चाहते हैं।

× × ×

शारदा—गुजराती-भाषा की एक सचित्र मासिक पत्रिका। संपादक और प्रकाशक, श्रीयुत गोकुलदास-द्वारकादास रायचुरा। पता—शारदा-कार्यालय, राजकोट, सिविल स्टेशन। पृष्ठ-संख्या ४८। वार्षिक मूल्य ६॥); एक प्रति का दाम ॥ है।

हमारे सामने इसका पहला अंक है। सप्तम गुजराती-साहित्य-परिषद् के अवसर पर इसका जन्म हुआ है। सज-धज और छपाई-सफ़ाई में यह पत्रिका किसी भी गुजराती-पत्रिका से कम नहीं है। इसमें १ रंगीन और २२ सादे चित्र भी हैं। इसमें ६ लेख और ५ कविताएँ हैं। प्रथम अंक को देखकर इससे भविष्य में बहुत कुछ आशा की जा सकती है। स्थायी साहित्य और गंभीर विषयों को भी इसमें उचित स्थान मिलेगा, ऐसी आशा की जाती है। अधिक लंबे लेखों को क्रमशः प्रकाशित करने की अपेक्षा छोटे, पर भाव-पूर्ण, लेखों को प्रकाशित करना उचित प्रतीत होता है। हम अपनी सहयोगिनी का सहर्ष स्वागत करते हैं।

× × ×

शांतिनिकेतन-माला—अनुवादक, श्रीवासुदेवगोविंद आपटे बी० ए०। प्रकाशक, नारायण बलवंत चव्हाण, पूना। छोटा साइज़। पृष्ठ-संख्या १६०। छपाई-सफ़ाई साधारण। मूल्य १); प्रकाशक ही से प्राप्य।

यह मराठी-भाषा की एक सचित्र त्रैमासिक पत्रिका है। कवि-सम्राट् रवींद्रनाथ ठाकुर के आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों का मराठी-भाषा में प्रचार करना इसका मुख्य उद्देश्य है। हमारे सामने इसकी तृतीय किरण है। हिंदुस्तान में तो शायद ही ऐसा कोई साहित्य-सेवी होगा, जिसने कवींद्र रवींद्र और उनके शांतिनिकेतन का नाम न सुना हो। कवींद्र के स्वर्गस्थ पिता महर्षि देवेंद्रनाथ ही शांतिनिकेतन के संस्थापक थे। इस अंक में दिया हुआ उनका आदर्श जीवन-चरित्र पढ़ने योग्य है। इसमें दिए हुए रवींद्र बाबू के प्रायः सभी लेख एक-से-एक बढ़कर हैं। जो मराठे सज्जन अन्य किसी भाषा में रवींद्र बाबू की चमत्कार-पूर्ण लेखनी का आनंद नहीं लूट सकते, उनको इसे एक बार अवश्य पढ़ना चाहिए। इसका मूल्य अधिक है।

× × ×

११. प्राप्ति-स्वीकार

एल्० एन्० गोयल ऍंड कंपनी, जयपुर, राजपूताना ने कर्माज़ के, केवल गले के, चाँदी के, ४ बटन हमारे पास भेजे हैं। बटन हलके और सोफ़ियाने हैं। चाँदी खरी है। गले का सेट ॥) में और हाथ का ॥=) में मिलता है। ये स्वदेशी मशीन के बने स्वदेशी बटन सस्ते और सुंदर होने के कारण सबके ख़रीदने लायक हैं; क्योंकि इतने दाम में विदेशी सीप के बटन भी नहीं मिल सकते। कंपनी सोने के भी ऐसे हलके और सुंदर बटन बनानेवाली है। मिलने का पता ऊपर लिखा है। लखनऊ के लोग इस पते पर पा सकते हैं—श्रीयुत एम्० हरिदेवनारायण, मैनेजिंग डाइरेक्टर, अवध होज़री वर्क्स, ३२ लाटूश रोड, लखनऊ।

× × ×

निम्न-लिखित पत्र-पत्रिकाएँ भी मिल गई हैं, भेजनेवालों को धन्यवाद।

शांति—मासिक पत्रिका। पृष्ठ-संख्या ३२। वार्षिक मूल्य २); संपादक, श्री एस्० पी० गुप्ता। मिलने का पता—मैनेजर शांति-प्रेस, सहारनपुर।

नवयुवक मारवाड़ी—साप्ताहिक पत्र। पृष्ठ-संख्या [illegible]। वार्षिक मूल्य १); संपादक, श्रीमोतीलाल लाट। मिलने का पता—श्रीरामकुमार भुवालका, हनुमान्-प्रेस, नं० [illegible] माधवकृष्टो सेट लेन, कलकत्ता।

भारत-गौरव—साप्ताहिक पत्र। पृष्ठ-संख्या [illegible]। वार्षिक मूल्य ३); संपादक, श्रीइंद्रचंद नहटा। मिलने का पता—मैनेजर भारत-गौरव, ७। १ बाबूलाल लेन (नाईटोला), कलकत्ता।

राम—पाक्षिक पत्र (ही (?) ली का विशेषांक)। पृष्ठ-संख्या १०। वार्षिक मूल्य २); संपादक, पं० रामजी शर्मा विशारद। मिलने का पता—मैनेजर [illegible] राममंदिर, आरा।

ब्रह्मचारी—प्रबंधक, ब्रह्मचारी, ऋषिकुल, हरिद्वार। मासिक पत्र। वार्षिक मूल्य २); पृष्ठ-संख्या ३४।

साहुमित्र—साहुमित्र-कार्यालय, बाढ़ (पटना) मासिक पत्र । वार्षिक मूल्य २); पृष्ठ-संख्या २० ।

गोरक्षक—फ़तेहपुरी हवेली हैदरकुली ख़ाँ, सुंदर बिल्डिंग, दिल्ली । साप्ताहिक पत्र । विना मूल्य वितरित । पृष्ठ-संख्या ८ ।

नायीकेशरी—मैनेजर, नायीकेशरी-कार्यालय, कालपी (यू० पी०) । पाक्षिक पत्र । वार्षिक मूल्य २) ; पृष्ठ ८ ।

वीरभूमि—प्रकाशक, निरंजन शर्मा, राम-प्रिंटिंग वर्क्स, दिल्ली । साप्ताहिक पत्रिका । वार्षिक मूल्य ४); पृष्ठ-संख्या १२ ।

रसगुल्ला—मैनेजर, रसगुल्ला, १४, मदनमोहन चटर्जी-लेन, कलकत्ता । साप्ताहिक पत्र । वार्षिक मूल्य २); पृष्ठ-संख्या १२ ।

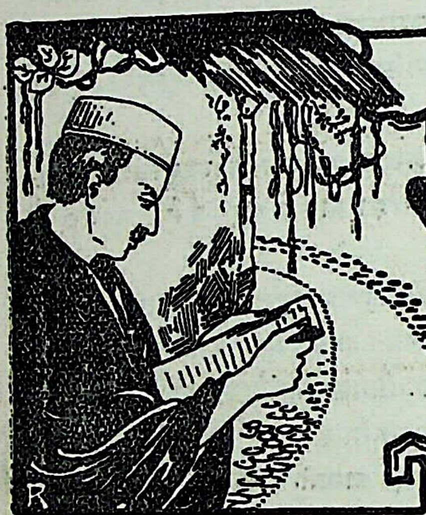
आचार्य—व्यवस्थापक, 'आचार्य', अमरोहा (यू० पी०) । पाक्षिक पत्र । वार्षिक मूल्य ३); पृष्ठ-संख्या ८ ।

खेती-बाड़ी-समाचार—मैनेजर, खेती-बाड़ी-समाचार, इंदोर । मासिक पत्र । वार्षिक मूल्य ३); पृष्ठ-संख्या २४ ।

शिक्षक—प्रकाशक, पं० मुरारीलाल बुकसेलर कृष्णेश्वरी-प्रेस, मुरादाबाद । मासिक पत्र । वार्षिक मूल्य ३) पृष्ठ १४ ।

छन्यार्ती—श्रीलादूराम त्रिपाठी, छन्यार्ती ऑफ़िस, अजमेर । मासिक पत्र । वार्षिक मूल्य २); पृष्ठ-संख्या २४ ।

इनके अतिरिक्त, निगमागमचंद्रिका, आर्य और आर्य-मित्र के विशेषांक भी मिल गए हैं । इन अंकों में पढ़ने की बहुत कुछ अच्छी सामग्री है ।



साहित्य-सूचना

इस कॉलम में हम हिंदी-प्रेमियों के सुबीते के लिये प्रतिमास नई और उत्तम पुस्तकों के नाम देते रहते हैं। गत मास नीचे लिखी पुस्तकें अच्छी प्रकाशित हुईं—

(१) "चित्रशाला", पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक-लिखित। मूल्य १॥), जिल्ददार २)

(२) "रावबहादुर", श्रीलल्लीप्रसाद पांडेय द्वारा अनुवादित। मूल्य ॥), १)

(३) "प्रेम-प्रसून", श्रीप्रेमचंद-लिखित। मूल्य १), १॥)

(४) "दर्शन-परिचय", श्रीरामगोविंद त्रिवेदी-लिखित। मूल्य २), २॥)

(५) "अरविंद-मंदिर में", महात्मा अरविंदघोष-लिखित। मूल्य ।॥)

(६) "चोखे चौपदे", पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय साहित्य-रत्न-प्रणीत। मूल्य १॥)

(७) "जीवन", श्रीयुत ब्रह्मचारी प्रभुदत्त शर्मा-लिखित। मूल्य ॥।-)

(८) "धर्म-विज्ञान", पं० धर्मानंद-कृत अनुवाद। मूल्य १)

(९) "नारी-उपदेश", स्वर्गीय गिरिजाकुमार घोष-लिखित। मूल्य ॥)

(१०) "रमणी-कर्तव्य", "विमल"-लिखित। मूल्य ॥)

(११) "गृहलक्ष्मी", श्रीयुत वासुदेव मिश्र द्वारा अनूदित स्व० गिरीश घोष का एक उत्तम नाटक। मूल्य १॥), २)

(१२) "पतिव्रता मनसा", "विमल"-लिखित। मूल्य ॥)

(१३) "वीर बाला", श्रीयुत राजेश्वरनाथ "प्रेम"-लिखित। मूल्य ॥)

(१४) "सती सीमंतिनी", "विमल"-लिखित। मूल्य ॥।)

(१५) "धर्मयोगी", नाटक। "ज्ञायक"-लिखित। मूल्य ॥।)

(१६) "इंदिरा", पं० जनार्दन झा-कृत अनुवाद। मूल्य ।≈)

(१७) "सम्राट् चंद्रगुप्त", महावीरप्रसादजी गहमरी-कृत अनुवाद। मूल्य १॥), २।)

(१८) "व्यायाम", "एक अज्ञात"-लिखित। मूल्य ।=)



विविध विषय

१. 'देव' और 'मतिराम' के ग्रंथों का प्रकाशन

गंगा-पुस्तकमाला के संचालकगण महाकवि देव और मतिराम के ग्रंथों को अच्छे ढंग से संपादित करा-कर प्रकाशित कराना चाहते हैं । इसके लिये उक्त दोनों महाकवियों के प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रंथों की हस्त-लिखित प्रतियों की आवश्यकता है । जितनी ही अधिक हस्त-लिखित प्रतियाँ एकत्र हो सकेंगी, उतनी ही शुद्ध पाठ ढूँढ़ने में सरलता होगी । हम जानते हैं कि हस्त-लिखित प्रतियाँ बहुमूल्य वस्तु हैं, इसलिये जिन सज्जनों के पास वे होंगी, वे उन्हें खूब सुरक्षित रखते होंगे । परंतु जो सज्जन प्रकाशकों को अपनी हस्त-लिखित प्रतियाँ देने की कृपा करेंगे, उनकी वे प्रतियाँ बड़ी सावधानी के साथ रक्खी जायँगी, और उनकी इच्छा के अनुसार निर्दिष्ट समय के अंदर वापस भी कर दी जायँगी । इसके लिये यदि प्रकाशकों को उचित व्यय करना पड़ेगा, तो उसके लिये भी वे सहर्ष तैयार हैं । जो सज्जन अपनी असल प्रति न देना चाहें, वे यदि उसकी प्रतिलिपि देंगे, तो उसके लिये भी प्रकाशक उनके कृतज्ञ होंगे । प्रकाशक चाहते हैं कि इन महाकवियों की ग्रंथावली के सर्वांग-पूर्ण सुंदर संस्करण निकलें । इसलिये उन्होंने संपादन का विशेष प्रबंध किया है । देव और मतिराम के ग्रंथों को तो वे शीघ्र ही प्रकाशित करनेवाले हैं । परंतु उनका कार्य-क्षेत्र इन्हीं दोनों महाकवियों तक सीमा-बद्ध न होगा । हिंदी के सभी प्रधान और प्राचीन कवियों के ग्रंथों को वे पृथक् एक माला में निकालना चाहते हैं । इसके लिये एक विशाल योजना प्रस्तुत हो रही है, जो शीघ्र प्रकाशित की जायगी । सौभाग्य से इस काम के लिये उपयुक्त संपादकों का सहयोग भी प्राप्त हो गया है । हमारा विश्वास है कि जब प्रकाशकों की एतत्संबंधिनी योजना प्रकाशित होगी, तो हिंदी-संसार उसे बहुत पसंद करेगा । योजना यथासंभव बहुत ही शीघ्र प्रकाशित की जायगी । इधर देव और मतिराम के ग्रंथों का संपादन-कार्य आरंभ होनेवाला है । आज हम प्रकाशकों की ओर से, यह संक्षिप्त नोट लिखकर, अपने उदार प्रेमी पाठकों से सहायता की प्रार्थना करते हैं । जिन सज्जनों के पास हस्त-लिखित प्रतियाँ हों, वे स्वयं देने की कृपा करें । यदि असल न दे सकें, तो उसकी प्रतिलिपि ही दें । इसके अतिरिक्त, हमारे कृपालु पाठक प्रकाशकों के पास उन सज्जनों, संस्थाओं या पुस्तकालयों का पता लिख भेजें, जहाँ से वे प्राप्त हो सकें । जिन सज्जनों को इन कवियों के विषय में कोई अनूठी या उल्लेख योग्य बात मालूम हो, वे भी कृपा कर उसे लिख भेजें । यदि इन दोनों महाकवियों के वंशजों का कहीं पता हो, या उनके चित्र कहीं सुलभ हों, तो इसकी भी तत्काल सूचना दें । देव और मतिराम के छंदों के भावों पर अनेक चित्र तैयार किए गए हैं । प्रकाशक उनका भी संग्रह करना चाहते हैं । सारांश यह कि इन कवियों से संबंध रखनेवाली जो कुछ भी सामग्री प्रकाशकों को प्राप्त हो सकेगी, उसका वे, द्रव्य-व्यय करके भी, संग्रह करने को तैयार हैं । हमें दृढ़ विश्वास है कि कविता-प्रेमी पाठकों से प्रकाशकों को अवश्य सहायता मिलेगी । संपादन के संबंध में भी प्रकाशकों की इच्छा है कि

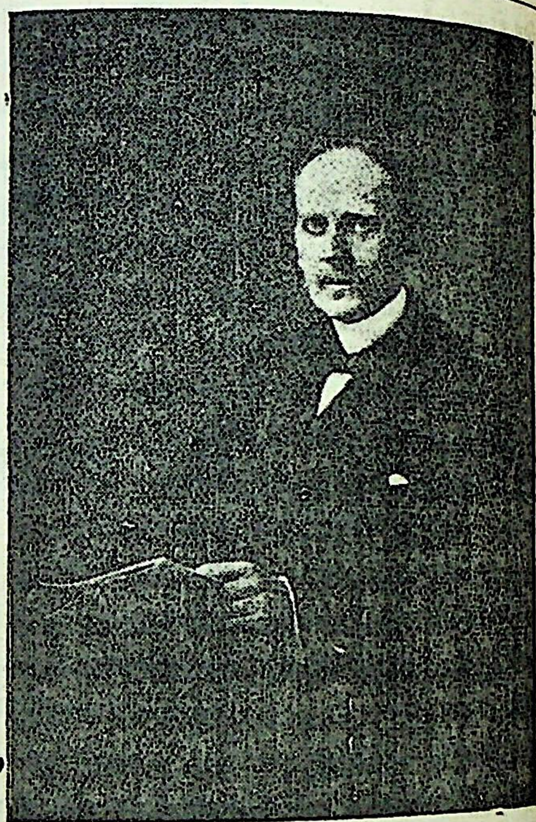
माधुरी के विद्वान् पाठक अपनी सम्मति सूचित करें। मर्मज्ञ कविता-प्रेमियों के पास इस परामर्श के लिये अलग पत्र जायँगे। पर शायद भूल से किसी के पास पत्र न पहुँच सके, इसलिये विद्वानों से प्रकाशकों की प्रार्थना है कि इस सूचना को पढ़ चुकने के बाद वे कृपा करके संपादन के संबंध में अपना सत्परामर्श शीघ्र और अवश्य सूचित कर कृतार्थ करें। इस संबंध में लिखा-पढ़ी करने का पता है—संचालक, गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, प्रकाशन-विभाग, २९-३० अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ।

× × ×

२. मोशिए रोमें रोलाँ

योरप में आजकल फ्रांस के प्रसिद्ध लेखक 'मोशिए रोमें रोलाँ' की धूम है। इनकी रचनाओं को सारा पाश्चात्य संसार बड़े चाव से पढ़ता है। अमेरिका में इनकी ख्याति बहुत अधिक है। कहते हैं, इनकी लेखनी में विचार-क्रांति उत्पन्न करने की शक्ति है। रूस के विश्व-विख्यात काउंट लिओ टॉल्स्टाय को यह अपना गुरु मानते हैं। इनके विचार बहुत उन्नत और उदार भावों से भरे हुए हैं। यह संसार-भर के मानव-समाज का कल्याण चाहते हैं। इनके प्रेम-सहानुभूति के भाव किसी देश-विशेष तक ही परिमित नहीं हैं। यह अपने लेखों द्वारा सदा न्याय्य पक्ष का ही समर्थन करते हैं। हिंसा के घोर विरोधी हैं, और संसार-व्यापी शांति के लिये चाहते हैं कि युद्धों का अस्तित्व ही मिटा दिया जाय। प्रचलित योरपियन सभ्यता की भी अनेक बातें इन्हें पसंद नहीं हैं। प्रेम, सरलता और सत्य इनके जीवन के आदर्श हैं। भारतवर्ष का भी बहुत कुछ हाल इनको मालूम है। स्वनामधन्य कविवर श्रीरवींद्रनाथजी ठाकुर से इनका साक्षात् परिचय हो चुका है। जब कविवर योरप गए थे, तब इनसे मिले थे। दोनों में खूब विचार-विनिमय हुआ, जिसके फल-स्वरूप दोनों में गहरी मैत्री हो गई। अब तो कविवर और मोशिए महाशय के बीच निरंतर पत्र-व्यवहार होता रहता है।

महात्मा गाँधी और मोशिए महोदय का साक्षात् परिचय नहीं है। फिर भी कदाचित् महात्माजी के महत्त्व को मोशिए रोमें रोलाँ से अधिक किसी ने नहीं समझा है। भारत को इस दिव्य आत्मा को समझने का उद्योग



मोशिए रोमें रोलाँ

बहुतों ने किया है; पर रोमें रोलाँ के समान और किसी को सफलता नहीं हुई। इधर मोशिए महोदय ने महात्माजी के संबंध में एक पुस्तक लिखी है। महात्माजी के सिद्धांतों पर इस पुस्तक में जिस खूबी और विद्वत्ता के साथ विचार किया गया है, उसको देखकर दंग रह जाना पड़ता है। योरप और अमेरिका में इस पुस्तक की बदौलत महात्माजी से संबंध रखनेवाले अनेकानेक भ्रमों का मूलोच्छेद हो गया है। आपने अपनी इस पुस्तक में महात्मा गाँधी को महामति टॉल्स्टाय से भी बढ़कर माना है। गाँधीजी पर आपकी श्रद्धा और भक्ति असीम है। प्रसिद्ध लेखक मिस्टर रॉबर्ट पिकेट ने ठीक ही लिखा है—"यह संसार के लिये सौभाग्य की बात है, जो रोमें रोलाँ ने गाँधीजी पर यह पुस्तक लिख डाली। असल बात तो यह है, अपने गोलार्ध (योरप) में उनसे बढ़कर और कोई ऐसा लेखक नहीं है, जो कीर्ति-प्रसारक दृष्टिकोण को बचाकर, महात्माजी के साथ न्याय करता हुआ, आलोचनात्मक रीति से, उनका चरित्र आँकित कर सके।" इस पुस्तक का अँगरेज़ी रूपांतर भी

प्रकाशित हो गया है, और मदरास की गनेसन-कंपनी से मिल सकता है।

मोशिए रोमें रोलाँ-जैसे विचारशील और प्रौढ़ लेखक संसार में बहुत कम पाए जाते हैं। इनके संसार-हित-चिंतन, सार्वभौम प्रेम तथा असीम सहानुभूति की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। क्या ही अच्छा हो, यदि ऐसे उत्कृष्ट लेखक की रचनाओं का परिचय हिंदी-संसार को भी हिंदी-रूप में हो सके? यह कोई कठिन बात नहीं है। यदि थोड़े-से ग्रेजुएट हिंदी-प्रेमी इस काम को अपने हाथ में ले लें, तो इसकी पूर्ति सहज ही में, अति-शीघ्र, हो सकती है।

× × ×

३. उत्तम भाषा

भाषा का सबसे प्रधान गुण या खूबी यह समझी जाती है कि उसमें लेखक या कवि के भाव प्रकट कर सकने की पूर्ण क्षमता हो। जिस भाषा में यह गुण नहीं, वह किसी काम की नहीं। भाव प्रकट करने की पूर्ण क्षमता के बिना भाषा अपना काम ही नहीं कर सकती। दूसरा गुण इससे भी अधिक आवश्यक है। भाषा का संगठन ऐसा होना चाहिए कि लेखक या कवि के अभिप्राय तक पहुँचने में अल्पतम समय लगे। यह न हो कि समर्थ भाषा में जो भाव व्यक्त हैं, उस तक पहुँचने में बेचारा पाठक इधर-उधर भटकता फिरे। भाषा का तीसरा प्रशंसनीय गुण यह है कि मतलब की बात बहुत थोड़े शब्दों में प्रकट हो जाय। इस प्रकार, जो भाषा-भाव प्रकट करने में पूर्ण-तया समर्थ है, पाठक को सीधे मार्ग से उस भाव तक तत्काल पहुँचा देती है, किंतु यह कार्य पूरा करने में अधिक और अनावश्यक शब्दों का आश्रय भी नहीं लेती, वही उत्तम भाषा है। ऐसी भाषा का प्रवाह नितांत स्वाभाविक होगा। उसके प्रत्येक पद से सरलता का परिचय मिलेगा। कृत्रिमता की परछाहीं भी उसके निकट नहीं फटकने पावेगी। परिस्थिति के अनुकूल उसमें कहीं तो मृदुता के दर्शन होंगे, कहीं लोच की बहार दिखलाई पड़ेगी, और कहीं-कहीं वह खूब स्थिर और गंभीर रूप में सुशो-भित होगी। उत्तम भाषा में अलंकारों का प्रादुर्भाव आप-ही-आप होता जाता है। लेखक या कवि को उनके लाने के लिये भगीरथ-प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साथ ही वे अलंकार, भाव की स्पर्धा में, अपनी अलग सत्ता भी नहीं स्वीकृत करते। वे बेचारे तो मुख्य भाव तक पाठक को और भी जल्दी पहुँचा देते हैं।

भाषा का एक गुण माधुर्य भी है। जिस समय कानों में मधुर भाषा की पीयूष-वर्षा होने लगती है, उस समय आनंदातिरेक से हृदय द्रवित हो जाता है। पर 'श्रुति-कटु'-वर्ण-शून्य मधुर भाषा, व्यापक रूप से, सभी समय और सभी अवस्थाओं में समान आनंद देनेवाली नहीं कही जा सकती। प्रचंड रण-तांडव के अवसर पर तो ओजस्विनी कर्ण-कटु शब्दावली ही चमत्कार पैदा करती है—वही एक विशेष आनंद की सामग्री है।

उत्तम भाषा के अधिकाधिक नमूने सत्काव्यों में सुलभ हैं; एक समालोचक का कथन है कि कविता वही है, जिसमें सर्वोत्तम शब्दों का सर्वोत्तम न्यास हो (Poetry is the best words in their best orders)।

भाषा-सौंदर्य का एक नमूना लीजिए—

"हौं भई दूलह, वै दुलही, उलही सुख-बेलि-सी केलि घनेरी;
मैं पहिरो पिय को पियरो, पहिरी उन री चुनरी चुनि मेरी।
'देव' कहा कहौं, कौन सुनै री, कहा कहे होत कथा बहुतेरी;
जे हरि मेरी धरैं पग जेहरि, ते हरि चेरी के रंग रचेरी।"

लेखक और कवि, दोनों ही के लिये उत्तम भाषा की परमावश्यकता है। उनकी सफलता के साधनों में उत्तम भाषा का स्थान बहुत ऊँचा है। साधारण-सी बात भी उत्तम भाषा के परिच्छद में जगमगा उठती है। किंतु उत्तम भाषा लिख लेना हँसी-खेल नहीं है। इसके लिये प्रतिभा और अभ्यास, दोनों ही अपेक्षित हैं। फिर भी अनवरत परिश्रम करने से, वैसी कुछ प्रतिभा न होते हुए भी, अभ्यास द्वारा उत्तम भाषा लिखी जा सकती है।

× × ×

४. व्रजभाषा की कविता और व्याकरण

प्राचीन कवियों की कविता में व्याकरण-संबंधी अनौचित्य ढूँढ़ते समय कुछ बातों पर ध्यान रखना परमावश्यक है। कवि ने जिस समय कविता की है, उस समय व्याकरण की दशा क्या थी, बोलचाल की भाषा में कैसे मुहावरों का प्रयोग प्रचलित था, तब व्याकरण के वर्तमान नियमों का कहाँ तक पालन होता था, इन सब बातों पर विचार किए बिना काम नहीं चल सकता। मान लीजिए, सूरदास ने जिस समय रचना की है, उस समय के प्रचलित व्याकरण के अनुसार

उस रचना का कोई वाक्य ठीक था ; पर आज के समुन्नत व्याकरण के अनुसार वह अशुद्ध है। तो क्या इससे सूरदास का वह वाक्य अशुद्ध हो जायगा ? कभी नहीं। सूरदास का इसमें कुछ भी दोष नहीं है । पाणिनि-व्याकरण बनने के पहले का संस्कृत-साहित्य आज भी उपलब्ध है । उसमें ऐसे अनेकानेक वाक्य और शब्द मिलते हैं, जो पाणिनि-व्याकरण के नियमों के बिलकुल विरुद्ध हैं । फिर भी वे अशुद्ध नहीं माने जाते ; वरन् 'आर्ष प्रयोग' कहकर उनका आदर किया जाता है । अँगरेज़ी में, शेक्सपियर की भाषा में, तो वर्तमान अँगरेज़ी-व्याकरण की अत्यधिक उपेक्षा है । प्रचलित व्याकरण का प्रायः प्रत्येक नियम तोड़ा गया है । पर इसके लिये शेक्सपियर के समालोचकों ने उसको कोसा नहीं ; बल्कि अलग शेक्सपीरियन व्याकरण की ही रचना कर डाली गई है । सारांश यह कि कवि ने जिस समय कविता की, उस समय व्याकरण की क्या दशा थी, इस पर भली भाँति विचार कर लेना चाहिए। इसके सिवा इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि कवि ने हर्ष, शोक अथवा किसी अन्य मनोवेग का प्रभाव दिखलाने के लिये, जान-बूझकर, व्याकरण-संबंधी भूल तो नहीं कर दी है । हर्ष या शोक से अभिभूत मनुष्य को इस बात का सँभार नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है । सुख या दुःख के आवेश में उसके मुँह से जो वाक्य निकलते हैं, वे सदा व्याकरण ही की पर्वा नहीं करते । जब कवि ऐसे मनुष्य का वर्णन करने बैठता है, तो वह उसके मुँह से, स्वाभाविकता-परिदर्शनार्थ, व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी कहला देता है । ऐसा कवि-कर्म काव्य-कला का परिचायक माना गया है । शेक्सपियर ने ऐसे वर्णनों में अपनी प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है । उसके ऐसे वर्णन सदोष नहीं माने गए हैं । इसके अतिरिक्त, ऐसे अवसर भी आते हैं, जब रस के आवेग में कवि सभी बंधन तोड़कर भाव की ऐसी वाहिया उपस्थित कर देता है कि उसमें नियमों की अवहेलना आदि दोष आप-से-आप डूब जाते हैं । उनकी ओर कोई दृष्टिपात भी नहीं करता। ऐसे अवसरों पर भी व्याकरण के नियमों का पालन न हो सकने से भी कवि की कविता दूषित नहीं मानी गई है । सारांश यह कि प्राचीन

कवियों की कविता में दूषण दिखलाने के पूर्व परिस्थिति पर सम्यक् विचार कर लेना परमावश्यक प्रतीत होता है।

× × ×

५. "गुजरात-विद्यापीठ"

असहयोग-आंदोलन के कार्यक्रम में सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का बहिष्कार एक प्रधान विषय था। इस बहिष्कार के कारण बहुत-से विद्यार्थियों ने सरकारी स्कूलों और कॉलेजों से संबंध-विच्छेद कर डाला। ऐसे विद्यार्थियों की शिक्षा का प्रबंध करने के लिये देश में कई राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों की व्यवस्था की गई। उनमें से दो-एक तो अब भी अच्छी दशा में हैं। बाक़ी का या तो अस्तित्व ही नहीं रह गया, या उनकी दशा नितांत हीन दिखलाई पड़ रही है। जो श्रेष्ठ राष्ट्रीय विद्यालय इस समय भी अच्छी दशा में हैं, उनमें "गुजरात-विद्यापीठ" की दशा सबसे अच्छी है। ११ दिसंबर, सन् १९२३ को इसका द्वितीय उपाधि-वितरण महोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया था। उस अवसर पर रजिस्ट्रार महोदय ने विद्यापीठ से संबंध रखनेवाली सभी ज्ञातव्य बातें, एक रिपोर्ट में लिखकर सुनाई थीं। उसी रिपोर्ट के आधार पर यहाँ विद्यापीठ का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है—

२९ जुलाई, १९२० ई० को चतुर्थ गुजरात-राजनीतिक सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। उसमें एक प्रस्ताव इस आशय का पास हुआ कि गुजरात में राष्ट्रीय शिक्षा का प्रबंध करने के लिये एक विद्यापीठ की स्थापना की जाय, तथा एक राष्ट्रीय समिति को यह काम सौंपा जाय। इस समिति में महात्मा गाँधी और आचार्य गिडवानी भी थे। १५ नवंबर, १९२० को महात्मा


प्रोफ़ेसर ए० टी० गिडवानी

ने गुजरात-महाविद्यालय का उद्घाटन-कार्य संपन्न किया। उस समय विद्यालय में केवल ५९ विद्यार्थी थे। इस समय उनकी संख्या २०६ है। विद्यालय अहमदाबाद में है। उसी समय सूरत और बंबई में भी विद्यापीठ से संबद्ध विद्यालय खोले गए। सूरतवाला विद्यालय तो बंद हो गया,

बंबईवाला चल रहा है, और इस समय उसमें ७२ विद्यार्थी हैं।

इस विद्यापीठ में (१) आर्यविद्या, (२) समाज-विद्या, (३) भाषा, (४) गणित, (५) वाणिज्य, (६) तत्त्वज्ञान, (७) पदार्थ-विज्ञान, तथा (८) साहित्य की शिक्षा का प्रबंध है। इसके अतिरिक्त प्रांतिक भाषाएँ (गुजराती और मराठी) तथा राष्ट्र-भाषा (हिंदुस्तानी) की शिक्षा सब विद्यार्थियों को अनिवार्य रूप से दी जाती है। प्रथम वर्ष की पढ़ाई के बाद विद्यार्थी को तीन वर्ष तक विद्या-मंदिर में अध्ययन करना पड़ता है। विद्यापीठ में बाहर के विद्यार्थियों की भी परीक्षा हो सकती है। सन् १९२१ में प्रायः १,००० बाहरी विद्यार्थियों की परीक्षा हुई थी। १९२३वाले उपाधि-वितरण-महोत्सव पर ५० विद्यार्थियों को डिप्लोमा दिए गए। अब तक इस विद्यापीठ द्वारा १,११७ विद्यार्थी परीक्षोत्तीर्ण हो चुके हैं।

महाविद्यालय के अंतर्गत एक 'पुरातत्त्व-मंदिर' भी है। इसमें प्राचीन भारतीय ज्ञान-संबंधी खोज का काम होता है। मंदिर ने अब तक इस विषय की ८ पुस्तकें प्रकाशित की हैं। ४ छप रही हैं। इसके अतिरिक्त खोज-संबंधी एक त्रैमासिक पत्रिका भी प्रकाशित होती है। विद्यापीठ ने यह निश्चय कर लिया है कि शिक्षा का माध्यम गुजराती ही रहनी चाहिए। इसलिये वह पाठ्यक्रम में आनेवाली पुस्तकों के प्रकाशन का भी काम कर रहा है। इस प्रकार की अब तक २५ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस समय गुजरात-विद्यापीठ में २ कॉलेज, १२ हाई स्कूल, १५ आंशिक हाई स्कूल, तथा ४३ प्राइमरी स्कूल संबद्ध हैं। इनमें विद्यार्थियों की संख्या क्रम से, २७७; ४,५०६; १,३८६ और २,७०० है। गुजरात के बाहर भी कुछ शिक्षा-संस्थाएँ ऐसी हैं, जो विद्यापीठ से संबद्ध हैं। अनुमान से इनमें भी ८०० के लगभग विद्यार्थी होंगे। नडियाद, सूरत और अहमदाबाद की म्युनिसिपलिटियों को सरकार ने बंद कर दिया है। इसलिये उक्त तीनों स्थानों में सारे स्कूल राष्ट्रीय शिक्षा-समितियों द्वारा संचालित हो रहे हैं। इन स्कूलों की संख्या साठ के लगभग है, और इनमें २१,००० के लगभग विद्यार्थी पढ़ रहे हैं। इस प्रकार इस समय गुजरात में ३०,००० के लगभग विद्यार्थी राष्ट्रीय शिक्षा पा रहे हैं। राष्ट्रीय अध्यापकों की संख्या ८०० के लगभग है। शिक्षा-व्यय ३½ लाख के लगभग है; पर आय २¼ लाख से अधिक नहीं है। अध्यापकों को यथेष्ट वेतन नहीं मिल रहा है, फिर भी १२,०००) प्रतिमास इस समय व्यय हो रहा है। संचालकों ने गाँधीजी के जेल जाने के बाद विद्यापीठ के लिये धन की अपील की थी, जिसके फल-स्वरूप १२ लाख रु० के वादे मिले हैं; जिनमें अकेले डॉक्टर जे० पी० मेहता ने ही २½ लाख की रक़म दे दी है। अब तक ६ लाख रुपया के लगभग वसूल हो चुका है। विद्यापीठ की नई इमारत भी अलग बन रही है। २० मार्च, १९२३ को आचार्य प्रफुल्लचंद्र राय ने इसकी नींव डाली थी।

विद्यापीठ के विद्यार्थियों का ध्येय है स्वधर्म, स्वदेश और स्वभाषा की सेवा। आचार्य गिडवानी ने उपाधि-वितरण-महोत्सव के अवसर पर जो व्याख्यान दिया था, उसमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि इस विद्यापीठ के खोलने में संचालकों का यह उद्देश्य है कि विद्यार्थियों के उस जीवन-मार्ग को नष्ट किया जाय, जिसके द्वारा वर्तमान शासन-प्रणाली को सहायता मिलती है। उन्होंने यह भी कहा कि इस विद्यापीठ में पढ़कर विद्यार्थी लोग जीवन-निर्वाह के लिये आगे क्या करेंगे, इसके विषय में तब तक कुछ भी नहीं सोचा जायगा, जब तक गुजरात के गाँव-गाँव में राष्ट्रीय काम करने के लिये २,००० विद्यार्थी तैयार न कर लिए जायँ। हम गुजरात-विद्यापीठ की उन्नति चाहते हैं।

× × ×

६. प्राचीन कविता के कोश और व्याकरण की आवश्यकता

यह हर्ष की बात है कि प्राचीन हिंदी-कविता की ओर अब लोगों का ध्यान भली भाँति आकृष्ट हो गया है। शिक्षित-समुदाय अब प्राचीन हिंदी-कविता को घृणा की दृष्टि से नहीं देखता। स्कूल और कॉलेजों के छात्र अब पुरानी हिंदी-कविता को चाव से पढ़ने लगे हैं। संस्कृत के आचार्य, शास्त्री, उपाध्याय और रत्न भी अब 'भाषा'-कविता पढ़ लेने में अपमान नहीं समझते। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं में बैठनेवाले विद्यार्थियों ने प्राचीन हिंदी-कविता के महत्त्व को बहुत बढ़ा दिया है। पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है हिंदी के विश्व-

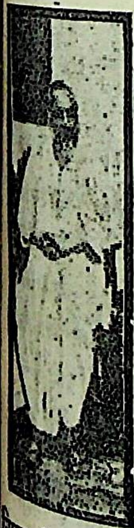
विद्यालयों में उसके स्थान पाने से। कलकत्ता-युनिवर्सिटी और काशी के हिंदू-विश्वविद्यालय में तो एम्० ए०-परीक्षा केवल हिंदी में भी दी जा सकती है। वहाँ छात्रगण अपने चंद और कबीर को उसी दृष्टि से देखने लगे हैं, जिस दृष्टि से ऑक्सफ़ र्ड में चासर और स्पेंसर देखे जाते हैं। हमारे तुलसी, सूर और केशव का आदर अब शेक्सपियर, मिल्टन और ड्राइडन के समान ही होने लगा है। बाइरन और शेली के समान ही अब हमारे देव और विहारी का स्मरण किया जाता है। ये सब शुभ लक्षण हैं। यहाँ पर हम अपने प्राचीन काव्य-साहित्य की उपयोगिता पर कुछ नहीं कहना चाहते। हमें इस बात से संतोष हो रहा है कि हमारे हृदय में अपने प्राचीन साहित्य के प्रति उचित आदर के भाव जाग्रत् हो उठे हैं। परंतु इस समय हम जिस भाषा में कविता करते हैं, उस खड़ी बोली और प्राचीन हिंदी-कविता की भाषा में बड़ा अंतर है। इस कारण उसके समझने में इस समय के पाठकों को कठिनाई और कष्ट होता है। आज जो व्याकरण व्यवहृत होता है, जिन महावरों का चलन है, जो शब्द प्रचलित हैं, वे सब बिलकुल इसी रूप में पहले नहीं प्रयुक्त होते थे। वर्तमान व्याकरण, शब्द-कोश तथा महावरों की सहायता से प्राचीन कविता नहीं समझी जा सकती। 'बूड़', 'भँवहरा' और 'गुफ़ाई' समझने के लिये दूसरा ही शब्द-कोश चाहिए। किस कारक में शब्द को उकारांत ही रक्खेंगे, इसका रहस्य आजकल के व्याकरण से नहीं खुल सकता। "रघुबीर को बिरह बार मोसों न सह्यो परै", इस पद्यांश में 'सहा जाता' के स्थान पर 'सह्यो परै' का प्राचीन महावरा देखकर पाठक को आश्चर्य होता है। अतः अब एक ऐसे कोश एवं व्याकरण की रचना का समय आ गया है, जिसके सहारे प्राचीन हिंदी-कविता के समझने में सुगमता हो। यदि संभव हो, तो Shakesperian Grammar की तरह ही सूर-व्याकरण, विहारी-व्याकरण, देव व्याकरण आदि की अलग-अलग रचना कराई जाय। Shakesperian Concord के ढंग पर प्राचीन कवियों की कविता में पाए जानेवाले अस्पष्ट शब्द, वाक्यांश, वाक्य तथा महावरे एक बड़े कोष में संगृहीत हों, और उन पर वर्तमान काल की आवश्यकताओं के अनुसार प्रकाश डाला जाय। इस काम में बहुत व्यय, श्रम, अध्यवसाय एवं विद्वत्ता अपेक्षित है। परंतु प्राचीन कविता-साहित्य के संरक्षण के लिये इसका होना परमावश्यक है। यदि धनवान् प्रकाशक, विद्वान् लेखक तथा अन्य उत्साही सहायक मिलकर इस काम को उठावें, और पूर्ण परिश्रम, अध्यवसाय तथा धैर्य से साथ चलावें, तो यह काम हो सकता है। अतः प्राचीन हिंदी-कविता के प्रेमियों से हमारा नम्र अनुरोध है कि वे इस प्रस्ताव पर गंभीरता-पूर्वक विचार करें।

× × ×

७. कलकत्ते और बंबई के कारपोरेशन में चुनाव

कलकत्ता और बंबई भारत के सबसे बड़े नगर हैं। इन दोनों ही नगरों में भारतवासियों के सिवा विदेशियों की भी एक बड़ी संख्या रहती है। विदेशियों में इँगलैंडवासी ही सबसे अधिक हैं। यह तो सभी को मालूम है कि छोटे नगरों की सफ़ाई, सड़क इत्यादि का प्रबंध जिन संस्थाओं के द्वारा होता है, वे म्युनिसिपलिटी कहलाती हैं। उनका संचालन म्युनिसिपल-क़ानून के द्वारा होता है। म्युनिसिपलिटी के प्रधान को चेयरमैन कहते हैं। बहुत कुछ स्वतंत्र रहने पर भी चेयरमैन पर अधिकारियों का यथेष्ट प्रभाव रहता है। पहले तो यह प्रभाव बहुत अधिक था। पर अब वैसा नहीं है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि अब यह प्रभाव बिलकुल नहीं रह गया है। कलकत्ते और बंबई की नगर-रक्षिणी-संस्थाएँ म्युनिसिपलिटी न कहलाकर 'कारपोरेशन' कहलाती हैं। कारपोरेशनों के अधिकार म्युनिसिपलिटी के अधिकारों से कहीं अधिक हैं। इनके चेयरमैन एक प्रकार से स्वतंत्र ही रहते हैं। उन पर अधिकारियों का दबाव बहुत कम रहता है। कलकत्ता-कारपोरेशन के अधिकार अब और भी अधिक बढ़ गए हैं। जिस प्रकार इँगलैंड में लंदन नगर के कारपोरेशन का प्रधान 'मेयर' कहलाता है, उसी प्रकार अब कलकत्ता-कारपोरेशन का चेयरमैन भी 'मेयर' कहलावेगा। मेयर का शासन-विधान ऐसा बनाया गया है कि उसके और अधिकारियों के शासन में कभी संघर्ष न उपस्थित हो। इस प्रकार 'मेयर' एक प्रकार से अपने नगर का पूर्ण स्वामी है। अधिकारीगण उसके अधिकारों को संकुचित नहीं कर सकते। भारत में 'मेयर' के पद की सृष्टि अभी हाल ही में हुई है। कुछ लोगों का कहना है कि प्रतिष्ठा में 'मेयर' का पद 'गवर्नर' के पद से किसी प्रकार कम नहीं है।

कलकत्ता और बंबई, इन दोनों ही नगरों के कारपोरेशनों का चुनाव अभी हाल ही में हुआ था। दोनों ही नगरों में निर्वाचकों ने पूर्ण उत्साह के साथ अपने विचारवाले प्रतिनिधियों को चुना। फिर इन चुने हुए प्रतिनिधियों ने अपने में से एक को प्रधान चुन लिया। निर्वाचन से इस बात का पता चल जाता है कि अधिकांश लोक-मत किधर है, बहुसंख्यक निर्वाचकों का मत किस राजनीतिक दल के साथ मिलता है; क्योंकि वे जिस दल का नेतृत्व स्वीकार करते हैं, उसी दल के प्रतिनिधियों को चुनते हैं। कलकत्ते और बंबई के निर्वाचन में स्वराज्य-दल के प्रतिनिधियों को ही अधिक जगहें मिली हैं। प्रधान का पद भी दोनों ही नगरों में उक्त दल के विख्यात नेताओं को प्राप्त हुआ है। बंबई में श्रीविट्ठल भाई पटेल प्रधान चुने गए हैं। कलकत्ते में मेयर के पद को पहले-पहल देशबंधु श्रीचित्तरंजन दास ने सुशोभित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बंबई और कलकत्ते में लोक-मत स्वराज्य-दल के साथ है। कलकत्ते में जब निर्वाचन कार्य का आरंभ हुआ, तो योरपियन बहुत घबराए। उन सबने स्वराज्य-दल के उम्मेदवारों को पछाड़ने का प्राणपण से प्रयत्न किया। पर परिणाम कुछ न हुआ। स्वराज्य-दलवालों ने इतनी अधिक जगहें हस्तगत कर लीं कि अब वे जो चाहें, कर सकते हैं। मेयर का चुनाव बड़े समारोह के साथ हुआ। निर्वाचित सदस्यों में से कई योरपियनों ने भी श्रीयुत दास के पक्ष में अपना मत दिया। देशबंधु ने भी अपने भाषण में साफ़-साफ़ कह दिया कि वह योरपियनों का अनिष्ट



मिस्टर वी० जे० पटेल

श्रीयुत देशबंधु चित्तरंजन दास

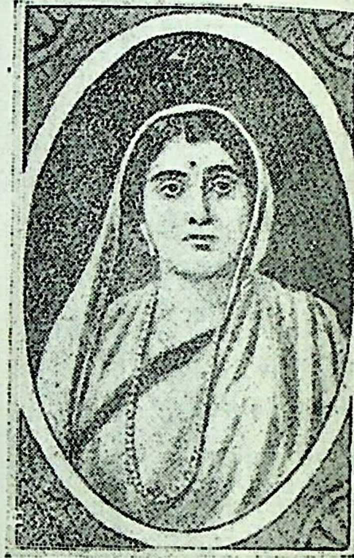
नहीं करेंगे। हाँ, भारतीयों का हित अवश्य करना चाहते हैं। देशबंधु ने जिन सुधारों के करने का वचन दिया है, वे यदि कार्यरूप में परिणत हुए, तो भारत के इन दोनों नगरों के अधिवासी अवश्य सुखी होंगे।

× × ×

८. श्रीमती सरोजिनी नायडू

परोपकार-प्रवृत्ति से हृदय की उच्चता का परिचय मिलता है। प्राणिविशेष से लेकर सारे संसार तक की भलाई करने को उत्सुक होना इस सत् प्रवृत्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं। बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाए किसी का उपकार कर डालना प्रशंसनीय काम है। परंतु स्वयं कष्ट सहकर ऐसे काम में प्रवृत्त होना और भी गौरव की बात है। इससे बढ़कर है अपने स्वार्थ की पर्वा न करते हुए परोपकार करना। अपना सर्वस्व त्याग-कर परोपकार में तन्मय हो जाना हृदय की उच्चतम अवस्था है। पुरुष की अपेक्षा नारी के परोपकार में विशेष रमणीयता है। कार्यशील तथा कष्टसहिष्णु पुरुष यदि परोपकार के लिये कठिनाइयों का सामना करता है, तो वह अपने पुरुष-सुलभ उदार गुणों का परिचय देता है। परंतु जब हम किसी रमणीरत्न को अपनी सुकुमारता और सहज भीरुता की उपेक्षा करते हुए पर-दुःख-निवारण में संलग्न पाते हैं, तो हमें हृदय के दिव्यतम महत्त्व का प्रकाश दिखलाई पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि नारी-हृदय सहानुभूति के लिये विशेष उपयुक्त है। जितनी जल्दी एक महिला पर-दुःख से अभिभूत हो सकती है, उतनी जल्दी पुरुष नहीं। नेतृत्व के लिये सहानुभूति सबसे अधिक आवश्यक गुण है। इसलिये, यदि किसी रमणी में नेतृत्व के लिये अन्य आवश्यक गुण भी हों, तो निस्संदेह वह इस मार्ग में पुरुष की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त कर सकती है। कवित्व-गुण भी सहानुभूतिमय है। अतः वह नेतृत्व के लिये भी परोपकारी है। वाग्मिता और सुंदर स्वर का होना भी नेतृत्व के लिये महत्त्व-पूर्ण योग्यता है।

आइए, आज हम आपको एक ऐसे रमणी-रत्न का स्मरण करावें, जिसमें स्वार्थ के भावों का रत्ती-भर भी प्रभाव नहीं रह गया है; जो सर्वस्व-त्याग कर भारत की भलाई के लिये तन-मन-धन—सभी कुछ अर्पण करने को तैयार है; जिसके हृदय-सागर में सहानु-भूति की उत्तुंग तरंगें उठती रहती हैं; जिसके कोकिल-कंठ-निनाद को सुनकर पाषाण भी पिघल जाता है। क्या अब भी नाम बतलाने की आवश्यकता है? क्या भारत-गौरव-रूपिणी श्रीमती सरोजिनी नायडू का और विशेष परिचय देने की ज़रूरत है? इधर कई मास हुए, श्रीमती आफ़्रिका गई थीं। वहाँ पूर्वीय आफ़्रिका-वासी भारतीयों की कांग्रेस का अधिवेशन था। श्रीमती सरो-



श्रीमती सरोजिनी नायडू

जिनी देवी उसकी ने-नेत्री थीं। उस अवसर पर आपने जो भाषण दिया, उसे सुनकर लोग मुग्ध हो गए। उसमें विद्वत्ता, राजनीतिज्ञता, सहृदयता तथा निर्भयता का सम्मिश्रण था। बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ-धुरंधरों ने भाषण की प्रशंसा की। पूर्वीय आफ़्रिका से आप दक्षिणी आफ़्रिका पहुँचीं। वहाँ भी आपका अपूर्व स्वागत हुआ। गोरों ... लाएँ तो आपकी यह कर्मशीलता और निर्भयता ... दाँतों-तले उँगली दबा रहे हैं। आपसे मिलने और ... मिलाने का सौभाग्य प्राप्त करने तथा व्याख्यान सुनने के लिये हज़ारों गोरे और मेमें लालायित रहती हैं। ... में, आपके सम्मान में, जो जलूस निकाले जाते हैं, ... सभी श्रेणी के लोग सम्मिलित होते हैं। आपकी ... पर इतनी अधिक पुष्प-वृष्टि होती है कि कभी-कभी ... फूलों के ढेर में छिप जाती हैं। आपकी यात्रा के ... स्पेशल ट्रेनों की सुव्यवस्था हुई है। डर्बन में, ... स्वागत में, स्त्रियों की जैसी सभा हुई थी, वैसी ... में और कभी नहीं हुई। निश्चय ही इन महिला-... मणि ने आफ़्रिका-जैसे देश में भारत का मस्तक ... कर दिया है। ईश्वर इन भारत-मनोमोहिनी, ... सरोजिनी को माता की सेवा के लिये चिरायु करें।

× × ×

९. फ़ारसी में रामायण

संस्कृत में रामचरित्र का आश्रय लेकर गद्य ... पद्य में बहुत-से ग्रंथ लिखे गए हैं। हिंदी-साहित्य में ... ऐसी पुस्तकों की कमी नहीं है। फिर भी संस्कृत ... वाल्मीकीय रामायण और हिंदी में तुलसी-कृत रामायण ... ही इन सबमें श्रेष्ठ है। इन ग्रंथों के अनुवाद ... ही आधार को लेकर अन्य भाषाओं में भी अनेक ...

यणों की रचना हुई है। 'कलकत्ता-रिव्यू' की मार्च की संख्या में प्रेसीडेंसी-कॉलेज के लेक्चरर मोहम्मद महफूज़-उलहक़ ने एक लेख लिखा है। उसको पढ़ने से जान पड़ता है कि फ़ारसी के मधुर और सुकुमार साहित्य में भी रामायणों का अभाव नहीं है। एक-दो की कौन कहे, लेक्चरर महोदय ने ऐसी दस रामायणों का पूरा पता दिया है। हम भी माधुरी के पाठकों के मनोरंजन के लिये यहाँ पर उनका संक्षिप्त परिचय देते हैं—

सबसे पहले रामायण का अनुवाद दिल्लीश्वर सम्राट् अकबर ने कराया था। संस्कृत के विद्वान् अब्दुल क़ादिर बदायूनी को यह काम सौंपा गया था। यह महाशय बड़े ही कट्टर मुसलमान थे, अतएव काफ़िरों की इस पुस्तक का अनुवाद करने में इन्हें बड़ा ही दुःख हुआ। पर करते क्या? दिल्लीश्वर की आज्ञा का उल्लंघन कौन कर सकता था? निदान चार वर्ष के कठिन परिश्रम के बाद, सन् ९९९ हिजरी में, इन्होंने इस ग्रंथ को समाप्त किया। सम्राट् जहाँगीर के समय में फिर दो और रामायणों की रचना हुई। ये दोनों ही पद्य में हैं। इनमें से एक के रचयिता पानीपत के मुल्ला सआदुल्ला मसीह हैं, तथा दूसरी के मुंशी गिरिधरदास कायस्थ। पर ये दोनों ही बदायूनी की रामायण को नहीं पातीं। अब्दुल क़ादिर की रामायण की एक प्रति अमेरिका के वाशिंगटनवाले अजायबघर में मौजूद है। यह बड़ी ही सुंदर लिपि में लिखी हुई है। इसकी एक प्रति ३ लाख रुपए में ख़रीदी गई थी। गिरिधरदास की रामायण में ८,९०० शेरें हैं। इसके बाद चंद्रमणि "बेदिल" ने गद्य और पद्य में, दो अलग-अलग रामायणें बनाईं। पर आकार में सबसे बड़ी रामायण रचने का सौभाग्य लालपुर-निवासी मुंशी अमानतराय को प्राप्त है। आपकी रामायण में १,००० पृष्ठ तथा ४०,००० शेरें हैं। फ़ारसी की सब रामायणों में यही सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है। लंदन के इंडिया-ऑफ़िस-पुस्तकालय में तथा सर विलियम आसली के पुस्तक-संग्रह में भी दो रामायणें हैं; पर खंडित होने के कारण उनके रचयिताओं के विषय में कुछ भी न ज्ञात हो सका। ब्रिटिश-म्यूज़ियम में मुंशी देवीदास कायस्थ की लिखी तुलसी-कृत रामायण का सुंदर अनुवाद मौजूद है। इनके अतिरिक्त कुछ और भी रामायणें हैं, जिनके संबंध में कोई वैसी उल्लेख-योग्य बात नहीं है। सारांश यह कि फ़ारसी के साहित्य-भांडार में इस समय १० रामायणें मौजूद हैं, जिनमें ६ पद्य में हैं, और ४ गद्य में।

× × ×

१०. वैकोम का सत्याग्रह

दक्षिण-भारत में बरोदा और माइसोर के ही समान ट्रावनकोर भी एक उन्नतिशील देशी रियासत है। सर्व-साधारण की शिक्षा तथा ऐसी ही अन्य कई बातों में तो वह दक्षिण की बहुत-सी रियासतों से बढ़कर है। वहाँ के महाराज बड़े ही सज्जन और प्रजा-हित-चिंतक हैं। ट्रावन-कोर में वैकोम-नामक एक स्थान है। यहीं अस्पृश्य माने गए हिंदुओं और अपने को पवित्रतम उच्च जाति सम-झनेवाले हिंदुओं में इधर झगड़ा उठ खड़ा हुआ है। उत्तर-भारत की अपेक्षा दक्षिण-भारत में अस्पृश्यता का चलन बहुत अधिक है। नीची श्रेणी में कई जातियाँ ऐसी हैं, जो अस्पृश्य कहलाती हैं। ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के हिंदू इन जातिवालों को छू नहीं सकते। उच्च श्रेणी के हिंदू जिन कुओं में पानी भरते हैं, उनमें अस्पृश्य जातिवाले पानी नहीं भर सकते। उनके रहने के लिये नगर के एक कोने में अलग मोहल्ले हैं। पूजा करने के लिये वे देव-मंदिरों में नहीं जा सकते। कुछ सड़कें भी ऐसी हैं, जिन पर अस्पृश्य-जाति के लोग नहीं चल सकते। ऊपर जिस वैकोम-स्थान का उल्लेख हुआ है, वहाँ भी ऐसी सड़कें हैं, जिन पर अस्पृश्य-जाति के लोगों को चलने का अधिकार नहीं है। देव-मंदिर के निकट की सड़कें ऐसी ही हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है। उन सड़कों पर अस्पृश्य-जाति के हिंदू तो नहीं चल सकते, मगर मुसलमान और ईसाई पूर्ण स्वच्छंदता के साथ चल-फिर सकते हैं।

इधर देश में अस्पृश्यता के विरुद्ध भावों का बड़ा ज़ोर है। कुछ लोगों को—ख़ासकर कांग्रेस के अनुया-यियों को—यह बात असह्य है कि एक मनुष्य दूसरे को अस्पृश्य कहने का साहस करे। वे निम्नतम हिंदू-जातियों को उच्च जातियों के विरुद्ध बग़ावत करने के लिये उत्तेजित करते हैं। कुछ तो केवल स्पर्शास्पर्श की छूत ही उठा देना चाहते हैं, पर कुछ अस्पृश्यों के साथ खान-पान जारी करने तक बढ़ते हैं, और उसे ही सच्ची उदारता समझकर उस पर तुले हुए हैं। अस्तु, वैकोम के मंदिर

की ओर जानेवाली सड़क पर अस्पृश्यों के चलने देने के लिये भी व्यवस्था होनी चाहिए, इस आशय को प्रयत्न कुछ कांग्रेस-भक्त सज्जनों ने शुरू किया। उनके नेताओं ने तर्क तथा अनुनय-विनय का आश्रय लेकर बिना बात को बढ़ाए समस्या सुलझा डालने का भरसक उद्योग किया। पर परिणाम कुछ



ट्रावनकोर के महाराज

हुआ। तब उन लोगों ने भी अधिक प्रभावशाली उपायों का आश्रय लिया, और इस प्रकार से 'वैकोम का सत्याग्रह' आरंभ हुआ। अस्पृश्य-जातियों के कुछ मनुष्यों की एक टुकड़ी बना ली जाती थी, और वह देव-मंदिर-वाली सड़क पर चलने लगती थी। पुलीस के अधिकारी पहले उन लोगों को ऐसा करने से रोकते; पर जब वे नहीं मानते थे, तो उन्हें गिरफ़्तार कर लेते थे। सत्याग्रही विना किसी प्रकार के उज्र के अपने को गिरफ़्तार कर देते थे। आरंभ में सत्याग्रह इसी क्रम से चला। पर बाद को अधिकारियों ने गिरफ़्तारियाँ बंद कर दीं, और सड़कों के फाटकों पर पहरा बिठा दिया कि उस ओर से सत्याग्रही आने ही न पावें। इस पर सत्याग्रही फाटक पर ही धरना देकर बैठ जाने लगे हैं। वे वहाँ से एक मिनट के लिये भी नहीं हटते, और उपवास किए पड़े रहते हैं। परिणाम यह होता है कि कई दिनों के बाद मूर्च्छित हो जाते हैं। तब अधिकारी लोग उन्हें हटा देते हैं। इस सत्याग्रह के प्रधान संचालक श्रीयुत जॉर्ज जोज़ेफ़, श्रीकेशव मेनन तथा अन्य कई उत्साही सज्जन थे। प्रायः ये सभी नेता गिरफ़्तार हो चुके हैं। फिर भी सत्याग्रह जारी है। महात्मा गाँधी के आदेश से सत्याग्रहियों ने उपवास करना बंद कर दिया है। पहले ट्रावनकोर की पुलीस ने सत्याग्रहियों के साथ कुछ कटु या कड़ा व्यवहार किया था; पर अब रियासत के उच्च अधिकारियों ने इस शिकायत को दूर कर दिया है। सज़ा पाए हुए नेताओं के साथ जेल में भी अच्छा व्यवहार किया जाता है। यह सत्याग्रह सर्वथा अहिंसात्मक है। महात्मा गाँधी चाहते हैं कि सत्याग्रह बंद न हो; पर उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह सत्याग्रह उस भारी असहयोग-आंदोलन का अंश नहीं है, जो भारतीय ब्रिटिश नौकरशाही के विरुद्ध चल रहा है। वह चाहते हैं कि इस सत्याग्रह का संचालन और देख-रेख अधिकतर मदरास-प्रांत के कार्यकर्ताओं के ही हाथ में रहे। जॉर्ज जोज़ेफ़ ने ईसाई होकर भी अस्पृश्यता-निवारणार्थ कारा-वास-दंड स्वीकार किया, यह उनके लिये गौरव की बात है। सुनते हैं, इस संबंध में ट्रावनकोर के दीवान और महात्मा गाँधी की मुलाक़ात भी होनेवाली है। लोगों का कहना है कि ट्रावनकोर के महाराज समझौते के लिये तैयार हैं; मगर वैकोम के उच्च श्रेणी के कट्टर हिंदू नहीं मानते। वे किसी भी प्रकार से अस्पृश्य-जातियों को देव-मंदिरवाली सड़क पर चलने देना नहीं चाहते।



मिस्टर जॉर्ज जोजेफ़

हिंदू-जाति में अस्पृश्यता के कारण बड़ी हलचल मची हुई है। इसके धार्मिक रूप पर हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते। पर हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि जिस सड़क पर मुसलमान और ईसाई स्वच्छंदता-पूर्वक चल सकें, उस पर एक हिंदू, चाहे वह अस्पृश्य ही क्यों न हो, क्यों नहीं चल सकता! क्या यह बात लज्जा-जनक नहीं है कि हिंदू-जाति के अंतर्गत कुछ हिंदू ऐसे भी हैं, जिनके अधिकार, उच्च श्रेणी के हिंदुओं के दृष्टि-कोण के अनुसार, अन्य धर्मावलंबी मुसलमानों और ईसाइयों के अधिकारों से भी कम हैं। क्या इस स्थिति से हिंदू-जाति की भावी उन्नति की सूचना मिलती है? वैकोम-सत्याग्रह को असहयोग-आंदोलन से पृथक् बतलाकर महात्मा गाँधी ने अपने

अपूर्व नेतृत्व-गुण और गंभीर दूरदर्शिता का परिचय दिया है। जिस सड़क पर उच्च श्रेणी के हिंदू, सभी प्रकार के मुसलमान और ईसाई चल सकते हैं, उस पर अस्पृश्य हिंदू को भी चलने का अधिकार है। उसको इस अधिकार से वंचित करना सामाजिक अन्याय है। इस अन्याय के संशोधन में जिन शांति और अहिंसामय उपायों का आश्रय लिया गया है, उनके प्रति प्रत्येक न्यायशील सज्जन की सहानुभूति होनी चाहिए। हम आशा करते हैं, मामला अधिक न बढ़कर शीघ्र तय हो जायगा, और अस्पृश्य हिंदू अपने उचित अधिकारों को शीघ्र प्राप्त करेंगे।

× × ×

११. मासूद के सेनापति और हिंदी-लेखक तिलक

(१०९० सं०)

मिस्टर स्टैनले लेनपूल बहुत बड़े विख्यात इतिहास-लेखक हैं। भारत के इतिहास पर भी इन्होंने अच्छा प्रकाश डाला है। 'मध्य-युग का भारत'-नामक इनका एक बहुत प्रसिद्ध इतिहास-ग्रंथ है। उसमें सन् ७१२ ईसवी से लेकर १७६४ ईसवी तक का, मुसलमानी शासन का, इतिहास है। उक्त ग्रंथ के ४२वें पृष्ठ में मासूद के हिंदू सेनापति तिलक नाम के एक व्यक्ति का उल्लेख है। मासूद उनका बड़ा सम्मान करता था। मासूद की सारी भारतीय सेना उन्हीं की मातहती में थी। वह विश्वासपात्र मंत्री और दुभाषिए का भी काम करते थे। उनको छत्र और शिविर भी मासूद की ओर से दिए गए थे। उनके निवास-स्थान पर नौबत बजती थी, तथा उनकी पताकाओं में सोना मढ़ा रहता था। जिस समय नियाल्तगीन ने मासूद के विरुद्ध बग़ावत का झंडा उठाया था, उस समय उसका दमन करने के लिये तिलक ही नियुक्त किए गए थे। उन्होंने राजाज्ञा के अनुसार नियाल्तगीन को पराजित किया था, और जिन जाटों ने उस विद्रोही का सिर काटकर उनके सिपुर्द किया था, उन्हें उन्होंने एक लाख रुपए इनाम में दिए थे। नियाल्तगीन के विद्रोह का समय सन् १०३३ ईसवी है।

यहाँ सेनापति तिलक का विशेष परिचय देने का एक प्रधान कारण है। उनके विषय में लेनपूल ने लिखा है कि वह फ़ारसी और हिंदी के बड़े ही सिद्धहस्त लेखक थे *। जहाँ तक हमारा ख़याल है, हिंदी-साहित्य के इतिहास में अब तक सेनापति तिलक का उल्लेख नहीं हुआ। यद्यपि तिलकजी की रचनाएँ हमें समय नहीं प्राप्त हैं, तथापि जब इतिहास में वह 'हिंदी के लेखक' के नाम से पुकारे जा चुके हैं, तब उनका नाम साहित्य के इतिहास में भी आ जाना चाहिए। हिंदी के जिस प्रथम कवि का नाम मिलता है, वह पुष्प या पुंड है। उसका समय संवत् ७०७ माना जाता है। इसके बाद अज्ञातनामा किन्हीं भट्ट कवि ने ८६० के लगभग खुमान-रासा बनाया था। फिर कालिंजर-नरेश ने, सं० १०७९ में, एक छंद की रचना की थी। इस सन के बाद संवत्, १०६० के लगभग, सेनापति तिलक के लेखों को स्थान देना चाहिए। तिलक जाति के नाई थे। वह सुंदर, मिलनसार और प्रथम श्रेणी के मिथ्या-वादी थे। उनकी वाणी बड़ी प्रभावशालिनी होती थी। सभी का उन पर अनुराग था। उन्हें कोक-शास्त्र और प्रेत-विद्या भी मालूम थी। हमारा अनुमान है कि लेनपूल ने 'कवि' के अर्थ में ही 'लेखक'-शब्द का व्यवहार किया है। ऊपर हमने तिलक का जो वर्णन किया है, उससे यह धारणा पुष्ट होती है कि संभवतः वह कवि भी अवश्य रहे होंगे। जो हो, तिलक का इतिहास ढूँढ़ना और जो कुछ पता लग सके, वह लगाना चाहिए। हिंदी के इतिहास में उनको उचित स्थान मिलना चाहिए।

× × ×

१२. स्वराज्य-दल

इंडियन नेशनल कांग्रेस का वह दल, जो कौंसिलों में प्रविष्ट हुआ है, 'स्वराज्य-दल' कहलाता है। सन् १९२३ के अंत में जो निर्वाचन हुआ था, उसमें इस दल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। फिर भी मध्य-प्रदेश को छोड़कर और कहीं भी इसका बहुमत न हो सका। इसने यह कहकर कौंसिलों में प्रवेश किया था कि "या तो हम वर्तमान शासन की काया पलट देंगे, या उसमें

* Tilak was the son of a barber, a good looking, plausible fellow, eloquent of speech, a fluent writer both in Hindi and Persian, and a master of dissimulation, which he had studied under the best professor's in Kashmir, the home of lies."

(Mediaeval India page 42.)

अंत कर देंगे। हर दशा में सरकार के शासन-कार्य में अड़ंगा लगावेंगे, और उसको नाकों चने चबवा देंगे। न सुख की नींद सोवेंगे, और न सरकार को ही सोने देंगे। हाँ, यदि सरकार हमारी माँगें पूरी करने का वचन देगी, तो हम उससे समझौता कर लेंगे।" इधर जब फ़रवरी और मार्च में, दिल्ली में, बड़ी व्यवस्थापिका सभा के, तथा अन्य प्रांतों में प्रांतीय कौंसिलों के, अधिवेशन हो रहे थे, तब स्वराज्य-दलवालों ने अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन किया। बड़ी व्यवस्थापिका-सभा में स्वराज्य-दल के नेता पं० मोतीलालजी नेहरू थे। आपने बड़ी ही राजनीति-कुशलता से काम किया। प्रारंभ में अल्पतम माँगें पेश कीं। इन माँगों का समर्थन व्यवस्थापिका-सभा के स्वतंत्र-दलवालों ने भी किया। सरकार यदि चाहती, तो उन्हें स्वीकार कर देश के बहुत बड़े असंतुष्ट लोक-मत को अपनी ओर कर लेती। पर उसने वैसा नहीं किया। इससे स्वराज्य-दलवालों का पक्ष और भी प्रबल हो गया, और स्वतंत्र-दल एक प्रकार से स्वराज्य-दल का अंग बन गया। फिर तो कौंसिल में सरकार की हार-पर-हार होने लगी। देश-भर में सनसनी फैल गई। नौकरशाही कलेजा थामकर बैठ गई। नरम-दल के भारतवासी सुधारों को विपत्ति में पड़ा देखकर केले के पत्ते की तरह काँपने लगे। इँगलैंड में हाहाकार मच गया। लेबर-सरकार किं-कर्तव्य-विमूढ़ होकर रह गई। आख़िर बजट कौंसिल में पेश हुआ। बहुमत से पहले दिन की सभी माँगें अस्वीकृत हो गईं। पर इसके बाद पं० मोतीलाल ने रास ढीली कर दी, और शेष माँगों को पास हो जाने दिया। इससे स्वराज्य-दल पर लोगों की श्रद्धा कुछ कम हो चली। लोग समझे, सब किया-कराया मिट्टी हो गया। पर एकाएक हवा का रुख़ बदला; क्षण-भर में सारा-का-सारा फ़ाइनेंस-बिल अस्वीकृत हो गया। इस अवसर पर स्वराज्य-दल की नीति के समर्थन में मालवीयजी ने जो व्याख्यान दिया, वह अद्वितीय था, वह भारत के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। इस घटना के बाद से पंडित मोतीलालजी की ख्याति बहुत दूर-दूर तक फैल गई है। इँगलैंड का अनुदार-दल पंडितजी से त्रस्त है। नौकरशाही का मस्तक नत हो गया है। भारत का शासन भारतीयों की राय से होता है, यह गर्वोक्ति अब मिट्टी में मिल गई है। उधर, अपने असाधारण गंभीर क़ानूनी ज्ञान से, नेहरूजी ने योरप के क़ानूनों से ही प्रमाणित कर दिया है कि अड़ंगा लगाने की नीति वैध आंदोलन के ही अंतर्गत है। इधर पं० मोतीलालजी ने जो कुछ दिल्ली में कर दिखाया, उससे अधिक मध्य प्रदेश की कौंसिल में हुआ है। वहाँ की सरकार बिलकुल पंगु हो गई है। बंगाल में देशबंधु दास ने भी लॉर्ड लिटन की शासन-चातुरी की अच्छी मिट्टी पलीद की है। महात्मा गाँधी को छुड़ाने के लिये, दिल्ली की कौंसिल में, स्वराज्य-दल की ओर से एक प्रस्ताव उपस्थित होनेवाला था। जिस दिन उस पर बहस होने को थी, उसके एक दिन पहले सरकार ने महात्माजी को छोड़ दिया। अभी हाल ही में स्वयं महात्माजी ने स्वीकार किया है कि मेरे छूटने के प्रधान कारणों में स्वराज्य-दलवालों की दृढ़ता मुख्य है। स्वराज्य-दल के कार्य-क्रम से हमारा मत मिले या नहीं, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने 'वैध शासन' की पोल खोलने में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की है, और उसका अधिकांश श्रेय पं० मोतीलालजी नेहरू को है।


पं० मोतीलाल

× × ×

१३. मिस मेरी कारेली स्वर्ग में

साहित्य-संसार के लिये बड़ा ही अशुभ समाचार है। २१ एप्रिल को जगत्-विख्यात उपन्यास-लेखिका श्रीमती मिस मेरी कारेली का शरीरपात हो गया। साहित्य-कानन का एक परम रमणीय, सुगंधमय कुसुम मुरझाकर गिर पड़ा। उपन्यास-लेखक और लेखिकाओं की पंक्ति में एक ऐसा स्थान रिक्त हो गया, जिसकी पूर्ति शीघ्र होते नहीं दिखलाई पड़ती। अँगरेज़ी के औपन्यासिक साहित्य-विभाग की जो क्षति इस लेखिका के शरीरपात से हुई है, उसके विषय में कुछ लिखना व्यर्थ है। विश्व-साहित्य के नाते मिस महोदया की मृत्यु-समाचार से हम मर्माहत हुए हैं। इस साहित्यिक विपत्ति के अवसर पर सभी शोकाभिभूत साहित्यिकों के साथ हमारी सहानुभूति है। मृत लेखिका की स्मृति में हमारी आँखों में भी आँसू भरे हुए हैं।



मिस मेरी कारेली

माधुरी के पाठकों को आज हम मिस मेरी कारेली का अत्यंत संक्षिप्त परिचय देते हैं। अगली किसी संख्या में विस्तार के साथ लिखने का विचार है। मिस कारेली की नसों में इटालियन और स्काटिश रक्त का संचार था। वह विख्यात साहित्यिक और गीत-लेखक चार्ल्स मैके की पोष्य-पुत्री थीं। उनका बाल्य-काल इँगलैंड में बीता, तथा उनकी शिक्षा फ्रांस में हुई। संगीत में उन्होंने ऊँची-से-ऊँची शिक्षा पाई थी। सन् १८८६ ईसवी में पहले-पहल Romance of Two Worlds नामक उनका उपन्यास प्रकाशित हुआ। बस, उपन्यास-संसार में इस पुस्तक ने उनको एक उच्च आसन पर बिठा दिया। उनकी कीर्ति-कौमुदी दिग्-दिगंत में फैल गई। लोग उनकी पुस्तक पढ़ने को बहुत ही लालायित हो उठे। मिस महोदया ने भी लोक-मत का आदर किया। वह औसत से प्रति दूसरे वर्ष एक उपन्यास लिखने लगीं। अपने समय में वह जैसी लोकप्रिय थीं, वैसा कोई लेखक या लेखिका कदाचित् ही हुई हो। पर, लोकप्रियता के साथ-ही-साथ, उनके उपन्यासों की जैसी कु… समालोचना होती थी, वह भी स्मरण रखने की … किंतु ऐसी समालोचनाओं की आपने कभी कुछ … नहीं की। इससे आप और भी अधिक लोक… गईं। श्रीमती को एकांतवास बहुत पसंद था। … एक समालोचक ने आपके चित्र पर कुछ आक्षेप … यह बात आपको पसंद न आई। आपने अपने … प्रकाशन ही बंद करा दिया। यहाँ तक कि अपनी … में भी अपना चित्र नहीं छपने दिया। इससे उनके … की उग्रता का पता चलता है। उन्होंने अपनी पुस्त… प्रकाशकों को आज्ञा दे रक्खी थी कि मेरी कोई … समालोचना के लिये किसी समालोचक के पास न … जाय। उनके उपन्यासों में कल्पना की प्रौढ़ता, … सामर्थ्य तथा अन्याय के प्रति घोर घृणा देख पड़… और भीरुता के भावों का सर्वथा अभाव है। … आदर्शवाद, मनोरंजन और शिक्षा की सामग्री है।

आज मिस मेरी कारेली का पार्थिव शरीर इस … में नहीं है; परंतु जब तक उनका एक भी उपन्यास … है, तब तक वह अमर हैं। महाकवि देवजी ने … कहा है—

"रहत न घर बर, धाम, धन, तरवर, सरवर, …
जस-सरीर जग मैं अमर भव्य काव्य-रसरूप।"

× × ×

१४. जर्मनी के धन-कुबेर की मृत्यु

गत १० एप्रिल के दिन जर्मनी के धन-कुबेर … व्यापार के एकच्छत्र सम्राट् हर ह्यूगोस्टिन की … गई। इस समय यह जर्मनी के सबसे बड़े क्षमता… मनुष्य समझे जाते थे। ह्यूगोस्टिन खुद बड़े भारी … थे। इसके सिवा सिर्फ़ जर्मनी में ही नहीं, … अलावा योरप के लगभग सभी देशों की बड़ी … व्यापारिक संस्थाओं के साथ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप … कुछ-न-कुछ संबंध अवश्य था। यह किसी के स्वत्वा… किसी के कार्यकर्ता, किसी के महाजन, किसी के … किसी के हिस्सेदार और किसी के सलाहकार … एक अँगरेज़ लेखक ने एक मासिक पत्र में, … हुए, इनके संबंध में लिखा था कि यह जिस … नया रोज़गार नहीं सोच पाते, या पुराने रोज़… कोई नई शाखा किसी नई जगह में नहीं खोल…

कम-से-कम व्यापार की उन्नति करनेवाला कोई नहीं निकाल पाते, उस दिन को बिलकुल व्यर्थ समझते हैं। उक्त लेखक के अक्षरशः सत्य होने में हो सकती है, यह अत्युक्ति हो सकती है, लेकिन इसमें संदेह नहीं कि ह्यूगास्टिन एक ज़बर्दस्त बिज़िनिसमैन जर्मनी का यह व्यवसायी रोज़गार और उससे कमाए अपरिमित द्रव्य की बदौलत राजनीतिक क्षेत्र में भी बड़ी क्षमता रखता था। राजनीति में इनका इतना प्रभाव था कि जर्मनी के प्रथम श्रेणी के कोई भी मिलकर इनकी बराबरी नहीं कर सकते थे। ह्यूगोस्टिन ही वर्तमान में कार्यतः जर्मनी के विधाता माने थे। योरप-भर में ह्यूगोस्टिन का व्यापार फैला हुआ, इस कारण उनका अधिकांश समय यात्रा में ही था। रोज़ उनके नाम की चिट्ठियाँ और तार आते थे कि एक लेखक ने दिल्लगी के तौर पर लिखा —समग्र जर्मनी में जो दैनिक डाक आती-जाती है, आधा हिस्सा ह्यूगोस्टिन की डाक होती है। रूर- की कोयले की खानों में से अधिकांश के मालिक ह्यूगोस्टिन थे। इसी कारण फ़्रेंच लोगों ने रूर पर दख़ल के बाद ह्यूगोस्टिन को क़ैद कर अन्य खानवालों को में करने की चेष्टा की थी। पर उन्हें सफलता नहीं। कुछ दिन बाद ह्यूगोस्टिन छोड़ दिए गए थे; लेकिन दिन वह जेल में रहे, उतने ही समय में उनको भारी आर्थिक हानि उठानी पड़ी। ह्यूगोस्टिन इतने धनी होने पर भी आलसी या आरामतलब नहीं। वह पक्के बनिए की तरह, हज़ारों नौकर-चाकरों के पर भी, ख़ूब मेहनत करते थे। वह बहुत रात गए काम करते थे। फिर भी रात रहते ही सोते से उठ- तार पढ़ना या टेलीफ़ोन में वार्तालाप करना पड़ता। जर्मनी के राष्ट्रनायक को भी इतनी देखभाल न पड़ती होगी, इतने काम न करने पड़ते होंगे, न सोचना पड़ता होगा, जितना ह्यूगोस्टिन को। पर भी व्यापार को बढ़ाने के लिये वह सदा उत्सुक थे। उनके जीवन का मूल मंत्र था—will to या will to power, और इसी से वह की अर्थनीति, व्यापारनीति अथवा राष्ट्रनीति, क्षेत्रों में नेतृत्व करते रहे। प्रत्यक्ष रूप से देश की से कोई संबंध न रखकर भी, वास्तव में वही वर्तमान जर्मनी की राष्ट्रनीति के संचालक हो रहे थे। वह नवीन जर्मनी को सदा यही उपदेश दिया करते थे कि वाणिज्य बढ़ाकर ही जर्मनी बड़ा हो सकेगा, और धन की शक्ति ही से वह संपूर्ण जगत् को परास्त कर सकेगा। उनके शत्रुओं को भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वह पृथ्वी के एक अद्वितीय मनीषी, क्षमताशाली और योग्य पुरुष थे। ईश्वर उनकी आत्मा को शांति दें।

× × ×

१५. क्लास-एरिया-बिल स्थगित

दक्षिण आफ़्रिका की पुरानी राष्ट्र-सभा तोड़ दी गई। साथ ही वे सब बिल भी स्थगित कर दिए गए, जिनकी आलोचना हो रही थी, और जो पास होनेवाले थे। इन्हीं बिलों में क्लास-एरिया-बिल भी था, जो दक्षिण आफ़्रिका से काले हिंदुस्तानियों को प्रकारांतर से निकाल देने के लिये बनाया जा रहा है, और जिसका विशेष विवरण हमारे पाठक अन्य दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में अवश्य ही पढ़ चुके होंगे। मंत्री डंकन साहब ने दूसरी बार इस बिल की आवृत्ति होने के समय अपनी स्पीच में कहा कि प्रवासी भारतीय ट्रांसवाल, नेटाल आदि स्थानों में गोरे लोगों को दबाए लेते हैं, इसी कारण रक्षा की सावधानता के लिये यह क्लास-एरिया-बिल उपस्थित किया गया है। हिंदुस्तानी लोग दिन-दिन काम-काज में, व्यापार में, होशियार होते जा रहे हैं, जिससे गोरे लोगों की अवस्था संकट-पूर्ण होने का उपक्रम हो रहा है। इसीलिये इस बिल की आयोजना की गई है। साहब ने अपने भाइयों के हृदय का भाव स्पष्ट ही कह दिया है। मितव्ययी भारतीयों की बराबरी गोरे नहीं कर सकते। वे उनके बराबर मेहनत भी नहीं कर सकते। इसीलिये भारतीयों पर यह वार किया गया है। मंत्री महाशय ने यह भी कहा कि इस बिल के उपस्थित करने का उद्देश्य यह नहीं है कि भारतीय लोग गोरों के समाज से मिल-जुल न सकेंगे। यह बिल केवल इसलिये बनाया जा रहा है कि भारतीयों के रहने की और शिक्षा की व्यवस्था अलग हो जाय। अर्थात् गोरे महाप्रभुओं का कहना यह है कि क़ानून से तुम अलग कर दिए जाओगे। हाँ, अगर हमारी मर्ज़ी हुई, या हमें किसी काले की ज़रूरत हुई, तो हम

उसे अपनी हद में आने भी देंगे । बैरा आदि की ज़रूरत रहेगी न, इसीलिये ! आगे चलकर आप फ़रमाते हैं— निग्रो लोगों ने अमेरिका में जो दशा उपस्थित कर दी है, वही अवस्था नेटाल में भारतीयों के द्वारा उपस्थित हुई है । अमेरिकनों ने क़ानून के द्वारा अवश्य सबको समानाधिकार दिया है, परंतु उनका समाज कार्यतः एक निग्रो, भारतीय, चीनी, यहाँ तक कि जापानी तक को अपने समान अधिकार देना नहीं चाहता । ठीक है, कोई ख़ुशी से थोड़े किसी को बराबरी का अधिकार देता है । बराबरी का अधिकार तो ज़बर-दस्ती प्राप्त किया जाता है । प्रबल लोग लाचार होने पर ही निर्बल को उसका जन्मसिद्ध बराबरी का अधिकार देते हैं । यहाँ पर मंत्री महाशय यह कहना भी नहीं भूले कि समानाधिकार तो भारत में भी सब भारतीयों को नहीं प्राप्त हैं । बात सच है, मगर न्यायनिष्ठा से नहीं कही गई, अपनी बचत का बहाना ढूँढ़ा गया है । मंत्री महाशय को मालूम होना चाहिए कि अब युग पलट गया है । अन्याय और अंधा-धुंध अंधेर कहीं भी अधिक समय तक नहीं टिक सकता । भारत में भी इस विषमय विषमता के विरुद्ध तीव्र विद्रोह सिर उठा रहा है, और बहुत शीघ्र ऐसे दबाए गए लोग अपने उचित अधिकार प्राप्त कर लेंगे । वैसे ही दक्षिण आफ़्रिका आदि में भी, लाख क़ायदे-क़ानून गढ़े जायँ, अब यह ज़बरदस्ती नहीं चल सकती । वहाँ के प्रवासी भाई अंत तक ऐसे अन्याय के विरुद्ध लड़कर अपने अधिकारों की रक्षा करेंगे । अंत में मंत्री ने, गोरी-जातियों की प्रकृति के अनुसार, यह धमकी भी दी कि भारतीय लोग दक्षिण आफ़्रिका में विरोध करके, या कोई बाधा उपस्थित करके, गोरे लोगों को इस महत्कार्य से निवृत्त न कर सकेंगे । मंत्री महाशय कुछ कहें, हम जानते हैं कि श्रीमती सरोजिनी देवी की फटकार का यह फल है कि जेनरल स्मट्स ने राष्ट्र-सभा-भंग करके इस बिल को कुछ दिन के लिये स्थगित कर दिया है । हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इस समय बिल स्थगित हो जाने पर भी आफ़त जैसी-की-तैसी बनी हुई है । राष्ट्रसभा का नया चुनाव होते ही फिर यह बिल उपस्थित किया जायगा, और शायद पास भी हो जायगा । अब की बार के निर्वाचन में वहाँ के राष्ट्रीय दल का बहुमत होना ही अधिक संभव है । मगर भारतीयों के लिये सब बराबर हैं, चाहे वर्तमान गवर्नमेंट का दल ही फिर प्रबल रहे. और चाहे राष्ट्रीय दल के हाथ में शासन-सूत्र आ जाय । न वर्तमान गवर्नमेंट के (जेनरल स्मट्स के) दल से कुछ भलाई की आशा है, और न राष्ट्रीय दल से ही । राष्ट्रीय दल के नेता जेनरल हार्जग ने तो उस दिन अपनी वक्तृता में स्पष्ट ही कह दिया है कि चाहे भारतवासी हों, और चाहे आफ़्रिका के आदिम अधिवासी, दोनों ही काले आदमी हैं और वे गोरों के मुक़ाबिले में समान अधिकार पाने की आशा नहीं कर सकते । दोनों को चाहिए कि अपनी-अपनी विशिष्टता के साथ, अपने-अपने दायरे में रहकर सुखी होने की चेष्टा करें । इन मदांध गोरों से न्याय या अधिकार पाने की आशा-मरीचिका छोड़कर प्रवासी भारतवासियों को शांतिमय प्रतिकार के सहारे अपने अधिकारों की रक्षा करनी चाहिए । भारतवासियों को भी इस संग्राम में पूर्ण रूप से प्रवासी भाइयों का साथ देना उचित है ।

× × ×

१६. मंदिरों और तीर्थों की शोचनीय स्थिति

हिंदुओं के तीर्थ अगणित हैं । देव-मंदिरों का तो कुछ शुमार ही नहीं है । पर उनकी स्थिति बड़ी ही शोचनीय हो रही है । जो स्थान पुण्य-स्थान माने गए हैं, वे इस समय पाप-पूर्ण हो रहे हैं । तीर्थों के अधिकारी, पंडे, महंत या पुजारी अधिकांश निरक्षर और इसी कारण असच्चरित्र हो गए हैं । हिंदुओं में धार्मिक श्रद्धा और भक्ति के भाव चाहे जितने क्षीण हो गए हों, पर अब भी भारत के तीर्थों और मंदिरों में लाखों रुपए चढ़ते रहते हैं । इसके अतिरिक्त अनेक तीर्थ-स्थानों और मंदिरों के लिये प्राचीन धर्मात्माओं की दी हुई संपत्ति भी थोड़ी नहीं है, जिसका उपभोग करनेवाले अधिकांश जीव बहुत ही अधःपतित हो गए हैं । इन लोगों का हाल लिखते लज्जा आती है ; तीर्थों और देव-स्थानों में होनेवाले कुकृत्यों की नग्न बीभत्स मूर्ति पाठकों के आगे उपस्थित करते लेखनी रुक जाती है । जो लोग ऐसे स्थानों में आते-जाते रहते हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है । ऐसे तीर्थों अथवा मंदिरों के अनाचारी, व्यभिचारी, नशेबाज़, राजसी ठाट से रहनेवाले अधिकारी धार्मिक ... करते हैं । धन तो लूटते ही

है, कभी-कभी इज़्ज़त पर भी हाथ फेर देते हैं। अब अवस्था ऐसी आकर उपस्थित हुई है कि कार्यकर्ताओं को आगे आकर यह प्रश्न अपने हाथ में लेना चाहिए। जितना धन पंडों और महंतों के भोग-विलास में व्यर्थ नष्ट हो रहा है, उससे बड़े-से-बड़े देश-हित के काम चलाए जा सकते हैं। पंडों और महंतों को एकदम हटा देने के लिये हम नहीं कहते ; क्योंकि यह हमें ठीक नहीं जँचता। इसमें कटुता और कलह बढ़ने का भी भय है। हमारा अभिप्राय यही है कि शत्रु बनकर उन्हें हटाने की अपेक्षा मित्र बनकर उनका सुधार करना ही श्रेयस्कर होगा। पंडों और महंतों को अगर अच्छी शिक्षा दिलाने का प्रबंध किया जाय ; हमारा जागरण देखकर अगर वे यह समझने लगें कि हिंदू-जाति अब सो नहीं रही है, यदि हम उच्छृंखल आचरणों को न छोड़ेंगे, तो इन स्थानों और मंदिरों पर हमारा अधिकार नहीं रहेगा, कोई हमें एक पैसा भी न देगा ; अगर उनको कार्यतः यह दिखला दिया जाय कि वे तीर्थों और देव-मंदिरों के सेवक-मात्र हैं, इन स्थानों का चढ़ावा उनकी निजी संपत्ति नहीं है, वह उन स्थानों की मरम्मत और देव-सेवा आदि के लिये अर्पण किया जाता है, वे उससे केवल अपना ग्रासाच्छादन चला सकते हैं ; इस प्रकार यदि पंडों और महंतों में कर्तव्य-ज्ञान जाग्रत् किया जाय, तो यह सवाल बहुत सहज में हल हो सकता है। कलकत्ते के पास श्रीतारकेश्वर महादेव के मंदिर का प्रबंध पब्लिक ने जिस तरह अपने हाथ में ले लिया है, और वहाँ के महंत सीधे हो गए या हो रहे हैं, उसी तरह सर्वत्र प्रबंध होना चाहिए। अदालत में मुक़द्दमेबाज़ी करके पब्लिक के रुपयों से वकीलों की जेबें भरना हमें उचित नहीं प्रतीत होता। इसकी अपेक्षा शांति-पूर्ण सत्याग्रह करके या चढ़ावा बंद करके, ऐसे सर्व-साधारण के स्थानों पर हिंदू-जाति के नेताओं को पंचायती प्रबंध कर देना चाहिए। किसी एक स्वामी या २-४ आदमियों के हाथ में प्रबंध रहने से फिर वही गड़बड़ आगे चलकर उपस्थित होगी। जैसे अकाली लोग गुरुद्वारों का सुधार कर रहे हैं, मुसलमान भाई मसजिदों का प्रबंध कर रहे हैं, वैसे ही हिंदुओं को अपने तीर्थों और मंदिरों का उद्धार और सुधार करने के लिये यथासंभव शीघ्र आगे आना चाहिए। इस प्रकार उन बड़े-बड़े तीर्थों और मंदिरों का प्रबंध अपने हाथ में लेने से, जिनकी आमदनी या संपत्ति हज़ारों-लाखों रुपए है, फिर उन जीर्ण-शीर्ण देवालयों या तीर्थों की मरम्मत बहुत आसानी से की जा सकेगी, जिनमें न पैसे की आमदनी है, और न कुछ संपत्ति ही लगी हुई है। ऐसे अनेक देवालय हैं, जो आज ही कल में गिर पड़नेवाले हैं, जिनकी मूर्तियों पर कोई कभी एक लोटा जल चढ़ाने नहीं आता, जिनमें शाम को घड़ी-दो घड़ी के लिये भी दीपक नहीं जलता, और जिनको कुत्ते आदि जीव मल-मूत्र से अपवित्र किया करते हैं। उनकी भी मरम्मत और सेवा-पूजा का प्रबंध होना चाहिए। हमें आशा है, प्रत्येक तीर्थ और बड़े-बड़े मंदिरों के निकट रहनेवाली हिंदू-जनता इस कार्य की ओर अवश्य ध्यान देगी।

× × ×

१७. युक्त-प्रांत का शिक्षा-विभाग

युक्त-प्रांत के शिक्षा-विभाग का १९२३-२४ का विवरण इस प्रकार है—इस वर्ष यहाँ के स्कूल-कॉलेजों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या १०,८०,९९१ रही। अर्थात् गत वर्ष से ५०, ००० विद्यार्थी बढ़े। युक्त-प्रांत की जन-संख्या में यह विद्यार्थियों की संख्या केवल २·३८ फ़ी सदी रही। इस वर्ष शिक्षा में सरकार ने १,९९,८७,००० रुपए ख़र्च किए। यह रक़म सरकार की आमदनी का ५·७ फ़ी सदी अंश है। इलाहाबाद-युनिवर्सिटी शिक्षा देने का काम करती है, अपनेसे संयुक्त स्कूल-कॉलेजों की देखरेख भी करती है, और परीक्षा भी लेती है। इससे उसके कामों में देर हो जाया करती है। अतएव, प्रांतीय व्यवस्थापक सभा की सलाह के अनुसार, सरकार ने आगरा-युनिवर्सिटी स्थापित करने का विचार किया है। उसके लिये एक कमेटी बनाने की योजना हो रही है। ऐसा करने से इलाहाबाद-युनिवर्सिटी का काम घट जायगा। शिक्षा-विभाग के सन् १९२१ के विधान के अनुसार १ एप्रिल, सन् १९२२ से युक्त-प्रांत के स्कूलों तथा इंटरमीजिएट-कॉलेजों के निरीक्षण का काम बोर्ड ऑफ़ हाई स्कूल ऐंड इंटरमीजिएट एज्यूकेशन के अधीन कर दिया गया है। आजकल प्रांत-भर में १४ इंटरमीजिएट-कॉलेज हैं, जिनमें ८ सरकारी हैं, ५ सरकारी सहायता पानेवाले हैं, और एक ऐसा है, जो सरकारी सहायता नहीं लेता। हिसाब लगाकर देखा गया है कि सरकारी स्कूल को इंटरमीजिएट-

कॉलेज कर देने में २५,०००) वार्षिक के हिसाब से अधिक ख़र्च होता है। सरकारी सहायता पानेवाले स्कूल को इंटरमीजिएट-कॉलेज बनाने में ११,०००) वार्षिक अधिक ख़र्च का औसत बैठता है। स्कूलों को इंटरमीजिएट-कॉलेज बनाने में कुछ रुकावटें देख पड़ती हैं। यथा—इं० सी०-कॉलेजों में वैज्ञानिक शिक्षा ठीक तरह से देने में योग्य शिक्षक और उपयुक्त प्रयोगशाला का अभाव भारी बाधा है। इसी तरह नीची श्रेणी और ऊँची श्रेणी की कक्षाएँ एक जगह करने में नैतिक दृष्टि से हानि देख पड़ती है। व्यवस्था में भी कठिनता उपस्थित होती है। शायद शिक्षालय का अध्यक्ष उच्च कक्षाओं पर अपना विशेष ध्यान रख सकेगा, जिससे निचली कक्षाओं का यथायोग्य निरीक्षण न हो सकेगा। परंतु सरकार का कहना है कि वह जल्दबाज़ी में आकर कोई रद्दोबदल नहीं करना चाहती। इस प्रश्न पर विशेष रूप से विचार करके तदनुसार कार्य किया जायगा। वर्नाक्युलर स्कूलों में क्रमशः अँगरेज़ी पढ़ने का चलन बढ़ता जा रहा है। इन स्कूलों में कृषि-शिक्षा देने के प्रबंध का प्रश्न भी सरकार के सामने उपस्थित है। ८ म्युनिसिपलिटियों में छः से ग्यारह साल की आयु तक अनिवार्य शिक्षा का नियम प्रचलित किया गया है। मगर लड़के स्कूलों में कम हाज़िर रहते हैं। युक्त-प्रांत में जितनी स्त्रियाँ हैं, उनमें से सिर्फ़ ४·७ फ़ी सदी लड़कियाँ इस समय शिक्षा प्राप्त कर रही हैं। मकतबों और इसलामिया स्कूलों में ४,००० से अधिक लड़के इस वर्ष तालीम पा रहे हैं। प्राइमरी और इंटरमीजिएट-स्कूलों में १,५५,६२८ मुसलमान-लड़के पढ़ते हैं। गत वर्ष इनकी संख्या १,४७,७३५ थी। अर्थात् ३·४ फ़ी सदी उनकी संख्या बढ़ी है। उक्त स्कूलों में हिंदू-विद्यार्थी गत वर्ष की अपेक्षा ५·६ फ़ी सदी बढ़े हैं। वर्नाक्युलर-स्कूलों में भी ब्वॉयस्काउट का प्रचार वृद्धि को प्राप्त हो रहा है। अस्पृश्य जातियों के बालकों को शिक्षा देने का विशेष उद्योग किया जा रहा है। उन्हें काफ़ी स्कॉलरशिप देने का प्रबंध भी है। म्युनिसिपल हद के बाहर नाइट-स्कूल खोलने में भी यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त हुई। केवल ६ म्युनिसिपलिटियों में कुछ-कुछ सफलता हुई है।

\+ × ×

१८. फाल्गुन की संख्या का माधुरी-पुरस्कार

फाल्गुन की संख्या का ५०) रुपए का माधुरी-पुरस्कार पं० गुलाबरत्नजी वाजपेयी को दिया गया है। इस बार निर्णयकर्ता थे पं० कृष्णविहारी मिश्र, पं० बद्रीनाथ भट्ट, और पं० श्यामविहारी मिश्र। पं० कृष्णविहारी मिश्र और पं० श्यामविहारी मिश्रजी की सम्मति 'माधुरी' के लेखक "गुलाब" के लिये है, और भट्टजी की सम्मति 'दुर्लभ' के लेखक पं० जयनारायण झा के लिये। इस बार कंपिटीशन में 'विनोद', 'मालती', 'दुर्लभ', 'नैराश्य' और 'प्रेमी की समीर से प्रार्थना', ये ५ कविताएँ रक्खी गई थीं।

× × ×

१९. कुछ जानने लायक़ बातें

१—गत वर्ष (१ एप्रिल, १९२२ से ३१ मार्च, १९२३ तक) भारत ने विदेशों के साथ माल मँगाने और भेजने का व्यापार अच्छा किया। उसका ब्योरा इस प्रकार है—भारत ने विदेशों से, साल-भर में कुल २ अरब ३२ करोड़ ७० लाख ७६ हज़ार ८९३ रुपए का माल मँगाया। इसमें १ अरब ५६ करोड़ ३१ लाख रुपए के लगभग क़ीमत का माल ब्रिटिश-साम्राज्य के देशों का ही था। भारत ने अपना माल २ अरब ९९ करोड़ १६ लाख १९ हज़ार ३२२ रुपए का बाहर भेजा। इसी तरह १५ करोड़ रुपए से अधिक का विदेशी माल भारत के द्वारा दूसरे देशों को भेजा गया। भारत से ८२ करोड़ रुपए का माल अधिक भेजा गया, जिसके बदल में भारत ने ६३ करोड़ रुपए से अधिक का सोना और चाँदी बाहर से मँगाई।

२—गत वर्ष विदेशों से भारत में जो विदेशी माल आया, उसमें कपड़े का ब्योरा इस प्रकार है—१ करोड़ २७ लाख ४० हज़ार २९० रुपए के सिले हुए कपड़े, ७० करोड़ १३ लाख २ हज़ार ३२ रुपए के सूती कपड़े, ३ करोड़ १६ लाख ५४ हज़ार ४७२ रुपए के रेशमी कपड़े, १ करोड़ ५१ लाख ५६ हज़ार ४३६ रुपए के ऊनी कपड़े, और १ करोड़ ६० लाख ६२ हज़ार ८०० रुपए के और-और मेल के कपड़े आए। अर्थात् कुल मिलाकर ७६½ करोड़ रुपए का विदेशी कपड़ा आया! इन अंकों से साफ़ ज़ाहिर है कि खद्दर का प्रेम तथा प्रचार घटते-घटते इस स्थिति को पहुँच गया है कि विदेशी कपड़ा फिर पूर्व परिमाण में आने लगा है। खद्दर या स्वदेशी कपड़े के मुक़ाबिले में विलायती कपड़े का सस्ता होना भी

शायद इसका अन्यतम कारण है। कुछ भी हो, भारत के लिये खेदजनक समाचार है।

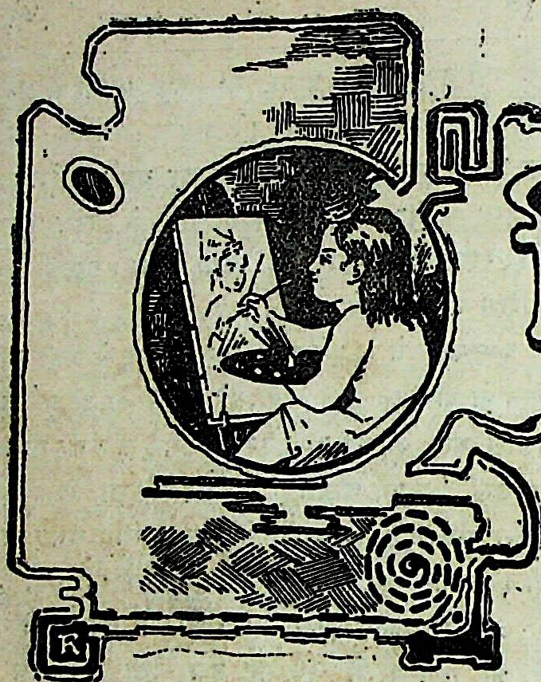
३—आसाम की पहाड़ी उपत्यका में जो 'पट्टे' (अफ़ीम की दूकानें) हैं, उनके लिये सरकार ने सन् १९२०-२१ में १९६५ मन ३१ सेर, सन् १९२१-२२ में १२८६ मन २८ सेर, सन् १९२२-२३ में १०३१ मन २४ सेर अफ़ीम भेजी। इसी तरह सन् १९२३-२४ के लिये ९७६ मन ८ सेर और सन् १९२४-२५ के लिये ९२९ मन अफ़ीम देना निश्चित हुआ है। इससे जान पड़ता है, सरकार दिन-दिन वहाँ अफ़ीम का प्रचार कम करती जा रही है। सन् १९२१ में मौज़ादारों की रिपोर्ट के अनुसार वहाँ अफ़ीम खानेवाले ७३,५४० आदमी थे। सन् १९२२ में उनकी संख्या बढ़कर ७९,५७४ हो गई। पट्टेदारों के रोज़नामचों में अफ़ीम ख़रीदनेवालों की संख्या सन् २१ में १,२८,१९१ थी, और सन् १२ से १,१९,१९८ हो गई है।

४—इटली के एक इंजीनियर ने एक हवाई जहाज़ बनवाना शुरू किया है। यह ४२६ फ़ीट लंबा, १९३ फ़ीट चौड़ा और ६० फ़ीट ऊँचा होगा। इसमें ५०,००० पौंड की लागत बैठेगी। यह फ़ी घंटे १२५ मील की चाल से चलेगा। इसमें २०० आदमियों सहित बहुत-सा माल लादा जा सकेगा।

५—मिस्टर ग्रिंडेल माथ्यू साहब ने एक नया वैज्ञानिक आविष्कार किया है। इस नए आविष्कार की विशेषता यह है कि नवाविष्कृत किरणें डाल कर बहुत दूर से मनुष्य-हत्या की जा सकेगी। अगर यह आविष्कार ठीक यही गुण रखता होगा, तो जान पड़ता है, अब महायुद्ध आदि का होना बंद हो जायगा; क्योंकि दोनों पक्ष परस्पर एक दूसरे से डरेंगे। मगर यह भी संभव है कि इस आविष्कार का प्रतीकार करने के लिये अन्य कोई रक्षक आविष्कार भी किया जाय। इसके लिये कोशिश भी की जाने लगी है।

६—कलकत्ते के एक मुसलमान ग्रेजुएट ने बड़ी मुशकिल से बी० ए० पास किया, तो बेचारे को दो वर्ष तक तलाश करने पर भी ३०) रुपए मासिक तक की नौकरी न मिली! उसने अत्यंत दुःख और निराशा से पीड़ित होकर रजिस्ट्रार के पास अपने हाल के साथ सनद लौटा दी। लिखा—इस डिग्री का मूल्य एक पैसा भी नहीं है!

७—सिंध की सरकारी गोशाला में एक ऐसी गऊ है, जो दिन-भर में १७ सेर दूध देती है। सिंध की गऊएँ यों भी साधारणतः अधिक दूध देती हैं। इधर जब से सरकारी एनिमल ब्रीडिंग डिपार्ट ने मलिर और लंधी नाम के स्थानों की गोशालाएँ अपने अधिकार में ले ली हैं, तब से वहाँ की गऊएँ रोज़ाना ७¾ सेर अधिक दूध देने लगी हैं। मलिर-गोशाला की ६ गऊएँ साल में (३०० दिन में) ५-५ हज़ार पौंड (२,५०० सेर या ६२ मन से भी अधिक) दूध देने लगी हैं। एक गऊ तो १०,००० पौंड (१२५ मन, प्रतिदिन १७ सेर के लगभग) दूध साल में देती है। सुनते हैं, इससे अधिक दूध देनेवाली गऊ भारत क्या, साम्राज्य-भर में नहीं है।



चित्र-चर्चा

१. रंगीन चित्र

पहला रंगीन चित्र 'माधवी' है। इसके चित्रकार श्रीयुत रामेश्वरप्रसादजी वर्मा हैं। इसमें वसंत की शोभा देखकर मुग्ध हो रही माधवी का चित्र बहुत ही सुंदर रूप में अंकित हुआ है। कला की दृष्टि से भी इसका महत्त्व कुछ कम नहीं है।

दूसरा रंगीन चित्र 'श्रीराम-जन्म' है। चित्रकार वही श्रीकाशिनाथ-गणेश खातू हैं। घटना जगत्प्रसिद्ध है। चित्र के नीचे उद्धृत गोस्वामी तुलसीदासजी के छंद की लाइनें पढ़कर देखिए।

तीसरा रंगीन चित्र 'पनिहारिन' का है। इसके चित्रकार श्रीललितमोहन सेन हैं। ग्राम्य दृश्य और पनिहारिन की अंगभंगी दर्शनीय है।

२. व्यंग्य-चित्र

पहला व्यंग्य-चित्र है गर्दभराव और दूसरा हिप्-हिप्-हुर्रे !!! दोनों के चित्रकार हैं श्रीयुत मोहनलाल महत्तो "वियोगी"। दोनों का परिचय उनके नीचे देखिए।

माधुरी

...र्गशीर्ष ३०८, तुलसी-संवत्

Madhuri

December, 1931.

[Under the Supervision of the Court of Wards]



श्रीसुभाषचंद्र बोस

संपादक

रामसेवक त्रिपाठी

वार्षिक मू० ४॥) छमाही मू० २॥) } Newul Kishore Press, Lucknow. { विदेश में वा० १०) एक प्रति का ॥=)

लेख-सूची

पृष्ठ

१. प्रेम (कविता)—[लेखक, श्रीमैथिलीशरण गुप्त ५७७

२. वक्तृत्वकला—[लेखक, श्री० मोहनलाल बड़जात्या ५७८

३. बुँदेलखंड का शार्दूल—छत्रसाल—[लेखक, पं० काशीनाथ शर्मा वैद्य ... ५८५

४. आह्वान (कविता)—[लेखक, श्री० आरसीप्रसादसिंह ५९२

५. 'प्रेमचंद' और 'गल्परत्न'—[लेखक, पं० मातादीन शुक्ल 'सुकवि नरेश' ... ५९३

६. धोखे की टट्टी (कहानी)—[लेखक, श्री० कालीचरण चटर्जी एम्० ए० ... ६००

७. उपहार (कविता)—[लेखक, श्री० भगवतीचरण वर्मा बी० ए० एल्-एल् बी० ... ६०६

८. गुंजार (कविता)—[लेखक, पं० सोहनलाल द्विवेदी बी० ए० ... ... ६०६

९. महात्मा रावण—[लेखक, पं० रामसेवक पांडेय साहित्योपाध्याय ६०७

१०. साहित्य और समालोचना—[लेखक, श्री० चंद्रगुप्त वार्ष्णेय बी० एस्-सी० ... ६१८

११. सौंदर्य (कविता)—[लेखक, राजा श्री० चक्रधरसिंह ६२४

१२. भारतीय भोजन में घी का महत्त्व—[लेखक, श्री० सद्गोपाल एम्० एस्-सी० ६२५

१३. तुलसीदासजी की सुकुमार सूक्तियाँ—[लेखक, श्री० राजबहादुर लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ... ... ६३१

१४. पदार्पण (कविता)—[लेखक, श्री० शंभूदयाल सक्सेना साहित्यरत्न ... ६३८

१५. जीवन के प्रश्न—(कविता)—[लेखक, श्री० द्वारिकाप्रसाद मौर्य बी० ए०, एल्-एल्० बी० ... ... ६३८

१६. कुली शहज़ादा (कहानी)—[लेखक, मुंशी कन्हैयालाल एडवोकेट ... ६३९

यदि आप अपने रोज़ग़ार की धूम मचाना चाहते हैं, तो माधुरी में अपना विज्ञापन छपाइए।

प्रिय महाशय,

यह बताने की आवश्यकता नहीं कि माधुरी एक सर्वोत्कृष्ट, सचित्र हिंदी-मासिक पत्रिका है। अपने नौ वर्ष के ही जीवन में यह—हिंदी की ही नहीं, बरन् सभी भाषाओं की पत्रिकाओं से—लेखों की चुनावट और सजावट में तथा आकार-प्रकार में बाज़ी मार ले गई है। आज माधुरी के दर्शनों के लिये छोटे-से-छोटे साधारण स्थिति के मनुष्यों से लेकर बड़े-से-बड़े राजा-महाराजों तक सभी लालायित हो रहे हैं। यही कारण है कि माधुरी की ग्राहक-संख्या इतनी बढ़ गई है कि जितनी अन्य पत्रिकाओं की शायद ही कभी हुई हो। माधुरी प्रति-मास लाखों मनुष्यों की नज़र से गुज़रती है। विदेशों में भी इसका ख़ूब प्रचार है। अब तो ऐसा कोई देश नहीं रहा, जहाँ माधुरी समुचित संख्या में न जाती हो।

उपर्युक्त कारणों से माधुरी के विज्ञापनदाताओं को भी ख़ूब लाभ हुआ है। माधुरी के स्थायी विज्ञापन-दाताओं को तो विशेष लाभ होता ही है। जिससे वे लोग प्रतिमास चार-चार और छः-छः सफ़े अपना विज्ञापन छपवाते हैं। एक-एक सफ़े प्रतिमास छपनेवालों की संख्या तो बहुत हो गई है। इस प्रकार हर महीने इतना अधिक विज्ञापन छपना, विज्ञापन से विशेष लाभ होने का, एक बड़ा भारी सबूत है। अस्तु, हम आपसे भी सविनय निवेदन करते हैं कि आप भी अपना विज्ञापन इसमें छपवाएँ। कुछ नहीं तो परीक्षा के तौर पर ही, कम-से-कम तीन मास छपाकर अनुभव कर लें। हमें आशा है कि आप इस अवसर को हाथ से जाने न देंगे और उत्तर के साथ अपना विज्ञापन भेजकर हमें कृतज्ञ करेंगे।

नोट——माधुरी के विज्ञापन-रेट तथा नियम नीचे दिए जाते हैं। इसके चार्ज अन्य सामयिक सभी पत्रिकाओं से जो बहुत स्वल्प संख्या में निकलती हैं और जिनका आकार-प्रकार भी बहुत दुबला-पतला होता है, कहीं कम हैं।

निवेदक मैनेजर माधुरी

माधुरी में विज्ञापन-छपाई के रेट

साधारण स्थान के लिये

साधारण पूरा	१ पेज	३०)	प्रति बार
,,	½ ,,	१६)	,,
,,	¼ ,,	१०)	,,
,,	⅛ ,,	६)	,,

विशेष स्थान के लिये

कवर का दूसरा पेज	५०)	प्रति बार
कवर का तीसरा	४५)	प्रति बार
कवर का चौथा	६०)	प्रति बार
रीडिंग मैटर में ½ पेज	३०)	प्रति बार

(कवर के तीसरे चौथे पेज हाल ही में खाली हुए हैं। जो लोग साल-भर के लिये इन्हें लेना चाहेंगे—उनके साथ कुछ रियायत की जाएगी।)

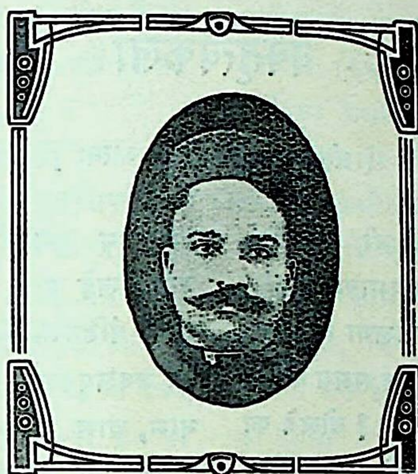
विज्ञापन-छपाई के नियम

तीन मास तक की विज्ञापन-छपाई पेशगी ली जाती है। छपाई का कंट्रैक्ट तीन मास से अधिक होने पर तीन मास की छपाई पेशगी जमा कर देनी होगी; जिसके हिसाब का भुगतान कंट्रैक्ट के अंतिम तीन मासों में किया जायगा।

विज्ञापन तीन मास में एक बार बदला जायगा। जो विज्ञापनदाता प्रतिमास अथवा अधिक-तर अपना विज्ञापन बदलवाना चाहेंगे, उन्हें कंपोज़िंग चार्ज अधिक देना होगा। यह प्रथम ही तय कर लिया जायगा।

ख़ास रियायत

जो विज्ञापनदाता पूरे साल-भर की छपाई पेशगी देंगे, उन्हें १२॥) फ़ी सदी और जो केवल छः मास की पेशगी देंगे, उन्हें ६।) फ़ी सदी उपर्युक्त रेट में कमी कर दी जायगी।



संस्थापक—स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव
अध्यक्ष—श्रीरामकुमार भार्गव, श्रीतेजकुमार भार्गव

वर्ष १०
खंड १

मार्गशीर्ष, ३०८ तुलसी-संवत् (१९८८ वि०)

संख्या ५
पूर्ण संख्या ११३

प्रेम

[कविवर श्रीमैथिलीशरण गुप्त]

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा ! दीपक भी जलता है।

सीस हिलाकर दीपक कहता—
"बंधु, वृथा ही तू क्यों दहता ?"
पर पतंग पड़कर ही रहता,
कितनी विह्वलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बचकर हाय ! पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

कहता है पतंग मन मारे—
तुम महान, मैं लघु, पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाथ हमारे ?
शरण किसे छलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

दीपक के जलने में आली.
फिर भी है जीवन की लाली।
किंतु पतंग-भाग्य-लिपि काली !
किसका वश चलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती—
काम नहीं, परिणाम निरखती,
मुझे यही खलता है;
दोनों ओर प्रेम पलता है।

(अप्रकाशित 'साकेत' से)

वक्तृत्वकला

[श्रीयुत मोहनलाल बड़जात्या]

बोलना भी एक कला है। सो भी ऐसी-वैसी नहीं, किंतु बड़ी महत्त्वपूर्ण और प्रभावशालिनी। कह सकते हैं कि बोलना तो स्वाभाविक है, सब कोई हर समय बोलते ही हैं, फिर इसमें महत्त्व की क्या बात है ? बोलने का अर्थ यदि साधारण बातचीत लें, तो भी कहना होगा कि बोलने बोलने में फ़र्क़ है। एक बोलना तो वह है, जिसके लिए कहते हैं कि वह बोलते क्या हैं, मानों बोते हैं (बात को डबोते हैं); एक बोलना वह है जिससे ग्राहक चट से पट जाता है और लाखों के सौदे बात-की-बात में तय हो जाते हैं। एक बोलते क्या हैं जैसे फूल झरते हैं, तो दूसरे बोलते क्या हैं मानों रोते हैं। इसलिए कहना होगा कि बातचीत में पटु होना एक महत्त्व की बात है। हमें किसी बड़े आदमी से मिलने के लिए जाना है या एक डेपुटेशन भेजना है, तो पहले ही विचार किया जायगा कि किसे भेजें, जो अच्छी तरह बातचीत कर सके। इस प्रकार यह निश्चय है कि बातचीत में निपुण होना भी एक गुण और लाभदायक बात है। पर यह इतनी कठिन या इसमें निपुण होना इतना दुर्लभ नहीं, जितना जनता के सम्मुख बोलना है। एक छात्र है, जो काम पड़ने पर अपने हेडमास्टर या प्रिंसिपल के साथ घंटों बातचीत कर लेगा; पर वह अपने ही सहपाठियों के बीच खड़े होकर बोलने में काँपने लग जायगा। एक सेठजी हैं, जो अपने ज़िले के बड़े-से-बड़े अफ़सर-कमिश्नर एवं गवर्नर तक से मिलकर बात कर लेंगे; पर अपनी ही बिरादरी के दस-बीस मनुष्यों में खड़े होकर बोलने के समय उनके होश उड़ जायँगे और "मैं आपके सामने कुछ कहने को यहाँ खड़ा हुआ हूँ—खड़ा हुआ हूँ—" बस यही कहते-कहते बिराजमान होने को बाध्य होंगे। इसी भाँति एक जगह बड़ा मज़ा हुआ। एक सभा में तीन-चार वक्ताओं के भाषण होनेवाले थे; एक महाशय से उन सबका परिचय देने के लिए कहा गया। वह उन वक्ताओं से भली भाँति परिचित थे, पर उठकर खड़े होते ही न-जाने क्या हुआ कि सबके मुँह गये। पंडितजी को लालाजी कह दिया, सहारनपुरवाले को जबलपुरवाले कह दिया और इस तरह उलटा-सीधा नाम, धाम और विषय कहते हुए एक वक्ता के लिए तो कुछ भी कहना ही छोड़ दिया और विचारे ज्यों-त्यों इस बला से पीछा छुड़ाकर अपने स्थान पर बैठे। पढ़े-लिखे होने और एक विषय को भली भाँति जानने एवं उसके तत्त्व और विचार आपके मस्तिष्क में भरे रहने पर भी आप बैठे रहते हैं और वही बात दूसरा वक्ता अपने मुँह से धाराप्रवाह कह जाता है, उसे सुनकर आप अपने मन में दुःख भले ही करें कि अरे, यह तो मैं भी जानता था, मुझे भी मालूम था; पर दुःख करने से क्या होता है। आपमें वक्तृत्व-कला तो नहीं है।

यह कला एक ऐसी कला-शक्ति है, जिसके बल पर देश, राष्ट्र और साम्राज्य बनते-बिगड़ते हैं। यह जनता को अपने पीछे बाँधनेवाली और संसार में स्वाधीनता एवं प्रकाश फैलानेवाली अनूठी शक्ति है। केवल सामाजिक या राजनीतिक क्षेत्रों तक ही इसका प्रभाव सीमित नहीं है, बल्कि धार्मिक क्षेत्र में भी इसकी बड़ी आवश्यकता रहती है। बाइबिल में इसकी बड़ी के उदाहरण भरे पड़े हैं, धर्मगुरुओं को इसका आश्रय लेना पड़ता है और जैनधर्म में वर्णन मिलता है कि तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि (वक्तृता) इस तरह खिरती थी कि उसे झेलने के लिए बहुत-से गणधर होते थे और समवशरण में एकत्र हुए सभी जाति के लोग अपनी-अपनी भाषा में उस दिव्यध्वनि को समझ जाते थे। रोम और ग्रीस इसी से बने। ग्रेट-ब्रिटेन का इतिहास वक्ताओं का मानों एक रजिस्टर है और अमेरिका को इसी के प्रभाव से स्वाधीनता मिली। फ़्रांस ने शताब्दियों की बेड़ियाँ इसी शक्ति से तोड़ीं और इस प्रकार संसार का इतिहास इस शक्ति के महत्त्व

की योग्यता भली भाँति कर रहा है। बात यह है कि प्रभाव वाक्शक्ति लोहे के फाटक ही नहीं, वज्र के भी किवाड़ द्वार तोड़ने का बल रखती है।

प्रायः इस कला की शिक्षा का कहीं पर प्रबंध नहीं देखा गया और न कहीं यह सिखलायी जाती है। गायनकला को ही लीजिए।

शिक्षा

एक भजन के तैयार करने में कितना समय लग जाता है। उसके राग, साज, स्वर और ताल सबको साधना होगा, तब जाकर हम उसे गा सकेंगे। गायन के शब्द और स्वर किसी के भी बनाये हुए हों, हमें उन पर चलना होगा, और साथ में जो वाद्ययंत्र बज रहे हैं, उनका अनुसरण करना पड़ेगा। किंतु एक वक्ता को अपने ही शब्द काम में लाने पड़ते हैं और उसकी बोली ही उसका राग है। उसका ध्येय, जिन सैकड़ों हज़ारों व्यक्तियों के सामने वह बोल रहा है उनका मनोरंजन करना ही नहीं, बल्कि उन्हें अपनी बात सुनाकर उस पर दृढ़ करने और बाँध लेने का है। कितने आश्चर्य की बात है कि एक सिद्धवक्ता को इस बात के लिए अपनी आवाज़ के विचार या किसी तरह के अभ्यास और वह क्या और कैसे कहने जा रहा है इस बात के पूर्व-निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अतः यह स्पष्ट है कि गायनकला से वाचनकला कितनी अधिक महत्त्वशालिनी है। गायनकला एक मनोहर कला है, पर वक्तृत्वकला विश्वासोत्पादक कला है। वक्तृता का मूल्य श्रोताओं पर पड़नेवाला प्रभाव ही है। आश्चर्य ही नहीं, प्रत्युत दुःख की बात है कि जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करनेवाला एक नवयुवक सब कलाओं की सिरमौर इस कला की उपेक्षा कर जाता है। स्कूलों और कालेजों में और सब विषय सिखाये जाते हैं; जिनका जीवन में कभी काम न पड़े ऐसी परदेशी भाषाएँ, प्राचीन इतिहास एवं उच्च गणित के तत्त्व और सिद्धांत सिखाये जाते हैं। पर जिस बात की आवश्यकता प्रतिक्षण, पग-पग पर पड़ती है, उसकी शिक्षा, कला के रूप में, कहीं नहीं दी जाती। साधारणतः मनुष्य की बोली या बातचीत उसके स्वभावाधीन है, पर उसे सुधारने या उन्नत बनाने के लिए वह कभी चेष्टा नहीं करता और न शब्दों की परिभाषा, क्रम, उद्गम और उनके पर्यायवाची शब्द एवं एकार्थवाची शब्दों के अर्थ में भेद एवं स्थानांतर में उनके उपयोग किस प्रकार अधिक सुंदर जँचते हैं आदि बातों का कभी विशेषरूप से अध्ययन किया जाता है। एक तो हमारी उस योग्यता और प्रवीणता में जिसका उपयोग कभी-कभी अवसर पड़े होता है, और एक उसमें जो कि बोलने की शक्ति के समान हर समय और हर जगह काम आती है, कितना अंतर है? किसी भी कला, विद्या या साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण में वर्षों भले ही लगा दिये जायँ, पर बोलने की कला की इतनी उपेक्षा कर दी जाती है कि उसके कारण समाज या सभा-सोसाइटी में कहीं भी कुछ गिनती नहीं रहती। हम अपने काम-काज, व्यापार-व्यवसाय में चाहे कितने ही बड़े और कुशल हों; किंतु यदि समाज में मुँह खोलने लायक़ भी नहीं हैं, तो क्या यह दुःख की बात न होगी? क्या यह बात अच्छी होगी कि एक व्यक्ति जिसमें आपकी योग्यता का दसवाँ भाग भी नहीं है, बोलने का ठेकेदार बना रहे और आपको चुपचाप एक कोने में बैठे रहना पड़े?

यदि हममें अपने विचारों को साफ़-सुथरी भाषा में व्यक्त करने की शक्ति है और हमारी बोली में यह प्रभाव है कि हम जनता को अपने विचारों में बाँध सकते हैं, तो समझिए कि हमारे पास यह एक बड़ा भारी शस्त्र है। यदि हमारे पास वक्तृत्व-शक्ति है, तो हमें अपना डंका पीटने की आवश्यकता नहीं, लोग अपने-आप आदर करेंगे।

वक्तृत्व-शक्ति

एक समय की बात है—एक सभा में किसी विषय पर मतभेद हो गया और वोट लेने की नौबत आ गयी। सभापतिजी कहते थे कि वोट ले लिये जायँ और एक ओर की जनता वोट लेने के पूर्व एक व्यक्ति को बोल लेने के लिए ज़ोर दे रही थी। एक आदमी ने सभापतिजी से जाकर कहा कि बोल लेने दीजिए, इसमें क्या हर्ज है! सभापतिजी जानते थे कि उस व्यक्ति को बोलने देने का यह फल होगा कि अभी जिस पक्ष में अधिक वोट आने की आशा है, वह आशा फिर हवा हो जायगी। बात हुई भी यही। कहनेवाले ने बहुत थोड़ी देर कहा, पर वह इस प्रकार युक्ति-युक्त और प्रभावोत्पादक रीति से कि उपस्थित जनता के विचारों में खलबली मच गयी और इधर के वोट उधर हो गये।

देखा गया है कि बहुतों को, बोलने के लिए कहे जाने पर उठकर खड़े होने की, हिम्मत नहीं होती। माना कि आप बड़े आदमी हैं, आपने कई पुस्तकें लिखी हैं और कई नवीन अन्वेषण एवं आविष्कार किये हैं; पर यदि आप बोलने में डरपोक और कमज़ोर हैं, तो आपमें बड़ी भारी कमी है। बहुत-से मनुष्य, यद्यपि उन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं, एक साधारण सभा में प्रस्ताव रखने तक को खड़े नहीं हो सकते। उन्हें स्वयं अपनी बोली का डर लगता है। खड़े होने पर ऐसा अनुभव होता है, मानों एक समुद्र के किनारे खड़े कर दिये गये हों और सामने की जनता मानों एक प्रचंड समुद्र ही हो। देह काँपने लग जायगी, पसीना आ जायगा और जान पड़ेगा, मानों एक बड़ी भारी बला में फँस गये हों। ऐसे मनुष्य क्या बोल सकते हैं और कैसे जनता का आकर्षण कर सकते हैं? खड़े होने पर ऐसी दशा की बात जाने दीजिए, बहुत-से ऐसे भी हैं, जो कई बार विचार करते हैं, पर खड़ा नहीं हुआ जाता। अपने ही मन में जो विचार भरे पड़े हैं, वही दूसरे कह जाते हैं, एक-एक करके कई वक्ता बोल जाते हैं; पर वह यों ही खड़े होते-होते रह जाते हैं। फिर विचार करते हैं कि अब की बार खड़े होंगे, किंतु न-जाने क्या हो जाता है कि उठते ही रह जाते हैं और इस तरह मामला ख़त्म हो जाता है। अमुक ने यह कहा, अमुक का भाषण बड़ा ज़ोरदार हुआ—आदि समाचार चारों ओर फैल जाते हैं और पत्रों में ख़बरें छप जाती हैं, पर आप मीटिंग में उपस्थित थे, इस बात का कहीं उल्लेख तक नहीं आता। इसलिए यदि आप वक्ता बनना चाहते हैं, तो आपको उठ खड़े होने में देर नहीं करना चाहिए। कोई दूसरा खड़ा न हो जाय, इसके पहले ही आप खड़े हो जाइए। बोलने के लिए कहे जाने पर खड़ा न होना या किसी भाँति पीछा छुड़ाना तो अपमानजनक समझिए। इस प्रकार पहलेपहल खड़ा होना सीखिए।

खड़े होने का साहस

खड़े होने पर जो आपके दिल में है, वह बेधड़क होकर बोलिए, और इस बात की कुछ परवा न कीजिए कि आप क्या और कैसा बोल रहे हैं। आप कदाचित् यह कहें कि खड़े होकर अच्छा न कहने से तो खड़ा न होना और चुपचाप बैठे रहना ही अच्छा है। यह धारणा ठीक नहीं है। यदि खड़े ही न होंगे, तो किस प्रकार इस कला का अभ्यास करेंगे, और क्या और कैसा कहते हैं, इसका पता कैसे चलेगा? इस काम के लिए सबसे पहली बात दिल से डर निकाल देना ही है, और जहाँ पाँच-सात बार आपने इस तरह साहसपूर्वक काम लिया कि फिर आपको उठाने के लिए किसी के उत्साह या अनुरोध की आवश्यकता न रहेगी। आप स्वयं मौक़ा खोजा करेंगे और देखेंगे कि यह उठने की शक्ति आपमें आ जाने से, बोलने की शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही है। अच्छा वक्ता बनने की इच्छा रखनेवाले को छोटी उम्र में ही उक्त प्रणाली से काम लेना चाहिए। कुछ ही समय के अभ्यास और प्रयत्न से डर, संकोच और हिचकिचाहट मिट जाना पूर्ण संभव है। जो ऊँची उम्र में शुरू करेगा, उसके लिए निडर और साहसी वक्ता बनना कठिन होगा। इसलिए स्कूलों और कालेजों के छात्रों और नवयुवकों के लिए इस तरह की सभाओं और डिबेटिंग क्लबों का होना बड़ा लाभदायक है, जहाँ वे वक्तृत्व-कला का अभ्यास बढ़ाते रहें। इस काम के लिए दिल से घबराहट, संकोच या भय को निकाल देना ही सबसे प्रधान बात है। मुझे बचपन की बात याद है, जब मैंने पूज्य पिताजी से पूछा कि अँगरेज़ी में बोलने का अभ्यास कैसे बढ़ाया जाय। तब उन्होंने यही कहा था कि निडर होकर अँगरेज़ी में बातचीत करो और ग़लतियों का डर न करो, न यही फ़िक्र करो कि सुननेवाला क्या कहेगा। इस बात से उनका उद्देश्य यह नहीं था कि अशुद्धियों की परवा न की जाय या व्याकरण के नियमों की अवहेलना की जाय। तात्पर्य यही था कि मन में डर नहीं रहना चाहिए; क्योंकि डर निकल जाने पर त्रुटियाँ अपने-आप मिट जायँगी और शुद्ध और स्पष्ट भाषा पर अपने-आप आधिपत्य हो जायगा। फिर यह बात तो एक नौसिखिए आरम्भकर्त्ता के लिए है; आगे चलकर उन वक्ताओं के लिए तो भाषा, भाव और शैली आदि न-जाने कितनी बारीकियों पर ध्यान देना आवश्यक होता है।

निडरता और संकोच-शून्यता

घबराने या डरनेवाला वक्ता खड़ा हो जाने पर भी क्या बोल सकेगा? मान लिया कि वह खड़ा हो गया,

पर तो भी वह अपने श्रोताओं का दयापात्र बना होगा। किसी श्रोता ने कुछ मुँह बना दिया, किसी ने जम्हाई ली अथवा कोई दो श्रोता कानाफूसी कर रहे हैं कि बस, इसी से वक्ता के हृदय में बड़ा आतंक छा गया और उसने समझा कि जनता को उसका भाषण पसंद नहीं आ रहा है। बस, इसी डर से बेचारे ने अपना भाषण समेट लिया। समझने की बात है कि श्रोताओं में से ऐसे भी बहुत-से व्यक्ति होना संभव है, जो भाषण से दिलचस्पी न ले रहे हों। ऐसे लोग भी वक्ता के लिए निराशा की कुंजी का काम करते हैं; क्योंकि वक्ता ने किसी का भारी मुँह देखा और उससे अपने भाषण के लिए अच्छा न होने का अनुमान लगा लिया, चाहे पीछे से यही बात सिद्ध हो कि वक्ता का इस तरह का अनुमान या डर निराधार था। बोलते समय इस बात को भाँपते जाना कि श्रोता-समुदाय को अपना भाषण किस प्रकार रुचिकर या अरुचिकर लग रहा है—एक चतुराई की बात है। यह काम निपुण वक्ताओं का ही है, जो इस तरह का सच्चा अनुमान लगा सकते हों; क्योंकि अनुमान ठीक न होने से लाभ के बदले हानि ही होना संभव है। इस बात का ध्यान तो अवश्य रखना चाहिए कि अपने भाषण से जनता कहीं उकता तो नहीं रही है, जनता को हमारा एक भी शब्द पसंद नहीं आ रहा है, या वह चाहती है कि अब अन्य वक्ता को बोलने दिया जाय, और हम अपनी ही लगाये जा रहे हैं।

इस संबंध में यह बात उपयोगी हो सकती है कि उपस्थित जनता में से एक ऐसा चेहरा चुन लिया जाय, जो भाषण से रुचि प्रकट कर रहा हो और फिर मानों उसी के साथ बात कर रहे हैं, इस तरह से बोला जाय। इसका यह अर्थ नहीं कि एक ही श्रोता की ओर आँख गड़ाकर बोला जाय और दूसरी तरफ़ ध्यान ही न दिया जाय, जिससे ठीक सुनायी भी न दे और जनता ऊब जाय। नहीं, इसके लिए क्रमशः चारों ओर मुँह करके बोलना अधिक उपयोगी होगा। आजकल वक्तृता का ऐसा ढंग, जिसमें मानों वक्ता श्रोता-समुदाय से बात कर रहा है, अधिक पसंद किया जाता है, एवं यह प्रणाली अधिक लाभदायक और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई है। आज इस तरह प्राकृतिक ढंग से वार्तालाप के रूप में वक्तृत्वकला के लिए मि० लायड जार्ज का बड़ा नाम है और लार्ड रोज़बरी और मि० चर्चिल के पार्लियामेंटरी ढंग पुराने पड़ गये हैं। मानों आप उपस्थित जनता से बातचीत ही कर रहे हैं, व्याख्यान का यह ढंग अधिक स्वाभाविक, सुगम और लाभदायक सिद्ध हुआ है।

आवाज़

बातचीत करना स्वाभाविक बात है, एवं सभी करते ही हैं। इसमें हम एक या दो-चार के साथ बोलते हैं। इसी प्रकार देखा जाय, तो अधिक जनसमुदाय के सम्मुख बोलना उच्च श्रेणी का वार्तालाप क्यों न कहा जाय। इसमें एक यह तर्कना उठ सकता है कि ज़ोर से बोलना तो स्वाभाविक नहीं है। माना कि बातचीत करना स्वाभाविक है, पर बातचीत की आवाज़ और वक्तृता की आवाज़ में बहुत अन्तर है। इसीलिए कई लोग कह देते हैं कि क्या किया जाय, व्याख्यान के योग्य हमारी आवाज़ ही नहीं है, हम बोलें तो कैसे बोलें। आवाज़ नहीं है, तो उसे बनाना चाहिए। प्रयत्न करने से आपको जान पड़ेगा कि आवाज़ ठीक है, और वह पहले ही से मौजूद भी थी; पर केवल आपके मन के विचाररूपी पर्दे में छिपी हुई थी। बातचीत में साधारण आवाज़ से काम चल जाता है, पर भाषण के समय बहुत तेज़ आवाज़ की आवश्यकता होती है। संभव है, प्रारम्भ में जो कान बातचीत की आवाज़ से परिचित हैं, एक नयी तरह की आवाज़ को न सह सकें, एवं मस्तिष्क चक्कर खा जाय और ऐसा जान पड़े, मानों आपको आपकी ही आवाज़ का डर लगता है। यदि ऐसा हो, तो इसका उपाय यह है कि आपको अपने कानों को तेज़ आवाज़ का आदी बनाना चाहिए। यदि कभी आपने शेर को गर्जते हुए देखा है, तो अनुभव किया होगा कि वह अपने सिर को नीचा कर लेता है और मुँह को थोड़ा-सा खोलकर सामने कैसी आवाज़ फेंकता है। भाषण के लिए तेज़ आवाज़ होना भी एक गुण है और जिस तरह गाने के लिए आवाज़ साधी जाती है, उसी प्रकार वह भाषण के उपयुक्त भी बनायी जा सकती है।

यद्यपि तेज़ आवाज़ की तारीफ़ ही रहती है और बहुत धीमी आवाज़ होने पर जनता का ध्यान वक्ता की ओर आकर्षित रहना कठिन या असंभव है, तो

भी धीमी आवाज़वाले ऐसे वक्ता भी होते हैं, जिनके भाषण को जनता उनके भाव, विचार और तत्वों के कारण ध्यान लगाये हुए सुनती है। इँगलैंड के वक्ता-शिरोमणि एडमंड बर्क (Edmund Burke) की आवाज़ पतली और रोते हुए स्वर की थी। आर०एल्-शील (R. L. Sheil) के भाषण धाराप्रवाह होते थे, पर आवाज़ कड़ी और टूटती हुई होती थी, जो कभी-कभी ऐसी तीव्र हो जाती थी, मानों चीखने की आवाज़ हो। ग्लैडस्टन, रोज़बरी, जोज़ेफ़ पार्कर (Gladstone, Rosebery, Joseph Parker) की-सी आवाज़ सबके लिए वांछनीय है। न-जाने इन लोगों ने अपनी आवाज़ पर कितना ध्यान और परिश्रम किया होगा। लार्ड आक्सफ़ोर्ड (Lord Oxford) की आवाज़ भी बड़ी सुंदर थी, पर उतनी तेज़ नहीं। इसी भाँति मि० बालडविन और मि० रैम्ज़े मेकडानेल्ड (Mr. Baldvin, Mr. Ramsey Macdonald) की आवाज़ भी बड़ी स्वाभाविक और प्रशंसनीय है। जनता को अपनी ओर खींचनेवाले वक्ताओं में प्रधान नाम मि० लायडजार्ज (Mr, Lloyed George) का लिया जाता है। बोली के सुधार और निर्माण के लिए डिमास्थनीज (Demosthenes) का उदाहरण ध्यान देने योग्य है। उसकी आवाज़ में कुछ तुतलापन था, उसे भी उसने मुँह में छोटे-छोटे कंकड़ रखकर बोल-बोलकर मिटा लिया। सभाओं के शोरगुल और गड़बड़ का उसे अभ्यास पड़ जाय, इसके लिए उसने समुद्र किनारे जाकर प्रचंड समुद्र को संबोधन कर भाषण देने का अभ्यास किया, और बाधा-रहित अध्ययन के लिए वह बहुत समय तक गुफा में रहा। इसी तरह जनता के घूरने का उस पर कुछ असर न पड़े अर्थात् जनता यदि उसे घूरे, तो इससे उसे कुछ अड़चन न हो, बल्कि इसका उसे स्वभाव पड़ जाय, इसलिए उसने अपना आधा सिर मुँडवा लिया। निश्चय ही इस तरह के उदाहरण पूर्ण श्रेष्ठता प्राप्त करनेवालों के लिए हैं, जिनका ध्येय यह हो कि जो कुछ किया जाय, पूर्ण शक्ति और उद्योगपूर्वक किया जाय तथा श्रेष्ठता की सीमा प्राप्त की जाय। सर आस्टिन चैंबरलेन (Sir Austin Chamberlain) ने एक जगह कहा है कि उनके पिता जोज़ेफ़ चैंबरलेन (Joseph Chamberlain) अपने भाषणों को तैयार करने में तीन से पाँच दिन अध्ययन में लगा देते थे।

यदि बोलते-बोलते कंठ या ओठों के सूखने की आशं[का] हो, तो इलायची के दाने पास रखने चाहिए या ज[ल] पी लेना भी बुरा नहीं है; क्योंकि लंबे भाषणों के बी[च] में वक्ता जल पीते हुए देखे गये हैं।

नोट या संकेत

सिद्ध वक्ताओं के लिए न तो पहले से किसी प्रका[र] की तैयारी की ज़रूरत रहती है और न नोटों की ही। उनको तत्काल ए[क] विषय बताया गया कि उसी समय खड़े होकर धारा-प्रवाह बोलने लगेंगे, वहाँ देरी का कुछ काम नहीं। भाषण देना अभी जिन्होंने शुरू किया है अर्थात् जो अभी सीख रहे और अभ्यास बढ़ा रहे हैं, उनके लि[ए] लिखकर बोलना उचित होगा। ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाय और अपनी बोलने की शक्ति में विश्वा[स] बैठने लगे, त्यों-त्यों समूचा भाषण लिखकर बोलने के बदले नोटों पर बोलने का स्वभाव डालना चाहिए। जब नोटों की आवश्यकता भी न रहे, तो समझ लो कि इस कला के उच्च दर्जे को पहुँच गये। यह बात [भी] आवश्यक नहीं कि जो वक्ता भाषण के समय नो[ट] का सहारा नहीं ले रहा है और धाराप्रवाह बोल रहा है, वह पहले से बिना तैयार हुए आया हो। संभव है उसने उस दिन का विषय अच्छी तरह से सोचा-समझा और अध्ययन किया हो एवं नोट भी लिये हों, पर वे उसकी जेब में ही पड़े हैं या उसने फाड़ फेंके हैं; क्योंकि व्याख्यान के समय उसे उनकी आवश्यकता नहीं आ पड़ती। नोट ले लेना और बोलते समय उन पर दृष्टि डालना अनुचित नहीं। हाँ, सब कुछ लिखकर पढ़ना तारीफ़ लायक़ भी नहीं। बोलते समय छोटे नोट, वाक्य, श्लोक या दोहों के आरंभ के कुछ शब्द या वक्ता जैसा उचित समझे वैसे संकेत अथवा व्याख्यान के उपविषयों का क्रम और विभाग आदि सब बातें भाषण के पहियों को सीधा चालू रखने में बड़ा काम देते हैं। लंबी वक्तृता के समय एक बात का दूसरी से जोड़ और संबंध रखने के लिए एवं अकस्मात् विस्मृति के समय लिखे हुए सूक्ष्म संकेत बड़ी सहायता देते हैं। नोटों का काग़ज़ लंबा-चौड़ा खर्रा न हो और यह भी अच्छा नहीं कि उसकी ओर मिनट-मिनट में देखा

जाय। इसलिए जो कुछ नोट लिखे जायँ, वे इस तरह साफ़ और सूक्ष्म रीति से लिखे हों कि उन पर दृष्टि पड़ते ही बात दिमाग़ में आ जाय और व्याख्यान के समय रुकना न पड़े। बहुधा यह सुना जाता है कि अमुक वक्ता की क्या बात है, वह नोट भी नहीं रखता। इस तरह की झूठी बड़ाई का विचार नहीं करना चाहिए; क्योंकि ऐसे वक्ता कम ही हैं, जो नोट के बिना व्याख्यान की शृंखला एवं अपने विचारों को अपने आधीन रख सकें। ख़ासकर नये वक्ताओं को इस तरह की बारीकी पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

वक्ता को समय का बड़ा ध्यान रखना चाहिए। जिस प्रकार एक घंटे का समय दिया गया हो और यदि १५ मिनट ही बोला जाय, तो वक्ता की असमर्थता समझी जा सकती है, उसी प्रकार १५ मिनट का समय दिया जाने पर एक घंटे तक व्याख्यान को खींचे चले जाना भी वांछनीय नहीं होगा। यह बात नहीं कि केवल लंबे व्याख्यान ही अच्छे समझे जायँ या बहुत देर तक कहने ही से जनता पर असर पड़े। नहीं, सारयुक्त ५ मिनट का बोलना भी लचड़-पचड़, सारहीन, अरुचिकारक लंबे व्याख्यान से बहुत ही अच्छा है। तीसरे जार्ज (George III) के शासनकाल में एक बार पार्लियामेंट में एक बिल पर बड़ा वाद-विवाद छिड़ा। इस पर लार्ड चेथम (LordChatham) ने बोलने के लिए बड़ा आग्रह किया। राजा को यह डर था कि उसे बोलने की इजाज़त देने पर विचार पलट जायँगे। अंत में उसे केवल ५ मिनट का समय दिया गया और उसी में उसने श्रोताओं का निर्णय पलट दिया। इसलिए इसका सदा ध्यान रखना चाहिए कि साररहित लंबे व्याख्यान से एक छोटा-सा सुशोभित और सुसंगठित व्याख्यान बहुत अच्छा है। समय का ध्यान समूचे व्याख्यान के लिए रखने के साथ-ही-साथ यह बात भी उचित है कि अपने व्याख्यान में जो मंतव्य हैं, उनमें से प्रत्येक के लिए उनके महत्त्व के क्रमानुसार समय दिया जाय। श्रोताओं द्वारा आप अपने भावों को जिस क्रम में महत्त्व दिलाना चाहते हैं, उसी क्रम के अनुसार अपने भावों के विवेचन के लिए समय का विभाग करें। यह बात न हो कि सबसे कम महत्त्व और आवश्यकीय विषय पर सबसे अधिक समय लगा दें और जो बहुत ज़रूरी बात है, उस पर बहुत कम समय लगाया जाय। अच्छा हो, यदि आपके काग़ज़ पर ही समय-विभाग नोट किया हुआ हो और उसी के अनुसार आप बोलें। भाषण का आरंभ बहुत विचारपूर्वक करना चाहिए; क्योंकि आपके मुख के खुलते ही क्या निकलता है, जनता इस पर बड़ा ध्यान रक्खेगी। इसलिए शुरू करते ही दलील या तकरीररूपी कोई बात न रहनी चाहिए और इस तरह से सुंदर शब्दों में आरंभ करना चाहिए कि जनता का ध्यान आपकी ओर आकर्षित हो जाय। इसके बाद अपने भावों और विचारों को गुँथे हुए ढंग से बयान करते हुए सरलतापूर्वक अपने विषय पर पहुँच जाइए। भावों और विचारों को गुँथे हुए ढंग से बयान करने का यह अर्थ नहीं कि भाषण जटिल बना दिया जाय। इसका यह अर्थ है कि जो भी बात कही जाय, सबका संबंध एक दूसरी से जुड़ा हुआ होना चाहिए। अनुभवहीन वक्ता अपने भाषण के प्रारंभिक भाग को तो जैसे-तैसे अच्छा कह जाते हैं, लेकिन आगे चलकर उनकी वक्तृता ढीली-ढाली हो जाती है। यह बात संतोषजनक नहीं। यदि देखा जाय तो वक्तृता का अंतिम भाग सबसे अधिक महत्त्व रखता है; क्योंकि उसी से भाषण की अंतिम छाप, ध्येय और प्रभाव अंकित होगा। भाषण का अंतिम भाग स्पष्ट और खुलासा होना चाहिए और जहाँ अंत करना है उस जगह बिना किसी झंझट के पहुँच जाना चाहिए। जो अपने भाषण का अंत सुंदर रीति से नहीं करते और जो उसे समेटना नहीं जानते, वे अंत में लड़खड़ाते हुए बोलकर अपना आसन ग्रहण करते हैं। इसका जनता पर कैसा असर पड़ता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। कई वक्ता अपने कहे हुए विचारों को दो-चार वाक्यों में पिरोकर रख देते हैं या समूचे भाषण का निचोड़ संक्षेप में कहकर विश्राम लेते हैं, यह भी ठीक कहा जा सकता है। भाषण के तंतुओं को गूँथकर जनता पर अंतिम ध्येय और प्रभाव अंकित कर देना भाषण और भाषणकर्ता का आवश्यकीय ही नहीं, महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के बिना कहना होगा कि आपने अपना ही नहीं, पर समूची जनता का समय निरर्थक ही नष्ट किया। सिद्ध वक्ता के लिए जनता पर अपना अंतिम ध्येय अंकित करने में कोई शंका नहीं रहती। वह जनता के विचारों पर जो छाप

समय और उसका विभाग

डाल जाता है, उससे मालूम होता है, मानों उसके पास इस काम के लिए मोहर पहले ही से ढली हुई मौजूद थी ।

तर्ज़-तमीज़ और अंग-परिचालन

वक्तृत्व-कला एक विलक्षण कला है, जिसका मूल्य नहीं आँका जा सकता। राजा, महाराजा और बादशाह भी इस कला के अधीश्वर की तुलना नहीं कर सकते; क्योंकि उन बेचारों के राज्य और बादशाहतें इस कला द्वारा क्षण में उलट-पलट दी जा सकती हैं । ऐसी अमूल्य कला की प्राप्ति के लिए किसका मन नहीं ललचायगा ? यों तो मनुष्य के प्रत्येक भले या बुरे काम के लिए उसकी स्वजात बुद्धि और पूर्वसंस्कार का उल्लेख हम चट से कर बैठें या इसके विना कुछ नहीं होता, यही क्यों न कह दें; पर यह निश्चय है कि अध्ययन, अनुशीलन और अभ्यास के बल पर एवं इस कला की पूर्णता के लिए जो गुण हैं उनके अन्वेषण और पालन, तथा जो अवगुण हैं उनके निष्कर्षण से बहुत कुछ सफलता प्राप्त हो सकती है । "बोलना" तो सबमें स्वभावजात है ही । अतः ऊपरी उपायों से 'बोलने' में विशेषता, महत्त्व और पूर्णता अवश्य प्राप्त की जा सकती है—ऐसा कहने में कौन-सी अत्युक्ति है ? अध्ययन और अभ्यास क्या नहीं कर सकते ! इसलिए किसी को यह नहीं कहना चाहिए कि क्या करें, इसके लिए—अमुक के लिए—हममें तो स्वजात संस्कार या बुद्धि नहीं है । कौन जाने, वह सब गुण आपमें हों; पर आपकी उपेक्षा और चेष्टाहीनता के कारण छिपे-दबे पड़े हों । केवल उपयोग और उद्योग की ही कमी है । ऐसी बड़ी और महत्त्वशालिनी कला का वर्णन और उसकी प्राप्ति के उपाय इस छोटे-से लेख में कहाँ तक लिखे जायँ; केवल दिग्दर्शन-मात्र कराने की चेष्टा की गयी है । यह कहना आवश्यक है कि बोलने की शक्ति, ज्ञान और बुद्धि होने पर बोलने के तर्ज़, तमीज़ और ढंग पर भी अवश्य ध्यान रखना चाहिए । हो सकता है कि आपके द्वारा कही जानेवाली बातों के तथ्य के सामने कहने के ढंग और प्रणाली का कुछ आधार नहीं; पर क्या आश्चर्य है, यदि जनता आपकी अनुपम बातों के कहे जाने के पूर्व ही आपके व्यक्तित्व और खड़े होने एवं बोलने के ढंग से आपकी योग्यता के प्रतिकूल अपनी धारणा बना ले । इसलिए इस कला में निपुणता प्राप्त करने के इच्छुकों को ऊपरी साधनों की ओर भी अवश्य ध्यान देना चाहिए । अपनी आवाज़ को वक्तृता के योग्य बनाने एवं बनाये रखने के साथ ही अंग-परिचालन की ओर भी ध्यान देना चाहिए । बोलते समय चित्र या मूर्ति की तरह विना हिले-डुले खड़े होकर बोलना अच्छा नहीं जँचेगा । साथ ही इस तरह हलचल करना भी कि मानों आप कोई कसरत कर रहे हैं, प्रशंसनीय नहीं होगा । कई वक्ताओं को देखा है कि उनके मुँह से निकली हुई बातों में भले ही विशेषता नहीं आ पायी है, तो भी उछल-कूद ऐसी मचावेंगे, मानों आकाश-पाताल को एक कर देंगे। पाँवों तले तख़्ते की और हाथों के नीचे बेचारी मेज़ की शामत आ जाती है और घूमते भी इस तरह हैं कि इस सिरे पर खड़े थे, सो उस सिरे पर पहुँच गये। इसी भाँति कई वक्ता बोलते समय अपने मुँह की आकृति बड़े विचित्र फ़ैशन की बना लेते हैं, जो देखने में बड़ी डरावनी और विकृत लगती है । इसीलिए भाषण करते समय भावों के अनुसार केवल स्वर ही ऊँचा-नीचा नहीं पर भाव-भंगी और हाथ-पाँव का हलन-चलन भी उचित रीति से होना चाहिए। ये बातें जनता को रुचिकर हों—इतना ही नहीं, अपितु आप और आपका बोलना सुहावना और लुभावना लगे, इस ढंग से सब बातें हों ।

श्रेष्ठ भावना

इन पंक्तियों का लेखक सद्वक्ता के चरणों की धूलि मात्र होने का भी दावा नहीं रखता। इसलिए इस लेख में जो विचार हैं वे वक्ता के लिए तो क्या, पर वक्ता बनने के इच्छुकों को भी किसी एक या आधी बात में भी हितकर हुए, तो बस ग़नीमत समझी जायगी । साथ ही यह भी आवश्यक है कि हम ऐसे वक्ता बनें, मानों हम नहीं, हमारे भीतर की अदृश्य शक्ति ही बोल रही है, अर्थात् हम बुलाये जा रहे हैं या बोलने का एक यंत्र या ग्रामोफ़ोन हैं ! इसका यह अर्थ नहीं कि हम एक निर्जीव मशीन की तरह भरे हुए, रटे हुए या किसी दूसरे के सुने हुए को उगल दें। नहीं । हम अपने स्थिर, निश्चित, ... और एकत्रित किये हुए भंडार को ग्रामोफ़ोन की भाँति सुगठित और सुललित रूप में निकाल देनेवाली एक धारा बनें—वह धारा ऐसी गहरी और बलवती हो कि किसी तरह की बाढ़ से उसका बाँध टूटने का भय न हो।

बुँदेलखंड का शार्दूल—छत्रसाल

[पं० काशीनाथ शर्मा वैद्य, चंदेरी]

विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में, बुँदेलखंड की राजधानी ओरछे में, बुँदेलवंश के महाराज रुद्रप्रताप राज्य करते थे। यह वही इतिहासप्रसिद्ध महाराज हैं, जिन्होंने कुड़ार में, संवत् १५४४ में, बादशाह बहलूल लोदी से, संवत् १५६७ में सिकंदर लोदी से और १५८२ में इब्राहीम लोदी से लोहा लिया था। आपके नौ पुत्र — भारतीचंद, मधुकरसा, उदयाजीत, अमानदास, भूपतशा, श्यामसुंदर, दुर्गादास, प्रयागदास और चंदनदास— थे, जिनके वंशज समस्त बुँदेलखंड में फैले हुए हैं। तीसरे पुत्र उदयाजीत को महाराज रुद्रप्रताप ने महेवा जागीर में दिया, जो ओरछा-राज्य के अधीन है। बुँदेलखंड के अतिरिक्त पूर्वी बुँदेलखंड की जितनी रियासतें और जागीरें बुँदेलों की हैं, वह सब उदयाजीत के वंश में ही हैं। राव उदयाजीत की चौथी पीढ़ी में राव चंपतराय हुए। यह कट्टर देशभक्त और स्वतंत्रता-प्रेमी थे। इनके संबंध में 'छत्रप्रकाश' में इस प्रकार 'लाल कवि' ने वर्णन किया है—

प्रलय पयोधि उमंड में, ज्यों गोकुल जदुराय।
त्यों बूड़त बुंदेल-कुल, राख्यो चंपतराय॥

वास्तव में चंपतराय ने पूर्वी बुँदेलखंड में स्वतंत्रता का बीज बोया, जिसको इनके पुत्र छत्रसाल ने अंकुरित करके पल्लवित, पुष्पान्वित और फलान्वित कर दिया। उन दिनों पश्चिमी बुँदेलखंड की प्रबल तीन शक्तियाँ— ओरछा, चंदेरी और दतिया—मुग़ल-सम्राट् के अधीन राज्य कर रही थीं। परंतु संगठन न होने के कारण समस्त मध्यप्रदेश यवनों से पददलित हो रहा था। ऐसे समय में यह दैव की ही इच्छा थी कि हमारे चरित्र-नायक का जन्म हुआ।

विक्रम संवत् १६६१ में ओरछा के महाराज जुझार-सिंह पर सम्राट् शाहजहाँ का कोप हुआ। फलस्वरूप उनका समूल नाश करने के लिए शाही सेना का आक्रमण होने लगा। इधर यह भयंकर समाचार समस्त बुँदेलखंड में बिजली की भाँति फैल गया। इतना ही नहीं, बल्कि बुँदेलखंड के कोने-कोने में आतंक-सा छा गया। वीर पुरुष ऐसे भयंकर समाचार देख तो क्या, सुन भी नहीं सकते। अतः देशभक्त चंपतराय से न रहा गया। उन्होंने तुरंत अपने भ्राता सुजानराय से परामर्श करके मुग़ल-सम्राट् के विरुद्ध 'भुमआवट' (विद्रोह) की ठान दी और शाही इलाक़े में लूट-मार शुरू कर दी। यह समाचार शाहजहाँ ने सुना और तुरंत चंपतराय को पकड़ने के लिए अपने सैनिकों को भेजा। चंपतराय-जैसे वीर पुरुष का पकड़ना कोई साधारण बात नहीं थी। अतः भेजे हुए सैनिक उनका कुछ न कर सके। वह सदा सैनिकों को मारकर स्वयं ऐसे चंपत हो जाते थे कि इनका पकड़ना कठिन ही नहीं, वरन् असंभव दिखलायी देता था।

एक समय चंपतराय का चौथा पुत्र सारवाहन, जिसकी अवस्था तेरह-चौदह साल की होगी, पहाड़ी तालाब में जलक्रीड़ा कर रहा था। ऐसे समय में बादशाही सैनिक बाक़ीख़ाँ, जो चंपतराय के पकड़ने के लिए नियुक्त हुआ था, उस स्थान पर अपने साथियों-सहित आ गया। और बालक सारवाहन को चारों ओर से घेर लिया। सारवाहन अपने को घिरा हुआ देख, तुरंत तालाब से निकल और अपना धनुष-बाण लेकर एक ऊँची शिला पर जा खड़ा हुआ और वहीं से तान-तानकर दुश्मनों पर बाण छोड़ने लगा। सारवाहन ने अपने तीरों द्वारा अनेक शत्रुओं को धराशायी कर दिया। अंत में बचे हुए शत्रुओं ने मौक़ा पाकर, वीर अभिमन्यु की भाँति चारों ओर से घेरकर उस वीर बालक के प्राण ले लिये।

सारवाहन के मरने का समाचार चंपतराय और उनकी रानी के पास पहुँचा। पुत्रशोक में मातापिता व्याकुल हो गये। चंपतराय की क्रोधाग्नि एकदम धधक उठी! एक दिन सारवाहन की माता को स्वप्न हुआ कि जैसे वह हाथों में नग्न कृपाण लिये सामने खड़ा है और कह रहा है—"माता! आप हमारे लिए वृथा

शोक न करें। हम आपके गर्भ से फिर जन्म लेकर, अपने पिता के शत्रुदल का संहार करके बदला लेंगे।" रानी की निद्रा भंग हो गयी। उसने यह स्वप्न अपने पतिदेव को सुनाया। चंपतराय ने अपनी सेना पहले से दुगनी करके भेलसा, सिरोंज आदि को लूटना और शाही सैनिकों को मारना प्रारंभ कर दिया। इसी बीच में रानी के गर्भ रहा और नवें मास, मोर पहाड़ी के जंगल में, पुत्र का जन्म हुआ। चंपतराय ने अपने पुत्र का नाम 'छत्रसाल' रक्खा।

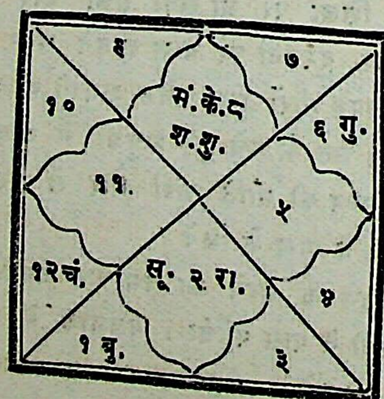
चित चीते साँचे भये, सुवन माइ के चारु।
प्रगट्यो चंपतराय के, छत्रसाल अवतारु॥
(छ० ग्रं०)

छत्रसाल का जन्म ज्येष्ठ-शुक्ला ३ चन्द्रवार, विक्रम संवत् १७०६, को हुआ था। छत्रसाल प्रायः संपूर्ण लक्षणों से संपन्न थे। इनके विषय में छत्रसाल-ग्रंथावली में इस प्रकार लिखा है—

पूरब पुन्य प्रताप तें, सकल कला अनयास।
बसीं आय छतसाल उर, दिन-दिन बढ़ै प्रकास॥
(छ० ग्रं०)

पाठकों के अवलोकनार्थ अपने चरित-नायक की जन्मकुंडली तथा उससे संबंध रखनेवाली कविता, जो पन्ना-राज्य से प्राप्त हुई थीं, ज्यों-की-त्यों लिखे देते हैं। आशा है, उदार पाठकों को अरुचिकर न होगी।

ईस नखत अनरूप अरु, अरथवंत पर नाम।
जन्मपत्र तातें लिखौं. छत्रसाल यह नाम॥



कवित्त

उदय में राजै अग्नि मंगल बिराजै जहाँ,
बल करै शुक्र सनि सहित बिहार है;
बुध अरि नाशै रवि राहु प्रजा को प्रकाशै,
लाभ करै सुर गुरु अमित अपार है।
सत्रह सौ छै कौ बिलंबी नाम संवत्सर,
ज्येष्ठ तिथि तीज सित पच्छ सित बार है;
सिव के नखत में बखतवली छत्रसाल,
लीन्हों नर नाहिं नर-नाह अवतार है।

छत्रसाल की माता अपने होनहार शिशु का बड़े [illegible] और लाड़-प्यार से पालन-पोषण करने लगीं। छत्रसाल का जन्म ऐसे विकट समय में हुआ था कि राजद्वार [illegible] मंगलगीतों की कौन कहे, मातापिता को एक स्थान [illegible] कुछ दिनों रहकर विश्राम लेने का भी अवसर [illegible] मिलता था। अभी एक जंगल से आकर किसी पहाड़ी पर विश्राम ले रहे हैं कि इतने ही में दूत ने आकर [illegible] दी कि शाही सेना चली आ रही है, बस, दूसरे जंगल की ओर चले गये। वहाँ भी शाही सेना ने घेर लिया और युद्ध होने लगा। फलतः दोनों ओर के सिपाही [illegible] जाने लगे। लाचार हो चम्पतराय अन्य स्थान [illegible] ओर प्रस्थान कर गये। इस प्रकार छः मास के [illegible] व्यतीत हुए। इस बीच में छत्रसाल की अवस्था [illegible] मास के क़रीब हो चुकी थी। अब बालक हँसने-खेलने लगा। उसकी मधुर मुसकान को देखकर माता [illegible] बड़ा हर्ष उत्पन्न होता। तात्पर्य यह कि "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" वाली कहावत चरितार्थ होने लगी। एक दिन हमारे चरित-नायक को [illegible] दूध पिला रही थी, मुख अंचल से ढका हुआ [illegible] अचानक शाही सेना आ पहुँची और दोनों ओर [illegible] सैनिकों में घोर युद्ध होने लगा। सैनिकों की भयंकर ललकार, बंदूकों की घनघोर आवाज़ सुनकर [illegible] छत्रसाल माता के अंचल से मुँह निकालकर [illegible] खिलाते हुए युद्ध को देखने लगा और उस ओर [illegible] की चेष्टा की।

एक दिन चम्पतराय कटेरा के पास के जंगल में अपने सिपाहियों के साथ ठहरे हुए थे। सिपाही अपनी-अपनी भूख की ज्वाला शांत करने के कार्य में लगे थे। इतने में शाही सवारों का दल चंपतराय को पकड़ने के लिए आ पहुँचा। इनके सैनिक बात-की-बात में तितर-बितर हो गये। चंपतराय भी रानी-सहित घोड़े पर चढ़कर सवारों के चंगुल से निकल गये। [illegible]

छत्रसाल, जिनकी अवस्था अभी छः-सात मास की थी, उसी स्थान पर पड़े रह गये !

धन्य है उस परब्रह्म परमात्मा की असीम अनुकंपा को कि छत्रसाल की बग़ल, सिरहाने और पैरों की ओर से अगणित अश्वारोही निकल गये, परंतु इस होनहार वीर बालक का बाल भी बाँका न हुआ !

अंत में अश्वारोही सैनिक, चंपतराय के अनुसंधान में जब दूर निकल गये, यहाँ तक कि जब आँखों की ओट हो गये, तो चंपतराय के घोड़े का साईस, जो कहीं पास ही छुप गया था, उस स्थान पर आ गया, जहाँ हमारे चरितनायक भूमि पर लेटे, भूख-प्यास से व्याकुल हो, रुदन कर रहे थे। साईस वीर बालक को गोद में लेकर तुरंत चंपतराय के पास ले आया। रानी छत्रसाल के लिए व्याकुल हो ही रही थीं, बालक को पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं।

इस घटना के अनंतर दंपति में सलाह हुई और छत्रसाल और उनकी माता को उनके नैहर अचोसा-गाँव में साहबराय धंधेरे के यहाँ पहुँचा दिया गया। वहाँ उनको चार वर्ष रहना पड़ा। पश्चात् पुत्र-समेत पति के पास आ गयीं।

अब छत्रसाल चार वर्षों से ऊपर के हो चुके। अपनी ठुमुक चाल, तोतली बोली और मधुर मुसकान से दिनरात माता-पिता को सुखी एवम् प्रसन्न करते रहते। छत्रसाल अपने पिता द्वारा मारे हुए शत्रुओं की लाशों और उनसे निकलते हुए रुधिर को देखकर बड़े प्रसन्न होते। कभी-कभी उन पर दौड़ते भी थे। पाठक अभी भूले न होंगे कि छत्रसाल का जन्म रंगमहल तथा पलंग पर नहीं हुआ था, बल्कि घोर पहाड़ी की कठिन भूमि पर ही हुआ था। जन्म लेते ही स्त्रियों के गीतों की जगह वीरों की ललकार, अस्त्रों की झंकार, शस्त्रों के चलने के शब्द, तोपों की गरज, बंदूकों की आवाज़, बाणों की सनसनाहट और कृपाणों की खचाखची सुनी थी। उन्होंने रक्त की तीव्र धाराएँ तथा मारे गये योद्धाओं के शव देखे थे। प्रसन्न में छत्रसाल की माता पूर्ण विदुषी महिला थीं। वह आजकल-जैसी माता नहीं थीं, जो अपने होनहार बच्चों से कहें—भइया ! हउआ आया, कान काटेगा, चुप हो जाओ, इत्यादि। वे सदैव छत्रसाल को बड़े-बड़े वीर योद्धाओं की कहानियाँ सुनाया करती थीं। इसी तरह लालन-पालन और माता की शिक्षा में हमारे चरितनायक की अवस्था सात वर्ष की हो गयी।

अब चंपतराय ने पुत्र को विद्याध्ययन कराने के लिए कोई उचित उपाय न समझकर अपनी दूसरी ससुराल 'अचोसा' * भेज दिया। आप भी गये। थोड़े ही काल में छत्रसाल वर्णमाला, चक्रायके, गिनती, पहाड़े आदि में अति निपुण हो गये। व्यायाम, अस्त्र-शस्त्र की कलाओं के भी पूर्ण मर्मज्ञ कहे जाने लगे, यहाँ तक कि कुश्ती में अपने से दुगने-तिगुने आयुवाले बालकों को सहज में पछाड़ देते थे। लकड़ी और बिनौट में उनकी बराबरी कोई नहीं कर सकता था। तलवार और तीर चलाने में वह एक ही थे। पिता के साथ रहने से छत्रसाल में नीतिनिपुणता और युद्धचातुरी भली भाँति आ गयी। तात्पर्य यह कि तेरह वर्षों की अवस्था में संपूर्ण कलाओं में वह कुशल हो गये।

इधर चंपतराय वृद्ध हो चले थे। पहले-जैसा बल उनमें न रह गया। इस वृद्धावस्था में उनके बहुत-से साथी उनको छोड़कर चले गये थे। इधर बादशाह औरंगज़ेब की क्रूर दृष्टि उन पर रहती ही थी। अचानक बादशाह ने दतिया के राजा शुभकरन को उनके पकड़ने के लिए भेजा।

चंपतराय ने यह समाचार मिलते ही अपनी रानी से सलाह लेकर छत्रसाल को दूसरे ननिहाल 'अचोसा' में साहबराय के पास भेज दिया। छत्रसाल को ननिहाल गये दो मास तेरह दिन ही व्यतीत हुए थे कि संवत् १७१८ में, सहरा से चौदह मील पर, बादशाही सैनिक नामदारख़ाँ द्वारा घिर गये। उस समय चंपतराय अपनी रानी के साथ अकेले ही थे। चंपतराय ने नामदारख़ाँ को देखकर अपना धनुष, जो इनकी हर एक युद्ध में सहायता करता था, सम्हाला; पर वह प्रत्यंचा चढ़ाते ही टूट गया। इस घटना के होते ही चंपतराय समझ गये कि अब मृत्यु निकट आ चुकी है। तुरंत कृपाण निकालकर और अपनी रानी को देकर कहा—पहले तुम इस कृपाण से हमें मार डालो और फिर तुम मर जाओ, जिससे हम और तुम यवनों के हाथों से न मारे

* ललितपुर—ज़िला झाँसी में।

जायँ। रानी ने अपने पति की आज्ञा एक क्षण में पूरी कर दी!

कुछ मास के उपरांत एक सैनिक द्वारा छत्रसाल को अपने माता-पिता के स्वयम् वीरगति प्राप्त कर लेने का समाचार मिला। सुनकर दुःखी हो गये। परंतु कुछ महीनों तक ननिहाल में ही बने रहे। अंत में एक दिन विचारा कि यहाँ पड़े-पड़े कब तक अपना जीवन निर्वाह हो सकेगा, अब अपने बाहुबल से अपने को प्रख्यात करना चाहिए और बादशाह से अपने पिता का बदला लेना चाहिए। सत्य है, कवि 'पद्माकर' ने कहा है—

पदमाकर किन सिंह को कियो राज्य अभिषेक।
अपने बल मृगराज भो, हन गजराज अनेक।

उक्त विचार उत्पन्न होते ही एक दिन बिना किसी से कहे चुपचाप नाना के घर से निकल पड़े। भटकते-भटकते मौज़ा दैलवारा (जो ललितपुर, ज़िला, झाँसी के समीप है) ग्राम के बाहर, एक महुए के वृक्ष के नीचे आकर बैठ गये। अनेक संकल्प-विकल्पों में तल्लीन हो गये। कुछ देर बाद, जब छत्रसाल ने सिर ऊँचा किया, तो सामने एक वृद्ध ने, जो देखने में शूद्र-सा मालूम होता था और खड़ा-खड़ा उनको बड़े ग़ौर से देख रहा था, सिर झुकाकर अभिवादन किया। अंत में विनीत भाव से अपनी मातृभाषा में बोला—"आपको हैं, काँ से आये हो और काँ को जैहो?"

छत्रसाल ने उत्तर दिया—"मैं चंपतराय का छोटा पुत्र छत्रसाल हूँ। अचोसा-गाँव से आया हूँ और 'महेवा' को जाऊँगा।"

चंपतराय का नाम सुनते ही वृद्ध की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे, वह छत्रसाल के पैरों में गिरकर कहने लगा—"मोरो नाउ बली है + मैंने जब से आपके पिता की सेवा करी है, जब से उनने भुमयावट करी है।"

निदान वह वृद्ध छत्रसाल को अपने घर लिवा ले गया; एक सप्ताह बड़े प्रेमभाव से रखकर अंत में घोड़े पर सवार कराकर महेवा पहुँचा आया।

छत्रसाल के चाचा सुजानराय अपने भतीजे को देखकर अति प्रसन्न हुए और बड़े प्रेमभाव से अपने पास रखकर विद्या पढ़ाने लगे। थोड़े ही काल में 'विदुर प्रजागर' काव्य, गणित आदि की शिक्षा के पारं[गत] बन गये। छत्रसाल आजकल के विद्यार्थियों की त[रह] आलसी नहीं थे। वह नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठना आ[लस्य]... ठाकुरजी की पूजा करने का उनका नियम था। सू[...] भी नित्य जाया करते थे। अब छत्रसाल को रहते-[रहते] चार वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन अपने चा[चा से] बादशाह के प्रति बदला लेने के लिए कहा। [चा]चा भतीजे का ऐसा विचार सुनकर कुछ देर के लिए [चित्र] की भाँति लिखे-से रह गये। अंत में बोले—

"अभी तुम बालक हो, कुछ समझते नहीं हो, [कहाँ] वह सम्राट् और कहाँ तुम अयोग्य बालक! कैसे [तुम] बादशाह से बदला ले सकते हो? तुम्हारे पिता [...] वर्षों तक लड़ते रहे, अंत में मारे ही गये। अस्तु, [ऐसा] विचार छोड़कर और यहाँ अपने पिता का हिस्सा [लेकर] जीवन-निर्वाह करो।"

छत्रसाल गंभीरतापूर्वक अपने चाचा की बातें [सुन]कर चुपचाप वन को चले गये, वहाँ से एक हरिण [पकड़]कर और अपने कंधों पर रखकर ले आये। वहाँ [चाचा] के सामने उसे पटककर और दोनों सींग सहज में उखा[ड़]कर, इतना ही नहीं बल्कि उनके सामने फेंककर, बोले—"चाचा, अब भी आप मुझे बालक ही समझते हैं! [मैं] आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक मैं बादशाह से बदला न ले लूँगा, आपके चरणों के दर्शन [न] करूँगा।" अस्तु, ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करके वहाँ से [चल] दिये और सुजानराय देखते ही रह गये।

इस तरह छत्रसाल के 'महेवा' से चले जाने की [ख़बर] चारों तरफ़, बिजली की भाँति, फैल गयी। सा[रे] चंपतराय के साथी, जिन्होंने सुना, साथ हो गये। [...] अपने भाई अंगदराय के पास देवगढ़ * आ गये [और] दोनों भाई प्रेमभाव से रहने लगे।

रहते-रहते एक दिन छत्रसाल ने बादशाह से ब[दला] लेने का विचार अपने भाई से प्रकट किया। अंगद[राय] ने उत्तर दिया—"अभी अपना समय बादशाह [से] बदला लेने का नहीं है। समय प्राप्त होने पर [...] जायगा। अभी तो काँटे से काँटा निकालने[...]

* यह देवगढ़ दक्षिण का देवगढ़ नहीं है। यह [...] जाखलौन, हिस्सा ललितपुर, ज़िला झाँसी के समीप है।

नीति का अवलंबन करना चाहिए। सुना है, बादशाह के सिपाहसालार मिर्ज़ा राजा जयसिंह 'देवगढ़' विजय करने को जा रहे हैं। उनसे मिलकर और बादशाह की नौकरी करके पहले योग्यता प्राप्त कर लें, फिर देखा जायगा।" दोनों भाई उनके पास गये और अपनी इच्छाएँ प्रकट कीं। राजा जयसिंह ने आदर से अपनी सेना में दोनों भाइयों को रख लिया। कुछ दिनों पश्चात् सेना में ख़बर आयी कि बादशाह ने राजा जयसिंह को अपने पास बुलाया है और बदले में बहादुरख़ाँ आवेगा। यह सुनकर छत्रसाल उदास-से हो गये। अंगदराय ने भाई को उदास देखकर कहा—बहादुरख़ाँ से और अपने पिता से उस समय की मित्रता है, जब 'समूगढ़' के युद्ध में दाराशिकोह के विरुद्ध अपनी सेना का "हरवल" * बनाया था। बहादुरख़ाँ से, पिता की मित्रता के नाते, पूर्ण उन्नति की आशा है। अंत में कुछ दिनों में बहादुरख़ाँ सेना में आ गया और राजा साहब दिल्ली चले गये।

इधर बादशाही सेना देवगढ़ पहुँची। वहाँ का राजा कूर्मंमल अपनी सत्रह हज़ार सेना लिये मुग़ल-सेना से युद्ध करने को तैयार था। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध होने लगा। अन्त में शाही सेना ने पैर उखाड़ दिये। यह हाल देखकर बहादुरख़ाँ ने छत्रसाल से कहा—आप हमारे दोस्त के लड़के हैं। आपके सामने क्या दुश्मन फतह पा लें! बहादुरख़ाँ के ऐसे वचन सुनते ही छत्रसाल अपने अनेक बुँदेलखंडी वीरों को लेकर राजा कूर्मंमल की सेना को विध्वंस करने लगे। अनेक सैनिकों को मार गिराया। सेना तितर-बितर हो गयी और छत्रसाल निशान तक पहुँच गये। अंत में निशान के गिरते ही कूर्मंमल की सेना रणक्षेत्र छोड़कर भाग गयी। देवगढ़ लूटा जाने लगा। इसी समय छत्रसाल को देवगढ़ के एक सैनिक ने ऐसी तलवार मारी कि यदि गर्दन पर बिछुवा † न लगा होता, तो सिर कट गया होता। फिर भी छत्रसाल अधिक आहत हो जाने के कारण मूर्छा खाकर घोड़े से गिर ही पड़े। शाही सेना लूट-मार कर डेरे में आ गयी, परंतु छत्रसाल की किसी ने भी ख़बर न ली। अंगदराय भाई को न पाकर, अपने सिपाही ले रणक्षेत्र की ओर देखने गये। रास्ते में घायलों को ढोनेवाली डोलियों के आदमी मिले। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि एक अठारहवर्षीय युवक अवश्य पड़ा है। पास में एक घोड़ा भी खड़ा है। घोड़ा किसी को उसके पास नहीं आने देता है। अंगदराय उसे देखने गये। पास पहुँचते ही घोड़ा पूँछ उठाकर इन पर आक्रमण करने को दौड़ा, परंतु साईस की ललकार पर वह निस्तब्ध-सा खड़ा रह गया। छत्रसाल को उठाकर डेरे में ले आये। शीतलोपचार करके घावों पर मरहम-पट्टी की गयी। कुछ दिनों में चंगे हो गये।

छत्रसाल अपने वफ़ादार और प्राणरक्षक घोड़े को बहुत प्यार करते थे। घोड़ा बहुत दिनों तक रहा। फिर भी जो चीज़ विनाशशील है और जिसका नाश अवश्यम्भावी है, वह कैसे रह सकती है। छत्रसाल ने 'मऊ' के महल से चार फर्लांग की दूरी पर दक्षिण की ओर उसकी समाधि बनवा दी।

अब बहादुरख़ाँ दिल्ली को जाने की तैयारी करने लगे। छत्रसाल भी साथ गये। सम्राट् ने बहादुरख़ाँ को मंसब, खिलअत आदि देकर सम्मानित किया, परंतु छत्रसाल की किसी ने बात तक न पूछी। फिर भी छत्रसाल ने बहादुरख़ाँ का दो-तीन युद्धों में साथ दिया। परंतु चित्त उदास अवश्य हो गया था। अंत में बहादुरख़ाँ का साथ छोड़कर अपने देश में आ गये।

हम ऊपर लिखना भूल गये हैं कि जिन दिनों छत्रसाल महेवा में अपने चाचा सुजानराय के पास रहते थे, उन दिनों कँरी के पँवार देवलवारे की ओर से उनका तिलक चढ़ चुका था। अब उनकी बेटी देव-कुँअरि से विवाह भी हो गया। यह पटरानी थीं। इनसे कोई संतान नहीं हुई। तब छत्रसाल ने अपना अभीष्ट सिद्ध करने के लिए छत्रपति शिवाजी से मिलने का विचार किया और संवत् १७२४ में अपनी रानी और साथियों-सहित पूने को प्रस्थान कर दिया। उन दिनों शिवाजी ने अपने राज्य में स्थान-स्थान पर विकट चौकियाँ स्थापित करा दी थीं। चौकियों के कारण राज्य में, बिना शिवाजी की आज्ञा के कोई नहीं

* 'हरवल' उस सेनापति को कहते हैं, जो शाही सेना के आगे रहकर शत्रु से युद्ध करता है।

† छुरी की भाँति एक हथियार होता है।

आ सकता था। परंतु छत्रसाल तो बड़े चतुर थे। चौकियों को दाँयें-बाँयें देते हुए कृष्णा-नदी पर पहुँचे और लकड़ियों का बेड़ा बनाकर पार उतर गये, यहाँ तक कि शिवाजी से ही जा मिले।

शिवाजी ने छत्रसाल का उद्देश्य समझकर उनकी बड़ी प्रतिष्ठा की, प्रत्युत सलाह दी कि 'आपको मेरे साथ रहकर अपना पराक्रम दिखलाना निष्फल होगा। इसमें आपकी कुछ कीर्ति न होगी। आप जो कुछ करेंगे, मेरा ही नाम होगा। इसलिए जो कुछ भी आप करें, स्वयम् अपने बाहुबल से कर दिखलावें। आप अभी नवयुवक हैं, जो कुछ करना चाहो, कर सकते हो।'

ऐसा कहकर शिवाजी ने उनको बहुत-सा द्रव्य और राहदारी परवाना देकर बिदा किया।

मार्ग में दतिया के राजा शुभकरण से अचानक भेंट हुई। इन्होंने छत्रसाल को बड़े प्रेम से अपने पास रक्खा। धीरे-धीरे जब इनके विचारों की थाह मिली, तो इनको बिदा कर दिया।

हस्तलिखित उर्दू तवारीख़ "हाल-महाराजगान" में लिखा है कि जिन दिनों राजा देवीसिंह चंदेरी में राज्य कर रहे थे, उन दिनों छत्रसाल चंदेरी आये। सुना कि राजा देवीसिंह देहली गये हुए हैं, पत्र द्वारा सहायता माँगी। उत्तर में लिख आया कि हम लोग बहुत दिनों से बादशाह की अधीनता स्वीकार कर चुके हैं, और सम्राट् हमारे विश्वास पर हैं। अब हमारा धर्म नहीं है कि हम उनसे विश्वासघात करें। परंतु तुम भी हमारे भाई हो, हमारे राज्य के किसी गाँव को लूटकर अपना काम चला लो। छत्रसाल ने दैलवारेवाले ठाकुरों की सलाह से ललितपुर लूट लिया। कहते हैं, कई ऊँटों में चाँदी-सोना भरकर अपने भाई अंगदराय के पास आकर रहने लगे। इस समय छत्रसाल की अवस्था बीस वर्षों की हो गयी थी।

संवत् १७२६ में बादशाह औरंगज़ेब की क्रूर दृष्टि ओरछे के देवमंदिरों पर पड़ी। फ़िदाईख़ाँ क़िलेदार ग्वालियर को लिखा गया कि तुम ओरछे जाकर बुतख़ानों को नेस्त-नाबूद कर दो। तत्कालीन राजा सुजानसिंह ने यह समाचार सुनकर छत्रसाल से सहायता माँगी। वीर छत्रसाल सहायता का वचन देकर अपने चचेरे भाई बलदीमान के पास औरंगाबाद चले गये। वहाँ पहुँचकर अपना अभीष्ट कह सुनाया। बलदीमान ने दो चिट्ठियाँ—स्वतंत्रता और परतंत्रता—जुदी-जुदी लिखकर, राघवजी के मंदिर में डालकर, कुँआरी कन्या से उठवायीं। कन्या के हाथ में स्वतंत्रता की चिट्ठी आयी। ऐसी चिट्ठियाँ डालने की प्रथा अब भी बुँदेलखंड में प्रचलित है। जब कभी कोई ऐसे न्याय, जिनमें कुछ असुविधाएँ न्याय करनेवालों को उपस्थित होती हैं, चिट्ठियाँ डालकर निपटा लिये जाते हैं। बलदीमान ने छत्रसाल का साथ देना स्वीकार कर लिया। इतना ही नहीं, बल्कि पूर्ण विश्वास दिला दिया कि जब सैन्य एकत्रित कर लोगे, हम आ जायँगे। छत्रसाल दीमान से बिदा होकर घर आ गये।

आने के साथ ही सैन्य-संग्रह किया जाने लगा। स्थान भी मोर पहाड़ी, जहाँ छत्रसाल का जन्म हुआ था, तजवीज़ किया गया। बड़े-बड़े शूर-सामंत भरती होने लगे। उनके पिता के साथियों में से भी कई शूर—यथा गोविंदराय जैतपुरवाले, कुँअर नारायणदास, सुंदरमणि पँवार, दलसिंगार, राममन दउआ, मेघराज परिहार, धुरमांगद बक्सी, किशोरी खागल, लच्छे रावत, राममन, मानशाह, हरिवंश, मेधी, भानुभाट, फौजे साईस, वंबल कहार और पत्ते मोदी थे—तात्पर्य यह कि दो सौ पैदल और तीस सवार मोर पहाड़ी पर एकत्रित हो गये। फिर भी सैन्य की कमी समझकर उसके प्रयत्न करने में दत्तचित्त रहे।

एक दिन छत्रसाल ने विचार किया कि भाई रतनशा के पास, जो बिजावर के पास बिजौरी गाँव में रहते हैं, सहायता के लिए चलना चाहिए। गये, पहुँचने पर रतनशा बड़े भ्रातृ-भाव से मिले। उपयुक्त समय समझकर सहायता की प्रार्थना की। रतनशा ने अपने भाई को शाही विद्रोही समझकर टका-सा जवाब दे दिया, यहाँ तक कि छत्रसाल का वहाँ ठहरना उनको असह्य हो गया। छत्रसाल नीति में बड़े निपुण थे। वह भाई का अभिप्राय समझकर बिजौरी से चल दिये।

पाठकों ने यह मारवारी कड़खा, जिसे चारण लोग युद्ध के समय गाते हैं, सुना होगा—

रण को चाल्या ठाकुराँ, काँई दूड़ो साथ।
थारे साथी तीन छै, हिया-कटारी-हाथ॥

बस, इसी के अनुसार छत्रसाल ने कार्य-क्षेत्र में उतर पड़ने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

छत्रसाल अपने भाई रतनसा के पास से चलकर ओर-पहाड़ी पर आये; देखा, तीन सौ पैदल और तीस सवार हो चुके थे। सभी सैनिकों ने छत्रसाल को स्वामी और बलदीमान को मंत्री माना। स्वामी और दीमान के बीच में लूट के माल में इस प्रकार हिस्सा तय हुआ कि ५५ फ़ी-सदी स्वामी और पैंतालीस फ़ी-सदी दीमान का होगा।

अंत में संवत् १७२८ चैत्र-शुक्ल एकादशी के पुष्य-नक्षत्र में तीन सौ सैंतालीस पैदल, जो चलते-चलते बढ़ गये थे, और तीस सवार लेकर धंधेरखंड पर धावा बोल दिया। उक्त खंड के स्वामी कुँअरसेन धंधेरे ने छत्रसाल से लोहा लिया, परंतु हार खाकर सकरहटी के क़िले में जा छिपा। छत्रसाल ने वहाँ भी पीछा न छोड़ा। फलतः क़िले में घुसकर कुँअरसेन को क़ैद कर लिया। कुँअरसेन ने अधीनता स्वीकार कर ली और अपने भाई हिरदेसा की बेटी परणा को भी दिया।

कुँअरसेन को क़ैद कर लेने का समाचार सिरोंज पहुँचा। वहाँ के शाही थानेदार हासिमनेती ने सौ सिपाही लेकर छत्रसाल के मार्ग को आ रोका। परंतु छत्रसाल निर्भय होकर हासिम के आदमियों को मारते-काटते निकल गये और उनसे कुछ न बन पड़ा। उनकी जागीर का तिवरी-गाँव भी सहज में लूट लिया। हासिम-नेती की घोड़ी, जिसका नाम चंडी था और जिसको वहाँ का पटेल रक्खे था, लूट में हाथ आयी। इस प्रकार छत्रसाल की धाँक जम गयी।

अंत में छत्रसाल ने घोड़े की बाग़ धामोनी की ओर फेरी। वहाँ मुग़ल-सेनापति ख़ालिक से मुठभेड़ हो गयी। आठ दिन ख़ूब युद्ध हुआ। ख़ालिक ने शिकस्त खाकर युद्ध-ख़र्च और चौथ देने का वादा करके अपना पिंड छुड़ाया।

(अपूर्ण)

आह्वान !

[श्रीआरसीप्रसादसिंह]

(१)

कौन तू कराल सिंह-वाहिनी सौदामिनी-सी—
अरि-दल-बादलों के बीच में अरी, खरी ?
कौन तू विशाल-विश्व-नाट्य-अभिनायक-सी—
रण-रंगभूमि में सदर्प आज उतरी ?
कौन महामृत्यु-सी तू लोट के चिताओं पर—
हँसती है मंद-मंद त्रिभुवन-सुंदरी ?
डमरू बजाती डिमडिमिक दिगम्बर-सी—
नाच रही कौन तू मसान में दिगम्बरी ?

(२)

हर ले हमारी सारी शीतलता शोणित की,
निर्बल नसों में बल-पौरुषता भर दे।
साहस अटूट दे, न फलने दे वैर-फूट
लोचनों में कालकूट-सा जहर भर दे।
विश्व जीतने की शक्ति बाहुओं में, मानस में—
हृदय में मातृ-भक्ति-भावना अमर दे।
सिंधु-सी तरंग दे, अनंग-सा अचूक लक्ष्य,
अंग-अंग में उमंग यौवन का ज्वर दे।

(३)

मा, तू ऐसा गरज कि पीपल के पात-सम—
कायर नरों की क्षीण छातियाँ दहल जायँ।
चारो ओर वह्नि तू लगा दे एक ऐसी आज—
तूल के समान सारे लोक-जाल जल जायँ।
ललक-ललक लोल लपटें कराल लाल—
सारे वायुमंडल को पल में निगल जायँ।
हलचल मचे घोर-शोर ऐसा जग-बीच,
अरिदल उपल समान ही पिघल जायँ।

(४)

छोड़ वक्रतुण्ड रुण्ड-मुण्ड-माल धार, दौड़
वायु-सी विमुक्त शुभ्र रथ पै करालिनी !
नाच छम-छम-छम, ताथेई ताथेई थेई;
कर शंखनाद घोर शत्रु-उर-शालिनी !
पाप को विनष्ट कर, धर्म की प्रतिष्ठा कर—
सारे विश्व-मंडल में ऐरी विश्व-पालिनी !
लेकर अखंड न्यायदंड कूद अंबर से,
विजय-पताका फहरा दे तू कपालिनी !

'प्रेमचंद' और 'गल्प-रत्न'*

[पं० मातादीन शुक्ल]

वर्तमान हिंदी-कहानीलेखकों में आज प्रेमचंदजी का वही स्थान है, जो हाथ की उँगलियों में कनिष्ठा का, जहाँ से गिनती प्रारंभ होती है। लगभग ढाई-तीन सौ कहानियाँ और कितने ही उपन्यास उनके अब तक निकल चुके हैं। आज कोई पत्र-पत्रिका अथवा प्रकाशक ऐसा नहीं, जो उनकी रचनाओं को लालसा-भरी दृष्टि से न देखता हो—उनकी कहानी अथवा उपन्यास छापने में अपना गौरव न समझता हो। अस्तु, उनकी कला में कोई ऐसी चीज़ ज़रूर है, जिसे पाठक समझ भले न सके, जिसका रहस्योद्घाटन वह कभी-कभी भले ही न कर सके; किंतु उससे वह सम्मोहित होता है, उसे महसूस करता है—किसी सीमा तक समझता है। यह अनुभूति ही उनकी कला की छाप है। उनकी कला अपनी सत्ता को—अपने को—पाठकों के मनों पर प्रतिष्ठित—स्थापित करती है; क्योंकि जब जीवन के दारुण दुःखादि उनकी कला के द्वारा फूट निकलते हैं, तब वे वास्तव में असुंदर, अग्राह्य होकर भी आनंदातिरेक से ओत-प्रोत एवं ग्राह्य बन जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेय, इन दोनों के मध्य में उनकी कला पाठक को नियोजित कर देती है। डबल्यू० एच० हडसन की तरह प्रेमचंद की भी कला वैसे ही प्रस्फुटित होती है, जैसे पक्षियों के संगीत में अकृत्रिमता; अथवा कोई मेडाक्स-ह्यूफ़र के शब्दों में, जिस स्वाभाविकता से घास उगती है—बिना किसी प्रकार की संकीर्णता, संकोच अथवा कृत्रिमता के। कुछ समालोचकों का ख़याल है—जैसा कि आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने में आता है—कि प्रेमचंदजी ने अपनी किसी-किसी रचना में उधार भी लिया है—प्लाट तक ले लिया है। हमारे लिए इसके समाधान अथवा निराकरण का यहाँ स्थान नहीं और न हमारा यहाँ यह लक्ष्य ही है। यह विषयांतर है। किंतु थोड़ी देर के लिए यह स्वीकार कर लेने पर भी रवींद्र बाबू के शब्दों में हमें यह न भूलना चाहिए कि "जो लोग प्रतिभा-संपन्न हैं अथवा हुए हैं, उनका एक विशिष्ट लक्ष्य दूसरों से उधार लेने की असाधारण क्षमता भी है। उधार लेते हुए उन्होंने संसार को जो अपरिमित संपदा ऋण में दी है, यह बात तक वस्तुतः उन्हें ज्ञात नहीं है।" उदाहरण के लिए योरपीय विचार तथा साहित्य को लीजिए। सच्चे भारतीय कलाविद् इस विचारधारा को अपने संस्पर्श में लाकर उसमें परिवर्तन करते हैं, किंतु भारतीय आत्मा इतने विपर्यय के होते हुए भी उसमें अक्षुण्ण रूप से सुरक्षित मिलती है। इस अंश में भी प्रेमचंद की यह विशेषता है कि उन्होंने "पाश्चात्य कलेवर में भारतीय आत्मा को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया है।" उनमें अपनापन है, आत्मीयता है, आत्मसत्ता है और है भृंगी की तरह कीट को अपना रूप देनेवाला, आत्मसात् करने का स्वायत्त। थोरो के शब्दों में (The only obligation that I have a right to say is to say what I think right.) वह जो कुछ कहते हैं, सत्य कहते हैं तथा शिव और सुंदर उसके अंगांगी भाव होते हैं। उनकी कई कृतियाँ इसके प्रमाण में पेश की जा सकती हैं और प्रायः सभी में हम यह प्रत्यक्ष देखते हैं कि अपने गल्प-उपन्यासगत पात्रों के मुँह से मानों प्रेमचंद अपने ही आदर्श, अपना ही अनुशीलन और अपनी निजी कल्पनाओं तथा निष्कर्षों की वर्णना कराते हैं; किंतु उस यात्री की भाँति वह प्रत्यक्ष में सदा दूर-दूर रहते हैं, जो आज यहाँ है, कल वहाँ है, परसों किसी तीसरे मनोवैज्ञानिक जगत् में विचरण करता है। और, मज़ा यह कि उसका कहीं ठीक-ठीक पता-ठिकाना नहीं मिल पाता। उनके जीवन की घटनाएँ अनुभूत-सी रहती हैं। जान यह पड़ता है कि मानों जिस बात को वह दिखा रहे हैं, उसमें से कोई चीज़ निकालकर दे रहे हैं। कितनी सूक्ष्म कल्पना है। वह परोक्ष को प्रत्यक्ष का रूप दे देते हैं।

इन्हीं प्रेमचंदजी ने समालोच्य पुस्तक का संग्रह

* हमारी 'नवरत्न-ग्रंथावली' के तृतीय ग्रंथ 'नव गल्पकार' के भूमिका-भाग से संकलित।—लेखक

और संपादन किया है। इसमें "हिंदी के विशिष्ट गल्प-कारों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह" है। और, इस उक्ति के समर्थन में संपादक प्रेमचंदजी लिखते हैं कि "इस संग्रह में इस बात का विशेष ध्यान रक्खा गया है कि वही कहानियाँ दी जायँ, जो नवयुवकोपयोगी होने के साथ-साथ कला की दृष्टि से भी उच्च कोटि की हों। अगर यह क़ैद न होती, तो संभवतः इससे उत्तम चुनाव हो सकता। इसके साथ ही भाषा का ध्यान रखना भी ज़रूरी था..."। खेद है, भाषा का ध्यान और नवयुवकोपयोगी बनाने का विचार—ये दो बंधन—जिनका कला से वास्तव में उतना संबंध नहीं है—हिंदी-जगत् को प्रेमचंदजी-सरीखे गल्पकार और संपादक के द्वारा संग्रहीत एवं संपादित इससे उत्तम संग्रह नहीं दे सके! फिर भी "विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह" यह अवश्य कहा गया है!

इस संग्रह में पं० विश्वंभरनाथजी कौशिक की 'इक्केवाला' और 'आत्माभिमान', स्वयं श्रीप्रेमचंदजी की "रानी सारंधा", 'आँसुओं की होली' 'बड़े घर की बेटी' और 'रामलीला', श्रीसुदर्शनजी की 'न्यायमंत्री' तथा 'अँधेरे में', पं० बेचन शर्मा 'उग्र' की 'बुढ़ापा', श्रीराजेश्वरप्रसादसिंह की 'आदर्श' तथा श्रीरामचंद्र टंडन की 'लाल झंडी'—बस, कुल ग्यारह कहानियाँ संग्रहीत हैं। और, इनकी 'सर्वोत्तमता' की कसौटी—आधार—क्या है—किस भित्ति पर ये सर्वोत्तम कही जा सकती हैं—यह प्रेमचंदजी-लिखित 'प्राक्कथन' के कुछ अवतरणों को देखने से विदित होगा। 'प्राक्कथन' में लिखा गया है कि "वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और मनोरहस्य के उद्घाटन को अपना ध्येय समझती है"।..."सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।...बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता, उसमें कहीं-न-कहीं देवता अवश्य छिपा होता है, यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। उस देवता को खोजकर दिखा देना सफल आख्यायिका का काम है"। अब आगे मनोवैज्ञानिक सत्य का प्रमाणयुक्त विश्लेषण देखिए—"विपत्ति-पर-विपत्ति पड़ने से मनुष्य कितना दिलेर हो जाता है, यहाँ तक कि बड़े-से-बड़े संकट का सामना करने के लिए ताल ठोककर तैयार हो जाता है, उसकी सारी दुर्वासना भाग जाती है। उसके हृ[दय] के किसी गुप्त स्थान में छिपे हुए जौहर निकल [आते] हैं और हमें चकित कर देते हैं।"

जिस कसौटी पर प्रेमचंदजी ने इन गल्परत्नों [को] कसा है, उसके संबंध में, इसी प्राक्कथन में, हमें [कु]छ और भी मिलता है। लिखा है—"चरित्र-प्रधान कहा[नी] का पद ऊँचा समझा जाता है। कहानी में...हमा[रा] उद्देश्य संपूर्ण मनुष्य को चित्रित करना नहीं, व[रन्] उसके चरित्र का एक अंग दिखाना है।...इस[लिए] कहानी से जो परिणाम या तत्व निकले, वह सर्वमान[्य] हो और उसमें कुछ बारीकी हो।...जब हमारे च[रित्र] इतने सजीव और आकर्षक होते हैं कि पाठक अप[ने] को उनके स्थान पर समझ लेता है, तभी उसे कहा[नी] में आनंद आता है। लेखक ने अपने पात्रों के [प्रति] यदि सहानुभूति नहीं उत्पन्न कर दी, तो वह अप[ने] उद्देश्य में असफल है।...यह समझना बड़ी भा[री] भूल होगी कि कहानी वास्तविक जीवन का चि[त्र] होती है।...कहानी कहानी है; यथार्थ नहीं [हो] सकती। जीवन में बहुधा हमारा अंत उस समय [हो] जाता है, जब उसकी बिलकुल ज़रूरत न थी। लेकि[न] कहानी में ऐसा अंत हो जाय, तो वह पाठक [को] अरुचिकर होगा।...कला का रहस्य कृत्रिमता है, पर [वह] कृत्रिमता जिस पर यथार्थ का आवरण पड़ा हो।"

अस्तु, प्रेमचंदजी ने गल्पकला की जो व्याख्या की [है] उसे बहुत कुछ ठीक मान लेने पर भी, हमारी सम[झ] में स्टाइल का प्रवाह और कौतूहल, चरित्र-चित्रण [की] सुसंयमित शक्ति तथा चरित्र के अनुकूल विचा[रों] की एकता (Unity of Impressions) [...] उपदेशक न बनकर कहानी-लेखक का अप[नी] वास्तविक स्थिति में रहना आदि-आदि और भी किन[्ह]ीं ही ऐसी कसौटियाँ हैं, जिन पर गल्परत्न कसे [जा] सकते हैं। अंततः गल्प की सबसे बड़ी विशेष[ता] Singleness of effect है। यदि विचारों [की] एकता अर्थात् विचार-साम्य कहानी में नहीं है, तो उ[से] कहानी कहना ही ज़बर्दस्ती है। उदाहरणार्थ, विचा[रों] का साम्य हमें स्टिवेंसन की 'मारखेइम' और रवीं[द्र] बाबू की 'काबुलीवाला' कहानी में मिलता है। इ[स] संबंध में मि० राबर्टनील भी यही लिखते हैं कि कहानी

का सारांश विचार-साम्य है। गल्प की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए मि० एच्० जी० वेल्स लिखते हैं—"गल्प बिलकुल सादी चीज़ है। इसका उद्देश्य है एक विशेष प्रत्यक्ष प्रभाव पैदा करना। प्रारंभ से ही उसे पाठक का ध्यान आकर्षित करना चाहिए और वह आकर्षण कभी शिथिल न पड़कर अंतिम सीमा तक बढ़ता ही जाना चाहिए। कोई तोड़ अथवा शिथिलता आने के पूर्व वह समाप्त हो जानी चाहिए। गल्प को अपने लक्ष्य की ओर उसी प्रकार चलना चाहिए, जिस प्रकार शेर से पीछा किये जाने पर मनुष्य अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर भागता है। तब वह मार्ग में मिलनेवाले पुष्पों के लिए नहीं रुकता और न वृक्ष में लिपटी हुई बेलियों की ओर ही देखने लगता है; जीवनरक्षा के लिए उसका उद्योग वृक्ष पर चढ़ जाना-मात्र रहता है"। इस उदाहरण के भीतर कहानी-लेखक के उद्देश्य का Single effect, शरीर में आत्मा की भाँति, व्याप्त है। किंतु जो कसौटी प्रेमचंदजी ने दी है, वस्तुतः उसी को हमें अपने सामने रखना है; क्योंकि समालोचक का दृष्टिबिंदु, लेखक अथवा रचयिता के दृष्टि-बिंदु के बिलकुल समानांतर रहे, तभी ठीक-ठीक परख बहुत कुछ हो सकती है।

सर्वप्रथम कौशिकजी की वे दो कहानियाँ हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। कौशिकजी हिंदी के प्रतिष्ठित गल्पकार हैं। प्रेमचंदजी ने उन्हें प्रथम स्थान देकर औचित्य की मर्यादा का पालन किया है। उनकी कहानियों में उनकी मौलिकता की अपनी छाप रहती है, जिसे कदाचित् दूसरा गल्पकार नहीं अपना सका। 'इक्केवाला' कहानी में उन्होंने मनोरहस्य का अच्छा उद्घाटन किया है, इसमें संदेह नहीं। प्रोफ़ े० ब्रैंडर मैथ्यू ने एक स्थान पर लिखा है कि "गल्प में यदि कोई कथानक कहने को नहीं है, तो वह गल्प ही नहीं है। "जीवनयुद्ध में किसी विशेष चरित्र का चित्रण करते हुए किसी ख़ास नतीजे पर पहुँचना गल्प की विशेषता है" (प्रोफ़े० विलियम्स); क्योंकि जीवन की वासनामयी विभीषिकाएँ जब मनुष्य को अनायास, अज्ञात स्थिति में आतंकित करना चाहती हैं, तब सचमुच वह किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता है। ऐसी स्थिति में चरित्र की रक्षा करना—उसके चरित्र के एक अंग को अविच्छिन्न रूप में दिखाना—सफल गल्पकार का काम है। कौशिकजी की लेखनी की सात्विकता इसमें देखने को मिलती है। किंतु इसके अंतिम भाग में कौशिकजी के मनोनीत पात्र संसार के जंगम उपदेशक का आभास देने लगते हैं!

दूसरी कहानी कौशिकजी की 'आत्माभिमान' है। माधुरी के संवत् १९८५ वाले विशेषांक में यह छपी थी। इसमें प्रेमचंदजी की कसौटी खरी उतरती तो है, लेकिन चरित्र-चित्रण का जो प्रधान अंग—मानवीय जिज्ञासा—है, वह बहुत पीछे पड़ जाता है। जान पड़ता है कि गल्पकार अपने पात्र को वास्तविक रूप में चित्रित करने के लिए घटनावली से सजा रहे हैं। अतएव प्रेमचंदजी की कसौटी के अनुसार इसे कितना ऊँचा पद दिया जा सकता है, यह विचारणीय है। किंतु इस 'गल्प-रत्न' के योग्य कौशिकजी की दूसरी कहानी मिल सकती थी, जिसे मेरी समझ में प्रेमचंदजी नहीं गुंफित कर सके। वह है उनकी 'पावन-पतित' कहानी। यह 'सरस्वती' में कई वर्ष पूर्व छपी थी। हमारी पढ़ी हुई कहानियों में केवल यही कहानी हमें ऐसी मिली है, जिसे चाहें तो उपरिलिखित 'मारखेइम' और 'काबुलीवाला' तक के समकक्ष पहुँचा सकते हैं। हमारी तो यहाँ तक धारणा है कि इसके जोड़ की दूसरी कहानी किसी भी हिंदी-गल्पकार ने आज तक लिखी ही नहीं। यदि आज भारत अंतर-राष्ट्र होता, संसार की भाषाओं में हिंदी को भी स्थान प्राप्त होता, तो विश्व-साहित्य के गल्प-संग्रह में 'पावन-पतित' को भी कदाचित् समुचित स्थान प्राप्त होता! और, तब राजकुमार रघुवीरसिंहजी की यह धारणा भी कदाचित् अधिक पुष्ट होती कि हमारे हिंदी-गल्पकार किसी विदेशी भाषा के गल्पकार से कम नहीं हैं। साधारणतः कौशिकजी कहना तो कम चाहते हैं, लेकिन जान ऐसा पड़ता है कि कह बहुत रहे हैं। तथ्य को अतथ्यों से कौशिकजी बहुधा आच्छादित कर देते हैं, हालाँकि विचार-साम्य का तारतम्य वह बनाये रखते हैं। किंतु 'पावन-पतित' इस दोष से भी मुक्त है। वह घटना-प्रधान होकर भी इतना अधिक चरित्र-प्रधान है कि घटनावली के झरोखों से, जान पड़ता है, चरित्र झाँक रहे हैं—झुके पड़ते हैं। जीवन-संघर्ष

में घटनावली भी तो चरित्र का प्राधान्य ही घोषित करती है। कौशिकजी सफल गल्पकार हैं। उपन्यासों का प्रश्न विषयांतर है। लेकिन उनके पास, जैसा हम पहले कह चुके हैं, कहने को कम रहता है। तो भी 'पावनपतित' में उनकी लेखनी ने कला का जो रूप दिखाया है, वह स्पर्द्धा योग्य है। केवल एक कहानी में कौशिकजी की कला ने उन्हें सजीवता—अमरत्व प्रदान कर दिया है।

स्वयं श्रीप्रेमचंदजी की चार कहानियाँ हैं। उनमें से 'रानी सारंधा' एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर है। हमारी समझ में यह घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान दोनों ही है। और इसमें संदेह नहीं कि मनोवैज्ञानिक सत्य का जो विश्लेषण प्रेमचंदजी ने किया है, उसमें यह खरी उतरती है। बहुत दिन हुए, काशी से प्रकाशित होनेवाले 'इंदु' में एक कहानी छपी थी। उसका नाम था—'पतिहत्या में पातिव्रत'! जान पड़ता है, प्रेमचंदजी की 'रानी सारंधा' वही है। यहाँ यह न समझना चाहिए कि हम प्रेमचंदजी पर उसके अपहरण का दोष लगाते हैं। नहीं, हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं है। किंतु हमारा ख़याल है कि वह किसी अन्य लेखक की थी और उसमें घटनावली की प्रधानता अधिक होने पर भी चरित्र-प्रधानता अपेक्षित अंश में थी। प्रेमचंदजी ने दोनों की प्रधानता प्रदर्शित की है। किंतु हमें इसमें यह देखकर कुछ कम खेद नहीं हुआ कि प्रेमचंदजी ने 'भोंकने' की जगह 'चुभोने' का प्रयोग कर 'छुरी' और 'तलवार' की तीव्रता, व्यंजना एवं क्रिया को नष्ट कर दिया है। शब्द-कलाकार के लिए अनुचित शब्दवेध को भी हम अक्षम्य मानते हैं।

'आँसुओं की होली' में एक स्मृति-वेदना है। इस वेदना में उतनी तड़पन, उतना कंपन तो नहीं है; हाँ, शीतलता अधिक है। जान पड़ता है, वेदना का अंत हो चुका है, वह हद से गुज़र चुकी है और अब दवा बन गयी है। प्रेमचंदजी ने लिखा है कि "कला का रहस्य कृत्रिमता है...", पर यह वह कृत्रिमता है, जिस पर हमारी तुच्छ सम्मति में यथार्थ का आवरण नहीं पड़ा हुआ है। प्रेमचंदजी इस स्पष्ट कथन के लिए हमें क्षमा करेंगे कि यह बहुत हलके दाम का रत्न है—रत्नों के बीच में इसीलिए रक्खा है कि कहीं रत्न के भाव बिक जाय, तो जीवन धन्य हो।

'बड़े घर की बेटी' में बड़प्पन की जो मर्यादा कहानीकार ने स्थापित की है, वह सचमुच योग्य है। गार्हस्थ्य-जीवन का चित्र इसमें अंकित किया गया है। पर 'रत्न' की लालसा में इसमें हमें तो 'इमिटेशन' का धोखा हो रहा है। गल्पकार यहाँ स्वयं उसकी कलई खोल देते हैं। इसमें एक आदर्श की कल्पना को तोड़-मरोड़कर उन्होंने मनोवैज्ञानिक सत्य का रूप दिया है, जो अभिनंदनीय नहीं कहा जा सकता। यों यह गल्प ही है।

'रामलीला' कहानी पहले कभी माधुरी में छपी थी। इसमें कृत्रिम आदर्शों का अकृत्रिम रूप खींचा गया है और कला की दृष्टि से यह एक अच्छी रचना कही जा सकती है। इसमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—विशेषतः बालमनोविज्ञान का—अच्छा—बहुत ही अच्छा हुआ है। सामाजिक रूढ़ियों में आदर्शों का पतन किस सीमा तक हो सकता है, वे किसी ख़ास सीमा तक कैसे जकड़े हुए हैं, यह इसमें भली भाँति प्रकट है। मनोरहस्य के उद्घाटन के सिवा इसमें और कोई ऐसी बात नहीं है, पर वही इतना उच्च है कि प्रेमचंदजी की अन्य सब कृतियाँ पीछे पड़ जाती हैं।

किंतु स्वयं प्रेमचंदजी इन गल्परत्नों के निर्माता हैं और इन्हें पिरोनेवाले भी वही हैं, तब यह कहना कि ये इसके योग्य उज्ज्वल रत्न नहीं हैं, बड़ी भारी धृष्टता होगी—सचमुच बड़े दुःसाहस की बात होगी। पर एक पाठक की दृष्टि से तो हम यह कहेंगे कि प्रेमचंदजी ने अपने अमूल्य रत्नों को इसमें पिरोया ही नहीं। उनकी 'आगापीछा' 'गृहदाह' 'फ़ातिहा' इधर तथा अन्य कुछ कहानियाँ पहले ऐसी निकल चुकी हैं, जो बहुमूल्य रत्न कही जायँगी। प्रेमचंदजी की कहानियों की एक बड़ी विशेषता यह है कि उनमें देहाती समाज का बड़ा सुंदर चित्रण रहता है। हमारे गल्प-लेखकों में शायद ही कोई दूसरे ऐसा चित्रण उस समाज का कर सकें। किंतु इस विशेषता के साथ एक त्रुटि भी है। जब वह इस क्षेत्र से बाहर चले जाते हैं, तो जान पड़ता है कि यथार्थ के आवरण से विरहित कृत्रिमता उनका पीछा कर रही है। उपन्यासकार की दृष्टि से प्रेमचंदजी के संबंध में हमने अपने विचार स्थगित रक्खे हैं। आइज़क मारकोज़ से जेम्स लेन एलेन ने एक बार कहा था—"...

अक्सर पूछा करते हैं कि नगर का रहनेवाला सुदूर देहात का, जिसे उसने बहुत दिनों से देखा नहीं है, चित्रण कैसे करता है ?" उन्होंने उसका बहुत सुंदर उत्तर यह दिया था कि "वह देहात तो बहुत दूर नहीं है, मनुष्य तो आँख उठाते ही अनिमेष दृष्टि से उसे देखने लगता है।" प्रेमचंदजी की नज़रों में भी वही नाचता है और इसी कारण हमें उनकी रचनाओं में उस समाज का एक शृंखलाबद्ध इतिहास मिलता है। इसीलिए हम कहते हैं कि प्रेमचंदजी की प्रतिभा—जहाँ केवल आकृति और नेत्रों से आत्मा की अनुभूति होती है, ललाट की रेखाएँ और भ्रूवंक मानवीय क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं की घोषणा करते हैं, मानवीय भावनाएँ तथा चिन्तनाएँ चिरंतन विशुद्धता का उद्रेक करती हैं—वहीं अपने लिए विकास का क्षेत्र पाती हैं।

'न्यायप्रेमी' श्रीसुदर्शनजी की गल्प है। सुदर्शनजी ने इसमें कला का जो शिव, सुंदर एवं सत्य रूप दिखाया है, वह सचमुच अभिनंदनीय एवं स्पृहणीय है। उनकी 'अंधेरे में' कहानी पढ़कर हमारे हृदय में जितना क्षोभ हुआ, उतना ही इस कहानी को पढ़कर उल्लास हुआ है। घटनावली इसकी प्रामाणिक है, आधार ऐतिहासिक है; किंतु चित्रांकण सर्वथा मौलिक है—इतना मौलिक है कि कौतूहल का सीमांत तक आँखों से ओझल हो जाता है। प्रेमचंदजी का 'मनोवैज्ञानिक सत्य' वास्तव में इस कहानी के पाठकों को चकित कर देता है। शूद्रक की कथा का अनायास स्मरण हो आता है।

आर्थर मैकेन ने, सन् १८९० और १९०० के बीच में, एक पुस्तक के अंतर्गत 'साहित्य में आनंदातिरेक' पर लिखा है—

"यदि आनंदातिरेक है, तब तो मैं कहता हूँ कि यह बढ़िया साहित्य है; यदि वह नहीं है, तो सब कुछ होने पर भी मैं यही समझता हूँ कि यह भी एक उपज है। संभवतः बहुत आकर्षक भी हो, लेकिन उसे सत्साहित्य नहीं कहा जा सकता। आनंदातिरेक की भिन्न-भिन्न न-जाने कितनी अपरिचित पगडंडियाँ हैं, भिन्न-भिन्न परिधान एवं वेष हैं। पर यहीं पर हमें जान पड़ता है कि उसकी यही आद्यंत, संपूर्ण परिभाषा है। क्यों—क्योंकि कृत्रिमता समय की है और कला अनंत की।" सुदर्शनजी की इस कहानी में अनंतवाहिनी कला की रूपरेखा अपने प्रांजल रूप में प्रतिफलित है। अच्छा होता कि इसका अंतिम छोटा-सा वाक्य इसमें न रहता। यह हमारी समझ में कहानी के 'पिच' को किसी हद तक शिथिल कर रहा है।

किंतु 'अंधेरे में', इस कहानी के बाद, वह रंगत नहीं, वह रंग नहीं, वह बू नहीं, वह बास नहीं, वह बात नहीं। हमें तो इसका अंत अरुचिकर जान पड़ता है। विचारसाम्य उसमें ग़ज़ब का है, और यह सच है कि "वह बलिदान दाने का बलिदान है, जो अंधकार में पृथ्वी के अंदर धँस जाता है और अपने-आपको मेटकर अपने-जैसे बीसों उत्पन्न कर देता है", 'ख़ाक में मिलता है दाना सब्ज़ होने के लिये'—लेकिन मैकेन की जिस परिभाषा में हमने 'न्यायमंत्री' को देखा है, उसमें वह ठीक नहीं उतरती। और, इसके बाद वह कला के भी पीछे पड़ जाती है। संपादक की दृष्टि में इसका चुनाव अच्छा हो सकता है। लेकिन गल्पों की हाट में हम तो सुदर्शनजी की 'जीवन और मृत्यु' को इसकी अपेक्षा कहीं अधिक मूल्य में ख़रीदने को तैयार रहेंगे। क्या प्रेमचंदजी हमारी आँखों से भी उसका मूल्य आँकने को तैयार होंगे ?

किंतु हमारी समझ में एक बात लाख सिर मारने पर भी नहीं आयी। 'बुढ़ापा' को प्रेमचंदजी ने 'गल्प-रत्न' में क्यों स्थान दिया है ? यह हमारी समझ में गल्प नहीं, एक फ़ैंसी है, एक गद्यकाव्य है। बुढ़ापे का रोना है, जो काव्य का जामा पहनकर सामने आया है। हमारी सम्मति में गल्प का एक भी गुण इसमें नहीं है। प्रोफ़ै० ब्रैंडर मैथ्यूज़ लिखते हैं कि वह गल्प ही नहीं है, जिसमें कोई कहानी कहने को न हो। एच्० डबल्यू० मैबी ने गल्प की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार न तो यह कलात्मक है, न उसका विधान ही इसमें है, न कोई विशेष गुण और न आकर्षण का कोई वैयक्तिक सूत्र है। हाँ, गद्यकाव्य वह अपने ढंग का ज़रूर है। इसे पढ़कर पं० प्रतापनारायण मिश्र का—"अरे बुढ़ापा तोहरे मारे—इत्यादि"—काँपता हुआ बुढ़ापा सामने मूर्तिमान् हो जाता है। अच्छा होता कि प्रेमचंदजी उग्रजी की कोई बढ़िया गल्प इसमें देते।

उग्रजी की कुछ अच्छी गल्पें भी निकल चुकी हैं, जो कला की कसौटी पर भले ही उतनी खरी न उतरें, लेकिन उनके नवयुवकोपयोगी होने में संदेह नहीं। कितनी ही कहानियों में कला भी अपना रूप स्पष्ट दिखाती है। 'बुढ़ापा' में तो एक विचार को ही स्टाइल के द्वारा तर्क-संगत, विकसित रूप में दिया गया है। यह तो एक प्रकार की वर्णना-मात्र है।

श्रीयुत राजेश्वरप्रसादसिंह बी० ए० एक उदीयमान कहानी-लेखक हैं। उनके हृदय में सामाजिक द्वंद्व का कैसा उथल-पुथल मचा रहता है, यह उनकी कहानियाँ स्पष्ट बतलाती हैं। वेदना उनके मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का आधार है। उनमें दर्द है, सहानुभूति है। निराशा के घने अंधकार के भीतर उनके हृदय में आशा की क्षीण ज्योति आलोकित है जिसे, जान पड़ता है, समाज का झंझावात नहीं बुझा सकता। श्रद्धेय पंडित पद्मसिंह शर्मा की दृष्टि में वह एक बड़े होनहार गल्पकार हैं। और, इस होनहार बिरवे के पत्तों के चिकनेपन को हमने भी, उनकी इसी 'गल्परत्न' में संगृहीत 'आदर्श' में, जब वह 'सरस्वती' में पहलेपहल छपी थी, भाँपा था। 'मंच' भी हमने देखी है और अन्य कहानियाँ भी उनकी हमने पढ़ी हैं। कहीं उनकी अनुभूति का क्षेत्र कुछ और विशाल हो, तो हमारा ख़याल है, वह सोने में सुगंध का काम करेगा। 'आदर्श' में 'रमज़ान' का चरित्र-चित्रण करते हुए उन्होंने कला को जिस रूप में अपनाया है, वह सचमुच लाजवाब है। प्रेमचंदजी की कसौटियाँ इस कहानी में प्रायः ठीक उतरती हैं।

अंतिम गल्प श्रीयुत रामचंद्र टंडन की है और वह है—'लाल झंडी'। यह प्रसिद्ध रूसी लेखक गार्शिन की एक कहानी का हिंदी-रूपांतर है। गार्शिन की यह कहानी विश्व-साहित्य की ग्यारह चुनी हुई कहानियों में से एक है। इसी से इसकी मौलिकता और महत्त्व का अनुमान किया जा सकता है। और, शायद प्रेमचंदजी का इसे इन 'मौलिक' गल्परत्नों के साथ रखने का अभिप्राय यह हो कि हिंदी-संसार के सामने एक उच्च-कोटि के योरपियन गल्पलेखक की कला का भी आदर्श उपस्थित हो तथा हिंदी और अन्य भाषाओं के गल्पलेखकों में कला-संबंधी क्या अंतर है, यह भी विदित हो जाय। यह तो स्पष्ट ही है कि वर्तमान औप-न्यासिक कला को भारतीयों ने योरप से ही सीखा है। योरपीय साहित्य में उन्नीसवीं शताब्दी—विशेष उसका उत्तरार्द्ध— और बीसवीं शताब्दी के ये वर्ष प्रायः गल्पयुग के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। कदाचित् इसी ख़याल से प्रेमचंदजी ने बँगला, गुजराती, मराठी आदि भारतीय भाषाओं में प्राप्त गल्पों के सामने एक योरपियन कहानी को विशेषता दी है। विन्दु बनकर भगवान् शिव के मस्तक पर विराजमान होने की लालसा में अंगारे चबाने और अपने को भस्म कर देनेवाले चकोर की तरह प्रेमचंदजी ने जो वर्तमान मौलिकता के वायुमंडल में—पीयूष-वर्षा के सामने—अनुवाद के विष का प्याला, समालोचकों के प्रहारों की उपेक्षा करके भी, पीने का आदर्श दिखाया है, वह उनकी कलाप्रियता का ही एक प्रमाण माना जायगा। लेकिन हमारा अपना मत इसके विपरीत है। हम तो स्वर्ग में सेवक होकर रहने की अपेक्षा नरक में राज्य करने को ही अधिक सम्मानास्पद समझेंगे। सत्-साहित्य संसार की संपदा है; किसी भी भाषा में उसकी उपलब्धि उसके गौरव का द्योतक है। जिस भाषा में जितना अधिक विश्व-साहित्य का समावेश है, वह उतनी ही अधिक व्यापक और अमर है। किंतु जहाँ हिंदी-गल्पकारों का मूल्य आँका जा रहा हो, उनकी कृतियों का प्रदर्शन हो रहा हो, वहाँ उच्छिष्ट व्यंजन के मुक़ाबले हम तो अपने शाक-पात और कंद-मूल-फल को ही अधिक स्वाभिमान से ग्रहण करना उचित समझेंगे। इससे न तो टंडनजी 'गल्पकार' ही हो सकते हैं (वस्तुतः वह गल्पकार हैं ही नहीं) और न तब यह "हिंदी के विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह।" यह बात दूसरी है कि अपात्र में प्राप्त कंचन को उठाकर हम अपने ख़ज़ाने में रख दें और वह भी हमारा कहा जाने लगे। तब विक्टर ह्यूगो, टाल्स्टाय, मोपासाँ, अनातोले फ्रांस, एच्० जी० वेल्स आदि भी उस ख़ज़ाने में दाख़िल हो जायँगे। किंतु संसार उस कोष के वैभव के गीत क्या 'हमारा' कहकर गावेगा, यह संदिग्ध है।

अंत में हमें प्रेमचंदजी से एक शिकायत है, और वह यह कि भाषा का ध्यान उन्होंने यहाँ तक रक्खा कि कितने ही मौलिक लेखकों की गल्पें इसमें देने की कृपा नहीं की। भाषा की आलंकारिकता विचारशील

को—गल्प की स्वाभाविक धारा को—विच्छिन्न कर देती है—यह सिद्धांत तो सर्वथा मान्य नहीं है। मेरी कारेली की कृतियों को देखिए—टाल्सटाय का Resurrection देखिए। क्या कोई कह सकेगा कि उनकी आलंकारिकता ने उनकी कला को प्रच्छन्न कर दिया है? कम-से-कम हम इसे मानने को तैयार नहीं। शब्द-कला वास्तव में एक मुग्धा नायिका है। उसे कुछ अलंकारों की भी आवश्यकता है। बिना अलंकार के भी वह किंचित् अपूर्ण-सी रहती है। शर्त यह है कि अलंकार यथास्थान हों, मात्रा का अतिक्रमण न करते हों। नील गगन में जिस प्रकार आकाशगंगा एक अलंकार है, श्यामता में उज्ज्वलता की एक माला है, उसी प्रकार भाषा के लिए अलंकार भी अनावश्यक नहीं, कुछ समुचित भी है। अतएव सर्वथा अप्राकृतिक भी नहीं है। क्यों—क्योंकि सौंदर्य अलंकार-विरहित नहीं हो सकता। सौंदर्य स्वयं अलंकार है, अतएव अलंकार भी सौंदर्य-साधक ही है। वास्तव में दोनों किसी अंश में अन्योन्याश्रित हैं। हाँ, ज़बर्दस्ती अलंकार-आभूषण लादना हमें अग्राह्य है—अवांछनीय है, अतएव अशोभनीय भी है। कान में कर्णफूल की जगह पैर का कड़ा पहना दीजिए, वह अशोभित ही रहेगा; क्योंकि वह स्थान-भ्रष्ट—अतिरंजित है। विपरीत इसके बेंदी की जगह इसी मात्रा और आकार की—अगर प्राप्त हो तो—घड़ी चिपका दीजिए तो वह शायद अच्छी ही समझी जायगी; क्योंकि उसमें नवीनता है और वह मर्यादा का अतिक्रमण भी नहीं करती है। इस अलंकाराधिक्य से ही स्व० चंडीप्रसाद बी० ए० की कृतियाँ पाठक को भारवत् जान पड़ती हैं, आयुर्वेदाचार्य चतुरसेन शास्त्री बहुधा अरुचिकर हो जाते हैं, श्रीयुत जयशंकर 'प्रसाद' निगूढ़, जटिल एवं कष्ट-साध्य हो जाते हैं। किंतु इसका यह आशय नहीं कि इसी कारण श्रीयुत प्रसाद, श्रीयुत पदुमलाल बख़्शी, श्रीराय कृष्णदास श्रीप्रतापनारायण श्रीवास्तव, पं० भगवती-प्रसाद वाजपेयी तथा अन्य कितने ही कभी-कभी अथवा प्रायः लिखते रहनेवाले सुयोग्य गल्पकारों की कृतियों में 'रत्न' के गुण नहीं हैं। हाँ, यह हो सकता है कि अनगढ़ और गढ़े हुए रत्नों में जो अंतर है, वह उनकी गल्पों में किसी-किसी की दृष्टि में, पाया जाय; लेकिन प्रेमचंदजी की कसौटी पर तो ऐसे कितने ही रत्न सोलहों आने खरे उतरेंगे। कारण, जिस प्रकार एक ग्रंथ के संबंध में, उसी प्रकार किसी ग्रंथ-कार की संपूर्ण कृति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि वह सर्वत्र इतनी रोचक नहीं, जितना उसका कोई विशेष भाग उसको दिये जानेवाले समस्त अभिनंदन के बीच में अपने स्वत्व के लिए प्रेरणा करता है। इस दृष्टि से हम प्रेमचंदजी के संपादन और चुनाव को सफलता से कुछ पीछे पाते हैं। हम अपनी इस थोड़ी बहुत कड़वी बात के लिए प्रेमचंदजी से क्षमा माँगते हैं। और, ऐसा लिखते भी नहीं, यदि हम यह न जानते होते कि यह गल्परत्न हिंदी के विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम गल्पों का संग्रह है। संग्रह अच्छा है, किंतु यदि गल्प-साहित्य के इस ज़माने में यही सर्वोत्तम गल्पों का—विशिष्ट गल्पकारों की सर्वोत्तम गल्पों का—संग्रह है, तो आश्चर्य नहीं कि कोई यह पूछ बैठे कि उपन्यास-कला की दिल्ली अभी कितनी दूर है। यदि वैसा अनुमान न होता, तो कदाचित् इतने विशद रूप में हम भी न लिखते। हमारी धारणा है कि साहित्य-समीक्षा किसी शिक्षक अथवा गुरुजी का-सा काम नहीं है कि बुरा अथवा भला कुछ भी कह दिया जाय, चलो हो गया। नहीं, यह तो, वास्तव में सर्वोत्कृष्ट आदर्श कृतियों से मनोरंजन करने आनंद प्राप्त करने का एक कला है। आशा है, हमारी इसी धारणा का ख़याल कर प्रेमचंदजी हमें क्षमा करेंगे।

स्वयं उनकी कला तथा उपन्यासों पर हमारे विचार यथासमय प्रकट हो ही जायँगे।

धोखे की टट्टी

[श्रीकालीचरण चटर्जी एम्० ए०]

(१)

'मनोरथ अगर घोड़े होते, तो ग़रीब भी उन पर ख़ूब चढ़ते'—यह कहावत तब सिद्ध हो गयी, जब महायुद्ध से लौटकर जगमोहन ने एक बड़ी सरकारी नौकरी पाने की इच्छा की और उसका मनोरथ अनेक प्रयत्न करने पर भी सफल नहीं हुआ। पाँचवें दर्जे तक विद्या की दौड़, अतएव सरकारी पदों में अधिक-से-अधिक चिट्ठीरसा का पद मिलना संभव था। परंतु ऐसी नौकरी करना मर्यादा के विरुद्ध था; क्योंकि वह बीस बिस्वे का कुलीन कान्यकुब्ज-ब्राह्मण था। इधर गाँव के लोग भी जगमोहन को सरकारी नौकरी करने का आग्रह करते देख 'छिः' 'छिः' करने लगे। व्यंग्य के हज़ारों शूल एक ही साथ चुभने लगे। कारण, देश की हवा अब काफ़ी बदल चुकी थी। दैनिक कार्यों में भी गांधीजी की छाप लगाना आवश्यक हो गया था। इसी लिए जगमोहन के मुँह में ही मेसोपोटेमियाँ की कहानी क्रमशः लुप्त हो गयी और वह धीरे-धीरे नवीन प्रगति से परिचित होने लगा। सुतराम् उसके मुख से भी कांग्रेस की दो-एक बातें सुनने में आने लगीं।

आधी रात को आवाज़ पर आवाज़ देकर दरवाज़ा खुलवाया। आँखें मलती हुई मौसी ने कहा—अरे मुरहा, कहाँ था तू इतनी रात तक ? तेरे मारे रात में क्या सोने तक को भी नहीं मिलेगा। जगमोहन ने गंभीर भाव से उत्तर दिया—तुम लोगों ने सो करके ही तो सर्वनाश किया है। जानती हो मौसी, अमरीका की औरतें 'एरोप्लेन' तक चला रही हैं। एक दफ़े सोचो तो, आकाश से एक बार हाथ फिसलते ही समुंदर पर धम्म और सीधे मगर के पेट में ! ख़ैर, तुमने क्या नहीं सुना है आज एक सज्जन का भाषण बड़ा ही रोचक और जोशीला हुआ है ? उन्होंने साफ़-साफ़ कहा है कि भारतवर्ष की औरतों को अब जागना पड़ेगा, मर्दों का-सा काम-काज करना पड़ेगा। घूँघट काढ़कर, झाँझ और लच्छे छमाछम बजाकर, पाँव में महावर लगाकर, दुलहिन बनकर चहारदीवारी के अंदर रहने से काम नहीं चलेगा। वे दिन लद गये। 'नाइट स्कूल' खोलने का निश्चय हुआ है; वह किस तरह से खोला जाय, इसी पर विचार अब तक हो रहा था।

अधिक कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी। मौसी का मिज़ाज बहुत चिड़चिड़ा था। कड़ककर बोल उठी—मेरा सिर हो रहा था अब तक; तू कहीं नशा खाकर तो नहीं आया है ? मेरी नाक में दम कर रक्खा है इस बेईमान ने; काम-धंधा तो दूर किनार रहा, रात-दिन इधर-उधर सिर्फ़ भटकना। लड़ाई से तो वापस आया, पर एक बंदूक भी तो नहीं ला सका। रात-बिरात चोर-डकैतों को तो मार भगा सकता था। ऐसी ही और भी बहुत बातें मौसी एक ही साँस में कह गयी, लेकिन सुना किसी ने नहीं। जगमोहन तब तक रसोई के कमरे का दरवाज़ा खोल स्वयं ही रोटी परोसकर खाने लग गया था। मौसी दो बीड़े पान लिये वहाँ आकर उसके निकट बैठ गयी। आवाज़ अब कुछ धीमी हो गयी थी। उसने एक दूसरा ही राग आरंभ कर दिया। पूछा—अरे जग्गू, तेरी जायदाद का क्या इंतज़ाम हुआ ?

"सब बेंच डालूँगा मौसी ! तुमको तो मालूम ही है कि कैसा वक़्त आ गया है। ज़मीन रखने से ज़मींदार से झगड़ा अवश्य होगा। अंत में लगान देना बंद करके चुपचाप पड़ा रहना पड़ेगा। ज़मींदार को अगर ज़िद है, दार आकर ठोकर मारे, तो मैं एक थप्पड़ भी तो नहीं मार सकता। गांधीजी की यही आज्ञा है। यह मुझे अच्छा नहीं मालूम होता। जानती हो न, लड़ाई में मँजा हुआ हाथ है, न-जाने किस वक़्त क्या कर बैठे ! गांधी महाराज के कहने से क्या होता है ! इससे मैंने यही बेहतर समझा कि सब बेच-बाँचकर जो कुछ मिलेगा, उससे एक दूकान खोल दूँगा।"

मौसी का कलेजा काँप उठा। याद आयी अपनी बुआ के एक देवर के लड़के की। इसी तरह ज़मींदार

साथ लड़ने के कारण वह जेल गया था। वह त्रस्त चित-वन से देखती हुई बोली—ऐसा ही कर, बबुआ; कोई एक दूकान होने से भी तो कल्याण है। काल-चक्र विचित्र है। ऐसा समय आ गया है कि रोज़गार-धंधा बिलकुल ठंढा पड़ा है, पैसे की बड़ी तंगी है। ख़ैर, अब सो रह जाकर, मेरी भी आँख लग रही है। इसके बाद दोनों उठ खड़े हुए।

दूसरी मंज़िल पर एक छोटा-सा कमरा था। जगमोहन ने वहाँ आकर खिड़की से एक बार बाहर की ओर देखा। छोटा-सा मुहल्ला—तंग रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा होकर चला गया है। दूर पर एक खुला मैदान, जहाँ लड़के खेला करते हैं। उसके समीप कटहल की कतार थी; हवा से पत्ते हिल रहे थे, पत्तों के हिलने की आवाज़ से जगमोहन का कलेजा धड़कने लगा। वह तुरंत खिड़की बंद करके लेट गया। सहसा बलोचिस्तान के खजूर के दरख़्तोंवाला बाग़ याद आया। जगमोहन की चिंता का विषय था कि भारतवर्ष को स्वराज मिलने पर शायद बलोचिस्तान, अफ़ग़ानिस्तान में शामिल हो जाय। अहा, जगह बहुत ही सुहावनी है! किंतु समय के फेर में पड़ जाने से अब जगमोहन हृदय खोलकर किसी से इन सब देशों की चर्चा नहीं कर पाता। उस मुहल्ले के पंडित बेनीराम मिश्र ही अब उसके गुरु हैं। वह उसको सदा समुचित उत्साह देते हुए कहते—"जग्गू तुम्हारे ऐसे युवकों से ही देश-माता का कार्य होगा। तुम एक स्वाधीन कारोबार फैलाकर बैठो तो, फिर 'नाइट-स्कूल' की क्या चिंता है। कांग्रेस-दफ़्तर को भी हम लोग शानदार बना लेंगे।"

जागृति के जीते-जागते उदाहरण थे यह पंडित बेनीराम। जगमोहन मुँह बाये उनके पास इलाहाबाद, बंबई आदि शहरों की ख़बरें सुना करता। कभी-कभी वह स्वयं समाचार-पत्र भी पढ़ने लगता। सिनेमा की तस्वीर कैसी रहस्मय है! यदा-कदा वह लेख छोड़कर तस्वीर भी देखने लग जाता।

कमरे के अंदर लालटेन उस समय भी जल रही थी। न-जाने क्यों उसको नींद नहीं आयी। अंत में जगमोहन उठकर उस लालटेन के सहारे एक सिगरेट सुलगाकर पीने लगा। हठात् नज़र पड़ी ताक पर रक्खी हुई ज़रदे की पुड़िया पर; इसमें बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था 'तटिनी'। वह झट उठा और ज़मीन पर ज़रदा डालकर उस समाचार-पत्र को लालटेन की रोशनी में दत्तचित्त होकर पढ़ने लगा। नयी-नयी कल्पनाओं के समीर ने उसके अनभिज्ञ मस्तिष्क को आलोड़ित कर दिया।

(२)

प्रातःकाल होते ही पंडित बेनीराम आकर बोले—"जग्गू, इतनी ग़फ़लत से काम नहीं चलेगा। कटहल के पेड़ों के कटाने का प्रबंध शीघ्र करो, वहीं पर छप्पर डाला जायगा न। सात-आठ विद्यार्थी भी मिल गये हैं; और देर करने से सारा काम बिगड़ जायगा।"

जलपान की तश्तरी फ़ौरन् छोड़कर जगमोहन ने चिल्लाकर कहा—"मौसी, मैं बाहर जा रहा हूँ, लौटने में देर होगी। हरसुख अगर आवे, तो कह देना कि मेरा रुपया इसी महीने में अदा कर दे, नहीं तो ख़ैरियत नहीं है, मैं नालिश कर दूँगा।" इसके बाद न-जाने क्यों फिर तश्तरी खींचकर मुँह में एक पूड़ी डालते हुए बोला—"आप चलिए गुरुजी, मैं अभी आता हूँ।" बेनीराम मुसकिराकर चले गये।

एक गिलास पानी पीकर जगमोहन चला गया। अपने मकान के सामने सुखिया बर्तन माँज रही थी। खाँसी की आवाज़ पर उसने आँख उठाकर देखा; फिर मुसकिराकर बोली—"कहाँ जा रहे हो पंडित? आज-कल तो दर्शन भी नहीं मिलते।"

जगमोहन ने रुखाई से जवाब दिया—"मेरा समय फालतू नहीं है; सबेरे-सबेरे मुझे तूने अपना मुँह दिखाकर मेरी यात्रा में असगुन कर दिया।" इतना कहकर जगमोहन तेज़ी के साथ चला गया।

सुखिया का मुँह उतर गया; नागिन की तरह फुफकारते हुए बोली—"उजड्ड कहीं का! बात करने का ढंग तो देखो ज़रा।"

न-जाने क्या सोचकर कुछ दूर जाने के बाद जगमोहन फिर लौटा; बोला—"नहीं, जब तूने बाधा दी है, तब कुछ देर तेरे घर बैठकर ही जाऊँगा। चल तो, थोड़ी-सी आग देगी।"

"मुँह में क्या?"—यह कहकर सुखिया खिलखिलाकर हँस पड़ी।

सुखिया लाला रामदीन की लड़की थी, बाल-

विधवा। रूप में थी वह कुंदन के समान और स्वभाव में लाजवंती लता के तुल्य। उसके यौवन की लावण्य-ज्योति चारों तरफ़ बिखर रही थी, कितने ही पतंगे उसमें जल जाने के लिए अधीर हो रहे थे। उसकी मुसकान सुमन-सुगंध की भाँति मीठी थी, कितने मधुप पुष्प-पराग का मधुपान करने के लिए गुनगुनाते थे। परंतु वह कर्तव्य-भ्रष्ट नहीं हुई थी। लाला रामदीन कृषि-कार्य से गुज़र करते थे; जी-जान देकर उसी की देखरेख में उनका समय व्यतीत होता था। सुखिया गृहस्थी का सारा काम करती थी। जगमोहन के साथ वह बचपन में खेली थी, पाठशाला में कुछ दिन उसके साथ पढ़ी भी थी। जगमोहन के युद्ध से लौट आने के बाद सुखिया के हृदय में उसके प्रति संभ्रम का भाव पैदा हो गया था, परंतु उसके साथ वह बिना हँसे बोलती नहीं थी। जगमोहन की मौसी की क्रूर-दृष्टि उस पर सदा रहती थी और वह भी बुढ़िया के दो-एक काम सहर्ष कर दिया करती थी।

तम्बाकू पीते-पीते जगमोहन ने कहा—"देख सुखिया, तू पंडित बेनीराम को जानती है? हम लोग एक स्कूल खोलेंगे, तू पढ़ेगी?"

सुखिया बोली—"तुम भी पढ़ोगे क्या? ठीक है, आजकल दो-एक दर्जे पास न करने से नौकरी मुश्किल से मिलती है।" इस समय उसके मुँह पर एक विचित्र मधुर मुसकान थी।

"दुत बेवक़ूफ़, यह पास करने का स्कूल नहीं है। यहाँ तो सिर्फ़ अछूतों के लड़के-लड़कियाँ लिखना-पढ़ना सीखेंगी।"—इतना कहकर जगमोहन उठ खड़ा हुआ।

"लिख-पढ़कर होगा क्या? मेरा ख़याल था, तुम पास करके मुझे इलाहाबाद ले चलोगे—ब्राह्मण बना लोगे"—कहकर आँखें नचाकर सुखिया कुछ मुस्करायी।

"तेरा सिर करूँगा"—कहकर जगमोहन चल दिया।

किंतु दिल में एक शंका पैदा हुई—स्कूल खोलकर होगा क्या? वह तुरंत पंडित बेनीराम की तलाश में चल दिया।

बद्दन हलवाई की दूकान पर बैठकर मदन तम्बाकू पी रहा था। उसने पुकारकर जगमोहन से कहा—'अरे पल्टन, आओ-आओ, एक सिगरेट पी लो।'

विरक्त भाव से जगमोहन ने उत्तर दिया—"मैं तुम्हारी विलायती सिगरेट मैं नहीं पीता"। यह कहकर हड़बड़ाता हुआ चला गया। एकदम कटहल के दरख़्तों के समीप आकर खड़ा हुआ। उसने ऊपर निगाह फेंककर देखा, बड़े अच्छे कटहल लगे हैं, उनको काटना तबियत को गवारा न हुआ। मधुर बचपन की अनेकानेक स्वप्न-छवियों ने मेसोपोटेमियाँ के सुख-प्रांतर के साथ एकत्र होकर एक विचित्र कल्पना-लोक की सृष्टि कर दी।

पंडित बेनीराम अपने अनुयायियों के साथ 'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा' गीत से दिगन्त को गुंजायमान करते हुए वहाँ उपस्थित हुए। जगमोहन उनको देखते ही बोल उठा—"मैं आज शेरपुर जा रहा हूँ, मुझे अपनी ज़मीन फ़रोख़्त करना है। आप जैसा उचित समझें, वैसा ही कीजियेगा। मेरी दूकान जब तक नहीं खुल जाती, तब तक मैं कुछ भी सहायता नहीं दे सकता।"

प्रोत्साहन देते हुए पंडित बेनीराम ने कहा—ठीक है, ठीक है। मैं यथायोग्य सब कर लूँगा; लेकिन आपकी दूकान खद्दर की होनी चाहिए।

'अच्छा' कहकर जगमोहन चल दिया।

रास्ते में सुखिया मिली। उसने कहा—"मुझे भी दो एक कटहल देना पंडित।" "तुझे ख़ाक-पत्थर दूँगा"—कहकर जगमोहन ने मकान के अंदर आ आवाज़ दी—मौसी, भोजन तैयार है? मैं खाना खाकर शेरपुर जाऊँगा। जल्दी पाँच नोट तो निकाल दो, इनकी ज़रूरत है।

आँखें विस्फारित करके मुखरा मौसी बोली—"क्यों रे शैतान, इतने नोट लेकर करेगा क्या! याद रखना, दो दिन बाद भीख माँगनी पड़ेगी।"

"भीख क्यों?—अब तो दिन-दहाड़े डकैती करूँगा!"

जगमोहन स्नान के लिए चला गया।

(३)

कांग्रेसवाले अब जगमोहन को देश-द्रोही कहकर धिक्कारते हैं, सब प्रकार से शर्मिंदा करते हैं; क्योंकि उसने शराब की एक दूकान खोल दी है। जगह-जगह

हल पर आलोचना होने लगी। वृद्धों ने कहा—जगमोहन बड़ा बहादुर है। आवारा छोकरे उससे बिगड़ गये, क्योंकि वह उधार नहीं बेचता। सबने कहा – पट्ठा, पानी देकर खूब टके लूटता है। उसकी मौसी बड़ी प्रसन्न थी; वह सोचती थी कि अब जग्गू की शादी करके एक अप्सरा-सी बहू लाऊँगी। सुखिया मंद मुस्कान-सहित बोली—"क्यों पंडित, मुझे लिखना-पढ़ना नहीं सिखाओगे ?" उसका मुँह लाल हो गया। परंतु अपनी ज़बान से उसने एक शब्द भी इसके उत्तर में नहीं कहा। परम शांति से बही-खाता लिखने में मनःसंयोग कर दिया।

पंडित बेनीराम बोले—"तुमने यह काम अच्छा नहीं किया जग्गू! हम सब तो शराब पीना बंद करने की कोशिश कर रहे हैं और तुमने एकदम दूकान खोल दी!" जगमोहन ने उनकी फटकार सह ली और हाथ जोड़कर कहा—"लेकिन आप लोगों के नाइट-स्कूल के लिए रुपये भी तो चाहिए ? इसी दूकान से रुपया जल्दी आएगा, गुरुजी!" धरना देनेवालों के अदम्य उत्साह पर जगमोहन की उपस्थित बुद्धि ने तत्काल पानी फेर दिया।

(४)

जगमोहन को अब संसार एक अथाह समुद्र-सा प्रतीत होने लगा; उसका कहीं कोई किनारा नहीं मिला। मेसोपोटेमिया के 'ट्रेंच' में लेटकर गोली चलाना वर्तमान जीवन की अपेक्षा कहीं अच्छा था—मृत्यु की प्रतीक्षा के सिवा और कोई भावना उसमें नहीं थी। और, यहाँ प्राण-पखेरू को शरीररूपी पिंजड़े में बंद रखने के लिए दिन-रात केवल लड़ाई ! जगमोहन के सब लक्षण शायद व्यर्थ हो जायँ ! ऐसी अज्ञात वेदना उसे कभी-कभी क्षुब्ध कर देती।

मौसी बोली—"अरे जग्गू, क्या लड़कीवाले से बात-चीत करूँ ?" व्यस्त होकर, सिर हिलाकर, भवें चढ़ाकर उसने उत्तर दिया—पागल तो नहीं हो गयीं ! शराबियों से अच्छा है, तुम्हारी बहू यहाँ आकर तीन ही दिन में काफ़ूर हो जायगी। दो दिन सब्र करो, इलाहाबाद में एक मकान बना लूँ।

उस दिन झुटपुटा होने के बाद जब जगमोहन मकान वापस आ रहा था, सुखिया उसका मार्ग रोककर खड़ी हो गयी; बोली—"हुक्का पी लो।" जगमोहन आश्चर्य से चकित होकर बोला—"अरे शैतानी, अभी तक सोयी नहीं ? क्या कर रही है ?" सुखिया मंद-मंद मुस्किराकर बोली—"तुम्हारी दूकान के शराबियों को देख रही थी, उनका लड़खड़ाकर चलना मुझे बहुत अच्छा मालूम होता है। मैं सोचती रहती हूँ, तुम भी कब वैसे ही चलना आरंभ करोगे।"

यह सुनते ही जगमोहन के हृदय में क्रोध उमड़ आया। उसने कर्कश स्वर में जवाब दिया—"क्यों, मेरा सीधी राह पर चलना तुझे बर्दाश्त नहीं होता ?"—इतना कहकर तेज़ी से उसने घर का रास्ता लिया। किसी तरह से भोजन समाप्त करके अपने शयनागार की खिड़की के पास बैठकर अन्यमनस्क भाव से बीड़ी फूँकने लगा और लगा आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाने। दुनिया-भर की बातें एक ही साथ निकलकर उसके वासना-लोलुप हृदय और क्षीण मस्तिष्क को मथने लगीं। विवाह करके गृहस्थ बनने में आपत्ति क्या है ? ख़ासी सुख की गृहस्थी होगी, खाने तथा कपड़े की तो कोई फ़िक्र ही नहीं है। नादान मुहल्ले के चौबेजी की रंगीन गृहस्थी उसकी आँख के सामने घूमने लगी। कैसी फूली-फली गृहस्थी है ! दान-पुण्य, भोज आदि से सदा सरगर्म रहती है। चौबेजी से अपनी दशा कहीं अच्छी है। सब आशाएँ पूर्ण भी हो गयी हैं; बाक़ी है केवल शादी करके पक्का गृहस्थ बनना। अचानक न-जाने क्यों अर्द्ध-दग्ध बीड़ी को खिड़की के बाहर फेंककर वह शय्या पर लेट गया, पर उसकी आँखों में अभी नींद न थी। खिड़की के पास नीम के दरख़्त के पत्तों से सर-सर-सी आवाज़ आयी; बहुत ही करुण, किसी के भग्न-हृदय की हाय-भरी-दबी हुई श्वास-जैसी !

(५)

जिस रुपये के पीछे घर-द्वार छोड़कर सुदूर मेसोपोटेमिया तक धावा किया था, वही आज घर बैठे मिल रहा है। किंतु ये रुपये लेकर होगा क्या ? स्कूल की इमारत ?—वह तो बन गयी है। गाँव में कोई लाइब्रेरी नहीं है। पंडित बेनीराम रुपये माँग रहे थे, वह भी हो जायगा। इससे क्या ?—'धत्' कहकर और सिर में थोड़ा चमेली का तेल लगाकर जगमोहन एकदम कुएँ के पास चला गया। दोपहर की धूप में एक पेड़ की सबसे

ऊँची डाल पर बैठकर एक कौवा शुष्क कंठ से लगातार काँव-काँव कर रहा था।

उसी दिन रात को लगभग दस बजे दूकान बंद करके जगमोहन मकान वापस आ रहा था। एक तलैया के पास से होकर उसका रास्ता सर्प की नाईं चला गया था। पथ जैसा अंधकार, वैसा ही निर्जन था। उस पथ के पास सुखिया का छोटा-सा कुटीर था। झाड़ी के पास खड़ी होकर सुखिया ने पुकारा—पंडितजी!

"हाँ, तू अभी तक सोयी नहीं?"

"इस क़दर गर्मी है कि अंदर रहना मुश्किल है।"

थोड़ा रुककर फिर वह बोल उठी—तुम अब शादी कर लो, पंडितजी।

उस अंधकार के बीच उसके चेहरे की तरफ़ कड़ी निगाह से देखकर दृढ़ता के साथ जगमोहन बोला—"नहीं"

"क्यों, क्या अड़चन है?"

"है कुछ"

सुखिया ने एक अंतर्भेदी दृष्टि से देखते हुए कहा—"अरे, कहो तो।"

जगमोहन कुछ क्षण तक न-जाने क्या सोचता रहा; तदुपरांत अत्यंत गंभीरता के साथ अकस्मात् बोल उठा—"शायद तेरे मारे नहीं कर सकता सुखिया।"

सुखिया के मुँह पर लाली-झलक आयी; अपने को सँभालकर उसने कहा—मेरे मारे? क्यों, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, ज़रा सुन तो लूँ?

जगमोहन ने कुछ नहीं कहा—चुपचाप खड़ा रहा; फिर एकाएक बोल उठा—"तू रो-रोकर मरेगी तो?" इस लज्जाजनक वाक्य के पश्चात् कुछ अप्रतिभ-सा हो, उसने हँसने की व्यर्थ चेष्टा की, केवल यह दिखलाने के लिए कि उसका कथन वास्तव में बिलकुल मज़ाक़ है। इसके बाद एक शब्द भी मुँह से न निकाल सका। वह चला गया। अंधकार में आँसू नहीं देख पड़ते हैं, परंतु गले का स्वर तो सुना ही जा सकता है।

अपने कमरे में बैठकर वह अफ़ग़ानिस्तान की बातें फिर सोचने लगा—चिंताओं की छोटी-बड़ी अनेक तरंगों—आवर्तों से उसका घबराया हुआ मन मथा जाने लगा। एक लड़ाई पुनः क्यों नहीं छिड़ती? इस दफ़े जाकर अगर बच गया, तो अपने मुल्क को वापस न आऊँगा। वहीं पर किसी काबुली लड़की के साथ शादी करके अंगूर-बेदाना खाकर जीवन बिताऊँगा। कहाँ रहेगी मौसी और कहाँ रहेगी सुखिया!

खिड़की से कटहल के पेड़ अब नहीं देख पड़ते; वहाँ अब स्कूल का छप्पर खड़ा है, जिस पर आंगरेज़ी पताका फहराती है। चंद्रमा की विमल ज्योति में वह छप्पर अद्भुत शोभा दे रहा है। जगमोहन एक सिगरेट सुलगाकर बाहर की तरफ़ देखने लगा। वह जितना ही बुनता गया, कल्पना का जाल उतना ही उलझता होता गया। परेशान होकर वह आप-ही-आप बोल उठा—'स्कूल—न ख़ाक-पत्थर'। उसके दिमाग़ के तार एक साथ झनझना उठे, धरती सरकती हुई मालूम होने लगी और वह धीरे-धीरे चारपाई पर लेट गया।

(६)

ज्योत्स्नामयी रजनी! चारों तरफ़ शांति छायी हुई स्वप्न-सा दृश्य ज्ञात होता था। जगमोहन घर लौट रहा था। मार्ग के किनारे एक हरसिंगार के पेड़ पर लाखों फूल खिले हुए थे। उनकी सुरभि से दिशाएँ सुगंधित थीं। घर लौटने का प्रतिदिनवाला वही रास्ता; रास्ते के पास सुखिया का वही मकान; प्रतिदिन की-सी सुखिया के साथ मुलाक़ात।

"दूकान बंद हो गयी?"

"हाँ, पितरों के पिंडदान कर आया।"

"ऐसा क्यों कहते हो?—अब तो पाँचों उँगलियाँ घी में हैं!"—स्वाभाविक हास्यप्रियता के कारण ... स्वर से कहकर सुखिया हँसने लगी।

पर कुछ उत्तेजित स्वर में जगमोहन बोला—"इन पैसों से अब क्या ख़ाक करूँगा?"

"क्यों शादी-वादी करके गृहस्थ बनोगे—पत्नी सुंदरी—"

उसकी बात को बीच ही में काटकर, सहसा ... में से रुपये की थैली निकालकर और उसे सुखिया के पैरों के पास रखकर जगमोहन बोला—"यह ... बे-मतलब की बातें मैं नहीं सुनना चाहता। तू ये ... लेगी या नहीं? सच-सच कह। तेरी क़सम सुखिया, अगर तूने लेने से इनकार किया, तो मैं ज़मीन पर सिर दे मारूँगा और यहीं मर जाऊँगा।"

एक क़दम पीछे हटकर, निर्वाक् होकर उसके मुँह की ओर अपलक ताकती हुई सुखिया बोली—"इतना रुपया लेकर मैं क्या करूँगी, पंडितजी ?"

"ख़ैरात करेगी, लुटा देगी, जला देगी—जो तेरे जी में आयेगा करेगी।"

"इससे अच्छा दवाख़ाना या और कुछ जो खोलनेवाले हैं, वह क्यों नहीं खोलते ?"

"ख़ाक-पत्थर करूँगा। मेरी देखभाल करनेवाले का तो पता ही नहीं, मैं सालों के लिए—"

शेष शब्द उसके मुँह से नहीं निकले, गला भर आया।

× × ×

दूसरे दिन मुहल्ले में बावैला मचा हुआ था। किसी ने अपनी आँख से देखा था कि सुखिया ने जगमोहन से रुपये लेकर......इत्यादि। मौसी झुँझला उठी—"अरे बदमाश! अब तो घर से बाहर निकलना भी मुश्किल हो गया है। सड़क पर जहाँ निकली नहीं कि उँगलियाँ उठने लगती हैं। सारी इज़्ज़त-आबरू मिट्टी में मिला दी तू ने।"

मुहल्ले में लोग फब्तियाँ कसने लगे, मनमानी गढंत के क़िस्से फैलाने लगे, आसमान में पैबंद लगाये जाने लगे। वे साफ़-साफ़ बोले—यहाँ तो पहले से मालूम था। जिस दिन जगमोहन ने शास्त्र की मुनादी को टाल-कर समुद्र-यात्रा की थी, उसी दिन मालूम हो गया था कि उसके लिए कोई कर्म असाध्य नहीं है।

सुखिया के लिए गाँव में रहना एकदम असंभव-सा हो गया। उस गाँव के आवारा नवयुवकों ने खुल्लम-खुल्ला ऐसी असभ्य भाषा में वाहियात मखौल उड़ाना शुरू किया, जिसमें शिष्टाचार का लेशमात्र भी नहीं रहता था। कोई कहता था—"ओ जिन्नत की हूर, रानी बन जाओ!" तो कोई कहता था—"ओ इंदर की परी, जगू ही पर क्यों इतनी फ़िदा हो? हम भी, जो कुछ तुम माँगो, देने के लिए तैयार हैं।"

अस्तु, लोग मज़ाक क्यों न करें। उनके पास रुपये नहीं थे, परंतु उनको रस का ज्ञान तो था।

सुखिया का पिता था निरीह, पुरानी चाल का सीधा-सादा आदमी—बिलकुल रामजी की गऊ। किसी से कुछ बिना कहे-सुने एक दिन रात की अँधेरी में वह सुखिया को लेकर लापता हो गया। मुहल्ले के लोग कहने लगे, इसके सिवा और क्या चारा था? काशी या वृंदावन जाने की निश्चय ही आवश्यकता पड़ी थी, इत्यादि-इत्यादि। जग-मोहन ने पागल-सा होकर घर से बाहर निकलना बंद कर दिया। वह सब सुन लेता, इस घोर अपमान का एक शब्द से भी प्रतिवाद न करता।

धीरे-धीरे सब शांत हो गया; सुखिया को लोग भूल गये और जगमोहन को भी छुटकारा मिला। धीरे-धीरे जगमोहन फिर अपनी दूकान पर निर्भय होकर जाने लगा, परंतु अब प्रतिदिन के हिसाब में कुछ-न-कुछ गड़बड़ी होने लगी। एक दिन घर वापस आकर भोजन करते समय उसने मौसी से कहा—"उस लड़की का क्या हुआ मौसी ?"

जगमोहन के मुँह से यह बात सुनकर मौसी के हृदय में प्रसन्नता की लहर उठी, मानों बौने ने चाँद पाया। वह फूली नहीं समायी। इतने दिन बाद जग्गू की बुद्धि ठिकाने पर आयी है, यह जानकर उसने मन-ही-मन सत्यनारायण की कथा कराने की मनौती कर डाली। बोली—तो क्या उनसे बातचीत करूँ? तेरी राय क्या है?

परंतु जग्गू ने अपनी राय ठीक-ठीक नहीं दी। रात को सोने के कमरे में बैठकर जगमोहन चिंता-सागर में ग़ोता लगाने लगा; चिंता का निष्कर्ष यह था कि वह विवाह करके एक पक्का गृहस्थ बन जायगा, इस प्रकार शून्य निराधार जीवन नहीं निभ सकता। चौबेजी की गृहस्थी फिर आँखों के सामने नाचने लगी। खिड़की द्वारा अँधेरे से घिरा हुआ आकाश दिख रहा था, पेड़-पौदे हवा से सर-सर हिल रहे थे; न-जाने क्यों उसका शरीर काँप उठा—उसका मुख उदास तथा आँखें अश्रु-पूर्ण हो गयीं। वह एकदम नीचे उतर आया और मौसी को पुकारकर बोला—"शादी-वादी नहीं करूँगा मौसी। फ़िज़ूल उन सज्जन से यह मामला न छेड़ना।" मौसी ने आहत सर्पिणी की भाँति उसकी ओर देखा, उस समय उसके नेत्रों से दोपहर की लपटें निकल रही थीं। उसने सिर ठोककर, सुखिया के चौदह पुश्त तक को नरक में भेजकर, आकाश-पाताल एक कर दिया।

× × ×

दूसरे दिन जब जगमोहन दूकान पर बैठा एक समाचार-पत्र पढ़ रहा था, पंडित बेनीराम आकर

बोले—"शराब की दूकान अब बंद कर दो जग्गू; अमरीका से बीज मँगवा दूँगा—कपास की काश्त करो।"

जगमोहन हकबकाकर उठ खड़ा हुआ। बोला—हाँ-हाँ, यही किया जाय, गुरुजी आप प्रबंध कर दीजिए। जितना रुपया लगे, मैं अभी देता हूँ। काश्त खूब फैलाकर करना पड़ेगा। सच कहता हूँ गुरुजी, अब की बार कपास की काश्त में इस तरह से जुट जाऊँगा कि दुनिया चकित हो जायगी, देख लेना गुरुजी।

मकान पर क़दम रखते ही जगमोहन ने चिल्लाकर कहा—"मौसी, यह सब दुकान-डकान बेच दूँगा। गुरुजी अमरीका से बीज मँगवा देंगे, अब कपास की खेती करूँगा। इस देश के जुलाहों की दशा पर ..."

बात ख़त्म नहीं हो पायी थी कि मौसी झल्लाकर बोली—"फिर क्या है, तेरे पुरखे भूत होकर नंगे घूम रहे हैं, अब कपड़ा पहनकर फिर आदमी बन जायँगे! मेरा मरण भी तो नहीं होता कि इस दहिजरा के नातों से निहाल हो जाती।"

जगमोहन ने कुछ नहीं कहा। एक मुहूर्त में उसकी सारी उमंग और उत्साह उड़ गया। चुपचाप अपने शयन-कक्ष में जाकर वातायन-पथ से बाहर का दृश्य देखने लगा और रह-रहकर दीर्घ निःश्वासों द्वारा अपनी विवशता प्रकट करने लगा। उस समय धूप से झोंके भी अंगारे निकल रहे थे। बग़ल के पनाले से एक तीव्र महक ने उसके हृदय को निर्जीव बना दिया। 'न मैं कपास की काश्त करूँगा, न ख़ाक-पत्थर करूँगा'—इतना कहकर उसने अपने विस्तर का आश्रय लिया। दूर से शत-शत कंठों से गायी हुई एक उच्च गगनभेदी स्वर-लहरी उसके कानों में पहुँची। वे गा रहे थे—

"झंडा ऊँचा रहे हमारा"

उपहार

[श्रीभगवतीचरण वर्मा बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

कलरव-सी उर-कानन में—
संगीत सुनाती आयीं;
मधु की पागल प्याली-सी—
उन्माद बहाती आयीं।
लतिका-सी तरुवर-पति पर—
तुम प्यार बिछाती आयीं;
कुसुमावलि-सी ऋतुपति पर—
सौरभ बरसाती आयीं।
मानस की लहरों में तुम—
रसधार बहाती आयीं;
रीझी-सी और चकित-सी—
तुम किसे रिझाती आयीं?

गुंजार

[श्रीसोहनलाल द्विवेदी बी० ए०]

रूप के मद में मत डोलो।
दो दिन का यह अतिथि तुम्हारा,
ढुलक पड़ेगा जैसे पारा,
फिर बहार क्या मधुर मिलन में,
अभी एक हो लो;
रूप के ...।
इस मदिरा का यही एक फल,
पिओ, पिलाओ होकर निश्छल;
झूमो स्वयं, झुमाओ अलि को,
स्वर्ग-द्वार खोलो;
रूप के ...।
रूठ, अकेले क्या पाओगे?
नीरस रह, मुरझा जाओगे;
यौवन का सुख है इसमें ही—
प्रणय-सुधा घोलो;
रूप के ... ...।

महात्मा रावण

[पं० रामसेवक पांडेय साहित्योपाध्याय]

साहित्य में जब कोई लेखक विचार-स्वातंत्र्य उपस्थित करता है, तो यदि वह युक्ति-युक्त और गंभीर अध्ययन के परिणाम-स्वरूप होता है, तब तो विद्वानों में समादर का पात्र होता है, अन्यथा नहीं। किसी रूढ़ि या अंध-विश्वास का अनुसरण करने-वाली कल्पना मानसिक दासत्व या विचारों की गुलामी कहलाती है ; किंतु जब विचार-स्वातंत्र्य उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेता है, तब उसका महत्त्व घट जाता है। विगत मई मास की 'सरस्वती' में 'महात्मा रावण'-शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक हैं श्रीयुत तुलसीदासजी वाशिष्ठ। खेद है, गंभीर विचार करने पर भी हम आपके मत से सहमत नहीं हो सके। हमारी मंद मति में वाशिष्ठजी के विचार सर्वथा उच्छृंखल और उपपत्तिशून्य हैं, जिनसे ज्ञान-विस्तार की अपेक्षा भ्रम फैलने की ही आशंका है। वाशिष्ठजी के लेख का सारांश इस प्रकार है—

१—रावण महात्मा सदाचारी अथच जितेंद्रिय था।

२—सीताहरण का उत्तरदायित्व वस्तुतः रामचंद्र ही पर है ; क्योंकि उन्होंने रावण की भगिनी शूर्पणखा से झूठ बोलकर अनुचित उपहास किया और उसके नाक-कान कटवा लिये। ज़्यादती पहले रामचंद्र की ही तरफ़ से हुई।

३—वाल्मीकीय रामायण में रावण के लिए जहाँ निंदात्मक वचन आये हैं, वे महर्षि वाल्मीकि-कृत नहीं हैं, अपितु सीताहरण के कारण कुपित राम-भक्तों ने कल्पित कर लिये हैं। अतएव रामायण में परस्पर-विरोधी वचनों का समावेश है।

४—रावण ने प्रत्यवमानना या प्रत्यपकार के विचार से सीताहरण किया, कामवासना से नहीं।

५—मुनियों से रुधिर-कर लेने की बात मिथ्या है।

उपर्युक्त अंशों पर अब हम क्रम से विचार करते हैं। श्रीयुत वाशिष्ठजी लिखते हैं—जिसे महर्षि वाल्मीकि 'महात्मा' कहें, उसे नीच दुष्ट कहना केवल धृष्टता, निर्लज्जता और दुराग्रह है। जो सज्जन पुरुष अविद्या के कारण पक्षपात-पूर्ण दृष्टि से युक्त होकर महात्मा रावण का घृणित अपशब्दों से स्मरण करते हैं, वे कृपया महर्षि के नीचे लिखे श्लोकों को ध्यान से पढ़ें—

१—महात्मनो महद्वेश्म महारत्नपरिच्छदम्।
महारक्षसमाकीर्णं ददर्श स महाकपिः॥
—सु० कां० ५ सर्ग

२—स रावणं महात्मानं विजने मन्त्रिसन्निधौ।
—यु० कां० ५ सर्ग

३—सर्वकामैरुपेतां च पानभूमिं महात्मनः।
—यु० कां० १० सर्ग

४—काञ्चनाङ्गदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः।
—सु० कां० १० सर्ग

प्रातःकाल का सुहावना समय है। हनुमान् सीता की खोज में व्यग्र हैं। हर एक राक्षस के घर से निकलती हुई कर्ण-मधुर वेद-मंत्रों की ध्वनि को महावीर ने अपने कानों से सुना।

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
—सु० कां० १८ सर्ग

आज यदि हम समस्त भारतवर्ष को छान लें, तो भी एक पूर्ण वेद-पाठी का मिलना कठिन ही नहीं, किंतु असंभव है। चाहे सनातनधर्मी हों चाहे आर्यसमाजी हों, वेद-भगवान् दोनों को मान्य हैं; किंतु पूर्ण वेद-पाठी का मिलना दोनों दलों में सर्वथा असंभव है। जिन महात्मा रावण की राजधानी में घर-घर वेद-पाठी विद्यमान थे और घर-घर हवनकुंड थे, उन्हीं पुण्यात्मा-शिरोमणि का यदि हम नीच, अधम आदि शब्दों से स्मरण करें, तो इससे बढ़कर और पाप क्या हो सकता है!

महात्मा रावण के महलों में कभी कोई नीच कर्म नहीं किया जाता था। उनमें सदा वेद-प्रतिपादित शुभ कर्म किये जाते थे। इसीलिए वे देवता, जिन्हें हम पूजते हैं, उस महात्मा के घरों को पूजते थे। देखिए—

गृहाणि नानावसुराजितानि देवासुरैश्चापि सुपूजितानि ।
सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि कपिर्ददर्श स्वबलार्जितानि ॥

—वा० रा० सुं० कां० ६ सर्ग

उत्तर में नम्र निवेदन है कि आदिकवि ने रावण को 'महात्मा' विशेषण से भूषित किया है, यह हमें भी स्वीकार है। पर हम रावण के लिए प्रयुक्त 'महात्मा' शब्द का अर्थ पुण्यात्मा या महापुरुष नहीं समझते हैं, वरन् दीर्घकाय या योद्धा समझते हैं। महान् आत्मा देहो यस्यासौ महात्मा। तत्पर्याय उद्भटः (देखो—धरणि-कृत कोष—'आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि; चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च)। रावण उद्भट होने के कारण त्रिभुवन-लक्ष्मी को जीत लाया था। वीर्यशाली होने से कवि ने उसे महात्मा कहा है, न कि सदाचार-पूत होने के कारण। आज-कल हिंदी-भाषा में उन्हीं के लिए अधिकांश में 'महात्मा' शब्द व्यवहृत होता है, जिनका जीवन पवित्र होता है। जैसे—महात्मा गांधी, महात्मा बुद्ध, महात्मा टाल्स्टॉय आदि। मालूम होता है, वाशिष्ठजी इस भ्रम में पड़कर 'महात्मा' शब्द से रावण को आचार-पवित्र और पुण्यात्मा समझने लगे हैं। वाशिष्ठजी को मालूम होना चाहिए कि 'महात्मा' शब्द की शक्ति उपर्युक्त अर्थ में ही परिमित नहीं है। 'महात्मा' शब्द के अनेक अर्थ हैं। देखिए—शब्द-कल्पद्रुम पृष्ठ ६५७—महान् आत्मा स्वभावो यस्यासौ महात्मा। तत्पर्यायः—महेच्छः, उद्भटः, उदारः, उदात्तः उदीर्णः, महाशयः, महामना इति हेमचन्द्रः। रावण के चरित्र की आलोचना से हमें वह पुण्यात्मा नहीं प्रतीत होता है।

रावण महर्षि पुलस्त्य का पौत्र और विश्रवा का पुत्र था। उसके ऋषि-संतान होने में किसी को आपत्ति नहीं है। उसने वेद-विद्या का अध्ययन कर 'वेद-विद्या-व्रत-स्नात' की उपाधि प्राप्त की। साम गानेवालों में रावण एक ही प्रसिद्ध था। किंतु यह सब बातें उसके जीवन के प्रथम भाग की हैं। बाद को रावण का चरित्र पतित हो गया। उसके तामस और राजस भावों ने सात्त्विक भावों को दबा लिया। ऋषि-संतानोचित कर्म उसमें नहीं रहे। उसने पशुबल से धन एकत्रित किया, पृथ्वी को रक्तरंजित किया। अर्थ और काम में वह इतना आसक्त हुआ कि धर्म की बाधा कर डाली। उसने अनेक महिलाओं के सतीत्व को नष्ट किया। सुवरण ... इंद्रियों का क्रीत दास था। उदाहरणार्थ कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

महाराज रामचंद्रजी के तीक्ष्ण बाणों से जब रावण मृत्युशय्या पर सदा के लिए सो रहा, तब मंदोदरी विलाप कर कहती है—तुमने पहले जिन इंद्रियों को जीतकर त्रिभुवन को जीता था, उन्हीं इंद्रियों ने मानो पुराने वैर को याद कर तुमको जीत लिया—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया।
स्मरद्भिरिव तद्वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः॥

—वा० रा० यु० कां० सर्ग ११४ श्लोक ...

मंदोदरी के कथन से स्पष्ट सिद्ध है कि रावण ... दर्जे का अजितेंद्रिय हो गया था।

विभीषण मृत रावण की अंत्येष्टि करने को भी तैयार न थे। वह कहते हैं कि क्या मुझे योग्य है कि मैं धर्म... और परदाराभिमर्शी का अंतिम संस्कार करूँ!

त्यक्तधर्मव्रतं क्रूरं नृशंसमनृतं तथा।
नाहमर्होऽस्मि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शिनम्॥

—यु० कां० सर्ग ११४ श्लोक ...

रावण ने स्वयं अपने मंत्री महापार्श्व से कहा है कि एक समय पुंजिकस्थला पितामह के घर को जा रही थी। मुझे देखकर वह छिपने लगी। कांति से वह ऐसी कमनीय मालूम होती थी, मानो आकाश में अग्नि-शिखा जलती हो। मैंने ज़बरदस्ती उसको वस्त्रहीन कर दिया.........तब वह मसली हुई कमलिनी की भाँति पितामह के घर गयी—

पितामहस्य भवनं गच्छन्तीं पुञ्जिकस्थलाम्।
चञ्चूर्यमाणामद्राक्षमाकाशेऽग्निशिखामिव॥
सा प्रसह्य मया भुक्ता कृता विवसना ततः।
स्वयम्भूभवनं प्राप्ता लोलिता नलिनी यथा॥

—वा० रा० यु० कां० स० ...

रावण जब राम-बाणों से आहत हुआ, तब उसका सारा घमंड काफूर हो गया। वह सिंहासन पर बैठा हुआ पश्चात्ताप कर रहा है, उसके हृदय में नाना प्रकार की भावनाएँ उठ रही हैं। कहता है—मैंने जब वेदवती कन्या को सताया था, तब उसने शाप दिया था; क्या वही वेदवती तो सीता के रूप में नहीं उत्पन्न हुई!

शप्तोऽहं वेदवत्या च यदा सा धर्षिता पुरा ।
सेयं सीता महाभागा जाता जनकनन्दिनी ॥

—वा० रा० यु० कां० स० ६०

रावण वेदज्ञ था, वह किसी हद तक वैदिक रीतियों का पालन भी करता था, उसके नगर में वेदपाठी थे। केवल इन गुणों से रावण धार्मिक या पुण्यात्मा नहीं हो सकता। वेद उसी को धर्मात्मा बना सकते हैं, जो वेदार्थ के अनुरूप अपना आचरण बनाता है। आचरण-रहित अथवा वृत्तशून्य को वेद नहीं पवित्र करते हैं। "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।" मनु भगवान् कहते हैं कि "आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः संपूर्णफलभाग् भवेत्।" आचार से च्युत ब्राह्मण वेद-फल को नहीं प्राप्त होता है, संपूर्ण वेद-फल चरित्रवान् ब्राह्मण ही को मिलता है। वेद-व्यास कहते हैं कि पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले तथा जो शास्त्र-चिंतक हैं, वे सब व्यसनी मूर्ख हैं। शास्त्र को पढ़कर तदनुरूप कर्म करनेवाला ही पंडित कहलाता है—

पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः ।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान् स पण्डितः ॥

—महाभारत, वनपर्व

चारों वेदों का जाननेवाला भी यदि दुराचारी है, तो वह शूद्र से भी गया-गुज़रा है। केवल अग्निहोत्र-परायण ब्राह्मण यदि जितेंद्रिय है, तो वह सच्चा ब्राह्मण है।

चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते ।
योऽग्निहोत्रपरो दान्तः स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

—महाभारत, वनपर्व

रावण के यहाँ हमें तामस-यज्ञों का ही वर्णन मिला। शत्रु-विनाश के हेतु किये जानेवाले अभिचारादि कर्मों को मीमांसकों ने विगीत (निंदित) और अनार्या-चार कहा है। मनु * ने ऐसे कर्म करनेवालों को दंड देना लिखा है। रावण का पुत्र इंद्रजित् शत्रुओं के मारने के लिए अभिचार-कर्म किया करता था। आदि-कवि युद्ध-कांड में वर्णन करते हैं कि इंद्रजित् ने निकुं-भिला-नामक देव-मंदिर में अग्निहोत्र किया—

निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहवेन्द्रजित् ।

—वा० रा० यु० कां० स० ८३ श्लो० २६

यज्ञ-भूमि में इंद्रजित् द्वारा हवन की हुई अग्नि मांस और रुधिर को खाती हुई जल उठी—

यज्ञभूम्यां तु विधिवत् पावकस्तेन रक्षसा ।
हूयमानः प्रजज्वाल मांसशोणितभुक् तदा ॥

—वा० रा० यु० कां० स० ८३ श्लो० २७

ज्वालाओं से ढकी, रुधिर से तृप्त, तीव्र, उठी हुई अग्नि संध्याकालीन सूर्य के समान दिखलायी पड़ती थी—

सोऽर्चिःपिनद्धो ददृशे होम-शोणिततर्पितः ।
सन्ध्यागत इवादित्यः स तीव्रोऽग्निः समुत्थितः ॥

—वा० रा० यु० कां० स० ८३ श्लो० २८

वशिष्ठजी ने लंकापुरी में होनेवाले स्वाध्याय पर तो प्रकाश डाला है, पर मालूम नहीं, मांस-भक्षण और मद्य-पान पर क्यों आवरण पड़ा रहने दिया है। वाल्मीकि लंका के पान-गृह का इस भाँति वर्णन करते हैं—

हनुमान् ने देखा कि—पान-भूमि में हिरनों, भैंसों और शूकरों के मांसपिंड रक्खे हुए हैं। बड़े-बड़े स्वर्ण-पात्रों में अधखाये हुए मोर और मुर्गे रक्खे हैं—

मृगाणां महिषाणां च वराहाणां च भागशः ।
तत्र न्यस्तानि मांसानि पानभूमौ ददर्श सः ॥
रौक्मेषु च विशालेषु भाजनेष्वर्धभक्षितान् ।
ददर्श हरिशार्दूलो मयूरान् कुक्कुटाँस्तथा ॥

—वा० रा० सुंदरकांड

पुनः हनुमान् ने देखा कि सोने, चाँदी और मणियों के पात्र शराब से भरे रक्खे हुए हैं। कहीं-कहीं आधे खाली, कहीं-कहीं बिलकुल पिये हुए और कहीं-कहीं बिलकुल भरे पात्र थे।

सोऽपश्यच्छातकुम्भानि शीधोर्मणिमयानि च ।
राजतानि च पूर्णानि भाजनानि महाकपिः ॥
क्वचिदर्धावशेषाणि क्वचित् पीतानि सर्वशः ।
क्वचिन्नैव प्रपीतानि पानानि च ददर्श ह ॥

—वा० रा० सुंदरकांड

रावण पशु-पक्षियों तक का ही मांस नहीं खाता था; मालूम होता है कि वह नर-मांसभोजी भी था। सीता ने जब उसके अनुचित प्रस्ताव को अंगीकार न

* अभिचारेषु सर्वेषु कर्तव्यो द्विशतो दमः ।
मूलकर्मणि चानाप्तैः कृत्यासु विविधासु च ॥

—मनुस्मृति, अ० ६

किया, तब वह कहता है कि यदि दो मास के बाद मुझे पति न स्वीकार करोगी, तो मेरे रसोइये सुबह के नाश्ते के लिए तुम्हें रसोई में मारेंगे।

ऊर्ध्वं द्वाभ्यां तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थमारभन्ते महानसे॥
—सुंदरकांड

रावण यदि नर-मांस न खाता होता, तो वह ऐसी धमकी न देता, कोई दूसरी धमकी देता।

सुंदरकांड में हमें रावण की कामुकता देखने को मिलती है। वह एक ही शयन-गृह में, एक ही शय्या पर, अनेक रमणियों को सुलाता है। उसके भुज-सूत्र से अनेक महिलाओं की माला गूँथी जाती है। कुछ नारियाँ रावण के धोखे सौतों का मुँह चूम लेती हैं। आदि-कवि ने उसकी नग्न विलासिता का ख़ूब चित्र खींचा है। पाठक सुंदरकांड देख सकते हैं। लेख-विस्तार के भय से हम यहाँ अधिक उदाहरण नहीं देना चाहते हैं।

"गृहाणि नानावसुराजितानि"

इस पद्य का अर्थ वाशिष्ठजी ने जो समझा है, वह बिलकुल ग़लत समझा है। उसका अर्थ इस प्रकार है कि हनुमान् ने रावण के गृह देखे, जो विविध संपत्तियों से भूषित तथा देव और असुरों से पूजित थे। यहाँ पर 'पूजित' का अर्थ यह नहीं है कि देव और असुर गृहों की पुष्प-चंदनादि से पूजा करते थे। पूजित का अर्थ सत्कृत या प्रशंसित है। रावण के गृह देव और असुरों के गृह से भी सुंदर थे, इसीलिए वे उसके गृहों का आदर करते थे अर्थात् प्रशंसा करते थे। पुनः वे गृह कैसे थे—संपूर्ण दोषों से वर्जित तथा रावण के बल से अर्जित। संपूर्ण दोषों से वर्जित का आशय यह है कि स्थापत्य-कला के मर्मज्ञों की दृष्टि में उनकी रचना में कोई दोष न थे। "सर्वैश्च दोषैः परिवर्जितानि" से यह ध्वनि नहीं निकलती है कि रावण के घरों में कोई नीच कर्म नहीं होते थे (रावण के गृह में जैसे नीच कर्म होते थे, उनका उल्लेख हम कर चुके हैं)। 'स्वबलार्जितानि' इस पद से कवि ने संकेत किया है कि कुवेर ने रावण के बल के भय से लंका ख़ाली कर दी थी। आगे चलकर वाशिष्ठजी लिखते हैं कि "जिस समय हनुमान् लंका में पहुँचे, तब उसकी स्थिति देखकर उन्होंने विस्मय व संभ्रम में पड़कर अग्रलिखित शब्द उच्चारण किये—

स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्।
सिद्धिर्वेयं परा हि स्यादित्यमन्यत मारुतिः॥
—सुंदरकांड स० ६

यदि रावण निर्दय और दुष्ट होता, तो क्या उसके समकालीन हनुमान् उसके पापाचरण से परिचित न होते? यदि परिचित थे, तो फिर निर्दय दुष्ट राजा की नगरी को उन्होंने स्वर्ग, देवलोक व इंद्रलोक कैसे समझा! स्पष्ट है कि उन्होंने वहाँ स्वर्गादि के लक्षण पाये।"

वाशिष्ठजी को येन केन प्रकारेण रावण को 'पुण्यात्मा' सिद्ध करना है। अतः वह वस्तु-स्थिति को छिपाकर पाठकों को भ्रम में डालना चाहते हैं। हनुमान् लंका-नगरी के सौंदर्य तथा उसमें एकत्रित भोग-सामग्री को देखकर चकित हो जाते हैं। वह (लंका-नगरी) हनुमान् की पाँचों इंद्रियों को (नेत्र, कर्ण आदि को) पाँचों विषयों से (रूप, रस आदि से) माता की भाँति आप्यायित करती है, तब हनुमान् कहते हैं कि "स्वर्गोऽयं देवलोकोऽयमिन्द्रस्यापि पुरी भवेत्।" लंका का सादृश्य अमरावती आदि से दिया गया है। उसके कारण भोगोपकरण ही हैं; क्योंकि हनुमान् के मस्तिष्क में यह कल्पना तब पैदा हुई, जब उनकी पाँचों इंद्रियाँ वहाँ के पदार्थों से तृप्त हो गयी थीं। यदि किसी राजा की राजधानी सुंदर है और उसमें विलासिता की सामग्री पर्याप्त रूप से विद्यमान है, तो उससे राजा धार्मिक नहीं कहा जा सकता। राजधानी से और आचरणों से क्या संबंध? आचरणों का तो आत्मा से संबंध है। यदि कहिए कि विना धर्म के धन आदि नहीं हो सकते, तो यह भी मिथ्या है। लोक में अधर्मियों की प्रारंभ में उन्नति देखी गयी है, पश्चात् उनका पतन देखा गया है। मनु लिखते हैं—अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति। अधर्म से मनुष्य पहले बढ़ता है, कल्याण देखता है और शत्रुओं को जीतता है। किंतु पश्चात् वह समूल नष्ट होता है। रावण इस मनु-वाक्य का ज्वलंत उदाहरण है।

श्रीयुत वाशिष्ठजी रावण को सदाचार का सर्टिफ़िकेट देते हैं, लिखते हैं—"महात्मा रावण संयमी और ब्रह्मचारी थे। वह कामी नहीं थे। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य
　वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः ।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
　विना वरार्हां जनकात्मजां तु ॥

महात्मा रावण के महलों में अन्य-कामा कन्या तथा अन्य-पूर्वा स्त्री न थी । वह यदि चाहता तो बल-पूर्वक अन्य-कामो (और को चाहनेवाली) कन्याओं को तथा अन्य-पूर्वा (विवाहिता) स्त्रियों को अपने महलों में डाल सकता था। किंतु इसे वह पाप समझता था। वह पापभीरु था । यदि उसने कभी परस्त्री पर हाथ उठाया होता, तो महर्षि वाल्मीकि उसे ऐसा अद्वितीय सदाचार का प्रशंसा-पत्र न देते । उत्तरकांड में आनेवाली वेदवती की कथा कपोल-कल्पित है । यदि महर्षि ने बनाया होता, तो क्या वे रावण-द्वारा वेदवती पर किये गये अत्याचार से परिचित न थे ? यदि वे थे, तो फिर उन्होंने महात्मा रावण को पूर्वोक्त प्रशंसा-पत्र क्यों दिया ? अतः उत्तर-कांड महर्षि-कृत नहीं, किंतु बाद में किसी विद्वान् ने लिखकर रामायण में जोड़ दिया ।"

श्रीयुत वाशिष्ठजी के नेत्रों में पक्षपात का चश्मा लगा हुआ है, अतएव आपको साफ़ और सच्चा नहीं दिखलायी पड़ता । उपर्युक्त पद्य का अर्थ यह है कि—लंका में कोई भी स्त्री ऐसी नहीं थी, जिसको पराक्रमी रावण पराक्रम के कारण ही ज़बरदस्ती लाया हो (एक सीता को छोड़कर जो श्रेष्ठ राम के ही योग्य थीं)। वे उसको गुण के कारण ही मिलीं । उसकी स्त्रियों में कोई भी ऐसी न थी, जो किसी अन्य को चाहती हो या पहले (रावण के यहाँ आने से पहले) चाहा * हो । सीता को छोड़कर लंका में जो स्त्रियाँ विद्यमान थीं, वे सभी रावण को प्यार करती थीं । इससे प्रकट होता है कि रावण में केवल शौर्य ही न था, बल्कि सुभगत्व भी था । कवि ने लंका की स्त्रियों का वर्णन किया है । इससे प्रथम रावण ने किसी स्त्री पर हाथ नहीं उठाया है, यह कहाँ सिद्ध होता है ?

* अन्य-पूर्वा का अर्थ विवाहिता नहीं है । देखो, गोविंद-राजीय टीका—अन्यपूर्वा अन्यत्रासक्ता न काचिदित्यर्थः । इसी प्रकार अन्य-कामा का अर्थ भी कन्या नहीं है ।

उत्तरकांड महर्षिकृत है अथवा अन्य-कृत, यह आज के लेख का विषय नहीं है । अप्रासंगिक होने से उस पर हम विवाद नहीं उठाना चाहते । वेदवती और पुंजिकस्थला पर किये गये अत्याचार का वर्णन हमने युद्धकांड से ही दिया है । महर्षि वाल्मीकिजी इससे भी अधिक परिचित हैं । हमने केवल दो ही अबलाओं के उदाहरण दिये हैं । अपरिचित वाशिष्ठजी हैं, जिनकी समग्र रामायण नहीं पढ़ी हुई है । जिस रावण में परद्रव्यापहरण, हिंसा, परदारा-भिमर्शन तथा मद्य-पान आदि दोष हैं, उसे धर्म-भीरु, पुण्यात्मा आदि कहना वाशिष्ठजी को ही शोभा देता है । हमारे तुच्छ विचार से रावण-कुंभकर्ण आदि ब्राह्मण-संतान थे, पर वे कुकर्मों के कारण राक्षस हो गये । इसी को अभिव्यक्त करने के लिए आदि-कवि ने "षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्" इस पद्य में 'ब्रह्मरक्षसाम्' पद दिया है । 'ब्रह्मरक्षसाम्' का अर्थ है, प्रथम ब्रह्म—ब्राह्मण—पश्चात् कुकर्मों के कारण रक्षः (राक्षस) । इस पद में "पूर्वकालैक" इस पाणिनि सूत्र से स्नातानुलिप्त की भाँति समास है ।

आगे चलकर वाशिष्ठजी लिखते हैं—"देखना यह है कि पहली (Offensive part) किसने की—राम ने या रावण ने । पहले भगवान् राम ने शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये, फिर महात्मा रावण ने सीता-हरण किया—पहले राम ने हाथ उठाया, फिर रावण ने । आप कहेंगे कि शूर्पणखा भगवान् राम के पास गयी और उन्हें तंग करने लगी थी, इसीलिए तो उन्होंने नाक-कान काट लिये । सुनिए—

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात् सुभगे ! पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद् वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ॥

इससे स्पष्ट है कि पहले समय में स्त्रियाँ स्वतंत्र होती थीं, जहाँ कहीं बिना रोक-टोक के विहरण कर सकती थीं । दूसरे श्लोक 'तासां व्युच्चरमाणानाम्' से प्रकट है कि इस प्रकार की अभ्यर्थनाएँ (जैसी कि शूर्पणखा ने राम से की) अनुचित अथवा अधर्मरूप न थीं । ऊपर के दोनों श्लोक पांडु-माद्री-संलाप में श्वेत-केतु कथांत-पाती हैं ।

हम मानते हैं कि शूर्पणखा ने राम से विवाह के लिए प्रार्थना की (जो सर्वथा न्याय-संगत थी)। उत्तर में भगवान् ने विवाहित होने के कारण अपनी विवशता प्रकट करके कहा कि लक्ष्मण अविवाहित है, उसके पास जाओ। पर लक्ष्मण ने फिर उसे राम के पास भेजा और राम ने फिर लक्ष्मण के पास। इस प्रकार वे दोनों वीर एक स्त्री के साथ उपहास करते रहे। क्या यह सत्य है कि लक्ष्मण अविवाहित थे ? यदि नहीं, तो भगवान् ने एक स्त्री से इस प्रकार झूठ बोलने में संकोच क्यों न किया ? भगवान् ने विवाहित होने के कारण अपनी विवशता प्रकट की और फिर यह जानते हुए कि लक्ष्मण भी विवाहित है, शूर्पणखा को उसके पास क्यों भेज दिया ? मर्यादा-पुरुषोत्तमता इसमें थी कि भगवान् शूर्पणखा को स्पष्ट शब्दों में कह देते कि हम दोनों भाई विवाहित हैं, हम विवाह नहीं करेंगे, आप यहाँ से चली जायँ। किंतु उन्होंने तो एक स्त्री से अनुचित उपहास अथवा नाजायज़ छेड़-छाड़ की। यदि राम के मन में अनुचित उपहास का विचार न होता, तो वह सचाई को छिपाकर उसे इधर-उधर भेजने का क्रम ही न आरंभ करते। फिर राम ने संकेत करके लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा के नाक-कान कटवा लिये।

यदि कोई कहे कि शूर्पणखा सीता को खाने को दौड़ी, इसीलिए राम ने उसके नाक-कान कटवा लिये, तो इस पर हम पूछते हैं कि इससे पहले शूर्पणखा ने कितने स्त्री-पुरुषों को खाया था ? क्या इसका भी कहीं रामायण में उल्लेख है ? यदि नहीं, तो राम को यह भय क्यों व्यापा ? क्या लक्ष्मण द्वारा उसके नाक-कान कटवाने के सिवा राम को सीता के बचाने का और कोई उपाय न सूझा ? क्यों, नाक-कान कट जाने पर शूर्पणखा सीता को न खा जा सकती थी ? एक सहृदय पुरुष बड़ी सुगमता से इस परिणाम पर पहुँच जाता है कि शूर्पणखा सीता को नहीं खाना चाहती थी, उसने राम को केवल धमकी दी थी।

....

....

शूर्पणखा की नाक-कान काटकर भगवान् राम ने महात्मा रावण का बड़ा भारी अपमान किया, जिसे वह न सह सका और उसने संसार में राम को अपमा- नित करने की ठान ली।"

वाशिष्ठजी के उपर्युक्त कथन को पढ़कर हमें हँसी आ है और साथ ही आपके विचारों पर दया भी। मर्यादा- पुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्रजी ने न तो शूर्पणखा से अनुचित उपहास किया और न मिथ्या-भाषण ही; यह आपकी समझ का ही अपराध है। वास्तविक बात इस प्रकार है कि शूर्पणखा लोकाभिराम श्रीराम के लोकोत्तर-लावण्य पर मोहित हो जब उनसे विवाह का प्रस्ताव करती है, तब वह उत्तर देते हैं कि मैं विवाहित हूँ, यह देखो मेरी भार्या सीता है, तुम्हारी-जैसी नारियों के लिए सौत का होना अत्यंत दुःख की बात है। मेरा छोटा भाई लक्ष्मण शीलवान्, प्रिय-दर्शन एवं पराक्रमी है। उसके साथ स्त्री भी नहीं है। चिरकाल से उसने स्त्री-सुख को नहीं जाना है, अतः उसे स्त्री की आव- श्यकता होगी। वह तुम्हारे इस रूप के योग्य भी होगा !

> कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम।
> त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससपत्नता ॥२॥
> अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
> श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥३॥
> अपूर्वो भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
> अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥४॥
>
> —वा॰ रा॰ सर्ग १७

मालूम नहीं, इन उक्तियों में रामचंद्रजी का कौन मिथ्या वचन है। वाशिष्ठजी ने कदाचित् अकृतदार का अर्थ अविवाहित समझा है; किंतु यह उनकी भ्रांति है। वास्तव में अकृतदार का अर्थ है—जिसके साथ स्त्री न हो (न सह कृता दारा येन सः * अकृतदारः)।

'अकृतदार' पद में नञ् के उत्तर-पद सह का लोप (नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) इस वार्त्तिक से हो गया है। "न कृता दारा येन सः" इस प्रकार समास करने में अवश्य 'अविवाहित' हो सकता है।

* देखो, श्रीगोविंदराज-विरचित रामायण-भूषण (श्रीलक्ष्मीवेंकटेश्वर-प्रेस-मुद्रित)-अकृतदारः असहकृतदारः इत्यर्थः। न वितथा परिहासकथास्वपीत्युक्तेः, अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचनेत्युक्तेश्च अकृतदार इति नार्थः ॥

देखा करने में पूर्वापर-विरोध पड़ता है। इससे प्रथम जब शूर्पणखा ने रामचंद्रजी का परिचय जानना चाहा, तब वह पूछती है कि आप तपस्वियों की भाँति तो जटाधारी हैं, पर साथ स्त्री और धनुष-बाण है! आप इस राक्षस-सेवित देश को कैसे आये? आने का क्या प्रयोजन है? सत्य-सत्य कहिए—

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत् ।
आगतस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥
किमागमनकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ॥

—वा० रा० आरण्यकांड

राक्षसी के इस भाँति प्रश्न करने पर सरल-बुद्धि रामचंद्रजी उत्तर देते हैं कि देवताओं के सदृश पराक्रमी दशरथ नाम के राजा थे, मैं उनका ज्येष्ठ पुत्र हूँ। मुझे लोग 'राम' कहकर पुकारते हैं। मुझ पर अनुराग रखनेवाला यह मेरा छोटा भाई लक्ष्मण है, और यह विदेह-राज-सुता सीता मेरी भार्या है।

ऋजुबुद्धितया सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।
आसीद्दशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥
तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ।
भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान्मामनुव्रतः ॥

—वा० रा० आरण्यकांड

इस स्थल पर अपरिचित शूर्पणखा के साथ सरल और सत्य व्यवहार करने पर—आदि-कवि अपने नायक रामचंद्रजी की ऋजुबुद्धिता और सत्यवादिता पर मुग्ध होकर प्रशंसा करते हैं कि रामचंद्र को किसी समय में भी झूठ बोलना पसंद न था। फिर भला वह आश्रम-वासी होकर, तत्रापि स्त्रियों के समक्ष, कैसे झूठ बोल सकते थे।

अनृतं नहि रामस्य कदाचिदपि संमतम् ।
विशेषेणाश्रमस्थस्य समीपे स्त्रीजनस्य च ॥

—वा० रा० आर० कांड श्लोक १५

महाकवि वाल्मीकिजी जिन रामचंद्रजी की सत्यवादिता की दुहाई बड़े ज़ोरदार शब्दों में दे रहे हैं, उन्हीं को वह मिथ्यावादी कैसे चित्रित करेंगे, यह साधारण बुद्धिवाला भी समझ सकता है। समग्र रामायण राम के सत्य-भाषणरूप गुण से गुंफित है। उदाहरण दिये जायँ, तो पृथक् एक पुस्तक तैयार हो सकती है। आरण्यकांड का एक उदाहरण हम दे चुके हैं। इसी कांड में पुनः वाल्मीकिजी राम की सत्यवादिता को प्रकट कर रहे हैं—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ।
एतद् ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ॥

रामचंद्रजी के उपरि-लिखित भाषण में अनुचित उपहास भी नहीं है। हाँ, 'अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति' इस वाक्य में अवश्य कुछ मधुर हास्य-व्यंग्य है, जिसे पामर शूर्पणखा न समझ सकी। रामचंद्रजी ने एक काम-पीड़ित नारी को सहसा तिरस्कृत नहीं किया, वरन् अपने सिर की बला टाल दी। इससे उनकी सहृदयता ही प्रकट होती है। लक्ष्मण ने शूर्पणखा के साथ अवश्य खुला परिहास किया है, जिसे पसंद न करके रामचंद्रजी ने स्वयं लक्ष्मण को डाटा है—

क्रूरैरनार्यैः सौमित्रे परिहासः कथञ्चन ।
न कार्यः........................॥

—वा० रा० आरण्यकांड

हे लक्ष्मण, क्रूर अनार्यों के साथ उपहास करना उचित नहीं है। वाशिष्ठजी का यह कहना भी असंगत है कि राम ने कहा कि लक्ष्मण अविवाहित है, उसके पास जाओ। पर लक्ष्मण ने फिर उसे राम के पास भेजा, और राम ने फिर लक्ष्मण के पास। किंतु दुबारा रामचंद्रजी द्वारा लक्ष्मण के पास शूर्पणखा के भेजे जाने का उल्लेख तो वाल्मीकीय रामायण में कहीं नहीं है। शूर्पणखा सीता को अपनी कार्य-सिद्धि में अन्तराय समझकर उनको मार डालने के लिए आक्रमण करती है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जैसे उत्पात-काल में प्रचंड-ज्वाला रोहिणी पर धावा करती है, उसी प्रकार अलात (जलते काष्ठ) के समान नेत्रवाली शूर्पणखा ने क्रुद्ध हो मृग-शावकाक्षी सीता पर धावा किया। मृत्यु-पाश के समान धावा करनेवाली उस शूर्पणखा को महाबली राम ने रोककर लक्ष्मण से कहा कि इस राक्षसी को विरूप कर दो।

......मृगशावाक्षीमलातसदृशेक्षणा ।
अभ्यधावत्सुसंक्रुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ।
तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महाबलः ।
निगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥

× × ×

राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुमर्हसि ।

—वा० रा० आरण्यकांड

महाशय, यह कचा खा लेने की उसकी धमकी ही नहीं थी, प्रत्युत वह अचिंत्य दुर्घटना करनेवाली थी। आपने सर्वथा एकपक्षीय निर्णय किया है। सच पूछिए, तो श्रीरामचंद्रजी ने दया-पूर्ण ही व्यवहार किया कि आततायिनी राक्षसी को जान से नहीं मारा, केवल नाक-कान काटकर ही छोड़ दिया। विधवा शूर्पणखा का विवाहित राम और लक्ष्मण से विवाह के लिए प्रस्ताव करना सर्वथा न्याय-विरुद्ध था।

अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने ।
कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ॥

इस महाभारत के पद्य से यह नहीं सिद्ध होता है कि—उस समय (त्रेतायुग में) स्त्रियाँ स्वतंत्र और स्वच्छंद विहार करती थीं।

आदि-काल में जब सभ्यता का विकास न हुआ था, तब विवाह-संस्कार की प्रथा भी प्रचलित न हुई थी। उस समय का वही धर्म था। पश्चात् श्वेत-केतु ने विवाह की व्यवस्था कर दी। रामायण-काल में स्वयंवर और विवाह-प्रणाली प्रचलित हो चुकी थी। वाशिष्ठजी बालकांड में राम-सीता-विवाह देखने का कष्ट उठावें।

सीता की हत्या के प्रयत्न के अपराध में रामचंद्रजी ने शूर्पणखा को विरूपित करवाया, जिसके बदले में शूर्पणखा के भाई खर ने राम पर चढ़ाई की। राम ने आत्मरक्षार्थ उसका वध किया। श्रीरामचंद्रजी का कोई अपराध ही न था। जटायु और मारीच ने भी रावण को यही समझाया था—

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ।
अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ॥
अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः।

—वा० रा० आ० कां०

रावण ने बिना विचार किये ही पर-कलत्र-हरणरूपी जघन्य कार्य किया, जिससे वह राम को तो न अपमानित कर सका, किंतु स्वयं ही अपमानित हुआ। सहृदय पाठक निर्णय कर सकते हैं कि राम की ओर से ज़्यादती हुई, या रावण की ओर से।

वाशिष्ठजी ने कोई भी ऐसा तर्क नहीं उपस्थित किया है, जिसके आधार पर यह स्वीकार किया जाय कि सीताहरण के कारण कुपित राम-भक्तों ने रावण के लिए निंदात्मक वचन कल्पित किये हैं। एक ही रामायण-ग्रंथ में रावण के लिए 'महात्मा' शब्द भी आया है और 'दुरात्मा' भी। इस युक्ति से भी यह कल्पना न करनी चाहिए।

कवि सत्समालोचक की भाँति काव्य-वर्णित पात्रों के गुण-दोषों पर प्रकाश डाला करता है। पात्रों के उत्थान में कवि की सहानुभूति और पतन में विराग होता है। अतएव काव्य में एक ही व्यक्ति के लिए परिस्थिति के अनुसार विभिन्न शब्दों का व्यवहार हुआ करता है। आदि-कवि ने लंका-वर्णन के प्रसंग में रावण को 'महात्मा' (उद्भट) शब्द से स्मरण किया है। कारण, लंका अलौकिक लक्ष्मी की लीला-भूमि थी। लंका की संपत्ति ने अपने को आर्जित करनेवाले को महात्मा कहलवा दिया। इसी प्रकार रावण के अन्याय और अत्याचारों ने 'दुरात्मा' कहने के लिए भी विवश कर दिया।

आगे चलकर वाशिष्ठजी वाल्मीकीय रामायण में विरोध दिखलाते हैं। आप लिखते हैं—

"(१) जिस समय शूर्पणखा नाक-कान कटे जाने पर रोती-चिल्लाती महात्मा रावण के दरवाज़े पर पहुँची, उस समय उसने बीस भुजाओंवाले और दस मुखोंवाले महाराज को सिंहासन पर बैठे देखा—

विंशद्भुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम्।

इत्यादि।

परंतु महारानी सीता की खोज में लंका में पहुँचकर हनुमान् ने जिस समय रावण को पलँग पर सोते देखा, उस समय उनके एक मुख और दो भुजाएँ ही थीं।

तस्य राक्षसराजस्य शयानस्य महामुखात्

—सुं० कां० १० सर्ग

काञ्चनाङ्गदसन्नद्धौ ददर्श स महात्मनः।
विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ॥

—सुं० कां० १० स०

(२) संपाती वानरों को महात्मा रावण की पहचान का चिह्न बताता हुआ कहता है—भिन्नाञ्जन-

योपमः—अर्थात् उसका शरीर सुरमे के ढेर के समान है अर्थात् काला है। परंतु "राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः; रत्तसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशं गताः" क्या राजर्षि ब्राह्मण दैत्य आदि की कन्याएँ सुरमे के ढेर के समान काले रावण पर मोहित हुई थीं? महात्मा रावण का काला होना और फिर उस पर कन्याओं का मोहित होना, ये दोनों बातें परस्परविरुद्ध हैं।

(३) शूर्पणखा ने लंका में जाकर नीचे लिखे विशेषणों से युक्त रावण को देखा—

प्राप्तयज्ञहरं दुष्टं ब्रह्मघ्नं क्रूरकारणम्।
इत्यादि।

परंतु हनुमान् ने लंका में पहुँचकर क्या देखा—

षडंगवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
—सुं० कां० १८ सर्ग

इस श्लोक से स्पष्ट है कि राक्षस बड़े-बड़े उत्तम यज्ञ किया करते थे। जिनकी अपनी प्रजा में यज्ञों का इस प्रकार का प्रबल प्रचार था, उन्हें 'प्राप्तयज्ञहरम्' का विशेषण देना कितना असंगत है।

(४) हनुमान ने सीता की खोज करते हुए अंतःपुर में प्रविष्ट होकर निद्रावशीभूत महात्मा रावण की स्त्रियों को देखा। उस वर्णन को देखिए—

तासां निद्रावशत्वाच्च मदनेन विमूर्च्छितम्।
पद्मिनीनां प्रसुप्तानां रूपमासीद् यथैव हि॥
—सुं० कां० ११ सर्ग

उनके अद्वितीय सौंदर्य पर वह विस्मित हो गया—

इमानि मुखपद्मानि नियतं यत्र षट्पदाः।
अम्बुजानीव फुल्लानि प्रार्थयन्ति पुनः पुनः॥
—सुं० कां० ६ सर्ग

परंतु जब हनुमान् को सीता का कुछ पता न मिला, तब वह एक स्थान पर बैठकर मन में सोचते हैं—

विरूपरूपा विकृता विवर्चसो
महानना दीर्घविरूपदर्शनाः।
समीक्ष्य ताः राक्षसराजयोषितो
मयाद्दिनष्टा जनकेश्वरात्मजा॥
—सु० कां० १२ सर्ग

इस पद्य में महात्मा रावण की स्त्रियों को जो विशेषण दिये गये हैं, उनसे तो यह प्रकट होता है कि—भूमंडल पर कोई स्त्री उनसे बढ़कर बदशकल न रही होगी, न है, न आगे होने की संभावना की जा सकती है। एक स्थान पर पद्मिनी कहना और दूसरे स्थान पर 'बदशकल' लिखना कितना विरोध है?

(५) जब शूर्पणखा लंका में गयी, उस समय उसने निम्नलिखित विशेषणों से युक्त अपने भाई (रावण) को देखा—

उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिमर्शनम्
× × ×
पुरीं भोगवतीं गत्वा पराजित्य च वासुकिम्।
तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः॥

परंतु समग्र रामायण को पढ़ जाइए, कहीं कोई भी ऐसा स्थान दृष्टिगोचर नहीं होता, जहाँ महात्मा रावण ने किसी पर-स्त्री का सतीत्व-हरण किया हो। तक्षक की स्त्री के हरण की वार्ता भी कहाँ तक सत्य-पूर्ण है, वह भी सुन लीजिए—

न तत्र काश्चित् प्रमदाः प्रसह्य
वीर्योपपन्नेन गुणेन लब्धाः।
न चान्यकामापि न चान्यपूर्वा
विना वरार्हां जनकात्मजां तु॥

इससे प्रकट है कि महात्मा रावण के महलों में अन्यपूर्वा (जिसका विवाह किसी पुरुष के साथ हो चुका हो) स्त्री न थी। एक स्थल पर उनके शुद्ध आचार पर तक्षक-स्त्री-हरण का कलंक लगाया है, और दूसरे स्थल पर उनके महलों में अन्य-पूर्वा स्त्री का अभाव बताया गया है। आख़िर उन्होंने तक्षक की स्त्री का हरण करके रक्खा कहाँ था? इन परस्पर-विरुद्ध बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकीय रामायण में प्रक्षिप्त श्लोक विद्यमान हैं।"

(१) रावण की दो भुजाओं और एक मुख का होना सत्य और प्राकृतिक है। रावण की दो भुजाएँ बीस भुजाओं के बराबर कार्य करती थीं, इसीलिए तत्कालीन लोग आदरार्थ रावण को 'विंशति-भुज' कहते होंगे। विंशतिभुज, दशग्रीव, दशानन आदि उसकी प्रशंसा-सूचक उपाधियाँ हैं। उपाधियों के मानने में किसी प्रकार का विरोध नहीं पड़ता।

(२) रावण का रंग नील मेघ के समान था। इसका वर्णन रामायण में अनेक स्थलों पर है। उदाहरण के लिए कुछ श्लोक दिये जाते हैं —

तस्मिन् जीमूतसंकाशं प्रदीप्तोत्तमकुण्डलम् ।
लोहिताक्षं महाबाहुं महारजतवाससम् ॥

—वा० रा० सुंदरकाण्ड

नीलजीमूतसंकाश पीताम्बर शुभाङ्गद ।
स्वगात्राणि विनिक्षिप्य किं शेषे रुधिराप्लुतः ।

—वा० रा० युद्धकाण्ड

नीलजीमूतसंकाशो महाभुजशिरोधरः ।

—वा० रा० युद्धकाण्ड

इन तीनों पदों में रावण के लिए 'नील-जीमूतसंकाश' विशेषण आया है। श्याम होने के कारण सम्पाती ने अंजन के ढेर से उपमा दी होगी। यह आवश्यक नहीं कि श्यामल पुरुष सुंदर न हो। केवल रंग ही सौंदर्य का कारण नहीं होता है। मानव-शरीर में रंग के अतिरिक्त नेत्र, मुख, हाथ, पैर, शरीर-गठन आदि भी सौंदर्य-साधक होते हैं। वाशिष्ठजी के इस तर्क को कि महात्मा रावण का काला होना और स्त्रियों का उस पर मोहित होना ये दोनों परस्पर-विरुद्ध बातें हैं, पढ़कर हँसी आती है। वाशिष्ठजी ने शायद किसी उर्दू-शायर के नीचे लिखे शेर को नहीं पढ़ा है—

काले गोरे पै कुछ नहीं मौक़ूफ़ ;
दिल के लगने के रंग और ही हैं।

किसी संस्कृत के सहृदय कवि ने कहा है कि मालूम नहीं, किस की कौन अदा दिलकश होती है। प्रेम का बंधन किसी विशेष गुण (ख़ास सूत से) से नहीं बाँधा जाता।

देखो—जिस वसंतऋतु में वन-भर में नयी कोपलें आ जाती हैं और कोयल कूकती है, उसमें मालती नहीं खिलती है।

भवति हृदयहारी कोऽपि कस्यापि हेतु-
र्न खलु गुणविशेषः प्रीतिबन्धप्रयोगे ।
किसलयितवनान्ते कोकिलालापरम्ये
विकसति न वसन्ते मालती कोऽत्र हेतुः ॥

महाकवि भवभूति ने भी लिखा है कि प्रेम बाह्य उपाधियों का सहारा नहीं लेता है—

"न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।"

(३) राक्षस अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए यज्ञ किया करते थे और वे अपने स्वभाव के अनुसार दूसरों की यज्ञ में बाधा डालते थे। परार्थ-विघातन राक्षसी प्रकृति के अनुरूप ही है। अतः क्रतु-नत्ररयाजी और यज्ञघ्न ये दोनों ही विशेषण यथावसर दिये गये हैं।

(४) रावण के अंतःपुर में परम रूपवती रमणियाँ थीं। उसने उनकी रक्षा के लिए घोर-दर्शन कुरूपा स्त्रियाँ नियुक्त की थीं। 'विरूपरूपा विकृता' इस पद्य में 'राक्षसराजयोषितः' का अर्थ है—राक्षसराजेन रावणेनाधिकृता योषितः अर्थात् राक्षसराज रावण से नियुक्त की हुई स्त्रियाँ (यहाँ पर मध्यमपदलोपी समास है)। स्मरण रहे कि ये स्त्रियाँ रावण की प्रेयसी न थीं, किंतु अंतःपुररक्षिका दासियाँ थीं। इसी प्रकार सीता की रक्षा के लिए अशोक-वाटिका में भी विरूप-दर्शन नारियाँ नियुक्त थीं। हनुमान् ने रावण की शाला देखी, पाकशाला ढूँढा। सीता को कहीं न पाया। तब अंतःपुर रक्षिकाओं को देखकर कल्पना करते हैं कि इन विरूप घोर-दर्शन स्त्रियों को देखकर सीता कहीं डरकर नष्ट हो गयी हों।

(५) हम सिद्ध कर चुके हैं कि—रावण परदाराभिमर्शी था और "न तत्र काश्चित्" इस पद्य में अन्यपूर्वा का अर्थ विवाहिता नहीं। वाशिष्ठजी को इस अर्थ न समझने के कारण ही विरोध प्रतीत होता है। रावण-जैसे ब्रह्म-राक्षस के लिए कन्या और विवाहिता का कोई विवेक न था। वह उनके संरक्षकों से युद्ध करने के लिए हरण किया करता था।

युद्धकामेन ताः सर्वा रावणेन हृताः स्त्रियः ।

वाशिष्ठजी लिखते हैं कि "महात्मा रावण ने सीता-हरण किया, यह निर्विवाद बात है। विचारणीय विषय यह है कि उनके मन में पापवासना थी अथवा और कोई भाव था। उन्होंने किसी पाप-विचार से नहीं, किंतु प्रत्यपकार और प्रत्यवमानना के विचार से सीताहरण किया। इत्यादि।"

रावण ने केवल प्रत्यपकार के विचार से ही सीताहरण नहीं किया, बल्कि उसके साथ कामवासना भी थी। यदि रावण को राम से केवल बदला ही लेना होता, तो वह बिना सीताहरण किये ही खर की भाँति युद्ध कर सकता था। वह सीताहरण द्वारा बदला भी लेना चाहता था और साथ ही काम-वासना की तृप्ति भी करना चाहता था। आदि-कवि आरण्यकांड में लिखते हैं कि

कामदेव के बाणों से आहत रावण वेद-पाठ करता हुआ एकांत में विनय-पूर्वक सीता से बोला—

स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ।
अब्रवीत् प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ॥

—वा० रा० आ० कां० सर्ग ४६

हम वाशिष्ठजी से अत्यंत विनम्र शब्दों में पूछते हैं कि 'मन्मथ-शराविष्ट' पद से केवल प्रत्ययमानना अभिव्यक्त होती है, या कामवासना ?

रावण सीता के सौंदर्य की याद करके मन्मथ-व्यथा को प्रकट करता है। पाठक निम्न-लिखित श्लोकों का मुलाहिज़ा करें—

उन्नसं वदनं फल्गु विपुलं चारुलोचनम् ।
पश्यंस्तदा वशस्तस्याः कामस्य वशमेयिवान् ॥
क्रोधहर्षसमानेन दुर्वर्णकरणेन च ।
शोकसन्तापनित्येन कामेन कलुषीकृतः ॥

—वा० रा० युद्धकांड

रावण के इन उद्गारों से पाप-वासना नहीं, तो और क्या प्रकट होता है ?

लेख के अंत में वाशिष्ठजी फ़रमाते हैं—"प्रायः लोग कहते हैं कि महाराज रावण अत्याचारी थे। वे मुनियों से रुधिर का कर लिया करते थे। यह बात पहले भी लिखी जा चुकी है कि ये सब रचनाएँ महात्मा रावण को जनता की दृष्टि में गिराने के लिए कल्पित की गयी हैं। महात्मा रावण सनातनधर्मानुयायी थे। वे इस प्रकार का कठोर कुकर्म स्वप्न में नहीं कर सकते थे। जिस समय सीताहरण करके वह लंका को जा रहे थे, मार्ग में उनकी जटायु से मुठभेड़ हुई थी। उनके आचरण के संबंध में जटायु का साक्ष्य भी पठनीय है—

दशग्रीव ! स्थितो धर्मे पुराणे सत्यसंश्रवः ।
भ्रातस्त्वं निन्दितं कर्म कर्तुं नार्हसि साम्प्रतम् ॥

इस श्लोक के पीछे के दो पादों में जटायु इस बात पर अधिक बल देता है—भ्रातः त्वं साम्प्रतं निन्दितं (सीताहरणरूपं) कर्म कर्तुं नार्हसि। अर्थात् हे भाई ! तुम निंदित कर्म करने के योग्य नहीं है। जटायु महात्मा रावण का समकालीन है। उसने महाराज का कोई निंदित कर्म देखा-सुना नहीं, इसीलिए तो 'साम्प्रतम्' शब्द का प्रयोग किया गया है।"

मुनियों से रुधिर-कर लेने का आशय यही है कि रावण ऋषि-मुनियों का वध किया करता था। इंद्रजित् ने जब विभीषण पर आक्षेप किया कि तुमको स्वपक्ष छोड़कर पर-पक्ष न ग्रहण करना चाहिए था, इसके उत्तरस्वरूप में विभीषण ने जो भाषण किया है, उससे प्रकट होता है कि रावण महर्षियों की भी हत्या किया करता था। उसी प्रसंग के कुछ पद्य हम यहाँ पेश करते हैं :

हिंसा परस्वहरणे परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदामतिशङ्का च त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥
महर्षीणां च वधो घोरः सर्वदेवैश्च विग्रहः ।
अभिमानश्च कोपश्च वैरित्वं प्रतिकूलता ॥
एते दोषा मम भ्रातुर्जीवितैश्वर्यनाशनाः ।
गुणान् प्रच्छादयामासुः पर्वतानिव तोयदाः ॥

वाशिष्ठजी ने "दशग्रीव स्थितो धर्मे" इस पद्य का अर्थ बदलने में कितनी खींचातानी की है। पक्षपात की पराकाष्ठा है ! जटायु अपना परिचय देते हुए रावण से निंदित कर्म (सीताहरणरूप) त्याग देने का अनुरोध करता है। वह कहता है कि हे दशग्रीव, मैं सनातनधर्म में स्थित और सत्यप्रतिज्ञ हूँ। हे भाई, मेरे समक्ष तुमको ऐसा निंदित कर्म करना उचित नहीं है। जटायु के इन वाक्यों में व्यङ्ग्य है कि सीता को यदि न छोड़ोगे, तो मेरे साथ तुम्हारा युद्ध अवश्यम्भावी है; क्योंकि मैंने सीता-रक्षण की प्रतिज्ञा की है। यह अर्थ मेरा नहीं किया हुआ है, प्रसिद्ध रामाभिरामीय टीकाकार की व्याख्या देखिए—दशग्रीवेति सम्बुद्धिः, अहं सत्यसंश्रवः सत्यप्रतिज्ञः, सीतारक्षणे अहं सहाय इत्युक्तत्वात् नाम्ना जटायुरिति प्रसिद्धोऽतो मत्समक्षमीदृशं कर्म कर्तुं नार्हसि भ्रातरिति सामप्रयोगः यद्येवं न त्यक्ष्यसि तदा सत्यप्रतिज्ञत्वान्मया सह युद्धं भावीति दण्डप्रयोगश्च व्यङ्ग्यः। पुराणे धर्मेस्थितः और सत्यसंश्रवः, यह दोनों विशेषण जटायु के हैं, न कि रावण के। 'साम्प्रतम्' पद से यह ध्वनि निकलती है कि—इससे प्रथम तुमने जो निंदित कर्म किये वह किये, अब मेरे सामने नहीं कर सकते हो।

लेख बहुत बढ़ गया। अंत में मुझे किसी सहृदय कवि की निम्न-लिखित सूक्ति का स्मरण हो आता है—

पिकं हि मूकीकुरु धूमयोने,
भेकं च सेकैः मुखरीकुरुष्व ।
किन्तु त्वमिन्दोः प्रपिधाय बिम्बं
खद्योतमद्योतयसीत्यसह्यम् ॥

साहित्य और समालोचना

[श्रीचंद्रगुप्त वार्ष्णेय बी० एस्-सी०]

साहित्य का क्षेत्र जितना विस्तीर्ण होता जाता है एवं उसकी उपज में जितनी अधिक वृद्धि होती जाती है, उसी परिमाण में समालोचक-कृषक के कार्य का उत्तरदायित्व एवं उसकी सतर्कता भी बढ़ती जाती है। हमारे विचार में समालोचक के लिए इससे अधिक उपयुक्त समानता दुर्लभ है। कारण, जिस प्रकार एक क्षेत्र की सारी उन्नति कृषक की सावधानी तथा देख-रेख पर निर्भर है, उसी प्रकार साहित्य की पुष्टि भी अत्यधिक परिमाण में समालोचकों पर अवलंबित है। प्रस्तुत लेख में हम यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि समालोचना साहित्योन्नति के निमित्त एक अनिवार्य साधन है, एवं इसकी उपेक्षा करके अनुभवहीन हाथों में इसे पड़े रहने देना उतना ही भयंकर होगा, जितना कि एक उत्तम क्षेत्र को किसी कृषि-विज्ञान-मूढ़ के अधिकार में कर देना। जिस प्रकार 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना', उसी प्रकार समालोचकों के द्वारा साहित्य की लुनाई होनी उचित है, जिससे अनर्गल साहित्य का नाश होकर स्थायी तथा लाभकारक साहित्य की श्रीवृद्धि हो।

आधुनिक हिंदी-साहित्य की प्रगति पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि उसमें समालोचक और समालोचना को अभी यह गौरव नहीं प्राप्त हुआ है। हिंदी-साहित्य के निष्णात लेखक इस कार्य को करते हुए झिझकते हैं। उनकी इस उदासीनता अथवा झिझक का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि उन्होंने समालोचना के तात्पर्य का मनन नहीं किया है, और न इसके गौरव को ही समझने का प्रयत्न किया है। यह देखकर हमें आश्चर्य भी होता है और दुःख भी। कारण, जहाँ हिंदी-साहित्य अन्य बातों में विदेशी साहित्य का आश्चर्य-जनक अनुकरण कर रहा है, वहाँ इस दिशा में वह पूर्ण उदासीनता का द्योतक है। इसी कारण आज भी हिंदी-साहित्य में अनुवाद एवं साहित्यिक डकैतियों (Plagiarism) की भरमार है, तथा मौलिक लेखक एवं ग्रंथों की संख्या उँगलियों पर गिने जाने योग्य है। ध्यान देने का विषय है कि विदेशी भाषाओं के साहित्य में समालोचना को कितना उच्च स्थान प्राप्त है! अंग्रेज़ी में कई पत्र केवल समालोचना का ही कार्य करते हैं, बड़े-बड़े विद्वान् इस विषय पर लेखनी उठाते हैं, जनता में भी इसका अत्यधिक प्रचार है। इसका कारण है कि समालोचना का वास्तविक उद्देश्य ... का हितसाधन है।

हिंदी के लेखकों एवं पाठकों की इस उदासीनता को देखकर आज हमने सबसे प्रथम इस विषय पर लेखनी उठाने का प्रयास किया है। आशा है, हमारी यह चेष्टा अनधिकार-रूप न समझी जायगी, वरन् लेखक और पाठक दोनों ही इसे हंस-क्षीर-न्याय के अनुसार ग्रहण कर हमें कृतार्थ करेंगे। हमारा ध्येय इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर संकेत करना है कि समालोचना जैसे आवश्यक अंग की किस प्रकार अवहेलना की जा रही है। यह अवश्य है कि हिंदी के प्रत्येक पत्र में समालोचना के स्तंभ का रिवाज-सा पड़ गया है; परंतु इससे समालोचना के अभिप्राय की कहाँ तक सिद्धि होती है, यह बतलाने के पूर्व हम समालोचना के वास्तविक आदर्श को ही पाठकों के सम्मुख रक्खेंगे। साथ ही विदेशी विद्वानों के मतों का निष्कर्ष भी हम विचारार्थ उपस्थित करेंगे।

आजकल के अनेक हिंदी-पाठकों की यह धारणा प्रतीत होती है कि समालोचना एक नितांत सहज कार्य है, एवं इसे निष्पन्न करने में कोई विशेषता नहीं है; दो-चार इधर-उधर की पुस्तकें देखकर प्रत्येक मनुष्य इस कार्य में समर्थ हो सकता है। ऐसे विचारवाले पाठक अथवा लेखक केवल अपनी अनभिज्ञता का परिचय देते हैं। यह निःशंक कहा जा सकता है कि साहित्य के पूर्ण परिज्ञान के विना इस उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य में हाथ डालना अपने को हास्यास्पद बनाना है। ... सम्मति में समालोचक की क्षमता प्राप्त कर लेना ...

ने से कहीं अधिक कठिन है। साहित्योपवन में—
में फूलों की अपेक्षा काँटे ही अधिक हैं—मार्गदर्शक
र्य कुछ उतना सहज नहीं है। समालोचन-कला
हित्य का अंग-विशेष होती हुई भी लेखन-कला से
तः भिन्न है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यास पर
सम्मति प्रकट करने के लिए औपन्यासिक कला के
पार्श्व के ज्ञान की आवश्यकता है। किसी पुस्तक
रूप से उत्तम अथवा निकृष्ट कह देना प्रामाणिक
लिया जा सकता। साधारण पाठकों की रुचि
इस प्रकार की होती है। यदि समालोचकगण
इसी प्रवृत्ति-धारा में बहने लगें, तो फिर उनमें
साधारण पाठकों में भेद ही क्या रहा? समालोचक
सम्मति तभी मान्य हो सकती है, जब वह सप्रमाण
तथा उसमें इस बात का स्पष्टीकरण हो कि पुस्तक
स्वादेयता एवं रोचकता किस स्थल पर, किस
से नष्ट हो जाती है, और उसके प्रतीकार का
क्या है। एक हल्दी की गाँठ लेकर अत्तार की
खोल बैठनेवाले को अंत में निराश ही होना
। अतएव समालोचक बनने की अभिलाषा
लों को उचित है कि प्रथम देशी अथवा
लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के ग्रंथों का अध्ययन
, उनकी लेखन-शैली, विचार-वैचित्र्य, प्लाट-रचना
चरित्र-चित्रण का मनन करें, पश्चात् किसी पुस्तक
समालोचना लिखने का साहस करें। दद्रुपीड़ित
के दद्रुनाशक मरहम का विज्ञापन कितना प्रभाव
कर सकता है, इसका अनुमान पाठक स्वयं लगा
हैं। जब तक स्वयं लेखन-कला की गुत्थियों को
सकने में असमर्थ हों, तब तक अन्य लेखकों की
पर कटाक्ष करना उन्माद के अतिरिक्त और क्या
जा सकता है?

समालोचना की परिभाषा कुछ कठिन नहीं है।
बात निर्विवाद रूप से सिद्ध की जा सकती है कि
लोचना का उद्देश्य पाठकों की हित-साधना है।
विषय में सुप्रसिद्ध प्रोफ़ेसर सेंट्सबरी की सम्मति
रूप है। उक्त प्रोफ़ेसर का कथन है कि "पाठकों
पठन-प्रवृत्ति को अनर्गल साहित्य के मार्ग से बचा-
उत्तम साहित्य के मार्ग में अग्रसर करा देना ही
लोचना का मुख्य उद्देश्य है।" आजकल हिंदी-
साहित्य में धड़ाधड़ पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।
अनेक साहित्य-विशारद मातृभाषा के साहित्य-मंदिर में
पदार्पण कर उसके भंडार की पूर्ति का ठेका ले रहे हैं।
उनमें से अधिकांश कहाँ तक अपने कार्य में सफली-
भूत हो रहे हैं एवं उनकी भेंटें कहाँ तक साहित्य-मंदिर
के उपयुक्त हैं, यह प्रश्न विवादास्पद है। हमारी
निजी सम्मति तो यह है कि साहित्य-मंदिर में जाने
की अपेक्षा यदि अधिकांश भेंटें पारसियों के मंदिर
को अर्पित कर दी जायँ, तो कुछ हानि होने की
संभावना नहीं है। ऐसी अवस्था में पाठकों का कर्तव्य
निर्धारित करना कठिन है। पुस्तक के नाम और कलेवर
को देखकर उसके विषय में कुछ सम्मति निर्धारित
करना भ्रममूलक है। इसका तो आजकल जो दुरुप-
योग हो रहा है, वह अवर्णनीय है, एवं किसी से छिपा
नहीं है। तो क्या विज्ञापनों का विश्वास किया जाय?
कदापि नहीं। आजकल विज्ञापनबाज़ी की जैसी धूम है
एवं उसकी सहायता से जनता पर जो अत्याचार हो
रहे हैं, उसका वर्णन करने की शक्ति लेखनी में नहीं
है। विशेषतः पुस्तकों के विज्ञापनों में जैसी लच्छेदार
बातों का समावेश होता है, उसका सहस्रांश भी कदा-
चित् पुस्तक में नहीं होता। अस्तु, इन सबका एक-
त्रित बोझ पाठकों पर पड़कर उनको और भी किंकर्तव्य-
विमूढ़ बना देता है, एवं उनके धन और समय का वृथा
अपहरण होता है। पाठक भुलावे में पड़कर सब प्रकार
की पुस्तकों का पाठ कर जाते हैं, तथा अंत में अधि-
कांश के लेखकों को भरपेट कोसते हैं। इस प्रकार
के लेखकों से हमारी सहानुभूति नहीं है, वरन् क्रोध
है; परंतु पाठकों की इस छीछालेदर पर हमें वास्तविक
खेद होता है। यदि आरंभ में ही उनको पुस्तक की
मुख्य-मुख्य बातों का कुछ ज्ञान हो जाय, तो उनका
बहुमूल्य समय एवं धन नष्ट होने से बच जाय।

अब प्रश्न होता है कि इसके प्रतीकार का क्या
उपाय है, एवं इसका उत्तरदायित्व कौन अपने ऊपर ले?
इतने बड़े प्रश्न के उत्तर के लिए केवल दो शब्द
पर्याप्त हैं—"समालोचना और समालोचक।" यह
कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि इस विषय
में जितना भारी आंदोलन किया जायगा, उतना ही
साहित्योन्नति के लिए श्रेयस्कर होगा। यदि प्रत्येक

प्रकाशित होनेवाली पुस्तक की उचित समालोचना होना आरंभ हो जाय, तो थोड़े ही समय में पुस्तकों की यह बरसाती बाढ़ स्वतः ही रुक जाय।

अब हम यह बतलावेंगे कि समालोचक को कौन-कौन-सी बातें लक्ष्य में रखनी चाहिए। अँगरेज़ी-पुस्तकों में इसकी विशद व्याख्या है, परंतु यहाँ पर हम उसे केवल संक्षेप में लिखेंगे। उपयुक्त समालोचना का दारमदार चार बातों पर मुख्यतः निर्भर है। इनके अतिरिक्त और भी गौण विषय हैं, जिन पर हम प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे; परंतु यदि केवल इन्हीं चार बातों की नींव पर समालोचना की भित्ति स्थापित की जायगी, तो उसके सुदृढ़ होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं है। इसके विपरीत यदि इनकी अवहेलना करके समालोचना लिखी जायगी, तो वह स्वयं ही अपने अभिप्राय को परास्त कर देगी।

१—सबसे प्रथम वे समालोच्य पुस्तकें हैं, जिनके नाम अथवा विषय तो पाठकों को लुभानेवाले हों, परंतु वास्तव में जिनके अंदर रद्दी मसाला भरा हो। कहना नहीं होगा कि ऐसी पुस्तकों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। काम-शास्त्र-संबंधी पुस्तकें इसी श्रेणी के अंतर्गत आ जाती हैं। कोकशास्त्र के नाम पर जो लूट मची हुई है, उससे विरला ही अनभिज्ञ होगा। अस्तु, ऐसी पुस्तकों में विशेषतः पाठकों का धन और समय व्यय होता है। अतएव समालोचकों का कर्त्तव्य है कि वे सबसे प्रथम इस दुरुपयोग का निवारण करें।

२—पुस्तक के दो-चार पृष्ठ पढ़कर अथवा इधर-उधर कुछ बानगी देखकर उसकी समालोचना कर बैठना निरी निरंकुशता है। जब तक पुस्तक का आद्योपांत पाठ न किया जायगा एवं जब तक उसके प्रत्येक अंग पर गवेषणा न की जायगी, तब तक उसमें छिद्रान्वेषण कर सकना असंभव है। केवल एक चावल देखकर संतुष्ट हो जाने की प्रथा साहित्यालोचना में लागू नहीं हो सकती। इस संबंध में एक और बात ध्यान देने योग्य है। समालोचक के कार्य की समाप्ति केवल छिद्रान्वेषण पर ही नहीं होनी चाहिए, वरन् पुस्तक के गुणों पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। गुणावगुणों की समष्टि ही पुस्तक की उपादेयता का लक्षण है। यदि किसी पुस्तक के गुण उसके दोषों को पूर्णतः ढक लेते हों, तो दो-एक अनुचित स्थलों के रहते हुए भी वह पुस्तक निंदनीय होने के योग्य नहीं है। किंतु जिस प्रकार विष-जैसी घातक वस्तु के संसर्ग से अन्न भी त्याज्य हो जाता है, उसी प्रकार केवल एक ही विषम दोष से युक्त पुस्तक भी अग्राह्य है। चतुर समालोचकों का कर्त्तव्य है कि ऐसे स्थलों पर पूर्ण न्यायबुद्धि एवं सावधानी का उपयोग करें।

३—समालोचक का हृदय दर्पण के समान स्वच्छ एवं वस्तुओं के वास्तविक रूप को प्रतिबिंबित करनेवाला होना चाहिए। यदि उस पर पक्षपात अथवा द्वेष की रज जमी हुई होगी, तो ठीक प्रतिबिंब पाना दुराशा-मात्र है। समालोचक के स्वभाव में अपार न्याय-बुद्धि एवं निर्भीकता की आवश्यकता है। बहुधा लेखक भी अपनी महत्ता दर्शाने के लिए एक दूसरे की रचनाओं पर कटाक्ष किया करते हैं। यदि वे स्वयं यह घृणित कार्य करने में झिझकते हैं, तो अपने मित्रों तथा शुभचिंतकों को आगे खड़ा करके पाठकों की आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा करते हैं। व्यक्तिगत लाभ के विचार से प्रेरित होकर ऐसा करना नितांत निंदनीय है। यद्यपि हिंदी-साहित्य में ऐसी घटनाएँ कम दृष्टिगोचर होती हैं, तो भी हमने इसे संभवात्मक तथा हानिप्रद समझकर ही लिखा है। देखने में आता है कि यदि कोई लब्ध-प्रतिष्ठ लेखक धनोपार्जन के आवेश में (हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि समय पाकर अधिकांश लेखक सरस्वती-पूजा से लक्ष्मी को भी प्रसन्न करने की चेष्टा में रहते हैं। इस अप्रिय सत्य के लिए हम लेखकों से क्षमाप्रार्थी हैं।) एक निरर्थक पुस्तक भी लिख मारता है, तो चारों ओर से उसकी प्रशंसा के पुल बाँध दिये जाते हैं, एवं पुस्तक सहस्रों गुणयुक्त प्रमाणित कर दी जाती है। इसके विपरीत एक नवीन लेखक की उत्तम तथा मौलिक रचना पर भी विपरीत सम्मति प्रकाशित करते समय समालोचकगण कृपणता कर जाते हैं। जिस प्रकार एक लक्ष्मी-पुत्र की उँगली में शोभित पीतल की अँगूठी भी सुवर्ण की समझी जाकर शोभित होती है (परिचित होते हुए भी उसे पीतल की कहने का कोई साहस नहीं कर सकता), एवं एक दरिद्र के हाथ का सुवर्ण भी पीतल-सा जँचता है, इसी प्रकार की असंगत घटनाएँ

का साहित्य-समालोचना में प्रवेश कर जाना असंभव तथा आश्चर्यजनक नहीं है। मानव-हृदय में दुर्बलताओं का रहना प्राकृतिक है। कहने का तात्पर्य केवल यह है कि समालोचना यदि साहित्य की कसौटी कहलाने योग्य है, तो उसके द्वारा सबका वास्तविक रूप प्रकट होना अनिवार्य है, न कि दूसरों के अशुद्ध वक्तव्य का समर्थन। इस संबंध में एक रोचक एवं सत्य घटना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा—

बहुत वर्षों की बात है। उस समय इँगलैंड में शेक्सपियर के भक्तों का एक विराट् आंदोलन हो रहा था। इनमें से एक मिस्टर आयर्लैंड की भक्ति का स्रोत इतना उमड़ा कि उन्होंने शेक्सपियर की जन्मभूमि (Stratford on-Avon) की तीर्थयात्रा की, एवं वहाँ पहुँचकर उक्त कवि के निवासस्थान को खोज निकाला। उस झोपड़े में एक वृद्धा रहती थी। मि० आयर्लैंड ने उस साहित्य-मंदिर की सस्नेह वंदना करने के पश्चात् उस वृद्धा से पूछा कि तुम्हें वहाँ कुछ प्राचीन हस्तलिखित पत्रादिक तो नहीं मिले। वृद्धा ने बतलाया कि कुछ पत्र मिले तो थे (एक मूषक के बिल में), परंतु मैंने उनको निरर्थक समझकर जला डाला। इन शब्दों के कर्णगोचर होते ही मि० आयर्लैंड का सारा संतोष हिरन हो गया, तथा क्रोध के आवेश में उन्होंने उस निरपराध वृद्धा को अनेक अपशब्द सुना डाले। निदान, भग्न-हृदय होकर वह अपने निवास-स्थान को लौट आये, एवं इसी चिंता में निशिवासर व्यस्त रहने लगे। संयोग-वश इस तीर्थयात्रा में उनका पुत्र युवा आयर्लैंड भी उनके साथ गया था। उसने जब यह हृदय-विदारक कांड देखा, तो उसे अपने पिता को चिंता-रहित करने का एक अद्भुत उपाय सूझा। अपने एक पुस्तक-विक्रेता मित्र की सहायता से उसने प्राचीन पुस्तकों के अनेक कोरे पृष्ठ एकत्रित किये, एवं मसि भी ऐसी तैयार की, जिसका लेख वास्तव में प्राचीन जान पड़े। इन साधनों के प्राप्त हो जाने पर, उसने शेक्सपियर के ढंग पर कुछ नाटक तथा काव्यों की रचना की, एवं उनको उन प्राचीन पृष्ठों पर उतारकर अपने पिता के समक्ष रख दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि वे एक माननीय सज्जन को उसी वृद्धा के झोपड़े से प्राप्त हुए थे। मि० आयर्लैंड को मानों स्वर्ग का राज्य मिल गया, एवं इस आनंदोल्लास में वह अपने पुत्र की प्रामाणिकता पर संदेह तक न कर सके। निदान, उन्होंने सब भक्तों को एकत्रित करके उन रचनाओं को विचारार्थ उपस्थित किया। आश्चर्य का विषय है कि उस विद्वन्मंडली ने एक स्वर से यही निर्धारित किया कि वे अवश्य शेक्सपियर की रचनाएँ हैं! मि० आयर्लैंड ने तब विपुल धन व्यय करके शेक्सपियर की रचनाओं का एक परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित किया तथा उस समय के सुप्रसिद्ध लेखकों ने उन रचनाओं एवं प्रकाशक के इस कार्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी की। दैवात् युवा आयर्लैंड ने इस प्रवंचना की चर्चा अपनी मित्र-मंडली में कर दी, जिससे संपूर्ण इँगलैंड में सनसनी फैल गयी। फिर तो वे परिवर्द्धित संस्करण अग्नि की भेंट किये जाने लगे, एवं उन कृतियों में निरर्थकता के सिवा और कुछ भी शेष न रहा। युवा आयर्लैंड को त्रस्त होकर इँगलैंड छोड़ देना पड़ा, एवं मि० आयर्लैंड भी इस वज्रपात को अधिक दिनों तक सहन न कर सके। घटना प्राचीन अवश्य है, परंतु आधुनिक समालोचकों के लिए मार्ग-दर्शक बनने में अनुपम रीति से समर्थ है। इतना कहना पर्याप्त होगा कि पक्षपात अथवा द्वेष का रंगीन चश्मा नेत्रों पर चढ़ा रहने से ही सारी भिन्नताएँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

४—यह कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि समालोचक को असीम प्रतिभाशाली एवं साहित्य के सर्वांगों से पूर्णतः परिचित होना चाहिए। इस विषय में हम लेख के अग्रभाग में बहुत कुछ लिख चुके हैं। इस स्थल पर केवल इतना और बतला देना चाहते हैं कि उल्लिखित त्रुटियों के विद्यमान रहते हुए जो समालोचक बनने की चेष्टा करेंगे, वे अंत में लांछना ही अधिक परिमाण में प्राप्त करेंगे।

उपर्युक्त गुणों के साथ-साथ यदि समालोचकगण अन्य दो-एक महत्त्वपूर्ण बातों पर भी ध्यान रक्खें, तो सोने में सुहागा हो सकता है। समालोचक को अपने स्वभाव में छिछोरेपन की अपेक्षा गंभीरता एवं अस्पष्ट लेखन-शैली की अपेक्षा स्पष्टवादिता की मात्रा अधिक रखनी चाहिए। लेखक के हृदय को क्षोभ न पहुँचाकर भी पाठकों को उसकी पुस्तक की संपूर्ण ज्ञातव्य बातों का बोध कराया जा सकता है।

समालोचना के आवेश में लेखक को कहनी-अनकहनी सुना डालना अनुचित है। दूसरे, समालोचक का कर्तव्य केवल त्रुटियाँ छाँटना ही नहीं है। एक साधारण पाठक भी धुरंधर साहित्य-विशारदों की रचनाओं में एक-आध त्रुटि निकाल सकता है। भूल करना मनुष्य का स्वभाव है, अतएव संसार में कोई ऐसा लेखक आज तक नहीं हुआ, जिसने कतिपय स्थलों पर ठोकरें न खायी हों। जिस प्रकार एक जौहरी प्रत्येक रत्न का मूल्य उसके गुण-दोषों पर निर्धारित करता है, उसी प्रकार समालोचक को भी अपना कार्य करना चाहिए। उत्तम कार्य की प्रशंसा करना, बुरे कार्य की निंदा करने से अच्छा है। हाँ, यदि किसी पुस्तक में गुणों की छाया तक न हो, तो थोड़े शब्दों में उसे निपटा देना चाहिए। तीन-तीन आने की रद्दी पुस्तकों पर दो-दो कालम की आवेशपूर्ण समालोचनाएँ हमारे देखने में आयी हैं। ऐसा करना विज्ञ समालोचक को शोभा नहीं देता। प्रथम तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि "संक्षेपवाद ही चतुरता की आत्मा है"(Brevity is the soul of the wit)। दूसरी ओर साहित्य-क्षेत्र की लुनाई करते समय यदि बड़े-बड़े हानिप्रद पौदों पर दृष्टिपात न करके छोटे-छोटे पौदों की ओर ही विशेष ध्यान दिया जायगा, तो इस अवसर में वे बड़े पौदे अधिकांश खाद को हड़प करके मुख्य तथा लाभकारी फ़सल को निर्बल कर देंगे।

अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध लेखक एंड्र्यूलैंग (Andrew Lang) का मत है कि "जहाँ लेखक ने भूल की हो, वहाँ उसे सुधारने तथा अपनी ओर से दो-चार शब्द सम्मिलित कर सकने की शक्ति प्रत्येक समालोचक में होनी चाहिए। यह सत्य है कि विशेष विषयों (इतिहास, विज्ञान आदि) की पुस्तकें उनके विशेषज्ञों के द्वारा ही परखी जा सकती हैं, परंतु आये दिन अपरिमित संख्या में प्रकाशित होनेवाले उपन्यासों की समालोचना के लिए यदि एक बहुपाठी, चतुर, निष्पक्ष एवं रोचक लेखक प्राप्त हो जाय, तो इतना ही पर्याप्त है। जिस प्रकार लेखक से वैमनस्य होने के कारण उसकी रचनाओं पर तीव्र कटाक्ष करना अन्याय है, उसी प्रकार व्यक्तिगत लाभ के विचारों से प्रभावित होकर किसी लेखक को आकाश पर चढ़ा देना भी महान् अनुचित कार्य है।"

उपन्यासों की समालोचना करते समय बहुत-से समालोचक-गण पात्रों की भूलों को लेखक की भूलें मानकर अर्थ का अनर्थ कर देते हैं। यह प्रमाद एवं अदूरदर्शिता का लक्षण है। पात्रों के मुख से प्रतिध्वनित होनेवाली प्रत्येक बात से लेखक सहमत नहीं होता है, प्रत्युत मानव-चरित्र के दिग्दर्शन एवं भिन्न-भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के विचार-प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए ऐसा आयोजन होता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई लेखक किसी ग्रामीण पात्र के द्वारा अपरि-मार्जित भाषा का प्रयोग कराये, तो इसे अशुद्धियों में सम्मिलित करना भ्रम है। इसी मार्ग में बहुत-से समालोचकगण एक और भी गहरे गह्वर में प्रवेश कर जाते हैं। वे उपन्यास का प्लाट थोड़े शब्दों में वर्णन कर समालोचना की इतिश्री कर देते हैं। ऐसा करने से, समालोचना का जो अभिप्राय हम पहले लिख आये हैं, वह किसी अंश में भी पूरा नहीं होता। कारण, पाठकों को अपनी सम्मति स्वयं निर्धारित करने के लिए विवश होना पड़ता है। यही समालोचना की मर्यादाएँ हैं, जिनका व्यति-क्रमण करना इसके मूल में कुठाराघात करने के समान है।

हिंदी में सुयोग्य समालोचकों की न्यूनता खटकती है। इसकी पूर्ति करना प्रत्येक साहित्य-सेवी का कर्तव्य है। समालोचना संपादनकला का भी अंग मानी जा सकती है, अतएव इसको विकास-मार्ग से वंचित कर इसी अवस्था में पड़े रहने देना लाभप्रद न होगा। आशा है, हिंदी के सुलेखकों का ध्यान इस ओर शीघ्र ही आकर्षित होगा, एवं वे इसकी व्याव-हारिक उपयोगिता को मानकर इसकी उन्नति के लिए कटिबद्ध हो जायँगे।

हमारा लेख समाप्त हो चला। अब हम केवल दो-एक समालोचनाओं के उदाहरण पाठकों के सम्मुख रखते हैं। प्रकाशक-पत्रों के नाम देना हमने उचित नहीं समझा है।

१ शिशुपालन—पृष्ठ-संख्या २६७, मूल्य १)— इस पुस्तक के लेखक एक बहुज्ञ व्यक्ति हैं। पुस्तक में

अनेक ज्ञातव्य और उपयोगी विषयों से परिपूर्ण है। ... ... भाषा सरल और सुबोध है। ... विषयों का चुनाव और निरूपण-शैली भी हृदयंगम है। ...माताएँ, दाइएँ, चिकित्सक और परिचारक इससे शिक्षा ले सकते हैं।.........परंतु हमें खेद.........है कि विलायती शिक्षा की दीक्षा में निष्णात लेखकों में जो हवा चलती आजकल अधिकांश देख पड़ती है, उसी की इसमें भी अति मात्रा मौजूद है।......... हमें दुःख है कि यदि कोई भारतीयत्व का पक्षपाती शिशुपालन की इच्छा से इसे ख़रीदेगा, तो उसे बहुत अंशों में निराश होना पड़ेगा।.........क्या ही अच्छा होता, यदि सुयोग्य लेखक विलायत की बातों का उसी रूप में अनुवाद न करके भारत की उपयोगिता की दृष्टि से कोई पुस्तक लिखते।

हमारी सम्मति में उपर्युक्त समालोचना उत्तम की श्रेणी में स्थान पाने योग्य है। पुस्तक के समस्त गुण-दोषों की विद्वत्तापूर्ण एवं गंभीर विवेचना कर दी गयी है, तथा उसकी न्यूनताओं पर भी भली भाँति प्रकाश डाल दिया गया है। समालोचक महाशय इस कार्य में सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं।

२—आर्य-आदर्श, मूल्य ॥) —यह कविता-पुस्तक श्रीयुत शोभाराम धेनुसेवक की रचना है। ५-६ वर्ष पहले की छपी है। भारत-भारती के ढंग की रचना है। छंद भी हरिगीतिका ही है। पर यह आर्य-आदर्श का केवल अतीत खंड ही है। उदाहरण लीजिए।

उभार दे सोते हुए भावों को यश विस्तार दे;
भगवती जय शारदे, जय शारदे, जय शारदे।

× × ×

यह समालोचना कहाँ तक अपने अभिप्राय को सिद्ध करती है, इसका अनुमान विज्ञ पाठक स्वयं लगा सकते हैं। पुस्तक के विषय में एक भी ज्ञातव्य बात नहीं बतलायी गयी है।

समालोचना में भाषा-ज्ञान एवं रचनापांडित्य दिखलाने का अवसर नहीं है। इसकी भाषा तो सर्वसाधारण के समझने योग्य होनी चाहिए। जिनके लिए समालोचना लिखी जाती है, यदि वे ही उसका भाव समझने में असमर्थ रहे, तो ऐसी समालोचना निरर्थक प्रमाणित हो जायगी। अतएव इस विषय में उपयोगितावाद का अवलंबन करना अत्यावश्यक है।

गीदड़ की जब मौत आती है, तो वह नगर की ओर भागता है। प्रस्तुत लेख में हमने समालोचकों की आलोचना करके अपनी अवस्था कुछ-कुछ इसी प्रकार की कर ली है। हमें निरंतर समालोचनाएँ देखने का सौभाग्य प्राप्त होता रहता है, परंतु कुछ तो स्थानाभाव के कारण और कुछ इस भय से कि कहीं कोई समालोचक महाशय रुष्ट होकर हमारी भी प्रत्यालोचना न कर बैठें, हम अधिक उदाहरण देने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। साहित्य-सेवियों को सदा समालोचकों को प्रसन्न भी रखना चाहिए, यही हमारा अंतिम अनुरोध है।

सौंदर्य

[राजा श्रीचक्रधरसिंह, रायगढ़-नरेश]

(१)

कोमल कोपल-सी उँगली हैं, फूलों-सी कांति विशाला है ;
पत्तों के रँग की साड़ी है, फल-सा मुख सुषमावाला है।
कोमलता-सी, कल कृशता-सी, मृदुता सुखराशि रसाला है ;
इस जग-उपवन के बीच खिली, जंगम लतिका-सी बाला है।

(२)

तारे हारे उसके नख पर, मुख देख चंद्रमा च्चार हुआ ;
उसके केशों के आगे क्या बादल का फिर शृंगार हुआ !
उसकी आभा के सम्मुख रवि है अस्त न कितनी बार हुआ ;
आकाश गर्व अपना खोकर उस बाला पर बलिहार हुआ।

(३)

है आँख कि है यह कंजकली, जो भ्रमर-सहित मन भाती है ;
साड़ी है तन पर या मन पर ममता महिमा दिखलाती है।
मुख पर है मंद हँसी यह या शशि पर बिजली छवि छाती है ;
वह बोल रही है, या कोयल ही अपने बोल सुनाती है।

(४)

अलकों ने नाग नचा डाले, मुख पर सौ दर्पण वारे हैं ;
नयनों को देख हरिण वन में छिपकर रहते मन मारे हैं।
हाथों के आगे फिर न कभी लग सकते पंकज प्यारे हैं ;
चलने में चकित गजेंद्र हुए, हँसने में हीरे हारे हैं।

(५)

आँखों में रुचिर कटाक्ष भरे मुख पर मुसकान निराली है ;
सुकुमार कपोलों पर कैसी विलसी लज्जा की लाली है।
है देह विनय से झुकी हुई, गति मंथर है—मतवाली है;
भूषण देंगे वह शोभा क्या, जो शोभा उसने पा ली है।

(६)

वन उपवन सागर सरिता ही-सी रूपराशि मन भायी है ;
जो छवि है उसमें, वह न कहीं खग-मृग-वृंदों ने पायी है।
या जग की सुंदरता सारी आ इसमें आप समायी है ;
अथवा इससे लेकर विधि ने जग में सुकांति बिखरायी है।

भारतीय भोजन में घी का महत्व

[श्रीसद्गोपाल एम्० एस्-सी०]

कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारतवर्ष में गौ को विशेष महत्त्व प्राप्त है। यदि यह कहा जाय कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति का जीवन, जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यंत, गौ और उसके द्वारा प्राप्त विविध पदार्थों पर निर्भर है, तो अत्युक्ति न होगी। खाद्य-पदार्थों के अलावा गौ के मल-मूत्र तक का भी सदुपयोग किया जाता है। इसीलिए प्रारंभ से ही आर्य-जाति गोपालन को प्रत्येक गृहस्थ का धर्म समझकर पालन करती आयी है। ऐसे आवश्यक पशु द्वारा प्राप्त विविध पदार्थों में से एक अत्यंत आवश्यक पदार्थ घी पर विचार करना इस लेख का उद्देश्य है।

निरामिषभोजियों के लिए घी और मक्खन के सिवा ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, जो आहार में इनके अभाव की पूर्ति कर सके। मांसाहारियों के लिए भी घी का कुछ अंश तक उपयोग अनिवार्य है। वैदिक साहित्य में इस पदार्थ की महत्ता का सूत्ररूप में, अत्यंत विशद रूप में, वर्णन किया गया है।

आयुर्वै घृतम्

इस सारगर्भित वाक्य का संक्षेप में यह भाव है कि "घी ही मनुष्य-जीवन का आधार है।" घी की अन्य तैल-पदार्थों (जिनमें वानस्पतिक तैल तथा पशुओं की चर्बियाँ भी सम्मिलित हैं) से वैज्ञानिक ढंग से तुलना करने पर इस कथन की सत्यता सिद्ध हो जायगी।

सब लोग यह बात भली भाँति जानते हैं कि दूध से मक्खन बनता है और मक्खन से घी। साधारणतः गाय-भैंस का दूध ही मक्खन बनाने के काम में लाया जाता है। किंतु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय, तो किसी भी दूध देनेवाले 'पशु' (बकरी, भेड़, गधी, स्त्री आदि) के दूध में से मक्खन निकाला जा सकता है। किसी भी प्राणी के बच्चे के पालन-पोषणार्थ जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है, वह सब-के-सब उचित परिमाण में माता के दूध में विद्यमान रहते हैं। यद्यपि यह भिन्न-भिन्न प्रकार के 'पशुओं' के दूध शारीरिक अवस्थाओं पर भिन्न-भिन्न प्रभाव रखते हैं, तथापि इन सबका रासायनिक सम्मिश्रण (Chemical Composition) एक समान है। रासायनिक दृष्टि से किसी के भी दूध में निम्नलिखित पदार्थ पाये जाते हैं—

१. जल (Water)
२. चर्बी (Fat)
३. केसीन (Casein)
४. दुग्ध-शर्करा (Milk-sugar)
५. लवण (Salts)

यह सब एक विशेष परिमाण में दूध में पाये जाते हैं। दूध केवल इन्हीं पदार्थों के Emulsion का नाम है। गाय और भैंस के दूध में यह पदार्थ जिस परिमाण में विद्यमान हैं, वह नीचे दी गयी सारिणी से स्पष्ट हो जायगा—

सारिणी (१)
(गाय और भैंस के दूध का Composition)

	कम-से-कम प्रतिशत	अधिक-से-अधिक प्रतिशत	औसत
घनत्व (Specific gravity)	१·०२६४	१·०३७	१·०३१६
चर्बी (Fat)	१·६७	६·४७	३·५९
केसीन (Casein)	१·७९	६·२९	३·०२
दुग्ध-शर्करा (Milk-sugar)	२·११	६·११	४·७८
लवण (Salts)	·३५	१·२१	·७१
जल (Water)	८०·३२	९०·६९	८७·४

दूध में पाये जानेवाले पदार्थ सदैव एक ही परिमाण में नहीं रहते। नीचे लिखी हुई अवस्थाओं के अनुसार उनमें परिवर्तन होता रहता है—

(१) 'पशु' की जाति—मैदान की गाय पहाड़ी गाय से प्रायः डीलडौल में बड़ी होती है। दूध की मात्रा भी मैदान की गाय में अधिक होती है। किंतु पहाड़ी गाय के थोड़े दूध में भी मक्खन का अंश मैदानी गाय के दूध से अधिक होता है। इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि भिन्न प्रांतों के 'पशुओं' में दूध और मक्खन की मात्रा कम और ज़्यादा होती है।

(२) भोजन—जिन 'पशुओं' को घास आदि पदार्थ अधिक खिलाये जाते हैं, उनका दूध पतला रहता है। इसके विपरीत खली आदि खानेवाले 'पशुओं' का दूध गाढ़ा होता है।

(३) ऋतु-परिवर्तन के साथ भी दूध के Composition के परिमाण में भेद पड़ जाता है।

(४) 'पशु' की मानसिक तथा शारीरिक अवस्थाओं का भी दूध पर विशेष प्रभाव पड़ता है। घरों में प्रायः देखा जाता है कि जब किसी स्त्री को कोई विशेष मानसिक कष्ट होता है, तो दूध की मात्रा स्वयमेव कम हो जाती है। शरीर में व्याधि होने पर तो उसका दूध बच्चे के लिए निषिद्ध ही कर दिया जाता है। दूध दुहे जाने पर पहले कुछ मिनटों में जो दूध निकलता है, उसमें मक्खन का अंश अत्यधिक होता है। धीरे-धीरे यह अंश कम होता जाता है। सायंकाल के दूध में मक्खन का अंश प्रातःकाल के दूध से अधिक होता है। इसी कारण भारतीय घरों में दही हमेशा रात के दूध से ही जमाया जाता है। बछड़े के जन्म के समय उसकी माता जो दूध देती है, वह बहुत पौष्टिक समझा जाता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक अनुशीलन द्वारा यह पता चलता है कि ऊपर दिये गये कारणों से किसी भी 'पशु' के दूध में, विविध पदार्थों के परिमाण में, परिवर्तन अवश्यम्भावी है। चर्बी का अंश कम व ज़्यादा हो सकता है। किंतु इन परिवर्तनों के होते हुए भी दूध की चर्बी (घी) का अपना Chemical Composition लगभग एक समान ही रहता है। यह संभव है कि उसमें Vitamine (विटेमिन) का अंश कम हो जाय अथवा अधिक; किंतु घी के Chemical Composition में विशेष भेद देखने में नहीं आता।

दूध को जमाने से दही बनता है और दही को बिलो-कर मक्खन निकाला जाता है। दही केवल दूध का विकार है। इसमें दूधवाले सब पदार्थ रहते हैं। किंतु मक्खन में पानी और थोड़ी-सी छाछ के अतिरिक्त चर्बी का अंश ही होता है। इस मक्खन को गरम करके घी अलग किया जाता है, जिसमें केवल दूध में पाये जानेवाली चर्बी ही होती है।

अन्य वानस्पतिक तैल तथा 'पशुओं' की चर्बियों की भाँति घी भी एक रासायनिक मिश्रण है। इस मिश्रण में फ़ैटी एसिड (Fatty Acids) तथा ग्लिसरीन (Glycerine) के विविध यौगिक पाये जाते हैं। स्टीयरिक, पामिटिक तथा ओलीक एसिडों के (Stearic, palmitic and oleic acids) ग्लिसरीन-यौगिक ट्राई-ग्लिसराइड (Tri-glyceride) के रूप में पाये जाते हैं। कोलॅस्टोरोल (Cholesterol)-नामक पदार्थ घी में भी पाया जाता है, इसीलिए घी को भी रासायनिक दृष्टि से 'पशुओं' की चर्बियों में ही रक्खा जाता है। घी की रंगत लैक्टोक्रोम (Lactochrome)-नामक पदार्थ की विद्यमानता से होती है। आम्थर (Amthor) के मतानुसार घी में निम्न-लिखित मिश्रित ग्लिसराइड (Mixed glycerides) पाये जाते हैं—

१. ओलियो-ब्यूटिरो पामिटिन (Oleo-butyro-palmitin)

२. ब्यूटिरो डाई-ओलीन (Butyro-di-olein)

३. ओलियो डाई पामिटिन (Oleo-di-palmitin)

एक और वैज्ञानिक बेल (Bell) की सम्मति में घी रासायनिक भाषा में, ओलियो-पामिटो-ब्यूटिरेट ऑफ़ ग्लिसरोल (Oleo-palmito-butyrate of glycerol) कहा जा सकता है।

इस दृष्टि से घी तथा अन्य तैल-पदार्थों में एक मुख्य भेद है। तैल-पदार्थों में पाये जानेवाले फ़ैटी-एसिडों (Fatty-acids) को दो विभागों में बाँटा जा सकता है—

(१) वाष्प में उड़नशील और पानी में घुलनशील (Steam-volatile and water soluble)

(२) वाष्प के साथ न उड़नेवाले और पानी में न घुलनेवाले (Steam-nonvolatile and water-insoluble)

पहली श्रेणी के अम्ल (Fatty acids) घी और गरी आदि तैलों में पाये जाते हैं, और दूसरे प्रकार के शेष तैल-पदार्थों में। किंतु घी में एक विशेष फ़ैटी एसिड की मात्रा अत्यधिक होती है। दूसरे तैल-पदार्थों में या तो इसका सर्वथा अभाव ही होता है, अथवा यह अंश नाम-मात्र को ही पाया जाता है। यह अनिवार्य अंश ब्यूटिरिक एसिड (Butyric acid) के नाम से कहा जाता है।

इस प्रकार वैज्ञानिक दृष्टि से हम यह परिणाम निकालते हैं कि रासायनिक मिश्रण की दृष्टि से दो बातें घी को अन्य सब तैल-पदार्थों से पृथक् करती है—

(१) घी में "वाष्प में उड़नशील तथा पानी में घुलनशील" अम्लों की बहुतायत है।

(२) इस अंश में भी घी में ब्यूटिरिक एसिड की अत्यधिक प्रधानता है।

घी की अन्य Chemical और Physical Properties (गुण) निम्न प्रकार की हैं—

सारिणी (२)

(घी के Chemical और Physical Constants)

नाम Constant	मात्रा Value	अन्वेषक Observers
१ घनत्व Specific gravity at 15°c.	·९३५८—·९४४३	सालोमन Salomon
२ जमने का तापक्रम Solidifying point	१९·१°—२४·५°c	,, ,,
३ द्रवणांक Melting point	२९·५°—३६·५° c	गॉडबोले और सड्गोपाल
	२९·५°— ३४·७° c	बेल
४ सेपोनिफ़िकेशन वेल्यु Saponification Value	२१९·७—२३३·४	के० फ़िशर
	२२६—२३९	टी० के० घोष
	२२६—२३४	गॉडबोले और सड्गोपाल
५ आयोडीन वेल्यु Iodine Value	२५·७—५०·३	वॉल्नी और वॉन रिज्न
६ राइशर्ट पोलेंसकी वेल्यु Reichert-polenske Value	·७—१·७	गॉडबोले और सड्गोपाल
	१·३५—३	डी० होल्डे
७ राइशर्ट-माइस्सल वेल्यु Reichert-Meissl Value	१९·९९—३०·१	,, ,,
	२१·६—३३·२	सालोमन
	२६—३३	गॉडबोले और सड्गोपाल
८ ए—वेल्यु A—Value	५·६६—६·७१	डी० होल्डे
	६·२८—६·९७	गॉडबोले और सड्गोपाल
९ बी—वेल्यु B—Value	३३·३—३५·८५	डी० होल्डे
	३३·०१—३५·५	गॉडबोले और सड्गोपाल
१० रिफ़्रेक्टोमीटरिक वेल्यु ४०°c पर Refrecto metric Value at 40°c.	३७·५°—४०·६°	सालोमन
	४०°—४३°	गॉडबोले और सड्गोपाल

मनुष्य के आहार में घी का उचित स्थान-निर्णय करने से पूर्व दो और पदार्थों का वर्णन आवश्यक है --

(१) मार्गेरीन (Margarine)

(२) वनस्पति-घी (Vegetable ghee)

तिल्ली आदि पतले तेलों में विशेष अवस्थाओं में हाइड्रोजन गैस (Hydrogen gas) की प्रतिक्रिया से यह तेल जम जाते हैं। रासायनिक दृष्टि में ओलीक ग्लिसराइड (Oleic-glyceride) की श्रेणी के पदार्थ, हाइड्रोजन से युक्त होने पर स्टीयरिक ग्लिसराइड (Stearcc-glyceride) आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। यही पदार्थ वेजीटेबिल-घी के नाम से हमारे देश में बिक रहा है। वास्तव में इस पदार्थ का नाम Hydrogenated Oil है। कहीं-कहीं इसके बनाने में मछली आदि के तेलों का भी व्यवहार कर लिया जाता है। यह पदार्थ बाह्य रूप में घी से मिलता ज़रूर है, किंतु Chemical Composition की दृष्टि से यह घी से उतना ही विपरीत है, जितना पूर्व से पश्चिम।

पहले पदार्थ मार्गेरीन का हमारे देश में प्रचार नहीं। यह भी एक प्रकार का इमल्सन (Emulson) है, जो हमारे देश-जैसे गरम जल-वायु-प्रधान देश में स्थिर (Stable) नहीं रह सकता। इसका रूप-रंग मक्खन के सदृश होता है, किंतु यह वास्तव में तिल्ली, मूँगफली तथा गरी आदि के तेलों को साफ़ करके और दूध तथा पानी के साथ मिलाकर मक्खन के सदृश (Emulson) बना दिया जाता है। योरप में इसका प्रयोग मक्खन के स्थान पर किया जाता है।

वेजीटेबिल-घी के प्रचार से हमारे देश में भी यह प्रश्न बड़े विकट रूप में उपस्थित हो गया है कि मनुष्य के आहार के लिए किन तैल-पदार्थों का उपयोग लाभप्रद और सर्वोत्तम है। एक और प्रश्न प्रायः पूछा जाता

है। वह है वनस्पति-घी के मनुष्य-शरीर पर प्रभाव के संबंध में। कुछ लोगों के मतानुसार इसका उपयोग सर्वथा हानिकर है। दूसरे प्रकार के लोगों का मत है कि यह पदार्थ घी की भाँति पौष्टिक तो नहीं, किंतु अन्य पदार्थों की तरह हानिकर भी नहीं। इस प्रश्न पर, इस विषय के जगन्मान्य आचार्यों के वर्षों के अनुशीलन के आधार पर, विचार किया जाना चाहिए। दुर्भाग्य से इस विषय पर जितना भी कार्य हुआ है, उसमें हमारे भारतीय वैज्ञानिकों का कुछ भी हाथ नहीं है। इसलिए योरप और अमेरिका के आचार्यों का मत उद्धृत करने से पूर्व एक बात का स्पष्ट हो जाना आवश्यक है। योरप में घी की समस्या है ही नहीं। वहाँ तो सब लोग मक्खन को ही व्यवहार में लाते हैं। इसलिए पाश्चात्य देशों में इस संबंध में जो भी अनुसंधान हुए हैं, वह मक्खन और मार्गेरीन की समस्या को ही समक्ष रखकर किये गये हैं। उन देशों में मार्गेरीन की ज़रूरत इसलिए महसूस हुई कि ग़रीब जनता रोटी (ब्रेड) पर लगाने के लिए मक्खन-जैसे महँगे पदार्थ का उपयोग नहीं कर सकती। उन्हें इस काम के लिए कोई सस्ता पदार्थ चाहिए; यह काम मार्गेरीन पूरा करती है। अमेरिका में मक्खन और मार्गेरीन की अपेक्षाकृत उपयोगिता के संबंध में दो दल बन चुके हैं। मार्गेरीन के पक्षपातियों की ओर से इसके पक्ष में और मक्खन के विरुद्ध मौखिक एवं लेखबद्ध प्रचार बड़े प्रबल वेग से किया जा रहा है। वैज्ञानिक दृष्टि से उनके साहित्य में सत्य की मात्रा बहुत कम रहती है। अधिकांश पुस्तिकाएँ केवल प्रोपेगैंडा के भाव से सचाई की टाँग को तोड़-मरोड़कर ही लिखी गयी हैं। इस प्रकार के प्रचार के लिए करोड़ों रुपये स्वाहा कर दिये जाते हैं। एक साधारण मनुष्य स्वभावतः पूछेगा कि ऐसा क्यों किया जा रहा है। कारण ढूँढ़ने के लिए बहुत दूर न जाना पड़ेगा। मार्गेरीन बनानेवालों का कई अरब के लगभग रुपया इस व्यवसाय में लग चुका है। इसलिए व्यापारिक दृष्टि से उनके लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह मक्खन के पक्ष में बनी हुई जनसाधारण की धारणा को मार्गेरीन के पक्ष में बदलें। ऐसा न करने से जो करोड़ों रुपये वे पहले इस व्यवसाय में लगा चुके हैं, वह नष्ट हो जाते हैं। किंतु मार्गेरीन के पक्ष में ही यदी जिन युक्तियों को लोग वनस्पति-घी के पक्ष में लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं, वे सर्वथा निराधार और असंगत हैं। कारण आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा।

यह लिखा जा चुका है कि मार्गेरीन में प्रधान अंश पानी का होता है। इसलिए मार्गेरीन सुपच होती है। इसके सर्वथा विपरीत वनस्पति-घी तथा अन्य तैल-पदार्थों में पानी का कुछ भी अंश नहीं रहता। मार्गेरीन के पक्ष में इतने प्रबल प्रोपेगैंडा के होते हुए भी, मक्खन के पक्ष में लोगों की संख्या मार्गेरीनवालों से अत्यधिक है। स्वयं जो लोग मार्गेरीन का व्यवहार करते हैं, वह स्पष्ट तौर पर कहते हैं कि घी से इसकी कुछ भी तुलना नहीं हो सकती। यह बात मक्खन की उपयोगिता का एक महत्वपूर्ण प्रमाण है। फिर भी पाठक-पाठिकाओं की जानकारी के लिए उनके मूल-सिद्धांत नीचे उद्धृत किये जाते हैं—

"सब तैल-पदार्थों की समान मात्राएँ मनुष्य के शरीर में एक-सी स्फूर्ति, शक्ति तथा पुष्टि देती हैं। सब तैल-पदार्थ समान अंश तक पचनशील होते हैं। तुलनात्मक दृष्टि से किसी भी तैल की उपयोगिता में कोई भेद नहीं पड़ता। यह संभव है कि कोई विशेष जन-समूह सफ़ाई, सस्तापन तथा स्वाद आदि बातों से प्रेरित हो किसी विशेष तैल-पदार्थ को अधिक पसंद करे। अन्यथा शरीर पर सबका समान ही प्रभाव होता है।"

सब तैल-पदार्थ एक समान पचनशील होते हैं, यह कथन तो विज्ञान के साधारण ज्ञान के अनुसार भी सर्वथा युक्तिशून्य है। यह तभी संभव है, जब सभी तैल-पदार्थों का Chemical Composition समान हो। किंतु सभी जानते हैं कि ऐसा कदापि नहीं है। ऐसी अवस्था में कोई कारण नहीं दीखता कि उनके प्रभाव शरीर पर भिन्न प्रकार के क्यों न हों। ऊपर का कथन कुछ अंश तक तैल-पदार्थों के इमल्शन (Emulsion) पर लागू हो सकता है; किंतु जलविहीन भारतीय तैलों पर सर्वथा ठीक नहीं उतर सकता।

हमारे देश में जो समस्या खड़ी है, उसके समाधान के लिए हमें जर्मन वैज्ञानिकों के अनुसंधानों से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। साधारणतः उन्होंने यह सिद्ध किया है कि जो तैल-पदार्थ ऊँचे दरजे के

ताप-क्रम पर पिघलते हैं, वह नीचे दरजे के ताप-क्रम पर पिघलनेवाले तैलों से अधिक कठिनतापूर्वक पचनेवाले होते हैं। यह नियम तैल-पदार्थों के अतिरिक्त इनमें पाये जानेवाले अम्लों (Fatty acids) पर भी लागू होता है। स्टीयरिक और पामिटिक एसिडों की तरह के ऊँचे तापक्रम पर पिघलनेवाले अम्ल (Fatty acids) कम दरजे पर पिघलनेवाले अम्लों की अपेक्षा बहुत ही कम मात्रा में पचते हैं। ब्यूटिरिक एसिड (Butyric acids) की तरह के नीचे दरजे के तापक्रम पर पिघलनेवाले अम्ल इतने अधिक पचनशील होते हैं कि उनकी विद्यमानता में 'न पचनेवाले अम्ल' भी कुछ अंश तक पच ही जाते हैं। ज़रा थोड़ा-सा और आगे बढ़िए, तो यह कहा जा सकता है कि जिन तैल-पदार्थों के कथनांक (Melting Point) शरीर के साधारण तापक्रम से कम अथवा बराबर होते हैं, वह ९७-९८ प्रतिशत तक शरीर में खप सकते हैं। इसके विपरीत शरीर के तापक्रम से ऊँचे कथनांकवाले ट्राइस्टीयरिन (Tristearin) आदि पदार्थ केवल ९-१४ प्रतिशत ही पचनशील हैं। अतएव इन वैज्ञानिक अनुसंधानों के आधार पर हम एक बार फिर उसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि घी के सदृश पदार्थ 'वाष्प में उड़नशील तथा पानी में घुलनशील' अम्लों के आधिक्य के कारण सुपच हैं। इसके विपरीत पशुओं की चर्बियाँ तथा वनस्पति-घी आदि पदार्थ इस अंश में बहुत कमज़ोर होने के कारण कम पचनेवाले हैं। यह एक ऐसी कसौटी है कि Chemical Composition के ज्ञान के आधार पर किसी भी तैल-पदार्थ के संबंध में सुगमतापूर्वक इसका निर्णय किया जा सकता है कि वह शरीर के लिए किस अंश तक लाभप्रद है। इस नियम के अनुसार पशुओं की चर्बियों तथा वनस्पति-घी का ९७-९८ प्रतिशत तक का अंश केवल पेट पर निरर्थक भार ही होता है। इस प्रकार विचार करने पर अपेक्षाकृत उपयोगिता की दृष्टि से तैल-पदार्थों को इस प्रकार बाँटा जा सकता है—

(१) घी
(२) गरी का तेल
(३) तिल्ली तथा बरें आदि का तेल
(४) पशुओं की चर्बियाँ तथा वनस्पति-घी

ऊपर के ही क्रम में यह पदार्थ एक दूसरे से कम पचनशील तथा लाभप्रद हैं। जहाँ घी सर्वोत्तम है, वहाँ वनस्पति-घी इस दृष्टि से निकृष्ट पदार्थ है।

एक और दृष्टि से भी इस समस्या पर विचार किया जा सकता है। मनुष्य के आहार में जहाँ अन्य पदार्थ आवश्यक हैं, वहाँ विटेमिन (Vitamine) की विद्यमानता भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। कोई भोजन कितना ही बढ़िया क्यों न हो, यदि उसमें विटेमिन (Vitamine) का अभाव है, तो वह सर्वथा लाभप्रद नहीं। इसीलिए 'विटेमिन' को 'जीवन-दायक' कहा जाता है। इस दृष्टि से भी घी सर्वोत्तम ठहरता है। विटेमिन (Vitamine A) के अतिरिक्त विटेमिन डी (Vitamine D) भी घी में पाये जाते हैं। गाय आदि पशुओं के वानस्पतिक भोजनों में से यह विटेमिन घी में आ जाते हैं। इसके विपरीत तैल-पदार्थों में इस अंश का सर्वथा अभाव होता है। और, वनस्पति-घी में तो यह कभी पाये ही नहीं जा सकते!

एतदर्थ विटेमिन की प्रधानता और सुपच होने के कारण सब तैल-पदार्थों में घी ही सर्वोत्तम कहा जा सकता है। इस संबंध में अभी बहुत कुछ अनुसंधान की आवश्यकता है। भारतीय वैज्ञानिकों का कर्तव्य है कि हमारे देश की अवस्थाओं के अनुसार ही इस विषय में अनुसंधान के लिए तत्पर हों।

तुलसीदासजी की सुकुमार सूक्तियाँ

[श्रीराजबहादुर लमगोड़ा एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

अधिक सनेह विवश भइ भोरी ;
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी ।

पहले राम को दूर से देखकर पहचानना, फिर नज़दीक से देखकर उनके सौंदर्यजनित तेज के प्रभाव से आँखों का थक-सा जाना—पलकों का भाँजना तक बंद हो जाना—और तत्पश्चात् समस्त शरीर का विस्तब्धता की अवस्था में आ जाना, ये सब श्रेणियाँ कितनी आकर्षक हैं। पहले "प्रीति" का, फिर अपने जीवन-सर्वस्व को जानने पर "हर्ष" का आविर्भाव होना और अब स्नेहाधिक्य से निस्तब्धता का प्रकटीकरण—सीता की हार्दिक भावनाओं के क्रमिक विकास के नमूने हैं। आभ्यंतरिक तथा बाह्य अवस्थाओं के सामंजस्य पर विचार करना काव्य-साहित्य के विद्यार्थियों के लिए एक अद्भुत आकर्षण की सामग्री प्रस्तुत करता है। रामजी ने स्वयं ही स्वीकृत किया था कि सीताजी के प्रति उनके आकर्षण में "मदन" का हाथ ज़्यादा था; परंतु सीताजी के हृदय में तो स्नेह की ही प्रचुरता है। इनको 'मदन' और 'रति' की तनिक भी ख़बर नहीं! कैसा "भोलापन" है!

ऐसी स्नेहजन्य विवशता से 'भोर' की दशा की उत्पत्ति नितांत स्वाभाविक है। कवि ने रामजी के लिए यह बात नहीं कही। उनके लिए तो केवल बाह्य दशा को भूल जाना बतलाया है। वहाँ अप्रकट स्वगत वार्ता, प्रेमप्रभावित मस्तिष्क की काव्यमयी उड़ान और सुख-मय विचारों के भेद एवं उपभेद सभी मौजूद रहे। पर यहाँ यह बात नहीं। मस्तिष्क की मजाल नहीं कि वह इस स्नेह में ज़रूरत से ज़्यादा दख़ल दे। स्त्री-पुरुष के प्रेम में यह अंतर भी विचारणीय है। वहाँ सीता-दर्शन से रामजी ने स्वयं 'सुख पावा' की दशा का अनुभव किया, और यहाँ सीताजी के अनुभव ने "भोर" अवस्था पैदा कर दी। "अधिक" शब्द इसी कारण लाया गया है। स्त्री प्रेम से देर में तो प्रभावित होती है परंतु जब प्रभावित हो जाती है, तो उसका प्रेम बहुत गहरा, बहुत ज़्यादा और बहुत टिकाऊ होता है।

भई में वही 'भोलापन' कूट-कूटकर भरा है, जो इस सारे दृश्य के सौंदर्य की जान है। "भई भोरी" का अनुप्रास भी सुंदर है। स, श और च की चाशनी पूरे पद को माधुर्य से भर देती है; सरद-ससिहि—उसी प्रास की छटा है।

इस उपमा में बाबा बैजनाथजी ने अपनी रामायणी टीका में (१) द्युति, (२) लावण्य, (३) रूप, (४) सुंदरता, (५) रमणीयता, (६) कांति, (७) मधुरता और (८) सुकुमारता—ये ८ सूक्ष्मताएँ भेंट की हैं। अधिक व्याख्या करते हुए बाबाजी ने "गोरे वदन पर सोने की झलक" लिखा है, मानों उनका अप्रकट भाव यह जान पड़ता है कि लक्ष्मणजी के गोरे रंग का असर था, जो इस दृश्य में समाविष्ट था। परंतु वस्तुतः यह प्रशंसा 'रघुपति' की है और कवि ने इस शब्द (रघुपति) को लक्ष्मण के लिए कभी प्रयुक्त नहीं किया। फिर चंद्रमा से उपमा देने में कुछ त्रुटि रही जाती है, सो इसका क्या उत्तर?

प्रिय पाठकगण! प्रथम तो उपमा में 'जनु' शब्द लाने से यह स्वयं ही विदित होता है कि उपमा की पूर्ति के लिए काव्य-शक्ति से कुछ अधिक सहायता लेने की आवश्यकता है, जैसा मैंने पहले "मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही" की व्याख्या में बतला दिया था। इसके अतिरिक्त उपमा भी एक विशेष विचार-दृष्टि से दी जाती है, और प्रायः उपमाएँ भी सर्वांगपूर्ण नहीं होतीं। यहाँ 'रघुपति की छवि' का प्रकाश इतना प्रभाव पैदा कर रहा है कि उपमा में श्यामता का आभास उससे अधिक नहीं प्रतीत होता, जितना चंद्रमा में साधारणतः होता है। इसी कारण कविगण श्रीकृष्ण के सौंदर्य की भी चंद्रसौंदर्य से उपमा देना अनुचित नहीं समझते। अस्तु।

यदि कवि की सूक्ष्म दृष्टि के विचार से 'चकोरी' का प्रयोग सीता के लिए माना जाय और लक्ष्मणरूपी सूर्य के प्रतिबिंब का प्रभाव रामरूपी चंद्रमा द्वारा सीता-जी के लिए प्रयुक्त किया हुआ मान लिया जाय, तो शायद ठीक जँचे। पर यह बहुत खींचातानी की बात

है। आख़िर अभी ज़रा ही देर पहले राम-लक्ष्मण को "श्यामल गौर किशोर सुहाये" के सम्मिलित वातावरण में दिखलाया गया है और सीता के अंतरपरक अनुभव की काँपती हुई सुई अभी ही तो रामरूपी ध्रुव पर जम चली है। अतः ऐसा जान पड़ता है कि बाबाजी-जैसे सूक्ष्मदर्शी व्याख्याता के ख़याल से भी निमग्नता के आनंद में यह अंतरजनक बात जाती रही है कि उपमा 'रघुपति' शब्द के पश्चात् ही प्रयुक्त हुई है। मेरी समझ में बिलकुल साफ़ बात तो यह है कि इस उपमा द्वारा महाकवि तुलसीदासजी दृष्टि की उस आसक्तमयी दृढ़ता को दिखला रहे हैं, जो 'चकोर' और 'चंद्रमा' की दशा में दिखायी देती है। अन्यथा सीता के लिए भी "चकोरी" न लाया जाता; क्योंकि यह पक्षी तो स्याह होता है।

रामजी के सहज सौंदर्य में अधिक कांति उत्पन्न कर देने के लिए प्रातःकाल की सूर्य-रश्मियाँ भी तो विद्यमान थीं, फिर उन्हें लक्ष्मणजी से उसे उधार लेने की क्या ज़रूरत थी? क्या आपने यह नहीं देखा कि स्याह चमकदार चीज़ पर भी सूर्य की रश्मियाँ पड़कर उसमें चकाचौंधवाली चमक पैदा कर देती हैं? फिर रामजी का वर्ण तो साँवला ही था। इसके अतिरिक्त उनका शरीर भी पीतवसन तथा स्वर्णालंकारों से सुशोभित था। संक्षेप में यही बात मुझे ज़्यादा ठीक जँची है। प्रातःकाल के समय का उल्लेख भी अपनी विशेषता रखता है, जिसे मैं पूर्व ही बतला चुका हूँ। इस विशेषता का वही प्रभाव है, जो वर्तमान अभिनेताओं के मुख पर रंगीन प्रकाश का। परंतु यह भी संभव है कि इनमें से कोई एक ही विचार कवि के मस्तिष्क में न रहा हो, प्रत्युत सभी उपरिलिखित विचारों का सम्मिलित रूप।

'शरद' में एक विशेषता यह भी है कि कदाचित् ऋतु भी वही रही होगी, क्योंकि विवाह का मास मार्गशीर्ष था *।

'शरद' और 'शशि' का अनुप्रास भी दर्शनीय है, मानो ये दोनों शब्द एक दूसरे के लिए ही बने हैं।

अब 'अधिक सनेह' का प्रभाव देखिए कि सीताजी की दृष्टि में रामजी "शरद-शशि" हैं, जब कि "पि[य] मुखशशि भये नैन चकोरा" के विचार से रामजी [की] दृष्टि में सीता स्वयं "शशि" हैं।

एक सूक्ष्मता और भी विचारणीय है। सीताजी [के] मुख की उपमा 'शशि' से दी गयी है, पर रामजी [के] लिए ऐसा नहीं है। वहाँ तो वसन, अलंकार, शारीरि[क] शोभा आदि से केवल 'छवि' का निर्माण हुआ है, जिसकी उपमा "जनु" शब्द के साथ 'श[शि]' से दी गयी है।

पाठकगण! आपने यह देखा होगा कि उस[की] व्याख्या के अनेक आवश्यक अंशों की पूर्ति के लि[ए] विचार-शक्ति को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। [क्या] रामजी की उपमा चंद्रमा से दी जा सकती है? [इसका] कवि इस बात का स्वयं अनुभव करता है और इ[सी] कारण उपमा को 'जनु' शब्द द्वारा प्रयुक्त करता है। इस शब्द की व्याख्या पहले की जा चुकी है। केव[ल] इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत एक भावपूर्ण अंतर [का] भी पता चलता है। 'चकोरी' जब चंद्रमा को निर्नि[मेष] दृष्टि से देखने लग जाती है, तो उसका यह केवल ए[क] स्वाभाविक कार्य ही रहता है। अतः वह उतना प्रशंसनीय नहीं जितना यहाँ सीता-सी सुंदर रा[ज]कुमारी का, जो 'अधिक सनेह' से विवश होकर अप[ने] सभी प्रकार के होशोहवास को विदा कर चुकी है और निमग्नता की उस अवस्था में पहुँच गयी है, जिसमें प्रकृति ने उस पक्षी को पहुँचा दिया हो, जो मानु[षी] ज्ञान से शून्य है। 'जनु' का प्रयोग इसी अंतर के उभारने के लिए है।

एक बात और भी विचारणीय है। कवि ने वहाँ केवल रामजी की आँखों को 'चकोर' कहा था और यहाँ सीताजी को सर्वांगरीति पर 'चकोरी' कहा है, मानो सीताजी प्रेमभाव से सर्वथा ओतप्रोत थीं। इसीलिए बाबा बैजनाथजी ने सीताजी के राम-दर्शन को "प्रेम की संक्रांत दशा" कहा है, "जिसे तनमन सुख[ा]समान" से उद्घोषित किया है। एक और बात है। रामजी की निमग्नता की दशा में "सुख पाव[ा]" का अनुभव शीघ्र ही हो चला था, और यहाँ निमग्नता की यह दशा है कि उस अनुभव का पता भी नहीं।

---

* 'प्रभा' में एक नोट ग़लती से लिख गया था कि वसंत-ऋतु रही होगी। वसंत का 'लुभाकर' रह जाना और बात है, और वस्तुतः वसंत का होना दूसरी बात। —लेखक

अद्वैत

[चित्रकार—श्रीअजितकुमार बसु]

'निर्भय' हो जाऊँ, मिटे दिल से दुई का ख़दशा ;
एक प्याली मए-वहदत की पिला दो कोई !



'चितव चकोरी' में छेकानुप्रास है।

लोचन मगु रामहिं उर आनी;
दीन्हें पलक कपाट सयानी।

(१) नेत्रों द्वारा प्रेमपात्र को दिल में लाने का ख़याल अत्यंत काव्योपम है। "रास्ते में आँखें बिछा देना" इस ख़याल से कम दर्जे का है; क्योंकि बहरहाल नीचे का रास्ता तो कुछ-न-कुछ कठोर होगा ही, यद्यपि आँखों के कारण उसमें थोड़ी-बहुत नरमी का आ जाना भी स्वाभाविक है।

(२) 'लोचन' में 'च' की चाशनी और स्वयं 'लोचन'-शब्द की शृंगारिकता मज़ेदार है। यह साधारण आँखें नहीं, प्रत्युत 'लोचन' हैं, और फिर सीता-जैसी राजकुमारी के लोचन। आनेवाले के लिए कैसा सुंदर "मग" है और बुलानेवाले के प्रेम-भाव का कैसा अच्छा प्रकटीकरण।

"कौन लाया गया और कहाँ लाया गया?"—यह भी विचारणीय है। शृंगार में रामजी का रूप छवि-सहित लोचन-मग द्वारा लाया जाकर हृदय में अवस्थित किया गया है। फिर आध्यात्मिकता का आभास तो प्रत्येक स्थान में दिखता ही रहता है। सर्वव्यापी राम आज प्रेम के आकर्षणवश लोचन-मग द्वारा प्रवेश करके भक्त के हृदय में विराजमान होते हैं। अतः "सुमिरि सीय नारद वचन" के पश्चात् जिस आध्यात्मिकता का आभास बराबर दिखायी देता है, वह इस शृंगारी दृश्य में भी पवित्र प्रेम के रूप में वैसा ही विद्यमान है। ऐसे ही प्रेम का आकर्षण तो भगवान् को 'अवतार' के रूप में खींच लाता है कि भक्तजनों के नेत्र दर्शन से तृप्त हो सकें तथा तद्द्वारा उनके मन को शांति की प्राप्ति हो।

(३) निस्तब्धता की दशा में पलकों का भाँजना तक बंद हो जाना मानों लोचन-मग के अकस्मात् रुक जाने का काम कर रहा है, जिसमें कोई भी रुकावट नहीं। और, जब 'मन-मंदिर' में रामजी की काल्पनिक मूर्ति विराजमान हो गयी, तो सीताजी ने निमग्नता की दशा में यही समझा कि मानों रामजी स्वयं ही आ गये। इसी कारण मैंने उपर्युक्त व्याख्या में 'रूप और छवि' का जो उल्लेख किया है, उसका मूल-चौपाई में कोई ज़िक्र नहीं है। आकस्मिक निमग्नता की दशा में प्रेमिक की मूर्ति को ही प्रेमिक समझ लेना और उसी को प्यार करने लग जाना एक विशेष शृंगारी भाव का द्योतक है, और आध्यात्मिकता की दृष्टि से मूर्ति-पूजा एवं मानसिक पूजा का यही अर्थ है।

(४) आँखों के रास्ते से लाने और दिल में बंद करने में भी एक बात है। वह यह कि उधर लछमणजी और इधर सखियों के कारण शृंगार में सदाचार-संबंधी बाधाएँ पैदा हो रही हैं; परंतु आँखों का रास्ता और दिल का एकांत स्थान उनके दूरीकरण के कैसे सुंदर उपाय हैं। इसके विपरीत किसी कुंज में मिल-बैठना न केवल आचार, बल्कि शृंगार की दृष्टि से कितना असुंदर होता।

(५) बंद क्यों किया? यह भी शृंगार की दृष्टि से एक सुंदर प्रश्न है। अभी प्रथम बार देखे जाने के बाद रामजी ग़ायब हो गये थे, और सीताजी को 'सकल दिसि' की खोज की आवश्यकता हुई थी, तो अब पुनः मिल जाने पर क्यों न बंद किये जायँ?

जब सीताजी ने रामजी को पहले देखा था, तो विना बुलाये हुए; पर अब तो उन्हें 'लोचन-मग' द्वारा बुला एवं निज हृदय में बसाकर एकांतता के लिए पलक-कपाट को भी बंद कर दिया। यहाँ उन्हें बंदी बनाकर रखने का विचार अपने साधारण शृंगारी रूप में नहीं रक्खा गया, प्रत्युत पवित्र प्रेम के कोमल आकर्षण के साथ। कथन-रीति कितनी सुंदर है! तुलसीदासजी बाँधने का शब्द भी इस प्रकार नहीं लाना चाहते थे, जैसा किसी उर्दू-कवि ने बाँधा है कि—"कच्चे धागे में चले आएँगे सरकार बँधे।"

(६) 'सयानी' शब्द भी कैसा चुना हुआ है। निमग्नता की 'भोर'-दशा में भी कुछ चेतना तो आ ही गयी थी। सच है, "दीवाना ब कारे ख़्वेश हुशियार" (दीवाना अपने काम में चतुर होता है)। परंतु यह 'सयानापन' अभी प्रकट हुआ है। दरवाज़े का खुलना तो निमग्नता-जन्य निस्तब्धता की दशा में ही हुआ था। संक्षेपतः 'प्रेम' भी विचित्र शिक्षक है! अगर इतना चांचल्य भी सीता में न होता, तो शृंगार का लुत्फ़ ही जाता रहता। इतना चांचल्य उस सावधानी के लिए आवश्यक है, जिसके वश होकर सीताजी ने पलक-कपाट बंद कर दिये थे। इससे

देवीजी के स्वाभाविक भोलेपन में कोई फ़र्क़ नहीं आता। जिस बंदी बनाने के विचार का ऊपर ज़िक्र हुआ है, वह भी इस सयानेपन में सरस सुंदरता से सन्निहित है। केवल इतना ही नहीं, किस सुंदरता के साथ कैसी सुंदर एकांतता का निर्माण हुआ है, जहाँ सखियाँ भी कोई दख़ल न दे सकें। इस सयानेपन का एक कारण बाबाजी ने यह भी बयान किया है कि प्रथम दर्शन में सीताजी ने आँख बंद कर ली थी। अगर अब की उनकी निर्निमेषिता स्थिर रहती, तो आचार के विरुद्ध होता और राजकुमार भी कहते कि अजब शोख़ लड़की है। इतना ही नहीं, यहाँ सयानापन कम-से-कम अप्रकट रीति पर सखियों को एक तरह के मुग़ालते में डाल रहा है। वह यही समझती हैं कि आँखों का बंद होना लज्जा के कारण है। एक सयानी सखी ही ये सब बातें ताड़ सकी है, जैसा उसकी विनोदमयी वार्ता से आगे विदित होगा।

(७) आँखों के बंद करने में अजीब दोरुख़ी बात है। ज़ाहिर में तो रामजी तथा सखियों के सामने लज्जा का प्रकटीकरण है, लेकिन है असल में एकांतपरक विचार द्वारा प्रेमिक-मिलन का उद्देश्य।

(८) रामजी को हृदय प्रभृति रमणीक स्थान में रमण के लिए बुलाना और फिर रमण के विचार से पट बंद कर लेना एक काव्योपम विचार है—'परम रम्य आराम' से बढ़कर है।

(९) सखियाँ तो पहले ही से सयानी थीं, परंतु तुलसीदासजी ने एक भोलीभाली राजकुमारी में भी प्रेम-प्रभाव द्वारा सयानापन पैदा करके कमाल कर दिया है। पर ये समस्त भाव आकस्मिक हैं, और लोचन-मग, हृदय-मंदिर और पलक-कपाट में ऐसा कोई अनीतिमूलक वर्णन नहीं है, जैसा "सादी"-जैसे जगद्-विख्यात फ़ारसी कवि ने अपने इस पद में—

लाम बे बरलाम बे विनिहाद बाशद ता सहर,
मीम ये दरपेश बाशद बस्ता बाशद दाल रे।

[सुबह तक ओष्ठ पर ओष्ठ रक्खा रहे, सामने शराब हो और दर्वाज़ा बंद] वर्णन किया है। सच पूछिए तो ऐसा बिरला ही कवि होगा, जिसने शृंगार-वर्णन में सदाचार-संबंधी नियमों का उल्लंघन न किया हो। सुप्रसिद्ध आंग्ल-कवि शेक्सपियर के विचार तो विदित ही हैं। केवल तुलसी ही ऐसा भाग्यवान् कवि है, जो शृंगार की रसभरी बातें कहते हुए भी नीति एवं सदाचार की परिधि से भूलकर भी बाहर नहीं जाता।

सर जार्ज ग्रियर्सन (Sir George Grierson) ने हाल ही में अपनी Linguistic Survey of India-नामक पुस्तक में महाकवि तुलसीदासजी की एशिया के आधे दर्जन प्रसिद्ध कवियों में गणना की है। मेरी कुछ सम्मति में उनका प्रथम विचार, जिसमें वह तुलसीजी को एशिया का एक विशेष कवि (The Poet) समझते हैं और जिसे उन्होंने Imperial Gazetteer Vol. II में प्रकट किया था, उनके इस पिछले विचार से बेहतर था। मैं ग्रियर्सन महोदय के अंतिम विचार से अपना घोर मतभेद प्रकट करता हूँ। ऐसे महान् कवि को केवल एशिया के काव्य-सिंहासन पर प्रतिष्ठित करना उनकी अनुदारता ही है। वस्तुतः तुलसीजी तो समस्त जगत् के काव्य-सिंहासन पर, एक विशेष स्थान पर, बैठने के अधिकारी हैं।। जैसा मैं अपनी इस व्याख्या में दिखलाता भी आ रहा हूँ, मुझे तो वह मिल्टन और शेक्सपियर प्रभृति महाकवियों से उन्नीस नहीं, बल्कि इक्कीस ही मिले हैं।

फिर भी मैं ग्रियर्सन महोदय को इतना कहने के लिए भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता। कारण, इतने उदारमना लोग भी आजकल कम ही हैं। यह भी संभव है कि स्वयं भाषाविद् न होने के कारण ग्रियर्सन महोदय के लिए भाषा की सुंदरता एवं सूक्ष्मता की पूरी परख मुमकिन न रही हो। अन्य भाषा के कवियों के संबंध में मुझसे स्वयं ऐसी ग़लती का हो जाना मुमकिन है। संक्षेप में यहाँ मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि ग्रियर्सन महोदय-जैसे साहित्यसेवी को तुलसीदासजी की काव्य-कला पर दृष्टि डालते हुए यह दिखलाना चाहिए था कि समस्त संसार के काव्य पर उनका क्या प्रभाव है और उनके काव्य-सिद्धांतों से संसार की आगामी कविता कहाँ तक शिक्षा प्राप्त कर सकती है। ग्रियर्सन महोदय अपनी ही रीति पर तुलना करते हुए भी क्या यह न कह सकते थे कि तुलसीदासजी समस्त संसार के एक दर्जन कवियों में अपना विशेष स्थान रखते हैं?

संसार-प्रसिद्ध जर्मन कवि गेटे (Goethe) ने अपने ही-जैसे आँग्ल-कवि शेक्सपियर के चरित्रों के विषय में लिखा है—

His characters are like watches with dial plates of transparent crystal; they show you the hour like others and the inward mechanism is also visible.

[उसके पात्र स्वच्छ बिल्लूर की डायलवाली घड़ियों के समान हैं, जो समय भी बतलाती हैं और साथ ही अपने अंदर के कल-पुरज़ों को भी ज़ाहिर कर देती हैं] यही बात तुलसीदासजी के चरित्रों पर भी कितनी अधिक लागू होती है । आप प्रथम रामजी की हृदय-रूपी जिह्वा से सीताजी की प्रशंसा सुन चुके हैं और "सुमिरि सीय नारद वचन" से लेकर बराबर तुलसीदासजी सीताजी के हृदय का काव्यरूपी 'एक्स-रे' द्वारा निरीक्षण करते आ रहे हैं । उपर्युक्त पद भी कवि के वैसे ही काव्योपम विचारों का एक उदाहरण है ।

और की तो क्या, कवि ने स्वयं रावण से यह कहलाकर कि "यदि राम मनुष्य हैं, तो विजय द्वारा मेरी ख्याति होगी ; और यदि वह ईश्वर हैं, तो उनके हाथों मरकर स्वर्ग का अधिकारी बनूँगा" उसके हृद-गत भावों को साफ़-साफ़ सामने रख दिया है और इस प्रकार उसे पैशाचिकता के प्रभाव से पूर्णतः बचा लिया है । उपर्युक्त विवाद के वातावरण में देखते हुए इसमें तो रावण की लड़ाई का रंग ही कुछ और दिखायी देने लगता है

एक बात और भी विचारणीय है—जिसे मैं पहले भी कह चुका हूँ—कि ऐसे आंतरिक भावों को चित्रित करने के लिए तुलसीदासजी को कृत्रिमतापूर्ण स्वगत वार्ता (Soliloquies) या पृथक् वार्ता (Asides) की आवश्यकता नहीं होती; क्योंकि उन्होंने नाट्य-लेखन का कोई ऐसा कृत्रिम आदर्श अपने सामने नहीं रक्खा, जिसमें कवि स्वयं अंतर्धान रहता है । तुलसीदासजी की कविता में केवल पात्रों के ही निमित्त गेटे (Goethe) का उपर्युक्त सिद्धांत नहीं बर्ता गया, प्रत्युत उनका समूचा मानुषी ड्रामा स्वच्छ डायल के सदृश है, जिसके द्वारा अंदर की आध्यात्मिक मशीन साफ़ नज़र आती है । टैगोरजी के कथनानुसार हिंदू-सभ्यता का यह ख़ास पहलू है कि वह प्रकट प्राकृतिक जगत् को स्वतः संपूर्ण नहीं समझती, प्रत्युत यह मानती है कि 'ससीम', 'असीम' का प्रतिबिंब (Reflection) है ।

मेरे कथन का यह उद्देश्य नहीं कि जिन कवियों को वह आंतरिक मशीन न नज़र आती हो, वह ख़्वाम-ख़्वाह कृत्रिम अनुकरण करें । ऐसा करने से तो उस मशीन पर भी विश्वास उठ जायगा । तात्पर्य केवल यह है कि ऐसी साहित्यिक तुलना में उपर्युक्त विचार-दृष्टि से ही संसार के कवियों में तुलसीजी का स्थान निश्चित किया जाय ।

जब सिय सखिन प्रेमवश जानी ;
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ।

(१) 'जब'—कैसा छोटा परंतु सार्थक शब्द है ! अब तक सयानी सखियाँ भी समस्त दृश्य को एक सुंदरी की सैर, और बीच में राम-सीता के पारस्परिक परिचय तथा अवलोकन को उनके सौंदर्य के निमित्त से साधारण देखना ही समझती थीं । परंतु अब इस निस्तब्धता की दशा और आँखों के बंद होने से यह निश्चय हो जाने पर कि यह सब कुछ प्रेम की विवशता के कारण है, बेचारी सखियाँ भी ज़बान से कुछ कह तो नहीं सकतीं, पर दिल में सकुचने लगी हैं । वे 'अवश देखिए देखन योगू' कहकर जिस राजकुँअर को दिखलाने लायी थीं और समझती थीं कि सीताजी तनिक दर्शन-लाभ के पश्चात् उसे साधारण सौंदर्यावलोकन समझकर ही लौट चलेंगी, उसी ने तो अब सीता को प्रेम से विवश एवं व्याकुल बना दिया । वह नहीं जानती थीं कि रामजी केवल 'देखन योगू' न रह जायँगे, प्रत्युत उनके दर्शन से "चू बीनद रूये गुल ख़्वाहद कि चीनद" [पुष्प को देखकर उसके तोड़ने की इच्छा होनी] की चित्ताकर्षक बात पैदा हो जायगी और इस प्रकार "इश्क़" (प्रेम) का असल-दख़ल होगा । मानों सखियाँ तो 'सुरूर' के लिए थोड़ी शराब देना चाहती थीं, पर वह सुरूर बेहोशी में परिणत हो गया ।

(२) 'कहि न सकहिं कछु'—

(क) अपनी ही करतूत का नतीजा समझकर सखियों से कुछ कहते नहीं बनता ।

(ख) इस एकांत-ध्यान की दशा में बोलना सभ्यता के प्रतिकूल होता और उससे सीताजी के आनंद में बाधा उपस्थित हो जाती।

(ग) सबसे अधिक संकोच इस कारण है कि प्रकट में सीताजी के इस प्रेम का कोई प्रभाव धनुषयज्ञ की शर्त पर पड़ता हुआ नहीं मालूम होता।

'आह, यदि राम से धनुष न टूटा, तो सीता के इस प्रगाढ़ प्रेम का क्या परिणाम होगा? यदि सदाचार के प्रतिकूल कोई काम हो गया, तो उन सखियों की विश्वास-पात्रता तथा राम-सीता की सुकीर्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा?' इन सब बातों के ख़याल ने अजीब कश-मकश की हालत पैदा कर दी है। इसी भाव-पूर्ण संघर्षण ने सदाचार एवं प्रेम के संघर्षण के रूप में श्रृंगारिकता उत्पन्न कर दी है, जो अत्यंत आनंदजनक है।

संसार के प्रेम-काव्य, नाटक और उपन्यास इसी संघर्षण में पड़कर आदर्शच्युत हो गये। रोमियो और जूलियट की मृत्यु, डेस्डीमोना और आथेलो के पारस्परिक संदेह और दुष्यंत-शकुंतला के द्रुतगामी प्रेम और उनके परिणामों के अतिरिक्त, उसी प्रकार के सैकड़ों ऐसे उदाहरण मिलेंगे, जिनमें प्रेम ने अंततः सदाचार को परास्त कर दिया। परंतु तुलसीदास ही एक ऐसे सफल कवि हैं, जिसने इस चौपाई से लेकर—

जा पर जा कर सत्य सनेहू;
सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू।

तक प्रेम-जनित भावों की परिपक्वता को ऐसी सुंदरता से दिखलाया है कि देखते ही और सराहते ही बनता है। संपूर्ण दृश्य में सदाचार के बंधन के साथ प्रेम की रसिकता मौजूद है; क्योंकि तुलसीजी मिल्टन की तरह प्रेम को घृणित एवं हेय नहीं समझते, परंतु उसके साथ सदाचार की मर्यादा भी क़ायम रखते हैं।

(३) इस मौनावस्था में ही कवि तनिक देर के लिए सीता और सखियों के हृदयस्थ भावों और मस्तिष्कीय विचारों को सुस्पष्ट करने के लिए सामने आ जाता है। शेक्सपियर के नाटकों में कवि की अनुपस्थिति के कारण बहुत-सी बातें अस्पष्ट रह जाती हैं और इसीलिए बर्नर्डशा (Bernard Shaw) के नाटकों में कोष्टोंवाली व्याख्या कितनी आवश्यक प्रतीत होती है।

यहाँ इस ख़याल से कि संसार की आगामी कविता पर तुलसी का क्या प्रभाव होगा, मैं इतना कह देना चाहता हूँ कि कवि का व्यक्तित्व भी नाटक का एक अंश होना चाहिए, तथा व्याख्या में भी काव्य का पहलू हाथ से न जाने देना चाहिए। शा महोदय की व्याख्याएँ शुष्क और दार्शनिकतापूर्ण हैं, अतः उनके नाटकों में कविता का रंग फीका-सा हो जाता है। शा महोदय अपने को नाटक का आवश्यक अंग होना भी नहीं दिखलाते। अतः नाटक के खेले जाते समय वह ग़ायब ही रहेंगे। इसके विरुद्ध तुलसीजी कवि को नाटक का एक आवश्यक अंग समझते हैं, जो यथासमय रंगमंच के गोशे पर आकर और संकेतों तथा विचारों की काव्य-मयी व्याख्या करके चला जाता है। *

(४) इस मौन दृश्य को और किसी रूप में देर तक सामने रखने में कोई लुत्फ़ ही न रहता। यदि कवि की व्याख्या मौजूद न होती, तो फिर सन्नाटा ही रहता। कैसी मनोहर झाँकी है! राम-लक्ष्मण लताओं के कुंज से धीरे-धीरे निकल रहे हैं, सीता ने दर्शन से प्रभावित होकर आँखें बंद कर ली हैं और सखियाँ इस दृश्य को देखकर स्वयं संकोचवश निस्तब्ध खड़ी हैं।

यह झाँकी एक ओर तो अचेत चित्रण की सुंदरताओं से और दूसरी ओर सीता की आँखों तथा पलकों की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म चेष्टाओं और राम-लक्ष्मण की गमनात्मक प्रगतियों के सचेत चित्रण से परिपूर्ण है। यह बात विचारणीय है कि तुलसीदासजी ने इस चित्र द्वारा कितने भावों तथा विचारों को, किस सुंदरता एवं सफलता के साथ, प्रकट कर दिया है।

(५) 'सियसखिन' में अनुप्रास की समानता है पर दोनों के विचारों में कितना अंतर है। 'स' का अधिक प्रयोग 'संकोच' के विचार से उचित ही प्रतीत होता है।

(६) बाबा बैजनाथ ने अपनी व्याख्या में संकोच का एक और काव्यमय कारण कहा है। वह यह कि एक ओर तो सखियों को यह ख़याल है कि प्रेमानुभव की एकांतता में अंतर न पड़े, और दूसरी ओर यह ख़याल भी कि ऐसा अनुभवपूर्ण ध्यान तो हर वक़्त हो सकेगा; इस समय तो मनोहर मूर्ति सामने खड़ी है, अतः यदि वे सीता को दर्शन के लिए प्रेरित नहीं करतीं, तो सखी-धर्म के विरुद्ध होगा। मेरी समझ में सखियों के संकोच का यह कारण श्रृंगार की दृष्टि से उत्तम है, परंतु दोनों राजकुमार तो अभी आगेवाले दोहे में सामने आवेंगे। अतः इस कारण में समय से पहले ही होने का दोष है। इस दृश्य को सदाचार और प्रेम के पारस्परिक सम्मिश्रण के विचार से महाकवि तुलसीदासजी की कविता का कमाल ही कहना चाहिए, जिसकी व्याख्या अत्यंत कठिन है। तनिक सदाचार पर ध्यान अधिक हुआ और श्रृंगार में त्रुटि उत्पन्न हो गयी; और यदि श्रृंगार का अधिक ख़याल रहा, तो सदाचार को बट्टा लगा। जब व्याख्या में यह कठिनाई है, तो कविता एवं कवि की कठिनाइयों का क्या ठिकाना ? इसीलिए तो संसार में तुलसीदासजी के अतिरिक्त और किसी कवि को ऐसी सफलता नहीं मिली। परंतु चूँकि इस दृश्य में प्रधान रस श्रृंगार है, इसलिए जब दो प्रकार की व्याख्याओं में तुलना करनी हो, तो हमें उस व्याख्या की ओर फ़ैसला देना चाहिए, जिसमें श्रृंगार-रस पर्याप्त मात्रा में मौजूद हो।

जिन विद्यार्थियों की शाब्दिक अर्थों के समझने की कठिनाई दूर हो चुकी है और जिनमें कविताओं में तुलना की कुछ योग्यता उत्पन्न हो चुकी है, उनके लिए और विशेषतः विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए मेरी यह सलाह है कि व्याख्याओं से मदद लेने के पहले वे स्वयं ही अपने दिमाग़ों पर ज़ोर देकर कुछ खोज निकालने की कोशिश करें। ऐसा करने से व्याख्या अधिक संतोषप्रद प्रमाणित होगी।

* इसी प्रकार आध्यात्मिक व्यक्तित्व भी कभी-कभी दूर ही रंगमंच पर उपस्थित होकर काव्योपम रसिकता एवं ओजस्विता के साथ किसी आध्यात्मिक विषय की व्याख्या करके अदृश्य हो जाता है, पर इस तरह कि काव्य-सौंदर्य में कमी न हो। क्या संसार की आगामी कविता इससे कोई शिक्षा ग्रहण करेगी ?—लेखक

पदार्पण

[साहित्यरत्न श्रीशंभूदयाल सक्सेना]

कितने पाटांबर डाले थे गलियों में नित स्वागत को;
रही प्रतीक्षारत निशिवासर मनचीते अभ्यागत को।
पारिजात की वंदनवारें कुसुमकरों से ले-लेकर,
गर्वित मन से सज्जित की थीं मणि-निर्मित गृह-द्वारों पर।
मोती की लड़ियों के बदले तारों की अनुपम माला,
चंद्रकला के रुचिर सूत्र में गूँथ सजायी थी शाला।
पांशुल पद-पद्मों से पावन होगा हर्म्य-विलास नहीं;
जीवनधन, जगजीवन होंगे, यह भी था विश्वास नहीं।
पल-पल करते वासर बीते, वासर बीते युग बीते;
नलिन-नेत्र, पर सतत हमारे, रहे अश्रु-जल ही पीते।
उष्ण वाष्प से स्निग्ध हुआ कुछ गर्व-ग्राव यौवनधन का;
तब अपांग में लक्षित होने लगा रूप चंद्रानन का।
दृग-पथ से आते जाते थे वे अबाध मंथर गति से;
करुणा के शुचितम मंदिर में प्रियतम शोभन रतिपति से।

जीवन के प्रश्न

[श्रीद्वारिकाप्रसाद मौर्य बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

छिटक रही है चारु चंद्रिका किसके भव्य भवन में;
कौन पुकार रहा है किसको नीरव नखत गगन में।
खेल रहा है सिंधु मौज ले किसके बृहदांगन में;
अंतरिक्ष में किसकी वीणा गूँज रही घन-वन में।
भूल गया पथ कौन यहाँ आकर किस गहन विपिन में;
झाँक रहा है कौन, कहाँ से छिपकर मेरे मन में।
ढूँढ़ रहा है कौन किसे आकुल होकर निर्जन में;
छिपी हुई है करुण वेदना किसके मूक-रुदन में।
मुझे यहाँ पर किसने लाकर डाल दिया बंधन में;
छिपा कौन-सा सुख इस जग में दुखिया के जीवन में।
सुख से खेल रहा था लाकर फँसा दिया उलझन में;
लगा दिया दावानल किसने मेरे नंदन-वन में।

कुली शहज़ादा

[मुंशी कन्हैयालाल एम्० ए०, एल्-एल्० बी० एडवोकेट]

कई साल का ज़िक्र है। अलीगढ़ से बरेली जाने के समय चंदौसी-जंकशन पर ट्रेन बदलने के लिए उतरा। असबाब उतारने के लिए बहुत-से कुली दौड़ आये। मैंने देखा, उनमें एक कुली सब कुलियों के पीछे खड़ा है। सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था है। चेहरा पीला है, होठों पर खुश्की है, आँखों में हलकी-हलकी सुर्ख़ी है। ऐसा जान पड़ा कि रो रहा था, और अभी आँसू पोंछकर आया है। उसका किताबी चेहरा, दुबला बदन, रंजीदा सूरत और बेकसी की शान से सब कुलियों के पीछे सब्र के साथ खड़ा रहना मुझको बहुत अच्छा मालूम हुआ। या यों कहना चाहिए कि कुलियों की बेसबरी और खींचतान के मुक़ाबिले में उस कुली के संतोष ने मेरे दिल को अपनी तरफ़ खींचा। मैंने उन सब कुलियों को हटा दिया, जो गुल मचा रहे थे और मेरे असबाब पर गिरे पड़ते थे, और हाथ के इशारे से उस दुबले संतोषी कुली को अपने पास बुलाया। उससे कहा कि मेरा असबाब बरेली की ट्रेन पर ले चलो। कुली ने जवाब दिया, अभी गाड़ी आने में देर है; अगर आप कहें तो अभी ले चलूँ या कुछ देर ठहर जाइए। यहाँ छाया है, और दूसरे प्लेटफ़ार्म पर धूप है। मैंने कहा, मुझे नमाज़ पढ़नी है। कोई मसजिद क़रीब हो, तो बतलाओ। कुली ने कहा कि मसजिद तो बहुत क़रीब है, चलिए, इतनी देर वहीं ठहरिएगा। इतना कहकर कुली ने मेरा असबाब उठा लिया और मसजिद में ले जाकर रख दिया। वज़ू के लिए गरम पानी ले आया। मुझे वज़ू कराने लगा। उसकी तमीज़दारी देखकर मुझे ख़याल हुआ कि कुली तो ऐसे सभ्य नहीं हुआ करते।

जब मैं वज़ू कर चुका, तो कुली ने मेरा नाम और पता पूछा। मैंने अपना नाम बता दिया और कहा कि मैं दिल्ली में रहता हूँ। यह सुनकर कुली चुप हो गया; उसने कोई ख़ास ख़ुशी मेरा नाम सुनकर नहीं ज़ाहिर की।

मैं नमाज़ के लिए खड़ा हुआ और कुली चला गया। लेकिन जब नमाज़ से मुझको छुट्टी मिली, तो देखा कि वही कुली एक थाल लिये हुए चला आ रहा है। थाल पर एक सफ़ेद रूमाल ढका हुआ था।

थाल सामने रखकर उसने कहा, एक प्याली चा पी लीजिए। आज सरदी बहुत ज़्यादा है। मैंने कहा, मुझे चा पीने की आदत नहीं है, तुमने पहले पूछ क्यों न लिया; नाहक़ ले आये। कुली ने जवाब दिया, यह चा बाज़ार की नहीं है, अपने घर से लाया हूँ। मेरी मा ने भेजी है। मैंने पूछा—तुम कौन हो और यहाँ कब से यह काम करते हो? यह सुनकर वह कुली लड़का चुप हो गया और उसकी आँखों में आँसू आ गये। इसका मुझ पर कुछ ऐसा असर हुआ कि उसके बाद मैंने कोई सवाल नहीं किया। मैंने थाल का रूमाल उठाकर चा पीने के लिए हाथ बढ़ाया। थाल में एक बहुत साफ़-सुथरी तश्तरी में गरम-गरम जलेबियाँ रक्खी हुई थीं और एक प्याली चा से भरी हुई। शक्कर और दूध उसमें मिला हुआ था। थाल में एक तरफ़ पान, सुपाड़ी, ज़र्दा, इलायची रक्खी हुई थी। मैंने जलेबियाँ खाईं, चा पी और उसके बाद पान खाया। अब जब कुली से फिर वही सवाल किया, तब उसने बहुत दुखभरी आवाज़ में कहा—यह सब हाल आपको मेरी मा बतावेगी, जिन्होंने यह चा भेजी है।

मैंने अपने नौकर को असबाब के पास बिठा दिया और कुली के साथ उसकी मा के पास गया। उसकी मा स्टेशन के क़रीब ही एक छोटे-से मकान में रहती थी। उसकी मा ने मुझे अपने सामने बुलाया और पर्दा नहीं किया। अवस्था उनकी ७० वर्ष से ज़्यादा जान पड़ती थी और वह बहुत रोब-दाब से एक चारपाई पर बैठी सुपाड़ी कतर रही थी। चेहरे से जान पड़ता था कि बहुत अक़्लमंद औरत है। जब मैं सामने गया, तो उन्होंने 'आइए-आइए' कहकर एक दूसरी चारपाई पर बैठने का इशारा किया। मैं बैठ गया। उन्होंने कहा—मेरे लड़के ने आपके

बारे में मुझे बताया है। मैं आपके ख़ानदान को अच्छी तरह जानती हूँ। मुझको यह भी मालूम है कि आपको मेरे ख़ानदान से बहुत हमदर्दी है, इसी वास्ते मैंने चा भेजने की हिम्मत की और यहाँ आने की तकलीफ़ भी दी।

मैं आपसे अपनी मुसीबतों की कहानी कहना चाहती हूँ। मुझे किसी क़िस्म की मदद की ज़रूरत नहीं है। कहना सिर्फ़ यह है कि आप मेरे लिए और मेरे एकलौते बच्चे के लिए दुआ दीजिए कि ईश्वर हम दोनों को दिल का इतमीनान दे, और हम अपनी तकलीफ़ों को भूल जायँ।

मैं बादशाह बहादुरशाह की पोती हूँ। मिर्ज़ा मोग़ल मेरे बाप थे, जो ग़दर में मारे गये। यह मेरा बेटा है, जिसे बुढ़ापे में ईश्वर ने दिया। यानी जब मेरी अवस्था ५० वर्ष के क़रीब हो गयी, तब यह लड़का पैदा हुआ था। इसके बाप का अभी हाल में स्वर्गवास हुआ है और हमको चंदौसी में आये हुए अभी दो-तीन महीने हुए हैं।

यह सब हाल सुनकर मुझको बहुत रंज हुआ और थोड़ी देर मैं सिर झुकाये चुपचाप बैठा रहा। इसके बाद मैंने कहा—मैं बहुत अहसानमंद हूँ कि आपने चा और मिठाई भेजकर मेरी ख़ातिर की। अगर गाड़ी का वक़्त क़रीब न होता, तो मैं आपकी ज़िंदगी का, ख़ास कर ग़दर और उसके बाद का, आपका हाल पूछता। मगर बरेली जाना ज़रूरी है और गाड़ी का वक़्त क़रीब आ गया है। संभव हुआ, तो वापसी में फिर यहाँ आऊँगा। यह कहकर मैं खड़ा हो गया और शहज़ादी साहबा को सलाम करके ट्रेन पर आया। कुली शहज़ादा को मैंने ५) देना चाहा, मगर उसने इनकार कर दिया। मेरे बहुत कहने पर भी उसने एक पैसा नहीं लिया।

तीन दिन बरेली में रहकर मैं चंदौसी आया।

लेकिन जब ट्रेन पहुँची, तो कुली शहज़ादे को न देखा। दूसरे कुलियों से पूछने से मालूम हुआ कि वह बीमार है। उसके घर पर गया। देखा, कुली शहज़ादा बुख़ार में पड़ा हुआ है और मा सिरहाने बैठी सिर दबा रही है। मुझको देखकर वे दोनों बहुत प्रसन्न हुए। शहज़ादी ने कहा—अच्छन को कल से बुख़ार है। रात को ज़्यादा तकलीफ़ थी, अब ज़रा कम है।

मामूली बातचीत के बाद मैंने कहा—मैं यहाँ सिर्फ़ दो घंटे ठहर सकता हूँ। अगर आप मुझे अपने सब हालात सुना दें, तो बहुत मेहरबानी होगी।

शहज़ादी ने कहा—मैं किसी के सामने अपनी मुसीबत और अपने ख़ानदान के हालात बयान नहीं किया करती, मगर आपसे छिपाने की कोई ज़रूरत नहीं है। मेरा नाम लालारुख़ है, और मैं मिर्ज़ा मोग़ल की बेटी हूँ। मेरी मा ब्याही बीवी न थीं, बल्कि रामपुर की एक डोमनी थीं। ग़दर की मुसीबत तो आपको मालूम ही है। मेरे बाप को जब हुमायूँ के मक़बरे से गोरे पकड़ ले गये, तब हम सब वहीं थे। वे वापस न आये; उनके क़त्ल हो जाने की ख़बर आयी। उस वक़्त से लेकर ४० वर्ष की अवस्था तक मुझ पर हज़ारों तरह की मुसीबतें पड़ीं। मैं अपनी मा के साथ रामपुर में भी रही और जब वह मर गयी, तब बरेली, लखनऊ, इलाहाबाद और मिर्ज़ापुर में मारी-मारी फिरती रही। आख़िरकार मिर्ज़ापुर में हमारे तैमूरिया ख़ानदान के एक आदमी मिले और उनसे मैंने ४० वर्ष की उम्र में शादी कर ली। उनकी अवस्था भी ५० से ज़्यादा थी और कई साल के बाद यह लड़का पैदा हुआ, जिसका नाम मैंने दादा के नाम पर मोग़ल मिर्ज़ा रक्खा है। कई साल तक हम मिर्ज़ापुर में रहे। मेरे पति का मिर्ज़ापुर में ही स्वर्गवास हुआ। आपके यहाँ का हाल तो मैं बचपन से जानती हूँ, लेकिन आपका नाम मिर्ज़ापुर में सुना करती थी; क्योंकि अच्छन के बाप अख़बार पढ़ा करते थे और आपका हाल सुनाया करते थे। इस लड़के मोग़ल मिर्ज़ा को वही अच्छन मिर्ज़ा कहकर पुकारा करते थे।

उनके स्वर्गवास के बाद मुझे फिर मुसीबतों का सामना करना पड़ा। अच्छन बहुत छोटा था। मगर ईश्वर ने वह दिन भी गुज़ार दिया और अब मैं अपने अच्छन की बदौलत बहुत आराम की ज़िंदगी बसर कर रही हूँ। यह बड़ा नेक लड़का है। रोज़ हाज़िर डेढ़ रुपया मज़दूरी कर लेता है। इसमें हम दोनों की आराम से गुज़र हो जाती है।

मैंने कहा—आपने थोड़े में अपना पूरा हाल तो सुना दिया, लेकिन ग़दर के ज़माने की मुसीबतों को

पूरा और विस्तार से सुनना चाहता हूँ; क्योंकि मैं एक किताब लिख रहा हूँ, उसमें आपके पिता मिर्ज़ा मोग़ल के हाल भी लिखने हैं।

लाजारुन्न बेगमसाहबा ने कहा—मियाँ, ईश्वर किसी दुश्मन को भी वह वक़्त न दिखाए। बहुत बुरा वक़्त था। मेरी अवस्था छोटी थी। उस वक़्त कुछ ज़्यादा समझदारी न थी, लेकिन मुझे उस समय की सब बातें याद हैं। जब अब्बाजान को गोरे पकड़ ले गये, तब हम सब सारी रात जागते रहे। हम बच्चे तो ख़ैर सो गये थे, लेकिन अम्माजान और सब औरतें जागती रहीं। दूसरे दिन सबेरे ख़बर आयी कि अब्बाजान, मिर्ज़ा आबू-बकर, मिर्ज़ा ख़िज्र सुलतान और मिर्ज़ा अबदुल्ला, सब-के-सब फ़िरोज़शाह के कोटले की सड़क के सामने क़त्ल कर दिये गये! सब औरतों में ख़ूब रोना-पीटना मच गया। अभी हम रो ही रहे थे कि किसी ने कहा—घेरा पड़ गया। गोरों की फ़ौज आ गयी। ख़ाकी आ गये। थोड़ी देर में क्या देखते हैं कि बहुत-से गोरे, सिख और पंजाब के मुसलमान सिपाही ख़ाकी वरदियाँ पहने हुए मक़बरे के अंदर आये और हम सब औरतों को घेर लिया। पूछा कि कोई मर्द तो तुममें नहीं है। सब औरतें चादरों से मुँह छिपाये हुए थीं और कोई-कोई बुरक़े ओढ़े हुए थीं। किसी ने कुछ जवाब नहीं दिया। तब पंजाब के मुसलमान सिपाहियों ने ज़बरदस्ती सबके मुँह खोल-खोलकर देखे, और जब कोई मर्द नहीं मिला, तब हमको छोड़कर चले गये।

आख़िर हम हुमायूँ के मक़बरे से अरब-सरा में आ गये। कुछ दिन के बाद मेरी मा मुझको लेकर रामपुर को चलीं। यह वह ज़माना था कि लखनऊ भी अँगरेज़ों ने बाग़ियों से जीत लिया था और हर जगह अमन-चैन हो गया था। मगर फिर भी जगह-जगह रास्तों में लुटेरे थे। मैं अपनी मा के साथ बैलगाड़ी में देहली से आयी थी। जब हमारी गाड़ी मुरादाबाद से आगे बढ़ी, तब चोरों ने हमला किया और हमारी गाड़ी लूट ली। मुझको और अम्माजान को गाँव में ले गये। गहने और कपड़े तो वह पहले ही ले चुके थे, अब उन्होंने आपस में मुझको और अम्माजान को बाँटा।

एक गाँववाले के हिस्से में अम्मा और दूसरे गाँव-वाले के हिस्से में मैं आयी। और, जब अम्मा को दूसरे गाँववाला ले चला, तो मैं दौड़कर उनसे चिमट गयी और रोने लगी। अम्मा भी बहुत रोयीं। बहुत ख़ुशा-मद से कहा कि मुझको और मेरी बच्ची को एक ही जगह रक्खो, अलग मत करो। मैं दुखिया राँड़ हूँ और वह बिना बाप की बच्ची है, मगर चोरों का दिल न पसीजा। जब मैंने ज़्यादा ग़ुल मचाया, तो एक चोर ने मेरे मुँह में ऐसा तमाचा मारा कि पाँचों उँगलियों के निशान आ गये और दाँतों से ख़ून की कुल्लियाँ आने लगीं। उसका तमाचा खाकर मैं ऐसी चुप हुई कि मानों कभी चीख़ी ही न थी। मेरे अब्बा मुझसे बहुत ही मोहब्बत करते थे और हर घड़ी मैं उनकी गोद में रहती थी। यहाँ तक कि जब वह बाग़ी फ़ौज को लेकर अँगरेज़ों से लड़ने जाया करते थे, तो कई दफ़ा वह मुझे घोड़े पर अपने सामने बिठाकर ले गये थे। और, यह तमाचा मेरी ज़िंदगी में पहला तमाचा था, जिससे डरकर मैं सहम गयी थी।

मेरी अम्मा ने जब मेरी यह हालत देखी कि मेरे मुँह से ख़ून की कुल्लियाँ आ रही हैं, तो वह ज़मीन पर लेट गयीं और मेरे पास आना चाहा। मगर चोर उनको ज़बरदस्ती अपने साथ खींचकर ले गये और वह रोती हुई उनके साथ चली गयीं!

ख़ैर, मुझे दो वर्ष चोरों के घर में रहना पड़ा और उन्होंने मेरे साथ ऐसा बुरा बर्ताव किया कि कहते हुए रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दो साल बाद अम्मा से मिलने की सूरत निकली और मैं उनसे मिली। चोरों से हम दोनों को छुटकारा मिला। इसके बाद और जो कुछ हुआ उसका कहना फ़िज़ूल है; क्योंकि आपको तो सिर्फ़ ग़दर का हाल मालूम करना था, सो कह दिया। *

---

* "नैरंगे-ख़याल" से अनुवादित।

'षड्यंत्र' या 'खट्यंत्र'

[विद्यावाचस्पति पं० शालग्राम शास्त्री साहित्याचार्य]

बनारस के दैनिक 'आज' में श्रीयुत नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ का एक नोट 'षड्यंत्र' शब्द के संबंध में निकला है। उससे लोगों में कुछ भ्रम फैला है और हमसे भी कई लोगों ने इस विषय में कई प्रश्न पूछे हैं। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए हम इस पर अपनी सम्मति प्रकाशित कर देना उचित समझते हैं।

श्रीयुत वेदतीर्थजी के कथन का सारांश इस प्रकार है—

१—'षड्यन्त्र' शब्द संस्कृत का है, परंतु संस्कृत-साहित्य में कहीं इसका प्रयोग नहीं मिलता।

२—आजकल हिंदी में लोग साज़िश या कांस्पिरेसी (Conspiracy) के अर्थ में इसका प्रयोग करते हैं, परंतु संस्कृत-ग्रंथों में कहीं इस प्रकार इसका उल्लेख नहीं मिलता।

३—'षड्यन्त्र' दो शब्दों के योग से बना है। एक 'षट्', दूसरा 'यन्त्र'। पहले का अर्थ है छः (६) और दूसरे ('यन्त्र') का 'कल-पुर्ज़े'। फलतः 'षड्-यन्त्र' शब्द का अर्थ हुआ 'छः कल-पुर्ज़े'।

४—इस शब्द के उक्त अक्षरार्थ का प्रकृत अर्थ (Conspiracy) के साथ कोई मेल नहीं बैठता, अतः वेदतीर्थजी ने "सुदीर्घ काल के विचार के अनन्तर" इस रहस्य का पता लगाया है कि प्रकृत शब्द ('षड्यन्त्र') के 'षट्' का अभिप्राय है राजनीति के प्रसिद्ध छः अङ्ग अर्थात् सन्धि १, विग्रह २, यान ३, आसन ४, द्वैधीभाव ५, और समाश्रय ६। ये ही राजनीति के छः कल-पुर्ज़े हैं और आपकी राय में इन्हीं के योग से 'षड्यन्त्र' बना है। आपने सन्धि, विग्रह आदि शब्दों का अर्थ भी किया है और साथ ही यह भी कहा है कि साम, दाम, दंड, भेद ये चार विभाग भी उक्त 'षड्यन्त्र' के ही रूपान्तर-मात्र हैं।

'यान' और 'समाश्रय' आदि शब्दों का जो अर्थ वेदतीर्थजी ने लिखा है, वह भी असंगत है। संस्कृत-ग्रन्थकारों ने इन पारिभाषिक शब्दों का जो अर्थ लिखा है और जिन-जिन अर्थों में इनका प्रयोग किया है, उसे देखे बिना, केवल अक्षरार्थ के बल पर ही, वेदतीर्थजी ने संभवतः अपना मत स्थिर किया है। मननशील पाठकगण इसका निर्णय स्वयं कर सकते हैं। हम इस पर कुछ लिखना आवश्यक नहीं समझते।

यह बात हमारी समझ में नहीं आयी कि वेदतीर्थजी को, साम-दाम आदि चारों को 'षड्' (सन्धि, विग्रह आदि) का रूपान्तर बताने की क्या आवश्यकता पड़ी। क्या 'षड्यन्त्र की तरह कोई 'चतुर्यन्त्र' शब्द का भी इसी अर्थ में प्रयोग करता है ? यदि नहीं, तो फिर चार को छः का रूपान्तर-मात्र किस लिए बता रहे हैं ! यदि सचमुच इन चारों और पूर्वोक्त छहों में कोई भेद नहीं है और आपके कथनानुसार 'षड्यन्त्र' शब्द के 'षड्' का तात्पर्य इन्हीं छः से है, तब तो फिर 'षड्यन्त्र' की तरह 'चतुर्यन्त्र' शब्द का भी प्रयोग कहीं मिलना चाहिए। जिस प्रकार सन्धि आदि छः और साम आदि चार बराबर व्यवहृत होते हैं, उसी प्रकार 'षड्यन्त्र' और 'चतुर्यन्त्र' भी होने चाहिए।

फिर 'षड्यन्त्र' शब्द का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में क्यों नहीं मिलता, श्रीवेदतीर्थजी ने इस पर कोई प्रकाश नहीं डाला। सन्धि, विग्रह आदि छः अङ्ग राजनीति के माने गये हैं। इन्हें 'गुण' भी कहते हैं।

'षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः।'

'सिद्धयश्चोदयास्त्रयः। (माघ)'

इत्यादि बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें सन्धि आदि के लिए 'षड्' या 'षड्गुण' शब्द का प्रयोग मिलता है। फिर 'षड्यन्त्र' का प्रयोग क्यों नहीं मिलता ! यदि सचमुच 'षड्यन्त्र' के 'षड्' का तात्पर्य इन्हीं छः से है, तब फिर इसके उदाहरणों का संस्कृत-साहित्य में एकदम अकाल क्यों पड़ गया है ? फिर इन छः को 'यन्त्र' बताने से क्या मतलब है ? इनमें यन्त्रत्व क्या है ? यन्त्र की कौन-सी समता इनमें अभीष्ट है !

श्रीवेदतीर्थजी ने इस ओर भी कुछ ध्यान नहीं दिया।

किसी यन्त्र के कल-पुर्ज़े एक साथ मिलकर ही कार्य-साधक होते हैं, अलग-अलग सब निकम्मे होते हैं। ताला बिना ताली के और ताली बिना ताले के बेकार है। परन्तु सन्धि, विग्रह आदिक कभी एक साथ नहीं रह सकते। जहाँ सन्धि होती है, वहाँ विग्रह नहीं रहता; और जहाँ विग्रह होता है, वहाँ सन्धि नहीं रह सकती। 'यान', 'आसन' आदि की भी यही दशा है। ये प्रायः परस्पर-विरोधी ही हैं। फिर ये कलपुर्ज़े कैसे? एक साथ काम करनेवाले 'यन्त्र' की इनके साथ समता बताना कैसा?

सबसे बड़ी बात तो यह है कि 'षड्यन्त्र' शब्द कपट, धूर्तता और दूसरे निरपराध तथा भोलेभाले व्यक्ति को फँसाने की चेष्टा का सूचक है। कपट, धोखेबाज़ी और धूर्तता ही इसके प्रधान व्यङ्ग्य हैं। परन्तु सन्धि, विग्रह आदि शब्द उच्च कोटि की राजनीति के बोधक हैं। इनमें कपट और धोखेबाज़ी की गन्ध तक नहीं। प्रत्येक राजा अपने को 'षड्गुणसम्पन्न' कहाने में आत्मगौरव का अनुभव करता है, परन्तु 'षड्यन्त्रकारी' कहाने में नहीं। इसमें तो वह उलटा अपना अपमान समझता है। जो लोग वास्तविक 'षड्यंत्रकारी' होते हैं, वे भी अपने को इस नाम से व्यवहृत कराना नहीं पसंद करते। जिस प्रकार चोरी और धोखेबाज़ी करनेवाले लोग भी यह नहीं चाहते कि कोई उन्हें चोर या धोखेबाज़ कहे, उसी प्रकार कोई 'षड्यंत्र' करनेवाला भी यह नहीं चाहता कि उसे कोई 'षड्यंत्रकारी' कहे।

राजनीति-निपुण या 'षड्गुणज्ञ' प्रतिष्ठा-सूचक है और 'षड्यंत्रकारी' अपमान-जनक। फिर इन दोनों परस्पर-विरोधी भाव के सूचक शब्दों का गठ-जोड़ा करना कहाँ की बुद्धिमानी है?

इसके अतिरिक्त संधि, विग्रह आदि का संबंध केवल स्वतंत्र राजाओं के साथ ही हो सकता है। आजकल के भारतीय राजा लोग भी इन गुणों से वंचित हैं, क्योंकि इन्हें स्वतंत्र रूप से किसी दूसरे राजा के साथ संधि या युद्ध करने का अधिकार नहीं है। परंतु 'षड्यंत्र' में ऐसे छोकरे भी पकड़े जाते हैं, जिनके घर-बार तक का कहीं पता-ठिकाना नहीं होता और जिनकी आयु भी प्रायः १२ से २० वर्ष के भीतर ही होती है। क्या इतने पर भी कोई 'षड्यंत्र' और 'षड्गुण' को एक बताने का दुःसाहस कर सकता है?

अच्छा; तो फिर असली बात क्या है? हम कुछ न बताएँगे। आप स्वयं इस पहेली को बूझिए। हम कुछ वस्तुस्थिति आपके सामने रक्खेंगे। उसके अनुसार विचार करके आप स्वयं निर्णय कीजिए।

१—'षड्यंत्र' शब्द संस्कृत का है, अतः यह निश्चित है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृतज्ञ मंडली में ही हुई है।

२—प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में इस शब्द का समस्त प्रयोग इस अर्थ में कहीं नहीं मिलता, अतः यह निश्चित है कि यह संयुक्त शब्द अर्वाचीन है।

३—यह शब्द जिस आधार पर बना है, वह वस्तु भी संभवतः अर्वाचीन ही होनी चाहिए। यदि संधि, विग्रह आदि अति प्राचीन भाव इसके आधार होते, तो इसका प्रयोग भी प्राचीन ग्रंथों में अवश्य मिलता।

४—इसके आधार में यन्त्रत्व या यन्त्र-सादृश्य अवश्य होना चाहिए, और साथ ही उसमें कोई ऐसी बात भी अवश्य होनी चाहिए, जिससे कपट, धूर्तता, धोखेबाज़ी, दूसरे को फसाने की चेष्टा आदि निकृष्ट भावों का समावेश हो सके एवं किसी उच्च कोटि के सद्भाव को स्थान न मिल सके। इन सब बातों को ध्यान में रखकर आप 'षड्यन्त्र' के आधार को ढूँढ निकालने की चेष्टा कीजिए।

संस्कृत में आकृति और अनुकृति के आधार पर वस्तुओं तथा प्राणियों के नामकरण की प्रथा है। काश्मीर के प्राचीन महाराज ने (शायद महाराज रणवीरसिंहजी ने) फ़ौजी क़वायद के ऊपर एक संस्कृत-ग्रंथ की रचना करायी थी, जिसमें बंदूक़ के लिए 'र-यन्त्र' शब्द का प्रयोग किया गया है। ऊपर की रेखा हटा देने से 'र' अक्षर की आकृति बन्दूक़ से मिलती-जुलती प्रतीत होती है।

कौआ जब बोलता है, तब उसकी आवाज़ ही 'काक' प्रतीत होती है, इसी अनुकृति के कारण उसका नाम 'काक' पड़ा है। महर्षि यास्क ने निरुक्त में लिखा है—'काक इति शब्दानुकृतिः'। महर्षि पाणिनि ने 'अनुकरणं चानितिपरम् १।४।६२।' और 'अव्यक्ता-

नुकरणाद्द्वयजवराघोदनितौ डाच् ५।४।५७' इत्यादिक सूत्र अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से बने हुए शब्दों की विशेष साधनिका के लिए ही बनाये हैं। 'पट्-पट्' की आवाज़ करनेवाले के लिए 'पटपटाकरोति'—'खरट्-खरट्' की आवाज़ करनेवाले के लिए 'खरटखरटा-करोति' इत्यादिक प्रयोग संस्कृत में होते हैं। ज़ोर से खकार के थूकनेवाले के लिए 'खाडिति कृत्वा निरष्ठीवत्, या 'खाट्कृत्य' इत्यादिक प्रयोग होते हैं। सारांश यह कि जहाँ से जैसी आवाज़ (अव्यक्त ध्वनि) निकलती हो, उसी के अनुसार शब्द-कल्पना करने की और तदनुसार वस्तुओं तथा प्राणियों के नामकरण करने की भी चाल संस्कृत में है।

आजकल चूहे-दान कई तरह के देखने में आते हैं। इनमें से एक, जो संभवतः सबसे प्राचीन नमूने का है, 'खट्' की आवाज़ के साथ बंद होता है। इसके चारों ओर की भित्ति लकड़ी की होती है और ऊपर की जाली लोहे के तारों की बनी होती है। बीच में एक तार का टुकड़ा लटकता है। उसी में रोटी का टुकड़ा लगा देते हैं। चूहा जब उसके लोभ से अन्दर जाता है और उस रोटी के टुकड़े को खींचता है, तभी ज़ोर से 'खट्' की आवाज़ के साथ चूहेदान का द्वार बंद हो जाता है और चूहा उसी में फस जाता है। इसी 'खट्' की आवाज़ के कारण इस यन्त्र (चूहेदान) का नाम 'खट्यन्त्र' पड़ा। इसमें प्रलोभन देकर दूसरे को फसाना, धोखेबाज़ी, कपट, धूर्तता तथा फसे हुए प्राणी को सताने आदि के सब निकृष्ट भाव मौजूद हैं। उच्च कोटि के भावों से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। असली 'खट्यन्त्र' यही है। यह इसकी अभिधावृत्ति का स्थल है।

दूसरा प्रयोग इसका लक्षणावृत्ति से भी होता है। यदि कोई किसी को प्रलोभन द्वारा फसाने और उसको सताने आदि के लिए कपट, धूर्तता या धोखेबाज़ी का कोई मायाजाल रचे, तो उसे लक्षणा से 'खट्यन्त्र' और उसके करनेवाले को 'खट्यन्त्रकारी' कहा जाता है। न इसका राजाओं से कोई सम्बन्ध है, न उच्च कोटि के सन्धि-विग्रह आदि से इसका कोई तअल्लुक़ है। इससे केवल धोखेबाज़ी, कपट, धूर्तता आदि निकृष्ट भाव अभिव्यक्त होते हैं और इसी कारण साज़िश या Conspiracy का यह समानार्थक है। यदि कहीं इसका सम्बन्ध सन्धि, विग्रह आदि से हो जाय और उसके लिए (Conspiracy) की धारा लागू हो जाय, तब तो फिर ग्रेटेन, फ्रांस आदि बड़े-बड़े राज्यों के प्रधान मन्त्रियों से लेकर सभी उच्च कर्मचारी—जो सन्धि, विग्रह आदि में भाग लिया करते हैं—हथकड़ियाँ पहिनाकर जेलख़ानों में बंद कर दिये जायँ।

इस चूहेदान का आविष्कार अभी ५०-६० वर्षों के अंदर ही हुआ है, अतएव न प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों में इस प्रकार चूहे पकड़ने की कहीं चर्चा है और न 'षट्-यन्त्र' शब्द का कहीं उल्लेख ही मिलता है।

उत्तर-भारत के संस्कृतज्ञों में मूर्धन्य 'ष' को 'ख' बोलने और कहीं-कहीं 'ख' की जगह 'ष' लिख डालने की परम्परा आज भी मौजूद है। एक कर्मकाण्डी पण्डित ने अपनी पूजन-सामग्री में 'खांड़' की जगह 'षांड़' लिखा था। लेकिन उसकी क़ीमत थी सिर्फ़ चार आने। इसी को देखकर हम समझ पाये कि यह 'सांड़' नहीं, बल्कि 'खांड़' है। 'षड्यन्त्र' शब्द की भी यही दुर्गति हुई है। इसका एक कारण और भी हो सकता है। छापे-ख़ानों के प्रूफ़रीडर साहबान भी कभी-कभी अपनी मूर्खतापूर्ण विद्वत्ता से अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। यह भी असंभव नहीं है कि कहीं 'खट्यन्त्र' या 'खड्-यन्त्र' लिखा देखकर उन्होंने इसे सुधार करके शुद्ध कर डाला हो और उन्हीं की कृपा से 'खड्यन्त्र' का 'षड्-यन्त्र' बन गया हो एवं हिंदी के अल्पज्ञ लेखकों में अन्ध-परम्परावश इसका इसी रूप में प्रचार हो गया हो। हम समझते हैं कि इसी अन्धपरम्परा के कारण 'सुदीर्घकाल तक विचार करने के अनन्तर' भी वेंकटेश्वरी जी इस लोकरहस्य के समझने में असमर्थ रहे।

प्रकृति-विलास

[श्रीउदयशंकर भट्ट शास्त्री]

हे प्रकृति प्रपंच-प्रवीणे, कमनीय कला कलकामे !
हे सजग तूलिके वसुधे, हे जीवन-सूत्र ललामे !
है ओत-प्रोत सभी में तेरी यह मायिनि माया,
मैं देख रहा संसृति में तेरे विलास की छाया।
तू रूप अनोखे धरकर मकड़ी-सा जग फैलाती,
अपने को आप बनाकर रस रुचिर राशि बरसाती।
तू विकट घटाटोपों से उड़ती है नभ-मंडल में,
सौदामिनि बनकर हँसती कादंबिनि के कुंडल में।
लालायित नरनागों से फिर लिपटी हृदय जुड़ाती,
आनंद-विभोर हुई-सी झरनों में झरती आती।
पविभ्र ओसकण भीने सालिंगित वे भूधर हो,
पुलकित पुष्पित हो जाते, आनंद अमंद मधुर हो।
उर्णों-मिस रोमांचित हो जब तुझे भेंटते सजनी,
उल्लासराशि से साने अनुभव करते सुख रजनी।
उच्चावच इन शृंगों में, गगनालिंगित अंगों में,
तेरी ही सरस कहानी पढ़ता हूँ इन ढंगों में।
अमुक तरु की राजी यह है, शकुंतले, तव वेणी,
हिमपात रूप पुष्पों से जो सजी हुई-सी श्रेणी।
या ओढ़े श्वेत दुशाला बन धूसर धवलित निर्मल,
नीर-प्रपात के मिस तू करती प्रदेश सब उज्ज्वल।
हे पट-परिवर्तनशीले, हैं तेरे रंग निराले,
भूधर पर हरे फबीले तू पहन रही पट काले।
स्रोतस्विनि के रूपों में है शुभ्र-स्फटिक समंगा,
पाती अनूप रूपों में भारत की यमुना-गंगा।
इन नदियों के वेगों में क्या कल-कल करती गाती,
है कौन तान वह तेरी, किस स्वर में तू सुख पाती ?
कूलों को थपकी देती किस ओर कहाँ है जाती ?
सिंधु-तट को लोरी देकर पति-सागर सुख में न्हाती।
तू वेगों के अंचल में निज प्रेम प्रपंच सजाये—
पृथ्वी पर मंथर गति से पग धरती दायें बायें।
उत्तुंग उदधि वह तेरा है क्षितिमंडल का घेरा,
विस्मयवश नभ का भू पर जिसने उल्लास बिखेरा।
जब लोल लहर मिस मचला अचला को थपकी देता,
नीरव निशीथ में नभ के आँगन में झपकी लेता।
उन्मत्त शिकारी-सा वह है कभी ...
नीला उज्ज्वल विधु-रमणी का हँसमुख-सा मुखड़ा लखकर।
हो उच्छल जल वीची पर आरूढ़ लपकता नभ को,
उत्कटता, इच्छा, दर्शन—संप्राप्ति रूप आ सबको।
पीकर, उत्तुंग तरंगों से उफनाता-सा चढ़ता,
झिलमिल करते बिंबों से आजीवन यह मद बढ़ता।
वे अँकुराते से पौदे जब कलियों के मिस हँसते,
जीवन-समीर के मद से होकर उद्दीप्त विकसते।
जब रजनी विरह-विदग्धा ओसों मिस आँसू झरती।
तब परदुःखों से कातर पँखड़ी वे आहें भरतीं।
कहने को उषा सखी से मानों रजनी की बातें,
वे मुकुल-स्फुरण अधर से बीती बतलाते रातें।
दर्शन कर उषा सखी का तरु-राजि झूमती मद से,
कोटरगत विहग-रवों से गाती गायन के पद से।
जब तू वसंत बन आती उन्मद गा प्रेम प्रभाती,
तब किशलय-कुसुम-निकर में मादकता-सी भर जाती।
पतझड़ के स्वप्नों से उठ पोशाक पहन तरु-राशी,
यौवनविभोर हो जाती खिल उठती प्रभा प्रभा-सी।
जीवन के स्रोत उभरते कण बरसा सब भागों में,
सब हँसते हिलते-मिलते सुख उफनते बागों में।
वे शष्प-पत्तियाँ पतली ऊपर को दृष्टि पसारे,
तब स्वागत करतीं हँसती खिल-खिलकर पवन सहारे।
वे बूढ़े मुक्त वियोगी पत्ते भू पट पर सोते,
यौवन उद्दीप्त कुलों को लख मर्मर करके रोते।
अस्पष्ट-स्खलित वचन से, उन निचुड़ी-सी आँखों से,
दिखलाते अंत सरककर निज साथी की राखों से।
भरते से कसक कुढ़े कुछ, विक्षिप्त पत्र वे बूढ़े,
मर्मर गति ही में मरते ईर्ष्यालू बनकर कूढ़े।
है भीषण भयरव तेरी उत्कट विलास अभिलाषा,
देती समय विश्रम में भी तेरी अवितृप्त पिपासा।
जब निद्रा आलिंगन में निःशोक जगत् सोता है,
जब चिंता के चक्रों से उन्मुक्त जीव होता है।
अंतर्विभूतियों के जब नर नाटक देखा करते,
मन उड़नखटोले पर चढ़ निज को अभिषेका करते।
होते वैधेय सुपंडित, भिक्षुक भूपेश कहाते,
जब सांद्रनग-ध्वनि से वे निज न्याय-कला फैलाते।

जब मनोरथों के रथ पर मन नभमंडल में चलता,
सुख-सागर में न्हाने को जब चित्त प्रमत्त मचलता।
जब रमणी हास-सुधा को—पीने को प्रेमी जाता,
जब आलिंगन विधुरा को आनंदविभोर बनाता।
जब सुख-स्फूर्ति में न्हाता यह जीव लोक उन्मादी,
तब नाश-वह्नि की ज्वाला हँसकर तूने बिखरा दी।
भूकंपन कर देती है दिग्गज के दिल दहलाती,
कर नग-स्फोट भूपट के टुकड़े कर हृदय जुड़ाती,
है अट्टहास यह तेरा जो वज्रपात कर देती,
अति वृष्टि शीत झंझा से सब जग में जड़ता देती।
अत्युग्र अग्नि-कांडों से सब छार-छार हो जाता,
मकड़ी-सा तुझमें सारा यह जगत् सभी सो जाता;
तेरे इन विंबद्वय में है कौन प्रेमतर सजते,
किसमें आमोद मनाती—किसमें तव सुखमय रजते।
हाँ, ठीक तुझे अति प्रिय है निज मर्यादा का पालन,
है किंतु दूसरा तेरा अत्युग्र रूप भयावन।
तेरे इन जीवों में ज्यों है उत्कट इच्छा व्यापक,
क्या उसी अमानुष मद में यह अत्याचार समाया!
क्या प्रतिहिंसा से तू भी लेती है उसका बदला!
निज भैरव भीषणता से सब तजकर अगला पिछला,
रख रक्ताञ्चल का है यह उन्मादिनि! सुंदर आसव,
है तेरी मुसक्यानों में यह भरा तीव्र विष दारुण।
इसमें भी किंतु मुझे तो मिलता कण दया भरा-सा,
नवजीवन का इसमें है आनंद-उदधि उभरा-सा।

समाजित्ववाद (Communism) और अराजकत्ववाद (Anarchism)

[श्रीयुत भगवतशरण उपाध्याय एम्० ए०]

समाजित्ववादी (Communists) कार्ल-मार्क्स को अपना गुरु और उनकी घोषणा (Communist manifesto) को अपना पथ-प्रदर्शक मानते हैं। समाजित्ववादियों का गरम दल जिसके प्रतिष्ठापक, धुरंधर लेखक प्रिंस क्रापाट्किन (Prince Kropotkin) थे, अराजकत्ववादी कहलाता है। १८६६ ई० में श्रमजीवियों की प्रथम अंतरराष्ट्रीय कांग्रेस के चतुर्थ अधिवेशन में दोनों दलों की विचार-भिन्नता में विशेष वृद्धि हो गयी, और सन् ७२ में गरम दल के बकूनिन अपने साथियों सहित मार्क्सीय अंतरराष्ट्रीय कौंसिल से निकाल दिये गये। विचार-विरोध केवल राज्य (State) के कर्तव्यों के संबंध में हुआ। इँगलैंड और जर्मनी के मार्क्सानुयायियों का मत है कि समष्टिवादी-क्रांति की सफलता के बाद भी राज्य (State) की आवश्यकता है, परंतु इटली और फ्रांस-वालों ने इस विचार का विरोध किया। उन्होंने कहा कि प्रतिनिधि-सरकार (Representative Government) की व्यवस्था में उनका विश्वास नहीं है। बकूनिन और उनके साथियों ने अंतरराष्ट्रीय कौंसिल के विरोध में एक संयुक्त गोष्ठी (Fedral Union) स्थापित की। समाजित्ववाद एक पद्धति का सिद्धांत है जिसके उसूल पर समष्टिवाद, पूँजीवाद (Capitalism) से अवस्थांतर होगा। अराजकता (Anarchy) उस सिद्धांत का लक्ष्य है। यही समाजित्व-वादियों का आदर्श समाज है। अराजकता के प्रधान उपदेशक प्रिंस क्रापाट्किन थे।

आजकल समाजित्ववाद-रूपी झील से कई नदियाँ निकल पड़ी हैं, इसलिए उसके अर्थ भी कई प्रकार के हो गये हैं। कुछ लोगों के मत में यह समाज का एक सिद्धांत है। वे उसको समझाने के लिए प्राचीन ईसा-इयों का सामूहिक स्वत्व उपस्थित करते हैं। प्राचीन काल में जब कोई धर्मशील ईसाई पुण्यार्थ गिरजाघर के संघ को कोई ज़मीन का टुकड़ा दे देता था, तो उसके और टुकड़े करके सबमें बाँटे नहीं जाते थे, वरन् उस-पर संघ का सामूहिक स्वत्व हो जाता था। इसका दूसरा प्रयोग समष्टिवाद के अर्थ में होता है। यह एक तृतीय अर्थ का भी द्योतक है। इस अर्थ में यह उस ढंग को इंगित करता है, जिसमें भोजन, वस्त्र और औषध का आवश्यकतानुसार विना मूल्य वितरण होता है। जिनके परंतु हम इसका प्रयोग उस अर्थ में करेंगे,

अपनी घोषणा (Manifesto, 1847) श्रीमार्क्स और एंजेल्स ने की है; क्योंकि इसी अर्थ में यह समष्टिवाद के एक विशेष सिद्धांत को सूचित करता है। यह वह सिद्धांत-शैली है, जो पूँजीवादी समाज को समष्टिवादी समाज में परिणत करती है। इस सिद्धांत की दो विशेषताएँ हैं—(१) वर्गयुद्ध (Class-war) और (२) क्रांति (Revolution)।

श्रीकार्लमार्क्स का कथन है कि पूँजीवाद का पतन उसी के आंतरिक विरोधों और स्वाभाविक विशेषताओं के कारण अनिवार्य है। इसका कारण यह है कि यह समाज श्रमजीवियों की सृष्टि कर उन्हें केंद्रीभूत कर देता है; क्योंकि इसका ध्येय उत्पादन-व्यय और मूल्य में अधिक से अधिक अंतर डालकर लाभ उठाना है (Surplus Value)। दूसरी बात यह है कि अधिकाधिक उत्पादन-युग में सम्पत्तिरहित श्रमजीवियों की एक बड़ी संख्या हो जाती है, और जब तक कि पूँजीपतियों का पतन नहीं हो जाता, उनकी वही अवस्था रहनी अनिवार्य है। जब स्वदेश में सारी उत्पत्ति के क्रय करने का सामर्थ्य नहीं होता, तो पूँजीपति घबड़ाकर अन्य देशों को दौड़ते हैं। पारस्परिक स्पर्धा के कारण व्यवसाय को और बड़ा बनाने के लिए बहुधा कइयों को मिल जाना पड़ता है। इससे छोटे पूँजीपतियों को मैदान से हटकर श्रमजीवी-वर्ग में मिल जाना पड़ता है। बड़े पूँजीपति उत्पादित वस्तुओं के विक्रय में एकाधिकरण (Monopoly) कर लेते हैं। उत्पादन-शक्ति की बढ़ती के साथ-साथ अन्य देशीय मंडियों में स्पर्धा का भी विकास होता है, और पूँजीपति अविकसित स्थलों को लूटने दौड़ पड़ते हैं। इस प्रकार पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और जग-युद्ध की अवस्थाएँ पार करते हुए भौतिक समृद्धि (अतःपतन) की चरम सीमा तक पहुँच जाता है। लेनिन ने साम्राज्यवाद की इस प्रकार व्याख्या की है—

Capitalism in that stage of development in which monopolies and financial capital have attained a preponderating influence, the export of capital has acquired great importance, the international trusts have begun the partition of the world, and the biggest capitalist countries have completed the division of the entire territorial globe among themselves.

अर्थात् साम्राज्यवाद पूँजीवाद के विकास की वह अवस्था है, जिसमें एकाधिकार और आर्थिक पूँजी अत्यधिक प्रभाव संचित कर चुके हों और पूँजी-निर्यात की मुख्यता हो गयी हो, जहाँ अंतरराष्ट्रीय गुट्टों ने संसार के भाग करने आरंभ कर दिये हों और बड़े-बड़े पूँजीवाले देश अखिल पार्थिव भूगोल के परस्पर विभाग कर चुके हों।

इस साम्राज्यवाद के अनंतर पूँजीवाद की पतनोत्तर अवस्था आती है। इसकी भी पूर्व और उत्तर दो, अवस्थाएँ हैं। पूर्वावस्था में श्रमजीवियों की राजसत्ता होती है, इसे क्रांत्यात्मक कहते हैं। उत्तर में एक समाजत्ववादी वर्गरहित अवस्था है, जिसमें शासन-बलधारी राज्य (State as repositary of power) का नाश हो चुका हो।

पूर्वावस्था (क्रांत्यात्मक)—समाजत्ववादी विकासवाद (Evolutionary) को नहीं मानते। वे क्रांति में विश्वास करते हैं। उनका कथन है कि सरकार (Government) में मजूर-दल के प्राबल्य का कोई परिणाम नहीं होता। यदि वे शासन की व्यवस्थापिका सभाओं में अधिक संख्या में प्रवेश कर क़ानून भी बनाने लगें, तो भी कोई अर्थ नहीं सिद्ध होगा, क्योंकि यदि सरकार में विजय पा भी लीं, तो भी देश में पूँजीपतियों पर विजय पानी मुश्किल है। ब्रिटेन इस बात का ज्वलंत उदाहरण है। कम-से-कम पूँजीपति तो हर हालत में अपनी रक्षा के लिए लड़ेंगे ही। इसलिए आवश्यक यह है कि श्रमजीवियों के स्वतंत्र शासन की घोषणा कर दी जाय, जिसके लिए सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता होगी। एंजेल्स (Engels) कहता है—

The party which has triumphed in the revolution is necessarily compelled to maintain its rule by means of that fear with which its arms inspire the reactionaries. If the Commune of Paris had not based itself on the authority of the armed people against the bourgeoisie, would it have maintained itself more than twenty-four hours. ?

अर्थात् क्रांति में जिस दल की जय हुई, उसके लिए

यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपनी सत्ता को उसी भय-प्रेरणा से क़ायम रक्खे, जिससे उसकी भुजाएँ प्रति-कारियों के हृदय में आतंक जमा देती हैं। यदि संपत्ति-शाली नागरिकों के विरोध में पेरिस की राष्ट्र-समिति ने अपना आधार जन-साधारण के सशस्त्र बल को न बना लिया होता, तो क्या वह चौबीस घंटे भी ठहर सकती?

पूँजीपतियों के पास धन, विद्या, शासन सभी सुविधाएँ हैं। अपने अक्षय भंडार के रहते हुए भी वे आंदोलन न करें, यह असंभव है। लेनिन का कथन है—

In any and every serious revolution a long, obstinate, desperate resistance of the exploiters, who for many years will yet enjoy great advent ages over the exploited, constitutes the rule. Never......will the exploiters submit to the decision of the exploited majority without making use of their advantages in a last desperate battle or in a series of battles.

अर्थात् किसी भी गंभीर क्रांति में व्यापारिक लुटेरों का अधिक समय तक प्रतिनिविष्ट चित्त से निरुपाय होकर दुस्साहसपूर्ण विरोध एक प्रकार का नियम हो जाता है। अपहृत (लुटे हुए) बहुसंख्यक दल के निर्णय के सामने व्यावसायिक लुटेरे, एक अथवा कई अंतिम युद्धों में बिना अपनी सुविधाओं का प्रयोग किये, कभी आत्मसमर्पण न करेंगे। इस प्रकार पूँजीवाद से समाजित्ववाद का अवस्थांतर एक पूर्ण ऐतिहासिक युगांतर है।

जब श्रमजीवी क्रांति की जय हो जायगी, तो एक 'अर्ध-राजकता (Quasi State) स्थापित होगी। यह वर्ग-व्यवस्था (Class organisation) क्रांतिकारी श्रमजीवी दल की प्रतिनिधि होगी। मार्क्स कहते हैं—

In order to break down the resistance of the bourgeoisie the workers invest the state with a revolutionary and temporary form.

अर्थात् संपत्तिशाली नागरिक दल के विरोध का दमन करने के लिए श्रमजीवी लोग राज्य को एक क्रांतिकारी तथा अल्पकालिक रूप में प्रतिष्ठित करेंगे।

यह सत्ता शुद्ध प्रजातंत्र न होकर दमनशील और अनियंत्रित होगी; क्योंकि इसमें राज्य के सारे दलों का प्रतिनिधित्व नहीं होगा। एंजेल्स कहता है—

Since the state is only a temporary institution which is to be made use of in the revolution in order forcibly to suppress the opponents, it is perfectly absurd to talk about a free, popular state, So long as the proletariat needs the state. it needs it not in the interest of freedom, but in order to suppress its opponents; and when it becomes possible to speak of freedom, the state as such ceases to exist.

अर्थात् राज्य तो क्रांति में बलपूर्वक विरोधी दलों के दलन में प्रयुक्त होगा, यह अल्पकालिक संस्था है। ऐसे राज्य के विषय में स्वतंत्रता, उदारता और जन-हित की कल्पना अत्यंत अयुक्तियुक्त है। जब तक श्रमजीवी-दल को राज्य की आवश्यकता है, तब तक तो राज्य स्वतंत्रता की रक्षा के लिए नहीं, वरन् विरोधी दलों के दमन के लिए है, और जब स्वतंत्रता पर विचार करना संभव न होगा, तब तक राज्य का स्वयं अभाव हो जायगा।

इसके बाद क्रांत्योत्तर अवस्था आती है। संपत्ति-शाली नागरिकों का दमन करते समय यथार्थ में राज्य अपने ही पतन का प्रयत्न करता है। इस कार्य के पश्चात् वह धूप में बढ़ी लता की भाँति स्वयं मुरझा जायगा (Wither away—Lenin) और इसके स्थान में उस समाज की प्रति स्थापना होगी, जिसमें जन-कार्य के लिए अनियंत्रित संघों का निर्माण स्वेच्छापूर्वक हुआ करेगा। कितनी ही अनियंत्रित ज्ञानवर्धिनी सभाओं और विद्या-परिषदों का निर्माण स्वतः हुआ करेगा। अराजकत्व की परिभाषा करते हुए क्रापाट्किन लिखते हैं—

It is a principle or theory of life and conduct under which society is conceived without government—harmony in such a society being obtained not by submission to law, or by obedience to any authority, but by free agreements concluded between the various groups, territorial and professional, freely

constituted for the sake of production and consumption, as also for the satisfaction of the infinite variety of needs and aspirations of a civilized being.

अर्थात् अराजकत्ववाद, जीवन और आचरण का वह सिद्धांत है, जिसमें एक राज्यरहित समाज की कल्पना की जाती है। ऐसे समाज में कार्यक्रम का योग किसी क़ानून-पद्धति की वशता अथवा शासक के प्रति आज्ञाकारिता के कारण नहीं, वरन् विविध पार्थिव और व्यावसायिक जन-समूहों के बीच स्वतंत्र समझौतों द्वारा होता है। इस प्रकार की सहकारिता का वरण स्वेच्छापूर्वक उत्पादन और खपत तथा नाना प्रकार की अमित आवश्यकताओं और सभ्य जीवन की उच्चाभिलाषाओं की पूर्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार अराजकत्ववाद का यह सिद्धांत, जो शासन की स्थानीयता (Localisation of authority) का समर्थक है, मार्क्स के केंद्रीय शासन (Centralised authority) का विरोधी है। अराजकता की अवस्था में ही, अराजकत्ववादियों के विचारानुसार, मनुष्य अपनी उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच सकता है। बाह्य रुकावटों से अलग होकर तभी वह पूर्ण स्वतंत्र होता है। शासन के तीनों आधारों से वह छुट्टी पा लेता है, अर्थात् उत्पादक की हैसियत में वह पूँजीपति से अलग होकर स्वच्छंद हो जाता है, राज्य की शृंखलाबद्ध नागरिकता से उसका त्राण हो जाता है और परमात्मा और गिरजाघरों के अनावश्यक ढकोसलों से मुक्त होकर उसका व्यक्तित्व चमक उठता है।

उनका विश्वास विश्व-समाजित्ववाद (Universal Communism) में है। क्रापाट्किन कहते हैं—

All belongs to every one. And provided each man and woman contributes his or her share for the production of necessary objects, they have a right to share in all that is produced by everybody.

अर्थात् सारी वस्तुएँ प्रत्येक मनुष्य की हैं, और यदि प्रत्येक पुरुष और स्त्री आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में योग देते हैं, तो उन्हें सबकी उत्पन्न की हुई वस्तुओं में भाग लेने का अधिकार है। उनके विचार में सरकार की आवश्यकता नहीं है, और न किसी सरकार की आवश्यकता इसलिए है कि वह लोगों के उचित मार्गों की रक्षा करे; क्योंकि अब तक सरकार ने अन्यायागत स्वत्वों की ही रक्षा की है। यह सिद्धांत न केवल अनियंत्रित (Autocracy) और प्रधान-जन-शासन (Oligarchy) के संबंध में सत्य है, वरन् प्रतिनिधि-सरकार (Representative government) में भी इसकी पूर्ण सार्थकता है। इस प्रकार राज्य अनावश्यक तथा विपज्जनक है। अराजकत्ववादी निजी संपत्ति, पूँजीवाद और व्यावसायिक एकाधिकरण के कारण आधुनिक राज्य पर अविश्वास करते हैं। फिर प्रतिनिधि-शासन उनके विचार में मिथ्यावाद है; क्योंकि कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति का पूर्णतः प्रतिनिधि नहीं हो सकता—विशेषकर तीन-तीन साल तक सभाओं में अपने देशवासियों के प्रतिनिधित्व का दम भरना तो केवल छल-मात्र है। भला किस प्रकार एक साधारण मनुष्य डाक्टर समाज का प्रतिनिधि हो सकता है! क़ानून बनाते समय उस पर नागरिकों की क्या राय है, यह प्रतिनिधि किस प्रकार जान सकता है। एक ही उपाय है कि वह प्रत्येक विषय पर सारे नागरिकों को एकत्र कर उनकी राय ले, जो असंभव-सा है; और यदि वह ऐसा कर सके, तो फिर उसकी क्या आवश्यकता है? अतः उनका कथन है कि प्रतिनिधियों को शासन-बल का अधिकार देकर उन्हें प्रभुता के मद में चूर कर दिया जाता है। इसके कारण व्यवस्थापक स्वार्थी, गर्वीले और दमनशील हो जाते हैं। क्रापाट्किन का मत है कि बहुत-से शासक-सचिव मनुष्य हुए होते, यदि उन्हें शासनाधिकार न दिया गया होता। डिकिंसन साहब की माडर्न सिंपोज़ियम (Mr. Lowes Dickinson's Modern Symposium) में उद्धृत एक व्याख्याता का कथन है—

Government means compulsion, exclusion, distraction, separation, while anarchy is freedom, union and love. Government is based on egotism and fear, anarchy on fraternity. It is because we divide ourselves into nations that we endure the oppression of armaments, because we isolate ourselves as individuals that we invoke the protection of laws.

अर्थात् सरकार के अर्थ हैं—दबाव, व्यतिरेक, विक्षेप और भेद; परंतु अराजकता स्वतंत्रता, एकता और प्रेम है। सरकार आत्मश्लाघा, अहंकार और भय पर स्थित है, परंतु अराजकता का अवलंब भ्रातृवाद है। चूँकि हम अपने को राष्ट्रों में विभक्त कर लेते हैं, इसलिए हमें शस्त्रधारी सेनाओं का दमन सहना पड़ता है। हम अपने को व्यक्तिगत रूप से बिलकुल ही पृथक् कर लेते हैं, इसीलिए हमें त्राणार्थ व्यवस्था का आह्वान करना पड़ता है।

फिर, राज्य की आवश्यकता इसलिए भी नहीं है कि यह शिक्षा का प्रबंध नहीं करता। इसकी व्यवस्था उन पूँजीपतियों के हाथ में होती है, जो अपने लाभ को सामने रखकर उसी के अनुसार श्रमजीवियों को एक प्रकार की अर्द्धशिक्षा देते हैं। विदेशी आक्रमण के विचार से भी राज्य की आवश्यकता नहीं है और न वेतनभोगी सेनाओं की ही आवश्यकता है। क्रापाट्किन कहते हैं कि इस प्रकार की सेनाएँ सदा आक्रमणकारियों द्वारा पराजित होती हैं। परंतु आक्रमणकारियों की सेनाएँ सदा अव्यवस्थित, स्वतः प्रतीकारप्रिय, अराजक सशस्त्र दलों द्वारा विजित हुई हैं। इतिहास इसका साक्षी है। रक्षा के ख़याल से भी सरकार की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि अभी तक सरकार ने वर्ग-निर्माण कर, आर्थिक कारणों से लोगों को चोर-डाकू बनाकर उन्हें कारागार ही भेजा है। अब तो, बस, स्वेच्छा से बननेवाले उन्हीं स्वतंत्र दलों की आवश्यकता है, जो व्यवसाय और अन्य कार्यों के लिए बनते हैं और जिन्हें अपने पदाधिकारियों के चुनने और निकाल देने का पूर्ण अधिकार रहता है। इस प्रकार जब संयुक्त तथा निश्चित संस्थाएँ, जिनमें सुप्रबंध सब ओर और व्यतिरेक कहीं नहीं होगा, बन जाएँगी तब कहीं शांति मिल सकती है। अराजकता में, डिकिंसन के अनुसार, सुप्रबंध का अभाव नहीं, वरन् पाशविक बल का अभाव होगा (Anarchy is not the absence of order; it is absence of force)। ये श्रेणियाँ (Associations) बड़ी छोटी हर प्रकार की होंगी और इन अगणित संस्थाओं का मेल समतुल्यता द्वारा रक्खा जायगा। ये व्यवसायिक और देशिक होंगी, और अत्यंत सरल तथा न्यूनतम दल इनके आधार होंगे।

अब प्रश्न यह होता है कि इन अनियंत्रित शक्तियों का योग कौन कराएगा? इसका उत्तर अराजकत्ववादी इस प्रकार देता है—जब लोग पूर्णतः शिक्षित हो जायँगे, जब असंतोष-उत्पादन करनेवाला धनी और दरिद्र का असाम्य नहीं होगा और जब इस असाम्य को और भी प्रज्वलित करनेवाला राजदत्त पूँजीपतियों का व्यावसायिक एकाधिकरण पृथ्वी-तल से उठ जायगा, तब लोगों के अर्थ में ठेस नहीं लगेगी और झगड़े के कारण बहुत ही कम होंगे। स्पर्द्धा शत्रुता की जननी है, अतः इसका छेदन करो और फिर स्वतंत्रता का आनंद लो। व्यवस्था हमें नहीं चाहिए। हम स्वयं सुयुक्त हो जायँगे। फ़ौरियर (Fourier) कहता है—

Take pebbles, put them into a box and shake them, and they will arrange themselves into a mosaic that you could never get by entrusting to any one the work of arranging them harmoniously.

अर्थात् कुछ पथरियों को एक संदूक़ची में डालकर हिलाओ। ये अपने-आप इस उत्तमता से संयुक्त होकर एक दूसरी से पच्चीकारी के काम की तरह जुड़ जायँगी, जैसा कोई प्रबल इच्छा के वशीभूत कुशल कारीगर भी नहीं कर सकेगा।

इस लेख को हम यहीं समाप्त करते हैं, परंतु लोकवाद अराजकत्ववादी के उद्गार में कहाँ पर है, यह फिर कभी बतलाने की चेष्टा करेंगे।

त्याग

[श्रीसाधुशरण]

बोलो किसका प्रेम बली ?
कली विना सूना है तरुवर, मरती तरुवर विना कली ।

हृदय छिदा वह हार बनेगी ;
रसिकजनों के गले पड़ेगी ;
तरुवर पर भी आ जावेंगी—
कलियाँ कितनी भली-भली । बोलो० ।

तरु ने पाला अपने रस से ;
इस पर उसकी ममता इससे ;
यह भोली क्यों तड़प रही है—
ज्यों जल से निकली मछली । बोलो० ।

तरु की तड़पन विवश रहेगी ;
वह आलिंगन का रस लेगी ;
तरु तो ज्यों का त्यों ही होगा—
वह भटकेगी गली-गली । बोलो० ।

अगर कली स्वारथ के वश है ;
देती क्यों जीवन की बलि है ;
इस आदर्श त्याग का अनुभव—
क्या कर सकता कभी छली । बोलो० ।

बंसी की टेर

[प्रो० भगवद्दयाल वर्मा एम्० ए० मुंशी-फ़ाज़िल, अदीब-फ़ाज़िल]

मौलाना जलालुद्दीन "रूमी" का जन्म बलख़ में, सन् १२०७ ई० में, हुआ था । उनके पिता भी नामाङ्कित विद्वान् थे । "होनहार बिरवान के होत चीकने पात ।" मौलाना रूमी को देखकर बचपन में एक महात्मा शेख़ अत्तार ने कह दिया था कि "यह बच्चा संसार के प्रेमियों के हृदय में आग लगा देगा ।" मौलाना रूमी ने दमिश्क़ और हलब में विद्याभ्यास किया । वह अपने समय के धुरंधर विद्वान् थे । वह शेख़ हुसामुद्दीन चलपी के चेले हुए, जिनकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी जगद्विख्यात पुस्तक "मसनवीए मअनवी" लिखी, जिसमें अध्यात्म-विद्या (सूफ़ीवाद) के गुर अति सरल रीति से कहानियों द्वारा समझाये हैं, और जिसे इसी श्रेष्ठत्व के कारण 'फ़ारसी भाषा में क़ुरआन' कहते हैं । इसी पुस्तक की आरंभिक शअरों का अनुवाद पाठकों के सामने रक्खा जाता है । रूमी ने हज़रत शम्से तब्रेज़ के सहवास में रहकर "दीवाने शम्से तब्रेज़" भी लिखा, जिसकी मार्मिक ग़ज़लें हृदय-स्रोत से ऐसी निकलीं कि उनमें से प्रेम की नदियाँ बह निकलीं, जो आज तक रसिक प्यासों की तृषा बुझाती हैं । यदि यह नमूना विद्वान् पाठकों ने अपनाया, तो फिर कभी दूसरी ग़ज़लों का अनुवाद भी उनकी सेवा में उपस्थित करने का प्रयत्न किया जायगा ।

१. सुन ले टुक बंसी की बातें दुखभरी ।
है कथा अपनी व्यथा की कह रही ॥
२. जब से लाये बाँस बन से काटकर ।
मेरा रोना सुन के रोये [illegible] ॥

۱—بشنو از نے چون حکایت می کند
وز جدائي ها شکایت مي کند
۲—کز نیستان تا مرا ببریده اند
از نفیرم مرد و وزن نالیده اند

३. जो हृदय हो विरह से चलनी हुआ।
विरह-गाथा उससे ही कहना भला॥
४. मातृ-भूमी से जो कोई दूर है।
खोज में निज प्रिय के चकनाचूर है॥
५. निज कहानी सब सभाओं में कही।
साथ सुखियों और दुखियों के रही॥
६. मित्र मेरे बन गये निज भाव से।
पर न ढूँढ़े भेद मेरे हृदय के॥
७. मेरे रोने में ही मेरा भेद है।
नैन में और कान में पर भेद है॥
८. आत्मा और देह का जोड़ा बना।
आत्मा को पर असंभव देखना॥
९. अग्नि है बंसी की धुन वायू नहीं।
जिसमें यह अग्नी नहीं, वायू नहीं॥
१०. है वो प्रेमानल जो बंसी में लगी।
प्रेम-रस है जिसमें मदिरा है पगी॥
११. बाँसुरी विरही की साथी है सदय।
छिद्र ने उसके है छेदा मम हृदय॥
१२. बाँसुरी-सा अमिय विष, देखा है क्या!
साथ हो फिर भी विरह, देखा है क्या!
१३. उसकी धुन घातक कथा है प्रीत की।
उसकी लय में गत है 'गोपी-गीत'* की॥
१४. ज्ञान यह समझेगा एक अज्ञान ही।
जीभ का गाहक है बस एक कान ही॥
१५. जो न होती टेर बंसी की फलद।
कैसे देती हमको बंसी मधुर-पद॥
१६. दुख में अपने दिन युहीं सब खो गये।
रात-दिन रोते हुए ही हो गये॥
१७. खो गये यदि रात-दिन परवा नहीं।
तू ही रह पावन! है तुझमें क्या नहीं!!

* फारसी में "लैला मजनू की कहानी" लिखी है।

٣– سینه خواهم شرحه شرحه از فراق
تابگویم شرح درد اشتیاق
٤– هر کسی کو دور ماند از اصل خویش
باز جوید روزگار وصل خویش
٥– من بهر جمعیتے نالان شدم
جفت خوش حالان و بد حالاں شدم
٦– هر کسي از ظن خود شد یار من
وز درون من نجست اسرار من
٧– سر من از نالهٔ من دور نیست
لیک چشم و گوش را آن نور نیست
٨– تن ز جان و جان زتن مستور نیست
لیک کس را دید جان دستور نیست
٩– آتش است این بانگ نائی و نیست باد
هرکه این آتش ندارد نیست باد
١٠– آتش عشق ست کاندر نے فتاد
جوشش عشق ست کاندر مے فتاد
١١– نے حریف هرکه از یاری برید
پردهایش پردهائي ما درید
١٢– همچو نے زهري و ترياقي که دید
همچو نے دمساز و مشتاقي که دید
١٣– نے حدیث راه پر خون مي کند
قصهائے عشق مجنون مي کند
١٤– محرم این هوش جز بي هوش نیست
مر زبان را مشتري جز گوش نیست
١٥– گر نبودي نالهٔ نے را ثمر
نے جهان را پر نکردے از شکر
١٦– در غم ما روزها بیگاه شد
روزها با سوزها همراه شد
١٧– روزها گر رفت گو رو باک نیست
تو بمان اي آنکه چون تو پاک نیست

आधुनिक हिंदू-धर्म का विकास

[श्रीरमेशनंदनसहाय एम्० ए०, बी-एल्०]

प्राचीन भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास भी सामाजिक तथा राजनीतिक इतिहास ही-जैसा अनेक भागों में विभक्त किया जा सकता है। यहाँ के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में प्राचीनतम काल से ही ऐसा घनिष्ठ संबंध चला आता है कि एक में तनिक भी विकार उत्पन्न होने से दूसरा अनुपहत नहीं रह सकता। वैदिक काल में यहाँ का जीवन सहज-स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा सीधा-सादा था, अतः वैदिक धर्म भी आडंबरहीन तथा अकृत्रिम था। प्रत्येक परिवार का बड़ा-बूढ़ा गृहस्थी का संचालक तथा धर्म का सूत्रधार था। अपनी पूजा-आराधना लोग स्वयं ही कर लेते थे।

किंतु सभ्यता के विकास तथा समाज के प्रसार के साथ-साथ कर्मक्षेत्र का भी विस्तार होने लगा। क्रमशः बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हो गये—संपत्ति, ऐश्वर्य तथा वैभव की वृद्धि होने लगी। वैदिक काल के सीधे-सादे, उर्वराभूमि की खोज में दत्तचित्त तथा व्यस्त रहनेवाले सैनिक अब राज्याधिपति हो सक्लेश अर्जित बल वैभव का उपभोग करने लगे। आर्य-जाति मानों कर्मक्षेत्र से अब भोगक्षेत्र में अवतरित हुई। महाकाव्यकालीन नरेशों के गौरव तथा समृद्धि के वृत्तांत महाभारत के पृष्ठ-पृष्ठ में पाये जाते हैं।

सामाजिक जीवन पर भी इसने अपना प्रभाव प्रदर्शित किया। उन समृद्धिशाली नरेशों से मिलने-जुलनेवाले तथा उनके दरबारों में रहनेवाले सभासद गण अब क्योंकर आडंबर-शून्य रह सकते थे! आवश्यकताओं की वृद्धि हुई, अधिकार-प्राप्ति की इच्छा प्रबल हुई, तथा लोगों को ठाट-बाट तथा दिखलावे का चस्का लगा। कर्मक्षेत्र के प्रस्तार के कारण ही एक आदमी के लिए सब कामों का प्रबंध करना असंभव हो गया, अतएव वर्ण-विभाग का सूत्रपात हुआ।

सामयिक वातावरण से तत्कालीन धर्म भी डावाँडोल हो गया। इसकी भी स्वाभाविक अकृत्रिमता तथा आडंबरशून्यता जाती रही। वर्ण-व्यवस्था के अनुसार धर्म का निरीक्षण ब्राह्मणों के हाथों में सौंप दिया गया और धर्म-प्रधान देश में उनकी प्रतिष्ठा भी खूब ही हुई।

अधिकार-प्राप्ति की रुचि सर्वत्र व्याप्त हो ही चुकी थी। ब्राह्मणों ने भी अपनी मर्यादा को चिरस्थायी बनाने तथा समाज पर अपनी सत्ता जमाने का खूब ही प्रयत्न किया। किंतु क्षत्रिय लोग भी किसी तरह उनसे कम नहीं थे। उन्हें यह बात कब सहन हो सकती थी। वे अपनी तुच्छता मानने को कब तैयार थे। अतएव इसी बात को लेकर आपस का एक झगड़ा उठ खड़ा हुआ।*

महाभारत-मीमांसा के मतानुसार यह खींचातानी बहुत प्राचीन काल ही से आरंभ हो गयी थी। उसके छठे प्रकरण में लिखा है—".........किंतु आरंभ में क्षत्रियों ने ब्राह्मणों की यह बात चलने न दी। वशिष्ठ और विश्वामित्र के वाद से स्पष्ट होता है कि क्षत्रियों ने इस विषय में खूब झगड़ा किया।.........किंतु तात्पर्य इसका एक ही है। ब्राह्मणों का यह आग्रह था कि ब्राह्मण का बेटा ब्राह्मण हो और क्षत्रिय का बेटा क्षत्रिय; किंतु विश्वामित्र का यह आग्रह था कि क्षत्रिय के बेटे ने यदि अपनी बौद्धिक शक्ति बढ़ा ली हो, तो उसके ब्राह्मण होने में क्या बाधा है?

जब तक समाज में जीवन तथा उत्साह बना रहा, यह पौरोहित्य सत्ता का मूलोच्छेद करने तथा अपने असंवृत अधिकारों को संस्थापित करने का वारंवार प्रयत्न करता रहा। महाकाव्यों के समय में भी ऐसे

---

* मैंने अपने 'ब्राह्मण-सत्ता का इतिहास'- शीर्षक लेख में उपर्युक्त बातों को सप्रमाण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। समाज में पहले ब्राह्मणों का क्या स्थान था और किन-किन युक्तियों से उन लोगों ने अपनी सत्ता जमायी, इत्यादि बातों की ऐतिहासिक समीक्षा करने की उस लेख में चेष्टा की गयी है। —लेखक।

प्रयत्नों की बात पायी जाती है। फिर आगे चलकर बौद्ध-धर्म का संस्थापन तथा देश में इसका प्रस्तार कर क्षत्रियों ने ब्राह्मणाधिपत्य के बिलकुल मूलोच्छेद ही कर देने का पुनर्वार प्रबल प्रयास किया। किंतु ब्राह्मणों की चतुराई तथा बुद्धि के सामने उनकी एक न चली। आख़िर सिर झुकाना ही पड़ा। ब्राह्मणों ने स्वयम् बुद्ध को विष्णु का एक अवतार मान तथा उनके सिद्धांतों को अपने धर्म में समाविष्ट कर बौद्धमत को भारतवर्ष से सदा के लिए बिदा कर दिया।

अतः पौराणिक काल में पुनर्वार वैदिक धर्म का स्वरूप-परिवर्तन हुआ। देखते-देखते यहाँ के धार्मिक विचारों में इतने हेर-फेर हुए कि पूर्वापर धर्मों में आकाश-पाताल का अंतर पड़ गया।

आदि-वैदिक धर्म तो निरीक्षकों की स्वार्थपरता के वश महाकाव्य-काल ही में संकुचित तथा विषम हो गया। था। धर्माचार के पग-पग पर नियम बनाये गये थे। सरल तथा स्वाभाविक देव-पूजा के स्थान पर बड़े-बड़े आडंबरयुक्त यज्ञों तथा अग्निहोत्रों का प्रवेश हो गया था! यज्ञ बहुव्ययशाली, विधि-विधानवेष्टित तथा समारोहाच्छन्न बना दिये गये थे। किंतु बुद्धदेव के जन्म के समय तक तो इसकी दशा और भी बुरी हो गयी।

उस समय पशु-यज्ञ परा काष्ठा तक पहुँचा हुआ था। निरपराध, दीन, असहाय पशुओं के रुधिर से यज्ञवेदिका लाल की जाती थी। जन्म से लेकर मरणपर्यंत प्रत्येक संस्कार के साथ यज्ञ होना अनिवार्य था। बिना दक्षिणा के यज्ञ अपूर्ण और निष्फल समझा जाता था, अतएव ब्राह्मणों को इन यज्ञों और बलिदानों से बड़ा लाभ होता था। यही उनकी जीविका का मुख्य द्वार था। समाज बाह्याडम्बर में फँसा हुआ था, और उसकी आत्मा घोर अंधकार में पड़ी हुई प्रकाश के लिए पुकार कर रही थी।

इस तमराशि तथा घोर अनर्थ के निवारण करने की चेष्टा तो पहले ज्ञान-वर्द्धन ही द्वारा की गयी। जनता को परब्रह्म परमेश्वर के सच्चे स्वरूप तथा आत्मा के अभीष्ट के दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया। फलस्वरूप उपनिषदों का निर्माण कर क्षत्रियों ने अक्षय गौरव प्राप्त किया, तथा आत्मगर्वी ब्राह्मणों पर अपने श्रेष्ठतर ज्ञान का सिक्का जमा दिया। संसार की शायद किसी भी भाषा के साहित्य में इतने उच्च दार्शनिक विचारों से ओत-प्रोत सर्वांगसुन्दर तथा विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ नहीं मिलते।

भटकते हुए पथभ्रष्ट लोगों को यह सिखलाने का प्रयत्न किया गया कि सब जीवित तथा निर्जीव वस्तुएँ एक ही सर्वव्यापी आत्मा से उत्पन्न हुई हैं, तथा उसी के अंश हैं। कर्म की अपेक्षा ज्ञान की प्रधानता बतलायी गयी। अज्ञान, जीव के सुख-दुःख के कारण, परमात्मा की सत्ता और आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध आदि विषयों पर बहुत ही बुद्धिमत्ता के साथ गूढ़ विचार किया गया। पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी * सर्वप्रथम उपनिषद् ही में क्षत्रिय-नृपति चित्रगार्ग्यायणि द्वारा उद्घाटित किया गया।

किन्तु यह ज्ञान-शिक्षा सैकतराशि में वारिबुन्द के समान थी। भादों की अँधियारी को भला एक-आध तारे कहाँ तक हटा सकते हैं! जनता को धर्म विरोधियों ने इतना पथभ्रष्ट कर दिया था कि इस अपूर्व ज्ञान-भंडार का भी दुरुपयोग होते देर न लगी। उपनिषदों के सारगर्भित विषयों में लोगों को मिथ्या वितंडावाद फैलाने का अच्छा मसाला मिल गया। द्वैत-अद्वैत एवम् विशिष्टाद्वैत के मत-मतांतरों तथा सांख्य-वेदान्त के झगड़ालू सिद्धान्तों ने लोगों को डावाँडोल कर दिया।

देखते-देखते धार्मिक अशान्ति परा काष्ठा तक पहुँच गयी। अपनी सत्ता जमाने की धुन में स्वार्थान्ध ब्राह्मणगण परिधि का उल्लंघन कर गये। इधर क्रमशः निःसार कर्मकांडों के प्रति आत्मदर्शी तथा विज्ञ पुरुषों की घृणा बढ़ती ही गयी। उन्हें समाज का बनावटी तथा झूठा जीवन कष्ट देने लगा। सत्य के इन अन्वेषकों ने अपने घर-बार और इस असत्य संसार से मुँह मोड़कर वन की ओर प्रस्थान किया।

---

* स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायाणिं प्रतिचक्रम उपायानीति तं होवाच ब्रह्मार्होऽसि गौतम यो मामुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति।..................स इह कीटो वा पतंगो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वान्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यं...
कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत् प्रथमोऽध्यायः।

क्षत्रियों को ब्राह्मण-सत्ता की नींव हिलाने का इस-से बढ़कर दूसरा अवसर कहाँ प्राप्त हो सकता था ? भगवत्प्रतिज्ञा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥

को चरितार्थ करने का अच्छा मौक़ा था । अतः भगवान् बुद्धदेव ने धर्म-संस्कृति तथा समाज-परिष्कार के हेतु जन्म ग्रहण किया । ग़फ़लत में पड़े हुए ब्राह्मणों के लिए यह आकस्मिक आक्रमण बड़ा ही घातक सिद्ध हुआ । आरम्भ में वे अपने को सँभाल न सके और प्रवाह के साथ उन्हें भी बहना ही पड़ा । सारे संसार में बौद्धों की तूती बोल उठी । कुछ दिनों के लिए वैदिक धर्म हीनप्राय मृतकवत् हो गया—ब्राह्मणसत्ता की मानों इतिश्री हो गयी ।

फिर तो आपस में इतनी खींचातानी मची और दोनों ही धर्मों में परस्पर के संघर्षण से इतने परिवर्तन हुए कि अब यह कहना असम्भव हो गया है कि आधुनिक हिन्दू-धर्म रूपान्तरित वैदिक धर्म है या परिवर्तित बौद्ध-धर्म । संकुचित सनातनधर्म को भी अपनी जान बचाने के लिए अपने कट्टर मत में उलट-फेर करना ही पड़ा । बौद्धों ने अपने मत को सर्वग्राही बनाने के लिए यथासम्भव इसकी हिंदू-धर्म से अनुरूपता दिखलायी और ब्राह्मणों ने अपने डगमगाये हुए धर्म की नींव सुदृढ़ एवम् सुरक्षित रखने के लिए घुमा-फिराकर बौद्ध-सिद्धान्तों को उसमें समाविष्ट किया । अतः दोनों के हेल-मेल से भारत में एक नये धर्म की उत्पत्ति हुई, जो पौरा-णिक धर्म के नाम से विख्यात हुआ । इस पौराणिक धर्म में बौद्ध-सम्प्रदाय तथा वैदिक मत, दोनों के आभास तथा यथेष्ट रूप से प्रभाव पाये जाते हैं ।

आरम्भ में प्रचलित प्रथा के अनुसार बुद्ध का धर्म भी संन्यास-मार्ग से विशेष अनुरूपता रखता था । महावग्ग (५-१-२७) में लिखा है—"जो भिक्षु निर्वाण-पद तक पहुँच चुका है, उसके लिए न तो कोई काम ही अवशिष्ट रह जाता है और न उसे किये हुए कर्म का फल ही भोगना पड़ता है ।" उपनिषद् के संन्यास-मार्ग से इसका पूरा सादृश्य है ।

बौद्धों के मूल-उपदेश में आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर का अस्तित्व नहीं माना गया था । जब तक बुद्ध भगवान् की भव्य मूर्ति तथा उनका पावन चरित्र लोगों के सामने उपस्थित था, तब तक भक्ति-मार्ग के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं थी; किंतु उनकी अनुपस्थिति में सर्वसाधारण के लिए इस शुष्क निरीश्वर संन्यास-मार्ग को समझना दुर्लभ था । बुद्ध के सिद्धान्तों के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के लिए संसार से वैराग्य लेकर भिक्षुओं की नाईं जीवन बिताना नितान्त आव-श्यक था, पर सब लोग गृहस्थी छोड़कर भिक्षु या संन्यासी नहीं बन सकते थे । अतएव जब सामान्य जनों में इसका प्रचार प्रारंभ हुआ, तब किसी सुगम मार्ग के आविष्कार की आवश्यकता प्रतीत हुई । फलतः बौद्ध-शिक्षा को सरल, प्रत्यक्ष तथा हृदयग्राही बनाने के उद्देश्य से महायान-संप्रदाय की रचना की गयी । इस संप्रदाय के अनुसार बुद्धदेव परमात्मा के अवतार समझे जाने लगे । उनके अनुचरों तथा प्रधान अनुयायियों ने बोधिसत्वों का स्थान ग्रहण किया । बुद्ध तथा बोधि-सत्वों की पूजा देवी-देवताओं की तरह होने लगी । बौद्ध-मत शुष्क संन्यास-मार्ग से सरस भक्ति-मार्ग में परिणत हुआ । महायान के सिद्धांतों के अनुसार गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भक्ति के द्वारा निर्वाण-पद पाना असंभव नहीं है । देवादिदेव बुद्ध की भक्ति करने अथवा उनकी मूर्ति पर प्रेमपूर्वक दो-चार पुष्प चढ़ा देने ही से मनुष्य सद्गति का अधिकारी हो सकता है ।

इसी तरह वैदिक हिंदू-धर्म भी बौद्धमत से विशेष-रूपेण प्रभावान्वित हुआ और समयानुकूल कल्पांतकारी परिवर्त्तन समाविष्ट हुए । भारत ही में क्या, अन्यान्य देशों में भी बौद्धों की प्रबलता प्रदर्शित हुए बिना न रही । इसके चलते जिनका मूलोच्छेद नहीं हुआ, उनका इसके प्रभाव से रूपांतर अवश्य हो गया । यही कारण है कि उन दिनों सुदूर देशस्थ धर्मों में भी बौद्ध-मत से अनुरूपता देखकर मनुष्य को चकित एवं स्तंभित होना पड़ता है । ऐसी दशा में भला वैदिक धर्म की जान कैसे बच सकती थी ?

वैदिक धर्म ने अभी तक महाभूतों के अधिष्ठाता देवों में अपनी अगाध भक्ति बनाये रक्खी थी । इंद्र, अग्नि, सूर्य, वरुण, मरुत् आदि के नाम पर यज्ञ-विधान होते थे । उपनिषदों में परब्रह्म परमेश्वर की सत्ता एवम् एकता प्रतिपादित तथा स्वीकृत होने पर भी, सबका विश्वास

इनकी पृथक्-पृथक् भौतिक शक्ति और इनके अधिष्ठाता होने में दृढ़तर रहा।

पौराणिक काल में इन भौतिक देवों को बिलकुल गौण स्थान प्रदान किया गया। इसका मुख्य कारण क्षत्रियों द्वारा उपनिषद् में प्रतिपादित एकेश्वर ब्रह्म की कल्पना का वैदिक धर्म में समाविष्ट होना ही है। क्रमशः परब्रह्म परमेश्वर में ही श्रद्धा और विश्वास की दृढ़ता होती गयी। उनका स्थान भौतिक देवों से बहुत ऊँचा, बहुत ही परे हो गया।

किंतु बौद्धमत का प्रभाव उस एकेश्वरवादिता पर भी अपना स्वरूप दिखला ही गया। परब्रह्म की सृष्टि पालक एवं संहारकारिणी शक्तियों के तीन विभिन्न विभाग हो गये और पौराणिक परमेश्वर त्रिदेवरूप में प्रतिपादित हुए। संभवतः इस त्रिदेवरूप की कल्पना बौद्धमत ही से ली गयी है। केवल हिंदू-धर्म में ही नहीं, वरन् समकालीन संसार के कितने और धर्मों में भी इस कल्पना का आभास मिलता है। उदाहरणार्थ ख्रीष्टीय धर्म के पिता, पुत्र तथा पवित्रात्मा (Father, son and Holy ghost) का सिद्धांत हिंदुओं के त्रिदेव एवं बौद्धों के त्रिरत्न (बुद्ध, धम्म, और संघ) से बहुत समानता रखता है। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि तत्कालीन सभी धर्मों पर बौद्धमत का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा था।

ऋग्वेद के प्रथम मंडल, १३६ सूत्र के आधार पर कुछ लोगों का कहना है कि वैदिक काल में ही देवताओं के तीन विभाग हो गये थे। स्तोत्र यों है—

ये देवासो दिव्येकादशस्थ पृथिव्या मध्येकादशस्थ।
अप्सु क्षितो महिनैकादशस्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वं॥

अर्थात्—हे दिव्य विभूतियो! आप ग्यारह जन आकाश में रहते हैं, ग्यारह पृथ्वी पर और ग्यारह ही उदकों में भी बड़े वैभव से रहते हैं, अतएव आप लोग मेरे इस यज्ञ को स्वीकार कीजिए।

जैसा कि स्पष्ट विदित होता है, ऋग्वैदिक तथा पौराणिक विभागों में किंचिन्मात्र भी समानता नहीं है। उपर्युक्त स्तोत्र में तीन भिन्न मंडलों में निवास करनेवाले भिन्न श्रेणी के भौतिक देवों की वंदना की गयी है। वैदिक कल्पना के अनुसार ३३ देवताओं को समान संख्या में विभक्त कर जल, पृथ्वी तथा आकाश के साम्राज्यों पर स्थापित कर दिया गया है। किंतु पौराणिक विभाग की कल्पना इससे बिलकुल विभिन्न है। यहाँ एक ही ब्रह्म की सृष्टि, पालन तथा विनाशकारी तीन शक्तियों की विभिन्न स्वरूपों में कल्पना की गयी है। पौराणिक त्रिदेव तीन भिन्न स्थानों के अधिकारी नहीं हैं—केवल कर्मानुसार तीन गुणों के द्योतक हैं। त्रिदेवों की यह कल्पना मनु के समय तक भी अज्ञात ही थी।

उपर्युक्त ऋग्वैदिक स्तोत्र से एक बात का और भी पता चलता है—वह है भौतिक देवों की संख्या-वृद्धि। वैदिक काल के ३३ देव बढ़ते-बढ़ते पौराणिक काल में ३३ करोड़ हो गये। प्रथम ही मंडल में इसके और भी कितने प्रमाण पाये जाते हैं। ३४वें सूत्र में लिखा है—

आ नासत्या त्रिभिरेकादशैरिह देवेभिर्यातं मधुपे यमश्विना।
आयुस्तारिष्टं नी रपांसि मृक्षतं सेधतं द्वेषो भवतं सचाभुवा॥

अर्थात्—हे सत्य स्वरूप अश्विनियो, तेंतीस देवों को साथ लेकर इस मधुर पेय के लिए आइए। हमारी आयु की वृद्धि कीजिए। पातकों का नाश कीजिए, शत्रुओं का विरोध कीजिए और हमें सदा अपने समागम का लाभ दीजिए।

अपि च—श्रुष्टीवानो हि दाशुषे देवा अग्ने विचेतसः।
तान्रो हि दश्वगिर्वणस्त्रयस्त्रिंशतमावह॥

अर्थात्—रक्तवर्ण अश्वों के स्वामी स्तुतिप्रिय अग्निदेव! सभी देवता अत्यंत बुद्धिमान् हैं और हवि अर्पण करनेवाले भक्तों की प्रार्थना सुनने में सचमुच ही अत्यंत तत्पर रहते हैं। इसलिए उन्हें यहाँ लाइए। उनकी कुल संख्या तेंतीस है।

यह संख्या-वृद्धि महायान-पंथ के बोधिसत्वों की कल्पना के प्रभाव से वंचित नहीं मालूम होती। उपनिषद् काल तक हिंदू-देवों की संख्या ३३ ही रही, किंतु बौद्धकाल में बोधिसत्वों की संख्या बढ़ते देख हिंदुओं ने बृहदारण्यक में श्रेणी-अर्थ में प्रयुक्त 'कोटि' शब्द का भावांतर कर बौद्धों से बाज़ी मार ली। विशेश्वरवादी बौद्धों ने हिंदुओं की देखा-देखी महायान-पंथ में बोधिसत्वों को समाविष्ट किया और फिर तो हिंदुओं ने अपने देवों की संख्या ३३ से बढ़ाकर ३३ करोड़ कर दी।

किंतु बौद्ध-कल्पना में हिंदू-देवताओं की भी बोधि-सत्वों में ही गणना की गयी। हिंदुओं के त्रिदेव भी अन्यान्य अनेक बोधिसत्वों की नाईं बुद्धदेव के नीचे ही रहे। हीनयान-संप्रदाय में तो वे शक्र, विष्णु, ब्रह्मा, नारायण आदि पुरातन नाम ही से गृहीत हुए, किंतु महायान-संप्रदाय में उनके नाम भी बदल दिये गये। शक्र का नाम वज्रपाणि और उनके स्वर्ग का नाम त्रयस्त्रिंश-लोक रक्खा गया। ब्रह्मा का नाम मंजुश्री, विष्णु का अवलोकितेश्वर, सूर्य का मारीचि और कुबेर का जंभल कर दिया गया।

परंतु हिंदुओं ने अपने परब्रह्म की नयी शक्तियों के नाम-करण में अपनी पुरातनप्रियता का ही परिचय दिया। उन्होंने यथासंभव अपनी पुरानी लीक नहीं छोड़ी। नवी-नता को वहीं तक आने दिया, जहाँ तक अत्यावश्यक था।

ऋग्वैदिक सूक्तों में ब्रह्मास्पति स्तोत्रों का अधिष्ठाता माना गया है, अतएव उपनिषदों में जहाँ अखिलेश्वर की कल्पना की गयी, वहाँ वह ब्रह्म कहा गया है। अतः पौराणिक धर्म में यही नाम सृष्टा के उपयुक्त समझा गया।

पुनः ऋग्वेद में विष्णु और सूर्य पर्यायवाची शब्द माने गये हैं। भगवान् भास्कर सभी जीवों के पोषक तथा संवर्धक हैं। * अतः पौराणिक धर्म में सृष्टि के पालनकर्ता के लिए विष्णु से अच्छे नाम की योजना नहीं की जा सकी।

इसी प्रकार वेदों में रुद्र की वीभत्स रूप में कल्पना की गयी है। इन्हें संहारकारी घोर गर्जन तथा विद्युत्-प्रपात (तूफ़ान) के अधिष्ठाता होने का सम्मान प्राप्त है। * अतः पौराणिक काल में यही भयोत्पादक संहर्ता बनाये गये। वेदों में इनकी ओषधियों के स्वामी † की हैसियत से अनायास ही तुष्ट हो सोमरस प्रदान करनेवालों के कल्याण करने की बात भी पौराणिक शिव की कल्पना के अनुरूप ही है।

किंतु वेदों में कहीं भी इन त्रिदेवों को इतना गौरवा-न्वित स्थान नहीं प्रदान किया गया है। इंद्र को ही सर्वत्र सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। विष्णु तथा रुद्र देवोत्तम इंद्र के सैनिक एवम् सहायक-मात्र माने गये हैं। प्रमा-णार्थ नीचे लिखे स्तोत्र उद्धृत किये जा सकते हैं।

ये ते युष्मं ये तविषीमवर्धन्नर्चन्त इन्द्र मरुतस्य ओजः।
माध्यन्दिने सवने वज्रहस्त पिबा रुद्रेभिः सगणः सुशिप्र ॥
३.३.३१

अर्थात्—जिसने तेरा सामर्थ्य तथा बल बढ़ाया और जो तेरे तेज का पूजन करता है—हे इंद्र, ऐसे मरुत और रुद्र को साथ लेकर, हे वज्र एवम् मुकुट धारण करने-वाले देव, मध्याह्न के यज्ञ-प्रसंग में सोमरस का प्राशन करो।

अपि च—

दिवो न तुभ्यमन्विन्द्र सवासुर्यं देवेभिर्धायि विश्वम्।
अहिं यद्वृत्रमयो वव्रिवांसं हन्न्ह जीषिन्विष्णुना सचानः।
६.२०

* तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना क्रतुं सचन्त मरुतस्य वेधसः।
दाधार दक्षमुत्तमम हर्विदं व्रजं च विष्णुः खिवां अपोर्णुते ॥
१.२२.१५६

अर्थात्—विष्णुदेव मरुतों पर शासन करते हैं। विष्णु के पराक्रम में भाग लेने का अधिकार राजा वरुण को भी है। इसी प्रकार अश्विदेव का भी अधिकार है। दिन उत्पन्न करके (विश्व को) प्रकाशित करने की शक्ति और उत्कृष्ट सामर्थ्य आप ही (विष्णु) में है। इसलिए विष्णु अपने साथियों के संग स्वर्ग में जाकर (प्रकाशरूपी) धेनुओं को बंधन से मुक्त कर देते हैं, अर्थात् प्रकाश फैलाते हैं।

* व्यक्तूनुद्रा व्यहानि शिक्वसो व्यन्तरिक्षं विरजांसि धूतयः।
वियदज्राँ अजथ नावईं यथा वि दुर्गाणि मरुतो नाहरिष्यथ ॥
५.५४.

अर्थात्—हे महात्मा रुद्रो, जब तुम रात्रियों को तथा दिनों को भी नष्ट कर देते हो, हे शूरवीर देवो; जब तुम अंतरिक्ष लोक को तथा रजोलोक को त्रस्त करते हो, खड़े धान्य (वृक्ष) हवा के ज़ोर से झुक जाते हैं। उसी प्रकार जब तुम जहाज़ों को इस बाजू से उस बाजू और उस बाजू से इस बाजू पर झुका देते हो, उस समय बड़े-बड़े किलों के भी गिर जाने का डर रहता है। परंतु हे मरुतो, तुम्हारा स्वयम् किंचित्-मात्र भी नुक़सान नहीं होता।

† तमुष्टुहि यः स्विषुः सुधन्वा यो विश्वस्य क्षयति भेषजस्य।
यक्ष्वामहे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ॥ ५.४२.

अर्थात्—जिसका शरसंधान उत्कृष्ट है, जो महाधनुर्धारी, सकल ओषधियों का प्रभु है, ऐसे रुद्र देव का स्तवन करो। उस उदार तथा उत्तम मन-प्राप्त्यर्थ रुद्र का यजन करो। उस परमात्मा देव की नमस्कारादि द्वारा सेवा करो।

अर्थात्—हे इंद्र! आकाश जिस प्रकार तेरे अधीन है, उसी प्रकार अखिल परमेश्वरीय सत्ता सर्वकाल तेरे अधीन रहती है। यह बात देवों ने भी स्वीकार कर ली है। क्योंकि, हे सोमप्रिय देव! तूने विष्णु को साथ लेकर सारे जगत् को घेरा देनेवाले भुजंग-वृत्र को जान से मार डाला।

ऋग्वैदिक स्तोत्रों के प्रायः तीन हिस्सों में केवल इंद्र तथा अग्नि की ही वंदना की गयी है। अन्यान्य देवों को बहुत ही गौण स्थान दिया गया है। किंतु वैदिक इंद्र की कल्पना पौराणिक इंद्र से नितांत भिन्न है। अपने पीतवर्ण श्रेष्ठाश्व पर आरूढ़ हो दस्युओं के विरुद्ध रणांगन में प्रमत्त नृत्य करने में सदा तत्पर रहनेवाले वीराग्रगणनीय वैदिक इंद्र तथा पौराणिक आमोद-प्रिय व्यसन में समय व्यतीत करनेवाले समृद्धिशाली देवेश इंद्र में बहुत ही कम सादृश्य देख पड़ता है।

मेरी समझ में इस कल्पना-विनोद का मूल-कारण भारत के राजनीतिक विचारों का परिवर्तन ही है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वैदिक काल के राष्ट्रीय नेता तथा प्रमुख सेनाध्यक्षगण अब प्रदेशाधिपति बन गये थे। आदिम निवासियों के दमन तथा मूलोच्छेद के अनंतर अब नवविजित प्रदेशों का शासन-भार उन्हीं के हस्तगत हो गया था। अतः अधिकार तथा समृद्धि-प्राप्ति के साथ-साथ वैभवशाली राजदरबारों की भी स्थापना प्रत्येक प्रदेश में हो गयी थी।

तदनुरूप ही पौराणिक काल में इंद्र को राज्योचित दरबार के स्वामी होने की कल्पना की गयी। अब वह अपना समय नृत्य-गान तथा काम-कौतुक में व्यतीत करने लगे। रंभादिक अद्वितीय सुरसुंदरियों की उनके चित्तविनोदार्थ तथा सभा की शोभा बढ़ाने के लिए उत्पत्ति एवं नियुक्ति हुई। किंतु साथ ही उनमें उच्चासनारूढ़ होने तथा अधिकार-प्राप्ति के कारण नृपति-सुलभ सतर्कता भी आ गयी। आसनच्युत होने तथा अधिकार छिन जाने का भय अब उन्हें सदा सताने लगा। उनके कान सदा खड़े रहने लगे—जहाँ किसी की घोर तपश्चर्या की बात सुनी, ईर्षा से जलने लगे। पुराणों में सैकड़ों कथाएँ मिलती हैं, जहाँ इंद्र ने ईर्षावश अप्सराओं द्वारा ऋषियों की तपस्या भंग करायी है। वैदिक इंद्र अपना पूर्व पराक्रम खोकर ईर्षा की प्रतिमूर्ति बन गये *—कायरता उनके नस-नस में भर गयी। अतः वैदिक काल में पाँच-पाँच लाख दुर्धर्ष दस्युओं का विनाश करनेवाले † तथा शत्रुओं के अजेय नगरों को विध्वंस ‡ करनेवाले वीर-पुंगव इंद्र अब छोटे-छोटे असुरों के भय से मारे-मारे फिरने लगे। उनकी निज की क्षमता जाती रही—अब तनिक-तनिक-सी बातों में उन्हें ब्रह्मादि त्रिदेवों का मुँह जोहना पड़ा।

त्रिदेवों की मर्यादा की दिनोंदिन वृद्धि होने गयी। बौद्ध-सिद्धांत के अनुरूप प्रतिपादित सृष्टि, भर्ता तथा संहर्ता की भावना जड़ पकड़ती गयी। क्रमशः शास्त्रकार तीनों में भेद बढ़ाने लगे। धीरे-धीरे तीनों विभिन्न शक्तियों के कर्मक्षेत्र अलग हो गये तथा तीनों का व्यक्तित्व भी पृथक् हो गया। होते-होते पार्थक्य-भाव इतना बढ़ा कि तीनों के उपासकों और समर्थकों ने आपस में द्वेष तथा ईर्षा का बीज भी आरोपित कर दिया।

व्यक्तित्व पृथक् हो जाने पर इन लोगों के अवतारों की भी चर्चा विशेषरूप से हो चली। वैदिक समय में पौराणिक रूप के अवतारों की कथा कहीं नहीं पायी जाती। मनु के समय तक वैदिक देवगण यज्ञ का हव्यांश ग्रहण करने के लिए पृथ्वी पर अवतरण करते थे और पुनः अंतर्द्धान हो जाते थे। पौराणिक काल में अवतारों के मनुष्य के सदृश जन्म-ग्रहण करने

* ऊँच निवास नीच करतूती। देख न सकहिं पराइ विभूती।
—अयोध्याकांड

† उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः।
अधि पञ्च प्रधीँरिव॥ ४. ३. ३०

अर्थात्—वर्चि-नामक दस्यु की पाँच लाख सेना चक्र की आरायों-जैसी सुव्यवस्थित थी, किंतु उस समस्त सैन्य को आप (इंद्र) ने बिलकुल परास्त कर डाला।

‡ शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ ४. ३. ३०

अर्थात्—कटवाँ पत्थरों की दीवालों से चारों ओर (किले के समान) घिरे हुए सैकड़ों नगरों का इंद्र ने अपने दिवोदास-नामक भक्त के लिए विध्वंस कर डाला।

तथा मानव-लीला दिखलाने की भावना की गयी है। यहाँ भी बौद्धों से समानता जान पड़ती है। अवतारों की कथा सुनकर मनुष्य का ध्यान अनायास ही बौद्धों की जातक-कथाओं की ओर दौड़ जाता है।

इस काल में पुनरपि, त्रिदेवों की सत्ता में विश्वास रखते हुए भी, एकेश्वर-आराधना का सिद्धांत जमने लगा। राम, कृष्ण, शिव तथा शक्ति के व्यक्तित्व एवं प्रभुत्व में अब लोगों की अविचल भक्ति होने लगी। त्रिदेवों की भी आराधना छोड़ अब लोग उनके पृथक्-पृथक् अवतारों की भिन्न-भिन्न विधियों से उपासना करने लगे। सर्वप्रियता में विष्णु ने ही बाज़ी मार ली। इनके दस अवतारों की कल्पना की गयी। इसका मूल-कारण वैष्णव-संप्रदाय के मुख्य सिद्धांतों की तत्कालीन सर्वशक्तिमान् बौद्धमत से अनुरूपता ही है। तत्पश्चात् भगवान् शंकर की गणना हुई। स्वयं उनके अवतारों की तो कम ही चर्चा चली, किंतु उनकी अर्द्धांगिनी की सती, पार्वती, अंबा, दुर्गा, काली, कराली आदि अनेक रूपों में भावना की गयी। स्वयं महावीर हनुमान ग्यारहवें रुद्र के अवतार माने जाते हैं। किंतु ब्रह्मा तो आराध्यक्षेत्र से बिलकुल बहिष्कृत ही हो गये। अतः उनके अवतार की कहीं चर्चा नहीं पायी जाती।

पुनर्जन्म तथा मोक्ष की कल्पना उपनिषद्-काल में ही प्रतिपादित हो चुकी थी। उपनिषद् के मतानुसार वासना-दमन तथा तृष्णा-परिहार द्वारा मनुष्य परम-पद को प्राप्त कर सकता है। * बौद्धों के निर्वाण की कल्पना भी उपनिषद् की मोक्ष-भावना ही से ली गयी है। किंतु पौराणिक काल में 'स्वर्गहुँ स्वल्प अंत दुखदायी' के नवीन सिद्धांत का प्रादुर्भाव हुआ। निर्वाण बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है। निर्वाण के केवल वे ही भागी हो सकते हैं, जिन्होंने निर्विकार पापरहित जीवन बिताया, तथा तृष्णाओं का परित्याग कर जो निरंतर आत्मोन्नति एवं पुनीत मनन तथा अध्ययन में लगे रहे। पुण्य कर्मों द्वारा अर्जित स्वर्ग से तो कर्मक्षय के अनंतर लौटना होता है; किंतु निर्वाण वह है, जिसमें मृत्यु के अनंतर फिर कभी पुनर्जन्म न हो। इस नये सिद्धांत में बौद्ध-संस्कृति का प्रभाव पाया जाता है। हिंदुओं ने इसे मोक्ष की भावना में समाविष्ट किया। अतः उपनिषद्-कालीन मोक्ष की भावना बौद्धों के निर्वाण की कल्पना से परिष्कृत होकर पुनः हिंदूधर्म में गृहीत हुई।

सारांश यह कि तत्कालीन हिंदूधर्म तथा बौद्धमत में बहुत-सी बातों में सादृश्य मिलता है। दोनों ही ने एक दूसरे के सिद्धांतों को उद्धृत किया। कुछ दिनों तक आपस में खूब ही चढ़ा-ऊपरी तथा खींचा-तानी चली। यह दो धर्मों अथवा दो मतावलंबियों की लड़ाई नहीं थी, वरन् अधिकार-प्राप्ति की अंतिम चेष्टा थी। क्षत्रियों ने ब्राह्मण-सत्ता की नींव हिला दी, किंतु चतुराई के आगे उन्हें मुँह की खानी पड़ी। सनातनियों ने अपनी संकीर्णता को परित्याग कर तथा अपने धर्म की बौद्धों के साथ समानता दिखलाकर अपने धर्म को बौद्धमत के प्रवाह में डूबने से बचा लिया।

वैष्णव-धर्म के आधुनिक स्वरूप में बौद्ध-धर्मांतर्गत महायान-संप्रदाय के इतने सिद्धांतों की झलक पायी जाती है कि उनके मध्य-विभाग की क्षीण रेखा भी खींचना असंभव है। बौद्धों के अनुरूप ही वैष्णव-संप्रदाय में भी सब जीवों की समानता—'सियाराममय सब जग जानी; करौं प्रणाम जोरि जुग पानी''—का सिद्धांत पूर्णरूपेण प्रतिपादित है। संप्रदाय के अंतरंग जाति-विभेद की क्षीणता भी बौद्धों के अनुकूल ही है। आज भी वैष्णव-भंडारों में सभी जाति के लोग एक ही पंक्ति में बैठकर खान-पान करते हैं। फिर 'अहिंसा परमो धर्मः' के दोनों ही कट्टर पक्षपाती हैं। दोनों ही अवतारों के पूर्ण समर्थक हैं। क्रमशः वे बुद्ध तथा श्रीराम-कृष्ण के व्यक्तित्व में अनन्य भक्ति रखने लगे और अब तो वैष्णव-धर्म ने बुद्ध को विष्णु का एक अवतार ही*

* तदेष श्लोको भवति ॥ तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य ॥ प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम् ॥ तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽयथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥ ६ ॥ बृहदारण्यकोपनिषत्—चतुर्थोऽध्यायः चतुर्थं ब्राह्मणम्।

* निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातम्।
सदयहृदयदर्शितपशुघातम् ॥
केशवधृतबुद्धशरीर।
जय० जगदीश हरे ॥—श्रीगीतगोविन्दम्

स्वीकार करके, अपने विस्तीर्ण एवं उदार संप्रदायों में अवशिष्ट बौद्ध-शिक्षा और सभ्यता को सम्मिश्रित कर बौद्ध-मत को भारतवर्ष से सर्वदा के लिए बिदा ही कर दिया।

पौराणिक काल में धार्मिक सिद्धांतों के अतिरिक्त पूजन-विधि में भी कल्पांतकारी परिवर्तन हुआ। यह परिवर्तन भी तत्कालीन धर्म-संरक्षकों के कार्य-कौशल तथा चतुरता का द्योतक ही कहा जा सकता है; किंतु अंततः यह बड़ा ही अनर्थकारी एवं देश तथा परिस्थिति के लिए कालस्वरूप सिद्ध हुआ। यह विषाक्त नवीन प्रणाली मंदिर संस्थापन की थी। वैदिक काल में मूर्तिपूजा बिलकुल अज्ञात थी। उन दिनों छोटे से बड़े तक सभी लोग यज्ञ-विधान करते थे तथा देवताओं को जो अंश समर्पित करना होता था, उसे अग्नि में हवन कर देते थे। देवता लोग स्वयं उपस्थित हो यज्ञ का भाग ग्रहण करते थे। मंदिर-स्थापना की प्रथा अभी तक नहीं चली थी। मनु ने पुजारियों की चर्चा अवश्य की है, किंतु वे बड़ी तुच्छ दृष्टि से देखे गये हैं और उनकी गणना * शूनाध्यक्षों तथा कलालों की श्रेणी में की गयी है। महर्षि वशिष्ठ ने भी रामायण के उत्तरकांड में कहा है—

उपरोहिती कर्म अति मंदा ; वेद पुराण सुमृति कर निंदा।

* We have seen before that Manu who was a strong conservative in matters of religious rites, upheld the ancient system of offering sacrifices in the domestic and sacrificial fires and indignantly classed temple priests with venders of liquor and sellers of meat.

—R. C. Dutta's Ancient India, Book V, Chapter V.

किंतु बौद्धों के प्रभाव द्वारा यह कुप्रथा दिनोंदिन जड़ पकड़ती ही गयी। पहले तो बौद्ध-संघ-संस्थापन का ही इस पर काफ़ी असर पड़ा, तदनंतर महायान-संप्रदाय द्वारा स्थापित मंदिरों से इसे आशातीत सहायता पहुँची। धर्मनिरीक्षकों ने संभवतः दो अभीष्टों का लक्ष्य कर इस प्रथा को स्थापित तथा प्रचलित किया था। प्रथमतः तथा सर्वोपरि तो वही अधिकार-प्राप्ति तथा संरक्षण की चिंता थी। मंदिरों की स्थापना कर तथा पुजारियों एवम् अभिभावकों के पद पर स्वयं विभूषित हो ब्राह्मणों ने अपनी मर्यादा की अपरिमेय वृद्धि कर ली। अपनी सत्ता को बनाये रखने तथा छुआछूत-विभेद को क़ायम रखने की इससे अच्छी तथा सुगम दूसरी युक्ति न थी। पूजार्चना में अब वे अत्याज्य हो गये—जनता उनके हाथों का खिलौना हो गयी।

इस प्रथा के प्रचलित करने का दूसरा लक्ष्य मंदिरों की तड़क-भड़क तथा शान-शौकत को लोगों के लिए आकर्षक बना उन्हें धर्म-परित्याग से बचाना था। अतः इसका प्रचार भी यथेष्ट हुआ। पौराणिक समय में सारे देश में मंदिरों तथा मठों की भरमार हो गयी। मठाधीशों तथा पुजारियों के वैभव एवम् समृद्धि की तुलना राजा-महाराजाओं से की जाने लगी। मंदिर-निर्माण तथा देवोत्तर-दान में देश की संपत्ति पानी-जैसी बहायी जाने लगी।

संपत्ति, ऐश्वर्य तथा विभव ने अपना कुप्रभाव अधिकारियों पर डाला। धन का दुरुपयोग होने लगा। पुण्यसंचय के बदले इनके द्वारा पाप का पूर्ण संचार होने लगा। स्वर्ग के मार्ग को अवरोध कर इसने नरक का पथ खोल दिया।

अंतरंग लक्ष्य दूषित होने पर भी बौद्ध-संघ तथा हिंदू-मठों के निर्माण का बहिरंग अभीष्ट यही था कि इनके सहारे पेट की चिंता छोड़कर अर्थी अपनी आध्यात्मिक उन्नति में संलग्न रहें, दरिद्र-नारायणों की सेवा की जाय, विद्यार्थियों को विद्या दान दिया जाय, यात्रियों तथा अभ्यागतों का उचित सत्कार-मेहमानदारी की जाय; पाठशाला, पुस्तकालय, औषधालय आदि खोल-कर सर्वसाधारण असमर्थों को सहायता पहुँचायी जाय, जिससे समाज में, देश में, सुख-शांति फैले। देश तथा समाज ने इनके द्वारा यत्र-तत्र यथेष्ट लाभ भी उठाया, किंतु कालांतर में जिस अभिप्राय, जिस उद्देश्य और जिस लक्ष्य को रखकर यह संस्था संगठित हुई थी, उसकी ओर लोगों का ध्यान बिलकुल नहीं रहा। अब तो मठाधीशों तथा धर्मध्वजाधारियों के प्रवृत्ति-मार्ग में अग्रसर होने के कारण इस धन का दुरुपयोग ऐसा हो रहा है कि देखकर विलासी मायामुग्ध संसार में रत गृहस्थों का भी माथा नीचा हो जाता है।

अंततः यही विषाक्त प्रथा देश के गौरव तथा विभूति के लिए विनाशकारिणी सिद्ध हुई। आध्यात्मिक ह्रास का तो कुछ कहना ही नहीं, मध्यकालीन भारत के राजनीतिक पतन का भी यही कारण हो गया। इन वैभवसंपन्न मंदिरों की विशाल अतुलनीय संपत्ति की ख्याति दूर-दूर तक देश-देशांतरों में हो गयी। भारत पर सभी की आँखें लग गयीं। मुहम्मद गज़नवी-जैसे साहसी धन-लोलुपों ने आख़िर देश की लूट का द्वार खोल दिया। सारे देश में आतंक फैल गया और अंततः स्वतंत्रता की आहुति कर दी गयी। भारत का अनंत ऐश्वर्य तथा गरिमा मंदिरों एवं मठों की वेदी पर बलिदान हो गयी।

किंतु खेद है कि इतना होने पर भी हमारे धर्म-निरीक्षकों की आँखें अभी तक नहीं खुलतीं। इस बीसवीं शताब्दी में भी जब सारा संसार एक स्वर से व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा सामाजिक समानता का राग अलाप रहा है, हमारे पुरातन-प्रिय सनातनी ब्राह्मणगण इन मंदिरों के सहारे छुआछूत के विचार तथा शूद्रों की हीनावस्था बनाये रखने की चेष्टा से विचलित नहीं होते। आज भी भारत के कितने ही प्रांतों में अब्राह्मणों के लिए मंदिरों के द्वार अवरुद्ध रक्खे जाते हैं! परिस्थिति, परिवर्तन तथा वातावरण की प्रतिकूलता हमारे धर्म-ध्वजों पर कोई प्रभाव ही नहीं डाल सकती। वे आज भी सत्ययुग की ही स्वर्णमयी भावना में अपने स्वप्नमय जीवन को व्यतीत कर रहे हैं। देखें, नासिक आदि स्थानों का आंदोलन उन्हें कब तक वास्तविक कर्मक्षेत्र में पदार्पण करने को बाध्य करता है!

राजयक्ष्मा

[श्रीहनूमानप्रसाद शर्मा वैद्यशास्त्री]

यह रोग कितना भयंकर होता है, इसकी कल्पना केवल इसका नाम सुनकर ही हो जाती है। भयंकरता को सोचकर कड़ा-से-कड़ा मानव-हृदय भी सिहर उठता है। साथ ही जिसके पीछे यह पड़ जाता है, उसका तो सर्वनाश अवश्यम्भावी है। वास्तव में इस रोग से बिरला ही बच पाता है। इसके माने यह नहीं कि यह रोग होते ही असाध्य हो जाता है। बल्कि इसकी चिकित्सा उस समय आरम्भ की जाती है, जब रोग एकदम असाध्यता की ओर अग्रसर होता है। इसका कारण भारतीयों की स्वास्थ्य-विषयक अनभिज्ञता और दरिद्रता ही है। यह रोग हर स्थिति के मनुष्यों को होता है; किंतु धनिक तो वैद्य-डाक्टरों को पैसा देना अपनी मूर्खता समझते हैं, ग़रीब तो ग़रीब ही है, वह बेचारा दे ही क्या सकता है। साथ ही इस रोग में साधारण नमक-हर्रे से काम भी नहीं चलता। साधारण ओषधियाँ लाभ के बजाय हानि पहुँचाती हैं। फिर इस युग में बिना पैसे के सीधे बात करनेवाले चिकित्सक भी उँगलियों पर गिनने लायक़ ही हर जगह मिलते हैं। चिकित्सक बेचारे क्या करें; अमीर पैसा देने से रहे, ग़रीब दे नहीं सकता, फिर वे किसके घर से लाकर अपना और ग़रीबों का काम चलाएँ? पर्याप्त द्रव्य के बिना रासायनिक ओषधियाँ किसी प्रकार बन ही नहीं सकतीं।

यह छूत का रोग है, एक से दूसरे के पास पहुँच जाया करता है। इस रोग के विशेष कारण कीटाणु ही हैं। वैदिक काल से लेकर आज तक सभी चिकित्सा-शास्त्र इन कीटाणुओं को मानते आ रहे हैं। इसके लिए कृमिनिदान और कृमि-चिकित्सा का अध्याय ही आयुर्वेदिक ग्रंथों में है।

आजकल युवक-युवतियों को ही विशेष रूप से इसका शिकार बनना पड़ता है। इसका कारण वे सामाजिक कृमि हैं, जो जान-बूझकर अपनी संतान का गला घोंटते हैं। छोटी अवस्था में ही उनका विवाह कर दिया जाता है। हिंदू-समाज में वैवाहिक जीवन जितना ही सुखमय और आदर्श माना जाता था, आजकल वह उतना ही हेय और दुःखमय बन गया है। इस छोटी अवस्था में विवाह होते ही घरवालों को बच्चे खेलाने का शौक़ चर्राता है। दोनों के लिए शृंगार-साधन प्रस्तुत कर दिये जाते हैं। किसी-न-किसी प्रकार का ज्ञान होने पर हर तरह के कुरुचिपूर्ण उपन्यास और कहानियों का पाठ आरम्भ हो जाता है। युवा होने पर साथी लोग हर तरह का ज्ञान कराने से बाज़ नहीं आते। जवानी की शुरुआत होती है, तरह-तरह की उमंगें हृदय में तूफ़ान मचाया करती हैं। वे अपनी उमंगों को पूरी करने लग जाते हैं, अपरिपक्व अवस्था में ही रज और वीर्य का अपव्यय आरम्भ हो जाता है। क्रमशः मासिक धर्म की ख़राबी, प्रदर और प्रमेह-जैसे भयंकर व्याधियों का शिकार बनना पड़ता है। सारी उमंगें नष्ट हो जाती हैं। जीवन भार और दुःखमय बन जाता है। ये ही रोग कमज़ोर कर राजयक्ष्मा का शिकार बना देते हैं। दो में से एक को संसार छोड़ना पड़ता है। फलतः एक बच्चे का जीवन कष्टमय हो जाता है। वह घुल-घुलकर मरता और देखनेवाले तरस खाते हैं। उसका बचा खुचा जीवन कष्टमय बन जाता है। इसके अतिरिक्त इस रोग की सबसे बड़ी सहायक आजकल की विषैली पाश्चात्य सभ्यता है। इसने मनुष्य के रहन-सहन को इतना बड़ा जंजाल बना दिया है कि वह रात-दिन चिंता से ही दुःखी करता है। आय से अधिक व्यय इसका एक कारण है। इंद्रिय-सुख के लिए तरह-तरह के मादक पदार्थों का सेवन भी अत्यंत हानिकारक है। नीचे लिखे प्रमाणों से यह अवश्य सिद्ध हो जायगा कि ये सभी बातें कितनी सत्य हैं—

वेगरोधात्क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥

सब प्रकार के वेगों के—जैसे मल-मूत्र, रोना-हँसना,

...आवा-चाचना आदि—रोकने अर्थात् अपनी इच्छा-शक्ति को दबाने से, वीर्य-क्षय होने से, साहस करने अर्थात् अपनी शक्ति से अधिक काम करने से और विषम भोजन करने से त्रिदोष—वात, पित्त, कफ—कुपित हो-कर यक्ष्मा रोग पैदा करता है।

ये सब कारण इस रोग की उत्पत्ति के बताये गये हैं। किंतु आजकल विशेष रूप से प्रधान धातुक्षय-वाला ही कारण मिलता है। अन्य तीन कारण आज-कल के लिए गौण हो रहे हैं। अंत में वे कुपित दोष क्या करते हैं—

कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।
अतिव्यवायिनो वापि क्षीणे रेतस्यनन्तराः ॥
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ।

कफप्रधान वातादिक दोष रसवाहिनी धमनियों के मुख को रोककर अथवा अधिक मैथुन करनेवाले का वीर्य क्षीण होने पर समीपवर्ती अन्य धातुओं का क्षय करते हैं। उसके बाद मनुष्य सूखता अर्थात् दुर्बल—कृश—होता है।

यहाँ से इस रोग के दो विभाग हो जाते हैं। एक को अनुलोम-क्षय और दूसरे को विलोम-क्षय कहते हैं। अनुलोम-क्षय उसे कहते हैं, जिसमें अन्य किसी कारण-विशेष से कुपित हुआ दोष रसवाही धमनियों के मार्ग को रोककर रस-क्षय करे। इसमें पहले रस, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस और मेदादिक धातुओं का क्रम से क्षय होकर अंत में शुक्रक्षय होता है। यह बालक से वृद्ध तक सभी अवस्थावाले को होता है।

विलोम-क्षय उसे कहते हैं, जिसमें सबसे पहले अति मैथुन के कारण शुक्रक्षय होता है। इसमें शुक्र के बाद मज्जा, मज्जा के बाद अस्थि-मेदादिक धातुओं का क्षय होता है। अंत में रस के क्षय की बारी आती है। यह जवान या वृद्ध को ही होता है। वीर्य-क्षय के बिना विलोम-क्रमवाला क्षय नहीं होता। किंतु आजकल विलोम-क्षय ही विशेष रूप से दिखायी पड़ता है।

राजयक्ष्मा का ही एक नाम शोष है। जिससे मनुष्य सूखे, उसे शोष कहते हैं। उपर्युक्त कारणों से मनुष्य सूखता है, इसलिए इसका शोष नाम सार्थक है। क्षय में पहले निम्न-लिखित लक्षण होते हैं—

श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥

श्वास, अंग में पीड़ा, कफ गिरना, तालु सूखना, वमन, अग्निमांद्य, नशा मालूम पड़ना, जुकाम, खाँसी, निद्रा न आना, नेत्रों का सफ़ेद हो जाना, मांस खाने की इच्छा करना और स्त्रियों में रमण करने की इच्छा आदि लक्षण राजयक्ष्मा के पूर्व-रूप माने गये हैं।

यह रोग की आरंभिक अवस्था है, किंतु इस अवस्था में चिकित्सा न कर केवल उपेक्षा से काम लिया जाता है। पुरुषों की चिकित्सा चाहे हो भी जाय, परंतु स्त्रियों की चिकित्सा तो किसी प्रकार भी नहीं होती। बराबर रोग को भयंकर बनने का अवसर दिया जाता है। यह जब बढ़कर अपना भयंकर रूप दिखाता है, उस समय बड़े-बड़े चिकित्सकों के पैर फूल जाते हैं। कहा है—

स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठ-
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलांश्च पश्येत्
शुष्कांस्तरून् पवनधूमदवार्दितांश्च ॥
अंशपार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयोः ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥

स्वप्न में कौआ, सुग्गा, साही, नीलकंठ, गृध्र, वानर, और केंकड़ा आदि पर चढ़कर घूमने का अनुभव करे; संपूर्ण नदियाँ सूखी दिखायी पड़ें; सूखे वृक्ष—हवा, धुआँ और वनाग्नि से जलते दिखायी पड़ें; कंधा-पसली में अभिताप; हाथ-पैरों में जलन और सर्वांगव्यापी ज्वर आदि लक्षण राजयक्ष्मा में होते हैं। उपर्युक्त लक्षणों के मिलने पर यह रोग कठिन हो जाता है और शीघ्र ही असाध्य की ओर अग्रसर होने लगता है।

स्वरभेद, वातजन्य शूल, कंधा और पसली में संकोचन, ज्वर, दाह, अतीसार, रक्तपित्त, सिर का भारीपन, भूख न लगना, खाँसी और कंठ में कफ की खरखराहट, अथवा अन्न में अरुचि, ज्वर, श्वास, खाँसी, रक्त का कफ के साथ गिरना और स्वरभेद, अथवा खाँसी, श्वास और रक्त-विकार—जिस रोगी में उपर्युक्त ग्यारह,

छः अथवा तीन लक्षण मिलें, वह क्रम से असाध्य और कष्टसाध्य होकर चिकित्सा योग्य नहीं रह जाता । साथ ही जिस रोगी में ये कोई भी लक्षण न मिलते हों और बल-मांस का परिक्षय हो गया हो, उसे एकदम असाध्य समझना चाहिए । बल-मांस के परिक्षय के बाद वह स्वयं असाध्यावस्था हो जाता है । उस समय इन लक्षणों की आवश्यकता ही क्या ?

कम-से-कम मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि यक्ष्मा के असाध्य रोगी बहुत ही कम साध्य हुए हैं । इस रोगवाले के लिए यही बड़ी बात है कि जिस समय रोग साध्य रहता है, उसी समय चिकित्सा कर आरोग्य-लाभ कर ले । अन्यथा असाध्यावस्था में साध्य का स्वप्न कैसा ? इस रोग के लिए लिखा है—

"परं दिनसहस्रन्तु यदि जीवति मानवः ।
सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः ॥"

अच्छे वैद्य की चिकित्सा होने पर नवीन राजयक्ष्मा का रोगी एक हज़ार दिन अर्थात् तीन वर्ष जीवित रहता है ।

इस रोगवाले के लिए सबसे विचारणीय प्रश्न चिकित्सा का है । चिकित्सक एवं रोगी को दो बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए—(१) किसी प्रकार रोगी के वीर्य का क्षय न हो । दुर्बलता न आने पावे । (२) मल-दोष (वात-पित्त-कफ) और पुरीष भाग । अर्थात् किसी प्रकार का ऐसा उपचार न किया जाय, जिससे अधिक दस्त होकर शिथिलता आवे । कफ भी अधिक निकालने का प्रयत्न न किया जाय । कफ-क्षय के कारण भी दुर्बलता आती है । इसलिए कफ और पुरीष दो ही रोगी के जीवनरक्षक हैं । यक्ष्मी का वात-पित्त-कफ अथवा पुरीष तक ही बल है और वीर्य तक ही जीवन है । इसके साथ ही खान-पान और रहन-सहन का ध्यान रखना भी आवश्यक है ।

ऐसे रोगी को सदैव ताज़ा सादा, हलका और किंचित् स्निग्ध भोजन ही देना चाहिए । हरे शाकों और दोनों प्रकार के—हरे-सूखे—फलों का व्यवहार विशेष लाभ-दायक होता है । फलों के लिए मौसम का ध्यान रखना बहुत ज़रूरी है । गरमी और बरसात में हरे एवं जाड़े के दिनों में सूखे फल विशेष लाभदायक सिद्ध हुए हैं । दोनों समय जल गरम करके ही पीना लाभकारी है । बकरी या गाय का दूध, समभाग जल मिलाकर पकाया हुआ, केवल दूध बाक़ी रहने पर ही पीना चाहिए । इस रोग में गाय की अपेक्षा बकरी का दूध अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है । कचनार, लसोढ़ा और सहिंजन आदि के फूलों का पथ्य भी गुणकारी है । एक बार एकदम खाने की अपेक्षा दिन में कई बार थोड़ा-थोड़ा खाना विशेष लाभप्रद होता है । घी हानिकारक और दुग्ध लाभदायक है । पान, इलायची, सौंफ और थोड़ी सुपाड़ी खाना लाभप्रद है ।

समुद्र-तट का निवास इस रोग के लिए अत्यंत हित-कारी है । इसके अभाव में पहाड़ और उसके अभाव में शहर से बाहर जहाँ का जल-वायु शुद्ध हो, मच्छड़ों का भय न हो, किसी नदी का तट हो, तो अधिक उत्तम है । नीम, बड़, पीपल, लसोढ़ा, गुलाब, जुही, बेला और तुलसी आदि के वृक्ष अवश्य लगे हों । अधिक आदमियों का आना-जाना भी हानिकारक है । रोगी का निवास-स्थान बस्ती से अधिक दूर होना चाहिए । ऋतु के अनुसार कपड़े पहनने चाहिए । किंतु जाड़े के दिनों में रुई के कपड़ों का उपयोग करना चाहिए, ऊनी का नहीं । ऊनी कपड़ों में रक्त-शोषण की विशेष शक्ति होती है और वह अवस्था इस रोग के लिए विशेष हानिकारक होती है । रोगी के व्यवहार के सभी कपड़े साफ़ धुले हुए हों । फिर भी चौथे-पाँचवें उन्हें धूप दिखा दी जाया करे । सूर्य की किरणों से यक्ष्मा के कीटाणु बहुत शीघ्र नष्ट हो जाते हैं ।

वहाँ पर मनोरंजन की सामग्री भी यथेष्ट मात्रा में प्रस्तुत रहनी चाहिए । किंतु उसमें कोई ऐसी व्यवस्था न हो, जिससे रोगी का चित्त विषय की ओर जाय । उसे हर समय प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिए । कोई ऐसा कार्य या संवाद न कहा जाय, जिससे रोगी को कष्ट होने की संभावना हो । चिंता, शोक, क्रोध और भय आदि से एकदम उसे बचाना चाहिए । रोगी की अवस्था चाहे कितनी ही ख़राब हो; किंतु उसे ऐसा विश्वास दिलाना चाहिए, जिसमें वह समझे कि मेरा रोग उत्तरोत्तर ठीक हो रहा है और यथाशीघ्र मैं आरोग्यलाभ करूँगा । रोगी को हर समय ऐसे व्यवहार में लगाये रहना चाहिए, जिसमें वह अपने कष्ट का अनु-भव न कर सके । साथ ही उसे इतना हँसाना चाहिए

जितने में किसी प्रकार गले में खुश्की न पैदा हो जाय। हँसने से रक्त में गरमी पैदा होती है, फेफड़े का विकार निकल जाता है और उसकी ठीक-ठीक क्रिया होती है। शक्ति के अनुसार मुक्तवायु में थोड़ा-थोड़ा सुबह-शाम टहलना भी चाहिए।

सबसे ज़रूरी इस रोग में परिचारक और परिचारिका हैं। यदि यह उपयुक्त नहीं हैं, तो निश्चय ही सब साधन व्यर्थ होंगे। पहले बताया जा चुका है कि इस रोग में कामशक्ति विशेष होती है। रोगी स्त्री की, और रोगिणी पुरुष की इच्छा करती है। इसका कारण केवल दुर्बलता है। इसलिए रोगी के वास्ते परिचारक और रोगिणी के लिए परिचारिकाएँ रक्खी जायँ, अथवा जिनसे माता-बहन, भाई और पिता आदि का संबंध हो, वे ही इस काम में विपरीत रूप से रक्खे जा सकते हैं, अन्य नहीं। सबसे अच्छी परिचारिकाएँ वृद्धा नर्सें होती हैं। परिचारक आदि रोगी के अनुकूल हों। प्रतिकूलता का आभास मिलते ही तुरंत बदल दिये जायँ।

प्रातःकाल सबसे पहले शौच आदि से निबटकर झट दातुन कर लें। उसके बाद बकरी के धारोष्ण दूध में शुद्ध शहद, मिश्री, पीपर का चूर्ण और सतावर का रस मिलाकर पी जाना चाहिए। सीतोपलादि चूर्ण और अडूसे का रस भी शहद के साथ लाभकारी है। इन्हीं चीज़ों के साथ अभ्रक-भस्म और बृहत्स्वास चिन्तामणि-रस देने से विशेष लाभ होता है। चंद्रामृत-रस और च्यवनप्राशावलेह भी रोग की अवस्था-विशेष पर दिया जा सकता है। ज्वर की तीव्रता होने पर महाज्वरांकुश-रस और अभ्रक-भस्म की दो मात्राएँ दिन में तुलसी के रस के साथ देनी चाहिए। कासकर्तरी-गुटिका हर समय मुख में रखकर चूसने को दी जाय। अधिक आवश्यकता पड़ने पर महाराज-मृगांक की दो मात्राएँ मुलेठी के चूर्ण और शहद के साथ सुबह-शाम दी जायँ। इस रोग के लिए इससे बढ़कर अन्य औषधि नहीं है। आवश्यकतानुसार वसन्तमालती, स्वर्ण, मुक्ता तथा अन्य रत्नों का उपयोग करना चाहिए। वनौषधियों में अडूसा सबसे अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। रसादिकों के बिना चिकित्सा करने से भाग्य पर छोड़ना ही अच्छा है।

श्रीतुलसी-संकीर्तन

[श्रीब्रह्मदत्त शर्मा 'शिशु']

गुंजित सुललित गान, मृदुल स्वर ।
अधर वेणु मंजुल नव वीणा, विश्व-विमोहन तान, सुखद वर ।

नित नूतन पीयूष निर्झरण,
अचल प्रेम मधु-मंद-रस-तर्पण,
दिव्य भाव सुमनांजलि-अर्पण,
लहरित सिंधु समान भक्ति-सर ।
उस अनंत के अंतस्तल पर,
प्रकृति 'माधुरी' के अंचल पर,
अवनि-व्योम-जल-अनिलानल पर,
विलसित सत्य महान् रूप धर ।

नंदन-वन सम तरु कुसुमित पर,
नवजीवन मय पथ सुरभित पर,
झूम-झूम मादकता नित भर,
करे मधुर मधु-पान भृंग-वर।
अखिल भुवन अभिव्याप्त निरंजन,
अमल नवल अविकार गुप्त धन,
प्रकृति-यवनिका कर उत्कर्षण,
देखा प्रेम-निधान दृष्टि-भर।

नील जलज सम श्याम मनोहर,
अमित कोटि रति-पति लज्जित कर,
तुलसी मानस के शुचि-तट पर,
विहरें नित भगवान् सुछवि धर,
गुंजित सुललित गान मृदुल स्वर ।

प्रत्युत्तर

[कुमार श्रीप्रतापनारायण "कविरत्न"]

अक्टूबर सन् ३१ की माधुरी में पृष्ठ ३२४ से ३६० पर्यंत श्रीयुत वीरसिंहजी तँवर का 'कुशवाहा-राजवंश'-नामक एक लेख छपा है । इसको ध्यानपूर्वक पढ़ने से यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रीतँवरजी ने कछवाह-कुल के इतिहास जाननेवाले विद्वानों में अपने-आपको सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का असफल प्रयत्न किया है । हम श्रीतँवरजी से यह निवेदन करते हैं कि इतिहास में ऐसे जोश से काम नहीं चलता । इसमें स्वाध्याय और सुमति की ही आवश्यकता है ।

आपने हमारे ऊपर जो आक्षेप किये हैं, वे सर्वथा अप्रासंगिक हैं । मई की माधुरी में हमारा जो लेख छपा है, उसमें हमने स्पष्टतः सूचित कर दिया है कि—"हम इतिहास लिखने नहीं बैठे और न साहित्य-सुधा-निधि होने के कारण हम इस दुस्साध्य कार्य में सफलीभूत ही हो सकते हैं ; किंतु जयपुर के वर्तमान महाराजाधिराज का कुछ संक्षिप्त जीवन-चरित एवं वाइसराय महोदय से १४ मार्च १९३१ को उनकी सर्वाधिकार प्राप्ति के विषय में ही हमें कुछ लिखना है......ऐसी दशा में अनुभवी इतिहास-वेत्ता इस लेख का उपहास नहीं करेंगे और कहीं त्रुटि भी रह जाय, तो उसे क्षम्य ही समझेंगे ।"

हमारी उक्त पंक्तियों को पढ़कर भी श्रीतँवरजी अपने

शूरवीरता को हमीं पर प्रदर्शित करते हैं और लिखते हैं कि—"अभी आप कछवाह-वंश के इतिहास का कई साल मनन करने के बाद इसके इतिहास पर क़लम उठावें, तो अति उत्तम होगा। ऐसे भ्रम-मूलक लेख ही आगे चलकर ऐतिहासिकों के लिए काँटे बन जाते हैं।" महाराज! ऐसे लेख, जिनका उद्देश्य ही कुछ दूसरा हो, आप-जैसे ऐतिहासिकों के लिए ही काँटे बन सकते हैं, सच्चे इतिहास-वेत्ताओं के लिए नहीं। आपकी सम्मति में हम तो कुछ हैं ही नहीं। आपने हमीं पर अपना हाथ नहीं साफ़ किया, प्रत्युत पूज्य ओझाजी महाराज, कर्नल टाड आदि इतिहास के धुरंधर विद्वानों को भी आड़े हाथों लिया है और उनको झूठा साबित करने के लिए चेष्टा भी की है। आपका यह लेख उस मनुष्य के साहस के समान है, जो भगवान् श्रीरामचंद्रजी की कथा लिखने के लिए महर्षि श्रीवाल्मीकिजी, तुलसीदासजी, केशवदासजी आदि कवीश्वरों की रचनाओं में दोष ढूँढ़ निकालता हो।

इतिहास लिखनेवाला चाहे वह कैसा भी विद्वान् क्यों न हो, किसी-न-किसी का आधार अवश्य ही लेता है। हमने भी ऐसा ही किया है। हमें कोई बहुत खोज के साथ इतिहास तो लिखना ही नहीं था, जो सैकड़ों पुस्तकों की छान-बीन करते और पद-पद पर प्रमाण भी देते; हमारा इस विषय में कुछ और ही लक्ष्य था। आपने तो यहाँ तक साहस किया है कि प्रेस की कुछ अशुद्धियों का भी दोष हमीं पर मढ़ दिया है।

आप सबसे प्रथम तो वर्तमान जयपुराधीश से हमारे वार्तालाप एवं उनके सहपाठी होने में ही संदेह करते हैं और फिर कहते हैं कि कछवाह-शब्द कूर्म से नहीं बना। महाराज! हमारी ही यह सम्मति नहीं है; सुखसम्पत्तिरायजी भंडारी भी ऐसा ही मानते हैं। कृपया आप उनकी पुस्तक 'भारत के देशी राज्य' में जयपुर-राज्य के इतिहास के चतुर्थ पृष्ठ पर देखें कि क्या लिखा हुआ है। वह लिखते हैं—"महाराज कुश के पुत्र का नाम कूर्म अथवा कछवा था। इसी से ये कछवाह-राजपूत कहलाये जाने लगे। ईस्वी सन् की १०वीं शताब्दी में इस वंश में राजा नल हुए। इन्होंने 'नरवर' शहर बसाकर वहाँ राज्य किया……इत्यादि।" हम आपका कहना मानें या कि एक अनुभवी इतिहासज्ञ का, जिसने बहुत परिश्रम और खोज के साथ उक्त बृहद्काय ग्रंथ लिखा है।

आपके दूसरे आक्षेप का यही उत्तर है कि कृपया 'बँगला-विश्वकोष' के सम्पादक श्रीनगेंद्रनाथ वसु प्राच्य-विद्यामहार्णव, सिद्धांत-वारिधि, शब्दरत्नाकर, तत्त्व-चिंतामणि, एम्० आर० ए० एस्० तथा हिंदी के कई अनुभवी विद्वानों द्वारा संकलित 'हिंदी-विश्वकोष' के अष्टम भाग के ६०वें पृष्ठ को ध्यान से पढ़ें। इसमें लिखा है—"वज्रदाम के अष्टम वंशधर तेजकरण (दूलहाराय) ने ११२८ ई० में ग्वालियर छोड़ा। इन्होंने अपने श्वशुर से देवासा (द्योसा) दहेज में पाया था। इनके उत्तराधिकारी चौथे (किसी के मत से पाँचवें) पजूनजी ने पृथ्वीराज चौहान की लड़की के साथ विवाह किया था। ११९२ में ये अपने श्वशुर के साथ-साथ मुहम्मदगोरी के हाथ से मारे गये।" इसी बात का समर्थन सुखसम्पत्तिरायजी भंडारी भी करते हैं, किंतु वे पजूनजी का विवाह पृथ्वीराज की बहन के साथ होना बतलाते हैं, जैसा कि हमने लिखा है। आप इस विषय में 'जयपुर राज्य का इतिहास' के छठे पृष्ठ को ध्यानपूर्वक पढ़ें। इसमें लिखा है कि "आपका (पजूनजी का) ब्याह सम्राट् पृथ्वीराज की बहन के साथ हुआ था। इसी से आपके महाबल का परिचय मिलता है।" आप लिखते हैं कि "पजवनजी की पुत्री पृथ्वीराज चौहान को ब्याही थी। पजवनजी—संयोगिता-हरण के अवसर पर कन्नौजवाले युद्ध में जयचंद राठौर से लड़ता हुआ, ईसवी सन् ११८३-८४ में, वीरगति को प्राप्त हुए थे।" प्रथम तो यह वाक्य ही अशुद्ध है। होना चाहिए पजूनजी लड़ते हुए, न कि पजवनजी लड़ता हुआ। व्याकरण की ऐसी मोटी भूलें होना श्रीतँवरजी के लेख में कोई असाधारण बात नहीं है। संभव है, आपने 'जयपुर राज्य का इतिहास' के आधार पर ही यह लिखा हो; किंतु उसमें भी ईस्वी सन् ११९२ में पजूनजी का वीरगति प्राप्त होना अंकित है।

श्रीतँवरजी से हम एक बात पूछे बिना नहीं रह सकते। हमारा लेख तो मई सन् ३१ में छपा है, किंतु 'हिंदी-विश्वकोष', 'भारत के देशी-राज्य', पूज्य श्रीओझाजी महाराज के लेख, कर्नल टाड

का 'राजस्थान', मि० विंसेंट स्मिथ और मि० मार्सडन आदि की प्रामाणिक पुस्तकें तो कभी की प्रकाशित हो चुकी थीं। तब आप यह टट्टी की ओट में शिकार क्यों कर रहे हैं? इन सबकी (आपकी मानी हुई) असहनीय भूलों को आपने अब तक तो चुपचाप सहन किया, परंतु हमारे एक छोटे-से लेख में उन्हीं का उल्लेख देखकर आप अपनी सहनशीलता एवं धैर्य को भी हाथ से खो बैठे! हम आपकी एक-एक बात का उत्तर देने को बद्धपरिकर हैं; किंतु ऐसे लेखों के लिए स्थानाभाव और विशेषकर समयाभाव हमें बाध्य करता है कि हम आपकी अंतिम उक्ति का ही उत्तर देकर इस लेख को समाप्त कर दें और आगे ऐसे वाद-विवाद में आक्षेप न करने की सूचना भी दे दें।

आपने भारमलजी के विषय में जो सम्मति प्रकट की है, वह हमें मान्य नहीं। आप हमारे लिए बड़ी सुंदर शैली में लिखते हैं कि—'यदि आपने राज-

वंश की ख्यातें नहीं पढ़ी होंगी, तो भी रामनिवासवाले महल अजायबघर में आमेर-जयपुर के राजाओं की तसवीरें तो देखी होंगी, जो पूरे क़द की बनी हैं।"

जीहाँ, देखी हैं—एक बार नहीं, कई बार देखी हैं और खूब ही देखी हैं; परंतु हम भगवानदासजी को भगवंत-दास बनाने के लिए इन आधुनिक चित्रों के प्रमाण देना नहीं जानते। ऐसी अद्भुत बातें—विचित्र कल्पनाएँ—आप-जैसे धीमान् को ही सूझा करती हैं। प्राचीन काल में बने हुए प्रामाणिक चिह्नों से वर्तमान काल में इतिहास लिखने की प्रथा को सभी मानते हैं, जानते हैं; किंतु ५० वर्ष पूर्व जिनका निर्माण हुआ, ऐसे चित्रों के द्वारा सैकड़ों वर्ष पहले की बात केवल आप ही सिद्ध कर सकते हैं।

इतिहास-वेत्ताओं को अब सावधान हो जाना चाहिए और श्रीतँवरजी की इस नवीन वैज्ञानिक युक्ति का सहर्ष स्वागत करना चाहिए। पर हम तो इतिहास-वेत्ता न होने के कारण अब भी यही कहेंगे कि आमेर के महाराज भारमलजी के पश्चात् उनके बड़े पुत्र भगवान-दासजी ही वहाँ के राजा हुए और भगवानदासजी के बाद (उनके पुत्र-रहित होने के कारण) उनके छोटे भाई भगवंतदासजी के छोटे पुत्र, दत्तक-पुत्र होकर, राज्य के उत्तराधिकारी हुए। इस बात को सिद्ध करने के लिए बीसों प्रमाणों में से दो-चार का ही हम यहाँ उल्लेख करते हैं।

शेख़ अब्दुलक़ादिर बदायूनी ने अपने 'मुंतख़बुत्तवा-रीख़'-नामक इतिहास में आमेर के राजा बिहारीमल, (भारमल) उनके पुत्र भगवानदास और पौत्र का नाम मानसिंह ही लिखा है। मुहम्मद क़ासिम फ़िरि-श्ता ने अपनी 'तारीख़-फ़िरिश्ता'-नामक पुस्तक में भी यही दर्ज किया है। बादशाह जहाँगीर का नाम तो आपने सुना ही होगा और उसका कछवाहों से अधिक संबंध था, यह भी आप जानते ही होंगे। उसने भी अपनी 'तुज़ुक-इ-जहाँगीरी' में आमेर के राजाओं के नाम क्रमशः भारमल, भगवानदास और मानसिंह ही लिखे हैं। विशेष बात तो यह है कि वह मानसिंहजी को भगवानदासजी का भतीजा भी मानता है, जिससे आपके लेख का सर्वथा खंडन होता है। अब आप ही कहिए कि हम बादशाह साहब के सच्चे अनुमोदन को मानें, या आपके ज़बरदस्ती के समर्थन को? महणोत नैणसी की ख्यात में भी इसी का उल्लेख दृष्टिगत होता है। नैणसीजी ने भारमल को १६वाँ राजा माना है और उनके पुत्र का नाम भगवानदास और पौत्र का मानसिंह ही लिखा है।

हम आपसे किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं रखते। आपके आक्षेपों से हमें वस्तुतः प्रसन्नता ही हुई है और हम आपको आपकी इतिहासप्रियता एवं खोज पर धन्यवाद भी देते हैं। परंतु इन बातों को सर्वमान्य हुए बिना, सुदृढ़ प्रमाणों के बिना, हम कदापि नहीं मान सकते। हम तो सत्य के ही पक्षपाती हैं, किसी विशेष इतिहासज्ञ के नहीं। आपने जो कुछ लिखा, यदि उससे इतिहास के पुराने धुरंधर विद्वान् सहमत हैं, तो हमें भी उसको स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। स्वयं आप, जो इतिहास के विद्वान्-से प्रतीत होते हैं, और अन्य इतिहास-महारथी ही इन उलझनों को सुलझावें, तो अधिक अच्छा होगा। भगवान् करे, कछवाह-कुल के इतिहास में एक भी भ्रम-मूलक बात न रहे—हमारी तो हृदय से यही मंगल-कामना है। तथास्तु।*

---

* यह विवाद यहीं से समाप्त किया जाता है। अब पक्ष या विपक्ष का कोई लेख माधुरी में न छापा जावेगा।

—माधुरी-संपादक।

स्वर्गीय श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी

(चित्रपट की दूसरी ओर)

[श्रीरामलाल भट्ट 'हकीम' संपादक 'परिवर्तन' 'देहाती' आदि कानपुर]

"Paint me as I am, or I shall not pay thee."

—Osker wilde.

कानपुर के गत भयानक और इतिहास-प्रसिद्ध दंगे के समय, कानपुर के स्वीकृत पत्रकार, राजनीतिक क्षेत्र के एक प्रसिद्ध नेता मुंशी गणेशशंकर श्रीवास्तव संपादक 'प्रताप' विधर्मी आततायियों द्वारा निर्दयतापूर्वक मार डाले गये। तीन दिन तक उनकी लाश का पता नहीं लगा। पाँचवें दिन वह क्षत-विक्षत दशा में पायी गयी। उनका अंतिम संस्कार यथाविधि हुआ। देश के लोगों ने कुछ तो शिष्टाचार और लोकाचारवश आँसू बहाये और कुछ सच्ची सहानुभूति से। वस्तुतः उनकी मृत्यु ही बहुत कारुणिक थी और इस करुणाप्रवाह में जब उनकी सार्वजनिक जीवनी का स्रोत भी आ मिलता है, तो वह अधिकतर कारुणिक बन जाती है। और, इस दशा में वह अपने प्रति विशेष सहानुभूति और अनुकरण की भावना भी उत्पन्न कर सकती है। जहाँ तक सहानुभूति का संबंध है, वहाँ तक तो वह श्लाघ्य है; मानव-धर्म की यह विशेष परिभाषा है कि हम परस्पर सहानुभूति से काम लें, एक दूसरे के दुख-दर्द में शरीक हों। किंतु अनुकरण की भावना कुछ हानिकर हो जाती है—ख़ासकर जब अंधानुकरण के हम दास बन जाते हैं।

इसी अंधानुकरण तथा विवेक-बुद्धि से काम न लेने के कारण ही मनुष्य अनर्थ कर बैठता है। कदाचित् कहीं जनता और नेता के बीच में ऐसे अनुकरण की भावना बलवती हुई, तो आगे चलकर वह जनता के सेवकों को भी सच्चे सेवा-मार्ग से समय-समय पर खींच लेती है। आज तक और आये दिन भी स्व० मुंशी गणेशशंकर श्रीवास्तव के संबंध में जो कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ अथवा हो रहा है, वह सभी यदि 'श्रद्धांजलि' है, तो उसमें कुछ संदेह की गुंजाइश नहीं है। श्रद्धा स्वयं अंधी होती है। किंतु मनुष्य-जीवन कुछ विवेक भी खोजता रहता है, वह जिज्ञासु भी होता है; इसलिए यह आवश्यक जान पड़ता है कि हम अपने नेताओं के गुणों के साथ-साथ उन बातों पर भी दृष्टिपात करें, जो यदि अस्तित्व में न होतीं, तो कदाचित् उनका जीवन कुछ अधिक आदर्श होता—उनका त्याग और अधिक उज्ज्वल एवं प्रकाशमान् होता। अतएव नेतृत्व के संपूर्ण अंगों पर दृष्टिपात



श्रीरामलाल भट्ट हकीम संपादक "देहाती" कानपुर

करने के बाद हम कुछ ऐसी बातें लिखने को बाध्य होते हैं, जिन्हें अप्रिय 'सत्य' भी कहा जा सकता है। किंतु है वह सत्य, और सत्य के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती। कारण, वह स्वयं आलोकित हो जाता है—चाहे कुछ विलंब भले ही हो जाय। यदि भावी नेतृत्व के अभिलाषी इन कमज़ोरियों से अपने को

बचा सकें, तो सचमुच फिर उनका आदर्श उन्हीं का होकर संसार में जीवित रहेगा।

मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है। जिसमें जितनी ही कम कमज़ोरियाँ हैं, उतना ही अधिक वह मनुष्येतर देवत्व का अधिकारी होता है। किंतु यह जानते हुए भी कि मनुष्य कमज़ोरियों का पुतला है हम उसकी प्रशंसा करते समय मनोवैज्ञानिक तत्व को भूल जाते हैं। हम प्रायः एक ही पट को देखते हैं; चित्र के दूसरे पट की ओर हमारा ध्यान बहुधा नहीं जाता है। इसलिए यदि हम यह कहें कि विद्यार्थीजी की जीवनी का चित्रण लेखकों की लेखनी-तूलिका से सर्वथा एकांगीन हुआ है, तो कदाचित् अनुचित न होगा। ऐसी दशा में स्वयं विद्यार्थीजी ने 'पत्रकार-कला'-नामक पुस्तक की भूमिका में जो यह लिखा है कि "अधिकांश समाचार-पत्र झूठ को सच और सच को झूठ सिद्ध करने के काम में उतने ही लगे हुए हैं, जितने कि संसार के बहुत-से चरित्र-शून्य व्यक्ति", वह हमें सर्वथा ठीक जान पड़ता है। "सत्य उनके लिए ग्रहण करने की वस्तु नहीं है, वे तो अपने मतलब की बात चाहते हैं।......जिन लोगों ने पत्रकार-कला को अपना काम (अथवा पेशा) बना रखा है, उनमें बहुत कम ऐसे लोग हैं, जो अपने चित्त को इस बात पर विचार करने का कष्ट उठाने का अवसर देते हैं कि हमें सचाई की भी लाज रखना चाहिए......"—स्व० विद्यार्थीजी के ये उद्गार अक्षरशः ठीक हैं। अच्छा होता कि विद्यार्थीजी के संबंध में लिखनेवाले श्रद्धालु लेखक अपने मनस्वी चरित-नायक की इन सत्य-उक्तियों का ख़याल रखकर उनके संबंध में कुछ लिखते! विद्यार्थीजी का यह लिखना यथार्थ ही है कि ऐसे ही पत्रकारों (और साथ ही श्रद्धालु लेखकों) द्वारा "व्यक्तित्व न रहेगा, सत्य और असत्य का अंतर न रह जायगा, अन्याय के विरुद्ध डट जाने और न्याय के लिए आफ़तों के बुलाने की चाह न रहेगी, रह जायगा केवल खिंची हुई लकीर पर चलना।" और, जब स्वयं इन पंक्तियों के यशस्वी लेखक स्व० विद्यार्थीजी के संबंध में ही, उन्हीं की पंक्तियों का सामंजस्य मिलता नहीं देख पड़ता, तो आश्चर्य और दुःख से लिखना पड़ता है कि सिद्धांत और व्यवहार में बहुत अंतर है। यह अंतर दूर होकर दोनों एक रूप हो जायँ, मनुष्य भीतर और बाहर एक ही रूप में दर्शन दे—केवल इसी अभिप्राय से हम विद्यार्थीजी के संबंध में अपने निजी अनुभव लिखने को बाध्य हुए हैं।

विद्यार्थीजी भी हमीं लोगों के समान एक व्यक्ति थे। मनुष्य में अपने उद्देश्य और इष्ट के प्रति जो लगन हो सकती है, वह उनमें भी थी। उनमें मिलनसारी, नम्रता, मृदुभाषण आदि अनेक गुण थे। वह सुलेखक और सुंदर वक्ता थे। किंतु यह सब होते हुए भी वह निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे—इतने अधिक कि कभी-कभी उनकी कार्यावली उच्छृंखलता की अंतिम सीमा तक पहुँच जाती है! उनके जीवन-काल में कानपुर के सार्वजनिक क्षेत्र में वस्तुतः एक मिली हुई गोष्ठी का साम्राज्य था। आप उसके आरंभ ही से अधिष्ठाता रहे; जो व्यक्ति इनकी मंडली से अलग हुआ, वह मिट्टी में मिला दिया गया! इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में उनके कारण एक बड़ी भारी क्षति यह पहुँची है कि उठते हुए एक-निष्ठ कार्यकर्ता कली की स्थिति में ही मसल दिये गये। चुनाव आदि के समय में उनकी गोष्ठी द्वारा किये गये हथकंडे इस बात के प्रमाण हैं। इसी से हम उनमें सीमा-अतिक्रमण की साक्षात् मूर्ति का दर्शन पाते हैं और तब हमें इतिहास के पन्ने उलटकर घटनावली का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करने पर इस निष्कर्ष को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि धनसत्ता अथवा अधिकारसत्ता के विरुद्ध शस्त्र उठाकर युद्ध ठानने की घोषणा करनेवाले भी कालांतर में एकछत्र स्वामित्व के इच्छुक हो जाते हैं, चाहे इसका परिणाम समय-चक्र की चपेटों के कारण विपरीत और अशुभ ही क्यों न हो। यह अहं की सत्ता है; इससे विद्यार्थीजी परे नहीं थे। अतएव जिन श्रद्धालु लेखकों ने इस दृष्टिकोण के विपरीत उनके दर्शन प्राप्त किये और अपनी सरल भावना के अनुसार अथवा किसी कारणवश उनका चित्रण भी उसी रूप में किया, वे अवश्य ही भ्रम में थे। उनके 'अहं' के अतिरेक ने ही—जैसा कि लोगों ने लिखा है कि कानपुर उनकी मृत्यु से नेता-विहीन हो गया, यदि यह सत्य हो तो—अन्यों के नेता होने के मार्ग में काँटे बिछा दिये। और, इस दृष्टि से इसे हम यों भले ही स्वीकार कर लें कि स्व० मुंशीजी पक्के डिप्लोमेट थे; किंतु उन्हें वह नेतृत्व नहीं प्रदान किया जा सकता, जो

स्वयं अपने को मिटाकर अपने-जैसे अनेक उत्पन्न कर सकता है—अपना 'स्थानापन्न' छोड़ जाता है।

स्व० मुंशी गणेशशंकरजी (जिन्हें बहुत-से श्रद्धालु पंडितजी समझते और कहा करते थे, और जिसका मुंशीजी ने कभी प्रतिवाद नहीं किया) के जीवन के ख़ास-ख़ास पहलू बहुत अधिक नहीं हैं। लोग प्रायः उन्हें पत्रसंपादक, समाजनेता और प्रांतीय राजनीतिक कार्यकर्ता, इन्हीं तीन रूपों में जानते हैं। पत्र-संपादक के रूप में ही वह देश के सामने सर्वप्रथम प्रकट हुए थे। इस स्थिति ने ही उन्हें राजनीति के क्षेत्र में आगे बढ़ाया तथा इसी ने उन्हें सामाजिक नेता बनने का भी स्वप्न दिखलाया था। बहुत-से लोग नेता हो जाने के बाद, अपने नेतृत्व के संरक्षणार्थ, किसी पत्र को शस्त्र-रूप में ग्रहण करते हैं; ठीक इसके विपरीत मुंशीजी की स्थिति थी। जब नेतृत्व का स्वप्न प्रत्यक्ष रूप धारण करने के लिए आतुर हो उठा, तो लोकप्रिय समाजसेवक 'प्रताप' भी साथ में ढाल लेकर उसके संरक्षण के लिए, शरीररक्षक की भाँति, निकल पड़ा। किंतु इस पर आगे दृष्टिपात किया जायगा। अभी तो हम उस समय का स्मरण दिलाते हैं, जब प्रताप के प्रारंभिक उठान के दिनों में स्व० गणेशशंकरजी ने लोकमान्य तिलक और उनके साथी माननीय खापर्डे महोदय पर अनुचित प्रहार किये थे और 'विश्वमित्र' तथा 'स्वतंत्र' के सुयोग्य संपादकों द्वारा डाँट बताये जाने पर आपने क्षमा-प्रार्थना की थी, यह क्षमा-प्रार्थना बुरी नहीं है, वरन् हम तो इसे एक गुण ही मानते हैं। मनुष्य को जब अपनी भूल का ज्ञान हो जाय और वह उसके लिए शोक प्रकट करने अथवा पश्चात्ताप करनेवाले विशाल हृदय का परिचय दे, तो इससे विशिष्ट गुण और क्या होगा। किंतु पश्चात्ताप सच्चा आत्मप्रेरित हो, संसार को दिखाने के लिए। इससे भी अधिक घृणित रूप मनुष्य-जीवन का वह है, जहाँ वह एक सत्य को छिपाना चाहता है। संसार में परिस्थितियाँ होती हैं, जहाँ मनुष्य को झुकना पड़ता है। साँप बाहर-बाहर वक्र घूमता-रेंगता रहता है, लेकिन बाँबी के पास पहुँचकर भीतर घुसने के लिए सीधा हो जाता है। यह एक परिस्थिति का उदाहरण है। मनुष्य-जीवन तो परिस्थितियों का केंद्र है। इसमें गोपनीय और प्रकाश्य का सम्मिश्रण होने हुए भी प्रकाश्य ही अधिक महत्वशाली है। यह प्रकाश ही मनुष्य को मनुष्य सिद्ध करता है। किंतु कितने दुःख की बात है कि वह भी श्रद्धालुओं द्वारा गोपनीय बना दि[या] जाता है! परंतु क्या यह अनुचित—अक्षम्य नहीं! स्व० मुंशीजी के संबंध में आज तक किसी की स्वतं[त्र] लेखनी ने इस सत्यरत्न का उद्घाटन न किया कि उन्होंने नैनी-जेल-संबंधी 'प्रताप' में प्रकाशित लेख के संबंध



स्वर्गीय श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी

केस में क्षमा माँगकर छुटकारा पाया था! क्यों? मुंशीजी के संबंध में एक सत्य प्रकट कर देने से, उनके 'बलिदान' को जो महत्व और यश मिल रहा है, उसमें कालिमा लग जाती? वस्तुतः रात्रि का अंधकार ही दि[न] के वैभव का अधिक अनुभव कराता है। फिर क्यों ए[क] सत्य का गोपन किया जाता है? हमारी छोटी बुद्धि में मनुष्य का यह महाभयंकर प्रमाद है कि मीठा-मीठा खाने के लिए तो जीभ लटकाये घूमता फिरे, किंतु कड़वा स्वाद मिलते ही झट मुँह बंद कर ले। पर सत्य तो सदैव कटु ही होता है—विशेषतः अप्रिय सत्य!

तब तो कोई यह भी कह सकता है कि विद्यार्थीजी का बलिदान आत्मप्रेरित नहीं था, बल्कि वह उनके गले आ पड़ा था, जिससे वह छुटकारा नहीं पा सके—छुटकारा पाने के प्रयत्न में वह विफल हुए। किंतु ऐच्छिक और अनैच्छिक बलिदान में तो प्रेरणा और परिणाम, दोनों ही दृष्टियों से बहुत अंतर है। और, वह उतना ही है, जितना एक सत्य के प्रकटीकरण और गोपन में। अस्तु, उस मुक़दमे के फ़ैसले पर प्रकाश डालते हुए 'लीडर' ने लिखा था—

"एडिटर प्रताप गुनहगार साबित हुए; उन्होंने बिना शर्त माफ़ी माँगी, चेतावनी देकर छोड़े गये।"

हम फिर लिखते हैं कि इस सत्य के भी सामने आ जाने से मुंशीजी की भूल-स्वीकृति पर ही प्रकाश पड़ता है, और कुछ नहीं होता। उन्होंने एक भूल संपादक होकर की थी, उसी का वह प्रायश्चित था। लेकिन वास्तविक बात यह है कि चरित्र में सत्य का गोपन ही चरितनायक को अधिक कलंकित कर देता है—उसे कोई महत्व नहीं मिलता - ठीक ऐसे ही जैसे रावण का अस्तित्व अस्वीकार कर देने से राम का भी महत्व क्षीण हो जाता है। मैनपुरी-केस का ढंग भी कुछ ऐसा ही रहस्यमय है। अस्तु।

विद्यार्थीजी के संपादन-काल का एक और प्रमाण दे देना आवश्यक होगा। त्यागवीर सावरकर-बंधुओं के नाम से पाठक परिचित होंगे। उनके 'श्रद्धानंद' पत्र (हिंदी दैनिक) में कहीं यह छप गया था कि महात्मा गांधी ने राजनीति में लोकमान्य तिलक का साथ नहीं दिया; इत्यादि। आपके द्वारा संपादित प्रताप में 'तड़ातड़' के नाम से इसके प्रतिवादस्वरूप जो कुछ छपा था, वह कितना घृणापूर्ण और निंद्य, कुत्सित एवं संपादकीय गौरव के प्रतिकूल है कि उस पर टीका-टिप्पणी ही व्यर्थ है, पाठक स्वयं पढ़कर जान लेंगे। उक्त अंश की भाषा यों है और इसमें संपादक की आत्मा का कितना सुंदर प्रवेश है, इसे आप पढ़कर देखें—

"बंबई से एक चिथड़ा अख़बार निकलने लगा है। वह चिथड़ा मराठी में भी निकलता है और हिंदी में भी। इस बंबइया चिथड़े की पहले ही से सड़ी हुई नाक बिलकुल ही कटकर गिर पड़ती! बच्चाजी! अपने पुरखे-अच्छों की हालत तो देखो; हम कमीने की इस बात का यदि उसी तरह जवाब दूँ, तो मैं यह कहूँगा कि जूतेख़ोरों की खोपड़ी पर जब तक पद-त्राणों का काफ़ी देर तक प्रहार नहीं होता, तब तक उनकी अक़्ल ठिकाने नहीं आती और इसलिए जब तक इस बंबइया चिथड़े की चाँद मारे जूतों के फ़र्श नहीं कर दी जाती, तब तक बच्चाजी की औंधी अक़्ल सीधी नहीं होगी........नहीं तो इतने पड़ेंगे कि चाँद में बाल एक भी न रहेगा।" इत्यादि। और, इस अंश पर टिप्पणी करते हुए 'स्वतंत्र' ने सत्य ही लिखा था कि "......प्रताप का उत्तम (!) लेखक तो उनके जूते के फ़ीते भी खोलने की योग्यता नहीं रखता—इत्यादि।"

परंतु 'मतवाला' का उद्धरण दिये बिना तो प्रसंग ही अपूर्ण रह जायगा, इसलिए एक प्रतिष्ठित संपादक की संपादन-नीति पर मशाल दिखानेवाले अंश का उद्धृत करना आवश्यक है। उसने लिखा था—"हमारा प्यारा सहयोगी कानपुर का 'प्रताप'—सूड़ीख़ाना और भठियारख़ाना एक साथ ही सँभाल लेगा।......देसी ठर्रा भरसक मिले तो.....ताड़ी अधिक पसंद करता है, चढ़ा जाता है भरपेट, करने लगता है वमन और फैला देता है नरक को मात कर देनेवाली दुर्गंध। पीकर इसने देवतास्वरूप पर तड़ातड़ जमायी थी, पीकर इसने बूढ़े पंजाब-केसरी पर क़ै कर दिया था, पीकर इसने कांग्रेस-विरोधियों को वर्णसंकर कहा था। बाप-दादा, नाना-नानी, दादा-दादी किसी की परवा नहीं करता है—और किसको याद हैं उतनी गालियाँ, वैसे घराऊ शब्द, भठियारख़ाने की टकसाल के नवीन ढले हुए जुमले"—इत्यादि। अस्तु, इन उद्धरणों के पेश करने का अभिप्राय यही है कि ढोल की आवाज़ में जितनी शोख़ी है, उतना ही खोखलापन भी उसके अंदर होता है। किंतु चरित्र-चित्रकार इस खोखलेपन को छिपाकर एक रूढ़ रूप का ही चित्रण क्यों करता है और क्यों भावी संतान के लिए हीनता का खंदक दिखाकर सतर्क नहीं करता है—यही एक रहस्य है—भयंकर पहेली है!

हमने ऊपर लिखा है कि जब नेतृत्व की भावना अधिकाधिक बलवती हुई, तो 'प्रताप' उनका उस क्षेत्र में 'शरीर-संरक्षक' होकर निकल पड़ा। इसका स्वरूप हमें सामाजिक 'सेवा' कहे जानेवाले विभागों में स्पष्ट

देख पड़ता है। आये दिन हमारे यहाँ समाज-सेवा की पूरी परख (!) म्यूनिसिपल-बोर्ड, डिस्ट्रिक्टबोर्ड तथा कौंसिल में घुस जाने से ही मान ली जाती है। बस, सामाजिक नेता कहलाने अथवा बनने की लालसा जिनमें रहती है, वे सर्वप्रथम यही क्षेत्र चुनते हैं। और, इनमें घुसने के हेतु उन्हें झख मारकर दिखावे के लिए कुछ ऐसे भी कार्यों से संपर्क रखना पड़ता है, जिनसे लोग व्यक्तिगत प्रभाव से परिचित हो सकें। वास्तव में हम बहुत कम समाज-सेवकों को सच्चे समाज-सेवक के रूप में पाते हैं। हमीं को नहीं, हमारी तरह अधिकांश लोगों को ऐसा ही अनुभव हुआ होगा। सामाजिक नेतृत्व की लालसा में उपर्युक्त क्षेत्रों में घुसने से लाभ यह होता है कि नेतृत्व पर एक तो मुहर जल्दी लग जाती है, दूसरे 'योगिनामप्यगम्या' 'सेवा' में कुछ कष्ट भी नहीं होता! स्व० गणेशशंकरजी ने भी यही क्षेत्र चुने। मनुष्य की यह प्रकृति बन गयी है कि चारा कम खाने और दूध मनचाहा देनेवाली गाय को ही ढूँढ़ता है। किंतु खेद है, स्व० विद्यार्थीजी को यह सौदा बहुत महँगा पड़ा, जिसे यहाँ प्रकट करना अभीष्ट नहीं। हाँ, अच्छा होता कि विद्यार्थीजी समाज-सेवा के उन विशेष महत्त्वपूर्ण एवं वास्तविक यशस्वी क्षेत्रों को—यदि उनमें यह लगन आत्म-प्रेरित थी तो—चुनते। समाज-सेवा के अन्य कितने ही अधिक महत्त्व-पूर्ण क्षेत्र भी तो पड़े हुए हैं। केवल एलेक्शन लड़ने के लिए, चुनाव में एक अपमानित आत्मा के प्रतीकार-स्वरूप किसी विरोधी को परास्त करने की इच्छा से, मित्रों और पार्श्वचरों द्वारा रुपया दाख़िल कराकर कारागार से मुक्त होने और इस प्रकार समाज-सेवकों में नाम लिख लिया जाने से ही तो समाज-सेवा नहीं होती। वह तो ऐसा पवित्र वातावरण है, जहाँ मनुष्य अपने को भूल जाता है। वहाँ अहं की सत्ता का सर्वथा लोप हो जाता है। हम तो उस नेतृत्व को ही घृणित समझते हैं, जो परप्रेरित होता है। नेतृत्व की वास्तविक इयत्ता और महत्ता तो वहाँ है, जहाँ वह स्वयं व्यक्ति के गले आकर पड़ता है, न कि व्यक्ति नेता बनने के लिए ऊँच-नीच का विचार किये बिना किसी भी रास्ते पर चल निकले—इसलिए कि उसे जाना है, न कलकत्ते सही, दिल्ली ही सही।

सामाजिक क्षेत्र के जिन-जिन विभागों में स्व० विद्यार्थीजी को हम पाते हैं, प्राय: वहाँ हम यही देखते हैं कि निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता उनके अविच्छिन्न अंग हैं। विद्यार्थीजी का कार्यक्षेत्र प्रधानतः कानपुर-नगर था। और, हमें खेद से किंतु निस्संकोच कहना पड़ता है कि आपके सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने के बाद से ही वहाँ दलबंदी-नीति ने उग्र रूप धारण किया था। इसी नीति की उग्रता ने स्व० विद्यार्थीजी से वह काम भी करवाये, जिनकी एक सच्चे राष्ट्र-भक्त से आशा नहीं की जा सकती। हमें वह दिन अच्छी तरह याद है, जब कानपुर-म्यूनिसिपैलिटी पर राष्ट्रीय झंडा लगाने की एक सज्जन ने चेष्टा की थी, किंतु यहीं के कुछ स्वनामधन्य लोगों ने उन्हें जेल तक भिजवाने की कोशिश में कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। लेकिन उसके कुछ ही समय बाद उन्हीं लोगों ने स्वयं राष्ट्रीय झंडा फहराने में भाग लिया था! इस उपादान में यद्यपि दूसरे को प्राप्त होनेवाले यश से स्वयं गौरवान्वित होने की दुर्दमनीय भावना का प्रत्यक्ष

समावेश है—जिसे कोई भी अच्छा नहीं कह सकता—तथापि यह मनुष्य की सिद्धांतवादिता में कितना कठोर आघात पहुँचाता है! क्या सिद्धांत और व्यवहार की विभिन्नता भी मनुष्य को समाज में यशस्वी बना सकती है? हम तो इससे केवल इतना ही समझ सकते हैं कि यह विभिन्नता किसी इष्ट अथवा स्वार्थ-साधन का ही दूसरा नाम है, चाहे उसका उपयोग एवं प्रयोग जिस दिशा में, जिस किसी क्षेत्र में और जिस किसी व्यक्ति के द्वारा क्यों न किया जाय। और, इसका कुछ स्वरूप हमें गणेशशंकरजी के उस कार्यकलाप में मिलता है, जिसे हम सभी अत्यंत पवित्र विशुद्ध एवं राष्ट्रीय कहते हैं! हमने स्थानीय राजनीति-संबंधी उत्कट अवसरों पर यही देखा है कि गणेशशंकरजी स्वयं राष्ट्रीय नेता कहलाकर भी न तो खुद किसी समय सत्याग्रह के लिए भीतरी और बाहरी रूप से एक-से तैयार हुए, और न उनकी गोष्ठी में से ही कोई कभी ऐसे मौक़े पर खड़ा हुआ देखा गया। हाँ, जिन्हें आपने सत्याग्रह के लिए प्रस्तुत किया और जिन्होंने अपनी इच्छा से उसमें भाग लिया, वे आपकी मंडली के विरोधी थे। पर वास्तव में नेता का यह गुण उतना श्लाघ्य नहीं, जितना यह कि वह स्वयं आगे बढ़कर खाईं को पाट दे और सैनिक उसके आत्मबलिदान के आदर्श में अपना प्रतिबिंब देखते हुए अपने को मिटा दें। किंतु हम तो यहाँ कुछ और ही देखते हैं। मुंशीजी का कथित 'बलिदान' इतिहास की सामग्री तक बन गया, लेकिन इतना समय बीत जाने के बाद भी हम यही देखते हैं कि हिंदू-मुस्लिम-विरोध की खाईं अधिकाधिक चौड़ी और भयंकर होती जा रही है! किंतु हिंदू-धर्म-इतिहास तो यही बतलाते हैं कि आत्मदान का परिणाम—जो केवल कर्म करने की भावना से किया गया हो—कभी विपरीत नहीं होता। तब दोनों में से कौन ठीक है?

स्व० मुंशीजी नेता थे, समाज-सेवक भी थे और संपादक भी। इसे अस्वीकार करना उनके प्रति अन्याय होगा। किंतु यह इससे भी बढ़कर अन्याय है कि हम सत्य—वही सत्य जिसका आग्रह महात्मा गांधी-जैसे महापुरुष हमें सिखा रहे हैं—का अनुसंधान मनुष्य के जीवन में न करें। मनुष्य पहले मनुष्य है, इसके बाद और कुछ। इसी पहलू से हमने स्व० विद्यार्थीजी के कार्यकलाप पर विचार प्रकट किये हैं। हमारा विश्वास है, यदि किसी प्रकार मुंशीजी फिर अपने सच्चे रूप में अचानक आ खड़े हों और उनसे कोई ईश्वर के नाम पर हमारे विचारों को प्रकट करे और पूछे, तो वह अवश्य ही सिर झुकाकर अपनी स्वीकृति देंगे। परंतु यह असंभव है। हाँ, संभव जो कुछ है, वह यही कि नेतृत्व के इच्छुक इससे कुछ लाभ उठा सकें, तो अच्छा। चित्रपट का पश्चात् भाग दिखाने का मेरा यही उद्देश्य है। अस्तु, सत्य के प्रकट करने में मैंने अभी जो इतना दुःसाहस और धृष्टता की है, उसके लिए पाठकों से, विशेषतः विद्यार्थीजी के श्रद्धालुओं से, क्षमा चाहता हूँ।

पुस्तक-परिचय

सुधा-सरोवर—रचयिता, श्रीयुत दामोदरसहायसिंह, एल्० टी० 'कविकिंकर'; प्रकाशक, हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय; भूमिका-लेखक, पं० रामनरेश त्रिपाठी; परिचय-लेखक, श्रीयुत बाबू शिवपूजनसहाय ; पृष्ठ-संख्या १३५; सचित्र, सजिल्द; मूल्य १)

किसी अच्छी वस्तु की दुर्लभता उसके महत्त्व को कई गुना अधिक बढ़ा देती है। प्रस्तुत पुस्तक सुधा-सरोवर के भी महत्त्व को बढ़ाने में दो प्रकार की दुर्लभताएँ काम कर रही हैं। पहली तो यह कि वह "यथा नाम तथा गुणः" का मनोहर दृष्टांत है। "यथा नाम तथा गुणः" के दृष्टांत संसार में दुर्लभ हैं—बहुत कम मिलते हैं। आजकल हमें खड़ीबोली में छायावाद, मायावाद, राष्ट्रवाद आदि वादावादवाली सुंदर-सुंदर कविताएँ पढ़ने को तो प्रचुरता से मिलती हैं, पर पुरानी मीठी भाषा में पुराने मीठे ढंग की अच्छी कविताएँ पुराने ग्रंथों को छोड़कर शायद ही कहीं मिलती हों। यह दूसरा दौर्लभ्य है, जो सुधा-सरोवर के महत्त्व को बढ़ा रहा है। अतएव इसमें संदेह नहीं कि हमारे सामने ऐसी दुर्लभ सुंदर वस्तु को उपस्थित करके, हिंदी-पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय के मालिक श्रीयुत रामलोचन-शरणजी बिहारी ने बड़ा उपकार किया है। हम उन्हें इस श्लाघनीय कार्य के लिए धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

पुस्तक के रचयिता बाबू दामोदरसहायजी एल्० टी० "कविकिंकर" के विशेष परिचय की आवश्यकता नहीं। बिहार-प्रांत के हिंदी-कवियों में आपका काफ़ी नाम है। उनकी कविताएँ जब-तब हिंदी की "सरस्वती", "माधुरी", "सुधा" प्रभृति प्रसिद्ध पत्रिकाओं में निकला करती हैं। आप खड़ीबोली और व्रजभाषा दोनों ही में बहुत सुंदर लिखते हैं। पर मेरा अनुमान है कि आपकी व्रजभाषा की कविताएँ अपेक्षाकृत कहीं अच्छी होती हैं। सुधा-सरोवर में आपकी समय-समय पर की गयी ऐसी ही कविताओं का संग्रह है। व्रजभाषा के मर्मज्ञ श्री बाबू जगन्नाथदास "रत्नाकर", बी० ए०, कविवर पं० रामनरेश त्रिपाठी तथा अपने प्रांत के विख्यात लेखक श्रीयुत बाबू शिवपूजनसहायजी ने मुक्तकण्ठ से इनकी प्रशंसा की है। क्या भाव क्या भाषा, दोनों ही दृष्टियों से यह पुस्तक सराहनीय हुई है। दो-चार लब्धप्रतिष्ठ कवियों को छोड़कर आजकल कभी-कभी व्रजभाषा में कविता करनेवाले सज्जन अपनी रचना में उस विशुद्धि और मधुरता का संचार करने में चूक जाते हैं, जो इस भाषा की जान है। पर सरोवर की भाषा मँजी हुई, रसपूर्ण और मधुर है, और भाव तो एक-से-एक अनूठे हैं।

"विमल विचार", "नीति-निचय" "कमनीय कुंज", और "विविध विषय" क्रमशः इन चार विभागों में यह पुस्तक विभक्त है। "विमल विचार" में शिवादिक देवताओं की स्तुतियाँ तथा कुछ धार्मिक कविताएँ हैं। "नीति-निचय" में उपदेश और नीति की बातें कही गयी हैं। "कमनीय कुंज" में प्रायः श्रृंगार-रस की कविताएँ हैं। "विविध विषय"-शीर्षक भाग में दशहरा, मातृभाषा आदि भिन्न-भिन्न फुटकर विषयों पर कविताएँ हैं। इनमें से "कमनीय कुंज" की रचनाएँ अधिक चमत्कारपूर्ण प्रतीत होती हैं। पर इसका यह मतलब नहीं कि और

भावों में सौंदर्य नहीं है—नहीं, अमृत का मीठापन तो अन्य भागों में भी वर्तमान है ।

किंतु सरोवर की तारीफ़ करने के पहले मैं यहाँ एक बात कह देना चाहता हूँ । वह यह कि किसी पुस्तक का मज़ा चखने के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है सहृदयता । कवि के प्रति थोड़ी-सी सहानुभूति धारण किये बिना हम उसके काव्य का समुचित आनंद नहीं उठा सकते । प्रस्तुत पुस्तक के विषय में यह बात विशेष रूप से लागू है । कारण यह कि इसकी भाषा और भाव दोनों ही पुराने हैं—आज के नहीं । इसमें पुराने आदर्शों की कुछ ऐसी बातें भी हैं, जिनके प्रति समुचित सहानुभूति के बिना आज के विप्लवी नवयुवक-हृदय का संतुष्ट होना कठिन है । उन्हें उसमें शायद असामयिकता का दोष दिखलायी पड़ेगा । उदाहरणार्थ, नारी-रत्न का आदर्श उपस्थित करते हुए कवि कहते हैं—

कबौं आँगन हूँ में न पाँव धरै घर ही में सदा अनुरागी रहै ।

अथवा

भूलि हूँ के चौखट के बाहर धरै ना पाय,
भीतर ही मौन बीच दीया-सी बरति है ।

ऐसी बातों को समझने के लिए कवि के प्रति कुछ सहानुभूति, कुछ उदारता की ज़रूरत है । यह ख़याल रखना होगा कि भला हो या बुरा, वह ऐसे ही आदर्शों में पले हैं । तभी आप उनकी कृति की सच्ची मधुरता का अनुभव कर सकेंगे, अन्यथा नहीं । थोड़ी सहानुभूति के द्वारा, मेरा विश्वास है, नास्तिक हृदय भी ऐसी सूक्तियों के रस में आर्द्र हो जा सकता है—

कहिबे को अनेक हैं मेरी भटू बस कीबे की राह तो प्रेमइ है ।
बस पावक पावत सीतलता जेहि जारिबे को नित नेमइ है ॥
विष साफ़ई होत सुधा छिन में, कछु हो, मोहि तो नित छेमइ है ।
कहिके हरि-नाम 'दमोदर जू' जु पै लोह उठाओ तो हेमइ है ॥

पुस्तक में सर्वत्र हमें ऐसे भव्य भावों का दर्शन होता है, जो किसी भी हृदय में चुहल पैदा कर सकते हैं । चारों छंदों में ऐसी अनेक सूक्तियाँ भरी पड़ी हैं, जिनके पढ़ने से तबियत खिल उठती है । कुछ उदाहरण लीजिए । मिश्री खाकर यह ठीक-ठीक बतलाना मुश्किल होता है कि उसकी मिठास कैसी है । उसका सच्चा स्वाद समझनेवाले को तो इसके लिए स्वयं थोड़ी-सी मिश्री चखने के सिवा और कोई

लिए सहृदयों को सरोवर की मधुरता का कुछ परिचय देने के लिए मैं यहाँ कुछ उदाहरण उपस्थित करके तृप्त हो जाऊँगा । देखिए—

माँगिवे तें अपमान अवस्यहिं मैंने विचार कियो मन माहीं ।
त्योंहि "दमोदर" ऊँचन की पदवी घटि नीचन में मिलि जाहीं ॥
देखहु बूझि विचारि भले जगदीसहुं जाँचन गो बलि पाहीं ।
तीनहि पैग तिलोक कियो तउ नाम पर्यो हरि को बवना ही ॥

यहाँ अंतिम पंक्ति की उक्ति-वैचित्र्य की ओर तनिक ध्यान दीजिएगा । कितने मज़े की बात कह डाली है । अर्थान्तरन्यास के साथ विरोधाभास का कितना मधुर मेल है । और भी देखिए—

प्यारी तिहारी उजारी निहारि मुरारि नितै ससि ज्योति न बाले ।
त्योंहि 'दमोदर' अंग सुगंधित डालै गलै सुगुलाब के माले ॥
नैननि को अनुहारि तेरे दृग सौंह धरे अरबिंदन काले ।
चालन को लखिबे हित लालन तालन आजु मरालन पाले ॥

× × ×

पग नूपुर पायल पैंजनि है अँगुठी अँगुरीन की पोरन में ।
नकबेसर है नथ नासिका में कजरा बनि नैन की कोरन में ॥
हरि है कल हैकल हार रहे बिहरो हमरे हिय-ठोरन में ।
बननी बनि बारन पै बलमू बजुली बनि बाँह बहोरन में ॥

× × ×

फूँकी गयी तू तो एक बार वाहि कुंजन में,
हियरो हमारो फूँकि छाती क्यों दहति है ।
यद्यपि दई ने तोहि ऐसी ही समर्थ दयी,
काहे अधिकार पाइ नीति ना गहति है ॥
ऐसी बाँस-बाँसुरी कहाँ लौं आपनी हौं कहौं,
तू तो घनस्याम पास सदा ही रहति है ।
'दामोदर' आप जो छुटी है निज बंस तें त्यों,
हौं हूँ को हमारे ते छुड़ावनो चहति है ॥

× × ×

कितने सुंदर भाव हैं । कितनी सुंदर चुनी हुई शब्दावली है । ऐसी कितनी ही रसपूर्ण भाव-गम्य रचनाओं से यह पुस्तक सुशोभित है । मैं यह मानता हूँ कि इनमें से कई भाव पुराने कवियों के हैं; पर हमारे 'सुधा-सरोवर' के कवि के हाथों में आकर वे भाव दबे नहीं हैं, प्रत्युत और भी चमत्कृत हो उठे हैं । यह एक बहुत बड़ी विशेषता है ।

अलंकारों के प्रेमियों को इस पुस्तक में भिन्न-भिन्न

अलंकारों के अच्छे-से-अच्छे उदाहरण मिलेंगे। कहीं-कहीं तो अलंकार इतने सुस्पष्ट हैं कि मानों वे उदाहरण के लिए ही लिखे गये हों। यथा—

सरस सनेह अथोर, को कवि छवि वर्णन करै।
नंद-कुमार चकोर, श्रीराधा-मुख-चंद है॥

× × ×

रे चकोर मतिमंद, का सठ हठि भरम्यो फिरै।
यह न कलंकी चंद, यह राधा-मुख-चंद है॥

इनके अलंकार कितने सुस्पष्ट हैं!—स्थानाभाव के कारण मैं यहाँ विशेष अलंकारों के विशेष उदाहरण नहीं देना चाहता। ढूँढ़नेवाले को ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे।

पर यदि सच पूछिए तो कवि का कमाल सबसे अधिक श्रृंगार-रस की कविताओं में प्रस्फुटित हुआ है। "कमनीय कुंज" सचमुच कमनीय कुंज है। इसमें …-विषयक अनेक मनोहर सूक्तियाँ हैं। नायिका-भेद … कई उत्तमोत्तम उदाहरण यहाँ उपस्थित हैं। मुग्धा, खंडिता, कलहांतरिता, रूपगर्विता, परकीया के बड़े मार्मिक उदाहरण हैं। नायिका-भेद के इतने सरल और सुन्दर उदाहरण हिंदी में कम मिलते हैं। इनसे कवि का प्राचीन काव्यों का प्रगाढ़ अध्ययन सूचित होता है और उनका आचार्यत्व प्रकट होता है।

यत्र-तत्र समस्याओं की पूर्ति में लिखी हुई कविताएँ भी देख पड़ती हैं। उनमें भी कुछ मज़ा है।

"दिन द्वै तें पियूष निचोरैं लगीं", "दिन चार में हौं तमाम तमासे", "हेरत ही हेरत सु यो मन हिराने जात", "उल्लू क्यों न डूब मरै चुल्लू भर पानी में", "स्वरूप नंद लाल को", "जब मन लागि जात …

निर्मोही सों", "सैल-संग द्रुम-पत्र पै मीन कीन रति-रंग कब" इत्यादि समस्याओं की पूर्तियाँ बड़ी अच्छी हुई हैं। इनमें से अंतिम की पूर्ति तो सचमुच ही कमाल की है।

संग्रह की कई कविताएँ संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्राचीन सूक्तियों के अनुवाद हैं। कविता का कविता में ही अनुवाद करना बड़ा कठिन काम है। इसमें भावों का तोड़-मरोड़ होकर मूल के सौंदर्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने का डर रहता है। पर इस संबंध में भी हमें सरोवर के कवि की कुशलता और प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनके अनुवाद बड़े अच्छे उतरे हैं। पृष्ठ ६ का १२वाँ, पृष्ठ २९ का ९वाँ, पृष्ठ ४१ का पहला, पृष्ठ ४४ का पहला तथा पृष्ठ ६३ का पहला पद्य अनुवाद में अपनी मधुरता अविच्छिन्न रक्खे हुए हैं। इनके अतिरिक्त और भी कई पद्यों का अनुवाद साधारणतः अच्छा हुआ है। पर इन अनुवादों के संबंध में एक बात कुछ खटकती है। पुस्तक में इसका कुछ ज़िक्र नहीं किया गया है कि ये अमुक संस्कृत-कवि के छंद के अनुवाद हैं। बाबू शिवपूजन सहाय ने अपने 'परिचय' में कुछ अनुवादों का उल्लेख किया है अवश्य, पर उनके अतिरिक्त और भी तो कई अनुवाद हैं। यदि पुस्तक में पाद-टिप्पणी देकर उसमें मूल-श्लोकों का भी किसी प्रकार उल्लेख कर दिया जाता, तो अनुवादों की खूबी और भी चमक उठती और साथ ही कवि पर कोई "नास्त्यचौरो" का दोष भी न लगा सकता। अस्तु।

इस संग्रह में हमें एक ही साथ अनूठे भाव, सुंदर अलंकार, रीति-काव्य, समस्या, अनुवाद-कौशल आदि के रसास्वादन का अवसर मिलता है। ऊपर मैंने कवि के पुराने विचारों की जो चर्चा की है, उसके विपरीत कवि की कुछ सामयिकता से सुरभित सूक्तियाँ भी मिलती हैं। "विविध विचार" के खंड में "होली"-शीर्षक कविता पढ़कर देखिए कि मन में समयानुकूल भाव उठते हैं या नहीं। "नीति-निचय" में भी ऐसे बहुत-से पद हैं।

अंत में इस समालोचना को अपूर्णता और पक्षपात के दोषों से मुक्त करने के लिए मुझे पुस्तक के कुछ दोषों का भी उल्लेख करना होगा; पर इसके पहले मैं यह कह देना चाहता हूँ कि इसमें यदि दो-एक छोटे-मोटे दोष हैं भी, तो पुस्तक के गुणों की ओर ध्यान देने से वे मुझे नगण्य प्रतीत होते हैं। यों मनुष्य की कौन-सी ऐसी कृति है, जिसमें गुणों के साथ कुछ दोष न हों। दोषरहित गुण और गुणरहित दोष मानव-संसार में असंभव है।

सुधा-सरोवर की सबसे बड़ी त्रुटि यह जान पड़ती है कि इसमें कुछ निम्न कोटि के पदों का भी संग्रह हो गया है। हंसों की पंक्ति में बगले शोभा नहीं पाते। इसी प्रकार इतनी अच्छी कविताओं में थोड़ी-सी जो महज़ साधारण कविताएँ रह गयी हैं, वे अच्छी नहीं मालूम होतीं। कई तो हास्यास्पद हो गयी हैं। यथा—

मिलत बहुत तातील हैं, पंच घंट ही काम।
वेतन साधारण समुझि, युवजन करहु विराम॥

अथवा

गवर्नमेंट की चाकरी, वेतन बँधे प्रबंध।
छाड़े हूँ पेन्सन मिलत, कछु अनिष्ट नहिं संध॥

इत्यादि।

निःसंदेह ऐसी भरती की कविताएँ कवि की बहुत पहले की रचनाएँ होंगी। अच्छा होता, यदि ऐसी भाव-शून्य कविताएँ सरोवर में स्थान न पातीं। अथवा यदि इन्हें रखना ही था, तो पाद-टिप्पणियों में इनके रचना-काल का भी ज़िक्र कर दिया जाता। ऐसा कर देने से बात खुलासा हो जाती और हमें संतोष हो जाता। अन्यथा ऐसी कविताओं से सरोवर की शोभा बढ़ नहीं रही है। सामयिकता के ख़याल से, पुस्तक में श्रृंगाररस की कविताओं की अधिकता से भी शायद कुछ लोग कुढ़ेंगे। पर यह तो कोई दोष नहीं है। हाँ, सरोवर में दो-एक ऐसी कविताएँ भी हैं, जिन्हें आजकल के स्टैंडर्ड से लोग अश्लीलता के किनारे तक पहुँची हुई मान सकते हैं। यथा—६६ पृष्ठ की छठी कविता। किसी-किसी कविता पर हिंदी के प्राचीन कवियों की ज़रूरत से अधिक छाप पड़ गयी है। यथा—पृष्ठ १९ में 'सरयू-लहरी" का दूसरा छंद पद्माकर की निम्न-लिखित पंक्तियों के असर में इतना डूबा हुआ है कि मुझे डर है कि कुछ लोग उसे अनुचित भावापहरण न समझ लें।—

जैसे तैं न मो सों कहूँ नेकहूँ डरात हुतो,
तैसे अब हौं हूँ नेकहूँ न तो सों डरिहौं।
कहै पदमाकर प्रचंड जो परैगो तो,
उमंड करि तोसों भुजदंड ठोंकि लरिहौं।
चलोचलु चलोचलु विचलु न बीच ही तें,
कीच बीच नीच तो कलंक को कचरिहौं।
परें दगादार मेरे पातक अपार तोहिं,
गंगा के कछार में पछार छार करिहौं॥

—पद्माकर

जान पड़ता है, इस प्रकार की सभी कविताएँ कवि की पूर्व-अवस्था की रचनाएँ हैं। ये सुधा के सरोवर के योग्य नहीं हैं।

पुस्तक की क्रमबद्धता भी बिलकुल दुरुस्त नहीं जान पड़ती। "विमल विचार" के परिच्छेद में शायद कुछ नीति के पद घुस गये हैं। "विविध विषय" के खंड में "झूला" आदि शीर्षक कई ऐसी कविताएँ हैं, जो "कमनीय कुंज" के लिए अधिक उपयुक्त होतीं। वास्तव में रीति-विषयक सभी कविताओं को एक साथ स्थान मिलना चाहिए था। उस खंड का नाम होता—'रीति-खंड'। कुछ अच्छी-अच्छी समस्या-पूर्ति की कविताओं के लिए भी एक स्वतंत्र स्थान मिला रहता, तो उनका असली मज़ा आ जाता; अन्यथा उनका आनंद दब-सा गया है। "दिन द्वै तें पियूष निचोरैं लगीं"-समस्या की एक पूर्ति पृष्ठ २१ के तीसरे छंद में और दूसरी पृष्ठ ६८ के पाँचवें छंद में है। "स्वरूप नन्दलाल को"—इसकी भी एक पूर्ति ७३ पृष्ठ के पहले छंद में और दूसरी ७४ पृष्ठ के पाँचवें छंद में है। समस्याओं की पूर्तियाँ इस छिन्न-भिन्न रूप में अपने सौंदर्य का अधिकांश खो बैठी हैं। समस्या-पूर्ति एक स्वतंत्र कला है, और उसमें यदि कवि के काव्य-कौशल के क़वायद का दर्शन नहीं हुआ तो क्या हुआ?

ख़ैर जो हो, इन दोषों के लिए हम 'सरोवर' के कवि को दोषी नहीं कह सकते। अपने वक्तव्य में उन्होंने स्पष्ट सूचित कर दिया है कि अवकाशाभाव के कारण पुस्तक की क्रमबद्धता आदि का भार उन्हें दूसरे सज्जनों के ऊपर छोड़ना पड़ा। कवि को यदि स्वयं इस ओर ध्यान देने का अवसर मिला होता, तो शायद इस समालोचना में बतलाने लायक़ मुझे ये दोष [illegible] नहीं मिलते।

सुना है, कविकिंकरजी की हाल की ब्रजभाषा [illegible] कविताओं का एक दूसरा संग्रह "सुरभित सुमन" [illegible] से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। अतएव उक्त [illegible] दोष-दर्शन से मेरा केवल यही अभिप्राय है कि [illegible] संग्रह को हमें और भी अधिक सुंदर और सुपरि[illegible] रूप में देखने का सौभाग्य प्राप्त हो।

प्रो० विश्वनाथप्रसाद (साहित्यरत्न, एम० ए०

× × ×

बाल-कथा-कहानी—लेखक, पं० रामनरेश त्रि[illegible]; प्रकाशक, हिंदी-मंदिर, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ६२, मूल्य [illegible]

त्रिपाठी जी बाल-साहित्य के सिद्धहस्त लेखक [illegible] प्रस्तुत पुस्तक के प्रथम नौ भाग पुस्तकाकार अलग-अलग निकल चुके हैं। वे सब एक-से-एक बढ़कर [illegible] उनमें बालकों के लिए सुंदर और शिक्षाप्रद कहानि[illegible] संगृहीत की गयी हैं। प्रत्येक कहानी में सुंदर रंग[illegible] चित्रों द्वारा बालकों को विषय समझाने का सफ[illegible] प्रयास किया गया है। हमारे सामने इस कथा-माला [illegible] दसवाँ भाग है। इसमें 'मौत के सुरंग की कहानी' नामक एक ही कथा है। कहानी रोचक एवं शिक्षा[illegible] है और भाषा सरल तथा सुबोध। कई सुंदर [illegible] चित्र भी हैं। सारी पुस्तक की छपाई रंगीन स्याही [illegible] हुई है। यह इस माला की विशेषता है। किंतु जैसा [illegible] हम ऊपर कह चुके हैं, इस (६२ पृष्ठ की) पुस्तक [illegible] सिर्फ़ एक ही कहानी का होना अवश्य कुछ [illegible] है। हमारी विनम्र सम्मति में बच्चों के लिए इतनी [illegible] लंबी और पुस्तकाकार एक ही कहानी का होना उतना [illegible] फलप्रद नहीं, जितना कि छोटी-छोटी कहानियों का। [illegible] ही इसे पूरा पढ़ने में भी उनका उकता जाना ही [illegible] संभव है। पुस्तक बालकों के लिए संग्रहणीय है। [illegible] मनोरंजन और शिक्षा दोनों ही प्राप्त होंगे।

× × ×

अग्नि-शिखा—रचयिता, श्री "विप्लवी कमल"; प्रकाशक, मंत्री 'तिलक'-पुस्तकालय, सुलतानपुर, मोर (पटना) [illegible] पृष्ठ-संख्या ३८; मूल्य ।)

प्रस्तुत छोटी-सी पुस्तक में श्री "विप्लवी कमल" की १८ राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह है। आवरण पृष्ठ [illegible]

की इन पंक्तियों से ही पुस्तक का भाव स्पष्ट व्यक्त हो जाता है—

"शहीदाने वतन के खूने नाहक़ से जो सत निकले ,
तो उसके ज़र्रे-ज़र्रे से भगतसिंह और दत्त निकले ।"

× × ×

श्रीगणेश-गीतांजलि—रचयिता, श्री'सोम'; प्रकाशक देवदत्त शर्मा, परमट, कानपुर; पृष्ठ-संख्या १६; मूल्य -) मात्र

जननी-जन्मभूमि के सच्चे सेवक, हिंदू-मुस्लिम विद्रोह की भीषण बलि-वेदी पर ऐक्य-स्वरूप अपने प्राणों की 'पूर्णाहुति' देकर क़ुर्बान होनेवाले अमर शहीद श्रीगणेश-शंकरजी विद्यार्थी को कौन नहीं जानता ? उस वीर महान् आत्मा का संस्मरण-मात्र होने से ही श्रद्धा से मस्तक नत हो जाता है। इस छोटी-सी पुस्तिका में उन्हीं स्व० विद्यार्थी-जी के जीवन की घटनाएँ संक्षेपतः पद्यरूप में वर्णित की गयी हैं। विषय-सूची इस प्रकार है—अवतरणिका, बाल्यकाल, कर्मक्षेत्र, प्रताप, कारावास, बलिदान और गौरव-गरिमा। 'बलिदान'-शीर्षक प्रकरण में उस वीर-आत्मा के सहर्ष बलि होने के दुःखद किंतु गौरवपूर्ण वृत्तांत के साथ-साथ कानपुर में हुई अमानुषिकता के भीषण नृत्य का पैशाचिक वृत्तांत भी पाठकों को मिलेगा। हम चाहते हैं कि प्रत्येक पाठक उस पवित्र आत्मा की स्मृति में एक बार इसे अवश्य पढ़े। आशा है, स्व० विद्यार्थीजी पर लिखे गये अन्य वृहद् संस्मरणों के साथ-साथ इस 'गीतांजलि' का भी अच्छा आदर होगा। तथास्तु।

× × ×

सल्ट पर कैसी बीती (जाँच-कमेटी की रिपोर्ट)—प्रेषक तथा प्रकाशक, तहसील कांग्रेस-कमेटी, रानीखेत (अलमोड़ा); मूल्य =)

कुमाऊँ-प्रांत में ज़िला अलमोड़ा के अन्तर्गत तहसील रानीखेत की २१ पट्टियों में से ४ पट्टियाँ मिलकर एक प्रसिद्ध इलाक़ा कहलाती हैं। इसी का नाम सल्ट है। गत सत्याग्रह-आंदोलन के समय उक्त इलाक़े (जिसकी मालगुज़ारी प्रायः १००००) सालाना है) की ग्रामीण भोलीभाली जनता ने उसमें कितना भाग लिया और कैसी-कैसी तकलीफ़ें हँसते-हँसते सहन कीं, यह इस रिपोर्ट के पढ़ने से भली भाँति विदित हो जाता है। कमेटी के मतानुसार लोग (जिनमें बाल, वृद्ध, युवा सभी सम्मिलित हैं) बेदर्दी से पीटे गये, सैकड़ों गिरफ़्तारियाँ हुईं, कहीं ... बहुत बड़ी तादाद में गर्म रहा, यहाँ तक कि सोते हुए छोटे-छोटे बच्चों के बिस्तरे तक उन्हें निर्दयता से ज़मीन पर डालकर कुर्क़ कर लिये गये ! अतिरिक्त पुलिस के तरह-तरह के अनेकों अमानुषिक अत्याचार सत्याग्रह-संग्राम के अवसर पर वहाँ ज़ारी रहे। किंतु धन्य है स्वतंत्रता के मतवाले सल्ट के उन वीरों को—जिन्होंने पूर्ण अहिंसात्मक शक्ति द्वारा उन सब अत्याचारों को ख़ुशी-ख़ुशी सहन किया और अपने दृढ़ निश्चय से तनिक भी विचलित न होकर अन्त में सुलह-रूपी विजय-श्री प्राप्त की। इसका श्रेय पं० मथुरादत्त जोशी को है।

रिपोर्ट काफ़ी लंबी है, जो छोटे साइज़ के ३२ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसे यदि 'रिपोर्ट' न कहकर सल्ट तथा उसके प्रारंभिक काल से अब तक के वर्तमान शासन का संक्षिप्त इतिहास कहें, तो कदाचित् कोई अत्युक्ति न होगी; क्योंकि उक्त विषय-संबंधी प्रायः सभी जानने योग्य बातें इसमें आ गयी हैं।

हम इसके सम्माननीय लेखकद्वय श्रीपं० हरगोविंदजी पंत तथा लाला चिरंजीलालजी एडवोकेट को उनके इस सत्परिश्रम के लिए हार्दिक बधाई देते हैं।

तारादत्त उप्रेती

× × ×

मुक्त-संगीत—लेखक, श्रीयुत अभिराम शर्मा और प्रणयेश शर्मा; प्रकाशक, श्रीरामसहाय पांडेय 'चंद्र', कानपूर; मूल्य १); छपाई-सफ़ाई उत्तम ; पृष्ठ-संख्या ७८

श्रीयुत अभिराम शर्मा हिंदी के एक उदीयमान कवि हैं। छायावाद, मायावाद अथवा रहस्यवाद के चक्कर में न पड़कर वह जिस प्रकार अपनी कल्पनाओं को कविता का मनोरंजक रूप देते हैं, उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि एक सफल भावुक कवि हैं। भावावेश में आकर उनकी कल्पना कहीं-कहीं इतनी आत्मसंवेदक हो जाती है कि पाठक पढ़कर मंत्रमुग्ध हो जाता है। उनकी कल्पना देशानुराग और भावुकता के सूत्र में ग्रथित हो-कर जो हृदयस्पर्शी उद्गार निकालती है, वे पाठक की सोयी हुई हृदयकलिका को स्पंदित कर देते हैं। उनकी रचनाओं में हमें अधिकांश स्थलों पर वेदनाजन्य तड़पन दृष्टिगोचर हुई। कविता जब तक हृदय से प्रादुर्भूत नहीं होती, तब तक हृदय पर चोट भी नहीं कर सकती। जब तक उसमें कोमलता का अभाव होगा, तब तक

चाहे कितना ही देशानुराग उसमें क्यों न भरा हो, कितनी ही देश के प्रति भक्ति एवं भाव उसमें क्यों न उमड़ रहा हो, वह सहृदय पाठक को पूर्ण रूप से आकर्षित नहीं कर सकती।

हर्ष की बात है कि इन कवियों की कुछ रचनाओं में वेदना और देशानुराग के साथ-साथ काव्यकला भी स्थान-स्थान पर विकसित हुई है और इसीलिए ये हमें ज़्यादा पसंद आयीं। कविताओं की शब्दावली भी मधुर और मनोहर है। शहीदों के प्रति कितनी मार्मिक उक्ति है—

क्या इनके प्रिय प्राण नहीं थे इनको इतने प्यारे ;
अपने पूज्य पिता-माता के क्या ये थे न दुलारे ;
ये भी दुनिया में आये थे सुखसेजों पर सोने।
यह भी खा सकते थे मृदुमय मोदक भर-भर दोने ,
इनके भी था हृदय—हृदय में नव उमंग अभिलाषा ;
इन्हें ज्ञात थी मधुर मिलन की प्रेममयी परिभाषा।

इन पंक्तियों को पढ़कर किसके हृदय में एक विषम वेदना नहीं जाग्रत् होती और उसका हृदय उससे कंपित नहीं होने लगता।

देखिए, 'बिदा'-शीर्षक रचना कितनी ओजस्वी और सुंदर बन पड़ी है। प्रसाद-गुण से परिपूर्ण इस कविता में हमें मनोभावों के आंदोलन का, उथल-पुथल का कितना स्वाभाविक और साथ-ही-साथ भावुक चित्रण देखने को मिलता है।

चला वीर जब समरभूमि को ममता बोली—"जावो"
किंतु प्रेम की उस प्रतिमा से बिदा माँग तो आवो
जो नवलतिका बड़े यत्न से तुमने थी प्रतिपाली
उसे सूख जाने दोगे क्या बिन जीवन वनमाली
माना, सैनिक, रणप्राङ्गण को तुम्हें शीघ्र है जाना
यह भी माना, पहन चुके हो तुम केसरिया-बाना
कठिन कवच ने कोमल मन को क्या पत्थर कर डाला
किसी दुःखिनी का निष्ठुर बन क्यों तुमने घर घाला
हृदयपटल पर लिख जाती है प्रतिक्षण विरह-कहानी
ओ बेदर्द! परंतु न तुमने पीर परायी जानी
साध-भरी अधखिली अभी है वह कलिका सुकुमारी
मधुर मिलन की शुभ आशा में प्रमुदित मन में भारी
इस वियोग की तप्त वायु में क्या उसकी गति होगी
तनिक सोच लो, फिर न मिलेगा अवसर अरे वियोगी!
हृत्तन्त्री के इन तारों में कभी हुई थी पीड़ा
युग नयनों में थिरक-थिरककर वह करती थी क्रीड़ा
पलक बन्द हो गयी—शिथिल थी कर्महीन वह काया
सहसा सेनानी ने अपना व्यापक बिगुल बजाया
वहीं—हा, वहीं वीर भावना उत्तेजित हो बोली—
ओ विरक्त! अब लग जाने दे इस माया की होली

× × ×

लो जाता हूँ प्रिये! मिलन का सुखमय साज सजाने
आऊँगा सत्वर सँयोग की घड़ियाँ सफल बनाने

कवि की कल्पना जिस मादकता के साथ जाकर हृदय की सुकुमार वृत्तियों को छेड़ देती है, उसकी अनुभूति करके हृदय को अभूत आनंद प्राप्त होता है। कविता की हम ज़्यादा प्रशंसा नहीं करना चाहते; पढ़ने के बाद पाठक के हृदय पर चोट-सी लगती है और वह खोया विक्षिप्त-सा टटोलता हुआ रह जाता है। तांडव-शीर्षक कविता भी हमें बहुत पसंद आयी। श्रीयुत प्रणयेशजी किस प्रकार विप्लववादी के मुख से कहलाते हैं—

सावधान मैं विप्लववादी मुझसे मत कुछ कहना,
अंगारों में झुलस जायगा, भ्रांत दूर ही रहना;
नरमुंडों के कंदुक लेकर जब मैं खेल रचाता,
शोणित-सरिता में हँस-हँसकर मैं अविराम नहाता।
अखिल सृष्टि का मैं संहार,
समझूँ, कौतुक क्रांति, भयानकपन मेरा शृंगार;
श्वास—श्वास है झंझावात,
प्रलयंकरी सहचरी मेरी महाकाल की रात।

कितनी ओजस्वी कविता है!

राष्ट्रीय कविताएँ या देशभक्ति से ओतप्रोत ऐसी कविताएँ, जिनमें काव्य-कला का चमत्कार भी हो, बहुधा कम देखने में आती हैं। केवल 'ठूँठ' देशभक्ति की कविताएँ—जिनमें न चमत्कार है, न भाव है, न काव्य-सूत है—करने से ही कोई कवि नहीं कहलाता। कवि का आसन ऐसे तुकड़ों से कहीं ऊँचा हुआ करता है। यों तो 'खद्दर का डंका आलम में बजवा दिया बीर जवाहर ने'—में भी देशभक्ति है! परंतु क्या वह कविता है? ऐसे तुकड़ों को कवि-संज्ञा से विभूषित नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से तो हमें 'सनेही', एक 'भारतीय आत्मा', 'विदग्ध', 'नवीन', बाबू मैथिलीशरण, माखन शुक्ल, सुभद्राकुमारी चौहान, पं० रामनरेश त्रिपाठी

आदि कवियों को छोड़कर कोई भी सफल कवि नहीं ज्ञात होता। हर्ष की बात है कि 'अभिरामजी' की कविताओं में काव्य-चमत्कार के साथ साथ देश-भक्ति की उत्ताल तरंगें भी प्रवाहित होती हैं। देश-भक्ति के नाम पर कविताप्रेमी पाठक ऐसी ही रचनाएँ चाहते हैं। 'ठूँठरांस' और 'झंडा झुकने न दो'-जैसी कविताओं ने जी उबा दिया है।

'उत्सर्ग'-शीर्षक कविता में हृदय की विदग्धता और रसवता का कितना दर्दनाक चित्र खींचा गया है। भ्रमर सोचता था—

मानस-तट पर खिंची हुई थी उपवन की हरियाली,
नाच रही थी युग नयनों में माधविका की लाली;
सोच रहा था, विहगावलियाँ गाती होंगी गाने,
कुंजद्वार पर आये होंगे अलिगन साज सजाने।
माधवऋतु की छटा छा रही होगी प्रति कण-कण में,
हरीतिमा पीतिमा नाचती संग-संग क्षण-क्षण में।

परंतु वहाँ वह क्या देखता है—

लता गयी थी उजड़, नहीं था पता मंजु कुंजों का;
आर्तनाद ही पर्यायी था मधुपों की गुंजों का।

फिर दूसरा दृश्य देखिए—

अवनी के विस्तीर्ण अंक में निशि का अंचल ताने,
स्वप्न-देश में विचर रहा था मधुकर कहाँ न-जाने;
स्वर्ण-थाल में भर लायी थी उषा सुंदरी मोती,
कलियों के कोमल मुख को थी सुधाबिंदु से धोती।
केशर चंदन गंध आदि से बंदन-साज सँवारे,
अभिनंदन को उत्सुकता से आयी कंचन-द्वारे;
सिंहद्वार पर सहसा प्रियतम वनमाली जब आये,
किरणोत्सव में वहीं उषा ने मणि-मोती बिखराये।

× × ×

यद्यपि उपवन में प्रसून थे कलिकाएँ सुकुमारी,
सौरभ था, परिमल, पराग था, थी गुलाब की क्यारी;
किंतु दूसरों का वैभव यह उसे न किंचित् भाया,
बार-बार फिर वहीं हृदय में उजड़ा उपवन आया।

× × ×

वहाँ देखने लगा, जल रही थी अशांति की ज्वाला;
होने को उत्सर्ग हो रहा था भौंरा मतवाला।

हमें गीतखंड की तो केवल तीन या चार ही रचनाएँ पसंद आयीं, किंतु कविताखंड की अधिकांश। गीतों में उपदेशात्मक वृत्ति का आधिक्य हो गया है। इसी कारण उनमें काव्य-कला का उतना सुंदर विकास नहीं हो पाया।

उपर्युक्त कविताओं से विदित होता है कि श्रीअभिराम और प्रणयेशजी उदीयमान कवि हैं। उनके हृदय में देश के प्रति अनुराग है, जो उनकी स्वाभाविक भावुकता में अनुरंजित होकर इन कविताओं के रूप में प्रकट हुआ है।

आशा है, पुस्तक का हिंदी-संसार में उचित आदर होगा।

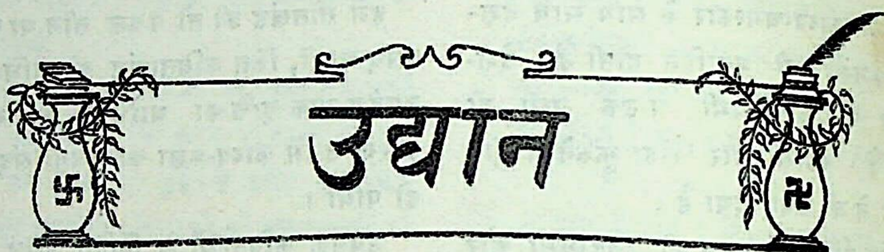
× × ×

ऊषा और अरुण (प्रथम भाग)—मूल-लेखक, श्रीभानुप्रसाद मणिराम; प्रकाशक, एस्० एस्० मेहता एंड ब्रदर्स, काशी; मूल्य १)

पुस्तक व्यास महोदय के एक गुजराती, सामाजिक उपन्यास का अनुवाद है। मूल-पुस्तक तो मैंने नहीं पढ़ी, परंतु अनुवाद की सुबोधता और सुशृंखला प्रकट करती है कि मूल-भावों की रक्षा करने की चेष्टा की गयी है। तो भी न-जाने क्यों उपन्यास हमें इस योग्य नहीं जान पड़ा कि इसका अनुवाद हिंदी में होने से हिंदी का गौरव बढ़ेगा। उपन्यास उपदेशात्मक है और सामाजिक सुधार के दृष्टिकोण को सामने रखकर लिखा गया है। परंतु उपन्यास-कला का तो सर्वथा ही अभाव है। खेद है, हम ऐसे कलाहीन और अनुवादित उपन्यास का उल्लासपूर्वक स्वागत नहीं कर सके।

अभी यह पहला भाग ही प्रकाशित हो पाया है, इसलिए कुछ अधिक विचार भी तो नहीं किया जा सकता।

विद्यार्थी रामेश्वर शुक्ल



१. परवश-प्रेम

उनका नाम जपें हम निशदिन,
उनके ही गुण गावें।
उनकी विरह-वेदना में ही—
घुट-घुट चैन न पावें।
रो-रो चरण पड़ें हम उनके,
वे हँसकर ठुकरावें।
वे होने के नहीं हमारे,
हम उनके हो जावें।
नयी यातनाओं से नित वे—
हमको त्रास दिखावें।
पर हम उफ़ तक करें नहीं,
आँसू चुपके पी जावें।
दारुण दुख को संकेतों से—
भी न कभी प्रकटावें।
मानवता की स्वाभाविकता को,
बरबस आह ! छिपावें।
मरें नहीं, पर जीवन का भी—
लाभ न तनिक उठावें।
पीड़ा की परवशता में पिस—
उनको सुख पहुँचावें।

ललितकुमारसिंह 'नटवर'

× × ×

२. चंद्रगुप्त मौर्य

भारतवर्ष के ही नहीं, समस्त संसार के सम्राटों में चंद्रगुप्त मौर्य का स्थान बहुत ऊँचा है। चंद्रगुप्त मौर्य के विषय में अनेक लेख प्रकाशित हो जाने पर भी अब तक अनेक भ्रमपूर्ण विचार फैले हुए हैं। यहाँ चंद्रगुप्त मौर्य के वास्तविक इतिहास, और प्राचीन तथा आधुनिक काल के सम्राटों में उसका क्या स्थान है, इस पर विचार किया जायगा।

चंद्रगुप्त मौर्य के वंश का विषय अब तक बड़ा विवादपूर्ण रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि पौराणिक किंवदंतियों के अतिरिक्त, जिनके आधार पर विशाखदत्त ने अपना 'मुद्राराक्षस' लिखा है, चंद्रगुप्त के शूद्र होने का अन्य कोई प्रमाण नहीं है। परंतु आधुनिक अन्वेषणों से ज्ञात होता है कि चंद्रगुप्त मौर्य वास्तव में क्षत्रिय था। सिकंदर के आक्रमण के समय भारतवर्ष में अनेक जनतंत्र तथा राजतंत्र थे। बौद्ध-ग्रंथों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इन्हीं राष्ट्रों में एक पिप्फलीवन-नामक राष्ट्र था, जहाँ के शासक 'मोरिय' वंश के क्षत्रिय थे। निस्संदेह चंद्रगुप्त इसी वंश के किसी साधारण क्षत्रिय का लड़का रहा होगा, और राजपुत्र न होने के कारण ही लोगों ने उसके शूद्रा से उत्पन्न होने की कथा की कल्पना कर ली होगी। संभव है, आधुनिक 'मोरी' वंश के राजपूत इन्हीं मोरियों या मौर्यों की संतान हों।

चंद्रगुप्त मौर्य का जन्म-काल ईसा के लगभग ३४० वर्ष पूर्व है। कहा जाता है कि युवावस्था में चंद्रगुप्त सिकंदर से मिला था और सिकंदर उसके वीरतापूर्ण व्यवहार से बहुत प्रभावित हुआ था। चंद्रगुप्त मौर्य ने

युवावस्था से ही संसार को भारतवर्ष का बल दिखाने की ठान ली होगी। परंतु संसार के अन्य देशों पर धाक जमाने के पहले यह आवश्यक था कि भारतवर्ष को यथासंभव एक सूत्र में बाँधा जाय। अतएव उसने सर्वप्रथम मगध-राष्ट्र को नंदराज के अत्याचार से छुड़ाकर संगठित करने का निश्चय किया। दैववश चंद्रगुप्त को सामयिक मंत्रणा देने के लिए चाणक्य-नामक एक बड़ा चतुर ब्राह्मण मिल गया। चंद्रगुप्त ने नंदवंश को नष्ट करके मगध में मौर्य-वंश का राज्य स्थापित किया। इसके बाद उसने समस्त आर्यावर्त और संभवतः दक्षिणापात के भी अधिकतर भाग को विजय किया। सिकंदर के प्रस्थान के बाद यवनों ने पंजाब में अत्याचार करना प्रारंभ किया, जिसके कारण वहाँ के युद्धप्रिय लोग बिगड़ गये। इस आंदोलन का नायक चंद्रगुप्त ही था। उसने पंजाब को यवनों से मुक्त कर दिया।

संभवतः चंद्रगुप्त एशिया के अन्य राष्ट्रों को जीतने के लिए अग्रसर हो रहा था, जब उसे सिकंदर के प्रबल सेनानी तथा पश्चिमी एशिया के सम्राट् सिल्यूकस निकेटर का, जो कदाचित् भारतवर्ष को पुनः जीतने के लिए बढ़ रहा था, सामना करना पड़ा। चंद्रगुप्त ने सिल्यूकस को भी नीचा दिखाकर भारतीयों के युद्ध-कौशल को प्रमाणित कर दिया। अंत में सिल्यूकस को चंद्रगुप्त के साथ एक अत्यंत नम्रतापूर्ण संधि करनी पड़ी, परंतु संधि-बंधन के कारण चंद्रगुप्त को अपनी दिग्विजय समाप्त करनी पड़ी तो भी चंद्रगुप्त ने सिल्यूकस से अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान और पारसीक देश का कुछ पूर्वी भाग ले लिया और अपने साम्राज्य का विस्तार ईरान तक फैला दिया। चंद्रगुप्त ने सिल्यूकस को ५०० हाथी भेंट किये तथा सिल्यूकस ने अपनी लड़की का विवाह चंद्रगुप्त से कर दिया। क्षत्रिय राजाओं का 'म्लेच्छ' राजाओं की लड़कियों से विवाह होने की प्रथा प्राचीन काल से प्रसिद्ध थी, इसलिए चंद्रगुप्त का सिल्यूकस की दुहिता से विवाह करना आश्चर्यजनक नहीं है।

चंद्रगुप्त मौर्य केवल विजयी ही नहीं था, वरन् वह एक बड़ा भारी शासक भी था। उसके शासन-प्रबंध का वर्णन सिल्यूकस के राजदूत मेगास्थनीज़ ने प्रशंसापूर्वक किया है। उसके शासन भी बहुत की ... आजकल की बातों से हो सकती है। नगर के प्रबंध के लिए छः पंचायतें थीं, जिनके सिपुर्द क्रमशः कारीगरी, व्यापार, कलाएँ, विक्रय पर कर लेना, लोकगणना और परदेशियों की निगरानी थी। चंद्रगुप्त के समय में लोकगणना का प्रबंध होना ही यह सूचित करता है कि राजकाज बड़ी योग्यता से होता था। परदेशियों की पंचायत भी यह सिद्ध करती है कि अन्य देशों से चंद्रगुप्त का पर्याप्त संबंध था। सेना का प्रबंध भी छः पंचायतों के हाथ में था। एक पंचायत के सिपुर्द चीज़ों का लाना-ले जाना था तथा दूसरी के सिपुर्द नाविक-प्रबंध था। शेष चारों सभाएँ चतुरंगिणी सेना का प्रबंध करती थीं। नाविक प्रबंध के लिए एक अलग सभा का होना यह सूचित करता है कि चंद्रगुप्त के पास एक प्रबल जहाज़ी बेड़ा था। इसी प्रकार सिंचाई का भी चंद्रगुप्त ने बड़ा अच्छा प्रबंध किया था। काठियावाड़ का सुदर्शन-नामक सरोवर, जिसे चंद्रगुप्त के मांडलीक पुष्यगुप्त वैश्य ने बनवाया था, इस बात का प्रमाण है। चंद्रगुप्त के समय में सड़कों का भी बड़ा अच्छा प्रबंध था। सड़कों पर एक-एक मील के फ़ासले पर स्तंभ गड़वा दिये गये थे। एक सड़क राजधानी पाटलिपुत्र से तक्षशिला तक जाती थी। आधुनिक ग्रैंड-ट्रंक-रोड इसी सड़क का रूपांतर है।

चंद्रगुप्त के समय में भारतवर्ष एक अत्यंत उन्नतिशील देश था। प्रसिद्ध विद्वान् राइस् डेविड्स के मतानुसार चंद्रगुप्त का सिंहासन उस समय संसार में सबसे महान् था। देश बड़ा धनी था। लोग बड़े सत्यवादी थे। चोरियाँ बहुत कम होती थीं। साहित्य भी उन्नतिशील अवस्था में था। यद्यपि उस समय के अधिक ग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं, तथापि जो हैं उनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय संस्कृत-साहित्य की अच्छी दशा थी। उस समय का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ कौटिल्य—जो चंद्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य का ही दूसरा नाम समझा जाता है—का अर्थशास्त्र है। यह संस्कृत के राजनीति-संबंधी ग्रंथों में सबसे अधिक प्रसिद्ध है और इसमें कूटनीति का वर्णन है। दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ चाणक्य का नीतिशतक है।

इस समृद्धि का उत्तरदायी निःसंदेह चंद्रगुप्त का शासन ... चंद्रगुप्त की दंडनीति बहुत कड़ी थी,

तो भी उस समय को देखते हुए वह इसके लिए दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

चंद्रगुप्त मौर्य बड़ी शान से जीवन व्यतीत करता था। उसके महल में सोने-चाँदी का काम था और उसके प्रयोग करने के बर्तन रत्नजटित थे। चंद्रगुप्त मौर्य शिकार का बड़ा प्रेमी था। वह कभी-कभी बैलों अथवा हाथियों की लड़ाई भी करवाता था। वर्ष-गाँठ के दिन राजा के केश-प्रक्षालन का बड़ा भारी उत्सव होता था। चंद्रगुप्त मौर्य के अंतिम समय का हाल अच्छी तरह ज्ञात नहीं है। जैनों के मत से चंद्रगुप्त ने एक दुर्भिक्ष के समय मैसूर-देश में जाकर जैन-प्रथा के अनुसार उपवास करके प्राण त्याग किये थे। संभव है, इस किंवदंती में सत्य का कुछ आभास हो।

चंद्रगुप्त मौर्य का वैयक्तिक इतिहास इतना अपूर्ण है कि लोगों ने उसको अब तक संसार के इतिहास में उचित स्थान नहीं दिया है। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि चंद्रगुप्त का राजनीतिक इतिहास ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि वह संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राटों में स्थान पाने योग्य है। यों तो चंद्रगुप्त की तुलना अनेक सम्राटों से हो सकती है, परंतु हम यहाँ उसकी तुलना क्रमशः संसार के तीन बड़े सम्राटों—सिकंदर, अकबर और नेपोलियन—से करेंगे। सिकंदर भी चंद्रगुप्त की तरह, या उससे कुछ अधिक ही, एक बड़ा भारी दिग्विजयी था। परंतु सिकंदर की विजय से पराजित देशों को कोई लाभ नहीं हुआ। सिकंदर उन देशों को जीतने के कुछ ही समय बाद विलासिता में डूबकर मर गया और उसका साम्राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। परंतु चंद्रगुप्त ने जो देश जीते, उनको अच्छे शासन के सारे लाभ प्रदान किये। अकबर निःसंदेह चंद्रगुप्त की तरह विजेता और सुशासक दोनों ही था। अकबर एक राजा का लड़का था और जब उसने अपना विजयी जीवन प्रारंभ किया, तब उसके पास राज्य और सेना सभी कुछ मौजूद था। परंतु चंद्रगुप्त ने जब अपना कार्य प्रारंभ किया, तब वह अकेला था और उसकी सर्वप्रथम विजय प्रतिभा और बुद्धि के द्वारा हुई होगी, सेना के द्वारा नहीं। नेपोलियन निस्संदेह आरंभ में चंद्रगुप्त की तरह ही एक साधारण मनुष्य था और वह चंद्रगुप्त की तरह अपनी प्रतिभा से ही सबसे पहले ऊँचे पद पर पहुँचा। परंतु नेपोलियन भी अपने जीते हु[ए] साम्राज्य को क़ायम न रख सका। अस्तु, यद्यपि [ये] तीनों ही सम्राट् चंद्रगुप्त से किसी-न-किसी बात [में] मिलते हैं, तो भी सब बातों में कोई भी नहीं मिलता। इससे यह सिद्ध होता है कि चंद्रगुप्त एक महा[न्] सम्राट् था।

पुरुषोत्तमलाल भार्गव (एम्० ए०)

× × ×

३. निशीथ

भूमि पर छायी हुई विधु की मधुर मुस्कान हो;
निस्तब्धता की गोद में सोयी किसी की तान हो।
मूक हों सारी दिशाएँ, ठौर भी सुनसान हो;
नित्य देखा दृश्य परिवर्तित बना अनजान हो।
भावनाएँ आप ही बेसुध बनी हों सर्वथा;
हृदय अनुभव कर रहा हो एक मीठी-सी व्यथा।
इन्दु-किरणें प्यार से हों दे रही मृदु थपकियाँ;
पलक पर हों नृत्य करती चंचला-सी झपकियाँ।
मंजुल मनोहर मूर्ति कोई ध्यान में हो आ रही;
अपने मनोहर इंगितों से मन सुषुप्त जगा रही।
आवे मलय का एक झोंका, फिर वहे धीमी बयार;
नींद पड़ जाये तनिक, हो स्वप्न में साक्षात्कार।

गुरुदयालसिंह 'प्रेम-पुष्प' (बी० ए०)

× × ×

४. "मध्यप्रांत के हिंदी-लेखक और कवि"

(प्रतिवाद का उत्तर)

गत वर्ष से उपर्युक्त शीर्षक के अन्तर्गत 'माधुरी' में मेरी एक लेख-माला का प्रकाशन आरंभ हुआ है। अभी तक उसके दो लेख छप चुके हैं। प्रसन्नता की बात है कि उन दो लेखों ने ही 'प्रांत' के अनेक साहित्य-सेवियों की तन्द्रा भङ्ग कर दी है और वे अपने 'अधिकारों' के लिए झगड़ने को आगे आ रहे हैं। यह प्रवृत्ति बुरी नहीं; पर जब इस प्रवृत्ति के साथ झूठा अभिमान और शिष्टतारहित उच्छृंखलता आदि नग्न नृत्य करने लगते हैं, तब उसके उन्मूलन की इच्छा हो जाती है। हमें दुःख है कि

इसी तिरस्करणीय मनोवृत्ति को प्रदर्शित करनेवाला एक नोट हमें भाद्रपद (सितम्बर १९३१) की माधुरी में, हमारे गत जुलाई १९३१ की 'माधुरी' में प्रकाशित पं० सुखराम चौबे 'गुणाकर'वाले आलोचनात्मक परिचय के प्रतिवाद-रूप में, पढ़ने को मिला ! 'प्रतिवाद' में सिवा व्यक्तिगत 'गाली-गलौज' के कहीं भी साहित्यिक सिद्धांत या कथन की चर्चा नहीं की गयी। 'प्रतिवाद' के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है, मानों कोई बदतमीज बालक अपनी अभिलषित वस्तु न पा 'गुरुजनों' पर बेतरह 'लाल' हो उठा हो और उनसे चिल्ला-चिल्लाकर कहता हो कि "हमारी तरफ़ भी देखो।" इस प्रतिवाद के पढ़ने के पूर्व हम प्रतिवाद-लेखक की बुद्धि पर कुछ विश्वास करते थे, पर अब तो ऐसा भासता है कि वह अपने वातावरण की ही एक प्रतिमा हैं। अस्तु।

'प्रतिवाद'-लेखक का पहला आक्षेप है कि मैंने 'गुणाकर'जी से लेख-माला का प्रारंभ कर 'मध्यप्रांत 'का मस्तक नीचा किया है ! प्रतिवाद-लेखक का यह कथन इतना आवेशपूर्ण एवं संकुचित मनोवृत्ति का द्योतक है कि हमें आश्चर्य होता है ! जिस समय प्रतिवाद-लेखक महाशय का साहित्यिक अस्तित्व धूल में शायद घरौंदा बनाता होगा, उस समय "गुणाकर"जी की कीर्ति हिंदी-बाल-साहित्य-जगत् में काफ़ी फैल चुकी थी। लखनऊ-साहित्य-सम्मेलन में श्रीयुत 'गुणाकर'जी ने अपने भाषण व कौशल एवं कविता-पाठ से, मध्यप्रांत के प्रतिनिधि की हैसियत से, जो छाप जमायी थी, उसका विवरण सन् १९१४ के ता० २८-२९ नवम्बर के "लीडर" में इन शब्दों में प्रकाशित हुआ था—

"Pandit Sukhram Chaube of Jubbulpure, Pandit Jivanand kavyatirth etc. read their compositions in Hindi poetry for nearly an hour and the whole audience was moved to ecstacy and the pandal resounded with cheers again and again." अर्थात् पंडित सुखराम चौबे (जबलपुर) आदि ने लगभग एक घंटे तक अपनी हिंदी-कविताएँ पढ़ीं, जिन्हें सुनकर दर्शकगण आनंद-विभोर हो उठे और पंडाल हर्ष-ध्वनियों से बार-बार गूँजता रहा"। पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी, स्व० रघुवरप्रसादजी द्विवेदी, श्री० हीरालालजी आदि हिंदी के मर्मज्ञ विद्वानों ने समय समय पर गुणाकरजी के बालोपयोगी साहित्य की प्रशंसा की है। इतना ही नहीं, स्वयं प्रतिपादक महाशय ने सन् १९२८ में, लखनऊ की एक प्रतिष्ठित पत्रिका में, गुणाकरजी की प्रशंसा की है। ऐसी दशा में हमने "गुणाकर"जी से लेख-माला का प्रारंभ कर "गुणाकर"जी के साथ न्याय ही नहीं किया, प्रत्युत मध्यप्रांत के एक ऐसे साहित्य-सेवी के 'साहित्य' का संक्षिप्त आलोचनात्मक परिचय 'माधुरी' में प्रकाशित करा उन अन्य प्रांतीय साहित्य-सेवियों की आँखें खोलने का प्रयत्न भी किया है, जो मध्यप्रांत के उन साहित्यसेवियों पर उपेक्षा की धूलि बखेरते हैं, जिन्हें अपने नाम का ढिंढोरा पीटने की आदत नहीं है !

प्रतिवाद-लेखक आगे यह भी लिखते हैं कि "गुणाकर जी के लेख को 'प्रारम्भ' में देकर मैंने 'मध्यप्रांत के हिंदी-लेखकों और कवियों' को भी आश्चर्य के चक्कर में डाल दिया है।" पता नहीं, मध्यप्रांत के कितने लेखकों-कवियों ने इस आशय का पत्र लिखकर श्रीज़हूरबख़्श को अपना प्रतिपाद-'प्रतिनिधि' चुना ! शायद वह अपने को 'स्वयंभू' प्रतिनिधि समझकर ही अपनी सम्मति को सारे मध्यप्रांत के लेखकों-कवियों के सिर मढ़ना चाहते हैं !

प्रतिपादक महाशय का दूसरा आक्षेप यह है कि वह स्वयं, श्रीलोकनाथ सिलाकारी और श्री "मीर" "गुणाकर"-जी के ज़बरन शिष्य बना डाले गये। इसके उत्तर में मुझे यही कहना है कि मैंने गुणाकरजी से ही यह जानकारी प्राप्त की थी। और, चूँकि गुणाकरजी वयोवृद्ध हैं एवं उस स्थान के रहनेवाले हैं, जहाँ उपर्युक्त सज्जनों का 'वास' है, इसलिए मुझे उनके कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं समझ पड़ा ! मैंने प्रतिवादक के इस आक्षेप को जब उनके सामने रक्खा, तब भी उन्होंने अपने पूर्व कथन का समर्थन किया। पर साथ ही यह भी कहा कि यदि "वे लोग मुझे 'गुरु' नहीं मानना चाहते, तो मैं भी उन पर 'गुरुता' का बोझा नहीं लादना चाहता।" गुणाकरजी ने बाद में यह भी कहा कि श्री'मीर' तो कभी अपनी ज़बान से मेरे कथन को नहीं काटेंगे;

क्योंकि जब मैं नार्मल स्कूल में सन् १८९२ में शिक्षक था, तब श्री 'मीर' मेरे पास साहित्य-परामर्श आदि के लिए बराबर आते रहते थे।" श्रीज़हूरबख़्श ने "मीर"जी को "गुणाकर"जी के लगभग समवयस्क लिखकर स्वयं लालबुझक्कड़-जैसी 'गप' दी है।

तीसरा आक्षेप प्रतिवादक का यह है कि हमने श्री-"गुणाकर"जी के गुरु का नाम क्यों नहीं लिखा! इसके उत्तर में हमें यही कहना है कि हमने अपनी पुस्तक में लेखकों-कवियों की गुरु-शिष्य-परंपरा के वृत्त को खींचने का उतना प्रयास नहीं किया, जितना उनकी रचनाओं पर प्रकाश डालने का उद्योग किया है। अपनी इस लेखमाला के प्रथम लेख में ही हम लिख चुके हैं कि इस प्रांत के कुछ चुने हुए लेखकों अर्थात् प्रतिनिधि-लेखकों-कवियों को ही, उनकी रचनाओं के आलोचनात्मक परिचय के साथ, हिंदी-जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं। फिर भी, प्रतिवाद के निकलने के पश्चात् हमने जब "गुणाकर"जी से इस आक्षेप की सत्यता जानने की इच्छा प्रकट की, तो उन्होंने कहा कि "यह लिखना तो सर्वथा मिथ्या है कि 'शील' कवि मेरे 'गुरु' हैं। श्री'शील' तो मुझसे उम्र में छोटे हैं और वह सागर के उस कविसमाज के सदस्य रहे हैं, जिसका मैं सभापति रह आया था! मैंने किसी भी सम्मेलन में 'शील' कवि के ऊपर अपनी शिष्यता का भार नहीं लादा। हाँ, 'शील' कवि के श्वसुर पं० जगन्नाथप्रसादजी अवश्य मेरे गुरु हैं और मैं उनके चरणों में आज भी कृतज्ञता की अंजलियाँ चढ़ाने में अपने को गौरवान्वित मानता हूँ।"

प्रतिवाद के अंतिम पैरा में श्रीज़हूरबख़्श ने अपनी जिस मास्टरी-मनोवृत्ति का परिचय दिया है, वह उनके अनुरूप ही है। जिस व्यक्ति ने जन्मकाल से आज तक 'बेत खाने' और कान पकड़कर उठने-बैठने का ही स्वप्न देखा है, वह उससे ऊँची कल्पना कर भी कैसे सकता है! इसी मनोवृत्ति ने व्रजभाषा के अत्यंत प्रसिद्ध कवि "देव" के प्रति भी उनसे यह लिखाया था कि "यदि देव मेरे सामने आज होता, तो मैं उसे कान पकड़वाकर उठाता-बैठाता!" इस तरह की "गाज़ी-गजौज"मय आलोचना का उत्तर भी क्या हो सकता है? आज की आलोचना-शैली और दस वर्ष पूर्व की आलोचना-शैली में ज़मीन-आसमान का अंतर हो गया है। अतः हम 'साहित्य' के नाम पर श्री० ज़हूरबख़्श से निवेदन करेंगे कि वह कम-से-कम साहित्य-पत्रिकाओं को व्यक्तिगत "मैं-मैं-तू-तू" और अशिष्टतापूर्ण अपने प्रतिवादों से रँगने का उद्योग न करें। प्रतिवाद 'विषय' का करें, व्यक्ति का नहीं। इसी में आपकी लेखनी का गौरव है! अंत में हमें इतना और कहना है कि हमारा 'ग्रंथ' लेखकों-कवियों की "जन्मपत्रिका" प्रदर्शित करनेवाला 'इतिहास' नहीं है, जिसमें मध्यप्रांत के गली-गली-स्कूल-स्कूल बिखरे "लेखक-कवि" कहलानेवाले व्यक्तियों का ढेर लगा दिया गया हो—हमने तो उसमें मध्यप्रांत के आधुनिक काल के प्रतिनिधि-लेखकों-कवियों (Representative writers) को उनकी रचनाओं के आलोचनात्मक परिचय के साथ रक्खा है! और, 'माधुरी' में जो लेख निकले हैं और आगे निकलेंगे, उनका क्रम भी 'ग्रंथ' के क्रम के अनुसार नहीं है। आशा है, इस वक्तव्य से श्री० ज़हूरबख़्श को संतोष हो जायगा।*

विनयमोहन शर्मा (बी० ए०

× × ×

५. चाह

बूट-सूट की चाह न हमको,
कोट-पैंट की नहीं लगन;
घड़ी-छड़ी की नहीं ज़रूरत,
इसी दशा में रहें मगन।
गाढ़ा मिले पहनने को, बस—
रूखा-सूखा हो भोजन;
पर न प्रभो! भारत-सेवा से—
'नेह' कभी विचलित हो मन।
रहे लोक में ऊँचा माथ।
यही चाहिए हमको नाथ!

शंभूदयाल त्रिपाठी 'नेह'

× × ×

* इस विवाद को अब इसी लेख से समाप्त किया जाता है। आगे इस विषय में पक्ष-विपक्ष के कोई लेख 'माधुरी' में स्थान न पा सकेंगे।

—संपादक 'माधुरी'

अनिरुद्ध और ऊषा

[चित्रकार—श्रीराधेश्याम भटनागर]



६. माता की याद

(१)

आज अचानक मुझे आ गयी
अपनी प्रिय माता की याद ;
निकल पड़े मेरी आँखों से
अविरल आँसू उसके बाद ।

(२)

मानों कोई यह कहता हो
'अब न मिलेगी प्यारी माता' ;
इसीलिए तो आज मुझे अब
और नहीं है कुछ भी भाता ।

(३)

वह होती इस समय यहाँ, तो
करती मेरा बहुत दुलार ;
मैं थी उसकी सुता लाड़िली
हाय, लुट गया मेरा प्यार ।

(४)

मैया ! जब से होश सँभाला
देख नहीं मैं पायी तुझको ;
मन में उठता प्रश्न यही है
छोड़ दिया क्यों तूने मुझको ?

(५)

सुनती हूँ जब शब्द किसी के
मुख से मैं 'मेरी प्रिय माता' ;
'प्यारी माता' कहने को हा !
मेरा भी है जी ललचाता ।

(६)

क्या अपराध किया था मैंने
त्याग दिया जो तूने मुझको ;
सोच तनिक तो अपने मन में
यही उचित था क्या, मा, तुझको ।

(७)

त्याग किया जब मेरा तूने
तनिक न आया था क्या ख्याल ?
हाय, सोच क्यों लिया न मन में
होवेगा क्या इसका हाल ?

(८)

यद्यपि पितृपदों का मुझको
मिला यथोचित शुद्ध सनेह ;
बिना मातृ-ममता के वह भी
उतना नहीं मोद का गेह ।

(९)

मन में सोचो, मुझे छोड़कर
हाथ तुम्हारे क्या आया ?
जननी होकर, जनकर मुझको
क्यों नाहक ही तलफाया ?

(१०)

'माता होती तो क्या होता'—
यह अभिलाषा रहती है ;
मन कहता है, वृथा हाय ! क्यों
इस प्रकार दुख सहती है ।

(११)

हा ! हा ! कितने प्यारे बच्चे
मातृ-स्नेह से वंचित होंगे !
होंगे जो अज्ञान उन्हें तो
दुख ही सारे संचित होंगे ।

(१२)

जिनको होगा ज्ञान ज़रा भी
पाते क्लेश, दुखी वे होंगे ;
करते होंगे याद निरंतर
समझ-समझकर रोते होंगे ।

(१३)

यद्यपि 'मा' के सुख से वंचित,
और न माता का है ध्यान ;
तो भी यही लालसा मन में
वारूँ उस पर तन-मन प्रान ।

(१४)

नहीं तुम्हें मैंने देखा है,
देखा चित्र तुम्हारा है ;
इसीलिए तो आज बह रही
सतत स्नेह की धारा है ।

(१५)

मन में उमड़े स्रोत प्रेम का
कभी न मुख से प्रकट कहे ;
प्रेम उसी को कहते हैं जो
बसे दूर या निकट रहे ।

(१६)

जो कुछ अनुचित बातें कह दीं,
उन्हें ध्यान में मत लाना ;
कभी-कभी हे अंब ! स्वप्न में
अपने दर्शन दे जाना ।

तारादेवी पांडे

× × ×

७. अबलाओं पर प्रबल पुरुषों के अत्याचार

संसार के किसी देश के इतिहास का अध्ययन कीजिए, उसमें अवश्य ही स्त्रियों पर पुरुषों के अत्याचार आपको दृष्टिगत होंगे । उन अत्याचारों की इतनी वृद्धि हुई कि पुरुषों ने उन्हें सदाचार की श्रेणी में रख लिया ! तात्पर्य यह कि स्त्रियों पर पुरुषों के किये गये अत्याचार न्याय-सम्मत समझे जाने लगे ।

मेरा लक्ष्य संसार की स्त्रियों के करुण चित्र दिखलाने का नहीं है, प्रत्युत हिंदू-अबलाओं के प्रति जो अत्याचार प्रबल पुरुषों द्वारा किये जाते हैं, उन्हीं के संबंध में मैं अपनी शक्ति-हीन लेखनी लेकर कुछ लिखने के लिए समुद्यत हुआ हूँ ।

आश्चर्य होता है कि जो देश संसार का विद्या-गुरु है, जिसने संसार को "वसुधैव कुटुंबकम्" का मंगलमद

पाठ पढ़ाया तथा साम्यवाद के गंभीर नाद को घोषित किया, उसी ने अपनी देवियों पर प्रबल अत्याचार भी किये हैं।

यद्यपि हमारे यहाँ विश्वविश्रुत दार्शनिक तथा वैज्ञानिक हुए हैं, तथापि क्या किसी ने भी इस समस्या को हल करने का प्रयत्न नहीं किया ? इस बात को सहसा मेरी आत्मा विश्वास की दृष्टि से नहीं देखती, ख़ैर, जो कुछ भी हो, परंतु इस बला से हमारी जाति का पीछा नहीं छूटा। यह अत्याचार पहले बहुत कम था, अथवा यों कह सकते हैं कि उस समय यह शैशवावस्था में था, एवं इस समय यह पूर्णरूपेण युवावस्था को प्राप्त हो गया है। स्वार्थ-निरत पुरुषों ने स्त्रियों के सामाजिक तथा धार्मिक अधिकार छीन लिये हैं। देखिये न, हमारा धर्मशास्त्र ही चिल्लाकर क्या कहता है—

कुत्सितं पतितं मूढम्
दरिद्रं रोगिणं जडम्।
कुलजा विष्णुतुल्यं च,
कान्तं पश्यति सन्ततम्॥

(पति कुत्सित, पतित, मूढ़ तथा दरिद्र आदि ही क्यों न हो, उसकी पत्नी जो कुलजा है, उसे विष्णु के समान सर्वदा देखती अथवा समझती है।)

उपर्युक्त श्लोक से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि किसी सुशीला कन्या का ब्याह कुत्सित, पतित तथा मूढ़ पुरुष से भी करने का पूर्ण अधिकार पुरुष-समाज को था। इसके साथ ही उपर्युक्त उद्धरण से यह आदेश भी ध्वनित होता है कि ऐसे पुरुषों के साथ भी स्त्रियों को पूर्णतः प्रेम-व्यवहार करना चाहिए, यहाँ तक कि विष्णु के समान उन्हें दिव्य गुणधारी समझना न्याय्य है। क्या यह पुरुषों का स्त्रियों पर अत्याचार नहीं है ? देखिए, इससे तीन बातें स्पष्ट हो जाती हैं।

क—स्त्रियों पर पुरुषों का पूर्णाधिकार
ख—स्त्रियों की अवहेलना
ग—उच्छृंखल पुरुषों को साहाय्य-प्रदान

स्त्रियों की उन्नति से धर्मशास्त्रकारों को इतनी घृणा थी कि उन लोगों ने उन्हें सभी कामों से विरत करके केवल पतिसेवा के लिए ही योग्य ठहराया है। देखिए—

व्रतं तपस्यां देवार्चां,
परित्यज्य प्रयत्नतः।
कुर्याच्चरण सेवां च,
स्तवनं पतितारणम्॥
तदाज्ञारहितं कर्म,
न कुर्याद्वैरतः सती।
नारायणात् परं कान्त,
ध्यायते सततं सती॥

यह है हमारे धार्मिकों की न्याय-परायणता! वास्तव में हमारे सभी धर्मग्रंथ पुरुषों द्वारा रचित हैं। इन लोगों ने या तो स्त्री-हृदय को विना पहचाने ही ऐसी बातें लिख मारी हैं, अथवा फिर जान-बूझकर अत्याचार किये हैं।

इन वाक्यों के उद्धृत करने का यही उद्देश्य है कि पूर्वकाल में भी स्त्रियों पर कुछ अत्याचार किये जाते थे, और वही बढ़ते-बढ़ते इस रूप में आ उपस्थित हुए हैं; क्योंकि विश्व के सारे कार्यों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रकृति किसी कार्य को सहसा नहीं कर सकती, अर्थात् यह उसकी शक्ति के बाहर की बात है।

स्त्रियों पर किये गये अत्याचारों का यहाँ इतिहास न लिखकर मैं आधुनिक स्त्री-जगत् पर जो विपत्ति है, उसी का दिग्दर्शन कराऊँगा।

आधुनिक अत्याचार तीन भागों में बाँटे जा सकते हैं—

१—वैवाहिक अत्याचार
२—पर्दा-प्रणाली
३—पुरुषों की पुरुषों पर पक्षपात-दृष्टि तथा स्त्री-अधिकारों को नष्ट करने का प्रयत्न

प्रथम वैवाहिक अत्याचार को देखिए। हिंदू-वैवाहिक आदर्श ये हैं—प्रेम, कर्तव्यपरायणता तथा शांति। कामुकता, प्राचीन भारतीय विवाहों में भूलकर भी नहीं पायी जाती। यदि मिलती भी है, तो बहुत ही कम।

क्रियाशील संसार का कोई भी कार्य विना संयोग के परिचालित नहीं हो सकता। शून्यवाद के भी माननेवाले हैं, परंतु उनके यहाँ कर्तव्य का कोई स्थान ही नहीं है। संयोगवाद, कर्मक्षेत्र में उतरनेवालों को पूर्ण मान्य है, अतएव कर्तव्यशील स्त्री-पुरुषों की कतिपय ऐसी आवश्यकताएँ होती हैं, जिन्हें एक के विना दूसरा करने में असमर्थ है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक स्त्री को एक पुरुष की और प्रत्येक पुरुष को एक स्त्री

की अत्यंत आवश्यकता रहती है। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर हमारे ऋषियों ने वैवाहिक प्रथा को जन्म दिया था। वह हमारे यहाँ एक पवित्र कार्य समझा जाता है। परंतु पुरुषों की स्वार्थ-परायणता संपूर्ण वैवाहिक आदर्श को नष्ट कर, स्त्रियों पर मनमाना अत्याचार करने में प्रवृत्त हो गयी। निम्न-लिखित वैवाहिक अत्याचार स्त्रियों पर इस समय प्रचलित हैं—

क—पुरुषों का बहुविवाह करना
ख—विधुर का कन्याओं के साथ पुनर्विवाह
ग—वंश-रक्षा की ओट में कन्याओं का संहार
घ—अनमेल विवाह

क्रमशः चारों के दोषों को दिखलाने का प्रयत्न किया जाता है।

पुरुषों के बहुविवाह

एक, दो या तीन स्त्रियों के जीते रहने पर, जो उनके पति द्वारा फिर किसी अन्य कन्या का पाणि-ग्रहण किया जाता है, उसे ही बहुविवाह कहते हैं। कोई अपनी निःसंतति स्त्री के रहते हुए दूसरा विवाह करता है, तो कोई सज्जन दो-चार लड़के-लड़कियों के रहने पर भी दूसरी शादी कर अपनी कामुकता का भयंकर चित्र समाज के सामने उपस्थित कर देते हैं। सबसे बढ़कर दुःख की बात तो यह है कि महाशयजी ४०-५० वर्ष के होने पर भी अपनी नयी स्त्री १५-१६ वर्ष की ही चाहते और पाते भी हैं। हाय! ऐसा भी अत्याचार कहीं होता है? एक पवित्र-हृदय कन्या का सर्वनाश! इसे देखकर वसुंधरा भी रसातल को नहीं चली जाती, यही आश्चर्य की बात है! पति महोदय की सर्वदा यही इच्छा रहती है कि उनकी सभी स्त्रियाँ उन्हें साक्षात् मदन का अवतार ही समझें—नहीं-नहीं, विष्णु के तुल्य पूज्य समझें; तब न हमारा धर्मशास्त्र भी उन्हें पतिव्रता कहने को तैयार होगा! यही पति महाराज महा महिमा-मयी श्रीवारांगना देवी के स्वर्ण-मंडित दिव्य मंदिर के पुजारी बनने में भी नहीं हिचकते। उनकी स्त्री-मंडली इन बातों को जानकर भी उनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती; क्योंकि हमारी स्त्रियों को समाज-संबंधी जो अधिकार प्राप्त हैं, उनसे सहृदय पाठक-वृंद परिचित ही हैं। पहले तो उन घरों में, जहाँ ऐसे विवाह होते हैं, बराबर ही देवासुर-संग्राम मचा रहता है; कभी कोई पति द्वारा शारीरिक दंड पाती है, तो कोई इन झंझटों से तंग आकर आत्म-हत्या ही कर लेती है। ज़रा सोचिए तो, किसी स्त्री के दो-तीन पति हों, तो ऐसी अवस्था में वे पुरुष-युग्म लड़कर क्या मर नहीं जायँगे? अरे! जैसे पुरुष-समाज चाहता है कि हमारी स्त्री हमारे सिवा और किसी पुरुष की ओर स्वप्न में भी दृष्टिनिक्षेप न करे, वैसे ही क्या स्त्रियों के हृदय में ऐसे विचार नहीं उठ सकते? यदि ऐसा हो सकता है, तो इतनी निर्दयतापूर्वक उनका संहार क्यों किया जाता है? सोचिए तो, क्या एक पुरुष अनेक स्त्रियों को प्रसन्न रख सकता है—ऐसी अवस्था में जब कि स्त्रीजाति प्रेम की ही भिखारिणी है? आश्चर्य की बात तो यह है कि हज़रत लोग भी ऐसे पुरुषों को अपनी सरलहृदया कन्याएँ देने में तनिक भी नहीं हिचकते, जिनकी स्त्रियाँ जीवित रहती हैं! यदि आप जाकर उन लोगों से इस विषय में बातचीत कीजिए, तो यही बातें सुनने को मिलेंगी कि "भाई क्या करें, बहुत बुरा दिन है, घर मिलता है तो वर नहीं, और वर मिलता है तो घर नहीं। दोनों का एक साथ होना ज़रूरी है। अतः यदि ३०-४० वर्ष का ही वर मिला तो क्या। पढ़ा नहीं है तो धनी तो खूब है न, मेरी लड़की को तो उसके यहाँ कोई तकलीफ़ नहीं होगी। देखिए न, वर कुलीन है, तभी न उसके दो-चार विवाह हुए हैं।"

अब ज़रा वर महोदय की बात सुन लीजिए, जो बहुविवाह के पक्के हिमायती हैं। कितने तो यही कहेंगे कि "भाई, खुशी से दुबारा विवाह करता हूँ। यद्यपि मेरी स्त्री सुशीला है और मेरे साथ प्रेम भी खूब ही करती है, फिर भी वह सुंदर नहीं है।" कितने ही अपनी स्त्री की रोग-पीड़ा का बहाना लेकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। उधर धर्मप्राण पुरुषगण यह उपदेश देते हैं कि पुरुष कुत्सित, मूढ़ रोगी तथा पतित ही क्यों न हो, स्त्रियों को चाहिए कि उसे विष्णु के समान समझें।" कैसा न्याय है! ऐसे विवाहों को जितनी शीघ्रता से हो सके, मिटा देना चाहिए। ऐसा करने ही से समाज का उद्धार होगा। अब ज़रा दूसरे दृश्य का भी दर्शन कीजिए।

विधुर का कन्याओं के साथ पुनर्विवाह

हमारे यहाँ स्त्रियों के मरने पर कुछ भी दुःख नहीं होता ; केवल इतना ही समझ लिया जाता है कि एक छोटी-सी हानि हो गयी। ऐसी अवस्था में तो पति महोदय तो एक बूँद आँसू बहाना—नहीं नहीं, खेद-सूचक बात निकालना भी अपनी सभ्यताके विरुद्ध समझते हैं। कैसी विचित्र बात है! कहाँ तो अपनी प्राण-प्रिया के चिर-वियोग से निष्काम हो उसका प्रेम-पूर्वक स्मरण करते हुए संसार-कानन में सुख से विचरण करना और कहाँ उसकी श्राद्ध-क्रिया होने के पूर्व ही दूसरी नववैवाहिक चिंता! दाम्पत्य-जीवन के ऐसे अशोभनीय दृश्य सर्वदा देखने को मिलते हैं।

भला ऐसे कामांध पुरुष-गण प्रेम के गंभीर तत्त्व को स्वप्न में भी समझ सकते हैं? जिसने अपनी प्यारी स्त्री को कई बार प्राण-प्रिये, जीवन-संगिनी आदि शब्दों से पुकारा होगा, क्या वही दिव्य प्रेमी आत्मा

नव-विवाहिता पत्नी के साथ रहते हुए इन उपर्युक्त शब्दों को स्वप्न में भी ध्यान में लाता होगा ? यदि किसी कारण-वश इनकी नव-विवाहिता पत्नी का भी स्वर्गवास हो जाय, तो ये सहृदयेंद्र आपको काम-नगर की भ्रष्ट गली में विचरते हुए देखने को मिलेंगे ! कितने ही नीच तो यह चाहते हैं कि उनकी स्त्रियाँ मर जायँ, जिससे फिर नव-युवतियों का सहयोग प्राप्त हो।

ससंतान तथा निःसंतान दोनों ही प्रकार के विधुरों को पुनर्विवाह से वंचित कर देना समाज का उच्च उद्देश्य है। ऐसे विवाहों से दांपत्य-प्रेम का तो नाश ही हो जाता है, साथ-ही-साथ पुरुषों की काम-पिपासा पूर्ण करने में भी पूरी सहायता मिल जाती है। फिर एक विधुर अपनी काम-पिपासा की पूर्ति के लिए दूसरा विवाह एक कन्या से क्यों कर सकता है, जब उसके संतान भी है तथा उसकी अवस्था भी उस कन्या की अपेक्षा काफ़ी अधिक है। यदि पुरुषों को ऐसा अधिकार है, तो कोई कारण नहीं कि एक १७-१८ वर्ष की बाल-विधवा अथवा इससे भी कम अवस्था-वाली स्त्री जो विवाह का कुछ भी सुख नहीं जानती, आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने के लिए पुरुषों द्वारा सताई जाय। इन बातों को सुनकर तो स्वार्थ-निरत यही कहेंगे कि पातिव्रत-धर्म का नाश ही हो जायगा; परंतु ऐसी बातें कहते हुए उन लोगों को लाज भी नहीं आती कि पुरुषों को क्यों पत्नी-व्रत के लिए भूलकर भी कोई बात नहीं कही जाती, प्रत्युत उलटे उन लोगों की कामुकता-वृद्धि में सहायता दी जाती है। अरे ! ऐसी अवस्था में तो स्त्रियों की धर्म-रक्षा भी पापी पुरुषों के उत्पात से नहीं हो सकती; क्योंकि इस समय स्त्रियाँ पुरुष-अहेरी का आखेट हैं। क्या पुरुष-समाज अपने हृदय पर हाथ रखकर कह सकता है कि उनके ऐसे विवाह न्याय-सम्मत तथा शांति-वर्द्धक हैं ? यदि हैं, तो स्त्रियों को भी ऐसा ही अधिकार शीघ्रता के साथ दे देना चाहिए। अन्यथा, यदि उपर्युक्त पुरुष-विवाह बुरे हैं तथा अशांति के बढ़ानेवाले हैं, तो उन्हें शीघ्र ही रोक देना प्रधान कर्तव्य है।

वंशरक्षा की ओट में कन्याओं का संहार

समाज में जब किसी दंपति के संतान नहीं होती, तो स्त्री ही अपराधिनी समझी जाती है और इस अपराध का यही कठोर दंड दिया जाता है कि उसका पति किसी कन्या के साथ पुनर्विवाह कर लेता है। ऐसी अवस्था में यदि दोनों स्त्रियों के संतान हो जाय, तो गृह में एक भारी कलह उत्पन्न हो जाती है तथा जायदाद के लिए भी प्रायः झगड़े होते ही रहते हैं। किसी दंपति के संतान न होने के कुछ कारण नीचे दिये जाते हैं—

क—अल्पावस्था में ही प्रकृति-विरुद्ध मैथुनों द्वारा वीर्य-नाश तथा फिर विवाह

ख—वृद्ध-विवाह

ग—विजातीय विवाह

घ—बहुमैथुन

ङ—कोई शारीरिक भयंकर रोग

उपर्युक्त पाँच कारणों में से तीन कारण—बाल, वृद्ध तथा विजातीय विवाह 'अनमेल विवाह' में सम्मिलित हैं। इनके दोषों पर पीछे विचार किया जायगा। सबसे नीचेवाले दो कारण ही इसमें लिये जा सकते हैं।

बहुमैथुन—इसका सारा दोष पुरुषों पर ही है और आजकल समाज का अधिकारी केवल पुरुष ही है; क्योंकि स्त्रियों को तो कोई सामाजिक अधिकार प्राप्त ही नहीं है। ऐसी अवस्था में यदि पुरुष-समाज अपनी संतान को, कम-से-कम अपने लड़कों को, सुशिक्षित नहीं बना सकता, तो इसमें किसका दोष है ? उनका सुशिक्षित होना तो दूर, उलटे उन्हें ऐसी संगति मिल जाती है कि वह खुद-बखुद अपने आचरण को भ्रष्ट कर देते हैं। सैकड़े ९९ पुरुष, जिनमें लड़के, युवक तथा वृद्ध सभी सम्मिलित हैं, अपना विनाश कर डालते हैं। अस्तु।

यदि हमारी भावनाएँ इतनी पापमय हो गयी हैं, अथवा बुरी आदतों से हम खुद ही घिरे हुए हैं, तो फिर हमें संतान सुख देखने को कैसे मिल सकता है। बहुमैथुन महाअनर्थ है। ऋषियों ने कहा है कि "कामी पुरुष न तो अपनी स्त्री को ही प्रसन्न रख सकता है, न स्वयं ही संसार में सुख से रह सकता है।"

बहुमैथुन द्वारा वीर्य की गर्भ-साधक शक्ति नष्ट हो जाती है, जिससे सन्तानोत्पत्ति नहीं होती। ऐसी अवस्था

में पुरुषों का दूसरा विवाह कर स्त्रियों को दुःख देना अनर्थ है !

कोई शारीरिक भयंकर रोग

इसका भी दोष पुरुषों के मत्थे मढ़ा जायगा। यदि कोई कहे कि स्त्रियों को भी कोई शारीरिक रोग हो सकता है। तो मैं भी कहता हूँ कि हाँ, हो सकता है। परंतु पतियों के द्वारा ही। ऐसा प्रायः देखने में आता है कि जो पुरुष व्यभिचारी हैं, वे अपनी स्त्रियों को भी कितने ही भयंकर रोगों से पीड़ित करते रहते हैं, तथा कितने ही अधिक शराब पीकर एवं सिगरेट, अफ़ीम तथा अनेक प्रकार के मादक द्रव्यों का सेवन कर अपनी सारी शारीरिक शक्ति नष्ट कर देते हैं। बतलाइए, ऐसी हालत में जब कि पुरुष महोदय को दूध भी नहीं पचता, भला संतान होने की आशा करना आकाश-कुसुम के समान नहीं, तो क्या है ? पुनः ऐसी अवस्था में संतान न होने का दोष किस पर मढ़ा जा सकता है—पुरुषों पर या स्त्रियों पर ?

फिर भी संतान न होने पर पुरुषों का दूसरा विवाह करने के लिए प्रस्तुत होना क्या कामुकता तथा नीचता नहीं सिद्ध करता ? हमारी समझ में तो पुरुषों को वंश रक्षा का बहाना बतलाकर अपनी स्वार्थ-लालसा को पूर्ण करना रहता है, तो भी अंधा समाज यह नहीं देखता कि वास्तव में ये कार्य कहाँ तक नाशकारी हैं। थोड़ी देर के लिए मान ही लीजिए कि कोई पुरुष पुंसत्वहीन हो जाय अर्थात् किसी शारीरिक रोग के हो जाने से उसका पुरुषत्व नष्ट हो जाय, तो उसकी स्त्री के लिए कोई उपाय है ? भला ऐसी बातें कहकर समाज के भीतर कोई सुख से रह सकता है ?

सारांश यह कि सब प्रकार से बेचारी अबलाओं पर ही अत्याचार हो रहा है।

सबसे बढ़कर जो वैवाहिक अत्याचार पुरुषों के द्वारा किये जाते हैं, उनको तो देखिए ! यह चौथा वैवाहिक अत्याचार है।

अनमेल विवाह

यह विवाह तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

अ—विजातीय विवाह

इ—वृद्ध-विवाह

उ—बाल-विवाह

विजातीय विवाह—किसी नीच जाति के लड़के से किसी ऊँच जाति की कन्या के, अथवा किसी ऊँच जाति के लड़के से किसी नीच जाति की कन्या के वैवाहिक संबंध स्थापित होने को ही विजातीय विवाह कहते हैं। यहाँ पर 'जाति' शब्द ब्राह्मणादि का बोधक नहीं, वरन् इससे उन विशेषताओं की ओर संकेत है, जो शरीर-शास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुषों को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभक्त करते हैं। स्त्रियों की ये चार श्रेणियाँ हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी तथा हस्तिनी। पुरुषों के ये चार भाग हैं—शश, मृग, वृषभ तथा अश्व।

स्त्री-पुरुषों की उच्च जातियाँ मधुरभाषी, क्रोधरहित तथा प्रशस्त गुणों से युक्त होती हैं। उनमें काम की मात्रा कम रहती है। कोमलता तथा सुन्दरता ही उनकी जान है।

निम्न-जातियाँ उच्च जातियों के विपरीत होती हैं, अर्थात् वे कटुभाषी, सक्रोध तथा सविकार-बुद्धिवाली होती हैं। उन सबमें कामुकता की मात्रा विशेष होती है तथा सौन्दर्यादि की कमी होती है।

अब सुधी पाठक विचार कर सकते हैं कि यदि किसी पद्मिनी का किसी वृषभ तथा अश्व-जाति के पुरुष के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित हो जाय या किसी शश जाति से हस्तिनी का हो जाय, तो ऐसी अवस्था में आप दंपति को सुखी देख सकते हैं ? ये विवाह सबसे भयंकर तथा संहारकारी हैं। इच्छा-विरुद्ध मैथुन से प्रचंड हानियाँ होती हैं; ऐसी अवस्था में संतानोत्पत्ति की तो बात चलाना भी व्यर्थ है, वरन् इससे कितनी ही अकाल-मृत्युएँ होती हैं। शरीर-शास्त्र के अनुसार ये विवाह अत्यंत वर्जित हैं। पुरुषगण, जिन्हें सभी वैवाहिक अधिकार प्राप्त हैं, यदि चाहें, तो इसे रोक सकते हैं; क्योंकि किसी प्रकार के भी अच्छे या बुरे सभी विवाह पुरुषों के द्वारा ही संपन्न होते हैं। अतः जब इस विवाह में किसी प्रकार का न तो सुख ही है, न सुंदर-संतानोत्पत्ति ही होती है, तो फिर कोई कारण नहीं कि इन विवाहों को अति शीघ्र न रोका जाय।

यदि हिंदू-समाज और पुरुषगण ऐसे विवाहों को शीघ्र नहीं रोकना चाहते, तो शीघ्र ही एक बड़ी क्रांति मचेगी; क्योंकि बेचारी सरलहृदया स्त्रियों के प्रति पुरुष-अत्याचार के घड़े भर गये हैं। उनकी सहायता के लिए प्रबल उत्साही युवक-वृंद भी कटिबद्ध हो रहे

हैं। शीघ्र ये अत्याचार-घट उनके दृढ़ लौह-दंडाघात से चूर्ण हो जायँगे और शांति का सुंदर राज्य स्थापित होगा।

(क्रमशः)

शिवकुमारसिंह "नरेंद्र"

× × ×

८. कीरोद्धार

गुण गाते रहे जगदीश के ही,
नित नेह के नाते निभाते रहे;
भर पेट सुभोजन खाते रहे,
इठलाते रहे, इतराते रहे।
मृदु बैन रसीले सुना-सुना के—
हर एक का चित्त लुभाते रहे;
हम 'सारथी' तो भी सुखी न रहे,
पराधीनता का दुख पाते रहे।

बैजनाथसिंह 'सारथी'

× × ×

९. आँसुओं का मूल्य

आकर उसने चारों ओर देखा। फिर अमराइयों से घिरे हुए झरने के निकट अपना दंड-कमंडल रखकर बैठ गया। झरने का झर-झर शब्द न-जाने कितनी अतीत स्मृतियों का इतिहास सुना रहा था। पता नहीं, उसने कितने प्रेमियों की प्रेम-क्रीड़ाएँ देखी थीं, कितने तिरस्कृत हृदयों को सांत्वना दी थी, कितने संसारियों को संसार का और परमार्थियों को परमार्थ का सीधा मार्ग बतलाया था। वह यह सब सुन रहा था, पर वैरागी समझ न सका। वह उसकी भाषा नहीं जानता था, और न उसका ध्यान ही उस ओर था।

संध्या ने सदा की भाँति दिवाकर को बिदाई दी। एकाएक पश्चिम-प्रिया प्रियतम के कर-पाश में उलझकर लजा गयी। दिवाकर के नेत्रों में लालसा थी और उसके नेत्रों में लालिमा। पर दूसरे क्षण ही सुखद स्पर्श पाकर वह खिल उठी; लालिमा का आवरण उतार फेंका। दोनों चल दिये। कहाँ?—शायद जगती के उस पार—किसी दूसरे अज्ञात अदृश्य लोक में—अपनी प्रेम-पिपासा शांत करने के लिए। पर वैरागी ने यह सब नहीं सोचा—उसे सोचने का समय भी नहीं था।

अमराइयों का सघन वन अंधकार के काले महीन पर्दे में ढक गया। झरने का झर-झर शब्द न-जाने क्या सोचकर कुछ मंद.........नहीं तीव्र हो उठा। पर कितनी देर के लिए? रजनी रानी चटपट राकेश को बुला लायीं। वर्षा से धुले हुए गगनांगण में खेलता हुआ चंद्र आया, और आयीं उसके साथ असंख्य तारिकाएँ। शशि-सभाविभा वैरागी की विषादमयी करुण मूर्ति पर आकर मुरझाने लगी; पर वैरागी निर्वाक्-निस्पंद बैठा था। उसके प्रकृत-भाग्य और विधाता के कठिन प्रहारों से चूर हृदय में हँसने-खेलने की उमंग नहीं थी।

अंतिम बारी वायु की थी। नव प्रसूनों की सुगंध बखेरती हुई—हँसती-खेलती-लचकती-मटकती वह आयी और वैरागी के शुष्क अधरों को चूमकर—ठोढ़ी उठाकर—गुदगुदाकर विमुग्ध करने लगी। पर वैरागी हँसा नहीं—रो उठा। कुछ उज्ज्वल मोती हरी-हरी दूब के मखमली फ़र्श पर बिखर गये और कुछ झरने के निर्मल जल में मिल गये।

वायु खिन्न होकर लौट गयी।

× × ×

वैरागी ने एक उष्ण निःश्वास छोड़ी। उफ़! कितनी ज्वालामय थी वह और कितनी भयंकर। झरने की जितनी बूँदों पर पड़ी, सब सूख गयीं। और, अमराइयों के जितने लता-पल्लवों ने सुना, सब पीले पड़ गये।

तब वैरागी ने अपनी टूटी खँजड़ी उठायी और गाने लगा। क्या गाया—वह स्वयं नहीं जानता।

किंतु वह आत्म-विस्मृत होकर गा रहा था। उसकी करुण-अलाप से जगती की हृत्तंत्री बज उठी—लता-पल्लव थिरक उठे—वायु सनसनाने लगी। नीले आकाश पर जगमगाता हुआ चंद्र ठिठक गया। रजनी सिहर गयी। शायद उसके राग में वेदना थी।

आसपास के लोग सावन-भादों की बहती हुई सरिता की भाँति उमड़ पड़े, और वैरागी के चारों ओर घिरकर खड़े हो गये। धवल चाँदनी से धवलित उच्च राजप्रासाद वैरागी के राग से रंजित हो उठा। उसका कोना-कोना गूँज की प्रतिध्वनि से ध्वनित हो रहा था। राजकुमारी सो रही थी, पर जाग उठी। महल का द्वार खोला, और पागल की भाँति वैरागी के पास

पहुँच गयी । उसके स्वर में मादकता-मिश्रित आकर्षण था ।

कुमारी के बिखरे हुए सौंदर्य से सारी वनस्थली चमचमा उठी । आकाश की महान् विभूतियों-सहित सुधांशु हँस पड़ा—और समीर.........हाँ, समीर राजकन्या के उन्नत ललाट को चूमकर वैरागी के चरणों से लिपट गया । पर वैरागी स्वयं इन सब रहस्यों से अपरिचित था । उसकी चेष्टाएँ विकृत थीं, हृदय भावहीन—नीरस । कर्तव्य-शून्य वह हो रहा था । जिह्वा अटपटे स्वर बोल रही थी—उँगलियाँ टूटी खँजड़ी की खाल से खेल रही थीं, पर नेत्र अनवरत अश्रु-वर्षण कर रहे थे ।

तान चारों ओर बिखर रही थी, और स्वर टुकड़े-टुकड़े होकर आकाश की ओर उड़ रहा था । वहाँ शून्य था, अतएव अधिक न ठहरकर वह पुनः मेदिनी-तल की ओर लौटा, और गिरते-गिरते, आकाश से टूटे तारे की गति से आकर, श्रोताओं के भावुक हृदयों को चूर-चूर कर गया । वे भी भावावेश में रो उठे । पर विस्मय-विमुग्धा बालिका राजकुमारी नहीं रोयी । वह हँसती रही । उसकी दृष्टि में यह एक विस्मय-जनक कौतुक था ।

वैरागी ने दृष्टि उठायी । न-जाने, क्यों ? उसके नेत्र सजल थे—हृदय शून्य था ; पर मुखमंडल एक शांत अलौकिक आभा से जगमगा रहा था ।

पर राजकुमारी के ललित अधर चारों ओर मीठी मुस्कान बखेर रहे थे । उनमें अस्थिरता थी, अशांति थी और थी प्रबल मादकता ।

× × ×

वैरागी पुनः अपनी टूटी खँजड़ी पर अलापने लगा । अश्रु-कणों से हरी-हरी दूब तारों से भरे अंबर की भाँति चमचमा रही थी । मोती बड़े सुंदर थे—चंद्र से न रहा गया । अपने स्वर्ण-रश्मि-करों को फैलाकर उसने दो-चार कण उठा ही लिए—वायु भी लुकती-छिपती आकर पीछे से कुछ मोती समेटकर ले गयी । झरना यद्यपि शांत-निर्लोभी था, परायी विभूतियों के अपनाने का उसे इतना चाव नहीं था, फिर भी उन दोनों की धृष्टता देखकर वह भी अपना लोभ-संवरण न कर सका—चुपचाप कुछ रत्न-कण उसने अपनी जल-धारा में छिपा ही लिये ।

मस्त वैरागी अपनी धुन में बैठा गा रहा था । उसे इस चोरी का पता नहीं लगा, अन्यथा क्या पा... अपनी विभूतियाँ बखेर देता ।

लूट मच गयी । लोग मनचाहा ले लुटा रहे थे। श्रोताओं को अश्रुकण समेटते देख राजकुमारी ने भी हाथ बढ़ाया ।

'बड़ों की इच्छाएँ भी बड़ी होती हैं ।' अतएव ... एक राजवैभव-पालित कुमारी की दृष्टि औरों की दृष्टि ... कुछ उच्च पड़ी, तो आश्चर्य क्या ? सबने बिखरे हुए मोती चुने, पर राजकुमारी ने बिखरनेवाले ।

सहसा वैरागी चौंक पड़ा । आत्म-विस्मृति ... हो गयी । सेंध लगाता हुआ चोर पकड़ा गया । ... का कोई मार्ग नहीं था । एक क्षण के लिए चपला रा... कुमारी स्तब्ध रह गयी ।

पागल वैरागी ने उन्मत्त होकर राजकन्या का ... पकड़ लिया । उसने औरों से भी माँगे, पर कुछ ... दिये, कुछ मुकर गये । आँख बची, माल यारों का ।

पर बेचारी राजकुमारी तो पकड़ ही गयी । वैरागी ने छीनना चाहा; पर हठीली राजकुमारी मचल गयी—अधिक हठ की, तो रो पड़ी । उसके अश्रुकण भी इधर-तिधर बिखर गये । पर उनमें वह चमक नहीं थी ।

कुमारी ने विनीत स्वर में कहा—"तुम इन्हें ले लो ।"

उत्तर मिला—"नहीं, मैं तो अपने ही लूँगा ।" दोनों ही हठी थे । एक राज्यमद में मस्त, तो दूसरा वैराग्य के नशे में । अब कैसे बने !

झगड़ा हो रहा था । छिपे चोरों ने अपनी वस्तुएँ बग़लों में छिपा लीं । शशि भाग निकला—वायु ... गयी, झरना कुछ क्षण के लिए स्तब्ध हो गया । पर उनका यह भय वास्तव में भ्रम था । वे दोनों लड़ रहे थे, उन्हें इस समय किसी दूसरे की सुध नहीं थी ।

ख़ैर, बड़ी देर बाद झगड़े का अंत हुआ । वैरागी ... मूल्य देकर अपने अमूल्य अश्रुकण सदा को छोड़ ... को उद्यत हो गया । राजकुमारी प्रसन्न हो उठी । मूल्य था राजकुमारी की मृदु-मुस्कान ।

अभी बालोचित चपलता शेष थी, हृदय निर्भीक-निर्लो... था । यौवन खिल रहा था, पर वह स्वयं उससे अपरिचित थी । मृदु-मुस्कान-जैसी स्वर्गीय वस्तु को अलभ्य रा... कुमारी ने निरर्थक वस्तु समझकर तुरंत दे डाला ।

वैरागी हर्षोन्मत्त हो उठा । अधरों पर राजकुमारी...

मृदुल मुस्कान नाच उठी । विषाद की मूर्ति प्रसन्नता की सुंदर आभा से जगमगा उठी । आनंदावेश में वह अपने को भूल गया—खँजड़ी को भी भूल गया, और हँसता हुआ एक ओर को चल दिया ।

उपस्थित जनता जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी । पर राजकुमारी बड़ी देर तक.........नहीं, शायद जीवन-पर्यंत उस वनस्थली में बैठी जिधर-तिधर बिखरे मोती चुनती रही ।

(कुमारी) प्रेम भटनागर

× × ×

१०. कविता-कामिनी

विद्युत-प्रभा से चढ़ी चौगुनी प्रभा हैं तेरी,
सौगुनी है शक्ति से भी शक्ति-श्री प्रशंसनीय ।
गरिमा सहस्रगुनी हंस-वाहिनी से बढ़ी,
लाख गुनी शोभा रति से है तेरी रमणीय ।
अहुजा से कोटि गुना विस्तृत सुयश फैला,
कमल से कोमल कलेवर है कमनीय ।
वैभव त्रिलोक का समक्ष तेरे तुच्छ-सा है,
तेरी उपमा में तो तुही है अभिनंदनीय ।

सुशीलादेवी त्रिपाठी

× × ×

११. ढूँढ़े भी न मिलूँगी !

यहाँ मेरे सुंदर दिन कितने शीघ्र पूरे हो जायँगे ! और फिर मैं पृथ्वी पर कभी ढूँढ़े भी न मिलूँगी !

मेरे भटकते भगवान् ! बताओ तो, मुझे कहाँ ढूँढ़ोगे—? न कल-कल करनेवाली कालिंदजा के शीतल कूल पर, न वहीं जहाँ वायु बाँसों के सुरीले कानों में अपनी विभावरी-कहानी कहती है, न घनी पहाड़ियों के देवदारु सुगंधित वन में, न वनस्थली पर, जहाँ मधुमय मकरंद के लोभी भ्रमर गुंजार करते हैं, और रँगीले ग्वाले बाँसुरी बजा-बजाकर अपनी बिखरी और झूमती हुई गउओं को गोधूलि में एकत्रित कर घर ले जाते हैं ।

मेरे माधव ! कहो न, मुझे कहाँ खोजोगे ?

यहाँ मेरे सुंदर दिन कितने शीघ्र पूरे हो जायँगे, और फिर मैं कभी पृथ्वी पर ढूँढ़े भी न मिलूँगी !

मेरी इन बावली बतियों की बात सुनोगे क्या ?

मैं वंचिता हूँ । जीवन की लौ मृदुल मृत्तिका के दीपक में शीघ्र बुझ जाती है; मनोवेदना, प्रेम-लिप्सा और तप्त आँसू मुझे दग्ध कर रहे हैं । बहुत शीघ्र ही उस अंधकार से वह सौरभ-प्रवाह मुझ पर बहेगा ! फिर ये तरल तारिका, कांत किरीटेंदु और तेजोमय तमारि भले ही ढूँढ़ें—परंतु मेरे मौला ! यहाँ मेरे सुंदर दिन कितने शीघ्र पूरे हो जायँगे, और फिर मैं ढूँढ़े भी न मिलूँगी !

(कुमारी) दिनेशनंदिनी चोरड्या

आलोक

१. टामस एल्वा एडीसन

वर्तमान वैज्ञानिक नभोमंडल का सूर्य टामस ए० एडीसन (Thomas A. Edison) अपनी प्रखर प्रभा से विज्ञान के अन्य नक्षत्रों को ८४ वर्ष-पर्यंत प्रभान्वित कर गत नवंबर १९३१ में अस्त हो गया। इस अपूर्व प्रतिभा-संपन्न वैज्ञानिक के संसार से उठ जाने के कारण विज्ञान की जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति होना निकट भविष्य में असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

आपका जन्म सन् १८४७ ई० में अमेरिका के 'मिलन-ओहियो' (Milan Ohio)-नामक स्थान में हुआ था। माता-पिता अत्यंत निर्धन थे। सात ही वर्ष की अवस्था में अपने धनहीन माता-पिता के साथ इनको अपनी जन्मभूमि छोड़ देनी पड़ी। इस प्रकार इस महापुरुष का जन्म विपत्ति के घर में हुआ और बचपन से ही इनको अभाग्य की ठोकरें खानी पड़ीं। परंतु किसी ने यह सच कहा है—'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। बाल्यावस्था से ही इनकी विलक्षण प्रतिभा के चमत्कार प्रकट होने लगे थे। कहा जाता है कि छुटपन में इन्होंने एक मुर्ग़ी को अंडे सेते हुए और उनमें से बच्चों को निकालते देखा। तुरंत आपके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि क्यों न मैं ही अंडों को सेकर बच्चे निकाल लूँ। अपने विचार को कार्यरूप में परिणत करने के लिए आपने एक कमरे को गरम किया और स्वयं घंटों तक मुर्ग़ी के अंडे के ऊपर बैठे रहे। यद्यपि उनका यह उद्योग व्यर्थ हुआ, तो भी इस साधारण घटना से उनकी मानसिक प्रवृत्ति का पता चलता है। वह जिज्ञासु थे और अपनी जिज्ञासा-तृप्ति के लिए प्रयत्न करने में कुछ कोर-कसर न रखते थे। यही सच्चे वैज्ञानिकों के लक्षण हैं और इन्हीं लक्षणों के अभाव में आजकल हमारे देश में वैज्ञानिकों की संख्या उँगलियों पर गिनने के लिए भी पर्याप्त नहीं है।

बचपन से ही विज्ञान की ओर आपकी बहुत रुचि थी। रसायनों की बोतलें भर-भरकर आप घर में छिपा रखते थे। उनकी माता को यह सब अच्छा न लगता था। वह क्या जानती थीं कि उसका पुत्र भविष्य में इतना बड़ा विज्ञानवेत्ता होनेवाला है। अतः वह इन बोतलों को निरर्थक समझकर फेंक देती थीं। तब एडीसन अपनी माता की बड़ी अनुनय-विनय करते और फिर से उन बोतलों को घर में रख देते।

स्कूली शिक्षा उनको सिर्फ़ तीन महीने तक मिली। अपने ८४ वर्ष के जीवन में से ७६ वर्ष तक स्वयं आपने अपने को शिक्षित किया, स्वयं अपने ही अध्य-वसाय एवं स्वाध्याय के बल पर आपने विज्ञान-जगत में इतनी ख्याति प्राप्त की। आपका जीवन एक साधारण अख़बार बेचनेवाले के रूप में प्रारंभ हुआ। धीरे-धीरे आपको रेलवे लाइन में अख़बार बेचने की आज्ञा मिल गयी। कुछ दिन बाद गार्ड ने दया करके इनको अपने ही डिब्बे में थोड़ी-सी जगह दे दी। वहीं वह अपने अख़बार रक्खा करते थे। क्रमशः उसी डिब्बे में आपने निज का एक छापाख़ाना खोल दिया और वहीं से एक साप्ताहिक पत्र 'डेली हेरल्ड' (Daily Herald) निकालने लगे। इस पत्र का संपादन आदि सब आप ही करते थे।

कुछ दिनों बाद आपने धीरे-धीरे रसायन की बोतलें भी रखनी प्रारंभ कर दीं। अख़बार से उनको जो अवसर

मिलता, उसे वह प्रयोगों (Experiments) में लगाते । इन दिनों इनकी जंगम प्रयोगशाला (Laboratory) रेलगाड़ी में ही थी । अतएव जहाँ कहीं जाते, उनकी प्रयोगशाला उनके साथ रहती थी। परंतु 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' । भाग्यवशात् एक दिन गाड़ी में अचानक आग लग गयी । गार्ड ने क्रोध में आकर इनका सब सामान उसी दम पटरी पर फेंक दिया और इनके कान इतने ज़ोर से ऐंठे कि जन्म-भर के लिए बधिर हो गये ।

कुछ दिनों के बाद इनको रेल में तार का काम मिला। काम रात का था, अतः दिन-भर यह अपने स्वाध्याय और आविष्कार में व्यस्त रहते थे । अधिकारियों ने इस डर से कि कहीं यह सो न जायँ, इनको ऐसा काम सौंपा कि प्रत्येक घंटे दूसरे स्टेशन को तार द्वारा अपने जागने की सूचना दें ।

परंतु दिन-भर लगातार परिश्रम करते रहने के कारण यह थक जाते थे । स्वभावतः प्रायः रात को इन्हें नींद आ जाती थी । कहा जाता है कि आवश्यकता आविष्कारों की जननी है—इसी आवश्यकता के वश होकर आपने अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखाया । एक घड़ी में दो तार आपने इस प्रकार लगाये कि प्रत्येक घंटे के बाद स्वतः दूसरे स्टेशन में तार द्वारा यह सूचना मिल जाती कि आप जागे हुए (Awake) हैं । भाग्य भी अपनी करतूत दिखाने से बाज़ न आया । एक दिन रेलगाड़ियों के लड़ जाने पर आप पकड़े गये और अपने स्थान से अलग कर दिये गये ।

इस प्रकार भाग्य-वश ठोकरें खाते-खाते न्यूयार्क पहुँच गये । पास में फूटी कौड़ी नहीं । भोजनों के लाले पड़ रहे थे, पर एडीसन ने हिम्मत न हारी। १६ ही दिनों के भीतर उन्होंने आविष्कार करना प्रारंभ कर दिया, और सफलता प्राप्त करने पर उसे एक पूँजीपति के पास ले गये। मूल्य तो उन्होंने उसका ५००० डालर आँका था, पर सोचते थे कि ३००० डालर भी मिल जाय तो अहोभाग्य है । परंतु जब गुणग्राही पूँजीपति ने उसी वस्तु के ४०,००० डालर उनके हाथ में दिये, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा! उस समय से आजीवन उन्होंने प्रचुर परिमाण में धनोपार्जन किया। परंतु महत्वाकांक्षियों के लिए तो धन साध्य नहीं, साधन होता है। उस धन का उपयोग एडीसन महोदय ने अपने रसायनों एवं वैज्ञानिक प्रयोगों में ही किया। उस धन की सहायता से आपने एक विशाल प्रयोगशाला (Laboratory) खोली और जन्म-भर नये-नये आविष्कार करते रहे ।

विलक्षण प्रतिभा के साथ-साथ इनमें उतावलापन भी था । एक दिन प्रातःकाल घूमते-घूमते आपके मस्तिष्क में एकाएक ग्रामोफ़ोन (Gramophone) का विचार सूझ गया । उसी दिन सायंकाल तक आपने उसका बाह्यरूप निश्चित किया और उसका चित्र लेकर कोरेसी (Kueresi) इंजीनियर के पास जा पहुँचे । जिसने भी उनका विचार सुना, वह उनकी इस बेसिर-पैर की बात पर हँसने लगा; और सिवा हँसने के वे और करते भी क्या, केवल चित्र से तो इस बात का कुछ संबंध नहीं मालूम हो सकता था। कुछ वैज्ञानिकों ने इनके आदेशानुसार कार्य भी किया, पर वे असफल रहे। इधर आप स्वयं इस बात के प्रयत्न में थे। सफलता तो उद्योगियों की अनुगामिनी है, फिर भला यह क्यों न सफल होते ! "मेरी हैड ए लैंब" (Mary had a lamb)—यह पहली ध्वनि थी, जो एक यंत्र से उत्पन्न हुई थी। एक यंत्र से मनुष्य की कंठध्वनि सुनकर जनता आश्चर्यचकित एवं विमुग्ध हो गयी। सचमुच थी भी बड़े आश्चर्य की बात।

दूसरे ही दिन वह एक पत्र-संपादक के पास गये और अपना यंत्र दिखलाया। इस विलक्षण यंत्र की करतूत देखने को उस स्थान पर भीड़ लग गयी। यही वर्तमान ग्रामोफ़ोन की जन्मकथा है । उसी यंत्र का विकास होते-होते आधुनिक ग्रामोफोन की उत्पत्ति हुई ।

बिजली का लैंप आधुनिक सभ्यता का विशेष चिह्न है। जिस रूप में आये दिन इसे देखते हैं, उस रूप में लाने का श्रेय इन्हीं को है। यद्यपि (Michal Faraday) माइकेल फ़ैरेडे महोदय ने ही डायनेमो (Dynamo) के सिद्धांत का आविष्कार कर लिया था, तथापि यह संतोषप्रद नहीं था। इसमें अनेक त्रुटियाँ थीं । एडीसन महोदय ने केवल इसी आविष्कार में १६०० वस्तुओं की परीक्षा की और

लगातार तीस हज़ार प्रयोग (Experiments) किये। अपनी धुन के कारण वह अपने इस कार्य में सफल हुए और उन्होंने अपनी इस उक्ति को पूर्णतः चरितार्थ कर दिया।

"99% of perspiration and 1% of inspiration makes a genius."

अर्थात् ९९ प्रतिशत श्रम तथा १ प्रतिशत उमंग से ही प्रतिभा की उत्पत्ति होती है।

इन सब आविष्कारों के अलावा स्टोरेज बैटरी, (Storage Battery) तार में सुधार, टेलीफोन, सिनेमेटोग्राफ, टॉकी आदि अनेक वर्तमान सभ्यता के उपकरणों के आविष्कारों का श्रेय भी इन्हीं को है।

एडीसन कितने अध्यवसायी और उद्योगशील थे, इसका पता इतने ही से चल सकता है कि वह दिन-भर में केवल दो घंटे सोते थे। अपना सारा जीवन उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में अर्पित कर दिया। रात-दिन उन्हें नयी वस्तुओं का आविष्कार करने की धुन थी। फलतः उन्होंने एक नहीं, सौ नहीं—सहस्रों नये-नये आविष्कार किये। इनमें से एक सहस्र से अधिक पर तो उनको सर्वाधिकार (Patent) प्राप्त हैं। कुछ तो ऐसे हैं, जिनका प्रभाव विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा है। इसी से हम अनुमान कर सकते हैं कि वैज्ञानिक युग को इतना आगे बढ़ाने में उनका कितना हाथ है। वैज्ञानिक संसार उनका ऋणी है और चिरकाल तक रहेगा।

एडीसन महोदय का पार्थिव शरीर इस लोक में नहीं है, परंतु उनका यशःशरीर अमर है। उनकी अमर कृतियाँ अनंत काल तक उनके गौरव की घोषणा करती रहेंगी और उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रक्खेंगी।

प्रो० गोविंदवल्लभ पंत (एम्० ए०)

× × ×

२. कबीरदास

जायसी, सूर तथा तुलसी की भाँति ही कबीर भी अपने संप्रदाय के प्रतिनिधि हैं। प्रतिनिधि ही क्यों, उनको तो ज्ञानमयी निर्गुण भक्ति-शाखा का प्रवर्तक कहना चाहिए। कबीर के पहले नामदेव ने जिस निर्गुण भक्ति का बीज-वपन किया था, उसका समुचित विकास कबीर ने कर दिया। कबीर रामानंद के शिष्य थे। शेख तकी का प्रभाव उन पर पड़ा अवश्य था, पर वह उनके [illegible] नहीं थे। जायसी ने कबीरदास की बड़ी प्रशंसा की है और उनको जुलाहा कहा है। कबीर ने भी [illegible] बार अपने को जुलाहा कहा है। हमारी समझ में [illegible] के विषय में जो किंवदंती है, वह निराधार नहीं है। कबीर के इस कथन—"रामदेव की सेवा चूका पक[illegible] जुलाहा कीना"—में इसकी पर्याप्त झलक मिल जाती है कि वे जन्म से हिंदू क्या, ब्राह्मण थे। "पहले दर्शन मगहर पायो पुनि कासी बसे आयी" से इस किंवदंती में विरोध नहीं पड़ता, प्रत्युत एक प्रकार से सहायता मिलती है। संभव है, वह विधवा ब्राह्मणी [illegible] की रही हो और काशीधाम में गर्भिणी होने पर [illegible] दी गयी हो। कबीर की जन्म-तिथि सं० १४५६ ही [illegible] जान पड़ती है और निधन-तिथि भी १५७५ ही [illegible] है। जायसी की साक्षी से भी यही मत प्रतिपादित होता है। कबीर का पालन-पोषण नीरू [illegible] किया था।

कबीर का महत्त्व उनकी जीवनी में नहीं, उनके [illegible] कथनों में है। अतः उसी पर विचार करना उचित है। कबीरदास एक बहुश्रुत प्रतिभाशाली पुरुष थे। उनको जो कुछ ज्ञान था, वह अध्ययन का नहीं, संचय का फल था। कबीरदास में जो जिज्ञासा थी, वह जीवन-भर बनी रही। उनका झुकाव वेदांत की ओर था। वह स्थल-स्थल पर वेदांत से परिचित जान पड़ते हैं। कनक-कुंडल आदि न्याय हमारे कथन का पुष्टिकरण करते हैं। पर यह ज्ञान अध्ययन का परिणाम नहीं है। यह उस वातावरण का प्रसाद है, जो अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के कारण काशीधाम में भी अपना आतंक जमा रहा था और जिसको शांत करने के लिए तुलसीदास को अथक श्रम करना पड़ा। कबीर के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सूफ़ियों से तृप्त न हो सके; वेदांत की ओर बढ़े तो सही, पर मुसलमान होने के कारण उनको उसका अधिकार नहीं मिल सका। स्वामी रामानंद ने भी वेदों को द्विजातियों के लिए सुरक्षित रख छोड़ा था और अधिक दिन तक जीवित भी न रह सके थे। अस्तु, कबीर को इधर-उधर सत्संग करना पड़ा और चिंतन तथा अनुभव से जो कुछ सत्य का ज्ञान प्राप्त हुआ उसका प्रचार करना उन्होंने अपना धर्म समझा। गोरखनाथ

का योग भी जगाया गया था। कबीर उससे भी परिचित हो गये।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट अवगत हो जाता है कि कबीर के लिए नये मार्ग का अवलंबन करना अनिवार्य था। जिस ढंग पर वह ज्ञानार्जन कर रहे थे, उसका परिणाम या तो व्यग्र या पागल बनना था या प्रतिभा के बल पर नये मार्ग का निरूपण करना। उनकी प्रतिभा ने निर्गुण-मार्ग का प्रतिपादन किया। कबीर का मार्ग निर्गुण-भक्तिमार्ग है। निर्गुण और भक्ति में जो विरोध है, उसका समाधान कबीर क्या, किसी के लिए भी असंभव है। अस्तु, कबीर भी उपासना के क्षेत्र में ब्रह्म या सत्यनाम को सगुण तो बना देते हैं, पर कहने को, खंडन करने को, उसको निर्गुण ही रहने देते हैं। उनके शिष्य तो इस दुविधा में अधिक दिनों तक रह ही न सके और आजकल तो मूर्तिपूजक तक बन बैठे हैं।

कबीरदास महात्मा थे। उनका आदर भी एक महात्मा की दृष्टि से होना उचित है। किंतु कुछ लोग उनको बहुत बढ़ाकर दिखाते हैं। अछूतों और स्त्रियों का प्रश्न एक प्रकार से बहुत पुराना है। भक्तिमार्ग में उनको जो कुछ अधिकार मिला है, उसका श्रेय कबीर को देना इतिहास की ही हत्या नहीं, साहित्य की भी उपेक्षा करना है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि जो लोग पद्मावती एवं सुरसरी को—जो निस्संदेह स्त्रियाँ ही थीं—तथा स्वयं कबीर एवं रैदास को—जो द्विजाति नहीं थे—स्वामी रामानंद के शिष्यों में मानते हैं, वही उसका श्रेय कबीर को कैसे दे जाते हैं। कबीर ने स्त्रियों की निंदा तुलसी से कहीं अधिक की है। तुलसी ने मीरा को जो पत्र लिखा था, वह कबीर का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। विचार करने पर यह स्वतः व्यक्त हो जाता है। कबीर ने केवल इतना किया कि उन्होंने शूद्रों तथा नीची जातियों को द्विजातियों के सम्मुख खड़ा कर दिया और वे अलख की रट लगाने लगे। कबीर के कारण इन अछूतों का आचरण सुधरा और उनको भी लोग अच्छा समझने लगे। बस, इसी दृष्टि से कबीर 'समाज-सुधारक' कहे जा सकते हैं। वस्तुतः कबीर को समाज-सुधारक कहना उन्हीं के साथ अन्याय करना है। कारण यह कि कबीर की दृष्टि व्यक्ति पर थी, समाज अथवा लोक पर नहीं। महात्मा तुलसीदास ने कबीर का विरोध जी खोलकर किया है। कबीर 'तन काम में मन राम में' के प्रचारक थे तो सही, पर वह लोकपक्ष पर ध्यान कभी नहीं देते थे। लोग कहते हैं कि कबीर 'राम-रहीम' को एक करना चाहते थे; पर वास्तविक बात यह है कि यह सत्य को 'राम-रहीम' के परे देखते थे। इन्होंने दोनों धर्मों के कर्म-कांडों का घोर खंडन किया है। हिंदू-वेद-पुराण की निंदा सुन लेते थे, पर मुसलमान कुरान की निंदा सुनने को तैयार न थे। कबीर को कभी-कभी उनका कोपभाजन भी होना पड़ता था।

कबीर के धार्मिक सिद्धांतों का विवेचन करना बहुत ही कठिन काम है। इस विषय पर उचित ध्यान अभी किसी ने नहीं दिया है। कबीर के धार्मिक विचारों का विकास किस ढंग से होता रहा, इसका भी पता लगाना कुछ कठिन है। वह रामानंद के शिष्य होकर निर्गुणपंथी कैसे बन गये? यह एक विचारणीय प्रश्न है। उनके राम सत्यधाम के निवासी राम हैं, दशरथ के पुत्र नहीं। उनके राम भी अंत में वही हैं, जो वेदांतियों के निर्विशेष ब्रह्म। शंकर स्वामी ने व्यवहार-पक्ष में ईश्वर की कल्पना की है। कबीर की कल्पना वैसी नहीं कही जा सकती। कबीर ने शब्दों का प्रयोग मनमाना किया है, जिनके बल पर उनके सिद्धांत का निरूपण नहीं किया जा सकता। जो लोग वेदांत के ब्रह्म से परिचित हैं तथा सूफियों के मत को जानते हैं, वही यह समझ सकते हैं कि कबीर कहाँ पर विचर रहे हैं। कबीर की सहायता से ब्रह्म का निरूपण नहीं किया जा सकता। कहीं तो उनके ब्रह्म अनिर्वचनीय हो जाते हैं और कहीं साकार। कहीं वह ब्रह्मवादी हैं, तो कहीं एकेश्वरवादी। एक स्थल पर 'समरथ का परवाना' लाते हैं, तो दूसरे स्थान पर स्वयं ही सब कुछ बन जाते हैं। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि कबीर अपने-आपको एक सिद्ध महात्मा समझते थे और जब जिस रंग में आते थे, तब उसी रंग की बातें करने लगते थे। यह अवश्य है कि उनका झुकाव वैष्णव-धर्म की ही ओर अधिक था, पर संस्कार के कारण कभी-कभी शामी झोंके में भी आ जाते थे।

कबीर के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कुछ लोग तो इनको बड़ा भारी कवि मानते हैं और कुछ लोग

इन्हें कवि कहने में भी झिझकते हैं। रहस्यवाद के प्रचार के कारण कबीर का गौरव कुछ अधिक बढ़ चला है। रहस्यवाद क्या, किसी भी कविता में भाव तथा भाव-विधान ही मुख्य अंग हैं। रहस्यवाद का उदय कहीं भी हुआ हो, उस पर अधिकार सूफ़ियों का ही है। कबीर के रहस्यवाद और सूफ़ियों के रहस्यवाद में कुछ अंतर है। कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं। रहस्यवाद के साथ-ही-साथ अलंकार का विचार भी करना उचित जान पड़ता है। कबीर को अलंकार-शास्त्र का ज्ञान नहीं था। साहित्यशास्त्र से यह अपरिचित ही थे। कला का इनमें सर्वथा अभाव है। कबीर के बहुत-से पद्य रहस्यवाद के अंतर्गत नहीं आ सकते; उनमें दर्शन का निदर्शन है। 'वक्रोक्ति' की प्रधानता कबीर में भी है। 'वक्रोक्ति' का अर्थ भाव-विधान के चमत्कारिक ढंग से है। उनका रहस्यवाद प्रायः अध्यवसान पर ही अवलंबित है। कुछ मुख्य-मुख्य बातों का कल्पित नाम रखकर कविता करना रहस्यवाद नहीं है। रहस्यवाद का संबंध भाव से ही है। भावविधान से नहीं। कबीर ने पति-पत्नी का रूपक देकर इस जगत् को नैहर मान जीवात्मा को ब्रह्म की पत्नी कहा है। कबीर को कवि न कहना कविता के क्षेत्र को बहुत संकीर्ण करना अवश्य है, परंतु उनको बहुत महत्त्व देना उलटी धारा को बहाना है। उनके भावों की अपेक्षा उनका वाग्वैदग्ध्य ही अधिकतर लोगों को विस्मय में डाल देता है। भाषा तो मनमानी है।

चंद्रबली पाँडेय (एम्० ए०)

× × ×

३. प्राचीन वृक्षायुर्वेद

प्राचीन भारतवर्ष में वृक्ष-वनस्पतियों के बीजों और पौधों के विषय में जो-जो वैज्ञानिक प्रयोग किये जाते थे, उन्हें हम पाठकों के मनोरंजनार्थ तथा प्रयोगार्थ यहाँ उद्धृत करते हैं।

१—प्रत्येक वृक्ष के लिए कोमल भूमि अच्छी होती है।

२—जहाँ कुछ बोना हो, उस भूमि में पहले तिल बोने चाहिए। उन तिल के वृक्षों में जब फूल आ जायँ, तब उन्हें कुचलकर वहीं ज़मीन में मिला देना चाहिए।

३—इस प्रकार भूमि तैयार होने पर उसमें नीम, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु आदि शुभ वृक्षों को सबसे पहले लगाना चाहिए।

४—पनस, अशोक, केला, जामुन, लकुच, दाड़िम, दाख, पालीवत, बीजपुर और अतिमुक्तक प्रभृति वृक्षों की कलम लेकर, ऊपर गोबर लगाकर उन्हें बोना चाहिए। इसी तरह दूसरे वृक्षों को भी जड़ से अथवा डाली से काटकर, उन पर गोबर लगाकर बोना चाहिए।

५—जिसमें शाखा न निकली हो, ऐसे वृक्ष को एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाने के लिए शिशिर-ऋतु सर्वोत्तम है। जिसमें शाखाएँ निकल आयी हों उसे हेमंत-ऋतु में, और जिसमें बड़ी-बड़ी शाखाएँ हो गयी हों उसे वर्षा-ऋतु में, एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाना चाहिए।

६—घृत, उशीर, तिल, क्षौद्र, विडंग, दूध और गोबर इन सबको पीसकर, जड़ से शाखा तक वृक्षों में लेपन करके एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर रखना चाहिए।

७—वृक्ष बोते समय पवित्रता का विशेष ध्यान रखने से वृक्ष को कोई रोग नहीं होने पाता।

८—रोपे हुए वृक्षों में गर्मी के मौसम में प्रातः-सायं दोनों समय पानी सींचना चाहिए। शीतकाल में एक दिन छोड़कर दूसरे दिन और वर्षा में ज़मीन सूख जाने के बाद पानी देना चाहिए।

९—जामुन, वेतस, वानीर, कदंब, गूलर, अर्जुन, बीजपूर, द्राक्ष, लकुच, दाड़िम, वंजुल, नक्तमाल, तिलक, पनस, तिमिर और आम्रातक, ये १६ वृक्ष बहुत जलवाली भूमि में पैदा होते हैं।

१०—एक वृक्ष से दूसरा वृक्ष बीस हाथ की दूरी पर लगाया जाय तो उत्तम, १६ हाथ की दूरी पर मध्यम और १२ हाथ की दूरी पर कनिष्ठ गिना जाता है।

११—जो वृक्ष पास-पास लगाये जाते और आपस में मिली डालों में स्पर्श करते हैं, उनकी जड़ें भी आपस में मिली होती हैं। फल यह होता है कि वृक्ष अच्छी तरह फलते-फूलते नहीं।

१२—बहुत ठंढ, वायु और धूप से वृक्ष बीमार हो जाते हैं। उनके पत्ते पीले पड़ जाते हैं, सूख जाते हैं, अंकुर नहीं बढ़ते, शाखाएँ सूख जाती हैं और रस टपकने लगता है।

१३—रोगी वृक्ष की चिकित्सा इस प्रकार करनी

चाहिए कि उसका जो अंग सड़ गया हो अथवा सूख गया हो, उसे शस्त्र से काटकर उस पर वायविडंग, घृत और गीली मिट्टी मिलाकर लगा दे, ऊपर से पानी और दूध मिलाकर उसे सींचे।

१४—वृक्ष में फल न लगते हों, तो कुलित्थ, उड़द, मूँग, तिल और जौ, सबको दूध में डालकर औटाओ। फिर ठंडा करके उस दूध से वृक्ष को सींचना चाहिए।

१५—बकरी की मेंगनी का चूरा ४ सेर ६ छटाँक, २ से ११ छटाँक तक तिल, १०॥ छटाँक सक्तु, ११ सेर पानी ११ सेर गोमांस, इन सबको मिलाकर सात रात तक सड़ावे। आठवें दिन उससे वृक्ष, बेलि, गुल्मादि को सींचे। फल-फूल आने लगेंगे।

१६—पहले किसी भी बीज को घी लगे हाथ से चुपड़ बाद में उसे दूध में डाल देना चाहिए। रोज़ इस प्रकार दस दिन तक करता रहे। दूध से निकालकर उसे गोबर से रगड़कर चिकनाई हटा देनी चाहिए। दस दिन बाद इस बीज को सुअर और हरिण के मांस की धूप देनी चाहिए। पश्चात् मांस और सुअर की चर्बी सहित, तिल बोकर शुद्ध की हुई ज़मीन में बोकर ऊपर से दूध में पानी मिलाकर सींचना चाहिए। इस तरह बोये हुए बीज से जो वृक्ष निकलेगा, वह पुष्प-सहित होगा।

आजकल वैज्ञानिक पद्धति से घंटों में गेहूँ की उत्पत्ति करके, कुछ ही दिनों में फ़सल तैयार होने की बात को पढ़कर आश्चर्य-सागर में ग़ोते खानेवाले लोगों को भारत की इस प्राचीन विधि पर ध्यान देना चाहिए।

१७—अत्यंत कठोर आँवले के बीज को—व्रीहि, उड़द और तिल के चूर्ण तथा सक्तु एवं सड़े मांस से उसे सींचकर हलदी का धूप देने से उसमें से भी नया अंकुर फूट निकलता है।

१८—कपित्थ के बीज से बल्लरी (बेलि) करने की इच्छा हो, तो आस्फोत, धात्री, धव, वासिक पत्र-सहित, वेतस, सूर्यवल्ली अतिमुक्त और श्यामा की जड़ तथा वेतस के पत्ते लेकर दूध में उबालो। ठंडा करके उसमें कपित्थ का बीज डालो। दोनों हाथों से सौ बार ताली जितने वक़्त तक बजायी जाय, उतने वक़्त तक उस बीज को दूध में ही पड़ा रहने दो। बाद में निकालकर वह धूप में सुखा लिया जाय। इस प्रकार नित्य एक महीने तक प्रयोग किया जाय।

बाद में एक हाथ चौड़ा, एक हाथ गहरा और एक हाथ लंबा गड्ढा खोदकर उसे दूध मिले पानी से भर दो। जब जल सूख जाय, तब गड्ढे में आग जलायी जाय। इसके बाद शहद, घृत और राख मिलाकर इसे लीप दिया जाय। इतना करने पर पहले ४ अंगुल मिट्टी भरो और बाद में तिल, उड़द और जौ के चूर्ण से गड्ढे को भर दो। इसके पश्चात् मछली के मांस मिले जल से सींचकर उसे इतना पीट दो कि वह ज़मीन कड़ी हो जाय। इस गड्ढे में चार अंगुल नीचे सिद्ध किया हुआ कपित्थ का बीज बो दो। बोकर उसे मछली और मांस के जल से सींचो। तत्काल ही उसमें से उत्तम पत्रयुक्त बेलि बाहर निकलेगी, जो मंडपाकार हो जायगी। यह देखकर सबको आश्चर्य होगा।

१९—अंकोल-फल के कल्क (गूदा) से, अंकोल फल के तेल से अथवा श्लेष्मातक के फल से, अर्थात् कल्क या तेल से चाहे जिस वृक्ष के बीज को सौ बार सींचा जाय। वर्षाऋतु में बोने पर उसी वक़्त बीज उगकर फल-फूल से लदी हुई लता बन जाती है। इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं।

२०—श्लेष्मातक के बीज को लेकर उसकी छाल उतार लो, फिर अंकोल-फल में उसे रखकर उस बीज को छाया में सात बार सुखा लो, अर्थात् जल में भिगो-भिगोकर सुखा लिया जाय। फिर भैंस के गोबर में रखकर पुनः सूखे गोबर में रख छोड़ो। जब वर्षा में मिट्टी गीली हो जाय, तब उसे बोने से एक ही दिन में वृक्ष बनकर फूलने-फलने लग जायगा।

भले ही ये उक्त बातें अतिशयोक्तिपूर्ण हों, किंतु जब तक इनका प्रयोग करके न देखा जाय, तब तक इन्हें असत्य कहने का साहस करना भी दुस्साहस कहा जा सकता है। इस विषय के ज्ञाताओं को इन प्राचीन विधियों का प्रयोग करके, इनका सत्यासत्य-निर्णय करने में ध्यान देना चाहिए। यदि देशकाल के अनुसार इन प्रयोगों में रद्दोबदल की आवश्यकता हो, तो संशोधन करके जनता के सामने उपस्थित करने का यत्न करना चाहिए।

गणेशदत्त शर्मा गौड़ "इंद्र"

× × ×

४. बेकारी का निराकरण

बेकारी का प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसकी महत्ता उन लोगों से पूछिए, जो अपने बाल-बच्चों को दाने-दाने के लिए तरसते और भूख से एड़ियाँ रगड़ते हुए देखते हैं। बेचारे दिल मसोस कर रह जाते हैं। नेत्रों से दो आँसू ढुलक पड़ते हैं। अधिक कर ही क्या सकते हैं। परंतु इन जलकणों से संतोष कैसे हो सकता है। क्षुधा की प्रज्वलित ज्वाला में ये आहुति का काम करते हैं। हृदय का आवेग और बढ़ जाता है। ऐसा क्यों?

कल जो भूमि ऊसर पड़ी थी, आज उस पर हरी-भरी फ़सल लहरा रही है। कल जो निकृष्ट वस्तु व्यर्थ समझकर फेंक दी जाती थी, उसी से आज बहुमूल्य पदार्थ बनाये जा रहे हैं। आज एक चिथड़ा भी बेकार नहीं जाने पाता, यहाँ तक कि मलमूत्र से भी करोड़ों की आय की जाती है। लेकिन फिर भी गाँव पीछे प्रतिशत पचीस मनुष्यों को एक समय रोटी नसीब होती है और पचीस कदाचित् दूसरे दिन अन्न के दर्शन पाते हैं। यह दुर्दशा देखकर हमें सहसा यह चौपाई याद आ जाती है—

"सकल पदारथ हैं जग माहीं। बिना भाग नर पावत नाहीं।"

परंतु इस वैज्ञानिक अनुसंधान के युग में इस चौपाई पर विश्वास करना अपनी खिल्ली उड़वाना है और बेकारी पर मोहर लगा बैठना है। इससे सिवा हानि के कोई भी लाभ नहीं हो सकता और अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलता है। अतएव उचित है कि हम इस बेकारी के कारण को ढूँढें और जनता की यह दुर्दशा क्यों है—इसका पता लगावें।

सम्राट् अकबर के समय का इतिहास देखने से यह विदित होता है कि उनके समय में केवल चार आने पैसे एक व्यक्ति के दोनों समय के एक मास के भोजन के लिए पर्याप्त होते थे। अब भी ऐसे लोग मौजूद हैं जो यह कहते हैं कि उनके लड़कपन में चार पैसे में दोनों समय का भोजन मिल जाता था। इनकी आयु ८०-८५ वर्ष की है; अतएव इनके लड़कपन का समय आज से ७०-७५ वर्ष पूर्व सन् १८६० के लगभग है। आज-कल अन्न सस्ता है, तो भी दोनों समय के साधारण भोजन में तीन-चार आने से कम नहीं लगते, और यह तब है जब लगान का एक बड़ा भाग वसूल नहीं हुआ। उपर्युक्त समयों की दर लगान वसूल होने के समय की है। यदि इस समय लगान वसूल कर लिया जाय, तो कदाचित् अन्नाभाव के कारण कृषक भूखों मरने लगें और तीन-चार आने के स्थान में ६-७ आने में शायद दोनों समय का भोजन मिल सके; क्योंकि अन्न के भाव का निर्णय करने में जो लगान देना पड़ता है उसका भी परता लगा लिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि इस समय फ़सलों के अच्छे होने पर भी प्राचीन समय के और इस समय के भोजन के मूल्य में कितना बड़ा अंतर पड़ गया है। अब देखना है कि इस अंतर का कारण क्या है।

द्रव्य से वस्तुओं के मूल्य की माप होती है। जब द्रव्य का मूल्य अधिक होता है तब वस्तु का मूल्य घट जाता है, और जब द्रव्य का मूल्य घट जाता है तब वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है। द्रव्य का मूल्य तब बढ़ता है, जब द्रव्य की कमी होती है। आजकल अन्न का भाव गिर गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि अन्न की अपेक्षा आजकल द्रव्य की कमी है।

इसी द्रव्य की कमी के कारण यह दुर्दशा उपस्थित हुई है। अभी हाल में पंजाब-सरकार के कृषि-विभाग के मंत्री सर योगेंद्रसिंह ने पंजाब और अवध-प्रांत का दौरा किया है। उनका भी यही कहना है कि वर्तमान अर्थसंकट का कारण रुपये का अकाल है।

अस्तु, रुपये के अकाल के दो कारण हैं—(१) भारतीय टकसालें अब बंद कर दी गयी हैं और मुद्रा के निर्माण और प्रचलन का सारा अधिकार अब सरकार ने स्वाधीन कर लिया है, जिससे रुपये का स्वतंत्रतापूर्वक बनना और चलन बंद हो गया है। (२) रुपये की विनिमय-दर सोलह आने के स्थान में अठारह आने कर दी गयी है और इस दर को स्थायी बनाने के लिए सरकार को नवीन मुद्रा का निर्माण तथा प्रचलन रोकना पड़ा है। उक्त प्राचीन समयों में—सम्राट् अकबर के समय में तथा सन् १८६० के लगभग—भारतवर्ष में टकसालें थीं और मुद्रा को कृत्रिम मूल्य नहीं दिया गया था। इसी कारण ऐसा अर्थ-संकट नहीं उपस्थित हुआ था।

भूतपूर्व गवर्नर जनरल लार्ड इरविन ने कहा था कि अर्थ-संकट की समस्या भारतीय नहीं है, प्रत्युत् अंतर्जातीय है; अंतर्जातीय अर्थ-संकट का प्रभाव भारतवर्ष पर पड़ रहा है। परंतु जो समाचार अन्य देशों के आर्थिक विषयों के सम्बंध के प्राप्त होते हैं, उनसे तो यही विदित होता है कि जर्मनी को छोड़कर योरप और अमेरिका के लगभग सभी राष्ट्र अर्थसम्पत्ति से भरपूर हैं, और उनके कोषों में सुवर्ण का संचय हो रहा है। स्वयं ब्रिटिश-सरकार सुवर्ण-संचय कर रही है। इन समाचारों की उपस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि अंतर्जातीय अर्थ-संकट भारतीय अर्थ-संकट का कारण है, जब कि अंतर्जातीय अर्थ-संकट वास्तव में है ही नहीं।

उक्त लार्ड महोदय का यह भी कहना है कि इस अर्थ-संकट का कारण सत्याग्रह-आंदोलन है। सत्याग्रह-आंदोलन के कारण अशांति और अविश्वास की मात्रा बढ़ गयी है, जिससे यह समस्या पैदा हो गयी है। किंतु उक्त महोदय ने अपनी उस भारतीय शासन-सम्बंधी रिपोर्ट में, जो गोलमेज़-कान्फ्रेंस के आरंभ के समय विलायत भेजी गयी थी, स्वयं यह स्वीकार किया है कि सत्याग्रह-आंदोलन का प्रभाव अधिकतर पठित हिंदू-नागरिकों में सीमित है। इस रिपोर्ट की समता पर विश्वास करने से यह नहीं माना जा सकता कि केवल सत्याग्रह-आन्दोलन के कारण ही यह आपत्ति उपस्थित हुई है। और, यह भी विचारणीय है कि क्या आजकल की अशांति मुसलमानी राज्य के समय की तथा सन् १८६० के निकट की गड़बड़ी से बढ़कर है ?

लार्ड महोदय ने यह भी कहा था कि रेल का महसूल बढ़ जाने से अन्न देशांतरित नहीं हुआ और एक स्थान में अधिक अन्न एकत्रित होने के कारण, अन्न का निकास न होने से, उसका मूल्य इतना गिर गया है। आपके कथन के पश्चात् रेलवे-कंपनियों ने महसूल कम कर दिया है, तो भी अन्न की बिक्री की दर में कोई विशेष अंतर नहीं हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि भाड़े की वृद्धि प्रस्तुत दुर्दशा का कारण नहीं है।

रुपये का अकाल ही इसे अर्थ-संकट और बेकारी का हेतु है। इसका प्रभाव कृषकों पर पड़ा है; क्योंकि भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है और भारतवर्ष की आय का एक-मात्र साधन कृषि की उपज का मूल्य है। अन्य व्यवसाय गौण हैं और उनकी आय कृषि की आय पर निर्भर रहती है। ये व्यवसायी गाँव के कारीगर लोहार, बढ़ई, कुम्हार आदि हैं। इनकी आय भी घट गयी है और ये भी बेकारी के शिकार बन गये हैं। गाँव का ज़मींदार लगान न मिलने के कारण झांख रहा है और बनिया दुकान पर बैठा झख मार रहा है। पैसा तो है ही नहीं, गठरी-भर अन्न देकर सौदा कौन लेने आये ! अतएव ये भी बेकार हो गये हैं।

यह तो ग्रामीणों का हाल हुआ; अब नागरिकों का हाल लीजिए। नगरों में अधिकतर नौकरी करनेवाले लोग रहते हैं। ये या तो किसी की निज की नौकरी करते हैं अथवा किसी सरकारी महकमे, कंपनी या कारख़ाने में नौकर होते हैं। मालगुज़ारी वसूल न होने से तथा ऐसे ही अन्य कारणों से सरकार की आमदनी बहुत कम हुई है, जिसके कारण सरकारी नौकरियों में कमी की जा रही है और वेतन घटाया जा रहा है। फलतः सरकारी नौकरों की संख्या भी कम हो गयी है, और उनकी आमदनी में भी कमी आ गयी है। इस अवस्था में उनको अपने ही घर का ख़र्च सँभालना कठिन हो रहा है, बेचारे दूसरों को कहाँ से नौकर रख सकते हैं ! यही हाल उन लोगों का भी है, जो कंपनी या कारख़ानों

में नौकर हैं। आजकल माल सस्ता है और रुपये का अभाव है। इसी कारण बहुत-से कारख़ाने या कंपनियाँ टूट चुकी हैं और बहुत-से कारीगर और कर्मचारी निकाल दिये गये हैं। वे बेचारे मारे-मारे फिर रहे हैं। जाएँ कहाँ? कहीं भी तो ठिकाना नहीं है—सर्वत्र अकाल का राज्य है!

लोग कहते हैं कि अन्न का अकाल सहनीय था। थोड़े-से अन्न से भी मतलब-भर को रुपया मिल जाता था, जिससे सारे कारोबार का संचालन संभव था। अब अन्न तो है, परंतु रुपया पास में न होने से सब कामों में अड़चन पड़ रही है। अतएव रुपये का अकाल असहनीय है; कारण यह कि यह युग रुपये का युग है। वस्तुओं के अदल-बदल का युग कभी का व्यतीत हो गया, अब तो बिना रुपये के कोई भी काम नहीं चल सकता।

अब यह पूछा जा सकता है कि क्या देश में धन नहीं है? उत्तर में यह नहीं कहा जा सकता कि देश निर्धन है। धन है—यहाँ के सेठ-साहूकारों के पास; परंतु वह प्रयोग में नहीं लाया जाता, जिसके कारण उसका होना या न होना जन-साधारण के लिए व्यर्थ है। उससे किसी को कोई उपकार नहीं हो रहा, प्रत्युत अपकार हो रहा है; क्योंकि उस धन के एकत्रित हो जाने से ही प्रस्तुत अर्थसंकट और तज्जन्य बेकारी को सहायता पहुँच रही है।

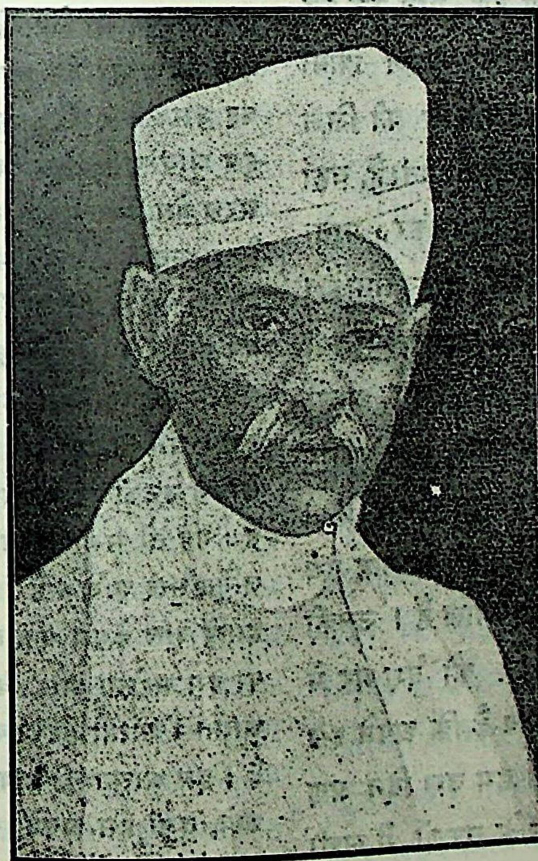
अतएव आधुनिक बेकारी और तज्जन्य दुर्दशा के निवारण का केवल एक ही उपाय है, और वह यही कि सरकार तथा हमारे देश के सेठ-साहूकार तात्त्विक उदारता से काम लेकर रुपये को अपने स्वाभाविक मूल्य में स्वतंत्र रूप से प्रचलित होने दें। स्वतंत्र प्रचलन से रुपये की कमी बहुत अंशों में मिट जायगी। जो रह जायगी, उसके लिए सरकार नवीन मुद्रा के निर्माण का प्रबंध कर सकती है। इस समय केवल औदार्यपूर्ण आर्थिक व्यवहार से जनता का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नाश तो हो ही रहा है। इस आपत्ति-काल में सरकार तथा सेठ-साहूकारों का यह कर्तव्य है कि धन को मनुष्य के जीवन से अधिक मूल्यवान् न समझें, मुक्तहस्त होकर दीन प्रजा की रक्षा करें।

अयोध्याप्रसाद (बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सम्पादकीय विचार

१. महर्षि मालवीयजी

महामना मालवीयजी की सेवाएँ जितनी विशुद्ध, ठोस एवं सर्वतोमुखी हैं, उतनी ही स्वभावसिद्ध, आत्मप्रेरित और आदर्शपूर्ण भी। उनका प्रारंभ से लेकर अब तक का जीवन सात्विक तपश्चर्या और परोपकार से ओतप्रोत है। उनके ज़रा भी शक नहीं। वे हिंदुत्व की जान हैं, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। हमें तो उनके-जैसा आज भारत में कोई नेता दिखायी नहीं देता। मालवीयजी गंभीर होते हुए भी सरल हैं, कट्टर सनातनधर्मी होते हुए भी महान् उदार हैं और अधिक-से-अधिक संकटों की परिस्थिति में भी



महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय

धार्मिक आचरण, भारतीय आदर्श और दृढ़ विचार उन्हें अपने ढंग के सर्वोच्च नेता होने का आसन प्रदान करते हैं। वे महर्षि हैं, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। वे भारतीयता की शान हैं, इसमें अपने सहज स्वभाव को क्षणिक उत्तेजना के वश नहीं होने देते। सदैव संयत विचार, उचित कार्य और गंभीर वचन का संयोग उनकी बड़ी भारी खूबी है। उनकी वक्तता में सम्मोहन शक्ति और उनकी

वाणी में अद्भुत आकर्षण-शक्ति है। उनकी भाषण की धारा साहित्य-मंदाकिनी की भाँति सबके मनस्ताप को दूर और पवित्र करनेवाली होती है। वे स्वयं विद्वान् और पंडित हैं। मानो माता सरस्वती ने उनकी सेवा से प्रसन्न होकर, उनकी कीर्ति को सदैव अक्षुण्ण रखने के लिए उनके द्वारा काशी-नगरी में विश्वविद्यालय की योजना करायी। इस विश्वविद्यालय के गगनचुंबी शिखर देशपूज्य मालवीयजी के यश का अहर्निश गर्व से मस्तक उठाये हुए, गान कर रहे हैं। उनकी किस-किस सेवा का वर्णन किया जाय। देश या समाज को मालवीयजी की जिस दिशा में, जब और जहाँ भी ज़रूरत पड़ती है, वहाँ वे अपने हृदय का सारा स्नेह समेटकर, माता की जैसी ममता से विह्वल होकर, दौड़ जाते हैं। देश की पुकार पर वे सदा आगे दिखायी देते हैं। मुल्क की भलाई के लिए, आर्तों का कष्ट बँटाने के लिए वे तन, मन और धन की भेंट लेकर हमेशा प्रस्तुत रहते हैं। अब वे वृद्ध हो गये हैं, पर उनका उत्साह एवं स्फूर्ति युवकों को भी लजा देनेवाले हैं। उनकी ७०वीं वर्षगाँठ इसी २५ दिसंबर को देश-भर में मनायी जायगी। हमारा कर्त्तव्य है कि अपने इस महान् नेता के पदानुसरण का हम उस दिन प्रण करें, यही हमारी मालवीयजी के चरणों में सच्ची भेंट होगी।

× × ×

२. वास्तविक सुख क्या है ?

संसार का प्रत्येक पुरुष सदैव सुख की खोज में रहा करता है। अपनी विद्या, बुद्धि और विचार के अनुकूल वह सुख की कल्पना करता है। उसी कल्पना के अनुकूल कार्य और तदनुसार ही फल की भी प्राप्ति होती है। कोई धन को सुख का आगार मानता है, कोई शक्ति-संपन्नता को आनंद का मूलमंत्र समझता है और कोई यशोलिप्सा को ही सुख की पराकाष्ठा जानता है। परंतु इतना सब प्राप्त हो जाने पर भी यदि उन प्राणियों से यह प्रश्न किया जावे कि क्या अब वे पूर्ण सुखी हैं, तो उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा। बात यह है कि इस नश्वर संसार में नाशवान् वस्तुओं को सच्ची प्रसन्नता का आधार बनाना कोरी मूर्खता है। जो वस्तु स्वयं अपूर्ण और अस्थायी है, उससे पूर्ण और स्थायी सुख की आशा करना बालू से तेल निकालने के सदृश है। ईश्वर सत्, चिरंतन और आनंद का रूप है, इसलिए उसके द्वारा निर्मित यह संसार भी वैसा ही दृष्टिगोचर होता है। परंतु वास्तव में वैसा है नहीं। ईश्वर की संचालन-शक्ति माया का जो आवरण इस जगत् को ढके हुए है, वह उसके वास्तविक रूप को प्रकट नहीं होने देता। इस आवरण को दूर करने के लिए पवित्र साधना, अटल प्रेम और एकांत सत्यनिष्ठा की आवश्यकता होती है। मनुष्य-जैसे पद-पद पर भूल करनेवाले तुच्छ प्राणियों में से बिरले ही उस परम सुख के अधिकारी बन पाते हैं। ईश्वर द्वारा ऐसे नियम और साधन अवश्य ही उपस्थित कर दिये गये हैं, जो हमारी प्रत्येक इच्छा और जिज्ञासा को परितृप्त करने में समर्थ हैं। लेकिन उनकी खोज और उनका सद्उपयोग बड़ा कठिन है। यह तो सभी विचारवान् पुरुष जानते हैं कि इंद्रिय-जनित सुख क्षणिक है। मन का कुछ ठिकाना नहीं। हमारे पास केवल एक ही वस्तु ऐसी रह जाती है, जिस पर हम भरोसा और विश्वास कर सकते हैं और वह है आत्मा। आत्मा ईश्वर का रूप है, निर्विकार और दिव्य है। इस आत्मा को जब पूर्ण संतोष और शांति मिल जावे, तभी हम अपने को पूर्ण सुखी मान सकते हैं, अन्यथा जन्मजन्मांतर भटकने और लाख सर पटकने पर भी हम पूर्ण सुखी नहीं बन सकते। इस आत्मा को और संतोष दे सकता है ? संसार के पदार्थ, कदापि नहीं। केवल पूर्ण ब्रह्म ही इसके लिए समर्थ है। तब यों कहना चाहिए कि आत्मसंतुष्टि के लिए ईश्वर को प्रसन्न करना ही एकमात्र साधन है। उस सच्चिदानंद की प्रसन्नता प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं। प्रेम, भक्ति, योग-साधन, सेवा, परोपकार और सत्यनिष्ठा आदि। अगणित आधि-व्याधियों से भरे हुए इस संसार में शारीरिक कष्ट-सहन

द्वारा ध्येय-प्राप्ति करना अत्यंत दुरूह है। उपकार और सेवा के पवित्र व्रत भी सरल नहीं हैं। हाँ, प्रेम और भक्ति के भरोसे भले ही किसी मंज़िल तक पहुँचने में हम समर्थ हो सकें। भक्तवर सूरदासजी की तथा महाराज तुलसीदासजी आदि के अमृतमय उपदेशों से भी हमारे इस विचार को बहुत कुछ सहायता मिलती है। यदि हम अपने मन को खींचकर इस बिंदु पर दृढ़ कर सकें कि भगवान् दयालु हैं, हमारे तनिक-से प्रेम पर भी वे हमारे सारे ऐबों को भूल जानेवाले हैं; इसलिए ऐसे महान् उपकारी प्रभु से नेह का नाता जोड़ना हमारा कर्तव्य है, तो हमें अपना मार्ग सरल प्रतीत होगा। यदि अनुदिन हम इस मार्ग में अग्रसर होते जावें और अपने प्रेम और भक्ति की सारी प्रगति को केवल भगवान् के चरणों में ही केंद्रीभूत कर दें, तो न तो इस समय की तरह ईश्वर हमें दूर दिखायी देंगे और न हमें अपनी आत्मा की संतुष्टि एवं सुख के लिए किसी अन्य वस्तु के अन्वेषण की आवश्यकता ही प्रतीत होगी। हमारी आत्मा और भगवान् के बीच प्रेममय भक्ति के तारतम्य लग जाने से ऐसे अनिर्वचनीय आनंद की स्वयं प्राप्ति होने लगेगी, जिसको हम बयान न कर सकेंगे, केवल अनुभव कर सकेंगे। ऐसा आनंद प्राप्त होने पर हमें किसी वस्तु की कामना न होगी, कोई अपूर्णता हमें प्रतीत न होगी, कोई लिप्सा हमें सता न सकेगी और कोई प्रलोभन हमें अपनी ओर खींच न सकेगा। उस समय जिस सुख का हम आनंद उठावेंगे, वही सच्चा सुख, अक्षय सुख होगा। उस सुख के अधिकारी हो जाने के बाद अपनी कोई पृथक् हस्ती न रहेगी। हमारी आत्मा और परमात्मा, जिसे अभी हम दो होने का भान करते हैं, एक होंगे। द्वैत न होगा। अद्वैत लाभ करना ही वास्तविक सुख की अंतिम और अद्वितीय गति है।

× × ×

३. भारत की परिस्थिति

लंदन की वह कान्फ्रेंस समाप्त हो गयी, जिसकी ओर सारे भारत की दृष्टि लगी हुई थी। कान्फ्रेंस की सफलता तथा असफलता के विषय में विभिन्न सम्मतियाँ हैं। यही बात प्रधान मंत्री मि० मेकडानेल्ड के वक्तव्य पर भी लागू है। ख़ैर, कान्फ्रेंस सफल हुई हो या असफल, अभी भारत को कुछ मिलेगा नहीं। बात यह है कि अभी कमेटियों का काम जारी रहेगा, लंदन से भारत में जल्दी ही जाँच-कमेटी आवेगी, भ्रमण करेगी, आवश्यक सामग्री जुटावेगी, फिर रिपोर्टें तैयार होंगी और न-जाने क्या क्या होगा। म० गांधी और म० मालवीयजी तो चल चुके हैं, अन्य प्रतिनिधि भी रवाना हो गये हैं या हो रहे हैं। महात्माजी तथा मालवीयजी के जाने से भारत की वस्तुस्थिति ब्रिटिश-जनता तथा योरप पर प्रकट हो गयी—यह कम लाभ की बात नहीं है।

भारत का प्रत्येक शांतिप्रिय नागरिक जिस शांति और पवित्र व्यवस्था की, कांफ्रेंस के बाद आशा करता था, वह पूरी होते हुए नहीं दिखायी देती। बल्कि उसके विपरीत लक्षण नज़र आ रहे हैं। इधर बंगाल-आर्डीनेंस, यू० पी० आर्डीनेंस आदि विशेष क़ानून गवर्नमेंट ने बनाये और उधर कांग्रेस किसानों को लगानबंदी और सत्याग्रह के लिए तैयार कर रही है। इसका मतलब यह हुआ कि कांग्रेस और गवर्नमेंट के बीच जो दिल्ली का समझौता हुआ था, वह या तो समाप्त हो गया या हो रहा है। यह बड़े दुख की बात है कि कांग्रेस और गवर्नमेंट के बीच हम जिस प्रेम-बंधन और सहयोगिता की कल्पना कर रहे थे, वह पूरी न हुई। हमें भारत का निकट भविष्य महान् कष्टपूर्ण, अनिश्चित और भयावह दिखायी देता है। क्या भारत के राजनीतिज्ञ और ज़िम्मेदार शासक, ईश्वर एवं मनुष्यता के नाम पर, इस भावी संकट से बचाने का उपाय, समय रहते, खोज निकालेंगे?

× × ×

४. तपस्वी गांधी

महात्मा गांधी की आज सारे विश्व में इतनी प्रतिष्ठा क्यों है ? क्यों लोग उन्हें ईसा, मुहम्मद और बुद्ध से समानता देते हैं ? उनमें ऐसी कौन-सी बात है, जिसके कारण संसार के एक-मात्र देवत्व का सेहरा उनके बाँधा जा रहा है ? वे क्योंकर महात्मा हैं ? यह ऐसे प्रश्न हैं, जो सभी लोगों के दिलों में उठा करते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर अनेक बार दिया जा चुका है और आगे भी दिया जावेगा। संसार के अनेक पुरुषों ने, अपने दृष्टिकोण के अनुसार, महात्माजी के जैसे दर्शन प्राप्त किए हैं, वही उनके द्वारा चित्रित हुआ है। मतभेद और विचार-वैषम्य ही संसार है। लेकिन महात्माजी के अहिंसा-संग्राम को विश्व के बड़े-छोटे सभी देशों ने चाव से देखा। ये देश हैरान हैं कि विना तोप-तलवार का यह युद्ध कैसा ? पहली तो यही बात है, जो ग़ैर मुल्कों को उनकी ओर सबसे अधिक आकर्षित करती है; यद्यपि भारतीयों के लिए अहिंसा-संग्राम कोई आश्चर्य-जनक वस्तु नहीं है। दूसरी बात, महात्माजी की सत्यनिष्ठा है। सत्य केवल परमात्मा है, उसमें निष्ठा होना अहोभाग्य की बात है। इसकी आराधना के साथ धर्म के अन्य गुण स्वयं आ जाते हैं। सत्य का संसर्ग मनुष्य की प्रवृत्तियों को स्पष्ट, स्थिर और द्वेष-रहित बना देता है। उसमें लिप्सा, दिखावा या मोह नहीं रहता। आत्मा बलिष्ठ और देदीप्यमान हो जाती है। सत्य की जिसमें जितनी अधिक मात्रा होगी, उतना ही वह औरों को अपनी ओर खींच सकेगा। जब मन, वचन और कर्म—तीनों से, समानरूप में, सत्य का परिपालन हो सके, तब समझना चाहिए कि वास्तविक जीवन का राजमार्ग मिल गया। ऐसी दशा में, वचनों और कार्यों में उसी सत्य की झलक होगी, जिससे संसार प्रकाशित होता है। महात्माजी ने बाह्य और अभ्यंतर से एक भाँति सत्य की उपासना की है। वे मनसा, वाचा, कर्मणा से सत्यदेव की आराधना करते हैं। उनका कोई शत्रु-मित्र नहीं। वे प्राणीमात्र की सेवा और शुभाभिलाषा को सत्यदेव की सबसे बड़ी पूजा मानते हैं। उन्होंने संसार के सारे सुखों पर लात मार दी है। अपने जीवन को वह त्याग और कष्ट-सहन की कसौटी पर कस रहे हैं। ज्यों-ज्यों कसते हैं, खरे उतरते हैं। तीसरी बात, महात्माजी का चरित्रबल है, जो मनुष्य की पवित्र मनुष्यता के लिए सबसे ज़रूरी बात है। दूसरी जगह हो या न हो, पर भारत के लिए तो चरित्रबल धर्म का प्राण है। चौथी बात, उनका श्रद्धामय धर्माचरण है, जो मनुष्य के जीवन को दिव्य, सुखी और शांतिमय बनाने में समर्थ होता है। मनुष्य को केवल एक प्रकार की तपस्या उसके जीवन को आलोकित कर देती है, परंतु जो प्राणी अपने समस्त स्वार्थों को सेवा, त्याग और उपकार की शुद्धाग्नि में भस्म कर तपस्यामय हो चुका हो एवं जो विश्व के प्राणीमात्र का अहर्निशि शुभचिंतन करता हो, उसके ईश्वरीय दूत समझे जाने, देवत्व का अधिकारी होने तथा महान् आत्मा माने जाने में आश्चर्य ही क्या है ?

× × ×

५. झाँसी हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से—

झाँसी में ता० २८ से ३० दिसंबर तक हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन होगा। हिंदी के विद्वान् वयोवृद्ध साहित्यसेवी पं० किशोरीलाल गोस्वामी इसके सभापति होंगे। गत साल-भर में सम्मेलन ने कितने उपयोगी कार्य किये, इसका पूरा पता हमें नहीं मिला। हाँ, इतना हम जानते हैं कि आपसी वाद-विवाद में अधिक समय बीता। ऐसा होने के कौन-से कारण हैं, हम नहीं कह सकते। परंतु सम्मेलन का साल-भर का समय येन केन प्रकारेण बीत जाय और फिर अगले वर्ष रस्म-अदाई करके छुट्टी ले ली जाय, यह हिंदी की एक-मात्र संस्था के लिए प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। विद्यार्थीजी के गोरखपुर-सम्मेलन में सभापति होने के समय हमें आशा हुई थी कि सम्मेलन की गति में सामयिक क्रियाशीलता और स्फूर्ति आवेगी, परंतु राजनीतिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उन्हें इस ओर ध्यान देने की फुरसत ही नहीं मिली। इधर कलकत्ते के सम्मेलन में उसे आर्थिक सहायता भी अच्छी मिल गयी थी; फिर भी पूरा समय देकर लगन से सेवा करनेवाले व्यक्तियों के अभाव में कदाचित् सम्मेलन अपनी प्रगति में कोई उपयोगी परिवर्तन नहीं कर सका। और आगे कब तक यही दशा रहेगी, नहीं कहा जा सकता। किसी भी संस्था की उन्नति या अवनति उससे सहयोग करनेवाले व्यक्तियों की योग्यता अथवा अयोग्यता पर निर्भर होती है। जब तक सम्मेलन पार्टीबंदी के दलदल से दूर होकर, निष्पक्ष-भाव से सभी प्रकार के दलों और विचारों के सुयोग्य व्यक्तियों की सहायता नहीं प्राप्त कर पाता, तब तक वह हिंदी की श्रीवृद्धि में उतना सफल नहीं हो सकता, जितना एक अखिल भारतीय संस्था को होना चाहिए। म्युनिसिपलबोर्ड या कौंसिल के चुनावों की भाँति हम सम्मेलन का चुनाव नहीं करना चाहते। यहाँ तो केवल उन्हीं लोगों को आगे बढ़कर आना चाहिए, जो पवित्र आत्मप्रेरणा के वशीभूत होकर भाषा के उत्थान में, हृदय से भाग लेना चाहते हों। और चुनने का अधिकार रखनेवाले सज्जनों का भी यही धर्म है कि वे व्यक्तिगत मामलों को ताक पर रखकर, संस्था के उत्कर्ष और लाभ का ध्यान रखते हुए उन्हीं लोगों के हाथों में बागडोर दें, जो अपनी ज़िम्मेदारी को ईमानदारी के साथ निभा सकें।

इस समय प्रत्येक दिशा में परिवर्तन हो रहा है। विचारों का दायरा दिनोंदिन विस्तीर्ण हो रहा है। ऐसी दशा में सम्मेलन को हिंदी-भाषा-भाषी जनता के विचारों के अधिक समीप पहुँचकर अपनी लोकप्रियता बढ़ानी चाहिए। हम यह हरगिज़ नहीं चाहते कि अखिल भारतवर्षीय संस्था केवल सौ-दो सौ लोगों के मनोरंजन की वस्तु-भर बनी रहे। और यदि ऐसा ही हो, तो अखिल भारतीयता के नाम का सर्वथा दुरुपयोग होगा, साथ ही संस्था की मौजूदगी भी निष्प्रयोजनीय होगी। इस सम्मेलन की सार्थकता तभी सिद्ध हो सकती है, जब वह राष्ट्र-भाषा हिंदी को अपनाने की भावना सारे राष्ट्र में भर दे और उसके योग्य साहित्य तैयार कराने में अखिल भारतीय डिक्टेटरशिप का काम करे। यदि कांग्रेस की तरह उसमें सुयोग्य और त्यागी महानुभावों का समावेश होता रहे और उसी की तरह पवित्र, गंभीर एवं विशुद्ध नीति का आश्रय ग्रहण किया जावे, तो सम्मेलन की डिक्टेटरशिप मानने में किसी को भी आनाकानी न होगी। अभी तो हमारी अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग है। न तो संपादकों का और न लेखकों का कोई संगठन है, न हमारी उक्त संस्था से ही कोई ऐसी जंज़ीर भिड़ी हुई है, जो एक दूसरे के सहयोग से लाभ उठाने का ज़रिया बन सके। इन बिखरी हुई शक्तियों से इस युग में हम कोई वास्तविक काम करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं? जब तक हम सब मिलकर प्रेमपूर्ण वाद-विवाद और विचारपूर्वक अपना एक मार्ग निश्चित न कर लें, तब तक संगठित शक्ति का जो प्रभाव होना चाहिए, वह कैसे हो सकता है? आज उपर्युक्त बातों के अभाव में, भाषा का उपकार होने के बदले अपकार ही अधिक हो रहा है। अपने-अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोणों को लेकर जिसके जी में जो कुछ आता है, कर रहा है। आपसी तू-तू, मैं-मैं, बढ़ रही है और साहित्यिक बंधु एक दूसरे की व्यर्थ की टीका-टिप्पणी कर रहे हैं। अधिकारी और अनाधिकारी सभी प्रकार के लोग "सब धान बाइस पसेरी हैं।" समालोचना का संबंध अधिकतर व्यक्तियों के संबंध पर निर्भर करता है, कृति पर नहीं। रायज़नी की बेहूदा

भरमार ने आलोचना के महत्व को नष्ट कर डालने का ठेका-सा ले लिया है। यह सब हो रहा है, हम चुप हैं; हमारे संपादक बंधु चुप हैं और हमारी एक-मात्र सबसे बड़ी साहित्यिक कांग्रेस चुप है। इसका कारण हमारी बिखरी हुई शक्तियाँ, परस्पर सहयोग की कमी और अनिश्चित मार्ग का अवलंबन ही है। आख़िर हम अपनी इस परिस्थिति को इसी रूप में कब तक रहने देंगे?

झाँसी में राष्ट्रभाषा का सम्मेलन होने जा रहा है, उसमें सभी प्रकार के योग्य और प्रेमी सज्जनों के सम्मिलित होने की आशा है। क्या हम उन सब महानुभावों से यह सादर प्रार्थना कर सकते हैं कि वे कृपापूर्वक हमारी उपर्युक्त पंक्तियों पर विचार करें और कुछ ऐसी कमेटियाँ मुक़र्रर करने की कृपा करें, जो विभिन्न दिशाओं की त्रुटियों की जाँच करें और उनके निराकरण के उपाय बतावें। साथ ही पत्रकारों, लेखकों के संगठन और विचार-विनिमय के उपायों पर दृष्टिपात करें। हिंदी की वर्तमान प्रगति पर भी कमेटी को अपनी राय प्रकट करना चाहिए। यह कहना आवश्यक होगा कि प्रत्येक कमेटी में ऐसे ही सुयोग्य अनुभवशील व्यक्ति नियुक्त किये जावें, जो निश्चित विषय के निर्धारण में पूरी क्षमता रखते हों; जो निष्पक्ष रूप से सब ओर की कठिनाइयों पर ध्यान देकर किसी उचित मार्ग पर पहुँचने में समर्थ हों। इन कमेटियों में एक कमेटी ऐसी भी हो, जो सम्मेलन के अधिक व्यापक कार्यक्षेत्र तैयार करने के उपाय बतावे और भारत के प्रत्येक प्रांत के प्रमुख हिंदी-सेवियों से परामर्श प्राप्त करे। जब समस्त कमेटियों की रिपोर्टें तैयार हो जावें, तो किसी सुविधाजनक नगर में सम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन किया जावे और उस सम्मेलन में अधिक-से-अधिक पत्रकार, लेखक, कवि एवं हिंदी के विद्वानों, हितैषियों को शामिल करने का प्रयत्न किया जावे। इस अधिवेशन में प्रस्तुत रिपोर्टों पर अधिक-से-अधिक पक्ष-विपक्ष के विचारों को रखने का पूरा मौक़ा दिया जावे और उसके बाद सर्वसम्मति से प्रत्येक दिशा में एक मार्ग निश्चित किया जावे। इस कार्य में बहुत-सी कठिनाइयाँ और असुविधाएँ हो सकती हैं, पर यदि हमें हिंदी को राष्ट्रभाषा के योग्य तैयार करना और उसकी साथ ही सर्वस्वीकृत बनाना है, तो सब कुछ प्रसन्नतापूर्वक करना ही होगा। मैंने जो कुछ सम्मति और विचार पेश करने की धृष्टता की है, उसके लिए क्षमा चाहता हूँ। प्रत्येक हिंदी-हितैषी को इसमें घटाने-बढ़ाने का पूरा अधिकार है।

माधुरी

१०८, तुलसी-संवत्

Madhuri

February, 1932.

[Under the Supervision of the Court of Wards]



यशोदाजी और श्रीकृष्ण

संपादक

रामसेवक त्रिपाठी

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

र्षिक मू० ६॥)
माही मू० ३॥)

विदेश में वा० १०)
एक प्रति का ॥=)

London Representative—
Messrs. Palmer's Publicity Service Ltd.,
Ludgate House 110/111, Fleet St., London, E. C. 4.

लेख-सूची

पृष्ठ

१. कोकिल के बोल (कविता)—[लेखक, श्रीयुत 'अलबेला' १
२. गोरक्षा का ऐतिहासिक विवेचन—[लेखक, पं० गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' विद्या-वाचस्पति २
३. मनुष्य के प्रति—(कविता)—[लेखक, श्री० उदयशंकर भट्ट शास्त्री काव्यतीर्थ ... १२
४. वर्तमान कारूँ का ख़ज़ाना—अमेरिका—[लेखक, श्री० मंगलदेव शर्मा जर्नलिस्ट १३
५. भामाशाह (कविता)—[लेखक, श्री० केसरीनारायण सारस्वत १६
६. नवाब साहब का हाथी—(कहानी) [अनुवादक, मुंशी कन्हैयालाल एम्० ए०, एल्-एल्० बी० ... ... १७
७. साँस (कविता)—[लेखक, श्रीजयकिशोर-नारायणसिंह साहित्यालंकार २३
८. "गंगावतरण" (आलोचना)—[लेखक, श्री० शंभूदयाल सकसेना साहित्यरत्न ... २४

पृष्ठ

९. द्रौपदी-चीरहरण (कविता)—[लेखक, पं० रमाशंकर दीक्षित 'रमेश' २६
१०. हिंदू और मुसलमानों की प्रगति—[लेखक, श्रीयुत जी० एस्० पथिक बी० कॉम० ३०
११. अंतर्नाद (कविता)—[लेखक, श्री० मदनगोपाल गोस्वामी 'व्रजेश' ... ३७
१२. जागरण (कहानी)—[लेखक, विद्यार्थी श्रीरामेश्वर शुक्ल ३८
१३. उस दिन (कविता)—[लेखक, श्री० भगवतीचरण वर्मा बी० ए०, एल्-एल० बी० ४३
१४. मेरा जीवन (कविता)—[लेखक, प्रोफ़े० श्रीरामकुमार वर्मा एम्० ए० ... ... ४३
१५. प्राचीन भारत का मंत्रि-परिषद्—[लेखक, श्री० देवव्रत शास्त्री ४४
१६. प्रतीक्षा (कविता)—[लेखक, श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह रायगढ़-नरेश ५०
१७. स्वर्गीय पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री (सचित्र)—[लेखक, पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र बी० ए०, भूतपूर्व संपादक 'श्रीशारदा' ... ५१
१८. देहरादून (कविता)—[लेखक, श्रीश्याम-सुंदर खत्री 'सुंदर' ५६

ग्राहकों के हित की बात

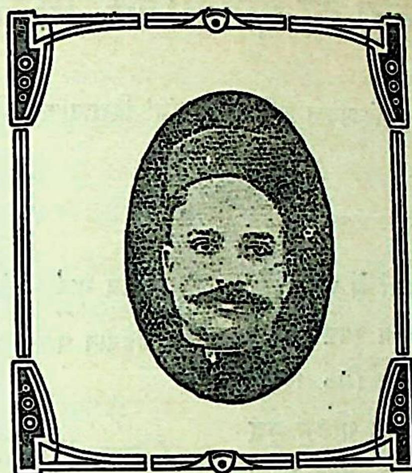
कृपया नोट कर लीजिए

अधिकांश ग्राहक अपना ग्राहक-नंबर नहीं लिखते, जिससे उनकी आज्ञा पालन करने में बड़ी असुविधा होती है। 'माधुरी' की विशाल ग्राहक-संख्या में ग्राहक-नंबर मालूम हुए विना किसी व्यक्तिविशेष का पता लगा सकना हमारे लिये नितान्त कठिन है।

मनिऑर्डर द्वारा चन्दा भेजते समय भी ग्राहक-गण अपना ग्राहक-नंबर लिखना भूल जाते हैं, जिससे उनके हिसाब में रुपया जमा करने में हमें बड़ी दिक़त पड़ती है। अतएव ग्राहकों को चाहिए कि पत्र-व्यवहार अथवा रुपया भेजते समय अपना ग्राहक-नंबर अवश्य लिखें। थोड़ी-सी सावधानी रखकर अगर ग्राहक-महोदय हमारे इस निवेदन पर ध्यान देंगे तो निःसन्देह हमारी और आपकी—दोनों की परेशानियाँ कम हो सकती हैं। ध्यान रहे मनि-ऑर्डर कूपन या पत्र में ग्राहक-नंबर लिखे विना 'माधुरी' चालू करने या आदेश पालन करने में विलंब होना अनिवार्य है।

ग्राहक-नंबर लिफ़ाफ़े पर नाम के पहले लिखा रहता है।

मैनेजर 'माधुरी'



संस्थापक—स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष—श्रीरामकुमार भार्गव, श्रीतेजकुमार भार्गव

वर्ष १० खंड २ | माघ, ३०८ तुलसी-संवत् (१९८८ वि०) | संख्या १ पूर्ण संख्या ११५

कोकिल के बोल

[श्रीयुत "अलबेला"]

कोकिल के सुमधुर बोल।

वीणाधारिणि वाणी वर से,
मोहक मायिक-मंत्र-प्रवर से,
मन्मथकारी मन्मथ-शर से,
विहगावलि-कल-जल-परिपूरित
वन - वारिधि - उल्लोल।

पुलकित कर कदंब-तरु का तन,
बौराकर रसाल-शिर - कंपन,
खलित बना लतिका-गृह-प्रांगन,
किलकारी भरते लघु शिशु से,
करते सुखद कलोल।

गाते गीत कलित किन्नर से,
शुभस्वर्गीय दूत सुंदर से,
वेणु बजाते नट-नागर से,
रूप रहित पर रूप-राशि-
खनि - रत्नों से अनमोल।

चढ़कर द्रुतगति पवन-यान पर,
अति विस्तृत अनंत-पथ होकर,
प्रियतम से आते मेरे घर,
मूर्छित सुप्त मृतक प्राणों में,
जाते अमृत घोल।

गोरक्षा का ऐतिहासिक विवेचन

[पं० गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' विद्यावाचस्पति]

हिंदू-काल—वेद

भारतीय इतिहास का आरंभ कहाँ से होता है, यह बात अभी तक विद्वान् लोग स्पष्ट रूप से नहीं बता सके हैं। प्रसिद्ध इतिहास-लेखक मि० स्मिथ का मत है कि भारत के इतिहास का समय गौतम बुद्ध से आरंभ होता है। इन महात्मा के जन्म और मरण का संवत् ५१० और ४२८ विक्रमाब्द से पूर्व है, ऐसा स्मिथ महाशय ने दृढ़तापूर्वक सिद्ध किया है। भारतीय इतिहास का आरंभ वेदों से है। वेदों के बाद ही ब्राह्मण-सूत्र और पुराणों का समय आता है। वेद कब बने और पुराणों को बने कितना समय हो गया—इत्यादि बातें अत्यंत विवाद-पूर्ण हैं। मेक्डानेल का कथन है कि वेदों की उत्पत्ति का समय विक्रमाब्द-पूर्व ९४३ से ७४३ तक है; रमेशचंद्र इसे वि० पू० १९४३ से १३४३ तक कहते हैं और लोकमान्य श्री० बालगंगाधर तिलक ३६४३ से २४४३ वि० पू० बताते हैं। हिंदू-शास्त्रों के अनुसार वेदों की उत्पत्ति का समय करोड़ों वर्ष पूर्व माना जाता है। ऐसी दशा में हम इस झमेले में न पड़कर वेदों की उत्पत्ति से यवनों के आगमन तक के समय को "हिंदू-काल" नाम से संबोधित करेंगे; और यवनों के आगमन से अँगरेज़ों के पदार्पण तक के समय को "यवन-काल" कहेंगे, तथा वर्तमान समय को "अँगरेज़-काल" कहेंगे। इसी "काल-निर्णय" के अनुसार हम "भारतीय गोरक्षा का ऐतिहासिक विवेचन" करेंगे।

इस बात को हिंदू तो मानते ही हैं, किंतु योरप के विद्वानों तक ने स्वीकार किया है कि "वेदों से प्राचीन पुस्तक आज पृथ्वी पर दूसरी नहीं है।" हिंदू लोग वेदों को अत्यंत पूज्य दृष्टि तथा सम्मान से देखते हैं। वे इसे "स्वयंप्रमाण" नाम से संबोधित करते हैं। वेद के लिए उन्हें दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हम हिंदुओं के प्राणप्यारे वेदों से ही गोरक्षा पर विचार करना आरंभ करते हैं। वेद कहते हैं—

इहैव गाव॒ एत॑न॒ इहो॒ शके॑व पुष्यत।
इ॒हैवोत प्रजाय॑ध्वं॒ मयि॑ सं॒ज्ञान॑मस्तु वः॥

अथर्वकाण्ड ३।१४।

(गावः) हे गौओ ! (इह इव हतन) यहाँ आओ, (इह) यहाँ (शका इव पुष्यत) शक्तिमान् पुष्ट करो और (इह एव) यहाँ ही (प्रजायध्वं) वंश वृद्धि करो। (मयि) मुझमें (वः संज्ञानं) तुम्हारा प्रेम (अस्तु) हो।

शिवो॑ वो गो॒ष्ठो भ॑वतु शारिशा॒केव॑ पुष्यत।
इ॒हैवोत प्र॒जाय॑ध्वं मया॑ वः संसृजामसि॥

अथर्व ३।१४।५

(वः गोष्ठः) तुम्हारी गोशाला (शिवः) मंगलमय (भवतु) हो। (शारिशाका इव) चावल के खेत के समान (पुष्यत) पुष्ट होओ। (इह एव प्रजायध्वं) यहाँ ही संतान से बढ़ो, (मया) अपने साथ तुमको (संसृजामसि) छोड़ता हूँ।

म॒या गावो॒ गोप॑तिना सचध्व॒मयं॑ वो॑ गो॒ष्ठ इ॒ह
पो॒षयि॒ष्णुः रा॒यस्पोषे॑ण बहु॒ला भव॑न्तीर्जी॒वा जीव॑न्तीरुप॑ वः सदेम।

अथर्व ३।१४।६

(गावः) हे गौओ ! (मया गोपतिना) मुझ गो-पालक से (सचध्वं) मिलकर रहो (इह अयं) यहाँ यह (पोषयिष्णुः) पोषण करनेवाली (वः गोष्ठः) तुम्हारी गोशाला है (रायः पोषेण) धन के पोषण से (बहुला भवन्तीः) बढ़ती हुई (जीवन्तीः) जीवन देने वालों (वः) तुमको (जीवाः) हम प्राणी (उपसदेम) प्राप्त करते रहें।

या दे॒वेषु॑ त॒न्व१॒॑मैर॑यन्त॒ यासां॒ सोमो॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॒ वेद॑।
ता अ॒स्मभ्यं॒ पय॑सा॒ पिन्व॑मानाः प्र॒जाव॑तीरिन्द्र गो॒ष्ठे रि॑रीहि॥

ऋग्वेद १०।१६९।३

(ताः) जो गायें (तन्वं तन्वीयं) अपने शरीर से प्राप्त होनेवाला दूध (देवेषु) विद्वानों में अथवा इंद्रियों में (एरयन्त) भेजती हैं और (यासां विश्वा रूपाणि) जिनके सब रंग-रूप (सोमः) ओषधि रस का प्रयोग करनेवाला (वेद) जानता है, (ताः) वे गायें (पयसा) अपने दूध से (अस्मभ्यं) हमें (पिन्वमानाः) पुष्ट करती हुई और (प्रजावतीः) बच्चों से युक्त (गोष्ठे) गोशाला में रहें। (इन्द्र) हे प्रभो! उन्हें (रिरीहि) बहुत दूध देनेवाली बनाओ।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाऽकस्तासां वयं प्रजया संसदेम॥

ऋ० १०।१६९।४

(प्रजापतिः) प्रजापालक परमात्मा (मह्यं) मेरे लिए—प्रत्येक के लिए (एताः) इन गौओं को (रराणः) देनेवाला हो, तथा (विश्वैः देवैः) सब विद्वान् (पितृभिः—पातृभिः) सब पालकों के साथ (संविदानः) ऐकमत्य करनेवाला हो (नः) हम सबके (गोष्ठं) गोशालाओं के प्रति (शिवाः सतीः) कल्याणमय श्रेष्ठ गौओं को (उप आ अकः) प्राप्त करे। (तासां प्रजया) उनके वत्सों के साथ (वयं) हम (संसदेम) आनंद से विचरें।

इन उपर्युक्त मंत्रों में विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि गोपालन केवल ऐसा ही न हो कि सिर्फ़ गायें पाली जायँ और धार्मिक दृष्टि से उनका पालन-पोषण किया जाय, बल्कि वे बछड़े-बछड़ियाँ उत्पन्न करती हुई उत्तरोत्तर वृद्धि पाती रहें, अर्थात् कहीं ऐसा न हो कि गौओं की वृद्धि रुक जाय। गउएँ निरंतर बढ़ती ही रहें, इस बात का भी ध्यान गोपालक को सदैव रखना चाहिए। रोग से अथवा वधिकों द्वारा गोवंश का नाश न होने पावे। सामवेद उत्तरार्चिक अ० १४ में लिखा है—

……………………………………।
पतिं वो अघ्न्यानाम् धेनुनामिषुध्यसि॥

(अघ्न्यानाम् धेनूनाम्) न मारने योग्य गउओं के (पतिम्) पालक को (इषुध्यसि) प्रार्थित करता हूँ।

न्यस्त्रियावातो वाति न्यक् तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः॥

अथर्व० ६।९१।२

(वातः) वायु (न्यक्) नीचे की ओर (वाति) बहता है, (सूर्यः) सूर्य (न्यक्) नीचे की ओर (तपति) तपता है, (अघ्न्या) न मारने योग्य गऊ (नीचीनम्) नीचे को (दुहे) दूध देती है, (ते) तेरा (रपः) दोष (न्यक्) नीचे की ओर (भवतु) हो।

इन ऊपर के दो मंत्रों में "अघ्न्या" शब्द गऊ के लिए प्रयुक्त है। इस शब्द का अर्थ है—"न मारने योग्य"। जहाँ-जहाँ जिन-जिन मंत्रों में "अघ्न्या" शब्द आया है, वहाँ-वहाँ उसका अर्थ "गऊ" होता है। अन्य किसी भी प्राणी के लिए वेदों में यह "अघ्न्या" शब्द नहीं आता, गऊ के लिए ही आता है। यह कुछ कम महत्त्व की बात नहीं है। प्राणियों में सबसे श्रेष्ठ और उपयोगी प्राणी समझकर ही वेद में अनेक जगह इस शब्द का प्रयोग गऊ के लिए किया है। हमने यहाँ केवल दो ही मंत्र लिखे हैं।

उस समय में भी 'दस्यु'—अवैदिक लोग थे। ऐसी दशा में वे वेदों के विरुद्ध कार्य करने में अर्थात् गोवध करने में ही अपना गौरव समझते थे। उन घातकों के लिए वेद कहता है—

……यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च।

अथर्व० ८।३।१५

(यः) जो (अघ्न्यायाः) गऊ के (क्षीरम्) दूध का (भरति) हरण करता है, (अग्ने) हे राजन्! (तेषाम्) उनके (शीर्षाणि) मस्तकों को (हरसा) अपने बल से (अपिवृश्च) काट डालो।

विषं गवां यातुधाना भरन्तामावृश्चन्तामदितये दुरेवाः……

अथर्व० ८:३।१६

(यातुधानाः) दुःख देनेवाले लोग (गवाम्) गउओं के (विषम्) जल को यदि (भरन्ताम्) बिगाड़ें, तो (दुरेवाः) वे दुष्ट लोग (अदितये) अखंड नीति के लिए (आ) सर्वथा (वृश्चन्ताम्) काट दिये जायँ।

"जहि शत्रूनभिगा इन्द्र तृन्धि।"

ऋ० ६।१७।३

"आरे गोहा नृहा वधो वो अस्तु॥"

ऋ० ७।५६।१७

"गां मा हिंसी रदितिं विराजम्।"

यजु० १३—४३

"घृतं दुहानामदितिजनायाग्ने माहिंठ्सीः
परमे व्योमन् ॥" यजु० १३—४६

गऊ की रक्षा करो, गोवध को दूर करो, गोवध के कारणों का नाश करो, मांसभक्षकों का बहिष्कार करो—इत्यादि अनेक वाक्य वेदों में हैं।

आरे ते' गोघ्नमुत पूरुषघ्नं क्षयद्वीर सुम्नमस्मे ते' अस्तु।
मृला च नो अधि' च ब्रूहि दे वाधा चनः शर्म' यच्छद्विबर्हा':।
ऋ० १।१४४।१०

(क्षयद्वीर) परमात्मन्! (ते) आपकी सृष्टि में (गोघ्नम्) गोवध करनेवाले (उत) और (पुरुषघ्नम्) भले मनुष्यों को हानि पहुँचानेवाले हैं, उन्हें (आरे) आप हम लोगों से दूर देश में फेंक दीजिए। (अस्मे) हम लोगों में (ते सुम्नम् अस्तु) आपका सुखमय पदार्थ हो (चनः मृड) और हमें सदैव सुखी कीजिए, ...।

अब आगे के मंत्रों से हम गोशाला, गोपाल और उनके खाने-पीने के पदार्थों का वर्णन वेदों से सिद्ध करेंगे—

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति' मन्यते।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो' गोष्ठ इवासते ॥
अथर्व० ११।८।३२

(तस्मात्) इसलिए (पुरुषम्) इस पुरुष को (विद्वान्) ज्ञाता (इदं ब्रह्म इति) यह ब्रह्म है, ऐसा (मन्यते) मानते हैं; क्योंकि इसमें देवता इस प्रकार इकट्ठे हैं, जैसे गउएँ गोशाला में, मानों यह शरीर गोशाला है, इसमें सब इन्द्रियाँ गउएँ हैं और यह आत्मा गोपाल है। इस आलंकारिक वर्णन से गउएँ, गोशाला और गोपालक कैसे हों, यह स्पष्ट हो जाता है। और देखिए—

"व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो
वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूर्नि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्य
मा वः सुस्नोच्च मसोदंहतातम्।"
ऋ० १०।१०।८ अथर्व १६।५८।४

(व्रजं कृणुध्वं) गोस्थान तुम बनाओ (सः हि) वही (वः नृपाणः) आपका पान स्थान है......।

"संवो गोष्ठेन सुखदा सं रय्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेन गावः संसृजामसि ॥"
अथर्व० ३।१४।१

(सुखदा गोष्ठेन) जिसमें उत्तम और बैठने का स्वच्छ स्थान है, ऐसी गोशाला से (रय्या) शोभा और (सुभूत्या) उत्तम सुख के साथ में गउओं को (सं सं सृ०) मिलाकर इकट्ठी रखता हूँ। (अहः जातस्य) दिन में उत्पन्न होनेवाले प्रकाश का (यत् नाम) जो यश है, (तेन) उससे तुम्हारी गउओं को (संसृजामसि) मिलाकर रखता हूँ।

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः।
विभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥
अथर्व० ३।१४।३

(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (अविभ्युषीः) निडर होकर रहनेवाली (संजग्मानाः) मिलकर चलनेवाली (करीषिणीः) गोबर उत्पन्न करनेवाली (सोम्यं) अमृतरूप (मधु) मीठा रस=दूध (विभ्रतीः) धारण करनेवाली गउएँ (अनमीवाः) नीरोग होकर (उपेतन) हमारे पास आ जायँ।

वेदों में से यदि गो-विषयक मंत्र छाँटकर उन पर विचार किया जाय, तो एक बड़ा भारी ग्रंथ अलग ही तैयार किया जा सकता है। गउओं के विषय में, वेदों में इतना वर्णन होना ही गऊ के माहात्म्य का द्योतक है। गऊ के अलावा घोड़े, बकरे, भैंस, भेड़ आदि अन्य पशुओं के नाम तथा वर्णन वेदों में हैं; परंतु गऊ के लिए अत्यंत विस्तारपूर्वक और सम्मानपूर्वक वर्णन है। इसी से गऊ की महत्ता सिद्ध होती है। गउएँ किस तरह पाली जायँ, इसका ज़िक्र भी वेद में है। देखिए—

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः
शुद्धाः आपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः
परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥
अथर्व० ४।२१।७

(प्रजावतीः) प्रजावाली (सूयवसंरुशन्तीः) उत्तम अन्न खानेवाली (सुप्रपाणे) उत्तम जलाशय में (शुद्धाः आपः) शुद्ध जल (पिबन्तीः) पीनेवाली गउएँ हों। गोपालो! (स्तेनः) चोर (वः मा ईशत) आपको अपने वश में न करें (अघशंसः मा) पापी भी आपको अपने अधीन न करे।

मयोभूर्वातो अभिवातूस्रा ऊर्जस्वती रोषधीरारिशंताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्यवसाय पद्वते रुद्र मृल ॥
ऋ० १०।१६६।१

(मया भूः वातः) आरोग्यदायक वायु (अभिवातु) बहता रहे। (ऊर्जः वतीः) बल देनेवाली (उस्राः) गउएँ (ओषधीः आरिशन्तां) वनस्पतियाँ खाकर पुष्ट हों (पीवस्वतीः) बलवान् (जीवधन्याः) जीवों की (अपाः=गउएँ) (पिबन्तु) उत्तम पानी पियें। (रुद्र) परमात्मन्! (अवसाय) बचानेवाले (पद्वते) गऊ को (मृळ) सुख हो।

इन मंत्रों में साफ़ कहा गया है कि गउओं को प्रकाश में रक्खा जाय; उन्हें शुद्ध हवा, शुद्ध अन्न, तृण और शुद्ध जल खाने-पीने को दिया जाय। जो पात्र अथवा जलाशय पानी के लिए हों, वे भी अत्यंत शुद्ध हों। इन्हीं मंत्रों में गुप्त रूप से चोर के लिए गोचर-भूमि का भी संकेत है। वेदों द्वारा गोपालन की शिक्षा कितने उत्तम ढंग से दी गयी है। वेदों में विस्तारपूर्वक एक भी बात नहीं है; उनमें जो कुछ भी कहा गया है, सूत्र-रूप में है। गउओं की सेवा करने का फल वेदों में इस प्रकार वर्णित है—

यूयं गावो मेदयथाकृशं चिद् श्री रंचित् कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो वृहद्वो वय उच्यते सभासु॥

अथर्व ४। २१। ६

गउओ! तुम (कृशम्) दुर्बल मनुष्य को (मेदयथ) हृष्ट-पुष्ट करती हो, (अ-श्री रंचित्) शोभारहित मनुष्य को (सुप्रतीकं कृणुथ) अच्छा रूपवान् बना देती हो, (गृहं) घर को (भद्रं) मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो, (भद्रवाचः) उत्तम शब्दवाली गउओ! (सभासु) सभाओं में (वः) तुम्हारा (बृहत् वयः) बहुत वर्णन (उच्यते) किया जाता है।

गउओं के द्वारा आर्यों—हिंदुओं—को ही लाभ होता है, दूसरों को नहीं—यह बात नहीं है। इसके लिए वेद कैसे स्पष्ट वचनों में कह रहा है—

वशां देवा उपजीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवत् यावत्सूर्यो विपश्यति॥

अथर्व० १०। १०। ३४

(देवाः) देवगण (वशां) गऊ के दुग्धादि से (उपजीवन्ति) जीते हैं। मनुष्य भी गऊ के दुग्धादि से जीवन प्राप्त करते हैं, (यावत्) जहाँ तक (सूर्यः विपश्यति) सूर्य देखता है, वहाँ तक (वशा) गऊ (इदं सर्वं) इन सबको (अभवत्) लाभप्रद होती है।

सारांश यह कि गऊ के जीवन के साथ-ही-साथ मनुष्य का जीवन है और उसके नाश के साथ ही हमारा नाश है। इस प्रकार गऊ की महान् उपयोगिता तथा आवश्यकता सिद्ध होने पर ही वेद ने कहा है—

गौर्मे माता ऋषभः पिता मे दिवम् शर्म जगती मे प्रतिष्ठाः॥

ऋग्वेद

"गऊ मेरी माता और साँड मेरा पिता है। ये दोनों मुझे स्वर्ग और ऐहिक सुख प्रदान करें। गउओं में मेरी प्रतिष्ठा हो।" इससे अधिक और क्या लिखा जा सकता है। वैदिक काल में गउओं की बड़ी प्रतिष्ठा थी, यह हम वेदों से सिद्ध कर चुके। वे लोग वैदिक थे और वेदों के विरुद्ध आचरण करना गुरुतर पाप समझते थे, अतएव उस समय गउओं की संख्या मनुष्यों से भी अधिक थी। उनके चरने के लिए अन्न के खेत और विपुलता से गोचर-भूमि रक्खी जाती थी। जिसके पास जितनी अधिक गउएँ होती थीं, वह व्यक्ति उतना ही अधिक धनी, मान्य और धार्मिक समझा जाता था। जब तक वैदिक मनुष्यों का संसार में प्रभुत्व रहा, तब तक गउओं की निरंतर वृद्धि होती रही। देश में उत्तरोत्तर धन, धान्य, तेज, श्री, बल आदि सद्गुणों की वृद्धि होती रही।

गोमेध

विधर्मी तथा विदेशी लोग हिंदुओं के सिर यह बड़ा भारी कलंक लगाया करते हैं कि प्राचीन काल में आर्य लोग गोमेध-यज्ञ के लिए गोवध करते थे और प्रसाद के रूप में उसका मांस खाया करते थे... इत्यादि। इस प्रकार के आक्षेप या तो अवैदिक लोगों की ओर से किये गये हैं या फिर विदेशी लोगों ने किये हैं। उनके ऐसा करने के दो कारण हैं—(१) यह कि वैदिक धर्म तुच्छ है और अहिंसा का दम भरना पाखंड है। (२) यह कि वे स्वयं मांस-भोजी होने के कारण भारतीय आर्यों के सिर भी मांस खाने का अपराध मढ़कर अपने को निर्दोष सिद्ध करना चाहते हैं। इन्हीं कारणों से वे लोग वेदों में गोमेध, अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञों के प्रमाण बतलाते हैं। किंतु हम स्पष्टरूप से कह देना चाहते हैं कि चारों वेदों में 'गोमेध' शब्द कहीं भी नहीं है। "प्रियमेध" शब्द ऋग्वेद के दस मंत्रों में आया

है। "गृहमेध" तथा "अश्वमेध" शब्द यजुर्वेद और ऋग्वेद में पाये जाते हैं; किंतु "गोमेध" शब्द वेदों में है ही नहीं। हाँ, वेदों के सिवा दूसरे ग्रंथ पुराणादि में "गोमेध" शब्द मिलता है। इसलिए हम यहाँ पहले "गोमेध" के विषय में विचार करेंगे।

"मेध" शब्द का अर्थ "हिंसा" हो जाने से ही गोहिंसामय यज्ञ की कल्पना लोगों के मस्तिष्क में पैदा हो गयी। अतएव पहले "मेध" के अर्थों पर ही विचार करना चाहिए। "मेध" का यौगिक अर्थ है—(१) मिलना (२) आपस में मैत्री करना (३) ऐक्य करना (४) एक दूसरे को जानना (५) मिलाना (६) प्रेम करना (७) धारणा, बुद्धि का बल और तेज बढ़ाना (८) पवित्र करना (९) सत्य, बल और उत्साह बढ़ाना और (१०) यज्ञ अर्थात् सत्कार-मैत्री-उपकार करना। अब इन अर्थों को गऊ के साथ लगा देने से "गोमेध" शब्द का अर्थ सहज हो सकता है।

"मेध" शब्द में हिंसा का भाव है। "मेधृ मेधा-हिंसनयोः संगमे च।" इस प्रकार पाणिनि "मेध" का अर्थ करते हैं—(१) मेधाबुद्धि बढ़ाना (२) हिंसन करना (३) संगति अथवा मित्रता करना। जिनके साथ मित्रता करनी हो और जिनकी मेधाबुद्धि बढ़ानी हो, उन्हीं को मार डालना—यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम होती। जो वेद—

"संसंस्रवन्तु वशवः समश्वाः समुपुरुषाः।"

"गां मा हिंसीः।"

और "गौर्मे माता ऋषभः पिता"—आदि कहकर मनुष्यों को उपदेश दे रहा हो, वही यज्ञ के लिए गऊ को मारकर होम करने की आज्ञा दे, यह एक असंभव बात है। महर्षि पाणिनि के अर्थानुसार 'गोमेध' शब्द का अर्थ होता है—(१) गऊओं के साथ प्रेम करना, (२) उनकी वृद्धि करना और (३) उनके विरोधियों की हिंसा करना, अर्थात् उनका विरोध हटाना अथवा विरोधियों को दूर करना। इसी तरह का हिंसामय अर्थ समझना चाहिए। अन्यथा, अर्थ का अनर्थ होकर वेदों के उत्तम आशय का विरोध होगा।

वेदों के बाद ब्राह्मण-ग्रंथों का नंबर आता है। उनमें भी अहिंसामय यज्ञों का विधान है। देखिए—

पुरुषं ह वै देवा अग्रे पशुमालेभिरे। तस्या लब्धस्य मेधोपचक्राम। सोऽश्वं प्रविवेश। तेऽश्वमालभन्त। तस्यालब्धस्य मेधोपचक्राम। स गां प्रविवेश। ते गामालभन्त। तस्या लब्धाया मेधोपचक्राम। सोऽविं प्रविवेश। तेऽविमालभन्त। तस्या लब्धस्य मेधोपचक्राम। सोऽजं प्रविवेश। तेऽजमालभन्त। तस्या लब्धस्य मेधोपचक्राम ॥६॥ स इमां पृथिवीं प्रविवेश। तं खनन्त इवान्वीपुः। तमन्वविन्दन्। ताविमौ व्रीहियवौ ॥

शत० ब्रा० १।२।३।६

अर्थ—सबसे पहले देवों ने मनुष्य का आलंभन किया। उसका हनन होते ही उसमें से पवित्र भाग निकलकर घोड़े में प्रविष्ट हुआ। उन्होंने घोड़े का आलंभन किया। उसका हनन होते ही उसमें से पवित्र भाग निकलकर गऊ में प्रवेश कर गया। उन्होंने भेड़ का आलंभन किया। उसका हनन होते ही उसमें से पवित्र भाग निकलकर बकरे में चला गया। उन्होंने बकरे का आलंभन किया। उसका हनन होते ही उसमें से पवित्र भाग निकलकर पृथ्वी में घुस गया। उन्होंने पृथ्वी को खोदकर तलाश किया, तो वह उन्हें चावल और जौ के रूप में प्राप्त हुआ।

इस उपर्युक्त आलंकारिक वर्णन से यह बात सिद्ध होती है कि यदि यज्ञ के लिए पशुवध किया जाय, तो उसमें हवनीय पवित्र भाग नहीं रहता। सब पवित्र भाग, जो हवन करने योग्य हैं, पृथ्वी से जौ और चावल के रूप में उत्पन्न होते हैं। इस ढंग से उक्त वर्णन करके यह सिद्ध किया है कि नरमेध, अश्वमेध, गोमेध, अजमेध आदि यज्ञ हिंसामय हैं। इन्हें करने से पाप होता है। इसलिए चावल और जौ के द्वारा यज्ञ करना चाहिए। ऐतरेय ब्राह्मण में भी इसी प्रकार लिखा है। ये ब्राह्मण-ग्रंथों की ही बातें हैं, इनका वेद के मंत्रों के साथ किसी प्रकार का संबंध नहीं लगाया जा सकता। वेद के मंत्र शुद्ध हैं, और उत्तम कर्म का उपदेश स्वतंत्रतापूर्वक दे रहे हैं।

"ब्राह्मण-ग्रंथों में इस प्रकार का वर्णन ही क्यों हुआ?"—यह प्रश्न दूसरे पक्षवाले कर सकते हैं और कह सकते हैं कि यह निषेध ही पशुयागों का होना सिद्ध करता है। इत्यादि। इसका उत्तर यह है कि जिस समय ब्राह्मण-ग्रंथों की रचना हुई, उस समय

दस्युओं में अनाचार फैले हुए थे। उन्हें हटाने के लिए और तत्कालीन आर्यों के सदाचाररूपी छत्र के नीचे उन्हें लाने के लिए जो युक्तियाँ ब्राह्मण-ग्रंथ के कर्त्ताओं ने की हैं, उनका ज्ञान होने से वेद के मुख्य सिद्धांत का ज्ञान हो सकता है। दस्यु लोगों में विविध मांसभोजी लोग थे और वे अपने कल्पित देवों के नाम पर अपने भोज्य-पशुओं की बलि दिया करते थे। इस प्रकार के दस्यु-भावों को हटाकर उन्हें आर्य बनाना उस समय के वैदिक लोगों का कार्य था। अतः, ब्राह्मण-ग्रंथों के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस समय के नेता और उपदेशकों ने बड़ी ही होशियारी से यह काम किया था। यही बात ब्राह्मण-ग्रंथों में उन्होंने अनार्यों को आर्य बनाने के लिए लिखी है।

इन उक्तियों का आशय स्पष्ट होने पर भी योरप के विद्वान् इन्हें नहीं समझ सके और विना विचार किये ही मानने लगे कि किसी समय आर्यों के यज्ञों में भी हिंसा होती थी। परंतु यह उनकी समझ बिलकुल गलती है। अहिंसा प्रचार करने के लिए उस समय के विद्वानों की यह एक युक्ति थी। यह बात दूसरी है कि किसी की दृष्टि में उनकी युक्ति उचित न जँचे। किंतु इससे यह तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि आर्यों के वैदिक धर्म में पशुयाग का विधान है। ये कथाएँ कल्पित हैं, परंतु उस समय के नीच लोगों को उच्च बनाने की युक्तियाँ इनमें हैं। जो लोग गोमेध आदि यज्ञों के पक्षपाती हैं, उन्हें निम्नलिखित वेदमंत्रों से अपना भ्रम दूर कर लेना चाहिए।

"अश्वं..................मा हिंसीः ॥ ४१ ॥
"गां मा हिंसीरदितिं विराजम् ॥ ४२ ॥
"अविं...............मा हिंसीः ॥ ४३ ॥
"इमं मा हिंसीः द्विपादं पशुम् ॥ ४७ ॥
"इमं मा हिंसीरेकशफं पशुम् कनिक्रदम्वाजिनम् ॥४८॥
"घृतं दुहानमदितिं जनाय......मा हिंसीः ॥ ४९ ॥
"इमं पूर्णायुं......मा हिंसीः ॥ ५० ॥ यजु० अ० १३
"मा हिंसीः पुरुषम् ॥ ३ ॥ यजु० १६।३
"ओषधे त्रायस्व। स्वधि ते मैनं हिंसीः ॥ १ ॥
यजु० अ० ४
"मा हिंसीस्तन्वा प्रजाः ॥ यजु० १२।३२
"आरेगोहानृहा वधो वो अस्तु ॥ ऋ० ५८।१६
"मा हिंसिष्ट पितरः केनचिन्नो ॥ य० १६।६२
"आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् ॥ ऋ० १।११४।१०
"माहिंसि पुर्वहुतमुद्यमानम् ॥ अथर्व० १४।२।६

इस प्रकार के अनेक हिंसा-विरोधी वचन वेदों में जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं। इनसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों में और ब्राह्मण-ग्रंथों में कहीं पर भी गऊ आदि प्राणियों को मारकर यज्ञ करने का विधान नहीं है। जब हिंदुओं के सर्वमान्य ग्रंथ वेद में ही कहीं पर गोमेध का ज़िक्र नहीं है, तो वेदानुकूल पुराण-ग्रंथों में होना बिलकुल ही असंभव है। अब हम पौराणिक राजाओं द्वारा गउओं के प्रति किये गये व्यवहारों का ऐतिहासिक विवेचन करेंगे।

पुराण

पुराण कब बने और किसने बनाये—इस बात के झमेले में हम नहीं पड़ना चाहते, और न यह हमारा विषय ही है कि यहाँ पर इस विषय की विवेचना करें। अठारह पुराणों में से विद्वान् लोग वायुपुराण, मत्स्य-पुराण और विष्णुपुराण को ही विशेष प्रमाणभूत मानते हैं। विंसेंट स्मिथ का मत है कि वायुपुराण चौथी शताब्दी में, मत्स्य पाँचवीं में और विष्णुपुराण छठी शताब्दी में लिखा गया है। पार्जिटर महाशय ने भी पुराणों के विषय में श्रमपूर्वक विवेचना की है। उन्होंने भविष्य-पुराण की मुख्यता रक्खी है। आप पुराणों की प्राचीनता को स्मिथ से अधिक मानते हैं। ऐतिहासिक सामग्री के लिए विष्णुपुराण एक अत्यंत माननीय ग्रंथ माना गया है। इसमें सांप्रदायिक पक्षपात नहीं, बल्कि गंभीरता है। पौराणिक राजवंशों में सूर्यवंश और चंद्र-वंश मशहूर हैं। पुराणों के अतिरिक्त श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण और महाभारत में इन वंशों का विस्तार-पूर्वक वर्णन है। ये दोनों ऐतिहासिक ग्रंथ माने जाते हैं, इसलिए सबसे पहले इन्हीं ग्रंथों पर विचार किया जायगा।

प्राचीनकाल में दस्युजाति के लोग गोघातक होते थे। वे प्रत्येक बात में आर्यों के विरुद्ध कार्य करते थे। लोग इन्हें असुर, दानव, दैत्य, राक्षस, पिशाच आदि नामों से भी संबोधित करते थे। ये लोग इतने नीचा-शय और उद्दंड होते थे कि आर्य लोगों को छेड़ने के लिए

उनके मान्य ब्राह्मण और गऊ को सताया करते थे । यही बात पुराणों में बारबार लिखी है । गऊ और ब्राह्मणों की विपत्तियों को हटाने के लिए—आर्यों की रक्षा और अनार्यों के विनाश के लिए—हिंदू-शास्त्रों में चौबीस अवतारों का होना लिखा हुआ है । भगवान् रामचंद्रजी और योगिराज श्रीकृष्णचंद्र के जीवन-चरित ख़ास करके हमारे कथन की पुष्टि करते हैं। महाराज श्रीरामचन्द्रजी से १९ पीढ़ी पहले सूर्यवंश में एक राजा हो गये हैं । उनका नाम दिलीप था और वह तथा उनकी रानी, दोनों ही परम गोभक्त थे ।

देवराज इंद्र भी दैत्यों के विनाश के लिए जिस सूर्यवंशी राजा दिलीप की सहायता की इच्छा करते थे, वह एकच्छत्र महीपति नन्दिनी-नामक गऊ के चलने पर चलकर, उसके खड़े होने पर ठहरकर, उसके बैठने पर बैठकर, उसके पानी पी लेने के बाद पानी पीकर, जंगल के कन्दमूलादि खाकर गो-सेवा किया करते थे । केवल नंदिनी की कृपा प्राप्त करने की इच्छा से, आसमुद्र राज्य के स्वामी की पटरानी महारानी सुदक्षिणादेवी मुनि-पत्नियों की तरह फल-मूल खाकर और पर्णकुटी में निवास कर तपोवन की सीमा तक नंदिनी गऊ के पीछे-पीछे जाती थीं । महाराज दिलीप ने प्रजापालन की जगह गोपालन में अपना जीवन बिताया था । रानी सुदक्षिणा घर लौटी हुई गऊ की पूजा करके, उसके खुरों में लगी मिट्टी को मस्तक पर चढ़ाकर अपने को पवित्र करती थीं । इसी चक्रवर्ती राजा ने गो-रक्षा के लिए अपना शरीर तक दे देना चाहा था ।

एक दिन की घटना है कि महाराज दिलीप नंदिनी के पीछे-पीछे चल रहे थे । राजा पर्वतों के प्राकृतिक सौंदर्य का निरीक्षण करने लगे । इसी बीच गऊ एक घनी झाड़ी में चली गयी और वहाँ उसे सिंह ने दबा लिया । गऊ की आर्तवाणी कानों में पड़ने से राजा उस तरफ़ दौड़ा और सिंह को मारने की इच्छा से तरकस में से बाण खींचने लगा ; परंतु दैवयोग से राजा का हाथ तरकस पर ही रह गया । राजा ने बहुत ज़ोर मारा, किंतु हाथ वहाँ से अलग नहीं हुआ । तब सिंह ने कहा—"राजन् ! प्रयत्न मत करो, मैं इस गऊ को खाऊँगा । तुम मुझे मार नहीं सकते ।" सिंह के इस वचन को सुनकर राजा ने सिंह से कहा—

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः॥

हे सिंह ! तू मुझे खाकर अपनी क्षुधा शांत कर ले, किंतु सूर्यास्त के समय अपने बछड़े से मिलने को उत्सुक रहनेवाली इस गऊ को छोड़ दे ।

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः ;
न पारणा स्याद् विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः ॥

तू मेरे शरीर को लेकर इस गऊ को छोड़ दे । ऐसा कहकर राजा शस्त्रास्त्र त्याग मांस-पिंड के समान सिंह के सामने अधोमुख लेट गया । राजा इस प्रतीक्षा में कुछ देर पड़ा रहा कि सिंह अब खानेवाला है, किंतु सच्चे गो-रक्षक की विजय हुई ।

अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः
पपात विद्याधरहस्तमुक्ता ॥

राजा के ऊपर आकाश से विद्याधरों ने पुष्पवृष्टि की और गऊ ने कहा—"वत्स ! उठो, मैंने तेरी परीक्षा ली थी ।" क्या इससे बढ़कर गो-रक्षा का कोई अन्य उदाहरण हो सकता है ?—नहीं, कदापि नहीं।

चित्रकूट-पर्वत पर वनवासी राम के साथ जब धर्मात्मा भरतजी मिले, तब श्रीरामचंद्रजी ने पहलेपहल यही पूछा था—

कच्चित् ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः ।
वार्त्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥

भाई ! कृषक और गोपगण की तुम पर प्रीति तो है ? जन-साधारण का सुख इन्हीं पर अवलंबित है। प्राचीनकाल में सभी राजा लोग गो-रक्षक होते थे। रावण-जैसे अनार्य राजा भी गऊ का आदर करते थे।

या ब्रुवन्ति नरलोके सुरभिं नाम नामतः ।
प्रदक्षिणां तु तां कृत्वा रावणः परमाद्भुता ॥
—वा० रामायण उत्तरकांड सर्ग २३

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी के जीवन का उद्देश्य ही गो-सेवा था । इसी कारण उनका नाम "गोपाल" हुआ । वह स्थल जहाँ कृष्णजी ने गउएँ चरायीं, "व्रज" कहलाया और वहाँ के पर्वत का नाम "गोवर्द्धन" हुआ। श्रीकृष्ण का सारा जीवन गो-रक्षा में ही व्यतीत था । हरिवंशपुराण और श्रीमद्भागवत का दशम स्कंध हमारे कथन को भली भाँति पुष्ट कर रहा है ।

महाभारत का अनुशासन-पर्व गऊ से संबंध रखनेवाली अनेक कथाओं से भरा पड़ा है। लिखा है—

"एक बार महाराज नहुष च्यवन ऋषि का मूल्य कूतने लगे। उन्होंने धीरे-धीरे लाख और करोड़ों स्वर्ण-मुद्राएँ तक लगायीं, यहाँ तक कि वह अपना सारा राज्य तक उनके मूल्य में देने को तैयार हो गये। महर्षि च्यवन ने अस्वीकार किया। अंत में महर्षि का मूल्य एक गऊ निर्धारित किया, जिसे महर्षि ने भी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया। इससे अधिक गऊ का मूल्य और क्या हो सकता है।"

पुराणवर्णित ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का गो-जाति से बड़ा संबंध है। महाभारत में लिखा है कि महादेव जब अमृत-पान करके तृप्त थे, उस समय उनके मुँह से सुरभि उत्पन्न हुई। सुरभि ने मातृतुल्या कपिला की सृष्टि की। "विष्णु" जिस लोक में वास करते हैं, उसे "गोलोक" कहते हैं। "महादेव" को ब्रह्मा ने बहुत-सी गउएँ दीं, तभी से उनका नाम "पशुपति" और "वृषभध्वज" हुआ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है कि जमदग्नि ऋषि ने कार्तवीर्यार्जुन को अपने प्राण तक दे देना ठीक समझा, किंतु अपनी गऊ देने के लिए सम्मत न हुए। इसी तरह वसिष्ठ ने भी अपनी गऊ विश्वामित्र को नहीं दी। उस गऊ के बदले में विश्वामित्र समस्त पृथ्वी का राज्य और राजसंपदा वसिष्ठ को देने के लिए तैयार थे।

विराट् राजा के यहाँ लाखों गउएँ रहती थीं। उसकी गउओं को छीनने के लिए दुर्योधन आदि कौरवों ने कई बार प्रयत्न किये, किंतु बार-बार निष्फल हुए।

एक ब्राह्मण की गउएँ दस्यु चुरा ले गये थे। उसी समय रात्रि में जाकर उस ब्राह्मण ने पांडवों से प्रार्थना की। अर्जुन ने उसकी गउएँ ला देने का वचन दिया। किंतु उस दिन अर्जुन का धनुष द्रौपदी के शयनागार में था। उस दिन द्रौपदी के शयनागार में महाराज युधिष्ठिर थे। अर्जुन ने गोरक्षा के लिए कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचा और द्रौपदी के शयनागार में घुसकर अपने धनुर्बाण उठा लाये। अर्जुन उस ब्राह्मण की वे गउएँ लौटा लाये, और उसे दे दीं। इसके लिए अर्जुन को १२ वर्ष वनवास में रहकर अपनी नियम की पूर्ति करनी पड़ी। गउओं के लिए उस समय लोग महान्-से-महान् कष्ट भोगने को तैयार रहा करते थे।

पहले समय में ब्राह्मण-बालकों की शिक्षा का आरंभ गोपालन-शिक्षा से होता था। वे जब इस परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते थे, तब उन्हें दूसरी तरह की शिक्षा दी जाती थी। महाभारत के आदिपर्व में उपमन्यु की एक कथा है। उसके उपाध्याय आयोदधौम्य ने कहा—

तां चोपाध्यायः प्रेषयामास वत्सोपमन्यो गा रक्षस्वेति। स उपाध्यायवचनादरक्षद्गाः सचाऽहि गा रक्षित्वा दिवसक्षये गुरुगृहमागम्योपाध्यायस्याग्रतः स्थित्वा नमश्चक्रे॥

बेटा उपमन्यु! तुम गऊ चराने का कार्य करो। गुरु की आज्ञानुसार गऊ चराते-चराते यह बालक उपमन्यु आक का पत्ता खाकर अंधा हो गया था। फिर गुरुकृपा से उसे दृष्टि प्राप्त हुई। गोपालन की शिक्षा में उत्तीर्ण होने पर गुरु ने उसे वेद-वेदांग की शिक्षा देकर विद्वान् बना दिया।

गोत्राणकारी व्यक्ति ही गोत्रप्रवर्तक ऋषि हुए हैं। आर्यों के जितने भी गोत्र हैं, वे सभी गोरक्षक महात्माओं के नाम से हैं। इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में आर्यों का बच्चा-बच्चा गोभक्त होता था और गउओं को अपने प्राणों से भी प्रिय समझता था।

अग्निपुराण में लिखा है—

गावः सुरभयो नित्यं गावः स्वस्त्ययनं महत्।
अन्नमेव परं गावो देवानां हविरुत्तमम्॥
पावनं सर्वभूतानां क्षरन्ति च हवींषि च।
हविषा मन्त्रपूतेन तर्पयन्त्यमरान् दिवि॥
ऋषीणामग्निहोत्रेषु गावो होमप्रयोजिकाः।
सर्वेषामेव भूतानां गावः शरणमुत्तमम्॥
गावः स्वर्गस्य सोपानं गावो मांगल्यमुत्तमम्।
गावः पवित्रं परमं गावो धन्याः सनातनाः॥
नमो गोभ्यः श्रीमतीभ्यः सौरभेयीभ्य एव च।
नमो ब्रह्मसुताभ्यश्च पवित्राभ्यो नमो नमः॥

इस प्रकार गऊ की महत्ता प्रदर्शित करनेवाले सैकड़ों श्लोक अग्निपुराण में मौजूद हैं। लेखवृद्धि के भय से हमने यहाँ कुछ ही श्लोक लिखे हैं।

मत्स्यपुराण में लिखा है—

मथ्यमाने पुनस्तस्मिन् जलधौ समदृश्यत।
धन्वन्तरिः स भगवानायुर्वेदप्रजापतिः॥

× × ×

ततो भूतं च सुरभिः सर्वभूतभयापहा॥

सामवेदीय छांदोग्योपनिषद् में लिखा है—

"गौतम ने जब अपने शिष्य सत्यकाम को दीक्षा दी, तब वह बड़ा ही दुर्बल और कृश दिखायी दिया । यह देखकर गौतम ने अपनी हज़ारों गउओं में से चुनकर ४०० गउएँ उसे दीं और उनकी रक्षा का भार उसी पर छोड़ दिया । सत्यकाम उन गउओं को चराने के लिए यह प्रतिज्ञा करके निकले कि जब ४०० गउएँ ४००० हो जायँगी, तब मैं गुरु के पास वापस लौटूँगा । इस इतिहास से भारत की प्राचीन गोचर-भूमि की विपुलता और श्रेष्ठता का पता लगता है ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में लिखा है—

गवामधिष्ठातृदेवी गवामाद्या गवां प्रभुः ।
गवां प्रधाना सुरभिर्गोलोकेसा समुद्भवा ॥

गो-चिकित्सा का कार्य पहले तो राजकुमारों को भी सीखना पड़ता था; क्योंकि गोजाति 'परम धन' समझी जाती थी और आर्यजाति की जीवनमूल थी । महाराज ऋतुपर्ण और राजा नल अच्छे गो-चिकित्सक थे । पंच-पांडवों में सबसे छोटे भाई सहदेव पशुचिकित्सा में कितने प्रवीण थे, यह उनके विराट्-सभा में कहे हुए निम्नलिखित वचन से ही मालूम किया जा सकता है ।

ऋषभानभिजानामि राजन् पूजितलक्षणान् ।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि बन्ध्या प्रसूयते ॥

मनुस्मृति में कहा है—

गोदो ब्रध्नस्य विष्टम् ॥—अ० ४ श्लो० २३१

अर्थात्—गोदान करनेवाला सूर्यलोक को पाता है ।

गोब्राह्मणस्य चैवार्थे यस्य चेच्छति पार्थिवः ॥
अ० ५ श्लो० ६५

जो गऊ और ब्राह्मण के लिए मरे हों, उनकी शुद्धि शीघ्र हो जाती है । एक मुट्ठी-भर घास परायी गऊ को देने में कितना पुण्य माना जाता है, देखिए—

घासमुष्टिं परगवे सान्नं दद्यात्तु यः सदा ।
अकृत्वा स्वयमाहारं स्वर्गलोके स गच्छति ॥

भविष्यपुराण में लिखा है कि गऊ के अंग-प्रत्यंग में देवताओं का निवास है—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुर्मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः ।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः ॥
नागः पुच्छे खुराग्रेषु ये चाष्टौ कुलपर्वताः ।
मूत्रे गंगादयो नद्यो नेत्रयोः शशिभास्करौ ॥
एते यस्यास्तनौ देवाः सा धेनुर्वरदाऽस्तु मे ॥

निम्न-लिखित वचन लिखकर तो शास्त्रकारों ने हद कर दी है—

"यावद्गोब्राह्मणाः सन्ति तावत् पृथ्वी च सुस्थिता।"

गोपालन के लिए शास्त्रकारों ने लिखा है—

'ब्राह्मणाश्च स्त्रियो गाश्च पुष्पेणापि न ताडयेत्।"
"धावन्तीं गां परक्षेत्रे न चाचक्षीत कस्यचित्।"
"ताडनं क्रियतां वाक्यमाघातं तालपत्रतः ।
पदाघातं मध्यरोधं वर्जयेद्गोषु मानवः ॥
गोगृहे सधूमं च क्षौरं चामिषभोजनम् ।
पीठासनं पाणिदाहं व्यायामं मैथुनं तथा ॥
मिथ्यावाक्यं प्राणिहिंसा भ्रष्टद्रव्यस्य भोजनम् ।
परान्नभोजनं चैव द्वादशैव विवर्जयेत् ॥
गवापराधदण्डं च गृहस्थानं न कारयेत् ।
एतान् द्विजेन्द्र गोधर्मान् गृही कुर्यात् सुखं लभेत् ॥"

अर्थ—गऊ को फूल फेंककर भी नहीं मारना चाहिए। पराये खेत में चरती हुई गऊ को न बतावे। उसे मीठे शब्दों से ताड़ना करनी चाहिए और पत्ते-सहित गीली वृक्षशाखा (पलाश, तालवृक्ष आदि की शाखा) से दंड देना चाहिए। गऊ को पैर से नहीं मारना चाहिए, चरती हुई को नहीं भगाना चाहिए। गोशाला में धुआँ करना, हजामत कराना, मांस-भोजन, उच्चासन पर बैठना, हाथ तपाना, कसरत, मैथुन, मिथ्या भाषण, हिंसा, भ्रष्ट द्रव्य का खाना और पराया अन्न खाना—ये बारह बातें वर्जित हैं । गऊ के अपराध पर उसे दंड नहीं देना चाहिए । जो इन नियमों का पालन करता है, वही गृहस्थ सुखी होता है । गऊ को मोटी रस्सी से रात के समय कदापि नहीं बाँधना चाहिए, और यदि बाँधे तो गोरक्षक को कुठार लेकर रात-भर गोशाला में खड़े रहना चाहिए ।

इस प्रकार पुराणादि हिंदू-शास्त्रों के हज़ारों पृष्ठ गो-विषयक वर्णन से भरे पड़े हैं । उन सबको यहाँ लिखना व्यर्थ समझकर आवश्यकीय अंशों को उद्धृत करके, हिंदूकाल में गोजाति के इतिहास का वर्णन किया है ।

उस समय देश में गो-संख्या कितनी थी, इसका बतलाना असंभव है । उस समय के राजा लोग गो-गणना करते थे, किंतु आँकड़ों का उल्लेख किसी भी इतिहास-ग्रंथ में नहीं पाया जाता । इस विषय में

ही कह देना पर्याप्त होगा कि सारा भूमंडल गउओं से भरा था। नंद आदि गोप लाखों गउओं के स्वामी थे। गोवर्द्धन, वृंदावन, महावन, काम्यवन, अप्सरोवन, सुरभिवन, स्वर्गवन, मांडीरवन, तपोवन, कोकिल-वन, तालवन, कुसुमवन, खदिरवन, लोहवन, कदंब-वन आदि अनेक वन और उपवन गोचारण-भूमि के लिए नियुक्त थे। इन वनों में गोप-जाति के लोग अपनी-अपनी असंख्य गउओं-सहित सुखपूर्वक रहते थे। उत्तर-गोगृह और दक्षिण-गोगृह का भी इतिहासों में वर्णन है। गुजरात-प्रांत में भी 'कच्छ' एक गोचारण-क्षेत्र था। इस प्रकार उस हिंदू-काल में गो-जाति उत्तरोत्तर वृद्धि पाती हुई सुखी थी और उसके कारण हमारा देश भी सुख और ऐश्वर्य का भंडार बना हुआ था। उसी समय के ये शब्द हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतिकानि
धन्यास्ति ते भारतभूमिभागे।

तत्कालीन विदेश

अब यहाँ इस विषय पर विचार करने की भी आवश्यकता है कि उस समय विदेशों में गउओं के प्रति लोगों का कैसा व्यवहार था।

पृथ्वी के आदि-इतिहास में गो-जाति गृहपालित पशु के रूप में दिखायी देती है। हिंदू-जाति के ग्रंथों की तरह ही हिब्रूगण के आदि-इतिहास में भी गो-जाति का अच्छी तरह उ लेख पाया जाता है। ईसू खीष्ट के तीन हज़ार वर्ष पूर्व इजिप्ट के पिरामिड में गो-जाति का चित्र मिलता है। स्विट्ज़रलैंड के भूगर्भ में गृहपालित गऊ (Lahe dwelling) की हड्डी प्राप्त हुई है। पहले समय गउओं की संख्या से ही मनुष्य के धन का अनुमान किया जाता था। ग्रीस में जब पहलेपहल मुद्रा का प्रचलन हुआ था, तब धन के ज्ञानरूप सिक्कों पर बैल की मूर्ति अंकित थी। लैटिन-भाषा के पेकस (Pecus) शब्द का अर्थ कैट्ल (Cattie) है। पेकस शब्द के द्वारा 'पिकिउनिया' शब्द की उत्पत्ति हुई है और इसी से अँगरेज़ी भाषा का पिक्यूनियरी (Pecuniary) शब्द बना है। लैटिन-भाषा में 'कैटल' शब्द 'केपिटल' (Capital) धनसूचक शब्द से उत्पन्न हुआ है। एक गऊ से थोड़े ही दिनों में जिस प्रकार गोवंश बढ़ता है, उसे देखकर यही निश्चय किया जा सका कि गऊ के समान कोई दूसरा धन नहीं है।

प्राचीन समय के मिस्रदेशवासी गो-पूजा करते थे। भूतल पर जहाँ-जहाँ केल्टिक (Celtic) जाति के लोग रहते थे, वहाँ सर्वत्र गो-जाति का सम्मान होता था। मि० मेकूडानल लिखते हैं—

"Profane History, too, confirms the account of the early domastication of this animal. It was worshipped by the Egyptians and venerated among the Indians. Moreover the traditions of every Celtic nation enrol the cow among the earliest productions and represent it as a kind of divinity."

—Cattle, sheep and deer. p. 3.

ईसाई-संप्रदाय के धर्म-ग्रंथों में 'भीगो'-जाति का उल्लेख पाया जाता है। आदम जब से स्वर्ग से निकाला गया था, तभी से मेष मनुष्य के नौकर का काम किया करते थे। पुरातत्त्वविद् मि० इवाट् ने यह अच्छी तरह साबित कर दिया है कि "बाइबल" में बैलों का उल्लेख है और वे सृष्टि के आरंभ से ही मनुष्यों के काम में आते हैं। लेमेचर-पुत्र जुवाल ने शायद आदम के जीवन में ही जन्म ग्रहण किया था। उस वक्त फेरो-योन ने उन्हें भेंड़ और गऊ उपहार में दी थीं।

नार्वे-देश में गउएँ अत्यंत आदर की दृष्टि से देखी जाती थीं। ग्रीस-देशवासियों के देवता प्लुटोर की बहन हीरादेवी प्राचीन काल में गऊ का रूप धारण करती थीं। इसी कारण ग्रीस के प्राचीन वासी गो-पूजा करते थे। रोमन-संप्रदायवालों में भी यदि कोई व्यर्थ गोवध करता, तो उसे आमरण निर्वासन-दंड दिया जाता था। यहूदियों में भी गऊ का मुख मरोड़ देना पाप समझा जाता था। मिस्र-देश में भी बलिदान के सिवा कोई भी गो-रक्तपात नहीं करता था। प्राचीन रोमन और ग्रीक ग्रंथों में गाय ने उच्च अधिकार पाया था।

"The important part is played in Greek and Roman mythology........The Egyptians

could only shed the blood of the ox in sacrificing to their gods. Both Hindoos and Jews were forbidden to muzzel it when treading out the corn. To destroy it only was a crime among the Romans punishable with exile.

Encyclopaedia Britannica.

11th. Edition Vol. V p. p. 339

मालूम होता है, अरारट-पर्वत के पास ही समथल-भूमि में प्रलय के समय से ही साँड़ों का आवास था। नोवा के आर्क (नौका) पर चढ़कर नोवा-संतान जहाँ-जहाँ पहुँची, वहाँ-वहाँ गो-जाति भी उनके साथ ही साथ गयी। अभी तक देखा गया है कि जहाँ मनुष्य हैं, वहाँ गउएँ भी हैं।

"Reckoning for the time of flood, the native country of the ox was the plain of Ararat. Having issued from the ark, he was found whereever the sons of Noah imigrated; and to the present day he is found in domesticated or wild state whereever man has trodden."

योरपीय साहित्य में दूध और शहद (Milk and Honey) को शारीरिक सौंदर्य का मूल समझा है। गोपाल जीवन ही आदर्श जीवन है। इस प्रकार इस समस्त भूतल पर प्राचीन काल में जहाँ-जहाँ आर्य-जाति की कीर्त्ति-पताका फहराती थी, वहाँ-वहाँ गो-रक्षा की दुंदुभी भी निनादित हो रही थी। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सृष्टि के आरंभ से ही जीवन-मरण और सुख-दुःख में गोजाति का मनुष्य-जीवन से घनिष्ट संबंध चला आ रहा है। इस वर्तमान युग में भी यदि गोजाति न हो, तो मनुष्यजाति का और विशेषतः आर्यजाति का काम एक दिन भी न चले; क्योंकि दूध, दही, मक्खन, घृत आदि अमृततुल्य एवं जीवनप्रद वस्तुओं को उत्पन्न करनेवाली गऊ ही है—यद्यपि भैंस आदि दुधारू पशुओं से भी उसकी पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है।

मनुष्य के प्रति—

[श्रीउदयशंकर भट्ट शास्त्री, काव्यतीर्थ]

काल-तटिनी-तट-स्थित हे वृक्ष, क्षिति-उद्‌गार,
सुदृढ़-मूल, सुपीन-वल्कल, रुचिर-दल-परिवार;
व्योम केश, विशाल शाखा युत प्रचुर बलधाम,
स्वच्छ कर-पल्लव दलों से थिरकते अविराम।
हो असंशय भाग्यलीला के ललित उल्लास,
सुत सुखों के, सफलता के एकमात्र विलास;
सतत करते अंशुमाली से अथक अनुराग,
भामिनी-सी यामिनी के मधुर मद से जाग।

मंद उन्मादी सुगंधित मरुत बहता जान,
यशोधवलित चन्द्र-चुंबन हेतु होता ध्यान।
है न पादप, उचित यह जो विहंगम से प्यार,
किंतु छायाश्रित निजों के सत्व का संहार।
वे सुकोमल शस्य-पौधे हैं तुम्हारे अंग।
पोष्य साधन के विना जो हुए हैं बदरंग;
प्रलयमय जलधार की वे देखते हैं राह,
मिली है तव नाश में इन अन्त्यजों की चाह।

वर्तमान कारूँ का ख़ज़ाना—अमेरिका

[श्री० मंगलदेव शर्मा जर्नलिस्ट]

अंतर-राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन में रुचि रखनेवाले सज्जनों को यह विदित होगा कि वर्तमान समय में अमेरिका और इँगलैंड के बीच भीतर-ही-भीतर बड़ी तनातनी चल रही है। इस ब्रिटिश-अमेरिकन-विद्वेष का एक कारण अमेरिका की वृद्धिंगत संपन्नशीलता है। इसमें संदेह नहीं कि अमेरिका आजकल संसार का सर्वोपरि धन-संपन्न देश है, और प्रतिवर्ष उसका कोष बढ़ता ही जा रहा है। समस्त संसार आश्चर्य के साथ उसकी इस बढ़ोतरी को देख रहा है—दुनिया में उसके ऐश्वर्य की बहुत चर्चा है। प्राच्य और भारतीय संबोधनों में कहें, तो आज के अमेरिका को 'कारूँ का ख़ज़ाना' अथवा 'कुवेर का कोष' कह सकते हैं।

अमेरिका इस दर्जे को, इतनी शीघ्रता से, कैसे पहुँचा, इस संबंध में कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि गत महायुद्ध के परिणामस्वरूप यदि किसी ने लाभ उठाया है तो अमेरिका ने, और यही उसकी वर्तमान बढ़ोतरी का कारण है। लेकिन यह कथन सर्वथा सत्य नहीं है, अलबत्ता कुछ तथ्य इसमें अवश्य है। अमेरिका के धन-कुवेर बनने के कारण कुछ और ही हैं। अमेरिका इँगलैंड की भाँति परायी विभूति पर अपने वाणिज्य-व्यापार को चलानेवाला राष्ट्र नहीं है। स्वयं उसके धन उत्पादन के महान् साधन मौजूद हैं, जैसे कृषि, कारख़ाने, उद्योग-धंधे आदि, और इन साधनों से भरपूर लाभ उठाने में, वैज्ञानिक और बौद्धिक प्रयोगों की चतुरता में, अमेरिकनों ने यहाँ तक कमाल कर दिखाया है कि सदियों का काम उन्होंने वर्षों में ख़त्म कर डाला है। यही कारण है कि अमेरिका आज संसार का सबसे बड़ा जगत्-सेठ और विश्व-व्यापार का महाजन है। लगभग समस्त संसार आज उसका ऋणी है, और दुनिया-भर में उसकी साख है। बड़ी-बड़ी गवर्नमेंटों का दिवाला पिटवा देना, अगर वह चाहे तो, उसके बाँये हाथ का खेल हो रहा है। संसार के इतिहास में ऐसी आर्थिक क्षमता वास्तव में किसी राष्ट्र ने आज तक संपादित नहीं की।

राष्ट्रीय ऋण और व्यापारिक मूलधन के रूप में अमेरिका का प्रचुर धन विदेशों में लगा हुआ है। १९२८ ई० के आँकड़े हमारे सामने हैं। इनसे विदित होता है कि केवल इस वर्ष के अंदर अमेरिका ने एक अरब, बीस करोड़ डालर धन विदेशों के अंदर कई मदों में लगाया। यह धन-राशि फ़्रांस की बचत और संसार-भर के छोटे-छोटे राष्ट्रों की सम्मिलित बचत से भी बहुत अधिक है। १९२८ ई० के अंत में अमेरिका की, विदेशों में लगी हुई, पूँजी साढ़े बारह अरब से साढ़े चौदह अरब डालर के दर्मियान पहुँच गयी थी। अमेरिका के मुक़ाबिले में योरप की अवस्था बहुत बुरी है। व्यापारिक पतन (Trade depression) की गाज उसके सिर पर घहरा रही है। यद्यपि व्यापारिक सन्नाटा आज समस्त संसार में व्याप्त है, तो भी अमेरिका अभी उससे अछूता है। फिर इसमें आश्चर्य ही क्या, जो वह आज योरप और दुनिया के दूसरे देशों की कमाई को आत्मसात् करता चला जाता है। दूसरे देशों और अमेरिका के विदेशों में लगे हुए मूलधन में इसी कारण महान् अंतर है। सन् १९२८ में अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्रों में विदेशी पूँजीपतियों का कुल तीन अरब डालर मूलधन लगा हुआ था। इन लोगों को इस वर्ष जहाँ २५ करोड़ २० लाख डालर ब्याज और मुनाफ़े में मिले, वहाँ अमेरिका को इस वर्ष के भीतर, विदेशों में ऋण और व्यापार में लगे हुए रुपये पर, ब्याज और मुनाफ़े खाते, ८१ करोड़ ७० लाख डालर। अमेरिका के बढ़ते हुए मुनाफ़े का योरपवाले किसी भाँति मुक़ाबिला नहीं कर सकते, बल्कि इन मुनाफ़ों में कुछ हिस्सा लगाने के विचार से इन देशों ने अमेरिकन हुंडियाँ ख़रीदनी शुरू की हैं। साथ ही वे अमेरिका में अपना रुपया दीर्घकालीन मदों (Long term investments) में लगाते जा रहे हैं।

अपनी उच्च स्थिति को स्थिर रखने के हेतु अमेरिका के लिए यह लाज़िम हो गया है कि वह अपने बैंकों को दृढ़ करे। इसके लिए पिछले पाँच-छः साल से अमेरिका अपने बैंकों के निर्माण-कार्य में लगा है। अमेरिका में छोटे-छोटे सैकड़ों बैंक हैं। नये निर्माण-कार्य के अनुसार यह छोटे-छोटे बैंक किसी एक बड़े बैंक में मिलाये जा रहे हैं, और उस एक बैंक के मूल-धन की वृद्धि की जा रही है। ऐसा करने से अमेरिका के बैंक भी संसार में सबसे बड़े बैंक हो जायँगे। दूसरा कारण इस एकीकरण का यह भी है कि मौजूदा क़ायदे के मुताबिक़, अमेरिकन बैंक अपने मूलधन के दसवें भाग से अधिक किसी व्यक्ति या संस्था को ऋण नहीं दे सकते; और आजकल अमेरिका में व्यापारिक संस्थाएँ इतनी बढ़ रही हैं कि उन सबकी पूर्ति भरेपूरे बैंक ही कर सकते हैं। वहाँ की बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाएँ अपने हिसाब कई-कई बैंकों में रखती हैं, लेकिन वक़्त-ज़रूरत उन्हें किसी एक बैंक का मुँह ताकना पड़ता है। व्यापारिक संस्थाओं के इस वृद्धि-काल में भी अनेक बड़ी संस्थाएँ अब भी ऐसी हैं, जिनकी पूर्ति एक बैंक नहीं कर सकता। इस अवस्था के उत्पन्न हो जाने से जहाँ छोटे-छोटे बैंकों को एक बड़े बैंक में मिलाया जा रहा है, वहाँ उस बड़े बैंक के शेयरों को बेचकर उसके मूलधन में भी वृद्धि की जा रही है। अमेरिका में आजकल, इसी कारण, एक योजना इँगलैंड के पाँच बड़े बैंकों के महत्त्व को गिराने और महाजनी-संसार में अपनी धाक बिठाने के लिए काम में लायी जा रही है। इस योजना के अनुसार १९२८ के जून-मास की ३० ता० तक अमेरिका में बैंकिंग-बिज़िनेस करनेवाली ८५० संस्थाओं को बड़े बैंकों में मिला देने के लिए समाप्त किया जा चुका है, और इसका सुपरिणाम यह हुआ है कि बैंकों की पूँजी में साढ़े तीन अरब डालर की वृद्धि हुई है। पुनः इसका परिणाम यह भी हुआ है कि अब कुछ बड़े-बड़े बैंक दिखायी देने लगे हैं। एकीकरण की योजना से पूर्व न्यूयार्क-नेशनल-सिटी-बैंक में रोकड़ जमा ९१ करोड़ ३० लाख डालर, बग़ैर बँटे हुए मुनाफ़े की रक़म ५ क० ५२ ला० ७९ ह० ... डालर और मूलधन ४ करोड़ डालर था। इस योजना के अनुसार इस बैंक में अन्य बैंकों के आत्मसात् किये जाते ही उपर्युक्त रक़मों में डेढ़ अरब साढ़े बारह करोड़ डालरों की वृद्धि हो गयी। यही हाल चेज़-नेशनल-पार्क का हुआ है, जो अमेरिका का नामी बैंक है।

आजकल संसार में इँगलैंड के पाँच बड़े बैंक खूब बढ़े-चढ़े माने जाते हैं। इनके मुक़ाबिले में अमेरिका के केवल तीन बैंक हैं, जो अब इन पाँच का मुक़ाबिला करने की फ़िराक़ में हैं। अंतर-राष्ट्रीय व्यापार-क्षेत्रों में यह बात ज़ोरों के साथ कही जा रही है कि अमेरिकन बैंक इँगलैंड के बैंकों को जल्द मात दे देंगे। संसार के सबसे बड़े उपर्युक्त आठ बैंक ये हैं—

बैंक का नाम	हेड-आफ़िस	रोकड़ जमा (डालरों में)
मिडलैंड बैंक लिमिटेड	लंदन	१,९२,०२,७८,२०६
लायड्स बैंक लिमिटेड	लंदन	१,७१,३७,२५,४१९
बार्क्लेज़ बैंक लिमिटेड	लंदन	१,६३,०६,७२,७६६
वेस्टमिंस्टर बैंक लिमिटेड	लंदन	१,४३,११,७२,३३६
नेशनल प्राविंशल बैंक लिमिटेड	लंदन	१,४१,२७,९४,८४६
नेशनल सिटी बैंक	न्यूयार्क	१,५१,९४,००,०००
चेज़ नेशनल पार्क	न्यूयार्क	१,२०,००,००,०००
गारंटी-ट्रस्ट-कंपनी	न्यूयार्क	१,२०,००,००,०००

[यह आँकड़े सन् १९२८ ई० की एक अमेरिकन रिपोर्ट से लिये गये हैं।]

न सिर्फ़ अमेरिका में ही महाजनी संस्थाओं का यह एकीकरण किया जा रहा है, बल्कि इँगलैंड में भी ऐसा हो चुका है। इँगलैंड के पाँच बड़े बैंक ८०० महाजनी संस्थाओं को आत्मसात् कर जाने के उपरांत इस महत्त्व को पहुँचे हैं। इन पाँच बैंकों की ताक़त ऐसी अवस्था है कि ग्रेट-ब्रिटेन का समस्त बाज़ार इनकी मुट्ठी में है।

यद्यपि अमेरिका ने इस एकीकरण के काम को कुछ वर्षों से ही आरम्भ किया है, तो भी वहाँ पहले ही से इँगलैंड का मुक़ाबला करनेवाले बैंक मौजूद हैं। अंतर-जातीय कई प्रमुख महाजनों का ख़याल है कि इस एकीकरण की योजना से अमेरिका के बैङ्क दुनिया-भर में बहुत जल्द अव्वल नंबर पा जायँगे। लेकिन यह बात भी ध्यान में रखने की है कि अभी कुछ दिन तक इँगलैंड की भी इस क्षेत्र में गणना रहेगी, और फ़्रांस को भी अंतर-राष्ट्रीय महाजन की हैसियत से नहीं भुलाया जा सकता; क्योंकि उसके राजस्व में उसे अच्छी बचत रहती है और वहाँ के लोग भी मितव्ययी होने के कारण कुछ बचा रखने-वाले होते हैं। इस समय फ़्रांस में सोना भी दुनिया-भर के सब देशों से अधिक है।

लेकिन तो भी अमेरिका का राष्ट्रीय धन जिस तीव्रता से वृद्धिङ्गत हो रहा है, उसके व्यापार की जो उन्नति हो रही है, उसके कुछ आँकड़े यहाँ दिये जाते हैं। इनसे अमेरिका के बढ़ते हुए निर्यात, घटते हुए आयात, विदेशों से प्राप्त होनेवाली सूद की रक़म आदि मदों का पता चलेगा। नीचे लिखी तालिका अमेरिका की आय के संबंध में है—

अमेरिका के अंतर-राष्ट्रीय व्यवहार की तालिका

आय मद	रक़म (डालरों में)
माल बाहर भेजा............	५,१२,६०,००,०००
व्यापारियों से रेलभाड़ा मिला ...	१४,३०,००,०००
संयुक्त-राष्ट्र में आये हुए यात्रियों द्वारा आय.........	१६,८०,००,०००
विदेशों में लगे हुए मूलधन का ब्याज मिला......	८१,७०,००,०००
विदेशों को दिये हुए कर्ज़ की किस्त जो कोष में आयी......	१६,००,००,०००
बीमा-कंपनियों से...............	७,००,००,०००
सोने के व्यापार द्वारा............	८,००,००,०००

अब अमेरिका के व्यय की मद को भी देखिए—

ख़र्च की मद	रक़म (डालरों में)
माल बाहर से आया.........	४,०६,१०,००,०००
रेल-भाड़ा दिया...............	२२,७०,००,०००
अमेरिकनों द्वारा विदेश-यात्रा में व्यय हुआ.........	७८,२०,००,०००
संयुक्त-राष्ट्र में लगे हुए विदेशी मूल-धन का ब्याज........	२५,२०,००,०००
प्रवासियों द्वारा अपने घरों को भेजी गयी रक़म...........	२१,७०,००,०००
मिशनरियों के और दान-खाते नाम...	५,२०,००,०००
बीमाखाते नाम....................	७,००,००,०००

इन आँकड़ों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि १६२८ ई० में अमेरिका को एक खरब डालर से अधिक की बचत हुई थी। यदि अमेरिका ख़र्च की मद में अपने यात्रियों द्वारा किये जानेवाले व्यय, विदेशों के व्यापार में लगे हुए रुपये, विदेशों के क़र्ज़ और दान-खाते को बंद अथवा कम कर दे, तो उसकी परिस्थिति ऐसी अपूर्व हो जायगी कि समस्त संसार उसका आर्थिक दास हो जायगा, और दुनिया-भर का सोना खिंचकर उसके घर में जा पहुँचेगा। अपनी वर्तमान स्थिति को ही बरक़रार रखता हुआ अमेरिका यदि "संसार-भर में बेचना तो, लेकिन ख़रीदना नहीं, और हर देश से व्यवहार करना तथा सबको क़र्ज़ देना"—अपनी इसी नीति पर क़ायम रहे, तो भी वह अपने ऋणी देशों को इस लायक़ न होने देगा कि वे कभी उसका रुपया पटा पावें; क्योंकि वह उन देशों को अपना माल खपा सकने के योग्य ही नहीं रहने देगा। अमेरिका के वृद्धिंगत आर्थिक प्रभाव का परिणाम ऐसा ही और बहुत व्यापक होनेवाला है। इसी समय वह संसार की सम्पत्ति को सोखता और योरप को खोखला बनाता चला जा रहा है। योरप के अनेक अर्थशास्त्री, अपने यहाँ के सूखते हुए अर्थ-स्रोत को देखकर दुःखी हो उठे हैं। हालत यहाँ तक पहुँच गयी है कि योरप के अनेक छोटे-छोटे राष्ट्र अपने भावी राजस्व को रहन रखकर रुपया लाते और तब अपना काम चला पाते हैं। स्पष्ट ही यह दिवाला पिटने और नष्ट होने के लक्षण हैं। इनका समस्त धन अमेरिका को खिंचता चला जा रहा है, और वह महान् आर्थिक-साम्राज्य बन रहा है। योरप की आँखों में अमेरिका इसीलिए काँटे की भाँति खटकता है।

अमेरिका का वैभव दिन-दिन बढ़ रहा है। १६२६ ई० की एक रिपोर्ट से पता चलता है कि इस वर्ष के अंत में अमेरिका की राष्ट्रीय धन-राशि ७२,३६,००,००,०००

पौंड थी, और राष्ट्रीय आय जो इस वर्ष हुई, १६,८०,००,००,००० पौंड । जन-संख्या के अनुपात से राष्ट्रीय धन ५७५ पौंड प्रति व्यक्ति था और आमदनी प्रति व्यक्ति १३८ पौंड। यही कारण है कि योरप आज तिलमिला उठा है, और इँगलैंड आज उससे दोस्ती गाँठने को उत्सुक है। यही कारण है कि आज योरप के अन्य राष्ट्र भी अमेरिका के सहयोग के लिए उसका मुँह ताक रहे हैं। वे उसका अनुकरण करते हुए उससे मित्रतापूर्ण साहाय्य की याचना कर रहे हैं और इसीलिए वे अपना भी एक आर्थिक गुट्ट बना रहे हैं। भावी महायुद्ध का कारण भी यही अमेरिका का बढ़ा हुआ वर्चस्व होगा।

भामाशाह

[श्री० केसरीनारायण सारस्वत]

शूर सरदारों और सैनिकों का नाम नहीं,
दाम नहीं पास, न विराम हेतु धाम था;
एक दाना अन्न था न पेट पालने के लिए,
कंद मूल फल—कभी वह भी हराम था।
वन-वन घूमना व पाना नहीं चैन कहीं,
वीर पर सब विधि विधि हुआ बाम था;
सहना सदैव दुःख करना स्वदेश-हित,
वीर नरकेसरी प्रताप ही का काम था।
ठानकर ठान हम करेंगे स्वतंत्र देश,
रच रणरंग घोर दिल्ली-महिपाल से;
चढ़े बलि-वेदिका पै वीर कितने ही, पर
मेट पाये अंक न पराजय के भाल से।
अंत हो हताश सब भाँति बल विक्रम से,
स्वाभिमानहीन मानसिंह की कुचाल से;
वीर नरपुंगव पुजारी निज मातृभू का,
होता था पलायमान गिरि-शृंगमाल से।
दौड़ा चला आता है उतावला-सा भामाशाह,
शीश है नवाता आ प्रताप के चरन में;
कर जोड़कर कहता है नर-केसरी से—
छोड़ते हमें हैं आप किसकी शरण में।
होकर विमूक महाराणा हैं निहारते, औ
कहते हैं कातर हो नीरव-रुदन में;
जन-धन-धाम का न नाम अवशेष आज,
माँग लो सहर्ष बचा शोणित जो तन में।
व्यथित विलोक अति सिहर उठा शरीर,
फिर कुछ जोश आया खून खौल-सा गया,
मरु-भूमिवासी उन रूखी सूखी हड्डियों में,
जीवितों के जीवन का जीवन समा गया।
गरज गंभीर गिरा भामाशाह बोला, जिसे
सुनके आतंक घोर चारों ओर छा गया।
शीत-ऋतु रजनी-सी निपट निराशा में भी,
चारु चित्र आशा की उषा का दिखला गया।
"बहता न रक्त राजपूतों का नसों में, तो भी
शत्रु के समक्ष नहीं शीश मैं झुकाऊँगा;
"ऋण जन्मदायिनी मेवाड़भूमि का मैं आज,
'केसरी' समोद सूद सहित चुकाऊँगा।
"मुगल महान अब होके सावधान लखें,
उन्हें मैं प्रताप का प्रताप दिखलाऊँगा;
"देश ने दिया है, यह सारा धन देश का है,
देशहित-साधन में इसको लगाऊँगा।
सुन सिंहनाद अति चकित हुए प्रताप,
दान की महत्ता देख भूली सुध तन की,
नररत्न ऐसे पड़े अंक में मेवाड़ के हैं,
देख यह गति हुई और कुछ मन की।
उर में उमंग जगी ऊँचा हुआ भाल फिर,
सहसा बदल गयी आकृति वदन की;
और हो विनम्र बोले—मंत्रिवर माफ़ करो,
ग्रहण करूँगा नहीं संपति मैं अब भी।

सुनते ही राणा की सुप्रेम-नेम-सनी वाणी,
उन बूढ़े नयनों से नीर झरने लगा ;
कर सकते हैं आत्म-त्याग आप देशहेतु,
मेरा तुच्छ त्याग क्यों है चोभ भरने लगा ।
आज शुभकाल में बनाता उत्तराधिकारी—
कहकर भाल पै तिलक करने लगा ;
भूल गये जाना औ निभाना रीति-नीति राणा,
फिर रणराग आ विराग हरने लगा ।

बोले—धन्य भामाशाह, धन्य बलिदान तेरा,
धन्य यह भूमि जिसने कि तुझे जाया है ;
तूने रजपूती का जहाज डूबते विलोक,
बरबस हमें शुभ्र कूल दिखलाया है ।
दिखता मेवाड़ के भविष्य का प्रभात शीघ्र,
तूने कर दया मुझे कारण बनाया है ;
देखें बलिदानी बलिदान कहते हैं किसे,
तूने बलिदान का विधान बतलाया है ।

नवाब साहब का हाथी

[मुंशी कन्हैयालाल एम्० ए०, एल्-एल्० बी०]

एक दिन नवाब साहब के मन में आया कि सफ़ेद हाथी इँगलिस्तान के बादशाह को भेंट कर दिया जाय, जिसमें उनमें और पंचम जार्ज में अच्छी दोस्ती हो जाय। उन दिनों मैं नवाब साहब का प्राइवेट सेक्रेटरी था, इसलिए मुझसे भी राय पूछी गयी। मैंने ज़ोरदार शब्दों में इस इरादे का समर्थन किया। साथ-ही-साथ यह भी कहा कि उसे भेजने में जल्दी करनी चाहिए, जिसमें यह तोहफ़ा बादशाह को सालगिरह के दिन मिल जाय। नवाब साहब ने मेरी राय को पसंद किया और यह काम मेरे सिपुर्द करके हुक्म दिया कि जितने रुपये की आवश्यकता हो, ख़ज़ाने से ले लेना।

सालगिरह होने में एक महीने की देरी थी और रास्ता लगभग बीस दिन का था, इसलिए हाथी भेजने की तैयारी दूसरे ही दिन से होने लगी। सबसे पहले दो वायरलेस (Wireless) से तार लंदन भेज दिये। एक वैदेशिक मंत्री (Minister for foreign affairs) के नाम, जिसमें हाथी के भेजने की सूचना दी गयी, ताकि स्वागत की ठीक-ठीक तैयारी कर ली जाय। दूसरा तार लंदन के पबलिक वर्क्स डिपार्टमेंट (Public Works Department) को, ताकि एक बहुत बड़ा बँगला, जिसमें हाथी के रहने का प्रबंध हो सके, बहुत जल्द बना लिया जाय ; लेकिन बँगला नदी के किनारे हो, क्योंकि हाथी किसी दूसरी जगह रहना पसंद नहीं करता।

इसके बाद हाथी की झूल, अंबारी, सब गहने बड़ी सावधानी से लोहे के बक्सों में बंद किये। हर तरह के हलवे, अचार, मुरब्बे और चटनियाँ, जो हाथी को पसंद थीं, बीस-बीस मन तौलाकर साथ ले लीं, जिससे रास्ते में कोई दिक़्क़त न हो। मेरे साथ तीन डाक्टर, पाँच बावरची, दो मेहतर और आठ नौकर भी थे, जो हर समय हाथी की सेवा के लिए बने रहते थे। रियासत से बंबई तक नवाब साहब की स्पेशल ट्रेन में गये। बाक़ी समुद्री सफ़र "विक्टोरिया"-नामक जहाज़ में किया गया, जो बंदरगाह में पहले से ही हमारा इंतज़ार कर रहा था।

रास्ते में कोई ऐसी ख़ास बात नहीं हुई, जो यहाँ लिखी जाय, सिवा इसके कि दो-तीन दफ़े हाथी को चक्कर आ गया था, जिसके कारण एक बार उलटी भी हुई। लेकिन डाक्टरों ने बहुत जल्दी ग्यारह सेर अमृत-धारा पिलाकर उसकी तबियत को ज़्यादा ख़राब होने से बचा लिया।

जब हमारा जहाज़ इँगलैंड के बंदरगाह पर पहुँचा, तो शाही ख़ांदान के कुछ आदमी और बहुत-से पार्लियामेंट के मेंबर वहाँ पर हमारा स्वागत करने को खड़े थे। स्वागत बड़े ठाट से हुआ, और बादशाह

के बाडीगार्ड ने हाथी को सलामी दी। प्राइम मिनिस्टर ने हाथी को दूसरे दिन अपने यहाँ दावत के लिए निमंत्रण दिया।

इतनी जल्दी बँगला बनना असंभव था, इसलिए बादशाह के एक महल में हाथी के ठहरने का प्रबंध किया गया, जिसमें डाक्टरों और दूसरे नौकरों के लिए केवल दो कमरे थे, और मेरे लिए एक छोटी-सी कोठरी। महल का बाक़ी हिस्सा हाथी के लिए था। संगमरमर के उस हौज़ में, जिसमें राजकुमारियाँ नहाया करती थीं, हाथी नहा तो सकता था, मगर पानी इतना नहीं अट सकता था कि हाथी मनमाना नहा सके। इसके अतिरिक्त महल के चारों तरफ़ बना हुआ बग़ीचा उसे पसंद न था; क्योंकि इसमें सब विलायती फूल खिलते थे, जो दूर से देखने में तो अच्छे लगते हैं, मगर जिनमें सुगंध नहीं होती। और, वह मोतिया, चमेली, जूही और चंपा के फूलों की महक से बहुत ख़ुश होता था। यह छोड़कर और कोई तकलीफ़ न थी।

तीसरे दिन की बात है। मैं सवेरे उठकर अपनी दाढ़ी बनाने में लगा था कि इतने में एक नौकर दौड़ता हुआ आया और कहने लगा—"हाय!...... सफ़ेद हाथी......हाथी........नवाब साहब का हाथी ....हाय........खो गया..........गुम हो गया........चोर ले गये ....हाथी...... हाथी!............"

नौकर बेहोश होकर गिर पड़ा। मैं अभी तक सारा मामला अच्छी तरह से नहीं समझ सका था, लेकिन जब एक डाक्टर ने भी आकर बताया कि रात में चोर महल में सेंध लगाकर हाथी को ले गये, तब तो मेरी घबड़ाहट की कोई हद न रही। अब सिवा इसके कोई चारा न था कि पुलीस में रिपोर्ट कर दी जाय। मैंने फ़ौरन् टेलीफ़ोन से चोरी की ख़बर स्काटलैंड-यार्ड के थाने में कर दी। पाँच मिनट के अंदर-अंदर एक मोटर-लारी में ख़ुफ़िया पुलीस का एक अफ़सर कुछ सिपाही साथ लिये आ पहुँचा। सबसे पहले इसने मुझको शक की नज़र से देखा और यह जानने पर कि मैं जो कुछ कहूँगा, बिलकुल सच होगा, बड़ी सावधानी से एक कुरसी पर बैठ गया। वह मुझसे प्रश्न करता जाता था और मुहर्रिर मेरे बयान को लिखता जाता था।

वह—हाथी का नाम?

मैं—उम्दतुद्दौला, ज़ब्दतुलहुकमा, सिराजुलख़ाक़ानिकैन, मसीदउलमुल्क, शमरुलउलेमा, अल्लामा ख़जंदी देवबंदी, नक़्शबंदी, नैशापुरी यारजंग बहादुर, टी॰ एल्॰ ओ॰, जी॰ सी॰ के॰ एन्॰, पी॰ इत्यादि, इत्यादि, एक्स-प्रेसीडेंट असेंबली रूस......

वह—लक़ब?

मैं—चिन-चिन-चयांग चाच् याज़दहुम।

वह—वाल्दैन का नाम?

मैं—बग़ैर वाल्दैन के पैदा हुआ था। हाँ, दादाजान का नाम जटलगो मालिया टिप्शन टोली पिनल टू-टू था।

वह—पैदा कहाँ हुआ?

मैं—फ़लक़ कज़ रफ़्तार के सातवें परदे पर जब ओज अक़रब के बुर्ज में था।

वह—उस दाई का नाम जिसने दूध पिलाया?

मैं—हर रॉयल हाईनेस मेरी पिकफ़ोर्ड वर्क्स, डचेज़ आफ़ ट्रिचनापली ऐंड दी स्टार ऑफ़ इंडियन कालोनीज़।

वह—साहित्यिक ज्ञान?

मैं—मुंशी फ़ाज़िल, मौलवी आलिम, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, डी॰ ओ॰ एल्॰, एस्॰ सी॰, एल्॰ डी॰, क़ानून तरसील लापुखिल और 'ताज की गोयों' का ईजाद करनेवाला। लेखक, "उर्दू की पहली किताब" और "असली काश्मीरी कोकशास्त्र मय तस्वीर।"

वह—उसके बदन के बाहरी चिह्न और वज़ा-क़ता?

मैं—खुरों से लेकर कंधे तक ऊँचाई २५½ फ़ीट, मत्थे से लेकर दुम तक ४२ फ़ीट १३ इंच; सूँड़ की मोटाई ज़्यादा से ज़्यादा १३ इंच और कम से कम १७ फ़ीट। ग्यारह काले रंग के दाँत जिनमें से हर एक का दाम दस-दस हज़ार पौंड (गोल्ड) लग चुका है। कानों और पैर की गोलाई में दो और तीन का फ़र्क़ है। कुल वज़न १२५ टन १२ हंडरवेट है।

वह—कोई ऐसा निशान बताओ, जिससे आसानी से पहचान मिले।

मैं—पेट के अंदर पाँचवीं आँत के बीच में एक छोटा-

का काला दाग़, जो बहुत सिगरेट पीने के कारण पैदा हो गया है।

वह—खाने-पीने की चीज़ों का हाल पूरा-पूरा बताइए।

मैं—पीने की चीज़ों में क़रीब-क़रीब सब चीज़ें जैसे—पानी, दूध, मिट्टी का तेल, पिघला हुआ सीसा, हर तरह की देशी और विलायती शराब, फ़ेनील, शोरे का तेज़ाब, शहद, गन्ने का रस इत्यादि, मगर कम-से-कम १५ पीपे हों। विलायती चा इसे पसंद नहीं। खाने की चीज़ों में दुनिया की सब चीज़ें यानी आदमी से लेकर मलेरिया के कीटाणु तक खा लेने में इनकार नहीं करता। कुछ न मिलने पर अस्तबल के किवाड़े, दीवार की ईंट, छत की कड़ियाँ और तख़्ते, दुसरी अल्मारी इत्यादि पेट में भर लेता है। हाँ, हिरन का कबाब उसे अच्छा नहीं लगता। फल और मेवों में सब तरह के फल और मेवे बग़ैर किसी एतराज़ के खा लेता है, लेकिन चिलग़ोज़ा और कालीमिर्च ज़्यादा पसंद है। लंच के समय सेब का मुरब्बा, सिरके की चटनी, आम का अचार, क्रीम के बिस्कुट, मक्खन लगे हुए तोस, बिना उबाले हुए फ़ाख्ता के अंडे इत्यादि खाता है।

वह—हाँ, ठीक है। पोलिटिकल व्यूज़ (Views) क्या हैं?

मैं—ख़ूब हैं। चरख़ा कातता है। खद्दर बुनता है। समुद्र के किनारे नमक बनाता है। जी० आई० पी० की लाइन पर चित लेट जाता है। भूख-हड़ताल करता है। काले झंडे लेकर "साइमन गो बैक" चिल्लाता है और गोलमेज़-कानफ़रेंस में जाने को पहले इनकार करके फिर राज़ी हो जाता है। रेड रिपब्लिकन आर्मी का सभापति रह चुका है। लेकिन जब गुस्सा आता है, तो बड़े-से-बड़े लीडर को हड़पकर जाने से नहीं चूकता।

वह—घूमने-घामने के लिए कौन-कौन-सी जगह और क्या-क्या चीज़ें पसंद हैं?

मैं—सिनेमा में ज़ुबैदा या चार्ली चैपलिन के फ़िल्म, थियटर में लैला-मजनूँ का खेल; नाचघर में केवल उसी औरत के साथ नाचना पसंद करता है, जो सबसे ज़्यादा मोटी, कुरूप और विधवा हो। रोज़ सवेरे काश्मीर की हरी-भरी वादियों में और रोज़ शाम को शहरों के पार्दबाग़ों में टहलता है। प्यानो बहुत पसंद करता है और बेला अच्छा बजा लेता है।

वह—उसका धर्म?

मैं—अपने-आप को ख़ुदा और महावत को पैग़म्बर बताता है......................कोई और बात?

वह—जी नहीं, थैंक्स।

मुहर्रिर ने पूरे बयान को ज़ोर-ज़ोर से पढ़ा। उसमें कोई ग़लती न थी। इसके बाद ख़ुफ़िया ने सब काग़ज़ात एक सिपाही को देकर छापेख़ाने भेज दिया और कह दिया कि इसकी पचास करोड़ कापियाँ छपवाकर दो घंटे के भीतर-भीतर दुनिया के हर हिस्से में भेज दो, देर न होने पावे। फिर मेरी तरफ़ मुड़कर कहने लगा—"मेरा ख़याल है कि चोर या तो डार्किन है या मर्फ़ी, नहीं तो राजर्स तो ज़रूर है। मैं इनको अच्छी तरह जानता हूँ। और जनाब, महल में सेंध ख़ुफ़िया के पता लगाने में धोखा देने के लिए तोड़ी गयी है, हालाँकि हाथी को महल के बाहर किसी दूसरे ही रास्ते से उड़ाकर ले गये हैं।" इसके बाद उसने तीन ख़त इन्हीं बदमाशों के बापों के नाम लिखे।

"क्या तुम्हारे पास हाथी का कोई फ़ोटो है?"—उसने अपना कान खुजलाते हुए मुझसे पूछा।

मैंने आठ-दस फ़ोटो और पाँच-सात हाथ की खींची तस्वीरें उसके सामने रख दीं। उनमें से एक फ़ोटो उसने पसंद किया और सिपाही से कहा—"इसका ब्लाक बनवाकर पचास करोड़ कापियाँ छपवाओ और रिपोर्ट के साथ भिजवाओ।"

"अच्छा, अब मैं जाता हूँ"—उसने खड़े होते हुए कहा—"कल आप मेरे मकान पर आइए तो अच्छा हो।"

मैं दूसरे दिन क़रीब ग्यारह बजे ख़ुफ़िया के मकान पर जा पहुँचा। वहाँ कमरे में असिस्टंट सार्जंट भी था। मुझे एक कुर्सी दी गयी और मैं बैठकर उनकी बातें सुनने लगा।

"कुछ सिपाहियों को महल के पास मुक़र्रर कर दो"—ख़ुफ़िया ने सार्जंट से कहा।—"कोई आदमी पास न आने पावे। सब बंदरगाहों और रेलवे-स्टेशनों पर पहरा लगाना आवश्यक है। और सुनो, आज एशियाटिक पिक्चरपैलेस में चार्ली का फ़िल्म दिखाया जायगा। वहाँ स्पेशल क्लास की निगरानी होनी चाहिए। अगर

हाथी लंदन में हुआ, तो सिनेमा देखने ज़रूर जायगा । लेकिन सिपाही मामूली कपड़ों में हों; सरकारी वर्दी न पहनें और किसी आदमी से इस मामले पर बातचीत न करें । अगर हाथी का कहीं पता लग जाय, तो मुझे टेलीफ़ोन पर बताया जाय ।"

सार्जेंट के जाने के बाद डाकिया आया, और बहुत से ख़त देकर चला गया । इनमें सिर्फ़ तीन ख़त इस मामले से वास्ता रखते थे, और ये उन ख़तों के जवाब में थे, जो पिछले दिन बदमाशों के बापों के नाम भेजे गये थे ।

पहला ख़त—ओ नालायक इंसान ! क्या तुझे मालूम नहीं कि मेरे बच्चे को मरे तीन साल होते हैं ? वह तेरी ही आँखों के सामने फाँसी के तख़्ते पर मौत के घाट उतरा, और तुझे याद नहीं ! शर्म कर ।

दूसरा ख़त—आज इँग्लिस्तान का एक-एक बच्चा अच्छी तरह से जानता है कि मर्फ़ी ने दुनिया की तकलीफ़ों से तंग आकर आत्म-हत्या कर ली । इसकी ख़बर सब अख़बारों में छपी । और, तू मुझसे पूछता है कि मर्फ़ी का पता बताओ । तू बड़ा जाहिल है, इतनी भी ख़बर नहीं ।

तीसरा ख़त—क्यों मेरे दुखे दिल को सताता है ? क्या तूने मेरे बच्चे पर चोरी नहीं लगायी, और क्या वह आजकल सेंट्रल जेल में क़ैद की कठिनाई नहीं भुगत रहा है ? तुझे अवश्य याद होगा, फिर मुझसे पता क्यों पूछता है ?

"ख़ैर, कोई बात नहीं"—ख़ुफ़िया ने झेंपते हुए कहा—"मेरा ख़याल ग़लत निकला और ग़लत होना भी चाहिए था; क्योंकि चोर या तो डेविड है या विलियम, नहीं तो रिचर्ड ज़रूर है । कल तक इन तीनों में से कोई-न-कोई ज़रूर गिरफ़्तार हो जायगा । ये सब पाँच-पाँच साल की सज़ा भुगत कर अभी छूटे हैं ।"

मैं—आपको इन सब बातों की बहुत ख़बर रहती है ।

वह—अजी जनाब; लेकिन आपने अभी देखा ही क्या है—आपने यह सुना होगा कि स्काटलैंड यार्ड के चौकीदार भी दूसरे मुल्कों के ख़ुफ़िया-पुलीसवालों से ज़्यादा होशियार होते हैं ।

मैं—ठीक है, ठीक है; मगर हमारे हाथी का पता कब तक लग जायगा ?

वह—यह मैं ठीक तो नहीं कह सकता, लेकिन दो-तीन महीने के अंदर-अंदर उसकी कुछ ख़बर ज़रूर मिल जायगी ।

मैं—ऐं ! दो-तीन महीने ? क्या इससे पहले कोई उम्मीद नहीं हो सकती ?

वह—हाँ, एक तरकीब है कि आप हाथी का पता लगानेवाले के लिए कुछ इनाम देने को कह दें, तो सिपाहियों के अतिरिक्त पब्लिक भी इनाम के लालच से पता लगावेगी ।

मैं—अच्छी बात है । कितना इनाम देना चाहिए ?

वह—कम-से-कम दस हज़ार पौंड ।

मैंने उसको दस हज़ार का इनाम अख़बारों में प्रकाशित करने के लिए इजाज़त दे दी ।

दूसरे दिन सब अख़बारों में अधिकांश इसी चोरी का हाल छपा । हर एडीटर ने अपनी राय लिखी थी और कुछ बदमाशों के नाम लिखकर पुलीस को राय दी थी कि उनको हिरासत में ले लेना चाहिए; क्योंकि इँग्लिस्तान-भर में वही ऐसे बदमाश थे, जिन पर हर तरह की चोरी का शुबहा किया जा सकता था । उन्होंने मेरे साथ हमदर्दी ज़ाहिर की थी, और उम्मीद दिलायी थी कि मुझको खोया हुआ हाथी जल्द ही फिर मिल जायगा ।

सवेरे जलपान करके मैं पुलीस-स्टेशन गया । ख़ुफ़िया अपनी मेज़ के पास कुर्सी डाले बैठा था । देखने से उदास जान पड़ता था, मगर मुझसे मुस्कराकर बातचीत की ।

वह—मुझे वायरलेस से दूसरे मुल्कों से कुछ ख़बरें मिली हैं, जो इसी हाथी की चोरी के सिलसिले में हैं ।

मैं—कुछ पता चला ?

वह—जी हाँ । आपका हाथी बहुत तेज़ चलता है, पलक मारते हज़ारों मील निकल जाता है ।

मैं—क्षमा कीजिएगा, मैं रिपोर्ट लिखाते समय यह भूल गया था । उसकी चाल आदमी के ख़याल से भी ज़्यादा तेज़ है । एक दफ़ा ज़मीन से चाँद तक वह तीन मिनट साढ़े सात सेकंड में चला गया था ।

वह—चाँद तक ? वहाँ जाने की क्या आवश्यकता थी ?

मैं—कुछ नहीं, यों ही हवा बदलने के लिए; मगर वहाँ की हवा उसे पसंद नहीं आयी । अच्छा हाँ, मुझे भी तो बताइए कि क्या ख़बरें आयी हैं ।

वह—सुनिए (एक रजिस्टर सामने रखकर) मैं सब तार तफ़सील इसमें करता गया हूँ, आप स्वयं पढ़ लें।

मैंने रजिस्टर को खोला। इसमें आठ विदेशी तार लिखे थे, उनमें यह लिखा था—

१—आस्ट्रेलिया, २५ जून सवेरे आठ बजे। कुछ लिवट हुए, सफ़ेद हाथी एक खेत में देखा गया। अस्सी हज़ार मन गल्ला ज़रा-सी देर में खा गया। फ़ौरन् लिखिए कि इस नुक़सान का ज़िम्मेदार कौन होगा?

२—जर्मनी, २५ जून सवेरे ६ बजकर दस मिनट। जो कारख़ाने में शराब बनती है। सफ़ेद हाथी एक मिनट में तीन सौ गैलन शराब पी गया और कह गया है कि शराब का बिल खुफ़िया पुलीस की मार्फ़त लंदन भेज दिया जाय। हमारा बिल कल आपको मिल जायगा। कृपा करके रुपया बैंक आफ़ इँगलैंड में मेरे हिसाब में जमा कर दीजिए।

३—अमेरिका, २५ जून सवेरे ग्यारह बजे। हाथी इस मुल्क से अभी निकला है। हमने सुना है कि वह दुनिया-भर की सैर कर रहा है, इसलिए अपनी कंपनी के कुछ इश्तहार उसके पेट में चिपका दिये हैं। इसका दाम अगली डाक से भेज दिया जाय।

४—फ़्रांस, २५ जून ५ बजे शाम। सफ़ेद हाथी को पार्क में देखा। वह मेरी बीवी से प्रेम की बातें कर रहा था। हतक इज़्ज़त का मुक़दमा नवाब साहब पर किया जाय, या उनके प्राइवेट् सेक्रेटरी पर। जल्द लिखिए।

५—हिंदोस्तान, २५ जून ६ बजे शाम। सरकार के खिलाफ़ पब्लिक को भड़का रहा था, गिरफ़्तार किया गया। लेकिन जेल तोड़कर भाग गया।

६—रूस, (वक़्त नहीं दिया है) लेनिन की क़ब्र पर फ़ातिहा पढ़ी, कुछ फूल चढ़ाये। फिर आजकल के सभासद से हिंदोस्तान में क्रांति पैदा करने के लिए मदद माँगी। मगर पैक्ट पर दस्तख़त नहीं किये। और छिपाकर भाग गया।

७—जापान, २५ जून ग्यारह बजे रात। नाच-घर में औरतों के साथ नाच रहा है, और नशे में मतवाला हो रहा है। हुक्म हो तो गिरफ़्तार कर लूँ। फ़ौरन् लिखिए।

८—जापान, (दो मिनट बाद) शोक है, नाच-घर की मालकिन के साथ भाग गया। अब कहीं पता नहीं है।

सब तार पढ़ने के बाद मैंने रजिस्टर बंद कर दिया।

मैं—बड़ी मुश्किल है, वह दुनिया-भर में कूदता फिर रहा है, अब गिरफ़्तारी कैसे हो?

वह—मेरे ख़याल में इनाम दुगना कर दीजिए, ताकि फ़ौरन् गिरफ़्तारी हो जाय।

मैं—अच्छी बात है, जैसा आप मुनासिब समझिए।

टनू-टनू...टनू-टनू...टेलीफ़ोन की घंटी बजी। कोई आदमी मैनचेस्टर से बोल रहा था। "अभी-अभी सफ़ेद हाथी इधर से निकला था। सुपरिंटेंडेंट के हुक्म से मैंने गोली चलायी, जिससे उसकी एक टाँग घायल हो गयी, पर पकड़ न मिला।"

मैं—लाहौल-विला। गोली चलाने की क्या ज़रूरत है? अगर वह मर गया, तो मेरी ज़िंदगी की कोई उम्मीद नहीं है।

वह—ठीक है, पर आपको तो हाथी चाहिए, चाहे ज़िंदा मिले या मुर्दा।

मैं—(चिढ़कर) आप बिलकुल जाहिल हैं......

टनू-टनू......टनू-टनू टेलीफ़ोन की घंटी फिर बजी। कोई डर्बन से बोल रहा था—"मैं गिर्जाघर के सामने पहरे पर था। अचानक हाथी ने हमला किया। ऐसी हालत में सिवा इसके और क्या तदबीर हो सकती थी कि मैं संगीन निकालकर अपनी जान बचाऊँ। मेरे एक वार में हाथी की सूँड़ दो इंच कटकर गिर पड़ी। वह टुकड़ा पार्सल से भेज रहा हूँ कि वक़्त पर काम आये।"

मैं—(बहुत गुस्सा होकर) यहाँ की पुलीस कितनी नालायक़ है!

वह—अगर हाथी मर गया, तो कोई हर्ज नहीं। उसकी खाल मैं ख़रीद लूँगा। दाँत अजायबघर में दे दीजिएगा। आपका नाम होगा। रही उसकी नसें और पुट्ठे, सो उनको हिंदोस्तान ले जाइए, नवाब साहब के काम आ जायँगे।

कई दिन बेकार बीत गये और हाथी का कुछ पता न चला। इधर-उधर से एकआध तार आ जाते थे, मगर काम की बात उनमें न होती थी। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, मेरा खून सूख रहा था। समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ। इसी बीच में हाथी

की सूँड़ का कटा हुआ टुकड़ा भी मिल गया था। मैंने सोचा कि न हो, इस वक़्त इसी टुकड़े को एक अच्छी संदूक़ची में रखकर बादशाह की भेंट कर दूँ और ज़बानी कह दूँ अगर उनकी पुलीस हाथी को ढूँढ़ दे, तो वह उसे भी स्वीकार कर लें, वरना उनकी तक़दीर।

एक रोज़ सवेरे के समय मैं नदी के किनारे टहल रहा था। मेरे जी का हाल मेरी शकल देखने से ज़ाहिर होता था। अगर उस वक़्त ख़ुफ़िया का साहब कहीं मिल जाता, तो मैं उसे ख़ूब ठीक कर देता।

सूरज की गर्मी बढ़ती जाती थी। मैं लौटने ही वाला था कि पीछे से कुछ आहट मिली। मैंने घूमकर देखा, तो वही चीज़ सामने थी, जिसके ढूँढ़ने में स्काटलैंड-यार्ड की पुलीस असफल हो चुकी थी।

हाथी ने मुझे पहचान लिया। मेरे पास आकर उसने सूँड़ से सलाम किया। मैंने देखा, उसके बदन पर न कोई चोट का निशान था, और न सूँड़ कटी हुई थी। उसके पेट पर कोई इश्तहार भी नहीं चिपका था। मैं घबरा रहा था कि आख़िर मामला क्या है; फिर समझ में आ गया कि ज़रूर लोगों को धोखा हुआ है। ख़ैर। मैं उसकी गर्दन पर सवार हो गया और कोठी की तरफ़ चला। अभी थोड़ी ही दूर गया था कि एक झाड़ी में से कई सिपाही निकले। उन्होंने हाथी को देखकर चिल्लाना शुरू किया मिल गया......मिल गया......पकड़ो......पकड़ो......दौड़ो......भागो......हाँ......हाँ.... गोली मार......अरे, चोर भी साथ है......एक वार इस पर भी......देर न करना......वह भागा......मार......मार......।

इसके पहले कि मैं उनको मना कर सकूँ, एक साथ कई बंदूकों के छूटने की आवाज़ आयी। एक गोली मेरी कनपटी में भी लगी और मैं बेहोश हो गया। जब मुझे होश आया, तो देखा कि ख़ुफ़िया, डाक्टर और कई सिपाही मेरे पलँग के चारों तरफ़ खड़े हैं। ख़ुफ़िया ने अकड़कर, जीते जुवाड़ी की तरह मुस्कराकर कहा—"मुबारक हो! मैंने तुम्हारा हाथी ढूँढ़ लिया।"

मैं—ठीक—ठीक है, आप ही ने उसका पता लगाया और इसका सेहरा आप ही के सिर है; पर बताइए तो, वह किस हालत में है।

वह—मर गया है, लेकिन......

मेरे दिल से एक दर्द-भरी आह निकली और मैं दुबारा बेहोश हो गया। मेरी हालत दिन-दिन ख़राब होती गयी, यहाँ तक कि डाक्टरों ने जवाब दे दिया।

मरने से पहले मैंने वसीयत की कि मेरी लाश हिंदोस्तान न भेजी जाय—किसी दूसरी जगह गाड़ दी जाय या समुद्र में डाल दी जाय। और बस।*

---

* अनुवादित।

साँस

[साहित्यालंकार श्रीजयकिशोरनारायणसिंह]

उर मानस की सुरभित साँस !
ढूँढ लूँ मैं तेरा अधिवास ।
जो जग में सबसे है कोमल,
जो प्रकाश-सा है चिर-प्रांजल,
रंगीन गगन-सा कौतुक-मय
जिसका केवल स्पंदन है लय,
क्या वही हृदय
तेरा आलय ?

× × ×

सुमन लेता सौरभ की साँस,
सरित में सघन ऊर्मि-उच्छ्वास,
विरह में तुम आशा-परिहास,
मिलन में चिर-अतृप्त उल्लास,
विपुल नभ में तुम मधुर प्रकाश,
तुम्हीं षड्ऋतु में शुचि-मधुमास,
कहाँ है नहीं चिरंतन-साँस ?
विश्व ही एक उग्र उच्छ्वास !
तुम्हारा तरुण रूप है आह,
निहित जिसमें है तड़ित-प्रवाह;
दृगों में भर देता जल-वाह,
हृदय से है उबलता दाह;
हमारे स्वप्न-विचुम्बक श्वास;
तुम्हीं जीवन के नीड़ाकाश ।

कल्प, सुरभित-समीर उच्छ्वास,
निशा, एकांत शांति की साँस,
प्रकृति, नित-नूतनता सविकास,
स्वप्न, नीरवतम बीचि-विलास,
सुरा, शत बुद्बुद भंगुर—लास,
उग्र आतप, मरीचिका—रास,
अचल, लेता झरनों का श्वास,
दीप में स्नेह-दशा का वास।
उषा में, तुम सुषमा साकार,
सु-चपला में चांचल्य-विहार,
ज्योति में स्थिर-पवित्रता-भार,
नखत-चय में उन्मेष उदार,
मुखर तंत्री में आहत तार,
अमा में सांद्र तमिस्राऽऽकार,
शीत प्रातः में शत-नीहार,
बुद्बुदों में तुम शून्योद्गार।
ग्रीष्म में चिर-दुरंत-लू-साँस,
पीन प्रावृट् में हरित हुलास,
शरद में मांसल नवल प्रकाश,
क्षीण हिम में नीहार-निवास,
शिशिर में शालि-चुंबि-वातास,
मुखर मधु में आनंद उदास,
चराचर में अविकल उच्छ्वास,
यही उच्चावच का परिहास।

"गंगावतरण"

(आलोचना)

[श्री० शम्भूदयाल सक्सेना साहित्यरत्न]

रत्नाकरजी व्रजभाषा के उपवन के अंतिम गुलाब हैं—एक प्रसिद्ध समालोचक के इस कथन से हम भी सहमत हैं; क्योंकि वसंत अपनी श्री को वहाँ से समेट चुका है। खिज़ाँ ने चुपके-चुपके आकर अपना प्रभुत्व स्थापित कर दिया है। कोई कलियाँ नज़र नहीं आतीं, जिनसे भविष्य आशामय हो। धुआँ देखकर आग का अनुमान करनेवाला प्राणी, मनुष्य, तो यहीं तक कह सकता है। वैसे यथार्थ प्रत्यक्ष किसी नियामक की ही लेखनी से लिखा जाता है। उसे बलपूर्वक कह सकने की क्षमता मनुष्य को अभी तक प्राप्त नहीं है।

'गंगावतरण' तेरह सर्गों में समाप्त एक महाकाव्य है। सरस्वती-देवी का शृंगार इसमें व्रजभाषा से ही किया गया है, जैसा कि व्रजभाषा के अनन्य-सेवी रत्नाकरजी द्वारा संभव था। इंडियन-प्रेस-जैसे प्रसिद्ध प्रकाशक ने उसे जनता के सामने रक्खा है, इससे भी उसकी महत्ता और गुरुता का पता चलता है। यही क्यों, वह अनेक विद्वानों द्वारा प्रशंसित तथा हिंदुस्तानी एकेडेमी-जैसी गण्यमान्य संस्था द्वारा, अनेक प्रसिद्ध पुस्तकों के मुक़ाबले में, पुरस्कृत भी हो चुका है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उसके अतिरिक्त रत्नाकरजी 'बिहारी-रत्नाकर'-जैसी बृहत् पुस्तक के लेखक हैं। आपकी स्फुट कविताएँ सभी प्रसिद्ध पत्रिकाओं में आदरणीय स्थान पाती हैं। आप पुराने साहित्य-सेवी और प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। अभी आपका एक दूसरा काव्य 'उद्धवशतक' भी प्रकाशित हुआ है। आजकल आप 'सूरसागर'-जैसे महान् ग्रंथ का संपादन बड़े परिश्रम से कर रहे हैं। गत वर्ष आपकी साहित्य-सेवा को सम्मानित करते हुए साहित्य-जगत् ने आपको अखिल-भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति-पद प्रदान किया था। आपकी शैली आदि के विषय में एक प्रसिद्ध संपादक के विचार कुछ इस प्रकार हैं—"रत्नाकर जी कविवर पद्माकर की कविता को बहुत पसंद करते हैं। आपको आरंभ से ही पद्माकर की ज़ोरदार शैली से अनुराग है। साथ ही आप अन्य कवियों की शैली का अनुकरण भी सफलतापूर्वक कर सकते हैं, क्योंकि आपका भाषा पर अच्छा अधिकार तो है ही।"

इस बात पर ज़रा ग़ौर से ध्यान देने पर रत्नाकरजी का नाम भी 'पद्माकर' के ही वज़न पर मिल जाता है। उनकी भाषा के अनुप्रासमय प्रवाह का अनुसरण भी इनकी रचना में अप्रत्यक्ष नहीं रहता है। हाँ, और क्या उनकी 'गंगालहरी' का ही व्यापक भाव (Idea) तो 'गंगावतरण' में नहीं है? पर यह छोटी-छोटी बातें उनकी प्रतिभा और उनके काव्य की एकमात्र कसौटी नहीं होनी चाहिए। फिर भी इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि रत्नाकरजी की रचना पर पद्माकर के आदर्श की गहरी छाप है, जो अलग भी नहीं की जा सकती। उन्होंने पद्माकर का अनुसरण किया है, पर वह समय के प्रभाव से भी प्रभावित हुए हैं। जगद्विनोद-जैसे ग्रंथ का प्रयास न करना समय की आवश्यकता का ही अनुरोध है, यद्यपि भाषा-संबंधी सामयिक आवश्यकता का वह अभी अनुभव नहीं कर सके हैं। कविता की भाषा और उसकी मिठास के संबंध में [illegible] खड़ीबोली के लेखक-संपादकों की सम्मति भी [illegible] दिशा में पिछड़ी हुई है। धीरे-धीरे उनकी वह धारणा दूर तो हो रही है, पर अभी तक बिलकुल उन्मूलित नहीं हुई। कुछ तो 'छायावाद' के भूत के कारण—और कुछ [illegible] कि कुछ लोग उसे भूत ही समझते हैं—और कुछ [illegible] गत परंपरा के कारण। इसीलिए अधिकांश आलोचनात्मक लेखों में असंयत आरोपों की बहुलता रहती है। [illegible] बनारसीदासजी चतुर्वेदी-जैसे लेखक भी व्रजभाषा के [illegible] बातें कहते समय नवीन शैली के उन्नायकों के प्रति [illegible] सफ़ाई दे देना आवश्यक समझते हैं। प्राचीन बोली की नवीनता से चिढ़ होना मनोवैज्ञानिक सत्य है, [illegible]

तब कबीर, नानक और जायसी में उसकी दुहाई देना और उसका समर्थन करना बुद्धि का विपर्यय है।

एक बार हिंदी-साहित्य-गोष्ठी (दारागंज) प्रयाग में आमंत्रित होने पर रत्नाकरजी ने भाषा-सौष्ठव को कविता-गत रस-भाव की अभिव्यञ्जना के उत्कर्ष का सहायक माना था। उनके इस कथन से ही भाषा पर उनका पूर्णाधिकार व्यञ्जित होता है। शब्दों की दरिद्रता उनके काव्य में नहीं खटकती; किंतु आधुनिक काल में ब्रज-भाषा लिखनेवाले लेखकों का अभाव होने के कारण हम तुलनात्मक दृष्टि से कोई कथन करने में समर्थ नहीं हो सकते। यदि ब्रजभाषा ही सब लेखकों के लिखने का साधन होती, तो बहुत संभव है, रत्नाकरजी का एकाधिपत्य न रहता; क्योंकि प्रतिभा की दृष्टि से कई वर्तमान कवियों को रत्नाकरजी से बहुत आगे मानने में संकोच नहीं किया जा सकता। साथ ही ब्रजभाषा की व्यञ्जना-शक्ति, उसकी महाविरेबंदी आदि का भी कोई उल्लेखनीय परिष्कार हमें रत्नाकरजी की शैली में दृष्टिगत नहीं हुआ। 'गंगावतरण' का छंद, उसकी वर्णन-प्रणाली, उसकी भाषा बाबू हरिश्चंद्र, कविवर सत्य-नारायण तथा बुद्ध-चरित्र के वर्तमान विद्वान् लेखक रामचंद्रजी शुक्ल के बनाये हुए प्रशस्त राजमार्ग का ही अनुसरण करती है।

जिस प्रकार शैली का अनुसरण करते हुए भी मौलि-कता सुरक्षित रक्खी जा सकती है तथा उसका सुरक्षित रखना आवश्यक होता है, उसी प्रकार दूसरों के वर्णन और भावों की छाया लेकर भी अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाया जा सकता है। सुकवि और महाकवि कहलाने का अधिकारी वही होता है, जो प्रचलित भावों को अपनी व्यञ्जना-प्रणाली से नवीन रूप दे दे। वचीजी का यह कथन सर्वथा युक्ति-युक्त है कि प्रतिभावान् लेखक के हाथ में पड़कर तुच्छ वस्तुविन्यास भी लोकपावन कथानक बन जाता है, अन्यथा सुंदर-से-सुंदर चरित्र भी निर्जीव पदार्थ की भाँति पाठक के अमूल्य समय के असद्व्यय का ही कारण बनता है। 'स्वर्णिम' शब्द रवींद्रनाथ से लिया गया है और 'परी' की कल्पना वर्ड्सवर्थ से हुई है। इस प्रकार एक-एक शब्द को दूसरों की कविता से मिलाकर मौलिकता की जाँच को हम आदर्श समालोचना नहीं समझते। इस प्रकार तो माइकेल मधुसूदनदत्त के 'वीरां-गना' आदि काव्य केवल कुछ प्राच्य और पाश्चात्यों के प्रयासों को मिलाने की चेष्टा ही कहलाएँगे। लेकिन यह कहाँ तक ठीक होगा? अतः गोस्वामी तुलसीदास आदि कवियों की भाँति हम अपने पूर्ववर्ती लोगों के अर्जित ज्ञान से लाभ उठाने को अमौलिकता का सर्टीफ़िकेट देना उचित नहीं समझते, और न कबीर के गंभीर अध्ययन से रवि बाबू की प्रतिभा को परतंत्र हुआ मानते हैं। इसी प्रकार 'गंगावतरण' के अंतिम सर्गों में गंगाजी का वर्णन बाबू हरिश्चंद्र के 'गंगा-वर्णन एवं 'यमुना-वर्णन' की रीति पर होता हुआ देखकर हमें कोई कमी नहीं प्रतीत होगी, बशर्ते कि उसमें नवीनता का समावेश यथेष्ट मात्रा में किया गया हो—प्रतिभा की झलक दिखाने में कोर-कसर न रक्खी गयी हो। वास्तव में प्रतिभा और नवीनता का समावेश ही मौलिकता है। लेकिन हमें कहना पड़ेगा कि इस दृष्टि से 'गंगावतरण' में विशेष सफलता नहीं हुई है। अधिकांश स्थलों पर जहाँ कहीं कवि ने दूसरों के भावों का आश्रय लेकर रचना-प्रयास किया है, वहाँ उसकी प्रतिभा कुंठित-सी हो गयी है। यथा—

भयो भूप जड़-रूप अंग के रंग सिराये।
वज्राघात सहस्र साठ संगहि सिर आये॥
कढ्यो कंठ नहिं बैन न नैननि आँसु प्रकास्यो।
आनन भाव-विहीन गाँव ऊजड़ लौं भास्यौ॥

× × ×

तब गुरुवर धरि धीर कियौ निर्धारित मन में।
कोसलपति कुसलात बनति केवल रोवन में॥
जो अति उबलत सोक-सलिल दृग-पथ नहिं पैहै।
भूरि भाय सौं पूरि तुरत तौ घट फटि जैहै॥
मनुष-सुभाव-प्रभाव बहुरि सुनि मुनि विज्ञानी।
अति अचूक उपयुक्त जुक्ति ठानी हित-सानी॥
अंसुमान कौं पकरि पानि नृप अंग लगायौ।
करुना-क्रन्दन करत कुँअर कंपत लपटायौ॥

× × ×

सनै सनै पुनि परन लगीं नरपति की पलकैं,
आनन पर लहरान लगीं प्राननि की झलकैं।
तब बसिष्ठ इमि कह्यौ नृपति निरखौ निज नाती,
काकौ यह असमंज कुँअर की सौंपत थाती।

यह सुनि करुना-भाव भूरि उर-अंतर जागे।
ह्वै कातर बिललाइ फूटि नृप रोवन लागे॥
लहि अवसर उपयुक्त लगे गुरुवर समुझावन।
सिवि-दधीच-हरिचन्द-कथा कहि धीर धरावन॥

यह उपर्युक्त कविता पूरी की पूरी अँगरेज़ी के प्रसिद्ध कवि टेनीसन की नीचे लिखी कविता-मात्र है। केवल भाषा का भेद है—

Home they brought her warrior dead;
She nor swooned, nor uttered cry;
All her maidens, watching, said,
"She must weep or she will die."

Then they praised him, soft and low,
Called him worthy to be loved.
Truest friend and noblest foe;
Yet she neither spoke nor moved.

Stole a maiden from her place
Lightly to the warrior slept,
Took the face-cloth from the face;
Yet she neither moved nor wept.

Rose a nurse of ninety years,
Set his child upon her knee—
Like summer tempest came her tears—
"Sweet my child, I live for thee."

एक तो इस प्रकार पूरी-की-पूरी कविताएँ अपने काव्यों में बग़ैर कृतज्ञता-प्रकाश किये उद्धृत कर लेना ही अनुकरणीय नहीं, पर यदि प्रसंग की संगति में उन्हें न ला सका जाय, तो अवश्य ही, आँख के टेंट की तरह निकलकर, वे अपने रहस्य को प्रकट कर देती हैं। टेनीसन की कविता हृदय के किस मर्मस्थल को आहत नहीं करती! वही बातें हैं, वही ठाट-बाट है; पर हमारे रत्नाकरजी हृदय के द्वार के भीतर भी क़दम नहीं रख पाते। आपने नब्बे वर्ष की अनुभवी धाय के स्थान पर 'गुरुवर विज्ञानी' को ले आने में जैसी पटुता दिखायी है, वैसे ही टेनीसन के छोटे अबोध बच्चे के लिए 'अंशुमान' को मानकर अपनी कवि-सुलभ रुचि का परिचय भी दिया है। पर क्या आप वैसी उसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सके हैं? उसी अंशुमान 'असमंज कुँअर की थाती' का वर्णन आप पहले इस प्रकार कर चुके हैं—'ताकौ (असमंज कौ) सुत सुभ अंशुमान कल-कीरति-धारी। ××× भयो जुवा है वीर बरिबंड प्रतापी'। यही क्यों, आपने जिस असमंज को महाराज के द्वारा 'सब अंगनि दुख-देत दंत ज्यौं वंत उखारत' कहकर निकलवा दिया था, उसी के पुत्र को उसके विरोधी आचरणवाले भाइयों के निधन पर महाराज के अंदर करुणा के आवेग को उद्धृत करने का साधन बना लिया है!

'गंगावतरण' की आलोचना करते हुए 'विशाल भारत' में व्रजभाषा-मर्मज्ञ श्रीमदनलालजी चतुर्वेदी ने लिखा है—"रत्नाकरजी की कविता में मनोविज्ञान का स्वाभाविक वर्णन है। मानुषी और प्राकृतिक, दोनो प्रकार के मनोविज्ञानों से कविता परिपूर्ण है।" लेकिन हमें खेद के साथ कहना पड़ेगा कि यहाँ तो न केवल मनोविज्ञान के साधारण सिद्धांत की कपालक्रिया की गयी है, बल्कि एक कवि के बनाये हुए एक मनोहर मनोवैज्ञानिक चित्र को विकृत कर डाला गया है। सद्यःवैधव्य को प्राप्त हुई युवती के जीवनधन प्रणय-सरोवर वीर प्रणयी की मृत्यु—जिसके सामने लंबा-चौड़ा किंतु शून्य और निराश अंधकारमय बीहड़ पथ पड़ा हुआ है; कोई आशा नहीं है, कोई अवलंब नहीं है और जिसकी अभिलाषाएँ अभी तृप्त नहीं हो पायी हैं—यदि उस पर वज्रपात की तरह हुई हो, तो स्वाभाविक ही है। उसके सामने उसके प्रियतम की प्रतिकृति—छोटे भोले बच्चे—को लाकर शोकातिरेक से जड़ता को प्राप्त हुई कोमलांगी के हृदयावेग को बह आने के लिए विवश करना सचमुच मनोविज्ञान का सूक्ष्म चित्रण है। उधर युवती के स्थान पर रत्नाकरजी ने वृद्ध-थकित-पौरुष नरेश को चुना है। उनके अंदर वात्सल्य के स्रोत को बहाने के लिए भी फिर ठीक ही आपको हृष्ट-पुष्ट, पूर्ण युवक वीर अंशुमान को लाना पड़ गया है। पर क्या मनोविज्ञान भी आपकी सुरुचि के साथ-साथ चल सका है? श्रीपं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने कहा है—'यदि पद्माकर ने एक हज़ार स्वर्णमुद्राएँ काशी के पंडों को दान कर दी थीं, तो रत्नाकरजी ने भी एक हज़ार रजतमुद्राएँ (रुपये) काशी-नागरी-प्रचारिणी को दान कर दी हैं।' अतएव हीन उपमान की तरह हीं

अनुकरण मानकर हम भी चाहें, तो इस वैज्ञानिक युग में, ब्रजभाषा के पतझड़ के समय, भले ही वैसा कर सकते हैं। और भी कतिपय भावापहरण के उदाहरण इस ग्रन्थ में से दिये जा सकते हैं। स्वयं मदनलालजी चतुर्वेदी ने भी इस प्रकार हमारे कथन का समर्थन किया है—"बातें वे ही पुरानी हैं, जो स्फुट छंदों में कभी-कभी, समय पर, अन्य कवि भी कह गये हैं, पर ऐसा सुंदर चित्र शायद ही किसी ने खींचा हो। बिहारी के दोहों और महाविरों को आपने खूब निभाया है। × × विशेषतः पद्माकर, बिहारी और ग्वाल कवि के भावों की झिलमिली छाया झलक जाती है।"

श्रीमदनलालजी चतुर्वेदी के उक्त लेख को यदि आलोचना न कहकर केवल 'गंगावतरण' की प्रशंसा कहें, तो हम अवश्य ही उनके साथ न्याय करेंगे। आपने एक स्थल पर 'गंगावतरण' की उत्कृष्टता और उपयोगिता सिद्ध करते हुए लिखा है—"जायसी का 'पद्मावत' कथानक काव्य है, पर उसकी भाषा अच्छी नहीं, भावों में ठौर-ठौर पर ज़रूरत से अधिक आध्यात्मिकता की पुट दी गयी है और कहीं-कहीं पर तो संगति भी नहीं बैठती।" ठीक है, पर आपने शायद यह नहीं ध्यान रक्खा कि आप किस काल के ग्रंथ पर और किस समय की भाषा के अनौचित्य का दोष आरोपित कर रहे हैं! इस तरह तो आजकल खड़ीबोली के युग में 'गंगावतरण' पर भी वैसा कथन करनेवालों की कमी नहीं है। जायसी के उक्त ग्रंथ में समय के लिहाज़ से जो कुछ है, वह अपूर्व है। उसने तुलसी-जैसे महाकवियों का मार्ग निर्दिष्ट किया है। उसकी-जैसी मौलिकता हिंदी-साहित्य में दुर्लभ है। सच तो यह है कि प्राचीन प्रेमियों ने अभी अर्वाचीन काव्य-साहित्य का अध्ययन क्या, अवलोकन तक नहीं किया है। 'नैया बिच नदिया डूबी जाय' समझने में जिन्हें ज़रा भी कष्ट नहीं होता, वे ही 'विकल वेदना' में दर्दे-जिगर का बहाना कर देते हैं। इन बातों से यह कहने को बाध्य होना पड़ता है कि इस तरह के कथनों में अध्ययन कम और परंपरा का प्रभाव अधिक रहता है; नहीं तो श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी-जैसे 'घासलेटी' के विरोधी भी उसी को रत्नाकरजी की कविता में पाकर उसे कवि की एक विशेषता ही क्यों बतलाते! 'समरथ कहँ नहिं दोष गुसाईं'—गोस्वामीजी का यह वाक्य इस मर्म की अच्छी व्याख्या कर सकता है। आजकल का कोई छायावादी कवि 'ऊरुनि की हचक सु उचक उरोजनि की, लंक की लचक औ मचक मचकीनि की' लिख देता (जो संभव नहीं), तो साहित्य-जगत् की सुरुचि को गहरी ठेस लग जाती! क्यों न? चूँकि एक महाकवि रत्नाकरजी की अमर लेखनी से यह निकल गया है, इस वास्ते—'आख़िर शृंगार-रस भी जीवन के लिए एक अत्यंत आवश्यक रस है × × शृंगार-रस तो आदि सृष्टि से है और अंत तक रहेगा—ऐसा चतुर्वेदीजी को कहना ही पड़ गया। इस प्रसंग में आपने शृंगार के विरोधियों को 'दंभी, अरसिक और आवश्यकता से अधिक भोलेपन' का सर्टीफ़िकेट भी दे दिया है। इसमें भी आपकी भावुकता का ही अधिक हाथ है। शायद आप बहुत जल्दी प्रभावित हो जाते हैं। छायावाद का सचमुच तब तक दुर्भाग्य ही समझिए, जब तक चतुर्वेदीजी-जैसा भावुक हिमायती उसे नहीं मिलता!

यदि ग्राम्य-प्रयोग भी कोई दोष होता है, तो 'गंगावतरण' में ऐसे प्रयोगों का भी अभाव नहीं है।

संपूर्ण ग्रंथ में अंतिम कुछ सर्ग, जहाँ पर वर्णन-विशेष है, पढ़ने में मन लगता है। बाबू भारतेंदु के ढंग पर उत्प्रेक्षाओं की अच्छी बहार है। सच पूछो, तो इस महाकाव्य के पहले कुछ सर्ग, जिनमें कोरी कथा है, निकाल दिये जाते, तो ग्रंथ के मूल्य में कुछ अंतर न आता। पहले के सर्गों में तो ज़बरदस्ती कविता का छकड़ा खींचा गया है। जैसे—

अंसुमान की मंजु बचन-रचना-चतुराई।
सुनि खगपति मति-सींव फड़कि गुनि ग्रीव हलाई॥
सुमिरि गंग-गुन-रूप भये सुख-मगन एक छन।
पुनि सँभारि उर धारि धीर बोले प्रमुदित मन॥
अहो तात! हम कहा गंग की बात चलावैं।
सहस सारदा सेस जाहि कहि पार न पावैं॥
पूरन ब्रह्म-स्वरूप बिगत-बकवाद वही है।
निर्गुन-सगुन-विवाद-बीच मर्जाद वही है॥

जिस प्रकार रत्नाकरजी स्वयं झूम-झूमकर कविता पढ़ते हैं, कुछ उसी तरह का आपने अपनी सारदा का वर्णन किया है—

लगी सारदा प्रेम-पुलकि कल कीरति गावन।
बीणा मधुर बजाइ झूमि नूपुर झनकावन॥

तथा यह हाल देखकर,

भई सभा सब दंग रंग ऐसो कछु माच्यो।
प्रेमानंद अमंद मनहुँ तहँ तन धरि नाच्यो।

राजा भगीरथ की कठिन तपस्या पर मुग्ध हुए भगवान् शंकर का वर्णन सुनिए—

आतुर चले उमंग भरे भंगहु नहिं छानी।
कृपा-कानि बरदान देन हित हिय हुलसानी॥
डगमग पग मग धरत तजे वरदहु हरबर सौं।
आये तिहिं वन सघन विभूषित जो नरबर सौं।

अब ज़रा 'सुरुचि' की दुहाई देकर भागीरथी के पवित्र तट पर नहाती हुई स्त्रियों का वर्णन भी पढ़ लीजिए—

धारे सहज सिंगार गात गोरे गदकारे।
बिहँसत गोल कपोल लोल लोचन कजरारे॥
सुन किरवा की आड़ ताड़ तरकी तरपीली।
ठाढ़े गाढ़े कुचनि चिहुँटनी-माल सजीली॥
कोउ अन्हाति सकुचाति गात पट-ओट दुराये।
कोउ जल-बाहिर कढ़ति सु-उर-ऊरुनि कर लाये॥
कोउ ऐंड़ति इतराति उच्च-कुच-कोर उचावति।
लचकावति कोउ लंक बंक भृकुटी मचकावति॥
कोउ पैंठति तन तोरि छोरि अँगिया कोउ बैठति।
कोउ उमैठति भौंह सौंह करि कोउ जल पैठति॥
कोउ निबटति कटि-तट समेटि चटपट गुभरौटा।
हँसति धँसति जलधार कसति कोउ कलित कछौटा॥
कोउ ऊरुनि बिच दाबि बसन गीले गहि गारति।
उसरत पट कटि उरासि संक-युत बंक निहारति॥
कोउ लंकहि लचकाइ लचकि कचभार निचोरति।
मरकत-बल्लिनि मीड़ि मंजु मुकताफल झोरति॥

इस संबंध में हम श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी के कथन के अनुसार यही कहेंगे कि हमें व्यक्तित्व को एक ओर रखकर उनके काव्य की ही मीमांसा करनी चाहिए। उसी के गुण-दोषों की विवेचना से हमारा मतलब होना चाहिए।

'गंगावतरण' के चरित्र-चित्रण की भी लोगों में बड़ी धूम है। कोई प्रमाण उद्धृत न किये जाने से समालोचकों की बात दूसरों की समझ में नहीं आती। क्या-क्या खूबियाँ हैं, यह किसी ने दिखाने का प्रयत्न नहीं किया। एक महादेव की तैयारी का वर्णन ही मुख्य कहा गया है, पर शंकरजी का अलौकिक रूप और उनकी मस्तानी भोली तबियत का चित्रण हिंदी और संस्कृत-साहित्य के लिए कोई मौलिक कल्पना नहीं है। सच पूछो, तो ग्रंथ में कथा-भाग और वर्णन ही अधिक है। उसमें चरित्र-विश्लेषण का प्रयास बहुत ही कम किया गया है। जहाँ कहीं किया भी गया है, वहाँ पात्रों का व्यक्तित्व अलग नहीं रक्खा है, जैसे 'प्रिय-प्रवास' में। उपाध्यायजी के ग्रंथ में यशोदा माता हैं, राधिका और उनकी सहेलियाँ विरहिणी व्रजांगनाएँ हैं, नंद और वयस्क गोप पिता हैं। आदि से अंत तक उनकी स्वाभाविकता की रक्षा का कवि ने ध्यान रक्खा है। पुरुषों की शोभा गंभीरता में तथा स्त्रियों की दयार्द्रता एवं अश्रुप्रवाह में ही रहती है; पर 'गंगावतरण' के सभी पात्रों की भावुकता रत्नाकरजी की अपनी भावुकता है, यहाँ तक कि गरुड़ भी बात सुनते ही रो पड़ते हैं—

अंसुमान के वैन वैनतेयहिं अति भाये।
सगर सुतनि कौं सुमिरि सोचि लोचन भरि आये॥

अब रहा कथा-विन्यास, वह तो एक तीन आने के मज़दूर द्वारा निर्मित संगमरमर का महल है। इसका मुख्य कारण है ग्रंथकार का आधुनिक कथा-शैली से अपरिचित होना। पुनरुक्तियों को बचाने का प्रयास नहीं किया गया है, कलापूर्ण 'फ़िनिश' कहीं भी नज़र नहीं आता।

किसी भी चरित्र में हृदय पर छाप लगानेवाला बल न होने से कोई सुंदर स्थायी आदर्श हृदय पर अंकित नहीं होता। सारा ग्रंथ बहुत जी लगाकर पढ़ जाने के बाद मालूम पड़ता है, जैसे एक बड़ा भारी बोझा उतर गया हो।

थोड़े में 'गंगावतरण' व्रजभाषा की दृष्टि से सुंदर ग्रंथ है। भावों की मौलिकता जहाँ है, वहाँ विशेष बल नहीं है। वर्णन अच्छा है; अंतिम कुछ सर्ग सुंदर हैं। कथा ढीलीढाली और लचर है। हरण किये गये भावों को सफलता से अंकित नहीं किया जा सका है। चरित्र-विन्यास का कम प्रयास किया गया है, और वह भी सफलता के साथ नहीं। जहाँ केवल कथा के लिए रचना की गयी है, वे स्थल बहुत ही लचर हैं। रत्नाकरजी का हिंदी में जो स्थान समझा जाता है, उसके अनुकूल यह ग्रंथ नहीं हुआ है।

द्रौपदी-चीरहरण

[पं० रमाशंकर दीक्षित 'रमेश']

(१)

कैसे कै बखानिहौ बिसद बीरता की बातैं,
धीरता गँभीरता की चरचा चलाइहौ ;
प्रबल प्रचण्ड भुजदण्ड को अखण्ड बल,
कैसे महिमंडल में गाइ जस छाइहौ।
बसनविहीन दुरजोधन की जंघ बैठी—
देखि-देखि कहौ कौन कीरति कमाइहौ ;
बीच सभा आज लाज जायगी हमारी जु पै,
पाँचौ जन पंचन को मुँह का दिखाइहौ।

(२)

बधिर भये हैं कैधौं मूक ह्वै गये हैं कैधौं,
देखत न कैधौं गयो ज्ञान औ विवेकहू ;
खैंचत दुसासन हमारी हाय सारी तऊ—
बैठे चुपचाप कोऊ बोलत न नेकहू।
रोय-रोय द्रौपदी पुकारि कहै बार-बार—
अब ना रहति लाज जतन अनेकहू ;
पाँच-पाँच पति पति लेन को हमारे अहैं,
पति राखिबे को ना दिखात पति एकहू।

(३)

धारि गिरि नख ब्रज बूड़त बचैबे की, औ
दावानल पान की प्रतीति उठी जाति है ;
मानिहै न कोऊ गजराज को उबार्‌यो तुम,
कूबरी कहानी हू बृथा ही भई जाति है।
राजा कियो रंक तें सुदामा को बिदित जग,
बात यह सोऊ आज झूठी परी जाति है ;
आओ बनवारी लाज राखहु हमारी, न तौ-
कीरति तुम्हारी सारी सारी साथ जाति है।

(४)

अंबर हरन मेरो आयो नीच एरे, तेरो
चूर-चूर सिगरो गरूर करि देहौं मैं ;
रहि जैहै अंत खिसियाइ ना चलैगो बस,
उलटो कलंक हारि आनन लगैहौं मैं।
होइगो न पूरो प्रन मूढ़ दुरजोधन को,
भूरि-भूरि जग उपहास करवैहौं मैं ;
खींचु-खींचु सारी मो अनारी तू दुसासन रे,
जौलौं हैं मुरारी ना उघारी तौलौं ह्वैहौं मैं।

हिंदू और मुसलमानों की प्रगति

[श्री० जी० एस्० पथिक बी० कॉम]

संसार में हिंदुओं की प्रगति शून्यवत् है। उनकी अपेक्षा मुसलमानों की प्रगति कितनी अद्भुत है, उसे देखकर आश्चर्य होता है। यह बात सत्य है कि किसी समय संसार के बहुत बड़े भूभाग में मुसलिम राजसत्ता और इस्लाम की तूती बोलती थी; पर आज भी तो मुसलमान शांत नहीं हैं। हिंदू तो अपनी राजसत्ता खोकर आज सर्वनाश की खोह में पड़े हुए हैं, किंतु मुसलमान समय की प्रगति के अनुसार अपनी धार्मिक कट्टरता त्याग कर इस बीसवीं शताब्दी में नवीन उपायों से धर्म-प्रचार कर रहे हैं। भारतवर्ष को छोड़कर संसार के अन्य देशों में न तो हिंदुओं के कोई नवीन मंदिर हैं और न उनका धर्म-प्रचार ही होता है। लंदन में आर्य-मंदिर की स्थापना के लिए इस देश में ग़ज़ब का तूफ़ान आ गया था। इंदौर के भूतपूर्व महाराज सर तुकोजीराव व डाक्टर कुर्तकोटी विदेशों में हिंदूधर्म-प्रचार की बात घोषित करके ही रह गये। हिंदुओं में किसी से कुछ करते धरते नहीं बना। जहाँ हमारा छोटा-सा मंदिर है, उसी लंदन-शहर में मुसलमानों के प्रयत्न से इस्लाम मज़-बूती से पैर पसार रहा है। इससे इँगलैंड के लोगों का ध्यान इस्लाम की ओर अधिक-से-अधिक आकर्षित होता जाता है और वे इस्लाम की ख़ूबियों पर दिलो-जान से गहरा अनुराग बतला रहे हैं। ईस्ट डलविक (East Dulwich) फ़्रेनविक रोड पर स्थित एक विशाल भवन में मुसलमानों की मसजिद है। यहाँ रमज़ान के महीने में रोज़ नमाज़ और अन्य प्रदर्शन बड़ी ख़ूबी से होते हैं। यहाँ पर मुसलमानों की जो कोशिशें होती हैं, उनका असर अँगरेज़ों पर अच्छा पड़ता है।

सब धार्मिक कृत्य उसी ढंग से होते हैं; किंतु वहाँ करने का तरीक़ा कुछ और होता है। बड़ी गंभीरता और सम्मान के साथ सब कार्य होते हैं। डाक्टर ख़लील शेलडेक, जो असल में अँगरेज़ हैं, इस मसजिद के कट्टर इमाम हैं, उन्होंने ख़ूब ख्याति प्राप्त कर ली है, अँगरेज़-मुसलमानों में उन्हें ही शेख़ का पद मिला है। इमाम साहब मसजिद-भवन के ऊपर के हिस्से में रहते हैं। वह उस हर नमाज़ में उपस्थित होते हैं, जिसमें इँगलैंड में आनेवाले संसार-भर के मुसलमान शामिल होते हैं। जब रमज़ान महीने के रोज़े चलते हैं, तो मसजिद में हर रोज़ पाँच वक़्त नमाज़ होती है। वहाँ भी लोग सूर्यास्त तक कुछ खाते पीते नहीं हैं। जिस दिन रोज़े पूरे होते हैं, उस दिन सारी रात क़ुरान पढ़ी जाती है। इस मसजिद की दीवार पर अरबी लेख लिखे हुए हैं, और कुस्तुनूतुनिया के तुर्कों की तरफ़ से एक विशेष लेख लगाया गया है। एक पुस्तकालय भी है, जिसमें अनेक योरपियन और एशियाई भाषाओं का मूल्यवान् संग्रह है। पश्चिम में इस्लाम को "महोमडेनिज़्म" कहते हैं।

चीन में आज भी इस्लाम का व्यापक प्रभाव है। चीन का धर्म ऐसा है कि ईसाई आज तक भी उसे अच्छी तरह से नहीं समझ पाये हैं। वहाँ हज़रत मूसा की शिक्षा का कोई प्रभाव पड़ा हो, ऐसा ज़रा भी नहीं दिखायी देता। चीन में बुद्ध-धर्म का विस्तार है। वहाँ इस्लाम का प्रसार एक हज़ार वर्ष से ही जारी है। चीनियों का बहुत बड़ा भाग इस्लाम के सिद्धांतों से परिचित हो गया है। प्रतिवर्ष मक्केशरीफ़ में हज करने के लिए जानेवालों में चीनी-मुसलमानों की संख्या बहुत ज़बर्दस्त होती है। चीन की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट से यह पता चलता है कि वहाँ के मुसलमानों की संख्या सात करोड़ है।

चीन में दो जातियों के धर्म-प्रचारक अपने-अपने धर्म के प्रचार में लगे हुए हैं। एक ईसाई-धर्म का प्रचार करते हैं, और दूसरे मुस्लिम-धर्म का। इन दोनों में मुसलमानों को अधिक सफलता मिली है। इसी से चीन का एक बहुत बड़ा भाग मुसलमान हो गया है। शंघाई के "इंटर नेशनल मुस्लिम-एसोसिएशन" के संचालक श्रीयुत सकुमा का कहना है कि

चीन में इस्लाम का अत्यधिक प्रचार हो रहा है। यदि यही प्रगति रही, तो एक सदी में ही चीन में इस्लाम वहाँ दूसरे धर्मों से भी प्रबल हो जायगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। बौद्ध-धर्म के सिद्धांतों की ओट में ही वहाँ मुसलिम प्रचारक कुरान का संदेश—सुलह और शांति का—देते हैं।

फ्रांस में मुसलमानों की बहुत बड़ी बस्ती है। मोरोक्को और अल्जीरिया आदि के मुसलमान हज के लिए मारसेल्स के रास्ते से आते जाते हैं। यहाँ मुसलमानों की खूब आबादी है। इसी फ़्रांस में मुसलमानों की रक्षा के लिए La Fraternite Musulmane-नामक एक संस्था खुली है। यह संस्था इंटरनेशनल कार्य करने के अलावा ईद और मौलूदों का खूब प्रचार करती है, मुसलिम-धर्म का आंदोलन वहाँ के लोगों में करती है। फ्रांस के इस रास्ते से गुज़रनेवाले हाजी-मुसलमानों के लिए इस संस्था की ओर से मारसेल्स में सब प्रकार का प्रबंध रहता है। यदि उनके पास किराया कम हो जाता है, तो धन से भी सहायता दी जाती है। जो मुसलमान पेरिस या फ़्रांस के किसी हिस्से में रहना चाहते हैं, उनके लिए यथाशक्ति काम खोज दिया जाता है। यह संस्था ही पेरिस में मुस्लिम क़ब्रों की देखभाल रखती है। यहाँ क़ब्रें "पेरे ला एस"-नामक मशहूर जगह में हैं। इस संस्था में मुहम्मद बे-सेलम ने खूब काम किया। इस प्रसिद्ध मुसलमान ने ही मिस्र की इंटर-नेशनल ट्रिब्युनल को एक ज़बर्दस्त संस्था बना दिया है। आज दोनों संस्थाओं की अच्छी आर्थिक अवस्था सेलम साहब के अथक प्रयत्न के कारण है। शाहज़ादी इफ़्टे और शाहज़ादी अज़ीज़ा ने इस संस्था को खूब धन दिया। इसके अलावा फ्रेंच-मुसलमान डिनेट और दूसरे जनाब इब्राहिम, फ़्रांस में मुसलमानों की उन्नति के लिए जी-जान से प्रयत्न कर रहे हैं। यह संस्था देश-विदेश की राजनीति से बिलकुल अलग रहती है। मि० फ़ील्स, जिनका मुसलमानी नाम अब्दे अलाहक़ है, इस संस्था के उपाध्यक्ष हैं। उन्होंने "डायरी आफ़ ए सैं" और फ़ेसंट आदि कई पुस्तकें लिखी हैं। इन पुस्तकों के द्वारा फ़्रांस में इस्लाम का प्रचार हुआ है। पेरिस की मसजिद इसी संस्था के प्रयत्न से तैयार हुई है। इस मसजिद के इमाम और मुफ़्ती आगंतुक लोगों का प्रशंसनीय सत्कार करते हैं। पेरिस के मुसलमानों के लिए Monsieur L. Masijnon ने एक फ्रेंच पुस्तक La Revue du Monle Musalman लिखी है। इस पुस्तक की यह खूबी है कि उससे दुनिया के मुसलमानों का परिचय मिल जाता है। बड़ी मेहनत से यह पुस्तक लिखी गयी है। धन भी खूब ख़र्च हुआ। इस पुस्तक में संसार के सब भागों का वर्णन है, और एक दृष्टि डालते ही तुरंत विदित हो जाता है कि अमुक देश में मुसलमानों की कितनी बस्ती है, वहाँ के कौन-कौन इमाम हैं, वहाँ के प्रसिद्ध मुसलिम कार्यकर्ता कौन-कौन हैं, कितनी संख्या में मुसलमान हैं, मुसलमान कितना व्यापार करते हैं और उनके कितने स्कूल आदि हैं। फ़्रांस में मुसलमानों की आबादी जितनी सोची जाती है, उससे कहीं अधिक है। उनमें से कितने ही फ़्रांसीसियों के कारख़ानों के हिस्से-दार हैं। योरप के अन्य देशों में भी मुसलमान व्यापारी बहुत तादाद में दृष्टिगोचर होते हैं। जर्मनी के प्रसिद्ध बंदरगाहों में मुसलमानों का रोज़गार खूब चमका है।

आस्ट्रेलिया में भी मुसलमानों का प्रसार है। जब यह देश अँगरेज़ों के क़ब्ज़े में आया था, तब बिलकुल वीरान था। वहाँ के असली बाशिंदे जंगली हैवान-सदृश रहते थे और जानवरों के बीच में छोटी-छोटी टोलियों में रहते थे। आस्ट्रेलिया में धीरे-धीरे योरपियनों के पैर जमाने पर एशियाई लोगों की मदद की ज़रूरत पड़ी; क्योंकि उनके बिना योरपियन आस्ट्रेलिया का सुधार नहीं कर सकते थे। इससे वहाँ भारतीय मुसलमान, अफ़ग़ान और बलूची-मुसलमान लगभग प्रत्येक वर्ग के पहुँच गये और अनेक प्रकार से योरपियनों की सहायता करने लगे। उस वक़्त वहाँ न तो रास्ता था और न रेल। एशियाई वहाँ ऊँट और घोड़ों से व्यवसाय कर अंदर का माल लाकर योरपियनों को घाटों पर देने लगे। इन एशियाइयों में मुसलमानों की संख्या प्रभावशाली है। वहाँ खेती और व्यापार में मुसलमान लग गये हैं। आफ़्रिका और अन्य प्राचीन मुसलिम-प्रदेशों के अलावा मुसलमानों ने अमेरिका में भी पैर जमाया है। वहाँ के सिनेमा नगर 'हालीवुड' में फ़िल्मों के डायरेक्टर मिस्टर रेक्स इनग्राम सिनेमा को छोड़कर मुसलमान हो गये। उनके मुसलमान होने पर अमेरिका में तहलका मच

गया था, पर धीरे-धीरे उनके साथ और भी अमेरिकन मुसलमान बन गये। मि० इनग्राम ने मुसलमान होने के समय एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने बहिश्त के दर्शन का उल्लेख किया है। इस्लाम के स्वर्ग में ऊँची आत्माओं के अलावा नीचे दर्जे की आत्माओं को भी कम-से-कम अस्सी हज़ार गुलाम और औरतें तो अवश्य मिलती हैं। ये हूरें बहुत खूबसूरत होती हैं। मि० रेक्स इनग्राम कई औरतों के साथ ज़िंदगी का मज़ा उड़ाने की ख़्वाहिश न भी रखते हों, किंतु अन्य अमेरिकन और योरपियन इन औरतों के लिए ही मुसलमान बनते हैं, ऐसा निःसंकोच कहा जा सकता है। ईसाई रहकर एक औरत से योरपियनों को गुज़ारा करना पड़ता है, इसलिए अधिक औरतों से शादी होने का प्रलोभन बहुत ज़बर्दस्त है।

जहाँ इस्लाम की यह प्रगति है, वहाँ हिंदू-धर्म भारतवर्ष में ही चीण होता चला जा रहा है। बत्तीस करोड़ में से २२ करोड़ हिंदू रह गये हैं, जिनमें से सात-आठ करोड़ अछूत, मुसलमान और ईसाई बनने के मार्ग में हैं। ऊँची जाति के हिंदू मूर्खतावश उन्हें स्वयं ही लकड़ी मारकर हिंदू-धर्म से निकाल रहे हैं। जब घर की यह हालत है, तब चीन, जापान, ब्रह्मदेश और श्याम के बौद्ध-हिंदू किस प्रकार हिंदू कहलाये जा सकते हैं। संसार-भर के मुसलमानों की जन-संख्या तेंतीस-चौंतीस करोड़ है, किंतु हिंदू एक होकर खड़े हो जायँ, तो आज साठ-सत्तर करोड़ से कम नहीं हैं। हमारा मुसलमानों से संसर्ग होने के पूर्व सारा सीमाप्रांत हिंदुओं के अधिकार में था। अफ़ग़ानिस्तान, बलूचिस्तान पूर्णरूप से हिंदू-धर्मानुयायी थे। इतिहास से पता चलता है कि १०२० तक काबुल और कंधार के राजा ब्राह्मण और चत्रिय हुए हैं। पर आज हम क्या पाते हैं! सारा अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान मुसलमान बन गया। उत्तर में काश्मीर और पश्चिम मे सिंध इतनी अधिक संख्या में मुसलमान बन गये हैं कि काश्मीर में मुश्किल से तीन या पाँच सैकड़ा हिंदू हैं और सिंध में अधिक-से-अधिक ६ सैकड़ा। यह वह काश्मीर है, जहाँ प्राचीन-काल में वैदिक ऋचाओं का पाठ होता था, आर्य-सभ्यता का घर था। आज हम उसे पूर्णरूप से इस्लाम में डूबा देखते हैं। तीस करोड़ की संख्या में से सात करोड़ मुसलमान बन ही गये हैं, और हिंदुओं की बदौलत ही मुसलमानों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ रही है। सिंध, पंजाब और मालाबार तथा संयुक्त-प्रांत को अलग रखकर बंगाल की हालत देखिए। पचास वर्ष पूर्व बंगाल में ७० सैकड़ा हिंदू और ३० सैकड़ा मुसलमान थे। किंतु अब क्या अवस्था है? हिंदू बेतरह घट गये और मुसलमान बढ़ गये। आज बंगाल में मुसलमानों की संख्या ५५ सैकड़ा है और हिंदुओं की ४५ सैकड़ा। पूर्व बंगाल में तो हिंदुओं की संख्या १० व १५ सैकड़ा से अधिक ही नहीं है। कोई भी आदमी एक बार देखकर कह सकता है कि बंगाल हिंदू-प्रांत नहीं है। यदि यही प्रगति रही, तो अगले पचास वर्ष में बंगाल का क्या होगा! बंगाल दूसरा काश्मीर बनने के मार्ग में है। बंगालियों ने बम और पिस्तौलों से सरकार को तो हैरान किया, किंतु वे मुसलमानों की लाठियों को नहीं दबा सके। मुसलमानों की तंजीम से हिंदुओं की अपार हानि हुई। उनकी संख्या और शक्ति दोनों का ह्रास हुआ। हिंदुओं के हाथ से अफ़ग़ानिस्तान निकल गया, मानों हिंदू-सैनिक-शक्ति नहीं रही। ये अफ़ग़ान जो हिंदू थे, हिंदू-धर्म के बहादुर लड़ाके थे। जब उन पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा, तब ये अपने प्राचीन धर्मवालों से लड़ने उतर आये। आज अफ़ग़ानों को दो-तीन शताब्दी पूर्व के अपने असली धर्म का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इन्हीं अफ़ग़ानों ने हिंदू-धर्म और हिंदू-सभ्यता के लिए प्राण दिये थे—इतने निर्भय होकर हिंदू-धर्म के लिए लड़ते थे कि सारा संसार उनका लोहा मानता था। जब उन पर इस्लाम का असर हुआ, तब हिंदुओं ने उसे मिटाने का कुछ भी उपाय नहीं किया। काश्मीर, मालाबार और पंजाब में भी वही हुआ। पंजाब में सिखों ने और दक्षिण में मराठों ने मुसलमानों के, बढ़ते हुए वेग को रोका था। इतने पर भी मुसलमान सब प्रांतों में फैल गये। गुजरात में जातियों-पर-जातियाँ मुसलमान बन गयीं। बोहरा, कच्छी, खोजा और मेमन सब हिंदुओं की उच्च जातियों में से हैं। बोहरों को तो अब भी कहते हैं कि वे औदीच ब्राह्मण थे। अफ़ग़ानिस्तान और अन्य भागों के चत्रियों के मुसलमान बन जाने से भारतवर्ष में इस्लाम को शूरवीर धर्मानुयायी मिल गये



भविष्य की छाया !

'आसी' ग़मे-आख़िरत का क्या रोना है,
मरकर [illegible] पर सोना है।

[चित्रकार— [illegible]

है। इधर लड़नेवालों की कमी नहीं रही, उधर काश्मीर के पंडित और गुजरात के वैश्यों के मुसलमान हो जाने से विद्या और धन-उपार्जन करनेवाले भी आ गये। इस प्रकार इस्लाम निःशंक होकर भारतवर्ष में अपने पैर फैला रहा है। वे अछूत, जिन्हें हिंदुओं ने छूत कर दिया है, बराबर मुसलमान बनते जा रहे हैं। इस्लाम में उनके जाने से भारतवर्ष में मुसलमान ईसाइयों की संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ती जा रही है। इन ईसाइयों की बदौलत भारतवर्ष में इस्लाम वृद्धि पा रहा है।

राष्ट्रीय हिंदू-नेताओं ने जब से अछूतोद्धार की आवाज़ बुलंद की, तब से मुसलमानों के हौसले और भी बढ़ गये। मुसलमानों को उनका मज़हब सिखाता है कि इस्लाम ही सच्चा मज़हब है और अन्य मज़हब; विशेषतः मूर्तिपूजक हिंदू-धर्म, मिथ्या है। इसलिए हिंदू काफ़िर हैं। इस प्रकार प्रत्येक मुसलमान स्त्री और पुरुष इस्लाम के प्रचारक हैं। हर एक मुसलमान को यह सिखाया जाता है कि यदि उसे हिंदू काफ़िर इस्लाम कबूल करने के लिए मिल जाय, तो उसे अल्ला के यहाँ बड़ा दर्जा मिलता है। इस विश्वास से अब तक मुसलमानों को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। हमारी अधार्मिकता, बेपर्वाही और अयोग्यता से उन्होंने खूब लाभ भी उठाया। भक्ति और अहिंसात्मक भावों की वृद्धि और छूआछूत तथा नीच-ऊँच के भावों से भारतवर्ष में इस्लाम को खूब विजय मिली है। उनका काम बराबर जारी है। एक-एक ईंट से वे अपनी जाति को बढ़ाते जाते हैं। बिना किसी शोरगुल के वे यह सब कर रहे हैं। आज उन्हें यह यक़ीन हो गया है कि इन सात करोड़ अछूतों को तो वे बहुत जल्दी पचा लेंगे। वे यह कहते हैं कि जिस दिन हमारी संख्या हिंदुओं के बराबर पहुँच जायगी, उस दिन उनका सिर नीचा कर देंगे। इस प्रकार मुसलमान भारतवर्ष में सारे हिंदू-भारत को इस्लाम में लाने की चिंता में हैं। वे तब तक स्वराज्य भी नहीं चाहते हैं; और चाहते भी हैं तो हिंदुओं को पूर्णरूप से दबाकर। कारण, वे यह जानते हैं कि स्वराज्य की एसेंबली में मुसलमानों की संख्या २५ और हिंदुओं की ७५ होगी। मुसलमान हिंदुओं को खूब पहचानते हैं; बजाय इसके कि हिंदू हिंदू को पहचानें। कट्टर हिंदुओं की मूर्खता से मुसलमानों ने अच्छा लाभ उठाया। आज हम देखते हैं कि मुसलिम-जाति मनुष्यों की भूखी है और वह हिंदुओं को आत्मसात् करने में लगी है। चाहे जो भी उपाय हों, किंतु उससे सफलता मिलनी चाहिए; फिर मुसलमान उसे इस्तेमाल में लाने से नहीं चूकते। आज इस प्रकार की मुसलिम प्रवृत्ति है। इधर हिंदू-मनोवृत्ति दूसरी ही है। हिंदू स्वराज्य के लिए बलिदान हो रहे हैं, ठीक है; किंतु क्या प्रत्येक हिंदू स्वयं एकांत में यह भी सोचता है कि वह हिंदू-स्त्रियों और मंदिरों को मुसलमानों की लाठियों से बचा सकेगा? उनके पूर्ण स्वतंत्रता-संग्राम के समय में भी मुसलिम-लाठियाँ और छुरे ढाके में चलते हैं। आज का कायर हिंदू-समाज हिंदू-स्त्रियों को निराधार छोड़कर भाग खड़ा होता है। उस गाँव में भी तो हिंदू सताये जाते हैं, जिसमें मुसलमानों की संख्या मुश्किल से एक दशांश होती है। उसमें भी हिंदुओं को मुसलमानों के त्रास में रहना पड़ता है। वे गाँवों में भी कोई सामाजिक और धार्मिक जुलूस मसजिद के आगे से नहीं निकाल सकते। तब वह यह सोचते हैं कि उनके सिर एक तीसरी ताक़त के बीच में पड़ने से फूटने से बचते हैं। इसके उपरांत यह देखा जाता है कि गाँव के हिंदू, मुसलमानों से दसगुना होने पर भी, इतनी अधिक जातियों में बँटे हुए हैं कि उनमें से प्रत्येक जाति को मुसलमानों से भय खाना पड़ता है। उधर गाँव के मुसलमानों में भ्रातृभाव है और सब एक होकर रहते हैं। यदि गाँव का कोई हिंदू मुसलमान की चपेट में आ जाय, तो मुसलमान हमेशा अधिक होते हैं। बड़े भाग्य से इने-गिने हिंदू बचाने आते हैं। उधर मुसलमानों का तो बच्चा-बच्चा दौड़ पड़ता है। वे तो अपना धार्मिक कर्तव्य समझते हैं कि हिंदुओं को इस्लाम की छाया में ले आवें। मुसलमानों के लिए सारा विश्व उनके घर का है और उसकी तमाम वस्तुएँ उनके सुखभोग के लिए हैं। दूसरी ओर हिंदुओं को प्रत्येक क्षण अपवित्र होने की आशंका रहती है। यदि राम और कृष्ण को माननेवाले अछूत उन्हें छू लें या उनके भोजन पर इनकी छाया पड़ जाय, तो उन्हें प्रायश्चित

कर शुद्ध होना पड़ता है ! इधर मुसलमान उसी अछूत के सिर की चोटी कटवा देते या उसके मुँह में मांस का टुकड़ा धर देते या सिर्फ़ यह कह-भर देते हैं कि उसने उसके हाथ से खा लिया है। और, बस वह मुसलमान बन जाता एवं तुरंत यह ख़याल करने लग जाता है कि उसके पैतृक धर्म ने उसे छोड़ दिया। उसे हिंदू-समाज में कोई स्थान भी नहीं मिलता और निरुपाय होकर मुसलमानों के आश्रय में जाना पड़ता है। गाँव में हिंदुओं की एक बारात जाती है, जिसमें स्त्री और पुरुष—सब होते हैं। मार्ग में मुसलमान गुंडे युवा लड़कियों पर आ टूटते और उनका सतीत्व अपहरण कर लेते हैं। दंगा देखकर पुलीस आती है, और गुंडे भाग जाते हैं। शांति स्थापित होती है। उनके बाप, भाई और पति भाग्य को कोसते हुए लौटते हैं। किंतु देखो उन लड़कियों की ओर। भाई उन्हें नहीं लेते और उनके पति उन्हें घर में नहीं आने देते, यह विश्वास किया जाता है कि इन लड़कियों ने उनके उज्ज्वल वंश में कालिमा पोत दी। किस प्रकार इन अपवित्र लड़कियों को घर में आने देकर पवित्र कुल को अधर्म में डाला जाय ! मुसलमान गुंडे, उनके दोस्त और उनसे सहानुभूति रखनेवाले मुसलमान दूर से हिंदुओं के इस शर्मनाक़ आचार-विचार का तमाशा देखते हैं। गाँव के सभी मुसलमान यह मालूम ही नहीं होने देते कि उनमें से किसने अत्याचार किया; किंतु हिंदू मौक़ा पड़ने पर तुरंत अपने में से अपराधी निकाल देते हैं। यदि अपराध साबित होने पर एक-दो मुसलमानों को सज़ा होती है, तो कुछ महीने काटकर वे फिर आ जाते हैं। जेल से ये इस विश्वास से बाहर निकलते हैं कि वे हिंदू-लड़कियाँ उनके घरों पर होंगी। हिंदुओं के तो घर ही उनके लिए बंद हैं। वे भाग्यहीन लड़कियाँ पीड़ित और तिरस्कृत हो, अपने पति और भाइयों को कोसती हैं; फिर अपने पति और भाइयों की नाक के नीचे उन्हीं मुसलमान गुंडों के घरों में लड़के जनकर हिंदुओं के सिर फोड़नेवालों की तादाद बढ़ाती हैं। हो यह रहा है कि हिंदू घरों से लड़कियाँ निकालें और मुसलमान उनका उपभोग कर अपनी जन-संख्या बढ़ावें। यह है हिंदुओं का शर्मनाक़ व्यवहार और नीचता ! इसीलिए शायद कोहाटकांड देखकर पू[ज्य] मालवीयजी को यह कहना पड़ा था कि "यदि एक [स्त्री] का सतीत्व मुसलमान नष्ट कर दें, और हम फिर [उसे] कुल के अभिमानवश उसे तिरस्कृत कर दें, तो उस [समय] हम मुसलमानों की अपेक्षा अधिक अत्याचार करते हैं। हमारा परम धार्मिक कर्तव्य है कि उसे हम वैसा ही पवित्र मानें।" इसी 'पवित्रता' के कारण बड़ी आसानी से हिंदुओं की तादाद घटती चली गयी और मुसलमानों ने उतनी ही आसानी से उन्हें इस्लाम में मिलाया। हिंदू जब तक इस अपवित्रता की भूल का त्याग नहीं करेंगे और अपने यहाँ से अस्पृश्यता को नहीं उठा देंगे, तब तक उनकी यही दशा रहेगी। वे इसी प्रकार घिरे रहेंगे, और संसार में स्वतंत्र होकर भी कुछ न कर सकेंगे। कोई भी हिंदू इस्लाम में चला जाय, वह तुरंत पवित्र हो जाता है, सारे संसार के अपनाने योग्य हो जाता है तथा इस लायक़ हो जाता है कि वह भी उसी प्रकार हज़ारों हिंदुओं को शुद्ध कर डाले। संक्षेप में कहना यह है कि मुसलमान संसार को स्पर्श करता है तो उसे पवित्र कर देता है, और संसार हिंदू को स्पर्श करे, तो वह अपवित्र हो जाता है। कहना न होगा कि हिंदू अपने इन गीदड़ विचारों से हिंदू-धर्मशास्त्र को ही भूल बैठे हैं। हिंदू-धर्मशास्त्रों में प्रकृति का नियम कितना अच्छा वर्णित है—

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्द्विज उच्यते।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते॥

इसका अर्थ यह है कि एक आदमी शूद्रकुल में उत्पन्न हो और यदि उसका संस्कार हो, तो वह द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अपनी इच्छानुसार हो जाता है। शिक्षा प्राप्त करने पर वह उच्च कुल का ब्राह्मण बनता है और वह जितना ही ज्ञान प्राप्त करता चला जाय और अपने को पवित्र करता जाय, तो अंत में वही व्यक्ति ब्राह्मणत्व के उस पद को पहुँचता है, जिसे श्रोत्रिय कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है, ईश्वर का क़ानून है। हिंदू-महर्षियों ने इस क़ानून को विश्व के कल्याण के लिए सबसे प्रथम खोज निकाला था। किंतु दुर्भाग्यवश उससे लाभ मुसलमान और ईसाइयों ने उठाया। दिखायी यह देता है कि हिंदू वेद और शास्त्रों को ही भूल गये। एक हिंदू को मुसलमान कर ...

कि वह मुसलमान हो गया, और हिंदू मान लेते हैं कि वह, सचमुच वह मुसलमान हो गया। हिंदुओं ने संस्कार के जिस क़ानून को स्पष्ट रूप में खोज निकाला था, उससे लाभ मुसलमानों ने उठाया। हिंदुओं ने तो अपने ही बनाये हुए क़ानून का अपने लाभ के लिए उपयोग नहीं किया। संसार हिंदू-संस्कारों को क्या महत्व देगा, जब उनमें मुसलमान और ईसाइयों के संस्कारों से हिंदुओं को बचाने की न तो शक्ति है और न मुसलमान और ईसाइयों के संस्कारों को वे दबा सकते हैं, जिससे मुसलमान और ईसाई हिंदू बन जायँ। हिंदुओं ने आज तक इस दृष्टि से कभी कुछ नहीं सोचा। यदि हिंदू इन संस्कारों के अनुसार चलने लगें, तो साठ-सत्तर करोड़ हिंदू दुनिया में एक आवाज़ से बोलने लगें। उस दिन भारतवर्ष में भी अहिंदुओं का नाम शेष रह जाय। एक बार पुनः विश्वव्यापी हिंदूधर्म का संदेश संसार में व्याप्त हो जाय। कलकत्ते के डाक्टर नाग ने बृहत्तर भारत की यात्रा की थी। इन्होंने अपनी इस यात्रा पर एक उपयोगी पुस्तक लिखी है। उसका हिंदी-अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। डाक्टर नाग ने अपनी यात्रा के समय स्थान-स्थान के अनेक उपयोगी चित्र लिये हैं और उनकी फ़िल्में तैयार करवायी हैं। ये फ़िल्में बहुत अधिक हैं, और विराट् हिंदूधर्म को बतलाती हैं। उन्हें देखने से पता चलता है कि यह विशाल भारत कहाँ तक है। आज ग्रेटब्रिटेन अपने राजनीतिक लाभ और हिंदू-शक्ति को कुचलने के लिए ब्रह्मदेश को भारतवर्ष से अलग कर रहा है; किंतु हिंदुओं का धार्मिक संबंध ब्रह्मदेश के बौद्धों से कदापि नहीं छूट सकता। यह संबंध उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जायगा। श्याम, अनाम और कम्बोडिया आदि प्रदेशों में आज भी हिंदू-रीति-रिवाज जारी हैं। श्याम के राजाओं के नाम हिंदू हैं, वहाँ हिंदू-मंदिर हैं और हिंदू-देवताओं का पूजन होता है। राम और कृष्ण की मूर्तियाँ पूजी जाती हैं, यज्ञ और हवन होते हैं। और भी तमाम संस्कार हिंदुओं के सदृश होते हैं। श्याम के नज़दीक और जितने देश हैं, वहाँ भी हिंदूधर्म का प्रभाव क़ायम है। चीन में भी कुछ-न-कुछ अब भी हिंदू-रीति-रिवाज मिलते हैं। वहाँ के ३३-३४ करोड़ बौद्धों में आज भी हिंदूधर्म के लिए प्रेम है। भारतीय हिंदुओं की उपेक्षा और निराशाजनक व्यवहार से चीन, जापान और श्याम आदि के बौद्ध अलग पटक दिये गये हैं। यदि हिंदू सजग होकर उपर्युक्त संस्कार के अनुसार चलें, तो सारे एशिया-खंड में हिंदूधर्म की तूती बोल सकती है। चीन और भारतवर्ष एकत्र हो हिंदूधर्म को विराट् बनाकर संसार के मुसलमान और ईसाइयों की जन-संख्या को नगण्य कर सकते हैं। तब साठ-सत्तर करोड़ हिंदुओं का कौन मुक़ाबला कर सकता है, आवश्यकता है हिंदुओं में क्रांति उत्पन्न होने की। जिस दिन हिंदू सच्चे वर्णाश्रम-धर्म को पहचान जायँगे, उस दिन ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं रहेगा। गीता में बतलाये हुए चार वर्ण तो योरप में भी हैं। वहाँ भी ब्राह्मणों की महिमा है। वहाँ के विद्वान् अध्यापक सुंदर वस्त्र, धन और औरतों से दूर रहते हैं; साधारण कपड़े पहनकर विश्वविद्यालयों में पढ़ाने आते हैं। उनका सारा समय इसी में बीतता है। ये जब आक्सफ़ोर्ड में पढ़ाते हैं और जब कभी सम्राट् पहुँच जाते हैं, तब ये अपनी कुर्सियों पर बैठे रहते हैं। सम्राट् अपना हैट उतार लेते हैं और छत्र अलग हो जाता है। सम्राट् नीचे खड़े रहते हैं। यह है विद्या-संस्कार की महिमा। हमें अपने संस्कार के अनुसार चलकर यह बतला देना चाहिए कि हिंदूधर्म संसार में सर्वश्रेष्ठ धर्म है और वह सब जाति और सब श्रेणी के लोगों को पवित्र कर मिला सकता है। जहाँ हिंदूधर्म में हमें उपर्युक्त "जन्मना जायते" का संस्कार उपलब्ध है, वहाँ हमारी वृद्धि के लिए एक दूसरा संस्कार भी है। हिंदू-धर्मशास्त्र कहते हैं—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि ॥ २३८ ॥
—मनु० स्मृ० अ० २

अर्थात् पूर्ण श्रद्धा और भक्तिपूर्वक नीच से नीच अवस्था के व्यक्ति के पास भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाना चाहिए। उसी प्रकार अच्छी स्त्रियों से विवाह कर लेना चाहिए, चाहे वे कैसी भी छोटी जातियों में उत्पन्न हुई हों। हमने इस क़ानून के प्रथम अंश का तो अच्छी तरह उपयोग किया; किंतु छोटे कुल और जाति की स्त्रियों से विवाह करने में उपेक्षा दिखलायी। यदि इस क़ानून का संस्कार के क़ानून के साथ व्यवहार हो, तो स्त्री और पुरुष दोनों का ही दर्जा बढ़ जाय। दुर्भाग्यवश हिंदुओं

ने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया । कुलीनता के कारण सगोत्र और सपिंड तक में हिंदू शादी करने से संकोच करते हैं ! पर मुसलमान इस संबंध में क्या करते हैं ? उनके लिए संसार में ऐसी कोई स्त्री नहीं है, जिसे इस्लाम पवित्र न कर सकता हो । इस्लाम उन्हें जो दर्जा देता है, उससे वह इस योग्य हो जाती हैं कि मुसलमानों के किसी भी अंग से शादी कर सकें । वह इस्लाम है, जिसने वास्तविक लाभ उठाने के लिए हमारे इस क़ानून का व्यवहार किया ; हम तो केवल खोज करके ही रह गये । यह है हममें विपरीतता । यह विपरीतता एक और भी कारण से है । हमारे धर्म-शास्त्रों में लिखा है—

षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् ॥ १ ॥
आसमन्तादायुष्कामः ॥ २ ॥
तैत्तिरं ब्रह्मवर्चस्कामः ॥ ३ ॥
घृतौदनं तेजस्कामः ॥ ४ ॥

—आश्वलायनसूत्र, खं० १८

इसका अर्थ यह है कि छठे महीने में बालक को अन्न-प्राशन कराना चाहिए और उसके बाद उसमें जिस प्रकार के गुण लाने हों, उसे उसी प्रकार का भोजन कराया जाय । यदि यह इच्छा हो कि बालक मज़बूत हो और उन्नति करनेवाला हो, जिससे कि वह अपने जीवन में कभी खाने-पीने के लिए न तरसे और संसार के सुखों का अच्छी तरह से भोग कर सके, तो उसे छः महीने की ही अवस्था से बकरी के मांस से पोषित करना चाहिए । यदि तेजस्विता प्राप्त करनी हो—ज्ञानवान् बनाना हो, तो चकोर-पक्षी का मांस निःसंकोच खिलाना चाहिए । यदि यह इच्छा हो कि बालक मुलायम और नाज़ुक दिखलायी पड़े, तो घी में पका हुआ भात खिलाना चाहिए। अहिंसा-धर्म के उपासक हिंदुओं से भी कई गुना ज़्यादा में अधिक बौद्धों में अहिंसा का वह भाव नहीं रहा, जो भारतवर्ष के हिंदुओं में आज भी मौजूद है। यह हिंदुओं का दुर्भाग्य नहीं, तो फिर क्या है । हिंदू आध्यात्मिकता के चक्कर में पड़कर जाति का सर्वनाश कर रहे हैं, किंतु मुसलमान बिना मांस के नहीं रह सकते । दोनों जातियों का भोजन विभिन्न है, इसी से दोनों की प्रकृति और स्वभाव सर्वथा विपरीत हैं । हिंदू वनस्पति खाकर मुलायम बनते हैं और त्याग-निर्वाण की दार्शनिकता पर चलते हैं । इसके विपरीत मुसलमान मांस का भोजन करते हैं, जो उन्हें शक्तिशाली और दृढ़ बनाता है । यदि हिंदुओं के समान चीन और जापान के बौद्ध भी निर्जीव अहिंसा को मानकर चलते, तो आज उनका कहीं ठिकाना भी न रहता । जापान और चीन भी हिंदुओं की तरह बर्बाद होते ।

यह वह समय है कि हिंदू-समाज का पुनर्निर्माण हो, हिंदू-धर्मशास्त्र के तत्त्वों का प्रचार कर हिंदूजाति में से छूआछूत और ऊँच-नीच का भेद मिटाकर हिंदू-धर्म का द्वार उन सबके लिए खोल दिया जाय, जो दुर्भाग्यवश हिंदूधर्म से निकल गये हैं और जिन्होंने अन्य धर्मों को स्वीकार कर लिया है, या जो हिंदू ही हैं, किंतु हमने अज्ञानता के कारण यह समझ लिया है कि वे हिंदू नहीं रहे ।

अंतर्नाद

[श्री० मदनगोपाल गोस्वामी 'व्रजेश']

(१)

जलधि में ज्वालाओं का ताप,
शान्ति में यह भीषण हलचल;
शून्य में अद्भुत-चित्राङ्कण,
अरे ! यह कैसा कौतूहल !

(२)

विश्व-उर-अंतस्तल से सदा—
फूटता जो यह करुण विहाग;
कहो, किसने जाना अब तक,
कौन गाता यह मादक राग !

(३)

विश्व का जो यह प्रखर प्रवाह,
उसी से होता ओत-प्रोत;
न-जाने किस अनंत की ओर—
बहा जाता यह जीवन-स्रोत !

(४)

मुक्तकेशी संध्या जब हाय,
बिछाती जग में सूनापन;
कौन तब कह जाता चुपचाप—
अरे ! सूना, सूना—जीवन !

(५)

निशा की नीरवता से सदा—
उठा करता जो अंतर्नाद;
सुना जाता जग को चुपचाप
न-जाने कौन करुण संवाद !

(६)

शून्य के परदे से कह रहा—
वही बस कसक-कथा यह कौन !
सिहर जाता नभ, अविरल-अश्रु
बहा जाता तारक-दल मौन !

(७)

दबे जर्जर जीवन के भार,
सिसकते रह-रह व्याकुल प्राण;
फुदककर गिर पड़ते अनजान,
विहग-शिशु-से मेरे अरमान।

(८)

उदधि के अंतराल में सतत—
खेलता है बाड़व उद्दाम !
अरे ! सुख ढूँढ़ रहे हो कहाँ—
कहाँ इस जग में है विश्राम !

जागरण

[विद्यार्थी श्रीरामेश्वर शुक्ल, लखनऊ]

मोहन

उसका नाम है श्यामा ! सावन की सरिता के समान उसके यौवन की नदी उमड़-उमड़कर सारे शरीर को शराबोर कर रही है। वह कुसुम के समान कोमल, जूही की नव-प्रस्फुटित कलिका-जैसी सुंदर और शीराज़ी मदिरा-सरीखी मादक है। उसके यौवन-सौरभ में मादकता है—उन्मत्त कर देने की शक्ति है। उसके कानों तक खिंचे हुए लोल लोचनों की आड़ से मानों अनंग झाँका करता है। उसकी श्वेत सीपी के समान स्वच्छ आँखों में मधु-मादकता की अजस्रधारा बहा करती है। मैं अनुभव करता हूँ जैसे मेरा हृदय उस धारा के साथ क्रीड़ा किया करता है। उसके उभरे हुए कलित कपोलों पर यौवन की लाली मतवाली होकर दौड़ती है। जिस समय उसके अरुण कपोलों पर व्रीड़ा का नृत्य होता है, उस समय वे सिंदूरी हो जाते हैं। उसके अधरों पर मधुरिमा छलका करती है।

जिस समय वह श्यामा के समान अपनी आत्म-संवेदक तान में कंपित कंठ से गाती है, उस समय उसकी दर्दभरी आवाज़ हृदय को निचोड़ने लगती है। उसके स्वर के कंपन के साथ मेरा हृदय भी स्पंदित हो उठता है। कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी सारी मर्मांकित व्यथा और वेदना, विदग्धता और नैराश्य उसकी स्वर-लहरी से फूटकर निकल रहे हों।

वह वेश्या है। लोगों का हृदय उसे देखकर लालसा के हिंडोले में झूलने लगता है। मैं भी एक दुर्बल मनुष्य ठहरा। परंतु न-जाने क्यों मुझे उसके प्रति एक वासना-विरहित आकर्षण होता है। वह सौंदर्य की देवी है। जिस समय अपने गुलाबी नेत्रों से मेरी ओर देखकर एक व्यथापूर्ण मुस्कान से मेरा स्वागत करती है उस समय मैं स्पष्ट देखता हूँ कि कभी-कभी उसकी व्यथा तुहिनबिंदुओं का रूप धरकर नेत्रों की कोरों के साथ आँखमिचौनी खेलने लगती है। मैं उसमें एक प्रकार की आत्मीयता, अपनापन और अनुराग पाता हूँ। इच्छा होती है कि हृदयमंदिर में उसे बिठा लूँ। हृदय से एक ध्वनि निकलती है—श्यामा भोग-विलास की सामग्री नहीं है, वह आराधना की वस्तु है। आह! जिस कुसुम को देवता का गलहार बनना था, वह आज रसिक भ्रमरों के भोग-विलास का उपकरण मात्र है !

श्यामा न-जाने क्यों मुझे बहुत चाहती है। मुझे देखते ही मानों उसे स्वर्गीय सुख मिलता है। कभी-कभी देखता हूँ कि वह मेरे मुख की ओर निर्निमेष दृष्टि से देखा करती है। उस समय उसकी आँखों में वेदना, व्यथा और करुणा का एक संसार उपस्थित हो जाता है। कभी-कभी जब वह मेरे हृदय-प्रदेश में अपना मुख छिपाने का आयोजन करती है, तब उसकी व्यथा-विभावरी बरस-बरसकर मेरे वक्षःस्थल को भिगो देती है। कई बार इच्छा हुई कि उसकी व्यथा की कथा सुनूँ, उसके दर्द की तस्वीर को देखूँ; परंतु न-जाने क्यों साहस नहीं होता। जब वह स्वयं मुझे देखकर अपने अंतर्दाह को सुलाती है, तो मैं ही क्यों उसे जगाऊँ।

मैं कोई बहुत अमीर नहीं—कोई बहुत सुंदर भी नहीं हूँ ; परंतु फिर भी श्यामा मुझे देखकर कृतार्थ-सी हो जाती है। कई बार मुझे देखकर—मेरे पास बैठने के लिए अच्छे-अच्छे लखपतियों को धता बता दिया। यह मैंने प्रत्यक्ष देखा। तो फिर क्या मुझमें उसे कोई ख़ास बात दृष्टिगोचर होती है कि वह मेरे लिए अपने व्यापार की परवा तक नहीं करती? इन्हीं कारणों से कभी-कभी मैं उसे एक वेश्या की परिधि से दूर—बहुत दूर—देखने लगता हूँ।

अभी उसी दिन की बात है। दस बजे रात को मैं श्यामा के यहाँ पहुँचा। वह छत पर दुग्ध-फेनिल शय्या पर बैठी हुई कोई उपन्यास पढ़ रही थी। आकाश में रसिक चन्द्र अपनी प्रेयसी रजनी के प्रशांत नीले अंचल को चंचल कर रहे थे।

श्यामा के सिर के बाल कुछ बिखर रहे थे। धानी रंग की साड़ी की ओर से मानों उसका सौंदर्य झाँक रहा था! ठंडी-ठंडी हवा के मीठे झोंकों में वह उड़ रही थी, मानों पीपल के कोंपल वसन्ती वायु में झूम रहे थे। उसकी सुकुमार पलकें भारी हो रही थीं। उनमें न तो पूर्ण जागृति ही थी, और न नींदभरी मादकता। जाकर चुपके से पीछे बैठ गया और अपने हाथों से उसके अलसाये नेत्रों को मूँद लिया। श्यामा हँसने लगी, मेरे हाथों को छुड़ाने का प्रयत्न करती हुई बोली—कौन, मोहन? मैं जान गयी। तुम्हीं हो।

मैं—हाँ, मैं ही हूँ।

श्यामा—भला कहीं यह सुखद स्पर्श छिपा रह सकता है।

मैंने कहा—श्यामा, एक बात पूँछूँ। बताओगी? सुनो मैं कोई अमीर नहीं, फिर भी तुम मेरी ओर क्यों इतना आकृष्ट होती हो? उस दिन जब मैं तुम्हारे पास बैठा था, तुमने सेठजी को उलटे पाँव लौटा दिया। मुझमें ऐसी कौन-सी बात है, जो तुम अपना नुक़सान करके भी मुझे इतना प्यार करती हो?

श्यामा की हृदय-वारिदमाला में किसी की स्मृति तड़ित-सिंदूर की भाँति चमक गयी। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे उसका हृदय बरसने लगा। उसने मेरी गोद में अपना मुँह छिपा लिया और उसके तप्त अश्रु परिमुक्त होकर टपटप गिरने लगे।

मैंने जेब से रूमाल निकालकर उसके मस्तक को ऊपर उठाया और अश्रु-सीकरों को पोंछने लगा।

उससे न रहा गया। बोली—"मोहन, मैं वेश्या हूँ न, मुझे तो प्रेम करना आता ही नहीं! यही तो तुम्हारा मतलब है न। मगर पैसे से दिल नहीं ख़रीदा जा सकता। तुम सोचते होगे—वेश्या प्रेम करना क्या जाने। मैं जो कुछ कहूँगी, उस पर तुम विश्वास भी तो न करोगे। लेकिन तुम्हें देखकर मेरा हृदय न-जाने क्यों विस्मृत स्मृतियों के जागरण के कारण मचलने लगता है। मैं तुम्हारी पूजा करती हूँ—तुम मेरे सर्वस्व हो। तुम्हें देखकर मुझे संसार का ऐश्वर्य, वैभव और सुख सब व्यर्थ प्रतीत होते हैं। रह-रहकर हृदय में यह लालसा उठती है कि तुम्हारी प्रेम बहिया में बहते-बहते ही मेरे जीवन का अंत हो जाय। रह-रहकर यही भावना होती है कि क्या तुम्हारे प्रेमपीयूष के पीने का, तुम्हारे पदपद्मों की आराधना करने का अधिकार मुझे नहीं?

श्यामा का ऐसा सुकुमार और विशाल हृदय देखकर मैं अपने को भूल-सा गया। उस दिन से उसका और भी ज़्यादा प्यार करने

लगा। मैं कुछ ऐसा सोचने लगा, मानों श्यामा वेश्या नहीं। प्रेम की इस मंदाकिनी में हम दोनों बहे जा रहे थे। उसी में जीवन का सुख था—जीवन की मधुर-हास्यरेखा थी। उमंगें उभर रही थीं, कल्पनाएँ उड़ रही थीं। श्यामा ने प्रेम का अनंत संगीत छेड़ दिया है, जिसके ताल में प्रेम है—स्वर में प्रेम है।

वही संगीतधारा मेरे हृदय को प्रेमपरिप्लावित कर रही है।

× × ×

श्यामा

मैं वेश्या हूँ। लोग कहते हैं, वेश्याओं के हृदय नहीं होता; परंतु मेरे हृदय के सुकुमार स्थल तो अभी तक आर्द्र हैं। मोहन को देखकर मुझे किसी की याद आ जाती है। वही उन्नत ललाट—वही प्रशांत वक्षःप्रदेश—वही मधुर मुसकान और हृदय में आलस्य और तंद्रा बिखेर देनेवाली वही आँखें।

न-जाने कितने युवकों से मैंने प्रेम प्रदर्शित किया—'प्यारे' कहकर उन्हें पुकारा, उनके आलिंगन में भी बँधी; परंतु अंत में उन्हें ठुकरा दिया। नव-कुसुमों को मसलने में ही जीवन का सुख समझा—अपनी स्वार्थसाधना में उन्हें भस्म कर दिया।

उस समय यही प्रतीत होता था कि मेरे हृदय की कुंकुम-क्यारियों में नैराश्य लोट रहा है। जिस समय मैं विलास के झरोखों से झाँकती थी, उस समय तामसी रात्रि हृदय की प्रतिकृति-सी ज्ञात होती थी। संपदा, ऐश्वर्य, विलास और सुख की सभी सामग्रियाँ मेरे पास—परंतु ज्ञात ऐसा होता मानों कुछ भी नहीं है।

आज मैं मोहन में किसी को पाती हूँ। किसको पाती हूँ—कह नहीं सकती। जीवन वनस्थली में स्नेहसिंचित होकर बढ़नेवाले कल्पना के सुकुमार पौदे झुलस चुके थे, ऋतुराज, मोहन ने आकर मेरे उजड़े हुए हृदयोद्यान में पीतिमा की वर्षा कर दी। मोहन को मैं कितना प्यार करती हूँ, यह कैसे कहूँ—कैसे बतलाऊँ। उन्हें देखकर जो सुख मिलता है, उसका वर्णन कैसे करूँ—उसकी अनुभूति करके हृदय स्पंदित होने लगता है। जिस समय वह मेरे वक्षःप्रदेश पर अपना सिर रखकर मेरे मुख की ओर अर्थात् प्रेम की दृष्टि से देखने लगते हैं, उस समय मैं उन पर बलिहार जाती हूँ। जिस समय वह अपने अधरों के मधुर प्रवाह में मुझे शराबोर कर देते हैं, उस समय मैं कल्पना के दूसरे लोक में भ्रमण करने लगती हूँ। जिस समय वह मेरे अश्रुकणों को पोंछते हुए मुझे हृदय से लगा लेते हैं, उस समय जैसे आत्मविस्मृति में लीन हो जाती हूँ।

परंतु मोहन को देखते ही मेरे अतीत की भग्न स्मृतियाँ एकत्रित होकर वर्तमान पतन का उपहास करने लगती हैं, अंतस्तल की पीड़ा हृदय को मथने लगती है।

जब मुझे मोहन की उस साध्वी सुंदरी पत्नी का स्मरण हो आता है, उस समय तो हृदय झुलसने लगता है। रह-रहकर यही इच्छा होती है कि जाकर उस सौभाग्यवती की चरणधूलि अपने मस्तक पर लगा लूँ।

एक दिन मोहन मेरे कपोलप्रदेश पर खेलते हुए, केशकलाप को हटाते हुए बोले—"श्यामा, तारा की तबियत ज़रा ज़्यादा खराब है, मैं शायद कुछ दिन न आ सकूँ।"

मेरे हृदय में आत्मवेदना का भयानक झंझा-वात बहने लगा, दिल में तूफ़ान-सा चलने लगा।

हाय, एक रमणी के अंत का कारण मैं हो रही हूँ। कभी जो किया था, उसे अब भोग रही हूँ; अब जो करूँगी—न-जाने कब भोगूँगी। न-जाने कब कौन-से पाप किये थे कि इस जीवन में तो रूप का क्रय-विक्रय किया; किंतु आज जो करूँगी, किसी का सुख-सोहाग छीनकर उसका हृदय-प्रदेश जलाऊँगी, उसका न-जाने कैसा अंत होगा! आज पतितावस्था की इन काली घटाओं के बीच से गुज़र रही हूँ। नहीं—मैं अपने इस जीवन का अवसान करके उन्हें सदैव के लिए हटाऊँगी—प्रायश्चित करूँगी—उसकी रक्षा करूँगी।

ऐं—उस दिन रात-भर मुझे नींद नहीं आयी। रह-रहकर हृदय में एक टीस-सी होती रही। मैंने तारा का जीवन नष्ट किया! उस सती की कोमल कल्पनाओं और कमनीय कामनाओं को पीस डाला! सुखस्वप्नों को मिटा दिया! हाय, तारा के हृदय में नैराश्य की कैसी दुर्दान्त ज्वाला जल रही होगी! आज मालूम हुआ कि मैं वेश्या ही हूँ—कितनी निर्मम, कितनी हृदयहीन और कितनी कठोर। एक वह तारा है—प्रियतम की चरणरज पर अपने सुखस्वप्नों को निछावर कर रही है। दूसरी मैं हूँ, जो उसका सर्वस्व-हरण करके उसी के सोहाग में अपना सोहाग, उसी के शृंगार में अपना शृंगार और उसी के प्रियतम में अपने प्रियतम की प्रतिमूर्ति देखती हूँ। किंतु वह मेरे भी तो हैं न! मैं वेश्या हूँ, न-जाने कितनी युवतियों के प्रेमतंतु को तोड़ चुकी हूँ। उनके सोहागसुख को रूप और वासना की होलिका में जला चुकी हूँ। न-जाने कितनी मुदित मधुकरियों के गलहारों से अपना मनोरंजन करके उन्हें जीवन की मरीचिका में भटका चुकी हूँ। किंतु आज मेरा हृदय उमड़ पड़ा है। मैं पहले रमणी, और इसके बाद वेश्या। यदि कोई मेरे जीवनाधार को इसी प्रकार मेरी ओर से विमुख कर लेता, तो क्या मेरा जीवन-तत्त्व पागल न हो जाता! मुझे याद आ गयी, जब एक बार मेरा भी जीवन-तत्त्व विक्षत और विक्षिप्त हो गया था। यदि तारा उन्मादिनी हो गयी, तो इसमें आश्चर्य ही क्या। यदि प्रेम ही भाग्य में होता, तो आज रूप की दूकान क्यों खोलती—यौवन का सौदा क्यों करती। मोहन, मैंने तुममें क्या पाया—कुछ नहीं कह सकती; किंतु तुम्हीं पर मैंने शेष जीवन की सारी साधना केंद्रित कर दी। तुम्हारे हृदय की विशालता में अपनी प्रतिमूर्ति देखी। परंतु नहीं—अब मुझे दूर—इससे भी दूर पाओगे।

× × ×

मोहन

आज कई दिन से तारा की तबियत ज्यादा खराब है। रह-रहकर उन्मादिनी की भाँति प्रलाप करने लगती है। उसकी दशा देखकर हृदय रोने लगता है। मेरी अवहेलना ही उसकी इस दशा का कारण है। मैंने भी एक वेश्या के प्रेम में पड़कर प्रेम की पुतली का तिरस्कार किया। ऐं! जो तारा प्रेम के कोमल तंतुओं पर दोलायमान होती थी, वही आज नैराश्य और प्रतारणा के हिंडोले में झूल रही है!

आज तीन दिन से श्यामा के यहाँ नहीं जा सका। क्या सोचती होगी। इधर तारा की अवस्था भी इतनी चिंतनीय और करुण है कि छोड़ने का साहस नहीं होता। रह-रहकर उन प्रेम-घड़ियों की स्मृति आ-आकर हृदय को आंदोलित करने लगती है। तारा मेरी ही उदासीनता के कारण अपने जीवन से ऊब गयी!

न-जाने कैसे तारा को सब भेद मालूम हो गया है। रह-रहकर चौंक उठती है—देखो, वह

आ रही है। अपने सम्मोहन-जाल में तुम्हें फाँस लेगी। नहीं, मैं तुम्हें अपने हृदय-स्पंदन में छिपा लूँगी। मेरे ही तो तुम हो। तुम्हारी आराधना केवल मैं ही कर सकती हूँ। तुम्हारी प्रेम-कादंबिनी केवल मेरे ही ऊपर बरसे और उसकी सारी शीतलता और स्निग्धता केवल मेरे तप्त अंगों में समा जाय।

कल ही कह रही थी कि ऐसा प्रतीत होता है, जैसे तुम चले जाओगे।

आज सुबह से तबियत कुछ सँभली, तो कुछ बातें भी करती रही और रह-रहकर मेरी ओर हृदय को कसका देनेवाली दृष्टि से देखती रही। न-जाने कौन-सी प्यास उन आँखों में भरी हुई है कि मेरी ओर देखा ही करती है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो नेत्रों के कंपित पट पर मुझे सदा के लिए आवेष्टित कर लेगी।

तीसरे पहर का समय था। तारा की तबियत फिर बिगड़ चली। बोली—अब न बचूँगी। मेरा हृदय सुलग-सुलगकर राख हो गया है। जीवन भार-सा हो गया है। हृदय के साथ ही जीवन का सारा सुख जलकर भस्म हो गया है. जीवन के सुखस्वप्नों के सुनहले संसार मिट गये हैं। परन्तु अब मरते समय तुम मुझे छोड़कर कहीं न जाना, नहीं तो मेरा जीवनतन्तु एक बार तुम्हें भर-नेत्र देखने के लिए तड़पता रहेगा।

सहसा एक श्वेत साड़ी पहने हुए श्यामा ने प्रवेश किया। उसके मुख पर एक स्वर्गीय आलोक था, ताम्बूलरहित ओष्ठों पर एक दिव्य मुसकान थी। मैं काँप उठा। श्यामा जाकर तारा के पैरों के पास खड़ी हो गयी और अपने मस्तक पर उसकी चरण-धूलि लगाकर बोली—देवि, मैंने तुम्हारा जीवनधन हर लिया था, आज वही तुम्हें लौटाने आयी हूँ। पहले—बहुत पहले—वह मेरे पास था। कुछ समय तक मेरे पास रहा, परंतु फिर तुम्हारे अधिकार में चला गया। उसे तुमसे फिर छीननेवाली मैं ही हूँ। लो, आज तुम्हें वापस करती हूँ। अब वह तुम्हारे हैं। सावधानी से अपने सर्वस्व का रक्षा करना। ईश्वर सदैव तुम्हारा सौभाग्यसिंदूर उषा के समान अरुण रक्खे।

इतना कहकर उसने अपनी जाकेट के भीतर से एक पोटली निकाली और तारा के हाथों में उसे दे दिया। फिर एक बार मेरी ओर सतृष्ण और मनुहारभरी दृष्टि से देखकर चल दी।

तारा पड़ी हुई थी। न-जाने कौन-सी शक्ति—कौन-सी चेतना उसमें आ गयी कि उठकर बैठ गयी। उसमें जैसे प्राण आ गये, जीवनज्योति प्रज्वलित हो उठी। पोटली खोलने लगी। उसमें मेरा एक पुराना फ़ोटो, कुछ प्रेमपत्र और एक अँगूठी थी, जिसके एक ओर हाथीदाँत पर मेरी ही एक छोटी-सी तस्वीर बनी हुई थी और दूसरी ओर सोने पर खुदा था—कमला।

"कमला" ?—मेरे सामने मेरा अपना ही अतीत संसार विद्युत् की भाँति चमक गया। नेत्र-पटल पर दांपत्य-जीवन की दस वर्ष पूर्व की एक करुण घटना घूम गयी। प्रतिहिंसा और प्रतारणा के रूप में एक निर्वासित-विस्मृत नारी की कातर मूर्ति स्मृतियों के साथ आँखमिचौनी खेलने लगी।

हृदय-पटल पर कमला की श्यामा मूर्ति अंकित हो गयी।

एक बार तारा की ओर देखकर मैं कमला की ओर बढ़ा, परंतु वह अब बहुत दूर जा चुकी थी।

उस दिन

[श्रीभगवतीचरण वर्मा बी० ए०, एल्-एल्० बी०]

अलि सम पुलकित नव-कलिका पर ले वैभव सुखसाज,
प्रियतम अपनी प्यास बुझाने घर आये जब आज;
बैरिन बनी निगोड़ी लाज।
नाच रहा था चंचल गति से, सखि, उर में उल्लास,
मेरे अधरों पर हिम-जल-सा चमक रहा था हास।
अरुण कपोलों पर यौवन की मीनी-सी मुसकान,
स्वेदकणों की मुक्तामाला मस्तक पर अम्लान।
किंतु पलक झुक गये न सहकर वह सुख-भार महान,
नयन ढूँढ़ने लगे भूमि पर अपना खोया ज्ञान।
देख न पायी अपने प्रिय की छवि पल-भर भी आज,
जल न गयी क्यों हाय सखी री आज निगोड़ी लाज।

मेरा जीवन

[प्रोफ़ेसर श्रीरामकुमार वर्मा एम्० ए०]

मेरी सेज सुमन-तन हो।

मेरी आँखों में स्वप्नों का,
कुसुमित सुरभित मधुवन हो।
सभी विश्व के प्राणों का—
मेरी मदिरा में स्पंदन हो॥
आँख खुले—मीठी पीड़ा से,
कुछ अशांत यह यौवन हो।
मेरी आँखों पर सुकुमारी की—
आँखों की चितवन हो॥
मेरी साँसों में उसकी—
साँसों की सुरभित सु-पवन हो।
उसके स्वर से संचालित ही—
मेरे मन की धड़कन हो॥
मृदु समीर से उसके दो—
केशों का तिरछा नर्तन हो।
विस्मृति की मादकता से,
मेरा मन ही उसका मन हो॥

× × ×

प्रभु, मेरे इस जीवन से
अच्छा न किसी का जीवन हो॥

प्राचीन भारत का मंत्रि-परिषद्

[श्री० देवव्रत शास्त्री]

माधुरी के किसी पिछले अंक में 'प्राचीन भारत का मंत्रि-परिषद्'-शीर्षक लेख में मंत्रियों की समयानुसार क्रमोन्नति, उनके विभिन्न पद, नाम, उनकी संख्या, मंत्रि-परिषद् के सिवा और समान अन्य नियामक एवं कार्यकारिणी समितियों आदि का वर्णन किया गया था। इस लेख में मंत्रि-परिषद् का देश के शासन-कार्य (गवर्नमेंट) में कहाँ तक हाथ था, विभिन्न मंत्रियों के क्या-क्या कर्त्तव्य और कार्य थे, प्रस्ताव, घोषणाएँ कैसे पास होती थीं, राजा पर मंत्रियों का कितना नियंत्रण था—आदि बातों का दिग्दर्शन कराया जायगा।

मंत्रि-परिषद् की महत्ता बतलाते हुए आचार्य शुक्र ने लिखा है कि ये मंत्री राजा को सलाह ही देनेवाले न थे, राजा पर इनका बहुत अधिक प्रभाव रहता था। मंत्रि-परिषद् से सलाह लिये विना वह कुछ नहीं कर सकता था। उन्होंने मंत्रियों की महत्ता का अनुभव करते हुए ज़ोरदार शब्दों में उन्हें शक्तिशाली बनने को कहा है। वह कहते हैं—मंत्रियों की सत् सम्मति के विना राज्य का नाश होना निश्चय है, इसलिए उन्हें चाहिए कि वे सदैव राजा को उत्तम सलाह और सहायता देते रहें।[1] जिन मंत्रियों से राजा नहीं डरता, उनसे राष्ट्र की उन्नति सर्वथा असंभव है। वे केवल स्त्रियों के आभूषणों की तरह ही राष्ट्र की, नाम-मात्र के लिए, कुछ शान बढ़ाते हैं। अगर राज्य, प्रजा, राजशक्ति और कोष की उन्नति मंत्रियों के द्वारा नहीं हुई, तो ऐसे मंत्रियों से लाभ ही क्या—अर्थात् इनका रहना और न रहना बराबर ही है[2]। अग्निपुराण[3] तथा अन्य ग्रंथों में भी मंत्रियों के ये कर्त्तव्य बतलाये गये हैं। आचार्य शुक्र ने यह भी लिखा है कि जो बिलकुल छोटे-छोटे कार्य हैं, वे भी एक अकेले आदमी से होने कठिन हैं, फिर शासन का महान् कार्य एक ही व्यक्ति किस प्रकार कर सकता है। इसलिए राजा को अपने सभी कार्य नीति-शास्त्र में कुशल और अनुभवी मंत्रि-मंडल की सहायता से ही करने चाहिए[1]। मंत्रियों को राजा-राष्ट्र-भृत कहा गया है[2], जिनका काम राजा और राज्य की सारी ज़िम्मेदारियों का पूरा करना है। उस समय राजा सदा मंत्रि-परिषद् द्वारा निश्चित कामों को करता था और उस पर मंत्रियों का नियंत्रण रहता था। मंत्रि-परिषद् के अनुसार जो राजा आचरण न करता, वह राजा रह नहीं सकता था। नीति वाक्यामृत (दसवाँ अध्याय) में स्पष्ट लिखा है—'न खल्वसौ राजा यो मंत्रिणोऽतिक्रम्य वर्त्तते' महाभारत[3] में भी लिखा है कि वह स्वतंत्रता ही क्या, जब कि राजा विना मंत्रियों से सलाह लिये कभी अपनी इच्छा से कोई काम कर ही नहीं सकता।

मंत्रियों के गुणों का वर्णन करते हुए आचार्य शुक्र ने लिखा है कि प्रधानामात्य ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः उसे सब विद्याओं में निपुण और कर्त्तव्यशील होना चाहिए। उसे जितेंद्रिय, निर्व्यसनी और दुर्बलताहीन होना चाहिए। उसे शास्त्र-निष्णात और युद्धविद्या-विशारद होना चाहिए, और प्रभावशाली तो इतना होना चाहिए कि उससे डरकर राजा

१—विना प्रकृतिसन्मन्त्राद्राज्यनाशो भवेद्ध्रुवम्।
रोधनं न भवेत्तस्मात् राज्ञस्ते स्युः सुमन्त्रिणः ॥ ८१ ॥
—शु० अ० २

२—न बिभेति नृपो येभ्यस्तैः स्यात् किं राज्यवर्धनम्।
यथालंकारवस्त्राद्यैः स्त्रियो भूष्यास्तथा हि ते ॥ ८२ ॥
राज्यं प्रजा बलं कोशः सुनृपत्वं च वर्धितम्।
यन्मन्त्रयतोऽरिनाशस्तैर्मन्त्रिभिः किं प्रयोजनम् ॥ ८३ ॥
—शु० अ० २

३—अग्निपुराण, श्लोक १६-१७।

१—यद्यप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥ १।
सर्वविद्यासु कुशलो नृपो ह्यपि सुमन्त्रवित्।
मन्त्रिभिस्तु विना मन्त्रं नैकार्थं चिन्तयेत् क्वचित् ॥ २ ॥
—शु० अ० २

२—शु० अ० २।७४

३—परतन्त्रः सदा राजा...। सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता॥
स्वतंत्रता ... मन्त्रे चामात्यसहिते कुतस्तस्य स्वतन्त्रता॥
—शान्तिपर्व, अ० ३२५। १३६-१४०

...सदैव धर्म-नीति का ही अनुसरण करे। उसे राष्ट्र की रक्षा में समर्थ तथा राजनीति-शास्त्र में निपुण होना चाहिए, और किसी को दंड देने या किसी को पारितोषिक देने के अबाधित अधिकार प्राप्त होने चाहिएं।[1] इसी प्रकार प्रतिनिधि की काम करने की सूझ बहुत उत्तम होनी चाहिए। प्रधान खूब अच्छी तरह निरीक्षण करनेवाला हो, सचिव सैन्य-संचालन में निपुण हो, मंत्री राजनीतिज्ञ हो, पंडित धर्म और क़ानून का वास्तविक तत्त्व समझता हो, प्राड्विवाक् समाज-शास्त्र का विद्वान् हो, सुमंत्र राष्ट्रीय आयव्यय-शास्त्र में दक्ष हो और दूत अवसर को समझता हो एवं बातचीत करने में चतुर, निर्भय तथा समझदार हो[2]। इसी प्रकार शुक्रनीति में मंत्रियों के कार्यों का भी बड़ा सुंदर वर्णन किया गया है। राष्ट्र के लिए कौन-सा कार्य हितकर है, कौन-सा अहितकर और कौन-सा कार्य बहुत आवश्यक है, इन सब बातों की सलाह राजा को देना—चाहे राजा उसकी सलाह पर न भी चले, तथापि अपनी सम्मति को मनवाने का यत्न करना—प्रतिनिधि का कार्य बतलाया गया है।[3]

१—मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥ ७७ ॥
षडङ्गवित् साङ्गधनुर्वेदविच्यार्थधर्मवित्।
यत्कोपभीत्या राजाऽपि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥ ७८ ॥
नीतिशास्त्रास्त्रव्यूहादिकुशलस्तु पुरोहितः।
सैवाचार्यं पुरोधा यः दण्डानुग्रहयोः क्षमः ॥ ७९ ॥
—शु० अ० २

२—कार्याकार्यप्रविज्ञाता स्मृतः प्रतिनिधिस्तु सः।
सर्वदर्शी प्रधानस्तु सेनावित् सचिवस्तथा ॥ ८४ ॥
मन्त्री तु नीतिकुशलः पंडितो धर्मतत्त्ववित्।
लोकशास्त्रनयज्ञस्तु प्राड्विवाकः स्मृतः सदा ॥ ८५ ॥
देशकालप्रविज्ञाता ह्यमात्य इति कथ्यते।
आयव्ययप्रविज्ञाता सुमन्त्रः स च कीर्तितः ॥ ८६ ॥
इङ्गिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित्।
षाड्गुण्यमन्त्रविद्वाग्मी वीतभीर्दूत इष्यते ॥ ८७ ॥
—शु० अ० २

३—अहितं चापि यत् कार्यं सद्यः कर्तुं यदोचितम्।
अकर्तुं यद्धितमपि राज्ञः प्रतिनिधिः सदा।
बोधयेत् कारयेत् कुर्यान्न कुर्यान्न च बोधयेत् ॥ ८८ ॥

सब राजकर्मचारियों तथा सभा के नियमानुकूल और नियमविरुद्ध कार्यों का निरीक्षण करना 'प्रधान' का कार्य है[1]। सेना के हाथी, घोड़े, रथ, पैदल आदि का निरीक्षण करना, सैनिकों का व्यूहाभ्यास, बैंड तथा झंडियों से बातचीत करने की शिक्षा देने का प्रबंध करना, कौन-सी सेना आगे चले कौन-सी पीछे रहे, किसके पास राष्ट्रीय झंडा रहे, कौन कैसे शस्त्र धारण करे, नौकर कहाँ रहें—इन सब बातों का अध्ययन करना, शस्त्रास्त्रों का उच्च ज्ञान, सेना में कितने सैनिक काम के योग्य हैं कितने अयोग्य, कितने नये, कितने पुराने, इन सब बातों का पता रखना, सेना के पास कितना बारूद, कितने शस्त्र और गोले हैं, इनका ज्ञान रखना तथा इन सब बातों की सूचना राजा को देना 'सचिव' का काम है[2]। साम, दाम, दंड, भेद—इनमें से कौन कहाँ व्यवहृत किया जाय, किसके व्यवहार से कैसा परिणाम होगा, यह सब सोचकर इसकी सलाह 'मंत्री' राजा को दे।[3] कौन-सी साक्षी सच्ची है, कौन-सी झूठी है, तर्क और प्रमाणों के आधार पर कौन-सा पक्ष सच्चा है, जूरियों की सम्मति किस दल के पक्ष में है, इन बातों की मंत्रणा और सूचना जूरियों के साथ 'प्राड्विवाक्' राजा को दे।[4] समाज का आचार कैसा है, वह किस प्रकार उन्नत हो सकता है, कौन-से कार्य-शास्त्र और स्मृति के अनुकूल और कौन-से प्रतिकूल

१—सत्यं वा यदि वाऽसत्यं कार्यजातं च यत् किल।
सर्वेषां राज्यकृत्येषु प्रधानस्तद्विचिन्तयेत् ॥ ८९ ॥

२—श्लोक ९० से ९४ तक—शु० अध्याय २।

३—साम दानं च भेदश्च दण्डः केषु सदा कथम्।
कर्त्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहुमध्यं तथाल्पकम्।
एतत् सञ्चिन्त्य निश्चित्य मन्त्री सर्वं निवेदयेत् ॥ ९५ ॥

४—साक्षिभिर्लिखितैर्भोगैश्छलैर्भूतैश्च मानुषान्।
स्वेनोत्पादितसम्प्राप्तव्यवहारान् विचिन्त्य च ॥ ९६ ॥
दिव्यसंसाधनाद्वापि केषु किं साधनं परम्।
युक्तिप्रत्यक्षानुमानोपमानैर्लोकशास्त्रतः ॥ ९७ ॥
बहुसम्मतसंसिद्धान् विनिश्चित्य सभास्थितः।
स सभ्यः प्राड्विवाकस्तु नृपं संबोधयेत् सदा ॥ ९८ ॥

हैं, इसके संबंध में 'पंडित' राजा को सम्मति दे।[1] कोष में इतना धन जमा है, इस वर्ष इतनी आय और इतना व्यय होगा, इतना शेष रहेगा, राष्ट्र की चल और अचल संपत्ति इतनी है, यह अर्थ-विषयक परामर्श देना सुमंत्र का काम है।[2] राष्ट्र के कितने शहर और कितने गाँव हैं, कितना भाग जंगलों से आच्छादित है, कितनी ज़मीन में कृषि की जाती है, क्या उपज होती है, उस पर कर कितना लगता है, ख़ाली भूमि में कितनी बंजर और कितनी कृषि के क़ाबिल है, राष्ट्र में कितनी खानें हैं, उनसे क्या आय होती है, कितनी सम्पत्ति लावारिस है, कितने की चोरी हुई, कितना कर जमा किया गया है, इन सब बातों का उत्तर-दायित्व 'अमात्य' पर है और इनकी सूचना उसे राजा को देनी चाहिए।[3] प्रत्येक मंत्री के काम के अलग-अलग इस ब्योरेवार वर्णन से पता चलेगा कि मंत्रियों और मंत्रि-परिषद् का काम कितना सुसंगठित, कितना उत्तरदायित्वपूर्ण और कितना व्यवस्थित था। एक-एक विभाग एक-एक मंत्री के ज़िम्मे था, और वह उसके लिए उत्तरदायी होता था। यही कारण है कि उस समय का शासन बड़े अच्छे और प्रशंसनीय ढंग पर संचालित होता था।

१—वर्त्तमानाश्च प्राचीना धर्माः के लोकसंश्रिताः।
शास्त्रेषु के समुद्दिष्टा विरुद्ध्यन्ते च केऽधुना ॥ ९९ ॥
लोकशास्त्रविरुद्धाः के पण्डितस्तान् विचिन्त्य च।
नृपं संबोधयेत् तैश्च परत्रेह सुखप्रदैः ॥ १०० ॥

२—इयच्च सञ्चितं द्रव्यं वत्सरेऽस्मिन् तृणादिकम्।
व्ययीभूतमियच्चैव शेषं स्थावरजङ्गमम्।
इयदस्तीति वै राज्ञे सुमन्त्रो विनिवेदयेत् ॥ १०१ ॥

३—पुराणि च कति ग्रामा अरण्यानि च सन्ति हि।
कर्षिता कति भूः केन प्राप्तो भागस्तथा कति ॥ १०२ ॥
भागशेषं स्थितं कस्मिन् कत्यकृष्टा च भूमिका।
भागद्रव्यं वत्सरेऽस्मिन् शुल्कदण्डादिजं कति ॥ १०३ ॥
अकृष्टपच्यं कति च कति चारण्यसम्भवम्।
कति चाकरसंजातं निधिप्राप्तं कतीति च ॥ १०४ ॥
अस्वामिकं कति प्राप्तं नाष्टिकं तस्कराहृतम्।
सञ्चितं तु विनिश्चित्यामात्यो राज्ञे निवेदयेत् ॥ १०५ ॥
—शु० अ० २।

यहाँ पर यह भी विचारने की बात है कि उस समय गवर्नमेंट के काम यों ही होते थे या बाक़ायदे लिखित आज्ञापत्र, घोषणापत्र, प्रस्ताव आदि प्रकाशित होते थे। राजनीति-शास्त्र के पुराने ग्रंथों से यही पता चलता है कि राज्य के सभी काम बाक़ायदे लिखित ही होते थे। शासन-विभाग का कोई मुख्याधिकारी या साधारण व्यक्ति भी अलिखित आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य नहीं था। सम्राट् अशोक ने एक लेख में अपनी ज़बानी आज्ञाओं के संबंध में लिखा है,[1] जिससे मालूम होता है कि आज्ञा, घोषणा आदि प्रायः लिखित ही होते थे। कौटिल्य-अर्थशास्त्र से भी मालूम होता है कि वे मंत्री, जो सभा में उपस्थित नहीं होते थे, अपनी सम्मति राजा के पास लिखकर भेज देते थे[2]। शुक्रनीति में और सब बातों के समान ही इस विषय पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। उसमें लिखा है कि राजा को चाहिए कि वह अपने राज्य के क़ानूनों को लिखवाकर या खुदवाकर चौराहों पर लगवा दे और अगर कोई दुष्ट व्यक्ति, शत्रु अथवा विद्रोही नियमों का उल्लंघन करे, तो उसे पूर्ण दंड दे[3]। इसी प्रकार मंत्रि-परिषद् में पेश किये गये प्रस्ताव पर अंत में प्रत्येक मंत्री किस प्रकार लिख-लिखकर अपनी सम्मति देता था, इसका भी आचार्य शुक्र ने बड़ा मनोरंजक वर्णन किया है। सचिव, प्राड्विवाक् और मंत्री के संबंध में लिखा है कि ये लोग ऐसा लिखते थे—'इसमें हमारा कोई विरोध नहीं है', अथवा इसमें हमें कोई एतराज़ नहीं है'। अमात्य (कार्याध्यक्ष) लिखता था—'यह बिलकुल ठीक है'। सुमंत्र (अर्थसचिव) लिखता था—'हाँ, यह अच्छी तरह विचारा हुआ है'। प्रतिनिधि लिखता था—'वास्तव में

१—यं पिचा किछि मुखते आनपयामिहकं दायकं वासावकं वा आदि।
—शिलालेख सीरीज़, ६ (कालसी)

२—अनासन्नैः सह पत्रसंप्रेषणेन मन्त्रयेत्।
—अर्थशास्त्र अधिक० १।१५।११

३—लिखित्वा शासनं राजा धारयीत चतुष्पथे।
सदा चोद्यतदण्डः स्यादसाधुषु च शत्रुषु ॥ ११३ ॥
—शु० अध्याय १

नहीं उचित है'। युवराज लिखता था—'स्वीकृत होना चाहिए', और धर्मामात्य अथवा पुरोहित लिखता था—'यह मुझे मंजूर है।' इस प्रकार प्रत्येक की स्वीकृति का अलग-अलग और विशेष शब्दों में वर्णन किया गया है, जो बतलाता है कि कोई भी प्रस्ताव कितना सोच-समझकर, सावधानी के साथ पास किया जाता था। इससे यह भी मालूम होता है कि मंत्रि-परिषद् के प्रत्येक सदस्य की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती थी। सब मंत्रियों की सहमति के बाद राजा अपनी 'स्वीकृति' देकर मुहर लगा देता था। बाद को सब मंत्रियों के हस्ताक्षर होते एवं परिषद् की मुहर लगती थी। इसके पश्चात् भी एक बार प्रस्ताव राजा के पास जाता और वह 'देखा' ऐसा लिख देता था। इसके सिवा वह कुछ कर भी नहीं सकता था; क्योंकि परिषद् द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव की आलोचना, विरोध या खंडन आदि कुछ भी करने का उसे अधिकार न था। वह अक्षम था, असमर्थ था। मंत्रि-परिषद् की स्वीकृति तथा राजा के हस्ताक्षर के उपरांत वह प्रस्ताव क़ानून (नियम) बन जाता और फिर तो उसका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता था, या यों कहना चाहिए कि वह क़ानून ही राजा था[2]।

आचार्य शुक्र तो यहाँ तक लिखते हैं कि जो शासक (राजा) राज्य का कोई भी कार्य करने के लिए अलिखित आज्ञा देता अथवा जो व्यक्ति अलिखित आज्ञा को मानकर राज्य का कोई भी कार्य करता है, वे दोनों ही चोर हैं।[3] इससे पता चलता है कि शासन-संबंधी ख़ास-ख़ास बातें, प्रस्ताव, आज्ञापत्र आदि लिखित ही होते थे। ऐसा भी हो सकता होगा कि कभी-कभी अलिखित आज्ञाएँ भी प्रचारित की जाती रही होंगी। तात्पर्य यह कि बहुत छोटी-छोटी और मामूली बातों के लिए लिखित आज्ञा के संबंध में संभवतः इतनी सख़्ती नहीं रहती होगी।

मेगास्थनीज़ ने भारतवर्ष के संबंध में लिखते हुए कहा है कि उन दिनों मंत्रि-परिषद् का बड़ा सम्मान था, समाज में उसको बहुत उच्च स्थान प्राप्त था। परिषद् में बहुत ही योग्य और अनुभवी व्यक्ति रक्खे जाते थे। वह सार्वजनिक हित की बातों पर विचार करती तथा गवर्नमेंट का काम सुचारुरूपेण संचालित करने के लिए मुख्य शासक, प्रांतीय शासक, प्रांतीय उपशासक, कोषाध्यक्ष, सेनापति, कृषि-विभाग के अध्यक्ष आदि का निर्वाचन करती थी[1]। हिंदू-राजनीति-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् भारद्वाज ने मंत्रियों के संबंध में लिखते हुए उनका अलग-अलग विभाग किया है, जो बहुत कुछ मेगास्थनीज़ के लेख से मिलता-जुलता है[2]।

मंत्रियों के संबंध में विचार करते हुए यहाँ पर यह लिख देना भी उचित जान पड़ता है कि उस समय भी आजकल के समान ही उपमंत्री (Under Secretaries) हुआ करते थे। प्रत्येक मंत्री के दो उपमंत्री हुआ करते थे,[3] और जहाँ इन तीनों का ज़िक्र होता, वहाँ प्रधान को 'महामात्र' कहके संबोधित किया जाता था। हिंदू-राजत्वकाल के अंतिम शक्तिशाली राजे गुप्तवंश के ही हुए हैं। इनके शासनकाल में भी शासन-पद्धति सुसंगठित और अच्छी थी। उनके लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय प्राचीन काल के उन पदाधिकारियों के नाम बदल गये थे, यद्यपि काम में बहुत कुछ समता थी। जैसे, गुप्तकाल में उपर्युक्त 'महामात्र' को 'महादंडनायक' तथा दोनों उपमंत्रियों को कुमारामात्य, महाकुमारामात्य या दंडनायक कहते थे। इसी प्रकार 'महा' आदि शब्द लगे हुए

१—शुक्रनीति, अध्याय २; ३६२ से ३६६ तक।

२—नृपसंचिह्नितं लेख्यं नृपस्तन्न नृपो नृपः ॥ २९२ ॥

—शु० अध्याय २

३—अलेख्यमाज्ञापयति ह्यलेख्यं यत्करोति यः।
राजकृत्यमुभौ चौरौ तौ भृत्यनृपती सदा ॥ २९१ ॥

—शु० अ० २।

१—Arrians XII (Mc. Crindle), Magasthenes, P. 212.

२—कौटिल्य-अर्थशास्त्र में उद्धृत ८।१।१२७, पृ० ३२०

३—एकस्मिन्नधिकारे तु पुरुषाणां त्रयं सदा।
नियुञ्जीत प्राज्ञतमं मुख्यमेकं तु तेषु वै ॥१०९-११०॥
द्वौ दर्शकौ तु तत्कार्ये........................।

—शु० अध्याय २

अन्य पदाधिकारियों के नामों का भी उल्लेख मिलता है,[1] जैसे महाप्रधान, महादंडनायक, महासंधि-विग्रहिक आदि।

आजकल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि एक विभाग का एक उच्चपदाधिकारी, मंत्री या ऐसा ही अन्य उच्च शासक, दूसरे विभाग में भी बदलकर रख दिया जाता है, अथवा एक ही व्यक्ति एक पद पर अधिक दिनों तक इसलिए नहीं रक्खा जाता कि बहुत समय तक एक ही व्यक्ति के हाथ में उस पद के रहने से, संभव है, आगे चलकर वह अपने कर्तव्य और अधिकारों का उचित रूप से पालन न करे, अथवा उसका दुरुपयोग करे। इसी सिद्धांत के अनुसार प्राचीन भारत की शासन-पद्धति में भी उच्च पदाधिकारियों का—मंत्रियों का एक पद से दूसरे पद पर परिवर्तित होना भी पाया जाता है।[2] उस समय भी आजकल की सुसं-घटित और संस्कृत शासन-पद्धति के समान ही बड़े-बड़े ओहदेदारों का समय तीन, पाँच, सात या दस तक का निश्चित होता था और एक विभाग का योग्य मंत्री दूसरे विभाग का मंत्री बनाया जाता एवं रिक्त स्थान पर नया मंत्री नियुक्त किया जाता था। सम्राट् अशोक के धौली और जौगढ़ के लेखों से ज्ञात होता है कि उनके समय में तीन और पाँच वर्ष में मंत्रियों का बदला जाना 'धर्म' माना जाता था। इस पद-परिवर्तन के लिए प्राचीन ग्रंथों में 'अनुसां-मयान्' शब्द आया है।

प्राचीनकाल के राजाओं के राज्याभिषेक-संबंधी वर्णनों से पता चलता है कि राज्याभिषेक में सब वर्णों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। इसी प्रकार शासन-कार्य के संबंध में भी पता चलता है कि राजकर्मचारी और ऊँचे-ऊँचे पदाधिकारी किसी विशेष श्रेणी या वर्ण के ही लोग नहीं होते थे, बल्कि उसमें सब वर्णों के लोग काम करते थे, किसी के लिए मुमानियत नहीं थी। पिछले लेख में भी मंत्रियों की संख्या का ज़िक्र किया गया था कि महाभारत में वर्णित ३७ मंत्रियों में चारों वर्णों के सदस्य होते थे।[1] ... यह कि प्राचीन भारत में सब वर्णों का ... सम्मान होता था, उन्हें राजनीति-संबंधी ... कार्यों में भाग लेने का समान अधिकार था, ... तक कि शासन-सूत्र की सबसे बड़ी संस्था ... परिषद् में भी शूद्रवर्ण के व्यक्ति को स्थान मिल ... था—मिलता था।

गुप्त-राजाओं के शासनकाल में जो राजपत्र ... अधिकारपत्र लोगों के लिए प्रचारित होते थे, ... जिस विभाग के मंत्री का उससे संबंध रहता ... उसके हस्ताक्षर होते थे। बृहस्पति के द्वारा मालूम ... है कि संधि-विग्रहिक राजपत्र पर 'ज्ञात मया' (... द्वारा स्वीकृत—जाना हुआ) ऐसा लिखता था।[2] बृहस्पति अपने समय के एक बड़े प्रामाणिक पुरुष हो गये हैं और इस प्रकार उनके कथन से राज-पत्रों पर (विभिन्न कामों के अनुसार विभिन्न मंत्रियों के) हस्ताक्षर होना निश्चित ही-सा समझना चाहिए। मंत्री या उसका सहायक जो हस्ताक्षर करता था, ... कहलाता था। बौद्ध-ग्रंथों से पता चलता है ... सिलोन (लंका) में भी यहाँ के समान सारी ... वाइयाँ होती थीं और दसवीं सदी के मध्य तक ... वही पुरानी शासन-पद्धति प्रचलित थी। वहाँ भी ... राजकीय आज्ञापत्र आदि निकलते थे, वह ' ... (मंत्रि-परिषद्) के आज्ञापत्र होते थे और '...'[3] के सभी सदस्य उस पर हस्ताक्षर करते थे।

यहाँ तक मंत्रि-परिषद् के अधिकारों और ... व्यवस्था का जो वर्णन किया गया, उसको ... और विचारने से यह स्पष्ट मालूम होता है कि ... में राजा के हाथ में कोई भी अधिकार नहीं था, वह ... और सर्वथा नियंत्रित था। जो कुछ करते, मंत्री ... ही करते थे। हाँ, राजा मंत्रि-परिषद् द्वारा निर्धारित ... और प्रस्तावों का पालन करानेवाला नहीं, पालन ... करनेवालों को दंड देनेवाला शासक ज़रूर था। ... के वर्तमान राष्ट्रों और ख़ासकर सुसंघटित, ...

१—Fleet, Corpus Inscriptionum, Indicarum Vol. III, Passin.

२—परिवर्त्य नृपो ह्येतान्युञ्ज्यादन्योऽन्यकर्मणि ॥
—शु० अध्याय २ । १०७,११२

१—महा०, शान्तिपर्व, अध्याय ८५।७-११ ॥

२—ज्ञातं मयेति लिखितं सन्धिविग्रहलेखकैः ।

३—Mr. Vikramsingh's Epigraphia Indica Zeylanica, Vol. II, P. 1.

विमानी प्रजातंत्रवादी राष्ट्रों पर एक विचारपूर्ण दृष्टि डालने से मालूम होता है कि जिस प्रकार इन राष्ट्रों की 'जनसभा' या कैबिनेट (मंत्रि-मंडल) जो कुछ करती है, वही कार्यरूप में परिणत होता है, वहाँ पर जिस प्रकार शासनकार्य में सभापति या राजा को (इँगलैंड, जापान आदि में लोकतंत्र-शासन होते हुए भी वहाँ राजा ही है) हस्तक्षेप करने का (व्यक्तिगत रूप से) कोई अधिकार नहीं है, जिस प्रकार वहाँ अलग-अलग विभाग के मंत्री अपने-अपने विभाग का कार्य सँभालते और उसके लिए ज़िम्मेदार होते हैं, उसी प्रकार सैकड़ों और हज़ारों वर्ष पूर्व, जब आज के 'सभ्य' राष्ट्र जंगलों में और माँदों में जंगली जातियों के रूप में रहते थे, भारतवर्ष में नियंत्रित राजतंत्र शासन-प्रणाली—बहुत ही सुसंगठित, संस्कृत, शृंखलाबद्ध और उन्नत शासनपद्धति—प्रचलित थी। उस समय राजा राजा कहलाकर भी—स्वामी होकर भी, प्रजा का दास—सेवक था और सदा प्रजा की उन्नति, अभ्युत्थान, श्रेयस् और वर्चस्व की हितचिंतना में लगा रहता था। मंत्रि-परिषद् का एक-एक सदस्य अथवा मंत्री, योग्य, सुशिक्षित, नीतिनिपुण और अपने-अपने विभाग का विशेषज्ञ होता तथा सदा प्रजाहित का ध्यान रखते हुए क़ानून बनाता एवं देखता रहता था कि राजा प्रजा-हित के विरुद्ध, धर्म अथवा राज्यनियम या क़ानून के विरुद्ध तो कोई कार्य नहीं कर रहा है। अगर उसने इन बातों का अतिक्रमण किया, तो उसका राज्यच्युत होना निश्चित रहता था। इन बातों से पता चलता है कि मंत्री लोग कितने कर्त्तव्यपरायण, प्रजाहितचिंतक और नियम-क़ानून के पाबंद होते थे। इसी प्रकार राजा की कर्त्तव्य-परायणता एवं कर्मनिष्ठा के अनेक दृष्टांत मिलते हैं; बल्कि आजकल के सभ्य और उन्नत राष्ट्रों (जैसे इँगलैंड) के राजाओं से प्राचीन भारत के राजाओं को अधिक अच्छा कहें, तो कोई अत्युक्ति न होगी। प्राचीन भारत के राजे प्रत्येक राज्य-संबंधी कामों की स्वयं देखभाल करते थे, बड़ी दिल-चस्पी से राजकाज सँभालते थे, प्रजा और मंत्रिमंडल के प्रति अपनी ज़िम्मेदारी महसूस करते थे, जैसा आज-कल बहुत कम पाया जाता है। कम-से-कम इँगलैंड में तो ऐसा नहीं है। वहाँ का राजा तो प्रधान मंत्री (मंत्रि-मंडल का प्रधान) के हाथ का खिलौना है, और वह उसे जिस प्रकार चाहता, घुमाता है।—घुमाता है, ऐसा भी क्यों कहें, क्योंकि वह तो मनमाना जो कुछ चाहता है, राजा के नाम पर करता है, और राजा की ऐसी नाज़ुक स्थिति है कि वह ज़रा चूँ भी नहीं कर सकता। जो हो इससे यहाँ कोई विशेष प्रयो-जन नहीं—हमारा तात्पर्य तो केवल इतना है कि प्राचीन भारत के संबंध में जो आजकल अनेक प्रकार से मिथ्या भ्रम फैलाया जाता है, उसकी सभ्यता, श्रेष्ठता और श्रेयस् पर पर्दा डालने की कोशिश की जाती है और कहा जाता है कि न तो कोई अच्छी गवर्नमेंट थी, न अच्छे शासक थे, और न थे योग्य कार्यसंचालक विद्वान्—केवल इन्हीं बातों का हमें निराकरण करना, पर्दा डालनेवालों का पर्दा फ़ाश करना है, और इसीलिए ये दो-चार बातें प्रमाण-सहित यहाँ लिखने की चेष्टा की गयी है। इन बातों को पढ़कर पाठकों को सहज ही में मालूम हो जायगा कि भारत की प्राचीन सभ्यता और शान पर पर्दा नहीं डाला जा सकता। हमारी सभ्यता और श्रेष्ठता की धाक उस समय दुनिया मानती थी और आज भी संसार के निष्पक्ष और बड़े-बड़े पहुँचे हुए विद्वान् इस बात को अच्छी तरह स्वीकार करते हैं। लेकिन पाठकों को इस बात से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए और उन्हें यही सोचकर कि कभी हमारे दिन बड़े अच्छे थे, हमारे सामने संसार सिर झुकाता था, हमारे घर में घी के चिराग़ जलते थे, हम विद्या, बल-वैभव सब बातों में खूब संपन्न थे—घमंड में चूर हो हाथ पर हाथ धरे नहीं बैठे रहना चाहिए। हमारे देश में आजकल ऐसे बहुत-से आदमी हैं, जो अपनी पुरानी श्रेष्ठता के गीत गाने ही में बड़ा गौरव समझते हैं। ऐसे आदमियों को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि इस बीसवीं सदी में केवल उस पुराने ढोल को पीटने से काम नहीं चलेगा, बल्कि देश-काल के अनुसार संसार का रुख़ देखकर कुछ करने से ही अपनी धाक और मान रहेगा। हमें इस बात का भी ध्यान रखना होगा कि बीसवीं सदी की नयी रोशनी से हम इतने चकाचौंध न हो जायँ कि अपनी उस पुरानी सभ्यता को विस्मृत कर दें; क्योंकि उसी पर हमारा सारा दारोमदार है, और अपनी उस भारतीयता के विना तो हमारा दिवाला ही निकल जायगा।

प्रतीक्षा*

[श्रीमान् राजा चक्रधरसिंह, रायगढ़-नरेश]

(१)

वह समुद्र के तट पर बैठी
निठुर प्रतीक्षा करती है ;
आँसू की धारा बरसाकर,
नव-सागर-सा भरती है।
किंतु न उसको मिले अभी तक
तुम जाकर घनश्याम !
निर्मोही होना था, तो क्यों
दिया प्रेम अभिराम ?

(२)

लहरें उठ-उठकर वेला से
ठुकराती—हट जाती हैं ;
किंतु अपार भाव की लहरें
आश्रय कहीं न पाती हैं।
उठता रहता निरुद्देश्य-
सा इनमें अंतर्नाद ;
भरा हुआ है हृदय-उदधि में
कितना विषम विषाद !

(३)

शशि-मुख तो सागर को निश्चय
मास-दिवस में मिलता है ;
पर क्या जाने उस बाला का
हृदय-कुसुम कब खिलता है !
वहाँ किसी कोने में होगी
बड़वानल की दाह ;
अहो, यहाँ तो भरी हुई है
नस-नस में व्यथा अथाह !

(४)

उसमें तो लहराती रहती
जल की राशि रसाला है ;
किंतु यहाँ सर्वत्र एक—बस
ज्वाला, ज्वाला, ज्वाला है !
होगा कहीं न कहीं सत्य ही
उस सागर का अंत ;
पर यह होगा शान्त कहाँ,
कब, विरह-समुद्र दुरंत !

(५)

गयी नील छवि उर में भरने
सागर-तट वह सुकुमारी ;
पर न नीलमणि पाया उसने,
मिले उदधि-धक्के भारी !
फेंक दिया उस बेचारी को
विषम घोंघियों बीच ;
क्या अभीष्ट था, किया करे
वह उनकी संगति नीच !

(६)

जिसने मणि-मोती देखे हैं
उसे न घोंघे भावेंगे ;
तुच्छ ताल क्या रुचिर मराली
के मन में मुद छावेंगे !
जिसने किया तुम्हारी मधुमय
रूप-सुधा का पान ;
वही जान सकता है कितना
उसका मूल्य महान् !

(७)

मलयानिल में काँप रही वह
व्यथित चाह की मारी है ;
संग न कोई बस आशा में
अटकी वह सुकुमारी है।
सम्मुख गरज रहा सागर है
लिये अनंत तरंग ;
ऊपर नभ अनंत पर छायी
निशा स्वप्न के संग।

(८)

स्वप्न हुए वे पूर्व-मिलन के
सुखदयिता दुखियारी को ;
सागर ही-सी भरी व्यग्रता,
कल न कहीं बेचारी को।
फूटा भाग्य-सीप, मन-मोती
लिया आपने छीन ;
दुःख मिटाओ उसके मोहन !
जिसे किया यों दीन।

* यह कविता श्रीजगन्नाथपुरी के समुद्र-तट पर हाल ही में लिखी गयी थी।—लेखक

स्व० पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

[पं० नर्मदाप्रसाद मिश्र बी० ए०, भूतपूर्व संपादक 'श्रीशारदा']

माधुरी के पाठक पंडित गंगाप्रसादजी अग्निहोत्री के नाम से भली भाँति परिचित होंगे। आप हिंदी के एक वयोवृद्ध विद्वान् और लेखक थे। आपने अपने जीवन में हिंदी की जो सेवा की है, वह दर्शनीय है। बहुधा ऐसा देखा जाता है कि अधिकांश लेखक बुढ़ापे के दिनों में साहित्य-सेवा के कार्य से भी उदासीन हो जाया करते हैं, किंतु स्वर्गीय पंडितजी अंतिम घड़ी तक अपने अंगीकृत साहित्य-सेवा-कार्य को एक सच्चे कर्मयोगी की तरह एकांत भाव से बराबर करते रहे। यही कारण है कि इस नश्वर संसार में उनके न रहने पर भी हफ़्तों समाचार-पत्रों में उनके लिखे गोरक्षा-विषयक लेख प्रकाशित होते रहे। इस परिवर्तनशील संसार में जो जन्मा है, उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी; किंतु मनुष्य जो मानप्रतिष्ठा प्राप्त करता है, उसकी उत्कर्ष-अवस्था में ही प्रपंच के परित्याग करने का सौभाग्य बिरले ही भाग्यवानों को प्राप्त होता है। स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी ऐसे ही व्यक्तियों में थे। कहा भी है—"अपनी विद्वत्ता से स्वार्थसाधन करनेवाले विद्वान् तो बहुत मिलते हैं, पर ऐसे विद्वान् बिरले ही होते हैं, जो अपनी विद्वत्ता का लाभ दूसरों को भी परोपकार-दृष्टि से देते हों। वही विद्वान् सर्वसाधारण के आदर तथा प्रेम के भाजन हो सकते हैं, जो परोपकार-परायण अथच स्वकर्तव्यदक्ष होते हैं और ऐसे लोग संसार में सर्वदा थोड़े ही होते आये हैं।"



स्व० पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री

स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी ऐसे ही थोड़े लोगों में से थे। आपने अपने प्राप्त ज्ञान का वितरण सर्वसाधारण में करने से कभी कृपणता नहीं दिखलायी। अपनी साहित्यिक सेवाओं द्वारा वह सर्वसाधारण का हित-साधन निर्लोभ भाव से एक रूप से करते रहे।

आपका जन्म मध्यप्रदेश की राजधानी नागपुर में,

संवत् १६२७ की श्रावण-शुक्ला ७ को, हुआ था। पुण्यश्लोक महात्मा तुलसीदासजी का जन्म भी श्रावण-शुक्ला ७ को ही हुआ था। महात्मा तुलसीदासजी ने हिंदी-हिंदुस्थान की हितचिंतना एवं सेवा में ही अपना शरीर लगा दिया था। भगवान् राम की भक्ति के बहाने उन्होंने अपनी साहित्यिक कृतियों द्वारा लोकहित का कार्य ही जीवन-भर किया। स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी ने भी हिंदी-हिंदुस्थान की हितचिंतना में ही अपना शरीर अर्पित कर रक्खा था। आपने जब कभी जो कुछ लिखा, लोकहित के लिए ही लिखा और उसी भाव से आप उसे प्रसारित भी करते रहे।

नागपुर मराठी-भाषी अंचल है, अतः अग्निहोत्रीजी को भी आरंभ में मराठी ही सीखनी पड़ी थी। आपको सात वर्ष की अवस्था में अक्षराभ्यास के पश्चात् पुराने ढंग की एक मराठी-चटशाला में दाख़िल करा दिया गया था। घर की बोली हिंदुस्थानी होने के कारण आरंभ में मराठी-शब्दों के उच्चारण में भूलें हो जाती थीं, अतः सहपाठी आपकी खिल्ली उड़ाया करते थे; पर अपनी विद्याभिरुचि के कारण थोड़े ही समय में आपने मराठी में इतनी क्षमता प्राप्त कर ली कि सहपाठियों पर आपकी धाक जम गयी। इस चटशाला की पढ़ाई समाप्त होने पर कुछ काल तक आपको खाता-बही का काम सीखने के लिए बिठाया गया। इसको भी आपने बड़ी लगन और रुचि के साथ सीखा। पठन-पाठन-प्रवृत्ति को देख पिता ने अपने एक मित्र की सम्मति से आपको मिशन-अँगरेज़ी-स्कूल में भर्ती करा दिया। सन् १८८८ में आपने अँगरेज़ी की मिडिल-परीक्षा पास की। इस समय तक आपकी दूसरी भाषा मराठी थी, पर इसके पश्चात् आपने संस्कृत ले ली।

यद्यपि पाठशाला में आप मराठी सीखते थे और घर से बाहर रहने पर प्रायः सदा ही मराठी-भाषा का व्यवहार करना पड़ता था, तो भी घर की बोल-चाल की भाषा हिंदुस्थानी होने तथा नित्य नियम-पूर्वक तुलसीकृत रामायण का पारायण कराये जाने से आपको हिंदी पढ़ने-लिखने का भी थोड़ा बहुत अभ्यास होता गया। आगे चलकर अँगरेज़ी के साथ दूसरी भाषा संस्कृत ले लेने से हिंदी के अभ्यास में और अधिक वृद्धि होती गयी। आपको विद्यालय में जितनी और जिस प्रकार संस्कृत सिखायी जाती थी, वह तो सिखायी ही जाती थी, घर पर भी आप संस्कृत का अभ्यास पुरानी परिपाटी से करते रहते थे। आपने अपने मुहल्ले में रहनेवाले एक पुराने ढंग के संस्कृत पंडित द्वारा लघुकौमुदी और रघुवंश आदि का अध्ययन करके संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी।

आपके पिता नागपुर में रेशमी कपड़े का व्यवसाय किया करते थे। व्यवसाय की गड़बड़ी के कारण आपको अपना पढ़ना बंद कर काम की खोज करनी पड़ी, और इस प्रकार स्कूली पढ़ाई की यहीं इति हो गयी।

इन्हीं दिनों प्रसंगवश आप नागपुर से वर्धा गये। वर्धा में साहित्याचार्य बाबू जगन्नाथप्रसाद 'भानुकविजी' से आपकी भेंट हो गयी। भानुकविजी भी एक ऐसे व्यक्ति की खोज में थे, जो संस्कृत, हिंदी, अँगरेज़ी जानता हो। अग्निहोत्रीजी को उक्त बाबू साहब ने अपने काम का समझा और दफ़्तर में नक़लनवीस की जगह पर नियुक्त करा दिया। भानुकविजी वर्धा में उन दिनों असिस्टंट सेटलमेंट अफ़सर थे। यह बात सन् १८६२ की है।

भानुकविजी ने अग्निहोत्रीजी को अपने दफ़्तर में नियुक्त करा देने के साथ-साथ एक काम और भी किया; वह यह कि आपको अपने पुस्तकालय की पुस्तकों के पठन-पाठन की सुविधा कर दी। आप-अग्निहोत्रीजी के लिए यह स्वर्णसंयोग था। आप-सरीखे विद्याभिरुचिवाले व्यक्ति के लिए यह अवसर बड़ा लाभकारी सिद्ध हुआ। अग्निहोत्रीजी दिन में दफ़्तर का काम करते और बाक़ी समय उक्त बाबू साहब के पुस्तकालय की उत्तमोत्तम पुस्तकों का परिशीलन किया करते। परिणाम यह हुआ कि योग्यता-वृद्धि के साथ-साथ हिंदी-साहित्य से आपको प्रगाढ़ प्रेम हो गया और आप हिंदी के अनन्य भक्त बन गये। इन्हीं दिनों उक्त भानुकविजी के 'छंद-प्रभाकर' नामक ग्रंथ के प्रणयन की व्यवस्था हो रही थी। अग्निहोत्रीजी उस कार्य में भी योग देने लगे। कहते हैं, छंद-प्रभाकर के प्रणयन में अग्निहोत्रीजी का बहुत अधिक हाथ रहा है। इस बात को स्वयं भानुकविजी ने भी उक्त ग्रंथ के दूसरे-तीसरे संस्करण की भूमिका

में स्वीकृत किया है। इसी छंदप्रभाकर के छपवाने के संबंध में आपको कोई छः माह तक बनारस में जाकर रहना पड़ा था। वहाँ आपकी भेंट हिंदी के पुजारी, भारत-जीवन के संपादक बाबू कार्त्तिकप्रसादजी खत्री से हुई। आप तथा आपके समकक्ष अन्य हिंदी-प्रेमियों के सत्परामर्श एवं प्रोत्साहन के कारण, बनारस से लौटकर आपने मराठी के अमर लेखक श्रीविष्णु शास्त्री चिपलूणकरजी के लेखों का हिंदी में अनुवाद करना प्रारंभ कर दिया। चिपलूणकरजी मराठी के उन लेखकों में से हैं, जिन्होंने अपने समय के साहित्य में नवजीवन का संचार किया है। चिपलूणकरजी की जोड़ के लेखक उन दिनों मराठी में ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी इने-गिने ही थे। अग्निहोत्रीजी ने शास्त्रीजी की निबंधमाला का अनुवाद कर उसे 'निबंधमालादर्श' के नाम से हिंदी-संसार के सामने रखा। यह पुस्तक लखनऊ के नवलकिशोर-छापेख़ाने से प्रकाशित की थी। विद्वत्समाज ने इसकी बड़ी सराहना की। कलकत्ता-विश्वविद्यालय के बी० ए० के पाठ्य-ग्रंथों में यह पुस्तक अभी कुछ वर्षों के पूर्व तक बराबर बनी रही है। इसी प्रकार आपने 'राष्ट्रभाषा' तथा 'इतिहास'-नामक लेख भी अनुवादित किये, जो क्रमशः नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित होकर अंत में पुस्तकरूप में भी प्रकाशित किये गये थे। 'राष्ट्र-भाषा'-नामक लेख से प्रकट होता है कि राष्ट्र-भाषा की कल्पना महाराष्ट्र में पहलेपहल उक्त शास्त्रीजी को ही हुई थी, और अग्निहोत्रीजी द्वारा अनुवादित होकर वह हिंदी-कोविदों तक पहुँची एवं हिंदी को राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर आसीन कराने का आयोजन होने लगा। आये दिन तो भारत के प्रायः सभी प्रांतवाले राष्ट्र-भाषा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे और हिंदी को राष्ट्र-भाषा के रूप में मानने भी लगे हैं, तथा अपने-अपने क्षेत्र में हिंदी के प्रचार का न्यूनाधिक आयोजन भी करने लगे हैं। 'इतिहास'-नामक लेख अखिल-भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित होकर वर्षों तक सम्मेलन की परीक्षाओं में पाठ्य-पुस्तक रहा है। अभिप्राय यह कि आपके इन लेखों का तत्कालीन हिंदी-जगत् ने पर्याप्त आदर करके अपनी गुण-ग्राहकता का परिचय दिया था।

परिणाम यह हुआ कि हिंदी में लिखने की ओर आपकी रुचि बढ़ गयी और आपने एक-एक करके हिंदी में कई ग्रंथ लिख डाले। आपके ग्रंथों में उक्त निबंध-मालादर्श तथा राष्ट्र-भाषा एवं इतिहास के अतिरिक्त डाक्टर जानूसन की जीवनी, संस्कृत-कवि-पंचक, प्रणयी-माधव, रसवाटिका, हिंदी-मेघदूत, संसार-सुख-साधन और नर्मदा-विहार आदि मुख्य हैं। 'नीति-मुक्ताहार'-नामक पुस्तक का नाम भी आपकी रचनाओं के साथ लिया जाता है, पर यह ग्रंथ अप्राप्य-सा है। इसी प्रकार आपने अपने मित्र स्वर्गीय रायसाहब गोविंदलाल पुरोहितजी (मध्य-प्रांतीय कौंसिल के एक भूतपूर्व सदस्य) की जीवनी भी लिखी थी, पर अब उसका भी पता नहीं है। कदाचित् पुष्कर्णा-ब्राह्मण-महासभा के मंत्रीजी के पास पड़े-पड़े कृमियों का आहार हो रही हो! उक्त पुरोहितजी के उत्तराधिकारियों को चाहिए कि वे उसे प्रकाशित कराकर नष्ट होने से बचाने का प्रयत्न करें।

'रस-वाटिका' रस-विषयक अपने ढंग का एक ही ग्रंथ है, और इस विषय के विद्यार्थी के लिए बड़े काम का है। इस विषय के पंडितों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है।

अग्निहोत्रीजी समय-समय पर सामयिक पत्रों में लेख भी लिखा करते थे। गद्य के समान आप पद्य लिखने में भी सिद्धहस्त थे। आपके पद्य समय-समय पर समाचारपत्रों में प्रकाशित होते रहे हैं, जिनमें से कितने एक तो यत्र-तत्र पद्य-संग्रहों में भी उद्धृत किये गये हैं। 'नर्मदा-विहार'-नामक पद्य श्रीवेंकटेश्वर-छापेख़ाने से पुस्तिकाकार भी प्रकाशित हुआ था। इसमें नर्मदाजी के होशंगाबाद के घाटों की रमणीयता का वर्णन सुंदरता के साथ किया गया है। उदाहरण के लिए एक-दो पद्य यहाँ उद्धृत किये जाते हैं—

रेवा ! त्वदीय तट पै बसहीं अनेक,
छोटे बड़े नगर दीखत पै न एक।
शोभा सनाथ रुचिराकृति युक्त भारी,
होशंगबाद जस है मनमोदकारी।
सायं प्रभात गिरि पै घनवृन्द आवैं;
नाना प्रकार रुचिराकृति को दिखावैं।
काव्य-प्रवीण रसलोलुप विज्ञ लोग—
सानन्द आय निरखैं नग-मेघ योग।

बालार्क बिंब जननी ! तव बीचि माहीं ;
बालातिबाल लखि कै अति मोद पाहीं ।
शांति-प्रयुक्त जलकांति कतौं निहारैं ;
कोऊ समीर कृत चंचलता विचारैं ।
आवैं अनेक नर नागर घाट देखैं ;
होवैं प्रसन्न लखिकै रचना विशेषैं ।
दें धन्यवाद हिय तें बहु जानकी को ;
जाको सुघाट अरु मंदिर हैऽति नीको ।
यात्री कतौं सदयता जन को दिखावैं ;
लाही-चनादि जलजंतुन को खिलावैं ।
तेऊ बिहाय भय संशय शीघ्र आवैं ;
क्रीड़ा दिखाय सबको, कण दौरि खावैं ।

आपके गद्य-लेख प्रौढ़ एवं पठनीय हुआ करते थे। भिन्न-भिन्न विषयों पर आपके लेख प्रकाशित ही होते रहते थे । आप विभक्तियाँ मिलाकर लिखने के पक्षपाती थे। एक बार जब इस विषय का विवाद उठ खड़ा हुआ था, तब आपने अपने पक्ष का समर्थन बड़ी विद्वत्ता के साथ किया था। परिणाम यह हुआ कि बहुत-से लेखक विभक्तियाँ मिलाकर लिखने लगे। इसी प्रकार 'मध्यप्रदेश में हिंदी की अवस्था'-नामक लेख आपकी गवेषणा एवं खोजवृत्ति का द्योतक है। 'हिंदी-कविता कैसी हो'—शीर्षक लेख से आपकी काव्यज्ञान-विषयक गंभीर जानकारी का पता चलता है । तुलसी-कृत रामायण पर भी आपने एक बृहत् लेख लिखा था और रामायण की उन चौपाइयों तथा दोहों का संग्रह 'तुलसी-सूक्ति-कुसुम-माला' के नाम से किया था, जिनका उपयोग लोग कहावतों के रूप में बातचीत के अवसर पर बहुधा किया करते हैं । यह संग्रह वेंकटेश्वर-छापेख़ाने से प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार के संग्रह आपने भारत, भागवत तथा पुराणग्रंथों के उत्तमोत्तम श्लोकों के भी किये थे।

स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी समालोचक भी उच्च श्रेणी के थे। आपकी आलोचना में आलोच्य विषय अथवा ग्रंथ की गुण-दोषमयी कटुतारहित विवेचना ही रहा करती थी । आपका कहना था कि आलोचना के बहाने वैयक्तिक द्वेष भँजाना साहित्य का हित करना नहीं, वरन् उलटे उसे हानि पहुँचाना है। आपके इसी गुण के कारण नागपुर के हिंदी-साप्ताहिक 'मारवाड़ी' पत्र ने एक बार आपके संबंध में छापा था—

मध्यप्रदेश गिरा अवनी में—
है जो शुचि गंगोत्री ।
आलोचक सुत मणि गंगा हैं
प्रसाद अग्निहोत्री ॥
यही एक सुत है मा को—
जो आश्वासन देता है।
मातृयज्ञ-कर्ता युवकों का—
यही मात्र एक नेता है ॥

अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के जबलपुरवाले सप्तम अधिवेशन के अवसर पर हिंदी-ग्रंथों की जो बृहत् प्रदर्शिनी की गयी थी, उसके संयोजक आप ही थे। कहते हैं, सम्मेलन के साथ इसके पूर्व इतनी बड़ी साहित्य-प्रदर्शिनी कभी नहीं हुई थी। प्रदर्शित पुस्तकों की परिचयात्मक सूची भी उस समय प्रकाशित की गयी थी । इसी प्रकार प्रदर्शित पुस्तकों में से अधिकांश पुस्तकें, सम्मेलन के स्मारक में स्थापित सम्मेलन-पुस्तकालय के लिए, प्रेषकों से प्राप्त करने का श्रेय भी अग्निहोत्रीजी को ही है। यह पुस्तकालय आज भी बलदेवबाग़, जबलपुर, में स्थापित है और अपना काम करता चला जा रहा है । आशा है, आनेवाली पीढ़ी सम्मेलन के स्मारकस्वरूप स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी द्वारा लगायी हुई इस साहित्यलतिका की साज-सँभाल करते रहने में अपना हाथ आगे बढ़ाती रहेगी, ताकि यह निराश्रय होकर नष्ट-भ्रष्ट न होने पावे। इस संस्था की रक्षा करते रहना एक प्रकार से मध्यप्रान्त के इस एकनिष्ठ वृद्ध साहित्यसेवी के स्मारक की रक्षा करना ही है।

स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी जिस प्रकार साहित्यसेवा के कार्य में निरंतर आगे बढ़ते जाते थे, उसी प्रकार वह अपनी सरकारी नौकरी में भी उन्नति करते जाते थे। आपकी इस दिशा में उल्लेखनीय उन्नति सन् १६०८ से हुई। इसी वर्ष आप मध्यप्रांत की सरकार द्वारा छुईखदान-रियासत का बंदोबस्त करने के लिए भेजे गये। वहाँ से सन् १६१२ में कोरिया-रियासत के नायब दीवान और बाद में दीवान बना दिये गये थे। रियासतों से लौटकर सन् १६१६ में आप जबलपुर-ज़िले में

नियुक्त किये गये, जहाँ नायबतहसीलदारी, असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंटी तथा कोर्ट आफ़ वार्ड्स की मैनेजरी करते हुए सन् १९२५ में आपने पेंशन ले ली और अपने भतीजे चि० मदनगोपाल को पढ़ाने की गरज़ से वहीं बस गये।

यों तो सरकारी नौकरी के नाते आपका संबंध किसानों के साथ ही अधिक रहा, अतः आप समय-समय पर कृषकों के हित की बातें भी लिखते रहते थे। पर इधर पेंशन लेने के साल-दो-साल पूर्व से तो आपने कृषि, कृषक और गोपालन पर ही लिखने का निश्चय-सा कर लिया था। पेंशन लेने के पश्चात् तो आपका सारा समय इसी विषय की चर्चा एवं पठन-पाठन तथा लेखन में बीतता था। सोते-जागते उठते-बैठते यदि किसी बात की चिंता थी, तो यही एक चिंता थी। आपने अपने जीवन के इन वर्षों में कृषि तथा कृषकों की उन्नति एवं गोरक्षा के संबंध में इतनी लिखा-पढ़ी की है, इतने लेख सामयिक पत्रों में लिखे हैं, जितने हिंदी में कदाचित् ही किसी एक व्यक्ति ने इनके पूर्व लिखे हों। हिंदी में प्रकाशित होनेवाला कदाचित् ही कोई पत्र ऐसा हो, जिसमें आपके गोरक्षा-विषयक लेख न प्रकाशित होते रहे हों। सामयिक लेखों के अतिरिक्त आपने छोटी-छोटी कई पुस्तिकाएँ भी लिखी थीं, जिनमें गउओं का पालन और उनसे लाभ, किसानों के बालकों की शिक्षा, किसानी की उपज और उसकी कमी, किसानों की कामधेनु, नागरिक जनता और गोपालन, गोरक्षा के लिए आपकी आँखें कब खुलेंगी, सप्तश्लोकी गोरक्षण-गीता आदि मुख्य हैं। आप इन पुस्तिकाओं को ग्रामीणों तथा नागरिकों में प्रसारित करते रहने का सतत उद्योग करते रहते थे। अब तक हज़ारों की संख्या में इनका ग्रामीणों में प्रचार हो चुका है। अंतिम समय भी आप अपनी इन पुस्तकों की कोई दस हज़ार प्रतियाँ मुफ़्त में बाँटने की व्यवस्था करने के लिए कह गये हैं। इससे पता चलता है कि आपको गोरक्षा की कितनी लगन लगी हुई थी। आप बहुधा कहा करते थे कि गोरक्षा की आवश्यकता की सूझ मुझे अपनी उतरती अवस्था में हुई; यदि पहले हुई होती, तो बहुत अधिक क़ाम किया जा सकता था। हृदय की पीड़ा के कारण आप कहीं जा-आ नहीं सकते थे, नेत्रों से भी कम दिखने लगा था; पर तो भी गो-रक्षा-विषयक साहित्य के पठन-पाठन एवं लेखन का कार्य अबाधित गति से चलता रहता था। वैद्य-डाक्टरों के मना करने पर भी आप अपने इस कार्य से विरत नहीं होते थे, जिससे शारीरिक क्लेश कभी-कभी इतना अधिक बढ़ जाता था कि मरणांत कष्ट का सामना करने की नौबत आ जाती थी। एक-आध बार तो वैद्य-डाक्टरों की सलाह से आपके लिखने-पढ़ने के कमरे में ताला तक लगा देना पड़ा था। पर ज्यों ही आपको थोड़ा-बहुत आराम जान पड़ने लगता कि पूर्ववत् अपने काम में लग जाते थे। वर्तमान गोरक्षण-सप्ताह मनाने की मूल-कल्पना के प्रवर्तक आप ही थे। और, गो-सप्ताह के प्रथम दिवस याने १० नवम्बर, १९३१ की शाम को ४॥ बजे अपनी गो-रक्षा-विषयक साहित्यिक तपस्या की पूर्ति में ही आपने अपने प्राण विसर्जित किये। अंतिम समय तक आपको बराबर होश बना रहा और आप गोरक्षा-विषयक सूचनाएँ देते रहे। देहावसान के कुछ ही समय पूर्व आपने अपने एक लेख की नक़ल करने के लिए एक युवक से (जो बहुधा आप के पास आया करता था और आपके लेखों की नक़ल कर दिया करता था) कहा। उत्तर में उसने कहा—पंडितजी, इसकी नक़ल कल न कर दूँ, आज तो आप भेजेंगे नहीं। इस पर आप बोल उठे—अजी, कल तो हमीं न रह जायँगे, फिर तुम नक़ल करके किस को दिखाओगे। अभिप्राय यह कि आप अपने समय का एक-एक क्षण गोरक्षा के कार्य में लगाते रहना चाहते थे। इधर कुछ समय से आपको इस एक ही बात की धुन लगी हुई थी कि भारत की किसानी की दशा क्योंकर सुधारी जा सकती है, भारत के अन्न-दाता किसानों की ग़रीबी क्योंकर मिटायी जा सकती है तथा भारत के गोधन की रक्षा होकर यह कामधेनुएँ विपुल दुग्ध-दात्री क्योंकर बनायी जा सकती हैं, ताकि देश में सात्विक भोज्यान्नों की विपुलता हो जाय और क्षुधा-पीड़ित भारतीय प्रजाजन हृष्ट-पुष्ट एवं बलिष्ठ बनकर उत्कर्ष को प्राप्त हों।

स्वर्गीय अग्निहोत्रीजी समयानुसार सामाजिक सुधारों के भी पक्षपाती थे। समय-समय पर जातीय सुधारों के संबंध में भी आप लिखा करते थे। आपके यह

लेख कान्यकुब्ज, हितकारी, बंधु तथा नायक आदि जातीय पत्रों में प्रकाशित होते रहते थे। उनसे पता चलता है कि आप ठहरौनी, बाल-विवाह, ऊँच-नीच, बीघा-बिस्वा आदि के विरोधी थे और इन कुप्रथाओं को जाति के लिए हानिकर मानते थे। पर्दाप्रथा को आवश्यकता से अधिक जो महत्त्व दिया जाता है, उसे भी आप निरर्थक मानते थे। सहभोज्यता के पोषक और बालकों के समान बालिकाओं को शिक्षित बनाने के आप पूर्ण पक्षपाती थे। 'कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों की प्राचीन तथा अर्वाचीन अवस्थाओं का वर्णन'-नामक पुस्तक में आपने सामाजिक कुरीतियों की बुराइयों तथा सुरीतियों की भलाइयों का शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा विशदता के साथ विवेचन किया है। यह पुस्तक श्रीवेंकटेश्वर-छापेख़ाने से प्रकाशित हुई है।

श्रीअग्निहोत्रीजी के दो विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री से एक लड़का, और दूसरी से एक बालक तथा एक बालिका हुई थी; पर यह सब बाल्यावस्था में ही कालकवलित हो गये। इस समय आपके कोई संतान नहीं है। केवल एक भतीजा है, जो इस समय एंट्रेंस में पढ़ रहा है।

श्रीअग्निहोत्रीजी के देहावसान से हिंदी का एक वृद्ध पुजारी तो उठ ही गया, पर गोरक्षा-विषयक आंदोलन के क्षेत्र में आपके न रहने से जो कमी हो गयी है, उसकी पूर्ति निकट भविष्य में हो सकना कठिन प्रतीत होता है।

देहरादून

[श्रीश्यामसुंदर खत्री 'सुंदर']

द्रुमलतिकाएँ गिरिशृंगों पर—
छंदों-सी फैलीं सुकुमार ;
तुहिन-बिंदु के बीच बैठकर—
उन पर गाते कुसुम-कुमार !
× × ×
नववृंतों पर सरल रागिनी—
चुन-चुन देतीं नव-नव राग ;
वे ही तो बिखरे थे कैसे,
उर अंतर में मधुर पराग।
× × ×
कोमल कल कलरव से सजकर,
नाच रहा था विमल समीर ;
मंसूरी के रंगमंच पर,
वैभव की भर झोली भीर।
× × ×
ले सुंदरता निज पंखों पर,
छिपाऽनुरागों का सम्मान ;
भूली हुईं तितलियाँ फिरतीं,
कलियों का सुन 'सुंदर' गान।
× × ×

निर्झरिणी के उस झर-रव में,
जीवन की उस वेला में;
दूर देश से सुर बन आ,
छिपती-सी मंजु प्रमीला में।
× × ×
अरी सुंदरी ! क्षितिज-प्रांत में,
सरिताओं के झुरमुट से,
खेल रही क्या खेल देहरे !
जीवन दे जीवनधन से।
× × ×
विश्व-व्योम में इंद्रधनुष-सी,
कैसी 'सुंदर' हो लगती ;
मंसूरी के राजभवन में,
सुंदरता ढो-ढो भरती।
× × ×
सारी रजनी बीत चुकी थी,
छाया था प्राची का हास ;
पागल उसमें कर ही देता,
मिलकर तेरा अलस विलास।
× × ×

शीले ! रंग कपोलों से ले,
भरतीं क्या ये बिखरे फूल ?
व्यस्त अरी तू प्रिय-पूजन में,
हाय, देहरे, निज को भूल !

× × ×

प्रेमप्रहर में अरी प्रेयसी !
छिपा बिछातीं ये नवदल ;
प्रकृति सुंदरी ! अरी यौवने !
यौवन का दे मृदु संकल !

× × ×

भूल सकेंगे इस जीवन में,
उस जीवन के क्या सुख-पल !
प्राणनाथ में मतवाली, ये
शीतल प्रेम महानिर्मल !

× × ×

गोधूली के अंतिम पल में,
व्यथित विश्व की चेतनता,
लुप्तप्राय-सी सो जाती थी,
रजनी में प्यारी ममता।

× × ×

विद्युत् पंछी से सजती थी,
स्वागत ले निज वाणी में ;
रजनी में आलोक कहाँ था,
केवल प्रेम-कहानी में।

× × ×

झिलमिल मौन प्रकाशों में थीं—
स्वप्नों की कैसी परियाँ ;
बरसाती निद्रित जीवन में,
देवि ! सुखों की कुछ घड़ियाँ।

× × ×

झिलमिल-झिलमिल दूर दिशा से,
आत्मचेतना - सी सुंदर—
ताप-हारिणी-धारा, मन को—
देने लगी शांति सत्वर ।

× × ×

पुण्यप्रभे ! इस जलती जग में,
दीपावलि किसकी निर्धूम ।
घोर निशा में और कौन है,
विश्व - सुंदरी देहरादून !

× × ×

नखत लोक से छितरा डाला—
किसने ले नभ की माला ;
सीप-अवलि जो बिछी व्योम में,
उनमें से मोती ला-ला ।

× × ×

छिपा लिया था तूने देहरे !
उर-अंतर में प्राणों-सा—
कोई रत्न अलभ्य विश्व का,
प्रथम प्रेम के अंकुर-सा ।

× × ×

ये जो स्वर से थिरक रहे हैं
भटक रहे भूले वन में ;
माँग रहे हैं रत्न तुझी से,
देवि ! स्वर्ग के निर्जन में।

× × ×

नीरव रजनी, क्लांत पथिक हूँ,
निर्जन वन है कैसा सून ;
सो लेने दे पल-भर मग में,
मन को बना दे हरा दून ।

घी और इसकी मिलावट

[श्री० सद्गोपाल एम्० एस्-सी०]

मनुष्य-शरीर के यथोचित विकास के लिए भोजन में निम्नलिखित तीन प्रकार के पदार्थों का उचित परिमाण में होना अनिवार्य है—

(१) कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate)
(२) एलब्युमिनाइड्ज़ (Albuminoids)
(३) तैल-पदार्थ (Fats)

पहले दोनों प्रकार के पदार्थ हमारे देश में विविध साधनों से तथा पर्याप्त से अधिक मात्रा में पाये जाते हैं; किंतु निरामिषभोजियों के लिए तैल-पदार्थों में से वानस्पतिक तैलों के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ व्यवहार में नहीं लाये जा सकते । इसीलिए हमारे देश में घी को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । इससे पूर्व एक लेख में यह सिद्ध किया जा चुका है कि घी का यह महत्त्व वैज्ञानिक दृष्टि से भी सर्वथा उचित तथा युक्तिसंगत ही है । पूर्वकाल में हमारे देश का सामाजिक संगठन तथा गार्हस्थ्य-जीवन इस प्रकार का था कि घी का बेचा जाना ही अनावश्यक एवं असंभव होता था । ऐसी अवस्था में घी में मिलावट का प्रश्न उठ ही नहीं सकता था । लेकिन अब सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्तनों के साथ ही यह अवस्था भी नहीं रही । धीरे-धीरे घी का मूल्य इतना बढ़ता गया कि उसे सस्ते मूल्य पर बेचने के लिए मिलावट का प्रादुर्भाव हुआ । आजकल तो बाज़ारों में शुद्ध घी का मिलना असंभव-सा हो गया है । प्रारंभ में वानस्पतिक तैल मिलाये जाने लगे, फिर पशुओं की चर्बियों का भी व्यवहार होने लगा, और आजकल तो वानस्पतिक घी के आगमन से यह व्यापार बहुत ही सुगम हो गया है । इसका एक-मात्र कारण घी का महँगा दाम है । इस वर्ष घी का दाम कम हो जाने से मिलावट भी बहुत ही कम होने लगी है । इससे यह स्पष्ट है कि घी में मिलावट को बंद करने का अचूक उपाय यही है कि घी को इतना सुलभ बनाया जाय कि मिलावट स्वप्न में भी असंभव हो जाय । यह कैसे किया जा सकता है, इस पर फिर कभी विचार किया जायगा ।



लेखक घी का रासायनिक परीक्षण कर रहे हैं

घी का रासायनिक संयोजन (Chemical Composition) इतना विषम है कि किसी भी प्रकार की मिलावट की जाँच अत्यंत कठिन है । वैज्ञानिक उन्नति के साथ-घी में मिलावट का व्यापार भी इतने वैज्ञानिक ढंग से किया जा रहा है कि बिना किसी विशेष प्रयत्न के इस की जाँच असंभव-सी है । कलकत्ते के घी के व्यापारियों ने कुछ वैज्ञानिकों को इसलिए नियुक्त किया है कि वे घी में अन्य तैल-पदार्थों को इस प्रकार अधिक-से-अधिक मात्रा में मिलावें कि मिलावट की जाँच सुग-

सतापूर्वक न की जा सके। ऐसी अवस्था में इस दूषित व्यापार की रोकथाम के लिए विशेष प्रयत्न की नितांत आवश्यकता है।

विदेशों की म्यूनिसिपैलिटियाँ इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशेष क़ानूनों के निर्माण द्वारा यह प्रयत्न करती हैं कि नागरिकों को शुद्ध पदार्थ ही मिलें। इधर हमारे देश के दुर्भाग्य से यहाँ की म्यूनिसिपल कमेटियाँ सांप्रदायिकता के कीचड़ में फँसी हुई नाना प्रकार के प्रपञ्चों से ही फ़ुर्सत नहीं पातीं, उन्हें लोकहित तथा स्वकर्त्तव्यपालन का ध्यान कैसे हो। विलायत में Food Laws के निर्माण से एक ही वर्ष में यह प्रभाव हुआ था कि १९,१२४ प्रकार के मक्खनों की परीक्षा करने पर केवल ८६७ ही अशुद्ध पाये गये। इन अशुद्ध मक्खनों में भी मिलावट १५% से अधिक नहीं पायी गयी। यह केवल ५% मिलावट है। इसके ठीक विपरीत हमारे देश की यह अवस्था है कि शुद्ध वनस्पति-घी को दिन-दहाड़े गाय-भैंस के घी के नाम पर बेचा जाता है।

साधारण नियमानुसार भी प्रत्येक नागरिक का यह अधिकार है कि जिस पदार्थ का मूल्य वह दे, वही पदार्थ उसे मिलना चाहिए। इस संबंध में राज्य का भी कर्तव्य है कि वह प्रत्येक संभवनीय उपाय द्वारा प्रयत्न करे कि किसी भी नागरिक को इस विषय में धोखा न होने पावे। किंतु यहाँ तो उलटी गंगा बह रही है। निरपराध नागरिकों पर यदि लाठी-वर्षा करनी हो, तो लाखों रुपया पानी की तरह बहा दिया जाता है; और यदि लोकहित का कार्य करना हो, तो सरकार कह देती है कि ख़ज़ाने में रुपये का अभाव है। घी में होनेवाली मिलावट को बंद करने के लिए, देशवासियों के इतना सब आंदोलन करने पर भी, हमारे देश की विदेशी सरकार कानों में वेजीटेबल-घी डाले ऊँघ रही है! इसका यह अभिप्राय नहीं कि देश में वेजीटेबल-घी की बिक्री सर्वथा बंद कर दी जाय। जो लोग उसे ख़रीदना चाहें, उन्हें वह अवश्य मिलना ही चाहिए। किंतु घी के नाम पर और उसी के मूल्य पर वेजीटेबल-घी के बेचने के दूषित व्यापार की सब उचित उपायों से रोकथाम अवश्य की जानी चाहिए। घी-जैसे उत्तम पदार्थ के स्थान पर वनस्पति-घी का बेचा जाना लूट-मार से कम नहीं है, और इसके लिए शासन-सत्ता बहुत अंश तक ज़िम्मेदार है।

कभी-कभी घी में मिलावट इतनी भयंकर रीति से की जाती है कि यदि लोकहित से प्रेरित कोई सरकार होती, तो आज जो दंड देश के स्वातंत्र्य के लिए बलिदान होनेवाले नवयुवक और नवयुवतियों को दिया जा रहा है, ठीक वही दंड इस प्रकार की मिलावट करनेवाले को दिया जाता। यह मामला तो यहाँ तक बढ़ चुका है कि घी में मुर्दा पशुओं तथा साँपों की चर्बियाँ भी मिलायी जाती हैं!

एक ओर तो सरकार चुप्पी साधे बैठी है और दूसरी ओर हमारे वैज्ञानिक अपना सब समय व्यर्थ के अन्वेषणों में ही लगाते चले जा रहे हैं। ऐसे गंभीर तथा गहन विषय को, जिस पर देश के नागरिकों का स्वास्थ्य निर्भर है, कोई छूता भी नहीं। यदि यही समस्या किसी अन्य देश के सम्मुख होती, तो इसका उचित प्रतिबंध कभी का हो चुका होता। मुसीबत की बात तो यह है कि योरपीय देशों का जलवायु शीत-प्रधान होने के कारण वहाँ मक्खन का ही व्यवहार होता है। जलहीन तैल-पदार्थों तथा घी का उपयोग केवल उन्हीं देशों में है, जहाँ गरमी के आधिक्य के कारण मक्खन जल्दी ख़राब हो जाता है। ऐसे देशों में भी मुख्य हमारा ही देश है।

अंततः लेखक ने इस समस्या को हल करने का निश्चय किया। काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय के इंडस्ट्रियल केमिस्ट्री-विभाग में आचार्य गाडबोले के निर्देशानुसार कार्य प्रारंभ किया गया। लगभग एक वर्ष के प्रयत्न के पश्चात् इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इन सब अन्वेषणों के पुस्तकाकार * प्रकाशित होते ही जर्मनी तथा अमरीका आदि देशों के जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिकों का ध्यान भी बड़े प्रबल रूप में इस ओर खिंच गया है। हमारे देशवासियों के जिज्ञासा-पूर्ण पत्रों की ऐसी भरमार हुई है कि आचार्य गाडबोले को इस कार्य

---

* Butter-Fat (Ghee). Its Nutritive Value, Adulteration, Detection and Estimation.

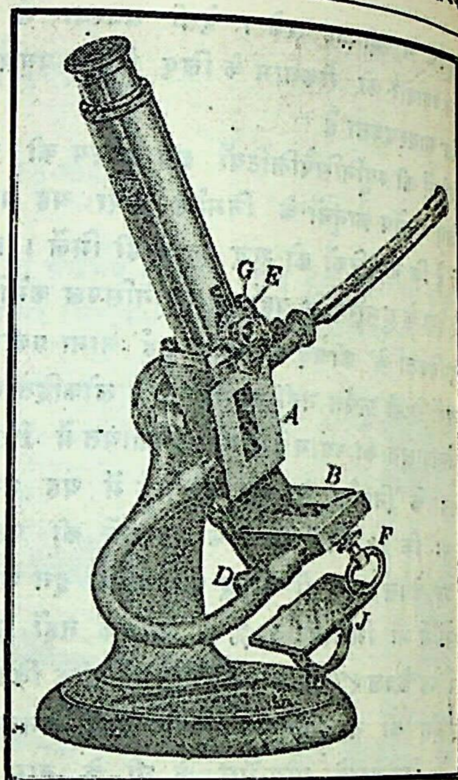
यह पुस्तक काशी-हिंदू-विश्वविद्यालयस्थ इंडस्ट्रियल केमिस्ट्री-विभाग से मिल सकती है।

के लिए एक विशेष विभाग नियुक्त करना पड़ा है। यह बड़े गौरव की बात है कि एक ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या का हल भारत की एक प्रमुख राष्ट्रीय संस्था के ही प्रयत्नों से हो सका है। इस लेख में इसी विषय अर्थात् घी में मिलावट और उसकी परीक्षा के साधनों पर प्रकाश डाला जायगा। जिस दृष्टिकोण से लेखक ने इस समस्या को हल किया है, उसके संबंध में काशी-हिंदू-विश्वविद्यालय में अभी और परीक्षण किये जा रहे हैं। हमें विश्वास है कि यह परीक्षण तथा अन्वेषण तैल-विज्ञान (Oil-chemistry) में एक प्रकार की उथल-पुथल मचा देंगे।

घी की परीक्षा के लिए लगभग २० प्रकार की विधियाँ काम में लायी जा चुकी हैं; किंतु यह सब दोषयुक्त होने के कारण धीरे-धीरे व्यवहार-क्षेत्र में अविश्वसनीय सिद्ध हो चुकी हैं। इसी संबंध में कुछेक भारतीयों ने भी सराहनीय प्रयत्न किये हैं। लगभग गत पाँच वर्षों से अवस्था ऐसी विकट और शोचनीय हो रही थी कि सरकार के पब्लिक-हेल्थ-डिपार्टमेंट तथा तत्संबंधी सब संस्थाएँ स्पष्ट शब्दों में यह कहने लग गयी थीं कि घी में मिलावट की जाँच किसी भी विधि से नहीं की जा सकती। भारतीय धारासभा में भी जब कभी किसी सदस्य की ओर से घी में मिलावट की रोकथाम के लिए प्रयत्न करने को कहा गया, तो सरकार ने यही उत्तर दिया कि मिलावट की जाँच ही नहीं की जा सकती, क़ानून किस आधार पर बनाया जाय।

इन सब साधनों पर गंभीर विचार तथा परीक्षा के पश्चात् हम इस निश्चय पर पहुँचे कि घी में मिलावट की जाँच के लिए कोई भी ऐसा ढंग नहीं निकाला जा सकता, जो अत्यंत सुगम होने के कारण सर्वसाधारण द्वारा प्रयोग किया जा सके।

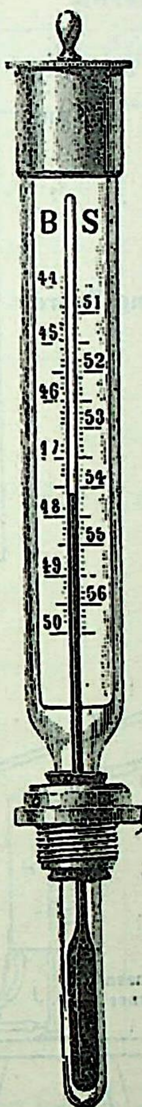
डाक्टर वालनी द्वारा निर्मित ब्यूटिरोरिफ्रैक्टोमीटर (Butyro Refractometer)-नामक यंत्र घी की परीक्षा के लिए व्यवहार में लाया जा सकता है। इस यंत्र के प्रयोग का सिद्धांत यहाँ दिया जाता है। इसके प्रिज़्म (Prism) पर घी की पतली-सी तह लगा दी जाती है। फिर इसे कुंजी घुमाकर बंद कर दिया जाता है। इन दोनों प्रिज़्मों के चारों ओर एक विशेष ताप का पानी बहता रहता है। एक शीशे की सहायता से एकत्रित



ब्यूटिरो-रिफ़्रैक्टोमीटर-नामक यंत्र

सूर्य की किरणें प्रिज़्म पर रक्खे हुए घी के बीच में से निकलने का प्रयत्न करती हैं। साधारणतः प्रकाश की रेखाओं का मार्ग सीधा होता है, पर किसी अन्य पदार्थ में से निकलने का प्रयत्न करती हुई इन प्रकाश-रेखाओं का मार्ग सीधा न रहकर टेढ़ा हो जाता है। इस क्रिया को अँगरेज़ी में रिफ़्रैक्शन (Refraction) कहा जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि यंत्र का क्षेत्र अँधेरे और प्रकाशित, दो भागों में बँट जाता है। दोनों भागों के एक दूसरे से अलग होने के स्थान पर एक पतली-सी खड़ी लकीर दिखायी देती है। इसका स्थान प्रत्येक तैल-पदार्थ के लिए एक-सी अवस्था में सदैव एक ही रहता है। इस स्थान को भली भाँति निश्चित करने के लिए यंत्र के क्षेत्र में पैमाना लगाकर उसे १०० भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग को एक डिग्री कहा जाता है। प्रत्येक डिग्री को फिर एक वर्नियर (Vernier) की सहायता से १० भागों में बाँटा गया है। एक दूरबीन की सहायता से इन डिग्रियों को ठीक-ठीक अंकित किया जाता है। इन अंकों को रिफ़्रैक्टो-मीट्रिक नंबर (Refractometric Number) कहा

जाता है। घी तथा अन्य तैल-पदार्थों के लिए यह नंबर निश्चित तथा सदैव एक रहते हैं। घी का नंबर ४०° सेंटीग्रेड के तापक्रम पर ४०°—४३° तक होता है। परीक्षा का सिद्धांत यह है कि यदि किसी संदेहास्पद तैल-पदार्थ का नंबर ४०°—४३° तक हो, तो वह शुद्ध घी माना जाता है, अन्यथा अशुद्ध। यह उपाय इतना सरल होते हुए भी असफल रहा है। इसका कारण स्पष्ट है। हमने स्वयं यह अनुभव किया है कि एक ऊँचे नंबरवाले तेल—जैसे सरसों के तेल—तथा एक नीचे नंबरवाले तेल—जैसे गरी के तेल—को एक ऐसे परिमाण में मिलाया जा सकता है कि उसमें शुद्ध घी के सर्वथा अभाव होते हुए भी रिफ्रैक्टोमीट्रिक नंबर बिलकुल शुद्ध घी का ही प्राप्त होता है। इस यंत्र के नियमानुसार तो यह शुद्ध घी ही माना जाना चाहिए, यद्यपि यह सर्वथा अशुद्ध घी है। अतएव यह यंत्र अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।



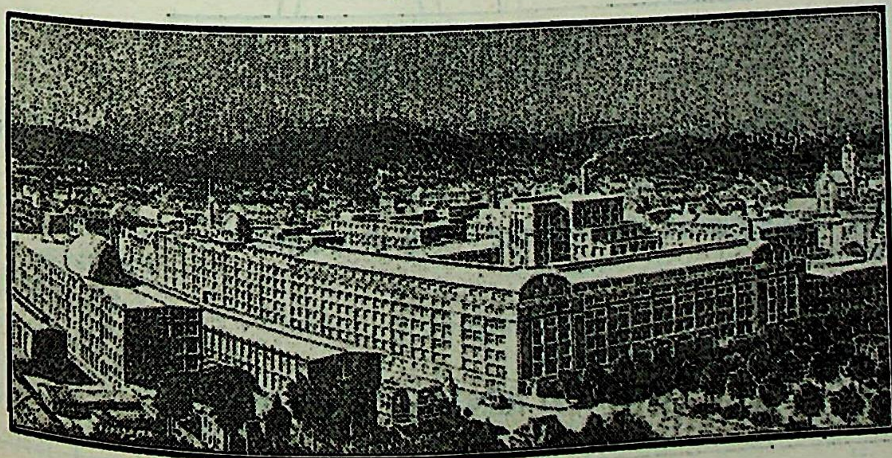
हमने अन्वेषणार्थ, इस यंत्र को बनाकर बेचनेवाली बर्लिन की कार्लजाइस की कंपनी से, नये ढंग का यंत्र मँगवाया। अनुसंधान करने पर एक नयी बात का अनुभव हुआ। प्रत्येक तैल-पदार्थ एक विशेष स्थान पर विशेष प्रकार का स्पेक्ट्रम (Spectrum) प्रकट करता हुआ मालूम पड़ा।

वैज्ञानिक दृष्टि से तैल-पदार्थों को दो विभागों में बाँटा गया है।

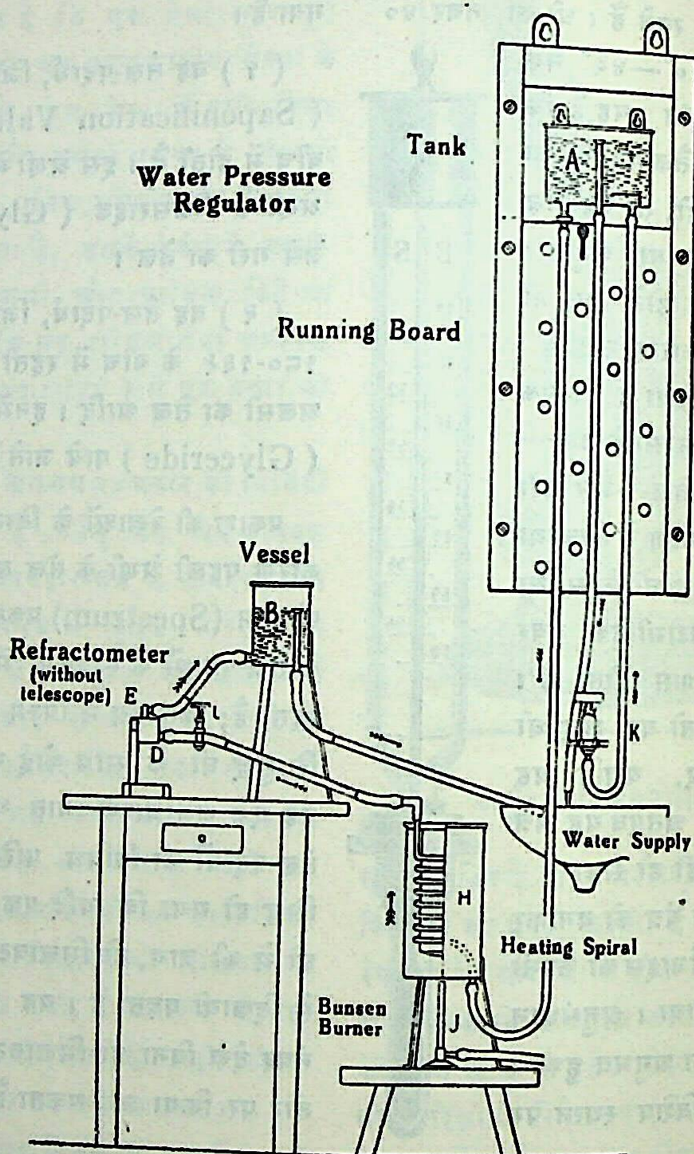
(१) वह तैल-पदार्थ, जिनकी सैपोनीफ़िकेशन वेल्यु (Saponification Value) २२० से २६० के बीच में होती है। इस श्रेणी में वह तेल हैं, जिनमें निम्न श्रेणी के ग्लिसराइड (Glyceride) पाये जाते हैं, जैसे गरी का तेल।

(२) वह तैल-पदार्थ, जिनकी सैपोनीफ़िकेशन वेल्यु १८०-१६६ के बीच में रहती है, जैसे महुए का तेल, अलसी का तेल आदि। इनमें उच्च श्रेणी के ग्लिसराइड (Glyceride) पाये जाते हैं।

प्रकाश की रेखाओं के विस्तार (Dispersion) के कारण पहली श्रेणी के तेल लाल रंग के प्राधान्यवाला स्पेक्ट्रम (Spectrum) प्रकट करते हैं, और दूसरे प्रकार के तैल-पदार्थों के स्पेक्ट्रम में नीले रंग की प्राधानता रहती है; किंतु यंत्र में प्रिज़्म इस प्रकार लगाया गया है कि शुद्ध घी के साथ कोई भी रंग प्रकट नहीं होता। यह एक असाधारण बात थी। शुद्ध घी में विविध तैल-पदार्थों को विविध परिमाणों में मिलाने पर यह सिद्ध हो गया कि यदि एक प्रतिशत की मिलावट भी घी में की जाय, तो मिलावटवाले तेल का रंग स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। यह विधि इतनी सूक्ष्म है कि नंबर देखे विना ही मिलावट का अनुमान निश्चयात्मक तौर पर किया जा सकता है। इस सफलता से प्रेरित होकर यंत्र को विशेष प्रकार से अनुसंधान के कार्य में लाया गया। देश के विभिन्न प्रांतों से शुद्ध घी के नमूने



प्रयोगशाला



रिफ़्रैक्टोमीट्रिक परीक्षण

मँगवाये गये, और उन्हें विविध परिमाणों में विभिन्न प्रकार के तैल-पदार्थों में मिलाकर परीक्षण किये गये। प्रत्येक अवसर पर यह अनुभव हुआ कि घी में मिलावट की थोड़ी-से-थोड़ी मात्रा भी छिपी नहीं रह सकती। निम्न-लिखित सारिणियों के ज्ञान से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो सकेगी—

सारिणी नं० १

शुद्ध घी की रिफ़्रैक्टोमीटर से परीक्षा

सं०	प्रांत	नम्बर (रिफ़्रैक्टोमीट्रिक)	स्पेक्ट्रम का रंग
५०	देश का प्रत्येक भाग	४०°—४३°	वर्ण-रहित

सारिणी नं० २

वनस्पति-तैल

सं०	नाम	४०° सेंटीग्रेड पर रिफ्रैक्टो० नंबर	स्पेक्ट्रम का रंग
१	कोकोजम	३४·२०°	नारंगी
२	गरी का तेल (कराँची)	३५·१५°	,,
३	,, ,, (कलकत्ता)	३५·४०°	,,
४	कोकम	४५·६०°	,,
५	मदरासी तेल	५०·५०°	नीला तथा हरा
६	जैतून का तेल	५४·७०°	,, ,,
७	मूँगफली का तेल	५५·६५°	,, ,,
८	बादाम ,,	५८·००°	,, ,,
९	सरसों ,,	५६·५५°	पीला तथा हरा
१०	तिली का तेल (काली)	५६·००°	नीला तथा हरा
११	,, ,, (सफ़ेद)	६०·००°	,, ,,
१२	,, ,, (मिश्रित)	६०·००°	,, ,,
१३	अलसी का तेल	६२·००°	,, ,,
१४	ख़सख़स का तेल	६२·४०°	,, ,,
१५	बर्रे का तेल	६३·६०°	,, ,,
१६	महुए का तेल	६३·००°	,, ,,
१७	अंडी का तेल	६७·००°	,, ,,

सारिणी नं० ३

पशुओं की चर्बियाँ

नं०	नाम	रिफ्रैक्टोमीट्रिक नंबर ४०° पर	स्पेक्ट्रम का रंग
१	कैंडेलाइट (Candelite Extra)	३८·६०°	नारंगी
२	,, साधारण	४०·४०°	नीला
३	टॅलगोल (Tolgol) (५०° पर)	४२·२०°	,,
४	,, (Extra) (५०° पर)	४६·१५°	,,
५	मटन टॅलो (Mutton Tallow)	४५·५०°	नीला तथा हरा
६	बीफ़ टॅलो (Beef Tallow)	४६·००°	,, ,,
७	लार्ड (Lord)	५०·००°	,, ,,
८	घोड़े की चर्बी	५१·५०°	,, ,,
९	मुर्गी की चर्बी	५५·२०°	,, ,,
१०	मटन (Mutton)	४५·००°	,, ,,

सारिणी नं० ४

विशेष पदार्थ

सं०	नाम	रिफ़ैक्टोमीट्रिक वेल्यु	स्पेक्ट्रम का रंग
१	वनस्पति-घी	५५·००°	नीला
२	,, (चक्रमार्का)	५२·५०°	,,
३	,, (लक्ष्मी मार्का)	५१·६५°	,,
४	मार्गेरीन (Margarine)	५०·३०°	अपरीक्षित
५	ओलियो-मार्गेरीन (Oleo-margarine)	४६·२०°	

सारिणी नं० ५

स्निग्ध-अम्ल (Fatty Acid)

स०	नाम	रिफ़ै० वेल्यु	स्पेक्ट्रम का रंग
१	ओलीक एसिड (Oleic acid)	५२·००°	नीला तथा हरा
२	पामिटिक (Palmitic)	४८·००	नीला
३	केप्रिक (Capric)	७·००°	नारंगी
४	ओलीक एसिड (शुद्ध)	४४·४०	नीला तथा हरा
५	लॉरिक (Lauric)	१४·००	नीला
६	ग्लिसरीन (Glycerine)	५१·५५°	नारंगी

इस बात का भी अनुभव किया गया कि तेलों में, कार्बन-परमाणु की संख्या में उन्नति के साथ-ही-साथ, उसका रिफ़ैक्टिव नंबर भी बढ़ता जाता है। अतः जब कभी दो विविध रासायनिक संयोजनों वाले तेलों को मिलाने पर इस विधि से परीक्षा किया जाता है, तो उनके विशेष रंगदार स्पेक्ट्रम अवश्यमेव प्रकट होते हैं।

इस विधि के अनुसार घी में मिलावट की जाँच भली भाँति मालूम की जा सकती है; किंतु वैज्ञानिक तौर पर ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि इसकी मात्रा क्या है। पूर्वार्द्ध में सफल होने पर इस पर विचार किया गया, तो मालूम हुआ कि घी में ब्यूटिरिक एसिड (Butyric Acid)-नामक एक विशेष प्रकार का अम्ल पाया जाता है, जिसका अन्य तैल-पदार्थों में सर्वथा अभाव होता है। तब एक विशेष विधि से घी में पाये जानेवाले अम्लों में से ब्यूटिरिक एसिड को तथा अन्य सब अम्लों को एकत्रित रूप में अलग-अलग मापा गया। ब्यूटिरिक एसिड की मात्रा को 'बी' वेल्यु (B-Value) तथा दूसरे अम्लों की मात्रा को 'ए' वेल्यु (A-Value) कहा जाता है। घी की 'बी' वेल्यु सब तैल-पदार्थों से अधिक होती है। मिलावट होने पर यह 'बी' वेल्यु कम होती जाती है। इस आधार पर मिलावट के अंश का ठीक-ठीक अनुमान किया जा सकता है। गरी का तेल, चर्बी तथा वनस्पति-घी मिले हुए घी के परीक्षणों का परिणाम नीचे दिया जाता है। इसके अवलोकन से यह भली भाँति प्रतीत हो जायगा कि दोनों विधियाँ सर्वथा सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार गरी के तेल आदि के मिश्रणों का अनुमान किया जा सकता है।



पुत्रवती

M. K. P.

वासंतिका

सारिणी नं० ६

शुद्ध घी की 'ए' तथा 'बी' वेल्यु

सं०	प्रांत	'ए' वेल्यु	'बी' वेल्यु
११ प्रकार के घी	देश के विविध भाग	७·२७—७·१४	३३·१३—३७·४४

सारिणी नं० ७

कुछ तैल-पदार्थों की 'ए' तथा 'बी' वेल्यु

सं०	नाम	'ए' वेल्यु	'बी' वेल्यु
१	वनस्पति-घी	०·००	०·३८
२	,,	०·०६	०·००
३	कोकोजम (Cocogem)	२३·६५	२·५३
४	गरी का तेल	२६·९०	२·४३
५	मटन टॅलो	०·८८	०·५२
६	महुए का तेल	०·६७	१·१६
७	तिल का तेल	०·५०	०·६०

सारिणी नं० ८

शुद्ध घी की वनस्पति-घी से मिलावट का परिणाम

सं०	वनस्पति-घी का अंश	'ए' वेल्यु	'बी' वेल्यु	रिफ्रैक्टोमीट्रिकवेल्यु	स्पेक्ट्रम का रंग	वनस्पति-घी का गणना से अंश
१	०·५%	...	...	४२·६०	हलका नीला	...
२	१%	...	...	४२·७२	,,	...
३	२%	...	...	४३·००	,,	...
४	२·५%	...	..	४३·००	,,	...
५	५%	६·१५	३१·४०	४३·०५	नीला	४·८५%
६	१०%	५·७०	२९·७५	४३·१५	,,	९·९०%
७	१५%	५·५०	२८·००	४३·५०	,,	१५·१५%
८	२०%	५·२०	२६·७५	४४·००	,,	१८·९५%
९	२५%	४·९०	२४·७५	४४·४०	गहरा नीला	२५·००%
१०	३०%	४·५०	२३·००	४५·००	,,	३०·००%
११	३५%	४·२०	२१·७५	४५·३०	,,	३५·१०%
१२	४०%	३·९०	१९·७५	४५·७०	,,	३९·८२%
१३	४५%	३·५०	१८·००	४६·२५	,,	४५·४६%
१४	५०%	३·२५	१६·५०	४६·७५	,,	५०·००%
१५	शुद्ध घी	६·५०	३३·०३	४२·००	वर्ण-रहित	१००% शुद्ध घी
१६	वनस्पति-घी	०·००	०·०६	५२·५०	गहरा नीला	१००% वनस्पति-घी

इस तरह घी में की गयी मिलावट की जाँच तथा उसके अनुमान के लिए यह परीक्षण सर्वथा सत्य एवं नितांत आवश्यक सिद्ध होते हैं। भारत के कई बड़े-बड़े शहरों में इनका प्रयोग सफलतापूर्वक किया जा रहा है। विशेष प्रयोग-ज्ञान के लिए लेखक की अँगरेज़ी-पुस्तक से सहायता ली जानी चाहिए।

यदि इन प्रयोगों द्वारा लोगों को शुद्ध घी की प्राप्ति होने लगे, तो देश की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या का हल हो सकेगा। साथ ही देश के बच्चों तथा नवयुवकों का स्वास्थ्य भी उन्नत हो सकेगा। शिक्षित समुदाय को इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए।

"आँखियाँ सरोज-सी"

[कविराज श्रीगयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि']

मुक्ति हैं कि मुक्ति हैं कि शोभा हैं कि संपदा हैं,
विश्व में अनोखी वैजयन्ती ये मनोज-सी ;
ऋद्धि हैं कि सिद्धि हैं कि साधना हैं साधकों की,
सुन्दर सुभावभरी कविता के ओज-सी ।

पुण्य-प्रेम-लतिका के कुसुम विचित्र हैं, कि
प्रकृति-नटी के कला-कौशल की खोज-सी ;
"श्रीहरि" खिली हैं मन-मानस में वे ही मंजु—
मान-मकरन्दभरी आँखियाँ सरोज सी !

खूब रही !

[श्री० पं० छन्नूलाल द्विवेदी, बी० सी० डी०]

(१)

पंडित गणपतराय अभी दफ़्तर से आकर कपड़े हीं उतार रहे थे कि डाकिये ने आवाज़ दी—"पंडितजी, ख़त ले जाइए ।"

पंडितजी ने समझा, कल जो लेख जीवन-सुधा में भेजा है, उसकी प्राप्ति-स्वीकृति आयी होगी । बस, दौड़ते हुए दरवाज़े पर गये । डाकिये ने हाथ में एक लिफ़ाफ़ा रक्खा । वहीं अँधेरे में आँखें फाड़-फाड़कर देखने लगे, किसका पत्र है ?

मोटे टाइप में 'जीवन-सुधा-कार्यालय' पढ़ते ही इनका पारा एकदम चढ़ गया । वहीं से बड़बड़ाते हुए आये कि कल के छोकरे संपादक क्या बन गये, दुनिया-भर की विद्वत्ता का ठेका ही ले लिया । अगर एक पत्र लिखने को कहा जाय, तो दस बार काटेंगे और फिर दुबारा लिखेंगे, तब कहीं पढ़ने लायक़ होगा । न-मालूम किस तरह खून जलाकर, कोई कुछ लिखकर इनके पास भेजता है और ये 'स्थानाभाव' की स्लिप लगाकर उसे लौटा देते हैं ! अगर इन्हीं से पूछा जाय—"बेटा, तुम्हारे बाप भी कभी ऐसा लिख सके थे कि तुम्हीं ऐसे कुलभूषण पैदा हुए हो, जो इतने परिश्रम से लिखे गये लेखों को बिना पढ़े, समझने की तो बात दूर रही, स्थानाभाव की ओट में लौटा देते हो । जो तुम्हारी झूठी प्रशंसा करता है, मुँह पर हाँजी-हाँजी करता है, उसकी रचना तो बड़ी आरज़ू मिन्नत से मँगवाते हो और अपना पिट्ठू बनाये रखने को ऊपर से उनको पुरस्कार भी देते रहते हो; जिसमें कहीं तुम्हारी पोल न खुल जाय; पर अपरिचित लेखकों के सारगर्भित और उपादेय लेखों की यह दुर्दशा क्यों ?"—तो उनको कोई माकूल जवाब नहीं मिलेगा । बगलें झाँकने लगेंगे । ख़ैर, अब मैं इन लोगों से दूसरी तरह पेश आऊँगा और ऐसी शिक्षा दूँगा कि इन्हें भी छठी का दूध याद आ जायगा ।

गोदावरी समझी कि पंडितजी से किसी से झगड़ा हो गया क्या । वह रोटी छोड़कर दौड़ी हुई आयी और किवाड़ की ओट से देखने लगी कि किसके साथ यह झगड़ा हो रहा है । जब वहाँ किसी को न देखा, तो भीतर आकर पंडितजी से बोली—"क्यों, क्या हुआ ? किससे झगड़ रहे थे ?"

"जाओ, अपना काम करो ।"

"आख़िर क्या हुआ ?"

"हुआ क्या, अब मुझे संपादकों की बाढ़ रोकनी है । आवे-जाय कुछ नहीं, बन बैठे संपादक !"

"क्या किसी ने पुरस्कार के रुपये नहीं भेजे ?"

"रुपये वे क्या खाके भेजेंगे, पहले अपना पेट तो भर लें ।"

"तो आप क्यों इनके मुँह लगते हैं ?"

"इसमें भी मतलब है ।"

"क्या ?"

"तुम नहीं समझ सकतीं।"

"न मुझे समझने की ज़रूरत ही है। अच्छा, चलिए, रोटी तो खा लीजिए।"

(२)

"क्या कल दफ़्तर में छुट्टी है कि अभी तक आपकी क़लम चल रही है। तीन बज गये, अभी तक सोये नहीं।"

"नहीं तो, छुट्टी किस बात की।"

"उठिए, अब आराम कीजिए, नहीं तो तबियत ख़राब हो जायगी।"

"नहीं ख़राब होगी, अब थोड़ा ही और बाक़ी है। आधे घंटे में ख़त्म हो जायगा।"

रोटी खाने के बाद पंडितजी ने अपने सब अस्वीकृत, स्थानाभाववाले, असामयिक लेखों की फ़ाइल निकाली और चार लेख छाँटकर उनमें आवश्यकतानुसार पुलिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग के कर्ता और क्रियापद बदल दिये। तीन लेखों की तो नक़ल पूरी हो गयी थी, चौथा भी पूरा हो रहा था।

दूसरे दिन सबेरे ही उन लेखों के नीचे 'मंदाकिनी देवी' लिखकर चार विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेज दिया। साथ में एक स्लिप पर लिख दिया—

"श्रीमान् संपादकजी,

यह आपकी एक विधवा बहन की टूटी-फूटी रचना सेवा में प्रेषित है। आशा करती हूँ, आवश्यकतानुसार इसकी त्रुटियों को दूर कर आप इसे अपने पत्र में स्थान देंगे। इसके एवज़ में आप जो कुछ पुरस्कार भेजेंगे, उसे मैं लाख समझूँगी, और आपको इस सामयिक सहायता के लिए अनेक धन्यवाद दूँगी।

आपकी एक विधवा बहन
मंदाकिनीदेवी"

तीसरे दिन संध्या की डाक से चारों पत्रिकाओं के संपादकों के स्वीकृति-पत्र आ गये। सभी ने लेख की बड़ी प्रशंसा की, और भविष्य में बराबर लेख भेजने के लिए अनुरोध भी किया।

अब पंडितजी उर्फ़ मंदाकिनी देवी की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। आज पहली ही बार बड़े-बड़े संपादकों ने उनके लेख प्रकाशनार्थ स्वीकृत किये थे। उन्होंने अब अपने सब पुराने लेखों को इस प्रकार फिर से लिख डाला, मानों श्रीमती मंदाकिनी देवी ने स्वयं लिखे हों। जितनी भी हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ थीं, सभी में इनका एक-न-एक लेख स्वीकृत हो गया और छपा भी। बहुत-से संपादकों ने इनके पास यथासाध्य पुरस्कार भी भेजा। अब तो पंडितजी को आमदनी भी होने लगी। और चाहिए ही क्या था। सब झगड़ा रुपये ही कमाने के लिए था। अब उसका रास्ता भी खुल गया—भले ही वह पंडित गणपत के नाम से न सही, श्रीमती मंदाकिनी देवी के नाम से सही।

(३)

कई वर्ष तक पंडितजी इसी तरह पुरस्कार लेते रहे। उधर साहित्य-संसार में श्रीमती मंदाकिनी देवी का खूब नाम फैला। चारों तरफ़ उनकी चर्चा होती, अनेक टीका-टिप्पणियाँ उनके लेखों पर प्रकाशित होतीं। स्त्र्युपयोगी पत्रों ने तो प्रत्येक अंक में कुछ-न-कुछ मसाला देने के लिए पेशगी पुरस्कार तक भेजना आरंभ कर दिया। फ़ोटो भेजने के लिए बड़ी-बड़ी सिफ़ारिशें आयीं। पर यहाँ तो मामला ही कुछ और था। उत्तर में केवल इतना ही लिख दिया जाता कि मैं फ़ोटो की प्रथा के बिलकुल विरुद्ध हूँ, मुझे नाम कमाने की लालसा नहीं। मैं तो साहित्य की सेवा करना ही अपना कर्तव्य समझती हूँ।

बस, फिर क्या था, लोग और भी इन पर रीझे। लोग इन्हें आदर्श समझने लगे। अख़बारों में अपने चित्र प्रकाशित कराने के लिए अनेक आरज़ू-मिन्नतें करने वाले लेखकों पर खूब फबतियाँ कसी जाने लगीं।

इनके लेखों की अब और भी माँग बढ़ी। अब क्या था, मंदाकिनी देवी ने धनी-मानी संचालकों और संपादकों से खूब रक़म दुहने का अच्छा अवसर देखा। अब उन्होंने इसके लिए एक नया तरीक़ा निकाला। अब वह जब किसी पत्र-संपादक के पास लेख भेजतीं तो ६) फ़ी पृष्ठ की दर से हिसाब लगाकर लेख को वी॰पी॰ कर देतीं और उसका ख़र्च भी उसमें जोड़ लेतीं। संपादक बेचारे भी क्या करें, उनका कोई सिद्धांत तो रहा नहीं; नामी-गरामी लेखकों के लेख छापने और उनका पेट खूब भरने में अपनी और अपने पत्र की इज़्ज़त समझते। कारण, उनको सदा इस बात का डर रहता कि कहीं कोई बड़ा लेखक बहक न जाय और उन्हें लेख देना

...र कर दे। वह अपने पत्र का गौरव इसी में समझते कि उनके पत्र में अमुक साहित्य-महारथी, अमुक औप-न्यासिक सम्राट्, अमुक हास्यरसावतार, अमुक समालोच-नाचार्य एवं अमुक कवि-शिरोरत्न आदि-आदि नियमित रूप से लिखा करते हैं। यही उनके विज्ञापन का भी आशय होता कि अगर पाठक वयोवृद्ध और धुरंधर विद्वानों की लेखनी का रसास्वादन करना चाहें, अगर वे इनकी एक-एक लाख रुपये की एक-एक पंक्ति पढ़कर अपना अनुभव और ज्ञान बढ़ाने की ज़रा भी परवा करें, तो उन्हें अमुक पत्र या पत्रिका ही मँगानी चाहिए। विविध साहित्य और कलाओं का ऐसा सामंजस्य अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। लोग बातों में आ गये। ग्राहक-संख्या धड़ाधड़ बढ़ने लगी। साल-भर का चंदा पेशगी भेज दिया ही था। लाचार होकर दक़ियानूसी ग्राहकों को साल-भर तक पढ़ना ही पड़ा। सीखा क्या, जनता को बेवकूफ़ बनाने का ढंग और आत्मश्लाघा की परा काष्ठा। इन्हीं दो बातों या कलाओं का उसमें काफ़ी प्रदर्शन रहता था। वयोवृद्ध और क़ब्र में पैर लटकाये हुए लेखक भला ज़माने की चाल क्या समझते, और कोशिश ही क्यों करते कि ज़माने के मुताबिक जनता की अभिरुचि अथवा जनता को शिक्षा देकर उसकी अवनत अवस्था को उन्नत बनाने और उन्हें स्वावलंबी बनाने का ढंग बताते, जब उनका उल्लू सफ़ेद पर स्याही फेरने-भर से सीधा हो जाता। ऐसी अवस्था में मंदाकिनी देवी ने वी० पी० करके ही लेख भेजना समुचित समझा।

वी० पी० करके लेख भेजने का एक कारण और भी था, जिसका कटु अनुभव देवीजी को हो चुका था। कई बड़ी-बड़ी पत्रिकाओं के संपादकों ने उनसे बड़े अनुरोध और विनय से लेख मँगवाये, स्वीकृति-पत्र भी भेजा,

पुरस्कार का भी वादा किया ; पर ईर्ष्यालु और द्वेषाग्नि में भस्म होनेवाले सहायक संपादकों ने लेख को ऐन मौक़े पर स्थानांतरित कर दिया, जिससे वह निश्चित अंक में प्रकाशित न हो सके। इधर देवीजी यह आशा लगाये बैठी थीं कि अमुक तारीख़ को पत्रिका प्रकाशित हो जायगी, अमुक तक उनका पुरस्कार अवश्य आ ही जायगा और कर्ज़दार को रक़म अदा कर दी जायगी। पर इसमें उन्हें बड़ी झंझटें उठानी पड़ीं और अनेक बार निराश होना पड़ा। अतः उन्होंने निश्चित किया कि अगर संपादक को हमारे लेख छापने की सौ बार गरज़ होगी, तो वह वी० पी० छुड़ा लेंगे और जब पेशगी रुपये दिये रहेंगे, तो झख मारकर लेख शीघ्र ही प्रकाशित करेंगे।

(४)

अभी पंडित गणपतजी (उर्फ़ मंदाकिनी देवी) दफ़्तर से आकर कपड़े भी नहीं उतार पाये थे कि गोदावरी ने आकर उनसे कहा कि डाकिया ३६) का एक मनी-आर्डर लाया था, मेरे कहने पर भी उसने मुझे नहीं दिया। दफ़्तर का पता बता दिया है, कल वहीं मिल जायगा। उसके पूछने पर मैंने अपना नाम—गोदावरी भी बता दिया। उसने फिर पूछा—मंदाकिनी देवी किसका नाम है, यह उन्हीं के नाम आया है, लेकिन मार्फ़त पंडितजी के है। सो यह पंडितजी ही को मिल सकता है।

"ख़ैर होगा, आज न सही कल सही, जायगा कहाँ !"

"यह देवीजी कौन हैं ?"

"तुझे क्या मतलब ?"—पंडितजी ने बात को टालने के इरादे से झुँझलाकर कहा।

"क्यों, क्या मैं यह भी नहीं पूछ सकती ?"

"ये सब फ़ालतू बातें हैं, मेरे पास इतना समय नहीं कि तुझसे माथा खपाऊँ।"

"जीहाँ, आज भंडाफोड़ हुआ, तो इस तरह बला टालनी चाही !"

"क्यों बक-बक कर रही हो। दिन-भर का भूखा, मारा-पीटा दफ़्तर से आया, चुड़ैल की तरह सिर पर सवार हुई।"

"अभी तो चुड़ैल हुई हूँ, और सब तो बाक़ी है।"

"जा, रोटी पका, मुझे ब्यालू करके अभी ज़रूरी काम से बाहर जाना है।"

"जाते क्यों नहीं, मना किसने किया है। [illegible] बुला लाइए, रोटी पकावे। चुड़ैल के हाथ की [illegible] पंडित लोग नहीं खाते ! कहीं उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई, तो गुस्सा तो मेरे ही सिर उतरेगा।"

"हे ईश्वर, इसे कब बुद्धि आवेगी ! जब देखो, एक-न-एक झगड़ा पैदा कर देती है।"

"झगड़ा पैदा करें आप और बदनामी दें दूसरे को—यही बुद्धि की बात है। हमें ऐसी बुद्धि नहीं चाहिए, आपही को वह मुबारक रहे। और हाँ, यह तो बतलाइए कि—वह चुड़ैल—मंदाकिनी देवी—है कौन [illegible] कहाँ की है।"

"मैं ही हूँ।"

"कभी नहीं, वह किसी भले आदमी की पढ़ी-लिखी औरत है। उसके लिखे कई लेख मैंने अख़बारों [illegible] पत्रिकाओं में पढ़े हैं। आप उसको चाहते हैं और [illegible] आपने कहीं लाकर रक्खा है। तभी आपके पते से उसके रुपये और चिट्ठियाँ आती हैं। अगर आप ही हैं, तो आपके नाम से भेजने में क्या भेजनेवाले को शर्म लगती है, या आप फ़रार मुजरिम हैं कि आपके नाम [illegible] पत्र या रुपये नहीं आ सकते ? वह ज़रूर किसी [illegible] की लड़की या विधवा है। आपने उसे सोने की चिड़िया बना रक्खी है। आज इसका निपटारा हो जाय। [illegible] आप जब देखो तब उसी की धुन में रहते हैं। मुझसे बोलने-चालने की या घर-गृहस्थी की ओर आपका [illegible] ध्यान ही नहीं रहता। रहे भी क्यों, जब ऐसी चिड़िया

हाथ लगी है। मैं तो चुड़ैल ठहरी, मुझसे आपका क्या सरोकार !"

"लीजिए, यहाँ भूख के मारे पेट-पीठ एक हो रही है और इसने व्याख्यान देना शुरू कर किया। लाख बार मैंने कहा कि मैंने ही अपना नाम मंदाकिनी देवी रक्खा है, इसी नाम से लेख और कविताएँ लिखता हूँ और सब रक़म पैदा करता हूँ।"

"तो क्या आपके नाम से आपका लेख कोई नहीं छापता। आप तो इतना पढ़े-लिखे हैं, पंडित हैं। औरतों के नाम की ओट से रुपये कमाना तो मर्दानगी का काम नहीं। मैं सब समझती हूँ, ये सब मुझे भुलावा देने की बातें हैं। ईश्वर सबका मददगार है, मेरा भी वह रखा करेगा। जो जिसको अच्छा लगे, करे। जैसा करेगा, आप ही भोगेगा।"

(५)

पंडित गणपतजी का मकान पूछती हुई चार-पाँच युवतियाँ आयीं। मुहल्लेवालों ने इस टोली को देखकर और अच्छे घर की औरतें जान स्वयं आकर पंडित गणपतजी का मकान बताया। रविवार का दिन था, पंडित जी को भी फ़ुरसत थी। आराम के साथ दाढ़ी बना रहे थे। इतने में उनमें से एक ने आवाज़ दी—श्रीमती मंदाकिनी देवीजी हैं क्या ?

गणपतजी हड़बड़ाकर उठे और खिड़की से झाँककर देखा कि अलबेली नवेलियाँ इठलाती हुई दरवाज़ा ताक रही हैं। पंडितजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए कि इन लोगों से परिचय प्राप्त करने का अच्छा अवसर है। झट उस्तरे से दोनों तरफ़ की मूँछें साफ़ करके, पास की खूँटी पर टँगा हुआ गोदावरी का लहँगा पहन लिया। ऊपर से मुँह ढाँककर ओढ़नी भी ओढ़ ली और बड़ी नज़ाकत से नीचे आकर बड़े आदर से सबको ऊपर कमरे में ले गये।

किसी ने मंदाकिनी देवी की शकल देखी तो थी ही नहीं, सभी ने समझा, शायद इनका बचपन देहात में बीता होगा, इसी से यह इतनी हृष्ट-पुष्ट हैं। यही कारण है कि इनको शहर की हवा भी नहीं लगी है, तभी तो इस युग में इन्होंने अभी तक पुराना लहँगा अपना रक्खा है। इतनी पढ़ी-लिखी, विदुषी होकर और आधुनिक सभ्यता की बड़ी पक्षपातिनी होकर भी इन्होंने पुरानी चाल नहीं छोड़ी। यह देखकर सभी को आश्चर्य हुआ और सभी ने आपस में इशारे से एक दूसरे का समर्थन किया।

इनका घूँघट देखकर एक ने कहा—"श्रीमतीजी, क्षमा करें, तो एक बात पूछूँ।"

"हाँ-हाँ, जो इच्छा हो पूछो। यह तो तुम्हारा ही घर है, संकोच किस बात का।"

"आप अपने लेखों में तो पर्दे की प्रथा को इतना बुरा बताती हैं, पर स्वयं हम स्त्रियों के सामने भी इतना लंबा घूँघट निकाले हुए हैं !"

"तीन दिन से मेरी आँखें दुख रही हैं। रोशनी देख नहीं सकती। इसके लिए आप क्षमा करें।"

"ख़ैर, कोई बात नहीं। हम लोग तो आपको एक कष्ट देने आयी थीं, पर आपकी यह हालत देखकर निराश होना पड़ रहा है।"

"नहीं-नहीं, कहिए। यह शरीर तो आप ही-जैसी विदुषी और संसार को सुधारनेवाली महिलाओं की सेवा के लिए बना है, और सदा तैयार रहेगा। अगर इसी में यह एक दिन काम आ जाय, तो इससे बढ़कर सौभाग्य की क्या बात है।"

"इसको आदर्श कहते हैं ! अपनी तकलीफ़ का कुछ ख़याल न करके सदा परोपकार में तत्पर रहना बिरले ही का काम है।"—उनमें से एक बोल उठी।

"कल यहाँ के महिला-मंडल का वार्षिकोत्सव है, अच्छा हो, आप हमारे उत्सव का संचालन करें।"—दूसरी ने कहा।

"यह कार्य तो और किसी सुयोग्य विदुषी को दिया जाता, तो सुंदर होता। मेरे योग्य जो सेवा कहिएगा, मैं सब कर दूँगी।"

"आपसे बढ़कर तो हमें यहाँ कोई नहीं नज़र आता।"

इतने में पंडित गणपतजी के एक घनिष्ठ मित्र धड़-धड़ाते हुए उसी कमरे में आ धमके। युवतियों ने इन्हें मंदाकिनी देवी के पति समझकर सादर प्रणाम किया और उन्होंने भी भ्रम बनाये रखने को समयानुकूल बर्ताव किया।

"अच्छा, तो फिर जैसी आपकी आज्ञा। मैं आपकी आज्ञा टाल तो सकती नहीं।"—मंदाकिनी देवी ने धीरे से कहा!

सब सहर्ष विदा हुईं।

× × ×

मित्र—तुम तो यार पूरे बहुरूपिये निकले।

गणपतजी—कहो, कैसी रही ?

मित्र—खूब रही।

एक संकोच

[श्रीभालचंद्र राव तैलंग बी० ए०]

आज आये मेरे करुणेश,
जानकर मेरे जी की बात।
हृदय से लगे आह के मेघ—
उमड़कर छा लेने आकाश।
घात-प्रतिघातों का कुहराम,
मच उठा फिर उर-तट की ओर।
बह चला अंतस्तल का स्रोत
चूम लेने अनंत के छोर।
उन्माद भरा रग-रग में,
अभिलाष भरी पलकों में,
पर टूट-टूट दो लड़ियाँ—
पुष्पों पर लगीं मचलने।
भावों ने मूक बनाया,
लज्जा ने शीश झुकाया,
आँखों में तैर रहा था—
उल्लास प्यास का जीवन।
कितनी कसक ! व्यथा थी कितनी !
कितना दुख था ! कैसी दाह !
कैसी तड़पन ! कैसी उलझन !
कितनी थी पीड़ा—कैसा राग !

उस वसंत की हरियाली में,
फूल उठा प्राणों का फूल;
अबला का धन ! नयनों की निधि !
मूक भाव ! करुणा के अश्रु !
हाय संकोच ! निठुर संकोच !
'सकुचना'—हुआ यही अपराध।
जानकर भी कर दिया अजान—
अतिथि ! क्या हुआ यही अपमान?
लुटाती रही—किंतु हा देव !
निमीलित आँखों से सौंदर्य।
रूठकर चले गये, क्यों नाथ !
समझ बैठे इसको क्या गर्व ?
हाय था, भोला-सा वह प्यार;
समझ बैठे निष्ठुर व्यापार।
अश्रु ! पीड़ा के कोमल भाव—
बिखर जाने में ही है सार।
ठहर ! अंतर के निर्मम भार !
छिन गया रोने का अधिकार;
सिसक कर बोल उठी वह आह—
'जलन ही है जीवन की साध।'

महाकवि भारवि और उनकी सूक्ति-सुधा

(क्रमागत)

[पं० गोकर्णदत्त त्रिपाठी]

(२)

[किरातार्जुनीय]

द्वितीय सर्ग

(९)

ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा
गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥

'छोटे मुँह बड़ी बात'—इस कहावत का ख़याल न करना चाहिए । कोई भी पुरुष, स्त्री, बालक, शिक्षित किंवा अशिक्षित समय पर कोई उचित बात कहे, तो उसको मान लेना बुद्धिमानी का कार्य है। कहावत है—'बालादपि सुभाषितम् ।'

(१०)

अभिमानवतो मनस्विनः
प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः ।
विनिपातनिवर्तनक्षमं
मतमालम्बनमात्मपौरुषम् ॥ १३ ॥

संसार में जो पुरुष अपने को ठीक-ठीक मानधन समझें, उनके लिए यही उचित है कि निज पौरुष का आश्रय लेकर अपनी उन्नति और इष्ट-सिद्धि को प्राप्त करें; क्योंकि ऐसे मनुष्यों के लिए स्वावलंब ही एकमात्र परम ओषधि है । स्वतः शारीरिक श्रम किये विना किसी की भी वास्तविक उन्नति होती नहीं देखी गयी । अभिमानियों की यह दशा देखी जाती है कि उनको दूसरे बड़े किंवा छोटे लोग कोई सहारा भी दें, तो भी वे कार्य-सिद्धि के बाद उस साहाय्य को, उस श्रम को, उस उपकार को तृणवत् मानकर उपकारक की हँसी उड़ाया करते हैं और अंत में मुँह के बल गिरते हैं ।

(११)

निवसन्ति पराक्रमाश्रया
न विषादेन समं समृद्धयः ॥ १५ ॥

संसार में संपत्ति का लाभ केवल अपने श्रम के ऊपर निर्भर है। किसी की उन्नति देखकर कुढ़ने से किसी को कोई लाभ नहीं होता, प्रत्युत इस प्रकृति-परिवर्तन द्वारा उलटे अपनी ही हानि होती रहती है।

(१२)

न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

जो पुरुष महान् हैं, अपने को बड़ा समझते हैं, उनको चाहिए कि वे दूसरे का मुँह न ताकें, न उसके ऐश्वर्य का ही लोभ करें, अपितु स्वयं आगे बढ़कर अभ्युदय प्राप्त करें।

(१३)

प्रकृतिः खलु सा महीयसः
सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

प्रायः देखा जाता है कि बड़े लोग दूसरे की उन्नति को नेक नज़र से नहीं देखते। यह उन लोगों का स्वभाव ही समझना चाहिए, अन्यथा ऐसी प्रकृति अनुचित है। प्रारब्ध और पुरुषार्थ से ही सब कोई उन्नत दशा को प्राप्त होते हैं।

(१४)

सहसा विदधीत न क्रिया—
मविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणुते हि विमृष्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३ ॥

कोई काम विना समझे-बूझे झटपट न कर डालना चाहिए; क्योंकि अविचार के कारण भविष्य में अनेक आपत्तियाँ झेलनी पड़ती हैं। जो लोग अविचार से काम लेते हैं, वे पीछे बैठे हाथ मला करते हैं; परंतु जो विचारपूर्वक अपने कर्तव्यों में संलग्न रहते हैं, विविध संपत्तियाँ ख़ुद आकर उनका आलिंगन करती और अनेक प्रकार के सुखोपभोग का साधन बनती हैं।

(१५)

क चिराय परिग्रहः श्रियां
क च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियै—
रसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३६ ॥

प्रायः देखा जाता है कि लक्ष्मी का बहुत दिनों तक कोई भोग नहीं कर सकता, अर्थात् यह कार्य असंभव-सा है, जैसे दुष्ट प्रकृतिवाले घोड़ों का क़ाबू में रखना। उनकी पीठ पर चाहे जितने कोड़े झाड़े जायँ, पर वे ज़रूर दुलत्ती मारेंगे और सवार को नीचे गिरा देने की चेष्टा करेंगे। इसी प्रकार शरद्-काल के बादलों की भाँति विविध रूपों को धारण करनेवाली लक्ष्मी उनके पास नहीं रह सकती। जो असंयमी पुरुष हैं, ऐसे लोग उसको नहीं टिका सकते। वह तो ज़रूर ही इधर-उधर मनमानी हवाख़ोरी करती रहेगी।

(१६)

न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

किसी भी समय में शांति के अवलंबन के सदृश, कार्य-सिद्धि के लिए, दूसरा उपाय नहीं है—अर्थात् कभी तेज़ी, कभी मंदी का आश्रय लेना पड़ता है।

(१७)

विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

अविनीत, अशिक्षित, दुर्जन, पामर, कुटिल एवं ईर्षी मनुष्यों को प्रारब्धवश जो सुख-सौभाग्य एवं धन-धान्य मिल जाता है, उसका अंतिम परिणाम अच्छा नहीं होता। ऐसे पुरुषों को अंत में प्रबल दुःखों का सामना करना पड़ता है।

तृतीय सर्ग

(१८)

भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥ १२ ॥

संसार में जो सदाचारी हैं, जो अपनी व्यावहारिक दशा में शुद्ध, पवित्र एवं निर्मल हैं; ऐसे लोगों के साथ सभी पक्षपात अर्थात् तरफ़दारी करने के लिए तैयार रहते हैं। प्रयोजन यह कि भले का साथी सब कोई होता है, कुकर्मी एवं कुटिल का सच्चा साथी कोई नहीं होता।

(१९)

मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥ १३ ॥

सब कोई सांसारिक सुखोपभोग के लिए लालायित रहते हैं, और यह सुख-भोग की प्रबल इच्छा मनुष्य की बुद्धि को प्रायः विचलित कर दिया करती है। संसार में यह एक बड़ी विचित्र बात है। प्रायः समस्त चेतन प्राणिसमुदाय इसी उलझन में पड़कर आयु यापन किया करता है।

(२०)

असाधुयोगा हि जयान्तरायाः
प्रमाथिनीनां विपदां पदानि ॥ १४ ॥

दैव-संयोग से यदि कोई कार्य यथार्थ ढंग से हो जा रहा हो और उसमें कदाचित् दुर्जन-सम्मति को प्रवेश-मार्ग मिल जाय एवं वह अपना अधिकार जमा लेने पावे, तो अवश्य ही उस कार्य में अनेक प्रकार की विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हो जाएँगी और विपत्तियों का पहाड़ ढा देंगी।

(२१)

प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥ १७ ॥

'जिसकी लाठी उसकी भैंस'—यह कहावत ही इस सूक्ति से दृढ़ होती है।

(२२)

प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ॥ १८ ॥

जैसा पात्र होता है, वैसे ही उसमें गुणों का समावेश होता है। सूर्य की किरणों का प्रकाश मिट्टी में नहीं, मणि में ही प्रतिफलित होता है।

(२३)

विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ ३१ ॥

सज्जनों का समागम प्रायः हृदय में विश्वास (फलितार्थ श्रद्धा) उत्पन्न कर देता है। कारण, सज्जन लोग धोखेबाज़ नहीं हुआ करते, अतएव उनके प्रति श्रद्धा का भाव हो जाना स्वाभाविक ही है।

(२४)

मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि
स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥

मत्सरता और स्वार्थ से जिनका चित्त दूषित हो गया है, दब गया है—ऐसे लोग सज्जनों को भी पीड़ित करने से बाज़ नहीं आते। वे लोग सज्जनों की बुराइयाँ करना ही अपना परम कर्तव्य समझने लगते हैं।

चतुर्थ सर्ग

(२५)

नहीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥ २० ॥

जो मनुष्य सामाजिकों के किसी आंतरिक भाव को जान लेता है, उसको समय पर प्रकट करने में वह नहीं चूकता है।

(२६)

नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं
तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥ २२ ॥

जो प्रेमी है, रसिक है, नवीन भावों का भूखा है, उसकी दशा विचित्र होती है, उसका चित्त क़ाबू में नहीं रहता है। ऐसी दशाओं का परिवर्तन स्थावर-जंगम विश्व को ही परिवर्तित कर देता है। देखा जाता है कि शरदृऋतु के आते ही वर्षा की बहार में चित्त की लहरें ही नहीं उठतीं।

(२७)

न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥ २३ ॥

जो स्वभाव ही से सुंदर है अर्थात् जिसको स्रष्टा ने स्वयं ही सुघटित अवयव किया है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसके लिए बाहरी टीमटाम की ज़रूरत नहीं होती।

(२८)

गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥ २५ ॥

जो जिसको सच्चे प्रेम की दृष्टि से देखता है, उसके लिए मानों जगत् के गुण-समुदाय (जो कुछ समझा जाय) उसी में एकत्र मिलते हैं, अर्थात् सब कोई गुणों पर मुग्ध होता है, विशेष परिचय से उतना आकर्षित नहीं होता।

पंचम सर्ग

(२९)

मुखरताऽवसरे हि विराजते ॥ १६ ॥

किसी मौक़े पर भी ज़्यादा बक-झक न करनी चाहिए। इससे गौरव की हानि है और समाज में मूर्खता प्रकट होती है। इस कारण, समय पर ही किसी पूछने पर अपना मत प्रकट करना उचित होता है। व्यर्थ बकने से कोई लाभ नहीं। जब बकने का मौक़ा हो, तभी अधिक बातें शोभा देती हैं।

(३०)

प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनाऽन्तरायैः ॥ ४६ ॥

दैवी इच्छा अनुकूल होने पर भी कभी-कभी इष्ट कार्य नहीं सिद्ध होते। उनमें अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। अर्थात् दैव की अनुकूलता में भी किसी समय दुःखों का सामना करना पड़ता है।

(३१)

संघत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥ ५१ ॥

अच्छे पुरुषों के वियोग से प्रत्येक को दुःख होता है। भले आदमी से सबको किसी-न-किसी भाव से हार्दिक स्नेह अवश्य होता है।

षष्ठ सर्ग

(३२)

महते रुजन्नपि गुणाय महान् ॥ ७ ॥

यदि महान् पुरुष किसी से अप्रसन्न होकर उसकी कुछ बुराइयाँ भी करें, तो भी यह दूसरों के द्वारा बुरा कहे जाने की अपेक्षा अच्छा ही है। तात्पर्य यह कि उसके द्वारा बुराई के प्रकटीकरण में भी गुण की झलक समझ लेने से वह अपने लिए हितकर हो जाती है।

(३३)

कमिवेशते रमयितुं न गुणाः ॥ २४ ॥

जगत् में दया, दाक्षिण्य आदि गुण सभी को वशीभूत कर लेते हैं, अर्थात् जो पुरुष स्वभावतः शुद्ध है, उस पर सबको विश्वास हो जाता है। उसमें न तो विशेष परिचय ही कारण होता है, न कपट-वेष ही। जैसे—आजकल के साधुओं का प्रायः रंग-रूप ही चमका करता है, ज्ञान-आभूषण नहीं। अतएव जगत् में उनका कैसा सम्मान होता है, यह किसी से छिपा नहीं।

(३४)

वशिनां
न निहन्ति धैर्यमनुभावगुणः ॥ २८ ॥

संयमी पुरुषों में आंतरिक गंभीर भाव एक विशेष गुण होता है, जिससे बाहरी पदार्थों का प्रभाव उन पर सहसा अधिकार जमाकर उन्हें विस्मित एवं पथ-भ्रष्ट करने में समर्थ नहीं होता। अन्यथा, विस्मित

हो जाने के कारण उनकी तपस्या ही भंग हो जाया करे।

(३५)

नयवर्त्मगाः प्रभवतां हि धियः ॥ ३८ ॥

महान् पुरुषों की रीति-नीति सदा उचित मार्गानुसारिणी होती है। वह अपने निर्दिष्ट पथ से तिल-भर भी नहीं हटती।

(३६)

क शरासनं क च विमुक्तिपथः ॥ ४४ ॥

धनुष-बाण का धारण करना और मोक्ष-मार्ग का आश्रय लेना—दोनों बातें आपस में स्वभावतः विरुद्ध हैं। दोनों का मेल होना ही असंभव है। तात्पर्य यह कि जो योगी हो, उसको भोगी न बनना चाहिए।

(३७)

स्वयशांसि विक्रमवतामवतां

न वधूष्वघानि विमृशन्ति धियः ॥ ४५ ॥

अपने यश की रक्षा करनेवाले पुरुष स्त्रियों के अपराधों का कम विचार करते हैं, उनको मारने के लिए अस्त्र नहीं उठाते हैं। अतएव कीर्ति-नाशक होने के कारण स्त्री-हिंसा शूरवीरों के लिए निंद्य कही गयी है।

(३८)

सम्भावना ह्यधिकृतस्य तनोति तेजः ॥ ४६ ॥

अधिकारी पुरुषों की बड़ाई, मान एवं प्रतिष्ठा करने से स्वामी की प्रतिष्ठा वृद्धि को प्राप्त होती है अर्थात् जिसको जैसे पद पर बिठलाया हो, तदनुसार उसकी मान-मर्यादा का ख़याल रखना स्वामी का परम कर्त्तव्य है।

सप्तम सर्ग

(३९)

रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति ॥ ५ ॥

जो स्वभावतः सुंदर हैं, वे लटी-फटी हालत में भी सुंदर ही हैं। कारणवश यदि वे मलिन भी हो जायँ, तो भी उनका प्राकृतिक सौंदर्य उनकी शोभा को ही बढ़ायेगा और वह दर्शकों को मनोरंजक ही रहेगा।

(४०)

युक्तानां खलु महतां परोपकारे

कल्याणी भवति रुजत्स्वपि प्रवृत्तिः ॥१३॥

महान् पुरुषों की उपकार-प्रवणता बड़ी ही विचित्र होती है। वे दुष्टों के उपकार में भी कोई बाधा करना तो दूर रहा, स्वयं ही उनकी भलाई करने में आर्द्रचित्त रहा करते हैं।

(४१)

नाल्पीयान् बहु सुकृतं हिनस्ति दोषः ॥ १५ ॥

प्रसंगवश किसी समय यदि किसी से कोई दो (अपराध) भी हो जाय, तो वह दोष उसके पूर्व-संचि सुकृत को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता, अर्थात् सुकृती के लिए प्रसंगवश थोड़ा अपराध तादृश हानि कारक नहीं होता।

अष्टम सर्ग

(४२)

यथोत्तरेच्छा हि गुणेषु कामिनः ॥ ४ ॥

कामी अर्थात् भोगी पुरुष जहाँ कोई वस्तुगत विशे षता देखते हैं, उसी पर टूट पड़ते हैं। उनकी इच्छा का कोई पारावार नहीं रहता।

(४३)

वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ॥ ३७ ॥

जो जिसका प्रेमी होता है, उसकी दृष्टि में संसार समस्त गुण भी उसी में निवास करते हैं। आशय कि प्रेम से बढ़कर संसार में अनिर्वचनीय प्रभावोत्पा दूसरा पदार्थ नहीं है। जो जिसका प्रेमाधार वही सर्वगुणाधार है।

नवम सर्ग

(४४)

लंघ्यते न खलु कालनियोगः ॥ १३ ॥

दैव के नियोग अर्थात् काल-महिमा के उल्लंघ करने की सामर्थ्य किसी को भी नहीं है। गोस्वा श्रीतुलसीदासजी ने भी कहा है—

हँसि बोले रघुबंसकुमारा;

विधि कर लिखा को मेटनहारा।

(४५)

वस्तुमिच्छति निरापदि सर्वः ॥ १६ ॥

सब कोई चाहता है कि सुख से दिन कटें, गुल उड़ें और कोई कष्ट न हो। परंतु जीवन में ऐसा कम होता है।

(४६)

दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम् ॥

जिसका चित्त किसी आंतरिक दुःख से पीड़ित है, उसको प्रिय वस्तु भी अप्रिय लगती है।

(४७)

साधनेषु हि रतेरुपधत्ते
रम्यतां प्रियसमागम एव ॥ ३५ ॥

चाहे जितने ठाठबाट एवं सजधज की तैयारी का परिश्रम उठाया जाय, परंतु उस तैयारी में खूबी या, यों कहना चाहिए, उसका साफल्य तभी है, जब प्रिय-समागम भी प्राप्त हो।

(४८)

मन्मथेन परिलुप्तमतीनां
प्रायशः स्खलितमप्युपकारि ॥ ३७ ॥

कौमारावस्था का उल्लंघन करके ज्यों ही यौवन-काल आ धमकता है, त्यों ही मनुष्य पर कामदेव अपने प्रभुत्व का सिक्का जमा लेते हैं और उसकी बुद्धि को किंकर्तव्यविमूढ़ कर देते हैं। ऐसे मनुष्यों का—कभी किसी मौके पर—चूकना भी उपकारक हो जाता है।

(४९)

आत्मवर्गहितमिच्छति सर्वः ॥ ६४ ॥

सब कोई अपने वर्ग का हित चाहते हैं, उसके उपकार की चेष्टा करते हैं।

(५०)

प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि ॥ ७० ॥

प्रेम का यह स्वभाव होता है कि वह असमय में भी विरुद्ध बातों की कल्पना किया करता है, अर्थात् प्रेम बड़ा ही चोर है, वह किसी पर भी विश्वास नहीं रखता।

(अपूर्ण)

जीवन

[श्रीयुत साधुशरण]

नहीं समझ में कुछ आता है!
जीवन यह क्या है ऐ सजनी! आह, न वश में रह पाता है।

कितना सुंदर कोमल तन था;
यौवनमद पर भोलापन था;
वैभवशाली जन-परिजन था;
जग से नाता तोड़, छोड़ सब—
आज कहाँ हा! वह जाता है। नहीं० !

जिसके हासों पर मुसकाकर;
प्रिया चूमती थी लिपटाकर;
सुख पाती सर्वस्व लुटाकर;
उसको छूते भय खाती क्यों—
हृदय घृणा से भर आता है! नहीं० !

कितना यह अनमोल तत्व है,
किसका इस पर रहा स्वत्व है?
क्या ममत्व में भी परत्व है?
तन में कहाँ रमा रहता फिर—
कैसे पल में वह जाता है? नहीं० !

व्यर्थ परायेपन में तपना;
जगती तो जैसे हो सपना;
क्यों तुम मुझको कहतीं अपना?
इसके जाते कहाँ, हाय, यह—
तेरा-मेरा रह जाता है! नहीं० !

मिलाप

[मुंशी अलीअब्बास हुसेनी एम्० ए०]

(१)

सन् १८५७ ई० के ग़दर के बाद जब फिर से अँगरेज़ी-राज शुरू हुआ, तो जहाँ बहुत-से ख़ानदान बरबाद हुए, वहाँ सैकड़ों बन भी गये। इन नये ख़ानदानों में ठाकुर लखपतसिंह का ख़ानदान भी एक था। यह ग़दर के ज़माने में मामूली सिपाही से तरक़्क़ी करके रिसालदार हो गये थे। इन्होंने शरीफ़ की तरह हक़-नमक अदा किया और सैकड़ों मौक़ों में गोरों पर अपने को कालेदाने की तरह वारा। विक्टोरिया महारानी की गवर्नमेंट ने इनकी वफ़ादारी की क़द्र की और तीन मुसल्लिम गाँव और कुछ हिस्सा महमूदपुर में अता किया। ठाकुर साहब ने सरकार के जानोमाल को दुआ दी। तलवार का क़ब्ज़ा हाथ से छूटा और हलकी मूठ हाथ में आ गयी।

महमूदपुर लखपतसिंह के गाँव के बग़ल में ही था। यहाँ के पुराने ज़मींदार मीर ज़मीरहुसेन बड़ी ख़ानदान के आदमी थे। ग़दर के पहले क़रीब-क़रीब सारा ज़िला उन्हीं का था; लेकिन ग़दर में यह ग़ैरजानिबदार बने चुपके बैठे रहे। इन्होंने न तो बाग़ियों का साथ दिया और न कंपनी का। जब बाग़ी भगा दिये गये और उनके हमदर्दों की तलाश हुई, तो यह भी शुबहे की नज़र से देखे गये। ज़िले के अफ़सर ने कहा—"इतना बड़ा ज़मींदार और यों ही बैठा रहे, नामुमकिन है।" वकील-मुख़्तारों ने बहुत कुछ समझाया, लेकिन ज़मीरहुसेन ख़ुद न गये और न ज़्यादा सफ़ाई ही पेश की। आधी जायदाद ज़ब्त कर ली गयी। यह उसका हिस्सा था, जो लखपतसिंह को मिला था।

अब लखपतसिंह और ज़मीरहुसेन से क्योंकर बन सकती थी! यह नये और वह पुराने। यह ख़ुदसाख़्ता और वह ख़ानदानी। ग़रज़, चकमक हुई और बुरी तरह। महमूदपुर, जिसमें दोनों का हिस्सा था, पानीपत का मैदान बना, और राय पिथौरा और मुहम्मद ग़ोरी की लड़ाइयाँ फिर से छोटे पैमाने पर होने लगीं। साथ के उठने-बैठनेवाले दोनों तरफ़ आग लगाने में यकसाँ। जीत या हार किसी की हो, गीदड़ हमेशा फ़ायदे में ही रहते हैं। इसलिए कभी फ़ौजदारी की नौबत आती तो कभी दीवानी की। कभी मीर साहब हारे, तो कभी ठाकुर साहब। लेकिन आपस में न सुलह हुई, न दोस्ती। होती भी कैसे? इधरवाले कहते—'सैयद कभी ठाकुर से दबा है।' उधरवाले जवाब देते—'राजपूत कभी किसी तुर्क से डरा है।' ग़रज़, जब तक दोनों बुड्ढे ज़िंदा रहे, यों ही लड़ाई जारी रही। जब मरे तो ख़ानदानी झगड़े और आपस के सैकड़ों मुक़दमे लड़कों के लिए छोड़ गये।

(२)

नये मीर साहब और नये ठाकुर साहब दोनों अपने-अपने बाप के बेटे थे। वह बूढ़े थे, यह जवान। उनके ख़ून में सरदी थी, इनके गरमी। उन्होंने कभी ख़ुद फ़ौजदारी में हिस्सा नहीं लिया, लड़ाई की जगहों में कभी ख़ुद नहीं गये। यह दोनों ख़ुद पहुँच जाते और लड़ाई में ख़ुद हिस्सा लेते। इतना ही नहीं, बल्कि जिस्म में क़ूवत और दिल में हिम्मत होने की वजह से बड़े-से-बड़े मजमे में निडर होकर घुस जाते और एक दूसरे को टोककर दो-दो हाथ लड़ने के लिए तैयार रहते।

एक दिन ऐसा इत्तिफ़ाक़ हुआ कि नये मीर साहब, मीर क़दीरहुसेन के खेत में कुएँ से पुली के ज़रिये पानी पहुँचाया जा रहा था। नालियाँ जिन खेतों से होकर गुज़रती थीं, वह नये ठाकुर साहब धनपतसिंह के थे। धनपतसिंह को यह मालूम हुआ नहीं कि उन्होंने नालियाँ अपने खेत में चुपके से कटवा दीं। पानी मीर साहब के खेत में पहुँचने की जगह ठाकुर साहब के खेत में भर आया। मीर साहब के आदमियों ने जो यह देखा तो पानी बंद करने पहुँचे। धनपतसिंह के आदमी लाठी लेकर खड़े हो गये कि अगर तुमने खेत में पाँव रक्खा, तो हम सर तोड़ देंगे। नाली इस तरह से गयी थी कि बग़ैर खेत में गये बंद नहीं हो सकती थी। मीर

साहब के आदमी अजीब झमेले में थे। नाली बंद नहीं हो सकती; पानी रुक नहीं सकता। गुस्सा बढ़ा। बात बढ़ गयी। लाठियाँ उठ गयीं। लेकिन मीर साहब के एक बूढ़े मुलाज़िम ने आगे बढ़कर सबको रोका। मालिक की इजाज़त की ज़रूरत थी। पुली बंद कर दी गयी। पानी रुक गया। मीर साहब की इत्तिला के लिए आदमी दौड़ाया। मालूम हुआ, वह शहर गये हैं। इधर धनपतसिंह को ख़बर हुई, तो वह खुद मौक़े पर आ पहुँचे और खेत की मेड़ पर आकर बैठ गये। बोले कि देखें, कौन हमारे खेत में आता है। मुमकिन था कि इस दिन बात न बढ़ती; लेकिन इत्तिफ़ाक़ से मीर साहब के नये मुख़्तार आ गये। उन्हें अपनी क़ानूनदानी पर बड़ा नाज़ था और कारगुज़ारी पर बड़ा दावा। ख़याल आया कि मीर साहब को जहाँ मालूम हुआ कि खेत में पानी नहीं जा सका और धनपतसिंह ने उसे रुकवा दिया, तो पूछेंगे कि तुम ज़िंदा कैसे हो, मर गये होते! आते ही ठाकुर साहब से बोले—आप अपनी ठकुराई तो तह करके रखिए, पानी जायगा और ज़रूर जायगा। ठाकुर तो छोटे आदमी को मुँह लगाने के ख़याल से चुप रह गये, मगर उनके एक साथी ने लाठी तानकर कहा—अरे जा रे तुरुक। घर में रोनेवालियों के आँसू पोंछ, नहीं तो वह लाठी पड़ेगी कि लाश फड़कती होगी। मुख़्तार साहब गुस्से से होठ चबाकर बोले—अच्छा, पानी तो मीर साहब के खेत में जायगा, मगर हम तुम्हारे ख़ून में हाथ रँगेंगे। फिर मुलाज़िमों को डाँटा कि तुम सब घर में चूड़ियाँ पहनकर बैठो। अगर मुसलमान तुम्हीं-जैसे बोदे होते, तो फिर काहे को हिंदुस्तान में पैर टिकता। भड़की हुई तबियतों को मज़हब व मरदानगी की ग़ैरत दिलाना, जलती हुई लकड़ियों पर मिट्टी का तेल छिड़कना है। सभी ने लाठियाँ उठा लीं और पिल पड़े। ठाकुर धनपतसिंह ने आदमियों से तो लड़ने का इशारा कर दिया, लेकिन लाठी लेकर अलग खड़े रहे। शेर और लोमड़ी का मुक़ाबला नहीं होता। मालिक टके के नौकरों से क्या लड़े! मीर साहब होते, तो जवाँमर्दों की तरह लड़ाई होती। डटकर लड़ते। बराबर के हाथ चलते। जीत हो या हार, किसी बात में उन्हें पसोपेश न होता। मगर यह तो छोटों की लड़ाई थी। ठाकुर का इसमें कौन-सा मौक़ा। लेकिन छोटे को बड़े से ही लड़ने में मज़ा आता है। नौकर जब मालिक के हमपल्ला दुश्मन को ज़लील कर दे, तो आबरू बढ़ती है। इस लिए मीर साहब के एक आदमी ने ताना कसा—वे मर्द हैं। मुलाज़िमों की जान जाय, ख़ुद औरतों की तरह डर से दूर खड़े रहें।

काले को टोक देना, शेर को डाँट देना उतना ही क़यामत-ख़ेज़ है, जितना राजपूत को। ठाकुर की आँखें सुर्ख़ हो गयीं, नथने फैल गये और वह छलाँग मारकर मजमे में घुस गया। पहले जहाँ ज़ख़्मी और बेकार करने का क़िस्सा था, वहाँ अब जान लेने और जान देने का पक्का इरादा था। इसलिए जहाँ पहले हाथ-पाँव टूटते थे, अब सिर फटने लगे। थोड़ी देर में ज़ख़्मियों के ढेर हो गये और मुख़्तार साहब ने बात पर जान दी; मरकर गिरे भी, तो ठाकुर ही के खेत में। लेकिन खेत पर क़ब्ज़ा ठाकुर ही का रहा। पानी भी लहू से भरा था, लेकिन ठाकुर की जगह उन्हीं के लहू से; और जा भी रहा था, लेकिन मीर साहब की जगह धनपतसिंह के ही खेत में।

(३)

मुक़दमा चला और बड़े ज़ोर-शोर से चला। ठाकुर धनपतसिंह पर ज़बर्दस्ती की रोक-टोक और क़त्ल का इल्ज़ाम लगाया गया। ज़मानत भी मंज़ूर नहीं हुई। पकड़कर बंद कर दिये गये। दोनों तरफ़ से नामी-के-नामी वकील बुलाये गये। रुपया पानी की तरह बहाया जाने लगा। पहले घर में जो कुछ था, ख़र्च हुआ। फिर क़र्ज़ का सिलसिला चला और थोड़े दिन में घोड़े बछेरू बिकने लगे। फिर गाँवों में हाथ लगा। एक के बाद दूसरे की बारी आयी। अब सिर्फ़ तीसरा गाँव और वह हिस्सा रह गया, जहाँ यह फ़िसाद हुआ था; या फिर मा और बीबी के ज़ेवरात बच गये थे। फिर भी मुक़दमे की सूरत आशिक़ की तक़दीर की तरह बिगड़ती ही रही। सारे गवाहों का बयान तो हो चुका था, सिर्फ़ मीर क़ादिरहुसेन का बयान बाक़ी था। अब इन्होंने भी सख़्ती से मुख़ालिफ़ बयान दिया, तो फिर ठाकुर की जान की ख़ैर नहीं।

बूढ़ी मा और जवान बीबी बैठी हुई गुफ़्तगू कर रही थीं। दोनों को धनपत प्यारा था, दोनों का दिल

आनेवाली मुसीबत से टुकड़े-टुकड़े हो रहा था। एक की गोद उजड़ती थी और दूसरी का सोहाग जाता था। पर्दे में बैठनेवाली औरतें क्या करें, जो अपने प्यारे को बचा जावें। चुपके-चुपके रोने और एक दूसरे को भगवान् के दया करने का यक़ीन दिलाने के सिवा और वश ही क्या था।

अचानक बूढ़ी ठकुराइन कुछ सोचने लगी। बहू से अपना गहने का संदूक़ मँगवाया। फिर उससे तमाम ज़ेवरात उतारने को कहा। उनको भी इसी संदूक़ में रक्खा और पीनस तैयार करने का हुक्म दिया। बहू ने पूछा—कहाँ जाओगी? वह बोलीं—आकर बताऊँगी। पीनस में बैठकर वह मीर क़दीरहुसेन के घर पहुँचीं। कहारों ने जिस वक़्त पीनस ड्योढ़ी पर उतारी तो मीर साहब बाहर ही थे। ठकुराइन संदूक़ बग़ल में दबाये मामाओं से पूछती हुई वहाँ पहुँचीं, जहाँ बूढ़ी सैयदानी बैठी थीं। सलाम करके बराबर बैठ गयीं। सैयदानी जहाँदीदा थीं। एक नज़र में ही ताड़ गयीं कि यह कौन हैं, और किस ग़रज़ से आयी हैं। पूछा—आप धनपतसिंह की मा हैं? उन्होंने सिर हिलाकर इक़रार किया। फिर इख़लाक़ से पूछा—ठकुराइन साहबा, आप कैसे आयीं? लब व लहजे की हमदर्दी कलेजे पर तीर की तरह लगी, लेकिन राजपूतनी ने आँख से आँसू न निकलने दिये। ख़ुद्दारी से बोलीं—हमारे आपके घर की लड़ाई आज कोई नयी नहीं है। मालिकों के वक़्त से चली आती है। फिर भी आज तक न तो हमारी इज़्ज़त पर हमला हुआ, और न आपकी। लेकिन अब तो इज़्ज़त भी जाना चाहती है और जान भी। मीरसाहब की मा बोलीं—तो बीबी, इसमें क़सूर किसका है? न आपके बेटे ने दूसरों की जान ली होती और न आज जान पर आ बनती। ठाकुर की मा ग़रज़वाली थीं, जवाब दिया—मरे हुए फिर से जी न उठेंगे। धनपत आपके क़दीर की तरह मेरा एकलौता है, उसकी जान बचाकर मुझे भी जिला लीजिए। एक दिल की कैफ़ियत दूसरे दिल ने महसूस की। बड़ी बी ने सिर झुका लिया। बेटे सबके बराबर होते हैं, मा सबकी एक ही तरह चाहती हैं। अगर क़दीर पर यही वक़्त पड़ता तो? वह महज़ इसी ख़याल से काँपने लगीं और एक मामा की तरफ़ देखकर बोलीं—क़दीर को बुलाओ।

मीर साहब इस वक़्त वकीलों के मजमे में बैठे हुए अपने बयान की तैयारी कर रहे थे। फ़िक्र यह थी कि कोई ऐसा लफ़्ज़ जिरह में ज़बान से न निकलने पाये, जिससे धनपतसिंह फाँसी से बच सके। बस, हमेशा के लिए यह झगड़ा ही मिट जाय। पचीस वर्ष से ज़्यादा की ख़ान्दानी खटक दिल से निकल जाय। वकील कहते थे, ऐसा ही होगा। क्या मजाल जो बच जाय; फाँसी यक़ीनी है। मा ने जो बुलाया, तो ख़ुशी-ख़ुशी अंदर आये। यहाँ उनकी बग़ल में एक हिंदू-औरत को बैठी देखकर पूछा—यह कौन हैं? मा ने कहा—यह मेरी बहन हैं, इन्हें सलाम करो। मीर साहब ने झुककर बंदगी की और मा के इशारे पर क़रीब ही चुप बैठ गये। बड़ी बी थोड़ी देर चुप रहीं। उसके बाद बेटे से बोलीं—क्यों क़दीर, बदला लेना अच्छा है या मुआफ़ करना? इस्लाम ने क्या बताया है? मीर साहब ने इस सवाल से घबराकर मा का मुँह देखा। फिर ठकुराइन पर नज़र की। वह बोलीं—यहाँ मैं अपने बेटे धनपत की सिफ़ारिश लेकर आयी हूँ। धनपत का नाम सुनते ही मीर साहब आगबबूला हो गये। कुछ बुरा-भला कहना ही चाहते थे कि मा ने हाथ के इशारे से रोककर कहा—बेटे, तुमने मेरी बात का जवाब न दिया कि बदला लेना अच्छा है, या मुआफ़ कर देना? मीर साहब ने गुस्सा ज़ब्त करने के लिए सिर झुका लिया और बोले—जी, मुआफ़ करना।

सैयदानी मुहब्बत से मुस्किराकर बोलीं—तो बेटे, धनपत का क़ुसूर मुआफ़ करो। मीर साहब ने कहा—अम्माजान, आप इस मामले में दख़ल न दीजिए। यह नामुमकिन है। मेरे मुख़्तार की जान मुफ़्त की न थी। उसके भी बाल-बच्चे हैं। आख़िर मैं उनको क्या मुँह दिखाऊँगा। ठकुराइन बोलीं—मियाँ, आज पचीस वर्ष से हमारा-तुम्हारा ख़ान्दान एक दूसरे को जानता है। भला किसी के यहाँ तुमने यह भी सुना है कि मैं कोई ग़रज़ लेकर गयी हूँ? आज ऐसी विपदा पड़ी है, जो दौड़ी आयी। कुछ मेरे आने की लाज रक्खो। मैं तुमसे विनती करती हूँ कि यह संदूक़ गहनों से भरी है, जो कुछ मेरे और मेरी बहू के पास था, वह सब इसी में है। इस संदूक़ को मुख़्तार के

घरवालों को दे दो और मेरे धनपत की जान बचा दो। मीर साहब ने गुस्से में कहा—जान का बदला गहने नहीं हो सकते! ठकुराइन ने मुलायमियत से जवाब दिया—मैं तो आज भिखारिन बनकर आयी हूँ, बदला देने नहीं आयी हूँ। मैं मा हूँ, अगर तुम धनपत की जगह मेरी जान लेना चाहो, तो ख़ुशी से मंजूर है। बस, मेरा धनपत राम की दया से बच जाय, इतना ही चाहती हूँ। क्या तुम मुझे योंही ख़ाली हाथ लौटा दोगे? मीर साहब ने गर्दन झुका ली। सैयदानी ने हाथ बढ़ाकर उन्हें क़रीब खींच लिया और बोलीं—इतना सोच काहे का! मैं ठकुराइन को बहन पुकार चुकी हूँ; फिर भी हिचकिचाते हो! जब धनपत इसी तरह अपनी मा की छाती से लगकर बैठेगा, तब मेरा कलेजा ठंढा होगा। मीर साहब की झुकी हुई गर्दन और झुक गयी। गुस्सा और बदला लेने की ख़्वाहिश को रोकने से आँखों में मिर्चें-सी लग गयीं। शिकारी जानवर शिकार को पकड़कर फिर नहीं छोड़ता। अगर कोई छीनने की कोशिश करता है, तो उसी पर हमला कर देता है। इंसान भी दुश्मन को क़ब्ज़े में पाकर हैवान बन जाता है। मीर साहब के यहाँ भी इंसानियत और इताअत अगर एक तरफ़ थीं, तो दूसरी तरफ़ वही हैवानियत। मुक़ाबिला सख़्त था। देर तक तारीकी और रोशनी के देवताओं में लड़ाई होती रही। फिर बिजली की-सी लहर चेहरे पर दौड़ गयी। ठकुराइन घूँघट से सब कुछ देख रही थीं। उम्मीदवाराना लहजे में बोलीं—सैयद, अब भीख दे डालो। मीर साहब ने सिर उठाया और काँपते हुए हाथ जोड़कर कहा—ख़ाला, आप जो कहती हैं, वही होगा।

(४)

तीन दिन के बाद ठाकुर धनपतसिंह बेदाग़ छूटकर घर आ गये। उन्हें सख़्त ताज्जुब था कि मीर साहब मुख़ालिफ़ की जगह सफ़ाई के गवाह कैसे बन गये। घर पहुँचने पर देखा कि मा अँगनाई में खड़ी हुई है। चरण छूने के लिए झुके, तो मा ने इनका सिर अपनी ममता-भरी छाती से लगा लिया। थोड़ी देर चुप खड़ी रोया की। फिर सिर उठाकर आँखें मिलाते हुए बोलीं—अभी सीधे मेरे क़दीर के यहाँ जाओ, और उनसे मुआफ़ी माँगो। उन्होंने बड़ी दया की है। उन्हींने तुम्हारी जान बख़्शी है। धनपतसिंह का चेहरा गुस्से से सुर्ख़ हो गया। लेकिन मा का हुक्म था, इसलिए गुस्सा पीकर आहिस्ते से पूछा—क्या बात है? मैं नहीं समझा। एक मुँहलगी कहारिन, जो पास ही खड़ी थी, जल्दी से बोल उठी—बाबू, ठकुराइन मीर साहब का घर गैल रहेन। उनकी मा उनसे सिफ़ारिश करके छोड़ाइन है। बहादुर राजपूत मा की तरफ़ पलट पड़ा—आप उनके घर गयी थीं! ठकुराइन ने कहा—हाँ। वह गुस्से से बल खाकर बोला—आपको पिताजी की इज़्ज़त का ख़याल न रहा! मा ने मुहब्बत के लहजे में जवाब दिया—मुझे बेटे की जान का ज़्यादा ख़याल था। ठाकुर होंठ चबाता हुआ उलटे पाँव बाहर चला गया। मा का दुश्मन के घर जाना! घोड़े की तरह उसे न ऊँचा दिखायी देता था, न नीचा, और न अब उसे बुरे-भले का फ़रक़ सुझायी देता था। बेहद गुस्सा था, ग़ैरत थी। उसने उसी वक़्त मुख़्तार को भेजकर स्टांप मँगवाया, बक़ाया जायदाद का हिबानामा तैयार करके घोड़े पर बैठा और काग़ज़ समेत मीर साहब की कोठी पर पहुँचा। मीर साहब देहाती रईसों की तरह तख़्त पर बैठे थे। इर्द-गिर्द गाँव के दूसरे लोग भी बैठे थे और हुक्के का दौर था। ग़प लड़ रही थी। धनपतसिंह घोड़े पर सवार उनके पास पहुँचे, और घोड़े ही पर बैठे-बैठे उनके सामने काग़ज़ फेंककर बोले—यह लीजिए, आपके नाम मेरी बची-खुची जायदाद का हिबानामा है। आप समझते थे कि मैं एहसान करके राजपूत की गर्दन नीची कर दूँगा; जब बराबरी ही न रहेगी, तो मुक़ाबला क्या ख़ाक करेगा। मगर धनपत अभी इतना नहीं गिरा कि वह आपका एहसान मुफ़्त ले। वह जिस तरह लाठी का बदला लाठी से लेता है, उसी तरह एहसान के बदले में एहसान भी कर सकता है। आपने अगर मेरी जान बचायी, तो मैंने भी आपको अपनी सारी जायदाद दे दी। मीर साहब उनके इस तरह अचानक आने से घबरा-से गये। चुपके मुँह ही देखते रह गये। लेकिन एक साथ के बैठनेवाले बोले—ठाकुर, तुम दीवाने हो गये हो क्या? इन्होंने जवाब दिया—ठाकुर दीवाना हो या पागल, वह ठाकुर है, किसी का

नुक़सान नहीं खो सकता। इतना कहकर घोड़े को बढ़ा दिया। बस, हलके अब्र की तरह एक लहमा ठहरा, दो बूँदें दिये और फिर हवा के साथ ग़ायब हो गया।

(५)

मीर साहब काग़ज़ लिये मा के पास पहुँचे, सारा क़िस्सा बयान किया। पूछा—अब क्या हुक्म होता है? सैयदानी थोड़ी देर सोचकर बोलीं—पीनस मँगाओ। मैं ख़ुद चलूँगी और तुम भी साथ चलो। शरीफ़ बड़ी मुश्किल से मिलते हैं। तुम्हें उससे सफ़ाई करनी होगी।

पीनस पर बूढ़ी मा, साथ ही घोड़े पर मीर साहब, दोनों एक घंटे बाद धनपतसिंह के यहाँ जा पहुँचे। वह ग़ुस्से में अब तक बाहर ही टहल रहे थे। मीर साहब को देखकर मुँह फेर लिया। उन्होंने घोड़े से उतरकर, क़रीब जाकर नरमी से कहा—मेरी मा आयी हैं। यह सुनते ही धनपतसिंह का जिस्म काँपने लगा। उन्होंने मीर साहब को अजीब बेबसी से देखा और वहीं पलंग पर सिर झुकाये हुए बैठ गये। उधर ड्योढ़ी में जब पीनस लगी, तो ठकुराइन ने बड़ी बी की तपाक से आवभगत की। साथ ही उनके आने का सबब भी पूछा। वह बोलीं—धनपत और क़दीर को यहाँ बुलाइए। दोनों बुलाये गये। किवाड़े से लगकर खड़े हो गये। मीर साहब की मा ने दरवाज़े से हाथ निकालकर काग़ज़ धनपतसिंह की तरफ़ बढ़ाया और कहा—धनपत बेटे, तुम्हारी मा क़दीर के पास भिखारिन बनकर गयी थीं, आज मैं तुम्हारे पास आयी हूँ। राजपूत की आँखों से गरम-गरम आँसू टपटप गिरने लगे। हाथ जोड़कर बोला—हुक्म कीजिए। वह बोलीं—दिलों की सफ़ाई। इसने कहा—परमेश्वर जानता है, अब मेरे दिल में कोई खोट नहीं। सैयदानी ने हिबानामे को सरकाते हुए कहा—तो फिर इसे ले लो। तुम्हें तुम्हारी जायदाद मुबारक! इतने बचे-खुचे हिस्से से फिर फूलो-फलो। ठाकुर साहब ने ग़ुरूर से सिर उठाकर कहा—माता, राजपूत किसी को कुछ देकर वापस नहीं लेता। बड़ी बी ने मुहब्बत से जवाब दिया—हाँ, यह सच है, लेकिन तुमने अपने भाई को दी थी, अब मेरे हाथ से पाते हो। देखो, तुमने मुझे माता कहा है, मेरा हुक्म मानो। ठकुराइन ने बढ़कर कहा—बेटे, अब इनकार का समय नहीं है। काग़ज़ ले लो। क़दीर मियाँ से मिल जाओ।

"बड़ा मज़ा इस मिलाप में है, जो सुलह हो जाय जंग होकर"। ठाकुर ने काँपते हाथों से काग़ज़ ले लिया। फिर मीर साहब की मा के पाँवों की तरफ़ झुका। उन्होंने एक हाथ अपने बेटे के सिर पर रक्खा और दूसरा हाथ ठाकुर साहब के सिर पर। फिर बोलीं—आज मेरी दोनों आँखें ठंढी हो गयीं।

वीर-रदन

[श्रीअंबिकाप्रसाद भट्ट 'अंबिकेश']

(१)

कैधौं शेष कुंडली लै कुंडल बनायो विधि,
कैधौं प्रलै-भानु के प्रखर पुंज कन हैं;
कैधौं चुनि-चुनि बर बज्र के कनूका धरे,
टूका करिबे को बैरि-बृंद अनगन हैं।
खंड हैं अखंड कैधौं अस्थि ये दधीचजू के,
मुख-मानसर बज्र-मुक्त के लरन हैं;
काल के सदन दीन दुःख के कदन कैधौं,
बिसद बदन बीर रावरे रदन हैं।

(२)

कटकट होत जबै काटत बिकट कट,
काल को कलेऊ देत किलकि अनंत हैं;
लूमि ललकारैं दिग्गजन मान फारैं, मुकि
बैरिन को झारैं, त्यों बिदारैं, करैं अंत हैं।
ओंठ जो चबात तौ प्रलै-सी मचि जात, जंग
कौन समुहात तेरे बीर बलवंत हैं;
ज्वाल से जलंत, करैं बैरिन को अंत ऐसे—
तीखे तेजवंत बीर तेरे बज्र दंत हैं।

(३)

धावै धाक धँसकि धमाक ध्रुव छोरन लौं, सारो भूमिमंडल खमंडल कँपावै तू;
धीरन छुटावै बड़े-बड़े रनधीरन के, भेदि भानुमंडल को बीरन पठावै तू।
छावत बिसोक त्यों ससोक होत लोकलोक, भूतल में श्रोनित को सिंधु लहरावै तू;
अंत करै अधम अनंत मानधारिन को, पीसि दंत जोपै कहूँ ओंठ को चबावै तू।

भारत में सहकार-आंदोलन

[श्रीयुगुलकिशोरसिंह शास्त्री]

भारत को आधुनिक सहकारिता (Co-operative movement) का विचार सर विलियम् वेडरबर्न ने दिया। वेडरबर्न साहब पूने के ज़िलाधीश थे। वहाँ के किसानों की शोचनीय दशा से आर्द्र होकर, किसानों की सहायता के लिए, आपने एक कृषि-बैंक खोलने का विचार किया। पहले सरकार की ओर से किसानों की अवस्था को सुधारने के लिए कई प्रयत्न किये गये थे। किसानों को सरकार की ओर से ऋण यानी तक़ावी देने का प्रबंध किया गया था। इससे अकाल के समय उनको कुछ सहायता तो अवश्य मिल जाती थी, पर पुराने ऋण से उनका उद्धार नहीं हो पाता था, और न उनमें मितव्ययिता का भाव ही आता था। किसानों की आर्थिक अवस्था को सुधारने के सरकार के सभी प्रयत्न निष्फल साबित हुए। इसके बाद सन् १८८३ ई० में सर विलियम वेडरबर्न और श्रीरानाडे ने मिलकर बंबई-प्रांत में एक खेती का बैंक खोलने का विचार किया था और इसके लिए आयोजना (Scheme) भी तैयार की थी। इस आयोजना को तत्कालीन वायसराय लॉर्ड रिपन की सरकार यानी भारतीय सरकार ने भी स्वीकार किया था; पर भारतमंत्री ने इसको स्वीकार नहीं किया, और इसकी सफलता में बहुत-सी दिक्कतें बतला दीं। पहले तो आपने किसानों के क़र्ज़ को सधाने और उनको नया क़र्ज़ देने में कई दिक्कतें

बतलायीं । दूसरी बात आपने यह बतलायी कि अगर निजी बैंक (Private bank) को सरकार द्वारा सहायता दी जायगी, तो यह एक सरकारी संस्था हो जायगी और सरकार को क़र्ज़ वसूल करने में जो नियम बर्तने पड़ेंगे, उससे शायद वह अप्रिय और घृणास्पद हो जायगी। इन कारणों के आधार पर भारत-सचिव ने उपर्युक्त योजना को अव्यवहार्य एवं आर्थिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण बतला दिया । अतएव वह सफल न हो सकी । यद्यपि यह योजना कार्यान्वित नहीं की गयी, फिर भी भारत की आर्थिक समस्या को हल करने के लिए एक नया और व्यावहारिक साधन प्रदान करने का श्रेय स्वर्गीय सर वेडरबर्न ही को प्राप्त है। आपने भारत के किसानों की आर्थिक अवस्था के सुधारने का जो विचार किया, आगे चलकर इसी विचार ने भारत में सहकार-साख-समिति (Co-operative Credit Society) को स्थापित करने की भावना को जन्म दिया । अतएव सर विलियम् वेडरबर्न को भारतीय सहकार-आंदोलन का जनक कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

यही समस्या मदरास में भी उपस्थित हुई । सन् १८९२ ई० में मदरास-सरकार ने सर फ़ेडरिक निकलसन्-नामक एक अफ़सर को सहकार-आंदोलन का अध्ययन करने के लिए योरप भेजा और यह कह दिया कि आप योरपीय देशों का अनुभव प्राप्त कर एक ऐसी रिपोर्ट तैयार करें कि भारत में सहकारिता के कौन-कौन ढंग व्यवहृत हो सकते हैं । उन्होंने योरप और अमेरिका जाकर वहाँ के सहकार-आंदोलन का अच्छी तरह अध्ययन किया और अपने अध्ययन तथा अनुभव के आधार पर, सन् १८९५ ई० में, एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट प्रकाशित करायी। रिपोर्ट में आपने योरप और अमेरिका के अपने अनुभव और अध्ययन को इन शब्दों में व्यक्त किया—

"The lesson of universal agricultural history is that an essential of agricultural is credit. Neither the condition of the country, nor the nature of the land tenures, nor the position of agriculture affects the one great fact, that agriculturists must borrow. This study assumes as axiomatic that the peasantry of India, by the very conditions of their existence in tenure, to borrow and to borrow freely, annually and continuously."

आपकी सारी रिपोर्ट का सार दो शब्दों में 'Find Raiffeisen' है । अर्थात् आपने निर्देश (Suggest) किया कि भारतवर्ष में जर्मनी के रेफ़सन के नमूने पर देहाती सहकार-समितियाँ खोली जानी चाहिए, जिनके द्वारा किसानों को उचित शर्त (Reasonable term) पर क़र्ज़ मिलने का प्रबंध हो सके और उनमें (किसानों में) मितव्ययिता के भाव की भी जागृति और वृद्धि हो । पर इस महत्त्वपूर्ण सिफ़ारिश के अनुसार भी काम नहीं किया गया। इसके बाद सन् १८९९ ई० में मि० एच्० ड्यूपरने (Mr H. Dupernex) ने संयुक्तप्रांत की सरकार की प्रेरणा से इस विषय का अध्ययन कर 'उत्तर-भारतीय सार्वजनिक बैंक' (People Banks for Northern India)-नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, यह पुस्तक बहुत सरल, संक्षिप्त और अच्छी शैली में लिखी गयी है । उसी समय सन् १८९९-१९०० ई० में भारत के बहुत-से भागों में ज़ोरों का अकाल भी पड़ गया । इस कारण यह पुस्तक बहुत प्रिय हो गयी। पुस्तक ने सहकारिता (Co-operative movement) के प्रचार में बहुत बड़ा काम किया। इसके बाद ही सन् १९०१ ई० में संयुक्त-प्रांत के गवर्नर सर एंथनी मेक्डॉनल (Sir Anthony Macdoneall) ने प्रांत के कुछ ज़िलों में २०० साख-समितियाँ (Co-operative Credit Society) स्थापित करायीं। उसी साल भारत-सरकार पर इसका ज़ोरों का असर पड़ा, और उसने इसके—सहकार-आंदोलन के—महत्त्व और उज्ज्वल भविष्य को समझा ।

इसके बाद ही लार्ड कर्ज़न ने, सन् १९०१ ई० में, अर्थ-सचिव सर एडवर्ड ला (Sir Edward Law) की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की । कमेटी में सर फ़ेडरिक निकल्सन्, सर बेमफ़िल्ड फुलर, सर जे० विल्सन्, सर रेजिनाल्ड मरे और सर एच्० ड्यूपरने थे । यह कमेटी पहली जून १९०१ ई० को शिमले में बैठी और लगातार १६ बैठकों के बाद १० जुलाई को समाप्त हुई । कमेटी ने ख़ासकर कृषि-बैंक पर

विशेष रूप से विचार किया ; क्योंकि योरपीय देशों में कृषि-बैंक को ही ग़रीबों की दशा सुधारने में अधिक सफलता प्राप्त हुई थी। इसका आधार संयुक्त-साख (Co-operative Credit) पर डाला गया था। कमेटी ने मसविदा तैयार किया। २५ मार्च, सन् १६०४ ई० को यही मसविदा क़ानून के रूप में पास हुआ और इसका नाम रक्खा गया—'सहयोग-साख-समिति-क़ानून' (Co-operative Credit Society Act)। भारत की आर्थिक व्यवस्था के इतिहास में यह समय बहुत ही महत्त्व का है; क्योंकि इन्हीं दिनों किसानों, कारीगरों और दूसरे-दूसरे ग़रीब लोगों में मितव्ययिता, आत्म-निर्भरता और परस्पर-सहयोग के भाव को बढ़ाने के लिए साख-समिति का एक महत्त्वपूर्ण क़ानून पास हुआ। इसी समय से भारतवर्ष में सहयोग-आंदोलन की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

सन् १६०४ ई० में जो क़ानून बने, वे संक्षेप में यों हैं—

१—किसी जाति या पेशे के कम-से-कम १० आदमी मिलकर सहकार-समिति खोल सकते हैं।

२—समिति का कार्य अपने सदस्यों की अमानत जमा करना, दूसरे आदमियों से—जो समिति के सदस्य नहीं हैं, सरकार एवं अन्य समितियों से उधार लेना तथा अपने सदस्यों को एवं रजिस्ट्रार की आज्ञा द्वारा दूसरी सहयोग-साख-समितियों को आवश्यकतानुसार उधार देना।

३—हर प्रांत में सहयोग-साख-समितियों के संगठन, नियंत्रण और निरीक्षण के लिए एक विशेष सरकारी कर्मचारी यानी रजिस्ट्रार रहेगा।

४—रजिस्ट्रार या उसके स्टाफ़ के सदस्यों को समिति के हिसाब जाँचने का अधिकार होगा।

५—देहाती समितियों (Rural Society) के सदस्यों की ज़िम्मेदारी अपरिमित होगी।

६—देहाती समितियों के लाभ (Profit) में से मुनाफ़ा (Dividend) नहीं बाँटा जायगा। लाभ एक सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में जमा रहेगा। इस कोष के एक निश्चित रक़म से अधिक हो जाने पर लाभ बोनस के रूप में सदस्यों में बाँटा जा सकेगा।

७—नगर-समितियों (Urban Society) के लाभ में से एक चौथाई भाग 'बचत' कोष में रखकर, शेष मेम्बरों में बाँटा जा सकेगा।

क़ानून में देहात (Rural) और नगर (Urban)-समितियों की परिभाषा दी हुई थी। उस परिभाषा के अनुसार देहात-समिति वह कहलायेगी, जिसमें देहात के ४/५ सदस्य किसान हों; और नगर-समिति वह कहलायगी, जिसमें ४/५ सदस्य शहर के हों। क़ानून के अनुसार मेम्बरों पर जो कर्ज़ा है, उस पर सबसे पहला हक़ समिति का होगा। हिस्से एक दूसरे को बेचे नहीं जा सकते।

सरकार की ओर से इन समितियों को आयकर (Income tax), स्टाम्पकर (Stamp duty) रजिस्टरी-फ़ी आदि से मुक्त कर दिया गया। इस क़ानून के अनुसार भारतवर्ष में खूब समितियाँ क़ायम होने लगीं। क़ानून बनने के दो ही वर्ष बाद ८०० समितियाँ खुल गयीं, और सालोसाल उत्तरोत्तर इनकी वृद्धि होने लगी। थोड़े ही दिन बाद उपर्युक्त क़ानून अपर्याप्त, अपूर्ण और दोषयुक्त साबित हुआ। समितियों का शहर और देहात में विभाजित किया जाना व्यावहारिक रूप से अनावश्यक प्रतीत हुआ। समिति, स्थिति के अनुसार अपनी ज़िम्मेदारी निश्चित करे और यह विभाग (शहर और गाँव का) और भी वैज्ञानिक ढंग पर यानी परिमित और अपरिमित ढंग पर हो, इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। दूसरी अपूर्णता यह दिखलायी पड़ी कि उक्त क़ानून में साख-समितियों को छोड़कर दूसरे प्रकार की समितियों—जैसे भंडार या कृषि-समिति आदि—के स्थापित होने की गुंजाइश नहीं थी। कहीं-कहीं पर अनाज और बीमा (Insurance) आदि की समितियाँ खुल गयी थीं, जिनके लिए क़ानून में कोई स्थान नहीं था। तीसरी बात यह थी कि उक्त क़ानून में सिर्फ़ प्रारंभिक समितियों का ही विचार किया गया था, और ऐसी ही समितियाँ स्थापित की गयी थीं। दूसरे प्रकार की समितियों और बैंकों का कोई विचार नहीं किया गया था। प्रारंभिक समितियों की संख्या बढ़ती जा रही थी; पर पूँजी पाने में उन्हें बहुत कठिनाइयाँ मालूम होने लगीं। इन समितियों की सहायता और देखभाल करने के लिए किसी केंद्रीय बैंक (Central Bank) की आवश्यकता महसूस होने लगी। यहीं से

दोष और कमी उक्त क़ानून में पायी गयी, जिसके सुधारने की आवश्यकता उपस्थित हुई। इसी सुधार के लिए, सन् १९१२ ई० में, संशोधित रूप में एक दूसरा नया क़ानून पास हुआ, जिसका नाम साधारणतः 'सहकार-समिति-क़ानून'(Co-operative Society Act) रक्खा गया। इसमें से 'साख' शब्द निकाल दिया गया, इससे क़ानून का रूप एवं क्षेत्र व्यापक और विस्तृत हो गया। सब प्रकार की समितियों के स्थापित होने की गुंजाइश हो गयी। इस नये क़ानून के अनुसार सभी प्रकार की समितियाँ स्थापित हो सकती थीं। अस्तु, परिवर्तन किये गये। देहात-समिति और नगर-समिति का भेद दूर कर इसकी जगह परिमित और अपरिमित ज़िम्मेदारीवाली समिति का भेद रक्खा गया। केन्द्रस्थ संस्थाओं—जैसे यूनियन, केन्द्रीय बैंक आदि—को भी क़ानून में स्थान दिया गया। सरकार ने लाभ के बँटवारे का नियंत्रण और निरीक्षण अपने हाथ में ले लिया। सुरक्षित कोष (Reserve Fund) में काफ़ी रक़म जमा हो जाने पर लाभ का कुछ हिस्सा सदस्यों को डिविडेंड के तौर पर बाँटे जाने और उसकी दस प्रतिशत तक रक़म दान-धर्म में दिये जाने की व्यवस्था कर दी गयी। यह भी नियम बना दिया गया कि 'सहकारी' शब्द का प्रयोग केवल उन्हीं समितियों के सम्बंध में किया जायगा, जिनकी रजिस्टरी हो चुकी होगी। सन् १९१२ ई० के संशोधित नये क़ानून द्वारा संक्षेप में ये ही परिवर्तन और सुधार किये गये। इस नये सुधार का भारत के सहकार-आंदोलन पर तत्काल असर पड़ा। इसने आंदोलन की गति में एक नयी जान डाल दी। नये-नये प्रकार की समितियाँ—जैसे उत्पत्ति को बेचने की समिति, मवेशी की बीमा-समिति, दुग्ध-समिति, सूत-रेशम और खाद्य की बिक्री-समिति, खेती के औज़ार और जीवन-सम्बंधी आवश्यक वस्तुओं को देने के लिए भिन्न-भिन्न तरह की समितियाँ—रजिस्टर होने लगीं, और ये समितियाँ अधिकतर सफल होती पायी गयीं। साख-समितियों की संख्या भी ज़ोरों से बढ़ने लगी और हर साल जनसाधारण का विश्वास इन समितियों के प्रति बढ़ने लगा। सन् १९१२ में इन समितियों की संख्या क़रीब ८,००० थी, और सन् १९१४ ई० में इनकी संख्या बढ़कर क़रीब १४,००० तक पहुँच गयी। अब दिक़्क़त समितियों के खोलने में नहीं होती थी। दिक़्क़त इस बात में होती थी कि ये समितियाँ दृढ़ और मज़बूत आधार पर कैसे खोली जायँ। समितियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ते जाने के कारण उनकी जाँच-पड़ताल और देखभाल में बड़ी अनिश्चितता उपस्थित हो गयी थी। १७ जून, सन् १९१४ ई० को सरकार की ओर से एक बहुत बड़ा प्रस्ताव निकला, जिसमें आलोचना-सहित सहयोग-समितियों की उन्नति तथा प्रगति दिखलायी गयी। इस उन्नति से क्या नतीजे निकाले जा सकते थे, इसका भी उस प्रस्ताव में ज़िक्र था। पर इधर सहकार-समितियों की जाँच-पड़ताल में कुछ कमी और अनिश्चितता आ जाने के कारण सरकार ने निश्चय किया कि जब तक यह मालूम न हो जाय कि आर्थिक दृष्टि से सहकार-आंदोलन बहुत अच्छी तरह निर्दोष रूप से बढ़ रहा है, तब तक इसको आगे बढ़ने में सहायता देना ठीक नहीं।

इन्हीं बातों की ओर ख़ासकर प्रारंभिक समितियों के ऊपर की समितियों—जैसे केंद्रीय समिति और प्रांतीय बैंक—की आर्थिक अवस्था को जाँचने के उद्देश्य से ८ अक्टूबर, सन् १९१४ ई० में सर एडवर्ड मेक्लेगन की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की गयी। जाँचने के अनंतर समितियों की हालत अगर अच्छी न हो, तो उसको सुधारने के लिए उपाय बतलाने का आदेश कमेटी को दिया गया।

कमेटी ने ४ महीने तक भारत के बड़े-बड़े प्रांतों में घूम-घूमकर ९३ अफ़सरों और अन्य लोगों की गवाहियाँ लीं। कमेटी ने भिन्न-भिन्न १३५ समितियों की जाँच की और इसी के सम्बंध में कई मिश्रित पूँजी-वाले बैंकों के मैनेजर और कारकुनिन्दों (Agents) से मिली। जाँच-पड़ताल के बाद कमेटी ने सितंबर, सन् १९१५ ई० में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जो भारत के आर्थिक इतिहास में सहकार-आंदोलन के लिए एक बड़े महत्व और मूल्य की वस्तु है। कमेटी ने देखा कि भारत में सहकारिता का अर्थ कृषि और साख-समितियाँ ही हैं; क्योंकि यहाँ अधिकतर साख-समितियों को ही सफलता मिल रही थी। अतएव कमेटी ने विशेषतः इन्हीं समितियों पर विचार किया।

कुछ प्रांतों में प्रारंभिक समितियों के ऊपर 'यूनियन'

क़ायम किये गये । इसमें प्रारंभिक समितियाँ सदस्य होती हैं । इसका (यूनियन का) क्षेत्र संकुचित होता है । साधारणतः ३० से ५० तक समितियाँ इसके निरीक्षण में रहती हैं । इसका प्रधान काम प्रारम्भिक समितियों की देखरेख करना और आय की ज़िम्मेदारी पर इन समितियों को केंद्रस्थ बैंकों (Central Banks) से ऋण दिलाना है । 'यूनियन' को स्थानीय ज्ञान अधिक रहता है, इससे केंद्रस्थ बैंकों को बहुत फ़ायदा होता है । 'यूनियन' अपने वेतनभोगी अफ़सरों द्वारा प्रारंभिक समितियों की देखरेख करता है । इन निरीक्षकों के वेतन, ख़र्च तथा किसी आकस्मिक ख़र्च (Incidental expense) का प्रबंध कुछ तो प्रारंभिक समितियों को जो कर्ज़ दिया जाता है उसके सूद में से कुछ प्रतिशत लेकर किया जाता है, और कुछ केंद्रस्थ बैंक से सहायता (Contribution) के तौर पर जो मिलता है, उससे किया जाता है । पंजाब में 'यूनियन' और केंद्रस्थ बैंक का काम प्रायः एक-सा ही है ।

'यूनियन' (Unions) के ऊपर केंद्रस्थ बैंक

(Central Bank) बैंक की स्थापना हुई। इसका कार्यक्षेत्र एक ज़िला या ज़िलाभाग (Sub division) होता है। ग्रामीण समितियों को अपने काम के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी मिलने में बड़ी दिक़्क़त उपस्थित हुई। इसी दिक़्क़त को दूर करने तथा उनको अच्छी तरह आर्थिक सहायता देने के उद्देश्य से ही केंद्रस्थ बैंकों की उत्पत्ति की गयी। ग्रामीण समितियों को प्रधानतः चार स्रोतों से पूँजी प्राप्त होती है—(१) समिति में रुपया जमा करनेवाले सदस्यों से, (२) गाँव के महाजनों (Village money-lenders) से, (३) सरकार से और (४) पूँजीपति (Friendly Capitalist) से। इनमें प्रथम स्रोत से शायद ही पूँजी इकट्ठी होती है; क्योंकि अधिकतर सदस्य क़र्ज़ लेने ही के लिए समिति में शामिल होते हैं। बहुत कम सदस्य ऐसे होते हैं, जो रुपया जमा करते हैं। दूसरे स्रोत से, कम-से-कम आंदोलन की प्रारंभिक अवस्था में, रुपये की सहायता प्राप्त होने की बहुत कम अथवा कुछ भी आशा नहीं होती है; क्योंकि यह आंदोलन उनके पेशे ही को तो मिटाने की चेष्टा करता है। तीसरे स्रोत यानी सरकार से प्रारंभिक अवस्था में सहायता मिल जाती है। पर कुछ दिनों से लोगों में यह प्रवृत्ति पैदा हो गयी है कि सरकार से सहायता लेना ठीक नहीं है; क्योंकि इससे समिति की आत्म-निर्भरता और स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। चौथा स्रोत यानी पूँजीपति एक अनिश्चित स्रोत है; क्योंकि उनसे जो रुपये मिलते हैं, वह फ़सल (Harvest) पर निर्भर करते हैं, जिसमें अक्सर घट-बढ़ (Fluctuation) हुआ करती है। बड़े-बड़े सम्मिलित यानी मिश्रित पूँजीवाले बैंक, जो बड़े-बड़े शहरों में होते हैं, ग्रामीण समितियों को क़र्ज़ देना ठीक नहीं समझते। इन्हीं कारणों से केंद्रस्थ बैंक की आवश्यकता उपस्थित हुई, जिससे समितियों को पर्याप्त आर्थिक सहायता सहूलियत के साथ प्राप्त हो सके। अतएव कई शाखाओं को मिलाकर केंद्रस्थ बैंक का निर्माण किया गया। यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि केंद्रस्थ बैंकों को नीचे से ही आगे बढ़ना चाहिए, अथवा पहले बहुत-सी प्रारंभिक समितियाँ किसी ख़ास क्षेत्र में होनी चाहिए और जब उपर्युक्त पूँजी इकट्ठा करने की कठिनाइयाँ उपस्थित हों, तभी सबको मिलाकर केंद्रस्थ बैंक की स्थापना करनी चाहिए, जिसमें हर समिति के प्रतिनिधि रहें। तात्पर्य यह कि सहकार-आंदोलन को व्यक्तिगत स्थानीय समितियों (With individual local Societies) के रूप में ही प्रारंभ होना चाहिए और बाद को आवश्यकता उपस्थित होने पर आगे केंद्रस्थ बैंक की ओर पैर बढ़ाना चाहिए, अन्यथा आवश्यकता के अभाव में केंद्रस्थ संस्था नहीं चल सकेगी। जहाँ कहीं भी ऐसी केंद्रस्थ संस्थाएँ बिना प्रारंभिक समितियों की आवश्यकता के चलीं, वहाँ वे एक ख़ैराती संस्था (Philanthrophic Organization) हो गयीं और स्थानीय प्रारंभिक समितियों में उत्तरदायित्व का भाव पैदा करने की बनिस्बत उनकी सहायक-मात्र रह गयीं।

भारत के केंद्रस्थ बैंक तीन श्रेणियों में विभक्त किये गये हैं। एक तो वह, जिसमें सिर्फ़ व्यक्ति ही सदस्य होते हैं; दूसरा वह, जिसमें सिर्फ़ समितियाँ ही सदस्य होती हैं, और तीसरा वह, जिसमें व्यक्ति और समितियाँ दोनों सदस्य होते हैं। पहली श्रेणी के केंद्रस्थ बैंक में व्यक्तिगत हिस्सेदार की हैसियत से, (Inindividual Capacity) समिति भी मेंबर हो सकती है। उन्हें प्रतिनिधित्व या हिस्से आदि के संबंध में कोई विशेष अधिकार नहीं प्राप्त होता। इस प्रकार के बैंक सम्मिलित पूँजीवाले बैंक से बहुत सादृश्य रखते हैं।

केंद्रस्थ बैंक का प्रबंध एक संचालक-सभा (Board of Directors) या अवैतनिक कमेटी द्वारा होता है। कमेटी के सदस्य होने के लिए बैंक का कोई विशेष ज्ञान रखने की आवश्यकता नहीं समझी जाती। वे स्थानीय प्रभाव या साधारण योग्यता की वजह से ही चुन लिये जाते हैं; इसी बात में सम्मिलित पूँजीवाले बैंक से इनका भारी अंतर है। सम्मिलित पूँजीवाले बैंक के संचालकों के लिए विनिमय (Exchange), व्यापार, मुद्राचलन (Currency) आदि का ज्ञान रखना आवश्यक होता है; पर केंद्रस्थ बैंक में ये बातें नहीं होतीं। इनका प्रधान काम समितियों के फ़ंड का संतुलन करना और उनको पूँजी देना है।

केंद्रस्थ बैंकों की पूँजी के स्रोत प्रधानतः चार हैं—

(१) क़र्ज़, (२) हिस्से, (३) जमा और (४) बचत यानी संरचित कोष (Reserve Fund)। अर्थात् ये बैंक (Central Bank) दूसरे बाहरी बैंकों, दूसरे केंद्रस्थ बैंकों और प्रांतीय सहकारी बैंकों से क़र्ज़ प्राप्त करते हैं, व्यक्तियों या समितियों के हिस्सों से पूँजी इकट्ठा करते हैं, स्वीकृत समितियों से या मध्य दर्जे के पूँजीपतियों का रुपया जमा करते हैं। इस पूँजी को ये प्रचलित सूद से कम दर पर अपने समितियों को क़र्ज़ देते हैं। केंद्रस्थ बैंकों की संख्या भी अब काफ़ी हो गयी है। ब्रिटिश-भारत के विभिन्न प्रांतों में, सन् १९२७ ई० में, इनकी संख्या इस प्रकार थी—मदरास ३२, बंबई १७, बंगाल ७१, बिहार-उड़ीसा ४१, संयुक्तप्रांत ६८, पंजाब ९८, बर्मा ११, मध्यप्रांत और बरार ३४, आसाम १९, अजमेर ६ और दिल्ली १। कुछ देशी रियासतों में भी केंद्रस्थ बैंक पाये जाते हैं—जैसे मैसूर में १८, बड़ौदा में ४, हैदराबाद में ११ और भोपाल में १९।

ये तो केंद्रीय बैंक-संबंधी बातें हुईं। इनके सिवा कुछ प्रांतों में—जैसे मदरास, बंबई, बंगाल, बिहार-उड़ीसा, बर्मा, मध्यप्रांत और बरार में—प्रांतीय बैंक भी केंद्रीय बैंक के ऊपर स्थापित हुए हैं। देशी रियासतों में सिर्फ़ मैसूर में एक प्रांतीय बैंक है। इन बैंकों का मुख्य काम केंद्रस्थ बैंकों की सहायता तथा उनका नियंत्रण करना है। १९२२-२३ ई० में इन प्रांतीय बैंकों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी—

प्रांत	व्यक्तिगत सदस्य	समिति-सदस्य
मदरास	३६७	६०
बंबई	७८६	१७६
बंगाल	...	८६
बिहार-उड़ीसा	२२	३२
बर्मा	२६३	२,४६९
मध्यप्रांत और बरार	...	२,२६६

ऊपर हम मेक्लेगन-कमेटी का ज़िक्र कर आये हैं। कमेटी ने प्रारंभिक समिति के लिए तीन आवश्यक बातें बतलायी हैं। पहली बात तो यह कि समिति को सहकार के भाव से संपन्न होना चाहिए; दूसरी बात यह कि सहकारिता के भाव के साथ ही उसे व्यावसायिक (Businesslike) भी होना चाहिए, और तीसरी बात यह कि उसकी देखरेख और नियंत्रण ठीक प्रकार होना चाहिए। कमेटी ने प्रारंभिक समितियों को सहकारभाव से युक्त होने के हेतु कई आवश्यक शर्तों को पूरा करने के लिए भी आदेश किया है। सहकार का जो मूल-सिद्धांत है, वह यह है कि हर कमज़ोर व्यक्ति को अपनी उत्पादक शक्ति बढ़ाने के योग्य बनाया जा सके, और इसके परिणामस्वरूप उनको एक दूसरे के साथ मिलाते हुए, उनकी आर्थिक और नैतिक अवस्था को ऊँचा उठाया जा सके। यह आंदोलन तत्त्वतः नैतिक आंदोलन है और साम्यवाद की बनिस्बत व्यक्तिगत है। यह आंदोलन (Co-operative movement) लोगों की आर्थिक उन्नति की बनिस्बत उसकी नैतिक उन्नति का अधिक ख़याल रखता है। इसी कारण इसकी पहली शर्त स्पष्ट रूप से यह है कि हर सदस्य को सहकारिता के मुख्य सिद्धांतों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। समिति-निर्माण के समय सबसे अधिक ध्यान इस बात की ओर रहना चाहिए कि सदस्य ईमानदार चुने जाएँ, या ऐसे आदमी चुने जाएँ, जिन्होंने भविष्य में ईमानदारी से काम करने का वादा किया हो। समिति के कार्य के संबंध में कमेटी ने यह राय दी है कि उसे सिर्फ़ अपने सदस्यों को ही क़र्ज़ देना चाहिए और आनुमानिक कामों (Speculative purposes) के लिए किसी हालत में क़र्ज़ नहीं दिया जाना चाहिए। साथ ही क़र्ज़ सिर्फ़ उत्पादक (Productive) कार्यों के लिए ही या ऐसे दैनिक जीवन की आवश्यकता के लिए दिया जाना चाहिए, जो उत्पादक हो। क़र्ज़ लेनेवालों के लिए भी यह आवश्यक है कि वे अपने साथियों को यह प्रकट बतला दें कि इस हालत में हैं तथा अपनी उत्पत्ति की वृद्धि और मितव्ययिता के आचरण से क़र्ज़ की अदायगी कर सकते हैं। समिति की संचालक-कमेटी के लिए यह आवश्यक है कि वह इस बात का ध्यान रक्खे कि क़र्ज़ जिस काम के लिए दिया गया हो, उसी काम में ख़र्च किया जा रहा है या नहीं। अगर उसी काम में नहीं ख़र्च किया जा रहा हो, तो शीघ्र वापस ले लेना चाहिए। सदस्यों पर ख़ास देखभाल रखने के लिए उनसे प्रत्येक क़र्ज़ पर कुछ व्यक्तिगत ज़मानत (Surities) लेनी चाहिए। समिति के

कार्य के लिए एक प्रबंध-समिति हो, और उसके एक सभापति और एक मंत्री हों। इनमें से क्लर्कों को छोड़कर, जिनका प्रबंध में कोई अधिकार नहीं है, सबको समिति का सदस्य होना चाहिए और समिति को अपनी सेवा मुफ़्त देनी चाहिए। इसके साथ अफ़सरों के ही हाथ में अंतिम अधिकार नहीं चला जाना चाहिए, बल्कि अंतिम अधिकार सदस्यों के ही हाथ में रहना चाहिए, जिससे वे समिति के काम में दिलचस्पी ले सकें। इसीलिए समिति की व्यवस्था और संगठन शुद्ध जनसत्तात्मक (Republican) होना चाहिए। सब सदस्यों को साधारण सभा में एक ही मत देने का अधिकार हो, और समिति का सब काम प्रत्यक्ष यानी प्रकट रूप से हो। प्रत्यक्ष यानी प्रकटरूप का यह मतलब है कि समिति के सभी सदस्य उसकी सभी बातों से बखूबी अवगत हों। समिति का पूरा-पूरा हिसाब किसी एक निश्चित जगह पर रख दिया जाय, जिससे हर सदस्य यह देख सके कि सदस्यों को कितना कर्ज़ दिया गया, उसकी ज़मानत क्या है और कितना कर्ज़ अभी अदा नहीं हुआ है। हर सदस्य को साधारणतः यह हिसाब जानना चाहिए। कभी-कभी साधारण सभा की बैठक होनी चाहिए, जिसमें समिति के हिसाब और कार्यवाही को अच्छी तरह सब सदस्यों को समझा दिया जाय। समिति का प्रत्यक्ष उद्देश्य अपने सदस्यों में मितव्ययिता (Thrift) के भाव का विकास एवं वृद्धि करना हो। समिति का यह भी प्रयत्न होना चाहिए कि मितव्ययिता के भाव और विचार पड़ोस में भी फैले और इनका प्रचार हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि कर्ज़ उसी हालत में दिया जाना चाहिए, जब वास्तव में कर्ज़ का दिया जाना अनिवार्य हो जाय। समिति के लाभ में से एक मज़बूत सुरक्षित कोष (Reserve Fund) भी बनाना चाहिए, और समिति को इसी कोष से अपनी आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। समिति के इस अनुकरणीय कार्य का प्रभाव पड़ोस पर भी पड़ना चाहिए। इन सभी कार्यों के साथ ही ईमानदारी, समय की पाबंदी ठीक-ठीक हिसाब, परिश्रमशीलता, बक़ाये की युक्ति आदि का भी पूरा-पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिए। इन बातों के लिए आंतरिक नियंत्रण और अफ़सरों की ओर से अधिक उद्यम और देखभाल रखने की आवश्यकता है। सदस्यों को भी सहकार के सिद्धांत को समझने और जानने का सतत प्रयत्न करते रहना चाहिए। समय-समय पर परस्पर मिलते रहना चाहिए और एक दूसरे पर निगरानी रखनी चाहिए। सदस्यों को कठिन परिश्रम, मितव्ययिता और अपने कर्ज़ को ठीक समय पर चुका देने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

मेक्लेगन-कमेटी ने प्रारंभिक समितियों के संबंध में तीन मुख्य बातों की ओर विशेषरूप से ध्यान दिलाया है। वे ये हैं—

१—नयी समितियाँ किस प्रकार चलानी चाहिए और उनका आकार, रक़बा या क्षेत्र क्या हो।

२—समिति के सदस्यों को कितने समय तक के लिए ऋण दिया जाना चाहिए।

३—ऋण पर सूद की दर क्या हो।

पहली बात के संबंध में कमेटी ने बतलाया है कि नयी समिति के बनाने में पूरी सावधानी रखनी चाहिए और रजिस्ट्रार को सिर्फ़ उसी समिति को रजिस्टर होने की राय देनी चाहिए, जिसके संबंध में उसे पूरा विश्वास हो जाय कि इस समिति के सदस्य सहकारिता के आधारभूत सिद्धांत और अपने कर्तव्य को अच्छी तरह समझते हैं और उसके अनुसार आचरण करने को तैयार हैं। कमेटी ने आफ़िसियल यानी सरकारी कर्मचारी द्वारा सहकारिता के प्रचार को हानिकर बतलाया है। कमेटी ने राय दी थी कि सहकारिता का प्रचार काफ़ी हो गया है, सदस्य इसको समझने लगे हैं और समिति को स्वतः स्थापित कर सकने का माद्दा उनमें आ गया है। इसलिए वे अपने-आप समिति खोल लें, तो अच्छा है। लेकिन कमेटी ने सदस्यों को एक-दूसरे से पूर्ण परिचित रहने की आवश्यकता बतलायी है, जिससे वे समझ सकें कि कौन विश्वसनीय है, और कौन नहीं। कमेटी ने यह भी बतलाया है कि सदस्यों में एक-दूसरे के कार्यों की भली भाँति देखरेख करने की क्षमता भी होनी चाहिए। कमेटी की राय में बड़ी समितियाँ नहीं क़ायम करनी चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से समिति सभापति या छोटी कमेटी पर निर्भर करने

लगेगी, और साधारण सदस्य समिति के कार्य में कुछ भी दिलचस्पी नहीं लेने लगेंगे एवं कार्यतः प्रबंध में उनका कोई अधिकार नहीं रह जायगा। सब कुछ कमेटी की ईमानदारी और कार्यकुशलता पर ही निर्भर करने लगेगा। कमेटी ने अपना प्रत्यक्ष अनुभव बतलाते हुए कहा है कि बड़ी समितियों के स्थापित होने से ही ऐसी शिकायतें सुनी गयी हैं कि जो सदस्य क़र्ज़ अदा भी कर सकते हैं, वे नहीं करते। ऐसी शिकायतों की उम्मीद तो तभी हो सकती है, जब सदस्यों में सहकारिता के भाव की कमी हो—समिति की देखभाल अच्छी तरह न हो और एक दूसरे पर नैतिक प्रभाव न पड़ता हो। इन सब बातों से यही नतीजा निकलता है कि बड़ी समिति के होने से उसमें सहकारिता का भाव लुप्त हो जाता है, महज़ व्यापारिक भाव रह जाता है।

क़र्ज़ के समय के संबंध में कमेटी का कहना है कि क़र्ज़ देने के पूर्व साधारणतः इस बात को देख लेना चाहिए कि उसकी अदायगी कब तक हो जायगी। उसी के अनुसार समय निर्धारित होना चाहिए। जब समय निर्धारित हो जाय, तो उस समय तक क़र्ज़ की अदायगी अवश्य हो जानी चाहिए। अक्सर लोग क़र्ज़ की अदायगी में विलंब करते जाते हैं। समिति के लिए यह बहुत ही हानिकर और ख़तरनाक बात है, और सहयोग-आंदोलन का यह एक बड़ा दोष है। जब कभी ऐसा हो, तो शीघ्र ही उसे रोकने का प्रबंध और प्रयत्न करना चाहिए। पर ऐसा पहले ही से न हो—ऐसा उपाय करना चाहिए; इस विलंब की आदत को ही रोकना चाहिए। कृषि के लिए १ साल और कभी-कभी २ से ५ साल तक क़र्ज़ का समय होना चाहिए।

सूद के संबंध में कमेटी की यह सिफ़ारिश है कि सूद की दर एकदम कम नहीं कर देनी चाहिए। ऐसा करने से क़र्ज़दार में अधिक ख़र्च करने की आदत उत्पन्न हो जाने का भय है। पर महाजनों की सूद-दर से समितियों की सूद-दर अवश्य कम होनी चाहिए। बहुत जगह ३६, ४८, ६०, ७५ और कहीं-कहीं इससे भी ज़्यादा प्रतिशत तक महाजन सूद लेते हैं। जहाँ महाजन इस दर से सूद लेते हों, वहाँ समिति को १५ या १८ प्रतिशत सूद लेना चाहिए। कहीं-कहीं महाजन ८ या ९ प्रतिशत की दर से भी क़र्ज़ देते हैं। पर वे उसी हालत में ऐसा करते हैं, जब अपने रुपये के बहुत ही आसानी से वसूल हो जाने की संभावना देखते हैं। जिनके काफ़ी धन है, उन्हीं को यह क़र्ज़ मिलता है। ग़रीबों को इस दर पर क़र्ज़ नहीं मिलता। इसी कारण तो सहकार-आंदोलन का जन्म हुआ, जिससे ग़रीबों को सहूलियत के साथ कम सूद पर क़र्ज़ मिल जाय। कमेटी ने यह भी कहा है कि समिति के पास निजी कोष का होना अत्यंत आवश्यक है। महाजन जिस सूद-दर पर क़र्ज़ देता है, उसका उचित विचार करके समिति को उससे कम दर पर क़र्ज़ देना चाहिए। सूद की दर ऐसी रहना आवश्यक भी है, जिससे सदस्यों को कम दर पर क़र्ज़ दिया जा सके और समिति की स्थिति भी ठीक बनी रहे।

प्रारंभिक समिति के पास धन आने के प्रधानतः दो स्रोत या साधन बतलाये गये हैं—एक है आंतरिक जिसमें हिस्से (Share Capital) और सुरक्षित कोष (Reserve Fund) होते हैं; और दूसरा है बाह्य, जिसमें समिति के सदस्यों और ग़ैरसदस्यों का रुपया जमा रहता है। इसी दूसरे स्रोत में केंद्रस्थ बैंकों द्वारा लिया हुआ क़र्ज़ भी शामिल है। 'यूनियन' अपनी ज़िम्मेदारी पर समिति की साख की जाँच करके उसी के अनुसार उसे केंद्रस्थ बैंक से क़र्ज़ दिलाता है। कमेटी की राय है कि रजिस्ट्रार के अलावा केंद्रीय बैंक को भी प्रारंभिक समितियों की देखरेख करनी चाहिए।

कमेटी ने समितियों के लिए यह निषेध बतलाया है कि समिति जिस काम और उद्देश्य के लिए क़ायम की गयी हो, उसके प्रतिकूल उसे दूसरे कामों में रुपया लगाने से उसमें सहकारिता का भाव नहीं रह जाता है। सहकारिता का भाव न होने से समिति का अधिक दिन चलना कठिन है। अतएव समिति को किसी दूसरे काम में कदापि रुपया नहीं लगाना चाहिए।

ऊपर केंद्रस्थ समिति की तीन श्रेणियाँ बतलायी गयी हैं। कमेटी की राय में तीसरी श्रेणी अथवा जिसमें समिति और सदस्य दोनों मेंबर हो सकते हैं, सबसे अच्छी है। कमेटी की राय में केंद्रस्थ बैंक को यह नियम बना देना चाहिए कि जितना रुपया अगले साल उसे

...है, चलतू खाते और बचत जमाखाते (Current account and Saving Bank deposit) का पूरा ... और अगले साल में जितना अदा करना है ... आधा रुपया नक़द रख ले ।

प्रांतीय बैंक के लिए कमेटी की सिफ़ारिश है कि चलतू खाता और सेविंग बैंक का पूरा, तथा अगले ४ ... में जितना जमा अदा करना हो उतना नक़द रुपया, अपने पास रख सकते हैं। प्रांतों में जहाँ प्रांतीय बैंक नहीं, वहाँ खोल दिये जायँ । प्रांतीय से केंद्रस्थ बैंक का काम चल जाना चाहिए । केंद्रीय सरकार के क़ानून (Imperial Act) के बजाय समिति प्रांतीय क़ानून (Provincial Act) के अनुसार चलायी जाय। १९१९ के 'सुधार-क़ानून' से सहकारिता का विषय प्रांतीय हो गया है ।

कमेटी ने सहकारिता की उन्नति के संबंध में संतोष और हर्ष प्रकट किया है। उपर्युक्त बातों के अलावा कमेटी ने सहकारिता के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर भी ... विस्तार से प्रकाश डाला है, और कहा है कि अब समय आ गया है कि समितियों के सब पहलुओं और क़िस्मों—श्रमी, भंडार-समिति आदि—की उन्नति और विकास पर भी समुचित ध्यान दिया जाना चाहिए ।

भारतवर्ष में सहकारिता-आंदोलन के प्रारंभिक उद्योग उत्पत्ति और क़ानूनी बातों का यही संक्षिप्त इतिहास है। इस इतिहास से ज्ञात होता है कि भारतवर्ष में सहकार-आंदोलन को प्रारंभ करने में प्रथम हाथ भारत-सरकार का रहा है। दूसरे-दूसरे देशों में सहकार-आंदोलन के प्रारंभ में वहाँ की सरकार सशंकित रही है, यहाँ तक कि आंदोलन की प्रगति में उसने बाधा पहुँचाने तक की कोशिश की है। जर्मनी में सहकार-आंदोलन के जन्मदाता सूल्ज़ को सरकारी बाधा के कारण ही अपनी जजी छोड़नी पड़ी थी और इटली में लज़ेटी को एक बार देश छोड़कर भाग जाना पड़ा था। भारत में सरकार की ओर से ऐसी कोई बात नहीं हुई, बल्कि यहाँ इस आंदोलन के सूत्रपात का अधिकांश श्रेय सरकार ही को प्राप्त है। आज भी सरकार की ओर से बहुत-सी सुविधाएँ और सहायता इस आंदोलन को प्राप्त हैं; पर इस आंदोलन का सूत्रपात यहाँ बहुत विलंब से किया गया है। कितना अच्छा होता, यदि भारत-सरकार का ध्यान इस ओर और भी पहले आकृष्ट हुआ होता।

पागल !

[विद्याभूषण श्रीगंगासहाय पाराशरी 'कमल']

कौन चला जाता है वह,
उस ओर बना पागल-सा ?
वह पागल है ? है अनंत—
उपवन का सुमन विमल-सा ?
पागल कहते हो तुम उसको,
ओ झूठे जगवालो !
उसका वेष समझ सकते क्या,
ओ थोथे कंकालो !

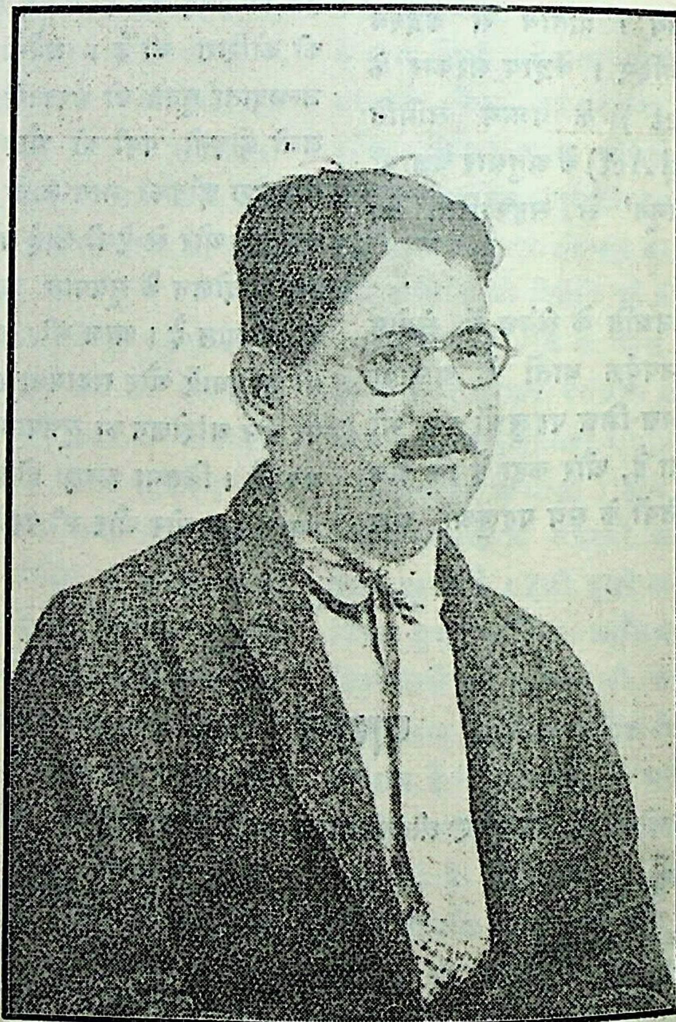
× × ×

मौन हर्ष है, मूक वेदना,
चमत्कारिणी ताली,
रोता हँसता, सोता जगता,
लिये हाथ में प्याली।

सुधा और विष का सम्मिश्रण,
जब पीता मतवाला,
उसी समय त्रिभुवन लेते हैं,
चौंक हठात् सँभाला।
गिरता-गिरता रुक जाता है
मघवा का सिंहासन,
जग पड़ते हैं चकित चौंककर
निद्रा से कमला-धन।
फिर मादक बन झूम-झूम
अलसायी आँखों द्वारा,
कर सुषुप्त सबको दिखलाता
वह मृदु सपना प्यारा।

उस सुख-सपने में आते हैं,
ऐसे अद्भुत सपने,
सपने में भी सो जाने को,
लगतीं आँखें झपने।
विमल व्योम के उज्ज्वल मोती
फैलाते नीरवता,
सूनापन जग जाता है फिर,
सो जाती मादकता।

उसका ही आश्रय पाकर हैं
सरसिज खिलतें सर में,
उसका ही प्रतिबिंब दीखता
प्रलय-सुनिलय मुकुर में।
अनुरागी के लोचन कहते—
'सतपथ हमें दिखा दें',
आदि शक्तियाँ मौन पुकारें,
प्याला तनिक हिला दे।



सुकवि श्रीगंगासहाय पाराशरी 'कमल'

जब निशीथ में देख इंदु को,
हाथ उठा हँस देता,
न्यौछावर राकेश चंद्रिका
तब उस पर कर देता।
उसकी जाग्रत थपकी से
जग जाती ऊषा सोती,
उसके स्वागत को सुमनों पर,
बिखरा देती मोती।

कलाकार की दिव्य कलाएँ,
निरख रही हैं प्याला,
जिसने उसके सुलझे क्रम को,
बेढब उलझा डाला।
कमी प्राण में—कमी रहा करता
अवसान-सदन में,
देखा उस ही का वैभव तो,
रत रति की चितवन में।

उसके मिट्टी के प्याले में,
भरे हुए हैं जीवन ,
उसकी थपकी में अंतर्हित
जाने कितने लोचन।
बेचा करता अल्हड़पन वह,
दो फूलों के बदले ,
हँसा करे जग इस सौदे पर,
उसे पुकारे 'पगले'!
उसको अपने पागलपन से,
जग में अलख जगाना ,
सोते हुए शक्ति-सागर को
थपकी थपक उठाना।
अलबेली उन्माद श्वास से,
वह सुपुप्ति बिखराता ,
शुभ्र ज्योत्सना-सीकर द्वारा,
जिसको इंदु सजाता।
उसकी जागृति में वासर,
शर्वरी शांत सोने में ,
जग का उपसंहार छिपा है,
उसके दृग-कोने में।
उसके इंगित से सीखी है—
जगती ने तांडवता ,
उसकी भृकुटी पर निर्भर है
इंद्रायुध-व्यापकता ।
जलजों को सिखलाया उसने,
सांध्यकाल में सोना,
दीन शलभ ने जाना उससे,
निज प्राणों का खोना।
उसके पागलपन पर मोहित
रक्षक शेष विधाता ,
उसकी उस प्रत्येक कला पर,
त्रिभुवन बलि-बलि जाता।
लुटा दिये उसके चरणों पर,
अगणित कोष नियति ने ,
सर्वोच्चासन देकर उसका
आदर किया विरति ने।

× × ×

यह पागलपन बड़ा निराला,
जिसको रोता पाया ,
उसको चुटकी बजा-बजाकर—
खुलकर खिला हँसाया।
यह पागलपन कितना सुंदर,
सभी जान जो पाते,
तो क्षण-भर को जग के सब जन,
पागल ही बन जाते।

उमरख़ैयाम

[श्रीदीनानाथ व्यास विशारद]

आज काव्यजगत् में उमरख़ैयाम की रुबाइयाँ भी अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। संसार की प्रायः सभी उन्नत भाषाओं में रुबाइयों के अनुवाद सचित्र छप चुके हैं। प्रति दिन नयी आनबान के साथ ऐसे अनुवाद निकलते जा रहे हैं। हिंदी में भी इस विषय की चर्चा कई सालों से चल रही है। जहाँ तक हमें मालूम है, काव्याश्रित चित्रकला के प्रचार एवं प्रकाशन का सबसे पहला प्रयत्न बंबई के किसी प्रकाशक सज्जन ने "चित्र-रामायण" छापकर किया था। हिंदी-भाषा में इस प्रयत्न के अलावा ऐसे ही कुछ और भी प्रयत्न हुए हैं। इंडियन-प्रेस के स्वामी ने बिहारी, मतिराम एवं पद्माकर आदि महाकवियों की रचनाओं के कल्पना-चित्र बनवाकर 'सरस्वती' में कई बार छपाये हैं। 'प्रभा'-नामक पत्रिका में भी उमरख़ैयाम की रुबाइयों के कल्पना-चित्र कई बार बड़े ही आकर्षक ढंग से छपे थे।

किंतु उमरख़ैयाम के जीवन का अधिकांश वृत्त अंधकार में ही है। सुप्रसिद्ध मैकमिलन-कंपनी की "Golden

Tresury Series" के संपादक मि० डब्ल्यू० ए० राइट ने उक्त पुस्तकमाला में प्रकाशित "Rubaiyat Omar" (रुबाइयात-उमर)-नामक पुस्तक की भूमिका में इस महान् आत्मा के जीवन पर कुछ प्रकाश डाला है, किन्तु उसमें भी राइट महाशय की कुछ मौलिकता नहीं। प्राचीन अनुसंधान-विषयक प्रसिद्ध पत्र "Calcutta Review" ('कलकत्ता रिव्यू') के ५६ वें अंक में एक पुस्तक—"History of the Ananius" के आधार पर उमरख़ैयाम के संबंध में एक लेख छपा था। राइट महाशय ने अपनी पुस्तक की समस्त भूमिका उसी लेख के आधार पर लिखी है। इससे उमरख़ैयाम के जीवन पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है।

फ़ारसी के महान् कवि उमरख़ैयाम ख़ुरासान के नैशा-पुर-नामक स्थान में, जो आजकल एक अच्छा शहर है, पैदा हुए थे। सही-सही जन्मदिन तो नहीं मालूम, किंतु इतना अवश्य पता है कि ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्धांश में इनका जन्म हुआ था, और मृत्यु ५१७ हिजरी अर्थात् ११२३ ईस्वी में हुई। यह तो सिद्ध ही हो चुका है कि उमर वृद्ध होकर मरे थे; क्योंकि अपनी कई रुबाइयों में अपने लिए वह "वृद्ध" शब्द का उपयोग कर गये हैं। इससे साबित है कि ८० वर्ष से कम उम्र इन्होंने नहीं पायी होगी। इस हिसाब से उनका जन्म सन् १०४१-४२ के लगभग होना संभव है।

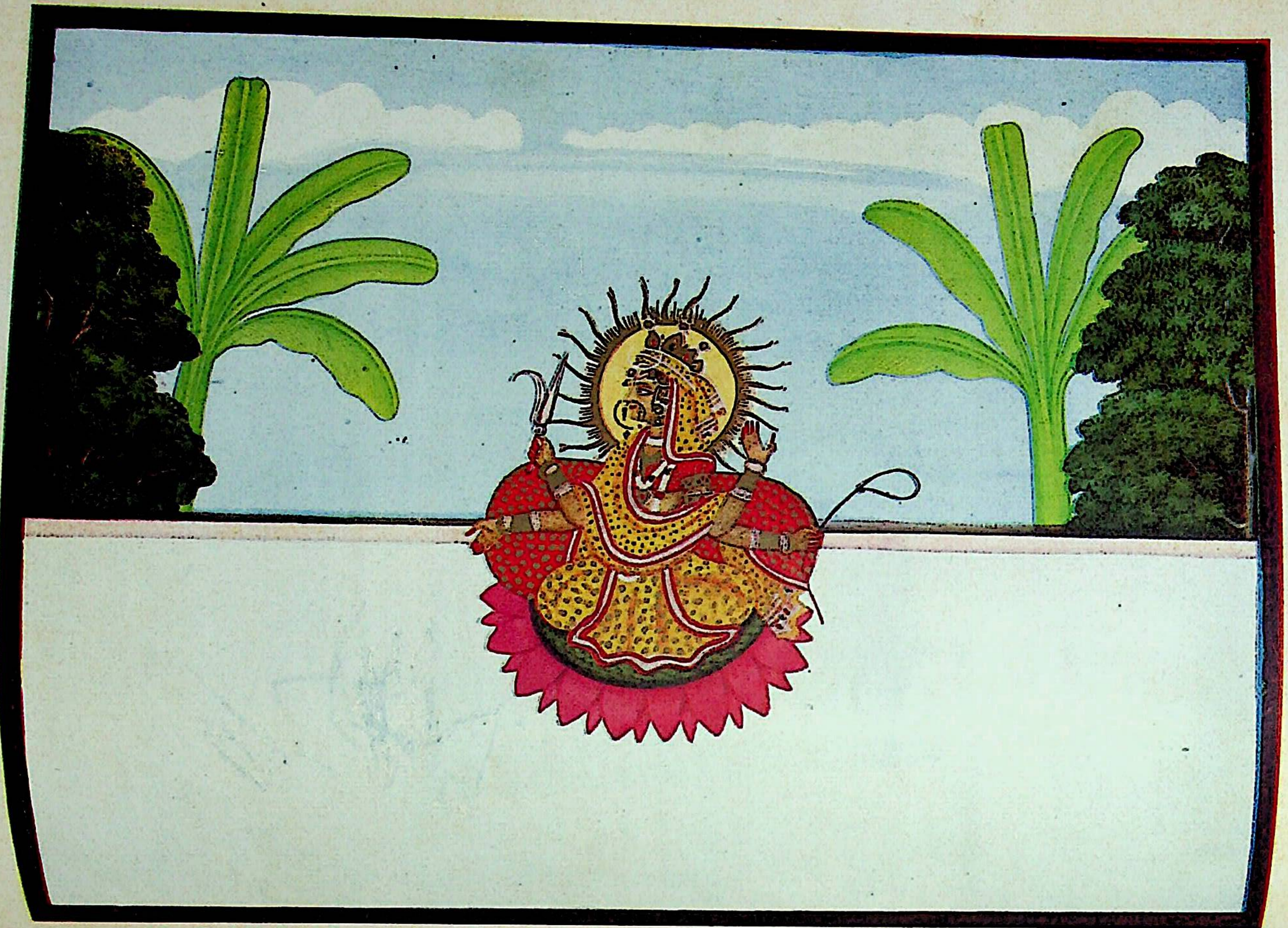
उमरख़ैयाम की बाल्यावस्था में, ख़ुरासान में, 'इमाम मुआफ़िक़'-नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् रहते थे। यह महाशय अपनी अपूर्व प्रतिभा और महान् चरित्रबल के लिए बहुत दूर तक प्रसिद्ध थे। उनकी यह प्रसिद्धि थी कि उनके शिष्य जहाँ कहीं जाते, आदर के ही पात्र होते हैं। उमरख़ैयाम के एक सहपाठी ने, जो बाद में अल्प अर्सलीन के वज़ीर निज़ामुलमुल्क के नाम से प्रसिद्ध हुए, अपनी वसीयत में लिखा है—

"इस आदरास्पद विद्वान् की कीर्ति सुनकर मेरे पिता ने धर्मशास्त्र के आचार्य अब्दुस्समद के साथ, [illegible] प्राप्त करने के लिए, मुझे ईरान के प्रसिद्ध नगर नृ[illegible] भेज दिया। वहाँ मैं इमाम साहब की सेवा में रह[कर] अध्ययन करने लगा। यह महान् पुरुष मुझे बड़े प्रेम से शिक्षा प्रदान करते और ऐसे विद्वान् का शिष्य रहकर मुझे बड़ा ही आनंद प्राप्त होता। मेरे वहाँ पहुँचने के दो ही चार दिन बाद मेरी पहचान दो विद्यार्थियों से हो गयी, जिनके नाम हकीम उमरख़ैयाम और [illegible] सब्बाह थे। ये दोनों विद्यार्थी बहुत ही तीव्रबुद्धि थे। हम तीनों आपस में एक दूसरे के दोस्त हो गये। आपस में एक दूसरे का सबक़ भी कभी-कभी सुन लि[या] करते थे। एक दिन तीनों अपना सबक़ दुहरा रहे थे [कि] हसन बिन सब्बाह बोला—"यह बात प्रसिद्ध है कि इमाम साहब के शागिर्दों का भविष्य सुखमय होता है। यदि हम तीनों ही के भाग्य ने हमारा साथ न दिया, तो इतना निस्संदेह है कि कोई एक-न-एक अवश्य ही भाग्यशाली होगा। उस समय के लिए हम लोगों की पारस्परिक प्रतिज्ञा क्या होनी चाहिए?" हम दोनों ने कहा—"यह सवाल तुम्हारी ही उपज है, इसलिए तुम्हीं इसका कुछ उपाय बताओ"। हसन ने [illegible] दिया—"हममें से भाग्य जिसका साथ दे, वह शेष दो को हिस्सा दे।" सभी ने बड़ी प्रसन्नता से इस [illegible] को स्वीकार कर लिया। ४ साल तक तीनों मित्र शि[क्षा] प्राप्त करते रहे। बाद में वे दोनों अपने-अपने घर [चले] गये, और मैं भी अपने घर वापस आ गया। कई [illegible]

१—हाइड के "Veterum Persarum Relegis"-नामक ग्रंथ के अनुसार, जिसका हवाला D. Herbelot (हरबेलो) ने "Bibliothique" में दिया है।

२—"सब कुछ भुलाकर 'बूढ़े' ख़ैयाम के संग सम्बंध स्थापित करो"—रुबाई।

१—"History of Ananius" के लेखक ने जो कुछ [illegible] लिखा है, वह इसी वसीयत के आधार पर। उमरख़ैयाम [की] जीवनी पर जो कुछ प्रकाश पड़ा है, वह भी इसी के आधार पर। किंतु यह पता नहीं चलता कि उक्त इतिहास के लेखक ने वह वसीयतनामा कहाँ से पाया। लेखक ने मूल वसीयत[नामे] की अपनी पुस्तक में नक़ल तक नहीं की। फ़ारसी के विद्वानों का कथन है कि यह वसीयतनामा फ़ारसी के किसी इतिहास-ग्रंथ में उनके भी देखने में नहीं आया।



भुवनेश्वरी

[मियाँ वखतसिंह जागीरदार की कृपा से]

तक मैं काबुल और गज़नी में चक्कर काटता रहा। लौटने पर मुझे सुल्तान अप्र असँलान के मंत्री होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मेरे वज़ीर होने की ख़बर पाते ही वे दोनों दोस्त मेरे पास आये और पुरानी प्रतिज्ञा की याद दिलाकर उसे पूरा करने के लिए आग्रह करने लगे। मैंने अपनी सिफ़ारिश से हसन बिन सब्बाह को राज्य में अच्छा ओहदा दिला दिया; किन्तु वह कई कारणों से इस्तीफ़ा देकर इधर-उधर घूमता रहा और अवसर पाकर "इस्माइल" संप्रदाय का प्रधान बन बैठा। उमरख़ैयाम ने किसी पद के लिए इच्छा नहीं प्रकट की। उसने कहा कि मुझे अपने ही सहारे कहीं एक कोने में पड़ा रहने दो। यहीं रहकर मैं विज्ञान का प्रचार करूँगा और ईश्वर से तुम्हारे लिए दुआ करता रहूँगा। मेरे बार-बार आग्रह करने पर भी जब उमरख़ैयाम ने कोई पद स्वीकार न किया, तो मैंने उसकी इच्छानुसार १२०० मिनकाल अर्थात् सोने के सिक्के वार्षिक पेंशन का प्रबंध नैशापूर के ख़ज़ाने से कर दिया। नैशापूर में रहकर उमर ने वैज्ञानिक विषयों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया। सुल्तान मलिकशाह उमर का बड़ा सम्मान करते थे। ज्योतिष-विद्या में उनका सानी उस समय कोई था ही नहीं। सुल्तान मलिकशाह ने उस समय की प्रचलित तिथि-पद्धति को सुधारने के लिए जो आठ विद्वानों की समिति बनायी, उमरख़ैयाम भी उसके एक प्रधान सदस्य निर्वाचित हुए। इन लोगों की सभा में ही जलाली सन्[१] की उत्पत्ति हुई।"

"History of Ananius" के लेखक ने निज़ामुलमुल्क की वसीयत पाकर ही यदि उपर्युक्त बातें लिखी हैं, तो ये बातें प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। यह बात सत्य इसलिए भी मालूम होती है कि उमर की मलिकशाह के दरबार में बड़ी इज्ज़त होती थी। यह बात उमर स्वतः अपनी रुबाइयों में लिख गया है। उमर ने अपनी रुबाइयों में निज़ामुलमुल्क की उदारता की बड़ी लंबी तारीफ़ की है। थोड़े ही दिन पूर्व एक फ्रेंच विद्वान् ने 'अलजेबरा' (बीजगणित) पर अरबी में लिखे हुए उमर के एक महत्त्वपूर्ण निबंध का मूलसहित अनुवाद करके प्रकाशित किया था। उस लेख की विद्वत्ता और बारीकी पर रीझकर कई विद्वानों ने उसकी खूब खोज की, किंतु कहीं पता न चला। उमरख़ैयाम ने "जायचः मलिकशाही" नाम से कुछ ज्योतिष के नक्शों की रचना की है। "अलजेबरा" को उमर ने अरबी में क्यों लिखा? फ़ारसी में, जो उसकी मातृ-भाषा थी, क्यों नहीं लिखा? यह ग्रंथ किसी अन्य उमर-नामक ज्योतिषी का तो नहीं! संपूर्ण जीवन की अनुभूतियाँ तो उमर ने फ़ारसी में लिखीं, एक बीजगणित का ग्रंथ वह अरबी में लिखने क्यों बैठा? उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर देना महान् कठिन कार्य है। किंतु इतना तो बिलकुल ही सत्य है कि वह ज्योतिष, विज्ञान, गणित आदि विषयों का अद्वितीय विद्वान् था। आश्चर्य इस बात का है कि मि० राइट ने भी अपनी अँगरेज़ी-पुस्तक में उपर्युक्त फ्रेंच-अनुवादक की इस पुस्तक पर कोई आपत्ति नहीं उठायी।

उमरख़ैयाम का असली नाम उमर है। ख़ैयाम उपनाम है। ख़ैयाम, ख़ीमा (तंबू) बनानेवाले को कहते हैं। प्रायः उमरख़ैयाम पर लिखनेवाले सभी अँगरेज़ लेखक उमर का पेशा ख़ीमा बनाना लिखते हैं। सुबूत में वे इसी 'ख़ैयाम' शब्द को पेश करते हैं। लेकिन अँगरेज़ों की यह केवल कल्पना ही मानी जा सकती है। इसमें सत्यांश बिलकुल नहीं। 'ख़ैयाम' शब्द के अर्थ से ही उमर को ख़ीमा बनानेवाला बताने के पूर्व यदि वे अपनी जाति के प्राचीन विद्वानों पर ग़ौर करते, तो उन्हें सब क़िस्सा समझ में आ जाता। Goldsmith, Miller, Fox आदि नाम रखने के ही कारण क्या वे किसी अँगरेज़ को सुनार, अनाज पीसनेवाले या लोमड़ी के नाम से पुकारने या कहने को तैयार हो जायँगे! कवि तो बहुत ही सोच-समझकर, बहुत ही भावुकतापूर्ण दृष्टि से विचार कर लेने के बाद ही, अपने उपनाम रक्खा करते हैं। यदि किसी ने अपना नाम "मधुप" रख लिया, तो क्या वह भौंरा हो गया, या यदि "साक़ी" रख लिया, तो क्या वह शराब पिलानेवाला हो गया? अँगरेज़ लेखकों ने यह नहीं सोचा कि उमर ने स्वतः ही 'ख़ैयाम' शब्द का अर्थ ख़ीमा बनानेवाला लगाकर कैसी अनोखी शब्द-क्रीड़ा की है। देखिए, वह लिखते हैं—

१—A Computation of time, which surpasses the Julian, and approaches the accuracy of the Gregorian style.—Gibbon.

"Khaiyam, who stitched the tents of Science,
Has fallen in grief's furnace and been suddenly burned,
The shears of fate have cut the tent ropes of his life,
And the broker of hope has sold him for nothing."

—Fitz Gerald

(English—translation)

अर्थात्, "ख़ैयाम ने अक्ल और जान दिल लड़ाकर विज्ञान का सुंदर वितान तैयार किया था और उसकी छाया में सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था; आज अकस्मात् वेदना की भट्टी में गिरकर क्षण-भर में भुन गया। क्रूर भाग्य की तलवार की तीक्ष्ण धार ने निर्मम होकर उसके जीवन-वितान की डोरियाँ काट दीं और आशा के ख़रीदे हुए गुलाम दलाल ने उसे धोखे में डालकर कौड़ी के मोल बेच दिया।"

अस्तु। विश्वास है कि अब ख़ैयाम पर लोग व्यर्थ का यह दोषारोपण न करेंगे।

"Veterum Persarum Religis" के आधार पर हरबेलोट (D. Hurbelot) ने अपनी पुस्तक "Bibliothique" में ख्वाज़ा निज़ामी का (उमर के शिष्य) जो समरकंद के रहनेवाले थे, ज़िक्र करते हुए लिखा है—

"मैं अक्सर अपने उस्ताद उमरख़ैयाम से एक बग़ीचे में बहस किया करता था। एक दिन बातों के सिलसिले में उस्ताद कह उठे—'मेरी क़ब्र ऐसी जगह बनेगी, जहाँ सबा के झोंके फूलों से उसका शृंगार करते होंगे।' मैं यह वाक्य सुनकर दंग रह गया। परंतु मैं यह अवश्य जानता था कि उस्ताद बिना समझे-बूझे कभी कुछ बोलते नहीं। कई वर्षों के बाद जब मैं उनके निवासस्थान पर गया, तो सचमुच देखा कि उनकी समाधि उद्यान के बाहर बनी है, और फलों से लदे हुए वृक्ष वाटिका की दीवारों पर अपनी भुजाएँ फैलाये हुए इतने अधिक परिमाण में पुष्पवर्षा कर रहे हैं कि समाधि-स्तम्भ भी उनसे ढक गया है।"

हिंदी के कवियों में अपना जीवनवृत्त न लिखने की एक आदत-सी पड़ी हुई है। वे अपनी रचनाओं का ज़िक्र भी पूरा नहीं कर जाते, जिससे उनके बाद उनकी रचनाओं का पता लगाने में सुविधा हो। यही हाल उमर की रचनाओं के विषय में है। अभी तक उमर की रचनाओं की हस्तलिपि नहीं प्राप्त हुई। पश्चिम की बड़ी-बड़ी लायब्रेरियों में, जहाँ प्रत्येक कवि की स्वलिखित रचनाओं की प्रतियाँ रक्खी जाती हैं, उमर की रचनाओं की प्रामाणिक कापी एक भी नहीं। समस्त संसार के सबसे बड़े पेरिस-स्थ पुस्तकालय "Bibliotheque National de Paris" और ब्रिटिश-साम्राज्य के सबसे बड़े एवं सर्वोत्कृष्ट संग्रहालय "British Museum" के "भारतीय भवन" (India House) में भी प्रामाणिक कापी नहीं। कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी (Asiatic Society) में एक कापी अवश्य है। उसमें ५५३ रुबाइयाँ हैं, किंतु इसमें अशुद्धियाँ हैं और लिपि भद्दी है। अशुद्धियों की गिनती लगाना बहुत ही मुश्किल है। पुस्तक अधूरी है। विश्वास नहीं होता कि बस इतनी ही रुबाइयाँ हैं या और भी ज़्यादा। मि०राड्स ने "Introduction to the Rubaiyat Omar" में लिखा है कि वॉन हैमर (Von Hammer)-नामक किसी सज्जन को एक कापी ऐसी मिली है, जिसमें उमर की २०० रुबाइयाँ हैं। डा० स्प्रेंजर (Dr. Sprenger) ने अपनी हस्तलिखित पुस्तकों के सूची-पत्र में भी २०० रुबाइयों का होना स्वीकार किया है। लोगों की राय है कि जो अनुवाद फ़्रेंच-राजदूत ने तेहरान-नगर से प्राप्त एक कापी के आधार पर निकाला था, वह बहुत ही प्रामाणिक है। उस फ़्रेंच-अनुवादक का नाम "Mossieur Nicholas"—मोसिये निकोला है। इस फ़्रेंच-अनुवाद में ४६४ रुबाइयाँ हैं। कुछ दिनों के बाद प्रसिद्ध समालोचक प्रोफ़ेसर कॉवेल (Proffesor Cowell) को १८३६ ई० में कलकत्ते की छपी हुई एक कापी प्राप्त हुई थी। उसमें कुल (४३८ + ५४) ४९२ रुबाइयाँ थीं। ये ५४ ऐसी रुबाइयाँ हैं, जो दूसरी कापियों में नहीं हैं। इसके अलावा सत्यप्रकाशक-कार्यालय, काठियावाड़ से उमर की रुबाइयों का एक ऐसा अनुवाद (गुजराती में) भी निकला है, जिसमें पूरी ५०० रुबाइयाँ हैं। उमर की रुबाइयों के अनुवाद कई भाषाओं में हुए हैं और अभी होते ही जा रहे हैं। फ़्रेंच-अनुवादों में मि० निकोला का अनुवाद श्रेष्ठ बताया जाता है। अँगरेज़ी में भी गद्य एवं

इन दोनों में इसके कई अनुवाद हुए हैं, किंतु फ़िज़रिल्ड के अनुवाद की ही प्रशंसा चारों ओर फैल रही है। यह अनुवाद सबसे ज़्यादा प्रचलित है। लोगों का कथन है कि यह अनुवाद भद्दा हुआ है; क्योंकि फ़िज़रिल्ड का फ़ारसी-साहित्य में अच्छा दख़ल नहीं था। फ़ारसी-विद्वानों का कथन है कि यह अनुवाद जितना समादृत हुआ, इतना अच्छा यह है नहीं। फ़िज़रिल्ड ने मूल को पढ़कर समझने की चेष्टा नहीं की। कई जगह वह मूल-भावनाओं और शब्दों के अर्थ करने में गड़बड़ कर गया है। यह बात फ़ारसी के विद्वानों ने ही नहीं, अँगरेज़ी के विद्वानों (अँगरेज़ों) ने भी स्वीकार की है। मि० कावेल, राइट आदि ने उसकी यह ग़लती साफ़ ही लिखी है। मि० राइट लिखते हैं—

It must be admitted that Fitz Gerald took great liberties with the original in his version of Omar Khaiyam.

अर्थात् यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि फ़िज़रिल्ड ने अपने उमरख़ैयाय के अनुवाद में स्वच्छंदता से काम लिया है।

एक रुबाई के विषय में प्रो० कावेल लिखते हैं—

Fitz Gerald mistook the meaning of "Giving" and "Accepting" as used here, and so invented his last trial out of his own mistake. I wrote to him about it when I was in Calcutta, but he never cared to alter it.

—Rubaiyat Omar
(Note by the Editor)

अर्थात् फ़िज़रिल्ड "गिविंग" और "एक्सेप्टिंग" शब्दों के अर्थ में गड़बड़ कर गये हैं। मैंने उन्हें कलकत्ते से लिखा था, किंतु ऊपर्युक्त शब्दों के सुधारने की उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की।

इसमें संदेह नहीं कि फ़िज़रिल्ड का यह अनुवाद अन्य अनुवादों से कुछ अच्छा ही है। उसकी शब्द-योजना मधुर और अनुवाद करने का ढंग अच्छा है। प्रतिमा में किसी को नुक़्ताचीनी करने की गुंजाइश नहीं। यह भी है कि कहीं-कहीं अनुवाद मूल से भी बढ़कर हो गया है। किंतु इससे यह मतलब नहीं कि फ़िज़रिल्ड फ़ारसी के मर्मज्ञ साहित्यिक थे। इसके अतिरिक्त मि० ओ० ए० शूबसोल (O. A. Shrubsole) का अनुवाद भी कुछ अच्छा है। मि० ई० हिरनएलेन का अनुवाद साधारणतः अच्छा है; किंतु उसमें दोष इतना ही रह गया कि वह भावों को स्पष्टतः व्यक्त नहीं कर सके। अनुवाद प्रायः अविकल अनुवाद कहा जा सकता है।

यह तो रही योरपीय भाषाओं के अनुवादों की बातें, अब भारतीय प्रांतिक भाषाओं के अनुवादों पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है। बँगला, उर्दू, हिंदी और गुजराती-अनुवाद ही अभी तक हमारे देखने में आये हैं। उर्दू में अनुवाद फ़ारसी-मूल से ही किया गया है। बँगला में अभी तक इसके दो अनुवाद हमारे देखने में आये हैं।

पहले का नाम 'उमरगीति' और दूसरे का नाम 'रुबाइयात' है। सुनते हैं, दोनों अनुवाद साधारणतः अच्छे हैं। गुजराती में अभी-अभी हमारे देखने में एक अनुवाद आया है, जिसका नाम है—"उमर ख़ैयामनी रुबाइयात, तेना जीवनचरित्र साथे"। प्रकाशक है—सत्य-प्रकाशक-कार्यालय, काठियावाड़। अनुवाद साधारण है। हिंदी में बाबू मैथिलीशरण गुप्त का अनुवाद, अभी दो महीने, हुए बड़ी आनबान के साथ निकला है; किंतु कहते दुख होता है कि यह चीज़ बाबू साहब के नाम के अनुकूल नहीं बनी। इसके साथ यदि गुप्तजी का नाम न होता, तो शायद यह आदर के योग्य हो सकती थी। यह अनुवाद इतना साधारण क्यों हुआ, इसका एक-मात्र कारण यही मालूम होता है कि गुप्तजी फ़ारसी-साहित्य से अनभिज्ञ हैं। खेद है, एक कवि-सम्राट् द्वारा किये गये इस अनुवाद में न तो फ़िज़रिल्ड के अँगरेज़ी-अनुवाद की भाँति ओज और शोख़ी है, न माधुर्य एवं भावव्यंजना ही। मूल से मिलान करना तो अलग ही है! हमारी समझ में किसी फ़ारसी के विद्वान् हिंदी-कवि को इस कार्य में हाथ डालना चाहिए। तब मातृभाषा के साहित्य में भी इस अभाव की पूर्ति बड़े अच्छे ढंग से हो जायगी।

किसी भी भाषा के अनुवादक ने अभी तक पूरी

१—यह ग्रंथ थैकर स्पिंक एंड को०, बंबई से १०।) तक में मिल सकता है।

रुबाइयों का अनुवाद नहीं छपाया। एडमंडडुलाक, अवनींद्रनाथ टैगोर और विलीपागौनी आदि के रुबाइयों पर सुंदर एवं भावपूर्ण चित्र भी निकले हैं।

उमरख़ैयाम 'Eat, drink and be merry'— "खाओ पिओ और मौज उड़ाओ—" वाले सिद्धांत के उपासक थे। कवि के जीवन का उसकी कविता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उमर की कविता में सांसारिकता एवं व्यावहारिकता ही विशेष रूप से दिखायी देती हैं। उसमें सूफ़ीमत के गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का नितांत अभाव है। उमर ने, हमारी समझ में, पारलौकिक समस्याओं और आध्यात्मिक तत्त्वों पर कभी विचार ही नहीं किया। समालोचक लोग, कवि से भी ज़्यादा, उड़ान भरते हैं! उमर की रुबाइयों में व्यवहृत शब्द "साक़ी" (शराब पिलाने-वाला—प्रियतम), मय (शराब—प्रियतम के मिलन का सुख), जाम (प्याला, हृदय) आदि शब्दों के अर्थ खींचतान करके ईश्वर एवं जीव पर घटा दिये गये हैं। किंतु यह चेष्टा कवि की आत्मा को दुखाने की चेष्टा है। उर्दू के शृंगारी कवियों की कृतियों में भी लोग यही खींचतान किया करते हैं, किंतु इससे अनर्थ होने के सिवा कोई लाभ नहीं होता। एक समय हमारे एक फ़ारसीदाँ मित्र ने—

गर यार न हो साक़ी मय खाना हुआ तो क्या।
मामूर शराबों से पैमाना हुआ तो क्या॥

इस शेर का ऐसा अजीब अर्थ बताया था कि हम तो सुनकर ही दंग रह गये। हमें विश्वास है कि शायद बेचारा शायर ही उस अर्थ तक नहीं पहुँचा होगा। यह अवश्य है कि फ़ारसी के अनेक महा-कवियों ने कई रहस्यमयी (Mysterious) बातें कही हैं, जिनका अर्थ खींच-तानकर दार्शनिक बातों पर लगाया जा सकता है।

उमरख़ैयाम के विचारों के विषय में मि० वानहैमर लिखते हैं—

Omar was a free thinker and a great opponent of Sufism.

अर्थात् उमर स्वतंत्र विचारक और सूफ़ीमत का बड़ा भारी विरोधी था।

मि० राइट ने लिखा है—

Omar's song—if not "let us eat"—is assuredy let us drink, for tomorrow we die.

अर्थात् उमर की रचनाओं में "भोजन करो" की ध्वनि यदि नहीं है, तो आओ, मदिरा पान करें—यह ध्वनि अवश्य है; क्योंकि कल ही मर जाना है। उमर ने कई जगह लिखा भी है कि "व्यर्थ के झगड़े छोड़ो, ज्ञानियों की बड़ी-बड़ी बातें किसी काम की नहीं। आओ हम-तुम अपने आनंद में इन सब झंझटों को भूल जायँ।" उदाहरण के लिए दो रुबाइयाँ नीचे दी जाती हैं—

गर दमत देहद् ज़ मग्ज़ गन्दुम नाने,
अज़ मैं कदवे ज़ गोस फन्दें राने।
वा निगह मन व तू निशुस्तः दर वीराने,
ऐशे बूद आँ न ख़ुद हर सुलताने'॥

× × ×

जामे शब अज़ मुल्क फ़रीदूँ सद बार,
ख़िश्त सरख़म ज़ ताज कि ख़ुसरोवः
यक ज़ुरिये मैज़ मुल्क काऊसवहस्त,
व ज़ तख़्त कुवादो मिलकते तूस वहस्त।

१—ये सभी संस्करण थैकर स्पिंक एंड को०, बंबई से मिल सकते हैं।

१—उपर्युक्त रुबाई का अँगरेज़ी-पद्यानुवाद यह है—

Here with a loaf of bread beneath the bough,
A flask of wine, a book of verse and thou,
Beside me singing in the wilderness,
And wilderness is Paradise enow.

इसी का अनुवाद बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने इस प्रकार किया है—

"इस तरु तले कहीं खाने को रोटी का टुकड़ा हो एक।
पीने को मधुपात्र पूर्ण हो करने को हो काव्यविवेक॥
तिस पर इस सन्नाटे म तुम बैठ बग़ल में गाती हो।
तो मेरे हित इसी विजन में स्वर्गराज्य का हो अभिषेक॥"

यह तथा अन्य पद्य बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त के नवप्रकाशित अनुवाद "उमरखैयाम की रुबाइयात" से दिये गये हैं।

करदन मुँह अरखस्म बूद रुस्तमो ज़ाल,
मनत मुविर अरदोस्त बुवद हातिमोते[1]।

इन रुबाइयों से हमारी उपयुक्त बात का पूर्ण रूप से अनुमोदन होता है।

उमर की रचनाओं से फ़ारसी के अनेक कवियों ने भाव चुराये हैं। हाफ़िज़ भी इस चोरी से मुक्त नहीं हो सके। यह बात दूसरी है कि भाव को लेकर उन्होंने उसे अपने ढाँचे में ढाल लिया है।

मनुष्य चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, अपनी भावना के अनुसार हमेशा सुख ही पाने के लिए चक्कर काटा करता है। किंतु वास्तव में सुख है ही कहाँ? जो लोग यह सोचा करते हैं कि यह ज़िंदगी चार दिन की चाँदनी है, खूब मौज उड़ा लेनी चाहिए—वे भी दुःख आ पड़ने पर ईश्वर को भजते हुए नज़र आते हैं। यही हाल उमर का भी हुआ है। संसार से दुःखी होकर कहीं-कहीं उसने भी बहुत ही ऊँची भावनाएँ प्रकाशित की हैं, किंतु अफ़सोस! ईश्वर ने उमर की भावनाओं को स्थायी नहीं किया।

१—अँगरेज़ी-अनुवाद—

Well let it take them ! what have to do,
With Kaikobad the great, or Kikhosru ?
Let you and Rustam blaster as they will,
Or Hatim call to a supper-heed not you,
With me along the strip of Herbage strown,
That just divides the desert from the sown
Where name of stone and Sultan is forgot
And peace to Mahmud on his golden throne ?

१—यहाँ, कहाँ से? क्यों? न जानकर यों ही आना पड़ता है,
वा हित विवश वारि-सा निज को हमें बनाना पड़ता है।
कहाँ चले? फिर कुछ न जानकर इच्छा हो कि अनिच्छा हो
पर पट पर सरपट समीर-सा हमको जाना पड़ता है।

× × ×

ऊपर नीचे बाहर भीतर आगे पीछे इधर-उधर,
नहीं और यह कुछ, माया की छाया का है कौतुक-भर।
है "फ़ानूस ख़याल" एक यह दिनकर जिसका दीपक है,
चारों ओर मृषाकारों से काट रहे हैं हम चक्कर।

वासंती

[श्री० प्रणयेश शर्मा]

शीतल समीर सुरभित, सखि, मंद-मंद
डोलती है, प्रकृति-प्रिया के पट खोलती;
हरित दुकूल मंजु पादप-हरीतिमा है,
पीत पाग मिस सरसों के रँग घोलती।
'प्रणयेश'' मिलन का साज ही नहीं है वहाँ,
आज परिरंभन की भावनाएँ तोलती;
नृत्य करती है मानों सुषमा वसंत संग,
कोकिल किसी से अनमोल बोल बोलती।

रायगढ़

[श्री० लीलाधर एम्० ए०]

मध्यप्रदेश के अंतर्गत उड़ीसा की सरहद पर, बी० एन्० आर० की मेन लाइन के किनारे, रायगढ़ की सुरम्य रियासत बसी हुई है। इसका क्षेत्रफल १,४८६ वर्गमील है, और जनसंख्या हाल की मर्दुमशुमारी के अनुसार २,७७,५६६ है। इस रियासत में ८०७ गाँव और दो शहर हैं, जिनमें म्युनिसिपैलिटियाँ स्थापित हैं। एक तो राज्य की राजधानी रायगढ़-शहर है, जो इसी नाम के रेलवे-स्टेशन से लगा हुआ है, और दूसरा खरसियाँ है, जहाँ से लोग धर्मजयगढ़ और सरगुजा की रियासतों तथा चंद्रपुर आदि ज़मींदारियों की ओर जाया करते हैं। दोनों ही तिजारत के बड़े केंद्र हैं। शहर के अतिरिक्त घरघोड़ा, तमनार, लैलुँगा, पीड़गाँव और पुसौर आदि बड़े-बड़े क़स्बे हैं।

रायगढ़-रियासत तीन भौगोलिक विभागों में बटी हुई है। पहला हिस्सा रेलवे-लाइन के दक्षिण की ओर सारंगढ़-रियासत की दिशा में फैला हुआ है। इसे 'डँड़हा भाग' कहते हैं। यह एकदम मैदान है और उपजाऊ खेतों से ओतप्रोत है। रेलवे-लाइन के उत्तर की ओर प्रायः इतना ही अंश 'मोरगाभाग' कहलाता है, और यह भाग प्रायः जंगलों से आच्छादित है। मोरगाभाग ही के समान एकदम उत्तर में 'राठभाग' है, जो पहाड़ियों के ऊपर एक बृहत् उच्चसमभूमि में स्थित है। यहाँ की आबहवा अपेक्षाकृत ठंढी रहती है और रायगढ़-महाराज के लिए यह स्थान गर्मियों में पचमढ़ी आदि का काम देता है। यहाँ के जंगल दर्शनीय हैं। शिकार की यहाँ इतनी अधिक सुविधा रहती है कि प्रायः प्रत्येक ऋतु में बाघ, भालू, साँभर, चीतल आदि कसरत से मिला करते हैं।

इस रियासत के पूर्व की ओर गाँगपुर और जशपुर की रियासतें हैं। उत्तर की ओर जशपुर और उदयपुर की रियासतें हैं। पश्चिम की ओर उदयपुर और सक्ती की रियासतें हैं और दक्षिण की ओर चंद्रपुर-ज़िमींदारी तथा सारंगढ़-रियासत है। इस प्रकार प्रायः चारों ओर इसे रियासतें ही घेरे हुए हैं। अक्षांश-रेखांश भी इसका ऐसा है कि यहाँ दोनों ओर की मौसमी हवा आ[...] मिला करती हैं। अपनी इस विशिष्ट स्थिति के कार[ण] ही यह रियासत दुर्भिक्ष से एकदम मुक्त है। न तो आ[ज] तक यहाँ अकाल पड़ा है, और न कभी यहाँ[...] निवासियों को यह स्थान छोड़कर जीविकार्जन के लि[ए] चायबाग़ान या टाटानगर-सरीखे कल-कारख़ानों [के] स्थानों का मुँह देखना पड़ा है। खनिज-पदार्थ भी [...] यहाँ पर पर्याप्त मात्रा है। पत्थर का कोयला, लोह[ा], अभ्रक, मैंगनीज आदि सभी कुछ मिल सकते हैं, परंतु अभी इस दिशा में पूरी खोज नहीं हुई है। इ[स] लिए भूगर्भ का यह कोप भविष्य के लाभ के लि[ए] भूगर्भ ही में स्थित है। रायगढ़ ख़ास, कोसा-कपड़े [के] लिए बहुत प्रसिद्ध है और यहाँ का कोसा बड़ी दूर[-दूर] तक जाता तथा आदर पाता है।

इस रियासत का प्राचीन इतिहास प्रायः अंधकार[...] गर्भ ही में विलीन है। सिंहनपुर की गुफाओं के सम[ान] कुछ स्थान यहाँ ऐसे हैं, जहाँ लाल रंग की विचि[त्र] चित्रकारियाँ चट्टानों पर अंकित पायी जाती हैं। [...] अँगरेज़ तथा भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओं ने ये चित्रकारि[याँ] देखी हैं और इन्हें कम-से-कम भारतवर्ष में सब[से] प्राचीन माना है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक अनुमा[न] है कि ये चित्र बीस हज़ार वर्ष पुराने हैं और अ[...] सभ्यता के बहुत पहले की आदिम मानव-सभ्यता [के] जीवित प्रमाण हैं। श्रीअमरनाथ दत्त महोदय ने अ[भी] हाल ही इन चित्रों पर अँगरेज़ी में एक अत्यंत गवेषण[ा]पूर्ण निबंध लिखा है और इन्हें स्पेन तथा अमेरिका [में] पाये जानेवाले ऐसे ही चित्रों से सम्बद्ध बताया है। कुछ लोग यह भी समझते हैं कि इन चित्रों में [...] चित्रलिपि भी वर्तमान है।

इन चित्रों के अतिरिक्त और प्राचीन शिलालेख आदि अभी नहीं मिल पाये हैं, यद्यपि उनके अस्तित्व के विषय में कई लोग कई तरह का पता देते हैं। [...] वर्ष पूर्व तारापुर के पास कुछ अत्यंत प्राचीन सिक्के (Punch marked coins) नाले के कगार पर

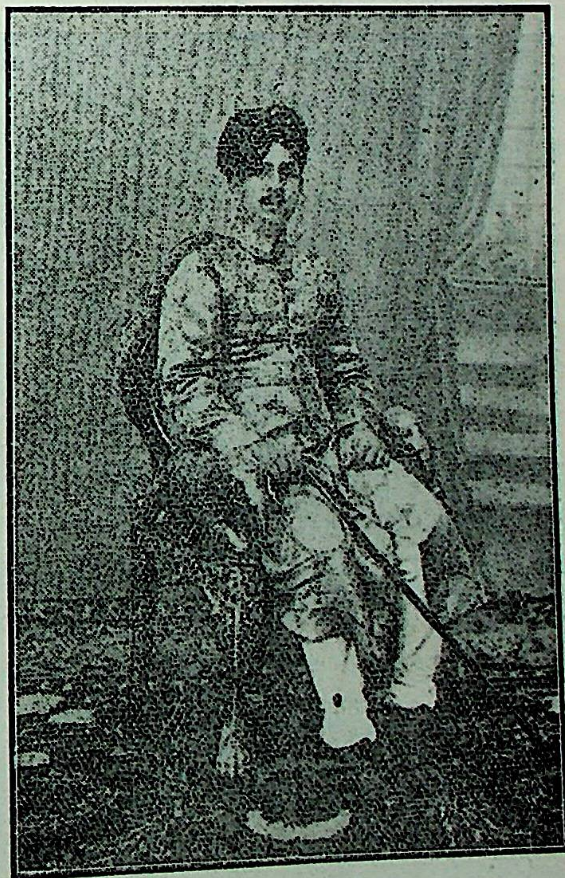
...थे। राजिम में लगभग ८०० वर्ष पुराना एक शिलालेख है, जिसमें यहाँ के राठ, टेरम और तमनार-प्रांतों का उल्लेख है। किंवदन्तियाँ तो यहाँ ढेरों भरी पड़ी हैं और यहाँ के आदि-निवासी कँवर तथा कोरवा लोग न केवल अपने को कौरवों की संतान ही कहते हैं, वरन् ...क और विराट् का योग करते हुए पाण्डवों के वनवास की अनेक गाथाएँ भी सुनाया करते एवं तत्संबंधी स्थान भी दिखाया करते हैं।

जान पड़ता है, यह स्थान आदि-काल ही से अनार्य-जनता का केंद्र रहा है, इसीलिए लिखित इतिहास के अभाव में इसका अतीत इतना अंधकारमय बना हुआ है। प्राचीन कोटों के ध्वंसावशेष, प्राचीन नरेशों की किंवदंतियाँ, प्राचीन अनगढ़ खोहों की अद्भुत चित्र-कारियाँ आदि पुरातत्त्व-प्रेमियों का सतृष्ण दृष्टि से आह्वान कर रही हैं, और अतीत काल की कथा-व्यथाओं के समूचे इतिहास की थाती उन्हें सौंप देने के लिए सस्नेह तैयार हैं। परंतु खेद है, किसी सुयोग्य विद्वान् का ध्यान इस ओर अब तक आकर्षित नहीं हुआ। निकट भविष्य में किसी की दृष्टि इस ओर जायगी या नहीं, इसके लिए कोई क्या कह सकता है।

इस राज्य के वर्तमान राजवंश के पूर्वज दक्षिणस्थ 'बैरागढ़' स्थान से आकर, 'फुलझर' होते हुए 'बुनगा' और फिर रायगढ़ में आ बसे थे। ये लोग "बैरागढ़" के सुप्रसिद्ध 'राजगोंड' वंश के रत्न थे, और केवल अपने ही बाहुबल से, इतनी दूर आकर, अनेक छोटे-छोटे राजाओं को इन्होंने हराया और इतना बड़ा राज्य स्थापित किया। इस वंश की पाँचवीं पीढ़ी में राजा जुझारसिंह हुए, जिन्होंने लगभग १८०० ईस्वी में ईस्ट-इंडिया-कंपनी के साथ संधि स्थापित करके, अपने स्वतंत्र राजत्व का परिचय दिया था और अफ़ग़ानिस्तान के समान रायगढ़ को नागपुरी भोंसले और बंगाली ईस्ट-इंडिया-कंपनी के बीच का Buffer State बनाकर रक्खा था।

खेद है, प्रांतीय शासन की सुविधा के विचार से, इसके बाद, मध्यप्रांत की दूसरी रियासतों के साथ यह रियासत भी तीसरी श्रेणी में रख दी गयी, अन्यथा यह निश्चय था कि यहाँ के महाराज हिज़ हाइनेस कहलाते और अन्य नरेशों के समान तोपों की सलामी के अधिकारी बने रहते।

राजा जुझारसिंह के नाती महाराज भूपदेवसिंह हुए, जिन्होंने २३ वर्ष तक सुचारु रूप से शासन किया। इनका शासन-काल अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण और श्रीसंपन्न रहा। रायगढ़ की म्यूनिसिपैलिटी इन्हीं के समय में स्थापित हुई। वर्तमान मोतीमहल इन्हीं ने बनवाया था। यहाँ का भारत-विख्यात गणेशोत्सव इन्हीं की प्रेरणा से आरंभ हुआ। अस्पताल, हाईस्कूल आदि उपयोगी संस्थाएँ इन्हीं के शासन-काल में स्थापित हुईं। खरसियाँ-शहर की नींव भी इन्हीं ने डाली थी। इनके तीन पुत्र हुए। बड़े पुत्र के रहते हुए भी, छोटे चिरंजीव लाल चक्रधरसिंह पर इनका असीम अनुराग था। एक भविष्यद्दर्शी ऋषि के समान



श्रीमान् राजा चक्रधरसिंहजी
(रायगढ़-नरेश)

न-जाने कैसे वह मानों यह समझ चुके थे कि लाल चक्रधरसिंह ही उनके उत्तराधिकारी होंगे। इसीलिए मोतीमहल का नाम "चक्रधर-मोतीमहल" रक्खा और उनकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबंध कराया था। यदि कोई

अपराधी लाल चक्रधरसिंह का "जयघोष" कर उठता, तो उसका अपराध क्षमा कर दिया जाता था, और यदि सामान्य मनुष्य उनकी जय के नारे लगाता था, तो महाराज भूपदेवसिंह उसके सम्मुख रुपयों की वृष्टि कर देते थे।

ईश्वर ने उनकी यह आकांक्षा सफल की, और आज हम रायगढ़ की राजगद्दी पर महाराज चक्रधरसिंह को आसीन पाते हैं। अतुल स्नेह से लालित-पालित होने पर भी महाराज चक्रधरसिंह में ग़ज़ब की सादगी और कष्टसहिष्णुता है। अभी आप २६ ही साल के हैं, परंतु अपने अनेकानेक सद्गुणों से आपने अपनी प्रजा का मन मुग्ध कर लिया है। यहाँ की वंशपरंपरागत अंधरूढ़ियों को तोड़ते हुए आपने अपनी स्टेट का कोना-कोना छान डाला है, और अपनी ग़रीब-से-ग़रीब, गँवार-से-गँवार प्रजा के पास निःसंकोच जाकर उनके सुख-दुःख पूछे हैं। अभी हाल ही में सरकार ने आपको पूर्णाधिकार प्रदान किया है और आपने भी इन अधिकारों का प्रजाहित के लिए अच्छी तरह सदुपयोग करना आरंभ कर दिया है।

आप बड़े कुशल शिकारी हैं। आज तक ४० शेर मार चुके हैं। संगीत-कला-कोविद तो इस दर्जे के हैं कि स्वर्गीय पं० विष्णु दिगंबर तथा प्यारा साहब आदि ने यहाँ आकर आपकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है—यहाँ तक कि प्यारा साहब ने हारमोनियम और तबले में इनका शिष्यत्व तक स्वीकार किया है!

साहित्य में भी आपका इतना अनुराग है कि आपने इस छोटी-सी अवस्था में ही अनेक पुस्तकें तैयार कर ली हैं, जिनमें से "वैरागी राजकुमार" और "माया-चक्र"-नामक दो उपन्यास तथा "रत्नहार"-नामक संस्कृत-श्लोकों का सटीक सुन्दर संग्रह बड़ी सजधज के साथ छपकर प्रकाशित हो चुके हैं। इतना सब होते हुए भी आपने शासन-संबंध में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं रक्खी। हज़ार काम छोड़कर इस काम की ओर सबसे पहले ध्यान देते हैं। इस अवस्था में, ऐसे ऐश्वर्यों को पाकर, मादक द्रव्यों से बचे रहना और शासन की कठोरता के साथ-ही-साथ साधुओं का-सा शील-सौजन्य बनाये रखना प्रायः असंभव है! परंतु महाराज चक्रधरसिंह में इन दोनों बातों का मणि-कांचन-संयोग देखते ही बनता है।

आपने हाल ही में पं० बलदेवप्रसादजी मिश्र एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, एम्० आर० ए० एस० को अपना दीवान नियुक्त किया है। मिश्र महोदय नागपुर विश्वविद्यालय के फ़ेलो तथा हिंदी के चिरपरिचित सुलेखक हैं और 'जीवविज्ञान'



पं० बलदेवप्रसाद मिश्र एम्० ए०, एल्० एल्० बी०

'रुबाइयात उमरख़ैयाम' * आदि अनेक पुस्तकों की रचना कर चुके हैं। आशा है, इनके सहयोग से श्रीमान् महाराज साहब अपने राज्य को उत्तरोत्तर उन्नतिशील बनाकर आदर्श राज्य का रूप दे सकेंगे।



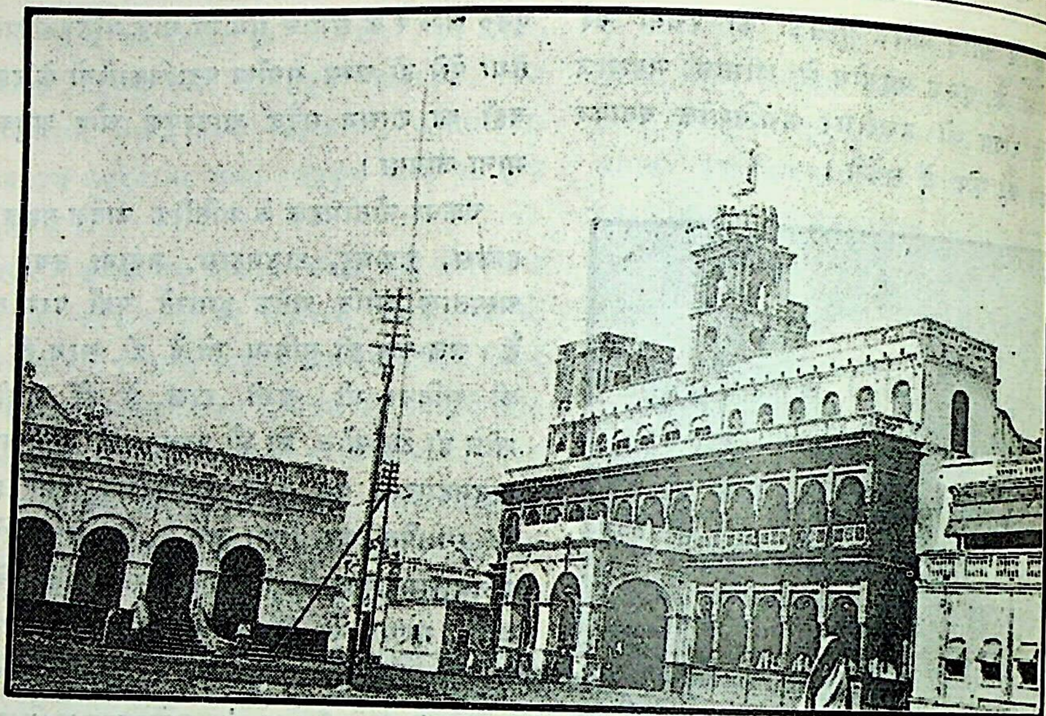
पं० लक्ष्मणप्रसाद मिश्र बी० ए०, बी० एल्०
(प्राइवेट और जुडिशल सेक्रेटरी)

ईश्वर की कृपा से पं० लक्ष्मणप्रसाद मिश्र बी० ए०, बी० एल्० के समान सुयोग्य सेक्रेटरी, मि० जगमोहननाथ पंडित बार-एट-ला के समान सुयोग्य नायब दीवान, श्री० सैयद अहमदख़ाँ के समान सुयोग्य पुलिस-कप्तान, डाक्टर एन्० जी० रे के समान सुयोग्य चीफ़ मेडिकल आफ़िसर तथा ऐसे ही अन्य सुयोग्य पदाधिकारियों के रहते हुए यहाँ का शासन सदैव आदरपूर्ण और अनुकरणीय माना जायगा।

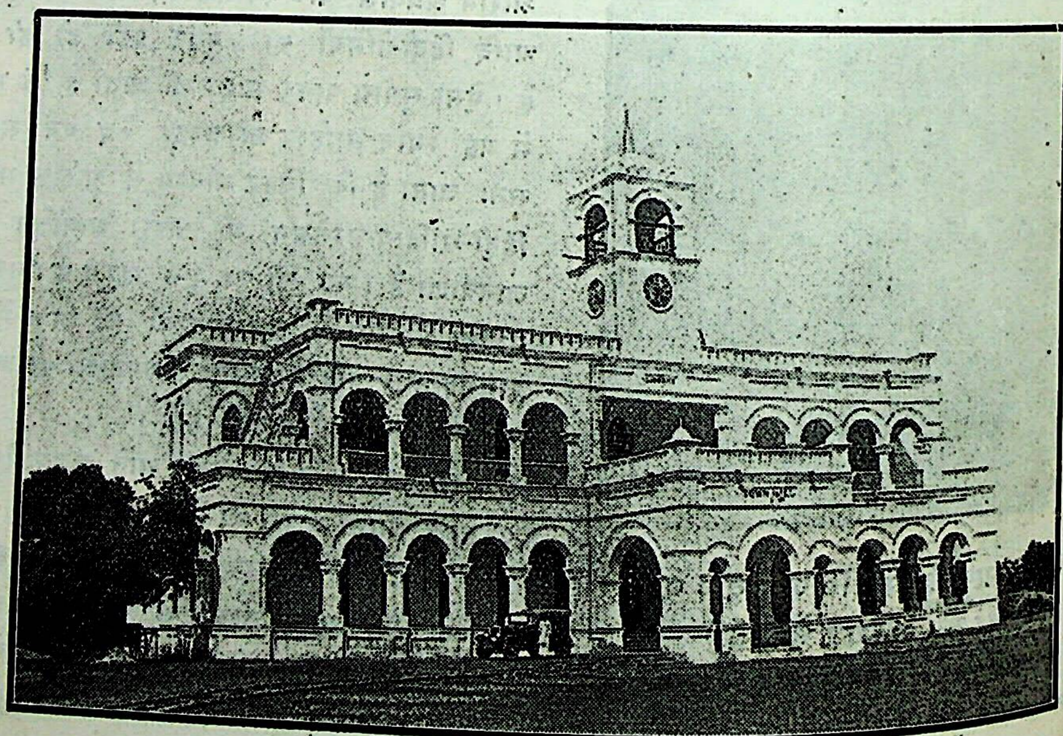
चक्रधर-मोतीमहल के अतिरिक्त बादल-महल, गेस्ट-हाउस, क्लब-घर, टाउनहाल, ज़नाना तथा मर्दाना अस्पताल आदि अनेक इमारतें यहाँ परम दर्शनीय हैं। जल-कल की सुविधा तो है ही, साथ ही बिजली की सुविधा भी अभी हाल में हो गयी है। शीघ्र ही टेलीफ़ोन का भी प्रबंध यहाँ होनेवाला है। टाउनहाल में एक बृहत् पुस्तकालय अभी हाल ही में स्थापित कर दिया गया है, जिसमें अँगरेज़ी की उत्तमोत्तम पुस्तकों के साथ-ही-साथ हिंदी के प्रायः सभी गण्यमान्य लेखकों की पुस्तकें आ गयी हैं। ईश्वरेच्छा से पं० आनंदमोहन वाजपेयी एम्० ए०, पं० वनमालीप्रसादजी शुक्ल, पं० मनोहरप्रसाद मिश्र, श्रीयुत श्रीराम अग्रवाल, बा० श्यामलाल, पांडेय श्रीमुकुटधर आदि हिंदी-प्रेमियों का जमघट यहाँ हो ही चुका है। ऐसा सुयोग पाकर आशा की जाती है कि भविष्य में यह स्थान साहित्य का अच्छा केंद्र बन सकेगा। सुना जाता है कि निकट भविष्य में अखिल भारतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन भी यहाँ आमंत्रित किया जानेवाला है। यह भी एक शुभ शकुन है। नदी और पहाड़ों के नैसर्गिक सुरम्य दृश्यों की गोद में स्थित रायगढ़-नगर यदि साहित्यिक कल्पनाओं का क्रीड़ाक्षेत्र बन जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं।

सारंगढ़ की ओर से रायगढ़ आते समय ऐसा जान पड़ता है, मानों मसूरी या नैनीताल की ओर बढ़े चले जा रहे हों। पहाड़ियों की तराई पर हरे वृक्षों के बीच ऊँची अट्टालिकाओं से विभूषित भव्य-भवन बड़े ही रम्य जान पड़ते हैं। रेलवे-लाइन से देखने पर यही दृश्य कुछ दूसरा ही रंग ले आता है। सतर्क पहरेदार की भाँति विशाल मोतीमहल शहर के एक ओर खड़ा दिखायी देता है, और उसी के किनारे से केलो-नदी अठखेलियाँ करती हुई बही चली आती है। उत्तर की ओर कुछ और ही रंग है। एक ओर पहाड़ और दूसरी ओर नदी के बीच ऊँचा-नीचा प्रशस्त पथ बड़ा सुहावना जान पड़ता है। पूर्व की ओर दो मील

* हाल ही में "रुबाइयात उमरख़ैयाम" का आपने एक अत्यंत सुंदर और स्वतंत्र अनुवाद खड़ीबोली-कविता में किया है, जो बड़ी सजधज के साथ 'मेहता-ब्रदर्स', बनारस के यहाँ से प्रकाशित होनेवाला है।



चक्रधर-मोतीमहल



टाउनहाल

दूर सघन वन के भीतर 'बोइरदादर का बँगला' अपूर्व ही छटा दिखाता है। १२ मील पर 'कर्मागढ़-घाटी' का उतार और ४० मील दूर 'तोलगे' तथा चिमटा-पानी की घाटियों की चढ़ाई एवं उनके समीप के दृश्यों का सौंदर्य कुछ दूसरा ही है। मीलूपारा (मीलूगढ़), तारापुर, नवागढ़, सिंहगढ़ (सिंघरा), करमागढ़ आदि के ध्वंसावशेष कुछ निराली ही शान लिये हुए हैं। केलो-नदी का समतल उद्गम भी एक विचित्र प्राकृतिक छटा है। सिंघनपुर की गुफाएँ, कबरा-पहाड़ की चित्रावलियाँ, कर्मागढ़ के अंक और

'भारे' पहाड़ तथा लोहागढ़ के स्थल-विशेष किसी बहुत इतिहास से संश्लिष्ट जान पड़ते हैं।

कहाँ तक कहें, इसी तरह के अनेक दर्शनीय स्थान इस छोटी-सी रियासत में अपनी गौरव-गाथा, अपने हृदयों में छिपाये हुए, बाह्य सौंदर्य से सहृदय आगंतुकों की सौंदर्यमयी चित्तवृत्ति का मूक आह्वान किया करते हैं।

ईश्वर यहाँ के महाराज को चिरंजीवी करके इस सुंदर राज्य की अधिकाधिक उन्नति करता जाय, यही हमारी मनोकामना है।

भारतवर्ष में दरिद्रता की समस्या

[प्रो० श्रीशंकरसहाय सक्सेना एम्०ए०, बी०काम०, विशारद]

आज प्रत्येक भारतवासी दुःख के साथ यह अनुभव करने लगा है कि न-जाने क्यों हमारा देश निर्धन और दरिद्र है। भारतवर्ष की दरिद्रता तो एक सर्वसिद्ध बात है, उसको प्रमाणित करने के लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। सरकार ने भी वार्षिक रिपोर्टों में यह स्वीकार किया है कि भारतीय जनता इतनी अधिक निर्धन है, जिसका अनुमान भी विदेशी लोग नहीं कर सकते। मैं इस विषय में अधिक न लिखकर केवल कुछ अंक देकर ही यह बतलाने का प्रयत्न करूँगा कि यह रोग कितना भयंकर है। भारत में प्रति मनुष्य कितनी आय होती है, इस विषय पर बहुत-से मत हैं। प्रतिवर्ष २० रुपये से लेकर १०० रुपये तक प्रति मनुष्य भारतीयों की आय कूती जाती है; किंतु अधिकतर अर्थशास्त्रियों का मत है कि सिर पीछे ४५ रुपया * वार्षिक आय होती है।

अब देखना यह है कि इन ४५ रुपयों में एक मनुष्य कैसा जीवन व्यतीत कर सकता है। इस विषय में एक बात ध्यान में रखने योग्य है। देश में संपत्ति का विभाजन एक-सा नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं, जिनकी आय वर्ष में ४५ रुपये से बहुत अधिक होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो निर्धन हैं, उनकी वार्षिक आय ४५ रुपये से बहुत कम है। इस तीन रुपये मासिक आय में मनुष्य किस प्रकार गुज़ारा कर सकता है, इसके समझने में अधिक कठिनाई नहीं पड़ती। यदि देखा जाय, तो भारतीय जनता इन तीन रुपयों में भली भाँति भोज्य सामग्री भी नहीं जुटा सकती। फिर कपड़ा, मकान, दवा तथा धार्मिक और सामाजिक कार्यों में भी उसको व्यय करना पड़ता है। परिणामतः अधिकतर भारतीय जन-संख्या पौष्टिक भोज्यपदार्थ नहीं पाती; यथेष्ट कपड़े तथा स्वच्छ और स्वास्थ्यप्रद मकान भी उसके भाग्य में नहीं है। दवा, शिक्षा तथा अन्य कार्यों के लिए तो उसके पास पैसा होता ही नहीं। गाँवों में जाइए, तभी अनुभव कर सकेंगे कि वास्तव में हम लोग दरिद्र हैं। क्या कारण है कि भारतीयों की औसत आयु केवल २३ वर्ष है? क्या कारण है कि हम लोग अगणित संख्या में प्रतिवर्ष रोगों के शिकार बनते हैं? एक भारतीय युवक को आंग्ल-जाति के युवक के सामने खड़ा कीजिए, तब यह अंतर जान पड़ेगा। बात यह है कि दरिद्रता के कारण हम अपनी संतानों का लालन-पालन कर ही नहीं सकते। वास्तविक सत्य तो यह है कि समस्त भारतीय समाज भूखों रहकर धीरे-धीरे नष्ट हो रही है। आज हमारा शारीरिक ह्रास इतनी शीघ्रता से हो रहा है कि यदि इसका निवारण न किया गया, तो हम संसार में कुछ भी करने योग्य रह जायँगे, इसमें संदेह है। शहरों में, गाँवों में, रेलों में और मेलों में ही इस बात का आभास मिलता है कि हमारा देश तो केवल कंगालों का देश है।

अब देखना यह है कि इस निर्धनता का कारण क्या है। किसी भी देश का संपत्तिवान् अथवा निर्धन होना उस देश में संपत्ति के उत्पादन तथा विभाजन पर निर्भर है।

* लेखक का विचार भी यही है।

जितनी संपत्ति उत्पन्न की जायगी, उतना ही उसका उपभोग भी किया जा सकता है। यदि देश में संपत्ति अधिक उत्पन्न की जाती हो और अधिक भाग केवल थोड़े-से ही लोग न हथिया लेते हों, तो उस देश की जनसंख्या अवश्य धनी होगी। किंतु जिस देश में संपत्ति का उत्पादन बहुत कम हो, वह देश तो दरिद्र ही रहेगा। भारतवर्ष में संपत्ति का उत्पादन जनसंख्या को देखते हुए बहुत कम होता है। यही कारण है कि प्रति मनुष्य हम लोगों को बहुत कम संपत्ति उपभोग करने को मिलती है। यदि देश में अधिक संपत्ति उत्पन्न हो सके, तो प्रत्येक भारतीय की आय अधिक हो सकती है, और भारतीय लोग अच्छे भोज्य पदार्थ, अच्छे मकान, शिक्षा, ओषधि तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं।

अस्तु, देश म अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता है। सम्भवत: पाठक यह जानकर चौंकें कि भारतवर्ष में संपत्ति की उत्पत्ति कम है; किंतु सत्य तो यही है कि पृथ्वी पर और किसी देश में प्रति मनुष्य पीछे इतनी कम संपत्ति उत्पन्न होती है, इसमें संदेह है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है; खेतीबारी की उत्पत्ति की तुलना यदि अन्य देशों से की जाय, तो स्तंभित रह जाना पड़ता है। प्रति एकड़ भारतवर्ष में जितना गेहूँ उत्पन्न किया जाता है, उसका लगभग चार गुना प्रति एकड़ इँगलैंड में उत्पन्न होता है। भारतवर्ष में प्रति एकड़ जितनी शक्कर उत्पन्न होती है, उसकी तिगुनी क्यूबा में और चौगुनी जावा में होती है। मिस्र-देश में प्रति एकड़ कपास की उत्पत्ति ४०० पौंड है, संयुक्तराज्य अमेरिका में २१० पौंड तथा भारतवर्ष में केवल ८० पौंड ही कपास उत्पन्न होती है। हमारा वह धंधा, जिसमें देश की लगभग तीन चौथायी जन-संख्या (७३.९ प्रति शत) लगी हुई है, ऐसी बुरी दशा में है, इसी से हमारी उत्पादन-शक्ति का पता लगता है। सर राबर्ट गिफन ने ब्रिटिश-साम्राज्य की आर्थिक स्थिति पर व्याख्यान देते हुए एक बार कहा था—"भारतवर्ष तथा ग्रेट-ब्रिटेन और उपनिवेशों की आर्थिक स्थिति में कितना भारी अंतर है, यह तो इसी से स्पष्ट है कि ग्रेट-ब्रिटेन के चार करोड़ बीस लाख मनुष्य जितना धन भोजन, मदिरा तथा चा पर व्यय करते हैं, वह भारतवर्ष की तीस करोड़ से अधिक जनसंख्या की कुल आय है।"* क्या इन शब्दों में भारतवर्ष की निर्धनता का चित्रण नहीं मिलता?

किंतु हमारी इस भयंकर निर्धनता का कारण क्या है, इस पर भी हमने कभी विचार किया है? बात यह है कि भारतवर्ष की पैंतीस करोड़ जन-संख्या केवल खेती-बारी पर ही अवलंबित है। पिछली मनुष्यगणना के अनुसार ७९ प्रतिशत जन-संख्या तो एकमात्र खेती-बारी में लगी हुई है ही, किंतु बची हुई जन-संख्या भी परोक्षरूप से इसी धंधे पर निर्भर है। यही नहीं कि केवल भोज्य पदार्थों के लिए ही हम इस धंधे पर निर्भर हों, वरन् विदेशी वस्तुओं को भी हम खेती की उपज (कच्चा माल) मूल्यरूप में देकर ही मँगाते हैं। अर्थशास्त्र के विद्वानों का मत है कि प्रत्येक मनुष्य के भरण-पोषण के लिए दो एकड़ भूमि आवश्यक है।† जिन देशों की जन-संख्या बढ़ गयी है और प्रति मनुष्य पीछे दो एकड़ का औसत नहीं पड़ता, वे देश विदेशों से भोज्य-पदार्थ मँगाते हैं। किंतु इस अभागे देश की क्या दशा है, भारतवर्ष में प्रति मनुष्य भोज्य-पदार्थ उत्पन्न करनेवाली भूमि का औसत केवल दो-तिहाई एकड़ है। इसका अर्थ यह है कि भारतवासी भूखे रहकर दिन व्यतीत करते हैं। इसी

---

* How vast must be the economic gulf separating the people of the United Kingdom and Colonies from India when we find that forty two millions of people in U. K. consume in food and drink alone equal to the whole income of three hundred millions of people in India.

† अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् श्रीमुलहल ने कहा है—

As a general rule two productive acres are required to support each inhabitant, and where this ratio does not exist, food must be imported.

अर्थात् जहाँ प्रति मनुष्य दो एकड़ भूमि नहीं है, वहाँ भोज्य पदार्थ बाहर से मँगाने पड़ेंगे।

आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि यदि किसी देश की जन-संख्या प्रति वर्गमील १५० मनुष्यों से अधिक है, तो वहाँ खेती-बारी के द्वारा इतनी संपत्ति नहीं उत्पन्न की जा सकती कि उससे जन-संख्या की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। घने आबाद देशों में इसी कारण उद्योग-धंधों को उन्नत करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। आज यदि इँगलैंड चाहे कि उसकी चार करोड़ से ऊपर जन-संख्या का निर्वाह केवल खेती-बारी से हो सके, तो यह संभव नहीं है। इसी कारण आंग्ल-जाति ने उन धंधों को उन्नत किया है, जिनमें अधिक भूमि की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन देशों ने अपने धंधों को उन्नत कर लिया है, वहाँ प्रति वर्गमील ६०० मनुष्यों से भी अधिक जन-संख्या सुखपूर्वक दिन व्यतीत करती है। किंतु हमारे देश में इतनी घनी आबादी होते हुए भी उद्योग-धंधों का नाम नहीं है। यही कारण है कि हम दरिद्र हैं।

यह तो स्पष्ट ही हो गया कि हमारी निर्धनता का मूल-कारण हमारा केवल खेती-बारी पर संपत्ति की उत्पत्ति के लिए निर्भर रहना है। आज तो भारतवर्ष की जन-संख्या मध्यकालीन तथा प्राचीन हिंदू-राजाओं के समय से बहुत अधिक है, इस कारण हमें उद्योग-धंधों की और भी आवश्यकता है। किंतु उस समय जो भारतवर्ष की आर्थिक दशा संसार के अन्य देशों से अच्छी थी, उसका कारण यह था कि खेती के साथ-ही-साथ देश की औद्योगिक स्थिति भी ठीक थी। प्रश्न हो सकता है कि हमारे उद्योग-धंधे नष्ट क्यों हो गये? यह तो हमारे शासक आंग्ल-प्रभुओं की कृपा का फल है। पं० मदनमोहन मालवीय ने औद्योगिक कमीशन के सदस्य की हैसियत से जो नोट लिखा है, वह प्रत्येक भारतीय के पढ़ने की चीज़ है। जिन्होंने उस नोट को तथा श्रीयुत रमेशचंद्र दत्त की "भारत का आर्थिक इतिहास"-नामक पुस्तक को पढ़ा है, वे जानते हैं कि अँगरेज़ी-सरकार ने किस प्रकार अबाध व्यापार-नीति (Free trade) को अपनाकर तथा भारतीय माल पर शत-प्रतिशत इँगलैंड में कर लगाकर भारतीय धंधों को चौपट कर दिया, और क्रमशः यह देश केवल किसानों का देश रह गया। यहाँ इस विषय पर अधिक लिखने का स्थान नहीं है। देखना तो केवल यह है कि उद्योग-धंधों के नष्ट होने से ही भारतवर्ष दरिद्रता के पाश में जकड़ गया है।

थोड़े दिनों से प्रत्येक विचारशील अर्थशास्त्र का विद्वान् भारतवर्ष में औद्योगिक उन्नति की आवश्यकता बतलाता है, किंतु वस्तुतः इस विषय में दो मत हैं। कुछ तो भारतवर्ष को पश्चिमी देशों की भाँति औद्योगिक देश बना देना चाहते हैं। उनका विचार है कि जिस प्रकार संयुक्तराज्य अमरीका, इँगलैंड तथा जर्मनी औद्योगिक देश बन गये, उसी प्रकार भारतवर्ष को भी बड़े-बड़े पुतलीघरों और कारख़ानों से भर दिया जाय। वे यह अनुभव करते हैं कि बड़े-बड़े कारख़ानों के द्वारा ही देश धनवान् बनाया जा सकता है। किंतु वे लोग यह भूल जाते हैं कि भारतवर्ष की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति दूसरे प्रकार की है।

विद्वानों ने भली भाँति गणना करके यह निश्चित कर लिया है कि यदि वैज्ञानिक रीति से खेतीबारी की जाय, तो वर्तमान किसानों की आधी संख्या भली भाँति देश-भर की भूमि को जोत सकती है। जो विद्वान् देश को बड़े-बड़े कारख़ानों से भर देने के पक्ष में हैं, उनका कथन है कि देश की लगभग ४० प्रतिशत जन-संख्या, जो खेतीबारी से मुक्त हो सकती है, मिलों में संपत्ति की उत्पत्ति करेगी। परंतु यदि थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि यह संभव है, तो देखने की बात यह है कि जब ग्रेट-ब्रिटेन के लगभग ढाई करोड़ मज़दूरों द्वारा बनाये हुए माल की खपत के लिए ब्रिटिश-सरकार को भारतवर्ष तथा उपनिवेशों को अपनी अधीनता में रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है, तो भला जब भारतवर्ष के लगभग १० या १२ करोड़ मज़दूर पक्का माल तैयार करेंगे, तब यह देश किस प्रकार अन्य देशों में अपने माल की खपत कर सकेगा! आज प्रत्येक औद्योगिक देश को यह अनुभव हो रहा है कि बिना राजनीतिक प्रभुत्व प्राप्त किये वह अपना माल नहीं बेच सकते। इसी एक आर्थिक समस्या ने संसार के सभी देशों के ध्यान को आकर्षित कर रक्खा है।

दूसरी जो भयंकर समस्या हमारे सामने उपस्थित होगी, वह है पूँजीवाद की भयंकरता। जिन देशों में

बड़े-बड़े कारख़ानों का आधिक्य है, वहाँ ट्रस्ट * बनते जा रहे हैं। संयुक्त-राज्य अमरीका का स्टैंडर्ड-आयल-ट्रस्ट, जिसका वार्षिक लाभ लगभग ४५ मिलियन डालर (४,५०,००,००० डालर) है, केवल पाँच या छः पूँजीपतियों के हाथ में है। यह धनी पूँजीपति अपने नौकरों को पार्लियामेंट के लिए खड़ा करते हैं और जो पार्टी विजयी होती है, उसको धन द्वारा अपने वश में कर लेते हैं। दक्षिण-आफ़्रिका में जवाहरात का ट्रस्ट, जो डी बियरस कंपनी के नाम से प्रसिद्ध है, एक प्रकार से दक्षिण-आफ़्रिका का शासक है। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ पूँजीवाद का अधिक ज़ोर होता है, वहाँ प्रजातंत्र होते हुए भी पूँजीपति ही शासन करते हैं। इसके अतिरिक्त जिन्होंने बंबई और कलकत्ता-जैसे औद्योगिक केंद्रों के मिल-मज़दूरों को देखा है, वे जानते हैं कि मिल द्वारा बनी हुई वस्तुएँ समाज के लिए कितनी मँहगी पड़ती हैं। बेचारा मज़दूर दुर्गंध-युक्त स्थानों में रहकर १० घंटे मशीन की भाँति काम करके अपने जीवन को नष्ट कर देता है। यही नहीं, आज जो पश्चिमी देशों में बेकारी की समस्या भयंकर रूप से मुँह बाये खड़ी है, वह भी इस औद्योगिक संगठन का ही फल है।

ऊपर लिखी हुई पंक्तियों से पाठक यह न समझ लें कि मैं यंत्रों तथा बड़े-बड़े कारख़ानों के विरुद्ध हूँ। यंत्रों द्वारा संपत्ति उत्पन्न करनेवाले कारख़ानों की भी आवश्यकता है—केवल उन्हीं धंधों में, जिनमें गृह-उद्योग-धंधे (Cottage Industries) सफल नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ, लोहे की वस्तुएँ बनाने के कारख़ाने, रेलों तथा अन्य यंत्रों के कारख़ाने इत्यादि। किंतु भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति को देखते हुए हमें गृह-उद्योग-धंधों तथा ग्रामीण उद्योग-धंधों (Rural-Industries) को उत्तेजना देना आवश्यक है। जो लोग इस देश को भी भीमकाय पुतलीघरों से भर देना उचित समझते हैं, उनके सामने संयुक्तराज्य अमरीका का आदर्श तो रहता है; किंतु वे भूल जाते हैं कि उस देश में प्रकृति की देन तो बहुत अधिक है, पर मनुष्यों की संख्या इतनी कम है कि यदि वे यंत्रों का उपयोग संपत्ति के उत्पादन में न करें, तो वहाँ बहुत कम उत्पत्ति हो सके। इधर भारतवर्ष में यदि प्रकृति की देन बहुत है, तो जनसंख्या भी इतनी अधिक है कि प्रति मनुष्य प्रकृति की देन कम पड़ती है। यही कारण है कि भारतीय कृषक, जिसके पास केवल कुछ बीघे भूमि होती है, अपने कुटुंब के श्रम से खेतीबारी कर लेता है। उसके खेतों पर उसके लिए पूरा काम नहीं है, फिर वह यंत्रों का उपयोग कैसे कर सकता है। उधर संयुक्तराज्य अमरीका के किसान के पास सैकड़ों एकड़ भूमि होती है। वह बिना यंत्रों की सहायता के इतनी अधिक भूमि कैसे जोत सकता है। यही बात प्रत्येक धंधे में लागू है।

भारतवर्ष में आर्थिक दशा तभी सुधर सकती है, जब यहाँ ग्रामीण उद्योग-धंधों की उन्नति की जाय। यह बात निर्विवाद सिद्ध हो गयी है कि इस देश की तीन-चौथायी जन-संख्या—किसान—वर्ष में लगभग चार महीने बेकार रहती है। इसका अर्थ यह है कि देश की जनसंख्या जितनी उत्पत्ति कर सकती है, उसकी केवल दो-तिहाई सम्पत्ति उत्पन्न करती है। इसलिए आवश्यक यह है कि भारतीय किसान खेतीबारी के अतिरिक्त कोई ग्रामीण धंधा भी करता रहे। घी, दूध, मक्खन का काम, कपास ओटना तथा कातना, तेल पेरना, गुड़ और शक्कर बनाना, फल और तरकारी पैदा करना, रेशम के कीड़े पालना, रस्सी और डलियाँ तैयार करना आदि ऐसे धंधे हैं, जिनको किसान साधारणतः सरलता से सीख सकता है और खेती से अवकाश मिलने पर इन धंधों से कुछ आय भी बढ़ा सकता है। संसार के किसी देश पर दृष्टिपात कीजिए, आपको ग्रामीण उद्योग-धंधे उन्नत अवस्था में मिलेंगे। यदि डेनूमार्क का किसान मक्खन और पनीर का धंधा करता है, फ़्रांस का किसान रेशम उत्पन्न करने तथा फ़्रांस की प्रसिद्ध शराब उत्पन्न करने का धंधा करता है, स्वीज़रलैंड का किसान खिलौने और घड़ियों के पुर्ज़े बनाता है, जर्मनी का किसान सन के कपड़े तैयार करता तथा जापान का किसान रेशम के कीड़े पालने और दियासलाई बनाने का काम करता है, तो भारतवर्ष का किसान क्यों इन धंधों को नहीं कर सकता ?

प्रश्न हो सकता है कि यह किसान बड़े-बड़े कारख़ानों

---

* बड़े कारख़ानों को नष्ट करके अथवा उनको मिलाकर एक भीमकाय कारख़ाना खड़ा किया जाता है, जो देश-भर में उस वस्तु को अकेला ही उत्पन्न करता है। इसी को ट्रस्ट कहते हैं।

प्रतिद्वंद्विता में किस प्रकार इन धंधों को चला सकते किंतु इसका उपाय है "सहकारी-समितियाँ"। डेन्मार्क में सहकारिता-आंदोलन का ही प्रताप है कि मक्खन का धंधा पनप सका। दो-तीन गाँवों में जितने भी दूध का धंधा करनेवाले किसान हैं, वे सदस्य बनकर एक समिति की स्थापना कर लेते हैं। वे अपनी सभा करके एक स्थायी सभापति और कार्य-कारिणी समिति को चुन लेते हैं। सभापति मक्खन के धंधे के एक विशेषज्ञ को नौकर रख लेता है। प्रतिदिन प्रातःकाल सब सदस्य अपना-अपना दूध समिति के दफ़्तर में ले आते हैं। विशेषज्ञ उस दूध की जाँच करके उतने दूध की रसीद दे देता है। जब सब दूध जमा हो जाता है, तो विशेषज्ञ वैज्ञानिक यंत्रों के द्वारा बढ़िया मक्खन बनाता है। यंत्र सहकारी-समिति ख़रीदती है। सभापति तथा कार्य-कारिणी समिति विज्ञापन आदि देकर अपने मक्खन के ग्राहक तैयार करती है। वर्ष-भर के अंत में जो कुछ लाभ होता है, वह सदस्यों में दूध के अनुपात से बाँट दिया जाता है। विशेषज्ञ प्रति सप्ताह सदस्यों के घर जाकर उनकी गायों को देखता है और उन्हें बतलाता है कि किस प्रकार दूध बढ़ाना चाहिए। जब गाय बीमार हो जाती है, तो वह इलाज भी करता है। इस प्रकार प्रत्येक अपने घर में रहकर, अपने बाल-बच्चों की सहायता से धंधा करता है और बड़े-बड़े कारख़ानों की प्रतिद्वंद्विता में सफल होता है। सहकारी-समिति भी एक बड़ा कारख़ाना ही है, किंतु उसमें बड़ी मिलों का दोष और पूँजीपतियों का ज़ोर नहीं है। इसी प्रकार इस देश में भी ग्रामीण धंधे पनप सकते हैं, आवश्यकता केवल प्रयत्न करने की है। इसी प्रकार प्रत्येक धंधे को सहकारी-समितियों के द्वारा चलाया जा सकता है।

अस्तु, भारतीय दरिद्रता को दूर करने के लिए आवश्यक है कि वैज्ञानिक ढंग से खेतीबारी हो, ग्रामीण धंधे तथा गृह-उद्योग-धंधे उन्नत किये जायँ तथा जिन वस्तुओं को गृह-उद्योग-धंधों के द्वारा उत्पन्न न किया जा सके अथवा जिसमें व्यापारिक दृष्टि से लाभ न हो, उसके लिए बड़े-बड़े कारख़ाने अवश्य खोले जायँ। क्रमशः उनकी स्थिति भी सुधारी जाय। इतना होने पर ही हम लोग इस भयंकर रोग से छुटकारा पा सकते हैं। देश की हितचिंतना करनेवाली किसी भी भावी सरकार के सामने यह सबसे बड़ी समस्या होगी।

पुस्तक-परिचय

मौर्य-वंशीय सम्राट्—लेखक और प्रकाशक, पं० रेवती-प्रसाद शर्मा, महोपदेशक, श्रीअखिल-भारतीय नाई-ब्राह्मण-महासभा, इटावा; पृष्ठ-संख्या ५५; मूल्य ।)

प्रस्तुत पुस्तिका में अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की गयी है कि मौर्यवंश के संस्थापक सम्राट् चंद्रगुप्त शुद्ध नाई थे । शर्माजी ने यह तो सिद्ध ही कर दिया है कि नाई ब्राह्मण हैं । तो फिर यह भी सिद्ध हो गया कि चंद्रगुप्त मौर्य ब्राह्मणवर्ण के थे । बहुत अच्छा; निम्न-जातियों का उद्धार यों ही होगा । कुछ जातियों का दावा है कि हम क्षत्रिय हैं, कुछ जातियाँ आगे बढ़कर अपने तईं ब्राह्मण समझती हैं । शिक्षा-प्रचार से यह विचार पुष्ट होते जायँगे । यह जातियाँ तभी तक नीची हैं, जब तक इनमें स्वयमेव निम्नता का भाव है । जब वह भाव जाता रहेगा, तब सभी जातियाँ ऊँची समझी जाने लगेंगी । यदि देश के ऐतिहासिक पुरुष दलितोद्धार का यही काम दें, तो क्या कम है !

× × ×

हमारा शासन—लेखक, श्रीजगन्नाथप्रसाद 'विरही'; प्रकाशक, छात्र-भंडार, लोहरदगा, राँची; पृष्ठ-संख्या १४२; मूल्य ॥-)

चार वर्ष पहले भारत में अँगरेज़ी-शासन की क्या अवस्था थी, प्रस्तुत पुस्तक में इसी का विवरण है । पुस्तक एक प्रकार की स्कूली पाठ्य-पुस्तक है, इसलिए इसमें विवादास्पद प्रश्नों पर तो विचार किया ही नहीं जा सकता था । केवल मोटी-मोटी बातों का ही उल्लेख हो सकता था, सो है । पुस्तक बालोपयोगी है ।

× × ×

भारतीय नागरिक—लेखक, श्री० भगवानदास केला; प्रकाशक, व्यवस्थापक, भारतीय ग्रंथमाला, वृंदावन; पृष्ठ-संख्या ११८; मूल्य ॥)

केलाजी ने कई उपयोगी पुस्तकें लिखी हैं। उनमें एक यह भी है । शीर्षक से तो यही मालूम होता है कि नगरवासियों की ही उन्नति इस पुस्तक का ध्येय है । परंतु बात ऐसी नहीं है । आपके 'नागरिक' शब्द के भीतर देहाती भी आ जाते हैं । यह यों कि नागरिक (Citizen) की परिभाषा है । प्राचीन यूनान ने ही राजनीति का पहला पाठ योरप को पढ़ाया । यूनानी राष्ट्र 'नागरिक राष्ट्र' (City States) ही होते थे, इसलिए उन राष्ट्रों के सदस्य 'नागरिक' कहलाते थे। अब राष्ट्र का क्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो गया है, पर राष्ट्र के सदस्य को प्राचीन परिपाटी के अनुसार अब भी नागरिक ही कहते हैं । मेरी समझ में यह परिभाषा तो विशेषतः इस देश के लिए असंगत-सी मालूम होती है । इन 'नागरिकों' को 'राष्ट्र के सदस्य' कहना अधिक ठीक होगा ।

नामकरण के विवाद को छोड़कर पुस्तक के विषय को देखें, तो सर्वसाधारण के जानने योग्य इसमें बहुत-सी बातें मिलेंगी । प्रत्येक नागरिक का यह धर्म है कि वह अपने कर्तव्य और अधिकार, दोनों समझ ले। इन दोनों बातों पर इस पुस्तक में यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । ऐसी पुस्तक का जनता में खूब प्रचार होना चाहिए।

कालिदास कपूर (एम्० ए०, एल्० टी०)

× × ×

गणेशशंकर विद्यार्थी—प्रकाशक, नवयुग-ग्रंथ-प्रकाशन-मंदिर, विद्यापीठ-रोड, बनारस-छावनी; पृ० २३३; मूल्य अजिल्द १।।), सजिल्द २)

शहीद-शिरोमणि गणेशशंकर विद्यार्थी संयुक्तप्रांत के एक उज्ज्वल रत्न थे। आपने युक्तप्रांत की ही नहीं, बल्कि दूसरे प्रांत-वासियों की सेवा के लिए भी जो त्याग और उद्योग किया, वह लोगों पर अच्छी तरह विदित है। पर युक्तप्रांतवासी तो आपकी सेवाओं के लिए ख़ास तौर पर आपके ऋणी हैं। अपनी छोटी उम्र से ही विद्यार्थी जी ज़ाती तौर पर तथा 'प्रताप' के द्वारा देश की सेवा में बराबर संलग्न रहे। देश और समाज-हित के लिए बड़ा-से-बड़ा त्याग करने में भी उन्हें कभी ज़रा-सी हिचक न हुई और अंत में लोगों की सेवा के लिए ही उन्होंने अपना बलिदान कर दिया। इसी वीर-पुंगव का यह जीवनचरित्र है। पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में (१) प्रारंभिक जीवन (२) अध्ययन और आत्मविकास (३) राजनीतिक जीवन (४) जेल-जीवन की झलक (५) कानपुर में प्रभाव (६) किसानों और मज़दूरों के बीच (७) पत्रकार विद्यार्थीजी (८) साहित्यसेवा (९) विद्यार्थीजी और नौजवान (१०) धार्मिक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन (११) कुछ बिखरी हुई बातें (१२) आत्मोत्सर्ग, तथा दूसरे भाग में विद्यार्थीजी के जीवन की सबसे बड़ी कृति 'प्रताप' का इतिहास है।

इस पुस्तक को पढ़कर पाठक विद्यार्थीजी के जीवन की सब बातों से अभिज्ञ हो जायँगे, तथा अनेक लाभप्रद बातें जानेंगे। मेरे ऊपर इस पुस्तक के पढ़ने से जो सबसे ज़्यादा असर पड़ा, वह यह कि एक मामूली-से-मामूली आदमी में भी अगर लगन, सचाई और साहस हो, तो वह अपने को बहुत आगे बढ़ा सकता है, नाम भी पैदा कर सकता और अपना जीवन भी सफल बना सकता है। विद्यार्थीजी ने अपने जीवन से इस बात को अच्छी तरह साबित करके दिखा दिया है। पुस्तक बड़े अच्छे ढंग से, रोचक शैली में, लिखी गयी है। कुछ बिखरी हुई बातें और आत्मोत्सर्गवाले अध्याय तो मुझे बहुत ही पसन्द आये। बिखरी हुई बातों में जीवन-संबंधी कुछ और वैसी ही बातें दी जातीं, तो अच्छा था। 'प्रताप' का इतिहास तो एक ऐतिहासिक चीज़ है, उसका कहना ही क्या। पं० जवाहरलाल नेहरू ने उसकी जो भूमिका लिखी है, उसे बार-बार पढ़ने से भी जी नहीं अघाता। पुस्तक में विद्यार्थीजी की विभिन्न अवस्थाओं और उनके परिवार-संबंधी ११ चित्र दिये गये हैं, और इस कारण उसकी सुंदरता तथा उपयोगिता और भी बढ़ गयी है। अगर पुस्तक में विद्यार्थी जी की हस्तलिपि का भी चित्र दिया जाता, तो बहुत अच्छा होता। पुस्तक बड़े मौक़े से निकली है और यह बहुत उपयोगी है। वैसे तो सभी को इस पुस्तक को पढ़ना चाहिए, पर देश के भावी भाग्य-विधाता नौजवानों और पत्रकारों से मैं ख़ास तौर पर अनुरोध करूँगा कि वे इसे ज़रूर पढ़ें। पुस्तक का काग़ज़, छपाई आदि अच्छी है।

गंगानाथ

× × ×

जननविज्ञान या गर्भाधान-रहस्य—लेखक, डाक्टर रामनारायणजी वैद्यशास्त्री एल्० एम्० एस्०, एम्० आर० ए० एस्० आदि; प्रकाशक, संतति-रहस्य-आफ़िस, बगिया मनीराम, कानपुर; आकार डबलक्राउन १६पेजी; पृष्ठसंख्या ६७६; दोनों भागों की सजिल्द पुस्तक का मूल्य ४।।); काग़ज़, छपाई-सफ़ाई एवं जिल्द आदि अत्युत्तम।

इस बीसवीं शताब्दी में मुद्रणकला के विस्तार के साथ-साथ अधिकांश व्यवसायी लेखकों तथा प्रकाशकों ने किसी भी भाषा के साहित्य को बेहद गंदा कर रक्खा है। साधारण जनसमाज तथा चंचलचित्त नवयुवक एवं नवयुवतियों की पतनशील अभिरुचि को लक्ष्य करके इधर कुछ दिनों से जिस प्रकार के साहित्य का निर्माण हो रहा है, उसे देखकर किसी भी सहृदय साहित्यसेवी को दुःख हुए बिना न रहेगा। "असली कोकशास्त्र" तथा गंदे उपन्यासों के विज्ञापनों के दर्शन तो प्रायः समाचार-पत्रों में हुआ ही करते हैं, किंतु समाज के वास्तविक कल्याण को लक्ष्य करके पुस्तक लिखनेवाले, उदार-हृदय, विद्वान् लेखकों की गणना उँगलियों पर ही की जा सकती है। इस अर्थ में मैं "जननविज्ञान या गर्भाधान-रहस्य" के विद्वान् लेखक को साधुवाद दिये बिना नहीं रह सकता। मुखपृष्ठ पर पुस्तक का नाम "जनन-विज्ञान या गर्भाधान-रहस्य" पढ़कर संभवतः कुछ लोगों को यह भ्रम हो सकता है

कि यह भी अश्लील साहित्य का एक अंग होगी; किंतु लेखक ने इस पुस्तक को लिखकर हिंदी-साहित्य-भंडार को वह अनुपम रत्न प्रदान किया है, जिसके द्वारा एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हो गयी है। यद्यपि संस्कृत-साहित्य में "जनन-विज्ञान" या "कामशास्त्र" के संबंध में अब भी कई उत्तमोत्तम ग्रंथ पाये जाते हैं, तथापि वे सूत्ररूप में एवं एकांगी होने के कारण साधारण जनसमाज के लिए विशेष लाभकारी नहीं सिद्ध हो सके हैं। विद्वान् लेखक ने कामशास्त्र-संबंधी संस्कृत, अँगरेज़ी तथा हिंदी में प्रकाशित कितनी ही पुस्तकों का गंभीर स्वाध्याय करके, अपने मौलिक विचारों के साथ-साथ उन पुस्तकों का अत्यंत उपयोगी सारभाग लेकर इस पुस्तक में भर दिया है। पुस्तक में प्रत्येक विषय का विवेचन वैज्ञानिक रीति से किया गया है। कामशास्त्र-संबंधी पुस्तक होने पर भी लेखक महोदय ने आदि से अंत तक जिस सफलता के साथ अश्लीलता को बचाकर लोकमर्यादा की रक्षा की है, उसके लिए हम उन्हें बधाई देते हैं। साधारणतः पुस्तक १० अधिकारों में विभक्त है—(१) जननेंद्रियाधिकार (२) ब्रह्मचर्याधिकार (३) सौंदर्याधिकार (४) विवाहाधिकार (५) प्रेमाधिकार (६) संतानाधिकार (७) गर्भाधानाधिकार (८) प्रसूताधिकार (९) शिशुपालनाधिकार (१०) रोगाधिकार।

पुस्तक का प्रत्येक अधिकार अन्वर्थक है। जिस अधिकार में जिस वस्तु या विषय का वर्णन किया गया है, उसके प्रत्येक अंग या उपांग के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। एक अधिकार को पढ़ लेने पर उसके संबंध में कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता है। इसके सिवा कितने ही आवश्यक विषयों को समझाने में पुस्तक की चित्रावली सोने में सुहागे का काम करती है। इन सभी अधिकारों में सौंदर्याधिकार, प्रेमाधिकार एवं रोगाधिकार, ये तीन अधिकार तो पुस्तक के प्राण हैं। सौंदर्याधिकार में सौंदर्यवृद्धि के लिए कितने ही अनूठे साधन और योग (नुसख़े) बताये गये हैं; प्रेमाधिकार में बहुत ही सुंदर और वैज्ञानिक रीति से "प्रेम" की परिभाषा देकर उसकी साधना के उपाय बताये गये हैं और रोगाधिकार में सुयोग्य लेखक ने अपने कितने ही अव्यर्थ और अनुभूत योग लिखकर जनता का बहुत बड़ा उपकार किया है। फलतः पुस्तक प्रत्येक दृष्टि से शिक्षाप्रद तथा उपादेय है। गार्हस्थ्य-जीवन को सुख-शांतिमय बनाने में यह पुस्तक बहुत बड़ी सहायता कर सकती है। शिक्षा-संस्थाओं में इस पुस्तक के पठन-पाठन की व्यवस्था होने पर नवयुवक तथा नवयुवतियों को जहाँ अपने चरित्र-निर्माण में बहुत अधिक सहायता मिलेगी, वहीं उनके भावी जीवन की सुंदर रंगस्थली भी सात्त्विक आमोद-प्रमोद के अभिनय से शून्य न रह पायेगी। भाषा सरल और प्रांजल है। चित्रों की संख्या भी पर्याप्त है। एक-दो चित्र कुछ अनावश्यक-से प्रतीत होते हैं। संस्कृत के श्लोकों में एवं अन्य कई स्थानों में प्रूफ़ की अशुद्धियाँ कुछ अवश्यमेव खटकती हैं। आशा है, अग्रिम संस्करण में यह त्रुटि भी दूर हो जायगी। मैं हिंदी-साहित्य के प्रेमियों से इस सुंदर पुस्तक को पढ़ने का अनुरोध करता हूँ।

गयाप्रसाद शास्त्री वैद्य

× × ×

दीपमालिका (कहानी-संग्रह)—लेखक, पंडित भगवतीप्रसाद वाजपेयी; प्रकाशक, भारती-पब्लिशर्स, पटना; मूल्य १॥)

दीपमालिका में लेखक की १७ कहानियाँ संकलित हैं। उनमें से हमें ५ कहानियाँ बड़ी सुंदर और सजीव प्रतीत हुईं। वे ये हैं—अन्ना, खिलौने, लाली, सपना, स्वप्नों का राज्य। इन कहानियों में मानव-हृदय की ग्रंथियाँ यत्र-तत्र बिखरी हुई दृष्टिगोचर होती हैं। पढ़कर पाठक के हृदय के कोमल तंतुओं पर करुणापूर्ण आघात होता है।

'अन्ना'-शीर्षक कहानी में एक रुदन है। वाजपेयीजी के शब्दों में जिस प्रकार कहानी स्नेहालोक प्रदान करती है, वह व्याख्या इस कहानी पर पूर्ण रूप से लागू होती है। कहानी के एक-एक शब्द से, चरित्र-चित्रण के एक-एक अंग से नैराश्य फूटा-सा पड़ता है। प्रतीत होता है, जैसे लेखक के हृदय का कोई सुकुमार भावुक कोना इस कहानी का प्रेरणा-स्थल है। करुण-रस की सुकुमार भावव्यंजना हमें 'मैं' महाशय के चरित्र-चित्रण में मिलती है; 'मैं' महाशय की भावात्मक कल्पनाओं और विचारों का बड़ा ही उत्कृष्ट स्पष्टीकरण देखने को मिलता है—युवावस्था की सुकुमार अनुभूतियों का सुंदर

चित्र खिंच जाता है। 'अन्ना' के चरित्र-चित्रण में एक सजीव तड़पन है। राजीव की डायरी से उसके वार्तालाप का जो मार्मिक वर्णन दिया है, उसके एक-एक शब्द से विदग्धता और भग्नता की अजस्र धारा फूट रही है। अन्ना का यह कथन—मुझे भूल जाना, मैं तुम्हारे प्रेम के योग्य न थी—हृदय में एक प्रकार की हलचल मचा देता है। कहानी पढ़ने के साथ ही हृदय में एक विषादात्मक कौतूहल की जागृति होती है। उसका निर्वाह बड़ा ही सुंदर हुआ है। कम-से-कम 'मैं' महाशय का चित्रण तो सर्वथा स्वाभाविक और भावपूर्ण हुआ है।

'सपना' कहानी में, एक विधुर हृदय के भावांदोलनों की मनोहर झाँकी सजायी गयी है। राधामाधव किस प्रकार कालिंदी की ओर आकृष्ट होता है और किस प्रकार उसकी सहृदयता, उसकी चेतना की विजय उसकी विरक्ति-पूर्ण भावनाओं पर होती है, इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। यमुना की मुख-मुद्रा का कालिंदी की मुख-मुद्रा में परिवर्तित हो जाना एक बड़ी ही ऊँची और स्पर्शी कल्पना है।

'खिलौने' कहानी में जो कुछ है, वह कहने की चीज़ नहीं। एक पतित और वेश्याराधक पुरुष की कथा है। वह अपनी पत्नी को पहाड़ी के ऊपर से ढकेल देता है, गहने का डिब्बा लेकर वेश्या को अर्पित करने जाता है; परंतु जब डिब्बा खोलता है, तो उसमें उसकी परलोकवासिनी बालिका के खिलौने निकलते हैं! इस कहानी में लेखक सब कुछ कहकर भी जो नहीं कहना चाहता, वह बड़ा ही मर्मस्पर्शी है। कहानी का अंत बहुत ही करुणात्मक है। एक अनंत वेदना का अवसाद पाठक के हृदय-क्षितिज पर छा जाता है। 'नंदिनी' के वात्सल्य की सततवाहिनी धारा कहानी के अंत तक प्रवाहित होती रहती है।

'लाली' कहानी पहलेपहल 'भारतेंदु' में छपी थी। इसकी शैली बड़ी सुंदर है। अपनी कथा को केवल कागज़ के टुकड़ों से कहने की कल्पना भी सुकुमार है। कहानी के 'मैं' महाशय 'रूपहीन' हैं, परंतु अपने कथनानुसार वह भी किसी को आकर्षक प्रतीत होते हैं! हाँ, कहानी में कथानक की मात्रा कम है, कवित्व ज़्यादा है। एक जगह पर 'मैं' महाशय के उद्गार कितने आत्मसंवेदक हैं। 'लाली' के मृत शरीर का स्पर्श हो जाने पर आप कहते हैं—

"हाय रे दुर्भाग्य! जीवित अवस्था में जिस शरीर का स्पर्श स्वप्न था, वही शरीर मृत अवस्था में मेरे द्वारा छू गया! जीवन के पथ में जिस शरीर के साथ कभी संयोग न हुआ, अब मृत्यु के पथ में उसके स्पर्श का यह संयोग! वाह री, विधाता, तेरी लीला!"

'मैं' महाशय का चित्रण बहुत ही सुंदर और कलापूर्ण है।

'स्वप्नों का राज्य'—कहानी भी एक सुंदर कहानी है। मंदा और मदन में प्रेम है। मदन एक संपादक और देशभक्त युवक है। वह जेल जाता है। वहाँ उसका स्वास्थ्य ख़राब हो जाता है। वह छोड़ दिया जाता है और दो महीने के बाद ही मर जाता है। मंदा भी उसी की भावना में अनुरंजित होकर जेल जाती है। कहानी में मंदा के अंतर्द्वंद्व की मनोवैज्ञानिक और भावात्मक व्यंजना अच्छी है।

वाजपेयीजी की लेखनी में लोच है, आकर्षण है और है पाठक के हृदय में एक अस्पष्ट हलचल पैदा कर देने की क्षमता। शैली, सजीव एवं मादक है। भाषा सुंदर है, भावों के साथ खेलती हुई, क्रीड़ा करती हुई चलती है। हमारी समझ में न तो भाषा प्रसादजी की कहानियों की तरह ऊँची, साहित्यिक, कहीं-कहीं जटिल और दुर्बोध एवं कवित्वमय होनी चाहिए, और न श्रद्धेय प्रेमचंदजी की भाँति अलंकारविहीन, सरल एवं जीवन के साधारण क्षणों में बोली जानेवाली। कहानी की भाषा प्रसादजी और प्रेमचंदजी के बीच की होनी चाहिए। उसमें अलंकार भी अपेक्षित है। न जाने क्यों हमें स्वर्गीय चंडीप्रसादजी 'हृदयेश' और प्रेमचंदजी के बीच की भाषा ही सुंदर तथा कहानी के योग्य समझ पड़ती है। परंतु प्रेमचंदजी की या प्रसादजी की भाषा में जो भावात्मकता और कलात्मकता है, उसे हम मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। वाजपेयीजी की भाषा भी वैसी ही है—बड़ी ही श्रुतिमधुर और सरस-सी। यहाँ हम उनकी भाषा का एक उदाहरण देंगे। 'लाली' कहानी में आप लिखते हैं—

"मनुष्य भला व्यथाओं की कहानी सुनने योग्य है। व्यथाओं की कहानी ही कहनी हो, तो कलकलनादिनी

मन्दाकिनी से कहिए, जो कुछ सुनती भी है, कुछ उत्तर भी देती है और कुछ करने को भी तैयार रहती है। कणिका के कणों-से कहिए, जो सदा हँसने के अभिलाषी होते हुए भी किसी की व्यथा सुनकर तत्काल रो पड़ते हैं। प्रभात-काल के पादपपुंज पर विहार करनेवाले पल्लव पर के मोतियों से कहिए, जो व्यथाओं के एक-एक उच्छ्वास-मात्र पर अनंत में मिल जाते हैं। या फिर विकसित सेवतीदलों से कहिए, जो स्पर्श-मात्र से सामने ही बिखर पड़ते हैं। मनुष्य व्यथाओं की कहानी सुनकर करेगा क्या?"

उनकी भाषा में साहित्यिकता और भावात्मकता के साथ-साथ प्रसादगुण का भी प्रस्फुटन होता है; अलंकार और सारल्य साथ-साथ खेलते हुए चलते हैं। इसीलिए व्यंजना भी उसकी समर्थ होती है। लेकिन अधिकांश कहानियाँ उनकी भावात्मक हैं। नैराश्य ही मानों विदग्धता, भग्न भावना की कूँची से चित्रित होकर कहानी बन गया है। उनकी कहानियों में कथानक तो कुछ कम रहता है, परंतु वे भावप्रधान होकर भी अपेक्षित अंश में चरित्र-प्रधान हो जाती हैं। इसी कारण वे कोमल भावनाओं को उद्वेलित करती हैं। परंतु इन कहानियों में कुछ कहानियाँ हमें ऐसी भी दिखायी देती हैं, जिन्हें कदाचित् वाजपेयीजी ने 'ज़बर्दस्ती' लिखा है। संभवतः संपादक-मित्रों के आग्रह ने ही उनसे लिखवाया है। ऐसी कहानियों में कोई विशेषता नहीं है, और इस प्रकार कहानीकला की दृष्टि से वे साधारण ही हैं। हाँ, जिन कहानियों का उल्लेख किया गया है, वे अवश्य ही कलात्मक और ऊँची हैं।

वाजपेयीजी ने अपनी 'मधुपर्क' की भूमिका में लिखा है कि उन्होंने "कहानियों के प्लाट जीवन और संसार की विराट् चित्रशाला से चुराये हैं।" किसी ने कहा भी है—

In fiction every thing is true except names and dates.

परंतु एक ही चीज़ की चोरी अच्छी नहीं होती। यदि संसार की विराट् चित्रशाला से वाजपेयीजी और प्लाट चुरावें, तो कदाचित् उनकी कला दूसरे ही रूप में प्रस्फुटित हो। जैसा कि उन्होंने अपनी 'लाली'-शीर्षक कहानी में लिखा है—'कहानी वही लिख सकता है, जिसके जीवन में एक व्यथा हो।' देखते भी यही हैं कि उन्होंने वेदना का चित्रण करना ही अपना ध्येय बना लिया है। परंतु यदि उनकी वेदना केवल दाम्पत्य-जीवन तक, प्रेम-संबंध तक ही सीमित न रह जाय, तो अच्छा है। हम उनके 'कहानी-लेखक' से अनुरोध करते हैं कि वह अपनी अनुभूति का क्षेत्र और व्यापक कर दें। अभी वह कुछ संकुचित है। अभी हम उनकी अधिकांश कहानियों में प्रेम का नैराश्य एवं प्रेम की ही वेदना चित्रित पाते हैं। यदि उनकी अनुभूतिमाला का सौरभ-क्षेत्र अधिक विस्तृत और व्यापक हो जाय, तो कदाचित् परिमल का प्रसार भी अधिक हो सकेगा। कहीं उनकी कहानियों में वे वेदनाएँ भी प्रतिध्वनित होने लगें, जो आज हमारे जीवन को हाहाकारमयी विभीषिका का केंद्र बना रही हैं, तो संभवतः वे अधिक चित्ताकर्षक हो जायँ। कारण, पेट की निराशा और भूख की ज्वाला तो प्रेम के नैराश्य से कहीं अधिक यंत्रणा-पूर्ण होती हैं।

परंतु इतना हम निस्संकोच कह सकते हैं कि वाजपेयी-जी ने निराशा और भग्न प्रेम की अनुभूति का जितना सुंदर चित्रण किया है, उतना हिंदी के किसी-किसी कहानी-लेखक ने ही किया है। संभव है, इसका कारण यह हो कि उन्होंने अपनी अनुभूति और प्रतिभा को वहीं तक सीमित रक्खा है।

फिर भी, यदि वह अपनी प्रतिभा को एक ही मानवीय व्यापार के चित्रित करने तक सीमित न रक्खें, तो उनमें 'कहानी-लेखक' का गौरव और बढ़ेगा। निश्चय ही उनकी कहानियों का क्षेत्र मानव-जीवन की अनुभूतियों और आंदोलनों का क्षेत्र बन जाय, तो वे अधिक सफल हो सकती हैं।

विद्यार्थी रामेश्वर शुक्ल (लखनऊ)

× × ×

कहानी कैसे लिखना चाहिए?—प्रणेता, मुंशी कन्हैयालाल एम्० ए०, एम्० आर० ए० एस्०; प्रकाशक इंडियन-प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या ६७; काग़ज़ छपाई-सफ़ाई सुंदर; मूल्य ॥)

हिंदी-संसार में साहित्य के सभी अंगों पर अनेकानेक सुपाठ्य ग्रंथ मौजूद हैं, और आये-दिन इनकी संख्या में निरंतर यथेष्ट वृद्धि भी होती ही रहती है।

यदि यह कहा जाय कि वर्तमान युग में इन सबमें कहानी-साहित्य अन्य विषयों की अपेक्षा ज़्यादा लोक-प्रिय समझा जा रहा है, तो कदाचित् अत्युक्ति न होगी। हर्ष का विषय है कि इसी कारण से वह (कहानी-साहित्य) विकास की ओर भी तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में कहानियों की अधिकता की बात तो जाने ही दीजिए, अधिकांश साप्ताहिक पत्र भी अब उनके बिना अपने को कुछ अंश में 'अधूरा-सा' अनुभव करने लग गये हैं, और प्रति सप्ताह एक-आध कहानी द्वारा अपने कलेवर को अलंकृत कर पाठकों के मनोरंजन करने का भी प्रयास करते रहते हैं। यहीं तक नहीं, लोक-रुचि की दृष्टि से अब तो दैनिक पत्र-संपादक भी कभी-कभी समाचारों के साथ-साथ एक-आध सामयिक गल्प प्रकाशित करने लगे हैं। तात्पर्य यह कि यह सब कहानी-साहित्य के उज्ज्वल भविष्य की सुंदर धारणा बँधाते हैं।

इसी दृष्टि से—यदि हम भूल नहीं करते तो—वर्तमान समय 'कहानी-युग' के नाम से पुकारा जा सकता है। यही कारण है कि जितनी पुस्तकें आजकल 'गल्प-संग्रह' के रूप में प्रकाशित होती हैं, उतनी अन्य किसी विषय की नहीं, और न मनोरंजन का इससे सरल और सस्ता साधन कोई दूसरा है ही। नाटक तथा उपन्यासों के लिए अत्यधिक समय चाहिए, जो आजकल के दिनों में सर्वसाधारण को प्राप्त होना दुष्कर है। ऐसी स्थिति में कहानी ही एक ऐसी वस्तु है, जो आवश्यकतानुसार पाठक का थोड़े ही समय में यथेष्ट मनोरंजन कर सकती है। घंटे-आध घंटे के अवसर में ही दो-चार कहानियाँ सुगमता के साथ पढ़ी जा सकती हैं। सफ़र के समय तो कहानी अकेले यात्री को मनोनुकूल साथी तक का काम दे सकती है, बशर्ते कि कहानी 'सफल कहानी' हो। यह कहने में भी संकोच नहीं कि जितनी कहानियाँ लिखी जाती हैं, उनमें प्रथम श्रेणी की सफल कहानियों की संख्या बहुत थोड़ी ही होती है। किंतु तो भी नवीन कहानी-लेखकों का इस दशा में अविरल प्रयत्न अभिनंदनीय एवं प्रशंसनीय ही समझा जायगा। आवश्यकता है उन्हें उपर्युक्त श्रेणी में पहुँचाने के लिए सुलभ और सरल मार्ग सुझाने की। किंतु खेद है कि ऐसा महत्त्वपूर्ण विषय हिंदी-साहित्य में सर्वथा उपेक्षणीय ही समझा गया नज़र आता है।

समालोच्य पुस्तक—लेखक के ही शब्दों में—इसी सदुद्देश्य को सामने रखकर लिखी गयी है। वास्तव में लेखक महोदय ने अपनी इस छोटी-सी पुस्तिका द्वारा उपर्युक्त अभाव की बहुत कुछ अंशों में पूर्ति कर दी है। कहानी के समस्त अंगों पर प्रकाश डालते हुए लेखक ने इस पुस्तक में सभी विषयों की संक्षिप्त किंतु सार-गर्भित और खोज-पूर्ण विवेचना की है। सफल कहानी-लेखक बनने के लिए इससे बहुत-सी आवश्यक बातें सीखी जा सकती हैं। इसमें संदेह नहीं कि नवीन कहानी-लेखक के लिए यह छोटी-सी पुस्तक पथ-प्रदर्शक का काम देगी। चूँकि लेखक महोदय स्वयं कहानी-लेखक और दो पत्रों के संपादक हैं, इसलिए उनके अनुभव और योग्यता ने इस छोटी-सी पुस्तक को और भी उपादेय बना दिया है। भाषा सरल, मुहाविरेदार तथा वर्णनशैली रोचक है। ऐसी उपयोगी पुस्तक लिखने के लिए सुयोग्य लेखक महोदय बधाई के पात्र हैं।

तारादत्त उप्रेती

× × ×

रस और अलंकार—लेखक, पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री; प्रकाशक, हिंदी-ग्रंथ-रत्नाकर—कार्यालय, बंबई। मूल्य ॥~)

प्रस्तुत पुस्तिका साहित्यसम्मेलन की 'मध्यमा' और महिला-विद्यापीठ की 'विदुषी' परीक्षा के लिए लिखी गयी है। रस और अलंकार का विवेचन सरलता-पूर्वक किया गया है और उदाहरण देने में शिष्टता एवं सुरुचि की सावधानी से रक्षा की गयी है। जिस उद्देश्य को सामने रखकर इस पुस्तिका की रचना की गयी है, उसमें शास्त्रीजी को अच्छी सफलता मिली है। मुझे

विश्वास है कि विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तिका सब प्रकार उपयोगी सिद्ध होगी। इस सत्‌श्रम के लिए शास्त्रीजी को बधाई !

× × ×

रति-विलास—अनुवादक, श्रीसंतराम बी० ए०; प्रकाशक, नारायणदत्त सहगल ऐंड संस आर्य-बुकडिपो, लोहारी-दरवाज़ा, लाहौर ; मूल्य १॥)

विलायत में डाक्टर मेरी कार्माइकल स्टोप्स कामशास्त्र की आचार्या मानी जाती हैं। उनका जैसा अध्ययन विस्तृत है, वैसा ही अनुभव भी। अपने सुदीर्घ अनुभव के आधार पर उन्होंने दांपत्य-जीवन को पूर्ण सुखी बनाने के लिए कई पुस्तकें लिखी हैं, जिनका खूब प्रचार एवं आदर हुआ है। मेरी स्टोप्स ने बहुत-सी ऐसी नवीन बातों की खोज की है, जिन्हें बड़े-बड़े धुरंधर डाक्टर भी नहीं जान सके। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने प्रकृति के रहस्यों को अधिक से अधिक समझने की चेष्टा की है। 'रति-विलास' मेरी स्टोप्स की ही एक पुस्तक का मर्मानुवाद है। विवाह हो जाने के कुछ वर्षों बाद दंपति के प्रेम में जो कमी दिखने लगती है और उसकी शिथिलता के फलस्वरूप जो कलह उत्पन्न हो जाती है, उनके निवारण के लिए इस पुस्तक की रचना की गयी है। ग्रंथकर्ता का कहना है कि केवल ज्ञान ही इन अप्रिय अवस्थाओं को ठीक कर सकता है। उनका विश्वास है कि इससे विवाहित सुख का आदर्श ऊँचा होगा और राष्ट्रीय रक्षा में जंगी जहाज़ों से बढ़कर इसका उपयोग सिद्ध होगा। प्रौढ़ावस्थावाले दंपतियों के लिए यह पुस्तक पढ़ने योग्य है। मेरा विश्वास है कि इससे उनकी बहुत-सी कठिनाइयाँ हल हो सकती हैं। इस ज्ञान का संयत और शिष्ट प्रचार लाभकारी सिद्ध होगा।

× × ×

विवाहित प्रेम—अनुवादक, श्रीसंतराम बी० ए०, प्रकाशक, श्रीराजपाल, अध्यक्ष सरस्वती-आश्रम, लाहौर; मू० १॥)

यह पुस्तक भी मेरी स्टोप्स की 'मैरिडलव' का हिंदी-रूपांतर है। यह उन युवक और युवतियों के लिए लिखी गयी है, जो हाल ही विवाह-बंधन में बँधे हों। ग्रंथकर्त्री के शब्दों में, इस पुस्तक में निरोग और स्वाभाविक युवक-दंपतियों को सुख की कुंजी मिलेगी। आध्यात्मिकता को लक्ष्य में रखकर स्त्री-पुरुष को दो देह एक मन हो जाने का जो विवेचन किया गया है, वह दोनों पुस्तकों को अश्लीलता से वंचित कर देता है। विलायती पुस्तकों में डाक्टरी अनुभवों की भी काफ़ी पुट है, विज्ञान तो है ही।

'चक्रपाणि'




उद्यान

१. कवि गंगानंद और उनका 'भृङ्गदूत'

'भृंगदूत' के रचयिता कवि गंगानंद मैथिल थे। इनका समय १६७३ विक्रमाब्द से लेकर १७१२ विक्रमाब्द तक है, जैसा कि उक्त 'दूत' के टीकाकार स्वर्गीय पं० चेतनाथ झाजी ने अपनी भूमिका में लिखा है। अन्य विद्वानों ने इस संबंध में कोई मत प्रकट किया है या नहीं, अथवा 'गंगानन्द' ने स्वयं अपना परिचय कहीं दिया है या नहीं, हमें इसका अधिक ज्ञान नहीं। 'काव्यमाला' (बंबई) में कवि का 'कर्णभूषणम्'-नामक एक अलंकार-ग्रंथ छपा है, जिसे महाराज 'लूणकर्ण' की आज्ञा से रचा हुआ बतलाया गया है; किंतु 'पंजी-प्रबंध' के अनुसार 'लूणकर्ण' के समय में 'गंगानन्द' का जन्म होना तक संभव नहीं जान पड़ता। लूणकर्ण का समय १५६२ से १५८३ संवत् तक है और 'गंगानन्द' १६७३ वि० में पैदा हुए, अतः 'काव्यमाला'-संपादक का मत भ्रमपूर्ण ही अनुमान होता है। वास्तव में 'कर्णभूषण' बीकानेर-महाराज कर्णसिंह की आज्ञा से रचा गया, जो १६८८ वि० में विद्यमान थे।

'गंगानंद' के पिता का नाम विश्वेश्वर मिश्र था। और वह सुप्रसिद्ध कवि 'रसमंजरी'-कर्ता 'भानुदत्त' के पुत्र 'भानुदत्त' के दौहित्र थे। अपने 'शृंगार-वनमाला'-नामक काव्य में इन्होंने उक्त विषय का ऐसा उल्लेख किया है—

भानुपौत्रीतनूजेन मिथिलादेशवासिना।
शृंगारवनमालेयं गङ्गानन्देन जायते ॥

पंडित गंगानन्द का 'पितृकुल' तथा 'मातृकुल', दोनों ही विद्वानों और कवियों के गुणों से भूषित थे। इनके मातामहादि सुख्यात पं० 'भवनाथ मिश्र' के वंशज थे और कवि गंगानंद पं० रायरघुनंदन के भ्रातृपुत्र। कवि के 'वासस्थान' का भी हमें पता नहीं। हाँ, 'मगहर' 'सरिसव'-नामक गाँव था—जो अब भी मौजूद है। 'गंगानन्द' ने अपने 'भृंगदूत' में इस गाँव का भी प्रशंसात्मक परिचय दिया है।

'गंगानन्द' अच्छे कवि थे। इनकी रचनाएँ मधुर और गुण-संपन्न हैं। इन्होंने चार ग्रंथ लिखे—

१—शृंगार-वनमाला, नायिकाभेद का ग्रंथ।

२—कर्णभूषण, रस-विषयक ग्रंथ।

३—काव्य-डाकिनी, काव्यदोष-प्रदर्शक ग्रंथ।

४—भृंगदूतम्, मिथिला-वर्णनात्मक खंडकाव्य।

हमने केवल 'भृंगदूत' पढ़ा है। अन्य पुस्तकों के देखने का सौभाग्य हमें नहीं प्राप्त हुआ। सुना है, 'काव्य-डाकिनी' कवि की सबसे बढ़िया रचना है। अस्तु। पं० चेतनाथ झा ने कवि की सहृदयता (सरसहृदयता) के प्रमाण में एक 'स्फुट' पद्य उद्धृत किया है। पाठकों के मनोरंजनार्थ उसे यहाँ दे देना उचित जान पड़ता है।

अन्यक्तं कुलकामिनीप्रणयवत् वाच्यादतीतं करा-
कृष्टाया निभृतं निषेधनवचोमाधुर्यवत् सुभ्रुवः।
निःसीमं तरुणीकुचोन्नतिरिवाद्वैतस्वभावं प्रिया-
श्लेषे पद्महशस्तनूरिव वयं वन्दामहे तन्महः ॥

'भृंगदूत' की एक प्राचीन प्रति 'ताड़-पत्र' पर लिखी हुई मिली है, जो १६१० शकाब्द की है।

काव्य का बाह्य रूप

'भृंगदूत' की जो मुद्रित प्रति हमारे सामने है, वह 'दरभंगा-महाराज' की आज्ञा से, उन्हीं के प्रेस की छपी है। साइज़ 'लंबकर्ण' है, और छपाई भी नेत्र-

रंजक नहीं। पं० चेतनाथजी ने इस पर 'रमेश्वर-प्रसादनी'-नामक टीका भी लगा दी है। मूल के साथ वह भी छपी है। 'कविपरिचय' संतोष-प्रद नहीं है। दाम इसका ॥) और पृष्ठ-संख्या १०७ है। मुखपृष्ठ पर निम्नलिखित 'पद्य' छपा है—

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे
स्मृता रसद्दालनयेव यत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि
स्वसेविनीमिव पवित्रयिष्यति ॥

यह उक्त काव्य के लिए सर्वथा लागू नहीं।

भृंगदूत' का कहीं से और कोई संस्करण प्रकाशित हुआ या नहीं, हमने इसकी खोज की, किंतु कोई संतोष-जनक परिणाम नहीं निकला।

कथा का सारांश

'मेघदूत' को देखकर ही 'गंगानंद' के हृदय में भी 'दूतकाव्य' रचने की प्रवृत्ति हुई, इसमें संदेह नहीं। अन्य कई कवियों ने भी 'पवनदूत', 'नेमिदूत' आदि इसी से रच डाले। 'भृंगदूत' में 'मेघदूत' की छाया विद्यमान है। कवि ने भगवान् कृष्ण को काव्य का नायक बनाया है। कथा का सारांश यह है—"भगवान् कृष्णचंद्र अपनी प्रियतमा राधा के वियोग से खिन्न और कामपीड़ा से व्यथित होकर नीलाचल पर आ बसे। किंतु वसंतऋतु की उद्दीपन-सामग्री ने उनके हृदय को और भी व्यथित कर दिया। अपनी यह दुरवस्था देखकर उन्हें प्रियतमा के अकथनीय कष्टों का ध्यान हुआ। अतः उसकी सांत्वना के लिए 'दूत' भेजने की आवश्यकता जान पड़ी। राधा के नेत्रों और भृंगों में बड़ी समानता है, अतः उन्होंने भृंग को ही संवाद-वाहक बनाकर भेजने का निश्चय किया। यद्यपि किसी सुचतुर को ही इस कार्य के लिए भेजना उचित था, तो भी कामज्वाला से जर्जर जिसका मन है, उसको यह सब विचारने की शक्ति कहाँ! अतः कृष्ण ने भ्रमर के समीप जाकर धीरे-धीरे उसे अपना संवाद सुनाना प्रारंभ कर दिया। पहले तो उन्होंने भ्रमर की प्रशंसा की और अपनी व्याकुलता बतलायी, और जब इससे छुट्टी पा चुके, तब दूर देश तक जाने में भी अपनी कोई सहायता न पहुँचा सकने के लिए पश्चात्ताप प्रकट किया। भोजन-दान में भी अपनी असमर्थता बतायी। फिर भ्रमर की मित्रता का सादृश्य दिखलाते हुए, उसके द्वारा स्वकार्य की अवहेलना न होने की आशा प्रकट की। वह जो कुछ कहें, भ्रमर कहीं उसे उनका प्रलाप न समझ बैठे, अतः अपने कथन की पुष्टि के लिए इन्होंने एक गवाह भी पेश कर दिया। भ्रमर को मथुरा जाना है, अतः कृष्ण ने उसके संबंध की कुछ बातें बतलाकर 'राधा' की अवस्था का भी दिग्दर्शन कराया। पथ-क्लेश न होने का भी दिलासा दिया। इसके बाद उन्होंने मार्ग बतलाना प्रारंभ किया। पहले तो भ्रमर को इस बात का भरोसा कराया कि मेरे उपकार के लिए तुम्हारे विदेश जाने पर 'अन्यान्यों' के द्वारा उसका भी उपकार होगा। पीछे 'कामाख्या' की स्त्रियों और वैभवों का वर्णन किया। इस प्रसंग में 'भ्रमर' को चेतावनी भी दी कि कोई-कोई वियोगिनी स्त्रियाँ अनुचित वाक्य-विन्यास से तुम्हें विचलित भी करेंगी, किंतु तुम उस ओर ध्यान न देना, न कामरूप के विविध मनोहारी दृश्यों पर लुब्ध होकर जाने में ही विलंब करना। इसके बाद 'ब्रह्मपुत्र' नदी का वर्णन प्रारंभ हुआ और भ्रमर 'कालभैरव' तक पहुँचाया गया। तदनंतर 'स्वर्ण-कौशिक'-नदी, कूचविहार होते हुए भ्रमर को 'तीर-भुक्ति' (मिथिला) जाने का आदेश मिला। इस बीच में 'ललितनगर', कूचविहार अवस्थित 'कालिकादेवी' आदि का वर्णन तथा 'कौशिकी' आदि का माहात्म्य भी भ्रमर को बतलाया गया। 'जतपीश्वर' महादेव के भी दर्शन की आज्ञा कृष्ण ने अपने दूत को दी। 'तीर-भुक्ति' शब्द का निर्वचन कवि ने निम्नलिखित श्लोक में सुंदरता से किया है—

गंगातीरावधिराधिगता यद्भुवो भृंगभुक्ति-
नाम्ना सैव त्रिभुवनतले विश्रुता तीरभुक्तिः।
भूमिं भित्त्वा समजनि सखे सीरकेतोस्तपस्या-
वल्ली यस्याममृतफलदा जानकीकैतवेन ॥

मिथिला-वर्णन कृष्ण ने खूब सांगोपांग सुनाया, सब गाँव के कवियों की अपूर्व प्रतिभा आदि का भी वर्णन किया और वहाँ जाने का भी अनुरोध किया। मिथिलास्थित कमला, वाग्वती आदि नदियों तथा राजधानियों आदि का खूब ही विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन कराया। इसके बाद 'भृंग' को गंगातीर, हरिहरक्षेत्र होते हुए पटने पहुँचाया है। पटने का खूब लंबा-चौड़ा

...भी किया है। इसके बाद कृष्ण को पुनः भ्रमर को मार्गसुख दिखलाने की आवश्यकता जान पड़ी है और उसे पूरा करके उन्होंने भृंग को 'काशी' और ... के माहात्म्य का परिचय कराया है। इसके बाद ...' का वर्णन है। 'वेनीमाधव' का भी ज़िक्र है। ... के बाद मथुरा का नंबर है। मथुरा-वर्णन के बाद ... के स्वभवन का निर्देश है और उसके बाद उनकी ...तमा के भवन का। वहाँ पहुँचने पर 'भृंग' राधा को पहचानने में भूल न कर सके, एतदर्थ राधा के अंग-... का वर्णन भी कृष्ण ने उसे बताया। वसंतसखा ... के कारण उसकी पहुँच 'राधा' तक संदेश-वाहक ... में हो सकेगी या नहीं, इस शंका का निवारण ... कृष्ण ने किया। इसके बाद जाकर उनके संदेश ... उपक्रम हुआ। कृष्ण ने अंत में यही संवाद ... दिया कि—

प्राणाः प्राणाः कमलनयने मां त्यजेयुः समन्ता-
दाशापाशैर्यदि न नितरां हन्त बद्धा भवेयुः ॥

"प्रियतमे! कमलनयने! मेरा प्राण तो तुम्हारे दर्शन के आशापाश में अटका है, उसी में बँधा पड़ा है। अगर ऐसा न होता, तो यह कभी का इस देह का परित्याग कर चुका होता।"

कविता के नमूने

'मेघदूत' के अनुकरण पर जो भी दूतकाव्य बने, उनमें मंदाक्रांता-छंद का ही समावेश किया गया। गंगानंद के 'भृंगदूत' में भी इसी वृत्त का आदर हुआ है। इससे काव्य की मधुरता बढ़ गयी है। रचना भी ...: प्रासाद-गुणपूर्ण और आलंकारिक है। जगह-जगह कवि की रसिकता और प्रतिभा का भी दर्शन होता है। कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

ईषद्धासव्यपगततमःसञ्चयाः पंकलाद्यः
पीयूषाब्धिं वचनरचनैर्लाघवं प्रापयन्ति।
यासां यत्र प्रियसख मुदा सुभ्रुवां पुष्पधन्वा
नित्यं नृत्यन्त्यधिकमधिकं दृष्टिरंगस्थलेषु ॥

"कामरूप देश की स्त्रियाँ थोड़ा-सा मुस्करा देती हैं, तो अंधकारसमूह का नाश हो जाता है और नयन-कमल विकसित हो उठते हैं। जब यह बोलती हैं, तो इनके वाक्य-विन्यास के आगे अमृत का समुद्र तुच्छ प्रतीत होने लगता है। सखे भृंग! इन कामिनियों की सुंदर भौंहयुक्त दृष्टि-रंगस्थली में कामदेव बेचारा तो नित्य ही अविराम गति से (अधिकाधिक) थिरकता रहता है।"

बालोद्यानस्फुटितकुसुमामोदभारापहारी
शैत्याधारी कृतरतपरिक्रान्तकान्ताङ्गयष्टिः।
यत्रोतुङ्गप्रचललहरीशीकरा-सारवाही
मन्दोत्साही जनयति सुखं तोरसा गन्धवाहः ॥

"तोरसा-नदी के उन्नत और चंचल जलकणों से टकरा-टकराकर चलने के कारण वहाँ के मलयानिल में अत्यधिक शीतलता है। साथ ही "बालोद्यानस्फुटित-कुसुमामोदभारापहारी" होने के कारण अत्यधिक सुगंध भी। अतः सुरत (सम्भोग) परिश्रान्त-क्लान्त नायि-काओं के लिए यह बड़े सुख की चीज़ है। इसके आलिंगन से उनके हृदय में शीतलता आ जाती है। साथ ही अपने स्पर्श से यह आलसियों के मन में भी उत्साह भर देता है और आलस्य को मार भगाता है।"

स्वप्ने दृष्टा त्वमथ हतया निद्रया विच्युतोऽहं
पश्यादेतद् भवनमखिलं शून्यमालोकयामि।
तस्माद्ध्यातुं मनसि भवतीं यावदिच्छाङ्करोमि
व्यूढो मोहः कमलनयने तावदेवाऽभ्युपैति ॥

"कमलनयने! स्वप्न में तुम्हें देखकर मेरी नींद खुल जाती है और घर सूना दिखायी पड़ता है। अतः मन-ही-मन तुम्हारा ध्यान करने की ज्यों ही इच्छा करने लगता हूँ, त्यों ही मेरी चेतना लुप्त हो जाती है और अपना सब ज्ञान-ध्यान भूल जाता हूँ!"

भाव-सादृश्य

'गंगानंद' ने केवल दूतकाव्य रचने में ही कविकुल-गुरु कालिदास का अनुकरण नहीं किया, उनके 'भाव' भी अपना लिये हैं। इससे उनकी पुस्तक की मौलिकता बहुत कुछ कम हो गयी है। 'चर्वित-चर्वण' में गंगानंद को कुछ उत्तमता जान पड़ी हो, पर हम तो नवीन कल्पना के अनुरागी हैं। स्वयं 'कालिदास' भी 'भृंगदूत' के बाद अलौकिक 'मेघदूत' की रचना करने से उस कीर्ति के कदापि भागी न होते, जो उन्हें आये दिन प्राप्त है। भाव-सादृश्य के कुछ नमूने दे देना आवश्यक जान पड़ता है।

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।

इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥
(मेघदूत)

दूतैरासैः परमकुशलैर्वाचिकं क्व प्रहेयं
वन्यो जन्तुः क्व च जडमतिश्चञ्चलश्चञ्चरीकः ।
इत्यस्मृत्वा स्मरशरहतिः श्रीपतिस्तं ययाचे
कामज्वाला भ्रमयति मनो देहिनो वा न कस्य ॥
(भृङ्गदूत)

जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः ।
तेनाऽर्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥
(मेघदूत)

पञ्चेषोस्त्वं मधुकर जगज्जेतुमेकोऽसि बाणः
प्रायः प्रायस्त्वमसि विदितः पुष्पकालस्य लक्ष्म्याः ।
ईहे किञ्चिद्विरहविधुरः प्रार्थितुं त्वत्सकाशात्
आशापूर्तिप्रथितयशसो यन्महान्तो भवन्ति ॥
(भृङ्गदूत)

यत्र स्त्रीणां प्रियतमभुजोच्छ्वासितालिङ्गनाना—
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः ।
त्वत्संरोधापगमविशदैश्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्ति स्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः ॥
(मेघदूत)

यत्रोद्यानस्तबककुसुमा मोदवन्तो वहन्तो
मन्दं मन्दं सरसिजमुखी केशपाशे लुठन्तः ।
स्नानम्लानाः सुभगयुवतीः प्रेरयन्तः प्रियेभ्यो
वेणीवाताः सुरतजनितक्लान्तिमुत्सारयन्ति ।
(भृंगदूत)

तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिंबाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः ।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः ॥
(मेघदूत)

धात्रा सृष्टं वदनमतुलं कल्पितो निष्कलंकः
शीतज्योतिर्व्यरचि चपला निश्चला कर्तुमङ्गम् ।
रक्तं मुक्ताफलमुपहितं दन्तसृष्ट्यै प्रियायाः
किन्नापूर्वं विरचनविधौ संविधानं व्यधायि ।
(भृंगदूत)

बाहू द्वौ च मृणालमास्यकमलं लावण्यलीलाजलं
श्रोणी तीर्थशिला च नेत्रशफरं धम्मिल्लशैवालकम् ।
कान्तायाः स्तनचक्रवाकयुगलं कन्दर्पबाणानलै-
र्दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मितम् ।
(शृंगारतिलकम्)

मध्ये नाभी ह्रद उरसिजश्चक्रनामा मृणालं
बाहुश्चक्षुः कमलममलं शैवलः केशपाशः ।
दृष्टिश्रेणीप्रचलशफरप्रौढनृत्यं व्यधायि
क्रीडाहेतोर्भ्रमर सरसी सा मनोजाधिपेन ।
(भृंगदूत)

'भृङ्गदूत' में कहीं-कहीं भावों की पुनरुक्ति भी दिखायी पड़ती है, जो कवि की 'दरिद्रता' का सूचक है, जैसे—

"व्यासासारीकृतमृगमदा यत्र योषा वसन्ति ।"
"तस्या नासाबहलसुरभिश्वासधाराधुरीणा ।"

गुण और दोष

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, उससे 'भृंगदूत' के गुण-दोषों का थोड़ा-बहुत परिचय पाठकों को मिल गया होगा। जगह-जगह मैंने इसके गुणों का उल्लेख किया है। मेरी सम्मति में 'भृंगदूत' की कल्पना सुंदर और समीचीन नहीं। उसमें अनेक दोष हैं। भगवान् कृष्ण को 'नीलाचल' पर लाकर तपस्या के लिये बिठला देना 'कारण-शून्य' और असंगत है। 'मेघदूत' का यक्ष 'शापेनास्तंगमितमहिमा' है। अतएव वर्षाकाल में वह अन्यत्र ही बसने के लिए लाचार है, एवं उसके दूतप्रेषण की सार्थकता सहृदय-हृदय-संवेद्य है। किंतु 'भृंगदूत' में यही कृत्रिमता का रूप धारण कर लेता है। 'यक्ष' नें तो 'मेघ' से स्वयं ही स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—

न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ।

अतः उसके अकृत्रिम प्रेम के प्रति संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती। किंतु 'भृंगदूत' में भगवान् कृष्ण का

"वर्षारम्भे स तु कुशलवानेष्यति त्वत्समीपम् ।"

संवाद पढ़कर अरुचि-सी होती है। मन में यह प्रश्न उठने लगता है कि 'इनका प्रेम प्रेम ही था या आडंबर? यदि प्रेम था, तो बेचारे 'वसंत' के उद्दीपनावसर में बेचारी प्रणयिनी को दर्शन न देकर कौन-से पुण्य लाभ की आशंका की थी! संभव है, इसके कोई

... रहे हों। पर उक्त 'दूत' में तो उसका कहीं ... नहीं है।

'कृष्ण' की वियोगावस्था का चित्र गंगानंद ने ... उचित नहीं समझा। राधिका के विरह से ... क्या परिवर्तन हुए, इस पर गंगानंद ने कुछ नहीं ... लिखा। इसी तरह राधिका का वर्णन भी उनके कष्टों ... परिचायक नहीं। एक जगह निम्नलिखित ... अवश्य है—

आस्ते यस्यामनुपमतनुर्जातविश्लेषबाधा
राधा साधारणनिवसना मद्वियोगव्यथाभिः ॥

'गंगानंद' का दृष्टिकोण कितना परिमित था, 'राधा साधारणनिवसना' ही इसका अच्छा परिचायक है।

'भृंग' को दूत बनाने की कल्पना भी व्यापक नहीं है, ... पर 'गंगानंद' ने 'कृष्ण' द्वारा दूत को संगी न दे ... का उल्लेख कराके रचना की स्वाभाविकता को कम ... दिया। 'भृंग' के साथी 'भृंग' क्यों नहीं बनाये जा सके—'भृंगों' का वहाँ इतना अभाव क्यों था, यह कौन ... सकता है?

'कृष्ण' विरह-व्यथा के कारण ज्ञान-ध्यानशून्य हो ... थे, अतः उन्हें चेतन-अचेतन या कुशल-अकुशल ... के भेद-भावों का परिचय नहीं रहा। 'गंगानंद' ने ... लिखा है—

कामज्वाला भ्रमयति मनो देहिनो वा न कस्य।

किंतु फिर भी 'गंगानन्द' ने निम्नपंक्ति लिखकर ... की उस तन्मयता और प्रमत्तावस्था को चारों खाने ... गिरा दिया—

मत्वा गत्वाऽन्तिकमतिमृदूवाच तं वारिजाक्षः।

'कालिदास' की तरह 'गंगानन्द' का भूगोल-ज्ञान महान् नहीं था। 'वैली' आदि कितने ही स्थानों का वर्णन 'भृंगदूत' में इसी से दिखायी नहीं पड़ता। ऐसा मालूम पड़ता है कि उच्च अट्टालिकाओं, राजधानियों और कामिनियों के वर्णन में ही कवि ने अपनी प्रतिभा की इतिश्री समझी है। प्रकृतिपर्यवेक्षण का उत्कृष्ट परिचय 'भृंगदूत' में नहीं मिलता।

'भृंगदूत' में छोटी-छोटी त्रुटियाँ भी बहुत हैं। एक उदाहरण लीजिए। स्वकार्य-साधनार्थ दूत की प्रशंसा में भगवान् कृष्ण ने 'भृंग' से—

पक्षेषोस्त्वं मधुकर जगज्जेतुमेकोऽसि बाणः।

कहा है, किंतु उसी 'काम के प्रधान बाण' के प्रति आगे चलकर—

क्रूरः कामो वपुरनुपुलं हन्ति बाणैर्मदीयम्।

भी कह दिया! अपने स्वामी के प्रति यह उदार वचन सुनकर 'भ्रमर' बेचारे के मन में उद्वेग होगा या नहीं, कवि ने इधर प्रायः ध्यान देने की भी आवश्यकता नहीं समझी।

एक जगह कवि ने लिखा है—

नत्वा काली कलुषदमनीं भक्तिपूतान्तरात्मा,
भ्रातर्जल्पीश्वरमनुसरेत देवमुद्दिश्य शीघ्रम्।

यह 'शीघ्रम्' बेचारा भी यहाँ बेढब फँसा है! इस 'शाही फ़रमान' का मतलब समझ में आना भी कुछ कम सौभाग्य की बात नहीं।

पं० चेतनाथ झा की 'रमेश्वर-प्रसादिनी' खूब सरल अतः उपयोगिनी है, किंतु पूर्ण पाण्डित्य की परिचायिका नहीं। प्रारंभ में आपने कुछ पद्यों के अलंकारों का भी उल्लेख कर दिया है, किंतु आगे इस नियम के पालन की आवश्यकता नहीं समझी। यह क्यों? इसका कारण गुम है। कहीं-कहीं आपकी टीका में भी 'विलक्षणता है।

भगवान् कृष्ण भ्रमर से जो कुछ संवाद कह रहे थे, वह उनका प्रलाप नहीं है, यह जताने के लिए कवि ने एक गवाह की भी सृष्टि कर दी। किंतु यह मोटी-सी बात उनके ध्यान में नहीं आयी कि यदि 'राधिका' उन संवादों और भ्रमर के 'कृष्ण-दूत' होने में संदेह प्रकाश करेगी, तो बेचारे 'भृंग' किस तरह उनका समाधान करेंगे!

'मेघदूत' में 'मेघ' के द्वारा 'यक्ष' की व्यथा सुनकर, उसके प्रभु के करुणार्द्र होकर शापमुक्त करने और समय से पहले ही 'यक्ष' के अपनी प्रेमिका से आ मिलने का मधुर वर्णन है, जो 'काव्य' की सार्थकता को सिद्ध करता हुआ हृदय पर बड़ा असर करता है। किंतु 'भृंगदूत' का 'भृंग' बेचारा मधुपुरी तक पहुँचा भी या भटकता ही रहा—इसके लिए अनुमान लड़ाने पर भी कोई समाधान नहीं होता। इससे उक्त 'दूत' के प्रति कुछ सहानुभूति भी नहीं उत्पन्न होती।

साधारणतः 'काव्य' अच्छा है और पढ़ने में कुछ-न-कुछ आनंद मिलता ही है। इतना ही लिखकर मैं अपने लेख को समाप्त करता हूँ और अंत में गंगानंद की ही दो पंक्तियाँ पाठकों को भेंट देता हूँ—

कुञ्जे कुञ्जे मधुकर पिवन् पौष्पमाध्वीकधाराः
सम्प्रोत्फुल्लत्सुरभिकुसुमालोकनासादितश्रीः ॥

श्रीभुवनेश्वरसिंह 'भुवन'

× × × ×

२. गीत

विश्व के विपुल शून्य के बीच !
विजन के अन्ध-ध्वान्त में प्राण !
उड़ाकर पर्णों को पवमान,
तुम्हारी मृदु-पद-ध्वनि का भान—
कराता है कर्णों को खींच !

× × ×

चपल चंचल अंचल परिधान,
पकड़ बिखरे कुन्तल गतिमान,
उठाती हूँ दीपक म्रियमाण !
सजग हो अलसित पलकें मीच !

× × ×

किन्तु यह कुलिश-हृदय पवमान
कहाँ से आया निजशर तान—
बेधने कोमल दीपक - प्राण !
दिया जग में तम-कीच उलीच !

श्रीचंद्रदत्त पाण्डेय

× × ×

३. पिंजड़े का तोता

मुझे दिन में दो-चार बार दूध-रोटी मिल जाती है और दाँतों से कुतर-कुतरकर खाने के लिए एक-आध कच्चा अमरूद भी। एक मिट्टी का प्याला हर समय पानी से भरा हुआ मेरे पास रक्खा रहता है। जब मुझे इच्छा होती है, तभी खाता हूँ और जब चाहता हूँ, तभी पानी पीकर प्यास बुझा लेता हूँ। मुझे खाने-पीने की कोई तकलीफ़ नहीं है।

जिस घर में मेरा पिंजड़ा टँगा है, उसमें कई स्त्रियाँ, बच्चे और पुरुष हैं। काफ़ी बड़ा परिवार है। दिन-भर खूब चहल-पहल रहती है। घर में आने-जानेवालों की निगाह सबसे पहले मेरे ऊपर पड़ती है। मुझे देखकर कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। कोई कहता है—तोता देखने में तो अच्छा मालूम पड़ता है, कुछ बोलता भी है कि नहीं ? बूढ़ी दादी मेरी तारीफ़ कर लोगों से कह देती हैं कि यह खूब पढ़ता है। इसके मुँह से दिन-भर 'राम' का नाम सुनने को मिलता है !

बूढ़ी दादी सबेरे चार ही बजे से मुझे जगाकर पुकारने लगती हैं—"पट्टे, पढ़ो राधाकृष्ण ! राधाकृष्ण !" उनके साथ ही मैं भी बोलने लगता हूँ—

चित्रकूट के घाट में, भइ संतन की भीर,
तुलसिदास चंदन घिसें, तिलक देत रघुबीर।

बड़े लड़के से पहर-भर दिन चढ़े तक मेरा यही काम रहता है। बूढ़ी दादी ने मुझे तुलसी, कबीर आदि संतों के दो-चार दोहे रटा दिये हैं। बस, उन्हीं दोहों को दुहराते रहने से मैं घर-भर के मनोविनोद की सामग्री बन गया हूँ।

बूढ़ी दादी मेरे खाने-पीने का बहुत ख़याल रखती हैं। वह दिन में अक्सर एक पीढ़े पर बैठी हुई हुक्का गुड़गुड़ाया करती हैं। जब कभी उन्हें मेरी कोई प्याली ख़ाली दिखती है, तभी पुकार उठती हैं—"अरे, यह पट्टू प्यासा होगा, इसकी प्याली में पानी भर दो। अरे, इसकी प्याली में ज़रा दूध-रोटी मिलाकर छोड़ दो!" असल बात यह कि घर-भर में मेरे खाने-पीने का जितना ध्यान बूढ़ी दादी को है, उतना और किसी को नहीं।

बूढ़ी दादी से मैं बहुत हिल गया हूँ। उनका ज़रा इशारा पाते ही मैं "हरे कृष्ण, गोपीकृष्ण" आदि की झड़ी लगा देता हूँ। यदि कोई आदमी मेरे पिंजड़े के ऊपर अपनी उँगली रख देता है, तो मैं अपने तेज़ दाँतों से उसे कुतरकर खून निकाल देता हूँ। पर बूढ़ी दादी की उँगली मैं कभी नहीं काटता। सच बात यह है कि हम दोनों ही को एक दूसरे के प्रति स्नेह और ममता हो गयी है।

मेरा पिंजड़ा लोहे की मज़बूत पत्तियों का बना है। मेरा खाना-पीना, सोना-बैठना सब कुछ इसी पिंजड़े की चहारदीवारी के भीतर होता है। खाना-पीना, राम-नाम लेना और दिन-भर पिंजड़े की चहारदीवारी में इधर-से-उधर चक्कर काटना, यही मेरा काम है। मेरी दुनिया यही पिंजड़ा है; बाहरी दुनिया से मैं बिलकुल अलग हूँ। ....

जब से मैं इस पिंजड़े की दुनिया में आया हूँ, तभी से मेरा बाहर चलना-फिरना और उड़ना बन्द है। मेरा खाना-पीना, सोना-बैठना सभी कुछ दूसरों की दया पर निर्भर है। अपनी इच्छा से पिंजड़े के बाहर निकलकर तो मैं साँस तक नहीं ले सकता। यही कारण है कि मैं अपने इस जीवन से सुखी और संतुष्ट नहीं हूँ।

पिंजड़े में बंद रहने के कारण मेरी दशा एक क़ैदी से भी गयी-बीती है। क़ैदी पकड़कर जब जेल में ले जाया जाता है, तब हथकड़ी-बेड़ी से उसके हाथ-पैर जकड़ दिये जाते हैं। मैं जब अपने घोंसले से पकड़कर इस पिंजड़े में बंद किया गया था, तब मेरे पैर में भी पीतल की एक ज़ंजीर पड़ी हुई थी। इसीलिए तो कहता हूँ कि मेरा जीवन बिलकुल पराधीन है, मेरी दशा एक क़ैदी से भी गयी-बीती है।

दिन-रात में एक-दो बार नहीं, बीसियों बार मेरे कलेजे में एक हूक उठती है। यहाँ की दूध-रोटी मेरे कलेजे में शूल की तरह चुभती है! अपने मुँह से परवशता में लिया हुआ 'राम-कृष्ण' का नाम डंक-सा मारता है! क्यों—इसलिए कि मैं पराधीन हूँ। दूसरों के दिये हुए टुकड़ों पर मेरा पापी पेट भरता है। मैं पिंजड़े का तोता हूँ! मेरा पिंजड़ा अगर सोने का हो, तो भी मुझे काटने को दौड़ेगा! शायद मेरी ही दशा पर तरस खाकर किसी कवि की लेखनी से निकल पड़ा होगा—

पराधीनता दुख महा, सुख जग में स्वाधीन ;
सुखी रहत शुक बन बिसे, कनक पींजरे दीन।

स्वाधीनता! ओह इस शब्द ही में अमृत भरा है! मिश्री घुली है! स्वाधीन जीवन के सामने स्वर्ग का सारा सुख तुच्छ जान पड़ता है। वैभव, शक्ति और सत्ता के मद में बेहोश पड़ी हुई बेवकूफ़ दुनिया! स्वाधीन जीवन का आनंद तू क्या जाने! वह सुख तो गगन-विहारी विहङ्ग-गण के भाग्य में बदा है। स्वाधीन जीवन के आनंद का उपयोग तो बल्कलवसन-धारी ऋषि-मुनि करते हैं, अथवा उन्हीं के आश्रमों की छाया में आश्रय पानेवाले अनेक जीव-जन्तु। वन में स्वच्छंद विहार करनेवाली छोटी-छोटी चिड़ियों से लेकर बड़े-बड़े हिंसक पशु मृगराज तक स्वाधीन जीवन का आनंद लूटते हैं और प्रतिक्षण स्वतंत्र वातावरण में गौरव से ऊँचा मस्तक करके विचरते हैं।

स्वाधीन जीवन की अतीत स्मृति की एक धुँधली-सी छाया मेरे हृदय पर आज भी अंकित है। इस पिंजड़े से बाहर की मेरी दुनिया सचमुच निराली थी। उस निराली दुनिया में स्वार्थ-लिप्सा, झूठ, छल, कपट आदि का बाज़ार गरम न था। लूट-मार की धूम न थी। ज़ोर-ज़ुल्म का नाम न था—चारों ओर हरा-भरा उद्यान था। वह हरा-भरा सुखद वायुमण्डल सचमुच स्वर्गीय था। वहाँ मैं और मेरे सैकड़ों साथी मस्त होकर घूमते थे। जब मन में आता, तब खाते-पीते। जब जहाँ जी चाहता, वहीं स्वच्छंदता से विचरते। उस स्वर्गीय जीवन के साथ आज के पिंजड़े के नारकीय जीवन की तुलना ही क्या!

मैं वन-विहारी था और गगन-विहारी भी। बचपन और जवानी दोनों ही की उमङ्गें मैंने देखीं। नया हृदय था और नया जोश। प्रतिक्षण हृदय में नयी-नयी आशाएँ उमड़ती रहती थीं। उस जवानी के जोश में मैं जी-भर कर उड़ता और तरह-तरह की क्रीड़ाएँ करता रहता। मेरी पहुँच दूर-दूर तक थी। नदी, नद, पहाड़, तराई, घाटी आदि सभी स्थानों की मैंने सैर की। पहाड़ी प्रदेश के घने वन मुझे बहुत पसंद थे। वहाँ चारों ओर प्रकृति-देवी की नैसर्गिक छटा छायी हुई थी। पर्वतमालाओं के ऊपर प्रातःकाल सूर्य की सुनहली रश्मियों की अद्भुत प्रभा का प्रसार होता था। कहाँ वह अनुपम स्वर्गीय दृश्य, और कहाँ आज का पिंजड़े की चहारदीवारी का नारकीय जीवन—दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है!

पराधीन जीवन से तो मृत्यु अच्छी है। मैंने कभी स्वप्न में भी न सोचा था कि जीवन के अंतिम क्षण इस पिंजड़े में बंद रहकर काटने पड़ेंगे। यदि मुझे इस हीन दशा का कुछ भी अनुभव होता, तो बंदी बनकर यहाँ आने के पहले ही, किसी तरह अंतिम अमर श्वास ले लेता। मेरे साँई! जीवन की चढ़ती कला में वह स्वर्गीय पवित्र वातावरण दिखाया, और अब अंतिम वेला इस पिंजड़े की चहारदीवारी में ला पटका।

जी चाहता है, किसी तरह इस पिंजड़े की चहारदीवारी को तोड़, अपने उसी स्वर्गीय वन में उड़कर जा पहुँचूँ और एक बार फिर प्रकृति देवी की गोद में

बैठकर बाल-क्रीड़ा करने लगूँ । हृदय की सरिता में उमङ्गें उठ रही हैं कि एक बार फिर बुढ़ापे में जवानी का जोश दिखा दूँ और जंगल में किसी आम की डाल पर कोयल की 'कुहू-कुहू' की मीठी तान के साथ मस्ती में थिरक थिरककर नाचने लगूँ। उस वन-वैभव पर सचमुच संसार की सारी विभूतियाँ न्योछावर हैं । यहाँ की दूध-रोटी की मिठास जंगल के फल-फूलों की मिठास के सामने फीकी है । यदि बूढ़ी दादी उस स्वर्गीय वायु-मण्डल में एक क्षण के लिए भी जा पहुँचें, तो आत्म-विस्मृति के आनंद में विभोर हो उठेंगी। उनके रोम-रोम से राम का नाम निकल पड़ेगा । उस वनस्थली में सचमुच वह वृक्षों के पत्ते-पत्ते पर खचित 'रामकृष्ण' का दर्शन कर सकेंगी ।

इसी भावना से प्रेरित होकर एक दिन मैं पुकार उठा—अरी, ओ बूढ़ी दादी ! एक क्षण के लिए मेरे पिंजड़े का द्वार तो खोल दे । मैं तुझे उस सुरम्य वन-स्थली में, उस स्वर्गीय राज्य में प्रवेश करने का रास्ता बता दूँगा, जहाँ पहुँचकर कण-कण में तू रामकृष्ण का दर्शन कर सकेगी । जहाँ चारों दिशाओं में 'रामकृष्ण, 'रामकृष्ण' की पवित्र ध्वनि गूँजती हुई सुनायी देगी । फिर तुझे रोज़ सवेरे उठकर मुझे राम-नाम का पाठ रटाने की तनिक भी ज़रूरत न पड़ेगी ।

बूढ़ी दादी, मेरी पुकार के साथ ही स्वयं भी पुकार उठी—अरे, यह तोता प्यासा है, प्यास के मारे बेचैन होकर पुकार रहा है, कोई इसकी प्याली में पानी भर दो ।

मैं सचमुच प्यासा हूँ, मुझे बड़े ज़ोर की प्यास लगी है । इसी से मैं बेक़रार हूँ । परन्तु मेरी प्यास, महज़ मेरी प्याली में पानी भर देने से, नहीं बुझेगी । मुझे स्वाधीनता के अमृत की प्यास लगी है, इस बात का मर्म भला बूढ़ी दादी क्या समझे !

"प्रमोद"

× × ×

४. नम्र निवेदन

(१)

जपती रही हूँ एक तेरा नाम अंबे ! सदा,
तेरे ही प्रताप सों फली हूँ और फूली हूँ ;
नाश अरि-मंडली बनाया है निशंक तूने,
तेरे प्रेम-पालने में भूली और भूली हूँ।
दीनजन जान निज भक्त उर कंठ लाती,
भक्ति की तुला में तेरी तूली और तूली हूँ ;
भूल में न जाना अखिलेश्वरी ! मो भूल जो पै,
तोहिं मैं अनेक बार भूली और भूली हूँ।

(२)

चंद्र रवि दोनों लिये आरती खड़ी हूँ, और
हृदय समीप मेरे तुम बिन दूजा को।
पुष्प वन-वाटिका से मंदिर सजाया किया—
चरण पखारने को तरणि-तनूजा को।
विश्व में रचाया खग-वृंद वंदना के लिए,
नाद में बनाया पुनि सिंहनाद गूँजा को;
आनन निहारती हूँ तेरा निशि-वासर मैं,
प्रकृति-पुजारिन खड़ी हूँ मातु पूजा को।

"चंद्रकला"

× × ×

५. अबलाओं पर प्रबल पुरुषों के अत्याचार

(गतांक से आगे)

पर्दा-प्रणाली

अब इस पर्दा-प्रणाली द्वारा स्त्रियों पर जो अत्याचार किये जाते हैं, उन्हें भी सुनिए। कहा जाता है कि जिस समय समाज में पर्दा-प्रणाली का प्रचलन नहीं था, अर्थात् जिस समय सभी स्त्री-पुरुष स्वच्छंदतापूर्वक अपनी आवश्यकता के लिए सर्वत्र आ-जा सकते थे, उस समय विधर्मी दुराचारी आकर हमारी मा-बहनों पर जघन्य अत्याचार कर डाला करते थे। अतएव इस प्रबल अत्याचार को समूल निर्मूल करने के लिए ही पुरुष-समाज-पतियों ने पर्दा-प्रणाली का आविष्कार कर शांति स्थापित करना चाहा था । परंतु हमारी समझ में उनका ऐसा करना, उनकी शक्ति-हीनता तथा अदूरदर्शिता प्रकट कर रहा है। क्या सचमुच उन लोगों की यह कमज़ोरी नहीं है! उन लोगों ने तो इसी विचार से न ऐसा किया था कि वे दुराचारीगण जब हमारी मा-बहनों को देखेंगे ही नहीं,

पर अत्याचार कैसे करेंगे। इसलिए नाहक में झगड़ा कौन मोल ले। अस्तु, हम ऐसे कमज़ोर हो जायँ कि हमसे कोई लड़ना ही न चाहे, क्या इसी सिद्धांत को लेकर उन लोगों ने पर्दा-प्रणाली को जन्म दिया था? तात्पर्य यह कि उस समय हमारा समाज दुराचारियों को दंड देने में कुछ अपनी असमर्थता दिखला रहा था। तथा चोरों के डर से अपने धन को वसुंधरा के अभेद्य गर्त में गाड़ देना—जिसका कभी निकालना भी एक दुष्कर कार्य है—कर्तव्य-हीनता तथा कमज़ोरी नहीं है? किसी उपद्रव को दबाने के लिए दो अमोघ अस्त्र हैं—प्रथम यह कि उपद्रवकारियों की मनोवृत्ति बदल दी जाय, और दूसरा यह कि उनकी उपद्रवकारिणी सारी शक्ति का ही नाश कर दिया जाय। परंतु समाज के कर्णधारों ने इन दोनों में से किसी को भी अच्छा नहीं समझा। वे एक तीसरा ही निकृष्ट उपाय, अपनी ही शक्ति का ह्रास कर अथवा स्वयं दब्बू बनकर, सुख से रहने का सोच रहे थे। उन्हें और सूझता ही क्या? क्या ऐसा करने से दुराचारियों के उत्साह बढ़े नहीं होंगे? महाकवि शेक्सपियर ने कहा है कि अपने शत्रुओं से डरना उनके उत्साहों को बढ़ाने के लिए पर्याप्त है। अतएव समाज को अविराम युद्ध करते-करते अपने प्राण दे देना ही उचित था, अन्यथा अपना हृदय-दौर्बल्य तथा उत्साहक्षीणत्व दिखलाकर अपनी ही भयंकर हानि करना महाअधर्म था। देखिए, महात्मा भर्तृहरिजी ने वीरत्व और मान के विषय में क्या कहा है—

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्रायोऽपि कष्टां दशा-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥
मत्तेभेन्द्रविभिन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्धस्पृहः
किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥

अर्थात् भूख के मारे दुर्बल, वृद्धावस्था से क्लेशित, शक्तिहीन, कष्ट की दशा को प्राप्त, तेजहीन तथा नष्टप्राय होने पर भी क्या मत्तगजेंद्र के विदारे हुए मस्तक के मांस-पिंड का सर्वदा अभिलाषी, मान से महान् अग्रगण्य, सिंह सूखी घास खा सकता है?

एक स्थान पर इसी महात्मा ने यह भी कहा है—"अपने प्राणों को युद्ध करते-करते त्याग देना अच्छी बात है, परंतु अपने प्रबल-शक्ति-धर शत्रु से भी डरकर मुख मोड़ना महा निकृष्ट कर्म है।"

जिस दिन से उपर्युक्त सिद्धांत के विरुद्ध पर्दा-प्रणाली चलायी गयी, उसी दिन से स्त्रीजाति में वीर-रमणी-गण का अभाव-सा होने लगा, अर्थात् हमारा एक अंग बिलकुल ही शक्तिहीन हो गया। इधर उस दुर्बलता के कारण दुराचारी-समूह की उत्साह-वृद्धि हुई। मनःशास्त्र का यह सिद्धांत है कि मनोवृत्तियाँ रोकने से और बढ़ती हैं। इसके अनुसार यदि अत्याचारी हमारे घरों में प्रविष्ट हो हमारी बहनों पर अत्याचार करते, तो क्या उनसे डरकर कन्याओं की उत्पत्ति ही रोक दी जाती, अथवा उनका—कन्याओं का नाश कर दिया जाता, अथवा इसके विरुद्ध दुराचारियों से, प्राणों को हथेली पर रख, संग्राम करना पड़ता? यदि कहिए कि उन अत्याचारियों को दंडित करने के लिए अवश्य ही कमर कसना पड़ता, तो फिर इसके विरुद्ध ही क्या अपनी मा-बहनों को पिंजड़े में बंद करने की चाल चलायी गयी?

अब ज़रा पर्दा-प्रणाली से होनेवाली हानियों को भी देखिए—

क—पवित्रता का नाश

ख—स्त्रियों की अज्ञान-वृद्धि

ग—स्वास्थ्य की भयंकर हानि

घ—दुराचारियों की उत्साह-वृद्धि

पवित्रता का नाश

जैसे बिना आधार के आधेय स्थिर नहीं रह सकता, उसी प्रकार बिना दिव्यादर्श को देखे पवित्रता का जन्म नहीं हो सकता; क्योंकि जब तक उसकी निर्मल ध्वनि किसी के कानों में नहीं पहुँचेगी, जब तक उसकी दिव्य-सौंदर्य-राशि किसी के चक्षुओं को प्रभा-पूर्ण नहीं करेगी तथा जब तक उसकी तेजस्विता अपनी अमोघ शक्ति के संयोग से जड़ और मृतक को चंचल तथा जीवित न कर देगी, तब तक उसके सभी दिव्य गुण व्यर्थ हैं। और, उपर्युक्त बातें तभी हो सकती हैं, जब भावुक-जगत् की ज्ञानेंद्रियाँ उस गुण-मय वस्तु के दिव्य गुणों से स्वच्छंदता-पूर्वक अपना संबंध स्थापित करें। पर्दा-प्रणाली के हो जाने से हमें किसी भी स्त्री के दिव्य गुणों के जानने के लिए कोई अवसर नहीं मिलता, और न स्त्री ही हमारे किसी गुण के विषय में कुछ जान

सकती है। दोनों इस दिशा में साधन-विहीन हो जाते हैं। तब स्त्री और पुरुष के गुणों का विनिमय कैसे हो सकता है।

आश्चर्यजनक बात तो यह है कि स्त्रियों को अपने श्वसुर आदि के सामने भी पर्दा करने की शिक्षा पुरुषों द्वारा दी जाती है। उसी बात को आगे चलकर किसी प्रकार स्त्रियों ने भी स्वीकार कर लिया और वे पुरुषों के ही स्वर में अपना स्वर मिलाकर पर्दा-प्रणाली का अनुमोदन करने लगीं, यद्यपि उन लोगों के ऐसे कृत्य अज्ञानता से ही होते हैं। यदि कोई स्त्री शिक्षित हो जाय, तो उन कार्यों को करने के लिए न तो स्वयं ही कभी प्रस्तुत होगी, न दूसरों को करने देगी। क्या पति के ज्येष्ठ भ्राता से, श्वसुर के भाइयों से तथा कितने ही ऐसे आदरणीय पुरुषों से स्त्रियों को पर्दा करने में कोई लाभ है? ये पुरुषगण क्या इतने अंधे हैं कि अपनी पुत्रीतुल्य किशोरियों को कुभावना की दृष्टि से देखेंगे? क्या समाज इतना विषय-प्रमत्त है कि पुत्रीतुल्य स्त्रियाँ भी उसकी आँखों के सामने से गुज़रने में अपना सर्वस्व-संहार ही समझती हैं? यदि हमारे समाज के पुरुष इतने पतित हो गये हैं, तो वे अपनी मा-बहनों के सामने कैसे जाते हैं? अस्तु, यदि समाज के स्त्री-पुरुषों की मनोवृत्तियाँ भ्रष्ट हो गयी हैं, तो उसका कारण भी यही पर्दा है; क्योंकि पर्दा न रहने की अवस्था में सभी स्त्री-पुरुष सभी स्थानों में स्वच्छंद हो आ-जा सकते थे। उस समय उनकी मनोवृत्तियाँ बराबर ही अपने गुरुजनों और देवियों को उन्हीं के अनुकूल दृष्टि से देखती थीं। इसीलिए न उस समय संबंध के उज्ज्वल भाव सर्वस्थानों में देखने को मिलते थे। उन लोगों के पारस्परिक व्यवहार ही ऐसे थे, जिससे उनकी संबंध-भाव-दृष्टि एक आदत-सी हो गयी थी। अब पर्दा-प्रणाली के प्रचलित हो जाने से स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक व्यवहार बिलकुल ही नष्ट हो गये। ऐसी अवस्था में स्त्री-पुरुष पारस्परिक गुणों को कैसे जान सकते हैं, और इसीलिए न हमारी सीधी-सादी बहनें उन धूर्त लंपटों द्वारा ठगी जाती हैं, जिनको उन सबने कभी धर्म-प्रिय तथा न्यायनिष्ठ समझ रक्खा था। क्या-क्या कहा जाय। अरे, हमारे समाज की मनोवृत्तियाँ इस पर्दे के द्वारा ऐसी कलुषित और इतनी कमज़ोर हो गयीं, जिसका कुछ ठिकाना ही नहीं। तभी न स्त्री-मात्र को देखकर मत्त हो जाने में ही पुरुष अपना गौरव समझने लगे। हमारी समझ में विना मनोवृत्तियों को बदले पर्दे से कुछ भी लाभ नहीं हो सकता, और बेतरह कामुकता का प्रसार होगा। स्त्री-जाति के प्रति उज्ज्वल भाव उत्पन्न हुए विना यह कार्य भी नहीं हो सकता, और स्त्री-जाति का तभी पूर्ण-रूपेण आदर होगा, जब वे पर्दा-बंधन को तोड़कर बाहर निकाल दी जायँ। उस हालत में स्त्री-पुरुष दोनों को ही पारस्परिक आचरणों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखने का सुअवसर मिलेगा, और ऐसा होते-होते इसी के द्वारा प्रत्येक दंपति में एक दूसरे के प्रति साम्य-भाव का उदय होगा। अगर पुरुष-हृदयों में साम्य-भाव की उत्पत्ति हो जायगी, तो शीघ्र ही स्त्री-जाति के स्वाभाविक गुण भी पुरुष की दृष्टि में आ जायँगे। भला उनके सौंदर्य, मृदुलता तथा प्रेम को देख समस्त पुरुष-समाज उसे पूज्य देवी के रूप में नहीं देखने लगेगा? उस समय स्त्रियाँ पुरुषों की दासी नहीं रहेंगी, प्रत्युत उनकी हृदयाराध्या के रूप में दिखलायी पड़ेंगी। तब हमारी संतति भी उच्च भावापन्न उत्पन्न होगी। हमारा हृदय-दौर्बल्य भी नष्ट हो जायगा। पश्चात् हमें अक्षय शांति भी मिलेगी।

(क्रमशः)

शिवकुमारसिंह 'नरेंद्र'

× × ×

६. जिज्ञासा

[१]

आकाश-मंच पर किस हित, अगणित तारे आते हैं!
अवलोक कौन-सा अभिनय, वे पुनः चले जाते हैं!
क्यों यह चंद्रमा मनोहर, घटता बढ़ता रहता है!
यह रवि किस अन्वेषण में, नित भ्रमण किया करता है!

[२]

ये नदी कहाँ से आतीं, किस लिए कहाँ हैं जातीं!
कल-कल-स्वर में ये कैसा, किसका संगीत सुनातीं!
होकर क्यों क्षुब्ध तरंगित—करता सागर गर्जन है!
किस क्लेश-व्यथा से करता यह हाहाकार पवन है!

पूर्वीय सौंदर्य

N. K. P.



पाश्चात्य सौंदर्य

[३]

े अचल भाव से गिरिवर, किस तप में मग्न पड़े हैं ?
े वृक्ष धूप-वर्षा में, क्या आशा लिये खड़े हैं ?
ोरे से प्रात-समीरण है क्या संदेश बताता ?
जिसको कि श्रवण कर सुंदर सुमनों का दल खिल जाता ?

[४]

यों मेघावली गरजती, क्योंकर जल-राशि चुवाती ?
यह बिजली तड़प-तड़पकर किस पर निज रोष जताती ?
चिड़ियाएँ कलरव मिस से किसका गुण-गान सुनातीं ?
े कलियाँ चिटक-चिटक के, हैं कौन बात बतलातीं ?

[५]

इस कौतुकभरे भुवन को, किसने किस लिए बनाया ?
यों, किस निमित्त जीवों को, बहु भाँति-भाँति उपजाया ?
धाता का माया-कौतुक, कुछ नहीं समझ में आता ?
है जिन्हें बनाता, क्यों फिर, उनको ही स्वयं मिटाता ?

[६]

वह कौन वस्तु, जो हममें रक्खे रहती चेतनता ;
जिसके बिन यह सोने का तन, छन में मिट्टी बनता ।
क्यों तन को त्याग कहाँ वह, किस लिए चली है जाती ?
क्या-क्या रहस्य जीवन के, धी सोच-सोच चकराती ?

[७]

मम बुद्धि-विकास कुसुम-सा, होता जाता है ज्यों-ज्यों ;
निज बुद्धि-कमी का अनुभव, होता जाता है त्यों-त्यों ।

राजाराम 'पुनीत'

× × ×

७. परदा और विधवा-विवाह

माधुरी में पं० हरिस्वरूप त्रिपाठीजी की 'दो बातें' पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । त्रिपाठीजी ने भटके हुए हिंदू-समाज को रास्ते पर लाने के अभिप्राय से यह लेख लिखा है; परंतु खेद है, कहीं आपका लेख समाज को अधिक न भटका देवे । त्रिपाठीजी ने परदा और विधवा-विवाह की पुकार मचानेवालों को धिक्कारा है, और इसको सनातन-धर्म के विरुद्ध बतलाया है। अस्तु, यहाँ पर यह देखना है कि आपका कथन कहाँ तक सत्य है । प्रथम तो त्रिपाठीजी से यही पूछता हूँ कि सनातन-धर्म कहते किसे हैं ? क्या आजकल के प्रचलित, पौराणिक काल के स्थापित धर्म को सनातन-धर्म कहते हैं ? या वैदिक धर्म को ? यह देखा गया है कि सनातन-धर्म की पुकार लगानेवाले इन दोनों की खिचड़ी को आवश्यकतानुसार मानते हैं। यदि सनातन-धर्मी वैदिक धर्म को मानते हैं, तो मनु की इस आज्ञा को पढ़ें—

'सा चेदक्षतयोनिः...संस्कारमर्हति । मनुः २ । १७६ ।

अर्थात् जिस स्त्री या पुरुष का पाणिग्रहण-मात्र हुआ हो और संयोग न हुआ हो अर्थात् अक्षतयोनि स्त्री और अक्षतवीर्य पुरुष हो, उनका अन्य पुरुष या स्त्री के साथ पुनर्विवाह होना चाहिए। किंतु ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्णों में क्षतयोनि स्त्री और क्षतवीर्य पुरुष का पुनर्विवाह न होना चाहिए।" इससे सिद्ध है कि वैदिक काल में भी विधवा-विवाह प्रचलित था । इसका कारण यही है कि ऋषिगण मनुष्य की प्रकृति से पूर्ण परिचित थे और वे लोकापवाद से न डरकर सत्य आज्ञा देते थे, जिससे मनुष्य-मात्र का कल्याण होता था। वे स्त्री-समाज को वही अधिकार देते हैं, जो पुरुष-समाज को, आजकल के अनुसार इंद्रिय-लोलुप पुरुषों के ही सुख-साधन पर उनका ध्यान नहीं था।। उन विधवाओं को, जो विवाह-बंधन में नहीं फँसना चाहती थीं परंतु अपने भविष्य के उद्धार व पितरों के लिए पुत्र चाहती थीं, मनु-सरीखे ऋषि व ऋग्वेदादि ने नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने की आज्ञा दी है । देखो—

'इमां त्वमिन्द्रमीढ्वः......पतिमेकादशं कृधि ॥

ऋ० । मं० १० । सू० ८५ । मं० ४५ ॥

'तामनेन विधानेन.........देवरः । मनु० ६ । ६६ ।

'अन्यमिच्छस्वसुभगे पतिं मतम् । ऋ० । मं० १० । सू० १०।

'देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया.........

.........'औरसः क्षेत्रजश्चैव' । ३ । मनुः ६।५६।५८।१५९

त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'जीवन का सुख पारमार्थिक है इंद्रियसुख नहीं, मोक्ष है सांसारिक विलास नहीं।' यह, मैं समझता हूँ, केवल स्त्रियों के लिए ही आपने लिखा है; क्योंकि आजकल पुरुष तो ५० वर्ष की आयु हो जाने पर, चाहे पुत्र हो या न हो, लगातार विवाह करते जाते हैं, परंतु समाज उन्हें कुछ नहीं कहता है । आख़िर मनु ने विधवा-विवाह की सम्मति क्यों दी है ? इसका कारण प्रत्येक अच्छी तरह जानता है कि त्रिपाठीजी के उच्च आदर्शानुसार जीवन व्यतीत करने-वाले स्त्री-पुरुष कठिनता से ५ प्रति-सहस्र मिलेंगे; क्योंकि मनुष्यमात्र की प्रकृति ही ऐसी है कि वह विला-सिता की ओर झुकता है। इसलिए धार्मिक नियम ऐसे होने चाहिए, जो इन ९९५ को गड्ढे से निकाल सकें। इसी कारण ऋषिगणों ने विधवा-विवाह का अनुमोदन किया है । जब वैदिक काल में मनुष्य स्वाभाविक ही अधिक धर्मज्ञ थे और उस समय विधवा-विवाह की आवश्य-कता थी, तो क्या इस कलि में जब कि धार्मिक प्रवृत्ति अधिक शिथिल हो गयी है, इस विवाह की आवश्यकता आप नहीं समझते हैं ? विधवा-विवाह का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक स्त्री किसी भी समय और किसी भी आयु में चाहे जब अपना पति छोड़कर दूसरा चुन ले। यह विवाह केवल उन अक्षतयोनि बालिकाओं व उन दुखित स्त्रियों के लिए है, जिनको उनके दुष्ट माता-पिता ने जन्म-भर के लिए दुःखसागर में डुबो दिया है । त्रिपाठीजी कहते हैं कि बालिकाओं व स्त्रियों को विधवा रखना कोई दुःख देना नहीं है; किंतु यही बात आप कृपया उन पुरुषों से भी तो पूछिए, जो एक स्त्री के मरते ही दूसरे या तीसरे महीने दूसरा विवाह कर लेते हैं! इस प्रकार के विवाहों की भारत में भरमार है। क्या समाज ने इसकी निंदा खुले शब्दों में की है! यह कर्म क्या धर्मयुक्त है ? तीन-तीन संतान होने पर भी जो विवाह किया जाता है, वह क्या धार्मिक कार्य है! सनातन-धर्म क्या इनको स्वर्ग पहुँचायेगा और विवाह करनेवाली दुःखी विधवा नरक को जायगी ? यदि आप यह कहें कि यह वैदिक काल के लिए उपयुक्त था और हम तो पौराणिक काल की स्मृतियों के अनुसार

विधवा-विवाह वर्जित समझते हैं, तो क्या आप यह मानते हैं कि सनातन-धर्म केवल पौराणिक आज्ञाओं पर अवलंबित है ? यदि यही है, तो यह कहना पड़ेगा कि सनातन-धर्म वैदिक समय से बदल गया है। और, जब यह समय पौराणिक समय से बदला हुआ है, तो क्या हम आवश्यकतानुसार अपने धर्म में संशोधन नहीं कर सकते हैं ? आपका कहना है कि स्त्रियों को 'बेटर-हाफ़' (Better half) बनाना ठीक नहीं है। बेटर हाफ़ का अर्थ अर्धांगिनी है, अर्थात् जो पुरुषों के सब कामों में बराबरी का दावा रक्खे और जिसका अधिकार बराबर हो।

आपका यह कहना ठीक है कि पाश्चात्य प्रथा में अधिकता आ गयी है, परंतु सनातन-धर्म में भी अधिक संकीर्णता घुस गयी है। स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना आवश्यक है, इसी के द्वारा अपनी भावी संतान सुयोग्य हो सकती है।

आपने परदे के विरोध में जो कुछ कहा है, वह कहाँ तक न्यायसंगत है, यह कहना कठिन है। हाँ, यह निर्विवाद है कि भारतीय स्त्रियों की दुर्दशा इसी परदे के कारण है। अज्ञानता, भय और भयंकर रोग इसी के कारण उत्पन्न होते हैं। क्षयरोग का कारण डाक्टरों और वैद्यों ने स्त्रियों के लिए अधिकतर परदा ही बतलाया है। अब त्रिपाठीजी इस वैद्यक-मत का खंडन करके अपने नवीन सिद्धांत (Theory) द्वारा इसका कारण केवल दरिद्रता बतलाते हैं। किंतु परदा अलग करने का अर्थ यह तो है नहीं कि हमारी स्त्रियाँ दूसरों के साथ सड़क पर ही घूमा करें। इसका अभिप्राय यही है कि वे स्वच्छ वायु का सेवन कर सकें और अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर अवलंबित न होकर दुष्टों से अपनी रक्षा कर सकें। पुनः जो स्त्री दुराचारिणी है, वह कुकर्म को परदे में या उसके बाहर भी तो कर सकती है। आशा है, त्रिपाठीजी अपने १७वीं शताब्दी के विचारों को इस २०वीं शताब्दी में बदल देंगे।

उमाशंकर नायक (एल्० ए-जी०)

× × ×

८. विधवा-विवाह क्यों नहीं, विधुर-विवाह क्यों ?

इसी भाद्रपद की 'माधुरी' में श्रीयुत हरिस्वरूपजी त्रिपाठी का एक लेख 'दो बातें'-शीर्षक से निकला है। इसमें आपने परदा-प्रथा और विधवा-विवाह पर विचार प्रकट किये हैं। आपके और सब विचार तो बहुत सुंदर हैं, परंतु एक बात मेरी समझ में नहीं आयी ! आप विधवाओं को तो एकपातिव्रत्य का उपदेश देते हुए पुनर्विवाह का निषेध करते हैं—कहते हैं—संयम से रहना ही आध्यात्मिक विकास है; किंतु विधुरों को आप विवाह करने की अनुमति देते हैं। क्यों ? यह वैषम्य क्यों ? आप कहते हैं कि पुरुष को वंश चलाने के लिए और अपने पितरों से उऋण होने के लिए दूसरा विवाह कर लेना चाहिए, यदि पहली स्त्री से संतान न उत्पन्न हुई हो या होकर भी मर गयी हो ! और, स्त्री का कोई वंश नहीं होता, न उस पर पितरों का ही कोई ऋण होता है, इसलिए उसे दूसरा विवाह करने की ज़रूरत नहीं।

हमारा इस पर निवेदन है कि अबलाओं को वंश चलाने की फ़िक्र नहीं और उन पर पितरों का ऋण नहीं, ये दोनों बातें आपकी मान लेने पर भी एक आपत्ति अवशिष्ट रह जाती है। वह यह कि उन बेचारियों में कितनी ही ऐसी होती हैं, जिनका कहीं कोई सहारा नहीं होता और न वे अपना स्वतंत्रता-पूर्वक निर्वाह ही कर सकती हैं ! यह हमारे समाज का दोष है। ऐसी परिस्थिति में वे बेचारी क्या करें ? अपनी ही जान मुसीबत में फँसी है, तब क्या किया जाय ?

मैं यों विधवा-विवाह का पक्षपाती या प्रचारक नहीं हूँ। त्रिपाठीजी से अधिक संयम और ब्रह्मचर्य का मैं हामी हूँ। परंतु आपद्धर्म भी तो स्मृतियों में कहा है। वस्तुतः समय, परिस्थिति, देश-काल और पात्र आदि का विचार करके ऐसे सामाजिक नियमों का पालन होना चाहिए। ख़ास-ख़ास परिस्थिति में विधवाओं का पुनर्विवाह कर देना ही उचित है। परंतु जहाँ तक हो सके, विधुरों को भी दूसरा विवाह न करना चाहिए—विशेषतः सनातनी विधुरों को। इससे संयम और ब्रह्मचर्य का महत्त्व बढ़ेगा तथा पातिव्रत्यधर्म का अपने-आप प्रचार होगा। जब पत्नीव्रत चमकेगा, तो आप-ही-आप पातिव्रत्य दमकेगा।

आपने कहा है कि वंश-रक्षा के लिए, संतान उत्पन्न करने के वास्ते विधुरों को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। लेकिन आपकी यह युक्ति नहीं, पक्षपात है।

धर्म-शास्त्र से यह बात अनुमोदित नहीं, युक्ति के अनुकूल नहीं और शिष्टाचार से पुरस्कृत नहीं है। वंश न चलने से कुछ महाप्रलय न हो जायगा, जिसके लिए संयम-जैसी चीज़ खो दी जाय। यदि आप विधुर हो गये और आपके संतान नहीं है, आपने दूसरा विवाह भी नहीं किया, तो ऐसी दशा में आपके वंश का नाश न होगा। निश्चिंत रहें। जितने भी ब्राह्मण हैं, सब आपके वंश के ही हैं। जब तक एक भी ब्राह्मण पृथ्वी पर रहेगा, तब तक आपका वंश नष्ट हुआ न समझा जायगा। और, यदि दुनिया में कोई भी नामधारी ब्राह्मण न रहा, तो भी कोई हर्ज नहीं। समस्त संसार एक ओर, और संयम का क्षण एक ओर है। वंश चलाने के मोह से देव-दुर्लभ संयम का त्याग कैसी क्षुद्रता है! इसी प्रकार पितरों के ऋण की बात है। जो पुरुष संयम से, ब्रह्मचर्य-पूर्वक, नहीं रह सकता, उसके लिए समान-कुल-शीला पत्नी में संतानोत्पत्ति की विधि है। हमारी सब विधियाँ प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जानेवाली हैं। यदि कोई आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी रह सकता है, तो बड़ी अच्छी बात है। इससे अच्छा और क्या। ऐसे पुरुष से उसके पितर यों ही तृप्त रहते हैं—तर जाते हैं। परंतु जो ब्रह्मचर्य से नहीं रह सकता, उसके लिए विधि है कि अपने वर्ण की पत्नी से संतानोत्पत्ति करके वंश चलावे। ऐसा इसीलिए कि पुरुष कामवृत्ति से कहीं पशुप्राय न हो जाय। असीम काम-वासना को सीमित करने के लिए ही ये विधियाँ हैं, और कुछ नहीं। यह नहीं कि स्त्री मर गयी, पुरुष संयम और ब्रह्मचर्य से रहना चाहता है, जैसा कि उचित है; परंतु उससे कहा जाय कि वंश-रक्षा और पितरों के लिए दूसरा विवाह कर लो। उसके तो संयम से ही पितर कृतकृत्य हो जायँगे। शिष्टाचार भी ऐसा ही है।

भगवान् श्रीरामचंद्रजी हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। देखना चाहिए, उन्होंने इस विषय में क्या मर्यादा बाँधी है। सीताजी निर्वासित कर दी गयीं, परंतु श्रीराम ने दूसरा विवाह नहीं किया; हालाँकि उनके पिता ने एक साथ ही अनेक विवाह किये थे, जिससे उनका घर चौपट हुआ था। यही नहीं, जब अश्वमेध-यज्ञ हुआ और सहधर्मिणी की ज़रूरत पड़ी, तो भी मर्यादा-पुरुषोत्तम ने दूसरा विवाह नहीं किया। उस समय श्रीसीताजी की स्वर्णमूर्ति बनाकर काम चलाया गया। यह है संयम और पत्नीव्रत। जब श्रीरामजी का-जैसा पत्नीव्रत होता है, तभी श्रीसीताजी का-जैसा पातिव्रत्य नज़र आता है। एक पहिये से गाड़ी नहीं चलती और न एक हाथ से डफली बजती है। स्त्रियों के भी दिल और दिमाग़ है—वे भी तो सब समझती और अनुभव करती हैं।

वस्तुतः पुरुषवर्ग ने अपनी कामवासना से प्रेरित होकर ही सब जाल रच रक्खे हैं। उसने पितरों का ऋण और वंश-रक्षा का बहाना करके स्त्रियों की आँखों में धूल झोंकने की चेष्टा की है। कितना अन्याय है! वस्तुतः जब तक सनातन-धर्म के अनुयायी विधुर अपने दूसरे और तीसरे विवाह करते जायँगे, तब तक पातिव्रत्यधर्म का प्रचार किसी भी तरह नहीं हो सकता, चाहे कितने ही गला फाड़-फाड़कर और सीता-सावित्री का नाम ले-लेकर व्याख्यान दिये जायँ और चाहे जितने लेख लिखे जायँ। हाँ, यदि हम वास्तव में सनातनधर्म की रक्षा चाहते हैं, तो हमें स्वयं संयम का आदर्श उपस्थित करना चाहिए। सनातनधर्मी विधुरों को ब्रह्मचर्य से रहकर धर्म-देश के कार्यों में भाग लेना चाहिए। यही एकमात्र सनातनधर्म के प्रचार का और विशेषतः पातिव्रत्य के विस्तार का उपाय है।

किशोरीदास वाजपेयी (शास्त्री)

× × ×

६. "बतरस में"

साल जिय जात नेह-जाल पै निहाल तऊ,
राखत न आपन 'रमेस' मन कस में।
लाज की जहाज आज नाहक डुबाय छकि,
रंजित करत मुख कालिख में, मस में।
जामा, झँगा, सीस-पगा, मुरली, लकुटि, माल,
सबहिं गमाइ दीन ऐसे भये बस में।
डारि गलबाँह राह माँहि छल-छाँह छोरि,
भींजि रहे लाल हाल बाल-बतरस में।

चतुर्वेदी रामेश्वरप्रसाद शर्मा 'रमेश'

× × ×

१०. चिलमन

(१)

चिलमन बहिश्त की हूर थी। उसके अंग-अंग में सुंदरता कूट-कूटकर भरी थी। अभी उमर ही क्या, पूरे सोलह साल की भी नहीं। वेश्या होने पर भी उस फ़न की उस्ताद न थी। उस्तादजी को अभी एक-एक बात समझानी पड़ती, एक-एक भावभंगी के लिए इशारा करना होता। पर जो नारी-सुलभ आडंबर, सरलता और भ्रूभंगी स्त्री-जीवन में स्वाभाविक हैं, उनमें उसने किसी का गुरुत्व नहीं स्वीकार किया था। भला इन्हें सिखा ही कौन सकता है। जब अखिल तत्त्वदर्शी विदेह की पुण्यतीर्था मिथिला में पली सात्त्विकी वैदेही की ऐसी रसमयी आँखों से विष्णु की सारी विभूतियाँ मूर्छित हो सो गयीं, तब इस वेश्याजनी, काममादकता में माती चिलमन पर तो गांधर्व-लालित्य की छाप ही थी।

पहलेपहल उस सुर-सुंदरी को मैंने एक विवाह-समारोह में देखा। वेश्या-कीर्तन से मुझे बचपन ही से घृणा थी। शामियाने के बाहर अलग बैठा सारंगी-तबलों की ध्वनि को भुलाते हुए कुछ सोच रहा था। इसी समय सारंगी नाद को चुनौती देती और त्रिदशपतिगुरु तुंबरु और नारद की कला को लज्जित करती हुई एक मधुर सुरीली तान मेरे कर्णपुटों में गूँज उठी—''अकेली मति जैयो राधे जमुना के तीर।'' मैंने उसे भुला देने की चेष्टा की, पर 'जमुना के तीर, जमुना के तीर' ने कानों पर धरना देना आरंभ कर दिया! बहुतेरी चेष्टा की कि इस स्वर को भीतर से निकाल फेंकूँ, पर 'जमुना के तीरे गउवें चरावे, सुंदर श्याम अहीर' ने अधूरी इच्छा का पूर्णतः प्रतिकार कर दिया। नाश हो इस दुर्दमनीय पाशविक इच्छा का। उस समय उस 'सुंदर श्याम अहीर'वाली तप्त कांचन-वर्णा की अनवगुंठिता अहीरिन की सत्ता का बोध भी मुझे हो ही गया। सारे सिद्धांतवाद का सहसा मूलोच्छेदन हो गया, सारी गीता में केवल एक ही सिद्धांत सार जान पड़ा—इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः। सचमुच ही तत्त्वदर्शियों के भी मन का मंथन करनेवाली प्रबल इंद्रियों ने मुझ-सरीखे सिद्धांतवादी को भी अपने झंझावात में वायुगत कर लिया। यह औरंगजेब-सरीखा गान-विरागी भी सुरताल के भँवर में पड़ा न-जाने किस ओर चल पड़ा। जो कान लगाकर सुना, तो चिलमन का स्वर-तारतम्य, समाजियों की वाह-वाह और उर्वशी का आर्तनाद सब एक साथ सुन पड़े। स्वरलहरी से मेरा हृदयस्पंदन रुक गया, पर उस नटी की मत्त विलासिता की प्रतिध्वनि फिर भी न रुकी। जैसे किसी मानिनी के वाष्पपूरित मदोन्मीलित उच्छ्वासोद्वेलन से गतप्राया निशा का स्नेहप्रदीप उन्मत्त तबलची की नाईं ताल की मस्ती में हिलने लगता है, उसी प्रकार व्याप्त स्वरमाधुरी ने मेरे नौसिखिये हृदय के कोने-कोने में प्रवेश कर सुषुप्त प्रणय-चेतना को जगा दिया। प्रेम ने अलख जगाया और भोले हृदय ने वरदान में भोले शिव की भाँति अपने-आपको उसके हाथों सौंप दिया।

एक बार आँखें बचाकर देखा, चिलमन वर के सम्मुख बैठी भावभंगी कर रही थी। कृत्रिम अवगुंठन के भीतर से रसमयी आँखें झाँक रही थीं। एक बार हृदय रो ही पड़ा—'हाय! आज कहीं तू वर होता!' उस घूँघट की आभा देखने के लिए चित्त चंचल हो उठा। सहसा माया हटी, मेघ छँटे और सुंदर कमला का चंद्रमुख तेज़ रोशनी में दमक उठा। उस रुख़ेरोशन पर कितने दिल परवाने बनकर टूट पड़े—बलि हो गये—कौन गिन सका? हवा के झोंके खाते हुए चिकने लंबे केश जिस प्रकार भाल-प्रदेश पर लहरा रहे थे, यह किस प्रकार उस मनुष्य की धारणाशक्ति पर व्यक्त किया जा सकता है, जिसने श्वेत हिमगिरि पर घुमड़ते श्याम मेघ न देखे हों। अपूर्व श्यामकर्ण पद्मनेत्रों में रक्तनाल खिंचे पड़े थे। उनके नीचे विलासितासूचक हलके धब्बे एवं कपोलों पर व्रीडामिश्रित रतिलालसा की गहरी अरुणिमा छायी हुई थी। मैं रीझ गया।

(२)

हिंदुओं के विवाह में जब महफ़िल होती है, तो एक प्रकार का मंगलाचरण भी होता है, जिसमें पंडित शास्त्रार्थ करते हैं। संध्या को शास्त्र-चर्चा छिड़ी। छोटा-स्वधारी पंडितों की जीत-हार का निर्णय कौन कर सकता है! इसके बाद हिंदी और अँगरेज़ी की वाचालता प्रारंभ हुई। इसमें मुझसे कौन बाज़ी ले सकता था। युक्तियों द्वारा विपक्ष को पथभ्रष्ट कर मैंने पूर्णतः सिद्धांत-निरूपण कर दिया। चिलमन अस्थिर बैठी जिस तन्मयता

से हमारा तर्क सुन रही थी, उसको देखकर कोई उसे उदासीनता का दोषी नहीं ठहरा सकता था। मैं भी तर्क तो कर रहा था, परंतु उसकी प्रत्येक गतिविधि पर लक्ष्य रखने में भी कुछ कम सतर्क न था। यह भी भासित होने लगा कि वह इस समय संगदोष से रहित नहीं है। थी भी नहीं। अनवरत विलास की सामग्री, गंधर्व-समाज की रमणी और वारांगनाओं की छद्मलीला में अधपकी चतुर्दशवर्षीया नर्तकी यदि किसी गुणी नव-युवक के सम्मुख उसके गुणों पर रीझकर अपने सुविस्तृत पापमय जीवन में एक घूँट पुण्यसुधा का पी ले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। शीराज़ के पैमाने ढालने-वाली चिलमन ने अनुराग-रस का एक प्याला भी कंठगत कर लिया, यह मैं छलकते हुए चश्मों को देखकर ही जान गया। जिन नेत्रों में मादक रस का संचार नहीं, वे क्या अधमिचे रह सकते हैं? जिन दृगपथों में आह्वान के भाव नहीं, उनके रक्तनाल क्या सचमुच अपनी पाशग्रंथियाँ खोल शिथिल पड़ सकते हैं? वही कहे, जिसने बग़ैर जाल फैलाये और दाना डाले शिकार फाँस लिया हो। पर फाँसे कौन? जो चतुर स्वप्नी हो। यहाँ तो कुरंग-कस्तूरी की गंध-माधुरी ने घातक को बेसुध कर दिया। अब पास खींचे तो कौन, और किसे? सारंग तो स्वयं खिंचा आता है। ऐसे हृदय-पाश में तो, नियंता करे, सदा बँधे रहें।

फ़िर क्या था, चिलमन की एक-एक भावभंगी का शिकार मैं था। वर को मुबारकबादियाँ देती हुई भी उसकी सारी चेष्टाओं का दौर मेरी ही ओर था। अभी कल ही रोया था—हाय वर क्यों न हुआ! आज पूछता हूँ, क्या जिस अवस्था में इस समय बेचारा वर बैठा है, उसे पसंद करूँगा? भूलकर भी नहीं। धन्य हो गया। क्यों न होता। जिस पुरुष पर रीझकर अपनी कला में त्रुटियाँ करनेवाली वारांगना को उस्तादजी की झल्लाई दपटें सुननी पड़ें, वह यदि भाग्यवान् नहीं तो और है कौन? चिलमन के एक-एक अंग से, एक-एक अदा से मस्ती टपकती थी। मेरी विजय जैसे उसी की थी। मारे गर्व के फूली न समाती थी। जब कभी मेरे पास से निकलती, मेरी ओर सतृष्ण अधखुले नेत्रों से देखती, मानों सुधाभांड से दोनों प्याले भर-भरकर मुझ भाग्यवान् पर उलीच रही हो। मुझे शंका भी होती—क्या मुझ जैसे तृषित का अभिसिंचन करके भी जलस्रोत स्वयं तृषित रह सकते हैं? संभव है। मार की माया शिव मृड के और कौन जाने। नारद में इतनी क्षमता कहाँ।

चिलमन के एक-एक शब्द में भावतरंग थी, एक-एक स्वर में प्रणय-श्वास थी। तर्क में विजय के कारण उसका रोम-रोम मुझे बधाई दे रहा हो, ऐसा जान पड़ा। मेरी पराजय से उसे कितना क्षोभ होता, कितनी व्यथा होती, यह मैं नहीं कह सकता; पर उसे आशंका बड़ी थी। मेरे विपक्षी के चुप होते ही उसने मुझे लक्ष्य कर घंटों जो ग़ज़ल गायी, वह मुझे अब भी स्मरण है। 'आबरू ग़ैर की महफ़िल में रह गयी' की तो एक-एक मात्रा मेरे कानों में अब भी गूँज रही है। और कौन अपना इतनी भर्राई आवाज़ में मेरी विजय पर बधाई दे सकता था? इस वारांगना-स्वकीया की मदभरी आसपूरित कंठध्वनि से व्याकुल होकर मैं भी उन्मत्त हो उठा।

(३)

ब्राह्ममुहूर्त में ही निद्रावसान हो गया। स्वप्नों के तारतम्य ने दो घड़ी की नींद मुहाल कर दी! अब बारी आयी जाग्रत् स्वप्नों की। कितने मधुर थे वे! स्वप्न और यथार्थ में बहुत अंतर है। दोनों एक से क्यों न हुए! न, कहीं एक होते, तो आशावलंबी प्राणियों की क्या दशा होती। यथार्थ के कठोर सत्य की प्रज्वलित प्रभा कौन सह सकता। असंभव स्वप्न के प्रच्छन्न ऐश्वर्य की भग्नाशा को भी आर्द्रमानव भविष्य का सुदृढ़ प्रकोष्ठ समझता है, और उसी की तृषित आशा में भिखारी जब प्राण-त्याग करता है तब भी हृदय से लिपटे उस भग्न-प्रकोष्ठ का अवशेष कामना के रूप में अपने वंश को वसीयत कर जाता है। यही है क्षुद्रमानव का प्रचंड प्रताप!

स्वप्नों के प्रवाह में एक बालक ने आकर बाधा डाल दी। उसने मेरे हाथ में एक काग़ज़ का टुकड़ा रखकर कहा—इसका जवाब चाहिए। उसमें सुंदर मोती-जैसे अक्षरों में लिखा था—"आप कौन हैं?" जानते देर न लगी कि अक्षर किसके हैं। मैं कौन हूँ—क्या उत्तर दूँ? "किसी जलते हुए परवाने से शमा पूछे—'तू कौन है?'—तो ग़रीब परवाना सिवा शमा पर कुर्बान

...मरने के और जवाब ही क्या दे सकता है। मैं ...एक जलता हुआ ब्राह्मण हूँ। भला, आप कौन हैं?"—यह मैंने उस काग़ज़ के पीछे लिख दिया। थोड़ी देर बाद वही बालक लौटा। मेरे विचार-...में वीचियों की बाढ़ आ गयी। दम घुटने लगा। बालक का दस-बारह पग तय करना, साँस रोककर बड़ी अधीरता से देखने लगा। उसके देने के पहले ही लपककर मैंने उसके हाथ से काग़ज़ ले लिया। वह मेरा दुःशील आचरण देख मेरी ओर ...ने लगा। पल-भर के लिए मैं भी लज्जित हो गया। सोचा—कहीं उसने मेरी हार्दिक शब्द-रेखा तो नहीं ...ली। फिर सोचा—अभी नहीं, अभी क्या समझेगा; अवस्था होगी तब समझेगा कि मैं दुःशील नहीं था, केवल एक सूक्ष्म सूत्र पर अटक कर हिलता हुआ मेरा कलेजा लटक रहा था, जिसे सम्हालने ...उठ खड़ा हुआ था।

बारात बिदा हो रही थी, कूच के वाद्य बज रहे थे, वर-कन्या-पक्ष के लोग मिल रहे थे और मैं काँपते हाथों काग़ज़ उलट रहा था। पढ़कर हृदय-कली खिल उठी। लिखा था—"शमा कौन है, इसका ...क्रिया कौन करे? और अगर मैं ही हूँ, तो क्या शमा जलती नहीं? पहले ख़ुद जलकर ही तो परवाने को जलाती है। आपके क़दमों तले जन्नत है, जहाँ शमा जलने के बाद पाक होकर पहुँचेगी। मैं तो महज़ 'शिवमन-बिरहमनी' हूँ।"

इसी समय एक मित्र ने कंधे पर हाथ रखकर कहा—चलो, बारात बिदा हो गयी। रुक क्योंकर सकता था। समाज को चुनौती देने की मुझमें सामर्थ्य कहाँ! पता नहीं, आज मेरी 'बिरहमनी' कहाँ है। भविष्य बताये, अब उसे देखना नसीब होगा या नहीं।

भगवतशरण उपाध्याय (एम्० ए०)

× × ×

११. दुखों का स्वागत

(१)

नदियाँ नीर-भरे जल-निधि में,
जो जल-राशि अघाये।
शुष्क जलरहित भूमि मरुस्थल—
को रवि और तपाये।

(२)

हृष्ट-पुष्ट नित स्वस्थ रहे—
कृश क्षीण रुग्न हो जाये।
लक्ष्मी के मंदिर में स्वागत—
धनी महाजन पाये।

(३)

अंधकार अंधों को मिलता,
उसे नयन जो पाये—
ज्योति मिले, यह नियम जगत् का,
सम समान को धाये।

(४)

प्यार पास जाये प्यारों के,
सुख सुखियों पर छाये।
मिले वेदना व्यथितों को, मुझ—
दुखिया पर दुख आये।

"वचन"

× × ×

१२. स्वर्गीया मनोरमा पंत

बरेली कालेज के प्रोफ़ेसर श्रीयुत श्रीधर पंत शास्त्री की द्वि-सप्तवर्षीया बालिका कुमारी मनोरमा के अकाल-स्वर्गारोहण कर जाने से हिंदी-संसार की एक होनहार साहित्य-सेविनी उठ गयी। स्वर्गीया मनोरमा ने तीन ही वर्ष की अवस्था से पढ़ना-लिखना प्रारंभ कर दिया था, आठ वर्ष की अवस्था से गान-विद्या का अभ्यास करने लगी थी, ग्यारह वर्ष की अवस्था से अँगरेज़ी पढ़ने लगी और तेरह वर्ष की अवस्था तक काशी की मध्यमा परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गयी थी। शोक है, इसी अवस्था में इस होनहार बालिका को रोग ने धर दबाया और लाख इलाज करने पर भी वह स्वस्थ न हो सकी। ईश्वर की लीला निराली है। जिसकी यहाँ चाह है, उसकी वहाँ भी चाह है। इसीलिए तो उसने उसे इतने शीघ्र अपने पास बुला लिया। अब यही प्रार्थना है कि वह उसके माता-पिता के व्यथित हृदय को शांति दे!


स्व० कुमारी मनोरमा पंत

कालिदास कपूर
(एम्० ए० एल्० टी०)

× × × × × ×

१३. पीरजी

(१)

दिवस का अवसान समीप था। सूर्य-शिशु मा रजनी के अलौकिक आँचल में छिपा जा रहा था। दिन-भर के परिश्रम से थककर पक्षीगण अपने-अपने घोसलों की ओर उड़े चले जा रहे थे। हरित वृक्षों की शाखा-प्रशाखाओं पर बैठी हुई भाँति-भाँति की चिड़ियाँ सुमधुर स्वर से चह-चहा रही थीं।

प्रकाश और दिनेश गुली-डंडा खेलकर घर लौट रहे थे। सड़क के दोनों किनारों पर नीम के सघन वृक्ष होने के कारण अस्ताचलगामी सूर्य की क्लांत किरणें यहाँ अपना प्रभाव जमाने में असमर्थ थीं। सड़क के दाहने किनारे पर वृक्षों के झुरमुट में से पीरजी की एक श्वेत 'क़ब्र' चमक रही थी। उस पर रक्खा हुआ मिट्टी का एक छोटा-सा दीपक टिमटिमा रहा था।

"मुझे डर लगता है प्रकाश!"—दिनेश ने प्रकाश के कंधे पर हाथ रखकर कहा—"अभी पीरजी निकल आवें तब........।"

"बड़ा डरपोक है, कहीं पत्थर भी मनुष्य का अनिष्ट कर सकता है!"—प्रकाश ने हँसकर उत्तर दिया—"चल, तुझे एक तमाशा दिखाऊँ।"

दिनेश के काँपने की ओर किंचित्-मात्र भी ध्यान न देकर प्रकाश उसका हाथ पकड़कर पीरजी की क़ब्र के निकट जा पहुँचा। दिनेश के प्राण

... रोते व चीख़ने-चिल्लाने पर भी उसने क़ब्र पर चढ़ाये हुए पैसे उठाकर जेब में डाल लिये, और ... प्रसाद पर हाथ साफ़ करने ।

सहसा क़ब्र के ठीक ऊपरवाले वृक्ष पर एक चील फड़फड़ा उठी, और साथ ही हवा के झोंके से वहाँ का दीपक भी बुझ गया । दिनेश के होशहवाश ठिकाने न रहे । उसने सोचा कि अब क़ब्र में से पीरजी निकलने ही वाले हैं । वह प्रकाश को अकेला छोड़कर भाग खड़ा हुआ ।

प्रकाश का हृदय किसी आकस्मिक आपत्ति की प्रच्छन्न आशंका के भय से काँप उठा । आख़िर वह भी था तो बालक ही । और कुछ चारा न देख उसने भी दिनेश का साथ दिया ।

(२)

रात्रि के बारह बजे होंगे । कमरे के दरवाज़ों की खड़खड़ाहट सुनकर प्रकाश की आँखें खुल गयीं । उसके भय का ठिकाना न रहा, जब उसने अपनी चारपाई को हिलते देखा । उसका हृदय ज़ोरों से धड़कने लगा ।

"हाय! यह है पीरजी के साथ दुर्व्यवहार करने का फल ! पीरजी आ रहे हैं अब ! अरी अम्मा ! दौड़ !"—यह कहकर प्रकाश चारपाई छोड़कर भागने ही वाला था कि उसकी मा ने, जो पास ही चारपाई पर लेटी हुई थी, कहा—"अरे, घबड़ा मत होना, भूचाल आ रहा है ।"

तेजनारायण काक 'क्रांति'

× × ×

१४. यौवन की मादकता

१

ओ यौवन की मादकता !
तू देख रही प्रिय किसको ?
क्या ढूँढ़ रही है आकुल
अपने चिर-जीवनधन को—
वह दूर देश की लाली—
सौंदर्य-सुरा की प्याली ?

२

इठलाती—क्यों बल खाती—
मद में मरंद—मतवाली ।
क्यों नहीं अरे बतलाती
नाहक इतना इतराती !
यह कितने दिन का मधुवन !
कितने दिन का यह जीवन !

३

जल बुदबुद सा क्षणभंगुर
यह छोटा-सा है अंकुर ।
ऊपर आतप—नीचे जल
चलदल-सा इसका पल-पल
कुछ भी तो सोच-समझकर—
चल इस जीवन के पथ पर !

भगवतीप्रसाद मिश्र 'करुणाकर'

× × ×

१५. समय की पुकार

"समय परिवर्तनशील है । उसके सम्मुख सबको सिर झुकाना पड़ता है । जब किसी मरुस्थली पर कलकल-निनादिनी सरिता बहने लगती है, तो उसके प्रबल प्रवाह में पड़कर सभी वस्तुएँ बह जाती हैं । लाख उपाय क्यों न किये जायँ, प्रवाह तिनके से लेकर बड़े-से बड़े वृक्षों तक को बहाने लगता है । ठीक उसी प्रकार जब सुधार की बाढ़ आती है, तब हर एक कुप्रथा तक का विरोध होने लगता है, और वह धीरे-धीरे विलीन होने लगती है । जैसे-जैसे मनुष्य किसी क्षेत्र में उन्नति करने लगता है, वैसे-वैसे उसे तत्संबंधी विषय का अधिकाधिक ज्ञान होने लगता है । ज्ञान की वृद्धि के होते ही उसे प्रचलित प्रणालियों में बहुत-से दोष दिखलायी पड़ते हैं, और वह स्वभावतः उनके दूर करने के लिए आकुल हो उठता है ।"

—एक महिला

हर्ष का विषय है कि सुधारों के इस युग में हमारा भारतीय महिला-समाज भी अब इस ओर काफ़ी अग्रसर होने लगा है । गत सत्याग्रह-आंदोलन में महिलाओं का—

सामाजिक कुप्रथाओं को तोड़कर स्वेच्छा-पूर्वक कार्य-क्षेत्र में उतर आना और उसमें पूरा-पूरा सहयोग देना ही—हमारे उक्त कथन के प्रमाण में कहा जा सकता है। अतएव आज हम भी सामाजिक कुप्रथाओं के संबंध में अपने कुछ तुच्छ विचारों को सहृदय पाठकों के सम्मुख रखने की चेष्टा कर रहे हैं।

हमारे वर्तमान हिंदू-समाज में कितनी प्रचलित कुप्रथाएँ इस समय विद्यमान हैं, इसे सर्वसाधारण भली भाँति जानते हैं; किंतु सदियों से दासता की प्रबल बेड़ियों में जकड़े रहने के कारण हम इतने अन्यमनस्क हो गये हैं कि सामाजिक बंधनरूपी उन कुप्रथाओं की ओर हमारा ध्यान ही नहीं आकर्षित होता। हो भी कैसे ? कुशासन की गुलामी ने हमारे मस्तिष्क एवं हृदयों को ऐसा कमज़ोर बना डाला है कि हमें अपनी वास्तविक दशा पर ठंढे दिल से विचार करने का कभी अवसर ही प्राप्त नहीं होता।

'बाल-विवाह', 'वृद्ध-विवाह' एवं 'बहुविवाह'-जैसी अनर्थकारी कुप्रथाओं के लिए जिस समाज में कोई रोक-टोक न हो, और इन कुप्रथाओं के प्रतिकूल बेचारी अक्षत-योनि बाल-विधवा के पुनर्विवाह की आवाज़ जिस समाज में भयानक और अत्यंत निंदनीय समझी जाती हो, उस समाज का उद्धार ईश्वर ही के अधीन है।

इतिहास से पता चलता है कि पतन के गहरे कूप में गिरी हुई जाति के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक किसी भी अवस्था के पुनरुत्थान के लिए देश में क्रांति का प्रादुर्भाव होना अत्यावश्यक है। यह 'क्रांति' बार-बार नहीं हुआ करती। किसी भी देश में युगांतर के चिह्न प्रकट होने की सूचना ही इस क्रांति का लक्षण है। इसी क्रांति के समय में देश उत्थान अथवा पतन, इन दो मार्गों में से किसी एक पर अग्रसर होता है। आज जब कि सारे भारतवर्ष में सदियों के बाद राजनीतिक क्रांति की लहरें हिमालय से लेकर कन्या-कुमारी तक प्रबल वेग से हिलोरें ले रही हैं, तो कोई कारण नहीं कि ऐसे सुअवसर के समय भी हम सामाजिक क्रांति की ओर से बिलकुल उदासीन रहें ! इस समय क्रांति की लहरें सारे देश में वेग से बह रही हैं। यदि इस प्रवाह में हम अपने वर्तमान समाज की घृणित प्रथाओं को—जिनमें ऊपर कही हुई दो-तीन कुप्रथाएँ ही मुख्य हैं—सदैव के लिए बहा न डालेंगे, तो क्या उक्त सुअवसर फिर बार-बार निकट भविष्य में हमें प्राप्त होता रहेगा ?

एक ओर हमारे साठ-सत्तर वर्ष के वृद्ध पुरुष अपने जीवन की अंतिम घड़ियों के समय भी जब विवाह-रूपी विलासिता के सागर में कूद पड़ने में ज़रा भी भय एवं झिझक का अनुभव नहीं करते और वासना के वशीभूत होकर न यही विचारते हैं कि इससे सर्वनाश अवश्यंभावी है, तो दूसरी ओर बेचारी उस अबोध बाल-विधवा से—जिसने पति-देव का मुँह तक भली भाँति न देखा हो—वह कैसे आजन्म कठोर ब्रह्मचर्य-पालन की आशा रख सकते हैं ? और वह भी तमाम घर-भर में विलासितापूर्ण जीवन के विद्यमान रहते हुए ! आह, समाज के पाखंडियों का यह कैसा एकतरफ़ा न्याय है !

किसी सहृदय लेखक ने अपनी एक पुस्तक में नारी-जाति के संबंध में अपने सद्उद्गार इस प्रकार प्रकट किये हैं—

"हा अबलाजाति ! तू यंत्रणा भोगने के लिए ही रची गयी है। पुरुष की क्रूर यशोलिप्सा ने जब जगज्जननी जानकी को भी जीवनपर्यंत ज्वाला-जाल में जलाकर रसातल भेज दिया, उसकी लोलुप-वृत्ति ने जब प्रेम की प्रत्यक्ष-प्रतिमा देवी राधिका को 'विरह-विधुरा' की उपाधि देकर उन्हें आजीवन आँसुओं में भिगो रक्खा, उसके जिन कठोर विधानों ने 'सती-प्रथा' की सृष्टि कर जब करोड़ों कोमल प्राणपुष्पों को निर्दयता से तोड़-कर कुचल डाला—भस्मसात् बना दिया—उसकी स्वार्थमयी प्रकृति ने शताब्दियों से सुकुमार कोमलांगियों की उपेक्षा करके उन्हें उच्च सिंहासन से उतार-कर अभ्रभेदी प्राचीरों के 'कारागार' में बंद कर दिया—उनके स्वास्थ्य, सौंदर्य तथा स्वार्थ का कुछ भी ख़याल न किया—गृहदेवियों की उपाधि छीनकर 'पाचिका' और 'जनन-मशीन' की घृणित प्रतिमा बना संकोच-सागर में डूब जाने के बदले अपनी करतूत की कथा से दिङ्मंडल को गुँजाया—उसकी भ्रष्ट-नीति ने जब 'बहु-विवाह' की विधि से साठ वर्ष के बूढ़ों को भी अष्टवर्षीय गौरियों से अटखेलियाँ खेलने को स्वच्छंद छोड़कर अक्षत-योनि विधवाओं को 'ब्रह्मचारिणी' रहने का

और उपदेश देकर उन्हें आजीवन तड़पाया—उनसे व्यभिचार करवाकर घर-घर में पाप के घड़े भर दिये! इतना ही नहीं, पाखंड का गुरुडम रचकर जो खुद ईश्वर की उपाधि लेकर अपनी गृहदेवियों को दासियाँ बनाये हुए है—जिसने अपने लिए तो समस्त सुख और उनके लिए 'बिपुलबिडंबना' सुरक्षित कर ली है, उसी निर्दयीसमाज के 'पराक्रम' तथा 'पौरुष' का 'प्रसाद' पाकर आज देश में न-जाने कितनी देवियाँ जगत्पिता परमेश्वर के परमोच्च न्यायालय में प्रतिदिन अपनी 'करुण-कहानी' सुनाती रहती हैं। लेकिन वह भी तो सुनता नहीं है। सुने भी तो कैसे? उस निर्लिंग, निर्विकार, निखिलेश न्यायाधीश को भी तो पाखंडी पुरुष-समाज ने पुल्लिंग ही बना रक्खा है। कैसी बिडंबना है!"

किसी सहृदय कवि की भी एक उक्ति सुनिए—देखिए, बेचारी बाल-विधवा का कैसा अच्छा जीवित चित्रण किया है—

"रोती है, इसलिए कि सुंदर चूड़ी फोड़ी जाती हैं!
क्या समझे?—तेरे सुहाग की हड्डी तोड़ी जाती हैं!!"

आह! उस बालतपस्विनी को देखकर कौन सर्द 'आह' न ले उठेगा, किसकी आँखें न भर आयेंगी, और कौन उस क्रूर समाज को जी-भर कर न कोसेगा? पातिव्रत्य-धर्म क्या है? जो बहनें इसका महत्व जानती हैं अथवा जो दांपत्य-प्रेम का भली भाँति अनुभव कर चुकी हैं—जो जानती हैं कि भारतीय विवाह-प्रणाली अन्य पाश्चात्य देशों के समान काम-वासना की तृप्ति का साधनमात्र नहीं है, बल्कि स्त्री और पुरुष की दो भिन्न-भिन्न आत्माओं को एक में मिलकर मोक्ष-प्राप्ति का एक अनुष्ठान और गृहस्थ-जीवन में रहकर भी निरंतर तपस्या का एक साधन है—उनके बारे में हमें कुछ भी नहीं कहना है, वे साक्षात् देवी हैं और हमें उनके पवित्र चरणों में अत्यन्त श्रद्धा है। ऐसी विधवाओं के पुनर्विवाह की कल्पना करना भी हम उनका घोर अपमान करना समझते हैं। हम जानते हैं कि पातिव्रत्य-धर्म का पालन करने और पुनर्विवाह के सिद्धांत में बहुत ही अंतर है, पर बेचारी अबोध विधवा का आपद्धर्म भी तो कोई चीज़ है, और ऐसी आपद्धर्म में विधवा-विवाह न्याय-संगत और आवश्यकीय है।

समाज नामधारी उस जड़ जीव के उपरिलिखित अत्याचारों द्वारा आज नारीजाति की जो दशा हो रही है, वह प्रत्यक्ष ही है। सहन-शक्ति की भी सीमा होती है। निस्सहाय अबलाएँ अपने ऊपर प्रचलित इन सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध जब कोई भी प्रतीकार की आवाज़, सहानुभूति के स्वर में, पुरुष-वर्ग की ओर से उठती हुई नहीं सुनतीं, तो लाचार होकर उन असहनीय कष्टों को सहन करने के लिए बाध्य होती हैं, और असफल प्रयत्न होने पर अंत में—समय से पूर्व ही—अधिकांश अपनी जान तक दे डालती हैं। अथवा, लाचार हो अपने धर्म को तिलांजलि देकर विधर्मियों के चंगुल में फँसकर उनकी संख्या बढ़ाने के लिए बाध्य होती हैं। समाचार-पत्रों के पाठकों को ऐसी दुर्घटनाओं के समाचार निरंतर प्रचुर संख्या में पढ़ने को मिलते ही रहते हैं। किंतु इतने पर भी तो पुरुषवर्ग के कानों में जूँ तक नहीं रेंगती! सामाजिक पतन की इससे अधिक अवस्था और क्या हो सकती है?

परम सन्तोष का विषय है कि वर्तमान क्रांति के प्रभाव से अब महिला-समाज में भी काफ़ी जागृति होने लग गयी है, और उसे अपनी वास्तविक अवस्था का पता चल गया है। वे इन कुप्रथाओं को दूर करके समानाधिकार प्राप्त करने के लिए कटिबद्ध प्रयत्न करने लग गयी हैं। किंतु इतने से ही हमें अपने कर्त्तव्य की इति-श्री न समझ लेनी चाहिए। हमारे नवयुवक-समाज का कर्तव्य है कि वह बिना किसी संकोच और भय के इस सामाजिक आंदोलन में महिलाओं का उत्साहपूर्वक हाथ बँटावे और कुप्रथाओं का मूलोच्छेदन करके ही विश्राम ले। तथास्तु।

तारादत्त उप्रेती

× × ×

१६. असार संसार!

झूठी अभिलाषाएँ सारी,
झूठा यह शृंगार।
मन की भटक, नहीं कुछ इसमें,
दो दिन का व्यापार!

× × ×

बोलो, क्या मैं ओसकणों से,
सजलूँ अपनी माँग !
धूलि-कणों का हार पहनकर,
भर लूँ अपना स्वाँग !

× × ×

तृष्णा की उद्भ्रांति मूर्ति पर—
निज जीवन दूँ वार !
जल-बुद्बुद को उठा अंक में,
चूमूँ, करूँ दुलार !

× × ×

क्षणिक मोह की विकल सेज को,
हँस हँस कौन बिछाये !
नभकुसुमों से विफल स्वप्न को,
रह-रह कौन जगाये !

× × ×

किससे मान, कामना किससे,
किससे लाड़-दुलार !
कौन करेगा, कुछ सोचो तो,
धूलि-कणों से प्यार !

× × ×

मत छेड़ो, झंकृत होने दो,
हृत्-तंत्री के तार !
झूम झूमकर गा लेने दो—
'यह असार संसार !'

श्रीइंदिरादेवी विदुषी (इंदौर)

× × ×

१७. शिक्षोन्नति और बुकर टी० वाशिंगटन

महाशय बुकर टी० वाशिंगटन के मातापिता संयुक्त-राज्य (United States) अमेरिका के दक्षिण-भाग में गुलाम की भाँति रहते थे । माता रसोइये का काम करती थी और यह अपने एक भाई और एक बहन के सहित वहीं एक छोटे-से कमरे में रहा करते थे । ज़मीन पर गंदे कपड़ों पर सोते थे । दरिद्रता के कारण बाल्यावस्था में इन्हें चौक साफ़ करना, पौदों को पानी देना आदि अनेक कार्य करने पड़ते थे । सन् १८६३ के आज्ञापत्र के अनुसार यह दासत्व से मुक्त कर दिये गये।

कुछ समय पश्चात् ही यह कुटुंब एक दूसरे देश में जा बसा और यह अपने काका के साथ नमक की खदान में काम करने लगे । इनके काका का १८वाँ नंबर था, इससे यह १८ की संख्या लिख-पढ़ लेने लगे । इनकी माता इनमें विद्याभ्यास की अटूट लगन देखकर ग़रीबी के कारण बहुत दुःखी होती थी । उसने इनके लिए एक छोटी-सी किताब मँगा दी । एक समय एक पढ़ा-लिखा नीग्रो उस देश में आ गया । वह एक-एक सप्ताह क्रमानुसार एक-एक नीग्रो-कुटुंब में रहता और उनके बच्चों को पढ़ाता था । महाशयजी सुबह ६ बजे तक और उधर दोपहर में २ बजे से छः बजे तक खदान में काम करते और बीच के समय में स्कूल में पढ़ा करते। स्कूल खदान से दूर था और ठीक स्कूल खुलने के समय पर छूटते थे, इसलिए प्रतिदिन इन्हें देर हो जाती थी। यह इन्हें असह्य होता । अतएव खदान की घड़ी को यह आधा घंटा आगे कर देते थे । लेकिन यह बात शीघ्र ही खुल गयी ।

इनके निवास-स्थान से ५०० मील की दूरी पर हेंपटन-विद्यालय था । वहाँ फ़ीस कुछ नहीं लगती थी। विद्यार्थियों को आधे दिन शिक्षा दी जाती थी और शेष आधे दिन उनसे नाना प्रकार के कार्य लिये जाते थे। महाशयजी यहाँ पर जाकर पढ़ने का दृढ़ संकल्प कर चुके थे । लेकिन पैसा पास था नहीं । अतएव भीख माँगते-माँगते रिचमांड (Richmond)-नामक स्थान तक जा पहुँचे । यहाँ से हेंपटन ८२ मील था । यह गली में पहुँचे और एक पुल पर बैठ गये । इस समय इनके पेट में चूहे दौड़ रहे थे और ऊपर से थकावट इनका प्राण ले रही थी । रात को जब इन्हें कोई आदमी दिखायी न पड़ा, तो यह उसी पुल के नीचे सो गये । सुबह तो पेट का तक़ाज़ा और भी तीव्र हो गया । इन्होंने देखा कि एक जहाज़ से लोहा उतारा जा रहा है। यहाँ आपने कुछ समय तक काम किया और अंत में हेंपटन-विद्यालय पहुँच गये ।

धूलधूसरित तथा गंदी हालत में ही आप हेंपटन-विश्वविद्यालय के प्रधानाध्यापक के पास गये । उन्होंने

इनको संगीतालय साफ़ करने का कार्य सौंपा। भला एक आदर्श विद्यानुरागी व्यक्ति, जो इतने कष्ट सहकर वहाँ आया था, इस सुअवसर को कब चूकने लगा। उसने झाड़ू उठाई, कमरे को कई बार साफ़ किया; बेंच, मेज़ आदि को हटाकर प्रत्येक वस्तु को कपड़े से कई बार पोंछा, यहाँ तक कि धूल का नाम-निशान तक भी न रहा। प्रधानाध्यापक इस कार्य से बहुत संतुष्ट हुए और इन्हें भरती कर लिया। महाशयजी का जीवन महा दुःखमय रहा, परंतु अपूर्व धैर्य के कारण सन् १८७९ में इन्होंने बी० ए० की परीक्षा, विशेष योग्यता के साथ, उत्तीर्ण कर ली। विशेष अध्ययन के लिए यह वाशिंगटन चले गये। वहाँ से यह फिर हेंपटन आये और "वह शक्ति, जिसकी विजय होती है"—इस विषय पर एक ओजस्वी व्याख्यान दिया, एवं वहीं प्रोफ़ेसर नियुक्त कर दिये गये।

इनके मतानुसार आदर्श शिक्षा वही है, जो अनाड़ी बालक तथा बालिकाओं को किसी एक व्यवसाय में प्रवीण कर दे, चाहे वह कृषि हो, चाहे गोशाला-संचालन हो, चाहे कोई भी हो—जो विद्यार्थियों को सुख तथा नीतिपूर्वक रहने का आदेश दे, और जिससे वे अपनी जाति की उन्नति में पूरा-पूरा हाथ बँटा सकें। वह शक्ति के पूरे अवतार थे, तथा ज्ञान में दूसरे बृहस्पति होकर अपनी जाति की उन्नति तथा सौख्य के नेता बनकर, उसके सदाचार को संगठित कर उन्नत करते रहे।

टसकीजी अलबामा (Tuskeegee Alabama) में एक नये स्कूल की स्थापन करनी थी। हेंपटन-विद्यालय के प्रधानाध्यापक ने यह कार्य महोदय बुकर टी० वाशिंगटन को सौंपा। वह स्थल पर निरीक्षण के लिए गये। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि दासत्व से मुक्त नीग्रो-जाति में विद्याध्ययन की तीव्र इच्छा है। लेकिन उनको घर में नियमित् रहना भी नहीं आता था, न वे खेती-संबंधी कार्यों से परिचित थे। अतिशय शारीरिक परिश्रम ही बहुत अंश तक उनकी पतितावस्था का कारण था। शिक्षा को ही उनकी मुक्ति का एक-मात्र कारण जानकर इन्होंने घुड़साल में ३० बालक-बालिकाओं को लेकर स्कूल आरंभ किया। इस स्कूल के लिए उन्हें ६,००० रु० वार्षिक उनके वेतन-सहित मिलते थे। कुछ समय में और बहुत-से बालक भरती हुए, और पास का मुरग़ीघर भी उसमें मिला लिया गया।

बुकर महोदय ने यह जान लिया कि केवल पुस्तकाध्ययन से कोई लाभ नहीं होगा, अतः बालकों को कृषि के सरल तथा सुगम साधनों की शिक्षा देने लगे। वह जानते थे कि बालकों को जीवन के लिए तैयार करना है, इसलिए उनके मस्तिष्क को प्राचीन भाषा के शब्दों तथा प्राचीन कवियों के अर्धविकसित विचारों से भारावनत करना व्यर्थ समझा। उनके विचारानुसार शारीरिक परिश्रम की अवहेलना के विचारांकुर लगाकर बालकों को चमकीले भड़कीले फ़ैशन के चंगुल में फँसाना सर्वथा अयोग्य था। वह शारीरिक परिश्रम को अर्थशास्त्र की दृष्टि से आवश्यक, सदाचार का केंद्र तथा मस्तिष्क को उन्नत करनेवाली शक्ति के रूप में देखते थे। इसलिए उन्होंने "सब शारीरिक कार्य पवित्र हैं"-नामक उज्ज्वल तत्व-मंत्र बालकों के हृदय पर अंकित कर दिया।

इतने उच्चादर्श को लक्ष्य कर कार्य-संचालन करना, और वह भी ऐसे कंटकाकीर्ण समय पर अत्यंत कठिन, ही नहीं, वरन् दुःसाध्य था। बुकर महाशय ने हेम्पटन-विद्यालय से अपने ज़िम्मे पर ७२० पौंड उधार लिये, और उससे एक ऐसी जगह ख़रीदी, जिसमें एक बड़ा कमरा, एक टूटा-फूटा मुरग़ीघर तथा एक घुड़साल बनी हुई थी। इसके लिए इन्हें १२,००० पौंड देने पड़े। आय के अनुसार ही कमरे, मुरग़ीघर और घुड़साल की सफ़ाई की गयी और वे अध्ययनशाला के रूप में परिणत कर दिये गये।

बुकर महाशय ने अपनी अध्यापकी पोशाक उतार दी, और स्वयं दुपहरी में साधारण कपड़े पहनकर विद्यार्थियों के साथ उस स्थान को साफ़ करने का कार्य हाथ में लिया। सहज ही में २० एकड़ ज़मीन साफ़ करके उसमें फ़सल बो दी। इस बीच देवी ओलिवा ए० डेविसन (Oliva A. Davison)-नामक महिला से विवाह कर लिया और इतना चंदा उगाहा कि उससे सौ एकड़ ज़मीन और मोल ले ली गयी। कृषि से जो आय होती थी, उससे बुकर महोदय अपने छात्रों का पालन करते थे।

इस समय बुकर महाशय ने अपनी संस्था के लिए मकान बनाना चाहा। लकड़ीवाले ने कहा कि मैं आपका सारा काम पूरा कर दूँगा और दाम सुबीते के

अनुसार मिल जायँगे। बहुत-से नीग्रो स्वयंसेवक के रूप में आ गये। केवल शिक्षा से संतुष्ट न होकर महाशय ने ईंट बनाने की भट्ठी लगाने का कार्य उठाया। प्रथम प्रयत्न निष्फल रहा। दूसरी दफ़ा भी भाग्य ने पलटा खाया। तीसरी बार परिणाम संतोषजनक न रहा। इस समय तक सारा फ़ंड समाप्त हो चुका था। परंतु महाशयजी ने अपनी घड़ी बेचकर फिर चौथी बार प्रयत्न किया। इस बार इतनी सफलता प्राप्त हुई कि उस समय से इन्होंने अपने स्कूल के लिए ही ईंटें नहीं बनायीं, वरन् आसपास भी उनकी ईंटें जाने लगीं।

इतना हो जाने पर इन्होंने अपूर्ण रसोईघर की मरम्मत की। उसमें बेंचें, मेज़ के स्थान पर, प्रयोग की गयीं। खाना खुले बरतनों में बनता था। इस प्रकार विद्यार्थियों के बोर्डिंग-हाउस की आयोजना की गयी।

इस तरह संस्था दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करती चली गयी। अंत में एक दिन ऐसा आया कि संस्था में ८३ मकान हो गये, जिनमें स्कूल, बोर्डिंग-हाउस, अध्यापकों के निवास-स्थान आदि की गणना थी। संस्था के पास २,३०० एकड़ ज़मीन थी, जिसमें से १,००० एकड़ में फ़सल होती थी और उसी के द्वारा विद्यार्थियों को कृषि, उद्यान, गोशाला आदि की शिक्षा दी जाती थी। २०० एकड़ स्कूल का कम्पाउंड और शेष चरागाह। इतनी ज़मीन के अतिरिक्त संस्था के पास २५,००० एकड़ ज़मीन और थी, जिसमें से २२,००० एकड़ संयुक्तराज्य से मिली थी, और उसका मूल्य लगभग २५,९०,००० पौंड था। संस्था उस समय ३७ हस्तकौशल-शास्त्रों की शिक्षा देती थी और वहाँ पर इंजिन और यंत्र-संबंधी विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। पुस्तकीय ज्ञान तथा हस्त-कौशल की शिक्षा साथ-ही-साथ दी जाती थी। इन दोनों विभागों में घनिष्ठ संबंध था। जो कक्षा में पढ़ाया जाता था, वही खेतों पर कार्यरूप में परिणत कर दिया जाता था। भाषा के अध्ययन में यह ख़याल रक्खा जाता था कि विद्यार्थी को वह अमोघ शक्ति प्रदान की जाय है, जिससे अपने विचारों को वह सरल तथा मुहाविरेदार शब्दों के द्वारा प्रकट कर सके। इसी ध्येय को लक्ष्य करके शब्दों की रटाई का भार उन पर नहीं डाला जाता था। खेल, व्यापार, इच्छित विषयों तथा पुस्तकों के संबंध में मुखाग्र एवं लेखनी द्वारा उनके विचारों को प्रकट करने की शक्ति का प्रस्फुटन किया जाता था। इनके आंग्ल-भाषा के कोर्स के अंतर्गत सूक्ष्म निरीक्षण तथा विस्तृत अध्ययन की मात्रा थी।

शिक्षा द्वारा उनका बाहरी बर्ताव ही ठीक नहीं होता था, वरन् उनकी विचारधारा को सदाचाररूपी जल से सदैव स्वच्छ रूप में बहाते रखने का अवसर दिया जाता था। विद्यार्थियों का मस्तिष्क व्यापक कर दिया जाता था। बालकों की धार्मिक वृत्ति को सदिच्छाओं की वृद्धि से, उनके विचारों की पवित्रता को दया के प्रोत्साहन से सदा के लिए सुदृढ़ बना दिया जाता था।

गणित के शिक्षण में बालकों को ठीक तथा शीघ्र गणना करने का अभ्यास कराया जाता था। वहाँ विद्यार्थियों को नियमावली घुटवाकर हेर-फेर में नहीं डालते थे, वरन् उन्हें तोल-बाँट आदि द्वारा ठीक अंदाज़ करने का अभ्यास कराते थे। दूकान, खेत, व्यवसाय-संबंधी स्थानों पर उन्हें प्रयोगात्मक शिक्षा दी जाती थी। अंकगणित की कठिन समस्याओं को सरलता से हल करने के लिए बीजगणित पढ़ाया जाता था। रेखागणित के शिक्षण द्वारा विद्यार्थियों में आविष्कार करने की शक्तियों का बीजारोपण किया जाता था।

इतिहास-भूगोल पढ़ाते समय इन विषयों के घनिष्ठ संबंध पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इतिहास में बालकों को पुराने सन्-संवत् याद करने की आवश्यकता न पड़ती थी, वरन् इस शास्त्र के शिक्षण से बालकों के सम्मुख कार्य और उनके प्रतिफल दर्शाकर, उन्हें राजाओं और व्यक्तियों के उदाहरणों से पुष्ट कर बालकों के सदाचार को संगठित करने का तथा सांसारिक नीति से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाता था। भूगोल द्वारा देश-देशांतरों का ज्ञान तथा व्यापार के केंद्रों से परिचित कराकर साथ-ही-साथ प्रकृति-निरीक्षण में उन्हें प्रवीण किया जाता था।

इस प्रकार संस्था ने उन्नति करते-करते अंत में विशाल रूप धारण कर लिया। इतने पर भी बुकर महोदय को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने अपने विद्यार्थियों के सामने एकमात्र दासवृत्ति को ही शिक्षा का ध्येय नहीं रक्खा, वरन् उन्हें अन्यत्र भेजकर अशिक्षित भाइयों में शिक्षा-प्रचार का कार्य भी सौंपा। प्रति वर्ष इस प्रकार की टोली सारे देश में दौरा लगाती थी

और अपनी जाति में से विद्यांधकार को दूर कर उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कराने में तन-मन-धन से सहायता देती थी। यही एकमात्र विद्याध्ययन तथा विद्यार्थी-जीवन का आदर्श ध्येय है।

रामचंद्र गौड़ (विशारद)

× × ×

१८. वसंत*

उषा का-सा अंचल छविमान
छबीली गोधूली-सी झलक।
प्रकट होता है किसका गान ?
नींद से खुलती किसकी पलक ?
अरे, क्या कोई बालगोपाल
मींज करके दो कमलनयन,
ओस-जैसे दो आँसू डाल—
सींचता मा का पुलक-शयन ?
कहीं आशा का आज अनंत
प्रकृति के पट का पाकर छोर,
ढूँढकर अपना अरुण दिगंत—
बनाता यामिनि को ही भोर।
बहुत वर्षों में करके याद—
कहीं आया क्या कामिनिकंत;
नहीं, यह तो पतझड़ के बाद
साज से आया आज वसंत।

हरीशचंद्र जोशी 'हरीश' (बी० ए०)

× × ×

१९. धोखेबाज़ी

गोकुल और रमेश दोनों परम मित्र थे। जब वे छोटे थे, तब एक ही शाला में पढ़ते और सदा एक ही साथ खेलते थे। न इनमें कभी बैर हुआ, न इनकी मित्रता में कुछ बिगाड़। रमेश सच्चा और विश्वासी लड़का था, गोकुल दिखावटी मित्रता रखनेवाला। उसके मन में छल-कपट समाया था। गोकुल की बहन भी उसके साथ रहा करती थी। बड़े होने पर भी गोकुल और रमेश में मित्रता बनी रही। रमेश धनी था, गोकुल कुछ ग़रीब। गोकुल चाहता था कि वह रमेश का धन छीन ले।

एक दिन की बात है। रमेश को बाहर किसी गाँव को जाना पड़ा, क्योंकि वहाँ उसका काका सख़्त बीमार था। रमेश गोकुल के घर आया और बोला—"मित्र, मेरे पास बहुत-सा सोना रक्खा है और मैं परदेस को जाता हूँ। इसलिए इच्छा है कि उसे कहीं रख दूँ। तुम बताओ कि कहाँ रक्खूँ ?" गोकुल यही चाहता था। चट से बोला—"मेरे पास एक लोहे का संदूक़ है। उसमें तुम अपना सोना रख दो, तो मैं समझता हूँ, वह हिफ़ाज़त से रक्खा रहेगा।" रमेश उसकी दमपट्टी में आ गया और अपना सोना लाकर उसके संदूक़ में रख गया। रमेश का स्वभाव था कि वह हरएक पर विश्वास कर लेता था। उसने गोकुल से इस बात की रसीद तक न ली और राम-राम करके चला गया।

रमेश के कुछ दूर पहुँच जाने पर गोकुल अपनी बहन से कहने लगा—"रमेश कितना मूर्ख है, अपने धन की रसीद तक न माँगी"! गोकुल की बहन सीधी-सादी थी। उसको गोकुल जैसा सिखा देता, वैसा वह कह देती थी। गोकुल ने कहा—"यह सोना बहुत ही अच्छा है, अब मैं उसको कभी न दूँगा।" ऐसा कहकर उसने संदूक़ को छिपाकर रख दिया। गोकुल दिन-रात सोचता कि रमेश से क्या कहूँगा।

एक वर्ष के बाद रमेश आया। उसे अपने सोने का ख़याल भी आया। वह झटपट गोकुल के

* क्रिश्चियन-कालेज, लखनऊ के कवि-सम्मेलन (१९३१) में प्रथम पुरस्कार से पुरस्कृत।

घर जा पहुँचा और बोला—"मित्र, कृपा करके मेरा सोना दे दो"। गोकुल और उसकी वहन एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। थोड़ी देर बाद गोकुल बोला—"मैं समझता हूँ, तुम्हारा दिमाग़ चक्कर खाता है। तुम्हें ख़याल नहीं, मैंने वह संदूक़ तुम्हें ही तो दे दी थी"। बेचारा रमेश उसकी चालाकी समझ गया। वह बिना कुछ कहे ही लौट गया।

रमेश के चले जाने पर गोकुल की वहन गोकुल से कहने लगी—"भैया, उसको वापस बुला लो, नहीं तो वह नालिश कर देगा। उससे कह देना कि हम तो मसख़री कर रहे थे।" गोकुल लाल-पीली आँखें करके बोला—"ख़बरदार, वह बहुत ही अच्छा सोना है। रमेश को इतना खटकेगा नहीं, क्योंकि वह धनी है"।

रमेश छड़ी घुमाते हुए अदालत पहुँचे। उन्होंने न्यायाधीश से कहा—"हुज़ूर, मैंने अपने मित्र गोकुल के पास थोड़ा सोना रख दिया था। अब वह कहता है कि तुम हमें सोना कब दे गये हो"! न्यायाधीश बोला—"क्या तुमने अपने सोने की रसीद ली थी?" रमेश बोला—"हुज़ूर, वह मेरा मित्र था, इससे मैंने विश्वास कर लिया"। न्यायाधीश बोला—"तुम इस कमरे में छिप जाओ। मैं उसे बुलाता हूँ"। न्यायाधीश ने अपना सिपाही गोकुल का बुलाने के लिए भेजा। वह थोड़ी देर के बाद उसे बुला लाया। गोकुल के आते ही न्यायाधीश ने पूछा—"क्या तुम्हारे पास तुम्हारे मित्र का सोना रक्खा है?" गोकुल तपाक से बोला—"हुज़ूर वह तो उसी दम अपना सोना ले गया था"। न्यायाधीश ने पूछा—"क्या तुम्हारा संदूक़ तुम्हारे पास है?" उसने कहा—"हाँ, है तो"। न्यायाधीश ने कहा—"उसे मँगा लो; तुम अपनी वहन को चिट्ठी लिख दो, वह इस सिपाही को संदूक़ दे देगी।" गोकुल सिटपिटा गया, बोला—"मैं ही लिये आता हूँ।" "नहीं-नहीं चिट्ठी भेज दो। तुम्हारी वहन उसे भेज देगी"—न्यायाधीश ने कहा। गोकुल ने चिट्ठी लिख दी। थोड़ी देर बाद सिपाही संदूक़ लेकर आ गया। न्यायाधीश ने संदूक़ खोली, और उसमें से सोना निकालकर रमेश को दे दिया। यह देखकर गोकुल न्यायाधीश के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाकर माफ़ी माँगने लगा। न्यायाधीश ने उसे उचित दंड देकर भगा दिया।

रमेश भी प्रसन्नचित्त अपने घर चला गया।

गौरीशंकर 'शांत'

× × ×

२०. छुआछूत का भूत

अपने ही अंग हैं ये अंत्यज असंख्य, इन—
दीन-दुखियों को तो उबारो निज कर से;
पीड़ित समाज हो रहा है इसी वेदना से,
जर्जरित जाति का जहाज इसी डर से।
देश की दशा का कुछ कीजिए सुधार 'चक्र',
प्रखर पुकार भारतीय नारी-नर से;
तो फिर समाज का सुधार कारगर हो, जो
भूत छुआछूत का उतर जाये सर से।

चक्रधर अवस्थी 'चक्र'

× × ×

२१. मेरी प्यारी!

प्रिये, प्राणवल्लभे, प्रणयनि, शांति-सुख-दायिनि मेरे जीवन की चिरसंगिनि! मैं तुम्हें किस संबोधन से संबोधित करूँ, तुम्हें किसकी उपमा दूँ, क्या कहकर पुकारूँ, किन आँखों से कब तक निहारूँ! जीवन की कौन-सी ऐसी अमूल्य वस्तु है, जिसे तुम्हारे ऊपर वारूँ! लगन की भी हद होती है, प्रेम की भी परा काष्ठा



साहित्याचार्य पं० पद्मसिंह शर्मा



महाकवि पं० नाथूरामशंकर शर्मा

N. K. Press, Lucknow.



बा० भगवतीचरण वर्मा
बी० ए०, एल्-एल्० बी०





'त्रिवेणी'-संपादिका
श्रीमती फूलवती शुक्ल एम्० ए०,

होती है, मिलन का समय नियत होता है । किंतु क्या करूँ, मैं पगली हूँ, मतवाली हूँ, बावली हूँ ।

संसार में धन है, जन हैं, पुष्प हैं, पराग है, राग हैं, रंग हैं, वैभव है, ऐश्वर्य है; किंतु ये सब मेरे किस काम के! मुझे यदि धन की इच्छा होती है, तो उसे भी तुम में पा लेती हूँ । प्रकृति की कमनीय कांति की शांति-दायिनी छटा का अनुभव करना होता है, तो उसे भी तुम्हारे सहवास में प्राप्त कर लेती हूँ । युद्ध की वीरता बंधु-बांधवों की धीरता, प्रियतम की सहृदयता, रसिक की सरसता, शृंगार की अद्भुत छटा, इन सबका अनुभव मैं तुम्हारे ही द्वारा कर लेती हूँ । तुम मेरी कामधेनु हो, जीवन की चिरसंगिनी हो । तुम्हें पाकर मैं संपूर्ण संसार को भूल जाती हूँ । शरीर की सुध नहीं रहती, इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं ।

जिस समय परम एकांत में बैठकर मैं तुम्हारे साथ घुल-घुलकर बातें करने लगती हूँ, उस समय जिस अनिर्वचनीय आनंद का अनुभव करती हूँ, उसे यह मेरी निर्जीव लेखनी कैसे व्यक्त कर सकती है । तुम्हारे सम्मिलन तथा सत्संग से मेरे अशांत प्रदेश में सुहावनी सरिता बहने लगती है । आँखें तुम्हें एकटक निहारती रहती हैं, निहारते-निहारते थक जाती हैं, पानी से भर आती हैं; किंतु तृप्त नहीं होतीं । पीड़ा होने पर भी तुम्हें देखती ही रहती हैं ।

अहा! कैसा मनोरम सौंदर्य है, कैसा सुखकर मिलन है, कैसा अद्भुत आकर्षण है, कैसी बाँकी झाँकी है । मन चाहता है, तुमसे क्षण-भर भी पृथक् न रहूँ, अह-निशि तुम्हारी आराधना ही में लगी रहूँ ।

जब मैं इस कोलाहल-पूर्ण संसार की यातनाओं से प्रताड़ित होती हूँ, जब संसारी चिंताओं में मग्न होती हूँ, इस जीवन से कभी-कभी ऊब जाती हूँ, तब, सत्य समझना, मुझे एकमात्र तुम्हारा अंचल ही धीरज बँधाता है, तुम्हारे पास आते ही चिंताएँ भाग जाती हैं, यातनाएँ तिरोहित हो जाती हैं । सदा अमर होकर तुम्हारी मनोहारिणी शांतिदायिनी माधुरी का पान करती रहूँ, यही उत्कट इच्छा रहती है ।

इस नीरव वन में मैं एकाकी वास करती हूँ । इस संसारत्यागी वैरागी का एक-मात्र तुम्हीं अवलंब हो । तुम्हें प्राप्त करके मैं इंद्र को भी तुच्छ समझती हूँ । कुबेर के कोष की भी अवहेलना कर देती हूँ । मेरी तो तुम्हीं सर्वस्व हो ।

* * *

तुम मेरी सहचरी हो, शिक्षिका हो, संगिनी हो, सहेली हो । मैंने आज तक जो कुछ भी प्राप्त किया है, तुम्हारे ही बल-भरोसे पर । तुम मुझे कितना चाहती हो, हाँ, यह न कहलाओ ।

जब मैं छोटी थी, तो तुम पहले-पहल छोटी बनकर मेरे पास आयी थीं । मैंने तुम्हारा प्रेम से स्वागत नहीं किया । तुम्हें पाकर प्रसन्नता नहीं प्रकट की । तुम्हारी अवहेलना कर दी । मेरे परिजनों ने ऐसा करने को मना किया । तुम्हारा प्रेमालिंगन करने को मुझे मजबूर किया ।

उन दिनों मैं निरी अबोध बालिका थी, तुम्हारे सौंदर्य की परख न कर सकी, तुम्हें अपने हृदय में स्थान न दे सकी । परिजनों तथा गुरुजनों की आज्ञा का पालन करने के लिए मैं बाध्य थी । इच्छा न होने पर भी मैंने तुम्हारा साथ किया ; किंतु किया बहुत कम । घरवालों की जब आँख हटती, तभी तुम्हारा साथ छोड़कर चली जाती—अपनी सहेलियों में जा खेलती ।

* * *

धीरे-धीरे तुम भी छोटी से बड़ी होने लगीं । मेरा अनुराग भी तुम्हारी ओर बढ़ने लगा । जो परिजन पहले मुझे तुम्हारा संग करने को बाध्य करते थे, अब उन्हें भी मेरा और तुम्हारा सहवास अखरने लगा । वे मुझे तुम्हारा साथ छोड़कर बाहर टहलने की सम्मति देने लगे । किंतु अब मेरे क़ाबू की बात न थी । मैंने किसी की परवा नहीं की, यहाँ तक कि माता-पिता गुरुजनों के सामने भी मैं तुमसे घुल-घुलकर बातें करने लगी । पास में कोई भी क्यों न हो, मुझे अपने काम-से-काम । घरवालों ने देखा कि इस प्रकार इसके स्वास्थ्य को बड़ा धक्का लगेगा, उन्होंने मुझे शीत-प्रधान प्रदेशों में पर्वत की विशुद्ध वायु के सेवनार्थ भेज दिया । मैं भला अकेली जा ही कैसे सकती थी । तुम्हें भी छिपाकर साथ ले गयी, घरवालों को पता न लगा ।

प्रेम के ऊपर सब कुछ स्वाहा करना होता है, सांसारिक उपचारों को तिलांजलि दे देनी होती है । मैंने

भी सब कुछ तुम्हारे ऊपर वार दिया। घरवालों ने मजबूर किया, दिन-भर उसी के पीछे लगी रहोगी कि कुछ काम भी देखोगी। ये शब्द मुझे असह्य हो गये। तीखे तीर भी शायद इतनी कसक नहीं पैदा करते, जितनी कि इन कठोर शब्दों ने की। जननी के अमूल्य मातृ-प्रेम को तिलांजलि दे दी—वैभव-पूर्ण घर को त्याग दिया। तुम्हीं को साथ लेकर परदेश को निकल पड़ी।

* * *

प्रिये! ओ प्रिये! ऐ मेरी सर्वस्व! तुम्हारे पीछे मुझे परदेश में भी किसी बात की कमी न रही। तुम्हारे पीछे पंडितजन भी मुझे प्यार करने लगे। तुम्हारे 'पातिव्रत्य' पर सभी लट्टू थे। तुम्हारी मनोहारिणी मोहिनी मूर्ति पर सभी मुग्ध थे। तुम्हारे सदा सुहागिनपन के सभी प्रशंसक थे। प्यारी! तुम एक अमूल्य रत्न हो। मेरी आँखों की पुतलियाँ सदा तुम्हें अपने में छिपाने का प्रयत्न करती हैं।

अब मुझे तुम्हारे दर्शनों से दिव्य आनंद का अनुभव होता है, तुम्हारी प्रेमभरी बतियाँ सुनते-सुनते तबियत नहीं भरती है। कभी-कभी रात्रि के दो-दो तीन-तीन बज जाते हैं, मैं अपने बिस्तर पर पड़ी-पड़ी तुम्हारे साथ वार्तालाप करती हूँ। नींद ने बहुत विवश किया, तो तुम्हारे साथ ही उस बिस्तरे पर सो जाती हूँ। रात्रि में भी तुम्हारा वियोग असह्य प्रतीत होता है।

तुम गुण-आगरी हो, सुख की सुषमा हो, चंद्र की प्रभा हो, वेद-व्यास ने तुम्हारा सहारा लिया, शंकराचार्य को तुम्हारा अवलंब मिला। किस-किस को गिनाऊँ! तुम्हें जंगलों में, वनों में, उपवनों में, पर्वतों की कन्दराओं में, शैलों के शिखरों पर भी वे साथ ले गये। तुमने उनका अच्छा मनोरंजन किया। उनका भौतिक शरीर नष्ट हो गया, किंतु तुमने अपने को उनकी बताकर उनका नाम अमर कर दिया। यथार्थ में तुम उनकी थोड़े ही हो, तुम तो प्रकृति की परम पुनीत "पुस्तक" हो। किंतु जो तुम्हारा निरंतर सेवन करते हैं, उन्हें तुम अमर बना देती हो। देवि! इस अबला पर दया रखना। यही इस पतित प्राणी की एकांत प्रार्थना है।

द्रौपदी देवी अग्रवाल

२२. अन्वेषण

(१)

झिलमिल दीप जला तारों के,
नभ ने कर दी दीवाली;
उसी ज्योति में चली ढूँढ़ने—
भरके आँसू से डाली।

(२)

छायी थी मधुवन में सुंदर,
हरी दूब की हरियाली;
मुग्ध दृष्टि से निरख रहा था,
मतवाला हो वनमाली।

(३)

खोज रही थी वन-उपवन में,
हटा-हटाकर अँधियाली;
पूछ रही थी, नीरव मन से—
अरे, बता दो उजियाली।

(४)

हृदय टटोला, देखा क्या, हा!
वीणा थी, पर तार नहीं;
मँडराया था राग, किंतु अब,
पहली-सी झनकार नहीं।

(५)

छिन्न हृदय-तंत्री को लेकर,
मैं सूने पथ पर आयी;
देखा संसृति चितवन से तब—
उदासीनता थी छायी।

(६)

सूने पथ में विचर रही हूँ,
ढूँढ़ रही अतीत की धूल;
उस अतीत की सुमधुर स्मृति में,
काँटे भी लगते हैं फूल।

तारादेवी पांडे

आलोक

१. वैज्ञानिक चमत्कार

एक कीड़े का सिर काटकर दूसरे कीड़े के धड़ पर उसे आरोपित करने की आश्चर्यजनक परीक्षा योरप के कुछ वैज्ञानिक कर रहे हैं और इस परीक्षा का फल भी महान् विस्मयोत्पादक सिद्ध हो रहा है। अध्यापक Plavilstshikoff ने अपनी इस वैज्ञानिक परीक्षा का वर्णन करते हुए एक समाचार-पत्र में लिखा है कि एक नर-कीट का मस्तक काटकर मादा-कीट के धड़ पर आरोपित करने से उस मादा में नर के बहुत-से लक्षण देख पड़ते हैं। इसी प्रकार नर-कीट के ऊपर मादा-कीट का सिर आरोपित करने से उस नर में भी मादा के लक्षण आ जाते हैं और मादा-जैसा वह व्यवहार करने लगता है। किंतु चीर-फाड़ (Operation) की यह क्रिया बहुत ही नाज़ुक होती है और यह क्लोरोफ़ार्म, कोकेन-जैसे किसी बाह्यचेतना-शून्य करनेवाले द्रव्य की सहायता से ही की जा सकती है। उक्त अध्यापक ने इस क्रिया में क्लोरोफ़ार्म या ईथर का प्रयोग किया था। कहते हैं मस्तक काट लेने पर भी कीड़े बहुत देर तक जीवित रहते हैं। कारण, उनकी श्वास-प्रश्वास की नलियाँ उनके शरीर के अधिकांश में विकीर्ण रहती हैं। सिर काट लेने के बाद इस बात पर ध्यान रक्खा जाता है कि अधिक रक्तस्राव न होने पावे; क्योंकि अधिक खून निकल जाने से कीड़े के धड़ पर नये मस्तक के जमने और पुष्ट होने में कमज़ोरी आ जाती है। अभी तक इस वैज्ञानिक परीक्षा का जो परिणाम निकला है, उस संबंध में अध्यापक Plavilstshikoff ने लिखा है कि चीर-फाड़ की क्रिया के सफल होने और नये सिर के ठीक तौर से जम जाने पर इन जानवरों का आचरण बड़ा विलक्षण हो जाता है। नये मस्तक के अनुसार ही उसकी मनोवृत्ति भी बन जाती है। एक मादा-हड्डे के धड़ पर नर-हड्डे का सिर आरोपित कर देने से एकाएक उसमें नर-हड्डे का लक्षण देख पड़ने लगा और वह आक्रमणशील बन गयी। इसी प्रकार नर-हड्डे के ऊपर मादा-हड्डे का कटा हुआ सिर आरोपित करने से उसमें सिर्फ़ नारीत्व के गुण ही नहीं आ जाते, बल्कि मातृ-प्रवृत्ति भी उसमें उत्पन्न हो जाती है और वह मादा-जैसा अपने बच्चे के लिए भोजन एकत्र करने में लग जाता है। अभी तक यह परीक्षा सिर्फ़ एक जाति के कीड़े पर ही हुई है। किंतु एक जाति के कीड़े का सिर काटकर दूसरी जाति के कीड़े के धड़ पर आरोपित करने की जो परीक्षा वैज्ञानिकों ने की है, उसका परिणाम भी कम आश्चर्यकारक नहीं सिद्ध हुआ है। वृक्ष के एक कीट का सिर काटकर गोबर के एक कीड़े के धड़ पर, और गोबर के कीड़े का सिर वृक्ष के कीड़े की धड़ पर आरोपित किया गया। परिणाम यह हुआ कि वृक्ष का कीड़ा गोबर में आकर घुस गया और गोबर का कीड़ा पत्तियाँ खाने और वृक्षों की टहनियों पर चढ़ने की कोशिश करने लगा, यद्यपि उसके पाँव इसके अनुकूल नहीं थे।

* * *

२. अमेरिकन-पुस्तकालय का जन्मदाता

अभी हाल में अमेरिका के सुप्रसिद्ध विद्वान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ एवं पुस्तक-प्रकाशक बेंजा-

मिन फ़्रैंकलिन की २२५वीं वर्षगाँठ न्यूयार्क-नगर में मनायी गयी थी। उक्त अवसर पर न्यूयार्क-नगर के मेयर ने बेंजामिन फ़्रैंकलिन के अन्यान्य गुणों का उल्लेख करते हुए एक ख़ास बात जो बतलायी, वह यह थी कि आज से दो सौ वर्ष पूर्व पहलेपहल इसी व्यक्ति ने अमेरिका में सर्व-प्रथम चलते-फिरते पुस्तकालय (Circulating Library) का संगठन किया था। बेंजामिन फ़्रैंकलिन ने अपने आत्मचरित में लिखा है कि उस समय बोस्टन-नगर के दक्षिण-भाग में एक भी अच्छी पुस्तक की दूकान नहीं थी और जो लोग पुस्तकों के प्रेमी थे, उन्हें इँगलैंड से पुस्तकें मँगानी पड़ती थीं। उसने एक पुस्तकालय-समिति क़ायम की, जिसके ५० सदस्यों में से प्रत्येक ने प्रारंभिक व्यय के रूप में ४० शिलिंग और सालाना १० शिलिंग देना स्वीकार किया। इन्हीं सदस्यों को पुस्तकालय से पुस्तक घर ले जाकर पढ़ने का अधिकार था। हाँ, पुस्तकालय के कमरे में किसी भी नागरिक सज्जन को पुस्तकावलोकन करने की अनुमति थी। इस प्रकार थोड़ी-सी किताबों को इँगलैंड से मँगाकर और उन्हें एकत्र करके इस चलते-फिरते पुस्तकालय का श्रीगणेश किया गया, जो सिर्फ़ सप्ताह में एक दिन शनिवार को ४ बजे संध्या से ८ बजे रात तक खुला रहता था। कुछ समय तक इस पुस्तकालय का अध्यक्ष फ़्रैंकलिन ख़ुद रहा था।

इस छोटे-से पुस्तकालय की देखादेखी अन्य शहरों और प्रांतों में भी इस प्रकार के पुस्तकालय स्थापित हुए, एवं पुस्तक पढ़ने का शौक़ लोगों में बढ़ चला। उस समय मनबहलाव का और कोई दूसरा साधन तो था नहीं; इसलिए लोगों में पुस्तकों के प्रति अभिरुचि बढ़ती ही गयी। इस प्रकार थोड़े समय में ही यहाँ के लोग परदेसियों की नज़र में अन्य देशों के इसी श्रेणी के लोगों की अपेक्षा विशेष जानकार प्रतीत होने लगे। गत दो शताब्दियों के अंदर हमारे लिए मनोरंजन के अनेक साधन प्रस्तुत हो गये हैं सही, फिर भी पुस्तकों के अध्ययन के लिए लोगों के पास काफ़ी समय बच जाता है। वयस्क पुरुषों को शिक्षा के लिए तो इस समय सर्वोत्तम साधन पुस्तकालय ही सिद्ध हो रहा है और इसके द्वारा इस समय भी लाखों और करोड़ों मनुष्य मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्द्धन कर रहे हैं।

बेंजामिन फ़्रैंकलिन के समय की तुलना में इस समय इस प्रकार के चलते-फिरते पुस्तकालयों की संख्या ५ हज़ार से अधिक है और उनमें पुस्तकों की संख्या ३० हज़ार से कम नहीं होगी। सन् १९२९ ई० में इन पुस्तकालयों द्वारा ११,४०,००,००० पुस्तकें वितरित की गयीं। न्यूयार्क-पब्लिक-लाइब्रेरी की सन् १९३० ई० की रिपोर्ट में कहा गया है कि पुस्तकालय के प्रचार-विभाग से कुल १,१६,८४,१६० पुस्तकें जारी की गयीं। यह संख्या गत वर्ष सन् १९२९ की अपेक्षा सैकड़े ९ अधिक थी और अब तक के इस पुस्तकालय के इतिहास में अभूत-पूर्व है। हिसाब लगाने से प्रति शिक्षित व्यक्ति औसतन १० पुस्तकें पड़ती हैं। इसके अलावा २२,३९,५५५ पाठकों ने पुस्तकालय के Refrence Department में ४७,९६,०६८ पुस्तकों का अवलोकन किया और उनसे सहायता ली। यद्यपि इस विभाग के लिए भी यह संख्या अभूतपूर्व कही जा सकती है, तो भी इस संख्या से ही इस विभाग के उपयोग का यथार्थ पता नहीं चलता। कारण, बहुत-सी पुस्तकें बाहर ही ताख पर रक्खी रहती हैं, जिनका उपयोग पाठक आम तौर पर कर सकते हैं। बेंजामिन फ़्रैंकलिन की अमर कीर्ति को चिरस्थायिनी बनानेवाले जब तक ये हज़ारों पुस्तकालय मौजूद हैं, तब तक उनकी स्मृति को कौन मिटा सकता है। सच है—"कीर्त्तिर्यस्य स जीवति।"

* * *

३. प्रत्येक व्यक्ति पीछे एक नक्षत्र

सर जेम्स जिंस-नामक एक योरपियन ज्योतिषी ने अपने हाल के एक वार्तालाप में बतलाया है कि इस पृथ्वी के निवासी—प्रत्येक पुरुष, स्त्री और बालक पीछे कम-से-कम ६० नक्षत्र आकाश में अवस्थित हैं। हमारा दूरवीक्षण-यंत्र (Telescope) जितना ही बड़ा होगा, उतनी ही संख्या में हमें ये तारागण दिखलायी पड़ेंगे। अब तक जो बड़े-से-बड़ा दूरवीक्षण-यंत्र बना है, उसके द्वारा १,५०,००,००,००० नक्षत्रों का पता चला है, जो मोटे हिसाब से व्यक्ति पीछे एक की संख्या में पड़ते हैं। किंतु यह निश्चय है कि इससे भी बड़ा जो यंत्र इस समय बन रहा है, उसके सहारे और भी अधिक नक्षत्र देख पड़ेंगे

और उस समय भी हम पूरी संख्या में उन्हें नहीं गिन पावेंगे। उन नक्षत्रों की गणना करना व्यर्थ है। उनकी संख्या का पता लगाने का एक-मात्र उपाय यही है कि उनका एक साथ वज़न ले लिया जाय। सर ... ने अपने इस कथन की व्याख्या करते हुए बतलाया कि सुनने में यह बात जैसी पागलपन-सी मालूम होती है, वास्तव में वैसी नहीं है। जिस तरह धुरी के चारों ओर गाड़ी का चक्का घूमता है, उसी तरह ये नक्षत्र भी बराबर चक्कर काटा करते हैं और इनमें से हरएक का वज़न सूर्य के वज़न के बराबर या उससे कुछ कम होता है। इस प्रकार कुल कितने नक्षत्र मिलकर इस चक्के को बनाते होंगे, इसकी संख्या का पता लगाया जा सकता है। इनकी संख्या १ खर्व से अधिक तो ज़रूर ही होगी। संभव है, यह संख्या दुगुनी या तिगुनी भी हो। तीक्ष्ण-से-तीक्ष्ण दृष्टिवाले व्यक्ति भी प्रायः ३ हज़ार से अधिक नक्षत्र नहीं देख सकते। नक्षत्र सर्वदा ज्योतिष्मान् नहीं रहते; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो आकाश निरंतर प्रकाशमान् प्रतीत होता। इसके विपरीत रात्रि-काल का आकाश अधिकांश में अंधकारपूर्ण ही रहता है।

श्रीजगन्नाथप्रसाद मिश्र (बी०ए०,-बी०एल्०)

× × ×

४. प्रचुर पूर्ति का रहस्य

हमारा बाह्य जीवन हमारे विचारमय जीवन का प्रतिबिंब है। हमारे विचारों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है। प्रथम हमारे कर्मों पर हमारे विचारों का प्रभाव पड़ता है, जिससे हमारी परिस्थितियों की सृष्टि होती है। द्वितीय इनका प्रभाव अन्य मनुष्यों पर पड़ता है। जब हमारे विचार अच्छे होते हैं, तब हमारे कर्म भी अच्छे होते हैं, हमारी परिस्थिति भी हमारे अनुकूल बनती है, तथा अन्य मनुष्य हमारे मित्र बन जाते हैं एवं हमको अपने कार्य में सफलता प्राप्त होती है। प्रतिकूल इसके जब हमारे विचार कुत्सित होते हैं, तब हमारे कर्म भी बुरे होते हैं, परिस्थिति भी प्रतिकूल बन जाती है, मित्र अमित्र हो जाते हैं और सफलता असफलता में परिणत हो जाती है। जैसा मनुष्य अपने हृदय में विचार करता है, वैसा ही वह हो जाता है। इसी के समान यह बात भी सत्य है कि जो मनुष्य जैसा होता है, वैसा ही वह विचार करता है; इसी प्रकार के उसके कार्य होते हैं और उससे वैसी ही परिस्थितियों का निर्माण होता है। यदि हम किसी गंदे स्थान में रहनेवाले मनुष्य को किसी सुंदर पड़ोस में लाकर ठहरा दें, तो या तो वह शीघ्र ही अपने पुराने मलिन स्थान को वापस जायगा, या उस सुंदर स्वच्छ पड़ोस को भी गंदा कर देगा। इसी प्रकार यदि हम किसी अच्छे विचारवाले पुरुष को किसी गंदे स्थान में ठहरा दें, तो या तो वह उसको जल्दी ही छोड़कर भाग जायगा, या उसको एक सुंदर स्वच्छ भवन में बदल देगा। किसी कुलटा को महल में रखकर देखिए। वह उसको सुअरबाड़ा बना देगी। इसके प्रतिकूल किसी उत्तम विचारवाली महिला को झोपड़ी में रखकर देखिए, वह उसको राजाओं के निवास करने योग्य महल बना देगी। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की बाह्यावस्था बदलने के पूर्व उसके आभ्यंतरिक भावों का बदलना आवश्यक है। जब मनुष्य के भाव बदल जाते हैं और वह नवीन आकांक्षाओं, आदर्शों और आशाओं से परिपूर्ण हो जाता है, तब कालांतर में वह स्वयं अपनी नीची दशा से ऊँचा उठ जाता है और अपनी ओर ऐसी परिस्थितियों को आकर्षित करता है, जो उसके नूतन मनोभावों के अनुकूल होती हैं। कुलटा के गृह की सफ़ाई करना व्यर्थ है; क्योंकि वह पुनः उसको सुअरबाड़ा बना देगी, परंतु यदि उसके हृदय में निर्मलता, स्वच्छता और पवित्रता के भाव भर दिये जाएँ, तो वह तब तक कदापि संतुष्ट न होगी, जब तक उसकी परिस्थिति न्यूनाधिक रूप में उसके मानसिक भाव अथवा आदर्श के अनुकूल न हो जाय।

बहुधा मनुष्य के जीवन की असफलता, विरक्ति और दरिद्रता—तुलनात्मक अथवा वास्तविक—उसके चरित्रबल की न्यूनता की ही छाया होती है। संभव है, ऐसे मनुष्य में योग्यता अधिक हो, परंतु धैर्य और तत्परता न हो, जिससे वह अपने समस्त कार्यों में असफल हो अपनी भार्या और पुत्रियों के आश्रय में रहता हो, वह तुमको इस बात का विश्वास दिलावेगा कि उसकी प्रस्तुत दीन दशा का कारण उसका दुर्भाग्य है। परंतु वास्तव में उसकी असफलता का कारण उसके चरित्रबल की न्यूनता अथवा हीनता है।

अतएव यदि किसी मनुष्य की दरिद्रता, दीनता अथवा धन-संबंधी कठिनाइयों का कारण उसके आचार की दुर्बलता है, जो उसके कार्यों और व्यवहारों में अयोग्यता, अनुपयुक्त सेवा तथा अनुचित निर्णय के रूप में प्रकट होती है, तो जब तक उसके आचार में परिवर्तन न होगा, तब तक किसी स्थायी रूप में परिस्थितियों का उसके अनुकूल बनना असंभव है। ऐसे असफल मनुष्यों को यह समझाना कठिन है कि वे स्वयं ही अपनी असफलता के कारण हैं, और जब तक वे इस बात को न समझें, तब तक न तो उनके लिए कोई आशा की जा सकती है और न उनको किसी प्रकार की सहायता देना संभव हो सकता है। परंतु जब वे अपने दोष को मान लें, तब उनको यह बतलाया जा सकता है कि प्रस्तुत आपत्तियों और कठिनाइयों से बचने का उपाय आत्मसंशोधन अथवा अपना सुधार है। उस समय उनको अपनी दुर्बलताओं को खोज निकालना चाहिए और आचारहीनता—उदाहरणार्थ उत्साह, साहस, निश्चय, अनुराग, दृढ़ता, तत्परता, धैर्य, एकाग्रता और निर्णयशक्ति की अपूर्णता—को दूर करना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें ज्ञात हो जायगा कि उनकी परिस्थितियाँ उनके अनुकूल बनती जा रही हैं। प्रत्येक वस्तु अंदर से बाहर आती है। प्रथम अंतस्थल में पुनः बाह्यस्थल में, यह नियम है। इसलिए अंतस्थल में परिवर्तन होना आवश्यक है।

इस विषय के अंतस्थल में प्रवेश पाने के लिए यह बतलाना आवश्यक है कि मन ही साक्षात् सृष्टि का कारण है। हम बतला आये हैं कि मन तथा स्वभाव परिस्थितियों में प्रतिबिंबित होते हैं। अब एक क्षण के लिए हमें उस मन के विषय में विचार करना है, जो अनंत है। समस्त संसार, जो मर्यादा में अवश्य अनंत है, दिव्य मनस्तत्त्व से उत्पन्न हुआ है और उसमें इसी प्रकार से समाया हुआ है जैसे कोई मानसिक चित्र तुम्हारे मन में रहता है। ईश्वर की वह सृष्टि, जो दिव्य मनस्तत्त्व में मूर्तिमान् होती है, संपूर्ण है; यह हमको अपूर्ण दिखायी देती है, क्योंकि हमको इसका दर्शन अपनी सीमित शक्तिवाली इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है। हमारा मन सांत और अपूर्ण है, इसलिए पूर्ण और अनंत सृष्टि की मूर्ति, जो हमारे मन में निर्मित होती है, अवश्य ही अपूर्ण और सीमित होती है और हम उस सृष्टि के वास्तविक रूप से अनभिज्ञ होने के कारण उसको सत्यमान लेते हैं। परंतु जिस सृष्टि का अवलोकन दिव्य मनस्तत्त्व में होता है और जैसी वह वास्तव में है, वह अनंत भी है और संपूर्ण भी है, तथा उसकी संपूर्णता असीम है। उसमें दरिद्रता का अभाव नहीं है। दरिद्रता और अभाव मनुष्य के मन में उत्पन्न होते हैं। ईश्वर के मन में, जो सब विधि से परिपूर्ण है, दरिद्रता और अभाव का स्थान ही नहीं है। संक्षिप्त रूप से इतना कहना पर्याप्त है कि अनंत पूर्णता या संपूर्णता सत्य है। अभाव और अपूर्णता मिथ्या है। जो दरिद्रता और अभाव को सोचते रहते हैं, उनका जीवन सीमित रहता है, और वे दरिद्रता से कदापि नहीं बच सकते। वास्तव में दरिद्रता मानसिक अभाव का बाह्य प्रतिबिंब अथवा छाया ही है। इसके प्रतिकूल जो लोग अपने जीवन में विपुलता और पूर्णता का विचार करते हैं, उनको कभी अभाव का दुःख नहीं होता। उनकी परिस्थिति उनकी मानसिक अवस्था का अनुसरण करती है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे धनवान् हो जाते हैं; उनमें से तो बहुत-से भोजन-मात्र से संतुष्ट रहते हैं और धन की इच्छा नहीं करते, तथापि उनकी आवश्यकताएँ सभी पूरी होती रहती हैं, उनको कभी अभाव की चिंता नहीं होती।

बहुत-से लोग धन-संचय करने को पाप समझते हैं, परंतु व्यक्तिगत रूप से मुझे इससे बचना असंभव प्रतीत होता है। व्यापार या कोई कार्य विना धन के नहीं हो सकता। परंतु धन केवल जमा करने के लिए नहीं है। ऐसा करना मेरे विचार में अनावश्यक और मूर्खता है। आध्यात्मिक जीवन को विनष्ट करने के लिए धन से अधिक प्रबल कोई और शत्रु नहीं है। मद्यपान करने-वाले पुरुष और व्यभिचारिणी स्त्री की भी मुक्ति की आशा की जा सकती है; परंतु धन के भार से दबे हुए पुरुष की मुक्ति यद्यपि असंभव नहीं, तथापि बहुत ही कठिन है। हाँ, ऐसे धनवान् भी मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, जो धन को तुच्छ समझते हैं और अपने-आपको केवल उसका संरक्षक मानते हैं।

धन का संग्रह करना भी निर्धनता के समान ही अनावश्यक है। इन दोनों का आधार भ्रममूलक है।

न यह है कि समस्त पूर्ति भौतिक और उसका कारण निस्संदेह भौतिक है। अर्थात् वह परिमाण में सीमाबद्ध है, अतएव उसके प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना या करना आवश्यक है, यद्यपि यह असंदिग्ध सत्य है कि पूर्ति का कारण आध्यात्मिक है, अतएव वह अमर्यादित है। जो मनुष्य इस सत्य को जानता है, वह निर्धनता या अभाव की चिंता नहीं करता, और इनसे अभय हो जाता है। उसको धन-संग्रह करने का कोई हेतु नहीं रह जाता; क्योंकि जिसको पूर्ति का निश्चय हो जाता है, उसको धन निरर्थक प्रतीत होता है।

जिन लोगों का धन की पूर्ति के इस सत्य सिद्धांत में प्रवेश हो जाता है, वे या तो धन से घृणा करने लग जाते हैं या धन को बहुत तुच्छ समझते हैं। धन के विषय में उनकी इच्छाओं का अवसान हो जाता है। उनको ऐसी इच्छा क्यों हो? लोग धन की इच्छा इस हेतु करते हैं कि वे धनाभाव से सशङ्कित रहते और यह विचार करते हैं कि धन मिल जाने से उनकी इस शंका से निवृत्ति हो जायगी। तथापि जब उनको सत्य का ज्ञान हो जाता है, तब यह भी ज्ञात हो जाता है कि उनकी इच्छाएँ सदैव पूरी होती रहती हैं, अतएव वे धन तथा तत्संबंधी चिंता और उत्तरदायित्व से और कभी जर्जरित नहीं होते।

धन का बाहुल्य निर्धनता के समान ही अस्वाभाविक है। मसीह ने निर्धन रहना अङ्गीकार कर अपने पार्वतीय वचनों में इस सत्य को प्रमाणित कर दिखलाया है। उसका यह उपदेश है कि जो लोग स्वर्ग में रहनेवाले पिता पर विश्वास करते हैं, वे अत्यन्त धनाढ्य न भी हों, तथापि उनकी इच्छाएँ अवश्य पूर्ण होती रहेंगी। बहुत-से लोग इस आध्यात्मिक सिद्धांत के आश्रय में रहकर अपना जीवन साधारण प्रकार से व्यतीत करते हैं और यद्यपि वे धनाढ्य नहीं होते, तथापि उनकी आवश्यकताएँ पूरी होती रहती हैं। समयानुसार उनको उनकी आवश्यकता के अनुसार धन मिलता जाता है। ऐसे जीवन के निमित्त जीवित विश्वास की आवश्यकता है; परंतु इसका परिणाम इतना ही निश्चित है, जितना सूर्य का उदय और अस्त होना।

ऐसा सादा जीवन विना विश्वास के असंभव है और पूर्ति-विषयक इस सत्य को जानना विश्वास होने के लिए आवश्यक है। दैवी पूर्ति अथवा आध्यात्मिक या मानसिक नियम को कार्य के प्रति प्रवृत्त करने के लिए हमारा यह जान लेना आवश्यक है कि दरिद्रता या निर्धनता असत्य और मिथ्या है। यह भी जानना आवश्यक है कि जगत् आत्मा ही का रूप है, ईश्वर आत्मा है, और वही आत्मा है, जो हमारे जीवन का कारण है, जिसके आश्रय हम जीवित हैं और अपने सब कार्य कर रहे हैं। हम उसी आत्मा के एक अंश हैं, परंतु हैं उस पूर्ण-रूप परमात्मा के अंश। अतएव हमारी आवश्यकताएँ सदैव पूरी होती रहेंगी। हमारी आवश्यकताओं का पर्याप्त मात्रा में पूर्ण होना सत्य है। दरिद्रता और अभाव, विश्वास की न्यूनता, भय, अज्ञान तथा चरित्रबल की हीनता के परिणाम हैं। उनकी सत्ता हमारे मस्तिष्क में है, और वे मिथ्या हैं। वे असत् हैं। न वे स्थायी हैं, और न उनकी कोई सत्ता है।

इस सत्य की शिक्षा प्राप्त हो जाने पर हमें इसी ज्ञान के अनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए और तदनुसार विचार करना, कार्य करना और ईश्वर की स्तुति करना चाहिए, मानों हमारी मनोकामनाओं का सफल होना हमारे अधिकार में आ गया है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि हमको उचित से अधिक धन व्यय करना अथवा ऋण लेना चाहिए, वरन् यह कि हमको अपने मन से प्रचुर पूर्ति के वातावरण में रहना चाहिए। हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी कार्य के बाह्य जीवन में प्रकाशित होने के लिए आभ्यांतरिक चेतना में तदनुसार परिवर्तन होना और उस कार्य का मन में स्थान पा लेना आवश्यक है।

इस श्रेष्ठ चेतना में प्रवेश पाना—जहाँ हमको इस सत्य का ज्ञान और अनुभव हो जाता है कि समस्त पूर्ति का कारण आत्मा है और यह दैवी कारण अनंत है—सरल नहीं है, भले ही यह अन्य जनों की अपेक्षा कतिपय पुरुषों के लिए कम कठिन हो। इसके लिए आवश्यक है कि हमारा मन निरंतर कार्य में लगा रहे, सावधान रहे और हम अपने सद्विचारों में सुस्थिर और सुदृढ़ रहें। जिज्ञासुओं के लिए यह कार्य कठिन नहीं है। दैवी पूर्ति की चेतना में विचरने से तथा उस पर विश्वास करने से हमारे कार्यों में, जान में या अजान में, अवश्य परिवर्तन हो जाता है, जिसका हमारे जीवन पर अवश्य प्रभाव पड़ता है।

पूर्ति-विषयक ज्ञान अथवा आभ्यांतरिक दृष्टि से वर्णन के पश्चात् अब मैं उसका वर्णन बाह्य अथवा क्रियात्मक दृष्टि से करूँगा; क्योंकि इस दृष्टि से भी इस विषय का वर्णन करना उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना आभ्यांतरिक दृष्टि से।

उपर्युक्त विवेचन से मेरा कदापि यह अभिप्राय नहीं है कि व्यवसाय-बुद्धि और मितव्ययिता का तिरस्कार किया जाय, वरन् उनका पालन करना भी ज़रूरी है। मसीह ने ५,००० मनुष्यों को भोजन कराने के पश्चात् उनके जूठन को बड़ी सावधानी से संचित किया था, इसलिए कि कोई वस्तु व्यर्थ नष्ट न होने पावे। यह कार्य विश्वव्यापी नियम के अनुसार हुआ था। प्राकृतिक और आध्यात्मिक जगत्, दोनों में मितव्ययिता का नियम विद्यमान है। प्रकृति बाह्यरूप से देखने में अत्यंत अपव्ययी तथा दुर्व्ययी प्रतीत होती है, परंतु यथार्थ में जहाँ तक संभव होता है, वहाँ तक वह किसी वस्तु को व्यर्थ में नष्ट नहीं होने देती।

यह शिक्षा हमारे लिए कितनी उत्तम है, व्यय करने में सावधान रहना और बचत करना मानसिक तथा चारित्रिक श्रेष्ठता का लक्षण है। असहाय दरिद्र का अपव्ययी होना अपयश है। जो लोग सुसंपन्न हैं, वे दरिद्रों से कहीं अधिक सावधान रहते हैं और बचाते रहते हैं। इसके अपवाद हैं, यह सत्य है; परंतु नियम यह है कि जो मनुष्य द्रव्य नहीं बचा सकता, वह जीवन में कभी सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। अपने हेतु कतिपय वस्तुओं के त्यागने की अक्षमता, चरित्र की दुर्बलता और उद्देश्य-पालन की असमर्थता को प्रकट करती है जिनके विना सिद्धि प्राप्त करना असंभव है। मैं दो ऐसे मनुष्यों को जानता हूँ, जिन्होंने अपनी बहुत कम आय में से पाँच पौंड बचाकर बहुत बड़ी संपत्ति उपार्जित कर ली है। आरंभ ही सदैव कठिन होता है। यदि प्रारंभिक कठिनाइयों को नहीं जीत सकते, तो जीवन-संग्राम में अपने किसी उद्देश्य पर सुस्थिर नहीं रह सकते। इसके प्रतिकूल जब एक बार प्रारंभिक कठिनाइयों पर विजय प्राप्त हो जाती है, तब अपनी नौका को समृद्धि-सागर के प्रवाह में डालना कठिन नहीं होता। जब एक बार अनन्त वैभव के भागी होने का अनुभव हो जाता है और अपनी आय के अंदर व्यय करके, प्रस्तुत कार्य को यथाशक्ति भली भाँति करते हुए, धनबाहुल्य की चेतना में जीवन व्यतीत करने की शिक्षा पा लेते हो, तब तुम्हारी समृद्धियात्रा का आरंभ हो जाता है। जो पुरुष यह विश्वास करता और अनुभव करता है कि वह विपुल सम्पत्ति और धन का अधिकारी है, उसको देर-सवेर अवश्य ही वैसे सुअवसर की प्राप्ति हो जाती है। बहुत लोग यह न जानने से कि उनको कुछ काल तक एक प्रकार का दोहरा जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता है, अपनी आशाओं को नष्ट कर देते हैं। उनको चेतना में तो उदार और सुसंपन्न रहना चाहिए और जीवन के कार्यों में मितव्ययी एवं सावधान। ऐसा करने से एक समय ऐसा आवेगा, जब उनकी आय में बहुत वृद्धि होगी। उस समय उनको अपनी आय के कुछ अंश पर बसर करना चाहिए, संपूर्ण आय को व्यय कर देना उचित न होगा। इस क्रम से व्यय करने से आपका जो बड़ा अंश बच रहेगा, वह परोपकार में तथा सुअवसरों को ग्रहण कर अपनी आय की वृद्धि करने में व्यय किया जा सकेगा। बहुत-से व्यवसायी पुरुष अपने निज के ख़र्च में इतनी उदारता से व्यय कर डालते हैं कि फिर वे सुनहरे अवसरों से धनाभाव के कारण कोई लाभ नहीं उठा सकते। अथवा, अपने व्यवसाय में ऐसे लोगों को साझी बनाने के लिए बाध्य होते हैं, जो लाभ का बहुत बड़ा भाग लेने के अतिरिक्त और प्रकारों से भी व्यवसाय के लिए प्रतिबंध और अयोग्य साबित होते हैं।

तत्त्वरूप से, सारांश में, पूर्ति का स्रोत आध्यात्मिक है, परंतु यह भौतिक साधनों से प्राप्त होता है और इसका भागी बनने के लिए इसे उपार्जित करना आवश्यक है। जो कुछ जीवन में हमको पूर्ति के रूप में पाना है, उसके बदले में कुछ देना भी ज़रूरी है। पाने के लिए देना आवश्यक है और हमको वही वस्तु देना भी आवश्यक है, जिसको संसार आवश्यक समझता और चाहता हो।

अतएव पूर्ति का रहस्य यह है कि हम अनंत वैभव का अनुभव करें और उस चेतना में इस प्रकार से रहें, मानों भौतिक साधनों की कोई सत्ता ही नहीं है। इसके साथ हमें संसार को वह वस्तु देनी चाहिए, जिसको वह चाहता है। अथवा हमको अपने कार्यों में आर्जव, सत्य और न्याय का व्यवहार कर यथायोग्य जगत् की सेवा करनी चाहिए। यह आशा करना कि धन की एक विपुल राशि बनी-बनायी आकाश से आकर हमारी गोद में गिर पड़ेगी, मूर्खता है। इसको हमें बुद्धिपूर्वक विश्वासपूर्ण सेवा से अर्जित करना पड़ेगा।

उपर्युक्त विचार एक ऐसे अनुभवी सज्जन के हैं, जिन्होंने अपनी रुग्णावस्था में विना विशेष पूँजी के व्यवसाय करना आरंभ किया था और सफलतापूर्वक उससे अभी निवृत्त हुए हैं। अतएव इन विचारों को अपनाने से व्यवसाय में सफलता प्राप्त करना तो अनुभव द्वारा सिद्ध ही हो चुका है, प्रत्युत ये सिद्धांत जीवन के प्रत्येक कार्य-क्षेत्र पर समानरूप से लागू हैं। इसलिए इनको कार्यरूप में लाकर, इनसे अपनी आवश्यकता के अनुसार लाभ उठाना चाहिए।

अयोध्याप्रसाद (बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

सम्पादकीय विचार

१. हिंदी-आलोचना और उसका भविष्य

संसार की सभी उन्नत भाषाओं के मर्मज्ञ इस बात को मानते हैं कि किसी भाषा की ऊर्ध्व-गामिनी प्रगति के साथ-साथ गंभीर आलोचना का प्रादुर्भाव होता है। ज्यों-ज्यों भाषा में भाव-गांभीर्य और प्रौढ़ता आती जाती है, त्यों-त्यों लोगों के हृदय में रचना की शिथिलता अथवा उत्कृष्टता का ज्ञान होने लगता है। अँगरेज़ी-साहित्य का वास्तविक प्रारंभ कवि चासर और स्पेंसर के समय से ही माना जाता है। उसके बाद भी शेक्सपियर, मिल्टन एवं मार्लो-सरीखे नाट्यकार तथा कवियों के दर्शन हुए, किंतु अँगरेज़ी आलोचना का श्रीगणेश कई शताब्दियों के पीछे कालरिज, डा० जानसन आदि आलोचकों की कलम से हुआ। यह प्रवाह बराबर बढ़ता गया और अँगरेज़ी-भाषा-मर्मज्ञों के लिए शेक्सपियर तथा अन्य प्रतिष्ठित कवियों की आलोचना करना एक फ़ैशन-सी बात हो गयी। वहाँ यह धारणा बन गयी कि चाहे कोई कितना ही मौलिक लेखक, कवि या नाटककार क्यों न हो, वह जब तक शेक्सपियर, मिल्टन की पवित्र स्मृति में अपनी कुछ पंक्तियाँ समर्पित नहीं करता, तब तक अपनी प्रतिष्ठा को उचित एवं अपने ज्ञान को पूर्ण नहीं समझता। इसके उदाहरण में आधुनिक युग के कई अँगरेज़ी के प्रकांड कवि और ग्रंथकार उपस्थित किये जा सकते हैं।

हिंदी-काव्य का आरंभ महाकवि चंदबरदाई के समय से माना जाता है। उस समय से लेकर अर्वाचीन काल के बीच सूर, तुलसी, केशव आदि रत्नराशि प्रकाशित हो रही हैं; किंतु इन रत्नों की परीक्षा का समय अब आया है। इसका कदाचित् यही कारण बताया जा सकता है कि पूर्वकाल में आलोचना की ओर रुचि नहीं थी। संस्कृत-साहित्य के विषय में यही बात समझ पड़ती है। अलंकारों की आलोचना-प्रत्यालोचना में पोथे-के-पोथे लिख डाले गये, लेकिन कालिदास, भवभूति, भारवि के काव्य-सौष्ठव को लक्ष्य करके किसी छोटे ग्रंथ का भी निर्माण नहीं हुआ।

प्राचीन आचार्यों के विषय में यह तो नहीं कहा जा सकता कि उनमें आलोचना का अभाव था। वस्तुतः उनकी आलोचना का दृष्टिकोण अर्वाचीन पद्धति से भिन्न था। भाषा की प्रगति एवं उसको प्रयोग करनेवाली जनता की प्रतिभा के अनुकूल ही किसी भाषा में पूर्व अथवा पश्चात् आलोचना को स्थान मिला है—ऐसा साहित्यिक आलोचना के इतिहास-परिशीलन से पता चलता है।

हिंदी में साहित्यिक—आलोचना की दो धाराएँ प्रत्यक्षरूप से दिखायी देती हैं। एक तो वे आलोचक हैं, जो पौर्वात्य भाषाओं के अध्ययन के आधार पर प्रकाश डालते हैं; और दूसरे वे हैं, जिनके ऊपर ग्रीक या अँगरेज़ आलोचकों का प्रभाव पड़ा है। अभी तक हिंदी में आलोचना का क्षेत्र इतना संकीर्ण और परिमित है कि उपर्युक्त दोनों धाराओं का भी आभास-मात्र ही मिलता है। प्रौढ़ता एवं गंभीरता कम है और व्यर्थ की टीका-टिप्पणी अधिक। ऐसा मालूम होता है कि इस कमी की ओर कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है। लेकिन जब तक अधिकारी विद्वान् इस कार्य को अपने हाथ में लेकर पथ-प्रदर्शन और मार्ग-निर्धारण नहीं करते, तब तक इसकी गतिविधि में उन्नति की आशा कम है। कुछ लोगों की यह प्रकृति-सी हो गयी है कि दूसरों को भला-बुरा कहकर अपनी धाक जमाना चाहते हैं। यह चाल गर्हित और साहित्य के लिए घातक है। विषमय वाद-विवाद को छोड़कर यदि विशुद्ध सामूहिक-शक्ति के द्वारा प्रयत्न किया जावे, तो हिंदी-आलोचना का ऊँचा स्टैंडर्ड स्थापित करने में हम शीघ्र सफलमनोरथ हो सकते हैं। कदाचित् शेक्सपियर अपनी कृतियों के कारण उतना महान् नहीं है, जितना कि उसके प्रतिभाशाली आलोचकों ने उसे बढ़ाया है। हमारे हिंदी के प्रतिभासंपन्न आलोचकों को भी उसी प्रकार सूर, तुलसी आदि अमर कवियों के चरणों में अपनी श्रद्धांजलि चढ़ाना चाहिए।

आज संसार के प्रत्येक क्षेत्र में भीषण संघर्ष चल

रहा है। साहित्य के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। एक साहित्य दूसरे साहित्य की अपेक्षा प्रभुत्व स्थापित करना चाहता है। हिंदी भी ३५ करोड़ भारतीयों की राष्ट्रभाषा होने के लिए घोषणा कर रही है। यह दावा सर्वथा न्यायसंगत है। लेकिन हिंदी के विद्वानों को इस बात पर तनिक शांतिपूर्वक विचार करना चाहिए कि हमने संसार के सामने अपनी भाषा को उच्च सिद्ध करने के लिए कहाँ तक प्रयत्न किया है। अभी हिंदी-आलोचना का स्टैंडर्ड किसी कवि के पदों की प्रशंसा-मात्र है। पदों का मनोवैज्ञानिक-विश्लेषण अभी बहुत दूर नज़र आता है। फिर भी आधुनिक हिंदी का युग आशामय है। पिछले १०-१५ वर्षों में उसकी अच्छी उन्नति हुई है। यदि संस्कृत के विद्वान् और अँगरेज़ी विश्वविद्यालयों से निकले हुए आधुनिक आलोचना की पद्धति के ज्ञाता भाषामर्मज्ञ ठीक सहयोग करके हिंदी-आलोचना-भित्ति को सुदृढ़ एवं परिष्कृत बनावें, तो निश्चय ही सुवर्ण-युग की स्थापना हो सकती है।

× × ×

२. हिंदीपत्र और पुरस्कार

हमारे यहाँ हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं की संख्या भले ही बढ़ रही हो, परंतु उनकी ग्राहक-संख्या नहीं बढ़ रही है—इस विषय से जानकार लोग भली भाँति परिचित होंगे। हिंदी में दो-चार पत्रों को छोड़कर शेष पत्र-पत्रिकाएँ घाटे में ही चल रही हैं—यह भी बहुत-से लोग जानते होंगे। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं की बढ़ती से वास्तव में जो लाभ होना चाहिए वह नहीं होता। पत्र निकलते हैं और असमय में ही बंद हो जाते हैं। जो चलते भी हैं, वह पर्याप्त ग्राहक-संख्या न होने से, अनेक कठिनाइयों और विपत्तियों के बीच अपनी जीवन-यात्रा निर्वाह करते हैं। प्रकाशक जो अधिकतर व्यापारी होते हैं, कहाँ तक आर्थिक-आवश्यकताओं की पूर्ति करने में अपने को तैयार रख सकते हैं? जिन पत्र-संपादकों के निजी पत्र हैं, वह ग्राहक-संख्या की कमी से पुरस्कार नहीं दे पाते या बहुत थोड़ा देते हैं। और जो संपादक प्रकाशकों के यहाँ नौकर हैं, वह आर्थिक मामलों में सब प्रकार उनके अधीन होते हैं। इसलिए अनेक इच्छाएँ रखते हुए भी उन्हें परिस्थितियों के ही अधीन रहना पड़ता है। यह तो इधर की संक्षिप्त कहानी हुई। उधर लेखकों की दशा भी दयनीय है। जिनके निर्वाह का यही एक ज़रिया है, उन्हें बड़े संकटों का सामना करना पड़ता है। उनको अपने परिश्रम का चौथाई पुरस्कार मिलना भी दूभर हो रहा है। व्यवसायी प्रकाशक अधिकांश में यही चाहते हैं कि—'हर्रा लगे न फिटकरी और रंग चोखा आवे।' इस कशमकश में प्रकाशक तो भले ही कुछ लाभ उठा लें, लेकिन लेखक अधिकतर घाटे में ही रहते हैं। हिंदी में अब तक जो तीन-चार पत्रिकाएँ साहित्य की अच्छी पत्रिकाएँ समझी जाती हैं, उन सब की मासिक पुरस्कार की रक़म कदाचित् इतनी भी नहीं होती, जितनी कि विलायत के किसी अच्छे लेखक को अपने सिर्फ़ एक लेख पर सहज में मिल जाती है। हम पत्रिकाओं से पुरस्कार देने और लेखकों द्वारा पुरस्कार अवश्य लेने के पक्षपाती हैं। किंतु जब तक हिंदी-भाषा-भाषी जनता अपना कर्त्तव्य समझकर पत्रों की सहायता के लिए आगे नहीं बढ़ती, जब तक प्रकाशकगण अपनी व्यावसायिक प्रवृत्ति को उदार बनाने और भाषा के उन्नायक सरस्वती-उपासकों की क़द्र करना अपना धर्म नहीं मानते एवं जब तक लेखकों और पत्रकारों का प्रेमपूर्ण संगठन नहीं होता, तब तक वर्त्तमान कठिनाइयों का दूर होना असंभव है। ईश्वर करे, वह दिन शीघ्र आवे जब राष्ट्र-भाषा का प्रत्येक पत्र अपने लेखकों और कवियों को

आर्थिक-संकटों से मुक्त कराने में पूर्ण समर्थ हो सके। वह दिन बड़े सौभाग्य का दिन होगा।

पुरस्कार के संबंध में अपने कुछ विचार हमारे पास आदरणीय चिरपरिचित साहित्यसेवी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने लिख भेजे हैं। हम उन्हें नीचे प्रकाशित कर रहे हैं—

"आजकल हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय की खूब चर्चा चल रही है कि लेखकों को पत्रिकाओं से पुरस्कार लेना चाहिए या नहीं। बहुतों की राय है कि लेना चाहिए। न लेने से धनहीन लेखकों की हानि होती है इत्यादि-इत्यादि। नवंबर की 'माधुरी' में श्रीरामकृष्णदेव गर्ग बी० ए०, शास्त्री का भी लेख इसी विषय का "पुरस्कार-चर्चा"-शीर्षक से निकला है। वह भी पुरस्कार लेने के ही तरफ़दार मालूम होते हैं। मेरा विचार भी अब कुछ ऐसा ही होता जाता है।

मैंने आज तक किसी पत्र-पत्रिका से लेखों के बदले में धन्यवाद के सिवा कभी कुछ नहीं लिया और न लेने की इच्छा ही है। परमात्मा से प्रार्थना है कि वह मेरी यह इच्छा पूरी कर दे। मैं और किसी पत्र में न लिख कलकत्ते के केवल "भारत-मित्र" में ही लिखता था और बराबर लिखता था; पर लेता कुछ न था। एक ही पत्र में लिखना मैं शान की बात समझता था। और पत्रवाले लेख माँगते, पर मैं किसी को न देता था। भूलचूक कभी किसी को दे दिया हो, तो याद नहीं।

'भारत-मित्र' न व्यवसायी पत्र था और न अब है। उसकी आय उसी में व्यय होती थी। हिंदी-सेवा ही उसका मुख्य उद्देश्य था। इसी से उसमें लिखता और कुछ न लेता था। उसकी कायापलट हो जाने से उसमें भी लिखना छोड़ दिया। अब कहीं नहीं लिखता हूँ।

दैनिक पत्रों और मासिक पत्रिकाओं की संख्या आजकल बेतरह बढ़ गयी है, यह आनंद की बात है। विशेषांकों की भी खूब भरमार है। एक महीना भी विशेषांकों से शायद ख़ाली नहीं जाता है। लेखों के लिए संपादक महाशयों के पत्र पर पत्र आते हैं। कभी-कभी तार भी आ जाते हैं। पर यहाँ अवकाश ही नहीं। फिर लेख लिखे कौन? इसके सिवा अधिकांश पत्र द्रव्योपार्जन के लिए ही निकाले गये हैं। ऐसे पत्रों को मुफ़्त में लेख देना मैं पसंद नहीं करता और कुछ लेकर लेख देने की आदत भी नहीं। इसी से लिखना छोड़ना पड़ा।

मुझे लेने-देने का अपना अनुभव तो नहीं है, पर सुना है कि अधिकांश संपादक महाशय पुरस्कार देने में बड़ी दुकानदारी करते हैं। वह गुणग्राहकता न दिखाकर नापतौल से लेखों या कविताओं के दाम देते हैं। यह प्रथा अच्छी नहीं कही जा सकती।

मेरी समझ से लेखकों को—चाहे वह धनी हों चाहे निर्धन—पुरस्कार अवश्य लेना चाहिए। लिए बिना लेख कदापि न देना चाहिए। जो धनी हैं, वह पुरस्कार लेकर हिंदी-साहित्य-सम्मेलन या ऐसी ही किसी और संस्था को सहायतार्थ दे दें। हाँ, जो व्यवसायी पत्र नहीं हैं, उन्हें बिना कुछ लिए लेखादि देने में कोई हर्ज नहीं।"

× × ×

३. हिंदी-रंग-मंच

कोई भी साहित्य तब तक पूर्ण तथा प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता, जब तक वह काव्य, नाटक और आख्यायिका आदि प्रमुख विषयों से विभूषित न हो। इनमें भी काव्य एवं नाटक को विशेष स्थान दिया जाता है। यदि काव्य का क्षेत्र सीमित न रखकर विचार किया जावे, तो नाटक भी इसके अंतर्गत आ जाता है। वस्तुतः काव्य का चरम लक्ष्य हृदयस्थ भावों का सरस, सुंदर एवं हृदयंगम रूप से प्रकाशन है। इसके अनुकूल कल्पना की कोमलता अथवा कठोरता की पटुता ही काव्य-कला की कसौटी है। नाटकों का प्रयोजन पात्रों की अवस्था के अनुकूल हृदयस्थ भावों का शारीरिक संकेतों द्वारा अभिव्यक्त करना है। इसलिए काव्य और नाटक में स्थूल रूप से यही भेद है कि काव्य का संबंध केवल कल्पना और वर्णनादि से है। नाटक में पात्रों के अभिनय का होना काव्य से विशेष है। अस्तु, काव्य और नाटक, दोनों की समान उन्नति, किसी भी साहित्य के उत्कर्ष के हेतु आवश्यक है।

बंगीय-काव्य के साथ-साथ नाटकों का भी उत्थान

हो रहा है। इसका कारण यह है कि बंगीय-साहित्य-निर्माताओं ने नाटक का उत्थान अपने साहित्य की उन्नति के लिए अनिवार्य समझा। राजा राममोहनराय के समय में ही कलकत्ते में कई लक्ष्मीपतियों और नाट्यकला-प्रेमियों के प्रयास से बंगीय नाट्य-परिषद् की स्थापना हुई। क्रमशः अन्य लोगों का भी इधर झुकाव हुआ। फलतः डी० एल्० राय तथा गिरीश बाबू-जैसे कुशल नाट्यकारों का आविर्भाव हुआ। बहुत-से पटु नटों का भी जन्म हुआ। यदि पक्षपात छोड़कर देखा जावे, तो नाटक-क्षेत्र में बँगला नाटकों को, भारत की समस्त देशी भाषाओं में, सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। हिंदी में तो मानों अभी नाटकों का युग ही आरंभ नहीं हुआ। इने-गिने दो-चार नाटकों को छोड़कर अन्य कृतियों को नाटक के नाम से पुकारना नाट्यकला का उपहास ही करना होगा। जब अभी नाटकों का ही अभाव है, तो नटों और रंगमंच को साहित्यिक आवरण देने की बात बहुत दूर है। साहित्यिक दृष्टि से हिंदी में नाट्य-गोष्ठियों की योजना अत्यंत आवश्यक है। कहीं-कहीं हिंदी में भी नाट्य-परिषद् की योजना के संबंध में पत्रों द्वारा कुछ समाचार सुनायी पड़े हैं। यदि इन परिषदों द्वारा जनता के हृदय में सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों के अभिनय से, नाटकों के प्रति प्रेम उत्पन्न किया जा सके, तो निश्चय ही हिंदी-नाट्य-क्षेत्र की बड़ी भारी सेवा होगी। हिंदी में इस समय बहुत-से ऐसे नाटक हैं, जिनमें पात्र-परिचय, नाट्य-विषय और भाषा की उपयुक्तता की बात ही न पूछिए। उन्हें यह भी ज्ञान नहीं कि पात्र और भाषा का औचित्य नाटक के प्राथमिक अंग हैं। इनमें जहाँ शिथिलता आयी कि नाट्य-कला की हत्या हो गयी। बहुत-से ऐसे नाटक हैं, जो अभिनय करने के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। इसलिए वे नाट्य-कला की दृष्टि से समादर के पात्र नहीं हो सकते। केवल भाव-सौष्ठव या भाषा-सौंदर्य के कारण किसी नाटकरूपधारी कृति को नाटक नहीं कहा जा सकता। हमारा यह विनम्र विचार है कि जब तक वे अभिनय के योग्य न हों, तब तक उन्हें नाटक की कोटि में स्थान देना उपयुक्त नहीं है। इसलिए हिंदी-नाटकों के नवयुग की स्थापना के लिए समर्थ साहित्यिकों का ध्यान आकर्षित होना आवश्यकीय है। जहाँ हिंदी-नाट्य-परिषद् स्थापित हुई हों, वहाँ हिंदी-नाट्यकारों के ही नाटकों का अभिनय कराने के लिए प्रयास होना चाहिए। केवल बँगला नाटकों के हिंदी-अनुवादों के सहारे अभिनय करना और उन्हें प्रधानता देना हिंदी-नाट्यकारों को कुचलना है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि हम इतर भाषावाले नाटकों का आदर न करें। उनका उचित आदर करके हम अपने नाट्य-साहित्य-क्षेत्र को अवश्य सुरुचिपूर्ण बनावें। कहने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि पद-पद पर हम हिंदी-नाटकों को ठुकराने का प्रयत्न करके अन्य भाषाओं के नाटकों को स्थान न दें; नहीं तो हिंदी-नाट्यकारों की उन्नति असंभव है। प्रथम लक्ष्य हिंदी-नाटकों को उत्थान देने का होना चाहिए और तदनंतर अन्य भाषाओं के नाटकों को। यदि हम यह कहकर हिंदी-नाटकों की उपेक्षा करें कि वे शेक्सपियर, कालिदास, गेटे और डी० एल्० राय के समान नहीं हैं, तो हिंदी-नाटकों के भविष्य की इतिश्री ही हो जाती है। ऐसे निराश विचारों से हिंदी का कल्याण नहीं हो सकता। यदि हिंदी-नाट्यकारों को समुचित प्रोत्साहन दिया जावे, तो यथासमय न-जाने कितने डी० एल्० राय हिंदी में भी पैदा हो सकते हैं। आवश्यकता है दृढ़ अध्यवसाय और उचित संगठन की। अभी हिंदी में बहुत-से लोग चतुर नट को प्रतिष्ठा की दृष्टि से नहीं देखते, क्योंकि उनमें अभी यह भाव ही नहीं आया है कि एक कलाविद् नट-मूर्तिमान् साहित्य है। अँगरेज़ी-साहित्य में कवि और नाट्यकारों के इतिहास के साथ नटों और प्रहसन-लेखकों की भी उपेक्षा नहीं की जाती। बंगाल में भी प्रतिष्ठित व्यक्तियों के अभिनय प्रसिद्ध हैं। हमारा नाटक-प्रेमियों से यह निवेदन है कि वे हिंदी-नाटकों की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए अभिनय-योग्य नाटकों की रचना करने में प्रयत्नशील रहें। प्रारंभ में कठिनाइयाँ और अड़चनें सभी जगह उपस्थित होती हैं, परंतु पक्की धुनवाले उनको पार ही कर ले जाते हैं।

× × ×

४. हिंदी की पत्र-पत्रिकाएँ और उर्दू

'माधुरी' के सुयोग्य लेखक और सुकवि श्रीयुत सत्याचरण 'सत्य' एम्० ए० ने हिंदी में उर्दू शब्दों

के प्रवेश पर एक छोटा-सा नोट हमारे पास भेजा है। हम उस नोट को नीचे दे रहे हैं। साथ ही हिंदी के आचार्यों और विद्वानों का ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट करते हैं कि वे विचारपूर्वक बहुमत से कोई निश्चित मार्ग-निर्धारण का यत्न करें। हिंदी के बहुत-से विद्वानों और पत्रकारों के इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। क्या हिंदी की प्रतिनिधि-संस्था—साहित्य-सम्मेलन—इस विषय को अपने हाथ में लेकर नहीं निपटा सकती? हमारे विचार में यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है और इसकी उपेक्षा करना हिंदी के हित में बाधक होगा। श्रीसत्याचरणजी अपने नोट में लिखते हैं—

"हिंदी के सच्चे हितैषी हिंदी-पत्र-पत्रिकाओं के विस्तार को देखकर गर्व तथा उल्लास से फूल उठते हैं। आज से दस वर्ष पूर्व हिंदी-पत्रों की वह अवस्था नहीं थी, जो अब है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या-वृद्धि के साथ उनके स्तर में भी पर्याप्त उन्नति दिखलायी पड़ती है। किंतु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है; वह है हिंदी के पत्रों में उर्दू-शब्दों का प्रवेश। पत्रिका तो है हिंदी की, किंतु शब्द हैं उर्दू के। यदि बोल-चाल के उर्दू-शब्दों का हिंदी में समावेश हो, तो वह क्षन्तव्य है, क्योंकि दोनों ही भाषाएँ उत्तरीय भारत में समान स्थान रखती हैं; किंतु हिंदी के नाम पर उर्दू-शब्दों का प्रस्तार अमृत में विष का पुट देना है। कुछ ही दिन हुए कि हिंदुस्तानी एकेडेमी की ओर से दोनों भाषाओं के मिलाने के संबंध में बहुत-से लेख 'लीडर' आदि अँगरेज़ी पत्रों में प्रकाशित हुए थे। जस्टिस सुलेमान एवं बा० श्यामसुंदर-दास आदि गण्यमान व्यक्तियों की भी विचारधाराएँ प्रकाशित हुईं। छोटे-मोटे बहुत-से आलोचनात्मक लेख भी निकले। यदि ठंडे दिल से इस विवादग्रस्त विषय पर विचार किया जावे, तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि इन दोनों भाषाओं को एक सूत्र में ग्रथित करना असंभव को संभव करना है। दोनों भाषाओं का लालन-पालन भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के क्रोड में हुआ है।

दोनों साहित्यों पर उन अमिट मुहरों की छाप है, जिनके तोड़ने में दोनों भाषाओं का अस्तित्व ख़तरे में है। इस तथ्य को न समझकर दोनों भाषाओं का मेल मिलाने के जोश में बहुत-से हिंदी-संपादक अपने कर्तव्य-पथ से च्युत दिखलायी पड़ते हैं। कुछ ऐसी हिंदी-पत्र-पत्रिकाएँ निकल रही हैं, जिनमें उर्दू कविताओं की भरमार रहती है। वे कविताएँ भी साधारण उर्दू की नहीं, अपितु उनके अर्थ नीचे प्रकाशित करने पड़ते हैं। हम इसे उर्दू की दासता तथा हिंदी-साहित्य के पनपते हुए कोमल अंकुर में विष-सिंचन नहीं, तो और क्या समझें? दोनों भाषाओं के जो बोलचाल के शब्द हैं, वे तो स्वभावतः एक दूसरे में प्रयोग होते ही हैं। हाँ, अंतर इतना अवश्य है कि उर्दू-लेखक हिंदी-शब्द का क्वचित् भूलकर ही प्रयोग कर लेता हो, अन्यथा वह भी अपनी लेखनी चलाने में बड़ा सतर्क रहता है। इसके विपरीत हमारे खिचड़ी-पसंद हिंदी-लेखक उर्दू-शब्दों के प्रयोग में ही प्रतिष्ठा समझते हैं। इस रोग के दोषी केवल संपादक ही नहीं, अपितु कुछ ऐसे हिंदी-साहित्य के आचार्य लोग भी हैं, जो हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के मंच से सभा-पति के रूप में बड़े-बड़े फ़ारसी के शब्दों से भूषित अपनी वक्तृता देने में लेशमात्र भी नहीं हिचकिचाते। यदि धृष्टता क्षमा हो, तो इस प्रवृत्ति को हिंदी के लिए सर्वथा हानिकर कहा जा सकता है। बहुत-से पाश्चात्य भाषा-विज्ञान से चकाचौंध हुए लोग बड़े ज़ोर के साथ हिंदी में अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रवेश का समर्थन इस कारण से करते हैं कि जिससे हिंदी के शब्द-कोष की वृद्धि हो। उदाहरण में वे लोग अँगरेज़ी को सामने उपस्थित करते हैं। लेकिन यह युक्ति असंगत है। हिंदी का मूल-स्रोत तो स्पष्टतः संस्कृत है। बीच-बीच में उपभाषाओं (जैसे शौरसेनी, अर्धमागधी, पूर्वी तथा पश्चिमीय राजपूतानी) के अवांतर भेद का पता अवश्य लगता है। अतः हिंदी का कोष स्वतः संस्कृत के नाते उच्च है। हाँ, जहाँ दोनों भाषाओं में कोई ऐसा शब्द नहीं मिलता, जिसका प्रयोग समाज में अनिवार्य है, तो उसे दूसरी भाषा से लेने में कोई आपत्ति नहीं। किंतु जहाँ 'जल' अथवा 'पानी' से हिंदी की रक्षा होती हो, वहाँ 'आब' की क्या आवश्यकता है? जो शब्द यौगिक अथवा रूढ़ि के झगड़े

से परे हैं, उन्हें छोड़िए। लेकिन जिनके प्रयोग के संबंध में स्पष्टतः आपत्ति दिखलायी देती है, उन्हें प्रयोग करना बुद्धिमत्ता से परे कहा जा सकता है। 'स्टेशन' ही को लीजिए। यदि इसके स्थान पर 'शकटालय' का प्रयोग किया जावे, तो इसकी कठिनाई एक यात्री ही समझ सकता है। ऐसे ही अँगरेज़ी के बहुत-से शब्द हैं, जिनका प्रयोग गँवार-से-गँवार व्यक्ति भी करता है। ऐसे शब्दों को हिंदी में स्थान देना अनिवार्य है। इसका यह अर्थ नहीं कि हिंदी के अस्तित्व को मिटाकर उर्दू, हिंदी, अँगरेज़ी से मिश्रित एक वीभत्समय भाषा-जंतु की स्थापना कर दी जावे। दूसरी ओर ऐसी क्लिष्ट संस्कृतमय हिंदी का प्रयोग भी नहीं करना चाहिए, जिसके लिए बार-बार अमरकोष के पन्ने पलटने पड़ें। प्रचलित और बुद्धिगम्य शब्दों का ही प्रयोग उचित है। हमारे आश्चर्य की उस समय सीमा नहीं रहती, जिस समय हम कतिपय हिंदी-पत्रों में क्लिष्ट उर्दू-शब्दयुक्त कविताओं को देखते हैं और साथ ही उन पत्रकारों की लेखनी से यह भी पढ़ने का अवसर मिलता है कि हिंदी में कठिन शब्दों का प्रयोग उचित नहीं है; क्योंकि इससे इसकी लोकप्रियता में बाधा पड़ती है। इससे तो साफ़-साफ़ प्रकट होता है कि ऐसे पत्रकार हिंदी-हितैषी के वेष में हिंदी-वृक्ष की जड़ में कुठाराघात कर रहे हैं। हिंदी में बहुत-से ऐसे पत्र हैं, जिनमें प्रत्येक सप्ताह नूह, बर्क़, बिस्मिल आदि की कविताएँ प्रकाशित होती हैं। किंतु क्या ऐसा भी कोई उर्दू का पत्र है, जिसमें 'पंत' 'प्रसाद' अथवा 'रत्नाकर' की कविताएँ भी देखने में आती हों? उर्दूवाले तो आपको हेय और तिरस्कृत समझें और आप निर्लज्जता का वेष धारण करके उनके सामने हाथ जोड़े खड़े हों। इसमें आत्मिक पतन तो है ही, इसके साथ-साथ हिंदी-भाषा का प्रबल ह्रास भी। यदि आरंभ में इस प्रगति का नियंत्रण न किया गया, तो हिंदी निश्चय ही उर्दू से आक्रांत होकर विलुप्त हो जावेगी। अतः उर्दू की कालुष्यमय छाया से हिंदी की रक्षा करना संपादकों का ही नहीं, अपितु सभी हिंदी-भाषा के हितैषियों का कर्तव्य है।"

× × ×

५. मुस्लिम-राज्यों की हिंदू-प्रजा

हाल ही में निज़ाम-हैदराबाद रियासत की हिंदू-प्रजा ने वहाँ की गवर्नमेंट के सामने अपनी कुछ न्यायोचित माँगें पेश की हैं। वे चाहते हैं कि उन्नति की ओर प्रगतिशील वर्तमान शताब्दी में उन्हें भी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आर्थिक मामलों में उन्नति करने का यथोचित सुविधा और अवसर प्राप्त हो। हिंदुओं का कहना है कि राज्य में उनकी ८५ सैकड़े से अधिक आबादी होने पर भी, न तो उन्हें पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त है, न शासन-संचालन में सहयोग देने का उन्हें मौक़ा दिया जाता है और न उनकी शिक्षा-दीक्षा का ही कोई यथोचित प्रबंध है। मुसलमान प्रजा के साथ, जिसकी संख्या केवल ९ प्रतिशत है, हर तरह की रिआयत की जाती है। इस संबंध में वहाँ के हिंदू-संघ द्वारा हमें जो छपी हुई पुस्तिकाएँ और विवरण प्राप्त हुए हैं, उनके देखने से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि संकुचित जातिगत सिद्धांतों के आधार पर ही प्रजा के साथ व्यवहार हो रहा है। हैदराबाद ही में क्या, भूपाल, रामपुर तथा अन्य छोटी-छोटी मुस्लिम-रियासतों में भी यही प्रवृत्ति काम कर रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समय की प्रगति से सबसे पहले रामपुर-स्टेट के शासक महोदय ने लाभ उठाया और बहुत-से सुधारों की घोषणाएँ कीं। यदि वे घोषणाएँ कार्यरूप में भी ठीक-ठीक परिणत हो रही हों, तो निःसंदेह रामपुर-दरबार बधाई के पात्र हैं और उनकी न्यायप्रियता था दूरदर्शिता की प्रशंसा करनी ही पड़ेगी। भूपाल के नवाब साहब भी योग्य और उन्नत विचारों के पोषक हैं। उन्हें भी अपनी हिंदू-प्रजा के उचित अधिकारों को स्वीकार कर संकुचित नीति की शासन-प्रणाली का अंत कर देना चाहिए। निज़ाम महोदय भी बड़े विद्या-प्रेमी और समय की गति को परखनेवाले कहे जाते हैं। उनको अकबर की शासन-पद्धति से शिक्षा लेकर शीघ्र अपनी प्रजा को संतुष्ट करने का दिल खोलकर प्रयत्न करना चाहिए। किसी राज्य की नींव जातीयता अथवा कट्टरता से दृढ़ नहीं होती। उसके लिए तो निष्पक्ष और न्यायोचित सिद्धांतों को ही उदारतापूर्वक अपनाना आवश्यकीय है। हम निज़ाम महोदय से सानुरोध अपील करते हैं कि वे ८५ सैकड़ा बसनेवाली हिंदू-प्रजा की उचित माँगों को स्वीकार करने की तुरंत घोषणा करके अपने ईश्वरप्रदत्त अधिकारों का सदुपयोग

हो और अपने राज्य को समृद्धिशाली एवं सुदृढ़ बनाने का लाभ प्राप्त करें।

यह प्रसन्नता की बात है कि हिंदू-महासभा भी इस ओर कर्तव्य-पालन में दृढ़ता से अग्रसर हो रही है। काश्मीर में कुछ स्वार्थी मुल्लाओं के भड़काये जाने पर मुसलमानों ने जिस जघन्य प्रवृत्ति का परिचय दिया है, उसकी सभी समझदार लोग निंदा किये बिना न रहेंगे। हम वहाँ के मुसलमानों को प्रत्येक न्यायोचित अधिकार देने के पक्षपाती हैं। किंतु किसी उदार शासक की उदारता से अनुचित लाभ उठाने की नीति को हम अच्छी नज़र से कभी नहीं देख सकते। हमारी तो यह स्पष्ट इच्छा है कि प्रत्येक देशी राज्य में, चाहे वह हिंदू-रियासत हो या मुसलमानी, प्रजा के अधिकारों की संपूर्ण रक्षा होनी चाहिए; और शासन-संचालन में प्रजा को पूरा मौक़ा मिलना चाहिए। इस नीति के ग्रहण करने से राजा और प्रजा दोनों की भलाई होगी। जब संसार के प्रत्येक राज्य की शासन-प्रणालियों में सुधार हो चुके हैं या हो रहे हैं, तब हमारे देशी-नरेशों को उससे पीछे पैर हटाना शोभा नहीं देता। उन्हें इससे शिक्षा लेनी चाहिए कि शक्तिशाली ब्रिटिश-गवर्नमेंट तक प्रजा को संतुष्ट करने के लिए शासन-तंत्र में काफ़ी परिवर्तन करने का उपाय खोज रही है और उस दिशा में प्रयत्नशील-सी दिखायी दे रही है।

अंत में हम हिंदुओं से दो शब्द अवश्य कह देना चाहते हैं। वह यह कि जब तक हिंदू लोग समस्त जाति-गत कमज़ोरियों को हटाकर अपने को इतना दृढ़ संगठित नहीं कर लेते कि दूसरों को उन पर हाथ उठाने या उनकी उचित माँगों को ठुकराने की हिम्मत न पड़े, तब तक उनकी आवाज़ का कोई मूल्य न होगा और न वास्तव में हिंदू-मुस्लिम मेल ही स्थापित हो सकेगा। किसी को हानि पहुँचाने की दृष्टि से संगठन करना निंद्य है। लेकिन अपनी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति करने के लिए एकता स्थापित करना सर्वथा उचित एवं न्यायसंगत है।

× × ×

६. गूँगों और बहरों की एक संस्था

किसी भी प्रकार की आपत्ति या रोग से ग्रस्त मनुष्यों की सेवा करना, ईश्वर की सर्वोत्तम सेवा है—इससे कोई भिन्न मत नहीं रख सकता। यों तो विधि के विधान में बाधा देना एक असंभव-सी बात है; फिर भी मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा दुखियों के दुःखों को अवश्य हलका कर सकता है, क्लेश के बोझ को अवश्य बटा सकता है। इन्हीं विचारों को लेकर संसार में अनेक प्रकार की परोपकारिणी संस्थाओं का जन्म हुआ है और आए दिन उनमें वृद्धि करने की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। विदेशों में तो न-जानें कितने प्रकार की ऐसी विशाल संस्थाएँ मौजूद हैं, जिनसे मानव-समाज का महान् उपकार हो रहा है। गवर्नमेंट, जनता और धनी-मानी व्यक्ति सभी अपने कर्तव्य का अनुभव करते हैं और खुले दिल से ऐसे उपयोगी कामों में, तन-मन-धन से, सहयोग देते हैं। भारत में अनेकों अड़चनों के कारण, जिनमें वास्तविक शिक्षा की कमी और ग़रीबी मुख्य कारण हैं, जनता का ध्यान उपकारिणी-संस्थाओं के संस्थापन की ओर बहुत कम गया है। लक्ष्मीसंपन्न लोग अपने ही रागों में मस्त हैं और सरकार विदेशी होने के कारण इन बातों की ओर उतना ध्यान देती ही नहीं, जितना उसे देना चाहिए। फिर भी इस ओर ध्यान गया है और कुछ शक्तियाँ इस कमी की पूर्ति करने के लिए अग्रसर हो रही हैं। इलाहाबाद में गूँगों और बहरों की शिक्षा एवं सुधार के लिए एक (The V. P. Deaf and Dumb Institute) संस्था कुछ समय से स्थापित हुई है। इस संस्था का काम गूँगे और बहरे लोगों को हर प्रकार की शिक्षा देकर उनके जीवन को स्वावलंबी तथा उपयोगी बनाना है। इसका प्रबंध एक मैनेजिंग-कमेटी के हाथ में है, जिनमें बहुत-से प्रतिष्ठित और सुयोग्य व्यक्ति हैं। कुछ दिन हुए जब गूँगों-बहरों के स्कूल के संचालक, पं० शुकदेव मिश्र, लखनऊ आये थे और हमसे भी मिले थे। कविवर पं० रामनरेशजी त्रिपाठी द्वारा हमें उक्त मिश्रजी का परिचय प्राप्त हुआ था। हमने उनके सामने इस स्कूल को उन्नत करने और युक्तप्रांत की जनता को उससे समुचित परिचय कराने की बहुत-सी बातें रक्खी थीं। हमारे विचार से इस प्रांत की जनता अभी इस संस्था से बहुत कम परिचित है। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों में भी इस प्रकार की कुछ संस्थाएँ स्थापित हैं। लेकिन आर्थिक कठिनाइयों के कारण उनकी उपयोगिता का क्षेत्र बहुत सीमित है।

इलाहाबाद की इस संस्था को गवर्नमेंट से भी शायद कोई सहायता नहीं मिलती है। यदि इस प्रांत के कुछ प्रभावशाली लोग इधर ध्यान दें, तो बहुत अंशों में लाभ हो जाने की संभावना है। हम धनीमानी व्यक्तियों और जनता का ध्यान इसकी सहायता की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं। हम पत्रकारों से भी अपील करते हैं कि वे इस संस्था को अपने पत्र द्वारा जनता से परिचित करा दें। इसके बाद यदि संस्था के प्रबंधकगण सहायता एकत्र करने के लिए कोई डेपूटेशन प्रांत के बड़े-बड़े नगरों में भेजने का प्रबंध कर सकें, तो सफलता की बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

× × ×

७. चीन-जापान का युद्ध

चीन-जापान के युद्ध ने कुछ सप्ताहों से बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया है। जिन अन्य राष्ट्रों का चीन से व्यापारिक संबंध है, उनमें इस युद्ध से काफ़ी बेचैनी उत्पन्न हो गयी है। अमेरिका और इँगलैंड का तो इससे गहरा संबंध है ही। राष्ट्र-संघ के प्रबल प्रयत्न करने पर भी युद्ध नहीं रुक रहा है और निःशस्त्रीकरण कान्फ्रेंस की सार्थकता में भारी आघात पहुँच रहा है। अब तक जो समाचार पढ़ने में आये हैं, उनसे यह स्पष्ट ध्वनि निकल रही है कि जापान की हठवादिता और स्वार्थपरता ने मित्र-राष्ट्रों के परामर्श एवं राष्ट्र-संघ की इच्छाओं पर कुठाराघात किया है। ऐसा विचार किया जाता है कि यदि यह युद्ध शीघ्र बंद नहीं हो गया, तो इसका भावी रूप महाभयंकर होगा और संसार के बहुत-से राष्ट्रों को उसमें कूदना पड़ेगा। अंतर्राष्ट्रीय बस्ती की रक्षा के लिए अमेरिका और इँगलैंड दोनों की सेनाएँ शंघाई पहुँच रही हैं। उनका काम अपने देशवासियों के हितों की रक्षा करना होगा। इस बार के युद्ध में चीनी बड़ी दृढ़ता का परिचय दे रहे हैं। वे आपस के भेदभाव को दूर कर जापान के मुक़ाबले के लिए मैदान में आ रहे हैं। चीन की स्त्रियों में भी अभूतपूर्व जागृति फैल रही है और वे आहतों की सेवा-शुश्रूषा का भार उत्साहपूर्वक ले रही हैं। चीनियों के साहसपूर्ण मुक़ाबिले से जापानी लोग आतंकित हैं। अब तक जापान के इस युद्ध में ६० लाख पौंड ख़र्च हो चुके हैं और आगे १० लाख पौंड प्रतिमास ख़र्च होने का अनुमान किया जा रहा है। चीनी भी एक साल तक युद्ध को चलाने के लिए सब प्रकार से तैयार हो रहे हैं। अनेक प्रयत्नों के होते हुए अभी कोई ऐसी सूरत नहीं दिखायी पड़ती कि युद्ध शीघ्र बंद हो जावे। शंघाई, जो इस युद्ध का एक मुख्य केंद्र है, प्रसिद्ध बंदरगाह है। यहाँ पर समस्त योरोपियन सत्ताओं की फ़ैक्टरियाँ और ज़मीनें हैं। जापानी सेना के उतरने का अड्डा भी यहीं है। चपेई इससे थोड़ी ही दूर पर है, जहाँ चीनी सेनाएँ दृढ़ता-पूर्वक डटकर हमला कर रही हैं। इससे शंघाई में जो दूसरे देश के लोग बस रहे हैं, वे भी युद्ध के प्रभाव से नहीं बच सकते। और यही बात अन्य राष्ट्रों को इसमें भाग लेने के लिए मजबूर भी कर सकती है। यदि वे ऐसा न करें, तो उनके चीनवाले व्यापार में भारी धक्का लगेगा। यों तो अमेरिका और इँगलैंड इस समय लड़ने की कोई इच्छा नहीं रखते। इँगलैंड तो अपने आर्थिक संकटों में ही व्यस्त है। दूसरे राष्ट्रसंघ के समझौते में एक यह भी बात है कि दो शक्तियों के युद्ध में कोई तीसरी शक्ति न पड़े। स्त्री-उपदेशिका मिस रायडन ने राष्ट्रसंघ के पास इस आशय का प्रस्ताव भेजा है कि दोनों सेनाओं के बीच एक निरस्त्र शांति-सेना-दल जाकर खड़ा हो जावे और उनसे कह दे कि हमें मारकर ही आप दोनों युद्ध कर सकते हैं। एक अन्य महिला ने भी यह प्रस्ताव किया है कि मैं ऐसे स्त्री-पुरुषों की काफ़ी संख्या इस काम के लिए जुटा सकती हूँ। प्रस्ताव तो प्रभावशाली जान पड़ता है। यदि यह कार्य में परिणत किया जावे, तो सफलता की पूरी आशा है।

हमारा तो यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक संसार के समस्त राष्ट्र पाशविक शक्तियों और हिंसा से अपना विश्वास उठाकर सहयोग एवं प्रेम की भावना नहीं स्थापित करते, तब तक शांति का क़ायम होना असंभव है। जब तक एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाकर अपने अनुचित स्वार्थ सिद्ध करने की नीति को नहीं छोड़ता, तब तक प्रेम और सहयोग प्राप्त होना असंभव है।

माधुरी
१०८, तुलसी-संवत्

Madhuri
April, 1932.

[Under the Supervision of the Court of Wards]

स्वर्गीय
साहित्याचार्य पं० पद्मसिंहजी शर्मा



संपादक
रामसेवक त्रिपाठी

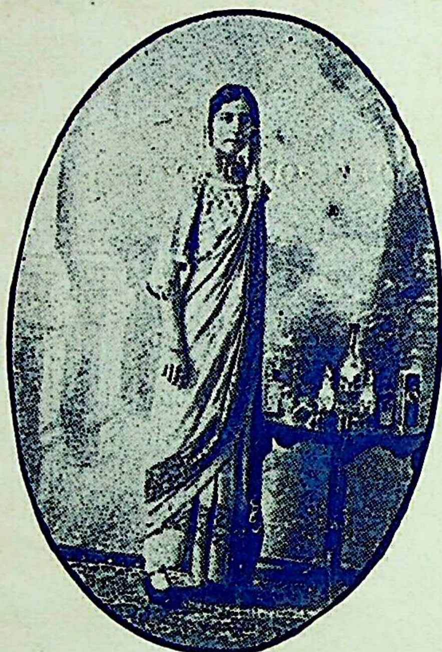
वार्षिक मू० ६॥)
छमाही मू० ३॥)

नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ.

विदेश में वा० १०)
एक प्रति का ॥=)

London Representative—
Messrs. Palmer's Publicity Service Ltd.,
Ludgate House 110/111, Fleet St., London, E. C. 4.

बढ़िया इत्रों के आविष्कर्ता !



पताः—**असग़रअली मुहम्मदअली**
ताजिर इत्र, लखनऊ
विशेष के लिए पत्र-व्यवहार कीजिए।

शास्त्रीय हिन्दी हार्मोनियम गाइड

बाजे की पेटी बजाने को सिखलानेवाली पुस्तक, ४० रागों के आरोह-अवरोह, लक्षण, स्वरूप, विस्तार, १०४ प्रसिद्ध गायनों का स्वर-ताल-युक्त नोटेशन सुरावर्त तिल्लाने इत्यादि पूरी जानकारी-सहित। द्वितीय आवृत्ति। पृष्ठ-संख्या २००, क़ीमत १॥) रुपया डाक-ख़र्च ।=) विषयों का और गायनों का सूचीपत्र मुफ़्त मँगाइए।

गोपाल सखाराम एण्ड कम्पनी
भाटिया महाजन वाड़ी के सामने, नं० ३१७-१९
कालबादेवी रोड, बंबई नं० २

नेशनल इनश्योरेंस कंपनी लिमिटेड

हेड आफिस—नेशनल इनश्योरेंस बिल्डिंग

नं० ७, कौंसिल हाउस स्ट्रीट, कलकत्ता

सन् १९३१ के अंत तक होनेवाले नए बीमे १,३२,३३,०००) से ऊपर हुए।
सन् १९३० के नवीन व्यवसाय को ध्यान में रखते हुए १६.५४% (प्रति सैकड़े) की वृद्धि हुई।
सन् १९३१ के अंत तक दिये हुए क्लेम्स.....................९०,००,०००) के ऊपर।
लगी हुई पूँजी १,७५,००,००० से ऊपर है।

सस्ते रेट, नवीन लाभ
उदार नियम, सुंदर व्यापार

विवरण और एजेंसी के लिये

एस्० एन्० दास, गुप्ता एम्० ए० चीफ़ एजेंट,
नं० ३ क्लाइवरोड, इलाहाबाद
(से पत्र व्यवहार कीजिये)

लेख-सूची

पृष्ठ

१. सूक्ति-सुधा (कविता)—[लेखक, पं० हरिशंकर शर्मा संपादक 'आर्यमित्र' ... ३०५

२. पंजाबी साहित्य के कुछ आध्यात्मिक गायन—[लेखक, पं नंदकिशोर तिवारी बी० ए० ... ... ३०६

३. खादी शृंगार (कविता)—[लेखक, श्री० संताराम पांडेय बी० ए० विशारद ... ३१६

४. विश्व की आर्थिक लहर—[लेखक, पं० नरसिंहराम शुक्ल ३१७

५. वसंत (कविता)—[लेखक, साहित्यरत्न पं० शिवरत्न शुक्ल ३२१

६. नयी धार (कविता)—[लेखक, पं० मातादीन शुक्ल 'सुकवि नरेश' ३२२

७. अमरसेन का मठ (सचित्र)—[लेखक, श्री० भानुसिंह बाघेल ३२३

८. अंत (कविता)—[लेखक, पं० श्यामापति पांडेय बी० ए० ... ... ३३३

९. चमत्कार (कहानी)—[लेखक, श्री० प्रेमचंद ३३४

१०. कामनापंचक (कविता)—[लेखक, श्री० रामसहाय पांडेय 'चंद्र' ३४२

११. साहित्यिक आलोचना—[लेखक, पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री ३४३

१२. स्वयंभू-कवि (कविता)—[लेखक, श्री० गंगाविष्णु पांडेय विद्याभूषण 'विष्णु' ... ३४६

१३. राष्ट्र-परिषद् तथा अल्पमत की समस्या—[लेखक, श्रीपरिपूर्णानंद वर्मा ३४७

१४. अरमानों की चिता (कविता)—[लेखक, श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बी० ए० विद्यालंकार ३५१
१५. दूरबीन का इतिहास—[लेखक, श्री० श्यामनारायण कपूर बी० एस्-सी० ३५२
१६. तुमसे (कविता)—[लेखक, श्री०-अनूप शर्मा बी० ए० एल्-टी० ... ३५७
१७. हिंदी-नाटकों में हास्यरस—[लेखक, श्रीसत्येंद्र बी० ए० विशारद, ... ३५७
१८. 'वह है प्रेम-दिवाना' (कविता)—[लेखक, पं० हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश' ३६४
१९. सावित्री (कहानी)—[लेखिका, कुमारी मायादेवी ३६५
२०. वेदांत-विचार—[लेखक, श्री० ब्रह्मचारी गोपालचैतन्यदेव ३७४
२१. रोदन-गान (कविता)—लेखक, श्रीगिरीशचंद्र पंत 'नरेंद्र' ३८०
२२. कबीर का काव्य—[लेखक, श्री० पांडेय रामावतार शर्मा एम्० ए० बी० एल्० ३८१
२३. भिखारी का हृदय (कहानी)—[लेखक, श्री० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' बी० ए० ३८८
२४. मयंक (कविता)—[लेखक, श्री० रूपनारायण चतुर्वेदी ३९३
२५. बिजली की स्वदेशी घड़ियों के आविष्कारक श्रीहनुमंतराव जोशी (सचित्र)—[लेखक, पं० गोपीवल्लभ उपाध्याय ३९३
२६. "उद्धवशतक" (आलोचना)—[लेखक, पं० मर्यादाप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न ३९६
२७. जीवन-ज्योति (कविता)—[लेखक, कविरत्न श्रीरामाधीन लाल खरे ... ४०३
२८. कहाँ ? (कहानी)—[लेखक, श्रीयुत दीनासिंह ४०४

पृष्ठ

२९. षड्यंत्र का सिंहावलोकन—[लेखक, पं० मातादीन शुक्ल ४०७

३०. 'खद्यंत्र' या 'षड्यंत्र'—[लेखक, साहित्याचार्य पं० गयाप्रसाद शास्त्री वैद्य 'श्रीहरि' ४१२

३१. किसान की करुणा (कविता)—[लेखक, साहित्य-शास्त्री पं० महादेव-प्रसाद अग्निहोत्री ४१७

३२. पुस्तक-परिचय—[लेखकगण, श्री० "एक काव्यप्रेमी", श्री० कालिदास कपूर एम्० ए० एल्० टी०, साहित्याचार्य श्री० गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि', श्री० "मयंक मिश्र", विद्यार्थी श्रीरामेश्वर शुक्ल, श्री० तारादत्त उप्रेती, श्री० परिपूर्णानंद वर्मा और श्री० "चक्रपाणि" ४१८

३३. उद्यान—[लेखकगण, श्रीमती कमला, श्रीयुत "दंडपाणि", श्री० उदयशंकर भट्ट शास्त्री, श्री० केशवराम गुप्त 'वज्र' विशारद, बी० ए० एल्-एल्० बी०, श्री० गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र' विद्यावाचस्पति, श्री० बैजनाथसिंह 'सारथी', श्री० त्रिलोकीनाथ मेहरोत्रा एम्० ए० एल्० टी०, श्री० हरशरण शर्मा और श्री० शिवकुमारसिंह 'नरेंद्र' ४२०

३४. संपादकीय विचार ४४३

चित्र-सूची

१. राजा नल का दमयंती को पत्र-लेखन (तिरंगे)

२. विनोद ... ... ,,

३. छः व्यक्तिगत चित्र ... ... (इकरंगे)

बहुक्म जनाब बाबू बद्रीप्रसाद टन्डन साहब बहादुर मुनसिफ़ तरबगंज मुक़ाम व ज़िला गोंडा।

समन बग़रज़ क़रारदाद उमूर तनक़ीह तलब

मुक़द्दमा नम्बर ३७ सन् १९३२ ई०

अदालत दीवानी मुनसफ़ी तरबगंज मुक़ाम गोंडा

पाटन ... ... मुद्दई

बनाम मुसम्मात सरजूदेई वग़ैरा ... ... मुद्दाअलेहुम

बनाम { १—मुसम्मात सरजूदेई ज़ौजे पाटन
२—अगयाराम वल्द मोहन— } { क़ौम कुरमी सा० रोजपूर परगना
पहाड़पूर ज़िला गोंडा } मुद्दाअलेहुम

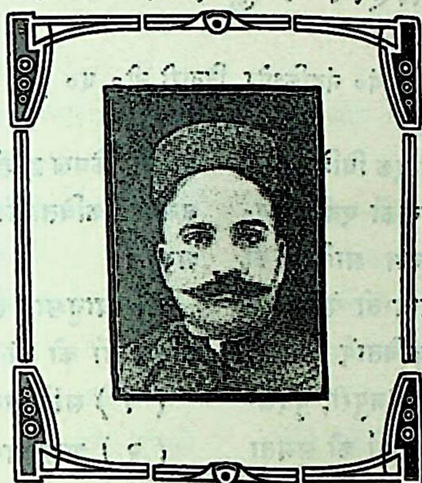
वाज़े हो कि मुद्दई ने तुम्हारे नाम एक नालिश बाबत् अयादा हक़ूक़ज़नदासोई की है लिहाज़ा तुमको हुक्म होता है कि तुम बतारीख़ ११ माह मई सन् १९३२ ई० वक़्त १० बजे असालतन् या मारफ़त वकील के जो मुक़द्दमे के हाल से क़रार वाक़ई वाक़िफ़ किया गया हो और जो कुल उमूरात अहम मुतअल्लिके मुक़द्दमा का जवाब दे सके या जिसके साथ कोई और शख़्स हो जो जवाब ऐसे सवालात का दे सके, हाज़िर हो और जवाबदिही दावा मुद्दई मज़कूर की करो और तुमको हिदायत की जाती है कि जुमला दस्तावेज़ात को जिन पर तुम बताईद अपनी जवाबदिही के इस्तदलाल करना चाहते हो पेश करो।

मुत्तिला रहो कि अगर बरोज़ मज़कूर तुम हाज़िर न होगे तो मुक़द्दमा तुम्हारी ग़ैरहाज़िरी में मसमू और फ़ैसल होगा।

बयानतहरीरी ९ (नौ) मई सन् १९३२ को दाख़िल करो।

आज बतारीख़ १९ माह अप्रैल सन् १९३२ ई० मेरे दस्तख़त और मोहर अदालत से जारी किया गया।

जज



संस्थापक—स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष—श्रीरामकुमार भार्गव, श्रीतेजकुमार भार्गव

वर्ष १० खंड २ } चैत्र, ३०८ तुलसी-संवत् (१९८९ वि०) { संख्या ३ पूर्ण संख्या ११७

सूक्ति-सुधा

[पं० हरिशंकर शर्मा संपादक 'आर्यमित्र']

१

हिंदी का हिंडोला

विहरो विहारी की विहार-वाटिका में, चाहे—
सूर की कुटी में अड़ आसन जमाइए;
केशव की कुंज में किलोल-केलि कीजिए या—
तुलसी के मानस में डुबकी लगाइए।
देव की दरी में दुर दिव्यता निहारिए या—
भूषण की सेना के सिपाही बन जाइए;
ब्रजभाषा-भाषियो! मिलेगा मनमाना सुख,
हिंदी के हिंडोले में ज़रा तो बैठ जाइए।

२

शेर शिवराज

दुष्टता का द्रोही, शिष्टता का सत्यवादी सखा,
साधुओं के साधता सदैव सब काज था;
पुण्य का पुजारी, पाप-पुंज को जलानेवाला,
पीड़ितों का प्यारा, शूरता का सरताज था।
दीनों का खज़ाना, बलहीनों का अपार बल,
वीरों की विभूति, सतवन्तियों की लाज था;
गो-कुल का प्यारा, विप्र-वंश का सहारा,
हिंदू-धर्म रखवारा, वीर शेर शिवराज था।

पंजाबी-साहित्य के कुछ आध्यात्मिक गायन

[पं० नंदकिशोर तिवारी बी० ए०]

पंजाबी-साहित्य हिंदी-साहित्य का एक विशिष्ट अंग है, फिर भी हिंदी के विद्वान् लेखकों एवं मननशील पाठकों का ध्यान अभी तक उस साहित्य की ओर आकृष्ट नहीं हुआ है। सच बात तो यह है कि पंजाबी-साहित्य की आध्यात्मिक कविताएँ अपनी ऊँचाई में कहीं-कहीं व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुंदेलखंडी तथा हिंदी की अन्य प्रांतीय भाषाओं की समता करती हैं। व्रजभाषा, अवधी आदि भाषाओं के भंडार को जिस समय सूर, तुलसी, मीरा, दादू आदि महान् तत्त्वदर्शी कवि अपने अमर काव्यों से पूर्ण कर रहे थे, उस समय पंजाबी-भाषा की आध्यात्मिक कविता का भी विकास हो रहा था। गुरु नानक तथा अन्य सिख-गुरुओं की कविताएँ एवं मुसलमान-फ़क़ीरों और सूफ़ियों के काव्य इस बात के अकाट्य प्रमाण हैं। इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि सिख-गुरुओं की कविता का क्षेत्र पंजाबी से अधिक हिंदी-प्रांतों की अन्य भाषाएँ ही थीं। वर्तमान समय में हिंदी और पंजाबी-भाषाओं की जो भिन्नता है, उसके अनुसार हम सिख-गुरुओं की कविताओं को अधिकतर हिंदी की ही कविता कह सकते हैं। परंतु इसके विपरीत पंजाब के मुसलमान फ़क़ीरों एवं सूफ़ियों की कविताएँ विशुद्ध रूप से पंजाबी हैं। हाँ, यदि उनमें कोई दोष है, तो यह कि उन कविताओं में ठेठ पंजाबी शब्दों के स्थान पर अधिकांश उर्दू और फ़ारसी-शब्दों की भरमार है। फिर भी जिस समय हम पंजाबी-साहित्य की आध्यात्मिक कविताओं का सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं, उस समय हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि कवित्व एवं दर्शन-संबंधी उड़ान में मुसलमान-कवि सिख-गुरुओं से पीछे नहीं रहते। कहीं-कहीं तो वे उस ऊँचाई तक पहुँचते हैं, जिसकी कल्पना कर हमें मूक रह जाना पड़ता है। फ़क़ीर बुल्लाशाह इसी प्रकार के तेजस्वी कवि थे। इस महान् कवि ने अपने अध्यात्मवाद से पंजाबी-साहित्य के भंडार को जिन रत्नों से भरा है, वह केवल इन्हीं का ही काम था। आगे चलकर हम उनकी कविताओं पर विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। अस्तु।

सुविधानुसार हम पंजाबी-साहित्य की आध्यात्मिक कविताओं को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) सांकेतिक

(२) शुद्ध अर्थबोधक

सांकेतिक कविताएँ साधारण अर्थ में सांसारिक प्रेम का वर्णन करती हैं। इनका चित्रण, इनकी शैली, इनके भाव, इनकी विचारधारा, सभी कुछ सांसारिक प्रेम का दृश्य मस्तिष्क के सम्मुख उपस्थित कर देते हैं, परंतु इस प्रकार के चित्रण में भी कवि उन कविताओं के द्वारा एक विशिष्ट आध्यात्मिक अर्थ का ही संकेत करता है। उस अर्थ में, बहुत स्थानों में, मनुष्य की आत्मा और शरीर की उपमा परस्पर पति और पत्नी से दी गयी है। बहुत स्थानों में कवि भगवान् को अपना प्रियतम, अपना पति मान लेता है, और सखी-भाव से उसकी उपासना, उसकी अर्चना करता है। कहीं-कहीं तो वह अपने प्यारे के वियोग में उसे न-जाने कितने उलाहने, कितनी प्रेमभरी भर्त्सनाएँ देता है। उन उलाहनों में कितनी मधुर वेदना है, उन भर्त्सनाओं में प्रणय की कितनी गहरी विस्मृति छिपी है! कवि बेसुध है—अपने प्यारे के वियोग में वह अपने अस्तित्व को भूल बैठा है। इस विस्मृति के उन्माद में उसका सुख और दुःख, उसका उल्लास और वेदना, उसका अनुनय और झिड़कियाँ और वह उसका हर्ष और विषाद—सभी खो गये हैं। आत्म-विस्मृति में भिन्न-भिन्न शब्दों के द्वारा भिन्न-भिन्न भावों से अपने प्यारे से, अपने प्रियतम से केवल एक ही बात कहता है—मेरे प्राण! तुम्हारे मिलन में भी मेरा वियोग और तुम्हारे वियोग में भी मेरा मिलन अव्यक्त रूप से छिपा है। इस प्रकार की पंजाबी-साहित्य की सांकेतिक कविताओं का दृष्टांत कविवर हिदायतुल्ला की कविताओं से दिया जा सकता है। पाठकों के मनो-

...ने के लिए हम उनकी कुछ कविताओं को नीचे ...रहे हैं—

(१)

दाल दिलवरा हुण दीदार दे-दे,
केहा असाँ तो चित्त नू चाय आई।
हर वक्त मैं तूसाँ नू याद करदी,
तुदा असाँ नू चाभुला आई।
खा तर्स ते दे दीदार मैंनूँ,
मेरी जिंदड़ी नू रोग ला आई;
मंगे तुद तों दीद हिदायतुल्ला,
हुण वक़्त अख़ीर दा आ आई।

अर्थात्—ऐ मेरे प्राण ! अब दर्शन दो, तूने मुझसे अपना चित्त क्यों हटा लिया ?
हर समय मैं तेरी याद करती हूँ, पर तुमने मुझे विस्मृत कर दिया। दया कर मुझे अपना दर्शन दो। (तेरे प्रेम के) रोग ने मेरे जीवन का अंत समीप कर दिया है।
हिदायतुल्ला तुझसे दर्शन की भीख माँग रहा है। अब उसके जीवन का अंत समय आ गया है।

(२)

क़ाफ़ क़दर विछोड़ी ओ जाणे,
जेड़ा विछड़े आपणे यार को लों;
तन्दुरुस्त नूँ सार की दुखड़े दी,
दुक्ख पुच्छिए किसे बीमार को लों।
या तो मौत आवे या दिलदार मिलजे,
छुट्ट जावाँ मैं इस आज़ार को लों;
वागाँ मोड़सी कदों हिदायतुल्ला,
कोई जाय पुच्छे शहसवार को लों।

अर्थात्—वियोगी की पीड़ाओं का मूल्य वही समझता है, जिसका अपने प्यारे से वियोग हो गया है।
स्वस्थ मनुष्य दुःख का हाल क्या जाने, रोग की बात किसी रोगी से पूछो।
या तो मृत्यु आ जाय अथवा प्रियतम से मिलन हो जाय, जिससे मैं इस रोग से मुक्त हो जाऊँ।
हिदायतुल्ला कहता है कि चतुर अश्वारोही से कोई जाकर पूछे कि उसने कब से बागडोर मोड़ ली है।

(३)

जे वली प्रेम दी भा सीने,
भुन सुट्टेया वांग कबाब मैंनू;
मोईं फेर जीवाँ इकवार सेइयो,
मिले वस्ल दा जाम शराब मैंनू।
पुच्छाँ वांग जुलेखा दे हाल सारा,
जेकर मिले यूसफ़ अंदर ख़ाब मैंनू;
खोई कालड़ी रात हिदायतुल्ला,
नहीं आमदा नज़र महताब मैंनू।

अर्थात्—प्रेम की अग्नि की भट्ठी हृदय में जल उठी और मुझे कबाब की भाँति भून डाला।
ऐ सहेलियो ! मैं मरकर भी एक बार जी उठूँ, यदि मुझे प्रियतम की मिलनरूपी शराब का प्याला मिल जाय।
यदि मेरे स्वप्न में यूसुफ़ मिल जाय, तो मैं ज़ुलेखा की भाँति सारा हाल पूछूँ।
(हिदायतुल्ला कहता है कि) मैं प्रतीक्षा की अँधेरी रात में भूल गयी हूँ, परंतु मुझे चंद्रमा नहीं देख पड़ता है।

(४)

स्वाद सबर ना आँवदा यार बांझों,
गुज़री विच्च फ़िराक़ दे उम्र सारी।
पाणी बांझ जिमें मच्छी तड़फदी ए,
तिमे इश्क़ ज़ालम मेरी जान मारी।
घड़ी पलक कोई जिन्दगी है बाकी,
खोया अंखियाँ थीं मैंनू नेहरपारी।
बजे कूच दे ढोल हिदायतुल्ला,
आख फेर ताँ क़ासदी रही यारी।

अर्थात्—प्रियतम के बिना चैन नहीं, मेरा सारा जीवन वियोग में बीत गया।
अत्याचारी प्रेम ने मुझे उसी प्रकार मार डाला, जिस प्रकार जल के बिना मछली तड़पती है।
मेरा जीवन कुछ पल और शेष रह गया है और मेरी आँखों की ज्योति नष्ट हो गयी है।
हिदायतुल्ला की जीवन-यात्रा का ढोल बज रहा है, यदि वह मृत्यु के बाद आया, तो मेरी उसकी यारी (प्रेम की लगन) कैसी, अथवा किस प्रयोजन की ?

(५)

जीम जोड़ के हथ्थ सलाम आखीं,
मेरे यार नू क़ासदा जायके वे।
मेरे हाल दे ओसनूँ ख़बर दस्सीं,
ओदे पैराँ ते सीस टिकाके वे।

कदी देस असाडे करो फेरा,
आखीं यार नू वास्ता पायके वे।
मर गयी ताँ फेर हिदायतुल्ला,
की करेगा दिलवरा आयके वे।

अर्थात्—ऐ दूत, मेरे यार (प्रियतम) के पास जा, हाथ जोड़कर मेरा सलाम कहना।

उसके पैरों पर सिर टेककर उसे मेरी अवस्था बतला देना। मेरे प्रियतम से प्रार्थना करके कहना कि कभी वह मेरे देश में भी फेरी लगावे।

(हिदायतुल्ला कहता है कि) यदि मैं मर गयी, तो फिर प्रियतम आकर क्या करेगा?

उपर्युक्त दृष्टांत पंजाबी-साहित्य की सांकेतिक कविताओं के हैं। ये कविताएँ देखने में तो स्पष्ट रूप से सांसारिक प्रेम का निर्देश करती हैं, परंतु वास्तव में इनका संकेत गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ की ओर है।

दूसरे प्रकार की आध्यात्मिक कविताएँ, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शुद्ध अर्थबोधक हैं। वे स्पष्टतः आध्यात्मिक भाव लिये रहती हैं। इस प्रकार की कविताओं में फ़क़ीर बुल्लाशाह को कमाल हासिल है, यद्यपि यह बात नहीं कि बुल्लाशाह सांकेतिक कविता नहीं बनाते थे। बुल्लाशाह की सांकेतिक कविताएँ आज भी मौजूद हैं और वे प्रथम श्रेणी की कविताएँ हैं; पर जिन कविताओं में बुल्लाशाह ने कमाल कर दिखलाया है, वे अधिकांश शुद्ध अर्थ-बोधक ही हैं। आगे चलकर हम उन कविताओं की चर्चा करेंगे; परंतु साथ ही इस स्थान पर यह कहना अनुचित न होगा कि बुल्लाशाह पहुँचे हुए फ़क़ीर थे, उनका अध्ययन निश्चल था। साथ ही अध्यात्मवाद का उन्हें केवल सैद्धांतिक ही नहीं, वरन् अनुभूत ज्ञान था। जिन गहरे तत्त्वों का विशुद्ध रूप से अनुभव प्राप्त किया था, उनकी वाणी उन्हें कविता का रूप दे देती थी। बुल्लाशाह ने अपनी कविताओं में ज्ञानवाद का समर्थन किया है। उनमें न तो सूर और तुलसी के भक्तिवाद हैं और न मीरा के प्रेम-वाद का विशाल संसार ही है। उनका काव्य कबीर की नाईं ज्ञान का एक अतल समुद्र है। आप उसमें जितना डूबिए, उसकी गहराई उतनी ही अधिक होती जायगी। मुसलमान होते हुए भी बुल्लाशाह ने अपनी कविताओं में हिंदू-धर्म-ग्रंथों की चर्चा की है। उनकी कविताओं से मालूम होता है कि उन्होंने हिंदू-धर्म-ग्रंथों का अच्छा अध्ययन किया था। वह पूर्ण वेदांती थे और (वेदांतियों की नाईं) निराकार ब्रह्म की उपासना करते थे। आत्मा को परमात्मा से वह भिन्न नहीं मानते थे। आत्म-दर्शन, निस्पृहता, मिथ्याजगत्, आत्मचेतना, भगवान्-मय मनुष्य, विवेक, स्थितप्रज्ञ अवस्था, अनंत, अनादि, निर्विकार एवं व्यापक आत्मा आदि ऐसे ही विषय पर वह कविता करते थे। आत्मस्वरूप का परिचय प्राप्त करने के लिए उपदेश देते हुए उन्होंने कहा है—

अलफ़ आपणे आपनू समझ पहले,
की वस्तु है तेरड़ा रूप प्यारे।
बाझ आपणे आपदे सही कीते
पिओं विच विसूरदे दुखख भारे।
हारे लक्ख उपाव न सुख्ख होवी,
पुच्छ देख सिआनड़े जग सारे।
सुख रूप अखण्ड चेतन्न है तू,
बुल्लाशाह पुकारदे वेद चारे।

अर्थात्—हे मित्र, पहले अपने स्वरूप का निश्चय कर कि तेरा रूप कौन-सी वस्तु है।

बिना अपने को सही किये हुए अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त किये बिना तू शोकादि भारी दुखों में पड़ा है।

सारे संसार के तत्त्वदर्शी महात्माओं से पूछकर इस बात का निश्चय कर ले कि अन्य लाखों उपायों से तुझे सुख नहीं प्राप्त होगा।

तेरा चैतन्य आत्मा अखंड और आनंदस्वरूप है। (बुल्लाशाह कहता है कि) चारो वेद इसके प्रमाण हैं।

इस स्थान पर 'बाझ आपणे आप दे सही कीते' अर्थात् बिना अपने को सही किये हुए—इस कथन से बुल्लाशाह का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मन के भ्रम से मनुष्य रस्सी को सर्प मान लेता है तथा उसके इस प्रकार के विश्वास से उसे भय, कंपन, दुःख आदि मन की अनेक बाधाएँ उपस्थित होती हैं, उसी प्रकार अपने आत्म-स्वरूप की भूल से जन्म, मृत्यु, दुःख, शोक आदि संसार के अनेक क्लेश होते हैं। इसीलिए बुल्लाशाह ने आगे चलकर कहा है कि अपने आत्मस्वरूप को देखे बिना अन्य लाखों उपायों से भी तुझे सुख नहीं है। जिस प्रकार स्वप्न के बुल्लाशाह का आशय बहुत गहन है।

सिंह, व्याघ्र, सर्प तथा अन्य भयानक जंतुओं का भय निद्रा टूटने के बाद ही नष्ट होता है, उसी प्रकार आत्म-स्वरूप के जाने तथा अज्ञानांधकार के नष्ट हुए बिना दुःख की निवृत्ति तथा सुख की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे आत्मस्वरूप के जानने के हेतु बुल्लाशाह उस आत्मा के गुणों की चर्चा करते हैं—

जं जाँवणा आँवणा नहीं ओथे
कोहाँ वाङ्ग हमेश अडोल है जी।
जिवें बद्लाँ दे चले चंद चलदा
लगे बालकाँनू एह भूल है जी।
चलें देह इंद्रिय मनो प्राण आदिक
ओह देखणेहार अडोल है जी।
बुल्लाशाह संभाल खुश हाल हूजे
ऐन अरफाँदा इहो बोल है जी॥

अर्थात्—वह आत्मा चलता नहीं। पर्वत की भाँति वह नित्य और अचल है।

जैसे बादलों के चलने पर बालकों को चाँद चलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार (आत्मा को अचल न समझना) यह भूल है।

शरीर, इंद्रिय, मन, प्राण आदि क्रिया करते हैं; परंतु वह द्रष्टा आत्मा अचल है।

(बुल्लाशाह कहते हैं) यह जानकर प्रसन्न रहिए। यह संतों का निश्चय किया हुआ वाक्य है।

यहाँ 'अडोल' शब्द से बुल्लाशाह का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार एक घड़े के भीतर जलता हुआ दीपक घड़े को चलाने से चलता हुआ प्रतीत होता है परंतु वास्तव में वह स्थिर और क्रिया से रहित है, उसी प्रकार हमारी शारीरिक क्रियाओं द्वारा हमारी आत्मा क्रियाशील तथा अस्थिर प्रतीत होती है; वास्तव में वह सदा स्थिर और क्रिया से रहित है। परंतु स्थिर एवं क्रिया से रहित आत्मा का निर्विकार होना अनिवार्य है; कारण, बिना निर्विकार हुए न तो स्थिरता प्राप्त होती है और न क्रिया से रहित होना ही संभव है। इसीलिए बुल्लाशाह आगे चलकर कहते हैं—

सीन सितम करना जान आपनी ते
मुल आपथी होर कुछ होवनाई।
जिवें लखियाँ शेर चितेरीयाँ ने
सच जाणि के बालकाँ रोवनाई।
जरा मैल नाहीं देख मुल्लना है
लगे चिकड़ाँ वाझु किया धोवनाई।
बुल्लाशाह जंजाल ना मूल कोई
जान बुझ के किंऊ बाजी खोवनाई।

अर्थात्—असङ्ग आत्मा को कर्ता और भोक्ता मानना अपने ऊपर अन्याय करना है तथा वह ऐसी भूल है, जिस प्रकार चित्रकार ने शेर की मूर्ति बनायी हो और बालक उसे सच्ची समझकर (भय से) रोने लग जायँ।

(तेरे) आत्मा में कोई विकार नहीं है, उसे विकारयुक्त समझना भूल है। जब मैल ही न लगे, तो धोना क्या?

(बुल्लाशाह कहता है कि) यह बात जानकर कि आत्मा निर्विकार है, तुम अपनी बाज़ी क्यों खो रहे हो, अर्थात् तुम अपने मोक्ष का साधन क्यों नहीं करते?

यहाँ बुल्लाशाह ने वेदांत के इस सिद्धांत की परिपुष्टि की है, जिसके अनुसार ब्रह्म से अभिन्न आत्मा सदा शुद्ध, मुक्त, निर्विकार तथा जन्म और मृत्यु से रहित है। आगे चलकर वह इस सिद्धांत को अधिक स्पष्ट कर देते हैं। साथ ही इनके अनुसार आत्मा केवल निर्विकार और अचल ही नहीं है; वह व्यापक और उपमाहीन तथा साथ-ही-साथ ज्ञान अथवा अज्ञान की कल्पना से परे है। इसीलिए वह कहते हैं—

शीन शुबह नाहीं जरा एक इसमें
सदा आपणा आप स्वरूप है जी।
नहीं ज्ञान अज्ञान दी ठौर उत्थे
कहाँ सूर में छाँठ अरु धूप है जी।
पड़ा सेज के मांहि ही सही सोया
कूड़ सुप्न का रंग अरू रूप है जी।
बुल्लाशाह संभाल जब मूल देखा
ठौर ठौर में वही अनूप है जी।

अर्थात्—इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि यह आत्मा स्वयं अपना स्वरूप है, अर्थात् सदा अपने ही आप में स्थित रहती है।

ज्ञान और अज्ञान की कल्पना उसमें नहीं हो सकती।

सूर्य में धूप तथा छाया कहाँ है।

चारपाई पर सोये हुए मनुष्य स्वप्न के विविध रंग और रूप सभी मिथ्या हैं।

बुल्लाशाह कहते हैं कि जब विचार कर देखा, तो

यही निश्चय किया कि वह उपमा से रहित आत्मा निश्चय ही सर्वत्र व्याप रही है।

इस प्रकार बुल्लाशाह के सिद्धांत के अनुसार जिस आत्म में ज्ञान और अज्ञान की कल्पना नहीं हो सकती, वह आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप, ज्योतिर्मय एवं सब बुद्धि आदि की जाननेवाली है। कारण, आगे चलकर वह कहते हैं—

काफ़ कौंड़ जाँणें जाण जाण दीनूँ,
आप जानणे हार यह कुल्ल दा है;
परतंख थी आदि परमाण जेतें,
सिक्र कीते इस दे नहीं मुल्ल दा है।
नेति नेति करि वेद बखान देनी,
नहीं दूसरा इससदे तुल्लदा है;
बुल्लाशाह संभाल जब आप देखा,
सदा स्वयं प्रकाश यह मुल्लदा है॥

अर्थात्—बुद्धि के साक्षी इस आत्मा को कौन जान सकता है। यह स्वयं ज्ञानस्वरूप और ज्योतिर्मय सब बुद्धि आदि का ज्ञाता है।

प्रत्यक्ष आदि छः प्रमाण इसी चेतन आत्मा से सिद्ध होते हैं, जो आप नहीं भूला जाता है।

वेद इसी को नेति-नेति (जिसका अंत नहीं...... जिसका अंत नहीं) पुकारते हैं और इसके समान दूसरा नहीं है।

बुल्लाशाह कहता है कि जब अपनी बुद्धि से विचार करके देखा, तो यह नित्य ही स्वयं प्रकाश करके स्थित है।

यहाँ महान् तत्त्वदर्शी बुल्लाशाह ने उपर्युक्त पंक्तियों में जिस अनुभूत सत्य को गाया है, वह श्रुति-प्रमाण भी है। यथा—

येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।

अर्थात् जिस चेतन आत्मा की सत्ता से मनुष्य संपूर्ण बुद्धि-सहित सब जगत् को जानता है, उस बुद्धि आदि की जाननेवाली वस्तु को कौन जड़ वस्तु करके जाने, अर्थात् वह सबको प्रकाशित करनेवाली आत्मा किसी दूसरे की सहायता के बिना स्वयं प्रकाशित है। आगे चलकर बुल्लाशाह कहते हैं—

हे हरतराँ दीसे दिलदार प्यारा,
रंग रंग के रूप बनाइके जी;
कहुँ आप भुलाय रंजूर हो या,
अध उर्ध भरमी दुख्ख पाइके जी।
जब आप मों आप प्रगट्ट हो या,
निजानंद के माहिं समाइयाई।
बुल्लाशाह जो आदि का अंत सोई,
जाय नीर में नीर समाइयाई॥

अर्थात्—बुद्धि को प्रेरित करनेवाला आनंदस्वरूप आत्मा अनेक रूप है और सब प्रकार से वही दीख रहा है।

कभी अपने महत्व को भूलकर दुखी होता है; नीच-ऊँच शरीर में प्रवेश कर दुःख पाता है।

जब बुद्धि में यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो गया, तो उस आत्मानंद में बुद्धि लीन हो गयी।

बुल्लाशाह कहता है कि जो शुद्ध-स्वरूप पहले था, ज्ञान के पीछे वही शेष रह गया। जिस प्रकार पानी में बरफ़ लय हो जाता है, उसी प्रकार बुद्धि आत्मा में लय हो गयी।

बुल्लाशाह की उपर्युक्त कविताएँ आत्मा के गुणों को बतलाती हैं; पर जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, बुल्लाशाह वेदांत-दर्शन के उस सिद्धांत को मानते थे, जिसमें आत्मा परमात्मा से अभिन्न है। तात्पर्य यह कि बुल्लाशाह अद्वैतवाद के क़ायल थे। इस बात के प्रमाण में उन्होंने इस प्रकार लिखा है—

नून नाम ते रूप उठाइ दीजे,
पीछे अस्ति अरु भाति प्रिय साँचहै जी;
जोई चित्त की चितवनी बीच आवे,
सोई जाण तहकीक कर काँच है जी।
तीन बुद्धि दी वृत्ति दा तुही साखी,
तिनै छाड निज बोध में राच है जी;
बुल्लाशाह तू भूप अचल बैठा,
तेरे आगे परकीरति को नाच है जी।

अर्थात्—नाम और रूप को असत्य समझ। शेष अस्ति, भाति और प्रिय को सत्य मान।

मन, वाणी अथवा नेत्र-संबंधी संसार के जो भी पदार्थ हैं, वे मिथ्या हैं—ऐसा निश्चय कर।

सत, रज, तम—बुद्धि की इन तीन वृत्तियों का तू ही साक्षी है। इनका त्याग करके अपने ज्ञान-स्वरूप यथार्थ आत्मा में प्रीति कर।

बुल्लाशाह कहता है—तू राजा की नाईं स्थिर बैठा

है, और तेरे सामने प्रकृति नाना रूप धारण कर नाच रही है।

यहाँ बुल्लाशाह का भाव अत्यंत गूढ़ है। अस्ति, भाति, प्रिय ये—तीनों सत, चित, आनंद हैं और इस लिए ब्रह्मस्वरूप हैं तथा सदा एकरस रहते हैं। इनके अतिरिक्त नाम और रूप जगत् के अंश हैं, और इस-कारण सदा बदलनेवाले होते हैं। इन पाँचों—अर्थात् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप—से सारा संसार बना है। हमारे शरीर में भी ये पंच पदार्थ हैं। इस-कारण यदि हम अपने भीतर से नाम और रूप अर्थात् सांसारिक तत्त्व हटा देंगे, तो अस्ति, भाति और प्रिय (सत, चित और आनंद) ही शेष रह जायगा, जो हमारी आत्मा है। और चूँकि आत्मा सत, चित और आनंद है, इसलिए ब्रह्ममय है। इसी अद्वैतवाद के सिद्धांत को स्पष्ट शब्दों में महात्मा बुल्लाशाह ने इस प्रकार कहा है—

बोय जुदा नहीं तेरा यार तैं थी,
फिरे ढूँढदा किस्स नूँ दस्स मैनूँ।
पाहिले ढूँढणे हार नू ढूढि खाँ तूँ,
परतँख घरे विच रस्स तैनूँ।
मता तुँही होवें आप यार समदा,
फिरें ढूँढदा जंगला विच जैनूँ।
बुल्लाशाह तू आप महबूब हो या,
भुल्ला आपनूँ ढूँढदा फिरे कैनूँ।

अर्थात्—तेरा यार (परमात्मा) तुझसे पृथक् नहीं है। तू स्वयं वह है। मुझसे कह, तू किसे ढूँढ़ता फिरता है?

पहले तू ढूँढ़नेवाले का स्वरूप (अपना स्वरूप) निश्चय कर, फिर तुझे अपने भीतर ही आनंद प्रत्यक्ष हो जायगा।

जिसे तू जंगलों में खोजता फिरता है, वह सबका प्यारा कदाचित् तू स्वयं होवे।

बुल्लाशाह कहता है—परम आनंदस्वरूप तू स्वयं है। अपने रूप को भुलाकर तू किसे ढूँढ़ता फिरता है? इस प्रकार बुल्लाशाह मनुष्य को स्वयं ब्रह्म समझते हैं। परंतु इस स्थान पर यह बात विचारने योग्य है कि जब मनुष्य स्वयं ब्रह्म है, तो उसे भगवान् की भाँति चिन्मय, अमर, नित्य और अविनाशी होना भी अनिवार्य है। इस सिद्धांत को स्पष्ट करने के लिए बुल्लाशाह ने निम्नलिखित कविताएँ लिखी हैं—

दाल दिल्ल दिलगीर न होदे मूले,
दिगरचीज नापैद तहक़ीक़ कीजे।
अँवल जाय सुहबत करो आरफ़ाँदी।
सुखन तिनादे आबहयात पीजे।
चशम जिगर दे मलन हो रहे तेरे,
नहीं सूझदा तिनोकर साफ़ कीजे।
बुल्लाशाह संभाल तूँ आप ताईं,
तुही एक आनंदमय सदा जीजे।

अर्थात्—चित्त में तनिक भी संशय न कर। विचार-पूर्वक निर्णय कर। आत्मा से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। पहले जाकर महात्माओं का सत्संग करो, उनके अमृतमय वचनों का पान करो।

बुद्धिरूपी तेरे नेत्र मलिन हो रहे हैं। उनसे आत्मा का स्वरूप नहीं देख पड़ता। बुद्धिरूपी उन नेत्रों को साफ़ कर। बुल्लाशाह कहता है—तू अपने को सँभाल, अर्थात् अपने स्वरूप को भली भाँति देख ले। तू ही आनंदमय, नित्य और अविनाशी है।

चे चानणा कुल्ल जहानदा तूँ,
तेरे आसरे होइ विवहार सारा।
होइ समय की आँख मों देखदा है,
तुझे सूझदा चानणा औ अँधयारा।
नित्त सोवणा जागणा ख्वाब तीनों,
देख तेरे अग्गे होइ कहे बारा।
बुल्लाशाह परकाश स्वरूप तेरा,
घँट बद्ध नहिं होत है एक सारा।

अर्थात् तू सारे जगत् का प्रकाश है और तेरी सत्ता से ही सब इंद्रियों का व्यवहार हो रहा है।

सब प्राणियों की नेत्रादिक इंद्रियों में बसा हुआ तू ही देख रहा है। प्रकाश एवं अंधकार का रहस्य तुझे ज्ञात है।

तेरे सामने स्वप्न, जागृति और सुषुप्ति ये तीनों अवस्थाएँ नित्य बार-बार होती हैं।

पर उन तीनों अवस्थाओं में तेरा प्रकाश समान रूप से रहता है; घटता-बढ़ता नहीं।

जीम जीवणा मलाकर मन्नियाँतैं,
डरे मरण थी यही अरमान भारा;

इकँ तुँहीताँ जिंदु जहान दी है,
मिलाऽकाश जिवैं सब माहिं नियारा।
तेरे जिहा न दूसरा अवर कोई,
आदि अन्त बाझो सदा लगे प्यारा ;
बुल्लाशाह संभाल ना काल कोई,
तूँ ताँ अमरू है सदा, नहीं मरणहारा।

अर्थात्—यह बड़े आश्चर्य की बात है कि तू मरने से डरे और जीने को अच्छा मान ले।

एक तू ही चैतन्य है। तू ही इस संसार की सत्ता है। आकाश की नाईं सबसे मिलकर भी सबसे पृथक् है।

तुझसे पृथक् दूसरा कोई नहीं है। आदि और अंत से हीन तू नित्य प्यारा लगता है।

बुल्लाशाह कहता है—निश्चय जान ले, मृत्यु कोई वस्तु नहीं है। तू तो नित्य और अमर है; तेरी मृत्यु नहीं हो सकती।

इस प्रकार बुल्लाशाह आत्मारूप मनुष्य को आकाश की नाईं सबसे मिला हुआ और सबसे पृथक् समझते हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जिस भाँति मिट्टी के अनेक बर्तन में आकाश मिला-सा जान पड़ता है, परंतु उन बर्तनों के टूटने से आकाश की कोई हानि नहीं होती, उसी भाँति चैतन्य आत्मा संपूर्ण देहादिकों में व्यापक है और उनके मरने से नहीं मरता। इसीलिए उन्होंने आत्मा को नित्य एवं अमर कहा है; क्योंकि जन्म, अस्ति, वृद्धि, परिणाम, अपत्तय तथा नाश ये छः विकार आत्मा के नहीं, वरन् शरीर के धर्म हैं। परंतु शरीर के इन धर्मों के संसर्ग से मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है। आत्मस्वरूप के भूलते ही मनुष्य स्वप्न की भ्रांतियों की भाँति अपने को भगवान् से भिन्न जानकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। उसी अज्ञान अवस्था का वर्णन करते हुए बुल्लाशाह कहते हैं—

ते तनक छिद्र नहीं विच तेरे,
जिसे कँख ना इक समावदाही ;
ढूँढ़ देख जहान दी ठौर किथ्थे,
अण हुंदडा नदरी आँवदाही।
जिवें ख्वाब दा ख्याल है सुत्रियाँ नू
तराँ-तराँ दे रूप दिखावदाहीं।
बुल्लाशाह न तुझँ थी बुझँ बाहर,
तेरा मर्म तैनूँ भरमावदाही।

अर्थात्—तुझमें एक तिनके के समाने योग्य भी अवकाश नहीं है।

विचारकर देख जगत् की स्थिति कहाँ है? स्थितिहीन होते हुए भी यह इस प्रकार अस्तित्ववाला प्रतीत हो रहा है, जिस प्रकार सोनेवाले को स्वप्नदशा में अनेक प्रकार की मूर्त्तियाँ देख पड़ती हैं।

बुल्लाशाह कहता है—तुझसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है, तेरा भ्रम ही तुझे भरमा रहा है।

इस प्रकार यहाँ बुल्लाशाह का आशय यह है कि स्वप्न में जो कुछ दीखता है, वह स्वप्न देखनेवाले पुरुष से भिन्न नहीं होता। इसी प्रकार संपूर्ण दृश्यमान जगत् आत्मा से न्यारा नहीं है। हमारी भ्रांति से हमारा ही स्वरूप भिन्न-भिन्न रूप होकर प्रतीत हो रहा है। बुल्लाशाह का यह भी आशय है कि जिस भाँति स्वप्न के चित्र द्रष्टा पुरुष से भिन्न न होते हुए भी अनित्य एवं क्षणभंगुर हैं, उसी भाँति संपूर्ण दृश्यमान जगत् आत्मा से न्यारा न होते हुए भी अनित्य एवं क्षणभंगुर है। फिर भी मनुष्य अपने को फँसाने के लिए स्वयं माया-मोह, ममता आदि के जाल बनाता है। इस भाव को महात्मा बुल्लाशाह ने इस प्रकार अंकित किया है—

से समझ हिसाब कर बैठ अंदर,
तूँ ताँ आसरा कुल्ल जहाणदा है;
तेरे डिठ्याँ दिसँदा सँभ केहि,
नहीं कोई न किसे पहचाणदा है।
तेरा खियाल ही होइ हरतराँ दिसें,
जिवें बाल वेताल कर जाणदा है;
बुल्लाशाह फाहे कौन डावरेनू,
फसे आप आपे फाही ताणदा है।

अर्थात्—अपनी अन्तरात्मा में खोजकर देख, तू ही इस संपूर्ण संसार की आशा है।

तेरी ही दृष्टि से सभी देखते हैं, अन्यथा कोई भी किसी को नहीं पहचानता।

तेरा संकल्प ही नाना रूप धारण कर तेरे सम्मुख प्रकट होता है, जैसे बालक अपनी परछाईं को भूत समझकर डरता है।

बुल्लाशाह कहता है—अंजनहारी को कौन फँसाता है? वह आप ही जाला तानता है और आप ही फँसता है।

यहाँ 'तेरी ही दृष्टि से सभी देखते हैं, अन्यथा कोई भी किसी को नहीं पहचानता'—से बुल्लाशाह का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार परमात्मा के प्रकाश से ये सब प्रकाशित हैं और उसी के प्रकाश से सारे संसार का व्यवहार होता है, उसी प्रकार आत्मा की सत्ता से ही नेत्रादि सारी इंद्रियों का व्यवहार होता है; अन्यथा कोई भी इंद्रिय अपने किसी विषय को नहीं जान सकती। आगे चलकर बुल्लाशाह कहते हैं कि तृष्णा ने मनुष्य को प्रवंचित कर लिया, और इस कारण वह अपने आत्मस्वरूप को भूल गया—

हे हिरस हैरान कर सुट्टियों तू,
तैनू आपणा आप भुलाइयासू ;
पातशाही आसुट्ट कंगाल कीता,
करि लँख थी कँख दिखाइयासू।
मद मत्तड़े शेरनू तंद कच्ची,
पैरी पाइके बल बहाइयासू ;
बुल्लाशाह तमासडा होर देखो,
लै समुद्र नू कुज्जड़ी पाइआसू।

अर्थात्—तृष्णा ने तुझे अपने वश में कर विषयों में डाल दिया, इस कारण तूने अपना स्वरूप भुला दिया।

उसी तृष्णा ने तेरा राज्य छीनकर तुझे कंगाल बना दिया, तेरे लाखों के वैभव को नष्ट कर तुझे तिनके की भाँति कर दिया। मतवाले सिंह के पैर में कच्ची ताँत डाल, बाँधकर बैठा दिया है। बुल्लाशाह कहता है—और आश्चर्य तो यह है कि समुद्र को उठाकर कुल्हड़ में भर दिया है।

यहाँ आत्मा को बंधनयुक्त और बंधनहीन समझने की ही उपमा क्रमशः कंगाल और राजा से दी गयी है। नित्य, मुक्त एवं निर्विकार आत्मा को पाप और पुण्य का कर्ता तथा सुख और दुःख का भोक्ता मानना, साथ ही उसे पराधीन समझना मानों सिंह को बाँधकर बैठाना है। इसी प्रकार सर्वव्यापक आत्मा को साढ़े तीन हाथ का शरीरवाला ही समझना समुद्र को कुल्हड़ में भरना है।

खे खबर ना आपणी रखना है,
लग ख़्याल दे नाल तूँ ख़्याल होइया ;
वरा ख़्याल नू छोड़ बेख़्याल हो खाँ,
जिवें होय अघजागिया नहीं सोइया।
तदों देख खाँ अन्दरों कौन देखे,
नहीं घास में छप्प हाथी खलोया ;
बुल्लाशाह ज्यूँ गले दे विच गहणा,
फिरे ढूँढदा ताँहि तैं नाहिं खोइया।

अर्थात्—तू अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं रखता है; मन के संकल्प के साथ मिलकर मनरूप ही हो गया।

तनिक अपने संकल्पों का त्याग कर तूष्णी-भाव की प्राप्ति कर जैसे ऊँघती अवस्था में होता है।

तब देखो कि तुम्हारे भीतर तुम्हारे सारे संकल्पों को कौन देख रहा है। छोटी दूब में खड़ा हाथी नहीं छिपता है।

बुल्लाशाह कहता है—(भ्रम से) तू जैसे अपने गले का आभूषण खोजता फिरता है; (परंतु) तूने उसे खोया नहीं (वह तेरे गले में ही है)।

आत्मा और परमात्मा की एकता का गूढ़ रहस्य इस प्रकार उद्घाटन करने के बाद महात्मा बुल्लाशाह जिज्ञासुओं के लिए मन के संशय को दूर करने का उपदेश देते हैं। कहते हैं—

जाल जरा भी शक न रक्ख मन ते,
तुही होहु बेशक खुद खसम साँई ;
जिमें सिंह भुल्लाय बल आपणे नूँ,
चरे घास मिल अजा में अजा न्याई।
पिछे समझ बल गरजियो अजा मारी,
भयो सिंह को सिंह कछु भेद नाहीं ;
तैसे तोहि तों तराँ कुछ अवरधारी,
बुल्लाशाह संभाल तू आप ताईं।

अर्थात्—अपने मन में किंचित् संशय न कर। निस्संदेह तू स्वयं ही सृष्टि का स्वामी है।

जिस भाँति सिंह अपने बल को भूलकर बकरियों से मिल बकरी की नाईं घास चरने लगता है—

और पीछे अपने यथार्थ बल का ज्ञान प्राप्त कर बकरी को मार देता है, तथा उसके यथार्थतः सिंह हो जाने में कोई भेद नहीं रहता।

बुल्लाशाह कहता है—उसी प्रकार तू अपने शुद्ध रूप को भगवान् से कुछ भिन्न मान बैठा है। तू अपने असल रूप को पहचान ले।

आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों का सार समझ-कर महात्मा बुल्लाशाह इस क्षणभंगुर एवं स्वप्नवत् संसार से चित्त हटा लेने का उपदेश देते हैं। जगत् की असारता समझाते हुए वह कहते हैं—

रे रंग जहाण दे देख प्यारे,
सोहने बाझ बीचारियाँ दिंस देनी ;
जिवें होत हुवाब वहुरंग दे जी,
अंदर आब दे जरा बिच फिस्सदेनी।
खाक, आब, आतस, बाद भये कट्ठे,
देख अज्ज के कल्ल बिचि खिससदेनी ;
बुल्लाशाह संभाल के देख खाँ तूँ,
दुःख सुख समे एह किस्स देनी।

अर्थात्—हे मित्र, जगत् के विलासों को देखो; ज्ञान के अभाव में ये सुंदर देख पड़ते हैं।

ये विलास उन अनेक रंग के सुंदर बुलबुलों की भाँति हैं, जो थोड़ी देर में ही जल में लीन हो जाते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि जो इकट्ठे हुए हैं—देख, यह सब शीघ्र या विलंब से अवश्य नाश होने-वाले हैं।

बुल्लाशाह कहता है—विचारकर स्वयं देख लो, यह सब सुख-दुःख किसके धर्म हैं ?

आगे चलकर बुल्लाशाह कहते हैं—

स्वाद सबर करना आप बर्णी उत्ते,
देख रंग ना चित्त डोलाइएजी ;
जोई आइ और जाइ कर टिके नाहीं,
तामें कोण दानस चित्त लाइएजी।
सदा तुखम दी तरफ़ निगाह करनी,
पात फूल फल ओर ना जाइएजी ;
बुल्लाशाह संभाल ख़ुद खंड चाखा,
तिस वेख खल खुश्क क्यूँ खाइएजी।

अर्थात्—सुख और दुःख जो कुछ भी आवे, उसमें सम भाव से संतुष्ट रहना चाहिए। भोगों को देखकर मन को भ्रम में नहीं डालना चाहिए।

जो वस्तु उत्पन्न और नष्ट होकर स्थिर न रहे, उसमें बुद्धिमान् कब चित्त लगाते हैं ? सदा बीजरूप कारण की ओर ध्यान रखना चाहिए; पत्र, पुष्पादि कार्य पर ध्यान नहीं देना चाहिए।

बुल्लाशाह कहता है—जब सँभल जाने पर एक बार खाँड चख लिया अर्थात् चैतन्य हो जाने पर आत्मतत्त्व का बोध हो गया, तो तुच्छ विषयों पर जी क्यों ललचाया जाय ?

इस प्रकार चैतन्य प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को जब अपने आत्मरूप का बोध हो जाता है, उस समय वह सुख-दुःख, मान-अपमान, शत्रु-मित्र सभी को समभाव से देखता है। उस समय वह अपने आत्मानंद में इस प्रकार मस्त रहता है कि उसके लिए स्वर्ग का सुख भी तुच्छ हो जाता है। बुल्लाशाह ने उस अवस्था को इस प्रकार कहा है—

ऐन ऐन ही आप है बिना नुक़ते,
सदा चैन महबूब दिलदार मेरा ;
इकबार महवूब नू जिनी डिट्ठा,
ओह देखणे हार है सम्म केरा।
उस तों लक्ख बहिश्त कुरबान कीते,
पहुँचे महल बेगम चुकाई झेड़ा ;
बुल्लाशाह उह हाल मस्तान फिरदे,
हाथी मत्तड़े तोड़ जंजीर जेड़ा।

अर्थात्—आत्मा दूसरे के बिना स्वयं ही स्थित है। यह (मेरा प्रिय) नित्य और आनंदमय है।

जिसने अपनी आत्मा (प्यारे) को एक बार देख लिया, वह सबको अपनी ही आत्मा समझता है।

आत्मज्ञानी को स्वर्ग के सब सुख तुच्छ हैं। उसकी सारी बाधाओं की इति हो गयी और वह निरुपद्रव-पद पा गया।

बुल्लाशाह कहता है—जिस प्रकार मस्त हाथी ज़ंजीर तोड़कर स्वतंत्र हो जाता है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी विधि और निषेध से मुक्त होकर स्वतंत्र हो जाते हैं।

विधि और निषेध से मुक्त होनेवाली अवस्था स्थित-प्रज्ञ अवस्था है। मनुष्य इस अवस्था में आत्मविस्मृत हो जाता है और उस समय उसकी सर्वव्यापक, नित्य एवं अनंत आत्मा सारी सृष्टि में फैल जाती है। उस समय वह हर्ष और शोक, दोनों से परे हो जाता है। इस अवस्था का चित्रण बुल्लाशाह ने यों किया है—

अलफ़ आज होया सभी चंज मेरा,
गमी शादी दे पार खलोइया मैं ;
भया दूर दिल भरम सब मरम पाया,
डर कालदा काजिया खोइया मैं।
साध संग की दया ते भया निरमल,
घट-घट चैतन सुख सोइया मैं ;
बुल्लाशाह संभाल जब मूल देखा,
जोई आदि का अंत फिर होइया मैं।

अर्थात्—अब मेरा सभी कार्य पूरा हो गया ; हर्ष और शोक की सीमा के बाहर मैं खड़ा हूँ।

मेरा सारा अज्ञान दूर हो गया और मैंने आत्मा के तत्त्व को जान लिया । मृत्यु का भय मेरे हृदय से मिट गया।

सत्संग के प्रभाव से मेरा मन शुद्ध हो गया । समस्त शरीरों में सुख तथा चेतनरूप से मैं स्थित हूँ।

बुल्लाशाह कहता है—जब विचारकर यथार्थ में निश्चय किया, तो मालूम हुआ कि आदि में मेरा जो स्वरूप था, अंत में भी वही शेष रहा।

स्थितप्रज्ञ अवस्था के इस आत्मानंद में अज्ञान का अंधकार नष्ट हो जाता है और बुद्धि लय हो जाती है। इस अवस्था का वर्णन बुल्लाशाह इस भाँति करते हैं—

ये यार पाया सहियो मेरियोनी,
मैं ता आपणा आप गँवायके जी ;
रही सुद्धि ना बुद्धि जहान केरी,
थकी वृत्ति आनंद में जाइके जी।
अठे पहर विश्राम नहीं काम कोई,
दूजी ज्ञान की माहिं जलाइके जी।
बुल्लाशाह मुमारखाँ लँख देवो,
मई जानि जानी जल लाइकै जी।

उपर्युक्त कविता सांकेतिक है। इसका आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है—

हे सहेलियो, मैंने अपने व्यक्तित्व को खो करके अपनी आत्मा के शुद्ध रूप को पा लिया।

मुझे संसार की कोई ख़बर न रही। आत्मानंद में निमग्न होकर बुद्धि की सारी वृत्ति लय हो गयी।

अविद्या को ज्ञान-अग्नि से नष्ट कर आठों पहर मैंने समाधि ले ली है । अब मुझे किसी साधन की अपेक्षा नहीं रही।

बुल्लाशाह कहता है—अत्यंत हर्ष को प्राप्त कर आनंद-समुद्र-आत्मा में मग्न होकर स्वयं आत्मस्वरूप बन गया।

उपर्युक्त कविताएँ बुल्लाशाह की आध्यात्मिक कविताओं के कुछ नमूने हैं। विस्तार-भय से हम उनकी अन्य कविताओं की चर्चा नहीं कर सकते। वास्तव में बुल्लाशाह पहुँचे हुए वेदांती फ़क़ीर थे । उनकी प्रत्येक पंक्ति हमारे सम्मुख जीवन और आत्मा के अतुल ज्ञान का रहस्य खोल देती है। उस रहस्य को जानकर मनुष्य कम-से-कम कुछ काल के लिए इस पार्थिव संसार से परे अध्यात्मवाद की रंगभूमि में आत्म-विस्मृत हो जाता है।

'माधुरी' पर दो सम्मतियाँ—

१. श्रीयुत भास्कर रामचंद्र भालेरावजी—"आप माधुरी द्वारा ख़ासी साहित्य-सेवा कर रहे हैं । बढ़े चलिए। इस कार्यक्षेत्र में आप-जैसे कर्मवीर-सेवी की बड़ी आवश्यकता है।"

२. पं० सूर्यकांतजी त्रिपाठी 'निराला'—"आपकी सुंदर पत्रिका बराबर पढ़ता हूँ। आपने निस्संग रहकर भी पत्रिका को आगे रक्खा; आपका अध्यवसाय प्रशंसनीय है।"

खादी-शृंगार

[श्रीसीताराम पांडेय बी० ए०, विशारद]

(बरवै)

चमकत चलत नवेलिया खदिया साजि,
सेत पयोद बिजुरिया लखि छबि लाजि।
सित-पट लिहेसि किसोरिया अँचरा डार,
जुग सिव-मुरति बुड़ायेसि सुरसरिधार।
पीतम सिर सित टोपिया मम मन मोह,
मानहुँ छीरधि फेनवाँ ससि सिर सोह।
पियकृत सूत रुमलिया लइ-लइ नारि,
छतियाँ धरति बुतावति बिरह-दवाँरि।

सोह सुघर सित खदिया सुंदरि साजि,
सरद-जलद सिर जनु रह इंदु बिराज।
खादी पहिरि पियरिया पीतम सोह,
गौरि गिरीस बिराज परसपर मोह।
सोह कुसुम सम गतवा सितपट माहिं,
मनहुँ गुलाब क' फुलवा सेवति माहिं।
सोह गजी सित सरिया अस अलबेलि,
सोनजुही जस राजति बीच चमेलि।

चंपक चारु पखुरिया बारिज सेत,
गजिया पहिरि छबिलिया नव छबि देत।
सोवत सेत सेजरिया गोरि सलोनि,
रूप सिला जनु सोह सरइया सोन।
खादी पीत युवतिगन सोह कतार,
जग मग बिद्युत-दीपक-बंदनवार।

खादी सित तन, कर पद वदन उघार,
गंग तरंग कमल छबि लहत अपार।
सोहत सुंदरि-मुख सित घूँघट अंक,
शरदपयद बिच छाजत पूर्ण मयंक।
पीतम सिर सित पगिया मम मन मोह,
हँसत मनहुँ सुर-सरिता सिव सिर सोह।
देहियाँ गोरि गजिअवा अस छबि देत,
जनु तन सेष-केंचुरिया सोहति सेत।

स्यामल तन सित सरिया लाल किनार,
रूप त्रिवेनी अँखियाँ बुड़की मार।
जियरा यह अभिलाख गजिअवा होइ,
रहउँ सदा पिय अंग बिछोहवा खोइ।
कालिनि झीन रेसमवाँ लचकत लंक,
साजति आजु गजिअवा कस निरसंक।
पीतम अंग लगायेनि जउ सुख पाइ,
हमहूँ माथ चढ़ावा मोटिया लाइ।

विश्व की आर्थिक लहर

[पं० नरसिंहराम शुक्ल]

आज संपूर्ण संसार में भयंकर आर्थिक उथल-पुथल मची हुई है। द्रव्य एवं अर्थ का संबंध आज के जीवन से कितना गुँथा हुआ है, इसका अनुमान केवल इतने ही से किया जा सकता है कि सारे राष्ट्र आज त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं। दो-एक इने-गिने राष्ट्रों को छोड़कर कोई भी बड़ा या छोटा राष्ट्र इस आपदा से परे नहीं है। सबका ध्यान इस ओर आकर्षित हो उठा है; जिस देश की जनता एवं सरकार जितना ही अधिक चैतन्य है, उतना ही अधिक उस देश की जनता अथवा सरकार अपनी बिगड़ी हुई दशा को सुधारने के लिए दत्तचित्त होकर प्रयत्न कर रही है। सबकी ओर से बड़े-बड़े अर्थशास्त्री घड़ी-घड़ी पर संसार की आर्थिक प्रगति की जाँच कर रहे हैं।

अर्थशास्त्र का संबंध प्रायः इन तीन बातों से ही संबंधित होता है—

१—व्यापार-व्यवसाय, २—शिल्प-कारीगरी, ३—मुद्रा एवं विनिमय।

जब कभी आर्थिक हलचल मचती है, तो इन तीनों पर उसका प्रभाव पड़ता है। यदि आर्थिक हलचल अधिक हुई, तो तीनों एक साथ प्रभावित होते हैं। परंतु पहले आक्रमण मुद्रा पर ही होता है। सोमवार, २१ सितंबर सन् १९३१ के दिन जब ब्रिटिश-पार्लियामेंट के सदस्यों ने कमरा बंद कर एकाएक यह प्रस्ताव सर्वसम्मत से पास किया कि आज से उस समय तक जब तक पार्लियामेंट पुनः आज्ञा न निकाले, 'बैंक आफ् इँगलैंड' 'वापसी' (Withdrawl) देना रोक दे—उस दिन के उस निश्चय को सुनकर सारा संसार थर्रा उठा। कितनों ने तो यहाँ तक समझ लिया कि अब ब्रिटिश-साम्राज्य की विशालकाय नौका डूबने को है। ऐसा अनुभव होने लगा कि अब बैंकों पर ताले पड़ जायँगे। सचमुच ऐसी ही दशा थी। 'प्रस्ताव' के शब्द ही इस बात के प्रमाण हैं—

"जुलाई, सन् १९३१ से अबतक लंदन के बाज़ारों से बीस करोड़ पौंड 'वापसी' रूप में बाहर गया है। ये 'वापसी' कुछ तो सोने के रूप में दिये गये हैं, और कुछ विदेशी हुंडियों के रूप में। इन विदेशी हुंडियों में संयुक्त-राष्ट्र का पाँच लाख का, न्यूयार्क-बैंक एवं इतना ही पेरिस का, तथा अन्य देशों का सामूहिक रूप में मिलाकर कुल आठ करोड़ पौंड का 'बैंक आफ् इँगलैंड' पर लहना है। जिस शीघ्रता के साथ लोग अपना पावना वापस ले रहे हैं, उसे देखते हुए सम्राट् की सरकार यह उचित समझती है कि कुछ समय तक लहना चुकाना स्थगित रक्खा जाय।"

कुछ लोगों का ख़याल है कि अमेरिका की आर्थिक स्थिति अच्छी है। ऐसा वे इसलिए समझते हैं, क्योंकि अमेरिका एक महान् ऋण-दाता राष्ट्र है। परंतु वर्तमान मंदी के कारण वहाँ भी हलचल मची हुई है, यहाँ तक कि भयंकर सामाजिक कलह उत्पन्न होने की संभावना है। इस संबंध में, अभी हाल में, संयुक्त-राष्ट्र के अनाथालयों की एवं दान-गृहों की एक संयुक्त कमेटी ने जो वक्तव्य निकाला था, वह इस प्रकार है—

"अब तक हम बेकारों को भोजन और वस्त्र अपनी शक्ति के अनुसार देते आये हैं, परंतु अब ऐसा करने में असमर्थ हैं; क्योंकि बेकारों की संख्या सीमा से अधिक हो गयी है।"

एक दूसरे वक्तव्य में सभापति हूवर महोदय कहते हैं—

"मैं उन तमाम अमेरिका-वासियों से निवेदन करता हूँ कि अपने घर में जमा किये गये सोने को वे बैंकों में जमाकर देश की साख बढ़ाने में सहायता करें।"

इँगलैंड और अमेरिका के संबंध में दिये गये इन दो प्रमाणों से मेरा यह दिखलाने का अभिप्राय है कि इन दोनों देशों की आर्थिक दशा पर धक्का लगते ही इनके बैंकों पर असर पड़ा। सिक्के पर असर यदि एक देश में पड़े, तो उसके साथ ही उस देश से संबंध रखनेवाले जितने भी देश होंगे, सभी पर उसका प्रभाव पड़ना अनिवार्य है।

जर्मनी की आर्थिक अवस्था अनुमान से अधिक शोचनीय है। युद्ध का ऋण चुकाते-चुकाते वह खोखला हो चुका है। बजट में किसी भी वर्ष पूरा नहीं पड़ता। बेकारों की संख्या दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ रही है। भारत का संबंध इँगलैंड से है, इस कारण भारत की आर्थिक स्थिति भी कम शोचनीय नहीं है। रूस अपने पंचवर्षीय विधान में लगा हुआ है, अतः उसे संसार की और बातों से कोई मतलब नहीं। फ़्रांस की आर्थिक दशा अच्छी कही जाती है। परंतु केवल सरकार एवं व्यापारियों के पास ही वहाँ पैसा है, साधारण लोगों में बेकारी वहाँ भी फैली हुई है। साधारण रूप से इस आँधी का प्रकोप सभी देशों पर है। सभी देशों के अर्थशास्त्री 'कल्पद्रुम' और 'कामधेनु' की खोज में हैं। संसार के प्रायः सभी अर्थशास्त्री एकमत होकर यह स्वीकार करते हैं कि वर्तमान आर्थिक उथल-पुथल का कारण भिन्न-भिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्कों का चालू होना है। इस आर्थिक अवनति के संबंध में लोगों ने अपने भिन्न-भिन्न विचार प्रकट किये हैं। इँगलैंड का प्रसिद्ध अर्थ-संबंधी पत्र "फिनैनूशियन न्यूज़" लिखता है—

वर्तमान व्यापारिक मंदी का कारण पूँजी को नियमित ढंग से उपयोग न करना है। पूँजी के अनियमित ढंग से उपयोग की प्रथा ने व्यापारिक प्रगति को ढकेलकर गड्ढे में गिरा दिया है। दूसरी बात है मूल्य-निर्धारण। भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार के नियम इस संबंध में लागू हैं। कोई अंतर-राष्ट्रीय नियम नहीं है। उधर पूँजी का कुमार्ग से ले जाकर व्यापार में लगाना, इधर उपज के मूल्य-निर्धारण के संबंध में किसी सुमार्ग का न होना—ये दोनों ऐसे कारण हैं, जिनसे कभी-न-कभी घोर आर्थिक विप्लव होना ही था। वह कल नहीं हुआ, आज हुआ। आज मंदी को इतना प्रोत्साहन क्यों मिल रहा है? लगी हुई पूँजी का अपव्यय ही इसका कारण है, जिसका आरंभ सन् १९२१से ही हुआ है। दूसरा कारण है ऋणदाताओं एवं पानेवालों के बीच में किसी प्रकार के सहानुभूतिक संबंध का न होना। [ऋणदाताओं से मतलब है बड़े-बड़े ऋणदाता राष्ट्र और बैंकर—लेखक] पूँजीपतियों का यह तुर्रा—कि जब चाहेंगे तब थैली उड़ेलकर घाटा पूरा कर लेंगे—भी मंदी को प्रोत्साहित करने में काफ़ी सहायक हुआ है। आज ऐसी डींग हाँकनेवाले एवं सैकड़ों थैलीवाले दिवालिया हो रहे हैं। कुछ अर्थशास्त्रियों का अनुमान है कि कहीं यह वर्तमान मंदी स्थायी रूप न धारण कर ले। उनकी इस धारणा के समर्थकों का कहना है कि यदि रूस अपने पंचवर्षीय विधान में सफल हुआ, तो अवश्य ही वह अनुमान सत्य निकलेगा।

जो कुछ हो, संसार की वर्तमान स्थिति ने जड़ से हिला दिया है। लोग अब चेतने लग गये हैं। परंतु कहाँ तक चेतेंगे। इँगलैंड में 'बार्कले-बैंक' एक प्रसिद्ध व्यापारिक संस्था है। संसार के सभी प्रसिद्ध केंद्रों में उसकी शाखाएँ एवं उपशाखाएँ हैं, प्रतिमास "बार्कले-रिपोर्ट" प्रकाशित होती है। उसमें दिये गये विचारों को बड़े-बड़े अर्थशास्त्री अमिट समझते हैं। पाठकों की जानकारी के लिए एक ऐसा ही विचार, जो वर्तमान आर्थिक मंदी के संबंध में प्रकट किया गया है, दिया जा रहा है—

"जब से संसार में वैज्ञानिक ढंग से काम करना आरंभ हुआ है तब से 'श्रम' एवं 'उपज' (Labour & Production) में परिवर्तन हो गया है। गत महायुद्ध के पश्चात् सभी राष्ट्रों ने अपने-अपने देश के आयात-निर्यात-संबंधी नियमों में परिवर्तन किया है। इस कारण एक देश का दूसरे देश से व्यापार-व्यवसाय-संबंधी व्यवहार बढ़ता ही रहा है। इस बढ़ती का प्रभाव स्थानीय एवं केंद्रिय व्यापार पर पड़ने के साथ-साथ विदेशी व्यापार पर भी पड़ा है। 'उपज' की वृद्धि हुई है। 'माँग' की अधिकता हुई है। 'उपज' और 'माँग' का विशेष संबंध है। जब अधिक माँग हुई, तो 'उपज' अधिक करने के लिए लोगों ने खूब व्यय किया। जहाँ एक कारख़ाना था, वहाँ आवश्यकता से अधिक बीस-पचीस खुल गये। अधिक 'उपज' अधिक संख्या में बाज़ारों में भर गयी। लोगों (Consumers) ने शक्ति से अधिक माल ख़रीदना आरंभ किया। जहाँ एक कोट से काम चलता था, वहाँ चार-चार कोट बनवाये। एक समय ऐसा आ गया, जब कि 'उपज' पूरी न पड़ी। परंतु थोड़े ही दिन पश्चात् बाज़ारों में माल फिर भर गया। लेकिन लोगों की 'क्रय-शक्ति' क्षीण हो

की। सन् १९१४ से सन् १९१८ तक उन्होंने जो वस्तुएँ लीं, उन पर चौगुना दाम देना पड़ा। अतः महायुद्ध के बाद से ही वर्तमान मंदी का आरंभ हुआ।"

पाठक स्वयं इस संबंध में विचार कर सकते हैं कि बार्कले-रिपोर्टवाले ने कितने गहरे में जाकर डुबकी लगायी है। अभी हाल में विलायत से लौटने पर महामना मालवीयजी ने देशवासियों के नाम यह वक्तव्य प्रकाशित किया था कि "पैसे को संचित करो, जब तुम्हारा कोई ऐसा काम रुक रहा हो, जिससे तुम्हारी प्रतिष्ठा को धक्का लगने का डर हो, तभी पैसा ख़र्च करो। बढ़ते हुए अपव्यय को रोको।"

आज अपव्यय के ही कारण सबकी क्रयशक्ति मंद हो गयी है। यदि ख़रीदनेवालों के पास पर्याप्त पैसा हो, तो व्यापारी हाथ पर हाथ दिये बैठे ही क्यों रहें। 'बार्कले' का कहना है कि इस क्रयशक्ति के कम होने के और भी कारण हैं। जैसे—भिन्न-भिन्न देशों में कहीं सोने और कहीं चाँदी के सिक्के का चलना, चाँदी का भाव गिर जाना, जिसके कारण चालीस करोड़ चीनी और पैंतीस करोड़ भारतवासी आज बेतरह तबाह हो रहे हैं, रूस का आर्थिक विप्लव, चीन-जापान का मनमुटाव [यह वक्तव्य आज से ६ मास पूर्व का है]—इन सबने मिलकर संसार की आर्थिक स्थिति को चक्कर में डाल दिया है। फुटकर व्यापारी मनमाने भाव से माल बेचते हैं, और थोक व्यापारियों से लेते समय अधिक छूट चाहते हैं। इसका कोई नियम स्थिर नहीं। क्रय करनेवालों में धनी-ग़रीब दोनों ही हुआ करते हैं। धनी लोग मुँहमाँगा दाम देने में ही अपना गौरव समझते हैं, और ग़रीब लोग उचित दाम भी न दे सकने के कारण उनके उपयोग से वंचित रह जाते हैं। [ऐसी विषम स्थिति में संसार आज आर्थिक अनिष्ट की ओर जा रहा है। रात्रि के घोर अंधकार के बाद प्रातःकाल होता है। संभव है, इस घोर रात्रि को पार करने के बाद संसार में सुखद प्रभात हो। इन वाक्यों के साथ बार्कले ने अपनी रिपोर्ट समाप्त की है।]

संसार का दिवालियापन आज धीरे-धीरे बढ़ रहा है। कोई आशा नहीं दिखायी देती। संसार के इस दिवालियेपन का इतिहास भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। पाठक यह न समझें कि उसका यह दिवालियापन अभी सात या आठ महीने या साल-भर से आरंभ हुआ है। जो बड़े-बड़े राष्ट्र, सभ्यता के मद में मस्त फिरते हैं, उनका दिवाला असभ्य राष्ट्रों से बहुत पहले होगा—यही नहीं, वरन् आरंभ भी हो चुका है। संसार के एक तिहाई भाग पर राज्य करनेवाले, संसार की अर्थ-नीति के संचालन का दम भरनेवाले इँगलैंड की दशा चर्चिल साहब की ज़बानी सुनिए। "ब्रिटिश-ओवरसीज़"-बैंक के हिस्सेदारों की एक विशेष बैठक में भाषण देते हुए आप कहते हैं—

[व्यापार की मंदी आज ही आरंभ नहीं हुई है। वर्तमान मंदी के आरंभ होने के बहुत पहले से हमारी उन्नति के मार्ग में बाधाएँ खड़ी हो रही थीं। हमारे कितने ही शिल्प, व्यापार—ऊन, रुई, लोहा, जहाज़, स्पात आदि—उसी समय से नष्ट हो रहे हैं। भयंकर बेकारी हमारे पीछे विकराल स्वरूप धारण किये हुए हड़प कर जाने को दौड़ रही है। मज़दूर लोग 'मज़दूरी' का टंटा अलग उठाये हुए हैं। उस समय जब कि हमारे व्यापार-व्यवसाय पर चारों ओर से झोंके आ रहे हैं—श्रमजीवियों का यह आंदोलन हमें और भी रसातल की ओर ले जा रहा है, जिससे हमारी कठिनाई अधिकतर भयंकर रूप धारण कर रही है। उसके बढ़ते हुए वेग को रोकना साधारण काम नहीं है। वह वेग तभी रुक सकता है, जब 'उपज' पर व्यय कम हो और खपत अधिक हो। जब तक यह नहीं होता, तब तक न तो बेकारी हटेगी और न व्यापार सुधरेगा।]

मशीन-युग में होनेवाली भयंकर हानियों को आज लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। सत्रहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से लेकर अठारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण तक इस मशीन-युग ने अद्भुत क्रांति उत्पन्न की। उस समय कुछ लोगों ने भविष्यवाणी की थी कि यह मशीन-युग अवश्य ही एक दिन घातक सिद्ध होगा। आज भी महात्मा गांधी जैसे विश्व-गुरु टेर-टेरकर कह रहे हैं कि कल-युग से हमारा सर्वनाश होगा। संसार सुनता नहीं। कल-युग ने हमारे साथ क्या उपकार किया? उसने तमाम सामाजिक शृंखलाओं को तोड़कर दो शृंखलाएँ उत्पन्न की हैं—प्रथम पूँजीपति, दूसरे श्रमजीवी। व्यापार से उत्पन्न लाभ का सर्वांश हड़पते देख

श्रमजीवियों ने पूँजीपतियों के विरुद्ध आंदोलन उठाया। मशीन-युग के आक्रमण से संसार की आर्थिक शक्ति जिस प्रकार नष्ट हुई, उसमें पूँजीपति और श्रमजीवियों का परस्पर संघर्ष भी एक कारण है। एक की दूसरे से सहानुभूति नहीं। पूँजीपति सर्वस्व अपने पेट में डालना चाहते हैं, श्रमजीवी भूखों मरते हैं। श्रमजीवी-आंदोलन का अधिक प्रभाव इँगलैंड पर पड़ा है। वहाँ तो कई बार श्रमजीवी-दल के हाथ में शासन भी आ गया। मिस्टर जे० एल्० ग्रेविन "अबज़रवर" पत्र में लिखते हैं—

"योरप के अन्य देशों में श्रमजीवी अधिक समय तक काम करते हैं और पैसा कम पाते हैं। इस कारण जो उपज होती है, उस पर कम लागत बैठती है। इससे वे सरलतापूर्वक विदेशी बाज़ारों में कम दाम पर अपनी वस्तुएँ बेच सकते हैं। इँगलैंड को, यह सुविधा नहीं प्राप्त है, इससे विदेशी बाज़ारों में योरप के उन देशों के साथ प्रतियोगिता बनाये रखने के कारण अपने मूल्य में उसे कमी करनी पड़ती है, इसी कारण हमारा व्यापार नष्ट हो रहा है।"

संसार में अब तक लोग मनमाने ढंग से अपना काम चलाते थे। उन्हें अपने संकुचित व्यापार-क्षेत्र के बाहर का अधिक ज्ञान नहीं था। बिक्री, बाज़ार-भाव, बाज़ार-नियम आदि अभी तक स्थानिक नियमों के ही अनुसार चल रहे हैं। पहले व्यापार करने के ढंग भी पुराने थे, परंतु अब अंतर-राष्ट्रीय संबंध अधिक बढ़ गया है। अवश्य इस बढ़ती का व्यापारिक राष्ट्रों ने दुरुपयोग किया है। सीधे-सादे राष्ट्रों का नीति, छल द्वारा शोषण कर लोगों ने अपने को 'उन्नतिशील' बनाया है। आख़िर यह कहाँ तक चलता! हर बात की सीमा होती है। आज पतित राष्ट्र बहिष्कार का अस्त्र उठाकर अपनी रक्षा चाहते हैं, परंतु वे बुरी तरह लुट चुके हैं। उनके दस रुपये के कच्चे माल को लेकर एक रुपये के मूल्य का पक्का माल दिया जाता है। आज जब वे उस पक्के माल को ख़रीदने में असमर्थ हुए, तब उपज करनेवाले राष्ट्रों का दिवाला निकलने लगा, यहाँ तक कि वे अब कच्चा माल तक नहीं ख़रीद सकते। उनके कल-कारख़ानों में ताले पड़ रहे हैं।

गत महायुद्ध के पहले वे राष्ट्र, जिनके यहाँ सोने के सिक्के चलते थे, आपस में हेर-फेर सरलता से किया करते थे। परंतु महायुद्ध के पश्चात् भिन्न-भिन्न राष्ट्रों ने आपस में जो सुलह की, उसमें सबल राष्ट्रों ने अपने लिए विशेष नियम सुरक्षित कर दिये। फ़्रांस ने प्रतिवर्ष जर्मनी से एक भारी रक़म का 'पावना' कर लिया। संयुक्त-राष्ट्र ने यह नियम कर लिया कि हम ऋण का चुकता केवल सोने में ही करायेंगे। एक ओर तो संयुक्त-राष्ट्र ने यह चालाकी की, दूसरी ओर उसने अपने सिक्के 'डालर' का मूल्य बढ़ा दिया। पहले डालर में जितना सोना लगता था, उसका मूल्य ३) था। उसने कहा कि अब अपने डालर के लिए ४॥) से कम का सोना नहीं लेंगे। लाचार हो सबको उसी की बात माननी पड़ी। इँगलैंड की आर्थिक दुर्व्यवस्था का एक यह भी प्रबल कारण है। आज भारत से सोना खिंचकर विलायत जा रहा है। किस लिए? क़र्ज़ चुकाने के लिए। आज भारत के बल पर ब्रिटेन अपने ऋण को सोने के रूप में चुकाने में सफल होकर संतोष की साँस ले रहा है। ख़ैर......

आज की आर्थिक अवनति के विशेषज्ञ लोग तीन कारण बताते हैं—

१—मुद्रा-संबंधी नीति में परिवर्तन
२—उपज की अधिकता और माँग की कमी
३—चाँदी के भाव का गिरना

उपर्युक्त दो के संबंध में ऊपर लिखा जा चुका है। आगे तीसरे के संबंध में कुछ लिखकर अपना लेख समाप्त करूँगा।

पश्चिम के व्यापार पर चाँदी के भाव के गिरने के कारण बड़ा धक्का लगा है। अभी हाल में संयुक्त-राष्ट्र ने चाँदी-सम्मेलन किया था। उसमें चाँदी से संबंध रखने-वाले राष्ट्रों ने अपने-अपने प्रतिनिधि भेजे थे। लेकिन कुछ तय न हो सका। साधारणतः लोग पूछते हैं कि चाँदी का भाव गिरा ही क्यों? चाँदी का भाव गिरने के संबंध में जो दोषी हैं, उनका कहना है कि चीन में चाँदी की उपज अधिक हुई है। हो सकता है, यही कारण हो। पाठकों को याद भी होगा कि सन् १९२६ में चाँदी ३९) के भाव पर आ गयी थी। परंतु बात यह नहीं है; रहस्य तो कुछ और ही है।

इँगलैंड ने सन् १६२० में एक विशेष नियम बनाया कि चालू चाँदी के सिक्के लौटाकर लोग नये सिक्के ख़ज़ाने से ले जायँ। ऐसा करने के हेतु उसे पहले पुराने सिक्के गलाने को उतने ही सिक्कों के लिए नयी चाँदी औसत दाम से अधिक करनी पड़ी। इसमें एक चालाकी थी। पहले रुपया सवा तोले का चलता था; सरकार उसके बदले में एक तोले का रुपया देकर पाव तोले का लाभ उठाना चाहती थी। इँगलैंड की देखा-देखी अन्य राष्ट्र भी इस तरह के लाभ से वंचित नहीं होना चाहते थे। परिणामस्वरूप खूब चाँदी ख़रीदी गयी। नये सिक्के के बदले में जो पुराने सिक्के आये, उनका मूल्य सिक्के न रहकर उतनी चाँदी का ही रह गया। पहला घाटा यह हुआ। दूसरा यह कि कुल चाँदी का बना हुआ नया रुपया एक बार बिका नहीं। इससे लाचार हो चाँदी को शीघ्र बेचने के लिए उसका भाव गिराना ही पड़ा।

इन सब कारणों से आज सारा संसार घोर संकट में पड़ा हुआ है। स्वार्थी राष्ट्र अपनी स्वार्थपूर्ण नीति द्वारा अन्य पिछड़े हुए देशों के साथ घोर अन्याय कर रहे हैं। जहाँ एक आदमी दिन-भर में चार गज़ कपड़ा बुनता था, वहाँ मशीन थान-का-थान तैयार करने लगी। भय और आतंक की बाढ़ से अपने व्यापार को बढ़ाने के लिए सबल राष्ट्रों ने थोड़े ही दिनों में अपने को धनी बनाकर सारे संसार को दरिद्र बना दिया। इससे स्थिति विकट हो गयी। अब प्रश्न है, इन सबका भविष्य क्या होगा?

संसार का अर्थ-संबंधी भविष्य रूस के पंचवर्षीय विधान के सफल होने पर अधिक निर्भर है। यों तो देखने से यही पता चलता है कि वह घोर अंधकार-मय है। जर्मनी, स्पेन, आस्ट्रिया, अमेरिका आदि देशों के बेकार उत्तेजित हो रहे हैं। चीन-जापान के युद्ध का कारण भी आर्थिक ही है। यदि चीन आज भीतरी रूप से यह स्वीकार कर ले कि वह जापानी माल का बहिष्कार न करेगा, तो कल ही से अख़बारों में चीन-जापान के सुलह-संबंधी समाचार पढ़ने को मिलने लगें।

जब तक अंतर-राष्ट्रीय शांति नहीं स्थापित होती, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़पनेवाली नीति को त्याग नहीं करता, वर्तमान पूँजीपतियों और श्रमजीवियों के मन-मुटाव का अंत नहीं होता, तब तक विश्वव्यापी आर्थिक हलचल के अंत होने की कोई आशा नहीं दिखायी देती।

वसंत

[साहित्यरत्न पं० शिवरत्न शुक्ल]

सरस सारस[1] सारस[2] सोहते,
कमलिनी अलिनी सर जोहते;
मधुकरी मकरंद - उपासिनी,
पुहुपपुंज - विकास - हुलासिनी।
नव-पराग[3] परांग समानता,
पवन-चर्चित प्रेम - प्रधानता;
सुघर नाल[4] मृणाल[5] घने गनो,
सुजन भेंट भरे कर में जनो।
नव-लता चढ़ती विटपावली,
तिय मिली पति सों मदनाकुली;
उलँप[6] शाल[7] विशाल बिराजती,
चतुर नायक नारि रिझावती।

अगम पल्लव पात हरे - भरे,
कहुँ कली कहुँ फूल भरे परे;
दिखत लागत नीक अरांम में,
शिशु किशोर युवा जन धाम में।
फल रसाल विसाल घने लगे,
सघन गौदन डार भले टँगे।
पवन देत गिराय मही-तले,
करि कुसंग बन्यो कब को भले।
सुमन-गुच्छ सुपल्लव सोहते,
बहत पौन सुगंधि परोसते;
सुरभि[12] सौरभ बौर सुहावनी,
गुनवती युवती मनभावनी।

(अप्रकाशित भरत-भक्ति से)

---

१ कमल, २ हंस, सारस-पक्षी, ३ पुष्परज, ४ चंदन, ५ कमल की डंडी, ६ कमल की जड़, ७ बड़ी लंबी बेलि, ८ बड़ी शाखा, ९ वृक्ष, १० बाग, ११ सुगंध, १२ केसर।

नयी धार

[पं० मातादीन शुक्ल 'सुकवि नरेश']

(१)

अपनायो नहीं ज्यहिको अब लौं,
त्यहिकोई अरे अपनावनो है;
जब आगि ही लागि चुकी तौ कहा,
मन को बिरथा भरमावनो है।
यदि इष्ट ही होय अभीष्ट हिये,
तब आयो सुयोग सुहावनो है;
यह लौन की मौन अदाई नहीं,
"तरवार की धार पै धावनो है।"

(२)

सब भाँति 'नरेस' जू पंडित हैं,
तिनको तौ कहा समुझावनो है;
जगि ही जो रह्यो तौ कहा कहिकै,
त्यहिको पुनि और चितावनो है।
अब तौ उनहीं सों लगी सु लगी,
जिय की हू न नैकु दुरावनो है;
भृकुटीन के पानिप पैरिबोई,
"तरवार की धार पै धावनो है।"

(३)

छलिया हैं बड़े, छलिबे के उन्हें
बहु आवत मंत्र जगावनो है;
भ्रम भौंर पलास लुभानो रह्यो,
वहि बानिक आजु भुलावनो है।
जो उतारि चुके सो उतारि चुके,
अब फेरि कहा पहिरावनो है;
यहि आनि के सामुहे झूँठो सदा,
"तरवार की धार पै धावनो है।"

(४)

जग मैं तो लगोई रहै नित ही,
कित गौन कितै कब आवनो है;
रहिबो उनहीं को सराहैं सबै,
जिन जानो कछूक निबाहनो है।
प्रन पालिबे की परतीति नहीं,
तौ कहा पुनि गौरव गावनो है;
यदि गावनो तौ निरबाहनोई,
"तरवार की धार पै धावनो है।"

भमरसेन का मठ

[श्री० भानुसिंह बाघेल]

प्रारंभ

पाठकों के सामने अब इतिहास की उपयोगिता उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं रही। ...धुनिक समय के सदृश घटना एवं काल-क्रमानुसार ...बद्ध प्रतीत भारतीय इतिहास के उपलब्ध न होने ...अनुमान किया जाता है कि पुरातन काल में यहाँ ...तिहास-लेखन-प्रणाली का ही अभाव था। हो सकता ...उस समय अर्वाचीन पद्धति के अनुसार इतिहास-...लेखन-कला का अभाव रहा हो; क्योंकि प्राचीन काल ...ग्रंथ-निर्माण-पद्धति अथवा लेखन एवं संपादन-कला ...आधुनिक पद्धति से बहुत भिन्न थी, सभी विषय के ...आधुनिक पद्धति से भिन्न पाये जाते हैं। किंतु ...चीनकाल की अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों के उपलब्ध ...होते हुए उस समय में भी इतिहास-लेखन-कला का ...ऐसा अभाव कैसे माना जा सकता है? कदाचित् जिन्हें ...आजकल हम ऐतिहासिक ग्रंथ कहते हैं, उस समय के ...वे इतिहास-ग्रंथ हों—इतिहास-लेखन की यही प्रथा ...रही हो, क्योंकि 'इतिहास' शब्द का प्रयोग इसी प्रकार ...के साहित्य के लिए बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है। ...अस्तु, नवीन रूप से भारतीय इतिहास लिपिबद्ध ...करने के लिए आजकल जो आधार उपलब्ध हैं, उनका ...वर्गीकरण—(१) प्राचीन ग्रंथ (२) प्राचीन ताम्रपत्र, ...शिलालेख तथा सिक्के और (३) प्राचीन भवनों के ...भग्नावशेष—इन तीन रूपों में हो सकता है। कहना ...न होगा कि हमारे देश में ऐतिहासिक उपकरणों की ...कमी नहीं है। आज हज़ारों वर्ष बाद भी अनेक शिला-...लेख, ताम्रपत्र एवं खँडहर अतीत भारत की विद्वत्ता, ...कलाकुशलता एवं ऐतिहासिक महत्व के ज्ञान की गाथा ...सगर्व से गा रहे हैं। अतएव अपने उस उन्नत समय ...को प्रकाश में लाने के लिए—सप्रमाण संसार के समक्ष ...उपस्थित करने के लिए उक्त ऐतिहासिक आधारों का ...अध्ययन एवं पर्यवेक्षण परमावश्यक है।

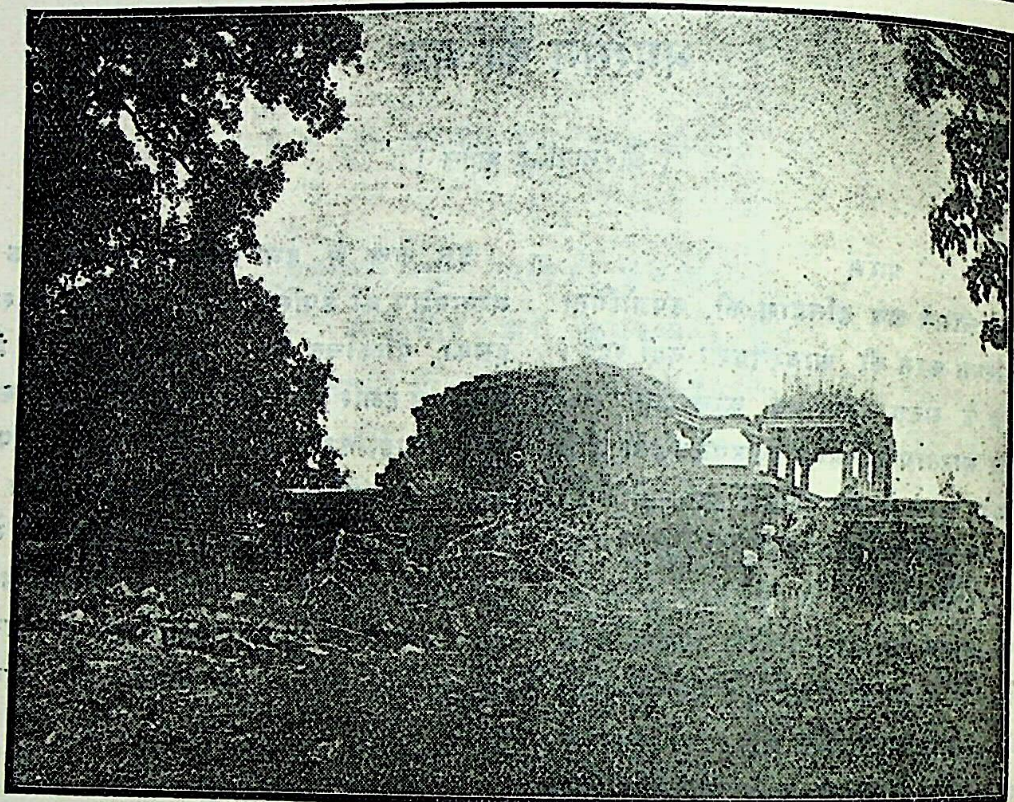
इस लेख में हम इसी प्रकार के एक मठ के भग्नावशेष को उपस्थित करते हैं। जहाँ तक स्मरण है, इसका यत्किंचित् वर्णन आश्विन, १९८२ वि० की माधुरी में हमारे "भँवरसेन की प्रशस्ति"-नामक नोट में, और जुलाई, १९२७ की सरस्वती में ठाकुर गोपालशरण सिंहजी के "नौढ़िया"-नामक निबंध में आ चुका है। किंतु प्रशस्ति पढ़ने की एक भूल से पहले नोट में उसकी बातें ऐतिहासिक रूप से प्रकाश में नहीं आ सकीं, और दूसरे लेख में तो नौढ़िया-यात्रा-वर्णन के साथ 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशन्' के अनुसार ही उसकी चर्चा हुई है।

स्थान

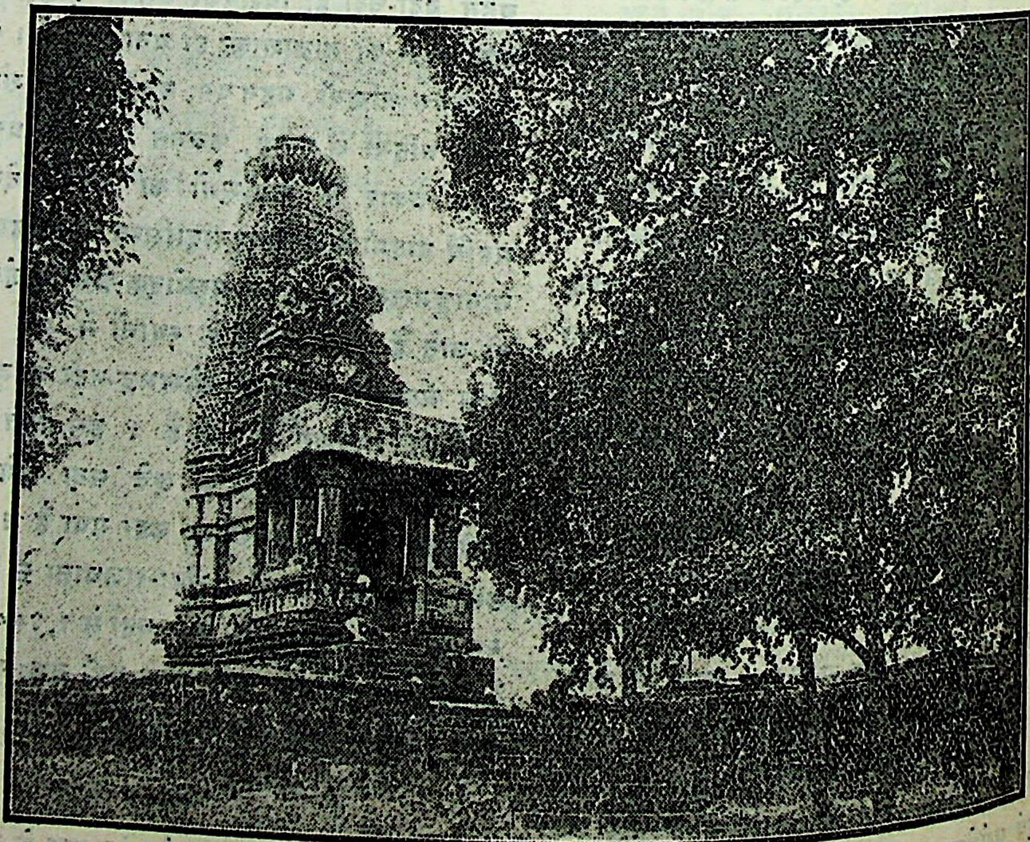
विन्ध्य-पृष्ठ पर होने से रीवा-राज्य की रमणीयता बहुत बढ़ी-चढ़ी है, विशेषकर उसका दक्षिणी भाग तो प्रकृति-नटी की नाट्यशाला ही बना हुआ है। पहाड़ियों की अनेक श्रेणियाँ, गहन वन, उनके मध्य से शोण आदि अनेक नदियों के प्रवाह, फलवंत पेड़ों की प्रचुरता एवं अनेक प्रकार के खग-मृगों का कलरव देख-सुनकर महर्षि वाल्मीकि के मयूरनादाभिरत, पक्षिसंहानुनादित, नानाद्रुमलतायुत, संपन्न-सरसोदक आदि वर्णन प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसी प्रकार के स्थानों में एक स्थान का नाम भँवरसेन है। यहाँ शोणभद्र-नदी केहजुआ-पर्वत-श्रेणी को तोड़कर निकली है। इस पर्वत की ऊँची चोटियों में मधुमक्खियों के छत्ते सदा लगे रहते हैं, इसीलिए इसको 'भ्रमरशैल' कहा गया है। भमरसेन उसी का विकृत रूप है। रीवा-राजधानी से यह स्थान २८ मील दक्षिण-पूर्व है, और वहाँ से १,१०० फ़ीट ऊँची कैमूर-पर्वत की घाटी पार करके यहाँ तक सुंदर मोटर जाने लायक़ सड़क बनी हुई है।

मठ

भँवरसेन से एक मील पूर्व शोणभद्र के दायें किनारे

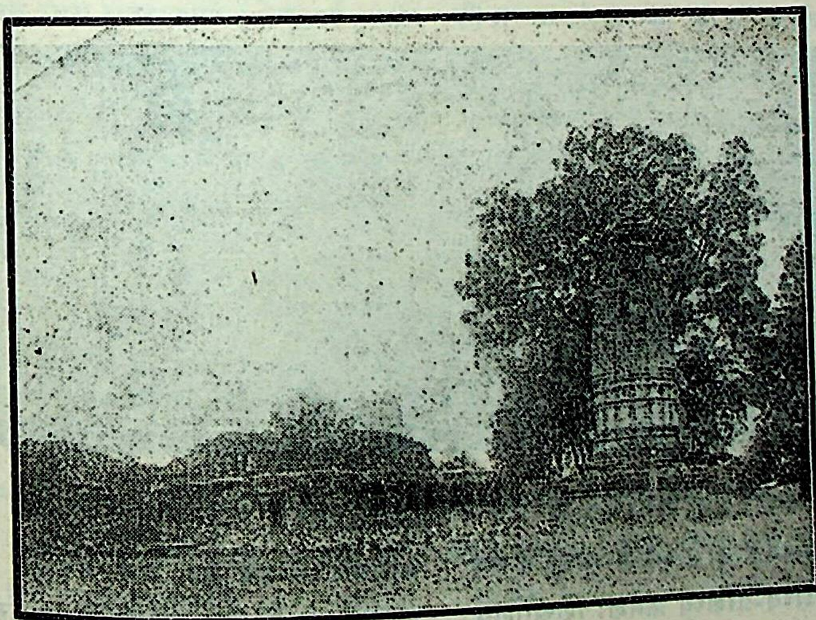


भमरसेन का मठ



भमरसेन का शिवालय

'भंडरेह'-नामक एक छोटी-सी बस्ती है। इसी गाँव में अमरशैल-पर्वत के निकट यह मठ खड़ा है। इसका निर्माण सुदीर्घ एवं सुपुष्ट शिलाओं से हुआ है। यह उत्तर-दक्षिण ६९ फ़ीट १० इंच लंबा, एवं पूर्व-पश्चिम ६० फ़ीट ९ इंच चौड़ा है। मध्य में प्रांगण है। मुख्य द्वार उत्तर की ओर, और खिड़की पूर्व की ओर है। मुख्य द्वार के सामने सुंदर बैठक बनी हुई है, और अनेक द्वारों के ऊपर गणेश, दुर्गा आदि देव-देवियों की भव्य मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। मठ केवल दक्षिण-पश्चिम दुमंज़िला है, अतएव अनुमान होता है कि यह अधूरा रह गया है—इसका निर्माण-कार्य पूरा नहीं हो पाया है। दरवाज़े के सामने पश्चिम-मुख एक सुंदर शिवालय आज सैकड़ों वर्ष बाद भी समुन्नत शिखर से स्व-निर्माता की यशोराशि वायु-



भमरसेन का मठ और शिवालय

मंडल में विकीर्ण कर रहा है। इसके शिखर तक की ऊँचाई अनुमानतः ८९ फ़ीट २ इंच है। जैसे प्रायः प्राचीन भवन पाये जाते हैं, वैसे ही मठ एवं शिवालय में भी गारा (सीमेंट) कहीं नहीं लगा है—केवल शिला पर शिला इस प्रकार संयुक्त की गयी है कि आज सैकड़ों वर्ष बाद भी शिवालय नितांत नवीन ही बोध होता है। यह बहुत अच्छी दशा में—सर्वथा अभग्न—है; किंतु मठ—केवल कालक्रम से, किसी के भंग करने से नहीं—अर्धभग्न हो गया है। मठ के पूर्व, खिड़की के पास कूप एवं दक्षिण ओर १ फर्लांग पर (पर्वत के पास) सरोवर के चिह्न हैं।

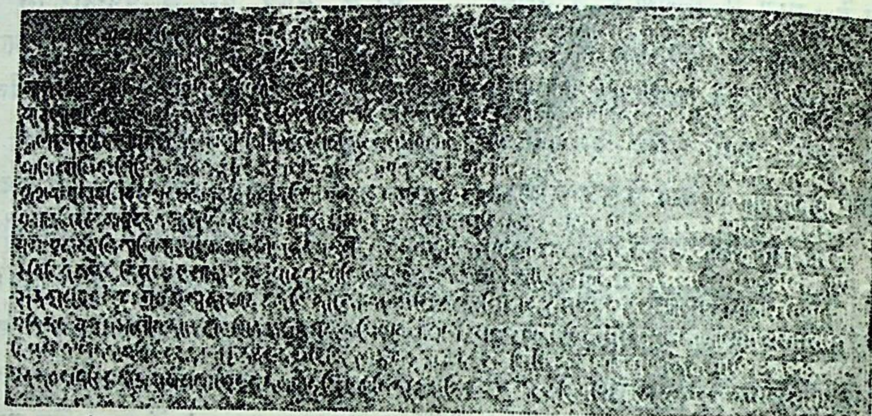
प्रशस्ति

मठ के मुख्य द्वार के पूर्व-पश्चिम दोनों पार्श्वों की दीवारों में दो सुंदर तराशे हुए प्रशस्ति-प्रस्तर जड़े हुए हैं। प्रथम अर्थात् दरवाज़े के पूर्ववाली शिला ४ फ़ीट ३ इंच लंबी, २ फ़ीट चौड़ी और दूसरी अर्थात् दरवाज़े के पश्चिमवाली शिला ३ फ़ीट ११ इंच लंबी तथा १ फ़ुट ११ इंच चौड़ी है। इनमें ½ इंच आकार के अक्षरों की क्रमशः १४ और १३ पंक्तियाँ खुदी हुई हैं। शिला-फलकों पर उत्कीर्ण ये लिपियाँ उतनी ही उत्कृष्ट एवं आज भी उतनी ही स्पष्ट हैं, जितने किसी अच्छे प्रेस के टाइप हो सकते हैं। प्रशस्ति पूर्ववाली शिला से प्रारंभ होकर पश्चिमवाली में समाप्त होती है (प्रथम शिला से प्रशस्ति का प्रारंभ और दूसरे में अवसान होता है)। दोनों शिलाएँ लेख से नितांत परिपूर्ण हैं—उनके अंत में थोड़ा भी रिक्त स्थान छूटने नहीं पाया है।

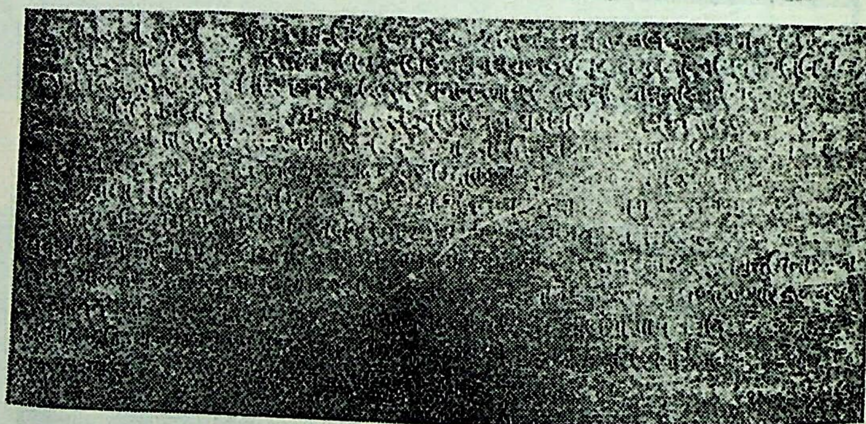
प्रशस्ति की लिपि प्राचीन नागरी है *, जो ईसा की दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी में उत्तर-भारत में प्रच-

* वर्णमाला अन्यत्र प्रकाशित है।—लेखक

जित थी। भाषा संस्कृत, पद्यमय है। शिखरिणी, मंदाक्रांता, शार्दूलविक्रीडित, पृथ्वी, हरिणी, वसंततिलका और अनुष्टुप् छंदों में इसकी रचना हुई है। संपूर्ण पद्यसंख्या २० है, तथा पीछे एक वाक्य गद्य में भी है।



भमरसेन के मठ का प्रशस्ति-स्तर (१)



भमरसेन के मठ का प्रशस्ति-स्तर (२)

प्रशस्ति के पढ़ने से मालूम होता है कि मत्तमयूर के वंश में पुरंदर हुए। इनके शिष्य-प्रशिष्य क्रमशः शिखाशिव, प्रभावशिव, प्रशांतशिव, प्रबोधशिव-नामक शैव-साधु हुए। प्रभावशिव को युवराजदेव ने तपस्वियों का अधिपति बनाया, प्रशांतशिव ने यहाँ प्रशांताश्रम, शिवालय एवं कूप का निर्माण कराया तथा प्रबोधशिव ने कूप का जीर्णोद्धार करके मठ एवं तालाब बनवाया। धांमट-नामक कवि ने प्रशस्ति की रचना की, दामोदर ने लिखा और नीलकंठ ने उसे पत्थर पर अंकित किया। अंत में केवल "संवत् ३२४" लिखा है *।

* प्रशस्ति अनुवाद-सहित अन्यत्र प्रकाशित की जाती है।—लेखक

समय

अब विचारणीय विषय यह है कि युवराजदेव, यह संवत् और ये शिवांत नामधारी साधु कौन हैं? जुलाई, १९२७ की 'सरस्वती' में ठाकुर गोपालशरणसिंहजी ने कनिंघम साहब का मत उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है कि "लेख के अक्षर विक्रम की १४वीं शताब्दी में प्रचलित अक्षरों से मिलते हैं, अतएव संवत् १३२४ होना चाहिए। इसमें या तो भूल से १३२४ के स्थान में ३२४ हो गया है, या एक का अंक काल-क्रम से मिट गया है। संवत् के पास जो एक रेखा है, संभवतः वही एक के अंक का विकृत रूप है।" परंतु जब प्राचीन समय में यहाँ अनेक संवतों का प्रचलन पाया जाता है; तब विक्रम-संवत् ही सिद्ध करने के लिए क्यों लेखक की भूल मान ली जाय? कालक्रम से मिट जाने की भी कोई संभावना इसमें नहीं है, क्योंकि दोनों शिला-फलक जलवायु के आघात से सुरक्षित—

छाया में हैं। इसीलिए इनकी कोई भी रेखा मिटी या अधमिटी नहीं पायी जाती। शिला-फलक को देखते हुए तो यही कहा जा सकता है कि कनिंघम साहब संवत् के पास जिस रेखा का अस्तित्व मानते हैं, वह उसमें न तो कभी थी और न है। आगे ठाकुर साहब लिखते हैं—"इन लेखों से मालूम होता है कि इस स्थान का प्राचीन नाम चंद्रभूलि था और यहाँ का भवन शैव साधुओं का बनाया हुआ है। इसलिए इस भवन को मठ कहना अनुचित न होगा।"—परंतु लेख-भर में चंद्रभूलि-शब्द का कहीं पता नहीं चलता; रहा भवन का 'मठ' नाम, सो लेख के १६वें पद्य में ही प्रकट कर दिया गया है—उसके अनुमान की आवश्यकता ही नहीं।

अस्तु, युवराजदेव नाम के दो कलचुरी (हैहयवंशी) राजा हो गये हैं। उनमें प्रथम युवराजदेव (केयूरवर्ष) की पत्नी नोहलादेवी द्वारा इस प्रशस्ति-जैसे शिवांत नामधारी शैवों के पूजित होने का पता चलता है[1]। इसलिए बहुत संभव है कि इस प्रशस्ति के युवराजदेव प्रथम युवराजदेव ही हों; क्योंकि वहाँ जिस प्रकार के शैव-साधुओं के प्रथम युवराजदेव की पत्नी द्वारा पूजित होने का पता चलता है, यहाँ उसी प्रकार के साधुओं के लेख में युवराजदेव द्वारा अपने को सम्मानित होने का उल्लेख है। प्रथम युवराजदेव का समय विक्रम की दसवीं शताब्दी का उत्तर-भाग निश्चित होता है।[2] 'भारत के प्राचीन राजवंश' के लेखक साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथजी भी इस प्रशस्ति के संवत् को हर्ष संवत् मानने की अनुमति देते हैं।[3] हर्ष-संवत् का आरंभ ६६४ विक्रम-संवत् से होता है। इस प्रकार इस प्रशस्ति और मठ-निर्माता प्रबोधशिव का समय ९८८ (३२४+६६४=९८८) होता है। किंतु प्रशस्ति में प्रबोधशिव के दादागुरु प्रभावशिव के युवराजदेव द्वारा पूजित होने का उल्लेख है, इसलिए २० वर्ष प्रति पीढ़ी (जैसा कि माना जाता है) मानकर प्रशांतशिव का २० वर्ष और प्रबोधशिव के मठ बनवाने के प्रथम का १० वर्ष अर्थात् आधा समय (क्योंकि मठ-निर्माण के प्रथम के आपके कई एक कार्यों का प्रशस्ति में वर्णन है, जिनमें आधे समय से कम नहीं लग सकता) कुल ३० वर्ष (२०+१०=३०) प्रबोधशिव एवं प्रशस्ति के समय, ९८८ वि० में घटा देने से, ९५८ शेष रहता है। यही प्रभावशिव के समय का समाप्ति-काल है और प्रथम युवराजदेव का समय विक्रम की दशवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध अर्थात् ९५० वि० से प्रारंभ होता है। अतएव आठ वर्ष का समय प्रथम युवराजदेव और प्रभावशिव की समकालीनता का भी हो सकता है।

विचार

प्रशस्ति-निर्माता कवि धांसट मठ-निर्माता प्रबोधशिव के लिए वर्तमानकालिक क्रिया के स्थान में सर्वत्र भूतकालिक क्रिया का प्रयोग करता है—जैसे "प्रबोधशिव इत्यभूत्" इत्यादि। यह विषय विचारणीय है अवश्य; किंतु मठ के देखने से विदित होता है कि इसके निर्माण के साथ ही प्रशस्ति-शिलाएँ भी उसमें संयुक्त की गयी होंगी—पीछे नहीं। अतएव कवि के प्रतिभा-शैथिल्य के अतिरिक्त मुझे और कुछ इसका कारण नहीं प्रतीत होता।

इस प्रांत में करचुलि-राजाओं के भवनों के ध्वंसावशेष, मंदिर और शिलालेख पाये गये हैं, जिससे प्राचीनकाल में यहाँ करचुलि-साम्राज्य होने में संदेह नहीं। करचुलि-राजा युवराजदेव की रानी तथा स्वयं युवराजदेव द्वारा इन शैवों के पूजित होने के वर्णन से इनका करचुलियों के गुरु होने का भी अनुमान होता है। संभव है, इसी संबंध से इन लोगों ने यहाँ अपना आश्रम बनाया हो।

प्रशस्ति के पढ़ने से स्पष्ट होता है कि यह शैवों की परंपरा विरक्त थी, तपस्वी थी, राजगुरु अतः राज-पूज्य थी; किंतु जैसा कि ९वें और १३वें पद्य से प्रकट है, ये लोग अपने शत्रुओं से युद्ध भी करते थे, तथा सर्वसाधारण के लिए नदियों में पुल, पहाड़ों में घाटियाँ और घने वनों में मार्ग भी बनवाया करते थे। इससे इनमें

१—भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, ४२ पृष्ठ।

२—भारत के प्राचीन राजवंश में युवराजदेव को चंदेल राजा यशोवर्मा का समकालीन कहा गया है, और यशोवर्मा का यही समय मिश्रबंधुओं ने माना है।

३—युवराजदेव के समय और प्रशस्ति के अक्षरों पर भी विचार करने से यह हर्ष-संवत् ही निश्चित होता है।

केवल तपोबल ही नहीं, धनबल और शासन-बल का होना भी पाया जाता है और इनकी स्थिति वर्तमान मठाधीशों (गद्दीधर महंतों) से बहुत कुछ मिलती-जुलती जान पड़ती है। हाँ, परिस्थिति के अनुसार उनमें कुछ युद्धादि शक्तियों का भी पता चलता है। यही नहीं, १२वें पद्य के "कुमार इव सर्वदा परिहृताङ्गना सङ्गमः" (षडानन की भाँति सदा ब्रह्मचारी) विशेषण से इनके गृहस्थ अथवा विलासी होने का भी अनुमान हो सकता है। अन्यथा, एक विरक्त के लिए यह विशेषण कोई मूल्य नहीं रखता। यह भी विचारणीय बात है। कवि की कमज़ोरी भी हो सकती है।

बारहवें पद्य के "तथा सन्ध्यारम्भे निखिलजनवन्द्यः किमपरम्" (सायंकाल में सबसे वन्दित) से मठस्थल (चँदरहे गाँव) में और आबादी का अनुमान हो सकता है अवश्य, किंतु अब उसके कुछ भी चिह्न शेष नहीं मिलते, एवं प्रशस्ति में भी इस स्थान के वन, वन्य-जंतु तथा एकांतता का ही वर्णन है, बस्ती का वर्णन कहीं नहीं आया है। इससे अनुमान होता है कि इस कथन से कवि का ख़ासकर इसी स्थान से अभिप्राय नहीं है, इनके और भी मठ रहे होंगे *।

* बिल्हारी (युक्तप्रांत) में इसी प्रकार के साधुओं के एक नोहलेश्वर के मठ का पता चलता है।

(भारत के प्राचीन राजवंश, प्रथम भाग, प्रथम संस्करण, ४२ पृष्ठ।—लेखक)

भमरसेन की प्रशस्ति की वर्णमाला।

ॐ अ इ उ

क ख ग घ ङ

च छ ज ञ

ट ठ ड ण

त थ द ध न

प फ (फ) ब भ म

य र ल व श ष स ह क्ष (क्ष) ई

मात्राएं।

संयुक्ताक्षर।

ह्या र्ण्ण च्छ त्व ण्ड ञ्च व ह्व ह्व

ङ्क स्र रु स्का ण्ठ ध्म ध्मा न्ध्या त्य

स्य च्छ स्त्व न्च ञ्च जू स्मि त्व त्व स्त

क्ष न्ध त्ना स्च श्व

नोट—भँवरसेन हमारे यहाँ से निकट है, इस कारण बाल्यकाल से ही हम उसके शिलालेखों के न पढ़े जाने की बात सुन रहे थे। इसी बाल्य-संस्कार के कारण सं० १९६६ वि० में अपने पूज्य पितृव्य विष्णुवंशसिंहजी एवं अग्रज कृष्णवंशसिंहजी (इस लेख में मुझे आप लोगों से बड़ी सहायता मिली है) तथा पंडित दत्तेन्द्रजी के साथ उसके पढ़ने में परिश्रम करना प्रारम्भ किया। किंतु उस समय हम लोगों के ऐतिहासिक बातों और प्राचीन लिपि-ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण पढ़ने में बड़ी अड़चन पड़ी। अंत में कई दिन के परिश्रम से कुछ अक्षरों से परिचित हो जाने एवं संस्कृत-भाषा और छन्दोबद्ध होने के कारण छन्दों के अनुसार यति बिठा-बिठाकर पढ़ने से वर्णमाला निकल आयी और पढ़ना सुगम हो गया। पीछे प्राचीन लिपियों की वर्णमाला से भी मिलाकर पाठ शुद्ध कर लिया गया।

उसी समय से इसको प्रकाश में लाने की इच्छा थी, पर चित्रों के अभाव से वह पूर्ण नहीं हो पायी। भाई दयानानसिंह के उद्योग तथा प्रयाग के प्रसिद्ध चित्रकार आर० एल० विश्वकर्मा की कृपा से इसके कई चित्र भी बन गये (एतदर्थ विश्वकर्माजी को धन्यवाद है); किंतु हमारे पास चित्र पहुँचने के पूर्व ही ठाकुर गोपालशरणसिंहजी ने विश्वकर्माजी से चित्र लेकर सरस्वती में "नौढ़िया" नाम से अपना लेख निकलवा दिया। फिर भी मठ-सम्बंधी सब बातें प्रकाश में नहीं आयीं। इसीलिए इन पंक्तियों के लेखक को यह धृष्टता करनी पड़ी।—लेखक

ममरसेन के मठ की प्रशस्ति*

ॐ नमः शिवाय ।

ब्रह्मस्वरूप कल्याण-मूर्ति को नमस्कार है ।

१

फणि-श्वास-श्यामे स्वनदमर-नद्यम्मसि च य-
जटा-जूटाम्मोदे नयन-शिखि-विद्युद्विलसति ।
तथा चूडा-चन्द्र-द्युति-निकर-धारा-बक-कुल-
क्कपालानां माला लुलयति स शर्वो विजयते ॥

गंगा का पानी गरज रहा है, आँख की आग बिजुली के खेल दिखा रही है, साँपों के फूत्कार से काले जटा-मंडल के मेघ उमड़ रहे हैं, सिर पर रहनेवाले चंद्रमा की चंद्रिका बक-पंक्तियों का कार्य कर रही है और मुंड-माला का हिंडोला चल रही है, ऐसे शंकर सबमें श्रेष्ठ हैं ।

२

हंस-श्येनी हसित-महसां संहतिः शंकरस्य
स्फारी-भूता वदनममितो नाग-चर्मावृतस्य ।
किञ्चित्कण्ठच्छवि-कलुषिता मेघ-निर्यन्मृगाङ्क (ङ्क)-
च्छायां स्वच्छां सपदि दधती सम्पदं वो ददातु ॥

महादेव का शरीर हाथी के काले चमड़े से ढका है और हंसवत् श्वेत हास्य-कांति की परंपरा मुख के चारों ओर फैल रही है तथा गले की कालिमा का प्रतिबिंब इस कांति पर कुछ-कुछ पड़ रहा है; ठीक काले मेघ से निकलते हुए कलङ्क-युक्त चंद्रमा की साफ़ चाँदनी का यह दृश्य आप लोगों को समृद्ध-शाली बनावे ।

३

चारी-प्रंचरण-प्रवीण-चरण-व्यापारणाघूर्णित-
क्षोणी-लुण्ठ-नमत्फणीश्वर-फणं विभ्राण (न्त) दिग्वारणम् ।
दोर्दण्ड-भ्रमणादकाण्ड-चलित-ब्रह्मांड-खण्डम्मुदे
भूयाद्वो निविड-कणड्डुमरुकं चण्डीपतेस्ताण्डवम् ॥

पैर फिसलाते हुए पिछले पाँव कूद-कूदकर चलने की गति में कुशल चरणों की क्रिया से पृथ्वी घूम रही है, बार-बार धक्के पड़ने से फणिराज का फण झुका जा रहा है, दिग्गज लड़खड़ा रहे हैं, बाहु-दंड के घुमाव से बिना समय (प्रलय-काल) के ही ब्रह्मांड खंड-खंड हो रहा है, डमरू की तालें भी निरंतर पड़ रही हैं। यह पार्वती-पति का तांडव आप सबको आनंद दे ।

४

श्रीमन्मत्त-मयूर-सन्ततिरियं गङ्गेव लोकत्रय-
म्पूयाद्यत्र पुरन्दरः कृत-तपा जज्ञे गुरुर्भूभुजाम् ।
शिष्यस्तस्य शिखाशिवः शिखि-समो विभ्रत्तपस्तेजसा
दीपत्वं विनिपातितान्धतमसो निर्वाण-मार्गे स्थितः ॥

श्रीमान् मत्तमयूर की यह संतान गंगा की भाँति तीनों लोक को पवित्र करे, जहाँ राजाओं के गुरु 'पुरंदर' नाम के तपस्वी ने जन्म लिया, जिनके शिष्य 'शिखाशिव' तपोबल से अग्नि के समान तेजस्वी हुए, जो ज्ञान के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर करके निर्वाण (मोक्ष) पथ के पथिक हुए, जैसे दीपक अन्धकार का नाश करके निर्वाण का मार्ग लेता है (बुत जाता है)।

५

ततो मधुमती-पतेः कृत-महा-तपस्सञ्चयः
प्रभावशिव इत्यभूत्सकल-शैव-चूडामणिः ।
अनेक-नृप-वंदितः स युवराजदेवेन य—
स्तपोधन-पतिः कृतश्चरण-पूत गोलग्गिकः (भूगोलकः)

शिखाशिव के उत्तराधिकारी 'प्रभावशिव' हुए। आपने शंकर की बड़ी तपस्या की । आप सब शैवों के शिरो-मणि थे । अनेक राजा आपका समादर करते थे । युवराजदेव (किसी राजा) ने आपको तपस्वियों का स्वामी (महंत) बनाया । निज चरणों से आपने भू-मंडल पवित्र किया ।

६

प्रशान्त-शिव-चन्द्रमास्तदनु तस्य शिष्योऽभवत्
तमः-प्रमथनोद्यमप्रकटितस्वरूपः शुचिः ।
बभार गुणिशुश्रियं कुमुद-कल्प-शैवेषु यः
समुज्ज्वल-यशः-प्रभा-धवलिताखिलाशा-मुखः ॥

'प्रशांतशिव' शिखाशिव के अनुकूल शिष्य हुए— चंद्रमा अँधेरा हटाने के लिए शुभ्र ज्योत्स्ना फैलाता है, कुमुदिनी में श्री की वृद्धि करता है और चाँदनी से दिशाएँ समुज्ज्वल कर देता है ।

प्रशांतशिव ने भी अज्ञानांधकार दूर करने के हेतु अपने पवित्र ज्ञान का स्वरूप प्रकट किया और गुणवान् शैवों में श्री (समृद्धि) की वृद्धि की तथा देदीप्यमान यशोराशि से दिशाएँ धवलित कर दीं ।

* इसका अनुवाद मेरे पूज्य अग्रज कृष्णवंशसिंहजी का किया हुआ है ।—लेखक

७

स शोण-नद-सङ्गमे अमरशैलमूलेऽतुल-
प्रियाल-वन-सङ्कुले फल-मृणाल-कन्दाशनः ।
चकार विदितं जनैर्मुनि-सखः प्रशान्ताश्रमं
स्वपाद-पदपङ्क्तिभिः पवित-भूतलो यः कृती ॥

आप बुद्धिमान् और मुनि-जनों के सखा थे। आपने अपने पदार्पण से पृथ्वीतल को पवित्र किया। आपका आहार फल, मूल और कमलनाल (भसीड़) था। आप विद्वान् और कुशल थे। आपने 'अमर-शैल' की उपत्यका में 'प्रशांताश्रम'-नामक एक अनुपम आश्रम बनवाया, जहाँ पर शोण-भद्र पर्वत-माला का स्पर्श करती है और चिरौंजी का घना वन है।

८

देवोद्यान-गतेन्द्र-संसदि मुदा गन्धर्व-विद्याधरै-
रानन्दाय च धूर्जटेः श्लथयता वा (व) द्यादरान्नन्दिता।
लीला-लोलित-मौलिना कर-गलद्वल्गेन यस्योच्चकै-
र्भास्वत्सारथिना तथा प्रति तपः शश्वद्यशोऽगीयत ॥

नंदनवन में बैठी हुई इंद्र की सभा में गंधर्व और विद्याधर आपका तप-संबंधी यश गाते-गाते आनंद में डूब गये। नंदी औचित्यसेवी हैं, इनके हृदय में अनुचित बातों के अर्थ स्थान नहीं। उसी नंदी ने अपने इष्टदेव शंकर को रिझाने के लिए आपके तप का यश गाया। सूर्य के सारथी ने आपका तपोजन्य यश इतना ऊँचा अलापा कि सिर हिलाते-हिलाते हाथ से बाग़ गिर पड़ी। सर्वदा आपका तपोविषयक यश इसी भाँति गाया गया।

९

प्रबोधशिव इत्यभूत्सकल-शिष्य-वर्गाग्रणीः
स तस्य मदनद्युषः परशुराम-नामा यथा।
यशः-खचित-दिङ्मुखो गुणि-जनाय वित्तं दद-
त्तृणी-कृत-वसुन्धरो विजित-शत्रुवर्गश्च यः ॥

महादेव के शिष्यों में परशुराम सबसे श्रेष्ठ हुए। आपने शत्रुओं को परास्त किया, गुणवानों को धन देते समय पृथ्वी को तृणवत् माना एवं यश से दिगंत को अंकित कर दिया। वैसे ही प्रशांतशिव के शिष्यों में 'प्रबोधशिव' सर्वश्रेष्ठ हुए। आपने भी वैरियों को जीता, गुणीजनों को संपत्ति देते समय पृथ्वी को तिनका माना। इनकी कीर्ति से दिशाएँ चमक उठीं।

१०

उदग्र-शिखि-तर्पण-प्रगुणितैक-पाणिः क्षण-
कुमार इव सर्वदा परि-हृताङ्गना सङ्गमः।
समुन्नत-महीभृति प्रकटितात्मशक्तिः क्षमो
मनोभव-रिपु-प्रियो विहित-देव-कार्यश्च यः ॥

आप शक्तिमान् और क्षमाशील थे। आपको महादेवजी प्रिय थे और उन्हें आप प्यारे थे। आपने अनेकानेक देव-कार्य किये। जब अग्नि की ऊँची शिखा उठती थी, तब भी आहुति देता हुआ आपका एक हाथ क्षण-भर लंबा ही रहता था। आप कार्त्तिकेय के समान सर्वदा स्त्री-संग से दूर रहे और ऊँचे पर्वत पर ऐसी शक्ति दिखायी (देखो १३वाँ पद्य), जैसे षडानन ने क्रौंच-गिरि को विदीर्ण करने में। उन्नतिशील राजाओं में आपका अच्छा प्रभाव रहा।

११

विचार्य निखिलागमान् विधि-समाधिनुद्धेश्वरः
प्रियाल-फल-मूलकामलक-शाक-शालूक-भुक्।
नदोचित-धरातले गुरु जनानुकारी तपश्चर-
ञ्जगति विस्मयं व्यधित बाल-भावेऽपि यः ॥

आपने बाल्यावस्था ही में अपने गुरु-जनों की भाँति संपूर्ण शास्त्रों का अध्ययन किया तथा चिरौंजीफल, छोटे कंद, आँवले, पत्र-पुष्पादि और कमल-मूल ही पर क्षुधा-शांति करते हुए शोण के प्रवाह से धुली हुई धरती पर शिव के समान समाधि लगाकर ऐसा तप किया कि संसार दंग रह गया।

१२

महीभृन्मूर्द्धाग्रप्रगुणतरपादः समुदयी
दधन्मित्रत्वं यस्तिमिरभिदुरकार्यमकरोत्।
तथा सन्ध्यारम्भे निखिल-जनवन्द्यः किमपर-
स्प्रतापेन व्याप्तोत्त्रिभुवनमपि प्राप्तमहिमा ॥

महिमाशाली सूर्य भगवान् उदय होकर अँधेरा दूर करते हैं, पुनः अपनी अनंत रश्मियाँ पहाड़ों की चोटियों पर फैला देते हैं और संध्या-समय लोग आपका अभिवादन करते हैं एवं तीनों लोकों में आपका प्रताप व्याप्त हो जाता है।

प्रबोधशिव महत्त्वशाली और उन्नतिशील थे। आपने अज्ञान का नाश किया, आपके चरण राजाओं के मस्तकों से वंदित थे, सायंकाल आपकी सेवा में सब लोग

१—वर्तमान समय में यह 'केहजुआ' पहाड़ कहा जाता है।

उपस्थित होते थे। आपका प्रभाव त्रिभुवन में छा गया और क्या कहें, आपने सूर्यत्व ही धारण कर लिया।

१३

गुरु-ग्राव-ग्रामोत्खनन-दलन-ध्वंसविधिना
महीध्रेऽध्वानं यो न्यधित जलधौ राघव इव।
सरित्स्रोतःस्वेवं विपिन-गहनेष्वद्भुत-कर-
ञ्जगत्याश्चर्यं हि प्रथयति महत्कर्म महताम्॥

राम ने समुद्र पर पथ बनाया था। प्रबोधशिव ने पहाड़ों में घाटियाँ, नदियों में सेतु और घने वनों में मार्ग बनवाया। इस कार्य में कहीं बड़े-बड़े पत्थर खोदे गये, कहीं दीर्घ चट्टानें तोड़ी गयीं, कहीं पहाड़ों से शिलाएँ ढहायी गयीं। आश्चर्यजनक कार्य है! बड़ों के कार्य संसार को अवश्य अचंभित कर देते हैं।

१४

जडतर-मरुच्छोणस्याम्भः कणैरयमाश्रमो
मृग-पति-महाध्वानै रात्रौ प्रतिध्वनिताम्बरः।
शिखरि-शिखर-प्रांत-प्रेङ्खद्द्विरेफ-पयोधरो
जनयति जने विद्युच्छङ्काम्महौषधि-रोचिषा॥

यह आश्रम वर्षाकाल का अनुभव कराता है। पवन शोण जल के कणों से शीतल है, रात को सिंहों की गरज से आकाश गूँज उठता है, गिरि-शिखर पर लटकती हुई मधु-मक्खियाँ मेघ-सी दीखती हैं और महौषधियों का प्रकाश तडित्प्रवाह का संदेह कराता है।

१५

चुम्बन्ति वानरगणा मृग-शत्रु-पोता-
न्सिंहीस्तनं पिबति चात्र शिशुर्मृगस्य।
वैरन्निजम्परिहरन्ति विरोधिनोऽन्ये
सर्वस्य शाम्यति मनो हि तपोवनेषु॥

यहाँ पर बंदरों के झुंड बाघ के बच्चों का मुख चूमते हैं, हिरण का छौना सिंहनी का दूध पीता है तथा अन्य विरोधी भी अपना बैर छोड़ देते हैं, क्योंकि तपोवन में सभी का मन शांत हो जाता है।

१६

गुरु-कृत-सुरागारादारादमुम्मठमुन्नतम्
स्वकमिव यशः शुभ्राभ्रामं विशालमचीकरत्।
अनु-गिरमथो सिन्धु-प्रख्यं तडागमचीखन-
त्प्रचुर-सलिलङ्कूपञ्चात्र प्रबोध-शिवः शमी॥

प्रशांतमना प्रबोधशिव ने यह मठ (विरक्ताश्रम, अखाड़ा) बनवाया, जो कि ऊँचा और लंबा-चौड़ा है तथा गुरु (प्रशांतशिव) के बनवाये हुए देवालय के समीप है, जिसकी छटा वैसी ही है, जैसे प्रबोधशिव की कीर्ति। पहाड़ के नीचे 'सिंधु' नाम का तालाब एवं यहाँ पर अगाध जल से पूर्ण एक कुआँ खुदवाया।

१७

श्रीमत्प्रशांतशिव-कारितमत्रकूप-
ङ्कालेन शीर्णपतिताखिल-दारु पूरम्।
भक्त्या गुरोर्गुरु-शिला-रचना-विचित्रं
सोऽचीकरत्तदनुदूरमचीखनच्च॥

प्रबोधशिव की गुरु पर बड़ी श्रद्धा थी। अतः श्रीमान् प्रशांतशिव का बनवाया यहाँ पर एक कुआँ था, जो कालक्रम से सड़ी-गली लकड़ियों द्वारा पट गया था, उसे आपने गहरा खुदवाया और भारी शिलाओं से बँधवाकर एक विचित्र रूप में कर दिया।

१८

बभूव भुवि दीक्षितो विहित-कीर्तनो मेहुकः
स सज्जन-गणाग्रणीरजनयत्सुतं जेइकम्।
ततस्त्वमरि कांदरे समभवत्कविर्घांसटः
प्रशस्तिमकरोदसौ विकट-वर्ण-बन्धामिमाम्॥

पृथ्वी पर 'मेहुक'-नामक व्यक्ति ने जन्म लिया। इन्होंने यज्ञ किया। यह सज्जनों में श्रेष्ठ एवं यशस्वी थे। इनके पुत्र 'जेइक' हुए। 'अमरिका' माता और 'जेइक' पिता से 'घांसट' कवि उत्पन्न हुए। इन्हीं ने विचित्र अक्षरों से सम्बद्ध इस ख्याति की रचना की।

१९

पशु-पति-जटा-जूट-भ्रान्ता हिमाद्रि-शिला-तल-
स्खलित-सलिला चण्ड (ञ्च) द्वीचिः पवित्रित-भू-तला।
व्रजति सरितान्नाथं यावद्भगीरथ-वर्त्मना
सुरसरिदियं तावत्कीर्तिः स्थिरास्तु भुवि स्थिता।

जिसने शिव के जटा-मंडल में चक्कर खाया है, जो हिमालय की चट्टानों पर लड़खड़ाती है, जिसकी लहरें चंचल हैं, जिसने भू-तल को पवित्र किया है—यह देव-नदी भगीरथ के मार्ग से जब तक सागर में गिरती है, तब तक यह कीर्ति भू-तल पर अचल रूप से स्थित रहे।

२०

लक्ष्मी-धर-सुतः ख्यातो वासुदेवानुजः सुधीः।
इमां दामोदरोऽलेखीत्प्रशस्तिं प्रवराक्षराम्॥

'लक्ष्मीधर' के पुत्र, 'वासुदेव' के छोटे भाई 'दामोदर' ने यह ख्याति अच्छे अक्षरों में लिखी।

सूत्रधार सूराकाज्ञयोत्कीर्णा नीलकण्ठेन।

'सूराक' इंजिनियर की आज्ञा से नीलकंठ ने खोदा।

संवत् ३२४ फाल्गुन सुदि ६।

संवत् ३२४ फाल्गुन-सुदि ६।

अंत

[श्रीश्यामापति पांडेय बी०ए०]

(१)

जी कहता है--इस जीवन से सारे नाते तोड़ो।
माया तुरत रोककर कहती—कायर! मुझे न छोड़ो।
आशा साश्रु सामने आकर कहती—प्यारे आओ।
विहँस भाग्य कह देता है--पगले, न रुको, तुम जाओ।

(२)

बढ़ने को ज्यों ही मैं अपने पग रखता हूँ आगे;
रो पड़ती है व्यथित वेदना कहकर--कहाँ अभागे?
ग्लानि हाथ से मुझे खींच, आगे की ओर बढ़ाती;
प्रतिहिंसा कहती सकोप--क्या लज्जा तुम्हें न आती?

(३)

लाज तुरत लज्जित होकर कहती है--मुझे डुबाया;
तेरी स्मृतियाँ प्रिये, पूछती हैं--क्या संकट आया?
सोये हुए स्वप्न उठकर हैं अपनी आँखें धोते;
आकुल मुझे देख माया में फूट-फूटकर रोते।

(४)

अंचल खोल, कल्पना अपना उर-अंतर दिखलाती;
प्रिये, विश्व से दूर खींच, तेरे सम्मुख ले जाती।
स्वर्ग-द्वार पर खड़ी मौन, शंकित तू मुझे बुलाती;
आह! प्यार की आँखों से हो क्यों आँसू बरसाती?

(५)

सरिता भी कह उठी—देख, सागर से मिलने जाती;
अपना कोई यहाँ है नहीं, जिससे हृदय मिलाती।
बोल उठे बुद्बुदे—यहाँ जीवन में सार नहीं है;
इस कलुषित प्रदेश में कोई पाता प्यार कहीं है?

(६)

जाग उठीं स्मृतियाँ दुलार की, वे तेरी मतवाली;
प्यास शेष रह गयी, और मादक की ख़ाली प्याली।
दीवालों में लगे चित्र, तेरे घर में हैं वैसे;
शून्य और निष्प्राण देह में रहती माया जैसे।

(७)

चैन—आह! है नहीं, शांति ने कर ली मुझसे दूरी;
आकांक्षा रह गयी शेष, स्मृतियाँ रह गयीं अधूरी।
सारा विश्व शांति से सुख की सुंदर नींदें लेता;
हा! अनजान कौन आ मेरी पलकों को दुख देता।

(८)

आँखों से जर्जरित प्राण बाहर यदि अब हो जाता;
खोया-सा अजान पथ में यह पथिक शांत सो जाता।
झोंके थोड़े-से समीर के मुख पर इठला जाते:
जाकर मेरे दुसह कष्ट फिर आ ये मुझे न पाते।

(९)

तेरे उस प्रदेश में आकर, जिसका नाश न होता;
गर्म आँसुओं से तेरे अपना यदि जीवन धोता।
भूले हुए मार्ग में हम तुम दोनों फिर मिल जाते;
हम तेरे स्वरूप में मिलकर अपना तुम्हें बनाते।

(१०)

अंत—आज हो गयी है वहाँ जाने की तैयारी;
फसा सकेगी नहीं और भूतल की दुनियादारी।
जंजीरों में नहीं शक्ति, हो गयी पराजित माया;
पा न सकेंगी—कहे कौन मुझको—वे मेरी छाया।

चमत्कार

[श्रीयुत प्रेमचन्द]

(१)

बी० ए० पास करने के बाद चंद्रप्रकाश को एक ट्यूशन करने के सिवा और कुछ न सूझा। उनकी माता पहले ही मर चुकी थीं, इसी साल पिता का भी देहांत हो गया और प्रकाश जीवन के जो मधुर स्वप्न देखा करता था, वह सब धूल में मिल गये। पिता ऊँचे ओहदे पर थे उनकी कोशिश से चंद्रप्रकाश को कोई अच्छी जगह मिलने की पूरी आशा थी; पर वह सब मंसूबे धरे रह गये और अब गुज़र-बसर के लिए वही ३०) महीने की ट्युशन रह गयी। पिता ने कुछ संपत्ति भी न छोड़ी, उलटे बधू का बोझ और सिर पर लाद दिया। और स्त्री भी मिली तो पढ़ी-लिखी, शौक़ीन, ज़बान की तेज़, जिसे मोटा खाने और मोटा पहनने से मर जाना क़बूल था। चंद्रप्रकाश को ३०) की नौकरी करते शर्म तो आयी, लेकिन ठाकुर साहब ने रहने का स्थान देकर उनके आँसू पोंछ दिये। यह मकान ठाकुर साहब के मकान से बिलकुल मिला हुआ था—पक्का, हवादार, साफ़-सुथरा और ज़रूरी सामान से लैस। ऐसा मकान २०) से कम पर न मिलता, काम केवल दो घंटे का। लड़का था तो लगभग उन्हीं की उम्र का, पर बड़ा कुंदज़ेहन, कामचोर। अभी नवें दरजे में पढ़ता था। सबसे बड़ी बात यह कि ठाकुर और ठकुराइन दोनों प्रकाश का बहुत आदर करते थे, बल्कि लड़का ही समझते थे। वह नौकर नहीं, घर का आदमी था और घर के हरएक मामले में उसकी सलाह ली जाती थी। ठाकुर साहब अँगरेज़ी नहीं जानते थे। उनकी समझ में अँगरेज़ीदाँ लौंडा भी उनसे ज़्यादा बुद्धिमान्, चतुर और तजरबेकार था।

(२)

संध्या का समय था। प्रकाश ने अपने शिष्य वीरेंद्र को पढ़ाकर छड़ी उठायी तो ठकुराइन ने आकर कहा—अभी न जाओ बेटा, ज़रा मेरे साथ आओ, तुमसे कुछ सलाह करना है।

प्रकाश ने मन में सोचा—आज कैसी सलाह है, वीरेंद्र के सामने क्यों नहीं कहा? उसे भीतर ले जाकर रमा देवी ने कहा—तुम्हारी क्या सलाह है, वीरू का ब्याह कर दूँ? एक बहुत अच्छे घर से संदेसा आया है।

प्रकाश ने मुसकिराकर कहा—यह तो वीरू बाबू ही से पूछिए।

"नहीं, मैं तुमसे पूछती हूँ।"

प्रकाश ने असमंजस में पड़कर कहा—मैं इस विषय में क्या सलाह दे सकता हूँ। उनका बीसवाँ साल तो है, लेकिन यह समझ लीजिए कि पढ़ना हो चुका।

"तो अभी न करूँ, यही सलाह है?"

"जैसा आप उचित समझें। मैंने तो दोनों बातें कह दीं।"

"तो कर डालूँ? मुझे यही डर लगता है कि लड़का कहीं बहक न जाय।"

"मेरे रहते इसकी तो आप चिंता करें न। हाँ, इच्छा हो तो कर डालिए। कोई हरज भी नहीं है।"

"सब तैयारियाँ तुम्हीं को करनी पड़ेंगी, यह समझ लो।"

"तो मैं इनकार कब करता हूँ।"

रोटी की ख़ैर मनानेवाले शिक्षित युवकों में एक प्रकार की दुविधा होती है, जो उन्हें अप्रिय सत्य कहने से रोकती है। प्रकाश में भी यही कमज़ोरी थी।

बात पक्की हो गयी और विवाह का सामान होने लगा। ठाकुर साहब उन मनुष्यों में थे जिन्हें अपने ऊपर विश्वास नहीं होता। उनकी निगाह प्रकाश की डिग्री, उनकी ६० साल की अनुभूति से कहीं मूल्यवान् थी। विवाह का सारा आयोजन प्रकाश के हाथों में था। दस-बारह हज़ार रुपये ख़र्च करने का अधिकार कुछ कम गौरव की बात न थी। देखते-देखते एक फटेहाल युवक ज़िम्मेदार मैनेजर बन बैठा। कहीं कपड़े-[illegible] करने आया है, कहीं मुहल्ले का

...तिया घेरे हुए है, कहीं गैस और शामियानेवाला ख़ुशामद कर रहा है। वह चाहता तो दो-चार सौ रुपये बड़ी आसानी से बना लेता, लेकिन इतना नीच न था। फिर उसके साथ क्या दग़ा करता जिसने सब कुछ उसी पर छोड़ दिया! पर जिस दिन उसने पाँच हज़ार के ज़ेवर ख़रीदे, उस दिन उसका मन चंचल हो उठा।

घर आकर चंपा से बोला—हम तो यहाँ रोटियों के मुहताज हैं और दुनिया में ऐसे-ऐसे आदमी पड़े हुए हैं जो हज़ारों-लाखों रुपये के ज़ेवर बनवा डालते हैं। ठाकुर साहब ने आज बहू के चढ़ावे के लिए पाँच हज़ार के ज़ेवर ख़रीदे। ऐसी-ऐसी चीज़ें कि देखकर आँखें ठंडी हो जाएँ। सच कहता हूँ, बाज़ी चीज़ों पर तो आँख नहीं ठहरती थी।

चंपा ईर्षाजनित विराग से बोली—ऊँह, हमें क्या करना है। जिन्हें ईश्वर ने दिया है, वे पहनें। यहाँ तो रो-रोकर मरने ही के लिए पैदा हुए हैं।

चंद्रप्रकाश—इन्हीं लोगों को मौज है। न कमाना न धमाना। बाप-दादा छोड़ गये हैं, मज़े से खाते और चैन करते हैं। इसी से कहता हूँ, ईश्वर बड़ा अन्यायी है।

चंपा—अपना-अपना पुरुषार्थ है, ईश्वर का क्या दोष। तुम्हारे बाप-दादा छोड़ गये होते, तो तुम भी मौज करते। यहाँ तो रोटियाँ चलनी मुशकिल हैं, गहने कपड़े को कौन रोये। और न इस ज़िंदगी में कोई ऐसी आशा ही है। कोई गत की साड़ी भी नहीं रही कि किसी भले आदमी के घर जाऊँ तो पहन लूँ। मैं तो इसी सोच में हूँ कि ठकुराइन के यहाँ ब्याह में कैसे जाऊँगी। सोचती हूँ, बीमार पड़ जाती तो जान बचती। यह कहते-कहते उसकी आँखें भर आयीं।

प्रकाश ने तसल्ली दी—साड़ी तुम्हारे लिए लाऊँगा। अब क्या इतना भी न कर सकूँगा। यह मुसीबत के दिन क्या सदा बने रहेंगे। ज़िंदा रहा, तो एक दिन तुम सिर से पाँव तक ज़ेवरों से लदी होगी।

चंपा मुसकिराकर बोली—चलो, ऐसी मन की मिठाई मैं नहीं खाती। निबाह होता जाय, यही बहुत है। गहनों की साध नहीं है।

प्रकाश ने चंपा की बातें सुनकर लज्जा और दुःख से सिर झुका लिया। चंपा उसे इतना पुरुषार्थहीन समझती है!

(३)

रात को दोनों भोजन करके लेटे तो प्रकाश ने फिर गहनों की बात छेड़ी। गहने उसकी आँखों में बसे हुए थे। "इस शहर में ऐसे बढ़िया गहने बनते हैं, मुझे इसकी आशा न थी।"

चंपा ने कहा—कोई और बात करो। गहनों की बात सुनकर जी जलता है।

"वैसी चीज़ें तुम पहनो तो रानी मालूम होने लगो।"

"गहनों से क्या सुंदरता बढ़ जाती है? मैंने तो ऐसी बहुत-सी औरतें देखी हैं जो गहने पहनकर भद्दी दीखने लगती हैं।"

"ठाकुर साहब भी मतलब के यार हैं। यह न हुआ कि कहते, इसमें से कोई चीज़ चंपा के लिए लेते जाओ।"

"तुम भी कैसी बच्चों की-सी बातें करते हो।"

"इसमें बचपन की क्या बात है। कोई उदार आदमी कभी इतनी कृपणता न करता।"

"मैंने तो कोई ऐसा उदार आदमी नहीं देखा, जो अपनी बहू के गहने किसी ग़ैर को दे दे।"

"मैं ग़ैर नहीं हूँ। हम दोनों एक ही मकान में रहते हैं, मैं उनके लड़के को पढ़ाता हूँ और शादी का सारा इंतज़ाम कर रहा हूँ। अगर सौ दो सौ की कोई चीज़ दे देते तो वह निष्फल न जाती। मगर धनवानों का हृदय धन के भार से दबकर सिकुड़ जाता है। उसमें उदारता के लिए स्थान ही नहीं रहता।"

रात के बारह बज गये हैं, फिर भी प्रकाश को नींद नहीं आती। बार-बार वही चमकीले गहने आँखों के सामने आ जाते हैं। कुछ बादल हो आये हैं और बार-बार बिजली चमक उठती है।

सहसा प्रकाश चारपाई से उठ खड़ा हुआ। उसे चंपा का आभूषण-हीन अंग देखकर दया आयी। यही तो खाने-पहनने की उम्र है और इसी उम्र में इस बेचारी को हरएक चीज़ के लिए तरसना पड़ रहा है। वह दबे पाँव कमरे से बाहर निकलकर छत पर आया। ठाकुर साहब की छत इस छत से मिली हुई थी। बीच में एक पाँच फ़ीट ऊँची दीवार थी। वह दीवार पर चढ़-

कर ठाकुर साहब की छत पर आहिस्ता से उतर गया। घर में बिलकुल सन्नाटा था।

उसने सोचा, पहले ज़ीने से उतरकर ठाकुर साहब के कमरे में चलूँ। अगर वह जाग गये तो ज़ोर से हँसूँगा और कहूँगा, कैसा चरका दिया, या कह दूँगा, मेरे घर की छत से कोई आदमी इधर आता दिखायी दिया, इसलिए मैं भी उसके पीछे-पीछे आया कि देखूँ, यह क्या करता है। अगर संदूक़ की कुंजी मिल गयी तो फिर फ़तह है। किसी का मुझ पर संदेह ही न होगा। सब लोग नौकरों पर संदेह करेंगे। मैं भी कहूँगा, साहब नौकरों की हरकत है, इन्हें छोड़कर और कौन ले जा सकता है। मैं बेदाग़ बच जाऊँगा। शादी के बाद कोई दूसरा घर ले लूँगा। फिर धीरे-धीरे एक-एक चीज़ चंपा को दूँगा जिसमें उसे कोई संदेह न हो।

फिर भी वह ज़ीने से उतरने लगा, तो उसकी छाती धड़क रही थी।

(४)

धूप निकल आयी थी। प्रकाश अभी सो ही रहा था कि चंपा ने उसे जगाकर कहा—बड़ा ग़ज़ब हो गया। रात को ठाकुर साहब के घर में चोरी हो गयी। चोर गहने की संदूक़ची उठा ले गया!

प्रकाश ने पड़े-पड़े पूछा—किसी ने पकड़ा नहीं चोर को

"किसी को ख़बर भी हो! वही संदूकची ले गया जिसमें ब्याह के गहने रक्खे थे। न-जाने कैसे कुंजी उड़ा ली और न-जाने कैसे उसे मालूम हुआ कि इस संदूक में संदूक़ची रक्खी है!"

"नौकरों की कारस्तवाई होगी। बाहरी चोर का यह काम नहीं है।"

"नौकर तो उनके तीनों पुराने हैं।"

"नीयत बदलते क्या देर लगती है। आज मौक़ा देखा, उड़ा ले गये।"

"तुम जाकर ज़रा उन लोगों को तसल्ली तो दो। ठकुराइन बेचारी रो रही थीं। तुम्हारा नाम ले-लेकर कहती थीं कि बेचारा महीनों इन गहनों के लिए दौड़ा, एक-एक चीज़ अपने सामने जँचवायी और चोर दाढ़ीजारों ने उसकी सारी मेहनत पर पानी फेर दिया।"

प्रकाश चटपट उठ बैठा और घबड़ाया हुआ-सा जाकर ठकुराइन से बोला—यह तो बड़ा अनर्थ हो गया माताजी, मुझसे तो अभी-अभी चंपा ने कहा। ठाकुर साहब सिर पर हाथ रक्खे बैठे हुए थे। बोले—कहीं सेंध नहीं, कोई ताला नहीं टूटा, किसी दरवाज़े की चूल नहीं उतरी। समझ में नहीं आता, चोर आया किधर से।

ठकुराइन ने रोकर कहा—मैं तो लुट गयी भैया, ब्याह सिर पर खड़ा है, कैसे क्या होगा भगवान्। तुमने कितनी दौड़-धूप की थी, तब कहीं जाके चीज़ें आयी थीं। न-जाने किस मनहूस सायत में लगन आयी थी।

प्रकाश ने ठाकुर साहब के कान में कहा—मुझे तो किसी नौकर की शरारत मालूम होती है।

ठकुराइन ने विरोध किया—अरे नहीं भैया, नौकरों में ऐसा कोई नहीं। दस-दस हज़ार रुपये यों ही उसमें रक्खे रहते थे, कभी एक पाई भी नहीं गयी।

ठाकुर साहब ने नाक सिकोड़कर कहा—तुम क्या जानो, आदमी का मन कितनी जल्द बदल जाया करता है। जिसने अब तक चोरी नहीं की, वह कभी चोरी न करेगा, यह कोई नहीं कह सकता। मैं पुलीस में रिपोर्ट करूँगा और एक-एक नौकर की तलाशी कराऊँगा। कहीं माल उड़ा दिया होगा। जब पुलीस के जूते पड़ेंगे तो आप कबूलेंगे।

प्रकाश ने पुलीस का घर में आना ख़तरनाक समझा। कहीं उन्हीं के घर में तलाशी ले तो अनर्थ ही हो जाय। बोले—पुलीस में रिपोर्ट करना और तहक़ीक़ात कराना व्यर्थ है। पुलीस माल तो न बरामद कर सकेगी, हाँ, नौकरों को मार-पीट भले ही लेगी। कुछ नज़र भी उसे चाहिए, नहीं तो कोई दूसरा ही स्वाँग खड़ा कर देगी। मेरी तो सलाह है कि एक-एक नौकर को एकांत में बुलाकर पूछा जाय।

ठाकुर साहब ने मुँह बनाकर कहा—तुम भी क्या बच्चों-सी बातें करते हो प्रकाश बाबू। भला चोरी करने वाला अपने आप कबूलेगा! तुम मार-पीट भी तो नहीं कर सकते। हाँ, पुलीस में रिपोर्ट करना मुझे भी फ़िज़ूल मालूम होता है। माल बरामद होने से रहा, उलटे महीनों की परेशानी हो जायगी।

प्रकाश—लेकिन कुछ-न-कुछ तो करना ही पड़ेगा।

ठाकुर—कोई लाभ नहीं। हाँ, अगर कोई खुफिया पुलिस हो जो चुपके-चुपके पता लगावे तो अलबत्ता माल निकल आये। लेकिन यहाँ ऐसी पुलीस कहाँ। तकदीर ठोंककर बैठ रहो, और क्या।

प्रकाश—आप बैठ रहिए, लेकिन मैं यों बैठनेवाला नहीं। मैं इन्हीं नौकरों के सामने चोर का नाम निकलवाऊँगा।

ठकुराइन—नौकरों पर मुझे पूरा विश्वास है। किसी का नाम भी निकल आवे, तो मुझे संदेह ही रहेगा। किसी बाहर के आदमी का काम है। चाहे जिधर से आया हो, पर चोर आया बाहर से। तुम्हारे कोठे से भी तो आ सकता है।

ठाकुर—हाँ, ज़रा अपने कोठे पर तो देखो, शायद कुछ निशान मिले। कल दरवाज़ा तो खुला नहीं रह गया?

प्रकाश का दिल धड़कने लगा। बोला—मैं तो दस बजे द्वार बंद कर लेता हूँ। हाँ, कोई पहले ही से मौक़ा पाकर कोठे पर चला गया हो और वहाँ छिपा बैठा रहा हो, तो बात दूसरी है।

तीनों आदमी छत पर गये तो बीच की मुँडेर पर किसी के पाँव की रगड़ के निशान दिखायी दिये। जहाँ प्रकाश का पाँव पड़ा था, वहाँ का चूना लग जाने के कारण छत पर पाँव का निशान पड़ गया था। प्रकाश ने छत पर जाकर मुँडेर की दूसरी तरफ़ देखा तो वैसे ही निशान वहाँ भी दिखायी दिये। ठाकुर साहब सिर झुकाये खड़े थे, संकोच के मारे कुछ कह न सकते थे। प्रकाश ने उनके मन की बात खोल दी—इससे तो स्पष्ट होता है कि चोर मेरे ही घर में से आया। अब तो कोई संदेह ही नहीं रहा।

ठाकुर साहब ने कहा—हाँ, मैं भी यही समझता हूँ। लेकिन इतना पता लग जाने से ही क्या हुआ। माल तो जाना था, सो गया। अब चलो आराम से बैठें। आज रुपये की कोई फ़िक्र करनी होगी।

प्रकाश—मैं आज ही यह घर छोड़ दूँगा।

ठाकुर—क्यों, इसमें तुम्हारा कोई दोष नहीं।

प्रकाश—आप कहें, लेकिन मैं तो समझता हूँ, मेरे सिर बड़ा भारी अपराध लग गया। मेरा दरवाज़ा नौ-दस बजे तक खुला ही रहता है। चोर ने रास्ता देख लिया। संभव है, दो-चार दिन में फिर आ घुसे। घर में अकेली एक औरत सारे घर की निगरानी नहीं कर सकती। उधर वह तो रसोई में बैठी है, इधर कोई आदमी चुपके से ऊपर चढ़ जाय तो ज़रा भी आहट नहीं मिल सकती। मैं घूम-घामकर कभी नौ बजे आया, कभी दस बजे। और शादी के दिनों में तो देर होती ही रहेगी। उधर का रास्ता बंद ही हो जाना चाहिए। मैं तो समझता हूँ, इस चोरी की सारी ज़िम्मेदारी मेरे सिर है।

ठकुराइन डरीं—तुम चले जाओगे भैया, तब तो घर और फाड़े खायगा।

प्रकाश—कुछ भी हो माताजी, मुझे बहुत जल्द घर छोड़ना ही पड़ेगा। मेरी ग़फ़लत से चोरी हुई, इसका मुझे प्रायश्चित करना ही पड़ेगा।

प्रकाश चला गया तो ठाकुर ने स्त्री से कहा—बड़ा लायक़ आदमी है।

ठकुराइन—क्या बात है। चोर उधर से आया, यही बात उसे लग गयी।

"कहीं यह चोर को पकड़ पावे, तो कच्चा खा जाय।"

"मार ही डाले।"

"देख लेना, कभी न-कभी माल बरामद करेगा।"

"अब इस घर में कदापि न रहेगा, कितना ही समझाओ।"

"किराये के २०) और दे दूँगा।"

"हम किराया क्यों दें। वह आप ही घर छोड़ रहे हैं। हम तो कुछ कहते नहीं।"

"किराया तो देना ही पड़ेगा। ऐसे आदमी के साथ कुछ बल भी खाना पड़े तो बुरा नहीं लगता।"

"मैं तो समझती हूँ, वह किराया लेंगे ही नहीं।"

"तीस रुपये में गुज़र भी तो न होता होगा।"

(२)

प्रकाश ने उसी दिन वह घर छोड़ दिया। उस घर में रहने में जोखिम था। लेकिन जब तक शादी की धूमधाम रही, प्रायः सारे दिन यहीं रहते थे। चंपा से कहा, एक सेठजी के यहाँ २०) महीने का काम मिल गया है। मगर वह रुपये मैं उन्हीं के पास जमा करता जाऊँगा। वह आमदनी केवल ज़ेवरों में ख़र्च

होगी। उसमें से एक पाई घर के ख़र्च में न आने दूँगा। चंपा फड़क उठी। पतिप्रेम का यह परिचय पाकर उसने अपने भाग्य को सराहा। देवताओं में उसकी श्रद्धा और बढ़ गयी।

अब तक प्रकाश और चंपा के बीच में कोई परदा न था। प्रकाश के पास जो कुछ था, वह चंपा का था। चंपा ही के पास उसके बक्स, संदूक़, अलमारी की कुंजियाँ रहती थीं। मगर अब प्रकाश का एक संदूक़ हमेशा बंद रहता। उसकी कुंजी कहाँ है, इसका चंपा को पता नहीं। वह पूछती है, इस संदूक़ में क्या है तो वह कह देते हैं—कुछ नहीं, पुरानी किताबें मारी-मारी फिरती थीं, उठाके संदूक़ में बंद कर दी हैं। चंपा को संदेह करने का कोई कारण न था।

एक दिन चंपा पति को पान देने गयी तो देखा, वह उस संदूक़ को खोले कुछ देख रहे हैं। उसे देखते ही उन्होंने संदूक़ जल्दी से बंद कर दिया। उनका चेहरा जैसे फ़क़ हो गया। अब संदेह का अंकुर जमा। मगर पानी न पाकर सूख गया। चंपा किसी ऐसे कारण की कल्पना ही न कर सकी, जिससे संदेह को आश्रय मिलता।

लेकिन पाँच हज़ार की संपत्ति को इस तरह छोड़ देना कि उसका ध्यान ही न आवे, प्रकाश के लिए असंभव था। वह कहीं बाहर से आता तो एक बार संदूक़ अवश्य खोलता।

एक दिन पड़ोस में चोरी हो गयी। उस दिन से प्रकाश अपने कमरे ही में सोने लगा। असाढ़ के दिन थे। उमस के मारे दम घुटता था। ऊपर एक साफ़-सुथरा बरामदा था, जो बरसात में सोने के लिए ही शायद बनाया गया था। चंपा ने कई बार ऊपर सोने के लिए कहा, पर प्रकाश न माना। अकेला घर कैसे छोड़ दे।

चंपा ने कहा—चोरी ऐसों के यहाँ नहीं होती। चोर घर में कुछ देखकर ही जान ख़तरे में डालता है। यहाँ क्या रक्खा है।

प्रकाश ने क्रुद्ध होकर कहा—कुछ नहीं है, बरतन-भाँड़े तो हैं ही। ग़रीब के लिए अपनी हाँड़ी ही बहुत है।

एक दिन चंपा ने कमरे में झाड़ू लगायी, तो संदूक़ को खिसकाकर दूसरी तरफ़ रख दिया। प्रकाश ने संदूक़ का स्थान बदला हुआ पाया तो सशंक होकर बोला—संदूक़ तुमने हटाया ?

यह पूछने की कोई बात न थी। झाड़ू लगाते वक़्त प्रायः चीज़ें इधर-उधर खिसक जाती ही हैं। बोली—मैं क्यों हटाने लगी।

"फिर किसने हटाया ?"

"मैं नहीं जानती।"

"घर में तुम रहती हो, जानेगा कौन।"

"अच्छा, अगर मैंने ही हटा दिया तो इसमें पूछने की क्या बात है ?"

"कुछ नहीं, यों ही पूछता था।"

मगर जब तक संदूक़ खोलकर सब चीज़ें देख न ले, प्रकाश को चैन कहाँ। चंपा ज्यों ही भोजन पकाने लगी, उसने संदूक़ खोला और आभूषणों को देखने लगा। आज चंपा ने पकौड़ियाँ बनायी थीं। पकौड़ियाँ गरम-गरम ही मज़ा देती हैं। प्रकाश को पकौड़ियाँ पसंद भी बहुत थीं। उसने थोड़ी-सी पकौड़ियाँ एक तश्तरी में रक्खीं और प्रकाश को देने गयी। प्रकाश ने उसे देखते ही संदूक़ धमाके से बंद कर दी और ताला लगाकर उसे बहलाने के इरादे से बोला—तश्तरी में क्या लायीं ? अच्छा ! पकौड़ियाँ हैं !

आज चम्पा को संदेह हो गया। संदूक़ में क्या है, यह देखने की उत्सुकता हुई। प्रकाश उसकी कुंजी कहाँ छिपाकर रखता था। चंपा किसी तरह वह कुंजी उड़ा लेने की चाल सोचने लगी। एक दिन एक बिसाती कुंजियों का गुच्छा बेचने आ निकला। चंपा ने उस ताले की कुंजी ले ली और संदूक़ खोल डाला। अरे! यह तो आभूषण हैं। उसने एक-एक आभूषण को निकाल-कर देखा। यह गहने कहाँ से आये ! मुझसे तो कभी इनकी चर्चा नहीं की। सहसा उसके मन में भाव उठा—कहीं यह ठाकुर साहब के गहने तो नहीं हैं। चीज़ें वही थीं, जिनका वह बखान करते रहते थे। उसे अब कोई संदेह न रहा। लेकिन इतना घोर पतन ! लज्जा और खेद से उसका सिर झुक गया।

उसने तुरंत संदूक़ बंद कर दिया और चारपाई पर लेटकर सोचने लगी। इनकी इतनी हिम्मत पड़ी कैसे!

यह दुर्भावना इनके मन में आयी ही क्यों ? मैंने तो उन्हीं आभूषणों के लिए आग्रह नहीं किया । अगर आग्रह भी करती, तो क्या उसका आशय यह होता कि वह चोरी करके लावें ? चोरी—आभूषणों के लिए ! उनका मन क्यों इतना दुर्बल हो गया !

उसके जी में आया, इन गहनों को उठा ले और ठाकुर साहब के चरणों पर डाल दे । उनसे कहे—यह मत पूछिए, यह गहने मेरे पास कैसे आये । आपकी चीज़ आपके पास आ गयी । इसी से संतोष कर लीजिए । लेकिन परिणाम कितना भयंकर होगा !

(६)

उस दिन से चंपा कुछ उदास रहने लगी । प्रकाश से अब वह प्रेम न रहा, न वह सम्मान-भाव । बात-बात पर तकरार होती । अभाव में जो परस्पर सद्भाव था वह ग़ायब हो गया था । तब एक दूसरे से दिल की बात कहता था, भविष्य के मंसूबे बाँधे जाते थे, आपस में सहानुभूति थी । अब दोनों ही दिलगीर रहते । कई-कई दिनों तक आपस में एक बात भी न होती ।

कई महीने गुज़र गये । शहर के एक बैंक में असिस्टंट मैनेजर की जगह ख़ाली हुई । प्रकाश ने अर्थशास्त्र पढ़ा था, लेकिन शर्त यह थी कि नक़द दस हज़ार की ज़मानत दाख़िल की जाय । इतनी बड़ी रक़म कहाँ से आवे । प्रकाश तड़प-तड़पकर रह जाता था ।

एक दिन ठाकुर साहब से इस विषय में बात चल पड़ी ।

ठाकुर साहब ने कहा—तुम क्यों नहीं दरख़्वास्त भेजते ?

प्रकाश ने सिर झुकाकर कहा—दस हज़ार की नक़द ज़मानत माँगते हैं । मेरे पास रुपये कहाँ रक्खे हैं !

"अजी तुम दरख़्वास्त तो दो । अगर और सारी बातें तय हो जायँ तो ज़मानत भी दे दी जायगी । इसकी चिंता न करो ।"

प्रकाश ने स्तंभित होकर कहा—आप ज़मानत दे देंगे ?

"हाँ-हाँ, यह कौन-सी बड़ी बात है ।"

प्रकाश घर चला तो बहुत रंजीदा था । उसको यह जगह अवश्य मिलेगी, लेकिन फिर भी वह प्रसन्न नहीं है । ठाकुर साहब की सरलता—उनका उस पर इतना अटल विश्वास उसे आहत कर रहा है । उनकी शराफ़त उसके कमीनेपन को कुचले डालती है ।

उसने घर आकर चंपा को ख़ुशख़बरी सुनायी । चंपा ने सुनकर मुँह फेर लिया । फिर एक क्षण के बाद बोली—ठाकुर साहब से तुमने क्यों ज़मानत दिलवायी । प्रकाश ने चिढ़कर कहा—फिर और किससे दिलवाता ।

"यही न होता, जगह न मिलती । रोटियाँ तो मिल ही जातीं । रुपये-पैसे की बात है । कहीं भूल-चूक हो जाय, तो तुम्हारे साथ उनके रुपये भी जायँ ।"

"यह तुम कैसे समझती हो कि भूल-चूक होगी ? क्या मैं ऐसा अनाड़ी हूँ ।"

चंपा ने विरक्त मन से कहा—आदमी की नीयत भी तो हमेशा एक-सी नहीं रहती ।

प्रकाश ठक से रह गया । उसने चंपा को चुभती हुई आँखों से देखा; पर चंपा ने मुँह फेर लिया था । वह उसके भावों के विषय में कुछ निश्चय न कर सका । लेकिन ऐसी ख़ुशख़बरी सुनकर भी चंपा का उदासीन रहना उसे विकल करने लगा । उसके मन में प्रश्न उठा—इस वाक्य में कहीं आक्षेप तो नहीं छिपा हुआ है ! चंपा ने संदूक़ खोलकर देख तो नहीं लिया ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए इस समय वह अपनी एक आँख भी भेंट कर सकता था ।

भोजन करते समय प्रकाश ने चंपा से पूछा—तुमने क्या सोचकर कहा था कि आदमी की नीयत तो हमेशा एक-सी नहीं रहती ? जैसे यह उसके जीवन या मृत्यु का प्रश्न हो ।

चंपा ने संकट में पड़कर कहा—कुछ नहीं, मैंने दुनिया की बात कही थी ।

प्रकाश को संतोष न हुआ ।

"क्या जितने आदमी बैंकों में नौकर हैं, उनकी नीयत बदलती रहती है ?"—वह बोला

चंपा ने गला छुड़ाना चाहा—तुम तो ज़बान पकड़ते हो । ठाकुर साहब के यहाँ इस शादी में ही तुम अपनी नीयत ठीक नहीं रख सके । सौ दो सौ रुपये की चीज़ें घर में रख ही लीं ।

प्रकाश के दिल से बोझ उतर गया । मुसकिराकर बोला—अच्छा, तुम्हारा संकेत उस तरफ़ था । लेकिन

मैंने कमीशन के सिवा उनकी एक पाई भी नहीं छुई। और कमीशन लेना तो कोई पाप नहीं। बड़े-बड़े हुक्काम खुले-ख़ज़ाने कमीशन लिया करते हैं।

चंपा ने तिरस्कार के भाव से कहा—जो आदमी अपने ऊपर इतना विश्वास रक्खे, उसकी आँख बचाकर एक पाई लेना भी मैं पाप समझती हूँ। तुम्हारी सज्जनता तो मैं जब जानती कि तुम कमीशन के रुपये ले जाकर उनके हवाले कर देते। इन ६ महीनों में उन्होंने तुम्हारे साथ क्या-क्या सलूक किये—कुछ याद है? मकान तुमने ख़ुद छोड़ा, लेकिन वह २०) महीना देते जाते हैं। इलाक़े से कोई सौग़ात आती है, तुम्हारे यहाँ ज़रूर भेजते हैं। तुम्हारे पास घड़ी न थी, अपनी घड़ी तुम्हें दे दी। तुम्हारी महरी जब नागा करती है, ख़बर पाते ही अपना नौकर भेज देते हैं। मेरी बीमारी ही में डाक्टर की फ़ीस उन्होंने दी, और दिन में दो बार हाल-चाल पूछने आया करते थे। यह ज़मानत ही क्या छोटी बात है। अपने संबंधियों तक की ज़मानत तो जल्दी कोई करता ही नहीं। तुम्हारी ज़मानत के लिए दस हज़ार रुपये नक़द निकालकर दे दिये! इसे तुम छोटी बात समझते हो। आज तुमसे कोई भूल-चूक हो जाय तो उनके रुपये तो ज़ब्त हो जायँगे। जो आदमी अपने ऊपर इतनी दया रक्खे, उसके लिए हमें भी प्राण देने को तैयार रहना चाहिए।

प्रकाश भोजन करके लेटा तो उसकी आत्मा उसे धिक्कार रही थी। दुखते हुए फोड़े में कितना मवाद भरा हुआ है, यह उस वक़्त मालूम होता है जब नश्तर लगाया जाता है। मन का विकार उस वक़्त मालूम होता है, जब कोई उसे हमारे सामने खोलकर रख देता है। किसी सामाजिक या राजनीतिक अन्याय का व्यंग्य-चित्र देखकर क्यों हमारे मन को चोट लगती है? इसीलिए कि वह चित्र हमारी पशुता को खोलकर हमारे सामने रख देता है। वह जो मनोसागर में बिखरा हुआ पड़ा था, जैसे केंद्रीभूत होकर वृहदाकार हो जाता है। तब हमारे मुँह से निकल पड़ता है—उफ़्फ़ोह! चंपा के इन तिरस्कार-भरे शब्दों ने प्रकाश के मन में ग्लानि उत्पन्न कर दी। वह संदूक़ कई गुना भारी होकर शिला की भाँति उसे दबाने लगा। मन में फैला हुआ विकार एक बिंदु पर एकत्र होकर टीसने लगा।

(७)

कई दिन बीत गये। प्रकाश को बैंक में जगह मिल गयी। इसी उत्सव में उसके यहाँ मेहमानों की दावत है। ठाकुर साहब, उनकी स्त्री, वीरू और उसकी नवेली बहू, सभी आये हुए हैं। चंपा सेवा-सत्कार में लगी हुई है। बाहर दो-चार मित्र गा-बजा रहे हैं। भोजन करने के बाद ठाकुर साहब चलने को तैयार हुए।

प्रकाश ने कहा—आज आपको यहीं रहना होगा दादा। मैं इस वक़्त न जाने दूँगा।

चंपा को उसका यह आग्रह बुरा लगा। चारपाइयाँ नहीं हैं, बिछावन नहीं है, और न काफ़ी जगह ही है। रात-भर उन्हें तकलीफ़ देने और आप तकलीफ़ उठाने की कोई ज़रूरत उसकी समझ में न आयी। लेकिन प्रकाश आग्रह करता ही रहा, यहाँ तक कि ठाकुर साहब राज़ी हो गये।

बारह बज गये थे। ठाकुर साहब ऊपर सो रहे थे। वीरू और प्रकाश बाहर बरामदे में थे। तीनों स्त्रियाँ अंदर कमरे में थीं। प्रकाश जाग रहा था। वीरू के सिरहाने उसकी कुंजियों का गुच्छा पड़ा हुआ था। प्रकाश ने गुच्छा उठा लिया। फिर कमरा खोलकर उसमें से गहनों का संदूक़चा निकाला और ठाकुर साहब के घर की तरफ़ चला। कई महीने पहले वह इसी भाँति कंपित हृदय के साथ ठाकुर साहब के घर में घुसा था। उसके पाँव तब भी इसी तरह थरथरा रहे थे। लेकिन तब काँटा चुभने की वेदना थी, आज काँटा निकलने की। तब ज्वर का चढ़ाव था, उन्माद, ताप और विकलता से भरा हुआ। अब ज्वर का उतार था शांत, शिथिल और शीतल। तब क़दम पीछे हटता था, आज आगे बढ़ रहा था।

ठाकुर साहब के घर पहुँचकर उसने धीरे से वीरू का कमरा खोला और अंदर जाकर ठाकुर साहब की खाट के नीचे संदूक़चा रख दिया। फिर तुरंत बाहर आकर धीरे से द्वार बंद किया और घर को लौट पड़ा। हनुमान संजीवनी बूटीवाला धवलागिर उठाये जिस गर्वीले आनंद का अनुभव कर रहे थे, कुछ वैसा ही आनंद प्रकाश को भी हो रहा था। गहनों को अपने घर ले जाते समय उसके प्राण सूखे हुए थे, मानों किसी गहरी, अपार खाई में गिरा जा रहा हो। आज संदूक़चे को लौटाकर

उसे मालूम हो रहा था जैसे वह किसी विमान पर बैठा हुआ आकाश की ओर उड़ा जा रहा है—ऊपर, ऊपर और ऊपर !

वह घर पहुँचा तो बीरू सोया हुआ था। कुंजी उसके सिरहाने रख दी।

(८)

ठाकुर साहब प्रातःकाल चले गये।

प्रकाश संध्या-समय पढ़ाने जाया करता था। आज वह अधीर होकर तीसरे ही पहर जा पहुँचा। देखना चाहता था, वहाँ आज क्या गुल खिल रहे हैं।

वीरेंद्र ने उसे देखते ही खुश होकर कहा—बाबूजी, कल आपके यहाँ की दावत बड़ी मुबारक थी। जो गहने चोरी गये थे, सब मिल गये।

ठाकुर साहब भी आ गये और बोले—बड़ी मुबारक दावत थी तुम्हारी ! पूरा संदूक़ का संदूक़ मिल गया। एक चीज़ भी नहीं छुई। जैसे केवल रखने ही के लिए ले गया हो।

प्रकाश को इन बातों पर कैसे विश्वास आये, जब तक वह अपनी आँखों से संदूक़ देख न ले। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि चोरी गया हुआ माल ६ महीने बाद मिल जाय, और ज्यों-का-त्यों !

संदूक़ को देखकर उसने गंभीर भाव से कहा—बड़े आश्चर्य की बात है! मेरी बुद्धि तो कुछ काम नहीं करती।

ठाकुर—किसी की बुद्धि कुछ काम नहीं करती भई, तुम्हारी ही क्यों। बीरू की मा तो कहती हैं, कोई दैवी घटना है। आज से मुझे भी देवताओं में श्रद्धा हो गयी।

प्रकाश—अगर आँखों देखी बात न होती, तो मुझे कभी विश्वास न आता।

ठाकुर—आज इस खुशी में हमारे यहाँ दावत होगी।

प्रकाश—आपने कोई अनुष्ठान तो नहीं कराया था।

ठाकुर—अनुष्ठान तो बीसों ही कराये।

प्रकाश—बस, तो यह अनुष्ठानों ही की करामात है।

घर लौटकर प्रकाश ने चंपा को यह ख़बर सुनायी, तो वह दौड़कर उनके गले से चिमट गयी और न-जाने क्यों रोने लगी, जैसे उसका बिछुड़ा हुआ पति बहुत दिनों के बाद घर आ गया हो।

प्रकाश ने कहा—आज उनके यहाँ हमारी दावत है।

"मैं कल एक हज़ार कँगलों को भोजन कराऊँगी।"

"तुम तो सैकड़ों का ख़र्च बतला रही हो।"

"मुझे इतना आनंद हो रहा है कि लाखों ख़र्च करने पर भी अरमान पूरा न होगा।"

प्रकाश की आँखों से भी आँसू निकल आये।

कामना-पंचक

[श्री० रामसहाय पांडेय 'चन्द्र']

(१)

स्रवित मयूख-धार होवे व्योम-मंडल से,
चारु चक्रवाकी चञ्चु 'चन्द्र' से मिलाये हो।
झूम-झूम मलय-समीर चूमता हो अंग,
मुकुलित सुमनावलि सुछवि छाये हो।
सारी सृष्टि शांति-सुधा पी हुई हो परितृप्त,
वसुधा में कोई न वियोग-दुख पाये हो।
होता हो सबेरा, कहीं साथी हो न मेरा कोई,
डेरा हृदयेश्वर हृदय में लगाये हो।

(२)

बालरवि मचल हटा रहा हो अंचल को,
ऊषा के मनोरम सनेह में लुभाया हो।
पाटल की कलिकाएँ प्रस्फुटित हो रही हों,
मधुकर-वृंद पंकजों पै मँडलाया हो।
नृत्य में निरत मनोरंजनी तितलियाँ हों,
कलरव विहँग-समाज ने मचाया हो।
उपवन हो पवन भी स्रवित होवे मन्द,
ध्यान प्रियतम का हो—प्राण में समाया हो।

(३)

दामिनी की क्रीड़ा प्रेमी वारिद से हो रही हो,
लतिकाओं को विटप-वृंद लिपटाये हों।
परम प्रमत्त नृत्य-रत हों मयूर, और
पान कर स्वाति बुंद चातक अघाये हों।
रुनझुन-रुनझुन झिल्ली झनकार मिस,
प्रकृति-प्रिया ने मंजु नूपुर बजाये हों।
सरस सुगंधित समीर चलता हो "चन्द्र",
प्रेम-मदिरा के प्याले पिये हों—पिलाये हों।

(४)

ऋतुराज का सुखद समय सुहावना हो,
पाकर प्रमोद पिक वाटिका में कूजा हो।
कल-कल नाद से प्रफुल्लित हुआ हो चित्त,
स्रवित विमल सरि तरणि-तनूजा हो।
फटिकशिला हो छिटकी हो चन्द्र-ज्योत्स्ना भी,
अतिरिक्त प्राणाधार के न और दूजा हो।
प्रियतम के चरण धोऊ अश्रुजल द्वारा,
हृदयसुमन चढ़े—पूरी प्रेम-पूजा हो।

(५)

पय-सी जहाँ 'चन्द्र' की चन्द्रिका है, चितवृत्तियाँ वो' थल जाँचती हैं।
भ्रमरावलियाँ पी पराग जहाँ, अनुराग की पत्रिका बाँचती हैं।
गगनांगना यौवन की मदिरा, नयनों से पिला मन टाँचती हैं।
छवि छाजतीं हेम छरी-सी खरी, रस-रङ्ग-भरी परी नाचती हैं।

साहित्यिक आलोचना

[पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री]

भारत के लिए साहित्यिक आलोचना कोई नयी बात नहीं है। प्राचीनतम काल से इस वृद्धतम देश में साहित्यिक आलोचनाएँ होती आयी हैं और कहा जा सकता है कि इसी लिए हमारा प्राचीन साहित्य इतना ऊँचा और परिष्कृत है—जिसके लिए आज के सभ्यतम देश भी तरसते हैं। शतपथ, ऐतरेय आदि ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों की आलोचनाएँ ही तो हैं। आलोचना के अनंत प्रकार हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने ढंग से आलोचना करता है। यों यह भी कहा जा सकता है कि उपनिषदों की आलोचना ही व्यास का सुप्रसिद्ध 'ब्रह्म-सूत्र' है, जिसे वेदांत-शास्त्र कहते हैं और षट्दर्शनों में जो अन्यतम अथवा सर्व-प्रधान है। उपनिषदों में आये विविध वाक्यों का इसमें समन्वय किया गया है, उनकी संगति बैठायी गयी है और उन पर विस्तृत विचार करके संभावित शंकाओं का समाधान किया गया है। इसके अतिरिक्त और भी कई दर्शन इसी कोटि में आ जाते हैं। संस्कृत का साहित्य-शास्त्र क्या है? एक प्रकार की काव्यालोचना ही तो है। काव्य-जगत् पर सब दृष्टियों से विचार किया गया, उसके गुण-दोष आदि अच्छी तरह देखे गये, वाक्य-योजना पर विचार किया गया और बतलाया गया कि इस तरह नहीं, ऐसा करने से काव्य निर्दोष और उत्तम होगा—बस, यही साहित्य-शास्त्र हो गया। इससे यह निष्कर्ष निकला कि आलोचना एक प्रकार का सर्वोत्तम साहित्य है। साहित्य की आलोचना भी साहित्य ही है। आलोचना से वह विषय परिष्कृत होता है। प्रसिद्ध है कि किसी सुंदर शहर के लिए अथवा किसी वर्द्धिष्यमान् क़स्बे के लिए जिस तरह म्यूनिसिपैलिटी की ज़रूरत होती है अथवा उद्यान के लिए निपुण माली की, उसी तरह साहित्य के लिए आलोचना की। इस आवश्यकता के विषय में किसी को भी कुछ विप्रतिपत्ति नहीं है। अतएव इसे पल्लवित करना—आलोचना की आवश्यकता सिद्ध करना—अनावश्यक है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उससे यह भी पता चला कि आलोचना मुख्यतः दो प्रकार की होती है—१—समष्टिरूप से और २—व्यष्टिरूप से। जब किसी विषय को लेकर आलोचना लिखी जाती है, उस विषय के गुण-दोषों पर विचार किया जाता है और यों उस विषय के सब प्रधान-प्रधान लेखकों की कृति पर सामान्यतः आलोचना होती है, तब उसे समष्टि-आलोचना कहेंगे। इसके विपरीत यदि किसी एक ही कृति पर विचार प्रकट किये जायँ, तो वह व्यष्टि-रूप आलोचना होगी। शतपथ आदि ब्राह्मण-ग्रंथ व्यष्टि-आलोचनाएँ कही जा सकती हैं, क्योंकि एक-ही-एक वेद पर उनमें विचार प्रकट किये गये हैं, और आज तक उन्हीं-उन्हीं वेदों के वे ब्राह्मण-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। कुछ आश्चर्य नहीं कि आलोचना के अर्थ में ही, प्राचीन साहित्य में, 'ब्राह्मण'-शब्द का प्रयोग हो। ख़ैर, कहने का मतलब इतना कि 'ब्राह्मण'-ग्रंथ प्रायः व्यष्टि-आलोचनाएँ हैं। कहीं संकर भी हो सकता है। समष्टि-आलोचना के उदाहरण में 'ब्रह्मसूत्र' का नाम लिया जा सकता है। इसमें किसी ख़ास उपनिषद् पर नहीं, वरन् समस्त उपनिषद्-जगत् पर विचार है। साहित्य-शास्त्र भी इस श्रेणी में है—जैसे 'काव्य-प्रकाश', 'साहित्य-दर्पण' आदि। जिन साहित्य-ग्रंथों में किसी एक ही कृति पर विचार प्रकट किये गये हों, उसे हम व्यष्टि-आलोचना कहेंगे ही, इस कारण पंडितराज श्रीजगन्नाथ की 'चित्र-मीमांसा' इसी कक्षा में है; क्योंकि उसमें केवल श्री-अप्पय दीक्षित की 'चित्र-मीमांसा' को ही लक्ष्य बनाया गया है। हाँ, श्रीअप्पय दीक्षित की 'चित्र-मीमांसा' समष्टि-आलोचना कही जा सकती है।

इन दोनों प्रकार की आलोचनाओं में कौन किस दर्जे की है, यह नहीं कहा जा सकता। दोनों की उपयोगिता है। जो अच्छी तरह लिखी जायगी, वही बढ़िया है।

'को बड़ छोट कहत अपराधू।'

अभी तक उदाहरण के तौर पर हमने सब संस्कृत के

प्राचीन ग्रंथों के ही नाम इसलिए लिये हैं कि अच्छी तरह यह देख लें कि आलोचना हमारे यहाँ प्राचीन समय से चली आ रही है और उसका यह रूप था। अब यदि हिंदी के उदाहरण भी दे दिये जायँ, तो अधिक स्पष्टता आ जायगी। सिर्फ़ दो उदाहरण लीजिए, 'संजीवन-भाष्य' की भूमिका और 'छायावाद'। पहली कृति में केवल बिहारी-सतसई पर विचार किया गया है, अतएव वह व्यष्टि-आलोचना है। 'छायावाद' में पं० श्री रामचंद्रजी शुक्ल ने अखिल छायावादी जगत् पर अपने विचार प्रकट किये हैं, इसलिए वह समष्टि-आलोचना हुई। 'देव और बिहारी' तथा 'प्रसाद की नाट्य-कला' आदि पुस्तकें भी व्यष्टि आलोचनाएँ ही हैं।

यह तो हुई पुस्तकों की बात, पर छोटे-छोटे लेखों में जो आलोचनाएँ की जाती हैं, वे भी इन्हीं दोनों श्रेणियों में यथायोग्य हैं।

कहा जा चुका है कि गुण-दोषों का विवेचन करके यथासंभव कुछ संशोधन करने को आलोचना कहते हैं, पर आजकल हिंदी में खंडनात्मक आलोचनाएँ ही अधिक निकलती हैं। अतएव 'आलोचना' 'समालोचना' या 'समीक्षा' शब्द 'खंडन' के पर्याय ही समझे जाने लगे हैं! समीक्षा के लिए 'सत्यार्थ-प्रकाश' देखिए।

परंतु तो भी ऐसी वस्तु-स्थिति नहीं है। 'आलोचना' या 'समालोचना आदि 'खंडन' के पर्याय नहीं हैं। हाँ, खंडन या मंडन आलोचना के अंग अवश्य हैं। हो सकता है कि आलोच्य कृति में आलोचक को दोष ही अधिक देख पड़े और यों उसकी आलोचना खंडनात्मक ही हो, या कहीं गुणाधिक्य से उसे सिर्फ़ मंडन कहा जाय। इसमें कोई बुराई नहीं, साहित्य का भला है, यदि व्यक्तिगत द्वेष या प्रेम अथवा और किसी कारण से वैसा न किया गया हो। संक्षेप में आलोचना का स्वरूप यही है। अब आगे हम देखेंगे कि आलोचक में कौन-कौन गुण आवश्यक हैं।

आलोचक के लिए सबसे पहली आवश्यकता है अपने विषय के व्यापक और गंभीर अध्ययन की। चंचु-प्रवेश से आलोचना नहीं हो सकती। ऐसे आलोचकों पर लोग हँसते हैं। जब तक आलोच्य विषय में प्रौढ़ प्रगति न हो जाय, तब तक उसकी आलोचना कैसी? इसके अतिरिक्त आलोचक में स्पष्टवादिता का होना बहुत ज़रूरी है, जिसके बिना खरी आलोचना का होना असंभव है। यह गुण उसी में होगा, जिसमें अनुचित राग-द्वेष न हो, जो निर्भय हो और जो खुशामदी न हो। इसके अभाव में आलोचना किसी काम की न होगी, उससे साहित्य का कुछ भी उपकार न होगा, उलटे भीषण हानि हो सकती है। यही सोचकर तो सूक्ष्मदर्शियों ने कहा है—'शत्रोरपि गुणावाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि'। कारण, 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।' जब तक दोष और गुण अलग-अलग करके न बतलाये जाएँगे, तब तक लाभ क्या होगा। और, यदि कोई दोषों को भी गुण करके बतलाने लगे, यों दोषों पर पर्दा डालकर दुनिया की आँखों में धूल झोंकने लगे, तब तो फिर कहना ही क्या है! ऐसी दशा में सामान्य साहित्यिक जगत् उन दोषों को ही गुण करके मान लेगा, या दोषों से अनभिज्ञ रहेगा; फलतः उसकी कृति उन दोषों से न बच सकेगी और इसका पाप या कलंक वैसे आलोचकों पर है। दूसरी ओर यदि किसी पर द्वेष अधिक हुआ, तो भी सुंदर और निर्दोष आलोचना न होगी। द्वेष से भरा हुआ आलोचक पूरा पुरोभागी हो जायगा, उसे आलोच्य कृति के गुण नज़र ही न आयेंगे आयँगे भी तो विकृत रूप में। ऐसे आलोचक को गुण भी दोष-रूप से दिखेंगे। इस प्रकार की आलोचनाओं से और भी अधिक हानि है। योग्य लेखक हतोत्साह हो जाते हैं और सदा के लिए साहित्य-जगत् उनकी सेवाओं से वंचित रह जाता है। यदि कोई अति धीर हुआ, तो वह कहता हुआ आगे बढ़ता है—

'उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा, कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।' ऐसे लेखक द्वेषी आलोचकों के प्रति उदासीन होकर, उनकी अनर्गल बातें अनसुनी करके मैदान में डटे रहते हैं और उनके लिए कहते हैं—'तान् प्रति नैष यत्नः!!'—हम ऐसे दूषित-हृदयों के लिए यह रचना नहीं कर रहे हैं। आख़िर गुणग्राही भी तो दुनिया में हैं ही, तो फिर इन निंदक आलोचकों की क्यों परवा की जाय और उन साहित्यिक चातकों के गले क्यों न रस की दो बूँदें डाली जायँ?



राजा नल का दमयंती को पत्र-लेखन

[चित्रकार—श्रीयुत बी॰ एन॰ जिज्ञा]

स्पष्टवादिता को हमने आलोचक का गुण बतलाया है; किंतु इसका ध्यान रखना चाहिए कि मृदुभाषिता के बिना यह अवगुण का रूप न पकड़ ले। सच्ची बात कही अवश्य जाय, पर इस ढंग से कि किसी के हृदय पर वह वज्राघात का काम न करे। जिसे आप कुछ सिखा रहे हैं, वह समझे कि आप कोई हितू हैं, हित की बात बतला रहे हैं और इस पर अमल करना चाहिए, तब तो ठीक; परंतु यदि उसके मन में यह भावना आ गयी कि आपने द्वेष से ऐसा किया है और हँसी उड़ायी है, तो फिर उसका उलटा असर होगा! उदाहरण लीजिए। मि० एंड्रूज़ का जन्म इस देश में नहीं हुआ है और मिस मेयो भी विदेशी महिला हैं। ये दोनों ही हमारी कमज़ोरियाँ बतलाते हैं; पर एक के मुख से तो हम अपनी कमज़ोरी या दोष सुनकर उसका भला मनाते हैं और दोष-त्याग का उपाय ढूँढ़ते हैं, किंतु दूसरे की बातें सुनकर—वैसी ही बातें सुनकर—मन में क्रोध की आग भभक उठती है, प्रतिहिंसा का भाव पैदा होता है और उसकी सच्ची आलोचना से भी लाभ उठाने की इच्छा नहीं होती। यह मानव-स्वभाव है, इसे कोई मिटा नहीं सकता। हम यह नहीं कहते कि साहित्यिक दोषों पर आप पर्दा डालें। 'न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' हमारा अभिप्राय नहीं। कहना यह है कि 'ब्रूयात् सत्यं प्रियं पथ्यम्।' सच्ची बात प्रायः लोगों को बुरी लगती ही है; फिर 'निज कबित्त केहि लाग न नीका'—अपनी कृति की बुराई किसी को भी अच्छी न लगेगी। सच्ची आलोचना तो कुनैन की कड़वी गोली है, जिसका रोगी के लिए देना आवश्यक है; पर उसकी कटुता यदि किसी तरह निकल सके, या उस पर मृदुता का आवरण चढ़ा दिया जाय, तो कहना ही क्या!

हिंदी के एक नामी विद्वान् ने आलोचक में एक और गुण माना है। आपका कहना है कि ग्रंथकार या लेखक के प्रति आलोचक की सहानुभूति भी होनी चाहिए। हम इसके विरुद्ध हैं; क्योंकि यह सहानुभूति ही आलोचना को अनुचित 'वकालत' का रूप दे देती है। वस्तुतः आलोचक को ग्रंथकार से उदासीन रहना उचित है, न राग न द्वेष। उसे तो कृति से मतलब है, न कि उसके उद्भावक से। वह तो उसके ग्रंथ या लेख की आलोचना करता है, उसके व्यक्तित्व की नहीं। खेद है, हिंदी में इस 'सहानुभूति' का अधिक प्रसार हो रहा है और द्वेष-दल के समान इससे भी अहित हो रहा है!

आजकल हिंदी की पत्रिकाओं में आलोचनाएँ प्रायः निकला ही करती हैं। उनमें ऐसी बहुत कम मिलेंगी, जिन्हें आप निश्चित कसौटी पर कस कर खरी आलोचना कह सकें। कृति की आलोचना करते-करते या करने बैठते ही, कृति को अलग रख, उसके उद्भावक या लेखक पर लोग टूट पड़ते हैं! यह निर्बलता की निशानी है। "धोबी से बस न चला, तो गधे के ही कान खींचने लगे!" एक सुप्रसिद्ध विद्वान् ने मेरी एक आलोचना का उत्तर देते हुए मेरे व्यक्तित्व की जो आलोचना की थी, उसका एक वाक्य यह है—"ये पंजाब यूनिवर्सिटी के शास्त्री हैं, जहाँ के शास्त्री 'सिद्धांत-कौमुदी' के ही पढ़ाने में हिचकियाँ लेने लगते हैं।" मालूम नहीं, इस प्रकार की बातों से आलोचना का क्या सम्बंध है!

कुछ आलोचनाएँ ऐसी होती हैं, जिनसे साफ़ प्रतीत होता है कि आलोचक के मन में ग्रंथकार के प्रति (अनुचित?) प्रेम काम कर रहा है। ऐसी आलोचनाओं से पाठकों के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, कहने की आवश्यकता नहीं। पुनः ऐसी आलोचनाओं की भी बाढ़ आयी हुई है, जिनके अक्षर-अक्षर से द्वेष और ईर्ष्या की दुर्गंध निकलती है। यह दुर्गंध भीषण बीमारी फैला रही है। इनमें केवल गाली-गलौज होता है! ऐसी विष-बेलें क्यों आलोचना के नाम पर बोयी जाती हैं? कुछ आलोचनाएँ इस तरह की भी होती हैं, जिनमें राग-द्वेष आदि तो कुछ नहीं होता; पर आलोचक की विद्वत्ता का अभाव सब कुछ बिगाड़ देता है। ऐसी आलोचना बिना दूल्हे की सुंदर बरात कही जा सकती है! जो मुख्य है, वही ग़ायब! सारांश यह कि आजकल हिंदी-जगत् में आलोचना की पूरी बिडंबना है। उसका असली स्वरूप बहुत कम नज़र आता है। परंतु इससे निराश न होना चाहिए। अभी जैसे हिंदी के और साहित्यिक अंग प्रारंभिक अवस्था में विकासोन्मुख हैं, आलोचना की भी वही दशा है। आगे आशा है। लेकिन इससे उदासीनता न दिखानी चाहिए। आलोचना की आलोचना बराबर जारी रहना आवश्यक है। जिस गवर्नमेंट

की आलोचना न की जाय, वह निरंकुश होकर स्वेच्छाचारिणी या 'स्वैरिणी' हो जाती है और फिर उसका सुधार असंभव हो जाता है। स्वैरिणी को तलाक़ भले दे दीजिए, वह सुधर नहीं सकती है। आलोचना का रूप यदि अभी बाल्यकाल से ही बिगड़ चला, तो फिर यही स्थिर हो जायगा; इसलिए बहुत आवश्यक है, इसकी चर्चा होती रहे और अधिकारी विद्वानों द्वारा आलोचना-शास्त्र तैयार हो, जिसमें इसके नियम और गुण-दोष आदि का विचार हो।

अंत में एक बात और कहकर इस लेख को यहीं समाप्त कर दिया जायगा। आलोचना की भाषा का भी एक सवाल है। कुछ लोग ऐसे हैं, जो आलोचना की भाषा ऐसी चाहते हैं, जो उड़ती हुई-सी हो, चुलबुली हो, शोख़ी से सनी हो; मतलब, दिल को खींचनेवाली हो। दूसरे लोगों का कहना है कि भाषा में गंभीरता होनी चाहिए। वस्तुतः ये दोनों बातें ठीक हैं, अपने-अपने स्थान और अवसर पर। यदि आप दर्शन या विज्ञान की परिधि में कोई आलोचना लिख रहे हैं, तो क़लम को गंभीर बनाइए; अगर काव्य-साहित्य में विचर रहे हैं, तो फिर भाषा में ज़रा चुलबुलाहट अवश्य चाहिए, अन्यथा मुहर्रमी भाषा की वैसी क़ीमत इस क्षेत्र में सहृदय न देंगे। साथ ही यह भी है कि भाषा को यह स्वरूप देने के लिए किसी की हँसी न उड़ायी जाय। व्यक्तिगत आक्षेपों से बचा जाय। मीठी चुटकी लेना कुछ बुरा नहीं है; पर वह चुटकी ही हो, तलवार का वार नहीं कि मर्म को छिन्न-भिन्न कर दे। अधिक हँसी भी झगड़े की बुनियाद होती है। इसके बहुत-से उदाहरण भी हिंदी-जगत् के सामने नंगे होकर आ चुके हैं, अतएव अधिक लिखना व्यर्थ है।

स्वयंभू-कवि

[श्रीगंगाविष्णु पांडेय विद्याभूषण 'विष्णु']

(१)

कवि काव्यसृष्टि में दिखाता है अनेक भेद,
पाता है न भेद विधि कवि-शब्द-गान का;
कवि काव्यसृष्टि में दिखाता है अनेक रस,
पाता है न भेद विधि कवि-रस-स्थान का।
कवि काव्य-सृष्टि में दिखाता है अनेक रंग,
पाता है न भेद, विधि कवि-रंग मान का;
कवि काव्य-सृष्टि में दिखाता है अनेक वस्तु,
पाता है न भेद विधि कवि-वस्तु-ज्ञान का।

(२)

कवि-काव्य-सृष्टि में अनेकों हैं अमूल्य रत्न,
विधि-सृष्टि में कहीं न जिनका ठिकाना है;
कवि-काव्य-सृष्टि में अनेक हैं अमूल्य तत्व,
विधि-सृष्टि में तो पंचतत्व ही बखाना है।
कवि-काव्य-सृष्टि में है केवल गुणों का ज्ञान,
विधि-सृष्टि में समग्र गुण-दोष साना है;
कवि-काव्य-सृष्टि में है भाषा-भाव-ओज-रीति,
"विष्णु" विधि-सृष्टि में मनोज का ज़माना है।

(३)

कवि यदि चाहे तो दिखा दे चंद्र को सदैव,
और चाहे जिस ठौर चाँदनी को दे खिला;
कवि यदि चाहे तो बिना समुद्र को मथे ही,
सारी सृष्टि को बुला के अमृत को दे पिला।
कवि यदि चाहे तो लगा दे पद्म भूमि में भी,
कवि यदि चाहे तो सुमेरु को भी दे हिला।
कवि यदि चाहे तो मिला दे "विष्णु"को, इसी से—
विश्व में सुकवि को स्वयंभू पद है मिला।

राष्ट्रपरिषद् तथा अल्पमत की समस्या

[श्रीपरिपूर्णानंद वर्मा]

प्रोफ़ेसर राधाकुमुद मुकर्जी ने एक सारगर्भित लेख समाचार-पत्रों में छपवाया है, जिसमें भारत-सरकार से यह अपील की है कि वह भारतीय अल्पमत की समस्या को ठीक उसी प्रकार सुलझावे जिस प्रकार राष्ट्र-परिषद् ने योरपीय अल्पमत की समस्या को सुलझाया है। इस अपील को पढ़कर वास्तव में हमारे मन में यह जानने के लिए कुतूहल होता है कि किस प्रकार भारत-सरकार राष्ट्र-परिषद् (League of Nations) का अनुसरण करे और इस समस्या को सुलझावे।

भारत के राजनीतिज्ञ यहाँ की हिंदू-मुसलिम तथा अछूत-समस्या को देखकर नाउम्मीद हो जाते हैं। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि यह समस्या पहाड़-सी है और इसका किसी प्रकार निपटारा नहीं हो सकता। किंतु भारत में हिंदू-मुसलिम समस्या उतनी उग्र नहीं है, जितनी योरप के बाल्कन प्रायद्वीप (Balkan Peninsula) में ईसाई-यहूदी-समस्या, रूमानिया (Roumania) में मैगियर (Magyar)-जर्मन-समस्या अथवा बलगेरिया में ईसाई-यहूदी किंवा ईसाई-मुसलिम-समस्या। भारत में हमें यह समस्या जो अत्यधिक गंभीर देख पड़ती है, उसका एकमात्र कारण यही है कि हम लोगों ने इसे अत्यधिक महत्त्व दे रक्खा है। इस समस्या का निपटारा इसी कारण नहीं हो रहा है कि ब्रिटिश-सरकार पहले इस समस्या को निपटाकर तब स्वराज्य देना चाहती है; पर सन् १९१९ में पोलैंड आदि में नये प्रजातंत्रों की स्थापना करके, उन्हें पूर्ण अधिकार देकर, तब इस समस्या के निपटाने की चेष्टा की गयी थी, इसी कारण बात बड़ी आसानी से तय हो गयी।

हिंदुस्थान में केवल ४ करोड़ अछूत, ८ करोड़ मुसलमान तथा २३ करोड़ हिंदू हैं। इसलिए यहाँ तो यह समस्या इतनी उग्र होनी ही नहीं चाहिए। पोलैंड में तो, १९१० की मनुष्य-गणना के अनुसार, संधि के बाद २३ लाख पोलैंड-निवासी थे, तो २ लाख ३२ हज़ार यहूदी! रूमानिया में १,६१,०१,००० की कुल जनसंख्या में ७,८९,००० जर्मन, १५,६०,००० मैगियर, १,३८,००० यहूदी और ५,००० यूगोस्लाव थे। ज़ेकोस्लोवाकिया में १,३६,३६,००० की कुल आबादी में ३७,८१,००० जर्मन, १०,७१,००० मैगियर, १०,००० रूमानियन तथा ४,३२,००० रुथेनीज़ (Ruthenese) थे। सर्ब-क्रोट-स्लोवीन स्टेट (Serb-croat-slovene state—Serbia) में ६ लाख मुसलमान हैं—कुल जन-संख्या, १,३५,३५,००० है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन देशों की समस्याएँ कम कठिन नहीं हैं। भारत में हिंदू अछूत से घृणा नहीं करता, उसको तबाह नहीं कर डालना चाहता; पर इतिहास इस उदाहरण से भरा पड़ा है कि ईसाई यहूदी से घृणा करता है, उसे बर्बाद कर डालना चाहता है। यहूदी-संघों को, लड़ाई के दिनों में, लगातार विदेशी पर-राष्ट्र-विभागों से इस बात की शिकायत करते बीतता था कि मौक़ा पाकर यहूदी बर्बाद और तबाह किये जा रहे हैं। इस बात की जानकारी यहूदी-कमेटी और ब्रिटिश-पर-राष्ट्र-विभाग के बीच की ख़त-किताबत से होती है।

मैगियर-जर्मन-झगड़ा हिंदू-मुसलिम-झगड़े से कहीं अधिक भीषण होता आया है। इतिहास में इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। अभी ६ वर्ष पूर्व जर्मनों पर मैगियर-जाति के अत्याचारों की बड़ी करुण कहानी समाचार-पत्रों में छपी थी। मुसलिम-ईसाई-वैर की जड़ योरप में तुर्क-साम्राज्य की स्थापना के समय से जमी। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि सन् १८३० में, जब तुर्क-साम्राज्य को बाल्कन-प्रायद्वीप से रूस, फ़्रांस तथा ग्रेट-ब्रिटेन ने मिलकर मार भगाया, तो उन्होंने पहला काम यह किया कि ग्रीस-राज्य की रचना करते ही, ३ फ़रवरी १८३० को यह घोषणा की कि "ग्रीस-राज्य में प्रत्येक व्यक्ति को—चाहे वह किसी भी धर्म का हो—नागरिकता का पूर्ण अधिकार प्राप्त रहेगा,

उसकी सांप्रदायिकता उसके राजनीतिक, सामाजिक तथा नागरिक किसी भी अधिकार में बाधक न होगी।" सन् १८६३ में ग्रीस को आयोनियन-द्वीप-समूह (Ionian Islands) प्राप्त हुआ। इस समय ग्रेट-ब्रिटेन डेनमार्क, फ़्रांस तथा रूस के बीच जो संधि हुई थी, उसमें भी सभी धर्मों की प्रजा के समान हक़ का सिद्धांत स्वीकार किया गया था—दुहराया गया था। जिस समय ग्रीस को १८८१ में टर्की ने थेसली (Thessaly) दिया था, उस समय मुसलमान-प्रजा के विषय में स्पष्ट वादा संधि में ही करा लिया गया था—

(१) धारा ३—उनको ग्रीक-निवासियों के समान नागरिक तथा सामाजिक अधिकार दिये जायँगे।

(२) धारा ८—ग्रीस को जो राज्य दिये जाते हैं, उनमें मुसलमानों को अपने धर्म की स्वाधीनता तथा उपासना का अधिकार दिया जाता है।

इस समय मुसलमानों की जो धार्मिक संस्थाएँ हैं, उनके प्रबंध तथा कोष में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा।

शुद्ध धार्मिक विषयों में चेरी (Charri) की अदालत का ही अपना न्याय-शासन रहेगा।

इस प्रकार मुसलमानों के धार्मिक हक़ों की रक्षा के लिए अलग अदालतें भी रहने दी गयीं। इसी प्रकार सन् १८५६ में जब कुस्तुन्तुनिया का सम्मेलन हुआ और मोलडाविया तथा वालाशिया (Moldavia और Wallchia) को स्वतंत्र "प्रिंसिपैलिटी" मान लिया गया, उस समय संधि * में स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया कि—

(१) सार्वजनिक नौकरी में, सरकारी नौकरी में सभी मोलडावियन और वालाशियन समान अधिकार का उपभोग करेंगे। (धारा १६)

(२) आबादी के सभी वर्ग, जन्म तथा धर्म के भेद-भाव से रहित, समस्त नागरिक तथा जायदाद-संबंधी हक़ों का उपभोग करेंगे; किंतु उन लोगों को राजनीतिक अधिकार नहीं दिया जा सकता, जो विदेशी संरक्षण में चले जाते हैं। (धारा १८)

धारा १८ बड़े मार्के की है। इससे यह साफ़ प्रकट होता है कि किसी भी वर्ग को, चाहे उसका अल्पमत ही क्यों न हो, तभी राजनीतिक अधिकार दिया जा सकता है, जब वह उसी राष्ट्र का एक अंग होकर रहे। अगर उस राज्य के भीतर रहते हुए वह विदेशी संरक्षण की कल्पना करे, तो उसे कोई राजनीतिक हक़ नहीं मिल सकता! यह बड़ी सुंदर बात है। "भारतीय संघ" की सृष्टि करके जो ब्रिटेन के संरक्षण के लिए लालायित हैं, उन्हें यह बात ग़ौर से देखनी चाहिए। इस बात का और भी सुंदर प्रतिपादन बर्लिन की कांग्रेस * में हुआ था। इस अवसर पर सर्बिया तथा रूमानिया को इसी शर्त पर स्वतंत्र राष्ट्र स्वीकार किया गया था।

"(१) धारा ४४—रूमानिया में धार्मिक भेद के कारण किसी व्यक्ति को राजनीतिक, सामाजिक, नागरिक, सांपत्तिक, व्यापारिक या औद्योगिक किसी अधिकार के उपभोग से नहीं वंचित किया जायगा या भेदभाव माना जायगा। उपासना की तथा अपने धर्मपालन की पूरी आज़ादी दी जायगी। सभी शक्तियों (राज्यों) की प्रजा तथा व्यापारिकों के साथ समान व्यवहार होगा।"

इसी प्रकार की शर्तें सर्बिया और मौंटीनीग्रो से भी करा ली गयीं और वे स्वतंत्र राज्य मान लिये गये। इस प्रकार धार्मिक स्वाधीनता तथा सामाजिक समानता का सिद्धांत योरप के मध्यभाग में बड़ी मुस्तैदी से प्रतिपादित कराया जा रहा था। संभव है, इन सिद्धांतों का प्रतिपादन कराने में योरपीय महाशक्तियों का यह उद्देश्य रहा हो कि उनके समर्थक धर्मावलंबी विपत्ति में न पड़ें; पर इस प्रकार एक सुंदर प्रथा चल निकली थी। आश्चर्य यह ज़रूर है कि एक ओर ईसाई-शक्तियाँ योरप-प्रवासी मुसलमानों के लिए हर प्रकार के अधिकार दे रही थीं, पर स्वतः सुलतान—तुर्किस्तान के सुलतान—ने अपने यहाँ किसी प्रकार की गारंटी देना नामंजूर कर दिया। इस राज्य में ईसाई-जन-संख्या तथा ज़रूसलेम आदि के कारण काफ़ी विवाद-पूर्ण मसला था,

*Protocol of the conference Constantinople of 1856. इसी प्रोटोकोल की बातें अधिक दृढ़ता के साथ, १० अगस्त १८५८ के पेरिस के Convention में दुहरायी गयी थीं। उसमें यह भी जोड़ दिया गया था कि किसी राज्य की विशेष जनता को व्यापार तथा वाणिज्य का विशेष हक़ नहीं दिया जायगा।—लेखक

* १८७८ में।

पर उसकी क़ानूनी गारंटी नहीं दी जा रही थी। फिर भी बर्लिन की संधि में, १८७२ में, तुर्की सुलतान को यह स्वीकार करना पड़ा कि अपने यहाँ वह अधिक-से-अधिक धार्मिक स्वाधीनता देंगे, यद्यपि यह स्पष्ट है कि उन्होंने कोई वादा नहीं किया।

१९१२ में बालकन-प्रायद्वीप का युद्ध समाप्त हो गया। १९१३ में बुकारेस्ट (Bucharest) की संधि हुई। इस संधि में भी बर्लिन-कांग्रेस की सभी बातों का अधिक दृढ़ता के साथ समावेश कर दिया गया। प्रश्न केवल मुसलमान या ईसाई, रोमन-कैथोलिक या प्रोटेस्टेंट का ही नहीं, ईसाइयों द्वारा घृणित समझे जानेवाले यहूदियों का भी था—और यहूदी लोगों को सर्बिया आदि में समान अधिकार मिल गये।

भारत में हिंदू-मुसलमान जिस तरह घुल-मिलकर रहते हैं, उस तरह यहूदी और ईसाई नहीं। किंतु सर्बिया अथवा पोलैंड में स्वाधीनता है, और यहूदी-ईसाई-वैर बाधक नहीं समझा जाता। इधर भारत की स्वाधीनता का हक़ सांप्रदायिकता की चट्टान पर टकराकर नष्ट हो जाता है।

गत महासमर के बाद कई नये राज्यों की सृष्टि हुई—पोलैंड, ज़ेको-स्लोवाकिया तथा सर्ब-क्रोट-स्लोवीन स्टेट। इस प्रकार समस्या अधिक गंभीर हो गयी। पोसन (Posan) तथा पश्चिमी प्रशा (Prussia) में पोल्स और जर्मनों को गैलीशिया (Galitia) में पोल्स और रुदीनियंस (Ruthenians) को, ट्रांसिलवानिया में मैगियर और रूमानियनों को अलग नहीं किया जा सकता था। कहीं-कहीं तो एक ही ग्राम में भाव-भाषा-भेष इस तरह मिले-जुले थे कि उनका वर्गीकरण असंभव था। पोलैंड के नये राज्य में बहुत-से जर्मन और यहूदी आ गये थे। रूमानिया में मैगियर, रूमानियन तथा यहूदी थे। सर्बिया में मुसलमान ६ लाख से ज़्यादा थे। इस प्रकार यदि १९१९ की पेरिस की संधि को न्यायसंगत बनाना था, तो भिन्न राज्यों से बिछुड़े हुए नये वर्गों के लिए समान अधिकार का प्रबंध करा देना ज़रूरी था, अन्यथा आशंका थी कि बहुमत अल्पमत को पीस डालता।

यहूदियों की समस्या सबसे कठिन थी। यहूदी संयुक्तराज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन में भी बसे हुए थे। ये धनी थे; देश की राजनीति में इनका हाथ था। अतः ये इस बात के लिए अत्यंत उत्सुक थे कि इनके वर्ग के लोगों को अधिक-से-अधिक हक़ प्राप्त हों। यहूदी जहाँ रहते हैं, अपने वेश से, पूजा के ढंग से, चाल-ढाल से तथा अपनी भाषा यिडिश (Yiddish) के प्रयोग से एकदम अपने को अलग बना लेते हैं। इसी कारण पोलैंड के ईसाई इनसे घृणा करते थे। फिर भी इनके हक़ों को साधारण तरीक़े से नहीं टाला जा सकता था।

अल्पमत का प्रश्न पेरिस-संधि-सम्मेलन में देर से छिड़ा। अतः संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कराने का काम उसके लिए रोका नहीं जा सकता था। इसीलिए सम्मेलन ने "समान अधिकार" देने का वचन प्रत्येक नये राष्ट्र से लेकर तथा यह वादा कराकर कि वे सम्मेलन के इस विषय में पीछे किये निर्णय को स्वीकार कर लेंगे,* संधि पर हस्ताक्षर करा लिया और एक अल्पमत-समिति† की नियुक्ति कर दी।

इस अल्पमत-समिति की नियुक्ति से बालकन-राज्य प्रसन्न नहीं थे। रूमानिया की ओर से प्रधान मंत्री ब्रैटियान् (M. Bratiann) ने खुले आम इस बात पर विद्रोह किया कि इस प्रकार के वादे कराकर—जिनका संबंध देश के आंतरिक शासन के विषय से है—प्रत्येक देश के प्रभुत्व पर आघात किया जा रहा है। रूमानिया के साथ ज़ेकोस्लोवाकिया भी विरोध में शामिल हो गया। ३१ मई को पेरिस-सम्मेलन की खुली बैठक में राष्ट्रपति विल्सन ने बड़ा मार्मिक भाषण देकर सबको शांत कर दिया। आपने कहा था—

"अल्पमतवालों का प्रश्न लीजिए। मैं साहसपूर्वक यह कह सकता हूँ कि संसार की शांति के भंग होने का सबसे अधिक भय अल्पमत के साथ व्यवहार के कारण है। इसलिए यदि महाशक्तियाँ संसार की शांति की

---

* Clause 93.—Poland further accepts and agrees to embody in a treaty with the said powers, such powers as they may deem necessary to protect freedom of transit and equitable treatment of commerce of other nations.

† Minorities Commitee.

गारंटी दे रही हैं, तो क्या यह अन्याय है कि वे यह भी देख लें कि उचित गारंटी दी जा रही है, या नहीं !"

अस्तु, अल्पमत-समिति जायज़ क़रार दी गयी, और इसमें कोई संदेह नहीं कि उसने बड़ी मुस्तैदी से अपना काम किया। हर एक राज्य के साथ अलग "अल्पमत-संधि" की गयी, और तदनुसार अल्पमत के लिए हर प्रकार के अधिकार का प्रबंध कर दिया गया। पोलिश-संधि की ७-८ धारा के अनुसार अल्पमत को एवं अपनी भाषा के प्रयोग का हक़, अपनी सामाजिक, धार्मिक संस्था बनाने का स्वत्व; अपना स्कूल खोलने का अधिकार तथा सरकार द्वारा परिचालित प्राइमरी स्कूलों में अपनी मातृभाषा में ही शिक्षा प्राप्त करने का हक़ स्वीकार किया गया। प्राइमरी स्कूल के बाद सरकारी (राज्य) भाषा चलेगी। इस संधि में एक बात बड़ी महत्त्वपूर्ण थी। इसके अनुसार—

"जिस नगर में पोलिश बहुत ज़्यादा तथा अन्य धर्म और भाषा बोलनेवाले कम हैं, वहाँ अल्पमत को सरकारी फ़ंड या म्युनिसिपल या अन्य बजट से बराबर मात्रा में शिक्षा तथा धर्म के लिए सहायता दी जायगी।"

इस प्रकार कोई भेद-भाव रह ही नहीं गया। कोई भी हो—बहुमत हो या अल्पमत—हक़ तथा अधिकार और सरकारी ख़ज़ाने पर मिल्कियत सबकी बराबर ! विरोध का कोई कारण रह ही न गया। अल्पमत के हक़ों की रक्षा की दृष्टि से पोलैंड की संधि आदर्श है। इसी संधि में एक पब्लिक-कमीशन की नियुक्ति की बात निकाली गयी, जो शिक्षा के अभिलाषी यहूदियों के लिए अलग स्कूल खुलवाने का प्रबंध सरकारी फ़ंड से करे !

हम लिख चुके हैं कि पोलैंड से जो संधि हुई थी, वह आदर्श थी तथा उसी के समान ज़ेकोस्लोवाकिया, रूमानिया तथा सर्ब-क्रोट-स्लोवीन-स्टेट के साथ संधि की गयी थी। भिन्नता केवल साधारण बातों में थी। ज़ेकोस्लोवाकिया के साथ १० सितंबर १९१९ को, सर्ब-क्रोट के साथ ५ दिसंबर १९१९ को तथा रूमानिया के साथ भी इसी दिन संधि पर हस्ताक्षर हुए थे। रूमानिया की संधि के अनुसार यहूदियों को रूमानियन-राष्ट्रीयता को * स्वीकार कर लेना पड़ा।

किंतु इतने से ही अल्पमत की समस्या नहीं हल हो गयी। अल्पमत की रक्षा का भार राष्ट्र-परिषद् पर छोड़ दिया गया था, इससे कुछ को असंतोष था। उनका कहना था कि राष्ट्र-परिषद् बड़ी सरलता से किसी राज्य के आंतरिक शासन में हस्तक्षेप कर सकती है, अथवा कोई भी, किसी राज्य को परेशान करने के लिए, अल्पमत का झगड़ा खड़ा कर सकते हैं। अतएव इस विषय में भी स्पष्ट नियम बन गये। राष्ट्र-परिषद् में, किसी राज्य में अल्पमत के कष्ट तथा उन पर होनेवाले अत्याचार के विरुद्ध अपील, उसके किसी सदस्य (राष्ट्र) द्वारा, की जा सकती है। उस मेम्बर की अपील पर परिषद् उस पर विचार करेगी। परिषद् केवल किसी राज्य की प्रजा के उन्हीं हक़ों के विषय में हस्तक्षेप कर सकती है जो धर्म, भाषा तथा जाति-संबंधी कठिनाइयों के संबंध में हों। यदि उस राज्य में अल्पमत या बहुमत दोनों को किसी ख़ास अव्यवस्था के कारण कष्ट हो, तो राष्ट्र-परिषद् उस विषय में हस्तक्षेप नहीं करेगी।

राष्ट्रपरिषद् द्वारा इस प्रश्न का निपटारा अभी परिपक्व नहीं है। इस समय तक प्रतिहिंसा की भावना भरी हुई है। इटली ने दक्षिण-टिरोल (Tyrol) की अपनी जर्मन-प्रजा के विषय में कोई गारंटी नहीं दी है। ज़ेकोस्लोवाकिया में जर्मनों की बहुत बड़ी संख्या होने पर भी कोई निदान नहीं किया गया है † तथा अल्पमत-संधि में उन्हें कोई अधिकार नहीं दिये गये। ज़ेकोस्लोवाकिया में ३० लाख जर्मन हैं, तथा ज़ेक-जाति से उनकी पुरानी लड़ाई चली आ रही है, अतः राष्ट्र-परिषद् को इस विषय में भी कुछ करना चाहिए था।

जो हो, हमारे लेख का तात्पर्य यह है कि योरप के मध्यभाग में भारत की अपेक्षा कहीं अधिक उग्र रूप में

* "Roumania undertakes to recognise as Roumanian nationals ipso facto and without the requirement of any formality, Jews inhabiting any Roumanian Territory, who do not possess any other nationality." Paris Peace Conference Vol. V. page 146

अल्पमत तथा बहुमत का प्रश्न विद्यमान था, जिसका निपटारा बड़ी आसानी से हो गया। इसका मुख्य कारण यह था कि पहले उन देशों को स्वाधीनता दे दी गयी, तब उनसे किसी प्रकार की शर्तें करायी गयीं। स्वाधीनता के बाद यह समस्या आप-से-आप निपट जाती है। इसके अलावा जिस ढंग से यह समस्या निपटायी गयी, वह प्रशंसनीय है। प्रत्येक वर्ग का समान अधिकार है, ऐसा एकदम घोषित कर दिया गया। इसके बाद जहाँ अत्यधिक बहुमत-अल्पमत का प्रश्न था, वहाँ उनके लिए "समान हक़" की फिर से घोषणा कर गुंजाइश कर दी गयी। शिक्षा के लिए राज्य-भाषा एक मान ली गयी, पर प्राइमरी शिक्षा सबको अपनी मातृ-भाषा में प्राप्त करने का हक़ दे दिया गया। सबको अपनी अलग सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाएँ चलाने एवं बनाने का अधिकार दे दिया गया, सबसे ऊपर—सबको उस देश के नाम पर उस देश की राष्ट्रीयता दे दी गयी। चाहे यहूदी हो या मुसलमान, यदि वह रूमानिया में रहता है, तो रूमानियन कहलावेगा! बस! इस विषय में मोशिये क्लेमेंशा (M. Clemenceau) ने अपने एक पत्र में साफ़ लिख दिया है—"पोलैंड के भीतर रहनेवाले यहूदी इस संधि द्वारा एक भिन्न राजनीतिक वर्ग नहीं माने जा सकते।

अब भारत की परिस्थिति में इन बातों को लागू कीजिए, तो हिंदू-मुसलिम-अछूत प्रत्येक की समस्या का निपटारा हो जाता है। वहाँ राष्ट्र-परिषद् अल्पमत के हक़ों की देखरेख रखती है, यहाँ एक स्थायी अल्पमत कमीशन (Permanant Minorities Commission) बनाया जा सकता है, जो निरीक्षण करता रहे।

हमारी सम्मति में भारतीय समस्या योरपीय समस्या से सरल है और बड़ी सरलता से निपटायी जा सकती है। उसे व्यर्थ का तूल दिया जा रहा है।

अरमानों की चिता

[श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' बी० ए०, विद्यालंकार]

जाने, क्या तूने सोचा, उस ओर न ज़रा निहारा!
हाय, होश में लाने को काफ़ी था एक इशारा!
एक बूँद आँसू तेरी उन प्यारभरी आँखों का—
तू न जान पाया अब तक—है संजीवन लाखों का!
चिता आज सुलगायी है अरमानों की लाचार!
देव! तनिक बरसा जाओ आकर आख़िरी दुलार!

दूरबीन का इतिहास

[श्रीश्यामनारायण कपूर बी० एस्-सी०]

प्राचीनतम मनुष्य लाखों और करोड़ों वर्ष तक लगातार नक्षत्रों की परीक्षा में लगे रहे हैं। उन्होंने नक्षत्रों को पूर्वाकाश में उदय होते, ध्रुव के चारों ओर घूमते और अंत में पश्चिम में अस्त होते देखा। इसके आधार पर उन्होंने यह अनुमान किया कि इस ब्रह्मांड में उनके इस पृथ्वीमंडल से भी बढ़कर विचित्र, अनुपम और महत्त्वपूर्ण अन्य विश्वमंडल स्थित हैं। जिस दर्शनशक्ति के प्रकृत रूप ही से वे इस अद्भुत परिणाम पर पहुँचे थे, उसका विकास जब यांत्रिक सहायता से होने लगा, तब तो ब्रह्मांड के अनेक रहस्य मनुष्य के दृष्टिगत हो गये। यह यांत्रिक सहायता किस सिद्धांत पर और कब से मनुष्य को हस्तगत हुई, इसी का रोचक वृत्तांत आगे दिया जाता है।

मनुष्य की आँख में केवल उतना ही प्रकाश समा सकता है, जितना एक इंच के पाँचवें हिस्से के बराबर व्यासवाले वृत्त में समा सकता है। यदि इतना प्रकाश मनुष्य की पुतली पर अपना प्रतिबिंब ठीक-ठीक और साफ़-साफ़ नहीं बना सकता, तो मनुष्य प्रकाश भेजनेवाली वस्तु को देखने में असमर्थ रहता है। सूर्य के चारों ओर ३०० करोड़ नक्षत्र हैं। परंतु हम अपने नेत्रों द्वारा इनमें से केवल ६० करोड़ नक्षत्र ही देख सकते हैं। अर्थात् ५० लाख नक्षत्रों में हमको केवल एक ही नक्षत्र दिखलायी पड़ता है, एक से अधिक नहीं।

एक बहरा मनुष्य अपनी सुनने की शक्ति को आले (यंत्र) की सहायता से अधिक उन्नत बना सकता है। इस यंत्र द्वारा ध्वनि की तरंगें कर्ण-तुरही (Ear-trumpet) में एकत्रित करके मनुष्य के कान के पर्दे की ओर चालू कर दी जाती हैं, जिससे वह दूर की आवाज़ एवं निकट की धीमी आवाज़ भी सुनने में समर्थ हो जाता है। इसी भाँति मनुष्य की देखने की शक्ति भी, एक बड़े क्षेत्र पर पड़नेवाले प्रकाश की किरणों को मोड़कर एवं उन्हें आँखों की पुतलियों पर इकट्ठा करके बढ़ायी जा सकती है। दूरबीन (टेलिस्कोप) का यही मूल-सिद्धांत है। इस सिद्धांत को सर्वप्रथम राजरबेकन ने १३वीं शताब्दी में संसार के समक्ष उपस्थित किया था। शीशे के लेंस (ताल या lens) का उपयोग बतलाते हुए बेकन ने स्वयं एक स्थल पर कहा था कि इसकी सहायता से हम किसी भी नक्षत्र को जितना चाहें, उतना ही अपने निकट देख सकते हैं। परंतु सर्वप्रथम टेलिस्कोप १६०८ से पूर्व न बनायी जा सकी। सम्भवतः लिपरहे-नामक ऐनक बनानेवाले मिस्त्री ने सर्वप्रथम एक दूरबीन की रचना की। इसके एक वर्ष उपरांत सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो ने अपनी संसार-प्रसिद्ध छोटी-सी टेलिस्कोप की रचना की, जिससे एक महत्त्वपूर्ण क्रांति उत्पन्न कर दी।

इस टेलिस्कोप के लेंस की चौड़ाई केवल १¼ इंच ही थी, अर्थात् इसमें २¼ इंच व्यासवाले वृत्त पर पड़नेवाला प्रकाश ही समा सकता था, और यह संपूर्ण प्रकाश आवर्जन के पश्चात् मनुष्य की पुतलियों को प्रभावित करने में समर्थ था। इस दूरबीन की सहायता से मनुष्य की पुतलियों पर पड़नेवाले प्रकाश की मात्रा १००गुना अधिक हो गयी।

इसका जो फल हुआ, वह अवर्णनीय है। ६६ वर्ष पूर्व कोपर्निकस ने बतलाया था कि आकाशमंडल में नक्षत्रों की टेढ़ीमेढ़ी गति की गुत्थी को—उन्हें पृथ्वी-सहित जो उस समय तक समस्त ब्रह्मांड का केंद्र समझी जाती थी, सूर्य के इर्द-गिर्द केंद्रित मानकर—सुलझाया जा सकता है। कोपर्निकस ने यह भी बतलाया था कि यह सब नक्षत्र और हमारा निवासस्थान विशाल पृथ्वी-मंडल सूर्य के चारों ओर इसी भाँति स्थित है, जैसे वर्षा ऋतु में चिराग़ के इर्द-गिर्द कीड़े-मकोड़े जमा हो जाते हैं। यह विचार नया न था। ईसा से ५ शताब्दी पूर्व ऐसे ही विचार एरिसटार्कस द्वारा भी प्रकट किये गये थे। मध्यवर्ती युग में और भी बहुत-से वैज्ञानिक ऐसे ही विचार प्रकट कर चुके थे। कोपर्निकस ने इन्हीं पुराने विचारों की पुष्टि में मज़बूत उक्तियाँ उपस्थित की

थी। परंतु उस समय इस विचार को किसी ने मान्य न समझा, वरन् चारों ओर इसका तीव्र विरोध और खंडन किया गया।

गेलीलियो की दूरबीन

गेलीलियो की दूरबीन जब बनकर तैयार हो गयी, तो उसने उससे बृहस्पति की परीक्षा करना आरंभ किया। उसने देखा कि चार नक्षत्र एक वृत्त के चार बिंदुओं के समान एक बड़े केंद्रीय नक्षत्र के चारों ओर बड़ी तीव्र गति से घूमते हैं। यह नक्षत्रमंडल कोपर्निकस के सूर्यमंडल और उसके इर्द-गिर्द के नक्षत्रों ही के समान था। इसी दूरबीन से शुक्र (Venus) की परीक्षा करने पर उसमें भी चंद्रमा ही के सदृश कलाएँ (Phases) देख पड़ीं और ज्ञात हुआ कि शुक्र का प्रकाश भी चंद्रमा ही के प्रकाश की भाँति घटता-बढ़ता है। यह प्रयोग अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। अब तक वैज्ञानिकों का विश्वास था कि शुक्र, चंद्रमा की भाँति, घटता-बढ़ता नहीं है। उसमें कलाओं की अनुपस्थिति इस बात का यथेष्ट प्रमाण समझी जाती थी कि शुक्र और पृथ्वी सूर्य के चारों ओर नहीं घूम सकते। इतना सब हो जाने पर भी प्राचीन रूढ़ियों के माननेवाले लोगों ने नवीन सिद्धांत को स्वीकार न किया। उस समय तक 'टालमी' का अत्यंत प्राचीन सिद्धांत—"सूर्य और अन्य सभी नक्षत्र पृथ्वी के चारों ओर घूमते हैं"—विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता था। इस सिद्धांत को पुष्ट करने ही में बहुत-से वैज्ञानिक अपना गौरव समझते थे। नवीन सिद्धांत को स्वीकार करना अपनी हेठी कर लेने के बराबर समझा जाता था। परंतु यह अवस्था बहुत दिनों तक न रही। यह अत्यंत प्राचीन विचार कि "वह और उसका निवासस्थान पृथ्वी ही इस अखिल ब्रह्मांड का केंद्र है"—धीरे-धीरे समूल रूप से नष्ट हो गया। इसकी जड़ उखाड़ फेंकने में गेलीलियो की २¼" वाली टेलिस्कोप का प्रमुख भाग था।

अब धीरे-धीरे बड़ी दूरबीनों की रचना होने लगी। उनकी रचना के साथ-ही-साथ मनुष्य को अधिकाधिक प्रकाश को उपयोग में लाने की शक्ति और साधन भी प्राप्त होते गये। फलतः इस ब्रह्मांड का और अधिक सच्चा स्वरूप उसे दिखायी पड़ने लगा। प्रत्येक नवीन टेलिस्कोप अपनी पूर्ववर्ती टेलिस्कोप से बड़ी तैयार की जाती थी, फलतः मनुष्य के लिए एक नवीन विजयक्षेत्र और विजय करने का साधन भी उपस्थित कर देती थीं। सन् १७८९ में सर विलियम हरशेल ने चार फ़ीट व्यासवाली टेलिस्कोप की रचना की। यह दूरबीन उस समय तक निर्मित समस्त दूरबीनों में सबसे बड़ी थी, अतः सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी। यह गेलीलियो की टेलिस्कोप से ५०० गुना अधिक शक्ति की थी और साधारण मनुष्य की देखने की शक्ति को १००० गुना अधिक बना देती थी। सूर्यमंडल-सम्बंधी जिन बातों का पता गेलीलियो की दूरबीन से लगा था, आकाशगंगा (Galactic System) के नक्षत्रों की उन्हीं सब बातों का पता इस नवीन यंत्र की सहायता से लगाया गया। अब मनुष्य सूर्यमंडल को पीछे छोड़कर उन नक्षत्रों की परीक्षा में संलग्न हो गये, जिनसे उन तक प्रकाश पहुँचने में सहस्रों वर्ष लगते हैं। इन नक्षत्रों का तात्कालिक स्वरूप तो दिखायी न पड़ सकता था; हाँ, उनका हज़ारों वर्ष पूर्व का स्वरूप—जिस समय पृथ्वी पर पहुँचनेवाला प्रकाश उन नक्षत्रों से चलता था—दिखायी पड़ता था। अर्थात् उन नक्षत्रों की वह अवस्था देखी जाती थी, जो हज़ारों वर्ष पूर्व थी, जिस समय आधुनिक सभ्यता का सूर्योदय भी न हुआ था और मानव-समाज अपनी शैशवावस्था ही में था।

जिस प्रकार गेलीलियो ने अपनी दूरबीन से कोपर्निकस के सूर्यमंडल के आकृति-संबंधी सिद्धांत को पुष्ट किया था, उसी भाँति हरशेल ने आकाशगंगा के नक्षत्रों के आकृति-संबंधी अपने सिद्धांत को भी अपनी दूरबीन की सहायता से प्रत्यक्ष कर दिखाया। तदनंतर १८४५ ई० में लार्ड रॉस ने ६ फ़ीट व्यासवाली टेलिस्कोप की रचना की। इसने और भी अधिक आश्चर्यजनक बातों पर प्रकाश डाला। अनेक नक्षत्रों के सर्पिल (Spiral) आकार-रूप होने की बात इसी के द्वारा ज्ञात हुई। परंतु इन सब दूरबीनों से अधिक महत्वपूर्ण और आश्चर्यजनक टेलिस्कोप १९२० में बनकर तैयार हुई। इसका व्यास १०० इंच था। इसकी रचना से ज्योतिष-संसार में एक अद्भुत क्रांति उत्पन्न हो गयी। इस दूरबीन के बनने के समय तक प्रकाश की किरणों को अधिक समय तक रोक रखने

के साधन भी तैयार हो गये थे। मनुष्य की आँखों की पुतली एक सेकंड के कुछ ही अंश तक प्रकाश को रोक सकती है; परंतु फोटोग्राफ़ी की सहायता से प्रकाश के मिनटों, क्या घंटों और लगातार कई रातों तक के प्रभाव का हाल मालूम किया जा सकता है। नवीन १०० इंचवाली दूरबीन न केवल मनुष्य के नेत्रों की शक्ति को २½ लाखगुना बढ़ाती है, वरन् अत्यंत सूक्ष्म-ग्राही (Sensitive) फ़ोटोग्राफ़ी के प्लेटों पर उस प्रकाश को प्रलंब या निक्षेप (Project) करने में भी समर्थ है।

उस दूरबीन की अवर्णनीय शक्ति का पता डा० हुवेल के अध्ययन से, जो उन्होंने इसके द्वारा सर्पिल पटल (Spiral nebulae) के अत्यंत सूक्ष्म और धुँधले नक्षत्रों से प्राप्त किया, लग सकता है। इनका कथन है कि यह तारे अपनी दूरी ही के कारण इतने धुँधले दिखायी देते हैं। यह तारे इतनी अधिक दूर हैं कि १,८६,००० मील प्रति घंटे की गति से चलनेवाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक आने में १४० करोड़ वर्ष लगते हैं। हम इन नक्षत्रों को उनकी वर्तमान अवस्था में नहीं देख सकते, वरन् वे हमें मनुष्य की सृष्टि के सहस्रों वर्ष पूर्व की अवस्था में दिखायी देते हैं।

बेतार के तार का समाचार पृथ्वी के चारों ओर केवल ⅛ सेकेंड ही में घूम जाता है। इस समाचार को मंगल-ग्रह तक भेजने और वहाँ से उत्तर पाने में—यदि यह संभव है तो—कुछ ही मिनट लगेंगे। परंतु इन नक्षत्रों से २८० करोड़ वर्ष से पूर्व उत्तर पाना नितांत असंभव है। इस समय भेजे हुए समाचारों का उत्तर हमारी आगे आनेवाली पुश्तें पायेंगी और उस समय मानव-समाज सहस्रगुना वृद्ध हो जायगा। जो लोग इस समय समाचार भेज रहे हैं, वे उस समय समाज के अत्यंत प्राचीन पुरखे समझे जायँगे। इन नक्षत्रों में जो सबसे निकट हैं, वे भी कम-से-कम १ करोड़ वर्ष की दूरी पर स्थित हैं, अर्थात् वहाँ से पृथ्वी तक प्रकाश आने में १ करोड़ वर्ष लग जायँगे। लेकिन धुँधले होने पर भी उनका आकार इतना बड़ा है कि इतनी दूरी पर स्थित होते हुए भी दूरबीन की सहायता से उनके संबंध में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात हुई हैं। यह नवीन दूरबीन इन नक्षत्रों के बाहरी भाग को प्रकाश के धब्बों (Spots) में विभाजित करती है। यह धब्बे अक्सर तारे भी कहे जाते हैं; क्योंकि इन्हीं भागों में बहुत-से भाग साधारण तारों ही के समान दिखायी देते हैं।

यह तो हुआ १०० इंचवाली दूरबीन का हाल। अब समाचार मिले हैं कि पासादेना (Pasadena) में २०० इंच व्यासवाली दूरबीन बनवायी जानेवाली है। जितना १०० इंचवाली दूरबीन अपने समय से ११० वर्ष पूर्व की हरशेल की दूरबीन की तुलना में उन्नत हुई थी, यह दूरबीन १०० इंच की दूरबीन की तुलना में उतना ही अधिक उन्नत हो गयी है। यह नयी दूरबीन पुरानी दूरबीन की तुलना में चौगुने प्रकाश का उपयोग करेगी। और फलस्वरूप १०० इंच की दूरबीन की तुलना में दुगनी दूरी के नक्षत्र साफ़-साफ़ दिखायी देंगे। परंतु इसकी पूर्ण शक्ति और क्षमता अभी भविष्य के गर्भ में है।

हरशेल की ४ फ़ीटवाली टेलिस्कोप से जितने नक्षत्र दिखायी दिये थे, उतने ही नक्षत्र १००इंचवाली दूरबीन से दिखायी पड़े थे, कोई नवीन नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं हो सका था। हाँ, पुराने नक्षत्रों ही के सदृश और भी बहुत-से नक्षत्र अवश्य दिखायी पड़े थे। इस दूरबीन से आकाश-मंडल में लगभग २ करोड़ नक्षत्र दिखायी पड़े थे। अब अनुमान किया जाता है कि भविष्य में तैयार होने-वाली दूरबीन से लगभग १६ करोड़ नक्षत्र दिखायी पड़ेंगे। इन १६ करोड़ में से संभवतः १४ करोड़ नक्षत्र तो प्राचीन नक्षत्रों ही के समान होंगे। शायद २ करोड़ नवीन ढंग के हों। नक्षत्रों की संख्या में वृद्धि दृष्टिगोचर होना व्यर्थ भी नहीं है। और कुछ न सही तो ब्रह्मांड की वास्तविक रचना ही के संबंध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होंगी।

अब तक विश्वास किया जाता था कि सूर्यमंडल (Solar System) एक असाधारण दैवी घटना ही के परिणामस्वरूप बन गया है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अत्यंत द्रुत वेग से चलनेवाले दो बृहद् नक्षत्र एक दूसरे के इतने अधिक निकट आ गये कि उनमें बड़े ज़ोर का ज्वार-भाटा उत्पन्न हुआ, जिससे इतनी अधिक ऊँची धाराएँ उत्पन्न हुई कि उन धाराओं से पानी की बूँदों की भाँति गला हुआ तरल पदार्थ गिरकर छोटे-छोटे नक्षत्रों में परिणत हो गया।

ऐसी घटना को प्रत्यक्ष रूप से घटित होते हुए शायद ही कभी देखा जायगा। ऐसा होता भी बहुत कम है, और यदि हुआ भी, तो इन तारों का आकार इतना छोटा है कि उनकी स्थिति का भली भाँति अध्ययन करना भी असंभव है। परंतु बड़े-बड़े बृहत्काय नक्षत्रों में समय-समय पर ऐसी घटनाएँ हो जाने की बहुत कुछ संभावना है। १०० इंचवाली दूरबीन से इस प्रकार के ५ या ६ बृहत् नक्षत्र दृष्टिगोचर हुए हैं, जो उपर्युक्त घटनाक्रम (Phenomenon) के उदाहरण कहे जा सकते हैं। परंतु नवीन दूरबीन में ऐसे ही ५० नक्षत्र दिखलाने की शक्ति होने का अनुमान किया जाता है। ५० उदाहरणों के विधिपूर्वक अध्ययन से इन नक्षत्रों के प्रबंध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें जानी जा सकेंगी। यद्यपि अपनी पृथ्वी के सदृश अन्य नवीन नक्षत्रों का जन्म देखना असंभव ही-सा है, फिर भी जब इस दूरबीन से शुक्रपटल (Nebulae) का निरीक्षण किया जायगा, तब इस घटना की कार्यप्रणाली पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ेगा।

अभी हाल ही में प्राक्ज़िमा सेञ्चूरी (Proximo Centuri)-नामक एक नक्षत्र मालूम किया गया है। यह आकाशमंडल में हमारा निकटतम पड़ोसी है। यह नक्षत्र सूर्य के प्रकाश का केवल दस-सहस्रवाँ अंश ही पृथ्वी को देता है, अतएव अब तक जो दूरबीनें थीं, उनकी सहायता से यह नक्षत्र बहुत ही धुँधला दृष्टिगोचर होता था। आकाश में इससे भी अधिक धुँधले नक्षत्र स्थित हैं। प्रायः यह सभी नक्षत्र इतनी दूरी पर हैं कि इस समय तक बनी हुई सभी दूरबीनें इन्हें देखने में असमर्थ रही हैं। इस नवीन दूरबीन की सहायता से वे सब तो नहीं, परंतु उनमें से अनेक नक्षत्र अवश्य दिखलायी पड़ेंगे, जिनकी सहायता से उन धुँधले नक्षत्रों का विधिपूर्वक अध्ययन किया जा सकेगा। अब तक केवल उज्ज्वल और देदीप्यमान् नक्षत्रों ही का निरीक्षण संभव था। अब धुँधले तारों का एक नवीन संसार इस दूरबीन का इंतिज़ार कर रहा है।

पूछा जा सकता है कि आख़िर वैज्ञानिक इनके पीछे क्यों पड़े हुए हैं ? उन्हें इनकी परीक्षा और निरीक्षण से मिल ही क्या सकता है ? अस्तु इनके विधिपूर्वक अध्ययन से परमाणु की बनावट पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ने की आशा है। इन नक्षत्रों में पदार्थ (Matter) जिस अवस्था में पाया जाता है, उसका तापक्रम करोड़ों डिगरी के लगभग अनुमान किया जाता है। इस तापक्रम को ठीक-ठीक जानने के लिए भौतिक विज्ञानवेत्ताओं को ज्योतिषी की सहायता लेनी पड़ेगी।

इसके अतिरिक्त इस दूरबीन से आकाश के न केवल उन भागों ही का निरीक्षण होगा, जहाँ आज तक कोई भी नहीं पहुँच सका है और न केवल वे धुँधले नक्षत्र ही देखे जा सकेंगे जिन्हें आज तक कोई नहीं देख सका है, वरन्—यदि भविष्यवाणी पर विश्वास किया जाय तो—यह दूरबीन विशाल मध्यवर्ती स्थानों (Middle Reaches) के निरीक्षण में भी काम आवेगी।

१०० इंच की दूरबीन ही की भाँति इससे भी कोई नवीन ज्योतिष-संबंधी पदार्थ नहीं ढूँढ़ निकाला जा सकेगा। वैसे भी आधुनिक ज्योतिषशास्त्र का मुख्य उद्देश्य नवीन नक्षत्रों को ढूँढ़ निकालना ही नहीं, वरन् पुराने नक्षत्रों के संबंध में पूरा ज्ञान प्राप्त करना भी है। इस समय नवीन पदार्थ ढूँढ़ निकालने की अपेक्षा पुराने पदार्थों ही को भली भाँति समझ लेना अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

विश्वास किया जाता है कि इस समय जितने नक्षत्रों को हम जानते हैं, वे सब एक के बाद एक उत्पन्न हुए हैं। इन नक्षत्रों की भिन्नता और आकाशस्थित अन्य पदार्थों में भेद होने का मुख्य कारण उनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होना ही है। इन नक्षत्रों में से कोई तो बहुत ही वृद्ध हो गया है और किसी को उत्पन्न हुए अभी थोड़ा ही समय हुआ है। आधुनिक ज्योतिष का प्रमुख उद्देश्य इन सबकी ठीक-ठीक आयु ज्ञात करना ही है। अब मनुष्य दूरबीन की सहायता से प्रकृति के अद्भुत दृश्य देख करके संतुष्ट नहीं हो जाता। चुपचाप देखकर आश्चर्य प्रकट कर देनेवालों का युग समाप्त हो गया। अब तो इन दृश्यों के समझने और प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन का समय आ गया है। लोग इन सब बातों को जानने के लिए अपनी उत्सुकता-मात्र प्रकट करके शांत नहीं हो जाते, वे इनको पूर्णतः जानने के लिए प्रयत्न भी करते हैं।

इन सब तारों के पीछे कौन-सी शक्ति है ? इन सब नक्षत्रों में आपस में क्या संबंध है ? हम, हमारी पृथ्वी

और पृथ्वी के बाहर स्थित इस अखिल ब्रह्मांड में क्या संबंध है ? गणितज्ञों ने इन प्रश्नों के उत्तर अवश्य दिये हैं, परंतु वे सब अत्यंत सूक्ष्म हैं। अब तक जितनी दूरबीनें तैयार हुई थीं, वे इन उत्तरों की सत्यता की जाँच करने में सर्वथा असमर्थ थीं। दूरबीन की शक्ति में तनिक-सी भी वृद्धि अत्यंत मूल्यवान् सिद्ध होगी। २०० इंचवाली दूरबीन के कार्यों के संबंध में अभी से सविस्तर विवरण देना अत्यंत कठिन है। उपर्युक्त प्रश्नों की पूर्ण व्याख्या करने में इस दूरबीन की पद-पद पर आवश्यकता होगी।

इतना सब होते हुए भी यह दूरबीन अभी अपनी परा काष्ठा पर नहीं पहुँची है। भविष्य में इससे भी अधिक उपयोगी, महत्त्वपूर्ण और शक्तिवान दूरबीनों के बनने की आशा है। अभी तो इनका बनना आरंभ ही हुआ है। जब से इस पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म हुआ है, वह अपने जीवन के ९९.९ प्रतिशत वर्ष बिना दूरबीन ही के तो रहा है। पास में दूरबीन न होने का उसे समुचित दंड भी देना पड़ा है। उसने अपनी मूर्खता-वश अनुमान कर लिया था कि इस अखिल ब्रह्मांड का केंद्र वह और उसका निवासस्थान पृथ्वी ही है। एक ग़लत सिद्धांत को इतने दिन तक ठीक माने रहना ही उसका दंड था। विगत ३ लाख वर्षों के जीवन में पिछले ३०० वर्षों ही से उसकी आँखें खुली हैं, और वह अपने चारों ओर स्थित प्रकृति की महत्त्वपूर्ण और आश्चर्यजनक कार्यप्रणाली को देखने लगा है। अब वह सामग्रियाँ प्राप्त हो गयी हैं, जिनसे उसके जन्म, जन्म के उद्देश्य और उसके भावी भाग्य पर काफ़ी प्रकाश पड़ेगा। अब मनुष्य के मस्तिष्क में स्वयं अपने प्राचीन विचारों के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया है। अब जो कार्य सर्वप्रथम करना है, वह पुराने विचारों की, आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा, परीक्षा करना है।

इस समय अपने कार्य की सीमा निर्धारित करना अथवा ज्योतिष-विज्ञान द्वारा की गयी मनुष्यसेवा का वर्णन करना दुःसाध्य है। ज्योतिष-विज्ञान अभी अपनी प्रारंभिक अवस्था ही में है। अभी तो हम आकाश (Space) की अंतिम सीमा तक पहुँच नहीं सके हैं। इन सीमाओं के होने के पर्याप्त प्रमाण भी हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक बार जब दूरबीन की उन्नति होगी, हम अवश्य ही एक नवीन क्षेत्र में प्रवेश कर सकें। हमारे अन्वेषकों (Explorer) ने भले ही अमरीका का पता लगा लिया है, परंतु अभी तक वे समस्त पृथ्वीमंडल का चक्कर लगाने में समर्थ नहीं हुए हैं। चाहे जितने बढ़िया यंत्र तैयार हो जायँ, संभव है कि उनसे समस्त आकाशमंडल का निरीक्षण भी हो सके; परंतु वह भी उनके कार्य की आरंभिक अवस्था ही होगी। ज्ञातव्य बातों के पूर्णतः जानने और भली भाँति समझने का प्रश्न ज्यों-का-त्यों ही रह जायगा।

तुमसे—

[श्रीअनूप शर्मा 'अनूप' बी० ए०, एल्-टी०]

(१)

ऐसा अनुभव करता हूँ मन-ही-मन में
सारे व्योम-तारे मेरे तन में चमकते ;
विसव-समान मेरी जीवन-धरा पै नाथ !
सारे विश्व-कोष नीर-कण से ढलकते।
खिल पड़ती है कली, फूल उठते हैं फूल,
भार सुकुमारता का डालते न थकते ;
आज जल-थल का युवापन बसा है चित्त,
बुद्धि के विलोचन थके हैं राह तकते।

(२)

सारा विश्व सोता है, सितारे आँख मींचते हैं,
आया ऐसे काल में तुम्हारे गेह-द्वार पर ;
कुछ डरता हूँ जब पद धरता हूँ नाथ !
राज्य छा गया है गुरुता का चित्त-भार पर।
रात्रि के अलिंद से तुम्हारी छाया-गायिका ने,
प्रात का सँगीत छेड़ा हृदय-सितार पर ;
ताल कलियों ने दी प्रचुर प्रेम प्रेरणा से,
आ गया उषा का युवापन भी उभार पर।

(३)

अलस असावधान भाव के पयोनिधि में,
निज करणीयता न मुझको डुबाने दो ;
जड़ता-गहन-चारी, परम प्रमादकारी,
शंका-समाधान को न आसपास आने दो।
भूरि-भाव-भरित 'अनूप' शिर संयम से,
एक के—अनेक के समक्ष न—झुकाने दो ;
एक पथ छोड़ न विपथ अब लूँगा कभी,
नाथ ! भवदीय भक्त मुझको कहाने दो।

हिंदी-नाटकों में हास्य-रस

[श्रीसत्येंद्र विशारद, बी० ए०]

रस-प्रतिष्ठा

संस्कृत-साहित्य पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि रसों का उद्भव नाट्यशास्त्राचार्यों के द्वारा हुआ। रस नाटकों के लिए ही आवश्यक समझे जाते थे। काव्य में उनका स्वतंत्र अस्तित्व माना जाना बहुत समय के बाद की बात है—उस समय की बात है जब ध्वनिकार और मम्मट ने उसे श्रव्यकाव्य में भी एक महत्वपूर्ण स्थान दिया। दृश्यकाव्य में तो रस का शिरोस्थान भरत ने निर्विवाद रूप से माना है—"न हि रसादृते कश्चिद् अर्थः प्रवर्त्तते"। निस्संदेह वह काल ही ऐसा था कि काव्य में दृश्यकाव्य ही अधिक सम्मान्य समझा जाता था।

विशेष समय का अपना निजी स्थायित्व-व्यंजक प्रवाह होता है। यह विशेषता ही उस काल की संपत्ति और विकास की एक विस्पष्ट प्रगति की श्रेणी होती है। वाग्धारा के प्रवाह ने आदि-काल से, आदि-स्रोत से

चलकर अनेक रूप ग्रहण किये हैं। यदि सरस्वती की सौम्य प्रसादी ने कहीं अलंकारों में मोह दिखाया है, तो कहीं चमत्कार पर ही विस्मित हो रह गयी; कभी व्यंग्य-दृष्टि में काव्य का आनंद लूटा तो कभी रस-रहस्य ही उसका सर्वस्व हो रहा। यही उसके विकास की सीढ़ियाँ बन गयीं।

इस काल में दृश्यकाव्य ही पारिजात हो रहा था। उसकी सुरभि ने वामन को मुग्ध कर लिया—और अभिनव ने तो यहाँ तक लिख डाला—'काव्यम् तावद् दशरूपात्मकम् एव—और भी "लोक-नाट्य-धर्मी स्थानीय" काव्य है—उसने कहा—नाट्य एव रस-, काव्ये च नाट्यमाना एव रसाः काव्यार्थाः।

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत-साहित्य-शास्त्र के उदय की बेला में नाटकों की अरुणिमा का रंग था—और उनमें रसों की प्रधानता थी—उनका जीवन ही रस था।

उधर योरप में हमें यद्यपि रस-जैसी किसी वस्तु का नामकरण तो नहीं दिखायी पड़ता, तो भी नाटकों ने जब Mystries और Moral plays की नीरस धार्मिक धुंध से निकल Miracle plays के रूप में चमत्कार पाया तो वे सिद्धांतों और आदर्शों के फेर में न रहे। उनमें लौकिकता का प्रवेश हुआ। वे रोचक होने के लिए नमक-मिर्च का पुट पाने लगे। उनमें वह रस अलक्षित रूप से, चुपचाप बिना नाम के, स्थान पा गया। अतः रस की प्रधानता नाटकों में सभी जगह मान्य है! पर भारतीय तथा योरपीय दृष्टिकोण में ध्रुवांतर है। एक ने कला के संजीवक सौंदर्य को देखा; दूसरा उसे ही बस समझकर रह गया! एक ने जीवन-कमल को विनश्वर जगत् के कलुष पंक से निर्लिप्त रखना सीखा था, उसके लिए माया का वह शोक-संकुलित सम्मोहन ही श्री न था, फिर वह उसकी कला में क्यों आता! माया का कटु निःश्वास तो मनुष्य की जीवन-कलिका को प्रतिक्षण ही झुलसाया करता है—उनका अस्तित्व है भी, और नहीं भी; पर वे अमर नहीं, इसमें तो कुछ भी संदेह नहीं। फिर जीवन की यथार्थता में उनका स्थान कहाँ है—और कहाँ है उनमें कला का उद्रेक? अयथार्थता से यथार्थ-चरित्र का विकास-सूत्र ठीक नहीं पाया जा सकता। तब क्यों न कुछ क्षण के लिए इस अयथार्थता के विकट कटु मोह से विमुक्त हो अलौकिक आनंद में मग्न हुआ जाय। इसीलिए भारतीय काव्य ने निर्लिप्त-विमुक्त अलौकिकता को अपनाया और यह स्पष्ट विधान कर दिया कि नाटक दुःखांत न हों।

उधर योरप की जीवन-समस्या यथार्थता का सहारा लेकर कला के सौंदर्य में ही अपने को भूल गयी। वह आगे न बढ़ सकी। जीवन लिस है—विकास के लिए क्षेत्र पाने को तड़पता है। वह विकास की एक-एक डग समझता जाता है और सोचता जाता है। वह उस भूखे व्यक्ति की तरह गिन-गिनकर पैर रखता है, जो त्रुटि देख पड़ने पर फिर उन्हीं पैरों लौट जाने का विचार करके आगे बढ़ा हो! भला इस विकास को हम विकास कह सकते हैं—इस उन्नति को उन्नति कह सकते हैं। इसीलिए उनके यहाँ हृदय की यही कमज़ोर दशा है—जिस जीवन की वह छटपटाहट है। उनके यहाँ दुःखांत नाटक हैं। वे कहते हैं—हम संसार में नित्य यही देखते हैं। पता नहीं, ख़ाली आँखों देखते हैं अथवा माइक्रॉस्कोप से। इसी लिए दोनों की वस्तु चाहे एक ही हो, पर रंग भिन्न है, रूप भिन्न है, जीवन भिन्न है।

अपने साहित्य का अपना दृष्टिकोण तो है ही, पर इस युग में—इस विश्व-साहित्य के युग में—और इस भाषा-दासत्व के युग में—योरप के प्रभाव ने भी हमारे यहाँ अपना एक मार्ग बना लिया है। यहाँ हमें वर्तमान नाटकों के संबंध में योरप के प्रभाव की विशेष विवेचना नहीं करनी है। इतना जानना ही अभीष्ट है कि क्या भारत क्या योरप, दोनों के ही नाटकों में रस की प्रधानता रही। भारत जहाँ रस की स्थायी स्थिति के लिए पूर्ण मग्नता—तल्लीनता चाहता है, वह भी अलौकिक आनंद में, वहाँ योरप आवेग और तत्काल आनंद चाहता है—ऐसा भेद क्यों है? इसका कारण स्पष्ट किया जा सका है। रस में इस आवेग को भर देने का प्रयास आज हमें अपने नाटकों में देख पड़ता है।

हम नाटकों में रस की प्रतिष्ठा देख चुके। संस्कृत-साहित्य का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक समझा कि हमारे हिंदी-साहित्य में जिस विषय पर हम लिख रहे हैं, संस्कृत से बहुत कुछ लिया गया, और शास्त्रीय दृष्टि से जिस प्रकार रसों का विवेचन उसमें हो चुका है, वैसा हिंदी में अभी तक नहीं हुआ। विशेषतः

नाटकों के संबंध में अँगरेज़ी के द्वारा पाश्चात्य जगत् के दृष्टिकोण की छाप भी हमारे ऊपर पड़ी है, अतः योरप के दृष्टिकोण का भी वर्णन किया गया है।

अब यदि हास्यरस के संबंध में कुछ लिखा जायगा, यदि हम उसके विकास को हिंदी-नाटकों में देखने का प्रयत्न करेंगे, तो सबसे पहले हमें उसके मूल-स्रोत पर दृष्टि डालनी होगी। मूल-स्रोत से जो मिला है, वह तो पायी हुई संपत्ति है। उसका विकास हिंदी में हास्यरस का विकास नहीं। उसके अतिरिक्त अथवा उससे पृथक् हिंदी में उसकी प्रगति कैसी है, अथवा कैसी होनी चाहिए, इस पर अवश्य विचार करना होगा। परंतु हिंदी के नाटकों में जो हास्यरस की सामग्री उपलब्ध है, पहले उसकी समीक्षा करना ठीक होगा। उसके अनंतर हास्यरस के विकास में उनके स्थान का निश्चय किया जायगा।

नाटकों में हास्यरस की उपलब्ध सामग्री

हिंदी में भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी से ही नाटकों का आरंभ माना जाना ठीक है। प्रेम-जोगिनी की प्रस्तावना में उन्होंने स्वतः सूत्रधार से यही बात कहल-वायी है। वास्तव में वह अनुवाद-युग था। संस्कृत और बँगला के अनुवादों की भरमार थी। भारतेंदुजी ने स्वतः पाँच बड़े-बड़े नाटकों का संस्कृत से अनुवाद किया। इसमें संदेह नहीं कि स्वतंत्र रचनाएँ भी की गयीं और उन रचनाओं में संस्कृत-शास्त्र की जटिलताओं का अनुकरण नहीं किया गया, फिर भी उनका स्वर संस्कृत-नाटकों का स्वर है। उनमें नाटकों की अपनी मौलिकता नहीं। भारतेंदु उस समय आदर्श स्थान पा गये, और बहुत काल तक साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उनका अनुकरण किया गया। अभी कुछ साल पहले तक उनकी शैली साहित्यिक नाटकों में प्रधान रही। हाँ, उनके बाद उनके स्कूल का कोई भी अनुयायी हास्य-रस पर क़लम भी न चला सका।

भारतेंदुजी

भारतेंदुजी के नाटकों में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अंधेर नगरी' प्रहसन हैं। वैदिकी हिंसा में अवांछनीय तीव्रता है। हास्य तो है ही नहीं, व्यंग्य भी उपहासास्पद है। कवि ने व्यंग्य और भोंडेपन में भेद नहीं किया। भार-तेंदुजी से ऐसी कृति की आशा नहीं थी। 'अंधेर नगरी' में व्यंग्य की उतनी मात्रा नहीं है। इसी में कुछ हास्य मिलता है, परंतु वह भी बहुत कम मात्रा में। इनके व्यंग्य अथवा हास्य में गहराई नहीं। इनका हास्य परिस्थितियों के बेजोड़ संयोग-दर्शन तक ही सीमित रहा।

भारतेंदुजी के बाद और भी नाटक लिखे गये, परंतु हास्यरस के ऊपर क़लम नहीं चलायी गयी। हिंदी-समाज में इस काल में अनेकानेक बुराइयाँ भरी हुई थीं, उनकी ओर समाज-सुधारकों की दृष्टि लगी हुई थी। कुछ विदेशी शासन से भी लोग उकता गये थे। अतः लेखकों की दृष्टि भी इन्हीं आंदोलनों की ओर आकर्षित रही। जो कुछ व्यंग्य-हास्य लिखा गया, वह छोटी-छोटी कटूक्ति तथा व्यंग्यपूर्ण लेखों में लिखा गया। नाटकों में उसे स्थान न दिया गया।

जी० पी० श्रीवास्तव

अब हम बिलकुल ही आधुनिक युग में आ जाते हैं। इस समय हास्य की ओर आकर्षित करने का श्रेय जी० पी० श्रीवास्तव को है। उनके प्रहसनों की धूम मच गयी, उनके हास्य ने लोगों को लोट-पोट कर दिया। 'लंबी दाढ़ी' लिखकर उन्होंने अपनी हास्य-कुशलता को क़सौटी पर कसकर देखा। फिर उन्होंने प्रहसनों की ओर पग बढ़ाया। इस ओर वह स्वतंत्र रूप से न बढ़ सके। फ्रांस के जगत्प्रसिद्ध हास्य-रस-लेखक मोलियर का पल्ला पकड़कर चले। इनकी ख़ासी धूम रही। वह समय आ गया कि अमेच्योर ड्रामाटिक क्लब (Ametur Dramatic Club)—जो बहुधा कालिजों और स्कूलों में खुले—नाटक खेलते डी० एल्० राय (द्विजेंद्र) का, तो इंटरल्यूड (प्रहसन) रखते जी० पी० श्रीवास्तव का। इनके हास्य के संबंध में हमें कुछ विशेष नहीं कहना है। हास्य अथवा व्यंग्य में एक पक्ष की ओर झुकाव रहता है। मोलियर की यह विशेषता रही है कि वह अपने विरोधी पक्ष को, जितनी भी असमवेद्य-श्रेणी हो सकती है, उस तक पहुँचा देता था, और अपने पक्ष के समर्थन में जितना कुछ दिखा सकता था, दिखाता था। ऐसी दशा में उसके नाटकों का वास्तविक आनंद तभी प्राप्त हो सकता है, जब उसके समय अथवा समाज-जैसी ही कोई आक्षेप योग्य स्थिति हमारे यहाँ भी हो—अथच हास्य का विषय घृणास्पद, दयनीय तथा स्वतः हास्यास्पद न बन जाय। भारत के वातावरण के साँचे में फ़िट बैठाने की चेष्टा से मोलियर के नाटकों की छाया पर

श्रीवास्तवजी ने जो प्रहसन लिखे हैं, उनमें वह बात नहीं। उनके स्वतंत्र प्रहसनों में भी अपने गुरु की तरह कृत्रिम अस्वाभाविक स्थितियों का वैचित्र्य है, जो समवेदना के स्थान पर घृणा का उद्रेक कर देता है। पात्रों के साथ ठेठ निठुरता की गयी है। वे पूरे 'चौखट' दिखायी पड़ते हैं, जैसे किसी में भी विवेक नहीं। यह हास्य नहीं, यह वह मखौल है जो भाँड़ों के अभिनय में मिलता है। दूसरे, ऐसा प्रतीत होता है कि वे पूर्वी भाषा के पीछे पड़ गये हों—उसी का मज़ाक उड़ा रहे हों। उनके नाटकों में यदि किसी को हँसी आती है तो पूर्वी भाषा के प्रयोगों पर, जिसे देखकर सहृदय का हृदय दलक उठता है। भला एक भाषा का मज़ाक क्यों बनाया जाता है। उनके मज़ाक की भावना में तीव्रता और अशिष्टता दोनों ही विद्यमान हैं। इनके प्रहसनों के जीव किसी बिलकुल ही हास्यास्पद समुदाय के भोंदू दीखते हैं, जिनमें हास्य का सौष्ठव नहीं, उसकी मर्यादा नहीं, केवल उद्रेक है।

दूसरे प्रहसन-लेखक पं० बदरीनाथ भट्ट हैं। आपने

बदरीनाथ भट्ट

जहाँ तुलसीदास, चंद्रगुप्त तथा दुर्गावती जैसे नाटक लिखे हैं, वहाँ चुंगी की मेम्बरी, विवाह-विज्ञापन, मिस अमेरिकन आदि प्रहसन भी लिखे हैं। नाटकों में भी आपने हास्य की अवतारणा का प्रयत्न किया है, और बहुत ही यत्न के साथ अपनी इन कृतियों में विदूषक को स्थान नहीं दिया है। जो कुछ हास्य है, वह कथानक के कुछ प्रकृत पात्रों द्वारा ही अभिव्यक्त कराया गया है। पर वह हास्य नगण्य है, न उसमें कुछ विशेष महत्व ही है। हाँ, हमें आपके प्रहसनों के हास्य और व्यंग्य को देखना है।

चुंगी की मेम्बरी में, जिस शैली पर इनके रस का प्रकाश हुआ है, वह आगे के प्रहसनों में नहीं दिखायी पड़ता। इस प्रहसन में मेम्बरी के लिए उत्सुक अनपढ़ व्यक्तियों का नग्न चित्र-सा रख दिया है। वह सब वास्तव में हास्यास्पद है। परंतु जो शक्ति इसके रस में झलक रही है, वह गँवारू है। वह धीरे-धीरे परिपक्व होकर 'विवाह-विज्ञापन' और 'मिस अमेरिकन'-जैसे प्रहसनों में हमें दिखायी पड़ती है। इनके ये सभी प्रहसन मौलिक हैं। किसी की छाया अथवा किसी के अनुकरण पर इनकी गति नहीं। अतः जी० पी० श्रीवास्तवजी के प्रहसनों की तरह इनके प्रहसन ज़बर्दस्ती किसी साँचे में नहीं बिठाये गये।

भट्टजी सिद्धांततः बंगाली रहस्यमय आवेश के विरोधी हैं। भावुकता का वह रूप जो केवल कल्पनातीत हो, आपको पसंद नहीं। अतः आपके नाटकों में सीधे-सादे कथन दिखायी पड़ते हैं। कल्पना की भावुकता-भरी उड़ान आपमें इसीलिए नहीं मिलती कि आप उसे बंगाली प्रभाव समझते हैं, और उससे बचने के लिए सतर्क रहते हैं। अतः भट्टजी की शैली अपनी है। उन्होंने संभवतः नाटकों में हिंदीपन ही रखने की प्रबल चेष्टा की है, और इस समय आप ही एक ऐसे नाटककार हैं, जो इस दृष्टि को कभी ओझल नहीं होने देते। और सभी नाटककारों में या तो बँगला के आवेश का अथवा योरप के रंग का समावेश है।

इनका हास्य अपना है। इनके व्यंग्य का लक्ष्य अपनी समाज है। 'मिस अमेरिकन' में आपने अमेरिकन स्त्री-समुदाय का पुंश्चलीपन चित्रित किया है। इसमें आपने Parody के द्वारा पुराने कवि तुलसीदास आदि के काव्यों के कुछ अंशों का परिवर्तन कराके एक पागल कवि का अंकन किया है। इनके पात्र जी० पी० श्री० वास्तव की तरह बिलकुल चौखट नहीं, न इनकी भाषा ही असाहित्यिक है। परंतु आप अवश्य ही हास्य की सीमा का उल्लंघन कर गये हैं। न-जाने क्यों अमेरिकन समाज का इतना कठोर ख़ाका खींचा है! मौलियर अपने विरोधी पक्ष को जितनी असमवेद्य श्रेणी हो सकती है, उसमें रख देता है, परंतु उसके साथ निठुरता नहीं करता। आपने अमेरिकन समाज के जिस चित्र को सामने रक्खा है, उसमें मिस अमेरिकन के ही साथ निठुरता नहीं वरन् सारी अमेरिकन समाज के साथ निठुरता की गयी है। और, उन पात्रों में व्यक्तित्व का अंश शून्य रहने के कारण वे समाज के प्रतीक (Type) पात्र रह गये हैं, इसलिए उनके अंदर अभावात्मकता आ गयी है। एक अँगरेज़-लेखक ने व्यंग्यमय हास्य (Satire) का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

Most satirists are usually prose to the error of attacking either more types, or else individuals too definitely marked as individundulas....

In the first case the point of zest of the thing is apt to be lost, and the satire becomes a declamation against vice and folly in the abstract.

वास्तव में भट्टजी के प्रहसनों में यही वस्तुओं के अभावात्मक रूप आ गये हैं, जिनसे हास्य की सजीवता नष्ट हो गयी है। इनकी भाषा अवश्य साहित्यिक है, परंतु गठन और योजना में, यहाँ तक कि वस्तु और शैली में भी, कोई साहित्यिकता नहीं।

शृंगार और हास्य के लेखकों को बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ये दोनों बड़े ही कोमल रस हैं। एक किंचित् असावधानी के कारण अश्लील हो जाता है, दूसरा भद्दा और गँवारू हो जाता है—हास्य के माधुर्य से रहित अहितकर मखौल की उच्छृंखल कटुता अथवा अश्लीलता का विचित्र विभ्राट् हो जाता है। मिस अमेरिकन, इसीलिए, जब कि सरस्वती में प्रकाशित हो रही थी—साहित्य-महारथियों, साहित्य-प्रेमियों द्वारा अवांछित समझी गयी।

हिंदी के ये दो प्रहसन-लेखक * हैं। यों तो और भी एक-दो व्यक्ति कभी-कभी इधर अपनी लेखनी फिसला देते हैं, पर उनके अंदर न तो कोई विशेषता ही है, न कोई उनकी धाक ही।

अब हम उन नाटकों को लेते हैं जो प्रहसन नहीं, वरन् जिनमें कथानक के किसी अंश की तीव्रता के कष्ट-कर प्रभाव को मंद कर देने के लिए जहाँ-तहाँ हास्य का समावेश करने की चेष्टा की गयी हो।

ऐसे नाटकों के तीन भेद किये जा सकते हैं—

(१) विदूषक-संयुक्त
(२) हास्य-पात्र-संयुक्त
(३) प्रहसन-शृंखला-संयुक्त

* प्रहसन का अर्थ अब संस्कृत की पारिभाषिक सीमा के भीतर ही नहीं रह जाता है। हिंदी में प्रहसन के अर्थ में किसी भी ऐसे नाटक को लिया जा सकता है, जो हास्य और व्यंग्य के विचार से लिखा गया हो।

विदूषक-संयुक्त नाटक

प्राचीन काल में प्रत्येक राजाधिराज के मनोरंजन के लिए एक बहुत ही विद्वान् ब्राह्मण रहा करता था। वह बहुत ही तीक्ष्ण बुद्धि और तत्काल उत्तर दे-कर चित्त में बिजली दौड़ा देने की शक्ति रखता था। ऐसा व्यक्ति संस्कृत-नाटक-परंपरा से राजकुमार-नायकों का अंतरंग मित्र और उनका मनोरंजन करनेवाला चित्रित किया गया है। वह राजा का मित्र था, सहायक था और मनोरंजन करनेवाला भी। राजा के प्रत्येक भेद से वह परिचित रहता था, इससे यह भी सिद्ध है कि वह अत्यंत विश्वसनीय होता था। ऐसा नहीं कि भारत में और संस्कृत-नाटकों में ही, प्रत्युत इस विदूषक के दर्शन हमें पाश्चात्य जगत् में भी कई रूपों में होते हैं। राजाओं के दरबार के Motley Fool यही विदूषक हैं।

विदूषक-परंपरा

हिंदी के जो नाटक प्राचीन गौरव को लेकर किसी राजा के घटना-तारतम्य के आश्रय पर खड़े किये जाते हैं, जिनमें कुछ ऐतिहासिकता का भी विचार रक्खा जाता है, उनमें राजा के साथ विदूषक भी दिखलाया जाता है। हमें ऐसे विदूषक के श्रेष्ठ रूप के दर्शन हिंदी के मौलिक लेखक श्रीजयशंकर 'प्रसाद'जी के नाटकों में मिलते हैं।

संस्कृत-नाटकों में विदूषक

संस्कृत के प्रायः सभी नाटककारों ने विदूषक को राजा का अंतरंग मित्र, उसके कार्यों को सफलता दिलानेवाला एक आवश्यक साधन और 'पेटू' दिखाया है। नाटकों के धार्मिक मूल पर विचार करते हुए Keith विदूषक का वर्णन करते हैं—

For the religious origin of drama a further fact can be adduced, the character of Vidusaka, the constant and trusted companion of the king, who is the normal hero of an Indian play. The name denotes him as given to abuse, and not rarely in the dramas he and one of the attendants on the queen engage in contests of acrid repartee, in which he certainly does not fare better.

संभवतः कीथ महाशय ने विदूषक के संबंध में यह धारणा राजशेखर की कर्पूरमंजरी के विदूषक के आधार पर बनायी है । जो हो, कीथ-जैसे तथा विल्सन-जैसे पाश्चात्य संस्कृत-विद्वानों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि विदूषक ब्राह्मण ही क्यों रक्खा गया ! वास्तव में राजा का सच्चा तथा अंतरंग मित्र होने के लिए यह आवश्यक समझा गया होगा कि वह व्यक्ति विद्वान् तथा तत्काल उत्तर देने में समर्थ हो, साथ ही उच्च वंश का भी हो, ताकि उनकी पारस्परिक धार्मिक संधि में किसी प्रकार के रक्त-विकार के कारण मलिनता न आ जाय । हास्य के उद्भव में वैचित्र्य की प्रधानता रहती है । जब एक ऊँची श्रेणी का व्यक्ति किसी जाने-बूझे ढंग से अपने गौरव से उदासीनता रखता है—नहीं, उलटे अपनी हीनता की घोषणा करता है, तो उसके लक्ष्य में वैचित्र्य देख पड़ता है, और हमें हँसी आ जाती है । कर्पूरमंजरी में राजशेखर का विदूषक जब कविता करता है, तो इसमें संदेह नहीं रहता कि वह जान-बूझकर ऐसी भद्दी रचना कर रहा है । कविता करते हुए भी उसका यह कथन—'मुझे जिसको काला अक्षर भैंस बराबर' और अन्य सभी बातें विचित्र प्रतीत होती हैं, पर गंभीरता न होने के कारण आश्चर्य में डालकर मन में गुदगुदी उठाकर हँसी की रेखा खींच देती हैं । यही तथ्य विदूषक के पेटूपन में है । वैसे तो पेटूपन स्वार्थ-चिंतन की ओर ही संकेत करता है, और नाटक में जीवनसंग्राम के एक विशिष्ट आवेशमय भाग के चित्रण में पेटूपन की पुकार जगत् की मधुर माया के अमर व्यापार की ओर भी मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेती है । संसार में केवल प्रेम या लड़ाई ही एक सत्य नहीं, 'पेट' भी एक अनिवार्य सत्य है । इस दार्शनिक समीक्षा के साथ भी राजा के अंतरंग मित्र (विदूषक) का 'भूखे और भूखे' चिल्लाना—हर बात में पेट का रूपक लगाना सचमुच हँसी का कारण होता है । जो सबका अन्नदाता, जिसके साथ किसी बात की कमी नहीं, भोजन भी जहाँ विविध व्यंजन-रस-पूर्ण—उसी राजा का मित्र पेट पर हाथ धरे और लड्डुओं के लिए लार टपकाये—क्या यह हँसी का कारण नहीं ? इसमें एक वैचित्र्य है, जो स्वार्थीपन की निर्मम नीचता की अतृप्त आकांक्षा पर आक्षेप करता—इसके चिर-असंतोष की ओर संकेत करता है । विदूषक को हमने इसी रूप में समझा है । वास्तव में कलात्मक हास्य की कसौटी पर यह कहाँ तक खरा उतरता है, इस पर हम यहाँ कुछ नहीं कहना चाहते, और न यही कहना चाहते हैं कि संस्कृत-नाटककारों के समक्ष 'हास्य' का रूप क्या था । हमें तो यहाँ केवल एक प्रगति की ओर संकेत करना था, प्रसंगवशात् उसके रूप के संबंध में भी कुछ कह देना पड़ा ।

पेटूपन का प्रदर्शन

ईसा की तीसरी शताब्दी के लगभग भास ने विदूषक को इसी रूप में दिखाया है । उसके 'अविमारक'-नाटक में विदूषक अपने स्वामी का भक्त है, वह उसके स्वार्थ-साधन के लिए जी-जान से सदा प्रस्तुत रहता है । युद्ध में भी कुशल है; पर वह पेटू है । भोजन का आनंद उसके लिए भी बहुत ही आकर्षक है । 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में वासवदत्ता की वह याद करता है, पर इसीलिए कि वह उसकी मिठाई की चिंता रखती थी, उसके लिए मिठाई का प्रबंध रखती थी ।

मृच्छकटिक का विदूषक भी इस पेटपीड़ा का प्रकीर्णक है । वह अपने स्वामी का भक्त है । संकट में उससे पृथक् नहीं होता—उसके हितार्थ जान पर खेल जाने के लिए तैयार रहता है; पर भूख—वह स्वाद—वह ऐश—इन पर वह फ़िदा है, इनके लिए वह उत्सुक रहता है। वसंतसेना की पाँचवीं ड्योढ़ी में पहुँचकर वह कहता है—"यहाँ वसंतसेना का रसोई-घर मालूम होता है, क्योंकि अनेक प्रकार के व्यंजनों में हींग और ज़ीरे की महक से हम-जैसे दरिद्रों की लार टपकी पड़ती है......एक ओर लड्डू बँध रहे हैं, एक ओर मालपुआ बनता है; यदि कदाचित् कोई मुझसे खाने को झूठ ही पूछे, तो पाँव धो भोजन के लिए तुरंत बैठ ही जाऊँ ।"

कालिदास का माढव्य भी क्या इस पेट के परपट के बाहर है ? रत्नावली और नागानन्द में भी विदूषक को इस पुट से संयुक्त कर दिया गया है ।

जयशंकरप्रसाद

यही पेटूपन 'प्रसाद'जी के विदूषकों में भी है । 'अजातशत्रु' में उदयन का विदूषक जीवक से बात करता हुआ कहता है—"हम लोग आया ही चाहते हैं, पत्तल परसा रहे—समझे न ?"

जीवक—अरे पेटू, युद्ध में तो कौवे-गिद्ध पेट भरते हैं।

वसंतक—और, इस आपस के युद्ध में ब्राह्मण-भोजन करेंगे। और भी—

"जीभ अच्छा स्वाद लेने के लिए बनी है।"

अजातशत्रु में विदूषक राजा का सहायक अथवा अंतरंग मित्र नहीं, वह तो पद्मावती के दूत की तरह आया है। उसका व्यंग्य अथवा हास्य भी जीवक का मखौल उड़ाने तक ही रह जाता है। न-जाने किस दैव-संयोग से वैद्यों अथवा डाक्टरों की बड़ी धूल-दुर्दशा की जाती है, उन्हीं में ही प्रायः सभी देश के नाट्यकारों—Satirists—को अपने हास्य के लिए सामग्री मिलती है। फ्रांस के प्रसिद्ध मौलियर, बंगाल के अद्वितीय द्विजेंद्र इन डाक्टरों की खिल्ली उड़ाने से नहीं चूके—वही खिल्ली प्रसादजी ने जीवक की उड़ाने की चेष्टा की है। पर वह बिलकुल अनैतिहासिक, विद्रूप तथा पात्र के गौरव के सर्वथा प्रतिकूल हो गयी है। इतिहास में जो जीवक अपने कौशल के लिए अपने समय का अद्वितीय माना गया है, जिसने भगवान् बुद्ध तक की चिकित्सा की, जो बिंबसार का राजवैद्य था—उसकी विदूषक रेचक और पाचक में ही हँसी उड़ा ले, और वह चुप सुनता रहे! यह या तो लेखक के इतिहास-ज्ञान के संकुचित और अपूर्ण होने के कारण संभव हो सकता है, अथवा उनकी घोर असहृदयता का परिचायक है। हास्य में जब सहृदयता का लोप हो जाता है, सत्संवेदना का अभाव रहता है, तो उसका प्रवाह क्षुब्ध ही नहीं हो जाता, वरन् वह शुष्कता का एक अगम्य मरुस्थल हो जाता है। विदूषक नाम से ही पाठक अथवा श्रोताओं के हृदय में जो उत्सुकता हो जाती है, यदि वह पूरी तरह संतुष्ट नहीं हो पाती, तो उसका चित्रण सफल नहीं कहा जा सकता—वहाँ नीरसता और शुष्कता का आभास मिलता है, जिससे तबियत ऊब जा सकती है। स्कंद गुप्त का मुद्गल भी विदूषक है। उसके चरित्र में हास्य नहीं, उसकी बातों में हास्य नहीं। हाँ, लड्डू और भोजनों के प्रति लालसा प्रकट करने के कारण उसमें परंपराजन्य हास्य समझा जाय, तो भले ही समझा जाय; अन्यथा उसमें विशेष कुछ भी नहीं। प्रसादजी के विदूषक तो व्यंग्य करने में भी मंद हैं। शेक्सपियर के विदूषक (Fools) केवल हास्य के साधन-मात्र नहीं, वरन् वे उसके साथ गंभीर व्यंग्य और भव्य सत्य को भी व्यक्त करके मनुष्य-जीवन की अलक्षित सार्थकता को अनायास ही सिद्ध करते रहते हैं। जीवन के झकझोरों की मार्मिकता का पता हमें विदूषक की हँसीकी बातों में एक दार्शनिक के दर्शन से भी अधिक मिल सकता है। ऐसी कला प्रसादजी में नहीं। उन्होंने प्रयत्न अवश्य किया है। निस्संदेह प्रसादजी परिस्थिति की कृत्रिमता और आडंबर विद्रूपता की शरण लेकर कभी अस्वाभाविक (Artificial) भोंडापन नहीं उपस्थित करते जिससे साहित्य की मर्यादा का उल्लंघन हो जाय, पर साथ ही उनके जीवन के बड़े कटु अनुभव संभवतः उन्हें इस संसार के हलके विक्षेप में विश्वास ही नहीं करने देते—फिर उनमें हास्य आवे कहाँ से? वह किसी भी दशा में अपने को संसार से ऊँचा उठाकर हलकी दृष्टि नहीं डाल सके। वह उसके भीतर घुसे हैं—भीतर जो विषादपूर्ण सत्य का साम्राज्य है, उसे ही प्रकट कर सके हैं। विषादपूर्ण सत्य इसलिए कि ऊपर हमें जो देख पड़ता है, वह वास्तविकता से विपरीत है; उसी विपरीतता का सत्य ज्ञान विषादपूर्ण हो सकता है। अतः प्रसादजी, कोशिश करने पर भी हलकी दृष्टि से जो भीतरी सत्य की झलक दीखती है, उसे व्यक्त नहीं कर सके, शान्ति और रक्षा का प्रश्न भट्टारक न उठाता है। मुद्गल प्रवेश करके उत्तर देता है—'रक्षा पेट कर लेगा, कोई दे भी। अक्षय तूणीर अक्षय कवच सब लोगों ने सुना होगा; परंतु इस अक्षय मंजूषा का हाल बिना मेरे कोई नहीं जानता।" इस व्यंग्य में, इस कुशल कटाक्ष में भी वह असत् और सत् का कटु अनुभव झाँक रहा है, फिर हास्य कहाँ?

अतः इनके विदूषकों में तो न तो कोई व्यंग्य करने में विशेष चतुर हैं, न हास्य उपस्थित करने में ही। बस वे एक अनुचर-मात्र हैं। अतः संस्कृत-विदूषक के वे ऐतिहासिक भग्नावशेष हैं, जिन्हें देखकर विगत च्युत वैभव की याद ही आ सकती है, मनोरंजन नहीं हो सकता।

स्कंद गुप्त में मुद्गल का यदि विश्लेषण किया जाय, तो हर बार उसका भिन्न रूप देख पड़ेगा। यदि उसके वक्तव्य के पूर्व मुद्गल न लिखा हो, तो यह समझना भी महादुष्कर हो जाता है कि यह विदूषक है। एक ही अंक में चार स्थानों पर मुद्गल के चार भिन्न रूप ऐसा न-जाने क्यों किया गया?

'प्रसाद'जी विदूषकों को न रखते, तभी अच्छा था। उस दशा में प्रवाह में नीरसता तो न उत्पन्न होती।

'वह है प्रेम-दिवाना !'

[पं० हृदयनारायण पांडेय 'हृदयेश']

देखो ! उसे न छेड़ो कोई वह है प्रेम-दिवाना !
अपने उर में घाव छिपाये डोल रहा मस्ताना ।
हाँ, इसमें आश्चर्यचकित होने की बात न प्यारे !
आह, हँसी के जो झरते मुख पर इसके फ़व्वारे !
भरा हुआ है दिल दुखिया का दुख से मेरे राजा !
ज़रा ठेस से कसक उठेगा—अभी घाव है ताज़ा ।
उलझ जायगा, फिर उसके सुख-दुख का ताना-बाना।
देखो, उसे न छेड़ो, कोई वह है प्रेम-दिवाना ।

× × ×

चुन-चुनकर अरमानों को उसने उर-सदन सजाया ।
बेहोशी में, एक बार ही 'अपने उन्हें' रिझाया ।
किंतु चोट देकर, ओझल हो गया हृदय का राजा ।
बँधी हुई अरमानों का उफ़ ! बिखर गया शीराज़ा।
व्यथा सहन करते-करते होकर यह उसका आदी,
दिल-दौलतख़ाने में की आबाद हाय ! बरबादी ।
डाल भुलावे में अपने को, चाहा हाय ! भुलाना ;
देखो ! उसे न छेड़ो कोई वह है प्रेम-दिवाना ।

× × ×

उमड़ी करुणा को समेटकर निज उर मध्य छिपाये,
रहे हृदय में केन्द्रित होकर परिधि पार मत जाये;
विरह-वेदना की दवाग्नि में यौवन-वन सुलगाये,
प्रेम-वारि की दो बूँदों पर प्यासा मन ललचाये,
आह ! आँसुओं के दरिया में इसका रोज़ नहाना !
सरदी लग जाने का डर है, प्रिय ! अब इसे बचाना।
बहुत रो चुका, सुस्ताने दो, अब मत उसे रुलाना।
देखो ! उसे न छेड़ो कोई वह है प्रेम-दिवाना।

× × ×

आह ! उपेक्षा के घातों से कुचला, मचला यौवन—
शिशिर-निपीड़ितम्लानकली-सा मरु-स्थित-तरु-सा जीवन;
बिखरे रूखे, बाल, सरलता, मादकता, भोलापन!
यौवन-बचपन के झूले में झूल रहा अल्हड़पन!
विरह-धुनी सुलगा, योगी बन, दर-दर अलख जगाता;
कहीं पड़ी, भूली, खोयी-सी वस्तु खोजने जाता।
इसके भग्न-हृदय के रोने को मत समझो गाना;
देखो ! उसे न छेड़ो कोई वह है प्रेम-दिवाना।

× × ×

किन अज्ञात तटों से टकरा मन की लहरें टूटीं !
जल बुद्‌बुद-सी नश्वर सुख की घड़ियाँ किसने लूटीं !
छिन्न रागिनी दूरागत की स्वर-लहरी का कंपन !
बहुत दिनों की भूली सुध-सा इसका वंचित जीवन !
फूँक मारकर स्मृति-चिनगारी कोई फिर न जगाये ;
खुरच न डाले घाव, वेदना हरी-भरी हो जाये !
आह, इसे रूठी क़िस्मत का मुश्किल हुआ मनाना ;
देखो ! उसे न छेड़ो कोई वह है प्रेम-दिवाना ।

सावित्री

[कुमारी श्रीमायादेवी]

प्राचीन काल के स्मृति-चिह्न-स्वरूप, सदा से समय के झोंके सहन करनेवाला तथा किसी बूढ़े इतिहास-लेखक की भाँति इस शांतिपूर्ण गाँव के जन्म, मृत्यु और विवाह आदि के साक्षी उस विशाल तथा सघन बरगद के नीचे एक पुरुष बैठा हुआ था, जिसकी झुकी कमर देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों बुढ़ापे ने अचानक आकर उसे ग्रस लिया हो। परंतु साथ-ही-साथ उसके काले ज्योतिर्मय नेत्र तथा मुखाकृति की दृढ़ता यह भी बता रही थी कि युवावस्था से अभी उसने पूर्णतः विदा नहीं ली है।

इस परम पुरातन, ऊबड़-खाबड़ वृक्ष की एक टेढ़ी-मेढ़ी शाखा सदा से ही झुकी हुई थी। ग्राम के चंचल विनोदी, नटखट और खिलाड़ी बालकों की वह सुपरिचित एवं परम प्रिय झूलने की बैठक थी। यह वृक्ष सोनपुर ग्राम में प्रवेश करने के पहिले ही मिलता था। इसकी छाया के नीचे गाँववाले दिन-भर के परिश्रम के उपरांत बैठकर गप्पें हाँका करते थे।

चिंता से जीर्ण-शीर्ण, श्रान्त तथा जीवन से विरक्त वह बूढ़ा एक मिट्टी के चबूतरे पर बैठा हुआ काग़ज़ के पुलिंदों को सरिया रहा था। इस गाँव का वह मुहर्रिर था। उसका जीवन दुर्भाग्य की चपेटों में पड़कर दुःखमय हो उठा था। वह था विद्वान् और नाम था पंडित शिवनारायण। वह गाँव-भर के लोगों का क़ानूनी सलाहकार, उनका मित्र और ज़मींदार के ज़ुल्म करने पर उनका सहायक था। गाँववालों की जीवन-नौका का कर्णधार था, उनका त्राण करता था। भोले-भाले सब ग्रामीण उससे प्रेम रखते थे और वह उनके लिए सब कुछ करने को तैयार था। उन सबका सिरमौर होते हुए भी वह दरिद्रदेव का शिकार था।

एक समय था जब वह अच्छी अवस्था में था; तब ज़िला-स्कूल का प्रधानाध्यापक था। अमीर का लड़का था, जगह-ज़मीन थी, रुपया-पैसा था तथा रत्नाभूषण था। अड़ोसी-पड़ोसी उससे ईर्षा करते थे। परंतु निर्दयी विधाता के एक ही प्रहार ने उसे, कुछ ही वर्षों में, राजा से रंक बना दिया। लोकप्रतिष्ठा के उच्च शिखर से गिरकर वह क्षण-मात्र में एक साधारण श्रेणी का हो गया। एक भयंकर विपत्ति में उसका सब कुछ चला गया और उसके पास उसकी मृगाक्षी कन्या सावित्री के सिवा और कुछ न बचा। यही बालिका उसके दुःख की संगिनी थी।

मित्रों ने उसे छोड़ दिया। समृद्धि थी, उस समय अनेकों मित्र उसे घेरे रहते, परंतु अब—अब वे उससे आँख बचाते। वृद्ध को इससे बड़ी पीड़ा हुई, घृणा उत्पन्न हो गयी और उसने भागकर इस गाँव में शरण ली। यहाँ के लोग उससे प्रेम करते; ग़रीब उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखते। गाँव का मुखिया उस पर दया करता और आदर भी। बुड्ढा उन सबका पुरोहित था।

वृद्ध लोगों से जो कुछ थोड़ा-बहुत पाता, उसी से जीवन-निर्वाह करता। उसके जीविका-अर्जन का ज़रिया था उन गाँववालों की अर्ज़ियाँ लिखनी जो "बाबू लोगों" के सामने पेश होतीं और जिनका वे लोग स्वेच्छानुसार (दयापूर्वक अथवा निर्दयतापूर्वक) निर्णय करते।

समय व्यतीत होने के साथ-ही-साथ सावित्री भी बढ़ रही थी। वह अब बारह वर्ष की बालिका थी। ब्राह्मणों की जाति-प्रथानुसार उसका विवाह हो जाना चाहिए था, परंतु अब तक कोई वर न मिल पाया था।

वर की तलाश वृद्ध ब्राह्मण ने दो वर्ष तक की। कुछ रुपये, थोड़ा अन्न, शाक-फल तथा दूध आदि जो आस-पास के ग्रामवासी और उस गाँव के अन्य ग़रीब उपहारस्वरूप उसकी भेंट करते, वही उसका धन था। इस समय शिवनारायण के हृदय को भीतर-ही-भीतर भस्म करनेवाली चिंताग्नि का कारण उसकी नित्य प्रति सयानी होनेवाली कन्या थी, जो १४ वर्ष की अवस्था में भी अविवाहित थी।

वह दुख से सोचता—"हाय ईश्वर ! मेरी इस प्यारी बच्ची का विवाह किसके साथ होगा ? उसके भाग्य में क्या लिखा है ?' यद्यपि शिवनारायण संतोषी एवं शांत प्रकृति का था, फिर भी उसे सावित्री के भविष्य की इतनी चिंता थी कि उसका वक्षस्थल आंतरिक क्लेश के कारण फटा पड़ता था।

संध्या का समय था। वृद्ध एक टिमटिमाते हुए दीपक के सामने बैठा हुआ उनींदे-से अज्ञान ग्रामीणों को भगवद्गीता सुना रहा था। उनके लिए वे ज्ञान की बातें गाँव को लौटती हुई गौओं की उन आवाज़ों के समान थीं, जिन्हें उच्चारण करती हुई तथा ठीक राह पर चलने के लिए दी गयी चरवाहे की आज्ञाओं की अवहेलना करती हुई संध्या समय वे प्रबल वेग से अपने बछड़ों से मिलने की आशा में भागती आती हैं।

गाँववाले अबोधभरी टकटकी लगाये कथा सुन रहे थे। जो कुछ समझते थे, उसे परम भक्तिभाव से ग्रहण करने को उत्सुक थे। उस ब्राह्मण ने इन दीन ग्रामीणों की आध्यात्मिक उन्नति के लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था। वह उनके अज्ञान के लिए उन पर दया करता और वे अपना पुरोहित मानकर उसका आदर करते। ब्राह्मण गीता के श्लोक मधुर ध्वनि से झूम-झूमकर पढ़ रहा था तथा श्रोतागण दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। भक्ति की वह अवर्णनीय चरम सीमा थी।

× × ×

इस गाँव से कुछ मील की दूरी पर नगर में एक आदमी एक बड़े-से दफ़्तर में बैठा कुछ लिख रहा था। दूसरे बाबू लोग भी अपने-अपने कामों में अत्यंत व्यस्त थे। कभी-कभी उनकी क़लमों के चलने की आवाज़ से अथवा उनके जँभाई लेने से ही वहाँ की निस्तब्धता भंग होती थी।

दफ़्तर के बड़े बाबू ने लिखना बंद कर दिया। कोई विचार उनको अपने काम से कहीं अन्यत्र खींच ले गया। अपने ज्येष्ठ पुत्र की हितचिंतना उनको लगी हुई थी। दैनिक नियम का अतिक्रमण करके वे जल्दी ही घर पहुँचे तथा नतमस्तक खड़े हुए अपने पुत्र से गंभीर स्वर में बोले—"बेटा, कल रात हम जिस विषय पर बातचीत कर रहे थे, उस पर हमने खूब विचार कर लिया है। हम इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि तुमने अपने कालिज की पढ़ाई संतोषजनक रूप से पूरी की है। तुम संभवतः यह भी जानते हो कि जो कुछ मैं तुम्हारे लिए कर सकता था वह कर चुका। तुम अब विदेश जाकर आगे पढ़ना चाहते हो और इसके लिए हम असमर्थ हैं, यह मेरी सामर्थ्य के बाहर है। तुमसे अधिक मेरी सहायता की आवश्यकता तुम्हारे छोटे भाइयों को है। तुम्हारी दोनों बहिनों के विवाह में अच्छा ख़ासा दहेज देना पड़ेगा अतः मुझे दुख है कि तुम्हारी शिक्षा पर मैं अब अधिक व्यय नहीं कर सकता। तुम्हारे लिए एक यही उपाय है कि तुम अपना विवाह कर डालो। मैंने तथा तुम्हारी माता ने इस पर गंभीरतापूर्वक विचार किया और उद्देश्य-साधन का सफल मार्ग यह निश्चय किया है कि तुम किसी धनवान् की कन्या से विवाह करो। जो धन मिले उससे अपनी इच्छित शिक्षा प्राप्त करने की तैयारी करो और विदेश जाकर पूरी करो। पहले उस प्रधानाध्यापक की तलाश करो जो कुछ वर्ष पूर्व यहाँ था तथा जिसकी अतुल धनसंपत्ति उसकी एक-मात्र कन्या को मिलनेवाली है। उसका पता लगाकर मुझे बताओ।"

भविष्य की सुनहरी आशाओं से फूल कर युवक धन, सुख तथा सफलता को साहसपूर्वक प्राप्त करने के लिए चल दिया।

× × ×

पके धान के खेत के बीच में, जहाँ धान की सुनहली बालें मंदवाहिनी समीर के ताल पर झूम रही थीं, सावित्री—बूढ़े पिताकी लाडिली सावित्री, अनिंद्य सुंदरी सावित्री खड़ी है। उसके सुंदर ललाट पर केश की कुछ लटें हवा में उड़ रही थीं। उसके शरीर पर एक साड़ी साड़ी के अतिरिक्त और कोई आभूषण नहीं था। जो कोई भी उसका सुंदर मुँह देखता वही कहता कि उसका रूप ही उसका सर्वश्रेष्ठ आभूषण है।

इस समय सावित्री मंदिर से पूजा करके लौट रही थी। मार्ग में उसने चमेली तथा चंपक के पुष्पों का चयन किया था, जिनकी सुरभि उसके चारों ओर फैल रही थी। वह इस समय खेतों में काम करनेवाले कृषकों की ओर खड़ी देख रही थी। परंतु उनमें से कुछ कृषक अपना काम छोड़कर सामने की ओर से आनेवाले एक लंबे युवा पुरुष की तरफ़ देखने में मग्न थे, जो उनकी ओर शीघ्रतापूर्वक चला आ रहा था।

आगंतुक किसानों के लिए अपरिचित था तथा देखने में उसकी स्थिति इन कृषकों से बहुत ऊँची जँचती थी। सावित्री को देखकर वह उसकी ओर मुड़ा और "नमस्कार" कहकर उसने पूछा—"क्या आपके पिताजी यहीं रहते हैं ?"

सावित्री ने शिष्टतापूर्वक सलज्ज भाव से उत्तर दिया—"जी हाँ।"

अपने पिता को सूचना देने के हेतु वह आगे-आगे चली और युवक उसके पीछे हो लिया। अपने पिता के समीप पहुँचकर उसने कहा—"पिताजी, एक अपरिचित सज्जन आ रहे हैं, कृपया उनसे जाकर मिल लीजिए।"

वृद्ध उठकर बाहर आया। युवक ने आगे बढ़ने पर अपने प्राचीन अध्यापक को पहचाना, वह बाल्यकाल में उसे पढ़ाया करते थे।

अपने गुरुजी की दशा में जो परिवर्तन उसने देखा, उससे वह चकित होने के स्थान पर दुखित हुआ और आदर-पूर्वक उनका अभिवादन करने के पश्चात् अपने चित्त में सोचने लगा कि किस दुर्दैव ने उसके गुरु का सर्वस्व अपहरण कर लिया है, वह इस समय कैसी दुर्दशा में हैं। उसने मन में कहा—"आह! जीवन कैसा परिवर्त्तन-शील है! ज्ञात होता है कि वृद्ध पंडितजी ने बहुत ही कष्ट उठाये हैं।" अंत में उसने प्रकट में कहा—"गुरुजी, मैं तो आपको पहिचान भी न सका, कुछ ही वर्षों में आपमें इतना परिवर्त्तन!"

वृद्ध ने ठंडी साँस लेकर कहा—"हाँ, बेटा! मैंने बहुत-सी मुसीबतें झेली हैं। मैं अपना सर्वस्व खो बैठा हूँ; मान, ख्याति, पद सभी कुछ गया! इस समय मुझसे बढ़कर दुखिया इस संसार में और कोई नहीं है। मेरी विपत्ति तो नगर-भर को मालूम हो गयी थी। इसका मुझे आश्चर्य है कि तुम्हारे माता-पिता को इसकी सूचना नहीं मिली कि किस प्रकार मैं अपने प्राचीन संबंधों को तोड़कर तथा अपना मुँह छिपाकर यहाँ भाग आया था।"

"गुरुजी, मेरे माता-पिता भी कुछ दिनों के लिए बाहर चले गये थे और अभी हाल में ही लौटकर आये हैं"—युवक ने साश्चर्य नेत्रों से अपने उन गुरुजी की ओर देखते हुए उत्तर दिया, जो एक समय संपदस्थ, चतुर तथा धनसंपन्न थे।

"आओ बेटा, बैठ जाओ और नगर का हाल सुनाओ"—अपने हाथ से युवक को पास बैठाते हुए वृद्ध ने कहा, परंतु सहसा अपने फटे कपड़ों का स्मरण करके झिझक गया और तनिक हटकर काँप उठा।

युवक दो दिन तक ठहरा रहा। साधारण भोजन जो मिल जाता, खाकर संतोष कर लेता। उसने कई बार वृद्ध से इच्छित विषय पर वार्त्तालाप करना चाहा, परंतु कुछ हिम्मत न पड़ी। उसने चित्त में सोचा, वृद्ध कदाचित् दरिद्रता का ढोंग किये हो; अच्छा एक बार पूछने का प्रयत्न तो करूँ।

वृद्ध झोंपड़ी के सामने बैठा हुआ था। प्रसन्नता से उसका चेहरा दमक रहा था, कारण कि युवा अतिथि में उसने अपनी कन्या के भावी पति की योग्यता देखी थी। यही उपयुक्त वर था; सुंदर था; अच्छे वंश का था। उसने मन-ही-मन भगवान् को धन्यवाद दिया और सोचा, मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो गयी।

युवक को आते देखकर उसने उसे अपने पास बैठा लिया। अभिवादन करने के अनंतर युवक बैठ गया और बोला—गुरुजी, मुझे आपसे एक आवश्यक प्रश्न पूछना है, आज्ञा हो तो निवेदन करूँ।

वृद्ध ने शांतिपूर्वक कहा—हाँ बेटा, पूछो।

युवक बोला—आप जानते ही हैं कि मैं इतनी दूर आपकी ही तलाश में आया हूँ, आप मेरा आशय भी संभवतः जानते ही होंगे। आपकी कन्या की मंगल-कामना मेरे चित्त में उसी प्रकार बसी हुई है, जिस प्रकार आपके चित्त में। जिस समय वह बोल रहा था वृद्ध बराबर उसकी ओर ध्यान से देखता रहा। युवक ने सावित्री के साथ विवाह करने का प्रस्ताव किया। वृद्ध चुप था ही, युवक भी चुपचाप प्रतीक्षा करता रहा। दोनों में से किसी ने मौन नहीं तोड़ा। वृद्ध युवक की ओर मुँह किये हुए शून्य दृष्टि से कुछ देर तक देखता रहा। इस समय वह अत्यंत उद्विग्न, व्यग्र, चिंतित, भयभीत तथा अपनी दरिद्रता के कारण लज्जित हो रहा था।

वृद्ध कुछ कहना ही चाहता था कि युवक ने उसे रोककर, और भी अधिक उत्सुकतापूर्वक पुनः कहना प्रारंभ किया कि सावित्री का भविष्य कैसा उज्ज्वल, सुखमय हो सकता है, लेकिन सिर्फ़ कन्या देने से तो

काम नहीं चलता ? कुछ दहेज भी तो साथ-साथ चाहिए। दहेज से ही तो वह धन, बल, यश प्राप्त कर सकता है ?

'दहेज !!'—वृद्ध ने अत्यंत, घृणा से उसकी ओर ताका। दहेज शब्द उसके कानों में गूँजने लगा।

अत्यंत गंभीर स्वर में, क्रोध तथा आवेशपूरित काँपते हुए गले से वृद्ध ने हाथों द्वारा तिरस्कारव्यंजना करते हुए कहा—"बेटा! तुमने बहुत अच्छा प्रस्ताव किया था, बहुत उत्तम बातें कही थीं, परंतु पीछे से तुमने एक ऐसी बात कह डाली जो मुझको अत्यंत पीड़ा पहुँचानेवाली है। मैं निर्धन हूँ, गली के भिखारी के समान निर्धन हूँ। रुपया-पैसा मेरे पास कुछ नहीं है। हाँ, तुम्हारे हृदय के बदले मैं तुम्हें एक स्वर्णयुक्त हृदय दे सकता हूँ, जो प्रेमपूर्ण, सात्विक तथा शुद्ध है। तुम एक सीधी-सादी, प्रेमी, विश्वासी कन्या प्राप्त कर सकते हो, जो तुम्हारे सुख-दुःख की संगिनी होगी।

"नहीं, नहीं, बेटा! कन्या-विनिमय के लिए मेरे पास सुवर्ण-राशि नहीं है, बिलकुल नहीं है! हाँ, मैं प्रेम के बदले उस कन्या को दे सकता हूँ, परंतु किसे? एक दरिद्र भिखारी को, जो उससे प्रेम तथा सुख के अतिरिक्त और कुछ न चाहेगा, जिसे कोई दुराशा न होगी, जिसे उसे ग्रहण करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट न होगी, जिसके लिए विवाह-संबंध धनोपार्जन का एक मार्ग न होने के कारण उनके सुख की राह में बाधक नहीं होगा। प्रेम—केवल प्रेम ही उसका एकमात्र ध्येय होगा।

"मुझे यह देखकर दुःख न होगा कि वे दोनों साथ-साथ भीख माँगते हैं अथवा जीविका के हेतु परिश्रम करते हैं। रूखी रोटी नमक के साथ खाने में, धन-संपत्ति लानेवाली स्त्री द्वारा प्रस्तुत किये हुए व्यंजन से, कहीं अधिक स्वाद, शांति तथा संतोष है। अतुल धन परंतु अत्यल्प सुख देनेवाले विवाह से वह रूखा-सूखा भोजन कहीं बढ़कर है। यह विचार कि उनका प्रेम क्रय किया गया है, उनको सुखी नहीं रहने देता।

"तुम्हारे समान लोग सोने के सम्मुख, सोने की लिप्सा के सम्मुख झुक जाते हैं। तुम उसकी याचना करते हो, तुम उसके लिए तृषित रहते हो तथा तुम यह सुख-स्वप्न देखा करते हो कि उसके द्वारा तुम भविष्य में क्या-क्या साधन जुटा सकते हो, विवाह द्वारा तुमको क्या-क्या प्राप्ति हो सकती है। प्रेम सबसे अंत में उत्पन्न होता है।

"यह दहेज की मीमांसा है। बेटा, क्या तुम बतला सकते हो कि कौन-सी आकर्षणशक्ति तुमको खींचकर इस वन-प्रदेश में ले आयी है? धन, रुपया!! इस आकर्षक चुंबक की संचालन-शक्ति क्या है? हा, विवाह!! धिक्कार है ऐसे विवाह को !!! सुंदर पंखवाले पक्षी को फँसाने का यह कैसा जाल डाला था तुमने! शांत रहो, हमें सफ़ाई देने की कोई आवश्यकता नहीं है। बात बिलकुल स्पष्ट है। तुम स्वयं देख सकते हो। क्यों, क्या आभूषणों से लदी हुई सुंदरी बालिकाएँ पक्षियों के समान नहीं हैं। उनको फँसाने का फंदा क्या दहेज नहीं है? क्या विवाह जाल के समान नहीं है और बहेलियों-लोलुप नेत्रों से निहारता हुआ वर क्या किसी बहेलिये से कम है?"

वृद्ध ने आगे गरजकर कहा—"आख़िर लोग विवाह क्यों करते हैं? सैकड़ों और हज़ारों की लालसा से। लालसा, धन की तृष्णा से ही लोग वधूवरण अधिक आवश्यक समझते हैं? कुछ वधू के प्रेम से प्रेरित होकर वे विवाह नहीं करते। मेरी राय मानो। किसी अच्छे घर की तलाश करो और किसी धनाढ्य की कन्या से विवाह करो। अपने भविष्य को सँभालने के लिए, अपने नामधारी प्रेम के लिए ऐसा ही विवाह करो। प्रेम नहीं—प्रेम तो दैवी प्रसाद है। उसका अनादर इस प्रकार न करो।"

युवक यह सोचकर कि वह बहुत सुन चुका, उठ खड़ा हुआ। परंतु वृद्ध ने उसे बैठने का इशारा करके पुनः कहना प्रारंभ किया—"एक बात और सुनते जाओ। आजकल जब दहेज का प्रश्न उठता है, तो लड़के कहने लगते हैं—अजी साहब! यह प्रथा सनातन से चली आ रही है। इसका पालन करने के अतिरिक्त और चारा ही क्या है! अब यह बताओ कि प्रेम पर इसका कैसा प्रभाव पड़ सकता है? प्रेम तो स्वयं उत्पन्न होनेवाली वस्तु है। बेटा, इसी से कहता हूँ कि दहेज की प्रथा एक भयंकर सामाजिक दूषण है।"

कुछ ठहरकर वृद्ध फिर बोला—"सुन लो बेटा! मैं अपनी कन्या के लिए ऐसा वर ढूँढ़ रहा हूँ, जो स्वयं अपनी ... करने में समर्थ हो; जो सर्वथा



कुमारी श्रीमायादेवी (मैसूर)

कुमारीजी मैसूर-राज्य के प्रतिष्ठाप्राप्त एक उच्च राजकर्मचारी की कन्या और बंबई यूनि० की अंडर-ग्रेजुएट हैं। स्काटलैंड की प्रसिद्ध यूनीवर्सिटी में कुछ समय तक L. L. A. की परीक्षा का अध्ययन करती रहीं। विगत महायुद्ध के समय सेना के उपयोग के लिए आपने एक अरबी कोष का भी संपादन किया था, जिसकी अधिकारियों ने बड़ी प्रशंसा की थी। कुछ काल तक आप क्वेटा-बिलोचिस्तान के शिक्षा-विभाग की लेडी सुपरिंटेंडेंट रह चुकी हैं। कई वर्षों से आपका झुकाव साहित्यसेवा की ओर हो रहा है। कुमारीजी कई भाषाएँ जानती हैं; अँगरेज़ी पर तो आपका अच्छा अधिकार है। ईश्वर करे आप अपने उद्देश्य में सफल हों। आपकी एक कहानी इसी अंक में दी गई है।



कुमारी श्रीलक्ष्मीसुगंधराजदेवी (पंजाब)

ओरछा-स्टेट के साहित्य और कलाप्रेमी महाराजा साहब ने, कुमारीजी को, उनकी एक सुंदर सिल्कपेंटिंग तथा 'नेचुरल आर्ट फ़्लावर्स' पर प्रसन्न होकर मनोहर रजत-पदक एवं सनद प्रदान किये हैं । श्रीकुंडेश्वर-मेले और प्रदर्शिनी के अवसर पर शिक्षित जनता ने भी इन चीज़ों की खूब प्रशंसा की थी। कुमारीजी पर्याप्त शिक्षिता और ललित कलाओं में अभिरुचि रखनेवाली हैं। हमें उनकी सफलता पर प्रसन्नता है ।

N. K. P.

स्वतंत्र होकर विवाह करने को उद्यत हो। मैं ऐसे लोगों को जानता हूँ जो अभिमान से निर्लज्जतापूर्वक कहते फिरते हैं कि मेरी पत्नी जगह, ज़मीन तथा घरद्वार दहेज में लायी है। स्त्रीरूपी पत्ती के शिकार की ताक में लगे रहनेवाले ऐसे लोग घृणा के पात्र हैं, जो उत्सुकतापूर्वक खोज में लगे रहते हैं कि ऐसी धनसम्पन्न कन्या कहाँ मिले जिसके दहेज के द्वारा मैं विलायत जाऊँ, शिक्षा प्राप्त करूँ तथा किसी रोज़गार या काम-धंधे में लग जाऊँ।"

वृद्ध ने यह कहकर तिरस्कार से उसकी ओर देखा—"प्राचीन इतिहास के उस युग की बात तो ज़रा सोचो जब यश, शौर्य और विश्वास से पूर्ण योद्धा लोग पत्नीवरण करते थे। महाराज द्रुपद ने दूर-दूर तक घोषणा करायी थी कि जो कोई धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर मत्स्यभेद करेगा, उसी के साथ द्रौपदी का विवाह किया जायगा। स्वयंवरों में जो योद्धा अपने कौशल और पराक्रम से सबको पछाड़ता वही सुंदरी कन्याओं द्वारा वरण किया जाता।

क्या तुमने बीजापुर के राजकुमार का हाल नहीं पढ़ा है। किस प्रकार वह निरंतर परिश्रम करता रहा कि उसे राजकुमारी प्रेतल प्राप्त हो, जो एक ग्रामीण साधारण-सी कन्या थी। कहाँ वह राजपुरुष और कहाँ यह शूद्र-कन्या एक साधारण प्रजा की संतान। वह शूरता के दिन थे। और अब, अब दहेज एक धर्म-सा बन गया है। जाओ बेटा, जाओ! जो तुम चाहते हो उसे कहीं और ढूँढ़ो!"

युवक शीघ्रता से उठ खड़ा हुआ। वह अत्यंत रुष्ट तथा लज्जित था। नमस्कार करके उसने जाने की आज्ञा माँगते हुए कहा—मैं आपके आतिथ्य का अनुग्रहीत हूँ, और चल दिया।

वृद्ध ने सिर-मात्र हिलाकर उसे जाने की अनुमति दी और अपनी कन्या के पास चला गया। वह थक-सा गया था।

सावित्री उनके वार्त्तालाप का अधिकांश सुन चुकी थी, परंतु वह संतोष की मूर्ति थी। उसने पिता से पूछा—"क्या अतिथि के लिए भोजन बनाना होगा?"

"नहीं बेटी, नहीं"—वृद्ध ने क्रोधित होकर उत्तर दिया—"वह तो गया। बेटी! वह अपने योग्य नहीं था।" वृद्ध के स्वर में कोमलता थी। पिछले कुछ घंटों के अनुभूत कष्ट से उसका गला कंपित हो रहा था। वह बैठकर मानवी व्यापार की संकुचितता पर विचार करने लगा। हाय! उसकी कन्या पल-पल सयानी हो रही थी, इसका स्मरण भी उसे विष के समान कष्टदायक था।

उसने सोचा—कैसा अच्छा, स्वस्थ, युवक था और सुवर्ण के लालच में सीधी-सच्ची प्रेम की मूर्ति को ठुकराकर चला गया।

कितने ही नवयुवक भिक्षुकों ने सावित्री से विवाह करना चाहा था, परंतु इन सबों को उसने अस्वीकार कर दिया था।

वृद्ध शिवनारायण थोड़ी देर के लिए सोचता कि जैसे बनेगा तैसे, भीख माँगकर, ऋण लेकर, चोरी करके अथवा दूसरों से याचना करके धनसंचय करूँगा। परंतु दूसरे ही क्षण वह मन में विचारने लगता, नारायण, नारायण! मैं क्या सोच रहा हूँ। इस प्रकार मैं अपने सिद्धांतों की हत्या नहीं कर सकता। मैं आलसी तथा अकर्मण्य अजगर के समान नहीं हूँ; मैं कार्यकुशल, अध्यवसायी मधुमक्खी हूँ। मैं कुछ और प्रयत्न करूँगा। परंतु मैं करूँ तो क्या करूँ? क्या नगर को पुनः लौट चलूँ और अपने पिछले लुप्तप्राय नाम को पुनः जागृत करूँ? सोचते-सोचते वह विह्वल हो उठा। कातरता से उसके नेत्र में आँसू छलछला आये, परंतु उनको तुरंत पोंछकर वृद्ध फिर ध्यान-मग्न हो गया। उसको अपने ढोंगी मित्रों से मिलने में लज्जा लगती थी। दरिद्रता तथा भावी कठिनाइयों की भयावह संभावनाएँ उसे विचलित करती थीं और उसे शंका होने लगती कि कहीं उसकी लाड़ली कन्या सावित्री को कष्ट न मिले। वृद्ध कभी-कभी सोचता कि उसको पुनः लौटकर परिचित मनुष्यों के बीच में रहना चाहिए। अपने मन से वह तर्क करता कि सहायता तथा सहानुभूति पाने के लिए मुझे एक बार फिर अपनी खोयी हुई शक्ति तथा प्रभाव को प्राप्त करना होगा जिससे कि मैं सावित्री को उसके योग्य वातावरण में रख सकूँ। कोई निश्चयात्मक मार्ग ग्रहण करना ही होगा, यही उसने सोचा।

समय सदैव की भाँति अत्यंत शीघ्रता से व्यतीत

होती जाता था। वृद्ध शिवनारायण अब भी उसी प्रकार परिश्रम करता हुआ अपनी विचारधारा में ग़ोते लगा रहा था। सफलता की संदिग्धता उसका गला दबा रही थी। वृद्ध सोचता, सावित्री को यहीं छोड़कर कभी-कभी थोड़े दिनों के लिए नगर हो आया करूँ और एक नवीन जीवन-चर्या प्रारंभ कर दूँ। परंतु, भगवान् बहुधा इस प्रकार से काम बना देता है, जिसकी हमको आशा भी नहीं रहती। हाँ, समय की देर थी।

× × ×

कार्त्तिक-मास की एक संध्या के समय, जब कि अंधकार प्रतिक्षण घनीभूत हो रहा था, एक अत्यंत थकित और क्लांत पथिक गाँव के सामनेवाले मैदान को पार करता हुआ आ रहा था। अँधेरा बढ़ने के कारण वह पुरुष गाँव पहुँचने के लिए शीघ्रता कर रहा था।

मैदान में झाड़-झंखाड़ तथा जहाँ-तहाँ नागफनी के काँटे उगे हुए थे। कहीं-कहीं खजूर की झाड़ियाँ भी थीं। दिन में तो वह जगह सुहावनी दिखायी देती, परंतु रात्रि के समय एक अपरिचित व्यक्ति के लिए वह स्थान अत्यंत दुर्गम और भयावह बन जाता। पथिक रह-रहकर ठोकर खा जाता और व्यग्रतापूर्वक चारों ओर आश्रय की खोज में नज़र दौड़ाता। सशंकित होकर उसने यह सोचा कि अवश्य वह मार्ग भूल गया है और अंधकार में ही अपने नेत्रों पर बल देकर उसने फिर देखने की चेष्टा की। सौभाग्य से अबकी उसे एक क्षीण, टिमटिमाता हुआ प्रकाश दूर पर दिखायी पड़ गया। अपनी गठरी लिये हुए वह शांतिपूर्वक आगे बढ़ा, और अंत में झोंपड़ी के द्वार पर पहुँच गया। झोपड़ी का द्वार अधखुला था और उसी के रंध्र में से प्रकाश आ रहा था।

"अरे भाई! कोई है यहाँ?"—कहकर उसने ज़ोर से साँकल खटकायी।

वृद्ध शिवनारायण तथा सावित्री ने अभी-अभी अपना भोजन समाप्त किया था और वृद्ध चटाई पर बैठकर सावित्री से अपने नवीन निश्चय की बात कहने ही वाला था।

आवाज़ सुनकर सावित्री झट उठी और यह सोचते हुए कि कोई ग्रामवासी उनकी शांति भंग करने आ मरा, उसने द्वार खोला। देखा तो सामने एक अपरिचित सज्जन को खड़ा पाया। अपने पिता को यह बात बताकर वह झट अंदर चली गयी। वृद्ध ने जल्दी से चादर उठाकर कंधे से ओढ़ ली और आगंतुक के सम्मुख आकर पूछा—"आप कौन हैं और इतनी रात गये यहाँ कैसे आये?"

आगंतुक, जो देखने में सुंदर और प्रौढ़ावस्था का युवक था, निर्भीकता से अंदर आ गया। अपनी गठरी पृथ्वी पर फेंक और उसी पर आसन जमाकर दीर्घ निःश्वास छोड़ता हुआ बोला—"महाशय, मैं एक अपरिचित व्यक्ति हूँ। क्या आप मुझे ठहरने देंगे? मैं थक गया हूँ। क्या आप मुझे एक दिन विश्राम करने की आज्ञा देंगे, क्योंकि मेरे सामने अभी बड़ी लंबी यात्रा शेष है?"

शिवनारायण को आगंतुक की धृष्टता पर आश्चर्य तो अत्यंत हुआ, परंतु अपने विनम्र स्वभाव के कारण वह उसे मना न कर सका।

भटकता हुआ यह भिखारी कहाँ से आ मरा—शिवनारायण ने अपने चित्त में कहा। फिर प्रकट रूप से बोला—हाँ, हाँ, अवश्य! हम लोग निर्धन हैं तो भी रूखा-सूखा भोजन और इस कुटी का आतिथ्य हम सहर्ष आपकी भेंट करते हैं। क्या आप कभी इधर नहीं आये हैं?

"जी नहीं"—आगंतुक ने उत्तर दिया—"मैं एक भ्रमण करनेवाला भिक्षुक हूँ तथा निरंतर एक स्थान से दूसरे स्थान की यात्रा किया करता हूँ। यदि थकान नहीं मालूम होती, तो मिल जाने पर मेहनत-मजूरी भी कर लेता हूँ। अज्ञात रूप में मैं इस विस्तीर्ण पृथ्वी की परिक्रमा लगाता फिरता हूँ, मेरा कोई अपना नहीं है, जिसे मेरी चिंता हो। आज मिल गया तो खा लिया, कल न मिला तो भूखा रह गया। संतोष रखकर पृथ्वी पर जहाँ भी स्थान मिला पड़ रहा और नक्षत्रावलोकन करता रहा।"

आगंतुक थोड़ा खाँसकर फिर कहने लगा—"मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप किसी प्रकार का कष्ट मेरे लिए न कीजिए। मैं स्वयं अपना प्रबंध कर लूँगा।"

जब तक आगंतुक बोलता रहा, तब तक शिवनारायण उसकी ओर जिज्ञासायुक्त दृष्टि से साश्चर्य देखता रहा।

उसके बोलने का ढंग, उसकी परिष्कृत भाषा तथा उसका क़ीमती परंतु मैला वस्त्र, उसके कुलीन होने का परिचय दे रहे थे।

"अरे भाई, ऐसी भी क्या जल्दी है ? कुछ भोजन कर लो। तुम भूखे तथा थके हुए दिखायी दे रहे हो।"

आगंतुक ने उनको धन्यवाद देकर कहा—"मैं कल सूर्योदय होने पर चल दूँगा। संभव है, हम आप फिर मिलें।"

"परंतु आपका विचार कहाँ जाने का है ?"—वृद्ध ने पूछा।

"अगले गाँव की ओर"—आगंतुक ने शांत भाव से उत्तर दिया।

"नहीं, कल न जाइए। कुछ दिन ठहरकर विश्राम कर लीजिए।"—यह कहकर वृद्ध उसका कंधा पकड़े हुए उसे अंदर के कमरे में ले गया।

भीतर जाकर उसने सावित्री से भोजन तैयार करने को कहा। वृद्ध के प्रशांत गांभीर्य से आगंतुक आकर्षित हो रहा था।

सुंदरी सावित्री एक साधारण-सी साड़ी पहिने शीघ्रता से भोजन बनाने में व्यस्त हो गयी। अपने पिता के अतिथियों की सेवा करने का उसे अभ्यास-सा पड़ गया था। दराज़ में से झाँककर उसने आगंतुक को अब प्रकाश में देखा। देखकर वह मन में कहने लगी—"यह पथिक तो देखने-सुनने में भला मालूम होता है।"

ताज़ा गरम दूध, मुलायम पतली रोटियाँ, मलाईदार दही, स्वादिष्ठ भाजियाँ, स्वच्छ चावल आदि जब सुंदर रीति से पत्तल पर परसकर आगंतुक के सामने आये, तो उस श्रांत क्लांत पथिक को वास्तव में भूख लग आयी। इतना सादा भोजन भी इतना स्वादिष्ठ हो सकता है, यह उसे आज ही ज्ञात हुआ।

उसने सावित्री को देखा, उससे बातचीत की। सावित्री लज्जा तथा संकोच की पुतली के समान उसे जान पड़ी। सहसा उसे दीन तथा वृद्ध शिवनारायण से सहानुभूति हो चली। उसकी इच्छा हुई कि किसी प्रकार उसकी तथा उसकी कन्या की सहायता करना चाहिए।

उस दिन रात को शिवनारायण न सो सका। बराबर यही सोचता रहा कि आख़िर यह व्यक्ति है कौन। देखने में तो ईमानदार तथा सत्पुरुष मालूम होता है। उसका चेहरा-मोहरा उसके कार्य, उसकी सुसंस्कृत भाषा, उसके वस्त्र यही बता रहे हैं कि वह ऊँचे वंश का है और यह भिक्षावृत्ति उसके लिए नवीन वस्तु है।

पथिक भी उस रात को पड़ा सोचता ही रहा। नाना प्रकार के भाव उसे विचलित कर रहे थे, वह अपने चित्त में सोचता—"हमारे समान कौन ऐसा मूर्ख होगा जो घर, ज़मीन, कुटुंब, परिवार, अतुल धन तथा उच्च पद होते हुए भी घूमनेवाले भिक्षुक की वृत्ति ग्रहण कर केवल पत्नी की खोज में—एक निर्धन परंतु सच्ची पत्नी की खोज में—सैकड़ों कोस की यात्रा करता फिरेगा। मुझे विवाह में दहेज न चाहिए। भावी पत्नी का आत्म-सौंदर्य ही मेरे लिए यथेष्ट है। उच्च वंश की मुझे चाह नहीं है। मैंने तो वही करना निश्चय किया है, जो और कोई नहीं करता। मैं एक नवीन सिद्धांत की स्थापना करूँगा। ईश्वर करे वृद्ध महाशय मुझे उस समय तक न पहचान सकें, जब तक मैं विवाह का प्रस्ताव उपस्थित न कर लूँ।

सवेरा हुआ। वृद्ध अध्यापक ने पूछा—"क्यों भाई, भली प्रकार निद्रा तो आयी ?"

अतिथि ने उत्तर दिया—"हाँ महाशय, आपकी कृपा से खूब सोया। मैं आपका अत्यंत अनुगृहीत हूँ, आपने मुझ-जैसे अपरिचित तथा असहाय व्यक्ति को अपना सुंदर आतिथ्य प्रदान किया।"

"वत्स, तुम व्यर्थ धन्यवाद दे रहे हो। मैं तो यह कहने आया हूँ कि तुम दो-चार दिन और ठहरकर विश्राम कर लो और जो कुछ रूखा-सूखा मैं तुम्हारे सामने रख सकूँ, उसी पर संतोष करो।"

आगंतुक बोला—"मैं आपसे भी अधिक गिरी दशा में हूँ, अतः रूखे-सूखे भोजन का तो प्रश्न ही नहीं उठता।"

अध्यापक के गंभीर नेत्र अतिथि के हृदय की बात मानो खोज रहे थे। उसने कोई उत्तर न दिया। हृदय में सोचने लगा—"लो एक निर्धन व्यक्ति पुनः सामने आया। संभवतः परमेश्वर की यही इच्छा है कि मेरी चिंता इसी प्रकार दूर हो। यह पुरुष यद्यपि नितांत धन-हीन है, फिर भी कैसा सुंदर है। शरीर से बलिष्ठ तथा स्वभाव का नम्र है। इसे ही मैं अपना जामाता बनाऊँगा।"

आगंतुक रामनारायण बना रहा। दिन प्रतिदिन सावित्री के प्रति उसका प्रेम बढ़ता गया। नित्य उसे सावित्री से मिलने का अवसर मिलता। रामनारायण उसके कामों में हाथ बटाता, बग़ीचे में सावित्री के साथ दैनिक काम करता। सावित्री के हृदय में भी रामनारायण के प्रति प्रेम के अंकुर उत्पन्न हो गये।

वह वृद्ध अध्यापक का भी काम कर दिया करता। जो कुछ साधारण भोजन मिलता, उसी पर पूर्ण संतोष करता। उसे न कोई चिंता थी न खेद, जिससे उसके इस आनंदमय विनोद में बाधा पड़ती।

कुछ ही दिनों के अनंतर सावित्री की सगाई इस अज्ञात भिक्षुक के साथ हो गयी। दिन व्यतीत होते गये तथा रामनारायण वहीं बना रहा।

रामनारायण इस कोलाहलरहित ग्राम की शांति के सुखोपभोग में परम प्रसन्न था। वह शांति के इस साम्राज्य को, ग्राम के सुंदर दृश्य को देख रहा था। आम के वृक्षों के झुरमुट तथा पीपल के पेड़ उस गाँव की शोभा बढ़ा रहे थे। उनके नीचे गाय-भैंस चरा करती थीं। झोपड़ियों के झुरमुट के पृष्ठदेश में हिलती हुई बाँसों की कोठी कैसी सुंदर मालूम होती थी। लहलहाते हुए बाड़रहित गेहूँ के खेत तथा स्वच्छ, शीतल समीर उस नगरनिवासी पथिक के लिए कितने आनंदप्रद थे। स्वच्छ, उज्ज्वल आकाश और तुषारबिंदु-सिक्त नीरवता उसे अनिर्वचनीय आह्लाद प्रदान करते थे। जंगली कपोतों का मधुर कूजन तथा कोयलों की मीठी मादक तान सुनकर उसे कितनी प्रसन्नता अनुभूत होती थी। "अहा, प्यारी सावित्री आ रही है"—उसने देखा वह हाथ में दही का पात्र लिये हुए थी। रामनारायण ने आकर पात्र उसके हाथ से ले लिया। सावित्री मुस्करायी। दोनों उद्यान में आये। सावित्री शीघ्रता से एक टोकनी ले आयी और दोनों मिलकर चमकदार बैंजनी रंग के बैंगन, शाक तथा अन्य भाजियाँ इकट्ठी करने लगे। इस समय वे दोनों अनुराग की स्वर्गस्थली में विचर रहे थे।

सावित्री ने घर पहुँचकर चटपट दही मथा और ताज़ा मक्खन लाकर सामने रक्खा। उसकी कार्य-कुशलता देखकर रामनारायण मन-ही-मन सराहने लगा—"अहा! यह है आदर्श गृहलक्ष्मी।"

रामनारायण ने उसके कार्य में सहायता देनी चाही, परंतु सावित्री ने हँसकर कहा—"नहीं, यह मेरा ही काम है, स्त्रियों का यही धर्म है।"

रामनारायण ने सोचा—"कहाँ वे धनिकों की आवश्यकता से अधिक कोमल कन्याएँ जो रेशमी तथा साटन के वस्त्र पहिने संगमरमर के सुकोमल फ़र्श पर चलते हुए भी क्लेश का अनुभव करती हैं, दिन-भर आलसिन बनी हुई गद्दों पर बैठी जँभाई लिया करती हैं, क्षण-क्षण पर सेवक-सेविकाओं की जिन्हें आवश्यकता होती है, पतिसेवा का नाम भी जिनको मालूम नहीं होता तथा जो दास-दासियों पर उचित-अनुचित आज्ञा चलाती हैं और कहाँ यह देवीस्वरूपा सर्वगुणसंपन्न साक्षात् लक्ष्मी सावित्री!!"

ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे वृद्ध अध्यापक विवाह-कार्य समाप्त कर देने के लिए उत्सुक होने लगा।

× × ×

एक दिन संध्या के समय वृद्ध शिवनारायण ने रामनारायण को प्रेमसहित, अपने पास बिठालकर कहा—"पुत्र! मैं तुम्हारे संबंध में कुछ और अधिक विवरण जानना चाहता हूँ। मुझसे कुछ मत छिपाओ और हृदय खोलकर अपना हाल उसी प्रकार कहो जिस प्रकार अपने पिता से कह सकते हो। अपने भविष्य, अपनी गृहस्थी, अपने माता-पिता आदि का हाल तो विवाह के पूर्व मुझे बता दो। देखो, मैं तुमसे वास्तव में प्रेम करता हूँ, मुझसे कुछ छिपाना मत!"

रामनारायण क्षण-मात्र के लिए थोड़ा हिचकिचाया और लज्जित-सा दिखायी पड़ा, परंतु उसके मुख पर सत्य-निष्ठा की प्रतिभा झलक रही थी। वह सहसा उत्तेजित भाव से बोला—"पूज्यवर! मैं हृदय खोलकर और सारा संकोच छोड़कर सच्ची बात कहूँ?"

वृद्ध शिवनारायण ने मुस्कराकर सिर हिला दिया। स्वीकृति पाकर रामनारायण कहने लगा—"तो मैं सच्ची बातें आपके पूछने के अनुसार कहता हूँ और ऐसा पूछने के कारण मैं आपका और भी अधिक आदर करता हूँ।"—यह कहकर उसने अपना सिर झुका लिया। कुछ क्षणों के बाद उसने फिर कहना प्रारंभ किया और इस समय उसके स्वर में नियंत्रित आत्माभिमान था—"मुझे खेद है कि वास्तविक बात मैंने अब तक छिपा

रखती थी। संभव है, आप मुझको ढोंगी समझें, परंतु मेरी कुछ ऐसी विचित्र भावनाएँ थीं जिनके कारण मैं अपना कर्त्तव्य निश्चित न कर पाया था। उन भावनाओं का मूल कारण कतिपय वे सामाजिक कुरीतियाँ थीं, जो कितने ही घरों का विनाश कर रही हैं। अतः मैं उनके संबंध में क्या करूँ तथा कैसे अपने उद्देश्य में सफल बनूँ, यह मैं न समझ पाया था। जिस सामाजिक दोष से मेरा तात्पर्य है, वह है दहेज-प्रथा जिसके कारण मनुष्य कन्या के गुणों को न देखकर धन-द्रव्य की ही दृष्टि से विवाह संबंध करते हैं।

"मैं शहर का रहनेवाला हूँ। अच्छे वंश में उत्पन्न हुआ हूँ और धन-संपन्न पिता का पुत्र हूँ। जीवन में मेरी स्थिति उच्च है। इच्छित सभी वस्तुएँ मुझे प्राप्त हैं। मुझे किसी बात की कमी या दुःख नहीं है। समय-समय पर दीन-दुखियों की मैंने थोड़ी-बहुत सहायता भी कर दी है। सुखोपभोग के समस्त साधन मेरे पास हैं। हाँ, कमी यह थी कि मेरा हृदय सूना-सा था, विवाह की समस्या मेरे लिए अत्यंत जटिल थी, धन लेकर कन्या ग्रहण करना मेरे निकट लज्जाजनक तथा निंद्य था।

"मैं दहेज की कुप्रथा यानी सामाजिक कुष्ट के विषय में सोचा करता और मुझे आश्चर्य होता है कि आत्माभिमानी तथा पुरुषार्थी मनुष्य क्यों इस कुप्रथा के शिकार बने हुए हैं!

"विवाह करते समय अपनी प्रकृति के आज्ञानुसार कार्य करना, भद्रता तथा पुरुषोचित साहस की रक्षा करना ही आदर्श कर्त्तव्य है, जिनका पालन आजकल कोई नहीं करता। मेरे लिए जितनी कन्याएँ ढूँढी गयीं, वे सभी धन-संपन्न सज्जनों की ऐसी कन्याएँ थीं जिनके साथ अतुल दहेजद्रव्य मिलनेवाला था। परंतु मैं न तो उनको जानता था, न उनको मैंने कभी देखा ही था। ऐसी सगाइयाँ केवल रस्मरिवाज की रक्षा के लिए हुआ करती हैं, अतः मैंने साफ़ उत्तर दे दिया कि मुझे यह स्वीकार नहीं है। यह व्यापार मेरी आत्मा के लिए अत्यंत घृणास्पद था। मैंने यह सबसे स्पष्टरूप से कह दिया कि मैं साधारण श्रेणी की कन्या से विवाह करूँगा, जो सीधी, सच्ची, कोमल स्वभाववाली तथा गुणवती होगी और जिसे मैं स्वयं देख लूँगा। मैंने अपने पिता-माता से कहा कि मैं इच्छित भार्या की खोज में भ्रमण करूँगा, स्वयं देख-भालकर विवाह करूँगा। परमात्मा की कृपा से घूमता-फिरता मैं आपके यहाँ आया। आपने मुझे भिखारी जानकर भी अपनी कन्या सावित्री के लिए पसंद किया है। आप मुझसे प्रसन्न हैं, मुझसे प्रेम करते हैं, आपने मुझे सावित्री को दे दिया है कि वह मेरी जीवन-संगिनी बने। पूज्यवर! वह मेरी हृदयेश्वरी होगी, मेरी जीविका से जो कुछ मिलेगा, उस पर निर्वाह करेगी तथा मेरे साथ सुखमय जीवन व्यतीत करेगी। क्या आप इतने से संतुष्ट हैं? आपको शहर छोड़े कितने ही वर्ष व्यतीत हो गये हैं। संभवतः आपको यह नहीं मालूम है कि आपके शहर का नया ज़िलाधीश होकर मैं ही आया हूँ।"

वृद्ध शिवनारायण हर्षोद्वेग के कारण अपने आसन से उछल पड़ा। प्रसन्नता से उसका मुख चमक उठा। सागर के वाष्पकणों की भाँति उसके मुख पर से चिंता, निराशा, दुख तथा दारिद्र्य की छाया सहसा लुप्त हो गयी।

अध्यापक ने हर्ष से गद्गद होकर कहा—"हाँ पुत्र! अवश्य ही मेरी लाड़ली सावित्री तुम्हारे साथ सुख तथा समृद्धि का उपभोग करेगी। उसके सादे जीवन और गुणों के प्रति तुम्हारा आदर और सहानुभूति ही सब कुछ है। यह सब तुम उसे दे रहे हो, फिर इससे अधिक संतोष की बात मेरे लिए क्या हो सकती है?"

वृद्ध ने पुकारा—"बेटी सावित्री, यहाँ आओ।"

लजाते हुए, धीरे-धीरे चलकर सावित्री आयी। पिता ने उसका हाथ पकड़कर कहा—"मेरी इस कन्यानिधि को ग्रहण करो। अब आज से वह तुम्हारी हो गयी। ईश्वर तुम दोनों के भविष्य को सुखमय बनावे।"

रामनारायण ने सावित्री का हाथ अपने हाथों में ले लिया।

शिवनारायण ने ऊपर हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हुए कहा—"हे इंद्र! चक्रवाक-मिथुन की भाँति इन दोनों को आप अभिन्न प्रेमसूत्र में सदा के लिए आबद्ध करें। अपने सुखपूर्ण घर में बालगोपालों से भरे-पूरे होकर वे वृद्धावस्था प्राप्त करें। हे जीव-मात्र के अधि-

धाता प्रजापति ! आप इन्हें प्रत्येक परिपूर्णता तथा समस्त अच्छी वस्तुओं के देनेवाले हों !"

× × ×

पीछे से नगरनिवासियों को मालूम हुआ कि जहाँ दहेज सफल न हो पाया था, वहाँ विशुद्ध प्रेम की तथा प्रेमी हृदयों की पूर्ण विजय हुई।*

* यह कहानी अँगरेज़ी में लिखी हुई आयी थी। ब्रजभाषा-काव्यप्रेमी और सुलेखक पं० सूर्यनारायणजी चतुर्वेदी ने इसका भाषांतर किया है।

—माधुरी-संपादक

वेदांत-विचार

[श्री० ब्रह्मचारी गोपालचैतन्यदेवजी]

वेदांत में कई विषयों की चर्चा इतने विस्तार के साथ की गयी है कि मनुष्य चकित रह जाता है। उसकी कई बातों के सुनने-मात्र से ही हृदय काँप उठता है, विश्वास करना तो दूर की बात है। मान लीजिए एक दुबला-पतला आदमी जो बीमारी के कारण कष्ट से समय पूरा कर रहा है, किसी वेदांती द्वारा मार्ग में रोक दिया जाय, और उससे यह ऐसा कहे कि "प्रिय आत्मन्, तुम पूर्ण आनंदमय, नीरोग और करुणामय अथच हृष्टपुष्ट हो! तुम सुंदर, सबल और अनंत प्राण हो!"—तो इन शब्दों से उसे प्रसन्नता होगी या वह कष्ट का अनुभव करेगा, यह बताना कठिन है। रोग की अधिकता से जब उसके पैतृक प्राण समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हों, उस समय भी यदि वेदांती उससे यही कहे कि तुम स्वस्थ हो, तो उस भलेमानस को क्या कहा जाय!

वेदांती की बात सुनकर उसके मन में संदेह तो अवश्य ही उत्पन्न हो जायगा। इसी लिए वेदांत के आचार्य इस विषय की एक मीमांसा कर गये हैं कि "आज तुम जिस अवस्था में हो, उसी में तुम सदा से रहते आये हो!" यह बात एक रूप में जैसी सत्य है, वैसी ही दूसरी ओर मिथ्या भी है। "उपर्युक्त दुबला-पतला आदमी बीमारी से बड़ा कष्ट पा रहा है, उसमें चलने-फिरने की भी शक्ति नहीं है"—यह बात जहाँ उसके लिए यथार्थ है (अर्थात् उसकी कल्पना ने उसके हृदय पर जो मूर्ति अधिष्ठित कर दी है वह तो रोगपूर्ण ही है), वहाँ वह रोग के सिवा दूसरी कल्पना ही कैसे कर सकता है, अथवा दूसरे विषयों की ओर उसका ध्यान ही कैसे जा सकता है, किंतु मान लीजिए कि उसी समय उसके घर में आग लग जाय, या वह देखे कि अचानक उसके स्त्री-पुत्रादि पर कोई विपत्ति आ गयी है और वे असहाय होकर चिल्ला रहे हैं—तब क्या अवस्था होगी? यही कि वह रोगी मनुष्य अपने दुख-दर्द को एकदम भूलकर रोगशय्या से उठ खड़ा होगा, और क्षण-मात्र का विलंब न करते हुए उस विपत्ति से स्त्री-पुत्रादि को बचाने का प्रयत्न करेगा। ऐसी दशा में उसके

रोगजर्जर शरीर में उतनी शक्ति कहाँ से आयी? उसकी निस्तेज आँखों में शक्ति की विद्युत् का संचार कैसे हो चला, उसके क्षीण कंठ से वज्रगर्जन कैसे होने लगा? ये सब शक्तियाँ कहाँ थीं? क्या ये सब शक्तियाँ और देह की तत्परता उसने कहीं से माँगकर प्राप्त कर ली, या



श्रीमद्ब्रह्मचारी गोपालचैतन्यदेव

ये सब उसकी अपनी ही हैं? यदि निष्पक्ष होकर इन सब बातों पर विचार किया जाय तो हमें खुद ही आश्चर्य होने लगेगा! किंतु यह सब क्यों?

मान लीजिए, आपके सामने लोहे का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है। वह हिलता-डुलता कुछ भी नहीं। किंतु चुम्बक का एक टुकड़ा कुछ दूर रखते ही वह लौहखंड उससे आकर सट जाता है। यह एक प्राकृतिक चमत्कार नहीं तो और क्या कहा जा सकता है! ठीक उसी तरह उक्त दुबला-पतला आदमी, जो रोग की चिंता में असहाय पड़ा हुआ था, भाव-चुंबक का स्पर्श

करते ही अद्भुत शक्तिशाली होकर उक्त साहस के कार्य कर डालता है। उस वक्त कोई नहीं कह सकता कि वह ६ मास का रोगी है।

ऐसी दशा में निष्पक्ष होकर बतलाइए कि आप किसे सत्य कहेंगे—उसकी बीमारी को या स्वस्थता को? वैज्ञानिक कहेंगे, दोनों ही सच्ची अवस्थाएँ हैं; किंतु वेदांती कहेंगे, ये दोनों ही माया हैं। इस तरह सचमुच ही यह एक चमत्कार कहा जायगा। जो व्यक्ति कुछ क्षण पहले जड़वत् था, वही सहसा प्राणपण से जाग उठा और कुछ देर बाद फिर निश्चेष्ट होकर पहली अवस्था को पहुँच गया! इस परिवर्तन का रहस्य क्या है?

चूँकि उसका जाग्रत् हो उठना कोई मिथ्या बात तो है नहीं। ऐसी दशा में विचारणीय प्रश्न यह है कि उसके रोग और स्वास्थ्य दोनों में सत्य कौन है, और वह सत्य क्यों है?

मैं तो यही समझता हूँ कि विपत्ति के आने से पूर्व उसने अपने शरीर को ही सबसे बड़ा अथच महत्त्वपूर्ण मान लिया था और इसीलिए उस देह की बीमारी को ही उसने अपनी बीमारी मान ली थी; किंतु जैसे ही एक चोट लगी, आघात पहुँचा कि तत्काल उसका मन देह से विलग होकर उठ खड़ा हुआ, उसे देह की बीमारी का स्मरण नहीं रहा और वह आत्मरक्षा या आर्त-रक्षा की चिंता में देह की मर्यादा से बाहर हो गया। उसे उतनी-सी देर के लिए देह की बातों का स्मरण तक नहीं रहा, अतएव वही दुबला-पतला आदमी एकदम शक्तिशाली मनुष्य बन बैठा। ऐसी दशा में उसके लिए देह-ज्ञान केवल कल्पना ही रह गया, वास्तविक कुछ नहीं। अर्थात् जैसे अब तक केवल संदेह के कारण ही कल्पना की ज़ंजीर से अपनी देह में वह 'अपने आप' को बाँधकर रोग-शोक, दुःख-कष्ट भोगता रहा, वैसे ही वह जो अचानक बीमारी की बात भूलकर सचेतवत् अपने को शक्ति-सामर्थ्यवान् समझने लगा, यह भी एक प्रकार से उसकी कल्पना का ही चमत्कार है। इसमें भी यथार्थ बात क्या है, यह तो नहीं कहा जा सकता; किंतु इतना निश्चित है कि उस व्यक्ति में कल्पना की स्वाधीनता खूब है। कदाचित् आप लोग उसे स्वाधीनता न कहें. लेकिन मैं दूसरी दृष्टि से देखता हूँ, और इसीलिए मेरी दृष्टि में यह एक प्रकार की स्वाधीनता ही है।

यथार्थ में यदि विचार किया जाय, तो यह देह कुछ भी नहीं है, केवल कल्पना की डोर से बँधा हुआ पंचतत्त्व का पुतला ही है। जैसे एक धागे के सिरे पर एक पत्थर का टुकड़ा बाँधकर हिला दिया जाय, तो आप देखेंगे कि उस पत्थर का जितना वज़न है वह सभी उस धागे पर आधार रखकर हिलता-डुलता है; किंतु किसी बड़े पत्थर को इस तरह हिला-डुला सकना असंभव है। पर अगर उस बड़े पत्थर को भी मज़बूत रस्सी से बाँध कर टाँग दिया जाय, तो उँगली के इशारे से ही वह भी उसी तरह हिलने लगेगा। ठीक यही बात तुम्हारे अपने शरीर के विषय में है। अर्थात् यह भी अपनी ही एक कल्पना की डोर से बँधा हुआ है। यदि तुम्हारा मन मिट्टी पंचतत्त्व को ही पकड़े रहा, तो शरीर हिलडुल न सकेगा, वह भारी मालूम होगा, उसके रोग-शोक का अंत नहीं रहेगा; किंतु यदि उसी को तुम देह-चिंता से विरक्त कर सच्ची कल्पना में लगाओगे, तो वही भारी जड़ देह तुम्हें अपनी कल्पना की डोर से हिलाने-डुलाने योग्य मालूम होने लगेगी। अर्थात् तुम अपने मन

की यथार्थ चिंता या अपनी वास्तविक विचार-शक्ति से ही उसे इच्छानुसार इधर-उधर घुमाने की शक्ति प्राप्त कर सकोगे।

यदि और भी गंभीरता से विचार किया जाय, तो मन को ऊँचा उठाना भी एक कल्पना ही प्रतीत होगा, केवल अपने विषय को सोचना या अपने-आपको पहचानना ही उसका आशय है। भावुक लोग कदाचित् इसे अत्युच्च भाव (कल्पना) कहने लगें; किंतु वेदांतिक कहेंगे कि यह भी तुम्हारी कल्पना ही है। जैसे वर्षों से तुम अपने को रोगी समझते रहे—एक वह कल्पना थी—वैसे ही आज अपने को नीरोग समझना भी कल्पना-मात्र ही है। वे लोग तो यहाँ तक कहने लगेंगे कि तुम्हारी स्वाधीनता ही काल्पनिक जगत् की वस्तु है। फटे-पुराने बिस्तरे पर सोकर रंगमहल के सुखोपभोग का स्वप्न देखनेवाला सबकी दृष्टि में उपहासास्पद हो जाता है, किंतु वेदांती लोग उसको भी हँसी का पात्र नहीं समझते। फल देखकर ही यदि विचार किया जाय, तो फटे-पुराने बिस्तरे का फल दुःख है, यह सब लोग मानते हैं, और रंगमहल का स्वप्न देखना सुखमय है, इसे भी सब स्वीकार करते हैं। जब रंगमहल का स्वप्न देखा गया, तब अवश्य ही सुख का अनुभव हो रहा था और उस समय उस फटे-टूटे बिस्तरे के दुःख को अनजाने में तुम भूल भी गये थे। ऐसी दशा में तुमने जो स्वप्न देखा, वह भी सत्य ही है; क्योंकि रंगमहल का स्वामी जिस प्रकार सुख भोग रहा है, वैसे ही तुम भी स्वप्न में सुख पा रहे थे। अब यदि मैं यह कह दूँ कि भिखारी के रंगमहल का सुख सच्चा है और लखपती का रंगमहल स्वप्न है, तो इसमें क्या हानि हो सकती है? तनिक विचारपूर्वक वैज्ञानिक की तरह निष्पक्ष उत्तर दीजिए। मैं तो यही कहूँगा कि न स्वप्न ही सत्य है, और न सत्य स्वप्न है! अर्थात् यह एक विकट पहेली है।

कल्पना एक ऐसा मनोरंजक विषय है, जिसमें मनुष्य के लिए पूर्ण और असीम स्वाधीनता प्राप्त रहती है। कुछ भी कल्पना करते रहो, तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। संसार के जितने भी बड़े-बड़े दार्शनिक, वैज्ञानिक और देश-हितैषी समाज-संस्कारक हैं, वे सब क्या कर रहे हैं? सभी तो कल्पना के कारोबार में जुटे हुए हैं—काल्पनिक सुख में विभोर हो रहे हैं। महाकवि कालिदास ने भी तो अपने भवन के सामान्य उपकरणों में बैठकर ही अलकापुरी में यक्ष के साथ यक्षपत्नी का मिलन कराया और पुष्पक-विमान पर चढ़ाकर राम को सारे भारत का भ्रमण करा दिया! उस समय उनके हृदय में जितना आनंद हो रहा होगा, उसके सम्मुख उनके सामान्य गार्हस्थ्य-उपकरण से प्राप्त दुःख-सुख की कल्पना भी शेष नहीं रही होगी! उस समय यदि एक के बाद दूसरे के क्रम से लगातार 'मंदाक्रान्ता' वृत्त के सैकड़ों श्लोक कवि की लेखनी के मुख से निकलते ही चले जाते, तो न उसकी कल्पना का अंत होता, न उससे प्राप्त सुख की इयत्ता ही। उस समय उन्हें अपनी वास्तविकता का भान ही कैसे रहता। ठीक इसी से वेदांतियों के "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" का संकेत मिलता है या नहीं? यही दशा दार्शनिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक सब की है। सभी आत्मज्ञान-शून्य होकर—वर्तमान अवस्था की स्थूल और मलिन कल्पना को भूलकर विशाल की आनंदमय कल्पना में विभोर हो गये हैं।

मेरी बुआ (फूफी) बाल-विधवा हैं। अब वह वृद्ध हो चली हैं। किंतु इस अवस्था में ज्वराक्रांत हो जाने पर भी उनका तीनों वक्त नहाना नहीं छूटता। वह हँसते-हँसते संसार की सारी झंझटों को सहती हैं; सब तरह के कष्ट उठाकर उन्होंने हम भाई-बहनों का लालन-पालन किया है। किंतु वह किस प्रकार से यह सब करने में समर्थ हुई हैं, आप जानते हैं? उन्होंने पहले ही से कल्पना कर ली थी कि "मैं व्रतचारिणी हूँ, सर्वसहा हूँ।" यही कारण है कि आज वह हमारे संसार में मूर्तिमती देवी हैं। आधुनिक समाज-संस्कारकों के चक्कर में पड़कर वह इससे उलटी कल्पना भी कर सकती थीं; किंतु उससे उनका जीवन सुखमय होता या नहीं, इसे कौन बतला सकता है।

दुःख-कष्ट तो संसार में है ही—यह हुआ वस्तुवादी का सच्चा सिद्धांत। किंतु यदि उससे जूझना हो, तो दुःख-कष्ट सहन करने के सिवा दूसरा उपाय ही क्या हो सकता है। तितिक्षा ही दुःख-कष्ट का एक-मात्र निदान है। किंतु यह भी तो वस्तुवादी का ही सिद्धांत है! इस पर वेदांतिक यह कहने लगेंगे कि इससे भी सरल उपाय का अवलंबन क्यों नहीं करते? जब न तो तुम्हारा दुःख ही कल्पना है और न सुख ही, तब क्यों व्यर्थ के लिए दुःख की कल्पना कर दुःखी होते हो? सुख का चिंतवन कर सुखी क्यों नहीं होते! एक उदाहरण देकर इस बात का स्पष्टीकरण किया जाता है—

एक मनुष्य घूमता-घामता अनजाने में कल्प-वृक्ष के नीचे जा पहुँचा। वह थक गया था, अतएव मन-ही-मन सोचने लगा—अहा, यदि इस समय एक गिलास शरबत मिल जाता, तो कितना अच्छा होता! तत्क्षण शरबत का गिलास सामने दिखायी दिया। शरबत को देखकर उसने सोचा, अब यदि बिछाने को एक सीतल-पाटी और पंखा झलनेवाला और मिल जाय, तो मेरी सारी थकावट दूर हो सकती है। तत्क्षण सीतलपाटी और पंखा झलनेवाला भी आ पहुँचा। वह लोभ में पड़ा और फिर मन-ही-मन कहने लगा—यदि इस समय एक षोडशी सुन्दरी चरण-सेवा करनेवाली होती, तो मेरे सुख का क्या कहना था! तत्काल ही एक षोडशी सुंदरी उपस्थित होकर पैर दाबने लगी!...इस प्रकार सुख के सब साधन उपस्थित हो जाने के बाद जैसे ही उसके मन में यह कल्पना हुई कि—यदि इस समय कहीं से सिंह आ जाय तो? बस, इधर मन में कल्पना हुई नहीं कि सामने से सिंह आ उपस्थित हुआ! सिंह को देखते ही उसे अपने मारे जाने की कल्पना हुई और तत्काल सिंह उसे मारकर जंगल में चल दिया! भला सिंह को सामने देखकर उसके मन में संकट या प्राणांत के सिवा दूसरी कल्पना होती ही कैसे। किंतु नहीं, समस्त सुख-सामग्री मिल जाने पर भी उसे दुःख की कल्पना होती ही गयी। क्यों?—जहाँ वह सुख काल्पनिक था, वहीं उसे नष्ट करनेवाले दुःख की कल्पना होना भी अनिवार्य ही था। इस कल्पना के सुख-दुःख में ही वह काल के गाल में चला गया! इसे केवल कल्पित कहानी ही न समझिए, मनुष्य की वर्तमान अवस्था को देखकर इसकी यथार्थता का सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

एक कथा और सुनिए। एक व्यक्ति दोपहर में वृक्ष के नीचे बैठकर हाँफ रहा था कि इतने

में दूसरा मनुष्य वहाँ आ पहुँचा। उसने पूछा—"क्यों भाई, इस प्रकार हाँफ क्यों रहे हो?" उसने कहा—"आज दो दिन से मेरे पेट में अन्न का एक दाना भी नहीं पहुँचा! कहीं से भी मैं कुछ संग्रह न कर सका। इसी कारण आज इस वृक्ष के नीचे बैठकर कल्पना कर रहा था कि मानों मैं किसी राजभवन में पहुँचकर अच्छे-अच्छे पकान्न खा रहा हूँ! किंतु तरकारी में मिर्च इतनी अधिक डाल दी गयी है कि मेरी जीभ जल उठी है—मेरे नाक-मुख से पानी निकलने लगा है!"

उसकी बात सुन वह दूसरा व्यक्ति हँसकर बोला—"मूर्ख! अगर कल्पित भोजन से ही पेट भर रहा है, तो सिर्फ़ मिर्च की तरकारी खाकर क्यों कष्ट पाता है—रबड़ी, खीर, लड्डू, पेड़े या अन्य मीठे पदार्थ खाकर ही क्यों मन-स्तुष्टि नहीं करता?"

सारांश, सुख-दुःख आदि सब कुछ कल्पना के ही खेल हैं। इसीलिए वेद ने कहा है—

तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु!

रोदन-गान

[श्रीगिरीशचंद्र पंत 'नरेंद्र']

भग्न हृदय का रोदन-गान।
किस निर्मम की स्मृति में होता,
किसकी छवि का आता ध्यान!
सोती आहें कौन जगाता
घुसकर उर-पट में अनजान!

× × ×

रहने दो, छेड़ो मत, पगले!
टूटी वीणा के मृदु तार;
भग्न हृदय में कैसे होगा—
सुमधुर, मञ्जुल ध्वनि-संचार?
क्यों बहती प्रसन्न हो इतनी—
अरी अबोध विदग्ध बतास?
आलिङ्गन कर मलयानिल का—
मुझे जलाती क्रूर उपहास।

× × ×

बीत गया वह निष्ठुर यौवन,
दे डाली उर-मणि अनमोल।
क्या रक्खा अब शून्य हृदय में!
आहें?—आहों का क्या मोल!
हुईं जरा ये निष्ठुर आहें!
करती हैं सस्मित उपहास!
बैठीं छिपकर भग्न निलय में,
ओढ़े स्मृति का स्निग्ध लिबास!

× × ×

बीतीं मधुर मिलन की घड़ियाँ,
चिर-सुख की कड़ियाँ नादान।
टूट गयीं आशा की लड़ियाँ,
अब किसमें अटकेंगे प्राण?

× × ×

उर नश्वर है, तन नश्वर है,
नश्वर है यह सृष्टि महान्!
प्रलय पयोध करेगा रोकर—
भग्न हृदय का रोदन-गान!

कबीर का काव्य

[श्री॰ पांडेय रामावतार शर्मा एम्॰ ए॰, बी॰ एल्॰]

परमेश्वर को प्रसन्न कर लौकिक-पारलौकिक सुखों की प्राप्ति की ओर मनुष्य-मात्र का ध्यान अवश्य होता है, अतएव 'रुचीनाम् वैचित्र्यात्' के अनुसार विचारशीलों ने अनेक तरह से जगत्स्रष्टा के रहस्य पर विचार किया है एवं करते जा रहे हैं। ये समस्त विचार विचारक के मानसिक विकास और बल पर अवलंबित हैं। जिस देश या समाज में जब जैसी विद्या का प्राबल्य होता है, उस देश या समाज के लोग उस युग में वैसी ही उन्नति करते पाये जाते हैं। परमेश्वर के रहस्य-चिंतन के मार्ग में भी इस युग का प्रभाव पर्याप्त विद्यमान रहता है। उदाहरणार्थ, हम आर्यों की अतीत और मध्यकालीन सभ्यता पर एक दृष्टि डाल सकते हैं। भारत का अतीत, जिसके लिए आर्यभूमि विख्यात है, गौरवमय था और तब सभी विभागों में उसके निवासियों ने पूरी उन्नति की। उस ईश्वर-संबंधी समस्याओं पर भी मनस्वियों ने ऐसे ऐसे विचार प्रदर्शित किये कि उनकी समानता में आज तक कोई अन्य मत नहीं ठहर पाया। बाद को भारत की मध्यकालीन सभ्यता या स्पष्ट शब्दों में पतन-काल की दशा का अवसर उपस्थित हुआ, और उन्नत विचार अवनति-गर्त की ओर झुकने लगे। ऐसी दशा में ईश्वर और सृष्टि के रहस्य-संबंधी विचार भी साधारण और मोटे हो चले। धर्म-भाव भी इसे रोक नहीं सका; क्योंकि पतन की प्रेरणा के कारण 'वेदप्रतिपादितो धर्मः अधर्मस्तद्विपर्ययः' का निर्णय मानने को कोई कटिबद्ध नहीं रहा। न वेद-विचार-विचलित मन 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' के सत्य मानने में समर्थ रहा। अतः 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' के विश्वास में भी अश्रद्धा हो गयी। फलतो गत्वा १२वीं-१६वीं शताब्दी में ईश्वर की प्राप्ति का एक-मात्र साधन भक्तिमार्ग माना जाने लगा। भक्तिमार्ग के उपासक अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने की नाना चेष्टाएँ करने लगे, मानों परमात्मा उनसे पृथक् है, जिसके अप्रसन्न होने पर भक्तों का अपकार और प्रसन्न होने पर उपकार होने की अचल संभावना है। यह विचार नितांत लौकिक कहा जा सकता है; क्योंकि यह ईश्वरत्व को मनुष्यत्व की बराबरी में ला रखता है, और ऐसी दशा में तो ईश्वर को सब तरह प्रसन्न करने का यत्न छोड़ मनुष्यमात्र की ही सेवा का भाव धारण करना अधिक हितकर है। पुनः जिस इष्टदेव की भक्ति में भक्त आत्मसमर्पण या तल्लीनता का स्वप्न देखते हैं, वह तब आरंभ में दूर का कोई शक्तिशाली व्यक्ति सिद्ध होता है। ऐसा विचार 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' से टकराता हुआ 'इहैवान्तः शरीरे स पुरुषः' का पूरा विरोध करता है। तो भी कुछ काल तक इसका प्राबल्य रहा। कारण, उस काल के कतिपय विद्वानों और धर्मप्राणों ने भी उसे आश्रय दिया, सम्मानित किया—चाहे उसका कोई भी आधार क्यों न हो। जिन पुराणों के ब्रह्मवाक्य द्वारा वैदिक विचारों का स्वरूप बदला गया, उन्हीं से इस भक्तिमार्ग का स्रोत प्रवाहित हुआ। उनमें ऊँचे विचारों के सर्वथा त्याग और मोटे विचारों के ग्रहण का समर्थन करते हुए अनेक स्थलों में स्पष्टतः ईश्वरत्व को लौकिकत्व प्रदान किया गया है, जिनका सहारा ले भक्ति-स्रोत के सहायक अपने विचारों का प्रचार करते रहे। प्रमाणार्थ, नीचे के श्लोक देखे जायँ, जो कितनी निर्भयता से वेद-ज्ञान-तप-योग-यज्ञादि पर भक्ति को प्रधानता दे रहे हैं—

भक्तिस्रोत

न तपोभिर्न वेदैश्च न ज्ञानेनापि कर्मणा।
हरिर्हि साध्यते भक्त्या प्रमाणं तत्र गोपिकाः॥
नृणां जन्मसहस्रेण भक्तौ प्रीतिर्हि जायते।
कलौ भक्तिः कलौ भक्तिर्भक्त्या कृष्णः पुरः स्थितः॥
अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः।
अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा॥

—श्रीमद्भागवत

इस भक्तिमार्ग के प्रबल होने के तीन मुख्य कारण थे—(१) धर्मशास्त्रों का संस्कृत में होना, (२)

ब्राह्मणों में पुरातन ब्राह्मणत्व की कमी, और (३) भाषा के कई प्रतिभाशाली कवियों का प्रादुर्भाव। जनता पतित दशा में थी, संस्कृत के शास्त्र सभी समझ नहीं सकते थे। इस कारण जो कुछ भाषा में धर्म और ईश्वर के नाम पर सर्वसाधारण के सामने रक्खा गया, उससे वे प्रीति करने लगे और शनैः-शनैः वह वेग प्रबल हो उठा। उसके मार्ग में विरोधस्वरूप यदि कोई खड़ा हो सकता था तो ब्राह्मण; पर ब्राह्मण-जाति भी तो पतन को प्राप्त थी। उसमें न वह वैदिक ज्ञान था, न त्याग। ब्राह्मण-समूह आत्मत्याग द्वारा समाजोपकार के लिए चिंतित न था, बल्कि वह सांसारिक विभूतियों का उपासक बन धर्म के प्राचीनतम त्यागमय स्वरूप को स्वार्थसाधना के रंग-ढंग से चित्रित करने में व्यस्त था। दो-चार विवेकी विद्वानों ने बदलते हुए रूप का विरोध किया भी हो, तो भी सामूहिक विरोधात्मक कार्य का एकदम अभाव कहना चाहिए। इससे गूढ़ वैदिक मर्म से अनजान भक्तिमार्गोपदेशकों को सहज में सफलता हाथ लगी। वे जनता को उनकी भाषा में ईश्वर-संबंधी विचार मोटे ढंग से समझाने लगे। पुनः भाषा के कवियों की काव्यगति इस ओर होने के कारण जनता पर उनके भी कथन का अधिक प्रभाव पड़ा। यही कारण है कि सूर, तुलसी आदि भाषा-कवियों की इतनी ख्याति हुई और उनकी कविताएँ कहावतरूप में भी समाज में चल पड़ीं।

कबीर की ख्याति

ऐसे ही कवियों में एक कबीरजी भी हुए। उन्होंने भी भक्तिस्रोत में डुबकियाँ लगा भक्ति-मंत्र की दीक्षा ली। कोई भारी विद्वान् न होते भी भक्तिप्रचार की ओर दत्तचित्त होने के कारण वह अपने समय में बहुत विख्यात हुए, पर उनकी ख्याति भक्ति-संसार के बाहर जाकर भाषा-जगत् में भी आ पहुँची। वास्तव में भाषा-जगत् में उन्हें इतना आदर दिया गया कि उनकी ख्याति अमर हो गयी; नहीं तो इस धर्म-भूमि भारत में कबीर किस बल पर धर्मगुरु की पंक्ति में इतने उच्च आसन पर विराजमान हो पाते।

हिंदी-साहित्य-संसार में कबीर की अच्छी ख्याति है। लोगों में उनके कथन भी पर्याप्त रूप में प्रचलित हैं। इतना सम्मान कई विद्वान् कवियों को भी नहीं मिला। कभी-कभी सूर और तुलसी के बाद इन्हीं का नाम रख दिया जाता है। प्रचलित भी है—

तत्त्व-तत्त्व सूरा कही तुलसी कही अनूठि।
बची खुची कबिरा कही, और कही सब झूठि॥

इधर हिंदी के परम प्रसिद्ध लेखक और विद्वान् मिश्रबंधु महोदयों ने हिंदी के नवरत्नों में ७वीं कुर्सी महात्मा कबीरदासजी को दी है। यह कबीर की प्रबल कवित्व-शक्ति और काव्यकला-नैपुण्य की स्पष्ट घोषणा है। ऐसे सम्मान के कारण अवश्य ही उनके काव्य के गुण जानने की बलवती लालसा काव्यप्रेमियों में होना संभव है। अतः कबीर की तल्लीनता और भावोद्रेक को काव्य-कसौटी पर रखकर हम स्वतंत्रता से जाँच सकते हैं।

कवि दूसरा सृष्टिकर्ता कहा जाता है। उसकी सृष्टि विधाता की सृष्टि से भिन्न ही होती है, क्योंकि विधाता की सृष्टि प्राकृतिक सत्य से भरी रची गयी है, और कवि का काव्यजगत् केवल किसी सत्य का आश्रय न ले 'कवियों की पहुँच' का मुँह ताका करता है। कवि किस प्रथा का आश्रय लेगा—सत्य या असत्य का, या दोनों का—इसे वही जानता है। यह कवि-कर्म-विधान की बात है कि किस भाव के चित्रण से कवि मानव-जीवन पर प्रभाव डाल सकता है। कवि भी मनुष्य के वैयक्तिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन की अनेकरूपता का मनन कर किसी निष्कर्ष को पहुँचता और उसी के द्वारा मन को आकर्षित एवं मुग्ध करता है, किंतु कार्य-क्षेत्र की परिमिति उसके विस्तार-प्रयत्न के मार्ग को संकीर्ण नहीं बना पाती। कारण, कवि किसी भी दृष्टि से—चाहे वह परिमित हो या विस्तृत, बाह्य हो या निहित—अपनी रचना में नयी-नयी वस्तुओं या व्यापारों का उल्लेख कर ही डालता है। उसे इससे वंचित कर सकनेवाली कोई शक्ति नहीं। तभी तो कहा है—'निरंकुशाः कवयः।' यों निष्प्रतिबंध होने का केवल कारण है कवि की वह कवित्व-शक्ति, जो कवियों के कवि 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' की अनादि अनंत शक्ति का अंश है, एवं कवि-हृदय में उसी महाकवि द्वारा निहित है। उस कवित्व-शक्ति का दूसरा नाम 'स्वाभाविक कल्पना-शक्ति' है। यही शक्ति कवि को सर्वदा सानंद रखती है और उसकी सृष्टि को लुभावनी बनाने में पूरी सहायता पहुँचाती है।

कवित्वशक्ति की परख

जिस कवि में स्वाभाविक कल्पना-शक्ति नहीं, वह कवित्व-शक्ति से शून्य है। वह कोई काव्य—मानव-जीवन को आह्लाद देनेवाला भाव कभी उत्पन्न नहीं कर सकता। इसी से किसी कवि की कवित्व-शक्ति की परख के लिए यह देखना अनिवार्य है कि उसकी पहुँच कैसी और कितनी है। यदि उस पहुँच से उसकी स्वाभाविक कल्पनाशक्ति प्रकट है, तो उसका काव्य सच्चा काव्य है, जिसके लक्षण में काव्याचार्य दंडी ने कहा है—"इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली।" इसी का समर्थन करते हुए अन्य आचार्य भी कहते हैं—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" (विश्वनाथ कविराज—साहित्यदर्पण)। "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" (मम्मट—काव्यप्रकाश)। "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" (पंडितराजजगन्नाथ—रसगंगाधर)।

अतः किसी कवि की कवित्व-शक्ति की परख में देखना चाहिए कि मानव-जीवन की अनेकरूपता के चित्रण में कवि कैसी पहुँच रखता है और उसकी अनोखी कल्पनाएँ कहाँ तक स्वभावतः अलंकार से भूषित हैं। कल्पना की स्वतंत्र गति कृत्रिमता की कुरूपता को नष्ट कर भावोद्रेक को सौंदर्यमय एवं मधुर बनाती है, तभी कवि अपने कर्म-विधान में सफल और सिद्धहस्त हो पाता है। तभी वह 'शायरी' भी मुमकिन है जिसके संबंध में सदुक्ति है—

शेर दरअस्ल है वही अकबर।
सुनते ही दिल में जो उतर जाये॥

यह ठीक है कि ऐसी शक्ति, विद्वत्ता या अध्ययन से नहीं प्राप्त होती और न इस आलोक में कवित्व-शक्ति की जाँच करनी चाहिए, पर यह भी उतना ही ठीक है कि पांडित्य, भावुक तल्लीन कवि की शक्ति को और प्रबल बनाता है। कवित्व-शक्ति के लिए कवि का दिल चाहिए, कल्पनाशक्ति का उद्गम विद्यमान रहे, पहुँच का प्रकाश आत्मल्यमान होने ही वाला हो। ऐसी दशा में पांडित्य प्रधानता नहीं ग्रहण करता, जिसकी ओर संकेत है—

इल्म से शायरी नहीं आती।
इश्क को दिल में दे जगह अकबर।

चाहिए तल्लीनता, पहुँच की शक्ति, अलंकार-योजना का बल और पत्थर नहीं—हृदय। प्रसिद्ध आंग्ल-कवि शेक्सपियर ने भी कवि की ऐसी ही कल्पना, अंतर्दृष्टि, सूक्ष्म और विस्तार-क्षमता के संबंध में कहा है—

The poet's eye, in a fine frenzy rolling,
Doth glance from heaven to earth,
from earth to heaven,
And, as imagination bodies forth
The forms of things unknown, the poet's pen
Turns them to shapes, and gives
to airy nothing
A local habitation and a name.
—Midsummer Night's Dream, Act. V. I.

काव्यकला का अभाव

अब देखना चाहिए कि हिंदी-नवरत्न के एक रत्न कबीर की कवित्व-शक्ति क्या मूल्य रखती है। कबीरजी स्वयं कहते हैं—"मसि कागद तो छुयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ।" इससे प्रकट है कि उन्हें काव्यकला की विवेचना से तनिक भी सरोकार नहीं था। विद्वानों की दृष्टि में काव्य क्या चीज़ है और कवि में किन-किन गुणों का होना आवश्यक है—इसका ज्ञान उन्हें नहीं हो सका। काव्य-मर्मज्ञों की आवाज़ भी कभी उनके पास नहीं पहुँची। तो भी वह कवि हो सके, उनकी रचनाएँ काव्यजगत् में समादृत हुईं। यह क्यों? बस, इसी से कि वह कवि का हृदय रखते थे, काव्य की रुचि उनमें थी, कविता करने की स्वाभाविक शक्ति का अभाव उनमें नहीं था। पर कवि की वह पहुँच उनमें नहीं आ पायी, जिसको ध्यान में रख ऐसा कहा जाता है—'जहाँ न जाय रवि, तहाँ जाय कवि।' ज्ञानी बनने की लालसा के साथ ज्ञान के साधनों पर अधिकार करना अनिवार्य है, वैसे ही कवि-हृदय पाकर काव्यालंकारों का संचय अत्यावश्यक है। इनके लिए पठन-पाठन, काव्यकला-ज्ञान, अंतर्दृष्टि-विचार, वर्णन-शक्ति आदि की ज़रूरत पड़ती है। इनसे स्वाभाविक शक्ति पुष्ट होती है, कल्पना में पूर्णता आती है, वर्णन-विस्तार को सामर्थ्य मिलती है, और अलंकार-योजना से भाव दिव्य हो उठते हैं। पर कवि का विद्या से सम्बंध रहा नहीं, न वह कवियों की शैली समझ सके, न काव्यमर्मज्ञों के निष्कर्ष तक पहुँच पाये। उन्होंने काव्य-जगत् में जो दौड़ लगायी, वह केवल जन्म से वंचित, अपुष्ट किंतु स्वाभाविक काव्य-शक्ति

के बल पर। लेकिन उस पर भी वह दृढ़ नहीं रहे, पीछे संशय ने आ घेरा और काव्य का आश्रय काव्य-कीर्ति के लिए न लेकर, दूसरे अभिप्राय के साथ उस शक्ति को मिश्रित कर उन्होंने कीर्ति कमाने की चेष्टा की।

अतः कविहृदय रखते हुए भी कबीर की कविता में काव्यकला की कमी का होना ठीक है। काव्य के भाव उनके हृदय से निःसृत होते थे, पर वे नंगे रहे, उनका श्रृंगार कभी नहीं किया गया। कबीर के पास श्रृंगार की सामग्री ही न थी, कविता को अलंकृत करते कैसे। फलतः उनकी रचनाओं में छंदोभंग का प्राचुर्य है, रीति-नियमों का पालन किसी बात में नहीं किया गया है। इस सम्बंध में ऐसा सोचने का भी कोई आधार नहीं कि "यह त्रुटि लिखनेवालों की भूल से आ गयी हो।" जब रचनेवाले की ही विद्वत्ता स्पष्ट है तो लिखनेवालों को क्या दोष दिया जाय, वरन् ऐसा सोचना युक्तिसंगत है कि जहाँ कहीं कबीर में श्लाघ्य है, वहाँ-वहाँ लिखनेवालों की कृपा आ घुसी है। कबीर के काव्य-विषयों पर विचार करने से इसके स्पष्ट प्रमाण भी मिलते हैं।

काव्य-सार

कबीर की रचनाओं या तुलनात्मक अध्ययन करने से उनमें तीन विषयों की ही प्रधानता मिलती है, और वास्तव में अन्य विषय उन्हीं तीन के सम्बंध से आते गये हैं। वे हैं—१ ईश्वर-जीव-सृष्टि का वर्णन, २ उपदेश और चितावनियाँ, और ३ तीव्र आलोचनाएँ। इन्हीं में कबीर अपना विचार प्रकट करते हुए पाये जाते हैं, और ये विचार इस ढंग से व्यक्त किये गये हैं कि सुनने-पढ़नेवालों पर पूरा प्रभाव पड़े, मानों अपने समय में कबीर उन्हें कह-कहकर लोगों को समझाया करते थे, और तर्क द्वारा अपने विचारों को ग्राह्य एवं मान्य सिद्ध करते थे।

ईश्वर के सम्बंध में भिन्न-भिन्न सम्मतियाँ व्यक्त हुई हैं। यह बात नहीं कि केवल अभावात्मक विचार विद्यमान हैं, उनके साथ-साथ भावात्मक शब्दों का भी बाहुल्य है। निर्गुण उपासना को लेकर प्रतिमापूजन और अवतारवाद का खंडन कबीर के कुछ शब्दों में मिलता है, परंतु उनका फिर समर्थन भी वही करते हैं। राम-शिव-साकेतवासी आदि शब्दों से सगुणवाद का आरंभ होता है, और अवतार का भी समर्थन किया जाता है। जीव-पिंड-सम्बंधी वेदांत-बातों में भिन्न-भिन्न निराली कल्पनाएँ मिलती हैं। इस सम्बंध में आलोचक और टीकाकार हिंदू-दर्शनशास्त्र का आश्रय ले कबीर के काव्य में चमत्कार-निरूपण कर उन्हें ब्रह्मानन्दी बतलाते हैं। पर सोचने की बात यह है कि कबीर वास्तव में हिंदू-दर्शन की बातों से अवगत थे या नहीं। उक्त बातें और वेदांती शब्द तो रोज़ देहाती हिंदू यों ही अपनी भाषा में व्यवहृत करते रहते हैं, दार्शनिक बातों का संकेत वे स्वभावतः किया करते हैं। कबीर के किसी पद में किसी दर्शन-तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख नहीं है—यों ही अटपटी बातें आती गयी हैं तथा उनमें एकता का सर्वथा अभाव है। भावानैक्य उनके वैसे सिद्धांत का न होना ही बतलाता है। फिर सांकेतिक शब्दों के प्रयोग का कारण यह भी है कि कबीर 'सत्संगी' थे। वह साधुओं, पंडितों और मुल्लाओं के पास उठते-बैठते थे। देशाटन भी उन्होंने किया, इससे अनेक बातें उनके सुनने में आयीं और उनका वह उपयोग भी करते गये। अस्तु, जिसका उल्लेख कवि-रचना में न हो, उस पर प्रखर प्रकाश डालना आलोचक की कृपा हो सकती है, कवि की पहुँच कदापि नहीं।

उपदेश, चितावनियाँ और आलोचनाएँ सब कबीर के सिद्धांत की पोषक जान पड़ती हैं, क्योंकि कर्म द्वारा कबीर ने अपने जिस लक्ष्य को प्रकट किया, वह उनमें विद्यमान मिलता है। कह सकते हैं कि उनमें भी पीछे कबीर-भक्तों की रचनाएँ समय-समय पर मिलायी गयी और मिलायी जा रही हैं, तथापि उनमें पर्याप्त पद कबीर के सच्चे विचारों के पोषक मिल सकते हैं। कवि-चेष्टा पर निष्पक्ष विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि कबीर का लक्ष्य काव्य करना नहीं था—दूसरा ही था, जिससे प्रेरित हो कवि ने जान-बूझकर हिंदू-शास्त्रों के कतिपय शब्दों का प्रयोग किया, यद्यपि वे उनके यथार्थ से परिचित नहीं थे।

कवि-चेष्टा

मिश्रबंधुओं ने कबीर का प्रधान उद्देश्य 'पैग़ाम' देना माना है, काव्य-रचना नहीं। तब कबीर को मुख्यतः महाकवि या कवि मानना भी ठीक नहीं। कबीर भी कभी अपनी कविता या कवित्वशक्ति की ओर कोई संकेत नहीं करते, वह बराबर अपने ऊँचे और सत्य विचारों



विनोद

[चित्रकार—श्रीअजितकुमार वसु]

N. K. P.

की घोषणा करते पाये जाते हैं। अपने को जुलाहा कहते हुए उन्होंने भारतभूमि के प्रायः हिंदुओं पर प्रकट किया कि "मैं जुलाहा हूँ अवश्य, पर काशी में मेरा प्रादुर्भाव हुआ है। मैं जो धर्मोपदेश करता हूँ, वह मेरे गुरुदेव रामानंदजी की चितावनी के अनुरूप है, और मेरा जन्म ही जीवों के उद्धार के लिए हुआ है। मेरी वाणी 'समरथी' साकेतवासी की वाणी है।" यथा—

काशी में हम प्रकट भये हैं रामानंद चेताये।
समरथ का परवाना लाये हंस उबारण आये॥

अस्तु, क्या इससे यह नहीं प्रकट होता है कि कबीर के जीवन की महती आकांक्षा धर्मोपदेशक बनकर समाज में सम्मान पाने की थी? सत्संग द्वारा उन्हें 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' में हिंदू-समाज के अवतार-संबंधी अचल विश्वास का पता मिल गया था। वह समझ रहे थे कि धर्म के नाम पर और ईश्वर और जीव के संबंध में उपदेश करनेवाले का हिंदू-समाज पूरा मान करता है, किंतु दुर्भाग्य से वह जुलाहा हो चुके थे। इस रुकावट को ही दूर करने के लिए उन्हें गुरु रामानंद की 'चितावनी' लेनी पड़ी। तब वह बराबर लोगों पर अपना अभिप्राय प्रकट करने लगे। साधारण लोगों को उन्होंने यह भी विश्वास दिलाया कि 'कहते मोहिं भयल जुग चारी।' तो भी लोग सहज में उनकी बात मान उनके भक्त नहीं बनते थे। तब उनके रोग दुःख का कारण बतलाते हुए कबीर ने कहा—"कहा हमर मानै नहीं किमि छूटै भ्रमजाल।"

इन बातों से साफ़ मालूम होता है कि कबीर की रुचि काव्य की ओर न होकर मत-स्थापना की ओर थी और वह धर्म-गुरु कहलाना चाहते थे। पर इसमें तब तक सफलता सम्भव न थी, जब तक वह आलोचना द्वारा प्रचलित धार्मिक बातों के प्रति लोगों की अरुचि न उत्पन्न कर पाते।

अतः वह धार्मिक कुरीतियों के खंडन में तत्पर हो गये और अपनी भद्दी रचना में तीर्थ, त्योहार, अवतार, मूर्तिपूजा आदि की कड़ी आलोचना करने लगे। साथ ही लोगों को शरीर की नश्वरता और मृत्यु के भय का ज्ञान दिलाते हुए वह उपदेश और चितावनी भी देते जाते थे। लोग मोक्ष और स्वर्ग की लालसा करते हैं, इसके लिए कबीर ने अहंकार, द्वेष आदि के दूर करने की शिक्षा दी। यह भी प्रकट किया कि आज के साधु-गुरु पाखंडी हैं, उनकी भक्ति से तरण नहीं हो सकता। यह 'गुरु दयाल की दया' से ही संभव है, और लोगों को 'सद्गुरु' की शरण में जाना चाहिए। जाति-पाँति का प्रश्न उन्हें भारी विघ्न जान पड़ता था, वह संस्कृत भी नहीं जानते थे, अतएव इन दोनों के भी विरोध में बातें कहीं। जाति-पाँति को क़बीर ने व्यर्थ कहा है, और हिंदू-शास्त्रों की भाषा संस्कृत के विरोध में यों प्रकट किया है—

संसकिरत है कूप-जल, भाषा बहती नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सतमत गहिर गँभीर॥
संसकिरत संसार में, पंडित करैं बखान।
भाषा-भक्ति दृढ़ावही, न्यारा पद निरबान॥
संसकिरत पंडित कहैं, बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करैं, ते नर मूढ़ अजान॥

पीछे वह मुसलमानों की निंदा करने लगे और मूर्ख मुसलमानों को भी उन्होंने भक्त बनाना शुरू किया। वह आलोचनाएँ कर भजन बनाते और गा-गाकर लोगों को रिझाया करते थे। साधारण बुद्धि के लोग उनकी बातें ठीक मानते और उनके भक्त बन जाते। मत-स्थापना में सफलता पाने के कारण ही वह कड़ी आलोचना के पथ पर आये, जिस पर मिश्रबंधुओं ने कहा है—"इन्होंने खरी बातें बहुत उत्तम और साफ़-साफ़ कही हैं, और इनकी कविता में हर जगह सचाई की झलक देख पड़ती है। इनके-से बेधड़क कहनेवाले कवि बहुत कम देखने में आते हैं।" पर बात स्पष्ट है कि कबीर को कवि तो बनना न था, धर्मगुरु-पद पाना था। तभी इस ऋषि-भूमि में कबीर-सा मनुष्य आर्य-वंशज-समाज में धर्म-गुरुपद का अधिकारी हो सकने की योग्यता रखता है या नहीं, इस पर निष्पक्ष विचार कर महर्षि दयानंद सरस्वती ने निधड़क राय दी है कि "तब वह बेधड़क या निर्भय हो धार्मिक कुरीतियों का खंडन नहीं करते तो करते क्या?" काव्य-दृष्टि से ऐसा कबीर ने कभी नहीं किया, न काव्य-चेष्टा उनके जीवन का लक्ष्य था।

अब उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखते हुए कहना

पड़ता है कि कबीर की कवित्व-शक्ति बहुत ऊँचे दर्जे की नहीं मानी जा सकती, न उनकी रचनाएँ काव्य-दृष्टि से उतनी अच्छी ही उतरती हैं । काव्य-सौष्ठव और विचार-विस्तार को कारण काव्य से भिन्न, उनका लक्ष्य था । वह काव्य कर सकते थे, पर इस ओर प्रयास न करने और अपठित रहने के कारण काव्य-लक्षण-संयुक्त कविता नहीं कर सके । जो कुछ रचनाएँ उन्होंने कीं भी, वह कवि कहलाने की लालसा से नहीं, बल्कि लोगों के बीच भजन-रूप में अपने धार्मिक विचारों को प्रकट कर सकने के निमित्त । प्रसंगवश ग्रामों में भिक्षाटन करनेवाले इकतारा बजानेवालों की याद आ जाती है । वे श्रवणकुमार आदि की कथाएँ भजनरूप में रचकर गाते-माँगते हैं । उनके भजन का प्रभाव भी ग्रामीणों पर पड़े बिना नहीं रहता । बहुत संभव है, कबीर की कविता भी इसी ढंग की हो । अपठित थे ही, लिखने से कोई सरोकार था नहीं, फिर काव्य का सौंदर्य उनकी रचनाओं में आता ही कहाँ से । अतएव उनके पदों में रीति-नियमों का पालन न होना स्वाभाविक ही था ।

निष्कर्ष

तो भी उनकी रचनाओं में आज हम "अनेकानेक स्थानों पर योग, अद्वैतवाद आदि से संबंध रखनेवाले शब्द देखते हैं ।" उनसे "कबीर के पांडित्य" का अनुमान करना उचित नहीं कहा जा सकता, जब हम जानते हैं कि कबीर कोई पंडित न थे । पांडित्य-सूचक शब्दों के मिलने के कारण कुछ और ही हैं, कबीर का पांडित्य नहीं । पहला मुख्य कारण यह है कि कबीर को कतिपय ऐसे शब्दों का बाहरी ज्ञान था, जो सत्संग और धर्म की बातें जानने की लिप्सा के कारण कबीर को मालूम हो गये थे । उन्हें वह किसी-न-किसी तरह रूप बिगाड़कर भी अपने पदों में व्यवहृत कर डालते थे । दूसरा कारण है कबीर की रचनाओं का उन्हीं के द्वारा लिखित न होना । कबीर के पदों में अधिक पद ऐसे मिलते हैं, जिनमें कोई भी बात बहुत साफ़ तरह से मोटे रूप में प्रकट कर दी गयी है; कर्कश कथन की भी भरमार है । कहीं-कहीं अश्लीलता भी आ गयी है और देहातीपन की छाप तो साफ़-साफ़ दिखायी पड़ती है । लेकिन प्रकाशित संग्रहों में कुछ ऐसे पद भी मिलते हैं, जिनमें पांडित्यपूर्ण विचारों का समावेश है और जिनसे उनके कई विषयों के पूरे ज्ञान का परिचय मिलता है, यद्यपि कोई भी आधार ऐसी संभावना का नहीं है । तब इस भेद का यही कारण जान पड़ता है कि एक पंथ के संस्थापक हो जाने पर उनके शिष्य या पंथवाले स्वभावतः उनकी साधारण रचनाओं से ही संतुष्ट न रहे । ऐसी चेष्टा अवश्य की गयी कि उनकी रचनाएँ उत्कृष्ट और सारगर्भित समझी जायँ और इसमें सफलता के लिए कई एक ने अपनी-अपनी रचनाएँ उनके पदों में मिश्रित कर दीं या संग्रह करने में ही दूसरे-दूसरे पदों को रख दिया । काम नितांत साधारण था; क्योंकि कबीर द्वारा लिखित कोई ग्रंथ तो था नहीं । असंयतभाषिता का बाहुल्य है, इसी से सब रचनाओं में भाव-साम्य भी नहीं ; और कहीं एक विषय का खंडन है तो कहीं उसी का मंडन । ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि कबीर ने वेद की ऋचाओं की समानता के पद रचे हैं या उनकी रचनाओं में उपनिषद् या वेदांत और योग के विषयों का संपादन किया गया है! बल्कि इसके उत्तर में श्रीयुत 'हरिऔध' जी ने बहुत ठीक सम्मति दी है कि "अपठित होने के कारण उनको वेदों और उपनिषदों की शिक्षा का ज्ञान न था, इसलिए इतनी दूर पहुँचना उनका काम न था ।"

कबीरदास ने काव्य-चमत्कार दिखाने या काव्य-नैपुण्य-प्राप्ति के लिए काव्य नहीं किया, न इसमें उन्हें सफलता हुई । कुछ सफल होना माना भी जाय तो उनकी वह सफलता कदापि इस सीमा तक नहीं स्वीकार की जा सकती कि उन्हें सूर या तुलसी के बाद का एक महाकवि माना जाय । इस संबंध में श्रीयुत हरिऔधजी भी ऐसी ही सम्मति देते हैं—"......कविता साधारण है । सरस पद्य कहीं-कहीं मिलते हैं ।...... छंदोभंग इन सबमें इतना है कि जी ऊब जाता है । जहाँ-तहाँ कविता में अश्लीलता भी है । कोई-कोई कविताएँ तो इतनी अश्लील हैं कि मैं उन्हें यहाँ उठा तक नहीं सकता ।......उनकी कविता में असंयत-भाषिता भी दृष्टिगत होती है ।"

कबीरदास उपदेशक और धर्मप्रचारक होना चाहते थे और एक पंथ के प्रवर्तक भी हुए; लेकिन इसी कारण उन्हें एक सत्कवि मान लेना काव्यकला की हत्या करना है । उनके जितने ग्रंथों के नाम कहे या बताये जाते हैं, वे

ास्तव में मान्य नहीं हो सकते; कबीर ने तो एक ी नहीं लिखा। लिखनेवाले दूसरे ही हुए, जो कबीर े भजनों और पदों के संकलनकर्ता थे। न लोक-ियता के विचार से ही उन्हें एक सर्वोत्कृष्ट कवि मान ेना ठीक है; क्योंकि उनकी लोकप्रियता सूर या तुलसी े सदृश काव्यमनोरंजकता के लिए नहीं है, बल्कि नके पंथ के कारण है। उनके पंथवाले सदा उनकी ्कृष्टता सिद्ध करने की चेष्टा करते आये हैं और नकी ऐसी लालसा क्षम्य भी है। वस्तुतः उनकी रचनाओं में कोई ऊँचा काव्यानंद नहीं है। "यदि काव्य करना चाहते, तो वह उत्कृष्ट काव्य रच सकते थे"— इस तर्कबल पर कबीर की कवित्वशक्ति का लोहा मान लेना तर्क से ही तर्क करना है। वास्तव में कबीर ने प्रशंसनीय काव्य की रचना की ही नहीं। वह भाव और विचार में बराबर मस्त रहे, और उनके सिद्धांत के सत्यासत्य-निर्णय के लिए ही कोई उनकी रचनाओं का आदर कर सकता है। काव्य-विचार या साहित्य की दृष्टि से उनसे कहीं निपुण अनेक पुराने कवि हिंदी-भाषा के हो चुके हैं, जिन्हें नीचा दिखा कबीर को ऊँचे उठाना सहृदयों की हठधर्मी ही प्रतीत होगी।

भिखारी का हृदय

[पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र 'अरुण' बी० ए०]

वह एक भिखारी था,
अनाथ और अकेला—
संसार में
उसका कोई न था।
उसके रोने पर मानवता हँसती थी।
उसके विषाद में करुणा और नैराश्य में पीड़ा थी!
शैशव की कोमलता को दरिद्रता की आँच ने झुलसा कर सुखा दिया था!
खिलते हुए फूल पर पाले का प्रतिबिंब पड़ चुका था!
लाहौर की सड़कों पर
रास्ता चलते हुए लोग सुनते—
"दाता! एक पैसा—"
और देखते—
आँसुओं से भरी,
भूख से कातर,
दो बड़ी-बड़ी आँखें!
देनेवाला जाते-जाते सुनता—
"परमात्मा भला करे!"
न देनेवाला भी सुनता—
"परमात्मा भला करे!"
यही उसकी—उस दुखिया बालक की आत्मा का आशीर्वाद था।
यही उसका जीवन था।

× × ×

"तेरा नाम?"

"नीतू—"

"घर कहाँ है?"

"मेरा?"

"हाँ, तेरा ही—"

"बाबूजी! मेरे घर नहीं है—"

"मैं पूछता हूँ—रहता कहाँ है?"

"कहीं नहीं, रात को किसी दुकान के पटरे पर पड़ रहता हूँ—"

"और दिन में?"

"दिन में—"

उसकी आँखों ने सब कुछ कह दिया। अभागे बालक के मुँह से 'भीख' का शब्द न निकल सका! उसने फिर कहा—

"बाबूजी!"

"क्या है?"

"आज दिन-भर कुछ नहीं खाया—एक पैसा!"

"तो भीख क्यों माँगता है? जा, कहीं नौकरी कर—मज़दूरी कर।"

"नौकरी? कोई नौकर नहीं रखता—आप ही अपने यहाँ रख लीजिए—एक टुकड़ा रोटी का सबेरे और एक शाम को—अपनी थाली का जूठन दे दीजिएगा—"

एक साधारण क्लर्क के लिए बड़ी कठिन समस्या थी। एक कहार तो घर में था ही, हृदय को दबाकर छविनाथ बाबू ने कहा—

"मुझे नौकर की ज़रूरत नहीं।"

उनका स्वर कुछ बदला-सा था।

भिखारी लड़के ने उनके मुँह की ओर देखा—छविनाथ बाबू उस दृष्टि से काँप उठे, वह चलने लगे—भिखारी ने पुकारा—

"बाबूजी!"

वे ठहर गये, अनायास ही जेब में हाथ चला गया। हथेली पर एक रुपया और साढ़े चार आने पैसे चमक उठे।

नीतू का हाथ उठ गया।

छविनाथ बाबू ने एक बार उसकी ओर देखा, फिर अपने हाथ के पैसों की ओर।

फिर—

उनका हाथ जेब में वापस चला गया!

वह चल दिये—

नीतू का ऊपर उठा हुआ हाथ जहाँ का तहाँ रह गया!

उसने निराशाभरी एक ठंढी साँस ली।

उसके मुँह से निकला—

"परमात्मा भला करे !"

× × ×

सुक्खू—

सुक्खू मेहतर था।

महीने में ६) रुपये तनख़्वाह के म्युनिसिपैल्टी से मिलते और इधर-उधर दो-चार भलेमानसों के घरों से एक आध रुपिया ऊपर से मिल जाता। घर में तीन प्राणी थे—

वह, उसकी बुढ़िया और एक आठ-नौ बरस का लड़का।

उस लड़के को वह अपना ही बतलाता था, लेकिन लोगों से सुनने में यह आता कि उस अनाथ को नवजात अवस्था में ही घूरे पर पड़ा पाकर सुक्खू उठा लाया था और पाल-पोसकर इतना बड़ा किया है।

नीच होने पर भी ईमानदारी, मेहनत और धर्मशीलता ने सुक्खू का मस्तक मनुष्यता के आगे ऊँचा कर रक्खा था।

उस दिन पहली तारीख़ थी।

शाम को सुक्खू दफ़्तर से अपनी तनख़्वाह लाया, घर में आकर पाँच रुपये घरवाली के हाथ में रक्खे और एक रुपया लेकर बाज़ार चला। सौदा ख़रीदकर सुक्खू को लौटते रात हो गयी। गली की लालटेन की टिमटिमाती रोशनी कुहरे के कारण और भी धीमी हो गयी थी।

सुक्खू ने गली के किनारे कोई काली-सी चीज़ पड़ी देखी—वह आगे बढ़ा।

बुढ़ापे की आँखें काम नहीं देती थीं—सुक्खू ने नज़दीक पहुँचकर टटोला—अरे! यह तो आदमी है!

सुक्खू ने डपटकर कहा—

"कौन है रे ?"

फटे टाट के टुकड़े से सिर निकालकर किसी ने धीमे स्वर में कहा—

"मैं हूँ, जमादार !"

"कौन—नीतू ?"

"हाँ, जमादार—"

"यहाँ क्यों पड़ा है ?"

इस बार दो बड़ी-बड़ी आँखें अँधेरे में चमक उठीं, नीतू ने कहा—

"कहाँ जाऊँ ?"

सुक्खू कुछ सोचने लगा, वह इस लड़के को बहुत दिनों से जानता था। उस समय उसकी दशा देखकर सुक्खू का हृदय पसीज गया। उसने पूछा—

"कुछ खाने को मिला ?"

"नहीं, जमादार! आज कुछ नहीं—"

सुक्खू ने टेंट टटोली—एक इकन्नी और दो पैसे बचे थे, नीतू के हाथ पर दो पैसे रखकर उसने कहा—

"ले, कुछ खा आ, फिर मेरे झोपड़े में सो रहना, भला—यहाँ न सोना।"

नीतू के मरते शरीर में प्राण आ गये।

उन दो पैसों का मूल्य कोई उससे पूछता! कृतज्ञताभरी आँखों में आँसू छलछला आये। उसने लपककर सुक्खू के दोनों पैर पकड़ लिये। एक मेहतर ने आज उस ग़रीब की आत्मा को दो पैसे में ख़रीद लिया!

× × ×

"बाबूजी, एक पैसा !"

इतवार का दिन था, छविनाथ बाबू घर के लिए सौदा-सुलुफ़ ख़रीदने बाज़ार गये थे। वहीं परिचित स्वर—

"बाबूजी, एक पैसा !"

उन्होंने घूमकर देखा—नीतू अपना हाथ पसारे उनके सामने खड़ा था—साक्षात् दीनता की मूर्ति—करुणा का प्रतिबिंब! छविनाथ बाबू ने उसकी ओर अवहेलना से देखा और आगे बढ़ गये।

नीतू थोड़ी देर ठहरा, फिर जाने क्या सोचकर वह उनके पीछे-पीछे चल दिया। बनिये की दूकान पर चावलों का नमूना देखने के लिए छविनाथ बाबू रुके—

उनकी जेब से नोटों की एक पतली-सी गड्डी निकलकर नीचे ज़मीन पर गिर पड़ी। उनको उसका पता भी नहीं, वह चावल परखने में लगे थे।

पीछे खड़े हुए नीतू की निगाह नोटों पर पड़ी—उसने आगे बढ़कर उनको उठा लिया—एक बार तृष्णाभरी विचलित दृष्टि से उनको देखकर फिर अपने फटे कुर्ते के छोर में दबा लिया।

छविनाथ बाबू उस दूकान पर सौदा न पटने के कारण आगे बढ़ गये थे।

नीतू धड़कते हुए हृदय से उनके पीछे छाया की भाँति लगा हुआ चला जा रहा था। सामान ख़रीद चुकने पर दाम देने के लिए छविनाथ बाबू ने जेब में हाथ डाला—जेब ख़ाली थी ! काटो तो ख़ून नहीं—पैरों के नीचे से धरती सरक गयी—इधर-उधर देखा—उनकी आँखों के आगे अँधेरा छा रहा था !

जिस रास्ते वह आये थे उसे रत्ती-रत्ती छान डाला—कुछ पता नहीं ! किससे कहें ? कलेजा पकड़कर रह गये !

बनिये से बोले—

"मेरी जेब में नोट थे, कहीं गिर गये हैं, तुम सामान रक्खो, मैं फिर मँगवा लूँगा।

नीतू सुनता रहा, मगर कुछ न बोला। उसने कुर्ते के छोर में दबी नोट की गड्डी को और मज़बूती से दबा लिया !

छविनाथ बाबू हताश मन से घर लौट आये।

उस दिन—

उनके यहाँ चूल्हा नहीं जला !

× × ×

सबेरा हुआ—

छविनाथ बाबू माथे पर हाथ रक्खे बड़ी चिंता में बैठे थे।

उनकी स्त्री और चार वर्ष का एक बच्चा, दोनों पास बैठे उनके मुँह की ओर देख रहे थे। कोई कुछ बोलता न था !

वह सोचते—

उफ़ ! महीने-भर की कमाई !

पूरे साठ रुपये !

कोई उपाय नहीं—

अब क्या होगा ?

छोटा-सा बच्चा—

प्राणों से प्यारी स्त्री—

भूखों मरेंगे !

किससे माँगें—

कहाँ जायँ ?

सारा संसार उनके लिए अँधेरा हो चला था !

धीरे-धीरे नौ बजा—

दफ़्तर जाने का समय हो आया था।

छविनाथ बाबू उठे, मुँह-हाथ धोकर कपड़े पहने। स्त्री ने एक छोटा-सा बर्फ़ी का टुकड़ा तश्तरी में लाकर सामने रक्खा !

उनकी आँखों से आँसू बह चले—बोले—"रहने दो, बच्चे के काम आयेगा। मैं..."

उनकी बात पूरी न हो पायी थी कि किसी ने दरवाज़े की कुंडी खटकायी और पुकारा।

"बाबूजी !"

छविनाथ बाबू ने सोचा—कोई बैठा-ठाला पड़ोसी होगा—चुप रह गये।

फिर आवाज़ आयी—

"बाबूजी घर में हैं ?"

इस बार विवश होकर बड़ी अनिच्छा से उठकर उन्होंने दरवाज़ा खोला—

वही—

बाज़ारवाला भिखारी लड़का—

उनके सामने खड़ा था।

छविनाथ बाबू की भौंहें चढ़ गयीं, झुँझला-कर बोले—

"क्या चाहता है बे ? तू तो पीछे ही पड़ा है !"

नीतू ने कुर्ते के नीचे से नोटों की गड्डी निकाली और छविनाथ बाबू की ओर बढ़ाते हुए बोला—

"बाबूजी, ये नोट आपके हैं ? बाज़ार में कल गिर गये थे, मुझे दिखायी दे गये, तो मैं उठा लाया—इनको सम्हाल कर रखिए।"

छविनाथ बाबू ने हाथ बढ़ाकर नोट ले लिये—उनको गिना—पूरे साठ रुपये के थे ! उनको विश्वास न होता था—वह सपना तो नहीं देख रहे थे ?

नीतू—

वही भिखारी लड़का, जिसको उन्होंने दुतकार दिया था—

उनके आगे खड़ा मुसकरा रहा था !

आज वही नीतू उनको बड़ा अच्छा लग रहा था। उसके प्रति किये हुए अपने पिछले दुर्व्यवहार का स्मरण आते ही उनकी आँखें नीची हो गयीं ! उन्होंने आगे बढ़कर नीतू को छाती से लगाकर कहा—

"बच्चे ! मुझको माफ़ करना—"

नीतू इस बात का क्या उत्तर दे—वह कुछ समझ न पाया।

× × ×

नीतू जाने लगा—
एक रोते हुए निराश परिवार को हँसाकर,
एक गृहस्थी को चिंतामुक्त कर,
एक मनुष्य को जीवनदान देकर,
वह जा रहा था !

छविनाथ बाबू ने दस रुपये का एक नोट उसको देते हुए कहा—

"ले जाओ, इसे ख़र्च करना—जाड़े में काँपते फिरते हो, कुछ कपड़े बनवा लेना—"

नीतू ने विना कुछ कहे-सुने नोट ले लिया—उसे उलट-पुलटकर एक बार देखा—फिर हाथ बढ़ाकर उसको छविनाथ बाबू के पैरों पर रख दिया—बोला—

"बाबूजी ! मैं इसको क्या करूँगा ? इसे अपने पास रखिए—आपके काम आयेगा—मैं तो भीख माँग खाऊँगा—मुझे एक पैसा बहुत है !"

छविनाथ बाबू हतबुद्धि होकर सोचने लगे—भिखारी लड़के के व्यवहार पर उनको आश्चर्य हो रहा था !

उन्होंने सिर ऊपर उठाया—नीतू का कहीं पता न था। घर से बाहर निकलकर थोड़ी देर तक उसे देखा—

वह न-जाने कहाँ चला गया था !

× × ×

शाम को—
सुक्खू के झोंपड़े में—
नीतू बैठा था।
सुक्खू ने पुकारा—
"दीना ?"
"हाँ, अब्बा—"
"खाना बन गया ?"
"लाता हूँ।"

सुक्खू के लड़के ने दो मोटी-मोटी रोटियाँ और थोड़ा बथुए का साग एक मिट्टी की रकाबी में लाकर नीतू के आगे रख दिया।

नीतू ने रोटियों की ओर एक बार कृतज्ञताभरी आँखों से देखा—माथे से लगाया—
और—
और, खाने लगा !
शायद—
उस खाने का—
उस ग़रीब मेहतर की रोटियों का—
उस रूखे-सूखे अन्न का—
मूल्य—
दस रुपये के नोट से कहीं बढ़कर था।

मयंक

[श्रीरूपनारायण चतुर्वेदी]

व्योम के अटल पटल पर आज,
कौन तू कनक-थाल - ऐसा ?
व्योम-सर - मध्य फुल्ल अंभोज,
कौन तू इंद्रजाल - जैसा ?
अरे ! क्या व्योमाश्रम का दीप,
अथच अनुपम ऋषि-आसन एक,
नहीं तो सुरपुर - रत्न अमूल्य,
जहाँ पर लघुतम रत्न अनेक।

कृष्ण का यही सुदर्शनचक्र—
भक्तरक्षक, दुष्टों का काल।
मंडलाकारी विद्युत खंड,
अथच सुरपति का वज्र विशाल।
कृष्ण का कंचन कंदुक यही,
डूबता क्या कालीदह बीच ?
अग्निमय शिव का क्या वह नेत्र—
मैन की ज्वाला जिसकी मीच।

× × × × × × ×

व्योम है सुंदर नीला वस्त्र,
किया बूटों का जिसमें काम ;
ओढ़कर चंद्रमुखी नववधू,
वदन झलकाती है सुखधाम।

अरे कमला का कंचन कलश,
नहीं तो अग्निकुंड निःशंक ;
नहीं जी, यह ग्रीषम की रात्रि—
और यह नभ का मंजु मयंक।

बिजली की स्वदेशी घड़ियों के आविष्कारक श्रीहनुमंतराव जोशी

[पं० गोपीवल्लभ उपाध्याय]

'बहुरत्ना वसुंधरा'—इस उक्ति के अनुसार भारत-भूमि भी अनेक रत्नों की खान है। यह बात दूसरी है कि अपनी दरिद्रावस्था और काल-विशेष से इस असहाय स्थिति के कारण वह भौतिक उन्नति में अन्य उन्नत राष्ट्रों का समकक्ष नहीं हो सकी; किंतु यदि उदाराशय एवं लक्ष्मी के वरद पुत्र अपनी संपत्ति का सदुपयोग करने लगें, तो आज यहाँ भी अच्छे-से-अच्छे आविष्कारक दिखायी दे सकते हैं। कई गुदड़ी के लाल तो बेचारे अर्थाभाव के कारण अपनी कल्पक बुद्धि और कर्तृत्वशक्ति को प्रायः उदर-पूर्ति की चिंता में नष्ट होते देखकर दुःखित चित्त से भाग्य को कोसते रह जाते हैं, और कई-एक को गुण-ग्राहकों के अभाव में ही निराशा-मय जीवन बिता देना पड़ता है। अन्यथा विदेशी का मोह त्यागकर देश के सौ-पचास स्वदेशाभिमानी लक्ष्मीपुत्र यदि आविष्कारकों के लिए छात्र-वृत्ति देना स्वीकार करें, तो अनतिविलंब भारतवर्ष उन्नतिशील राष्ट्रों के साथ बैठने का अवसर प्राप्त कर सकता है। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए हम आज 'माधुरी' के पाठकों को ऐसे ही एक स्कूलमास्टर से परिचित कराना चाहते हैं, जिनकी अत्यंत दीनतापूर्ण छात्रावस्था और साधारण-सी स्कूलमास्टरी को देखकर कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता था कि एक दिन यही महाशय बिजली की स्वदेशी घड़ियों का कारख़ाना खोलकर देश का मस्तक ऊँचा करेंगे और लाखों रुपया विदेश जाने से बचावेंगे।

बंबईवालों के लिए शास्त्री-हॉल इतनी परिचित जगह है, जिसका पता पूछने की ज़रूरत नहीं रह जाती। उसमें भी फिर श्रीजोशीजी के स्वदेशी घड़ियों के कारख़ाने ने तो इस स्थान को छोटे-से-छोटे व्यक्ति के परिचय का बना दिया है। इसी शास्त्री-हॉल के पटांगण में आपको एक छोटा-सा बँगला दिखायी देगा। यही श्रीमारुतिराव-दत्तात्रय उर्फ़ हनुमंतराव जोशी के "स्वदेशी इलेक्ट्रिक क्लॉक मैन्युफ़ेक्चरिंग कंपनी" का उद्योग-मंदिर है। यदि वहाँ जाकर आप ऐसी अद्भुत संस्था के संचालक को किसी अप-टु-डेट मैनुफ़ैक्चरर के रूप में खोजने की कल्पना करेंगे, तो आपको निराश होना पड़ेगा; क्योंकि वहाँ साधारण खादी का कुर्ता-टोपी और मोटी-सी धोती पहने हुए साँवले से चेहरेवाले, लंबे और दुबले आदमी को एक-आध पुर्ज़ा किसी सान पर घिसते देखकर आप इस कारख़ाने का कोई श्रमजीवी ही समझ बैठेंगे। किंतु यही महाशय इस 'घटिकायंत्र' के आविष्कारक हैं, यह पता लगने पर आपके आश्चर्य की सीमा न रहेगी।



श्रीयुत मारुतिराव-दत्तात्रय जोशी
(घड़ियों के उत्पादक)

हाँ, तो श्रीजोशीजी को अपने शरीर-सौष्ठव की अधिक चिंता न होते हुए भी अपनी कृति की सर्वांग सुंदरता का बराबर ध्यान रहता है। कदाचित् उन्हें यह विश्वास हो गया है कि संसार में मनुष्य कृति-रूप में अमर रह सकता है, अतएव शरीर की सजावट के बदले कृति का सौंदर्य बढ़ाना ही श्रेयस्कर है। साथ ही वह परमहंस श्रीरामकृष्णदेव के उपासक भी हैं, अतः उनकी आध्यात्मिक शिक्षा पर दृढ़ विश्वास रखकर उसे व्यवहार में लाने का भी वह भरसक प्रयत्न करते हैं। महाकवि भवभूति ने कहा है—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।

अस्तु! श्रीहनुमंतराव जोशी के हृदय में अनेकविध कलाओं का निवास है। हम प्रायः ऐसा देखते हैं कि जिसे साहित्य में रुचि होती है, वह बहुधा गणित में भय खाता है, अथवा जो दिन-रात पुस्तकावलोकन में दिमाग़ परेशान किये रहने में ही सुखानुभव करता है, उसे यंत्रों के साथ खेलना नीरस और अरुचिकर प्रतीत होता है, किंतु श्रीजोशीजी इस विषय के अपवाद हैं। जिस प्रकार अँगरेज़ी या संस्कृत-भाषा पर अधिकार है, वैसे ही वह गणित में भी कुशल हैं। और, यंत्रशास्त्र को तो उनके लिए हस्तामलकवत् ही समझना चाहिए। किंतु यंत्रशास्त्री हनुमंतराव जोशी का परिचय देने से पूर्व हम उन्हें पहले एक विद्यार्थी के रूप में उपस्थित करना विशेष आवश्यक समझते हैं, जिससे उनकी होनहारता के विषय में सहायक परिस्थितियों का पता चल सके।

'नरसोबा की बाड़ी' (दक्षिण) के निकट दानवाड़-नामक एक छोटा-सा गाँव है। यहीं के ग़रीब ब्राह्मण श्रीदत्तात्रेयजी जोशी के घर मारुतिरावजी का जन्म हुआ था, इतने ही से उनकी दीनतापूर्ण बाल्यावस्था का पता लग सकता है। अस्तु। जैसे-तैसे मराठी की चौथी पुस्तक समाप्त कर, अत्यंत असहाय अवस्था में यह 'सांगली' (राजधानी) चले आये, और यहाँ के दातारबंधु से जैसे-तैसे परिचय बढ़ाकर वास्तविक और पुराकालीन वेदाभ्यासी ब्रह्मचारियों की तरह 'मधुकरी' (भिक्षा)-वृत्ति द्वारा निर्वाह करते हुए अँगरेज़ी पढ़ने लगे। किंतु आर्थिक कठिनाई होते हुए भी अपनी बुद्धिमत्ता के कारण इन्हें कहीं अटकना नहीं पड़ा। यह प्रायः हमेशा ही पहले नंबर पर रहे। फिर भी ग़रीबी संसार में पाप का फल समझी जाने से श्रीजोशीजी को अपनी हीनावस्था पर खेद हुए विना न रहा, और केवल इसी कारण यह शिक्षकों के कृपापात्र भी न बन सके! इसी प्रकार इनकी दृष्टि-क्षीणता भी इसमें बहुत कुछ बाधक हुई; क्योंकि जहाँ इन्हें काले तख़्ते पर लिखे हुए अक्षर ठीक-ठीक नहीं दिखायी देते थे, वहीं परीक्षा-स्थल में अपनी उत्तर-पुस्तक की नक़ल करनेवाले पास बैठे हुए विद्यार्थी की चालाकी को वह न देख सके। फलतः इन्हें अपनी इस असावधानी का प्रायश्चित्त भोगना पड़ा। निरीक्षक को उस समय यही कल्पना हुई कि श्रीजोशी ही इस चोरी में अपने साथी की सहायता कर रहे हैं! अतएव जैसे दमन-नीति के सपाटे में पड़नेवाला कोई भी व्यक्ति निर्दोष नहीं छूट सकता, वैसे ही बेचारे निर्दोष हनुमंतराव को भी निरंकुश अध्यापक की बेतों की मार सहनी पड़ी। यद्यपि उन्हें सरल और सात्त्विक स्वभाव का पूरा-पूरा पता था, तो भी उस समय तो सत्तामद की गर्मी के कारण इस बात का उन्हें भान तक न रहा। अस्तु। श्रीहनुमंतराव ने केवल इस एक सरल उत्तर से अपना बचाव करना चाहा कि "मैंने कॉपी (नक़ल) करने में सहायता नहीं दी और न मुझे इस बात का पता ही था।" किंतु बेचारे ग़रीब विद्यार्थी की बात पर कौन विश्वास करने चला। इन्हें अनपेक्षित अपराध का दंड चुपचाप सह लेना पड़ा।

"स्वसुखनिरभिलाषः खिद्यते लोकहेतोः"—अपने सुख की इच्छा न रखकर दूसरों के लिए चिंतित रहने की वृत्ति इनमें बचपन से ही थी। पाठशाला में भी यह अपना अध्ययन छोड़कर दूसरों का काम करते रहते। कई तरह की कठिनाइयों और विना अन्न के उपवास करने की विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए भी इनके चित्त की शांति कभी भंग नहीं हुई। सारांश, अपने विद्यार्थी-जीवन में यह महाशय अत्यंत नम्र और कष्ट-सहिष्णु छात्र रहे हैं।

हाईस्कूल से कालेज में पहुँच जाने पर भी इनके उपर्युक्त स्वभाव में कोई अंतर नहीं पड़ा। इंटरमीडियट तक इनका अध्ययन अच्छी तरह से चला; किंतु ठीक परीक्षा के ही समय दो बार अस्वस्थ हो जाने के कारण इन्हें विवश हो कालेज को अंतिम नमस्कार

ः विपाणी (ज़ि० बेलगाँव) के म्युनिसिपल स्कूल की अध्यापकी स्वीकार कर लेनी पड़ी। किंतु नौकरी इनके जीवन का ध्येय नहीं था, बल्कि लोक-सेवा का संकल्प मन में रखकर, उसकी पूर्ति के लिए साधकरूप में ही, इन्होंने उसे स्वीकार किया था। अतः जैसे ही इन्हें अपनी ही तरह के सेवाव्रती और समस्वभाव कुछ बुद्धिमान् साथी मिले कि तत्काल 'श्रीजोशी-राष्ट्रीय विद्यालय' स्थापित कर उन मित्रों के साथ उसमें अध्यापक हो गये।

किंतु इस प्रकार के साहित्यप्रिय हनुमंतराव के यांत्रिक बन जाने की घटना तो और भी विचित्र है। बात छोटी-सी थी, किंतु उसका परिणाम सर्वथा अकल्पित और आश्चर्यजनक हो गया। एक दिन अचानक विद्यालय की घड़ी बिगड़ गयी; किंतु उसकी दुरुस्ती के लिए इस ग़रीब संस्था के पास घड़ीसाज़ के लिए-भर को भी पैसा नहीं था। फलतः हनुमंतराव ने उसे खोलकर, उसके कल-पुर्ज़ों की रचना और गतिविधि को समझने के बाद, अपने गणितज्ञ मस्तिष्क द्वारा उसके सुधार का उपाय भी खोज निकाला, और केवल कीकर (बबूल) के एक काँटे की सहायता से घड़ी चल गयी।

उसी समय इन सब संस्था-सेवकों ने अपने विद्यालय में औद्योगिक शिक्षा प्रारंभ करने का विचार किया। किंतु यह कल्पना 'संन्यासी के संसार' की तरह ही थी! प्रारंभ से ही इसके लिए अवैतनिक या सेवावृत्ति से काम करनेवाले अध्यापक की आवश्यकता थी, अतएव यह निश्चय किया गया कि हमीं में से कोई व्यक्ति औद्योगिक शिक्षा प्राप्त कर इस काम के लिए तैयार हो जाय। चूँकि हाल ही में घड़ी को ठीक करके हनुमंतराव ने औद्योगिक क्षेत्र में प्रवीण हो सकने की योग्यता प्रमाणित कर दी थी, इसलिए सर्वसम्मति से इन्हें ही पूने के इंजीनियरिंग-कालेज में भर्ती करवाकर अध्यापक से फिर विद्यार्थी बना दिया गया।

किंतु साइंस-कालेज-जैसी ख़र्चीली संस्था में पहुँच कर भी इनके चित्त में यह भावना बनी हुई थी कि मैं स्वतः निर्धन हूँ और निर्धन विद्यार्थियों के ही लिए मैंने यह ज़िम्मेदारी अपने सिर ली है, अतएव वहाँ भी केवल देह-रक्षा योग्य अन्न और शरीर ढकने-मात्र के लिए वस्त्रों पर इन्होंने निर्वाह किया—यहाँ तक कि कभी-कभी पैसे-दो-पैसे की गाजर से ही इन्हें अपना पेट भरना पड़ा है। यह बात आजकल के सुखोपभोगी विद्यार्थियों को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत होगी, किंतु वस्तुस्थिति सचमुच ही ऐसी थी।

इंजीनियरिंग-कालेज अध्ययन समाप्त कर श्रीहनुमंतराव प्रथम श्रेणी में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुए। किंतु कालेज का अध्ययन समाप्त हो जाने पर भी उम्मीदवार के रूप में चार-छः महीने किसी कारख़ाने में काम सीखने की आवश्यकता थी, अतः श्रीजोशी बी० बी० एंड सी० आई० रेलवे के वर्कशाप में उम्मीदवारी करने लगे। वहाँ भी इन्होंने अपनी बुद्धि का चमत्कार दिखलाया। किंतु बड़े अधिकारियों को अपने अधीनस्थ लोगों की कर्तृत्वशीलता तुच्छ ही प्रतीत होती है, या कम-से-कम वे उसके प्रति वैसा भाव तो अवश्य ही दिखाते हैं। यही बात इनके सम्बंध में भी हुई। उसने इनके एक रुपया रोज़ के वेतन में एक पाई की भी वृद्धि नहीं की। किंतु जब यहाँ से श्रीजोशीजी 'रायल इंडियन मरीन' में काम करने गये, तो वहाँ के गोरे अधिकारी ने इनकी योग्यता देखकर बड़ी प्रसन्नता से कहा कि "मि० जोशी, तुम्हारी योग्यता प्रतिदिन १०) वेतन पाने की है, किंतु मेरे पास इतने वेतन का कोई स्थान न होने से लाचारी दर्जे में तुम्हें ६) रोज़ की नौकरी देता हूँ।"

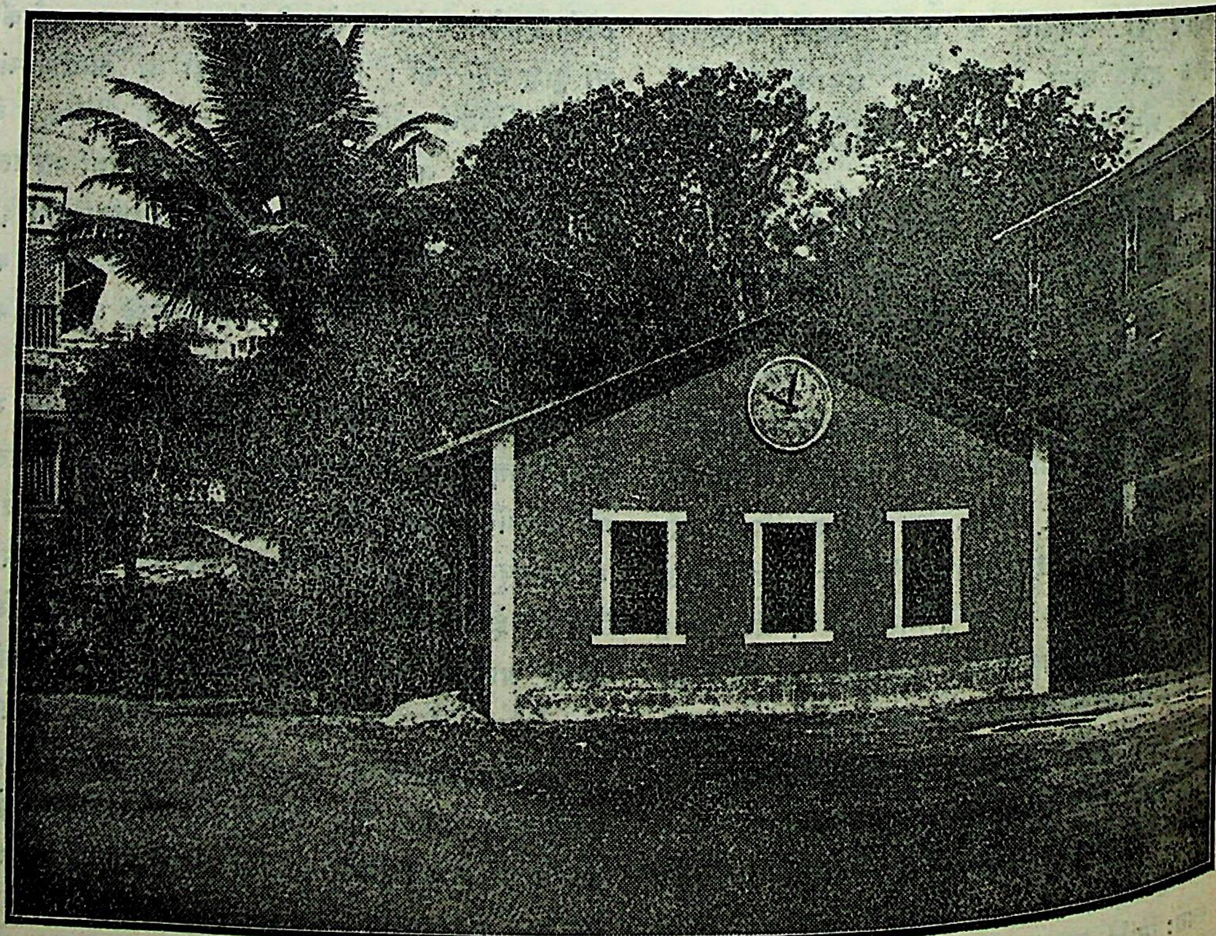
इस नौकरी के साथ-साथ हनुमंतराव घर पर भी कुछ-न-कुछ प्रयोग करते ही रहते थे। उन दिनों बिजली की घड़ियाँ नयी ही निकली थीं; किंतु उनकी रचना कौशल्यपूर्ण होने पर भी विशेष गूढ़ नहीं थी। अतः जैसे ही इनके मित्र डा० दातार ने पूछा कि "मि० जोशी, आप भी क्या ऐसी घड़ी बनावेंगे?"—इन्होंने उसी क्षण बिजली की घड़ी बनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

अगले ही दिन से टिन की डिबिया, कीलें और तार आदि इकट्ठे करके अपने मित्र दातार के यहाँ इन्होंने प्रयोग आरंभ कर दिये। इनकी तत्परता इस विषय में यहाँ तक बढ़ गयी कि एक दिन जब यह इन निर्जीव वस्तुओं को चेतन करने में लगे हुए थे, इनके मित्र श्रीदातार दो घंटे तक वहीं आकर खड़े रहे; और इन्हें पता तक न

चला। किंतु जैसे ही उसका एक तार हिला कि तत्काल हनुमंतराव के अदोष निर्विकार चेहरे पर थोड़ा-सा संतोष-युक्त तेज चमक उठा। डाक्टर को इस पर कुछ आश्चर्य सा हुआ, उन्होंने पूछा—"क्यों भई, क्या बात है ?" इस पर इन्होंने तत्काल ही निःसंकोच उत्तर दिया कि "बात क्या होगी, तुम्हारी चाही हुई घड़ी बन गयी।" डाक्टर को विश्वास था कि यह प्रायः सोच-समझकर ही मुँह से कोई बात निकालते हैं। फलतः शीघ्र ही हनुमंतराव ने एक घड़ी बनायी और वह बराबर काम देने लगी।

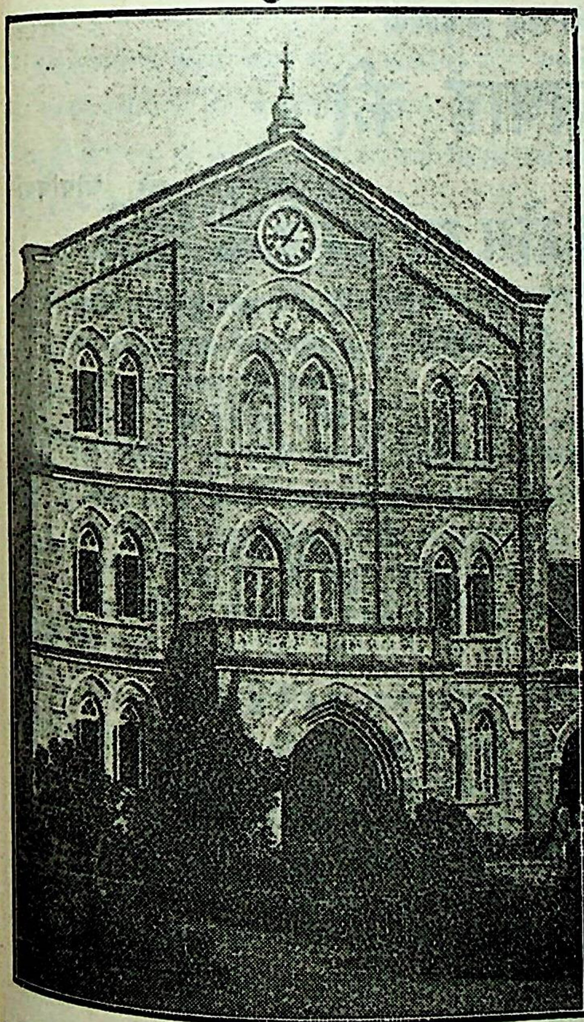
इस प्रकार सफलता प्राप्त हो जाने पर यदि बिजली की घड़ियों का कारख़ाना खोलने की कल्पना उत्पन्न हो, तो इसमें आश्चर्य-जैसी कोई बात नहीं। साथ ही औद्योगिक शिक्षा के प्रचार का मूल उद्देश्य घड़ी के कारख़ाने-जैसी औद्योगिक संस्था स्थापित करने से भी सिद्ध हो जाता था, अर्थात् इसमें भी उत्साही विद्यार्थी भर्ती किये जा सकते थे, और उनको काम सिखाया जा सकता था। अतएव बहुत कुछ विचार होने के बाद अंत में ६) रोज़ की नौकरी छोड़कर श्रीहनुमंतराव जोशी को अपना कारख़ाना शुरू कर देना पड़ा। उन्हें दो साथी भी मिल गये और अन्य दो सज्जनों ने थोड़ी-सी पूँजी भी ऋण के रूप में दे दी। शास्त्री-हाल के स्वामी सरदार पटवर्धन की कृपा से स्थान भी मिल गया। फलतः इने-गिने दिनों में ही स्वदेशी घड़ियों का कारख़ाना चल निकला।

श्रीजोशीजी ने अपनी बनायी हुई सबसे पहली घड़ी का नाम अपने मार्गप्रदर्शक 'श्रीरामकृष्ण परमहंस' के नाम पर रक्खा और उसके बाद बनी हुई घड़ी का नाम 'विवेकानंद'। कुछ ही समय में बड़े-बड़े शहरों की सार्वजनिक संस्थाओं और राजमहलों में ये पूर्ण स्वदेशी घड़ियाँ दिखायी देने लगीं, यहाँ तक कि बंबई के 'राजा भाई टॉवर' पर भी श्रीहनुमंतराव जोशी की बनायी हुई बिजली की घड़ी ही लगायी जा रही है।



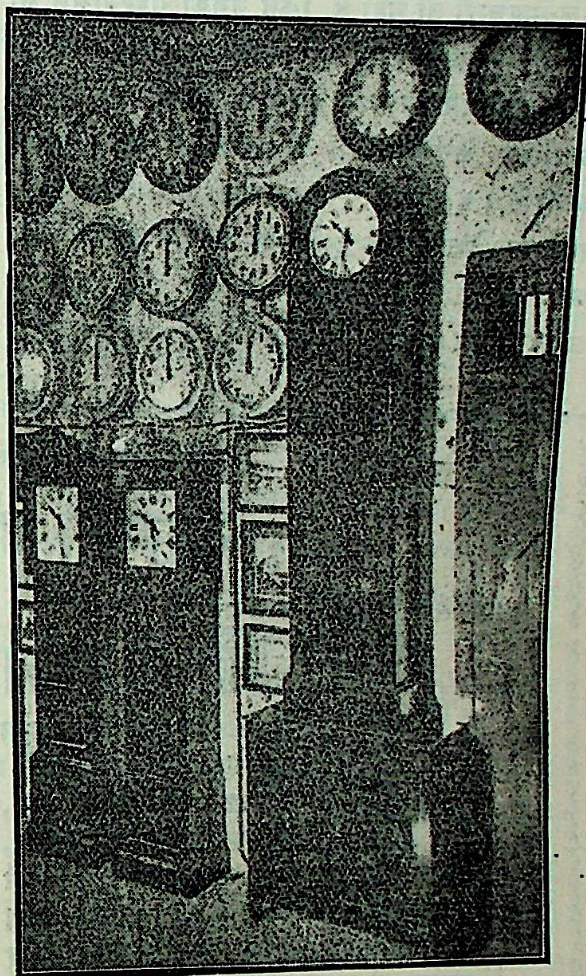
स्वदेशी इलेक्ट्रिक क्लाक कंपनी की इमारत—शास्त्री-हॉल, बंबई

इसके लिए उन्होंने साढ़े तेरह फ़ीट व्यास की विशाल घड़ी तैयार की है, और स्पर्धा-तुलना में भी वह अच्छी-से-अच्छी अँगरेज़ी-कंपनी की घड़ियों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। यह सम्मति कुलाबा की वेधशाला (अब्ज़र वेटरी) के प्रधान अधिकारी की है, और वह इस घड़ी की उपयोगिता पर मुग्ध हैं। आशा की जाती है कि शीघ्र ही बंबई-विश्वविद्यालय की इमारत पर भी श्रीजोशी की बनायी हुई स्वदेशी घड़ी दिखायी देने लगेगी।



पूने के फ़र्ग्युसन-कालेज में स्वदेशी टॉवर-क्लाक

इस कार्यालय को सभी देशी-विदेशी 'विद्वान्' धनिक वैज्ञानिक और राजा-महाराजाओं ने निरीक्षण कर पूर्ण संतोष व्यक्त किया है। सर जगदीशचंद्र वसु और सर रमण-जैसे विख्यात वैज्ञानिकों ने इस स्वदेशी कला को देश के लिए गौरवास्पद बतलाया है, यहाँ तक कि



कंपनी की बनायी हुई घड़ियाँ

विश्ववंद्य महात्मा गांधीजी ने भी संस्था का पर्यवेक्षण कर 'यंग इंडिया' में इस पर नोट लिखा है। इससे अधिक इस संस्था की उपयोगिता के विषय में कुछ कहना व्यर्थ होगा। किंतु ऐसे सभी कार्य विना लोकाश्रय के अधिक दिन चल नहीं सकते, इसलिए वर्तमान स्वदेशी युग में यदि देश के मध्यम-वित्त और भगवती लक्ष्मी के वरद पुत्रों से यदि इस "स्वदेशी विद्युत्-वटिका" के लिए आश्रयदान की आशा रक्खी जाय, तो कदाचित् वह व्यर्थ नहीं होगी।

इस संस्था में श्रीहनुमंतराव के अतिरिक्त उनके दोनों साथी भी ठीक उन्हीं-जैसे श्रमजीवी और कष्टसहिष्णु हैं। श्रीनरवणे उन व्यक्तियों में हैं, जो केवल नमक-रोटी खाकर भी सिद्धांत के लिए अंत तक पीछे नहीं हटते। वह श्रीहनुमंतराव और श्रीमराठे की तरह

बाल-ब्रह्मचारी तो नहीं हैं, किंतु उनका गृहस्थाश्रम भी संस्था के लिए परम सहायक ही हुआ है। पतिदेव यदि कार्यालय का काम देखते हैं, तो श्रीमती नरवणे कार्यालय के विद्यार्थियों के खाने-पीने की व्यवस्था करती हैं। इस तरह ये सब एक ही परिवार के रूप में रहते हुए देशसेवा के इस पवित्र कार्य में अपना जीवन लगा रहे हैं। इस कार्यालय के प्रेरक डा० दातार भी अपने विषय के कुशल चिकित्सक हैं, और वह इस संस्था की घड़ियों के प्रचार में तन-मन से लगे रहते हैं।

अब तक इस कारख़ाने की बनी हुई लगभग ४० हज़ार रुपये की घड़ियाँ (क्लॉक्स) इस देश—विशेषकर बंबई-प्रांत—में प्रचार पा चुकी हैं। आशा है, स्वदेशाभिमानी धनिकों का ध्यान इस प्रकार की संस्थाओं की ओर अवश्य आकर्षित होगा।*

* मराठी 'किर्लोस्कर' (मासिक पत्र) में प्रकाशित परिचय के आधार पर।—लेखक

"उद्धव-शतक"

[आलोचना]

[पं० भगीरथप्रसाद दीक्षित साहित्यरत्न]

रत्नाकरजी-कृत 'उद्धव-शतक' घनाक्षरी-छंदों में एक अत्यंत सुंदर काव्य है। कवि ने इसे ९ खंडों में विभक्त किया है।

श्रीकृष्ण के उद्धव को मथुरा से गोपियों को समझाने के लिए भेजने के साथ कथा प्रारंभ होती है और उनके वहाँ जाकर गोपियों से बातचीत करके लौटने और भगवान् श्रीकृष्ण से उनकी दशा का वर्णन करने तक की कथा ११७ छंदों में कही गयी है।

इसके साथ श्रीयुत रत्नाकरजी का छोटा-सा निवेदन, पं० रामशंकर शुक्ल (रसाल)-कृत ८३ पृष्ठ की भूमिका तथा पं० रामचंद्र शुक्ल (सरस) कृत ९ पृष्ठों में शब्दार्थ और उनका वक्तव्य, दिये गये हैं।

भूमिका-लेखक ने आलोचना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'आलोचना' शब्द का अर्थ है सब प्रकार से देखना, अर्थात् गुण-दोषों का पूर्णतया विवेचन करना। इसे लेखक के ही शब्दों में सुनिए—

"आजकल आलोचना की शैली कुछ विचित्र ढंग से चलने लगी है और उसके दो मार्ग-से हो गये हैं। कुछ लोग तो केवल उस ओर सद्गुणों पर ही विचार करके प्रशंसात्मक आलोचना करते हैं और कुछ लोग केवल दोषों पर दृष्टिपात करके निंदात्मक कटु प्रलाप को ही आलोचना मानकर चलते हैं। किंतु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच्ची समालोचना इन दोनों से परे है, उसमें एक प्रकार से ये दोनों ही बातें सन्निहित हैं, अर्थात् उसमें आलोचित काव्य के सद्गुणों का भी प्रदर्शन रहता है और उसके दोषों पर भी निष्पक्ष भाव से यथोचित प्रकाश डाला जाता है।" अब विचारना यह है कि भूमिका-लेखक ने इसे कहाँ तक निभाया है। पूरी भूमिका पढ़ जाने पर भी कहीं दोषों का दिग्दर्शन नहीं मिलता, इससे विदित होता है कि भूमिका आलोचनात्मक नहीं है, वरन् प्रशंसात्मक एवं एकांगी है। इस भूमिका से कहीं-कहीं तो ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कोई चारण या भाट, राजपूताने के नरेश द्वारा वृक्ष पर मचान बाँधकर एक साधारण लोमड़ी के ही मारने पर पूरी अष्टोत्तरी का पाठ कर रहा हो।

यह मानने में हमें किंचित्मात्र भी हिचक नहीं है कि व्रजभाषा के इस पतनकाल में रत्नाकरजी वर्तमान कवियों में इसके सर्वोत्तम कवि हैं। हम उनकी कविता को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखते हैं। परंतु उनकी तुलना केशवदास, बिहारी, पद्माकर और घनानंद इत्यादि से करना नितांत उपहासास्पद है।

इस कथन से मेरा यह आशय कदापि नहीं है कि इन प्राचीन कवियों से वर्तमान कवियों की तुलना करना अनुचित अथवा पाप है। मैं तो उत्कृष्ट कविता पर—यदि वह वास्तव में हो तो—सूर और तुलसी से भी अच्छा कहने में न हिचकूँगा। अस्तु, यहाँ पर भाषा की दृष्टि से ही प्रथम हम विचार करते हैं। रत्नाकरजी बनारस-निवासी हैं, अतः उनका व्रजभाषा में सफलतापूर्वक कविता करना स्तुत्य है। परंतु उनकी भाषा में कुछ कारकों व संज्ञा-शब्दों का प्रयोग बहुत खटकता है, अतः उनका दिग्दर्शन कराना अनुपयुक्त न होगा। उदाहरण लीजिए—

"ऊधव कैं चलत गुपाल उर माहिं चल,
आतुरी मची सो परै कहि न कबीन सों।"
छंद २०

"भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।"
छंद २३

"गहगरु प्रेमाचल दृढ़ व्रतधारिनि कौ,
जाकैं भार भाव उनहू कौं सकुचायो है।"
छंद ७२

"उर व्रजबासिन कैं ठिठुर ठनी रहै।"
छंद ९२

"सूखि जाति स्याही लेखनी कैं नेकु डंक लागैं..."

छंद ६६

"ऊधव कैं चलत चलाचल चली यों चल।"

छंद १००

इन उपर्युक्त छंदों में "कैं" का प्रयोग नितांत अशुद्ध रीति से किया गया है। इस "कैं" का प्रयोग केवल प्राणीवाचक शब्दों में सप्तमांत स्थानवाची पद के लुप्त होने पर अंगांगी या संबंधी-भाव से किया जाता है।

यथा (१) "मोहन कैं चोट लगी है", यह शुद्ध प्रयोग है। इसका अर्थ यह है कि मोहन के किसी अंग में चोट लगी है, परंतु 'किसी अंग में' पद का लोप करके यह 'कैं' का प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण और लीजिए।

(२) "आज हमैं मोहन कैं जाना है।" इसका भाव यह है कि आज हमको मोहन के घर पर जाना है। यहाँ भी 'घर पर' पद का लोप करके 'के' के स्थान में "कैं" का प्रयोग किया गया है, अतः यह शुद्ध रूप है।

अब इसी कसौटी पर उद्धव-शतक के उक्त उदाहरणों की भी परीक्षा कीजिए।

छंद नं० २० में—'ऊधव कैं चलत गुपाल उर माँहि चल आतुरी मची सो परै कहि न कबीन सों'—इस पद में कवि का आशय है कि "ऊधव के चलते ही गुपाल के हृदय में तीव्र आतुरता मची हुई है"; परंतु इस पद से भाव यह निकलता है कि 'गुपाल के चलते ही ऊधव के हृदय में तीव्र आतुरता मची हुई है।' अतः यह प्रयोग अशुद्ध है।

छंद नं० २३ में 'भूमि कैं प्रभाव भाव औरै भरिबै लगे।'—पद में भी 'कैं' का अशुद्ध प्रयोग हुआ है।

इसमें आधार ऊधव हैं जिनके हृदय में व्रजभूमि के प्रभाव से और ही भाव भरने लगे थे (भूमि के हृदय में नहीं), अतः संबंधकारक के चिह्न के लिए 'कैं' का प्रयोग अशुद्ध है। व्रजभाषा में इस प्रकार का प्रयोग नहीं होता और न व्रजभाषा के कवियों में किसी ने इस प्रकार का अशुद्ध प्रयोग किया है, अतएव रत्नाकरजी का यह प्रयोग कदापि ठीक नहीं कहा जा सकता। व्रजवासी न होने के कारण ही उनसे यह भूल हुई है। संभव है, रत्नाकरजी व्रज में कुछ दिनों रहे हों और वहाँ लोगों को "कैं" का प्रयोग करते हुए सुना हो, अतः आपने भी "कैं" का प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। परंतु यह ध्यान नहीं दिया कि "कैं" और 'के' में कुछ अंतर भी है या नहीं!

इसी प्रकार छंद नं० ७२ में 'जाकैं' का प्रयोग 'जिसके' के लिए किया गया है। छंद ६६ में 'लेखनी कैं नेकु डंक लागैं' से आशय 'लेखनी' का तनिक भी डंक 'लगने से' तथा १००वें छंद में 'ऊधव कैं चलत' से ऊधव के चलते ही मतलब लिया गया है। ये सब प्रयोग अशुद्ध हैं, जैसा ऊपर कहा गया है। इन सब स्थानों पर 'के' ही लिखना ठीक है।

रत्नाकरजी ने कहीं तो संबंध के लिए 'के' चिह्न का प्रयोग किया है और कहीं 'कैं' का। जैसे—छंद नं० २३ में 'ज्ञान के गुमान' और छंद नं० ६२ में 'जोग के जटिल' से स्पष्ट प्रकट है। इसी प्रकार 'संदेश' और 'सनेस' दोनों शब्दों का भी एक ही अर्थ में प्रयोग हुआ है।

अतः भूमिका के पृष्ठ ४३ पर 'रसालजी' का यह कथन कि "रत्नाकरजी ने ही कारकों की एकरूपता का सराहनीय कार्य गौरवपूर्ण सफलता के साथ किया है" कहाँ तक युक्तियुक्त है।

इस एकरूपता में कितना तथ्य है, यह भी पाठकों को भली भाँति विदित हो गया होगा।

अब छंद ६२ के "उर व्रजबासिन कैं ठिठुर ठनी रहै" पद में "कैं" के प्रयोग पर विचार करना है। इस प्रकार के प्रयोग बहुधा कवियों ने किये हैं और ये अशुद्ध भी नहीं माने जा सकते, परंतु अधिक उत्तम नहीं कहे जा सकते। यदि इस पद में 'उर' शब्द न होता तो इसका प्रयोग बिलकुल शुद्ध माना जाता। ऐसे प्रयोग होने का एक कारण भी है।

कुछ काल पूर्व व्रज से भिन्न स्थानों के बहुत-से कवि व्रजभाषा में ही कविता किया करते थे, अतः बहुधा ऐसे ही कवियों ने उक्त प्रकार के प्रयोग किये हैं जो कि क्षन्तव्य हैं। परंतु ऐसे प्रयोग शुद्ध और सुष्ठु नहीं माने जा सकते।

संज्ञा-शब्दों में भी कुछ शब्द अशुद्ध प्रयुक्त हुए हैं। यथा 'नाउ' ('नाव') के स्थान में 'नाय' और 'आँसू' के लिए 'आँस' का प्रयोग व्रजभाषा की दृष्टि से ठीक

नहीं है, जैसा कि छंद नं० ६८ व ७ में किया गया है। ब्रज में 'नाउ' शब्द ही का प्रयोग होता है।

जिस प्रकार भाव के स्थान पर ब्रजभाषा में भाय, कुभाव, तथा स्वभाव के स्थान में कुभाय, सुभाय और नाव के स्थान में 'चाय' का प्रयोग होता है (देखो छंद नं० ८३, ८२ ३४), उसी प्रकार उसी नियम के अनुसार नाव (नौकार्थी) के लिए 'नाय' शब्द बनाया गया है। यह शब्द ब्रज-भर में कहीं प्रयुक्त नहीं होता, सर्वत्र 'नाव' के स्थान पर 'नाउ' शब्द ही बोला जाता है, अतः 'नाय' शब्द को नितांत अशुद्ध कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं है। इस प्रकार ब्रजभाषा का यह Mint house—टकसालघर समीचीन और युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। ऐसे ही 'आँसू' का 'आँस' होना भी बहुत खटकता है।

इन दोषों के दिखाने से हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि रत्नाकरजी की कविता को निकृष्ट बतलाया जाय। इससे हमारा उद्देश्य केवल यही है कि इस प्रकार का अशुद्ध प्रयोग होना बंद हो जाय और साधु भाषा के सुष्ठु शब्द प्रयुक्त किये जायँ। साथ ही हम यह भी स्पष्ट कह देना चाहते हैं कि भटही प्रशंसा से लेखक और जनता दोनों की अत्यंत हानि है, अतः ऐसी प्रशंसा से भी जनता को बचाये रहना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि रत्नाकरजी ने 'गंगावतरण' की अपेक्षा 'उद्धव-शतक' में उत्कृष्ट ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, परंतु वह माधुर्य नहीं है जो हमें पद्माकर, बिहारी अथवा घनानंद की कविता में दृष्टिगोचर होता है, और न वह भाषा का टकसालीपन ही है। भ्रमर-गीत बहुत-से कवियों ने कहा है। सूरदास ने जितने गंभीर भावों का प्रदर्शन किया है, अन्य एक भी कवि उतनी गहराई तक नहीं पहुँच पाया है, यद्यपि सब उनसे पीछे के ही हैं। नंददास, सत्यनारायण और प्रागन कवि के भ्रमर-गीत भी बहुत अच्छे हैं। उन्होंने उनसे लाभ भी उठाया है। फिर भी रत्नाकरजी के भावों में कुछ नवीनता अवश्य है, और कई भाव मौलिक रूप में प्रकट किये गये हैं। परंतु वह सरसता रत्नाकरजी की रचना में नहीं पायी जाती, जो कि कुछ पूर्ववर्ती कवियों में देखी जाती है। वर्तमान काल में रत्नाकर की ही रचना ग़नीमत है, जब कि ब्रज में ही कोई अच्छा कवि नहीं दिखलायी देता। और, इसी दृष्टि से हम रत्नाकरजी की कविता का अत्यंत आदर करते हैं। वह हमारे मित्र हैं, अतः 'उद्धव-शतक' को त्रुटि-रहित देखने के ही हम इच्छुक हैं। आशा है, आपके अन्य काव्यों में इस प्रकार के दोष भविष्य में दृष्टिगोचर न होंगे।

बहुत-से समालोचक क्रम-विकास, उत्कृष्ट भाव, शब्द-विन्यास, रचना-चातुर्य, गौरवपूर्ण आदि आडंबरपूर्ण शब्दों का प्रयोग करते हुए किसी रचना को उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट कह दिया करते हैं। हमारा यह उद्देश्य नहीं है। हम केवल यह चाहते हैं कि इस प्रकार की भूलों को यदि वे सज्जन ठीक समझें तो सुधार लें।

अब शब्दार्थ के संबंध में भी कुछ और निवेदन कर देना उचित प्रतीत होता है।

इस पुस्तक के अंत में जो ६ पृष्ठों में शब्दार्थ दिये गये हैं, उनमें बहुत-से अशुद्ध हैं।

इससे भी पाठकों की हानि होने की संभावना है। प्रथम 'लयाइ' शब्द को ही लीजिए। शब्दार्थ-सूची में, लयाइ='आग', अर्थ लिखा गया है। ब्रज में 'लयाइ' शब्द ले आय (लाकर) अर्थ में प्रयुक्त होता है; ज्ञात नहीं, इसका 'आग' अर्थ किस भाषा से लिया गया है अनुमान यह होता है कि छंद ७७ में जो 'वियोग लयाइ लाई उन' और छंद ४१ में "बात की मिठाई में लुनाई लाइ लयाये हौ' पद आया है, इसके 'लाइ लयाये' पद ने संपादक को भ्रम में डाल दिया है। इसमें 'लाइ' शब्द का ब्रजभाषा में अर्थ 'अग्नि' है, परंतु अर्थ और दोनों शब्दों का अंतर ठीक-ठीक न समझने के कारण अनुमान से 'लयाइ' का अर्थ 'अग्नि' लिख दिया गया। भ्रम में पड़ने का एक और भी कारण हो सकता है। ब्रजभाषा की तरह अवधी-भाषा में भी 'लाइ' का अर्थ 'लगाना' होता है।

यथा—'लाइ लीन्ह उर जनक जानकी'। अब यह बात और भी प्रत्यक्ष हो जाती है। अतः दोनों शब्द पास-पास होने से 'लयाइ' का अर्थ 'अग्नि' लिख गया, जो कि नितांत अशुद्ध है।

दूसरा शब्द, झार=झाड़ी, लिखा गया है। छंद ११० व ६१ में "छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार में" व 'पाँच आँचहू की झार' पद आये हैं। यहाँ पर 'झार' का अर्थ 'लपटें' हैं, परंतु संपादकजी 'झाड़ी' से ही काम निकालना चाहते हैं। 'अग्नि की झाड़ी' वाला मुहावरा

भी कैसा विचित्र है। इस पर कुछ लिखना व्यर्थ है।

(३) 'मढ़त' का अर्थ 'गले लगना' किया है, परंतु इसका अर्थ 'डालना' या 'लपेटना' लिखना चाहिए। 'मढ़ना' मंडित अर्थ में भी आता है; वह गले नहीं लगती। इससे भाव ही बदल जाता है।

(४) बयात शब्द का अर्थ 'बकना' लिखा है, परंतु इसका अर्थ उत्पन्न होना माना जाता है। अतः छंद ८० में इसका अर्थ 'निकालना' होना चाहिए।

(५) छंद ११३ में प्रयुक्त 'नाठी' शब्द का अर्थ 'बलात्' लिखा है, यह भी अशुद्ध है। यह 'नष्ट' का अपभ्रंश-रूप है, और उक्त छंद में भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। व्रज में यह शब्द सर्वसाधारण की जिह्वा पर रहता है।

(६) 'उझकि' शब्द उचककर आगे की ओर झुकते हुए देखने की दशा का द्योतक है, व्रज में इसी भाव को लेकर प्रयुक्त होता है। छंद २६ में इसका प्रयोग युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

(७) 'चबाव' का अर्थ 'उपहास, चर्चा' लिखा गया है। यह शुद्ध व्रजभाषा का शब्द है और वहाँ बुराई के साथ चर्चा होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, उपहास के अर्थ में कभी इसका प्रयोग नहीं किया जाता। अतः यह अर्थ भी अशुद्ध है।

इसी प्रकार सारत, सघाहि, गारै, जुहारि, नहि इत्यादि शब्दों के अर्थ भी अशुद्ध लिखे गये हैं। आशा है, द्वितीय संस्करण में ये अशुद्धियाँ दूर कर दी जायँगी।

संपादक ने बहुत-से कठिन शब्दों के अर्थ लिखने का कष्ट ही नहीं उठाया। संभव है, वे शब्द कोश में न मिलने के कारण अर्थ लिखने से रह गये हों। उदाहरण के लिए कुछ यहाँ उद्धृत हैं—

लुकाठी, रारनि, जुहात, मलैया, रसाने, डरात, भकुवाने, कायनि, परेखो, थहरि, सरि इत्यादि। जब अन्य बहुत-से साधारण शब्द भी दे दिये गये हैं, तब इनका न देना बहुत खटकता है।

शब्दार्थ-सूची में एक ही शब्द के कई-कई अर्थ दिये गये हैं, परंतु वे सब अशुद्ध हैं और जो अर्थ चाहिए, वही नहीं दिया गया। 'गारै' शब्द इसी प्रकार का है। इसके तीन अर्थ 'गिराता, खोदता, मिलता' लिखे हैं; परंतु ये ठीक नहीं हैं। इसका शुद्ध अर्थ होता है 'घोलना'। व्रज में यह इसी भाव में प्रयुक्त होता है।

इस काव्य में एक स्थान पर और भी खटकनेवाली बात है।

छंद नं० ७६ में यद्यपि कवित्व है, तो भी उसमें हमें कुछ अश्लीलता जँचती है। संभव है, आधुनिक रसिक जन हमारे इस कथन से सहमत न हों; परंतु सभ्य समाज इसका अनुमोदन नहीं कर सकता, और न ऐसी कविता समाज के लिए हितकारक ही है।

इस आलोचना का यह अर्थ नहीं है कि हम 'उद्धव-शतक' को अच्छा नहीं मानते। हमें उसके पढ़ने में अत्यंत आनंद मिलता है। कविता बड़ी ही सरस है। भावों का विश्लेषण भी अत्युत्तम है। बहुत काल पीछे व्रजभाषा का ऐसा उत्तम काव्य देखने को मिला है। इसके लिए रत्नाकरजी बधाई के पात्र हैं। भूमिका में रसालजी ने जो प्रशंसात्मक वर्णन किया है, उसके बहुत-से भाग से हम पूर्णतः सहमत हैं। यह काव्य वास्तव में वैसा ही है। इसमें अनेक भाव नवीन सौंदर्यमय हैं, जिनको पढ़कर आनंद की तरंगें हृदय को आलोड़ित करने लगती हैं। केवल कुछ खटकनेवाली बातों का दिग्दर्शन आवश्यकीय प्रतीत हुआ, अतः वे पाठकों को बतला दी गयी हैं। विद्वानों को इन पर विचार करना चाहिए।

जीवन-ज्योति

[कविरत्न रामाधीनलाल खरे]

गोद्र निज करन उठायकै गुबिंदजू को,
　जननी खेलावत में जीवन जिये-सी लेति ;
मंजु मुख जोहत में चकित विमोहित-सी,
　दिव्य दृग दीपक से आरती करे सी लेति ।
'रामाधीन' भाषै ना अघात बार-बार बहु,
　यद्यपि है शुभ्र छबिसागर पिये-सी लेति ;
निज उर अंबुज की मूरति परेखि मानों,
　कंज निज लोचन की मूरति किये-सी लेति ।

होत रहैं तौलौं भारे दीप उजियारे भूरि,
　और के तौ बिपिन दँवार बृंद गसि जाय ;
कोटि कोटि तारागन उदित सु चाहै होयँ,
　चारु चंद्रमान की सुचाँदनी बिकसि जाय ।
'रामाधीन' भाषै मारतंड बहु छाये रहैं,
　तौलौं कहौ कैसे निज अंधकार नसि जाय ;
जौलौं साँवरे की आय श्यामता तनिक साँची,
　पूतरी-सी नैनन के बीच में न बसि जाय ।

कहाँ ?

[श्रीयुत दीनासिंह]

[क]

'लालसा अगर सजीव होती, तो लोग उसे स्वयं-सेवकों की तरह क़ैद किये बिना न छोड़ते।' यह बात तब सिद्ध हो गयी, जब बुधुआ के किशोरावस्था के चपल और हठीले दिन बीत जाने पर भी उसे संतान न हुई । उसका संतप्त हृदय लालसा के विमान से गिरकर चूर-चूर हो गया और असमय में ही वृद्धावस्था के सभी लक्षण देख पड़ने लगे । उसकी कमर झुक गयी थी, शरीर सूखकर ठठरी हो गया था, होंठ रूखे और एक दूसरे से चिपके हुए-से थे । केवल आँखें चमकती थीं और जान पड़ता था, वे लालसा की सजीव मूर्ति को खोज रही हैं ।

गंगा-तट पर उसका एक छोटा-सा आम का बग़ीचा था । उसी में एक ओर उसका कच्चा झोपड़ा था । सदियों से वह झोपड़ा उसी का रह रहा था । उसके समय का, उसके पुरखों का परिवर्तन होता आ रहा था; परंतु उस झोपड़े का परिवर्तन न होता । वह जैसे का तैसा था । ऊपर डमोले की छौनी, नीचे ग़रीब का गलीचा पुआल । एक अपने और एक स्त्री के सिवा और उसके कोई नहीं था । इसलिए वही दोनों उस झोपड़े के वासी थे । जो कुछ रूखी-सूखी रोटी मिलती, उसे पाकर वह संतुष्ट रहता । उसे इसकी पर्वा न थी, चिंता न थी । वह कहा करता—'ग़रीब-अमीर दुनिया में होते ही हैं । सभी के दिन बराबर कटते हैं । पिछले जनम में जो जितना कमा आया है, उसे इस जनम में उतना ही मिलेगा । इसके लिए कुछ चिंता न करनी चाहिए । जो कुछ मिले, उसी को लेकर अपने बाल-बच्चों के साथ ख़ुशी से रहो ।' किंतु 'बाल-बच्चों' की बात आते ही उसके मुख पर विषाद की छाया नाचने लगती, उसके सारे उपदेश काफ़ूर हो जाते । वह माथे पर हाथ दे मारता और अपने भाग्य को रोने लगता ।

उसकी स्त्री 'मैनी' बड़ी पतिव्रता थी । इसमें संदेह नहीं कि वह बुधुआ पर जान देती थी । बिना उसकी आज्ञा के कोई काम न करती, बिना उसके खिलाये आप न खाती । ऐसा कई बार हो चुका था ; जब

बुधुआ दिन-भर नहीं आया, वह भूखी ही रह गयी। जब बुधुआ आँख से ओझल होता, तो भावी अमंगल की आशंका से उसका हृदय टूक-टूक हो जाता। उसकी आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती थी। यद्यपि उसे निस्संतान होने का भारी दुःख था, तथापि बुधुआ पर उसे प्रकट न होने देती, लाखों चेष्टाओं से उसे प्रसन्न रखने की कोशिश करती। वह चाहती थी कि उसे निपुत्र होने का दुःख न हो। अवसर पाकर वह बुधुआ को समझाती—"ईश्वर बड़े दयालु हैं। वह सब पर दया करते हैं। मैं देखती हूँ, तुम अपने शरीर को दिन-दिन घुला रहे हो। सोच करने से क्या लाभ। यदि हमारे भाग्य में पुत्र न बदा होगा, तो लाखों उपाय करोगे, सोच में प्राण भी दे दोगे, तो भी नहीं होने का। धीरज धरो। भगवान् भला ही करेंगे।"

उसके कथन का समर्थन कर बुधुआ कहता—"सो तो ठीक कहती हो। सोच करने से कोई लाभ नहीं। परंतु ब्राह्मण देवता कहते हैं, निपुत्री की गति नहीं होती उसे नरक होता है।" इसके अलावा यह सोचता हूँ कि आज मैं हूँ, कल नहीं। ज़िंदगी का क्या ठिकाना! पीछे तुम्हें कोई पानी देनेवाला भी तो न रहेगा। यह कहते-कहते उसकी आँखें डबडबा आयीं।

मैनी ने अंचल के कोर से आँसू पोंछते हुए, प्रकंपित स्वर में कहा—"नहीं रहने की मत कहो। जो भाग्य में लिखा होगा, सो होगा। यों ही जानें किस पाप का फल भोग रही हूँ। तुम्हारे न रहने पर मैं कहीं की न रहूँगी।" इसके आगे वह बोल न सकी। दुःखावेश से उसका गला भर आया।

बुधुआ ने अपने जी को कड़ा करके कहा—वही तो मैं भी कहता हूँ, पीछे न-जाने तुम्हारी क्या गति होगी! तुम्हारे मैके में भी तो ऐसा कोई नहीं, जो तुम्हारे भरण-पोषण का भार उठा सके। बाप तो पहले ही चले गये, भाई कब बहन का होता है!

इसी चिंता में दोनों के दिन कट रहे थे। एक दिन शाम को बुधुआ मज़दूरी करके लौटा। बड़े तपाक से मैनी ने उसकी अगवानी की। दिन-भर बाट जोहते-जोहते उसकी आँखें थक गयी थीं, अभी उसे सानंद पाकर हर्षातिरेक से गद्‌गद होकर बोली—"आज बड़ी देर कर दी। मैं कब से तुम्हारी राह देख रही हूँ। सोचा, कोई बड़ी चीज़ लाये होगे। देखूँ, आज की कमाई।"

'देखो न'—कहते हुए बुधुआ ने अपनी पोटली उसके आगे रख दी, और एक ठंडी साँस लेकर वह भी वहीं बैठ गया।

[ख]

माघ का महीना था। सर्वत्र हरियाली थी। ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ वसंत का अधिकार न हो। बुधुआ के ग्राम का बग़ीचा भी बौरों से लकदक हो गया था। उसने अपने पसीने के बल तरह-तरह के पौधों को बग़ीचे में जुटाया था। उन्हें नित्यप्रति देख लेता और संतोष की ठंडी साँस लेता था। उसके निर्वाह के लिए वह छोटा-सा बग़ीचा यथेष्ट था। उसमें बुधुआ ने परिश्रम करके शाक, बैंगन, गोभी तथा और भी ऐसी अनूठी वस्तुओं का संग्रह किया था, जो उस जगह मिलती नहीं थीं।

उसके घर से एक कोस की दूरी पर एक हाट लगती थी। वह कोई बड़ा शहर नहीं था, फिर भी देहाती आवश्यकताएँ किसी-न-किसी प्रकार पूरी हो ही जाती थीं। उस दिन हाट थी। बुधुआ सवेरे उठा। पहले अपनी बारी का परिदर्शन किया। पौधों और फलों को ग़ौर से देखा, उन्हें प्यार किया और चूमा भी। वृक्षों के शिखरों पर कलशों के समान बड़े-बड़े बौरों की चमक। उन पर भौंरों की भन-भनाहट गुलाब के फूलों में क़ैद किये हुए भृंगों की गुंजान। यह साज, यह पृथ्वी चूमने की अनधिकार चेष्टा। कितने लुभावने हैं ये दृश्य! और यह गोभी!—जिन्हें वह बड़े प्यार से पालता-पोसता था। उनके संबंध की, उनकी क़ीमत की याद कर उसका चेहरा फ़क़ हो जाता। फिर भी न-जाने क्या सोचकर उसकी उदासी मिट जाती। वह ख़ुश हो जाता। उस ओर देखता और फिर उदास मन से कहता—हाय! बिछुड़ जायगा।

सभी चीज़ों का निरीक्षण कर, छोटे-छोटे क़दम उठाकर, वह घर की ओर लौटा। मैनी रसोई पकाकर उसकी राह देख रही थी। बुधुआ ने घर आकर अपनी लाठी ली और फिर उसी तरफ़ चला। मैनी समझ न सकी कि बात क्या है? किंतु उसने नम्रतापूर्वक बुधुआ की राह रोकी, और कहा—रसोई हो गयी है। दो कौर खा

हो, तब जाना। बुधुआ ने अन्यमनस्क भाव से कहा—भी अच्छा नहीं है, मैं न खाऊँगा।

मैनी के सिर पहाड़ टूट पड़ा। वह बुधुआ के स्वभाव से भली भाँति परिचित थी। जानती थी, बुधुआ हठी है, वह किसी तरह अपनी हठ नहीं छोड़ता। परन्तु, मैनी भी उसके स्वभाव के प्रतिकूल कोई काम न करती। और काम न भी करती, तो हरज नहीं। लेकिन बुधुआ भूखे कहीं चला जाय और वह टुकुर-टुकुर देखती रहे, यह उसके लिए दूभर था—असंभव था। उसने फिर भी धृष्टता की, और स्नेह-विगलित स्वर में कहा—सब तैयार है। खाने में कितनी देर लगती। भूखे ही हाट कैसे जाओगे?

बुधुआ ने एक न मानी। वह बग़ीचे में गया। चुनी हुई पंद्रह गोभियाँ काट लीं और हाट की ओर चला।

मैनी उस दिन भूखी ही रह गयी। वह झोपड़े के द्वार पर बैठकर शांतचित्त से विचार करने लगी—कल से ही उदास हैं। रात-भर आँखों में नींद का नाम नहीं। उदासी तो उनकी संपत्ति थी ही; फिर भी इस तरह नहीं। जाने कौन-सी सुप्त भावनाएँ उनके हृदय में जाग्रत हो उठी हैं, चैन नहीं लेने देतीं। कल भी भूखे रह गये और आज की यह हालत?

हे भगवन्! हमारी यह दशा क्यों? मेरी गिरी हालत पर तुम्हें कुछ भी दया नहीं आती। क्या हमें सुख से जीना भी नसीब नहीं, जब उन्हीं की यह दशा, तो मेरी क्या होगी? उसी से तो मैं भी हूँ।

शाम की बेला थी। डूबते हुए सूर्य की किरणें पूर्व की ओर संकेत करती हुई मानों कह रही थीं—एक दिन आततायी देश छोड़कर इसी तरह चला जायगा। बुधुआ शायद इस संकेत को समझकर ही खुश था। वह भी अपने झोपड़े के द्वार पर मुसकिरा रहा था। वह अपने फटे कंबल के भीतर जाने कौन-सी अनमोल वस्तु ख़रीद लाया था, जिसके उपलक्ष्य में, प्रसन्नता की बाढ़ में, वह फूला न समाता था। मैनी सामने खड़ी थी। उसके आश्चर्य का ठिकाना न था। जिस बुधुआ को दिन में वह विषाद की सजीव मूर्ति मान बैठी थी, उसकी दशा पर तरस रही थी, उसी में अचानक इतना परिवर्तन! हो न हो, यह भगवान् की मरज़ी है। हे भगवन्! इसी तरह बुधुआ को खुशी देखूँ, यही माँगती हूँ। धन-संपत्ति मैं कुछ भी नहीं चाहती। मैनी इसी तरह भावनाओं की ऊँची उड़ान ले रही थी।

सहसा बुधुआ ने शांति भंग की। मीठे शब्दों में बोला—आज की कमाई देखोगी?

"देखूँ न।"—मैनी ने कहा।

"दिखा दूँगा तो इनाम में क्या दोगी?"

"जो भी चाहो।"

"गोभी के दाम चार आने हुए।"

"अच्छे हुए, रख दो।"

"अच्छा रखता हूँ"—कहते हुए बुधुआ ने कंबल के भीतर से एक छोटा-सा कुत्ते का बच्चा निकाला और बोला, लो यह चार आने का है। इसे प्यार से पालो-पोसो। सूने घर में इससे बोल भर तो लूँगा। बड़ा होने पर यह बग़ीचे की रखवारी करेगा। बंदर बहुत ऊधम मचाते हैं, उनसे तो पिंड छूट जायगा। इसके शरीर का रोयाँ मोती के समान चमकता है। इसलिए उसका नाम रक्खा है मोती। इसका विवाह बैजू की कुतिया से कर दूँगा। विवाह में गीत गाओगी न?

मैनी की आँखें सजल हो गयीं। वह वहीं मूकवत् खड़ी रही।

[ग]

रात्रि ने सदा की भाँति बिदा ली। सूर्यदेव पूर्वाकाश में अपनी बाल-किरणों के साथ उछलकर खिलखिला रहे थे। बुधुआ अपने द्वार पर एक अलाव के पास बैठा मोती को प्यार कर रहा था। सूर्य के नेत्रों में लालिमा थी और उसके नेत्रों में थी लालसा। सूर्य की किरणें गगनांगण में खेल रही थीं—हँस रही थीं; पर बुधुआ निस्पंद बैठा था। उसके प्रकृत भाग्य और विधाता के कठिन प्रहारों से चूर हृदय में हँसने-खेलने की उमंग नहीं थी।

माघी पूर्णिमा का दिन था। पर्व-स्नान करने के लिए आसपास के लोग सावन-भादों की बहती हुई सरिता की भाँति उमड़ रहे थे। बुधुआ के घर होकर ही जाने का मार्ग था। 'गंगा मैया की जय' की ध्वनि से उसका झोपड़ा प्रतिध्वनित हो रहा था। लोग चल रहे थे, हँस रहे थे और गा रहे थे। उनकी चाल में वह उत्तेजना थी, जो वर्तमान बिखरे हुए वायु-मंडल में कुछ दीवानों की है। उनकी हँसी में एक मोहक उपालंभ था।

उनके गान में वह मादकतामिश्रित आकर्षण था, जो एक सुघड़ तालिया गायक की मधुर मूर्च्छना और तान से श्रोताओं की भावुक हृत्तंत्री के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तार को झनझना देता है।

मैनी द्वार पर खड़ी थी। गंगा-तट के बिखरे हुए सौंदर्य से रश्मियाँ फूटकर उसके बग़ीचे में बिखर रही थीं। शब्दों की गुंजान आकाश में नगाड़े बजने का भान करा रही थी। मैनी का शून्य हृदय उन्हें दूर से देख न सका। वह भी जाने को उद्यत हुई।

बुधुआ वहीं बैठा रहा। वह संसार से नाता छोड़ चुका था। उसकी दृष्टि में यह एक विस्मय-जनक कौतुक था। वह अपना कंबल रखकर बग़ीचे की ओर चला।

सहसा चंपा नाम की एक बुढ़िया, जो उसकी पड़ोसिन थी और गाँव-भर की स्त्रियों में जिसका ख़ास स्थान था, गंगा-स्नान को जा रही थी। मैनी को द्वार पर खड़ी देखकर बोली—'चल बेटी, नहा ले। गंगा मैया आशीष देगी।' चंपा के मुँह से यह बात सुनकर मैनी के हृदय में प्रसन्नता की लहरें नाचने लगीं। विशेषकर 'आशीष' की बात सुनकर तो उसे और भी प्रसन्नता हुई। वैसे तो चंपा उसे कई बार आशीष दे चुकी थी, पर आज के और तब के आशीष में उसने महान् अंतर पाया। आज उसे ब्रह्म-वाक्य समझकर अपने अंचल में छिपा लिया, और "हाँ दीदी, चलती हूँ" कहती हुई, चंपा के पीछे-पीछे चल दी।

[घ]

संध्या ने अपनी काली महीन चादर वसुंधरा के ऊपर बिछा दी। अब गंगा-तट पर वह कोलाहल न था और न थीं गंगा के फेनिल जल में वह तरंगें। सर्वत्र शांति का अखंड साम्राज्य था। बुधुआ मोती के साथ झोपड़े में चिपका था। मैनी कहीं बाहर गयी थी। उसके द्वार पर एक मिट्टी का दीप टिमटिमा रहा था। दीप-शिखा को देखकर मोती कभी-कभी भूँक उठता; किंतु बुधुआ उसे ऐसा करने से मना कर रहा था।

मैनी जब अपने द्वार पर पहुँची, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। एक नवजात शिशु धरणी की गोद में लेटा था। वह उल्लास से अपनी सुकुमार उँगलियाँ चबा रहा था। उसकी दृष्टि दीपशिखा पर विलमी थी। उसकी दृष्टि में दैवी-प्रकोप अथवा सामाजिक अत्याचार का उलहना न था—थी केवल बाल-सुलभ चपलता, सहज सरल स्वाभाविकता। उसके ललित अधर चारों ओर मीठी मुस्कान बिखेर रहे थे। उनमें अस्थिरता थी, अशांति थी और थी प्रबल मादकता।

विस्मय-विमुग्धा मैनी एकटक शिशु को देख रही थी। उसके विक्षिप्त हृदय में न-जाने कौन-सी भावनाओं का समावेश था। उसकी दृष्टि में यह एक विस्मय-जनक कौतुक था। अब तक वह इसे स्वप्न ही समझ रही थी। सहसा शिशु रो पड़ा। मैनी ने दृष्टि फेरी; लपककर शिशु को गोद में उठा लिया। नेत्र उसके सजल थे, और हृदय शून्य। पर मुख-मंडल एक शांत और अलौकिक आभा से जगमगा रहा था।

बुधुआ निश्चिंत पड़ा था। उसे क्या पता था कि मेरा जीवन सफल हुआ। उसके लिए तो मोती ही सब कुछ था। मैनी लपकती हुई उसके पास आयी। स्नेहमिश्रित अधीर स्वर में बोली—सो रहे हो?

मोती भूँक उठा। बुधुआ भी उसकी आवाज़ सुनकर चौंका। उसकी देह पर हलकी थपकियाँ देते हुए बोला—तुझे नींद नहीं आती बे!

मैनी शिशु को अंचल में छिपाती हुई बोली—आज मैं भी एक मोती लायी हूँ! बुधुआ हँसकर बोला—क्या, मेरे मोती से बढ़कर?

"हाँ, तुम्हारे मोती से बढ़कर!"

"दिखा सकती हो?"

"इनाम क्या दोगे?"

"अपना मोती।"

"वह मैं नहीं लेने की। तुम्हारा मोती नक़ली मोती है। मेरा मोती वह मोती है, जिसके लिए हम जीवन-भर लालायित थे।"

बुधुआ चौंक उठा। गद्गद होकर बोला—क्या वह मिल गया?

मैनी ने स्नेह-सने शब्दों में कहा—'हाँ।' बुधुआ ने मृणाल-से दोनों हाथ फैला दिये।

नेत्र विस्फारित कर उत्सुकता से कहा—कहाँ?

किंतु 'कहाँ' का उत्तर सुनने के पहले ही वह निस्सहाय था। वह इस जगती के उस पार—किसी अज्ञात प्रदेश लोक में—अपनी लालसा पूरी करने चला गया।

'षड्यन्त्र' का सिंहावलोकन

[पं० मातादीन शुक्ल]

'आज' और 'माधुरी' में 'षड्यन्त्र' शब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के विषय में कई सज्जनों के कई भिन्न-भिन्न मत प्रकाशित हो चुके हैं। पाठकों की सुविधा के लिए हम इस लेख में उन सबका संक्षेप में सिंहावलोकन करना चाहते हैं और साथ ही यह भी देखना चाहते हैं कि अब यह विचार किस कोटि तक पहुँच चुका है।

इस रङ्ग-स्थल के सर्वप्रथम अभिनेता अथवा इस क्रीड़ा-स्थल के सबसे पहले खिलाड़ी हैं हिंदी-क्षेत्र के सुपरिचित विद्वान् लेखक श्रीयुत नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ। आपको ही सर्वप्रथम इस शब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के संबंध में शंका हुई और आप बहुत सोच-विचार के बाद इस नतीजे पर पहुँचे कि 'षड्यन्त्र' शब्द का अर्थ है 'छः कलपुर्ज़े'। इसमें 'छः' शब्द से, आपकी राय में, संस्कृत-साहित्य में प्रसिद्ध संधि-विग्रह आदि छः अंगों से तात्पर्य है। इस प्रकार 'षड्यन्त्र' शब्द का अर्थ, आपकी सम्मति में, राज-नीति के 'छः कलपुर्ज़े' हुआ।

विद्यावाचस्पति श्रीपंडित शालग्रामजी शास्त्री साहित्याचार्य ने माधुरी में उक्त मत का प्रतिवाद किया, जो 'आज' में भी अविकल रूप से उद्धृत किया गया। साहित्याचार्यजी ने उक्त मत पर कई विप्रतिपत्तियाँ उठायी थीं, जिनमें तीन प्रधान थीं। आपकी सबसे पहली विप्रतिपत्ति यह थी कि यदि संस्कृत-साहित्य के अतिचिरंतन प्रसिद्ध संधि-विग्रह आदि के आधार पर इस शब्द (षड्यन्त्र) की रचना हुई है, तो समस्त संस्कृत-साहित्य में कहीं पर भी, इसका एक भी, प्रयोग क्यों नहीं मिलता? आपका यह तर्क इतना प्रबल है कि वादी-प्रतिवादी सज्जनों में से किसी से भी अब तक इसका खंडन करते नहीं बना है। प्रधानतः इसी तर्क के आधार पर आपकी धारणा है कि (१) इस शब्द की उत्पत्ति का आधार कोई अर्वाचीन वस्तु होनी चाहिए। (२) साथ ही उसे साकार भी होना चाहिए; क्योंकि निराकार वस्तु में 'यन्त्रत्व' की कल्पना अनुपपन्न है। (३) इसके अतिरिक्त इस शब्द के आधार में क्षुद्रता, धूर्तता, कपटाचरण, नृशंसता आदि निंदनीय तथा असज्जनोचित भावों का भी समावेश होना चाहिए। आजकल जिस अर्थ (Conspiracy) में इसका व्यवहार होता है, उसके द्योतन के लिए इस बात की नितांत आवश्यकता है कि इस शब्द (षड्यन्त्र) के आधार में ये सब दुष्टता के भाव विद्यमान हों, अन्यथा लक्षणा करने पर भी उन भावों की अभिव्यक्ति न हो सकेगी, जिससे प्रकृत अर्थ में इस शब्द की प्रवृत्ति ही असंभव हो जायगी।

'खट्' शब्द अव्यक्त ध्वनि का अनुकरण प्रसिद्ध है। 'खट्', 'खट्का' तथा 'खट्-खट्' आदि शब्द हिंदी में आज भी अव्यक्त ध्वनि के लिए प्रयुक्त होते हैं। लक्षणा से 'खट्-खट्' शब्द का प्रयोग ऐसी जगह भी होता है, जहाँ अव्यक्त ध्वनि का कोई संबंध नहीं; जैसे कोई कहता है कि "हमारे कौन इस 'खट्-खट्' में पड़े, अथवा हमें यह 'खट्-खट्' पसंद नहीं।" इत्यादि। इन उदाहरणों में 'खट्-खट्' शब्द का तात्पर्य ध्वनि से नहीं, वरन् उस अव्यक्त ध्वनि के सदृश परेशानी पैदा करनेवाले भाव से है। यह इस शब्द का लाक्षणिक प्रयोग है। साहित्याचार्यजी की धारणा है कि 'खट्' की आवाज़ के साथ बंद होनेवाले चूहेदान का नाम भी 'खट्यंत्र' इसी आधार पर पड़ा है। (हमारा ख़याल है कि इस प्रकार के चूहेदान को कहीं 'खटका' कहते भी हैं।) आपका कहना है कि उत्तर-भारत में बहुत-से लोग मूर्धन्य 'ष' को 'ख' बोलते हैं और कई तो 'ख' के स्थान में 'ष' का प्रयोग लिखने में भी कर देते हैं। इसी अनवधान-परंपरा के कारण 'खट्यंत्र' शब्द में भी मूर्धन्य 'ष' का प्रयोग होना आप मानते हैं। 'ट्' और 'ड्' के संबंध में आपका कहना है कि इस शब्द में समास करना आवश्यक नहीं है, अतः 'खट्यन्त्र', 'खड्यन्त्र', 'षट्यन्त्र' अथवा 'षड्यन्त्र' का प्रयोग यथेच्छ किया जा सकता है।

आपके इस मत में सबसे पहले तो इस बात का हृदयंगम समाधान हो जाता है कि संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग क्यों नहीं मिलता। जिस प्रकार रेल, तार, टेलीफ़ोन, मोटर आदि के लिए प्रयुक्त संस्कृत-शब्दों ('वाष्पयान' आदि) का प्रयोग प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों में नहीं मिलता, क्योंकि ये सब वस्तुएँ अर्वाचीन हैं—उसी प्रकार इस 'षड्यंत्र' शब्द का भी कहीं प्रयोग नहीं मिलता, क्योंकि इसका आधार 'खट्का' या 'खट्यंत्र' (चूहेदान) भी अर्वाचीन है।

दूसरे, लक्ष्य-अर्थ में 'यंत्र' शब्द के प्रयोग का कारण भी स्पष्ट हो जाता है; क्योंकि इसका मूल आधार ही एक साकार यंत्र है। यह बात अन्य मतों में नहीं है। संधि-विग्रह आदि छः राजनीति के अंगों में, या काम क्रोध आदि छः मानसिक विकारों में अथवा इसी प्रकार के अन्य छः बिखरे हुए भावों में पहले तो सबका इकट्ठा करना ही असंभव है, जिससे 'यन्त्रत्व' की कल्पना में बाधा पड़ती है; दूसरे इन आकारहीन भावों को 'यंत्र' बताना भी एक ज़बर्दस्ती ही है। इन्हें तो वही 'यंत्र' मान सकता है, जिसने 'निराकार यंत्र'—आकारशून्य मशीनें—कहीं देखी हों।

तीसरे, चूहों को फँसानेवाले यंत्र में क्षुद्रता, धूर्तता, कपटाचरण से दूसरों को फँसाने की चेष्टा तथा नृशंसता आदि असज्जनोचित निंदनीय भावों का स्पष्टीकरण जिस स्पष्टता और सुंदरता के साथ होता है, उतना अन्य मतों में संभव नहीं है।

प्रधानतः इन्हीं तीन तर्कों के बल पर साहित्याचार्य जी ने अपने मत का प्रतिपादन कई लेखों में किया है, तथा दूसरे मत के माननेवालों पर कई मार्मिक आक्षेप भी किये हैं।

तीसरा मत इस विषय में श्रीयुत किशोरीदत्तजी शास्त्री (चिकित्सक-संपादक) का प्रकाशित हुआ है। आपने पूर्वोक्त संपूर्ण विवाद से बचने के लिए एक नया 'मार्ग' यह दिखाया है कि इस शब्द को 'खटयंत्र' मान लिया जाय। आपका कहना है कि 'खट' शब्द के अनेक अर्थ 'मेदिनी-कोष' में लिखे हैं, उनमें एक 'प्रहारांतर' भी है। अतः 'खट' का अर्थ एक प्रकार का प्रहार—छिपकर प्रहार—मान लिया जाय और पूर्वोक्त समस्त विवाद को व्यर्थ समझ लिया जाय। यह लेख भी 'आज' में ही छपा है।

साहित्याचार्यजी ने इस लेख का भी प्रतिवाद 'आज' में छपाया है, जिसका सारांश यह है कि उक्त शब्द से Conspiracy का भाव निकलना संभव नहीं। श्रीयुत वेदतीर्थजी के और श्रीयुत किशोरीदत्तजी शास्त्री के मतों का समर्थन न तो और किसी ने किया है, न इन सज्जनों ने स्वयं अपने मत के समर्थन में फिर कोई बात कही है। उलटे श्रीयुत किशोरीदासजी वाजपेयी शास्त्री ने (२८ फाल्गुन सं० १९८८ के 'आज' में) यह लिखा है कि "साहित्याचार्यजी ने जो अन्य लोगों के विचारों का खंडन किया है, उससे हम सहमत हैं।" इस प्रकार उक्त दोनों सज्जनों के मतों का समर्थन तो किसी ने नहीं किया, परंतु उनके खंडन का समर्थन इसी विचारधारा में हो गया।

चौथा और अंतिम प्रकाशित मत, इस विषय में, श्री० किशोरीदासजी वाजपेयी का है। आपका कहना है कि "वेदतीर्थजी ने राजनीति के छः गुण लिये हैं, जो ठीक नहीं; क्योंकि इसका प्रयोग साज़िश के अर्थ में होता है......और लोगों ने 'षट्' से जो अर्थ लिया है, वह भी ग़लत है और उसका खंडन स्वयं साहित्याचार्यजी ने लेखांतर में कर भी दिया है।" आगे आप कहते हैं—"षट् और यन्त्र के योग से यह शब्द बना है और इसलिए यौगिक है। 'षट्' का अर्थ है छः और 'यन्त्र' का जाल या बंधन......'षट्रिपु' षड्रिपुवर्ग, षड्वर्ग आदि शब्दों से छः प्रसिद्ध अंतःशत्रु लिये जाते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर......इसीलिए इन छहों का यह षड्यंत्र सुप्रसिद्ध (?) है। यही इस शब्द का अभिधा-स्थल है।...यही शब्द अर्थसादृश्य से साज़िश के अर्थ में व्यवहृत होता है। यह इसकी लक्षणा का स्थल है।"

इस प्रकार वाजपेयीजी का मत हमने उन्हीं के शब्दों में व्यक्त कर दिया। आपके लेख की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप अपने बनाये जाल में स्वयं ही फँस गये हैं। वेदतीर्थजी के मत के खंडन को तो आपने ठीक मान लिया; परंतु इस बात पर आपका ध्यान ही नहीं गया कि जो-जो आक्षेप, संधि-विग्रह आदि बिखरे हुए और आकार-हीन भावों की असंगति दिखाते हुए, साहित्याचार्यजी ने वेदतीर्थजी के छः राजनीति के अंगों पर किये थे, वही सब आपके इन काम-

क्रोध आदि पर भी तो लागू हैं और फलतः उन्हीं से आपके इस मत का भी खंडन हो गया। साहित्याचार्यजी के मत को तो आप इसलिए 'भ्रमपूर्ण' बताते हैं कि "बहुत कुछ खोज करने पर भी' चूहेदानी के अभिधायक 'खट्यंत्र' शब्द का आपको (वाजपेयीजी को) पता न चला; परंतु स्वयं काम-क्रोध आदि छहों के षड्यंत्र को सुप्रसिद्ध (?) बताते हुए भी न तो आप किसी प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ का एक भी उदाहरण दिखा पाते हैं, और न किसी 'देश' या 'देश-विशेष' का पता ही बता पाते हैं, जहाँ काम-क्रोध आदि के लिए 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग होता हो। वास्तव में यहाँ आपने साहित्याचार्यजी पर जो आक्षेप किया है, वह आप ही के ऊपर उलटकर लग गया है और इस तरह आप अपने बनाये जाल में स्वयं ही फँस गये हैं।

इसके बाद फिर साहित्याचार्यजी ने 'आज' और 'माधुरी' में एक लेख प्रकाशित कराया है, जिसमें आपने प्रकृत विचार के ठीक-ठीक निर्णय के लिए सूत्र-रूप से कुछ बातें बतलायी हैं और साथ ही अपने ऊपर किये गये आक्षेपों का—ख़ासकर 'खट्यंत्र' शब्द का अभिधेय अर्थ प्रसिद्ध न होने के संबंध में—उत्तर भी दिया है। निर्णायक सूत्रों में प्रधानतः वही तीन बातें हैं, जिनकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं, और आक्षेपों के उत्तर में यद्यपि वाजपेयीजी का नामोल्लेख नहीं है, तथापि काम-क्रोध आदि को 'षड्यन्त्र' का आधार माननेवालों के ऊपर करारी फटकार है। इसमें आपके तर्क प्रायः वेदतीर्थजी के मत के उक्त खंडन से मिलते-जुलते ही हैं।

इसके बाद १४ चैत्र सं० १९८८ के 'आज' में फिर श्रीयुत वाजपेयीजी का एक लेख छपा है। इसे हम अंतिम लेख भी कह सकते हैं; क्योंकि इसके बाद से फिर और कोई लेख देखने को नहीं मिला है। वाजपेयीजी ने अपने मत का समर्थन और साहित्याचार्यजी के मत का खंडन करने की इसमें जी भरके चेष्टा की है; परंतु इस लेख में भी आपकी वही विशेषता—अपने बनाये जाल में स्वयं फँस जाने की—पूर्ण रूप से विद्यमान है। पहले लेख में तो आपने काम-क्रोध आदि के 'षड्यन्त्र' को सुप्रसिद्ध बताया और जब साहित्याचार्यजी ने वह प्रसिद्ध स्थल पूछा तब आप दूसरे लेख में कहते हैं कि क्या सब शब्दों की 'रजिस्ट्री' हो गयी है, जो नये शब्द बन ही नहीं सकते? आपका यह उत्तर निहायत भद्दा है। यदि आपके लेखानुसार 'षड्यन्त्र' सुप्रसिद्ध था, तो आपको उसके दो-चार उदाहरण अवश्य दिखाने चाहिए थे; और यदि यह बात नहीं थी, तो इस शब्द को सुप्रसिद्ध बताने का दुःसाहस नहीं करना चाहिए था। पहले तो उसे सुप्रसिद्ध बताना और फिर उसे नवीन बताना लड़कपन का सूचक है।

वाजपेयीजी ने अपने इस अंतिम लेख में कई ऐसे मिथ्या आरोप भी किये हैं, जिनका साहित्याचार्यजी के लेख में कहीं पता नहीं है। आपका कहना है—"साहित्याचार्यजी शायद यह समझते हैं कि शब्दों और प्रयोगों की रजिस्ट्री हो गयी है कि जो शब्द या प्रयोग पहले बन चुके हैं, उनके अतिरिक्त और कोई भी नया शब्द संसार में न बनने पावे...'षड्यन्त्र' शब्द का प्राचीन ग्रंथों में प्रयोग नहीं मिलता, अतएव यह शब्द 'षट्' शब्द के योग से बना ही नहीं।" वास्तव में साहित्याचार्यजी ने यह कहीं नहीं कहा है कि नवीन शब्द बनने ही न चाहिए। 'दशाश्वमेध', 'चोरबागान' 'भुतही इमली' आदि हिंदी तथा संस्कृत के अनेक नवीन शब्दों की रचना पर उन्होंने प्रकाश डाला है। उन्होंने तो इस 'षड्यन्त्र' शब्द को भी इसी कोटि का (नवाविष्कृत) माना है और इस नवीनता के कारण ही प्राचीन ग्रंथों में इसका अप्रयोग बताया है। उनके ऊपर यह आक्षेप करना कि वह नवीन शब्द नहीं बनने देना चाहते, एक प्रकार से ज़िंदा मक्खी निगलने के समान है। सबसे बड़ा मज़ा तो यह है कि वाजपेयीजी ने इसी लेख में पूर्वोक्त दशाश्वमेध आदि शब्दों का उल्लेख भी किया है और फिर भी आप यह आक्षेप करते हैं!!

"षड्यन्त्र' शब्द का प्राचीन ग्रंथों में प्रयोग नहीं मिलता, अतएव यह शब्द 'षट्' शब्द के योग से बना ही नहीं—" यह बात भी 'सफ़ेद झूठ' है। साहित्याचार्यजी ने यह कहीं नहीं कहा है। हमने उनके सब लेख ध्यानपूर्वक पढ़े हैं। जो भी चाहे, उन्हें फिर पढ़ सकता है। उनमें यह बात कहीं नहीं है। उनका कहना तो यह है कि प्राचीन ग्रंथों में प्रयोग न मिलने

के कारण इसका आधार कोई नवीन वस्तु माननी चाहिए। यदि काम-क्रोध आदि किसी प्राचीन प्रसिद्ध आधार पर इस शब्द की योजना हुई होती, तो प्राचीन ग्रंथों में इसका प्रयोग अवश्य मिलता। उनका तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ दोनों साथ-साथ चलनेवाली वस्तु हैं। यह संभव नहीं कि आजकल कोई वस्तु तो हम लोगों के काम में दिन-रात आती हो, परंतु उसका नाम कुछ न हो। साथ ही यह भी संभव नहीं है कि कोई नाम तो हमारे प्रयोगों में बराबर आता हो, परंतु उस नाम की कोई वस्तु न हो। यदि नाम है तो उस नाम की कोई वस्तु अवश्य होगी; और यदि कोई वस्तु है, तो उसका कुछ-न-कुछ नाम अवश्य होना चाहिए। एक के विना दूसरे की सत्ता असंभव है। अतएव जो लोग संधि-विग्रह या काम-क्रोध आदि के आधार पर 'षड्यन्त्र' की योजना बताते हैं, उन्हें प्राचीन ग्रंथों में इसका प्रयोग दिखाना चाहिए। वाजपेयीजी ने साहित्याचार्यजी के इस भाव को एकदम कदर्थित कर डाला है और एक निराधार मनगढ़ंत आक्षेप उनके ऊपर लाद दिया है। किसी साहित्यिक विवाद के लिए ऐसे साधन का आश्रय लेना शोभाजनक नहीं है।

हम कह चुके हैं कि वाजपेयीजी अपने बनाये जाल में स्वयं फँसा करते हैं। यहाँ भी वही बात है। अपने पहले लेख में तो आपने लिखा है कि काम-क्रोध आदि के लिए 'षड्यंत्र' सुप्रसिद्ध है और यही इस शब्द का "अभिधा-स्थल है", परंतु दूसरे (१४ चैत्र के 'आज') में यह स्वीकार करते हैं कि "षड्यंत्र शब्द का प्राचीन ग्रंथों में प्रयोग नहीं मिलता।" जब प्राचीन ग्रंथों में इस शब्द का प्रयोग ही नहीं मिलता, तब आपकी बतायी हुई 'सुप्रसिद्धि' और 'अभिधा-स्थल कहाँ हैं? क्या केवल आपके मुख में? हिंदी में तो काम-क्रोध आदि के लिए इसे कोई बोलता नहीं, केवल कांस्पिरेसी के लिए बोलते हैं, जिसे आप लक्ष्य बताते हैं। फिर इसका अभिधा-स्थल है कहाँ? इस प्रकार यहाँ वाजपेयीजी ने अपने हाथ से ही अपने पैर में कुल्हाड़ी मार ली है और अपने मुँह से ही अपने मत की निर्मूलता स्वीकार कर ली है।

आपका यह लेख आदि से अंत तक परस्पर-विरोधों और साहित्यिक भ्रांतियों से भरा है। साहित्याचार्यजी ने 'षड्यन्त्र' शब्द को, 'निरूढा लक्षणा' का उदाहरण बताया था और अपने लेख में विस्तार से कई उदाहरणों द्वारा इसका बारीक भेद भी समझाया था; परंतु खेद है कि वाजपेयीजी इसे नहीं समझ सके और बेसिर-पैर की हाँकने लगे हैं। १४ चैत्र के 'आज' वाले लेख के आरंभ ही में आप कहते हैं—"ठीक बात है, ऐसा ही है, निरूढ़ा लक्षणा में अभिधेय अर्थ प्रच्छन्न, प्रलुप्त, प्रनष्ट अथवा नगण्य रहा करता है, यही न! यह तो नहीं कि अभिधेय अर्थ दुनिया के तख़्ते से उठ जाय।" साहित्याचार्यजी ने यह बताया था कि 'निरूढा लक्षणा' में अभिधेय अर्थ प्रच्छन्न, प्रलुप्त, प्रनष्ट और नगण्य रहा करता है। इसे तो वाजपेयीजी ने कई बार स्वीकार किया है, परंतु आप यह मानने को तैयार नहीं कि वह दुनिया के तख़्ते से हट जाता है। अर्थात् 'प्रलुप्त' और 'प्रनष्ट' वस्तु को भी आप दुनिया के तख़्ते पर बनाये रखना चाहते हैं! कैसी भ्रांत धारणा है। 'मुसलमानों ने हिंदुस्थान की अनेक पुरानी पुस्तकों को नष्ट कर दिया'—इसका मतलब आपकी राय में यह हुआ कि वे अभी तक दुनिया के तख़्ते पर मौजूद हैं! 'रावण और दुर्योधन का वंश नष्ट हो गया—रोम-साम्राज्य नष्ट हो गया'—इत्यादिक वाक्यों का भी आप यही अर्थ समझते हैं कि ये सब वस्तुएँ अभी दुनिया में मौजूद हैं! डार्विन साहब कहते हैं कि उन्नति की रगड़ में मनुष्य की पूँछ 'प्रलुप्त' हो गयी, और वाजपेयीजी इसका यह अर्थ समझते हैं कि मनुष्य के दुम अभी मौजूद है! वस्तुतः आप 'निरूढा लक्षणा' का रहस्य समझ ही नहीं पाये हैं। इसी से आपने इस लेख में अकांड तांडव किया है।

संभव है, आपके इस लेख में साहित्याचार्यजी ने परस्पर विरोधों और साहित्यिक भ्रांतियों की भरमार देखकर ही इसकी उपेक्षा की हो और इसका उत्तर देना अनावश्यक समझा हो। एक बात और भी हो सकती है। प्रकृत विचार के निर्णय के लिए साहित्याचार्यजी ने सूत्ररूप से जिन-जिन बातों का अपने अंतिम लेख में निर्देश किया है, उनके आधार पर विचार करने से तो वाजपेयीजी के लेख की आपही छीछालेदर हो जाती है। संभवतः इसी कारण

साहित्याचार्यजी ने फिर पिष्टपेषण करना उचित न समझा हो।

कारण चाहे जो हो, परंतु श्री० वाजपेयीजी के लेख के बाद फिर इस विषय का कोई लेख देखने में नहीं आया। अतः हम इसी को प्रकृत विचार-धारा का अंतिम लेख समझते हैं और इस विचार को अब उन्हीं 'तीन प्रधान आधारों' की कोटि तक पहुँचा हुआ मानते हैं, जिनका निर्देश हमने आरंभ में किया है। हमारे विचार से विद्वान् विवेचकों को पूर्वोक्त तीनों कोटियाँ लक्ष्य में रखकर ही प्रकृत विचार को आगे बढ़ाना चाहिए।

एक और लेख माधुरी के इसी अंक में प्रकाशित हो रहा है, इससे जान पड़ता है कि कुछ ऐसे लोगों ने भी इस विषय पर क़लम उठायी है, जो 'कुछ' बन जाने की लालसा से लालित एवं महत्त्वाकांक्षा से वरदानित हैं। परंतु ऐसी उमंग एक 'पाँचवें सवार' बनने-जैसी ही उमंग है। इस अथवा इस कोटि के ऐसे सभी अनधिकारी, असमर्थ प्रयास दया के—उपेक्षा के पात्र हैं। अतः हमें ऐसे 'आकाश छूनेवाले बौने प्रयास' पर तरस आता है जो केवल 'ऋषांऽशोऽन्ते' की रट लगाकर 'दिग्विजय' की महत्त्वाकांक्षा रखते हैं।

'खट्यंत्र' या 'षड्यंत्र'

[साहित्याचार्य पं० गयाप्रसाद शास्त्री, वैद्य 'श्रीहरि']

"बनारस के दैनिक "आज" में श्रीयुत नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ का एक नोट 'षड्यंत्र'-शब्द के संबंध में निकला है। उससे लोगों में कुछ भ्रम फैला है और हमसे भी कई लोगों ने इस विषय में कई प्रश्न पूछे हैं। सर्वसाधारण की जानकारी के लिए हम इस पर अपनी सम्मति प्रकाशित कर देना उचित समझते हैं"—यह लिखते हुए विगत मार्गशीर्ष-मास की 'माधुरी' में श्री० पं० शालिग्रामजी शास्त्री ने "षड्यंत्र या खट्यंत्र"-शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। 'षड्यंत्र'-शब्द संस्कृत शब्द है। संस्कृत-साहित्य में अब तक इसका कहीं प्रयोग न मिलने से आपका मत है कि "षड्यंत्र" शब्द अशुद्ध शब्द है, वास्तव में "खट्यंत्र" होना चाहिए। आपका कहना है 'खट्यंत्र' का विकृत रूप ही "षड्यंत्र" है। इस बात के प्रमाण में आप लिखते हैं—"छापेख़ानों के प्रूफ़रीडर साहबान भी कभी-कभी अपनी मूर्खतापूर्ण विद्वत्ता से अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। यह भी असंभव नहीं है कि कहीं 'खट्यंत्र' या 'खड्यंत्र' लिखा देखकर उन्होंने इसे ग़लत करके शुद्ध कर डाला हो और उन्हीं की कृपा से "खड्यंत्र" का "षड्यंत्र" बन गया हो, एवं हिंदी के अल्पज्ञ लेखकों में अंधपरंपरावश इसका इसी रूप में प्रचार हो गया हो।" अस्तु, सबसे पहले विचार यह करना है कि व्याकरण की रीति से 'खट्यंत्र' और 'खड्यंत्र', इन दोनों शब्दों में से शुद्ध शब्द कौन है। किसी भी शब्द का शुद्ध रूप जानने के बाद ही उसके अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के ऊपर विचार किया जा सकता है।

श्री० पं० शालग्रामजी शास्त्री का विचार है कि "खट्" इस अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्द का "यंत्र" पद के साथ समास करने पर "खट्यंत्र" पद की सिद्धि होती है और इसका अभिधेयार्थ "चूहेदान" होता है। आप अपने शब्द की सिद्धि के प्रमाण में लिखते हैं—"महर्षि पाणिनि ने 'अनुकरणं चानिति परम् १।४।६२' और 'अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ५। ४। ५७' इत्यादिक सूत्र अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से बने हुए शब्दों की विशेष साधनिका के लिए ही बनाये हैं।" "पट्‌पट्" की आवाज़ करनेवाले के लिए 'पटपटाकरोति'—'खरट् खरट्' की आवाज़ करनेवाले के लिए 'खरटखरटाकरोति' इत्यादिक प्रयोग संस्कृत में होते हैं। ज़ोर से खकार के थूकनेवाले के लिए 'खाटिति कृत्वा निरष्ठीवत्' या 'खाट्कृत्य' इत्यादिक प्रयोग होते हैं। सारांश यह कि जहाँ से जैसी आवाज़ (अव्यक्त ध्वनि) निकलती हो, उसी के अनुसार शब्द-कल्पना करने की और तदनुसार वस्तुओं तथा प्राणियों के नामकरण करने की भी चाल संस्कृत में है। आजकल चूहेदान कई तरह के देखने में आते हैं। इनमें से एक जो संभवतः सबसे प्राचीन नमूने का है 'खट्' की आवाज़ के साथ बंद होता है। इसके चारों ओर की भित्ति लकड़ी की होती है और ऊपर की जाली लोहे के तारों की बनी होती है। बीच में एक तार का टुकड़ा लटकता है। उसी में रोटी का टुकड़ा लगा देते हैं। चूहा जब उसके लोभ से अंदर जाता है और उस रोटी के टुकड़े को खींचता है, तभी ज़ोर से 'खट्' की आवाज़ के साथ चूहेदान का द्वार बंद हो जाता है और चूहा उसी में फँस जाता है। इसी 'खट्' की आवाज़ के कारण इस 'यंत्र' (चूहेदान) का नाम 'खट्यंत्र' पड़ा। इसमें प्रलोभन देकर दूसरे को फँसाना, धोखेबाज़ी, कपट, धूर्तता तथा फँसे हुए प्राणी को सताने आदि के सब निकृष्ट भाव मौजूद हैं। उच्च कोटि के भावों से इसका कोई संबंध नहीं। असली 'खट्यंत्र' यही है। यह इसकी अभिधावृत्ति का स्थल है।" अस्तु।

इन्हीं सब तर्क और युक्तियों के आधार पर श्रीशास्त्रीजी 'षड्यंत्र' शब्द के स्थान में 'खट्यंत्र' पद की कल्पना कर रहे हैं। यहाँ श्रीशास्त्रीजी बहुत बड़े भ्रम में हैं। हमें आश्चर्य और दुःख तो इस बात का है कि आप अब तक अपने अशुद्ध 'खट्यंत्र' शब्द के ऊपर पुनः विचार ही नहीं कर सके और वीर योद्धा की भाँति वाद-विवाद के युद्ध-क्षेत्र में बड़े आग्रह के साथ डटे हुए हैं। वास्तव में 'खट्यंत्र' शब्द संस्कृत-व्याकरण के अनुसार सिद्ध ही नहीं हो सकता है। अतः अशुद्ध 'खट्यंत्र' शब्द के अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ के संबंध में विचार करना सर्वथा

व्यर्थ है। जब आप 'खट्' को अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्द मानते हैं, तो यंत्र-पद के साथ समस्त कैसे करेंगे ? कौन-सा समास करेंगे ? समास का स्वरूप क्या होगा और किस सूत्र से समास करेंगे ? क्या आपने इन सब बातों के संबंध में भी कुछ विचार किया है ? समास दो या अनेक पदों का ही होता है और 'पद' संज्ञा सुबन्त या तिङन्त की ही होती है । आपका अव्यक्तानुकृतिवाचक 'खट्' शब्द न सुबन्त है और न तिङन्त ही है। ऐसी दशा में आप 'खट्' शब्द का 'यंत्र' पद के साथ समास किस नियम और किस सूत्र से करेंगे, कम-से-कम इस बात का विचार तो अवश्य कर लेना चाहिए था। आपने 'पट-पटा करोति' 'खरट खरटा करोति' तथा 'खाट् कृत्य' ये तीन उदाहरण अपने 'खट्यंत्र' पद की सिद्धि की पुष्टि करने के लिए उपस्थित किये हैं। यहाँ हम श्रीशास्त्रीजी को बड़े प्रेम से स्मरण करा देना चाहते हैं कि 'अनुकरणं चानिति परम् १।४।६२' आदि सूत्रों में "क्रियावाचिनः" की अनुवृत्ति आती है । फलतः अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्दों का समास प्रायः कृ, भू, अस् आदि किसी-न किसी क्रियावाचक के साथ ही हुआ करता है। आपके द्वारा उपस्थित किये गये तीनों उदाहरण ही इस बात के प्रमाण हैं कि अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्द किसी-न-किसी क्रियावाचक के साथ ही अन्वित या समस्त हैं। हम समझते हैं, प्रामाणिक पाणिनीय व्याकरण के आधार पर श्रीशास्त्रीजी की 'खट्यंत्र' पद की क्लिष्ट कल्पना नितांत अशुद्ध है। एक प्रचलित—चिरकाल से प्रचलित शुद्ध शब्द 'षड्यंत्र' के स्थान पर अशुद्ध "खट्यंत्र" पद की क्लिष्ट कल्पना किसी भी व्यक्ति को रुचिकर न होगी।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्दों का समास प्रायः किसी-न-किसी कृ, भू, अस् आदि क्रियावाचक के साथ ही हुआ करता है, अतः 'खट्' इस अव्यक्तानुकृतिवाचक शब्द का समास 'यंत्र' पद के साथ नहीं हो सकता है। यदि हम शास्त्रीजी के अव्यक्तानुकृतिवाचक 'खट्' शब्द में किसी प्रकार पदत्व की कल्पना करके 'यंत्र' पद के साथ समास भी कर लेवें, तो भी 'खट्यंत्र' शब्द की सिद्धि नहीं हो सकती। कारण, इस दशा में 'झलां जशोऽन्ते ८।२।३९' इस सूत्र से प्राप्त जश्त्व का कोई बाधक नहीं दिखलायी पड़ता है। जश्त्व होने पर 'षड्यंत्र' शब्द की ही सिद्धि होती है। इन सब बाधक कारणों को देखते हुए समझ में नहीं आता है, श्रीशास्त्रीजी ने 'मुरारेस्तृतीयः पन्था' वाली कहावत के अनुसार इस अशुद्ध 'खट्यंत्र' पद की कल्पना कैसे कर डाली ? हमें आश्चर्य और दुःख इस बात का है कि आप अभी तक किसी भी विद्वान् का सत्परामर्श मानने के लिए तैयार नहीं हैं और अपने अशुद्ध 'खट्यंत्र' पद की कृत्रिम ढाल लेकर सभी विद्वानों को युद्धक्षेत्र में ललकार रहे हैं। श्रीशास्त्रीजी-जैसे विद्वान् के लिए यह आग्रह-बुद्धि शोभादायक नहीं हो सकती है। अच्छा हो, श्रीशास्त्रीजी अशुद्ध 'खट्यंत्र' पद और उसकी सिद्धि के लिए अवांछित, क्लिष्ट कल्पना का आग्रह छोड़कर चिरकाल से व्यवहार में लाये जाने-वाले, सीधे-सादे, शुद्ध 'षड्यंत्र' शब्द के संबंध में ही अपने बहुमूल्य विचार उपस्थित करें। किसी भी भाषा में जो शब्द एक बार सामूहिक रूप से प्रचलित हो जाता है, 'वह चाहे व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध हो या अशुद्ध हो', उसे उस भाषा से निकालकर फेंक देना या उसके स्थान पर किसी नये शब्द का प्रयोग करना भाषातत्त्व-विशारदों की दृष्टि में सर्वथा असंगत और उपहासास्पद है। संस्कृत-व्याकरण में तो कितने ही आकृतिगणों की कल्पना साहित्य या लोक में प्रचलित शब्दों की सिद्धि के ही लिए की गयी है। संभवतः श्रीशास्त्रीजी भी इसी सिद्धांत को मानते होंगे कि भाषा और व्याकरण इन दोनों में से भाषा को ही प्राधान्य दिया जाता है। हम किसी शब्द या वाक्य को सुनकर ही उसकी स्वरूप-सिद्धि तथा कर्ता, कर्म, क्रिया या विशेष्य-विशेषण-भाव आदि व्याकरण से संबंध रखनेवाली बातों के ऊपर विचार कर सकते हैं। इस प्रकार समय, परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार किसी भी भाषा में रात-दिन या सदा ही नये-नये शब्दों की वृद्धि हुआ करती है। जीवित भाषा भी वही कही जा सकती है, जिसमें नवीन शब्दों का समावेश बराबर होता रहे। १० वर्ष प्रथम जो हिंदी-भाषा थी, आज वह हिंदी-भाषा नहीं है। १० वर्ष के बीच में आवश्यकता के अनुसार कितने ही नये शब्द हमारी राष्ट्र-भाषा हिंदी का कलेवर बढ़ाने के साथ-ही-साथ उसका गौरव भी बढ़ा रहे हैं। यही

दशा संस्कृत-भाषा की भी है। आवश्यकता के अनुसार कितने ही नये शब्द संस्कृत-भाषा में भी प्रचलित हो रहे हैं। यही बात "षड्यंत्र" शब्द के संबंध में भी लागू हो सकती है। यदि महाभारत, रामायण या अन्य किसी प्राचीन संस्कृत-ग्रंथ में 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता है, तो क्या संस्कृत-भाषा या हिंदी-भाषा में इसका प्रयोग होना ही नहीं चाहिए था, या जिस अर्थ में इसका प्रयोग लगातार कितने ही वर्षों से बराबर होता चला आ रहा है, उस अर्थ में उक्त शब्द की असंगति दिखलाकर किसी अप्रचलित 'खट्यंत्र'-जैसे शब्द की कल्पना करना न्यायसंगत कहा जा सकता है ? मैं समझता हूँ, श्री-शास्त्रीजी-जैसे व्याकरण और संस्कृत-साहित्य के प्रकांड पंडित को इस प्रकार की ऊटपटांग, क्लिष्ट कल्पना और व्यर्थ के वाद-विवाद में अपना बहुमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिए। संस्कृत या हिंदी में 'षड्यंत्र' शब्द के प्रथम प्रयोक्ता का अभिप्राय जो कुछ भी हो, उसके दृष्टि-कोण में और आजकल 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग करने-वाले भाषातत्त्व-विशारदों के दृष्टिकोण में कितना ही अंतर क्यों न आ गया हो; किंतु यह शब्द अब हिंदी-साहित्य से निकालकर फेंका नहीं जा सकता है। 'षड्यंत्र'-शब्द के वर्तमान रूप के संबंध में विचार करना सर्वथा व्यर्थ है; हाँ, उसके अभिधेयार्थ या लक्ष्यार्थ के सम्बंध में यदि विचार किया जाय, तो किसी को भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती है।

पूर्वोक्त प्रमाणों और युक्तियों से यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि प्रचलित 'षड्यंत्र' शब्द के स्थान पर 'खट्-यंत्र' की कल्पना सर्वथा भ्रममूलक है और संस्कृत-व्याकरण के अनुसार "खट्यंत्र" पद की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। अतः केवल "षड्यंत्र" शब्द के ही सम्बंध में विचार करना है। 'षड्यंत्र' शब्द नवप्रयुक्त शब्द है। हिंदी-भाषा में 'षड्यंत्र'-शब्द का प्रयोग अधिक-से अधिक लगभग ४० वर्ष से पाया जाता है। अनुमानतः सबसे पहले बंगभाषा में 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग साज़िश (Conspiracy) के अर्थ में किया गया है, अथवा कॉन्सपिरेसी (Conspiracy) इस अँगरेज़ी शब्द का ही अनुवाद 'षड्यंत्र' किया गया हो। किसी विदेशी भाषा के शब्द का अनुवाद करते हुए कई बार उसमें प्रकृत मौलिकता नहीं आ पाती है। कारण, अनुवाद तो अनुवाद ही होता है, और फिर एक विदेशी भाषा का ! ऐसी दशा में कॉन्सपिरेसी (Conspiracy) और 'षड्यंत्र' इन दोनों शब्दों के वाच्यार्थ में कुछ अंतर हो सकता है। किंतु इस बात में कोई संदेह नहीं है, आवश्यकतावश कॉन्सपिरेसी-शब्द का ही अनुवाद 'षड्यंत्र' किया गया है। जो कुछ भी हो, इस समय समाचार-पत्रों में, घरेलू व्यवहारों में एवं साधारण बातचीत तक में, 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। वंग-विच्छेद की घटनाओं के बाद से तो इस शब्द का इतना अधिक प्रचार बढ़ गया है कि जान-सुनकर आश्चर्य होता है। कितने ही बार लोग अपने घरों में, मित्र-मंडली में एवं साधारण बोलचाल तक में भी किसी कपट-प्रबंध या कपटचातुरी के लिए इस शब्द का प्रयोग करने लग गये हैं। हमने इस शब्द के प्रयोग की बहुलता को यहाँ तक देखा है कि यदि कोई दो मित्र दूर जाकर परस्पर कोई मंत्रणा करते हैं, तो तीसरा मित्र उन दोनों अपने मित्रों को सम्बोधित करके कहता है—क्यों साहब ! आप लोग क्या 'षड्यंत्र' रच रहे हैं ? इस प्रकार 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग केवल नीचतापूर्ण, निंदित साज़िश या कॉन्सपिरेसी (Conspiracy) अर्थ में ही न होकर किसी प्रकार के भी कपटप्रबंध, कपटचातुरी एवं गुट्ट-बंदी आदि में भी होने लगा है। कई बार बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और शिक्षित घरों तक में प्रेम-परिहास करते हुए या रोषवश पति का अपनी पत्नी के लिए, मित्र का अपने मित्र के लिए एवं पिता का अपने पुत्र के लिए, 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग करते देखा और सुना गया है। इन सब पूर्वोक्त स्थानों पर अपने प्रियजनों के लिए 'षड्यंत्र' शब्द के प्रयोक्ताओं का अभिप्राय नैतिक चातुरी या अधिक-से-अधिक कपट-प्रबंध तक ही परिमित होता है, इससे अधिक नहीं। हाँ, सरकारी भाषा में 'षड्यंत्र' शब्द का अर्थ साज़िश (Conspiracy) अवश्यमेव है। किसी भी वैध या अवैध उपाय से राज्य के शासन में क्षति पहुँचाना या राज्यप्रबंध में क्रांति (परिवर्तन) करने की चेष्टा करना, सरकारी भाषा में इन दोनों कामों को करनेवालों को 'षड्यंत्रकारी' कहा जाता है। फलतः 'षड्यंत्र' शब्द को किसी प्रकार भी राजनीति के क्षेत्र

से दूर नहीं किया जा सकता है। हम श्रीमान् पं० शालग्रामजी शास्त्री के प्रति सादर निवेदन करना चाहते हैं कि किसी भी दृष्टिकोण से चोरों, डाकुओं और ठगों के लिए 'षड्यंत्रकारी' शब्द का प्रयोग करना बहुत बड़ी भूल है। ये लोग तो अपने काम और अन्वर्थक नाम से 'षड्यंत्र' शब्द के प्रयोग के बहुत पहले से ही प्रसिद्ध हैं। साथ ही संस्कृत-साहित्य में तो इन देवताओं के लिए कितने ही पर्यायवाची शब्द भी वर्तमान हैं। 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग साधारण सामाजिक अपराधों के लिए नहीं, किंतु राजनैतिक अपराधों के ही लिए किया गया है। अतः 'षड्यंत्रकारी' पद से केवल राजनैतिक अपराधी का ही तात्कालिक बोध होता है।

व्याकरण, संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से भी 'षड्यंत्र'-शब्द सर्वथा शुद्ध है। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि जिन महानुभाव ने सबसे पहले 'षड्यंत्र' शब्द का प्रयोग किया है, वे राजनीति के अच्छे ज्ञाता होने के साथ-साथ संस्कृत-भाषा के भी प्रकांड पंडित थे, अन्यथा इतने सुंदर साभिप्राय शब्द का प्रयोग करना सर्वथा कठिन था। 'षड्यंत्र'-शब्द की प्रकृत व्याख्या करने के पहले व्याकरण की रीति से उसके शुद्ध रूप के संबंध में विचार कर लेना अत्यावश्यक है। संस्कृत-व्याकरण में दो प्रकार के प्रातिपदिक माने जाते हैं। एक व्युत्पन्न प्रातिपदिक और दूसरे अव्युत्पन्न प्रातिपदिक। व्युत्पन्न प्रातिपदिक वे कहलाते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति की जाय और अव्युत्पन्न प्रातिपदिक वे कहलाते हैं, जिनकी व्युत्पत्ति न की जाय। कई बार एक ही शब्द व्युत्पन्न प्रातिपदिक और अव्युत्पन्न प्रातिपदिक दोनों ही प्रकार का माना जाता है। जैसे राम, यह एक ही शब्द दशरथापत्यरूप में अव्युत्पन्न प्रातिपदिक माना जाता है एवं 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः" इस प्रकार व्युत्पत्ति करने पर व्युत्पन्न प्रातिपदिक माना जाता है। इसी मूल-सिद्धांत के आधार पर शब्दों के तीन भेद किये गये हैं—रूढ़ि, यौगिक और योगरूढ़ि। रूढ़ि शब्द वे कहलाते हैं, जिनका निश्चित वाच्यार्थ हो। प्रायः सभी संज्ञावाचक शब्द 'रूढ़ि' शब्द कहलाते हैं। जैसे डित्थ, डवित्थ एवं कपित्थ आदि। 'यौगिक' शब्द वे कहलाते हैं, जो प्रकृति प्रत्यय के योग से बने हों और जिनकी व्युत्पत्ति की जा सके, जैसे अश्वारोही, अध्यापक तथा पाठशाला आदि। इसी प्रकार 'योगरूढ़ि' शब्द वे कहलाते हैं, जिनमें योग और रूढ़ि दोनों का ही आश्रय लिया जाय, जैसे पंकज एवं पीतांबर आदि। अस्तु, 'षड्यंत्र' शब्द को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक, असमस्त या रूढ़ि शब्द मान लेने पर किसी प्रकार के विवाद का अवसर ही नहीं उपस्थित होता है। इस दशा में 'षड्यंत्र' शब्द को साज़िश या कॉन्सपिरेसी (Conspiracy) अर्थ में रूढ़ मान लेने से किसी प्रकार का भी विवाद नहीं रह जाता है। 'षड्यंत्र' शब्द में दो पद या चार अक्षर देखकर किसी महानुभाव को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि 'षड्यंत्र'-शब्द 'रूढ़ि' शब्द नहीं हो सकता है। ऐसे संशयापन्न हमारे मित्रों को किसी वैयाकरण से परामर्श लेना चाहिए। हाँ, 'षड्यंत्र' शब्द को व्युत्पन्न प्रातिपदिक, समस्त एवं यौगिक शब्द मानने पर अवश्यमेव मतभेद की संभावना है, किंतु इस मतभेद में वस्तुतः कोई तत्त्व नहीं है।

'षड्यंत्र' शब्द षड् और यंत्र इन दो भिन्न पदों का समास करने से बना है। 'षड्' शब्द ६ संख्या का बोधक है और यंत्र शब्द का अर्थ है, साधन, उपाय, बंधन, कल, छल, टोना-टटका, कोष्ठक-विशेष, सुश्रुतोक्त स्वस्तिकादि-यंत्र, दारु-यंत्र, लोह-यंत्र, अग्नि-यंत्र एवं जल-यंत्र आदि। यहाँ 'यंत्र' शब्द का अर्थ कल ही लेना अधिक उपयुक्त होगा। हम पहले ही कह चुके हैं, 'षड्यंत्र' शब्द राजनीति के क्षेत्र से किसी प्रकार भी बाहर नहीं किया जा सकता है। ऐसी दशा में 'षड्यंत्र' शब्द के समास का स्वरूप "षण्णां संधि-विग्रह-यानासन-द्वैधीभाव-समाश्रयाख्यानां यन्त्राणां कलानां समाहारः 'षड्यंत्रम्'" यही हो सकता है। नीति-शास्त्रकारों ने संधि-विग्रह आदि की परिभाषा निम्न प्रकार से की है—सन्धिः—शत्रु और विजय की वांछा से चढ़ाई करनेवाला राजा, इन दोनों में व्यवस्था-स्थापन के लिए जो एकता है, उसे 'संधि' कहते हैं। विग्रहः—दो प्रबल शत्रुओं के परस्पर युद्ध या विरोध को 'विग्रह' कहते हैं। यानः—शत्रु के प्रति चढ़ाई करने को 'यान' कहते हैं। आसनः—किन्हीं अनिवार्य कारणों से प्रतिबद्ध-शक्ति, दो शत्रुओं का

अवसर की प्रतीक्षा के निमित्त जो चुपचाप ठहरना है, उसे 'आसन' कहते हैं। द्वैधीभावः—दुर्बल और प्रबल शत्रुओं के बीच में जो केवल मौखिक आत्म-समर्पण है, उसे 'द्वैधीभाव' कहते हैं। समाश्रयः—प्रबल शत्रु से सताये जाने पर किसी अन्य बलवान् राजा का जो आश्रय लेना है, उसे 'समाश्रय' कहते हैं। 'षड्यंत्र' शब्द में इन्हीं छहों राजनैतिक कल-पुर्ज़ों का ग्रहण है। इस स्थान पर हम श्री० पं० नरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ के विचारों से सर्वथा सहमत हैं। संधि-विग्रह आदि में यंत्रत्व का आरोप नहीं हो सकता है, श्री० पं० शालग्रामजी शास्त्री का यह तर्क कुछ उचित नहीं प्रतीत होता है। कारण, संधि-विग्रह आदि राजनैतिक कल-पुर्ज़े नहीं हैं, तो और है क्या? रह गयी यंत्र-सादृश्य की बात, उसके लिए यही कहना है कि सर्वांशतया नहीं तो यत्किंचित् सादृश्य भी संधि-विग्रह आदि में यंत्रत्व के आरोप का नियामक हो सकता है। जब हम देखते हैं, लोक में किसी नियमपरायण, परिश्रमी मनुष्य के लिए लोग कह उठते हैं, "आप तो यंत्र के समान काम करते हैं", यहाँ एक चेतन प्राणी में अचेतन यंत्रत्व का आरोप किया जाता है, तो वास्तव में संधि-विग्रह आदि जो राजनैतिक कल-पुर्ज़े हैं, उनमें यंत्रत्व का आरोप करने में कौन-सी बड़ी कठिनाई उपस्थित हो जाती है? श्रीशास्त्री-जी का कहना है, प्रत्येक राजा अपने को 'षड्गुण-संपन्न' कहाने में आत्म-गौरव का अनुभव करता है, परंतु 'षड्-यंत्रकारी' कहाने में नहीं। ठीक है, हम 'षड्यंत्र' शब्द को षड्गुण का पर्यायवाची नहीं मानते हैं। 'षड्गुण'-शब्द पारिभाषिक शब्द है, जो एकमात्र संधि-विग्रह आदि राजनैतिक चालों में ही रूढ़ है। यहाँ 'गुण' पद किसी सद्विद्या या सद्बुद्धि का वाचक नहीं है। 'षड्यंत्र'-शब्द 'षड्गुण' की अपेक्षा अधिक व्यापक और अनेकार्थ-प्रतिपादक है। रह गयी इन दोनों शब्दों के प्रयोगस्थल में सम्मान और असम्मान की बात, उसके लिए यही कहना है की किन्हीं वैद्य महानुभाव को यदि वैद्यजी कहकर संबोधन किया जाता है तो वे प्रसन्न होते हैं, यदि दैवात् उन्हें 'गदहाजी' कहकर पुकारा जाय तो वे अपना अपमान समझते हैं और यहाँ तक कि मरने-मारने पर तैयार हो जाते हैं। बात क्या है? "गदं रोगं हंतीति गदहा"—इस व्युत्पत्ति से गदहा और वैद्य इन दोनों शब्दों में अर्थसादृश्य तो है ही, फिर वैद्य महानुभाव अपने आपको 'गदहा' कहलाने में आत्मगौरव का अनुभव क्यों नहीं करते हैं? 'षड्गुण-संपन्न' और 'षड्यंत्रकारी' इन दोनों शब्दों के प्रयोगस्थल में भी यही भेद है। यतः 'षड्यंत्रकारी' शब्द का प्रयोग लोक में राजनैतिक अपराधियों के लिए बहुतायत से होने लगा है—अतः यदि स्वाधीन नरपति अपने-आपको 'षड्यंत्रकारी' कहलाने में अपमान का अनुभव करते हैं, तो यह अपमान या सम्मान वैद्य और गदहा के समान ही है।

किसी समय 'राजतंत्र' युग में राजा के प्रत्येक वैध या अवैध कार्य के ऊपर राजनीति-शास्त्र की मोहर लगा दी जाती थी। एक राजा 'विग्रह' के लिए किसी नगर या देश के ऊपर चढ़ाई करके असंख्य जन-धन-संहार करता हुआ अपने साम्राज्य का विस्तार या स्वार्थ की सिद्धि करता है, किंतु कोई भी उसे 'षड्यंत्रकारी' कहने का साहस नहीं कर सकता है। किंतु प्रजाजनों में से यदि कोई व्यक्ति उसी काम को करे, तो लोग उसे चट 'षड्यंत्रकारी' कह डालेंगे। फलतः राजा के दोष गुण और प्रजा के गुण भी दोष माने जाते हैं। 'षड्गुण' और 'षड्यंत्र' इन दोनों शब्दों के प्रयोगस्थल का यही रहस्य है। उक्त दोनों शब्दों के प्रयोगस्थल में जो भेद की प्रतीति हो रही है, वह औपाधिक है। एक ही शुक्लत्व गुण-विशिष्ट जल की प्रतीति गंगाजल में स्वच्छ और यमुनाजल में नील हुआ करती है। लोक में इस प्रकार का औपाधिक भेद सर्वत्र पाया जाता है। 'षड्यंत्र' और 'षड्गुण' में यही औपाधिक भेद है। इन संधि-विग्रह आदि छहों राजनैतिक चाल-बाज़ियों या कल-पुर्ज़ों को केवल राजा की प्रतिष्ठा के स्थापनार्थ ही राजतंत्र-युग के प्राचीन नीतिकारों ने 'षड्गुण' संज्ञा दी है। अन्यथा, यदि सच पूछा जाय तो, राजा या राजा का मंत्रिमंडल ही 'षड्गुण-संपन्न' के स्थान में वास्तविक 'षड्यंत्रकारी' कहा जा सकता है। एक प्रबल राजा किसी अन्य राष्ट्र को धोखा देता है, उसके साथ विश्वासघात करता है एवं जनता के जन-धन का सर्वनाश कर डालता है। किंतु रूढ़िवादी समाज राजा के इन सब सर्वनाशकारी पापाचारों को देख-सुनकर भी उसे केवल कूटनीतिज्ञ या 'षड्गुण-संपन्न'



व्रजभाषा-काव्य-मर्मज्ञ तथा समालोचक
पं० किशोरीदास वाजपेयी शास्त्री



"कौमुदी" के रचयिता
उदीयमान कवि श्रीबालकृष्णराव



साहित्यरत्न पं० छोटेराम शुक्ल आयुर्वेदशास्त्री



विद्याभूषण पं० गंगाविष्णु पांडेय 'विष्णु'
काव्यपुराण-तीर्थ

[म]ानकर ही संतोष कर लेता है, किंतु यदि प्रजा-[ज]न में से कोई व्यक्ति इन्हीं कामों को करता है, तो उसे 'षड्यंत्रकारी' की उपाधि दी जाती है। राजा और प्रजा [मे]ं जो औपाधिक भेद या अधिकार-भेद है, उसी के [क]ारण 'षड्गुण' और 'षड्यंत्र' इन दोनों शब्दों की [स]मानार्थकता में यह काल्पनिक भेद दिखलायी पड़ता है। [व]ास्तव में ये दोनों ही शब्द एकार्थ प्रतिपादक ही हैं।

श्रीशास्त्रीजी लिखते हैं—"संधि-विग्रह आदि का संबंध [क]ेवल स्वतंत्र राजाओं से हो सकता है। आजकल के भारतीय राजा लोग भी इन गुणों से वंचित हैं, क्योंकि [उन्ह]ें स्वतंत्र रूप से किसी दूसरे राजा के साथ संधि या [य]ुद्ध करने का अधिकार नहीं है।" ठीक है, हम श्रीशास्त्री [ज]ी के विचारों से अक्षरशः सहमत हैं। एक समय वह [थ]ा, जब छोटे-बड़े ये सभी मंडलीक, भारतीय नरपति [स्]वतंत्रता का उपभोग करते हुए स्वेच्छया सन्धि-विग्रह [आ]दि कर सकते थे और उस समय इन राजाओं के [स]ंधि-विग्रह आदि 'षड्गुण' कहे जाते थे, साथ ही उन [स्]वाधीन भारतीय नरपतियों को 'षड्गुणसंपन्न' कहा [ज]ाता था। किंतु इन्हीं स्वाधीन भारतीय नरपतियों [क]ी संतानें ये परतंत्र भारतीय नरेश यदि आज किसी [दे]श के स्वतंत्र राष्ट्र से संधि-विग्रह आदि करने की चेष्टा [क]रें, तो ये भी 'षड्यंत्रकारी' कहलाने लग जायँगे। [य]हाँ भी स्वाधीनता और पराधीनता की उपाधि ही 'षड्गुण' और 'षड्यंत्र' की समानार्थकता में भेदक [ब]न गयी। फलतः 'षड्यंत्र' शब्द को समस्त या यौगिक [म]ानने पर भी 'षड्' पद से संधि-विग्रह आदि का ही [ग्र]हण करना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

हिंदी-संसार के सुपरिचित विद्वान् श्रीपं० किशोरीदासजी वाजपेयी ने भी 'षड्यंत्र' शब्द के संबंध में अपने सुंदर विचार बनारस के दैनिक 'आज' में प्रकट किये हैं। आपने हिंदी-साहित्य से 'षड्यंत्र' शब्द को निकाल फेंकने की चेष्टा न करके 'षट्' पद से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर आदि छः अंतःशत्रुओं का ग्रहण किया है और बहुत ही सुंदर तथा प्रामाणिक युक्तियों से अपने पक्ष का समर्थन भी किया है। यद्यपि 'खट्-यंत्र' की कल्पना की अपेक्षा 'षड्यंत्र' शब्द की रक्षा करते हुए काम-क्रोध आदि अंतःशत्रुओं में आपका यंत्रत्व करने का आरोप बहुत ही युक्तियुक्त तथा अनूठा है, फिर भी प्रकरण की दृष्टि से संधि-विग्रह आदि राजनैतिक, शासन-यंत्रों का ग्रहण करना ही अधिक उपयुक्त होगा। श्री० पं० शालग्रामजी शास्त्री के प्रकांड पाण्डित्य तथा योग्यता का हृदय से सम्मान करते हुए भी हमें इस बात का अत्यंत खेद है कि हम श्रीशास्त्रीजी की 'खट्यंत्र' की कल्पना से सहमत नहीं हैं। कारण, प्रथम तो हिंदी-साहित्य में चिरकाल से प्रचलित 'षड्यंत्र'-शब्द को निकालकर दूर फेंक देना हम उचित नहीं समझते हैं, दूसरे 'षड्यंत्र'-शब्द के स्थान में जिस 'खट्यंत्र'-शब्द की अत्यंत जटिल और क्लिष्ट कल्पना की जा रही है, वह संस्कृत-व्याकरण और अर्थगौरव की दृष्टि से भी मनोरम नहीं प्रतीत होती है। हमें आशा है, साहित्याचार्य श्री० पं० शालग्रामजी शास्त्री तथा हिंदी-साहित्य के अन्य विद्वान् महानुभाव हमारे इन विचारों के सम्बंध में अपने पक्षपातहीन, उदार हृदय से जो कुछ भी सम्मति देंगे, उसे हम बड़े ही विनम्र भाव से स्वीकार करने के लिए सदा तैयार रहेंगे।

किसान की करुणा

[साहित्यशास्त्री पं० महादेवप्रसाद अग्निहोत्री]

(१)

[खे]त में नेकु भयो चटरा मटरा वहौ माटियै मोल बिकाति है;
[ति]सों लगान लगाइबे कों जमदूतन की जुरै द्वार जमाति है।
[स]ंचित दुःख सकेलिबे कों भगवान बनायी किसान की जाति है;
[ज]ीवन बितीत कियो जेहितें कुरकी में वहौ अब कामरी जाति है।

(२)

आधे लगान को अन्न भयो, भुसवा तौ सबै बरदासि में जाति है;
छोलि के घास जियैं लरिका, दईमारी बेगारि सों जो बचि जाति है।
हाकिम से जो करौं बिनती, वहौ दूरितें देखत ही घरि खाति है;
हाय! कहा करिए घर में तिरिया दुइ दानन का मरी जाति है।

पुस्तक-परिचय

"कौमुदी"

हिंदी-भाषा की ओर सभी प्रांत के नवयुवकों का अनुराग बराबर बढ़ता देखकर यह विश्वास होता जा रहा है कि इसका भविष्य उज्ज्वल है। शायद ही कोई प्रांत ऐसा हो, जहाँ हिंदी के प्रेमी तथा कुछ योग्य लेखक और कवि न दिखायी देते हों। मदरास, दक्षिण, पंजाब और यहाँ तक कि सीमाप्रांत में भी हिंदी के प्रति काफ़ी सहानुभूति और प्रेम उत्पन्न हो गया है। आसाम और बर्मा की ओर भी श्रीगणेश हो चुका है। अन्य प्रांतों में तो हिंदी का आदर और प्रचार कम या ज़्यादा है ही। इन सब बातों को सामने रखने पर यह आशा दृढ़ होती जाती है कि हिंदी को देश-प्रचलित राष्ट्र-भाषा का पद यथासाध्य शीघ्र ही प्राप्त हो जावेगा। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि जब देश के नवयुवक-समाज का ध्यान इसकी ओर विशेष रूप से आकृष्ट हो रहा है, तो सफलता में संदेह की गुंजाइश ही नहीं है। क्योंकि नवयुवक समाज ही राष्ट्र का निर्माणकर्त्ता हुआ करता है, उसी की गतिविधि पर प्रत्येक बात की ख़ूबी-ख़राबी निर्भर है। अस्तु।

हाल ही में 'कौमुदी' नाम से एक हिन्दी-कविताओं का छोटा-सा संग्रह प्रकाशित हुआ है। कविताएँ व्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में हैं। इसके रचयिता उदीयमान कवि श्रीबालकृष्ण राव हैं। आप प्रसिद्ध पत्रकार, स्वनामधन्य श्रीमान् सी० वाई० चिंतामणिजी के सुपुत्र हैं। मदरासी होने पर भी श्रीबालकृष्णराव का हिंदी से अत्यधिक प्रेम है और उसी के फलस्वरूप यह काव्य-संग्रह हिंदी-पाठकों के समक्ष उपस्थित है। हमने एक बार इनकी कविताओं को ध्यान से पढ़ा और इस बात के समझने की चेष्टा की कि यह रचनाएँ व्यक्ति और समष्टि की दृष्टि से कहाँ तक सुरुचि और उपयोगिता की कसौटी पर पूरी उतरती हैं। कहाँ तक इनमें लोकोपयोगिता का भाव सन्निहित है और कहाँ तक यह मानवीय प्रवृत्तियों को उपदेशप्रद मनोरंजकता की ओर खींचती हैं। हमें यह कहते संतोष होता है कि उपर्युक्त कसौटी पर युवक-कवि की रचनाएँ बहुत अंशों में पूरी उतरती हैं। इससे भी अधिक संतोष और हर्ष इस बात को देखकर होता है कि कविताओं में व्यर्थ का वाक्जाल और कल्पना की ऐसी ऊँची उड़ान नहीं है, जो किसी की समझ में ही न आ सके। वास्तव में वह रचना रचना नहीं कहला सकती और न साहित्य का कोई उपकार ही कर सकती है, जिससे किसी प्रकार का लोक-कल्याण न हो सके और जो लोगों के लिए एक उलझी पहेली बनी रहे। कविताओं के पढ़ने पर यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि रचयिता के हृदय में देश, समाज और साहित्य के प्रति कर्त्तव्य की कुछ अनुभूति है एवं मानवता के प्रति एक दर्दभरी भावना। उसे देश, काल, पात्र का विचार है और वह अपनी शक्तियों का सदुपयोग करना जानता है। श्रीबालकृष्ण राव का 'निवेदन' पढ़कर हमने यह भी जाना कि ये रचनाएँ 'स्वान्तः सुखाय' ही के उद्देश्य से लिखी गयी हैं। हम उन्हें यह बतला देना चाहते हैं कि इसी हेतु को लेकर लिखी जानेवाली कृतियाँ ही सुकृति कहलाती हैं। और इस मार्ग में जो जितनी अधिक साधना और पवित्रता लेकर अग्रसर होता है, वह उतनी ही अधिक सफलता

प्राप्त करता है। जो इस रास्ते से भटक जाता है, वही भूलभुलैया में पड़ता है। विद्या का अर्थ ही विनम्रता है और विनम्रता सेवा एवं उपकार के भावों को जाग्रत् करके मनुष्य को मनुष्य बनाती है। इसी ज्ञान में सच्चा और सार्थक 'स्वांतः सुखाय' सन्निहित है। जिन्होंने इस 'स्वान्तः सुखाय' को समझ लिया है, वे धन्य हैं। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि जो कृति संकुचित स्वार्थों की केंद्रस्थली है, जो क्षणिक दूषित प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देती है, जिसकी उपयोगिता की सीमा दो-चार व्यक्तियों तक सीमित है, जो अपनी स्वार्थ की पूर्ति में एक व्यापारी वस्तु है, जिसमें आत्मइच्छा के विरुद्ध परप्रेरित वासनाओं की पूर्ति है, वह कृति कहलाने योग्य है ही नहीं। सफल कृतिकार—सच्चे कृतिकार का दृष्टिकोण विस्तीर्ण, भावनाएँ विशुद्ध और विचार अत्यंत उदार एवं लोकरंजक होते हैं। जो दूसरों को सुख नहीं दे सकते, वे अपने को कैसे सुखी कर सकेंगे? वे 'स्वान्तः सुखाय' का मर्म क्या जानें? जैसा कि सम्मान्य पं० श्यामविहारीजी मिश्र ने अपनी भूमिका में लिखा है, श्रीबालकृष्ण राव ने अपने विचारों और भावों को स्वच्छ एवं परिमार्जित भाषा में अच्छे ढंग से प्रकट किया है। उनके शृंगार में सुरुचि, शांत में शांति और देशप्रेम में स्वाधीनता के सुंदर भाव मौजूद हैं। भाषा में प्रवाह और रसयुक्त योजना का समावेश है। हो सकता है कि कुछ महारथियों को इन रचनाओं में दूषण ही दिखायी दें, किंतु जो सहृदय सत्समालोचक होंगे, वे परिस्थितियों का, पात्र का और भावना का विचार कर ही फ़ैसला करेंगे। हमें तो अंतिम चार-पाँच कविताओं को छोड़कर अन्य रचनाएँ अच्छी ही प्रतीत हुईं और उन्हें पढ़कर हमारा अच्छा मनोरंजन हुआ। यदि श्रीबालकृष्णराव की प्रवृत्ति और प्रेम इस ओर बढ़ता रहे, तो वे भविष्य में अवश्य ही एक सुयोग्य कवि सिद्ध होंगे। उन्होंने इस समय जो सत्साहस किया है, उसके लिए हम उन्हें हृदय से बधाई देते हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हमारे इस उदीयमान कवि को अधिकाधिक सफलता प्रदान करें। 'कौमुदी' की छपाई और काग़ज़ अत्यंत सुंदर हैं, क्योंकि उसे इंडियन-प्रेस, इलाहाबाद ने प्रकाशित किया है। अपने उठते हुए नवीन कवि-हृदयों से हम यह प्रार्थना करेंगे कि वे अपनी शक्तियों का श्रीबालकृष्ण राव की ही भाँति सद्व्यय करने का प्रयत्न करें। हमें आशा है कि 'कौमुदी' को प्रत्येक सहृदय और राष्ट्रभाषा-प्रेमी व्यक्ति स्नेह की दृष्टि से देखेगा। इन्हीं प्रेमपूर्ण शुभाभिलाषाओं के साथ हम अपने युवक-कवि की उन चार-पाँच रचनाओं को भी पाठकों के विनोदार्थ यहाँ उद्धृत कर देना उचित समझते हैं, जिनको हमने कई उपयोगी दृष्टियों से, अन्य रचनाओं के मुक़ाबिले में, बहुत पसंद किया। पाठक स्वयं देखेंगे युवक-कवि के उपयोगी और प्रशंसनीय विचार कितने अच्छे रूप में प्रकट हुए हैं।

आँखें—

जिन आँखों में शील का नाम नहीं,
जिनमें छवि प्रीति की छायी नहीं।
जिनमें नहीं सिंधु दया का छिपा,
जिनमें कुछ पीर-परायी नहीं।
जिन आँखों ने आँसुओं की प्रिय को—
कभी मोती-लड़ी पहनायी नहीं।
उन आँखों को जानिए राख की हैं,
जिन आँखों ने आँख लगायी नहीं।

कवि के प्रति—

प्रेमपात्र भारती के बनते हो कविवर,
फिर भी न भारतीयता के गुण कहते।
प्रीति का, प्रतीति का रहस्य समझाते सदा,
देश-प्रेम की तरंग में न किंतु बहते।
वीरता बखानते हो शिवा की, प्रताप की भी,
फिर भी तो वाजिदअली की भाँति रहते।
कहते हो विधि का विधान सकते हैं मिटा,
कवि! किस हेतु फिर दासता हो सहते?

व्रजभाषा के प्रति—

परी व्रजबानी, सीख मोरी क्यों न मानौ आजु,
जीवन जगत माँहि आपनो जो चहतीं?
छाँड़ि कै कहब राधारानी की कहानी, नैकु—
देसहित आजु क्यों न बीरताई कहतीं?
पीत पटवारे को बिसारि लौनी मूर्ति नेकु,
देसदसा कहिबे को क्यों न हौ उमहतीं?
क्यों न अपकीरति नसाइबे के काज आजु—
पावन स्वदेस-सेवा-मारग हौ गहतीं?

अमर की भावना—

मुझे ले चल वायु के वेग वहाँ,
जहाँ प्रीति बुरी कही जाती नहीं।
जहाँ प्रेमी की पागल से समता,
कवियों की कला दिखलाती नहीं।
खिलती हुई प्रेम-कली जहाँ स्नेह के
मेह बिना मुरझाती नहीं।
वहीं ले चल प्रेमी की आँखें जहाँ,
कल पातीं सदा कलपातीं नहीं।

महाकवि भूषण—

भीरुता भगाता था, जगाता वीरता था वह,
धैर्य था धराता, शत्रु-दल-दल पवि था।
अपनी ज्वलंत कविता की किरणों से नित्य,
रिपु-मद-सर को सुखानेवाला रवि था।
छत्र छत्रसाल का था, शिवाजी की शान वह,
हिंदुओं के गौरव की मूर्तिमान छवि था।
शंभु प्रलयंकर का किंकर भयंकर था,
भारत की भारती का भूषण सुकवि था।

एक काव्यप्रेमी

× × ×

अरब और भारत के संबंध—मूल-पुस्तक के लेखक, मौलाना सैयद सुलेमान नदवी ; अनुवादक, श्री० रामचंद्र वर्मा ; प्रकाशक, हिंदुस्तानी-एकेडेमी, प्रयाग; पृष्ठ-संख्या, ३२४ ; मूल्य ४)

प्रयाग में हिंदुस्तानी एकेडेमी-नामक एक संस्था है। लगभग ६ वर्ष हुए, संयुक्त-प्रांत के तत्कालीन शिक्षा-मंत्री राय राजेश्वरबलीजी के सदुद्योग से इस संस्था की स्थापना हुई। उस समय साहित्य-संसार ने इस संस्था से बहुत कुछ आशाएँ बाँधी थीं। वह सब कुछ तो हुआ नहीं। हाँ, देश के माध्यमिक-काल-विषयक कुछ मौलिक ग्रंथ अवश्य प्रकाशित हुए। प्रस्तुत पुस्तक उर्दू में छपी हुई पुस्तक का हिंदी-रूपांतर है।

लेखक महोदय ने अरब और भारत के मध्यकालीन संबंध पर बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। अरब व्यवसायी थे, विद्याव्यसनी थे, इस्लाम का संसार में उन्हीं ने प्रचार किया, परंतु वे धर्मांध नहीं थे। भारत में बसकर जो कुछ उन्होंने सीखा, उसका प्रचार उन्होंने अपने देश में किया। उनमें धार्मिक विद्वेष न था। वे हिंदुओं को अहले-किताब के तुल्य मानते थे अर्थात् हिंदुओं की मुसलमान अरबों की दृष्टि में उन जातियों में गणना थी जो किसी ऐसे धार्मिक संप्रदाय के हैं जिसका उल्लेख कुरान में नहीं है। उनकी कुफ्फार या काफ़िरों में गणना नहीं थी। जज़िया चुकाने के बाद उनके धर्म की रक्षा करना मुसलमानों का धर्म था। यह बात दूसरी थी कि अरबों के अतिरिक्त अन्य मुसलमान विजेताओं ने इस नियम का ठीक-ठीक पालन नहीं किया।

लेखक महोदय ने यह विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ लिखकर मध्यकालीन अरब और भारत के बीच जिस सहयोग का वर्णन किया है, वह उस गाथा से कितना अधिक रुचिकर है, जिसमें लड़ाई-झगड़े और वैमनस्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है! इस देश में हिंदू और मुसलमान लड़ते ही नहीं रहे, जैसा कि हमें पाठ्य-पुस्तकों में पढ़ाया जाता रहा है। उनके पारस्परिक प्रेम की कहानी हम दोनों के सौहार्द्र बढ़ाने में कहाँ तक सहायता देगी, यह उन्हीं के हृदय से पूछिए जो हिंदू-मुस्लिम ऐक्य को ही देश का उद्धार-मार्ग समझते हैं। इस ऐक्य के नाते श्री नदवी साहब को हम इस पुस्तक की रचना पर अनेक बधाई देते हैं।

× × ×

तुलसी-हाईस्कूल-कोर्स—संपादक, पं० हरिशंकर शर्मा ; प्रकाशक, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा; पृष्ठ-संख्या ३०८; मूल्य १)

प्रस्तुत पुस्तक में तुलसीदासजी की उन रचनाओं का सटीक संग्रह है, जिन्हें सन् १९३२ तक की परीक्षाओं के लिए बोर्ड ने निश्चित किया था। इस संग्रह पर अब विशेष विचार करने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि कोर्स बदल गया है।

कालिदास कपूर एम्० ए० एल्-टी०

× × ×

शिरः शूल—लेखक, कविविनोद श्री० पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य; प्रकाशक, अमृतधारा-कार्यालय, पृष्ठ संख्या १७६, कागज़, छपाई आदि साधारणतया उत्तम; बिना जिल्द की पुस्तक का मूल्य १), पुस्तक अमृतधारा-कार्यालय से प्राप्त।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध 'अमृतधारा' के आविष्कारक श्री० पं० ठाकुरदत्त शर्मा वैद्य के द्वारा लिखी गयी है। अब तक आपने और भी कई एक पुस्तकें लिखी हैं, जो वैद्यक-संबंधी भिन्न-भिन्न विषयों के ज्ञान में अच्छी सहायता करती हैं। आपकी लेखनशैली में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आपकी पुस्तकें वैद्यों और हकीमों के लिए उपकारी होने के सिवा हिंदी-भाषा-भाषी सर्व-साधारण जनता के लिए भी बहुत ही प्रयोजन की वस्तु है। 'शिरःशूल' एक प्रकार से संग्रह ग्रंथ है। वैद्यक, यूनानी तथा डाक्टरी सभी प्रकार के ग्रंथों से निदान तथा चिकित्साविधि का संग्रह करके यह सुंदर पुस्तक लिखी गयी है। इस एक पुस्तक के पढ़ लेने से 'शिरःशूल' के संबंध में फिर और कुछ ज्ञातव्य नहीं रह जाता है। सैकड़ों वैद्यों और हकीमों के अनुनय-विनय करने पर जो उत्तमोत्तम योग कठिनाई से प्राप्त हो सकते थे, वे सब एक स्थान पर ही बड़ी सुविधा के साथ प्राप्त किये जा सकते हैं। पुस्तक से वैद्यों, हकीमों तथा सर्वसाधारण-हिंदी भाषा-भाषी जनता सभी का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है।

× × ×

वीरविभूतिः—लेखक, मुनिराज श्रीन्याय विजयजी न्यायतीर्थ, स्वोपज्ञ 'गुर्जर' भाषानुवाद-सहित; प्रकाशक, श्रीजैन-युवक-संघ घटीयाणीपोल, बड़ौदा; पृष्ठ-संख्या ११५; कागज़, छपाई-सफ़ाई आदि अत्युत्तम; मूल्य पुस्तक के ऊपर लिखा नहीं, पुस्तक प्रकाशक से प्राप्य।

यह 'जैन'-संप्रदायाचार्य श्रीमहावीरजी महाराज का एक छोटा-सा जीवनचरित्र है। यह सुंदर जीवन-चरित्र केवल ४७ संस्कृत-श्लोकों में लिखा गया है। एक पृष्ठ में एक संस्कृत-श्लोक है, ठीक उसके सामने दूसरे पृष्ठ पर ग्रंथकर्ता महोदय के द्वारा गुजराती भाषा में किया हुआ भावानुवाद है। मूल और अनुवाद दोनों बहुत ही सुंदर हैं। इस पुस्तक में सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि केवल ४७ श्लोकों में ही श्रीमहावीरजी महाराज के बाल्यकाल से लेकर निर्वाणकाल-पर्यंत समस्त मुख्य-मुख्य घटनाएँ संक्षेप में लिखी गयी हैं। प्रायः सभी महात्माओं के जीवनचरित्र में सर्वसाधारण की अपेक्षा जो वैचित्र्य हुआ करता है, वह इस जीवन-चरित्र में भी पाया जाता है। भाषा सुंदर है। उदाहरणार्थ एक श्लोक दिया जाता है—

युवत्वकालः स्मररङ्गभूमि—
र्न चापलं तन्मनसस्तदापि।
तन्मानसं संयमयोगमुद्रं
विशन्ति नो वैषयिका विचाराः॥

यद्यपि यौवन-काल काम की रंगभूमि हुआ करता है, फिर भी श्रीमहावीरजी के मन में विकार-जनित चापल्य नहीं था। कारण, वैषयिक विचार संयम और योग से मुद्रित उनके सात्त्विक मन में प्रवेश ही नहीं पाते थे। अस्तु, प्रायः इसी प्रकार का वर्णन अन्य श्लोकों में भी है। जीवनचरित्रों के प्रेमियों को यह पुस्तक प्रकाशक से मँगाकर अवश्य पढ़नी चाहिए। हम लेखक के श्रम और सफलता के लिए उन्हें बधाई देते हैं।

× × ×

श्रीमद्भगवद्गीता (पद्यात्मक अनुवाद)—अनुवादक, श्रीप्यारेलाल टहनगुरिया; प्रकाशक, टहनगुरिया-बंधु खैरागढ़-स्टेट, सी० पी०; डबल क्राउन १६ पेजी आकार, पृष्ठ-संख्या ८८; कागज़, छपाई-सफ़ाई आदि साधारण; मूल्य अजिल्द पुस्तक ।ॐ), पुस्तक प्रकाशक से प्राप्य।

इसमें 'श्रीमद्भगवद्गीता' के अठारहों अध्यायों का पद्यानुवाद है। आजकल के अधिकांश कथावाचक जिस छंद को अधिक पसंद करते हैं अथवा श्रीराधेश्यामजी ने जिस छंद में अपनी रामायण लिखी है, उसी छंद में श्रीमद्भगवद्गीता का यह अनुवाद भी किया गया है। क्रांति के इस युग में जो कुछ भी न हो जाय थोड़ा है। इस पद्यानुवाद में पिंगल तथा काव्यरचना के साधारण-से-साधारण नियमों का बड़ी बेरहमी से गला घोंटा गया है। एक ओर जहाँ गीता जैसे पवित्र और लोकोपयोगी ग्रंथ का अनुवाद करने के कारण लेखक महोदय प्रशंसा के पात्र हैं, वहीं दूसरी ओर आजकल की प्रचलित अनधिकार चेष्टा के ऊपर तरस आये बिना भी न रहेगा। पुस्तक-लेखक के स्वांतःसुख तथा कथावाचकों के लिए प्रयोजन की वस्तु है।

× × ×

हमारी शिक्षा-पद्धति—लेखक, पं० कैलाशचंद्र जैन शास्त्री, धर्माध्यापक 'स्याद्वाद महाविद्यालय' बनारस; प्रकाशक, मंत्री जैनमित्र-मंडल धर्मपुरा, देहली; आकार डबल क्राउन १६ पेजी, पृष्ठ-संख्या ४३; कागज़, छपाई-सफ़ाई आदि साधारणतया उत्तम; मूल्य ॐ); पुस्तक प्रकाशक से प्राप्य।

यह एक छोटा-सा किंतु सुंदर निबंध है, जो पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। इसमें पुस्तक के अन्वर्थक नाम के अनुसार 'हमारी शिक्षा-पद्धति' के ऊपर गंभीर विचार किया है। लेखक ने प्रचलित शिक्षा-पद्धति के दोषों के ऊपर बड़ी बारीकी से विचार किया है। वास्तव में वर्तमान शिक्षा-पद्धति ने भारतीय संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचाया है। पुस्तक का उपसंहार देखने से पता चलता है, लेखक का लक्ष्य भारतीय विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति में सुधार के सिवा जैन-विद्यालयों की शिक्षा-पद्धति में ही अधिक सुधार करना है। जो कुछ भी हो। पुस्तक शिक्षा-प्रेमियों के पढ़ने योग्य तथा संग्रहणीय है।

× × ×

सीताहरण—लेखक, राय सुरेंद्रनाथवली 'ग़रीब'; प्रकाशक, ताल्लुक़दार-प्रेस गनेशगंज, लखनऊ; आकार डबल क्राउन १६ पेजी; पृष्ठ-संख्या २०, काग़ज़ छपाई-सफ़ाई साधारणतया उत्तम; मूल्य ≈) पुस्तक प्रकाशक से प्राप्य।

इस पुस्तक के आरंभ में कुछ छंद देववंदना के लिखकर लेखक ने पुस्तक के नामानुरूप 'सीताहरण' का चरित्र-चित्रण पद्यरूप में किया है। एक होनहार, नवयुवक कवि के उत्साह की प्रशंसा करते हुए हमें खेद के साथ लिखना पड़ता है कि लेखक ने पिंगल तथा काव्य-शास्त्र की बेहद अवज्ञा अपनी पुस्तक में की है। पुस्तक में साधारण अशुद्धियों की ही इतनी भरमार है कि जिनकी गणना करना कठिन है। नवयुवकों को स्वयंभू कवि न बनकर गुरुपरंपरा का अनुसरण करना चाहिए। अच्छा होता ग़रीबजी 'सीताहरण' को छपने देने के प्रथम पुस्तक को किसी साहित्यज्ञ से शुद्ध करवा लेते। हम आशा करते हैं, भविष्य में आप अपनी कोई अच्छी कृति हिंदी-संसार को भेंट कर सकेंगे।

× × ×

ओम् का नवीन-धर्म—ओमानंद-ग्रंथमाला का छठवाँ पुष्प; लेखक पी० सी० ओमानंद वेदांती; प्रकाशक आनंदमार्ग-कार्यालय फर्रुख़ाबाद; पृष्ठ-संख्या ३२; काग़ज़ छपाई आदि बहुत ही भद्दी; मूल्य -)॥; पुस्तक प्रकाशक से प्राप्य।

इस छोटी-सी पुस्तिका में लेखक ने अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न विषयों के ऊपर कुछ गायन लिखे हैं। इन गायनों में हिंदी-उर्दू की बड़ी भद्दी खिचड़ी पकायी गयी है। पुस्तक की भाषा आदि से लेकर अंत तक अशुद्ध है। इस प्रकार की पुस्तकों को हिंदी-साहित्य का कलंक कहने के सिवा और क्या कहा जाय। हम इस पुस्तक को लेखक की आत्मश्लाघा के सिवा आत्म-विडंबना ही कह सकते हैं। पुस्तक वेदांतीजी के भक्तों के प्रयोजन की संभवतः सिद्ध हो सके।

(साहित्याचार्य) गयाप्रसाद शास्त्री 'श्रीहरि'

× × ×

सत्यकथा-संग्रह (पाश्चात्य खंड)—लेखक, श्रीमान् राजा खलकसिंहजूदेव, खनियाधाना-राज्य; प्रकाशक बुंदेलखंड-गौरव-ग्रंथमाला, खनियाधाना-राज्य (बुंदेलखंड); आकार २०×३० सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या ८७; मूल्य ।≈)

सत्यकथा-संग्रह के लेखक श्रीमान् राजा खलकसिंहजी (खनियाधाना-नरेश) राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रेमी तथा सुलेखक हैं। इस पुस्तक से आपके मनोभावों और विचारों का भली भाँति परिचय मिलता है। इस पुस्तक में तीन कथाओं का संग्रह है। पहिली कथा में वीर सेनापति हेनिविल की वीरतादि का वर्णन है। नीतिनिपुण दृढ़ साहसी इस वीर के स्वदेश-प्रेम को देखकर चकित होना पड़ता है। दूसरी कथा में फ्रांसिस को पिजारो के कुकृत्यों की तीव्र आलोचना तथा कड़ी निंदा की गयी है। अंतिम तीसरी कथा में सुप्रसिद्ध वीर नेपोलियन बोनापार्ट के एक वीर सैनिक के साहस का वर्णन किया गया है। पुस्तक-रचना का ढंग प्रशंसनीय है। राजा साहब की यह पुस्तक लोकप्रिय होने योग्य है। पुस्तक की भाषा सरल तथा सर्वसाधारण की समझ में आनेवाली है। हमारा विश्वास है कि हिंदी-संसार इस पुस्तक का आदर करके राजा साहब को और पुस्तक लिखने के लिए अग्रसर करेगा।

× × ×

हाथ की भाषा (प्रथमखंड) (सचित्र)—प्रणेता, पंडित श्रीविपिनविहारी देवशर्मा ज्योतिःशास्त्री; प्रकाशक, कलकत्ता-पष्ट्रालाजिकल एंड पष्ट्रानामिकल एसोसियेशन नं० १६, काशीमित्र-घाटस्ट्रीट, बागबाज़ार, कलकत्ता; छपाई-सफ़ाई अच्छी। काग़ज़ बढ़िया। पृष्ठ-संख्या १७५, मूल्य १॥)

पुस्तक के नाम से ही प्रकट होता है कि इसमें सामुद्रिक-शास्त्र की चर्चा है। ईसा के दो हज़ार वर्ष पूर्व आर्यों ने अपने अन्यान्य शास्त्रों के समान परीक्षा द्वारा अनुभव प्राप्त करके इस शास्त्र को भी जन्म दिया था। धीरे-धीरे इसका प्रचार बढ़ता गया और संसार की प्रायः समस्त जातियों के विद्वान् इसके अध्ययन में मन लगाने लगे। इस शास्त्र का इतना अधिक प्रचार क्यों हुआ—इसका मूल-कारण इसकी सत्यता है। विद्वानों का मत है कि शरीर के सभी अवयव नसों द्वारा मस्तिष्क से सम्बंध रखते हैं। इनमें से हाथ एक ऐसा अवयव है, जिसमें शरीर के अन्यान्य अवयवों की अपेक्षा मस्तिष्क से अधिक नसें आयी हैं। इसलिए मस्तिष्क से हाथ का घनिष्ठ सम्बंध है। मस्तिष्क से जितने विचारों का आविर्भाव होता है, उनका सारे शरीर पर जैसा कुछ प्रभाव पड़ता है, उससे अधिक हाथ पर पड़ता है। इसी से भिन्न-भिन्न स्वभाव के लोगों के हाथ की गढ़न में बहुत बड़ा अंतर दिखायी देता है। यह मानी हुई बात है कि प्रकृति का कोई भी कार्य कारण के बिना नहीं होता। अतः यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि मनुष्य के हाथ की गढ़न में विभिन्नता का होना किसी-न-किसी कारण का द्योतक है। जब हाथों की विभिन्न गढ़न किसी अर्थ के सूचक हैं, तब उन पर पड़ी हुई तरह-तरह की रेखाओं का भी कुछ मतलब होना ही चाहिए।

कतिपय लोगों की धारणा है कि हथेली की रेखाएँ हाथ को बार-बार मोड़ने या उसको बार-बार उपयोग में लाने के कारण बनी हैं। परंतु बात ऐसी नहीं है। हस्तरेखा के परीक्षकों को यह बात प्रकट है कि बुरे दिन आने पर भाग्य की रेखा कभी खंडित हो जाती है, कभी कट जाती है, और कभी इतनी क्षीण पड़ जाती है कि आँखों से दिखायी ही नहीं पड़ती। यही हाल अन्य रेखाओं का भी होता है। सारांश यह कि हथेली की रेखाएँ तथा अन्यान्य चिह्न आत्मा के द्वारा निर्मित हुए हैं और वे चेतन मन के आंतरिक विचारों को प्रतिबिंबित कर देते हैं। सामुद्रिकशास्त्र सत्य है; क्योंकि वह प्राकृतिक है। किंतु प्रकृत से भी बड़ा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है। लेखक के निवेदन से मालूम होता है कि सभी लोग अपना भाग्यफल आसानी से जान सकें, इसलिए उन्होंने 'हाथेर भाषा'-नामक एक बँगला में पुस्तक लिखी। शिक्षित समाज में उसकी बड़ी माँग हुई। अतएव हिंदी-भाषाभाषी महानुभावों के अनुरोध से "हाथ की भाषा" नाम की इस पुस्तक का हिंदी में प्रकाशन हुआ। पुस्तक अपने विषय की अच्छी है। जिज्ञासुओं को इससे लाभ उठाना चाहिए।

× × ×

मानस-तरंग—लेखक, श्रीहरशरण शर्मा माधवगढ़, रीवाँ-राज्य, पृष्ठ-संख्या ४२, मूल्य ।)॥

प्रस्तुत पुस्तक में सब मिलाकर १८ विषयों पर छोटे-छोटे लेख हैं। भाषा गद्यकाव्य की-सी है। पढ़ने में जी लगता है। लेखक का प्रयत्न प्रशंसनीय है। पुस्तक संग्रह करने योग्य है। श्री० मोहनलाल वर्मा, क्योंथर (रीवाँ-राज्य) के पते से उक्त पुस्तक मिल सकती है।

× × ×

कराँची की कांग्रेस—श्रीजीतमल लुनिया द्वारा संपादित ; प्रकाशक, हिंदी-साहित्य-मंदिर, अजमेर ; आकार २०×३० सोलह पेजी, पृष्ठ-संख्या १७६, मूल्य ।।।)

गतवर्ष कराँची में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ था, उसी का रोचक वर्णन इस पुस्तक में किया गया है। वैसे तो समाचार-पत्रों में थोड़ा बहुत हाल छप ही जाता है, पर सब बातें सिलसिलेवार इस पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं। पुस्तक अच्छी है।

× × ×

युगुलजोड़ी—लेखक और संग्रहकर्ता, कृष्णकुमार लाल सक्सेना, पत्थरवाली हवेली, मुहल्ला मूढ़, बरेली ; पृष्ठ-संख्या ११२; मूल्य साधारण संस्करण का ॥=), उत्तम का ।।।)

इस पुस्तक में स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी 'दीन' और उनकी द्वितीय धर्मपत्नी श्रीमती गुजराती देवी उपनाम बुँदेलाबाला के आलोचनात्मक जीवन-वृत्तांत तथा उनकी मनोरंजक और उपदेशप्रद कविताएँ दी गयी हैं। पुस्तक अच्छी है। कविताएँ सुंदर हैं। पर छपाई में अशुद्धियों की भरमार है, जिसके कारण पूरे १ पेज का शुद्धिपत्र शुरू में लगाया गया है।

× × ×

सुभद्रा अथवा मरणोत्तर-जीवन—लेखक और प्रकाशक, वि० दा० ऋषि बी० ए०, एल्-एल्० बी०; आकार २०×३०—१६ पेजी; पृष्ठ-संख्या १४४; मूल्य १)

मरणोत्तर-अवस्था का नाम परलोक है। परलोक का अस्तित्व प्रायः सब आस्तिक स्वीकार करते हैं। किंतु जड़वादी और आधुनिक शिक्षासंपन्न अधिकांश विद्वानों को परलोक के अस्तित्व पर विश्वास नहीं। हमारा उद्देश्य किसी पर कटाक्ष करने का नहीं है, पर यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मृत मनुष्यों की आत्मा इहलोक को नहीं भूलती। उनका प्रेमबंधन अटूट बना रहता है। कितनी बार ये आत्माएँ हमसे मिलने आती हैं। किंतु स्थूल दृष्टि से हम उन्हें देख नहीं पाते। अतः परलोक-विद्या द्वारा हमको उचित है कि हम उनके विचार, उनकी इच्छाएँ तथा अन्य आवश्यक बातें जानें। प्रस्तुत पुस्तक में परलोक-विद्या-संबंधी बातों का वर्णन बड़े मनोरंजक रूप में मिलता है।

× × ×

डकैत रमणी (उपन्यास)—अनुवादक, रामप्रसाद दुबे; प्रकाशक, भार्गव-पुस्तकालय, काशी; आकार २०×३०—१६ पेजी; छपाई-सफ़ाई सुंदर; काग़ज़ बढ़िया, मूल्य ॥।)

प्रस्तुत पुस्तक में उपन्यास के रूप में "सोनिया-सोलिंग" की आत्मकथा का वर्णन है। यद्यपि मूल-पुस्तक हमने नहीं पढ़ी है, तथापि घटनावैचित्र्य के कारण इस उपन्यास को पढ़ने में जी लगता है। उपन्यासप्रेमियों के लिए कौतूहल और मनोरंजन की सामग्री इसमें पर्याप्त है।

× × ×

एल्० पी० जैंस संकेत-लिपि (हिंदी शार्टहैंड)—लेखक और प्रकाशक, एल, पूनम चंद खीवेसरा, मैनेजर श्रीजैन-वीराश्रम, ब्यावर (राजपूताना); आकार डिमाई साइज़, पृष्ठ-संख्या ६६; मूल्य २॥)

शार्टहैंड पर हिंदी में संभवतः यह दूसरी पुस्तक प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व बनारस से पं० निष्कामेश्वर मिश्र बी० ए०, एल्० टी० ने भी इस विषय पर कई वर्ष पहले एक पुस्तक प्रकाशित की थी। विषय की दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक अच्छी है, पर इस छोटी-सी पुस्तक का मूल्य २॥) बहुत अधिक है हिन्दी में शार्टहैंड सीखनेवाले इच्छुक लोगों के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।

'मयंक' मिश्र

× × ×

हिंदी की बीस कहानियाँ—कहानी मानव-जीवन की मनोवैज्ञानिक व्यंजना है। कल्पना और कला की, आदर्श और यथार्थ की, अनुभूति और आकर्षण की सुंदर झाँकी बनाकर जब लेखक उसमें एक भाव—एक 'थीम' को सुंदरता के साथ आवेष्ठित कर देता है, तभी कहानी के अस्तित्व की कल्पना की जाती है। मानव-हृदय की सुकुमार अनुभूतियों का सुंदर सम्मेलन, मधुर सम्मिश्रण और मादक सामंजस्य ही कहानी का परिधान है। इसी परिधान से जब एक भाव—'थीम' को सँवार कर सजाया जाता है, तो कहानी कला का महल बन जाती है, तभी उसमें सत्य, शिव और सुंदर आकर केंद्रित होते हैं।

कहानी एक ऐसा उपवन है, जहाँ मानव-हृदय के घात-प्रतिघात, हर्ष-विषाद, पतन-उत्थान उगते और मिटते नज़र आते हैं। पाठक जिन बातों को जानता हुआ भी भूला-सा रहता है, उन्हें इसके दृश्य एक बार फिर चैतन्य कर देते हैं और तभी वह उन पर बलिहार जाता है। यही कारण है कि जब हम गोर्शिन की 'लाल झंडी' मोपासाँ की 'चंद्रहार', गोर्की की 'छब्बीस और एक' स्टीवेंसन की 'मारखेइम,' वेल्स की 'निप्पस' (Knipps), पो की 'सप्ताह में तीन रविवार' (Three Sundays in a week), टैगोर की 'काबुलीवाला'—शरत की 'बिंदो का लड़का', प्रेमचंद की 'फ़ातिहा' और 'बूढ़ी काकी', कौशिक की पावन पतित आदि कहानियाँ पढ़ते हैं, तो हृदय में एक अनिर्वचनीय कोलाहल-सा होने लगता है। वास्तविक कहानी-लेखक पाठक को भावों के एक ऐसे गहन नंदनविपिन में छोड़ देता है, जहाँ से भूलते-भटकते हुए निकलने के बाद भी वह श्रांति की शिकायत नहीं करता, वरन् उसे एक लोकोत्तर-आनंद मिलता है। भावों के इस अनुपम तारतम्य में उसका हृदय उलझ तो जाता है, पर वह एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाता है जहाँ जीवन के सरल तत्त्व उसे खेलते हुए मिलते हैं—मानव-हृदय की गुत्थियाँ सुलझी हुई मिलती हैं।

कहानी-कला की इन्हीं अथवा ऐसी ही अन्य विशेषताओं को सामने रखकर जब हम, हिंदी की 'बीस' कहानियों के संपादकीय वक्तव्य के अनुसार हिंदी के उन बीस सुप्रसिद्ध कहानी-लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ पढ़ते हैं, तो हमें कहानी का ही अस्तित्व स्वीकार

करने में कुछ बाधा-सी जान पड़ने लगती है। संपादक के कथनानुसार इस संग्रह का भी उद्देश्य 'हिंदी के मुख्य-मुख्य कहानी-लेखकों का परिचय कराना ही है'। इस लिए यह अपने विषय का नया प्रयास तो कहा ही नहीं जा सकता। 'मधुकरी', 'गल्पमंजरी', 'हिंदी की श्रेष्ठ कहानियाँ', 'गल्परत्न', 'गल्प-समुच्चय', 'हिंदी की आधुनिक कहानियाँ' आदि कई संग्रह हमारे सामने हैं।

यद्यपि संपादकजी ने उन नियंत्रणों को नहीं प्रकट किया, जिनके अधीन रहकर उन्हें संग्रह-कार्य करना पड़ा है, तो भी अनुमान से कहा जा सकता है कि यदि संपादक महोदय अपना दृष्टिकोण अधिक उदार और विस्तृत कर देते, तो उन्हें कई अन्य लेखक भी ऐसे मिल जाते, जो प्रमुख कहानी-लेखकों में हैं—जिनकी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, और उनमें ऐसी मिल सकती हैं, जो श्रृंगारी भावों से दूर हैं। उन लेखकों की कहानियाँ देने में प्रकृत नियंत्रण की अधीनता में भी बाधा न पड़ती। हमारी समझ में नहीं आता कि स्व० चंडीप्रसाद 'हृदयेश'जी इसमें क्यों नहीं रक्खे गये! क्या वह अपनी शैली के प्रमुख लेखक नहीं थे? क्या उनकी 'उन्मादिनी' कहानी ऐसी नहीं है, जो श्रृंगारी भावों से मुक्त हो और जिसे संपादकजी चुन सकते? पुनः क्या उनके कहानी-लेखक का स्थान पं० रामनरेश त्रिपाठी से भी गया-गुज़रा है, जो इस संग्रह में विराजमान हैं? एक बार पुनः वही बात आत्माराम देवकर, रघुपतिसहाय आदि सज्जनों के बारे में कही जा सकती है, जब हम देखते हैं कि शिवपूजनसहाय और राजेश्वरप्रसादसिंह-जैसे कहानी-लेखकों का कहीं ज़िक्र ही नहीं है!

जो बात कहानी-लेखकों के चुनाव में कही गयी है, वही बात कहानियों के चुनाव में भी कही जा सकती है। "पुस्तक में ऐसी कहानियाँ दी गयी हैं, जो बिना संकोच विद्यार्थियों के हाथ में दी जा सकें।" इसीलिए, संपादक के शब्दों में, उन्हें उसी लेखक की कला की दृष्टि से अधिक अच्छी कहानियाँ छोड़ देनी पड़ी हैं। इस प्रकार कला की व्यापकता, श्रेष्ठता और अलौकिकता को संपादकजी ने 'विद्यार्थी' की उपयोगिता के दायरे में बंद करने का ही अधिक ध्यान रक्खा है। परंतु पूरा संग्रह पढ़ जाने पर हमें संपादक महोदय वस्तुतः कला के ही प्रति उदासीन-से जान पड़े। उनकी कलाप्रियता उस समय, जब वह अनुवाद करने के लिए योरपीय कहानियों का चुनाव करते हैं, बढ़ जाती है; परंतु वही कलाप्रियता, जब वह हिंदी के मौलिक कहानी-लेखकों या उनकी कहानियों का चुनाव करते हैं, बहुत घट जाती है। इस संग्रह को देखकर तो हमें उनमें उसके अस्तित्व के बारे में ही शंका होने लगती है, जब हम देखते हैं कि वह अपने आदर्श की रक्षा के साथ-ही-साथ अधिक सुंदर और ऐसी कहानियाँ दे सकते थे, जिनमें कला यौवन की मधुमय अल्हड़ चंचलता के साथ खेलती है। कहानियों के चुनाव की दृष्टि से तो जैनेंद्रकुमारजी, कौशिकजी, गुलेरीजी, श्रीकृष्णानंद गुप्त इन्हीं चार-पाँच लेखकों की कहानियों से चुनाव अच्छा हुआ है; क्योंकि इनमें संपादक के आदर्श की रक्षा तो हुई ही है—साथ ही ये कलात्मक भी हैं। शेष लेखकों की रचनाओं के चुनाव में कलाप्रियता नहीं दिखायी गयी है, फलतः उतनी सफलता भी नहीं मिली है।

संपादक के कथनानुसार श्रीगिरिजाकुमार घोष इस युग के सबसे पहले कहानी-लेखक हैं। इसलिए उनकी 'काठ का घोड़ा' कहानी सर्वप्रथम देने से औचित्य की मर्यादा का ही पालन हुआ है। कहानी में कोई चमत्कार—कोई विशेषता नहीं है। ऐसी कहानियाँ साहित्य की वर्तमान प्रगति में बड़ी हलकी नज़र से देखी जाती हैं और इस शैली को—इस ढंग को वर्तमान उन्नत गल्प-साहित्य न-जाने कब छोड़ चुका है। गोपालराम गहमरी की कहानी अच्छी है; रोचकता का अभाव नहीं है। श्रीप्रेमचंदजी की 'सुजान भगत' कहानी बड़ी सुंदर और ऊँची है। वृद्धावस्था के मानसिक घात-प्रतिघातों की सुंदर व्याख्या और अभिव्यंजना है। कहानी, लेखक की शैली की पूर्णतः परिचायक है। कौशिकजी की 'ताई' तो 'मास्टरपीस' ही है। वासना के ऊपर वात्सल्य की विजय जिस सफलता के साथ दिखायी गयी है, उसे देखकर लेखक की कला पर मन मुग्ध हो जाता है। हाँ, अंतर्द्वंद्व का किंचित् अभाव ज़रूर कुछ खटकता है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि कहानी में 'कला' अपने प्रकृत सौंदर्य के साथ विहार करती है। श्रीज्वालादत्तजी की 'विधवा' कहानी साधारण है। प्रसादजी की 'मधुआ'-

कहानी सुंदर है। परंतु जब हम एक पाठक की दृष्टि से देखते हैं, तो हमें प्रसादजी की अन्य कहानियाँ 'मधुआ' से कहीं अधिक कलात्मक मिलती हैं, जिनमें संपादक के आदर्श की भी रक्षा होती है। 'हार की जीत' कहानी अच्छी होने पर भी आकर्षण के अभाव की सूचना देती है। सुदर्शनजी की 'कवि', 'पिता का हृदय' आदि कहानियाँ 'हार की जीत से' कहीं सुंदर हैं। न-जाने संपादकजी ने उनमें से किसी को क्यों नहीं चुना। 'खूनी' कहानी भी साधारण है। राय कृष्णदासजी की कहानी भी अच्छी ही है। गुलेरीजी की 'उसने कहा था' कहानी एक ऊँची और भावपूर्ण कहानी है। कहानी-कला का सुंदर रूप इस कहानी में मिलता है। यदि कहें तो कह सकते हैं कि गुलेरीजी कम-से-कम एक इसी कहानी से हिंदी-कहानी-जगत् में स्मरणीय हो गये हैं। 'नंदिनी' कहानी भी अच्छी है। विनोदजी की 'रधिया' कहानी अच्छी तो अवश्य है, परंतु उसमें 'फ़ीलिंग' है—कला नहीं है। श्रीरघुपतिसहायजी की कहानी 'सत्य कहाँ है' भी कुछ अच्छी है, परंतु उसमें नीरसता है—रोचकता का अभाव है, उपदेशात्मक वृत्ति सौंदर्य को नष्ट कर रही है। 'प्रियदर्शी' कहानी साधारण ही है। कुछ रूखापन-सा आ गया है। इसकी जगह लेखक की 'संध्या-प्रदीप' कहानी कहीं अधिक आर्टिस्टिक और भावमय होती। जैनेंद्रजी की 'अपना-अपना भाग्य' कहानी बड़ी ही सुंदर और कलापूर्ण है। इसमें हमें 'मोपाँसाँ' का आर्ट मिलता है। मोपाँसाँ की यही कला फ्रेंच-कहानी-साहित्य की एक विशेषता है। एक साधारण भाव को इतने सुंदर रूप से प्रकट करना और उसमें कला के यौवन की मधुमादकता को इस खूबी के साथ बहाना उसका अपूर्व कौशल है। जैनेंद्रजी की कहानी का अंत जीवन की एक अनंत वेदना लिये गूँजता रहता है। आत्माराम देवकरजी की कहानी साधारण है। न-जाने क्यों उन्हें प्रमुख कहानी-लेखकों में माना गया है। उनकी कहानी में रोचकता तो है, परंतु केवल रोचकता ही है, और कुछ नहीं—न लोच है, न आनंद का उद्रेक करने की क्षमता; कोई आकर्षण नहीं—कोई कौशल नहीं। 'शरणागत' कहानी अच्छी है। 'करीम-मर गया' कहानी में एक मीठा-सा दर्द है।

अवसाद का आवरण-सा कहानी पर पड़ा हुआ है। उसे पढ़कर दिल में एक भीनी-सी वेदना मुस्कराने लगती है।

अभी तक पं० रामनरेशजी त्रिपाठी को हम खड़ीबोली के एक सुंदर कवि, ऊँचे समीक्षक और ब्रजभाषा की कविता के कट्टर विरोधी के ही रूप में जानते थे, परंतु इस संग्रह को पढ़कर उनके कहानी-लेखक का स्वरूप भी हमारी दृष्टि में आ गया। उनकी 'कुणाल'-शीर्षक कहानी में हमें कोई भी चमत्कार नहीं दिखायी दिया। तो क्या वह इसीलिए 'बीस' प्रमुख कहानी-लेखकों में आ गये कि उन्होंने संपादकजी की 'हम क्या करें ?'-शीर्षक कहानी का भाष्य या टीका कहानीरूप में माधुरी में 'उन बच्चों का क्या हुआ'-शीर्षक से छपवायी थी? सर्व-श्रीराजेश्वरप्रसादसिंह, हृदयेश, शिवपूजनसहाय, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि

सुलेखकों के रहते त्रिपाठीजी को प्रमुख कहानी-लेखक मान लेना अनुचित, पक्षपातपूर्ण प्रोपेगेंडिस्ट मनोवृत्ति का ही परिचायक कहा जायगा। उक्त लेखकों की ऐसी रचनाएँ मिल सकती हैं, जो बिना संकोच विद्यार्थियों के हाथों में दी जा सकती हैं। क्या उग्रजी की 'उसकी माँ', राजेश्वरप्रसादसिंहजी की 'आदर्श', शिवपूजनजी की 'मुंडमाल' आदि कहानियाँ बिना संकोच विद्यार्थियों के हाथ में नहीं दी जा सकतीं ?

इसके अतिरिक्त संपादकजी ने अपनी कहानी भी रखकर अपने को भी प्रमुख कहानी-लेखकों में गिनवा लिया है और 'मोह' की दुहाई देकर अपनी प्रवृत्ति के समर्थन की आशा की है ! लेकिन उन्हें तो हिंदीसंसार विशेषतः अनुवादक के ही रूप में जानता है। इसी 'मोह' ने उनकी संपादकीय शिष्टाचार की भावना को भी ठुकरा दिया है। क्या कोई आवश्यक बात है कि यदि श्रीप्रेमचंदजी अपने 'गल्परत्न' और 'गल्प-समुच्चय' में अपनी कहानियाँ अवश्य रखते हैं, तो टंडनजी भी अपने संग्रह में अपनी कहानी रक्खें।

फिर, कहानी-साहित्य में जासूसी और हास्यरसात्मक कहानियों का क्या अस्तित्व ही नहीं है ? क्या ऐसी कहानियाँ विद्यार्थियों के हाथों में नहीं दी जा सकतीं ? अँगरेज़ी में कैनन डायल और वालेस की कहानियाँ भी साहित्यिक ही समझी जाती हैं और विद्यार्थियों के कोर्स की किताबों में रहा करती हैं। फिर इस संग्रह में ऐसी कहानी क्यों नहीं है !

यह संग्रह हमें टेक्स्ट-बुक-कमेटी के लिए तैयार किया गया-सा प्रतीत होता है। विद्यार्थियों से, संपादक का मतलब, स्कूल-कालेजों में पढ़नेवालों से है; क्योंकि तभी शृंगारी भावों का बहिष्कार किया गया है ! यों तो प्रत्येक पाठक विद्यार्थी है, परंतु यदि 'विद्यार्थी' का यह व्यापक अर्थ लिया जाता, तो शृंगारी भावों या प्रेमकथाओं का इस प्रकार बहिष्कार न कर दिया जाता। ये भी तो मानव-जीवन के सरल तत्त्वों में हैं।

इसी से हमें प्रतीत होता है कि इस संग्रह का निर्माण साहित्य की उस महनीयता—उस महानता को सामने रखकर नहीं किया गया, जिसमें समाहित होकर निष्कलुषता और कलुषता का कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता और लेखक की सारी भावना—सारा कौशल—सारा भावप्रवाह 'कला' के चरणों पर बलिहार जाने के लिए 'अलख' जगाने लगता है। जहाँ कला—साहित्य के लिए साहित्य का निर्माण होता है, वहीं हमें सौंदर्य की और सत्य की सततवाहिनी धारा का प्रांजल प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। अन्यत्र नहीं।

इस संग्रह में बहुत-से प्रमुख कहानी-लेखक नहीं आ पाये, और बहुत-से ऐसे आ गये हैं, जो प्रमुख लेखकों में नहीं हैं। कहानियों का चुनाव भी जिस कसौटी पर हुआ है—उसी कसौटी पर कसने से उसी लेखक की अच्छी कहानी मिल सकती थी, जिसमें कहानी-कला का ऊँचा-से-ऊँचा और उत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त है। पुस्तक के आरंभ में एक सुंदर, भावपूर्ण और विस्तृत भूमिका का अभाव भी बहुत खटकता है। आखिर इस संग्रह की कहानियों में कौन-सा कहानीपन है, क्यों है और कहाँ तक है, यह कैसे उन विद्यार्थियों को मालूम होगा, जिनके लिए यह तैयार किया गया है ? इन्हीं सब बातों को देखते हुए टंडनजी को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी उनके ऐसे कहानी-साहित्य के विशेषज्ञ और अध्ययनशील संपादक से आशा की जा सकती है।

पुस्तक हिंदी-मंदिर, प्रयाग से प्रकाशित हुई है। इस स्वच्छ-सुंदर-सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है, जो कुछ अधिक प्रतीत होता है।

रामेश्वर शुक्ल

× × ×

भक्त-भारती—लेखक, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश'; मुद्रक तथा प्रकाशक, गीता-प्रेस गोरखपुर; पृष्ठ-संख्या ११२; मूल्य ।≈), सजिल्द ॥≈); प्रकाशक से प्राप्य।

प्रस्तुत पुस्तक में ध्रुव, प्रह्लाद, गजेंद्र, शबरी, अंबरीष, अजामिल और कुंती की भक्ति-रसपूर्ण गाथाएँ पद्य-रूप में वर्णित की गयी हैं। कथाएँ सभी धार्मिक और उपदेशपूर्ण हैं। पढ़ने में खूब जी लगता है। सात रंगीन चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं। पुस्तक पठनीय तथा संग्रहणीय है।

× × ×

सुलोचना सती—लेखक श्री 'विष्णु'; प्रकाशक, शुक्ल-सदन १२०।१ वाराणसीघोष-स्ट्रीट कलकत्ता; मूल्य ॥)

संस्कृत-काव्य-शैली पर इस काव्य-पुस्तक की रचना की गयी है। मेघनाद-यज्ञ से लेकर सुलोचना के सती होने तक की कथा इसमें रामायण के आधार पर लिखी गयी है। कविता सुंदर तथा भावपूर्ण है। काव्य-प्रेमियों को एक बार इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

× × ×

आँसूवाली—लेखक, श्रीहरिकृष्णदास गुप्त; प्रकाशक, सुंदर-साहित्य-सदन, दिल्ली; पृष्ठ-संख्या ११६; मूल्य १)

इस पुस्तक में दस छोटी-छोटी गल्पें संग्रहीत की गयी हैं। गल्पें भावपूर्ण हैं, किंतु कथानक की दृष्टि से सभी साधारण हैं। हमारे विचार से इन्हें गद्यकाव्य कहना ज़्यादा ठीक होगा। लेखक की यह प्रथम कृति है, अतएव आशा है, भविष्य में वह इससे अच्छी गल्पें लिखने में समर्थ हो सकेंगे। मूल्य १) अधिक है।

× × ×

उदयपुर—लेखक, देवनाथ पुरोहित; पृष्ठ-संख्या २३०; छपाई-सफ़ाई साधारण मूल्य २)

हिंदू-कुल-कमल-दिवाकर महाराणा प्रताप की जन्म-भूमि उदयपुर का इतिहास में अपना एक विशेष महत्त्व है। इस पुस्तक में उदयपुर का वर्णन विस्तारपूर्ण ढंग से किया गया है। सभी दर्शनीय स्थलों के अनेकों चित्र तथा तीन नक़्शे भी दिये गये हैं। मेवाड़ के राज-वंश का सचित्र संक्षिप्त परिचय भी इसमें आ गया है। पुस्तक उपादेय है। विशेषतः उदयपुर-यात्री यात्रा के पूर्व इसे पढ़ लेने से अधिक लाभ उठा सकते हैं।

तारादत्त उप्रेती

× × ×

हिंदी में शार्टहैंड—लेखक पं० निष्कामेश्वरजी मिश्र, बी० ए०, एल्-टी०; प्रकाशक वही; पता—लाहौरी टोला, काशी; पृष्ठ-संख्या १५०, सजिल्द पुस्तक का मूल्य २॥)

कांग्रेस में, सभा-सोसाइटियों की बैठकों में, तथा प्रत्येक ऐसे अवसर पर अब हिंदी में ही भाषण होते हैं। अँगरेज़ी में भाषण देने की प्रथा उठती-सी जा रही है। हम हर प्रकार से हिंदी को अपना रहे हैं। यह हमारी राष्ट्र-भाषा भी हो रही है। पर राष्ट्रभाषा होने के लिए इसका अपना शार्टहैंड या संक्षेप-लेख-प्रणाली भी होनी ही चाहिए। बिना इसके हमारी भाषा में व्याख्यानों की पूरी तरह से रिपोर्ट लेना असंभव है, तथा हिंदी-पत्रकार-कला की उन्नति नहीं हो सकती। इसी कमी को पूरा करने का प्रयास, काशी-सेंट्रल हिंदू-स्कूल के प्रसिद्ध सहायक अध्यापक तथा इन पंक्तियों के लेखक के गुरु पं० निष्कामेश्वरजी ने किया है। आपने शार्टहैंड की जो प्रणाली निर्धारित की है, वह आपके वर्षों के प्रयास का फल है तथा अन्य प्रणालियों की तुलना में दोष-रहित है। हमने इसी प्रणाली के अनुसार बड़ी सफलता-पूर्वक रिपोर्ट लेते हुए भारत-जन-सेवक-समिति के सदस्य श्रीअलगूराय शास्त्री तथा "क्षत्रियमित्र" और "टु-डे" के भूतपूर्व संपादक एवं संयुक्त संपादक ठाकुर त्रिभुवननारायणसिंह को देखा है। इनकी रिपोर्टों की बड़ी प्रशंसा सुनी गयी है। यह प्रणाली कांग्रेस तथा प्रत्येक सभा के रिपोर्टर से लेकर सरकारी सी० आई० डी० तक के बड़े काम की है। एक नवीन प्रणाली का ज्ञान बड़ी सरल तथा सुबोध भाषा में कराया गया है। पुस्तक की उपादेयता के सम्मुख इसका मूल्य भी कुछ विशेष नहीं है।

परिपूर्णानंद वर्मा

× × ×

१ **श्रीमद्भगवद्गीता** (शांकरभाष्य हिंदी-अनुवाद सहित)—हिंदी-अनुवादक, श्रीहरिकृष्णदास गोयंदका, बड़े साइज़ के ४६९ पृष्ठ, सफ़ाई-छपाई अच्छी; मू० सजिल्द २॥)

प्रस्तुत ग्रंथ में गीता के मूल-श्लोक, उनका शंकरजी महाराजकृत संस्कृत-भाष्य, संस्कृत-भाष्य का हिंदी-अनुवाद और टिप्पणियाँ आदि दी गयी हैं। महाज्ञानी और दार्शनिक आचार्य शंकरजी ने गीता को निवृत्ति-मार्गप्रतिपादक ग्रंथ माना है। उनका मत है कि संन्यास के बिना मोक्ष नहीं मिल सकती। हाँ, मन की शुद्धि और पवित्रता के लिए कर्म तथा प्रवृत्तिमार्ग को वे ज़रूरी समझते हैं। भगवान् शंकराचार्य ने संस्कृत में गीता का जो भाष्य किया है, उसे विद्वान् लोग बड़ी ऊँची दृष्टि से देखते हैं। उस भाष्य का हिंदी-अनुवाद ही गोयंदकाजी ने किया है और अपने परिश्रम एवं शक्ति-भर उसे सब प्रकार पूर्ण उपयोगी बनाया है। प्रो० जीवनशंकरजी याज्ञिक ने अपनी छोटी-सी भूमिका में गीता और शांकरमत पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पुस्तक में तीन रंगीन चित्र भी हैं। संस्कृत-भाष्य के अंतर्गत श्रुति, स्मृति, पुराणादि के जो प्रमाण आये हैं वे किस ग्रंथ के कौन-से स्थल के हैं—इनकी एक सूची अकारादि क्रम से बनाकर ग्रंथ के अंत में जोड़ दी गयी है। हमारे विचार से यह ग्रंथ इस वर्तमान रूप में आदरणीय ही नहीं बल्कि संग्रहणीय भी है।

× × ×

२ साहित्य-सीकर—ले० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ; प्रकाशक, तरुण-भारत-ग्रंथावली, दारागंज, प्रयाग ; साइज़ क्राउन सोलहपेजी; पृष्ठ-संख्या १४१; मूल्य १), छपाई काग़ज़ सुंदर।

इस पुस्तक में द्विवेदीजी द्वारा लिखित जिन इक्कीस छोटे-छोटे निबंधों को एकत्र किया गया है, वे सभी साहित्य से संबंध रखनेवाले हैं। निबंधों की लेखन-शैली सरल और सुबोध है। इनके पढ़ने से कुछ-न-कुछ ज्ञानवर्धन और मनोरंजन अवश्य होगा। प्रत्येक निबंध में लिखने की तारीख़ दी गयी है। इसलिए तुलनात्मक साहित्य की उन्नति पर लिखनेवालों के भी काम की चीज़ है। साहित्यप्रेमी इस पुस्तक से लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक उपयोगी और पठनीय है।

× × ×

३ प्रिय-मिलन—लेखक और प्रकाशक, श्रीनंदकिशोर, झा 'किशोर' काव्यतीर्थ, ग्राम श्रीनगर, पोस्ट बेतिया, ज़िला चंपारन ; क्राउन-साइज़ पेज १४७ ; मू० ||=)

पुस्तक खंड-काव्य के रूप में लिखी गयी है। कई प्रकार के छंदों में, रुक्मिणीहरण, श्रीकृष्ण से उनका विवाह और दांपत्य-प्रेम का वर्णन किया गया है। लेखक महाशय संस्कृत के पंडित हैं, इसलिए हिंदी के इस खंड-काव्य में भी संस्कृत-शब्दों की बहुलता दिखायी देती है। लेकिन कहीं-कहीं संस्कृत-शब्दों की क्लिष्टता और उनकी अनावश्यक ठूँसठास ने रचना के प्रवाह और गति में बाधा पहुँचायी है, साथ ही उसका सौंदर्य भी कम कर दिया है। अंतिम अध्याय में, श्रीकृष्ण पर मणि की चोरी लगना, उसके लिए कृष्ण महाराज का व्यग्र होकर खोजने जाना, खोज लगाने पर जामवंती-सहित मणि को प्राप्त कर द्वारिका आना, रुक्मिणी द्वारा अपनी सौत का सराहनीय सत्कार होना आदि बातें दिखायी गयी हैं। इस अध्याय में लेखक महाशय ने विषय-वर्णन के लिए कवित्त (छंद) को अपनाया है और खड़ीबोली में लिखने का प्रयास किया है। लेकिन शब्दाडंबर और क्लिष्टता के चक्कर में यहाँ भी सरलता, गति और प्रसादगुण को वे खो बैठे-से प्रतीत होते हैं। फिर भी सब मिलाकर पुस्तक अच्छी बन पड़ी है। हमें आशा है, हिंदी-पाठकों का उससे मनोरंजन होगा। लेखक महाशय का भी यह प्रथम प्रयास है। आशा है, वे आगे भाषा की सरलता, भावों की स्पष्टता, और वर्णन-शैली के सरस प्रवाह की ओर विशेष ध्यान रक्खेंगे। हम झाजी के हिंदी-प्रेम और हिंदी-सेवा-भावना पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वे भविष्य में अधिकाधिक सफलता प्राप्त करें।

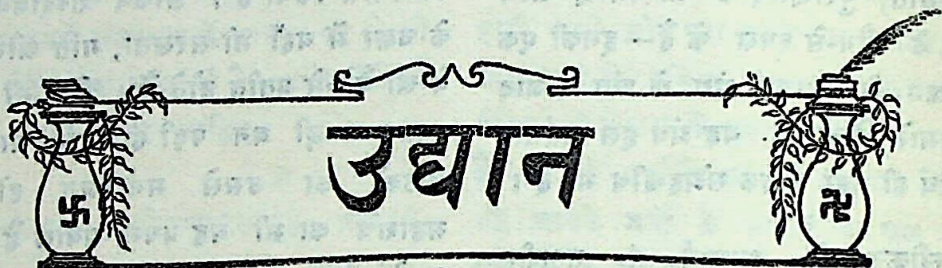
"चक्रपाणि"

× × ×

विज्ञापन-परिचय

बनारसी—शिल्प-कार्यालय, बनारस सिटी

यह कार्यालय बहुत दिनों से रेशमी वस्त्रों का व्यापार करता चला आ रहा है। सब प्रकार की सुंदर साड़ियाँ, दुपट्टे, कोट, क़मीज़ के योग्य कपड़े ज़री और सादे काम की चीज़ें यहाँ से प्राप्त हो सकती हैं। बहुत-से अन्य शहरों के व्यापारी लोग भी इस कार्यालय से माल मँगाते रहते हैं। हमने भी कई बार इस कार्यालय से मँगाकर रेशमी दुपट्टे और खद्दर-सिल्क का व्यवहार किया है। हम संतोषपूर्वक कह सकते हैं कि कार्यालय का व्यवहार अच्छा और विश्वास के योग्य है। स्वदेशी खद्दर-सिल्क के लिए तो यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि वह जाड़े-गर्मी दोनों ऋतुओं में स्तेमाल करने योग्य है। बार-बार धुलने पर मुलायम और सुंदर निकलता जाता है, साथ ही सस्ता भी है। एक थान में दो सूट या चार कोट या तीन शेरवानी बन सकती हैं। खद्दर-सिल्क की भी कई क़िस्में हैं। ख़ास क़िस्म का थान लगभग १०), नं० १ का ८||) और नं० २ का ७) है। हम स्वदेशी-प्रेमियों से अनुरोध करेंगे कि वह एक बार खद्दर-सिल्क की अवश्य परीक्षा करें, दूसरी बनारसी चीज़ें भी इस कार्यालय से मँगाने पर अच्छी और सस्ती मिलेंगी। इसी अंक में कार्यालय का एक विज्ञापन भी पाठ्य-विषय में छपा है। अन्य आवश्यक बातों के लिए पाठक उसे भी पढ़ लें।



१. खुली चिट्ठी

श्रीमान् 'माधुरी'-सम्पादक के नाम।

श्रीमान् सम्पादकजी !

मैं 'माधुरी' की एक साधारण पाठिका हूँ। मुझे आपकी 'माधुरी' से प्रेम है। मैं समझती हूँ कि इस समय हिंदी की सर्वश्रेष्ठ पत्रिका 'माधुरी' ही है। मैं ही क्या, अधिकांश हिंदी-साहित्य-सेवी 'माधुरी' की नीति और नियत के ऊपर विश्वास तथा भरोसा रखते हैं। 'माधुरी' की सम्मति की प्रतिष्ठा करते हैं। ऐसी दशा में एक प्रतिष्ठित पत्रिका के सम्पादक की हैसियत से आप अपनी पत्रिका के पाठक-पाठिकाओं को जो सम्मति, संदेश या आदेश दें, उसमें सच्चाई तथा ईमानदारी का अधिक-से-अधिक ध्यान रक्खें। 'माधुरी'-जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के गौरव को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए इसके सिवाय और कोई भी प्रशस्त मार्ग नहीं है। एक उत्तर-दायी सम्पादक का सबसे बड़ा मित्र अपना कर्तव्य-कर्म है। अपने कर्तव्य-कर्म के पालन के समय वह मित्र या शत्रु किसी का भी पक्षपात नहीं करता है। वह पक्षपात करता है, लोकहित, सच्चाई और ईमानदारी के साथ। जो व्यक्ति इस कठोर कर्तव्य-कर्म तथा धर्म का पालन नहीं कर सकता है, उसे कोई अधिकार नहीं है कि वह सम्पादक के उत्तरदायी सम्मान और पद को कलंकित करे।

आपने फाल्गुन-मास की 'माधुरी' में लखनऊ से निकलनेवाली 'त्रिवेणी' पत्रिका की समालोचना करते हुए महिला-मण्डल से उसके ग्राहक बनने की जो अपील की है, उसका मैं घोर विरोध करती हूँ। क्या आप लखनऊ में निवास करते हुए भी 'त्रिवेणी' पत्रिका के जन्म और मरण के इतिहास से अपरिचित हैं? क्या आपको नहीं ज्ञात है कि पूर्वजन्म की 'शक्ति' और इस जन्म की 'त्रिवेणी' ने अपने कितने प्रकाशकों, हित-चिंतकों तथा ग्राहकों के साथ क्या-क्या किया है? क्या आपने 'त्रिवेणी' के 'विदुषी-अंक' वाले उन सम्पादकीय, सड़ियल नोटों को पढ़े बिना ही अपनी बहुमूल्य सम्मति दे डाली है, जिनमें 'त्रिवेणी' के क्लर्क-सम्पादकाचार्य द्वारा हमारी माताओं तथा बहनों के ऊपर गंदे व्यंग्य तथा आक्षेप किये गये हैं? क्या महिलामंडल के लिए आपकी अपील का यही प्रयोजन है कि हमारी माताएँ तथा बहनें 'त्रिवेणी' की ग्राहिका बनें, उसके लिए लेख भेजें और पुरस्कार-स्वरूप उल्टे आक्षेप सहें? क्या आपने ३ अप्रैल के 'भारत' में श्रद्धेय श्री० पं० गयाप्रसादजी शास्त्री, साहित्याचार्य 'श्रीहरिजी' की उस

चिट्ठी को पढ़े बिना ही 'त्रिवेणी' के लिए अपील निकाल डाली है, जिसमें लिखा गया है कि त्रिवेणी के 'विदुषी-अंक' में जो 'खुली चिट्ठी' निकली है, वह श्रीमती फूलवतीजी शुक्ला के हाथ की लिखी हुई नहीं है ? अस्तु, यदि आप 'त्रिवेणी' के इन सब कार्यों से अपरिचित हैं और केवल संपादकीय शिष्टाचार के नाते आपने उक्त प्रकार की सम्मति देते हुए महिला-मंडल से अपील की है, तब तो मुझे कुछ भी वक्तव्य नहीं है। किंतु यदि आपने सब बातों को जान-बूझकर इस प्रकार की अपील निकाली है, तो मुझे विनम्र शब्दों में इस बात के कहने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं है कि जहाँ आपने पक्षपात की चादर से सत्य को छिपाया है, वहीं 'माधुरी'-जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका के पाठक-पाठिकाओं के साथ भी उचित न्याय नहीं किया है। बहुत ही संभव है कि आपकी सम्मति और अपील के कारण कितनी ही माताओं तथा बहनों को भ्रम में पड़ना पड़े। मैं इस पत्र के द्वारा आपसे सादर अनुरोध करती हूँ कि आप मेरे पूर्वोक्त समस्त प्रश्नों के ऊपर सच्चाई के साथ प्रकाश डालते हुए 'माधुरी' के द्वारा साहित्यसेवियों में जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निराकरण करें *। साथ ही मैं बहन फूलवतीजी से भी सप्रेम पूछ रही हूँ कि आपके नाम की ओट में आपकी बहनों के साथ यह अन्याय क्यों हो रहा है ? क्या आप 'त्रिवेणी' की संपादिका इसीलिए बनी हैं कि आपके शुभ नाम की ओट में लोग प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों के ऊपर कीचड़ उछालकर आपकी श्रीवृद्धि करें ? क्या आपने वास्तव में त्रिवेणी के 'विदुषी-अंक' में 'खुली चिट्ठी' प्रकाशित करके अपनी बहनों से धन की अपील की है ? यदि आपने अपील की है, तो आपके समीप में क्या इस बात का कोई प्रमाण है कि आपके नाम से इकट्ठा किये जानेवाले धन का ठीक-ठीक उपयोग हो सकेगा ? इस समय 'त्रिवेणी' के संबंध में साहित्यसेवियों में बहुत बड़ा भ्रम फैला हुआ है। आशा है, 'माधुरी' के द्वारा आप अपनी स्थिति को साफ़ करने की कृपा करेंगी।

भवदीया—
(श्रीमती) कमला
C/o आदर्श महिला-चिकित्सालय, गणेशगंज, लखनऊ

× × ×

२. 'हंस' का आत्मकथांक
(प्रत्यालोचना)

इधर हिंदी के कितने ही प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में 'हंस' के 'आत्मकथांक' की धूम मची हुई है। हिंदी-साहित्य के कितने ही प्रसिद्ध विद्वानों तथा महारथियों ने 'आत्मकथांक' के लिए अपनी जो बहुमूल्य सम्मति प्रदान की है, वह स्वर्णाक्षरों में लिखने के योग्य है। वास्तव में 'हंस' ने 'आत्मकथांक'-जैसे विशेषांक को निकालकर हिंदी-साहित्य-सेवियों को आश्चर्य में डाल दिया है। 'आत्मकथांक' एक नयी चीज़ है, इसके लिए यदि लोगों के मन में किसी प्रकार का कौतूहल पैदा हो तो आश्चर्य ही क्या ? 'हंस' के आत्मकथांक के सम्बंध में हिंदी-साहित्य-सम्राट् आचार्य श्री० पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी का यह कहना अक्षरशः सत्य है। आप लिखते हैं—'हंस' का 'आत्मकथांक' आपने अद्भुत ही निकाला। हिंदी-साहित्य में बिलकुल ही नयी चीज़ है। देखकर मेरा हृत्कमल खिल उठा। अस्तु, 'आत्मकथांक' चीज़ ही ऐसी है। 'आत्मकथांक' को देखकर जिसका हृत्कमल खिल न उठे, उसे कोई अजीब-ग़रीब, पुच्छ-विषाण-हीन जंतु ही समझना चाहिए। आचार्यजी के सिवाय भारत के कितने ही प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों ने मुक्तकंठ होकर 'हंस' के 'आत्मकथांक' की प्रशंसा की

* प्रेमी पाठक-पाठिकाएँ हमारी ओर से इसका उत्तर कृपा कर स्वयं दे लें, तो बड़ा अच्छा हो।
—माधुरी-संपादक

है। हमें आप लोगों की गुणग्राहिता और सहृदयता के लिए कुछ भी नहीं कहना है। हमें कहना उन लोगों से है, जो 'आत्मकथांक' के सम्बंध में बड़े-बड़े विद्वानों की सम्मतियाँ पढ़कर भी नाक-भौं सिकोड़ते फिरते हैं। हमें सबसे पहले 'भारत' सम्पादक श्री० पं० नंद-दुलारेजी वाजपेयी से कुछ नम्र-निवेदन करना है। वह यह कि 'भारत'-जैसे प्रतिष्ठित पत्र के जो कालम किसी समय विचारपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणियों से भरे रहते थे, वही कालम आज व्यक्तिगत रागद्वेष के निरर्थक झगड़े और पचड़े से भरे जा रहे हैं। आपका एक अपना लेख काशी के 'जागरण' में प्रकाशित हो चुकने पर भी 'भारत' में उद्धृत किया गया। यह सब क्यों? इसी लिए न कि किसी प्रकार 'भारत' के पाठक-पाठिकाओं में अपनी धाक जमायी जाय? यह सब आत्म-विज्ञप्ति नहीं तो और क्या है? यह मामला तो अभी और भी तूल पकड़ता जा रहा है। अब आपने 'प्रेम-चंदजी का परितोष'-शीर्षक देकर फिर 'भारत' के कालम रँगने शुरू कर दिये हैं। मैं आपसे इस बात को बड़े प्रेम से पूछना चाहता हूँ कि क्या अब भारत की नीति हिंदी-साहित्य-सेवियों में दलबंदी तथा द्वंद्वयुद्ध पैदा करने की ही हो गयी है? अस्तु, 'आत्मकथांक' पर आपने जो सम्मति प्रकट की है, उसके संबंध में यही कहना है कि जब पंचतंत्र, हितोपदेश तथा ईसबनीति आदि ग्रंथों में पशु-पक्षियों की छोटी-छोटी कथाओं से अमूल्य शिक्षा तथा ज्ञाननिधि प्राप्त की जा सकती है, तो फिर भारत के प्रसिद्ध हिंदी-साहित्य-सेवियों की आत्मकथाओं से आपको कुछ शिक्षा या उपदेश न मिले, तो आश्चर्य तथा खेद के सिवाय और हो ही क्या सकता है! हमारा तो यही विचार है कि इस विराट् विश्व के एक छोटे-से-छोटे कण या परमाणु में उस दिव्य कलाविद् के दर्शन होते हैं, जिसके लिए बड़े-से-बड़े दार्शनिक तरसते रहते हैं। बस केवल निर्मल आँखों की आवश्यकता है।

एक कहावत है—'महाजनो येन गतः स पंथाः।' बड़े आदमी जिस रास्ते से जाते हैं, वही रास्ता है। श्रीवाजपेयीजी की नक़ल करते हुए कुछ एक और भी नौसिखियों ने 'आत्मकथांक' के संबंध में अपने दिल के गुबार निकाले हैं। हाल ही में 'त्रिवेणी' का विदुषी-अंक निकला है। इस अंक के दो संपादक हैं। श्रीमती फूलवतीजी शुक्ला एम्० ए० और पं० रमाशंकर मिश्र 'श्रीपति'। श्रीमती शुक्लाजी नगर की एक प्रतिष्ठित विदुषी महिला तथा महिला-विद्यालय की वाइस-प्रिंसिपल हैं। शायद महिला-विद्यालय की कन्याओं को ग्राहिका बनाने की शुभ कामना से ही आपका नाम 'त्रिवेणी' में रक्खा गया है। आपके पास 'त्रिवेणी' के संपादन के लिए बिलकुल ही समय नहीं है। 'त्रिवेणी' के संपादकीय नोट पं० रमाशंकर मिश्र के ही द्वारा लिखे जाते हैं। सुना जाता है, आप हिंदी और संस्कृत के ७२ कोष सामने रखकर संपादकीय नोट लिखा करते हैं। सचमुच आपके संपादकीय नोट किसी रेलवे-लाइन के नक़्शे से कम गूढ़ नहीं है। दिन-भर रेलवे आफ़िस में काम करने के बाद यदि आपके दिमाग़ से ऊट-पटाँग नोटों की सृष्टि हो, तो आश्चर्य ही क्या! आपने भी 'सुनते जाइए' और 'आत्मकथा'-शीर्षक दो नोटों में 'आत्मकथांक' के विद्वान् लेखकों के ऊपर धूल फेंकने की धृष्टता की है। इन नोटों में तो कुछ भी सार नहीं है। पढ़ते जाइए और समय को बर्बाद करते जाइए। 'त्रिवेणी' के क्लर्क-संपादकाचार्य 'हंस' के 'आत्मकथांक' के विद्वान् लेखकों को जो भी गालियाँ दें, उनकी उपेक्षा करना और संपादकजी को दया की दृष्टि से देखना ही अच्छा है।

आपके सिवाय कोई विद्यार्थी रामेश्वर शुक्ल हैं। यदि हम भ्रम में नहीं हैं तो शायद विद्यार्थीजी पं० मातादीनजी शुक्ल के सुपुत्र हैं, और किसी स्कूल में अभी पढ़ते हैं। विद्यार्थीजी ने भी फाल्गुनमास की 'माधुरी' में हंस का 'आत्मकथांक'-शीर्षक देकर एक लंबा-चौड़ा लेख लिख डाला है। इस लेख में भी वैयक्तिक राग-द्वेष की दुर्गंध आती है। विद्यार्थीजी ने बिना किसी तर्क और युक्ति के मनमानी-घरजानी के अनुसार जिस कथा को चाहा पसंद किया और जिस कथा को चाहा नापसंद कर दिया। आपका स्वभाव तो वास्तव में उस भोले-भाले लड़के के ही समान है जो अपनी रुचि के अनुसार सामने पड़े हुए सुंदर-सुंदर खिलौनों में से किसी को उठाता है और किसी को फेंकता है। लड़कों और विद्यार्थियों का तो यह स्वभाव ही होता है। एक बात ज़रूर बड़ी ही मज़ेदार है। आप आत्मकथाओं के अंदर कला की खोज करते हुए अनंत की ओर दौड़े जा रहे हैं। खाने, पीने, सोने,

जागने, और कहाँ तक बताया जाय सारी दिनचर्या, में और जीवन की प्रत्येक घटना में आजकल लोग कला की खोज करने लग गये हैं। भाई! आत्मकथाओं में तो केवल एक ही कला की आवश्यकता है कि वह सीधी-सादी, सरल, घटनाओं के क्रम से सुसंघटित और सत्य हो। 'आत्मकथा' कोई कल्पित कहानी तो है नहीं, जिसमें कला की खोज की जाय। इसके सिवा यदि इन कलाबाज़ों से कोई पूछे कि भाई! 'कला' शब्द के प्रयोग से आपका अभिप्राय क्या है, अथवा 'कला' शब्द का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ क्या है, तो ये बगलें झाँकने लगेंगे। अस्तु, 'हंस' का 'आत्मकथांक' अपना कोई विशेष स्थान रखता है। यही कारण है, 'आत्मकथांक' की चारों ओर धूम मची हुई है। 'आत्म-कथांक' के विद्वान् लेखकों को केवल इसी एक बात से संतोष कर लेना चाहिए। रह गयी लोगों के व्यक्तिगत आक्षेप करने की आदत, उसके लिए यही कहना है कि संसार में पुण्यात्मा-पापी, देवता-राक्षस, प्रशंसक-निंदक सभी रहते हैं। जिनका जो कुछ काम है, उन्हें करने दीजिए, स्वयं मौन होकर बैठे रहिए। विज्ञ समाज स्वयं सत्यासत्य का निर्णय कर लेगा। अंत में हिंदी-पत्र-पत्रि-काओं के उत्तरदायी संपादकों से एक बात और कहनी है। वह यह है कि आप लोग अपनी पत्र-पत्रिकाओं को किसी-न-किसी प्रकार भरने के लिए चाहे जैसे ऊटपटाँग लेखों की भरती करें, किंतु वे लेख व्यक्तिगत आक्षेपों से पूर्ण न हों! एक सुयोग्य संपादक के लिए इतना ध्यान लेना कोई कठिन बात नहीं है। यदि आप लोग अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेंगे, तो हिंदी-साहित्य में घोर उच्छृंखलता पैदा हो जायगी, जिसे देखकर जहाँ अन्य भाषा-भाषी आपका परिहास करेंगे, वहीं राष्ट्रभाषा हिंदी के गौरव का सर्वनाश हुए विना भी न रहेगा। भविष्य में लोग फिर इस प्रकार की भूलें न करें, इसलिए हमें बड़े दुःख के साथ व्यक्तिगत आक्षेपों का निराकरण करके हिंदी-साहित्य-सेवियों तथा 'माधुरी' के पाठक-पाठिकाओं के सामने वस्तुस्थिति रखनी पड़ी।

ता० १६—४—३२ ई० "दंडपाणि"

× × ×

३. ब्रह्मचर्य

पी ले ओ पी ले !
यौवन के उच्छ्वास कसक में,
तीक्ष्ण वारुणी भरे चषक में,
बैठा जाता है उबाल ;
हे भ्रांत पथिक, अब तो सँभाल,
मत व्यर्थ बहा गर्वीले ;
पी ले ओ पी ले।

* * *

यौवन-झंझा का प्रखर वेग—
है तड़ित वेग-सा सतत वेग,
सब सुंदरता देता झँझोड़,
किसने की इससे भला होड़,
विज्ञान-मार्ग सब ढीले।
पी ले ओ पी ले।

* * *

प्रणयी हृदयों के हृदहाव,
घूर्णित नयनों के चटुल चाव,
है वशीकरण उत्सारयान्त,
है क्षणजन्मा सुख दुःख अंत,
जीना चाहे तो जी ले।
पी ले ओ पी ले।

उदयशंकर भट्ट (शास्त्री)

× × ×

४. युगल-मूर्ति

(१)

मनहरन यमुना-पुलिन में प्रेम जहँ सरसात,
सुखद संध्या-समय नभ बिकसित गुलाब लखात ;
छिपत रबि पच्छिम दिसा लाली समेत लजात,
प्रिया प्रियतम कुंज में तहँ केलिरत दरसात।

(२)

पीतपट काँछा हरित मुरली लिये इक हाथ,
दूसरे कर प्रिया की सारी गहे मुसकात ;
उतै कर-कमलनि उठाये हार हिय लै जात,
प्रेम अनुपम याहि संज्ञा सों भले दरसात।

(३)

नैन-सैननि अंग-अंगनि लचनि छबि छहरात,
रोम रोमनि प्रेम की तल्लीनता हुलसात;
यह अनोखी बानि लखि हिय भक्ति-रस पुलकात,
योग जप में कहाँ गीता ज्ञान में यह बात।

केशवराम गुप्त 'वज्र'
(विशारद बी० ए०, एल्-एल्० बी०)

× × ×

५. पुराणों के संबंध में कुछ विचार

आजकल पुराणों पर जहाँ-तहाँ आक्षेप होते रहते हैं। नवशिक्षित मनुष्य तो उस ओर देखते तक नहीं। इतिहास-अन्वेषक भी उन्हें इतिहास कोटि में रखने से इनकार करते हैं। कई धर्म इन ग्रंथों को प्रमाण नहीं मानते। सारांश यह कि आजकल पुराणों के प्रति लोगों की श्रद्धा बहुत ही कम रह गयी है। इनमें अधिकांश वे लोग हैं, जिन्होंने पुराणों का मनन तो दूर रहा, उन्हें कहीं सुना तक भी नहीं। लोगों के मुँह सुन लिया कि पुराणों में गपोड़े भरे पड़े हैं, इसलिए अब उन्हें देखना भी नहीं चाहते! यह एक भूल है।

हम यहाँ यह नहीं कहना चाहते कि पुराणों की प्रत्येक बात सत्य और प्रामाण्य हैं; परंतु यह भी आज हम मानने को तैयार नहीं हैं कि पुराण बिलकुल निःस्सार हैं। यदि विद्वज्जन मननपूर्वक पुराणों की गाथाओं पर विचार करेंगे, तो उन्हें बहुत ही आनंद प्राप्त होगा।

पुराणों में उपनिषदों की कई कथाएँ अलंकाररूप में प्राप्त होती हैं। केनोपनिषद् की कथा देवीभागवत में बड़े अच्छे रूप से वर्णित है; चाहिए समझनेवाला। श्रीमद्भागवत में पुरंजन-नामक एक राजा की कथा कितनी सुंदर और उपदेशप्रद है। हमारे ग्रंथ पद्यबद्ध हैं, इस कारण उनमें अलंकारों और कवि-कल्पनाओं का भी समावेश हो गया है, अतएव उनका समझना उलझन-सा बन गया है। कहीं-कहीं कथा का भाव समझाने के लिए कवि ने चमत्कारी कल्पनाओं को भी उठाया है। परंतु खेद है, पुराण के पाठक उन्हें समझ नहीं पाते।

जब कि हमारे रामायण और महाभारत-जैसे ग्रंथ भी, जिनकी श्लोक-संख्या तक उनके निर्माताओं ने लिख दी है, आज असली दशा में नहीं हैं, तो पुराणों का इस छूत से बचा रहना बिलकुल असंभव था। वाल्मीकि-रामायण में महर्षि वाल्मीकि के नाम से सैकड़ों श्लोक मिला दिये गये। 'जय'-नामक ग्रंथ को, कुछ श्लोक बढ़ाकर, वैशंपायन ने 'भारत' नाम दिया और सौति ने उसमें और श्लोक मिलाकर उसका नाम 'महाभारत' रख दिया। फल यह हुआ कि व्यासकृत 'जय' ग्रंथ के श्लोक कौन-से हैं, यह छाँट निकालना आज असंभव है। वेदों के अतिरिक्त किसी भी हिंदू-ग्रंथ के लिए यह बात दावे से नहीं कही जा सकती कि उनमें किसी ने कुछ भी नहीं मिलाया है। इस बात को आज कोई भी विद्वान् मानने से इनकार नहीं करेगा कि पुराणों में पीछे से बहुत-से उनकी कीर्ति को नाश करनेवाले श्लोक मिला दिये गये।

पुराणों को इतिहास कहा जाना चाहिए। परंतु अपने-अपने मतों की पुष्टि के लिए विद्वानों ने उनमें अपने जो मनगढंत श्लोक मिला दिये हैं, वे उनकी कीर्ति के घातक हैं। वाममार्ग-जैसे निंदित मतमतांतरों के आचार्यों ने उन्हें और भी बदनाम कर दिया है। पंच मकार की पुष्टि में जहाँ कोई श्लोक पुराणों में मिला कि लोगों के नाक-भौं सिकोड़ना आरंभ किया। माना कि उस समय उस मत की अधिकता के कारण पुराणों को इन्हीं पंच मकारों की पुष्टि की बदौलत खूब आदर मिला हो; परंतु इस युग में मद्य, मांस, मैथुन इत्यादि का वर्णन लोगों को नहीं सुहाता। पुराणों में मद्य-सेवन के सैकड़ों श्लोक हैं। मांस-भोजन क्या गो-मांस-सेवन तक की कथाएँ हैं! मैथुन में पुरुष-मैथुन, अप्राकृतिक मैथुन और व्यभिचार की कथाएँ हैं। यह नहीं कि ब्रह्मचर्य का महत्त्व पुराणों में नहीं है, या मद्य-मांस-निषेधक श्लोक नहीं हैं; परंतु एक दूसरे के विरोधी श्लोक पढ़कर पुराणों के पाठक चक्कर में पड़ जाते हैं कि वास्तव में ठीक बात क्या है।

पुराणों पर जो भी आक्षेप किये जाते हैं, मद्यमांस-मैथुन और कुछ अनैसर्गिक बातों पर ही यदि ये मिलावटी कथाएँ पुराणों में आज न होतीं, तो किसी की मजाल नहीं होती कि इसकी ओर उँगली भी उठाता।

पुराणों में एक दोष यह भी है कि जो कथा किसी एक पुराण में आयी है, वही दूसरे में कुछ बदल-कर भिन्न रूप में लिखी मिलती है। यह बात पुराण-प्रेमियों को असामंजस्य में डाल देती है। यद्यपि पुराण-पाठक इन्हें कल्पांतर की कथा कहकर लोगों को समझाने की चेष्टा करते हैं, तो भी इस बात का कोई प्रमाण न होने से उनकी शंका निवृत्त नहीं होती। इन थोड़ी-सी कुछ त्रुटियों के कारण, जिन्हें पीछे से पुराणों में किन्हीं कवियों ने भर दिया है, पुराणों को एकदम निस्सार बताना बड़ी भारी भूल है।

पुराणों में जो कुछ भी संपादित किया गया है, वह वैदिक मंत्रों-ऋचाओं को लेकर उन्हें सोदाहरण समझाने की चेष्टा ही है। वेदों के सैकड़ों मंत्र ज्यों-के-त्यों पुराणों के श्लोकों में उद्धृत हैं। जो लोग पहले चारों वेदों को, ब्राह्मण-ग्रंथों को और उपनिषदों को पढ़कर पुराणों का मनन करेंगे, वे ही पुराणों का सच्चा रहस्य समझ सकेंगे। इस प्रकार जो लोग पुराणों का अध्ययन करेंगे, वे उसके वेद-विरुद्ध प्रसंगों को छोड़ते हुए असली रहस्य को समझ सकेंगे।

पुराणों से तत्कालीन धर्म, राजनीति, राज्य-प्रबंध, व्यवहार, सांपत्तिक दशा, ऐश्वर्य, शौर्य, बल, पुरुषार्थ, और निज स्वातंत्र्य का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान परिस्थिति में अपना प्राचीन गौरव जानने और राजनीतिक गुत्थियाँ सुलझाने के लिए हमें अपने प्राचीन इतिहासों का स्वाध्याय करना आवश्यक है। उन पौराणिक वीरों की गाथाएँ पढ़ने योग्य हैं, जिन्होंने अपने धर्म, देश और अपनी मान-मर्यादा की रक्षा में आत्मोत्सर्ग किया है। एक "महाभारत" ग्रंथ ही ऐसा है, जो इस युग में हमारा पथप्रदर्शक बन सकता है। इसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण हमें बहुत कुछ बता सकती है। पुराणों की वीरगाथाएँ हमें सच्चे मार्ग पर ले जाने में सहायक होंगी, बशर्ते कि हम उन्हें अन्वेषक-दृष्टि से ध्यानपूर्वक पढ़ें।

अंत में यह प्रार्थना कर देना उचित समझता हूँ कि पुराणों के संशोधन की अत्यंत आवश्यकता है। पुराणों का संशोधित संस्करण प्रकाशित होना चाहिए। इस कार्य के लिए भारत के प्रसिद्ध विद्वानों का एक मंडल स्थापित किया जाय, जो प्रकृतिविरुद्ध, वेद-विरुद्ध और धर्मविरुद्ध कथाओं एवं श्लोकों को काट-छाँटकर अलग करे। यह प्रार्थना टाल देने योग्य नहीं है, बल्कि सनातन-धर्मावलंबियों के लिए एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं हितकारक बात है। मैं आशा करता हूँ कि भारतीय विद्वान् शीघ्र ही "पुराण-संशोधक-समिति" क़ायम करके इस महत्त्वपूर्ण कार्य को हाथ में लेंगे।

गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इंद्र'

× × ×

६. वसंत

पुलकि-पुलकि पिक कूजत प्रमोद भरे,
पपिहा पुकारि पीउ प्रान परसतु है।
हरित-हरित हरियारी हिये हरि-हरि,
हहरि-हहरि हँसि-हँसि हरसतु है।
लहरि-लहरि सुचि-सरस-सुरभि-सनी,
सीरी-सीरी 'सारथी' समीर सरसतु है।
बार-बार बहुरि-बहुरि जलधर बनि,
बन बाग बीथिनि बसंत बरसतु है;

बैजनाथसिंह 'सारथी'

× × ×

७. वार्तालाप की आत्मकथा

परमात्मा ने मनुष्य की उत्पत्ति के समय ही मुझे जन्म दिया था। मेरा विकास उसकी बुद्धि के साथ-साथ होता गया। पहले मैं इंगित-रूप में था। तदनंतर अस्फुट शब्दों का रूप धारण किया। मैं क्रमशः उत्तरोत्तर उन्नति करते-करते स्पष्ट शब्दों में परिवर्तित हो गया। इस समय मैं भोलाभाला था। मुझमें छल-कपट छू तक नहीं गया था। फलतः मानसिक या शारीरिक रोग मेरे पास आने तक का साहस नहीं करते थे। मनुष्य-संख्या के साथ-साथ स्वार्थ भी बढ़ता गया। मैं भी कूटनीति से परिपूर्ण होकर दक्ष हो गया और सारे भूमंडल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। मेरा प्रभुत्व स्वीकार किये बिना किसी का काम नहीं चल सकता। मेरा बल अतुल, महिमा अकथ और वीरता अदम्य है।

मैं ही जीवन को सफल अथवा असफल बनाता हूँ। मैं ही मनुष्य को धनी अथवा कंगाल, सुखी अथवा दुःखी, स्वस्थ अथवा अस्वस्थ, चिरजीवी अथवा अल्प-जीवी, चिंतामुक्त अथवा चिंताग्रस्त, प्रिय अथवा अप्रिय, क्रोधी अथवा शांत, मित्र अथवा शत्रु, आदरपात्र अथवा घृणास्पद, सभाचतुर अथवा मूर्ख, क्षम्य अथवा अक्षम्य, वाचाल अथवा अल्पभाषी, स्पष्टवादी अथवा चाटुकार, साधु अथवा लंपट बनाता हूँ। मैं ही सत्य को असत्य और असत्य को सत्य, दिन को रात और रात को दिन, कृष्ण को श्वेत और श्वेत को कृष्ण सिद्ध करता हूँ।

मेरा स्वभाव, अवस्था और वातावरण के अनुसार बदलता रहता है। शैशवावस्था में मैं बड़ा बातूनी रहता हूँ, यहाँ तक कि यदि बात करने के लिए कोई नहीं मिलता, तो फूल-पत्तों, पशुओं और दीवालों तक से बोलता हूँ। बाल्यावस्था में क़िस्से-कहानियाँ सुनता और सुनाता हूँ; यौवनावस्था में परिहास-प्रेमी और वृद्धावस्था में चिड़चिड़ा हो जाता हूँ। इसी कारण बुढ़ापे में लोग मुझसे घृणा करते और कहते हैं कि मेरी बुद्धि सठिया गयी है।

लोग मुझे बहुरुपिया भी कहते हैं। बात ठीक ही है। छोटे-छोटे बालकों में खेल-कूद की बातें, विद्यार्थियों में अध्यापकों की निंदा-स्तुति, सहकारियों में अधिकारियों की निंदा, गृहिणियों में पति की आलोचना और संतान का स्वास्थ्य-कथन, वृद्धों में वर्तमान समय और स्थिति की शिकायत, बूढ़ियों में बहूबेटियों की बुराई, युवक-युवतियों में प्रेमी और प्रेमिका का वर्णन, कृषकों में कृषि एवं पशुओं का विवरण, सेवकों में स्वामी-स्वामिनियों का विवेचन, व्यापारियों में क्रय-विक्रय की गाथा और शिक्षितों में सामाजिक और राजनीतिक निरूपण करता हूँ।

मुझे श्रेष्ठरूप में प्राप्त करने से बढ़कर मनुष्य की कोई दूसरी अभिलाषा नहीं होती। मैं ही जनता की त्रुटियाँ अंकित करके उन्हें शुद्ध करता रहता हूँ। मैं ही समाज की सम्मति तथा परंपरागत विश्वास का स्रोत बदल कर दोनों को उचित मार्ग पर प्रवाहित करता हूँ। मैं ही विचार-विनिमय का अधिष्ठाता हूँ। विमर्श से नहीं, वरन् मेरी सहायता से लोग परिणाम को पहुँचते हैं और इस परिणाम को सुधार के रूप में व्यवस्थापिका सभा में उपस्थित करके नियम और उपनियम बनाते हैं। इसमें मुझे अनेक संकट सहने पड़ते हैं। अंत में मैं तपाये हुए सोने की तरह चमकता हूँ।

मैं उस पुरुष को मित्र-मंडली की दृष्टि से गिरा देता हूँ जो सदा अपनी ही रामकहानी अथवा कौटुंबिक घटनाएँ कहा करता है, दूसरों की सुनता ही नहीं या उन्हें बोलने का अवसर ही नहीं देता। गोष्ठी में आत्म-श्लाघा से बढ़कर कोई दूषण नहीं। कुछ लोग इस समय आँखें मारते, नाक-भौं सिकोड़ते और कई प्रकार से सिर हिलाते हैं। वे अज्ञानियों में भले ही स्थान प्राप्त कर लें, किंतु उनकी गणना बुद्धिमानों में नहीं हो सकती। उनके स्वभाव से परिचित लोग उनसे सतर्क रहने की चेष्टा करते हैं और भूलकर भी विश्वास नहीं करते। उनको अपना हितैषी समझने-वाले ऐसा ग़ोता खाते हैं कि थाह भी नहीं मिलती। अस्तु, चिरस्थायी उन्नति एवं सम्मान के आकांक्षी किसी प्रकार का संकेत न करें। कारण, पार्श्ववर्ती मनुष्यों के हृदय में अनेक शंकाओं के उत्पन्न होने की संभावना है।

संभाषण के समय लोग उत्तम, मध्यम तथा अन्य पुरुष का प्रयोग करके सब कुछ कह डालते हैं, समझने-वाले समझ ही जाते हैं। व्यावहारिक ज्ञान से शून्य पुरुष जितना ही कम मेरा प्रयोग करता है, मैं उतना ही उसका कल्याण करता हूँ। मैं उसकी अनभिज्ञता को विदित नहीं होने देता। कहीं उसने मेरा तिरस्कार

उसके आवश्यकता से अधिक परिश्रम किया, तो मैं उसकी पोल खोलकर उसे घृणास्पद बनाता और मर्म-घातक प्रहार करता रहता हूँ, जिससे वह व्यावहारिक मृत्यु का ग्रास बन जाता है और जीवित रहकर भी मृतक के समान हो जाता है।

मैं उन मनुष्यों से जलता हूँ, जो दो मनुष्यों के मध्य में मेरी उपस्थिति के समय टुप से बोल उठते हैं। कहावत भी है—बतकटा बुरा, गर्दनकाट भला। इस प्रकार का व्यवहार मुझे तो तीर के समान भेदता ही है, परंतु देखने और सुननेवालों को भी बुरा लगता है और इससे मनोमालिन्य के अतिरिक्त घटनास्थल पर मार-पीट भी हो जाया करती है। अतएव, इस समय मेरे सम्मुख जाना सर्वथा निंद्य है।

जब दो अनभिज्ञ मनुष्यों में लड़ाई-झगड़ा होता है, तब मैं हस्तक्षेप नहीं करता। विवाद का मूल न जानने पर बोलना नितांत मूर्खता है। इस समय मध्यस्थ बनने से मुझे साक्षी होकर न केवल न्यायालय तक घसिटना पड़ता है, वरन् अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिए झूठ-सच सब कुछ बोलना पड़ता है।

सम्भाषण के समय मैं शिष्टता पर विशेष ध्यान देता हूँ। मेरी वृत्ति व्यक्ति के अनुसार होती है। मैं नागरिक से नागरिक भाषा में, ग्रामीण से ग्रामीण भाषा में और विदेशी से उसी की भाषा में बोलता हूँ। इस समय मैं वक्रियाकलाप का प्रयोग नहीं करता और न एक विषय को बार-बार दोहराता हूँ, किंतु भाषा तथा विचारशुद्धि पर विशेष ध्यान देता हूँ। मैं अकारण बोलने से न बोलना और बहुत बोलनेसे थोड़ा बोलना अच्छा समझता हूँ। कहा भी है—

नीकी पै फीकी लगै, बिनु अवसर की बात;
जैसे बरनत युद्ध में, रस सिंगार न सुहात।
फीकी पै नीकी लगै, कहिए समय बिचार;
सबके मन हर्षित करै, ज्यों बिवाह में गारि।

मैं किसी पुरुष से उसकी आय अथवा आयु नहीं पूछता। साधारणतः इन्हें स्पष्ट बताने में उसे संकोच होता है। जब मैं देखता हूँ कि मेरे मित्र का स्वास्थ्य चिकित्सा करने पर भी गिरता जाता है, तब सहानुभूति दिखाने के लिए उससे यह नहीं कहता "आप तो बहुत दुर्बल हो गये हैं। आपका स्वास्थ्य दिन-पर-दिन गिरता जाता है।" ऐसा करने से उसे निराशा हो जाती है और बचे हुए स्वास्थ्य को भी धक्का पहुँचता है। यदि वह स्वयं नैराश्य प्रकट करता है, तो उसे आशा दिलाता हूँ और प्रसन्न रखने का यथाशक्ति प्रयत्न करता हूँ। मित्र की सम्पत्ति, जीविका आदि के चले जाने पर उसे संतोष दिलाता रहता हूँ।

मैं गड़े मुर्दे खोदकर पिछले बैर या कहासुनी को नहीं दोहराता। सम्भवतः अपनी उपस्थिति में इनका प्रवेश तक नहीं होने देता; यदि दैवयोग से हो भी जाय, तो १४४ धारा लगा देता हूँ। लोग पिछले बैर-भाव का ज़िक्र बदला लेने, दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने अथवा भविष्य में अनिष्ट रोकने के लिए करते हैं। इससे बैर जाता तो नहीं उलटे बढ़ जाता है और विनोद-गोष्ठी का रंग फीका पड़ जाता है। मैं गोष्ठी में वाद-विवाद के समय लड़ाई की सम्भावना देखकर विषय को परिवर्तित करने के लिए विनोद की बातें छेड़ देता हूँ। वे पहले की बातें भूलकर प्रसन्न हो जाते हैं। यदि देखता हूँ कि वे इसके विपरीत अर्थ लगाते हैं, तो चुप हो जाता हूँ।

किसी से एक बार खटपट हो जाने पर उसका विश्वास नहीं करता। उसको त्यागता नहीं, प्रत्युत उसके सुख-दुःख में सम्मिलित होता हूँ। अपना रहस्य उससे नहीं खोलता और न उसका किसी से। किसी बात में शंका को स्थान नहीं देता।

यदि कोई व्यक्ति मेरे मित्र के कान भर देता है, तो मैं उसकी चित्तवृत्ति जानने की चेष्टा करता हूँ और सफ़ाई बड़ी नम्रता और बुद्धि से देता हूँ। इस पर भी उसके मनोमालिन्य को देखकर फिर अनुनय-विनय नहीं करता। मैं अव्यक्त रूप से उसका उपकार करता हूँ और इष्टमित्रों में उसकी और निंदक की सूक्ष्म प्रशंसा करता हूँ। समय पाकर वह आप ही मन-ही-मन दुःखी होता है, अंत में क्षमा-प्रार्थना करता है तथा निंदक के प्रति ग्लानि प्रकट करता है।

मैं किसी की अनुपस्थिति में उसका छिद्रान्वेषण नहीं करता। यह स्पष्टवादिता नहीं, कायरता है। स्पष्टवादी अनुपस्थित सज्जन के विषय में निंदास्तुति नहीं करता।

मैं उन लोगों के सम्मुख नपे-तुले शब्दों का प्रयोग

करता हूँ, जिनका हित मुझसे संघर्षित हो सकता है। उनकी थाह लेने के लिए उनसे बोलता तो अवश्य हूँ, पर इतने संकुचित वाक्यों में कि वे मेरा रहस्य किसी तरह समझ न सकें। उचित स्थान पर उनकी प्रशंसा करता रहता हूँ, निंदा तो भूलकर भी नहीं करता। समय पड़ने पर उनकी सहायता भी करता हूँ और उनके सहकारियों को मधुर शब्दों अथवा धन द्वारा मिलाये रहता हूँ। फलतः वे मेरा अनिष्ट कर ही नहीं सकते और येन केन प्रकारेण मेरा मनोरथ सिद्ध हो जाता है।

मेरी परिहास-गोष्ठी में समवयस्क और समान स्थिति के लोग होते हैं। इसमें मैं अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा कभी नहीं करता। अश्लील शब्दों का सदा बहिष्कार किया करता हूँ। परिहास का विषय शिष्ट, सुंदर और गंभीर होता है। उसके समझने में श्रोताओं को मस्तिष्क से काम लेना पड़ता है। इस समय मैं विवेक का अधिक प्रयोग करता हूँ। इस बात पर विशेष ध्यान देता हूँ कि किसी को मानसिक व भौतिक क्षति न पहुँचे। यथाशक्ति परिहास का विषय नवीन ही रखता हूँ, एक ही विषय पर बार-बार परिहास करने से लोगों का मन उचट जाता है। लतीफ़ों की लड़ी बाँध देता हूँ। जिससे श्रोताओं का हँसते-हँसते पेट फूल जाता है और साधु-वाद से आकाश गूँजने लगता है। सारी मंडली उन्हें बार-बार दोहराया करती है। अनुपस्थिति में भी मेरी मूर्ति श्रोताओं के सामने नृत्य किया करती है। कभी-कभी तो यहाँ तक नौबत आती है कि वे खाना-पीना छोड़कर मेरा साथ करते हैं। जब कभी अनायास उनसे भेंट हो जाती है, तब वे आनंद से फूले नहीं समाते।

शोक! उपर्युक्त गोष्ठी में कुछ सज्जन व्यंग्यबाणों की बौछार करने में अपनी प्रतिभा समझते हैं। वे अपना लक्ष्य निर्बल ही को बनाते हैं। साधारणतः इसमें एक-आध व्यक्ति ऐसा भी होता है, जिसके चिढ़ाने में सबको आनंद आता है। यदि वह उद्दंड हुआ, तो कुछ चलते-पुर्ज़े दो-तीन कुबुद्धियों को लगा देते हैं और वह आपे से बाहर होकर गाली देने या मारने पर उतारू हो जाता है। प्रतिहिंसक इसका बदला अज्ञात अवसर पर चुकाते हैं। कुछ महाशय भोलेभाले मनुष्यों को परिहास का शिकार बनाकर उनकी कमज़ोरियाँ मित्रों अथवा स्वामियों के प्रति प्रकाशित करते हैं। फलतः वे उनकी दृष्टि से गिर जाते हैं और कभी-कभी उन्हें आर्थिक क्षति भी उठानी पड़ती है। ये नृशंस भूमिका उनकी अनुपस्थिति में बाँधते हैं और फिर प्रश्नों तथा उत्तरों को सोचते और सोचवाते हैं। वे हतबुद्धि होकर प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकते और ऊटपटाँग बकने लगते हैं।

आप यह न समझें कि मैं सदा साधु ही रहता हूँ। प्रकृति के अनुसार लम्पट, धूर्त और नृशंस भी हूँ। सभा में बैठकर मैं मनमोहक विषयों के द्वारा सदस्यों में अपने प्रति श्रद्धा-भक्ति और विश्वास उत्पन्न कर लेता हूँ, जिससे वे इतने मंत्रमुग्ध हो जाते हैं कि मेरी ऐंद्रजालिक परिधि के बाहर जाने का साहस नहीं करते। मैं शत्रुओं के प्रति सहानुभूति प्रकट करता हूँ। अव्यक्त रूप से उनकी जीविका तक हर लेता हूँ या विष खिलाकर उनको मार भी डालता हूँ। कभी-कभी तो मैं उन्हें इतना डरा देता हूँ कि मेरे विरुद्ध एक शब्द भी नहीं बोलते। मैं मूर्खों से चतुरों का और निर्बलों से सबलों का उत्थान करता हूँ।

मैं संसाररूपी नाट्यशाला में किसी कुशल नट से कम नहीं हूँ। मैं श्रोताओं और दर्शकों के चित्त को आकर्षित कर लेता हूँ। कभी उन्हें हँसाता, कभी रुलाता और कभी मार्मिक उपदेश देता हूँ।

मेरी पाठशाला में विद्याभ्यास के लिए किसी प्रकार के शुल्क तथा अध्यापक की आवश्यकता नहीं है। मैं ही ज्ञान और मैत्री को शिखर पर पहुँचाता हूँ। मुझसे ही आप अपनी मानसिक शक्ति तथा मैत्री-बल का अनुमान कर सकते हैं।

मैं ही साहित्य एवं अन्य आविष्कारों का जन्मदाता हूँ। मैं साहित्य की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र हूँ। वह परिस्थितियों के दासत्व के कारण स्वच्छंद विचार अभि-व्यक्त नहीं कर सकता। मुझे किसका डर? मैं आवश्य-कता पड़ने पर तीव्र आलोचना कर डालता हूँ। कल्पना से मेरी पुष्टि होती है। उसी से भावों का आविर्भाव होता है। मुझमें लक्षणा, व्यंजना आदि का अस्तित्व परमावश्यक है। ये ही मुझे कला की ओर अग्रसर करती हैं? जब तक आप भाव तथा शब्दविन्यास से मेरी उदरपूर्ति न करेंगे —यमक, उपमा, अनुप्रास आदि अलंकारों से मुझे सुंदर नहीं बनाएँगे और ओज, कांति,

माधुर्य आदि गुणों के स्वच्छ वातावरण में नहीं विचरने देंगे, तब तक मेरे शरीर और बुद्धि का विकास नहीं हो सकता।

मेरी उपस्थिति में माता-पिता को सावधान रहना चाहिए। वे अपने बालकों के सामने कटु एवं अश्लील शब्दों का प्रयोग न करें, वरन् श्लेषप्रसाद आदि गुणों को प्रयुक्त करें। यदि वे ऐसा न करेंगे तो उनके बालक चाहे जितने पढ़-लिख जायँ तथा चाहे जितनी उपाधियाँ प्राप्त कर लें, मैं उनका जीवन सफल नहीं होने दूँगा, सदा उनको चतुर मनुष्यों से पराजित करवाता रहूँगा।

मैं भ्रांति, संदेह, प्रमाद आदि दोष दूसरों पर प्रकट नहीं होने देता। इसमें मूर्ख बनने, भटकने और शांति खोने के सिवा कुछ हाथ नहीं लगता। संकल्प को कार्यान्वित किये बिना दूसरों से नहीं कहता। कारण, मैं समझता हूँ कि यदि मैं उसे भली भाँति कार्य में परिणत न कर सकूँ या वह केवल कल्पना ही रहे, तो एक तो मेरा उपहास हो और दूसरे कोई मेरी बातों पर विश्वास न करे। फिर सबसे बड़ी बात यह कि इसमें स्पर्धा और विरोध की भी संभावना है।

मैं क्रोध को सदा वशीभूत रखता हूँ। मुझे यह भय रहता है कि कहीं इसके आवेग में मेरे तथा दूसरों के लिए कोई हानिकर बात न निकल जाय। मैं क्रोधी पुरुष का विश्वास नहीं करता। यद्यपि उसका हृदय शुद्ध रहता है, फिर भी वह क्रोध के निरंकुश शासन में अनिष्ट ही करता है। मैं स्वार्थ-साधन के लिए उसे उत्तेजित करके सब कुछ स्वीकार करा लेता हूँ और फिर उसके कथन से अनेक लाभ उठाता हूँ। वह उस आवेग में मेरे तथा मित्रों के गुण-दोष प्रकट कर देता है। क्रोधी शांत होने पर मुझसे क्षमा-याचना करता है, मेरी मनोवृत्ति जानने के लिए किसी विषय पर बात छेड़ देता है, अथवा मेरा हृदय द्रवीभूत करने के लिए अपने दुःख की कहानी सुनाने लगता है। लेकिन यहाँ तो बात ही और है। सब सुनी-अनसुनी कर देता हूँ। किसी-न-किसी तरह बदला लेता ही हूँ। मूर्ख यह नहीं समझता कि क्रोध के पश्चात् शांत होने पर भी मनुष्य जितना बक्की होता है, उतना ही विकृत। जिन बातों का कहना वह उचित समझता है, वे ही अंत में उसे धोखा देनेवाली सिद्ध होती हैं।

क्रोधी के अतिरिक्त मेरा कुछ ऐसे मूर्खों से भी संपर्क रहता है, जो मनोविनोद करने, शोक-संतप्त-हृदय को हलका करने तथा सहानुभूति प्राप्त करने के हेतु मुझे अति कष्ट देते हैं। वे अपने अधिकारियों तथा सहकारियों की तीव्र आलोचना किया करते हैं, मैं भी उनके पास जाकर एक-एक की अट्ठारह-अट्ठारह लगाया करता हूँ। भला वे मेरी बात को कब टालने चले।

मैं अभिमानी परिपक्व पुरुष को आलोचनात्मक परामर्श नहीं देता। यह उलटे उससे वैर लेना नहीं तो क्या है? वह सूखे काठ की तरह झुक नहीं सकता। ऐसे मनुष्य की तो हाँ-में-हाँ ही मिलाना अच्छा है। किसी कवि ने कहा है—

हितहू की कहिए न तेहि, जो नर होय अबोध;
ज्यों नकटे को आरसी, होत दिखाये क्रोध।

मैं सभा में किसी प्रस्ताव को स्वीकृत कराने के लिए वाक्‌शक्ति का पूर्ण प्रयोग करता हूँ और विचारयुक्त मधुर शब्दों से दूसरों को प्रभावित करके उसे बहुमत से स्वीकृत करवा लेता हूँ। सदस्यों पर मेरा आतंक इतना छा जाता है कि मेरे विरुद्ध होने पर भी वे परोक्ष या प्रतिपक्ष में मेरी बातों को काटने का साहस नहीं कर सकते। सबका मित्र बनने के लिए उस समय तक अपनी सम्मति नहीं प्रकट करता, जब तक विषय को पूर्णरूपेण जान करके हृदयंगम नहीं कर लेता, सहयोगियों की मुखाकृति का सम्यक् प्रकारेण निरीक्षण नहीं कर लेता अथवा यह नहीं जान लेता कि बहुमत किस बात का अनुमोदन तथा समर्थन करेगा। अनभ्यस्त होने पर दूसरों की बातें ध्यानपूर्वक सुनता हूँ, उन पर विचार करता रहता हूँ और संभाव्य प्रश्नोत्तर मन-ही-मन में देता रहता हूँ। इस अभ्यास से कुछ काल में स्वाभाविक निर्बलता दूर हो जाती है और मैं प्रत्युत्पन्नमति हो जाता हूँ।

मैं किसी व्यक्ति के पास स्वार्थवश जाने पर भी उसी समय अपना आशय नहीं प्रकट करता। पहले साधारण बातों में उसकी मनोवृत्ति का पता लगा लेता हूँ और फिर अवसर देखकर सुंदरता से अभ्यागमन का अभिप्राय कहता हूँ। साधारणतः मैं उसके पास कई बार जाता हूँ, पर मतलब नहीं खोलता। अंत में वह स्वयं योग्य सेवा बताने का मुझसे आग्रह करता

है और मैं नम्रभाव से उद्देश्य प्रकट करता हूँ। इस समय मैं इस बात पर विशेष ध्यान देता हूँ कि आत्मश्लाघा अभिव्यक्त करनेवाला कोई ऐसा शब्द मेरे मुख से न निकलने पावे, जिससे मैं अभिमानी सिद्ध होऊँ।

यदि मैं किसी का उपकार करता हूँ, तो दूसरों पर प्रकट नहीं करता। इससे एक तो पात्र के अपमान की संभावना है; दूसरे मैं सज्जनों की दृष्टि से गिर जाता हूँ, क्योंकि वे मुझे क्षुद्रबुद्धि समझते हैं; तीसरे पात्र का दिल फट जाता है और वह कृतज्ञ होने के बजाय कृतघ्न हो जाता है। वह किसी से मेरी स्तुति तो करता नहीं, वरन् निंदा अवश्य करता है। समय पड़ने पर उपकार के बदले अपकार करता है। 'नेकी कर कुएँ में डाल'वाली कहावत को कार्यान्वित करने से मुझे अनेक लाभ होते हैं, और मेरा सर्वत्र मान होता है।

दिन-भर सुचित्त रहने के लिए प्रातःकाल मैं यथाशक्ति मौन रहता हूँ, जिसमें जीवनोपार्जन के समय स्थिर चित्त रहूँ। मैंने बहुतों को देखा है कि वे गृह की अशांति कार्यालय में अभिव्यक्त कर देते हैं, सहकारियों और सेवकों पर बात-बात पर बिगड़ते हैं और कार्यालय का क्रोध स्त्री-बालकों पर उतारते हैं। दैवयोग से मैं कार्यालय में उदास अथवा खिन्न हो जाऊँ, तो उस समय तक गृह में प्रवेश नहीं करता जब तक मित्रों के साथ हँस-बोलकर अपने मस्तिष्क को स्वस्थ नहीं कर लेता।

मेरे मंदिर में सत्य का प्रवेश तो अवश्य होना चाहिए, लेकिन अप्रिय सत्य का नहीं। कहा भी है—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः॥

अप्रिय सत्य बड़े-से-बड़े अनिष्ट कर डालता है। श्लेष और व्याज-स्तुति का, समय और व्यक्ति के अनुसार, प्रयोग करना चाहिए।

अंत में मैं यही कहूँगा कि मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य भी मेरी निरंतर सेवा से बुद्धिमान् और सुखी हो सकता है। इसमें केवल अभ्यास और धैर्य की आवश्यकता है। अपरिपक्व मस्तिष्क पग-पग पर त्रुटियाँ करता है। हानियाँ उससे पश्चात्ताप करवाती हैं। फिर वह भूल को नहीं दोहराता।

त्रिलोकीनाथ मेहरोत्रा (एम्० ए०)

× × ×

८. बालविधवा की आह

(१)

स्वर्गोपम भारत वसुधा में,
हम महिलाओं का यह हाल!
भोग रहीं वैधव्य-व्यथा को,
काल-चक्र हा! बना कराल!
सभी हमारा बालकपन में—
छीन लिया किसने दे ताल?
आग लगी है हृदय-बाग में,
भस्म हुआ अनुराग-रसाल!

(२)

हाय! न समझी थी उस क्षण जब—
हुआ अचानक वज्राघात!
आज प्रलय की करुण-कल्पना का—
अनुभव होता दिन-रात!
क्या प्रभुवर, हिंदू-समाज से—
दूर न होगी जड़ता-रात?
देख सकेंगी बहनें क्या फिर—
वैदिक-युग का सुखद-प्रभात?

हरशरण शर्मा, त्योंथर

× × ×

अबलाओं पर प्रबल पुरुषों के अत्याचार
(क्रमागत)

स्त्रियों पर अत्याचार क्यों किये जाते हैं ?

किसी व्यक्ति की समुचित कामनाओं में किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबंध देना ही अत्याचार कहलाता है। अथवा किसी एक व्यक्ति के कार्यों से किसी अन्य व्यक्ति को किसी प्रकार का भी कष्ट पहुँचे, तो यही अत्याचार की सीमा में आ जाता है। अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को उन कार्यों के करने में पूर्ण स्वतंत्रता है, जिन्हें उसकी मनःशक्ति अथवा बुद्धि प्रेरित करती हो। परंतु यह स्वतंत्रता वहीं तक सीमित है कि किसी दूसरे व्यक्ति के उपर्युक्त इसी प्रकार के कार्य में कोई विघ्न न उपस्थित हो जाय।

प्राचीन काल में स्त्रियाँ पुरुषों पर पूर्ण प्रेम प्रदर्शित करती थीं। वे पुरुषों के थोड़ा प्रेम करने पर भी उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर देती थीं। क्योंकि स्त्रियाँ स्वभाव से ही प्रेम की प्रतिमूर्त्ति होती हैं। अतएव पुरुषों ने सोचा कि पुरुष तो स्त्रियों का आराध्य है। उनका धर्म है कि वे पुरुषों की श्रद्धा-पूर्वक भक्ति करें, होते-होते इन विचारों का यहाँ तक विकास हुआ कि प्रत्येक स्त्री को पतिव्रता बनने के लिए क़ानून जारी किया गया।

यद्यपि इसके पहले भी स्त्रियाँ सच्ची सदाचारिणी होती थीं। पुरुषगण कितने ही अत्याचार क्यों न करें, परंतु उनकी स्त्रियों का यह धर्म है कि वे पति को श्रद्धा की दृष्टि से देखें। अस्तु, स्त्रियों के पुरुष स्वामी बन गये तथा स्त्रियाँ उनकी क्रीत-दासी के रूप में परिणत हो गयीं। पुरुष सदा ही स्त्रियों के लिए व्यग्र रहते हैं। उनकी यह व्यग्रता प्रेम नहीं वरन् मोहमिश्रित अंधता है। परंतु स्त्रियाँ क्यों ऐसे बंधनों द्वारा बाँधी गयीं? इसका समुचित उत्तर यही है कि स्त्रियों में शारीरिक बल की कमी है। तभी न वे पुरुषों के उन बंधनों को काटने में असमर्थ रहीं। स्त्रियों पर जितने अत्याचार होते हैं, इसका एक-मात्र कारण यही है कि वे पुरुषों की प्रतिद्वंद्विता करने में सर्वदा ही पीछे रहीं। और यह प्रतिद्वंद्विता शारीरिक बल को ही लेकर थी। विशेष शारीरिक शक्ति-संपन्न व्यक्ति किसी कम शारीरिक शक्तिवाले को बहुधा अपने अधिकार में कर सकता है, उसके विचारों पर वह भले ही विजय प्राप्त न कर सके। और जब वह विजेता शारीरिक शक्ति पर ही अधिकार जमाये बैठा है, तो भला ऐसी अवस्था में वह विजित के विचारों को प्रकट होने का अवसर ही कब दे सकता है? अधिकतर लोग बाह्य कार्यों को ही उन्नति अथवा अवनति का कारण समझते हैं। वे संसार को ही एक प्रकार से बाह्य कार्यों से मंडित बतलाते हैं। इसी प्रकार हमारे पुरुषों ने स्त्रियों के शरीरों पर तो अधिकार किये, परंतु वे उनके मन को वशीभूत नहीं कर सके। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि "यदि स्त्रियों की इच्छा नहीं थी कि वे पुरुषों के अधिकार में जीवन बितावें तो वे उनके वश में फिर रह ही कैसे सकीं?" इसका समाधान यह है कि किसी भी बंधन से निकलने के लिए बद्ध का यह प्रधान कर्तव्य है कि वह अपने अत्याचारियों को सर्वदा ही घृणा की दृष्टि से देखें। अपनी इच्छाओं को वह बराबर बढ़ाते ही जायँ तथा किसी प्रकार की भी हानि का विचार स्वप्न में भी न आने दें। भूलकर भी किसी ऐसे लोभ के वशीभूत न हो जायँ जो अत्याचारियों के द्वारा दिखाया जाता है! हमारे प्रवीण पुरुष इन बातों को जानते थे। वे स्त्रियों की मनोवृत्तियाँ बदलने में अपनी शक्ति को लगाने लगे, ताकि स्त्रियाँ उन्हें घृणा की दृष्टि से न देखें। पुरुषों ने धर्मग्रंथों में इस विषय का प्रतिपादन किया कि "स्त्रियों का धर्म है कि वे अपने कुत्सित पतियों की भी पूर्ण श्रद्धा से सेवा करें, यहाँ तक कि उन्हें नारायणतुल्य समझें। ऐसा करने ही से स्त्रियाँ सदाचारिणी कहला सकती हैं।" उन लोगों ने यहाँ तक लिख मारा कि "जो स्त्री ऐसा आचरण करती है, उसे स्वर्ग मिलता है, तथा इसके विरुद्ध आचरण करने से त्रिकाल में भी उद्धार नहीं हो सकता।" तात्पर्य यह कि स्त्रियों के मन में ऐसी-ऐसी बातें जमायी गयीं, जिनसे स्त्रियाँ पुरुषों से घृणा करने तथा अपने अधिकारों के लिए लड़ने में भी लज्जा मानने लगें। थोड़े में ये कारण नीचे दिये जाते हैं—

१—स्त्रियों के सौंदर्यादि गुण, जो मनोमुग्धकर होते हैं।

२—स्त्रियों में शारीरिक शक्ति का अभाव।

३—पुरुषों के प्रति स्त्रियों के घृण्यभावों का नाश।

स्त्रियों के हृदय बड़े ही विस्तृत होते हैं। वे स्वभाव से सद्गुण-संपन्न तथा सहिष्णु होती हैं। उनका वीर-हृदया होना कोई बड़ी बात नहीं है। वे क्षमा की तो प्रतिमूर्त्ति

ही हुआ करती हैं। सारांश यह कि ये गुण उनमें अधिकांशरूप से पाये जाते हैं। यदि स्त्रियों के गुणों से पुरुषों के गुणों की तुलना की जाय, तो स्त्री-गुण मार्तंड और पुरुष-गुण दीपक प्रतीत होंगे।

स्त्रियाँ सौंदर्य, मृदुता तथा प्रेम में तो पुरुषों की स्वामिनी ही हुआ करती हैं। स्त्रियों के इन गुणों की प्रशंसा पुरुष-रचित काव्य-ग्रंथों से हज़ारों बार गायी गयी हैं। फिर भी कितने ही पुरुषों ने 'विष' और कितनों ने उन्हें उत्तम कार्यों में विघ्न डालनेवाली कहा है। इसमें भी स्त्रियों की प्रशंसा गुप्त रूप से छिपी हुई है।

स्त्रियों में मृदुता की मात्रा भी खूब ही रहती है। इसी दिव्य-गुण ने उन्हें "अबला" नाम से विभूषित कराया और इसी गुण के कारण स्त्री-जाति स्त्री कहलाती है।

पुनः वे स्त्रियाँ प्रेम की पुत्तलिका हुआ करती हैं। उनका जीवन प्रेम-मय होता है। कितनी ही स्त्रियों ने इसी गुण से प्रभावित हो अपने पापी पुरुषों को भी समादर की दृष्टि से देखते-देखते अपने जीवन का अंत कर दिया। इतिहास-पुराण इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

संसार में जो कुछ सत्य, शिव तथा सुंदर हैं, यहाँ की स्त्रियों में पूर्ण रूप से पाया जाता है। क्या सतीशिरोमणि, विश्व-जननी, महारानी जानकी का नाम कभी संसार भूल सकता है? क्या वसुंधरा फिर भी वैसी दिव्य विभूति से मर्त्यलोक को स्वर्ग बना सकती है? ज़रा उनके चरित्र को तो देखिए! जगन्माता लंकाधिप रावण के द्वारा हरकर राक्षस-नगर में लायी गयी हैं। भगवान् की सेना से दुर्जय लङ्का घिरी हुई है। प्रतिदिन ही प्रलयंकर शंकर के भयंकर रण-ताण्डवों से अगणित प्राणियों को मुक्ति-पद मिल रहा है। ऐसी अवस्था में उनके सामने एक नाशकारी दृश्य दिखलायी देता है। भगवान् का कटा शिर उनके सम्मुख उपस्थित होता है, वह क्षण में मूर्च्छित हो जाती हैं, हालाँ कि त्रिजटा शीघ्र ही यह कहकर कि "यह माया है" उन्हें चिंतामुक्त कर देती है। परंतु पश्चात्, "अपने प्राण-पति का भी मरना सत्य जानकर जीवित रहीं"—यह सोचकर वह लज्जित हो जाती हैं! कैसा उच्च विचार है, प्रेम का कैसा विमल दर्शन है! इसी दृश्य को कालिदास सदृश महाकवि के शब्दों में देखिए—

अथ रामं शिरश्छेददर्शनोद्भ्रान्तचेतनाम्।
सीतां मायेति शंसन्ती त्रिजटा समजीवयत्॥
कामं जीवति मे नाथ इति सा विजहौ शुचम्।
प्राङ्मत्वा सत्यमस्यान्तं जीवितास्मीति लज्जिता॥

और लीजिए मर्यादा पुरुषोत्तम उन्हें गर्भवती की दशा में निर्वासित कर देते हैं! ऐसी विपत्ति के समुपस्थित हो जाने पर भी धीरा माता जानकी के मुख से यही वचन निकलते हैं—

"तुमने मेरा त्याग अपनी इच्छा से किया है—इसकी शंका भी करना उचित नहीं, यह तो मेरे ही पूर्व-जन्मों के पापों का प्रबल उदय है।" अस्तु, वह निश्चय करती हैं—

साहंतपःसूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जनन्तान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

अर्थात् संतान होने के उपरांत मैं सूर्य की ओर दृष्टि लगाकर तप करूँगी, जिससे फिर भी दूसरे जन्म में तुम्हीं मेरे पति हो और फिर कभी वियोग न हो। स्त्री-जाति पति के विषय में कैसे उत्तम विचार रखती है।

सती-शिरोमणि सावित्री देवी, सत्यवान् को अल्पायु जानती हुई, देवर्षि नारद तथा अपने पिता के मना करने पर भी, उनको अपना भर्ता बनाने के विचार पर ही अटल रह जाती हैं। अन्त में वह अपने अखंड पातिव्रत्यधर्म तथा सत्य के प्रताप से मृतक पति को जीवित करती हैं।

देवी सती का पति-प्रेम पातिव्रत्य-जगत् में एक प्रसिद्ध वार्ता है। वह विना निमंत्रण मिले ही अपने पिता के यज्ञ में जाती हैं। वहाँ इनका अनादर होता है, इससे उन्हें लेशमात्र भी दुःख नहीं होता। परंतु जब उनके पति-देव चंद्रशेखर (शंकरजी) की निंदा प्रारंभ होती है, शीघ्र ही उनके हृदय में दुःख-समुद्र उमड़ आता है, जिसे शांत करने के लिए वे दक्षप्रजापति के प्रज्वलित प्रकांड अग्नि-कुंड में कूद पड़ती हैं। मरणांतर पति-प्रेम के ही आधार पर गिरींद्र हिमालय के गृह में जन्म ले फिर उसी नागेंद्रधर शंकर के लिए कठोर तपस्या करती हुई दिखलायी पड़ती हैं। क्या कभी कोई पुरुष भी आज तक अपनी स्त्री के लिए तपस्या करते देखे गये हैं?

बहुतों का ख़याल है कि स्त्री-जाति प्रबल-हृदया हो ही नहीं सकती है। हमारी समझ में उनमें बल की मात्रा भले ही कम होती हो, परंतु उनके हृदय किसी प्रकार भी दुर्बल नहीं होते। किसी अज्ञानतावश अथवा किसी ऐसे ही कारण-विशेष से वे डर भले ही जायँ, परंतु इससे स्त्री-जाति का हृदय दुर्बल नहीं कहा जा सकता। बल्कि उनकी मृदुता में भी एक प्रकार का उत्साह माना जायगा। ठीक ऐसे ही जैसे बिजली देखने में तो बड़ी ही सुंदर प्रतीत होती है, परंतु छूते ही प्राण-नाश कर देती है। कितनी वीर-रमणियों ने तो पुरुषों को बड़ी-बड़ी विपत्तियों से निकालकर उन्हें सब प्रकार सुखी बनाया है।

(क्रमशः)

शिवकुमारसिंह 'नरेंद्र'

सम्पादकीय विचार

१. हा! साहित्याचार्यजी!!

पूजनीय पं० पद्मसिंह शर्माजी के निधन का संवाद हिंदी-जगत् के लिए वज्राघात से कम नहीं है। जिस बात की अभी किसी को आशंका नहीं थी, वही क्राल-काल ने क्षण-भर में सामने लाकर उपस्थित कर दी। इलाहाबाद की एकेडेमी में अपना व्याख्यान देकर शर्माजी अपने गाँव नायकनगला (ज़ि० बिजनौर) चले गये। वहाँ प्लेग का प्रकोप फैल रहा था। आपने गाँववालों की वहीं रहकर सेवा आरंभ कर दी। दुर्दैव इसको नहीं देख सका और ७ अप्रैल को सवेरे प्लेग की बीमारी का बहाना लेकर आ धमका। साहित्याचार्यजी हमारे देखते-देखते हमारे बीच से ज़बरदस्ती उठा लिये गये। इस दुखद समाचार ने सभी हिंदी-सेवियों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया। लेकिन विधि का विधान कौन मेट सकता है?

पंडितजी ने अपने जीवन-भर हिंदी की अमूल्य सेवा की। वे हिंदी-संस्कृत तथा उर्दू-फ़ारसी के बहुत बड़े विद्वान् थे। हिंदी में तुलनात्मक आलोचना-प्रणाली के तो वे प्रवर्तक थे। 'सतसई-संजीवन-भाष्य' हमारे आचार्य की अमूल्य कृति है। इस कृति ने हिंदी-संसार में एक नयी लहर उत्पन्न कर दी। उसका कारण यह है कि आप वास्तव में 'समालोचक-शिरोमणि' थे और इसके जौहर उपरोक्त ग्रंथ में बड़े अच्छे रूप में प्रकट हुए। शर्माजी के संस्मरण-संबंधी लेखों का एक संग्रह भी 'पद्म-पराग' के नाम से छप चुका है। पत्र-पत्रिकाओं से यदि उनके लेखों का संग्रह किया जावे, तो न-जाने कितने ग्रंथ तैयार हो सकते हैं। अ० भा० हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के आप सभापति भी रह चुके थे और 'मंगलाप्रसाद-पारितोषिक' भी प्राप्त किया था। विगत ७ मार्च को इलाहाबाद की एकेडेमी में जो आपका लेक्चर हुआ था, उसकी विद्वानों ने अच्छी प्रशंसा की और उस पर एक हज़ार रु० का पुरस्कार भी मिला। हिंदी ही नहीं, समाज की सेवा भी आपसे बहुत बन पड़ी। आर्य-समाज में शर्माजी ने उपदेशकी का कार्य किया और अध्यापकी द्वारा न-जाने कितने युवकों को विद्वान् बना दिया। 'परोपकारी' और 'भारतोदय'-नामक पत्रों का संपादन भी आप बहुत दिनों तक योग्यता-पूर्वक करते रहे। काव्य-मर्मज्ञता तो आपमें कमाल की थी। छोटे-बड़े सभी साहित्य-प्रेमियों से मिलने में आपको बहुत आनंद आता था। साहित्य के इतने बड़े आचार्य और विद्वान् होने पर भी न तो शर्माजी में व्यर्थ की गंभीरता थी, न बनावट, न थोथे पोज़ीशन का ढोंग। आप थे भीतर-बाहर एक से, सरल, पवित्र और हिंदी-सेवियों को अपना प्रियजन माननेवाले। युवकों को स्नेहपूर्ण प्रोत्साहन देने और वृद्ध साहित्य-सेवियों की कीर्ति-रक्षा करने की उन्हें सदैव एक लगन-सी रहती थी। हमसे उनका जो कुछ संबंध रहा है, उसके आधार पर हम इतना निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि आजकल आदरणीय शर्माजी जैसे निराभिमानी, साहित्यिक बंधुओं के शुभेच्छुक और हिंदी के सच्चे पुजारी ढूँढने पर भी, कठिनता से, दो-चार ही मिलेंगे। उनके उठ जाने से हमारी जो क्षति हुई है, उसकी पूर्ति निकट भविष्य में अत्यंत कठिन प्रतीत होती है।

अब हिंदी-प्रेमियों का यह कर्तव्य तो है ही कि वे एक निश्चित तिथि पर सारे भारत में, जगह-जगह एकत्र होकर, अपने साहित्य-महारथी के चरणों में श्रद्धांजलि अर्पित करें, साथ ही यह भी अनिवार्य धर्म है कि उनकी स्मृति-रक्षा के लिए कोई स्थायी स्मारक स्थापित करने का भी आयोजन करें। हिंदी के सभी पत्रकार-बंधुओं को इस कार्य के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

अंत में हम स्वर्गस्थ आत्मा के चरणों में, नतमस्तक होकर, अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं और भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि आप उनके सुपुत्रों एवं कुटुंबियों को शांति तथा धैर्यप्रदान कर इस महान् वियोग सहन करने का बल दें।

× × ×

२. जोशीजी का पत्र

हिंदी के सुपरिचित लेखक और सुकवि श्रीइलाचंद्रजी जोशी का एक पत्र प्रकाशनार्थ हमारे पास आया है। हम उसे वैसा

ही दे रहे हैं । पत्र पढ़कर हमें आश्चर्य हुआ । अपनी राय हम अभी नहीं देना चाहते । लेकिन सुधा-सम्पादक श्रीदुलारेलालजी भार्गव से इतनी प्रार्थना कर देना हम अनुचित नहीं समझते कि वे इस बात पर पूर्ण प्रकाश डालकर इस उलझी पहेली को सुलझाने की शीघ्र कृपा करें । हम भाई सुधींद्र वर्माजी से भी सविनय अनुरोध करेंगे कि वे भी अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए इस रहस्य को सत्य की कसौटी पर खरा उतरने देने में सहायक बनें ।

"मध्य-भारत से प्रकाशित "वीणा" के अप्रैल के अंक में "कबीर और रवींद्रनाथ"-शीर्षक एक लेख छपा है । शीर्षक के नीचे लेखक का नाम दिया गया है—श्रीसुधींद्र वर्मा, एम्० ए०, एल्-एल्० बी० । भगवान् साक्षी हैं, यह लेख मेरा लिखा हुआ है । इसका प्रत्येक वाक्य, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर आदि से अंत तक ज्यों-का-त्यों मेरा है । पर फिर भी इसके लेखक हैं उपर्युक्त एम्० ए०, एल्-एल्० बी० महाशय ! किमाश्चर्यमतः परम् ?

प्रायः पाँच वर्ष हुए दुलारेलालजी (सुधा-संपादक) को मैंने आठ-दस साहित्यिक लेख एक साथ, एक ही पैकेट में, रजिस्टरी करके भेजे थे । उनमें भाई साहब के और मेरे दोनों के ही लेख थे । भाई साहब के लेखों की प्रतिलिपि मैंने अपने ही हाथों से की थी । प्रत्येक लेख दोनों भाइयों के नाम से हम छपाना चाहते थे । उनमें से तीन-चार लेख "सुधा" में छप भी गये । पर बाक़ी लेख आश्चर्यजनक रीति से गुम हो गये । हमारा इरादा था कि "सुंदर-साहित्य" के नाम से वे लेख पुस्तकाकार छपाये जायँ । पर दुलारेलालजी ने फिर उन शेष लेखों को न तो कभी छापा, न वापस ही किया । अभी, इसी वर्ष, प्रायः चार-पाँच महीने पेश्तर फिर हमने उन बचे हुए लेखों को वापस करने की प्रार्थना दुलारेलालजी से की थी । पर उन्होंने पत्र का उत्तर देना ही उचित नहीं समझा ।

आज अचानक "वीणा" में देखा कि मेरा पाँच साल पूर्व का लिखा हुआ एक लेख, अविकल, हूबहू, लफ़्ज़-ब-लफ़्ज़ एक अन्य लेखक के नाम से छपा है । यह लेख उन्हीं सुधा-कार्यालय में गुम हुए लेखों में से एक है । "वीणा" में उसे Place of honour (प्रथम स्थान) मिला है । मालूम नहीं यह लेख के गुण के कारण या एम्० ए०, एल्-एल्० बी० की महिमा से ।

हे भगवान् ! इस हिंदी-साहित्य-संसार में मेरा भाग्य निर्णय करके कैसी-कैसी अविश्वसनीय, अकथनीय, पूर्व जन्म में अननुभूत नयी-नयी लीलाएँ मुझे आप दिखाते जाते हैं ! इस जन्म के प्रारब्ध को रोना वृथा है । पर अगले जन्म के लिए यह प्रार्थना किये बिना मैं नहीं रह सकता कि मुझे आप साहित्यिक पैदा न करें । यदि करें भी तो क्या कहूँ ! बात को पूरा करते हुए डरता हूँ । पर मौक़ा है, क्यों न कह डालूँ ! पीछे फ़ुर्सत से गालियाँ सहता रहूँगा । हाँ, यदि साहित्यिक कलंक का टीका मेरे माथे मढ़ना ज़रूरी समझें, तो इस अजनबी हिंदी-साहित्य-संसार से मेरा पाला जिस तरह न पड़े, इसका उपाय कर दीजिएगा !

उक्त लेख, उसके लेखक महोदय के हाथ कैसे लग गया, यह श्रीदुलारेलालजी ही बतला सकते हैं । पर क्या वह बतलाएँगे ? वह तो सब प्रकार के उत्तरदायित्व से अपने को Exempt समझते हैं । कुछ भी हो, मेरे इस लेख में ख़ाक भी महत्त्व नहीं है, यह मैं अकपट हृदय से स्वीकार करता हूँ और न इसके साथ के अन्यान्य साहित्यिक लेखों के लोप से मुझे कुछ खेद ही है । भविष्य में कभी कोई साहित्यिक लेख लिखने का कोई विचार भी मैं नहीं करता । पर मेरे लेख के लेखक का साहस सराहनीय है, यह मानना ही पड़ेगा ! लेख में एक शब्द—एक अक्षर भी बदलना उन्होंने उचित नहीं समझा । न घटाया, न बढ़ाया; ज्यों-का-त्यों ! ख़ूब !!"

ता० १४—४—३२ इलाचंद्र जोशी

× × ×

३. अ० भा० हिंदू-युवक-कॉन्फ्रेंस

आलइंडिया-हिंदू-युवक-कॉन्फ्रेंस के प्रधान मंत्री की एक अपील पत्रों में प्रकाशित हुई है । भाई परमानंदजी एम्० ए० के सभापतित्व में, ८ और ६ मई को, इस कॉन्फ्रेंस का अधिवेशन कराची में होगा । हिंदू-जाति का दिन-प्रतिदिन होनेवाला ह्रास और मुस्लिम रियासतों में उस पर होनेवाले अन्याय एवं निराकरण के उपाय ही मुख्य विचारणीय विषय होंगे । प्रधान मंत्री ने देश के प्रत्येक हिंदू-युवक से अपील की है कि वह अपनी जाति की रक्षा और सहायता के लिए आगे बढ़े एवं प्रत्येक प्रांत अपने यहाँ से योग्य और अधिकारी प्रतिनिधि

उपरोक्त कांफ्रेंस में अवश्य भेजे, ताकि वे अपने यहाँ की परिस्थितियाँ कांफ्रेंस के सम्मुख विचार के लिए उपस्थित कर सकें।

इसमें कोई संदेह ही नहीं है कि हिंदू-जाति बराबर ह्रास की ओर अग्रसर हो रही है। उसकी जड़ में घुन-सा लग गया है। हिंदू-युवक दुनिया-भर की तरक्क़ी के ठीके सर पर लादे घूम रहे हैं, लेकिन अपनी जाति के इस महान् पतन की ओर से वे आँखें मूँदे हुए हैं। चारों ओर से विजातीय लोग हिंदुओं को हड़पने के लिए तैयार बैठे हैं। काश्मीर, भूपाल और निज़ाम-स्टेट के समाचारों को पढ़कर हिंदुओं को आँखें खोल लेनी चाहिए। यदि वे अपना नाम पृथ्वी पर बाक़ी रखना चाहते हैं, तो उन्हें संगठित होकर न्यायपूर्वक अपने उचित अधिकारों की दृढ़ रक्षा करनी चाहिए। हमारा सबसे बड़ा धर्म यही होना चाहिए कि हम अपना अस्तित्व मज़बूत बनाने के लिए, अपनी तमाम कमज़ोरियों को तलाक़ देकर, मैदान में आगे आवें। किसी से लड़ना, किसी को पतित करना या किसी को सताना हमारा धर्म नहीं—कर्त्तव्य नहीं। लेकिन अपने ऊपर किये जानेवाले वार से अपनी रक्षा करना तो पशु-पक्षी तक उचित समझते हैं, तब हमीं क्यों मुरदों की तरह पड़े रहें? इसलिए हम यह स्पष्ट कहेंगे कि देश के हिंदू-युवकों को इस कांफ्रेंस में अधिक-से-अधिक संख्या में पहुँचना चाहिए। क्योंकि युवक ही जाति का भविष्य बनाने-बिगाड़नेवाले होते हैं, उन्हीं की शक्ति से जाति की शक्ति है, उन्हीं की समझदारी पर सारा दारमदार है। वे कराची जाकर, आपस में मिलकर, अपने गरेबान में मुँह डालकर अपनी कमज़ोरियों पर निगाह डालें; विश्व की गति की ओर देखें और अपने भविष्य को सुधारने के लिए वर्तमान-कठिनाइयों को हल करने का रास्ता निकालें।

एक बात अपने हिंदू-युवकों से और कहना है। वह यह है कि वर्तमान कठिनाइयाँ जो उपस्थित हो गयी हैं, सो तो हैं ही, लेकिन हिंदू-जाति में कुछ भारी ख़राबियाँ और कलंक पहले ही से मौजूद हैं। उनके हल किये बिना आप लोग सच्ची शक्ति एवं पक्का संगठन कभी नहीं प्राप्त कर सकते। इन कलंक और ख़राबियों को सभी जानते हैं। युवक बंधुओ, इस अधिवेशन में पहुँचकर पहला व्रत एकमत होकर यही लो कि हिंदू-मात्र से ऊँच-नीच का भेद, छुआछूत का भूत और अन्य जातीय कुप्रथाओं को हम समूल नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा देंगे एवं इन्हें नाश करके ही छोड़ेंगे। हमारा तो यह विश्वास है कि जिस दिन से यह कलंक दूर होकर हर एक हिंदू दूसरे को सच्चा भाई समझेगा, उसी दिन से हमारी वर्तमान कठिनाइयाँ काफ़ूर होने लगेंगी। संघशक्ति प्रसिद्ध है। वार कमज़ोरों और असंगठितों पर ही होता है। एक की कमज़ोरी से ही दूसरा लाभ उठाता है। बस, यदि राम, और कृष्ण की संतानें, निष्कपट मन से एक हो हिंदू-जाति को प्रेम के धागे में पिरोकर अपने अधिकारों की रक्षा करने के लिए आगे बढ़ें, तो उनकी विजय निश्चित है।

× × ×

४. दो और साहित्यसेवी

स्वर्गीय महामहोपाध्यायजी

हमें यह जानकर बड़ा दुःख हुआ कि काशी के धुरंधर विद्वान् महामहोपाध्याय पं० देवीप्रसादजी शुक्ल कवि-चक्रवर्ती का विगत मास में स्वर्गवास हो गया। आप कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और हिन्दू-विश्वविद्यालय काशी के संस्कृत-अध्यापक। संस्कृत-साहित्य तथा दर्शन-शास्त्र के शुक्लजी प्रकांड पंडित थे। संस्कृत की कविता करने में तो आपकी अप्रतिहतगति थी। हिन्दी से भी आपका काफ़ी प्रेम था और व्रजभाषा के तो आप एक बड़े अच्छे कवि थे। 'माधुरी' में भी चक्रवर्तीजी की कुछ रचनाएँ समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं, पिछले कई महीनों से वे बीमार थे और स्वर्गप्रयाण के समय उनकी अवस्था लगभग ८२ वर्ष की थी। हाल ही में पंडितजी के ज्येष्ठ पुत्र हमसे मिले थे। उनसे हमें यह पता चला कि शुक्ल-जी ने दो-तीन ग्रंथ हिंदी में लिखे थे और वे अभी अप्रकाशित हैं। क्या संपन्न हिंदी-प्रेमियों का ध्यान उनके प्रकाशन की ओर जायगा? महामहोपाध्यायजी से हमारा भी परिचय था और हम पर उनकी कृपा रहती थी। वे जैसे भारी पंडित थे, वैसे ही सहृदय मिलनसार, स्पष्टवादी और विनोदप्रिय भी। चक्रवर्तीजी के निधन से काशी की विद्वन्मंडली का एक रत्न उठ गया। हम स्वर्गस्थ आत्मा के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं और दुखी परिवार के प्रति हार्दिक सहानुभूति।

स्वर्गीय पुरोहित रामप्रतापजी

जयपुर (राजपूताना) के एक प्रतिष्ठित, ललित कला-प्रेमी और हिंदी के अनन्य भक्त एवं सुलेखक के निधन का संवाद भी दुख के साथ सुना जायगा। अभी आपकी ४६ वर्ष की ही अवस्था थी। शुभनाम पुरोहित श्रीरामप्रतापजी था और जयपुर-राज्य से पूर्ण सम्मानित एक सुयोग्य एवं विद्वानों का आदर करनेवाले रईस थे। हिंदी में पुरोहितजी ने कई उपन्यास भी लिखे थे। उनकी अंतिम कृति श्रीमद्भगवद्गीता का सुंदर पद्यानुवाद है, जिसका द्वितीय संस्करण 'श्रीकृष्ण-विज्ञान' के नाम से गीताप्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित हुआ है। राजपूताना फ़ोटो आर्ट स्टुडियो, आपके कला-प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसकी बराबरी का कोई आर्ट-स्टुडियो राजपूताना-भर में नहीं है। 'माधुरी' में भी कुछ चित्र इस स्टुडियो के पिछले वर्षों में दिये जा चुके हैं। पुरोहितजी के सुपुत्र और उत्तराधिकारी श्रीप्रतापनारायणजी हिंदी के परिचित सुकवि और अपने पिताजी की भाँति हिंदी से अत्यन्त प्रेम रखनेवाले सुयोग्य युवक हैं। मालूम हुआ है कि आपका एक 'नल-नरेश'-नामक महाकाव्य इसी वर्ष नागरी-प्रचारिणी सभा से प्रकाशित होगा। हमें आशा है कि कविरत्न प्रतापनारायणजी पुरोहित अपने गुणज्ञ पिता की भाँति ही हिंदी की निस्वार्थ सेवा करते हुए अपने कर्त्तव्य-पालन में निरत रहेंगे। माधुरी के पाठक आपसे भली भाँति परिचित हैं। हम इस विपत्ति के समय आपसे तथा आपके कुटुंब से हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं और स्वर्गवासी आत्मा की शान्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना।

× × ×

५. स्वास्थ्य-विषयक लेख पर स्वर्ण-पदक

संयुक्तप्रांतीय स्वास्थ्य-विभाग के असिस्टेंट डाइरेक्टर ने हमारे पास एक सूचना प्रकाशनार्थ भेजी है। पिछले वर्षों की भाँति, इस वर्ष भी, ग्रामों में स्वास्थ्य-संबंधी स्वच्छता बढ़ाने की सरल योजना विषय पर हिंदी में सर्वोत्तम लेख लिखनेवाले को एक स्वर्ण-पदक दिया जावेगा। प्रतियोगिता में इस प्रांत की सर्वसाधारण शिक्षित जनता भाग ले सकती है। हिंदी-लेखकों की जानकारी के लिए हम सूचना नीचे दे रहे हैं। उसको पढ़ने पर पदक और लेख-संबंधी सब नियम ज्ञात हो जावेंगे।

१—एक सोने का तमग़ा जो कि "राय शम्भूदयाल साहिब का सोने का तमग़ा" कहलाता है हर साल स्वास्थ्य-विषय-सम्बन्धी अच्छे लेख लिखनेवाले को दिया जाता है।

२—इस साल लेख का विषय यह है—"ग्रामों में स्वास्थिक स्वच्छता (Sanitation) बढ़ाने की सरल योजना" और इसके बारे में जनता का उद्योग।

३—लेख संयुक्तप्रान्त के आम लोग वैद्य, हकीम, डाक्टर, विद्यार्थी और सभी पढ़े लिखे व्यक्ति भेज सकते हैं।

४—लेख सरल हिंदी-भाषा में लिखा जायगा और इसका विस्तार ३,००० शब्दों से अधिक न होना चाहिए।

५—लेख असिस्टैन्ट डाइरेक्टर आफ़ पबलिक हेल्थ, प्राविंशियल हाईज़ीन इन्स्टीट्यूट, यू० पी० लखनऊ के पास १ अगस्त सन् १९३२ तक पहुँच जाना चाहिए।

६—हर एक लेख पर भेजनेवाले का नाम और पूरा पता साफ़-साफ़ अक्षरों में होना चाहिए और लिफ़ाफ़े के बायें कोने पर शब्द "इनाम का लेख" लिखा होना चाहिए।

७—लेखों की जाँच करनेवाले इस सूबे के स्वास्थ्य-विभाग के डाइरेक्टर महोदय होंगे और तमग़ा देने के सम्बन्ध में उनकी राय आख़िरी समझी जायगी।

८—लेख के सम्बन्ध में कोई लिखा-पढ़ी नहीं की जावेगी।

९—कोई लेख लौटाया नहीं जायगा।

× × ×

६. आयर्लैंड के दो विकट प्रश्न

आयर्लैंड में, शपथ और ख़िराज़वाले प्रश्न अधिक गंभीरता पकड़ते जा रहे हैं। मि० डी० वेलरा ने हाल में ब्रिटिश-उपनिवेशमंत्री को जो पत्र भेजा है, उसमें लिखा है कि उन्हें इस बात का पता नहीं कि ख़िराज़ की अदायगी जारी रखने के लिए कोई क़ानूनी या निश्चित वादा मौजूद है। उन्होंने अपने एक भाषण में यह भी कहा है कि जब तक ब्रिटेन अपना क़ानूनी अधिकार इसके पाने का सिद्ध न कर दे, तब तक फ़्रीस्टेट के बाहर एक पौंड भी नहीं जा सकता। हाँ, ब्रिटेन या किसी अन्य पावनेदार का यदि कोई

न्यायपूर्ण और अधिकारयुक्त पावना हो तो आयर्लैंड उसको अवश्य देगा। डी० वेलरा का मत है कि आयर्लैंड क़ानूनन ख़िराज देने के लिए बाध्य नहीं है। इधर आयर्लैंड-ब्रिटेन की सन् १९२२ की संधि के अनुसार जो 'ह्वाइट-पेपर' इँगलैंड ने निकाला है, उससे मालूम होता है कि आइरिश फ़्रीस्टेट निश्चित समयों पर ख़िराज देने का वादा कर चुकी है और इसका उल्लंघन संधि-भंग करना है। फ़्रीस्टेट के प्रेसीडेंट डी० वेलरा का एक मुख्य उज्र यह भी है कि ख़िराज़वाले मसले की ताईद और स्वीकृति दोनों देशों की व्यवस्थापिका सभाओं से नहीं करायी गयी थी। ऐसा जान पड़ता है कि जब तक ब्रिटेन इस शंका का समाधान नहीं करता, तब तक डी० वेलरा अपनी बात से हटनेवाले नहीं हैं। राजभक्ति की शपथ उठा देनेवाला 'बिल' इसी बीच में, शासन-प्रबंध-सभा में, पेश किया जा चुका है और उसका प्रथम-वाचन पास भी हो गया। आगे इस प्रश्न पर बहुत-से झगड़े उपस्थित होने की आशंका की जाती है। समस्याएँ बड़ी उलझी हुई मालूम होती हैं। लेकिन यह दोनों समस्याएँ जो ब्रिटेन और आयर्लैंड के सामने आज उपस्थित हैं, अपने-अपने स्वार्थ की दृष्टि से दोनों देशों के लिए बड़ा महत्त्व रखती हैं। ब्रिटेन की उदारता तथा स्वार्थत्याग के बिना इनकी जटिलता और भी भयंकर हो सकती है।

× × ×

७. ब्रिटिश-बजट

मि० नेविली चेंबरलेन द्वारा तैयार किया हुआ ब्रिटिश-बजट, शांति और संतोष की दृष्टि से देखा जा रहा है। कुछ ऐसे लोगों को छोड़कर जो इनकमटैक्स की दर में कमी चाहते थे, बाक़ी सभी चेंबरलेन महाशय की दूरदर्शिता और मितव्ययिता की प्रशंसा कर रहे हैं। उन्होंने आमदनी की मद में अंतर्राष्ट्रीय या लड़ाई के क़र्ज़ों को सम्मिलित नहीं किया है, क्योंकि उनका ऐसा विश्वास प्रतीत होता है कि लूसेन और ओटावा की कांफ्रेंसें सफलता-पूर्वक समाप्त होंगी और जो कठिनाइयाँ तत्संबंधी इस समय सामने उपस्थित हैं, वे दूर हो जावेंगी। ब्रिटिश-एक्सचेंज के अधिकारी ने एक अरब पचास करोड़ पौंड का क़र्ज़ लेने की इसलिए घोषणा की है कि इँगलैंड के सुवर्ण माध्यम की साख में कोई धक्का न लगने पावे और अन्यदेशीय पावनेदारों की अदायगी के लिए काफ़ी सोना सुरक्षित तैयार रक्खा जा सके। मि० चेंबरलेन ने बजट में आय का अनुमान ७६ करोड़ ४० लाख पौंड किया है और जो कमी पड़ेगी उसका अंदाज़ा १७ लाख पौंड है; लेकिन इस कमी से इँगलैंड को किसी ख़ास अड़चन का मुक़ाबिला नहीं करना पड़ेगा। बैंक आफ़ इँगलैंड का रेट घटा दिया गया है। उपनिवेशों की शक्कर, विदेशी चाय और घरू चाय पर ड्यूटी लगाने तथा दो-एक मदों में और टैक्सों के घटाने-बढ़ाने से बजट की कमी पूरी हो जावेगी और कुछ बचत हो जाने की भी आशा की जाती है।

इस समय तो योरप में अपने-अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिये घोर दाँव-पेंच खेले जा रहे हैं। आधीनस्थ देशों को उनकी करतूतों से हानि हो या लाभ, इसकी परवा कौन करता है। कुछ राजनीतिज्ञों की तो यह धारणा है कि लूसेन और ओटावा कांफ्रेंसें व्यर्थ के तमाशा हैं। ब्रिटिश एक्सचेंज की विघातक नीति के कारण भारत की भी बड़ी हानि हो रही है। देखना यह है कि इस प्रकार की एकांगी चालें कब तक सफल होती हैं और इस नोचाखसोटी से बजट के आँकड़े कब तक पूरे उतरते हैं।

× × ×

८. स्वदेशी वस्तुओं को अपनाइए

इस समय देश में दरिद्रता का समुद्र-सा उमड़ पड़ा है। व्यापार चौपट हो गया है, बाज़ारों में मंदी फैल गयी है और मध्यम श्रेणी के लोग नौकरियों से निकाल दिये जाने के कारण निस्सहाय हो गये हैं। देश के अधिकांश कृषक-समाज पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा है। चारों ओर से त्राहि-त्राहि की पुकार सुनायी दे रही है। एक तो देश पहले से ही ग़रीब हो चुका था, परंतु इधर कुछ समय से तो इसकी दशा और भी दयनीय हो गयी है एवं निकट भविष्य में सुधरने के कोई लक्षण भी नहीं दिखाई पड़ते हैं। आज अधिकांश भारतीयों के सामने यह समस्या बड़े विकरालरूप में उपस्थित है कि वे अपना और अपने कुटुंब का भरण-पोषण किस प्रकार

करें ? जहाँ जर्मनी की प्रति दिन, प्रति मनुष्य की औसत आमदनी २), इँगलैंड की २-)४ और अमेरिका की ३) है, वहाँ एक ग़ुलाम हिंदोस्तानी की आय केवल ढाई आना प्रति दिन है। ज़रा इस हृदय-विदारक ग़रीबी की ओर दृष्टिपात कीजिए। और हृदय पर हाथ रखकर विचार कीजिए कि इससे अधिक ख़र्च करनेवाला कोई भी भारतीय अपने दूसरे भाई के हिस्से में से छीनकर उनके साथ अन्याय करता है या नहीं ? जो हो, इन वर्तमान परिस्थितियों में केवल वही मार्ग दिखायी देता है, जिसके ग्रहण करने के लिए महामना मालवीयजी ज़ोरदार अपील कर चुके हैं। अपनी आवश्यकताओं को अधिक-से-अधिक कम करके, देश की बनी हुई चीज़ों से ही अपना काम चलाके, हम अपने कष्टों को कम कर सकते हैं।

अब हमें अपनी झूठी शान और बनावटी प्रतिष्ठा का मोह छोड़कर एक साहसी मज़दूर बनने में सबसे बड़ा आत्मसम्मान अनुभव करना चाहिए। 'सादा जीवन और उच्च विचार' के सिद्धांत को अपनाकर हम सदैव अपना बहुत बड़ा हित कर सकते हैं, पर आज तो उसकी बड़ी ज़रूरत है।

हमारे देश में, जिसके अधिकांशवासी किसान हैं, खेती की आय पर ही आबादी का एक बड़ा भाग निर्भर रहता है। वर्ष के लगभग छः महीने उन्हें बेकार रहना पड़ता है। हमारे घरेलू उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने से उन किसानों की दशा और भी बदतर हो गयी है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि वर्तमान स्वदेशी वस्तुओं को तो अपनाया और प्रोत्साहन दिया ही जाय, साथ ही अपने मिटे हुए पुराने उद्योग-धंधों को फिर से जारी किया जाय। जैसा कि हमारे शुभचिंतक नेताओं ने कई बार कहा है, हमें विदेशी के मुक़ाबिले में स्वदेशी कम अच्छी वस्तुओं को, कुछ अधिक देकर भी, ख़रीदना आवश्यक है, कर्तव्यधर्म है। हाल में बंगाल के लिए आचार्य पी० सी० राय ने 'बाई इंडियन लीग' की स्थापना करके एक अपील निकाली है। उसमें उन्होंने कहा है कि स्वदेशी वस्तुओं के विक्रेताओं और ख़रीदारों के बीच संबंध और जानकारी स्थापित करने के लिए ऐसी लीग की बड़ी आवश्यकता है, जो इस बात का पूरा पता स्वदेशी-प्रेमियों को दे सके कि देश में कहाँ-कहाँ कौन-कौन-सी वस्तुएँ तैयार होती हैं और किस जगह से वे प्राप्त हो सकती हैं। आचार्य राय ने इन बातों का पूरा पता लीग को भेजने की प्रार्थना की है। सचमुच उनका यह कार्य स्वदेशी वस्तुओं के बनानेवालों और ख़रीदनेवालों—दोनों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा। और देशवासी यह जान सकेंगे कि उनके देश में उनकी मुख्य आवश्यकताओं की सभी चीज़ें बनती हैं या नहीं। हमारी राय में ऐसी लीगें प्रत्येक प्रांत में स्थापित होनी चाहिए। इन लीगों के द्वारा स्वदेशी कारीगरी को अवश्य ही प्रोत्साहन मिलेगा और इसके परिणाम-स्वरूप भारत में अन्य देशी उद्योग-धंधों के आविर्भाव होने में बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। देश के शुभ-चिंतकों को इस ओर अविलंब अग्रसर होना चाहिए।

× × ×

६. बाल-विवाह-निषेधक समितियाँ

'शारदा-एक्ट' की मौजूदगी में भी, देश के अंदर, हज़ारों अबोध बालक-बालिकाओं की शादियाँ (या बरबादियाँ) हो रही हैं। इससे उक्त क़ानून की सार्थकता और सरकार की इस देश के प्रति ज़िम्मेदारी महसूस करने का अच्छा परिचय मिल रहा है। दो-चार मामले अदालत तक पहुँच भी गये, तो थोड़े से जुर्माने देकर छुटकारा मिल जाता है। इधर माता-पिता और संरक्षक कहलानेवाले स्वयं अपनी संतानों के भक्षक बने हुए हैं। वे यह नहीं सोचते कि बाल-विवाह के समाप्त हो जाने पर समाज के न जाने कितने घातक दूषण विनष्ट हो जावेंगे। परिस्थितियों के देखते हुए अब ज़रूरत इस बात की है कि देश में हर जगह 'बाल-विवाह-निषेधक समितियाँ' तुरंत क़ायम की जावें, जो 'शारदा-एक्ट' के लाभ जनता को समझावें और उसके विरुद्ध काम करनेवालों पर क़ानूनी कारवाई करें। कुछ लोग इस ओर बढ़ रहे हैं। ईश्वर उन्हें सफलता दे।

